220

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY

Acc. No.

Book No.

G-2
Entered
9.X.58

G-2
46

९०१९

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
विभाग G-2
पुस्तक की संख्या 46
State Museum Library, Lucknow

सभ्यता एवं संस्कृति

सत्तानिरपेक्ष–'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष–'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन–इतिवृत्त

तथा

भारतीय–'सांस्कृतिक–आयोजनों' की रूपरेखा

उद्बोधनात्मक–सामयिक निबन्ध

G-2
46
Library, Lucknow

निबन्धा—मोतीलालशर्म्मोपाह्वः—
यः कश्चिदपि मुक्तरक्तशर्म्मा–वेदवीथीपथिकः
आङ्गिरसो भारद्वाजः

प्रकाशकः—'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य–(मानवाश्रम)' दुर्गापुरा
(जयपुर–राजस्थान)

मुद्रकः—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा
प्रकाशनतिथिः—पुनर्वसुनक्षत्रान्विता चैत्रशुक्ला·श्रीरामनवमी वि० सं० २०१५ शनैश्चरवासर
प्रथमवार
मूल्य २५) पचीस रु० मात्र

Rs.25,00

934

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
विभाग G-2
पुस्तक संख्या 46
State Museum Library, Lucknow

श्रीः

'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य (मानवाश्रम)' की
सांस्कृतिक-प्रवृत्तियाँ
एवं
प्रस्तुत 'सांस्कृतिक-निबन्ध' का कृतज्ञतात्मक समर्पण

श्रीः

कृतज्ञतात्मक-समर्पण

जिनके आस्था-श्रद्धा--समन्वित सात्त्विक--सहयोग से 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य-(मानवाश्रम)' की 'श्रुति-स्मृति-पुराण'-शास्त्रमूला 'संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार, एवं सांस्कृतिक-आयोजन' प्रवृत्तियाँ आरम्भ से अद्यावधि प्रक्रान्त रहीं हैं, एवं भविष्य में भी 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अनुबन्ध से प्रक्रान्त ही रहेंगी, उन—

श्रेष्ठिप्रवर मानवश्रेष्ठ

माननीय श्रीकुड़ीलालजी सेकसरिया महाभाग के प्रति

प्रस्तुत-उद्बोधनात्मक सांस्कृतिक-निबन्ध

कृतज्ञतानुबन्ध से

सादर सस्नेह समर्पित

934

समर्पयिता-कृतज्ञः

यः कश्चिदपि

मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा

आङ्गिरसो भारद्वाजः, वेदवीथीपथिकः

मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्यपथानुवर्त्मा

पुनर्वसुनक्षत्रानुगता

श्रीरामनवमी वि० सं० २०१५

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
विभाग G-2
पुस्तक क्रम संख्या 46
S. Museum Library, Lucknow

श्रीः

'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य-(मानवाश्रम)'
की
सांस्कृतिक-प्रवृत्तियाँ
एवं
प्रस्तुत 'सांस्कृतिक-निबन्ध' का कृतज्ञतात्मक समर्पण

आस्था-श्रद्धा-शील भारतीय जनतन्त्र के सात्त्विक सहयोग से **'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य (मानवाश्रम)'** ने विगत २० वर्षों की अवधि में अनुमानतः दश सहस्र (१००००) पृष्ठात्मक मौलिक-साहित्य राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित किया, जिसका अधिकांश सांस्कृतिक-मर्य्यादानुबन्ध से राष्ट्र के मान्य विद्वानों के प्रति ही निर्व्याजरूपेण समर्पित होगया। निरन्तर ३० वर्षों से सर्वथा एकाकीरूपेणैव इस सांस्कृतिक-कार्य्य में व्यासक्त रहने के कारण प्रकृत्यैव अभिव्यक्त हो पड़ने वाले अवग्लापन ने अपाणिनीय 'विश्राम' का अन्वेषण आरम्भ कर दिया विगत २-३-वर्षों से, जिसके सुपरिणाम-स्वरूप ही सुहृद्वर माननीय डॉ० **वासुदेवशरण अग्रवाल** महोदय की लोकानुबन्धिनी प्रेरणा से दो वर्ष पूर्व **'राजस्थानवैदिक-तत्त्वशोधसंस्थान'** नामक एक स्वतन्त्र संस्थान का आविर्भाव हुआ, जिसके तत्त्वावधान में तथाकथित *

---

* संस्थान के सञ्चालन के लिए अपेक्षित अर्थ की प्रारम्भिक व्यवस्था का अनुग्रह भी बम्बई के सुप्रसिद्ध व्यवसायपति मानवीय श्रेष्ठिप्रवर उन **श्रीकुड़ीलालजी** सेकसरिया महाभागकी प्रेरणा से ही अनुप्राणित है, जिनके प्रति प्रस्तुत निबन्ध कृतज्ञतारूप में समर्पित हो रहा है। आपके स्व० पितुःश्री श्रेष्ठिप्रवर **श्रीगोविन्दरामजी** सेकसरिया महाभाग के शिक्षात्मक अनुदानों से सभी शिक्षाप्रेमी सुपरिचित हैं। एक करोड़ की राशि से संस्थापित 'श्रीगोविन्दरामचेरेटीट्रस्ट' (इन्दोर मालवा) के द्वारा प्रतिवर्ष शतशः शिक्षासंस्थाएँ प्रक्रान्त हैं, जिस इस पैत्रिक संकल्प को श्रीकुड़ीलालजी श्रद्धापूर्वक कार्य्यरूप में परिणत कर रहे हैं। हमारी इच्छा थी कि, आपके स्व० पितुःश्री के, तथा आपके इन सांस्कृतिक शैक्षणिक कार्य्यों से हम भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक-जनतन्त्र को परिचित करा देते। किन्तु सम्भवतः अपने स्वाभाविक सांस्कृतिक-स्वभावानुबन्ध से ही लोकैषणाविनिर्मुक्त हमारे इस शुचिहृदय मानवश्रेष्ठ ने इस अभिव्यक्ति को उचित नहीं समझा। आपकी प्रेरणा से ही लोकनिष्टा की प्रतिमूर्त्ति श्रेष्ठिप्रवर **श्रीमहावीरप्रसादजी मुरारका**, तरुण-युवा श्रेष्ठिप्रवर **श्रीजगदीशप्रसादजी** सेकसरिया का भी संस्थान को समान-सहयोग उपलब्ध हुआ। यों इन तीनों महानुभावों के प्रारम्भिक अनुदान से ही **'वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** का शैशवकाल प्रक्रान्त हुआ। डॉ० **अग्रवाल** महोदय इसी अवधि में सत्तातन्त्रों से भी इस दिशा में सहयोग-प्राप्ति के लिए भगीरथप्रयत्न करते रहे। आपके इस नैष्ठिक प्रयत्न से ही सुना है-**उत्तरप्रदेश** ने, तथा **राजस्थान** ने संस्थान को

जनतन्त्र के अनुदान से ही विगत दो वर्षों में अनुमानतः तीन सहस्र–पृष्ठात्मक मौलिक साहित्य प्रकाशित हुआ। और आशा है कि, अग्रवाल महोदय की सन्निष्ठा से उक्त '**संस्थान**' भविष्य में भी यथासुविधा अभ्युदय–पथानुवर्त्मा बना रहेगा।

दिग्देशकालानुबन्धिनी लौकिक–प्रवृत्तियों से अनुप्राणित तथाकथित '**तत्त्वशोधसंस्थान**' की विधि–विधानोपनिबद्धा वैधानिक प्रवृत्तियों से एकान्ततः असंस्पृष्ट, एवं तटस्थ '**मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य**' की प्रातिस्विक सांस्कृतिक–प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में हीं हमें तत्सम्बद्ध जनतन्त्र से दो शब्द अत्र निवेदन कर देने हैं। विगत तीन सहस्र वर्षावधि के भारतराष्ट्र में **संस्कृति**, **सांस्कृतिक–आचार**, एवं **सांस्कृतिक–आयोजन**, इन सुप्रसिद्धा सांस्कृतिक–अभिधाओं के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों के द्वारा जो भी प्रयास घटित–विघटित होते रहे हैं, उन सभी प्रयासों में दिग्देशकालानुगत तत्तद्युगधर्म्मों से अनुप्राणित तत्तत्सत्तातन्त्र (शासन–तन्त्र) ही 'अपेक्षा' रूप से प्रधान बने रहे हैं। सहजभाषानुसार–त्रिसहस्रवर्षात्मिका यच्चयावत् सांस्कृतिक–साहित्यिक प्रगतियाँ '**सत्तासापेक्षा**' ही प्रमाणित होतीं आ रहीं हैं, जिसके सुपरिणामस्वरूप, किंवा भयावह दुष्परिणाम–स्वरूप ही परिवर्त्तनशील युगधर्म्मों के व्यवस्थापक सत्तातन्त्रों के परिवर्त्तनशील मनःशरीरभावानुबन्धों के निग्रह से राष्ट्रीय संस्कृति को भी अपने दिग्देशकालातीत, अतएव अपरिवर्त्तनीय मौलिक–ज्ञान विज्ञानात्मक–विशुद्ध सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अंशतः, किंवा सर्वात्मना अन्तर्मुख ही प्रमाणित होते रहना पड़ा है। एवं तत्स्थान में युगधर्म्मानुगता सत्तामान्यताएँ हीं **संस्कृति**, **साहित्य**, तदनुगत **सांस्कृतिक–आचार**, एवंतन्मूलक **सांस्कृतिक-आयोजन**, आदि आदि नामों से उद्घोषित होतीं रहीं हैं विगत तीन सहस्रवर्षात्मिका सत्तासापेक्षतामूला पराश्रयभावान्विता स्वस्वरूपविमोहनात्मिका सर्वनाशकारिणी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से।

तथाविध भावुकतापूर्ण निग्रहात्मक अनुग्रह से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः समाप्लुत त्रिसहस्रवर्षात्मक '**सत्तासापेक्षकाल**' से सम्बन्ध रखने वालीं सांस्कृतिक–प्रवृत्तियों का **दार्शनिक–संस्कृति**, **साम्प्रदायिक–संस्कृति**, **साहित्यिक–संस्कृति**, **सन्त–संस्कृति**, **अभिनव–शास्त्रसंस्कृति**, **लोकसंस्कृति**, इन ६ वर्गों में विभाजन किया जासकता है, जिन सापेक्षा संस्कृतियों के अवान्तर तीन शाखा–वर्गों के समन्वय से संभूय ६ वर्गभेद हो जाते हैं। जिसप्रकार '**चान्द्रसम्वत्सर**' से अनुप्राणित चतुर्द्दशविध भूतसर्गों के '**चान्द्रजीवा**'त्मक भाग्यवशवर्त्ती पुरुषार्थशून्य **चान्द्र–मानव** को '**सौरसम्वत्सर**' मण्डलात्मक ज्योतिष्चक्र के सुप्रसिद्ध '**नवग्रह**' महादशा, दशा, अन्तरदशा, प्रत्यन्तरदशा, सूक्ष्मान्तरदशा, आदि क्रमानुपात से उत्पीड़ित करते रहते हैं, तथैव ज्ञानविज्ञानात्मिका भारतीया मौलिक–संस्कृति भी तथोक्त नवग्रहात्मक महाग्राहों से विगत

आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। एवं **मध्यप्रान्त**, **बिहार**, **बम्बई** आदि के प्रान्तीय सत्तातन्त्र भी इस ओर आकर्षित हैं, जिस इस सम्पूर्ण आकर्षण का श्रेय महामहिम राष्ट्रपति महाभाग **श्रीराजेन्द्रप्रसादजी** को ही समर्पित है, जिनके प्रेरणात्मक पत्रों से ही प्रान्तीय सत्तातन्त्रों का ध्यान राष्ट्र के इस मौलिक साहित्य की ओर आकर्षित हुआ है। और अब ऐसी आशा की जासकती है कि, डॉ० अग्रवाल महोदय के तत्त्वावधान में '**राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान**' अपने साहित्यिक प्रकाशनादि कार्य्यों में अवश्य ही भविष्य में सुव्यवस्थितरूप से प्रगतिशील बन सकेगा।

तीन सहस्र वर्षों से निरन्तर उत्पीड़ित ही होती आरही है, जिस उत्पीड़न के मलीमस इतिवृत्त के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही हमें एक स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध कर देना पड़ा है* । जिन इन ग्रहग्राहों से त्रिसहस्र-वर्षावधि में भारतीय सांस्कृतिक--वैभव स्वस्वरूप से अन्तर्म्मुख होता आरहा है, उनका निम्नलिखित शब्दों में दिग्दर्शन करा देना भी प्रासङ्गिक ही मान लिया जायगा ।

(१)—सङ्केतित–**'दार्शनिक–संस्कृति'** का जन्म हुआ तीन सहस्र वर्षों के उपक्रमात्मक आचारशून्य, शुष्कतत्त्वविजृम्भणात्मक, अनात्मवादमूलक उस **'शून्यवाद'** से, जिसकी कृपा से ही भारतीय संस्कृति का **'सत्यं–शिवं–सुन्दरम्'** लक्षण विश्वसौन्दर्य्य, तदनुगत **'आचारधर्म्म'** अन्तर्म्मुख ही बन गया, जिस इत्थंभूता दार्शनिकता की भूतोपक्रमोपसंहारमूला विडम्बना से ही अन्तभावापन्न भौतिक–मूर्त्त–दृष्टान्त तो बन गए 'सिद्धान्त', एवं **'आचारात्मक सांस्कृतिक सिद्धान्त'** हो गए जनजीवन से पराङ्मुख । षड्धा विभक्त आस्तिकदर्शन, तथा षट् ही नास्तिकदर्शनों का यह वैडालिक विजृम्भण आगे चलकर **'षट्त्रिंशद्दर्शन'** (छत्तीस दर्शन) वादरूप में परिणत हो गया । और यों इस उभयविधा आचारशून्या-तत्त्वविजृम्भणमात्रैकसारा-दार्शनिकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से सांस्कृतिक–शाश्वतधर्म्म तो हो गया अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक–बुद्धिवादात्मक–वागुत्पीड़नात्मक–शून्यं–शून्यं–लक्षण बौद्धिक–उत्पीड़नमात्र बन गया प्रधान, यही उत्पीड़नकर्म्म कहलाया वह–'दार्शनिक संस्कृति', जिस इस प्रथम, एवं महाभयावह **'महाग्रहग्राह'** की कृपा से ही आगे चल कर उपग्रहात्मक आठ ग्रह और आविर्भूत हो ही तो पड़े ।

(२)—दार्शनिक–भातिसिद्ध–दृष्टियों से कालान्तर में **अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत,** आदि आदि असंख्य वैसे **'सम्प्रदायवाद'** आविर्भूत हो पड़े, जिन साम्प्रदायिक–मतवादों के आवेश से भूतावेशवत् आविष्ट बन जाने वाला राष्ट्रीय जनतन्त्र अपने सांस्कृतिक आचारात्मक अखण्ड–ऐक्य को सर्वथा ही विस्मृत करता हुआ विभिन्न जनतन्त्रों में परिणत हो गया । एवं इस विभिन्नता से ही राष्ट्रीय संघटन उच्छिन्न हो गया, जिन खण्ड–खण्डात्मक सूक्ष्म-स्थूल–विवर–द्वारों से ही अन्य देशीय बर्बर आक्रान्ता (शक–हूण–सिकन्दर–आदि आदि) अनायासेनैव अञ्जसैव इस पुण्यधाम भारतराष्ट्र में प्रविष्ट हो ही तो गए, जिस प्रवेश के कालिक परिणामों से सभी इतिवृत्तवेत्ता सुपरिचित हैं । दार्शनिकता से उत्पन्न हो पड़ने वाले सम्प्रदायवादात्मक इन मतवादों से ही हमारा राष्ट्रीय संघटन–उच्छिन्न हुआ, एवं यही उच्छेद भारतराष्ट्र की परतन्त्रता का प्रमुख कारण बना, इत्यत्र नास्ति सन्देहलेशावसरः ।

(३)—आचारशून्या दार्शनिकता से समुत्पन्ना साम्प्रदायिकता से निःसीमरूपेण उत्पीड़ित हो जाने वाले मानवीय–मन का इत्थंभूत साम्प्रदायिक शुष्कतत्त्वविजृम्भणात्मक कलहभावों से उद्विग्न हो पड़ना स्वाभाविक ही था । परिणामस्वरूप इसी साम्प्रदायिकता के गर्भ से मनोऽनुरञ्जनात्मिका वह **'साहित्यिक-प्रवृत्ति'** ही जागरूक हो पड़ी साम्प्रदायिक युग के उत्पीड़ित मानवीय मनस्तन्त्र में, जिसे प्रोत्साहन मिला मनःशरीरानु-

---

* 'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक निबन्ध के–**'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश'** नामक सातसौ पृष्ठात्मक तृतीय खण्ड में इन नवग्रहों के इतिवृत्त का ही स्वरूप–विश्लेषण हुआ है । चारों खण्डों में से अभी **प्रथमखण्ड** ही प्रकाशित हो पाया है । शेष खण्डों का प्रकाशन सांस्कृतिक–जनतन्त्र के सहयोग पर ही अवलम्बित है ।

बन्धिनी बाह्य-प्रकृति के व्यवस्थापक तद्युगीय सत्तातन्त्रों के द्वारा, जिस युग को हम भारतराष्ट्र का भूतवैभवशाली सुसमृद्ध **'गुप्तयुग'** कह सकते हैं, जिसे आज के पुरातत्त्ववादी अभिनव विद्वान् **'स्वर्णिमयुग'** कहा करते हैं। चान्द्र सम्वत्सरानुगत गन्धर्व–अप्सराप्राणनिबन्धन–मनःशरीरानुगत व्यासङ्गों का, मानसिक **कामनाओं**, तथा शारीरिक–**भोगों** का समुत्तेजक, शृङ्गाररसप्रधान **काव्य, नाटक, चम्पू, गाथा, शिल्प, कला,** आदि आदि मानसिक अनुरञ्जनों से समन्वित, प्रकृतिप्रेमात्मक (जड़भूतप्रेमात्मक) **'साहित्य'** ही इस सुसमृद्ध युग की सुसमृद्धा 'संस्कृति' बन बैठा, जिसे अग्रणी बना कर ही तद्युग के भारतीय साहित्यमर्म्मज्ञ विद्वानोंनें तत्कालीन सत्तातन्त्रों का भी मनोऽनुरञ्जन किया, एवं तदनुग्रह से प्राप्त कार्षापण-खण्डों के अनुदान से अपने आपको कृतकृत्य धन्य अनुभूत करते रहने वाले इन विद्वानोंनें भी अपनी इस स्वोद्भूता साहित्यिक-रसज्ञता, एवं रसकिता के रसास्वादन में अपने आपको आपादमस्तक निमज्जित ही कर लिया। इसप्रकार दार्शनिकता से अभिव्यक्ता प्रकृत्युपेक्षा ने, एवं साम्प्रदायिकता से अभिव्यक्त प्रकृत्युत्पीड़न ने तथाविधा **'साहित्यिक-संस्कृति'** के माध्यम से **'प्रकृतिप्रेम'** को ही अपनी विश्रामस्थली बना लिया। और यों 'आचारसंस्कृति' मूलक प्रकृतिपूजनात्मक आर्षपथ इस साहित्यिक–युग में सर्वथा ही अन्तम्मुख प्रमाणित हो गया, जिसने राष्ट्र के आचारबलोपेत आत्मबुद्धितन्त्रों को तो बना दिया आत्यन्तिकरूपेण पराङ्मुख, एवं राग–रञ्जनादि–समन्वित मनः–शरीर–तन्त्रों को प्रमाणित कर दिया भूतासक्त, जिसके जो भी दुष्परिणाम होने थे, होकर ही रहे कालान्तर में। सहजभावानुसार–हम, और हमारे सत्तातन्त्र साहित्यिक-संस्कृति के विजृम्भणों के आकर्षणों से मनःशरीरविभोर बनते हुए जहाँ काव्य–नाटक–सङ्गीत–कला–शिल्प–आदि से समन्वित सांस्कृतिक ? आयोजनों में हीं अहोरात्र तल्लीन रहते हुए आत्मबुद्ध्यनुगता बलप्रदा आचारनिष्ठाओं से अधिकाधिक पराङ्मुख प्रमाणित होते गए, वहाँ आक्रान्ता आततायी–वर्ग हमारी इस निर्बलता से लाभ उठाते हुए अपने आतिथ्य को इस राष्ट्र में उत्तरोतर दृढ़मूल ही बनाते गए। और इसप्रकार हमनें इन सांस्कृतिक–आयोजनों के महतो महीयान् साहित्यिक–विजृम्भणों के आकर्षण से अपने राष्ट्र का सम्पूर्ण नैष्ठिक वैभव आततायी–वर्गों के प्रति नाचते गाते हुए ही समर्पित कर ही तो दिया।

(४)—लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि–**'हारे का हरिनाम'**। **'दार्शनिक-संस्कृति'** ने प्रकृति से द्रोह कराया, **'साम्प्रदायिक–संस्कृति'** ने प्रकृति को उत्पीड़ित किया, एवं **'साहित्यिक–संस्कृति'** ने 'प्रकृतिप्रेम' का आविष्कार कर डाला, जिस प्रेमावश में आकर भारतराष्ट्र प्रकृतिपूजनात्मक सभी प्रकार के आचारात्मक ऐश्वर्य्यों से सर्वथा वञ्चित ही हो गया। और इसी समृद्धिशून्या शून्यं शून्यं लक्षणा दयनीया विषमा परिस्थिति के गर्भ से ही आगे चलकर **'हारे का हरि नाम'** न्याय से वह **'सन्तसंस्कृति'** आविर्भूत हो पड़ी, जिसका प्रधान पुरुषार्थ बना–**झञ्झा–ताल–मृदङ्ग–वाद्यादि से समाप्लुतत–नामसंकीर्तन** *। साहित्यिक–संस्कृति मे अनुप्राणित नायक–नायिका–के शृङ्गाररसप्रधान यच्चयावत् साहित्यिक भेदोपभेद कालान्तर में भगवद्भक्तिरूपा इस सन्तसंस्कृति के भी अङ्गोपाङ्ग बन गए, किंवा बलपूर्वक बना दिए गए। और इस सन्तसंस्कृति के अनुग्रह से ही आगे चलकर भारतीय जनजीवन का राष्ट्रीय–राजनैतिकक्षेत्र से एकान्ततः ही मूलोच्छेद हो

---

*-अवहाय निजं धर्म्मं राम–कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्म्मार्थं जन्म यद्धरेः॥

गया । संस्कृति,तदभिन्न धर्म्म, तन्मूलक सत्तातन्त्र, तदनुगता राजनीति, समाजनीति, लोकनीति, **पारिवारिक** जीवनपद्धति, **वैय्यक्तिक–स्वरूपाभिव्यक्ति**, आदि आदि सम्पूर्ण समस्याएँ इस भक्तिसरोवर में धुल-पुँछकर वैसी निर्लिप्ता हीं बन गईं, मानो जनजीवन के साथ इन समस्याओं का कभी कोई सम्बन्ध ही न रहा हो । **'कोउ हो नृप हमें का हानि'** का निनाद ही इस निर्लिप्तता के स्पष्टीकरण के लिए पर्य्याप्त है । सच्चिदानन्दघन सत्तासिद्ध भगवान् को भी भातिसिद्धा भावना के भूखे प्रमाणित कर देने वाली इस सन्तसंस्कृति की कृपा से ही राष्ट्र के सत्तासिद्ध सभी आचार भातिसिद्ध ही प्रमाणित हो गए । आत्मबुद्धिविस्मृत, मनःशरीरदास ही नहीं, अपितु दासानुदास भक्त एक ओर तो सब ओर से निस्पृह, निर्लिप्त बन गए प्रकृतिसिद्ध–भौतिक–आचारों से, एवं दूसरी ओर अपनी कल्पनात्मिका भावना, किंवा भावुकता के साम्राज्य में वैसी वैसी मानसिक–तुष्टि–पुष्टियों का सर्ज्जन करने लग पड़े, जिन तुष्टि–पुष्टियों का इतिहास सम्भवतः अब तो प्रज्ञाशीलों के लिए परोक्ष न रहा होगा, इत्यालप्यालमेवेति विरम्यते ।

(५)—राष्ट्रीय मूलसंस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के–'सन्देशवहन' जैसे महान् सांस्कृतिक उत्तरदायित्त्व से समन्वित राष्ट्रीय ब्राह्मण ने क्या किया इन तथोक्त वेतालचेष्टित त्रिसहस्र–वर्षात्मक विभिन्न सांस्कृतिक–विजृम्भणों को पुष्पित–पल्लवित होते देख कर ?, प्रश्न के यथार्थ समाधान का यहाँ अवसर नहीं है । युगधर्म्मानुगता सत्तासापेक्षताओं के कालिक–दैशिक प्रलोभनों से आत्मसंवरण करने में असमर्थ बन जाने वाले राष्ट्रीय ब्राह्मण की प्रज्ञा भी युगधर्म्मानुगत प्रवाहों में ही प्रवाहित होती रही । और तद्दुष्परिणामस्वरूप ही इसने भी सत्तातन्त्रानुरञ्जनधिया युगधर्म्मानुगता तथाकथिता विभिन्न संस्कृतियों का समर्थन–पोषण–अभिनन्दन ही प्रक्रान्त रक्खा । इसकी इन्हीं विभिन्न प्रक्रान्तियों से जो एक नवीन **सांस्कृतिक–अभ्व** आविर्भूत हो पड़ा, उसे हम अभी समझने के लिए–**'अभिनव–शास्त्रसंस्कृति'** नाम से ही व्यवहृत करेंगे । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, एकमात्र ब्राह्मणनें ही श्रुति-स्मृति-पुराण–मूला मूलसंस्कृति, एवं सांस्कृतिक–आचार–आयोजनों की अभिधाओं का संरक्षण त्रिसहस्रवर्षात्मक सांस्कृतिक संघर्षकाल में भी येनकेनरूपेण गच्छतः स्खलनरूपेण प्रक्रान्त रक्खा, जिस इस महती प्रक्रान्ति के लिए राष्ट्र के सभी प्रज्ञाशील तो इस राष्ट्रीय–ब्राह्मण के प्रति कृतज्ञताञ्जलियाँ हीं समर्पित करते रहेंगे यावच्चन्द्रदिवाकरौ । इस उपकार को अवनतशिरस्करूपेण स्वीकृत करते हुए भी हमें यह निवेदन कर देने में भी कोई संकोच नहीं हो रहा कि, 'संस्कृति' की नामभक्ति के साथ साथ राष्ट्र के ब्राह्मणवर्ग ने युगधर्म्मानुगत व्यामोहनों का भी लोकभावुकता–संरक्षण के व्यामोहन से उस सीमापर्य्यन्त समर्थन ही कर डाला, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचते ही संस्कृति का ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक–स्वरूप तो हो जाता है अन्तर्म्मुख, एवं युगधर्म्मानुगता मान्यताओं की समष्टि ही बन जाती है **'शास्त्र'** । कल्पित–व्याख्याव्यामोहनात्मक इत्थंभूत **'अभिनवशास्त्र'** ही भारतीय ब्राह्मणविद्वान् की दृष्टि में प्रधान बन गया, जिस इस अभिनवशास्त्र की कृपा से ही मूलशास्त्र का मौलिक स्वरूप सर्वथा ही परा:परावत प्रमाणित हो गया * । विभिन्न दार्शनिक व्याख्याग्रन्थ, साम्प्रदायिक ग्रन्थ, साहित्यिक ग्रन्थ, भक्ति–ग्रन्थ, अभिनव न्याय–व्याकरणादि शास्त्रार्थग्रन्थ, आदि आदि स्वतन्त्र शास्त्र इस भूसुर की युगधर्म्मानुगता

---

* **हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहिं पन्थ ।**
जिमि विवाद पाखण्डतें लुप्त भए सद्ग्रन्थ ॥

सत्तासापेक्षा प्रज्ञा के ही प्रसून माने जायँगे, जिस इस अभिनवशास्त्रभार से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः भाराक्रान्त बन जाने वाले इस राष्ट्रीय ब्राह्मण के प्रज्ञाकोश में वैसा समय ही शेष नहीं रहा, जिसमें स्वस्थता–प्रकृतिस्थता–पूर्वक यह राष्ट्र की मूलसमस्याओं के सम्बन्ध में मूलसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक शाश्वत–स्वरूप पर दृक्पात कर लेता। और अब तो इसका यह व्यक्तित्वविमोहन इस सीमाबिन्दु पर आ पहुँचा है कि, अपनी युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के अतिरिक्त यह एक अक्षर भी सुनना अभीप्सित नहीं मान रहा, फिर भले ही इन मान्यताओं से इसका, एवं इसके साथ साथ राष्ट्रीय प्रगति का कितना ही बड़ा अहित ही क्यों न होता रहे।

(६)—महत्सौभाग्य से तीन सहस्र वर्षानन्तर भारतराष्ट्र परतन्त्रता के वारुणपाश से उन्मुक्त हुआ है, इति हि कर्णाकर्णिपरम्परया श्रूयते। बन्धनमुक्तिकालात्मिका श्रुतोपश्रुता दशवर्षीया अवधि में पूर्वोक्ता विभिन्न संस्कृतियों से सर्वथा ही विभिन्न एक अपूर्वा अभिनवसंस्कृति सहसा और आविर्भूत हो पड़ी है, जिसे हम सन्दर्भसमन्वय की दृष्टि से **'लोकसंस्कृति'** नाम से सम्मानित मान लेते हैं। **'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'** इत्यादि सुप्रसिद्ध आभाणक की कृपा से ही आज की अश्रुत-अदृष्ट-पूर्वा 'लोकसंस्कृति' का जन्म महोत्सव उपक्रान्त हो पड़ा है राष्ट्र के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रभुसत्तासमर्थ गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रात्मक भारतीय सत्तातन्त्र के ही द्वारा। दर्शन से ऊब कर मानव ने **'सम्प्रदाय'** को जन्म दिया, इससे थक कर **'साहित्य'** का सर्जन किया, इससे उपरत होकर **'रामभजन'** का अनुगमन किया, इन सब के सम्मिश्रण से **'शास्त्रीय आवेश'** प्रादुर्भूत हो पड़ा। और इन सब को अथ से इतिपर्य्यन्त जलाञ्जलि समर्पित कर आज की बन्धनमुक्ता प्रज्ञा ने **'लोकसंस्कृति'** के नाम से धर्म्मनिरपेक्ष-संस्कृति–सभ्यता–आदर्श–आचार-आदि आदि से निरपेक्ष एक वैसी **'सांस्कृतिक–आयोजन'** पद्धति का आविष्कार कर ही तो डाला, जिस के विराट् तेज के सम्मुख तो त्रिसहस्र–वर्षावधि के तथोक्त सभी सांस्कृतिक–विजृम्भण एकान्ततः पराभूत–पराजित ही हो गए। और यों इन ६ ओं सांस्कृतिक ? परम्पराओं का त्रिसहस्रवर्षात्मक यह इतिवृत्त इस छठी लोकसंस्कृति पर ही विश्रान्त हुआ।

सत्तासापेक्षतामूला 'संस्कृति' से सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोक्त वर्गभेदों के द्वारा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, भारतराष्ट्र की **श्रुतिमूला संस्कृति, स्मृतिमूलक सांस्कृतिक-आचार**, तथा **पुराणमूलक सांस्कृतिक–आयोजन**, संस्कृति के ये तीनों हीं प्रक्रम युगधर्म्मानुगता मान्यताओं से अनुप्राणित होते हुए अपने मौलिक सांस्कृतिक–स्वरूप से आत्यन्तिकरूपेण अभिभूत ही होगए हैं। एवं इस सांस्कृतिक–अभिभव से ही भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्र वर्षों से राष्ट्रीय–संघटन से वञ्चित होता हुआ परतन्त्र ही प्रमाणित होता आ रहा है। सुन रहे हैं, भारतराष्ट्र आज 'स्वतन्त्र' हो गया है। वस्तुस्थिति तो वास्तव में कुछ ऐसी है कि, आज के इस सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–भारतराष्ट्र के प्रज्ञाकोश में **'स्व'** कहने योग्य कोई भी 'तन्त्र' शेष नहीं रह गया है, जिस 'स्व' (अपने) 'तन्त्र' में प्रतिष्ठित होने के अनन्तर ही **'स्वतन्त्र'** उपाधि अन्वर्थ बना करती है। भारतराष्ट्र का वह 'स्व' 'तन्त्र' तो इस का अपना **'सांस्कृतिक–तन्त्र'** ही माना गया है, जिस 'स्व' सांस्कृतिक-तन्त्र के पाशबन्धनविमोक के लिए ही राष्ट्रीय–जनतन्त्र ने 'ब्रिटिश' नामक **'पर'** तन्त्र से प्रचण्ड संघर्ष किया था। संघर्ष के परिणामस्वरूप राष्ट्र से 'पर' तन्त्र के प्रवर्त्तक ब्रिशिशतन्त्र का तो निर्गमन होगया। किन्तु हम आजतक **'स्व'** तन्त्र की कोई निश्चित परिभाषा न कर सके। सहजभाषा में–हमारे राष्ट्रीय अभिनव–कर्णधारों को स्वयं भारतराष्ट्र के प्रज्ञाकोश में 'स्व' जैसी कोई सांस्कृतिक–आचारविभूति–जीवनपद्धति आजतक उपलब्ध

हो ही नहीं सकी। इसी अनुपलब्धि के कारण हमारे राष्ट्रीय नेताओंनें परतन्त्रतापाशप्रवर्त्तक 'पर' तन्त्रों के 'पर' भावों को, प्रतीच्य देशों के विधि–विधानों, नियमों, भौतिक–जीवनपद्धतियों, योजना–आयोजनाओं, समाज–लोकनीतियों को ही भारतराष्ट्र की 'प्रगति' के लिए एकमात्र महान् 'राजपथ' मान लिया है। और यों अपने 'परतन्त्रताकाल' में जिन 'पर' भावों से राष्ट्र आत्यन्तिकरूपेण उत्पीड़ित होचुका था, उन 'पर' अतिथियों के ससम्मान परावर्त्तित होते ही इस राष्ट्र ने उन 'पर' भावों को ही अपना 'स्व' मान लिया है, और यही है आज के भारत के 'स्व' 'तन्त्र' की यशोगाथा का वह नग्नचित्रण, जिसे देख सुन कर राष्ट्रीय सांस्कृतिक–हृदय परतन्त्रताकाल से भी कहीं अधिकरूपेण उत्पीड़ित हो पड़ा है। ऐसा क्यों ?, और कैसे घटित विघटित हो पड़ा ?, आज प्रत्येक राष्ट्रीय मानव के सम्मुख यही प्रश्न अनतिप्रश्नात्मक एक महान् भयावह **'असमावेयप्रश्न'** बन कर समुपस्थित है, जिसका प्रयास–पूर्वक ढूँढे से भी हमें कोई वास्तविक समाधान उपलब्ध हो ही नहीं रहा।

ऐसा यों, और ऐसे घटित विघटित हो पड़ा कि, सांस्कृतिक–दासता के विगत तीन सहस्र–वर्षों में राष्ट्र को–'स्व' नाम से जो भी कुछ उपलब्ध होता आ रहा है यहाँ के तथाकथित **दार्शनिकों, सम्प्रदायाचार्य्यों, साहित्यिकों, सन्तों,** तथा शास्त्रभक्त **विद्वानों** से, वह सबकुछ आपातरमणीयरूप से ही, प्रातिभासिकरूप से ही 'स्व' प्रमाणित हो रहा था, जो कि **'स्व'** वास्तव में था **'पर'** ही, जिसे ही 'स्व' की भ्रान्ति से भारतराष्ट्र प्राणपण से अपनाता रहा, और इसी प्रतारणात्मक **'सांस्कृतिक–स्व'** से यह तथोक्त अवधि में उत्तरोत्तर 'पर' भावाक्रान्त ही बनता रहा, जिस इस परम्परानुगता भ्रान्ति से ही आज भी इस के द्वारा 'पर' भावों को ही 'स्व' भाव मान बैठने जैसी भयावहा भ्रान्ति का पुनरावर्त्तन हो पड़ा है।

अतएव यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक है कि, यदि भारतराष्ट्र को अपने वास्तविक–'स्व' तन्त्र के दर्शन की जिज्ञासा है, तो इसे तीन सहस्र–वर्षों का अतिक्रमण कर तत्पूर्व के युग को ही लक्ष्य बना लेना पड़ेगा। बिना ऐसा किए अन्यान्य प्रयत्नसहस्रों से भी, त्रिसहस्रवर्षावधि में भावुक–मानवों की प्रतारणामात्र के लिए प्रतारणाकुशल लोकचतुर मानवों के द्वारा आविष्कृत, सर्वथैव आचारशून्य, लोकप्रिय, आपातरमणीय **सत्य–अहिंसा–दया–परोपकार–त्याग-तपस्या–बलिदान–करुणा–मानवता–विश्वमैत्री**–आदि आदि घोषणात्मक शब्दों के अहर्निश पुण्यपाठ प्रक्रान्त रखते हुए भी भारतराष्ट्र न तो अपने वास्तविक 'स्व' तन्त्र का ही साक्षात्कार कर सकेगा, एवं न इस का 'पर' तन्त्रों के वारुणपाशों से विमुक्त ही हो सकेगा।

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट–स्पष्टतर–स्पष्टतम है। और इस तात्पर्य्य के स्पष्टीकरण के लिए ही तीन सहस्र–वर्षों से पूर्व की उस सांस्कृतिक **'अभिधा'** की ओर ही संस्कृतिप्रेमियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास प्रक्रान्त हुआ है, जिस-**'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य'** नामकी इस अभिधा-मात्र के अक्षरार्थसमन्वय के लिए भी राष्ट्रप्रज्ञा को तीन सहस्र वर्षों से पूर्व के **'स्व'** भाव की ही, **'स्व'** तन्त्र की ही शरण में आना पड़ेगा–**'नान्यः पन्था विद्यते–अयनाय'**।

मानव, उसका 'उक्थ', उक्थ का **'वैराजिक'** भाव, एवं तदनुगत **'ब्रह्मोद्य'**, इन चार शब्दों के चिरन्तन–इतिवृत्त के गर्भ में ही भारतराष्ट्र के **'स्व'** का सम्पूर्ण महिमाभाव पिनद्ध (सुरक्षित) है, जिस के साक्षात्कार के लिए तो हमें नवग्रहग्राहों की मान्यताओं को प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित करते हुए त्रिसहस्रवर्षात्मक **दार्शनिक–संस्कृत्यादि लोकसंस्कृत्यन्त** यच्चयावत् विमोहनों से अपने आप को एकान्ततः निरपेक्ष ही प्रमाणित कर लेना पड़ेगा। तभी हमें श्रुतिमूला ज्ञानविज्ञानात्मिका विशुद्धा 'संस्कृति' के, स्मृति–मूलक 'सांस्कृतिक–आचार' के, तथा पुराणमूलक 'सांस्कृतिक–आयोजनों' के वास्तविक उस गुहानिहित

चिरपुरातन–चिरनूतन–सांस्कृतिक–सत्य के दर्शन उपलब्ध हो सकेंगे, जिस सत्य के आधार पर ही मनुकेन्द्रावच्छिन्न परिपूर्ण सांस्कृतिक मानव का उक्थ–वैराजिकरूप-ब्रह्मोद्य–लक्षण 'स्व' तन्त्र व्यवस्थित हुआ है। **'मानवाश्रम–संस्थान'** मनःशरीरमूलक **'श्रम'**, एवं बुद्धिमूलक **'परिश्रम'** से समन्वित भूतात्मनिबन्धन उस **'आश्रम'** जीवन की संस्कृति के ही **'उक्थवैराजिक'** तथ्य का **'ब्रह्मोद्य'** अभिव्यक्त करने के लिए निरन्तर ३० वर्षों से प्रयत्नशील है, जिस प्रयत्न के गर्भ में ही इसे भारतराष्ट्र के 'स्व' 'तन्त्र' की प्रतिच्छाया आंशिक–रूप से उपलब्ध हो सकी है।

अपनी सांस्कृतिक–प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में ही मध्ये मध्ये मानवाश्रम में वैसी लोकानुबन्धिनी एषणाएँ भी अवश्य ही जागरूक होतीं रहतीं हैं, जिन से मानवश्रव ने काले काले उद्बोधन ही प्राप्त किया है। **'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** के सम्मान्य मन्त्री डॉ० **वासुदेवशरण अग्रवाल** महाभाग की कालिक प्रेरणा से कुछ समय पूर्व हमें केन्द्रसत्ता के सान्निध्य में जाने का महद्भाग्य प्राप्त हुआ था *। सन्निकट से भारतीय सत्ता के साक्षात्कार का हमारा यह प्रथम ही अवसर था, जिस इस प्रथमावसर ने हीं हमें जो महान् उद्बोधन प्रदान किया, तत्परिणामस्वरूप ही **'सत्तानिरपेक्ष उद्बोधनात्मक सांस्कृतिक–निबन्ध'** उपनिबद्ध हुआ है।

हमने सत्ता के सान्निध्य में यह अनुभव किया कि, वर्तमान भारतीय सत्तातन्त्र भारतराष्ट्र की भौतिक बाह्य-प्रगतियों के लिए जहाँ सतत जागरूक है, वहाँ इन भौतिक–प्रगतियों की मूलाधारभूता प्राणप्रतिष्ठात्मिका एतेद्दशीया मौलिक शाश्वत–संस्कृति, तथा तदनुगता सनातन–सभ्यता की दिशा में हमारा सत्तातन्त्र स्वतन्त्रता के नव–जागरणात्मक दशवर्षीय काल में भी उन्मुक्त हृदय से जागरूक नहीं बन पाया है, जब कि इसे 'संस्कृति' शब्द से अगाध प्रेम तो अवश्य ही है, जिस इस अगाध सांस्कृतिक–प्रेम के परिचायक भारतराष्ट्र के नगरे नगरे ग्रामे ग्रामे गृहे गृहे सोल्लास समायोजित नृत्य–गीत–वाद्यादि लक्षण वे महान् **'आयोजन'** ही प्रमाणित हो रहे हैं, जो आबाल–वृद्ध–वनिता, आमूर्ख–विद्वज्जन, यच्चयावत् वर्गों में–**'सांस्कृतिक–आयोजन'** अभिधा से सुप्रसिद्ध हैं।

तथाविध **'सांस्कृतिक–आयोजनों'** के रूप से आज भारतराष्ट्र में **'संस्कृति'**, किंवा **'सांस्कृतिक आचार'** के नाम से जैसा जो कुछ घटित विघटित हो रहा है ?, क्या भारतराष्ट्र की मौलिक **संस्कृति**, एवं **सनातन सभ्यता** का ऐसा ही स्वरूप है ?, यही वह महत्त्वपूर्ण सामान्य प्रश्न ही नहीं, अपितु अनतिप्रश्नात्मक एक वैसा **'असमाधेयप्रश्न'** प्रमाणित हो रहा है, जिसका प्रयास करने पर भी सुसंस्कृत देववाणी के संस्कृति, सभ्यता शब्दों के वाच्यार्थों की मर्यादा से तो हमें कोई भी अनुरूप समाधान उपलब्ध हो ही नहीं रहा। ऐसी मान्यता ही नहीं, अपितु नैष्ठिकी आस्था है कि, यदि हमारे राष्ट्रीय कर्णधार घुणाक्षरन्यायेनापि एकबार भी 'संस्कृति' शब्द के वाच्यार्थ (लाक्षणिक अर्थ नहीं) पर भी दृष्टिपात का निःसीम अनुग्रह कर लेते, तो आत्म–बुद्धि–भावों से एकान्तः असंस्पृष्ट, केवल मनःशरीरनिबन्धन इत्थंभूत भौतिक–वैकारिक आयोजनों को **'सांस्कृतिक–आयोजन'** जैसी पावन अभिधा से तो वे कदापि समन्वित नहीं कर डालते। **ऐसा कैसे, और**

---

* केन्द्रसत्ता के सर्वोच्च प्रतीक **महामहिम राष्ट्रपति महाभाग** की विशेष प्रेरणा से दिसम्बर सन् ५६ में **'सम्वत्सरमूला–अग्नीषोमविद्या'**,–**'पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या'**,–**'मानव का स्वरूप–परिचय'**,-**'अश्वत्थविद्या का स्वरूप-परिचय'**,–एवं **'वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय'** नामक पाँच व्याख्यान हुए थे, जो संस्थान के द्वारा ही प्रकाशित हुए हैं।

क्यों हो पड़ा ?, अपनी वाच्यार्थसीमा में भारतराष्ट्र के ज्ञानविज्ञानात्मक समस्त आत्मिक–बौद्धिक–महतो–महीयान् ऐश्वर्य्य को प्रतिष्ठित रखने वाला 'संस्कृति' शब्द यों सहसा युगधर्म्मानुगत, मानस-विनोदात्मक प्राकृत भावों के साथ कैसे समन्वित हो पड़ा ?, जब कि **'समब्रह्म'** नामक अव्ययेश्वर की परिपूर्ण सनातन–**'कृति'** के अभिव्यञ्जक **'संस्कृति'** शब्द का तथाविध **कुतूहलों** के साथ स्वाप्निक सम्पर्क भी तो नहीं है ।

सचमुच ही प्रश्न न केवल गम्भीर ही है, अपितु भारतराष्ट्र की **शाश्वत-संस्कृति**, एवं तदनुगता **सनातन–सभ्यता** को तो यह प्रश्न एक वैसा उद्बोधन ही प्रदान कर रहा है, जिस उद्बोधन से भी यदि राष्ट्र की सांस्कृतिक–प्रज्ञाएँ उद्बुद्ध न हो सकीं, तो भारतराष्ट्र का **'सांस्कृतिक-चिरन्तन-इतिवृत्त'** कालान्तर में उसी प्रकार **नर्त्तन–गायन–वादनादि** रूप इन आयोजनों पर ही परिसमाप्त हो जायगा, जैसे कि विगत तीन सहस्र–वर्षावधि के सांस्कृतिक–संघर्षकाल में पुष्पित पल्लवित होतीं रहने वालीं सत्तासापेक्ष, मतवादभिनिविष्ट साम्प्रदायिक विद्वानों की साम्प्रदायिक–व्याख्या–परम्पराएँ हीं, तदनुगता मतवादात्मिका मान्यताएँ हीं संस्कृति, सांस्कृतिक आचार, तथा धर्म्म नाम से जनसाधारण में प्रसिद्ध हो गई हैं, एवं जिस इस प्रसिद्धि के अभिशाप से ही अबतक राष्ट्रीय सांस्कृतिक–संघठन उच्छिन्न ही प्रमाणित होता आरहा है ।

* अणोरणीयान्, तथा महतोमहीयान् आज के राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक, तथा वैयक्तिक कर्त्तव्य-क्षेत्रों में उसीप्रकार तथोपवर्णित सांस्कृतिक–आयोजनों को प्राथम्य–समर्पित किया जारहा है, जैसे कि भारतीय कर्त्तव्यक्षेत्रों में सर्वप्रथम इष्टदेवात्मक माङ्गलिक–संस्मरण का प्राथम्य स्वीकृत हुआ है । और अब तो हमारा यह **'आयोजनप्रेम'** राष्ट्रसीमा का अतिक्रमण कर उस **'अन्तर्राष्ट्रीय–ख्याति'** का भी सम्मानित अतिथि बन गया है, जिस इस अन्तर्राष्ट्रीय–ख्यातिविमोहनने हीं भारतराष्ट्र को स्वस्वरूपदर्शन से आत्यन्तिकरूपेण उस सीमापर्य्यन्त विमुख ही प्रमाणित कर दिया है राष्ट्र की समर्थ प्रज्ञाओं को, जिनके प्रज्ञाकोष में भारतराष्ट्र की छोटी बड़ी, यच्चयावत् समस्याओं के समाधान की आधारभूमि आज एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय–विधि–विधान ही बने हुए हैं । मनः-शरीर से विभोर है आज हमारा राष्ट्र इत्थंभूत सांस्कृतिक–शिष्टमण्डलों के गमनागमन-द्वारा उपलब्ध होते रहने वाले सांस्कृतिक तथ्यों के आदान–प्रदान से । और यों हम आज इन अपने ! सांस्कृतिक ! आयोजनों से विदेशों में भारतराष्ट्र ? की संस्कृति ? का यशःख्यापन ? करते जा रहे हैं, एवं प्रतिदान में अनुग्रह कर वहाँ के सांस्कृतिक शिष्टमण्डल हमें वहाँ की संस्कृति से कृतार्थ बना रहे हैं । यों आदान–प्रदानात्मक इत्थंभूत सांस्कृतिक–आयोजनों की गरिमा–महिमा के माध्यम से ही आज का सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रभुसत्तासमर्थ गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रात्मक भारतराष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता का मानो उद्घोष ही करता जा रहा है ।

तथाविध महान् उद्घोष को आधार बना कर, उद्घोष के मूलाधारभूत **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** को लक्ष्य बनाकर ही विगत सम्वत्सर में 'मानवाश्रम' की अन्यान्य साहित्यिक–सांस्कृतिक–प्रवृत्तियों के साथ साथ प्रस्तुत निबन्ध कालप्रेरणयैव उपनिबद्ध हो पड़ा, जिसका 'संस्कृति' के आकर्षण से नामकरण हुआ–**"सत्तानिरपेक्ष 'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त, तथा भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा"** यह । कामना थी कि, राष्ट्र के किसी संस्कृतिमर्म्मज्ञ से इस निबन्ध के 'प्रास्ताविक' के लिए प्रार्थना की जाती । किन्तु 'संस्कृति' शब्द के साथ समन्वित हो पड़ने वाले 'सत्तानिरपेक्ष' शब्द की जटिलता के कारण हमने तत्प्रयास को कार्य्यरूप में परिणत करना सामयिक नहीं

---

* छोटे से छोटे, एवं बड़े से बड़े ।

माना । अतएव हमने स्वयं ही **'किमपि प्रास्ताविकम्'** के रूप से एक वैसे प्रास्ताविक का निबन्ध के पूर्व में ही समावेश कर देना इस लिए सामयिक मान लिया है कि, दिग्देशकालानुबन्धिनी सम–विषमा स्थिति–परिस्थितियों के कारण अनेक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यकर्म्मों में व्यस्त रहने वाले जिन अभिनव पाठकों के कालिक-कोश में विस्तृत–निबन्धावलोकन का समय नहीं है, वे प्रास्ताविकमात्र से भी निबन्धोपवर्णित विषयों का विहङ्गमदृष्ट्या अवश्यमेव समन्वय कर सकेंगे ।

एक सहस्र–पृष्ठात्मक इत्थंभूत सांस्कृतिक–निबन्ध के सम्बन्ध में **'प्रकाशन–समस्या'**–की विषमता स्वाभाविक ही थी, जिस विषमता के कारण ही निबन्ध अन्यान्य उद्बोधक–सामयिक–निबन्धों की भाँति अब–तक अप्रकाशित ही बना रहा । इस के साथ ही वर्त्तमानयुग के उत्तालतरङ्गायित सांस्कृतिक–आयोजनों के अश्रुतपूर्व इतिवृत्तों के वास्तविक तथ्य से राष्ट्रीय जनतन्त्र को परिचित कराने की कामना से एतत्प्रकाशन-कामना अनुदिन उत्पीड़न का कारण भी बनती रही, जिसे हमने विगत कार्त्तिकमास में अपने एक वैसे सांस्कृतिक–सहयोगी के सम्मुख अभिव्यक्त कर देने का साहस, किंवा दुस्साहस कर ही तो डांला, जिसके प्रतिदानासंस्पृष्ट विशुद्ध सांस्कृतिक–सहयोग से ही **'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य–(मानवश्रम)'** की सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ येन–केनरूपेण आरम्भ से अद्यावधि पर्य्यन्त प्रक्रान्त हैं, एवं भविष्य में भी प्रक्रान्त रहेंगीं हीं । लोकैषणा से सर्वथा असंस्पृष्ट उस सांस्कृतिक मानवश्रेष्ठ से हमारे सभी सांस्कृतिक सहयोगी सुपरिचित हैं ।

सुप्रसिद्ध व्यवसायपति श्रेष्ठिप्रवर मानवश्रेष्ठ **श्रीकुड़ीलालजी सेकरीया** महाभाग एक ओर दिग्देशकालानुबन्ध से जहाँ लोकप्रचलित व्यावसयिक तन्त्र के प्रति जागरूक हैं, तो दूसरी ओर आप का वैय्यक्तिक–हृदय भारतीय संस्कृति, तदाचार, एवं तदायोजनों के प्रति भी सहजरूपेणैव श्रद्धान्वित है । एवं इस सहज श्रद्धानाकर्षण से ही व्यवसायानुगता उन वर्त्तमान प्रणालियों से यथाशक्य आप अपने आप को असंस्पृष्ट ही प्रमाणित करते रहते हैं, जिन प्रणालियों में आसक्त हो जाने के अनन्तर मानवीय–मन कदापि संस्कृति, एवं तदभिन्न निरपेक्षधर्म्म के प्रति श्रद्धान्वित नहीं रहा करता । एकमात्र इस सांस्कृतिक–आकर्षण से ही आप का **'मानवाश्रमसंस्थान'** के प्रति सदा से ही उत्तरदायित्त्वपूर्ण दृष्टिकोण रहा है । अतिरञ्जन से एकान्तः असंस्पृष्ट इस साहित्यसेवी को इस मानवश्रेष्ठ की सहज–सौम्या श्रद्धान्विता ऋजुप्रज्ञा, एवं तदनुप्राणिता सहज मानवता के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देने में भी कोई संकोच नहीं हो रहा कि, यदि भारतराष्ट्र के सम्पन्न श्रेष्ठिमहाभाग आप जैसी उत्तरदायित्वपूर्णा सहज–सांस्कृतिक–निष्ठा के अनुगामी बन जायँ, तो राष्ट्र के सांस्कृतिक–जीवन में वैसे नवजीवन का सञ्चार हो सकता है, जिसके बिना आज भारतराष्ट्र निष्प्राणवत् ही प्रमाणित हो रहा है । और हमारी ऐसी आस्था है कि, मानवाश्रम को तथाकथित मानवश्रेष्ठ से यथास्थिति, यथायुग जैसा सहयोग निर्व्याजरूपेण मिल रहा है, उस के बल पर भी **'उक्थवैराजिक'** की सर्वनिरपेक्षा **सांस्कृतिक–प्रवृत्तियाँ** सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही सांस्कृतिक–जागरण का निमित्त बन सकेंगी, इसी सांस्कृतिक–निमित्तानुबन्ध से प्रस्तुत **सांस्कृतिक–निबन्ध** लोकानुबन्धिनी **'कृतज्ञता'** के रूप में हमारी सम्पूर्ण वैय्यक्तिक–पारिवारिक, तथा सांस्कृतिक यच्चयावत् भौतिक–प्रवृत्तियों के प्रमुख केन्द्र उन श्रेष्ठिप्रवर **श्रीकुड़ीलालजी** सेकसरिया महाभाग के प्रति **समर्पित** करते हुए हम मनस्तुष्टि का ही अनुभव कर रहे हैं ।

आज से अनुमानतः चार वर्ष पूर्व आप ही की ओर से प्रेतपितृविद्यात्मक–खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञान के **आत्मविज्ञानोपनिषत्**, एवं **सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्** नामक सहस्र–पृष्ठात्मक दो खण्ड न केवल प्रकाशित ही हुए थे, अपितु आप ही की ओर से दोनों खण्ड देश–विदेश के विद्वानों की सेवा में

भेजे गए थे, जिसके सुपरिणामस्वरूप ज्ञानविज्ञानात्मिका राष्ट्रीय–संस्कृति के जागरण को पर्य्याप्त बल मिला था। और हमारा दृढतम आत्मविश्वास है कि, प्रस्तुत सांस्कृतिक निबन्ध का वितरण भी इस दिशा में आशातीत प्रगति का कारण प्रमाणित हो सकेगा।

अपने वैय्यक्तिक–पारिवारिक, तथा सामाजिक यच्चयावत् आवश्यक भी लोकानुबन्धों के प्रति आत्यन्तिकरूपेण कृपणतम बने रहने वाले इस साहित्यसेवी ने तत्प्रयुक्त सभी संघर्ष–कष्टपरम्पराओं का अभिनन्दन करते हुए ही मानवश्रमसंस्थान की इत्थंभूता सांस्कृतिक–प्रवृत्तियों को येनकेनरूपेण अद्यावधि प्रक्रान्त रखने की चेष्टा में यत्किञ्चित् भी उपेक्षा नहीं की है, जिस चेष्टानुग्रह से ही प्रस्तुत निबन्ध प्रकाशनपथानुगामी बन सका है। सर्वथा एकाकीरूपेण अपने सीमित साधनों के द्वारा कृच्छ्ररूप से प्रकाशित होने वालीं इन सांस्कृतिक–प्रवृत्तियों में यदि प्रकाशन–सम्बन्धिनी असावधानी रह जाय, तो कोई आश्चर्य्य नहीं है। तदर्थ कृपालु पाठकों से क्षमा–याञ्चा के अतिरिक्त अन्य समाधान की चेष्टा करना तो व्यर्थ ही प्रमाणित होगा। मूलप्रति से आरम्भ कर प्रेसप्रतिलिपि, संशोधन, एवं अन्यान्य प्रकाशन–व्यवस्थादि, सभी लोकानुबन्धी संघर्षों में एकाकीरूपेण व्यस्त रहने कारण यदि मादृश वेदाभ्यासजड़मति, लोककौशलशून्य व्यक्ति से ऐसे अपराध बन पड़ें, तो निश्चयेन सांस्कृतिक–प्रज्ञाओं की दृष्टि में वे क्षम्य ही प्रमाणित होते रहेंगे।

मानवाश्रम की ऐसी निर्व्याजकामना है कि, यह दिग्देशकालानुबन्धिनी युगधर्म्मानुगता यच्चयावत् मान्यताओं से अपने आपको यथाशक्य निरपेक्ष रखता हुआ एकमात्र **'राष्ट्रनिष्ठा'**–सुबन्ध से ही अपनी सांस्कृतिक–प्रगतियाँ प्रक्रान्त रक्खे, जिस इस प्रक्रान्ति के प्रमाणन के लिए ही प्रस्तुत **'उद्बोधनात्मक–सांस्कृतिक–निबन्ध'** सस्कृतिनिष्ठों की आशीःकामना के लिए लोकाभिव्यक्ति का अनुगामी बनने जारहा है। यह निर्विवाद, एवं असंदिग्ध सत्य है कि, युगधर्म्मानुगता सभी मान्यताओं से निरपेक्ष बने रहने वाले इत्थंभूत सांस्कृतिक प्रयासों का लोकानुगत बन जाना असम्भव नहीं, तो कठिनतम तो अवश्य ही है। अपनी इत्थंभूता कठिनतमा परिस्थितियों में **'कालं कालेन पीड़यन्'** इत्यादि स्मार्त्त सांस्कृतिक आदेश को शिरोधार्य्य कर अनन्तकाल से अपने सादि सान्त भौतिककाल को निरतिशयरूपेण समुत्पीड़ित करते हुए ही मानवाश्रम कृच्छ्रतापूर्वक ही सांस्कृतिक–देवता की आराधना में सर्वतोभावेन समर्पित है, जिसका किसी भी दिग्देशकालानुबन्धी व्यक्त फल के साथ कोई भी आकर्षण नही है।

आकर्षण है एकमात्र यही कि, **श्रुति–स्मृति–पुराण**–सम्मता मौलिक **संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार,** तथा **सांस्कृतिक-आयोजनों** का ऐहिक–आमुष्मिक, अभ्युदय–निःश्रेयसात्मक ज्ञानविज्ञानात्मक जो विशुद्ध, निरपेक्ष पक्ष विगत तीन सहस्र वर्षों से ज्ञात–अज्ञात–अनेक कारणपरम्पराओं से राष्ट्रीय जनमान से अन्तर्म्मुख बनता चला रहा है, जिस अन्तर्म्मुखता के कारण ही भारतराष्ट्र अपने सांस्कृतिक, नैष्ठिक गौरव से अभिभूत बन गया है, स्वतन्त्रता के इस अभिनव जागरणकाल में भारतराष्ट्र की वह सांस्कृतिक–निधि इसकी **'भारत'** उपाधि को अन्वर्थ प्रमाणित करे, एकमात्र इसी राष्ट्रीय–आकर्षण से आकर्षितान्तःकरण यः कश्चिदपि यह साहित्यसेवी राष्ट्रप्रजा के सांस्कृतिक उद्बोधन की मङ्गलकामना ही अभिव्यक्त कर रहा है मानवाश्रम की सांस्कृतिक–प्रगतियों के श्रद्धात्मक प्रसूनों के द्वारा--

मानवोक्थवैराजिकब्रह्मोद्य (मानवाश्रम)
दुर्गापुरा (जयपुर–राजस्थान)
पुनर्वसुनक्षत्रानुगता श्रीरामनवमी
वि० सं० १०१५ शनैश्चरवासरः

इति निवेदयति सर्वात्मना विधेयः
यः कश्चिदपि
मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः–वेदवीथीपथिकः

श्रीः

सांस्कृतिक–निबन्धानुगता–संक्षिप्ता--विषयसूची

(परिच्छेदात्मिका)

श्री:

निबन्ध के प्रकरणों, तथा परिच्छेदों का सङ्केत—

* किमपि प्रास्ताविकम् (प्रस्तावना)

२६६ परिच्छेदों से समन्वित

—पृष्ठसं० १ से १४२ पृष्ठपर्य्यन्त (निबन्ध से पृथक् संख्या)

*

१—संस्कृति, और सभ्यता—शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त (प्रथमप्रकरण)

२७८ परिच्छेदों से समन्वित

—पृष्ठसं० १ से १६० पृष्ठपर्य्यन्त

*

२—भारतीय—सांस्कृतिक—आयोजनों की रूपरेखा--(द्वितीयप्रकरण)

२७४ परिच्छेदों से समन्वित

—पृष्ठसं० १६१ से ३२८ पृष्ठपर्य्यन्त

*

३—सांस्कृतिक—आयोजनों का इतिवृत्त--(तृतीयप्रकरण)

७२६ परिच्छेदों से समन्वित

—पृष्ठसं० ३२६ से ७५४ पृष्ठपर्य्यन्त

तृतीयप्रकरणान्तर्गत अवान्तर चार प्रकरण—

१- 'रक्षाबन्धन' नामक आयोजन का इतिवृत्त (१३८ परिच्छेदात्मक)
२—'विजयदशमी' नामक आयोजन का इतिवृत्त (२०० परिच्छेदात्मक)
३—'दीपावली' नामक आयोजन का इतिवृत्त (२०५ परिच्छेदात्मक)
४—'होलिका' नामक आयोजन का इतिवृत्त (१८६ परिच्छेदात्मक)

तृतीयप्रकरणे ७२६ परिच्छेदाः

*

*—निबन्धपरिशिष्ट, एवं निबन्धोपराम

पृ० सं० ७५५ से ७७२ पर्य्यन्त

सम्भूय १५४७ परिच्छेदात्मक सङ्केतिक- सांस्कृतिक—निबन्ध

श्रीः

सांस्कृतिक-निबन्धानुगता-संक्षिप्ता-विषयसूची

(परिच्छेदात्मिका)

※–'किमपि प्रास्ताविकम्' (प्रस्तावना) की विषयसूची—

(२६६ परिच्छेदों से समन्विता)—

१–कालानुबन्धिनी सामान्य घटनाओं के महत्त्वपूर्ण परिणाम २

२–'संस्कृतिप्रेमी' पत्रकार का दर्शनप्रदानानुग्रह, और तत्परिणाम ३

३–कालिकघटनावश '**संस्कृति**' शब्द के प्रति सहज आकर्षण .... ,,

४–'**राजा कालस्य कारणम्**' मूलक वर्त्तमान सांस्कृतिक–आयोजनों के महान् विजृम्भण ४

५–अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमोहन–मूलक सांस्कृतिक–शिष्टमण्डलों का गमनागमन, और संस्कृति.... ,,

६–पुरातत्त्वानुगत ध्वंसावशेषों के माध्यम से संस्कृतिस्वरूपान्वेषण का महान् व्यामोहन ५

७–सत्तासापेक्ष प्रज्ञातन्त्रों (विद्वानों) की मान्यताओं से अनुप्राणित '**सांस्कृतिक–इतिहास**' का भौतिक-सभ्यता-मात्र पर ही पर्य्यवसान .... ,,

८–'**सामासिक-संस्कृति**' का महान् व्यामोहन, एवं प्रतिद्वन्द्वितामूला 'सामासिक–सभ्यता'.... ६

९–**श्रीनेहरूमहाभाग** की भूमिका से समलङ्कृत **श्रीरामधारीसिंह दिनकर** महोदय के सांस्कृतिक-निबन्ध पर एक दृष्टि ७

१०–इंग्लिशभाषा–शब्दों के अनुकरणमाध्यम से भारतीय शब्दार्थ–समन्वय के दुष्परिणाम, एवं शब्दों का काल्पनिक लाक्षणिकत्त्व-व्यामोहन .... ,,

११–भारतीय संस्कृतज्ञ विद्वानों का मतवादात्मक अभिनिवेश, एवं तदनुग्रह से राष्ट्रीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिनव ८

१२–सत्तासापेक्ष भारतीय प्राच्य विद्वानों की मतवादासक्ति, एवं तद्द्वारा ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य ९

१३–प्रतीच्य दृष्टिकोण के भक्त भारतीय अभिनव विद्वानों के '**सांस्कृतिक चार अध्याय**' एवं उनकी आपातरमणीयता का नग्नचित्रण .... ,,

१४–'सामासिक-संस्कृति' का फलितार्थ, एवं अभिनव विद्वानों की आवेशपूर्ण सर्वनाशकारिणी भावुकता ११

१५–परतन्त्रता से उन्मुक्त भारतराष्ट्र के 'स्व' तन्त्र की अन्वेषण–जिज्ञासा, एवं 'स्वतन्त्र' शब्दार्थ–समन्वय .... ,,

१६–वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र से भारतराष्ट्र के 'स्व' रूप प्रातिस्विक तन्त्र के सम्बन्ध में आज के जागरूक जनतन्त्र की प्रश्नात्मिका जिज्ञासा, एवं '**स्वतन्त्र**'–'**परतन्त्र**' शब्दों का मौलिक–अर्थ समन्वय .... ,,

१७–'परतन्त्रता' से उन्मुक्त, किन्तु अद्यावधि भी 'स्व' तन्त्ररूपा 'स्वतन्त्रता से असंस्पृष्ट दिग्देशकाल-विमूढ आज का भारतराष्ट्र १२
१८–स्वतन्त्रतासंग्राम के दिवंगत हुतात्माओं के द्वारा प्रश्नोत्थान, एवं तत्समाधान में नितान्त अस–मर्थ '**नई रोशनी**' वाला आज का भारत १३
१९–प्रश्नसमाधान की एकमात्र आधारभूमि जनतन्त्र के आस्था–श्रद्धा–भाव .... „
२०–'**सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा**' का माङ्गलिक संस्मरण .... „
२१–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा '**रामराज्य**' स्थापना की घोषणा के साथ ही स्वशासननीति में '**धर्म्मनिरपेक्ष**' घोषणा की अभिव्यक्ति .... „
२२–'रामराज्य' के व्यवस्थापक भगवान् राम की धार्म्मिक घोषणा का, एवं 'रामराज्य' के उद्घोषक आज के सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्ष–घोषणा का समतुलन १४
२३–धर्म्मनीति, एवं राजनीति की सम्बन्धविच्छेदिका धर्म्मनिरपेक्षघोषणा के सम्बन्ध में सत्तातन्त्र का राजनैतिक-स्वार्थमूलक समाधान, एवं तत्समाधान की आपातरमणीयता १५
२४–चाणाक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्र की धार्म्मिक घोषणासे भारतीय प्रजा का धार्म्मिक व्यामोहन, एवं धर्म्मभीरु विद्वानों की धर्म्मनिष्ठा का पतन .... „
२५–भारतीय सत्तातन्त्र का राजनैतिक-स्खलन, एवं भावुकतापूर्ण उद्वेगकरी धर्म्मनिरपेक्ष-घोषणा १६
२६–भारतराष्ट्र के साम्प्रदायिक–विभिन्न धर्म्मों के संघर्षात्मक कलहों से आत्मत्राण प्राप्त कर लेने का एकमात्र उपाय 'धर्म्मनिरपेक्षता', एवं ऐसी धर्म्मनिरपेक्षता का प्रज्ञातन्त्र के द्वारा हृदयाभिनन्दन १६
२७–मतवादात्मक साम्प्रदायिक–धर्म्मों की प्रतिद्वन्द्विता से ही राष्ट्रीय–संघठन का मूलोच्छेद, एवं '**धर्म्म**', तथा '**मत**' का महान् पार्थक्य .... „
२८–मतवादों से असंस्पृष्ट '**शाश्वतधर्म्म**' की स्वरूप–परिभाषा १७
२९–आत्मबुद्धिनिबन्धन '**शाश्वतधर्म्म**', मनोनिबन्धन '**प्राकृतधर्म्म**', तथा शरीरनिबन्धन '**लोक–धर्म्म**'–रूपेण धर्म्म का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय .... „
३०–**धर्म्मत्रयी** की आधारभूता **शास्त्रत्रयी**, एवं तदनुगत **सांस्कृतिक**, तन्मूलक **सांस्कृतिक–आचार**, एवं तदनुप्राणित **सांस्कृतिक–आयोजन** १८
३१–मतवादनिरपेक्ष, अतएव राष्ट्र के लिए सर्वात्मना सापेक्ष शाश्वतधर्म्म का विश्वप्रतिष्ठात्त्व, एवं तन्निरपेक्षता से राष्ट्रस्वरूप का मूलोच्छेद १९
३२–मनःशरीरधर्म्मा प्राकृत–मानव के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मनोविनोद, एवं तन्मूलक सांस्कृतिक–आयोजन .... „
३३–सांस्कृतिक–आचारों से नियन्त्रित, मर्य्यादित मनोविनोदों का ही सांस्कृतिक–आयोजनत्त्व, एवं तदैव निष्ठास्वरूपसंरक्षण.... .... २०
३४–प्रत्यक्षविनोदात्मिका विलासलीलाओं से राज्यतन्त्रों का पतन, एवं तदालोचक प्रजातन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र के आज के ये प्रत्यक्ष–विनोदात्मक सांस्कृतिक–आयोजन .... „
३५–गायन-नर्त्तनादि-आयोजनों के सम्बन्ध में वेदशास्त्र का '**सर्व**' '**कृत्स्न**' मूलक महान् उद्बोधन २१

३६-'-गायति वैव, गीते वा, रमते' लक्षण श्रौत–उद्बोधन का तात्त्विक समन्वय २२
३७–मानव का दिव्यभाव, एवं तदनुबन्धी दाम्पत्यजीवनानुगत परोक्ष विनोदात्मक-आयोजन ,,
३८–सत्तातन्त्र के परिगणित कर्णधारों की निश्चिन्तता, एवं तन्मूलक उनके ये क्षम्य–सांस्कृतिक–आयोजन .... ,,
३९–किन्तु सर्वात्मना अनिश्चिन्त, तथा चिन्तासमाकुलित राष्ट्रप्रजा की दृष्टि से तथाविध आयोजनों का सर्वात्मना कर्त्तव्य–विघातकत्त्व २३
४०–'पुरुषार्थ', और 'प्रकृत्यर्थ' का स्वरूप भेद, एवं भारतराष्ट्र की चिरन्तनप्रज्ञा के द्वारा पुरुषार्थ से प्रकृत्यर्थों का नियन्त्रण २४
४१–प्रकृतिद्रोही दार्शनिक, एवं इनकी जगन्मिथ्यात्त्वमूला भ्रान्ति से से ही राष्ट्रवैभव का सर्वनाश ,,
४२–भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा प्रकृति का पूजन, एवं तन्माध्यम से ही 'प्रकृतिप्रेमात्मक जड़प्रेम' का तिरस्कार २५
४३–**सौर**–सत्य, **पार्थिव**–शिव, तथा **चान्द्र**-**सुन्दर**–भावमाध्यमेन **'सत्यं–शिवं–सुन्दरं'** लक्षण प्राकृत–विश्व का आराधन .... ,,
४४–सप्तर्षिप्राणानुबन्धी सप्त–स्वराक्षरों से समन्वित प्राकृतिक सङ्गीत की 'वीणावादन' माध्यम से आराधना २६
४५–मनस्तन्त्रानुगामी नियन्त्रण–(मर्य्यादा)–सूत्रों की स्वरूप–परिभाषा, एवं नियन्त्रण के अभाव में मानसिक स्खलन के द्वारा भावुकतापूर्णा **'मन्दाक्षता'** का आविर्भाव .... ,,
४६–लोकनिष्ठ सर्वश्री **गान्धीजी** की सहजप्रज्ञा से दीक्षित सर्वश्री **नेहरू** महाभाग का उत्तरदायित्त्व–पूर्ण शासनपद २७
४७–शुचिभावापन्न श्रीनेहरू की सहज भावुकता, एवं भावुकतामूलक **'मन्दाक्षता'** लक्षण व्यक्तित्त्व–विमोहन, और उसके दुष्परिणाम .... ,,
४८–पदप्रतिष्ठात्मक-व्यक्तित्त्वविमोहन से असंस्पृष्ट महाप्राण मानवश्रेष्ठ श्रीनेहरू महाभाग २८
४९–स्वस्वरूपविमोहनात्मक-व्यक्तित्त्वविमोहन की स्वरूप-परिभाषा, एवं उसके साथ श्रीनेहरू का समतुलन .... ,,
५०–श्रीनेहरू का 'अज्ञात' भावापन्न विमोहन, एवं तन्मूलक प्रतिक्रियात्मक प्रचण्ड आक्रोश, तथा अभिनिवेश २९
५१–श्रीनेहरू के परस्परात्यन्तविरुद्ध विभिन्न प्रकार के दो व्यक्तित्त्व ... ,,
५२–**'राष्ट्रीय व्यक्तित्त्व'** की प्रतिमूर्त्ति श्रीनेहरू, एवं तन्मूलक महान् 'व्यक्तित्त्व' ... ३०
५३–**'अन्तर्राष्ट्रीय–व्यक्तित्त्व'** की साकार प्रतिमा श्रीनेहरू, एवं तन्मूलक महान् **'व्यक्तित्त्व–विमोहन'** ... ... ,,
५४–स्वराष्ट्र के प्रति नितान्त भावुक श्रीनेहरू का परराष्ट्रों के प्रति नैष्ठिक व्यामोहन, एवं तन्मूलक राष्ट्रीय-निष्ठाओं का आत्यन्तिक-अभिभव .... ,,

५५–स्वस्वरूपनिष्ठा के स्वरूपबोध से पराङ्मुख श्रीनेहरू के द्वारा स्वराष्ट्र में परस्वरूप-भावों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप ही सांस्कृतिक--परम्पराओं की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता ३१

५६–स्वराष्ट्रीय संस्कृतिनिरपेक्षा परराष्ट्रसभ्यतासापेक्षा श्रीनेहरू की मानसिक मान्यताओं के प्रति भारतीय संस्कृतिनिष्ठ जनतन्त्र की आत्यन्तिक उपेक्षा .... ,,

५७–श्रीनेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय-विमोहनात्मक व्यक्तित्व-विमोहन के '**अज्ञात**' भाव का वास्तविक-समन्वय ३२

५८–सामान्य-घटना के अनुग्रह से राष्ट्र के भविष्य की अन्धकारपूर्णता .... ,,

५९–भारतीय सांस्कृतिक '**हिन्दूमानव**' के प्रति श्रीनेहरू का प्रतिक्रियात्मक आश्चर्य्योत्पादक अभिनिवेश, एवं भारतराष्ट्र का दुर्भाग्यपूर्ण इतिवृत्त ३३

६०–भारतीय-हिन्दू-मानव की सहज भावुकता से ही इस सांस्कृतिक मानव का सत्तातन्त्रों के द्वारा उत्पीड़न, एवं इसकी आत्ममूला निष्ठा का ही अन्ततोगत्वा महान् विजय ३४

६१–आचारनिष्ठाशून्या आज की ये लोकप्रियमात्र मङ्गल-घोषणाएँ .... ,,

६२–प्रकृतिसिद्ध भेदवाद के द्वारा व्यवस्थित विभक्त-कर्त्तव्यों की सहज निष्ठा का अभिभव, एवं भारतराष्ट्र की काल्पनिकी ब्राह्मीस्थिति ३५

६३–विश्वबन्धुत्त्व के आवेश से भूतावेशवत् आविष्ट, एवं स्वबन्धुत्त्व से पराङ्मुख आज का भारतराष्ट्र .... ,,

६४–सर्वात्मना बुभुक्षित-पिपासित आज का भारतराष्ट्र, एवं केवल घोषणाओं के माध्यम से तच्छान्ति के काल्पनिक प्रयास ३६

६५–अबुद्धियोगात्मिका-बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चिता वचनदानपरम्पराओं से भारतराष्ट्र की दुःखपरम्पराओं की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि, एवं तत्सम्बन्ध में श्रीनेहरू के प्रति मङ्गलकामना .... ,,

६६–मङ्गलकामना के आचारात्मक कर्त्तव्यपक्ष के सम्बन्ध में अनतिप्रश्नात्मक-प्रश्न का आविर्भाव ३७

६७–महर्षि दीर्घतमा के द्वारा निर्दिष्ट उद्बोधनसूत्र का माङ्गलिक संस्मरण, एवं तदाचरण से ही मानव के व्यक्तित्वविमोहन की उपशान्ति, तदैव च संस्कृतिस्वरूपदर्शन की सम्भावना ,,

६८–'जिज्ञासा' शब्द का स्वरूप-परिचय, तदनुगता श्रद्धा, एवं बुद्धिवाद के द्वारा तदभिभव ३८

६९–धर्म्मप्रचार का महान् व्यामोहन, एवं प्रचारव्यामोहनानुगता शिष्यसंख्याभिवृद्धि से ही भारतीय-संस्कृति, एवं धर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता ३९

७०–**प्रचारभावुकता से आचारनिष्ठा** का आत्यन्तिक-अभिभव, एवं तत्पुनराविर्भावात्मिका स्वयम्भूप्रजापति की कालिक-प्रेरणा ४०

७१–युगधर्म्माध्यक्ष प्रजापति की प्रेरणा से ही उपनिबद्ध सर्वनिरपेक्ष प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध ,,

७२–आस्तिक नास्तिक दार्शनिकों, तथा प्राच्य-संस्कृतज्ञ विज्ञानों की मान्यताओं से असंस्पृष्ट, ४१

७३–अभिनव-भारतीय विद्वानों की कल्पनाओं से पृथग्भूत, ... ,,

७४–भक्तों की भावुकता से, तथा वणिक्तन्त्र की लोकनिष्ठा से एकान्ततः विदूर, ... ४२

७५–राष्ट्रीयकरणव्यामुग्ध--प्रतीच्य--शिक्षा–दीक्षा--प्रदानकुशल वर्त्तमान--धर्म्मनिरपेक्ष–सत्तातन्त्र से, तथा तत्सम ज्ञात-अज्ञात मतवादादि-तन्त्रों से सर्वथैव असंस्पृष्ट, एवं आस्था-श्रद्धासमन्वित जनतन्त्र-सापेक्ष प्रस्तुत निबन्ध .... ”
७६–तथाविध-जनतन्त्रान्वेषणप्रयास, और भारतराष्ट्र के विविध-जनतन्त्र ४३
७७–विश्व के मानवमात्र की आभ्यन्तरा सांस्कृतिकता, तन्मूला व्यापक मानवता, एवं तदनुप्राणित केन्द्रीय मनु से अभिन्न मानव .... ”
७८–पशुसमानधर्म्मा प्राकृत मानवों की पशुता से ही विश्वमानवता की अन्तर्म्मुखता, एवं तन्मूलक विश्वक्षोभ ४४
७९–भारतराष्ट्र के जनतन्त्रों के प्रति ‘श्रद्धा’ समर्पण ४५
८९–पुष्करक्षेत्रानुगत भगवान् ब्रह्मा से समन्वित राजस्थान की सनातन-संस्कृति के अतीत के परिचय–चिह्न .... ”
८१–अतीत के सुसांस्कृतिक भी राजस्थानी ब्राह्मण की आज आत्यन्तिक–असांस्कृतिकता, एवं आज के इस ‘रँगड़’ ब्राह्मण की वणिगदासतानुगता पाकाचार्य्योपाधि का शोचनीय-वृत्त ४६
८२–राजस्थान के सत्तातन्त्रों की उद्वेगकरी लोकगाथा ४७
८३–संस्कृतिस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा के परम सांस्कृतिक भी आज के संस्कृतिशून्य राजस्थान की सांस्कृतिक-हृदयकम्पनमूला–दुरवस्था .... ”
८४-राजस्थानसमतुलितैव अन्यान्य राष्ट्रीय-प्रान्तों की सांस्कृतिक-दशा, किंवा दुर्द्दशा .... ”
८५–संस्कृतिनिष्ठ, अतएव प्राणवान्, अतएव च आज पर्य्यन्त भी जीवनीय-चिह्नों से समन्वित **‘महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र,’** एवं तदांशिक सहयोगी **‘बङ्गीय-जनतन्त्र’** ४८
८६–सुसांस्कृतिक भी महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र की प्रान्तीयमूला-अभिनिवेशात्मिका प्रतिक्रिया, एवं उसके दुष्परिणाम .... ”
८७–प्रान्तीयताभिशापमूलैव **श्रीराजगोपालाचार्य्य** महाभाग के निष्ठाविरोधी, राष्ट्रभाषाप्रतिद्वन्द्वी विचार, एवं राष्ट्र की संघठनशक्ति का अभिभव ४९
८८–महाराष्ट्रीय--जनतन्त्र के प्रति सम्पूर्ण-भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-आशा-प्रतीक्षाएँ, एवं तत्प्रति प्रणतभाव से राष्ट्रहितानुबन्धेन किञ्चिदिव आवेदन-निवेदन .... ”
८९–पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्त्वविमोहन के वारुणपाश में आबद्ध मानव की स्वरूपनिष्ठा का आत्यन्तिक पतन, एव तन्मूलक वाग्विजृम्भण ५१
९०–सत्तासापेक्षतामूला लोकैषणा के द्वारा सांस्कृतिक-विद्वानों में व्यक्तित्त्वविमोहन का आविर्भाव, एवं तद्द्वारा ‘संस्कृति’ का अधःपतन.... .... ५२
९१–त्रिसहस्रवर्षावधिरूप सांस्कृतिक-अधःपतनकाल, एवं तन्निमित्तभूत-सत्ताश्रित विद्वान् ५३
९२–अव्ययपुरुषमूला **‘शाश्वत-संस्कृति’**, एवं अक्षरप्रकृतिमूला **‘सनातन-सभ्यता’** की अन्तर्म्मुखता से ही भारतराष्ट्र का पारम्परिक पतन, तथा तन्मूला सर्वतन्त्र-परतन्त्रता .... ”

९३–जनश्रुतिमूलक-'स्वतन्त्र' भारत के **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** के आकर्षण से ही इस कूप-मण्डूक व्यक्ति की भारतीय संस्कृति, तथा भारतीय सभ्यता-शब्दों की ओर जिज्ञासात्मिका सहज-प्रवृत्ति ५४
९४–संस्कृतभाषा के सुसंस्कृत शब्दों की चिरन्तनेतिवृत्तसमन्वयमूला महती-सांस्कृतिकता, एवं तन्मूला अनुरूप-वाच्यार्थता .... ,,
९५–**संस्कृति**, एवं **सभ्यता**, शब्दों का वाच्यार्थनिबन्धन-चिरन्तनेतिवृत्तात्मक प्रस्तुत सांस्कृतिक-निबन्ध ५५
९६–संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के वाच्यार्थसमन्वयमात्र से आज के नृत्य-गीत-वाद्यादि आयोजनों की 'सांस्कृतिकता' के काल्पनिक व्यामोहन की निवृत्ति .... ,,
९७–'**सम्-स्-कृति**'-भावों से निष्पन्न '**संस्कृति**' शब्द का दुर्बोध्य चिरन्तन-इतिवृत्त .... ,,
९८–'समब्रह्म' की महिमामयी शाश्वत-सनातन-कृति के वाचक 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तन-इतिहास की त्रिसहस्रवर्षानुगता पारम्परिक अभिभूति ५६
९९–'ईश्वरात्मकृति' रूपा शाश्वतसंस्कृति का, एवं जीवात्मकृतिरूपा 'सनातनसभ्यता' का सुसूक्ष्म विभेद .... ,
१००–मनःप्राणवाङ्मयी ज्ञानक्रियार्थकृतियों का आत्मकृतित्त्व, एवं तद्रूपा अपरिवर्त्तनीया मूलसंस्कृति ५७
१०१–सृष्टिकर्त्ता प्रजापति के **काम-तपः-श्रम**-से अभिव्यक्त '**भाव-गुण-विकार**-कृतियाँ, एवं तन्मूलक विविध सृष्टिविवर्त्त .... ,,
१०२–प्रजापति के भाव-गुण-विकार-लक्षण कृतिभावों का तात्त्विक-समन्वय .... ,,
१०३–संस्कृति, एवं सभ्यता-शब्दों के लाक्षणिक-अर्थों में व्यासक्त वर्त्तमान विद्वानों के मनःशरीर-निबन्धन सांस्कृतिक-व्यामोहन ५८
१०४–**उक्थ-ब्रह्म-साम**-लक्षण प्रजापति के **खं-कं-रं**-भाव, एवं तन्मूलक **भाव-गुण-विकार**-विवर्त्त ,,
१०५–भावकृतिमूला प्राजापत्या **संस्कृति**, गुणकृतिमूलक प्राजापत्य **सांस्कृतिक-आचार**, एवं विकार-मूलक प्राजापत्य **सांस्कृतिक-आयोजन** ५९
१०६–आत्मसंस्कृतिलक्षणा संस्कृति, देवसभ्यतालक्षण सांस्कृतिक-आचार, एवं भूतसभ्यता-लक्षण सांस्कृतिक-आयोजन .... ,,
१०७–'**प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या**'–'**देवाननुविधा वै मनुष्याः**' मूला सनातनसंस्कृति-सभ्यताओं का अनवच्छिन्न-सांस्कृतिक-प्रवाह .... ,,
१०८–आत्ममूला-संस्कृति, बुद्धिमूलक सांस्कृतिक-आचार, एवं मनःशरीरमूलक सांस्कृतिक-आयोजन ६०
१०९–अनुशीलनधर्म्मात्मिका संस्कृति, आचरणधर्म्मात्मक सांस्कृतिक-आचार, एवं अनुसरण-अनुकरण-धर्म्मात्मक सांस्कृतिक-आयोजन .... ,,
११०–आत्मतत्त्वानुशीलनात्मिका संस्कृति, बौद्धिकतत्त्वाचरणात्मक सांस्कृतिक-आचार, एवं मनःशरीरानुसरणानुकरणात्मक भौतिक आचारात्मक सांस्कृतिक-आयोजन ६१

१११–आत्मपुरुषानुगत-समदर्शनलक्षणा संस्कृति, एवं आत्मप्रकृत्यनुगत-विभिन्न-वर्त्तनलक्षणा सभ्यता, तथा वर्त्तमानयुगानुगता विषमदर्शनलक्षणा समवर्त्तनभावात्मिका काल्पनिक सभ्यता-संस्कृतियों-के द्वारा मानवसमस्याओं का उत्तरोत्तर अभिवर्द्धन .... ,,

११२–स्वसंस्कृति-सभ्यता-मूलक 'स्वधर्म्म' की स्वरूप-परिभाषा, एवं तत्प्रतिबन्धक भयावह परधर्म्म ६२

११३–अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति-भावापन्न **सत्त्व-रज-स्तमो**-गुणान्विता महत्प्रकृति, एवं तन्मूलक प्रकृतिसिद्ध **गोत्र-वर्ण**-जाति-विवर्त्त .... ,,

११४–गोत्र-वर्ण-जाति-भावात्मिका प्राकृतिक-व्यवस्थाओं का विश्वव्यापकत्त्व, एवं पदार्थमात्रानुगतत्त्व ,,

११५–गोत्रप्रकृतिमूला संस्कृति, वर्णप्रकृतिमूलक सांस्कृतिक-आचार, एवं जातिप्रकृतिमूलक सांस्कृतिक--आयोजन ६३

११६–आत्मनिष्ठात्मिका संस्कृति से पराङ्मुख यच्चयावत् बौद्धिक-मानसिक, तथा शारीरिक आयोजनों की असांस्कृतिकता .... ,,

११७–प्रकृतिमूला बाह्यजीवनपद्धति के साथ 'सभ्यता' शब्द का समन्वय, एवं तदाधारभूता आत्म-संस्कृति, तथा संस्कृतिमूला इत्थंभूता-सभ्यता के द्वारा विश्वस्वरूप-संरक्षण .... ,,

११८–राजर्षि मनु के उदात्त सांस्कृतिक-उद्घोष का समन्वय, एवं भारतीय-संस्कृति की महती उदारता ६४

११९–समब्रह्म की आत्मकृति के अभिव्यञ्जक 'संस्कृति' शब्द की 'कल्चर' (Culture) शब्द से एकान्ततः असंस्पृष्टता .... ,,

१२०–अक्षरप्रकृतिव्यवस्थापिकात्मिका 'नियति' के अभिव्यञ्जक 'सभ्यता' शब्द की वर्तमान-'सिविलाइज़ेशन (Civilization) शब्द से एकान्ततः असंस्पृष्टता, अतएव संस्कृति, सभ्यता-शब्दों के 'कल्चरादि' अर्थसमन्वय की आत्यन्तिक व्यर्थता ६५

१२१–अर्द्धवृगलात्मक मानव के मौलिक-स्वरूप के माध्यम से ही अपेक्षित संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के वाच्यार्थ का समन्वय ६६

१२२–संस्कृतिलक्षण मानव की आत्मबुद्धिरूपता का, एवं सभ्यता-लक्षण-मानव की मनःशरीर-रूपता का समन्वय .... ,,

१२३–मानवीया-संस्कृति, और सभ्यता के दो विभिन्न द्वन्द्वों का समन्वय ६७

१२४–चतुर्विध वर्णमानवों के साथ संस्कृति–सभ्यता के चार विवर्त्तों का क्रमिक समन्वय .... ,,

१२५–'संस्कृतिमूर्त्ति' ब्रह्म के महिमामय विवर्त्त से अपरिचित आज के प्रकृतिविमूढ मानव की संस्कृति–सभ्यता-शब्दार्थसमन्वयात्मिका लाक्षणिकी महती भ्रान्ति ६८

१२६–अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश-मूलक बुद्धिवाद से मानव का आत्मबुद्धिस्वरूपविमोहन, एवं विमोहनमूलक मनः-शरीरभावों पर ही मानवस्वरूप की परिसमाप्ति .... ,,

१२७–आत्मबुद्धिनिष्ठ, एवं मनःशरीरभावुकतासंरक्षक भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-निष्ठा का आत्यन्तिक पतन, एवं तन्मूलक नृत्य-गीत-वाद्यादि-विजृम्भणात्मक आज के ये विभ्रामक सांस्कृतिक–आयोजन, इतिनु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! .... ,,

१२८–आत्मबुद्धिवञ्चित, मनःशरीरप्रधान, तथाविध लौकिक आयोजनों का मनःशरीरमात्रपरायण पशुओं के प्राकृत आयोजनों के साथ समतुलन, एवं तथाविध आयोजनों से मानवस्वरूप का आत्यन्तिक अभिभव ६९

१२९–मनोनिबन्धन कल्चरभाव, तथा शरीरनिबन्धन सिविलाइजेशनभाव, एवं इन प्रतीच्य–शब्दों के द्वारा मानव के मनः-शरीरात्मक-प्राकृत-पशुभाव का ही आलोडन-विलोडन .... ,,

१३०–कल्चर, एवं सिविलाइजेशन-शब्दों के पर्य्यायस्थानीय संस्कृति, एवं सभ्यता शब्दों के भौतिक विमोहनों से व्यामुग्ध भारतीय अभिनव-विद्वानों के द्वारा नितान्त काल्पनिक-'सामासिक-संस्कृति-सभ्यता' का आविष्कार ७०

१३१–मनोऽनुगता वैय्यक्तिक जीवनपद्धति (पर्सनललाइफ Personol life), एवं शरीरानुगता सामाजिक जीवनपद्धति (Sysrem of life) का काल्पनिक विजृम्भण, एवं दोनों का भयावह-पार्थक्य ,,

१३२–भारतीय-आस्तिक-मानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक सांस्कृतिक-पतन, एवं सभ्यता का अभिभव, तथा भारतीय मानव की असांस्कृतिकता, और असभ्यता की अश्रुपूर्णाकुलेक्षणता ७१

१३३–अवनतशिरस्कतापूर्वक अपनी असांस्कृतिकता, तथा असभ्यता की स्वीकृतिपूर्वक अशिक्षित, किन्तु परम्परया संस्कृतिनिष्ठ भारतीय आस्तिक-जनतन्त्र के अनुग्रह से धारावाहिकरूपेण अद्यावधि भी प्रक्रान्ता मूलसंस्कृति के द्वारा सम्भावित उद्बोधन ७२

१३४–भारतराष्ट्र के दशवर्षीय-जागरणकाल से अनुप्राणिता सांस्कृतिक-झलकियों के निग्रहात्मक अनुग्रह से संस्कृति, सभ्यता-शब्दों के प्रति सहज-आकर्षण का उद्रेक, एवं राष्ट्रीय-समस्याओं के सम्बन्ध में हमारी निरक्षरमूर्द्धन्यता .... ,,

१३५–तथाविधा निरक्षरमूर्द्धन्यता के अनुग्रह से ही सत्तानुगता–लोकानुगता-एषणाओं से आत्म–परित्राण, एवं संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के चिरन्तनेतिवृत्तोपासन में प्रवृत्ति ७३

१३६–सत्तानिरपेक्षतानुगता लोकनिरपेक्षता के द्वारा ही संस्कृति के मौलिक स्वरूप का सम्भावित दर्शन .... ,,

१३७–सत्ताश्रयग्रहण से सत्ता-मान्यताओं का अन्धानुकरण-समर्थन, एवं तद्‌दुष्परिणामस्वरूप सत्ताश्रित गतानुगतिक विद्वानों के द्वारा मूलसंस्कृति-सभ्यता-की उपेक्षा, तथा मान्यतानुबन्धी आयोजनों को 'सांस्कृति-आयोजन'-उपाधिप्रदान .... ,,

१३८–वर्त्तमान भारतराष्ट्र का सत्तातन्त्रानुग्रह से भारतीय संस्कृति-सभ्यता-स्वरूपविघातक परसभ्यताओं के सास्कृतिक-विजृम्भणों का आदान-प्रदान ७४

१३९–परसभ्यताविमोहन से व्यामुग्ध भारतीय विद्वानों के काल्पनिक सांस्कृतिक अध्याय, एवं त्रिसहस्रवर्षपूर्वानुगता मौलिक-संस्कृति की अन्तर्म्मुखता .... ,,

१४०–**'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'** सूत्राधार पर उपनिबद्ध **'सांस्कृतिक-निबन्ध'** ७५

१४१–भारतराष्ट्र के मौलिक-सांस्कृतिक-गौरव के संरक्षण से अनुप्राणित प्रस्तुत **'सांस्कृतिक-निबन्ध'** ,,

१४२–शक्तिचतुष्टयी से एकान्ततः पराःपरावत वर्त्तमान सत्तातन्त्र, एवं तदनुगत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आज का जनतन्त्र .... ,,

१४३–शारीरिक जीवनपद्धति-व्यवस्था, मानसिक चिन्तनप्रणाली, एवं बौद्धिक विचारविमर्श में असमर्थ वर्त्तमान जनतन्त्र का आत्यन्तिक-व्यक्तित्वविमोहन, तथा तन्मूलक जनतन्त्र के वैय्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, एवं राष्ट्रीय स्वरूपों का आत्यन्तिक अभिभव ७६

१४४–शून्यवादप्रतिच्छायात्मक दार्शनिक जगन्मिथ्यात्त्ववाद से भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक-संघठन का मूलोच्छेद .... ,,

१४५–स्वानुगता दार्शनिक-भावुकता से ही भारतराष्ट्र का त्रिसहस्रवर्षात्मक पारतन्त्र्य .... ,,

१४६-भारतीय मानव की चतुर्विधा मौलिक-शक्तियाँ, एवं परतन्त्रता के अनुबन्ध से चारों ही शक्तियों की अन्तर्म्मुखता ७७

१४७–शक्तिचतुष्टयी से समन्वित 'मानव' का स्वरूप-परिचय, एवं मानव का 'राजते' लक्षण 'राष्ट्रत्त्व' .... ,,

१४८–'राष्ट्र' शब्द की स्वरूपव्याख्यारूप चतुष्पर्वा मानव, एवं इस के **'राष्ट्रीय-जीवन'**, तथा **'राष्ट्रीयमृत्यु'** भावों का स्वरूपदिग्दर्शन ७८

१४९–कमलाविलासमदोन्मत्त भारतीय सामन्तों के 'सांस्कृतिक-आयोजन', एवं तदनुग्रहेण तत्पराभव, और आज पुनः उन्हीं आयोजनों का दुःखपूर्ण पुनरावर्त्तन .... ,,

१५०–'बुद्धि' में आसक्त बुद्धिवादी मानव की 'बुद्धिमानी' का अन्ततोगत्त्वा 'मनमानी' पर विश्राम, और बुद्धिवादात्मक मनोराज्य के निग्रह से मानव की स्वनिष्ठा का आत्यन्तिक पतन .... ,,

१५१–मानव की 'सहजबुद्धि' रूपा **'विद्याबुद्धि'** का स्वरूप-परिचय ७९

१५२–अविद्याग्रहग्रस्ता बुद्धि की 'बुद्धिवाद' में परिणति, एव इत्थंभूत 'बुद्धिवाद' के द्वारा मानव का आत्मस्वरूप–विमोहन .... ,,

१५३–अविद्यात्मक 'बुद्धिवाद' का मान्यतानुबन्धी मलीमस इतिहास .... ,,

१५४–अविद्यादोषानुग्रह से मानव की बुद्धि में **'अस्मिता'** दोष का आविर्भाव, तद्द्वारा **'आसक्ति'** का जन्म, एवं तद्द्वारा-सर्वविनाशक **'अभिनिवेश'** की प्रसूति ८०

१५५–बुद्धिस्वरूपप्रतिबन्धक चार दोषों में अन्तिम-**'अभिनिवेश'** नामक दोष की महाभयानकता, एवं 'अभिनिवेश' की स्वरूप-परिभाषा ८१

१५६–सहजसत्त्वनिष्ठ मानव में क्षणिक सत्त्वोदय, किन्तु अभिनिवेश से सत्त्व की पुनः अन्तर्म्मुखता ,,

१५७–धर्म्माचारविहीनता, एवं असदाचारप्रवृत्तिमूलक सर्वस्वविनाशक अभिनिवेश .... ,,

१५८–अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–गर्भित अभिनिवेशमूलक व्यक्तित्वविमोहन, एवं तत्संरक्षण में अभिनिविष्ट विमूढ मानवों के आचारविहीन असदाचरण ८२

१५९–सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग, राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, राजर्षिविद्यानुगत वैराग्य–बुद्धियोग–गर्भित आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगात्मक समत्त्वयोग से ही मानवस्वरूप की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा ही मानव की मानवता का संरक्षण .... ,,

१६०–अभिनिवेशाविष्ट भारतीय मानव के द्वारा ही भारतीय सत्त्वसंस्कृति, माङ्गलिक आचारों की उपेक्षा, अवहेलना, तिरस्कार, तथा भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक-अधःपतन, एवं तत्समर्थक ,, सत्तातन्त्र ८३

१६१–बुद्धिवादी अभिनव विद्वानों के द्वारा सत्तातन्त्र के तथाविध समर्थन की पुष्टि, एवं संस्कृति-रक्षक विद्वद्वर्ग का ही संस्कृतिभक्षणप्रयास ८३
१६२–सत्ताश्रयता के लिए लालायित भावुक विद्वानों के द्वारा ही निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मूलसंस्कृति का स्वरूपाभिभव, एवं उसके भीषण–परिणाम .... ,,
१६३–'संस्कृति' शब्दाक्षरार्थ से भी असंस्पृष्ट आज के ये 'सांस्कृतिक–आयोजन' ८४
१६४–संस्कृति-संस्कृत-संस्कार-सांस्कृतिक-आदि रहस्यपूर्ण शब्दों के चिरन्तन वाच्यार्थ से असंस्पृष्ट काल्पनिक आयोजनों के काल्पनिक विजृम्भण .... ,,
१६५–स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र से अपेक्षित भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के स्थान में भारतीय संस्कृति का अधिक पददलन, और सांस्कृतिक भारतराष्ट्र का महान् दुर्भाग्य ८५
१६६–दुर्भाग्योपशम का एकमात्र उपाय 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तेनतिवृत्त का सर्वतोभावेन आराधन ,,
१६७–'मानवस्वरूपबोध' से वञ्चित मानव का प्रज्ञास्खलन, एवं तन्निरोध के लिए अपेक्षित 'मानव-स्वरूप' का समन्वय ८६
१६८–मानव के स्वरूपव्यवस्थापक **पुरुष**, और **प्रकृति**-विवर्त्त .... ,,
१६९–मानवमात्र के लिए अभिन्न **मानवपुरुष**, एवं प्रत्येक पुरुषमानव में विभिन्ना **मानवप्रकृति** ,,
१७०–मानवीय अविभिन्न पुरुषभाव, एवं विभिन्न प्रकृतिभाव के विवेक से पराङ्मुख प्रकृतिविमूढ मानव इतो भ्रष्टः, ततोऽपि भ्रष्टः ८७
१७१–नवग्रहग्राहों से मानव का पारम्परिक विमोहन, एवं आत्मबुद्धिविमूढ नितान्त भावुक भारतीय–हिन्दू-मानव का आततायीवर्ग के द्वारा सर्वस्वापहरण ....
१७२–निबन्ध के 'नामकरण' के सम्बन्ध में ८८
१७३–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आज के भारत में 'सांस्कृतिक-आयोजनों' का प्रचण्ड प्रवाह, एवं भारतीय सांस्कृतिक–पतन की झलकियाँ, इति कालाय तस्मै नमः .... ,,
१७४–धर्म्म-संस्कृति-आदर्श-आदि नामच्छलों के व्याज से प्रक्रान्त भारतीय साम्प्रदायिक-आचारों की असांस्कृतिकता, एवं तद्द्वारा ही राष्ट्र के सांस्कृतिक-स्वरूप का विमोहन ८९
१७५–संस्कृति-सभ्यता-आदर्श-धर्म्म–मानवता-आदि सांस्कृतिक-विभूतियों के नामच्छलों से आपण-व्यवसाय (दुकानदारी), एवं तद्द्वारा भारतराष्ट्र का अत्यधिक पतन .... ,,
१७६–स्वार्थलिप्सागर्भिता कल्पित 'मानवता' के छलमाध्यम से 'विश्वबन्धुत्त्व' नामक महान् 'छल' का आविर्भाव, एवं तद्व्यामोहनानुग्रह से भारतराष्ट्र के मौलिक स्वरूप का आत्यन्तिक अभिभव ९०
१७७–लोकमान्यतानुगत, नितान्त भावुकतापूर्ण **'अच्छा'** और **'बुरा'** शब्द, एवं इन भावुकतापूर्ण शब्दों से भावुक–भारतीय मानव की प्रवञ्चना .... ,,
१७८–**'संस्कृति के लिए संस्कृति'**, एवं **'धर्म्म के लिए धर्म्म'** लक्षण संस्कृति–धर्म्म–निष्ठा से ही भारतराष्ट्र का अभ्युदय–निःश्रेयस् ९१
१७९–'मानवसंस्कृति' के सांस्कृतिक-विभिन्न नाम .... ,,
१८०–**'पुरुषार्थसंस्कृति'** के सुप्रसिद्ध चार महिमाविवर्त्त ९१
१८१–**'प्रकृत्यर्थसंस्कृति'** के आयोजनात्मक महिमाविवर्त्त ९२

१८२–सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों से सुसंस्कृत मानव की 'सांस्कृतिक–मानवता, एवं निरपेक्षा 'संस्कृति' का उपासक मानवश्रेष्ठ ९२

१८३–सुसंस्कृत मानव के व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, रूप चार महिमामय विवर्त्त, एवं तालिकारूपेण उनका समन्वय ९४

१८४–भारतीय–**'सांस्कृतिक–आयोजनों'** का संक्षिप्त इतिवृत्त .... ,,

१८५–भारतीय मानव के राष्ट्रीय–सामाजिक–पारिवारिक, एवं वैय्यक्तिक-चतुर्विध सांस्कृतिक आयोजनों की संक्षिप्ता परिभाषा .... ,,

१८६–**'राष्ट्रीय--'पर्व'**, **सामाजिक 'उत्सव'**, **पारिवारिक--सम्मेलन**, एवं **वैयक्तिक–'समारोह'**,–नामक चतुर्विध सांस्कृतिक–आयोजनों का नामस्मरणसमन्वय ९५

१८७–पर्वोत्सवयुग्म, एवं सम्मेलनसमारोहयुग्म भेद से दोनों युग्मों का तारतम्य–समन्वय ९६

१८८–आत्मप्रधान-**'राष्ट्रीय--पर्व'** की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय .... ,,

१८९–बुद्धिप्रधान–**'सामाजिक--उत्सव'** की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय ९७

१९०–मनःप्रधान–**'पारिवारिक--सम्मेलन'** की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय ,,

१९१–शरीरप्रधान–**'वैय्यक्तिक-समारोह'** की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय .... ,,

१९२–सांस्कृतिक–आयोजनों के मूलाधिष्ठाता 'संस्कृतिमूर्त्ति' 'समब्रह्म' की प्राजापत्या सोलह कलाओं का स्वरूप–दिग्दर्शन ९९

१९३–षोडशकल–ईश्वरप्रजापति के नेदिष्ठरूप–मानवस्वरूप की सोलह कलाओं का स्वरूप–दिग्दर्शन १००

१९४–ईश्वरीय–षोड़श कलाओं के प्रतिरूपशिल्पात्मक षोडशकल मानव के पर्वोत्सवसम्मेलन–समारोह नामक चतुर्विध सांस्कृतिक आयोजनों के अवान्तर सोलह महिमाविवर्त्त १०३

१९५–प्रस्तुत सामयिक–निबन्ध की सांस्कृतिक–प्रेरणा के सम्बन्ध में १०४

१९६–लोकैषणाचार्य्य सत्तातन्त्र, एवं वित्तैषणाचार्य्य वणिक्तन्त्र की सापेक्षता से सम्बन्ध रखने वाली महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरणानुग्रह से ही प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध का आविर्भाव .... ,,

१९७--राष्ट्रीय--स्वातन्त्र्य से विभोर बन जाने वाले मनस्तन्त्र की सहज भावुकता, एवं भावुकता के समुत्तेजक सत्तातन्त्र के अङ्गभूत एक मित्र की प्रेरणा से सत्ताश्रयता की कामना का आविर्भाव ,,

१९८--एक अन्य सांस्कृतिक सुहृत् के निग्रहात्मक अनुग्रह से केन्द्रसत्ता का संस्पर्श, तदनुगत महान् उद्बोधन, एवं तदनुग्रह से ही सांस्कृतिक--निबन्ध का आविर्भाव १०५

१९९--सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र की निरपेक्षता से ही भारतीय संस्कृति का स्वरूप–संरक्षण १०६

२००--सत्तानिरपेक्षता के सम्बन्ध में ऋषिप्रज्ञा के द्वारा संस्कृति के उपासक के लिए महान् उद्बोधनसूत्र १०७

२०१--उद्बोधनसूत्र के आधार पर ही उपनिबद्ध सत्तानिरपेक्ष--प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध १०८

२०२--**'राजा कालस्य कारणम'** मूला सत्ताश्रयता की कामना से समाप्लुत युगधर्म्मज्ञाता ये विद्वान् ,,

२०३–'राजा कालस्य कारणम्' मूला बाह्य–जीवनपद्धति, एवं सत्तातन्त्र का लौकिक–भौतिक–उत्तरदायित्व १०९

२०४--'महात्मा'–'दुरात्मा'--शब्दों का अर्थसमन्वय, एवं संस्कृति--सभ्यता भावों का अन्तः बाह्य-वृत्तियों से समतुलनात्मक समन्वय १०९
२०५--संस्कृतिरूपा आभ्यन्तरजीवनपद्धति के आधार प्रतिष्ठिता सभ्यतारूपा बाह्यजीवनव्यवस्था का नियामक सत्तातन्त्र, एवं इसकी अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता सांस्कृतिसापेक्षता, तथा स्वयं संस्कृति की सत्तानिरपेक्षता ११०
२०६--राष्ट्रीय मूलसंस्कृति से निरपेक्ष, किंवा संस्कृति के विरोधी शासनतन्त्र की नियामक--व्यवस्थाओं में जनतन्त्र की अनुशासनहीनता, तथा तद्दुष्परिणामस्वरूप राष्ट्र में विप्लवयुग का आविर्भाव ,,
२०७--सांस्कृतिक–उत्पीड़नात्मक आपद्धर्म्मयुग, एवं आपद्धर्म्मयुगों में संस्कृतिनिष्ठ प्रज्ञाशीलों के लिए अनुष्ठेय--कर्त्तव्यकर्म्म की रूपरेखा १११
२०८--सत्तामदान्ध नहुषादि सत्ताधीशों के उत्पीड़नयुग, एवं धर्म्मविप्लवात्मक तद्युगों में आस्था-श्रद्धाशीला भारतीय प्रजा के द्वारा संस्कृत्यनुशीलमाध्यम से ही सांस्कृतिक--निष्ठा का संरक्षण ,,
२०९--'राजा कालस्य कारणम्' का अवनतशिरस्करूपेण अभिनन्दन करने वाली भी भारतीयप्रजा के द्वारा सत्तामदान्धयुगों में अनुशीलनधर्म्म के माध्यम से ही राष्ट्रीय–संस्कृति का संरक्षण .... ,,
२१०--संस्कृतिस्वरूपानुशीलनपरायण राष्ट्रीय भूदेव का तीन सहस्र वर्षों से मतवादाभिनिविष्टों, तथा सत्तातन्त्रों के द्वारा उत्पीड़न, एवं सत्ताभक्त युगधर्म्मप्रेमी बुद्धिवादी विद्वानों के द्वारा व्यक्तित्त्व--विमोहनात्मक स्वव्यक्तित्त्वस्थापन के लिए विभिन्न कौशल–व्यासङ्गों का अनुगमन ११२
२११–लोकव्यामुग्ध--विद्वानों की कृपा से ही भारतीय मूलसंस्कृति, एवं सनातन--सभ्यता-आदर्श-शाश्वतधर्म्म–आचार--आदि विमल विभूतियों का उत्तरोत्तर--अभिभव, इत्यालप्यालमेव ,,
२१२--प्रकृतिविशिष्ट पुरुष के द्वारा लोकातीता शाश्वतसंस्कृति का, एवं पुरुषविशिष्टा प्रकृति के द्वारा लोकात्मक सांस्कृतिक आचार–आयोजनों का पारम्परिक संरक्षण ११३
२१३–'**प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति**' मूलक प्रकृतिसिद्ध नियन्त्रण, और प्रतिक्रिया का उन्मूलन ११४
२१४--चिदात्माव्ययपुरुष के चित्कणरूप महदक्षरब्रह्म के मानुषावतार द्वारा (अलौकिक मानव द्वारा) ही प्रकृतिवादियों का युगे युगे नियन्त्रण, एवं संस्कृति, तथा धर्म्म का संरक्षण ११५
२१५--'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति**' .... ,,
२१६–धर्म्म, एवं मतवादों के विभिन्न स्वरूप, एवं वर्त्तमान भारत में मतवादों के माध्यम से ही शाश्वत–धर्म्म के साथ व्याजधर्म्माचरण, तथा तद्दुष्परिणामस्वरूप ही धार्म्मिक श्रद्धा का उत्तरोत्तर स्खलन ११६
२१७–धर्म्मव्याजात्मक–धर्म्मों, एवं मतवादों की विभीषिका से ही भारतराष्ट्र में धर्म्मनिरपेक्षता का आविर्भाव ११७
२१८–**प्रजातन्त्र**, और **सत्तातन्त्र** के विभिन्न–व्यवस्थित–मर्य्यादित कर्त्तव्यकर्म्म, एवं तद्द्वारा ही राष्ट्र की संस्कृति, तथा सभ्यता का स्वरूपसंरक्षण–अभिवर्द्धन .... ,,
२१९–व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक '**अधिकार**' शब्द, तथा व्यक्तित्त्वसंरक्षक '**उत्तरदायित्त्व**' शब्द, एवं दोनों के समतुलन–माध्यम से वस्तुस्वरूप–निष्कर्षानुगमन .... ,,

२२०–आत्मबुद्धिक्षेत्रानुगत उत्तरदायित्व, एवं मनःशरीरक्षेत्रानुगत 'अधिकारत्त्व', तथा उत्तरदायित्व से नियन्त्रित अधिकार का भी उतरदायित्व पर ही विश्राम, एवं तन्मूला कर्त्तव्यनिष्ठा ११८

२२१–कारणतावादात्मिका 'उपयोगिता' के महान् व्यामोहन से ही राष्ट्र की **'ब्राह्मणप्रज्ञा'** का पतन, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप ही सांस्कृतिकनिष्ठा का क्रमिक ह्रास, तथा राष्ट्रीय ब्राह्मण से प्रणति–पुरस्सर किञ्चिदिव आवेदन .... ,,

२२२–**'आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति'** न्यायानुबन्ध से **'राजा कालस्य कारणम्'** के गर्भ में सुरक्षित इतिवृत्त का स्वरूपदिग्दर्शनोपक्रम ११९

२२३–**'राष्ट्रीय ब्राह्मण'** के **'व्यक्तिब्राह्मण'** बन जाने से राष्ट्रीय 'सत्तातन्त्र' का पतन, एवं **सम्मान–सत्ता–सम्पत्ति–सेवा**–रूप पुरस्कारों का आत्यन्तिक दुरुपयोग .... ,,

२२४–राष्ट्रीया ज्ञानशक्ति–पौरुषशक्ति–अर्थशक्ति–प्रवर्ग्यशक्ति–चतुष्टयी का वैय्यक्तिक–संरक्षणों में उपयोग, एवं राष्ट्र की अशक्तता १२०

२२५–**संस्कृतिभक्षक–ब्राह्मण, आचारव्यवस्थाभक्षक सत्तातन्त्र, सर्वस्वभक्षक–वणिक्तन्त्र,** तथा **शर्म्म–वर्म्म–गुप्त–भात्रों की अभिभूति,** एवं **'गुप्ततन्त्र' का महान् विजय** ,,

२२६–बहती गङ्गा में हाथ मात्र धोते रहने का पुण्यार्ज्जन करने वाले लोकनिष्ठ भलन्दनवंशज के राष्ट्र के प्रति महतोमहीयान् आर्थिक–विजृम्भणों–का अनर्थात्मक विस्तार .... ,,

२२७–**नीति–राज्य–गण–प्रजा–भेदेन** चतुर्विध सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के समर्थन–माध्यम से–सर्वस्वविघातक **'राजा कौन बने'** सूत्र का मलीमस इतिवृत्त १२१

२२८–सत्तानिरपेक्ष राष्ट्रीय–ब्राह्मणों की, तथा संस्कृतिसापेक्ष राष्ट्रीय क्षत्रियों की उत्तरदायित्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अद्यावधि भारतीय संस्कृति, तथा सभ्यता का पारम्परिक–संरक्षण १२२

२२९–सत्तासापेक्ष–व्यक्तिब्राह्मणों की, तथा संस्कृति–धर्म्म–निरपेक्ष निरङ्कुश सत्तातन्त्रों की अधिकार–लिप्सा से ही त्रिसहस्रवर्षावधि में संस्कृति, एवं सभ्यता की अन्तर्म्मुखता .... ,,

२३०–'राजा' पद के लिए आतुर भारतीय सत्ताधीशों के गृहकलह से ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य १२३

२३१–साम्राज्यलिप्सु ब्रिटिशतन्त्र के सधन्यवाद गमन के साथ साथ ही तत्पदानुवर्त्ती पदलोलुप राजाओं का भी विलयन, एवं तत्स्थान में **गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मक** सत्तातन्त्र का आविर्भाव, इति नु सुस्वागतम् ! .... ,,

२३२–तथाविध स्व–सत्तातन्त्र का मूकभाव से सुस्वागत करने वाली भारतराष्ट्र की राष्ट्रीया–प्रजा ,,

२३३–सत्तातन्त्रभक्ता भारतीय-प्रजा की आशा-परम्पराएँ, एवं सत्तातन्त्र के द्वारा आशापरम्पराओं पर निर्म्मम–तुषारवर्षण १२४

२३४–प्रतीच्य–भूताडम्बरों के चाकचिक्य से हमारी तिमिरान्धता, एवं प्रतीच्य-भूतविज्ञान के साथ भारतीय विज्ञान के समतुलन-प्रयास की जघन्या सर्वनाशकारिणी प्रवृत्ति, तथा तत्प्रवृत्ति से भारतीय संस्कृति का आत्यन्तिक-अभिभव १२५

२३५–परप्रदत्त पुरस्कारों से पुरस्कृता उच्छिष्टभोगकुशला भारतीय प्रज्ञा की त्रिसहस्रवर्षात्मिका भावुकता, एवं तदनुग्रह से ही सांस्कृतिक-वैभव की अन्तर्म्मुखता १२६

२३६–परप्रमाणपत्रों के लिए प्रतिक्षण समातुर स्वनिष्ठावञ्चित आज का भारतराष्ट्र .... ,,

२३७–निष्ठाशून्या भावुकतापूर्णा उदारता के द्वारा भारतराष्ट्र का स्वानुगत महान् विमोहन १२७

२३८–**'राजा प्रजानुरञ्जनात्'** लक्षण रामराज्य से सर्वथा विपरीत शासक, और शासित में महान् विच्छेद, एवं भारतराष्ट्र की संकुलितावस्था .... ,,

२३९–प्रतिज्ञात-**'राजा कौन बने'** सूत्र का दुःखपूर्ण इतिवृत्त .... ,,

२४०–प्रकृतिव्यामोहनात्मक-**'सत्तासम्मान'** शब्द का आविर्भाव, एवं तन्माध्यम से सत्ताधीशों की अधिकारमदान्धता, और उसके भीषण परिणाम १२८

२४१–भारतीय शासक की सांस्कृतिक-स्वरूप-व्याख्या .... ,,

२४२–जनतन्त्रवादी शासक की प्रसिद्धा स्वरूपव्याख्या, एवं **'राजा कौन बने ?'** के स्थान में **'मन्त्री कौन बने ?'** वाक्य का राज्यारोहण १२९

२४३–वर्त्तमान प्रान्तीय सत्तातन्त्रों में मन्त्रित्त्व-पद के लिए प्रचण्ड संघर्ष, एवं प्राप्त मन्त्रित्त्व के संरक्षण–प्रयास में ही सत्ताशक्तियों का सर्वस्वार्पण १३०

२४४–'राष्ट्र', एवं–'राष्ट्रीयधर्म्म' की स्वरूपव्याख्या का दिग्दर्शन ....

२४५–**'निरपेक्षतामूलक स्वस्वरूपदर्शन'** के माध्यम से ही 'संस्कृति' के साथ मानव का अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, एवं तदनुग्रह से ही राष्ट्रस्वरूपसंरक्षण .... ,,

२४६–**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। तत्तदेव–अवक्लृप्तम्'** इत्यादि श्रौतवचन का तात्त्विक समन्वय, एवं निबन्ध की अभिधा का संस्मरण .... ,,

२४७–सांस्कृतिक–निबन्ध के माध्यम से उद्घोषित–'श्वेतक्रान्ति'मूलक महान् उद्घोष १३१

२४८–परतन्त्रता के वारुणपाश से भारतराष्ट्र को उन्मुक्त करने वाले दिवंगत सांस्कृतिक धर्म्मिष्ठ महा–पुरुषों का कृतज्ञतापूर्वक संस्मरण १३२

२४९–स्वनामधन्य शक्तिपूजक श्रीसुभाषचन्द्र बोस के प्रति राष्ट्र की कृतज्ञताएँ .... ,,

२५०–सैन्यविद्रोहमूला राष्ट्रीय–स्वतन्त्रता से पुलकित जनतन्त्र के स्वातन्त्र्योल्लास पर शासन के **'धर्म्मनिरपेक्ष'** शस्त्र का प्रचण्ड प्रहार, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! १३३

२५१–तमःप्रकाशवत् परस्परात्यन्तविरुद्धा–रामराज्यघोषणा. एवं धर्म्मनिरपेक्षघोषणा से भारतीय आस्तिक जनतन्त्र की स्तब्धता .... ,,

२५२–भारतीय संस्कृति–सभ्यता, तथा धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाने वाले सत्तातन्त्र की गजनिमी–लिका से भारत के सांस्कृतिक–हृदयों का विकम्पन .... ,,

२५३–वर्त्तमान–शासनतन्त्रानुगत जनतन्त्र, एव तदनुगतिमूलक इसका सहज धृतिगुण, और तत्प्रति सत्तातन्त्र की भ्रान्त–धारणा १३४

२५४–वर्त्तमान शासनतन्त्र से पूर्व के ब्रिटिशसत्तातन्त्र की भी तत्समतुलिता धारणा, एवं धारणा की निर्म्मूलता .... ,,

२५५–भावुक–भारतीयों की धर्म्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में आवेशमूला भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण १३५

२५६–'संघठनशक्ति' के प्रलोभन से सम्बद्ध 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द से राष्ट्रीय संघठन का उत्तरोत्तर अधिकाधिक शैथिल्य .... ,,

२५७–हिन्दूसंस्कृति, हिन्दूसभ्यता, आदर्श-धर्म्म-आदि की असाम्प्रदायिकता, एवं तत्प्रति वर्त्तमान सत्तातन्त्र का भ्रान्त साम्प्रदायिक दृष्टिकोण १३५

२५८–अभ्युपगमवादेन सत्तातन्त्र के अभियोग की स्वीकृति, एवं तदाधारेणैव आज के सत्तातन्त्र की 'धर्म्मनिरपेक्षता' से कतिपय प्रश्न १३६

२५९–धर्म्मनिरपेक्ष आज के इस सत्तातन्त्र के द्वारा भावुकतापूर्ण-राजनैतिक-स्वार्थमान्यताकर्षण से हिन्दूधर्म्म का अपमान, एवं तदतिरिक्त लोकानुबन्धी इतर समस्त मतवादों के साथ इसका समालिङ्गन, और यों स्वयं के द्वारा ही धर्म्मनिरपेक्षता का उपहास १३७

२६०–सांस्कृतिक–सुसभ्य–आस्तिक--धृतिगुणपरायण–हिन्दूमानवात्मक मानव की 'मानवता' के उत्पीड़न के भीषण परिणाम, एवं अतीत के उद्बोधक चिरन्तन इतिवृत्त .... "

२६१–वर्त्तमान शासनतन्त्र के प्रमुख पदों पर समासीन संस्कृतिनिष्ठ-धर्म्मनिष्ठ-आस्थाश्रद्धापरायण अमुक ज्ञात--अज्ञात--महाप्राण–मानवश्रेष्ठों के धृतिगुणानुग्रह से ही भारतराष्ट्र के स्वरूप का गच्छतः–स्खलनरूप से संरक्षण १३८

२६२–राष्ट्रहितानुबन्धी एक कटुसत्य, एवं भारतीय सम्मान्य शासकवर्ग का भारतीय संस्कृति के प्रति आवेशपूर्ण प्रतिक्रियावाद .... "

२६३–प्रकृतिसिद्ध भेदवाद, एवं आत्मपुरुषसिद्ध अभेदवाद, तथा प्रकृतिविशिष्ट पुरुषधर्म्म का ही शाश्वतधर्म्मत्व १३९

२६४–प्रकृतिसाम्यमूला प्रलयावस्था का स्वरूपदिग्दर्शन, एवं प्रकृतिसाम्यमूला धर्म्मनिरपेक्षता का स्वरूपेतिवृत्त .... "

२६५–ब्रिटिशयुगानुगता 'धर्म्मनिरपेक्षता' घोषणा का ही वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा गतानुगतिक, अतएव नितान्त भावुकतापूर्ण अनुकरण १४०

२६६–सांस्कृतिक–निबन्धनानुगत–'किमपि प्रास्ताविकम्' का उपराम, एवं भारतराष्ट्र के मूलाधारभूत ब्रह्मवीर्य्यात्मक '**भारत**' नामक जागरूक दिव्य '**अग्निदेव**' का महामाङ्गलिक–संस्मरण.... "

उपरता चेयं–'किमपि प्रास्तविकस्य' संक्षिप्ता–विषयसूची

'पत्तानिरपेक्ष-'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष-'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त' नामक-प्रथमकरण की संक्षिप्ता-विषयसूची

—१—

१–माङ्गलिक संस्मरण १
२–संस्कृति, और सभ्यता शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपक्रम २
३–वर्त्तमान सांस्कृतिक आयोजनों के अकाण्ड ताण्डव ३
४–रुढ़िवादविध्वंसक कल के समाजसुधारक के द्वारा रुढ़िवादों का प्रचण्ड समर्थन, एवं तन्मूलक उसके सांस्कृतिक आयोजन .... "
५–राष्ट्रीय जनमानम का सांस्कृतिक अधःपतन ४
६–दुरधिगम्य 'संस्कृति,' और 'सभ्यता' शब्द .... "
७–चतुष्पर्वा मानव का आधारभूत 'समब्रह्म' .... "
८–समब्रह्म, और सङ्गीताचार्य्यों का तालानुगत 'सम्' ५
९–समब्रह्ममूला समानी समिति, एवं प्रपत्तिमूला सम्पत्ति .... "
१०–एकात्त्वाधारभूत समब्रह्म का मौलिक स्वरूप .... "
११–'समित्येकीभावे' मूलक 'सम्' उपसर्ग, और समब्रह्म ....
१२–'संस्कृति' शब्द के 'सम्-स्-कृति' रूप पर्वविभाग .... "
१३–एकीभावात्मिका कृति का संकृतित्त्व, तथा संस्कृतित्त्व .... "
१४–'पराविद्यात्मिका' आत्मविद्या, और 'सम्' भाव .... "
१५–अपराविद्यात्मिका विश्वविद्या, और 'कृति' भाव ७
१६–संस्कृति का एकमात्र प्राणवान् प्रतीक 'साहित्य' .... "
१७–प्राजापत्या संस्कृति के शाश्वत आयोजन .... "
१८–ईश्वर की अवयवरूपा कृतियाँ, एवं अवयवीरूपा संस्कृति ८
१९–मानवेतर विश्वपदार्थों का केवल कृतित्त्व, एवं मानव का संस्कृतित्त्व .... "
२०–विश्वपदार्थों की परतन्त्रता, एवं मानव की स्वतन्त्रता ९
२१–प्राजापत्या ईश्वरीय-संस्कृति, एवं प्राजापत्य ईश्वरीय साहित्य .... "
२२–संस्कृति, और साहित्य का चिरन्तन सख्यभाव .... "
२३–स्वाध्याय के द्वारा सांस्कृतिक इतिहास का संरक्षण .... "
२४–ईश्वरीय कृतियों का प्रदर्शनात्मक आयोजन, और संस्कृति १०
२५–सांस्कृतिक मानव की सनातन-मानवता .... "
२६–चार कृतियों के समसमन्वय से '**मानवसंस्कृति**' का उद्भव ११
२७–मानव का पञ्चभावात्मक सांस्कृतिक स्वरूप .... "

२८–मानव की आत्मसंस्कृति, और प्रकृतिसंस्कृति १२
२९–मानव की अलौकिक, तथा लौकिक संस्कृति ... ... "
३०–लोकसंस्कृति, और लोकसभ्यता .... "
३१–सांस्कृतिक-परिभाषा से असंस्पृष्ट आज के सांस्कृतिक आयोजन १३
३२–प्रकृति-पुरुष का समन्वय, और संस्कृति .... "
३३–मानव की संस्कृति का मापदण्ड .... "
३४–अलौकिक-लौकिक-मानव की अलौकिक-लौकिक संस्कृति १४
३५–लोकसांस्कृतिक प्रतीकधर्म्म का चतुर्द्धा वर्गीकरण .... "
३६–आचरणात्मिका चतुर्विधा लोकसंस्कृति १५
३७–प्रदर्शन-आयोजनादि से असंस्पृष्टा चतुर्विधा लोकसंस्कृति .... "
३८–लोकसंस्कृतिलक्षणा शास्त्रीय–संस्कृति .... "
३९–शास्त्रीय–संस्कृति का चतुर्द्धा वर्गीकरण .... "
४०–वर्णाश्रमव्यवस्थामूला 'संस्कृति' का चिरन्तन नित्य इतिहास १६
४१–संस्कृति-साहित्य-संस्कार-और धर्म्म-शब्दों का समन्वय २०
४२–शास्त्रीय–संस्कृति का फलितार्थ .... "
४३–सांस्कृतिक बीज के संरक्षक त्रिविध संस्कार .... "
४४–उदाहरणसहित त्रिविध संस्कारों का समन्वय २१
४५–अनुकूल-प्रतिकूल-संस्कारों का तारतम्य .... "
४६–संस्कारों से संस्कृत मानव, और असंस्कृत मानव २२
४७–संस्कारशून्य असंस्कृत मानव का आत्यन्तिक पतन .... "
४८–भारतभाग्यानुबन्धिनी **'संस्कार की बात'** .... "
४९–सांस्कृतिक आयोजनों के आविष्कर्त्ताओं की भावुकता का संरक्षण २३
५०-सभा-समिति-पर्षत्-परिषत्-सभेय-सभ्यता-आदि शब्दों का समन्वय .... "
५१–सभ्यों की सभ्यता का निष्कर्षार्थ २४
५२–मानव की सभ्यता .... "
५३–वैय्यक्तिक जीवनपद्धति, एवं सामाजिक जीवनपद्धति .... "
५४–व्यक्तिमानव, और समाजमानव का तारतम्य .... "
५५–व्यक्तिमानव का वैय्यक्तिक महान् व्यामोहन २५
५६–व्यक्तित्वविमोहन के द्वारा समाज का सामाजिक व्यामोहन .... "
५७–व्यक्तित्वविमूढ़ मानवों की वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा २६
५८–सममञ्जनरूप 'समाज' तत्त्व से वहिष्कृत वर्त्तमान समाजवाद .... "
५९–वैय्यक्तिक स्वातन्त्र्य से समाज का आत्यन्तिक पतन ... . "
६०–वैय्यक्तिक भ्रष्टाचारों से समाज का आत्यन्तिक पराभव २७
६१–व्यक्तित्वविमूढ़ मानवों के द्वारा हीन समाज का आविर्भाव ... . "

६२–समाज की आधारशिला व्यक्तित्व २७
६३–व्यक्तिमानव की स्वरूप–परिभाषा २८
६४–जनता, और इन्द्र का समन्वय .... ,,
६५–व्यक्तित्व के प्रति निष्ठाओं का समर्पण .... ,,
६६–पुरातन-नूतन-व्यक्तिप्रतिष्ठाओं में तारतम्य २६
६७–भारतीय दृष्टिकोण से व्यक्ति के व्यक्तित्व की मौलिक परिभाषा .... ,,
६८–विचारस्वातन्त्र्य, और आचारपारतन्त्र्य का समन्वय .... ,,
६६–भारतीय व्यक्तित्व के मूलप्रतिष्ठासूत्र ३०
७०–धर्म्मनीति, एवं राजनीति का स्वरूपदिग्दर्शन .... ,,
७१–अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत-तन्त्रानुगत तन्त्रायी मानव ३१
७२–राजनीतिपथानुगत चतुर्विध शासनतन्त्र .... ,,
७३–सहकामचारिणी वाराङ्गना-समतुलिता राजनीति, एवं सहधर्म्मचारिणी कुलवधु-समतुलिता धर्म्मनीति .... ,,
७४–सुसंस्कृत-सुसभ्य मानव के चतुर्विध सामाजिक पुरस्कार .... ,,
७५–लोकैषणात्मक राष्ट्रीयकरण का महान् व्यामोहन ३२
७६–सत्तानिरपेक्षता के आधार पर ही संस्कृति का स्वरूप–संरक्षण .... ,,
७७–तत्त्वचिन्तक द्विजाति की राजभक्ति के दुष्परिणाम ३३
७८–संस्कृतिनिष्ठ मानव के सम्बन्ध में उदात्त घोषणा .... ,,
७६–'अरतिर्जनसंसदि' मूला संस्कृतिनिष्ठा, एवं सत्ता के लिए उद्बोधनसूत्र .... ,,
८०–संस्कृतिनिष्ठा के राष्ट्रीयकरण से संस्कृति की अन्तर्मुखता ३४
८१–अध्यात्मवादियों की भ्रान्त धारणा .... ,,
८२–सहयोगी मित्रों के आपातरमणीय उद्बोधनसूत्र .... ,,
८३–आचार्य्यनिष्ठा के प्रति आत्मसमर्पण, एवं मित्रों की मनस्तुष्टि ३५
८४–उद्बोधनप्रदाता मित्रों का सामाजिक व्यामोहन .... ,,
८५–'राजा कालस्य कारणम्' का सामयिक तथ्य .... ,,
८६–सत्ताधीशों की आपातरमणीय-धारणाएँ, एवं उनका नीरक्षीरविवेक ३६
८७–कूटनीतिज्ञ-चाणाक्षचतुर-प्रतीच्य राजनैतिकों की घातक घोषणा के दुष्परिणाम .... ,,
८८–संस्कृति, साहित्य, धर्म्म, आदर्शादि की जनजीवन में महती उपयोगिता ३७
८६–अधिदैवतद्वारा अध्यात्म, एवं अधिभूत का समसमन्वय, और संस्कृति .... ,,
६०–प्रकृति से प्रकृति का सञ्चालन असम्भव .... ,,
६१–संस्कृति की उपासना, एवं सत्ता के प्रति तदुपासक की निरपेक्षता का वास्तविक अर्थ ३८
६२–जनतन्त्र के महारथियों के द्वारा प्राच्यसंस्कृति के प्रति आक्षेपात्मक प्रश्न .... ,,
६३–वर्त्तमान समारम्भों की दृष्टि से प्राच्यसंस्कृति की निरपेक्षता, किन्तु ! .... ,,
६४–वर्त्तमान भूतविज्ञान, और उसकी दैनिक जीवन में सर्वथा अनुपयोगिता ३६

९५–सनातनसंस्कृति की सनातन-उपयोगिता का समन्वय ३९
९६–संस्कृति के आकर्षण से ध्वंसावशेषरूप पुरातत्त्वों का अकाण्ड ताण्डव .... ,,
९७–पुरातत्त्वानुबन्धी ध्वंसावशेष, और आसुरी पद्धति ४०
९८–सांस्कृतिक-देवपद्धति, एवं परिचयचिह्नलक्षणात्मिका असुरपद्धति .... ,,
९९–बाह्यसभ्यतामात्र के परिचायक पुरात्त्वानुबन्धी ध्वंसावशेष ४१
१००–'संस्कृति' शब्द का वास्तविक इतिवृत्तसमन्वय .... ,,
१०१–लोककृति के शिल्प, तथा कला-रूप दो विवर्त्त .... ,,
१०२–मानव के मर्त्य 'कृति' पर्व ४२
१०३–'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्दों का पार्थक्य .... ,,
१०४–संस्कृति की उपयोगिता-अनुपयोगिता का समन्वय ४३
१०५–संस्कृतिनिष्ठों की लोक-समाज-निष्ठा का समन्वय .... ,,
१०६–'सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति' सूत्रमूला भारतीय संस्कृति ४४
१०७–'सर्वम्' मूला आत्मभ्रान्ति ४५
१०८–राजर्षि के द्वारा 'सर्वम्' की स्वरूपव्याख्या, और भ्रान्तिनिराकरण .... ,,
१०९–'मैत्रावरुणग्रहविज्ञान' के द्वारा अभिगन्ता, और कर्त्ता का समन्वय ४६
११०–क्रतु, और दक्ष के द्वारा ब्रह्म, तथा क्षत्र का समन्वय .... ,,
१११–मैत्रावरुणग्रहश्रुति का पावन संस्मरण ४७
११२–श्रुत्यक्षरार्थसमन्वय-द्वारा संस्कृति, और सभ्यता का सामञ्जस्य ४८
११३–विशेषदृष्टिकोण-निबन्धन मानव का अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत् ४९
११४–अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत् के आश्रय-आश्रित-भाव ५०
११५–अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-निबन्धन आश्रय-आश्रित-भावों के तीन संस्थान .... ,,
११६–प्राणात्मा की आश्रयता, एवं स्थूलभूतों की आश्रितता ५१
११७–ईश्वर-जीव-जगदात्मिका ओम्-अहम्-अहः-नाम की व्याहृतित्रयी का समन्वय .... ,,
११८–संस्थात्रयी के (प्रत्येक के) अवान्तर ६–६–विभाग ५२
११९–अमृत, और मृत्यु का प्रथम दृष्टिकोण, एवं तत् समन्वय ५३
१२०–अमृत, और मृत्यु का द्वियीय दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय .... ,,
१२१–अमृत, और मृत्यु का तृतीय दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय ५७
१२२–अमृत-मृत्युनिबन्धन मानव की अमृता संस्कृति, एवं मर्त्या सभ्यता ६४
१२३–अधिदैवत के अनुपात से मानव के चार पर्वों का समसमन्वय .... ,,
१२४–मुक्तिकामना, और आत्मबुद्धितन्त्र, तथा सृष्टिकामना, और मनःशरीरतन्त्र ६५
१२५–अमृत-ज्ञान-ब्रह्म-मित्र, एवं मृत्यु-कर्म्म-क्षत्र-वरुण शब्दों का समन्वय .... ,,
१२६–मित्र ब्राह्मण की लोकनिष्ठा, और राज्याश्रय .... ,,
१२७–संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-निबन्धन-एक दुरधिगम्य प्रश्न ६६
१२८–संस्कृतिनिष्ठ ब्रह्म का आधारतत्त्व, एवं सभ्यतानिष्ठ सत्तातन्त्र का आधेयत्त्व .... ,,

१२९–शासनतन्त्र की मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन ६७
१३०–मूलप्रतिष्ठात्मक ब्रह्म से वञ्चित सत्तातन्त्र का पराभव .... ,,
१३१–आत्मबुद्धिनिष्ठ ब्राह्मण की सर्वाश्रयता, एवं सत्तातन्त्र के प्रति निरपेक्षता ६८
१३२–सत्तासापेक्षमूला भ्रान्त धारणा, और तन्निबन्धन उत्पीड़न .... ,,
१३३–सत्तातन्त्रेच्छानिबन्धना भावुकतापूर्णा व्याख्यापरम्पराएँ .... ,,
१३४–सत्तातन्त्रानुरञ्जनात्मिका दुष्प्रवृत्तियों की प्रक्रान्ति ६९
१३५–विदेशी सत्तातन्त्र के प्रति भारतीय राजभक्त विद्वद्वर्गका दयनीय आत्मसमर्पण .... ,,
१३६–वर्त्तमाना-प्रक्रान्ता-राजभक्ति, और राजभक्त भावुक विद्वान् .... ,,
१३७-विद्वानों के लिए उद्बोधनसूत्र, एवं सत्तातन्त्र का उत्तरदायित्व ७०
१३८–**भगवती श्रुति के द्वारा सत्ता के प्रति ब्राह्मण की निरपेक्षता का महान् उद्घोष** ,,
१३९–सत्ताश्रयलक्षणा पराश्रयता के महतो महीयान् दुष्परिणाम, एवं तद्द्वारा संस्कृति का अभिभव ७१
१४०–सत्ताश्रयम से पदप्रतिष्ठात्मक लोकैषणात्मक व्यामोहन, एवं संस्कृतिनिष्ठों का आत्यन्तिक पराभव .... ,,
१४१–राजन्यब्राह्मणों की सत्ताश्रयमूला जीवितमृत्यु ७२
१४२–उद्बोधनात्मक महान् मानवसूत्र की उपेक्षा से सांस्कृतिक चेतना का अभिभव .... ,,
१४३–**“सत्तानिरपेक्षा ऋषिकल्पा ये ब्राह्मणादेवास्तेभ्यो नमो नमः”**.... .... ,,
१४४–‘सत्ताश्रययता’ त्मक आविष्कार की सर्वस्वघातकता, एवं श्रुतिविरोध ७३
१४५–ब्राह्मण की अराजन्यता, एवं सत्तातन्त्र की ब्राह्मण्यता का समन्वय .... ,,
१४६–दिग्देशकालातीता मौलिक संस्कृति .... ,,
१४७–चतुर्विध प्रतीकधर्म्म, एवं प्रतीकात्मक भारतीय साहित्य ७४
१४८–‘**यथा राजा, तथा प्रजा**’ आभाणक का समन्वय .... ,,
१४९–**‘राजा कालस्य कारणम्’ लक्षणा विप्रतिपत्ति का तात्त्विक समन्वय** .... ,,
१५०–राजा, प्रजा, और सोमानुगत संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण ७५
१५१–मूलसंस्कृति-धर्म्म-साहित्य की अप्राकृतता, एवं सनातनता ७६
१५२–बुद्धयुगनिबन्धना भावुकता, एवं संस्कृतिस्वरूपव्यामोहन .... ,,
१५३–संस्कृतिसंरक्षण का एकमात्र महान् राजपथ ७७
१५४–सांस्कृतिक अभिभवानुबन्धी दुरधिगम्य प्रश्न, एवं तत्समाधानचेष्टा .... ,,
१५५–**‘ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च’** का समन्वय .... ,,
१५६–कार्य्यकारणभावों से असंसृष्ट भारतीय शिक्षासूत्र ७८
१५७–भारतीय शिक्षानीति के मौलिक आधार .... ,,
१५८–लोकैषणा के असंवरण से ब्राह्मण की दासभाव में परिणति ७९
१५९–शिक्षा की कारणता के अन्वेषक ब्राह्मण का अधःपतन .... ,,
१६०–भारतीय सम्राट् अशोक की धर्म्मप्रचारभावुकता, और राष्ट्रस्वातन्त्र्य का अभिभव .... ,,

१६१–विजेता यवनसम्राटों का राष्ट्र के मनःशरीरतन्त्रों पर आक्रमण ८०
१६२–नैष्ठिकी ब्रिटिशत्ता के द्वारा शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य, एवं तन्मूलक राष्ट्रवैभव का सर्वविध शोषण .... ,,
१६३–राष्ट्र के मध्यमवर्ग की दासवृत्ति, और राष्ट्र का पारतन्त्र्य ८१
१६४–राजभक्त विद्वानों, एवं सतासञ्चालक वित्तपतियों पर एक विहङ्गमदृष्टि ८२
१६५–(क)–आज का स्वतन्त्र भारत, और शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य .... ,,
१६५–(ख)–राष्ट्रीय संस्कृति-सभ्यता-धर्म्म-साहित्य-शिक्षा आदि के संरक्षण के मूलसूत्र ,,
१६६–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' श्रुतिका तात्त्विक समन्वय ८५
१६७–निरपेक्षा-सापेक्षा-संस्कृतियों के द्वारा भावुक मानवों का उद्बोधन .... ,,
१६८–निरपेक्षा संस्कृति के आधार पर सापेक्षा लोकसंस्कृतिका वितान ८६
१६९–सापेक्षा लोकसंस्कृतिका आचारात्मक स्वरूप ८७
१७०–लोकसंस्कृतिमूला शास्त्रीया योगचतुष्टयी .... ,,
१७१–आचारसंस्कृतियों का तालिकात्मक स्वरूप .... ,,
१६२–सिद्धा, एवं साध्या संस्कृतियों की सापेक्षता-निरपेक्षता-का समन्वय ८९
१७३–समन्वयाधारभूत श्रौतसन्दर्भ .... ,,
१७४–श्रौतसन्दर्भ का रहस्यात्मक समन्वय ९०
१७५–तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत-धर्म्मम् ९६
१७६–धर्म्मस्वरूपानुगता महती विप्रतिपत्ति .... ,,
१७७–निरपेक्ष-अप्राकृत-शाश्वतधर्म्म की परिभाषा .... ,,
१७८–सापेक्ष-प्राकृत-धर्म्मात्मक-विश्व के पन्द्रह मनोताभाव ९७
१७९–ब्रह्मौदन, एवं प्रवर्ग्यरूपा यज्ञप्रणाली, तथा तदनुबन्धी षड्भावविकार ... ,,
१८०–यज्ञाधारभूत सूत्रात्मा ९८
१८१–नियतिःसत्यात्मक अन्तर्य्यामी, एवं तद्रूप सत्यधर्म्म .... ,,
१८२–'**मर्य्यादा**' शब्दनिर्वचन, एवं-'**धर्म्माणि**' रूप धर्म्म का समन्वय ... ... ,,
१८३–**स्वधर्म्म-परधर्म्म-अधर्म्म**-शब्दों का पारिभाषिक समन्वय ९९
१८४–अभ्युदय-निःश्रेयस्-साधक-कर्म्मात्मक-धर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन ... ... ,,
१८५–धर्म्मका प्रतीकभावात्मक क्षात्रतन्त्र (सतातन्त्र) ... . ,,
१८६–'**तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति**' का पारिभाषिक समन्वय १००
१८७–'**तदेतत्-क्षत्रस्य क्षत्रं-यद्धर्म्मः**' का तात्त्विक समन्वय .... ,,
१८८–'तदेतत्-ब्रह्मणो ब्रह्म-यद्धर्म्मः' अपेक्षा का निराकरणरहस्य ... . ,,
१८९–सत्तातन्त्र की सापेक्षता से ब्राह्मण की दासभाव में परिणति, एवं धर्म्म का अभिभव १०१
१९०–वणिक्तन्त्र की सापेक्षता से राष्ट्रीय-संस्कृति, एवं धर्म्म का आत्यन्तिक अभिभव ,,
१९१–वणिक्तन्त्र के प्रति श्रद्धाञ्जलिसमर्पण १०२

१९२–सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र का सखाभाव, तथा संस्कृति का पराभव … … १०२

१९३–काममय अर्थ, तथा भूतमय श्रम के द्वारा क्रान्तिबीज का आधान, एवं इस से विश्व में क्षोभ का आविर्भाव … … … … … १०३

१९४–श्रमाध्यक्ष वणिक्तन्त्र के द्वारा सत्तासहयोग से विश्वक्षोभ की प्रवृत्ति …. १०४

१९५-'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' का दुःखपूर्ण इतिवृत्त …. …. ,,

१९६–भावुक-भारतीय की वणिक्तन्त्रानुगता महती भ्रान्ति …. …. ,,

१९७–प्रतिदानकामनात्मिका वणिक्तन्त्रसापेक्षता, एवं धर्म्म की दासता …. १०५

१९८–सत्ताश्रय की प्रतिदाननिरपेक्षता, एवं तद्द्वारा अंशतः धर्म्मसंरक्षण …. ,,

१९९–ब्रिटिशसत्ता की घातक घोषणा से भारतीय संस्कृति, एवं धर्म्म का लोकतन्त्र से सम्बन्ध-विच्छेद …. …. …. …. …. ,,

२००–ब्रिटिशसत्ता की धर्म्मनिरपेक्षा घोषणा के अनुग्रह से वणिक्तन्त्र का धर्म्मक्षेत्र में आधिपत्य, एवं उसके दुष्परिणाम …. …. …. …. १०६

२०१–शासन, एवं व्यवसाय 'संदेश' (सण्डासी) से धर्म्म का कण्ठावरोध …. ,,

२०२–व्यवसायोपयोगी धर्म्म का धर्मत्त्व, एवं तत्प्रेमी वणिक्तन्त्र के द्वारा धर्म्म का व्यवसायात्मक मूल्याङ्कन …. …. …. …. १०७

२०३–ब्रिटिशसत्तायुगीय वणिक्तन्त्र के द्वारा गच्छतः स्खलनरूप से धर्म्म को आश्रय प्रदान, किन्तु वर्त्तमान सत्तायुग में तत्प्रति भी सर्वथा निरपेक्षता …. ….

२०४–वणिक्तन्त्र की सत्ताभक्ति का नग्नरहस्य …. …. …. ,,

२०५–सत्तातन्त्र की वणिक्तन्त्र के प्रति सापेक्षता, एवं तदनुग्रहेणैव सत्तास्वरूपसंरक्षण …. १०८

२०६–सत्ता-सम्पत्ति-सेवा-भावानुगत क्षत्र-विट्-पौष्ण-भावनिबन्धन शासन-अर्थ-श्रम-भावों का प्रवर्ग्यात्मक समन्वय …. …. …. …. १०९

२०७–धर्म्मनिरपेक्ष-क्षत्र-विट्-पौष्ण-के द्वारा विश्वप्रजा में आत्यन्तिक क्षोभ का उदय …. ,,

२०८–धर्म्मदण्डप्रवर्त्तक भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा राष्ट्र का संरक्षण …. ,,

२०९–धर्म्मस्वरूपव्याख्याता संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण, एवं धर्म्मस्वरूपप्रवर्त्तक सभ्यतानिष्ठ सत्तातन्त्र, तथा धर्म्म का प्रथम क्रमात्मक क्रम (१) …. …. …. ११०

२१०–धर्म्मानुग रहस्यज्ञान, एवं धर्म्म का दूसरा 'अभिक्रमात्मक' क्रम (२) …. १११

२११–धर्म्मानुगत तात्त्विक चिन्तन, एवं धर्म्म का तीसरा-'अभिक्रमा'त्मक क्रम (३) …. ११२

२१२–क्रमत्रयानुगत विट्-क्षत्र-ब्रह्म-भावों के साथ त्रिविध धर्म्म का समन्वय …. ,,

२१३–लोकसंस्कृति, एवं प्रतीकधर्म्मचतुष्टयी की सत्तासापेक्षता का आंशिक समर्थन …. ,,

२१४–भारतराष्ट्र की राजभक्ति-सत्ताभक्ति का मूलाधार …. …. ११३

२१५–विदेशी सत्तातन्त्र के द्वारा प्रवृत्त सर्वस्वघातक शिक्षायन्त्र का भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा अन्धानुकरण, एवं उसके भीषण परिणाम …. …. …. ,,

२१६–अनुकरणात्मक भारतीय गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र के प्रति श्रद्धार्पण …. …. ,,

२१७–भारतीय शासन की धर्म्मनिरपेक्षता, एवं हमारा भावुकतापूर्ण प्रमाद ११४

२१८–विश्व के सत्तातन्त्रेतिहासों पें प्रथम परीक्षणात्मिका धर्म्मनिरपेक्षता .... "

२१९–परदर्शनमूलक अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहन, एवं तन्मूला सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता ११५

२२०–संघर्षवञ्चिता-अनुकूलतात्मिका भावुकता के दुष्परिणाम, एवं सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता ११६

२२१–भावुकतामूलक नवग्रहग्राहवाद, एवं संस्कृति का तद्द्वारा अभिभव .... "

२२२–वादमूला भावुकता, एवं तदनुग्रह से संस्कृति-धर्म्म-क्षेत्रों में निरपेक्षता का जन्ममहोत्सव, इति नु-अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! .... "

२२३–परोक्षरूपेण प्रमादनिराकरणचेष्टा, एवं सत्तातन्त्र के प्रति तटस्थ सापेक्षता निष्ठा ११७

२२४–**सौम्य, अतएव भावुक नारीतन्त्र, एवं सौम्य बालबृन्द का स्वरूप परिचय** .... "

२२५-निषेधमूला अनुकरणप्रवृत्ति, एवं तत्र मनोराज्य का प्राधान्य ११८

२२६–सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता का भावुकतासंरक्षणात्मक समाधान .... "

२२७–मतवादात्मक सभी धर्म्मों के प्रति हमारे सत्तातन्त्र का उदारतापूर्ण व्यवहार ११९

२२८–भारतीय-सनातन-हिन्दूधर्म्म के प्रति हमारे सत्तातन्त्र का प्रचण्ड आक्रोश, एवं संस्कृति के महान् प्रतीक 'हिन्दू' शब्दश्रवण से भी तन्मनोराज्य का विकम्पन .... "

२२९–धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र के द्वारा धार्म्मिक जयन्तियों का घटाटोप आयोजन .... "

२३०–प्रमादी हिन्दू की भावुकता, और उसका महान् प्रमाद १२०

२३१–प्रान्तीयसत्तारूढ मान्य महानुभावविशेष की जिज्ञासा, एवं तत्समाधानचेष्टा .... "

२३२–मतवादनिरपेक्ष-विश्वसंस्कृतिनिष्ठ-हिन्दू की, तत्संस्कृति की, एवं तद्धर्म्म की उपेक्षा, एवं धर्म्म-निरपेक्ष सत्तातन्त्र का विडम्बनापूर्ण पथ १२१

२३३–नितान्त भावुकतापूर्ण **रामराज्य-हिन्दूसभावाद-जनसंघवाद**-आदि आदि विविध वाद, एवं तद्द्वारा सत्तातन्त्र में प्रतिक्रिया का आविर्भाव .... "

२३४–चाणक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्र की कुटिलनीति, और राष्ट्र का सांस्कृतिक पराभव १२२

२३५–परभावुकतानुगत, अतएव स्वसंस्कृति-धर्म्मनिष्ठावञ्चित जनतन्त्र का आत्यन्तिक पराभव १२३

२३६–प्रमादपूर्णा भावुकता की सर्वव्याप्ति, एवं तन्निराकरणार्थ अपेक्षिता पारस्परिक-समन्वयानिवार्य्यता "

२३७–'**अभयं वै ब्रह्म-मा भैषीः**' मूलक सांस्कृतिक सन्देश के आधार पर संस्कृति-अनुग्रह-प्राप्ति के लिए सर्वनिरपेक्षतात्मिका सर्वसापेक्षता की अनिवार्य्यता १२४

२३८–दृष्टिकोणभेद से लोकसंस्कृति की सत्तासापेक्षता-निरपेक्षता का समन्वय .... "

२३९–ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-नियन्त्रक प्रकृतिधर्म्म की परमता, एवं तत्प्रवर्त्तकत्वेन सत्तातन्त्र की तत्-प्रति अनिवार्य्या सापेक्षता १२५

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२४०–वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र, और तत्प्रति भावुकतापूर्ण, किन्तु निष्ठागर्भित अवधेय समाधान १२६
२४१–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति अपेक्षित परोक्ष आत्मीयभाव ... ... ,,
२४२–सापेक्षतानुबन्धी परोक्षभाव की स्वरूपव्याख्या १२७
२४३–सत्तासापेक्षता-निरपेक्षता के प्रासङ्गिक इतिवृत्त का उपराम ... ... ,,
२४४–प्रासङ्गिकेतिवृत्त का निष्कर्षार्थ १२८
२४५–रहस्यपूर्ण, अतएव दुरधिगम्य पुरुष-प्रकृति-विवर्त्त, एवं तन्मूलक निरपेक्ष-सापेक्ष-सांस्कृतिक विवर्त्त ... ... ,,
२४६–ब्राह्मण के द्वारा नियन्त्रिता सत्ता का ही संस्कृति के प्रति सापेक्षत्व-समन्वय ... ,,
२४७–'स्वामी सर्वस्य राष्ट्ररूप श्रीमान् मम पुरोहितः' का समन्वय ... १२९
२४८–'ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति' श्रुतिवचन का तात्त्विक समन्वय ... १३०
२४९–'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्' लक्षण सत्ताधर्म्म ... ,,
२५०–ब्राह्मणप्रज्ञा का विरोध, और राष्ट्र का अधःपतन १३१
२५१–सर्वस्वप्रदाता-सर्वसंरक्षक ब्राह्मण के प्रति राष्ट्र की कृतघ्नता ... ... ,,
२५२–मैत्रब्राह्मण की सर्वभूतहितरति, एवं तदनुग्रहीत वर्गों की कदर्य्यता ... १३२
२५३–सङ्गदोषजनित-भावुकतामूला ब्राह्मण की दासता ... ... ,,
२५४–ब्राह्मणविकम्पनात्मक प्रज्ञाविकम्पन से विश्व का विकम्पन १३३
२५५–काल्पनिक ब्राह्मणवाद के आविर्भाव-द्वारा ब्राह्मणप्रज्ञा की अवहेलना .... ,,
२५६–युधिष्ठर–भीष्म-संवादरूप इतिवृत्त के द्वारा ब्राह्मणस्वरूप की सत्तानिबन्धना-पतन परम्पराओं का स्वरूप-विश्लेषण, एवं तद्द्वारा ब्राह्मण के मौलिक स्वरूप का परिचय ,,
२५७–सिंहावलोकनन्यायेन पुरुषलक्षणा निरपेक्षा संस्कृति का समन्वय ... १४३
२५८–सिंहावलोकनन्यायेन प्रकृतिलक्षणा सापेक्षा संस्कृति का समन्वय ... १४४
२५९–संस्कृति का आचरण, एवं सांस्कृतिक-भावों का आयोजन १४५
२६०–पुरुष–प्रकृति के ६ विवर्त्त, एवं तदनुगता संस्कृति, और सभ्यता ....
२६१–मानवसमाज के तीन वर्ग, एवं तदनुबन्धिनी संस्कृतियाँ ... ...
२६२–संस्कृति के तीन विभिन्न संस्थान, एवं तदधिकारी वर्ग १४७
२६३–ईश्वर की सभा, सभा के सदस्य, प्रधानामात्य, और तन्मन्त्रणा ... ,,
२६४–ईश्वरीया सभा के विधि–विधान, और सभ्यता ... ... ,,
२६५–पूर्वसभ्यतारूपा संस्कृति १४८
२६६–उत्तरसभ्यतारूपा सभ्यता ... ... ,,
२६७–सभ्यतायोजनात्मक–सांस्कृतिक आयोजन ... ... ,,
२६८–'सांस्कृतिक आयोजनों' की भारतीयता १४९
२६९–निरपेक्षा संस्कृति का सिंहावलोकन १५०
२७०–अव्ययानुगत ब्रह्म–देव–भूत–सत्यों का समन्वय, और संस्कृति ... ,,
,,

२७१–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' का समन्वय, और संस्कृति १५३
२७२–अव्ययसंस्कृति के विभिन्न तीन संस्थान, और संस्कृतित्रयी १५४
२७३–संस्कृति के उत्तम–मध्यम–प्रथम–अधिकारी १५५
२७४–संस्कृतिनिष्ठा, सांस्कृतिक आचार, एवं सांस्कृतिक आयोजन १५६
२७५–भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों की आत्मानुगता देवनिष्ठा ... ... "
२७६–भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों का पारम्परिक सनातनत्त्व ... ... "
२७७–भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों के जीवित सन्देश १५७
२७८–संस्कृति, और सभ्यता शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपराम ... ... "

—उपरतञ्चेदं चिरन्तनेतिवृत्तं-संस्कृतेः, सभ्यतायाश्च—

इति–निरपेक्ष–संस्कृति, सापेक्ष–शब्दयोश्चिरन्तनेतिवृत्तात्मकं
प्रथमं प्रकरणमुपरतम्

१

* * *

'भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा' नामक
द्वितीय--प्रकरण की
संक्षिप्ता-विषयसूची

—*—

१-सुख, और दुःख-शब्दों की तात्त्विक परिभाषा १६३
२-दरीद्री, और सम्पन्न मानवों का समानधरातलत्त्व ... ... ''
३-पुरुषार्थसिद्धि के अन्यतम साधक सांस्कृतिक आचार, एवं सांस्कृतिक आयोजन ... १६४
४-सांस्कृतिक--आचारनिष्ठा का स्वरूप-दिग्दर्शन ... . ''
५-सांस्कृतिक-आचारपथानुगामी ब्रह्म-क्षत्र-विट्--वर्ग, एवं इनकी आचारनिष्ठाओं में क्रमिक तारतम्य १६५
६-आत्मनिष्ठ ब्राह्मण की अभिभूति, एवं आचारनिष्ठा का पराभव १६६
७-आचारनिष्ठामूलक--सांस्कृतिक-आयोजनों का प्रतिष्ठापन ... . ''
८-सच्चिदानन्दब्रह्म की पूर्णविभूति मानव, एवं इसकी नित्यानन्दरसैकप्रवणता ... ''
९-दुःखात्यन्तनिवृत्तिमूलक स्वरूपबोध १६७
१०-ऐन्द्रियक सुख की स्वरूपमीमांसा, एवं आयोजनों की आत्मरूपता ... ... ''
११-आनन्दमय आत्मा की सर्वव्याप्ति, एवं भूतजगत् का आनन्दमयत्त्व १६८
१२-'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मूलक सर्वव्यापक देवभाव १६९
१३-लोकमानव की आत्मानन्दानुग्रहप्राप्तिकामना, और तत्साधक सांस्कृतिक-आयोजन ... ''
१४-नित्य-पूर्ण-आनन्द-लक्षणा-सांस्कृतिक-निष्ठा, और भारतीय मानव ... १७०
१५-आत्मा, एवं देवभावप्रधान आयोजनों की सांस्कृतिकता ... ...
१६-अकृतात्मा-सुकुमारमति--शरीरधर्म्मा मानवों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ''
१७-अशन-पान-गीत-नृत्यादि-परायण मनोधर्म्मा मानवों का स्वरूपविस्फोटन १७१
१८-केवल तत्त्वविजृम्भक-वाग्विग्लापक आचारशून्य बुद्धिधर्म्मा मानवों का स्वरूपेतिवृत्त १७२
१९-त्रिविध मानवश्रेणियों के सम्मिश्रण से अनेक अवान्तर वर्गों का आविर्भाव ... १७३
२०-भारतीय-मानव की नैष्ठिकी स्वरूप-परिभाषा ... ... ''
२१-सर्वसमन्वयात्मक-पारिभाषिक-'व्यक्तिमानव' ... ... ''
२२-चतुष्पर्वा भारतीय मानव के पर्वचतुष्टयात्मक-सांस्कृतिक-आयोजन १७४
२३-यथाकाल-पात्र-श्रद्धा-देवता-आदि के समन्वय-द्वारा आयोजनों की स्वरूपनिष्पत्ति ... १७५
२४-आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-समन्वयमूलक प्रत्येक आयोजन की सर्वता ... ... ''
२५-भारतीय मानव के व्यक्ति-परिवार-समाज राष्ट्र-अनुबन्ध से चार संस्थान ... १७६
२६-व्यक्तिमानव के व्यक्तित्त्व की मूलप्रतिष्ठा ... ... ''

२७–पारिवारिक मानव, और 'परिवार' शब्दार्थ का समन्वय … … १७६
२८–सर्वसमन्वयात्मक पारिभाषिक–'परिवारमानव' (२) … … १७७
२९–ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–रूप 'समाजबीज' का प्रादुर्भाव … … १७८
३०–सर्वसमन्वयात्मक–पारिभाषिक–'समाजमानव' (३) … … ”
३१–राष्ट्रीय मानव की राष्ट्रीयता का मूलबीज … … … १८०
३२–'राजते' का समन्वय, और 'राष्ट्र' शब्द का स्वरूप-दिग्दर्शन … … ”
३३–सत्तातन्त्रप्रवर्त्तक **'नीतितन्त्र'**, एवं तद्व्यवस्थापक निष्ठामूर्ति ब्राह्मण … ”
३४–सत्तातन्त्रात्मक–**'अनुशासनतन्त्र'**, एवं तद्व्यवस्थासंरक्षक नैष्ठिक क्षत्रिय … १८१
३५–सत्तातन्त्रानुगत–**'गणतन्त्र'**, एवं तद्व्यवस्थानुगत निष्ठाशील वैश्य … ”
३६–सत्तातन्त्रानुवर्त्मा–**'प्रजातन्त्र'**, एवं तदनुगामी लोकभावुक शूद्र … … १८२
३७–जनतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र की इच्छा का स्वरूप–विश्लेषण … … ”
३८–जनतन्त्र की असन्तोष–परम्पराओं का नग्नचित्रण … … ”
३९–शरीरव्यामोहनमूलकमात्र–मानवता, मानवधर्म्म, सत्य, अहिंसा, पञ्चशील, **सहास्तित्त्व**, आदि आदि व्यामोहक शब्दों के द्वारा राष्ट्रस्वरूप-विमोहन … … १८३
४०–शरीरयात्रामात्रासक्त सत्तातन्त्र का महान् व्यामोहक तर्काभासात्मक तर्क … १८४
४१–व्यामोहक शब्दजाल, एवं तदनुगता प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से राष्ट्र का अधःपतन, … ”
४२–**'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्'** वाक्य की भावुकतापूर्णा आपातरमणीयता ”
४३–शरीरधर्म्मा श्रमजीवी का सर्वस्व स्वरूप, और उस की अन्नदासता … … १८५
४४–आश्रमानुगत-परिश्रममूलक–श्रम की राष्ट्रीयता, एवं केवल श्रम की अराष्ट्रीयता … १८६
४५–निराशी आत्मा, और साशन शरीर, एवं दोनों का तात्त्विक समन्वय … ”
४६–स्वस्वरूपचिन्तक राष्ट्र की योगक्षेमानुगता निश्चिन्तता … … ”
४७–मानवीय पर्वों का आनुपातिक–समन्वय–तारतम्य … … … १८७
४८–धर्म्मनीति–राजनीति–व्यवसायकौशल–श्रमकौशल–का समन्वय, एवं सर्वसमन्वयात्मक–पारिभाषिक राष्ट्रमानव … … … ”
४९–भारतीय–राष्ट्रमानव की **'विश्वमानवता'**, एवं तन्निबन्धन उदार दृष्टिकोण … १८९
५०–धर्म्मनिरपेक्षता का दुर्भाग्यपूर्ण प्राथमिक परीक्षण, और भारतराष्ट्र … … ”
५१–**'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्'** की उदारतापूर्णा राष्ट्रीय-घोषणा … … १९०
५२–राष्ट्रीय ब्राह्मण की विश्वमानवता, एवं तद्द्वारा विश्वमानवों का प्रशिक्षण … ”
५३–भारतीय मानव की मानवता, एवं उस की मौलिक परिभाषा … … ”
५४–चिरपुरातना संस्कृति की चिरनूतनता का समन्वय … … १९१
५५–सभ्यता का चिरपुरातनभावानुगतिलक्षण संस्कृतित्त्व, एवं संस्कृति का चिरन्तनभावानुगति–लक्षण सभ्यतात्त्व … … … … ”
५६–अव्यक्तभावप्रधाना प्राणमयी संस्कृति का चिरपुरातनत्त्व, एवं व्यक्तभावप्रधाना भूतमयी सभ्यता का चिरनूतनत्त्व … … … … १९२

५७–संस्कृति का आधारत्त्व, एवं सभ्यता का आधेयत्त्व १९३
५८–निरपेक्षा संस्कृति, और सापेक्षा संस्कृति का पार्थक्य ... ... ”
५९–निरपेक्षा संस्कृतिमूला निरपेक्षा सभ्यता, एवं तन्मूलक सापेक्ष-संस्कृति-सभ्यता-द्वन्द्व ... ”
६०–संस्कृति-सभ्यता-द्वन्द्व की मूलाधिष्ठात्री पञ्चपर्वा-प्रकृतिदेवी का संस्मरण ... ”
६१–पञ्चपर्वा-प्राकृतिक विश्व की अव्यक्तरूपता का समन्वय ... ... ”
६२–प्रकृतिमूला संस्कृति, एवं विकृतिमूला सभ्यता का-स्वरूप-समन्वय १९४
६३–एकान्तत: सत्तानिरपेक्षा भारतीय-संस्कृति ... ... ”
६४–सांस्कृतिक जागरण के मूलाधार तत्त्व १९५
६५–विकृतिरूप त्रयोदशविध (१३) भूतसर्ग का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... ”
६६–विकृति, एवं विकार-समन्वयात्मक तृतीय युग्म का दिग्दर्शन १९६
६७–प्रकृतिविमूढ-प्राकृत-चान्द्रमानव का-‘प्रकृतिविजय’ व्यामोहन १९६
६८–पुरुष-प्रकृतिरूप प्रथम युग्म की आराध्यता, प्रकृति-विकृतिरूप द्वितीय युग्म की सापेक्षता, एवं
विकृति-विकाररूप तृतीय युग्म की ऐकान्तिक-निरपेक्षता ... ...
६९–शास्त्रानुगत लौकिक कर्म्म, एवं उनकी मन:शरीरप्रधानता, तथा शास्त्रीय कर्म्म, एवं उन की ”
आत्म-बुद्धिप्रधानता ... ...
७०–द्विजातिमानववर्गानुगत **‘सांस्कृतिक-आचार,’** एवं द्विजबन्धु-नारी बाल-वर्गानुगत **‘सांस्कृतिक-आयोजन’** ... ... ”
७१–**‘कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्त्वम्’** मूला कारणसमन्वयजिज्ञासा ... १९८
७२–‘विकास’ मूला भ्रान्ति का निराकरण, एवं महिमा-भूमा-साहस्री-आदि भावों का समन्वय ”
७३–अव्ययेश्वर का सनातन-अणोरणीयत्त्व, एवं महतो महीयस्त्व १९९
७४–प्रकृति से अनुप्राणित व्यक्तिवाद, एवं पुरुष से अनुप्राणिता राष्ट्रनिष्ठा, तथा संस्कृति और ”
सभ्यता का समसमन्वय ... ...
७५–सांस्कृतिक-निष्ठाक्षेत्र में परार्थ-परमार्थ-रूपा-करूणा-मैत्री-अहिंसा-आदि शब्दों का प्रवेश ”
निषिद्ध ... ...
७६–परार्थ, किंवा परमार्थमूलक परोपकार के भावुकतापूर्ण दुष्परिणाम २००
७७–‘स्वार्थ’ शब्द के तात्त्विक स्वरूपार्थ का समन्वय २०१
७८–परमार्थ-प्रलोभन के माध्यम से निष्ठा के लिए बलिवेदियों का आविष्कार .... ”
७९–परमार्थमूला भावुकता से भारतराष्ट्र का कुनैष्ठिकों के द्वारा निर्म्मम शोषण ... २०२
८०–नैष्ठिक ब्राह्मणों के-**‘नायं हन्ति-न हन्यते’ [‘न मारना, एवं न मरना’]** इस राष्ट्रीय नैष्ठिक सूत्र ”
के स्थान में भावुक क्षत्रियों के द्वारा भावुकतापूर्ण--**‘मारते मारते मर जाना’** इस सूत्र का
आविर्भाव, एवं क्षात्रतेजोमय भारतीय सत्तातन्त्र का पतन ... ..
८१–ब्रिटिशसत्तायुगीय वणिक्तन्त्र, एवं तदनुग्रहेण--**‘पिटते पिटते मर जाना’** वणिग्भावानुगत २०२
इस अर्थदासता–सूत्र का आविर्भाव ... ...
८२–वणिक्तन्त्रप्रधान सत्तातन्त्रों से संक्षुब्धा विश्वमानवता २०३
”

८३--वणिग्धर्म्मप्रधान ब्रिटिशसत्तायुग, एवं राष्ट्र के ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-भावों का वणिग्वृत्तिप्राधान्य से आत्यन्तिक पराभव २०४

८४--वणिक्तन्त्र के आत्यन्तिक उत्पीड़न के सुपरिणाम स्वरूप राष्ट्र का नवजागरण ... ,,

८५--अभिनव स्वतन्त्रता की माङ्गलिकवेला, और राष्ट्र की जागरूकता का पुनः अभिभव ... २०५

८६--पदप्रतिष्ठाव्यामोहन से राष्ट्रीय चेतना का आत्यन्तिक पराभव २०६

८७--भारतीय हृत्प्रतिष्ठाबिन्दु का आश्चर्योत्पादक सनातनत्त्व .... ,,

८८--सांस्कृतिक निष्ठाबल के आश्रय से सम्पूर्ण काल्पनिक अभावों का अभिभव .... ,,

८९--व्यक्तिवाद, और समाजवाद का समतुलन २०७

९०--'व्यक्तितत्त्व' की सर्वव्यापकता, ... २०८

९१--व्यक्ति--परिवार--समाज--राष्ट्र--चारों का तत्त्वतः स्वतन्त्र परिपूर्णत्त्व, एवं--**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** का समन्वय .... ,,

९२--**'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** का समन्वय, एवं मानव का चतुर्विध स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व २०९

९३--अन्तर्निष्ठ, किन्तु बहिर्भावुक व्यक्तित्त्व, तथा अन्तर्भावुक किन्तु बहिर्निष्ठ भारतराष्ट्र की ब्रह्मप्रतिष्ठात्मिका निष्ठा का पारम्परिक समन्वय .... ,,

९४--राष्ट्रहितानुबन्धी त्याग, एवं बलिदान की स्वरूपपरिभाषा २११

९५--राष्ट्रीय-ब्रह्मौदन, और प्रवर्ग्य का स्वरूप परिचय २१२

९६--प्रवर्ग्यसमर्पणात्मक त्याग, और बलिदान .... ,,

९७--पूर्वसत्तानुगत **धर्म्मभावुकताकर**, यवनसत्तानुगत **जजियाकर**, ब्रिटिशसत्तानुगत **युद्धकर**, एवं स्वतन्त्रसत्तानुगत **योजनापूरककर**-रूप आदि आदि '**कर**'-परम्पराओं का भीषण ताण्डव, एवं राष्ट्र की कङ्कालामात्रावशिष्टा कङ्कालावस्था, तथा त्याग-बलिदानोपदेशों के विडम्बनापूर्ण जघन्य उपदेश २१३

९८--राष्ट्रीय कङ्कालावशेषों का महान् प्रतिनिधि राष्ट्रीय ब्राह्मण ... ... ,,

९९--भारतीय मानव का भावुकतापूर्ण-पारम्परिक स्खलन, और उसके भीषण परिणाम ... २१४

१००--राष्ट्रीय दुर्गसीमाओं के शैथिल्य से अतिथिपरम्पराओं का समागम, एवं राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहन ... ... ,,

१०१--स्वस्वरूपविमोहनात्मिका-परदर्शनमूला-भावुकता, और तदनुबन्धिनी लक्ष्यहीनता ... २१५

१०२--परप्रदत्त-स्वरूपविमोहन से भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक-स्वस्वरूप की अन्तर्मुखता ... ,,

११३--ओकःसारी प्रज्ञानेन्द्र के द्वारा मानवीय मन की भावुकता का बलवर्द्धन ... २१६

१०४--स्थिरप्रज्ञानुगता चिन्तनधारा का अवसान, एवं राष्ट्र का प्रज्ञापारतन्त्र्य २१७

१०५--भारतराष्ट्र की महासुषुप्ति .... ,,

१०६--सांस्कृतिक जनतन्त्र के 'हृदय' का पारम्परिक संरक्षण, एवं तद्द्वारा ही राष्ट्र का सम्भावित उद्बोधनात्मक-जागरण २१८

१०७--उद्बोधनात्मक सांस्कृतिक जागरण का अन्यतम सूत्रधार ... ... ,,

१०८—सांस्कृतिक उद्बोधन के सूत्रधार-राष्ट्रीय-ब्राह्मणों से प्रणतभावपूर्वक नम्र आवेदन २१९
१०९—'**सांस्कृतिक-आयोजन**' वाक्य के-'**आयोजन**' शब्द का अर्थसमन्वय ··· २२०
११०—'संस्कृति' शब्द से नित्य सम्बद्ध आत्मभाव, तथा देवभाव, एवं तदनुप्राणित 'सांस्कृतिक-आयोजनों' की भारतीयता ··· ··· ··· ··· २२१
१११—सांस्कृतिक-मानव, और उसकी संस्कृतभाषा ··· ··· ··· ”
११२—संस्कृतभाषानुगत-'**सांस्कृतिक-शास्त्रीय-आचार**,' एवं लोकभाषानुगत-'**सांस्कृतिक-लौकिक-आयोजन**' ··· ··· ··· .... ··· ”
११३—'सांस्कृतिक-आयोजनों' का स्वरूप-विश्लेषक पुराणशास्त्र ··· २२२
११४—सांस्कृतिक आयोजनों का आयोजक भारतीय मानव, एवं उसके चार वर्ग ··· २२३
११५—चतुर्विध-भारतीय मानव के '**पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह**-' रूप चार प्रकार के सांस्कृतिक आयोजन ··· ··· ··· .... ··· ”
११६—भूतात्मप्रतिनिधि ब्राह्मण, और तत्प्रधान-सांस्कृतिक-आयोजन की पर्वता, एवं भारतीय संस्कृति से अनुप्राणिता शब्दब्रह्ममहिमा ··· ··· ··· ··· २२५
११७—'पर्व' शब्दार्थसमन्वय, एवं '**पर्वात्मक-सांस्कृतिक-आयोजन**' (१) ··· ··· ”
११८—बुद्धिप्रतिनिधिरूप क्षत्रिय, एवं तत्प्रधान-'**उत्सवात्मक-सांस्कृतिक आयोजन**' (२) ··· २२६
११९—प्रकृतिनिबन्धन नानात्त्व, तदनुगत गणत्त्व, एवं नारी की गणधर्मता ··· ”
१२०—मानवीय मन का महान् उत्तरदायित्त्व, और पारिवारिक जीवन का उत्तरदायित्त्व ··· २२७
१२१—गणतन्त्रप्रधाना नारी, और तत्प्रधान सम्मेलनायोजन ··· ··· ”
१२२—मेला-त्यौंहार-खेल-तमाशे—एवं तदनुबन्धी-वैश्य, नारी-बालकादि वर्ग ··· ··· ”
१२३—मनःप्रतिनिधिरूप वैश्य, एवं तत्प्रधान-'**सम्मेलनात्मक आयोजन**' (३) ··· २२८
२२४—सात वार नौ त्यौंहार, और मनस्तन्त्र की अनन्तता .... ··· २२९
१२५—शरीरप्रधान—'**समारोहात्मक आयोज**' (४), एवं तत्र शूद्र-बालवृन्द-व्यक्ति भावादि का प्राबल्य ··· ··· ··· ··· .... ”
१२६—भारतीय समारोहों की आनन्दरूपता .... ··· ”
१२७—'सांस्कृतिक' शब्द का 'सम्' उपसर्ग, और उसकी सर्वसमन्वयात्मकता ··· २३०
१२८—प्रत्येक आयोजनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता . ··· ··· ”
१२९—**व्यक्तिमूलक 'समारोह'**, और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता ··· २३१
१३०—**परिवारमूलक 'सम्मेलन'**, और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता ··· ”
१३१—**समाजमूलक 'उत्सव'**, और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता ··· २३२
१३२—**राष्ट्रमूलक-पर्व'**, और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता .... ··· ”
१३३—पर्व-उत्सव-रूप प्रथम युग्म, एवं **सम्मेलन-समारोह**-रूप द्वितीय युग्म ··· २३३
१३४—अव्ययात्ममूला-सनातनसंस्कृति, और तन्मूलक-सांस्कृतिक आयोजन ···· २३७
१३५—सत्तानिरपेक्षा संस्कृति, एवं सत्तासापेक्षा सभ्यता का नीरक्षीरविवेकात्मक समन्वयोपक्रम ”
१३६—सांस्कृतिक-आयोजन, और उनकी सत्तानिरपेक्षता ··· ··· .... ”

१३७–सांस्कृतिक-आयोजनों का बाह्यरूप, एवं उन के प्रति सत्ता की सापेक्षता ... २३८

१३८–कालव्यवस्थाप्रवर्त्तक-सभ्यतासंरक्षक-सत्तातन्त्रों का इतिहास .... ”

१३९–सत्तातन्त्रों के विविध स्वरूप, एवं तन्निबन्धन सांस्कृतिक-आयोजनेतिहासों की उत्थान-पतन-परम्पराएँ ... ... ”

१४०–**पर्वोत्सवयुग, उत्सवसम्मेलनयुग, सम्मेलनसमारोहयुग**-भेद से आयोजनों के तीन विभिन्न युग, एवं तन्निबन्धना सत्तायुगत्रयी २३९

१४१–क्षात्रतेज के आंशिक जागरण से पूर्वयुगों में आयोजनों की आंशिक जागरूकता ... ”

१४२–हूणादि-मुगलान्तयुग, एवं पर्वोत्सवों की अन्तर्म्मुखता २४०

१४३–वणिक्तन्त्रात्मक ब्रिटिशयुग, एवं पर्वोत्सवसम्मेलनों की अन्तर्म्मुखता, तथा समारोहों की आंशिक जागरूकता ... . ”

१४४–बृटिशसत्तातन्त्र की सर्वस्वसंहारिका-धर्म्मनिरपेक्षघोषणा, एवं भारतीय जनजीवन की जीवित–मृत्यु, तथा सम्मेलन समारोहों के तद्युगीय-धर्म्मभीरुतापूर्ण शून्य आयोजन २४१

१४५–व्याजात्मक धर्म्माचरण से समूल विनाश २४२

१४६–'**न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्**' का रहस्यात्मक समन्वय ... ... ”

१४७–धर्म्मभीरु-धर्म्मभावुक-भारतीय मानव के धर्म्मव्याज से धर्म्म के सांस्कृतिक-स्वरूप की अन्तर्म्मुखता, एवं प्रतीकभक्ति का अभिनिवेश १४३

१४८–प्रतीकमात्रभक्त धर्म्मध्वजी मानव, एवं संस्कृतिमूलक मूलधर्म्म का आत्यन्तिक अभिभव ”

१४९–वैडालव्रतिक-धर्म्मध्वजियों के द्वारा भारतीय संस्कृति-धर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता, एवं मिथ्याचारों का धर्म्मत्त्व प्रतिपादन १४४

१५०–**सहज-कृत्रिम**-रूपेण प्रतीकों का द्वैविध्य, एवं उन की उपयोगिता-अनुपयोगिता .... ”

१५१–सहजसिद्ध प्रतीकधर्म्मों का महान् सांस्कृतिक–कौशल, एवं उनकी सुसूक्ष्मा पद्धति का २४५
आभ्यन्तर समन्वय ... ... ”

१५२–वर्णभेदभिन्न–प्रजावर्गों के अनुशीलन, आचरण, अनुसरण, अनुकरणरूप विभिन्न–व्यवस्थित प्रतीकधर्म्म ... ... ”

१५३–अनुकरणात्मक प्रतीकधर्म्मों के व्यामोहन से भारतीय संस्कृति, एवं धर्म्म के मौलिक–स्वरूप की विलुप्ति— २४६

१५४–धर्म्म–संस्कृति–मानवता–सत्य–अहिंसा–दया–आदि का प्रचार–व्यामोहन, एवं तद्द्वारा ही भारतीय मानव की निष्ठाओं का पतन ... ... ”

१५५–दृष्टान्तों की सिद्धान्तरूप में परिणति, और राष्ट्र का सांस्कृतिक–धार्म्मिक–राजनैतिक–सामाजिक, एवं वैय्यक्तिक–पतन ... ... ”

२४७
१५६–सत्य–अहिंसा–दया आदिका धर्म्माङ्गत्त्व, न तु धर्म्मत्त्व ... ...

१५७–'**गुणानां च परार्थत्त्वात्–असम्बन्धः समत्त्वात्**' न्याय का तात्त्विक समन्वय, एवं विभिन्न प्राणदेवताओं की स्वरूप–व्यवस्थिति २४८

१५८–प्रतिनिधिरूप प्रतीकभावों की आत्यन्तिक लाक्षणिकता, अतएव च प्रतीकभावों की सर्वथैव गौणता २४९

१५९–प्रतीकभावात्मक अहिंसाधर्म्म की आपातरणीया–व्याख्या, एवं तद्द्वारा राष्ट्र की नैष्ठिक–प्रज्ञाओं का व्यामोहन–प्रयास २४९

१६०–**'यो मा ददाति, स इ देवमावत्'** सिद्धान्त का समन्वय, एवं अहिंसा–धर्म्म का नीरक्षीरविवेक— २५०

१६१–आत्मबुद्ध्यनुगत देवभाव, तथा मनःशरीरात्मक असुरभावों की सहजसिद्धा प्रतिद्वन्द्विता, एवं प्राकृतिक देवासुरसंग्राम २५१

१६२–**'बलं सत्यादोजीयः'** लक्षण तात्कालिक समाधान-व्यामोहन, और असुरों की अतिमानिता, एवं तन्निरोधमूलक–अहिंसावादप्रचार का निस्सारत्त्व ... . ”

१६३–अतीत भारत के अहिंसायुगों में ही हिंसा का प्रचण्डरूप से आविर्भाव, एवं हिंस्रक-बर्बरों के द्वारा अहिंसावादी भारतराष्ट्र का निर्म्मम–पददलन— २५२

१६४–संस्कृतिमूला दुर्द्धर्षा, एवं सबला मानवता के द्वारा ही दानवता का आत्यन्तिक पराभव ... ”

१६५–**'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्'** मूला नैष्ठिकी अहिंसा ... ”

१६६–**'मन्युस्तं मन्युमृच्छति'** का समन्वय, एवं सांस्कृतिकी अहिंसानिष्ठा ... २५३

१६७–वर्त्तमानयुगानुगता जड़त्त्वनिबन्धना–मलीमसा भावुकता, एवं तन्मूलक मानवधर्म्म, तथा मानवता, अहिंसा, दया, आदि व्यामोहक शब्दों का निरर्थक वाग्विजृम्भण ... ”

१६८–आत्मदृष्ट्या अशान्त, बुद्धिदृष्ट्या क्लान्त, मनोदृष्ट्या विभ्रान्त, एवं शरीरदृष्ट्या श्रान्त संस्कृति-प्रतिष्ठाविहीन आज का भावुक भारतीय मानव— २५४

१६९–प्रक्रान्त–विषय–सन्दर्भसङ्गति ... ... ”

१७०–ब्रह्म–क्षत्रानुगत–गुप्तयुगानुबन्धी–पर्वोत्सवयुग, क्षत्र–विड़नुगत हूणादि–मुगलान्तयुगानुबन्धी उत्सव–सम्मेलनयुग, एवं विट्–शूद्रानुगत–ब्रिटिशयुगानुबन्धी–सम्मेलन–समारोहयुग–भेद से सांस्कृतिक-आयोजन–युगों का समन्वय २५५

१७१–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के, एवं तदनुगत जनतन्त्र के अज्ञात--नामगुणकर्म्मात्मक आयोजन, तथा तत्सम्बन्ध में भारतीय-सांस्कृतिक-प्रज्ञाओं की दिग्--विमूढता २५६

१७२–शब्दार्थमूला महती भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह से प्राकृत-मानवों पर निषेध के द्वारा भारतीय प्रवृत्तियों का ही अज्ञातरूपेण महान् विजय ... . ”

१७३--'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थ से भी वञ्चित आज के तथाकथित आयोजन ... ”

१७४--वर्त्तमान--आयोजनों की भारतीय 'सभ्यता' के क्षेत्र से भी पराङ्मुखता ... २५७

१७५--वर्त्तमान--आयोजनों के 'नामकरण' की महती समस्या, एवं तत्सम्बन्ध में भारतीय--सांस्कृतिक--प्रज्ञा की स्तब्धता ... ... ”

१७६–'नाम' का महत्त्व, और वर्त्तमान–आयोजनों के नामकरण का अन्वेषण ... २५८

१७७–मानसिक–असम्बद्ध भावों से अनुप्राणित--'यदृच्छाशब्द', और तद्विभूषित आज के आयोजन ... ... ”

१७८--जड़भावानुगत प्राकृत जीव, एवं उनका यदृच्छाशब्दात्मक--भावात्मक--संक्षिप्त इतिवृत्त–... २५९

१७९--प्राकृत-जीवों के प्राकृतिक मूलबीज २६०

१८०--चान्द्र-पार्थिव-जीवों का नामसंस्मरण २६०

१८१--अचेतन, एवं अर्द्धचेतन-पार्थिव-जीव ... ... ,,

१८२--चेतन-पार्थिव-जीव, एवं चन्द्रमा के रेतः-श्रद्धा-यशो-भाव २६१

१८३--चतुर्द्धा-चतुर्द्धा-विभक्त-त्रिसंस्थ द्वादश-चान्द्र जीव ... ... ,,

१८४--द्वादश चान्द्र-जीवों के प्राकृत-धर्म्म ... ... ,,

१८५--पृथिवी-चन्द्रमा-से अतीत मानव का सौरभाव, एवं उसकी अप्राकृतता ... २६२

१८६--पार्थिव-चान्द्र-भावानुगत-प्राकृत-मानव, और उसका मर्त्यभाव ... ... ,,

१८७--पृथिव्यनुगत चान्द्र विवर्त्त, एवं तदनुप्राणित गन्धर्व-अप्सरा-प्राण ... ... ,,

१८८--सुगन्धिद्रव्य--आमोद--प्रमोद--हर्ष--क्रीड़ा--मिथुनभाव--रूपाकर्षण--गायन--वादन-नर्त्तनादि-मानस-शारीरिक-भावों का चान्द्र-गन्धर्वाप्सरा-प्राणमयत्त्व, एवं तत्प्रधान आज के ये आयोजन २६५

१८९--गन्धर्वाप्सराप्राणानुगत-'**उपद्रव**' नामक साम, एवं तदनुगत मनः-शरीर,-काम-अर्थ,-गन्ध-रूप-लक्षण चान्द्र-पार्थिव-गन्धर्वाप्सराप्राणमय-विविध उपद्रवसामात्मक आज के ये आयोजन २६६

१९०--प्राणों के नामों का प्राणियों के साथ समन्वय ... ... ,,

१९१--प्राकृतिक-प्राणियों के सामान्य-विशेष आयोजन, एवं उनके सामान्य-विशेष-प्राकृत-नाम ... ,,

१९२--वर्त्तमान-आयोजनों के नामकरण की स्वरूप-दिशा का दिग्दर्शन २६८

१९३--वर्त्तमान-आयोजनों का अश्रुपूर्णाकुलेक्षणात्मक संस्कृतिविरुद्ध-इतिवृत्त ... ,,

१९४--वर्त्तमान-विशोधकों की पशु-पक्षी-भक्ति, और तत्प्रति मानव का शिष्यत्त्व स्थापन, एवं तद्द्वारा '**परम्परा**' के अन्वेषण का महान् व्यामोहन ... ... ,,

१९५--प्रतीच्य-अन्वेषकों का अन्धानुकरण, एवं तदनुपात से ही भारतीय-जन-जीवन-पद्धतियों के परम्परासूत्रान्वेषण का भावुकतापूर्ण विमोहन २६९

१९६--मानव के स्वतन्त्र पुरुषार्थ, एवं उसकी दैवी वीणा, तथा मानुषीवीणा, और तदनुबन्धिनी कालमीमांसा २७०

१९७--महर्षि शाङ्खायन के यज्ञकर्म्मानुबन्धी नृत्य-गीत-वाद्यात्मक-त्रिविध-मानवीय '**शिल्पसाम**' २७२

१९८--अश्वमेध-यज्ञानुगत वार्षिक-वीणावादनसत्र, एवं प्राकृतिक-माहेश्वर-महासङ्गीत के द्वारा ब्रह्म का प्रस्रवण, तथा भगवती भागीरथी का आविर्भाव ... ... ,,

१९९--भारतीय सांस्कृतिक--आयोजनों, तथा वर्त्तमान अमुक-आयोजनों का सुसूक्ष्म भेद, एवं तदाधारेणैव निर्णयात्मक चिन्तन की अपेक्षिता-जागरूकता २७३

२००--मानसिक-विश्रामानुगत पुरातन सांस्कृतिक-आयोजनों, तथा मनोविनोदात्मक-वर्त्तमान प्राकृत-आयोजनों के मौलिक भेद का अन्वेषण-प्रयास २७४

२०१--चान्द्र-पार्थिव-त्रयोदशविध (१३) प्राकृतसर्ग का सिंहावलोकन ... ... ,,

२०२--सांख्यशास्त्रसम्मत चतुर्द्दशविध-भूतसर्ग का प्रासङ्गिक संस्मरण २७५

२०३--पुराणसम्मत भूतसर्ग के साथ सांख्यसम्मत भूतसर्ग का समन्वय २७६

२०४--पुराणसम्मत विभिन्न-भूतसर्गों के विभिन्न-धर्म्मों का स्वरूप-दिग्दर्शन ... ... ,,

२०५–पुराणसम्मत १२ योनिसर्गों का सांख्य के ८ योनिसर्गों में अन्तर्भाव, एवं द्वादशसर्गात्मक अष्ट-सर्गों का देवभावत्त्व, अतएव सांस्कृतिकत्त्व … … … २८१

२०६–पशु-पक्षी-कीट-कृमि-विध चतुर्विध सर्गों की देवभाव से पराङ्मुखता, अतएव असांस्कृतिकता, एवं तदनुबन्धी आयोजनों की केवल प्राकृतता … … … ,,

२०७–मानव के प्रकृत्यर्थात्मक चार पुरुषार्थ, एवं चारों के चार सामाजिक प्रतिनिधि … २८२

२०८–भारतीय-धार्म्मिक-जीवनपद्धिति का महान् उत्कर्षात्मक दृष्टिकोण, एवं वर्त्तमान-प्रकृतिवादियों का अपकर्षात्मक दृष्टिकोण … … … … ,,

२०९–मन के द्वारा आत्मा का, एवं शरीर के द्वारा बुद्धि का निगरण, तदपेक्षया-मोक्ष, तथा धर्म्म का अभिभव, तत्स्थान में मनःशरीरप्रधान कामार्थ का प्रभुत्त्व, और तत्प्रतिनिधि डाक्टर-वैरिस्टरों की महती दानपात्रता … … … … २८३

२१०–'उन्नति,' और-'**अभ्युदय**' शब्दों के तत्त्वार्थ का विश्लेषण … … ,,

२११–राष्ट्र के सांस्कृतिक-प्रतिनिधि-'ब्राह्मण' की करुणगाथा, एवं तद्वर्ग के प्रति प्रकृतिवादियों की निर्म्मम-आघातपरम्पराओं का प्रचण्ड-प्रहार … …. … २८४

२१२–बहिर्भावुक, किन्तु अन्तर्निष्ठ ब्राह्मण के द्वारा सांस्कृतिक-सूत्रों की उच्चारणानुगति, एवं तद्द्वारा ही सांस्कृतिक-परम्पराओं का संरक्षण … … … २८५

२१३–सर्वतः उत्पीड़ित-अवमानित भी राष्ट्रीय-ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा का गौरवपूर्ण इतिहास, एवं तद्द्वारा ही भारतीय संस्कृति का अद्यावधि (पर्य्यन्त) संरक्षण … … ,,

२१४–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आज के भारतराष्ट्र की प्रज्ञा से किञ्चिदिव सामयिक आवेदन … २८६

२१५–**पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह**-नामक भारतीय-चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजनों की (प्रत्येक की) सर्वात्मकता (पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता) का समन्वय … … ,,

२१६–भारतीय-चतुर्विध-आयोजनों का देवभावत्त्व … … …. २८९

२१७–**गन्धर्व-पिशाच-राक्षस-यक्ष**-प्राणानुबन्धी लौकिक-आयोजनों की स्वरूपदिशा का वेताल-चेष्टित-समन्वय … … … … ,,

२१८–तान्त्रिक-चमत्कार-सिद्धि-व्यामोहनों के अकाण्ड ताण्डव, एवं तत्परित्राणोपायप्रदर्शन २९०

२१९–'पशु' शब्द का चिरन्तन इतिहास, एवं तत्प्रेमी प्राकृत-मानव … … २९१

२२०–सत्त्व-रज-स्तमोगुण-तारतम्यानुपात से अनुप्राणित चान्द्र-पार्थिव-चतुर्विध सर्गों के इतिवृत्त का उपराम … … … … … ,,

२२१–महान् मानव की सहजसिद्धा आत्मनिष्ठा का त्रैकालिक विजय, एवं अन्ततोगत्त्वा स्वयं मानव की आत्मनिष्ठा से ही इसका महान् उद्बोधन … … … २९२

२२२–चान्द्र-पार्थिव-सर्गों की दुर्बोध्यता, एवं प्रकारान्तर से तत्समन्वयचेष्टा … … ,,

२२३–पर्थिव-चान्द्र-साममण्डलों का परस्पर '**अतिमान**' सम्बन्ध … … २९३

२२४–पार्थिव-चान्द्र-'**त्रैलोक्य**'-स्वरूप-परिचय … … ,,

२२५–**पार्थिव-चान्द्र-'मनोता-त्रयी'** का स्वरूप-परिचय … … …. २९४

२२६–मानोता-त्रयी के अतिमान से चान्द्र-पार्थिवी **'युग्मत्रयी'** का आविर्भाव,–एवं तदनुबन्धेन **'विवर्त्तचतुष्टयी'** का समन्वय २६५

२२७–यशोरूप **चान्द्र 'प्रज्ञा' भाव**, एवं द्यौरूप **पार्थिव 'प्राज्ञ' भाव** के समन्वय से **ब्राह्म-प्राजापत्य-पैत्र्य-ऐन्द्र-सर्गचतुष्टयी** का, तथा **श्रद्धारूप चान्द्र-'प्राण' भाव, एवं गौरूप पार्थिव 'तैजस' भाव** के समन्वय से **गन्धर्व-पिशाच-राक्षस-यक्ष-सर्गचतुष्टयी** का आविर्भाव ,,

२२८–रेतोरूप चान्द्र भूतभाव, वागूरूप पार्थिव वैश्वानरभाव के समन्वय से पशु-पक्षी-कीट-कृमि-सर्गचतुष्टयी का प्रादुर्भाव २६६

२२९–चितेनिधेय प्राणरूप चान्द्रतत्त्व, चित्याग्निरूप भौम भूततत्त्व के समन्वय से असंज्ञ-भावात्मक भूतभौतिक-सर्गों का उद्भव ... ... ,,

२३०–प्रकृतिपरायत्त मानव के समावेश से चान्द्र-पार्थिवसर्ग की चतुर्द्दशविधता [१४] .. ,,

२३१–भारतीय मानव का **'भा'** रति-त्वानुबन्धी सौर भाव, एवं तदनुबन्धिनी इस की भारतीय-मानवता का स्वरूप-समन्वय ... . ,,

२३२–पतनावस्थानुगत भी भारतीय-मानव की परम्परानुप्राणिता सांस्कृतिक–निष्ठा का सर्वापेक्षया उत्कृष्टत्व, एवं तालिकारूपेण चान्द्र-पार्थिव-सर्गसमन्वय २६७

२३३–नाममात्र के लिए सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र भी भारतराष्ट्र की आत्मा-बुद्धि-मनः–शरीरेण सर्वात्मना तत्त्वतः परतन्त्रता, एवं तदवस्था में समायोजित इन आयोजनों की अब्रह्मण्या महती विडम्बना ३०१

२३४–मानवीय मनःशरीरानुबन्धी गीत-रमणादि मानसिक विनोद, एवं तत्सम्बन्धन में प्राजापत्या-पार्थिवी-गायत्रीविद्या के माध्यम से ऋषिप्रज्ञा की कालिक–व्यवस्था, मर्य्यादा ...... ,,

२३५–प्रजापति के मूर्त्त प्रतिनिधि ब्रह्म-क्षत्र,-एवं इन की मानस--विनोदभावों से आत्यन्तिक तटस्थता, तथा तद्द्वारा ही राष्ट्रीय-निष्ठा का संरक्षण ३०३

२३६–वर्त्तमान इन आयोजनों के सम्बन्ध में वर्त्तमान भारतराष्ट्र से प्रश्न, एवं-तन्माध्यम से इन आयोजनों के भारतीय-संस्कृति-विघातक नामों-का दुःखपूर्ण वागूविजृम्भण ... ३०४

२३७–सत्तासापेक्षता के महान् व्यामोहन में आसक्त राजभक्त-सत्ताश्रित भारतीय विद्वानों के द्वारा सत्तानुरञ्जन के लिए रतिरहस्यादि मानस-निबन्धों का निर्म्माण, एवं तद्द्वारा मूलसंस्कृति का अभिभव .... ,,

२३८–परमसंस्कृतिभक्त ? राजा भोज का सांस्कृतिक ? युग, एवं तद्युग-में मूलसंस्कृति के प्राणप्रतिष्ठारूप वेदशास्त्र का उपहास, तथा भोजाश्रित विद्वानों की कामकलाविलासलीलाएँ ... ३०५

२३९–शृङ्गाररसप्रधान-साहित्य के द्वारा आविर्भूता अनुकूलता के अभिशाप से मानसिक-असन्तुष्टिर-भिव्यक्तिमूलक 'कवितायुग' का आविर्भाव ... . ,,

२४०–कवितानुग्रह से स्खलितमना नितान्त भावुक-मानव की कल्पना के द्वारा कालान्तर में शेषभूत हरेराम ! हरेराम ! का तुमुल निनाद ... ... ,,

२४१–अनुकूलता की चरमसीमा में विराजमान जीवनीय-संघर्ष से शून्य-शवशरीरमात्र भारतीय-मानव की अन्तिम विश्रामभूमि-**"बिना भक्ति के ही भगवान् के अनुग्रहमात्र से मुक्त हो जाने की लिप्सा-लालसा"** ३०६

२४२–'संस्कृति' से सर्वथा असंस्पृष्ट ये आज के-'सांस्कृतिक ? आयोजन,' एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक-भारतराष्ट्र की महती विडम्बना ३०६

२४३–नियन्त्रणमूला भारतीय-जीवनपद्धति पर मनोविनोदप्रेमियों का आक्षेप, एवं तत्समाधानचेष्टा ... ... ,,

२४४–शब्दाभिनयों से अतीता भारतीय–संस्कृति की सच्चिदानन्दघनैकरसता, एवं-तन्मूलाधारेण प्रतिष्ठित भारतीय-'सांस्कृतिक-आयोजनों' की आनन्दरसाप्लुतता ३०८

२४५–संकृति-सभ्यता-आनन्द-समृद्धि-सुख-जीवनपद्धति-मुक्तता-आयोजन-श्रद्धाप्रेम-वात्सल्यप्रेम-स्नेहप्रेम-कामप्रेम-रतिप्रेम-आदि-आदि अक्षरार्थों से भी असंस्पृष्ट प्राकृत मानवों की भारतीय-जीवनपद्धति के सम्बन्ध में भ्रान्त कल्पनाएँ ... ... ,,

२४६–भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' की लोकोत्तरा आनन्दमाधुरी ३०९

२४७–केवल जड़भावात्मक वर्त्तमान-**'प्रकृतिप्रेम,'** और भारतीय-सर्वसमन्वयात्मक-प्रकृति का आराधान ३१०

२४८–प्रकृतिपूजनात्मक-देवप्राणप्रधान-पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक-भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा का सोदाहरण उपक्रम ... ... ,,

२४९–राष्ट्रीय आयोजनात्मक **'पर्व'**, सामाजिक आयोजनात्मक **'उत्सव'**, पारिवारिक-आयोजनात्मक **'सम्मेलन'**, तथा वैय्यक्तिक आयोजनात्मक **'समारोह'** नामक भारतीय चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजन ३११

२५०–भौतिक–ध्वंसावशेषों का काल्पानिक व्यामोहन, एवं वर्त्तमान पुरातत्त्ववादियों का विभ्रामक सांस्कृतिक-दृष्टिकोण ... ... ,,

२५१–ललितकला-लोकशिल्प-लोकनृत्य-वाद्य-गान-आदि-आदि लोकविजृम्भणों की भारतीय-'सांस्कृतिक-सीमा' से असंस्पृष्टता ३१२

२५२–भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों के नित्य-नैमित्तिक, एवं काम्य-विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,

२५३–भारतराष्ट्र के 'नित्य' राष्ट्रीय पर्व ३१३

२५४–**नित्य, नैमित्तिक, काम्य,** भेद से राष्ट्रीय पर्वों का स्वरूप–दिग्दर्शन .... ,,

२५५–शुक्लपक्ष की प्रतिपत् के राष्ट्रीय पर्व ३१४

२५६– ,, द्वितीया के ,, ... ३१५

२५७– ,, तृतीया के ,, ... ,,

२५८– ,, चतुर्थी के ,, ... ३१६

२५९– ,, पञ्चमी के ,, ... ३१७

२६०– ,, षष्ठी के ,, ... ३१८

२६१– ,, सप्तमी के ,, ... ३१९

२६२– ,, अष्टमी के , ... ,,

२६३– ,, नवमी के ,, ... ३२०

२६४– ,, दशमी के ,, ... ३२१

२६५– ,, एकादशी के ,, ... ,,

२६६–शुक्लपक्ष की द्वादशी के राष्ट्रीय पर्व ३२२
२६७– ,, त्रयोदशी के ,, ... ३२३
२६८– ,, चतुर्द्दशी के ,, ... ,,
२६९– ,, पूर्णिमा के ,, ... ३२४
२७०–सांस्कृतिक–आयोजनों का इतिवृत्तात्मक महान् कोश पुराणशास्त्र ३२५
२७१–श्रुति–स्मृति–पुराण–माध्यम से 'संस्कृति' शब्द का समन्वय ... ... ,,
२७२–आत्म–देव–भूत–भावानुगता संस्कृति के तीन महिमा विवर्त्त ... ... ,,
२७३–शक्तित्रयी, और संस्कृति के तीन प्रक्रम ३२७
२७४–द्वितीय-प्रकरण–विराम ... ... ,,

इति-सांस्कृतिक-आयोजनरूपरेखात्मकं
द्वितीयं प्रकरणमुपरतम्
२

'भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों का इतिवृत्त' नामक तृतीय–प्रकरण की संक्षिप्ता–विषयसूची

३

तत्र–(१)–भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व

प्रथम अवान्तरप्रकरणात्मक

रक्षाबन्धनमहोत्सव की संक्षिप्ता विषयसूची

१–आत्मसंस्कृति–परायणा आर्षप्रजा का रक्षाबन्धनपर्व ३३३
२–ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–वर्णानुगत रक्षाबन्धन, विजयदशमी, दीपावली, होलिका–नामक चार राष्ट्रीय पर्व .... ,,
३–विजयदशमी–दीपावली–होलिका–पर्वत्रयी का क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–रूपा वर्णत्रयी के साथ क्रमिक अनुप्राणन ... ... ,,
४–ब्राह्मणवर्णनिबन्धन रक्षाबन्धनपर्व के सम्बन्ध में अनार्ष धारणाएँ ३३४
५–भिक्षावृत्ति की निरतिशाया असांस्कृतिकता ३३५
६–राष्ट्र के अन्यतम रक्षक का अन्वेषण ... ... ,,
७–अहः–मासः–वर्षम्–शब्दों का विचालित्त्व, एवं अहः मास–वर्ष–तीनों की (प्रत्येक की) त्र्यात्मकता का समन्वय ... ... ,,
८–मानवव्यक्ति–परिवारव्यक्ति–समाजव्यक्ति–राष्ट्रव्यक्ति–निबन्धन–'व्यक्तित्त्व' का तात्त्विक समन्वय ३३६
९–मानवव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा (१) ३३७
१०–परिवारव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा (२) ... ... ,,
११–समाजव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा ३) ... ... ,,
१२–राष्ट्रव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा (४) ३३८
१३–व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–समन्वयात्मक महान् कौशल, एवं संस्कृति का महतोमहीयान् उत्कर्ष ... ... ,,
१४–रक्षासापेक्ष मानव की स्वरूपजिज्ञासा ३३९
१५–स्वस्वरूपेण सुरक्षित मानव का आत्मस्वरूप ... ... ,,
१६–रक्षासापेक्ष मानवीय शरीर, एवं तद्रक्षक–स्वरूप की जिज्ञासा ३४०
१७–मानवशरीर के आविर्भाव का संक्षिप्त इतिवृत्त, एवं तदनुबन्धी आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–भाव .. .. ,,

१८–शोणिताग्निरूप पार्थिवतत्त्व, सौम्यशुक्ररूप चान्द्रतत्त्व, एवं हिरण्यशकलरूप सौरतत्त्व, तीनों के समन्वय से मानवशरीरत्रयी का आविर्भाव … … … ३४१
१९–अग्नीषोमात्मक यज्ञ के दैवत-भौतिक-आत्मिक-विवर्त्त, एवं तदाधारेणैव–मानुष यज्ञपद्धतियों का आविर्भाव … … … … … ,,
२०–भौम–चान्द्र–सौर–भावों के त्र्यात्मक यजन से मानव के त्र्यात्मक–प्राकृतिक–शरीर की स्वरूपनिष्पत्ति … … … … ३४२
२१–पार्थिव–स्थूलशरीर, चान्द्र–सूक्ष्मशरीर, सौर–कारणशरीररूप मानवीय 'शरीर' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय … … … … ,,
२२–शरीरानुगत त्रिविध–तापों का स्वरूपोपक्रम … … … ,,
२३–प्राकृतिक विपत्तियाँ, और त्रिविध ताप … … … ,,
२४-दैवी विपत्तियों के प्रति भी सत्तातन्त्र की, एवं मानव के वैय्यक्तिक प्रज्ञापराध की अनिवार्य्य-कारणता … … … … … ३४३
२५–रामराज्य की घटना का संस्मरण, एवं **'राजा कालस्य कारणम्'** की विस्पष्टतमा व्यञ्जना ,,
२६–सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भी आधिदैविक–सुसूक्ष्म–विपत्तियों के प्रति प्राकृत मानवों की उपेक्षा, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप दैविक–विपत्तियों में अनुदिन वृद्धि … … ३४५
२७–क्रमप्राप्त आधिभौतिक ताप का स्वरूप–दिग्दर्शन … … ३४६
२८–क्रमप्राप्त आध्यात्मिक ताप का स्वरूपोपक्रम, एवं **'अध्यात्म'** शब्द का फलितार्थ … ,,
२९–स्थूलशरीरात्मक शारीरिक ताप, सूक्ष्मशरीरात्मक मानसिक ताप, एवं कारणशरीरात्मक बौद्धिक तापभेद से आध्यात्मिक (शारीरिक) तापों के अवान्तर तीन मुख्य विवर्त्त—
३०–मानव का प्रज्ञापराध, एवं तद्द्वारा ही मानवीय शरीरत्रयी पर त्रिविध, किंवा पञ्चविध तापों का आक्रमण … … … … ३४८
३१–मानवीय शरीर की पाँच विपत्तियों का स्पष्टीकरण … … ,,
३२–पञ्चविध-विपत्तियों से मानव का त्राण करने वाले रक्षक की स्वरूपजिज्ञासा … ३४९
३३–जिज्ञासा के समाधान की दुर्बोध्यता, एवं वर्त्तमान मानवीय मनस्तन्त्र के द्वारा रोग से ही रोगनिवृत्ति के उपाय का भावुकतापूर्ण अन्वेषण-प्रयास … … ,,
३४–तापप्रवर्त्तक प्रवर्ग्य-भागों के प्रति मानव का महान् व्यामोहन, एवं तदनुग्रहेण उत्तरोत्तर त्रिविध तापों की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि …. …. …. ३५०
३५–राष्ट्र के महान् संरक्षक जागरूक प्रहरी ब्रह्म, एवं क्षत्र, तथा तदनुगत प्राकृतिक-रक्षात्मक विधि-विधान …. …. …. ….
३६–आधिभौतिक-विपत्तियों से राष्ट्र का संरक्षण करने वाला क्षात्रतेज, और उसकी रहस्यपूर्णा 'वर्म्मन्' उपाधि … … … … ३५१
३७–आधिदैविक-विपत्तियों से राष्ट्र का संरक्षण करने वाला ब्राह्मतेज … ,,
३८–राष्ट्र के स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरात्मक शरीर-मनो-बुद्धि-पर्वात्मक आध्यात्मिकतन्त्र का संरक्षक ब्राह्मतेज … … … … ३५२

३९–दर्शन-धर्म्म-आयुर्वेद-शास्त्रत्रयी के माध्यम से आध्यात्मिक-रक्षात्रयी का समन्वय, एवं ब्राह्मण की 'शर्म्मन्' उपाधि ३५२
४०–'शर्म्मन्' उपाधि का लौकिक-अर्थसमन्वय ··· .... ”
४१–लौकिक 'चर्म्मन्' शब्द, एवं वैदिक 'शर्म्मन्' शब्द का समन्वय ३५३
४२–मूलप्रतिष्ठात्मक 'ब्रह्मभाव', एवं उसकी 'शर्म्मन्' उपाधि .... ··· ”
४३–चर्म्मन्रूप शर्म्मन् ब्रह्म से, तथा वर्म्मन् क्षत्र से सुरक्षित राष्ट्र का वैश्यवर्ग, एवं उसकी 'गुप्त' उपाधि का तात्त्विक समन्वय ··· ··· ··· ३५४
४४–**'बलं सत्यादोजीयः'** श्रुतिवचन का समन्वय, एवं वणिक्तन्त्र की अर्थमूला महती भ्रान्ति ३५५
४५–क्रतु-दक्षात्मक मित्रब्रह्म, एवं वरुणक्षत्र की समन्वयमूला राष्ट्ररक्षा का सामञ्जस्य ··· ”
४६–ब्रह्मप्रतिष्ठामूलक सत्तातन्त्र, एवं महात्मा भीष्म के द्वारा सत्तातन्त्र का महान् उद्बोधन ३५६
४७–ब्रह्मवीर्य्यानुगत ब्राह्मण की स्वानुगता स्वरूपरक्षा का मौलिक रहस्य, एवं सत्तातन्त्र के राष्ट्रीय-रक्षाकर्म्म का मूलबीज ··· ·· ··· ··· ३५७
४८–ब्राह्मण की बहिर्भावुकतामूला पतनावस्था का एकमात्र उत्तरदायी सत्तातन्त्र, एवं तत्र महात्मा भीष्म के द्वारा सत्ता को उद्बोधन-प्रदान ··· ··· ·· ”
४९–**'धर्म्मानुग्रहकारणात्'** मूलक भीष्मवचन की श्रुतिसिद्धान्त के द्वारा प्रामाणिकता का समन्वय ३५८
५०–ब्रह्मबलात्मक **'सांस्कृतिकबल'**, तदभिन्न **'धर्म्मबल'**, एवं तद्द्वारा राष्ट्र का स्वरूप–संरक्षण ३५९
५१–प्रासङ्गिक-'बल' शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में सत्तातन्त्र की भ्रान्ति ··· ”
५२–मानवसंस्थानुगत-**आत्मबल**, **बुद्धिबल**, **मनोबल**, **शरीरबल**-रूप चतुर्विध बलों का सोदाहरण स्वरूप-समन्वय ··· ··· ··· ··· ३६०
५३–**ब्रह्म-क्षत्रिय-विट्-शूद्र**-भावानुगत **वर्च्-भ्राज-द्युम्न-सुम्न**-रूप चतुर्विध तेजोभावों का समन्वय ”
५४–राष्ट्र का सर्वमूर्द्धन्य **'वर्च्'** तेज, एवं तत्प्रधान राष्ट्रीय रक्षाकर्म्म ··· ३६१
५५–प्रतीक-धर्म्मों के व्यामोहन के प्रति राजर्षि का उद्बोधनसूत्र ··· ३६२
५६–प्रतीकव्यामोहन से ब्राह्मण के रक्षाबल का राष्ट्रभक्षणकर्म्म में उपयोग ··· ”
५७–**'न वेदबलमाश्रित्य पापकर्म्मरुचिर्भवेत्'** का समन्वय ··· ··· ३६३
५८–मानवीय उद्बोधनसूत्र का रहस्यात्मक-समन्वय ··· ··· ”
५९–ब्राह्मण के रक्षाबल से समन्वित **'रक्षासूत्र'**, एवं तदनुबन्धी रक्षाबन्धनपर्व ··· ३६४
६०–रक्षाबन्धनकर्म्म की लौकिक-व्याख्या का उपक्रम ··· ··· ”
६१–रक्षासूत्रानुगत भौतिक-द्रव्यों की गुण-शक्तियों का दिग्दर्शन ··· ··· ”
६२–मणि-मन्त्र-ओषधि-द्रव्यादि के अचिन्त्य प्रभाव, एवं तत्र वेदसूक्तिसंस्मरण ··· ३६५
६३–दर्भ-सुवर्ण-गुग्गुलु-आदि रक्षोघ्न द्रव्यों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धिनी 'त्राटकविद्या' ··· ”
६४–रक्षाबन्धनसूत्रानुगता-**'रक्षापोटलिका'** की अचिन्त्यशक्ति ··· ··· ३६६
६५–रक्षाबन्धनसूत्र में **'रक्षादेवता'** की प्राणप्रतिष्ठा ··· ··· ”
६६–धूलिधूसराङ्ग सर्वतः अवमानित राष्ट्रीय ब्राह्मण के द्वारा राष्ट्र के सांस्कृतिक-प्रतीकों के संरक्षण के प्रति सर्वस्व समर्पण, एवं प्रतिदान में ब्राह्मण के प्रति राष्ट्र की कृतघ्नता ··· ३६७

६७–आस्था-श्रद्धाशीला राष्ट्रीय-प्रजा की सनातन-आचार-मर्य्यादा, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति का अद्यावधि संरक्षण ३६७
६८–रक्षापोटलिकात्मक सशक्त रक्षासूत्र में मन्त्रशक्ति के द्वारा अतिशयाधान ... ३६८
६९–ऋषिप्राणशक्तिमय मन्त्रों का मन्त्रत्त्व, एवं इनका अचिन्त्य प्रभावत्त्व ... ,,
७०–रक्षाबन्धनसूत्रात्मक वैदिक मन्त्र, एवं लौकिक मन्त्रात्मक श्लोक, एवं तदक्षरार्थमात्र-समन्वय ३६९
७१–दक्षिणहस्तानुगत रक्षाबन्धनसूत्र ३७२
७२–वेदवित् ब्राह्मण के महान् उत्तरदायित्त्व से समन्वित रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म ... ३७३
७३–सर्वविद्याप्रतिष्ठात्मिका वेदविद्या, एवं तद्विज्ञ ब्राह्मण का ब्रह्मविद्या के द्वारा राष्ट्रसंरक्षण ,,
७४–सरस्वतीनदी के पञ्चनदीय सारस्वत-ब्राह्मणों का पारम्परिक-पतन ... ,,
७५–सांस्कृतिक-सारस्वत (विद्या) क्षेत्र की छिन्न-भिन्नता से ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य, एवं तन्मूला दासानुदासता ३७४
७६–रक्षासूत्रात्मिका राष्ट्रीया **'वेदविद्या'** ... ... ,,
७७–श्रावणीपूर्णिमातिथि से सम्बद्ध रक्षाबन्धनपर्व के सम्बन्ध में प्रश्नात्मिका जिज्ञासा ... ,,
७८-श्रावणीकर्म्मात्मक उपाकर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन ३७५
७९–प्राणात्मिका मन्त्रवाक्, एवं तदभिन्न मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र ... ,,
८०-वेदवेदाङ्गानुगत-स्वाध्यायवस्था-समन्वय ... ... ,,
८१–वेदाधिकारप्राप्त्यनुगत-ऋषिप्राणाधान का स्वरूप-दिग्दर्शन ३७६
८२–आचारनिष्ठाशून्य-प्रतीकव्यामोहनमात्रानुगत उपाकर्म्म की निरर्थकता ... ,,
८३–उपाकर्म्म, एवं तत्सापेक्ष उत्सर्गकर्म्म का स्वरूप-समन्वय ... ... ,,
८४–विपत्तिपञ्चकसंरक्षक-उपाकर्म्मोत्सर्गनिष्ठ-सान्तपनाग्निमूर्त्ति वेदवित् ब्राह्मण के रक्षाबन्धनसूत्र से राष्ट्रप्रजा का संरक्षण ३७७
८५–भारतीय-सनातनसंस्कृति के विविध-पर्वात्मक विवध रक्षात्मक महान् माङ्गलिक दृष्टिकोण ३७८
८६–भारतीय-**'स्वार्थ'** शब्द की मौलिक व्याख्या, एवं स्वार्थनिष्ठ राष्ट्रसंरक्षक राष्ट्रीय ब्राह्मण ३७९
८७–राष्ट्रीय ब्राह्मण का विश्वमानवतानुबन्धी मैत्रीभाव ... ... ,,
८८–मित्रब्राह्मण की विश्वमैत्री, एवं मैत्रीपूर्ण पुरुषार्थ ३८०
८९–मैत्रीपूर्ण उत्तरदायित्त्व से पराङ्मुख ब्राह्मण की **'जीवितमृत्यु'** ... ,,
९०–महामाया **'आद्याशक्ति'** के द्वारा देवनिकाय का संरक्षण ३८१
९१–अव्ययेश्वरपुरुष, और उसकी सर्वशक्तिरूपा प्रकृति .... .. ,,
९२–महाशक्ति का विश्वानुबन्ध से चतुर्द्धा विकास, एवं स्वयम्भुपरमेष्ठिनौ-परमेष्ठिसूर्य्यौ-सूर्य्याचन्द्रमसौ-सोमः पूषा च चेततुः-मूलक ब्रह्मा-विष्णू-इन्द्राविष्णू-इन्द्रा-सोमौ-अग्नीषोमौ--लक्षणा विवर्त्त-चतुष्टयी ३८२
९३–**स्वायम्भुवी-सौरी-चान्द्री-पार्थिवी**-शक्तियाँ, एवं मानव का स्वरूप-समन्वय ... ,,
९४–सर्वज्ञानुगता ज्ञानशक्ति, हिरण्यगर्भानुगता क्रियाशक्ति, विराट्पुरुषानुगता अर्थशक्ति, एवं शक्तित्रयमूर्त्ति वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति-मानवीय प्राकृत-जीवभाव ... ३८४

९५–विश्वशक्तित्रयी के केन्द्रबिन्दु **ब्राह्मण-नारी-गौ**-विवर्त्त ३८५
९६–भारतीय संस्कृति के मुख्य तीन स्तम्भ, एवं तत्रापि सर्वप्रधाना मातृशक्ति का मुख्य स्तम्भत्त्व, तथा तत्सम्बन्ध में जगन्मिथ्यात्त्ववादियों की महती भ्रान्ति ... ... ,,
९७–ज्ञानप्रदात्री सावित्रीमात्रा, जन्मप्रदात्री प्रसवित्रीमाता, एवं जीवनीयरसप्रदात्री गौमाता के भेद से राष्ट्र की मातृशक्तित्रयी, एवं तदुपेक्षा से राष्ट्र की ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों का उत्तरोत्तर-अभिभव ३८६
९८–भारतीय सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता, एवं तद्दुष्परिणाम-स्वरूप राष्ट्रीय ज्ञान-क्रिया-अर्थ-बलों का उत्तरोत्तर ह्रास ... ... ,,
९९–शक्तित्रयसमन्वयमूलक रक्षासूत्रबन्धनात्मक प्रासङ्गिक प्रश्नसमाधान की चेष्टा ... ३८७
१००–मातृशक्तित्रयी का मूल उक्थ, एवं इट्-उक्-गौरूप-भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी ... ,,
१०१–**ब्राह्मण, वेदमाता सावित्री, जन्मदात्री जननी, रसप्रदात्री गौमाता,** भेदभिन्न चारों महिमाभावों का पारमेष्ठ्य-सोममयत्त्व ... ... ,,
१०२–मृदुलग्रीव-ब्राह्मणस्पत्य सोममूर्त्ति ब्राह्मण, चित्सोममयी वेदमाता, चान्द्रसोमप्रधाना जननी, पारमेष्ठ्य सोमप्रधाना-गौमाता के सहजसिद्ध सौम्यभावों का सत्तातन्त्र की निरङ्कुशता-निरपेक्षता-उपेक्षा से आततायीवर्ग के द्वारा उत्पीड़न ३८८
१०३–राष्ट्रीय विद्याबल, पुरंधियोंषाबल, एवं तद्द्वारा राष्ट्रमानव का स्वरूप-संरक्षण ... ,,
१०४–**'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते'** मूलक शक्तिपूजनरहस्य ३८९
१०५–मातृशक्ति से समन्वित रक्षाबन्धनसूत्र का महान् शक्तिशालित्त्व ... ,,
१०६–इन्द्राणी के द्वारा इन्द्र के दक्षिणहस्त में रक्षासूत्रबन्धन, एवं तत्प्रभाव से असुरों का इन्द्रद्वारा पराभव ... ... ,,
१०७–रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म के प्रति नारीमात्र की आधिकारिकता का समन्वय ३९०
१०८–**शकुन–ब्राह्मण–स्त्री**–भेद से त्रितन्त्रात्मक रक्षाबन्धनपर्व .... ,,
१०९–मानव का वैय्यक्तिक-आधिदैविक ताप, एवं शकुन-ब्राह्मण-स्त्री-भावों के आधारत्त्व-समन्वय का उपक्रम ३९१
११०–प्रतिकूलाकाशमण्डलानुबन्धिनी अपशकुनपरम्परा ... ... ,,
१११–अनुकूलाकाशमण्डलानुबन्धिनी शुभशकुनपरम्परा ... ... ,,
११२–आधिभौतिक जगत्-अनुबन्धिनी बहुत्त्वलक्षणा 'भूति', एवं तत्प्रतीकभूता नारी ··· ३९२
११३–दैविक-भौतिक-आत्मिक तापत्रयप्रवर्त्तक-मङ्गलनिवर्त्तक अपशकुन-तिरस्कृता नारी–मूर्ख ब्राह्मण, एवं त्रिविध-तापनिवर्त्तक-मङ्गलप्रवर्त्तक-शुभशकुन-सत्कृतानारी-ज्ञानविज्ञाननिष्ठ वेदविद् ब्राह्मण ,,
११४–शास्त्रीय आचारात्मक-**'शकुनपूजनकर्म्म'**, एवं मान्यतानुबन्धी-**'सोणजीमण'** रूप लोकाचार ३९३
११५–नवशिक्षा-दीक्षित सुसभ्य-मानवों की विहङ्गमदृष्टि, और भारतीय आचार .... ,,
११६–पुराणशास्त्रविद्रोही अर्वाचीन वेदनाममात्रभक्तों का भ्रान्त बुद्धिवाद .... ,,
११७–आधिदैविक-अखण्ड-आकाश के वैय्यक्तिक भावानुबन्धी खण्ड-खण्डाकाश ३९४
११८–मानवीय व्यानप्राणग्रन्थिसमन्वित खस्वस्तिक, और आकाश .... ,,

११६-खस्वस्तिकरूप सौर आकाश, एवं अधःस्वस्तिकरूप पर्थिवाकाश ३६५

१२०-'स्त्रस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इत्यादि 'स्वस्तिक' भावस्वरूपसमर्पक यजुर्म्मन्त्र का अक्षरार्थमात्र समन्वय .... "

१२१-चतुर्भुजात्मक आकाशीय वृत्त का स्वरूप समन्वय ३६६

१२२-लोकाचारानुबन्धी द्विविध 'स्वस्तिक' चिह्नों का नैदानिक प्रतिमात्त्व-समन्वय ३६७

१२३-शुभशकुन का महान् प्रतीक भारतीय सांस्कृतिक 'स्वस्तिक' भाव (साथिया) ३६८

१२४-माङ्गलिक शुभसूचक कतिपय पदार्थपरिगणना ३६६

१२५-अशुभसूचक-कतिपय-अमाङ्गिलक पदार्थ .... "

१२६-वृष्टिविद्यानुगत शकुन, और घाघ-भड्डुरी ४००

१२७-माङ्गलिक भावानुबन्धिनी स्वस्तिपरम्पराएँ, एवं श्रद्धाशीला आर्षप्रजा .... "

१२८-आस्था-श्रद्धा-विघातक तत्त्ववादविजृम्भण, एवं तदनुगामी आचारशून्य-प्राकृत-मानवों का शुष्क बुद्धिवाद .... "

१२८-श्रद्धाशून्य बौद्धिक विजृम्भण की आचारधर्म्मपराङ्मुखता ४०१

१२६-सर्वोपायेन संरक्षणीय श्रद्धातत्त्व, एवं तन्मूलक धर्म्माचरण ... ... "

१३०-तत्त्ववादव्यामोहन की निरर्थकता, एवं विध्यात्मक आचारधर्म्म की सार्थकता ... "

१३१-शकुनपरम्परा के समर्थक कतिपय वेदमन्त्र ४०२

१३२-'सुपर्णविद्या' मूलक 'शकुन' शब्द, एवं तद्द्वारा शकुनसमन्वय ... ... "

१३३-सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति, एवं उसकी सुपर्ण-शकुन (पक्षी)--रूपता ... "

१३४-माङ्गलिक भारतीय गृहद्वार, एवं तदनुगत तोरणद्वारानुबन्धी सुपर्णपक्षी ... ४०३

१३५-शकुनतत्त्वविश्लेषक मन्त्रों का अक्षरार्थमात्रसमन्वय ४०४

१३६-रक्षाबन्धनपर्वस्वरूपेतिवृत्त विराम ४०५

१३७-भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के माध्यम से सांस्कृतिक--वैभव का माङ्गलिक संस्मरण "

१३८-आर्य्यसर्वस्वशास्त्रानुगत (पुराणानुगत) रक्षाबन्धनपर्वात्मक रक्षाकवच ... ४०६

उपरता चेयं-प्रथमावन्तरप्रकरणात्मिका ब्राह्मणानुगता—

रक्षाबन्धनपर्वस्वरूपमीमांसा-प्रथमा

१

* * *

भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व

द्वितीय अवान्तरप्रकरणात्मक–विजयदशमीपर्वोत्सव की संक्षिप्त विषयसूची

२

(१)–निगमागमशब्दों का चिरन्तन इतिहास

१–निगमागमशास्त्रमूलकं किञ्चिदिव प्रास्ताविकम् ४११
२–विजयदशमीपर्वसम्बन्धी विजिज्ञास्य निगमागमभाव ... ... ,,
३–गुरुमुखादनुगता-रहस्यबोधानुप्राणिता–निष्ठापद्धति ४१२
४–आगमाचार्य्यों से क्षमा-याञ्चा ... ... ,,
५–ऋषिदृष्ट निगमशब्दब्रह्म, एवं आगमशब्दब्रह्म का उपक्रम ... ... ,,
६–निगमागमशब्दब्रह्म की विस्मृति, और हमारा सांस्कृतिक अधःपतन ... ४१३
७–स्मृति के–'वेदशब्देभ्य एवादौ' का वाङ्मय समन्वय ... ... ,,
८–वाग्ब्रह्म के द्वारा शब्दब्रह्म का आविर्भाव, एवं त्रिविध शब्द ... ... ,,
९–निगमानुगमानुगत वाग्ब्रह्म का तात्पर्य्यार्थसमन्वय ४१४
१०–स्वायम्भुव–अपौरुषेय-वेदात्मक–निगमवाग्ब्रह्म का स्वरूपदिग्दर्शन ... ... ,,
११–स्वयं निर्गतभावापन्न निगम का नामनिर्वचन समन्वय ... ... ,,
१२–स्वतःप्रमाणभूत निगमब्रह्म की निर्भ्रान्ता निरपेक्षा प्रामाणिकता ४१५
१३–'ब्रह्मनिःश्वसित' नामक प्रतिष्ठाब्रह्मलक्षण निगम का श्रौत समन्वय
१४–श्रौत समन्वयानुगत स्मार्त्तसमन्वय ... ... ,,
१५–वेदपुरुष की सुवेदप्रकृतिसापेक्षता ... ... ,,
१६–त्रयीतत्त्वानुगत 'यजुःपुरुष' का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय ४१६
१७–यत्–जू, वायु-आकाश, गति-स्थिति, प्राण–वाक्–द्वन्द्वों की आंशिक अभिन्नार्थता, एवं प्राण–वाग्द्वन्द्व के द्वारा सर्गोपक्रम ... ... ,,
१८–त्रयीप्रतिष्ठात्मक वाग्ब्रह्म के द्वारा 'आपःसृष्टि' का प्रादुर्भाव, एवं तदनुगत श्रुति–स्मृति–वचनों का समन्वय ४१७
१९–'आपो नाराः', 'नारी', और राजस्थान का 'नारा' शब्द ... ... ,,
२०–वेदात्मक ब्रह्म, एवं सुवेदात्मक सुब्रह्म तत्त्व, तथा तन्मूलक मौलिक–दाम्पत्यभाव ४१८
२१–तेजोगुणक अङ्गिरा, एवं स्नेहगुणक भृगु की अब्रूपता .... ,,
२२–वेदत्रयीरूप पुरुष, अवं अथर्वरूपा प्रकृति का दाम्पत्यभाव ४१९
२३–महान् विश्व के महान् प्रथम सर्ज्जक निगमागमरूप पुरुष–प्रकृतिभाव .... ,,
२४–प्रथम दाम्पत्य से प्रथम आविर्भूत प्रथमज विराट्पुत्र .... ,,
२५–निगमादागतः लक्षण पारमेष्ठ्य आगमब्रह्म, और आगमशब्द ४२०
२६–निगम–आगम–शब्दों की चिरन्तनेतिहासात्मिका रूपरेखा का समन्वय .... ,,

२७–तत्त्वात्मक निगमागमों पर प्रतिष्ठित शब्दात्मक निगमागम ४२०

२८–अपौरुषेय निगमागमदाम्पत्य से पौरुषेय निगमरूप विराट्पुत्र की प्रसूति ४२१

२९–वाग्ब्रह्म, और उसके ऐन्द्र, तथा आग्नेय नामक दो विवर्त्त .... ”

३०–ऐन्द्राग्नेयीवाक् के द्वारा सौर-रौदसीत्रैलोक्य का वितान, एवं सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि का त्रैलोक्य प्रतिष्ठात्त्व .... ”

३१ रोदसीभावानुगता देव–पितृ–मनुष्य–लोकात्मिका प्रतिष्ठालोकत्रयी का समन्वय ४२२

३२–अग्निप्रधान पृथिवीलोक, एवं इन्द्रप्रधान सूर्य्यलोक .... ”

३३–पार्थिव गायत्राग्नि, एवं सौरसावित्राग्नि का अन्नादभाव, तथा तद्गर्भीभूत-आन्तरीक्ष्य चान्द्र सोमान्न का भी अन्नादत्त्व ४२३

३४–'द्यावापृथिवी' नामस्वरूप–समन्वय .... ”

३५–सुब्रह्मण्यावाक्, और चन्द्रमा .... ”

३६–अनुष्टुप् और बृहतीवाक्, तथा स्फोट–स्वर–वर्ण–भावों के महिमात्मक विवर्त्त ४२४

३७–परब्रह्म, और शब्द ब्रह्म का समतुलन .... ”

३८–द्यावापृथिवी–मूला वाङ्मयी परिभाषा ४२५

३९–गायत्रीमात्रिक वेदत्तत्त्वात्मक द्युपितर, और प्रथमज–पौरुषेय–निगमब्रह्म .... ”

४०–पुरुषवेदात्मक निगमभाव, और तत्प्रतिपादक श्रौत सन्दर्भ ४२६

४१–उक्थवैराजिकविद्यात्मिका सौरी त्रयीविद्या .... ”

४२–सौरी त्रयीविद्या, एवं तच्छरीररूप शब्दात्मक वेदशास्त्र ४२७

४३–निगमात्मक-सूर्य्य, तथा आगमात्मक चन्द्रमा का दाम्पत्यभाव, एवं निगमागमब्रह्म का द्वितीय पौरुषेयावतार .... ”

४४–उपग्रहविद्यात्मिका आगमविद्या, एवं तद्रूपा पृथिवीविद्या ४२८

४५–पृथिवी–विवर्त्तानुगत–'भूः', और–'मण्डल' शब्दों का स्वरूपदिग्दर्शन .... ”

४६–आपोमय पारमेष्ठ्य आगमतत्त्व, एवं तदभिन्ना आगममयी अप्प्रधाना पृथिवी .... ”

४७–यज्ञमात्रिक–वेदमयी माता पृथिवी, और उसका आगमत्त्व .... ”

४८–माता पृथिवी, तथा पिता सूर्य्य का आगम–निगमत्त्व, एवं तदनुबन्धी शिव-शक्तिभाव ४२९

४९–निगम, और आगम-मन्त्रों का स्वरूप-विभेद .... ”

५०–सूर्य्यनिगममूला विराड्विद्या, तथा पृथिव्यागममूला दशमहाविद्या, एवं दोनों विद्याओं का ओतप्रोतभाव .... ”

५१–क्षत्ररुद्रात्मक सूर्य्य, और उसके विट्-रुद्रात्मक असंख्य महिमाभाव ४३०

५२–रुद्रदेवता के घोरशरीर, एवं शिवशरीर, एवं दोनों के अध्यात्मसंस्था में प्रत्यक्ष दर्शन ”

५३–उग्र–प्रचण्ड–प्रेत-कर्म्मा भगवान् घोररुद्र .... ”

५४–शान्तरुद्रियभावानुगत–शतरुद्रियभाव, एवं शान्तरुद्र ४३१

५५–अग्निचिति–सञ्चितिमूर्त्ति रुद्रदेवता, एवं इन की शिवभाव में परिणति .... ”

५६–सौर अग्नि के विध्वंसक, सर्ज्जक रुद्र, और शिव–भाव .... ”

५७–महच्छक्ति, हैमवतीउमा, माया, नारायणी, चिच्छक्ति, राधा, आदि तत्त्वों की अभिन्नता, एवं चान्द्रसोमगर्भिता सौम्या शक्ति का मातृशक्तित्त्व ४३२
५८–सोमानुगत 'उमा' भाव, और हैमवती उमा .... ,,
५९–सौर अग्नि, तथा चान्द्र सोम की कृष्णवर्णता .... ,,
६०–पार्थिव–देवतात्रयी का पराशक्ति उमा के द्वारा स्वरूपोद्बोधन ४३३
६१–आगमशास्त्रोपवर्णिता महामाया पराशक्ति का निगमशास्त्र के द्वारा महिमात्मक यशोवर्णन ,,
६२–भृग्वङ्गिरोमयी पारमेष्ठिनी पराशक्ति, और तदनुगत ब्रह्म की स्वेदधाराएँ ४३४
६३–भृगुगर्भिता अङ्गिराधारात्मिका महासरस्वती, एवं अङ्गिरागर्भिता भृगुधारात्मिका महालक्ष्मी, तथा महालक्ष्मी का नैगमिक 'आम्भृणी' रूप .... ,,
६४–महालक्ष्मी-स्वरूपिणी सर्वाधिष्ठात्री पराशक्ति माता आम्भृणी का वेदमहर्षि के द्वारा यशोवर्णन ४३५
६५–उपनिषत् में उपवर्णिता अग्नीषोमात्मिका शिवशक्तिरूपिणी पराशक्ति का नैगमिक-विस्तार ४३६
६६–पुराणशास्त्रोपवर्णिता पराशक्ति ४३८
६७–पराशक्ति पीताम्बरा भगवती के उपासक भगवान् कृष्ण के द्वारा अर्जुन की पराशक्त्युपासना में प्रवृत्ति, एवं विजयलाभ ४३९
६८–शिवभावानुगता पुरुषसृष्टि, शक्तिभावानुमता स्त्रीसृष्टि का समन्वय, एवं निगमागमशब्दों के चिरन्तनेतिवृत्त की विश्रामानुगति .... ,,

अत्र-निगमागमशब्देतिवृत्त-उपरत

——१——

२-'विद्या' शब्द का चिरन्तन-इतिवृत्त

६९–या देवी सर्वभूतेषु 'विद्या' रूपेण संस्थिता ४४०
७०–विद्या, वेद, ब्रह्म, शब्दों की अभिन्नार्थकता .... ,,
७१–अक्षरात्परतः परः अवस्थित अप्राण-अमन–प्राणमनोघन अव्ययब्रह्मस्वरूप–दिग्दर्शन ,,
७२–कार्यकारणातीत परब्रह्म ४४१
७३–निर्धर्म्मक अव्ययपुरुष की सर्वासंस्पृष्टता .... ,,
७४–योषा–वृषात्मक संसृष्टिभाव, संसृष्टिरूपा सृष्टि का क्रियाभाव, तत्प्रवर्त्तक पराप्रकृतिरूप अक्षरभाव, एवं अव्ययपुरुष–अक्षर-प्रकृति-समन्वयात्मक विश्वनिर्माणकर्म्म .... ,,
७५–सच्चिदानन्दघन अव्ययपुरुष से समन्विता सच्चिदानन्दमयी अक्षरप्रकृति की व्यापकता का समन्वय .... ,,
७६–मुक्तिसाक्षी आनन्दविज्ञानमनोघन अव्यय से अभिन्न सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग्घन अव्यय से समन्वित पराप्रकृतिरूप अक्षर की मनःप्राणवाङ्मयता ४४२
७७–क्रियाशक्तिमय अक्षर के द्वारा व्यक्त-क्षरविश्व की प्रवृत्ति .... ,,

७८–अक्षरप्रजापति की सृष्टिप्रक्रिया के साथ 'कुम्भकार प्रजापति' की घटनिर्म्माणप्रक्रिया का प्रतीकात्मक समतुलन ४४३

७९–भारतीय विवाहोत्सवारम्भ में प्रजापतिचक्र का पूजन, और तदनुबन्धी प्राजापत्य-प्रतीकभाव ,,

८०–प्रासादशिल्पी (विश्वकर्म्मा के प्रतिनिधि) का शिल्पारम्भ में पूजन, और हमारी सांस्कृतिक-परम्पराएँ .... ,,

८१–सर्वज्ञ-सर्ववित्-सर्वशक्ति-मय अक्षर का विश्वकर्तृत्व ४४४

८२–'पर' अव्ययब्रह्म, 'परावर' अक्षरब्रह्म, तथा 'अवर' क्षरब्रह्म के पर-परावर-अवर-भावों का स्वरूपदिग्दर्शन .... ,,

८३–सृष्टिविद्यात्मिका निगमागमविद्याओं का मूलप्रवर्त्तक सर्वमूर्त्ति अक्षरब्रह्म ४४५

८४–चिदात्मा अव्यय, चेतनात्मक अक्षर, चिन्मय क्षर के चिद्भावों का समन्वय, एवं सर्वमूर्त्ति अक्षर से त्रिविध-सामान्य-सृष्ट्यनुबन्धों का आविर्भाव .... ,,

८५–अक्षर के द्वारा आविर्भूत **ब्रह्म-नामरूप**, एवं **अन्न** लक्षण त्रिविध सर्ग ४४६

८६–'**ब्रह्म**' नामक प्रथम सर्ग का '**प्रतिष्ठा**'-त्मक स्वरूप .... ,,

८७–'नामरूप'-नामक द्वितीय सर्ग से अनुप्राणित अमृत-मृत्युभाव .... ,,

८८–**नामरूपात्मक** द्वितीय सर्ग का 'ज्योति' र्म्मयत्त्व ४४७

८९–'**अन्न**' नामक तृतिय सर्गानुबन्धी अन्नादानविसर्गात्मक '**यज्ञ**'-स्वरूप का आविर्भाव .... ,,

९०–ब्रह्म-**नामरूप-अन्न** लक्षण **प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञ**-सर्गों से अक्षर की पञ्चाक्षरभाव में परिणति ,,

९१–क्रियाप्रधान अक्षर की गतिरूपता, एवं गतिभाव के पञ्चधा महिमाविवर्त्त, तथा तन्मूलक अक्षर के पञ्चकला-विवर्त्त ४४८

९२-परब्रह्मानुगत अक्षर की पाँच कलाओं से समन्विता शब्दब्रह्मात्मक स्वर की पाँच कलाएँ, एवं शब्दब्रह्म का पारायणपाठात्मक महत्त्व .... ,,

९३–द्वादश आदित्यप्राणों में 'इन्द्र' प्राण का महामहिमत्त्व ४४९

९४-सौर इन्द्र, चान्द्र सोम, पार्थिव अग्नि, के **स्व-पर-रूप**-ज्योतिर्भाव, एवं पौराणिक त्रिदेवतावाद का नैगमिक समन्वय .... ,,

९५–त्र्यक्षरभाव का अन्तर्य्यामित्व, तथा द्व्यक्षरभाव का वस्तुस्वरूपत्त्व, एवं पञ्चाक्षरमूर्त्ति अक्षर-प्रजापति का सृष्टिकर्तृत्व .... ,,

९६–परात्पराव्ययाक्षराक्षरमूर्त्ति षोडशीप्रजापति के इतिवृत्त का उपराम ४५०

९७–षोडशी प्रजापति के सर्वान्तिम आत्मक्षर से विकारक्षरात्मक 'विश्वसृट्' तत्त्व का प्रादुर्भाव, एवं उसका पञ्चीकरण .... ,,

९८–पञ्चीकृत विश्वसृजों के पञ्चीकरण से पञ्चजन, पुरञ्जन-भावों का आविर्भाव, एवं पञ्चपञ्चीकृत पुरञ्जनों से पाँच विश्वपुरों का प्रादुर्भाव ४५१

९९–षोडशकल षोडशीप्रजापति, एवं इसकी क्षरकला से आविर्भूत प्रादुर्भूत पञ्चकल-पञ्चपर्वा-विश्व, एवं समष्टिरूप सर्वलक्षण सर्वात्मक प्रजापति का महामहिमत्त्व .... ,,

१००—आत्मन्वी (विश्वविशिष्ट) षोडशीप्रजापति के विश्वोपाधि--निबन्धन **विद्या-वेद-ब्रह्म-नामक** सोपाधिक तीन विवर्त्त ४५३
१०१—लौकिक उदारणविधि से वेद, और ब्रह्म नामक सोपाधिक प्राजापत्यरूपों का तात्पर्य्यसमन्वय ,,
१०२—वेदावच्छिन्न ज्ञान, तथा ब्रह्मावच्छिन्न ज्ञान का सामान्य ज्ञानत्त्व, एवं तदाधारेण चिति-सञ्चिति-रूप से अभिव्यक्त उक्थरूप सोपाधिकज्ञान का 'विद्या' स्वरूपत्त्व ४५४
१०३—सञ्चितसंस्काररूपा प्राजापत्यविद्या, एवं तच्चितिरूप, अतएव विद्यात्मक विश्व .... ,,
१०४—महदुक्थविद्यात्मिका विराड्विद्या, तदभिन्ना दशमहाविद्या, एवं विद्यात्मक निगमागमभावों का तात्त्विक-समन्वय .... ,,
१०५—शक्तिपूजनात्मक-महान् सांस्कृतिक-विजयदशमीपर्व, एवं तत्प्रतिष्ठारूपा आगमीया दशमहाविद्या (पृथिवीमूला सृष्टिविद्या) ४५५

'विद्या' शब्द का चिरन्तन-इतिवृत्त उपरत

——२——

३—'दशमहाविद्या' शब्द का चिरन्तनेनिवृत्ति

१०६—महर्षि बाध्वाभिमत छन्दःपुरुष, वेदपुरुष, महापुरुष, शरीरपुरुष, नामक चार पुरुषविवर्त्त, एवं इनका कालपुरुष, यज्ञपुरुष नामक दो विवर्त्तों में अन्तर्भाव ४५६
१०७—अनन्त-व्यक्त कालपुरुष, एवं सादि सान्त-परिच्छिन्न यज्ञपुरुष,तथा कालपुरुष के सोपाधिक-अमृत मर्त्यभाव ,,
१०८—नासदासीन्नो सदासील्लक्षण सदसद्विलक्षण महाकालकरालात्मक कालपुरुष (परात्परब्रह्म) के तटस्थ-लक्षण .... ,,
१०९—महाकालात्मक कालपुरुष की महाशक्ति, एवं सदसद्विलक्षणा नासदासीन्नो सदासील्लक्षणा महामाया का तटस्थ लक्षण ४५७
११०—विश्वातीत-परात्पर-परमेश्वररूप महाकालपुरुष की कालनिबन्धना नैगमिक-स्तुति ४५८
१११—अनुपाख्य—अनिरुक्त-निरुक्त भेद से 'कृष्ण' भाव के तीन विभिन्न विवर्त्त ४५९
११२—'तम आसीत्-तमसा-गूढमग्रे' का तात्त्विक-समन्वय ४६०
११३—'असदेवेदमग्र आसीत् । ततसदासीत्' का तात्त्विक समन्वय .... ,,
११४—'एकोऽहं बहु स्याम्' मूला प्राजापत्यकामना का स्वरूपदिग्दर्शन .... ,,
११५—महाकालपुरुष के आधार पर यज्ञपुरुष का आविर्भाव ४६१
११६—दशहोतुरनुगता-यज्ञपुरुष की दशावयवता, एवं तन्मूला वैराजिकता .... ,,
११७—'यद्वै न्यूनं-तत्पूर्णं, यत्पूर्णं-तन्न्यूनम्' का समन्वय, एवं सृष्टि-आधारभूत-न्यूनविराट्-स्वरूप-यज्ञपुरुष ४६२
११८—यज्ञविराट् के मूलभूत-स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-दाम्पत्य की तत्त्ववेदात्मिका न्यूनवैराजिकता का समन्वय ४६३

११९–'**नवो नवो भवति जायमानः**' मूला न्यूनविराल्लक्षणा नवसंख्या की नवधा वितानात्मिका नवीनता ४६३
१२०–दशममहः से समन्विता न्यूनविराट् की पूर्णता, और दशावय पूर्णपुरुष ४६४
१२१–दशावयव-विराट्पुरुषानुगता पूर्णभावात्मिका शून्यबिन्दु, एवं तन्मूला विराड्भावात्मिका दशमहाविद्या ... ... ,,
१२२–आगमशास्त्र में उपवर्णिता दश महाविद्याएँ ... ... ,,
१२३–निदानमूला महाविद्याओं के रहस्यपूर्ण नैदानिक ध्यान ... ... ,,

१–महाकालपुरुष, और उनकी महाशक्ति महाकाली
प्रथमा–आद्या–महाविद्या

१२४–परात्पररूप महाकाल, उसकी महाशक्ति महाकाली, और उभयसमन्वयात्मक अर्द्धनारीश्वर भगवान् ४६५
१२५–विश्वपूर्वावस्थानुगत अनुपाख्यतम की महाकालता, एव महारात्रिरूपा पारमेष्ठ्या महच्छक्ति का महाकालीत्त्व, और '**तम आसीत्-तमसा-गूढमग्रे**' का नैगमिक-समन्वय ४६६
१२६–महाकालीरूपा '**महारात्रि**', एवं तदनुबन्धी '**नवरात्र**' शब्द .... ,,
१२७–नवरात्ररूपा कहाकाली के चतुरशीति (८४) महिमाविवर्त्त ४६७
१२८–चतुरशीति–महिमान्विता–महाकाली की महद्ब्रह्मरूपता, एवं तदनुबन्धी चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) योनिर्भाव .... ,,
१२९–रहस्यपूर्णा–देवप्रतिमानुबन्धिनी '**निदानविद्या**', और उसकी विलुप्ति के दुष्परिणाम .... ,,
१३०–राष्ट्रीय–प्रज्ञा की दासवृत्ति के निग्रह से राष्ट्रीय–संस्कृति के मूलस्वरूप की अन्तर्मुखता, एवं दासतापूर्ण बुद्धिवादों का महान् व्यामोहन ४६८
१३१–उपास्यदेवता के गुण–कर्म्म–शक्ति–धर्म्म–प्रभावादि के आधार पर उपकल्पित नैदानिक ध्यान ,,
१३२–सङ्केतविधिरूप–निदानभावों के सम्बन्ध में कतिपय नैदानिक–वचन ४६९
१३३–अनुरूप निदानभावों के कतिपय लौकिक, तथा शास्त्रीय उदाहरणों का समन्वय, एवं तन्मूला महत्त्वपूर्णा निदानविद्या .... ,,
१३४–महाकाली का निदानभावसमन्वित आगमीय ध्यान, और तदक्षरार्थसमन्वय ४७१
१३५–कालकलनात्मिका कालमाता महाकाली ७२
१३६–शवारूढा–हसन्मुखी–महाकाली का नैदानिक समन्वय .... ,,
१३७–महाकाली की चार भुजाओं का नैदानिक–स्वरूप .... ,,
१३८–महाकाली के अन्यान्य निदानभावों का समन्वय ४७३

* * *

२–अक्षोभ्यपुरुष, और उनकी महाशक्ति तारा

द्वितीया–महाविद्या

१३९–हिरण्यगर्भ सूर्य्यनारायण का अक्षोभ्यपुरुषत्त्व ४७४

१४०–अक्षोभ्यपुरुष की महाशक्ति तारा के स्वरूपदर्शन .... ,,

१४१–अक्षोभ्यपुरुष का विश्वसर्गक्रमानुगत जन्ममहोत्सव ४७५

१४२–प्रचण्डोग्रमूर्त्ति अक्षोभ्यरुद्र, और उनकी महाशक्ति उग्रतारा .... ,,

१४३–उग्रतारास्वरूपिणी भगवती तारा का नैदानिक ध्यान, और तन्नैदानिक समन्वय ४७६

३–पञ्चवक्त्र शिव, और उनकी महाशक्ति षोडशी

तृतीया–महाविद्या

१४४–विश्वस्वरूपसम्पादक सर्वहुतयज्ञ का संस्मरण ४७७

१४५–उग्रतारा की शिवभाव में परिणति, एवं यज्ञप्रवृत्ति .... ,,

१४६–पञ्चवक्त्र शिव, और तच्छक्ति षोडशी का नैगमिक (वैदिक) स्वरूप-समन्वय .... ,,

१४७–शिवसूर्य्यात्मक पञ्चवक्त्रपुरुष का नैदानिक ध्यान, एवं उसके नैदानिक--आयुधों का तात्त्विक समन्वय ४७८

१४८–सौर–इन्द्र का षोड़शीप्रजापति से अभिन्न सम्बन्ध, एवं इन्द्र का षोडशीप्रजापतित्त्व ४८०

१४९–षोडशी महाशक्ति का स्वरूप-समन्वय ४८१

१५०–षोडशी महाशक्ति से अभिन्ना शक्ति त्रिपुरसुन्दरी, और उसका नैदानिक--ध्यानमात्र .... ,,

१५१–षोडशीशक्ति के नैदानिक–भावों का समन्वय ४८२

४–त्र्यम्बक शिव, और उनकी महाशक्ति भुवनेश्वरी

चतुर्थी–महाविद्या

१५२–शिव की तीन अम्बाएँ, एवं सुगन्धि--पुष्टिवर्द्धन--त्र्यम्बक शिव का नैगमिक--स्वरूप–समन्वय ४८३

१५३–महाशक्ति--भुवनेश्वरी--त्र्यम्बकशक्ति का नैदानिक ध्यानमन्त्र ४८४

१५४–भुवनेश्वरी भगवती के नैदानिक--ध्यान का नैदानिक समन्वय .... ,,

५–कवन्ध शिव, और उनकी महाशक्ति छिन्नमस्ता

पञ्चमी–महाविद्या

१५५–यज्ञमूर्त्ति प्रजापति के पाङ्क्त (पञ्चावयव) यज्ञों का संस्मरण ४८५

१५६–(क) यज्ञ के ब्रह्मौदन--प्रवर्ग्यरूप--दो शिर, एवं प्रवर्ग्यरूप छिन्नशीर्षयज्ञ का स्वरूप–दिग्दर्शन ,,

१५६–(ख) **'चत्त्वारि शृङ्गा–त्रयो अस्य पादा०'** इत्यादि मन्त्राक्षरार्थमात्र–समन्वय ४८६
१५७–ब्रह्म का ओदन एवं ब्रह्म का उच्छिष्ट, तथा **'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे'** का समन्वय ४८७
१५८–छिन्नशीर्षरूप कबन्ध शिव, और उनकी महाशक्ति--छिन्नमस्ता भगवती का नैगमिक–स्वरूप ,,
१५९–शिरःसन्धानात्मक--अन्नादानविसर्गात्मक–यज्ञ की सर्वव्यापकता ४८८
१६०–छिन्नशीर्षरूपा भगवती छिन्नमस्ता, एवं उनका आगमीय ध्यानमन्त्र .... ,,

* * *

६–दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव, और उनकी महाशक्ति भैरवी

षष्ठी–महाविद्या

१६१–महाप्रलय, तथा खण्डप्रलय का आपेक्षिक तारतम्य, एवं खण्डप्रलयाधिष्ठाता दक्षिणामूर्ति कालभैरव ४८९
१६२–जगन्माता त्रिपुरभैरवी का माङ्गलिक संस्मरण ४९०

* * *

७–पुरुषशून्या महाशक्ति धूमावती भगवती

सप्तमी–महाविद्या

१६३–निगमशास्त्रोपवर्णिता महाशक्ति **'निर्ऋति'**, एवं तच्छान्ति स्वस्ति--प्रवर्त्तक **'निर्ऋतियज्ञ'** ४९०
१६४–वेदशास्त्र की निर्ऋतिरूपा आगमशास्त्र की महाशक्ति सर्वोद्बोधनप्रदात्री वरदा--अभया माता धूमावती, एवं तन्नैदानिक ध्यानमन्त्र ४९१
१६५–देवशयनकालानुगता धूमावती .... ,,
१६६–धूमावतीशक्ति की प्रतिद्वन्द्विनी कमलाशक्ति, एवं तन्निबन्धन कमलामहोत्सवात्मक–अग्निक्रीड़ात्मक--दीपावलीपर्व ४९२
१६७–माता धूमावती की **'वरानना'** मुद्रा का नैदानिक रहस्य .... ,,
१६८–राष्ट्रीय प्रवर्ग्यभागों की उत्क्रान्ति से राष्ट्र के ब्रह्मौदन की महती क्षति, एवं राष्ट्रीय--उर्वराशक्तियों की क्रमिक निःसत्त्वता, और तन्निबन्धन भारतराष्ट्र का भीषणतम भविष्य ४९३
१६९–मौलिक--तत्त्वों की अनभिज्ञता से राष्ट्रप्रज्ञा की अन्धानुकरणवृत्ति, एवं तन्निग्रहेण राष्ट्र में धूमावती का प्राबल्य, और उसके **'वरानना'** रूप से क्षमा--याञ्चापूर्वक उद्बोधनभिक्षा की प्रार्थना ४९४

* * *

८–एकवक्त्र रुद्र, और उनकी महाशक्ति वल्गामुखी

अष्टमी–महाविद्या

१७०–पारमेष्ठ्य--सुब्रह्मरूप अथर्वब्रह्म, एवं तदभिन्न--कृत्याप्रयोगाधारात्मक अथर्वासूत्र ४९४
१७१–अथर्ववेद के 'घोराङ्गिरा' विभाग पर प्रतिष्ठित अभिचारप्रयोग ४९५
१७२–माता वल्गामुखी रूपा 'बगलामुखी' का नैदानिक--ध्यानमन्त्र ४९६

९–मतङ्गशिव, और उनकी महाशक्ति मातङ्गी
नवमी–महाविद्या

१७३–पार्थिव तमोमय–दितिभाग, तदनुबन्धी दिग्गज, तदनुप्राणित दिङ्नाग, और मतङ्ग–दिग्गजों से समन्वित पार्थिव मतङ्गपुरुष, एवं तच्छक्ति मातङ्गी भगवती ४९६
१७४–मतङ्गपुरुषानुगता मातङ्गी भगवती का नैदानिक ध्यानमन्त्र ४९७

—*—

१०–सदाशिवपुरुष, और उनकी महाशक्ति कमला
दशमी–महादशमी

१७५–धूमावती की प्रतिद्वन्द्विनी महाशक्ति कमला के नैदानिक–ध्यान–मन्त्र का महामाङ्गलिक संस्मरण ४९७
१७६–दश–महाशक्तिरूपा दश महाविद्याओं का समष्ट्यात्मक नामसंस्मरण ... ४९८
१७७–दश महाविद्याओं का **महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली**-नामक सुप्रसिद्ध तीन महिमाभावों में अन्तर्भाव, एवं तत्र निगमदृष्टि .... ,,
१७८–दशमहाविद्यात्मिका महाशक्ति महामाया भगवती का 'रात्रि' रूप से संस्मरण, एवं 'दशमहाविद्या' शब्द के चिरन्तनेतिवृत्त का विश्राम ४९९

दशमहाविद्या शब्द का चिरन्तनेतिवृत्त अत्र उपरत

३

४–विजयदशमीपर्व का संक्षिप्त इतिवृत्त

१७९–'नवरात्र' शब्द, और 'नवो नवो भवति जायमानः' मन्त्र ५०२
१८०–सूर्य्य–चन्द्रमा से त्रैलोक्यप्रजा की सर्गप्रवृत्ति .... ,,
१८१–सम्वत्सरचक्र की ७२० इष्टका–चितियाँ, और तच्चिति से सम्वत्सर के स्वरूप की निष्पत्ति ,,
१८२–दक्षवृत्तानुगामी नवनवरूपेण जायमान सौम्य चन्द्रमा के साथ अनुप्राणित सम्वत्सरचक्र के त्रिनाड़ी-नववीथी–त्रिमार्गात्मक भचक्र का स्वरूप-समन्वय···· ५०३
१८३–नक्षत्राधिपति–निशानाथ–चन्द्रमा के त्रिखण्डात्मक–आकाशखण्डों से नवसंख्यात्मक नव-नव विवर्त्त, एवं तदनुबन्धी **'नवरात्र'** शब्द ५०५
१८४–सम्वत्सरचक्र के ४० नवरात्रों में ४ चार नवरात्रों की प्रमुखता ५०६
१८५–चार नवरात्रों में २ नवरात्रों की, एवं दो में **'शारदनवरात्र'** की ही प्रधानता का समन्वय ,,
१८६–नवरात्रतत्त्व का स्वरूपविश्लेषक–रहस्यपूर्ण–दुर्गासप्तशतीशास्त्र ५०७
१८७–शक्तिशाली राष्ट्र के–'राष्ट्रत्त्व' की स्वरूपव्याख्या ···· .... ,,
१८८–रहस्यशास्त्र के द्वारा 'राष्ट्रशक्ति' की परोक्ष–स्वरूप-व्याख्या ५०८

१८९–राष्ट्र की बाह्य शक्तियों के प्रतीक सत्तातन्त्र, तथा वणिक्तन्त्र की अर्थलिप्सा–लोकलिप्सा से राष्ट्रशक्ति की अन्तर्म्मुखता, एवं परिणामस्वरूप राष्ट्रक्षोभात्मक राष्ट्रविप्लव का आविर्भाव ५०८

१९०–सत्तातन्त्र के प्रतीक **सुरथराजा**, एवं वणिक्तन्त्र के प्रतीक **'समाधि'** नामक वैश्य के माध्यम से इन दोनों वर्गों की मोहासक्ति से उत्पन्न महान् क्षोभ के चिरन्तन इतिवृत्त का दिग्दर्शन, एवं तन्माध्यम से ही शक्तिशास्त्र (सप्तशती) की प्रवृत्ति ५०९

१९१–ऋषिप्रज्ञा के द्वारा उभयतन्त्र का उद्बोधन, एवं शक्त्याराधन का आदेश .... ,,

१९२–निगमागममूला–आत्मदेवभावानुप्राणिता–परोक्षा–सुसूक्ष्मा शक्तियों के बोध से वञ्चित राष्ट्रमानवों के व्यक्तित्वविमोहनात्मक प्रकृतिविरुद्ध–शक्तिविध्वंसक–असदाचरण, एवं उनके घोरघोर दुष्परिणामों से राष्ट्र का आत्यन्तिक पतन ५१०

१९३–राष्ट्र की महती दुर्द्दशा के अचिन्त्य प्रश्न का चिन्तापूर्ण समन्वय ५१२

१९४–'विजयदशमीपर्व' की सांस्कृतिक–आयोजनता, और उसकी मूलप्रतिष्ठाएँ .... ,,

१९५–आगमशास्त्र के षड्दिग्भेदभिन्न सुप्रसिद्ध षड़ाम्नाय, एवं तदनुबन्धी शक्तिसंग्राहक उपायों का समन्वय ५१३

१९६–**शक्ति–उपासना, पूजनात्मक नवरात्र, एवं तदनुगत विजयदशमीपर्व** .... ,,

१९७–भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से नवरात्रद्वारा शक्तिसञ्चय, एवं तद्बल पर महाभारतसमर में अर्जुन के द्वारा विजयमहोत्सवायोजनसम्पादन ५१४

१९८–शक्त्युपासनात्मक–(नवरात्रानुगत) **सांस्कृतिक–आचार, एवं शक्तिपूजन**ात्मक–विजयदशम्यनुगत सांस्कृतिक–आयोजन ५१५

१९९–विजयदशमीपर्वात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन की लोकविधि का समन्वय ... ,,

२००–भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक–विजयदशमी–पर्व का माङ्गलिक संस्मरण, एवं तदनुगत महामाङ्गलिक विश्राम ५१६

उपरता चेयं क्षत्रियानुगता विजयदशमीपर्वस्वरूपमीमांसा द्वितीया
उपरतश्चात्र–'विजयदशमी' नामकं पर्व

२

श्रीः

भारतराष्ट्र के महान्–सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व

तृतीय अवान्तरप्रकरणात्मक 'दीपावली–पर्वोत्सव' की संक्षिप्ता विषयसूची

१–दीपावलीपर्व की व्यापक–उत्सवपरायणता में संस्कृतिविरोधियों का भी समावेश ५२१
२–अनात्मवादी भारतीय मतवाद, और उनकी भारतीय संस्कृति के प्रति विवशतानुगता अनुगति ,,
३–संस्कृतिविरोधी अनात्मवादी मानव के लिए भारतीय संस्कृति की कल्याणकामना ५२२
४–दीपावली के बाह्यस्वरूप की सुपरिचितता .... ,,
५–दीपावलीपर्व से अनुप्राणित अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्–पथ ५२३
६–समुद्रमन्थनाख्यान–निबन्धन चतुर्दश रत्नों का संस्मरण .... ,,
७–भारतीय सत्तातन्त्राधीश के १४ रत्न .... ,,
८–त्रैलोक्य–त्रिलोकी–रूप महान् विश्व के तीन महासमुद्र ५२४
९–समुद्रत्रयानुगता संयती–क्रन्दसी–रोदसी–त्रिलोकियों की अधिष्ठात्री महाकाली–महासरस्वती–महाकाली–शक्तियों का पावन–संस्मरण .... ,,
१०–मूलप्रकृतिरूपा महत्प्रकृति, और उसके विलक्षण त्रिगुणभाव ५२५
११–समुद्रमन्थनाधारभूत कूर्म्म, एवं कूर्म्मपृष्ठात्मिका कूर्म्मत्रिलोकी .... ,,
१२–पारमेष्ठ्य विष्णु का नित्य कूर्म्मावतार, एवं वेदशास्त्र के कूर्म्मप्रजापति .... ,,
१३–कश्यपमूर्त्ति कूर्म्मप्रजापति, एवं तदाधार पर प्रतिष्ठित स्कम्भरूप ज्योतिर्म्मय मन्दराचल ५२६
१४–मन्दराचलरूप मन्थनदण्ड के द्वारा समुद्रमन्थन, एवं मन्थनरज्जुरूप वासुकिनाग का स्वरूप–परिचय ५२७
१५–समुद्रमन्थनकर्त्ता देवता, और असुरों का स्वरूप–परिचय .... ,,
१६–समुद्रमन्थन से आविर्भूत जीवनीय अमृतरस का स्वरूप–परिचय, अमृतरससंरक्षक गन्धर्व, एवं विषाक्त नागप्राण ५२८
१७–समुद्रमन्थन से सर्वप्रथम आविर्भूत 'कालकूट' नामक महाविष, तत्पानकर्त्ता आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक नीलकण्ठ आदिदेव महादेव .... ,,
१८–पारमेष्ठ्य महासमुद्र से आविर्भूता महालक्ष्मी के साथ परमेष्ठी प्रजापति के अवग्गर्भित-सदाशिव-मूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण (विष्णु) के साथ परिणय-सम्बन्ध ५२९
१९–महालक्ष्मी के अव्यक्त-व्यक्ताव्यक्त, एवं व्यक्त-रूपों का स्वरूप-दिग्दर्शन .... ,,
२०–महालक्ष्मी के अमृतालक्ष्मी, मर्त्यालक्ष्मी-रूप दो विवर्त्त .... ,,
२१–महालक्ष्मी का अमृतालक्ष्मीरूप 'श्री' भाव, एवं मर्त्यालक्ष्मी रूप 'लक्ष्मी' भाव ५३१
२२–सदाशिव विष्णु की श्री, और लक्ष्मी नामक दो पत्नियाँ, एवं 'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०' मन्त्रार्थ का समन्वय .... ,,

२३–'श्री' लक्षणा विद्यासम्पत्ति, एवं लक्ष्मीलक्षणा भूतसम्पत्ति, और 'श्री' रूप अमृतरस का नैगमिक-स्वरूप-परिचय ५.३२

२४–'श्री' समन्विता लक्ष्मी का ही स्वस्ति-शान्ति-प्रवर्त्तकत्व .... ,,

२५–सहस्रवर्षत्रयी से प्रक्रान्ता भारतीय-विद्वत्समाज की सरस्वती-लक्ष्मी-साहचर्य्य–विरोधात्मिका महती भ्रान्ति, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक-ऐश्वर्य की उत्तरोत्तर अभिभूति ५.३३

२६–'आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्'–'न क्वचिद्प्यलंबुद्धिमादध्यात्' मूला श्री-लक्ष्मी-समन्वयात्मिका नैगमिक-निष्ठा के अभिभव से-भारतीय विद्या, एवं ऐश्वर्य्य का आत्यन्तिक पतन, एवं तन्मूलिका-भारतराष्ट्र की श्री-लक्ष्मी-विहीनता ५.३४

२७--स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य-त्रयीका अमृतविश्वत्त्व, एवं मर्त्यसूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-त्रयी का मर्त्यविश्वत्त्व .... ,,

२८--अमृतविश्वानुबन्धनी श्रीरूपा महासरस्वती, मर्त्यविश्वानुबन्धनी कमलारूपा महालक्ष्मी, एवं उभयसंयोजिका कालकलनात्मिका-कालमाता-महाकाली के चिरन्तनेतिवृत्त का समन्वय ,,

२९--'पद्मालया' श्रीः, और 'पद्मासना' लक्ष्मी, एवं पद्म का नैगमिक स्वरूप-दिग्दर्शन ५.३६

३०--ब्रह्माण्डस्वरूपसमर्पक-आपोमय-पारमेष्ठय-पद्मालय, एवं तत्र प्रतिष्ठिता पद्मालया श्रीः ,,

३१--अङ्गिराधारागर्भिता भृगुधारा से समन्विता आम्भृणी रूपा लक्ष्मी, एवं भृगुधारागर्भिता अङ्गिराधारा से समन्विता सरस्वतीरूपा श्रीः, तथा दोनों-पारमेष्ठयधाराओं का ओतप्रोत–भाव सम्बन्ध ... . ,,

३२--आङ्गिरसी श्रीलक्षणा सरस्वती के द्वारा शब्दसृष्टि का, एवं भार्गवी–लक्ष्मीलक्षणा आम्भृणी के द्वारा अर्थसृष्टि का प्रादुर्भाव, तथा शब्दार्थ का तादात्म्य--लक्षण-औत्पत्तिक सम्बन्ध .... ,,

३३–शारदात्मिका श्री से विहीना लक्ष्मी का जड़त्त्व, एवं तदुपासक जड़प्रज्ञ मानवों की रूक्षा कर्कशा-मदमानदम्भान्विता-अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी ५.३७

३४–सप्तपुरुषात्मक पुरुषप्रजापति की अमृतरसात्मिका श्री से समन्विता लक्ष्मी का भद्रवाङ्मयत्त्व ५.३८

३५–अमृतरसश्रीसमन्वित देवताओं का अमरत्त्व, एवं विमोहिनी विष्णुमाया से विमुग्ध, अतएव अमृतरसवञ्चित जड़भूतलक्ष्मी के अनुगामी असुरों का आत्यन्तिक-पराभव .... ,,

३६–अमृतरस से परिपूर्ण घटों से महालक्ष्मी का अमृताभिषेक करते रहने वाले ऐरावतप्रमुख दिग्गज ५.३९

३७ दिग्गजानुबन्धी मातरिश्वात्मक वराह तत्त्व, एवं उसके आदि-यज्ञ-श्वेत-ब्रह्म-एमूष-वराह नामक, पञ्चपिण्डानुगत स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-चान्द्र-भौम-विवर्त्त .... ,,

३८–अमृतरसपरिपूर्ण द्रोणकलश, एवं तदभिषेककर्त्ता आठ दिग्गज ५.४१

३९–भूतसम्पत्तिरूपा महालक्ष्मी के साथ प्राणैश्वर्य्यरूपा श्री के समन्वय की अभ्यर्थना, एवं श्रीविहीना लक्ष्मी के सहयोगी गन्धर्व-अप्सरा-वारुणी आदि आसुरभावों से राष्ट्रपरित्राणकामना ,,

४०–श्रीलक्षणा शारदा, एवं लक्ष्मी के समन्वय-प्रसङ्ग का उपराम .... ,,

४१–पद्मासना महालक्ष्मी का पद्मासन भूपिण्ड, एवं तत्स्वरूप-परिचय ... ५.४२

४२–पञ्चभू ब्रह्मा से समन्वित पाञ्चभुवनकोशरूपा मर्त्यत्रिलोकी, एवं तत्र व्याप्ता शक्तित्रयरूपा महालक्ष्मी ५४२

४३–आत्मबुद्धिसमन्वित सूक्ष्मजगत् का **परलोकत्त्व**, एवं मनःशरीरसमन्वित स्थूलजगत् का **इहलोकत्त्व**, तथा उभयलोकात्मक अभ्युदय-निःश्रेयस् भाव ५४३

४४–आत्मग्रहग्रस्त जगन्मिथ्यात्त्ववादी वेदान्तियों का काल्पनिक निःश्रेयस्, एवं शून्यवादग्रहग्रस्त शून्यवादी लोकायतिकों का काल्पनिक निर्वाण, तथा उभयसमन्वयाभाव से भारतराष्ट्र का सर्वात्मक पतन .... ,,

४५–महन्मूलक-आत्मभावप्रधान श्रीभाव, एवं प्रज्ञानमूलक मनोभावप्रधान लक्ष्मीभाव ५४४

४६–आत्मश्रीरूपा शारदा के आधार पर प्रतिष्ठिता मनोलक्ष्मीरूपा कमला, एवं मनःप्रधान वैश्यवर्ग, तथा तत्प्रधान लक्ष्मीपूजनात्मक दीपावलीपर्व .... ,,

४७–'सक्तुमिव तितउना पुनन्तः०' मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय, एवं तन्मूलक-'**यत्र धीरा मनसा वाचक्रत**' रूप श्री-लक्ष्मी-समन्वयात्मक-आत्मश्री, एवं लोकलक्ष्मी-भावों का दिग्दर्शन ५४५

४८–वाङ्मयी लक्ष्मी के अनुग्रह के लिए तदनुगत श्रम, तन्मूलक तपोरूप परिश्रम, तन्मूलक सन्तपनरूप आश्रम, एवं सर्वमूलभूत आत्मप्रतिष्ठात्मक अध्यवसाय की सापेक्षता ५४६

४९–मनोवशवर्त्ती, अतएव धृतिगुणशून्य अधीर-अनुकूलतावादी-पुरुषार्थशून्य-मानवों की व्यग्रता, एवं स्थिरलक्ष्मी की पराङ्मुखता .... ,,

५०–ऐश्वर्य्य-यशः-वञ्चिता, भातिसिद्धा अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी के आकर्षण से राष्ट्र की वास्तविकी-सत्तासिद्धा-लक्ष्मी-कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य-कर्म्मत्रयी का उत्तरोत्तर अभिभव, एवं तदभिभूति के दुष्परिणाम ५४८

५१–बुद्ध्यनुगत-पारस्परिक-सख्यभावमूला सुमति, और लक्ष्मी का अनुग्रह ....

५२–वैय्यक्तिक-स्वार्थमूला कुमति से राष्ट्रलक्ष्मी का विलयन ... . ,,

५३–षट्-महिमान्वित वाक्तत्त्व, और '**वाचमक्रत**' मूला लक्ष्मी .... ,,

५४–मनःप्राणगर्भित वाङ्मय षोडशीप्रजापतिकी सर्वरूपता .... ,,

५५–अर्द्धनारीश्वर प्रजापति की **परा-परावरा**-एवं **अवरा** नाम की शक्तित्रयी, और तदनुप्राणित विश्वस्वरूपसमन्वय ५४९

५६–उसी पर उसी से उसी की विश्वरूपता का तात्त्विक समन्वय .... ,,

५७–विश्वेश्वर का आत्मभाव, और विश्वभाव .... ,,

५८–विश्वात्मा से पञ्चकल विश्व का आविर्भाव, और उसकी प्रणववाचकता ५५०

५९–उ-अ-अच्, और **वाक्**, तन्मूलक **वौक्**, तदनुगत वौषट्, और वषट्कार, तथा उसकी देवपात्रता .... ,,

६०–मनःप्राणगर्भिता ब्रह्माग्निरूपा वाक्, एवं तत्संघर्ष से आपोमय पारमेष्ठ्य-सरस्वान्-समुद्र का आविर्भाव ५५१

६१–विश्व की आपोमयता, एवं तन्मूलभूता वाग्देवी का सर्वाधिष्ठातृत्त्व ५५२

६२–स्वायम्भुवी अनादिनिधना वाग्देवी की सर्वरूपता .... ,,

५५३

६३–वाङ्मय विश्वात्मा, एवं वाङ्मयी विश्वशक्ति का अचिन्त्यस्वरूप, एवं मानवप्रज्ञा की तटस्थता ५५३

६४–महिमामय प्रजापति के वाङ्मय कर्म्म की त्रिभावगर्भिता पञ्चभावात्मकता का समन्वय ५५४

६५–त्रिपर्वगर्भित पञ्चपर्वों की (प्रत्येक पर्व की) त्रिपर्वात्मकता, एवं मानवानुगत त्रिपर्वगर्गित-पञ्चपर्वभावों के विविध विवर्त्त .... „

६६–पञ्चपर्वात्मक वाङ्मय विश्व के पाँचों विश्वपर्वों की (प्रत्येक पर्व की) काली-सरस्वती-लक्ष्मी-रूपता, एवं व्यष्टिरूपेण शक्तित्रयी का समन्वय ५५५

६७–सर्वात्मिका अव्यक्ता महाकाली, शब्दात्मिका व्यक्ताव्यक्ता महासरस्वती, एवं अर्थात्मिका व्यक्ता महालक्ष्मी, नाम की तीन विश्वशक्तियों का आगमानुगत-ध्यानात्मक संस्मरण ... ५५७

६८–समष्ट्यात्मक अमृतविश्व के तीन अमृतपर्व, एवं तदनुगता काली-लक्ष्मी-सरस्वतीरूपा शक्तित्रयी का समन्वय ५५८

६९–समष्ट्यात्मक मर्त्यवश्व के तीन मर्त्यपर्व, एवं तदनुबन्धिनी ही काली-सरस्वती-लक्ष्मीरूपा-शक्तित्रयी का समन्वय .... „

७०–ममष्ट्यात्मक अमृतमर्त्यविश्व के तीन अमृतमर्त्यपर्व, एवं तदनुगता महासमष्टिलक्षणा काली–सरस्वती–लक्ष्मीरूपा शक्तित्रयी का समन्वय ५५९

७१–पञ्चपर्वात्मक महाविश्व के **ब्रह्माग्नि–सावित्राग्नि--गायत्राग्नि,** रूप तीन अग्निपर्व, एवं **ब्रह्मणस्पतिसोम, वृत्रसोम,** नामक दो सोमपर्व ५६०

७२–इन्द्र के वज्रप्रहार से वृत्रासुर का वध, और उसके दिव्य--आसुर--भावों से क्रमशः चन्द्रमा, और अशनायारूप जाठराग्नि का आविर्भाव .... „

७३–‘**पलितवाम**’ नाम से प्रसिद्ध ब्रह्माग्नि के ब्रह्मौदनरूप सावित्र–गायत्र–विवर्त्त, एवं गायत्राग्नि के प्रवर्ग्य से आविर्भूत आप्त्याग्निरूप तीन–‘अग्निभ्रातरः’ .... „

७४–सत्याग्नि--देवाग्नि--भूताग्नि–मूलक त्रिसत्यवाद, एवं अन्न–अन्नाद की सर्वव्याप्ति का समन्वय ५६१

७५–वर्त्तमानयुग का नितान्त भ्रान्त-प्रकृतिविरुद्ध–लोकानुमन्त्रणानुबन्धी श्रीमान्, और श्रीमती--लक्षण–पार्थक्य, एवं तन्मूलक पारिवारिक सामाजिक, तथा राष्ट्रीय संघठन का मूलोच्छेद „

७६–भारतीय सांस्कृतिक परम्परानुगत अभिन्नत्व, एवं तन्मूलक कुलवृद्धानुगत–समाजवृद्धानुगत–राष्ट्रवृद्धानुगत अभिन्न आमन्त्रण–व्यवहार ... . „

७७–पञ्चपर्वात्मक विश्व की अन्नादभावानुगता त्रिपर्वता का समन्वय ५६२

७८–तात्त्विक–नित्य–वेद के पाँच विवर्त्त, एवं वेदात्मक विश्व .... „

७९–**संयती–क्रन्दसी–रोदशी**--त्रैलोक्यात्मक–त्रिपर्वा महाविश्व का स्वरूप–समन्वय ५६३

८०–शक्तित्रयानुगता, द्विशक्तिगर्भिता महालक्ष्मी, एवंतत्प्रधान मनोनिबन्धन दीपावलीपर्व का संस्मरण तथा तन्मूलक-‘मनसा वाचमकृत’ का समन्वय ....

८१–ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिप्रधान विश्व के-स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी-नामक तीन महिमाविवर्त्त, तदनुगत ब्रह्म-क्षत्र-विट्-वीर्य्य, एवं तत्स्वरूपसंरक्षिका महाकाली--महासरस्वती--महालक्ष्मीरूपा तीन शक्तियाँ .... „

८२–पार्थिवपुष्टिसमन्वित-मनःप्रधान-वैश्यवर्ण, एवं तदनुगता अर्थशक्ति, तथा तत्प्रधान दीपावली नामक राष्ट्रीय पर्व ५६४

८३–महालक्ष्मी के आगमानुगत स्वरूप का उपक्रम, एवं आगमीय ध्यानमन्त्र .... ,,

८४–ध्यानमन्त्रों का अक्षरार्थसमन्वय ५६५

८५–आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र, एवं तदनुगत प्रतिद्वन्द्वी दैव, तथा आसुरभाव .... ,,

८६–दैवघन हिरण्मय सूर्य्य, एवं हिरण्यतेजोमयी हिरण्यवर्णा काञ्चनक्रान्तिसन्निभा पद्मासना महालक्ष्मी के नैदानिक स्वरूप का समन्वय .... ,,

८७–महालक्ष्मी **कमला**, एवं तत्प्रतिद्वन्द्विनी महा अलक्ष्मी **धूमावती**, तथा दोनों के नाक्षत्रिक-**रोहिणी**, **ज्येष्ठा**-विवर्त्तों का समन्वय, एवं कमलानुगता **सुखरात्रि**, और धूमावत्यनुगता **दारुणरात्रि** ५६६

८८–विश्वलक्ष्मीरूपा कमला, तथा विश्व-अलक्ष्मीरूपा धूमावती के विभिन्न स्वरूपों का पार्थिव जगत् में साक्षात्कार ५६७

८९–आत्मबुद्धिसमन्विता श्री, तथा मनःशरीरसमन्विता लक्ष्मी, दोनों के समन्वय से भाग्यलक्ष्मी की पूर्णता, एवं श्रीविहीना लक्ष्मी से भाग्यश्री का क्रमिक अभिभव .... ,,

९०–श्रीविहीना लक्ष्मी के अनुगामी वित्तलोलुप वैश्यों के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतराष्ट्रलक्ष्मी की पराङ्मुखता ५६८

९१–श्री-लक्ष्मी-संसाधक-स्वस्त्ययन-कर्म्मों की विस्मृति, तत्स्थाने च अस्वस्तिरूप कुलक्षणों का प्राचुर्य्य, एवं तद्द्ुष्परिणामस्वरूप राष्ट्र के ऐश्वर्य्य का विलयन .... ,,

९२–प्रजापति-ऋषि-पितर-गन्धर्व-लोकपाल-देव-असुर–राक्षसादि से वन्दिता उपस्तुता सर्व्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी का देवेन्द्र की प्रार्थना से भूतल पर आगमन, एवं तदनुग्रह से देवाधिपति इन्द्र की निरापदता ५६९

९३–वैकुण्ठनाथ शेषशायी भगवान् विष्णु की प्रेरणा से भूतल पर समागता महालक्ष्मी के मनोभावों की अभिव्यक्ति, एवं तन्मूलक त्याज्य स्थानों का महालक्ष्मी के द्वारा स्वरूपोद्घाटन (लक्ष्मी के त्याज्य स्थानों की परिगणना) .... ,,

९५–मेरुपृष्ठ पर समासीन नारायण के प्रश्न करने पर महालक्ष्मी के द्वारा स्वनिवासयोग्य (स्वस्त्ययनकर्म्मनिबन्धन, अतएव) महामाङ्गलिक स्व-आवास-निवास-स्थानों का स्वरूप–विश्लेषण (लक्ष्मी के संग्राह्य स्थानों की परिगणना) ५७२

९६–महाभारतीय प्रसङ्ग, एवं तद्द्वारा लक्ष्मी के त्याज्य, तथा संग्राह्य स्थानों की पावगाथा ५७४

९७–महालक्ष्मी–आराधन–पूजनात्मक–दीपावलीपर्व के सापेक्ष–क्रत्वर्थरूप–अङ्गकर्म्मों का स्वरूपोपक्रम ५७९

९८–लक्ष्मीपति विष्णु भागवान् से सम्बद्धा एकादशी के षड्विंश महिमाविवर्त्त, एवं आषाढशुक्लपक्षीया 'पद्मा' एकादशी, तथा कार्तिकशुक्लपक्षीया '**प्रबोधिनी**' एकादशी .... ,,

९९–क्रान्तिवृत्तीय-सम्वत्सरचक्रानुगता-देवासुरप्रतिद्वन्द्विता, एवं देवता, तथा असुरों की जाग्रत्-सुषुप्ति-अवस्थाओं का विपर्य्यय ५८१

१००–मासचतुष्टयात्मक वर्षाकाल, तदनुगत असुरप्राणप्राधान्य, एवं तदनुगत इन्द्राग्निप्रमुख देवताओं की सुषुप्ति, तथा सुषुप्ति की उपक्रमभूता 'पद्मा' नामकी आषाढशुक्लपक्षीया एकादशी–देवशयनी ५८१
१०१–देवशयनकालात्मक वर्षाकाल में देवप्राणानुगता आस्तिक प्रजा के दिव्यकर्म्मों की तटस्थता का प्राकृतिक-समन्वय ५८२
१०२–कार्तिकशुक्लैकादशी, और देवजागरण, एवं देवजागरणातिशयमूलिका प्रबोधिनी-एकादशी का महामहित्त्वस्थापन .... ,,
१०३–स्वतन्त्र भारत की धर्म्मनिरपेक्षता से भारतीय संस्कृति-धर्म्म-सापेक्ष महान् माङ्गलिक सांस्कृतिक-आचार-आयोजनों की अन्तर्मुखता, इति नु महती विडम्बना वर्त्तमान-स्वतन्त्रसत्तायाः ५८३
१०४–देवजागरण की मूलप्रतिष्ठा श्रीसमन्विता-लक्ष्मी का जागरण, एवं कार्त्तिकी अमावास्या ,,
१०५–धूमावती-रूपा ज्येष्ठालक्षणा अलक्ष्मी के सहयोगी वरुण, और यमदेवता, तथा कमलारूपा रोहिणी-लक्षणा लक्ष्मी के सहयोगी इन्द्र, और कुबेरदेवता ५८४
१०६–इन्द्र-कुबेर-लक्ष्मीरूप दिव्यभाव, एवं वरुण-यम-अलक्ष्मीरूप असुरभाव, तथा दीपावलीपर्वानुगत '१३-१४-३०-१-२' रूप तिथि-पञ्चक में दोनों भावों का सह सङ्क्रमण .... ,,
१०७–**धनत्रयोदशी**, और अलक्ष्मीनिर्गमनप्रयुक्त निर्ऋति का स्वागत, तथा तदनुबन्धी यम-दीपदान ५८५
१०८–आगच्छत्-लक्ष्मीभाव के सम्मानोपलक्ष में नवीन पात्रक्रय, एवं धनत्रयोदशी .... ,,
१०९–तैलमर्द्दन-स्वच्छ जलस्नान, कृष्णवस्त्र-परिधानादि कर्म्मों से समन्विता कार्त्तिककृष्णचतुर्द्दशी का आसुरभावानुगत-'**नरकचतुर्द्दशीत्त्व**', एवं रूपज्योतिरनुगत-ऐन्द्र-दैवभावानुगत-'**रूपचतुर्द्दशीत्त्व**', तथा कनिष्ठा दीपावली (छोटी दिवाली) ५८६
११०–वरुणद्वारा प्रतिमूर्च्छित इन्द्रात्मक तैल, वरुणद्वारा प्रतिमूर्च्छित अग्न्यात्मक घृत, एवं तदनुगत वारुण-ऐन्द्र-आग्नेयादि भावों से दीपावली-अनुगत दैवासुरप्राणों का सम्मानातिथ्य .... ,,
१११–अमोत्तरा प्रतिपत् (पड़वा), एवं अन्नकूट महोत्सव ५८७
११२–मतवादानुगत '**गिरिगोवर्द्धन पूजनमहोत्सव**' की प्रधानता, एवं निगमनिष्ठा के अभिभव से धर्म्मानुगत '**इन्द्रपूजनमहोत्सव**' की विस्मृति .... ,,
११३–इन्द्रात्मक गौतत्त्व, एवं तदनुगत उत्सव की गोवर्द्धनोत्सवता .... ,,
११४–लक्ष्मीशक्ति के **प्राणलक्ष्मी, भूतलक्ष्मी** रूप दो महिमाविवर्त्त, एवं सौर इन्द्रप्राणात्मक गौतत्त्व का नैगमिक स्वरूप-समन्वय ५८८
११५–भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक '**गोपाष्टमीपर्व**', एवं तदनुबन्धी राष्ट्रप्रतिष्ठात्मक–गौपशु ,,
११६–गौपशु की प्रतिष्ठारूप गौप्राण की विश्वव्यापकता के दर्शन ५८९
११७–महान् विश्व का गौमय-सूर्य्योर्ध्वस्थित व्रजधाम, एवं गोरक्षक गोलोकधामवासी पारमेष्ठ्य विष्णु .... ,,
११८–विराड्मूर्त्ति सूर्य्यनारायण का मूलप्रतिष्ठात्मक गौप्राण ५९०
११९–सौररश्मिमण्डलानुगत सहस्रसंख्यामित गौप्राण .... ,,

१२०–दिव्य-सौर-गौप्राणप्रधान गौपशु, एवं तद्गत गोप्राण का सर्वदेवमयत्त्व ५६०
१२१–रुद्रमाता–वसुकन्या–आदित्यभगिनी–जीवनीयरसप्रदात्री अमृतनाभि गौमाता, और उसका 'अघ्न्यात्त्व' ५६१
१२२–गौपशु से अनुप्राणित गौतत्त्व के स्वरूप-विश्लेषक कतिपय वेदमन्त्र ५६२

गोवर्द्धनोत्सवानुगता–गोस्वरूपात्मिका–'नहुष–च्यवन संवादरूपा' पावनगाथा का माङ्गलिक संस्मरण

(सर्वात्मना श्रद्धेय, तथा आचरणीय)

१२३–त्रैलोक्यत्रिलोकी की प्रतिष्ठारूप गौप्राण की प्रतिमूर्त्ति गौमाता के पावन स्वरूप का संस्मरण ५६३
१२४–त्रैलोक्य-प्रतिष्ठारूप गौपशु के प्रति शासनतन्त्र का अभिनिवेशमूलक आक्रोश, एवं राष्ट्रीय गौधन के प्रति इस की साम्प्रदायिकतारूपा महती भ्रान्ति ५६४
१२५–राजर्षि नहुष, तथा महर्षि च्यवन की संवादभाषा के माध्यम से धर्म्मराज युधिष्ठिर, एवं धर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म के गौ के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्नोत्तर ... ४६५
१२६–गङ्गायमुना के प्रचण्ड-प्रवाहात्मक सङ्गमस्थान में महर्षि च्यवन के द्वारा द्वादश वर्षीय दुष्कर तप का अनुगमन ... ... ,,
१२७–सङ्गमजले निमज्जित च्यवन का आधिदैविक गङ्गा-यमुना-देवता के द्वारा संरक्षण, एवं हिंस्रक जल-जन्तुओं का ऋषि के प्रति स्नेहार्पण ... ... ,,
१२८–मत्स्योपजीवी निषादों के द्वारा तत्सङ्गमजल में जालप्रक्षेप के द्वारा जलजन्तुओं का विकर्षण, एवं हर्षनिनाद ५६६
१२९–जाल से आकर्षित महर्षि च्यवन पर दृष्टिपात से निषादों का विकम्पन, एवं ऋषि का ऊर्ध्व निःश्वसन ... ... ,,
१३०–विकम्पित भयसंत्रस्त निषादों की ओर से क्षमा-याञ्चा, एवं ऋषि के प्राणोत्सर्गरूप भयावह उद्गार ५६७
१३१–प्रतीकार में असमर्थ निषादों का भारतीय सम्राट् नहुष की शरण में गमन, एवं तत्र इस भीषण घटना का निवेदन ५६८
१३२–घटनाश्रवणमात्र से विकम्पित सम्राट् का अमात्य–पुरोहित-सहित आगमन, एवं ऋषि के प्रति प्रणतभाव से अर्घ्यप्रदान ... . ,,
१३३–नहुष की प्रार्थना पर ऋषि के द्वारा स्वमूल्याङ्कन–माध्यम से निषादों के परितोष की कामना–भिव्यक्ति ... ... ,,
१३४–सम्राट् के द्वारा निषादों के सहस्रमुद्रात्मक मूल्यप्रदान का विनिर्णय.... ... ५६९
१३५–भूतासक्त नहुष को ऋषि के द्वारा उद्बोधन प्रदान, एवं विचारपूर्वक मूल्याङ्कन–विनिर्णय का आदेश ... ... ,,
१३६–नहुष के द्वारा लक्षमुद्रा का निर्णय, एवं पुनः ऋषि के द्वारा अमात्यबुद्धि के माध्यम से विचार का आदेश ... . ,,

१३७–कोटिमुद्राप्रदान का निर्णय, एवं पुनः ऋषि के द्वारा ब्राह्मणों की बुद्धि के माध्यम से विचार का आदेश ६००
१३८–ब्राह्मणप्रज्ञा के परामर्श से नहुष के द्वारा निषादों को साम्राज्यप्रदान की घोषणा, एवं पुनः ऋषि के द्वारा ऋषिप्रज्ञा के माध्यम से विचार का आदेश ६०१
१३९–ऋषि के मूल्याङ्कन में असमर्थ बन जाने वाले भारतीय सम्राट् का ऋषिभय से आत्यन्तिक विकम्पन ६०३
१४०–नहुष के पुण्यादृष्ट से तत्र महर्षि 'गविजात' का आगमन, एवं तद्द्वारा भूतलिप्सा से नहुष का उद्बोधन ... ... ,,
१४१–गविजात महर्षि के द्वारा च्यवनऋषि के मूल्याङ्कन का विनिर्णय ६०५
१४२–उपयोगितावादमूलक अर्थवाद, एवं तद्द्वारा भारतीयआचारों के प्रति बुद्धिवादियों के काल्पनिक व्यामोहन ६०६
१४३–क्रय-विक्रयात्मक मूल्याङ्कन का आधारभूत क्षरजगत्, एवं तद्विमोहन से भारतीय सांस्कृतिक-परम्पराओं का उत्तरोत्तर अभिभव .... ,,
१४४–प्रकृतिसिद्ध ब्रह्म–क्षत्र–विट्-भावानुगत चातुर्वर्ण्य की विश्वपदार्थ–व्यापकता, एवं तन्मूलक भारतीय सांस्कृतिक-उपाय ६०७
१४५–प्रकृतिसिद्ध व्रजधामात्मक 'गोलोक', एवं उसकी प्राणरूपता ६०८
१४६–प्राणगौस्वरूप के माध्यम से गौमाता का यशोवर्णन ... . ,,
१४७–महालक्ष्मी का गोमण्डल में आगमन, एवं गौमाताओं की महालक्ष्मी से प्रश्नात्मिका जिज्ञासा ६०९
१४८–महालक्ष्मी के द्वारा गौमाताओं का समाधान, एवं गौमाताओं की लक्ष्मी के प्रति अवहेलना ६१०
१४९–गौमाताओं से उपेक्षिता लक्ष्मी का आक्रोशात्मक अभिनिवेश, एवं तत्प्रति गौमाताओं की आत्यन्तिक उपेक्षा .... ,,
१५०–नितान्तोपेक्षिता लक्ष्मी की गौमाताओं के प्रति शरणागति, एवं गौकृपा से लक्ष्मी का गोमय-गोमूत्र में अन्तर्विलयन ६११
१५१–गौमाहात्म्य–वर्णनात्मक महाभारतीय सन्दर्भ से संगृहीत पावन संस्मरण ... ६१३
१५२–नहुष के द्वारा गौ से ऋषि च्यवन का क्रय, एवं ऋषि की आत्मतुष्टि ... ६१६
१५३–महर्षि च्यवन के द्वारा नहुष के प्रति गोमाहात्म्यवर्णन ६१७
१५४–शुचिभावापन्न निषादों का महर्षि च्यवन के प्रति साप्तपदीन–मैत्री का उद्घोष, एवं तत्प्रति प्रतिग्रह–प्रदान कामना ६१८
१५५–निषादों के द्वारा महर्षि च्यवन का प्रतिग्रह–ग्रहण, एवं माङ्गलिक–पावनगाथा का उपराम ६२०
१५६–राष्ट्रलक्ष्मी–लक्षणा गौमाता की ओर जनतन्त्र का ध्यानाकर्षण, एवं नचिकेता का उद्बोधनसूत्र ६२२
१५७–सत्तासापेक्ष आज के सांस्कृतिक विद्वान्, उनका चाटुकारितापूर्ण व्यामोहन, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव.... ... ... ,,
१५८–वेदशास्त्र, तथा तत्प्रवर्त्तक महर्षियों के प्रति वर्त्तमान रिसर्चस्कॉलरों (Research Scholars.) के अनर्गल प्रलाप ६२३

१५६–गौपशुसमन्वित–गौप्राण से युक्ता 'बृहदुक्थविद्या' के द्रष्टा महर्षियों की दृष्टि से दृष्ट वेदशास्त्र के प्रति भारतीय वर्त्तमान वेदभक्तों की भ्रान्त धारणाएँ, एवं विज्ञानशब्दाकर्षणजनिता-व्यक्तित्त्व-विमोहनमूला–तत्प्रज्ञाओं के वाग्विजृम्भण ६२४

१६०–लोकैषणात्मिका–सत्तासापेक्षतामूला चाटुकारिता से समुत्पन्ना स्वरूपविमोहनवृत्ति के निग्रह से भारतीय संस्कृति, साहित्य के मौलिक–स्वरूप का अभिभव .... ,,

१६१–परप्रमाणपत्रनिरपेक्षा–स्वतःप्रमाणभूता भारतीय संस्कृति का स्वानुगत महामहिमत्त्व ६२५

१६ –सम्पूर्ण–अशुचिभावनिरोधक–विनाशक, एवं दिव्य शुचिभाव प्रवर्त्तक गौपशु के अवरोधक आज के सुसभ्य नगरों की सुसभ्यता से उत्पीड़ित राष्ट्र का गौवंश, एवं तदुत्पीड़न से राष्ट्रलक्ष्मी का सर्वनाश .... ,,

१६३–विज्ञानसिद्ध तत्त्वाधार पर प्रतिष्ठिता भारतीय संस्कृति पर आज के सुसभ्यों के द्वारा साम्प्रदायिकता का आरोप, एवं स्वयं इन सुसभ्यों का भारतराष्ट्रविरोधी तत्त्वों से समालिङ्गन, एवं उनका अन्धानुकरण.... ... . ,,

१६४–राष्ट्रीय गोधन के सम्बन्ध में केवल चिकित्स्वान्, प्रज्ञाशील, राष्ट्रप्रेमियों के प्रति ही महर्षि का उद्बोधनसूत्र ६२६

१६५–वर्त्तमान स्वतन्त्र–सत्तातन्त्र के प्रमुख सत्ताधीशों के राष्ट्रीय जागरण की मङ्गलकामना ,,

१६६–इन्द्रपूजनमहोत्सवानुगत–'**मार्गपालीपूजन**', और कार्त्तिकी प्रतिपत् ... ,,

१६७–आधिदैविक प्राणमयी गौ की नैदानिक–प्रतिमा, एवं मार्गपाली-महोत्सव ६२७

१६८–अच्छिद्रपवित्र-सौर-आपोरूप-वेनात्मक-ज्योतिर्म्मय-गौप्राण से उत्पन्न कुश (दर्भ), एवं तन्मयी मार्गपालीप्रतिमा .... ,,

१६९–गौप्राणमयी रक्षादेवी, एवं तन्माध्यम से गौप्रधान पशुओं का पूजन, तथा तदनुबन्धी मार्गपाली-महोत्सव की इतिकर्त्तव्यता ६२८

१७०–प्रतिपत् की रात्रि, एवं बलिपूजनमहोत्सव, तथा तदन्ते च द्यूतक्रीड़ानुगति ६२९

१७१–अक्षानुगता, सर्वथैव निन्द्या द्यूतक्रीड़ा, एवं महान् कितव प्रजापति के साथ द्यूतक्रीड़ा का आदेश ६३०

१७२–वस्तुक्रयविक्रयात्मक वाणिज्य, कृषि, गोरक्षा-लक्षण सत्तासिद्ध स्वधर्म्म से अत्यन्त विरुद्ध वर्त्तमान-युगीय भातिसिद्ध द्यूतकर्म्म (लोकप्रसिद्ध सट्टा) से भारतराष्ट्र की सत्तासिद्धा लक्ष्मी का अभिभव ... . ,,

१७३–द्यूतकर्म्म के अचेतन–जड़साधनात्मक द्यूत, एवं चेतन साधनात्मक **समाह्वय**, नामक दो अवान्तर विभेद, तथा उभयभेदात्मक द्यूतकर्म्म से भद्रप्रजा का आत्यन्तिक–उत्पीड़न, और तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु के उद्बोधनसूत्र ६३१

१७४–प्रतिपदुत्तरा द्वितीया तिथि, और यमराजपूजनमहोत्सव ६३३

१७५–**धर्म्म**, और **यम**–स्वरूप-परिचय, यमदंष्ट्रानुगत कार्त्तिकमास, एवं यमद्वितीया-पर्व .... ,,

१७६–अम्भः-मरीचिः-श्रद्धा-मरः-नामकी अप्तत्त्वचतुष्टयी, एवं मरीचि–अनुगता यमुना, यम–यमी, और तदनुगत **भ्रातृद्वितीया–(भाईदोज)–पर्व** ६३४

१७७–निर्ऋति-यम-वरुण-इन्द्र-गौ-दानवेन्द्रबलि-चित्रगुप्त-यमी-यमदूत-आदि आदि प्राणों की परितुष्टि से सम्बद्ध-सापेक्ष अङ्गकर्म्मों के इतिवृत्त का उपराम, एवं दीपावलीपर्व ६३५

१७८–अलमतिपल्लवितेन पापकथाप्रसङ्गेन ६३६

१७९–अमावास्यातिथि से सम्बद्धा दीपावली, और दीपाली .... ,,

१८०–दीपावलीपर्वानुगता दीपज्योतिः, एवं अग्निक्रीड़ा (आतिशबाजी) के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न .... ,,

१८१–विदेहजनक के युग से अनुप्राणित एक 'ब्रह्मोद्य' प्रसङ्ग .... ,,

१८२–प्रजापति के तप से उत्पन्न सात अन्न, एवं पाँचवें ज्योतिरन्न के अवान्तर पाँच विवर्त्त ६३७

१८३–पञ्चविध–भूतज्योतिर्विवर्त्त, एवं ज्योतिषांज्योतिः — — — ,,

१८४–आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-रूप तीन ज्योतिर्विवर्त्त — — ,,

१८५–भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा ज्योतिर्विवर्त्त का स्वरूपदिग्दर्शन — — ६३८

१८६–लौकिक उदाहरण–माध्यम से पञ्चज्योतिर्विवर्त्त का समन्वय — — ,,

१८७–पञ्चज्योतिर्विवर्त का सूर्य्यज्योति में अन्तर्भाव — — — ६३९

१८८–देवदेवता, तथा असुरदेवता–तत्त्वों का स्वरूपपरिचय — — ६४०

१८९–इन्द्रः सर्वा देवताः, एवं अग्निः सर्वा देवताः, का समन्वय — — ,,

१९०–इन्द्र-वरुणात्मक अहोरात्र, एवं देवासुरप्रतिस्पर्द्धा — — ६४१

१९१–कार्त्तिकी अमावास्या की रात्रि, एवं तत्र सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–ज्योतित्रयी का आत्यन्तिक अभिभव ,

१९२–आकाशीय दीपदान, पार्थिव दीपदान, उल्मुक प्रज्ज्वलन, अग्निक्रीड़ा, आदि के द्वारा कृत्रिम ज्योतिर्भावों की अनुगति, एवं ज्योतिःसम्पादक दीपावलीपर्व — — ३४२

१९३–श्रीविहीना–अलक्ष्मीरूपा--उल्लूवाहिनी लक्ष्मी, और केवल वित्तपरायणों के द्वारा मध्यरात्रि में तत्पूजनाह्वान — — — — ,,

१९४–श्रीसमन्विता लक्ष्मीरूपा–पद्मासना लक्ष्मी, एवं उसका अभ्युदय–निःश्रेयस्--परायणों के द्वारा प्रदोषात्मक सूर्य्यसत्ताकाल में हीं आराधन–अर्च्चन–वन्दन — — ६४३

१९५–प्रदोषसमयानुगता–कुबेरपूजनसमन्विता महालक्ष्मी के पूजन की इतिकर्त्तव्यता, और दीपावली-पर्वमहोत्सव — — — — — ,,

१९६–ऐन्द्र-प्राच्यदेश, एवं वारुण-प्रतीच्यदेश, तद्वा प्राच्यदेशों से रुष्टा भाग्यलक्ष्मी के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक प्रश्न ६४४

१९७–लक्ष्मीदेवी के श्वसुरगृह (पतिगृह), तथा पितृगृह (उत्पत्तिस्थान) का स्वरूपदिग्दर्शन ... ,,

१९८-प्राच्यदेशाधिपति इन्द्र के प्रज्ञापराध से लक्ष्मी का पितृगृह में पलायन, एवं नारायणानुग्रह से उसका पुनरागम, तथा तत्सम्बन्धी तात्त्विक-आख्यान ६४५

१९९–देवासुरसंघ-द्वारा समुद्रमन्थन, तत्परिणामस्वरूप लक्ष्मी का पुनः प्रादुर्भाव, एवं देवेन्द्र की सर्वसमृद्धि ... ... ,,

२००–तपन--सन्तपन--श्रम–परिश्रमात्मक अध्यवसायमूलक मन्थनकर्म्म से आविर्भूता लक्ष्मी का नामभक्ति–परायण-अकर्मण्यों के द्वारा वर्त्तमानयुग में पुनः प्राच्य भारतराष्ट्र से पितृगृहात्मक वारुणदेशों में पलायन ६४६
२०१–प्राच्य-भारतराष्ट्र का यज्ञविष्णु-सम्बन्धेन लक्ष्मी के लिए पतिगृहत्त्व, एवं यज्ञात्मक विष्णु के आराधन से बञ्चित भारतराष्ट्र पर साध्वी लक्ष्मी का प्रकोप ४४७
२०२–श्रीविहीना–भारतराष्ट्र की वर्त्तमान दीवाली, एवं तत्प्रति संस्कृतिनिष्ठा के अनन्यप्रतिष्ठारूप ऋषि–प्राण के द्वारा भारतराष्ट्राभ्युदयार्थ माङ्गलिक उद्बोधन ... ... ”
२०३–प्राच्य भारतशरीर की तैल–घृत–मात्रा का प्रतीच्य देशों के द्वारा शोषण, एवं प्रभाशून्या आज की दीवाली ६४८
२०४–कङ्कालास्थियों की अनुशयरूपा मज्जा से प्रज्ज्वलिता धनिकों की दीवाली ... ”
२०५–सत्तातन्त्रादि से सर्वथा निरपेक्षा ‘स्वाध्याय–व्रतनिष्ठा’ से ही भारतराष्ट्र की श्रीसमन्विता राष्ट्रलक्ष्मी के पुनर्जागरण की मङ्गलकामना ६४९

उपरता चेयं–वैश्वर्णानुगता—

दीपावलीपर्वस्वरूपमीमांसा तृतीया

३

श्रीः

भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

चतुर्थ अवान्तरप्रकरणात्मक "होलापर्वोत्सव" की संक्षिप्त विषयसूची

१–'काम' संस्मरण, एवं लोकप्रसिद्ध होलिका-पर्व का प्रचलित स्वरूप ६५३

२–प्रचलित होलिकोत्सव, एवं हमारी समस्या .... ,,

३–होलिकापर्व का प्रचलित स्वरूप, और तत्सम्बन्ध में सांस्कृतिक-तथ्य की अनुपलब्धि.... ६५४

४–स्वस्वरूपविस्मारक वर्त्तमान होलामहोत्सव, एवं समस्यात्मक प्रश्न ... . ,,

५–होलिका-समस्या का जन्मदाता उत्सवप्रिय गुप्तसाम्राज्य .... .. ,,

६–विविध व्यवसायकुशल पणियों (वणिजों) की वित्तैषणा से, तथा विविधोत्सवपरायण गुप्त सम्राटों की लोकैषणा से निगमसंस्कृति का अभिभव, एवं अनुरञ्जनात्मक शृङ्गाररसप्रधान-साहित्य का सर्ज्जन, और गुप्तकाल ६५५

७–गुप्तयुगकालीन सुसमृद्ध नौयानव्यापार के द्वारा द्वीपान्तरसम्पत्ति का आहरण, तद्द्वारा स्थापत्य-मूर्त्ति-प्रासादादि कलाओं का प्राचुर्य्य, विविध विलासों का सर्ज्जन, एवं सुसमृद्धा भूतजड़ता के व्यामोहन से आत्मसंस्कृति का पराभव .... ,,

८–गुप्तयुगानुगता आसवपानपरायणता, वाराङ्गनानुगति, सामूहिक उद्दामविलास, नृत्यगीतवाद्य-परायणता–लक्षणा पतनपरम्पराएँ, कुबेरसम धनपतियों के सप्त-समुद्रदानादि विजृम्भण, सत्ता, एवं वणिग्दास तत्कालीन विद्वानों का साहित्य-कविता-व्यासङ्ग, और राष्ट्रीय मूलसंस्कृति का आत्यन्तिक पतन ६५६

९–सत्तातन्त्रानुरञ्जनभावप्रधाना शास्त्रव्याख्याएँ, एवं तद्द्वारा सत्ताधीशों, तथा धनपतियों की चाटुकारिता, और भारतीय शास्त्रप्रज्ञा का पतन ६५७

१०–विद्वानों की मनोनिबन्धना भावुकता के अनुग्रह से सांस्कृतिक-निष्ठा की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता ,,

११–हूण-शकादि कालोत्तरभावी मुगलसाम्राज्य, तदुत्तरभावी ब्रिटिशसाम्राज्य, एवं वर्त्तमान शासन, तथा भारतराष्ट्र की भावुकता, एवं भावुकतामाध्यमेन राष्ट्र का पारम्परिक आत्यन्तिक-पराभव ६५८

१२–होलिकापर्वानुगत आत्मदेवभाव-सम्बन्धी महान् प्रश्न ?, एवं समस्या की महती जटिलता ,,

१३–पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह-नामक सांस्कृतिक आयोजनों की क्रमशः आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-भावप्रधानता का समन्वय .... ,,

१४–चतुर्विध सांस्कृतिक आयोजनों का गौण-प्रधान-न्यायेन परस्पर ओतप्रोतभाव ... ६५९

१५–होलिकापर्व के सांस्कृतिक स्वरूप-स्वरूप-समन्वय का प्रयास, एवं नैगमिक जागरूक अग्निदेव का पावन संस्मरण ६६०

१६–अग्निजागरण, एवं होलिकामहोत्सवानुगत चिरन्तन सांस्कृतिक इतिवृत्त का मनोराज्य में अन्वेषण ... . ,,

१७–महाकालपुरुष के सत्तासिद्ध, एवं भातिसिद्ध नामक दो विवर्त्त … ६६१
१८–महाकालपुरुष के पारम्परिक प्रतिनिधि … ”
१९–सम्वत्सरकालानुगत कालाग्नि के दो विवर्त्त … ”
२०–सम्वत्सरप्रजापति, और उस के अग्न्यात्मक सम्वत्सर, कालात्मक सम्वत्सर, नामक दो महिमाविवर्त्त … ६६३
२१–सम्वत्सरप्रजापति, और उस के छन्दःपुरुष, तथा यज्ञपुरुष नामक दो महिमाविवर्त्त … ”
२२–अग्निसम्वत्सर से अभिन्न कालसम्वत्सरचक्र का स्वरूपदिग्दर्शन … ६६४
२३–सम्वत्सरचक्रानुगत सनातन सृष्टिधाराक्रम … ”
२४–विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रतिमानभाव … ६६५
२५–सौरमण्डलानुगत दाम्पत्यस्वरूप का दिग्दर्शन … ”
२६–सूर्य्यपुरुषानुगत विविध पत्नीभाव … ”
२७–ब्रह्मौदनस्वरूप सूर्य्यग्रह के प्रवर्ग्यरूप सौर उपग्रह, एवं उन में भू उपग्रह का स्थान … ६६६
२८–पार्थिवप्रजा के प्रवर्त्तक सौर-द्यावापृथिव्य दाम्पत्य का स्वरूप-दिग्दर्शन … ”
२९–सौर दाम्पत्यभाव के आधार पर 'सम्वत्सर' शब्द का निर्वचनार्थ-समन्वय … ६६७
३०–कालसम्वत्सर, तथा अग्निसम्वत्सर-नामक दोनों सम्वत्सरों की सर्वत्सरतामूला सम्वत्सरता का समन्वय … ६६८
३१–साम्वत्सरिक-द्यावापृथिव्य दाम्पत्यभाव के संयोग, तथा विप्रयोगात्मक मिलन, एवं विरह का समन्वय … ”
३२–प्राकृतिक दाम्पत्यानुगत 'क्रान्ति' रूप विप्रयोगभाव, एवं 'क्रान्तिपात' रूप संयोगभाव … ६६९
३३–संयोगोपक्रमात्मक वसन्तसम्पातकाल, एवं विप्रयोगोपक्रमात्मक शरत्सम्पातकाल … ”
३४–सूर्य्यपुरुष की पत्नीरूपा पृथिवी, एवं इसकी मिलनरात्रि, तथा विछोहरात्रि … ”
३५–दाम्पत्यसम्बन्धानुत प्रजापति का प्रवर्ग्यात्मक विस्रंसन … ६७०
३६–विस्रंसनमूलक नित्ययज्ञ, एवं तद्द्वारा प्रजासर्गप्रवृत्ति … ”
३७–दाम्पत्यभावानुगत प्रजापति का सृष्टिनिरपेक्ष सत्यस्वरूप … ”
३८–दाम्पत्यभावानुगत प्रजापति का सृष्टिसापेक्ष ऋतस्वरूप … ६७१
३९–ऋताग्नि-ऋतसोम-समन्वयात्मक ऋतुकाल; एवं तदनुबन्धिनी प्रजासर्गप्रवृत्ति … ”
४०–ऋतुकालानुगामी 'आर्त्तवयज्ञ', एवं तदनुबन्धी साम्वत्सरिक यज्ञपर्व … ”
४१–योषा-वृषात्मक-रयि, और प्राण तत्त्व, एवं दोनों तत्त्वों का प्रजाप्रसूतिकर्म्मानुगत प्राकृतिक दाम्पत्य … ६७२
४२–मुखं वा एतत् सम्वत्सररूप, यत् फाल्गुनी पौर्णमासी, एवं ऋतुराज 'वसन्त' का नामनिर्वचन … ”
४३–प्रवृद्धाग्नि से समन्विता ग्रीष्म-ऋतु, एवं 'ग्रीष्म'-नामनिर्वचन … २७३
४४–प्रचण्डग्रीष्मात्मक 'निदाघ' नामनिर्वचन … ”
४५–निःसीम अग्निभावात्मक 'वर्षा' नामनिर्वचन … ”
४६–सौर मण्डल अग्नि की बाल-युवा-वृद्धा-अवस्थात्रयी का समन्वय … ”

४७–अदो वर्ष मकुर्म-और 'वर्ष' भावानुगत-'वर्षा' शब्द ६७४
४८–'वर्षाऋतु' से समन्विता ६ ऋतुएँ, एवं 'वर्षा' का वर्षत्व (सम्वत्सरत्व) .... ,,
४९–विभिन्न दृष्टिकोण से वर्षाऋतु के जलवर्षणकालमाध्यम से षड्ऋतुसमन्वय .. ,,
५०–तीसरे दृष्टिकोण से वर्षा के-'वर्षत्व' का समन्वय ६७५
५१–मध्वद अग्नि की शीर्णावस्थाका उपक्रम, एवं तदनुबन्धिनी शरद्ऋतु, तथा **'शरत्'** नाम निर्वचन ... ... ,,
५२–मध्वद अग्नि की हीनावस्था, तदनुबन्धिनी हेमन्त ऋतु, तथा **'हेमन्त'** नाम निर्वचन.... ६७६
५३–मध्वद अग्नि की निःशेषावस्था, तदनुबन्धिनी शिशिरऋतु, एवं **'शिशर'** नाम निर्वचन ,,
५४–अग्निदेव की प्रस्तावसामानुगता निधनसामावस्था, एवं ६ विवर्त्तों का समन्वय .... ,,
५५–सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता, तदनुबन्धी पञ्चर्त्तु भाव, एवं सम्वत्सरयज्ञ के पाँच प्रमुख अवयव ६७७
५६–पञ्चर्तुस्वरूपानुगता अग्निचयनविद्या से समन्वित यज्ञप्रजापति ... .. ,,
५७–सवनत्रयात्मिका-द्वासप्तति (७२) अहोरात्रात्मिका ऋतु, एवं तदनुबन्धी पञ्चर्तुस्वरूपसमन्वय ,,
५८–शास्त्रीय शुक्ल-कृष्ण-पक्षव्यवस्थानुगत पञ्चर्तुस्वरूप-समन्वय, एवं तदनुगत पञ्चप्रयाज ६७८
५९–षड्ऋतु,–पञ्चर्त्तु--स्वरूपाधिष्ठाता अग्निदेव का प्राधान्य ६८०
६०–"ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरः, यथा मनुष्यस्य" ... ... ,,
६१–ग्रहोपग्रहानुगता महादशा--दशा--अन्तर्दशादिवत् प्रत्येक ऋतु की, प्रत्येक अहोरात्र की, प्रत्येक क्षण की सर्वऋतुरूपता का समन्वय ... ... ,,
६२–'एक वा इदं वि बभूव सर्वम्' मूलक ब्रह्मविवर्त्त, एवं तद्वञ्चित जड़वादी के व्यामोहन की निवृत्ति के लिए कारुणिक प्रजापति से प्रार्थना ... ... ,,
६३–षड्ऋतु के अवयवभूत लोकप्रचलित चैत्र वैशाखादि द्वादश मास ६८१
६४–षड्ऋतु के अवयवभूत--शास्त्रप्रचलित मधु–माधवादि द्वादश मास ... ... ,,
६५–वही सम्वत्सरयज्ञप्रजापति, वे ही ऋतुएँ, एवं दनुगत सर्गों का आकृति--प्रकृति–वैलक्षण्य–वैचित्र्य, तथा तत्सम्बन्ध में महती जिज्ञासा ६८२
६६–एकत्वनिबन्धना **'ऋतुना'** मूला मानवसृष्टि, तथा अनेकत्वनिबन्धना–**'ऋतुभिः'** मूला अन्य प्राणिसृष्टि, एवं जिज्ञासा का समाधान ... ... ,,
६७–वसन्त–ऋतु का **'मधु'** भाग, तदनुगत **'मधु--उत्सव'**, तदनुप्राणित **'मधु मास'**, एवं 'मधु' तत्त्व जिज्ञासा ६८३
६८–'मधुविद्या' से अनुप्राणित रहस्यपूर्ण 'मधु' शब्द, एवं उसके स्वरूप--संस्पर्श से भी वञ्चिता हमारी जड़प्रज्ञा ... ... ,,
६९–'मधु' शब्द का लोकानुगत समन्वय, तत्सापेक्षतापूरक दधि--**घृत--अमृत** शब्द, एवं दधि--घृत-मधु--अमृत--रसमयी लोकचतुष्टयी का स्वरूपदिग्दर्शन ६८४
७०–चतुर्थलोकीय पारमेष्ठ्य अमृतरूप **'ओषधिसोम'** ६८५
७१–पारमेष्ठ्य ओषधिसोम की सौरसम्वत्सरानुगता 'मधु' रूपता ... ... ,,

७२–सौरमण्डलानुगत 'मधु' की सर्वव्याप्ति के कतिपय नैगमिक निदर्शन ... ६८६

७३–वसन्तऋतु के उपक्रम में सौर मधु (मध्वग्नि) का पार्थिवरजोभाग में आधान, एवं मधुमत्–पार्थिव रज ... ... ,,

७४–प्रकृतिसिद्धा दर्शपौर्णमासप्रक्रिया के द्वारा सौर रसों का पार्थिव रज में आधान ... ६८७

७५–सौरमधु का पौर्णमासकाल, एवं आकाशीय भरणीनक्षत्र रूप मधुच्छत्र (मधुमक्षिकाओं का छाता) ... ... ,,

७६–'आदित्यो वै देवमधु', बार्हस्पत्य पारमेष्ठ्य सोम, एवं सूर्य्य की मधुनाड़ियाँ ... ,,

७७–मधुवर्षणात्मक काल का वसन्तत्त्व, एवं तदनुबन्धी मध्वग्नि–समन्वित प्राकृतिक अग्न्याधानकर्म्म ६८८

७८–प्रकृतिसिद्ध अग्न्याधान के आधार पर सम्पादित दिव्याग्नि–आधानात्मक द्विजातिवर्ग का अग्न्याधान कर्म्म ... . ,,

७९–अग्न्याधानकर्म्मात्मक--दिव्य–अग्नि--प्रज्ज्वलनात्मक आर्ष **'होलिकापर्व'** का नैगमिक--समन्वय ,,

८०–अग्न्याधानकालाङ्गभूता **नवसस्येष्टि**, एवं तदनुबन्धी--'होला–महोत्सव' (नवसस्याहुति--आहुतिशेष–प्राशन--महोत्सव) की नैगमिकता का समन्वय ६८९

८१–प्राणरहस्यानभिज्ञ भूतपरायण अर्वाचीन वेदभक्त–महाशयों की कुशङ्काएँ, एवं प्राणविद्या के द्वारा तन्मूलोत्पाटन ... ... ,,

८२–मधुनाड़ियों के द्वारा सोमलोक से आगत मधु--रस से वरुणमुखद्वारा आदित्यवेत्ता के जीवन का संरक्षण, एवं 'जीवन' परिभाषा का समन्वय ... ... ,,

८३–'स्वाहा' शब्दार्थ समन्वय, एवं सनातनप्रजा की देवभावमूला सनातन--निष्ठा का दिग्दर्शन ६९०

८४–नैगमिक नवान्नसस्येष्टि का नैदानिक प्रतीकभूत होलिकोत्सवानुगत नवान्नार्पण-वितरण-प्राशनकर्म्म ,,

८५–अग्निदेव की अवस्थात्रयी, एवं तदनुबन्धी त्रिविध अग्न्याधानकर्म्म ... ,,

८६–वसन्त की **आज्यता**, ग्रीष्म की **इध्मता**, तथा शरत् का **हवित्त्व**–प्रतिपादन, एवं प्राणाग्नि का समिन्धन ६९१

८७–**दिक्–छन्द–साम--स्तोम–ऋतु–वीर्य्य**–भावानुगत पञ्चत्तु विज्ञाननिबन्धन 'पार्थिव–भूत-विज्ञान' का तालिकारूपेण पावन संस्मरण ... . ,,

८८–तीन, पाँच, छह, किंवा सात--ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सरप्रजापति का अर्द्धाकाशात्मक सौर पतिभाव, अर्द्धाकाशात्मक चान्द्र पार्थिव पत्नीभाव, तदनुगत दाम्पत्य, तद्द्वारा ऋतुराज वसन्त में ऋतुकालानुगता पृथिवी का गर्भधारण, एवं तदनुबन्धी अत्रिप्राणसमन्वित 'पुष्पकाल', तथा तदनुगता भावुकतापूर्णा कविसूक्ति ६९२

८९–प्राकृतिक--द्यावापृथिव्य--दाम्पत्य के आधार पर प्रतिष्ठित, धर्म्मानुगत काममूलक भारतीय मानव के दाम्पत्यभाव का उपक्रम ६९३

९०–ब्राह्मणग्रन्थोपवर्णिता--सम्वत्सरमूला **'अतिसृष्टि'** से अनुप्राणिता **पार्थिव–प्रजासृष्टिमूलक** आर्ष दाम्पत्यभाव, एवं मन्त्रश्रुतिविरुद्ध प्राजापत्यमर्य्यादाविरुद्ध मायवादी के जगन्मिथ्यात्वमूलक कल्पित संन्यास की निस्सारता ... ... ,,

९१–'आत्मपुरुष' लक्षण सौरपुरुष का महदुक्थ-महाव्रत-गर्भित पुरुषभाव, एवं पुरुषविध आत्मभाव ,,

९२–ऋक्सामावेष्टित सौर **'यजुःपुरुष'** की अग्निप्रधानता का समन्वय ··· ··· ६६४
९३–सौर–हिरण्यगर्भ–पुरुषाग्नि का 'अहं' भाव, तद्गर्भीभूत चन्द्रमा का **'प्रकृति'** भाव, एवं तद्गर्भीभूता पृथिवी का 'आकृति' भाव, तथा सौर–चान्द्र–पार्थिव–भावों से मानव के बौद्धिक मानसिक–शरीरिक अहङ्कृति–प्रकृति–आकृतिभावों का प्रादुर्भाव ··· ··· ,,
९४–सौर पुरुषानुगत 'अहं' भाव के प्राथम्य का श्रौत–समन्वय ··· ··· ६६५
९५–सौर पुरुष के 'पुरुष' शब्द का श्रौत–तात्त्विक विलक्षण निर्वचन, एवं **'सर्व्वान्–पाप्मन–औषत्'** लक्षण 'पुरुष' का नित्य–विज्ञानमयत्त्व ··· ··· ··· ,,
९६–सौरपुरुषप्रजापति का एकत्त्वानुगत भय, भयनिवृत्ति, द्वितीय स्वरूपकामना, स्वयं का द्वैधीभाव, एवं तदनुगता प्रथमा मौलिक सृष्टि का रहस्यात्मक स्वरूप–समन्वय ···· ६६६
९७–मनःप्राणवाङ्मय–सौरपुरुष का हिरण्यगर्भमनुत्त्व, तत्पत्नी मनावी (पौराणिकी शतरूपा–मनुपत्नी), एवं मनुरूप मनोमय दाम्पत्यपुरुष से सर्वप्रथम मनोज–'काम' का आविर्भाव ,,
९८–सौरप्रजापति के सुप्रसिद्ध **'खंब्रह्म–कंब्रह्म–रंब्रह्म–शंब्रह्म'** नामक चार महिमामय विवर्त्त ६६७
९९–सौरपुरुषरूप विराट्पुत्र के सर्ज्जक ब्रह्म–सुब्रह्मरूप प्रथम दाम्पत्य का संस्मरण, एवं तत्पुत्ररूप विराट्सूर्य्य का भी तथैव दाम्पत्यानुगमन, तद्द्वारा स्त्री पुंभावात्मक ऋताग्नि–ऋतसोममय तृतीय दाम्पत्य का आविर्भाव, एवं तद्द्वारा मानव–मानवीरूप चतुर्थ दाम्पत्य की प्रसूति ६६८
१००–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' मूलक मानवीय दाम्पत्यभाव, एवं तदनु इतर प्राणिवर्गानुत मिथुनद्वन्द्वों की प्रसूति ···· ···· ···· ···· ····
१०१–**"स हैतावानास–यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ"** वाक्य का तात्त्विक समन्वय, एवं अर्द्धवृगलात्मक–मानव, मानवी की प्रसूति ···· ···· ···· ६९९
१०२–मानव–मानवी की मूलप्रतिष्ठारूप साम्वत्सरिक बृहतीछन्द ···· ···· ७००
१०३–वृत्तानुगत ३६० अंशों की मौलिक उपपत्ति, तदनुगता परिश्रितेष्टका, तथा यजुष्मती इष्टकाओं से ७२० अहोरात्रों का आविर्भाव ···· ···· ···· ,,
१०४–**'यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं, उभयान्-देवमनुष्यान्-ससृजे'** इत्यादि श्रौतवचन से अनुप्राणित प्राणीसर्ग, तथा मानवदेवसर्ग का अत्यन्त रहस्यात्मक समन्वय ···· ···· ,,
१०५–**अहं सूर्य्य इवाजनि–अहं मनुरभवम्'** मूलक–देवभावापन्न परिपूर्ण मानवसर्ग का समन्वय ७०३
१०६–मनःशरीरानुगत, किन्तु आत्मबुद्धिनिष्ठ, अ-तएव परिपूर्ण–मानव का सर्वश्रेष्ठत्त्व, एवं आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूला स्वरूपप्रतिष्ठा का समन्वय, तथा प्रासङ्गिक भूतसर्ग का उपराम ··· ,,
१०७–पञ्चपाद, द्वादशाकृति, सप्तचक्र, षडर, त्रिनाभि-पितर सम्वत्सरप्रजापति का समष्ट्यात्मक संस्मरण ७०४
१०८–गगनवृत्तात्मक महान् आकाशमण्डल, एवं तत्प्रतिनिधिरूप सम्वत्सरमण्डल ··· ७०५
१०९–महावृत्तात्मक खगोल के विभाजक कूर्म्मप्रजापति, एवं तदनुगता कूर्म्मत्रिलोकी, तथा तदनुप्राणित क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सरमण्डल ··· ·· ··· ··· ,,
११०–क्रान्तिवृत्तीय–अर्द्ध–सौर खगोल की प्राकृतिक–स्थिति ··· ··· ,,
१११–आतिवाहिक–त्रिलोकी का पृथिवीलोक ··· ··· ··· ७०६
११२–आतिवाहिक त्रिलोकी का देव–अन्तरिक्षलोक, तथा देव–द्युलोक ··· ··· ,,

११३–आतिवाहिक त्रिलोकी के पैत्र--पृथिवी--अन्तरिक्ष, एवं द्यु लोकों का समन्वय ... ७०६
११४–मानव--मानवी के मूलप्रतिष्ठारूप विष्वद्वृत्त का संस्मरण, एवं तदनुपात से सम्वत्सर के अवयवों का मानव--मानवी के साथ सर्वात्मना समन्वय–दिग्दर्शन ७०७
११५–मानवप्रजापति का सम्वत्सर प्रजापति से समतुलन, तदनुगता प्राकृति की तिथी फाल्गुनी पूर्णिमा, एवं तत्र समायोजित 'होलिकापर्व' रूप काममय सांस्कृतिक–आयोजन ... ,,
११६–दाम्पत्यमूलक **इन्द्र** और **पूषा**,--देवता, एवं तदनुप्राणित मन्त्रोपवर्णित मिथुनभाव ... ७०८
११७--पार्थिव अर्णवसमुद्र में इतस्ततः दोलायमाना हिरण्मयी नौकाओं में प्रतिष्ठित सौर इन्द्र, पार्थिव पूषारूप दम्पती का जलविहार (नौकाविहार), और मन्त्रश्रुति ... ... ,,
११८–सौर महादेव, पृथिवीपुत्र गणपति की माता (पृथिवी) सवत्सा पार्वती का द्यावापृथिव्य महामहोत्सव, एवं तदाधारेण निदानविधि से समायोजित--गणपतिगौरी (गणगौर) महोत्सव का प्रासङ्गिक पावन संस्मरण ७०६
११६–रहस्यपूर्ण माननीय दाम्पत्य स्वरूप का उपक्रम, एवं तदनुबन्धी **'स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः'** इत्यादि मन्त्रभाग की रहस्यदिशा ७१०
१२०–मन्त्रपूर्वभाग का अक्षरार्थ–समन्वय ... ... ,,
१२१–आग्नेयशरीरी पुरुष की 'पुरुष' अभिधा का, तथा सौम्यशरीरिणी स्त्री की 'स्त्री' अभिधा का प्रत्यक्षदृष्ट–लोकसमन्वय ७११
१२२–द्वितीय दृष्टिकोण से पुरुष की 'स्त्री' संज्ञा का, तथा स्त्री की 'पुरुष' संज्ञा का रहस्य–समन्वय ,,
१२३–स्त्री का पुरुषत्त्व, पुरुष का स्त्रीत्त्व, प्रजनयिता अत्रिप्राण, नारी का उग्रतम 'महाकाली' स्वरूप, एवं तदाराधन से विश्वशान्ति ७१२
१२४–तृतीय दृष्टिकोण से पुनः पुरुष की 'पुरुष' अभिधा का, तथा स्त्री की 'स्त्री' अभिधा का पुंभ्रूण-स्त्रीभ्रूण--माध्यम से संरक्षण–प्रयास .... ,,
१२५–स्त्री-पुम्भ्रूणानुगत औपपातिक–कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा, एवं प्रथम–तृतीय–दृष्टिकोण का समन्वय ७१३
१२६–चान्द्रसम्वत्सरानुबन्धी--प्रकृतिभावनिबन्धन–शुक्रशोणितानुगत प्रतिष्ठाभाव, एवं द्वितीय पक्ष (द्वितीय दृष्टिकोण) का समन्वय ... ... ,,
१२७–पार्थिवसम्वत्सरानुबन्धी–आकृतिभावनिबन्धन–आग्नेय–सौम्य शरीरानुगत भूतभाव, एवं तृतीय पक्ष (प्रथम दृष्टिकोण) का समन्वय ७१४
१२८–अग्नीषोमात्मक द्वन्द्वों का तीन विवर्त्तों से अनुप्राणित समष्ट्यात्मक तीनों पक्षों का तात्त्विक समन्वय .... ,,
१२६–क्रान्तिवृत्त की दीर्घवृत्तता, एवं तदनुगत त्रिकेन्द्रात्मक सौर–चान्द्र- पार्थिव–सम्वत्सर चक्रों का अतिमानसम्बन्ध ७१६
१३० त्रिविध सम्वत्सरचक्रों की दाम्पत्ययुग्मता से अनुप्राणित मानवीय तीनों पक्षों की (प्रत्येक की) द्वयात्मता का तात्त्विक समन्वय ७१७
१३१–चिदात्मयोनिभूत महद्ब्रह्म का मूलप्रकृतित्त्व .... ,,

१३२–सौरमण्डल की अक्षरब्रह्मात्मकता, अक्षरात्मिका चेतना, चेतनानुगत प्राकृत जीवभाव, तदनुगत योनिभाव, एवं चतुरशीति सौम्य–पितृप्राण के व्युहन से योनि के चतुरशीतिलक्ष विवर्त्त ७१८

१३३–मानवस्वरूप की अक्षरातीता अव्ययरूपता, अतएव अप्राकृतता, तद्रूप आत्मभाव, तथा 'आत्मा' एवं–'जीव' स्वरूप का आत्यन्तिक पार्थक्य .... ,,

१३४–सौरब्रह्माण्ड का सर्वाधारभूत पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म, एवं तद्द्वारा मानव में आत्मस्वरूप का अभिव्यक्तित्त्व–समन्वय .... ,,

१३५–सैद्धान्तिकरूपेण अन्ततोगत्त्वा पुरुष का प्रकृतिभाव पर ही पर्य्यवसान ७१६

१३६–अथ से इति पर्य्यन्त प्रकृति की प्रधानता, एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शक्तिप्रधानत्त्व ... ,,

१३७–'ऋत' परमेष्ठी की प्राधानता से पुरुषप्राधान्यवाद का अन्ततोगत्त्वा स्त्रीप्राधान्यवाद पर ही विश्राम, एवं सैद्धान्तिक मन्त्रार्थसमन्वय ७२०

१३८–कामशक्ति और प्रजनन, तद्रूपा प्रजाति, तद्रूपा प्रजा, प्रज्ञानुगत प्रजातन्त्र, एवं तदनुगत शरीरप्रधान सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–वातावरणानुगत स्वच्छन्द–होलामहोत्सवानुबन्धी किञ्चिदिव–मनोविनोद-प्रसङ्ग .... ,,

१३६–सौरब्रह्माण्डोर्ध्वानुप्राणितां अमृतगाथा का उपराम, एवं पार्थिवब्रह्माण्डानुगता मर्त्या सौर-चान्द्र-पार्थिव–गाथा का यशोगानोपक्रम, तथा तत्प्राधान्य से मन्त्रानुगत मध्यभाव की प्रधानता, एवं तत्प्राधान्य से विश्यविजयी कामदेव का संस्मरण .... ,,

१४०–'मन्मथ–काम–मदन–कन्दर्प'–नामों के निर्वचनार्थ–संस्मरणद्वारा प्रजापति ब्रह्मा के द्वारा उपवर्णित काममहत्त्व का यशोगान ७२१

१४१–मकरध्वज, एवं मीनध्वज--अभिधाओं की मूलप्रतिष्ठारूपा–नाक्षत्रिक–मण्डलानुगता मकर–मीन–राशियाँ ७२२

१४२–मीनराशियुक्त शुक्रग्रह की उच्चता, तदनुगत पुरुषात्मक शुक्र की, एवं मकरराशियुक्त मङ्गलग्रह की उच्चता, तदनुगत स्त्र्यनुगत शोणित, की क्रमिक मीन–मकरता .... ,,

१४३–पुरुषानुगता शुक्रस्था कामशक्ति, स्त्र्यनुगता शोणितस्था कामशक्ति, एवं **कामश्चाष्टगुणः स्मृतः** की समन्वय–जिज्ञासा .... ,,

१४४–भुक्तान्न के विशकलन का आठवाँ प्रक्रम शुक्र, तदनुगता 'मीनध्वज' नाम की पुरुषशुक्रानुगता कामशक्ति के समतुलन में स्त्रीशोणितानुगता मकरध्वज नाम की कामशक्ति की प्रचण्ड प्रबलता का तात्त्विक समन्वय .... ,,

१४५–मीनकेतन नामक पुरुषकाम, तथा मकरकेतन नामक स्त्री काम के अनुग्रह से स्त्रीपुम्भावों का पारस्परिक आकर्षणात्मक प्राकृतिक दाम्पत्यभाव, एवं तद्द्वारा धर्म्ममूलक आत्मप्रतिमानरूप प्रजातन्तुवितान, एवं सम्वत्सरयज्ञमूलक पति–पत्नी--भाव ७२३

१४६–नाक्षत्रिक–मकर, मीन–राशियों की आपोमयता का समन्वय ७२४

१४७–आपोमय--पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिराप्राण, एवं तदनुगत आपोमय मकरमीन–प्राणों का भृग्वङ्गिरोमयत्त्व ७२५

१४८–पारमेष्ठ्य पवित्रसोमात्मक 'भागीरथीतत्त्व', एवं तन्नैदानिक वाहन पारमेष्ठ्य आङ्गिरस मकर का प्रासङ्गिक समन्वय .... ,,

१४९–भार्गवप्राणप्रधान सौम्य मीनप्राणी, तथा आङ्गिरसप्राणप्रधान आग्नेय मकरप्राणी, एवं तदनुगत विभिन्न गुण-धर्म्मों का समन्वय ७२५
१५०–प्रकृतिसिद्ध, दाम्पत्यभावानुगत, शुक्र-शोणित-निबन्धन सौम्य-आग्नेय,-मीनध्वज-मकरध्वज-भेद-भिन्न कामदेव के स्वरूप का उपराम ७२६
१५१–चतुष्पर्वा विश्वेश्वर से समतुलित चतुष्पर्वा मानव से अनुगत दाम्पत्यमूलक-'काम' सम्बन्ध से अनुप्राणित "**होलिकामहोत्सवात्मक-मदनमहोत्सव**" का संस्मरण .... ,,
१५२–विश्वेश्वरानुगत चारों पर्वो से मानवीय चारों पर्वों का समतुलन .... ,,
१५३–मानवीय चतुष्पर्वानुगत चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजनों का प्रासङ्गिक संस्मरण ७२७
१५४–सांस्कृतिक-आयोजन-चतुष्टयी के माध्यम से भारतीय मानवसंस्कृति का पारम्परिक-संरक्षण, एवं वर्त्तमान सांस्कृतिक ? आयोजनों ? का विडम्बनापूर्ण विजृम्भण .... ,,
१५५–शरीरानुगत होलिकापर्व, मनोऽनुगत दीपावलीपर्व, बुद्ध्यनुगत विजयदशमीपर्व, एवं आत्मानुगत रक्षाबन्धनपर्व-नामक चारों सांस्कृतिक-आयोजनों के अन्तरान्तरीभावात्मक सर्वसमन्वय से सम्पूर्ण भारत की अखण्ड-राष्ट्रीयता का पारम्परिक संरक्षण ७२८
१५६–आत्मबुद्धिसंस्कृति से पराङ्मुख आत्मदेवभावशून्य मनःशरीरमात्रसमुत्तेजक-जड़काममूलक-नृत्यगीतवाद्यसमाकुलित-वर्त्तमान-आयोजन, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव ७२९
१५७–अग्न्याधानकर्म्मात्मक नैगमिक होलिकापर्व, एवं दनुप्राणित नैदानिक-भूताग्नि-प्रज्ज्वलनात्मक होलिकामहोत्सव .... ,,
१५८–होलिकापर्व के आधिदैविक-आध्यात्मिक,-एवं आधिभौतिक-स्वरूपों का समसमन्वय ,,
१५९–फाल्गुनी-पूर्णिमा-तिथि से अनुप्राणित होलिकापर्व, एवं तदनुगत वसन्तोत्सव की उपक्रम-तिथि माघशुक्ला-वसन्तपञ्चमी, तथा उसकी लोकप्रसिद्ध-'वसन्तपञ्चमी' अभिधा ७३०
१६०–वसन्तपञ्चमी-तिथि में समायोजित रतिपति कामदेव, तथा कामपत्नी रति का शास्त्रीय-विधि से प्रतिमान-पूजन, एवं तदनुप्राणित '**मदनपूजनमहोत्सव**' (१) का इतिवृत्त .... ,,
१६१–वसन्तपञ्चमीरूपा '**श्रीपञ्चमी**', एवं तत्र समायोजित-श्रीपूजनात्मक-'**शारदापूजनमहोत्सव** (२) के इतिवृत्त का समन्वय ७३२
१६२–फाल्गुनकृष्ण-त्रयोदशी-तिथ्यनुगत-'**महाशिवरात्रि-महोत्सव**' (३) का इतिवृत्त ७३३
१६३–वसन्तोत्सवपरम्परानुगत नैगमिक-'**प्रेङ्ख**' उत्सव के नैदानिक '**दोलामहोत्सव**' (४) के इतिवृत्त का तात्त्विक समन्वय ७३४
१६४–होलिकापर्वाङ्गभूत-'**होलाष्टकमहोत्सव**' (५) ७३५
१६५–वासन्तिक-महामाङ्गलिक-'**गणपतिगौरीमहोत्सव**' (६) ७३६
१६६–चैत्रकृष्णाष्टमी–तिथि में समायोजित-'**शीतलापूजन-महोत्सव**', (७)-, एवं उसका तात्त्विक-स्वरूप .... ,,
१६७–**वसन्तोत्सव, मधुमहोत्सव, मदनमहोत्सव, होलिकामहोत्सव, पुष्पमहोत्सव**, आदि विविध नामों से उपगीयमान होलापर्व की लौकिक रूपरेखा का उपक्रम ७३८
१६८–फाल्गुनी-पूर्णिमानुगत-'फाल्गुन' मास का अक्षरार्थ–समन्वय .... ,,

१६९–पूर्वफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता जघन्या रात्रि, एवं उत्तरफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता उत्तमा रात्रि ७३९
१७०–फाल्गुनमासानुगता विभूतिचतुष्टयी का दिग्दर्शन ७४०
१७१–मनोजदेवता की क्रीडास्थली वसन्तऋतु, एवं होलिकापर्व के द्वारा तन्नियन्त्रण .... ,,
१७२–मनस्तन्त्रानुगत सत्त्व-रज-स्तमो-गुणों के निदर्शन .... ,,
१७३–सत्त्वगुणान्वित मन के द्वारा धर्म्ममूलक काम का नियन्त्रण ७४२
१७४–कामदेव के सुतीक्ष्ण पञ्चबाण .... ,,
१७५–विश्वेश्वर-हृदयस्थ कामदेवता के प्रकृतिसिद्ध नित्य पञ्चबाण .... ,,
१७६–पार्थिव रज, और-'उड़त् गुलाल-लाल भए बादल' ७४३
१७७-फाल्गुनानुगत रस-राग-रँग ७४४
१७८–लोकाचारात्मक-सङ्गीतमय होलिकामहोत्सव .... ,,
१७९–होलिकाप्रज्ज्वलनकालनिर्णय ७४५
१८०–पौराणिक आख्यान के द्वारा होलिका–महोत्सव के लौकिक स्वरूप का प्रदर्शन, एवं तन्माध्यम से नैगमिक होलिकापर्व का स्वरूप–समन्वय .... ,,
१८१–'होलिका' नाम की रक्षादेवी, एवं होलिकामहोत्सव की लोकाचारानुगता इतिकर्त्तव्यता का लौकिक समन्वय ७४६
१८२–'ढुण्ढा' राक्षसी का तात्त्विक स्वरूप, एवं होलिकापर्वानुगता बालरक्षाविधि' का समन्वय ७५०
१८३–'शीतकालो विनिष्क्रान्तः, प्रातर्ग्रीष्मो भविष्यति' मूलक होलिकामहोत्सव ७५१
१८४–'सर्वदुष्टापहो होमः' मूलक होलिकापर्व ७५२
१८५–राजराजेश्वर 'रघु' नामक भारतीय सम्राट् के माध्यम से होलिकापर्व का पारम्परिक–संस्मरण ,,
१८६–'होलिकापर्व' नामक सांस्कृतिक–आयोजन का उपराम, एवं तन्माध्यम से राष्ट्रीय जाग्रत अग्नि का माङ्गलिक संस्मरण ७५३

उपरता चेयं–शूद्रवर्णानुगता

होलिकापर्वस्वरूपमीमांसा--चतुर्थी

४

❀-निबन्धपरिशिष्ट, एवं निबन्धोपराम ७७५

सेयं सांस्कृतिकनिबन्धानुगता संक्षिप्ता

विषयसूची–उपरता

श्रीः

उद्बोधनात्मक–सांस्कृतिक–निबन्धानुगतं
किमपि प्रास्ताविकम्
(प्रस्तावना)

श्रीः

उद्बोधनात्मक–सांस्कृतिक–निबन्धानुगतं
किमपि प्रास्ताविकम्

१–कालानुबन्धिनी सामान्य घटनाओं के महत्त्वपूर्ण परिणाम—

परमकालात्मक–अनन्त–अमूर्त–अव्यक्त-लक्षण 'अक्षरकाल' के नियन्त्रण से नियन्त्रित अवमकालात्मक–सादि सान्त–मूर्त–व्यक्त–लक्षण 'क्षरकाल' के विवर्त्तरूप दिक्–देश–कालात्मक–'सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरकालात्मक' त्रैलोक्य में घटित–विघटित होतीं रहने वालीं कालिक–दैशिक घटनाएँ कब, क्यों, और कैसे अकल्पित–तथ्यों की निमित्त बन जाया करतीं हैं ?, प्रश्न दुरधिगम्य है। निमित्त बन अवश्य जातीं हैं, यह निर्भ्रान्ति सत्य है। और प्रस्तुत सामायिक–निबन्ध का आधार एक ऐसी ही घटना है।

२–संस्कृतिप्रेमी पत्रकार का दर्शनप्रदानानुग्रह, और तत्परिणाम—

भारतीय सत्तातन्त्र के नवजागरणात्मक प्रक्रान्तकाल में सर्वत्रैव संस्कृति, सांस्कृतिक–आयोजन, मानवता, मानवधर्म्म, सत्य, नैतिकता, अहिंसा, मैत्री, पञ्चशील, सहास्तित्त्व, समानता, विश्व-शान्ति, विश्वबन्धुत्त्व, आदि आदि रूपेण परःशत आदर्श–घोषणाओं का तुमुलनाद यत्रतत्र सर्वत्र 'अनाहत-नादरूपेण' प्रतिध्वनित हो रहा है। इस प्रतिध्वनि के अनुकरण में हीं भारतराष्ट्र के तत्तत्प्रान्तों के तत्तद् राष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्त्व में, किंवा तटस्थ निरीक्षण में परःशत सामयिक–पत्र असंख्य–संख्या में अभिव्यक्त हो रहे हैं। गतवर्ष राजस्थानप्रान्त के एक तथाविध ही पत्रकार, क्रान्तिकारी पत्रकार, अपनी क्रान्ति से भारत-राष्ट्र को सर्वात्मना परिवर्त्तित कर देने के लिए प्रतिक्षण आकुल–व्याकुल बने रहने वाले प्रचण्ड सुधार-वादी तेजस्वी पत्रकार, आज की भाषा में त्याग–तपस्या–बलिदान–जेलयन्त्रणादि अनेक–तपोभावों में तपे हुए, मँजे हुए, परखे हुए कर्म्मठवीर पत्रकार **'राजस्थान'** की **'संस्कृति'** के सम्बन्ध में एक 'सांस्कृतिक–विशेषाङ्क' अपनी कल्पना में प्रतिष्ठित कर इस कामना से पधारे कि, **"हम इनके विशेषाङ्क के लिए राजस्थान की संस्कृति, किंवा भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त करें"**। इसप्रकार के महत्त्वपूर्ण सामयिक–आयोजनों, योजनाओं में योगदान करने की क्षमता से सदा से ही सर्वात्मना वञ्चित हमने पत्रकार महोदय से क्षमा–माँगली सांस्कृतिक–विचाराभिव्यक्ति के लिए। और सम्भवतः हमारी इस असमर्थता को समझ लेने से ही सन्तुष्टमना पत्रकार महाभाग प्रसन्नतापूर्वक ही परावर्त्तित होगए।

३–कालिकघटनावश 'संस्कृति' शब्द के प्रति सहज आकर्षण—

घटना सर्वथा सामान्य थी, जो प्रायः सभी के जीवन में घटित होती ही रहती है। किन्तु इस सामान्य-सी घटना ने हमारे मनस्तन्त्र को सर्वात्मना आलोड़ित–विलोड़ित ही कर डाला। **"संस्कृति, सभ्यता, सांस्कृतिक-आचार" 'सांस्कृतिक-आयोजन' 'सांस्कृतिक विशेषाङ्क'** आदि आदि रूपेण अनेक प्रकार के ऊहापोह अन्तर्जगत् में स्वतः ही अभिव्यक्त हो पड़े, जिनका शब्दार्थ-समन्वय कर लेना भी हमारे लिए एक कठिन

समस्या बन गई । **संस्कृति, तदाचार,** तथा **तदायोजन** पक्ष जहाँ सदा से ही हमारी स्वाध्यायनिष्ठा के अङ्ग रहे हैं, वहाँ इन शब्दों के शब्दार्थसमन्वय की ओर कभी हमारा दृष्टिकोण अद्यावधि आकर्षित ही नहीं हुआ था, जिस आकर्षण का आधार वही उक्त घटना बनी । और इसी घटना के अनुग्रह से वर्त्तमान–भारतराष्ट्र में महता–समारम्भेण समायोजित उन आयोजन–समारोहों की ओर भी हमारा ध्यान सहसा आकर्षित हो ही तो पड़ा, जो आयोजन वर्त्तमान राष्ट्रीय-प्राङ्गण में **'सांस्कृतिक--आयोजन'--'सांस्कृतिक–झलकियाँ, 'सांस्कृतिक-समारोह'–'सांस्कृतिक प्रदर्शन'** आदि आदि उपाधियों से समलङ्कृत, सुविभूषित हैं ।

४–'राजा कालस्य कारणम्' मूलक वर्त्तमान 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के महान् विजृम्भण–

तथाविध आयोजयों में यद्यपि साक्षात्रूप से 'द्रष्टा' बनने जैसा महद्भाग्य तो अद्यावधि भी हमें उपलब्ध नही हो सका । तथापि युग–सङ्ग–जनित–प्रभाव से कर्णाकर्णिपरम्परया इन राष्ट्रीय-आयोजनों का जैसा, जो कुछ महान् इतिवृत्त ? सुना गया, उस श्रवणमात्र से ही हमें सहसा स्तब्ध ही हो जाना पड़ा । और यह स्तब्धता उस अवस्था में तो सीमा का अतिक्रमण ही कर गई, जबकि यह सुना गया कि-**'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–प्रभुसत्तासमर्थ गणतन्त्रीय--प्रजातन्त्रात्मक सत्तातन्त्र'** स्वयं भी अपने केन्द्रप्रतिष्ठान–माध्यम से इत्थंभूत आयोजनों को अन्यतम संरक्षण प्रदान कर रहा है, एवं तत्पदचिह्नानुवर्ती अन्य प्रान्तीय-सत्तातन्त्र भी इसी संरक्षण–पद्धति की आराधना–उपासना में प्रवृत्त हैं । केन्द्रसत्ता के द्वारा सर्वात्मना स्वीकृत, एवं प्रान्तीय सत्ताओं के द्वारा सर्वात्मना अभिनन्दित तथाविध आयोजन–समारोहों का–**'राजा कालस्य कारणम्'** न्याय से यदि भारतीय जनतन्त्र भी सोल्लास सोत्साह अनुकरण करने लग पड़े, तो इस में भी कोई आश्चर्य्य नहीं है । फलतः आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतवर्ष में **केन्द्रसत्ता, प्रान्तसत्ताएँ, तथा जनतन्त्र,** तीनों का ही **संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार,** एवं **सांस्कृतिक–आयोजन**–रूप से एकमात्र महान् पौरुष यही रह गया है कि, वे अपने छोटे से छोटे, एवं बड़े से बड़े सामाजिक–राजनैतिक–राष्ट्रीय,–तथा अन्तर्राष्ट्रीय आयोजनों में, प्रत्येक में सर्वप्रथम तथाविध उन आयोजनों को ही प्रमुखता प्रदान करते रहें, जिन आयोजनों के **मणिपुरनृत्य–कत्थककली-नृत्य–मयूरनृत्य–ढोलकनृत्य–लँगानृत्य**–आदि आदि नाम आज आबाल–वृद्ध–वनिता–सबके लिए माङ्गलिए–पारायणपाठ का स्थान ग्रहण कर चुके हैं । सूचना ग्रामसंगठन की, तो तत्र प्रथम संस्मरण नाच–गान के आयोजन का । समाचार गणतन्त्रदिवस के, तो तत्र प्रथम प्रचार विविध प्रान्तों से आगत--समागत नाच--गान–करने वालीं मण्डलियों का । आयोजन रचनात्मक कार्य्यों का, तो तत्र प्राथम्य सांस्कृतिक--झलकियों का ।

५--अन्तर्राष्ट्रीय–ख्यातिविमोहन मूलक सांस्कृतिक--शिष्टमण्डलों का गमनागमन, और संस्कृति—

जनश्रुति तो ऐसी भी है कि, आज भारतीस सत्तातन्त्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री–सम्बन्धों को दृढमूल प्रमाणित करने के लिए यथावसर जो सांस्कृतिक–शिष्टमण्डल विदेशों में भेजा करता है, उन शिष्टमण्डलों में भी प्रमुखता तथाविध सांस्कृतिक–भावों की ही रहती है । विशिष्ट **कलाकार,** सम्भवतः **अभिनेता,** एवं लोकख्याता **अभिनेत्रियाँ,** तथा कुशल **नर्त्तक–वादक–गायक,** आदि आदि विशिष्टतम सांस्कृतिक–प्रतीकों से सर्वात्मना सुसज्जित सांस्कृतिक–शिष्ट मण्डल ही भारतीय संस्कृति के महान् सांस्कृतिक सन्देश को विदेशों में मुखरित करने के लिए यथाकाल सत्तातन्त्र के द्वारा ही तत्र गमन करते रहते हैं, एवं तत्परिणाम में तथाविध ही

शिष्टमण्डल वहाँ से यहाँ पधारते रहते हैं। यों इन दोनों मण्डलों के पारस्परिक विचारादानप्रदान से दोनों देशों की संस्कृतियों का ही परस्पर आदान-प्रदान प्रक्रान्त है, जिस इस सांस्कृतिक-आदान-प्रदान का नाम ही है वह 'मैत्री', जिसकी कृपा से ही भारतराष्ट्र ने बहुत थोड़े से समय में हीं अन्तर्राष्ट्रीय-जगत् में अपना एक विशिष्ट सम्मानित स्थान बना लिया है। विदेशों के कलाकार मुग्ध हैं आज भारतीय सांस्कृतिक-कलाकारों के प्रदर्शनों से। अनेक बार वे अपनी ऐसी आतुरता व्यक्त कर चुके हैं कि, वे भारत आकर इसी पद्धति से नृत्य-गीत वाद्यादि में कौशल प्राप्त करना चाहते हैं। इधर हमारी सत्ता के सर्वोच्च प्रतीक भी तत्र गमनावसरों पर भारतीय सांस्कृतिक-कलाओं के प्रशिक्षण के लिए सम्पूर्ण सुविधाएँ प्रदान कर देने के आश्वासनों से उनका अभिनन्दन ही करते रहते हैं। और यों आज सांस्कृतिक-आयोजनों के नाम से भारतराष्ट्र में एक वैसी प्रचण्ड बाढ सी ही आई हुई है, जिसके प्रचण्डवेग के सामने अन्य कोई भी लक्ष्य क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकता। **अभिनय, नाटक, नर्त्तन, वादन, गायन, हास, परिहास, विनोद, उल्लास, अट्टाट्टहास, भोज, महाभोज, चित्रचित्रण,** आदि आदि विवध सांस्कृतिक ? तथ्यों से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः ओतप्रोत ये **'सांस्कृतिक-आयोजन'** ही भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता के संरक्षण के महान् पतवार प्रमाणित हो रहे हैं। मानों क्षणमात्र भी यदि भारत्तराष्ट्र ने इन आयोजनों को विस्मृत कर दिया, तो अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति के साथ साथ इस की स्वतन्त्र-प्रतिष्ठा भी विलीन ही हो जायगी।

६—पुरातत्त्वानुगत ध्वंसावशेषों के माध्यम से संस्कृति के स्वरूपान्वेषण का महान्-व्यामोहन—

यह तो हुई सत्तातन्त्रानुगता सांस्कृतिक-निष्ठा की पुण्यगाथा। अब इसी प्रसङ्ग से सहसा उस संस्कृतिनिष्ठ 'प्रज्ञातन्त्र' की ओर भी स्वतः ही हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है, जो प्रज्ञातन्त्र दिग्देशकालव्यवस्थापक सत्तातन्त्रों के माध्यम से ही अपनी सांस्कृतिक-निष्ठाओं के ऐतिहासिक, तथा भौगोलिक समन्वय में प्रवृत्त रहता आया है विगत तीन सहस्र वर्षों से। युगधर्म्मप्रवर्त्तक सत्तातन्त्र जिसे 'संस्कृति' मान लेता है अपनी बाह्यदृष्टि से, भारतीय प्रज्ञातन्त्र उसी 'संस्कृति' को अपने चिन्तन का क्षेत्र बना लेता है। और बुद्धयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान प्रक्रान्तयुग पर्य्यन्त भारतराष्ट्र के सभी श्रेणि के प्रज्ञातन्त्रों (विद्वानों) की सांस्कृतिक-व्याख्याओं का चिन्तनाधार सत्तानुगत दृष्टिकोण ही बनता आरहा है। सत्ता के आश्रय में पुष्पित-पल्लवित होती रहने वाली त्रिसहस्रवर्षात्मिका भारतीय-संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार, सथा सांस्कृतिक-आयोजन, सब-कुछ सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता, अतएव युगपरिवर्त्तनानुसार परिवर्त्तनशीला सत्तासंस्कृतियों से ही अनुप्राणित माने जायँगे। कदापि इन्हें 'भारतीय-संस्कृति' की सम्मानित उपाधि से समन्वित नहीं किया जा सकेगा, जो भारतीय संस्कृति-आचार-आयोजन अपनी दिग्देशकालातीतता से सत्तामान्यताओं से, एवं युगधर्म्मानुगत परिवर्त्तनों से सर्वथा असंस्पृष्ट ही माने गए हैं।

७-सत्तासापेक्ष प्रज्ञातन्त्रों (विद्वानों) की मान्यताओं से अनुप्राणित 'सांस्कृतिक-इतिहास' का भौतिक-सभ्यता-मात्र पर ही पर्य्यवसान—

संस्कृति के आश्रय से सत्तातन्त्र जीवित रहा करते हैं, जबकि सत्ता के आश्रय से 'संस्कृति' 'संस्कृति' न रहकर केवल भौतिक 'सभ्यता' मात्र ही बनी रह जाती है। अतएव सत्ता के द्वारा मान्या स्वीकृता 'संस्कृति' को ही स्वचिन्तन का आधार मान बैठने वाले सत्तासापेक्ष, किंवा सत्ताश्रित प्रज्ञातन्त्र

अपने प्रज्ञाबल पर 'संस्कृति' का जो इतिहास उपनिबद्ध करते हैं, उसमें अवधानपूर्वक, जागरूकतापूर्वक तद्युग के सत्तातन्त्रों की मान्यताओं को ही प्रमुखता प्रदान करनी पड़ती है। यदि ये ऐसा नहीं करते, तो इनका सांस्कृतिक-इतिहास अप्रामाणिक ही बन जाता है, जिस अप्रामाणिकता के साथ ही इनका सत्तानुबन्धी लोक-स्वरूप ही परिसमाप्त हो जाता है। अपने इत्थंभूत व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही सत्तासापेक्ष प्रज्ञातन्त्रों को युगधर्म्मानुगता सत्तानुबन्धिनी मान्यताओं के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए ही अपने सांस्कृतिक उद्गार अभिव्यक्त करने पड़ते हैं। सत्तानुगता सभ्यता के परिचयचिन्ह हीं इन विद्वानों की दृष्टि में व **'प्राचीन-पुरातन'** तत्त्व हैं, जिन्हें ये अपनी भाषा में—**'पुरातत्त्व'** **(पुरातनतत्त्व)** कहा करते हैं। भूपृष्ठस्थ प्राचीन खण्डहर, तथा भूगर्भस्थ प्राचीन ध्वंसावशेष ही इनकी ऐतिहासिकता, तथा भौगोलिकता के प्रमुख मापदण्ड बने रहते हैं, एवं इन्हीं के माध्यम से ये 'संस्कृति' का स्वरूप व्यवस्थित करते हैं, एवं इन ध्वंसावशेषों को ही ये **'सांस्कृतिक-परिचयचिह्न'** कहा करते हैं। स्पष्ट ही इस सांस्कृतिकता की पर्य्यवसानभूमि केवल 'सभ्यता' ही बनी रहती है, जिसका 'संस्कृति' के शब्दार्थ से भी तो सम्पर्क नहीं है। सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता सभ्यताओं से सर्वथा असंस्पृष्ट रहने वाला सनातन-पुरातन-मौलिक-साहित्य ही वह सांस्कृतिक-पुरातनतत्त्व, किंवा 'पुरातत्त्व' है, जिसकी प्रतीकता के माध्यम से ही 'संस्कृति' शब्द का चिरन्तन इतिहास उपनिबद्ध हुआ करता है, जो दिग्देशकालातीत बनता हुआ 'सनातन-इतिहास' बना रहता है, जो स्वयं अपने रूप से निर्विकार है, युगधर्म्मानुगत विकारों से असंस्पृष्ट है, अतएव **'सामासिक'** जैसे सभ्यतानुबन्धी लौकिक शब्द का तत्र प्रवेश भी असम्भव है।

८—'सामासिक-संस्कृति' का महान् व्यामोहन, एवं प्रतिद्वन्द्वितामूला 'सामासिक-सभ्यता'—

ध्वंसावशेषमूलक तथाकथित सत्तानुबन्धी पुरातत्त्वों के माध्यम से ही सभ्यतात्मक जो प्रसून अभिव्यक्त विकसित होते हैं, उन्हीं का नाम रख लिया जाता है—**'सामासिक-संस्कृति'**, जिसका अर्थ किया जाता है—**'अनेक संस्कृतियों के मेल से उत्पन्न होने वाली एक समन्वय संस्कृति'**। अवश्य ही इस सामासिकता में, इस समन्वय में अनेक भावों का समन्वय है। निश्चय ही अनेन भावों के मिलने से ही युगधर्म्मानुगता सामासिकता का जन्म हुआ करता है। किन्तु जिन अनेक भावों का समन्वय होता है, जिन अनेकों के समन्वय से 'सामासिकता' जन्म लेती है, वे अनेक भाव 'संस्कृति' के रूप कदापि नहीं हैं। अपितु ये अनेक-भाव तो सत्तानुबन्धी सभ्यताभावमात्र ही हैं। युगधर्म्मानुगता तात्कालिकी अनेक सभ्यताओं के एकत्र समन्वय से ही **'सामासिक-सभ्यता'** का जन्म हुआ करता है, संस्कृति का नहीं। क्योंकि 'संस्कृति' में अनेकत्व है ही नहीं। **सम्पूर्ण विश्व की 'संस्कृति' एक है**, जिस अखण्डा अभिन्ना संस्कृति के गर्भ में हीं खण्ड-खण्ड-भावात्मिका युगधर्म्मानुगता सत्तानुबन्धिनी-सभ्यताएँ **सामासिकसभ्यता**, तथा **विषमासभ्यता** के रूप से आविर्भूत तिरोभूत होती रहती हैं। जो सत्ता प्रबल होती है, वह अपनी सभ्यता में इतर निर्बल सत्ता-सभ्यताओं का निगरण कर सामासिकसभ्यता का रूप धारण कर लेती है। जो सभ्यता प्रतिद्वन्द्विनी बन कर सबला सभ्यता से परास्त नहीं होती, वह **विषमासभ्यता** कहलाने लगती है, जिसके दोनों हीं प्रतिद्वद्वी परस्पर एक दूसरी सभ्यता को **'असभ्यता'** कहने लग पड़ते हैं। यों सामासिकता, एवं तन्मूलक साम्य, तथा तन्मूलक वैषम्य, दोनों हीं सभ्यताविवर्त्त दिग्देशकालसीमाओं से सीमित बने रहते हुए मानव की भावुकता

को समुत्तेजित करते ही रहते हैं। इस उत्तेजनापूर्ण सम, विषम, इतिहास का ही नाम **'सभ्यता का इतिहास'** है, यही आजकी भाषा में **'सांस्कृतिक–इतिहास'**, किंवा **'समा–विषमा-संस्कृतियों का इतिहास'** है, जिसके आधार पर ही पुरातत्त्ववेत्ता शोधक विद्वान्, इतिहाससमर्म्मज्ञ विद्वान् **'सांस्कृतिक–निबन्ध'** उपनिबद्ध करते रहते हैं।

९–श्रीनेहरू महाभाग की भूमिका से समलङ्कृत श्रीरामधारीसिंह दिनकर महोदय के सांस्कृतिक निबन्ध पर एक दृष्टि––

अपनी सांस्कृतिक लेखिनी से महान् सांस्कृतिक राजा कर्ण के चरित्र का **'रश्मिरथी'** नाम से कविता में चित्रण करने वाले सर्वश्री **रामधारीसिंह दिनकर** महोदय **'संस्कृति के चार अध्याय'** नामक एक ऐसा ही सांस्कृतिक–निबन्ध उपनिबद्ध किया है, जिसकी भूमिका के लेखक हैं **सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू**। वर्त्तमान दृष्टिकोण से अनुप्राणित 'संस्कृति' शब्द के व्याख्या–व्यामोहनाकर्षण से इस निबन्ध के स्वाध्याय का हमने भी महद्भाग्य प्राप्त किया। इस महान् स्वाध्याय के आधार पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, श्रीदिनकर महोदय का सम्पूर्ण प्रयास उस **'सामासिक-संस्कृति'** का ही यशोगान कर रहा है, जिसके मूलसूत्र पश्चिमी विद्वानों की प्रज्ञा से ही व्यवस्थित हुए हैं। प्रतीच्य विद्वानों नें अपनी दिग्देशकालानुगता **मानसिक अनुभूतिरूपा संस्कृति**, तथा **शारीरिक भूतरूपा सभ्यता** के माध्यम से, ध्वंसावशेषात्मक पुरातत्त्वों के माध्यम से जैसा जो कुछ मान लिया है,-उसी को प्रमाण मान कर इस भारतीय अभिनव विद्वान् ने उसी क्रमविकासकालानुपात से अपने उद्गार अभिव्यक्त कर डाले हैं।

१०–इङ्गलिशभाषाशब्दों के अनुकरण-माध्यम से भारतीय शब्दार्थसन्वय के दुष्परिणाम, एवं शब्दों का काल्पनिक लाक्षणिकत्त्व–व्यामोहन—

ऐसा क्यों ?, और किसलिए ?। ऐसा यों, और इसलिए कि, **संस्कृति, सभ्यता, समाज, राजनीति, शासनव्यवस्था, सभा, संविधान, समिति, आचार,** आदि आदि जितने भी शब्द आज हिन्दीजगत् में हिन्दी के अभिनव–लेखकों के माध्यम से श्रुतोपश्रुत हैं, वे सभी शब्द प्रायः इङ्गलिशशब्दों के ही अनुवाद–मात्र हैं। वहाँ के **'कल्चर'** (Culture) शब्द का अनुवाद ही यहाँ **'संस्कृति'** हो गया है, वहाँ का **'सिविलाइजेशन'** (Civilization) शब्द ही यहाँ **'सभ्यता'** रूप में परिणत होगया है। यही दशा अन्यान्य शब्दों की है। इस अनुकरणप्रियता के कारण ही वहाँ इन शब्दों के सम्बन्ध में उनकी जो जो धारणाएँ अभिव्यक्त हुईं हैं, वे ही धारणाएँ, वे ही अर्थ इन शब्दों के भी मान लिए गए हैं। और निष्कर्षतः प्रतीच्य-विद्वानों की मान्यता के अनुवादमात्र का नाम ही यहाँ का वर्त्तमान सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव, किंवा सभ्यतावैभव है। एवं युगधर्म्मप्रभाव से, किंवा तथाकथिता सत्ताश्रयता के निग्रहात्मक अनुग्रह से इच्छा से, किंवा अनिच्छा से उनका दृष्टिकोण ही हमारे लिए सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित हो रहा है। यही कारण है कि, हम स्वयं अपनी मौलिक-साहित्यनिधि के माध्यम से अपने इन मौलिक सांस्कृतिक शब्दों के चिरन्तन–मौलिक–इतिहास के माध्यम से इन के शब्दार्थसमन्वय में असमर्थ ही प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव संस्कृति, सभ्यता, आदि शब्दों का शब्द–

अपने प्रज्ञाबल पर 'संस्कृति' का जो इतिहास उपनिबद्ध करते हैं, उसमें अवधानपूर्वक, जागरूकतापूर्वक तद्युग के सत्तातन्त्रों की मान्यताओं को ही प्रमुखता प्रदान करनी पड़ती है। यदि ये ऐसा नहीं करते, तो इनका सांस्कृतिक-इतिहास अप्रामाणिक ही बन जाता है, जिस अप्रामाणिकता के साथ ही इनका सत्तानुबन्धी लोकस्वरूप ही परिसमाप्त हो जाता है। अपने इत्थंभूत व्यक्तित्त्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ही सत्तासापेक्ष प्रज्ञातन्त्रों को युगधर्म्मानुगता सत्तानुबन्धिनी मान्यताओं के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए ही अपने सांस्कृतिक उद्गार अभिव्यक्त करने पड़ते हैं। सत्तानुगता सभ्यता के परिचयचिन्ह हीं इन विद्वानों की दृष्टि में व **'प्राचीन-पुरातन'** तत्त्व हैं, जिन्हें ये अपनी भाषा में—**'पुरातत्त्व' (पुरातनतत्त्व)** कहा करते हैं। भूपृष्ठस्थ प्राचीन खण्डहर, तथा भूगर्भस्थ प्राचीन ध्वंसावशेष ही इनकी ऐतिहासिकता, तथा भौगोलिकता के प्रमुख मापदण्ड बने रहते हैं, एवं इन्हीं के माध्यम से ये 'संस्कृति' का स्वरूप व्यवस्थित करते हैं, एवं इन ध्वंसावशेषों को ही ये **'सांस्कृतिक-परिचयचिह्न'** कहा करते हैं। स्पष्ट ही इस सांस्कृतिकता की पर्य्यवसानभूमि केवल 'सभ्यता' ही बनी रहती है, जिसका 'संस्कृति' के शब्दार्थ से भी तो सम्पर्क नहीं है। सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता सभ्यताओं से सर्वथा असंस्पृष्ट रहने वाला सनातन-पुरातन-मौलिक-साहित्य ही वह सांस्कृतिक-पुरातनतत्त्व, किंवा 'पुरातत्त्व' है, जिसकी प्रतीकता के माध्यम से ही 'संस्कृति' शब्द का चिरन्तन इतिहास उपनिबद्ध हुआ करता है, जो दिग्देशकालातीत बनता हुआ 'सनातन-इतिहास' बना रहता है, जो स्वयं अपने रूप से निर्विकार है, युगधर्म्मानुगत विकारों से असंस्पृष्ट है, अतएव **'सामासिक'** जैसे सभ्यतानुबन्धी लौकिक शब्द का तत्र प्रवेश भी असम्भव है।

८—'सामासिक-संस्कृति' का महान् व्यामोहन, एवं प्रतिद्वन्द्वितामूला 'सामासिक-सभ्यता'—

ध्वंसावशेषमूलक तथाकथित सत्तानुबन्धी पुरातत्त्वों के माध्यम से ही सभ्यतात्मक जो प्रसून अभिव्यक्त विकसित होते हैं, उन्हीं का नाम रख लिया जाता है—**'सामासिक-संस्कृति'**, जिसका अर्थ किया जाता है—**'अनेक संस्कृतियों के मेल से उत्पन्न होने वाली एक समन्वय संस्कृति'**। अवश्य ही इस सामासिकता में, इस समन्वय में अनेक भावों का समन्वय है। निश्चय ही अनेन भावों के मिलने से ही युगधर्म्मानुगता सामासिकता का जन्म हुआ करता है। किन्तु जिन अनेक भावों का समन्वय होता है, जिन अनेकों के समन्वय से 'सामासिकता' जन्म लेती है, वे अनेक भाव 'संस्कृति' के रूप कदापि नहीं हैं। अपितु ये अनेकभाव तो सत्तानुबन्धी सभ्यताभावमात्र ही हैं। युगधर्म्मानुगता तात्कालिकी अनेक सभ्यताओं के एकत्र समन्वय से ही **'सामासिक-सभ्यता'** का जन्म हुआ करता है, संस्कृति का नहीं। क्योंकि 'संस्कृति' में अनेकत्त्व है ही नहीं। सम्पूर्ण विश्व की **'संस्कृति' एक है**, जिस अखण्डा अभिन्ना संस्कृति के गर्भ में हीं खण्ड-खण्ड-भावात्मिका युगधर्म्मानुगता सत्तानुबन्धिनी-सभ्यताएँ **सामासिकसभ्यता**, तथा **विषमासभ्यता** के रूप से आविर्भूत तिरोभूत होती रहती है। जो सत्ता प्रबल होती है, वह अपनी सभ्यता में इतर निर्बल सत्तासभ्यताओं का निगरण कर सामासिकसभ्यता का रूप धारण कर लेती है। जो सभ्यता प्रतिद्वन्द्विनी बन कर सबला सभ्यता से परास्त नहीं होती, वह **विषमासभ्यता** कहलाने लगती है, जिसके दोनों हीं प्रतिद्वन्द्वी परस्पर एक दूसरी सभ्यता को **'असभ्यता'** कहने लग पड़ते हैं। यों सामासिकता, एवं तन्मूलक साम्य, तथा तन्मूलक वैषम्य, दोनों हीं सभ्यताविवर्त्त दिग्देशकालसीमाओं से सीमित बने रहते हुए मानव की भावुकता

को समुत्तेजित करते ही रहते हैं। इस उत्तेजनापूर्ण सम, विषम, इतिहास का ही नाम **'सभ्यता का इतिहास'** है, यही आजकी भाषा में **'सांस्कृतिक-इतिहास'**, किंवा **'समा-विषमा-संस्कृतियों का इतिहास'** है, जिसके आधार पर ही पुरातत्त्ववेत्ता शोधक विद्वान्, इतिहासमर्म्मज्ञ विद्वान् **'सांस्कृतिक-निबन्ध'** उपनिबद्ध करते रहते हैं।

९-श्रीनेहरू महाभाग की भूमिका से समलङ्कृत श्रीरामधारीसिंह दिनकर महोदय के सांस्कृतिक निबन्ध पर एक दृष्टि--

अपनी सांस्कृतिक लेखिनी से महान् सांस्कृतिक राजा कर्ण के चरित्र का 'रश्मिरथी' नाम से कविता में चित्रण करने वाले सर्वश्री **रामधारीसिंह दिनकर** महोदय **'संस्कृति के चार अध्याय'** नामक एक ऐसा ही सांस्कृतिक-निबन्ध उपनिबद्ध किया है, जिसकी भूमिका के लेखक हैं **सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू**। वर्त्तमान दृष्टिकोण से अनुप्राणित 'संस्कृति' शब्द के व्याख्या-व्यामोहनाकर्षण से इस निबन्ध के स्वाध्याय का हमने भी महद्भाग्य प्राप्त किया। इस महान् स्वाध्याय के आधार पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, श्रीदिनकर महोदय का सम्पूर्ण प्रयास उस **'सामासिक-संस्कृति'** का ही यशोगान कर रहा है, जिसके मूलसूत्र पश्चिमी विद्वानों की प्रज्ञा से ही व्यवस्थित हुए हैं। प्रतीच्य विद्वानों नें अपनी दिग्देशकालानुगता **मानसिक अनुभूतिरूपा संस्कृति**, तथा **शारीरिक भूतरूपा सभ्यता** के माध्यम से, ध्वंसावशेषात्मक पुरातत्त्वों के माध्यम से जैसा जो कुछ मान लिया है,-उसी को प्रमाण मान कर इस भारतीय अभिनव विद्वान् ने उसी क्रमविकासकालानुपात से अपने उद्गार अभिव्यक्त कर डाले हैं।

१०-इङ्गलिशभाषाशब्दों के अनुकरण-माध्यम से भारतीय शब्दार्थसन्वय के दुष्परिणाम, एवं शब्दों का काल्पनिक लाक्षणिकत्व-व्यामोहन—

ऐसा क्यों ?, और किसलिए ?। ऐसा यों, और इसलिए कि, **संस्कृति, सभ्यता, समाज, राजनीति, शासनव्यवस्था, सभा, संविधान, समिति, आचार,** आदि आदि जितने भी शब्द आज हिन्दीजगत् में हिन्दी के अभिनव-लेखकों के माध्यम से श्रुतोपश्रुत हैं, वे सभी शब्द प्रायः इङ्गलिशशब्दों के ही अनुवाद-मात्र हैं। वहाँ के 'कल्चर' (Culture) शब्द का अनुवाद ही यहाँ 'संस्कृति' हो गया है, वहाँ का 'सिविलाइजेशन' (Civilization) शब्द ही यहाँ 'सभ्यता' रूप में परिणत होगया है। यही दशा अन्यान्य शब्दों की है। इस अनुकरणप्रियता के कारण ही वहाँ इन शब्दों के सम्बन्ध में उनकी जो जो धारणाएँ अभिव्यक्त हुई हैं, वे ही धारणाएँ, वे ही अर्थ इन शब्दों के भी मान लिए गए हैं। और निष्कर्षतः प्रतीच्य-विद्वानों की मान्यता के अनुवादमात्र का नाम ही यहाँ का वर्त्तमान सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव, किंवा सभ्यतावैभव है। एवं युगधर्म्मप्रभाव से, किंवा तथाकथिता सत्ताश्रयता के निग्रहात्मक अनुग्रह से इच्छा से, किंवा अनिच्छा से उनका दृष्टिकोण ही हमारे लिए सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित हो रहा है। यही कारण है कि, हम स्वयं अपनी मौलिक-साहित्यनिधि के माध्यम से अपने इन मौलिक सांस्कृतिक शब्दों के चिरन्तन-मौलिक-इतिहास के माध्यम से इन के शब्दार्थसमन्वय में असमर्थ ही प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव संस्कृति, सभ्यता, आदि शब्दों का शब्द-

मर्य्यादानुबन्धी वाच्यार्थ हम आजतक नहीं कर पाए हैं। अपितु तत्स्थान में परमान्यतानुपात से इन शब्दों के लाक्षणिक अर्थों पर ही हम विश्राम कर लेते हैं *।

११--भारतीय संस्कृतज्ञ विद्वानों का मतवादात्मक अभिनिवेश, एवं तदनुग्रह से राष्ट्रीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव--

क्या स्वयं भारतीय विद्वानों नें (उन भारतीय विद्वानों नें–जिनके लिए एकमात्र भारतीय श्रुति–स्मृति-पुराणादि शास्त्र ही प्रमाण है) इस दिशा में कोई प्रयास किया है इस त्रिसहस्रवर्षात्मिका अवधि में ?।

---

* "संस्कृति एक ऐसी चीज है, जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किन्तु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है। अंग्रेजी में कहावत है कि, सभ्यता वह चीज है, जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है, जो हम में व्याप्त है। मोटर–महल–सड़क–हवाईजहाज–पोशाक और अच्छा भोजन, ये, तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएँ संस्कृति नहीं, सभ्यता के सामान हैं। मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है, वह संस्कृति की चीज है।" इत्यादि

—देखिए–'**संस्कृति के चार अध्याय**' नामक निबन्ध, ले॰ श्रीदिनकरजी, 'परिशिष्ट 'क' पृ॰ सं॰ ६५१ का आरम्भ।

'**अंग्रेजो नें जो कुछ कहा है**' वह तो ठीक ही कहा होगा अपनी मनःशरीरानुगता लोकमान्यताओं के अनुपात से। किन्तु क्या आपके देशके किसी भी मनीषीने संस्कृति, और सभ्यता–शब्दों के सम्बन्ध में आजतक कुछ नहीं कहा ?। मोटर–हवाईजहाज–आदि सभ्यता के सामानों से अपना स्वरूप व्यवस्थित करने वाली वह 'सभ्यता' है क्या ?, एवं पोशाक, तथा भोजन करने की उस 'कला' का स्वरूप–परिचय क्या है ?, जिसे श्रीदिनकरजी '**संस्कृति की चीज**' कह रहे हैं, इत्यादि सभी प्रश्न सर्वथा प्रश्नरूप से ही इसलिए सुरक्षित रह जाते हैं कि, इन प्रश्नों का आप के प्रमाणभूत अंग्रेजों नें लाक्षणिकता के अतिरिक्त शब्दवाच्यार्थमर्य्यादा से संस्मरण भी नहीं किया है। फलतः '**अंग्रेजो नें कहा है**' इस आप्तवाक्य–प्रमाण की अभिव्यक्ति के अनन्तर लेखक महाभाग के सभी प्रयास परिसमाप्त हो जाते हैं।

ठीक यही स्थिति राष्ट्र के प्रमुख कर्णधार भूमिकालेखक **सर्वश्री जवाहरलालनेहरू** महाभाग की है, जिन्होंनें 'संस्कृति' के जो अर्थ दिए हैं, वे भारतीय मौलिक वाङ्मय में तो हमें कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। निश्चयेन नेहरू महाभाग के भी वे उद्धरण, वे लाक्षणिक अर्थ पश्चिमीजगत् की मान्यताओं से ही अनुप्राणित होंगे। आप कहते हैं—

"संस्कृति है क्या ?। शब्दकोश (भारतीय शब्दकोश नहीं, अपितु विदेशी–शब्दकोश) उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। एक बड़े लेखक का कहना है कि—'**संसार भर में जो सर्वोत्तम बातें जानी, या कही गई हैं, उन से अपने आप को परिचित कराना ही संस्कृति है**'। एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि–'**संस्कृति शारीरिक, या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण, या विकास, अथवा उस से उत्पन्न अवस्था है**'। यह (संस्कृति) '**मन, आचार, अथवा रुचियों की परिष्कृति, या शुद्धि**' है। यह (संस्कृति)–'**सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है**'। इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है" इत्यादि–(**निबन्ध-भूमिका**)।

यही वह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिस के उपस्थित होते ही वर्त्तमानयुग के अभिनव विद्वानों के सम्मुख हम लज्जासे सर्वथा ही अवनतशिरस्क बन जाते हैं। और यही समाधान कर देना पड़ता है इस सम्बन्ध में कि, बुद्धयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान–प्रक्रान्तयुग–पर्य्यन्त भारतीय शास्त्र के प्रति अनन्य आस्था–श्रद्धा रखने वाले भी भारतीय विद्वानों नें तो इस दिशा में अपनी प्रज्ञा को यत्किञ्चित्‌रूप से भी उत्पीड़ित करना आवश्यक ही नहीं समझा। 'संस्कृति' का महान्‌कोश **वेदशास्त्र** इनके लिए अपौरुषेय, अतएव सर्वथा पूजन–अर्चन की ही सामग्री बना रहा, सांस्कृतिक–आचारों का महान् कोश **स्मृतिशास्त्र** इनके लिए निरपेक्ष ही प्रमाणित होता रहा। एवं सांस्कृतिक–आयोजनों का महान् कोश **पुराणशास्त्र** इनके लिए उपेक्षणीय ही बना रहा इस त्रिसहस्रवर्षावधिकालमें। अपेक्षित रहे तत्तद्युगों के सत्तातन्त्र, सत्तातन्त्रानुगता मान्यताओं के समर्थक स्वकल्पनया कल्पित अभिनव शास्त्र, एवं स्व स्व व्यक्तित्वप्रतिष्ठामूलक साम्प्रदायिक–मतवादात्मक निबन्ध।

१२--सत्तासापेक्ष भारतीय प्राच्य विद्वानों की मतवादासक्ति, एवं तद्द्वारा ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य—

सत्ताश्रयतामूला सत्तासापेक्षता के महान् व्यामोहन से व्यामुग्ध भारतीय प्राच्य विद्वानों की प्रज्ञा से प्रसूता मतवादपरम्पराओंनें हीं तो भारतीय मूलसंस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के सनातन–मौलिक–अखण्ड–स्वरूप को खण्ड–खण्डरूप में परिणत कर दिया है। इस निर्बलता से ही तो भारतराष्ट्र अनेक शताब्दियों से परतन्त्रता के वारुण–पाश में आबद्ध रहा है। और आज भी वर्त्तमान भारत के वर्त्तमान अभिनव–विद्वानों की ओर से प्रतीच्य दृष्टिकोणानुसार जो सामयिक उद्‌गार अभिव्यक्त होते रहते हैं, उन सबका श्रेय भी यहाँ के शास्त्रभक्त विद्वानों को ही सधन्यवाद समर्पित कर दिया जासकता है, जो अपने राष्ट्रके सम्मुख अपनी मूलनिधिके चिन्तन–माध्यम से मूलसंस्कृति का कोई भी स्वरूप उपस्थित न करते हुए केवल प्रतीच्यालोचना में हीं अपनी प्रज्ञा परिसमाप्त करते रहते हैं। सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों का वैसा कौनसा स्वरूप उपनिबद्ध हुआ इन प्राच्य–संस्कृतज्ञ–विद्वानों की ओर से, जिसे हम सम्प्रदायवाद-मतवाद-निरपेक्ष विशुद्ध वैसा मौलिक स्वरूप कह सकें, मान सकें, जिसके **अनुशीलन–आचरण-अनुसरण-अनुकरण** से भारतराष्ट्र अपने अभ्युदय, निःश्रेयस् में समर्थ बन सके ?। अतएव हमें तो इन अभिनव विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ही अभिव्यक्त कर देनी चाहिए, जिनकी प्रेरणा से ही आज हम संस्कृति, सभ्यता, शब्दों के चिरन्तन–इतिहासान्वेषण में प्रवृत्त हो रहे हैं।

१३–प्रतीच्य दृष्टिकोण के भक्त भारतीय अभिनव विद्वानों के सांस्कृतिक चार अध्याय, एवं उन की आपातरमणीयता का नग्नचित्रण—–

और सर्वश्री दिनकर महाभाग जैसे अभिनव विद्वानों के तथाविध सांस्कृतिक–निबन्धों के प्रति भी हमें कृतज्ञताञ्जलि ही समर्पित कर देनी चाहिए, जिन्होंनें 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसे अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध

में आदमी की नस्ल पहिचानने वाले सुविकसित नवीन शास्त्रों के बल पर (१), औष्ट्रिक, या आग्नेय जातियों के आगमन (२), द्रविड़जाति के आगन (३), आर्य्यों के आगमन (४), आर्य्यों के आदिस्थान (५), ऋग्वेदरचनाकाल (६), आदि आदि अपनी महत्त्वपूर्ण खोजों के माध्यम से तीन सहस्रवर्षों के **'सांस्कृतिक-अधःपतन'** का बड़ा ही मार्म्मिक विश्लेषण किया है। विभिन्न मतवादात्मक जिस सम्प्रदायवाद ने तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति,÷ विश्ववारा व्यापक संस्कृति, तथा तदाधार पर प्रतिष्ठिता आर्षसभ्यता के मौलिक चिरन्तन जिस स्वरूप को उत्तरोत्तर अभिभूत ही किया है, उस त्रिसहस्रवर्षात्मक सांस्कृतिक-अधःपतन का ही आपके इन चार अध्यायों में विस्तार से निरूपण हुआ है, जिस निरूपण के प्रमुख आधारस्तम्भ प्रतीच्य-विद्वानों के सुविकसित अभिनवशास्त्र, तथा भाषाविज्ञानादि शास्त्र ही बने हुए हैं। आपने आग्रह किया है कि, आपकी इस पुस्तक को अवश्य ही भारतीय जनता पढ़े *। राष्ट्र के त्रिसहस्रवर्षात्मक, मतवादाभिनिविष्ट सांस्कृतिक-अधःपतन के इतिहासविश्लेषक इन चार अध्यायों के प्रति जिन्हें आकर्षण हो, जो अपने सांस्कृतिक पतन के परप्रदत्त मलीमस इतिहास को एक भारतीय की राष्ट्रीयभाषा-हिन्दी में अनूदित देखना चाहते हों, दूसरे शब्दों में-आज की सभ्यता के संरक्षण के लिए अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक इंग्लिशभाषा से जो अपरिचित हों, अतएव प्रतीच्य विद्वानों के विचारों को-साक्षात्रूपेण जानने में जो असमर्थ हों, मादृश ऐसे व्यक्तियों को अवश्य ही इस निबन्धावलोकन से उद्बोधन प्राप्त कर ही लेना चाहिए। और यह अनुमान लगा ही लेना चाहिए कि, भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-निष्ठाओं के शैथिल्य में प्रतीच्य विद्वानों के अभिनवग्रन्थ उतने कारण नहीं हैं, जितने कारण उनके ये अनुवादग्रन्थ बने हुए हैं। अपने विशुद्ध राजनैतिक स्वार्थ के, किंवा साम्राज्यलिप्सा के संरक्षण के लिए जिन चाणाक्षचतुर प्रतीच्य विद्वानों नें भारतीय आर्य्यजाति को भारतराष्ट्र के अतिथि प्रमाणित कर दिया था, उसी दृष्टिकोण का अनुकरण करने वाले इन **चार अध्यायों** को आप आदि से अन्त तक पढ़ जाइए, **'संस्कृति-सभ्यता'** शब्दों के आचारात्मक अर्थ का भी आप बोध प्राप्त न कर सकेंगे इस महान् स्वाध्याय से। हाँ, वह सबकुछ विदित हो जायगा आपको, जो इंग्लिश न जानने के कारण आजतक आपके लिए केवल कर्णाकर्णि-परम्परा ही बना हुआ था। पश्चिमी विद्वानों नें भारतीय-संस्कृति,-सांस्कृतिक-आचार, तथा सांस्कृतिक-आयोजनों के सम्बन्ध में अपने राजनैतिक स्वार्थ की संरक्षणलिप्सा से जो धारणाएँ व्यक्त कीं हैं, उनका बोध आप अवश्य ही प्राप्त कर लेंगे इन चारों अध्यायों से, जिसे हम उद्बोधन का ही कारण मानेंगे। एवं इस उद्बोधन की दृष्टि से अन्ततोगत्वा हम भी श्रीदिनकरजी के ग्रन्थ के अवलोकन के आग्रह से उनसे पीछे न रहेंगे।

---

(१)-पृ०सं० १८,१९ (२)-पृ०सं० २३ (३)-पृ०सं० २५ (४)-पृ०सं० २७ (५)-पृ०सं० २८ (६)-पृ० सं० २२—

÷ **सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा** (यजुसंहिता)।

* "मेरा अपना क्षेत्र तो काव्य ही है। एवं मेरे साहित्यिक जीवनका यश, और अपयश मेरे काव्य पर निर्भर करता है। किन्तु जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है, उस परिश्रम से मैंने और कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठकों से कभी यह अनुरोध नहीं किया कि, वे मेरी किसी भी कृति को पढ़ें। किन्तु इस ग्रन्थ को देख जाने का अनुरोध मैं सबसे करता हूँ"

—लेखक की भूमिका से उद्धृत—

१४–'सामासिक–संस्कृति' का फलितार्थ, एवं अभिनव विद्वानों की आवेशपूर्ण सर्व–नाशकारिणी भावुकता—

'सामासिक-संस्कृति' का फलितार्थ निकलता है–'संस्कृति का आत्यन्तिक अभाव'। अपनी कोई निश्चित निष्ठा, निर्णीत जीवनपद्धति नहीं। अपितु गङ्गा गए गङ्गादास, एवं जमना गए जमनादास। नितान्त व्यामोहक **'सामासिक'** शब्द का यही अर्थसमन्वय है, जिस भावुकतापूर्ण इस सामासिक–समन्वय की कृपा से ही तो भारतराष्ट्र अपने मौलिक–नैष्ठिक–निश्चित–निर्णीत–स्वरूप से पराङ्मुख होता आ रहा है विगत तीन सहस्रवर्षों से। लोकैषणात्मिका वित्तैषणा को, किंवा वित्तैषणात्मिका लोकैषणा को, अथवा तो विशुद्धा लोकैषणा को आधार बना लेने वाली सत्ताश्रयता से ही इसप्रकार का व्यामोहन आविर्भूत होजाता है, जिससे स्वदर्शन अन्तर्म्मुख बन जाता है, एवं परदर्शन प्रमुख बन जाता है। स्वस्वरूपबोध की निष्ठावृत्ति से वञ्चित कर देने वाली परप्रत्ययनेयमूला–परदर्शनात्मिका सर्वनाशकारिणी भावुकता से ही मानव लक्ष्यविहीन बन जाया करता है। ऐसे लक्ष्यविहीन भावुक मानव की भाषा तो होती है–**'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की। किन्तु आचारदृष्ट्या स्वयं इसका कोई स्वरूप ही नहीं होता। भावावेशवश विश्वमैत्री का उद्घोषमात्र करने वाला यह सामासिक–संस्कृति का पुजारी कालान्तर में स्वयं अपनी मित्रता से भी वञ्चित हो जाता है, जिसका–**'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः'** इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है।

१५–परतन्त्रता से उन्मुक्त भारतराष्ट्र के 'स्व' तन्त्र की अन्वेषण–जिज्ञासा, एवं 'स्वतन्त्र' शब्दार्थसमन्वय—

महद्भाग्य से भारतराष्ट्र अनेक शताब्दियों के अनन्तर उस परतन्त्रता से तो अवश्य ही मुक्त होगया, जिस परतन्त्रता के निविड़–वारुणपाश में आबद्धा भारतराष्ट्र की प्रज्ञा को अनिच्छन्नपि परसत्तातन्त्रों की मान्यताओं को अवनतशिरस्क बन कर मान ही लेना पड़ता था। क्या 'पर' 'तन्त्रों' के पाश से मुक्त हो जाने मात्र से ही भारत 'स्व' तन्त्र में भी प्रतिष्ठित होगया ?, यह प्रश्न उपस्थित है दासता से उन्मुक्त भारतराष्ट्र की प्रज्ञा के सम्मुख। परतन्त्रता से मुक्त होजाना अन्य पक्ष है, एवं परतन्त्रता से मुक्त होकर 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित होते हुए 'स्वतन्त्र' बन जाना अन्य पक्ष है। क्या अर्थ है 'स्व' 'तन्त्र' रूप 'स्वतन्त्र' शब्द का ?। क्या है भारतराष्ट्र का 'स्व' नामक वह 'तन्त्र', जिसमें प्रतिष्ठित होने के अनन्तर ही यह 'स्वतन्त्र' उपाधि से समन्वित माना जासकता है ?। एक दास का दासता के पाश से उन्मुक्त होजाना हीं तो उसकी **'स्वतन्त्रता'** नहीं है। अपितु जो दास अबतक दासवृत्ति के कारण अपने वैय्यक्तिक स्वरूप से, इच्छा से जैसी जीवनव्यवस्था सोच सकता था, तदनुपात से स्वेच्छा से स्वस्वरूपानुपात से जैसी व्यवस्था कर सकता था, वैसा सबकुछ करने लग पड़ जाना ही इसका 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित होना माना जायगा, एवं तभी इसे 'स्वतन्त्र' कहा जासकेगा।

१६–वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र से भारतराष्ट्र के 'स्व' रूप प्रातिस्विक तन्त्र के सम्बन्ध में आज के जागरूक जनतन्त्र की प्रश्नात्मिका जिज्ञासा, एवं 'स्वतन्त्र', 'परतन्त्र'–शब्दों का मौलिक–अर्थसमन्वय—

भारतराष्ट्र ने, परतन्त्रता से उन्मुक्त भारतराष्ट्र ने अपने दशवर्षात्मक इस मुक्तिकाल में 'स्व' की क्या परिभाषा जनतन्त्र के सम्मुख उपस्थित की ?, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। ब्रिटिशदासतालक्षणा–परतन्त्रता के

युग की अपेक्षा इस मुक्तिकाल में भारतराष्ट्र अपने किन किन 'स्व' भावों, 'तन्त्रों' में प्रतिष्ठित होगया स्वप्रतिष्ठा से ?, क्या स्वस्था-प्रकृतिस्था प्रज्ञा से राष्ट्रीय कर्णधारोंनें इस प्रश्न को चिन्तन का क्षेत्र बनाया है ?। जिन महत्त्वपूर्ण शासनपदों से भारतीय वञ्चित थे परतन्त्रतायुग में, उन पदों पर प्रतिष्ठितमात्र होकर परतन्त्रताप्रवर्त्तक सत्ताधीशों के ही समस्त विधि-विधानों का भारतीय जनतन्त्र से पालन करवाते रहना ही क्या 'स्व' तन्त्र की परिभाषा है ?। अर्थात् विदेशी शासक कटुता से जिन विधि-विधानों, आचारपद्धतियों का बलात् पालन करवाते थे जनतन्त्र से, उन्हीं विधि-विधानों, आचारपद्धतियों का जनतन्त्र की घोषणा के माध्यम से, उससे भी अधिक कटुता से जनतन्त्र से पालन करवाते रहने का ही नाम क्या 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ?। अथवा तो जो केन्द्रसत्ता परतन्त्रतायुग में नृत्य-गान-वादन-ढोलकनृत्य-आदि महान् ? सांस्कृतिक-आयोजन जैसे 'स्व' ? तन्त्रों को नहीं पनपने देती थी, उन 'स्व' तन्त्र रूप आयोजनों को केन्द्रसत्ता के द्वारा अनुदिन माने, और मनवाए जाते रहने का नाम हीं क्या 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ?। किंवा परतन्त्रतायुग में सत्ताभयनिबन्धना जो एक अनुशासनात्मिका मर्य्यादा प्रक्रान्त थी, उस मर्य्यादा को जलाञ्जलि समर्पित कर अनुशासनहीनतापूर्वक यथेच्छाचारविहारपरायण बन जाना हीं क्या 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित हो जाना है ?। कहाँ, किस क्षेत्र से, किस पद्धति से, कैसे अन्वेषण करें भारतराष्ट्र के उस 'स्व' को, जिस में प्रतिष्ठित हो जाने का नाम ही 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित होना माना गया है, एवं ऐसे 'स्वतन्त्र' शब्द का अधिकारी राष्ट्र ही 'स्वतन्त्र राष्ट्र' माना गया है, जिस इत्थंभूत 'स्व' 'तन्त्र' की निष्ठाप्राप्ति के लिए तो परतन्त्रता से मुक्ति पाने की अपेक्षा भी कहीं सहस्रगुणित प्रयास-पुरुषार्थ अपेक्षित माना गया है।

१७-'परतन्त्रता' से उन्मुक्त, किन्तु अद्यावधि भी 'स्व' तन्त्ररूपा 'स्वतन्त्रता' से असंस्पृष्ट, दिग्देशकालविमूढ आज का भारतराष्ट्र—

सर्वात्मना यह अविस्मरणीय, अतएव सतत संस्मरणीय है कि, भारतराष्ट्र इन दस वर्षों में भी 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। अपितु **'पर'** तन्त्रानुगत अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहनों को हीं 'स्व' तन्त्र मानता-मनवाता हुआ अपनी मुक्ति को उत्तरोत्तर महर्घ ही प्रमाणित करता जा रहा है। लक्षण सर्वात्मना यही प्रमाणित कर रहे हैं कि, पर तन्त्रों के साक्षात् सत्ताकाल में भारतराष्ट्र की प्रज्ञा अपने अन्तर्जगत् में जिस **'स्व'** भाव को प्राणपण से बचाए रखती थी, परतन्त्रता-मुक्तिकालात्मक वर्त्तमान काल में वह आभ्यन्तर **'स्व'** भी उत्तरोत्तर **'पर'** तन्त्रों के व्यामोहनों से व्यामुग्ध ही बनता जा रहा है। मानो इस भारतराष्ट्र के कोश में **'स्व'** कहने जैसी मूलनिधि कभी भी किसी भी युग में रही ही न हो। और इस तथ्य के आधार पर तो हमें यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं हो रही कि, परतन्त्रतायुग में जिन **'पर'** भावों को हम अनिच्छा से मानते-मनवाते थे, परतन्त्रामुक्तिकालात्मक इस वर्त्तमानकाल में तो हम उन **'पर'** भावों को स्वेच्छा से, आवेशपूर्वक मानने, मनवाने के लिए सर्वात्मना सज्जीभूत-कटिबद्ध ही बनते जा रहे हैं। तो क्या इच्छापूर्वक उन **'पर'** तन्त्रों की मान्यताओं को भारतराष्ट्र के 'स्व' तन्त्र मान बैठने का नाम हीं 'स्व' तन्त्र में प्रतिष्ठित होना मान लिया जाय ?। भारतीय **'स्व'** तन्त्र की मूलनिधियों से अपरिचित, किन्तु 'पर' तन्त्रों की निधियों से मनसा, वाचा, कर्म्मणा, सर्वात्मना सुपरिचित राष्ट्रीय कर्णधार तो यही कहेंगे तत्प्रश्न के समाधान में कि,—"**ज़रूर इस वतन को अपना पुराना दकियानूसीपन छोड़ कर नई रोशनी में हीं आ जाना चाहिए, जिस नई रोशनी से**

ही दूसरे मुल्कों ने तरक्की हासिल की है"। यदि परतन्त्रता से मुक्त होकर इस विराट् अवधि * में 'स्वतन्त्र' बन जाने का यही अर्थ समझ लिया है, तो फिर तथाविध प्रज्ञाशील कर्णधारों से तो अब हमें कुछ भी निवेदन नहीं करना है भारतराष्ट्र की मूलसमस्याओं के सम्बन्ध में ।

१८–स्वतन्त्रतासंग्राम के दिवंगत हुतात्माओं के द्वारा प्रश्नोत्थान, एवं तत्समाधान में नितान्त असमर्थ 'नई रोशनी वाला' आज का भारत––

निवेदन करना है उस जनतन्त्र से, जिसने बड़ी आशा–प्रतीक्षा से वर्त्तमान युग के आविर्भाव के लिए अपना सर्वस्व आहुत कर दिया था स्वातन्त्र्य–संग्राम में, एवं जिसके स्वनामधन्य कर्णधार मानवश्रेष्ठ, एकमात्र भारतीय संस्कृति, सभ्यता के संरक्षण की स्वातन्त्र्य-कामना से ही स्वातन्त्र्य-संग्रामयज्ञ के होता बने थे। दिवंगत वे हुतात्मा आज उसी जनतन्त्र से यह मूक प्रश्न कर रहे हैं कि, क्या जनतन्त्र अपने लक्ष्य पर आरूढ है ?। कहीं इसने परतन्त्रतापाश से उन्मुक्त होने का नाम हीं तो 'स्वतन्त्रता' नहीं मान लिया ?। कहीं यह प्रवाह में प्रवाहित होकर अपने सांस्कृतिक–स्वातन्त्र्य–लक्ष्य को तो विस्मृत नहीं कर बैठा ?। ये ही वे कतिहय प्रश्न हैं, जो आज लक्ष–लक्ष–कोटि–कोटि–भारतीय मानवों को उत्पीड़ित कर रहे हैं। अवश्य ही जनतन्त्र मूकरूप से आज स्वयं भी अपने हीं सत्तातन्त्र से ऐसे प्रश्न कर रहा है, जिन प्रश्नों का इसे कोई भी समाधान उपलब्ध नहीं हो रहा। 'स्व संस्कृति-स्व सभ्यता' नुबन्धी जो स्वतन्त्र प्रश्न इसे परतन्त्र युगों में उत्पीड़ित कर रहे थे, आजके इस मुक्तिकाल में तदपेक्षया भी अधिक भयानकरूप से वे ही प्रश्न इसे उत्पीड़ित कर रहे हैं। समाधान में मिलने वाली 'नई रोशनी' इसे सहसा चकाचौंध में तो अवश्य ही डाल रही है। किन्तु इस भातिसिद्धा रोशनी से सत्तासिद्ध जनतन्त्र की आंशिक भी तो तुष्टि–तृप्ति नहीं हो रही।

१९–प्रश्नसमाधान की एकमात्र आधारभूमि जनतन्त्र के आस्था–श्रद्धा–भाव—

कौन जनतन्त्र के इन प्रश्नों का यथार्थ समाधान करेगा ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर स्वयं जनतन्त्र की आस्था–श्रद्धा–परिपूर्णा वह चिरपुरातना चिरनूतना सांस्कृतिक–प्रज्ञा ही मानी जायगी, जिसके बल पर ही इसने विगत–भुक्त–प्रक्रान्त–तीन सहस्र वर्षों के धारावाहिक उत्पीड़नों का समालिङ्गन करते हुए भी अपनी सांस्कृतिक-निष्ठा को गच्छतः स्खलनरूपेण येनकेनाप्युपायेन सुरक्षित रक्खा है मूलबीजरूप से। बीजरूपेण अवशिष्ट संस्कृति, सांस्कृतिक आचार, तथा सांस्कृतिक आयोजन हीं भारतराष्ट्र के आस्थाश्रद्धाशील जनतन्त्र के प्रश्नों का यथार्थ समाधान कर सकेंगे। एवं इन मूलबीजों के गर्भ में हीं इसे भारतराष्ट्र के उस–'स्व' के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त होगा, जो 'स्व' ही इसकी 'स्वतन्त्रता' का मूलप्रतिष्ठान बनता आया है, जो कि मूलबीज भारतराष्ट्र के मौलिक साहित्य में ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं।

२०–'सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा' का माङ्गलिक संस्मरण—

जिन चिरन्तन सत्य–तथ्यों के आधार पर संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, आदर्श, आचार, आदि आदि अर्थगभीर सांस्कृतिक शब्द आविर्भूत हुए हैं सहजरूपेणैव, उन शब्दों के चिरन्तन–सत्य–तथ्यात्मक

---

* दशाक्षर छन्द का नाम ही विराट् है, जो १० वर्षों का संग्राहक बन रहा है।

वाच्यार्थों का चिरन्तन इतिहास ही जनतन्त्र को वैसा उद्बोधन प्रदान कर देगा, जिस उद्बोधन के बल पर हीं यह स्वयं ही अपने प्रज्ञाबल से 'स्व' स्वरूपबोध में सर्वात्मना समर्थ बन जायगा, एवं तदनुपात से ही 'स्व' तन्त्र की निष्ठा के माध्यम से स्वतन्त्रतापूर्वक यह अपनी जीवनपद्धति व्यवस्थित कर लेगा। एकमात्र इसी पावन उद्देश्य से आस्थाश्रद्धाशील भारतीय जनतन्त्र के लिए ही प्रस्तु निबन्ध में–'**सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा**' (यजुर्वेदसंहिता) मूलक '**संस्कृति**' शब्द, एवं–'**सभ्यता**' शब्द, इन दोनों शब्दों का वाच्यार्थरूप चिरन्तन इतिवृत्त उपनिबद्ध हो रहा है, जिसका सम्पूर्ण श्रेय उस सामान्य सी घटना को ही है, जिसका प्रास्ताविक के उपक्रम में हीं संस्मरण किया जा चुका है।

२१–वर्त्तमान सत्तातन्त्र के द्वारा 'रामराज्य' स्थापना की घोषणा के साथ ही स्वशासननीति में 'धर्म्मनिरपेक्ष' घोषणा की अभिव्यक्ति—

"घटना सर्वथा अकिञ्चित्कर, किन्तु तत्परिणाम घटना के समतुलन में अप्रत्याशित"–प्रकृति के इस सहज नियम को विस्मृत कर देने से ही कभी कभी सामान्य सी घटनाएँ भी बड़े बड़े अनर्थों का बीजवपन कर दिया करतीं हैं, जिसके सम्बन्ध में दो घटनाओं की ओर ही हम जनतन्त्र का तथा विशेषरूप से सत्तातन्त्र का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। सत्तातन्त्रने अपने शासन का आदर्श माना मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के **रामराज्य** को। एवं जनतन्त्र के सम्मुख पदे पदे इसने यही घोषणा अभिव्यक्त की कि, वह पुनः भारत में वैसा '**रामराज्य**' स्थापित कर देना चाहता है, जिसमें प्रजा को कोई भी कष्ट उत्पीड़ित नहीं कर सकेगा। भारतीय जनतन्त्रने अन्तःकरण से इस आदर्शघोषणा का अभिनन्दन किया, एवं सत्तातन्त्र के प्रति प्रणतभाव से अपनी आस्था–श्रद्धाएँ समर्पित कर दीं बिना किसी तर्क, हेतु, वितण्डा, छल, जातिनिग्रहादि के। और यह सब कुछ दोनों हीं पक्षों की ओर से ठीक ठीक, एवं सामायिक ही हुआ। किन्तु इसी अवसर में सत्तातन्त्र ने रामराज्य के आदर्श पर जब भारतीय '**संविधान**' उपनिबद्ध किया, तो एक सामान्यसी वैसी घटना घटित हो पड़ी संविधान के निर्म्माताओं से, जिस सामान्य सी, छोटी सी घटना, किंवा दुर्घटना के प्रतिक्रियास्वरूप भारतराष्ट्र का अधिकांश जनतन्त्र सर्वात्मना उद्विग्न ही हो पड़ा। और वह घटना थी '**शासननीति**' की ओर से उद्घोषित शब्द–'**धर्म्मनिरपेक्ष**'।

२२–रामराज्य के व्यवस्थापक भगवान् राम की धार्म्मिक घोषणा का, एवं रामराज्य के उद्घोषक आज के सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षघोषणा का समतुलन—

जनतन्त्र ने इसका जैसा, जो कुछ अर्थ समझा हो, बहुत सम्भव है (और परमात्मा करे यही सम्भावना सत्य हो) शासननीति के 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द का वैसा अभिप्राय न हो। किन्तु '**धर्म्म**' शब्द के साथ '**निरपेक्ष**' शब्द का सम्बन्ध व्यक्त कर देना मात्र ही पर्य्याप्त था उस जनतन्त्र को प्रतिक्रियावादी बना देने के लिए, जिस ने उस '**रामराज्य**' की घोषणा के आधार पर ही सत्तातन्त्र को अपनी निष्ठाएँ समर्पित कीं थीं, जिस रामराज्य के संस्थापक '**भगवान् राम**' का मानुषावतार हुआ ही था '**धर्म्मसंस्थापन**' के लिए, धर्म्म की निरपेक्षता के समूलोत्पाटन के ही लिए। आदर्शपुरुष भगवान् राम धर्म्म के सम्बन्ध में भविष्य में आविर्भूत होने वाले सत्ताधीशों को यही माङ्गलिक उद्बोधनसूत्र प्रदान करते रहते थे कि—

भूयो भूयो भाविनो भूमिपालान्–नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः।
सामान्योऽयं धर्म्मसेतुर्नराणां–काले काले पालनीयो भवद्भिः॥

भगवान् राम कहते हैं—**"युग युग में होने वाले शासक राजाओं से यह रामचन्द्र बार बार नमस्कार करता हुआ अत्यन्त प्रणतभाव से यही भिक्षा माँग रहा है कि, यह धर्म्मसेतु मानवों का सामान्य धर्म्मसेतु है। अतएव अपने अपने समय में वे भूमिपाल इसका अवश्य ही पालन करते रहें"**। ऐसे धर्म्मनिष्ठ, धर्म्मसंस्थापक भगवान् राम के **'रामराज्य'** की घोषणा को एक ओर रखिए, और ऐसे रामराज्य की स्वरूपव्यवस्थापिका शासननीति के **'धर्म्मनिरपेक्ष'** शब्द को दूसरी ओर रखिए, और फिर मुकुलितनयन बन कर विचार कीजिए (विचार करना चाहिए सत्तातन्त्र को) कि, क्या यह सामान्यसी घटना किसी महान् फल को उत्पन्न करने वाली प्रमाणित हुई प्रक्रान्त दशवर्षात्मक शासनकाल में ?। नेति होवाच।

२३–धर्म्मनीति, एवं राजनीति की सम्बन्धविच्छेदिका 'धर्म्मनिरपेक्ष' घोषणा के सम्बन्ध में सत्तातन्त्र का राजनैतिक–स्वार्थमूलक–समाधान, एवं तत्समाधान की आपात–रमणीयता—

राजनीति से धर्म्मनीति का व्यवच्छेद कर डालना हीं **'धर्म्मनिरपेक्ष'** शब्द का एकमात्र स्वारस्य है, जिसे अनेक धर्म्मों की विभीषिका से त्राण प्राप्त करने के लिए ही सम्भवतः सत्तातन्त्रने अपनी 'शासननीति' को ऐसे शब्द से समलङ्कृत किया होगा, जैसाकि प्रस्तावना के अन्त में इसी सम्बन्ध में कुछ विशेष विस्तार से निवेदन किया जाने वाला है। यदि एकमात्र यह राजनैतिक–स्वार्थ ही अभीप्सित था सत्तातन्त्र को, तो किसी अन्य उपाय से भी इस स्वार्थ का संरक्षण किया जा सकता था, जैसे कि इस संविधान के विधि–विधानों के मूलाधारभूत प्रतीच्य ब्रिटिशतन्त्र ने बड़े ही राजनैतिक–कौशल से यही स्वार्थ सिद्ध कर लिया था इस घोषणा के माध्यम से कि—**"हम किसी के भी धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। सब को स्व स्व धर्म्म के परिपालन की पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी"** (श्रीविक्टोरिया के शासनकाल की लोकप्रिय–घोषणा)।

२४–चाणाक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्र की धार्म्मिक–घोषणा से भारतीय–प्रजा का धार्म्मिक व्यामोहन, एवं धर्म्मभीरु भावुक विद्वानों की धर्म्मनिष्ठा का पतन—

घोषणा का तात्कालिक चमत्कार यह हुआ था उस युग में कि, नितान्त भावुक, अतएव धर्म्मभीरु तत्कालीन धर्म्मिष्ठ समाज, विशेषतः पण्डितसमाज गद्गद हो पड़ा था उक्त घटनाश्रवणमात्र से, जबकि इस घटना के मूल में हीं भारतवैभव के सर्वविनाश के बीज सुरक्षित थे। उन चाणाक्षचतुरोंनें इस घोषणा–वाक्य जैसे एक छोटे से भावुकतासंरक्षक वाक्य से भारतीय धर्म्मभीरु जनतन्त्र का जीवन राजनैतिक क्षेत्र से सर्वथा ही पृथक् कर डाला। और उस सीमापर्य्यन्त भारतराष्ट्र की राजनैतिक मृत्यु ही हो गई, जिस सीमा पर पहुँचने वाले धार्म्मिक–समाज के अग्रणी विद्वानों का यही मूलसूत्र बन गया अपने धार्म्मिक–सम्मेलनों में कि, **"हमारी सभा विशुद्ध धार्म्मिक है। इसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है"**। माङ्गलिक देवस्मरण की भाँति इस वाक्य का स्मरण करने के अनन्तर ही पण्डितसभाओं के धर्म्मप्रचार (यदि इसी का नाम धर्म्मप्रचार था, तो) उपक्रान्त बनते थे। इसी महापापसंस्कार से मूलतः आब्रह्म भारतराष्ट्र के इस पण्डितसमाज ने राजनैतिक जागरणकाल में भी तो उद्बोधन प्राप्त नहीं किया था। फलस्वरूप यह वर्ग विशेषरूपेण प्रथम तो राजभक्त (ब्रिटिशसत्ताभक्त, अथवा तद्दासरूप सामन्त राजाओं का भक्त) ही बना रहा था,

अथवा तो तटस्थ बन गया था, स्वतन्त्रतासंग्राम से। बोलिए! कैसा चामत्कारिक परिणाम हुआ था उस लोकप्रिय घटना का ?, जिस चमत्कार का मूलोच्छेद हुआ आगे चलकर संस्कृति–धर्म्मनिष्ठ महाप्राण राष्ट्रीय–नेताओं के तपोयोग से, जिनका नामस्मरण अग्रे सम्भावित है।

२५–भारतीय सत्तातन्त्र का राजनैतिक स्खलन, एवं भावुकतापूर्णा उद्वेगकरी धर्म्म–निरपेक्ष–घोषणा—

सचमुच सर्वस्वतन्त्रस्वतन्त्र–प्रभुसत्तात्मक स्वशासन के हर्षातिरेक से ही सम्भवतः हमारे अभिनव राष्ट्र–निर्म्माताओं से इस दिशा में भारतराष्ट्र की भावुकता का संरक्षण न हो सका, और उसी प्रिय घोषणा का ठीक अनुकरण न कर उसे 'निरपेक्ष' जैसे भावुकतोत्तेजक शब्द से ही अनुप्राणित कर डाला, जिसे 'राजनैतिक–निष्ठा के स्खलन' के अतिरिक्त और कुछ भी तो महत्व नहीं दिया जासकता।

२६–भारतराष्ट्र के साम्प्रदायिक–विभिन्न धर्म्मों के संघर्षात्मक कलहों से आत्मत्राण प्राप्त कर लेने का एकमात्र उपाय 'धर्म्मनिरपेक्षता', एवं ऐसी धर्म्मनिरपेक्षता का प्रज्ञातन्त्र–द्वारा हृदयाभिनन्दन—

तो क्या चाणाक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्रवत् हमारा सत्यनिष्ठ सत्तातन्त्र भी भावुकता–संरक्षण की, अर्थात् छल की भाषा से जनतन्त्र की प्रतारणा कर बैठता अपने नैतिक-कौशल के द्वारा। नहीं, सर्वथा नहीं। जैसे **'निरपेक्ष'** शब्द राजनैतिक–स्खलन है, तथैव धर्म्मव्याजात्मिका **प्रतारणा**त्मिका प्रियघोषणा तो तदपेक्षया भी महान् स्खलन ही माना जायगा भारतीय–राजनीति के पावन दृष्टिकोण से। तो फिर नैतिक--कौशल करता क्या भारतवर्ष में प्रचलित अनेक–असंख्य–धर्म्मों की विद्यमानता में ?। क्या अहोरात्र इन धार्म्मिक-कलहों के निर्णयों में ही उलझा रहता हमारा सत्तातन्त्र, जो उलझन आज तीन सहस्र वर्षों से इस राष्ट्र की मानवता को, इसकी संस्कृति को, इसकी सभ्यता को उत्पीड़ित करती आ रही है, एवं जिस धार्म्मिक–कलहने हीं राष्ट्रीय–संघटन का उच्छेद किया है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही राष्ट्र को तीन सहस्र वर्षों से सांस्कृतिक--दासता से, तथा लगभग १५ सौ वर्षों से परसत्तादासताओं से परतन्त्र ही बने रहना पड़ा है ?। प्रश्न अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। एवं प्रत्यक्ष में इन अचिन्त्य प्रश्नों का सफल–समाधान खोज निकालने में मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी लोकबुद्धि कुण्ठित ही हो जाती है। और इस कुण्ठितता से ऊब पड़ने वाली लोकबुद्धि का सहज निर्णय वहीं व्यक्त हो जाता है, जैसा कि हमारे सत्तातन्त्र ने 'निरपेक्ष' शब्द से व्यक्त कर अपनी लोकबुद्धिमत्ता का ही परिचय प्रदान किया है। अवश्य ही सत्तातन्त्र को धर्म्मों से न केवल निरपेक्ष ही बने रहना चाहिए, अपितु जो धर्म्म, किंवा जो धार्म्मिक कलह राष्ट्रीय–प्रगति में बाधक बनने की धृष्टता करे, उसका तत्काल दृढतम नियन्त्रण भी कर ही देना चाहिए।

२७–मतवादात्मक साम्प्रदायिक धर्म्मों की प्रतिद्वन्द्विता से ही राष्ट्रीय संघटन का मूलोच्छेद, एवं धर्म्म, तथा 'मत' का महान् पार्थक्य—

हँहो! यदि सत्तातन्त्र तथाविध नियन्त्रण को माध्यम बना कर **'धर्म्मनिरपेक्ष'** शब्द की घोषणा कर देता, तो कदापि भारतीय जनतन्त्र 'धर्म्म' दृष्ट्या प्रतिक्रियावादी न बनता। यही नहीं, यह नियन्त्रण हीं

सत्तातन्त्र को अनायासेनैव उन दो शब्दों के मर्म्म की ओर भी आकर्षित कर ही लेता, जिस आकर्षण के अनन्तर 'धर्म्म' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण धर्म्मों के धार्म्मिक-कलहों को भी उपशान्त कर देता, एवं धर्म्म का दिग्देशकालातीत–सांस्कृतिक–सनातन–स्वरूप भी इसके लिए बुद्धिगम्य बन जाता। वे दोनों प्रसिद्ध शब्द हैं–**धर्म्म**, और **मत**। जिसे रिलीजन (Raligan) कहा जाता है, उसी का नाम **'मत'** है जो दिग्देशकाल की सीमाओं से नियन्त्रित रहता है। आज जिन्हें **सनातनधर्म्म–हिन्दूधर्म्म–आर्य्यधर्म्म वैष्णवधर्म्म-दादूधर्म्म–रैदासधर्म्म–कबीरधर्म्म**–आदि आदि नामों से व्यवहृत किया जा रहा है, वे सब हैं 'मत', जिनका मानवीय मन की मान्यताओं से ही प्रधान सम्बन्ध है। तत्तद्युगों की देश–काल–परिस्थिति की समता–विषमता के मापदण्ड से तत्तद्युगों के मेधावी बुद्धिमान् दिग्देशकालज्ञ महापुरुषों के द्वारा तत्तद्युगमात्र की तात्कालिकी लोकभावुकताओं के संरक्षण के लिए निर्दिष्ट तात्कालिक नियमों, विधि–विधानों का नाम ही है—**'मत'**, जो दिग्देशकालात्मक युगों के परिवर्त्तनानुपात से परिवर्तित होते रहते हैं। अपनी अपनी दिग्देशकालसीमाओं में जहाँ ये मत सर्वथा उपादेय हैं लोकभावुकता का संरक्षण करते हुए, वहाँ ये ही 'मत' जब अपने आप को शाश्वत–सनातन कह देना आरम्भ कर देते हैं मतवादप्रवर्त्तकों के अनुयायियों के व्यक्ति–स्वविमोहनों के द्वारा, तो ये ही 'मत' **'मतवाद'** का रूप धारण कर लेते हैं, एवं मतवादात्मक ऐसे मत ही परस्पर प्रतिद्वन्द्वी बन कर राष्ट्रीय-संघठन को उच्छिन्न ही कर दिया करते हैं। कोई भी **'मत'**, अर्थात् **'मजहब'**, अर्थात् कोई भी **'रिलीजन'**, तत्प्रवर्त्तक आचार्य्य की अपेक्षा से, तद्युगानुगता मान्यताओं के अनुबन्ध से बुरा नहीं है। बुरे हैं मतवाद, किंवा मतवादाभिनिवेशमूला प्रतिद्वन्द्विता। अवश्य ही सत्तातन्त्र को सुशासन के लिए इत्थंभूत मतवादात्मक मतों से, 'धर्म्म' नाम से प्रसिद्ध मतों से निरपेक्ष रह कर, ऊपर उठकर ही अपने विधि--विधान--व्यवस्थित करने चाहिएँ। और ऐसी **मतवादनिरपेक्षतारूपा धर्म्मनिरपेक्षता** का सभी प्रज्ञाशील तो निश्चयेन अभिनन्दन ही करेंगे। किन्तु,–

२८–मतवादों से असंस्पृष्ट 'शाश्वतधर्म्म' की स्वरूप–परिभाषा—

इस किन्तु ? परन्तु ? के इतिहास के लिए ही तो **"संस्कृति, तथा सभ्यता शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त"** प्रज्ञाशीलों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है। प्रकृतिसिद्ध सनातन नियमों की अजस्र धारा का नाम ही 'धर्म्म' है, जो लक्षणत्वेन प्राकृत होता हुआ भी स्वस्वरूपतः अप्राकृत (प्रकृति से अतीत, दिग्देशकाल की सीमाओं से अतीत) बनता हुआ 'शाश्वतधर्म्म' नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है, जिसके आत्मबुद्धिनिबन्धन 'तत्त्वात्मक' स्वरूप का ही नाम है **'संस्कृति'**, एवं मनःशरीरनिबन्धन **'आचारात्मक'** स्वरूप का ही नाम है **'सभ्यता'**, जैसा कि पाठक निबन्ध में विस्तार से देखेंगे।

२९–आत्मबुद्धिनिबन्धन 'शाश्वतधर्म्म', मनोनिबन्धन 'प्राकृतधर्म्म', तथा शरीरनि--निबन्धन 'लोकधर्म्म', रूपेण धर्म्म का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वय—

आत्मबुद्धिनिबन्धनभाव ही धर्म्म का अप्राकृत–तत्त्वात्मक–स्वरूप है, और यही संस्कृति है। अतएव धर्म्म, तथा संस्कृति अभिन्न तत्त्व है, जिसका स्थूल–भौतिक–आचार से कोई सम्बन्ध **नहीं है, और यही इसकी** शाश्वतता है। मनःशरीरनिबन्धनभाव ही धर्म्म का आचारात्मक–रूप है, और यही सभ्यता है, जिसके **सांस्कृतिक–आचार**, तथा **सांस्कृतिक–आयोजन**, ये दो शाखा–विवर्त्त हो जाते हैं। शरीरगर्भित मानसिक आचार का नाम ही हैं सांस्कृतिक–आचार, जिसे हम **'अन्तःसभ्यता'** कहेंगे। एवं मनोगर्भित शारीरिक

आचार का नाम हीं है सांस्कृतिक–आयोजन, जिसे हम **‘बहि:सभ्यता’** कहेंगे। बहि:सभ्यता नियन्त्रित रहेगी अन्तःसभ्यता से, एवं ये दोनों सभ्यताएँ नियन्त्रित रहेंगीं आत्मबुद्धिलक्षणा–शाश्वतधर्म्मरूपा **‘संस्कृति’** से। क्या परिणाम होगा इस नियन्त्रण का ?, उतर स्पष्ट है। लोकसभ्यतारूपा बाह्यसभ्यता अपने शारीरिक–भूतों के अनुबन्ध से युगधर्म्मानुपात से बदलेगी अवश्य! किन्तु यह बदलाव ऐसा स्थिरगति से होगा उस अन्त:सभ्यता के नियन्त्रण के कारण, जिससे लोकसभ्यता की पद्धतियों में तात्कालिक विस्फोट का अवसर ही नहीं आपाएगा। तदपेक्षया मनोऽनुगता धर्म्मलक्षणरूपा अन्तःसभ्यता दृढमूला बनती हुई इसलिए सनातना बनी रहेगी, जिसका नियन्त्रण आत्मबुद्धिरूप धर्म्म से, किंवा तद्रूपा संस्कृति से होता रहेगा। यों बाह्यसभ्यताओं के बदलते रहने पर भी सभ्यता के मौलिक आधार सनातन ही प्रमाणित होते रहेंगे, प्रमाणित होते रहे हैं आजतक। जो लोकसभ्यताएँ इन पारम्परिक नियन्त्रणसूत्रों से वञ्चित रह गईं, वे तत्काल ही कालकवलित होगईं। कृतज्ञ बनना चाहिए भारतीय जनतन्त्र को उस ऋषिप्रज्ञा के प्रति, जिसके द्वारा दृष्टा **आत्मबुद्धिनिबन्धना संस्कृति** [**शाश्वतधर्म्म**], तद्द्वारा नियन्त्रित **मनोनिबन्धन सांस्कृतिक–आचार** [**प्राकृतधर्म्म**], एवं तद्द्वारा नियन्त्रित **शरीरनिबन्धन सांस्कृतिक–आयोजन** [**लोकधर्म्म**], इन तीन धर्म्मस्तम्भों के प्रभाव से ही भारतीय सभ्यता **‘सनातन’** उपाधि ग्रहण करने में समर्थ बन सकी है, जिन इन तीनों धर्म्मस्तम्भों के नियामक व्यवस्थापक शब्दशास्त्र ही क्रमशः श्रुति–स्मृति–पुराण–नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।

३०- धर्मत्रयी की आधारभूता शास्त्रत्रयी, एवं तदनुगता संस्कृति, तन्मूलक सांस्कृतिक–आचार, एवं तदनुप्राणित–सांस्कृतिक--आयोजन —

चौंकिए नहीं। यदि इस शास्त्रत्रयी का सनातन दृष्टिकोण मतवादाभिनिविष्ट–साम्प्रादायिक–विद्वानों की भावुकता से विगत तीन सहस्र वर्षों से मतवादात्मक बन गया है, अथवा तो बना दिया गया है, तो इसमें शास्त्र का कोई दोष नहीं है, जैसेकि मतवादप्रवर्त्तक आचार्य्यों के उपयोगी दृष्टिकोण को तदनुयायी मतवादाभिनिविष्ट जन विकृत कर दिया करते हैं। फिर शास्त्र, एवं तत्सिद्ध शाश्वतधर्म्म के प्रति आक्रोश क्यों ?। यदि आप आक्रोश करते हैं, तो निश्चयेन आप भी मतवादाभिनिविष्ट ही मान लिए जायँगे, और उस दशा में भारतीय संस्कृति, धर्म्म, सभ्यता, आचार, आयोजन, आदर्श, आदि सनातन–विमल--विभूतियों के नामश्रवण–मात्र से अग्निश्च वायुश्च हो पड़ने वाले आप जैसे प्रज्ञाशील के लिए ढूँढे से भी हमें व्यवहार्य्या उपाधि न मिल सकेगी। मतवादाभिनिवेश के माध्यम से ही सही, एकबार तीन सहस्र वर्षों से पीछे चलकर सम्पूर्ण, मतवादों को जलाञ्जलि समर्पित कर स्थिरप्रज्ञा से दृष्टिपात का अनुग्रह तो कीजिए भारतीय-सांस्कृतिक–निधि पर। और तदनन्तर ही आक्रोश की मीमांसा कीजिए अपने अन्तर्जगत् में ही, मुकुलितनयन बन कर ही। अवश्य ही आपको धर्म्मनिरपेक्षता की निरपेक्षता का स्वत: ही साक्षात्कार हो जायगा, और स्वयं ही आस्था–श्रद्धा–पूर्वक आप यह मान लेंगे कि, सत्ताधीश लोकधर्म्म का ही व्यवस्थापक है, जिस लोकधर्म्म का ही नाम **‘राजनीति’** है, जिसके द्वारा अपनी स्वरूप-रक्षा के लिए प्रत्येक दशा में शास्त्रमर्म्मज्ञ विद्वान् के द्वारा निर्णीत, व्यवस्थित प्राकृतिक-धर्म्म को ही आधार बना लेना अनिवार्य्य हो जाता है। विद्वान् के द्वारा निर्णीत, धर्म्मलक्षणात्मक प्राकृतधर्म्म नियन्त्रित है उस अप्राकृत, दिग्देशदेशकालातीत शाश्वतधर्म्म से, जिसे विस्मृत कर देने पर प्राकृत धर्म्म भी उसी प्रकार अधर्म्म बन जाया करता है, जैसे कि प्राकृतधर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाने वाली लोकधर्म्मात्मिका राजनीति अनीतिरूप में ही परिणत हो जाया करती है। निरपेक्षसत्तासिद्ध ईश्वर ही शाश्वतधर्म्म है, जो मानव

में आत्मबुद्धिरूप से अभिव्यक्त होता है । ईश्वरधर्म्मसापेक्ष आचारधर्म्म ही प्राकृत धर्म्म है, जो मानव में मनोरूप से अभिव्यक्त होता है एवं प्राकृतधर्म्मसापेक्ष आयोजनधर्म्म ही लोकधर्म्म है, जो मानव में शरीर-रूप से अभिव्यक्त रहता है । शरीर लोकधर्म्म की प्रतिष्ठा है, तो लोकधर्म्मात्मक शरीर की प्रतिष्ठा प्राकृत-धर्म्मात्मक मनस्तन्त्र है, एवं तत्प्रतिष्ठा, किंवा सर्वप्रतिष्ठा वही आत्मबुद्धिनिबन्धन शाश्वत-ईश्वरीय-धर्म्म है । परिलेख को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए ! स्थिति का सर्वात्मना समन्वय हो जायगा ।

१—ईश्वरीयधर्म्मः———मानवधर्म्मः———भूतधर्म्मः
२—शाश्वतधर्म्मः———प्राकृतधर्म्मः———लोकधर्म्मः
३—धर्म्मः————धर्म्मनीतिः————राजनीतिः
४—संस्कृतिः————सांस्कृतिक-आचारः—सांस्कृतिक-आयोजनम्
५—संस्कृतिः————अन्तःसभ्यता————बहिःसभ्यता
६—श्रुतिरत्र प्रतिष्ठा———स्मृतिरत्र प्रतिष्ठा———पुराणमत्र प्रतिष्ठा
७—स्वयंव्यवस्थितो धर्म्मः—विदुषा व्यस्थितो धर्म्मः—सत्ताधीशेन व्यवस्थितो धर्म्मः
(आत्मबुद्धिधर्म्मः) (मनोधर्म्मः) (शरीरधर्म्मः)

३१-मतवादनिरपेक्ष, अतएव राष्ट्र के लिए सर्वात्मना सापेक्ष शाश्वतधर्म्म का विश्व-प्रतिष्ठात्त्व, एवं तन्निरपेक्षता से राष्ट्रस्वरूप का मूलोच्छेद—

तो देखा आपने कि, एक सामान्य सी घटना से, '**धर्म्मनिरपेक्ष**' जैसे एक शब्दमात्र से भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण सांस्कृतिक-निधि परही ऐसा भयानक आक्रमण हो गया आपके द्वारा, जिसका यदि सांस्कृतिक-स्वरूप-विश्लेषण के माध्यम से राष्ट्र की तटस्थ प्रज्ञाओं नें अविलम्ब निरोध न किया, तो कालान्तर में यह '**धर्म्मनिरपेक्षता**' ही भारत की भावी सन्तति की दृष्टि में उसी प्रकार भारत की चिरन्तन-संस्कृति का स्थान ग्रहण कर बैठेगी, जैसे कि विगत युगों में आविर्भूत-तिरोभूत-होते रहने वाले व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक मतवादोंनें ही भारतीय शाश्वत-धर्म्म, सनातनसंस्कृति, सनातन-सांस्कृतिक-आचार, तथा सनातन-सांस्कृतिक-आयोजनों का स्थान ग्रहण कर लिया है, एवं जिस काल्पनिक-स्थानग्रहणता से ही राष्ट्र को विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्पीड़ित ही होते रहना पड़ा है । बोलिए ! क्या ऐसी धर्म्मनिरपेक्षता आप जैसे राष्ट्रहितैषी अभीप्सित मान लेंगे भारतराष्ट्र के लिए ? । कदापि नही, स्वप्न में भी नहीं ।

३२--मनःशरीरधर्म्मा प्राकृत मानव के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मनोविनोद, और तन्मूलक सांस्कृतिक--आयोजन----

दूसरी सामान्य घटना है-'**सांस्कृतिक--आयोजनों**' की । आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-भेद से चतुष्पर्वा बना हुआ मानव कालानुपात से अपने **आत्मा^{1}-बुद्धि^{2}-मनः^{3}-शरीर^{4}**, इन चारों हीं मानवीय-तन्त्रों को क्रमशः **शान्ति^{1}-तृप्ति^{2}-तुष्टि^{3}-पुष्टि^{4}**-प्रदान करना चाहता है । अतएव आत्म-बुद्धि-सम्मत तत्त्वचिन्तन, तथा तत्त्वाचरण-रूप महान् उत्तरदायित्त्वों की समाप्ति के अनन्तर इसे अपने मनः-शरीरानुबन्धी मानस-विनोद, तथा शारीरिक

भोगादि की अपेक्षा रहती है, रहनी ही चाहिए, और इसे पूरी भी करनी ही चाहिए। गायन–वादन–नर्त्तन–अशन–पान–कविता–नाटक–चित्र–आदि आदि इसी अपेक्षा के पूरक माने भी गए हैं, जिन इन मानस, शारीरिक–विनोदों का प्रकृति के चान्द्रप्राणरूप गन्धर्वाप्सराप्राणों से सम्बन्ध माना गया है, जैसाकि–'**काले गन्धर्वाप्सरसः प्रतिष्ठिताः**' (अथर्वसंहिता १९।५४।४।) इत्यादि से प्रमाणित है। किन्तु '**काले**' एव। अर्थात् इन मानसिक–शारीरिक–विनोदभावों के आयोजनों के लिए अमुक समयविशेष ही निर्द्धारित माना गया है, जिसे भारतीय ऋषिप्रज्ञाने तो दाम्पत्यजीवन से ही मर्य्यादित किया है। आत्मा, और बुद्धि, ये दोनों मानव के **दिव्यभाव** हैं, एवं मन, तथा शरीर, ये दोनों **पशुभाव** हैं। पशुभावों का अनुगमन किसी अन्य–मर्य्यादा से मर्य्यादित है, तो दिव्यभावों का अनुगमन अन्य मर्य्यादा से मर्य्यादित है।

३३–सांस्कृतिक--आचारों से नियन्त्रित, मर्य्यादित मनोविनोदों का ही सांस्कृतिक-आयोजनत्व, एवं तदैव निष्ठास्वरूप--संरक्षण---

आत्मा, और सत्त्वबुद्धि, इन दोनों सुसूक्ष्म-तत्त्वों से अनुप्राणित अप्राकृत, अतएव दिग्देशकालातीत सनातन आत्मदेवभाव का ही नाम 'संस्कृति' है। अतएव आत्म–देव–भावानुगत आचारों को ही तो '**सांस्कृतिक–आचार**' कहा जायगा, एवं आत्म-देव-भावानुप्राणित आयोजनों को ही '**सांस्कृतिक–आयोजन**' माना जायगा, जिसका सीधा सा अर्थ यही होगा कि, मानव के मनःशरीरानुबन्धी उन्हीं विनोदभावों को 'सांस्कृतिक–आयोजन' कहा जायगा, जो विनोदभाव मानव के आत्मा से, तथा सत्त्वबुद्धि से सांस्कृतिक–धार्म्मिक–आचारों के द्वारा नियन्त्रित, मर्य्यादित रहेंगे स्व स्व गृहस्थतन्त्रों में। गृहस्थतन्त्रानुगतित्त्व ही इन आयोजनों की परोक्षता मानी जायगी, जिन इन परोक्ष आयोजनों को कभी परिवार, समाज, किंवा राष्ट्र के प्रत्यक्ष धरातल पर व्यक्त नहीं किया जासकेगा। तभी परिवार की, समाज की, तथा राष्ट्र की आत्मबुद्धिनिबन्धना सांस्कृतिक-निष्ठाएँ सुरक्षित रह सकेंगी।

३४--प्रत्यक्षविनोदात्मिका विलासलीलाओं से राज्यतन्त्रों का पतन, एवं तदालोचक प्रजातन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र के आज के ये प्रत्यक्षविनोदात्मक सांस्कृतिक-आयोजन----

जिस परिवार के, समाज के, एवं राष्ट्र के वैय्यक्तिक विनोदात्मक मानसिक–शारीरिक विनोद परिवार–समाज, एवं राष्ट्र में सामूहिकरूप से प्रत्यक्ष बन जाते हैं, उस परिवार–समाज–राष्ट्र का आत्मबुद्धिसम्मत निष्ठाबल शिथिल हो जाता है, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण निकट अतीत के वे सामन्तगण ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिनके सत्तातन्त्रों का अभिभव आत्मबुद्धिनिबन्धन निष्ठाबल के परित्याग से, तथा मनःशरीरनिबन्धन अनियन्त्रित मानस–शारीरिक तथाविध विनोद–व्यासङ्गायोजनों से ही हुआ है, जिसे हमारा वर्त्तमान–सत्तातन्त्र स्वयं अपने मुख से '**भारतीय राजाओं भी विलासलीला**' कह कर उनका उपहास किया करता है। उपहास यथार्थ है। सत्ताधीश राजाओंनें आत्मबुद्धिनिबन्धननिष्ठा की, संस्कृति की उपेक्षा कर प्रत्यक्षरूप से जिन मानसिक–शारीरिक–विनोदात्मक आयोजनों के प्रति अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर दिया था, सामन्त–राजाओं की ये प्रत्यक्ष विनोदलीलाएँ हीं, आज की भाषा के अनुसार नृत्य–गीत–वाद्य–अशन–पानादि लक्षण ये अमर्य्यादित सांस्कृतिक–आयोजन हीं स्वयं इनके भी पराभव के कारण बनें, एवं इनके पराभव के साथ साथ राष्ट्रचेतना को भी पराभूत हो जाना पड़ा।

३५–गायन–नर्त्तनादि–आयोजनों के सम्बन्ध में वेदशास्त्र का 'सत्र'–'कृत्स्न' मूलक महान् उद्बोधन—

मानव को कब, किस अवस्था में मानसविनोदात्मक गायन–नर्त्तनादि आयोजनों का अधिकार मिलता है ?, किंवा मानव को कब, किस अवस्था में गीत–वाद्यादि रमणभावों में प्रवृत्त होना चाहिए ?, कैसे, किस पद्धति से प्रवृत्त होना चाहिए ?, इत्यादि प्रश्नों का बड़ा ही मार्म्मिक जो समाधान स्वयं श्रुतिशास्त्र ने किया है, उसे कदापि विस्मृत नहीं करना चाहिए । समाधान का सम्बन्ध उस पार्थिवसृष्टि से है, जिसका 'अर्णव' नामक रोदसीसमुद्र के गर्भ में **आपः, फेन, मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्य,** इन आठ चितियों से स्वरूप–निर्म्माण हुआ है । **आपः–तेजः–वायुः (पानी, आग, हवा)** इन तीनों भूतों के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक सम्मिश्रण से, यागात्मक यजन से अर्णवसमुद्र का पानी सर्वप्रथम **'फेन'** रूप में परिणत होता है, जिसे 'झाग' कहा गया है । इस प्रथमा घनावस्था का दूसरा घनरूप **'मृत् (चिकनी मिट्टी)** है, तीसरा घनरूप **'सिकता (भुरभुरीमिट्टी)** है, चौथा घनरूप **'शर्करा (बालूमिट्टी)** है, पाँचवा घनरूप **'अश्मा' (पाषाण)** है, छठा घनरूप **'अयः' (कच्चा लौह)** है, सातवाँ घनरूप **'हिरण्य' (सुवर्ण–रजत–ताम्र–सीमक–आदि आदि धातुमात्र)** है । एवं आठवाँ प्रारम्भिक घनभाग वह **'आपः'** है, जिसे सङ्केतभाषा में–**'आपो वै पुष्करपर्णम्'** के अनुसार **पुष्करपर्ण (कमल का पत्ता)** कहा गया है, यही भूपिण्ड का मूल जन्मदाता है । अतएव पार्थिव–भौम–केन्द्रीय–प्रजापति **'पद्मभूः'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । अतएव पुराणशास्त्र ने **भुवनकोशविद्या (भूगोलविद्या)** का **'पाद्मभुवनकोश'** रूप से ही निरूपण किया है ।

भूपिण्ड वैसा आपोमय पद्म है, जिसमें आपः–फेनादि आठ घनभाव सञ्चित हैं । भूपिण्ड के इस स्वरूप–निर्म्माण का निरूपण करने के अनन्तर श्रुति कहती है कि, जब पृथिवीने इन आठों पर्वों का स्वरूप सम्पादन कर लिया, दूसरे शब्दों में जब भूपिण्ड का सम्पूर्ण स्वरूप सर्वात्मना सुसम्पन्न होगया, तो तदनन्तर पृथिवी **'गा उठी', (और 'नाच उठी')** । स्वाक्षपरिभ्रमणपूर्वक क्रान्तिवृत्त के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर भूपिण्ड की परिक्रमा लगाते रहना हीं तो इस पृथिवी का नर्त्तन है । एवं अपने आठ अवयवों से सम्पूर्ण-स्वरूप को अभिव्यक्त करने के अनन्तर ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–पुष्प–फल–मञ्जरी–आदि आदि असंख्य मुद्राओं से सुविकसित हो पड़ना हीं तो पृथिवी का गायन है । सचमुच पृथिवी गा रही है, एवं नाच रही है । नर्त्तनानुगत इस गायन से ही तो पृथिवी का नाम **'गायत्री'** हुआ । कब, किस अवस्था में पृथिवी ने नाचना गाना आरम्भ किया ?, एवं किस पद्धति से नाच–गारही है पृथिवी ?, दोनों प्रश्न इसी सृष्टिप्रक्रिया से गतार्थ हैं । जबतक पृथिवी का अपना स्वरूप सर्वात्मना सम्पन्न नहीं हुआ, तबतक पृथिवी न तो गा ही सकी, न नाच ही सकी । जब पृथिवी–**'अभूत'** रूप से **'भूमि'** रूप में परिणत होगई, तो तदनन्तर, अपने इस सर्वाङ्गीण सुसमृद्ध–सुविकसितरूप के अनन्तर ही इसका गायन–नर्त्तन–आरम्भ हुआ । श्रुति के निम्न-लिखित अक्षरों को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए, एवं तदाधार पर ही स्वयं ही यह निर्णय कीजिए कि, आपके राष्ट्र को नाच–गान–रूप विनोदों का किस अवस्था में, कब, किस पद्धति से अनुगमन करना चाहिए !।

“सेयं पृथिवी सर्वाप एवानुव्यैः। तदिदमेकमेव रूपं समदृश्यत–‘आप’[१] एव। सोऽकामयत प्रजापतिः–‘भूय एव स्यात्, प्रजायेय’ इति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः–‘फेन’[२] मसृजत। सोऽवेत्– अन्यद्वा एतद्रूपम्। भूयो वै भवति। श्राम्याण्येवेति। स श्रान्तस्तेपानः–‘मृदं’[३], ‘सिकतं’[४] शर्करां’[५], ‘अश्मानं’[६]–‘अयः’[७]–‘हिरण्यं’[८], ओषधि–वनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथवीं प्राच्छादयत्। अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा–इति तत्–‘भूमि’ रभवत्। तामप्रथयत्, सा पृथिव्यभवत्। सेयं पृथिवी सर्वा-कृत्स्ना मन्यमाना–‘अगायत्’, तस्मादियं पृथिवी गायत्री। अथोऽआहुः–अग्निरेवास्यै पृष्ठे सर्वः-कृत्स्नो मन्यमानः–‘अगायत्’। यदगायत्, तस्मादग्निर्गायत्रः”।

३६–‘गायति वैव गीते वा रमते’ लक्षण श्रौत–उद्बोधन का तात्त्विक समन्वय–

मानव ने क्या समझा उक्त श्रौत–सन्दर्भ से ?, इस प्रश्न का उत्तर भी मानव की दिग्देशकालात्मिका सीमित–बुद्धि पर अनुग्रह कर स्वयं श्रुति ही इसप्रकार दे रही है कि,–**“जो मानव अपने मानवीय स्वरूप को सर्वात्मना सुसम्पन्न, सुसमृद्ध कर लेता है, वही गायनादि मनोविनोदात्मक आयोजनों का अनुगामी बनता है”–“तस्माद्‌ हैतत्-यः–सर्वः कृत्स्नो मन्यते, गायति वैव, गीते वा, रमते”**–(शतपथब्राह्मण ६ काण्ड। १ अध्याय। १ ब्राह्मण। १२, १३, १४, १५, कण्डिकाएँ)। क्या तात्पर्य्य निकला इस श्रौत–उद्बोधन–सूत्र का ?। मानव जबतक अपने **आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर**, इन चारों मानवीय पर्वों को स्वस्थ, तथा प्रकृतिस्थ नहीं बना लेता, तबतक इसमें मनोविनोदात्मिका प्रवृत्तियाँ जागरूक ही नहीं होतीं। यदि अपने मानवीय–स्वरूप की अपूर्णता में भी ऐसे मनोविनोद जागरूक बन जाते हैं, तो फिर वह ‘मानव’ तो नहीं है। ऐसे भी सर्ग विद्यमान हैं प्रकृति के क्रोड़ में, जो अथ से इति पर्य्यन्त अपूर्ण–अविकसित–असमृद्ध, एवं आर्त्त ही बने रहते हैं। किन्तु इस अपूर्णावस्था में हीं वे प्राकृत पशु–पक्षी-कीट–कृमि–आदि यथाजात सर्ग नाचते, गाते रहते हैं। चहकते, कूकते रहते हैं, जिन के प्राकृत जीवन का इस नाच–गान–अशन-पान–शयन–गमन-हास-परिहास-आमोद–प्रमोद–आदि मानसिक, शारीरिक व्यासङ्गों के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य ही नहीं है। आत्मबुद्धिनिबन्धन उत्तरदायित्त्वों से सर्वथा असंस्पृष्ट पशुजगत् स्वतन्त्र है अपनी सभी अवस्थाओं में इत्थंभूत मानसिक–शारीरिक–गायन–नर्त्तनादि आयोजनों के अनुगमन में।

३७–मानव का दिव्यभाव, एवं तदनुबन्धी दाम्पत्यजीवनानुगत परोक्ष विनोदात्मक आयोजन

किन्तु मानव ?। मानव पशु नहीं है, अपितु आत्मबुद्धिनिष्ठ दिव्यभाव का नाम ही ‘मानव’ है। अवश्य ही यह दिव्यमानव भी अपने मनःशरीरधर्म्मों से अमुक सीमापर्य्यन्त पशुप्रवृत्तियों से भी समन्वित है। अतएव इन प्रवृत्तियों के उपशम के लिए इसे भी मानसिक–शारीरिक-विनोद अपेक्षित हैं। किन्तु अपने

आत्मबुद्धिनिबन्धन उत्तरदायित्त्व की सम्पूर्णता के अनन्तर ही, सो भी परोक्षरूपेणैव, जिस परोक्षता का आधार मानव का **'दाम्पत्यजीवन'** ही माना गया है। अतएव सामासिकरूप से, दूसरे शब्दों में सामूहिकरूप से तो कदापि किसी भी अवस्था में भारतीय संस्कृति की दृष्टि से तो तथाविध आयोजनों का सांस्कृतिक (आत्मबुद्धि-निष्ठ) मानव से तो संस्पर्श भी नहीं है। गृहस्थानुबन्धी दाम्पत्यजीवनानुबन्धी विनोदों का अवसर भी उत्तरदायित्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों के अमुक विश्राम-क्षणों से ही सम्बन्धित है। सम्पूर्णता, सर्वता, कृत्स्नता के प्रवर्त्तक उत्तरदायित्त्वपूर्ण कर्त्तव्यकर्म्मों के विश्रामक्षणों में सर्वथा परोक्षरूपेण अपने दाम्पत्यजीवन में गीत-रमणादि आयोजनों का व्यासङ्ग क्षम्य मान लिया है तत्त्वद्रष्टा नैष्ठिक मानवमहर्षियोंनें।

३८-सत्तातन्त्र के परिगणित कर्णधारों की निश्चिन्तता, एवं तन्मूलक उनके ये क्षम्य सांस्कृतिक-आयोजन—

क्या ऐसे विश्राम-क्षणों में हीं, तथाविध परोक्षरूप से ही, मर्य्यादितरूप से ही आज के ये अभिनव 'आयोजन' महता समारम्भेण प्रक्रान्त हैं ?। क्या भारतराष्ट्र की वे सम्पूर्ण आवश्यकताएँ श्रुति के शब्दों में 'सर्व'-'कृत्स्न' बन गईं ?। शत-शत-शताब्दियों से प्रक्रान्त रहने वालीं परतन्त्रतामूला क्षतिरपम्पराओं को क्या राष्ट्र ने इन दस वर्षों की अवधि में ही पूरी करलीं ?। यदि 'हाँ', तो कोई आपत्ति नहीं है अहोरात्र इन आयोजनों की उत्ताल-तरङ्गों में हीं प्रवाहित रहने में। यह बहुत सम्भव है कि, जिन राष्ट्रीय-कर्णधारोंनें एवंविध अदृष्ट-अश्रुतपूर्व जिन आयोजनों का अद्भुत आविष्कार कर डाला है, उन्होंनें अपनी भी क्षतिपूर्त्ति कर ली हो, एवं साथ साथही अपनी आगामिनी अनेक पीढ़ियों के लिए भी क्षतिपूर्त्ति की व्यवस्था कर ली हो। और अतएव यह भी सर्वथा उचित ही है कि, अब उन तथाकथित कतिपय परिगणित महानुभावों की दृष्टि में अपने व्यक्तित्त्व के लिए, अपने परिवार के लिए, अपने समसम्बन्धियों के लिए, एवं मित्रों के लिए किसी भी उत्तरदायित्त्वपूर्ण कर्त्तव्य-कर्म्म की कोई भी आवश्यकता शेष न रह गई हो। अतएव च अपनी इस स्वदृष्टि से ही जिन समदर्शी महानुभावों के लिए समाज, तथा राष्ट्र के लिए भी अब कोई कर्त्तव्यकर्म्म शेष नहीं रह गया हो। तो अवश्य ही ऐसे अमुक परिगणित महानुभाव सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं तथाविध आयोजनों में हीं अपनी जीवनलीला समाप्त कर देने के लिए। **'यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते, गायति वैव। गीते वा, रमते'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अपने आप को सभी कर्त्तव्य-कर्म्मों की दृष्टि से, प्रज्ञा से, बुद्धि से, प्रतिभा से, भूत-भौतिक-भोगपरिग्रहों से, अन्तर्राष्ट्रीय यशःपरम्पराओं से, पदप्रतिष्ठाओं से, आदि आदि अन्यान्य भी ज्ञात-अज्ञात-परःशत मानसिक शारीरिक-तुष्टि-तृप्तियों से सर्वात्मना कृत्स्नरूपेण कृतकृत्य बन जाने वाले महानुभावों के लिए प्रकृत्या ही गीत-रमणादि का स्वतन्त्राधिकार निर्णीत है।

३९-किन्तु सर्वात्मना अनिश्चिन्त, तथा चिन्तासमाकुलित राष्ट्रप्रजा की दृष्टि से तथाविध आयोजनों का सर्वात्मना कर्त्तव्यविघातकत्त्व—

किन्तु परःशत-शताब्दियों से समुत्पीड़ित राष्ट्र का मध्यमवर्गीय समाज, तथा अवरवर्गीय-समाज, इन दोनां वर्गों की दृष्टि से तो यह दसवर्षीय स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र पूर्वापेक्षया भी कहीं अधिकरूपेण व्यामुग्ध ही बन गया है तथाविध निश्चिन्त, सर्व-समर्थ परिगणित महानुभावों के मनोविनोदार्थ आविष्कृत हो पड़ने वाले नृत्य-गीत-वाद्यादि-विजृम्भणों के संसर्गजनित महान् अनुग्रह से। अन्य क्षेत्रां की तो बात जाने दीजिए। जिन शिक्षाक्षेत्रां का एकमात्र मुख्य उद्देश्य राष्ट्र के भावी कर्णधार सुकुमारमति छात्रां को शिक्षा-माध्यम से बौद्धिक

प्रतिभा–निष्ठा–प्रदान करना ही था, उन शारदाक्षेत्रों में भी आज इन 'सांस्कृतिक–आयोजनों' का ही प्राधान्य हो पड़ा है। कभी नाट्यप्रदर्शन, तो कभी सङ्गीतायोजन, तो कभी अन्यान्य विविध क्रीड़ा–कौतुकों का महान् समारम्भ। वर्ष में ५ मास का परिमित शिक्षाकाल, तत्रापि सीमित घन्टे, उन में भी प्रमुखता विविध आयोजनों की ही, जिन्हें बड़े गौरव से आजकी लोकप्रियभाषा में 'फंक्शन्स' (functions) कहा जा रहा है। इन दस वर्षों में शिक्षा का बौद्धिक स्तर किस धरातल पर आपहुँचा है ?, प्रश्न का संस्मरण भी हृत्कम्प–उत्पन्न कर रहा है। यही अवस्था, किंवा दुरवस्था अन्यान्य सामाजिक, तथा राष्ट्रीय–कर्त्तव्यानुबन्धों की है। वह सामाजिक अनुष्ठान ही क्या, जिस में–'सांस्कृतिक–आयोजन' के नाम से सर्व--प्रथम विनोदभावों की घोषणा न करदी जाती हो। वे राष्ट्रीय आयोजन ही क्या, जिन में समष्टि--व्यष्टिरूप से उभयथा थकान को दूर करने के 'आयोजनों' की प्रमुखता के साथ सुव्यवस्था न हो। यों आज आप को सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में अटक से कटक पर्य्यन्त, एवं कुमारिकाक्षेत्रपर्य्यन्त ग्रामे–ग्रामे, नगरे--नगरे, प्रान्ते--प्रान्ते--सर्वत्र सभी--अवसरों पर इन **सांस्कृतिक–झलकियों** के ही वेतालचेष्टित प्रदर्शन उपलब्ध होंगे, मानो अब राष्ट्रप्रज्ञा के कोश में इन 'सांस्कृतिक--आयोजनों' के अतिरिक्त और कुछ भी तो उत्तरदायित्वपूर्ण--कर्त्तव्य शेष ही नहीं रह गया हो।

कैसे, और क्यों ऐसा घटित--विघटित--होपड़ा उस पावन भारतराष्ट्र में, जिस भारतराष्ट्र की चिरन्तन--प्रज्ञाने सृष्टि के दुरधिगम्य तत्त्वों के समन्वय से किसी युग में सम्पूर्ण विश्व को चमत्कृत कर जगद्गुरुत्त्व का स्थान ग्रहण करते हुए उन्मुक्त कण्ठ से यह उदात्त घोषणा करदी थी कि--"**इस देशमें उत्पन्न ज्ञान–विज्ञाननिष्ठ तत्त्वज्ञ, तथा आचारनिष्ठ ब्राह्मण से संसार भर के मनुष्य अपने अपने दैशिक–कालिक--कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करते रहें**" *। क्या आधार था इस घोषणा का ?। उत्तर सुनकर आप उद्विग्न तो नहीं हो पड़ेंगे ?। तो श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्।

४०–'पुरुषार्थ', और प्रकृत्यर्थ का स्वरूपभेद, एवं भारतराष्ट्र की चिरन्तनप्रज्ञा के द्वारा पुरुषार्थ से प्रकृत्यर्थों का नियन्त्रण—

नर्त्तन--गायन–वादन--प्रकृतिप्रेम--उल्लास--हास--परिहास--आमोद–प्रमोद--आदि आदि मनःशरीरधर्म्मों को इस राष्ट्र की प्रज्ञाने कभी 'पुरुषार्थ' नहीं माना। अपितु इस की दृष्टि में तो आत्म--बुद्धि--निबन्धना, उत्तर--दायित्त्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा ही मानवजीवन का प्रधान 'पुरुषार्थ' बनी रही, जिस पुरुषार्थ से सदा ही इस राष्ट्र के नृत्य–गायनादि 'प्रकृत्यर्थ' नियन्त्रित ही बने रहे। कदापि इन के सम्बन्ध में यहाँ की राष्ट्रनिष्ठा ने राष्ट्रप्रजा को स्वैराचारिता प्रदान नहीं की, जैसे कि आज का मानव प्रकृतिप्रेम में अपने आत्मबुद्धितन्त्रों को एकान्ततः विस्मृत ही कर बैठता है। तो क्या यहाँ की चिरन्तन प्रज्ञाने प्रकृति से द्रोह किया ?, किंवा प्रकृति की उपेक्षा की ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम !!

४१–प्रकृतिद्रोही दार्शनिक, एवं इस की जगन्मिथ्यात्त्वमूला भ्रान्ति से ही राष्ट्रवैभव का सर्वनाश—

सम्भव है–यहाँ के दिग्देशकालभ्रान्त, अतएव सर्वभ्रान्त दार्शनिकोंनें, विशेषतः जगन्मिथ्यात्त्ववादी अध्यासवादियोंनें प्राकृत विश्व को, तदभिन्न सौरसम्वत्सरात्मक **सत्यभाव** को, पार्थिव सम्वत्सरात्मक **शिवभाव**

---

* **एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ —मनुः

को, तथा चान्द्रसम्वत्सरात्मक सौन्दर्य्य को निरपेक्ष, किंवा उपेक्षणीय ही मान लिया हो। और यह भी सम्भव ही क्या, निश्चित ही है कि, विश्व के सत्यं–शिवं–सुन्दरं–लक्षण आधिदैविक–महिमाभाव से अपरिचित बने रह जाने वाले कल्पित अध्यात्मवादी तथाविध दार्शनिकों की कृपा से ही आगे चलकर **असत्य–अशिव–असुन्दर**–रूप वैसा प्रकृतिप्रेमात्मक 'जड़प्रेम' आविर्भूत होगया हो, जिस जड़प्रेम के कारण हीं प्रकृति का आधिदैविक सत्य–शिव–सौन्दर्य्य–भाव उत्तरोत्तर अभिभूत ही होगया हो, जिस अभिभूति के कारण हीं भारतराष्ट्र का प्राकृत-विश्ववैभव, तथा राज्य-साम्राज्य-वैराज्य-सार्वभौमत्त्व अन्तर्मुख बन गया हो–क्या, बन ही तो गया।

४२–भारतीय आर्षप्रज्ञा के द्वारा प्रकृति का पूजन, एवं तन्माध्यम से ही प्रकृतिप्रेमात्मक–जड़प्रेम का तिरस्कार—

कदापि भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने इसप्रकार से न तो प्रकृति के साथ कभी द्रोह ही किया, एवं न प्राकृत विश्व के सत्य–शिव–सौन्दर्य की कभी उपेक्षा ही की। अपितु प्रकृति के छोटे से छोटे, तथा बड़े से बड़े महिमा–विवर्त्तों के सम्मुख ऋषिप्रज्ञाने अपने आपको सर्वात्मना **'उपासक'** के रूप से ही समर्पित कर प्रकृति के वरदान से उपलब्ध होने वाले उस समस्त विश्ववैभव से अपने भारतराष्ट्र को सर्वात्मना समलङ्कृत ही कर दिया था, जिस प्राकृत ऐश्वर्य्य की, श्री–लक्ष्मी–ऋद्धि–समृद्धि–पुष्टि–आदि की आज के ये प्रकृतिप्रेमी स्वप्न में भी कल्पना भी तो नहीं कर सकते। **प्रकृति का प्रेम भारतराष्ट्र की समृद्धि का कदापि कभी भी आधार नहीं रहा, अपितु 'प्रकृतिपूजन' ही भारतवैभव की मूलप्रतिष्ठा बना।** * नाचते हुए, और केकावाणी के द्वारा गाते हुए 'मयूर' को देख कर ऋषि का मनमयूर नाचने गाने नहीं लग पड़ा। अपितु आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र की अधिष्ठात्री माता सरस्वती के नैदानिक वाहन के रूप में ऋषिप्रज्ञाने इस मयूरदर्शन से सर्वप्रथम मयूरासना माता सरस्वती का ही संस्मरण किया, एवं तन्माध्यम से ही मयूर के इस पारमेष्ठ्य सत्य–शिव–सुन्दर प्राकृतभाव के प्रति अपने श्रद्धाप्रसून समर्पित किए।

४३–सौर सत्य, पार्थिव शिव, तथा चान्द्र-सुन्दर-भावमाध्यमेन सत्यं-शिवं सुन्दरं लक्षण-प्राकृत विश्व का आराधन—

इत्यादिरूपेण समष्टि–व्यष्टिरूपात्मक प्राकृत पदार्थों के सत्य[१]–शिव[२]–सुन्दर[३]–, इन तीनों सौर[१]–पार्थिव[२]–चान्द्र[३]–महिमाभावों का क्रमशः अपने प्राकृत सौर बुद्धितन्त्र[१], पार्थिव शरीरतन्त्र[२], तथा घान्द्र मनस्तन्त्र[३], इन तीनों तन्त्रों से पूजनाराधन करते हुए इस प्रकृतिपूजन के माध्यम से ही, इस प्राकृत उपासना के अनुग्रह से ही प्रकृति से अतीत पुरुषब्रह्म का भी अनुग्रह प्राप्त कर लिया, एवं तन्निष्ठानुग्रह से प्राकृत आसक्तियों से अपने बुद्धि–मनः शरीर–तन्त्रों को असंस्पृष्ट रखते हुए प्रकृति के सम्पूर्ण वैभवों से भी अपने आपको समन्वित कर लिया। और हम समझते हैं, प्रकृति (विश्व), और पुरुष (विश्वात्मा–विश्वेश्वर) का ऐसा लौकिक–अलौकिक, अभ्युदय–निःश्रेयसात्मक समन्वय भारतीय ऋषिप्रज्ञा के अतिरिक्त आजतक विश्व की किसी भी अन्य भूतप्रज्ञा के द्वारा समन्वय तो क्या, कल्पना का भी विषय नहीं बन सका है।

---

* **'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'** नामक सहस्र पृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध में **'प्रकृतिपूजन'** तथा **'प्रकृतिप्रेम,'** इन दोनों शब्दों के चिरन्तन इतिवृत्त का दिग्दर्शन करा दिया गया है।

४४--सप्तर्षिप्राणानुबन्धी सप्त स्वराक्षरों से समन्वित प्राकृतिक सङ्गीत की 'वीणावादन' माध्यम से आराधना----

नृत्य-गीत-वाद्यात्मक सङ्गीत क्या ऋषिप्रज्ञा के द्वारा उपेक्षणीय रहा है ?। कैसे उपेक्षणीय रह सकता था, जिन ऋषियों की आचार-मीमांसाओं में, श्रौत-स्मार्त्त-आधिदैविक सांस्कृतिक-संस्कारों तक में-**'वीणागाथिनो गायन्ति'** इत्यादि रूपेण * वीणात्मक सङ्गीत का समावेश हुआ है। सप्तर्षिप्राणमूर्ति अव्यक्त-अक्षरात्मक मूलप्रकृतिरूप स्वयम्भू प्रजापति के अक्षरात्मक सप्त-ऋषिप्राणों के आधार पर ही वितत सप्त रश्मिमय-सप्त छन्दोमूर्ति **सप्त स्वरों** के द्वारा सम्पन्न सङ्गीत कैसे उपेक्षणीय रह सकता था भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा। इसीलिए तो भगवान् याज्ञवल्क्य ने प्रकृति के सप्त स्वरात्मक सङ्गीत को भी मुक्ति के साधनों में स्थान दे दिया है। किन्तु कदापि भारतीय सङ्गीत प्रकृति-प्रेमानुबन्धी नहीं है। अपितु इतर प्राकृत-विवर्तों की भाँति यह भी प्रकृतिपूजनात्मक ही है, जो अमुक प्राकृतिक मर्यादाओं से ही नियन्त्रित है।

क्या सीमा है इस नियन्त्रण-मर्यादा की ?, प्रश्न के समन्वय का इस प्रस्तावना में अवसर नहीं है। प्रसङ्गसमन्वय की दृष्टि से केवल यही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि, जो ऋषिप्रज्ञा अमुक सांस्कृतिक-आचार-कर्म्मों में-**'वीणागाथिनो गायन्ति'** इत्यादिरूप से सङ्गीत को संस्कार का अङ्ग मान रही है, वही ऋषिप्रज्ञा उत्तरदायित्त्वपूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रसङ्गों में तन्निष्ठ तत्त्वानुशीलक, तत्त्वाचारपरायण ब्राह्मण के लिए **'तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेत, न नृत्येत्-माग्लागृधः स्यात्'** (गोपथ-ब्रा० पू० २।२१।) इत्यादि रूप से प्रचण्ड विरोध भी कर रही है। जिस राष्ट्र की आत्मानुशीलनपरायणा ब्राह्मणप्रज्ञा ज्ञानविज्ञानात्मक 'ब्रह्म' के संग्राहक, इष्टभावात्मक ÷ 'वर्चस्व' की उपेक्षा कर नृत्य-गीतादि मनोभावों में निमग्न होजाती है, कदापि न तो वह ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वानुशीलन में हीं सफलता प्राप्त कर सकती, एवं न ऐसे नाचने गाने वाले विद्वानों से राष्ट्र को कभी प्रज्ञात्मक नैष्ठिक-निर्णय ही उपलब्ध हो सकते। यही अवस्था उस क्षात्र-सत्तातन्त्र की है, जो ब्राह्मण की आत्मनिष्ठा के द्वारा व्यवस्थित नीति का अपनी बुद्धिनिष्ठा के द्वारा प्रजासे आचारमर्य्यादाओं का पालन कराने जैसे महान् लौकिक उत्तरदायित्त्व से अनुप्राणित है। अतएव ब्रह्मवत् इस क्षत्र को भी अपनी इस बौद्धिक-निष्ठाके संरक्षण के लिए अपने आप को इन नाच-गान-समारोहों की सूत्रधारता से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बनाए रखना पड़ेगा, तभी यह उस **'मन्दाक्षता'** नामक महान् दोष से अपने शासनतन्त्र का

---

* सुप्रसिद्ध **'सीमन्तसंस्कार'** में गर्भविनाशिका इन्द्रविद्युत् की उपशान्ति के लिए इन्द्रव्यामोहनार्थ वीणावादन के माध्यम से सङ्गीत का समन्वय हुआ है-देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के-**'कर्मयोगपरीक्षा'** नामक चतुर्थ खण्ड का **'संस्कारविज्ञान'** नामक प्रकरण।

÷ **तद्ध्येव ब्राह्मणेन-एष्टव्यं-'यद् ब्रह्मवर्चसी स्यात्' इति।**

—शतपथ० १।६।३।१६।

परित्राण कर सकेगा, जिस 'मन्दाक्षता' * से शासन की मर्य्यादाएँ सर्वथा ही शिथिल बन जाया करती हैं, जिसके सबसे बड़े उदाहरण आज हमारेलिए सर्वश्री वे जवाहरलाल नेहरू महाभाग ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिन की मन्दाक्षता से ही आज भारतीय सत्तातन्त्र में वैसी अप्रत्याशित घटनाएँ घटित होतीं जारहीं हैं, जिनके संस्मरणमात्र से भी भारतीय हृत्प्रतिष्ठा विकम्पित है ।

४६–लोकनिष्ठ सर्वश्री गाधीजी की सहजप्रज्ञा से दीक्षित सर्वश्री नेहरू महाभाग का उत्तरदायित्त्वपूर्ण शासनपद—

अपने राजनैतिक दीक्षागुरु सुप्रसिद्ध रामभक्त परमलोकनिष्ठ सर्वश्री जिन गान्धीजी के नेतृत्व में परमसौम्य, स्फटिकहृदय, राष्ट्रप्रेम की साकारप्रतिभारूप सर्वश्री जिन नेहरू महाभाग ने **भारतराष्ट्र के** शासन का उत्तरदायित्त्व अपने पवित्र स्कन्धों पर उठाया था, उस महान् उत्तरदायित्त्व के प्रति आजतक यह महाप्राण मानवश्रेष्ठ अडिगरूप से प्रतिष्ठित है । और इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं है कि, यदि आपके स्थान में कोई अन्य नवीन–पीढ़ी का मानव इस पद पर आरूढ कर दिया जाता, तो भारतराष्ट्र सर्वथा ही विकम्पित हो पड़ता । यदि सांस्कृतिक–चिरन्तन–आर्षनिष्ठा के दृष्टिकोण को हम थोड़ी देर के लिए पृथक् करदें, तो मान लेना पड़ेगा कि, वर्त्तमान शताब्दी में श्रीगाँधीजी जैसा लोकनिष्ठ मानवश्रेष्ठ दूसरा उत्पन्न ही नहीं हुआ । लोक–राजनीति–विशारद, साथ ही अपनी रामभक्ति की आस्था से निर्म्मलान्तःकरण प्रमाणित होने वाले इस मानवश्रेष्ठ की दूरदर्शितानें हीं अन्यान्य वयोवृद्ध नेताओं की विद्यमानता में भी तरुणमूर्त्ति श्रीनेहरू को ही शासन के उत्तरदायित्त्व के योग्य समझा, और इस 'समझ' के अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र का स्वरूप येनकेनरूपेण आजतक व्यवस्थित भी बना हुआ है ।

४७–शुचिभावापन्न श्रीनेहरू की सहज भावुकता, एवं भावुकतामूलक 'मन्दाक्षता'–लक्षण व्यक्तित्त्वविमोहन, और उस के दुष्परिणाम—

'येनकेनरूपेण' वाक्य का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, जहाँतक शासन में 'शुचिता' का सम्बन्ध है, वहाँतक तो श्रीनेहरू के नेतृत्त्व में यत्किञ्चित् भी अविश्वास करना अपने आप को प्रायश्चित्त

---

* अपराधों की उपेक्षा करा देने वाली मानसिक भावुकता का नाम हीं राजनीतिशास्त्र में 'मन्दाक्षता' नामक वह महान् दोष माना गया है, जिसके कारण शासक अपराधी को दण्ड देने में असमर्थ बना रह जाता है । यही नहीं, अपितु अपनी इस मन्दाक्षता के कारण ही ऐसा मन्दाक्ष, भावुक, मनोवशवर्त्ती शिथिल शासक अपनी कल्पित–आभिज्यात्य–मर्य्यादा के व्यामोहन से तथाविध अपराधियों का भी यशोगान ही करता रहता है, जिस इस मन्दाक्षता से ही आज हमारे भारतराष्ट्र को आए दिन कैसे कैसे भयानक दुष्परिणाम भोगने पड़ रहे हैं ?, यह अचिन्त्य है । कोटि–कोटि–मित द्रव्यराशि का चरणामृत कर जाने वाले अपराधी भी आज सधन्यवाद पुरस्कृत कर दिए जाते हैं इसी मन्दाक्षता–रूप महान् दोष की कृपा से । सत्तातन्त्र जब मानस–विनोदों को ही अपना महान् पुरुषार्थ मान बैठता है, तो उस की नैष्ठिकी भी बुद्धि मनोवशवर्तिनी बनती हुई 'मन्दाक्षा' प्रमाणित हो जाती है । ऐसी मन्दाक्षता में सत्तातन्त्र नैष्ठिक निर्णय ले ही नहीं सकता । अतएव ज्ञानविज्ञानानुशीलनक्षेत्रवत् सत्ता का क्षेत्र भी मन्दाक्षताप्रवर्त्तक नृत्यगीतादि आयोजनों से असंस्पृष्ट ही मान लिया गया है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा ।

का ही भागी बना लेना होगा । किन्तु चाणाक्यचातुर्य्यमूला 'निष्ठा' की दृष्टि से श्रीनेहरू अपने आप को आजतक न केवल अभिव्यक्त ही कर सके, अपितु दसवर्षीय प्रचण्ड–संघर्षों से समुत्पन्न हो पड़ने वाली प्रतिक्रियाओं के संवरण में सर्वात्मना समर्थ न होने के कारण श्रीनेहरू की शुचितामूला सहज भावुकता उत्तरोत्तर प्रवृद्ध ही होती जारही है, जिस भावुकता को ही–'**व्यतित्त्वविमोहन**' कहा गया है । यह सम्भावित था कि, राष्ट्र के महद्भाग्य से भारतराष्ट्र के समर्थ सेनानी इस भावुक अर्जुन को यदि ५–७ वर्ष राजनीतिनिष्ठ (लोकवृत्तनिष्ठ) रामभक्त श्रीगाँधीजी जैसे कुशल सारथि का सहयोग और प्राप्त होजाता, तो श्रीनेहरू अपनी आभिजात्य–भावुकता का सर्वात्मना नहीं, तो अमुक सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही नियन्त्रण कर लेने में समर्थ बन जाते, और निश्चयेन उस अवस्था में आज भारतवर्ष की स्थिति कुछ दूसरी ही होती । और कुछ होता, अथवा न होता, किन्तु तदवस्था में सत्तातन्त्र यों सांस्कृतिक–आयोजनों में, पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्त्वविमोहनों में तो राष्ट्र के आत्मबुद्धिभावों को सर्वथा ही विस्मृत न कर बैठता । लोकमान्य **श्रीबालगङ्गाधरतिलक, श्रीगोपालकृष्ण गोखले, श्रीचित्तरञ्जनदास, श्रीविपिनचन्द्रपाल, श्रीलाजपतराय, श्रीमोतीलालनेहरू, महामना श्रद्धेय श्रीमालवीयजी महाराज**, आदि आदि सांस्कृतिक नेताओं के अनन्तर भारतीय प्राच्यसंस्कृति, एवं राष्ट्रीय चिरन्तन आदर्श के गच्छतः–स्खलनात्मक आंशिक प्रतीक एकमात्र **श्रीगांधीजी** ही शेष रह गए थे, जिनके सहयोग का भी श्रीनेहरू के सत्तातन्त्र को अधिक समय न मिल सका, एवं जिसके जो परिणाम सम्भावित थे, वे ही आज राष्ट्र को भोगने पड़ रहे हैं, विवश बन कर भोगने पड़ रहे हैं, और भगवान् जाने, कबतक भोगने पड़ेंगे ।

४८–पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्त्वविमोहन से असंस्पृष्ट महाप्राण मानवश्रेष्ठ श्रीनेहरू महाभाग—

क्या श्रीनेहरू जैसा शुचि मानव भी '**पदप्रतिष्ठात्मक–व्यक्तित्त्वविमोहन**' पर नियन्त्रण न कर सका ? । महती भ्रान्तिः । कदापि ऐसा आरोप श्रीनेहरू पर तो नहीं लगाया जासकता । राष्ट्र का '**प्रधान–मन्त्रित्त्वपद**' तो श्रीनेहरू के महान् व्यक्तित्त्व से बहीं छोटा है, बहुत छोटा है । श्रीनेहरू महान् हैं इस पद के समतुलन में ।

४९–स्वरूपविमोहनात्मक–व्यक्तित्त्वविमोहन की स्वरूप–परिभाषा, एवं उसके साथ श्रीनेहरू का समतुलन—

तो फिर '**व्यक्तित्त्वविमोहन**' का क्या अर्थ ? । अर्थ स्पष्ट है । अपनी महत्ता की सीमाबिन्दु पर पहुँच कर उस सीमाबिन्दु पर ही अपने व्यक्तित्त्व का अवसान मान लेना हीं वह '**व्यक्तित्त्वविमोहन**' है, जो पदप्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्त्वविमोहन से भी कहीं अधिक भयानक मान लिया गया है भारतीय राजनीतिशास्त्र में । '**मैं जैसा ठीक समझता हूँ, वही ठीक है**', इस विमोहन का नाम ही '**स्वरूपविमोहनात्मक व्यक्तित्त्व–विमोहन**' है, जिसपर पहुँचते ही मानव अपने सहजसिद्ध महान् भी व्यक्तित्त्व से '**बहुत छोटा**' बन जाता है । और भारतराष्ट्र की अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा के संरक्षणाकर्षण से हमें सर्वथा अभयरूप से राष्ट्रीय–प्रजा के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणतभाव से श्रीनेहरू के सम्बन्ध में भी यह निवेदन कर देने में यत्किञ्चित् भी तो संकोच नहीं हो रहा कि, श्रीनेहरू ने भारतीय संस्कृति के हृदय से अपरिचित रह जाने के कारण '**अज्ञातरूप**' से

ही अपने आप को उस 'व्यक्तित्वविमोहन' पर ला खड़ा किया है, जिस विमोहनने भारतीय-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से तो आपको सर्वथा ही–'सीमित' प्रमाणित कर दिया है। भारतराष्ट्र के इस महान् कर्णधार को, महान्–मानवश्रेष्ठ को, अत्यन्त शुचिहृदय निर्म्मलहृदय को जब हम विदेशों से आते रहने वाले नृत्य-गायन-परायण-अभिनेता, और अभिनेत्रियों के साव अन्तर्राष्ट्रीय–ख्यातिविमोहनाकर्षण से चित्रित देखते हैं, तो हमारा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण राष्ट्रीयता का हृदय हाहाकार कर उठता है, और हाहाकारपूर्वक ही भारतराष्ट्र की चिरपुरातना–चिरनूतना–राष्ट्रीयता के आर्त्त–पीड़ित हृदय से ये ही उद्‌गार निकल पकड़ते हैं कि, क्या भारतराष्ट्र की संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों का ऐसा ही उज्ज्वल चित्र है ?। क्या भारतराष्ट्र के सुसमृद्ध–युगों के सर्वसत्ता–प्रभुसत्ता–समर्थ सर्वैश्वर्य्यशाली सत्ताधीशों का ऐसा ही कुछ चित्रण हुआ है इतिहास के पृष्ठों में ?। 'अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना सांस्कृतिकस्यास्य भारतराष्ट्रस्य व्यक्तित्व–विमोहनानुग्रहेणैव ।

४०–श्रीनेहरू का 'अज्ञात' भावापन्न विमोहन, एवं तन्मूलक प्रतिक्रियात्मक प्रचण्ड आक्रोश, तथा अभिनिवेश—

'अज्ञातरूप से ही हो पड़ने वाले व्यक्तित्वविमोहन' का 'अज्ञात' शब्द कुछ विशेष महत्त्व रखता है, जिसका स्पष्टीकरण न करना भी श्रीनेहरू के व्यक्तित्व के साथ अन्याय ही करना होगा। यह कहा जा चुका है कि, श्रीनेहरू अपने इस भारतराष्ट्र के प्रति आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः आपादमस्तक सर्वथा शुचि हैं, पवित्र हैं, एवं प्रत्येक सम्भव असम्भव उपाय से आप अपने महान् व्यक्तित्व से अभिन्न इस राष्ट्र को सर्वात्मना सुसमृद्ध बनाने के लिए ही प्रतिक्षण समातुर हैं। ऐसे विशुद्ध व्यक्तित्व से जैसा जो कुछ विमोहन हो रहा है, उस विमोहन का आधार सम्भवतः ही नहीं, निश्चयेन स्वयं श्रीनेहरू के लिए भी इसलिए **'अज्ञात'** ही बना हुआ है कि, आपने अपने शिक्षा–दीक्षाकाल में जिन प्रतीच्य–भौतिक–संस्कारों से अपने व्यक्तित्व को सर्वतः समाप्लुत कर लिया है, उन प्रतीच्य–विचारों के अतिरिक्त, उस प्रतीच्य दृष्टि के अतिरिक्त आपके सम्मुख भारतराष्ट्र का प्राच्य–दृष्टिकोण सर्वथा अज्ञातवत् ही प्रमाणित रहा है । इसके साथ साथ ही जिन वर्तमान–भारतीय–विद्वानों, धार्म्मिक पुरुषों, आदि के द्वारा जैसा जो भी प्राच्य–दृष्टिकोण श्रीनेहरू के सम्मुख कर्णाकर्णिपरम्परया यदा कदा आता रहा है, उसने आपको इस ओर आकर्षित करने के स्थान में अधिकाधिक प्रतिक्रियावादी ही प्रमाणित किया है। ऐसा क्यों ?, और किस लिए ?।

४१--श्रीनेहरू के परस्परात्यन्तविरुद्ध विभिन्न प्रकार के दो व्यक्तित्व —

यों, और इसलिए कि, प्राच्यसंस्कृति, प्राच्य शाश्वतधर्म्म, आदि के स्थान में मतवादात्मक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण हीं विगत अनेक शताब्दियों से यहाँ प्रमुख बनें हुए हैं, जैसाकि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। ऐसे साम्प्रदायिक मतवादात्मक दृष्टिकोण से आपका समुत्तेजित हो पड़ना जहाँ स्वाभाविक था, वहाँ प्रतीच्य–दृष्टिकोण के अतिरिक्त किसी आचारात्मक–भारतीय–दृष्टिकोण के सम्मुख उपस्थित न होने से अज्ञातरूपेणैव आपका प्रतीच्यपद्धति के अनुसार ही अनुगमन करने लग पड़ना भी सर्वथा अस्वाभाविक तो नहीं कहा जा सकता। यों आप अज्ञातरूपेणैव परदर्शनमूलक-स्वरूपविमोहनात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होते गए। तद्‌ष्परिणामस्वरूप ही आज तो आप के मुख से अज्ञातरूप से ही 'प्राचीनता'

के लिए सर्वथा वैसे उद्गार ही अभिव्यक्त हो पड़ते हैं, जो श्रीनेहरू के स्वयं के व्यक्तित्त्व के उद्गार तो प्रतीत नहीं होते। सचमुच श्रीनेहरू आज दो विभिन्न स्वरूपों में परिणत हो गए हैं, जिन दोनों विभिन्न स्वरूपों को अवधानपूर्वक लक्ष्य बना कर ही हमें आपके **'व्यक्तित्त्व'**, तथा **'व्यक्तित्त्व-विमोहन'**-भावों का मूल्याङ्कन कर लेना चाहिए।

५२-'राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व' की प्रतिमूर्त्ति श्रीनेहरू, एवं तन्मूलक महान् व्यक्तित्त्व—

भारतीय-स्वतन्त्रतासंग्राम के समर्थ सेनानी श्रीनेहरू, एकमात्र इसी राष्ट्रीय अनुबन्ध से भारत के कण कण में व्याप्त श्रीनेहरू वे नेहरू हैं, जिनके व्यक्तित्त्व पर भारतराष्ट्र गर्व कर-सकता है, सदा करता रहेगा। और श्रीनेहरू बाह्य-परिस्थितियों के निग्रहानुग्रह से भले ही अपने बाह्यस्वरूप से कितनें हीं बदल जायँ। किन्तु आपका यह सहज-सौम्य-विशुद्धतम-**'राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व'** कदापि नहीं बदल सकता, एवं भारतराष्ट्र की कृतज्ञ प्रजा इत्थंभूत 'राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व' के प्रति सदा ही उन्मुक्तहृदय से कृतज्ञताञ्जलियाँ हीं आस्था-श्रद्धापूर्वक समर्पित करती आई है, करती ही रहेगी। और अपनी इसी कृतज्ञता का पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयं-रूपेण स्वल्पतम परिचय प्रदान करने के लिए ही भारतीय प्रजातन्त्रने बड़े उत्साह के साथ अपने इस हृदय-सम्राट् को सर्वसम्मति से भारतराष्ट्र के सर्वोच्च शासन पद पर प्रतिष्ठित भी किया है।

५३-'अन्तर्राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व' की साकार-प्रतिमा श्रीनेहरू, एवं तन्मूलक महान् 'व्यक्तित्त्वविमोहन'—

इसी सत्तारोहणकाल से दुर्भाग्यवश श्रीनेहरू का वह दूसरा सत्तालक्षण व्यक्तित्त्व आविर्भूत हो पड़ा, जिसे हम राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व न कह कर-**'अन्तर्राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्व'** की उपाधि से ही समन्वित मान सकते हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहिले तक जो नेहरू केवल भारतराष्ट्र की विमलविभूति थे, इस देश की प्रातिस्विक सम्पत्ति थे, सता-सूर्य्य की प्रथम किरण के उदय से ही अन्तर्राष्ट्रीय--व्यामोहन ने इस महती सम्पत्ति को भारतराष्ट्र से मानो बलपूर्वक ही अपहृत कर लिया। **'स्वस्वरूपप्रतिष्ठापूर्वक पर-भावुकतासंरक्षण'** जैसे महान् निष्ठासूत्र के आधार **'स्वराष्ट्रप्रतिष्ठासंरक्षणपूर्वक परराष्ट्रभावुकतासंरक्षण'** नामकी विश्वमानवता का, विश्व-बन्धुत्त्व का भारतीय राजनीतिने भी सर्वात्मना समर्थन किया है। अतएव भारतीय नेहरू यदि इस निष्ठासूत्र के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय नेहरू बन जाते, तो भारतराष्ट्र का गौरव महान् ही प्रमाणित होता। किन्तु हुआ ठीक इससे विपरीत।

५४-स्वराष्ट्र के प्रति भावुक श्रीनेहरू का परराष्ट्रों के प्रति नैष्ठिक-व्यामोहन, एवं तन्मूलक स्वराष्ट्रीय-निष्ठाओं का आत्यन्तिक अभिभव—

"परनिष्ठास्वरूपसंरक्षणपूर्वक स्वभावुकता-संरक्षण' के माध्यम से समन्वित हो पड़ने वाला श्रीनेहरू का व्यक्तित्त्व पर-राष्ट्रों के हितानुबन्धन से जहाँ स्वर्णिमयुग प्रमाणित होता गया, वहाँ स्व-राष्ट्र (भारतराष्ट्र) हितानुबन्ध से आपका यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्त्व स्वयं भारतराष्ट्र के लिए उत्तरोत्तर अन्धयुग ही बनता गया। और यह सबकुछ जान बूझ कर स्वस्थ-प्रकृतिस्थ-दशा में नहीं हुआ। अपितु स्व-भारतराष्ट्र की किसी नैष्ठिक आचारपद्धति के समन्वय करने में नितान्त असमर्थ श्रीनेहरू के द्वारा परराष्ट्रों की पद्धतियाँ

हीं यहाँ के लिए भी हितप्रद प्रमणित होगईं, किंवा चाणक्षचतुर परराष्ट्रों के लोकनिष्ठ, स्वरूपविमोहनकला में सर्वात्मना कुशल अन्तर्राष्ट्रीय मानवों के द्वारा ही बलपूर्वक प्रमाणित करदीं गईं। यों सर्वथा '**अज्ञात**'–रूप से ही श्रीनेहरू इस '**अन्तर्राष्ट्रीय–व्यक्तित्त्वविमोहन**' रूप दूसरे प्रातिभासिक व्यक्तित्त्व से समन्वित हो ही तो पड़े, जिस से अधिक बड़ा दुर्भाग्य भारतराष्ट्र का और कुछ हो ही नहीं सकता।

५५-स्वस्वरूपनिष्ठा के स्वरूपबोध से पराङ्मुख श्रीनेहरू के द्वारा स्वराष्ट्र में पर–स्वरूप भावों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति, एवं तद्‌ष्परिणामस्वरूप ही स्वराष्ट्र की सांस्कृतिक-परम्पराओं की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता––

भारतराष्ट्र की आत्मबुद्धिप्रधाना मौलिक प्राणमयी सांस्कृतिक–निधि से सर्वात्मना अपरिचित, एवं भारतेतर राष्ट्रों की मनःशरीरप्रधाना भूतमयी सभ्यतानिधि से आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः सुपरिचित श्रीनेहरू के सत्तातन्त्रानुगत अन्तर्राष्ट्रीय-व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक इस दूसरे रूपने अपनी निर्म्मलान्तःकरणजनिता सहज शुचिता के अनुग्रह से परराष्ट्रों के विधि–विधानों को ही भारतराष्ट्र के लिए महान् माङ्गलिक मान लेना आरम्भ कर दिया, एवं आवेशपूर्वक मनवाना भी आरम्भ कर दिया। वहाँ क्योंकि नाच–गान–वादनादि को '**सांस्कृतिक–आयोजन**' कहा गया है, तो यहाँ भी तथाविध ही आयोजन सुप्रतिष्ठित कर दिए गए। वहाँ '**पञ्चवर्षीय–योजनाएँ**' अनुरूप हैं, तो यहाँ भी उनकी कल्पना कर ली गई। वहाँ '**तलाकप्रथा**' क्योंकि प्रशस्त है, अतएव यहाँ भी उसका शिलान्यास कर देना आवश्यक राष्ट्रीय–उत्थान मान लिया गया। वहाँ '**गोपशु**' का **वध**' कोई महत्त्व नहीं रखता, तो यहाँ भी इस राष्ट्रीय महान् प्रश्न के साथ गजनिमीलिका कर ली गई। निष्कर्षतः सभी क्षेत्रों के लिए, अथ से इतिपर्य्यन्त वहाँ के आदर्श ही यहाँ के लिए भी आदर्श घोषित कर दिए गए। और यहाँ '**प्राचीनता का**'-'**स्वराष्ट्रनिष्ठा का**' नामस्मरण भी श्रीनेहरू के लिए उत्तेजना का ही कारण प्रमाणित बनने लग पड़ा। यहाँ का पुरातन सबकुछ खण्डहर ही प्रमाणित होगया इन अन्तर्राष्ट्रीय श्रीनेहरू की दृष्टि में, जिन पुरातन–खण्डहरों की रक्षा के लिए ही 'स्वतन्त्रता' से पूर्व के इन्हीं भारतीय श्रीनेहरूने ब्रिटिशसत्ता के साथ प्रचण्ड संघर्ष किया था स्वतन्त्रतासंग्रामकाल में। और पुनः हम यही कहते हैं कि, यह सब कुछ सर्वथा अज्ञातरूप से ही हो पड़ा, एवं हो रहा है आज भी अज्ञातरूप से ही श्रीनेहरू के द्वारा।

५६-स्वराष्ट्रीय–संस्कृतिनिरपेक्षा, तथा परराष्ट्रसभ्यतासापेक्षा श्रीनेहरू की मानसिक मान्यताओं के प्रति भारतीय–संस्कृतिनिष्ठ–जनतन्त्र की आत्यन्तिक उपेक्षा—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि, तीन सहस्र वर्षों के पारम्परिक उत्पीड़नों से अपनी संस्कृति–सभ्यता–आदर्श–आचार–आदि को आततायियों के द्वारा लुटवाता हुआ भी भारतराष्ट्र अपने मूलबीजरूप से आजतक कुछ भी नहीं बदला है, आकल्पान्त नहीं ही बदलेगा। ठीक इसीप्रकार निरन्तर दस वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहनात्मक आक्रमणों से सर्वतः परिवेष्टित भी श्रीनेहरू आजतक अपने मौलिक भारतीय–स्वरूप से यत्किञ्चित् भी तो नही बदले हैं। श्रीनेहरू के अनुग्रह से उपजीवित आज के काल्पनिक भक्त कहेंगे कि, यह तो हम श्रीनेहरू की चाटुकारिता करने लग पड़े। वैसे काल्पनिक–भक्तों से यही निवेदन कर दिया जावगा कि, व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का तभीतक समादर है हमारे हृदय में, जबतक कि वह निश्छलरूप से राष्ट्र के प्रति श्रद्धा समर्पित किए हुए है। और इस अंश में श्रीनेहरू के सम्बन्ध में कोई भी अभियोग नहीं लगाया जा सकता।

जो लगाते हैं, वे श्रीनेहरू के प्रति नहीं, अपितु राष्ट्र के प्रति कृतघ्नता करते हैं। रही बात उपयोगिता, अनुपयोगिता की, सो तत्सम्बन्ध में तद्भक्त सम्भवतः हम से अधिक जान रहे होंगे कि, हमें इस चाटुकारिता से श्रीनेहरू को प्रसन्न कर कौनसा वैय्यक्तिक–लाभ उठा लेना है ?, जबकि हमें उनकी कोई सी भी मान्यता सांस्कृतिक–दृष्टिकोण से स्वप्न में अभीप्सित नहीं है।

५७–श्रीनेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय–विमोहनात्मक व्यक्तित्वविमोहनानुबन्धी 'अज्ञात' भाव का वास्तविक–समन्वय—

बहुत सम्भव है तद्भक्तों की दृष्टि से श्रीनेहरू विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय मानव ही प्रमाणित हो गए हों, अथवा तो अपने मतवादों के आवेश से आविष्ट प्रतिक्रियावादी अमुक वर्गविशेषों की दृष्टि में श्रीनेहरू भारतीय न रहे हों। किन्तु श्रीनेहरू के मुख से विनिर्गत अमुक वाक्यविशेषों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुनने से, एवं सामयिक पत्रों में प्रतिबिम्बित श्रीनेहरू की आकृतियों से हमें तो इसी तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, बाह्यरूपेण सबकुछ बदल जाने पर भी श्रीनेहरू कुछ भी तो नहीं बदले। विदेशों से आने वाले सांस्कृतिक–शिष्टमण्डलों के अभिनेता, तथा अभिनेत्रियों के बीच में बैठ कर चित्र उतरवाने वाले चित्रित श्रीनेहरू की मुखच्छवि को जब जब भी हमने ध्यान से देखा है, तबतब ही यह स्पष्ट प्रतीत होता रहा है कि, इस भारतीय–सांस्कृतिक–पुरुष को अज्ञातरूप से ही, विवशतापूर्वक ही इस मण्डली में बैठ जाना पड़ा है। हमारे एक मित्रने हमें राजस्थान के सत्ताहस्तान्तरणकाल का उदयपुर का एक चित्र दिखलाया था, जिसमें श्रीनेहरू की प्रच्छन्न वेदनामयी वह सांस्कृतिक प्रतिमा अभिव्यक्त हो पड़ी थी, जिसे देख कर यही कह देना पड़ता था कि, श्रीनेहरू सचमुच भारतीयता के प्रतीक हैं। और हम समझते हैं, सत्तातन्त्र के बाह्य–व्यासङ्गों से परित्राण पाने के स्वस्थ–प्रकृतिस्थ–क्षणों में जब भी श्रीनेहरू स्वात्मनिष्ठ बन कर वर्त्तमान भारत की इन राष्ट्रीय प्रगतियों–पर, अपने से ही प्रसूत यहाँ के सांस्कृतिक-आयोजनों के विजृम्भणों पर दृष्टि डालते होंगे, तो निश्चयेन वे स्वयं भी इन से उत्पीड़ित ही हो पड़ते होंगे। अतएव हम आपके व्यक्तित्वस्वरूप के विश्लेषण के लिए आपके सम्बन्ध में-**'अज्ञात'** शब्द को सर्वात्मना समीचीन मान रहे हैं।

५८–सामान्य घटना के अनुग्रह से राष्ट्र के भविष्य की अन्धकारपूर्णता—

और श्रीनेहरू के अज्ञातभावापन्न अन्तर्राष्ट्रीय–विमोहनात्मक व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट हो पड़ने वाले भारतीय वर्गविशेषों से प्रणतभाव से हम यह आवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, उन्हें निर्णय से पहिले इस निष्ठासूत्र को सदा ही लक्ष्यारूढ बना लेना चाहिए कि,–**"भूल देखना क्योंकि मानव का सहज स्वभाव है। अतएव कहीं भी, किसी में भी भूल देखना मानव की भूल नहीं है। किन्तु इस भूल देखने में मानव को कभी भूल नहीं करनी चाहिए। यदि मानव भूल देखने में भूल कर बैठता है, तो उसे जीवनपर्य्यन्त पश्चात्ताप ही करते रहना पड़ता है"**। हम समझते हैं-भारतराष्ट्र के अमुक जनतन्त्र जहाँ श्रीनेहरू की भूल–देखने में भयानक भूल कर रहे हैं, वहाँ **अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमुग्ध श्रीनेहरू भी भारतराष्ट्र की प्राच्यनिष्ठा के समझने में भूल कर रहे हैं**। इस भूल देखने की भूल से ही श्रीनेहरू आपादमस्तक मूलतः सर्वात्मना भारतीय होते हुए भी भारतीय सांस्कृतिक–निष्ठा के सम्बन्ध में उस सीमापर्य्यन्त आज आवेशाविष्ट बन गए हैं, जिस आवेश के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतराष्ट्र का आत्मबुद्धिनिष्ठ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'**सांस्कृतिक-स्वातन्त्र्य**' शङ्कास्पद ही बन गया है। '**संस्कृति के चार अध्यायों**' पर उन्मुक्तहृदय से भूमिका लिखने में प्रवृत्त हो जाने वाले श्रीनेहरू को '**संस्कृति**' से तो प्रेम है। किन्तु जिस 'संस्कृति' शब्द का स्वरूप सम्पूर्ण विश्व के साहित्य में एकमात्र भारतराष्ट्र के मौलिक साहित्य में हीं निहित है, उस भारतीय–प्राच्यसाहित्य का नामश्रवण भी श्रीनेहरू को अभीष्ट नहीं है अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहन के कारण। इसी व्यामोहनगर्त्त में नेहरू जैसे महान् भारतीय की भी भारतीयता आज सर्वात्मना निमज्जित हो पड़ी है, जिस इस छोटी सी सांस्कृतिक–घटना, किंवा घोरघोरतमा महती दुर्घटना से भारत का सांस्कृतिक–भविष्य ही आज अन्धकारपूर्ण बन गया है।

५९–भारतीय सांस्कृतिक–'हिन्दू-मानव' के प्रति श्रीनेहरू का प्रतिक्रियात्मक आश्चर्य्योत्पादक अभिनिवेश, एवं भारतराष्ट्र का दुर्भाग्यपूर्ण इतिवृत्त —

अन्यदपि महदाश्चर्य्यम्। श्रीनेहरू के आक्रोश का प्रधान क्षेत्र है वह '**हिन्दू–मानव**', जिसकी कृपा से ही भारतराष्ट्र की संस्कृति के मूलबीज आजतक सुरक्षित रहते आए हैं। जिस 'पण्डित' शब्द से समुत्तेजित होकर श्रीनेहरू ने अपनी इस आभिजात्य उपाधि का परित्याग कर दिया है, उस 'पण्डित' नामधारी भारतीय ब्राह्मण ने हीं युग–युग के घोरघोरतम उत्पीड़नों को सहते हुए भी भारतराष्ट्र की उस मूल साहित्यिक–निधि को आजतक बचाए रक्खा है, जिस मूलनिधि के एक एक चिरन्तन सत्यसिद्धान्तों से श्रीनेहरू की शिक्षा–दीक्षा के आचार्य्य प्रतीच्य विद्वान् न केवल प्रभावित ही होते आए हैं, अपितु उन महामानवों नें मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं की है कि,–"**भारतवर्ष के औपनिषद ज्ञान से ही विश्व का संघर्ष शान्त हो सकता है** ÷"। हम उस समय आश्चर्य्य से स्तब्ध रह जाते हैं, जबकि 'हिन्दू' नाममात्र के उपस्थित हो जाने से अपने इस राष्ट्रकर्णधार को समुत्तेजित होते पाते हैं। ऐसा क्यों ?। हिन्दू ने भूलें कीं हैं, और बड़ी बड़ी भूलें कीं हैं। अपनी इन भूलों से ही तो इसका राष्ट्रीय-संघठन उच्छिन्न हुआ है। इसी भूल से तो इसने भारतीय–संस्कृति को सत्ताश्रित बना देने की महाभूल करते हुए संस्कृति का स्वरूप ही विकृत कर लिया है। अपनी इस परप्रत्ययनेयमूला सर्वनाशकारिणी भूल से ही तो इसने आततायी–वर्गों को 'अतिथि' मानने की घोरघोरतमा भूल करते हुए भारतराष्ट्र को श्रीसमृद्धि से वञ्चित करा लिया है। और क्षमा करेंगे उदारहृदय श्रीनेहरू महाभाग हमें इस स्पष्टवादिता के लिए कि, उसी हिदुत्त्व की सीमा के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही, हिन्दू की सहज भावुकता की कृपा से ही हिन्दूश्रेष्ठ, तथा पण्डितश्रेष्ठ श्रीनेहरू की भावुकता से ही, परप्रत्ययनेय–मूला अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिभ्रान्ति–से ही आज पुनः भारतराष्ट्र का हिन्दुत्त्व ही सर्वात्मना संकटग्रस्त बन गया है, जबकि हिन्दू से अतिरिक्त अन्य कोई भी वर्ग श्रीनेहरू के लिए आक्रोश का लक्ष्य नहीं है। अन्यान्य सभी वर्ग जहाँ '**नेहरूसरकार**' से यथेच्छ वर प्राप्त कर सकते हैं, कर रहे हैं, वहाँ निरीह वह हिन्दू ही सत्तातन्त्र के अभिशापों का मुख्य केन्द्र–प्रमाणित हो रहा है, जिस **रामभक्त उद्घोषित हिन्दू** * की कृपा से ही तो भारतराष्ट्र परतन्त्रता से उन्मुक्त हुआ है, एवं जिस हिन्दुत्त्व के सर्वस्व–प्रतिदान से ही आज का सत्तातन्त्र जीवित है। "हिन्दूमानव की सभी सांस्कृतिक आस्थाएँ निर्म्मूल, रूढिवादात्मिका, अतएव त्याज्या। एवं तदतिरिक्त सभी

÷–'**उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका**' प्रथमखण्ड में इन सभी प्रतीच्य विद्वानों की धारणाएँ अभिव्यक्त हुई हैं।

*–रामभक्त महान् नैष्ठिक सर्वश्री गाँधीजी महाभाग।

वर्गों की मान्यताएँ मानवता–मानवसंस्कृति से समाप्लुत" । क्या भारतीय हिन्दू के श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रों से यही मर्म्म निकाला है हमारे इस महान् राष्ट्रीय कर्णधार ने ? ।

६०–भारतीय-हिन्दूमानव की सहज भावुकता से ही इस सांस्कृतिक हिन्दूमानव का सत्तातन्त्रों के द्वारा उत्पीड़न, एवं इसकी आत्मनिष्ठा का ही अन्ततोगत्वा महान् विजय—

नहीं। अपितु वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी ही है सदा से ही इस हिन्दू–मानव की कि, इसने उस सीमापर्य्यन्त तो सभी युगधर्म्मों के आक्रमणों को अवनतशिरस्क बन कर सहलिया है, जिस सीमापर्य्यन्त इसके शरीर, मन, एवं अधिक–से अधिक लोकबुद्धि का सम्बन्ध माना गया है । अपने सहज औदार्य्य से, सौजन्य से, सर्वोपरि सांस्कृतिक–आभिजात्य से उत्पीड़क के प्रति इसने इच्छा से, अथवा तो अनिच्छा से अपना शरीर भी समर्पित कर दिया है, मन भी समर्पित कर दिया है, और अन्ततोगत्वा लोकबुद्धि भी समर्पित कर दी है, जिस समर्पण को ही दुर्भाग्यवश इसकी निर्बलता मान बैठने की भयानक भ्रान्ति कर डाली है समर्पण कराने वालों नें । उदाहरण के लिए बृटिशसत्तातन्त्र ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा । क्या प्राप्त नहीं कर लिया छल से, बल से, आतङ्क से, एवं करभारों से ब्रिटिशत्तातन्त्र ने भारतराष्ट्र से ?। और किस सरलता से ही यहाँ की हिन्दूप्रजाने अपना शरीर–मन, बुद्धि, सभी कुछ समर्पित कर दिया सबकुछ सहते हुए भी । इसकी इस सहनशक्ति को ही स्वरूपविमूढ उस सतातन्त्रने जिस क्षण इसके सांस्कृतिक–आत्मा पर प्रहार करने की भयानक भूल कर डाली, उसी क्षण परम सत्ताभक्त भी यही हिन्दू अपनी आत्मनिबन्धना सांस्कृतिक–निष्ठा से उद्दीप्त–प्रदीप्त हो ही तो पड़ा, जिस प्रदीप्ति के अन्यतम उदाहरण हिन्दूश्रेष्ठ श्रीनेहरू भी बने हुए हुए थे तद्युग में । जबतक इसकी आत्ममूला यह सांस्कृतिक–निष्ठा जागरूक नहीं बन जाती, जबतक ही सत्तातन्त्र इसे उपेक्षणीय भी मान सकता है, इसके बुद्धि–मनः–शरीर–तन्त्रों को निर्बल समझने की भ्रान्ति करता हुआ इसे उत्पीड़ित भी कर सकता है, स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है । किन्तु·······? । अपने हीं सत्तातन्त्र के प्रति इस किन्तु परन्तु ! जैसे भयानक क्षण का आविर्भाव न हो, यही भगवान् से प्रार्थना है । और प्रार्थना है उसी विश्वम्भर से कि, वही हमारे सत्तातन्त्र को इस दिशा में अविलम्ब उद्बोधन प्रदान करे, जिस उद्बोधन के बिना आज हमारा सत्तातन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहन–जाल से आबद्ध होता हुआ वैसे **आयोजनों**, एवं **योजनाओं** का ही सर्जन करता जा रहा है, जिन आयोजन–योजनाओं के बाह्य–भौतिक–विजृम्भणों को भारतराष्ट्र में कभी भी न आज से पूर्व सफलता मिली, न भविष्य में हीं इन भौतिक–आडम्बरमात्रों से भारतराष्ट्र कभी तुष्ट तृप्त ही होगा । परमात्मा करे–भारतराष्ट्र के राष्ट्रदेवता सर्वश्री नेहरू को योगज–आयु प्रदान कर इन्हें दीर्घजीवी बनावें, जिससे अपनी सहजसिद्धा राष्ट्रीयता के बीज को राष्ट्रीय मूलसंस्कृति के अमृतस्रोत से सिञ्चित करते हुए ये ही भारतराष्ट्र को सांस्कृतिक अभ्युदय–निःश्रेयस् की प्रतिष्टा में प्रतिष्ठित करें, यही हमारी लोकप्रिय–मङ्गलकामना है ।

६१–आचारनिष्ठाशून्या आज की ये 'लोकप्रियमात्र' मङ्गलघोषणाएँ––

अवश्य ही श्रीनेहरू के सम्बन्ध में 'परमात्मा' के माध्यम से हमारी मङ्गलकामना को लोकप्रिय–कामना ही माना जायगा वर्त्तमान लोकप्रिय–जनतन्त्र के जनमानस के द्वारा । किन्तु जबतक इस 'लोकप्रियता'–

को सांस्कृतिक–निष्ठा के साथ जनतन्त्र अपने राष्ट्र में प्रतिष्ठित नहीं कर लेगा, तबतक इत्थंभूता लोकप्रिय 'मङ्गलकामना' स्वप्नजगदनुवर्त्तिन। 'भावुकता' के अतिरिक्त और कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न कर सकेगी। क्योंकि हम देख रहे हैं, अहोरात्र, प्रतिक्षण–पल–विपल सुन रहे हैं कि, आज लोकप्रिय–मङ्गलकामनाओं का प्रचण्ड प्रवाह ही उमड़ रहा है यत्र–तत्र–सर्वत्र भारतराष्ट्र में। सत्य–अहिंसा–नैतिकता–मानवता–सहास्तित्त्व–विश्व–शान्ति–दया–करुणा–आदि आदि महामाङ्गलिक–शब्द तो आज प्रतिव्यक्ति के जिह्वाग्र में ही विराजमान हैं। इन उदात्त शब्दों की माङ्गलिकी–लोकप्रिय–घोषणाओं को मध्यस्थ बनाए बिना तो आज का राष्ट्रीय–मानव किसी भी कार्य्य में प्रवृत्त ही नहीं होता।

६२–प्रकृतिसिद्ध भेदवाद के द्वारा व्यवस्थित कर्त्तव्य–कर्म्मों की सहजनिष्ठा का अभिभव, एवं आज के भारतराष्ट्र की काल्पनिकी 'ब्राह्मीस्थिति'––

यही नहीं, अपितु खण्ड–खण्ड–भावात्मिका विषमा प्रकृति–से सम्बन्ध रखने वाले यच्चयावत् प्राकृत जड़–चेतन–पदार्थों में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठिता ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–नामकी जो प्राकृत वर्णचतुष्टयी, चातुर्वर्ण्यनिबन्धन प्रकृतिसिद्ध जो प्राकृतिक वर्गभेद प्रकृति से अतीत, अखण्डभावात्मक, महामहिमामय, परात्पर–विश्वातीत ब्रह्म पर परिसमाप्त हो जाता है, जिस 'परात्पर' नामक विश्वतीत ब्रह्म पर प्रकृति का प्रकृतित्त्व, एवं तदनुगत ब्रह्म–क्षत्र–विडादि वर्गभेदात्मक–विषमवर्त्तनात्मक–वर्गभेद उपशान्त हो जाता है *, जिस विश्वातीता अखण्डावस्थात्मिका–प्राकृतिकवर्गभेदविहीना दिग्देशकालातीता अनन्तता की प्राप्ति के लिए मानव को अनेक जन्मपर्य्यन्त प्राकृतिक–वर्गभेदात्मक–आचारधर्म्मों का अनुगमन करना पड़ता है ÷, इत्थंभूता, वर्गवादविहीना, अप्राकृतिकी, विश्वातीता अनन्तब्रह्ममूला जैसी 'ब्राह्मीस्थिति' तो आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र की मूल 'मङ्गलकामना' ही प्रमाणित हो रही है।

६३--विश्वबन्धुत्त्व के आवेश से भूतावेशवत् आवेष्टित, एभं स्वबन्धुत्त्व से पराङ्मुख आज का भारतराष्ट्र––

दूसरे शब्दों में–प्राकृतिक–भेदवादात्मक–'वर्गभेदों' का मूलोच्छेद तो आज के राष्ट्रीय–मानव की सर्वलोकप्रिया प्रमुखा प्रथमा ही मङ्गलकामना बन रही है। प्रकृतिसिद्ध वर्गभेद के मूलोच्छेद का दृढसंकल्प, तन्मूलक अज्ञातलोकानुबन्धी प्रजासमाजवादात्मक वादविशेष की स्थापना के लिए आतुरता, तद्युक्ता मानवता, तदनुगत विश्वबन्धुत्त्व, तदनुप्राणित सहास्तित्त्व, तत्सफलताप्रवर्त्तक पञ्चशील, एवं तत्पोषक सत्य–अहिंसा–आदि विमलभाव, इत्यादिरूपेण एक से एक उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर–उत्कृष्टतम–लोकप्रिय–माङ्गलिक–घोषणाएँ क्या पर्य्याप्त नहीं थीं आज के मानवतावादी, वर्गभेदमूलोच्छेदाभिनिविष्ट-विश्वबन्धु–भारतीय–राष्ट्रीय–मानव के लिए, जिस अभाव की पूर्त्ति के लिए हम परमात्मा के माध्यम से एक और नवीन मङ्गलकामना व्यक्त कर बैठे ?।

---

*--तत्र ब्रह्म अब्रह्म भवति, क्षत्रमक्षत्रं भवति, चाण्डालः--अचाण्डालः, पौल्कसः--अपौल्कसो भवति (उपनिषत्)।

÷--अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। (गीता)।
बहूनां-जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। (गीता)।

६४-सर्वात्मना बुभुक्षित-पिपासित-आज का भारतराष्ट्र, एवं केवल घोषणाओं के माध्यम से तच्छान्ति के काल्पनिक प्रयास—

अतएव हमें यह अनुभव कर लेना पड़ा कि, आचारनिष्ठाशून्या केवल–माङ्गलिक–घोषणाओं से, इन स्वाप्न विवर्त्तों से, इन मनोमोदकों से उस आज के भारतराष्ट्र की बुभुक्षा–पिपासा यत्किञ्चित्–रूपेणापि उपशान्त नहीं हो सकती, जो भारत निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से माङ्गलिक–लोकप्रिय–घोषणाओं के उद्घोष में एक दूसरे को परास्त करते रहने में प्रतिद्वन्द्वी बने रहने वाले असंख्यसंख्य सम्प्रदायवादात्मक–मतवादों की ओर से धारावाहिकरूपेण नवीन-नवीन साज-सज्जाओं से समलङ्कृता बन कर समुपस्थित होतीं रहने वालीं केवल मङ्गलकामनाओं से उत्पीड़ित रहता हुआ इस अवधि में बुभुक्षित-पिपासित ही प्रमाणित होता चला आ रहा है । क्या क्या माङ्गलिक प्रलोभन नहीं मिले इसे उन मतवादाभिनिविष्ट–साम्प्रदायिक गुरुओं से ? । इसने जो इच्छा की, वही वरदान मिला । किस रूप से ?, वाणी के रूप से, माङ्गलिक-कामना के रूप से, सर्वोपरि आशीर्वाद के रूप से ।

६५-अबुद्धियोगात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चिता वचनदान–परम्पराओं से भारत राष्ट्र की दुःखपरम्पराओं की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि, एवं तत्सम्बन्ध में श्रीनेहरू के प्रति मङ्गलकामना—

वचनदान में कोई दरिद्रता नहीं हुई उन उद्धारकों के द्वारा । किन्तु आचारात्मक इतिहास इस त्रिसहस्र-वर्षात्मिका अवधि में तथाविधा मङ्गल–कामनाओं, माङ्गलिक–घोषणाओं के सम्बन्ध में यही स्पष्ट, एवं उच्च उद्घोष करता आ रहा है कि, आत्मबुद्ध्यनुगता संस्कृति, तन्नियन्त्रित बुद्धिमनोऽनुगत सांस्कृतिक–आचार, तन्नियन्त्रित मनःशरीरानुगत सांस्कृतिक-आयोजन, इन तीनों प्रक्रमों को आत्यन्तिकरूपेण विस्मृत कर देने वाले, दूसरे शब्दो में 'अबुद्धियोगात्मक-बुद्धियोग-' की निष्टा से समन्वित 'आचारधर्म्म' को विस्मृत कर बैठने वाले भावुक भारतीय मानव नें तीन सहस्र वर्षारम्भ के जिस दुर्भाग्यपूर्ण क्षण में सत्यं–शिवं–सुन्दरं–लक्षण–प्राकृत-वैभव का तिरस्कार कर केवल आचारशून्या, अतएव शून्यं-शून्यं, दुःखं–दुःखं-क्षणिकं-क्षणिकं-लक्षणा तथाविधा माङ्गलिक–घोषणाओं, आशीर्वादों, वरदानों को ही अपना लक्ष्य बना लिया, उसी क्षण से इसका पतन आरम्भ हो गया । एवं तत्र से आरम्भ कर आज पर्य्यन्त ज्यों ज्यों यह अनुकूलतावादी भावुक मानव लोकप्रिय-घोषणाओं में अधिकाधिक आसक्त–व्यासक्त होता गया, त्यों त्यों ही इसकी दुःखपरम्पराएँ अधिकाधिकरूपेण अभिवृद्ध ही प्रमाणित होतीं गईं । सभी कुछ खो दिया इसने अपनी इन माङ्गलिक–कर्णप्रिय, किन्तु संस्कृति–सांस्कृतिक–आचार–शून्य घोषणाओं के द्वारा उत्पन्न हो पड़ने वाले व्यक्तित्वविमोहनों के आवेश से । अतएव श्रीनेहरू के सम्बन्ध में हम भले ही परमात्मा के ही माध्यम से क्यों न माङ्गलिक–कामना की घोषणा कर डालें । कदापि यह घोषणा तबतक केवल 'भावुकता' के अतिरिक्त और कुछ भी अर्थ नहीं रखती, जबतक कि स्वयं श्रीनेहरू अपने दृष्टिकोण को भारतीय–दृष्टिकोण का अनुवर्त्ती नहीं बना लेते, एवं तदाधारेण सांस्कृतिक–आचार–निष्ठा का अपनी जीवनपद्धति में समावेश नहीं, तो तत्प्रति न्यूनतम उसीप्रकार अपनी आस्था–श्रद्धाएँ प्रणतभाव से समर्पित नहीं कर देते, जैसे कि प्रतीच्य राष्ट्रों की भौतिक–मान्यताओं के प्रति उन्होंनें अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर दिया है ।

६६ -मङ्गलकामना के आचारात्मक-कर्त्तव्यपक्ष के सम्बन्ध में अनतिप्रश्नात्मक प्रश्न का आविर्भाव—

क्या ऐसा सम्भव है ?। परमात्मा के साम्राज्य में यद्यपि कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु मानव की आचारशून्या कल्पनाएँ सम्भव बन जायँ, यह अवश्य असम्भव है। और प्राकृतिक नियम–विधि–विधानों के अनुसार मानव अपनी ३० वर्ष की आयु के पश्चात् अपने भौतिक व्यक्तित्त्व को परिवर्त्तित कर डाले, यह असम्भव नहीं, तो असम्भव–प्राय तो अवश्य ही है। राजस्थान में एक लोक-सूक्ति प्रसिद्ध है कि–**'चीकटे घड़े बूँद कोन ठहरे'**। तैल–घृत–आदि के असंख्य-पुट-संस्कारों से चिक्कणतम बन जाने वाले मृण्मय–घट पर जैसे जलकण सम्मिश्रणात्मक यागसम्बन्ध से प्रतिष्ठित नहीं हो सकते, तथैव जिस मानव का मन जिन संस्कारपुटपरम्पराओं से दृढ़मूल बन जाता है, उस मन पर अन्य संस्कारों का अन्तर्य्याम–सम्बन्ध असम्भव नहीं, तो कठिनतम अवश्य बन जाता है। एवं इस प्राकृतिक अनुबन्ध से अब हमें यह मान ही लेना चाहिए कि, श्रीनेहरू के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन का उदित हो जाना कठिनतम ही बन रहा है। कठिनतम भी सरलतम बन जाया करता है केवल एक प्रकार से, जिसप्रकार से श्रीनेहरू, तथा तत्पदचिह्नानुवर्त्ती अन्यान्य भी भारतीय नेता आज सर्वथा पृथक् ही हो चुके हैं उसी व्यक्तित्त्वविमोहन के कारण। वह उपाय है **'जिज्ञासा-पूर्वक समझने का प्रयास'**, जिस प्रयास को सफल बनाने के लिए एकबार तो मानव का अपनी समझ के सम्पूर्ण आवरण को उतार कर एक ओर रख ही देना पड़ता है। क्या पद्धति है–इस आवरण को उतार फैंकने की ?। क्या श्रीनेहरू सुनना चाहेंगे इस एक भी प्रश्न का उत्तर ?। यदि हाँ, तो मानवसुलभ 'धृतिगुण' को आधार बना कर वे सुनने का अनुग्रह करें !

६७–महर्षि दीर्घतमा के द्वारा निर्दिष्ट उद्बोधनसूत्र का माङ्गलिक संस्मरण, एवं तदाचरण मे ही मानव के व्यक्तित्त्वविमोहन की उपशान्ति, तदैव च संस्कृति-स्वरूप-दर्शन की सम्भावना—

'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेन्' ही उस पद्धति का मूलसूत्र है, जिसका अर्थ है–**'अपने पाण्डित्य के, समझ के, विद्वत्ता के अतिमान को छोड़कर जिज्ञासु मानव को सर्वथा एक अबोध निरीह बालक की भाँति हीं बना लेना चाहिए'**। तभी मानव में सहजरूप से वह प्रणतभाव अभिव्यक्त होता है, जिसके बिना 'श्रद्धा' का उदय असम्भव है, एवं जिस श्रद्धा को मध्यस्थ बनाए बिना मानव वास्तविक 'ज्ञान' के साथ अपने भूतात्मा का सम्बन्ध कराने में सर्वथा असमर्थ है *। इसी सम्बन्ध से एक ऐतिहासिक चिरपुरातन उदाहरण व्यक्त कर देने का लोभ संवृत नहीं हो रहा है हम से। ऋग्वेद में एक सुप्रसिद्ध सूक्त है––'अस्यवामीय,' जो सम्पूर्ण–ऋग्वेद में कठिनतम–दुर्बोध्यतम सूक्त माना गया है विद्वज्जगत् में, जिसके आरम्भ के–**'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः'** इस मन्त्र के 'वामपलित' के अक्षरार्थमात्र में भी पश्चिमी–विद्वानों की प्रज्ञा कुण्ठित प्रमाणित हो चुकी है। **सम्वत्सरमूला क्रान्तिविद्या,**

---

* श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता ४।३६।)।

अग्निपृष्ठविद्या, त्रैलोक्यत्रिलोकीविद्या, योषावृषाविद्या, सप्ततन्तुवितानविद्या, सुपर्णविद्या, छन्दोविद्या, सलिलविद्या, गर्भविद्या, केन्द्रविद्या, परमव्योमविद्या, कादम्बिनीलक्षणा-सौदामिनी-समन्विता वृष्टिविद्या, चतुर्द्धा विभक्ता वाग्विद्या, आदि आदि अनेक रहस्यपूर्ण 'सृष्टिविद्याओं (सृष्टिविज्ञानों)' का इस अस्यवामीयसूक्त में जिस महामहिमशाली प्रज्ञामूर्त्ति **दीर्घतमा** नामक महर्षि के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, उन दीर्घतमा महर्षि के नामस्मरणमात्र ही से हमारा मस्तक आस्था-श्रद्धा से अवनत हो जाता है। सृष्टिविज्ञान के परपारदर्शी ये दीर्घतमा महर्षि दुरधिगम्य सृष्टितत्त्वों के समतुलन में अपने तथाविध महतोमहीयान् भी व्यक्तित्त्व के आवरण को किस बालभाषा में क्षणमात्र में उतार फैंक देते हैं ?, यह सुनने मात्र से हम स्तब्ध हो पड़ते हैं। अपने इसी व्यक्तित्त्व का उसी सूक्त में स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि क्या कह रहे हैं ?, सुनिए ! और सुनाइए अपने राष्ट्रीय मानवों को, जो आज साधारण से पदप्रतिष्ठा-व्यामोहन-मात्र से ही अपने आपको कल्पना में हीं कुछ का कुछ मान बैठने की महाभयावहा भ्रान्ति कर बैठे हैं। ऋषि-कहते हैं—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षड़िमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।६।

"मैं स्वयं इस रहस्य की तात्त्विक मीमांसा करने में असमर्थ हूँ। अतएव इस विषय पर (अत्र) तात्त्विक चिन्तन करने वाले उन क्रान्तिदर्शी विद्वानों को इसलिए यह पूँछ रहा हूँ–कि मैं स्वयं नहीं जानता इस तथ्य को कि, जिसने ६ लोकों का अपने किसी एक शाश्वत अज रूप में स्तम्भन कर रक्खा है", यही मन्त्राक्षरार्थ है। दीर्घतमा जैसे विदितवेदितव्य-अधिगतयाथातथ्य-विज्ञानपाथोधितलावगाही-महर्षि अपने सम्बन्ध में–'अचिकित्वान्, न विद्वान्' जैसी बालभावापन्ना वाणी अभिव्यक्त करते हुए मानव को यह उद्बोधन ही प्रदान कर रहे हैं कि,—**"यदि वह संस्कृति का तात्त्विक स्वरूप वास्तव में जानना चाहता है, तो उसे अपने पाण्डित्य का गर्व छोड़ना ही पड़ेगा, दिगदेशकालानुबन्धिनी अपनी बुद्धिमानी का परित्याग कर सर्वथा बालभाव से, प्रणतभाव से तद्विज्ञों के प्रति आत्मसमर्पण कर ही देना पड़ेगा, एवं प्रणतिभावात्मिका इस आस्था श्रद्धा से ही इसकी जिज्ञासा को उचित समाधान प्राप्त हो सकेगा। ठीक इसके विपरीत यदि यह अपने बुद्धिगर्व से अभिनिविष्ट बना रहेगा, तो कदापि इस की मृदुभावापन्ना सहज श्रद्धा अभिव्यक्त न हो सकेगी। एवं उस दशा में कदापि न तो यह जिज्ञासा ही कर सकेगा, एवं न इसके मानस का वास्तविक तथ्य के साथ समन्वय ही हो सकेगा"।**

६८–'जिज्ञासा' शब्द का स्वरूप-परिचय, तदनुगता श्रद्धा, एवं बुद्धिवाद के द्वारा तदभिभव—

'जिज्ञासा' का अर्थ है–**'जानने की इच्छा'**, इस इच्छा का मूल है 'श्रद्धा', एवं 'श्रद्धा' के क्षेत्र में मानव के 'व्यक्तित्त्व' का कोई भी महत्त्व स्वीकार नहीं किया ऋषिप्रज्ञाने। चान्द्ररसात्मिका सौम्या श्रद्धा सौररसात्मिका बुद्धि से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। अतएव जबतक सौरी आग्नेयी बुद्धि का व्यक्तित्त्व अभिव्यक्त रहता है, तबतक चान्द्री सौम्या श्रद्धा की स्वस्वरूपेण अभिव्यक्ति उसी प्रकार सम्भव ही नहीं है, जैसे कि अहःकालात्मक सौर-

सत्ताकाल (दिन) में रहता हुआ भी चन्द्रमा अपनी सौम्या चन्द्रिका (चाँदनी) की अभिव्यक्ति से सर्वथा अभिभूत बना रहता है। आग्नेयी बुद्धि, किंवा बुद्धिमानी जिज्ञासा का द्वार नहीं है, अपितु सौम्य–चान्द्र–मन की सौम्या श्रद्धा ही इस इच्छा की मूलाधिष्ठात्री है। अतएव बुद्धिवादग्रहग्रस्त वैसे बुद्धिमान् का श्रद्धात्मिका–जिज्ञासा से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो अपनी समझ से अपने मनोराज्य में स्वतः ही 'सर्वज्ञ' मान बैठता है अपने आपको।

६९–धर्म्मप्रचार का महान् व्यामोहन, एवं प्रचारव्यामोहनानुगता शिष्यसंख्याभिवृद्धि से ही भारतीय–संस्कृति, धर्म्म की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता—

यही कारण है कि, इतर यच्चयावत् मतवाद जहाँ अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाने के लिए सदा ही प्रयत्नशील बने रहते हैं, अतएव धर्मप्रचार (मतप्रचार) ही जिनका मुख्य लक्ष्य बना रहता है, वहाँ ठीक इसके विपरीत भारतीय सांस्कृतिक–शाश्वत–धर्मक्षेत्र में इस प्रचारप्रवृत्ति को, शिष्यसंख्याभिवृद्धि को न केवल उपेक्षणीया ही, अपितु सर्वथा त्याज्या ही मान लिया गया है। **सांस्कृतिक धर्म्म आचार का क्षेत्र है, प्रचार का नहीं, प्रदर्शन का नहीं। धर्म्म का अनुशीलन हुआ करता है, तदनुगत आचरण हुआ करता है, तदनुगत अनुसरण हुआ करता है, जिसके द्वारा सामान्य जनता भी अनुकरण करने लग पड़ती है*। यों आत्मानुबन्धी धर्म्मानुशीलन, बुद्ध्यनुबन्धी धर्म्माचरण, मनोऽनुबन्धी धर्म्मानुसरण, एवं शरीरानुबन्धी धर्म्मानुकरण, भेद से चार भावों में विभक्त धर्म्म का प्रचार–प्रदर्शन–से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है।** क्या धर्म्म का प्रचार नहीं हुआ पूर्व युगों में ?। हुआ है, और बड़े आवेश से हुआ है। इस धर्म्मप्रचार से ही तो धर्म्म का आचारात्मक पक्ष शिथिल होता गया है उत्तरोत्तर। प्रचार दिग्देशकालानुबन्धी है। अतएव दिग्देशाकालानुबन्धी तात्कालिक मतवादों, सम्प्रदायवादों का ही प्रचार–प्रदर्शन हुआ करता है, एवं होता आया है विगत तीन सहस्र–वर्षों से। जब से यह प्रचार–व्यामोहन जागरूक हुआ है, तभी से धर्म्म का आचारपक्ष अन्तर्म्मुख बन गया है। और आचारधर्म्म की इस अन्तर्म्मुखता से ही भारतराष्ट्र आचारमूला–श्री–समृद्धियों से वञ्चित होता हुआ अन्ततोगत्वा शून्यं शून्यं ही प्रमाणित होगया है। धर्म्मप्रचार की यही एषणा कालान्तर में उन भारतीय शासकों में भी दुर्भाग्यवश जागरूक हो पड़ी, जिसने तो सर्वात्मना ही भारतवैभव को शून्यवाद के प्रति समर्पित कर डाला। मतवादात्मक धर्म्म के प्रचार के लिए भारतीय अन्तिम सम्राट् देवानां प्रियदर्शी अशोक की प्रेरणा से काषायकन्था धारण करने वाले साम्राज्य के उत्तराधिकारी सुकोमलमति युवराज महेन्द्र के, एवं तद्भगिनी सहजसौम्या तिष्यमित्रा के धर्म्मप्रचार से बहुत सम्भव है लङ्का–सुमात्रा–जावा–आदि द्वीपों के आदिवासी जीवन्मुक्त बन कर निर्वाणपद प्राप्त कर गए हों। किन्तु भारतीय–इतिहास तो हमें उद्घोषपूर्वक यही बतला रहा है धर्म्मप्रचारक अशोक के सम्बन्ध में कि, अशोक से आगे वैसा सार्वभौमपद आजतक भारतराष्ट्र में पुनः अभिव्यक्त हो ही नहीं सका।

इस धर्म्मप्रचार की दृष्टि से तो भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण को अपने प्रियसखा अर्जुन को काषायवस्त्र धारण करा के कहीं द्वीपान्तरों में धर्म्मप्रचार के लिये ही भेज देना था। कितना बड़ा नरसंहार बच जाता वैसे

---

* यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ।। —गीता

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

धर्म्मप्रचार से । और अर्जुन जैसे सहज दयालु से कितना बड़ा उपकार होजाता इस धर्म्मप्रचार के द्वारा मानवता का ?। और कुछ होता, अथवा न होता । यह तो अवश्य ही होजाता पाँच सहस्र वर्ष पूर्व ही, जो अशोक के धर्म्मप्रचार के अनन्तर भारतराष्ट्र में हो पड़ा, एवं जिस 'होनी' का कुफल आजतक भारतराष्ट्र भोगता आ रहा है । यदि अर्जुन उस तात्कालिक सामान्य से संहार को उपेक्षित मानकर धर्म्मप्रचार के लिए निकल पड़ता, तो दुर्य्योधन–प्रमुख आततायी–कौरवगण अपनी साम्राज्यलिप्सा से उसीप्रकार विश्वसंहार का ही अभिनय आरम्भ कर देते, निशाचयेन कर देते, जैसा कि सम्राट् अशोक के सम्राज्यकालानन्तर भारतराष्ट्र में वैसे ही भीषणतम संहारकर्म्म उपक्रान्त हो पड़े हैं ।

७०–प्रचारभावुकता से आचारनिष्ठा का आत्यन्तिक अभिभव, एवं तत्पुनराविर्भावात्मिका स्वम्भूप्रजापति की कालिक–प्रेरणा—

हाँ, तो निवेदन का अभिप्राय यही है कि, '**आचारनिष्ठा**' का स्थान जिस दिन से '**प्रचारभावुकता**' ने ग्रहण कर लिया, उसी दिन से लक्ष-लक्ष-कोटि-कोटि-कण्ठों से बड़ी बड़ी लोकप्रिय घोषणाएँ तो उन्मुक्ततापूर्वक उद्घोषित होने लग पड़ीं, किन्तु धर्म्म का, तदभिन्ना संस्कृति का आचारात्मक पक्ष सर्वथा ही अभिभूत हो गया * । आचारात्मिका ज्ञानविज्ञानसिद्धा कर्त्तव्यपद्धतियों का स्थान प्रचारमूलक मतवादोंनें अपहृत कर लिया । मतवादाभिनिवेश से राष्ट्र की जिज्ञासात्मिका सहज श्रद्धा सर्वथैव अन्तम्मुर्ख बन गई । और यों '**प्रचार**' जैसी छोटी सी घटना, किंवा भूल से धर्म्म का आचारात्मक समस्त सौन्दर्य्य ही जनमानस से पराङ्मुख ही बन गया । ऐसी पराङ्मुखता की विद्यमानता में कैसे पुनः भारतराष्ट्र अपने उस मूल सांस्कृतिक–सौन्दर्य्य की ओर आकर्षित हो ?, यह प्रश्न सचमुच आज दुरधिगम्य अनतिप्रश्नात्मक एक असमाधेय प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है । इस विवशता के कारण ही तो अन्ततोगत्वा हमें अन्तिम आश्रयभूत उस '**परमात्मा**' को ही माध्यम–बनाना पड़ता है, जिसके अव्यक्त प्रकृतिरूप स्यम्भूब्रह्मा की कालिक–प्रेरणा से ही युग–युग में भारतीय–संस्कृति का आविर्भाव हुआ करता है ÷ ।

७१–युगधर्म्माध्यक्ष प्रजापति की प्रेरणा से ही उपनिबद्ध सर्वनिरपेक्ष प्रस्तुत–सांस्कृतिक-निबन्ध—

निश्चयेन उसी स्वयम्भू प्रजापति की प्रेरणा से तीन सहस्र वर्ष के अनन्तर तीन सहस्र वर्षों के यच्च–यावत् सम्प्रदायवादों, मतवादों, तथा–तत्पोषक सत्तातन्त्रों से, एवं युगधर्म्मानुगत अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात तन्त्रों से यथाशक्य अपने आप को निरपेक्ष बनाए रखते हुए ही संस्कृति, सभ्यता–शब्दों का चिरपुरातन,

---

* प्रत्याशं प्रचरन्ति धर्म्मकथकाः सन्ध्यापि वन्ध्यायते ।
—स्व० श्रीदुर्गाप्रसादद्विवेदिमहाभागाः

÷ युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥
—पुराण

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अतएव चिरनूतन यह चिरन्तन इतिवृत्त '**सांस्कृतिक-निबन्ध**' के रूप में उपनिबद्ध हो रहा है, जिसके प्रचारात्मक पक्ष का इसलिए हमें यत्किञ्चित् भी व्यामोहन नहीं हैं कि, जिन क्षेत्रों, व्यक्तियों के मनोराज्य में जिज्ञासात्मिका-श्रद्धा अभिभूत होगई है, उनकी दृष्टि में तो यह प्रयास 'अरण्यरोदन' से ÷ अधिक और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहा। हाँ, निबन्ध का आचारात्मक पक्ष उस भारतीय जनतन्त्र के सम्बन्ध में अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है, जिस आस्था-श्रद्धाशील जनतन्त्र की जिज्ञासा पारम्परिक, कुलक्रमानुगत सांस्कृतिक-आचारों, सांस्कृतिक-आयोजनों के आंशिक अनुगमन से आजतक येनकेनरूपेण सुरक्षित ही चली आरही है। अतएव तथाविध श्रद्धापरायण जनतन्त्र आज भी प्रतिक्षण आतुर है अपने सांस्कृतिक-आचारों के मूलान्वेषण के लिए। और यह आशा रखना कदापि दुराशा नहीं मानी जा सकती कि, तथाविध अन्वेषकों की तुष्टि के कतिपय सूत्र तो अवश्य ही प्रस्तुत निबन्ध में उन्हें उपलब्ध हो सकेंगे।

७२-आस्तिक-नास्तिक-दार्शनिकों की, तथा प्राच्य संस्कृतज्ञ-विद्वानों की मान्यताओं से असंस्पृष्ट—

त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्त जगन्मिथ्यात्ववादी **आस्तिक दार्शनिकों से**, एवं शून्यवादी **नास्तिक दार्शनिकों** की अन्तोपक्रमोपसंहारमूला दार्शनिकता से परा:परावत, तत्पदानुवर्त्ती यद्वयावत् मतवादात्मक-साम्प्रदायिकवादों से, विगत-कतिपय-शताब्दियों में अपनी मान्यताओं के अनुपात से अभिनव न्यायग्रन्थ-व्याकरणग्रन्थ-काव्य-नाटक-चम्पू-ग्रन्थ-आदि आदि का निर्म्माण कर तद्भार से आपादमस्तक भाराऽन्वित बन जाने वाले, अतएव मूलभूत-**श्रुति-स्मृति-पुराण**-शास्त्रत्रयी के ज्ञानविज्ञानात्मक, आचारात्मक, आयोजनात्मक-रहस्यसमन्वय से सर्वथैव पराङ्मुख प्रमाणित होजाने वाले, अपने इसी शब्दभारात्मक पाण्डित्य के अतिमान से सर्वथैव दिग्देशकालविमूढ बन जाने वाले, उपदेशक-महामहोपदेशक-षट्शास्त्री-षड्दर्शनाचार्य्य-तर्कवागीश-वैय्याकरणकेसरी-महामहोपाध्याय-कविचक्रवर्त्ती-आदि आदि विविध उपाधियों से ग्रहग्रहस्त पण्डितम्मन्य भारतीय **संस्कृतज्ञ विद्वानों** की मान्यताओं से असंस्पृष्ट,

७३-अभिनव-भारतीय विद्वानों की कल्पनाओं से पृथग्भूत--

प्रतीच्य विद्वानों के द्वारा प्रतीच्य-भौतिक-मनःशरीरमात्रानुबन्धी-दृष्टिकोणों के माध्यम से उपनिबद्ध प्रतीच्य भाषामय ग्रन्थों को, उनकी निरूपणीया शैली को, उनकी भौतिक पद्धतियों को, मान्यताओं को, इत्यादिरूपेण अथ से इतिपर्य्यन्त उनको ही सर्वात्मना 'आप्तपुरुष' मानने वाले, एवं मनवाते रहने वाले, तद्ग्रन्थादिमाध्यम से ही भारतीय-जीवनपद्धति, इतिहास, संस्कृति, आचार, आयोजन, सभ्यता, आदि की व्यवस्था में पारङ्गत, पुरातत्त्ववेत्ता-समाजशास्त्रवेत्ता-इतिहासमर्म्मज्ञ-जन्तुशास्त्रतत्त्वज्ञ-भाषाविज्ञानवेत्ता-लोकसंस्कृतिधुरीण-नाट्यकलाविशारद-चित्रकलापारङ्गत-नर्त्तनशास्त्रधुरीण-आदि आदि उपाधियों के अनुग्रह से दिग्देशकाल-धर्म्मों के मर्म्मज्ञ प्रमाणित होते रहने वाले विविध-भाषाभिज्ञ, लोकचतुर **अभिनव-भारतीय विद्वानों** की कल्पनाओं से पृथग्भूत,

---

÷ ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
—पुराणपुरुषो भगवान् बादरायणः

७४-भक्तों की भावुकता से, तथा वणिक्तन्त्र की लोकनिष्ठा से एकान्ततः विदूर—

नामस्मरणमाध्यम से ही राष्ट्र की उत्तरदायित्त्वपूर्णा–आचारात्मिका आवश्यकताओं के अपने आप ही पूर्ण होजाने के सुखस्वप्नद्रष्टा, झञ्झातालमृदङ्गवाद्यनिरत, भगवान् के समसम्बन्धी, कीर्त्तनपरायण आज के **भावुक भक्तों** की भावुकता से *, तथा अपनी भूतव्यवसायमूला, गुप्ततन्त्रानुगता घोरघोरतमा भातिसिद्धा-भयावहा भ्रान्तिपरम्पराओं को ÷ सुरक्षित बनाए रखने के लिए ही भगवान्, धर्म्म, पूजन-पाठ–आदि में व्यासक्त बनें रहनें वाले, अपनी इत्थंभूता भ्रान्तियों को सर्वात्मना सुसमृद्ध बनाने की जघन्या कामना से ही सर्वसंहारक-विश्वयुद्धों के लिए प्रतिक्षण आशा–प्रतीक्षानुगत बने रहने वाले, तथाविध घोर संकटकालों में अपनी लोकचातुरी से प्रभूत–सम्पत्तिशाली बन जाने की लोककलाओं के परपारदर्शी, लोकैषणागर्भिता (नामख्यातिगर्भिता) वित्तैषणा (धनसंग्रहेच्छा) से सर्वात्मना समाप्लुत वर्त्तमान वणिक्तन्त्र की लोक-निष्ठा से एकान्ततः विदूर,–

७५–राष्ट्रीयकरणव्यामुग्ध प्रतीच्य-शिक्षा--दीक्षा-प्रदानातुर, धर्म्मनिरपेक्ष वर्त्तमान सत्ता-तन्त्र से, तथा तत्सम ज्ञात अज्ञात मतवादादि तन्त्रों से सर्वथैव--असंस्पृष्ट, एवं आस्थाश्रद्धासमन्वित जनतन्त्र-सापेक्ष प्रस्तुत निबन्ध—

सर्वोपरि तत्पदचिह्नानुवर्त्ती, अतएव 'राष्ट्रीयकरण' व्याज से राष्ट्रीय–व्यवसायों के हस्तान्तरण के लिए प्रतिक्षण आतुर (किन्तु तत्सञ्चालन में असमर्थ), राष्ट्रीय तत्त्वानुष्ठानों की शिक्षा–दीक्षा से असंस्पृष्ट, तत्स्थाने च प्रतीच्य-शिक्षा–दीक्षाओं से ही उपलालित, अतएव च तत्पद्धतिमाध्यम से ही शासनतन्त्र प्रचार–प्रसार-के लिए कटिबद्ध, तत्प्रतिबन्धिका भारतीय–संस्कृति–धर्म्म–सभ्यता–आचार–आदर्श–आदि आदि राष्ट्रीय विमूल विभूतियों के प्रति सर्वथैव आक्रुष्ट, ज्ञानक्रियार्थसमन्विता—सौर—पार्थिव—चान्द्र—भावानुप्राणिता ज्योतिस्त्रयीलक्षणा×–राष्ट्रीया–सांस्कृतिकी प्राच्य–'ब्राह्मीज्योति' के स्थान में प्रतीच्या वारुणी **'नईरोशनी'** के प्रतिष्ठापन के लिए अहोरात्र आपादमस्तक व्यग्र बने रहने वाले, ब्राह्मीज्योति के एकमात्र प्रतिनिधि आस्था–श्रद्धापरायण हिन्दूजनतन्त्र के नामश्रवणमात्र से भी अग्निश्च–वायुश्च बन जाने वाले, **'प्रभुसत्तासमर्थ'–'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र'-'धर्म्मनिरपेक्ष'-'गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्र'** इत्यादि उपाधियों से समलङ्कृत, वित्तैषणागर्भिता

---

* अवहाय निजं धर्म्मं रामकृष्णेतिवादिनः ।
ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्म्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥

÷ प्रसिद्ध है कि, आज का अर्थसंग्रहकुशल व्यवसायी भगवान् से अपने भ्रम के संरक्षण की ही कामना किया करता है । **'भगवान् ने भरम बना रक्खा है'** यही इसकी भाषा है । इसके लिए सत्तासिद्ध भगवान् 'भ्रम' के निवारक नहीं, अपितु भ्रम के संरक्षक हैं । अपने इस भ्रम की रक्षा के लिए ही यह पण्डितों से व्यवसाय की सन्धाओं (शर्त्तों) के आधार पर पूजन–पाठ कराता रहता है, इत्यालम्यालमेव ।

× यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
—यजुःसंहिता ८।३६।

लोकैषणामूला 'अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति' के व्यामोहनों से एकान्ततः विमुग्ध इत्थंभूत **वर्त्तमान सत्तान्त्र** से, एवमेव अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात–परःशताधिक तथाविध ही भावुकतापूर्ण मान्यतावादों से अपने आपको निरन्तर तीन सहस्र-वर्षों से यथाशक्य असंस्पृष्ट, तथा निरपेक्ष बनाए रखते हुए जिस भारतीय जनतन्त्र ने जिस भारतीय संस्कृति को, तदाधार पर प्रतिष्ठित जिन सांस्कृतिक–आचारों को, तथा तन्नियन्त्रित जिन पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक सांस्कृतिक–आयोजनों को येनकेनरूपेण–गच्छतः स्खलनरूपेणापि सभी उत्पीड़नों को सहते हुए भी आजतक बीजरूपेण सुरक्षित बनाए रक्खा है, आस्थाश्रद्धापरायण, अतएव जिज्ञासु **उस श्रद्धेय जनतन्त्र की सापेक्षता** से ही प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। और तथोपवर्णित उभयविध **दार्शनिक, संस्कृतज्ञ प्राच्यविद्वान्, अभिनव भारतीय विद्वान्, भावुक भक्त, वणिक्तन्त्र, सत्तातन्त्र,** आदि आदि यच्चयावत् तन्त्रों के समतुलन में एकमात्र तथाविध आस्थाश्रद्धापरायण जिज्ञासु जनतन्त्र को ही आज के इस सांस्कृतिक–आपत्तिकाल में हम एकमात्र अशरण–शरण मान रहें हैं, जिसके माध्यम से ही संस्कृति-धर्म्म–संरक्षक परमात्मा की इच्छा अभिव्यक्त होती रही है आजतक। इसी परमात्मेच्छाभिव्यक्ति के कारण जो जनतन्त्र '**जनार्दन**' उपाधि (**जनताजनार्दन**) से समलङ्कृत होता आरहा है सदा से ही।

७६--तथाविध जनतन्त्रान्वेषण--प्रयास, और भारतराष्ट्र के विविध जनतन्त्र—

कहाँ है वह जनतन्त्र ?, किस उपाय से उसे ढूँढा जाय ?, किस पद्धति से उसे ढूँढा जाय ?, इत्यादि प्रश्नों के चिरकालिक-चिन्तन के आधार पर हमें तो अपनी स्वल्पप्रज्ञा से इन प्रश्नों का यही उत्तर उपलब्ध हुआ है कि, जिसप्रकार सत्तासिद्ध परमात्मा नाम–रूप--कर्म्मा-नुबन्धिनी भातिसिद्धा दिग्देशकालाभिव्यक्तियों से अतीत रहता हुआ चर्म्मचक्षुओं से परोक्ष बना रहता है, ठीक उसीप्रकार सत्तासिद्ध परमात्मा के इच्छारूप सांस्कृतिक–आचारायोजनों में श्रद्धापूर्वक समास्थित श्रद्धालु जनतन्त्र भी मानव की दिग्देशकालानुबन्धिनी भातिसिद्धा, अतएव काल्पनिकी भूतबुद्धि से, तन्मूलक बुद्धिवादव्यामोहन से सर्वथा परोक्ष ही बना रहता आया है। अतएव बुद्धिवादात्मिका भूतदृष्टि से कदापि तथाविध जनतन्त्र का अन्वेषण सम्भव ही नहीं है। बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव अवधानपूर्वक समझने जैसी है।

७७--विश्व के मानवमात्र की आभ्यन्तरा सांस्कृतिकता, एवं तन्मूला व्यापक मानवता, एवं तदनुप्राणित केन्द्रीय मनु से अभिन्न मानव—

ब्रह्माग्निलक्षण, इन्द्रप्राणात्मक, श्वोवसीयस्–अव्ययमनोमयत्त्वेन शाश्वतब्रह्ममूर्त्ति, मन्वन्तर–कालप्रवर्त्तक, विश्वसञ्चालक, कालातीत, कालव्याप्त, परमात्मरूप केन्द्रीय मनु * तत्त्व की परिपूर्णा सांस्कृतिकी आत्माभिव्यक्ति से सर्वात्मना परिपूर्ण प्रमाणित होने वाले मानवमात्र अपने इस केन्द्रीय–मनु से '**मानव**' हैं, अर्थात् आत्मबुद्धिनिष्ठ सांस्कृतिक–पुरुष हैं, और यही 'मानव' शब्द का वह चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसका '**मानवस्वरूपमीमांसा**' आदि अन्य निबन्धों में विस्तार से यशोगान हुआ है। अपने इसी सुसूक्ष्म आत्मभाव से सम्पूर्ण विश्व के मानव 'मानव' हैं, आर्य्य हैं, जिस इस बीजात्मिका मनुनिबन्धना मानवीया आर्य्यता को लक्ष्य बना कर ही भारतराष्ट्र के आर्य्य मानवमहर्षि की ओर से--**कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्**'

---

* एतमेके वदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥ [मनुः १२।१२३।]।

जैसी महत्त्वपूर्णा उदात्त–घोषणा ÷ हुई है । आत्माभिव्यक्तित्वमूला इस मनुनिबन्धना मानवता से ही मानवमात्र सांस्कृतिक–पुरुष हैं, बीजरूपेण । अतएव सम्पूर्ण विश्व के तथाविध जनतन्त्रमात्र श्रद्धा–आस्था–परायण बनते हुए जिज्ञासा से समन्वित हैं । अतएव प्रत्येक मानव में, मानवमात्र में दिग्देशकालसीमाओं से पृथक् बन कर देखने से हमें उसी 'मानव' के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हो सकता है, जिस मानव का **'परोक्ष जनतन्त्र'** रूप से पूर्व में यशोगान हुआ है । किन्तु इस महद्भाग्यता के लिए पूर्वोपवर्णित मनःशरीरानुबन्धी–प्राकृतिक–दिग्देशकालात्मक **दार्शनिकादि–सत्तातन्त्रान्त** व्यक्तित्वविमूढ़ वर्गों से हमें अपने आप को सर्वथा निरपेक्ष ही बनाए रखना पड़ेगा । यदि हम इस निरपेक्षता में सफल हो सकते हैं, तो हमें सर्वत्र सभी मानवों में, सभी जनतन्त्रों में तथाविध श्रद्धेय–आराध्य–जनतन्त्र उपलब्ध हो सकते हैं । 'ढूँढने से भी उपलब्ध नहीं हो रहे', यह तो स्वयं हमारा प्रज्ञापराध है, दिग्देश–कालात्मक स्वयं हमारा वह बुद्धिवाद है, जो हमें तथाविध जनतन्त्र के साक्षात्कार से वञ्चित बनाए रखता है, जिस बुद्धिवाद को ही हम हमारा 'व्यक्तित्वविमोहन' कहा करते हैं । यदि परमात्मा सर्वव्यापक है, तो तदभिन्न सहजधर्म्म–संस्कृति का जिज्ञासु सांस्कृतिक–जनतन्त्र भी सर्वव्यापक ही है । यदि दिग्देशकालव्यामोहनात्मक भातिसिद्ध व्यामोहनों से हम स्वयं व्यामुग्ध हैं, तो फिर न तो हमें स्वानुगता मानवीया आत्मसंस्कृति का ही दर्शन हो सकता, एवं न जनतन्त्र के ही सांस्कृतिक आत्मभाव के हम दर्शन कर सकते । यों स्वस्वरूपसे भ्रष्ट बनते हुए हम परस्वरूपदर्शन से भी अपने आप को भ्रष्ट प्रमाणित करते हुए **'इतो भ्रष्टस्ततोऽपि भ्रष्टः'** को ही चरितार्थ कर लेते हैं । और अपनी इस स्वभ्रष्टता से ही हम जनतन्त्र को भी भ्रष्ट बना डालने के लिए कटिबद्ध हो जाया करते हैं, जिस कटिबद्धता का अन्तिम परिणाम वह **'पशुता'** ही माना गया है, जिस पशुता की सीमामें आत्माभिव्यक्तित्व से वञ्चिता लोकबुद्धि, मानसिक काम, तथा शारीरिक अर्थों के अतिरिक्त और कुछ भी तो शेष नहीं रह जाता ।

७८–पशुसमानधर्म्मा प्राकृत भावों की पशुता से ही विश्वमानवता की अन्तर्म्मुखता, एवं तन्मूलक विश्वक्षोभ—

आचारशून्या, मनःशरीरनिबन्धना, आपातरमणीया, लोकप्रिय–घोषणाओं से उद्घोषिता प्रचारात्मिका प्रत्यक्षदृष्टि के द्वारा तो कदापि हम तथाविध जनतन्त्र के हृदय का स्वाप्निक सम्पर्क भी नहीं प्राप्त कर सकते । तदर्थ तो हमें अपने सम्पूर्ण बौद्धिक विजृम्भणों का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर प्रणतभाव से जनतन्त्र की सांस्कृतिक–आचारपद्धतियों की ही शरण में आना पड़ेगा । स्वयं यह आचार ही हमारी भ्रान्तियों का उन्मूलन करदेगा अमुक कालान्तर में अपनी प्रणतता के तारतम्यानुपात से । उसी परोक्ष जनतन्त्र के हृदय–संस्पर्शमात्र के लिए ही प्रस्तुत यह सांस्कृतिक-निबन्ध आज तीन सहस्र वर्षानन्तर जनतन्त्र की दिग्देशकालानुगता राष्ट्रभाषा–हिन्दी में हीं उपनिबद्ध हो रहा है, जो प्रत्यक्षदृष्ट्या जहाँ आज के मनःशरीरप्रधान युगधर्म्म की दृष्टिसे तद्धर्म्मा–क्रान्त सभी मानवों के लिए सर्वथा अनुपयोगी है, वहाँ परोक्षदृष्ट्या आत्मबुद्धिप्रधान बनता हुआ यही निबन्ध दिग्देशकालातीत सनातन–शाश्वत–मानवीय–परोक्षभावानुगत-जनतन्त्र के लिए, उसके प्रत्येक व्यक्ति के

÷ इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम् ।
अपघ्नन्तो अराव्णः । (ऋक्संहिता ९।६३।५।) ।

लिए तो आशीर्वचनका तो अधिकारी बन ही रहा है। उसी अज्ञात, किन्तु सर्वथा ज्ञात जनतन्त्र के चरणों में हीं सब ओर से निरपेक्ष रहता हुआ यह सामयिक-निबन्ध श्रद्धापूर्वक प्रणतभाव से आस्थामय इसी आत्मविश्वास के साथ आज समर्पित हो रहा है कि, वह अवश्य ही अपने सांस्कृतिक-बल से भारतराष्ट्र को भी सांस्कृतिक-निष्ठा प्रदान करने का अनुग्रह करेगा, एवं तन्माध्यम से विश्व के यच्चयावत् जनतन्त्रों की सांस्कृतिक-निष्ठाओं को भी अभिव्यक्त करेगा, जिस आचारनिष्ठा की अभिव्यक्ति के बिना आज मानव का विराट् स्वरूप पशुसमानधर्म्मा-प्राकृतभावों, कामार्थों पर ही विश्रान्त हो पड़ा है।

७९-भारतराष्ट्र के जनतन्त्रों के प्रति श्रद्धा-समर्पण—

अब इस सम्बन्ध में बुद्धिव्यामोहनात्मक एक प्रश्न और शेष रह जाता है, जिसका भी प्रस्तुत प्रास्ताविक में उसी व्यामोहन के माध्यम से दो शब्दों में स्पष्टीकरण कर ही लेना चाहिए। जिस भारतीय जनतन्त्र की सांस्कृतिक-निष्ठा के माध्यम से मानव की सांस्कृतिक-निष्ठा सम्पूर्ण विश्वमानवों में अभिव्यक्त हो जाया करती है, आज के इस भयावह सांस्कृतिक-संघर्षयुग में भारतराष्ट्र में वैसा जनतन्त्र कौन है, जिस के सबल-स्कन्धों के साथ इस महान् उत्तरदायित्व को प्रतिष्ठित कर दिया जाय ?, किंवा जो स्वयं अपनी हीं निष्ठा से युग युग से इस राष्ट्रीय, किंवा **'महाराष्ट्रीय'** पावन उत्तरदायित्व का वहन करता आ रहा है युगधर्म्मानुगत परःशत उत्पीड़नों को सहता हुआ थी ? । **बङ्गाल, बिहार, पञ्जाब, उत्तरप्रान्त, राजस्थान, मध्यप्रान्त, उड़ीसा, आसाम, मद्रास, केरल, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र**, आदि आदि जितनें भी पावन-प्रान्त भारतराष्ट्र के अङ्ग बने हुए हैं, उन सभी प्रान्तों के जनतन्त्र अवश्य ही भारतराष्ट्र की आचारात्मिका-सांस्कृतिक-निष्ठाओं के पारम्परिक-स्रोत से येनकेनरूपेण समाप्लुत हैं। और इस दृष्टि से तो सभी जनतन्त्र भारतराष्ट्र की राष्ट्रीया संस्कृति के माध्यम प्रमाणित हो रहे हैं, होते रहे हैं, एवं भविष्य में भी होते ही रहेंगे।

८०-पुष्करक्षेत्रानुगत भगवान् ब्रह्मा से समन्वित राजस्थान की सनातन-संस्कृति के अतीत के परिचयचिह्न—

भारतराष्ट्र के केन्द्रभूत जिस पावनतम राजस्थान की सांस्कृतिक-मृत्तिका (मिट्टी) से हमारे भौतिक-शरीर की अभिव्यक्ति हुई है, उस राजस्थान की सांस्कृतिक-लोकाचार-पद्धतियों की ओर, यहाँ के महासङ्गीतात्मक-पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहलक्षण सांस्कृतिक-आयोजनों की शास्त्रीया आचारपद्धतियों की ओर जब हमारा ध्यान आकर्षित होता है, तो हम स्तब्ध बने रह जाते हैं यह देख-सुन कर कि, संस्कृति के मूलाधारभूत वेदशास्त्र में ज्ञानविज्ञानात्मक जिन तत्त्वों, आचारों का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, राजस्थान के सांस्कृतिक लोकगीतों में, लोकाचारपद्धतियों में उन तत्त्वों का ज्यों त्यों संग्रह हो गया है, जिस इस आश्चर्य्यमय साम्य के लिए तो स्वतन्त्र निबन्ध ही अपेक्षित है * । ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक ही था। क्योंकि भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के आदिप्रवर्त्तक वेदस्रष्टा भगवान् चतुर्म्मुख ब्रह्मा ने राजस्थान के केन्द्रस्थान सुप्रसिद्ध **'पुष्करक्षेत्र'** को ही अपनी यजनभूमि बनाया था देवयुग में। संस्कृतिप्रवर्त्तक चतुर्म्मुख ब्रह्मा की आवास-निवासभूमि

---

* **'राजस्थान की लोक-सांस्कृतिक-परम्पराएँ'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में इस साम्य के दिग्दर्शन कराने का स्वल्प-प्रयास हुआ है।

परमधन्या पुण्यतमा राजस्थान की भूमि में यदि यहाँ की लोकसंस्कृति शास्त्रीय–संस्कृति से समतुलिता बनी रहे, तो इस में कोई आश्चर्य्य नहीं है । ठीक इसीप्रकार बङ्गाल–पञ्जाब विहार–उत्तरप्रान्तादि की भी सांस्कृतिक–महिमाएँ तत्तत् प्रान्तों के लोकातीत सांस्कृतिक-वैभवों से लोकोत्तरा ही प्रमाणित हो रहीं हैं । और इस दृष्टि से–'**नर्म्मदा के छोटे बड़े कङ्कर, सभी शङ्कर**' इस सूक्तिके अनुसार भारतराष्ट्र के सभी प्रान्त सांस्कृतिक–जीवनधाराओं के समतुलन में एक दूसरे से लोकोत्तर बनते हुए सभी लोकोत्तर हैं, धन्य हैं, पावनतम हैं ।

८१- अतीत के सुसांस्कृतिक भी राजस्थानी ब्रह्मण की आज की आत्यन्तिक असांस्कृतिकता, एवं आज ५. इस मारवाड़ी रँगड़–ब्राह्मण की वणिग्दासतानुगता पाचकाचार्य्योपाधि का शोचनीय इतिवृत्त--

किन्तु ? । सभी प्रान्तों के सुसंस्कृत, सांस्कृतिक जनतन्त्रों से इस किन्तु, परन्तु के लिए क्षमा माँगते हुए अपने बौद्धिक व्यामोहन से आज हमें एक वैसे तथ्य की ओर ही आकर्षित होना पड़ रहा है, जिसके श्रवणमात्र से सर्वप्रथम तो हमारा राजस्थानी जनतन्त्र ही हम पर अग्निश्च–वायुश्च हो पड़ेगा । किन्तु युग–धर्म्म ने आज ऐसी परिस्थिति हमारे सम्मुख ला खड़ी करदी है, जिसके अनुबन्धाकर्षण से किन्तु–परन्तु–मूलक तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए हमें आज विवश ही हो जाना पड़ा है । किन कारणों से, क्यों, कैसे, कब से राज–स्थान जैसे सांस्कृतिक प्रान्त का इत्थंभूत सांस्कृतिक-अधःपतन होगया इतर प्रान्तों के समतुलन में ?, इन प्रश्नों के अन्वेषण का अत्र अवसर नहीं है । पतन होगया, आत्यन्तिकरूपेण होगया, यह सुनिश्चित है । सम्भवत: इसी आधार पर यह लोकसूक्ति प्रचलित हो पड़ी होगी विगत कतिपय–शताब्दियों से कि—'**मारवाड़ मूरख भला**' । और इसी सांस्कृतिक-अधःपतन के कारण दक्षिणभारत के गुजरात-महाराष्ट्रादि प्रान्तों में राजस्थानी ब्राह्मण के लिए-'**रंगड़ब्राह्मण**' जैसी सम्मानित ? उपाधि नियत होगई होगी । सांस्कृतिक–स्वाध्याय–परम्पराओं से पराङ्मुख बन जाने वाली राजस्थान की प्रज्ञा अपने अतीत सांस्कृतिक-गौरव को आज सर्वथा ही विस्मृत कर बैठी है । और जिस राष्ट्रीय ब्राह्मणप्रज्ञा पर प्रधानरूप से सांस्कृतिक-निष्ठा का उत्तरदायित्त्व प्रतिष्ठित हुआ था, राजस्थान की वह ब्राह्मणप्रज्ञा तो आज आत्यन्तिकरूपेणैव अन्तर्म्मुखा ही प्रमाणित हो चुकी है । **वेदानभ्यास, आलस्योपासन, आचारपरित्याग, सर्वोपरि परान्नलोलुपता,** आदि प्रज्ञाविरोधी महान् दोषों की अनुगामिनी यह प्रज्ञा आज 'जीवित-मृत्यु' पद को ही समलङ्कृत कर रही है* । भारतराष्ट्र के किसी भी प्रान्त में आप चले जाइए, सर्वत्र आपको छोटे–बड़े व्यवसायों के रूप में राजस्थानी वणिग्बन्धु उपलब्ध हो ही जायँगे, एवं तत्सहैव राजस्थानी ब्राह्मण महाभाग भी । सर्वत्र इन ब्राह्मण महाभागों का प्रधान व्यवसाय आपको उपलब्ध होगा तद्व्यवसाय–पतियों की सेवा–शुश्रुषा, कुलपुरोहिताई के छल से । एवं दूसरा महान् पुरुषार्थ उपलब्ध होगा '**विशुद्ध–भोजनालय**' [ढाबा] । इत्थंभूत विशुद्धतम ? विशिष्टतम ? आत्मसमर्पणात्मक दास्यकर्म्म से, तथा पाचन–कर्म्माकर्षण से यदि तत्प्रान्तों के प्रज्ञाशीलों के द्वारा इन राजस्थानी भूसुरों को–'रँगड़' उपाधि मिल गई हो, तो इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं उठानी चाहिए किसी भी राजस्थानी ब्राह्मण को । क्योंकि आज यह

---

* अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्ज्जनात् ।
आलस्यात्, अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ [मनुः]

'महाराज' (अर्थात् 'रसोइया') ही तो इसकी प्रमुख उपाधि प्रमाणित हो रही है, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!!

८२-राजस्थान के सत्तातन्त्रों की उद्वेगकरी लोकगाथा—

यही दुरवस्था राजस्थान के मुक्त-प्रक्रान्त-सत्तातन्त्रों की रही है। राजाओं के शासनकाल में राजस्थान की भूसुरप्रज्ञा जहाँ राज्याश्रितता का गुणगान करती हुई अपनी सांस्कृतिक-निष्ठा विस्मृत कर चुकी थी, यही भूसुरप्रज्ञा आज के धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र की गुणगाथा में तल्लीन हो रही है, जबकि इसका एकमात्र उत्तर-दायित्व था सत्तातन्त्रों, तथा वणिक्तन्त्रों से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष रखते हुए राजस्थान की सांस्कृतिक-चेतना को अक्षुण्ण बनाए रखना। और आज का राजस्थानी सत्तातन्त्र ?। यह प्रश्न तो आज सर्वथैव प्रज्ञा-क्षेत्र का अतिक्रमण कर चुका है। अन्य प्रान्तों के सत्तातन्त्रों के अमुक व्यक्तिविशेषों के द्वारा जहाँ यदा कदा सांस्कृतिक-परम्पराओं के जागरण के इतिवृत्त सुनने-सुनाने को उपलब्ध हो जाते हैं, वहाँ राजस्थानी सत्तातन्त्र तो अपनी प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठा से अपने आपको सर्वथा असङ्ग-निर्लिप्त ही प्रमाणित कर चुका है। राजस्थान-सत्तातन्त्र के अमुक भूतपूर्व मुख्यमन्त्री महोदय का वह उद्बोधनसूत्र हम यावज्जीवन विस्मृत न कर सकेंगे, जिसके द्वारा आपने हमें यह सुझाव दे डालने का निःसीम अनुग्रह कर डाला था कि—**"मारवाड़ में एक 'लँगानाच' नामक प्रसिद्ध नाच परम्परा से चला आरहा है। हमें इसका भी मूल अपनी वेद-परम्परा में ढूँढने का प्रयास करना चाहिए"** इत्यादि इत्यादि, इति नु अब्रह्मण्यमेव।

८३-संस्कृतिस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा के परमसांस्कृतिक भी आज के संस्कृतिशून्य राजस्थान की सांस्कृतिक-हृदयकम्पनमूला दुरवस्था---

विगत ८-१० वर्षों से अपनी मनोऽनुगता भावुकता के आकर्षण से हमारा यह व्यामोहन प्रक्रान्त रहा कि, जिस प्राच्य-सांस्कृतिक-स्वाध्याय के आधार पर अबतक जो कार्य्य हुआ है, वह राजस्थानसत्ता के माध्यम से भारतराष्ट्र की सेवा करता हुआ पश्चिमी विद्वानों का भी ध्यान भारतराष्ट्र की इस मौलिक-निधि की ओर आकर्षित करे। इस व्यामोहन के आकर्षण से ही स्वाध्यायकाल को जलाञ्जलि समर्पित कर राजस्थान-सत्तातन्त्र के समर्थ द्वारों की वर्षों पर्य्यन्त परिक्रमा प्रक्रान्त रही। किन्तु सम्भवतः हम अपनी इस भावुकता के दोष से ही सत्ता की नैष्ठिकी प्रज्ञा को इस लक्ष्य की ओर आजतक आकर्षित न कर सके, जब कि इतर प्रान्तों के अमुक सत्ताधीश स्वतः ही इस कार्य्य के प्रति अपनी अनुग्रहनिष्ठाओं से स्वकर्त्तव्य का परिचय दे रहे हैं। सचमुच राजस्थान के सत्तातन्त्र, वणिक्तन्त्र, अन्यान्य जनतन्त्र, एवं सर्वोपरि-भूसुरतन्त्र, आदि आदि सभी वर्गों में आज एक ऐसी सांस्कृतिक सुषुप्ति आगई है कि, यदि शीघ्र ही इसका सफल निदान, एवं सफल चिकित्सा न हुई, तो संस्कृतिस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा का यह पावन प्रान्त कालान्तर में सर्वथा ही कालव्यालीकृत प्रमाणित हो जायगा, जिस आशङ्का के स्मरणमात्र से भी राजस्थान के अमुक परोक्ष सांस्कृतिक-हृदय आज प्रतिक्षण विकम्पित हैं।

८४-राजस्थान से समतुलितैव अन्यान्य राष्ट्रीय-प्रान्तों की भी सांस्कृतिक दशा, किंवा दुर्दशा---

ऐसी नहीं, तो प्रायः तत्समा ही स्थिति इतर प्रान्तों की है। और इस भयावहा स्थिति का एकमात्र कारण है सत्तासापेक्षता। यही वह 'महाभूल' है, जिसके व्यामोहन से हम स्वयं विगत १५-२० वर्षों से

उत्पीड़ित रहे हैं। एकमात्र **जनार्दन-जगदीश्वर-सापेक्षा,** एवं अधिक से अधिक आत्मदेव-निष्ट, सत्ताब्रह्मनिष्ठ **'जनताजनार्दन' सापेक्षा** संस्कृति-सांस्कृतिक-आचारायोजन को मतवाद-सत्तातन्त्र-वणिक्-तन्त्रादि पूर्वोपवर्णित दिग्देशकालिक तन्त्रों के प्रति सापेक्ष बनाते रहने की जो भूल आज से तीन सहस्र वर्षों से चली आ रही है, जिस भूलने हीं संस्कृति के सम्प्रदायवादनिरपेक्ष विशुद्ध सांस्कृतिक रूप को इस अवधि में अभिव्यक्त होने हीं नहीं दिया, कालिक-दोषात्मक उसी सङ्गदोष से हमें भी तथाकथिता विविधा सापेक्षताओं के तो वारुणपाश में आबद्ध होते रहना पड़ा, एवं संस्कृतिनिष्ठ-आस्थाश्रद्धाशील परोक्ष जनतन्त्र की सापेक्षता की उपेक्षा होती रही, जिसके जो जो दुष्परिणाम हुआ करते हैं, उन सभी का अवनतशिरस्क बन कर उपभोग करने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था। और अब यह निवेदन कर देने में कोई भी संकोच नहीं हो रहा है कि, उसी परोक्ष जनतन्त्र के अनुग्रह से, उसके पारम्परिक सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा-मात्र के आराधन से, सर्वोपरि तत्प्रकृतिभूता उद्बोधनप्रदात्री महामाया जगदम्बा के अनुग्रह से **'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'** इस श्रौतसिद्धान्तमूला निरपेक्षता का सर्वात्मना नहीं, तो आंशिक अनुग्रह तो प्राप्त हो ही गया है। एवं इसी ईश्वरीय अनुग्रह से आज उस जनतन्त्र के अन्वेषण की ही कामना जागरूक हो पड़ी है, जिसकी सापेक्षता से ही, सांस्कृतिक-निष्ठा से ही भारतराष्ट्र का मूलभूत सांस्कृतिक-वैभव पुनः भारतराष्ट्र में सर्वनिरपेक्षतापूर्वक आविर्भूत हो सकता है, निश्चयेन होगा ही। और—

८४-संस्कृतिनिष्ठ, अतएव प्राणवान्, अतएव च आज पर्य्यन्त भी जीवनीय चिह्नों से समन्वित-'महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र', एवं तदांशिक सहयोगी--'वङ्गीय-जनतन्त्र'—

संस्कृतिनिष्ट, प्राणवान्, जीवित, अज्ञातरूपेणैव पारम्परिक आचारनिष्ट, सर्वथा परोक्ष वैसा प्रथम जनतन्त्र है भारतीय-यच्चयावत् प्रान्तों के समतुलन में एकमात्र **'महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र'**, एवं द्वितीय जनतन्त्र है-**'वङ्गीय-जनतन्त्र'**। जहाँतक सांस्कृतिक-आचारों का सम्बन्ध है, ये दोनों हीं जनतन्त्र समानधर्म्मा हैं। किन्तु निष्ठा-भावुकता की समतुलनदृष्टि से वङ्गीय-जनतन्त्र अमुक अप्रत्याशित उत्पीड़नों से जहाँ सहजरूपेणैव नितान्त भावुक बनता हुआ निष्ठाक्षेत्र में आज शिथिल प्रमाणित हो चुका है, वहाँ महाराष्ट्रीय जनतन्त्र अपने सहजसिद्ध 'संघर्षजीवन' के अनुग्रह से अमुक-सीमापर्य्यन्त आजतक प्राणवान् बना रहता हुआ अपनी सांस्कृतिक-निष्ठा को ही अभिव्यक्त करता आ रहा है अतीत के साङ्क्रामिक युगों की भाँति। **और हमारी आस्था है कि, एक दिन इस महाराष्ट्रीय--जनतन्त्र के अनुग्रह से ही, सनातन मानव-संस्कृति लक्षणा 'हिन्दूसंस्कृति' के रक्षाबल से सुरक्षित, अतएव महाप्राणवान् छत्रपति शिवाजी महाराज की जन्मभूमि इस पुण्यधाम के अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र की राष्ट्रीया संस्कृति का पुनः नवीन साज-सज्जा से आविर्भाव होगा ही। निश्चयेन होगा ही किन्तु?……………।**

८५--सुसांस्कृतिक भी महाराष्ट्रीय जनतन्त्र की प्रान्तीयतामूला अभिनिवेशात्मिका प्रतिक्रिया, एवं उसके दुष्परिणाम—

बड़ा ही घातक है इस किन्तु, परन्तु, का मलीमस-इतिहास, जिससे अपना आत्मत्राण करता हुआ ही महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र अपनी प्राणवत्ता को सांस्कृतिक-निष्ठा के पुनराविर्भाव में समर्पित कर सकता है। जिन मतवादाभिनिविष्टोंनें भारतीय-सांस्कृतिक-विराट्-हिन्दू-मानव को सम्प्रदायाविष्ट प्रमाणित करते हुए

दिग्देशकालसीमित अन्यान्य मतवादों की श्रेणि में ला खड़ा किया है, दुर्भाग्यवश वही श्रेणि आज, महाराष्ट्रीय-जनतन्त्र में भी समाविष्ट हो पड़ी है, और अन्य प्रान्तों के जनतन्त्रों की अपेक्षा कहीं अधिक वेग से हो पड़ी है। अतएव **सनातनधर्म्मवाद, आर्य्यसमाजवाद, हिन्दूसभावाद, जनसंघवाद,** आदि आदि अन्यान्य साम्प्रदायिक–वादों की भाँति महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र भी आज एक भयानक **'वाद'** रूप में हीं परिणत होता जा रहा है, जिस प्रान्तीयतारूप घातक 'वाद' के अनुकरणानुग्रह से ही आज अन्य प्रान्तों में भी यह वादाभिनिवेश जागरूक हो पड़ा है, एवं भारतराष्ट्र की राष्ट्रीयता के लिए ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण वादाभिनिवेश, दूसरे शब्दों में प्रान्तीयताभिनिवेश और कुछ भी तो नहीं हो सकता।

८७––प्रान्तीयताभिशापमूलैव श्रीराजगोपालाचार्य्य महाभाग के राष्ट्रनिष्ठा–विरोधी–राष्ट्रभाषाप्रतिद्वन्द्वी विचार, एवं राष्ट्रीय संघठनशक्ति का अभिभव—

राष्ट्रविरोधिनी इसी प्रान्तीयता, तन्मूला वादप्रवृत्ति का ही यह दुष्परिणाम है कि, कलतक के भारतराष्ट्र की राष्ट्रीयता के समर्थ सेनानी महान् सांस्कृतिक वयोवृद्ध **सर्वश्री राजगोपालाचार्य्य** जैसे राष्ट्रनिष्ठ महामानव भी आज के विशुद्धतम प्रान्तवादी बनते हुए हिन्द की उस राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति प्रचण्ड–प्रतिक्रियावादी ही बन बैठे हैं, मानो राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' के उन्मूलन के लिए, एवं तत्स्थान में शब्दवाच्यार्थों से एकान्ततः असंस्पृष्टा, सङ्केतमात्रानुगता लाक्षणिकी अंग्रेजी भाषा को भारतराष्ट्र में साम्राज्य–पद प्रदान कराने के लिए ही आपका भारतराष्ट्र में आविर्भाव हुआ हो। यदि 'हिन्दी' के प्रति आपको ऐसा आवेश था, तो आप तत्–स्थान में अपने प्रान्त की भाषा का प्रसन्नतापूर्वक उद्घोष कर सकते थे, और सम्भवतः भारतराष्ट्र के हृदय का उस दशा में कम्पन भी नहीं होता। किन्तु ऐसे तपस्वी आचार्य्य के तपःपूत सांस्कृतिक मुखपङ्कज से हिन्दी के स्थान में अंग्रेजी का ऊद्घोष करने लग पड़ जाना तो यही प्रमाणित कर रहा है कि, अभी भारत–राष्ट्र के दुर्दिनों का अवसान नहीं हो पाया है। तभी तो आज हम भारतराष्ट्र की संस्कृति के सम्बन्ध में एक–मात्र परमात्मा को ही अशरण–शरण मान रहे हैं। जब ऐसे वयोवृद्धनेता भी राष्ट्रनिष्ठा से क्षणमात्र में पराङ्–मुख हो सकते हैं, तो अन्य उन राष्ट्रीय नेताओं के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है, जो आज भारतराष्ट्र की राष्ट्रीयता का उद्घोष करते हुए भी कल ही अपनी किसी वैय्यक्तिक–मान्यता के वारुणपाश में आबद्ध हो सकते हैं ?। ऐसा कैसे हो पड़ा ?, ऐसा कैसे हो पड़ेगा ?, इत्यादि सभी प्रश्नों का एकमात्र उत्तर वही **'हिन्द–मानव की सहज भावुकता'** है, जिसने निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से इसीप्रकार इसे अपनी अखण्ड–राष्ट्रीयता से उत्तरोत्तर पराङ्मुख ही प्रमाणित किया है। एवं इसी भावुकता के कारण प्राणवान् भी, सुसांस्कृतिक भी, नैष्ठिक भी महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र भी दुर्भाग्यवश कुछ समय से उसी 'प्रान्तीय–वाद' से अभिनिविष्ट होकर अपने राष्ट्रीय महान् उत्तरदायित्व से पराङ्मुख बनता हुआ मध्ये मध्ये कुछ एक वैसी भावुकताएँ कर पड़ता है, जिससे इसकी सांस्कृतिक–निष्ठा धूमिल बन जाती है, जिससे परित्राण प्राप्त कर लेने का एकमात्र उपाय इसकी वह राष्ट्रीया–सांस्कृतिक–निष्ठा ही है, जिसके महान् साम्राज्य में केवल भारतराष्ट्र के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व की सुख–शान्ति के बीज सुरक्षित हैं।

८८–महाराष्ट्रीय जनतन्त्र के प्रति सम्पूर्ण भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक–आशा–प्रतीक्षाएँ, एवं तत्प्रति प्रणतभाव से राष्ट्रहितानुबन्धेन किञ्चिदिव आवेदन–निवेदन—

और हमारी यह भी आस्था है कि, कुछ एक परिगणित अमुक व्यक्तियों को छोड़ कर महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र में अधिक संख्या वैसे प्राणवान् सुसांस्कृतिक मानवश्रेष्ठों की ही है, जो अपनी निष्ठा के बल पर

आज के इस सांस्कृतिक–संकट–काल में भी अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा के * बल पर सर्वप्रथम अपने प्रान्त को भी स्वस्वरूप से अभिव्यक्त कर सकते हैं, एवं तद्द्वारा सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में भी सांस्कृतिक–ऐक्य स्थापित करने

---

*–जिस महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र की सांस्कृतिक निष्ठा का अत्र प्रासङ्गिक यशोगान हुआ है, उस से महाराष्ट्र की श्रुति–स्मृति–पुराण–शास्त्रमूला वह राष्ट्रीय–संस्कृति ही अभिप्रेत है, जिस का सदा से ही महाराष्ट्र के विद्वान् निष्ठापूर्वक अनुगमन करते आए हैं । **महाराष्ट्र**, और तदनन्तर **बङ्गाल**, ये दो ही प्रान्त ऐसे हैं, जिन में संस्कृति के मौलिक–स्वरूप के संरक्षण के लिए समय–समय पर विभिन्न प्रयास होते रहे हैं । दोनों प्रयासों में यह अन्तर अवश्य है कि, बङ्गीय–प्रयासों में जहाँ भारतीय संस्कृतिभक्त स्वनामधन्य प्रतीच्य–विद्वानों की प्रमुखता रही है, वहाँ महाराष्ट्रीय–प्रयासों में यहाँ के विद्वानों की ही प्रतिभा प्रमुख रही है । जिस **'न्यू–एशियाटिक सोसाइटी'** के द्वारा बङ्गप्रान्त में भारतीय असंख्य ग्रन्थों का पुनरुद्धार हुआ है, उस के मूलसंस्थापक एक प्रतीच्य विद्वान् ही थे । जबतक ब्रिटिशसत्ता का प्रभुत्त्व रहा, तबतक उक्त संस्था का कार्य्य युगधर्म्मानुसार येनकेन रूपेण प्रक्रान्त रहा । किन्तु अब कर्णाकर्णिपरम्परया ऐसा सुनने में आरहा है कि, राज्य की ओर से पर्य्याप्त सहायता न मिलने के कारण आजकल उक्त संस्था की व्यवस्था सर्वथा ही शिथिल हो रही है, इति नु महद्दुःखास्पदम् ।

उधर महाराष्ट्रने अपने सुसांस्कृतिक–जनतन्त्र के बल पर ही ऐसे अनेक–संस्थानों को जन्म दिया है, जिनके द्वारा इस दिशा में अनेक–महत्त्वपूर्ण कार्य्य सम्पन्न हुए हैं, और आजतक सम्पन्न हो रहे हैं । नीलकण्ठी- टीका से युत पत्रात्मक सम्पूर्ण महाभारत, सायणभाष्यसहिता ऋग्वेदसंहिता (आठ खण्डों में), आदि आदि परःशत मौलिक ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रेय महाराष्ट्रीय–विद्वानों को ही है । गणपतकृष्णाजी–मुद्रणयन्त्रालय, निर्णयसागर मुद्रणालय, आदि के द्वारा संस्कृतसाहित्य की जो सेवा हुई है, वह सर्वविश्रुत है । 'पूना' के सुप्रसिद्ध–**'भाण्डारकर इन्स्टीटयूट'** के नाम से तो सभी प्रज्ञाशील सुपरिचित होंगे ही, जिस के सुयोग्य मेधावी विद्वानों के द्वारा इस दिशा में बड़ी ही तत्परता से प्रगति प्रक्रान्त है । सुप्रसिद्ध शारदाभक्त, राजस्थान के अतीत–सांस्कृतिक–गौरव का पुनः स्मरण करा देने वाले अमुक–राजस्थानी श्रेष्ठिप्रवर के द्वारा संस्थापित **'श्रीवेङ्कटेश्वर यन्त्रालय'** को भी इस दिशा में विस्मृत नहीं किया जा सकता, जिस इस सांस्कृतिक–गौरव को अभिव्यक्त होने का अवसर महाराष्ट्रप्रान्त (बम्बई में) में ही उपलब्ध हुआ है । 'पूना' का **'आनन्दाश्रम संस्थान'** तो प्रसिद्ध ही है पुराणादि परःशत–ग्रन्थों की अभिव्यक्ति के लिए । छत्रपति महाराज शिवाजी के सुप्रसिद्ध दुर्ग प्रतापगढ के प्रान्त के सन्निकटवर्त्ती, महाबलेश्वर–प्रान्तीय–**'वसई'** नामक ग्राम में आप चलें जायँ । उस छोटे से ग्राम में आज के इस सांस्कृतिक–संकटकाल में भी आप को परःशत वेदपारायणभक्त, वैदिक–कर्म्मकाण्डनिष्णात विद्वान् उपलब्ध हो जायँगे । निदर्शनमात्र है । महाराष्ट्रप्रान्त के कण–कण में आबाल–वृद्ध–वनिता–में आमूर्ख–विद्वज्जन में आप को सहजरूपेणैव एक वैसे परोक्ष–सांस्कृतिक–सहज–जीवन के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हो जायगा, जो अन्य प्रान्तों में आज सुदुर्लभ बन चुका है । इन्हीं जीवित परिचय–चिन्हों के आधार पर ऐसी आस्था अभिव्यक्त कर देना स्वाभाविक ही है कि, आज के इस सांस्कृतिक–संकटकाल में एकमात्र महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र ही भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक–गौरव का संरक्षण करसकता है, करता आया है, कर रहा है, एवं निश्चयेन करता ही रहेगा, इसी मङ्गलकामना के साथ तज्जनतन्त्र के प्रति ही यह श्रद्धाप्रसून एक राजस्थानी, उनके ही शब्दों में एक असांस्कृतिक **“रँगड़ब्राह्मण’** की ओर से ही सादर समर्पित है ।

जैसे महान् पुण्य की प्राणप्रतिष्ठा करते हुए इसी राष्ट्रीय–संस्कृति के बल पर सम्पूर्ण विश्व में भी पुनः एकबार इस आत्मबुद्धिमूला, मानवमात्रोपकारिणी विराट्–संस्कृति का शङ्खनाद प्रतिध्वनित कर सकते हैं। एकमात्र इसी मङ्गलाशंसा से पूर्वोपवर्णित राजस्थान का यह भौतिक शरीर अपनी भूतमयी वैखरी वाणी से बुद्धिव्यामोहनात्मिका इस लोकलिपि के माध्यम से सांस्कृतिक–निबन्ध–द्वारा उसी सांस्कृतिक–महाराष्ट्रीय--जनतन्त्र का आज बड़ी आशा--प्रतीक्षा से इस राष्ट्रीय यज्ञ के '**ब्रह्मा**' बन जाने के लिए अत्यन्त प्रणतभाव से आमन्त्रण कर रहा है, जिस संस्कृतिमूर्त्ति ब्रह्मा के निरीक्षण में प्रक्रान्त महासत्त्वात्मक--सांस्कृतिक–राष्ट्रीय--यज्ञ निश्चयेन '**अवभृथस्नान**' का अधिकारी बन जाया करता है। और स्वतःसिद्ध इसी अधिकार–समर्पण के लिए—

सांस्कृतिक–निष्ठा से समन्वित भारतीय **सांस्कृतिक–आयोजनों** की रूपरेखा के कतिपय उदाहरणों के आचारात्मक कतिपय–इतिवृत्तों के माध्यम से **संस्कृति,** एवं **सभ्यता**–शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त ही प्रस्तुत उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध के रूप में उपनिबद्ध होरहा है। सांस्कृतिक जनतन्त्र का सत्तातन्त्र के प्रति एकमात्र यही कर्त्तव्य रहना चाहिये कि, वह काल्पनिक–आवेशमूला–आलोचना–प्रत्यालोचनाओं के भावुकतापूर्ण वाग्विजृम्भणों से अपने आपको उन्मुक्त रखता हुआ, साथ ही सत्तातन्त्र के प्रति पूर्ण आस्था रखता हुआ सम्प्रदायवाद–निरपेक्ष उस सांस्कृतिक–दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्त करने का प्रयास करता रहे, जिस प्रयास के गर्भ में ही कालपरिपाकावस्था के समुपस्थित होने पर स्वतः ही सभी निरपेक्ष तत्त्वों को स्वतः ही अवनतशिरस्क बना देने के सात्त्विक बीज प्रतिष्ठित हैं। **क्योंकि स्वस्वरूपबोध ही कल्पित स्वरूप–भ्रान्ति की निवृत्ति का एकमात्र राजपथ माना गया है।** भारतराष्ट्र की ज्ञान–विज्ञान–परिपूर्णा स्वयं **संस्कृति** में ही वैसा बल है, जिसका आंशिक स्वरूप–बोध भी मानव की काल्पनिक–भ्रान्तियों को शरदभ्रवत् विलीन कर देने की क्षमता रखता है। एवमेव इत्थंभूता अश्माखण्डसमा (पाषाणशिलासमा) संस्कृति के आधार पर व्यवस्थित **सांस्कृतिक–आचारों** का बोध ही पर्य्याप्त है मानव के कल्पित आचारभ्रम की निवृत्ति के लिए। तथैव संस्कृति, तथा सांस्कृतिक–आचारों के आधार पर समायोजित, **सत्यं–शिवं–सुन्दरं**–लक्षण, उत्कृष्टतम मानसिक-शारीरिक-विनोदात्मक, सद्यः फलप्रद भारतीय '**सांस्कृतिक-आयोजनों**' का रूपरेखात्मक इतिवृत्त ही पर्य्याप्त है आज के **मनःशरीरशक्तिक्षयकर काल्पनिक–सांस्कृतिक–आयोजनों** के व्यामोहनों से प्रज्ञाशील मानवों का परित्राण करने के लिए।

इच्छा थी कि, निबन्ध का प्रास्ताविक यहीं उपरत कर दिया जाता। किन्तु '**धर्म्मनिरपेक्ष**' रूपा प्रथमा, तथा '**सांस्कृतिक–आयोजन**'–रूपा द्वितीया, घटनाओं जैसी सामान्य घटनाओं से भारतराष्ट्र के मूलधर्म्म, तथा मौलिक सांस्कृतिक–आयोजनों के सम्बन्ध में सामान्य–प्रजा के मानस–जगत् में जो क्षोभ उत्पन्न होगया है, उसे यदि सांस्कृतिक–जागरण के माध्यम से शीघ्र ही उपशान्त कर देने की चेष्टा न हुई राष्ट्रहितैषी प्रज्ञाशीलों के द्वारा, तो भारत का वर्त्तमानयुग का यह धर्म्मनिरपेक्षात्मक, तथा कल्पित–सांस्कृतिक–आयोजनात्मक मलीमस–इतिवृत्त भविष्य की प्रजा के सांस्कृतिक–अवभृथस्नान में महान् प्रतिबन्धक ही प्रमाणित होजायगा। इसी महती वेदना की प्रेरणा से '**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः**' के अनुसार अनिच्छन्नपि प्रास्ताविक के सम्बन्ध में और भी कुछ सामयिक निवेदन का अनुगमन कर लिया जाता है।

८९--पदप्रतिष्ठात्मक--व्यक्तित्वविमोहन के वारुणपाश से आवद्ध मानव की स्वरूपनिष्ठा का आत्यन्तिक--पतन, एवं तन्मूलक वाग्विजृम्भण—

'पदप्रतिष्ठा' से समन्वित काल्पनिक 'व्यक्तित्वप्रतिष्ठा' का व्यामोहन मानव की ईश्वरप्रदत्ता सांस्कृतिक-- ऋजुता को, संस्कृतिमूला सहज--सभ्यता की प्रवणता को उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लिया करता है, जिस व्यामोहन–सीमा पर पहुँचने के अनन्तर वह व्यामुग्ध मानव स्वदर्शनमूला स्वस्वरूपनिष्ठा को सर्वथैव विस्मृत कर दिया करता है। स्वस्वरूपविस्मृत ऐसा व्यक्तित्वविमूढ मानव परदर्शनमूला भावुकता को ही अपना मूला– धार समझ बैठने की महती भ्रान्ति करता हुआ कालान्तर में एकान्ततः गतानुगतिक ही बन जाया करता है। गतानुगतिक बन जाना, किंवा अनिच्छन्नपि प्रयासपूर्वक अपने आप को गतानुगतिक बनाए रहना पदप्रतिष्ठा– व्यामुग्ध इस भावुक मानव के लिए इसलिए भी अनिवार्य्य ही बन जाता है कालान्तर में कि, बिना इस परसमर्थनात्मिका–गतानुगतिकता के इसके लिए अपनी पदप्रतिष्ठा का संरक्षण कर लेना असम्भव ही प्रमाणित हो जाता है। यही वह महती निर्बलता है इत्थंभूत व्यक्तित्वविमूढ मानव की, जिसके वारुणपाश में आबद्ध हो जाने के अनन्तर इसे भावुकतापूर्ण उन सभी गतानुगतिक–मान्यताओं, आयोजनाभासों, आन्दोलनों, प्रद-- र्शनों, घोषणाओं, आदि आदि का उच्चस्वर से, किंवा मन्दस्वर से, तथा लेखिनी से अनुमोदन–समर्थन ही करते जाना पड़ता है, जिन आयोजनों को सहजसिद्धा आत्मसंवित् के उदय–क्षणों के अवसर पर अपने अन्त- र्जगत् में यह स्वयमपि सर्वथा काल्वालीकृत ही अनुभूत करता रहता है। –'**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय**'! **बलादिव नियोजितः**' इस प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्तानुसार अनिच्छा से भी उस मानव को उन सभी प्रावाहिक झञ्झावतों का स्वागत–समालिङ्गन करते ही रहना पड़ता है, जिन के बिना इसका लोकस्वरूप ही संदिग्ध बना रहता है–इस की दिग्देशकालानुगता भावुकता–पूर्ण इस काल्पनिकी प्रातिभासिकी मान्यता में।

९०–सत्तासापेक्षमूला लोकैषणा के द्वारा सांस्कृतिक–विद्वानों में व्यक्तित्वविमोहन का आविर्भाव, एवं तद्द्वारा संस्कृति का अधःपतन---

अहो! महतीयं विडम्बना लोकस्वरूपव्यामोहनस्य। लोकस्वरूपव्यामोहनमूला पदप्रतिष्ठा से आवि– र्भूत हो पड़ने वाली तथाविधा 'स्वस्वरूपविस्मृति' के जन्मदाता ज्ञात–अज्ञात अनेक कारणों में से सर्वप्रधान कारण माना जायगा 'सत्तासापेक्षता' नामक वह महान् कारण, जिस का आविर्भाव आज से तीन हजार वर्ष पर्व के उस अन्धयुग में ही हो चुका था, जिस युग में एक व्यक्तिविशेष की सहज–भावुकता के आवेश के कारण आत्मनिष्ठ भी, सुसंस्कृत भी इस भारतराष्ट्र में अनात्मवादमूलक वह शून्यवाद आविर्भूत हो पड़ा था, जिस उस अनात्मीय शून्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली परदर्शनमूला दार्शनिक–भावुकता से आजतक भी भारतराष्ट्र अपना परित्राण नहीं कर पाया है। स्वस्वरूप से स्वस्था–सुरक्षिता '**संस्कृति**', एवं तदनुगता 'सभ्यता' का सर्वोत्तरदायित्वपर्ण अश्माखणात्मक प्रतिष्टाकेन्द्र अनात्मवाद के कारण ही कालान्तर में सत्तासापेक्ष बन गया, जिस सत्तासापेक्षता ने ही आगे चल कर 'संस्कृति' की आश्रयता का परित्याग कर संस्कृति को आश्रित ही बना डाला। इसी पराश्रयताने, किंवा सत्ताश्रयता (राज्याश्रयता) ने संस्कृति को देश–काल–पात्रादि–अनु- बन्धिनी परिवर्त्तनशीला सत्तानुगता 'सभ्यता' के वारुणपाश में आबद्ध कर दिया, जिस पाशबन्धन के कारण ही 'संस्कृति' के स्वरूपव्याख्याता सत्तासापेक्ष सांस्कृतिक–विद्वानों में सत्तासापेक्षतामूला वह लोकैषणा जागरूक हो पड़ी, जिसके आकर्षण से पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहन सहजरूपेणैव आविर्भूत हो जाया करता है।

९१--त्रिसहस्रवर्षावधिरूप सांस्कृतिक अधःपतनकाल, एवं तन्निमित्तभूत सत्ताश्रित विद्वान्---

सत्तासापेक्षतामूलक लोकैषणात्मक व्यामोहन से व्यामुग्ध बन जाने वाले विद्वान् व्याख्यताओं की दृष्टि में 'संस्कृति' का गौण बन जाना जहाँ स्वाभाविक था, वहाँ सत्तातन्त्र की मान्यताओं का प्रमुख बन जाना भी स्वाभाविक ही था। वैसा ही कुछ घटित–विघटित हुआ विगत तीन सहस्र–वर्षों में, जिसके आधार पर सर्वथैव असंदिग्धरूप से यह स्वीकार कर लेने में किसी भी तटस्थ–निरपेक्ष–प्रज्ञाशील मानव को तो यत्किञ्चित् भी आपत्ति नहीं हो सकती कि, **"तीन सहस्रवर्षों की इस अवधि में संस्कृति, एवं सभ्यता की स्वरूप–व्याख्या के सम्बन्ध में, सत्तासापेक्ष विद्वानों की ओर से जो भी प्रयास प्रक्रान्त रहे हैं, तत्त्वतः उन प्रयासों का 'संस्कृति', एवं 'सभ्यताओं' के मौलिक-विशुद्ध स्वरूप से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अपितु तथाविध सम्पूर्ण प्रयास तत्तत् स्व–पर–सत्तातन्त्रों की मान्यताओं के समर्थन–प्रचार के प्रयासमात्र ही हैं। सहजभाषा के अनुसार यह कह देने में भी संकोच नहीं करना चाहिए कि, तीन सहस्र वर्षों में उपनिबद्ध 'संस्कृति' का इतिहास वस्तुतः परिवर्त्तनशील उन सत्ता--सभ्यताओं का ही इतिहास है, जिसका आत्ममूला संस्कृति से, एवं तदनुगता आचारपद्धतिमूला सभ्यता से कोई भी सम्बन्ध नहीं है"।**

९२–अव्ययपुरुषमूला शाश्वत-संस्कृति, एवं अक्षरप्रकृतिमूला सनातन-सभ्यता की अन्तर्म्मुखता से ही भारतराष्ट्र का पारम्परिक पतन, तथा तन्मूला सर्वतन्त्र-परतन्त्रता–

अव्ययात्मपुरुषमूला संस्कृति, एवं **अक्षरप्रकृतिमूला सभ्यता**, सर्वथैव तटस्था, एवं निरपेक्षा रह कर ही स्वस्वरूप-लक्षणों से अभिव्यक्त रहा करती है मानव की सहज-स्वस्था, एवं प्रकृतिस्था जीवनपद्धतियों में। सत्तासापेक्षता के आकर्षण–विकर्षण से जब भी मानव **क्षरविकृतिमूला सत्तासभ्यता** के मापदण्ड से **मूलपुरुष-संस्कृति–एवं मूलप्रकृति–सभ्यता** का मूल्याङ्कन करने लग पड़ता है, तो तत्क्षण ही–**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः, मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्"** (गीता ७।२५।) इत्यादि के अनुसार अव्ययपुरुषात्मा, एवं तदनुगता संस्कृति-सभ्यताओं का मौलिक स्वरूप तो होजाता है अन्तर्म्मुख, एवं विकृतिमूला-सत्तात्मिका भूतसभ्यता का योगमायात्मक आवरण बन जाता है प्रधान। इसी आवरणदोष से आत्मविमूढ बन जाने वाले व्याख्याता की दृष्टि में हृदयस्थ आत्मदेव तो बन जाते हैं तटस्थ, निरपेक्ष, एवं लोकस्थ भूततन्त्र बन जाते हैं प्रमुख, जिनकी मान्यताओं, भावुकताओं के संरक्षण में ही वह व्याख्याता अपना प्रज्ञाकौशल परिसमाप्त कर देता है। इसलिए परिसमाप्त कर देता है कि, बहिरङ्गभावापन्न वैकारिक–जगत् ही इसका सर्वस्व स्वरूप बन जाता है, जिसके संरक्षण–परिवर्द्धन के अतिरिक्त इसके प्रज्ञाकोश में कोई भी पुरुषार्थ शेष नहीं रह जाता। एकमात्र इसी प्रवञ्चना के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतीय प्रज्ञा निरन्तर तीन हजार वर्षों से लोकानुगता–भावुकताओं के संरक्षण-परिवर्द्धन में हीं अपना सर्वस्वार्पण करती चली आरही है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र की मौलिक संस्कृति, मौलिक सभ्यता, आचारपद्धति, जीवनपद्धति, आदर्श, धर्म्म, साहित्य, राजनीति, आदि आदि सभी विमल–विभूतियाँ अपनी मौलिकता से सर्वथा पराङ्मुख ही बनतीं चलीं आरहीं हैं। और यही भारतराष्ट्र की सुदीर्घकालीना परतन्त्रता का प्रमुख–कारण है।

९३-जनश्रुतिमूलक 'स्वतन्त्र'-भारत के--'सांस्कृतिक--आयोजनों' के आकर्षण से ही इस कूपमण्डूक व्यक्ति की भारतीय--संस्कृति, तथा भारतीय सभ्यता--शब्दों की ओर जिज्ञासात्मिका सहज प्रवृत्ति—

कर्णाकर्णिपरम्परया-एवं हि श्रूयते कि, भारतराष्ट्र ने अनेक शताब्दियों के अनन्तर 'स्वतन्त्रता' प्राप्त करली है, जिस इस माङ्गलिक-जनश्रुति से प्रत्येक भारतीय को तृप्त नहीं, तो तुष्ट अवश्य ही हो जाना चाहिए। 'स्व' की सुप्रसिद्धा अभिधा से समन्विता 'स्व-तन्त्रता' लक्षणा 'स्वतन्त्रता' के दशवर्षीय भुक्त-प्रक्रान्त इतिहास के आधार पर लिपिबद्ध होपड़ने वाले नवजागरण ने भारतराष्ट्र के 'स्व' स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति, एवं सभ्यता के अनुपात से किस क्षेत्र में किस सीमापर्य्यन्त कितना, और कैसा योगदान किया ?, एवं इसकी भावी योजना-पद्धतियों में इस दृष्टि से भारतराष्ट्र ने कैसी रूपरेखा बनाई ?, इत्यादि प्रश्न हमारे लिए तो इसलिए अनतिप्रश्नात्मक दुरधिगम्य प्रश्न ही प्रमाणित हो रहे हैं कि, हमारा सीमित दृष्टिकोण, आक्रोशभाषा-दृष्ट्या कूपमण्डूकात्मक दृष्टिकोण तो सत्तासापेक्ष इत्थंभूत विजृम्भणों से सदा से असंस्पृष्ट ही बना रहा है। कूपमण्डूक का परिभ्रमणावृत्त यद्यपि कदापि महतोमहीयान् सागर की महिमा का अनुमान भी नहीं लगा सकता। तथापि सागरमहिमा के ही अङ्गभूत कूपजल की अणिमा-महिमा के तारतम्यानुपात से मण्डूक भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो प्रभावित हो ही जाता है। एवं अङ्गाङ्गिभावानुबन्धी इसी पारम्परिक-प्रभाव के अनुग्रह से कर्णाकर्णिपरम्परया ही श्रुतोपश्रुत स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के तथाकथित नवजागरणात्मक नवीनेतिवृत्त से सम्बद्धा **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** की ध्वनि प्रतिध्वनि ने इस कूपमण्डूक को भी निरतिशयरूपेण प्रभावित तो कर ही लिया है। इसी प्रभावाकर्षण ने इसे भी सहसा आज संस्कृति, और तत्सम्बन्धेनैव सभ्यता-शब्दों की ओर बलात् आकर्षित हो जाना पड़ा है।

९४-संस्कृतभाषा के सुसंस्कृत शब्दों की चिरन्तनेतिवृत्तसमन्वयमूला महती सांस्कृतिकता, एवं तन्मूला अनुरूप-वाच्यार्थता—

प्रकृति-प्रत्यय-धातु-उपसर्ग-निपातादि मर्य्यादाओं से अनुप्राणित व्याकरणशास्त्र के महान् व्यवस्थापक भगवान् पतञ्जलि (महाभाष्यकार) ने 'प्रमाणबुद्धि' के सम्बन्ध में 'शब्द' को ही प्रधानता प्रदान की है, जैसाकि उनके-**'शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह-तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्म्ममाह'** (महाभाष्य) इत्यादि वाक्यसन्दर्भ से स्पष्ट है। न्य भाषाओं से सम्बन्ध रखने वाले अनुकरणात्मक-यदृच्छाशब्दों के सम्बन्ध में कैसी पद-पदार्थ-अभिधा-व्यञ्जनादि व्यवस्थाएँ हैं ?, प्रश्न की आलोचना प्रत्यालोचनाओं से कोई सम्बन्ध न रखते हुए भारतराष्ट्र की सुप्रसिद्धा 'संस्कृतभाषा' के सुसंस्कृत शब्दों के सम्बन्ध में तो यह असंदिग्धरूप से आस्थारूपेण कहा, और माना जा सकता है कि,-**"संस्कृतभाषा का प्रत्येक शब्द अपने अवयवभूत वर्ण-स्वरादि के द्वारा शब्दवाच्य अर्थ का सर्वात्मना स्वयमेव स्पष्टीकरण कर देता है, जिसके लिए अन्य किसी कल्पना-कौशल की कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती। संस्कृत का प्रत्येक शब्द अपना स्वतन्त्र इतिहास रखता है। किंवा स्वतन्त्र ऐतिहासिक-तथ्यों के आधार पर ही सांस्कृतिक-शब्द स्वतः ही आविर्भूत हुए हैं,"** जैसाकि निम्न लिखित सुप्रसिद्ध पद्य से स्पष्ट है—

आविर्भूतप्रकाशानां-अनभिप्लुतचेतसाम् ।
ये भावा वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥

९५-संस्कृति, एवं सभ्यता-शब्दों का वाच्यार्थनिबन्धन-चिरन्तनेतिवृत्तात्मक प्रस्तुत सांस्कृतिक-निबन्ध—

यही वह प्रमुख मापदण्ड है, जिसको आधार बनाए बिना किसी भी तथ्य का वास्तविक समन्वय कदापि सम्भव नहीं है। और इसी शब्दमर्य्यादानुगत मापदण्ड के अनुग्रह से वर्त्तमान स्वतन्त्र-भारतराष्ट्र के लोकप्रचलित अभिनव 'सांस्कृतिक-आयोजनों' से सम्बन्ध रखने वाले 'सांस्कृतिक' शब्द ने तन्मूलभूत **'संस्कृति'** शब्द की ओर बलात् हमारा ध्यान आकर्षित कर दिया। इसी आकर्षण से सहयोगी **'सभ्यता'** शब्द भी स्वतः ही आकर्षित हो पड़ा। और यों एकमात्र वर्तमान भारतराष्ट्र के प्रत्येक छोटे-बड़े आयोजनों में सोत्साह माने-मनवाए जाने वाले सांस्कृतिक-आयोजनों के अकाण्ड-ताण्डववोंनें हीं इन दोनों शब्दों को अनिच्छन्नपि लक्ष्य बनवा ही तो दिया। इसी विवशता ने इन दोनों शब्दों के शब्दार्थमर्य्यादानुगत 'चिरन्तन-इतिवृत्त' की उपासना में हमें प्रवृत्त कर डाला, जिसके परिणामस्वरूप ही-"**संस्कृति, एवं सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिवृत, तथा भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा**" नामक प्रस्तुत सामयिक निबन्ध उपनिबद्ध हो पड़ा है।

९६-संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के वाच्यार्थ-समन्वयमात्र से आजके नृत्य-गीत-वाद्यादि-आयोजनों की 'सांस्कृतिकता' के व्यामोहन की निवृत्ति—

'संस्कृति', तथा सभ्यता-शब्दों के वाच्यार्थ के समन्वय के बिना कदापि इन के मूल स्वरूप का समन्वय सम्भव ही नहीं है। और हम भूल नहीं कर रहे, तो इन दोनों शब्दों के आधार पर अपने प्रज्ञाबल से अपना अपना अभितम व्यक्त करते रहने वाले प्राच्य, तथा प्रतीच्य विद्वानोंनें शब्दवाच्य अर्थों की उपेक्षा ही की है। इसी उपेक्षा के कारण जड़भूतवादात्मक विजृम्भण, प्राचीन खण्डहरों के ध्वंसावशेष, नृत्य-गीत-वाद्यादि मानसिक कुतूहल, लोकगीत, कविता, विविध कौशलानुगत कलाव्यासङ्ग, आदि आदि सभी मानसिक-शारीरिक-व्यासङ्ग 'संस्कृति' शब्द की अर्थसीमा में संगृहीत हो पड़े हैं, जबकि इन मानसिक-शारीरिक व्यासङ्गों के साथ 'संस्कृति' शब्द के वाच्यार्थ का यत्किञ्चित् भी तो साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वाच्यार्थ की उपेक्षा कर देने से ही 'संस्कृति' शब्द के वाच्यार्थलक्षण अर्थसमन्वय से पराङ्मुख ही प्रमाणित हो रही है तत्सम्बन्ध में आवेशपूर्वक उद्घोष अभिव्यक्त करते रहने वाले वर्त्तमान युग के सांस्कृतिक-विद्वानों की युगधर्म्मानुगता सत्तासापेक्षा प्रज्ञा। यह निर्विवाद है कि, यदि अवधानपूर्वक 'संस्कृति'-'सभ्यता' शब्दों के केवल वाच्यार्थ-लक्षण अक्षरार्थ पर भी दृष्टिनिक्षेप कर लिया जाता, तो इन शब्दों के लाक्षणिक-काल्पनिक-अर्थसमन्वयों के द्वारा हो पड़ने वालीं भ्रान्तियों से सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही परित्राण होजाता सांस्कृतिक-प्रज्ञाओं का। और उस दशामें यों सर्वथा अन्ध-बधिर-भावेन नृत्य-गीतादि बालोपलालनभावादि को कदापि **'सांस्कृतिक-आयोजन'** जैसी पावन अभिधा से तो व्यवहृत नहीं कर दिया जाता।

९७-'सम्-स्-कृति' भावों से निष्पन्न 'संस्कृति' शब्द का दुर्बोध्य चिरन्तन-इतिवृत्त—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म, अतएव दुरधिगम्य है 'संस्कृति' शब्द का चिरन्तन-इतिहास, जो तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता सत्तासापेक्षतामूला मतवादपरम्पराओं के आवरण से उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही बनता चला आरहा है।

'सम' ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध अव्ययेश्वर की महिमामयी कृति के सनातन इतिहास को स्वसीमा में अन्तर्भुक्त रखने वाला 'संस्कृति' शब्द कदापि भूतानुगता लोकमान्यताओं के जड़ अनुबन्धों से गतार्थ नहीं बन सकता। प्रकृतिविशिष्ट पुरुषेश्वर ही 'संस्कृति' शब्द की सर्वस्व स्वरूप—व्याख्या है, जिसके यशोवर्णन के लिए ही प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध है।

अव्ययपुरुषात्मा सम्पूर्ण स्थावर—जङ्गम—प्रपञ्च में 'सम' रूपेण अवस्थित है *। प्रकृतिमूला विभिन्नताओं में, अनेकताओं में समानरूपेण अवस्थित सर्वेश्वर अव्ययब्रह्म के इसी समत्त्व को सूचित करने के लिए व्याकरणशास्त्र में—'सम्' नामक उपसर्ग का आविर्भाव हुआ है, जिसका—'समित्येकीभावे' रूप से एकत्त्वमूला अभिन्नता ही अर्थ हुआ है। जो अर्थ 'सम' का है, वही अर्थ 'सम्' का है। इस 'समब्रह्म' की, किंवा 'संब्रह्म' की कृति का ही नाम 'संस्कृति' है। सम्—कृति के मध्य में व्याकरणनियमानुसार 'सुट्' का आगम हो जाता है। और यों 'सम्—स्—कृति' अवयवों से 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न हो रहा है, जिस के उपोद्बलक शब्द सांस्कृतिक—संस्कार—आदि रूप से संस्कृतवाङ्मय में सुप्रसिद्ध हैं।

६८—'समब्रह्म' की महिमामयी शाश्वत—सनातन--कृति के वाचक 'संस्कृति' शब्द के चिन्तन--इतिहास की त्रिसहस्रवर्षानुगता पारम्परिक--अभिभूति —

'सम्' ब्रह्म की महिमामयी उस 'कृति' (कार्य्य—निर्म्माण—रचना) का क्या स्वरूप है ?, सम्पूर्ण श्रुति—स्मृति—पुराण—शास्त्र एकमात्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहे हैं, जिसका सीधासा अर्थ यही होता है कि-श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्र का ही नाम 'संस्कृति' शब्द की स्वरूप-व्याख्या है। वह आर्षसाहित्य ही 'संस्कृति' का चिरन्तन इतिहास है, जो आर्षसाहित्य सत्तासापेक्षता के कारण अपनी सांस्कृतिक-सनातन—गरिमा से अन्तर्मुख बनता हुआ सत्ताभक्त व्याख्याताओं के द्वारा जड़भूतसभ्यतामात्र का ही इतिहास प्रमाणित होता चला आरहा है विगत तीन सहस्रवर्षात्मक दासता के युगों से।

६९—ईश्वरात्मकृतिरूपा शाश्वतसंस्कृति का, एवं जीवात्मकृतिरूपा सनातनसभ्यता का सुसूक्ष्म विभेद—

यद्यपि सापेक्ष 'आत्मा' शब्द निरपेक्ष 'अव्ययब्रह्म' नामक 'समब्रह्म' का पर्य्याय नहीं है। तथापि सापेक्ष 'कृतिभाव' के अनुबन्ध से अंशतः अव्ययब्रह्म, और आत्मा का पर्य्यायसम्बन्ध माना जासकता है। एवं

---

* समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। [गीता ९।२९]।
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ [गीता १ ।२८।]
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति॥ [गीता १३।२७]।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः॥
निर्दोषं हि 'समं' ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ [गीता ५।१९।]।

इस मान्यता की अपेक्षा से अव्ययब्रह्मात्मक समब्रह्म की कृति को 'आत्मकृति' भी कहा जासकता है, जो आत्मकृति **ईश्वरात्मकृति**, तथा **जीवात्मकृति** भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। ईश्वरात्मा सर्वत्र सम है, जब कि जीवात्मा योगमायोपाधिकृत भेद से प्रत्येक जीवसंस्था में विभिन्न है। **सर्वत्र समभावापन्न ईश्वरात्मा की सनातनकृति का ही नाम 'संस्कृति' है, एवं अध्यात्मसंस्था में विभक्तरूपेण व्यवस्थित जीवात्मा की परिवर्त्तनशीला कृति का ही नाम सभ्यता है।** और यही संस्कृति, तथा सभ्यता—शब्दों के वाच्यार्थों में महान् विभेद है।

१००--मनःप्राणवाङ्मयी ज्ञानक्रियार्थकृतियों का आत्मकृतित्व, एवं तद्रूपा अपरिवर्त्तनीया--मूलसंस्कृति—

क्या स्वरूप है सनातनकृति का ?, एवं क्या स्वरूप है परिवर्त्तनीया कृति का ?, प्रश्नों का समाधान ही संस्कृति—सभ्यता—शब्दों का चिरन्तन—इतिवृत्त है, जिसके दिग्दर्शनार्थ ही निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। सामान्यरूपेण (आत्मत्त्वेन) 'आत्मा' का लक्षण हुआ है—**'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः'** (बृ० आ० उप०)। आत्मा मनोमय है, अर्थात् ज्ञानमय है। प्राणमय है, अर्थात् क्रियामय है। वाङ्मय है, अर्थात् अर्थमय है। **ज्ञान—क्रिया—अर्थ**—नाम की तीनों शक्तियों का पुञ्जीभूत तत्त्व ही सृष्टिसाक्षी—कृतिप्रवर्त्तक—सापेक्ष आत्मा की स्वरूप—परिभाषा है। अपनी इन पारिभाषिक मनः—प्राण—वाक्—नाम की ज्ञान—क्रिया—अर्थ—मयी तीन कलाओं की सापेक्षता से ही आत्मकृति के **मनोमयी ज्ञानकृति, प्राणमयी क्रियाकृति, वाङ्मयी अर्थकृति,** ये तीन कृतियाँ आविर्भूत हो पड़तीं हैं, जिन इन तीनों कृतिभावों को सहजभाषा में हम **'आत्मसृष्टि'** भी कह सकते हैं। इस त्रिविधा आत्मसृष्टि, किंवा आत्मकृति का ही नाम 'समब्रह्म' की कृति है, यहीं 'संस्कृति' है, जिसके पूर्वोत्तर सापेक्षरूपों से संस्कृति, और सभ्यता नामक दो विवर्त्त निष्पन्न हो जाते हैं।

१०२—सृष्टिकर्त्ता प्रजापति के काम--तप--श्रम से अभिव्यक्ता भाव--गुण--विकार--कृतियाँ, एवं तन्मूलक त्रिविध सृष्टिविवर्त्त—

सृष्टि के सामान्य अनुबन्ध माने गए हैं **काम, तप,** और **श्रम**। मानसिक अनुबन्ध ही काम, किंवा कामना (इच्छा) है। प्राणानुगत अनुबन्ध ही तप है। एवं वागनुगत अनुबन्ध ही श्रम है। वही आत्म—प्रजापति कृतिभावोन्मुख बनते हुए अपने ज्ञानशक्तिमय मनोरूप से कामयमान हैं, क्रियाशक्तिमय प्राणरूप से तप्यमान हैं, एवं अर्थशक्तिमय वागूरूप से श्रान्त हैं। कामयमान—तप्यमान—श्रान्त मनःप्राणवाङ्मय आत्मदेव ही ज्ञानक्रियार्थभावों से मनोमयी—प्राणमयी—वाङ्मयी—इन तीन विभिन्न कृतियों—सृष्टिधाराओं में (महिमा—रूप से) परिणत हो जाते हैं, हो रहे हैं। **मनोमयी कृति ही भावकृति, किंवा भावसृष्टि है। प्राणमयी कृति ही गुणकृति, किंवा गुणसृष्टि है। एवं वाङ्मयी कृति, ही 'विकारकृति', किंवा विकारसृष्टि है।**

१०३—प्रजापति के भाव--गुण—विकार—लक्षण कृतिभावों का तात्त्विक--समन्वय—

वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि जिस सापेक्ष आत्मा की कृति का यहाँ प्रसङ्ग चल रहा है, उस का पारिभाषिक स्वरूप है—'प्रजापति', जिस की सीमा में **प्रकृति** और **पुरुष,** दोनों विवर्त्त समाविष्ट हैं। इन दो विवर्त्तों के

अनुबन्ध से वस्तुगत्या आत्मकृति भी **पुरुषकृति, प्रकृतिकृति** भेद से दो ही प्रमुख विवर्त्तों में विभक्त हो रही है। पुरुष ही अव्ययब्रह्म है, जिस की प्रकृति **पराप्रकृति, अपराप्रकृति**—भेद से दो महिमाभावों में परिणत रहा करती है। पराप्रकृति का नाम ही **'अक्षर'** है, एवं अपराप्रकृति का नाम ही **'क्षर'** है। यों पर—अपर-भेद से एक ही प्रकृति के अक्षर—क्षर—रूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जिन के समन्वय से आत्मप्रजापति के **अव्यय—अक्षर—क्षर**—ये तीन विवर्त्त अभिव्यक्त हो पड़ते हैं। अव्ययतत्त्व पुरुष है, यही मनोमय विवर्त्त है, जिसे हमने पूर्व में कामयमान कहा है। अक्षर ही पराप्रकृति है, यही प्राणमय विवर्त्त है, जिसे तप्यमान माना गया है। एवं क्षर ही अपराप्रकृति है, यही वाङ्मय विवर्त्त है, जिसे श्रान्त कहा गया है। मनोमय—कामयमान अव्ययपुरुष ही भावकृतिरूपा भावसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है *। प्राणमयी—तप्यमाना अक्षररूपा पराप्रकृति ही गुणकृतिरूपा गुणसृष्टि की प्रवर्त्तिका बनती है। एवं वाङ्मयी-श्रान्ता क्षररूपा अपराप्रकृति ही विकारकृति-रूपा विकारसृष्टि की प्रवर्त्तिका बनती है ÷। इसप्रकार पुरुष—प्रकृतिरूप, मनःप्राणवाङ्मय, काम-तपः—श्रमा-नुबन्धों से समन्वित आत्मप्रजापतिरूप **'समब्रह्म'** की कृति के **भाव-गुण-विकार**-रूप से तीन विवर्त्त होजाते हैं, जिन इन तीनों सृष्टिविवर्त्तों, किंवा कृतिविवर्त्तों का इतिहास ही **'संस्कृति'**, और **'सभ्यता'** शब्दों का चिरन्तन मौलिक इतिहास है, जिस के आधार पर ही भारतीय **'सांस्कृतिक—आयोजन'** प्रतिष्ठित हैं।

१०३—संस्कृति, एवं सभ्यता--शब्दों के लाक्षणिक अर्थों में व्यासक्त वर्त्तमान विद्वानों के मनःशरीरनिबन्धन-सांस्कृतिक—व्यामोहन—

आत्मप्रजापति के मनः—प्राण—वाङ्मय पूर्वोपवर्णित तीनों महिमाविवर्त्तों के आधार पर ही उन पारिभाषिक असंख्य त्रित्त्वभावों का वितान हो रहा है, जिनका यथाप्रसङ्ग समन्वय किए बिना संस्कृति, एवं सभ्यता—शब्दोंके मौलिक स्वरूपों का कदापि समन्वय सम्भव नहीं है। यही वह पारिभाषिकी-महती समस्या है, जिसे विस्मृत कर देने के कारण ही आज भारतीय विद्वत्प्रज्ञाएँ भी अपनी कल्पना के बल पर ही लाक्षणिक—रूप से ही, प्रतीच्यभावों की गतानुगतिकता के माध्यम से ही संस्कृति—सभ्यताओं की व्याख्याओं में प्रवृत्त होपड़तीं हैं, एवं अपने इन कल्पना—प्रसूनों के माध्यम से ही संस्कृति की मर्य्यादाओं से एकान्ततः विदूर मानसिक—शारीरिक विजृम्भणों को ही सांस्कृतिक—आयोजन जैसी पावन—अभिधा से समन्वित करने लग पड़तीं हैं, इति नु महतीयं विडम्बना संस्कृतिशब्दस्य, सभ्यताशब्दस्य च।

१०४—उक्थ—ब्रह्म—साम--लक्षण प्रजापति के खं-कं—रं—भाव, एवं तन्मूलक भाव—गुण-विकार-विवर्त्त—

उक्थ—ब्रह्म—साम—लक्षण आत्मा, उक्थ—अर्क—अशिति-लक्षण आत्मा, आत्मा—प्राण—पशु-लक्षण आत्मा, पशुपति—पाश—पशु—लक्षण आत्मा, खंब्रह्म—कंब्रह्म—रंब्रह्म—लक्षण आत्मा, आत्मा—

---

* महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ [गीता १०।६।]

÷ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ [गीता १३।१६]।

देव–भूत–लक्षण आत्मा, आदि आदिरूपेण पर:शत त्रित्त्व विवर्त्तों से समन्वित पुरुषप्रकृति–समन्वित आत्म–ब्रह्मरूप प्रजापति के मूलभूत **अव्यय–अक्षर–क्षर** नामक पूर्वोक्त तीनों महिमाविवर्त्तों के आधार पर अभिव्यक्त **भावसृष्टि–गुणसृष्टि--विकारसृष्टि**–इन तीन सृष्टियों को आधार बना कर ही संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपबृंहण हुआ है प्रस्तुत निबन्ध में।

१०५ -भावकृतिमूला प्राजापत्या संस्कृति, गुणकृतिमूलक प्राजापत्य सांस्कृतिक–आचार, एवं विकारकृतिमूलक प्राजापत्य सांस्कृतिक–आयोजन—

भावसृष्टिनिबन्धन–मनोमय–अव्ययपुरुष ही प्रजापति का **आत्मभाव** है। गुणसृष्टिनिबन्धना–प्राणमयी–अक्षर नाम की पराप्रकृति ही प्रजापति का **देवभाव** है। एवं विकारसृष्टिनिबन्धना–वाङ्मयी–क्षर नाम की अपराप्रकृति ही प्रजापति का **भूतभाव** है। इस प्रकार आत्मा, देवता, भूत–भेद से वही अव्ययाक्षरक्षररूप प्रजापति तीन कृतिधाराओं में परिणत हो रहे हैं। इन तीनों कृतिधाराओं के आधार पर ही **संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिक--आयोजन,** ये तीन प्रक्रम व्यवस्थित हुए हैं। **आत्ममूलक अनुशीलन ही संस्कृति है, देवमूलक आचरण ही सांस्कृतिक–आचार है, एवं भूतमूलक अनुसरण-अनुकरण ही सांस्कृतिक–आयोजन हैं।**

१०६ -आत्मसंस्कृतिलक्षणा संस्कृति, देवसभ्यतालक्षण सांस्कृतिक–आचार, एवं भूत–सभ्यता–लक्षण- सांस्कृतिक-आयोजन-

अव्ययपुरुष सनातन है, तो तदभिन्ना पराप्रकृति (अक्षर) भी सनातनभावान्विता ही है। अतएव दोनों अनादि मान लिए गए हैं, जैसाकि "**प्रकृतिं (अक्षरं), पुरुषं (अव्ययं) चैव विद्ध्यनादी उभावपि**' इत्यादि स्मार्त्त उपनिषत् (गीता) से प्रमाणित है। तीसरी अपराप्रकृति ही अपने परिवर्त्तनशील–विकारभावानुबन्धी भूतभाव के समन्वय से दिग्देशकालानुबन्धिनी बनती हुई विस्रंसनशीला है। सनातन अव्ययपुरुष, अपरिवर्त्तनीया अक्षरप्रकृति, एवं परिवर्त्तनशीला क्षरप्रकृति, ये तीनों आत्मविवर्त्त ही क्रमशः **आत्मसंस्कृति, देवसभ्यता, भूतसभ्यता** इन तीन प्रक्रमों के मूलाधार बने हुए हैं। आत्मसंस्कृति का अनुशीलन ही हुआ करता है, देवसभ्यता का आचरण से ही सम्बन्ध है, एवं भूतसभ्यता का अनुसरण–अनुकरणात्मक आयोजन ही हुआ करता है, जिस इस पारिभाषिक दृष्टिबिन्दु के आधार पर ही पूर्वोक्त संस्कृति-सांस्कृतिक–आचार–सांस्कृतिक-आयोजन–नामक तीनों विवर्त्त सुप्रतिष्ठित हैं।

१०७–'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'-'देवाननुविधा वै मनुष्याः' मूला सनातन-संस्कृति, एवं सनातन-सभ्यताओं का अनवच्छिन्न--सांस्कृतिक प्रवाह-

"प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या, देवाननुविधा वै मनुष्याः, यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" इत्यादि श्रौत सिद्धान्त यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, विश्वेश्वर के महिमामय कृतिभावों के साक्षात्कारकर्त्ता ऋषि-मानवों नें भारतीय मानव की विकृतिमूला–क्षरप्रकृतिनिबन्धना परिवर्त्तनशीला भूतसभ्यता का प्रकृतिमूला–अक्षरनिबन्धना–अपरिवर्त्तनीया- देवसभ्यता से ही नियन्त्रण किया। सहजभाषानुसार–भारतीय मानव के भौतिक–आयोजनात्मक समस्त सभ्यताविवर्त्त दैविक- प्रकृति को आधार मान कर ही प्रवृत्त हुए। एवं इस

आचारप्रधाना दैविक–प्रकृति का नियन्त्रण अनुशीलनधर्म्म के माध्यम से सनातन अव्ययपुरुष के द्वारा ही व्यवस्थित हुआ, जिस इस पारम्परिक नियन्त्रण का सुपरिणाम यही हुआ कि, दिग्देशकालानुबन्धी सभ्यतानुगत भौतिक–सभ्यतात्मक परिवर्त्तनों के विद्यमान रहते हुए भीं अपने आभ्यन्तररूप से भारतराष्ट्र का अन्तरप्रकृतिनिबन्धन–देवभावानुगत–सनातन–सांस्कृतिक–आचारसूत्र, एवं तत्प्रतिष्ठारूपा अव्ययपुरुषनिबन्धना सनातनसंस्कृति का प्रवाह कदापि सर्वात्मना अवरुद्ध नहीं होसका ।

१०८--आत्ममूला संस्कृति, बुद्धिमूलक सांस्कृतिक-आचार, एवं मनःशरीरमूलक सांस्कृतिक--आयोजन---

उक्त विवेचन के आधार पर भारतीय सांस्कृतिक–मानव की जीवनधारा को, किंवा जीवनपद्धति को मानव के **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**–नामक सुप्रसिद्ध चारों पर्वों के माध्यम से **आत्मा, बुद्धि, मनः–शरीर**–इन तीन प्रक्रमों के साथ समन्वित कर सकते हैं । आत्मभाव ही मानव की मानवता का एकमात्र वह मापदण्ड है, जिसने इसे चौदह प्रकार के भूतसर्गों में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर रक्खा है । जहाँ बुद्धि, मन, शरीर, तीनों प्रकृति के सहजभाव बनते हुए प्राकृतिक पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि सर्गों में समान हैं, वहाँ मानव में आत्मभाव ही वह वैसा वैशिष्ट्य है, जिस वैशिष्ट्य का केन्द्रात्मक–शाश्वतब्रह्मलक्षण–'मनु' तत्त्व से सम्बन्ध है । एवं जिस इस हृद्य आत्ममनु के सम्बन्ध से ही आत्मस्वरूप से अभिव्यक्त मानव 'मानव' अभिधा का अधिकारी बना है । **बुद्धिमत्ता, मनस्विता,** किंवा **दृढगात्रता,** तीनों में से एक भी प्राकृतिक भाव मानव की मानवता का स्वरूपव्यवस्थापक नहीं है । क्योंकि–**समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्** । एकमात्र अव्ययपुरुष–निबन्धन आत्मभाव ही मानव का स्वरूप–व्यवस्थापक है । अतएव अन्यान्य कृतियाँ केवल प्रकृतिप्रधाना बनतीं हुईं जहाँ केवल **'कृति'** शब्द की अधिकारिणीं हैं, वहाँ एकमात्र मानव ही समब्रह्मरूप अव्ययपुरुष की अभिव्यक्तिरूपा कृति बनता हुआ **'संस्कृति'** शब्द का अधिकारी बना हुआ है । अतएव मानवेतर प्राणियों के प्रक्रम जहाँ केवल कृति, **कृत्याचार, कृत्यायोजन** कहलाएँगे, वहाँ मानव के प्रक्रम ही समब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण **संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिकायोजन**–कहला रहे हैं ।

१०६--अनुशीलनधर्म्मात्मिका संस्कृति, आचरणधर्म्मात्मक सांस्कृतिक–आचार, एवं अनुसरण--अनुकरण--धर्म्मात्मक सांस्कृतिक-आयोजन---

आत्मभावानुगत **अनुशीलनधर्म्म** ही मानव की वह **'संस्कृति'** है, जिसका मानव के तथोक्त चारों पर्वों में से **'आत्मपर्व'** से ही प्रधान सम्बन्ध है । आत्मपर्वानुगता संस्कृति को मूलप्रतिष्ठा बनाए रखने वाला सहज–बुद्धि से अनुगत **आचरणधर्म्म** हीं मानव का वह **सांस्कृतिक–आचार है,** जिसका चारों पर्वों में से दूसरे **'बुद्धिपर्व'** से ही प्रधान सम्बन्ध है । शेष रह जाते हैं मन, और शरीर नामक दो पर्व । मानसिक भावों का नाम जहाँ **अनुसरणधर्म्म** है, वहाँ शारीरिक व्यासङ्गों का नाम ही **अनुकरणधर्म्म** है । आत्मसंस्कृतिमूला बौद्धिक सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा को अपनी मूलप्रतिष्टा बनाए रखने वाली आत्मानुगता बुद्धि से अनुप्राणित मानसिक **अनुसरणधर्म्म,** तथा तथाविध ही शारीरिक **अनुकरणधर्म्म** हीं मानव के बे **सांस्कृतिक--आयोजन हैं,** जिनका चारों पर्वों में से तृतीय–चतुर्थ **मनःपर्व,** एवं **शरीरपर्व** से ही प्रधान सम्बन्ध है । इन्हीं तीनों प्रक्रमों को क्रमशः **पुरुषसंस्कृति, प्रकृतिसभ्यता, विकृतिसभ्यता**–इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है ।

११०--आत्मतत्त्वानुशीलनात्मिका संस्कृति, बौद्धिकतत्त्वाचरणात्मक सांस्कृतिक--आचार, एवं मनः-शरीरानुसरणानुकरणात्मक-भौतिक आचरणात्मक-सांस्कृतिक-आयोजन-

सतातनअव्ययपुरुषात्मसंस्कृति ही **संस्कृति है,** संस्कृति की अङ्गभूता अपरिवर्त्तनीया अक्षरप्रकृति-समन्विता देवसभ्यता ही '**सांस्कृतिक-आचार**' है, एवं स्वस्वरूप से परिवर्त्तनशीला, किन्तु स्वप्रतिष्ठात्मक अक्षर के अनुबन्ध से मर्य्यदारूपेण सनातनरूपेणैव प्रवाहिता भूतसभ्यता ही '**सांस्कृतिक-आयोजन**' है । आत्मानुगत तत्त्वानुशीलन ही '**संस्कृति**' है । आत्मप्रतिष्ठासम्मत बुद्ध्यनुगत तत्त्वाचरण ही '**सांस्कृति-आचार**' है, एवं आत्मबुद्धि से नियन्त्रित मर्य्यादित, अतएव मूलनिष्ठासंरक्षणानुगत सहज-प्राकृतिक-परिवर्त्तनसम्मत मनः-शरीरानुगत-भूतानुसरण--अनुकरणात्मक आयोजन ही '**सांस्कृतिक-आयोजन** है । मानवमात्र में समब्रह्म-रूपेण समानरूपेण व्याप्ता आत्मसंवित् ही 'संस्कृति **है,** जिस से समन्वित मानव ही 'आर्य्य' (श्रेष्ठ मानव-सांस्कृतिक शिष्ट मानव) है, जिस आर्य्यता में मानवमात्र समानरूपेण अधिकृत हैं । और यही मानव-संस्कृति का समदर्शनमूलक-वह 'विश्वसंस्कृति' पक्ष है, जिसे आधार बना कर ही मानवमहर्षि ने-'**कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्**' यह सिद्धान्त स्थापित किया है ।

१११--आत्मपुरुषानुगता-समदर्शनलक्षणा संस्कृति, एवं आत्मप्रकृत्यनुगता विभिन्नवर्त्तन-लक्षणा--सभ्यता, तथा वर्त्तमायुगानुगता विषमदर्शनलक्षणा-समवर्त्तनभावात्मिका काल्पनिक संस्कृति-सभ्यताओं के द्वारा मानवसमस्याओं का उत्तरोत्तर अभिवर्द्धन-

अव्ययपुरुषात्मा जहाँ मानवमात्र में ब्रह्मभाव से समान है, वहाँ अक्षरक्षर-समन्विता प्रकृति (महत्प्रकृति) भूमाभाव से सर्वथा विभिन्ना है, जिस विभिन्नता के माध्यम से ही राष्ट्रभेद-प्रान्तभेद-देशभेद-समाजभेद--परिवारभेद--व्यक्तिभेद--अवयवभेदादि-रूपेण असंख्य भेदभाव व्यवस्थित हुए हैं, जिन के आधार पर ही प्रकृतिभेदमूलक विषमवर्त्तन व्यवस्थित हुआ है । **अव्ययपुरुषानुगत समदर्शन, एवं प्रकृत्यनुगत विषमवर्त्तन ही प्रकृतिपुरुषविशिष्ट मानव की अभिन्ना-संस्कृति, तथा भिन्ना सभ्यता का मापदण्ड है** । विषमवर्त्तनभावात्मिका प्रकृति के महद्भाव से पराङ्मुख होजाने के कारण हीं संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के तात्त्विक समन्वय से मानवप्रज्ञा सर्वथा विदूर ही प्रमाणित हो चली है। महतोमहीयान् आश्चर्य्य तो यह देख-सुन कर हो रहा है कि, **समदर्शनमूलक आत्मभाव तो आज बन रहा है विषमदर्शनात्मक, एवं विषम-विभक्त-वर्त्तनमूलक प्रकृतिभाव आज बनाए जारहे हैं समवर्त्तनात्मक** । इसी साङ्कर्य्य ने आज विश्वशान्ति को सर्वथैव अभिभूत कर लिया है। आत्मसंवित्-मूलक-समदर्शन के आधार पर व्यवस्थित प्रकृतिमूलक विषमवर्त्तन ही विश्वशान्ति का एकमात्र वह निदान है, जिसे आत्मसंवित् से वञ्चित आजके बुद्धिवादने, मानसिक भावुकताने, तथा शारीरिक अर्थासक्तिने सर्वथैव विस्मृत करा दिया है । विश्वशान्ति के लिए आज प्रत्येक मावन आतुर है । किन्तु इस आतुरता की पूर्त्ति के लिए जो प्रकार आज माने, और मनवाए जारहे हैं, सर्वथैव प्रकृतिविरुद्ध हैं । अतएव तदनुगता आतुरता उत्तरोत्तर आतुरतावृद्धि का ही कारण प्रमाणित होती जारही है ।

११२–स्व संस्कृति--सभ्यतामूलक स्वधर्म्म की स्वरूप-परिभाषा, एवं तत्प्रतिबन्धक भयावह परधर्म्म—

सत्त्व–रज–स्तमो–गुणत्रयी से समन्विता जिस 'महत्प्रकृति' के क्रोड़ में प्राकृतिक विश्व अभिव्यक्त हुआ है, उसके त्रिगुणात्मक द्वन्द्वभावों का मूलोच्छेद कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी प्राकृतिक–समता का नाम तो 'विश्व-प्रलय', किंवा 'विश्वविध्वंस' सी माना गया है। प्रकृति के मूलाधिष्ठाता समब्रह्मात्मक अव्ययपुरुष के द्वारा समदर्शन–माध्यम से द्वन्द्वात्मिका प्रकृति का नियन्त्रणमात्र ही सम्भव है। इस नियन्त्रणसूत्र का ही नाम मानव-संस्कृति, किंवा मानवधर्म्म है, जिसकी परिधि में एक ओर जहाँ समब्रह्मलक्षण समदर्शन है, तो दूसरी ओर महत्प्रकृतिलक्षण विषमवर्त्तन व्यवस्थित हुआ है, जो कि गीताशास्त्र में **'स्वधर्म्म'** नाम से व्यवहृत हुआ है। स्वप्रकृत्यनुगता आचार–आयोजन–निष्ठा जहाँ 'स्वधर्म्म' है, वहाँ स्वप्रकृतिविरुद्ध सभी आचरण–आयोजन भयावह–परधर्म्म–ही बने रहते हैं।

११३–अहङ्कृति--प्रकृति--आकृति–भावापन्ना सत्त्व–रज–स्तमो–गुणान्विता महत्प्रकृति, एवं तन्मूलक प्रकृतिसिद्ध गोत्र-वर्ण–जाति–विवर्त्त—

महत्प्रकृति का सत्त्वगुण प्राकृतिक विश्व के सौरमण्डल को आधार बना कर सूर्य्य के सुप्रसिद्ध **ज्योतिः-गौः–आयुः**–नामक तीनों मनोताओं के द्वारा प्राणियों के **'अहंकृति'** भाव का स्वरूपसमर्पक बना हुआ है। महत्प्रकृति का रजोगुण चान्द्रमण्डल को आधार बना कर चन्द्रमा के सुविख्यात **रेतः–श्रद्धाः–यशः**–नामक तीनों मनोताओं के द्वारा प्राणियां के **'प्रकृति'** भाव का प्रवर्त्तक बन रहा है। एवं महत्–प्रकृति का तमोगुण पार्थिवमण्डल को आधार बना कर भूपिण्ड के प्रसिद्ध **वाक्--गौः-द्यौः**-नामक तीनों मनोताओं के द्वारा प्राणियों की **'आकृति'** का प्रवर्त्तक बन रहा है। इसप्रकार एक ही प्रकृति (महत्प्रकृति) के **सत्त्व–रज–स्तमो**–नामक तीन गुण क्रमशः **सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड**–इन तीन विश्वविवर्त्तों के माध्यम से क्रमशः **अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति**–भावों के स्वरूप–समर्पक बन रहे हैं, जिन इन तीनों प्रकृतिभावों से प्राणियों के त्रिपर्वा 'प्राकृत' स्वरूप का आविर्भाव हुआ है। पार्थिव आकृतिभाव ही प्राणियों के **शरीरपर्व** का, चान्द्र प्रकृतिभाव ही **मनःपर्व** का, एवं सौर अहङ्कृतिभाव ही **बुद्धिपर्व** का अनुग्राहक बन रहा है। सहजभाषा में–प्राणियों का प्रत्यक्षदृष्ट-स्पृश्य स्थूलशरीर ही आकृतिभावात्मिका प्रकृति है, तदन्तर्वर्त्ती सूक्ष्म मन ही प्रकृतिभावात्मिका प्रकृति है, एवं तदन्तर्वर्तिनी सुसूक्ष्मा बुद्धि ही अहङ्कृतिभावात्मिका प्रकृति है। इन तीनों प्राकृतिक पर्वों के आधार पर ही प्राणियों के **जाति–वर्ण–गोत्र**–नामक वे सुप्रसिद्ध तीन प्राकृत भाव सुव्यवस्थित हुए हैं इस प्राकृतिक त्रिगुणात्मक विश्व में, जिनके प्रकृतिसिद्ध–ज्ञानविज्ञानात्मक समन्वय से पराङ्मुख बन जाने के कारण ही आज का भावुक–मानव प्रकृतिसिद्ध इन गोत्र-वर्ण-जाति-भावों के समन्वय में सर्वथैव कुण्ठितप्रज्ञ प्रमाणित हो चुका है।

११४–गोत्र–वर्ण–जाति--भावात्मिका प्राकृतिक–व्यवस्थाओं का विश्वव्यापकत्त्व, एवं पदार्थमात्रानुगतत्त्व—

कुलभावानुगता **गोत्रव्यवस्था**, ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-भावानुगता **वर्णव्यवस्था**, एवं अण्डज-पिण्डज-स्वेदज–उद्भिज्ज–भावानुगता **जातिव्यवस्था** केवल मानव से ही सम्बद्ध नहीं है। अपितु स्थावर–जङ्गमात्मक

प्रपञ्चमात्र में समष्ट्या, व्यष्ट्या उभयथा सर्वत्र महत्प्रकृति के इन तीनों विवर्त्तों का उपभोग हो रहा है, जिस इस रहस्यपूर्ण प्राकृतिक समन्वय को अनेक शताब्दियों से विस्मृत कर बैठने वाले भारतीय मानवने गोत्र–वर्ण-जाति–भावों के सम्बन्ध में वैसी प्रकृतिविरुद्धा कल्पनाओं का सर्जन कर डाला है, जिसके अभिशाप से ही प्रकृतिसिद्धा भी ये गोत्र–वर्ण–जाति–व्यवस्थाएँ आज भारतराष्ट्र की संस्कृति के मूलोच्छेद के लिए ही समाकुल बन रहीं हैं, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

११५--गोत्रप्रकृतिमूला संस्कृति, वर्णप्रकृतिमूलक सांस्कृतिक-आचार, एवं जाति प्रकृतिमूलक सांस्कृतिक-आयोजन—

सत्त्वगुणानुबन्धी-सौरप्राणात्मक-अहङ्कृतिभाव से समन्वित गोत्रभाव ही मानवीय धरातलापेक्षया **संस्कृति** का आधार बना हुआ है । रजोगुणानुबन्धी–चान्द्रप्राणात्मक–प्रकृतिभाव से समन्वित वर्णभाव ही '**सांस्कृतिक–आचार**' की प्रतिष्ठा बना हुआ है । एवं तमोगुणानुबन्धी-पार्थिवप्राणात्मक-आकृतिभाव से समन्वित जातिभाव ही '**सांस्कृतिक–आयोजन**' की आधारभूमि बना हुआ है, जिस का फलितार्थ यही निकलता है कि–आकृतिभावापन्न शरीरतन्त्र को माध्यम मान कर समन्वित होने वाले, आत्मसंविल्लक्षणा संस्कृति का संस्पर्श करते रहने वाले आयोजन ही–'**सांस्कृतिक--आयोजन**' हैं । प्रकृतिभावापन्न मनस्तन्त्र को माध्यम मानकर समन्वित होने वाले, आत्मसंविल्लक्षणा संस्कृति को आधार बनाए रखने वाले आचार ही–'**सांस्कृतिक–आचार**' हैं । एवं अहङ्कृतिभावापन्न बुद्धितन्त्र को माध्यम मानकर समन्वित होने वाले, आत्मसंविल्लक्षणा संस्कृति मे अभिन्न रहने वाले अनुशीलन हीं–'संस्कृति' हैं ।

११६-आत्मनिष्ठात्मिका संस्कृति से पराङ्मुख यच्चयावत् बौद्धिक–मानसिक, तथा शारीरिक आयोजनों की असांस्कृतिकता—

तात्पर्य्य यही है कि, संस्कृति–सांस्कृतिक–आचार, एवं सांस्कृतिक–आयोजन-तीनों प्रक्रमों का संस्कृतित्त्व सर्वथा प्रत्येकदशा में लोकातीत–लोकव्याप्त–द्वन्द्वातीत–द्वन्द्वसमाविष्ट–निर्द्वन्द्व साक्षी संस्कृतिरूप अव्यय–पुरुषात्मा की साक्षात् भावना, किंवा पारम्परिकभावना के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । अव्ययात्मब्रह्म की भावना के बिना न तो केवल बुद्धिवादात्मक तत्त्वानुशीलन को संस्कृति ही कहा जा सकता, न आत्मभावशून्या आचारपद्धति को सांस्कृतिक–आचार ही माना जा सकता । एवं न आत्मभावशून्य केवल मनःशरीरानुरञ्जक-पोषक आयोजनों को सांस्कृतिक–आयोजन ही कहा जा सकता । आत्मनिष्ठा ही 'संस्कृति' का मूलाधार है, जिसकी उपेक्षा कर बैठने वाला बड़े से बड़ा भी प्रकृतिवादी–बुद्धिवादी–मनःशरीरवादी–मानव भारतीय–दृष्टिकोण से तो अपने किसी भी बौद्धिक–मानसिक–शारीरिक–लक्ष्य को 'सांस्कृतिक–लक्ष्य' नहीं कह सकता ।

११७–प्रकृतिमूला बाह्य–जीवनपद्धति के साथ 'सभ्यता' शब्द का समन्वय, एवं तदाधारभूता आत्मसंस्कृति, तथा संस्कृतिमूला इत्थंभूता सभ्यता के द्वारा विश्व–स्वरूपसंरक्षण—

प्रकृतिमूला विभिन्ना बाह्य जीवनपद्धति का ही नाम 'सभ्यता' है, यदि सभ्यता के मूल में संस्कृतिमूलक आत्मसाम्य प्रतिष्ठित है, तो । यदि ऐसा नहीं है, तो केवल अशन–पान–वेशभूषादि के चाकचिक्यमात्र से

समन्विता सभ्यता को सभ्यता भी नहीं कहा जा सकता। इसी आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, आत्मसाम्यमूला संस्कृति, तथा भूतव्यवहारमूला सभ्यता, दोनों में एकप्रकार का वैसा अङ्गाङ्गिभाव है, जिसे पृथक् कर देने पर न तो संस्कृति संस्कृति ही रहती, न सभ्यता सभ्यता ही कही जासकती। सांस्कृतिक-व्यक्ति को सभ्य होना ही चाहिए, एवं सभ्य मानव को सुसांस्कृतिक होना ही चाहिए। आत्मसाम्यमूला संस्कृति मानव को वैसा आर्य्यत्त्व प्रदान कर देती है, जिसकी शान्तिपूर्णा वरदा छत्रछाया में प्रकृतिभेदभिन्ना सभी दैशिक सभ्यताएँ स्व-स्व निष्ठा से पुष्पित पल्लवित होतीं हुईं संस्कृतिमूलक आत्मसाम्य के आधार पर विश्व-शान्ति की सन्देशवाहिका बन जातीं हैं। अखण्डा संस्कृति के आधार पर व्यवस्थिता खण्ड-खण्डात्मिका सभ्यताएँ जहाँ अपने दैशिक-कालिक-खण्डभावों से स्व-स्व विभिन्न स्वरूपों के संरक्षण-परिवर्द्धन में समर्थ बनीं रहतीं हैं, वहाँ स्वाधारभूता अखण्डा आत्मसाम्यमूला संस्कृति के अनुग्रह से संस्कृतिमूला अखण्ड-मानवता का भी स्वतः ही अनुगमन होता रहता है, जिस इस अनुगति को ही-'**भेदसहिष्णु अभेद**' कहा जाता है। गौरवान्विता ही मानी जायगी आत्मसमदर्शनमूला-प्रकृतिविषमवर्त्तनात्मिका वह भारतीय संस्कृति, और सभ्यता, जिसने विभिन्न सभ्यता-शिक्षणादि-भावों के संरक्षणपूर्वक ही भारतीय सांस्कृतिक उद्बोधनप्रदाता भूदेव को विश्वशान्ति का सन्देशवाहक घोषित किया है, जैसाकि उसकी निम्नलिखिता उदात्तघोषणा से स्पष्ट है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ —मनुः

११८-राजर्षि मनु के उदात्त सांस्कृतिक-उद्घोष का समन्वय, एवं भारतीय संस्कृति की महती उदारता—

सम्पूर्ण विश्व के यच्चयावत् मतवाद जहाँ अपनी अपनी सभ्यताओं के सर्वत्र प्रचार-प्रसार के लिए ही आतुर प्रतीत होते रहे हैं अपनी सभ्यता के अतिरिक्त अन्य सभ्यताओं को हीन उद्घोषित करते हुए, वहाँ एकमात्र भारतीया मानवसंस्कृति ही यह घोषणा कर रही है कि—'**इस देश के आत्मनिष्ठ-आत्मसाम्यानुगत सांस्कृतिक-द्विजातिमानव से सम्पूर्ण पृथिवी के मानव अपनी अपनी शिक्षा-सभ्यताओं में हीं कौशल प्राप्त करैं**''। उद्घोष का तात्पर्य्य स्पष्ट है। सभ्यता-शिक्षा-जीवनपद्धति में सभी राष्ट्र स्वतन्त्र हैं। भारतवर्ष की कामना इस दिशा में केवल यही है कि, सब अपनी अपनी प्राकृतिकी विभिन्ना सभ्यताओं के मूल में उस अखण्ड-अद्वय-आत्मभाव को प्रतिष्ठित करलें, जिस प्रतिष्ठाप्राप्ति के अनन्तर आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्वमूलक आर्य्यत्त्व स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाता है। यही भारतीय आत्मसंस्कृति का वह महान् सन्देश है, जिसने भारतराष्ट्र को झञ्झावातों, लोकैषणाओं, रागद्वेषादि पाप्माओं, हिंसाक्रूरतादि आसुरभावों से सदा से ही अपने आपको असंस्पृष्ट प्रमाणित किया है। उसी आत्मसंस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले, सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा को विस्मृत न करने वाले सांस्कृतिक-आयोजनों को निमित्त बना कर ही संस्कृति-सभ्यता-शब्देतिहासात्मक यह निबन्ध संस्कृतिनिष्ठों की आत्मसीमा में प्रविष्ट होने जा रहा है।

११९-समब्रह्म की आत्मकृति के अभिव्यञ्जक 'संस्कृति' शब्द की वर्त्तमान 'कल्चर' (culture) शब्द से एकान्ततः असंस्पृष्टता—

चतुष्पर्वा मानव से सम्बन्ध रखने वाले संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के समन्वय में भारतीय प्राच्य-दृष्टि का, तथा प्रतीच्यदृष्टि का कैसा, क्या भेद है ?, प्रश्न की मीमांसा हमारे लिए इसलिए अनधिकारचर्चा

का विषय है कि, हम प्रतीच्यभाषा (इंग्लिशभाषा) से सर्वथैव असंस्पृष्ट हैं। हाँ, यह अवश्य ही कहा, और माना जा सकता है इस सम्बन्ध में कि, भारतीया सुरभारती संस्कृतभाषा में पठित संस्कृति, और सभ्यता शब्द पूर्वप्रतिपादिता शब्दवाच्यार्थमर्य्यादा से जिस पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, प्रतीच्य–भाषाओं में तत्सम शब्दों की, एवं तदनुरूप वाच्यार्थों की उपलब्धि असम्भव नहीं, तो कठिन तो अवश्य ही होगी। समब्रह्मात्मक अव्ययपुरुषात्मा जैसा अखण्ड आत्मब्रह्म 'संस्कृति' के जिस 'सम्' उपसर्ग से परिगृहीत है, तथाविध समब्रह्म की भाव–गुण–विकार–नाम की त्रिविधा कृति जिस संस्कृति-शब्द के उत्तरपर्वात्मक 'कृति' शब्द से परिगृहीता है, इत्थंभूत पुरुष–प्रकृति–विशिष्टभाव का संग्राहक 'संस्कृति' शब्द प्रतीच्यभाषा के 'कल्चर' (culture) शब्द से किस सीमापर्य्यन्त मेल खा सकेगा ?, प्रश्न हमारी स्वल्पप्रज्ञा के लिए तो असमाधेयप्रश्नात्मक अनतिप्रश्न ही बना हुआ है।

१२०–अक्षरप्रकृतिव्यवस्थापिकात्मिका 'नियति' के अभिव्यञ्जक 'सभ्यता' शब्द की वर्त्तमान–'सिविलाइजेशन' (eivilifation) शब्द से एकान्ततः असंस्पृष्टता, अतएव-संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के कल्चरादि-अर्थसमन्वय की आत्यन्तिक व्यर्थता—

ठीक यही स्थिति 'सभ्यता' शब्द की है। ईश्यरीय कृतिरूप स्थावर–जङ्गमात्मक, आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–भावापन्न, सत्त्वरजस्तमोगुणान्वित भूत–भौतिक प्रपञ्च ही 'सभा' है, एवं ईश्वरीया सनातन–संस्कृति के आचारात्मक-प्राकृतिक–नियमरूप–शारीरिक **अनुकरणधर्म्म**, मानसिक **अनुसरणधर्म्म**, बौद्धिक **आचारधर्म्म**, तथा भूतात्मनिबन्धन **अनुशीलनधर्म्म**, इन चतुर्विध मानवीय धर्म्मों के विधि–विधानों, नियमोपनियमों की समष्टि का ही नाम 'सभ्यता' है, जिसका नियन्त्रणसूत्र उन सामाजिक वृद्धों की सांस्कृतिक–प्रज्ञा से ही सञ्चालित रहता है, जो संस्कृति के माध्यम से ही (आत्मसाम्य के माध्यम से ही) प्राकृतधर्म्म–पूर्वक सभ्यतालक्षण विधि–विधानों को सामाजिक जीवनपद्धति में उत्तरदायित्त्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा से प्रतिष्ठित किए रहते हैं। 'सभ्यता' शब्द की यही सांस्कृतिक परिभाषा हुई है भारतीय दृष्टिकोण से *। 'सभ्यता' शब्द के इस पारिभाषिक समन्वय के समतुलन में प्रतीच्यजगत् के 'सिविलाइजेशन' (civilifation) शब्द का किस सीमापर्य्यन्त समन्वय–सम्भव बन सकेगा ?, प्रश्न भी भारतीय शब्दवाच्यार्थमर्य्यादा से तो अचिन्त्य प्रश्न ही प्रमाणित हो रहा है।

---

*–न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते येन वदन्ति धर्म्मम्।
धर्म्मो विद्धस्त्वधर्म्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तति विद्धास्तत्र सभासदः॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्विषी॥
यत्र धर्म्मो ह्यधर्म्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ —मनुः ८।१२,१३,१४।

१२१–अर्द्धवृगलात्मक मानव के मौलिक–स्वरूप के माध्यम से ही अपेक्षित संस्कृति-सभ्यता–शब्दों के वाच्यार्थ का समन्वय—

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जिस संस्कृति, और सभ्यता का 'मानव' के मापदण्ड से समन्वय–अपेक्षित है, जबतक 'मानव' के मौलिक–स्वरूप से परिचय प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तबतक वह समन्वय न केवल अपूर्ण ही बना रहता है, अपितु काल्पनिक मानव, किंवा मानवता का व्यामोहन तो मानव को संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के अक्षरार्थसमन्वय से भी सम्बद्ध नहीं होने देता। मानवस्वरूपविश्लेषक भारतीय तत्त्वद्रष्टा आचार्यों (साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों) नें मानव का स्वरूप–विश्लेषण करते हुए जो मानवीय–मापदण्ड हमारे सम्मुख रक्खा है, जोकि ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक मापदण्ड **सन्तवाद–मतवाद-सम्प्रदायवाद-धर्म्मवाद-सत्तावाद-सभ्यतावाद-सामासिक-संस्कृतिवाद**-आदि आदि अनेक वादों के काल्वालीकृत-व्यामोहक-विजृम्भणों से निरन्तर तीन सहस्र–वर्षों से अपनी मौलिकता से सर्वथा अन्तम्मुख ही बनता चला आ रहा है, उस तात्त्विक मापदण्ड के अनुसार मानव का स्वरूप **पुरुष** और **प्रकृति**–भावों के समन्वय से आविर्भूत **'अर्द्धवृगल'** तत्त्व पर ही प्रतिष्ठित है, जिस इस अर्द्धवृगलता के तत्त्वसमन्वय के लिए तो खण्डचतुष्टयात्मक **'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध का–**'मानवस्वरूपमीमांसा'** नामक परिच्छेद ही द्रष्टव्य है।

१२२–संस्कृतिलक्षण मानव की आत्मबुद्धिरूपता का, एवं सभ्यतालक्षण मानव की मनः-शरीररूपता का समन्वय—

अर्द्धवृगलात्मक पौरुषभाव, तथा अर्द्धवृगलात्मक प्राकृतभाव, दोनों समन्वित होकर ही मानवस्वरूप के मापदण्ड बनते हैं, बने हुए हैं। भारतवर्ष की रहस्यपूर्ण अर्द्धनारीश्वरोपासना के इतिवृत्त से सुपरिचित उपासक–मानवश्रेष्ठों को यह विदित ही है कि, उमामहेश्वर की आराधना का उस प्रतिमान से सम्बन्ध है, जिसके अर्द्धभाग में पुरुषात्मक शिव प्रतिष्ठित हैं, एवं अर्द्धभाग में प्रकृतिरूपा शक्ति प्रतिष्ठित है। शिव–शक्ति–समन्वयात्मक पुरुष–प्रकृति का समन्वितरूप ही मानव, तथा मानवी की स्वरूपव्याख्या है। **आत्मभाव ही मानव की 'संस्कृति' है, शरीरभाव ही मानव की सभ्यता है। और यही है एक सामान्य दृष्टिकोण मानव के संस्कृति–सभ्यताभावों का, जिसके आगे चलकर पृथक् पृथक् दो द्वन्द्व बन जाते हैं।**

१२३–मानवीया–संस्कृति, और सभ्यता के दो विभिन्न द्वन्द्वों का समन्वय —

पुरुषात्मक आत्मभाव से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति के पूर्वरूप का नाम है संस्कृति, एवं पुरुषात्मा की साक्षी में (सन्निकट में) प्रतिष्ठित रहने वाली कारणशरीरात्मिका बुद्धि से अनुप्राणिता संस्कृति के उत्तररूप का नाम है सभ्यता। इसप्रकार केवल आत्मसंस्कृति का ही आत्मा, और बुद्धि–पर्व भेद से (संस्कृति के पूर्वोत्तररूपसमन्वय से) संस्कृति–सभ्यता–लक्षण स्वतन्त्र द्वन्द्व व्यवस्थित होजाता है। एवमेव प्रकृत्यात्मक शरीर से सम्बन्ध रखने वाली सभ्यता के पूर्वरूप का नाम है 'संस्कृति', जिसका सूक्ष्मशरीरात्मक मनःपर्व से सम्बन्ध माना गया है, एवं प्रकृत्यात्मक स्थूलशरीरात्मक शरीरपर्व से सम्बन्ध रखने वाली सभ्यता के उत्तररूप का ही नाम है 'सभ्यता'। इसप्रकार केवल प्रकृतिसभ्यता का ही मन, और शरीरपर्व भेद से (सभ्यता के पूर्वोत्तररूपसमन्वय से) संस्कृति–सभ्यता–लक्षण–स्वतन्त्र द्वन्द्व व्यवस्थित हो जाता है। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म है

यह द्वन्द्वात्मक समन्वय, जिसके इत्थंभूत मानवस्वरूपानुगत सहभाव के पारिभाषिक स्वरूप को जाने बिना संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के पारिभाषिक वाच्यार्थ का समन्वय कदापि सम्भव नहीं है ।

संस्कृतिः १	पुरुषात्मा–संस्कृतेः पूर्वरूपम्––सैव संस्कृतिः बुद्धिः––संस्कृतेरुत्तररूपम्––सैव सभ्यता	प्रथमद्वन्द्वं संस्कृतिलक्षणम्

*

सभ्यता २	मनः––सभ्यतायाः पूर्वरूपम्–सैव संस्कृतिः शरीरम्––सभ्यतायाः-उत्तररूपम्-सैव सभ्यता	द्वितीयद्वन्द्वं सभ्यतालक्षणम्

१२४-चतुर्विध वर्णमानवों के साथ संस्कृति--सभ्यता के चार विवर्त्तों का क्रमिक समन्वय--

संस्कृति के पूर्वरूपात्मक 'संस्कृति' भाव से अनुप्राणिता आत्मपर्वानुगता आत्मप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–**अनुशीलनधर्म्म**, जिस के अनुगामी को ही **'ब्राह्मणमानव'** कहा गया है । संस्कृति के उत्तर–रूपात्मक 'सभ्यता' भाव से अनुप्राणिता बुद्धिपर्वानुगता बुद्धिप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–**आचरण-धर्म्म**, जिस के अनुगामी को ही **'क्षत्रियमानव'** माना गया है । सभ्यता के पूर्वरूपात्मक 'संस्कृति' भाव से अनुप्राणिता मनःपर्वानुगता मनःप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–**अनुसरणधर्म्म**, जिस के अनुगामी को ही **'वैश्यमानव'** कहा गया है ! एवं सभ्यता के उत्तररूपात्मक 'सभ्यता' भाव से अनुप्राणिता शरीरपर्वानुगता-शरीरप्रधाना जीवनपद्धति का ही नाम है–**'अनुकरणधर्म्म'** जिस के अनुगामी को ही **'शूद्रमानव'** माना गया है । अपने शरीरभाव से प्रत्येक मानव शूद्रमानव है, मनोभाव से वैश्यमानव है, बुद्धिभाव से क्षत्रियमानव है, एवं आत्मभाव से ब्राह्मणमानव है । और यही व्यक्तिमूला वर्णमानवव्यवस्था आगे चलकर सामाजिकी–वर्णव्यवस्था का मूलाधार बन जाती है, जिस इस तथ्य का यथावत् समन्वय न करने के कारण हीं वर्त्तमानयुग की भावुकप्रज्ञाएँ भारतीय वर्णव्यवस्था पर सर्वथा निरर्थक–निस्तत्त्व, एवं आपातरमणीय आक्षेप करतीं रहतीं हैं ।

*

सांस्कृतिक-मानवौ	१–आत्मानुगता—संस्कृतिः (संस्कृतिः)–अनुशीलनधर्म्मात्मिका-जीवनपद्धतिः-ब्राह्मणमानवानुगता २–बुद्ध्यनुगता—संस्कृतिः (सभ्यता)--आचरणधर्म्मात्मिका—जीवनपद्धतिः-क्षत्रियमानवानुगता
सभ्यमानवौ	३-मनोऽनुगता—सभ्यता (संस्कृतिः)–अनुसरणधर्म्मात्मिका-जीवनपद्धतिः-वैश्यमानवानुगता ४–शरीरानुगता—सभ्यता (सभ्यता)--अनुकरणधर्म्मात्मिका--जीवनपद्धतिः--शूद्रमानवानुगता

*

१२५–संस्कृतिमूर्त्ति ब्रह्म के महिमामय विवर्त्त से अपरिचित आज के प्रकृतिविमूढ मानव की संस्कृति--सभ्यता–शब्दार्थसमन्वयात्मिका लाक्षणिकी महती भ्रान्ति—

'एक वा इदं वि बभूव सर्वम्' इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्रानुसार उक्त चारों हीं विवर्त्त एक ही समब्रह्म–लक्षण पुरुषात्मा के महिमामय विवर्त्त हैं। इसी आत्मब्रह्ममूला समता से प्रकृत्या चारों विभिन्न रहते हुए भी आत्मना निर्विरोध सहसमन्वित हो रहे हैं। और यही आत्मपुरुषमूला संस्कृति, तथा आत्मप्रकृतिमूला सभ्यता का वह समन्वयात्मक दृष्टिकोण है, जिस के इत्थंभूत मानवस्वरूपानुबन्धी विवर्त्त को विस्मृत करदेने के कारण हीं आज मानवप्रज्ञा संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों की व्यवस्थिता–नियता–स्वरूपनिर्वचनात्मिका परिभाषा करने में हतप्रभ प्रमाणित हो रही है। एवं इसी हतप्रभता के कारण वह अपने–मनोऽनुगत काल्पनिक बुद्धिवाद के आवेश से आविष्ट बनती हुई, अपनी भावुकतामूला–परदर्शनानुगता परप्रत्ययेनयता को ही 'उदारदृष्टि' घोषित करती हुई आत्मबुद्धि-वञ्चित मानसिक–शारीरिक–विजृम्भणों के आधार पर ही संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के इतिहास–पर्य्यालोडन में सन्त्रस्त बनती जारही है, इति नु महद्दुःखास्पदम्।

१२६–अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-मूलक बुद्धिवाद से मानव का आत्मबुद्धिस्वरूप-विमोहन, एवं विमोहनमूलक मनः-शरीर–भावों पर ही प्राकृत मानवस्वरूप की परिसमाप्ति—

ऐसा कुछ आभास हो रहा है कि, अनात्मवादमूलक शून्यवाद के अनुग्रह से अनेक शताब्दियों से मानवप्रज्ञा ने अपने सर्वाधारभूत अव्ययपुरुषात्मभाव को भी विस्मृत कर दिया है, इस आत्मस्वरूपविस्मृति के साथ साथ आत्मानुगता सहजबुद्धि का भी पलायन होगया है, एवं तत्स्थान में **अविद्या–अस्मिता–आसक्ति-अभिनिवेश**–मूलक वह बुद्धिवाद दृढ़मूल बन गया है मानवप्रज्ञा में, जिस बुद्धिवाद के निग्रह से मानवप्रज्ञा अनुशीलन–आचरण–भावों की उपेक्षा कर केवल मनोऽनुगत अनुसरण, तथा शरीरानुगत अनुकरण–भावों में हीं निमज्जित हो जाया करती है। और इस निमज्जन का अन्तिम परिणाम यही होता है कि, आत्मस्वरूप-विमुग्ध–बुद्धिवादाभिनिविष्ट तथाविध प्राकृत मानव अपने मानवीय स्वरूप का पर्य्यवसान केवल **मन**, तथा **शरीर**, इन दोनों मर्त्य–वैकारिक भावों पर ही मान बैठते हैं।

१२७-आत्मबुद्धिनिष्ठ, एवं मनःशरीरभावुकता–संरक्षक भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक निष्ठा का आत्यन्तिक पतन, एवं तन्मुलक नृत्य–गीत–वाद्यादि विजृम्भणात्मक आज के ये विभ्रामक सांस्कृतिक–आयोजन, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

अपनी प्रत्येक घोषणा में 'प्रकृति' मात्र की घोषणा करते रहने वाले प्रकृतिप्रेमी आज के मानव की बुद्धि भी मनोभावों में हीं ओतप्रोत है। जिसप्रकार आत्मस्वरूप की सहज अभिव्यक्ति से वञ्चित पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि सम्पूर्ण प्राकृतिक–प्राणियों की भौतिक जीवनपद्धति का एकमात्र मापदण्ड मनःशरीरात्मक कामार्थमात्र हैं, दुर्भाग्यवश आत्मस्वरूपविमुग्ध मानवने अपने स्वरूप की इयत्ता भी आज मनःशरीरानुगता कामार्थपरायणता पर ही विश्रान्त करली है। इसी मनःशरीरवाद ने इस बुद्धिवादी प्राकृत मानव को आज सभी क्षेत्रों में कामार्थवादी ही प्रमाणित कर दिया है। एवं इसी कामार्थासक्ति के आवेशने इसकी संस्कृति,

और सभ्यता को भी आज मनःशरीरभावों पर ही ला खड़ा किया है। अतएव प्राकृत–मानव की दृष्टि में संस्कृति का अर्थ बन गया है मानसिक अनुरञ्जन, अनुरञ्जनके साधनभूत चित्र–संगीत–कला–नाटक–आदि मनोभाव। तथा सभ्यता का अर्थ बन गया है–शारीरिक भोजन–वसनादि का मनोऽनुगत विन्यास। निश्चयेन मनःशरीरानुबन्धी इन्हीं प्राकृत–वैकारिक–भावों के माध्यम से दुर्भाग्यवश आज भारत जैसे आत्मबुद्धिनिष्ठ भी सांस्कृतिक–राष्ट्र में बालचपलता–सुलभ मानसिक–शारीरिक–हासपरिहासों, गीत–नृत्य–वाद्यों,–कविता–नाटक–अभिनयों–आदि आदि को ही 'सांस्कृतिक–आयोजन' की उपाधि प्राप्त हो पड़ी है, इति नु अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

१२८–आत्मबुद्धिवञ्चित, मनःशरीरप्रधान तथाविध लौकिक आयोजनों का मनः–शरीरमात्रपरायण पशुओं के प्राकृत–आयोजनों के साथ समतुलन, एवं तथाविध आयोजनों से मानवस्वरूप का आत्यन्तिक अभिभव—

मानसिक, एवं शारीरिक, दोनों भाव तभीतक मानव की संस्कृति, एवं सभ्यता की सीमा में अन्तर्मुक्त माने जायँगे, जबतक कि इन दोनों चान्द्र (मन) पार्थिव (शरीर) विवर्त्तों के साथ प्रतिष्ठारूपेण सौरी सहजबुद्धि, एवं लोकातीत आत्मा, ये दोनों पर्व व्यवस्थित रहेंगे। आत्मा की साक्षी में व्यवस्थित, एवं सहज–बुद्धि के नियन्त्रण से नियन्त्रित–मर्य्यादित ममःशरीरभाव ही संस्कृति, तथा सभ्यता–भावों की सीमा के पात्र माने जासकेंगे। आत्म–बुद्धि भावानुगत अनुशीलन–आचरणधर्म्मों की उपेक्षा कर बैठने वाले मनःशरीरमात्र–प्रधान आयोजन तो प्राकृत प्राणियों की भाँति **'पश्वायोजन'** ही कहलाएँगे, जिन से मानव का मनः–शरीरात्मक–भूतभावानुबन्धी पशुभाव ही तात्कालिकरूपेण तुष्ट होता रहता है। समब्रह्मात्मक आत्मभाव, एवं तन्महिमारूप बुद्धिजनक सौर देवभाव, प्रत्येक दशा में दोनों भावों में से किसी न किसी एक भाव की विद्य–मानता में ही भारतीय आयोजनों को सांस्कृतिक–आयोजन, एवं सभ्यतायोजन कहा जासकेगा। इस आत्मभाव, एवं देवभाव की प्राणप्रतिष्ठात्मिका वैज्ञानिक–प्रक्रिया के अनुग्रह से ही तो पाषाण–मृत्–कांस्यादि भूतधातुओं से विनिर्म्मित नैदानिक प्रतिमाएँ संस्कृति की परिचायिका बन रहीं हैं, जबकि आत्मदेवभाव से पराङ्मुख एक मानव भी केवल मनःशरीरप्रधान बनता हुआ असंस्कृत, एवं असभ्य ही मान लिया गया है भारतीय दृष्टिकोण से। निष्कर्षतः आत्म–देव–भावों को मूलाधार बना कर ही भारतीय संस्कृति-सभ्यता–शब्दों के शब्दवाच्यर्थमूलक चिरन्तन–आर्ष इतिवृत्त की व्यवस्था हुई है, जिसे हमने मानसिक अनुसरण, तथा शारीरिक अनुकरण–मूला–कामार्थमयी वैश्य–शूद्र–प्रवृत्तियों के अन्धानुकरण से सर्वथा ही विस्मृत कर दिया है।

१२६--मनोनिबन्धन 'कल्चरभाव', तथा शरीरनिबन्धन सिविलाइजेशनभाव, एवं इन प्रतीच्य शब्दों के द्वारा मानव के मनः--शरीरात्मक--पशुभाव का ही आलोडन--विलोडन—

पुनः हम यह स्पष्ट कर ही देना चाहते हैं कि, वर्त्तमान में संस्कृति, और सभ्यता–शब्दों के माध्यम से प्रतीच्यजगत् के * कल्चर (culture) और सिविलाइजेशन (civilization) शब्दों की पर्य्यायिता को आधार

---

* मानसिक आभ्यन्तर अनुभूति (काल्पनिक कौशल) ही 'कल्चर' शब्द का अर्थ होगा, एवं शारीरिक–विन्यास ही सिविलाइजेशन का निष्कर्ष होगा। तभी तो प्रतीच्यपरिभाषानुसार संस्कृति के सम्बन्ध

मान कर जो धारणाएँ अभिव्यक्त होतीं जारहीं हैं, उन के साथ भारतीय संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों की मौलिकता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है । मनःशरीरनिबन्धना सत्तातन्त्रानुगता कालानुबन्धिनीं व्यवस्थाओं के परिवर्त्तनानुपात से परिवर्त्तित होतीं रहने वालीं मनोवृत्तियाँ, तथा शारीरिकभावविन्यास कदापि अङ्गीभूता 'संस्कृति', एवं अङ्गभूता सभ्यता के मापदण्ड नहीं बन सकते । प्रतीच्यजगत् के प्रभुसत्तात्मक सम्पर्कयुग से आरम्भ कर प्रक्रान्त स्वतन्त्रतायुग पर्य्यन्त भारतीय–प्रज्ञाओं के द्वारा भारतीय–संस्कृति, तथा सभ्यता के सम्बन्ध में जो भी विचार अभिव्यक्त हुए हैं, एवं आज भी हो रहे हैं, निश्चयेन इन सब विचारों का आधारबिन्दु मनोनिबन्धन कल्चरभाव, तथा शरीरनिबन्धन सिविलाइजेशनभाव ही है ।

१३०--कल्चर, एवं सिविलाइजेशन-शब्दों के पर्य्यायस्थानीय संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों के भौतिक–विमोहन से व्यामुग्ध भारतीय अभिनव--विद्वानों के द्वारा नितान्त काल्पनिक–'सामासिक–संस्कृति- सभ्यता' का आविष्कार, एवं उसका निःसारत्त्व—

इसी आधार पर तो अभिनव–प्रज्ञाओंनें–**'सामासिक-संस्कृति'** जैसी उस काल्पनिक अभिधा का आविष्कार कर डाला है, जिस सामासिकता का सतातन्त्रानुगता मनःशरीरनिबन्धना तात्कालिकी युग–सभ्यताओं (वैकारिक सभ्यताओं) से तो फिर भी यत्किञ्चित् सम्बन्ध घटित हो सकता है । किन्तु आत्मबुद्धिमूला 'संस्कृति' के साथ, एवं तदङ्गभूता आचारनिष्ठात्मिका सांस्कृतिक–सभ्यता के साथ तो इस काल्पनिक–'सामासिकता' का कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जासकता । आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूला, सहजबुद्धिसम्मता आत्मदेवभावनिबन्धना आभ्यन्तर जीवनपद्धति ही 'संस्कृति' शब्द का आंशिक समन्वय है, एवं इत्थंभूता संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठिता आत्मबुद्धि के द्वारा नियन्त्रिता मनःशरीरभावात्मिका बाह्यजीवनपद्धति ही 'सभ्यता' शब्द का आंशिक समन्वय है शब्दार्थमर्य्यादानुबन्ध से । इसी आधार पर यह कहा, और माना जासकता है कि, **जो सांस्कृतिक होगा, अवश्य ही वह सभ्य भी होगा । एवमेव जो सभ्य होगा, अवश्य ही वह सांस्कृतिक भी होगा,** जबकि प्रतीच्यजगत् की सरणि का अन्धानुकरण करने वाले मनः–शरीरवादी अभिनव मानवों की इस सम्बन्ध में ऐसी कुछ मान्यता सुनी गई है कि,–**'असभ्य भी सांस्कृतिक हो सकता है, एवं सभ्य भी असांस्कृतिक होसकता है'** ।

१३१–मनोऽनुगता वैय्यक्तिक जीवनपद्धति(पर्सनललाफ Personal Life), एवं शरीरानुगता सामाजिक–जीवनपद्धति (Social systim of life) का काल्पनिक विजृम्भण, एवं दोनों का भयावह पार्थक्य––

उक्त मान्यता में 'सभ्यता' का अर्थ है प्रदर्शनात्मिका आडम्बरपूर्णा बाह्य–जीवनपद्धति, जिसे–'सामाजिक–शिष्ट–जीवनपद्धति' माना, और मनवाया जारहा है, एवं अधिकांश में जिसका मापदण्ड है प्रतीच्य–

में ऐसी धारणाएँ श्रुतोपश्रुत हैं कि–(१)–**"मानसिक–शारीरिक शक्तियों की विकासावस्था का नाम हीं संस्कृति है"** । (२)–**"मानसिक आचारात्मिका–(कल्पनात्मिका) रुचियों का परिष्कार ही संस्कृति है"**, इत्यादि ।

जगत् की शरीरानुगता आहार–विहार-भोजन–शयन–गमन–भाषण–कौशलादि पद्धतियाँ। मानव के वैय्यक्तिक धर्म्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है इस बाह्यसभ्यतालक्षण प्रदर्शन में। सभी सामाजिक–सभ्यतानुबन्धों से मानवीय वैय्यक्तिक-भावों को-'**पर्सनललाइफ़**' (Personal Life) (वैय्यक्तिक-जीवनपद्धति) कह कर पृथक् मान लिया जाता है। इसी आधार पर अन्य लोकानुबन्धों में भी यह सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है कि–'**बद अच्छा, बदनाम बुरा**',जिस का सीधासा यही अर्थ निकल रहा कि,-"**मानव व्यक्तिगतरूप से भले ही दुर्गुणों का अनुगामी बनता रहे परोक्षरूप से। किन्तु सामाजिक–जीवन में उसे अपनी विशिष्टता का ही प्रदर्शन करते रहना चाहिए**"। कदाहि इत्थभूता प्रदर्शनात्मिका सभ्यता को 'सभ्यता' नहीं कहा जा सकता। नापि ऐसी प्रदर्शनात्मिका सभ्यता से अनुप्राणित मानसिक कौशल–चातुर्य्य को संस्कृति ही माना जासकता। वैय्यक्तिक गुण–दोष ही सामाजिक गुण–दोषों के आधार बना करते हैं। अतएव व्यक्ति, और समाज को पृथक् प्रमाणित करने वाली प्रदर्शनात्मिका संस्कृति, एवं सभ्यता को कदापि संस्कृति–सभ्यता जैसी पावन अभिधाओं से व्यवहृत नहीं किया जासकता। आत्मस्वरूपपानुशीलन ही मानव की सभ्यता है। एवं शेषभूत मनः–शरीरानुगत कामार्थभाव इन संस्कृति–सभ्यताओं से नियन्त्रित हो कर ही व्यवस्थित बने रहते हैं। और यही चतुष्पर्वा मानव की संस्कृति–सभ्यता का संक्षिप्त स्वरूप–परिचय है, जिसे आधार मान कर ही प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है।

१३२--भारतीय--आस्तिक मानव का त्रिसहस्रवर्षात्मक सांस्कृतिक--पतन, एवं सभ्यता का अभिभव, भारतीय मानव की असांस्कृतिकता, और असभ्यता की अश्रुपूर्णाकुलेक्षणता—

हमें यह स्पष्ट कर देने में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं हो रहा कि, विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय भावुक मानव, आस्तिक हिन्दूमानव, धर्म्मभीरु हिन्दू मानव की जीवनपद्धति अपनी मौलिक–संस्कृति, तदनुगत मौलिक धर्म्म, एवं मौलिक–सभ्यता–आदि से सर्वथा पराङ्मुख ही प्रमाणित होती आरही है। संस्कृति-सभ्यता की इस पराङ्मुखता ने ही इसे अनेक शताब्दियों से परतन्त्र बनाए रक्खा है, जो आत्मबुद्धिमूला परतन्त्रता दुर्भाग्यवश आज के इस मनःशरीस्वतन्त्रतामात्रात्मक युग में भी पलायित नहीं हो सकी है। दासतायुगानुगता परसभ्यताओं को ही यह सभ्यता मानता चला आ रहा है, एवं प्रभुसत्ताधीशों की मान्यता के अनुपात से ही यह भावुक हिन्दू मानव 'संस्कृति' की स्वरूप–व्याख्याओं में अधिकाधिक आत्म–विस्मृत बनता जारहा है। मनःशरीरमात्रात्मिका परदर्शनमूला अनुकरणवृत्ति को ही यह आज के स्वतन्त्रता–युग में भी अपना परम–पौरुष उद्घोषित करता जारहा है, जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण भारतीय संस्कृति, तथा सभ्यता–शब्दों के मौलिक इतिवृत्त से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न रखने वाले बालोपलालनात्मक मानसिक–आयोजनात्मक ये आज के सांस्कृतिक-आयोजन ही प्रमाणित हो रहे हैं। इस से अधिक भारतराष्ट्र का और क्या सांस्कृतिक–पतन होगा ?। संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के मौलिक इतिवृत्त से भारतराष्ट्र अपनी इस भावुकता का परित्याग करे, एकमात्र इसी मङ्गलकामना से प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध है।

१३३-अवनतशिरस्कतापूर्वक अपनी असांस्कृतिकता, तथा असभ्यता की स्वीकृतिपूर्वक अशिक्षित, किन्तु परम्परया संस्कृतिनिष्ठ भारतीय आस्तिक-जनतन्त्र के अनुग्रह से धारावाहिकरूपेण अद्यावधि भी प्रक्रान्ता मूलसंस्कृति के द्वारा सम्भावित उद्-बोधन—

ओमित्येत्। स्वीकृत है हमें अपनी असांस्कृतिकता, एवं असभ्यता, जिसके कारण ही हमारा भारत-राष्ट्र व्यष्टि और समष्टिरूप से पददलित होता आरहा है अनेक शताब्दियों से। किन्तु इस पराभवात्मक दुर्वृत्त के साथ साथ इस भारतराष्ट्र में संस्कृति के सनातन-स्रोत के पारम्परिक अनुग्रह से सदा से ही कुछ एक वैसे भी अनुबन्ध धारावाहिकरूपेण अद्यावधि भी प्रक्रान्त ही हैं, जिनके माध्यम से आज भी हम अपने राष्ट्रीय सांस्कृतिक-गौरव को पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं राष्ट्रमानस में। लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि,--**समुद्र सूख जाता है। तदपि उस में जानुदग्ध पानी विद्यमान रहता ही है"**। अवश्य ही भारतीय संस्कृति का समुद्र-समतुलित अजस्र प्रवाह विगत तीन सहस्र वर्षों की दासतावधि में अवरूद्धप्राय हो चुका है। तदपि कुछ एक वैसे परोक्ष-सूत्र आजतक ज्योंके त्यों प्रवाहित हैं उस जनजीवन में, जिसने अपने आप को प्रावाहिक-आक्रमणों से प्रयास-पूर्वक अबतक बचाए रक्खा है, एवं जिसके अनुग्रह से ही 'संस्कृति' का सनातनत्त्व अद्यावधि भी अक्षुण्ण ही बना हुआ है। युगधर्म्मानुगत-अनुकरणप्रिय सतत्तातन्त्रों को सर्वथा निरपेक्ष मानते हुए, एकमात्र जनजीवन की सनातनभूता अक्षुण्णा सांस्कृतिक-निष्ठा को ही केन्द्र बनाते हुए हमें अविलम्ब उस सनातन-सांस्कृतिक-धारा से सम्बन्ध स्थापित कर ही लेना चाहिए, जिसके बिना भारतराष्ट्र की स्वतन्त्रता का संरक्षण कदापि सम्भव नहीं बन सकता। इसी पावन उद्देश्य के आधार पर संस्कृति-सभ्यता-शब्दों के लोकसम्मत-प्रावाहिक-झञ्झावातों-व्याख्याओं से असंस्पृष्ट रहते हुए भी भारतीय दृष्टि-अनुबन्ध से तत्सम्बन्ध में, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देने की धृष्टता हो पड़ी है प्रस्तुत निबन्ध के माध्यम से, जिसके सम्बन्ध में अभी और भी कुछ एक प्रासङ्गिक मनोभावों को अभिव्यक्त कर देना प्रासङ्गिक ही बन रहा है। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

१३४--भारतराष्ट्र के दशवर्षीय--जागरणकाल से अनुप्राणिता सांस्क्रकित-झलकियों के निग्रहात्मक अनुग्रह से संस्कृति, सभ्यता-शब्दों के प्रति सहज-आकर्षण का उद्रेक, एवं राष्ट्रीय-समस्याओं के सम्बन्ध में हमारी निरक्षरमूर्द्धन्यता-

भारतराष्ट्र के दशवर्षीय नव-जागरणकाल में **'संस्कृति'**, और **'सभ्यता'** शब्दों के माध्यम से राष्ट्र की जागरूक प्रज्ञाओं के द्वारा अनेक प्रकार की धारणाएँ यदा कदा कर्णाकर्णिपरम्परया सुनने का महद्-भाग्य उपलब्ध हुआ। इसके अतिरिक्त छोटे बड़े सभी प्रकार के राष्ट्रीय-सम्मेलन-समारोहों-प्रदर्शन-उद्घाटनादि अवसरों पर अनिवार्य्यरूपेण समायोजित होते रहने वाले **'सांस्कृतिक -आयोजनों'**-**'सांस्कृतिक-झलकियों'**-आदि के भी अदृष्ट-अश्रुतपूर्व इतिवृत्तोंनें बलात् 'संस्कृति' शब्द की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। सीमित प्रज्ञा से अनुप्राणिता हमारी साहित्य-साधना ने कदापि 'राष्ट्र', किंवा 'राष्ट्रीय, जैसे महान् क्षेत्र का कभी संस्पर्श भी नहीं किया। नापि राष्ट्रीय-दृष्टि से इन लोकानुकता राजनैतिक-सामाजिक-व्यवस्थाओं के अनुपात से कभी चिन्तन का ही अनुगमन हुआ। गुहानिहितवृत्या एकमात्र प्राच्य-वैदिक साहित्य के संस्पर्श-

मात्र का ही प्रयास प्रक्रान्त रहा अपनी साहित्य–साधना में । अतएव तथाविधा राष्ट्रीय–समस्याओं के सम्बन्ध में हमने अद्यावधि अपने आप को निरक्षरमूर्द्धन्य ही अनुभूत किया ।

१३५–तथाविधा निरक्षरमूर्द्धन्यता के अनुग्रह से ही सत्तानुगता, लोकानुगता एषणाओं-से आत्मपरित्राण, एवं संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के चिरन्तनेतिवृत्तोपासन में प्रवृत्ति–

और हम समझते हैं– लोकानुगता इस प्रवृत्ति की निरक्षरमूर्द्धन्यता ने ही उस लौकिक–व्यामोहन से आजतक हमारा परित्राण किया, जिस व्यामोहन से आकर्षित हो कर प्रज्ञाशील भी साहित्यसेवी मूलतः सर्वात्मना निरपेक्षा भी भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति को अनेक प्रकार के व्यामोहन--जालों के संरक्षणमात्र के लिए, विशेषतः अन्तर्राष्ट्रीय--व्यामोहन की रक्षामात्र के लिए सभी अनुबन्धों से अपने आप को सापेक्ष बनाते हुए अपनी युगधर्म्मानुगता कल्पनामात्र से ही सुविभूषित करने लग पड़ते हैं । स्वस्वरूप को सर्वथैव विस्मृत करा देने वाली परदर्शनमूला जिस भावुकता ने भारतराष्ट्र को विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर लक्ष्यविहीन ही बनाया है, दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता के इस नवजागरणकाल में भी राष्ट्रप्रज्ञा तथाकथित व्यामोहनों की सर्जिका उस भावुकता से अपना परित्राण नहीं कर सकी है । एवं निश्चयेन उस भावुकतानुबन्ध से ही आज भी भारत--राष्ट्र के सभी आयोजन स्वनिष्ठा की उपेक्षा में ही अपने आपको धन्य--कृतकृत्य अनुभूत कर रहे हैं, इति नु महद्दुःखास्पदम् ।

१३६–सत्तानिरपेक्षतानुगता लोकनिरपेक्षता के द्वारा ही संस्कृति के मौलिक स्वरूप का सम्भावित दर्शन—

किसी जन्मान्तरीय अदृष्टवश विगत वर्ष राष्ट्रसत्ता के सान्निध्य में आने का अवसर मिला, एवं 'स्थालीपुलाकन्यायेन' इस सान्निध्य से अनेक तथ्य स्वतः ही प्रस्फुटित हो पड़े, जिनमें से उस तथ्य ने हमें अत्यन्त ही प्रभावित किया, जिसका 'संस्कृति' की 'सत्तानिरपेक्षता' से सम्बन्ध माना गया है । 'सत्ताश्रय, किंवा राज्याश्रय ही संस्कृति की स्वरूपरक्षा का प्रमुख आधार है", इस मान्यता के ठीक विपरीत "सत्ता के आश्रय से निरपेक्ष तटस्थ रह कर ही संस्कृति अपने मौलिक स्वरूप से सुरक्षित रहा करती है" इस आस्था का प्रथम दर्शन तत् सम्पर्कानुग्रह से प्राप्त हुआ, जिस दृष्टि के बीज-'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्' (शत० ब्रा०) इस सूत्रगर्भ में सुरक्षित हैं ।

१३७-सत्ताश्रयग्रहण से सत्तामान्यताओं का अन्धानुकरण-समर्थन, एवं तद्परिणाम-स्वरूप सत्ताश्रित-गतानुगतिक-विद्वानों के द्वारा मूलसंस्कृति-सभ्यता की उपेक्षा, तथा सत्तामान्यतानुबन्धी आयोजनों को 'सांस्कृतिक-आयोजन'-उपाधि-प्रदान—

जब जब भावुकतावश इस राष्ट्र की सांस्कृतिक–प्रज्ञाओंने संस्कृति के संरक्षण–प्रचार–के लिए सत्ता का आश्रय ग्रहण किया, तब तब ही संस्कृति अपनी मौलिकता से अन्तर्म्मुख बन गई । एवं सत्ता ने अपनी मान्यताओं के अनुपात से ही साहित्य-सेवियों को संस्कृति की स्वरूप–व्याख्या व्यक्त करने के लिए विवश किया । इत्थंभूता दुरभिसंधि निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र में यथापूर्व चली आरही है,

जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र की मूलभूता सनातनसंस्कृति का विशुद्ध स्वरूप सर्वथैव परा:परावत ही प्रमाणित हो चुका है। इसी स्थिति का इस लोकभाषा में यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, युगधर्म्म–भेदानुपात से परिवर्त्तनशील सत्तातन्त्रों की मान्यता से अनुप्राणिता 'सभ्यता' ने अपनी छाप लगा कर ही संस्कृति को आश्रय प्रदान किया, जिसका सीधासा अर्थ यही निकलता है कि, सत्ता अपनी मान्यताओं के अनुपात से जिसे सभ्यता मान बैठती है, यदि तद्युग की प्रज्ञाएँ इसी सभ्यता–मान्यता का समर्थन करतीं हैं, तो वैसी आपातरमणीया संस्कृति ही सत्ताश्रय का वरदान प्राप्त कर सकती है। और ऐसी 'सभ्यता' लक्षणा संस्कृति ही सत्ता की भावुकता के कारण 'मूलसंस्कृति' का स्थान ग्रहण कर बैठती है, जिसके प्रत्यक्ष निदर्शन गीत–नृत्य–वाद्यादि से समाकुलित आज के सांस्कृतिक–आयोजन बने हुए हैं, जब कि इन सामयिक आयोजनों के साथ 'संस्कृति' शब्द का यत्किञ्चित् भी तो सामञ्जस्य नहीं है।

१३८–वर्त्तमान भारतराष्ट्र का सत्तातन्त्रानुग्रह से भारतीय-संस्कृति-सभ्यता-स्वरूप-विघातक-परसभ्यताओं के साथ सांस्कृतिक विजृम्भणों से आदान-प्रदान—

विगत तीन सहस्र–वर्षों से भारतीय–संस्कृति परसत्ताओं से ही अभिभूत होती चली आरही है। फलतः इस अवधि के सभी सत्तातन्त्र नाममात्र के लिए 'भारतीय' कहलाते हुए भी तत्त्वतः भारतीय संस्कृति, तथा सभ्यता से अधिकांश में पृथक् ही प्रमाणित होते आए हैं। अतएव इस अवधि से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति का इतिहास तत्त्वतः परसभ्यताओं का ही इतिहास माना जायगा, जैसे कि वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र के विधि–विधान भी तत्त्वतः अमेरिका–इंग्लैण्ड की विधानपद्धतियों के ही आंशिक अनुकरण प्रमाणित हो रहे हैं। एवं निश्चयेन इसी अनुकरणवृत्ति के कारण परसभ्यताओं के द्वारा 'सांस्कृतिक–आयोजन' नाम से उपवर्णित नृत्य–गीतादि ही आज भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा भी सांस्कृतिक–आयोजन ही उद्घोषित हैं। यही नहीं, एवंविध नृत्य–गीत वाद्यकुशल कलाकारों के आगमन–प्रत्यागमन को ही आज सहर्ष–सोल्लास सांस्कृतिक–आदान–प्रदान माना, और मनवाया जारहा है, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

१३९–परसभ्यताविमोहन से व्यामुग्ध भारतीय विद्वानों के काल्पनिक सांस्कृतिक-अध्याय, एवं त्रिसहस्रवर्षपूर्वानुगता मौलिक संस्कृति की अन्तर्म्मुखता—

जैसा कि, पूर्व में निवेदन किया जा चुका है–मानवीय मन से सम्बन्ध रखने वाली भावनाएँ हीं जहाँ भूतजगत् की दृष्टि में 'संस्कृति' होगी, वहाँ मानवीय शरीरव्यासङ्ग ही सभ्यता कहलाते होंगे। यों मन, और शरीर, इन दोनों प्राकृतिक पर्वों पर ही संस्कृति, और सभ्यता का इतिहास विश्रान्त बन रहा होगा भारतेतर प्रतीच्य देशों की मान्यता में, जबकि आत्मनिष्ठ भारत की दृष्टि से मन, तथा शरीर के व्यापारों के साथ संस्कृति का कदापि साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। संविद्भावानुगत आत्मा, तथा तदनुगता नैष्ठिकी बुद्धि, आभ्यन्तर–सुसूक्ष्म–सनातन इन दोनों मानवीय पर्वों का स्वरूप ही मानव की मूलसंस्कृति है भारतीय दृष्टिकोण से। इत्थंभूता संस्कृति से सुसंस्कृत मानसिक भाव, तथा शारीरिक आचार ही भारतीय सभ्यता की स्वरूप–परिभाषा है। एवं इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति, तथा सभ्यता के साथ वर्त्तमान मान्यतानुबन्धी मनः–शरीरभावानुगत संस्कृति–सभ्यता–शब्दों का कदापि समतुलन नहीं किया जा सकता, जैसा कि अनुकरणप्रियता से आज किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति, तथा भारतीय सभ्यता के स्वरूपदर्शन के लिए तो भारतीय जनतन्त्र की सत्तानिरपेक्षा स्वतन्त्र प्रज्ञाओं को आज से तीन सहस्र–वर्ष पूर्व के बुद्धयुग से भी पुरातन भारत को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। तभी संस्कृति, तथा सभ्यता शब्दों के चिरन्तन इतिहास का समन्वय सम्भव बन सकेगा। ठीक इसके विपरीत यदि विगत–भुक्त–प्रक्रान्त वर्ष–त्रिसहस्रात्मक युगों के अनुपात से ही इन शब्दों के इतिहास समन्वय का प्रयास किया गया, तो वह केवल दासतायुगानुगता परसभ्यताओं का ही सापेक्ष इतिहास होगा, जिसे आधार बनाकर संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक अध्याय लिखने का विजृम्भण आज के नूतन भारत में प्रक्रान्त है।

१४०—'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' सूत्राधार पर उपनिबद्ध सांस्कृतिक-निबन्ध—

संस्कृतिस्वरूपसंरक्षक संस्कृतिमूर्त्ति विश्वेश्वर के अनुग्रह से भारतीय मौलिक सस्कृति का अविच्छिन्न सूत्र आज भी भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक–साहित्य (श्रुति–स्मृति–पुराण) में सुरक्षित चला आरहा है, जब कि सत्तासापेक्ष–व्याख्याताओं नें अपनी काल्पनिक–व्याख्याओं के द्वारा इस मूलसूत्र को आवृत कर देने में कम प्रयास नहीं किया है। यद्वा तद्वास्तु–किसी की आलोचना–प्रत्यालोचना में न पड़ते हुए हमें सांस्कृतिक–परिभाषाओं के माध्यम से निरपेक्ष–बुद्धया इस पुनीत राष्ट्रीय-ज्ञानयज्ञ का ऋत्विक्–मात्र बना रहना चाहिए। इसी पावन उद्देश्य से 'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' (यजुःसंहिता) इस मूलसूत्र को आधार बनाकर प्रस्तुत सामयिक निबन्ध राष्ट्रदेवता के प्रति समर्पित हो रहा है, जिसकी प्रस्तावना के रूप में युगधर्म्मानुसार दो शब्द निवेदन कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

१४१–भारतराष्ट्र के मौलिक-सांस्कृतिक-गौरव के संरक्षण से अनुप्राणित प्रस्तुत 'सांस्कृतिक-निबन्ध'—

लोकैषणाप्रवर्द्धिका सत्ता से सर्वथा निरपेक्षा, तथैव च अर्थलिप्साप्रवर्द्धिका वणिग्वृत्ति से अत्यन्त ही तटस्था इत्थंभूता भारतराष्ट्र की सर्वनिरपेक्षा, किन्तु सबके लिए सापेक्षा, समब्रह्मभावेन 'संस्कृति' नाम से प्रसिद्धा भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति का जो मौलिक–चिरन्तन इतिवृत्त वित्तैषणागर्भिता–लोकैषणा के आकर्षण से आत्मस्वरूपव्यामुग्ध बन जाने वाले सत्तासापेक्ष भारतीय विद्वानों के व्यक्तित्वविमोहनात्मक मतवादाभिनिवेश से विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा था, उसी मौलिक चिरन्तन–इतिवृत्त का संस्कृति के मूलप्रवर्त्तक समब्रह्मलक्षण सर्वेश्वर अव्ययपुरुषावतार भगवान् **मधुसूदन** की प्रेरणा से तीन सहस्रवर्षानन्तर एकमात्र इसी पावन उद्देश्य से सांस्कृतिक–आर्षप्रजा के सम्मुख उपस्थित हो रहा है कि, वह अपनी पारम्परिक–सांस्कृतिक–आचारपद्धतियों के पारम्परिक–अनुगमन में निष्ठापूर्वक सफल बनती हुई भारतराष्ट्र के मौलिक–सांस्कृतिक–गौरव को अक्षुण्ण ही प्रमाणित करती रहेगी।

१४२–शक्तिचतुष्टयी से एकान्तः पराःपरावत वर्त्तमान सत्तातन्त्र, एवं तदनुगत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र आज का जनतन्त्र—

चिरन्तन इतिवृत्त के साथ साथ ही उन सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखाओं को भी अवधानपूर्वक अपना लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करेगी आस्थाश्रद्धान्विता वह आस्तिक प्रजा, जो सत्तासापेक्ष–मतवादसापेक्ष–सम्प्रदायसापेक्ष–परदर्शनव्यामुग्ध–भारतीय–भावुक–व्याख्याताओं के व्यामोहन में व्यामुग्ध बनती हुई अपने

उन आयोजनों की गरिमामहिमा को विस्मृत करती जारही है, जिस सांस्कृतिक–गरिमाने ही इसके भारतराष्ट्र को आज से तीन सहस्रवर्षपूर्व पर्य्यन्त जगद्गुरुत्त्व के सिंहासन पर ही समासीन कर रक्खा था । **मूलसंस्कृति**, एवं संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित **शास्त्रीय सांस्कृतिक-आचार**, तथा **लौकिक सांस्कृतिक–आयोजन**, तीनों ही प्रक्रमों को विस्मृत कर देने के दुष्परिणामस्वरूप ही भारतराष्ट्र–'**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' इत्यादि श्रुतिमूलिका उस शक्तिचतुष्टयी से एकान्ततः ही परा:परावत बन गया, जिस शक्तिविहीनता में भावुकतानुगत–अन्धानुकरण ही कर्त्तव्यत्त्वेन शेष रह जाया करता है, जिसका कि प्रत्यक्ष प्रमाण आज का अभिधाकुशल–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत, उसका प्रभुसत्तासमर्थ सत्तातन्त्र, एवं तदनुगत निरतिशयरूपेण स्वतन्त्र बना हुआ जनतन्त्र प्रमाणित हो रहा है ।

१४३–शारीरिक जीवनपद्धतिव्यवस्था, मानसिक चिन्तनप्रणाली, एवं बौद्धिक विचार-विमर्श में असमर्थ वर्त्तमान जनतन्त्र का आत्यन्तिक व्यक्तित्त्वविमोहन, तथा तन्मूलक जनतन्त्र के वैय्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक,और राष्ट्रीय स्वरूपों का आत्यन्तिक अभिभव—

शारीरिक जीवनपद्धति, मानसिक चिन्तन–प्रणाली, एवं बौद्धिक विचारविमर्श, आदि सभी क्षेत्रों में आज एकमात्र लोकैषणात्मक वैसा व्यक्तित्त्वविमोहन ही प्रधान बन गया है, जिसके कारण राष्ट्र का वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जीवन सभी ओर से उस सीमापर्य्यन्त परमुखापेक्षी ही बनता जा रहा है, अथवा तो बन चुका है, मानो इसके अपने अतीत राष्ट्रीय प्रज्ञाकोश में कर्त्तव्यनिष्ठा के नाते कभी कुछ रहा ही न हो । ऐसा क्यों ?, क्यों हम, और हमारा राष्ट्र सभी दिशाओं में अपने आपको शून्यं शून्यं अनुभूत करते हुए परानुकरणरूप अन्तर्राष्ट्रीय–व्यामोहन को ही अपनी और अपने राष्ट्र की प्रामाणिकता का एकमात्र प्रमाणपत्र मानने मनवाने की महती भ्रान्ति करते जारहे हैं ?, और दुर्भाग्यवश ऐसा करते हुए अपने आपको गौरवान्वित मानते–मनवाते हुए उन अनुकरणभावों को उस सीमापर्य्यन्त आज हम राष्ट्र के अन्तःकरण में अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से दृढमूल बना डालने के लिए क्यों आतुर होते जारहे हैं ?, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर इस भारतराष्ट्र का तो–'स्व (अपना)' नाम का कोई भी तो स्वरूप शेष नहीं रह जायगा ।

१४४–शून्यवादप्रतिच्छायात्मक दार्शनिक जगन्मिथ्यात्त्ववाद से भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक-संघठन का मूलोच्छेद—

स्पष्ट है कि, उक्त सभी प्रश्नों का समाधान सत्तानिरपेक्ष-'संस्कृति' शब्द के चिरन्तर-इतिवृत्त में हीं अन्तर्निगूढ है । जिस अशुभमुहूर्त्त में भारतराष्ट्र में अनात्मवादात्मक–शून्यवाद भावुकतावश जागरूक हो पड़ा आज से तीन हजार वर्ष पूर्व, तभी से भारतीय मूलसंस्कृति सत्तासम्मानलोलुप भावुक विद्वानों के द्वारा सत्तासापेक्ष बना दी गई । अतएव सत्ताने जैसे चाहा, तत्सापेक्ष विद्वानोंनें संस्कृति की वैसी ही व्याख्याएँ आविष्कृत कर डालीं । इसी प्रारम्भिक पतन ने आगे चलकर उसी दर्शनवादात्मक मतवाद को जन्म दे डाला, जिसने नैगमिक–आचारमूला संस्कृति की उपेक्षा कर जगन्मिथ्यात्त्वमूलक काल्पनिक वेदान्तवाद को ही राष्ट्र का महान् पौरुष घोषित कर दिया । शून्यवादप्रतिच्छायात्मक इसी वादने आगे चलकर संस्कृति को अनेक विभिन्न मतवादों–सम्प्रदायवादों में परिणत कर सांस्कृतिक–संघठन का सर्वथा मूलोच्छेद ही कर डाला ।

१४५–स्वानुगता दार्शनिक–भावुकता से ही भारतराष्ट्र का त्रिसहस्रवर्षात्मक पारतन्त्र्य—

अभिनवस्वतन्त्रतावादी कहते हैं, ब्रिटिशसत्ताने भारतराष्ट्र को परतन्त्र बनाया, जबकि तथ्य वास्तव में कुछ ऐसा है कि, विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र अपनी सांस्कृतिक निष्ठा से वञ्चित होता हुआ अपने हीं दोष से परतन्त्र था, और है आज भी उसी दोष से सभी क्षेत्रों में परतन्त्र परानुकरण–प्रिय, एवं स्वनिष्ठा से सर्वथा ही पराङ्मुख। **शक-हूण-सिकन्दर-मुगल** आदि आदि सभी ने तो यहाँ की भावुकता से लाभ उठाया है विगत शताब्दियों में। सांस्कृतिक–निष्ठाकेन्द्र से विचलित यह निष्ठाशून्य, परभावुकताकुशल उत्तरदायित्वशून्य, जीवनीय संघर्ष से शून्य शून्यवादी अनात्मवादी–जगत्मिथ्यात्ववादी भारतराष्ट्र स्वयं अपने ही दोष से जब अपने आप में ही आपादमस्तक–आलोमभ्य:–आनखाग्रेभ्यः-परतन्त्र बनता चला आरहा है तीन सहस्र वर्षों से, तो ऐसी दशा में ब्रिटिशसत्ता को उपालम्भ देकर अपनी वर्त्तमाना भावुकता को आवृत करते रहने के प्रयास का कोई भी तो मूल्याङ्कन सम्भव नहीं है किसी भी तो दृष्टिकोण से।

१४६–भारतीय मानव की चतुर्विधा मौलिक शक्तियाँ, एवं परतन्त्रता के अनुबन्ध से चारों ही शक्तियों की अन्तर्मुखता—

संस्कृति ही राष्ट्र की वह मूलप्राणप्रतिष्ठा है, जिसके सम्प्रदायवाद–मतवाद–सर्वोपरि सत्तावादादि की निरपेक्षता से ही राष्ट्र उन चतुर्विध शक्तियों के समसमन्वयात्मक महान् बल से समन्वित रहा करता है, जिस समन्वय के अनुग्रह से राष्ट्र व्यक्तित्वविमोहन से पृथक् रहता हुआ 'राष्ट्र' को ही अपना मूलकेन्द्र मान लेता है। और इस केन्द्रप्रतिष्ठा के अवलम्बन के अनन्तर विश्व की कोई भी शक्ति इस की ओर भ्रूविक्षेप का भी साहस नहीं कर सकती। **आत्ममूला ज्ञानशक्ति**, बुद्धिमूला **पौरुषशक्ति**, मनोमूला (कामगर्भिता) **अर्थशक्ति**, एवं शरीरामूला (अर्थगर्भिता) **कामशक्ति**, इन चारों शक्तियों से समन्वित राष्ट्र ही सर्वाङ्गीण–सशक्त राष्ट्र माना गया है ! क्योंकि राष्ट्र न तो किसी भूखण्ड–विशेष का ही नाम है, न किसी पदप्रतिष्ठा–धनप्रतिष्ठा–प्रमाणपत्रप्रतिष्ठा का ही नाम राष्ट्र है। अपितु उस **'मानवसम्पत्ति'** का ही नाम राष्ट्र है। जिसका स्वरूप आत्म-बुद्धि–मनः–शरीर, इन चार पर्वों से समन्वित हुआ है, जिस इस भारतीय संस्कृतिमूलक 'मानव' के चतुष्पर्वा मौलिक स्वरूप से ही भारतीय मानव वञ्चित होता आरहा है विगत अनेक शताब्दियों से।

१४६–शक्तिचतुष्टयी से समन्वित मानव का स्वरूप–परिचय, एवं मानव का 'राजते' लक्षण 'राष्ट्रत्व'—

विश्वेश्वर का सुप्रसिद्ध भूपिण्ड पर्व मानव के शरीर का निर्म्माण करता है, चान्द्रतत्त्व से मानव के मन का, एवं सुप्रसिद्ध सूर्य्य से मानव की बुद्धि का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्य्यरूप-प्राकृतिक-त्रैलोक्य जिस लोकातीत, अतएव इन्द्रियातीत तुरीय–व्यापक आत्मतत्त्व पर, पुरुषतत्त्व पर प्रतिष्ठित है, वही मानव का तुरीयपर्व 'आत्मा' है। आत्मभाव से यही मानव पुरुष है। एवं बुद्धि–मनः–शरीर–त्रयी से यही मानव प्रकृति है। प्रकृति–पुरुष के इस दाम्पत्यरूप समन्वित भाव का ही नाम 'मानव' है। जिस मानव में मानव के ये प्रकृति–पुरुषरूप चारों पर्व निर्विरोध समन्वित रहते हैं, वही मानव अपने स्वरूप से प्रकाशित रहता है। यही इस का **'राजते'** भाव है। ऐसे समसमन्वित, 'राजते' लक्षण मानवश्रेष्ठों की समष्टि का ही

नाम–‘राष्ट्र’ है, और यही ‘राष्ट्र’ शब्द की सांस्कृतिक–स्वरूप–व्याख्या है, जिसे आज के पदप्रतिष्ठाव्यामुग्ध अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिकामुक–-परदर्शनकुशल–-आत्मपुरुषवञ्चित–केवल प्रकृतिपाशद्ध–-प्राकृत–-मानवोंनें विस्मृत कर प्रकृति की आठवीं सोपानपरम्परा में उत्पन्न जड़–भूत–समष्टि का ही नाम ‘राष्ट्र’ मान लिया है, एवं इस जड़भूतव्यासङ्ग को ही जो राष्ट्रीय प्रगति कहते जारहे हैं, इस के अधिक इस राष्ट्रमानव-भारतीय, सांस्कृतिक-मानव का और क्या राष्ट्रीय पतन होगा ?

१४८–‘राष्ट्र’ शब्द की स्वरूपव्याख्यारूप चतुष्पर्वा मानव, एवं इसके–-‘राष्ट्रीय–-जीवन’, तथा ‘राष्ट्रीय’ मृत्युभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन —

चतुष्पर्वा मानव स्वयं ही ‘राष्ट्र’ की स्वरूपव्याख्या है। इसके मौलिक–सांस्कृतिक–स्वरूप की व्याख्या की सीमा में ही राष्ट्रव्याख्या निहित है। मानव का चारों पर्वों में से जो भी पर्व भावुकतावश समत्त्वयोगात्मक–बुद्धियोगात्मक–पारिभाषिक ‘योग’ से वञ्चित हो जाता है, राष्ट्र का वही अंश अशक्त बन जाता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए–राष्ट्रीय–मानवोंनें ‘शरीर’ का ही नाम ‘मानव’ मान–लिया, और मन–बुद्धि–आत्मा, तीनों हीं पर्वों की इसने उपेक्षा करदी, तो परिणाम यह होगा कि, ऐसे शरीरमात्रप्रधान मानवों की समष्टि–रूप राष्ट्र भी केवल शरीर ही शरीर रह जायगा। उस दशा में मानसिक चिन्तन, बौद्धिक विचारविमर्श, एवं सर्वोपरि आत्मसंवित्, तीनों हीं धर्म्म पराङ्मुख हो जायँगे। ऐसा शरीरात्मक जड़मानव राष्ट्र को केवल जड़भूत–योजनाओं के वैसे वारुण–भौतिक-पाश में ही आबद्ध कर देगा, जिस चेतनाशून्य जड़बन्धन को ही संस्कृति की परिभाषा में–‘जीवितमृत्यु’ कहा गया है।

१४९–कमलाविलासमदोन्मत्त भारतीय सामन्तों के सांस्कृतिक आयोजन, एवं तदनुग्रहेणैव तत्पराभव, और आज पुनः उन्हीं आयोजनों का दुःखपूर्ण पुनरावर्त्तन—

मान लीजिए–शरीर के साथ साथ मानवने अनुग्रह कर मन को भी अपना लिया। किस मन को !, बुद्धियुक्त मन को नहीं, अपितु शरीरयुक्त मन को, अर्थात् अर्थयुक्त काम को। शरीरानुगता इस मनोऽनु–गति से होगा क्या?, उत्तर स्पष्ट है। अर्थासक्त मन धृतिविगलित बनता हुआ अमर्य्यादितरूप से उन मानसिक–व्यासङ्गों में हीं प्रवृत्त हो जायगा, जिन्हें आज की भाषा में–**‘सांस्कृतिक–आयोजन’** कहा, और बलपूर्वक कहलवाया जा रहा है। अर्थात् अर्थासक्त काममय मन से अनुप्राणित गीत–वाद्य–नर्त्तन–नाटक–आदि आदि मानसिक–उत्तालतरङ्गायित उन भावुकताओं के प्रवाह में ही राष्ट्र प्रवाहित हो जायगा, जहाँ धृतिगुण का, तन्मूला बुद्धिनिष्ठा का प्रवेश भी निषिद्ध बन जाया करता है। **‘मन से नाचना-गाना-बजाना, एवं शरीर से खाना–पीना’**, इस वाक्य में हीं राष्ट्र की ? स्वरूप–व्याख्या सर्वात्मना समाविष्ट हो जागयी, जिस व्याख्या के निःसीम अनुग्रह से ही कमलाविलासमदोन्मत्त भारतीय सत्ताधीश निकटपूर्व में ही पदप्रतिष्ठा से इसी राष्ट्र के जनतन्त्र के द्वारा पदच्युत कर दिए गए हैं।

१५०–‘बुद्धि’ में आसक्त ‘बुद्धिवादी’ मानव की ‘बुद्धिमानी’ का अन्ततोगत्त्वा ‘मनमानी’ पर विश्राम, और बुद्धिवादात्मक मनोराज्य के निग्रह से मानव की स्वनिष्ठा का आत्यन्तिक पतन—

और आगे चलिए। मानव ने अपनी मानवता पर अनुग्रह कर अपने तीसरे बुद्धिपर्व को भी अपना लिया। एवं इस बुद्धिसम्पर्क से मानव विचारविमर्शपथ का भी अनुगामी बन गया। ऐसा मानव ही ‘बुद्धि–

वादी' मानव कहलाया, जिसे हम मनःशरीरपरायण प्राकृत मानव की अपेक्षा भी कहीं अधिक मात्रा में स्वरूपविमुग्ध कहेंगे । क्यों ? । इसलिए कि **'बुद्धिवादी'** बनना एक पक्ष है, और **'बुद्धिमानी'** करना अन्य पक्ष है, एवं इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा पक्ष वह है, जिसे लोकभाषा में **'मनमानी'** बात कहा गया है । सर्वाधारभूत आत्मब्रह्म के अनुरूप अनुग्रह से पराङ्मुखा बुद्धि, दूसरे शब्दों में मानव की मानवता के एकमात्र अनुबन्ध आत्मभाव से पृथक् हो जाने वाली बुद्धि में उसप्रकार के चार महाभयानक दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं, जिन्हें **अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश**--नामों से व्यवहृत किया गया है शास्त्रीय-परिभाषा में ।

१५१–मानव की 'सहजबुद्धि' रूपा 'विद्याबुद्धि' का स्वरूप-परिचय—

सत्त्वगुणभाव को अभिव्यक्त करने वाली ज्ञानसहकृता विज्ञानविद्या ही **विद्या** है, जिसके निगमागम--पुराणादि शब्दात्मक विवर्त्त माने गए हैं, जिस विद्या के गर्भ में अभ्युदयरूप लोकवैभव, तथा निःश्रेयस्रूप आत्मभाव, दोनों प्रतिष्ठित हैं । इस विद्या से विपरीत रजोगुण–तमोगुण–भाव के प्रवर्द्धक सभी ज्ञान–विज्ञानभाव आत्मा के नित्य ज्ञान–विज्ञान–भावों के प्रतिबन्धक बनते हुए--'अविद्या' नाम से ही व्यवहृत हुए हैं । आत्म-विद्या से असंस्पृष्टा ऐसी भूतविद्या ही 'अविद्या' कहलाई है, जिसे 'अज्ञान' भी माना है शास्त्र ने, जिसका अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है । अपितु आत्मविद्यारूप ज्ञानविज्ञान का आवरण करने के कारण ही आत्मविद्या--वञ्चिता लोकविद्या ही अज्ञान कहलाई है, जो कि आत्मप्रवञ्चना से बुद्धि को मोहकलिल से युक्त कर देती है, जैसा कि--'**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**, इत्यादि गीतावचन से स्पष्ट है ।

१५२–अविद्याग्रहग्रस्ता बुद्धि की 'बुद्धिवाद' में परिणति, एवं इत्थंभूत 'बुद्धिवाद' के द्वारा मानव का आत्मस्वरूप–विमोहन—

बड़ा ही भयानक है यह अविद्यादोष, जो असत् को सत्, एवं सत् को असत् प्रमाणित करता रहता है । आत्मस्वरूपविघातक सभी तमोभाव इस अविद्या के अनुग्रह से प्रिय लगने लगते हैं, एवं आत्मस्वरूपसंरक्षक सभी सत्त्वभाव इसके कारण अप्रिय बन जाते हैं । श्रेयोभाव त्याज्य बन जाते हैं, प्रेयोभाव संग्राह्य बन जाते हैं । इस अविद्यादोष से ही बुद्धि में वह **'बुद्धिवाद'** उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण बुद्धिवादी अविद्याग्रह-ग्रस्त मानव अपने समतुलन में किसी को कुछ भी नहीं मानता, समझता । आपादमस्तक अविद्यात्मक इस बुद्धि-वाद में ग्रस्त मानव अपने आप को ही धीर–प्रज्ञाशील--सारासारविवेकशील–निर्णायक–आदि आदि सम्पूर्ण बुद्धिगुणों का निधान मान बैठता है अपने मनोराज्य में । आत्मयोग से, आत्मविद्या से वञ्चिता बुद्धि इस प्रकार अविद्यासंस्कार (आत्मविद्याशून्य भूतज्ञानसंस्काररूप अविद्यासंस्कार) के प्रभाव में आकर मनोवश-वर्त्तिनी ही बन जाया करती है । अतएव मन को जैसा जो कुछ पूत-प्रिय-रुचिकर लगता रहता है, मनोवश-वर्त्तिनी बुद्धि अपने अविद्यासंस्कारात्मक बुद्धिवाद से उसी को अच्छा--उपयोगी--कहने, मानने लग पड़ती है । यों अविद्याग्रस्त बुद्धिवाद से युक्त बुद्धिवादी ही **'मनमानी'** करने लग पड़ता है ।

५३ –अविद्यात्मक 'बुद्धिवाद' का मन्यतानुबन्धी मलीमस इतिहास—

यह सर्वथा संस्मरणीय है कि, आत्मानुगत सत्त्वगुण का समन्वय करने वाली विद्या सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र भारतीय वह **'निगमागमविद्या'** ही है, जिसने लोकातीत आत्मतत्त्व के आधार पर ही मानवीय चारों

पर्व व्यवस्थित रूप से समसमन्वित किए हैं। अन्य किसी शिक्षा–भूतविद्या में आत्मप्रकृतिमूलक त्रैगुण्य की कोई भी व्याख्या नहीं हुई है, फिर तद्विवेकपूर्वक आत्मानुगत-सत्त्वभाव की तो कथा ही विदूर है। अतएव कहा, और माना जायगा कि, आत्मविद्यामूला भारतीय शिक्षा–संस्कृति से विरुद्धा केवल भूतमूला परशिक्षा से समन्विता बुद्धि ही भारतीय मानव को अविद्याग्रहग्रस्त बनाती हुई इसे उस दम्भपूर्ण बुद्धिवाद में प्रवृत्त कर दिया करती है, जिस बुद्धिवाद में आकर बुद्धिवादी मानव अपनी मानसिक–मान्यताओं के आधार पर इसे जैसा अच्छा लगता है, किंवा जिसे यह अच्छा मान बैठता है, उसी अनुपात से यह शास्त्रव्याख्या में भी प्रवृत्त होने का दुस्साहस करने लग पड़ता है। और इसप्रकार बुद्धिवादात्मक यह महान् व्यक्तित्वविमोहन इस बुद्धिवादी को इसके मनोऽनुगत अविद्याभाव से इसे अविद्याग्रहग्रस्त ही बना देता है, जिसे ही यह बुद्धिमानी–धीरता-योग्यता-मानता हुआ स्वसमानधर्म्मा इतर सहयोगियों को भी ऐसा ही मानने के लिए विवश करता रहता है। यों मानो एक अन्धा अन्य अन्धों को मार्ग-दिखलाने का अभिनय करता हुआ इतस्ततः-निर्लक्ष्य-निरुद्देश्य ही अपने कल्पनाजगत् में आप भी ठोकरें खाता रहता है, तथा अपने अन्धानुकरणप्रिय सहयोगियों को भी लक्ष्य-भ्रष्ट करता रहता है। अविद्याभाव के इसी सर्वविनाशक इतिहास को लक्ष्य बना कर श्रुतिने कहा है—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ (कठोपनिषत्)

१५४–अविद्यादोषानुग्रह से ही मानव की बुद्धि में 'अस्मितादोष' का आविर्भाव, तद्-द्वारा 'आसक्ति' का जन्म, एवं तद्द्वारा सर्वविनाशक अभिनिवेश की प्रसूति—

तथाविध अविद्यादोष ही मानव की बुद्धि में वह भयानक दूसरा दोष उत्पन्न कर देता है, जिसे–**'अस्मिता'** कहा गया है। आत्मैश्वर्य्य से वञ्चिता बुद्धि मानसिक–सीमित भाव में आबद्ध होती हुई अपने विकासरूप सहज आत्मैश्वर्य्य से वञ्चित रह जाती है। सब कुछ है, किन्तु मान रहे हैं अपने आप को सर्वशून्य। इसी हीनता का **'अस्मिता'** है। संकुचित हृदय-संकुचित विचार-सकुञ्चित दलवाद-सकुञ्चित मतवाद-सकुञ्चित अर्थवाद-सर्वत्र दीन हीनभावना-सर्वत्र-निराशानिमग्नता-आदि आदि सब दोष इस अस्मिता के ही अनुग्रहप्रसून हैं, जो अस्मितादोष ही कालान्तर में अपने अभिन्न सखा **'आसक्तिदोष'** का आमन्त्रण करने लग पड़ता है। भूत-विषयों–भूतमदों–भूतपदप्रतिष्ठाओं को इस भय से समालिङ्गित कर लेना कि–अमुक भूत–अमुक पदप्रतिष्ठा यदि चली गई, तो हम क्या करेंगे, क्या व्यक्तित्व रह जायगा हमारा, यही आसक्तिदोष है। जो मानव परसापेक्षता से जिस मान्यता के द्वारा जिस तन्त्र से अपने भौतिक–बाह्य व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित मान लेता है, वह उसी व्यक्तित्व में सर्वात्मना आसक्त हो जाता है। यह आसक्ति ही इस बुद्धिवादी अविद्या–आस्मिता–ग्रहग्रहस्त मानव को कालान्तर में लक्षीभूत मान्यताओं–अविद्यात्मिका विद्याओं–पदप्रतिष्ठाव्यामोहनों में सर्वात्मना उस सीमापर्य्यन्त आसक्त कर देती है कि, आसक्ति का यह अन्तिम रूप ही कालान्तर में सर्वान्त में घोरघोरतम उस बुद्धिदोषरूप में परिणत हो जाता है, जिस दोषबिन्दु का सम्मान्य अतिथि बन जाने वाला मानव कदापि मानवता–मानवधर्म्म–मानवसंस्कृति–धर्म्म–आदि सत्त्वविभूतियों के संस्मरण का भी पात्र नहीं रह जाता।

१५५ बुद्धिस्वरूपप्रतिबन्धक चारों दोषों में अन्तिम–'अभिनिवेश' नामक दोष की महाभयानकता, एवं अभिनिवेश की स्वरूप–परिभाषा—

चारों बुद्धिदोषों में यह सर्वान्त का सर्वरूप अन्तिम दोष ही **'अभिनिवेश'** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है, जिसका अर्थ है-**'दुराग्रह'**। तन्मूलक कल्पित-**सत्याग्रह, अहिंसाग्रह, मानवताग्रह, वर्गभेदमूलोच्छेदाग्रह**-आदि आदि कल्पनाप्रसूत सभी दुराग्रह इसी अभिनिवेश की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं, जिसे मानव इसलिए नहीं छोड़ना चाहता कि, इसके सम्पूर्ण भूतजीवन का सम्पूर्ण इतिहास इस आग्रह की कृपा से ही प्रतिष्ठित रहता है। यदि अभिनिवेशात्मक इस आग्रह को यह छोड़ देता है, तो इसे उस आसक्ति का परित्याग भी कर देना पड़ता है, जिसकी कृपा से यह अपने कल्पित–व्यक्तित्त्व में आसक्त हो रहा है। आसक्ति के परित्याग के लिए अस्मिता से परित्राण करना अनिवार्य्य बन जाता है। तदर्थ उस अविद्यासंस्कार को भुला देना आवश्यक बन जाता है, जिस संस्कारने ही इसे लोकानुबन्धी व्यक्तित्त्व प्रदान कर रक्खा है। यों सभी कुछ तो छोड़ देना पड़ता है दुराग्रह के परित्याग के साथ साथ ही इस अभिनिविष्ट को। छोड़ देना एक पक्ष है, छोड़ नहीं सकता, यह अन्य पक्ष है। जहाँतक इसकी लोकदृष्टि अनुधावन करती है, वहाँतक तो इस छोड़ देने को यह अपने व्यक्तित्त्व का सर्वनाश ही मान बैठता है, जबकि वस्तुतः यह इसका व्यक्तित्त्व है ही नहीं मानवता के मापदण्ड से। आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व ही मानव का वह व्यक्तित्त्व है, जिसके समतुलन में भूतानुगत व्यक्तित्त्व का कोई भी तो स्वरूप शेष नहीं रह जाता। किन्तु आत्मयोग से वञ्चिता बुद्धि मानव को इसके बुद्धिवादानुग्रह से आत्मव्यक्तित्त्व का संस्पर्श भी नहीं करने देती। अतएव इसे उस वास्तविक व्यक्तित्त्व का बोध ही नहीं हो पाता। अतएव इस कल्पित व्यक्तित्त्व को ही अपना वास्तविक व्यक्तित्त्व मानने में आविष्ट बना रह जाता है यह बुद्धिवादी मनमानी करने वाला मानव। **'समझते हैं, किन्तु मानते नहीं'**, यही दुराग्रहरूप अभिनिवेश की स्वरूप–परिभाषा मानी गई है।

१५६- सहजसत्त्वनिष्ठ मानव में क्षणिक सत्त्वोदय, किन्तु अभिनिवेशवश सत्त्व की पुनः अन्तर्म्मुखता—

मानव अन्ततोगत्त्वा मानव है। मानवजीवन में ऐसे भी पवित्र क्षण यदा–कदा अवश्य ही आते रहते हैं, जिनमें स्वयं इसके आत्मदेवता ही इसकी बुद्धि–मन के सम्मुख इसका वास्तविक नग्न स्वरूपचित्रण कर दिया करते हैं। एवं अवश्य ही मानव उन सौभाग्यक्षणों में क्षणमात्र के लिए उद्बोधन भी प्राप्त करलेता है। और उस क्षणिक-सात्विक वातावरण में अपने दम्भपूर्ण–व्यक्तित्त्व के प्रति इसे घृणा भी होने गलती है। किन्तु क्षणानन्तर ही पुनः चिर–अभ्यस्त वही व्यक्तित्त्वविमोहन इसे पुनः आक्रान्त कर लेता है, और पुनः यह **'पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः'** न्यायपथानुगामी बन जाता है। अवश्य ही अस्मदादि अभिनिविष्टों को इस श्रेणिपथानुगामित्त्वेन विचिकित्स्य माना जा सकता है, माना है–शास्त्र ने, यदि वे इस क्षणिक–सात्विक–उद्बोधन को कार्यरूप में परिणत कर लें, तो। क्या तात्पर्य्य ?।

१५७–धर्म्माचारविहीनता से अनुप्राणित असदाचारप्रवृत्तिमूलक सर्वस्वविनाशक अभिनिवेश—

तात्पर्य्य स्पष्ट **है**। क्या भारतराष्ट्र में प्रज्ञाशील सत्त्वबुद्धिपरायण मानवों की, तत्रापि संस्कृति के, एवं निगमागमपुराणस्मृतिशास्त्र के परपारदर्शी विद्वानों की कमी रही है ?। कदापि नहीं। यहाँ की आत्मदर्शनमूला

बुद्धिमत्ता के प्रभाव से तो भारत का बच्चा बच्चा भी आत्मा की अमरता के ही गीत गाता फिरता है गली गली में। विद्वानोंनें वैसे बड़े बड़े पोथे लिख डाले हैं, जिनमें आत्मा-परमात्मा-संस्कृति-धर्म्म-परलोक-स्वर्ग-नरक-आदि सभी की आडम्बरपूर्णा व्याख्याएँ हुईं हैं, जिस आडम्बरपूर्णता का अर्थ है–'**आचारविहीनता**'। संस्कृति का आचारपक्ष तथाकथित दार्शनिक विजृम्भणों से ही तो पराः-परावत बन गया है इस राष्ट्र से। अतएव केवल समझलेने से ही तो सबकुछ नहीं हो जाता। समझते हुए भी मानव ने छोड़ा क्यों नहीं अभिनिवेश ?, प्रश्न का समाधान यहीं, इसी आचारबुद्धि में निहित है।

१५८–अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–गर्भित अभिनिवेशमूलक व्यक्तित्वविमोहन, एवं तत्संरक्षण में अभिनिविष्ट विमूढ मानवों के आचारविहीन असदाचरण—

और आचारपद्धति का दुराग्रहमूला उन मान्यताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो मान्यताएँ आचाररूप से आज प्रचलित हो पड़ीं हैं। अविद्या–अस्मिता–गर्भित अभिनिवेशमूलक व्यक्तित्वविमोहन से अनुप्राणित व्यक्तित्व, काल्पनिक व्यक्तित्वसंरक्षक–काल्पनिक सत्य–अहिंसा–मानवता–मानवधर्म्म–वर्गभेदोच्छेद–आदि आदि का नाम कदापि आचारपद्धति नहीं है, जिस इत्थंभूत काल्पनिक आचारपद्धति का, आश्रम-जीवनपद्धतिविरुद्ध–दाम्पत्यविरोधी कल्पित वैराग्य का, आत्म–देवोपासनाशून्य मतवादात्मक धर्म्माभास का, मोहप्रवर्त्तक अज्ञानात्मक ज्ञान का, व्यक्तित्वदम्भलक्षणा अस्मिता के प्रवर्त्तक काल्पनिक ऐश्वर्य्य का (भौतिक जड़ता का), आदि आदि का निगमागमादि भारतीय शास्त्र में तो कहीं नामोल्लेख भी नहीं हुआ है आचाररूपेण। ये सब काल्पनिक वैराग्य, ये सब काल्पनिक मतवादात्मक धर्म्म तो उस त्रिसहस्रवर्षात्मक अन्धयुग के ही व्यक्तित्वविमोहक–विजृम्भण हैं, जिन्हें सत्तासापेक्षतामूलक स्वस्वरूपविमोहनने ही जन्म देडाला है। अतएव जैसे तत्त्ववाद काल्पनिक बनता चला आरहा है उस कालावधि में, तथैव आचारवाद भी काल्पनिक ही बनता आरहा है, जिस इस काल्पनिक आचारविजृम्भण का सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिक–आयोजन से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है।

१५९–सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग, राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग–गर्भित आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोगात्मक समन्वयोग से ही मानवस्वरूप की अभिव्यक्ति, एवं तद्द्वारा ही मानवता का संरक्षण—

बुद्धिगत अविद्यादोष की निवृत्ति के लिए निगमागमस्वाध्यायनिष्ठा के द्वारा **ज्ञान**संस्कार का अनुगमन करना पड़ेगा, अस्मितादोष ऐश्वर्य्य से पलायित होगा, रागद्वेषात्मिका आसक्ति निष्कामकर्म्मयोगात्मक वैराग्य से हटेगा, एवं दुराग्रहरूप अभिनिवेश धर्म्माचरण से ही निवृत्त होगा, जिन इन चारों आचारपद्धतियों का निरूपण तो हुआ है विध-निषेधात्मक स्मार्त्त-'**धर्म्मशास्त्र**' में, मौलिक रहस्य प्रतिपादित हुआ है '**वेदशास्त्र**' में, एवं लोकानुगत कौशल प्रतिपादित हुआ है सुप्रसिद्ध उस '**गीताशास्त्र**' में, जिसे तत्त्वनिष्ठ–आचारनिष्ठ विद्वानों नें '**बुद्धियोगशास्त्र**' ही कहा है, जिसमें **सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग, राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग, राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग**, तथा **आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग**, भेद से उन चतुर्विध बुद्धियोगों के कौशल का ही निरूपण हुआ है, जिन के द्वारा मानव की बुद्धि के अविद्या–अस्मिता–आसक्ति-अभिनिवेश नामक चारों ही दोष निवृत्त हो जाते हैं। इस आचरणपद्धति के अनुगमन से ही मानव

बुद्धिवाद के पङ्क से निकल सकता है, जिस पङ्क से मानव समझता हुआ भी इसलिए नहीं निकल रहा कि, इसका आज न तो सांस्कृतिक–आचार से ही कोई सम्बन्ध रहा है, न इसके सांस्कृतिक–आयोजन ही स्वस्वरूप से व्यवस्थित हैं।

१६०–अभिनिवेशाविष्ट भारतीय मानव के द्वारा ही भारतीय सांस्कृतिक माङ्गलिक-आचारों की उपेक्षा–अवहेलना–तिरस्कार, तथा भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक–अधःपतन, एवं तत्समर्थक सत्तातन्त्र—

निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली आत्म–बुद्धिदासता ने भारतराष्ट्र के मन, तथा शरीर-पर्वों को उस सीमापर्य्यन्त अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश–नामक महा पाप्माओं से समाप्लुत कर लिया है कि, आज यह पश्यन् अपि न पश्यति, शृण्वन्–अपि न शृणोति, विजानन्–अपि न विजानाति। चारों बुद्धिदोष आज 'अभिनिवेश' को ही केन्द्र बना बैठे हैं, जिस अभिनिवेशमूलक दुराग्रह के कारण आज भारतीय मानव स्वयं ही अपनी मूलसंस्कृति का अन्यतम विरोधी बनता जारहा है, जो निश्चयेम भारतराष्ट्र के लिए अत्यन्त ही **'अमङ्गलसूचना'** है। जिस अमुक दलविशेष के करमकलों नें भारतीय जनतन्त्र के अनुग्रह से **'राष्ट्रसत्ता'** को समलङ्कृत किया है, वह दलविशेष तो भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण अवनति का एकमात्र कारण भारतीय–संस्कृति, भारतीय–धर्म्म, तन्मूलक आचार, आदि को ही मानने मनवाने में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के समर्पण में व्यग्र बनता जारहा है।

१६१–बुद्धिवादी अभिनव–विद्वानों के द्वारा सत्तातन्त्र के तथाकथित समर्थन की पुष्टि, एवं संस्कृतिरक्षक विद्वद्वर्ग का ही संस्कृतिभक्षणप्रयास—

दुर्भाग्यवश भारतराष्ट्र के वर्त्तमान कतिपय बुद्धिवादी विद्वानों का भी उन्मुक्त सहयोग प्राप्त है तथाविध समर्पणकर्म्म में सत्तातन्त्र को, जिन बुद्धिवादी–व्यक्तिप्रतिष्ठाकामुक–वित्तैषणागर्भिता–लोकैषणा के अनुगामी सांस्कृतिक? विद्वानों? का विगत तीन सहस्र वर्षों से यही लोकव्यवसाय (पेशा) बनता चला आरहा है कि, जो जो सत्तातन्त्र सिंहासनारूढ होते जायँ, सिंहासनारूढ जो जो सत्ताधीश सत्तामदान्ध बन कर जिन जिन मान्यताओं को मनोऽनुगता मानते जायँ, उन उन सत्तामान्यताओं को अपनी बुद्धिवादात्मिका काल्पनिक व्याख्याओं के द्वारा शास्त्रसिद्ध प्रमाणित करते जाना, एवं पुरस्कार में पण्डितराज, महामहोपाध्याय, पुरातत्त्ववेत्ता, आदि उपाधियों, पुरस्कारों से सम्मानित होते हुए अपने सर्वथा काल्पनिक गाम्भीर्य्य–मितभाषिता–सामयिकवेशभूषानुगति–आदि आदि बाह्य–आकर्षक–प्रदर्शन–माध्यमों से राष्ट्रीय–जनतन्त्र की सनातन-श्रद्धा,-सनातन परम्पराओं में शैथिल्य उत्पन्न करने के जघन्यतम प्रयत्नों में तल्लीन बने रहना।

१६२–सत्ताश्रयता के लिए लालायित भावुक विद्वानों के द्वारा ही निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से भारतीय मूलसंस्कृति का स्वरूपाभिभव, एवं उसके भीषण–परिणाम—

जिन भारतीय विद्वानों नें अतीत युगों में मिलिन्द-अशोकादि बुद्धराजाओं के शून्य-क्षणिक-वादात्मक अनात्मवादों का यशोगान किया उसी शास्त्रप्रामाण्य के माध्यम से, जिन विद्वानों नें गुप्तसाम्राज्यकाल में

कमलाविलासमदोन्मत्त भारतीय राजाओं की श्रृङ्गाररसपरायणा लोलुपताओं, विलासलीलाओं के अनुरञ्जन के लिए तद्रसप्रधान साहित्य-सङ्गीत-कला-भावों का सर्जन करते हुए अपने इस कामुकतापूर्ण साहित्यिक रस को सर्वबलविशिष्टरसैकघन परात्परात्मा के आनन्दरसप्राप्ति का अन्यतम साधन प्रमाणित कर डाला, और भी आगे चल कर जिन विद्वानों नें सत्ताशैथिल्य से समुद्भूत विविध मतवादों–सम्प्रदायवादों के प्रति आत्म-- समर्पण करते हुए निगमागमशास्त्र को मतवादसमर्थन में प्रधानता प्रदान कर डाली, आगे चलकर जिस मुगलसाम्राज्यकाल में जिन इन्हीं भारतीय विद्वानों नें–'**दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा**' के सांस्कृतिक ! निनाद से भारतवसुन्धरा के वक्षस्थल को विदीर्ण करते रहने में यत्किञ्चित् भी लज्जा का अनुभव नहीं किया, और जिन इन्हीं वेद–पुराण–स्मृतिभक्त–भारतीय विद्वानों नें ब्रिटिशसत्ताकाल में सर्वश्री-विक्टोरिया, सप्तमएड– बर्ड–पञ्चमजार्ज आदि की स्वास्थ्यकामना के लिए अपने देवमन्दिरों में नवीन काव्यों का निर्म्माण कर उन से विभिन्न उपाधि-सम्मान प्राप्त करते रहना विस्मृत नहीं किया, और जिन भारतीय वीतराग-सन्यासी बाबाओं नें ब्रिटिश- सत्ता के अवसानकालात्मक युद्ध–अवसर पर ब्रिटिशसत्ता के प्रतिद्वन्द्वी **श्रीतोजो–हिटलर** आदि के सर्वनाश के लिए ब्रिटिशराजधानी देहली में यज्ञानुष्ठान कर अपनी राजभक्ति के आटोपपूर्ण–प्रदर्शन में हीं भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति–निष्ठा की भी मानो अन्तिम बार आहुति ही दे डाली, वे ही भारतीय विद्वान् उसी शास्त्र के बल पर आज **गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र** का जोड़-तोड़ बैठाने में हीं अपनी सांस्कृतिक-प्रज्ञानज्योति को उत्पीड़ित करते जा रहे हैं वर्त्तमान सत्तातन्त्र की कृपाभिक्षा–प्राप्ति के लिए ही, इति नु महतीयं खल्वनर्थपरम्परा भारतीय- विद्वत्प्रज्ञायाः ।

१६३–'संस्कृति' शब्दार्थ से भी असंस्पृष्ट आज के 'सांस्कृतिक–आयोजन'—

यों, और वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा की पूर्त्ति के लिए, किंवा लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा की पूर्त्ति के लिए निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से राष्ट्रीय–विद्वत्प्रज्ञा सत्तासापेक्षता के माध्यम से ही संस्कृति की व्याख्या में प्रवृत्त रही, जिस इस सत्तासापेक्षतामूला प्रवृत्तिका, किंवा घोरघोरतमा दुष्प्रवृत्ति का ही यह भीषण परिणाम हुआ कि, संस्कृति का अपना कोई भी मौलिक स्वरूप व्यक्त होने हीं नहीं पाया इस सुदीर्घकाल में । अपितु संस्कृति के नाम से विद्वानों नें, और–गतानुगतिकन्यायेन अन्य सभी वर्गोंनें अपनी अपनी व्यक्ति–पद–प्रतिष्ठाओं के संरक्षणानुरूप ही बुद्धिवादात्मिका–मनोऽनुगता–मान्यताओं को ही '**संस्कृति**'–'**सांस्कृतिक आचार**'–'**सांस्कृतिक–आयोजन**' आदि नामों से व्यवहृत करना आरम्भ कर दिया, जबकि इन मानसिक मान्यताओं के साथ, शारीरिक उत्पथाचरणों के साथ 'संस्कृति' शब्द का अक्षरार्थ भी सो समन्वित नहीं हो रहा ।

१६४–संस्कृति–संस्कृत–संस्कार––सांस्कृतिक––आदि रहस्यपूर्ण शब्दों के चिरन्तन वाच्यार्थ से असंस्पृष्ट काल्पनिक आयोजनों के काल्पनिक विजृम्भण—

संस्कृति–संस्कृत–संस्कार-सांस्कृतिक–आदि शब्दों के अक्षरार्थ से भी पराङ्मुख सर्वथा प्राकृत–भाव, असंस्कृतभाव भी इस व्यक्तित्वविमोहन के अनुग्रह से आज '**संस्कृति**'–'**सुसंस्कृत**'–'**सांस्कृतिक**' नामों से व्यवहृत होने लग पड़े । किसी ने मानस अट्टाट्टहास कर दिया, किसी ने आँ–आँ-आँ-करना आरम्भ कर दिया, कोई विचित्र परिधान धारण कर थिरकने लग पड़ा, और यों जिस जिसने अपने मानसिक-शारीरिक भाव-चेष्टाओं के माध्यम से जब भी, जहाँ भी, जो भी, जैसा भी, प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया, वही भारतीय

'संस्कृति' बन बैठी, इन आयोजनोंनें हीं **'सांस्कृतिक–आयोजन'** का नाम धारणकर लिया, ऐसी संस्कृति के आयोजन, एवं तत्र आचाररूपेण समाविष्ट महापुरुष ही **सुसंस्कृत–सांस्कृतिक–मानव** कहलाने लग पड़े, इनकी विचित्रा वेशभूषा ही **सांस्कृतिक वेशभूषा** बन बैठी, इनकी विचित्र मुखाकृतियाँ हीं **सांस्कृतिक छवियाँ** प्रमाणित हो पड़ीं, इनके विचित्र रेखाङ्कन ही **सांस्कृतिक–कला** का नाम धारण कर बैठे। यों इनका **गमन–हसन-रुदन-शयन-विकम्पन-प्रश्वसन-लेखन-भाषण-भोजन-उद्‌घाटन-विचरण**-आदि आदि सभी मानसिक शारीरिक--विजृम्भण **'सांस्कृतिक–आयोजनों'** की सीमा में समाविष्ट हो गया, और यही भारतीय–संस्कृति का वह अश्रुपूर्णाकुलेक्षण इतिवृत्त बन गया, जिसके स्मरणमात्र से भी जो भारतीय संस्कृति विकम्पित हो पड़ती थी पुरायुगों में। उसी भारतीय संस्कृति को उसी की सन्तति के अनुग्रह से आज अपना वह सर्वथा रूपान्तर भी देखने सुनने का दुर्भाग्य उपलब्ध हो रहा है उस युग में……………?।

१६५--स्वतन्त्र--भारतराष्ट्र से अपेक्षित भारतीय–संस्कृति के पुनरुद्धार के स्थान में पूर्वापेक्षया भी भारतीय संस्कृति का अधिक पददलन, और सांस्कृतिक–भारत–राष्ट्र का महान् दुर्भाग्य—

किस युग में ?। जिस वर्त्तमान स्वतन्त्रयुग की भारतीय संस्कृति अनेक शताब्दियों से इस आशा से प्रतीक्षा करती आ रही थी कि, "जब यहाँ का राष्ट्र स्वतन्त्र हो जायगा, तो अवश्य ही यह अपनी सत्तासापेक्षा–दासता से उन्मुक्त होकर मतवाद–सम्प्रदायवाद–निरपेक्ष अपने सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र मौलिक स्वरूप से संस्कृति को व्यक्त होने का अवसर मिलेगा"। निश्चयेन महद्‌भाग्य से तीन सहस्र वर्षों की आत्मिक–बौद्धिक–मानसिक, तथा शारीरिक दासता के अनन्तर भारतराष्ट्र परसत्ताओं के वारुणपाश से निकल कर स्वतन्त्र बना है, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र बना है। किन्तु इसकी संस्कृति का वह आशा–प्रतीक्षामय स्वप्न तो इस स्वतन्त्र राष्ट्र में भी सफल न हो सका। यही नहीं, इस युग में तो पूर्व के दासतायुगों की अपेक्षा भी इसे अधिकरूपेण अवमानित–तिरस्कृत–पददलित्त ही होना पड़ रहा है काल्पनिक सांस्कृतिक-आयोजनों के व्यामोहनों से। जिस मूलसंस्कृति के आशाप्रतीक्षामय स्वप्न की साकारता से भारतराष्ट्र अपना अतीत गौरव प्राप्त कर सकता था स्वतन्त्रता के इस भुक्त–स्वल्प काल में, उसी इस स्वल्प–स्वतन्त्रकाल में भारतराष्ट्र ने अपनी मूलसंस्कृति की उपेक्षा कर तत्स्थान में संस्कृतिविरोधी तत्त्वों का अपने व्यक्तिप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों से अन्धानुकरण कर भारतराष्ट्र को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से तो पुनः कई शताब्दियों के लिए पीछे ही ढकेल दिया है आत्मबुद्धिनिष्ठा से वञ्चित गतानुगनिक भौतिक–आयोजनों की कल्पना–विभोरता से, इससे बड़ा दुर्भाग्य इस संस्कृतिका, एवं सांस्कृतिक–भारतराष्ट्र का और क्या होगा ?।

१६६–दुर्भाग्योपशम का एकमात्र उपाय 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तनेनिवृत्त का सर्वतोभावेन आराधन–

जैसा कि, निवेदन किया गया है–राष्ट्र किसी भूखण्ड का नाम नहीं है। अपितु चतुष्पर्वा सांस्कृतिक 'मानव' का नाम ही 'राष्ट्र' है, जिसके **आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर** नामक ये चारों मानवीय पर्व निर्विरोध सुसन्वित रहते हैं। चारों में आत्मभाव ही वह **'समब्रह्म'** है, जिसका-**'निर्दोषं हि समब्रह्म'** इत्यदि वाक्य से संकेत हुआ

है। समब्रह्म का एकत्त्वनिबन्धन साम्य ही **'सम्'** उपसर्ग से प्रतिध्वनित है। इस 'सम्' की कृति ही सुडाग– गमत्त्वेन 'संस्कृति' है, तन्मूलक बुद्धि--मनः--शरीर--पर्व हीं सांस्कृतिक पर्व माने गए हैं। संस्कृतिरूप (समब्रह्म– आत्मब्रह्म) से वञ्चित बौद्धिक--मानसिक--शारीरिक--कोई भी व्यासङ्ग 'सांस्कृतिक' तो कदापि नहीं कहला सकता, जिस इस रहस्यपूर्ण तथ्य के लिए तो निबन्धानुगत 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तन इतिवृत्त को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा।

१६७--'मानवस्वरूपबोध' से वञ्चित मानव का प्रज्ञास्खलन, एवं तन्निरोध के लिए अपेक्षित मानवस्वरूप का समन्वय—

वस्तुस्थिति तो यथार्थ में कुछ ऐसी प्रतीत हो रही है कि, जबतक भारतराष्ट्र मानव के इस संस्कृति– सिद्ध चतुष्पर्वा सांस्कृतिक–स्वरूप से अवगत नहीं हो जायगा, तबतक इसे **'स्वरूपबोध'** ही न होगा। एवं जबतक स्वरूपबोध न होगा, तबतक मानव के स्वरूप का विश्लेषण करने वाली भारतीय–निगमागमसंस्कृति, तदुपबृंहणरूपा-श्रौती-स्मार्त्ती-पौराणिकी-संस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक उस मौलिक-विशुद्ध-सर्वनिरपेक्ष स्वरूप की ओर इसका ध्यान ही नहीं जायगा, जो मौलिक संस्कृति, किंवा मौलिक संस्कृति का ज्ञानविज्ञानात्मक जो विशुद्ध मानवीयरूप सत्तासापेक्षता, एवं तदनुबन्धिनीं अन्यान्य परःशत अपेक्षाओं के कारण तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला रहा है। वही वेद है, वही **आगम** है, वही **गीता** है, वही **पुराण** है, वे ही **सूर्य्य-चन्द्रमा** हैं, वे ही **गगन-पवन** हैं, वही **माता धरित्री** है, वही **ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि** अन्तःसंज्ञ-वर्ग है, और वही है चिरन्तन–चिरपुरातन–चिरनूतन **शाश्वत मानव**। फिर ऐसी वह ऐसी कौनसी त्रुटि– न्यूनता होती चली आ रही है निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से इस सांस्कृतिक–भारतराष्ट्र में, जिस के कारण सब कुछ 'वही' रहते हुए भी यहाँ का मानव अपने **आत्मतन्त्र से अशान्त, बुद्धितन्त्र से विभ्रान्त, मनस्तन्त्र से क्लान्त**, एवं **शरीरतन्त्र से श्रान्त** ही बनता जारहा है उत्तरोत्तर ?, प्रश्न का समाधान'-**वही**' माना जायगा, जिस–'**वही**' का–'स एवायम्' रूपा प्रत्यभिज्ञा से ही सम्बन्ध माना गया है।

१६८–मानव के स्वरूप-व्यवस्थापक पुरुष, और प्रकृति–विवर्त्त––

बात थोड़ी समझने जैसी है। मानव का आत्मभाव **'पुरुष'**, एवं सूर्य्य–चन्द्र-पृथिवी–मूलक बुद्धि- मन-शरीरतन्त्र मानव का **'प्रकृति'** भाव है, जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। पुरुष ही मानव का 'मानव' पर्व है, प्रकृति ही मानव की **मानव–प्रकृति** है। यों एक ही मानव पुरुष प्रकृति–भेद से **'मानव-पुरुष--मानवप्रकृति**–रूपेण दो स्वरूपों से समन्वित हो रहा है। मानवपुरुष जहाँ शाश्वत–सनातन, और **'वही'** अनाद्यनन्त है, वहाँ मानवप्रकृति सदैव परिवर्त्तनशीला है। इस परिवर्त्तन को नियन्त्रित करते हुए अग्रगामी बनने वाला मानव ही **'मानवपुरुष'** है। यही वह **'वही'** मानव है, जो प्रकृति के बदलते रहने पर भी अपने आत्मभाव से कभी नहीं बदलता।

१६९-मानवमात्र के लिए अभिन्न मानवपुरुष, एवं प्रत्येक पुरुषमानव में विभिन्ना मानव-प्रकृति––

अभिन्न है **'मानवपुरुष'** मानवमात्र में, जबकि **'मानवप्रकृति** सोपाधिक विभिन्न शरीरों में विभिन्ना हैं। अतएव **'आत्मधर्म्म'** जहाँ **मानवमात्र** का एक होगा, वहाँ **'प्रकृतिधर्म्म'** मानवमात्र के विभिन्न ही होंगे।

इन अभिन्न-भिन्नों का सह-समन्वय ही संस्कृति का वह महान् कौशल माना जायगा, जिस का-'**समदर्शनत्वे सति विषमवर्त्तनत्वम्**' सूत्र से ही स्पष्टीकरण हुआ है। '**दृष्टि सर्वत्र समान, किन्तु व्यवहार सर्वत्र पृथक् पृथक्**' का अर्थ होगा, '**आत्मस्वरूपानुगत प्रकृतिस्वरूपसंरक्षण**'। इसी सूत्र से यहाँ की संस्कृति, किंवा धर्म्म सनातनसंस्कृति, **सनातनधर्म्म** नाम से उद्घोषित है। यही इसका '**वही**' भाव है, जो आत्मविस्मृति से, साथ ही विभिन्ना भी प्रकृति की काल्पनिक अभिन्नता के व्यामोहन से सर्वथैव अन्तर्मुख बन गया है।

१७०-मानवीय अभिन्न पुरुषभाव, एवं विभिन्न प्रकृतिभाव के विवेक से पराङ्मुख प्रकृतिविमूढ मानव इतो भ्रष्टः, ततोऽपि भ्रष्टः---

बुद्धिवादी मानवने आत्मब्रह्म के स्थान में जिस दिन से कल्पित बौद्धवाद, किंवा बुद्धिवादरूप शून्यवाद को प्रतिष्ठित कर दिया, उस दिन से '**वह**' रूप आत्मब्रह्म मानवस्वरूप से अन्तर्हित होगया, और रह गया यह केवल प्रकृतिरूप, प्रकृतिभावानुगत-प्राकृतमानव। उत्तरोत्तर मानव इस प्राकृतिक व्यामोहन में ज्यों ज्यों अधिकाधिक आसक्त-व्यासक्त होता होगया, दूसरे शब्दों में यह अपनी, परिवार की, समाज की, राष्ट्र की, किंवा विश्व की समस्याओं का निराकरण प्रकृति के माध्यम से ही करने का प्रयास करता गया, निष्कर्षतः जबसे इसने 'आत्मपुरुष' को विस्मृत कर प्रकृति से ही प्रकृति को तुष्ट-तृप्त-शान्त करने का प्रयास आरम्भ कर दिया, तभी से उत्तरोत्तर रुष्टा-संक्षुब्धा प्रकृति इसके आत्मस्वरूप का नियन्त्रण ही करती गई। परिणामस्वरूप अन्ततोगत्वा न यह '**वही**' (पुरुष) ही रहा, न '**यही**' (प्रकृति) ही रहा। 'वही' आत्मपुरुष, और '**यही**' प्रकृति'। किन्तु '**वही**' की विस्मृति से न वह '**वह**' रहा, न यह-'**यह**' रही। यही भारतराष्ट्र के प्राकृत व्यामोहन का दुःखपूर्ण वह इतिवृत्त है, जिस आत्मशून्य इस प्राकृतिक इतिवृत्त नें ही सबकुछ 'वही' रहते हुए भी इस भारतीय मानव को आज '**इतो भ्रष्टः (प्रकृतिस्वरूपतो भ्रष्टः')**, एवं '**ततोऽपि भ्रष्टः (पुरुषस्वरूपतोऽपि भ्रष्टः')** ही प्रमाणित कर रक्खा है।

१७१-नवग्रहग्राहों से मानव का पारम्परिक विमोहन, एवं आत्मबुद्धिविमूढ नितान्त भावुक भारतीय हिन्दू--मानव का आतायीवर्ग के द्वारा सर्वस्वापहरण—

विगत कालावधि में जो भी **सत्ताधीश, विद्वान्, सम्प्रदायाचार्य्य, मतवादप्रवर्त्तक, दार्शनिक**, धार्म्मिक, **भक्त, सुधारक, राजनैतिक**-इस राष्ट्रमानव के उद्बोधन के लिए पधारते रहे, सबनें इसकी आत्मपौरुषनिष्ठा को तो उत्तरोत्तर किया अभिभूत, एवं इस की भावुकता को उत्तरोत्तर किया समुत्तेजित। और यों सबने इस की भावुकता से लाभ ही उठाया, जबकि इस भावुकता को ही यह भावुकतावश **त्याग-तपस्या-बलिदान-सत्य-अहिंसा-मानवता-समानता**-मानता रहा। मानता नहीं रहा, अपितु उन उद्बोधक-महाग्रहग्राहों नें ही इसकी भावुकतापूर्णा-निष्ठाशून्या-पिब्दमाना कातराीकृता-प्रज्ञा में दृढ़संस्काररूप से त्याग-तपस्यादि शब्दों को खचित कर दिया, जिन शब्दों के व्याज से ही उद्बोधक ग्रहग्राह अपना स्वार्थसाधन कर सकते थे। इसे पाठ पढ़ा दिया परमार्थ का, एवं स्वयं करते रहे वे स्वार्थसाधन। और यों यह भावुक भारतीय मानव, विशेषतः आस्तिक भारतीय मानव, तत्रापि भारतीय **आस्तिक हिन्दू मानव** इन नवग्रहग्राहों से ग्रहग्रस्त ही बना रहता हुआ अपनी परदर्शनमूला इसी सर्वविनाशिका भावुकता के कारण अपना **आत्मिक-बौद्धिक-मानसिक-शारीरिक**-सभी ऐश्वर्य्य लुटाता रहा, और लुटेरे लूटते रहे इसे **त्यागी-तपस्वी-दानी-परमार्थी** कहते हुए। और यह भावुक इन

काल्पनिक–उपाधि--सम्मानों से ही आगे जाकर तो इस सीमापर्य्यन्त नितान्त ही भावुक बन गया, जिसने इसको 'प्राजापत्य दाम्पत्य' से पृथक् कर उस कल्पित **वयस्क–संख्यास** पर ही ला छोड़ा, जिसमें उपलब्धा शून्यता ने ही इसका संवरण कर लिया सर्वात्मना अन्ततोत्त्वा, जिस इस 'भावुकता' के जघन्य–इतिवृत के नग्नस्वरूप-विस्फोटन के लिए ही हमें त्रिसहस्रपृष्ठात्मक--खण्डचतुष्टयानुगत–'**भारतीय हिन्दू--मानव, और उसकी भावुकता**' निबन्ध प्रस्तुत कर देना पड़ा है राष्ट्रदेवता के पावन चरणों में* ।

१७२ - निबन्ध के नामकरण के सम्बन्ध में—

आत्मपुरुष ही '**अव्ययब्रह्म**' है, यही '**समब्रह्म**' है, तन्मूला आत्म–बुद्धि–मनः-शरीर–संस्कृति ही 'संस्कृति' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त है, जिस इत्थंभूत चिरन्तन इतिवृत्त के समन्वय के लिए राष्ट्रीय मानव को तीन सहस्र वर्षों की यच्चयावत् अपेक्षाओं, सापेक्षाताओं, लोकव्यामोहनों, पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों, व्यक्तिस्वविमोहनों, परदर्शनमूला भावुकताओं, वित्तैषणाओं, सर्वोपरि लोकैषणाओं, वैय्यक्तिक स्वार्थसाधक भावुकतासंरक्षणपथों, आदि आदि समस्त प्राकृतिक अनुबन्धों से निरपेक्ष ही बनना पड़ेगा। तभी संस्कृति के मौलिक चिरन्तन इतिवृत्त का स्वरूपबोध प्राप्त हो सकेगा। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत निबन्ध के दो पृथक्-पृथक्–प्रकरणों में से प्रथम प्रकरण का '**सत्तानिरपेक्ष–संस्कृति–शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त**' यही नाम अनुरूप मान लिया गया है, जिसमें संस्कृति, एवं तदनुगता '**सभ्यता**' शब्दों के ही विविध स्वरूप व्यक्त करने की चेष्टा हुई है ।

१७३–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आज के भारत में सांस्कृतिक-आयोजनों का प्रचण्ड प्रवाह, एवं भारतीय सांस्कृतिक–पतन की झलकियाँ, इति 'कालाय तस्मै नमः'—

दूसरे प्रकरण में-"**सांस्कृतिक–आयोजन' की रूपरेखा**' अभिव्यक्त हुई है, जिसके सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र में आज सांस्कृतिक–आयोजनों की बाढ़ सी आई हुई है। भारतराष्ट्र की **राजधानी देहली** तो आज इन आयोजनों की केन्द्रस्थली ही प्रमाणित हो रही है समागत सम्मान्य अतिथियों के स्वागत समारोह में अनुदिन प्रक्रान्त रहने वाले **सांस्कृतिक–आयोजनों** से। '**भावुकतासंरक्षण**' की अन्तिम सीमाविन्दु से हमनें बड़े धैर्य्य से इन आयोजनों की '**सांस्कृतिकता**' के समन्वय की चेष्टा की। किन्तु प्रयास करने पर भी हमारी वेदाभ्यासजड़मति इन लोकायोजनों में भारतीय-संस्कृति की तो प्रतिच्छाया भी उपलब्ध न कर सकी। अपितु ठीक इसके विपरीत **राजधानी** में, तथा तत्कृपावशवर्त्ती प्रान्तसत्तातन्त्रीय नगरों में, एवं तदनुपात से गतानुगतिकन्याय से ही नगरे नगरे ग्रामे ग्रामे गृहे गृहे सवत्रैव समायोजित होप ड़नें वाले इन आयोजनों में भारतीय संस्कृति का तो उपहास ही उपलब्ध हुआ कर्णाकर्णिपरम्परया इनके वृत्तश्रवणानुग्रह से। इन आयोजनों में, आज की उल्लासपूर्णभाषा में '**सांस्कृतिक–झल्कियों**' में भारतीय–राष्ट्रमानव की आत्मबुद्धिप्रतिष्ठा से वञ्चित उस मानसिक विनोद की ही हमें '**झलकी**' प्रतीत हुई, जिसकी झलक के गर्भ में हीं मानो सांस्कृतिक–राष्ट्रचेतना–राष्ट्रजागरण धू धू करके जल रहा है। क्या यही स्वरूप है भारतीय संस्कृति का !, जिसका कभी तो '**कत्थककली डाँस**' से प्रदर्शन हो रहा है, तो कभी '**रैबारियों के ऊँट**' प्रदर्शित किए जा रहे हैं, तो कभी '**तेरहताली नाच**' का आयोजन हो रहा है, तो कभी '**मणिपुर-नृत्य**' से मन

---

*-चार खण्डों में से अभी ६०० पृष्ठात्मक प्रथमखण्ड की प्रकाशित हो पाया है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आकर्षित किया जा रहा है, तो कभी **ढोल-ढमाकों-झञ्झा-ताल-मृदङ्गों** की ध्वनि के आह्लाद से संस्कृति के शवशरीर का विमर्द्दन किया जा रहा है, और सर्वोपरि राष्ट्र के सभी प्रज्ञाशील, बड़े बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षक, विद्यार्थी, आबालवृद्ध–नरनारी–सभी मानो इन्हीं सांस्कृतिक–आयोजनों को स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के एकमात्र 'स्वतन्त्र–प्रतीक' मानने–मनवाने के लिए आतुर हो रहे हैं। कालाय तस्मै नमः।

१७४–धर्म्म-संस्कृति-आदर्श-आदि नामच्छलों के व्याज से प्रक्रान्त भारतीय साम्प्रदायिक-आचारों की असांस्कृतिकता, एवं तद्द्वारा राष्ट्र के सांस्कृतिक स्वरूप का विमोहन––

क्या भारतीय सस्कृति नृत्य–गीत–वाद्य–समन्वित सङ्गीत का विरोध करती है ?, कदापि नहीं। सर्वत्र आत्मब्रह्मरूप सत्ताब्रह्म का, उसके अस्तित्त्व का उपासक सांस्कृतिक–क्षेत्र किसी भी प्राकृतिक आयोजन का विरोध करे, यह सम्भव ही नहीं है। प्रश्न है केवल 'संस्कृति' शब्दार्थ का, जिसके बिना सभी आयोजन स्वतः ही असांस्कृतिक बन जाया करते हैं। और इसी दृष्टि से आत्मब्रह्ममूला देवसंस्कृति से पराङ्मुख सभी आयोजन 'संस्कृति' की परिभाषा से असांस्कृतिक ही प्रमाणित हो जाते हैं। सहजभाषा में–आत्मबुद्धिसम्मत धर्म्म से पृथग्भूत, किंवा निरपेक्ष किसी भी आयोजन को, आचार को सांस्कृतिक नहीं कहा जा सकता, फिर भले ही वह आयोजन, किंवा आचार शास्त्रीय ही क्यों न हो। इसीलिए तो संस्कृति–धर्म्म–आदर्श–आदि आदि के नाममाध्यम से प्रकात रहने वाले वे समस्त भारतीय–आचार–आयोजन भी तो तीन सहस्र वर्षों से असांस्कृतिक ही प्रमाणित होते हुए, मूलसंस्कृति से सर्वथैव विपरीत दिशा का अनुगमन करते हुए धर्म्म के स्थान में अधर्म्म का, किंवा धर्म्मव्याज से अधर्म्म का, बाह्याचार–प्रतीक–माध्यम से अपने अनाचारों का ही पोषण करते आ रहे हैं। इसीलिए तो परःशत–सहस्र धार्मिक ग्रन्थों, धार्मिक पीठों–मठों–आचार्य्यों–धर्म्म-सभाओं-महामहोपदेशकों-शास्त्रार्थमहारथियों के विद्यमान रहते हुए भी भारतीय संस्कृति-धर्म्म-आदर्श-उत्तरोत्तर उपहासास्पद ही बनते आ रहे हैं, जिस इस नग्नसत्य को भावुकता–संरक्षण के माध्यम से अब और अधिक प्रोत्साहन प्रदान करना भारतराष्ट्र को सर्वथा सभी दिशाओं से निष्प्राण ही बना देना है। इन अकाण्डताण्डवों का एकमात्र कारण वह व्यक्तित्त्वविमोहन ही है, जिसने प्रायः सभी को स्वस्वरूपदर्शन से वञ्चित कर दिया है।

१७५–संस्कृति–सभ्यता–आदर्श–धर्म्म–मानवता–आदि सांस्कृतिक विभूतियों के नामच्छलों से स्वार्थियों के आपणव्यवसाय, एवं तद्द्वारा भारतराष्ट्र का आत्यन्तिक–पतन —

सभी वर्ग–चाहे वह धार्म्मिक हो, सामाजिक हो, सुधारक हो, अथवा तो राजनैतिक, अपने अपने व्यक्तिपदप्रतिष्ठा के अनुरूप पहिले अपनी मान्यताएँ निश्चित कर लेते हैं, अनन्तर इन कल्पित मान्यताओं के रङ्ग से रञ्जितमना बन कर ही ये वर्ग संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदर्श–आदि की व्याख्याओं में प्रवृत्त होते हैं–स्व स्व मान्यताओं के समर्थनमात्र के लिए शब्दानुकरणमाध्यम से जोड़ तोड़ बैठाते हुए ही। इसप्रकार संस्कृति, एवं धर्म्म भी उसीप्रकार आपणव्यवसाय ही बन गए हैं, जैसे कि एक आपणव्यवसायी (दुकानदार) अपनी गलित–स्खलित वस्तु को भी वर्णनातिशय से महत्त्व प्रदान कर इससे अर्थलाभ में सफलता प्राप्त कर लेता है। यों सर्वत्र **'कारणता'–'उपयोगिता'** को प्रधानता प्रदान करते रहने वाले इत्थंभूत वर्गों के निग्रहात्मक

मान्यतानुग्रहों से ही 'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' जैसा महत्त्वपूर्ण उद्बोधनसूत्र अपनी निष्कारणता से पराङ्मुख बनता हुआ अभ्युदय–निःश्रेयस् के स्थान में आज प्रत्यवायजनित सर्वनाश का ही कारण प्रमाणित हो गया है ।

आज संस्कृति के लिए संस्कृति का स्वाध्याय अवरुद्ध है, धर्म्म के लिए धर्म्म का आचरण अभिभूत है। अपितु संस्कृति-धर्म्म के नामच्छल-माध्यम से हम अपना वैय्यक्तिक स्वार्थ, लोकैषणा कैसे, किस सीमापर्य्यन्त सार्थक कर सकते हैं, यही एक मात्र चिन्ता है, जिस इस दुश्चिन्ता से चिन्तित इन कारणतावादियों नें सांस्कृतिक–सन्देश–आदर्श–साहित्य–आदि को भी अपने व्यवसाय का ही माध्यम बना रक्खा है कई शताब्दियों से। और इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर देने में भी हमें कोई संकोच नहीं हो रहा कि–संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदर्श–सत्य–अहिंसा–आदि आदि आकर्षक नामों के माध्यम से जैसा छल हमनें किया है, वैसा विश्व में अन्य किसी ने भी अपनी मान्यताओं के साथ आज तक नहीं किया होगा। न मानना एक पक्ष है, मानने का दम्भ कर छल करना अन्य अक्ष है। एवं दोनों में न मानना ही अधिक उत्तम पक्ष है मानने का नाम लेकर उससे छल करने के समतुलन में। वैसा ही कुछ घटित–विघटित हो रहा है भारतीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदि के साथ विगत अनेक शताब्दियों से।

१७६–स्वार्थलिप्सागर्भिता कल्पित 'मानवता' के छलमाध्यम से 'विश्वबन्धुत्व' नामक महान् छल का आविर्भाव, एवं तद्व्यामोहनानुग्रह से भारतराष्ट्र के मौलिक-स्वरूप का आत्यन्तिक अभिभव—

इसी छलप्रपञ्च ने उस काल्पनिक '**विश्वबन्धुत्व**' जैसे आकर्षण को जन्म दे डाला है, जिस के विशाल प्राङ्गण में सभी प्रकार के छल-प्रपञ्च सुगमता से सम्पन्न होजाया करते हैं। '**मानवमात्र एक हैं, अतएव सब की मान्यताएँ हीं हमारी मान्यताएँ हैं**' इस उद्घोष के गर्भ में मानव के व्यक्तिमूलक जघन्य स्वार्थ ही उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित होते जारहे हैं '**प्रकृतिसाम्य**' जैसी असम्भव–कल्पना के माध्यम से। '**सब एक ही संस्कृति की विभिन्न शाखा–प्रशाखाएँ हैं**' जैसे विश्वबन्धुत्वमूलक भावुकतापूर्ण सूत्र के माध्यम से हम सभी क्षेत्रों से अपने आप को पराङ्मुख ही करते जारहे हैं। राजस्थानप्रान्त में एक लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि—'**जण जण को मन राखताँ स, कोई वेसाँ रहगी बाँझ**'। **कोई हमसे अप्रसन्न न रहे, सब हमें उदार कहें, भला कहें, अच्छा कहें**, इस परदर्शकता ने ही हमारे राष्ट्र की सांस्कृतिक–निष्ठा को उस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर दिया है कि, आज हमारे राष्ट्रीयकोष में–'**हमारा अपना स्वरूप**' जैसी कोई भी तो निधि प्रत्यक्ष में तो शेष नहीं रह गई है।

१७७–लोकमान्यतानुगत, नितान्त भावुकतापूर्ण 'अच्छा', और 'बुरा' शब्द, एवं इन भावुकतापूर्ण शब्दों से भावुक–भारतीय–मानव की प्रवञ्चना—

'**अच्छा**' लगना एक पक्ष है, '**वास्तविक हित**' अन्य पक्ष है। किसी के 'अच्छा' कहने से हम अच्छे नहीं बन जाते, तो किसी के 'बुरा' कहने से हम बुरे नहीं बन जाते। हमें स्वयं अपनी मूलनिष्ठा के आधार पर ही, '**पुण्य–पाप**' के समतुलन से ही लक्ष्यनिर्द्धारण करना पड़ेगा किसी के भी अच्छे–बुरे–प्रमाणपत्र–निन्दापत्र की कोई भी अपेक्षा न रखते हुए। हमारी संस्कृति स्वयं अपने आप में सर्वाङ्गीणा है, जिसे किसी के भी प्रमाण-

पत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। जिन की मान्यता, जिन का व्यक्तित्व परप्रमाणों की कृपा पर ही अवलम्बित है, वे पुण्य-पाप के स्थान में 'अच्छा-बुरा' के माध्यम से भले ही अपनी मूलनिष्ठाओं का विसर्जन करते रहें, कोई हानि नहीं है इससे मूलसंस्कृति की। हानि उन्हीं की है, जो इसके नाम से अपने आपकी प्रतारणा करते हुए भावुक-जनों को भी प्रतारित करते हुए पूर्वोक्ता-**'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करते जारहे हैं अपने व्यक्तित्वविमोहन से।

१७८-संस्कृति के लिए संस्कृति, एवं धर्म्म के लिए धर्म्म-लक्षणा संस्कृति--धर्म्म-निष्ठा से ही भारतराष्ट्र का सम्भावित अभ्युदय-निःश्रेयस्—

भारतीय आस्तिक मानव को तो अविलम्ब अपनी मूलसंस्कृति के सर्वनिरपेक्ष उस तथ्य की शरण में आ ही जाना चाहिए, जिस की अभया-वरदा-छत्रच्छाया में किसी भी प्रकार के व्यक्तित्वविमोहन का प्रवेश सम्भव ही नहीं है। **संस्कृति के लिए संस्कृति, धर्म्म के लिए धर्म्म** ही इस की मूलनिष्ठा बन जानी चाहिए, फिर इस निष्ठा से कोई प्रसन्न हो, अथवा तो अप्रसन्न। इसी उद्बोधन-माध्यम से, भारतीय-राष्ट्र-मानव को सत्तानिरपेक्षा संस्कृति के चिरन्तन इतिवृत्त के माध्यम से अपने उन **सांस्कृतिक--आयोजनों** को ही उपास्य बना लेना है, जिन के बिना भारतराष्ट्र आज सर्वथा ही दिग्भ्रान्त बन गया है अपने संस्कृतिशून्य कल्पित-आयोजन-प्रदर्शनों के विजृम्भणों के द्वारा।

१७९-मानवसंस्कृति के सांस्कृतिक विभिन्न नाम—

भारतीय सांस्कृतिक 'मानव' ही 'भारतराष्ट्र' है, जिस पुरुष-प्रकृतिरूप राष्ट्रमानव, किंवा मानवराष्ट्र के प्राङ्गण में आत्म-देव-संस्कृतिमूला एक ही संस्कृति मानवीय चार पर्वों के अनुबन्ध से क्रमशः **आत्मसंस्कृति, बुद्धिसंस्कृति, मनःसंस्कृति, शरीरसंस्कृति,** इन नामों से प्रसिद्ध है, जो चारों हीं आत्ममूला बनतीं हुईं परस्पर निर्विरोध समन्वित हैं, एवं इसी संस्कृतिचतुष्टयी से समन्विता संस्कृति का नाम है-आत्मनिष्ठ भारतीय परिपूर्ण मानव की **'मानवसंस्कृति'**। आत्मपुरुष, एवं आत्मप्रकृति के भेद से इसी मानवसंस्कृति के आगे चल कर दो महिमाविवर्त्त हो जाते हैं, जो इन्हीं नामों से व्यवहृत होंगे। **आत्मपुरुषसंस्कृति, आत्मप्रकृति-संस्कृति,** इन दोनों के शास्त्रीय नाम हैं-**पुरुषार्थ,** और **क्रत्वर्थ** (प्रकृत्यर्थ)। जिन सांस्कृतिक भावों से मानव का आत्मपुरुष अनुप्राणित है, उसे **'पुरुषार्थसंस्कृति'** कहा जायगा, एवं जिन सांस्कृतिक भावों से मानवकी आत्मप्रकृति अनुप्राणित है, उन्हें क्रत्वर्थसंस्कृतिलक्षणा **'प्रकृत्यर्थसंस्कृति'** माना जायगा, और इन दोनों महिमाविवर्त्तों के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना आवश्यक होगा।

१८०-पुरुषार्थसंस्कृति के सुप्रसिद्ध महिमाविवर्त्त—

आत्मपुरुषानुगता पुरुषार्थसंस्कृति का ही नाम है **'सांस्कृतिक-आचार'**, जिस का एक वाक्य में अर्थ है-**"सोलह प्रकार के स्मार्त्त संस्कारों, तथा ३२ प्रकारके श्रौतसंस्कारों से (इन ४८ संस्कारों से) समन्वित "द्विजातिमानव की निगमानुगता शास्त्रीय संस्कृति"** यही **मोक्षसंस्कृति, धर्म्मसंस्कृति, कामसंस्कृति, अर्थसंस्कृति**-नाम से व्यवहृत हुई है, जिन इन चारों संस्कृतियों को आस्तिकप्रजा **'चतुर्विध पुरुषार्थ'** नाम से सुनती आरही है। धर्म्मार्थकाममोक्ष, किंवा मानवीय चारों पर्वों के क्रमानुपात से **आत्मानुगत मोक्ष, बुद्ध्यनुगत धर्म्म, मनोऽनुगत काम, शरीरानुगत अर्थ,** नामक चारों सुप्रसिद्ध पुरुषार्थ ही पुरुषार्थसंस्कृति, किंवा पुरुषसंस्कृति है। इनमें मानव के आत्मा, और बुद्धि नामक दो पर्व तो प्रधान बने रहते हैं, एवं मन तथा शरीरपर्व गौण बने रहते हैं। और यही है भारतीय **'सांस्कृतिक-आचार'**।

१८१–प्रकृत्यर्थसंस्कृति के आयोजनात्मक-महिमाविवर्त्त----

दूसरी प्रकृत्यर्थसंस्कृति है। प्रकृत्या ही प्रकृतिप्रधान स्त्री–बालवृन्द–आदि मनःशरीरप्रधान लोक–सामान्य जन तथोपवर्णित सांस्कृतिक-आचार की उत्तरदायित्वपूर्णा-प्रचण्डसंघर्षानुगता अध्यवसायनिष्ठा में क्योंकि असमर्थ हैं। अतवए इन के पारम्परिक अभ्युदय–निःश्रेयस् के लिए जो बाह्याचारप्रधान–मानसिकभावुकता–सरक्षक लोकाचार व्यवस्थित हुए हैं, उसी लोकाचारसमष्टि का नाम है–'**प्रकृत्यर्थ--संस्कृति**', जिस में आत्मबुद्धिविवर्त्त गौण बने रहते हैं, एवं मनःशरीरपर्व प्रधान बने रहते हैं। पुरुषार्थसंस्कृतिवत् यह प्रकृत्यर्थ–संस्कृति भी चार ही भागों में विभक्त है, जिन चारों संस्कृतियों की समष्टि का ही नाम है–'**सांकृतिक–आयोजन**'।

१८२–सांस्कृतिक–आचार, तथा 'सांस्कृतिक-आयोजनों' से सुसंस्कृत मानव की--'सांस्कृतिक मानवता', एवं निरपेक्षा 'संस्कृति' का उपासक मानवश्रेष्ठ—

सांस्कृतिक–आचार, एवं **सांस्कृतिक आयोजन**, दोनों के समन्वितरूप का ही नाम है सुसंस्कृत–सांस्कृतिक मानव, ऐसे मानवों की समष्टिरूप राष्ट्र का ही नाम है-'**भारतराष्ट्र**', जो इन उभपविध वैदिक-लौकिक संस्कृतियों से पराङ्मुख बन कर अग्निदेव भारत के नाम से समन्वित 'भारतराष्ट्र' तो कदापि नहीं कहला सकता। चतुर्विध पुरुषार्थ, एवं चतुर्विध प्रकृत्यर्थ, दोनों में से चतुर्विध प्रकृत्यर्थ ही, तद्रूप सांस्कृतिक-आयोजन ही प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य विषय है। दोनों को लक्ष्यारूढ बना कर ही नैबन्धिक विषयों पर दृष्टिनिक्षेप का अनुग्रह करना चाहिए निरपेक्षा संस्कृति के उपासक सांस्कृतिक–मानवश्रेष्ठों को।

१८३–सुसंकृस्त मानव के व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–रूप चार महिमाविवर्त्त, एवं तालिकारूपेण उनका समन्वय----

सांस्कृतिक मानव चतुष्पर्वा है, तो इसके सभी महिमात्मक विवर्त्त चतुष्पर्वा ही होने चाहिएँ। इसी आधार पर महर्षि **शाङ्खायन** ने '**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' यह अनुगम सिद्धान्त स्थापित किया है, जिसका प्रकृत में मानवानुबन्धी चारों पर्वों के माध्यम से ही समन्वय अपेक्षित है। **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर**–समन्वयात्मक चतुष्पर्वा मानव आकाशमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का अर्द्धाण्डकटाहात्मक अर्द्धवृगल (विदल) रूप ही माना गया है, जिसका कि अर्द्धाकाश मानवी से परिपूर्ण बनता है, जैसाकि पाठक सांस्कृतिक–आयोजन–प्रकरणों में देखेंगे। यही दाम्पत्यभाव व्यक्तिमानव को '**परिवारमानव**' स्वरूप में परिणत कर देता है। परिवार-मानवता ही आगे चलकर इसे–'**समाजमानव**' बना देती है। एवं यह समाजमानवता ही इसे '**राष्ट्रमानव**' अभिधा में परिणत कर देती है, जिस इस चतुर्द्धा विभक्ता महिमा से (विकास से नहीं) एक ही मानव **व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र**–इन चार महिमाभावों में परिणत हो जाता है, जो चारों हीं महिमाविवर्त्त स्वतन्त्र–स्वतन्त्र इकाई (व्यक्तित्त्व) ही माने गए हैं। अतएव चारों हीं विवर्त्तों में आत्मादि चारों मानवीय पर्व समानरूपेण समन्वित होरहे हैं, जिनके इतिहास का नाम ही 'संस्कृति' शब्द का वह चिरन्तनेतिवृत्त है, जिसका निबन्ध के एतन्नामक ही प्रथम प्रकरण में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रस्तावनात्मक इस आवेदन में केवल तालिकामात्र ही उद्धृत कर दी जाती है उन चतुष्पर्वा चारों मानवविवर्त्तों की, जिनके आधार पर ही निबन्ध के दूसरे प्रकरण में–'**सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा**' का संस्पर्शमात्र हुआ है।

"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"

—ऋक्संहिता

चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	चतुष्टयं वा इदं सर्वम्	
⏝ व्यक्तिमानवः (१)	⏝ स एव परिवारमानवः (२)	⏝ स एव समाजमानवः (३)	⏝ स एव राष्ट्रमानवः (४)	
१—आत्मा	१—कुलवृद्धः–(आत्मा)	१—ब्राह्मणः–(आत्मा)	१—नीतितन्त्रम्–(आत्मा)	—एकमिति विद्यात्
२—बुद्धिः	२—समर्थयुवा–(बुद्धिः)	२—क्षत्रियः (बुद्धिः)	२—राजतन्त्रम्–(बुद्धिः)	—एकमिति विद्यात्
३—मनः	३—नारीवर्गः–(मनः)	३—वैश्यः–(मनः)	३—गणतन्त्रम्–(मनः)	—एकमिति विद्यात्
४—शरीरम्	४—बालवर्गः–(शरीरम्)	४—शूद्रः–(शरीरम्)	४—प्रजातन्त्रम्–(शरीरम्)	—एकमिति विद्यात्
चतुष्पर्वा मानवो व्यक्तिः	चतुष्पर्वा मानवः परिवारः	चतुष्पर्वा मानवः समाजः	चतुष्पर्वा मानवः राष्ट्रम्	
चतुष्टयं वा इदं सर्वम्				

प्रकारान्तरेणेदमप्यवधेयम्—

१—य एव आत्मा,	स एव कुलवृद्धः,	स एव ब्राह्मणः,	तदेव नीतितन्त्रम्
२—यैव बुद्धिः,	स एव युवापुरुषः,	स एव क्षत्रियः,	तदेव राजतन्त्रम्
३—यदेव मनः,	सैव नारी	स एव वैश्यः,	तदेव गणतन्त्रम्
४—यदेव शरीरं,	स एव बालकः,	स एव शूद्रः,	तदेव प्रजातन्त्रम्

१८४-भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' का संक्षिप्त इतिवृत्त—

मानवीय आत्मा, पारिवारिक वृद्ध, सामाजिक ब्राह्मण, और राष्ट्रीय नीतितन्त्र से अनुप्राणित आयोजन ही प्रथमायोजन है। मानवीया बुद्धि, पारिवारिक युवापुत्र, सामाजिक क्षत्रिय, और राष्ट्रीय राजतन्त्र से अनुप्राणित आयोजन ही द्वितीयायोजन है। मानवीय मन, पारिवारिक नारीवर्ग, सामाजिक वैश्य, और राष्ट्रीयगणतन्त्र से अनुप्राणित आयोजन ही तृतीयायोजन है। एवं माननीय शरीर, पारिवारिक बालवर्ग, सामाजिक शूद्र, तथा राष्ट्रीय प्रजातन्त्र, इन चारों से अनुप्राणित आयोजन ही चतुर्थायोजन है. एव यही चतुर्विध-प्रकृत्यर्थरूप-प्रकृतिसंस्कृतिरूप प्राकृत-सांस्कृतिक-आयोजनों का संक्षिप्त, किन्तु सम्पूर्ण इतिवृत्त है।

१८५—भारतीय मानव के राष्ट्रीय--सामाजिक--पारिवारिक, एवं वैयक्तिक--चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजनों की संक्षिप्ता परिभाषा—

आत्मा-कुलवृद्ध-ब्राह्मण, तथा नीतितन्त्र-प्रधान सांस्कृतिक आयोजन ही **'राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आयोजनों'** की स्वरूपव्याख्या है। बुद्धि-युवापुत्र-क्षत्रिय, तथा राजतन्त्र-प्रधान आयोजन ही **'सामाजिक-सांस्कृतिक-आयोजनों'** की स्वरूप-व्याख्या है। मन-नारी-वैश्य, तथा गणतन्त्र-प्रधान आयोजन ही **'पारिवारिक-सांस्कृतिक-आयोजनों'** की स्वरूप-व्याख्या है। एवं शरीर-बालवृन्द-शूद्र, तथा प्रजातन्त्र-प्रधान आयोजन ही **'वैय्यक्तिक-सांस्कृतिक-आयोजनों'** की रूपरेखा है। चारों हीं आयोजन चतुष्पर्वात्मक बने हुए हैं। अतएव चारों ही आयोजनों में गौण-प्रधान-रूपेण आत्मादि चारों हीं पर्वों का स्वरूपसंरक्षण-समाविष्ट है, जब कि चारों क्रमशः प्रधानरूपेण हैं आत्मा-बुद्धि आदि प्रधान ही, जिस प्रधानता का तात्पर्य्यं यही है कि राष्ट्रीय आयोजनों में **'आत्मपर्व'** प्रधान है, सामाजिक आयोजनों में **'बुद्धिपर्व'** प्रधान है, पारिवारिक

आयोजनों में '**मनःपर्व**' प्रधान है, एवं वैयक्तिक आयोजनों में 'शारीरपर्व' प्रधान है। ब्राह्मण–क्षत्रिय आदि चारों वर्णमानवों में (सामाजिक मानवों में) यद्यपि आत्मा–बुद्ध्यादि चारों ही पर्व–गौण प्रधानरूपेण समाविष्ट हैं। तथापि चारों में चारों पर्व क्रमानुपात से गौण–प्रधान बने हुए हैं, जिसका अर्थ है–ब्राह्मणमानव आत्मपर्वप्रधान है, क्षत्रियमानव बुद्धिपर्वप्रधान है, वैश्यमानव मनःपर्वप्रधान है, एवं शूद्रमानव शरीरपर्वप्रधान है, जिस इस स्थिति का लोकभाषा में निम्नलिखितरूप से अभिनय किया जा सकता है कि—

जो मानव अपने शारीरिक व्यामोहन के अतिरिक्त परिवार–समाज–राष्ट्र आदि की कोई चिन्ता नहीं करता, वैसा व्यक्तिवादी मानव ही '**शूद्रमानव**' है। जो मानव अपने साथ साथ अधिक से अधिक अपने परिवार में भी आरुक्त–व्यासक्त बना रहता है, अतएव अपने इस मानसिक आसञ्जन से जो समाज, तथा राष्ट्र के हितों की कल्पना भी नहीं कर सकता, वही '**वैश्यमानव**' है। जो मानव अपने परिवार की चिन्ता के साथ साथ अपने प्रान्तीय समाज की चिन्ता का भी पथिक बना रहता है बुद्धिभावमाध्यम से, किन्तु राष्ट्रहित जिसकी दृष्टि में गौण ही बना रहता है, वही '**क्षत्रियमानव**' है। एवं जो मानव स्व परिवार–समाज के उत्तरदायित्व को सुरक्षित रखता हुआ सम्पूर्ण राष्ट्र की चिन्ता करता हुआ विश्वबन्धुत्त्व के प्रति आत्मसमर्पण किए रहता है सभी प्राकृतिक व्यामोहनों–लोकैषणाओं से अपने आपको असंस्पृष्ट रखता हुआ आत्मनिष्ठानुग्रह से, वही '**ब्राह्मणमानव**' है।

इसी दृष्टि से आत्म–प्रधान राष्ट्रीय आयोजनों को **ब्राह्मणायोजन**, बुद्धिप्रधान सामाजिक आयोजनों को **क्षत्रियायोजन**, मनःप्रधान पारिवारिक आयोजनों को **वैश्यायोजन**, एवं शरीरप्रधान वैय्यक्तिक आयोजनों को शूद्रायोजन के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। एवं चारों हीं आयोजन प्रकृतिसंस्कृतिमूलक बने रहते हुए आत्मसंस्कृति के द्वारा परस्पर निर्विरोध समन्वित रहते हुए सर्वाङ्गीण '**सांस्कृतिक–आयोजन**' हीं प्रमाणित हो रहे हैं।

१८६–राष्ट्रीय–पर्व सामाजिक–उत्सव, पारिवारिक–सम्मेलन, एवं वैय्यक्तिक–समारोह, नामक चतुर्विध सांस्कृतिक–आयोजनों का नामस्मरण–समन्वय—

ब्राह्मणानुगत राष्ट्रीय आयोजन हीं–'**पर्व**' नाम से, क्षत्रियानुगत सामाजिक आयोजन हीं '**उत्सव**' नाम से, वैश्यानुगत पारिवारिक–आयोजन हीं–'**सम्मेलन**' नाम से, तथा शूद्रानुगत वैय्यक्तिक आयोजन हीं–'**समारोह**' नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र को लक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण राष्ट्र के द्वारा समायोजित आयोजन हीं '**पर्व**' नामक राष्ट्रीय–आयोजन हैं। तत्तत्समाजविशेषों को लक्ष्य बना कर समाजविशेषों के द्वारा आयोजित आयोजन हीं–'**उत्सव**' नामक सामाजिक आयोजन हैं। तत्तत् परिवारों की मान्यताओं को आधार बना कर प्रवृत्त होने वाले आयोजन हीं '**सम्मेलन**' नामक पारिवारिक आयोजन हैं। एवं व्यक्तिविशेष को माध्यम बना कर, उसके निमित्त से व्यक्तिविशेषों के द्वारा समायोजित आयोजन हीं '**समारोह**' नामक वैय्यक्तिक आयोजन हैं, जो आयोजन (प्रत्येक आयोजन, अर्थात् चारों हीं आयोजन) आत्मबुद्धिमनःशरीर नामक चारों मानवीय मूलपर्वों के अनिवार्य्यसमन्वय से चार चार तो प्रमुख विवर्त्तभावों में, एवं प्रकृति के असंख्य विस्तारों के अनुपात से आगे चलकर असंख्य ही विभागों में परिणत हो रहे हैं, जिस इस असंख्यता के अनुग्रह से ही भारतीय लोकजीवन अथ से इतिपर्य्यन्त सांस्कृतिक–आयोजनों–पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहों से सदा ही माङ्गलिक बना रहता है, बना रहता था आज से तीन सहस्रवर्ष पूर्व के उस सांस्कृतिक-युग में, जिसमें राष्ट्र की आत्म-संस्कृति, तथा प्रकृतिसंस्कृति, दोनों समसमन्वितरूप से जागरूक थीं।

१८७–पर्वोत्सवयुग्म, एवं सम्मेलनसमारोहयुग्म–भेद से दोनों युग्मों का तारतम्य-समन्वय—

आत्मप्रधान 'पर्व', बुद्धिप्रधान 'उत्सव', मन:प्रधान **'सम्मेलन'**, तथा शरीरप्रधान **'समारोह'**, इन चारों को परिवारदृष्ट्या क्रमशः कुलवृद्धप्रधान 'पर्व', युवापुत्रप्रधान 'उत्सव', नारीवर्गप्रधान 'सम्मेलन', तथा बालवर्गप्रधान 'समारोह' कहा जायगा। एवं समाजदृष्ट्या इन्हीं चारों को क्रमशः ब्राह्मणप्रधान 'पर्व', क्षत्रियप्रधान उत्सव, वैश्यप्रधान 'सम्मेलन', तथा शूद्रप्रधान समारोह कहा जायगा। तथैव राष्ट्रदृष्ट्या चारों को क्रमशः नीतितन्त्रप्रधान पर्व, राजतन्त्रप्रधान उत्सव, गणतन्त्रप्रधान सम्मेलन, तथा प्रजातन्त्रप्रधान–समारोह कहा जायगा। क्योंकि मानव के आत्मबुद्धिरूप दोनों पर्व एकजातीय हैं, एवं मन:शरीरपर्व समान जातीय हैं। अतएव आत्मबुद्धया वही मान पुरुष है, मन:शरीरेण च वही मानव प्रकृति है। अतएव च आत्मबुद्धि–प्रधान पर्व, और उत्सव, दोनों आयोजन लोकव्यवहार में भी **'पर्वोत्सव'** इस सम्मिलित नाम से प्रसिद्ध होगए हैं। एवं मनः-शरीर–प्रधान सम्मेलन, और समारोह नामक आयोजन-**'सम्मेलनसमारोह'** इस नाम से प्रसिद्ध होगए हैं।

१८८–आत्मप्रधान राष्ट्रीयपर्व की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय—

जैसाकि निवेदन किया गया है, चारों हीं महिमाविवर्त्त एक ही व्यक्तिमानव के आत्मादि चारों आध्यात्मिक पर्वों के महिमारूप विवर्त्त हैं। अतएव पर्वादि चारों हीं आयोजन (प्रत्येक आयोजन) आत्मादि चार पर्वों के अनुबन्ध से चार मुख्य अवान्तर विवर्त्तों में परिणत हो रहे हैं। उदाहरण के लिए आत्मप्रधान–'पर्व' नामक सांस्कृतिक–आयोजन को ही लीजिए, जिसे हमनें राष्ट्रीय आयोजन कहा है। 'पर्व' नामक यच्च–यावत् आयोजनों में बाह्य आचारों के साथ साथ अमुक अंश में क्योंकि ब्राह्मणानुगत–शास्त्रीय आचार का भी प्रतिष्ठारूपेण समावेश रहता है। अतएव 'पर्व' आयोजनों को इस अंश की दृष्टि से तो कहा जायगा ब्राह्मण–प्रधान ही आयोजन। किन्तु मानवीय चार पर्वों के कारण क्योंकि 'पर्व' आयोजन के भी **आत्मायोजन–बुद्धयायोजन–मन–आयोजन–शरीरायोजन**–रूपेण चार विवर्त्त बन जाते हैं। चारों उसी परिभाषा के अनुपात से क्योंकि ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्रानुगत हैं। अतएव इन चारों राष्ट्रीय–आयोजनों को इन नामों से समन्वित मान लिया गया है लोकाचार में। ब्राह्मणप्रधान राष्ट्रीयपर्व–आत्मप्रधान बनता हुआ–**'रक्षाबन्धन–पर्व'** नाम से प्रसिद्ध है। क्षत्रियप्रधान राष्ट्रीयपर्व बुद्धिप्रधान बनता हुआ–**'विजयदशमीपर्व'** है। वैश्यप्रधान राष्ट्रीयपर्व मन:प्रधान बनता हुआ–**'दीपावलीपर्व'** है। एवं शूद्रप्रधान राष्ट्रीयपर्व शरीरप्रधान बनता हुआ–**'होलापर्व'** है। चारों हीं अपने अङ्गभावों से चारों मानवीय पर्वों के भी स्वरूपसंग्राहक बने हुए हैं। अतएव चारों हीं वर्ण चारों पर्वों में (प्रत्येक में) निर्विरोध समन्वित हैं। सम्पूर्ण राष्ट्र की सुप्रसिद्धा आत्मानुगता **ज्ञानशक्ति**, बुद्धयनुगता **पौरुषशक्ति**, मनोऽनुगता **कामगर्भिता अर्थशक्ति**, शरीरानुगता **अर्थगर्भिता काम–शक्ति**, इन चारों राष्ट्रीय-शक्तियों के संग्राहक बनते हुए **'पर्व'** सम्पूर्ण राष्ट्रीयप्रजा के द्वारा (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र–सभी के द्वारा) क्रमशः ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–भावप्राधान्य से क्योंकि व्यवस्थित हैं। अतएव अवश्य हीं इन्हें **'राष्ट्रीय–आयोजन'** मान लिया गया है, जिन इन चारों राष्ट्रीय आयोजनात्मक 'पर्व' नामक आयोजनों को ब्राह्मणानुगत आत्मभाव से जहाँ **'पर्व'** कहा जायगा, वहाँ क्षत्रियानुगत बुद्धिभाव से इन्हीं पर्वों को **'उत्सव'** नाम से भी व्यवहृत किया जासकेगा, तो वैश्यानुगत मनोभावानुबन्ध से इन्हीं पर्वों को **'सम्मेलन'** भी कहा जा सकेगा, तो शूद्रानुगत शरीरानुबन्ध से इन्हीं पर्वों को–**'समारोह'** भी माना जा सकेगा। इसीलिए

स्व–स्वरूपों से पृथक् भी पर्व–उत्सवादि शब्द इसी पारस्परिक समन्वय से लोकव्यवहार में परस्पर एक दूसरे के पर्य्याय भी बन गए हैं, जिस इस पर्य्यायसम्बन्ध का अत्यन्त ही अवधानपूर्वक, पर्वोत्सवादि शब्दों की आत्मबुद्ध्यनुगता सुसूक्ष्मा व्यञ्जना को लक्ष्य बना कर ही समन्वय करना चाहिए।

१८९–बुद्धिप्रधान–'सामाजिक–उत्सव' की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय–

यही अवस्था **'उत्सव'** नामक क्षत्रियानुगत आयोजन की है, जिसे सामाजिक–आयोजन बतलाया गया है। पर्वायोजनवत् इसके भी चार ही प्रधान विवर्त्त होने चाहिए, जो क्रमशः **नवरात्रमहोत्सव, शरत्–पूर्णिमामहोत्सव, गोपाष्टमीमहोत्सव, शीतलाष्टमीमहोत्सव**–इन नामों से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हैं। ये चारों उत्सव सामाजिक हैं। एवं चारों क्रमशः ब्रा० क्ष० वै० शूद्रानुगत बनते हुए आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीरानुगत भी बने हुए हैं, ज़बकि बुद्धिप्राधान्य से चारों हैं क्षत्रियभावप्रधान हीं।

१९०–मनःप्रधान-'पारिवारिक–सम्मेलन' की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय–

यही स्थिति **'सम्मेलन'** नामक वैश्यानुगत उस आयोजन की है, जो लोकभाषा में **'त्यौंहार'** नाम से प्रसिद्ध है, जिस त्यौंहार शब्द का स्वरूपनिर्म्माण **'तिथि–वार'** के सम्मेलन से ही हुआ है। यही–**'मेला'** नाम से भी प्रसिद्ध है। 'सम्मेलन' नामक तृतीय आयोजन प्रधानरूपेण पारिवारिक आयोजन है। अतएव देश–काल–पात्र–कुलाचार–आदि भेद से विभिन्न स्वरूप हो जाते हैं इनके, जिनमें से प्रकृत में राजस्थान–प्रान्तानुगत, तत्रापि विशेषतः निगमनिष्ठ स्व० **श्रीजयसिंहनृपतिवर** की शास्त्रीयनिष्ठा के कारण विगत दोसौ वर्षों से परम्परया अपने सभी आचार–आयोजनों में सांस्कृतिक ही प्रमाणित होते रहने वाले, वर्त्तमान राजस्थान की राजधानी बन जाने का गौरव प्राप्त करने वाले जयपत्तन (जयपुर) से अनुप्राणित सम्मेलनों के ही चार विवर्त्तों का समन्वय सामयिक होगा, जिन चारों को जयपुर के नागरिक **चतड़ाचोथकामेला, गणगोर का मेला, तीज का मेला, नागपाँच का मेला,** नाम से व्यवहृत करते रहते हैं, जिन्हें शास्त्रीयभाषा में क्रमशः **गणपतिचतुर्थीसम्मेलन, गणपतिगौरीसम्मेलन, साम्बसदाशिवपार्वतीसम्मेलन, नागपञ्चमीसम्मेलन,** इन नामों से व्यवहृत किया जायगा, किया गया है शास्त्रों में।

१९१–शरीरप्रधान–'वैय्यक्तिक–समारोह' की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहकता का समन्वय–

चौथा वैय्यक्तिकभाव-प्रधान 'समारोह' नामक चतुर्थ सांस्कृतिक आयोजन भी उसी अनुपात से चार ही प्रधान विवर्त्तों में विभक्त माना जासकता है, जिसके सम्मेलनवत् देशभेद से विभिन्न प्रकार के विभिन्न विवर्त्त बन गए हैं। **यज्ञोपवीत–विवाहादि स्मार्त्त समारोह, श्रीरामनवमी-कृष्णजन्माष्टमी-सूर्य्यसप्तमी आदि लोकसमारोह, पुरुषोत्तममासानुगत पुराणकथाश्रवणसमारोह, रथयात्रादि (परिक्रमा *) समारोह** भेद से समारोह का भी चतुर्द्धा वर्गीकरण किया जासकता है। इसप्रकार अपने अवान्तर विभूतिभावों से असंख्य-संख्याओं में विभक्त भारतीय **पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह**–नामक **राष्ट्रीय–सामाजिक–पारिवारिक,** एवं **वैय्यक्तिक** सांस्कृतिक-आयोजन मानवीय पर्वचतुष्टयी के द्वारा चार–चार प्रधान विवर्त्तों में विभक्त हो रहे हैं, जिन्हें तालिकारूपेण लक्ष्यारूढ बना कर ही प्रस्तुत निबन्ध पर दृष्टिपातानुग्रह करना चाहिए।

---

* जयपुर की भाषा में **'परकम्मा'** के समारोह, जो भाद्रपद में मनाए जाते हैं।

आयो-जनानि	शास्त्रीय-अभिधा ⏜	जयपुरीय नाम (प्रान्तीय) ⏜	आयोजनानुगताः-अङ्गभावाः १६	अङ्गानुगताः-अङ्गीभावाः ४	भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजन-चतुष्टयी
पर्वायोजनानि ४	१-रक्षाबन्धनपर्व	(राखी)	१-ब्राह्मणानुगत-पर्वात्मकपर्व १	पर्वोत्सवसम्मेलनसमा-रोहात्मिकापर्वप्रधाना पर्वचतुष्टयी ४	१] (१) }‘‘पर्व’’ नामकं राष्ट्रीयं- सांस्कृतिक-आयोजनम् ब्राह्मणप्राधान्येन-आत्मप्रधानम्
	२-विजयदशमीपर्व	(दसरावा)	२-क्षत्रियानुगत-उत्सवात्मकपर्व २		
	३-दीपावलीपर्व	(दीवाली)	३-वैश्यानुगत-सम्मेलनात्मकपर्व ३		
	४-होलिकापर्व	(होली)	४-शूद्रानुगत-समारोहात्मकपर्व ४		
उत्सवायोजनानि ४	१-नवरात्रोत्सव	(न्योरता)	५-ब्राह्मणानुगत-पर्वात्मक उत्सव १	पर्वोत्सवसम्मेलनसमा-रोहात्मिकाउत्सवप्रधाना उत्सवचतुष्टयी ४	२] (२) }‘‘उत्सव’’ नामकं-सामाजिकं- सांस्कृतिक-आयोजनम् क्षत्रियप्राधान्येन-बुद्धिप्रधानम्
	२-शरत्पूर्णिमोत्सव	(सरत्पून्यूँ)	६-क्षत्रियानुगत-उत्सवात्मक उत्सव २		
	३-गोपाष्टमी-उत्सव	(गोप आठँ)	७-वैश्यानुगत-सम्मेलनात्मक उत्सव ३		
	४-शीतलाष्टमी-उत्सव	(सीलआठँ)	८-शूद्रानुगत-समारोहात्मक-उत्सव ४		
सम्मेलनायोजनानि ४	१-गणपतिचतुर्थीसम्मेलन	(चतड़ाचोथ)	९-ब्राह्मणानुगत-पर्वात्मकसम्मेलन १	पर्वोत्सवसम्मेलनसमारो-हात्मिकासम्मेलनप्रधाना सम्मेलनचतुष्टयी ४	१] (३) }‘‘सम्मेलन’’नामकं-पारिवारिकं सांस्कृतिक-आयोजनम् वैश्यप्राधान्येन-मनःप्रधानम्
	२-गणपतिगौरीसम्मेलन	(गणगोर)	१०-क्षत्रियानुगत-उत्सवात्मकसम्मेलन २		
	३-साम्बसदाशिवपार्वतीसम्मेलन	(तीज)	११-वैश्यानुगत-सम्मेलनात्मकसम्मेलन ३		
	४-नागपञ्चमीसम्मेलन	(नागपाँच)	१२-शूद्रानुगत-समारोहात्मकसम्मेलन ४		
४ समारोहायोजनानि	१-यज्ञोपवीतादिसमारोह	(जनेऊ-व्याव आदि)	१३-ब्राह्मणानुगत-पर्वात्मकसमारोह १	पूर्वोत्सवसम्मेलनसमारो-हात्मिका समारोहप्रधाना समारोहचतुष्टयी ४	२] (४) }‘‘समारोह’’ नामकं वैय्यक्तिकं- सांस्कृतिक-आयोजनम् शूद्रप्राधान्येन-शरीरप्रधानम्
	२-श्रीरामकृष्णादिजयन्तीसमारोह	(रामनोमी-जनम आठँ)	१४-क्षत्रियानुगत-उत्सवात्मकसमारोह २		
	३-पुराणकथाश्रवणादिसमारोह	(कथा भागोत)	१५-वैश्यानुगत-सम्मेलनात्मकसमारोह ३		
	४-रथयात्रा-परिक्रमादि-समारोह	(देवताँ की परकम्मा)	१६-शूद्रानुगत-समारोहात्मकसमारोह ४		

१—आत्मानुगतो मानवः—राष्ट्रीयमानवः—‘ब्राह्मण’ नाम्ना प्रसिद्धः ।

२—बुद्ध्यनुगतो मानवः—सामाजिकमानवः—‘क्षत्रिय’ नाम्ना प्रसिद्धः ।

३—मनोऽनुगतो मानवः—पारिवारिकमानवः—‘वैश्य’ नाम्ना प्रसिद्धः ।

४—शरीरानुगतो मानवः—वैय्यक्तिकमानवः—‘शूद्र’ नाम्ना प्रसिद्धः ।

* * *

१—ब्राह्मणमानवानुगतं—राष्ट्रीयसांस्कृतिक-आयोजनमेव—‘पर्व’ ।

२—क्षत्रियमानवानुगतं—सामाजिकसांस्कृतिक-आयोजनमेव—‘उत्सवः’ ।

३—वैश्यमानवानुगतं—पारिवारिकसांस्कृतिक-आयोजनमेव—‘**सम्मेलनम्**’ ।

४—शूद्रमानवानुगतं—वैय्यक्तिकसांस्कृतिक-आयोजनमेव—‘**समारोहः**’ ।

* * *

१९२–सांस्कृतिक–आयोजनों के मूलाधिष्ठाता ‘संस्कृतिमूर्ति’ ‘समब्रह्म’ की प्राजापत्या सोलह कलाओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

‘चतुष्टयं वा इदं सर्वम्’ इस अनुगमवचन की व्याख्या मानी गई है **‘षोडशकलं वा इदं सर्वम्’** । **“जहाँ चार है, वहाँ अवश्य ही सोलह हैं”** यही दोनों अनुगम-वचनों का सूक्ष्म समन्वय है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा चतुष्पाद्ब्रह्म, तथा **षोडशकलप्रजापति** बने हुए हैं, जिन दोनों हीं इन प्राजापत्य विवर्त्तों का प्रस्तुत निबन्ध में अनेक बार स्मरण कर लिया गया है । अर्द्धमात्रिक, किंवा अमात्रिक–**परात्पर,** मायापरिग्रहयुक्त मायी अव्ययपुरुष, गुणपरिग्रहयुक्त **सगुण (पराप्रकृतिरूप) अक्षरपुरुष,** एवं विकारपरिग्रहयुक्त **सविकार (अपराप्रकृतिरूप) क्षरपुरुष,** इन चार पादों की समष्टि का नाम ही चतुष्पाद्ब्रह्म **है,** जिसके आधार पर ही **‘चतुष्टयं वा इदं सर्वम्’** यह निगम व्यवस्थित हुआ है । माया–कला–गुण–विकारादि परिग्रहों से असंस्पृष्ट, अतएव अमायी–निष्कल–निर्गुण–निर्विकार–आदि नामों से उपगीयमान प्रथमचरण–स्थानीय अमात्रिक तुरीय परात्पररूप अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित मायी अव्ययपुरुष के **आनन्द–विज्ञान:–मन:–प्राण–वाक्–** नामक पाँच कलाविवर्त्त हैं । तदभिन्न, तत्पराप्रकृतिरूप सगुण अक्षरपुरुष के **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम** नामक पाँच कलाविवर्त्त हैं, एवं अव्ययपुरुष की ही अपराप्रकृतिरूप सविकार **क्षरपुरुष के प्राण:–आप:–वाक्–अन्नाद:–अन्नम्** रूप पाँच कलाविवर्त्त हैं । इसप्रकार द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–चरण–स्थानीय अव्यय–अक्षर–क्षर–पुरुष भावों की १५ कलाएँ होजातीं है, जिनका पूरक सोलहवाँ परात्परब्रह्म बना हुआ है, **और** यों परात्पर–अव्यय–अक्षर–क्षर–रूपेण चतुष्टयभावापन्न चतुष्पाद्ब्रह्म ही अपने इन १६ **कलाविवर्त्तों** से **‘षोडशकल’** प्रमाणित हो रहा है, जो कि–इसका **‘षोडशी’** नामक प्राजापत्य स्वरूप माना गया है । ये ही सनातन–**सांस्कृतिक** प्रजा

के सोलहकलापरिपूर्ण भगवान् हैं, जिनके सोलह कलापरिपूर्ण ही सगुण अवतार भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण से भारत की सांस्कृतिक–धरित्री धन्य बनी है। इसी आधार पर–'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' अनुगम प्रक्रान्त बना है, जिसका मूलमन्त्र है —

> **यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।**
> **प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥**
>
> यजु:संहिता ८।३६।

१६३--षोडशकल ईश्वरप्रजापति के नेदिष्ठरूप मानवस्वरूप की सोलह(१६) कलाओं का स्वरूपदिग्दर्शन—

'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' के अनुसार 'मानव' नामक पुरुष चतुष्पाद्ब्रह्मलक्षण षोडशीप्रजापति का नेदिष्ठ (सन्निकटतम) स्वरूप माना गया है। अतएव उसमें जैसे चार पाद, तथा १६ कलाएँ हैं, तथैव–'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' के अनुसार तदंशभूत मानव में भी वे ही चार पाद हैं, एवं वे ही सोलह कलाएँ हैं, जिनका समन्वय ज्ञानविज्ञानप्रधान–सांस्कृतिक–निगमाममपुराणादि शास्त्र के स्वाध्याय पर ही अवलम्बित है। प्रसङ्गसमन्वयदृष्टि से प्रकृत में केवल यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, आत्मा–बुद्धि–मन:–शरीररूपेण मानव चतुष्पात् है, तो प्रत्येक के अवान्तर चार–चार–प्राकृत-विवर्त्तों से मानव षोडशकल भी बन रहा है, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है। **सोऽयं–चतुष्पात्–षोडशकलो--मानवः (प्रजापतेर्नेदिष्ठम्)।**

निम्नलिखित श्रौतवचन अंशी षोडशकल–प्रजापति के, तथा अंशरूप षोडशकल–मानव के इस कलात्मक स्वरूप की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

१-षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः (छान्दो० उप० ६।७।१।) ।

२–स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः (बृहदा० उप० १।५।१४।) ।

३–इहैवान्तःशरीरे सोम्य ! स पुरुषः, यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति
(प्रश्नोपनिषत् ६।२।) ।

४–गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा, देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

* * *

१

१—अव्यक्तगर्भित—महानात्मा
२—महद्गर्भित—विज्ञानात्मा
३—विज्ञानगर्भित—प्रज्ञानात्मा
४—प्रज्ञानगर्भित—प्राणात्मा

आत्मकलाभावाः ४—आत्मा

* * *

२

१—ज्ञानबुद्धिः
२—ऐश्वर्य्यबुद्धिः
३—वैराग्यबुद्धिः
४—धर्म्मबुद्धिः

बुद्धिकलाभावाः ४—बुद्धिः

* * *

३

१—चिन्मनः
२—सत्त्वमनः
३—सर्वेन्द्रियमनः
४—इन्द्रियमनः

मनःकलाभावाः ४—मनः

* * *

४

१—सत्त्वशरीरम्
२—कारणशरीरम्
३—सूक्ष्मशरीरम्
४—स्थूलशरीरम्

शरीरकलाभावाः ४—शरीरम्

* * *

१९४–ईश्वरीय–षोडश–कलाओं के प्रतिरूपशिल्यात्मक षोडशकल--मानव के--पर्वोत्सव-सम्मेलनसमारोह--नामक चतुर्विध सांस्कृतिक--आयोजनों के अवान्तर सोलह महिमाविवर्त्त—

मानव की आयु का एक एक वर्ष एक एक कला का अभिव्यञ्जक है। एवं इसी आधार पर '**प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्**' व्यवहार स्थापित हुआ है। भगवान् का षोडशोपचारसमन्वित पूजन, सौम्य पितरों से सम्बद्ध षोडश श्राद्ध, सौम्या नारी से अनुप्राणित षोडश शृङ्गार, आदि आदि रूपेण असंख्य विवर्त्त हैं इसषोडशीशक्ति के, जिसे दशमहाविद्याप्रकरण में 'महाविद्या' माना गया है, जिसका विजयदशमी-प्रकरण के तन्नामक परिच्छेद में यशोवर्णन हुआ है। षोडशीमहाविद्यारूपा महाशक्ति से समन्वित षोडशी–प्रजापति ही भारतीय सांस्कृतिक–आचार की प्रतिष्ठा है, एवं ये ही प्रजापति भारतीय सांस्कृतिक उन आयोजनों की मूलप्रतिष्ठा हैं, जो चतुष्पाद्भाव से जहाँ आरम्भ में **पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह**–भेद से चार महिमाभावों में विभक्त हैं, वहाँ ये ही आगे चल कर प्राजापत्य–षोडशभावानुबन्ध से १६ विवर्त्तों में परिणत हो गए हैं। एवं षोडशकल प्रजापति के–'**असंख्याता: सहस्राणि**' मूलक असंख्य प्राकृतिक–महिमाविवर्त्तों के आधार पर ये सोलह आयोजन असंख्य–सांस्कृतिक–आयोजनों में परिणत हो रहे हैं, जिस उस अनन्त की इस अनन्ता सांस्कृतिक-आयोजन-विभूति के संस्मरणमात्र से भी हम रोमहर्ष का ही अनुभव कर रहे हैं तद्द्वारा आयोजनाधारभूत षोडशी विश्वेश्वरप्रजापति का संस्मरणात्मक आराधन करते हुए। यही तो कारण है कि, भारतवर्ष की आत्मदेवपरायणा–सांस्कृतिक–प्रजा का तो कोई भी लोकायोजन, लोकपर्व, लोकोत्सव, लोक-सम्मेलन, एवं लोकसमारोह किसी न किसी आत्म-देव-भाव को आधार बनाए बिना उपक्रान्त–प्रक्रान्त, तथा समायोजित हो ही नहीं सकता। सर्वव्यापक–एकत्वानुबन्धी यह आत्मदेवभाव ही तो राष्ट्रीय प्रजा की समन्विता–संघशक्ति का एकमात्र अनन्य–राजपथ है, जिस इस सांस्कृतिक–धार्म्मिक-पथ के आधार पर ही, तदनुगत सांस्कृतिक-पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहों की पारम्परिक शृङ्खला के आधार पर ही भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति तीन सहस्र वर्षों से निरन्तर प्रचण्ड संघर्ष सहती हुई भी आज के भारतीय संस्कृति, भारतीय–सनातन–सांस्कृतिक–धर्म्म को सर्वथा निरपेक्ष मानने मनवाने वाले भयावह सत्तायुग में भी येनकेनरूपेण अपने सनातनमूल से अक्षुण्ण ही बनी हुई है, अक्षुण्ण ही बनी रहेगी आकल्पान्त ही नहीं, अपितु–**शाश्वतीभ्यः समाभ्यः, सदा सदा के लिए**। प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से इस मूलसंस्कृति पर प्रचण्ड आक्रमण करने वाले प्रकृतिवादी यों हीं प्राकृतिक–व्यामोहनों से व्यामुग्ध बनते रहे हैं, बन रहे हैं, बनते ही रहेंगे। और प्रकृति से प्रकृति के नियमन–व्यवस्थापन के लिए आतुर वे सभी प्रकृतिवादी अनात्मवादी एकत्वमूला आत्मदेवसंस्कृति के आधार से वञ्चित रहते हुए श्रुति के–'**जायस्व-म्रियस्व**' रूप प्राकृतिक प्रवाह में यों हीं प्रवाहित होते ही रहेंगे। एवं सनातन–आर्ष–सांस्कृतिक प्रजा प्रकृतिवादियों के द्वारा पुरस्कार में प्राप्त सम्पूर्ण मानसिक–शारीरिक–(प्राकृतिक) उत्पीड़नों को हर्षोल्लासपूर्वक सहती हुई अपने तथाकथिक सांस्कृतिक–आयोजनों को मनाती ही रहेगी, निश्चयेन मनाती ही रहेगी, जिस इस श्रद्धा-आस्थापरायणा जनता के पावन चरणों में ही निबन्धात्मक यह श्रद्धाप्रसून प्रणतभाव से समर्पित कराते हुए यह उत्पीड़ित भारतीय ब्राह्मण अपने प्राकृत–जीवन को सफल ही अनुभूत कर रहा है।

१९५–प्रस्तुत सामयिक-निबन्ध की सांस्कृतिक–प्रेरणा के सम्बन्ध में—

प्रस्तुत–सामयिक–निबन्धन की सांस्कृतिक–प्रेरणा के सम्बन्ध में भी प्रास्ताविक में किञ्चिदिव निवेदन करदेना इसलिए अनिवार्य्य होगा कि, निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से चली आने वाली आत्मबुद्धिदासता के निग्रहसे हमें भी उस वारुणपाश में आबद्ध हो ही जाना पड़ा, जिसका 'सापेक्षता' से सम्बन्ध माना गया है। जहाँतक परसत्ता का (ब्रिटिशसत्ता का) सम्बन्ध था, वहाँतक तो हमने अपने आपको सदा ही जागरूक बनाए रक्खा, एवं तद्युग में उपनिबद्ध प्रायः सभी भाष्यों–निबन्धों में यत्रतत्र सर्वत्रैव ब्रिटिशसत्ता के उन सर्वस्वघातक वारुण–पाशबन्धनों की कटु, किन्तु शिष्ट आलोचना ही प्रक्रान्त रही, और साथ ही राष्ट्र के स्वातन्त्र्य की कामना भी उसी अनुपात से जागरूक रही *।

---

* हम यह नहीं चाहते कि, परमार्थाकर्षण से हम ऐहलौकिक स्वार्थ का परित्याग कर बैठें । + + + उत्तम भोजन, सुन्दर वेशभूषा, प्रजासमृद्धि, समृद्ध वैभव, राजसत्ता, साम्राज्यसुखोपभोग, ग्राम-नगर–राष्ट्र–शिल्प-कला-वाणिज्य-आदि आदि सभी कुछ हमें चाहिए । पहिले ऐहलौकिकसुख-सम्पत्ति, तदनन्तर पारलौकिक पुरुषार्थ । पहिले यहाँ समृद्धि, तदनन्तर वहाँ आनन्द । हम आनन्द के उपासक हैं । फिर हम यहाँ भी दुःखी क्यों रहें ? । आनन्द हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, साम्राज्यसुख हमारी बपौती है, **स्वतन्त्रता हमारा आराध्य मन्त्र है** । हमारी आत्मभावना से अनुचित लाभ उठाते हुए यदि कोई नरराक्षस **हमारी स्वतन्त्रता** पर, हमारे साम्राज्य पर, हमारे ऐहलौकिक सुखों पर, हमारी शान्ति में, हमारी उपासना में, हमारी ज्ञानचर्चा में, हमारे वाणिज्य में, हमारे कलाकौशल में, हमारी सभ्यता में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा, तो हम थोड़ी देर के लिए **ज्ञान–उपासना–सबकुछ छोड़ देंगे । उस समय सब से पहिला, एवं मुख्य कर्त्तव्य हमारा वही होगा, जोकि कर्त्तव्य राज्यवैभव के स्वाधिकार से वञ्चित अर्जुन के सम्मुख भगवान् के द्वारा आया था, एवं जिस कर्तव्य के बलपर ही योगी अर्जुन ने पुनः अपना राज्यवैभव प्राप्त किया था । उस समय हमें हमारी 'युद्धाय कृतनिश्चयः' इस शास्त्राज्ञा से कोई भी न डिगा सकेगा** । + + + । **क्योंकि हम जानते हैं कि, परतन्त्र राष्ट्र का कोई धर्म्म नहीं, कोई शास्त्र नहीं । क्षणभर भी तो उसे सुख नहीं । गुलाम का क्या धर्म्म ?, क्या शास्त्र ?, क्या सभ्यता ?, क्या आवश्यकताएँ ? । यदि नाममात्र के लिए कुछ हो भी, तो इन से हम लाभ क्या उठा सकते हैं ? । स्वतन्त्र–परतन्त्र शब्दों की यही स्वरूपमीमांसा शास्त्रकारों नें हमारे सम्मुख रक्खी है । देखिए ! भगवान् मनु इस सम्बन्ध में क्या कह रहे हैं—**

यद्यत् परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्ज्जयेत् ॥
यद्यदात्मवशं तु स्यात्–तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥१॥
सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥२॥ —मनुः ४।१५८,१५९, ।

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–बहिरङ्गपरीक्षात्मक–प्रथमखण्ड **'आत्मनिवेदन'** प्रकरण पृष्ठ सं० १८,१९, ।
प्रकाशनतिथि—२०।९।३९ ई.

१९६–लोकैषणाचार्य्य सत्तातन्त्र, एवं वित्तैषणाचार्य्य वणिक्तन्त्र की सापेक्षता से सम्बन्ध रखने वाली महती भ्रान्ति, एवं तन्निराकरणानुग्रह से ही प्रस्तुत सांस्कृतिक-निबन्ध का आविर्भाव—

किन्तु साथ ही यह भी भ्राति प्रक्रान्त रही कि, "भारतीय सामन्तनृपतिगण, एवं धर्म्मशील वणिग्बन्धु अवश्यमेव भारतीय संस्कृति के रक्षण में योगदान कर सकते हैं"। इसी आकर्षण से यह परीक्षण सर्वप्रथम वणिक्तन्त्र से ही उपक्रान्त बना अनुमानतः आज से २० वर्ष पूर्व। जिस सीमापर्य्यन्त हमने वणिग्बन्धुओं की भावुकता का लोकानुरञ्जन-माध्यम से संरक्षण किया, अवश्यमेव तत्सीमापर्य्यन्त भावुकतापूर्ण अनुग्रह भी उपलब्ध हुआ, जो वस्तुगत्या संस्कृति के नैष्ठिक-पक्ष के लिए अन्ततोगत्वा घातक ही प्रमाणित होता गया। संस्कृति की आराधना से वर्षों वञ्चित होते रहना पड़ा मध्ये–मध्ये इसी एषणा के व्यामोहन से। अतएव सहसा प्रान्तीय राज्यतन्त्र की ओर ध्यान आकर्षित होपड़ा हमारा, जबकि सन् ३२ में शतपथब्राह्मणभाष्य के मासिकपत्ररूप से प्रकाशन के लिए जयपुरीय सत्तातन्त्र ने निरन्तर इसी आशङ्का से प्रकाशन की आज्ञा ही न दी कि, हम कहीं ब्रिटिशसत्ता का विरोध न कर डालें इस भाष्य से। तब कहीं यह उद्बोधन प्राप्त हुआ कि, जबतक भारतराष्ट्र स्वतन्त्र नहीं होजायगा, तबतक संस्कृति को सत्ता का निर्व्याज संरक्षण प्राप्त हो ही नहीं सकेगा। अतएव राष्ट्र–स्वातन्त्र्य की मङ्गलकामना को दृढ़मूला बनाकर तद्युगीय सामन्ततन्त्रों से तो बन जाना पड़ा हमें सर्वथा तटस्थ, एवं केवल एक वैसे मानवश्रेष्ठ को ही अपने प्राकृत–जीवन का आधार बनाते हुए गच्छतः स्खलनरूपसे स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त हो जाना पड़ा, जिस मानवश्रेष्ठ के मानवोचित सहयोग से ही हम अबतक अपनी सांस्कृतिक–उपासना में, अपनी स्वाध्याय–एषणा को प्रक्रान्त रखने में समर्थ हो सके हैं।

१९७–राष्ट्रीय–स्वातन्त्र्य से विभोर बन जाने वाले मनस्तन्त्र की सहज भावुकता, एवं भावुकता के समुत्तेजक सत्तातन्त्र–के अङ्गभूत एक मित्र की प्रेरणा से सत्ता–श्रयता की कामना का आविर्भाव—

महत्सौभाग्य से भारतराष्ट्रने ऐच्छिक स्वतन्त्रता प्राप्त की, और हमारा मनस्तन्त्र भारतीय संस्कृति की स्वातन्त्र्य–कामना से विभोर हो पड़ा इस राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य से। एवं प्रसुप्ता सत्तासापेक्षता पुनः जागरूक हो

---

* सन् ४२ में सर्वप्रथम उस मानवश्रेष्ठ से सान्निध्य प्राप्त हुआ, जिस की मानवता से तत्सम्पर्क में आने वाले सभी अभिभूत हैं। सुप्रसिद्ध व्यवसायनिष्ठ, साथ ही शिक्षाकार्य्यों में अपने आप को मुक्तहस्त प्रमाणित करने वाले स्व० श्रेष्ठिप्रवर **श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया महाभाग** के एकमात्र मातृपितृभक्त सुपुत्र श्रेष्ठिप्रवर मानवश्रेष्ठ **श्रीकुड़ीलालजी महाभाग** ही हमें अपने जीवन में एकमात्र वैसे भारतीय 'मानव' उपलब्ध हुए, जो जन्मतः मलन्दनवंशपरम्परा को समलङ्कृत करते हुए भी उस सांस्कृतिक–ज्ञाननिष्ठा से अभिभूत हैं, जिस से आज का ब्राह्मणवर्ग भी वञ्चित हो रहा है। अबतक गच्छतः स्खलनरूप से हमें अपने सांस्कृतिक–लक्ष्य में जो भी आंशिक सफलता मिली है, उस का प्रधान श्रेय इसी निर्व्याज–सहयोगी सौम्य मानवश्रेष्ठ को है, जिसके लिए भारतीय–संस्कृति के अधिदेवता अव्ययेश्वर इस मानवश्रेष्ठ की सांस्कृतिक–निष्ठा को उत्तरोत्तर दृढ़मूल ही बनाते रहेंगे।

ही तो पड़ी, जिस की एषणा के प्रधान निमित्त बने राजस्थान के सत्तातन्त्र के प्रचारविभाग के ही लोकचतुर एक ब्राह्मणबन्धु महोदय । आपने पूर्ण सहयोग दिया इस सत्तैषणा के प्रति होने वाले अनुधावन में । और यह अनुधावन सन् ५३ से आरम्भ होकर सन् ५५ पर्य्यन्त इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा वृत्ति से निरन्तर ही प्रक्रान्त बना रहा, जिस प्रक्रान्तिकाल में राजस्थान के मन्त्रिमण्डल का तो परिवर्त्तन होगया, किन्तु सत्ता का हृदय परिवर्त्तन न कर सके हम । एवं जनतन्त्र के ये सभी लोकप्रिय नेता संस्कृति के साथ गजनिमीलिका ही करते रहे सम्भवतः उस केन्द्रीयसत्ता के भय से ही, जिस के 'धर्म्मनिरपेक्ष' सिद्धान्त से कोई भी प्रान्तीय सत्ता 'धर्म्म' नाम से अनुप्राणित किसी भी उद्देश्य में सहयोग प्रदान नहीं कर सकती । प्रान्तीयसत्ता की इसी आशङ्का के निवारण के लिए विगत दिसम्बर मास में सहसा वैसा प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा, जिसका एक विशेष घटना से सम्बन्ध है ।

१६८–एक अन्य सांस्कृतिक-सुहृत् के निग्रहात्मक अनुग्रह से केन्द्रसत्ता का संस्पर्श, तदनुगत महान् उद्बोधन, एवं तदनुगग्रह से ही सांस्कृतिक-निबन्ध का आविर्भाव–

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सुहृद्वर डॉ० **वासुदेवशरण अग्रवाल** महोदय की प्रेरणा से राष्ट्रीय सत्तातन्त्र के सर्वोचपद पर समासीन महामहिम राष्ट्रपति महाभाग **श्रीराजेन्द्रप्रसादजी** की ओर से विगत दिसम्बरमास (सन्५६) में भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करने का आमन्त्रण उपलब्ध हुआ, जो 'यथाज्ञापयति देवः' रूपेण उसी सत्तासापेक्षता के कारण अनुगमनीय बना । उसका क्या परिणाम हुआ, किंवा होगा ?, केन्द्रीयसत्ता क्या अनुग्रह करेगी ?, एवं हमारी प्रान्तीयसत्ता का सांस्कृतिक दृष्टिकोण कब उदीयमान होगा ?, इत्यादि सभी प्रश्न इस नवीन अनुभव से अब हमारे लिए अचिन्त्यब्रह्मवत् सर्वथा अचिन्त्य ही बन गए हैं, जिस इस आकस्मिकी अचिन्त्यता का भी आकस्मिक सांस्कृतिक–अनुग्रह से ही सम्बन्ध माना जायगा ।

निरन्तर १०-१५ वर्षों से प्रक्रान्त रहने वाले सत्तातन्त्रानुधावन, तथा वणिक्तन्त्रानुधावन से भी जब जागरण के लिए कोई निष्ठासूत्र उपलब्ध न हुआ, तो अन्ततोगत्वा तटस्थता ही ग्रहण करली गई इन सम्पूर्ण एषणाओं से, जिनके अप्रत्याशित शारीरिक–मानसिक–संघर्षों नें प्रकृतितन्त्र को सर्वथा ही जर्जरित कर डाला । लिपिबद्ध साहित्य की भावी व्यवस्था के व्यामोहन से ही सन् ५४ के अन्त में सन् ३२ के सुहृद्वर डॉ० वासुदेवशरण का आमन्त्रण हुआ । आपने आकर कर हमें निश्चिन्तता का आश्वासन–प्रदान किया, एवं बाह्यकार्य्यभार से उन्मुक्त करने के लिए आपने—**'वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** नामक नवीन संस्थान को जन्म दिया, जिसकी प्रारम्भिक अर्थव्यवस्था उन्हीं मानवश्रेष्ठ **श्रीकुड़ीलालजी** की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध नैष्ठिक श्रेष्ठिप्रवर **श्रीमहावीरप्रसादजी** मुरारका, तथा प्रतिभासम्पन तरुणयुवा श्रेष्ठिप्रवर **श्रीजगदीशप्रसादजी** सेकसरिया के सहयोग से सम्पन्न हुई, तदर्थ हमें डॉ० महाभाग के साथ अनिच्छन्नपि बम्बईयात्रा करनी पड़ी । और यों आपके मन्त्रित्व में तत्त्वशोधसंस्थान का प्रकाशन कार्य्य प्रक्रान्त हुआ । निरन्तर डेढ वर्ष पर्य्यन्त प्रकाशन कार्य्य प्रक्रान्त रहा, जिसके सुपरिणाम स्वरूप, किंवा दुष्परिणामस्वरूप अनुमानतः ढाई सहस्र पृष्ठात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ, जो प्रकाशनतिथि से आरम्भ कर अद्यावधि भी यथास्थान ही सुरक्षित है । सुपरिणाम इसलिए कहा जायगा कि, इतने पृष्ठ प्रकाशित हो गए, अर्थात् छप गए । दुष्परिणाम हम इसलिए मान रहे हैं इस प्रकाशन को कि, जिस स्वाध्यायनिष्ठा की कामना से हमने इस नवीन **'अभ्व'** का समर्थन कर

डाला था, इसने तो हमारा स्वाध्याय सर्वथा ही अवरुद्ध कर दिया। अहोरात्र प्रूफसंशोधन, छपे फार्मों को यथासमय पूरे व्यय–विवरण के साथ प्रमाणन के लिए डॉ० महोदय की सेवा में प्रेषित करते जाना, उनके द्वारा प्राप्त चेकों से अर्थव्यवस्था कर प्रेसकर्म्मचारियों का परितोष करते रहना, पुस्तकों का बाइंडिंग–कागज–क्रय–व्यवस्था–आदि आदि महाभूतव्यासङ्गों नें तो हमें आत्यन्तिकरुपेणैव जर्ज्जरित ही कर डाला। और इस प्रकार के (एक प्रकार के) विशुद्ध–जड़–व्यवसाय ने हमें शून्यं शून्यं ही प्रमाणित कर दिया। अवश्य ही डॉ० महोदय भी चिन्ता ही व्यक्त करते गए पत्रों के द्वारा हमारे इस संकट के प्रति। सम्भवतः इस चिन्ता से हमें उन्मुक्त करने लिए ही आपने राष्ट्रपतिभवन में तथाकथित आयोजन भी व्यवस्थित किया। पुनः अन्तिम बार डॉ० साहिब के आदेश से एकमास अहोरात्र जागरण कर टेपरेकार्डों से वहाँ के पञ्चदिवसीय वक्तव्यों की प्रतिलिपि की गई, प्रकाशित भी करना पड़ा इन्हें, जो प्रकाशित होकर पूर्ववत् सुरक्षित स्थान में ही सुसज्जित हो गए हैं, मानो प्रकाशित ग्रन्थ स्वतः ही प्रचारपथानुगामी बन जायँगे।

संस्थान से आशा यह की गई थी कि, वह हमें उन्मुक्त कर देगा इन लोकप्रचार–व्यासङ्गों से, जिससे अपने जर्ज्जरित शरीर से शेष वर्षों में स्वाध्यायपथ की ही उपासना प्रक्रान्त रक्खी जा सके। किन्तु परिणाम ठीक विपरीत हुआ। यही नहीं, मूलसंस्कृति की मूलनिष्ठाओं के आराधन में भी हमें आशङ्का हो पड़ी इस नवीन अभ्व के वातावरण में, जिसके ज्ञात–अज्ञात कारणों का विस्फोटन न करना ही 'श्रेयः पन्था' मान लिया है उस आकस्मिक ईश्वरानुग्रह के बल पर, जिसके द्वारा अब हमें किसी के प्रति भी कोई भी आक्रोश नहीं है। क्योंकि अबतक घटित–विघटित–संकटपरम्पराओं का एकमात्र उत्तरदायित्व हमारे प्रज्ञापराध से ही अनुप्राणित है।

१६६–सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र की निरपेक्षता से ही भारतीय संस्कृति का स्वरूप–संरक्षण—

सत्तासापेक्षतामूला लोकैषणाने ही हमें स्वाध्यायनिष्ठा से विगत वर्षों में वञ्चित किया है, अब इस भ्रान्ति में अणुमात्र भी सन्देह नहीं रह गया है। हम अपनी इस **दुरवस्था** का कारण तब समझ पाए, जबकि सुप्रसिद्ध मैत्रावरुणब्राह्मण का यह उद्बोधन सूत्र एक सर्वथा नवीनरूप से ही सहसा प्रस्फुटित हो पड़ा कि— **"तत्–तत्–अवक्लृप्तमेव, यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्"** (शतपथब्राह्मण) जिस इस वाक्य पर स्वाध्यायकाल में विदित नहीं, कितनी बार दृष्टि गई होगी। किन्तु आजतक इसके **'अराजन्य'** का रहस्य समझ में ही नहीं आया था। रहस्य अब समझ में आ गया, यह कहना तो आज भी अपना व्यक्तित्त्वविमोहन की व्यक्त करना है, जबकि रहस्यबोध के लिए तो एषणापरम्पराओं नें हमारी–प्रज्ञा का सर्वथा अपहरण ही कर लिया है। हाँ यह आभास अवश्य हो पड़ा है कि, **'अराजन्य'** आदेश के सर्वथा विपरीत गमन करने वाली हमारी राजन्या–आसक्ति (सत्तासापेक्षता) ने ही सांस्कृतिक–चिन्तन से हमें मध्ये मध्ये पराङ्मुख किया है। संस्कृति के उपासक ब्राह्मण जिस दिन से सत्तासापेक्ष बन गए हैं, उसी दिन से तो संस्कृति का मौलिकस्वरूप सत्तानुरञ्जनैषणा से अन्तर्म्मुख ही बन गया है, जिसके त्रिसहस्रवार्षिक मलीमस इतिहास का प्रस्तावनारम्भमें ही दिग्दर्शन कराया जाचुका है। **'संस्कृति का संरक्षण'** अन्य पक्ष है, एवं **''सुरक्षिता संस्कृति के आधार पर—सुरक्षित सांस्कृतिक आचार, तथा सांस्कृतिक आयोजनों का सर्वसामान्य प्रजा के द्वारा यथाव्यव–**

स्थितरूप से पालन करते रहना" विभिन्न पक्ष है। व्यवस्था के संरक्षणमात्र में हीं सत्तातन्त्र उत्तरदायी है, न कि संस्कृति के स्वरूप संरक्षण में। जब सत्तातन्त्र संस्कृति के स्वरूपसंरक्षण के उत्तरदायित्व से समन्वित कर दिया जाता है, तो 'संस्कृति' शब्द की वही दुर्दशा हो जाती है, जो आज के–**'सांस्कृतिक–आयोजनों'** से प्रत्यक्ष है। संस्कृति का स्वरूप-संरक्षण तो एकमात्र उस राष्ट्रीय ब्राह्मण की निष्ठानुगता स्वाध्यायनिष्ठा पर ही अवलम्बित है, जो सत्ता से ही नहीं, अपितु लोकैषणा–वित्तैषणात्मक सभी क्षेत्रों से अपने आपको सर्वथा ही निरपेक्ष ही बनाए रहता है। सम्भवतः ही नहीं, अपितु निश्चयेन इसी दृष्टि से मानवधर्म्मव्यवस्थापक राजर्षि मनु ने ब्राह्मण को सदा ही लोक-सम्मानों से बचते रहने का, तथा अपमान की ओर आकर्षित बने रहने का ही उद्बोधन प्रदान किया है। मनु कहते हैं कि—**(सापेक्षतामूलक) सम्मान से तो ब्राह्मण को विष की भाँति अपना परित्राण करते रहना चाहिए, एवं लोकैषणाभञ्जक अपमान की अमृतवत् कामना करते रहना चाहिए** *। किसी ब्राह्मण को कुछ सन्देह रह न जाय इस निरपेक्षतापथ में, अतएव अन्ततोगत्वा बिस्पष्ट शब्दों में राजर्षि को यही कह देना पड़ता है कि–**"ब्राह्मण को उन सम्पूर्ण पारिवारिक–सामाजिक–राष्ट्रीय–प्रलोभनों का, वित्त–सम्मानादि अर्थपरम्पराओं का सर्वथा ही परित्याग ही कर देना चाहिए, जिन सुख–सुविधाओं के कारण इस की स्वाध्यायनिष्ठा में विघ्न उपस्थित हो जाने की आशङ्का हो। उस दशा में तो इसे आपद्धर्म्मधिया अन्य ही कुछ करके अपना अध्ययनाध्यापनकर्म्म सुरक्षित रखना चाहिए।** क्योंकि यही इस के जीवन की कृतकृत्यता मानी गई है। देखिए !

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ —मनुः ४।१७।

२००–सत्तानिरपेक्षता के सम्बन्ध में ऋषिप्रज्ञा के द्वारा संस्कृति के उपासक के लिए महान् उद्बोधनसूत्र—

तदित्थं–एकमात्र संस्कृतिदेवता के ही निःसीम अनुग्रह से हमें आज वह उद्बोधनसूत्र उपलब्ध हो गया है, जिसके गर्भ में ही 'संस्कृति' का स्वरूप–संरक्षण निहित है, और वह है–**तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः,'** जिसका अक्षरार्थ है–**'तत्–तन्–सो यही, निश्चयेन यही ठीक है (अवक्लृप्त है) कि, ब्राह्मण अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष) ही रहे"** । यदि अयाचितरूपेण–राजन्यसत्ता स्वयं अपने हित के लिए संस्कृति की शरण में आना चाहे, तो ब्राह्मण को सर्वथा तटस्थस्वरूप से संस्कृतिसूत्र से सत्तातन्त्र को अवगतमात्र करा देना चाहिए, जिस संस्कृतिसापेक्षता में ही राजन्यसत्ता की समृद्धि का बीज सुरक्षित है। यदि अपने भूतव्यामोहन में आकर राजन्यसत्ता अपने आपको अब्राह्मण बना लेती है, तो इससे न तो ब्राह्मण का ही कोई अहित होता, न संस्कृति का ही कोई अनिष्ट होता। अपितु राजन्यसत्ता अवश्य ही इसप्रकार संस्कृतिसन्देशवाहक ब्राह्मण से निरपेक्ष बनकर, ब्राह्मण की संस्कृति, तदभिन्न धर्म्म से निरपेक्ष बनकर सभी प्रकार की लोकसमृद्धियों से

***–सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।**
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेत्–अवमानस्य सर्वदा ॥ —मनुः २।१६२

वञ्चित हो जाती है स्वयं भी, एवं वञ्चित कर देती है शासित राष्ट्रप्रजा को भी। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए इस श्रुति को। एवं स्वयं अपनी सांस्कृतिक–प्रज्ञा के बलपर ही **सत्तासापेक्षतामूला धर्म्मनिरपेक्षता** से होने वाले **सर्वनाश**, तथा **सत्तानिरपेक्षमूला धर्म्मसापेक्षता** से होने वाली **सर्वसमृद्धि** का समतुलन कीजिए!

"तत्तात्-अवक्लृप्तमेव-यत्-ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत-समृद्धं तत्-(राज्ञः)। एतद्ध त्वेव-अनवक्लृप्तं-यत् क्षत्रियः (शासकः) अब्राह्मणः (ब्राह्मणनिरपेक्षः-संस्कृतिनिरपेक्षः-धर्म्मनिरपेक्षः) भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुते-अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण,-न हैवास्मै तत् (सत्तातन्त्राय) समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण (सत्तातन्त्रेण) कर्म्म-करिष्यमाणेन-उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै तद्ब्रह्म-प्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते"।

—शत० ४।१।४।६*

२०१–उद्बोधनसूत्र के आधार पर ही उपनिबद्ध सत्तानिरपेक्ष प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध–

यही वह उद्बोधनसूत्र है, जिसके अनुग्रह से सत्ताव्यामोहन से हम अपना परित्राण करने के प्रयत्न में जागरूकता अनुभूत कर रहे हैं, जिसकी सफलता का उत्तरदायित्व तो उस इष्टदेवानुग्रह पर ही अवलम्बित है, जिसने सदा से ही ऐसे अनेक लौकैषणात्मक–वित्तैषणात्मक–व्यामोहनों से हमारा परित्राण किया है। उसी इष्टदेव की प्रेरणा से एकमात्र सांस्कृतिक–जनतन्त्र के आभ्यन्तर सांस्कृतिक–स्रोत की अपेक्षा करते हुए ही प्रस्तुत निबन्ध लिपिबद्ध हुआ है, जिसका एकमात्र उद्देश्य है भारतराष्ट्र की लौकैषणा–वित्तैषणा से असंस्पृष्टा आस्था–श्रद्धाशीला जनता के हृदयसमुद्र में परम्परा से प्रवाहित सांस्कृतिक–प्रवाह का आश्रय लेते हुए भारतराष्ट्र की **सनातनसंस्कृति, सनातनसांस्कृतिक–आचार**, एवं तन्मूलक **सांस्कृतिक–आयोजनों** के द्वारा राष्ट्रीय अभ्युदय–निःश्रेयस् की अजस्रोपासना।

२०२–'राजा कालस्य कारणम्' मूला सत्ताश्रयता की कामना से समाप्लुत युगधर्म्म-ज्ञाता ये विद्वान्---

निबन्ध के नामकरण में समाविष्ट–'**सत्तानिरपेक्ष–संस्कृति शब्द, एवं सत्तासापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त**' इस पूर्वभाग के '**सत्तानिरपेक्ष** अंश से सम्भव है वर्त्तमानयुग के सांस्कृतिक–विद्वान् मनस्तुष्टि का अनुभव न कर सकें, जो–'**राजा कालस्य कारणम्**' इस महाभारतीय ऐतिह्य वचन को अग्रणी बनाते हुए सदा से ही सत्तातन्त्र की आश्रयता के लिए लालायित बनें रहते हैं। वचन अवश्य महाभारत का है, अतएव सर्वथा प्रामाणिक भी। इस में भी कोई सन्देह नहीं कि, जिस युग में जैसा सत्तातन्त्र रहता है, उस युग में तत्सत्तातन्त्र की युगधर्म्मानुगता तन्मान्यताएँ हीं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से तद्युगीय जनतन्त्र के द्वारा अनिवार्य्यरूपेण अनुगमनीया बनीं रहतीं हैं, अथवा तो सत्तातन्त्र के द्वारा विवशतापूर्वक अनुगमनीया बना दीं जातीं हैं दृढतम विधि–विधानों के द्वारा। अतएव युगधर्म्मानुगत काल के प्रति अवश्य

---

*–संस्कृति शब्द के चिरन्तन इतिवृत्त में इस वचन की विस्तार से मीमांसा हुई है निबन्ध के प्रथमप्रकरण में।

ही तत्तकालीन शासनतन्त्र को प्रमुख कारणता स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है । इस में भी कोई सन्देह नहीं कि, युगधर्म्मानुगत बाह्य–भौतिक–लाभ–परम्पराओं की सफलताओं के लिए युगधर्म्मानुगत जनमानस के लिए तद्युगीय जनतन्त्र का समाश्रयग्रहण सर्वथा ही युगधर्म्मसम्मत, अतएव अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक ही बना रहता है । इति नु सर्वमेव सुस्थम् । किन्तु ? .... ।

२०३–'राजा कालस्य कारणम्' मूला बाह्य जीवनपद्धति, एवं सत्तातन्त्र का लौकिक–भौतिक–उत्तरदायित्त्व

किंतु जिस युगधर्म्मात्मक काल के अनुबन्ध से शासनतन्त्र को **महात्मा भीष्म** ने 'कारणता' प्रदान करते हुए–**'राजा कालस्य कारणम्'** यह नैतिक सिद्धान्त स्थापित किया है, उस का स्पष्ट ही 'युगधर्म्म' से ही सम्बन्ध है, जिस युगधर्म्म का ही रूपान्तर माना गया है–**'सभ्यता'** । प्रकृति–पुरुष–समन्वयात्मिका मानव की जीवनपद्धति प्रकृत्यैव सर्वथा दो विभिन्न धाराओं में विभक्त मानी गई है, जिसे समझने के लिए अभी हम–**'आभ्यन्तर जीवनपद्धति'–'बाह्य जीवनपद्धति'** नाम से व्यवहृत कर लेते हैं । आत्मपुरुषप्रधान अपने आत्मबुद्धिस्वरूप से मानव जहाँ आभ्यन्तर जीवनपद्धति का अनुवर्त्मा है, वहाँ आत्मप्रकृतिप्रधान अपने मनः–शरीरस्वरूप से वही मानव बाह्य जीवनपद्धति का अनुगामी बना रहता है । आभ्यन्तरपद्धति का नाम है **संस्कृति**, एवं बाह्यपद्धति का नाम है **सभ्यता**, एवं यही दोनों में वह महान् अन्तर है, जिसे अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाते हुए ही हमें **'राजा कालस्य कारणम्'** का समन्वय करना चाहिए ।

२०४–'महात्मा'–'दुरात्मा'–शब्दों का अर्थसमन्वय, एवं 'संस्कृति'–सभ्यता' भावों का अन्तः–बाह्य–वृत्तियों से समतुलनात्मक–समन्वय—

जैसी आभ्यन्तरजीवनपद्धति, तदनुरूपा ही बाह्यजीवनपद्धति, यही वास्तविक जीवनपद्धति है । **'बाहिर–भीतर–सब ओर समान प्रवाह'** ही **'महात्मा'** की स्वरूप परिभाषा है, एवं **'भीतर कुछ ओर, बाहिर कुछ ओर'** ही **'दुरात्मा'** की स्वरूपपरिभाषा है, जिसका लोकभाषा में यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, 'जिनके संकल्प, कर्म्म, वाणी, तीनों समानपथानुगामी हैं, वे ही 'महात्मा' हैं, एवं जो सोचते कुछ ओर हैं, करते कुछ अन्यथा ही हैं, एवं कहते कुछ विचित्र ही हैं, वे ही 'दुरात्मा' हैं* । इस मान्यता के अनुबन्ध से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, आत्मबुद्धिनिबन्धना आभ्यन्तरजीवनपद्धतिलक्षणा **'संस्कृति'**, तथा मनःशरीरनिबन्धना बाह्यजीवनपद्धतिलक्षणा **'सभ्यता'**, दोनों का समानपथानुगामित्त्व ही होना चाहिए । संस्कृति के अनुरूप ही सभ्यता होनी चाहिए । सहजभाषानुसार–संस्कृति के ही लोक–बाह्यरूप को 'सभ्यता' कहना चाहिए, एवं सभ्यता के ही सूक्ष्म–आभ्यन्तररूप को 'संस्कृति' कहना चाहिए ।

---

* **मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम् ।**
मनस्यन्यत्–वचस्यन्यत्–कर्म्मण्यन्यत्–दुरात्मनाम् ॥

२०५-संस्कृतिरूपा आभ्यन्तरजीवनपद्धति के आधार पर प्रतिष्ठिता सभ्यतारूपा बाह्य-जीवनव्यवस्था का नियामक सत्तातन्त्र, एवं इसकी अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षिता संस्कृतिसापेक्षता, तथा स्वयं संस्कृति की सत्तानिरपेक्षता---

और इसी समसमन्वयात्मक अनुरूप पक्ष को वास्तविक पथ माना जाना चाहिए, माना गया है यही पथ वास्तविक पथ उस अवस्था में, जब कि आत्मबुद्धिमूला राष्ट्रीय–संस्कृति का उपासक ब्राह्मण लोकव्यासङ्गों से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष रखता हुआ 'संस्कृति' का 'संस्कृति' के रूप से ही चिन्तन मनन करता हुआ उसके सांस्कृतिक उद्बोधनसूत्रों से राष्ट्रीय सत्तातन्त्र को जागरूक बनाए रखता है। एवं जब कि मन:शरीर–मूला राष्ट्रीय सभ्यता का संरक्षक शासनतन्त्र लोकवित्तैषणासङ्गों से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष रखता हुआ, किन्तु सभ्यता की मूलाधारभूता राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति सर्वात्मना सापेक्ष बना रहता हुआ तदाधारेणैव लोक–सभ्यता के नियमन–व्यवस्थापन में जागरूक बना रहता है। यों संस्कृतिसंदेशवाहक प्रज्ञावर्ग के प्रज्ञासूत्रों को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाता हुआ शासनतन्त्र लोकसभ्यता का आभ्यन्तरसंस्कृति के साथ समन्वय स्थापित रखता हुआ सचमुच संस्कृति, तथा सभ्यता, दोनों के उत्तरदायित्त्व से अपने आपको समन्वित कर लेता है। यह तभी सम्भव है, जब कि राष्ट्र की मूलसंस्कृति से अनुप्राणिता सांस्कृतिक–सभ्यता के अनुरूप ही शासनतन्त्र राष्ट्र को उपलब्ध होता रहे।

२०६–राष्ट्रीय मूलसंस्कृति से निरपेक्ष, किंवा संस्कृति के विरोधी शासनतन्त्र की नियामक व्यवस्थाओं में जनतन्त्र की अनुशासनहीनता, एवं तद्दुष्परिणाम-स्वरूप राष्ट्र में विप्लवयुग का आविर्भाव—

यदि दुर्भाग्यवश शासनतन्त्र तद्राष्ट्र की मूलसंस्कृति का विरोधी है, तो उस दुरवस्था में संस्कृति, तथा सभ्यता का सहज सम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है। एवं ऐसे परशासनतन्त्रों से राष्ट्र की मूलसंस्कृति तो बन जाती है अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में प्रभाव होजाता है बाह्य सभ्यता का। और यों राष्ट्र अपनी मूलसंस्कृति की अन्तर्मुखता के साथ साथ तदनुरूपा सांस्कृतिक–सभ्यता से भी पराङ्मुख हो जाता है। ऐसे परसत्तात्मक भीषण अवसरों में राष्ट्र–का क्या कर्त्तव्य है ?, यही वह महती समस्या है, जिसने विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र को धारावाहिकरूपेण उत्पीड़ित कर रक्खा है। भारतराष्ट्र की संस्कृति, एवं तदनुरूपा सभ्यता, दोनों हीं उत्पीड़ित हीं बनती आरही हैं तथोक्ता अवधि में। अतएव इस कालावधि को अवश्य ही भारतराष्ट्र के लिए **'आपद्धर्म्मयुग'** ही माना जा सकता है।

२०७-सांस्कृतिक-उत्पीड़नात्मक आपद्धर्म्मयुग, एवं आपद्धर्म्मयुगों में संस्कृतिनिष्ठ प्रज्ञाशीलों के लिए अनुष्ठेय कर्त्तव्यकर्म्म की रूपरेखा--

क्या कर्त्तव्य शेष रह जाता है आपद्धर्म्मयुगों में ?, इसी प्रश्न–समाधान के सम्बन्ध में प्रकृतिरहस्य-वेत्ता महात्मा भीष्मने-**'राजा कालस्य कारणम्'** कहा है, जिसका अर्थ है--**'अयं तु युगधर्म्मो हि, दीयते कस्य दूषणम्'**। शासनतन्त्रानुगत युगधर्म्म के प्रभाव से जब राष्ट्र के मन, और शरीर परसत्ताओं की सभ्यता के अनुकरण में समाविष्ट हो जाते हैं, तो स्वत: ही इस की अपनी सांस्कृतिक–सभ्यता भी संस्कृति की अन्तर्म्मुखता

के साथ अन्तम्मुंख ही बन जाती है । और शासनदोष (परसत्तादोषजनिता परतन्त्रता) से उत्पन्न इस विवशता से राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, दोनों हीं अभिभूत होजाते हैं । ऐसी स्थिति में राष्ट्रप्रजा क्या करे ?, इसी प्रश्न के समाधान के लिए शास्त्रने–'आपद्धर्म्म' व्यवस्थित किया है । यह बहुत सम्भव है, अधिकतमरूपेण सम्भव है, किंवा एकप्रकार से निश्चित ही है कि, संस्कृतिविरूद्धा सत्ता कदापि राष्ट्रप्रजा की बाह्यजीवनपद्धति-रूपा सांस्कृतिक– सभ्यता को पुष्पित पल्लवित नहीं होने दे सकती । अतएव दृढतम विधि–विधानों के द्वारा वह राष्ट्र प्रजा को स्वसभ्यता के मनवाने के लिए विवश कर देती है । इत्थंभूत अभिभवयुगों में राष्ट्रप्रजा का एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह जाता है कि, जिस सांस्कृतिक ह्रास से इसे परसत्ता के वारुणपाश में आबद्ध हो जाना पड़ता है, उस मूलसंस्कृति की रक्षा में ही यह परोक्षरूपेण अपने आप को समर्पित करदे सत्तातन्त्र के प्रति अपने आप को सर्वथा निरपेक्ष ही प्रमाणित करते हुए । सत्तातन्त्र के उपलालनात्मक भोग्य के लिए आपद्धर्म्मधिया थोड़ी देर के लिए राष्ट्रप्रजा अपनी सभ्यता को विस्मृत कर (अनिच्छन्नेव– विवशतावशादेव) अपने मनः शरीर सत्ता के प्रति समर्पित करदे जड़यन्त्रवत् । नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ।

२०८–सत्तामदान्ध नहुषादि सत्ताधीशों के उत्पीड़नयुग, एवं धर्म्मविप्लवात्मक तद्युगों में आस्था-श्रध्दा-शीला भारतीय प्रजा के द्वारा संस्कृत्यनुशीलन-माध्यम से ही सांस्कृतिक-निष्ठा का संरक्षण---

सत्तामदान्ध नहुष यदि सप्तर्षिप्रवरों से शिबिका (पालकी) उठवा लेता है, सप्तर्षि यदि आपद्धर्म्म समझ कर नहुष के वाहन बन जाते हैं, तो राष्ट्रप्रजा को भी मानसिक–शारीरिक–उत्पीड़नों का स्वागत करते हुए परसत्ता की सभ्यताओं का अनुरञ्ज करते ही रहना चाहिए, किन्तु अन्तर्जगत् में आत्मबुद्धिभावेन 'संस्कृति' का चिन्तन–मनन–परोक्ष आचरण–आयोजन–करते हुए ही । ऐसा ही किया है इस राष्ट्र–की आस्था–श्रद्धा–परायणा–सांस्कृतिकी उस परमधन्या–मान्या–श्रद्धेया–आर्षप्रजा ने, जो विगत तीन सहस्र वर्षों से अपने मनःशरीरात्मक बाह्यतन्त्रों को आततायीवर्गों के द्वारा निरन्तर उत्पीड़ित–शोषित–भर्त्सित–अवमानित–कराते हुए भी अपनी आभ्यन्तर–सांस्कृतिकनिष्ठा को स्खलित–आचारपद्धतियों के द्वारा, अव्यवस्थित सांस्कृतिक–आयोजनों के द्वारा, पर्वोत्सवपरम्पराओं के द्वारा, महासङ्गीतात्मक–पावन–लोकगीतों के द्वारा, एवं अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात परःशत प्रकार-माध्यमों के द्वारा गच्छतः स्खलनरूप से अद्यावधि आत्मबुद्धिमूला संस्कृति के बीज सुरक्षित ही रखती आ रही है ।

२०९--'राजा कालस्य कारणम्' का अवनतशिरस्करूपेण अभिनन्दन करने वाली भी भारतीय प्रजा के द्वारा सत्तामदान्धयुगों में अनुशीलनधर्म्म के माध्यम से ही राष्ट्रीय-संस्कृति का संरक्षण—

'राजा कालस्य कारणम्' के आगे अवनतशिरस्क बनती रहने वाली भी यह राष्ट्रप्रजा, सत्ता के नाम–श्रवण से भी विकम्पित हो पड़ जाने वाली यह मनःशरीरभावुक–जनता देखने सुनने–व्यवहार आदि में बाह्यरूप से सभी ओर से बदलती रही उन सत्तायुगों में, जिस बदलाव के कारण इसकी वेशभूषा बदलती रही, भाषा–लिपियाँ बदलतीं रहीं, खान–पान–रहन–सहन के अभ्यास बदलते रहे । और यों देखने–सुनने–कहने–

मानने-मनवाने के लिए सभी कुछ आमूल-चूड़ बदलता ही गया सत्तापरिवर्त्तनानुपात से इस राष्ट्रीयप्रजाका। किन्तु न बदलने वाली आत्ममूला संस्कृति को आजतक कोई भी आततायी प्रचण्ड प्रयास करता हुआ भी न बदल सका। कभी भी किसी भी युग में राष्ट्र अपनी मूलसंकृति, तद्रूप मूलशास्त्र, तत्प्रतिपादित धर्म्म, एवं तदनुप्राणित धार्म्मिक विधि-विधानों को एकहेलया सर्वात्मना विस्मृत न कर सका। अपितु घोरघोरतम आपत्कालों में इतस्ततः लुक-छिप कर, लोकतन्त्र के सभी अनुरञ्जनों से अपने आपको सर्वथा पृथक् कर राष्ट्र का वह पीड़ित भूदेव अपने इस सांस्कृतिक शब्दकोश को अपने मानस पटल पर खचित करते हुए इसे बचाता रहा, जिस की कृपा से ही आजतक सांस्कृतिक–परम्पराएँ राष्ट्र प्रजा को उपलब्ध हो रहीं हैं।

२१०–संस्कृतिस्वरूपान्वेषणपरायण राष्ट्रीय भूदेव का निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से मतवादाभिनिविष्टों, तथा--सत्तातन्त्रों के द्वारा उत्पीड़न, एवं सत्ताभक्त--युग-धर्म्ममर्म्मज्ञ--बुद्धिवादी विद्वानों के द्वारा व्यक्तित्वविमोहनात्मक व्यक्तित्व स्थापन के लिए विभिन्नकौशल--व्यासङ्गों का अनुगमन–

इसकी इसी सांस्कृतिक–निष्ठा को देख सुन कर विगत तीन सहस्र वर्षों में कीटाणु–न्यायेन समय समय पर आविर्भूत–तिरोभूत होते रहने वाले सभी सत्तातन्त्रोंनें, तदनुगामी तत्सापेक्ष सभी मतवादों–सम्प्रदायवादों–सन्तवादोंनें इस राष्ट्रीय ब्राह्मण की भर्त्सना–अपमान–तिरस्कार करते रहने में भी कोई न्यूनता नहीं की। किंतु ? का उत्तर तो सत्तासापेक्षवादी उन विद्वानों से ही पूँछना चाहिए, जो **'राजा कालस्य कारणम्'** रूप वाक्छल के माध्यम से इच्छापूर्वक अपने मनःशरीरात्मक बाह्य-रूप को भी सत्ता के प्रति समर्पित किए हुए हैं, एवं अपनी इन मानसिक लोकैषणाओं, तथा शारीरिक वित्तैषणाओं की लिप्सा–लालसा–पूर्ति की दुराशा से ही आत्मबुद्धिरूप आभ्यन्तरस्वरूप को भी सर्वात्मना उसी सत्ताव्यामोहन से व्यामुग्ध प्रमाणित कर चुके हैं। सर्वस्व-समर्पक ऐसे युगधर्म्मवादी–बुद्धिवादी–श्रद्धाआस्थाशून्य विद्वानों के अनुग्रह से ही तो आज के सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र भारत में भूमिनिमज्जित उन शवशरीरों के पुरुनद्धार का प्रयास प्रक्रान्त हो पड़ा है, जो शवशरीर सत्तातन्त्र के उपलालन-साधन बने हुए हैं अन्तर्राष्ट्रीय-ख्याति–रूप आत्मविमोहन की कृपा से ऐसे ही विद्वानों का युग-धर्म्मानुगत वैसा मानों महान् कौशल ही है कि, एक ओर मान्यतानुगता–भावुकता प्रधाना, किन्तु श्रद्धाशीला प्रजा के व्यामोहन के लिए ये ही सांस्कृतिक विद्वान् तुलसीकृत **रामायण-सूर-कबीर-रैदास-सुन्दरदास-दादू-मीरा**–आदि के गुणगान से पुलकितगात्रता का अभिनय करते रहते हैं, तो दूसरी ओर ये ही निगमभक्त वेद–भक्ता प्रजा को व्यामोहन में डालने के लिए **वेदशास्त्र** का भी घन्टाकोष करना विस्मृत नहीं करते। तो अन्यत्र ये ही महानुभाव सत्तानुरञ्जनमात्र के लिए **जातककथाओं** के आलाप–**संलापों,–रेडियो भाषणों** से अपने आप को सर्वोदार-सर्वप्रिय-लोकसत्ताप्रिय उद्घोषित करते रहते हैं। किसी भी लोकक्षेत्र पर दृष्टि डालने का अनुग्रह कर लीजिए। सर्वत्र, सभी उन क्षेत्रों में आप सर्वप्रिय, अतएव **'महान्-सांस्कृतिक-रूपेण** उप–गीयमान इन विद्वानों का कहीं **सम्मति–दानरूप** से, कही **सदस्यता** के रूप से, कहीं **लेख** के रूप से, कहीं **भाषण** के रूप से, तो कहीं अन्यान्य अज्ञात विविधरूपों से साक्षात्कार कर हीं लेंगे, जिन क्षेत्रों के द्वारा कि इन विद्वानों को अपने व्यक्तित्वविमोहन का संरक्षक सुवास अंशतः भी प्रतीत हो जाता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, राष्ट्रीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म का जैसा अहित आक्रान्ता सत्तातन्त्रों से भी नहीं हुआ था, वैसा इन सत्तासापेक्ष विद्वानों के द्वारा ही होता रहा है। अस्मदादि साधारण जनमानस इन्हीं को प्रमाण मानते

आरहे हैं । और ये संस्कृतिरक्षक ही अपने व्यक्तित्वविमोहन के कारण सत्तादि सापेक्ष बनते हुए युगधर्म्मानुगता–सत्तासभ्यतानुगता उन मान्यताओं को ही 'संस्कृति' नाम से हमारे सम्मुख रखते रहते हैं, जिन मान्यताओं का 'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थमात्र से भी तो सम्पर्क नहीं है ।

२११–लोकव्यामुग्ध विद्वानों की कृपा से ही भारतीय–मूलसंस्कृति, सनातन--सभ्यता--आदर्श–शाश्वतधर्म्म--आचार–आदि विमल–विभूतियों का उत्तरोतर अभिभव, इत्यालप्यालमेव—

यही वह सर्वस्वघातक दृष्टिबिन्दु है, जिसने भारतीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म के ज्ञानविज्ञानात्मक–मतवाद-निरपेक्ष–सर्वोपकारक–सांस्कृतिक स्वरूप को अन्यथा ही प्रमाणित कर दिया है । असंस्कृति संस्कृतिरूप में, भ्रष्टसाहित्य प्रामाणिक साहित्य के रूप में, मतवाद धर्म्मरूप में क्यों परिणत होगया ?, प्रश्न का यही उत्तर है । सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही सापेक्षतावादी-बुद्धिवादी-व्यक्तित्वविमूढ-ऐसे सांस्कृतिक ? विद्वानों ? की कृपा से ही दुर्भाग्यवश भारत जैसे सांस्कृतिक–धार्म्मिक–राष्ट्र में भी उसके अपने हीं धार्म्मक–सांस्कृतिक–सत्तातन्त्र के द्वारा ही आज **'धर्म्मनिरपेक्षता'** जैसा शब्द विनिःसृत हो पड़ा है, **जिस विनिःसृति के तामसिक आवरण से वर्त्तमान मन्वन्तरकालानुगत पौने दो अर्ब वर्षात्मक भारतीय सांस्कृति-धार्म्मिक धवलाकाश ही आत्यन्तिकरूप से मलीमस बन गया है,** किंवा राष्ट्र की धर्म्मनिरपेक्षता ने बलपूर्वक बना दिया है, जिस इस आत्मसंवित्-शून्या, अतएव बुद्धिनिष्ठाशून्या, अतएव च केवल मनःशरीरानुप्राणिता भावुकतापङ्कनिमग्ना 'मलीमसता' से अधिक दुर्भाग्यपूर्ण घटना, किंवा घोरातिघोरा भयावहा राष्ट्रस्वरूपविनाशिका दुर्घटना और कुछ भी तो नहीं हो सकती । **'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः'** के अनुसार जब इस संस्कृति का रक्षकवर्ग ही अमुक व्यक्तित्वविमोहनों के वारुणपाशपरम्पराओं में आबद्ध होता हुआ भक्षक बन जाय, तो तथाविधा दुर्घटना के लिए किसे दोषी माना जाय ?, **इति नु आलप्यालमेवैतेन पापकथाप्रसङ्गेन, यतो हि पापानां कथापि खलु अश्रेयसे–अमङ्गलाय–पर्य्याप्तैव भवति** * ।

२१२–प्रकृतिविशिष्ट पुरुष के द्वारा लोकातीता शाश्वत--संस्कृति का, एवं पुरुषविशिष्टा प्रकृति के द्वारा लोकात्मक सांस्कृतिक-आचार-आयोजनों का पारम्परिक संरक्षण-

भारतीय–मौलिक संस्कृति, तत्स्वरूपोपबृंहक निगमागमपुराणादि मौलिक साहित्य, तत्र प्रतिपादित सांस्कृतिक आचाररूप शास्त्रीय धर्म्म, तथा सांस्कृतिक–आयोजनरूप–लौकिकधर्म्म, तत्सम्मत आदर्श, आदि आदि इन विमल–राष्ट्रविभूतियों का रक्षक–कौन ?, प्रश्न का सामाधान तो वेदशास्त्रसिद्ध उस **'अवतार-विज्ञान'** पर ही अवलम्बित है, जिसका समन्वय अव्ययेश्वरात्मा से सर्वथा ही पराङ्मुखा–जड़भूतानुगता–लौकिक बुद्धि कदापि नहीं कर सकती । लोकत्रयाधिष्ठाता–षोडशकल–**'षोडशीप्रजापति'** नाम से उपवर्णित अव्ययेश्वर भगवान् की निःश्वासरूपा–अपौरुषेया–अनादिनिधना–सनातनसंस्कृति का लोकातीत स्वरूप जहाँ

***-आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत् स दारानपाहरत् ।**
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥ —महाभारते

स्वयं लोकातीत ÷ अव्यपुरुष से सुरक्षित है, वहाँ उस लोकातीता संस्कृति के लोकानुप्रविष्ट–लोकात्मक- आचार-आयोजनात्मक–प्राकृतिक–लौकिक स्वरूप का संरक्षण तद्रूपा पुरुषसहचारिणी उस महामाया प्रकृति पर ही अवलम्बित है, जो अपने सनातन–पुरुष भाव को विस्मृत कर बैठने वाले अपने औरस पुत्र–प्राकृत मानवों की–'**अपराधपरम्परावृतं नहि माता समुपेक्षते सुतम्**' न्याय से उस सीमापर्य्यन्त उपेक्षा ही करती रहती है, जिस सीमापर्य्यन्त प्राकृत बन जाने वाले भी मानव के हृदयस्थ मनुदेवता में अंशतः भी अव्यपुरुषभावत्वेन जागरुकता विद्यमान रहती है। यों पुरुष के आंशिक अनुग्रह से ही प्रकृति का यह आंशिक अनुग्रह मध्ये मध्ये निग्रहद्वारा उद्बोधन प्रदान करता हुआ यथाकथञ्चित् प्रक्रान्त रहता है। यदि इस आंशिक-अनुग्रह से उद्बोधन प्राप्त करता हुआ मानव अपने बुद्धिवादात्मक प्राकृतिक विमोहन का परित्याग कर देता है, तो श्रेयःपन्था। यदि दुर्भाग्यवश इन उद्बोधनक्षणों को अपने प्रभूतबुद्धिव्यामोहन से यह 'भ्रान्ति' ही मान बैठता है, फलस्वरूप अन्तरात्मा की इस सहज अनुग्रहध्वनि की यह उपेक्षा ही कर देता है, तो उस स्थित में प्रकृति भी इसे अपने अञ्चल में एक विशेष प्रकार से ही निमज्जित कर लेती है, जिसप्रकार का निरूपण आगमशास्त्रों में प्रचण्डचण्डिका–मूर्त्ति महाकाली के यशोगानावसरों पर विस्तार से हुआ है, एवं जिनके सम्बन्ध में प्रकृत्यभिन्न पुरुषेश्वर को भी अन्ततोगत्त्वा यही व्यक्त कर देना पड़ा है कि—

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मानवाः ।
सर्वज्ञानविमूढाँस्तान् विद्धि नष्टाचेतसः ।। (गीता) ।

२१३–'प्रकृतिस्त्वां नियोच्यति' मूलक प्रकृतिसिद्ध नियन्त्रण, और प्रतिक्रिया का उन्मूलन—

हाँ, तो स्पष्ट है कि संस्कृति का अलौकिक स्वरूप प्रकृतिगर्भित अव्ययेश्वर से सुरक्षित है तो, संस्कृति का लौकिक स्वरूप पुरुषगर्भिता प्रकृतिदेवी के द्वारा सुरक्षित है–'**प्रकृतिस्त्वां नियोच्यति**' *। अवश्यमेव मानव का हृयस्थ अव्ययेश्वर × मानव की पुरुषार्थरूपा अलौकिक संस्कृति का, तथा मानवीय–बुद्धिमनःशरीरानुगता मानव की प्रकृति क्रत्वर्थरूपा लौकिकसंस्कृति का यथानियम संरक्षण करते ही रहते हैं। और इस दृष्टि से प्रकृति-पुरुषान्विता लौकिक–अलौकिक–संस्कृति स्वयं प्रकृतिपुरुषसमन्वित प्रजापति के द्वारा स्वतः ही सुरक्षित है। अतएव सांस्कृतिक-संरक्षण का एकमात्र उत्तरदायित्त्व तन्मूर्त्ति स्वयं प्रजापति पर ही अवलम्बित है। यही तो भारतीय संस्कृति का वह लोकोत्तर पक्ष है, जिस के कारण यह-'**सनातनसंस्कृति**' कहलाई है। इसकी सनातनता का इससे अधिक और क्या प्रमाण होगा कि, इसे निर्म्मूल करने के लिए जो जो आततायी इस पर आक्रमण करते रहे, वे स्वयं ही विनष्ट होते गए इसके साथ प्रतिद्वन्द्विता करते हुए।

÷–यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः(गीता)

*–यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोच्यति ।। —गीता १८।५६।

×-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। (गीता)

२१४–चिदात्माव्ययपुरुष के चित्कणरूप महदक्षरब्रह्म के मानुषावतारद्वारा (अलौकिक–मानवद्वारा) ही प्रकृतिवादियों का युगे युगे नियन्त्रण, एवं संस्कृति–धर्म्म का संरक्षण—

अवश्य ही ऐसे भी अवसर आए हैं कि, विशुद्ध प्रकृतिवादी, अनात्मवादी, अतएव शून्यवादी आततायीवर्ग के वैकारिक–विजृम्भणों के कारण संस्कृति का स्वरूप अन्तर्म्मुख बन गया है उन समयविशेषों में। सर्वत्र इसी भारतराष्ट्र में शून्यवादात्मक अनीश्वरवाद, तन्मूलक प्राकृत–जड़वाद पुष्पित–पल्लवित से प्रतीत हो पड़े हैं वैसे उन भीषण अवसरों–युगों में, जिनमें कि मानवप्रकृति सर्वथा ही असमर्थ हो जाती है तथाविध विजृम्भणों के निरोध में तो प्रकृति के इस आत्यन्तिक विकम्पन से तदभिन्न चिदात्मा का **'चित्कण'** रूप अक्षरभाग निश्चयेन किसी न किसी सगुणरूप में * आविर्भूत हो ही पड़ता है, जो कि यही ईश्वरांश सांस्कृतिक-सङ्केतभाषा में–**'अवतार'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसे केवल बुद्धिवादी जहाँ 'मानव' ही मानते रहने की भ्रान्ति करते रहते हैं दुर्योधनादिवत्, वहाँ आत्म–देवनिष्ठ–सांस्कृतिक मानवों के लिए तो जगदीश्वर का यह सगुणावतार आराध्य ही बना रहता है–भीष्म–विदुर–युधिष्ठिरादिवत्। इसप्रकार षोडशीप्रजापति विश्वेश्वर के आधिदैविक स्वरूप के द्वारा, एवं अलौकिक–मानवात्मक–आध्यात्मिक–सगुणस्वरूप के द्वारा ही संस्कृति, तदभिन्न साहित्य, तदभिन्न धर्म्म आदि सर्वात्मना जब सुरक्षित हैं, तो इनकी रक्षा के सम्बन्ध में **'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः'** जैसी भावुकतापूर्ण आशङ्का का कोई भी तो स्थान शेष नहीं रह जाता।

२१५–विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति—

उपर्य्युक्त तथ्य के समन्वय से जब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि–**"संस्कृति स्वयं तद्रूप ईश्वरप्रजापति के द्वारा ही सुरक्षित है। अतएव अव्ययरूपा इस सनातन संस्कृति के नाश की कल्पना करने वाले स्वयं ही नष्ट हो जाया करते हैं, होते रहे हैं अतीतयुगों में, होते ही रहेंगे भविष्य में भी"**, तो–ऐसी अवस्था में पूर्वोपात्त–**"संस्कृति का रक्षकवर्ग ही जब भक्षक बन गया, तो किसे दोष दिया जाय"** इस भावुकतापूर्ण उद्गार का क्या अर्थ शेष रह जाता है ?, यही वह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके समाधानगर्भ में हीं भारतीय मानव की त्रिसहस्रवर्षात्मिका आत्मबुद्धिदासता का मलीमस इतिवृत्त सुरक्षित होता चला रहा है। तद्दिग्दर्शन के लिए ही हमने इस अप्रिय प्रश्न का अनुगमन कर लिया है।

---

* यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता)

२१६–धर्म्म, एवं मतवादों के विभिन्न स्वरूप, एवं वर्त्तमान भारत में मतवादों के माध्यम से ही शाश्वतधर्म्म के साथ व्याजधर्म्माचरण, तथा तद्दुष्परिणामस्वरूप ही धार्म्मिक श्रद्धा का उत्तरोत्तर स्खलन—

अपौरुषेया–नित्या–संस्कृति के आधिदैविक–सृष्टिकर्म्मात्मक स्वरूप का नाम हीं आधिदैविक–अपौरुषेयतत्त्वात्मक वेदशास्त्र है, जिसके आधार पर ही भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा निर्भ्रान्त–स्वतःप्रमाणभूत, अतएव अपौरुषेय ही शब्दात्मक वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है, जिस इस शब्दात्मक शास्त्र के लिए ही महर्षि कणाद ने–'**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**' (वैशेषिकदर्शन) कहा है। संस्कृति के सुसूक्ष्म,–अतएव इन्द्रियातीत नियम–विधि-विधानों–ज्ञानविज्ञात्मक रहस्यों का प्रतिपादन करने वाला निगमात्मक **वेदशास्त्र**, तत्प्रामाण्यानुगत निगमात्–आगत–मर्य्यादा से ही '**आगम**' नाम से प्रसिद्ध शास्त्र, तत्स्वरूपोबृंहक **पुराणशास्त्र**, एवं विधि–विधानों का संकलितरूपात्मक मनुयाज्ञवल्क्यवसिष्ठविष्ण्वादि **स्मृतिशास्त्र** ही वह सांस्कृतिक–शास्त्र है, जिसमें समब्रह्मरूप सांस्कृतिकभावापन्न आत्मप्रजापति के प्राकृत–सांस्कृतिक–महिमाविवर्त्तों का विस्तार से यशोगान हुआ है। अतएव इस ऋषिदृष्ट–ऋषिकृत–शास्त्र को अवश्य ही '**संस्कृतिशास्त्र**' कहा जासकता है, एवं तत्प्रतिपादित आचारायोजनधर्म्म को–'**सांस्कृतिकधर्म्म**' कहा जा सकता है। उस सनातन से यह शास्त्रधर्म्म अभिन्न है, अतएव इसे भी '**सनातनशास्त्र**' तथा '**सनातनधर्म्म**' कहा गया है, जिसका किसी भी मानव की मान्यतानुगता कल्पना से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मान्यतानुगत–मतवाद जहाँ युग युग में सत्ता–परिवर्त्तनों के साथ साथ बदलते रहते हैं, वहाँ आस्थानुगत शास्त्र, तथा धर्म्म कदापि नहीं बदला करता। यही **धर्म्म**, और **मत**, में वह महान् अन्तर है, जिसके समन्वय से वञ्चित भारतीय विद्वानों नें अपनी मान्यताओं के समावेश से सनातनशास्त्र,–सनातनधर्म्म को भी अन्यान्य मतवादों, सम्प्रदायवादों की ही श्रेणि में ला खड़ा किया है। बिना किसी संकोच के इस नग्नसत्य को स्वीकार कर लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि, **"विगत तीन सहस्र–वर्षों की अवधि में भुक्त प्रक्रान्त शास्त्र–[शास्त्रव्याख्या]–धर्म्म [धर्म्मव्याख्या] बस्तुगत्या न तो शास्त्रव्याख्या ही है, न धर्म्मव्याख्या ही है। अपितु यह तो मान्यतानुगत मतवादमात्र है, जिसका ज्ञानविज्ञानात्मिका सनातननिष्ठा से कोई सम्बन्ध नहीं है"**। सर्वसाधारण में प्रसिद्ध आज का-**हिन्दूधर्म्म–सनातनधर्म्म** अपनी मान्यताओं–काल्पनिक व्याख्याओं के कारण सचमुच **हिन्दूमतवाद–सनातनमतबाद**–रूप में ही परिणत हो रहा है। प्रकृतिसिद्ध–पुरुषानुप्राणित आचारधर्म्म मतवादात्मक–सम्प्रदायवादों से सर्वथा ही अन्तर्म्मुख बन गया है। शास्त्रनिष्ठा के स्थान में स्वार्थलिप्सु पर–वञ्चक–आपणव्यवसायियों के सिद्धि–चमत्कार–भगद्विग्रहसाक्षात्कार–आदि आदि परःशत प्रलोभनों से आज इनके वञ्चकतापूर्ण काल्पनिक–ध्यान–भजन–कीर्त्तनादि ही 'धर्म्म' बन बैठे हैं, जो काल्पनिक पथ 'धर्म्म' शब्द के संस्मरण का भी अधिकार नहीं रख रहे। मतवादात्मक ऐसे धर्म्मने हीं तो भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक–ऐश्वर्य्य को, मङ्गलमयी आचारपद्धतियों को, स्वस्तिप्रवर्त्तक सांस्कृतिक–आयोजनों को उस सीमापर्य्यन्त अन्तर्म्मुख प्रमाणित कर दिया है कि, धर्म्म के प्रति आस्था–श्रद्धा–रखने वाले प्रज्ञाशील मानव भी 'धर्म्म' शब्द से निरपेक्ष ही बनते जारहे हैं इन अमानवीय, किंवा दानवीय मलीमस धार्म्मिक–आडम्बरों की कथा सुन सुन कर।

२१७–धर्म्मव्याजात्मक धर्म्मों–मतवादों की विभीषिकाओं से ही भारतराष्ट्र में धर्म्मनिरपेक्षता का आविर्भाव—

यह सर्वात्मना विश्वसनीय है कि, यदि भारतराष्ट्र की संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदर्श–अपने स्वस्वरूप से जागरूक बने रहते, तो कदापि यह राष्ट्र परतन्त्र होता ही नहीं। त्रिसहस्रवर्षानुगता परतन्त्रता ही यह प्रमाणित कर रही है कि, अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधक * सांस्कृतिक–धर्म्म से सर्वथा विपरीत, धर्म्मच्छलमाध्यम से स्वार्थसंसाधक मतवादों का ही प्राधान्य प्रक्रान्त रहा है भारतराष्ट्र में। इस 'धर्म्म' शब्दविमोहन से ही यहाँ की सांस्कृतिक प्रजा का विमोहन प्रक्रान्त रहा है। इसी विमोहन से राष्ट्रप्रजा-राष्ट्रीय-सांस्कृतिक–संघठन से पराङ्मुख होकर उन उन विभिन्न मतवादों में विभक्त होकर सर्वथा ही अशक्त बनती गई है। यों राष्ट्रप्रजा की चिरन्तना-पारम्परिकी-धार्म्मिक–श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाने वाले तथाविध मतवादाभिनिविष्ट–लोकचतुरों–कुनैष्ठिकों नें 'धर्म्म' के नाम से ही राष्ट्रप्रजा को उस सीमापर्य्यन्त दिग्भ्रान्त बना दिया है कि, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँच जाने वाली जो राष्ट्रप्रजा आज से १५–२० वर्ष पूर्वपर्य्यन्त 'धर्म्म' नाम के सामने अवनतशिरस्क बन जाया करती थी, वही आज के धर्म्मनिरपेक्ष वातावरण में 'धर्म्म' के प्रति, एवं तन्मूलक साहित्य के प्रति सर्वथा तटस्थ निरपेक्ष ही प्रमाणित हो चली है।

२१८--प्रज्ञातन्त्र, और सत्तातन्त्र के विभिन्न व्यवस्थित--मर्य्यादित--कर्त्तव्यकर्म्म, एवं तद्द्वारा ही राष्ट्र की संस्कृति, तथा सभ्यता का स्वरूपसंरक्षण--अभिवर्द्धन—

संस्कृति का, एवं तदभिन्न साहित्यका आचारात्मक-आयोजनात्मक-(व्यावहारिक) लोकपक्ष ही संस्कृत्यादिका वह ऐहिक स्वरूप है, जिसके संरक्षण का प्रधान उत्तरदायित्त्व उस 'ब्राह्मणवर्ग' से अनुप्राणित कर दिया था ऋषिप्रज्ञा ने, जिसका एकमात्र कर्त्तव्य था—**"सम्पूर्ण एषणाओं से अपने आपको सर्वथा पृथक् रखते हुए, किसी भी व्यक्तित्त्वविमोहन–पदप्रतिष्ठा–सम्मान–उपाधि–ख्याति–आदि विमोहन से कोई सम्पर्क न रखते हुए गुहानिहित–रूपेण संस्कृति की आराधना करते हुए ज्ञानविज्ञानतत्त्वों के द्वारा उसके व्यावहारिक स्वरूप को राष्ट्रप्रजा के सम्मुख उपस्थित करते जाना"**। एवं सत्तातन्त्र का एकमात्र उत्तरदायित्त्व था–**"इस उपस्थिति में विघ्न उपस्थित करने की इच्छामात्र रखने वाले भी आततायीवर्गों का मूलोत्पाटन करते जाना"**। इसप्रकार ब्रह्ममित्र, तथा क्षत्रवरुण के सामञ्जस्यरूप इस मैत्रावरुणाग्रह के द्वारा ही, सहजभाषा में संस्कृतिरक्षक ब्राह्मणवर्ग, तथा संस्कृतिप्रचारव्यवस्थासरक्षक सत्तातन्त्र के समन्वय–सहयोग के द्वारा ही राष्ट्रप्रजा स्व स्व कर्त्तव्याचारनिष्ठाओं में जागरूक बनती हुई अभ्युदय–निःश्रेयस् का संग्रह करती रहती थी।

२१९–व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक 'अधिकार' शब्द, तथा व्यक्तित्त्वसंरक्षक 'उत्तरदायित्त्व' शब्द, एवं दोनों के समतुलन--माध्यम से वस्तुस्वरूप--निष्कर्षानुगमन—

यद्यपि सामान्य दृष्टि से ब्रह्ममित्र, तथा क्षत्रवरुण, दोनों को ही दोषी माना जा सकता है, माना गया है सांस्कृतिक–अभिभव के लिए। तथापि प्रधानता उस ब्राह्मणवर्ग ही मानी जायगी, जिसकी सापेक्षता ने ही सत्तातन्त्र को सर्वप्रथम दिग्भ्रान्त बना देने का महत्पुण्यार्ज्जन ? कर डाला। निश्चयेन एकमात्र

***- यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः–स धर्म्मः (वैशेषिकदर्शन–कणादसूत्र)।**

भारतीय ब्राह्मण की कारणतामूला शास्त्रवादिताने हीं संस्कृति के आचारात्मक मौलिक–स्वरूप को सर्वप्रथम अभिभूत किया है। यों यह रक्षक ही भक्षक बन गया है भारतीय संस्कृति का। सांस्कृतिक **'उत्तरदायित्त्व'** अन्य पक्ष है, एवं सांस्कृतिक-**'अधिकार'** विभिन्न पक्ष है। **'निष्कारणता'** जहाँ उत्तरदायित्त्व को जन्म देती है, वहाँ **'कारणता'** अधिकार को जन्म दे डालती है। मनःशरीरानुगत प्राकृतिक विवर्त्त जहाँ अमुक सीमापर्य्यन्त 'अधिकार' क्षेत्र की वस्तु है, वहाँ आत्मबुद्ध्यनुगत पुरुषविवर्त्त सर्वात्मना 'उत्तरदायित्त्व' क्षेत्र से अनुप्राणित है। सहजभाषानुसार–आत्मसंविदनुगता अबुद्धिवादात्मिका बुद्धिनिष्ठा का ही नाम जहाँ 'उत्तरदायित्त्व' है, वहाँ मनोऽनुगता शारीरिक भावानुबन्धिनी मानसिक भावुकता का ही नाम 'अधिकार' है। उत्तरदायित्त्व जहाँ निष्कारण **'कर्त्तव्यनिष्ठा'** का संरक्षक है, वहाँ अधिकार सकारण **'कर्त्तव्यमोह'** का प्रवर्त्तक माना गया है। कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठात्मक उत्तरदायित्त्व में जहाँ प्रतिदानकामना का प्रवेश भी निषिद्ध है, वहाँ कर्त्तव्य मोहात्मक अधिकार में पदे पदे प्रतिक्षण प्रतिदानकामना जागरूक बनी रहती है। उत्तरदायित्त्व जहाँ मानव को अनन्यनिष्ठा से कर्त्तव्यनिष्ठा में आरूढ रखता है, वहाँ अधिकारव्यामोहन मानव को अन्यान्य व्यासङ्गानुगता भावुकताओं की ओर आकर्षित करता हुआ इसे कर्त्तव्यच्युत बनाता रहता है। उत्तरदायित्त्व में न उद्घोष है, न प्रचार है, न यशःकामुकता। अपितु–सर्वथा मूकभाव से स्वकर्त्तव्यकर्म्म की अनुगति है, जबकि अधिकार–क्षेत्र में पदे पदे प्रचण्ड उद्घोष है, प्रचारव्यामोहन है, यशःकामनानुगति है, अतएव च कर्त्तव्य–कर्म्मविस्मृति है।

२२०–आत्मबुद्धिक्षेत्रानुगत उत्तरदायित्त्व, एवं मनःशरीरक्षेत्रानुगत अधिकारत्त्व, तथा उत्तरदायित्त्व से नियन्त्रित अधिकार का भी उत्तरदायित्त्व पर ही विश्राम, एवं तन्मूला कर्त्तव्यनिष्ठा—

अवश्य ही मानसिक–शारीरिक–भावों में 'अधिकार' भी अपेक्षित है, किन्तु आत्मिक–बौद्धिक–उत्तरदायित्त्व के नियन्त्रण के द्वारा ही। उत्तरदायित्त्व से नियन्त्रित अधिकार भी उत्तरदायित्त्व की सीमा में हीं अन्तर्भूत हो जाता है। अतएव ऐसा प्राकृतिक अधिकार अधिकारव्यामोहक कदापि नहीं बन सकता। कर्त्तव्य–निष्ठात्मक उत्तरदायित्त्व के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाला कर्त्तव्यशून्य 'अधिकार' ही मानव के व्यक्तित्त्व विमोहन को जन्म दे डालता है। और इसी विमोहनावस्था में आकर मानव अपने मानसिक–शारीरिक–भौतिक–पद को, लोकसम्मान को ही अपना 'व्यक्तित्त्व' मान बैठता है। इसी व्यक्तित्त्वभ्रान्ति में इस भ्रान्ति के जनक 'पदाधिकार' को ही यह अपने मानवीय जीवन की चरम सफलता मान बैठता है, जो कि वस्तुतः इसकी अन्तिम निष्फलता ही माना गया है। आत्मबुद्ध्यनुगत उत्तरदायित्त्व से पराङ्मुख, एवं मनःशरीरानुगत अधिकारव्यामोहन से समन्वित इसी सर्वविनाशक अधिकारशब्द ने सर्वप्रथम संस्कृति के लोकपक्षसंरक्षक ब्राह्मण को ही पदप्रतिष्ठा की और आकर्षित किया।

२२१–कारणतावादात्मिका 'उपयोगिता' के महान् व्यामोहन से ही राष्ट्र की 'ब्राह्मण–प्रज्ञा' का पतन, एवं तद्परिणामस्वरूप ही सांस्कृतिक–निष्ठा का क्रमिक–ह्रास, तथा राष्ट्रीय ब्राह्मण से प्रणतिपुरस्सर किञ्चिदिव आवेदन—

यही अधिकारव्यामोहन सर्वप्रथम 'ब्राह्मण' शब्द को 'ब्राह्मणवाद' रूप में परिणत कर देने जैसे जघन्यतम कर्म्म का प्रथम प्रवर्त्तक बना मनःशरीरानुबन्धिनी 'कारणता' के आकर्षण से। इसी ने—'निष्का–

रणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' सूत्र की उपेक्षा की सबसे पहिले, इसी ने '**सम्मानान्नित्यमुद्विजेत**' के साथ गजनिमीलिका करते हुए अपने आपको सर्वश्रेष्ठ–सम्मानित–पूज्य–महाराज–जैसी उपाधियों से सम्मानित होना आरम्भ कर दिया । और यों इन **लोकसम्मान-एषणा-लिप्सा-लालसा-गृध्नुता-पिशुनता**-आदि आदि आधिकारिक व्यामोहनों में आसक्त-व्यासक्तमना इस राष्ट्रीय ब्राह्मण ने अपने आपको '**राष्ट्रभूमा**' रूप महान् उत्तरदादित्व से पराङ्मुख कर व्यक्तिमात्र में हीं सीमित कर लिया । एवं निःसन्देह कारणतान्वेषणपरायण, अतएव वहिर्मुख,–अतएव मनःशरीरानुगत,–अतएव आत्मबुद्धिनिष्ठावञ्चित,–अतएव उत्तरदायित्वशून्य, अतएव च अधिकारव्यामोहननिरत इस भूदेव की सत्तासापेक्षतामूला इसी एषणा ने आत्मबुद्ध्यनुगता संस्कृति के मौलिक स्वरूप को तो बना दिया अन्तर्म्मुख, एवं मनःशरीरानुगता मतवादपरम्परा को ही बना दिया उपास्य । यों स्पष्ट ही एकमात्र ब्राह्मणने हीं अपने उत्तरदायित्वपूर्ण रक्षाधर्म्म से पराङ्मुख होकर स्वयं ने हीं संस्कृति के लोकानुगत सांस्कृतिक आचारपक्ष का भक्षण ही कर लिया अपनी एषणा–लिप्सा की तृप्ति–तुष्टि के लिए । इसी दृष्टि से हमें–'**कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः**' कहना पड़ा है, जिस कथन के प्रायश्चित्त का उत्तरदायित्व भी सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में एकमात्र ब्राह्मणवर्ग से ही अनुप्राणित माना जयगा । एवं इसी अनुप्राणनधर्म्माकर्षण से भारतवर्ष के अभिनव-उद्बोधनप्रदाता अमुक महानुभाव की '**ब्राह्मण सावधान !**' इस आक्रोशपूर्णा भी वैखरी वाणी का अभिनन्दन ही करेगा एतद्देशीय राष्ट्रीय–ब्राह्मण । सचमुच ब्राह्मण की प्रारम्भिक असावधानीने हीं राष्ट्रीय-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म के सम्प्रदायवादनिरपेक्ष मौलिक स्वरूप को अभिभूत किया है, तो निश्चयेन एकमात्र इसी की सावधानी के अनुग्रह से ही पुनः संस्कृति का वास्तविक स्वरूप राष्ट्र में जागरूक होगा, अवश्यमेव जागरूक होगा, इसी मङ्गलकामना को शीघ्र से शीघ्र आचाररूप में परिणत करने के लिए ही अनन्य श्रद्धेय राष्ट्र के उन भूदेवों के प्रातःस्मरणीय चरणयुगलों में हीं यह निबन्धप्रसून अनन्य श्रद्धा से समर्पित होने जारहा है, जिन के जागरण से ही, जिन की सत्तादिनिरपेक्षा सांस्कृतिकी–स्वाध्यायनिष्ठा से ही भारतराष्ट्र का भविष्य समुज्ज्वल बन सकेगा, अवश्यमेव बनेगा ही ।

२२२–'आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति' न्यायानुबन्ध से 'राजा कालस्य कारणम्' के गर्भ में सुरक्षित इतिवृत्त का स्वरूपदिग्दर्शनोपक्रम—

आज के राष्ट्रीय ब्राह्मण का तथाविध महान् उत्तरदायित्व सुनने सुनाने में जितना हीं अधिक प्रिय है, आचारदृष्ट्या वह उतना ही अधिक–दुरूह भी बन रहा है–पूर्वोक्त–'**राजा कालस्य कारणम्**' इस वाक्यानुग्रह से, जिस वाक्य के गर्भ में भी एक वैसा इतिवृत्त अनेक शताब्दियों से सुरक्षित होता चला आरहा है, जिस के विश्लेषण में तो यद्यपि सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मण को तटस्थ ही बना रहना चाहिए था । तथापि राष्ट्र के प्रक्रान्त महान् आपद्धर्म्म के आकर्षण से–'**आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति**' के अनुबन्ध से उस इतिवृत्त के दिग्दर्शन का लोभ भी द्विजातिभावादुपपन्नचापल इस ब्राह्मण से संधृत नहीं हो पा रहा है । श्रूयताम् । श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !

२२३–राष्ट्रीय ब्राह्मण के 'व्यक्तिब्राह्मण' बन जाने से राष्ट्रीय सत्तातन्त्र का पतन, एवं सम्मान--सत्ता--सम्पत्ति--सेवा--रूप पुरस्कारों का आत्यन्तिक--दुरुपयोग—

उत्तरदायित्वपूर्ण सांस्कृतिक–निष्ठा–पथ से पराङ्मुख '**राष्ट्रीय ब्राह्मण**' ब्राह्मणवादात्मक साम्प्रदायिक–मतवादों का सर्ज्जक बनाता हुआ जब '**व्यक्तिब्राह्मण**' बन गया, तो–'**महाजनो येन गतः स पन्था**'

सूक्ति को चरितार्थ करता हुआ राष्ट्र का 'राष्ट्रीय सत्तातन्त्र' भी अपनी मनोनिबन्धना मान्यताओं के आवेश से आकर्षितमना बनता हुआ **'व्यक्तिसत्तातन्त्र'** रूप में परिणत होगया। सीधी साधी सहजभाषा में–ब्राह्मण की **'संस्कृति'** जहाँ राष्ट्र की उपेक्षा कर इस के व्यक्तिपदप्रतिष्ठासंरक्षणकर्म्म में सीमित होगई, तथैव सत्तातन्त्र की **'सत्ताशक्ति'** भी राष्ट्र की उपेक्षा कर इस के पदप्रतिष्ठासंरक्षणकर्म्म में हीं सर्वात्मना समर्पित होने लग पड़ी। **सम्मान–सत्ता–सम्पत्ति–सेवा**–रूप चतुर्विध राष्ट्रीय पुरस्कार व्यक्तितन्त्रों में सीमित होगए। संस्कृति–प्रतिष्ठा से वञ्चित राष्ट्र के सभी वर्ग इन राष्ट्रीय पुरस्कारों को अपना वैय्यक्तिक दायाद (अपौती) मानने–मनवाने का ही भ्रम कर बैठे।

२२४–राष्ट्रीया–ज्ञानशक्ति, पौरुषशक्ति, अर्थशक्ति, प्रवर्ग्यशक्ति--चतुष्टयी का वैय्यक्तिक-संरक्षणों में उपयोग, एवं राष्ट्र की अशक्तता—

राष्ट्रीया ज्ञानशक्ति, पौरुषशक्ति, अर्थशक्ति, प्रवर्ग्यशक्ति, चारों हीं शक्तियाँ वैय्यक्तिक तन्त्रों के रक्षण में प्रवृत्त होतीं हुईं राष्ट्र को भी अरक्षित बना बैठीं, एवं तल्लिप्सु व्यक्ति–वर्गों को भी अरक्षित कर बैठी। 'राष्ट्र' रूप भूमाभाव की उपेक्षा के दुष्परिणामस्वरूप ही ज्ञानवर्ग के साथ साथ ही राष्ट्र का शासकवर्ग भी वैय्यक्तिक–मानसिक काम, एवं शारीरिक भोगों को ही सत्ताबल का एकमात्र सुफल ?. मानता हुआ राष्ट्रव्यवस्था-संरक्षण के स्थान में राष्ट्रव्यवस्था-भक्षक ही बन बैठा।

२२५–संस्कृतिभक्षक ब्राह्मण, आचारव्यवस्थाभक्षक सत्तातन्त्र, सर्वस्वभक्षक वणिक्तन्त्र, तथा शर्म्म--वर्म्म--गुप्त--भावों की अभिभूति, एवं 'गुप्ततन्त्र' का महान् विजय—

संस्कृति को यदि ब्राह्मण ने खाया, तो सांस्कृतिक–आचार–व्यवस्थाओं को सत्तातन्त्र ने खाडाला! जब दोनों रक्षक यों भक्षक बन गए, तो सम्पत्तिशाली तीसरा वर्ग कैसे तटस्थ रह सकता था। इस 'गुप्त' की (सुरक्षित की) गुप्तता (सुरक्षा) का उत्तरदायित्त्व राष्ट्र के चर्म्मस्थानीय जिस शर्म्मन् ब्राह्मण पर, तथा राष्ट्रके वर्म्म (कवच) स्थानीय वर्म्मन् क्षात्रसत्तातन्त्र पर अवलम्बित था, इन दोनों चर्म्म, और वर्म्म (चमड़े और कवच) रक्षकों से जैसे शरीररूप-समाज सुगुप्त सुरक्षित रहा करता है, तथैव चर्म्मन् (शर्म्मन्) वर्म्मन्रूप ज्ञान–पौरुषबल के प्रतीकभूत ब्राह्मण, एवं सत्तातन्त्र से समाजशरीररूप अर्थसम्पत्तिसञ्चयकर्त्ता वैश्य–महाभाग सुगुप्त बना रहता हुआ–'अपनी' 'गुप्त' अभिधा को सुरक्षित किए हुए था, फलस्वरूप इस की सञ्चित सम्पत्ति का राष्ट्रहित में हीं उपयोग होता रहता था, दोनों रक्षकों के भक्षक बन जाने से जब दोनों हीं निस्तेज बन गए, तो इस लोकनिष्ठ ने भी युगधर्म्म का ही अनुगमन आरम्भ कर दिया, और बड़े ही कौशल से कर दिया।

२२६–बहती गङ्गा में हाथ मात्र धोने का पुण्यार्ज्जन करते रहने वाले लोकनिष्ठ-भलन्दनवंशज के राष्ट्र के प्रति महतोमहीयान् आर्थिक–विजृम्भणों का अनर्थात्मक विस्तार—

बहती गङ्गा में जिस कौशल से इसने हाथ धोए विगत तीन सहस्र वर्षों में, और आज भी जिस कौशल से यही सत्तातन्त्र की प्राणप्रतिष्ठा बना हुआ है, इसके इस महान् कौशल से कौन प्रभावित न होगा ?!

नमो नमस्तस्मै भलन्दनवंशजाय ! लोकनिष्ठाय !! लोकनिष्ठ जो भलन्दनवंशावतंस आज राष्ट्रीय योजनाओं का समर्थक बनता हुआ अपने आप को अन्यतम–राष्ट्रभक्त प्रमाणित कर रहा है, जो सुनैष्ठिक युगधर्म्म–रहस्यवेत्ता सत्तातन्त्र की मान्यताओं को अपनी सांस्कृतिक प्रतिभा के बल कर. सर्वात्मना सत्ता के अनुग्रह का भी दायादभोक्ता बना हुआ है, जो धर्म्मशील मन्दिर–धर्म्मशाला–वापी–कूप–तड़ागादि के निर्म्माण–कौशल से सामान्यप्रजा की धर्म्मभावुकता का भी सगुणस्तम्भ प्रमाणित हो रहा है, जो सम्पन्न महाभाग अपने सञ्चित अर्थ की मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करता हुआ गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र के निर्वाचनावसरों पर अपनी राष्ट्रानुरक्ति से अमुक योग्य व्यक्तियों को पदासीन बना देने में भी प्रमुख अभिनेता प्रमाणित होता रहता है, किंबहुना राष्ट्रीय–सामाजिक–धार्म्मिक-नैतिक-व्यावहारिक-लौकिक-अलौकिक-यच्चयावत् क्षेत्रों में आज जो व्यापक ब्रह्मवत् अभिव्याप्त है, उसे आज का कौन भारतीय नमन करते रहना अपना महान् उत्तरदायित्त्व न मानेगा ?। सुवर्णमणिविद्रुमविभूषिता इस की तुला से आज सम्पूर्ण राष्ट्र सोल्लास उस सीमापर्य्यन्त तुलित हो पड़ा है, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर सम्पूर्ण राष्ट्रशक्तियों का एकमात्र मापदण्ड–'अर्थ' ही बन जाया करता है, जिस इत्थंभूत अर्थप्राधान्यवाद को ही राष्ट्रीया ऋषिप्रज्ञा ने अनर्थपरम्पराओं का जनक माना है, इति नु अब्रह्मण्यमेव ।

२२७–नीति–राज्य-गण-प्रजा-भेदेन-चतुर्विध-सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के समर्थन-माध्यम से सर्वस्वविघातक-'राजा कौन बने ?' सूत्र का मलीमस इतिहास-

प्रकृतमनुसरामः । भारतराष्ट्र में कौनसी शासनपद्धति सर्वात्मना सुसमन्वित बन सकती है ?, प्रश्न आज अचिन्त्य प्रमाणित हो चुका है । * **"आत्मानुगत नीतितन्त्रात्मक, बुद्ध्यनुगत राजतन्त्रात्मक, मनोऽनुगत गणतन्त्रात्मक, एवं शरीरानुगत प्रजातन्त्रात्मक"** चारों में से कोई सा भी शासनतन्त्र हो, युगधर्म्मानुसार सभी हमारे लिए प्रणम्य हैं, यदि इनके मूल में राष्ट्रीय संस्कृति प्रतिष्ठित है, तो । पारमेष्ठ्य बृहस्पति से अनुप्राणित नीतितन्त्रात्मक शासन, सौर इन्द्र से अनुप्राणित राजतन्त्रात्मक शासन, चान्द्रवृत्र से अनुप्राणित गणतन्त्रात्मक शासन, तथा पार्थिव पूषा से अनुप्राणित प्रजातन्त्रात्मक शासन, चारों हीं शासनतन्त्र आत्मसंस्कृतिमूलक एकत्त्व से पराङ्मुख बनते हुए, सांस्कृतिक प्रतिष्ठा से असंसृष्ट बनते हुए राष्ट्रविघटन के कारण प्रमाणित हो जाने से कुशासन ही माने गए हैं, जिन संस्कृतिप्रतिष्ठावञ्चित चारों हीं शासनतन्त्रों में अखण्डा राष्ट्रीय भावना के सर्वथा विरुद्ध व्यक्तिपद–प्रतिष्ठा ही प्रधान बन जाया करती है, निश्चयेन बन जाया करती है । और इसी व्यक्तित्त्वविमोहन के कारण भारतराष्ट्र के लिए अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण उस घातक सूत्र का जन्म हो पड़ा है, जिसकी कृपा से विगत शताब्दियों का राजतन्त्रात्मक शासनतन्त्र राष्ट्ररक्षण के स्थान में राष्ट्रपारतन्त्र्य का ही कारण प्रमाणित होता रहा है । घातकसूत्र के विशदरूप में न जाकर अभी तत्सम्बन्ध में केवल इसके–**'राजा कौन बने ?'** वाक्य पर ही सूत्र का विश्राम मान लिया जाता है ।

---

*-देखिए–"**सांस्कृतिक जागरण के लिए आमन्त्रण,**" नामक स्वतन्त्र निबन्ध

२२८-सत्तानिरपेक्ष राष्ट्रीय-ब्राह्मणों की, तथा संस्कृतिसापेक्ष राष्ट्रीय क्षत्रियों की उत्तरदायित्त्वपूर्णा कर्त्तव्यनिष्ठा से ही अद्यावधि पर्य्यन्त भारतीय सभ्यता का पारम्परिक संरक्षण—

जिसप्रकार समस्त लोकव्यासङ्गों–पदप्रतिष्ठासम्मानादि व्यामोहनों से सर्वथा ही आत्मपरित्राण करते रहने वाले तद्युगीय सत्तातन्त्रों से आत्यन्तिकरूपेणैव निरपेक्ष बनते रहने वाले कतिपय ब्राह्मणश्रेष्ठोंनें राष्ट्रीय-संस्कृति की मूलनिधि शब्दशास्त्र को आततायीवर्गों के आक्रमण से बचाते हुए उसे अपनी प्रज्ञा में स्थिर कर अपने नैष्ठिक उत्तरदायित्व को अद्यावधि सुरक्षित रक्खा है, तथैव विगत युगों में हीं तथाविध ब्राह्मणों के पदचिह्नों का ही अनुसरण करने वाले ज्ञात–अज्ञातनामा भारतीय कतिपय शासकों–नृपतियों–सामन्तक्षत्रियोंनें भी मानसिक–शारीरिक–काम–भोग–लालसाओं से सर्वथा ही असंस्पृष्ट रहते हुए राष्ट्र की मूलसंस्कृति–साहित्य–धर्म्म से अनुप्राणिता आचारव्यवस्थाओं के पारम्परिक-संरक्षण में हीं अपना उत्सर्ग कर दिया है, जिन इत्थंभूत मित्रब्रह्मों, तथा वरुणक्षत्रों के उत्तरदायित्त्वानुग्रह से ही भारतराष्ट्र आजपर्य्यन्त अपनी सांस्कृतिक-धार्म्मिक-गरिमा के मूलबीज अपने क्रोड़ में सुरक्षित किए हुए है। अपने दावानलसम प्रचण्ड आक्रमणों से अन्यान्य साम्राज्यों को स्मृतिगर्भ में विलीन करने वाले हूण–शक–सिकन्दर–पठान–मुगलादि के आक्रमणों के सम्मुख अपने वक्षस्थलों को उन्नत कर झूझ पड़ने वाले उन क्षत्रियवीरों के अवरोधात्मक दुर्ग ने ही भारतराष्ट्र को अन्य देशों की भाँति स्मृतिगर्भ में विलीन न होने दिया, इस ऐतिहासिक पावन तथ्य के साथ तो सम्भवतः वे भी गजनिमीलिका नहीं कर सकते, जो अपने पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनदम्भ में आकर 'क्षत्रिय' नामश्रवणमात्र से ही अपनी मुखाकृतियों को विकृत कर लिया कर लेते है उनके लोकोत्तर पौरुष के प्रति अपनी हीन-ग्रन्थियों का प्रदर्शन करने के लिए ही।

२२९-सत्तासापेक्ष व्यक्तिब्राह्मणों की, तथा संस्कृति–धर्म्म-निरपेक्ष निरंकुश सत्तातन्त्रों की अधिकारलिप्सा से ही त्रिसहस्रवर्षावधि में संस्कृति, एवं सभ्यता की अन्तर्म्मुखता—

स्पष्ट ही **गुहानिहित** सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मणों के, तथा **सौर्य्यमारुतिक** क्षत्रियकुलकमलदिवाकर सत्तामदासंस्पृष्ट शासक-क्षत्रियों के तथाकथित महान् उत्तरदायित्व से ही राष्ट्र की मूलनिधियों के मूलबीज तो यद्यपि सुरक्षित बने रहे विगत तीन सहस्र वर्षों की संघर्षात्मिका युगस्थितियों में भी। इन मूलबीजों को राष्ट्रीय-दृष्ट्या अङ्कुरित होने का अवसर भी यदा कदा मिलता रहा घुणाक्षरन्यायेन, तथापि इसे पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर तो नहीं ही मिल सका विगत ब्रिटिशसत्तायुगपर्य्यन्त। कारण स्पष्ट है। सत्तासापेक्ष ब्राह्मणों के द्वारा होते रहने वाले वाग्विजृम्भणों से जहाँ संस्कृति राष्ट्रीय जीवन में प्रतिष्ठित नहीं होसकी, वहाँ संस्कृतिमूलक आचारव्यवस्थाओं के संरक्षक लोकसत्तापदलोलुप–'**राजापदविमुग्ध**' भारतीय शासकों के पारस्परिक संघर्ष से सांस्कृतिक–आचार भी व्यवस्थित न हो सका राष्ट्रीय जीवन में, जिन इन एषणाओं का प्रचण्डरूप से जागरण हो पड़ा उस ब्रिटिशसत्तायुग में, जिसने इसी महान् पुण्योद्देश्य से ? भारतीय–संस्कृति-शिक्षा-भाषा–इतिहास–लिपि–आदर्श–वेशभूषा–आदि आदि सभी भारतीय विभूतियों को अपने काल्पनिक इतिहासों से विकृत कर के ही राष्ट्र के सम्मुख रख दिया था। भारत के राष्ट्रीय सांस्कृतिक–साहित्यिक–धार्मिक–राजनैतिक–

सामाजिक-गौरव को सर्वथा ही विस्मृत करा देने वाली उन चाणाक्षचतुर शासकों की शिक्षा-दीक्षा का क्या परिणाम हुआ ?, प्रश्न का उत्तर हम उन आज के राष्ट्रप्रेमियों की प्रज्ञा के लिए ही सुरक्षित कर देते हैं, जो कहते हैं अपने आपको सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, किन्तु हैं आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः-आपादमस्तक प्रतीच्य राष्ट्रों के अक्षर अक्षर का अनुकरण ही करने वाले ।

२३०-'राजा' पद के लिए आतुर भारतीय सत्ताधीशों के गृहकलह से ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य—

ऐसा क्यों ?, उत्तर वही-'**राजा कौन बने ?**' वाक्य, जिस 'राजपद' व्यामोहन ने अतीत युगों में भारतीय प्रान्ताधीशों को एकसूत्र में आबद्ध होने ही नहीं दिया । सब में-'**हम राजा मानें जायँ, हमें सर्वोच्च पद प्रतिष्ठा मिले**' इस पदव्यामोहन से परस्पर में हीं सुन्दोपसुन्दन्याय से शक्तिपात होता रहा । फलस्वरूप राष्ट्र कभी एकरूप से सुसंघटित हो ही नहीं सका, तत्-दुष्परिणामस्वरूप ही राष्ट्रीय संस्कृति का सुस्थिरता-पूर्वक-राष्ट्रीय-दृष्टि से चिन्तन-मनन हो ही नहीं सका । अतएव राष्ट्र को सांस्कृतिक ऐक्यसूत्र उपलब्ध हो ही न सका । अतएव च ये राजालोग राष्ट्रहित को जलाञ्जलि समर्पित कर-"**हम राजा-हम बड़े-हमारी बात बड़ी-हम आन बान शान पर मर मिटेंगे**' इत्यादि भावनापूर्णा भावुकता के आवेश में आकर परस्पर में ही कटते-मरते रहे । और इनके उन विनाशताण्डवयुगों में हीं राष्ट्र का अरक्षित वैभव आततायी-वर्गों के द्वारा लूटा, और लुटवाया जाता रहा ।

२३१-साम्राज्यलिप्सु ब्रिटिशतन्त्र के सधन्यवाद गमन के साथ साथ ही तत्पदानुवर्त्ती पदलोलुप 'राजाओं' का भी विलयन, एवं तत्स्थान में-'गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक'-सत्तातन्त्र का आविर्भाव, इति नु महत्सौभाग्यम्—

जिस ब्रिटिशसत्तातन्त्र के निःसीम अनुग्रह से भारतीय शासकों का पदप्रतिष्ठात्मक तथाविध व्यामोहन निःसीम बन गया था, सौभाग्य से वह परसत्तातन्त्र भी सधन्यवाद स्व वारुणदेश में परावर्त्तित होगया, जिस उस प्रतीच्य शासकतन्त्र के भक्तिबल से अपने आपको अजेय मान बैठने वाले, अपने इसी भक्तिमार्ग को सर्वोच्च प्रमाणित करने के लिए अपने प्रान्तीय प्रजावर्गों को निरतिशयरूपेण उत्पीड़ित करते रहने में हीं अपने काल्पनिक '**राजा**' पद का संरक्षण मानते मनवाते रहने वाले सामन्त शासक भी अपने वरप्रदाता ब्रिटिशराज्य के परावर्त्तित होते ही महद्भाग्य से वाङ्मात्र से तो स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के प्रति अपना विश्वास ही व्यक्त करने लग पड़े, जबकि अभीतक भी मनसा और कर्म्मणा वे कोई वैसा दृढतम प्रमाण नहीं दे सके हैं भारतराष्ट्र को, जिसके बल पर उन्हें राष्ट्रप्रजा अपने हृदयासनों पर प्रतिष्ठित करले । तदित्थं-ब्रिटिशसत्ता गई, राजा गए, और तत्स्थान में गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-भावानुप्राणित सुशासनयुग का उपक्रम हुआ, इति नु महत्सौभाग्यं भारतराष्ट्रस्य ।

२३२-तथाविध 'स्व' सत्तातन्त्र का मूकभाव से सुस्वागत करने वाली भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय-प्रजा--

मानव की सहज स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला परशासनतन्त्र (ब्रिटिशतन्त्र **अंग्रेज**-), एवं तद्भक्ति-पथानुगामी सामन्ततन्त्र (**राजागण**), दोनों चले गए, तथा प्रजा आगई तत्स्थान में गणरूप

(समूहरूप) से। अतएव भारतीय वर्त्तमान शासनतन्त्र **'गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र'** नाम से प्रसिद्ध हो पड़ा। एवं परसत्तातन्त्र से, तथा तद्भक्त स्वसामन्ततन्त्र से उत्पीड़िता भारतीय प्रजा ने उत्पीड़नजनिता प्रतिक्रिया के अनुग्रह से ही एकेश्वरमूलक राजतन्त्र जैसे शासनतन्त्र को भी उपेक्षित मान कर प्रकृतिनानात्त्वमूलक इस गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्र के प्रति भी अपनी मान्यताएँ समर्पित कर दीं मूकभाव से, इति नु सुस्वागतमेव राष्ट्रप्रजायाः।

२३३–सत्तातन्त्रभक्ता भारतीय प्रजा की आशा--परम्पराएँ, एवं सत्तातन्त्र के द्वारा आशापरम्पराओं पर निर्म्मम तुषार--वर्षण—

सत्ताभक्ता प्रजा के इस सर्वस्व समर्पण का आकर्षणकेन्द्र था एकमात्र यही कि, इसे इस अपने ही **'लोकराज'** से अवश्यमेव वैसी सुख–सुविधाएँ मिलेंगीं, जो सुख–सुविधाएँ अतीत के सामन्तयुगीय राजतन्त्रोंनें बलपूर्वक अपहृत करलीं थीं। जहाँतक मानव के वाक्तन्त्र का सम्बन्ध है, उस सीमापर्य्यन्त तो निःसन्देह वर्तमान प्रजातन्त्रशासन ने भी–**'वचने का दरिद्रता'** को अक्षरशः चरितार्थ करते हुए अपने लोकप्रसिद्ध ही क्यों, विश्वप्रसिद्ध **'सार्वजनिक–सम्पर्ककार्य्यालयों'** (वस्तुतः सत्तातन्त्रीय–जनविशेषों की लोकख्याति के सम्पर्कमात्र से ही सम्बन्ध रखने वाले कार्य्यालयों, पब्लिसीटी डिपार्टमेन्टों (Publicity) के द्वारा प्रतिक्षण विलक्षणरूपेण प्रकाशित होते रहने वाले अश्रुतपूर्व–अदृष्टपूर्व–महतोमहीयान्–गणनाङ्कों से समन्वित प्रचारपत्रों के द्वारा राष्ट्रप्रजा का आज सर्वात्मना विमोहन ही कर रक्खा है। अतएव दिग्भ्रान्ता इव उन्मुग्धा विमुग्धा बन जाने वाली राष्ट्रप्रजा अद्यावधि भी यह निर्णय ही नहीं कर पाई है कि, इसके व्यायहारिक–जीवन में परसत्तायुगीय तन्त्रों के समतुलन में किस अंश में कैसा सुधार, कैसी प्रगति हो गई है ?, किंवा सम्भावित है ?। क्योंकि जहाँतक फलांश का सम्बन्ध है, वहाँतक तो राष्ट्रप्रजा प्रत्यक्ष में अपना कोई भी व्यावहारिक उत्कर्ष प्रयास करने पर भी उपलब्ध नहीं कर रही। अपितु परसत्तायुगों से भी कहीं अधिकाधिक समस्याओं, जीवनीय जटिलताओं की ही इसे अनुगामिनी बनना पड़ रहा है। शताब्दियों से अपना **सांस्कृतिक–धार्म्मिक**, तथा **आर्थिक** शोषण कराती रहने वाली प्रजा ने यह आशा की थी कि, इस अभिनव–स्वतन्त्रतायुग में इसके तीनों ही शोषण अवरुद्ध होंगे। किन्तु हो रहा है ठीक इसके विपरीत। मानसिक–शारीरिक–भाव–विजृम्भणों को ही–'सांस्कृतिक' उपाधि से समन्वित करते रहने वाले वर्त्तमान युग के **'सांस्कृतिक–आयोजनों'** नें जहाँ भारतराष्ट्र की मौलिक संस्कृति का अभिभव कर दिया है, शासननीति की धर्म्मनिरपेक्ष–घोषणा ने जहाँ राष्ट्रप्रजा के धार्म्मिक जागरण पर तुषारपात कर दिया है, वहाँ योजनाओं के माध्यम से अनुदिन नवीन नवीन रूपेण समुद्भूता करपरम्पराओं (टैक्सों) नें इसके कङ्कालशरीरों का अधिकाधिक शोषण ही आरम्भ कर दिया है। और दुःख यह है कि, यह सब जानबूझ कर नहीं हो रहा। अपितु ये तो उस प्रतीच्य आदर्श के परिणाम हैं, जिन्हें मूल मान कर ही हमारा शासन आज अपने आपको व्यवस्थित मान बैठा है। भारतीय–संस्कृति–हृदय–आत्मा-सब कुछ उपेक्षणीय बना हुआ है आज इस शासनतन्त्र के प्राङ्गण में। स्वयं शासक भी दुःखी हैं इस अशान्त वातावरण को देख–सुनकर। किन्तु इनका व्यक्तित्त्व–विमोहानात्मक मोह इन समस्याओं का भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने के लिए इन्हें प्रवृत्त ही नहीं होने देता।

२३४–प्रातीच्य भूताडम्बरों के चाकचिक्य से हमारी तिमिरान्धता, एवं प्रतीच्य–भूतविज्ञान के साथ भारतीय–विज्ञान के समतुलन की जघन्या सर्वनाशकारिणी प्रवृत्ति, तथा तत्प्रवृत्ति से भारतीय संस्कृति का आत्यन्तिक–अभिभव—

अतीत शताब्दियों के सम्प्रदायवाद्–मतवादाभिनिविष्ट मान्यतावादी सत्तासापेक्ष विद्वानों की साम्प्रदायिक व्याख्याओं से एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आचारपद्धति आदि ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा राष्ट्र–विभूतियों का स्वरूप अन्तर्म्मुख बन गया, वहाँ दूसरी ओर प्रतीच्यजगत् के आत्मप्रतिष्ठाशून्य–जड़भूतविज्ञान के चाकचिक्य से तिमिरान्ध बन जाने वाली हमारी दृष्टि ने अपनी राष्ट्रविभूतियों की ओर दृक्पात करना भी उचित न समझा। यों इन दो महाभयावह कारणों से भारतीय वे आधुनिक-प्रज्ञाशील-जिनके द्वारा राष्ट्र के बाह्य कर्म्मों का सञ्चालन हो रहा है–तो सर्वथैव निरपेक्ष बन गए अपने राष्ट्र की संस्कृति–साहित्यादि से। यही निरपेक्षता आगे चल कर चिर अभ्यास के कारण उस सीमापर्य्यन्त तथाकथित प्रज्ञाशीलों का मानो स्वरूप ही बन गई, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर मानवीय प्रज्ञा स्वस्वरूप को सर्वात्मना विस्मृत कर परस्वरूप को ही अपना स्वरूप मानने मनवाने की भ्रान्ति कर बैठती है। और निश्चयेन आज भारतीय प्रज्ञा की कुछ ऐसी ही दुर्द्दशा हो गई है। इसी परव्यामोहन के आकर्षण से भारतराष्ट्र के वर्तमान वेदव्याख्याता-शास्त्र–व्याख्याता भी अपने निबन्धों–लेखों-भाषणों में यही प्रयास करते प्रतीत हो रहे हैं कि—"**उनके शास्त्र में भी सब सिद्धान्त उसी प्रकार वैज्ञानिक हैं, जैसे कि–प्रतीच्य जगत् के सिद्धान्त वैज्ञानिक हैं**"। उनके भूतविज्ञान के समतुलन के लिए आतुर हमारे ये भारतीय बन्धु ऐसा करते हुए तो अत्यन्त ही अनर्थ का सर्ज्जन करते जा रहे हैं, जब कि भारतीय ज्ञान–विज्ञान परिभाषाओं का प्रतीच्य भूतविज्ञानवाद से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। मानते हैं–एवंविध प्रयासों के मूल में विद्वानों की श्रद्धा भारतीय शास्त्र से ही समन्वित है किन्तु इस श्रद्धा के संरक्षण का उपाय यह कदापि नहीं है कि, हम शब्दानुकरणमाध्यम से काल्पनिक–जोड़ तोड़ बैठा कर इस प्रयास में लग पड़ें कि, "**हमारे शास्त्र में भी वे सब विज्ञान विराजमान हैं, जिनकी प्रतीच्य जगत् आराधना कर रहा है।**" एकान्ततः घोरघोरतम अहित ही हुआ है इसप्रकार के व्यामोहनों से वेदशास्त्र का। अतएव अविलम्ब हमें इस व्यामोहन का परित्याग कर ही देना चाहिए। एवं स्वयं अपनी शास्त्रीय परिभाषाओं के माध्यम से ही, अपनी सनातन–परम्पराओं के आधार पर ही हमें अपने संस्कृति-साहित्य-धर्म्म आदि का स्वरूपसमन्वय करना है, जिसके समतुलन में आज के जड़भूतविज्ञान का यत्किञ्चित् भी तो महत्व नहीं है। '**नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**'–'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' मूलक **ज्ञान–विज्ञान** शब्द स्वयं अपने रूप में ही परिपूर्ण है, जिन इन दो वाक्यों में ही भारतीय नित्यविज्ञान–ज्ञान–तत्त्वों के चिरन्तन इतिहास का बीज सुरक्षित है। अत्यन्त पारिभाषिक '**ऋषि**' तत्त्व ही भारतीय नित्य ज्ञान-विज्ञान की मूलप्रतिष्ठा है, जिस–'**प्राणा वा ऋषयः**' मूलक '**ऋषि**' शब्द की व्याप्ति का आज के भूतविज्ञानवादी के साथ समन्वय करने के लिए आतुर हो पड़ना भी उसी प्रकार निरर्थक है, जैसे कि भारतीय विज्ञानशब्दों के साथ प्रतीच्य वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ समन्वय करने के लिए आतुर हो पड़ना सर्वथैव शून्य व्यामोहनमात्र ही है।

इस अप्रासङ्गिक भी विज्ञानसंस्मरण का इसलिए हमें अनुगमन करना पड़ा कि, वर्त्तमानयुग में भारतीयता–भारतीय संस्कृति–मानवता–सत्य–अहिंसा–आदि आदि भारतीय सांस्कृतिक–शब्दों के साथ सभी राष्ट्रप्रेमियों का विशेष स्नेह होता जा रहा है, जिसका शब्ददृष्ट्या जहाँ हार्दिक स्वागत किया जायगा, वहाँ

अर्थदृष्ट्या हमें इस कटुसत्य का भी आश्रय ले ही लेना पड़ेगा कि, कि इन आकर्षक शब्दों की व्याख्या में सर्वत्र व्यक्तित्त्वविमोहनमूलिका परदर्शनभावान्विता उस भावुकता का ही साम्राज्य है, जिसका भारतीय सांस्कृतिक-निष्ठा से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। ऐसा क्यों ?। इसलिए कि, तद्दीक्षा-शिक्षा-भाषा-लिपि-वेशभूषा-अशनपानपद्धति-आदि आदि के चिरकालिक अभ्यास के कारण हमारा व्यक्तित्त्व तन्मय ही बन गया है। ऐसी भावना, किंवा दुर्भावना हमारे मानसपटल पर खचित हो गई है, किंवा साम्राज्यलिप्सु उन चाणाक्ष-चतुरों के द्वारा बलपूर्वक खचित कर दी गई है कि,-"**भारतीय अपने प्रारम्भिकरूप से असंस्कृत थे, विज्ञानवञ्चित थे, ग्राम्यपद्धति के अनुगामी ग्रामीणमात्र थे। इनका वर्त्तमान सुसंस्कृत-सुसभ्य-सुशिक्षित-सुविकसित-वैज्ञानिक जीवन, ये सब विकासभाव एकमात्र हमारे (प्रतीच्यों के) सुसम्पर्क के ही सुपरिणाम हैं**"।

२३५-परप्रदत्त पुरस्कारों से पुरस्कृता उच्छिष्टभोगकुशला भारतीयप्रज्ञा की त्रिसहस्रवर्षात्मिका भावुकता, एवं तदनुग्रह से ही भारतीय-सांस्कृतिक-वैभव की अन्तर्म्मुखता-

परप्रदत्त इन्हीं पुरस्कारों से पुरस्कृता भारतीय-प्रज्ञा सचमुच में अतीत से सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित हो गई है विगत तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता परदर्शनमूला भावुकता के नैरन्तर्य्य से। अतएव आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वातावरण में भी यह स्वच्छन्दतापूर्वक अपने रूप से किसी भी समस्या पर चिन्तन-मनन के लिए प्रवृत्त होना ही नहीं चाहती। इसे सर्वतोऽधिक भय यही है कि-"**कहीं ऐसी प्रवृत्ति से आज के वैज्ञानिक ? राष्ट्र ? हमें असभ्य-सकुञ्चितहृदय-रूढ़िवादी-विज्ञानशून्य तो नहीं मान बैठेंगे। क्योंकि उनके समतुलन में इस प्राच्य भारतराष्ट्र का संस्कृति-साहित्य धर्म्म-राजनीति-समाज-संघटन आदि आदि सभी कुछ तो विज्ञानशून्य ही है। सर्वथा विज्ञानशून्य अतीत के उन खण्डहरों के व्यामोहन में पड़कर कदापि हम आज की विकासवादात्मिका प्रगति में अपने भारतराष्ट्र को अपमानित नहीं होने देना चाहते। अतएव हमें आज के वैज्ञानिकयुग में विज्ञानपद्धतियों के आधार पर ही (स्पष्टशब्दों में उनके आदर्शों के आधार पर ही) अपने राष्ट्र को प्रगतिशील प्रमाणित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीया ख्याति के महानसम्मान से अविलम्ब समन्वित कर देना है अपने इस भारतराष्ट्र को**"।

२३६-परप्रमाणपत्रों के लिए प्रतिक्षण समातुर स्वनिष्ठावञ्चित आज का भारतराष्ट्र—

यही वह काल्पनिक व्यामोहन, किंवा व्यक्तित्त्वविमोहन है, जो दुर्भाग्यवश न तो हमारे सम्मान्य उच्चस्तरीय प्रज्ञाशील शासकों को ही स्वदर्शन में प्रवृत्त होने देरहा, एवं न सत्तासापेक्ष भारतीय विद्वानों को ही स्वदृष्टि से स्वाध्यायनिष्ठा में प्रवृत्त होने देता। दोनों हीं अपने अपने व्यक्तिपदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनों में उस सीमापर्य्यन्त आज आसक्त-व्यासक्त हो गए हैं कि, जिन आस्थाओं, आचारपद्धतियों के साथ इन्हें आज के प्रतीच्य जगत् की मान्यताओं से कुछ भी विरोध प्रतीत होने लगता है, वे सभी भारतीय निष्ठापथ इन्हें अपने लिए अपमानजनक प्रतीत होनें लगते हैं। वे जिसे संस्कृति कहें, वही इनके लिए संस्कृति है। वे जिसे प्रगति माने, वही इनके लिए प्रगति है। सर्वत्र सभी क्षेत्रों में उनकी ओर से प्रमाणपत्र मिलते रहना अनिवार्य्य है, जिस प्रमाणपत्र की सुप्रसिद्धा अभिधा है-'**अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान नहीं, तो ख्याति अवश्य ही**'।

२३७–निष्ठाशून्या भावुकतापूर्णा उदारता के द्वारा भारतराष्ट्र का स्वानुगत महान् विमोहन—

राजस्थान में एक लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि–**'घर का पूत कँवारा डोले, पाड़ोसी का फेरा'**। तात्पर्य्य यही है कि, हम अपनी, अपने परिवार की, अपने समाज की, और अपने राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के साथ तो गजनीमिलका करते रहें, एवं अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिव्यामोहन में आसक्त होकर स्वस्वरूप से विस्मृत बने रहें, कदापि इसप्रकार के विमोहन से राष्ट्र का मौलिक हित साधन स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। विगत तीन सहस्रवर्षों में और हुआ ही क्या है ?। किसी ने हमें परोपकारी कह कर हमारा शोषण किया है, किसी ने त्यागी–तपस्वी की उपाधि के व्यामोहन में डालकर हमें सन्यास में दीक्षित कर लिया है, किसी ने हमें अतिथि-परायण बतला कर आतिथ्य में हीं हमारा सर्वस्व भक्षण कर लिया है, तो किसी ने हमें विश्वबन्धुत्त्व जैसे काल्पनिक–व्यामोहनों में आसक्त बनाकर **'मैत्री'** के व्याज से हमारे शोषण के राजपथों का निर्म्माण कर लिया है। हम अपनी इस नितान्त भावुकतापूर्णा उदारता के व्यामोहन में उस सीमापर्य्यन्त आसक्त–व्यासक्त बनते ही चले आ रहे हैं विगत अनेक शताब्दियों से, जिस सीमाबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर हमारा अपना कुछ भी तो शेष नहीं रह जाया करता।

२३८–'राजा प्रजानुरञ्जनात्' लक्षण रामराज्य से सर्वथा विपरीत शासक, और शासित में महान् विच्छेद, एवं भारतराष्ट्र की संकुलितावस्था—

निवेदन किया जा रहा था कि, पदप्रतिष्ठात्मक–वैय्यक्तिक–व्यामोहन से सम्बन्ध रखने वाले–**'राजा कौन बने ?'**, इस सर्वस्व घातक-राष्ट्रविरोधी सूत्र ने हीं सामन्तीय-शासनयुगों में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का अपहरण कराया था, इस ऐतिहाहिक तथ्य को कभी विस्मृत नहीं किया जासकता। इसी संघर्ष ने **शासित**, और **शासक** के मध्य में वह विच्छेद उत्पन्न करा दिया था, जिसके कारण ही-**'राजा प्रजानुरञ्जनात्'** इस आस्था के सम्मान में भावुक सन्तों की–**'कोउ हो नृप–हमें का हानि'** जैसी भावुकतापूर्णा सूक्ति ? लोकप्रिय बन गई थी। शासक राजा जिन युगों में अन्तरिक्षलोक में विचरण करते हुए भूतल पर दृष्टिपात करने में भी अपनी स्वरूपहानि समझने लग पड़े थे, उन युगों की भूतलनिमज्जिता प्रजा राजा की ओर यदि तथासूक्ति का अनुगमन करने लग पड़ी थी, तो इस में प्रजा का कोई भी अपराध नहीं था। संघर्षात्मक उन युगों में प्रजा का एकमात्र यही कर्त्तव्य शेष रह गया था कि, उत्तम–मध्यम–अधम -अधमाधम–जो भी शासक जिस भी यन्त्र से शासनतन्त्र पर समारूढ़ हो जाय, उसका नामश्रवण कर लेना, और उसके द्वारा प्राप्त होतीं रहनें वालीं सङ्कटपरम्पराओं को राजभक्ति का पुरस्कार मानते हुए उसका शिरसा वहन करते जाना। और अपनी इस मलीमसा जघन्या भावुकता को ही-**'राजा कालस्य कारणम्'** के द्वारा सन्तोष प्रदान कराते रहना। एवं आत्यन्तिक उत्पीड़नावसरों पर दीर्घनिःश्वासपूर्वक–**'अयं तु युगधर्म्मो हि दीयते–कस्य दूषणम्'** वाक्य के प्रति आत्मसर्मण करते रहना।

२३९–प्रतिज्ञात–'राजा कौन बने ?' सूत्र का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

पूर्वनिर्दिष्ट **उत्तरदायित्त्व**, तथा **अधिकार** शब्द इसी प्रसङ्ग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। **'राष्ट्र के लिए राजा'** यह वाक्य जहां उत्तरदायित्त्व का समर्थन कर रहा है, वहां **'राजा के लिए**

राष्ट्र' यह वाक्य अधिकार का समर्थक बन रहा है। पूर्ववाक्य में राजा को अणुमात्र भी व्यक्तित्वविमोहन नहीं है, अपितु उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व राष्ट्र में ही अर्पित है। अतएव इस उत्तरदायित्वपूर्ण पक्ष में–**'राजा कौन बने?'** जैसी लोकैषणा का समावेश सम्भव ही नहीं है। ठीक इसके विपरीत उत्तरवाक्य में राजा सर्वात्मना अपने व्यक्तित्व से विमोहित होता हुआ राष्ट्र के स्थान में अपने व्यक्तित्व को ही प्रतिष्ठित कर लेता है। एवं इस अधिकारव्यामोहनमूला लोकैषणा से ही **'राजा कौन बने'**?, भावना का उदय हो पड़ता है। एक ही राजा, और दो विभिन्न दृष्टिकोण, ऐसा क्यों ?, का उत्तर एक ही मानव के **सांस्कृतिक–प्राकृतिक** रूप दो विभिन्न स्वरूप बने हुए हैं। **आत्मना**, और **बुद्ध्या** वही मानव सांस्कृतिक मानव है, एवं **मनसा**, और **शरीरेण** वही मानव प्राकृतिक मानव है। आत्मबुद्धिनिष्ठ मानव के लिए राष्ट्र ही सर्वस्व है, एवं मनःशरीरभावुक मानव के लिए स्वयं इसका प्राकृत स्वरूप ही सर्वस्व है। स्पष्ट ही आत्मबुद्धिसम्मता मोक्ष, एवं धर्म्मनिष्ठा-जहाँ मानव को कर्त्तव्यकर्म्मानुगतिलक्षण महान् उत्तरदायित्व से समन्वित रखती है, वहाँ मनःशरीरसमन्विता कामार्थभावुकता मानव को कर्त्तव्य–पराङ्मुख बनाती हुई अधिकारव्यामोहन में ही आसक्त किए रहती है, और यही आसक्ति, यही पदप्रतिष्ठाव्यामोहनात्मक–मनःशरीरप्रधान–व्यक्तित्वविमोहन वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के माध्यम से–**'राजा कौन बने?'** इस अधिकार–संघर्ष का जन्मदाता बन जाता है, जिस विमोहन से ही भारतराष्ट्र ने विगत युगों में राजाओं के रहते हुए भी अराजकता से सम्बन्ध रखनें वालीं कष्टपरम्पराओं का स्वागत करते रहने में हीं अपनी 'प्रजा' अभिधा के दुःखपूर्ण भार का वहन प्रक्रान्त रक्खा है।

२४०–प्रकृतिव्यामोहनात्मक–'सत्तासम्मान' शब्द का आविर्भाव, एवं तन्माध्यम से सत्ताधीशों की अधिकारमदान्धता, और उसके भीषण परिणाम—

यहीं भारतीय दृष्टिकोण से कुछ विशेषरूप से हमें समझ लेना होगा। जिनकी विज्ञानदृष्टि ? में मानव **'प्रकृति'** से अधिक, कुछ भी नहीं है, सहजभाषानुसार-मनोवशवर्त्तिनी प्राकृत बुद्धि, एवं मन, तथा शरीर के अतिरिक्त मानव की और कोई स्वरूपव्याख्या नहीं है, उनके सम्बन्ध में उत्तरदायित्व, तथा अधिकार, दोनों एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। अधिकार ही उनके लिए उत्तरदायित्व है, फिर इनके संरक्षण के लिए मानव-मात्र का निर्म्मम हनन ही भले ही क्यों न अनुगमनीय बन जाय। इस प्राकृतिक अधिकारसंरक्षण का नाम हीं उनकी भाषा में **'सत्तासम्मान'** है, जो वस्तुतः व्यक्ति का पदप्रतिष्ठात्मक व्यामोहनमात्र ही है, जिसे 'सत्तासम्मान' छल से अधिकारारूढ प्राकृत मानव सम्भव–असम्भव–सभी उपायों से सुरक्षित रखते रहने में प्रयत्नशील ही बना रहता है, जबतक कि प्रकृति स्वयं क्षुब्ध होकर इसे सर्वात्मना शिक्षा प्रदान नहीं करदेती। मनःशरीरानुगता कामभोगैषणाएँ हीं (खाना–पीना मौज उड़ाना हीं) अधिकारव्यामुग्ध–कर्त्तव्यविमुख–प्राकृत मानव का एकमात्र चिरन्तन इतिवृत्त रहा है सदा से ही। कदापि ऐसे मानव के लिए राष्ट्र की कथा तो दूर रही, समाज–परिवार भी कुछ भी नहीं है। केवल व्यक्तित्वविमूढ–अधिकारमदान्ध ऐसे प्राकृत मानव का आत्मानुगत सत्त्वबुद्धितन्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं माना भारतीया ऋषिप्रज्ञा ने। अतएव तत्पक्ष सर्वथा ही त्याज्य है प्रस्तुत मीमांसा–प्रसङ्ग में।

२४१–भारतीय शासक की सांस्कृतिक–स्वरूप–व्याख्या—

आत्मबुद्धिनिष्ठापूर्वक मनःशरीरभावों का नियन्त्रण करते हुए अपने प्राकृत जीवन को व्यवस्थित बनाए रखना, तथा आत्मबुद्धिरूप उत्तरदायित्व से राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के प्रति आत्मसमर्पण किए रहना हीं भारतीय

'शासक' की सांस्कृतिकी वह स्वरूपव्याख्या है, जिसका शक्तिपरीक्षणात्मिका–योग्यता के मापदण्ड से ही सम्बन्ध है। शक्तिपरीक्षणानुगता आत्मानुगता बुद्धिनिष्ठा ही वह मापदण्ड है, जिसे आधार बनाने वाला आत्मसंवित्परायण–बुद्धिनिष्ठ सांस्कृतिक–मानवश्रेष्ठ ही **'शासन'** जैसे महत्त्वपूर्ण महान् उत्तरदायित्वपूर्ण पद का अधिकारलिप्सा से पृथक् रहता हुआ निर्वाह कर सकता है। **(नान्यः पन्था विद्यते अयनाय)**

२४२–जनतन्त्रवादी शासक की प्रसिद्धा स्वरूपव्याख्या, एवं–'राजा कौन बने ?' के स्थान में 'मन्त्री कौन बने ?' वाक्य का राज्यारोहण—

वयस्कमताधिकार–व्यामोहन के आधार पर प्रतिष्ठित गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मक शासन की योग्यता का मापदण्ड है आज **'अमुक वर्षों की आयु'**। इस आयुःसूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी योग्यता–शक्ति–पौरुष–मेधा–स्मृति–आदि आदि की कोई भी आवश्यकता नहीं समझी गई है उस सत्तातन्त्रीय आज के प्रजातन्त्र–शासन में, जिसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में इस शासन–पद्धति के आविष्कर्त्ता प्रतीच्य विद्वानों के उद्गारों का उन्हीं के शब्दों में अन्य निबन्ध में स्पष्टीकरण कर दिया गया है महता समारम्भेण,–जिस प्रसङ्ग का सर्वश्री पेरेटो के वाक्य का यह हिन्दी रूपान्तर अवधेय है कि—**"जनता की मौलिक भावनाओं के उन्मूलन के निष्फल प्रयत्न में ही ये जनतन्त्रवादी शासक अपनी समस्त शासनशक्तियों का उपयोग करते रहते हैं—अपने उपास्यदेव जनतन्त्र के हित के नाम पर ही"**। नीतितन्त्राधार पर प्रतिष्ठित, एकेश्वरमूलक राजतन्त्र से अनुप्राणित गणतन्त्रीय शासन कोई नवीन आविष्कार नहीं है। भारतराष्ट्र की पञ्चायत–व्यवस्था इसी गणतन्त्र का अङ्गात्मक स्वरूप है। क्या भारतीय गणतन्त्र का मूलाधार केवल वयस्क–मताधिकार ही है ?। कदापि नहीं। अपितु महाभारतयुगीय तत्तद्विशेषप्रान्तों में प्रचलित गणतन्त्रात्मक शासन के सदस्यों की जिस योग्यता का तत्र विस्तार से विश्लेषण हुआ है, उस योग्यता का तो संस्पर्श भी नहीं है आज के इस प्रतीच्य गणतन्त्रानुकरण में। शक्ति, योग्यता–पौरुषादि विभूतियों को जलाञ्जलि समर्पित करने में सिद्धहस्त बने हुए आज के शासनतन्त्र में दुर्भाग्यवश पुनः वही सूत्र रूपान्तर से उसी अधिकारलिप्सा के माध्यम से जागरूक हो पड़ा है, जिसका–**'राजा कौन बने ?'** वाक्यसूत्र आज **'मन्त्री कौन बने ?'** इस रूपान्तर का अनुगामी बन गया है।

२४३–वर्तमान–प्रान्तीय–सत्तातन्त्रों में मन्त्रित्व–पद के लिए प्रचण्ड–संघर्ष, एवं प्राप्त मन्त्रित्व के संरक्षण–प्रयास में ही सत्ताशक्तियों का सर्वस्वार्पण–

'मन्त्री' पद के लिए प्रचण्ड संघर्ष, मन्त्री बन जाने के अनन्तर इस आधिकारिक–पद के संरक्षण के लिए ही सम्पूर्ण शासनशक्तियों का समर्पण, तच्चिन्तन के लिए ही प्रतिदिन अपने सहयोगी मन्त्रियों के साथ 'केबिनेटमीटिङ्ग (cabinet meeting) नामों से परामर्श-प्रक्रान्ति, सदा ही पदप्रतिष्ठाविच्युति की भयाशङ्का से नवीन नवीन तन्त्रों–घोषणाओं का अनुसरण, आदि आदि विजृम्भणों के नग्नस्वरूप से अब और अधिक समय पर्य्यन्त वह वर्गविशेष भारतराष्ट्र की चिरन्तना राष्ट्रीय–प्रजा की आँखों में धूल नहीं झोंक सकता, धूलिप्रक्षेप के द्वारा जिसने 'राष्ट्र' के नाम से, मानवता–मानव धर्म्म–सत्य- अहिंसा–त्याग–तपस्या-बलिदान–आदि आकर्षक शाब्दिक–व्यामोहनजालों से राष्ट्र की भावुक जनता को सर्वथैव स्वरूपविमुग्ध बना लिया है।

२४४--'राष्ट्र', एवं--'राष्ट्रीय--धर्म्म' की स्वरूपव्याख्या का दिग्दर्शन—

रूप्यकचतुर्थांशमात्र-प्रदान-माध्यम से*अमुक सूची में नाम अङ्कित करा देने का ही नाम '**राष्ट्रीयता**' कदापि नहीं है । अतएव तदङ्कनश्रेणिसमुदायविशेष का ही नाम कदापि '**राष्ट्रीयमानव**' नहीं है । अपितु वह प्रत्येक भारतीय मानव राष्ट्रीय–मानव है अपने राष्ट्रीय–उत्तरदायित्त्व से, जिसने सदा से ही इसी राष्ट्र की संस्कृति को राष्ट्रीय-संस्कृति माना है, तन्मूलक–अनुकरण–अनुसरण–आचरण-अनुशीलनात्मक–प्राकृतिक-विधिविधानात्मक–सनातन नियमरूप आचारधर्म्म को ही '**राष्ट्रीयधर्म्म**' माना है, एवं तदनुप्राणित '**पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोह**' नामक माङ्गलिक–स्वस्तिप्रवर्त्तक–आयोजनों को ही '**सांस्कृतिक-आयोजन**' कहा है, कह रहा है, एवं कहता रहेगा– **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** । शासनतन्त्र को आत्मीयानुबन्ध से यही निवेदन कर देना पर्याप्त समझेगा तथाविध राष्ट्रीयमानव कि, उसे अविलम्ब भारतराष्ट्र की हृत्प्रतिष्ठा की शरण में आ जाना चाहिए, जिस केन्द्रप्रतिष्ठा के बिना राष्ट्र कदापि 'राष्ट्र' रूप से सुरक्षित नहीं रह सकता । सत्तासापेक्ष विद्वानों के व्याख्यादोष से, एवं शासनतन्त्रों की मदान्धता से अवश्य ही राष्ट्र का बाह्य–कलेवर अन्यथा प्रतीत होने लग गया है । एतावता ही राष्ट्र की सुगुप्ता मौलिक विभूतियों की उपेक्षा कर बैठना कदापि राष्ट्रमानव के लिए तो श्रेयःपन्था नहीं माना जा सकता । भारतराष्ट्र के हृदय में आज भी वही सांस्कृतिक बीज ज्यों का त्यों सुरक्षित है, जिसके पुष्पित पल्लवित हुए बिना भारतराष्ट्र का राष्ट्रत्त्व तो कदापि अन्वर्थ नहीं बन सकता ।

२४५–'निरपेक्षतामूलक–स्वस्वरूपदर्शन' के माध्यम से ही संस्कृति के साथ मानव का अन्तर्य्यामसम्बन्ध, एवं तदनुग्रह से ही राष्ट्रस्वरूप--संरक्षण—

'**निरपेक्षतामूलक स्वस्वरूपदर्शन**' ही एकमात्र वह राजपथ है, जिसकी शरण में आकर ही हम अपने राष्ट्र की संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के अनुगामी बनते हुए राष्ट्र को पुनः जगद्गुरुत्त्व के सिंहासन पर समारूढ कर सकते हैं, निश्चयेन कर सकते हैं, करेंगे ही । शासनतन्त्र को अविलम्ब जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहनों से अपने आप को सर्वथा निरपेक्ष बना लेना चाहिए, वहाँ भारतीय सांस्कृतिक विद्वानों को तत्क्षण ही अपने आप को सभीप्रकार के सत्तानिबन्धन प्रलोभनों से निरपेक्ष बना ही लेना चाहिए । इस 'निरपेक्षता' के गर्भ में हीं 'संस्कृति' का वास्तविक इतिवृत्त पिनद्ध (सुरक्षित) है । सर्वनाशकारिणी सापेक्षता के महामोहगर्त्त से निकलने का एकमात्र साधन है उत्तरदायित्त्वपूर्ण ·निश्चित–कर्त्तव्यनिष्ठा का अनन्यनिष्ठा से अनुगमन । उत्तरदायित्त्वपूर्णा–काम–तपः–सन्तपन–श्रम–परिश्रम–मूला उस कर्त्तव्यनिष्ठा में हीं वैसा बल है, जो मानव का अधिकारव्यामोहनमूला उस सापेक्षता से सन्त्राण कर लेता है, जो सापेक्षता कर्त्तव्यविमुख–मनःशरीरमात्रपरायणा–कामभोगलिप्सु–सालस–मन्दप्रज्ञ–प्राकृत मानव को अपने वारुणपाश से आबद्ध कर लिया करती है ।

२४६–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्, तत्तदेव-अवक्लृप्तम्' इत्यादि श्रौतवचन का तात्त्विक–समन्वय, एवं निबन्ध की अभिधा का संस्मरण—

तथाकथिता सापेक्षताने ही क्योंकि भारतीय विद्वानों को व्यक्तित्त्वविमोहन में आसक्त किया है । इसी व्यक्तित्त्वविमोहन से, तदनुप्राणित लोक–सम्मानव्यामोहन से ही भारतीय विद्वानोंनें क्योंकि संस्कृति–

---

* चार आना देकर कांग्रेस के मेम्बर बनजाने मात्र से ।

साहित्य–धर्म्म आदि को मौलिकताओं को आवृत कर इन के नामच्छलमाध्यम से युग–धर्म्मों से अनुप्राणिता मनःशरीरनिबन्धना संस्कृतिविरुद्धा परसभ्यताओं को ही प्रोत्साहित किया है, इसी व्यामोहनाकर्षण से क्योंकि भारतीय-प्रजा शताब्दियों से उद्भ्रान्ता–दिग्भ्रान्ता–प्रमाणित होती आरही है अपने सांस्कृतिक–निर्णीत–नैष्ठिक–स्वरूप के सम्बन्ध में। अतएव इन्हीं सब घातक कारणों के मलीमस इतिहास के अनुबन्ध से हमने 'सभ्यता' का उत्तरदायित्त्व जहाँ सत्ता को समर्पित कर दिया है, वहाँ 'संस्कृति के उत्तरदायित्त्व से स्वयं अपनी ओर से ही सत्ता को पृथक् मान लिया है, जोकि मान्यता पूर्वप्रदर्शित–**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्-तत्–तदेव–अवक्लृप्तम्'** इत्यादि श्रौत उद्घोष से आस्थारूप में हीं परिणत हो रही है। शासन कहता है–'हम धर्म्मनिरपेक्ष हैं', तो सांस्कृतिक वेदमहर्षि कहते हैं–**'संस्कृति, तत्प्रतिपादक साहित्य, एवं तदनुप्राणित धर्म्म सत्तानिरपेक्ष हैं'**। शासनतन्त्र को यदि अपना अभ्युदय-निःश्रेयस्–अपेक्षित है, तो यह स्वयं प्रणतभाव से श्रद्धा–आस्थापूर्वक उसीप्रकार संस्कृति–साहित्य–धर्म्म का आमन्त्रण करे, जैसे कि–प्राकृतिक भौतिक साम्राज्य के सञ्चालक शासक वरुणक्षत्र अपने सत्तातन्त्र के अभ्युदय–निःश्रेयस् के लिए ब्रह्ममित्र का प्रणतभाव से आमन्त्रण कर इस **मैत्रावरुणग्रह** के द्वारा विश्वकर्म्मसमृद्धि के भोक्ता बन जाते हैं (देखिए–शत० ४।१।४।६।)। अन्यथा स्वयं संस्कृति-साहित्य-धर्म्म को स्वस्वरूपरक्षा के लिए किसी भी भौतिक सत्तातन्त्र के आश्रयग्रहण की कोई भी आवश्यकता न आज है, न पहिले कभी रही है, जिस इस सत्तानिरपेक्षता के प्रकृतिसिद्ध सांस्कृतिक–सुसूक्ष्म–मर्म्म को विस्मृत कर देने के कारण ही संस्कृति–धर्म्म–रक्षा के लिए आतुर बने रहने वाले भारतीय–विद्वानोंनें संस्कृति–धर्म्म की स्वाध्याय–आचार–निष्ठाओं से अपने आप को उन्मुख कर उस सत्तासापेक्षता का ही अनुधावन कर लिया है, जिससे कि संस्कृति-धर्म्म के मौलिक स्वरूप उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही प्रमाणित होते गए हैं। इन्हीं ऐतिहासिक–तथ्यपूर्ण–घटनाओं, किंवा दुर्घटनाओं को लक्ष्य बनाते हुए हमने संस्कृति को सब ओर से निरपेक्ष ही अनुभूत करते हुए **'संस्कृति के लिए ही संस्कृति का स्वरूपचिन्तन'** माध्यम से प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध किया है। अतएव इस का नामकरण हुआ है–**"सत्तानिरपेक्ष संस्कृति शब्द, तथा सत्तासापेक्ष सभ्यता शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त, एवं भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा"**।

२४७- सांस्कृतिक–निबन्ध के माध्यम से उद्घोषित–'श्वेतक्रान्ति' मूलक महान् उद्घोष–

प्रस्तुत सम्पूर्ण निबन्ध के द्वारा सांस्कृतिक विद्वानों के सम्मुख, समस्त सांस्कृतिक राष्ट्रप्रजा के सम्मुख उस के लिए सर्वथा नवीन भी प्रतीत, किन्तु अतिपुरातन उस महान् उद्घोष को ही प्रणतभाव से हम समर्पित कर देना चाहते हैं, श्वेतक्रान्तिमूलक जिस महान् उद्घोष के गर्भ में हीं भारतराष्ट्र की संस्कृति–साहित्य, एवं धर्म्म के संरक्षणबीज सुनिहित हैं, सुरक्षित हैं। और वह उद्घोष है—

"भारतीय संस्कृति, तत्प्रतिपादक निगमागमपुराणशास्त्र, एवं तदनुप्राणित आचार-आयोजनात्मक सांस्कृतिक धर्म्म किसी भी सत्तातन्त्र की कभी भी कोई भी अपेक्षा नहीं रखता स्वस्वरूप-संरक्षण के लिए। क्योंकि यह स्वयं अपने आप में हीं सुरक्षित है। अतएव भारतीय धर्म्म सत्तानिरपेक्ष है, भारतीय संस्कृति शासननिरपेक्षा है, भारतीय साहित्य स्वतःप्रमाणशास्त्र बनता हुआ परतःप्रमाणनिरपेक्ष है।"

जिस सत्तातन्त्र ने भी इस निरपेक्ष-संस्कृति-साहित्य-धर्म्म की उपेक्षा की है, जिसने भी व्यक्तित्वविमोहन में आकर अपनी ओर से इसे अपनी मूलप्रतिष्ठा से पृथक् कर इस के प्रति अपने आप को निरपेक्ष बना लेने की महती भ्रान्ति कर डाली है, वह सत्तातन्त्र-'मन्युस्तं मन्युमृच्छति'-'धर्म्म एव हतो हन्ति' इत्यादि प्रकृति-सिद्ध नियमों के अनुसार अन्ततोगत्वा मूल-सहित ही निर्म्मूल प्रमाणित हो गया है, जिस धर्म्मनिरपेक्षा, साथ ही अधर्म्मासक्ति की स्थिति का राजर्षिने निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

अधर्म्मेणैधते तावत्-ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥ —मनुः ४।१७४।

२४८-परतन्त्रता के वारुणपाश से भारतराष्ट्र को उन्मुक्त करने वाले दिवंगत सांस्कृतिक-धर्म्मनिष्ठ महापुरुषों का कृतज्ञतापूर्वक संस्मरण—

महद्भाग्य है यह भारतराष्ट्र का कि, इसके अनन्य संस्कृतिनिष्ठ सर्वश्री श्रद्धेय **बालगङ्गाधर तिलक**, महामना श्रद्धेय **श्रीमदनमोहन मालवीय**, महामान्य **श्रीगोपालकृष्ण गोखले**, ओज की सजीव प्रतिमा स्वनामधन्य सर्वश्री **विपिनचन्द्रपाल**, सुप्रसिद्ध प्राच्यसंस्कृतिपरायण सर्वश्री **पं० मोतीलाल नेहरू**, सुप्रसिद्ध वेदभावुक महाप्राण **श्रीलालालाजपतराय**, आस्तिकशिरोमणि-शक्तिपूजापरायण-**भारतभाग्यविधाता** भारतीय-हृदयसम्राट् **श्रीसुभाषचन्द्र बोस**, एवं लोकनिष्ठा के सगुणप्रतिमानरूप रामभक्तिपरायण-भावुकहृदय-भलन्दनवशज महाभाग सर्वश्री **मोहनदास-कर्म्मचन्द गाँधी**, आदि आदि राष्ट्रीय मानवश्रेष्ठों के सांस्कृतिक-तपःकर्म्म से भारतराष्ट्र ने तीन सहस्र वर्षों के अनन्तर भारतराष्ट्र को उन परसत्ताओं के वारुणपाश से उन्मुक्त किया, जिन परसत्ताओंनें अपनी मनः-शरीरमात्रप्रधाना भूतसभ्यता से भारतीय मनःशरीरतन्त्रों को सर्वात्मना समाप्लुत ही कर लिया था ।

२४९-स्वनामधन्य-शक्तिपूजक श्रीसुभाषचन्द्र बोस के प्रति राष्ट्र की कृतज्ञताएँ—

तथोपवर्णित सांस्कृतिक-धार्म्मिक ओजस्वी-पराक्रमी-तेजस्वी सेनानियों के सेनापतित्त्व में सांस्कृतिक-धार्म्मिक-स्वतन्त्रतानुगत वह राजनैतिक संग्राम उपक्रान्त बना था, जिस में एकमात्र सांस्कृतिक-धार्म्मिक-आकर्षण से ही भारतराष्ट्र की समस्ता आस्तिक प्रजा प्रकृतिभेदभिन्ना स्व-स्व-सभ्यता-धर्म्ममूला स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए ही 'सेना' रूप से समवेत होती हुई भौतिक-शस्त्रास्त्रों से सुसज्जिता परसत्ता से भूझ पड़ी थी । एवं इस सम्मिलित प्रयास का ही यह सुपरिणाम था कि, अकल्पित-भूतभौतिक साधनों से सुसम्पन्ना भी, सर्वविनाशक अचिन्त्य-शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित-सैन्यबल से समन्विता भी परसत्ता गन्धर्वनगरलेखावत देखते ही देखते विस्मृतिगर्भ में ही विलीन होगई थी स्वनामधन्य **श्रीसुभासचन्द्र बोस** के राजनैतिक-तन्त्र से उद्दीप्त **सैन्यविद्रोह** की प्रमुखता के अनुग्रह से ही ।

२५०-सैन्यविद्रोहमूला राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता से पुलकित जनतन्त्र के स्वातन्त्र्योल्लास पर 'शासननीति' के 'धर्म्मनिरपेक्ष' रूप सुतीक्ष्ण शस्त्र का प्रचण्ड प्रहार, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

'सैन्यविद्रोहमूला-भारतीय स्वतन्त्रता' से राष्ट्रीय जनतन्त्र का पुलकित होना स्वाभाविक ही था इस आशा से कि, शरीरानुगत जिस आर्थिक शोषण से इसका शरीर कङ्कालरूपेण शेष रह गया था परतन्त्रता-युगों में, मनोऽनुगता जिस भावुकता से इसकी मान्यताएँ सर्वथैव दासभावानुप्राणिता बनतीं हुईं सापेक्षा बन गईं थी, बुद्ध्यनुगता जिस कुनिष्ठा से इसकी आस्थाएँ मतवादाभिनिविष्टा प्रमाणित होगईं थीं, एवं भूतात्मानुगता जिस शिथिलता से इसकी आत्मनिर्भरता (स्वावलम्बित्त्व) सर्वथा ही तिरोहित होगई थी, निष्कर्षतः जो आत्मभाव से सर्वथा **अशान्त**, बुद्धिभाव से एकान्ततः **क्लान्त**, मनस्तन्त्र से निरतिशयरूपेण **उद्भ्रान्त**, तथा शरीरेण सर्वथा ही **दिग्भ्रान्त** बन गया था, वे चारों पर्व इस प्राप्त स्वतन्त्रता की अभया वरदा छत्रछाया में क्रमशः आर्थिक शोषणों के अवरुद्ध होजाने से अपने कङ्कालशरीर पर माँस-मज्जा का वेष्टन लगाएगा, मानसिक भावुकता से परित्राण करेगा, बौद्धिक निष्ठा का समालिङ्गन करेगा, एवं सर्वोपरि आत्मनिर्भरता में समर्थ बनेगा। इसी आशामयी प्रतीक्षा से इस जनतन्त्र की मूकसम्मति के द्वारा जनतन्त्रात्मक उस गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक-भारतीय-शासनतन्त्र का शिलान्यास हुआ उल्लासपूर्ण वातावरण में, जिसके 'शासननीति' के द्वारा उद्घोषित 'सेक्यूलर-Secular' (धर्म्मनिरपेक्ष) भाव से सहसा जनतन्त्र की सभी आशा-प्रतीक्षाएँ मानो धूलिधूसरित ही हो पड़ीं, इति नु अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

२५१-तमःप्रकाशवत्-परस्परात्यन्तविरुद्ध रामराज्यघोषणा, एवं धर्म्मनिरपेक्षघोषणा से भारतीय आस्तिक-जनतन्त्र की स्तब्धता—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-प्रभुसत्तासमर्थ-गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक जिस शासनतन्त्र के सर्वोच्च-शासनप्रतीक भारतीय संस्कृति-धर्म्म-आदर्शों के अनन्य-समर्थक-अनुगामी सर्वश्री महामहिम राष्ट्रपति **राजेन्द्रप्रसाद** महाभाग हों, उपराष्ट्रपतिपद को जहाँ भारतीय वेदान्तदर्शन के अनन्यभक्त, भारतीय संस्कृति के अनन्य समर्थक **डॉ० राधाकृष्णन्** हों, प्रधानामात्य पद जहाँ प्राच्यसंस्कृतिपरायण सर्वश्री **पं० मोतीलाल नेहरू**-महाभाग के आयुष्मन् वरदपुत्र, भारतीय नैगमिक-यज्ञोपवीतादि संस्कारों से सुसंस्कृत पं० श्रीजवाहरलालनेहरू से सुशोभित हो, तदित्थं प्रत्यक्ष में सर्वथैव भारतीय-संस्कृति का पोषक प्रतीयमान भारतीय **शासनतन्त्र**, और उसकी **'धर्म्मनिरपेक्ष'** घोषणा, तमःप्रकाशवत्-विषय-विषयीवत्-अत्यन्त विरुद्ध इन दोनों भावों का सामञ्जस्य ही नहीं कर पारहा है आज भारतराष्ट्र का आस्तिक जनतन्त्र।

२५२-भारतीय-संस्कृति-सभ्यता, तथा धर्म्म के प्रति निरपेक्ष बन जाने वाले सत्तातन्त्र की गजनिमीलिका से भारत के सांस्कृतिक-हृदयों का विकम्पन—

क्योंकि अपनी स्वाभाविक सत्तानिरपेक्षता से हम इस सम्बन्ध में अपनी किसी भी धारणा को व्यक्त करने में असमर्थ ही है। अतएव जनतन्त्र पर ही इस महती समस्या का महान् उत्तरदायित्व छोड़ दिया जाता है। शासनतन्त्र के सञ्चालक शासक भारतीय हैं, उन भारतीय महापुरुषों के सगुण-साकार-प्रतीक हैं, जिन्होंने

भारतीय–संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आदि के स्वातन्त्र्य के लिए ही राजनैतिक–स्वातन्त्र्य का उपक्रम किया था। फिर सहसा उन स्वातन्त्र्य-जन्मदाताओं की आस्था–श्रद्धा–धारणा–मान्यता के सर्वथा विपरीत इस अभिनव शासनतन्त्र ने कैसे, किस आधार पर भारतीय संस्कृति-साहित्य–धर्म्म–आदर्श को सर्वथा ही निरपेक्ष मान लिया ?, सचमुच प्रत्येक प्रज्ञाशील जनमानस के लिए यह प्रश्न अत्यन्त ही जटिल समस्या बनता जारहा है। संस्कृति–धर्म्म–मूलक जिस गणेशोत्सव से श्रद्धेय **बालगङ्गाधर तिलक** ने भारत में राष्ट्रीय चेतना को उद्दीप्त किया, जिन पुराणकथाओं के बल पर महामना पू० **मालवीयजी** ने धर्म्मपूर्वक राजनैतिक–जागरण का नेतृत्त्व किया, जिस शक्तिपूजन के माध्यम से स्वनामधन्य **सुभाषचन्द्र बोस** ने सैन्यविद्रोह के जन्ममाध्यम से 'स्वतन्त्रता' को जन्म दिया, जिस रामभक्ति के बल पर सर्वश्री **गांधीजी** ने रामकृष्ण के पावनदेश भारतराष्ट्र को ऐक्यसूत्र में आबद्ध किया, उन्हीं महापुरुषों की कृपा से प्राप्त स्वातन्त्र्य–दायाद के उपभोक्ता हमारे वर्त्तमान शासक क्यों, और कैसे सहसा यों धर्म्मनिरपेक्ष बन गए ?, प्रश्न वास्तव में आज वैसा प्रश्न बन गया है, जिसका शीघ्र ही यदि समाधान न ढूँढ निकाला गया, तो यह स्वतन्त्रता जनतन्त्र को किस स्थिति पर पहुँचा देगी ?, प्रश्न के संस्मरणमात्र से भी भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक हृदय आज विकम्पित हो रहे हैं।

२५३–वर्त्तमान शासनतन्त्रानुगत जनतन्त्र, एवं तदनुगतिमूलक इसका सहज धृतिगुण, और तत्प्रांत सत्तातन्त्र की भ्रान्त धारणा—

शासनतन्त्र की ऐसी धारणा है कि, यहाँ का जनतन्त्र कदापि शासनतन्त्र की स्वतन्त्र प्रगति में बाधक नहीं बन सकता। धारणा यथार्थ है। और इसलिए तो और भी यथार्थ है कि, शासनतन्त्र आज जनतन्त्र का ही निखरा हुआ रूप है। अपने हीं शासनतन्त्र का जनतन्त्र बाधक बन भी कैसे सकता है ?, जबकि इसने तो अपनी सहज–सहनशीलता से अपने विरोधी शासनतन्त्रों के उत्पीड़नों का भी चिरकालपर्य्यन्त अनुगमन कर अपने उस सांस्कृतिक-धृतिगुण का ही परिचय दिया है, जो प्रत्यक्ष में इसका दोष प्रतीत होता हुआ भी इसका वैसा महान् गुण ही है, जिस महान् गुण ने ही इसे इतर उन मनःशरीरमात्रधर्म्मा जनमानसों की भाँति कदापि उत्तेजित नहीं होने दिया, जिस तात्कालिक उत्तेजन से धृतिगुणशून्य वे अगणित जनमानस, एवं उनके देश स्मृतिगर्भ में ही विलीन होगए हैं।

२५४–वर्त्तमान शासनतन्त्र से पूर्व के ब्रिटिशसत्तातन्त्र की भी तत्समतुलिता भ्रान्त–धारणा —

वर्त्तमान जनतन्त्रीय शासनतन्त्र से पहिले अत्र विराजमान परशासनतन्त्रोंनें भी ऐसा ही कुछ समझ लिया था। इसकी सांस्कृतिक–धार्म्मिक–निष्ठा के उस अश्माखणसमतुलित (पाषाणशिलासम) धृतिगुण को उन्होंनें भी इसकी भीरुता ही मानने की भ्रान्ति कर डाली थी। कहीं उसी भ्रान्ति का तो उसीप्रकार हमारा अपना ही यह शासनतन्त्र भी अनुकरण नहीं करने लग पड़ा है ?, जैसे कि इसने अपने सभी शासकीय–विधि विधानों, नियमोपनियमों–पद्धतियों में परसत्ताओं की पद्धतियों का ही शासनतन्त्र में अन्धानुकरण कर लिया है, मानो इसके अपने भारतराष्ट्रने कभी किसी प्रकार की शासनपद्धति को जन्म ही न दिया हो।

२५५–भावुक-भारतीयों की धर्म्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में आवेशमूला भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण—

कुछ एक भावुक भारतीय भावुकता के क्षणिक आवेश में आकर तथोपवर्णिता 'धर्म्मनिरपेक्षता' के सम्बन्ध में अपने ये विचार व्यक्त करने लग पड़ते हैं कि, "भारतीय संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–के साथ क्योंकि–भारतीय–'हिन्दू' शब्द का सम्बन्ध है। अतएव इस दृष्टि से इन में साम्प्रदायिकता की गन्ध आरही है। साम्प्रदायिकता की गन्ध से समन्वित हिन्दूसंस्कृति–साहित्य–धर्म्म-आदि अन्य सम्प्रदायों में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है, करता रहा है। और इस दृष्टि से राष्ट्रसंघठन के विच्छिन्न हो जाने का भय है। अतएव धर्म्मनिरपेक्षता ही वह राजमार्ग है, जिसके द्वारा सभी वर्गों का राष्ट्रीय–समन्वय–सम्भव है"। ओमित्येतत्।

२५६–'संघठनशक्ति के प्रलोभन से सम्बद्ध 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द से राष्ट्रीय संघठन का उत्तरोत्तर--अधिकाधिक--शैथिल्य—

स्वागत ही किया जायगा भावुकतापूर्णा उक्त 'राष्ट्रीयसंघठनभक्ति' का, यदि इस भक्ति से 'राष्ट्रसंघठन' सम्भव है-तो। किन्तु प्रत्यक्ष में स्पष्टतम है कि 'संघठन' शब्द का व्यामोहन ज्यों ज्यों अधिकाधिक प्रबल होता जारहा है, त्यों त्यों हीं संघठन विघठन रूप में हीं परिणत होता जारहा है। ज्यों ज्यों वर्गभेद के मूलोच्छेद का भगीरथ प्रयत्न किया जारहा है, त्यों त्यों नवीन नवीन वर्गभेद उत्पन्न होते जारहे हैं। स्वतन्त्रता–संग्राम के पावनयुग में जिस **'कांग्रेसवर्ग'** में राष्ट्र के समस्त वग एकरूपेण निर्विरोध समन्वित थे (केवल वैसे एक दो उन वर्गों को छोड़ कर, जिन्होंनें भारतराष्ट्र को न तो कभी अतीत में हीं अपना माना था, न भविष्य में हीं जो अपना मान सकते अपने मताभिनिवेशों के निग्रह के कारण), आज के इस स्वतन्त्रयुग में वैसे अनेक मतवाद-वर्गवाद आविर्भूत हो पड़ें हैं, जो कांग्रेसवर्ग के साथ प्रचण्ड प्रतिद्वन्द्विता प्रकट करते हुए राष्ट्र के अमङ्गल के लिए ही मानो सन्नीभूत हैं, जिन्हें हम मतवादात्मक **सनातनधर्म्मवाद**, **आर्य्यसमाजवाद**, वैय्यक्तिक एषणाप्रवर्द्धक **जनसंघवाद**, तत्समतुलित ही **हिन्दूसभावाद**, **सिक्खवाद**, **महाराष्ट्रवाद**, **गुर्ज्जरवाद**, **बङ्गालवाद**, **जाटवाद**, आदि आदि नामों से पहिचान सकते हैं। जाने दीजिए इन विभिन्न वादों को। जिस 'कांग्रेस' दल पर आज शासन का उत्तरदायित्त्व है, स्वयं उसमें भी आज केन्द्रीय शासकविशेषों, तथा प्रान्तीय शासकविशेषों के नाम–माध्यम से कितने अगणित वाद पनप उठे हैं ?, इस तथ्य से भी राष्टसंघठनप्रेमी कांग्रेसी शासनतन्त्र सम्भवतः अपरिचित न होगा। यों–**'मर्ज़ बढ़ता ही गया–ज्यों ज्यों दवा की'** इस परसूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करने वाला आज का धर्म्मनिरपेक्षतामूलक–शासनतन्त्र स्वयं ही अपनी धर्म्मनिरपेक्षमूला राष्ट्रीय संघठनशक्ति। (तत्त्वतः राष्ट्रीय विघठनशक्ति) का ही भलीभांति समाधान कर देता है।

२५७–हिन्दूसंस्कृति--हिन्दूसभ्यता-आदर्श–धर्म्म-आदि की असाम्प्रदायिकता, एवं तत्प्रति वर्त्तमान सत्तातन्त्र का भ्रान्त साम्प्रदायिक दृष्टिकोण—

रही बात साम्प्रदायिकता की, सो इस सम्बन्ध में हम क्या निवेदन करें, जब कि हिन्दू की आत्मबुद्धिमूला व्यापक संस्कृति, साहित्य, तथा धर्म्म का स्वरूप ही आज सम्प्रदायवादियों के द्वारा अभिभूत हो गया है। आत्म–दर्शनानुगत–समदर्शनरूप एकत्व का संस्थापन करने वाली हिन्दूसंस्कृति' के गर्भ में तो सम्पूर्ण विश्व की

मानवता अन्तर्गर्भित है। **"इस राष्ट्र में उत्पन्न द्विजाति ब्राह्मण की संस्कृति से सम्पूर्ण विश्व अपना अपना चरित्र–कर्त्तव्यकर्म्म–सीखे"** इसप्रकार की * उन्मुक्त घोषणा करने वाली एकमात्र हिन्दूसंस्कृति ही साम्प्रदायिक संस्कृति है, यह तो कोई वैसा कूपमण्डूक, 'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थ से भी अनभिज्ञ यथाजात प्राकृत मानव ही कह सकता है। ऐसी इस सम्प्रदायवादनिरपेक्ष, आत्मसमदर्शनमूला **'भारतीय-संस्कृति'** नाम से प्रसिद्धा **'हिन्दूसंस्कृति'** पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगा बैठना, साथ ही इससे निरपेक्ष बन कर अनेकत्वनिबन्धना विभिन्न प्रकृतियों के समन्वय–असम्भव विजृम्भणों के आधार पर राष्ट्रसंघठन की कल्पना कर बैठना सभी कुछ तो एकमात्र स्वस्वरूप–विमोहनात्मक उस व्यक्तित्वविमोहन के ही दुष्परिणाम हैं, जिस पद–प्रतिष्ठात्मक–व्यक्तित्वविमोहन के सिंहासन पर समासीन हमारे शासनतन्त्र को 'हिन्दूसंस्कृति' जैसी परमोदारा–मानवमात्रहितैषिणी संस्कृति भी आज दुर्भाग्यवश साम्प्रदायिक–संस्कृति प्रतीत होने लग पड़ी है, जिस इस भ्रान्ता प्रतीति से बड़ी साम्प्रदायिकता और कुछ हो ही नहीं सकती।

२५८–अभ्युपगमवादेन सत्तातन्त्र के अभियोग की स्वीकृति, एवं तदाधारेणैव आज के सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता से कतिपय प्रश्न—

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम शासनतन्त्र की इस मान्यता का भी समर्थन कर लेते हैं सत्तासम्मानसंरक्षणानुरोध से कि,–"भारतीय-हिन्दूसंस्कृति भी साम्प्रदायिक संस्कृति है, हिन्दू शब्द भी साम्प्रदायिक है, एवं संस्कृति का सन्देशसूचक 'पण्डित' शब्द तो सर्वथा ही साम्प्रदायिक ही है"। बड़ा अनुग्रह हुआ शासनतन्त्र का कि, उसने इसकी साम्प्रदायिकता के कारण ही इसे निरपेक्ष कर दिया। हिन्दू के अतिरिक्त भारतीय प्राङ्गण में जो अन्य सम्मान्य अतिथि आनन्द–सुखोपभोग कर रहे हैं, वे भी तो साम्प्रदायिक ही होंगे शासनतन्त्र की दृष्टि में। तभी तो उसने 'धर्म्मनिरपेक्षता' की व्याख्या सुनते हैं–यह की है कि–**"सत्ता किसी की धार्म्मिक मान्यता में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी"**। सुस्वागतम्! क्या सत्ता अपनी इस व्याख्या का अपनी सुप्रसिद्धा **'सत्याग्रहमूला सत्यनिष्ठा'** से निर्वाह कर रही है?। अवश्य ही कर रही है उस सीमापर्य्यन्त, जिस सीमापर्य्यन्त हिन्दू का प्रवेश नहीं है। हिन्दू से इतर किसी भी सम्प्रदाय की किसी भी मान्यता में हस्तक्षेप तो क्या, भ्रूविक्षेप का भी साहस कर ही नहीं सकता हमारा शासनतन्त्र। हस्तक्षेप की कथा तो दूर रही, परोक्षरूपेण, और आज तो प्रत्यक्षरूपेणापि उन सभी सम्प्रदायवादों का पोषण ही हो रहा है सत्तातन्त्र के अनुग्रह से, मानो उसका 'धर्म्मनिरपेक्ष' शब्द एकमात्र 'हिन्दू' के लिए ही आविष्कृत हुआ हो। यदि सीमा यहीं, इसी वाक्य पर समाप्त हो जाती, तब भी कोई क्षति नहीं थी हिन्दू की। सहनशील– धृतिगुणपरायण हिन्दू तो इस धर्म्मनिरपेक्षता को भी अपने लिए महान् वरदान ही मान मान लेता।

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥—मनुः २।२०।

२५९--धर्म्मनिरपेक्ष आज के इस सत्तातन्त्र के द्वारा भावुकतापूर्ण-राजनैतिक स्वार्थ-मान्यताकर्षण से हिन्दूधर्म्म का अवमान, एवं तदतिरिक्त लोकानुबन्धी इतर समस्त मतवादों के साथ इसका समालिङ्गन, और यों स्वयं सत्तातन्त्र के द्वारा ही धर्म्मनिरपेक्षता का उपहास—

किन्तु जब हिन्दू यह देखता है कि–धर्म्मनिरपेक्षता-सिद्धान्त की व्याख्या से सर्वथा विपरीत आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व के 'बुद्धसम्प्रदायवाद' की जयन्ती मनाने के लिए तो विवश करता है सत्तातन्त्र जहाँ सम्पूर्ण भारतराष्ट्र को, तथैव अन्य सम्प्रदायों का तो भय से, किंवा मानवतानुबन्ध से जहाँ प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से पोषण करता जारहा है, वहाँ हिन्दू की संस्कृति–साहित्य–धर्म्म–आस्था–श्रद्धा–मान्यता आदि के सर्वथा विपरीत एक–मात्र इसी के लिए वैसी अर्गलाएँ लगाता जारहा है कि, आज के इस स्वतन्त्र–भारत में यह अपनी धर्म्म–भावना का अंशतः भी तो पालन नहीं कर पाता, जिस इसप्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति, किंवा घोरघोरतमा विषमा स्थिति का तो इसे तत्पूर्व के परसत्तानुगत–परतन्त्रतायुगों में भी साम्मुख्य नहीं करना पड़ा था। इस हिन्दू को मानो इसीलिए इसी के सत्तातन्त्र से पुरस्कार ही प्रदान–किया जा रहा है धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के द्वारा इसप्रकार के धार्म्मिक–सांस्कृतिक–उत्पीड़न के माध्यम से, जिसने स्वतन्त्रतासंग्राम में अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, एवं प्रधानरूपेण आज भी जिस हिन्दूप्रजा के सर्वस्वप्रदान से ही आज का महर्घतम शासकवर्ग बड़े बड़े–प्रासादों से, वाहनों से, तथा भोग्यैश्वर्य्यों से समालिङ्गित होता हुआ अपने शासनतन्त्र के सञ्चालन में समर्थ बन रहा है, इति तु महतीयं विडम्बना राष्ट्रस्वतन्त्रतायाः, शासनतन्त्रस्य च।

२६०--सांस्कृतिक-सुसभ्य-आस्तिक-धृतिगुणपरायण हिन्दूमानवात्मक 'मानव' की मानवता के उत्पीड़न के भीषण परिणाम, एवं अतीत के उद्बोधक चिरन्तन इतिवृत्त-

सम्भवतः ही क्या, निश्चयेन इन्हीं आत्यन्तिक उत्पीड़नों के कारण भारतराष्ट्र की हिन्दूप्रजा परतन्त्र–युगानुगता अपनी सहज भावुकता के कारण सत्तातन्त्र की हिन्दूधर्म्मानुगता–धर्म्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में अपने भावुकतापूर्ण ऐसे विचार व्यक्त करने लग पड़ी है कि–"शासनतन्त्र हिन्दूमानव की भावुकतापूर्णा उस भीरुता से, संघर्षशून्यता से सर्वथा परिचित है, जिस भीरुताने ही इसे शताब्दियों से दास बनाए रक्खा है। अतएव इस की विशेष अपेक्षा रखना व्यर्थ है। अपनी दासतामूला पारम्परिक राजभक्ति से, एवं संघर्षशून्या धर्म्मभीरुता से इसे सहज में ही प्रतारित किया जा सकता है। एवं इसी प्रतारणा के बल पर इस के उन मतों का भी यथावसर संग्रह कर ही लिया जासकता है, जिन का निर्वाचनकाल में उपयोग हुआ करता है। किन्तु यदि संघर्षशील अन्य वर्गों–जातियों की मान्यताओं में हस्तक्षेप कर दिया जायगा, तो शासनतन्त्र का निर्वाचन ही सङ्कट में पड़ जायगा। पदप्रतिष्ठात्मक एकमात्र इसी व्यामोहन की सफलता के लिए 'धर्म्म–निरपेक्षता' जैसे मूलमन्त्र को आराध्य बना लिया है सत्तातन्त्र नें"। आगे चलकर यही भावुक हिन्दू यह भी कहता है कि—"हिन्दूधर्मेतर वर्गों के मतवादों (वोटों) की सफलता से अवश्य ही अमुक व्यक्तिविशेषों ने अपनी पदप्रतिष्ठा-लालसा को सफल प्रमाणित कर लिया है। किन्तु इस पदलोलुप कांग्रेसी, राष्ट्रसंघटन–के उद्घोषकर्त्ता देशहितैषी को सम्भवतः यह विदित नहीं है कि, अपनी पदप्रतिष्ठा के व्यामोहन के लिए एकान्त यह मलीमस पथ अन्ततोगत्वा राष्ट्र की मूलप्रतिष्ठा को ही विकम्पित कर दिया करता है, जैसा कि अतीतयुगों के इतिहासों से स्पष्ट है।"

२६१–वर्त्तमान–शासनतन्त्र के प्रमुख पदों पर, एवं सर्वोच्च पदों पर समासीन संस्कृतिनिष्ठ–धर्म्मनिष्ठ–आस्थाश्रद्धा–परायण अमुक ज्ञात-अज्ञात महाप्राण मानव–श्रेष्ठों के घृणिगुणानुग्रह से ही भारतराष्ट्र के स्वरूप का गच्छतः स्खलनरूप से संरक्षण––

किन्तु हम तो हिन्दू के उक्त भावुकतापूर्ण तर्कजाल का इसलिए कदापि अंशतः भी समर्थन नहीं हीं करेंगे कि, सम्भव है कुछ एक परिगणित व्यक्तिविशेष पदप्रतिष्ठालोलुपता के लिए ही कांग्रेस की सूची में अपना नाम अङ्कित करा बड़े आवेश से अपनी राष्ट्रीयता को प्रमाणित करने के लिए ही अपने सभी आचारधर्म्मों का परित्याग कर स्वैराचारपरायण बन जाते हों। किन्तु जिन शासकों के प्राणात्मक–सत्त्व से भारतराष्ट्र का शासनतन्त्र आज गौरवान्वित है, उन प्रमुक शासकों के प्रति इसप्रकार की धारणा बना लेना तो अपने आप को प्रयश्चित्त का ही भागी बना लेना है। अवश्य ही जिन्होंनें राष्ट्र के लिए ही जन्म लिया है, राष्ट्रीय हित में हीं जिनका सर्वस्व लोकोत्तर वैभव आहुत होगया है, जो व्यक्तित्वविमोहनमूला पदप्रतिष्ठा से आत्यन्तिकरूपेण घृणा कर रहे हैं, वैसे तपस्वी राष्ट्रसञ्चालकों के प्राणदान से ही तो आज भारतराष्ट्र का शासनतन्त्र गरिमा–महिमामय प्रमाणित हो रहा है। क्या वैसे महाप्राण भी 'धर्म्मनिरपेक्षता' के समर्थक हैं ?।

२६२–राष्ट्रहितानुबन्धी एक कटुसत्य, एवं भारतीय सम्मान्य शासकवर्ग का भारतीय–संस्कृति के प्रति आवेशपूर्ण प्रतिक्रियावाद—

यहीं हमें राष्ट्रहितानुबन्ध से इस कटुसत्य का आश्रय लेना पड़ रहा है कि, वास्तव में तो उन महाप्राणों के बल पर ही 'धर्म्मनिरपेक्षता' ने जन्म लिया है, एवं उनकी कृपा से ही वह आज येनकेन रूपेण ऊर्ध्व–श्वास लेती हुई जीवनधारण में समर्थ बनी हुई है। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य के समन्वय के लिए ही तो प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है। जिस प्रतीच्य जगत् के वातावरण में हमारे प्राणवान् प्रमुख शासकों का शिक्षा–दीक्षा–संस्कार हुआ है, उस प्रतीच्य जगत् की भौतिकविज्ञान–समन्विता उन्नति ने ही हमारे चरितनायकों को उस सीमापर्य्यन्त आज प्रभावित कर लिया है कि, मनसा–वाचा भारतीय प्रमाणित होते रहने वाले भी वे चरितनायक **कर्म्मणा** अपने सभी राष्ट्रीय व्यासङ्गों में प्रतीच्यपद्धति को ही स्थापित करने के लिए आतुर हो पड़े हैं। इसलिए नहीं कि–इन्हें प्रतीच्य पद्धति के प्रति कोई विशेष मोह है। अपितु इसलिए वि, अपने भारतराष्ट्र में इन्हें कोई उपयोगिनी पद्धति, आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा मिल ही नहीं रही। अवश्य ही इन चरितनायकों नें अपनी सहजसिद्धा भारतीयता के आकर्षण से ही शासनतन्त्र में बड़े बड़े दार्शनिकों को भी समवेत किया, सम्भवतः इसी आशा से कि–वे भारतीय संस्कृति की दृष्टि से किसी पद्धति का अन्वेषण करेंगे। किन्तु दुर्भाग्यवश वे स्वयं भी पद–प्रतिष्ठात्मक व्यामोहन में हीं आसक्त हो गए। और यों स्वयं इस राष्ट्र में उन सत्यनिष्ठ शासकों को व्यवहारात्मिका कोई भी तो भारतीय-पद्धति उपलब्ध न हो सकी अभीतक। विभिन्न मतवादात्मक जो महानुभाव भारतीय–पद्धति के स्वरूपविश्लेषण के लिए सत्तातन्त्र के सान्निध्य में पहुँचे, एवं जिनके प्रति एकमात्र '**भारतीयता**' के अनुबन्धाकर्षण से ही सत्तातन्त्र के प्रमुख शासक अनुगत हुए आंशिकरूप से, उनकी पद्धतियाँ भी शासकश्रेष्ठों को इसलिए सन्तुष्ट न कर सकी कि, सत्य–अहिंसा–दया–मानवता–करुणा–आदि व्यामोहक शब्दजाल के अतिरिक्त मतवादात्मिका, अतएव सर्वथा आपातरमणीया इन

पद्धतियों में भी व्यवस्थित '**राष्ट्रीय–आचार**' का लेशतः भी सम्पर्क नहीं था। इसप्रकार शिक्षा-दीक्षा में प्रतीच्य संस्कारों का अभाव, प्राच्य–संस्कृति के स्वरूपबोध से तटस्थता, मतवादात्मक व्यासङ्गों की स्वार्थपरायणता, आदि आदि अनेक कारणों से हमारे वे शासक और किसी के प्रति तो भले ही प्रतिक्रियावादी न बने हों (जिसका समाधान भारतीय सांस्कृतिक कोश में तो नहीं है), किन्तु हिन्दूसंस्कृति–हिन्दूसाहित्य–हिन्दूधर्म्म, एवं हिन्दू नाम के प्रति तो वे सर्वथैव प्रतिक्रियावादी बन गए, निश्चयेन बन गए, जिस प्रतिक्रियावाद को भावुकता की दृष्टि से हम जहाँ हमारा ही दोष कहेंगे, वहाँ निष्ठादृष्टि से तो यह महान् दोष उन शासकश्रेष्ठों का ही माना जायगा, निश्चयेन माना जायगा। क्योंकि कोई भी योग्य शासक बिना किसी तथ्य के सर्वाङ्गीण-परीक्षण के किसी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच जाया करता, एवं न सहसा यों प्रतिक्रियावादी ही बन जाया करता, जिनके इसप्रकार के आवेश–मूलक प्रतिक्रियावाद के गर्भ में आज सम्पूर्ण राष्ट्र का भयावह पतन ही शनैः शनैः प्रवृद्ध होता जा रहा है, इति नु महद्दुःखास्पदम्।

२६३–प्रकृतिसिद्ध भेदवाद, एवं आत्मपुरुषसिद्ध अभेदवाद, तथा प्रकृतिविशिष्ट पुरुषधर्म्म का ही शाश्वतधर्म्मत्त्व—

वर्गवाद–भेदवाद–अनेकत्त्ववाद–आदि आदि जहाँ व्यक्ता प्रकृति के सहज धर्म्म हैं, वहाँ एकत्त्व–मूलक अभेद पुरुषात्मा का ही स्वरूपधर्म्म माना गया है। पुरुषात्मधर्म्म जहाँ अपने स्वाभाविक एकत्त्व से समदर्शनमूलक अभेद की प्रतिष्ठा है, वहाँ विषमवर्त्तन–मूलक भेदवर्त्तन प्रकृति की स्वरूप प्रतिष्ठा है। एकत्त्वमूलक पुरुष–धर्म्म ही शाश्वतधर्म्म है, अनेकत्त्वमूलक प्रकृतिधर्म्म ही परिवर्त्तनधर्म्म है। परिवर्त्तन को अपरिवर्त्तन से नियन्त्रित रखना, भेद को अभेद से नियन्त्रित रखना ही आत्ममूलक (पुरुषमूलक-शाश्वतधर्म्ममूलक) प्रकृतिधर्म्म का सम्पूर्ण इतिवृत्त है।

२६४--प्रकृतिसाम्यमूला प्रलयावस्था का स्वरूपदिग्दर्शन, एवं प्रकृतिसाम्यमूला धर्म्मनिरपेक्षता का स्वरूपेतिवृत्त--

जिस अभेदवाद की आज के भाग्यविधाताओं नें कल्पना कर रक्खी है, उस का केवल प्रकृतिवाद से तो कदापि कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। अपितु केवल प्रकृति से प्रकृति के नियमन–नियन्त्रण के लिए आतुर ये काल्पनिक मानवतावादी-सत्य–अहिंसावादी ज्यों ज्यों अभेद की घोषणा करते जायँगे, त्यों त्यों इन का भेद–वाद–वर्गवाद–तन्मूलक घृणावाद–हिंसावाद-मिथ्यावाद–अधिकाधिक ही प्रवृद्ध होता जायया, और अभिन्ना आत्मसत्ता से, तद्रूप शाश्वत-सनातन-आत्मधर्म्म से वञ्चित इन प्रकृतिसाम्यवादियों के 'साम्यवाद' का अन्तिम परिणाम वही होगा, जिसका प्राधानिक दर्शन (सांख्यदर्शन) में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। पुरुष से नियन्त्रित होकर जबतक प्रकृति अपने सत्त्व–रज–स्तमो–भावों से विषमवर्त्तन की अनुगामिनी बनी रहती है, तभीतक प्राकृत विश्व की स्वरूपरक्षा है। प्रकृतिसाम्य तो लयावस्थारूपा प्रलयावस्था का ही प्रवर्त्तक माना गया है, जिसमें सुन्दोपसुन्दन्याय से सभी परस्पर कट मर–जाया करते हैं। यही परिणाम है धर्म्मनिरपेक्षता का, आत्मधर्म्मवञ्चित–भूतवाद का, ज्ञानवञ्चित क्षणिक विज्ञानवाद का, एवं क्षणिकविज्ञान–वादमूलक उस अनात्मभावापन्न–शून्यवाद का, जिसे अपनाकर अतीत युगों में भारतराष्ट्र शून्यं–शून्यंरूप में परिणत हो चुका था। ऐसे सर्वविनाशक शून्यवाद के व्यामोहन में आकर, व्यक्तित्वप्रतिष्ठात्मक

व्यामोहन से अपने स्वरूप को विस्मृत कर, परदर्शनमूला भावुकता को ही प्रधान मान कर, परतन्त्रों के द्वारा उपलब्ध उपलालनात्मक काल्पनिक प्रमाणपत्रों को ही अपनी सफलता मान कर, अपने राष्ट्र की मूलहृदयरूपा संस्कृति-साहित्य-धर्म्म-आदर्श-सभ्यता-आचार-आदि लोकोत्तर-विभूतियों की इसप्रकार आत्यन्तिकरूपेण न केवल उपेक्षा ही कर, अपितु इनका उपहास-तिरस्कार-दमन-करते हुए केवल प्रचारपत्रों के माध्यम से अपने मनोराज्य में हीं अपने आपको सबकुछ मान बैठना, सर्वोपरि अपनी इन भ्रान्त कल्पनाओं से बलपूर्वक सम्पूर्ण राष्ट्रप्रजा को भी दिग्भ्रान्त करते जाना कदापि न तो मानवता ही है, एवं न ऐसी काल्पनिक मानवता से मानव का कभी कुछ भला ही हुआ है। और न ऐसे मानवों की मानवता से राष्ट्रस्वातन्त्र्य का कदापि संरक्षण ही सम्भव है।

२६५--ब्रिटिशयुगानुगता 'धर्म्मनिरपेक्षता' घोषणा का ही वर्त्तमान--सत्तातन्त्र के द्वारा गतानुगतिक, अतएव नितान्त भावुकतापूर्ण अनुकरण—

हमारी सर्वथा तटस्था, एवं निरपेक्षा ऐसी कामना (इच्छा नहीं) है कि, हमारे समान्य शासक एकबार दोष-दृष्टि से ही भारतीय संस्कृति पर दृष्टिपात का तो अनुग्रह करें। निश्चित है कि, दोषदृष्टि से होने वाला भी उनका यह प्रयास अवश्यमेव संस्कृतिमूला-धर्म्ममूला उस भ्रान्ति का सर्वथैव निराकरण कर देगा, जिस भ्रान्ति के कारण ही, भावुकतावश ही, किंवा चाणाक्षचतुर प्रतीच्य देशों के द्वारा प्रचलित भारतराष्ट्रीय-संस्कृतिविरोधी शिक्षणयन्त्र के कारण ही वे अपनी इस मङ्गलमयी राष्ट्रनिधि से पराङ्मुख होगए हैं। एवं उन चाणाक्षचतुरों की-'**हम तुम्हारे धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे**' इस घातक घोषणा के अन्धानुकरण पर ही हमारे शासनतन्त्र ने भी अनिच्छन्नपि अपनी '**शासननीति**' को धर्म्मनिरपेक्ष घोषित कर दिया है। **राष्ट्रप्रजा**, एवं **राष्ट्रसत्ता** शीघ्र से शीघ्र इस सर्वविनाशिका, अनार्य्यजुष्टा-अकीर्त्तिकरा-घातक-घोषणा से अपना परित्राण करे, एकमात्र इसी मङ्गलकामना से उद्बोधनात्मक प्रस्तुत निबन्ध उपस्थित होरहा है जनतन्त्र के पावन चरणों में।

२६६--संस्कृतनिबन्धानुगत-'किमपि प्रास्ताविकम्' का उपराम, एवं भारतराष्ट्र के मूलाधारभूत ब्रह्मवीर्य्यात्मक 'भारत' नामक जागरूक दिव्य अग्निदेव का महामाङ्गलिक संस्मरण—

संकल्प था कि, तथाकथित चारों आयोजनों के पूर्वनिर्दिष्ट सोलहों आयोजनों के उदाहरणों की रूपरेखा निबन्ध में व्यक्त करदी जाती। किन्तु वैसा इसलिए सम्भव न हो सका कि, **पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह**-नामक चार आयोजनों में से आरम्भ के-'**पर्व**' नामक आयोजन से सम्बन्ध रखने वाले **रक्षाबन्धन-विजयदशमी-दीपावली-होलिका**-नामक चार अवान्तर राष्ट्रीय पर्वों की रूपरेखा में ही निबन्धाकार ८०० पृष्ठात्मक बन गया। अतएव शेष आयोजनों को अन्य निबन्धसापेक्ष मानते हुए होलिका पर ही निबन्ध का विश्राम कर देना पड़ा, जिस अन्तिम पर्व का अग्निजागरण से ही सम्बन्ध है।

जबकि '**संस्कृति**' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त ही **सत्तानिरपेक्ष** बनता हुआ **सर्वनिरपेक्ष** है, तो अब किसी के प्रति कुछ भी निवेदन करना सर्वथा ही व्यर्थ है। हाँ, राष्ट्र के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों से अवश्यमेव साञ्जलिबन्ध

प्रणतभावेन यह निवेदन कर ही दिया जायगा कि, यदि वे वास्तव में भारतीय निगमागमपुराणादि मूलसंस्कृति के प्रति श्रद्धापूर्णा आस्था रखते हैं, तो उन्हें अपने सांस्कृतिक–व्यासङ्गों को सब ओर से नहीं, तो सत्तातन्त्र से तो अवश्य ही निरपेक्ष बना लेने का अनुग्रह कर लेना चाहिए, जिस सत्तासापेक्षता के कारण हीं अन्तर्जगत् से निगमागमसंस्कृतिनिष्ठ बने रहने वाले भी विद्वानों को सत्तातन्त्र के युगधर्म्मानुगत राजनैतिक–व्यामोहनों से सम्बन्ध रखने वाले उन विभिन्न मतवादों का भी विवश बनकर यशोगान करते ही रहना पड़ता है, जिन मतवादों के काल्वालीकृत विजृम्भणोंनें हीं भारतीय मूलसंस्कृति को अन्तर्म्मुख बनाया है, एवं जिस अन्तर्म्मुखता ने ही, मतवादात्मक त्रिसहस्रवर्षानुगत काल ने हीं भारतराष्ट्र की श्री-समृद्धि को काल्वालीकृत ही प्रमाणित किया है। अतएव लौकेषणागर्भिता वित्तैषणा से, किंवा वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा से समन्वित, व्यक्तित्वविमोहनजनित कल्पित–निस्सार–व्यक्तिप्रतिष्ठाव्यामोहन का अविलम्ब–तत्क्षण अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर बाहिर-भीतर सब ओर से अपने आपको ऋजुभाव में परिणत कर–**'पाण्डित्यं निर्विद्य–बाल्येन तिष्ठासेत्'** इस औपनिषद–उद्बोधनादेश को शिरोधार्य्य कर हमें अनन्यनिष्ठा से संस्कृति–स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त हो जाना चाहिए। तभी भारतराष्ट्र का नैगमिक वह **'सांस्कृतिक भारत-अग्नि'** जागरूक हो सकेगा, जिसका इसी राष्ट्र के सर्वनिरपेक्ष महामहर्षिने इन शब्दों में यशोगान किया है कि—

अग्निर्जागार–तमृचः कामयन्ते—
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥
—ऋक्संहिता

पुनर्वसुनक्षत्रानुगता
श्रीरामनवमी वि० सं० २०१५

इति किञ्चिदिव प्रस्तूय विरमति
यः कश्चिदपि मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः

* * *

ओं तत्-सद् ब्रह्मणे नमः

'सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा'
—यजुःसंहिता

सत्तानिरपेक्ष–'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष–'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन–इतिवृत्त

तथा

भारतीय 'सांस्कृतिक-आयोजनों' की रूपरेखा

(उद्बोधनात्मक सामयिक निबन्ध)

श्रीः

शाश्वत–'संस्कृति' का माङ्गलिक संस्मरण

[१] अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥
—यजुःसंहिता ७।१४।

[२] यान्स्सोमानि, यानि पृष्ठानि, यानि छन्दांसि, एतयोरेव सा संस्कृतिः ।
—शतपथब्राह्मण ७।४।१।४५।

[३] अथातः संस्कृतिरेव–स प्रजापतिः, सोऽग्निः, स यजमानः ।
—शत० ८।३।४।११।

[४] अहर्वा एतदव्लीयत । तद्देवा देवस्थाने तिष्ठन्तः संस्कृतिना समस्कुर्वन् । तत् संस्कृतेः संस्कृतित्त्वम् ।
—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १५।३।२६।

[५] द्वे दशाक्षरे भवतः-उभयोरन्नाद्ययोरुपाप्त्यै, यच्च पद्वद्यच्चापादकमित्यष्टादशाक्षराणि भवन्ति, यानि दश नव प्राणाः, आत्मैव दशमः । सा आत्मनः संस्कृतिः ।
—ऐतरेय आरण्यक १।३।७।

[६] दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् ! वेदाः सन्ततिरेव च !
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् ! बहुदेयं च नोऽस्तु !
अन्नञ्च नो बहु भवेत् ! अतिथींश्च लभेमहि !
याचितारश्च नः सन्तु ! मा च याचिष्म कञ्चन !

अर्थात्—हमारे राष्ट्र में दाता–मानवों की अभिवृद्धि हो !
हमारे राष्ट्र में वेदतत्त्व, एवं तदनुगता सुसन्तति अभिव्यक्त हो !
हमारे राष्ट्रीय–जनमानस से श्रद्धा कभी पलायित न हो !
हमारे राष्ट्रीय--कोष में देने के लिए प्रभूत–सम्पत्तियाँ सुरक्षित रहें !
हमारे राष्ट्र में अन्नसम्पत्ति प्रचुरमात्रा में सुरक्षित रहे !
हमारा राष्ट्र सदा सम्मानित--सुसंस्कृत अतिथि प्राप्त करता रहे !
हमारे इस भारतराष्ट्र से सभी इतर राष्ट्र माँगते रहें !

और

हमारा सांस्कृतिक, सर्वसम्पन्न राष्ट्र कदापि किसी से भी कुछ भी याञ्चा न करे ।

यही भारतराष्ट्र की 'सनातन–संस्कृति' की आचारनिष्ठा है

ओं तत्-सद्-ब्रह्मणे नमः

सत्तानिरपेक्ष—'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष—'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन—इतिवृत्त

तथा

भारतीय "सांस्कृतिक—आयोजनों" की रूपरेखा

उदबोधनात्मक—सामयिक निबन्ध

तत्र

संस्कृतेः,—सभ्यतायाश्च श्चिरन्तनेतिवृत्तात्मकं प्रथमं प्रकरणम्

१

१—माङ्गलिक संस्मरण—

नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥१॥

—ऋक्संहिता १०।११२।९।

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति,—"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥२॥

—ऋक्संहिता ८।४।२९।

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो, मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥३॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।४।

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता, अमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥४॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।५।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देव–'मात्मबुद्धिप्रकाशं'–मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥५॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

अग्निर्जागार–तमृचः कामयन्ते ।
अग्निर्जागार–तमु सामानि यन्ति ॥
अग्निर्जागार-तमयं सोम आह ।
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥६॥
—ऋक्संहिता ५।४४।१५।

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः ।
श्रीविश्वेशदयोदयाश्च समभूत् काश्यां सुविद्योदयः ॥
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्तिभाग्योदयः ।
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥७॥

ओष्ठापिधाना न कुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥८॥

* * *

२–'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपक्रम—

मानवसंस्कृति, एवं मानवसभ्यता के समर्थक सभी राष्ट्र 'संस्कृति', एवं 'सभ्यता' नामक दोनों शब्दों से अत्यधिक स्नेह प्रदर्शित करते देखे सुने गए हैं । अपने इसी प्रदर्शन को चरितार्थ करने के लिए तत्तद् राष्ट्रों के राष्ट्रीय मानव स्व स्व सभ्यता के अनुपात से स्व स्व 'सांस्कृतिक–आयोजनों' का यथावसर अनुगमन भी करते रहते हैं । और आज महत्सौभाग्य है यह भारतराष्ट्र का कि, इसने भी अपनी अभिनव–स्वतन्त्रता के मुक्त–प्रक्रान्त जागरणकाल में विविध प्रकार के 'सांस्कृतिक–आयोजनों' के द्वारा अपनी संस्कृति, और सभ्यता का परिचयात्मक प्रदर्शन आरम्भ कर दिया है ।

जीवन–जागरण–के महान् परिचायक इन 'सांस्कृतिक–आयोजनों' के प्रदर्शन के लिए सोत्साह–सोल्लास प्रवृत्त आज का भारतराष्ट्र अपने इन आयोजनों से क्या भारतराष्ट्र की अपनी 'संस्कृति', अपनी

'सभ्यता' को मूलाधार बनाये हुए है ?, यही वह एक सामयिक प्रश्न है, जिसके समन्वय के लिए ही इन दोनों शब्दों के चिरन्तन इतिहास का भारतीया 'राष्ट्रदृष्टि' से सिंहावलोकन कर लेना प्रत्येक दशा में इस राष्ट्र के लिए श्रेय:पन्था ही माना जायगा। कहीं ऐसा तो नहीं है कि, जिस प्रकार आज हमारे सम्पूर्ण नैतिक-विधि-विधान पश्चिमी देशों के संविधानों के आंशिक अनुकरणमात्र हैं, दूसरे शब्दों में स्वतन्त्र भारतराष्ट्र की सम्पूर्ण राजनीति का एकमात्र आधार जिसप्रकार आज 'प्रतीच्य-राजनीति' ही प्रमाणित हो रही है, तथैव वर्त्तमान-युग के ये 'सांस्कृतिक-आयोजन' भी कहीं गतानुगतिक-न्याय से वैसा अनुकरण ही तो नहीं है ?, जिस अनुकरणवृत्ति से मानवीय मन शनैः शनैः अनुकरण के आधारभूत परभावों, परसंस्कृति-परसभ्यताओं के गर्त्त में निमज्जित होता हुआ कालान्तर में अपना प्रातिस्विक-प्रतिष्ठात्मक-मौलिक स्वरूप ही सदा सदा के लिए विस्मृत कर दिया करता है। अपने वर्त्तमान 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के द्वारा कहीं राष्ट्रीय जनमानस इत्थंभूता विस्मृति की ओर ही तो शनैः शनैः अग्रेसर नहीं होता जा रहा ?, इसी भयावहा आशङ्का से शङ्कातङ्कितमानस बन जाने के कारण हीं आज हमें भारतीय दृष्टिकोण से'संस्कृति'-'सभ्यता'शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपक्रम करना पड़ रहा है।

३-वर्त्तमान 'सांस्कृतिक-आयोजनों' के अकाण्डताण्डव—

अभिनव स्वतन्त्रता के वर्त्तमान स्वर्णिम युग में भारतराष्ट्र के राष्ट्रीय जन-मानस में 'संस्कृति' के अङ्कुर पुष्पित-पल्लवित होते जा रहे हैं, यह जानकर आज एक ओर जहाँ हम मनस्तुष्टि का अनुभव कर रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर अङ्कुरिता संस्कृति के प्रसूनरूप वर्त्तमान **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** के अकाण्ड-ताण्डवों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुन सुन कर हमें इसलिए अत्यन्त ही निराश भी बन जाना पड़ रहा है कि, मणिपुर-नृत्य-कत्थककली डाँस-ढोलामारु के गीत-ढोलकनृत्य- डाँडीनृत्य-घूमरनाच-उष्ट्रवाहनारूढ रैबारीप्रदर्शन-आदि आदि उपाधियों से सुविभूषित, आजकी महती ! सांस्कृतिक ? भाषा में-**'सांस्कृतिक-झलकियाँ'** नाम से उद्घोषित इत्थंभूत सांस्कृतिक आयोजनों में अथ से इति पर्य्यन्त प्रयास करने पर भी भारतीय संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली मौलिकता का तो यत्किञ्चित् आभास भी उपलब्ध नहीं हो रहा।

४-रूढिवादविध्वंसक कल के समाजसुधारक के द्वारा रूढिवादों का प्रचण्ड समर्थन, एवं तन्मूलक उसके सांस्कृतिक-आयोजन—

कुछ ही वर्षों पूर्व इसी आज के आयोजनभक्त राष्ट्रीय-जनमानस के द्वारा 'रूढ़िवाद' के प्रति प्रचण्ड प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारतीय लोकजीवन से सम्बन्ध रखने वाले पर्व-उत्सव-त्यौहारादि अवसरों पर उपगीयमान माङ्गलिक लोकगीत, नृत्य, वाद्यादि का अत्यन्त ही विरोध किया जा रहा था-'सुधार' के नाम पर। ऐसे सुधारवादी ही-**'समाजसुधारक'** नाम से अपने आपको अभिव्यक्त करते रहने में गरिमा-महिमा की अनुभूति करते हुए नहीं अघाते थे। "होली पर रँग डालना पशुता है, विवाहादि उत्सवों पर पारिवारिक स्त्रियों का मङ्गलगान सर्वथा असभ्यता है", आदि तर्काभासों के द्वारा जो सुधारक महाभाग स्वतन्त्रता से पूर्व के युग में' सुधार' के नाम पर यच्चयावत् लोकसंस्कृतियों के समूल विनाश के लिए ही आतुर बने हुए थे, वे ही सुधारक, वे ही रूढिवादविरोधी महानुभाव आज स्वयं बड़े उत्साह से उन्हीं लोक-संस्कृतियों के पुनरुद्धार के लिए आपादमस्तक व्यग्र बने हुए हैं।

५-राष्ट्रीय जनमानस का सांस्कृतिक अधःपतन—

ऐसा कुछ आभास हो रहा है कि, मानो इस अभिनव-स्वतन्त्रता का एकमात्र पौरुष तथाविध सांस्कृतिक-आयोजन ही हो। इसीलिए तो आजके छोटे-बड़े-सभी राष्ट्रीय कर्म्मों, आयोजनों के उपक्रमोपसंहार में इन झलकियों को ही प्रमुखता प्रदान की जा रही हैं। भाषण-भोजन, और सदैव सांस्कृतिक आयोजनात्मक कलाकौशलप्रदर्शन हीं आज प्रमुख बने हुए हैं यत्रतत्र सर्वत्र। होली के रँग के नामश्रवण से भी अपनी मुखाकृति को अष्टावक्रभाव में परिणत कर लेने वाले कल के वे ही सुधारक, किन्तु आजके राष्ट्रीय मानव किस उन्मुक्तता से सोल्लास रङ्गरञ्जित बन जाते हैं ?, प्रश्न की मीमांसा न करना ही श्रेयःपन्था है।

अमुक पर्वोत्सव-विशेषों पर ही मर्य्यादापूर्वक मङ्गलगान-नृत्यादि में समवेत पारिवारिक स्त्रियों के नृत्य-गानादि पर प्रबलतम प्रतिबन्ध लगा देने वाले वे ही सुधारक आज उन्हीं पारिवारिक गृहदेवियों, एवं कन्याओं को नृत्य-गान की दैनिक शिक्षा प्रदान करने के लिए समातुर बने हुए मानों स्वयं ही अपने सुधारवाद का उपहास ही करते जा रहे हैं। और यों तत्त्वत: 'संस्कृति' के शब्दार्थ से भी असंस्पृष्ट अपने इन मनःशरीर-मात्रानुबन्धी तात्कालिक अनुरञ्जनात्मक आयोजनों को 'सांस्कृतिक-आयोजन' जैसी पवित्र अभिधा से समन्वित मानते हुए आजके ये संस्कृतिभक्त अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ इन्हें सफल बनाते रहने में हीं समर्पित करते जा रहे हैं, इससे अधिक राष्ट्रीय जनमानस का सांस्कृतिक अधःपतन और क्या होगा ?।

६-दुरधिगम्य 'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्द—

अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण, अतएव सर्वथैव दुरधिगम्य है **'संस्कृति'**, और **'सभ्यता'** शब्दों का चिर-पुरातन-चिरनूतन-चिरन्तन इतिहास, जिसकी रूपरेखा अन्य निबन्ध में स्पष्ट की जा चुकी है। प्रसङ्ग-समन्वय के लिए तत्सम्बन्ध में प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, 'मानव' के आध्यात्मिक, तथा आधिभौतिक स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले अन्तः, और बाह्य आचार ही क्रमशः मानव की संस्कृति, और सभ्यता मानी गई है।

७-चतुष्पर्वा मानव का आधारभूत समब्रह्म—

'मानव' का क्या स्वरूप है ?, इस प्रश्न के समाधान पर ही मानव की संस्कृति, एवं सभ्यता का चिरन्तन इतिहास प्रतिष्ठित है। एतद्देशीय वैज्ञानिकों (महर्षियों) नें इस सम्बन्ध में हमें यह बतलाने का अनुग्रह किया है कि-**आत्मा**, बुद्धि, **मन**, **शरीर**, इन चार पर्वों की समुच्चयावस्था का नाम हीं-**'मानव'** है। नाम-रूप-गुण-कर्म्म-शक्ति-आदि की दृष्टि से परस्पर अत्यन्त विभिन्न इन चारों मानवीय आध्यात्मिक पर्वों को एक केन्द्रबिन्दु पर निर्विरोध समन्वित रखने वाला जो कोई एक पाँचवाँ सुसूक्ष्मतम-वाङ्मनसबुद्धिभूतात्मपथातीत-सर्वातीत-सर्वरूप-अभिन्न तत्त्व है, वही **'समब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसे आस्तिक मानव **'परमेश्वर'-'ईश्वर'-'अव्यय'** आदि विविध नामों से स्मरण करता रहता है। शब्दब्रह्म का उपासक व्याकरणशास्त्र इसी अवारपारीण एकरस समब्रह्म को **'स्फोट'** नाम से व्यवहृत कर रहा है। परस्पर सर्वथा विभिन्न वाक्य-पद-शब्द-वर्ण-मात्रा-अक्षर-आदि को एकसूत्र में आबद्ध कर समस्त शब्दराशि के द्वारा

समूहालम्बनात्मक–एकतानतात्मक शाब्दबोध कराने वाला तत्त्व ही व्याकरणशास्त्र का 'स्फोट' पदार्थ है, और यही 'समब्रह्म' ब्रह्म है ।

८–समब्रह्म, और सङ्गीताचार्य्यों का तालानुगत 'सम्'

नृत्य–गीत–वाद्यात्मक सङ्गीत के परमाचार्य्य इसे ही **'सम'** कहते हैं, जिसका विकृतरूप आज 'सम्' हो गया है । मृदङ्गवादक का मृदङ्गनाद, नर्त्तक का घुँघुरूनाद, एवं गायक का स्वरनाद, तीनों नाद सर्वथा समतुलित बन कर जिस क्षण किसी एक अवारपारीण स्थिर बिन्दु पर समन्वित होजाते हैं, वही सङ्गीतज्ञों की परिभाषा में–'सम्' पर आजाना कहलाया है, जिसके समसंग्रह के लिए ही सङ्गीताचार्य्यों नें 'ताल' का आश्रय लिया है । एक–पाँच–नौ–तेरह की संख्याओं से समतुलिता समबिन्दु से तो सभी परिचित हैं हीं ।

९–समब्रह्ममूला समानी समिति, एवं प्रपत्तिमूला सम्पत्ति—

विभिन्न विचारों का ऐकमत्य–भाव में परिणत होजाना हीं 'समब्रह्म' की प्रतिष्ठा है, जिसके आधार पर समानी **'समिति'** का स्वरूप निर्म्माण हुआ करता है । पौगण्ड–शिशु–बाल–युवा–तरुण–प्रौढ–वृद्ध–नारी–आदि आदि विभिन्न पारिवारिक व्यक्तियों का 'परिवार' निबन्धन एक सूत्र में प्रपन्न बने रहना जिस 'समत्त्व' पर अवलम्बित है, वही प्रपन्नात्मिका प्रपत्ति, किंवा 'पत्ति' इसी समब्रह्म के अनुग्रह से 'सम्पत्ति' कहलाई है, जिसका मूलबीज 'सुमति' माना गया है, जैसा कि भारतीय सन्त की–'जहाँ सुमति, तहँ सम्पत्ति नाना' इत्यादि सूक्ति से स्पष्ट है ।

१०–एकत्त्वाधारभूत समब्रह्म का मौलिक स्वरूप—

आधिभौतिक विश्व में गुणत्रयभेदभिन्ना महामाया प्रकृति के विकृतिरूप असंख्य अनन्त विस्तारों के कारण सर्वत्र नानाभाव जागरूक हैं । उदाहरण के लिए एक वृक्ष को ही लीजिए । बीज को आधार बना कर पुष्पित–पल्लवित होने वाले एक ही वृक्ष के अवान्तर मूल–शाखा–प्रशाखा–पत्र–मञ्जरी–पुष्प–फलादि का यदि आप विशकलन करने लग पड़ेंगे,तो आपकी गणितज्ञा भी प्रज्ञा थक थक जायगी । इन असंख्य अवयवों–भेदों–नानाभावों के विद्यमान रहते हुए भी जिस अवारपारीण किसी एक अभिन्न मूल–धरातल के आश्रय से वृक्ष 'एक' कहलाता है, 'एकत्व' प्रतीति का आधारभूत वही तत्त्व 'समब्रह्म' कहलाया है, जिसका स्वयं समब्रह्मावतार भगवान् वासुदेव कृष्ण ने इन शब्दों में यशोगान किया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति' (गीता १३।२७) ।
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्' (गीता १३।२८) ।
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं 'ब्रह्म' सम्पद्यते तदा ॥ (गीता १३।३०) ।

११–'समित्येकीभावे' मूलक 'सम्' उपसर्ग, और समब्रह्म—

भारतीय जनजीवन में भी इसी 'सम' भाव के कारण सर्वाधारभूत समब्रह्म **'समदर्शी'** नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि–**'समदर्शी है नाम तिहारो'** इत्यादि भावुक भक्त की सूक्ति से अनुप्राणित है। ऐसा है वह सर्वव्यापक ब्रह्म, जिसका समसमत्त्व के कारण हीं–'सम' नाम है, जिसके प्रातिनिध्य में हीं व्याकरणशास्त्र ने 'सम्' नामक उपसर्ग की कल्पना की है। इस उपसर्ग का अर्थ वही है, जो 'समब्रह्म' का है। अर्थात्–**"अनेक भावों को, विभिन्न भावों को एकरूप में परिणत किए रहना"**। इसी आधारपर–**'समित्येकीभावे'** इस शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार 'सम्' उपसर्ग का अर्थ माना गया है एकीभाव। एवं एकीभावार्थक इस 'सम' उपसर्ग के माध्यम से ही हमें सर्वप्रथम दो शब्दों में 'सस्कृति' शब्दार्थ की ओर संस्कृति-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर देना है।

१२–'संस्कृति' शब्द के–'सम्–स्–कृति' रूप पर्वविभाग—

'संस्कृति' शब्द के **'सम–स्–कृति'** ये मुख्य पर्व–विभाग–हैं। इन तीन विभागों में भी मुख्य **'सम–कृति'** ये दो ही विभाग हैं। पाणिनीय व्याकरण के नियमानुसार सम्–उपसर्ग के आगे रहने वाले कृति–कारादि की अवस्था में 'सुट्' का आगम होजाता है, मध्य में 'सुट्' का आगमन हो जाता है। फलतः सम्–कृति, और सम्-कार–आदि विभाग संस्कृति–संस्कार–आदि शब्दों में परिणत होजाते हैं। तात्पर्य्य–'संस्कृति' शब्द का अपना स्वरूप **'समकृति'** ही है, जो आगन्तुक 'स्' (सुट्) के समावेश से 'संस्कृति' रूप में परिणत हो रहा है।

१३–एकीभावात्मिका कृति का संकृतित्त्व, तथा संस्कृतित्त्व—

'समकृति' शब्द का अर्थ है–**'एकीभावात्मिका कृति'**, **अभिन्नभावात्मिका कृति**। हम समझे नहीं इस वाक्य का अर्थ ?। समझने के लिए अब आपका ध्यान सुप्रसिद्ध **'सापेक्षवादसिद्धान्त'** की ओर ही आकर्षित करना पड़ेगा, जो अपेक्षा पारस्परिक समन्वयभावों की पूर्त्ति करती रहती है। एकीभाव सदा ही नानाभाव की अपेक्षा रखता है, तो नानाभाव सदा एकीभाव की ही अपेक्षा रखता है। एकत्त्व नानात्त्व की, अपेक्षा रखता है विश्वसृष्टि–दृष्टि से, तो नानात्त्व एकत्त्व की कामना रखता है विश्वमुक्ति की अपेक्षा से। वैसे शुद्ध एकत्त्व को तो तत्त्वयज्ञोंनें निरपेक्ष ही माना है। 'सम्' एकभाव है, तो 'कृति' नानाभाव है। कार्य्य का ही नाम 'कृति' है, जिसे लोकभाषा में–'रचना'–निम्र्माण–सर्ग-सृष्टि–उत्पत्ति–आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। सम् की कृति ही संस्कृति है। एक की अनेकता ही संस्कृति है। सम् की रचना हीं संकृति है। अर्थात् समब्रह्मात्मक अव्ययेश्वर से अक्षरद्वारा क्षर उपादान से विनिर्म्मित–विरचित–उत्पन्न–विश्व ही उससम् की कृति है, जिसका फलितार्थ निकलता है-**'यह सम्पूर्ण चराचर विश्व ईश्वर की ही कृति है**। ईश्वर 'सम्' है, एक है, तो उसकी कृतिरूप चराचर विश्व अनेकभावापन्न है।

१४–पराविद्यात्मिका आत्मविद्या, और 'सम्' भाव—

अभी थोड़ा स्पष्टीकरण और अपेक्षित है। एकत्त्व का प्रतिनिधि–शब्द माना गया है ज्ञान, एवं अनेकत्त्व का प्रतिनिधि–शब्द माना गया है **'विज्ञान'**। **'एकं ज्ञानं ज्ञानम्–एवं–विविधं ज्ञानं–विज्ञानम्'**

हीं ज्ञान-विज्ञान-शब्दों की सहज परिभाषा है, जिसका अन्य निबन्धन में स्पष्टीकरण होचुका है। समब्रह्मात्मक ज्ञानलक्षण एक तत्त्व के आधार पर विषमकर्म्मात्मक-विज्ञानलक्षण नानाभावों का विकास हुआ है। एक से अनेक कैसे उत्पन्न होगए !, इस रहस्यविद्या का नाम हीं **'विज्ञानविद्या'** है, यही **'अपराविद्या'** है। ये अनेक भाव उस एक में कैसे कब परिणत हो जाते हैं !, परिणत हो रहे हैं !, इस रहस्यविद्या का नाम हीं **'ज्ञानविद्या'** है. यही **'पराविद्या'** है। पराविद्यात्मिका ज्ञानविद्या ही **'आत्मविद्या'** है, यही 'संस्कृति' शब्द का-'सम्' पर्व है।

१५-अपराविद्यात्मिका विश्वविद्या, और 'कृति' भाव—

अपराविद्यात्मिका विज्ञानविद्या ही **'विश्वविद्या'** है, यही उक्त शब्द का 'कृति' पर्व है। **आत्मसमन्वित विश्व ही ज्ञानविज्ञानसमन्वयलक्षणा संस्कृति का मौलिक स्वरूप-परिचय है।** ज्ञान-विज्ञानात्मक उभय तत्त्वों का स्वरूपविश्लेषक शास्त्र ही **'संस्कृतिशास्त्र'** है, जिसका अर्थ होता है भारतीय वह मौलिक साहित्य, जिसके निगम-आगम-पुराण-स्मृत्यादि अवान्तर पर्व माने गए हैं। साहित्य ही हमारी संस्कृति है, जिसकी स्वरूपव्याख्या ज्ञानविज्ञानलक्षणा आत्म-विश्वविद्याओं से ही सम्बन्ध रखती है।

१६-संस्कृति का एकमात्र प्राणवान् प्रतीक 'साहित्य'—

पुरातत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन खण्डरों-मूर्त्तियों-भवनों-घट-कपाल-शरावों-ठीकरियों-कङ्कालों-आदि आदि का नाम संस्कृति नहीं है। ये तो अमुक सीमापर्य्यन्त ही सभ्यता के प्रतीक तो फिर भी यथाकथञ्चित् कहे, और माने जा सकते हैं। किन्तु 'संस्कृति' का तो इन ध्वंसावशेषों से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं माना जासकता। यदि आपको 'संस्कृति' के स्वरूप-दर्शन करने हैं, तो आपको भारतीय चिरन्तन ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक-साहित्य की ही शरण में आना पड़ेगा। साहित्य ही एकमात्र संस्कृति का प्राणवान् प्रतीक माना गया है। पुरातत्त्व के अवशेषों के दर्शन से आप अपनी सभ्यता की कण्डू तो फिर भी यथाकथञ्चित् शान्त कर सकते हैं, कर लेंगे। किन्तु कदापि इस जड़-दर्शन से आप संस्कृति का स्वरूपबोध प्राप्त नहीं कर सकेंगे। क्योंकि संस्कृति साहित्य में है। एवं साहित्य का दर्शनमात्र से सम्बन्ध न होकर एकान्तचिन्तन-मूलक तत्त्व से ही प्रधान सम्बन्ध है। संस्कृति ज्ञातव्या है, दर्शनीया-मात्र नहीं। ज्ञातव्य विषय हैं ज्ञान, और विज्ञान, तन्मूला आत्मविद्या, और विश्वविद्या, जिनकी ज्ञातव्यलक्षणा संस्कृतिरूपा अभिधा का इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

> ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
> यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
>
> —गीता

१७-प्राजापत्या संस्कृति के शाश्वत आयोजन—

हाँ, तो अब स्वयं 'संस्कृति' शब्द नें हीं हमें यह मानने, मनवाने के लिए विवश कर दिया कि,—"सम् की कृति, किंवा सम्-रूपा कृति, किंवा सम से अभिन्ना कृति ही 'संस्कृति' है," । जिसका

सहजभाषा में फलितार्थ यही निकल रहा है कि–परमात्मा की कृति रूप, साथ ही परमात्मा से अभिन्न, अतएव आत्म–विश्वसमष्टिरूप यह विश्वविवर्त्त ही संस्कृति की व्यक्ता–मूर्त्ता–प्रतिकृति है। इस महती 'विश्वसंस्कृति' के गर्भ में परमाकाश–परमेष्ठी–सूर्य्य–नक्षत्र–ग्रह–चन्द्र–पृथिवी–वायु-तेज–जल–ऋषि–पितर–देवता–असुर–राक्षस–गन्धर्व–यक्ष–पिशाच–किन्नर–दैत्य–दानव–मानव–कृमि–कीट––पशु–पक्षी––लता––गुल्म–ओषधि–वनस्पति–धातु–रस–विष–आदि आदि भेद से असंख्य–अनन्त अवान्तर भेदों में विभक्ता अवयवसंस्कृतियाँ अपने अपने आयोजनों में तल्लीन हैं। इन असंख्य संस्कृतियों के पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक महतो महीयान् आयोजन हीं विश्वम्भर विश्वेश्वर प्रजापति की इन प्राजापत्या संस्कृतियों के वे आयोजन हैं, जो तत्तद्विभक्त संस्कृतिनिष्ठ सूर्य्य–चन्द्रादि सांस्कृतिक व्यक्तियों के द्वारा मर्य्यादापूर्वक शाश्वतीभ्यः–समाभ्यः अनवच्छिन्नरूपेण समायोजित होते रहते हैं।

१८–ईश्वर की अवयवरूपा कृतियाँ, एवं अवयवीरूपा संस्कृति—

महती विश्वसंस्कृति के गर्भ में प्रतिष्ठित उपर्य्युक्त अनन्त–असंख्य–विभिन्न संस्कृतियों के समतुलन में 'मानव' की 'संस्कृति' का क्या स्वरूप है ?, यही निबन्ध के वक्तव्य का प्रधान विषय है। मानव से अतिरिक्त आकाशादि पृथिव्यन्त जितनीं भी अन्य स्थावर–जङ्गम (अचर–चर,–जड़–चेतन) संस्कृतियाँ हैं, उन सब के समतुलन में मानवसंस्कृति का अपना एक विशेष स्थान सुरक्षित है। इसलिए सुरक्षित है कि, मानवेतर समस्त चर–अचर–प्राकृतिक-वैकारिक सर्ग 'समब्रह्म' लक्षण विश्वेश्वर की अवयवरूपा कृतियाँ हीं हैं, जब कि समस्त विश्व में एकमात्र मानव ही अव्ययेश्वरात्मा की परिपूर्णा अभिव्यक्ति से सम्बन्ध रखता हुआ अव्ययेश्वरवत् अपना स्वतन्त्र मनुकेन्द्र सुरक्षित रखता हुआ इस स्वतन्त्र उक्थ की अभिव्यक्ति से एक स्वतन्त्र 'अवयवी' ही बना हुआ है। स्पष्ट है कि, मानव से इतर ईश्वर की कृतियाँ **'अवयव'** स्थानीया बनतीं हुईं जहाँ केवल **'कृतियाँ'** हैं, वहाँ मानव **'अवयवी'** स्थानीय बनता हुआ समब्रह्म की पूर्ण अभिव्यक्ति बनता हुआ इस समब्रह्म के साक्षात् सम्बन्धरूप अभिव्यक्तित्त्व से केवल 'कृति' न हो कर–'संस्कृति' बना हुआ है। तात्पर्य्य ?।

१९–मानवेतर विश्वपदार्थों का केवल 'कृतित्त्व', एवं मानव का 'संस्कृतित्त्व'—

तात्पर्य्य स्पष्ट है। सूर्य्य–चन्द्र–ऋषि-पितर–देवता–भू–वायु–जल–तेज–कृमि–कीट–पशु–पक्षी–आदि आदि यच्चयावत् स्थावर–जङ्गम पदार्थ भी मानववत् हैं तो ईश्वरात्मा की कृति हीं। अवश्य ही–**'अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्'** इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार इन सब विभक्त सूर्य्य–चन्द्रादि में वह समब्रह्म अविभक्तरूप से विभक्तवत् प्रतिष्ठित भी है। अतएव इन सब कृतियों का आधार तो वह समब्रह्म हीं बना हुआ है। और इस समष्टि की दृष्टि से इन सम्पूर्ण अवयवों की समष्टिरूप स्थावरजङ्गमात्मक प्राकृत–वैकारिक विश्व को भी अवश्य हो 'संस्कृति' नाम से भी व्यवहृत किया जा सकता है। इसी आधार पर 'विश्वसंस्कृति' वाक्य का आविर्भाव भी हुआ है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी, सुसमन्वित बने रहने पर भी जब विश्वपदार्थों का अवयवदृष्टि से विचार किया जाता है, तो विश्व का प्रत्येक प्राकृतिक, अथवा तो वैकारिक अवयव अपने इस विभक्त अवयवभाव से विश्वकेन्द्रस्थ अवयवी शाश्वतब्रह्मरूप मनुर्लक्षण अव्ययोक्थ के रश्मिमात्र से उपकृत रहता हुआ, अतएव स्वतन्त्र आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से अनभिव्यक्त बना रहता हुआ, अतएव च आत्मभाव से पृथक् रहता हुआ अनात्मरूप केवल 'कृति' ही प्रमाणित हो रहा है। दूसरे शब्दों में समब्रह्म के प्रतीकभूत 'सम्' के साक्षात् अभिव्यक्तित्त्व से वञ्चित

रहने के कारण हीं इन विश्वावयवों का केवल 'कृतित्व' ही अभिव्यक्त हो रहा है । और यों मानवेतर यच्चयावत् जड़-चेतन-पदार्थ व्यष्टिरूप से आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिस्वरूप मनुकेन्द्र से साक्षात्‌रूप से वञ्चित रहने के कारण केवल 'कृति' उपाधि के ही पात्र बने हुए हैं । और यहाँ आकर अब हमें इस सिद्धान्तबिन्दु पर आजाना पड़ता है कि, सम्पूर्ण विश्व में 'संस्कृति' शब्द का मुख्य पात्र एकमात्र वह 'मानव' ही है, जिसमें मनुकेन्द्ररूप अव्ययेश्वरलक्षण समब्रह्म स्वस्वरूप से-उक्थरूप से-अवयवीरूप से सर्वात्मना अभिव्यक्त है । इस आत्ममनु की पूर्णाभिव्यक्ति से ही यही 'मनोरपत्यम्' निर्वचन से 'मानव' जैसी श्रेष्ठतरा-परिपूर्णतमा महती सांस्कृतिक-अभिधा का एकमात्र अधिकारी बना हुआ है, जैसा कि-'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'-'पुरुषो वै प्रजापतेर्निदिष्टम्'-'यदेवेह तदमुत्र-यदमुत्र तदन्विह'-'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्''-इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाणों से प्रमाणित है ।

२०-विश्वपदार्थों की परतन्त्रता, एवं मानव की स्वतन्त्रता—

मानवेतर विश्वपदार्थ जहाँ **'प्राकृत'** है, प्रकृतिमात्र से सञ्चालित होते हुए **'परतन्त्र'** हैं, अतएव अव्ययपुरुषात्मानुबन्धी स्वतन्त्र पुरुषार्थ के साधन में सर्वथा असमर्थ हैं । वहाँ मानव प्रकृति से अतीत रहने वाले अव्ययपुरुष की अभिव्यक्ति से समन्वित रहता हुआ **'अप्राकृत'** है, स्वयं अपने अव्ययपुरुषात्मभाव से सञ्चालित रहता हुआ **'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र'** है, स्वतन्त्र पुरुषार्थसाधन में समर्थ है ।

२१-प्राजापत्या ईश्वरीय संस्कृति, एवं प्राजापत्य ईश्वरीय साहित्य—

इसके इन स्वतन्त्र पुरुषार्थों की स्वरूपव्याख्या ही मानव का वह अपना स्वतन्त्र मौलिक **'सांस्कृतिक-इतिहास'** है, जिसे **'साहित्य'** कहा गया है, जो कि मानवश्रेष्ठों की स्वतन्त्रप्रज्ञा से प्रादुर्भूत ईश्वराज्ञासिद्ध **'प्राजापत्यसाहित्य'** (वैदिकसाहित्य) कहलाया है, जिस इस अपौरुषेय सनातन साहित्य का उपबृंहक साहित्य ही इतिहास-पुराण-साहित्य कहलाया है । और यों मानव की आत्माव्ययरूपा 'संस्कृति' ही इस निगमागमपुराणरूप साहित्य के द्वारा उपबृंहित हुई है ।

२२-संस्कृति, और साहित्य का चिरन्तन सख्यभाव—

यही **संस्कृति**, और **साहित्य**, का वह चिरन्तन सख्य है, जिसे जब जब भी प्राकृतता की भावुकता से, प्राकृतिक व्यामोहनों से, अपने आपको इतर प्राणियों की भाँति एक प्राकृत प्राणी मानने-मनवाने की महती भ्रान्ति से मानव ने अपने इस संस्कृतिस्वरूपविश्लेषक सनातन साहित्य की उपेक्षा कर अपने को केवल 'कृति' मान लिया है, तबतब ही इसका सांस्कृतिक स्वरूप अन्तर्मुख ही बन गया है । एवं तत्स्थान में केवल बाह्य-अवयवात्मक-कृतिलक्षण-अनुकरणात्मक प्रदर्शन हीं इसका काल्पनिक सांस्कृतिकरूप शेष रह गया है । इसी महान् प्राकृतिक, किंवा वैकारिक व्यामोहन के कारण आत्मबुद्धिसंस्कृतिनिष्ठ परिपूर्ण भी सांस्कृतिक मानव अपने सांस्कृतिक स्वरूप को विस्मृत करता हुआ आज मनःशरीरानुगत भौतिक कृतिभावों के प्रदर्शनों को ही 'सांस्कृतिक आयोजन' मानने-मनवाने की महती भ्रान्ति करता जा रहा है । इससे अधिक इस आत्मसंस्कृतिनिष्ठ परिपूर्ण भारतीय मानव का और क्या सांस्कृतिक अधःपतन होगा ? ।

२३-स्वाध्याय के द्वारा सांस्कृतिक इतिहास का संरक्षण—

'संस्कृति' शब्द के अबतक के शब्दार्थेतिहास के माध्यम से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव से अतिरिक्त विश्व के यच्चयावत् पदार्थ जहाँ समब्रह्मलक्षण ईश्वराव्यय की केवल अवयवरूपा

'कृति' है, वहाँ मानव ईश्वराव्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण 'कृति' बनता हुआ भी इस 'सम्' के पूर्णाभिव्यक्तित्व से **'संस्कृति'** बना हुआ है। मानव स्वयं 'संस्कृति' बना हुआ है, जिसकी इस आत्ममूला-संस्कृति का चिरन्तन इतिहासग्रन्थ ही मानव का मौलिक निगमागमपुराणरूप 'साहित्य' कहलाया है। इसी सांस्कृतिक इतिहासरूप साहित्य के गर्भ में मानव का 'स्व' स्वरूप अन्तर्निगूढ है। अतएव मानव को अपने सांस्कृतिक-स्वरूपबोध के लिए इस 'स्व' स्वरूप विश्लेषक साहित्य का ही अध्ययन करना पड़ता है। यही इसका 'स्व' का अध्ययन माना गया है, और यही 'स्वाध्याय' कहलाया है। अपने सांस्कृतिक स्वरूप के प्रति यावज्जीवन जागरूक बने रहने के लिए यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यकतम है कि, मानव प्रतिदिन यथासुविधा-यथाशक्ति (अहरहः) स्वाध्यायपथ का अनुगमन करता ही रहे, कभी इस स्वाध्यायनिष्ठा मे प्रमाद न करे। इसी उद्बोधन के लिए-**'अहरहः स्वाध्यायमधीयीतैव'-'स्वाध्यायान्माप्रमद'-'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'-'स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यम्'** इत्यादि आदेश व्यवस्थित हुए हैं। **"यावज्जीवन अपने स्वरूपबोध के, सांस्कृतिकस्वरूप के एकमात्र आधारभूत साहित्य का स्वाध्याय करते रहना, तदनुरूप सांस्कृतिक आचरणपथ पर निष्ठापूर्वक आरूढ बने रहना हीं भारतीय आत्मनिष्ठ मानव का एकमात्र 'सांस्कृतिक आयोजन' है"**। जिसका किसी भी बाह्यप्रदर्शन से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। संस्कृति का प्रदर्शन नहीं हुआ करता, आयोजन नहीं हुआ करता। अपितु संस्कृति का तो एकान्तनिष्ठा से साहित्य के आधार पर पहिले चिन्तन होता है, मनन होता है, निदिध्यासन होता है। एवं इस श्रवण-मनन-निदिध्यासनानन्तर तदनुरूप आचरण हुआ करता है। और यों स्वाध्यायव्रतग्रहण से आरम्भ कर आचारनिष्ठापर्य्यन्त व्याप्त रहने वाली साहित्यिक-संस्कृति ही मानव की संस्कृति का, किंवा सांस्कतिक-स्वरूप का संरक्षण करती रहती है।

२४-ईश्वरीय कृतियों का प्रदर्शनात्मक आयोजन, और संस्कृति—

'सम्' की अवयवकृति ही कृति है, अवयवीकृति ही संस्कृति है। बाह्यप्रदर्शनात्मक आयोजन आत्माभिव्यक्तित्त्वशून्या कृतियों का अवश्य हुआ करता है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक कृति ऋतुपरिवर्त्तन के अनुपात से विभिन्न स्वरूपों में परिणत होती रहती है। कभी वसन्त, कभी शरत्, कभी वर्षा, तो कभी ग्रीष्म। कभी हेमन्त, तो कभी शिशिर। इन साम्यत्सरिक ऋतुपरिवर्त्तनों के साथ साथ प्रत्येक कृति नवीन नवीन भावविन्यासों के आयोजनों में तल्लीन बनती रहती है। और यों इन कृतियों का प्रदर्शनात्मक बाह्य आयोजन नवीन नवीन साज-सज्जा-परिग्रहों से महता समारम्भेण घटित-विघटित होता रहता है।

२५-सांस्कृतिक मानव की सनातन-मानवता—

क्या 'मानवकृति' में ऐसा प्राकृतिक आयोजन नहीं होता ?। होता है, अवश्य होता है। किन्तु मानव स्वयं अपने आभ्यन्तर मानवरूप से इन आयोजनों का स्वयं प्रवर्त्तक नहीं बनता। अपितु प्रकृति के द्वारा होने वाले इन प्राकृतिक-परिवर्त्तनात्मक आयोजनों का मानव तो द्रष्टा-साक्षीमात्र बना रहता है। बाल--तरुण--युवा--प्रौढ--जरा--मृत्यु--आदि आदि सभी वैसे ही तो कृतिरूप आयोजन हैं, जो प्रकृत्या यथाकाल स्वयं होते रहते हैं। स्वयं मानव कदापि इन आयोजन का स्रष्टा नहीं है। अतएव मानव इन कृतिरूप आयोजन--प्रदर्शनों से पृथक्--तटस्थ--नित्य--सनातन--अप्राकृत-शाश्वत तत्त्व है, जो कि इसका सांस्कृतिक स्वरूप

है, जिस से कि मानवेतर कृतियाँ वञ्चित हैं । अतएव मानवेतर कृतियाँ जहाँ आयोजनोपशान्ति पर स्वयं भी सदा के लिए शान्त हो जातीं हैं, वहाँ मानव अपने प्राकृतिक कृतिभावों के उपरत हो जाने पर भी स्वात्मस्वरूप से सदा अक्षुण्ण ही बना रहता है । और यही सांस्कृतिक मानव की सनातन-मानवता है ।

२६–चार कृतियों के समसमन्वय से 'मानवसंस्कृति' का उद्भव—

'सम' रूप अव्ययब्रह्म की आंशिक कृति 'कृति' है, एवं पूर्णकृति '**संस्कृति**' है, यही उक्त वक्तव्य का निष्कर्षार्थ है । और यहीं मानव के पूर्णकृतित्व के सम्बन्ध में पुनः कुछ विशेषरूप से अवगत कर लेना अनिवार्य्य बन रहा है । पूर्व में यह स्पष्ट किया गया है कि, समष्टिरूप से सम्पूर्ण विश्व विश्वेश्वर की 'संस्कृति' माना जा सकता है, माना गया है, जब कि विश्वावयय केवल 'कृतियाँ' हीं मानीं गईं हैं । विश्वेश्वर से अभिन्ना विश्वेश्वर की समष्टिरूपा विश्वसंस्कृति के **अव्यक्त–सूर्य्य–चन्द्रमा-पृथिवी**–ये चार मुख्यपर्व–अवयव मानें गए हैं, जिन इन चारों को मिलाकर एक विश्व का स्वरूप सम्पन्न हुआ है । एवं चारों अवयवों की समष्टि पर समानरूप से अधिष्ठित ईश्वराव्यय ही यों समष्टिरूपेण 'विश्वसंस्कृति' का स्वरूपाधिष्ठाता बना हुआ है । विश्व के किसी भी प्राकृतिक, अथवा तो वैकारिक अवयव–पर्व में इन चारों का समसमन्वय नहीं है । मानव ही एकमात्र वैसा संस्थान है, जिस में इन चारों कृतियों का समसमन्वय हो रहा है । यही मानव की सांस्कृतिकता का मूलबीज है, जिसके यथार्थ समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र–अध्ययन ही अपेक्षित है ।

२७–मानव का पञ्चभावात्मक सांस्कृतिक स्वरूप—

विश्व का अव्यक्तभाग ही मानव में **भूतात्मा** कहलाया है, सूर्य्यभाग ही बुद्धि, चन्द्रभाग ही **मन**, एवं पार्थिवभाग ही **शरीर** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इन चारों विश्वपर्वों का अधिष्ठाता वही पांचवां विश्वातीत ईश्वराव्ययात्मा है, जिसने अपने एकीभावात्मक 'समभाव' से चारों कृतियों को समरूप में परिणत कर मानव को 'संस्कृति' का स्वरूप प्रदान कर रक्खा है । अत्यन्त अवधानपूर्वक **विश्वेश्वर**, और **मानव** के, सांस्कृतिक (वैदिक) भाषानुसार **प्रजापति**, और **पुरुष** के इस समतुलित पञ्चभावात्मक सांस्कृतिक स्वरूप को एकबार पुनः निष्ठापूर्वक हमें लक्ष्यारूढ कर लेना चाहिए । क्योंकि इसी मौलिक सांस्कृतिक स्वरूप के आधार पर हमें लोकप्रचलित **संस्कृति**, और **सभ्यता**, शब्दों का समन्वय करने की यथामति चेष्टा करनी है ।

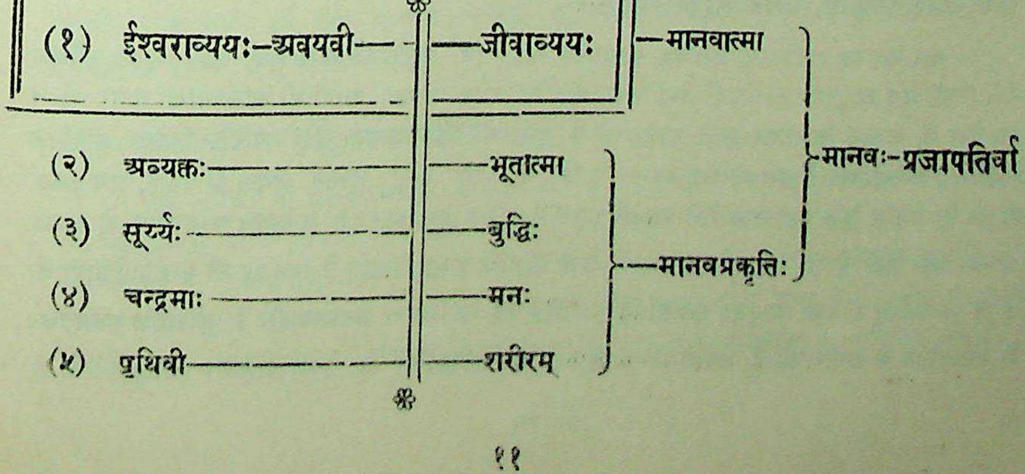

२८-मानव की आत्मसंस्कृति, और प्रकृतिसंस्कृति—

ईश्वराव्यय स्वयं संस्कृतिरूप है । इसकी प्रकृतिरूपा **अव्यक्त-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी**-नाम की चार प्रकृतियाँ, किंवा कृतियाँ हैं । पाँचों की समष्टि ही विश्वेश्वर का सांस्कृतिक स्वरूप है । एवमेव ईश्वराव्यय से अभिन्न जीवाव्यय स्वयं संस्कृतिस्वरूप है । इसकी प्रकृतिरूपा अव्यक्त से अभिन्ना **भूतात्मप्रकृति**, सूर्य्य से अभिन्ना **बुद्धिप्रकृति**, चन्द्रमा से अभिन्ना **मनःप्रकृति**, एवं पृथिवी से अभिन्ना **शरीरप्रकृति** है । पाँचों की समष्टि ही जीवेश्वरमानव का सांस्कृतिक स्वरूप है, और यही प्रजापति से नेदिष्ठ मानव-पुरुष की मौलिक अव्ययात्मरूपा **'पुरुषसंस्कृति'** की स्वरूपदिशा का संक्षिप्ततम चिरन्तन इतिहास है । इसी पुरुषसंस्कृति के आधार पर (जिसे कि विशुद्ध **'आत्मसंस्कृति'** ही कहा जायगा ।) हमें मानव की **'प्रकृतिसंस्कृति'** के चिरन्तन इतिहास के स्वरूपान्वेषण में अब प्रवृत्त होना है ।

२९-मानव की अलौकिक, तथा लौकिक संस्कृति—

अव्ययपुरुष लोकसाक्षी-लोकाधार बनता हुआ भी लोकातीत है । अतएव तद्रूपा 'अव्ययपुरुषात्मसंस्कृति' को मानव की **'अलौकिक-संस्कृति'** ही कहा जायगा, जिसका प्रदर्शन, किंवा आयोजन सर्वथा असम्भव है । अपितु सम्पूर्ण आयोजनों की परिसमाप्ति ही इस अलौकिक-आत्मसंस्कृति की उपक्रमभूमि बना करती है । इस अलौकिक संस्कृति के आधार पर, तद्रूप अव्ययात्मपुरुष के आधार पर, सहजभाषा में समब्रह्म के आधार पर ही मानव के **भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर**-ये चार प्राकृतिक पर्व समरूपेण व्यवस्थित बनते हुए 'संस्कृति' रूप में परिणत हो रहे हैं । तात्पर्य्य इस परिणति का यही है कि, मानवसंस्था के ये चारों प्राकृत पर्व, चारों कृतियाँ यदि लोकातीत अव्ययपुरुष से समन्वित हैं, तो उस दशा में हीं उस 'सम्' भाव से समन्विता रहतीं हुईं ये कृतियाँ मानव की संस्कृतियाँ बनतीं हैं । ठीक इसके विपरीत यदि चारों प्राकृतिक कृतियां आधारभूत समत्त्व से पराङ्मुख हो जातीं हैं, तो उस अवस्था में 'सम्' सम्बन्ध से वञ्चिता मानव की ये अवयवरूपा कृतियाँ भी उसी प्रकार केवल 'कृति' ही रह जातीं हैं, जैसे कि अव्ययात्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से असंस्पृष्ट विश्व के मानवेतर अवयवरूप चर-अचरपदार्थ पूर्वकथनानुसार केवल कृति ही बने रहते हैं ।

३०-लोकसंस्कृति, और लोकसभ्यता—

बार बार यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ रहा है कि, प्रकृतिपर्वों से सम्बन्ध रखनें वालीं लौकिक संस्कृतियां, एवं तदनुगता सभ्यताएँ तभी तक 'संस्कृति', और 'सभ्यता' शब्दों की अधिकारिणीं मानीं गईं हैं इस देश में, जबतक कि लोकसंस्कृति-सभ्यताओं के मूल में 'अव्ययात्मसंस्कृति' अनिवार्य्यरूपेण प्रतिष्ठित रहती है । कारण स्पष्ट है इस मान्यता का । 'कृति' के पीछे 'सम्' उपसर्ग लगता ही तब है, लग सकता ही तब है, जबकि कृति 'सम्' उपसर्ग से आकर्षित एकीभावात्मक समब्रह्मलक्षण लोकातीत अव्ययात्मा को अपना आधार बना लेती है । 'संस्कृति' शब्द के इसी नैगमिक शब्दार्थेतिहास से अब यह भी संस्कृतिप्रेमियों को अपनें अन्तर्जगत् में स्पष्ट अनुभूत कर ही लेना चाहिए कि, जो मानव अनात्मवादी हैं लोकातीत अव्ययेश्वर के समत्त्वभाव से अपरिचित हैं, उनकी जीवनपद्धतियों, आचारपद्धतियों का केवल प्राकृतिक लोककृतियों से ही

सम्बन्ध है । आत्मेश्वराधार से वञ्चित उनकी आचारपद्धतियां, कृतियां, कदापि 'संस्कृति' शब्द की तो अधिकारिणीं नहीं मानीं जातीं है ।

३१–सांस्कृतिक–परिभाषा से असंस्पृष्ट आज के सांस्कृतिक आयोजन—

यही कारण है कि, 'संस्कृति' शब्द के इस रहस्यपूर्ण शब्दार्थबोध से परम्परया सुपरिचित भारतराष्ट्र का एक सामान्य–अपठित भी मानव अपने सर्वथा लौकिक समारोहों में भी सर्वप्रथम ईशसंस्मरण–गणपति–शारदा–राम–कृष्ण–जगदम्ब–भवानी–संस्मरण–अनिवार्य्य मानता चला आ रहा है, जब कि आज के सुसभ्य–सुशिक्षित–संस्कृतिभक्त भी प्रारम्भिक माङ्गलिक 'श्रीः' का संस्मरण भी साम्प्रदायिक मानने की भयावह भ्रान्ति कर रहे हैं । ऐसी स्थिति में आज के इन समारोहों को 'संस्कृति' शब्द से कैसे, और क्यों व्यवहृत किया जाय !, जब कि आज के सांस्कृतिक आयोजनों में कहीं भी आत्मसंस्मरण भ्रान्ति से भी समाविष्ट नहीं है । अध्ययात्मसंस्कारशून्या कोई भी कृति कदापि इस राष्ट्र की सांस्कृतिक परिभाषा की दृष्टि से तो 'संस्कृति' नहीं कहला सकती, यही निवेदननिष्कर्ष है ।

३२–प्रकृति–पुरुष का समन्वय, और संस्कृति—

विश्वाधारभूत अव्ययपुरुष, एवं अव्यक्त–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–इन चार पर्वों की समष्टिरूपा विश्वप्रकृति. प्रकृति–पुरुष के इस समष्ट्यात्मक स्वरूप का नाम हीं 'संस्कृति' है । क्योंकि समब्रह्म नामक अव्ययपुरुष की चतुर्विधा अव्यक्तादि-पृथिव्यन्ता कृतिचतुष्टयी ही इस समपुरुष से तानूनप्त्र करती हुई एकीभाव में परिणत हो रही है । ऐसी यह संस्कृति सर्वाधारभूत अव्ययपुरुष की दृष्टि से **'अलौकिक–आत्मसंस्कृति'** कहलाई है, जो कि संस्कृति का अन्तर्निष्ठ निगूढ सुगुप्त–केवल चिन्तनात्मक–रहस्यपूर्ण ही स्वरूप माना गया है । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, 'संस्कृति' के रहस्यात्मक पारिभाषिक वास्तविक अर्थ की सीमा तो इस अलौकिक–आत्मसंस्कृति पर ही परिसमाप्त है । एतदतिरिक्त जिन लोकसंस्कृतियों का हमें दिग्दर्शन कराना है, जिसेकि लोकव्यवहारभाषा में 'संस्कृति' कहा जाता है, संकृति के वे सम्पूर्ण प्राकृतिक स्वरूप समब्रह्म से साक्षात् समन्वित न रहने कारण व्यक्त–मूर्त्त–भावापन्ना 'सभा' से अनुप्राणिता 'सभ्यता' के ही अवान्तर रूप मानें जायँगे । और इसी प्रकृति–पुरुष–विवेक को नितान्त अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही हमें परस्पर सापेक्ष 'संस्कृति–सभ्यता' के लौकिक स्वरूपों का समन्वय करना पड़ेगा, जिन इन दोनों हीं स्वरूपों को माना जायगा सभ्यता के ही पूर्व, एवं उत्तररूप । सभ्यता का पूर्वरूप ही **'लोकसंस्कृति** कहलाएगा, एवं उत्तररूप ही **'लोकसभ्यता'** माना जायगा ।

३३–मानव की संस्कृति का मापदण्ड—

उक्त विवेचन को आधार बनाकर अब हमें यह कह देना पड़ेगा कि, अव्ययपुरुषनिबन्धना अलौकिक आत्मसंस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित चतुर्द्धा विभक्ता विश्वप्रकृति ही अव्ययपुरुष की वह 'सभा' है, जिसमें सभापतिरूप से, विश्वाध्यक्षरूप से केन्द्रस्थ अव्ययप्रजापति विराजमान हैं । निरपेक्ष–विशुद्ध–संस्कृति–स्वरूप अध्यक्ष अव्ययपुरुष की साक्षी में सञ्चालिता लोकप्रकृति–विश्वप्रकृति–रूपा सभा के प्रकृतिसिद्ध नियमित विधि–विधान, सहजभाषानुसार प्राकृतिक नियमोपनियम हीं **'प्राकृतिक–संस्कृति'** है, यही 'लोकसंस्कृति' का

सुसूक्ष्म स्वरूप है, जिसने विश्व के व्यक्त-मूर्त्त-पाञ्चमहाभौतिक-स्थूलस्वरूप को स्वरूपप्रतिष्ठा प्रदान कर रक्खी है। विश्व की प्रतिष्ठारूप प्राकृतिक निर्भ्रान्त नियमों-विधि-विधानों का नाम हीं **'नियतिःसत्यम्'** है, और यही सत्यनियति विश्वधारकत्त्वात्-'धर्म्म' नाम से प्रसिद्ध हुई है भारतीय ज्ञानविज्ञानशास्त्रों में। अव्ययपुरुष स्वयं शाश्वतधर्म्म है, तो इस शाश्वतधर्म्मरूप अव्ययपुरुष की साक्षी में सञ्चालित व्यवस्थित विश्वसञ्चालक प्राकृतिक धर्म्म **'प्रतीकधर्म्म'** है। और इस प्रतीकधर्म्म का ही नाम है-लोकसंस्कृति **'लौकिक-विश्वसंस्कृति'**। यही 'संस्कृति', और 'धर्म्म' शब्दों का पारस्परिक सख्यसम्बन्ध है। धर्म्म ही, प्राकृतिक सदाचरण हीं मानव की संस्कृति का मापदण्ड है। धर्म्माचरण से ही संस्कृति अनुमेया बना करती है। स्मरण रखिए !, धर्म्म से हमारा तात्पर्य्य ईश्वरीय-सनातन-विविध विधानों से है। उन सामयिक मानव-कल्पनाप्रसूत-युगानुसार परिवर्त्तनशील मतवादों का नाम कदापि धर्म्म नहीं है, जो 'संस्कृति' के नामछल से वस्तुतः संस्कृति के सर्वविनाशक ही बनते आए हैं विगत २-३ सहस्राब्दियों से।

३४-अलौकिक-लौकिक मानव की अलौकिक-लौकिक संस्कृति—

विश्वप्रकृति ही 'लोकसंस्कृति' है, यही प्रतीकधर्म्म है, यही मानव की व्यक्ता संस्कृति है। किस मानव की ?। यह प्रश्न इसलिए करना पड़ा कि-पुरुष-प्रकृति के भेद से स्वयं मानव के भी **पुरुषमानव-प्रकृतिमानव** भेद से दो विभिन्न स्वरूप हैं। अव्ययपुरुषप्रधान वही अलौकिक मानव 'पुरुषमानव'है, जो-**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार निर्गुण अव्ययब्रह्म की सगुण प्रतिमा है। सगुण प्रतिमा नहीं, अपितु सगुण-प्रतिमान है। क्योंकि-**'न तस्य प्रतिमा अस्ति-यस्य नाम महद्यशः'** के अनुसार उसकी प्रतिमा तो एकमात्र स्वयं वही माना गया है। प्रकृतिप्रधान वही लौकिक मानव 'प्रकृतिमानव' है। अलौकिक पुरुष-मानव की संस्कृति ही आत्मसंस्कृति है, जो केवल तटस्थरूप से चिन्तनमात्र का विषय है। लौकिक प्रकृति-मानव की संस्कृति ही विश्वसंस्कृति है, जो प्रकृति के तथाकथित चार मानवीय प्राकृतिक पर्वों के भेद से चार प्रकार की आचारपद्धतियों से समन्विता मानी गई है। यही लोकसंस्कृतिनिष्ठ मानवका लोकसांस्कृतिक प्रतीकधर्म्म है, जिसके प्रकृतिभेद से चार मुख्य संस्थान बने हुए हैं। प्रसङ्गोपात्त उन चारों संस्थानों का भी नामस्मरण-मात्र कर लेना चाहिए।

३५-लोकसांस्कृतिक प्रतीकधर्म्म का चतुर्द्धा वर्गीकरण—

भूतात्मा मानव का पहिला प्राकृतिक पर्व है। इससे सम्बन्ध रखने वाला लोकसांस्कृतिक प्रतीकधर्म्म-**'अनुशीलनधर्म्म'** माना गया है। सौरी बुद्धि मानव का दूसरा प्राकृतिक पर्व है। इसका प्रतीकधर्म्म **'आचरणधर्म्म'** माना गया है। तीसरा चान्द्र मनःपर्व है। इसका प्रतीकधर्म्म **'अनुसरणधर्म्म'** माना गया है। चौथा पार्थिव शरीरपर्व है। इसका प्रतीकधर्म्म **'अनुकरणधर्म्म'** माना गया है। अनुकरण शरीरप्रधान है, अनुसरण मनःप्रधान है, आचरण बुद्धिप्रधान है, अनुशीलन भूतात्मप्रधान है। चारों ही धर्म्म क्रमशः भूतात्मा-बुद्धि-मनः-शरीर, इन प्राकृतिक पर्वों से क्रमशः अनुप्राणित हैं। चारों हीं प्रतीक-धर्म्म साधनमात्र हैं, प्रकृत्यर्थमात्र हैं, स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं। 'पुरुष' नाम तो एक मात्र शाश्वतधर्म्मरूप-अप्राकृत-नित्य कूटस्थ धर्म्मरूप अव्ययेश्वर का ही है। तत्प्राप्ति ही मानव के जीवभाव का परमपुरुषार्थ माना गया है। अन्ततोगत्त्वा मानव को साधनभूत उक्त चारों हीं प्रतीकात्मक प्रतीक धर्म्मों को (साधनधर्म्मों को)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उस साध्य–धर्म्मरूप अव्ययधर्म्म में सर्वस्वार्पण कर देना पड़ता है। तभी–**'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति'** के अनुसार मानव की एकत्वनिबन्धना अव्ययनिष्ठा व्यक्त हुआ करती है, जिसका—**'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** इत्यादि गीतावचन से भी स्पष्टीकरण हुआ है।

३६–आचरणात्मिका चतुर्विधा लोकसंस्कृति—

तदित्थं-लोकसंस्कृतिरूप आचरणात्मक प्रतीकधर्म्म की, किंवा प्रतीकधर्म्मात्मिका लोकसंस्कृति की चार संस्थाएँ हो जातीं हैं, जिनके आधार पर ही भारतीय शास्त्र ने चार 'पुरुषार्थ' स्थापित किए हैं। तत्त्वतः हैं चारों ही साधन प्रकृत्यर्थ। किन्तु चारों के अनुष्ठान के द्वारा अन्ततोगत्त्वा साध्य बनता है 'अव्ययपुरुष' ही। अतएव ताच्छब्द्यन्याय से पुरुषप्राप्ति के साधन होने मात्र से प्रकृत्यर्थभूत भी इन चारों प्रतीक संस्कृतियों को–'पुरुषार्थ' नाम से कह मात्र दिया जाता है। इन चारो प्रकृत्यर्थों का स्वरूपपरिचय ही मानव की आचरणात्मिका चतुर्विधा लोकसंस्कृति का स्वरूप–परिचय है।

३७–प्रदर्शन–आयोजनादि से असंस्पृष्टा चतुर्विधा लोकसंस्कृति—

यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, जिस प्रकार अलौकिक शाश्वत धर्म्मात्मिका अव्ययपुरुषसंस्कृति का प्रदर्शन–आयोजन–आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, एवमेव पुरुषसंस्कृति की प्रतीकभूता-प्रतीकधर्म्मात्मिका-चतुर्विधा–प्रकृत्यर्थरूपा–पुरुषार्थसंसाधिका--अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–लक्षणा लोकसंस्कृति का भी प्रदर्शन–आयोजनादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। चारों हीं लोकसंस्कृतियाँ मानव की व्यक्तिसंस्था की सीमा से ही सीमित हैं।

३८--लोकसंस्कृतिलक्षणा शास्त्रीय संस्कृति—

अब प्रश्न शेष रह जाता है इन चारों लोकसंस्कृतियों के व्यावहारिक स्वरूप का। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत अनुरञ्जनात्मक सामयिक वक्तव्य में कुछ भी निवेदन नहीं किया जा सकता। जिसप्रकार अलौकिक अव्ययपुरुषसंस्कृति केवल तत्त्वचिन्तनात्मक स्वाध्याय से सम्बद्धा है, एवमेव चतुर्विधा यह लोकसंस्कृति भी शास्त्रनिष्ठानुगमन से ही सर्वात्मना अनुप्राणित है। वर्णाश्रमव्यवस्था से अनुप्राणिता यह चतुर्विधा लोकसस्कृति ही 'शास्त्रीय–संस्कृति' कहलाई है, जिसके व्यावहारिक स्वरूपों का शास्त्रों में बड़े ही विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

३९—शास्त्रीय संस्कृति का चतुर्द्धा वर्गीकरण—

अलौकिक–पुरुषसंस्कृति से नित्य समन्विता, आत्मपुरुषाभिव्यक्तित्वमूला प्रकृतिचतुष्टयी से कृतरूपा लौकिक–प्रकृतिसंस्कृतियों के उन चतुर्विध स्वरूपों के यशोवर्णन प्रत्येक भारतीय आस्तिक जनमानस के लिए सर्वात्मना सुपरिचित हैं। धर्म्म–अर्थ–काम–मोक्ष–नाम के प्रकृत्यर्थरूप चारों पुरुषार्थों से कौन आस्तिक परिचित न होगा ?। अर्थसंस्कृति–कामसंस्कृति–धर्म्मसंस्कृति–मोक्षसस्कृति, ये चारों संस्कृतियाँ हीं प्राकृतिक–वे लौकिक संस्कृतियाँ हैं, जिनका मानव के आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–रूप वैय्यक्तिक स्वरूप से क्रमिक सम्बन्ध है। शरीरप्रधाना अर्थसंस्कृति, मन:प्रधाना कामसंस्कृति, बुद्धिप्रधाना धर्म्मसंस्कृति, एवं

भूतात्मप्रधाना मोक्षसंस्कृति, इन चारों संस्कृतियों के अनुशीलन-आचरण-अनुसरण-अनुकरण-रूप चारों आचरणभावों का मानव के व्यक्तित्व से ही प्रधान सम्बन्ध है। अतएव इस चतुर्विधा आचारसंस्कृति को **'वैय्यक्तिक-संस्कृति'** ही कहा जायगा। अनुकरणात्मक धर्म्म हीं शरीरनिबन्धना अर्थसंस्कृति का मूलाधार बनता है। अनुसरणात्मक धर्म्म हीं मनोनिबन्धना कामसंस्कृति की आश्रयभूमि बनता है। आचरणात्मक धर्म्म हीं बुद्धिनिबन्धना धर्म्मसंस्कृति का आवपन बनता है। एवं अनुशीलनात्मक धर्म्म हीं भूतात्मनिबन्धना मोक्षसंस्कृति का अधिष्ठान बनता है। अपने प्रकृतिसिद्ध (आकृतिसिद्ध नहीं) ब्रह्म-क्षत्र-विट्-इन तीन प्राकृतिक नित्य वर्णों से जन्मना अनुप्राणित ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-इन तीन वर्णमानवों के द्वारा अपने अपने वैय्यक्तिक **ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास** नामक चार आश्रमजीवनों में **मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ** नामकी चारों लोकसंस्कृतियाँ गौण-प्रधानरूप से व्यवस्थित-समन्वित बनीं रहतीं हैं।

४१-वर्णाश्रमव्यवस्थामूला संस्कृति का चिरन्तन नित्य इतिहास—

समन्वित-व्यवस्था का तात्पर्य्य यही है कि, यद्यपि तीनों हीं वर्णमानव अपने अपने आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-पर्वों से चारों हीं संस्कृतियों के अभिगन्ता माने गए हैं, बने रहते हैं। तथापि वर्णभावों के क्रमिक समन्वयानुबन्ध से ब्राह्मणमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार भूतात्मानुबन्धी अनुशीलन धर्म्म ही माना जायगा, एवं तदनुप्राणिता मोक्षसंस्कृति ही ब्राह्मणमानव की प्रधान लोकसंस्कृति मानी जायगी, जैसाकि निम्नलिखिता सुप्रसिद्धा सूक्ति से प्रमाणित है—

ब्राह्मणस्य च देहो ऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय-तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

एवमेव क्षत्रियमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार बुद्ध्यनुबन्धी आचरण धर्म्म हीं माना जायगा, एवं तदनुप्राणिता 'धर्म्मसंस्कृति' ही क्षत्रिय की प्रमुख लोकसंस्कृति मानी जायगी। तथैव वैश्यमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार मनोऽनुबन्धी अनुसरणधर्म्म हीं माना जायगा, एवं तदनुप्राणिता 'कामसंस्कृति' ही वैश्य की मुख्य लोकसंस्कृति कही जायगी। एवमेव शूद्रमानव का प्रधान सांस्कृतिक आधार शरीरानुबन्धी अनुकरणकर्म्म ही माना जायगा, एवं तत्सम्बद्धा 'अर्थसंस्कृति' ही शूद्र की मुख्य संस्कृति कही जायगी। तात्पर्य्य इस वर्गीकरण से यही निकलेगा कि, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-नामक चतुर्विध आत्मनिष्ठमानव सामान्यरूप से अपने अपने मानवीय आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-पर्वों से अव्ययपुरुषनिष्ठा को लक्ष्य बनाये रहते हुए जहाँ मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ-चारों हीं लोकसंस्कृतियों के सामान्याधिकारी बने रहेंगे, वहाँ अपने अपने विशेष वर्णस्वरूपों की प्रधानता से चारों की अव्ययनिष्ठा के प्रमुख द्वार क्रमशः-भूतात्मा-बुद्धि-मनः-शरीर, एवं तदनुप्राणित अनुशीलन-आचरण-अनुसरण-अनुकरण धर्म्म ही बने रहेंगे। फलतः तदनुप्राणिता मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ-संस्कृतियाँ हीं क्रमशः चारों की विशेष लोकसंस्कृतियाँ बनीं रहेंगी। शरीरप्रधान शूद्रमानव अपने शारीरिक-अर्थप्रधान-अनुकरणात्मक आचरण से चारों प्रकृत्यर्थों का समानभोक्ता बन जायगा। मनःप्रधान वैश्यमानव अपने मानसिक कामप्रधान अनुसरणात्मक आचरण से, बुद्धिप्रधान क्षत्रियमान

अपने बौद्धिक धर्म्मप्रधान आचारात्मक आचरण से, एवं भूतात्मप्रधान ब्राह्मणमानव अपने भूतात्मानुबन्धी मोक्षप्रधान अनुशीलनात्मक आचरण से चारों प्रकृत्यर्थों का समानभोक्ता बन जायगा।

सालोक्य–सामीप्य–सारूप्य–सायुज्य–नाम के चतुर्विध मोक्ष (अपरामुक्ति), धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य–यशः–श्री–नाम की षड्विध भगसम्पत्तियाँ, यज्ञ–तप–दान–नामक विद्यासमुच्चित प्राकृतिक कर्म्म, इष्ट–आपूर्त्त–दत्त–नामक विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म, सत्य–अहिंसा–शौच–इन्द्रियनिग्रह–शम–दम–तम–आर्जव–अनुसूया–आदि आदि सामान्यधर्म्म, आनृशंशधर्म्म, स्वस्त्ययनकर्म्म, इत्यादि अगणित भेदभिन्न यच्चयावत्–शास्त्रीय ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–उपासना–आदिलक्षण अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक धर्म्मों की समष्टि ही भारतीया शास्त्रीया उस प्रकृतिसिद्धा लोकसंस्कृति का आचारात्मक इतिहास है, जो प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य, एवं चातुराश्रम्य से उपगीत सांस्कृतिक वर्णमानवों से हीं अनुप्राणित है। और यही लोकसंस्कृति का संक्षिप्त चिरन्तन इतिहास है, जिसका निम्नलिखित परिलेखों से यथामति समन्वय किया जा सकता है।

अव्ययपुरुषः–गुणातीतः
निरपेक्ष––संस्कृतिरूपः —मानवस्य–आत्मा

१–भूतात्मा–अव्यक्तप्रकृतिः–स्वायम्भुवी
२–बुद्धिः——व्यक्तप्रकृतिः——सौरी
३–मनः——गुणप्रकृतिः––चान्द्री
४–शरीरम्–––भूतप्रकृतिः–––पार्थिवी —––मानवस्य प्रकृतिः

—मानवः

❀

❀ अव्ययपुरुषः–लोकातीतः —पुरुषसंस्कृतिः–अलौकिकसंस्कृतिः–निरपेक्षा

१–भूतात्मप्रकृतिः–अव्यक्ता (भूतात्मा)
२–बुद्धिप्रकृतिः——सौरी (बुद्धिः)
३–मनःप्रकृतिः——चान्द्री (मनः)
४–शरीरप्रकृतिः––पार्थिवी (शरीरम्) —प्रकृतिसंस्कृतिः–लौकिकसंस्कृतिः–सापेक्षा

❀

*–व्यक्ताव्यक्तातीतभावानुगता–अव्ययात्मसंस्कृतिरेव–शाश्वतधर्म्मः–अप्राकृतः

१–अव्यक्तभावानुगता भूतात्मसंस्कृतिरेव—अनुशीलनधर्म्मः
२–सौरभावानुगता बौद्धिकसंस्कृतिरेव——आचरणधर्म्मः
३–चान्द्रभावानुगता–मानसिकसंस्कृतिरेव—अनुसरणधर्म्मः
४–पार्थिवभावानुगता–शारीरिकसंस्कृतिरेव—अनुकरणधर्म्मः
} प्रतीकधर्म्माः–प्राकृताः

——*——

*–शाश्वतधर्म्मरूपा–निरपेक्षा–अलौकिकसंस्कृतिरेव–पुरुषसंस्कृतिः]—चिन्तनात्मिका

१–अनुशीलनधर्म्मात्मिका–भूतात्मानुगता-मोक्षसंस्कृतिरेव–प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः
२–आचरणधर्म्मात्मिका—बुद्ध्यनुगता—धर्म्मसंस्कृतिरेव– ” ”
३–अनुसरणधर्म्मात्मिका —मनोऽनुगता—कामसंस्कृतिरेव— ” ”
४–अनुकरणधर्म्मात्मिका—शरीरानुगता—अर्थसंस्कृतिरेव— ” ”
} प्रकृतिसंस्कृतिचतुष्टयी–
आचरणात्मिका

——*——

(१)–मोक्षमूला–चतुर्विधा–ब्राह्मणमानवसंस्कृतिः–सामान्या

१–भूतात्मप्रधानः–भूतात्मा–मोक्षसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलो मोक्षः)–मोक्ष एव

२–भूतात्मप्रधाना——बुद्धिः——धर्म्मसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलो धर्मः–मोक्ष एव

३–भूतात्मप्रधानं——मनः——कामसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलः–कामः–मोक्ष एव

४–भूतात्मप्रधानं——शरीरम्——अर्थसंस्कृतिर्ब्राह्मणस्य (मोक्षमूलः–अर्थः–मोक्ष एव

——*——

(२)-धर्म्ममूला-चतुर्विधा-क्षत्रियमानवसंस्कृतिः-सामान्या—

१-बुद्धिप्रधानः——-भूतात्मा-मोक्षसंस्कृतिः——-क्षत्रियस्य-—धर्म्ममूलो मोक्षः——धर्म्म एव

२-बुद्धिप्रधाना-बुद्धिः-धर्म्मसंस्कृतिः-क्षत्रियस्य-धर्म्ममूलो धर्म्मः-धर्म्मएव

३-बुद्धिप्रधानं——मनः—कामसंस्कृतिः——-क्षत्रियस्य——धर्म्ममूलः कामः———धर्म्म एव

४-बुद्धिप्रधानं———शरीरम्-अर्थसंस्कृतिः——क्षत्रियस्य——धर्म्ममूलः अर्थः——-धर्म्म एव

⁂

(३)-काममूला-चतुर्विधा-वैश्यमानवसंस्कृतिः-सामान्या—

१-मनःप्रधानः—भूतात्मा-मोक्षसंस्कृतिर्वैश्यस्य-——काममूलो मोक्षः——काम एव

२-मनःप्रधाना----बुद्धिः-धर्म्मसंस्कृतिर्वैश्यस्य——काममूलो धर्म्मः——काम एव

३-मनःप्रधानं-मनः-कामसंस्कृतिर्वैश्यस्य-काममूलः कामः-काम एव

४-मनःप्रधानं——शरीरम्-अर्थसंस्कृतिर्वैश्यस्य——काममूलः-अर्थः——काम एव

⁂

(४)-अर्थमूला-चतुर्विधा-शूद्रमानवसंस्कृतिः-सामान्या—

१-शरीरप्रधानः——भूतात्मा—मोक्षसंस्कृतिः--शूद्रस्य—अर्थमूलो मोक्षः——अर्थ एव

२-शरीरप्रधाना——बुद्धिः——धर्म्मसंस्कृतिः——शूद्रस्य—अर्थमूलो धर्म्मः——अर्थ एव

३-शरीरप्रधानं——मनः———कामसंस्कृतिः——शूद्रस्य—अर्थमूलः—कामः—अर्थ एव

४-शरीरप्रधानं-शरीरम्-अर्थसंस्कृतिः-शूद्रस्य-अर्थमूलः-अर्थः-अर्थ एव

⁂

प्राकृतिकवर्णनिबन्धना-प्राकृतिकसंस्कृतिचतुष्टयी-विशेषा—

१-अनुशीलनधर्म्मात्मिका-लोकसंस्कृतिरेव—मोक्षसंस्कृतिः-ब्राह्मणप्रधाना

२-आचारधर्म्मात्मिका---लोकसंस्कृतिरेव—धर्म्मसंस्कृतिः-क्षत्रियप्रधाना

३-अनुसरणधर्म्मात्मिका--लोकसंस्कृतिरेव—कामसंस्कृतिः-वैश्यप्रधाना

४-अनुकरणधर्म्मात्मिका--लोकसंस्कृतिरेव—अर्थसंस्कृतिः-शूद्रप्रधाना

*

१ सर्वधर्म्मातीता–अव्ययसंस्कृतिरेव–पुरुषसंस्कृतिः–अलौकिकी–चिन्तनात्मिका]–चिन्तनसंस्कृतिः-अलौकिकी (१)
सैषा विश्वात्मसंस्कृतिः

२
मोक्षधर्म्मानुगता–भूतात्मसंस्कृतिरेव–ब्राह्मणसंस्कृतिः--लौकिकी—अनुशीलनात्मिका
धर्म्मधर्म्मानुगता–बुद्धिसंस्कृतिरेव—क्षत्रियसंस्कृतिः—लौकिकी—आचरणात्मिका
कामधर्म्मानुगता–मनःसंस्कृतिरेव—वैश्यसंस्कृतिः-—लौकिकी—अनुसरणात्मिका
अर्थधर्म्मानुगता--शरीरसंस्कृतिरेव--शूद्रसंस्कृतिः—-लौकिकी—अनुकरणात्मिका
} सैषा विश्वसंस्कृतिरेव
आचारसंस्कृतिः
वैय्यक्तिकी (२)
–प्राकृतिकी--

४१–संस्कृति-साहित्य–संस्कार, एवं धर्म्म–शब्द का समन्वय—

'संस्कृति' शब्द के इतिहास के तथाकथित स्वरूप–विश्लेषण के आधार पर अब हमें इस तथ्य पर पहुँच जाना पड़ा कि, मानव का अलौकिक मूल आत्मा, एवं मानव का प्राकृत–लौकिक स्वरूप, इन दो विभिन्न स्वरूपों के आधार पर ही मानव की व्यक्तिमूला–**'आत्मसंस्कृति,'** एवं व्यक्तिमूला ही **'लोकसंस्कृति'** प्रतिष्ठित है। ये दोनों हीं संस्कृतियाँ 'साहित्यिक–संस्कार' के द्वारा ही अङ्कुरित, तथा पुष्पित–पल्लवित होतीं हैं। अतएव **संस्कृति–साहित्य–संस्कार–धर्म्म**–ये चारों भाव 'संस्कृति' शब्द के इतिहास में गर्भीभूत हैं।

४२–शास्त्रीय संस्कृति का फलितार्थ—

ऋषिप्रज्ञा के द्वारा दृष्ट चिरन्तन मौलिक साहित्य (जिसे कि–भारतीय परिभाषा में–'शास्त्र' कहा गया है) वह साहित्य है, जो 'संस्कृति' का स्वरूप–विश्लेषक बनता हुआ–**'सांस्कृतिक–साहित्य'** कहलाया है, एवं जिसकी भाषा इसी 'संस्कृति' के सम्बन्ध से–**'संस्कृत'** कहलाई है। 'संस्कृत' भाषा में उपनिबद्ध संस्कृतसाहित्य (शास्त्रसाहित्य), एवं सुसंस्कृता **'छन्दोभ्यस्ता'** नाम की वेदभाषा में उपनिबद्ध वैदिक साहित्य, दोनों की समष्टि ही हमारा सांस्कृतिक साहित्य है, जिसमें पूर्वोक्ता अलौकिकी आत्मसंस्कृति का, तथा चतुर्विधा लौकिकी संस्कृतियों का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। आत्मसंस्कृतिमूलक अव्ययपुरुषात्मस्वरूप अप्राकृत शाश्वतधर्म्म जहाँ अलौकिक संस्कृति का मूलस्वरूप है, वहाँ **अव्यक्त–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी**–से अनुगत प्राकृत–प्रतीकधर्म्मात्मक मोक्ष–धर्म्म–काम-अर्थ–मय–अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–भावापन्न प्रतीकधर्म्मात्मक चतुर्विध प्राकृतधर्म्म ही लौकिक संस्कृति का मूलस्वरूप है। यों संस्कृति का फलितार्थ 'धर्म्म' शब्द पर ही विश्रान्त हो रहा है।

४३–सांस्कृतिक बीज के संरक्षक त्रिविध संस्कार—

सांस्कृतिक साहित्य के स्वाध्याय–चिन्तन से, एवं तदाधार पर व्यवस्थित अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक आचरण से, कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान से मानव के भूतात्मा में जो एक प्राणात्मक

सुसूक्ष्म अतिशय उत्पन्न होता रहता है, वही अतिशय 'संस्कार' कहलाया है, जिसके चिरन्तन इतिहास का स्वरूप-विश्लेषण किसी स्वतन्त्र निबन्ध का ही विषय माना जायगा । प्रसङ्गसमन्वयमात्र की दृष्टि से इस सम्बन्ध में प्रकृत में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, 'संस्कार' उस तत्त्व का नाम है, जिससे मानव के दोषों का परिमार्ज्जन होता हैं, दोषपरिमार्ज्जन के अनन्तर स्वच्छ पवित्र-निर्म्मल बन जाने वाले मानवीय शरीर-मन-बुद्धि-भूतात्मा-पर्वों में अमुक अतिशय-वैशिष्ट्य का आधान होता है, सर्वान्त में इसी संस्कार-विशेष से मानव की उस क्षति की पूर्त्ति हो जाती है, जिसके बिना मानव अपूर्ण बना रहता है । इसी आधार पर शास्त्रनें संस्कारों को १-**दोषमार्ज्जक संस्कार**, २-**अतिशयाधायक संस्कार**, ३-**हीनाङ्गपूरक संस्कार**, भेद से तीन वर्गों में विभक्त किया है ।

४४-उदाहरणसहित त्रिविध संस्कारों का समन्वय—

उदाहरण के लिए उस प्राकृतिक तूल-रुई-को लक्ष्य बनाइए, जो अमुक संस्कारपरम्पराओं के कारण कालान्तर में विशिष्ट-सुसंस्कृत-परिधान-वस्त्ररूप में परिणत हो जाया करती है । क्षेत्र (खेत) में प्रकृति के द्वारा उत्पन्न रुई में तृणादि-बिनोले-आदि अनेक दोष विद्यमान रहते हैं । सर्वप्रथम अमुक प्रक्रियाओं से इस रुई को इन दोषों से पृथक् किया जाता है । इन प्राथमिक संस्कारों से रुई सर्वथा स्वच्छ-निर्दुष्टरूप में परिणत हो जाती है । अनन्तर इसे सूतरूप में-पटरूप में परिणत किया जाता है । वस्त्ररूप में परिणत हो जाती है इन्हीं अवान्तर प्रक्रियाओं से कालान्तर में यह निर्दुष्टा रुई । यही दूसरा **'अतिशयाधानरूप'** संस्कार है । वस्त्र बन गया । अब इस्त्री-बटन-कलप-आदि कतिपय संस्कार सर्वान्त में और कर दिए जाते हैं । यही तीसरा प्रक्रम-**'हीनाङ्गपूरकसंस्कार'** है । और यों इन तीन संस्कारप्रक्रमों से आरम्भ की असंस्कृता रुई वस्त्रपरिधानरूप में परिणत होती हुई 'सुसंस्कृता' बन जाती है । यही वस्त्र का सांस्कृतिक स्वरूप है । रुई तो उदाहरणमात्र है । प्रकृतितत्त्ववेत्ता विद्वानों का इस सम्बन्ध में यही स्पष्टीकरण है कि, **'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'** के अनुसार यच्चयावत् प्राकृतिक-जड़-चेतन पदार्थ प्रकृत्या गुण, और दोष, दोनों विरूद्ध भावों से नित्य समन्वित रहते हैं । अतएव ये 'कृति' मात्र हैं । अमुक संस्कारों से ही ये प्राकृतिक कृतियाँ 'संस्कृति' रूप में परिणत हुआ करतीं हैं । एवं वे यच्चयावत् असंख्य संस्कार **दोषमार्जन-अतिशयाधान-हीनाङ्गपूर्त्ति**-इन तीन प्रक्रमों में हीं अन्तर्भूत हैं ।

४५-अनुकूल-प्रतिकूल-संस्कारों का तारतम्य—

जन्मान्तरीय अशुभ कर्म्मकृत दोष, अविद्यादोष, मातृदोष (शोणितदोष), पितृदोष (शुक्रदोष), देशदोष, कालदोष, मातृभुक्त अन्नदोष, कालदोष, सत्तादोष, सङ्गदोष, आदि आदि असंख्य दोषों का पुरस्कार ग्रहण कर के ही औपपातिक-कर्म्मभोक्ता-भूतात्मा मातृगर्भ में प्रतिष्ठित होता है । इन दोषों से आसमन्तात् वेष्टित ही भूतात्मा अपने सहयोगी बुद्धि-मन:-शरीर-पर्वों से समन्वित होता हुआ नवमासानुगता अग्निचिति से अपनी भूतसंस्था को पूर्ण बनता हुआ यथासमय भूमिष्ठ बनता है, और यही मानव का प्राकृतिक जन्मोदय कहलाया है । अवश्य ही मूलत:-मानव सुसंस्कृत है, बीजरूप से । किन्तु जैसे अङ्कुरशक्ति रखने वाला भी बीज अनुरूप उर्वर भूक्षेत्रजलसेकादि संस्कारों के बिना, एवं तद्विपरीत प्रचण्ड ताप-शीत-झञ्झावात-अतिवृष्ट्यादि विरूद्ध संस्कारों के आक्रमण से अपनी अङ्कुरिता शक्ति से अभिभूत हो जाता है, एवमेव

बिना अनुकूल संस्कारों के, साथ ही विपरीत कुसंस्कारों के आक्रमण से मूलतः मानवीय सांस्कृतिक बीज भी अपने सांस्कृतिक विकास से पराङ्मुख हो जाता है ।

४६–संस्कारों से संस्कृत मानव, और असंस्कृत मानव—

संस्कारों में ही वह बल है, जो मानव के प्राकृतिक दोषों का परिमार्जन करते हैं, परिमार्जनप्रक्रिया से विशुद्ध बने हुए सांस्कृतिक बीज में अतिशय का आधान करते हैं, एवं सर्वान्त में हीनभावों की पूर्त्ति करते हैं । तदन्तर ही मानव अपने परोक्ष सांस्कृतिक स्वरूप से व्यक्त–अभिव्यक्त होता हुआ–**'सांस्कृतिक मानव'** बन पाता है । बिना इन संस्कारों के तो मानव यथाजात–प्राकृत–असंस्कृत–पशुसमतुलित मानव ही माना गया है । जिन सांस्कारिक धर्म्मों से मानव सुसंकृत बनता है, वे धर्म्म हीं मानव की संस्कृति की मूलप्रतिष्ठा बनते हैं । अतएव निश्चयेन संस्कारधर्म्म ही मानव की संस्कृति के मूलाधार माने जायँगे । संस्कारविहीन मानव तो पशुश्रेणि की समृद्धि का ही कारण बन जाया करता है ।

४७–संस्कारशून्य असंस्कृत मानव का आत्यन्तिक पतन—

विद्या–शिक्षा–सभ्यता–आचार–अशन–पान–वेशभूषा–सङ्गति–भाषण––गमन––हसन––रुदन––शयन–आदि आदि यच्चयावत् कर्त्तव्य–कर्म्मों में मानव जागरूकता से अमुक सांस्कारिक–मर्य्यादाओं का कड़ाई से पालन करता हुआ ही अपनी संस्कृति' का संरक्षण कर सकता है, करता रहा है आजतक । प्रवाह में पड़ कर जब जब इसने अपने इन त्रिविध संस्कारों की उपेक्षा की है, तब तब ही इसकी संस्कृति अभिभूत हो गई है । स्वसंस्कारों के तो नामश्रवण का भी अभाव, ठीक इसके विपरीत स्वसंस्कृति–विरोधी हीनसंस्कारों, कुसंस्कारों के साथ समालिङ्गन, ऐसी विषमा परिस्थिति में तो मानव में 'संस्कृति' शब्द के उच्चारण का भी अधिकार नहीं रह जाता । स्वसंस्कारों के न केवल अभाव ने हीं, अपितु स्वसंस्कारों की आत्यन्तिक विस्मृति ने, साथ ही परसंस्कारों की सोल्लास आराधना ने हीं भारतीय 'संस्कृति' के मूलस्वरूप को उस सीमापर्य्यन्त आज अभिभूत कर लिया है, जिस अभिभूति की विद्यमानता में आज भारतीय पारिभाषिक दृष्टिकोण से **'संस्कृति'–'साहित्य'-'संस्कृति'-धर्म्म'–'सभ्यता'–'संस्कार'** आदि शब्दों के अर्थसमन्वय में भी भारतराष्ट्र की मानवप्रज्ञा शिथिल बनती जा रही है । इससे अधिक विश्व के इस आदितम सांस्कृतिक भारतीय मानवश्रेष्ठ का और क्या पतन होगा ? ।

४८–भारतभाग्यानुबन्धिनी संस्कार की बात—

क्यों इसका ऐसा सांस्कृतिक पतन हुआ ?, यह प्रश्न जितना गम्भीर है, सम्भवतः प्रश्न का उत्तर उतना हीं सरल है । एक अपठित,किन्तु ईश्वरनिष्ठ भारतीय मानव से भी यदि यह प्रश्न किया जायगा,तो उसका मज्जागत सांस्कृतिक संस्कार अविलम्ब ही यह उत्तर दे देगा कि–**'संस्कार की बात'** । अर्थात् कुसंस्कार की बात । अर्थात् स्वसंस्कारों की उपेक्षा, एवं दूषित संस्कारों के समालिङ्गन की बात । संस्कारों की आचारात्मिका पद्धति जिस भारतीय मौलिक साहित्य में विद्यमान है, आज वह मौलिक साहित्य ही जब साम्प्रदायिक–मतवादात्मक–नवग्रह–ग्राहों नें विस्मृत करा दिया, तो संस्कार किस आधार पर करती यहाँ की सांस्कृतिक जनता । साहित्य की विस्मृति ने संस्कारों को विस्मृत कराया, संस्कारविस्मृति सर्वोपरि कुसंस्कारसमालिङ्गन ने

सांस्कृतिक धर्म्म को निरपेत्त घोषित कर दिया। यों साहित्य गया, संस्कार गए, धर्म्म गया, और संस्कृति अभिभूत हो गई। एवं शेष रह गए भारतीय संस्कृति–साहित्य–संस्कार–धर्म्म–सभ्यता–आदर्श–आचार–व्यवहारादि से एकान्ततः असंस्पृष्ट गतानुगतिक वैसे वैडालव्रतिक **'सांस्कृतिक आयोजन'**, जिनके साथ भारतीय संस्कृति का तो स्वप्न में भी सम्पर्क नहीं माना जा सकता। **आलप्यालम्'। कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।**

४९–सांस्कृतिक आयोजनों के आविष्कर्त्ताओं की भावुकता का संरत्तण—

जबकि संस्कृति की मूलप्रतिष्ठा त्रिविध संस्कार हैं, संस्कारों के चिरन्तन इतिहास का ही नाम जबकि मौलिक–चिरन्तन साहित्य है, तो इत्थंभूत साहित्य, तथा संस्कारों से अनुप्राणिता एकविधा आत्मसंस्कृति, एव चतुर्विधा प्रकृति–संस्कृति के सम्बन्ध में आज के साहित्य–धर्म्म–संस्कार–विहीन युग में भारतीय दृष्टिकोण से हम क्या निवेदन करें, जबकि हम स्वयं भी वर्त्तमान युग के प्रावाहिक उस जनजीवन के प्रवाह में हीं अपने आपको प्रवाहित मान रहे हैं, जिस प्रवाह में 'संस्कृति' के मौलिक शब्देतिहास का प्रवेश भी निषिद्ध बना हुआ है। अतएव हम भी युगधर्म्म को मुहुर्मुहुः नमस्कार समर्पित करते हुए वर्त्तमानयुग के–**'सांस्कृतिक–आयोजनों'** को ही सर्वात्मना 'संस्कृति' के आयोजन मान लेते हैं एकमात्र इस प्रलोभन से कि, भारतराष्ट्र की चिरन्तना चिरपुरातना–चिरनूतना–पुराणींप्रज्ञा के चिरन्तन–सांस्कारिक–पारम्परिक अनुग्रह से सम्भव है इन 'सांस्कृतिक आयोजनों' के माध्यम से ही सजातीयशब्दाकर्षणसिद्धान्तानुसार कभी न कभी भारतीय-मूल 'संस्कृति' के पूर्वनिर्दिष्ट मौलिक स्वरूप की ओर भी ध्यान आकर्षित हो हीं जायगा इन आयोजनों का। इसी आकर्षण–कामना से आज हमनें संस्कृति, और 'सभ्यता' शब्दों के चिरन्तन शब्दार्थेतिहास के दिग्दर्शन की महती धृष्टता कर डाली है, जिसे 'संस्कृति–भक्ति' के नाते त्तम्य हीं मान लेंगे हमारे वे सांस्कृतिक–आयोजनों के आयोजक वर्त्तमान राष्ट्रबन्धु।

५०–सभा–समिति–पर्षत्–परिषत्–सभेय–सभ्यता–आदि शब्दों का समन्वय—

पूर्व में निवेदन किया गया था कि, **'सभ्यता के पूर्वरूप का नाम 'लोकसंस्कृति' हैं, एवं उत्तररूप का नाम 'लोकसभ्यता'** है। इस निवेदन–वाक्यसन्दर्भ का भी प्रासङ्गिक समन्वय कर ही लेना चाहिये। जिस प्रकार 'संस्कृति' शब्द का समब्रह्म की कृति से सम्बन्ध है, एवमेव 'सभ्यता' शब्द का समब्रह्म की **'सभा'** से सम्बन्ध माना जायगा, जिसके लिए–मन्त्रवेद में **'समिति'** शब्द, एवं ब्राह्मणवेद में **'पर्षत्'**–किंवा **'परिषत'** शब्द प्रयुक्त हुआ है। सभा का सभ्य सदस्य ही मन्त्रभाषा में–**'सभेय'** कहलाया है, जैसाकि–**'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्'** इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है। श्रुतिशास्त्र ने स्वयं भी यत्रतत्र–प्रजापति–ईश्वर की 'सभा' का नामोल्लेख किया है, जैसाकि–**'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये–यशोऽहं भवामि'** (छां० उप० ८।१४) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। जिस समिति में–समूह में–संघ में–समाज में–गण में अनेक मानव साथ सम्मिलित होकर प्रज्ञातेज से सुविकसित रहा करते हैं, वही समिति-**'सह भान्ति यस्यां–सा'** निर्वचन से **'सभा'** कहलाई है। प्रज्ञा वृद्धपुरुषों में हीं परिपक्वा रहती है। अतएव–**'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः'** के अनुसार–प्रज्ञावृद्धों के समूह में हीं 'सभा' शब्द अनुरूप बनता है। इस सभा का सदस्य ही **'सभ्य'** कहलाया है। एवं ऐसे सभ्यों के सभास्वरूपानुगत आचारव्यवहार–नियमोपनियम–विधि–विधान हीं–**'सभ्यता'** कहलाई है।

५१–सभ्यों की सभ्यता का निष्कर्षार्थ—

पाञ्चभौतिक–स्थावरजङ्गमभावापन्न यह व्यक्त विश्व ही विश्वेश्वर प्रजापति की **सभा** है। इस विश्व-प्राङ्गणरूपा महासभा में व्यवस्थापूर्वक समासीन प्राकृतिक चर-अचर पर्व ही उक्त सभा के सभ्य हैं। एवं जिन प्राकृतिक–नियति: सत्यात्मक नियमोपनियमों से ये सभ्य स्व स्व प्राकृतिक स्वरूपों से स्व स्व जीवनचर्य्या का आचरण कर रहे हैं, वे प्राकृतिक विधि–विधान हीं इन सभ्यों की सभ्यता है, जिसका अर्थ है–**आचारात्मिका–प्राकृतिकी–मर्य्यादिता–सुव्यवस्था–जीवनपद्धति** ।

५२–मानव की सभ्यता—

विचार केवल मानवसभ्यता का प्रस्तुत है। पाञ्चभौतिकी विश्वसभा में मानव नामक सभ्यों का इतर सभ्यों (चर–अचर पदार्थों) की अपेक्षा अपना एक विशेष स्थान है। क्योंकि एकमात्र सुसंस्कृत–सुसभ्य मानव में हीं सभापति विश्वेश्वर केन्द्ररूप से अभिव्यक्त हैं। सभाध्यक्ष–विश्वेश्वर प्रजापति से सर्वात्मना समतुलित, अतएव–'**प्रजापतेर्नेदिष्ठ**' उपाधि से सुविभूषित मानवसभ्य की आत्मसाक्षीमूला, अर्थात् संस्कृति-मूला (आत्मनिष्ठामूला) जीवनीया प्राकृतिक–पद्धति का ही नाम हीं '**मानव की सभ्यता**' है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

५३–वैय्यक्तिक जीवनपद्धति, एवं सामाजिक जीवनपद्धति—

तथाकथिता सभ्यता को आधार बना कर ही अब हमें इसके पूर्वोत्तर रूपों का समन्वय करना चाहिए। 'सभा' शब्द समूहात्मक 'समाज' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। अतएव 'सभा' शब्द से निष्पन्न 'सभ्यता' शब्द भी 'सामाजिक' बनता हुआ नित्य सापेक्ष प्रमाणित हो रहा है। **सामाजिक मानव की सामाजिक जीवनपद्धति ही 'सभ्यता' शब्द का निष्कर्ष है**। अतएव इत्थंभूत 'सभ्यता' शब्द के द्वारा ही 'मानवव्यक्ति' भी स्वत: ही आकर्षित हो जाता है। और 'सभ्यता' शब्द के द्वारा ही सभ्यता की अपेक्षा का पूरक 'व्यक्ति' शब्द स्वतः उपरत हो जाता है। यों जीवनपद्धति **वैय्यक्तिक जीवनपद्धति**, एवं **सामाजिक-जीवनपद्धति**, भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है।

५४–व्यक्तिमानव, और समाजमानव का तारतम्य—

मानव एक ओर जहाँ **सामाजिक प्राणी** है, वहाँ दूसरी ओर अपने स्वरूप से यह **वैय्यक्तिक प्राणी** भी बना हुआ है। वैय्यक्तिक मानव की जीवनपद्धति जहाँ व्यक्तिमानव की स्वयं की अपनी विशेषता है, वहाँ सामाजिक मानव की जीवनपद्धति सामाजिक मानव की व्यक्तित्त्व से विभिन्ना एक स्वतन्त्र सामाजिकी (समाज-सापेक्षा) विशेषता है। दोनों में प्रमुखता किस की है ?, प्रश्न का समाधान एक स्वतन्त्र चिन्तन का विषय है। व्यक्तित्त्व से सम्बन्ध रखने वाली वर्त्तमानयुग की पर्सनल्टी (Peronlity) की दृष्टि से यदि इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ा जाता है, तब तो व्यक्तिमानव की अपेक्षा सामाजिक प्राणी की ही विशेषता है। संस्कृतिमूला अध्ययात्मनिष्ठा के सांस्कृतिक स्वरूप से अपरिचित भारत के कतिपय मतवाद भी इसी विशेषता के अनुगामी प्रतीत हो रहे है, जैसाकि–'**संघं शरणं गच्छामि**'–'**जमात करामात**'–'संघे शक्तिः' इत्यादि मतवादात्मक आभाणकों से स्पष्ट है।

५५-व्यक्तिमानव का वैय्यक्तिक महान् व्यामोहन--

"व्यक्ति का व्यक्तित्त्व भले ही अच्छा-बुरा-कैसा भी हो। किन्तु उसे समाज में अपने आपको विशिष्ट प्रदर्शनों से ही उपस्थित होना चाहिए। भले ही व्यक्ति एकान्त में यथेच्छ सुरापान से प्रमत्त बना रहे। नीमीलित-नेत्र बन कर मांसादि अखाद्यों का भक्षण-चर्वण करता रहे। पत्नी-वत परदारेषु-पथ का अनुगमन करता रहे। कोई हानि नहीं है। कोई सामाजिक प्रतिबन्ध, किंवा दण्डविधान नहीं है। क्योंकि यह तो उसका पर्सनलमेटर (Personalmatter) जो ठहरा। हाँ-जब यही व्यक्ति सभात्मक सामाजिक प्राङ्गण में पधारे, तो उस समय इसे मद्यनिषेध-नैतिकता का पालन-सत्य-अहिंसा की व्याख्या आदि आदि अलौकिक आदर्शों की ही घोषणा करते रहना चाहिए। क्योंकि इसकी दृष्टि में सामाजिकता ही मानव की वास्तविक विशेषता है। व्यक्तित्त्व, और सामाजिकता में सामाजिकता-रूप समाजवाद ही राष्ट्र की समस्याओं का एकमात्र निदान है इस समाजवादी की उदारदृष्टि में, जिसमें व्यक्तित्त्व का प्रवेश भी निषिद्ध है। प्रतीच्य सत्तातन्त्र से पूर्व के कामभोगमात्रपरायण सत्तातन्त्र (यवनशासन) में भी ऐसी ही मान्यता प्रतिष्ठित थी, जैसाकि उन्हीं की-'बद अच्छा-बदनाम बुरा' जैसी सुप्रसिद्धा लोकोक्ति से प्रमाणित है। मानव पापाचरण कर सकता है। कोई हानि नहीं है। किन्तु उसे समाज की दृष्टि से लुक-छिप कर ही पापकर्म्म करनें चाहिएँ। यदि समाज में भण्डाफोड़ हो गया, तो इसका सामाजिक स्वरूप उच्छिन्न हो जायगा। यही उक्त लोकसूक्ति का मर्म्म है।

५६-व्यक्तित्त्वविमोहन के द्वारा समाज का सामाजिक व्यामोहन—

व्यक्ति के समतुलन में समाज को श्रेष्ठ क्यों माना गया उक्तरूप से ?, इस प्रश्न का समाधान भी सहजसिद्ध ही बन रहा है। जिनकी दृष्टि में मानव इतर प्राणियों की भाँति केवल प्राकृतिक प्राणी है, प्रकृति का अवयवमात्र है, ऐसे यथाजात प्राकृत मानव का अवश्य ही कोई वैसा व्यक्तित्त्व नहीं माना जा सकता, जिसके आधार पर वह व्यक्तिमानव बिना समाजसहयोग के अपने उत्तरदायित्त्व का निर्वाह कर सके। अव्ययात्मलक्षण समब्रह्म के स्वरूपबोध से वञ्चित मानव अवश्य ही प्राकृत है, पशुसमानधर्म्मा है, जीवमात्र है, आत्मनिष्ठ नहीं। आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व ही मानव का व्यक्तित्त्व है। इस अभिव्यक्तित्त्व से अपरिचित, दूसरे शब्दों में आत्मस्वरूपबोधानुग्रह से वञ्चित मानव का सचमुच कोई भी व्यक्तित्त्व नहीं है। ऐसे व्यक्तिशून्य मानवों की प्राकृतिकी-लौकिकी-योगक्षेमव्यवस्था का भार क्योंकि समाज की दया पर ही अवलम्बित रहता है। अतएव ऐसे व्यक्तियों को स्वभौतिक जीवन की रक्षा के लिए युगधर्म्मानुगता सामाजिक-सभ्यताओं के प्रति ही अपने मनःशरीरों को सर्वतोभावेन समाज की इच्छानुसार समर्पित रखना हीं पड़ता है। अपनी सामाजिक सभ्यता-शिक्षा-आचार-आदि के सम्बन्ध में तत्तद्युगीय समाजनेता सभ्यता के जो भी विधि-विधान बनाते हैं, व्यक्तिमानवों को अनिच्छन्नपि उन सामाजिक नियमों का प्रदर्शन तो अवश्य ही करना पड़ता है। राजनैतिक क्षेत्रों में, तथा धार्म्मिक-मतवादात्मक क्षेत्रों में दोनों में हीं व्यक्तियों की यही स्वरूप-स्थिति रहती है। जगन्माता भगवती के आराधनसम्प्रदाय ने जब पञ्चमकार का रहस्यार्थ न जान कर इनका मद्य-मांसादि पर विश्राम मान लिया गया, तो तत्कालीन शाक्तमतावलम्बियों को अनिच्छन्नपि इनका अनुगामी बन जाना पड़ा। एवमेव आज का समाज यदि नाच-गान को ही सांस्कृतिक आयोजन मान बैठता है, तो

आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व से शून्य हमारे जैसे प्राकृत मानवों को इनका भी संस्कृति-रूप से ही समादर करना पड़ रहा है। हमारी तो स्थिति ही क्या है। देश के बड़े बड़े दार्शनिक-वैज्ञानिक-विचारक-राजनैतिक भी सोल्लास-अथवा तो निरुत्साहरूपेण इन आयोजनों में योगदान करते रहना आज अपना सामाजिक ही कर्त्तव्य मान रहे हैं।

५७-व्यक्तित्त्वविमूढ मानवों की वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा—

समाजप्रतिष्ठा-विच्युति ही परम्परया पदप्रतिष्ठाविच्युति का कारण बन रही है आज के सामाजिक वातावरण में। स्वस्वरूपानुगता-स्वयोग्यतानुबन्धिनी स्वप्रतिष्ठा जहाँ शून्यं शून्यं बनी रहती है, वहीं पदप्रतिष्ठा का व्यामोहन जागरूक हुआ करता है। मात्र पदेन प्रतिष्ठित मानव को वह सभी कुछ गतानुगतिकरूप से करना हीं पड़ता है, जिसके करने में हीं पदप्रतिष्ठा सुरक्षित रहा करती है। अव्ययात्मलक्षण विश्वेश्वर कदापि सभाध्यक्ष-किंवा समाजाध्यक्ष नहीं है इत्थंभूत आत्मशून्य व्यक्तिमानव की दृष्टि में। अतएव ईश्वर की धर्म्मात्मिका नियति का, सत्यदण्ड का भय विस्मृत है इस के लिए। अब भय रह जाता है इस के सम्मुख केवल उन समाजनेताओं का, जिनसे इसे पदप्रतिष्ठा, लोकैषणा (नामख्यापन), एवं अन्यान्य योगक्षेम के साधन मिलते रहते हैं, अथवा तो मिलने की सम्भावनाएँ बनी रहतीं है। अतएव केवल इसी अंश में ऐसे प्राकृत मानव जागरूक बने रहते हैं। प्रत्यक्ष में सामाजिक सभ्यताओं का, आचार-व्यवहारों का पूरा पूरा प्रदर्शन करते ही रहना पड़ता है इन व्यक्तित्त्वविमूढ मानवों को।

५८-समसञ्जनरूप 'समाज' तत्त्व से बहिष्कृत वर्त्तमान समाजवाद—

सर्वतः पाणिपादाक्षिशिरोमुख-सर्वव्यापक-सर्वशास्ता-सहस्राक्ष परमेश्वराव्ययरूप विश्वसमाजनेता के नियतिदण्डभय से अपरिचित केवल प्रकृतिवादी व्यक्तिमानव हीं गुप्त-हिंसा-चोरी-छलकपट-मद्यमांसभक्षण-अगम्यागमनादि महत्पातकों को अपना पर्सनल् मेटर मानता हुआ उस कौशल से करते रहने में तबतक कोई हानि-अहित नहीं समझता अपने व्यक्तित्त्व की, जबतक कि सामाजिक विधि-विधानों के प्रदर्शनों में एक कुशल अभिनेता की भाँति लोकचातुरी के बल पर, अर्थप्रसारात्मक महान् अनर्थ के बल पर समाज का अनुग्रह प्राप्त करते रहने में यह सफल बनता रहता है। और यही उस समाजवाद का वह सम्पूर्ण लोकेतिवृत्त है, जिसमें व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। जहाँ सबकुछ समाज ही समाज है, भले ही समसञ्जनरूप 'समाज' शब्द को ऐसे समाजवाद से स्वाप्निक सम्पर्क भी प्राप्त न हो रहा हो।

५९-वैय्यक्तिक स्वातन्त्र्य से समाज का आत्यन्तिक पतन—

व्यक्तिस्वरूपविकास से उपेक्षित ऐसे समाजवाद का कालान्तर में जो परिणाम समाज को, एवं समाज के साथ साथ सभी प्राणियों को भोगना पड़ता है, उसकी चर्चा न करना हीं उचित पक्ष है। समाज कोई कल्पित आकाशकुसुम नहीं है। अपितु व्यक्तियों के समुदाय का नाम हीं समाज है। जिस समाजवाद में से व्यक्ति की स्वरूपयोग्यता का मापदण्ड सर्वथा निकाल दिया जाता है, व्यक्ति को 'पर्सनलमेटर' जैसे व्यामोहक शब्द से स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, निश्चयेन उस समाज की आधारशिलाभूता व्यक्तियाँ कालान्तर में उस सीमापर्य्यन्त चरित्रहीन-अनुशासनहीन,-एवं अमर्य्यादित बन जातीं हैं, जिनके बहुदलभाव में परिणत होते ही समाज के प्रारम्भिक आदर्श इन्हीं व्यक्तियों के द्वारा उलट दिए जाते हैं।

६०–वैयक्तिक भ्रष्टाचारों से समाज का आत्यन्तिक पराभव—

उदाहरण के लिए भारतभूमि के महद्सौभाग्य से शताब्दियों के अनन्तर सर्वात्मना ईश्वरनिष्ठ महामना पू० मालवीयजी, महाप्राण श्रीतिलक, रामभक्त सर्वश्री गांधीजी आदि जिन राष्ट्रीय मान्यनेताओं की निष्ठा–संस्कृति के अनुग्रह से सत्य–अहिंसा–अस्तेय–मद्यमांसादिविवर्जन–आदि आदि लक्षण जिन व्यक्तिविकासमूलक आध्यात्मिक नियमों की समाज के लिए घोषणा हुई थी, वही आज का समाज आज पर्य्यन्त अमुक अंशों में घोषणाएँ तो सामाजिक मञ्चों पर ऐसी ही करता जा रहा है । किन्तु व्यक्तिविकास-मूलक–स्वात्मस्वरूपविकास के पथों के आत्यन्तिकरूप से अवरूद्ध हो जाने के कारण व्यक्ति उत्तरोत्तर अनुशासनहीन हीं बनते जारहे हैं । अब और अधिक समय पर्य्यन्त इस नग्न सत्य को–'बद अच्छा, बदनाम बुरा' नीति से, किंवा पर्सनल्टी के गुप्ततन्त्रों से परोक्ष नहीं रक्खा जा सकता, जो गुप्ततन्त्र आज अधिकांश में सर्वसाधारण के लिए व्यक्त हो पड़े हैं । रुपय्या–आठ आना–किंवा सौ–पचास रुपय्यों का भ्रष्टाचार करने वालों के नियन्त्रण के लिए स्थापित **'भ्रष्टाचारनिरोधकविभाग'** देखना है—कबतक उन सुगुप्त महाभयानक घोरघोरतम भ्रष्टाचारों के प्रति गजनिमीलिका करता रहता है, जिन महान् भ्रष्टाचारों का इतिहास आज अणुविस्फोटकों से भी कहीं अधिक भयानक महाविस्फोटनों का रूप धारण कर चुका है । क्योंकि **'संयोगा विप्रयोगान्ताः'** नियम का कभी नियन्त्रण सम्भव नहीं है ।

६१–व्यक्तित्त्वविमूढ मानवों के द्वारा हीन समाज का आविर्भाव—

यदि निरपेक्ष महाप्राण व्यक्तिविशेषों के द्वारा शीघ्र ही भारतीय वर्त्तमान समाज के उपेक्षित व्यक्तित्त्व का उद्बोधन न हुआ, तो निश्चयेन हमारा समाज समाज की शेषभूता संस्कृति–आदर्श–सभ्यता–सभी कुछ पश्चिम के अन्धानुकरणानुग्रह से विस्मृत कर देगा, जिसके परिचायक चिह्न संस्कृति के मूलोच्छेदक नवनिर्म्मित तलाकबिल–दायादविभागबिल–आदि–आदि बिलों के द्वारा व्यक्त हो पड़े हैं । प्रकृति के इस सहज परिवर्त्तन–क्रम का नियन्त्रण उस समय अत्यन्त कठिन हो जाता है, जबकि समाज के अधिक व्यक्ति गुप्तरूप से अनैतिकताओं के पदचिह्नों का अनुसरण करने लग पड़ते हैं । जब ऐसे व्यक्तियों का बहुमत हो जाता है, तो समाज पर इन्हीं का प्रभुत्त्व स्थापित हो जाता है । और इस प्रभुता के उदित होते ही कल के नैतिकता के उद्घोषक वे ही सामाजिक व्यक्ति आजके समाज के लिए भी अपने अनुरूप ही विधि–विधान बना डालते हैं, जैसेकि अनैतिक विधि–विधान पूर्व के शाक्तादि तान्त्रिक युगों में बन गए थे ।

६२–समाज की एकमात्र आधारशिला व्यक्तित्त्व—

उद्बोधन का एकमात्र उपाय भारतीय दृष्टिकोण से तो माना गया है-**व्यक्ति के व्यक्तित्त्व की प्रतिष्ठा** । समाज, और व्यक्ति, दोनों के विकास में प्रथम स्थान व्यक्ति को ही देना पड़ेगा । व्यक्तिगता-प्राकृतिक गुण–शक्ति–योग्यताएँ हीं व्यक्तिसमष्टिरूप समाज को गुण–शक्ति–योग्यताशाली बनाने की क्षमता रखतीं हैं । एकमात्र इसी आधार पर भारतीय समाजशास्त्रियों ने तो समाज, और व्यक्ति के पदप्रतिष्ठासमतुलन में 'व्यक्ति' को ही प्रधानता दी है । **व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–एवं विश्व**, इन पाँचों संस्थानों में तत्त्वतः मूलाधार-भूमि व्यक्तिमानव को ही तो माना जायगा । सुसंस्कृत–सुसभ्य व्यक्तियों का समूह ही सुसंस्कृत–सुसभ्य परिवारों का जन्मदाता बनता है । एवंविध विशिष्ट परिवारों से ही उत्कृष्ट समाजों का निर्म्माण होता है । एवंविध

उत्कृष्टसमाज ही सुसमृद्ध राष्ट्र के प्रतिष्ठान बनते हैं। एवं ऐसे सुसमृद्ध राष्ट्रों के समसमन्वयात्मक सहास्तित्त्व से ही 'विश्वमानवता' सुप्रतिष्ठिता बना करती है। अतएव यह सर्वथा असंदिग्ध सिद्धान्त है कि, 'विश्वमानवता' रूप महान् समाज के मूल में मानव के विशिष्ट व्यक्तित्त्व का ही प्राधान्य है. जिसके एकत्व से ही अनेक भाव समन्वित भी परिवार-समाजादि वर्ग सममञ्जनरूप समत्त्वनिबन्धन एकत्व के अनुगामी बनते रहते हैं।

६३-व्यक्तिमानव की स्वरूपपरिभाषा—

आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूलक 'व्यक्तित्त्व' ही व्यक्तिमानव की स्वरूपपरिभाषा है। शारीरिक सौन्दर्य्य, मानसिक वैशिष्ट्य, तथा बौद्धिक वाग्विजृम्भण का नाम कदापि मानव का व्यक्तित्त्व नहीं है। अपितु इन तीनों मानवीय पर्वों को प्रकृति के नियमों के अनुरूप मर्य्यादित-व्यवस्थित-सुसंस्कृत-सुसभ्य बनाए रखने वाले आत्मस्वरूप का अभिव्यक्तित्त्व ही मानव का 'व्यक्तित्त्व' है, एवं ऐसे व्यक्तित्त्व का ही नाम **'मानवता'**, किंवा **'मानवधर्म्म'** है। निश्चयेन व्यक्तित्त्वलक्षणा इत्थंभूता मानवता का उदय एकमात्र उन संस्कारों से ही हुआ करता है, जिन संस्कारों की आचारपद्धति का नाम हीं-'मौलिक-प्राजापत्यशास्त्र' है। इन प्राजापत्य विद्या-कर्म्म-संस्कारों से ही मानव का आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वलक्षण व्यक्तित्त्व उदित होता है। इसी से यह सुसंस्कृत, तथा सभ्य बनता है।

६४-जनता, और इन्द्र का समन्वय—

अवश्य ही ऐसा सुसंस्कृत-सुसभ्य व्यक्ति ही समाज का पथ-प्रदर्शक बना करता है, बनता आया है, जिसे वैदिक परिभाषा में-'**इन्द्र**' कहा गया है। समाज के लिए शब्द आया है-'**जनता**'। एवं-'**एकैको वै जनतायामिन्द्रः**' के अनुसार जनतारूप प्रत्येक समाज में अवश्य ही कोई न कोई व्यक्तित्त्व ही मूलप्रतिष्ठा बना रहता है। समाज के लिए उस व्यक्ति के ही आदेश अनुगमनीय बना करते हैं। अतएव कहा गया है कि, तत्त्ववेत्ता सुसंस्कृत एक भी व्यक्ति समाज के लिए जो व्यवस्था व्यवस्थित कर देता है, वही समाज का गन्तव्यपथ बन जाता है, जबकि तत्त्वज्ञानशून्य असंख्यों का कथन भी कदापि समाज के लिए हितकर नहीं हो सकता। *।

६५-व्यक्तित्त्व के प्रति निष्ठाओं का समर्पण—

यही मानवधर्म्मसम्मत वह सुनिश्चित पक्ष है, जिसे आजके गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रलक्षण **'जनता के राज'** ने भी द्रविड़प्राणायाम से येनकेनरूपेण मान्यता प्रदान कर ही रक्खी है। वर्त्तमान राजनैतिक तन्त्रों के मर्म्मज्ञ, साथ ही व्यक्तित्त्वविघातिका विभीषणाओं से सर्वथा असंस्पृष्ट प्रज्ञाशील **सर्वश्री नेहरू** महाभाग के व्यक्तित्त्व के सम्मुख सभी गणतन्त्रप्रेमियों को क्या आज भी अवनतशिरस्क नहीं बन जाना पड़ता ?। अतएव

---

*-एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद्-द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परोधर्म्मः, नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

—मनुः १२।११३।

व्यक्तित्व की उपेक्षा करने वाला समाजवादी आवेश में आकर भले ही कहता–सुनता–कुछ भी रहे। किन्तु समाज–समतुलन की दृष्टि से उसे भी व्यक्तित्व के प्रति अपनी निष्ठाएँ विवश बन कर समर्पित कर ही देनीं पड़तीं हैं।

६६–पुरातन–नूतन–व्यक्तिप्रतिष्ठाओं में तारतम्य––

आज की व्यक्तिनिष्ठा, एवं भारतीय व्यक्तिनिष्ठा में क्या अन्तर है ?, यह प्रश्न भी कम महत्त्व नहीं रखता। आजके व्यक्तित्त्व की मूलप्रतिष्ठा है–पदप्रतिष्ठा, एवं पदप्रतिष्ठासंरक्षण से सम्बन्ध रखने वाली कौशल-बलपरिपूर्णा तन्त्रबुद्धि, जबकि एकमात्र श्रीनेहरूमहाभाग को तो हम ऐसे आजके व्यक्तित्त्व–पारिभाषिक अर्थ, किंवा अनर्थ की सीमा से बहिर्भूत ही कहेंगे। श्रीनेहरू कदापि पदप्रतिष्ठा से अपने आपको प्रतिष्ठित नहीं मान रहे। अपितु इनका तो स्वयं का अपना व्यक्तित्त्व है। यह व्यक्तित्व भारतीय व्यक्तित्त्व की परिभाषा के अनुरूप हैं, अथवा तो प्रतिरूप ?, यह प्रश्न स्वतन्त्र है, जिसकी मीमांसा का अभी अवसर नही है। यह सुनिश्चित है कि, अपनी सहजप्रज्ञा से यह महान् व्यक्तित्व राष्ट्र के अभ्युदय के लिए अपनी पदप्रतिष्ठा से पृथक् बनकर ही सुचिन्तित बना रहता है, और यही श्रीनेहरू का वह महान् व्यक्तित्त्व है, जिसके सम्मुख सभी पदप्रतिष्ठा–प्रेमियों को अवनतशिरस्क बना रहना पड़ता है–प्रत्यक्ष, किंवा परोक्षरूप से।

६७–भारतीय दृष्टिकोण से व्यक्ति के व्यक्तित्त्व की मौलिक परिभाषा––

पदप्रतिष्ठादि लौकिक–व्यामोहनों से पृथक् रहने वाला व्यक्तित्त्व, किंवा लोकशिक्षा–लोकप्रज्ञा–आदि की परपारगामिता, तदनुबन्धिनी जागरूकता, एवं तदनुप्राणिता निर्भयता, आदि आदि ही क्या भारतीय 'व्यक्तित्त्व' की परिभाषाएँ हैं ?, प्रश्न के सम्बन्ध में–'नेति होवाच' ही उद्घोष कर दिया जायगा। विश्वेश्वर के साक्षात् अवतार भगवान् रामकृष्णादि के व्यक्तित्व भी केवल इन हेतुओं से तो कदापि आत्मनिष्ठा, संस्कृतिनिष्ठा भारतीया प्रज्ञा के लिए मान्य नहीं बन गए ये कि, ये व्यक्तित्त्व अपने रूप में महान् हीं नहीं, अपितु लोकोत्तर थे। अपितु इनके व्यक्तित्त्व के प्रति भारतीय जनता इसलिए आज भी अवनतशिरस्का बनी हुई है, बनी रहेगी सदा सदा के लिए कि, इन अवतारपुरुषोंनें भारतीयसंस्कृति–तदाधारभूत साहित्य–संस्कार–धर्म्म–नीति–आचार–आदर्शादि को आधार बनाकर आसुरी शक्तियों का दमन किया था। सहजभाषा में धर्म्मग्लानि के उपशम के कारण, एवं धर्म्मसंस्थापन के कारण हीं अवतारपुरुषों का व्यक्तित्त्व समादृत हुआ है इस भारतराष्ट्र मे। अतएव यहां तो व्यक्तित्त्व की एकमात्र परिभाषा यही रही है कि–"जो मानवश्रेष्ठ–'इति शुश्रूम धीराणां येनस्तद्व्याचचक्षिरे' के अनुसार निगमागमपुराणस्मृत्यादि मौलिक साहित्य में उपवर्णित शास्त्रसिद्ध आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूलक मानवधर्म्म का सन्देशवाहक बनता है, वही मानवश्रेष्ठ यहाँ 'व्यक्ति'कहलाया है"। एवं ऐसे शास्त्रतत्त्वज्ञ-शास्त्राचारनिष्ठ-लोकवित्तैषणा-पदप्रतिष्ठादि व्यामोहनों से असंस्पृष्ट मानवश्रेष्ठों का कथन हीं प्रमाण माना गया है। अपनी अनुभूति–योग्यता–महाप्राणता आदि आदि का कोई महत्त्व नहीं है यहाँ की व्यक्तित्त्व–परिभाषा के सम्बन्ध में।

६८–विचारस्वातन्त्र्य, और आचारपारतन्त्र्य का समन्वय—

विचारस्वातन्त्र्य की जन्मभूमि भारतवर्ष में विचार प्रत्येक मानव स्वतन्त्रता से कर सकता है, करता रहा है, करते रहना हीं चाहिए। अवतारपुरुष भी विचारस्वातन्त्र्य के लिए अपने व्यक्तित्व से स्वतन्त्र हैं।

किन्तु जहाँ जब भी कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का प्रश्न उपस्थित हो जाता है, वहाँ व्यक्तियों के व्यक्तित्त्व का, इन की प्राणवती स्वतन्त्रा प्रज्ञा का कोई भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता, यदि इनकी स्वतन्त्र प्रज्ञा सृष्टिके चिरन्तन सत्यके प्रतीकभूत शास्त्र के विपरीत जाती है–तो। यही कारण है कि, विचारस्वातन्त्र्य के महान्प्रेमी भावुक अर्जुन के सभी प्रश्नों का भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने विचारस्वातन्त्र्यपूर्वक ही समाधान तो अवश्य कर दिया। किन्तु जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न उपास्थित हुआ, तो भगवान् ने अपनी विचारस्वातन्त्र्यपद्धति का भी एकान्ततः संवरण कर अर्जुन के सम्मुख वही सिद्धान्त रख दिया, जिस निम्न लिखित सिद्धान्त से सम्भवतः आजके गोताभक्त भी अपरिचित न होंगे—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम ।।१।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ।।२।।

—गीता १६।२३, २४।

६९–भारतीय व्यक्तित्त्व के मूलप्रतिष्ठासूत्र–

वेदशास्त्रप्रामाण्य से अनुप्राणित संस्कार, इन संस्कारों से सुसंस्कृत भूतात्मा, एवं ऐसे सुसंस्कृत भूतात्मा का अव्ययात्माभिव्यक्तित्त्वमूलक व्यक्तित्त्व ही एकमात्र 'व्यक्तित्त्व' की परिभाषा है भारतीय दृष्टिकोण से। तदतिरिक्त बड़े से बड़ा भी तत्त्वनिष्ठ–तत्त्वशील–तत्त्वानुगत–व्यक्तित्त्व सर्वथा उपेक्षणीय रहा है, रहेगा इस सांस्कृतिक राष्ट्र के लिए तो सदा ही, जिस व्यक्तित्त्व का 'मानवसंस्कृति' के स्वरूपविश्लेषक राजर्षिनें इन शब्दों में स्पष्टीकरण कर दिया है कि—

एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।।
स विज्ञेयः परो धर्म्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः।।१।।
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।।
सहस्रशः समवेतानां परिषत्त्वं न विद्यते।।२।।
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्म्ममतद्विदः।।
तत्पापं शतधाभूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति।।३।।

–मनुः १२।११३।१४।१५

७०–धर्म्मनीति, एवं राजनीति का स्वरूपदिग्दर्शन—

'वेदवित् एकोऽपि द्विजोत्तमः–यं धर्म्मं व्यवस्येत' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ में पठित–'द्विजोत्तमः' शब्द से राजर्षि एक विशेष तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। राजनीति और धर्म्मनीति, दोनों विश्वेश्वर की संस्कृति के दो महान् स्तम्भ हैं, जैसा कि अनुपद में हीं निवेदन किया जाने वाला है। स्वयं अव्ययेश्वर–आत्मा

धर्म्मरूप है, तदनुगता सुसूक्ष्मा नीति ही 'धर्म्मनीति' है। इस धर्म्मनीतिरूप अव्ययेश्वर के आधार पर प्रतिष्ठित व्यक्त पाञ्चभौतिक विश्व ही नीतिरूप है, तदनुगता व्यक्ता नीति ही–'राजनीति' है। विश्वेश्वर की विश्वात्मनीति ही 'धर्म्मनीति' है, एवं विश्वनीति ही 'राजनीति' है। बिना राजनीति के धर्म्मनीति अव्यक्त बनी रहती है, तो बिना धर्म्मनीति के आधार के राजनीति भी निश्चयेन अनीति ही बन जाया करती है।

७१–अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैवत–तन्त्रानुगत तन्त्रायी मानव–

धर्म्मनीत्यनुगत विश्वात्मतन्त्र ही–'अध्यात्मतन्त्र' है, एवं राजनीत्यनुगत विश्वतन्त्र ही 'अधिभूततन्त्र' है। इन दोनों तन्त्रों का समसमन्वयात्मक सम्बन्ध कराने वाला मध्यस्थ तन्त्र ही 'अधिदैवततन्त्र' है, जिसे दार्शनिक व्यामोहन ने दुर्भाग्य से सर्वथा ही अभिभूत कर लिया है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही आज धर्म्ममूलक अध्यात्म, तथा नीतिमूलक अधिभूत–तन्त्रों में पार्थक्य हो रहा है। और इसीलिए विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय सत्तातन्त्र धर्म्मनिरपेक्ष ही बनता चला रहा है, जिस धर्म्मनिरपेक्षता का प्रत्यक्ष ताण्डव आज के गणतन्त्रात्मक शासनतन्त्र में भी हो पड़ा है।

७२–राजनीतिपथानुगत चतुर्विध शासनतन्त्र—

आत्ममूला धर्म्मनीति शाश्वत है, अपरिवर्त्तनीया है, जब कि विश्वप्रकृतिमूला राजनीति प्रकृति के सहज परिवर्त्तनभावों के कारण युगधर्म्मानुगति से परिवर्त्तनशीला ही बनी रहती है, बनती आई है। इसी परिवर्त्तन के कारण राजनीतिप्रधान शासनतन्त्रों में कभी भूतात्ममूलक **नीतितन्त्र**, कभी बुद्धिमूलक **राजतन्त्र**, तो कभी मनोमूलक **गणतन्त्र**, एवं कभी शरीरमूलक **प्रजातन्त्र**, आदि आदि अनेक प्रकार के परिवर्त्तन होते रहते हैं, होते रहनें हीं चाहिएँ।

७३–सहकामचारिणी वाराङ्गनासमतुलिता राजनीति, एवं सहधर्म्मचारिणी कुलवधु–समतुलिता धर्म्मनीति—

इसलिए तो राजनीति को यहाँ के राजनैतिकों नें–'**वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा**' इत्यादि रूप से उस '**वाराङ्गना**' (वेश्या) उपाधि से समलङ्कृत किया है, जो पुरोऽवस्थित भावुक मानवों के तात्कालिक अनुरञ्जन के लिए नित्य नवीन नवीन वेश–विन्यास बनाती रहती है, जबकि ठीक इसके विपरीत अध्यात्म–तन्त्रानुगता धर्म्मनीति अपने शाश्वत स्वरूप से उस 'कुलवधु' से ही समतुलिता बनी रहती है, जिसे सदा की सङ्गिनी माना गया है, अतएव जो वाराङ्गनावत् सहकामचारिणी न होकर–'**सहधर्म्मिणी**' ही बनी रहती है। सहकामचारिणी वाराङ्गना जहाँ केवल मनःशरीरानुगत कामभोगमात्र की अनुरञ्जिका बनती हुई स्वतः ही कालान्तर में परित्यक्ता बन जाती है, वहाँ सहधर्म्मचारिणी कुलनारी आत्मबुद्धि–अनुगत मोक्ष–धर्म्म की संसाधिका बनती हुई–'**सह धर्म्मं चरताम्**' पथ का ही संरक्षण करती रहती है।

७४–सुसंस्कृत–सुसभ्य–मानव के चतुर्विध सामाजिक पुरस्कार—

'धर्म्म, और नीति के इस आध्यात्मिक–आधिभौतिक–पृथक् विवेक को आधार बना कर ही '**यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः**' के मर्म्म की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना है। उक्त दोनों हीं तन्त्र यद्यपि

हैं अन्योऽन्याश्रय-न्याय से परस्पर समन्वित। किन्तु अध्यात्मतन्त्र, और तदनुगत अव्ययात्मधर्म्म जहाँ अपने आत्मनिबन्धन सुसूक्ष्मभाव से 'एकान्तचिन्तन' का क्षेत्र है, वहाँ अधिभूततन्त्र, एवं तदनुगता विश्वनीति अपने लोकनिबन्धन स्थूलभाव के कारण नानाभावनिबन्धन बहिःप्राङ्गण का क्षेत्र है। इस स्वरूपभेद के कारण कदापि समाज का एक ही वर्ग एक साथ इन दोनों तन्त्रों में कौशल प्राप्त नहीं कर सकता। अवश्य ही दोनों के स्वरूपसंरक्षण-विकास के लिए दो स्वतन्त्र वर्ग नियत मानने हीं पड़ेंगे, एवं उन्हें **तत्त्वचिन्तक**, एव लोक **शासक**-इन उपाधियों से सुविभूषित करना पड़ेगा। तत्त्वचिन्तक को राष्ट्रप्रजा पुरस्कार में **'सम्मान'** प्रदान करेगी, एवं लोकशासक को पुरस्कार में **'सत्ता'** बल प्रदान करेगी। शेष रह जाते हैं सम्पत्ति, एव श्रम, जिसे **'सेवा'** भी कहा गया है। **सम्मान-सत्ता-सम्पत्ति-सेवात्मकश्रम**-चारों पुरस्कार यद्यपि फलभाग की दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र के ही भोग्य माने जायँगे। किन्तु चारों के व्यवस्थापूर्वक विकास के लिए अवश्य ही जन्म-कर्म्म-गुण-शक्ति-योग्यतानुपात से चार वर्ग विभक्तरूप से व्यवस्थित करने हीं पड़ेगे। तभी राष्ट्र सर्वात्मना सब अङ्गों से-**विद्या**[१]-**शासन**[२]-**वित्त**[३]-**श्रम**[४]-भावों से सुसमृद्ध होता हुआ क्रमशः **सुसंस्कृत**[१]-**सुसभ्य**[२]-**सुसमृद्ध**[३]-**सुपुष्ट**[४] बन सकेगा।

७५-लोकैषणात्मक राष्ट्रीयकरण का महान् व्यामोहन—

जब भी लोकैषणा के निग्रह से सभी वर्ग चारों हीं पुरस्कारों की अहमहमिका में प्रवृत्त हो पड़ते हैं, तभी चारों हीं पुरस्कार राष्ट्रप्राङ्गण से उच्छिन्न हो जाते हैं। राष्ट्र के तत्त्वचिन्तकवर्ग ने सम्मानव्यामोहन में आकर जब सत्ता-सम्पत्ति-श्रम-तीनों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया. तो तभी इस वर्ग का पतन होगया। और तत्त्वनिष्ठा से वञ्चित हो गया स्वयं यह वर्ग, एवं इसके साथ साथ ही राष्ट्र भी। यही दोष सत्तावर्ग ने अपना लिया। चारों हीं पुरस्कारों को अपनाने के लिए व्यग्र हो पड़ने वाला सत्तातन्त्रात्मक राजतन्त्र भी इसी व्यामोहन से धूलिधूसरित बन गया। यही दोष आज सम्पत्तिपुरस्कार के पात्र धनपतियों को समाप्त कर रहा है। और यदि गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र भी 'राष्ट्रीयकरण' के नाम से ऐसा ही कुछ करने लग पड़ा, तो निश्चयेन पुनः आगामिनी अनेक शताब्दियों के लिए भारतराष्ट्र की विद्या-शौर्य्य-वित्त-श्रमादि सभी विभूतियाँ अभिभूत ही हो जायँगी। अतएव……………। इस 'अतएव' की व्याख्या में तो हम अपने आपको असमर्थ ही अनुभूत कर रहे हैं।

७६-सत्तानिरपेक्षता को आधार बना कर ही संस्कृति का स्वरूपसंरक्षण सम्भव—

समस्या अभी केवल संस्कृति, और सभ्यता की ही समुपस्थित है। अतएव तथाकथित 'अतएव' की जिज्ञासा का भी इसी दृष्टि से समन्वय करना चाहिए। अध्यात्मतन्त्रानुगत धर्म्म, तदभिन्ना संस्कृति, तत्स्वरूपसंरक्षक संस्कार, एवं तत्स्वरूपविश्लेषक प्राजापत्य वेदशास्त्र का चिरन्तन एक स्वतन्त्र वैसा पक्ष है, जो सत्तातन्त्र-को निरपेक्ष मान कर ही, एकमात्र वेदशास्त्र की सापेक्षता के आधार पर ही अपनी चिन्तननिष्ठा सुरक्षित रख सकता है। जब जब भी भारतराष्ट्र के तत्त्वचिन्तक वर्ग ने अमुक सत्ता-सम्पत्ति-एषणाओं के प्रलोभन में पड़कर अपनी चिन्तनधारा को राजभक्ति के आवेश में आकर सत्तासापेक्ष बना लिया है, तब तब ही इसकी चिन्तननिष्ठा शास्त्रनिष्ठा से निरपेक्षा बनती हुई केवल लोकानुरञ्जिका ही बन गई है। और तद्दुष्परिणाम स्वरूप राष्ट्र की मौलिक संस्कृति-साहित्य-संस्कार-सभ्यता-धर्म्म-आदर्श-सभी कुछ युगधर्म्मात्मक सत्ताधर्म्मों से ही अभिभूत हो गए हैं।

७७–तत्त्वचिन्तक द्विजाति की राजभक्ति के दुष्परिणाम—

अवश्य ही तत्त्वचिन्तक के लिए समाजशास्त्रियों की ओर से नियत **'सम्मान'** नामक प्रथम–मुख्य पुरस्कार के प्रति जागरूक न बने रहने के दुष्परिणामस्वरूप ही तत्त्वचिन्तकवर्ग सत्ताभक्ति में विभोर होता आ रहा है विगत कतिपय शताब्दियों से । सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही मनोजनिता इस सहज दुर्बलता को लक्ष्य बना कर ही इस वर्ग के लिए यहाँ के प्रज्ञाशील समाजशास्त्रियों नें एक ओर जहाँ इसके लिए–**'सम्मान'** जैसा सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार नियत किया था, तत्सहैव इसके सम्मुख यह भी उद्बोधनसूत्र रख देना अनिवार्य्य मान लिया था सम्मानपुरस्कारप्रदाता उन्हीं समाजशास्त्रियों नें कि,–**'तत्त्वचिन्तक ब्राह्मणवर्ग को सर्वविनाशक महान् विष की भाँति 'सम्मान' से तो सदा अपने आपको बचाते रहना चाहिए, एवं 'अपमान' की अमृत की भाँति प्रतिक्षण कामना करते रहना चाहिए'** ।

> **"सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।**
> **अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥"**
>
> —मनुः २।१६२।

७८–संस्कृतिनिष्ठ मानव के सम्बन्ध में उदात्त घोषणा—

इस उद्बोधनादेश को विस्मृत कर सत्तासम्मान, लोकसम्मान, सम्पत्तिसम्मानादि की एषणाओं में व्यासक्त हो पड़ने वाले लोक–वित्तैषणालिप्सु इस तत्त्वचिन्तकवर्ग ने अपने स्वरूप का, एवं अपने साथ साथ ही राष्ट्र की मौलिक संस्कृति--साहित्य--निष्ठाओं का भी कैसा अभिभव कर डाला है ?, इस तथ्य के स्मरणमात्र से भी हृत्कम्प हो पड़ता है । ऐसे आत्मसमर्पक, अतएव नितान्त भावुक, अतएव च लोकप्रवाहसमर्थक तत्त्वचिन्तकों से लोकभावुकताओं के अनुरञ्जनात्मक समर्थनों के अतिरिक्त राष्ट्रप्रजा को निष्ठादृष्टि से और मिलना भी क्या था । और आज ?। आज तो सांस्कृतिक–सन्देशवाहक तत्त्वचिन्तकोंनें अपने आपको पदप्रतिष्ठा पर भी समासीन कर लिया है, जिस आसन पर विराजमान होनें के अनन्तर तो शासनतन्त्र के गुणानुवाद के अतिरिक्त और कोई भी तत्त्वचिन्तन शेष नहीं रह जाया करता । इस सम्पूर्ण तथ्य को लक्ष्य बना कर ही राजर्षि ने व्यक्तिनिष्ठानुगता संस्कृतिनिष्ठा के सम्बन्ध में यह उद्घोष किया है कि--**'एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं–यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः'** ।

७९–'अरतिर्जनसंसदि' मूला संस्कृतिनिष्ठा, एवं सत्ता के लिए उद्बोधनसूत्र—

वेदशास्त्र का तत्त्वचिन्तक द्विजातिमानव अनेकभावापन्न समाजतन्त्र, किंवा शासनतन्त्र का एक प्रतिनिधि बना ही तब रह सकता है जब कि यह स्वयं--'अरतिर्जनसंसदि' रूप से इन लोकतन्त्रों की एषणाओं से अपने आपको पृथक् रखता हुआ अनन्यनिष्ठा से गुहानिहित बन कर तत्त्वचिन्तन में ही प्रवृत्त रहता है । ऐसा एक ही व्यक्ति पक्षपातरहिता वैसी नीति निर्द्धारित कर सकता है, जो सब के लिए मान्या बन जाया करती है । इसी से यह भी प्रतिध्वनित है कि, लोक–राजनीतियों के सञ्चालक सत्तातन्त्र–शासकतन्त्र को भी इस दिशा में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । जैसे तत्त्वचिन्तक द्विजाति राजनीति से

निरपेक्ष बना रहता है, एवमेव लोकचिन्तक शासक को धर्म्मनीति से अपने आपको सर्वथा निरपेक्ष ही बनाए रखना चाहिए । यदि वर्तमान शासनतन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता का यही अभिप्राय होता, तो भारतराष्ट्र का भाग्यसूर्य्य निश्चयेन अपनीं सहस्र कलाओं से ही आज प्रदीप्त हो पड़ता । किन्तु ? ।

८०–संस्कृतिनिष्ठा के राष्ट्रीयकरण से संस्कृति की अन्तर्म्मुखता—

जिस प्रकार सम्मानमद से आत्मविस्मृत बन जाने वाले द्विजातिवर्ग ने अनधिकृत क्षेत्रों की एषणा कर 'संस्कृति' को आज नृत्य-गान-वाद्य-परिग्रह-समन्विता एक 'वाराङ्गना' के पद पर ला खड़ा किया है, एवमेव सत्तामद, किंवा पदप्रतिष्ठात्मक महान् व्यामोहन से लोकविस्मृत बन जाने वाले शासकवर्ग नें भी अनधिकृत धर्म्म-साहित्य-संस्कृति-आदि आदि चिरन्तन क्षेत्रों को सर्वथा उपेक्षितरूप से निरपेक्ष मानते हुए एकान्तचिन्तनमूला संस्कृति का भी अन्यान्य राष्ट्रीयकरणादि की भाँति आज राष्ट्रीयकरण ही कर डाला है । और अपनी लोकमान्यताओं के अनुरूप ही पञ्चशीलादि नैतिकताओं को राष्ट्र की महती संस्कृति मानना मनवाना आरम्भ कर दिया है, जबकि इन मतवादात्मक सामयिक नैतिक भावों का साहित्यमूला-आचारात्मिका-संस्कृति से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है ।

८१–अध्यात्मवादियों की भ्रान्त धारणा—

शासकवर्ग कदापि संस्कृति के उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक वहन नहीं कर सकता, जैसे कि चिन्तकवर्ग कदापि शासननीतियों के उत्तरदायित्व-निर्वाह में अपनी निष्ठा प्रदान नहीं कर सकता । 'निष्ठाप्रदान' के तत्त्वबोध से वञ्चित आजकल के कल्पित अध्यात्मवादियों नें आज भारतीय शास्त्र के सम्बन्ध में जो यह भ्रान्त धारणा बनाली है कि, "**तत्त्वचिन्तनात्मक साहित्य का समाज-लोक-राजनीति आदि से कोई भी सम्पर्क नहीं है । अतएव साहित्यसेवी को कभी सामाजिक,-किंवा राजनैतिक तन्त्रों में नहीं पड़ना चाहिए**" । उसका यत्किञ्चित् भी महत्त्व नहीं है ।

८२–सहयोगी मित्रों के आपातरमणीय उद्बोधनसूत्र—

हमारे एक संस्कृतिनिष्ठ मित्र प्रायः हमें यही उद्बोधन प्रदान करते रहते हैं कि–"**हमें समाज-राजनीति, और सनातनधर्म्म-आदि के पचड़े में न पड़ कर केवल वैदिक तत्त्व-ज्ञानविज्ञान के अन्वेषण में हीं प्रवृत्त रहना चाहिए**" । इस उद्बोधन-प्रदान के साथ साथ ही हमारे वे ही सांस्कृतिक मित्र यह भी कहते रहते हैं कि–'**हमें समाज-राजनीति-धर्म्म-आदि शब्दों की चर्चा भी अच्छी नहीं लगती । हमें तो एकान्त में बैठ कर पढ़ना-लिखना-साहित्यिक चर्चा करते रहना हीं मनःपूत लगता है**" । मित्रश्रेष्ठ के द्वारा प्राप्त उक्त उद्बोधन के प्रति तो हम इसलिए कृतज्ञता ही समर्पित करेंगे कि, सचमुच हमनें तो अपने जीवन में केवल स्वाध्यायचिन्तन के अतिरिक्त किसी लोक-समाज-सत्ता-तन्त्र की एषणा का मनसापि संस्मरण भी नहीं किया । हाँ विगत वर्ष से ही, जब से कि मित्रश्रेष्ठ का हमें विशेषरूप से सान्निध्य प्राप्त हुआ है, अवश्य ही स्वाध्यायचिन्तननिष्ठा के साथ साथ चिन्तनसूत्रों के आधार पर ही, किन्तु सर्वथा तटस्थरूप से हमारी सामयिक-प्रवृत्ति भी प्रकान्त हो पड़ी है, जिसका समस्त श्रेय हम उद्बोधन-प्रदाता मित्रश्रेष्ठ को ही समर्पित कर देना चाहते हैं ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

८३–आचार्य्यनिष्ठा के प्रति आत्मसमर्पण, एवं मित्रों की मनस्तुष्टि—

स्वाध्यायारम्भ में ही आचार्य्यप्रवर श्रद्धेय ओझाजी महाराज के द्वारा प्राप्त इस आदेश का हमनें श्रद्धापूर्वक अबतक पालन किया है कि,--'**हम स्वाध्यायकाल में कदापि किसी लोकतन्त्र-व्यासङ्ग से कोई सम्पर्क नहीं रक्खेंगे। कदापि लोकतन्त्रों के अकाण्ड-ताण्डवों का गर्जन-तर्जन करने वाले सामयिक-पत्रों (अखबारों) से कोई सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे**" इत्यादि। 'यथाज्ञापयति देवः' आदेशानुसार सचमुच हम इन सभी लोकव्यासङ्गों से अपने आपको आज भी असंस्पृष्ट ही मान रहे हैं, यावज्जीवन मानते ही रहेंगे। फिर हमारी ऐसी लोकतान्त्रिकी–सामाजिकी-प्रवृत्ति सहसा क्यों, और कैसे व्यक्त हो पड़ी !, यह प्रश्न हमारे सम्मुख रक्खा जा सकता है, जिसका समस्त उत्तरदायित्त्व हम उद्बोधन-प्रदाता मित्रश्रेष्ठ से ही सम्बद्ध मान रहे हैं। नियतिःसत्याधिष्ठाता अन्तर्य्यामी किस निमित्त से कब, और कैसे, क्या विचार अभिव्यक्त करा दिया करते हैं !, प्रश्न प्रज्ञा के समाधान से अतीत अनतिप्रश्नात्मक असमाधेय प्रश्न ही माना है ऋषिप्रज्ञा ने। मादृश प्राकृत मानव तो इस क्यों, एव क्या का एकमात्र समाधान–'**स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया**' ही कर सकता है।

८४–उद्बोधनप्रदाता मित्रों का सामाजिक व्यामोहन—

मित्रश्रेष्ठ के सान्निध्य से ही स्वयं मित्रश्रेष्ठ के ही अमुक लेखों के देखने की कामना केवल सांस्कृतिक आकर्षण से ही जागरूक हो पड़ी। एवं इस कामना को स्वाध्याय–कामना का ही अङ्ग मानते हुए चरितार्थ किया गया। अवश्य ही विभिन्न समाचारपत्रों में प्रकाशित होनें वाले मित्रश्रेष्ठ के अमुक लेखों में संस्कृतिनिष्ठा का ही आभास उपलब्ध हुआ। किन्तु···यदि हम भूल नहीं कर रहे, तो सभ्यतानुबन्धिनी अर्वाचीन–संस्कृति की प्रतिच्छाया से ही सुसंस्कृत इन सांस्कृतिक ? लेखों में अधिकांश में हमें उन राजनैतिक–सामाजिक–बुद्धमतानुगत–जैनमतानुगतादि सामयिक धार्म्मिक–अनुबन्धों का ही प्राचुर्य्य उपलब्ध हुआ, जिसे देख कर एकबार तो सहसा हमें इसलिए स्तब्ध ही हो जाना पड़ा कि, जो संस्कृतिनिष्ठ व्यक्ति एक ओर हमें इन सामयिक–झञ्झावातों से पृथक् रहने के लिए महान् उद्बोधन प्रदान कर रहा है, वही व्यक्ति क्या स्वयं अपने आपको 'संस्कृति' शब्द की व्याख्या के रूप मे यों विविध–सामयिक मतवादों, राजनैतिक गणतन्त्रादि पद्धतियों, सामाजिक नीतियों, तथा युगधर्म्मानुगता परिवर्त्तनशीला वेशभूषादि सभ्यतानुबन्धी बाह्य परिचायक चिन्हों आदि का यों स्पष्टीकरण करते रहना भी उचित मान सकता है !।

८५–'राजा कालस्य कारणम्' का सामयिक तथ्य—

विसंवाद औचित्य अनौचित्य का नहीं है। प्रश्न है सामयिक परिस्थिति का, सामाजिक वातावरण का, सर्वोपरि '**राजा कालस्य कारणम्**' लक्षण शासनतन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली सत्तानुबन्धिनी कालमहिमा का। कोई भी व्यक्ति कदापि युगधर्म्म की प्रतिच्छायाओं से अपने आपको कदापि तटस्थ-निरपेक्ष नहीं बनाए रख सकता, भले ही वह कैसा ही संस्कृतिनिष्ठ क्यों न हो। मित्रश्रेष्ठ **श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल महाभाग** के उक्त सामयिक लेखों से हमें यही सामयिक उद्बोधन प्राप्त हुआ, जिसके प्रति कृतज्ञतार्पणरूप से ही हमनें अपनी स्वाध्यायनिष्ठा का सर्वात्मना संरक्षण करते हुए भी इत्थंभूत सामयिक विचारों को व्यक्त करते रहना अब तो आवश्यकरूप से अनिवार्य्य ही मान लिया है।

८६–सत्ताधीशों की आपातरमणीया धारणाएँ, एवं उनका नीरक्षीरविवेक—

एक दूसरा महान् कारण और भी है इस अनिवार्य्यता का। लगभग एक वर्ष पूर्व भारतवर्ष के ही एक मान्य सत्ताधीश नें मानवाश्रम पधारने का अनुग्रह किया था। आप से भी वैदिक-संस्कृति के सम्बन्ध में हमें कुछ एक उद्बोधनसूत्र मिले, जिनका आतिथ्यमर्य्यादा से श्रवण-सम्मान किया गया। आपकी एक धारणा यह भी विदित हुई कि, **"भारतीय वैदिक-संस्कृति तो आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसमें साधन के लिए अमुक परिगणित पुस्तकों के अतिरिक्त, एकान्तचिन्तन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भूत-भौतिक साधन की आवश्यकता ही नहीं है। युगधर्म्मानुसार परिवर्त्तित होने वाले राजनैतिक-सामाजिक-क्षेत्रों से हमारी अध्यात्मसंस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है"। (विहार के राज्यपाल माननीय श्रीरङ्गनाथ दिवाकर महाभाग)**। अवश्य ही वैदिक-संस्कृति अध्यात्ममूला है, एकान्तचिन्तन-सापेक्षा है, एवं अमुक सीमापर्य्यन्त-भूत-भौतिक-साधन-परिग्रहों की विशेषरूप से अपेक्षा न करने वाली भी। साथ ही परम्परया समागत अमुक परिगणित ग्रन्थविशेषों से ही पुष्पित-पल्लविता भी। वर्त्तमान शिक्षा-सभ्यतादि संस्कृतियों की भाँति कदापि भारतीय वेदादि सांस्कृतिक ग्रन्थ क्षण क्षण में नहीं बदलते। सनातन-वैदिक-संस्कृति के सन्देशवाहक वेदादिग्रन्थ भी सनातन हैं, शब्दार्थ के औत्पत्तिक सम्बन्ध भी सनातन ही हैं। अतएव वर्त्तमान पाठ्यग्रन्थों की भाँति इन सनातन ग्रन्थों के बदलते रहने का तो प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अमुक परिगणित पारम्परिक ग्रन्थों में हीं सीमित वैदिक-संस्कृति का मूलाधार विश्वाध्यक्ष-विश्वेश्वर-अव्ययपुरुषात्मा ही है। और इस दृष्टि से वैदिक-संस्कृति की अध्यात्ममूलकता पर भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। निश्चयेन लक्ष-लक्ष-कोटि-कोटि-मित द्रव्य की निर्म्मम आहुतियों से कृतरूप महतो-महीयान् भूत-भौतिक-युनिवर्सिटी-भवन भी अपेक्षित नहीं है इस संस्कृति के चिन्तन-विकास के लिए। निश्चय ही लोक-समाज-राज-वित्तैषणादि यच्चयावत् एषणा-लिप्साओं-नामख्यातिओं से सर्वात्मना आत्मत्राण करने वाली एकान्तनिष्ठ सत्त्वप्रज्ञाएँ हीं एकान्तचिन्तन के माध्यम से ही वैदिक-संस्कृति की उपासना में सफलता प्राप्त कर सकतीं हैं। और यों माननीय दिवाकर महाभाग ने वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में जो धारणाएँ अभिव्यक्त कीं, उनका प्रत्येक संस्कृतिभक्त को अभिनन्दन ही करना चाहिए। किन्तु ?···।

८७–कूटनीतिज्ञ चाणाक्षचतुर प्रतीच्य राजनैतिकों की घातक-घोषणा के दुष्परिणाम—

किन्तु "सामाजिक-राजनैतिक-किंवा लोकतान्त्रिक अनुबन्धों से अध्यात्ममूला संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है"–इस धारणा के साथ किसी भी संस्कृतिनिष्ठ का तो ऐकमत्य प्राप्त नहीं कर सकते माननीय राज्यपाल महोदय। यही तो वह दुर्भाग्यपूर्ण दृष्टिबिन्दु है, जिसने जनजीवन को संस्कृति के पारम्परिक जीवनीयरस से पृथक् ही कर दिया है अनेक शताब्दियों से प्रचलित रहने वाली इसी धारणा के वारुणपाशबन्धन के द्वारा। **'कोउ हो नृप हमें का हानि'** जैसी संस्कृतिशून्या धारणा इसी पाशबन्धन के तो-प्रसून हैं। इसी अनार्ष-धारणा ने तो धर्म्म-संस्कृति का नीति-सभ्यता-से पार्थक्य करा दिया है। इसी पार्थक्य ने तो संस्कृति-धर्म्म-सहयोग-वञ्चिता नीति-सभ्यताओं को आज पश्चिम के अनुकरण के द्वारा अनीति-असभ्यताओं के रूप में परिणत कर रक्खा है। कतिपय शताब्दियों से प्रचलित हो पड़ने वाली इस भ्रान्त धारणा के अनुग्रह से ही तो राजनीतिकुशल ब्रिटिशसत्ता ने–**'हम तुम्हारे धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे'** इस व्यामोहनपूर्णा सर्वस्वघातिका घोषणा से भावुक भारतीयों को परतन्त्र बनाए रखने में सफलता प्राप्त की

थी। इस धारणा के प्रति अपनी भावुक–श्रद्धा के प्रसून अर्पित करते रहने में सर्वाग्रणी प्रमाणित भारत के राजभक्त विद्वानों नें इस व्यामोहन के कारण ही तो–**'हमारे धर्म्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है'** इस घोषणा के द्वारा भारतीय आस्तिक प्रजा के जनजीवन को निष्प्राण प्रमाणित कर दिया था। आलप्यालम्।

८८--संस्कृति-साहित्य-धर्म्म-आदर्शादि की जनजीवन में महती उपयोगिता—

जिस संस्कृति का समाज से, सभ्यता से, राजनीति से, सर्वोपरि लोकजीवन से परम्परया, किंवा साक्षात् सम्बन्ध न हो, वह संस्कृति संस्कृति ही नहीं है। जो धर्म्म नीति पर अनुशासन नहीं कर सकता, वह धर्म्म धर्म्म ही नहीं है। जिस संस्कृति, शास्त्र, धर्म्म, आदर्श का जनजीवन में कोई उपयोग नहीं है, उसकी मान्यता भी सर्वथा निरर्थक ही कही जायगी। देखिए वेदशास्त्र का अत्यन्त ही चिन्तनपरिपूर्ण उपनिषद्भाग क्या धारणा अभिव्यक्त कर रहा है इस सम्बन्ध में—

> "इह चेदवेदीत्–अथ सत्यमस्ति।
> न चेदिहावेदीत्–महती विनष्टिः।
> भूतेषु भूतेषु विचित्य–धीराः—
> प्रेत्यास्याल्लोकादमृता भवन्ति"
>
> —केनोपनिषत् २।१३।

८९--अधिदैवत के द्वारा अध्यात्म, एवं अधिभूत का समसमन्वय, और संस्कृति—

'सम्भवत्यदितिर्देवतामयी या भूतेभिर्व्यजायत' इत्यादि रूप से उपवर्णित अधिदैवत–तन्त्र ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा अध्यात्म हीं परोक्षरूप से अधिभूत का सञ्चालन करने की क्षमता रखता है। अध्यात्म ही जब सर्वस्व का सञ्चालक है, तो सञ्चालित अधिभूत बिना अध्यात्मसहयोग के स्वरूपतः प्रतिष्ठित ही कैसे रह सकता है?। भूत कभी भूत का सञ्चालन नहीं कर सकता। यदि भूत दुर्भाग्यवश स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, तो अपने सहज तमोगुण से वह स्वयं भी कालान्तर में विनष्ट हो जाता है, एवं अपने सहयोगी भूतवादियों को भी ले डूबता है। विज्ञान कदापि विज्ञान का नियन्त्रण नहीं कर सकता। ज्ञान हीं विज्ञान का नियन्ता बना करता है। ज्ञानवञ्चित विज्ञान तो विश्वशान्ति का मूलोच्छेदक ही बन जाया करता है, बन रहा है।

९०–प्रकृति से प्रकृति का सञ्चालन असम्भव—

प्रकृति कभी प्रकृति से सञ्चालित नहीं हुआ करती। पुरुष ही प्रकृति का सञ्चालक बना करता है, बना हुआ है—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'**। अव्ययपुरुष की अध्यक्षता से नियन्त्रित बन कर ही प्रकृति चराचर–विश्व–के निर्म्माण में समर्थ बनी हुई है। राजनीति कदापि स्वयं अपना सञ्चालन नहीं कर सकती। धर्म्मनीति ही राजनीति को लोकैषणाओं के व्यामोहनों से पृथक् रखती हुई इसे मर्य्यादित बनाए रहती है।

शरीर कदापि आत्मा से तटस्थ रह कर प्राणवान् नहीं बना रह सकता। विश्व कदापि विश्वात्मा को आधार बनाए बिना व्यक्त नहीं हो सकता। और यों अधिदैवत के माध्यम से अध्यात्म को आधार बनाए बिना जब अधिभूत क्रियाशील ही नहीं बन सकता, तो इस सहजसिद्धा स्थिति की विद्यमानता में अध्यात्ममूला वैदिक-संस्कृति को अधिभूतमूलक राज-समाज-लोक-नीति-प्रधान जनजीवन से सर्वथा असंस्पृष्ट मान बैठना क्या प्रौढ़िवाद ही नहीं मान लिया जाएगा ?।

६१-संस्कृति की उपासना, एवं सत्ता के प्रति तदुपासक की निरपेक्षता का वास्तविक अर्थ—

यह ठीक है कि, अपनी समस्त एषणाओं से तटस्थ-निरपेक्ष बना रहने वाला एकान्तचिन्तननिष्ठ एक भारतीय द्विजाति अनन्यनिष्ठा से संलग्न रहेगा-ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा अध्यात्ममूला संस्कृति की उपासना में ही। किन्तु इसका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि, वह अपनी इस आध्यात्मिक संस्कृति का यह अर्थ मान बैठे कि, **"इसका तो केवल मुक्ति-परलोक-आत्मनिःश्रेयस्-आदि परोक्ष भावों से ही सम्बन्ध है। एवं इसका जनजीवन से न तो कोई सम्बन्ध ही है, एवं न उपयोग ही"**। अपितु-**'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि'**-**'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि'** इत्यादि आदेशों के अनुसार प्रत्यक्षरूप से तटस्थ बने रहने वाले भी संस्कृतिनिष्ठ तत्त्वचिन्तक को लोकतन्त्र के प्रति सदा जागरूक ही बने रहना चाहिए, लोकतन्त्र को उद्बोधन प्रदान करते ही रहना चाहिए। जिस दिन से यह सांस्कृतिक-उद्बोधन-परम्परा अन्तर्मुख बन गई है, उसी दिन से प्रकृतिमात्रवादी-विज्ञानमात्रवादी-भूतवादी प्रतीच्य देशों की भाँति भारतराष्ट्र भी केवल जड़वादी ही बन गया है। और आज संस्कृतिनिष्ठ भी भारतराष्ट्र अपनी मूल वैदिकसंस्कृति की सामयिक-उपयोगिता में शङ्कातङ्कित-मानस बनता हुआ इसके प्रति निरपेक्ष ही बन गया है।

६२-जनतन्त्र के महारथियों के द्वारा प्राच्यसंस्कृति के प्रति आक्षेपात्मक प्रश्न—

आजके जनतन्त्र के महारथियों नें प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से अनेकबार ऐसे प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित करने का महान् अनुग्रह किया है कि,-**"जबकि संसार विज्ञान के चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका है, मानव आज यातायातसाधनों की सुलभता से अन्तर्राष्ट्रीय मानव बन गया है, अपने क्रमिक विकास के कारण मानव जबकि-आज सभ्यता के उच्चतम शिखर की भी सीमा का उल्लंघन कर चुका है, निष्कर्षतः जबकि मानव का चिरपुरातन सर्वथा चिरनूतन प्रमाणित हो चका है, तो ऐसे परिवर्त्तनात्मक-सुसभ्य-वैज्ञानिक-युग में उस वैदिक-संस्कृति का, किंवा वेदादि पुरातन शास्त्रों का क्या उपयोग ?, जो उस पुरातनयुग की संस्कृति-सभ्यता-के प्रतीकमात्र हैं। पुरातत्त्व के ध्वसावशेषों से अधिक पुरातन-अवशेषात्मक इस भारतीय वैदिक-साहित्य की और कोई भी तो उपयोगिता नहीं मानी जा सकती।**

६३-वर्त्तमान समारम्भों की दृष्टि से प्राच्यसंस्कृति की निरपेक्षता, किन्तु ?……—

बात सचमुच श्रवणप्रिय लग रही है। सचमुच वैदिक-संस्कृति, किंवा वैदिक-साहित्य का आजके जनजीवन में प्रत्यक्ष में तो यत्किञ्चित् भी तो उपयोग प्रतीत नहीं हो रहा। यही क्यों। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जायगा, तो भी अत्युक्ति न मानी जायगी कि, वर्त्तमान जनतन्त्र की अमुक लोकनिष्ठाओं के प्रति प्रतिक्रियावादिनी

प्रमाणित होती रहने वाली वैदिक-संस्कृति का नामस्मरण भी उचित नहीं है। जिस पुरातन-संस्कृति से निर्वाचन में मतदानात्मक सहयोग (वोट) नहीं मिल सकता. ग्रामोद्योगों का सञ्चालन नहीं हो सकता, जिसमें शिक्षितों के द्वारा कूपखनन-सड़ककुट्टन-सरोवरखनन-मलादिपरिमार्जन-आदि आदि रचनात्मक-निर्म्माणात्मक श्रमों की व्याख्या नहीं, जो संस्कृति विविध योजनाओं की पद्धतियाँ नहीं बतला सकती, इत्येवंरूपेण जो संस्कृति वर्त्तमान किसी भी प्रगतिपथ में अपना कोई भी उपयोग व्यक्त नहीं कर सकती, उसे बलपूर्वक निरपेक्ष बना देना हीं तो बुद्धिमानी होगी। और सम्भवतः इसीलिए भारतराष्ट्र की वर्त्तमाना सत्ता इस मूलसंस्कृति के प्रति यों तटस्थ-निरपेक्ष बन रही होगी, इत्यनुमीयते। किन्तु ?········· ।

९४-वर्त्तमान भूतविज्ञान, और उसकी दैनिक जीवन में सर्वथा अनुपयोगिता—

अवश्य ही आग्नेय सूर्य्य से 'धूम्रपान' जैसे सांस्कृतिक ? कर्म्म को तो सफल नहीं बनाया जा सकता। शीतांशु चन्द्रमा से प्यास तो नहीं बुझाई जा सकती। एवमेव प्रकृतिदेवी के आकाश-वायु-पृथिवी-नक्षत्र-ग्रह-आदि आदि पर्वों का मानवजीवन की दैनिक उपयोगिताओं में साक्षात्रूप से तो कोई भी उपयोग प्रतीत नहीं हो रहा। जिस विज्ञान की उपयोगिता का आज उद्घोष किया जा रहा है, उस व्यवहार्य्य-आविष्कारात्मक विज्ञान के मूलाधारभूत विज्ञान-सिद्धान्तों का भी जनतन्त्र के दैनिक जीवन में तो यत्किञ्चित् भी उपयोग नहीं है।

९५--सनातन-संस्कृति की सनातन-उपयोगिता का समन्वय-

प्रत्यक्षरूपेण-तात्कालिकरूपेण-अनुभूयमाना शरीर-मन-इन्द्रियानुबन्धिनी कामभोगमयी उपयोगिता ही यदि 'उपयोगिता' की एकमात्र परिभाषा है जनतन्त्र की प्रज्ञा के लिए, तब तो वैदिक-संस्कृति, वैदिक-साहित्य ही क्या, अर्वाचीन विज्ञान-संस्कृति-वैज्ञानिक साहित्य आदि की भी कोई उपयोगित्ता नहीं है। यदि परम्परया अप्रत्यक्ष रूप से इन्हें उपयोगी मान कर अपनाया जासकत्ता है, अपनाया जारहा है, तो वैदिक-साहित्य भी उपेक्षणीय नहीं है। अवश्य ही इस शास्त्र में ज्ञानसहकृत उन विज्ञानसिद्धान्तों का बड़े ही समारम्भ से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसके एक एक आंशिक विज्ञान में आज के महतो महीयान् भूतविज्ञान अन्तर्गर्भित प्रमाणित हो रहे हैं। अवश्य ही जगन्मिथ्यात्ववादमूला भ्रान्ति के कारण शताब्दियों से वैदिक-संस्कृति का ज्ञानविज्ञानात्मक वह उपयोगी दृष्टिकोण मतवादभक्त, सर्वोपरि राजभक्त इस देश के संस्कृतिभक्त विद्वानों के द्वारा ही यद्यपि अभिभूत होता आ रहा है। अतएव ऐसे मतवादाभिनिविष्ट सम्प्रदायवादी राजभक्त भावुक विद्वानों की कृपा से ही यद्यपि वैदिक संस्कृति-साहित्य का ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप जनमानस से पृथक् हो चुका है अनेक शताब्दियों से। तथापि स्वयं अपने स्वरूपानुबन्धी दृष्टिकोण से वेदशास्त्र की सनातन-उपयोगिता आजतक भी ज्यों की त्यों अक्षुण्ण ही चली आरही है, अक्षुण्ण ही रहेगी शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। चिरपुरातना भी यह संस्कृति चिरनूतना बनकर युगधर्म्मनुपात से अपनी मूलप्रतिष्ठाओं के प्रति उद्बोधन प्रदान करते रहने में सदा ही समर्थ है। और इसी दृष्टिबिन्दु पर एक विशेष प्रासङ्गिक तथ्य का भी हमें समन्वय कर ही लेना है।

९६--'संस्कृति' के आकर्षण से ध्वंसावशेषरूप पुरातत्त्वों का अकाण्डताण्डव-

कतिपय शताब्दियों से 'संस्कृति' का अर्थ बाह्य-जीवनपद्धति, तदनुगता वेशभूषा, बाह्य-आचार-व्यवहार, लोकानुबन्धी अलङ्करणादि ही माना, और मनवाया जा रहा है। और इत्थंभूता मान्यता को ही-

'पुरातत्त्व' नाम से सुविभूषित किया जा रहा है आज की परिभाषा में। अमुक शताब्दियों के भग्न-प्रासादावशेषों को, कङ्कालास्थियों को, शासनतन्त्रानुगता सुवर्ण-रजतादि विविध मुद्राओं (सिक्कों) को, विविध विरुदावलियों से समन्वित शिलालेखों को, यूप-स्थाणु-आदि कीर्त्तिस्तम्भों को, विविध अलङ्कार-आभूषण-वस्त्रादि परिधानों को, व्यवहार्य भग्न मृत्तिका-पाषाणादि पात्रविशेषों को, आदि आदि को ही पुरातत्त्व के प्रतीक मान कर इन्हीं के आधार पर 'सांस्कृतिक-कालों' के निर्णय में व्यग्र बने हुए हैं आज के पुरातत्त्वविद संस्कृतिप्रेमी विद्वान्।

९७--पुरातत्त्वानुबन्धी ध्वंसावशेष, और आसुरी पद्धति--

'आर्कियालॉजिकल (Archaeologycal)' जैसे प्रतीच्य शब्द के पर्य्यायमात्र इस **'पुरातत्त्व'** शब्द के प्रथमाविष्कार का श्रेय प्रतीच्य-प्रज्ञा को ही दिया जा सकता है। क्योंकि संस्कृतिनिष्ठ भारतीय प्रज्ञाने तो इन भौतिक ध्वंसावशेषों के संरक्षण को **'आसुरीपद्धति'** ही माना है। देवतावर्ग के प्रतिनिधि **इन्द्र**, एवं असुरवर्ग के प्रतिनिधि **विरोचन**, दोनों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण में सदा से ही महान् अन्तर चलता आ रहा है। देववर्ग जहाँ **'भस्मान्तं शरीरम्'** की निष्ठा रखता हुआ भूत-भौतिक परिग्रहों को कोई सांस्कृतिक-स्थायी महत्व प्रदान नहीं करता, वहाँ असुरसर्ग शरीर को, एवं तदनुबन्धी भूतभौतिक-परिग्रहों को ही स्थायी मान बैठने की भ्रान्ति करता हुआ वस्त्रालङ्करणादि को ही सांस्कृतिक-परिचय-चिह्न मानता आ रहा है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर पुरातत्त्वप्रेमी (भूतपरिग्रहप्रेमी) असुरसम्प्रदाय जहाँ शवशरीरों को भी वस्त्रालङ्करणादि से सुसज्जित कर उन्हें सुरक्षित रखते रहना अपना महान् सांस्कृतिक ! कर्त्तव्य मानते आरहे हैं, वहाँ आत्मसंस्कृति को ही 'संस्कृति' मानते रहने वाले देवभावापन्न मानव आत्म-संस्कृतिप्रतिष्ठा से शून्य शवशरीरादि भूत-भौतिकपरिग्रहों को 'भस्मान्त' उपाधि प्रदान करते हुए इन्हें संस्कृति की सीमा से बर्हिभूत ही करते रहते हैं।

९८--सांस्कृतिक देवपद्धति, एवं परिचयचिह्नरक्षणात्मिका असुरपद्धति—

यही कारण है कि भारतीय देवपद्धति में आत्मप्रतिष्ठा से पृथक् हो जाने वाले शवशरीर के भस्मीकरण के साथ साथ ही तद्व्यक्ति के उपयोग में आते रहने वाले शय्यासन-वस्त्र-अलङ्करणादि भूतभौतिक परिग्रह प्रेतकर्म्म के साक्षीभूत महाब्राह्मण को ही श्रद्धापूर्वक समर्पित कर दिए जाते हैं, जबकि आसुरसम्प्रदाय में इन परिचयचिन्हों को या तो शवशरीर के साथ ही सुरक्षित स्थानों में रख दिया जाता है, अथवा तो लोकप्रदर्शन के लिए इन परिचायक चिन्हों को स्थानविशेष में सजाकर रख दिया जाता है, और कहा जाता है इन्हीं अवशेषों को प्रेरणाप्रद सांस्कृतिक-चिह्न, एवं यही है 'पुरातत्त्व' से सम्बन्ध रखने वाले सांस्कृतिक इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्वरूपविश्लेषण। दोनों हीं प्रकार के इन विभिन्न दृष्टिकोणों का स्वयं वेद ने भी इन शब्दों में स्वरूपविश्लेषण किया है कि—

> **"(प्रजापतिरुवाच)-मघवन्! मर्त्यं वा इदं शरीरं, आत्तं मृत्युना। तदस्यामृतस्य-अशरीरस्य-आत्मनोऽधिष्ठानम् (देवदृष्टौ)। (तस्माद् भस्मान्तं शरीरम्)। (अथ च असुर दृष्टौ)-तस्मादप्यद्य हाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुः-आसुरो वत-इति। असुराणां ह्येषोपनिषद्-प्रेतस्य शरीरं भिक्षया-वसनेन-अलङ्कारेण-इति संस्कुर्वन्ति एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यते।**
>
> —छान्दोग्य-उपनिषत् ८ अध्याय ८ खण्ड, १२ खण्ड।

९९–बाह्य–सभ्यतामात्र के परिचायक पुरातत्त्वानुबन्धी ध्वंसावशेष—

भूतभौतिक–परिग्रह कदापि न तो 'पुरा' लक्षण प्राचीन तत्त्व ही हैं, न अर्वाचीन तत्त्व ही। अतएव कदापि उन अतीत के, किंवा इन वर्त्तमान के भूत–भौतिक–परिग्रहों को न तो 'पुरातत्त्व' ही कहा जासकता, न अर्वाचीन तत्त्व ही माना जासकता। अतएव न इन ध्वंसावशेषों को 'संस्कृति' का ही परिचायक माना जा सकता। क्योंकि–आरम्भ में निवेदित 'संस्कृति' शब्द के शब्दार्थ का इन अवशेषों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है। हाँ, इन्हें अधिक से अधिक तद्युग की भूतकृतिरूपा 'कृति' अवश्य माना जासकता है, जिसका परिवर्त्तनशीला 'सभ्यता' से ही सम्बन्ध है। पुनः इसी दृष्टिबिन्दु पर कुछ और भी समझ लेना है।

१००–'संस्कृति' शब्द का वास्तविक इतिवृत्त समन्वय—

मानव की 'कृति' के दो विभिन्न स्वरूप माने हैं ऋषिप्रज्ञा ने। दोनों कृतियों के विभिन्न दो सर्जक मानव हैं। प्रकृति से पर अवस्थित अव्ययात्मा के स्वरूप से अनुगृहीत साक्षात्कृतधर्म्मा आत्मनिष्ठ–ब्रह्मवित् मानव ही **अलौकिक–मानव** है, एवं यही 'साक्षात्कृतधर्म्मा–'ऋषि' है। इस ऋषि की कृति मानव की कृति नहीं है। अपितु 'समब्रह्म' नामक अव्ययात्मा की स्वतःसिद्धा कृति ही शब्दरूप से इस आविर्भूतप्रकाश–हृदय ऋषिमानव के मुखपङ्कज से विनिःसृत है। ऋषि इस कृति का निमित्तमात्र है, द्रष्टामात्र है–कर्त्ता नहीं। क्योंकि यह कृति समब्रह्म की कृति है। अतएव ऐसी सनातनी आत्मकृति को समब्रह्म के प्रतीकात्मक वाचक 'सम्' उपसर्ग के द्वारा 'संस्कृति' कहा गया है, और संस्कृतिरूपा ऐसी आत्मकृति अर्थदृष्टि से जहाँ विश्वेश्वरात्मक समष्टिरूप महाविश्व है, वहाँ शब्ददृष्टि से ऐसी आत्मकृतिरूपा संस्कृति उस अर्थसंस्कृति (विश्वसंस्कृति) की ज्ञानविज्ञानात्मिका चिरन्तन–इतिहासात्मिका मन्त्रब्राह्मणलक्षणा 'वेदशास्त्रसंस्कृति' ही है, जिसे 'अपौरुषेयसंस्कृति' का सम्मान प्राप्त हुआ है। यही कृति **ऋषिसंस्कृति–आर्षसंस्कृति–वैदिक–संस्कृति–अलौकिकसंस्कृति–आत्मसंस्कृति–सनातनसंस्कृति**–आदि आदि अनेक नामों से शास्त्रों में उपवर्णित हुई है। आगम–पुराण–स्मृत्यादि शास्त्र यद्यपि नैष्ठिक मानवश्रेष्ठों के द्वारा उपनिबद्ध होने से तत्त्वतः 'कृति' नाम के ही अधिकारी बनने चाहिए थे। किन्तु इन कृतियों के द्वारा क्योंकि ऋषिसंस्कृति–लक्षणा वैदिक–संस्कृति का ही उपबृंहण हुआ है, एकमात्र इसी अनुबन्ध से संस्कृति की साधनरूपा इन मानवकृतियों को भी 'संस्कृति' का सम्मान प्रदान कर दिया है यहाँ की सांस्कृतिक–मानवप्रज्ञाने। किन्तु माना गया है इन साधन–संस्कृतियों को 'लोकसंस्कृति' ही। क्योंकि इनके द्वारा लोकनिष्ठाओं का ही संग्रह हुआ है। अतएव मन्त्रब्राह्मणातिरिक्ता, किन्तु तत्प्रामाण्याधार पर ही प्रतिष्ठिता तदुपबृंहिका–आगम–पुराण–इतिहास (महाभारत–वाल्मीकिरामायणादि)–स्मृत्यादि संस्कृतियों को परतःप्रमाणकोटि में ही अन्तर्भूत माना गया है। और यही 'कृति' के आत्मानुबन्धी 'संस्कृति' रूप का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

१०१–लोककृति के 'शिल्प', तथा 'कला' रूप दो विवर्त्त—

मानवकृति का दूसरा विभाग केवल प्राकृतिक विश्व के भूत–भौतिक–परिग्रहों से सम्बन्ध रखता है। जिसप्रकार अलौकिक कृतिरूपा 'संस्कृति' के स्वतःप्रमाणानुगता संस्कृति–परतःप्रमाणानुगता संस्कृति भेद से दो अवान्तर भेद हो जाते हैं, एवमेव मानव की लौकिक कृतिरूपा 'भूतकृति' के भी प्रतिरूप, अनुरूप भेद से दो अवान्तर विभाग हो जाते हैं। वृक्ष–लता–गुल्म–पत्र–पुष्प–आदि आदि मूलक हैं जो प्राकृतिक

भूतकृतियाँ हीं। किन्तु इनको आधार बनाकर मानव इनके मौलिक-द्रव्यों के मिश्रण के तारतम्य से, किंवा प्रज्ञानुगत कौशल-प्रदान से इन्हें जो अद्भुत स्वरूप प्रदान कर देता है, वही 'प्रतिरूपकृति' कहलाई है। एवं प्राकृतिक विश्व में सर्वथा ही अनुपलब्ध अपूर्व भूतभावों का प्राकृतिक द्रव्यों के द्वारा ही जो उत्पादन है, आविष्कार है, वही 'अनुरूपकृति' कहलाई है। प्रतिरूपकृति 'शिल्प' कहलाई है, एवं अनुरूपकति 'कला' कहलाई है। हस्तकौशल शिल्प है, प्रज्ञाकौशल कला है। शिल्पकृति क्रियाप्रधाना है, कलाकृति ज्ञानप्रधाना है। प्रायः दोनों अंशतः समसमन्विता भी रहा करती हैं। अतएव 'शिल्प-कला' शब्द साथ भी प्रयुक्त होते रहते हैं। दोनों हीं लोकमानव की 'कृति' मात्र हैं, जिनके साथ समब्रह्मरूप अव्ययात्मा का व्यक्तीभावात्मक साक्षात् सम्बन्ध न रहने से ही इन दोनों हीं प्रकार की कृतियों को 'संस्कृति' न कह कर-'कृति' ही कहा जायगा, कहा गया है।

१०२-मानव के मर्त्य 'कृति' पर्व—

उक्त चारों कृतिभावों का स्वयं मानव के प्राकृत स्वरूप के आधार पर एक दूसरे दृष्टिकोण से भी समन्वय किया जा सकता है। बतलाया गया है कि, अलौकिक अव्ययात्मा के आधार पर ही मानव के प्राकृतिक भूतात्मा-बुद्धि-मन-शरीर-ये चार पर्व प्रतिष्ठित हैं। इन चारों में आत्मा, और बुद्धि इन दोनों पर्वों का अव्ययात्मा से साक्षात् सम्बन्ध है। अतएव इन दोनों को मानव के सांस्कृतिक पर्व (अमृतपर्व) कहा गया है। सूर्य्य से नीचे रहने वाले, **'तद्यत्किञ्चार्वाचीनं-आदित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्'** (शतपथ) के अनुसार मृत्युप्रधान-मरणधर्म्मा मन और शरीर, इन दोनों का अव्ययात्मा के साथ क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। अतएव इन दोनों को मानव के कृतिपर्व (मृत्युपर्व) ही माना गया है।

१०३-संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का पार्थक्य—

आत्मा, और बुद्धि, इन दोनों सांस्कृतिक-अमृतपर्वों मे भी तारतम्य है। भूतात्मलक्षण आत्मा अव्ययात्मा के सन्निकट रहता हुआ अलौकिक संस्कृति का अपौरुषेय पर्व है, एवं विज्ञानात्मलक्षणा बुद्धि निकट रहती हुई लौकिकसंस्कृति का पौरुषेय पर्व है। आत्मानुगता कृति आत्मकृति है, यही वेदशास्त्रानुगता अपौरुषेयकृति है। बुद्धयनुगता कृति पौरुषेयकृति है, यही आगमपुराणादि कृति है। इसप्रकार आत्मा, और बुद्धि के तारतम्य से एक ही संस्कृति के अपौरुषेय-पौरुषेय भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। मन और शरीर, इन दोनों कृतिपर्वों में भी तारतम्य है। मानसिक भूतकृति शिल्प है, मनोऽनुगता शारीरिक-कृति कला है। और यही शिल्प-और कला में सुसूक्ष्म विभेद है, जिसका विस्तार यहाँ अनपेक्षित है। यों इस दृष्टिकोण से भी इन चारों कृतिभावों का समन्वय किया जा सकता है। चारों में आत्मबुद्धयनुगता संस्कृतिद्वयीरूपा सूक्ष्म-अमूर्त्त-कृति ही **'संस्कृति'** है, एवं मनःशरीरानुगता भूतकृतिद्वयीलक्षणा-शिल्पकालात्मिका स्थूला-मूर्त्ता-कृति ही-**'सभ्यता'** है। और इसी तत्त्वविवेक के आधार पर भौतिक-ध्वंसावशेषों को 'सभ्यता' के परिचायक चिन्ह तो फिर भी अमुक सीमापर्य्यन्त कहा जा सकता है। किन्तु इन्हें सांस्कृतिक चिन्ह तो कदापि नहीं माना जा सकता।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अलौकिकः-निरपेक्षसंस्कृतिरूपः
अव्ययात्मा

❀

अव्ययसन्निकटः-१-भूतात्मा-स्वायम्भुवः-अमृता-आत्मसंस्कृतिः-वैदिकसंस्कृतिः
अव्ययनिकटा--२-बुद्धिः---सौरी-----अमृता--बुद्धिसंस्कृतिः-आगमेतिहासपुराण-संस्कृतिः
--आत्मकृतिरेव संस्कृतिः

❀

प्रतिरूपकृतिरूपं-१-मनः----चान्द्रम्----मर्त्यम्--मनःकृतिः----शिल्पकृतिः सभ्यता
अनुरूपकृतिरूपं-२-शरीरम-पार्थिवम्---मर्त्यम्--शरीरकृतिः---कलाकृतिः सभ्यता
--भूतकृतिरेव सभ्यता

❀

१०४-संस्कृति की उपयोगिता, अनुपयोगिता का समन्वय—

प्रकृतमनुसरामः । निवेदन किया जा रहा था कि, आत्मानुगता अपौरुषेया वैदिक-संस्कृति, एवं बुद्ध्यनुगता पौरुषेया आगमेतिहासपुराणसंस्कृति, इन दोनों हीं संस्कृतियों का मानव के मनःशरीरानुगत-सभ्यतानुबन्धी-लोकजीवन, योगक्षेमात्मक भूतभौतिक जीवन, समाजपद्धति, राजनीति, आदि आदि व्यक्त-भूत-भावों की दृष्टि से वैसे ही साक्षात् तो उपयोग नहीं है, जैसे कि प्रकृति के प्राणात्मक सूक्ष्म तत्त्वों का, तथा भूतात्मक सूर्य्य-चन्द्रादि स्थूल तत्त्वों का प्रत्यक्षदृष्टया कोई भी उपयोग प्रतीत नहीं हो रहा यथाजात मानवों को । किन्तु थोड़ी भी प्रज्ञा के उपयोग से यह भलीभाँति समझ में आजाता है कि, बिना इन प्राकृतिक आधारों के मानव के वैकारिक-व्यक्त-भौतिक-स्वरूपों की सत्ता ही सुरक्षित नहीं रह सकती । सौर ताप से पाकशाला का भोजन तो नहीं बना सकता विकृति का उपासक प्राकृत मानव । किन्तु यह उसे भी अविलम्ब ही समझाया जा सकता है कि, यदि—"सूर्य्य न रहे, तो उसकी, और उसके साथ साथ समस्त विश्व की क्या स्थिति हो सकती है !" ।

१०५-संस्कृतिनिष्ठों की लोकसमाजनिष्ठा का समन्वय—

अब इस सम्बन्ध में अध्यात्ममूला केवल वह धारणा शेष रह जाती है, जिसके आकर्षण से विगत कतिपय शताब्दियों से माननीय श्रीदिवाकर महाभाग की ही भाँति संस्कृतिभक्त स्वयं भारतीय विद्वान् भी इस दिशा में अपनी यही धारणा व्यक्त करते आरहे हैं कि, "शास्त्रीया वैदिक-संस्कृति का किसी भी लोकतन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है । विद्वान् का काम है केवल शास्त्रचिन्तन करना" । काम तो अवश्य ही शास्त्रचिन्तन ही है । किन्तु इस चिन्तन का परिणाम यदि लोक-समाज-राजनीति-शासन-दैनिक जीवन

व्यवस्था-आदि आदि में व्यवस्था उत्पन्न करना नहीं है, तो कदापि इस चिन्तन का कोई भी महत्त्व नहीं है । व्यवस्थानीतियों का नियन्त्रण तो स्वाध्यायनिष्ठ संस्कृतिचिन्तक ही कर सकते हैं । जो शासनतन्त्र स्वयं लोकतन्त्रों के विविध परिवर्त्तनों के सञ्चालन के कारण अपनी बौद्धिक-मानसिक विचारधाराओं को परिवर्त्तित करता रहता है, वह स्वयं स्वस्थता-प्रकृतिस्थता-पूर्वक निश्चित व्यवस्थासूत्रों की कल्पना भी नहीं कर सकता । इसी आधार पर श्रुति ने-**'ब्रह्मवै-अभिगन्ता, कर्त्ता क्षत्रियः'** (शत०) के अनुसार तत्त्वचिन्तक ज्ञान-विज्ञाननिष्ठ संस्कृतितत्त्वोपासक द्विजातिब्रह्म (ब्राह्मण) को ही अभिगन्ता-अनुमन्ता-निर्द्देशक-पथप्रदर्शक-नीतिनिर्द्धारक माना है, एवं शास्ता क्षत्रिय को तदनुपात से कर्त्ता माना है । संस्कृति, एवं तन्मूला सभ्यता का व्यवस्थापक-निर्णायक तत्त्वचिन्तक द्विजाति है, एवं संस्कृति तथा सभ्यता को आक्रान्ता आततायियों के आक्रमण से बचाते हुए इन्हें साम-दाम-दण्ड-भेद पूर्वक जनजीवनपथानुगामिनी बनाए रखना, सहजभाषा में संरक्षण करना शासनतन्त्र का काम है । शासनतन्त्र के प्रत्येक अङ्ग में नीतिसञ्चालक द्विजाति ही रहेगा, रहा है भारतीय सांस्कृतिक शासनयुगों में । इसी सम्पूर्ण तथ्य को लक्ष्य बना कर राजर्षि को यह कहना पड़ा है कि--

एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।

१०६-'सर्वं वेदात्-प्रसिद्धयति'--सूत्रमूला संस्कृति—

जो अध्यात्मवादी दुर्भाग्यवश ऐसा मान बैठे हैं कि "वेद-पुराणेतिहासादि' भारतीय शास्त्र तो केवल आत्मशास्त्र हैं । जीवित दशा में आत्मशान्ति लाभ करा देना, एवं मरणोत्तर परलोक का प्रमाणपत्र प्रदान कर देना हीं एकमात्र इस सांस्कृतिक शास्त्र का अन्यतम उपयोग है", हमें निःसंकोच उन अध्यात्मवादियों से यह नम्रता पूर्वक आवेदन कर ही देना चाहिए कि,-**"वेदशास्त्र की इस प्रतिमाभक्ति नें ही उन्हें इस प्रकार की अनार्षधारणा-वेदविरुद्ध-धारणा बना लेने के लिए विवश कर दिया है"** । तात्त्विकी ज्ञानविज्ञानदृष्टिलक्षणा स्वाध्यायनिष्ठा को तो छोड़िए । यदि हमारे वे लोकबन्धु शब्दार्थमात्र-दृष्टि से भी क्रमपूर्वक भारतीय शास्त्र पर दृष्टिपात का अनुग्रह कर लेते, तो स्वतः ही उनकी तथाविधा धारणा, किंवा भ्रान्ति शरदभ्रवत् विलीन ही हो जाती । वेदशास्त्र न सही । यदि स्मृतिशास्त्र को ही वे लक्ष्य बना लेने का अनुग्रह कर लेंगे, तो उनका उद्बोधन सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही सम्भव बन जायगा । और उन्हें मान हीं लेना पड़ेगा कि, **"पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक-नामक सम्पूर्ण त्रैलोक्य, प्रकृतिसिद्ध ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-नामक नित्य चातुर्वर्ण्य, ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास-नामक वैय्यक्तिक चातुराश्रम्य, किंवहुना अतीत-वर्त्तमान-भविष्यत्-सब कुछ वेदशास्त्र के आधार पर ही व्यवस्थित है"** । वेदशास्त्र की इसी शाश्वत उपयोगिता का उद्घोष करते हुए भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ समाजशास्त्री राजर्षि मनु ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं, त्रयोलोका, श्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं-भवत्-भविष्यञ्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥
—मनुः १२।९७।

१०७–'सर्व' मूला आत्मभ्रान्ति—

सम्भव है नवनवोन्मेषशालिनी विद्वानों की प्रज्ञा–'सर्वं वै प्रजापतिः'-'प्रजापतिर्वैब्रह्म'–'ब्रह्म वै आत्मा' इत्यादि अनुगम–निगम–श्रुतियों के पारिभाषिक समन्वयार्थों से अपनी प्रज्ञा को निरपेक्ष बनाए रखने के कारण मनु के–'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' इस वाक्य में पठित 'सर्वम्' शब्द को भावुक जनता के सम्मुख 'आत्मा' परक लगाते हुए यही समन्वय कर डालें कि, 'राजर्षि मनुने भी सर्वरूप आत्मा को ही, आत्मानुगत पारलौकिक निःश्रेयस् को ही वेदतत्त्वचिन्तक द्विजाति का एकमात्र महान् पुरुषार्थ माना है। और इस 'सर्वम्' के द्वारा वेदनिष्ठ द्विजाति को लोक–समाजादि–किसी तन्त्र से कोई सम्बन्ध न रखते हुए आत्मचिन्तन में हीं प्रवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि "वेद से 'सर्वम्' रूप आत्मस्वरूप की ही, अध्यात्मस्वरूप की ही संसिद्धि प्राप्त होती है"।

१०८–राजर्षि के द्वारा 'सर्वम्' की स्वरूपव्याख्या, और भ्रान्ति का निराकरण—

उक्त भ्रान्त अर्थ के निरोध के लिए हमें विवश बन कर अब उसी मानवधर्मशास्त्र के उस सुप्रसिद्ध वचन की ओर उन विद्वानों का, साथ ही माननीय श्रीदिवाकर महाभाग का भी ध्यान आकर्षित करना हीं पड़ेगा, जिसके द्वारा विस्पष्ट शब्दों में यह प्रमाणित हो जाता है कि–**"वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक–रहस्यात्मक–सांस्कृतिक स्वरूप को जानने वाला वेदवित् ही सम्पूर्ण लोकतन्त्रों का, समाजतन्त्रों का, राजनैतिकतन्त्रों का सञ्चालक बन सकता है। यही नहीं एक वेदवित् द्विजाति सेना का जिस कौशल से सञ्चालन कर सकता है, वैसा केवल शास्ता सेनापति नहीं कर सकता। श्रूयताम्!**

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्त्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
—मनुः १२।१००।

"वेदशास्त्र का विद्वान् सेना का कौशलपूर्वक सञ्चालन कर सकता है, राज्यतन्त्र का सञ्चालन कर सकता है, न्यायदण्ड का सफल नेतृत्त्व कर सकता है। किम्बहुना। सम्पूर्ण लोकतन्त्रों का आधिपत्य करने की योग्यता रखता है" एतदर्थक उक्त मनुवचन का–'वेदशास्त्रविदर्हति' यह अन्तिम वाक्य एक विशेष ध्वन्यर्थ को अभिव्यक्त कर रहा है। वेदशास्त्रवित् ज्ञानविज्ञाननिष्ठ द्विजातिब्राह्मण उन सभी लोक–समाज–तन्त्रों का शासक की अपेक्षा भी कहीं अधिक योग्यतापूर्वक सञ्चालन करने की योग्यता तो अवश्य रखता है। किन्तु वह स्वयं यह लोकतान्त्रिक कर्तृत्त्व अपने हाथों में लिया नहीं करता। यही 'अर्हति' क्रियापद का स्वारस्य है। सञ्चालन की निश्चित–निर्भ्रान्त तत्त्वनीति व्यवस्था करने वाला नीतिज्ञ–धर्म्मज्ञ–जब स्वयं लोकतन्त्रों पर आरूढ़ हो जाता है, तो अमुक अंशों में इसका व्यवस्थित तत्त्वचिन्तन, एवं निश्चित नीतिनिर्द्धारण शिथिल हो जाता है। अतएव इसने कर्तृत्त्वरूप समस्त उत्तरदायित्व सौंपा है शासक को ही। किन्तु शासक सत्तामदान्ध बन कर जब भी इस नीतिव्यवस्थापक–तत्त्वज्ञ–पुरोधा की उपेक्षा कर देता है, तो निश्चयेन लोकतन्त्रव्यामुग्ध उस मदान्ध शासक की लोकनीति अनीतिरूप में परिणत हो जाती है। नीतितन्त्रात्मक सत्तातन्त्र के कर्तृत्त्व का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वहन करने वाला शासक नीति और धर्म्मस्वरूप-निर्णायक आत्मज्ञानविज्ञाननिष्ठ वेदवित्, अतएव सर्ववित् द्विजाति को ही मूलतः राष्ट्रपति-राष्ट्रस्वामी मानता रहता है, जैसाकि महाभारतीय शासकश्रेष्ठ अश्वपतिकेकय, तथा राक्षसराज कबन्ध अथर्वा की निम्नलिखिता सम्वादभाषा से भी प्रमाणित है—

आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्म्मवित् ॥
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥ १ ॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मपरं बलम् ॥
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥ २ ॥
तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ।
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक् प्रवर्त्तताम् ॥ ३ ॥

—महाभारत शान्तिपर्व राज० ७७ अध्याय

१०९-'मैत्रावरुणग्रहविज्ञान' के द्वारा अभिगन्ता, और कर्त्ता का समन्वय—

स्वयं वेद ने 'मैत्रावरुणग्रहविज्ञान' के द्वारा इसी स्मार्त्तसिद्धान्त को प्रतिष्ठा प्रदान की है । शासक जिस सत्तातन्त्र से जनतन्त्र पर शासन करता है, उस सत्तातन्त्र का मौलिक स्वरूप क्या ?, यह प्रश्न उपस्थित हुआ वेद के सम्मुख । इसी प्रश्न के समाधान के लिए श्रुति को प्रकृतिसिद्ध मैत्रावरुणग्रहविज्ञान का स्पष्टीकरण करना पड़ा, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन तो शतपथविज्ञानभाष्य में हीं देखना चाहिए । प्रकृत में तत्सम्बन्ध में यही जान लेना अलं होगा कि, सत्तातन्त्र वह तन्त्र है, जिसमें 'ज्ञान, और कर्म्म' दोनों शक्तियों का सहसमन्वय अनिवार्य्यरूप से अपेक्षित है । ज्ञानशक्ति के बिना यदि कर्म्मशक्ति निस्तेज है, तो कर्म्मशक्ति के बिना ज्ञानशक्ति का भी विकास सम्भव नहीं है । दोनों अन्योऽन्याश्रित हैं । इन दोनों विभिन्न शक्तियों के मूल उक्त वैदिक परिभाषा में क्रमशः मित्र और वरुण कहलाए है । मित्र ब्रह्म है, वरुण क्षत्र है । ज्ञानोक्थ ही ब्रह्म है, कर्म्मोक्थ ही क्षत्र है । वेदतत्त्वनिष्ठ द्विजाति-ब्राह्मण उस ज्ञानघन प्राकृतिक ब्रह्म का ही प्रतिनिधि है, एवं लोकतन्त्रनिष्ठ शासक क्षत्रिय उस कर्म्मघन प्राकृतिक क्षत्र का प्रतिनिधि है । दोनों के समन्वय से ही ज्ञान-कर्म्ममय अर्थानुगत राष्ट्र का यथाव्यवस्थित सञ्चालन सम्भव है । दोनों क्रमशः अभिगन्ता, कर्त्ता कहलाए है । ज्ञानप्रतिनिधि ब्राह्मण अभिगन्ता है, परामर्शदाता है । कर्म्मप्रतिनिधि शासक कर्त्ता है, परामर्शों को कार्य्यरूप में परिणत करने वाला है । और यों दोनों के समन्वय से ही सत्तातन्त्र सुव्यवस्थित रूप से प्रतिष्ठित रहा करता है ।

११०-क्रतु और दक्ष के द्वारा ब्रह्म तथा क्षत्र का समन्वय—

जिस सत्तातन्त्र की ज्ञाननिष्ठा विगलित हो जाती है, दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञानात्मक विज्ञान का आश्रय जब सत्तातन्त्र छोड़ देता है, तो क्या होता है ?, यह प्रश्न स्वयं वेद ने आगे चल कर उठाया है, एवं इसका स्वयं ने हीं समाधान भी किया है, जिसका दो शब्दों में यही निष्कर्ष है कि, जब ज्ञानात्मक ब्रह्म कर्म्मात्मक

शासन के सहयोग से वञ्चित हो जाता है, किंवा प्रज्ञाहीन शासकों के द्वारा वञ्चित कर दिया जाता है, उस राष्ट्र के तत्त्वचिन्तक द्विजातिवर्ग का ज्ञान !विकास–समृद्धि से वञ्चित हो जाता है। किन्तु कदापि इस वञ्चना से ब्रह्म का स्वरूपविनाश नहीं होता। किन्तु जब कर्म्मात्मक शासक इस ब्रह्म से पृथक् हो जाता है, किंवा मदान्ध बन कर बलपूर्वक ज्ञाननिष्ठों से अपने आपको पृथक् कर लेता है, तो उस शासक, और शासनतन्त्र का सर्वनाश ही हो जाता है। अतएव अनिष्ट की दृष्टि से शासनतन्त्र का ही महान् अनिष्ट होता है दोनों के पार्थक्य में।

१११–मैत्रावरुणग्रहश्रुति का पावन संस्मरण—

अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए मैत्रावरुणग्रहश्रुति के इन कतिपय आर्ष संस्मरणों को !

क्रतूदक्षौ ह वाऽस्य मित्रावरुणौ। मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः। ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रियः ॥ १ ॥

ते हैते उभे नानेवासतुः—ब्रह्म च, क्षत्रं च। ततः शशाकैव ब्रह्म मित्रः—ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम् ॥ २ ॥

न क्षत्रं वरुणः—ऋते ब्रह्मणो मित्रात्—स्थातुम्। यद्ध किञ्च वरुणः कर्म्म चक्रे—अप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत्समानृधे ॥ ३ ॥

स क्षत्रं वरुणः—ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे—उप मा वर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवै—इति। तथेति। तौ समसृजेताम्। तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् ॥ ४ ॥

सोऽएव पुरोधा। तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत। सं ह्येतौ सृजेते—सुकृतं च, दुष्कृतं च। नोऽएव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरो दधीत। सं ह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च। स यत्ततो वरुणः कर्म्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, संहैवास्मै तदानृधे ॥ ५ ॥

तत्तत्—अवक्लृप्तमेव, यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत—समृद्धं तत् (ब्रह्म)। एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं—यत् क्षत्रियः—अब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण—न हैवास्मै तत्समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण कर्म्म करिष्यमाणेनोपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। संहैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते ॥ ६ ॥

—शतपथब्राह्मण ४ काण्ड १ अध्याय। ४ ब्राह्मण १ कण्डिका से ६ कण्डिका पर्य्यन्त।

—'मैत्रावरुणग्रहब्राह्मण'

११२-श्रुत्यक्षरार्थसमन्वय--द्वारा संस्कृति, और सभ्यता का सामञ्जस्य—

श्रुति का अक्षरार्थ यही है कि--"क्रतु, और दक्ष नामक तत्त्व ही सुप्रसिद्ध मित्र और वरुण तत्त्व हैं। (ज्ञानशक्तिरूप) ब्रह्म ही (क्रतुरूप) मित्र है, एवं (कर्म्मशक्तिरूप) क्षत्र ही (दक्षरूप) वरुण है। अभिगन्ता (परामर्शप्रदाता) ही ब्रह्म (ब्राह्मण) है, (परामर्शानुसार चलने वाला कर्म्मकर्त्ता ही क्षत्रिय है। अर्थात् प्रकृति का ब्रह्ममित्र ही ब्राह्मण का आत्मा बनता है, एवं क्षत्रवरुण ही शासक का आत्मा बनता है ॥१॥

उक्त दोनों हीं बल आरम्भ में पृथक् पृथक् ही थे, जो कि ब्रह्म-क्षत्र नाम से तत्त्वपरिभाषा में प्रसिद्ध थे। इन दोनों बलों में से ब्रह्ममित्र तो क्षत्रवरुण के सहयोग के बिना भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह जाने में समर्थ बना रह गया ॥ २ ॥ किन्तु क्षत्रवरुण ब्रह्ममित्र के सहयोग-आश्रय-के बिना क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह जाने में समर्थ न बन सका। ब्रह्ममित्र के सहयोग से पराङ्मुख बने हुए इस क्षत्रवरुण ने जो भी कर्म्म किया, वह कोई सा भी इसका कर्म्म समृद्ध-सफल न हो सका ॥ ३ ॥

(अपनी इस असमृद्धि,-एवं असफलता को देख कर ही उस क्षत्र ने प्रणतभाव से ब्रह्म मित्र का आमन्त्रण किया, और आवेदन किया कि, आप अनुग्रह कर मुझ क्षत्र से अनुगत होने का अनुग्रह करैं, और मेरे साथ समन्वय स्थापित करैं। (आप विश्वास कीजिए ! मैं अपने प्रत्येक कर्म्म में आप ही को अग्रणी बनाए रहूँगा, आप मुझे जैसी-जो प्रेरणा देंगे, जो परामर्श प्रदान करेंगे, मैं उसी के अनुपात से कर्म्म करूँगा। (क्षत्रवरुण के द्वारा इसप्रकार प्रणतभाव से आमन्त्रण करने पर मित्रब्रह्म ने इसे यही आश्वासन प्रदान कर दिया कि) तथेति। (अर्थात् ऐसा ही हो। इस स्वीकृति से) ब्रह्म मित्र, और क्षत्र वरुण दोनों परस्पर समन्वित हो गए। इन दोनों के समसमन्वय से ही सुप्रसिद्ध 'मैत्रावरुण' नामक 'ग्रह' का आविर्भाव हुआ। अर्थात् ब्रह्म-क्षत्र का समन्वित रूप ही विज्ञानपरिभाषा में-'मैत्रावरुणग्रह' नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ ४ ॥

अब इसी सम्बन्ध में एक विशेष उद्बोधन प्रदान करती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है कि-क्षत्र वरुण के साथ समन्वित होने वाले मित्र ब्रह्म को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, इस समन्वय में निश्चयेन यह ब्रह्ममित्र आज 'पुरोधा' बनने जा रहा है, किंवा बन चुका है, जिसका स्वरूप अब क्षत्रस्वरूप के अनुरूप ही व्यवस्थित रहेगा। तात्पर्य्य-पुरोधा-बन जाना कोई लौकिक शिष्टाचारात्मक भौतिक सम्बन्धमात्र ही नहीं है। अपितु यह तो अन्तर्य्यात्मक वह 'प्राणसम्बन्ध' है, जिसके व्यक्त हो जाने पर दोनों सम्बधियों के गुण-दोष-सुकृत-दुष्कृत (पुण्य-पाप) परस्पर एक दूसरे में संक्रान्त हो जाते हैं उसीप्रकार, जैसेकि सगोत्रबन्धुओं में सापिण्ड्य-सम्बन्धसूत्र के द्वारा आशौचादि का संक्रमण हो जाता है *। अतएव ब्राह्मण को जिस किसी अज्ञात-कुलशील, किंवा दोषयुक्त क्षत्रिय का पुरोहित नहीं बन जाना चाहिए। एवमेव क्षत्रिय को भी जिस किसी अज्ञातकुलशील-ब्राह्मणनामधारी को ही अपना कुलपुरोहित नहीं बना लेना चाहिए। अत्यन्त ही अवधानपूर्वक पूर्ण परीक्षण के अनन्तर ही ब्रह्म-क्षत्र का याजमान तथा पौरोहित्य सम्बन्ध होना चाहिए। इस अनुरूप सम्बन्ध के द्वारा ही दोनों की स्वरूपप्रतिष्ठा प्रतिष्ठित रहा करती है।

---

*—अतएव पुरायुगों में कुलपुरोहितों के गोत्रों के माध्यम से भी क्षत्रियराजाओं के विवाहादि सम्बन्ध सम्पन्न हो जाते थे। मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम, एवं जगन्माता सीता का विवाह ऐसा ही उदाहरण है।

हाँ, तो अपनी स्वरूपरक्षा, तथा स्वरूपसमृद्धि के लिए वरुण–क्षत्र ने मित्र–ब्रह्म को अपनी मूलप्रतिष्ठा बना लिया। इस ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित क्षत्रवरुण ने ब्रह्ममित्र की अनुज्ञा–प्रेरणा–आदेश–के अनुसार जो भी कर्म्म किया, वह कर्म्म निश्चयेन क्षत्र–वरुण के लिए सुसमृद्धि का ही कारण बन गया। यों अभिगन्ता–नीतिनिर्द्धारक-ब्राह्मण के आदेश से आदिष्ट कर्त्ता क्षत्रिय के सभी कर्म्म सुसमृद्ध बन गए ॥५॥

जिसप्रकार क्षत्रवरुण को स्वस्वरूपरक्षा, तथा स्वस्वरूपसमृद्धि के लिए ब्रह्ममित्रप्रतिष्ठा की अनिवार्य्य आवश्यकता है, क्या इसीप्रकार ब्रह्ममित्र को भी स्वरक्षा–समृद्धि के लिए क्षत्र–वरुण की अनिवार्य्य आवश्यकता है ?, इस सहज प्रश्न के सम्बन्ध में एक विशेष तथ्य का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है कि—

“यह तो सहजरूप से स्वाभाविक ही है कि–ब्राह्मण अपनी स्वरूपरक्षा की दृष्टि से भले ही अपने आपको अराजन्य ही बनाए रहे। अर्थात् ब्राह्मण की स्वरूपरक्षा तो स्वयं ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। इसे अपने सांस्कृतिक-स्वरूप–संरक्षण के लिए तो किसी भी राजन्य–शासन सत्तातन्त्रादि–की यत्किञ्चित् भी अपेक्षा–आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि स्वयं सत्तातन्त्र राष्ट्रसमृद्धि के लिए इस ब्राह्मण का आश्रय ले लेता है, तो ब्राह्मण की संस्कृति राष्ट्रसमृद्धि का कारण बन जाया करती है। सत्ता यदि निरपेक्ष बनी रहती है, तो ब्राह्मण की संस्कृति से राष्ट्र समष्टिरूप से कोई लाभ नहीं उठा सकता, जिसका कुफल सत्तातन्त्र को ही भोगना पड़ता है। ब्राह्मण की इसमें कोई क्षति नहीं है। तात्पर्य्य–ब्राह्मण को सत्ताश्रय अपेक्षित नहीं है, अपितु सत्ता को ही ब्राह्मण की संस्कृति का आश्रय अपेक्षित है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, धर्म्म अवश्य ही सत्तानिरपेक्ष रह कर भी जहाँ स्वस्वरूप से सुरक्षित है, वहाँ नीति धर्म्मनिरपेक्षा बन कर न तो स्वरूपरक्षा ही कर सकती, न समृद्ध ही बन सकती। धर्म्म शासननिरपेक्ष रह सकता है, शासन कदापि धर्म्मनिरपेक्ष नही रह सकता। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि—

यह सर्वथा अस्वाभाविक–अप्राकृतिक है, कि क्षत्रिय अब्राह्मण बना रहे। अर्थात् बिना ब्रह्ममित्र को प्रतिष्ठा बनाए, सनातनसंस्कृतिरूप शाश्वत धर्म्म को मूलाधार बनाए क्षत्रवरुणरूप शासनतन्त्र न तो स्वरूप से ही सुरक्षित रह सकता, न समृद्ध ही बन सकता। ब्रह्ममित्र की अनुज्ञा–प्रेरणा–आदेश की उपेक्षा कर इस ब्रह्मधर्म्म को निरपेक्ष मानकर क्षत्रवरुण जो भी कर्म्म करता है, कदापि ब्रह्माश्रयशून्य वह कर्म्म इस क्षत्र के लिए समृद्धिजनक नहीं बनता। अतएव यह सर्वथा आवश्यक है कि–कर्म्म करने की कामना रखने वाले शासनतन्त्र को ब्राह्मण की धर्म्मसंस्कृति का ही सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिए। ब्रह्मप्रसूत कर्म्म ही समृद्धि का कारण बना करता है—“सं हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते” ॥६॥

११३-विशेषदृष्टिकोणनिबन्धन मानव का अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत्—

मैत्रावरुणग्रहश्रुति के तथाकथित अक्षरार्थसमन्वय के माध्यम से आज एक उस विशेष दृष्टिकोण की ओर प्राच्यसंस्कृतिनिष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जो विशेष दृष्टिकोण संस्कृतिनिष्ठों की परदर्शनमूला भावुकता के वारुणपाशबन्धननिग्रह से विगत द्वि–त्रिः सहस्राब्दियों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही बनता चला आ रहा है। ‘संस्कृति’ अन्य पक्ष है, एवं ‘सभ्यता’ विभिन्न पक्ष है। मौलिक तत्त्वदृष्टि के अनुसार मानवीय आत्म-

सम्मता बुद्धि 'संस्कृति' पक्ष की मूलप्रतिष्ठा है, तो मनोऽनुगत शरीर 'सभ्यता' पक्ष का आधारबिन्दु है। आत्मानुगत बुद्धितन्त्र मानव का 'अन्तर्जगत्' हैं, एवं मनोऽनुगत शरीर मानव का 'बहिर्जगत्' है। अन्तर्जगत् प्राणप्रधान है, तो बहिर्जगत् भूतप्रधान है। प्राणप्रधान अन्तर्जगत् 'अक्षरप्रकृति' का उपबृंहित स्वरूप है, एवं भूतप्रधान बहिर्जगत् 'क्षरप्रकृति' का व्यक्तरूप है। तात्त्विक सृष्टिधाराक्रम में इन दोनों में आधार कौन ?, एवं आधेय कौन ?, यह सहज जिज्ञासा है।

११४–अन्तर्जगत्, और बहिर्जगत् के आश्रय–आश्रित–भाव—

जिज्ञासा का समाधान स्पष्ट–स्पष्टतर–स्पष्टतम है। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी" इत्यादि औपनिषद–सिद्धान्तानुसार श्वोवसीयसब्रह्म नामक अव्ययरूप आत्ममन से अभिन्न प्राणात्मक अक्षरात्मा हीं तैत्तिरीयश्रुति का वह 'आत्मा' हैं, जिससे बलग्रन्थितारतम्य से क्रमशः परम्परया आकाश–वायु–अग्नि–आपः–पृथिवी–नामक पञ्चतन्मात्रारूप वे गुणभूतात्मक पाँच सूक्ष्मभूत (तत्त्व) अभिव्यक्त हुए हैं, जो आगे चलकर सहजसिद्धा पञ्चीकरणप्रक्रिया से क्रमशः अणुभूत–रेणुभूत–पञ्चमहाभूतादि में परिणत होते हुए पञ्चपञ्चात्मक शरीरात्मक सत्त्वभूतों के रूप से अभिव्यक्त हुए हैं।

उक्त सृष्टिधारा–क्रमानुपात से यह सर्वात्मना संसिद्ध है कि, सर्वान्त का पार्थिवभूत तदपेक्षया सूक्ष्म आपोभूत पर आश्रित है। आपोभूत अपने से सूक्ष्म तेजोगुणभूत पर आश्रित है। तेजोगुणभूत अपने से सूक्ष्म वायुगुणभूत पर आश्रित है। वायुगुणभूत अपने से सूक्ष्म आकाशगुणभूत पर आश्रित है। एवं सर्वभूताश्रयमूर्त्ति आकाशगुणभूत सुसूक्ष्म मनोमय प्राणमूर्ति पराप्रकृतिरूप अक्षरात्मा पर आश्रित है। और यों सर्वसुसूक्ष्म–अन्तर्जगत्रूप–प्राणलक्षण–अक्षरात्मा हीं अपेक्षया सूक्ष्म–स्थूल–स्थूलतर–स्थूलतम बने हुए भूतभौतिक–क्षरात्मक–बहिर्जगत्रूप व्यक्त विश्व का प्रधान आश्रयस्थल बना हुआ है।

११५–अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-निबन्धन आश्रय–आश्रित–भावों के तीन संस्थान–

इसी आश्रय–आश्रित–भाव–परम्परा का जब हम मानव की स्वरूपसंस्था के साथ समन्वय करने चलते हैं, तो यहाँ भी हमें उसी प्राकृतिक–आधिदैविक–ईश्वरीय परम्परा का ही समन्वय यथाक्रमरूप से उपलब्ध होता है। प्राकृतिक विश्व के आकाश^{१}-वायु^{२}–तेज^{३}––जल^{४}–पृथिवी^{५}–ये पाँचों भूतपर्व हीं अधिदैवतभाषा में क्रमशः **स्वयम्भू^{१}–परमेष्ठी^{२}–सूर्य्य^{३}–चन्द्रमा^{४}–पृथिवी^{५}**–इन नामों से उपस्तुत हैं। एवं मानवसंस्था मे ये हीं पाँचों प्राकृतिक पर्व क्रमशः **अव्यक्त^{१}–महान्^{२}––बुद्धि^{३}–मन^{४}–शरीर^{५}**–इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इसप्रकार भूत^{१}–देव^{२}–आत्म^{३}–भेद से पञ्चधा विभक्त प्रकृतितत्त्व के तीन संस्थान बन रहे हैं। इसी आधार पर भारतीय ज्ञानविज्ञानधारा **अधिभूत^{१}–अधिदेव^{२}–अध्यात्म^{३}**–भेद से तीन संस्थानों–प्रक्रमों–में प्रवाहित हुई है। यही सुप्रसिद्ध वैदिक **त्रिसत्यवाद** है, जिसका **'त्रिःसत्या वै देवाः'** इत्यादि निगमवचन से उपबृंहण हुआ हैं। इसी त्रिसत्य के आधार पर भारतीय तत्त्ववाद एक विशेष दृष्टिकोण से **ईश्वर–जीव–जगत्**–इन तीन संस्थाओं में विभक्त मान लिया गया है, जिसके आधार पर ही साम्प्रदायिकों नें 'विशिष्टाद्वैत' की कल्पना कर डाली है।

११६–प्राणात्मा की आश्रयता, एवं स्थूलभूतों की आश्रितता—

प्रकृत में इस संस्थानक्रम से निवेदन यही करना है कि, अधिभूतसंस्थान–अधिदैवतसंस्थान–अध्यात्मसंस्थान–भेद से पञ्चतत्त्ववाद त्रिधा विभक्त हो रहा है। एवं तीनों में हीं आत्मा, तथा पञ्च–प्रकृतिरूप व्यक्तभावों का समान हीं अवस्थानक्रम है, जिस समानक्रमसंस्थान के आधार पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, स्थूल सर्वत्र 'आश्रित' है, एवं सूक्ष्म सर्वत्र 'आश्रय' है। सूक्ष्म सर्वत्र आधार है, स्थूल सर्वत्र आधेय है। सहजभाषा में सुसूक्ष्म प्राणात्मा आश्रय है, स्थूल भूत आश्रित है, जैसा कि निम्नलिखित परिलेख से स्पष्ट है।

१	२	३
मनोमयः प्राणात्मा आत्मा	मनोमयः प्राणात्मा आत्मा	मनोमयः प्राणात्मा आत्मा
१–स्वयम्भूः	१–अव्यक्तः	१–आकाशः
२–परमेष्ठी	२–महान्	२–वायुः
३–सूर्य्यः	३–बुद्धिः	३–तेजः
४–चन्द्रमाः	४–मनः	४–जलम्
५–पृथिवी	५–शरीरम	५–मृत्
ईश्वरसंस्था अधिदैवतम्	मानवसंस्था अध्यात्मम	जगत्संस्था अधिभूतम्

११७–ईश्वर-जीव-जगद्वाचिका ओम्-अहम्-अहः–नाम की व्याहृतित्रयी का समन्वय–

उक्त तीनों संस्थाओं को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही पूर्वप्रतिपादिता मैत्रावरुण–ग्रहश्रुति से अनुप्राणित प्रतिज्ञात विशेष दृष्टिकोण का समन्वय अपेक्षित है। श्रुति का अक्षरार्थ–समन्वय करते हुए तत्रैव यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, ब्रह्म ही मित्र है, एवं क्षत्र ही वरुण है, जिसका बोधगम्या लौकिक–भाषा में यही फलितार्थ निकलता है कि, ज्ञान हीं मित्र–ब्रह्म है, एवं कर्म्म ही वरुण–क्षत्र है। वैदिक तात्त्विक परिभाषा में इन दोनों (ज्ञान–कर्म्मों) के मौलिक–तत्त्वों का नाम है क्रमशः 'रस', और

'बल', जो दोनों तत्त्व सृष्टिप्रक्रिया के साक्षी बनते हुए आगे चल कर क्रमशः 'अमृतम्',–'मृत्युः' इन नामों से प्रसिद्ध हो जाते हैं । अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–तीनों संस्थाएँ अमृत–मृत्युमयीं हैं, रस–बलात्मिका हैं, ज्ञान–कर्म्मानुगता हैं, ब्रह्म–क्षत्र–समन्विता हैं, मित्र–वरुण–भावसमाक्रान्ता हैं । उभयरूपा तीनों संस्थाएँ क्रमशः **ईश्वर–जीव–जगत्**–नाम की संस्थाएँ हैं । तीनों का मौलिक रहस्य ही 'उपनिषत्' कहलाया है । 'उपनिषत्' शब्द मौलिक रहस्य का ही संग्राहक बना हुआ है । संस्थात्रयी के मौलिक रहस्य के प्रतिपादक 'उपनिषत्' लक्षण वे तीनों शब्द ही क्रमशः **'ओम-अहम्-अहः'** इस रूप से प्रसिद्ध हैं, जैसा कि **"तस्योपनिषत्-ओमिति, तस्योपनिषदहमिति, तस्योपनिषदहरिति"** इत्यादि निगमसिद्धान्तों से प्रमाणित है । इसी आधार पर–**'तस्य वाचकः प्रणवः'** इत्यादि पातञ्जलसिद्धान्तानुसार अधिदैवतरूप ईश्वरभाव **'प्रणव (ओम्)'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । **'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** इत्यादि गीतासिद्धान्तानुसार अध्यात्मभाव **'अहम'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं–**'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः'** इत्यादि शतपथसिद्धान्तानुसार व्यक्तविश्वसाक्षी सूर्य्यनिबन्धन जगत् **'अहः'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । और यों रसबलात्मक–अमृत–मृत्युलक्षण–ब्रह्मक्षत्रमूर्त्ति–ज्ञानकर्म्ममय मित्र–वरुण–तत्त्व **'ओम्–अहम्–अहः'** रूप से दैवत–अध्यात्म–अधिभूत–भेद से त्रिसंस्थ बना हुआ है ।

अधिदैवतम्	अध्यात्मम	अधिभूतम्
ईश्वरः	मानवः	जगत्
ओम	अहम्	अहः
प्रथमा–अमृतमृत्युसंस्था	**द्वितीया अमृतमृत्युसंस्था**	**तृतीया अमृतमृत्युसंस्था**
तस्योपनिषदोमिति (१)	तस्तोपनिषदहमिति (२)	तस्योपनिषदहरिति (३)

११८–संस्थात्रयी के (प्रत्येक के) अवान्तर ६–६–विभाग—

पूर्वपरिलेख (पृ० सं० ५१) में तीनों संस्थाओं में–प्रत्येक में पाँच-पाँच तो प्राकृतिक व्यक्त पर्व बतलाए गए हैं, एवं एक एक मनोमय–प्राणात्मा नामक 'आत्मा' व्यवस्थित माना गया है । यों लोकबुद्धया समझने मात्र के लिए प्रत्येक संस्था में अवान्तर ६–६ विभाग हो जाते हैं । इन ६ओं विभागों के सम्बन्ध में देखना हमें अब यह है कि, रसनिबन्धन–अमृतात्मक–मित्रलक्षण–ब्रह्मरूप ज्ञान का प्राधान्य तो ६ ओं विभागों में से किस विभाग–पर्य्यन्त है, एवं बलनिबन्धन मृत्युमय–वरुणलक्षण–क्षत्ररूप–कर्म्म का प्राधान्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

किस विभाग पर्य्यन्त है ?। इसी समन्वयदृष्टि के आधार पर क्योंकि प्रतिज्ञात विशेष दृष्टिकोण का समन्वय अवलम्बित है। अतएव उसे ही अवधानपूर्वक हमें लक्ष्यारूढ कर लेना है।

११९-अमृत, और मृत्यु का प्रथम दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय—

अपरिवर्त्तनीय-सनातन-शाश्वत-नित्य-सुसूक्ष्म-अधामच्छद-तत्त्व ही 'अमृतम्' की स्वरूपपरिभाषा है, जो कि मनोमय प्राणमूर्त्ति अक्षरात्मा का स्वरूपलक्षण माना गया है। इस पारिभाषिक स्वरूपलक्षण के अनुसार तो तथाकथित ६ विभागों में से सर्वारम्भ का मनोमय-प्राणरूप अक्षरात्मा ही 'अमृत' कहलाया है। परिवर्त्तनशील-अतएव अशाश्वत-अनित्य-स्थूल-धामच्छद-तत्त्व ही 'मृत्यु' की स्वरूपपरिभाषा है, जो कि वाङ्मय व्यक्त क्षर का स्वरूपलक्षण माना गया है। इस पारिभाषिक स्वरूपलक्षण के अनुसार तथाकथित ६ विभागों में से प्राणाक्षर के आगे के पाँचों हीं क्षरात्मक विभाग 'मृत्यु' कहलाए है। और इस प्राथमिक दृष्टिकोण के अनुसार अमृत-और मृत्यु के १-और ५-ये विभाग हो जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

	१ अधिदैवतम् (ईश्वरः)	२ अध्यात्मम् (मानवः)	३ अधिभूतम् (जगत्)
अमृतसंस्था एका	अमृतम्-१-प्राणात्मा (१)]	अमृतम्-१-प्राणात्मा (१)]	अमृतम्-१-प्राणात्मा (१)]
मृत्युसंस्थाः-पञ्च	मृत्युः-१-स्वयम्भूः (२)	मृत्युः-१-अव्यक्तः (२)	मृत्युः-१-आकाशः (२)
	मृत्युः-२-परमेष्ठी (३)	मृत्युः-२-महान् (३)	मृत्युः-२-वायुः (३)
	मृत्युः-३-सूर्य्यः (४)	मृत्युः-३-बुद्धिः (४)	मृत्युः-३-तेजः (४)
	मृत्युः-४-चन्द्रमाः (५)	मृत्युः-४-मनः (५)	मृत्युः-४-जलम् (५)
	मृत्युः-५-पृथिवी (६)	मृत्युः-५-शरीरम् (६)	मृत्युः-५-मृत् (६)
	ओङ्कारसंस्था	अहङ्कारसंस्था	अहस्कारसंस्था

१२०-अमृत, और मृत्यु का द्वितीय दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय—

अब एक दूसरी दृष्टि से अमृत-मृत्यु-लक्षण मित्र-वरुण-तत्त्वों का समन्वय कीजिए, जिस दृष्टि का आधार माना गया है-"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्, अर्द्धममृतम्" (शत० ब्रा०…) यह श्रौत वचन। प्रत्येक वस्तु-(वह भूतप्रधाना हो, अथवा तो प्राणप्रधाना) एक एक स्वतन्त्र 'व्यक्ति' है। प्रति व्यक्ति एक एक स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्तितत्त्व ही व्यक्तित्त्व की पृथगात्मता है। और यही

स्वतन्त्र अभिव्यक्तितत्त्व स्वतन्त्र वह प्रजापति है, जिसमें रसनिबन्धन अमृतभाव, तथा बलनिबन्धन मृत्युभाव, दोनों समाविष्ट है। 'अर्द्ध' शब्द का अर्थ है 'भाग'। प्रत्येक वस्तु में एक भाग अमृत है, एक भाग मृत्यु है। प्रत्येक वस्तु भूतप्राणमयी है। भूतदृष्ट्या वही वस्तु नामरूपकर्म्ममयी बनी रहती हुई परिवर्त्तनशीला है, यही परिवर्त्तन वस्तु का असल्लक्षण मृत्युभाव है। प्राणदृष्टि से वही वस्तु मनःप्राणवाङ्मयी बनी रहती हुई अस्तिरूप अपरिवर्त्तनभावलक्षणा है। यह अपरिवर्त्तन ही वस्तु का सल्लक्षण भाव है। "स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः" इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति के अनुसार प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में अन्तर्य्यामीरूप से प्रतिष्ठित मनःप्राणवाङ्मय अक्षरात्मा ही 'आत्मा' है। एवं इस त्रिकल अक्षरात्मा के मनोभाग से विनिर्गत 'रूप' नामक विकार, प्राणभाग से विनिर्गत 'कर्म्म' नामक विकार, एवं वाक् भाग से विनिर्गत 'नाम' नामक विकार की (नाम–रूप––कर्म्म की) समष्टिरूप दृश्य–स्पृश्य अण्ड––पिण्डात्मक भौतिक वस्तु ही अन्तर्य्यामी आत्मा का शरीर है। और यों प्रत्येक वस्तुभाव अन्तर्य्यामी–मनःप्राणवाङ्मय आत्मा, तथा बहिर्य्यामी नामरूपकर्म्ममय शरीर, इन दो विभिन्न वस्तुतत्त्वों से अमृतमृत्युमय बना हुआ है। एवं इस सर्वव्यापक अमृत–मृत्य–समन्वयात्मक दृष्टिकोण से दैवत–आत्मिक–भौतिक–तीनों संस्थाओं के तथाकथित ६ ओं विभाग–प्रत्येक विभाग स्व-स्व वैय्यक्तिक वस्तुभावरूप से भी अमृत–मृत्युमय प्रमाणित हो रहे हैं।

उदाहरण के लिए ६ओं विभागों में से पहिले सर्वारम्भ के मनोमय प्राणात्मा को ही लीजिए, जिसे पञ्चविभागदृष्टि से हमनें केवल 'अमृत' हो कहा है प्रथम दृष्टिकोण से। यह ठीक है कि स्वयम्भू परमेष्ठ्यादि पाँचों प्राकृतिक क्षरपर्वों की दृष्टि से मनोमय प्राणशरी भारूप अक्षरात्मा 'अमृत' ही है। किन्तु स्वयं अपने स्वरूप के भेद से यह भी अमृत–मृत्युमय प्रमाणित हो रहा है। मनोरूप निर्गुण–निष्कल–निर्द्वन्द्व–अव्ययपुरुष इस आत्मा का अमृतभाव है, एवं तदभिन्न पराप्रकृतिरूप मनोमय प्राणशरीरी अक्षरतत्त्व इसी आत्मा का मृत्युभाव है अव्ययपुरुष की अपेक्षा से यों अव्यय, और अक्षर भेद से मनोमय प्राणात्मा में भी दोनों का समन्वय प्रमाणित हो रहा है। अब आगे चलिए। अमृतरूप अव्ययाधिष्ठान पर प्रतिष्ठित मृत्युमय अक्षर के व्यापार से आविर्भूत स्वयम्भू दूसरा विभाग है। इसे उत्पन्न कर–'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस सिद्धान्त के अनुसार अव्ययाक्षररूप आत्मा इस का अधिष्ठान बन रहा है। इस दृष्टि से स्वयम्भू का अधिष्ठानात्मक अन्तर्य्यामीभाव अमृत है, जिसे अमृताकाशरूप परमेव्योमन्–परमाकाश–कहा गया है। एवं तदपेक्षया स्वयं स्वयम्भू मृत्यु बना हुआ है। और यों केवल स्वयम्भू में भी अमृत-मृत्यु-रूप से दोनों भाव समन्वित हो रहे है। यही स्थिति आगे के शेष चारो पर्वों में समन्वित हो रही है।

ऋक्–साम–यजुर्म्मूर्ति स्वयम्भू के 'यत्' रूप गतिभाव के व्यायार से 'जू' रूप वाक् भाग ही द्रुत होकर–'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेव सासृज्यत' इत्यादि के अनुसार आपोमय परमेष्ठी के रूप में परिणत हो रहा है। साथ ही उसी 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से अव्ययाक्षरमूर्त्ति आत्मसन्वित स्वयम्भू इस परमेष्ठी का आत्मा बना हुआ है, एवं स्वयं परमेष्ठी इस आत्मा का स्वरूप। आत्मदृष्ट्या अमृतपरमेष्ठी देवता है, भूतदृष्ट्या मर्त्यपरमेष्ठी भूत है। 'देवतानि च भूतानि च' के अनुसार इसप्रकार परमेष्ठी में भी अमृत-मृत्यु–दोनों भाव समन्वित हो रहे हैं।

आगे चालिए। आपोमय परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोमय है, ऋतमूर्त्ति है *, जैसा कि-'**ऋतमेव परमेष्ठी-ऋतं नात्येति किञ्चन**' इत्यादि गोपथवचन से प्रमाणित है। स्नेहगुणक भृगुतत्त्व के सम्बन्ध से तेजोगुणक अङ्गिरा-तत्त्व उत्तरोत्तर घनीभूत बनते हुए कालान्तर में हिरण्मयी सौरसंस्था के जनक बन जाते हैं। और यों भृग्वङ्गिरोमय ऋतपरमेष्ठी ही अपने प्रवर्ग्यरूप भृग्वङ्गिरो-भावों की चिति-सञ्चिति-चयन से तमोविनाशक सूर्य्याविर्भाव के कारण बन रहे हैं। उसी तत्सृष्ट्वान्याय से प्राणात्मा से समन्वित स्वयम्भू-समन्वित परमेष्ठी इस सौरसंस्था के आधार बन जाते हैं। और यही इस चौथे सूर्य्यविभाग के अन्तर्य्यामी आत्मा है, यही 'अमृत है। एवं स्वथं सूर्य्य इस आत्मा के शरीरस्थानीय मृत्युभाव हैं।

और आगे चलिए। दृष्टिक्रमानुसार जहाँ चन्द्रमा का पृथिवी से प्रथम स्थान है, वहाँ सृष्टिक्रमानुसार चन्द्रमा का पृथिवी से अन्तिम स्थान है। अभी दृष्टिक्रम को ही प्रधान मान कर चलिए। जिसका अर्थ हुआ-सौरसंस्था के अनन्तर चन्द्रसंस्था का आविर्भाव हुआ आन्तरिक्ष्य अश्मासोम के द्वारा। चन्द्रमा से पूर्व के सभी संस्थान चन्द्रमा के 'आत्मा' बने, स्वयं चन्द्रमा इस आत्मा का शरीर। अन्ततोगत्त्वा भूपिण्ड का विकास हुआ, जिसका आत्मा बना चन्द्रान्त, एवं स्वयं भूपिण्ड बना शरीर। यों भूपिण्ड पर एक सृष्टिधाराक्रम उपशान्त हुआ। स्पष्ट है कि, ६ ओं विभागों में सर्वान्त का भूपिण्ड ही वैसा विभाग है, जिसमें तत्पूर्व का सम्पूर्ण प्राणभूतप्रपञ्च गर्भीभूत है। अतएव श्रुति ने पृथिवी को सम्पूर्ण भूतों का 'रस' मान लिया है। इसीलिए तो-'**पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः**' के अनुसार सप्तवितस्तिकायात्मक सहस्रशीर्ष-सहस्राक्ष-सहस्रपात्-मूर्त्ति विराट् पुरुष की पादस्थानीया पृथिवी ही उपासनाकाण्ड में संगृहीत है। पार्थिव इरामय-प्रज्ञानरस ही वह प्रपदब्रह्म है, जो मानव-मानवी के दक्षिणाङ्गुष्ठस्थानीय प्रपदस्थान से मानवसंस्थान में प्रविष्ट हुआ करते है। यही भारतीय चरणोपासना-चरणवन्दन-का मौलिक आधार है, जिस पार्थिव मौलिक आधार में सम्पूर्ण रस समाविष्ट हैं। अतएव '**इह चेन्नावेदीत्-महती विनष्टिः**'-'**अत्रैतत्समर्पितम्**'-भूतेषु '**भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**' इत्यादि श्रुतियाँ पार्थिवशरीरी मानव के अभ्युदय-निःश्रेयस्-का उपक्रमबिन्दु 'भूत' को ही मान रहीं हैं। प्रकृत में इस धारावाहिक क्रमसंस्थान के द्वारा निवेदन यही करना है कि, तीनों संस्थाओं के ६ ओं विभागों में प्रत्येक में भी सापेक्ष आत्मा, और शरीर भावों से अमृत-मृत्युभाव-समाविष्ट हैं, जिन ६ ओं का मौलिक सर्वाधार अव्ययपुरुषात्मक अमृतभाव ही 'संस्कृति' का केन्द्र बन रहा है, जबकि उत्तर के शेष सब विभाग अपेक्षया संस्कृति (आत्मदृष्टि से), तथा सभ्यता (शरीरदृष्टि से) उभयात्मक बने हुए हैं। निम्नलिखित परिलेख से इसी द्वितीय दृष्टिकोण का समन्वय हो रहा है।

---

* **आपो भृग्वङ्गिरोरुप, मापो भृग्वङ्गिरोमयम्।**
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥
—गोपथब्राह्मण

(१)	१–आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्घन–अप्राण–अमन–लक्षणः–अव्ययपुरुषः—अमृतम्–आत्मा (संस्कृतेराधारः) २–मनःप्राणवाङ्मयः–प्राणात्मा–विश्वप्रकृतिरूपः–अक्षरः————————मृत्युः–शरीरम् (सभ्यतायाराधारः)	**मनोमयः प्रणात्मा (१)**	अमृतमेव
(१)	१–मनोमयः प्राणात्मा ——–अमृतम्–आत्मा–संस्कृतेरालम्बनम् २–ऋक्सामयजुर्मयः–स्वयम्भूः–मृत्युः–शरीरम्–सभ्यतायारालम्बनम्	प्राणात्मगर्भितः–आकाशात्मा–अव्यक्तः– **स्वयम्भूः** (२)	अमृतमृत्यू
(२)	१–प्राणात्मगर्भितस्वयम्भूः–अमृतम्–आत्मा–संस्कृतिप्रवर्त्तकः २–भृग्वङ्गिरोमयः परमेष्ठी–मृत्युः–शरीरम्–सभ्यताप्रवर्त्तकः—-	प्राणात्म–अव्यक्ताकाशात्म–स्वयम्भुगर्भितः **परमेष्ठी** (३)	अमृतमृत्यू
(३)	१–प्राणात्म–स्वयम्भु–परमेष्ठी–अमृतम्–आत्मा –संस्कृतेरुदयभूमिः–— २–अङ्गिराचितिमयः–सूर्य्यः—मृत्युः–शरीरम्–सभ्यताया उदयभूमिः–	प्राणात्म–स्वयम्भु–परमेष्ठि–गर्भितः–सूर्य्यः (४)	अमृतमृत्यू
(४)	१–प्राणात्म–स्वयम्भु–परमेष्ठिगर्भितसूर्य्यः–अमृतम–आत्मा–संस्कृतेः सन्देशवाहकः २–रेतःश्रद्धायशोमयश्चन्द्रमाः ———मृत्युः–शरीरम्–सभ्यतायाः–सन्देशवाहकः	प्राणात्म–स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–गर्भितश्चन्द्रमाः (५)	अमृतमृत्यू
(५)	१–प्राणात्मस्वयम्भुपरमेष्ठिसूर्य्यगर्भितचन्द्रमाः–—अमृतम्–आत्मा–संस्कृतेर्भोगायतनम् २–वाग्गौर्द्यौर्लक्षणा पृथिवी ————————मृत्युः–शरीरम्–सभ्यतायाः–भोगभूमिः	प्राणात्मस्वयम्भुपरमेष्ठिसूर्य्यचन्द्रगर्भिता–पृथिवी (६)	अमृतमृत्यू

<table>
<tr><td>पुरुषः</td><td>संस्कृतिमूर्त्तिः</td><td>अमृतात्मा–अव्ययः
मृत्युप्रवर्त्तकः-अक्षरः</td><td>अमृतमेव–मनोमयः-प्राणात्मा</td><td colspan="3">न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः</td></tr>
<tr><td rowspan="3">सभ्यतामूर्त्तिः–प्रजापतिः</td><td rowspan="3">अन्तरं मृत्योरमृतं–मृत्यावमृतमाहितम्</td><td>अमृतम्</td><td>मृत्युः</td><td>१</td><td>२</td><td>३</td></tr>
<tr><td>(१) अमृताकाशमूर्त्तिः–स्वयम्भूः
(२) अमृतसोममूर्त्तिः--परमेष्ठी
(३) अमृताग्निमूर्त्तिः--सूर्य्यः
(४) अमृतसोममूर्त्तिः--चन्द्रमाः
(५) अमृताग्निमयी—पृथिवी</td><td>प्राणात्मापेक्षया–मृत्युः
स्वयम्भ्वपेक्षया--मृत्युः
परमेष्ठ्यपेक्षया–मृत्युः
सूर्य्यापेक्षया—-मृत्युः
चन्द्रापेक्षा——मृत्युः</td><td>स्वयम्भूः
परमेष्ठी
सूर्य्यः
चन्द्रमाः
पृथिवी</td><td>अव्यक्तः
महान्
बुद्धिः
मनः
शरीरम्</td><td>आकाशः
वायुः
तेजः
जलम्
मृत्</td></tr>
<tr><td>सत्</td><td>असत्</td><td>ईश्वरः</td><td>मानवः</td><td>जगत्</td></tr>
<tr><td colspan="4">अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्, अर्द्धममृतम्</td><td>अधिदैवतं</td><td>अध्यात्मम्</td><td>अधिभूतम्</td></tr>
<tr><td colspan="7">अमृतञ्चैव- मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !</td></tr>
</table>

१२१--अमृत, और मृत्यु का तृतीय दृष्टिकोण, एवं तत्समन्वय—

अब एक तीसरे उस दृष्टिकोण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जिसका मानव की आचारात्मिका संस्कृति, तथा सभ्यताओं से प्रधान सम्बन्ध माना जायगा। तथाकथित ६ विभागों को लक्ष्य बनाइए, जिनके सम्बन्ध में विभिन्न दो दृष्टिकोणों का पूर्व में क्रमशः दिग्दर्शन कराया गया है। प्रथम दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाली प्रथम तालिका में (पृ० सं० ५३ में) आप देखेंगे कि, ६ विभागों में से सर्वारम्भ का प्रथम **'प्राणात्मा'** नामक विभाग तो **'अमृतम्'** है, एवं उत्तर के स्वयम्भूरादि पृथिव्यन्त पाँच विभाग 'मृत्युः' हैं। इन एक, और पांच के अमृतमृत्युमय दो विभागों में से प्राणात्मरूप अमृत नामक प्रथम विभाग को **'संस्कृति'** कहा जायगा, एवं मृत्युमय स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–रूप पाँच व्यक्त विश्व विभागों को **'सभ्यता'** कहा जायगा। आत्ममूला संस्कृति, एवं विश्वमूला सभ्यता का यही प्राथमिक दृष्टिकोण होगा, जिसका तत्रैव निर्दिष्टा प्रथमा तालिका से ही सम्बन्ध माना जायगा।

दूसरे दृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाली पृष्ट सं० ५६ की तालिका में ६ ओं विभागों में प्रत्येक विभाग के साथ अमृतनिबन्धन आत्मा, तथा मृत्युनिबन्धन शरीर, इन दो दो विभागों का समन्वय प्रतिपादित है। फलतः प्रत्येक विभाग में आत्मापेक्षया संस्कृति, तथा शरीरापेक्षया सभ्यता, दोनों का भोग प्रमाणित हो जाता है। यों ये दोनों दृष्टिकोण सृष्टितत्त्वानुबन्धी विशेष दृष्टिकोणों से सुसमन्वित हैं। अब लोकव्यवहारात्मक जिस तृतीय दृष्टिकोण का जो दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, उसे ही अवधानपूर्वक विशेषरूप से इसलिए हमें

लक्ष्य बना लेना है कि, इसी तृतीय दृष्टिकोण को आधार मानकर हमें संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों के उस चिरन्तन इतिहास का समन्वय करना है, जो कि प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है ।

पूर्व के '**प्रकृति-पुरुष का समन्वय, और संस्कृति**' नामक बत्तीसवें (३२) परिच्छेद में हमनें कहा है कि, "सभ्यता का पूर्वरूप जहाँ 'लोकसंस्कृति' कहलाया है. वहाँ सभ्यता का उत्तररूप ही 'लोकसभ्यता' माना गया है" (देखिए पृ० सं० १३)। उस सभ्यता का पूर्वरूप तो कौन सा है, जो मानव की लोकसस्कृति का आधार बनता है, एवं उत्तररूप कौनसा है, जो मानव की लोकसभ्यता का आधार बनता है ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो जाता है, जिसका समाधान 'सभ्यता' शब्द के चिरन्तन इतिहास-परिज्ञान पर ही अवलम्बित है। सम्पूर्ण विश्व ही विश्वात्मा-मनोमय प्राणात्मा की वह व्यक्त सभा है, जिसे पाञ्चभौतिक महाविश्व कहा गया है । यही अन्तर्य्यामी-सर्वशास्ता-ईशप्रजापति की लोकसभा है । इस विश्वात्मिका लोकसभा में यथास्थान * यथाधिकार-यावदधिकारपर्य्यन्त (सृष्टिपर्य्यन्त) व्यवस्थित-अधिकारारूढ बने रहने वाले इन्द्र-वरुण-अग्नि-वायु-मरुत्-विश्वेदेव-आदि आदि आधिदैविक प्राणदेवता ही लोकसभा के सम्मान्य सदस्य हैं, जिनके द्वारा विश्वपति-राष्ट्रपति-अन्तर्य्यामी के साक्षित्व में तानूनप्त्र (शपथ) पूर्वक उन नियमोपनियमों पर दृढ़ रूप से, आस्था-श्रद्धापूर्वक व्यवस्थित रहने की विधि विहित होती है, जो विधिविधान हीं इस लोकसभा-रूप विश्व के नियम माने गए हैं । इन नियमों की समष्टि ही '**सभ्यता**' है । सहजभाषानुसार ईश्वरीय नियतिः-सत्यात्मक-आचरणधर्म्मात्मक-प्रतीकरूप विश्वनियमों का ही नाम सभ्यता है । विश्वसभा की आचारपद्धति-नियमपद्धति ही सभ्यता है, जिसका प्रकारन्तर से पूर्व में भी दिग्दर्शन कराया जा चुका है (देखिए पृ० सं० १३-३३ वाँ परिच्छेद)।

स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी पर्य्यन्त व्याप्त-वितत-महाविश्व ही अक्षरावच्छिन्न अव्ययेश्वर-षोडशी-प्रजापति की सभा है, एवं इस सभा के सभ्य प्राणदेवताओं के द्वारा व्यवस्थित-सञ्चालित-विधि-विधान हीं 'सभ्यता' है, यही 'सभ्यता' शब्द के चिरन्तन इतिहास का निष्कर्ष है । इस सभ्यता के, किंवा सभ्यता से अभिन्न लोकसभारूप पञ्चपर्वा विश्व के पूर्वोत्तररूपों की दृष्टि से ही हमें सभ्यता के उन दो पूर्व, तथा उत्तररूपों का अन्वेषण करना है, जिन दोनों रूपों के आधार पर ही मानव की लोकसंस्कृति, एवं लोकसभ्यता का स्वरूप अवस्थित-व्यवस्थित है ।

दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुसार पञ्चपर्वा विश्व का उपक्रम स्थान पृथिवी है, उपसंहार स्थान स्वयम्भू है, और यही '**पादमूला-पार्थिवी सृष्टिविद्या**' कहलाई है। **स्थितिमूला** सृष्टिविद्या के अनुसार विश्व का उपक्रम स्थान विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य है, जैसाकि-'**आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्**' इत्यादि निगमवचन से प्रमाणित है । उपसंहार स्थान पञ्चपर्वा विश्व की वह परिधि है, जिसका आलम्बन स्वायम्भुव परमाकाश के गर्भ में प्रतिष्ठित सौर पुराणाकाश बना हुआ है । और यही '**हृन्मूला-सौरी सृष्टिविद्या**' है । **सृष्टिमूला** सृष्टिविद्या के अनुसार विश्व का उपक्रमस्थान विश्व का आदि महाभूतात्मक परमाकाशात्मा अव्यक्तमूर्त्ति स्वयम्भू है, उपसंहारस्थान निधनस्थानीय चन्द्रमा है । और यही-'**शिरोमूला-स्वायम्भुवी सृष्टिविद्या**' है ।

***-यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्** (वेदान्तसूत्र)।

सृष्टिविद्यात्मक उक्त तीन संस्थानों में से प्रकृत में हमें हृन्मूला–सौरी–सृष्टिविद्या की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करना है, जिसके आधार पर मानव की संस्कृति–सभ्यता के आधारभूत विश्वरूपा सभ्यता के पूर्व, तथा उत्तर रूपों का समन्वय अपेक्षित है। सूर्य्य विश्व के केन्द्र में 'बृहतीछन्द' नामक सुप्रसिद्ध पूर्वापरवृत्तात्मक उस मध्य के अहोरात्रवृत्त पर स्थिररूप से ÷ प्रतिष्ठित है, जिस अहोरात्र के द्वारा ही सौरबृहत्सामात्मक सौरज्योतिर्म्मय सम्वत्सरमण्डल का वितान हुआ है। सम्वत्सराध्यक्ष सौर प्राण ही **'मघवा'** नामक सौर **'इन्द्र'** कहलाए हैं। इसी आधार पर सौरलोकात्मिका द्यौ को **'इन्द्रगर्भिणी'** मान लिया गया है *।

इसी प्रसङ्ग में एक सुप्रसिद्ध इस निगमवचन की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जो विस्पष्ट शब्दों में पाञ्चभौतिक विश्व के पूर्व–उत्तर रूप से दो विभागों का निरूपण कर रहा है। वचन का स्वरूप है–"**बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः**', जिसका अक्षरार्थ है–'बृहस्पति' नामक देवता पूर्व देवताओं के अन्त में प्रतिष्ठित रहने के कारण 'उत्तम' कहलाए हैं, एवं 'इन्द्र' नामक देवता उत्तरदेवताओं के आदि में रहने के कारण 'प्रथम' कहलाए है। उत्तम बृहस्पति, तथा प्रथम इन्द्र, ये दो प्राणदेवता ही विश्व के पूर्व–उत्तर–रूपों के व्यवस्थापक बने हुए हैं, यही उक्त निगम वचन का निष्कर्षार्थ है।

विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य से ऊपर भी वैसे तो अनन्त–असंख्य–प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। किन्तु उन सब का प्रधान रूप से ९ प्रमुख देववर्गों में हीं अन्तर्भाव मान लिया गया है। एवमेव सूर्य्य से अर्वाक् भी यद्यपि हैं तो असंख्य–अनन्त देवता। तथापि इनका संग्रह ९ प्रमुख देवताओं में हीं मान लिया गया है। परोरजामूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्मा तो देवाधिपति हैं। इनको आधार बना कर क्रमशः **१–अन्तर्य्यामी, २–सूत्रात्मा, ३–वेदात्मा, ४–वाचस्पतिविश्वकर्म्मा, ५–परमेष्ठी विष्णु, ६–वरुण असुराधिपति,** ७–प्रसविता सविता, ८–पवित्र ब्रह्मणस्पति, एवं ९–**वाक्पति बृहस्पति**, ये ९ प्रमुख प्राणदेवता ही पूर्वदेवता कहलाए हैं, जिन इन पूर्वदेवताओं के अन्त में बृहस्पति प्रतिष्ठित हैं। एवमेव **१–हिरण्यगर्भ इन्द्र, २–आङ्गिरस शनैश्चर, ३–आङ्गिरस ग्रह बृहस्पति, ४–देवसेनाग्रह, ५–आङ्गिरस मङ्गल, ६–पार्थिव अग्नि, ७–चान्द्रसोम, ८–भार्गव शुक्र, एवं ९–भार्गव बुध,** ये नौ प्रमुख ग्रहदेवता ही उत्तरदेवता कहलाए हैं, जिन इन उत्तरदेवताओं के आदि में हिरण्यगर्भ इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। इस अष्टादश–(१८) प्राणदेवसंघ के दिग्दर्शन से प्रकृत में हमें स्पष्ट यही कर देना है कि, श्रुति ने विस्पष्टरूप से पञ्चपर्वा महाविश्व के पूर्व, एवं उत्तररूप से दो विभाग माने हैं, जिन में पूर्व के विभागान्त में वाक्पतिबृहस्पति प्रतिष्ठित हैं, तो उत्तर के विभागादि में हिरण्यगर्भ इन्द्र प्रतिष्ठित हैं। '**बृहस्पतिरुत्तमो भवति पूर्वेषाम्, इन्द्रः प्रथमो भवति–उत्तरेषाम्**' वचन का यही समन्वय है।

÷ **सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः। नैवोदेता, नास्तमेता। मध्ये एकल एव स्थाता। आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्।**

—श्रुतयः

* **यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी** (श्रुतिः)।

एक अन्य दृष्टि से पञ्चपर्वा विश्व को ऋषि ने त्रिसंस्थ मान कर भी उक्त पूर्व-उत्तर-विभागों का स्पष्टीकरण किया है । "**या ते धामानि परमाणि०** *" इत्यादि यजुर्म्मन्त्र-वर्णनानुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-तथा तन्मध्यस्थ-अन्तरिक्ष-रूप तीनों लोक परमधाम हैं । मर्त्यसूर्य्य-आन्तरिक्ष्य चन्द्र-पृथिवी रूप तीनों लोक अवमधाम हैं । एवं सौरसम्वत्सररूप क्रन्दसीत्रैलोक्य-मध्यमधाम है । मध्यमधाम का अमृतभाग पूर्व के परमधामों में, तथा मर्त्यभाग उत्तर के अवमधामों में अन्तर्भुक्त रहता है । फलतः **परम**, और **अवम**, रूप से दो ही धाम प्रधान बने रह जाते हैं, जिन्हें क्रमशः पूर्व, और उत्तर धाम कहा जा सकता है ।

सहजभाषा में उक्त स्थिति का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, विश्वमध्यस्थ सूर्य्य से नीचे नीचे मृत्युतत्त्व की प्रधानता है, सूर्य्य से ऊपर ऊपर अमृततत्त्व की प्रधानता है, एवं स्वयं सूर्य्य में अमृत-मृत्यु-दोनों का समन्वय है । तात्पर्य्य इस कथन का यह निकला कि, सूर्य्य से ऊपर के परमेष्ठी और स्वयम्भू-नामक दो लोकों में अमृतात्मक प्राणतत्त्व प्रधान है, मर्त्यरूप गौण है । सूर्य्य से नीचे के चन्द्रमा, और भूपिण्ड में मर्त्य भूत प्रधान हैं, एवं अमृतप्राण गौण है । तथा स्वयं सूर्य्य में अमृतप्राण, मर्त्यभूत-दोनों समतुलित हैं । सम्पूर्ण विश्व भूत और प्राण की समन्वितावस्थामात्र है । अन्तर यही है कि, सूर्य्य से ऊपर भूतगर्भित प्राण का साम्राज्य है, सूर्य्य से नीचे प्राणगर्भित भूत का प्राधान्य है ÷, एवं स्वयं सूर्य्य में दोनों समतुलित हैं । इसी समतुलन को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
—यजुःसंहिता ३४।३१।

प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्यबिम्ब भूतात्मक मर्त्यसूर्य्य है । और यह प्रत्यक्षदृष्ट भूतात्मक, अतएव मर्त्य चन्द्रबिम्ब, तथा भूपिण्ड, दोनों इस मर्त्य सूर्य्यबिम्ब के ही सहयोगी बने हुए हैं । इसप्रकार मर्त्यसूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड, इन तीनों प्रत्यक्षदृष्ट भूतपिण्डों की समष्टि को हम महाविश्वात्मिका सभ्यता का मृत्युलक्षण उत्तररूप कह सकते हैं, अवश्य कह सकते हैं । प्रत्यक्षदृष्ट मर्त्य-भूतपिण्डात्मक-सूर्य्य का आधारभूत अप्रत्यक्ष-इन्द्र-

---

* या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ।
शिक्षासखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधा नः ॥
—यजुःसंहिता १७।२१।

÷—तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम् ।
—शत० ब्रा० १०।५।१।४

प्राणात्मक सूर्य्य अमृतसूर्य्य है। और यह अप्रत्यक्ष-महत्प्राणात्मक परमेष्ठी, तथा अप्रत्यक्ष ही अव्यक्त वेदप्राणात्मक स्वयम्भू, इन दोनों अण्डों का सहयोगी बन रहा है। यों इन्द्रप्राणात्मक अमृतसूर्य्य, महत्प्राणात्मक परमेष्ठी, वेदप्राणात्मक स्वयम्भू, इन तीनों की समष्टि को हम महाविश्वात्मिका सभ्यता का अमृतलक्षण पूर्वरूप कह सकते हैं।

अमृतप्राण ही आत्मा की सहज परिभाषा है, मर्त्य शरीर ही भूत की सहज परिभाषा है। इस सहज परिभाषा के अनुसार अमृतस्वयम्भू-अमृतपरमेष्ठी-अमृतसूर्य्य (इन्द्र) तीनों की समन्वितावस्थारूप पूर्वरूप को **'आत्मा'** कह सकते हैं। एवं मर्त्यसूर्य्य-मर्त्यचन्द्रमा-मर्त्यभूपिण्ड, तीनों की समष्टिरूप उत्तररूप को **'शरीर'** कह सकते हैं। **'आत्मा उ एक सन्नेतत्त्रयम्। त्रयं सदेकमयमात्मा'** के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य की समष्टि पाञ्चभौतिक विश्व का सोपाधिक एक **'भूतात्मा'** है। इस त्रिपर्वा एक भूतात्मा के आधार पर मर्त्यसूर्य्यरूप कारणशरीर, मर्त्यचन्द्ररूप सूक्ष्मशरीर, तथा मर्त्य भूपिण्डरूप स्थूलशरीर, इन तीनों कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरों की समष्टिरूप भौतिक शरीर सुप्रतिष्ठित है। और यों पञ्चपर्वा विश्व में हीं अमृतप्राण-मर्त्यभूत-के विभाजन से **'आत्मा-शरीर'** नामक दो विभाग उपपन्न हो जाते हैं। यह सर्वथा अविस्मरणीय है कि, निरपेक्ष मूलसंस्कृति से अनुप्राणित मनोमय प्राणशरीरनेता अव्ययपुरुषात्मा नामक सांस्कृतिक आत्मा इस विश्वानुबन्धी सोपाधिक-भूतशरीरनेता अव्यक्त-क्षरात्मा-नामक सभ्यताधारभूत आत्मा से सर्वथा पृथक् ही वस्तुतत्त्व है; जो सम्पूर्ण विश्व का, दूसरे शब्दों में आत्मशरीररूप-पूर्वोत्तरविभाग-द्वयात्मक-सभ्यतात्मक-पञ्चपर्वा-अमृतमृत्युमय-महाविश्व का अवारपारीण तटस्थ आलम्बनमात्र ही बना रहता हुआ कार्य्य-कारणमर्य्यादाओं से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। कार्य्यकारणातीत-निरपेक्ष संस्कृतिरूप अवारपारीण उस अखण्ड-शाश्वत-अव्ययात्मा पर ही सभ्यतारूप पञ्चपर्वा विश्व प्रतिष्ठित है, जिसके तथाकथित पूर्व-उत्तर-रूपों के द्वारा ही मानव की भूतात्मनिबन्धना सभ्यता का, पूर्वरूपात्मिका लोकसंस्कृति का, एवं मनःशरीरनिबन्धना सभ्यता का, उत्तररूपात्मिका लोकसभ्यता का स्वरूप-वितान होता है।

वक्तव्यनिष्कर्ष यही है कि, पञ्चपर्वा विश्व संस्कृतिरूप पर्वातीत-विश्वातीत-अव्ययेश्वरप्रजापति (षोडशीप्रजापति) का 'सभ्यता' लक्षण व्यक्त-लौकिक-भौतिक स्वरूप है। इस पञ्चपर्वा भौतिक विश्वस्वरूप का अमृतसूर्य्यान्त भाग आत्मा है, यही **विश्वसंस्कृति** है। मर्त्यभूपिण्डान्त भाग शरीर है, यही विश्वसभ्यता है। और यही अमृत-मृत्यु-संस्थानात्मक वह तीसरा दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर ही आपको मानव की लोकसंस्कृति, तथा लोकसभ्यता का समन्वय करना है। परिलेख के द्वारा लक्ष्य बनाइए इस तृतीय दृष्टिकोण को, एवं तदाधारेण अपने अन्तर्जगत् में हीं समन्वय करने की चेष्टा कीजिए मानवीया आत्मनिबन्धना (भूतात्मनिबन्धना) संस्कृति का, तथा शरीरनिबन्धना सभ्यता का।

विश्वातीतः–विश्वाधारः–आलम्बनात्मकः–निरपेक्षसंस्कृतिरूपः–अक्षरावच्छिन्नोऽव्ययात्मा विश्वात्मा

१–स्वयम्भूः—१–वेदप्राणमयः——अमृतस्वयम्भूः (प्राणमूर्त्तिः)
२–परमेष्ठी——२–महत्प्राणमयः—अमृतपरमेष्ठी (आपोमूर्त्तिः) } –विश्वपूर्वभागः (आत्मा)-लोकसंस्कृतिः | सभ्यतायाः–पूर्वरूपम् |
३–सूर्य्यः—{ ३–इन्द्रप्राणमयः—-अमृतसूर्य्यः (वाङ्मूर्त्तिः)
———————————* ————–* निवेशपन्नमृतंमर्त्यंच
१–भूतपिण्डात्मकः—मर्त्यसूर्य्यः (वागूरूपः)
४–चन्द्रमाः—२–भूतपिण्डात्मकः—मर्त्यचन्द्रमाः (आपोरूपः) } –विश्वोत्तरभागः (शरीरम्)-लोकसभ्यता | सभ्यतायारुत्तररूपम् |
५–भूपिण्डः—३–भूतपिण्डात्मकः–-मर्त्यभूपिण्डः (अग्निरूपः)

पूर्वपरिच्छेदों में यत्र तत्र अनेकधा यह स्पष्ट किया गया है कि, **आत्मा**, बुद्धि, **मन, शरीर,** इन चारों की समन्वित अवस्था का ही नाम मानव है। एवं आत्मबुद्धि की समष्टि ही मानव की संस्कृति का मूलाधार है, तथा मनःशरीर की समष्टि ही मानव की सभ्यता का मूलाधार है। इन मानवीय संस्कृति, तथा सभ्यता–पर्वों का ही उक्त तालिका के माध्यम से समन्वय अपेक्षित है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–अमृतसूर्य्य–तीनों के प्रवर्ग्य भागों से मानव की संस्था में जो स्वरूप समन्वित होता है, उसका नाम क्रमशः अव्यक्त–महान्–बुद्धि है। इन तीनों में मध्यस्थ महान् ही अपने सौम्य–वीध्र–गुण के कारण चिदंश का ग्राहक बनता हुआ मानवीय कर्म्मभोक्ता औपपातिक भूतात्मा (देहाभिमानी जीवात्मा) का स्वरूपाभिव्यञ्जक बनता है। अतएव मानवीय भूतात्मा नामक 'आत्मा' पारमेष्ठ्य महान् के द्वारा संगृहीत बन जाता है। और यों अव्यक्त–महान्–बुद्धि–तीनों अमृतपर्वों के साथ भूतात्मा का भी संग्रह हो जाता है। अतएव 'भूतात्मा' रूप 'आत्मा' से ही अव्यक्त–महान्–बुद्धि–भूतात्मा चारों का ग्रहण गतार्थ बन जाता है। और यों प्राकृतिक विश्व के ^{1}**स्वायम्भुव अव्यक्त,** ^{2}**पारमेष्ठ्य महान** ^{3}**तदभिन्न भूतात्मा,** ^{4}**अमृतसौरीबुद्धि** इन पर्वों का समन्वय सुसमन्वित हो जाता है। इनमें जो चौथी बुद्धि है, वही विज्ञान है, जो महान् का अनुगामी बना रहता है।

अब शेष रह जाते हैं मर्त्यसूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–ये तीन पर्व। इन तीनों के प्रवर्ग्य भागों से मानवसंस्था में क्रमशः मर्त्या लौकिकी सौरीबुद्धि, मर्त्यचान्द्रमन, मर्त्य पार्थिव शरीर, ये तीन भाव आविर्भूत हो जाते हैं। इन तीनों में से मर्त्या लौकिकी सौरीबुद्धि का मनःशरीर के साथ भी सम्बन्ध रहता है। एवं

समान–सजातीय क्षेत्रानुबन्ध से अमृत–सौर–विज्ञान–लक्षणा अलौकिकी बुद्धि से भी सम्बन्ध रहता है। अतएव अव्यक्त–महान्–भूतात्मा–अमृताबुद्धिरूप आत्मा के साथ भी बुद्धि का सम्बन्ध मान लिया जासकता है। एवं मर्त्यमन, मर्त्यशरीररूप शरीर के साथ भी मर्त्याबुद्धि का सम्बन्ध मान लिया जासकता है। बुद्धि बुद्धित्वेन एक ही तत्त्व है। अतएव अमृता विज्ञानबुद्धि, मर्त्या लोकबुद्धि दोनों का मिलकर एक बुद्धिपर्व हो जाता है। अव्यक्त–महान्–भूतात्मा–तीनों का मिलकर एक आत्मपर्व होजाता है। चान्द्रमन एकपर्व है, पार्थिव शरीर एक पर्व है। इस प्रकार अव्यक्त–महान्–भूतात्मा–अमृताबुद्धि–मर्त्याबुद्धि–मन–शरीर– इन ७ पर्वों का अन्ततोगत्वा चार ही प्रधान पर्वों पर पर्य्यवसान हो जाता है। और यही मानव के आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–समष्टिरूप चतुष्पर्वा संस्थान का पर्वसमन्वय है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

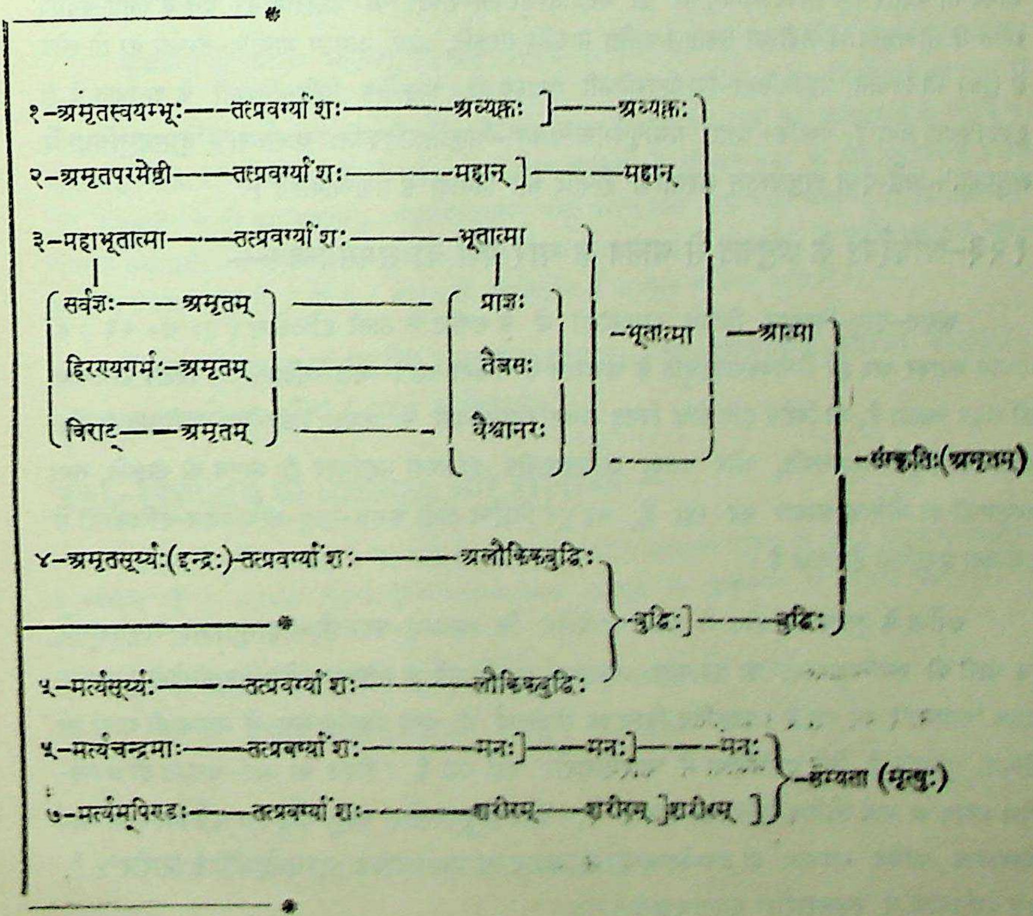
१–अमृतस्वयम्भूः––तत्प्रवर्ग्यांशः––अव्यक्तः]––अव्यक्तः
२–अमृतपरमेष्ठी––तत्प्रवर्ग्यांशः––महान्]––महान्
३–महाभूतात्मा––तत्प्रवर्ग्यांशः––भूतात्मा
सर्वज्ञः––अमृतम्
हिरण्यगर्भः–अमृतम्
विराट्––अमृतम्
प्राज्ञः
तैजसः
वैश्वानरः
–भूतात्मा
–आत्मा
–संस्कृतिः(अमृतम्)
४–अमृतसूर्य्यः(इन्द्रः)–तत्प्रवर्ग्यांशः––अलौकिकबुद्धिः
–बुद्धिः]––बुद्धिः
५–मर्त्यसूर्य्यः––तत्प्रवर्ग्यांशः––लौकिकबुद्धिः
५–मर्त्यचन्द्रमाः––तत्प्रवर्ग्यांशः––मनः]––मनः]––मनः
७–मर्त्यभूपिण्डः––तत्प्रवर्ग्यांशः––शरीरम्––शरीरम्]शरीरम्]
–सभ्यता (मृत्युः)

१२२–अमृतमृत्युनिबन्धन–मानव की अमृता संस्कृति, एवं मर्त्या सभ्यता—

पूर्वप्रदर्शित विविध दृष्टिकोणों के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, चतुष्पर्वा मानव की संस्कृति, तथा सभ्यता–तत्त्व केवल काल्पनिक प्रसून ही नहीं हैं। अपितु इसकी इस संस्कृति के, तथा सभ्यता के मूल तो उस महाविश्व के रहस्यपूर्ण सुसूक्ष्म तत्त्ववाद पर ही प्रतिष्ठित हैं, जिस तत्त्ववाद का यथावत् सुसमन्वय किए बिना कदापि मानव न तो सांस्कृतिक क्षेत्रों में ही सफलता प्राप्त कर सकता, एवं न इसे सभ्यता के क्षेत्रों में हीं सफलता मिल सकती। बहुत सम्भव है भारतेतर देशों के मानवों नें इन संस्कृति–सभ्यता शब्दों की आत्मप्रतिष्ठा के स्वरूपज्ञान में प्रयत्न करना उचित न माना हो। अतएव परिणामस्वरूप यह भी सम्भावित है कि, उनकी संस्कृति, और सभ्यता का उपक्रम भी केवल बाह्य–वैकारिक भूतजगत् ही बनता चला आ रहा हो, एवं उपसंहार भी भूतजगत् पर ही होता आ रहा हो। किन्तु आत्मनिष्ठ भारतीय मानव तो कदापि इस लोकदृष्टिमात्र पर ही संस्कृति–सभ्यता–शब्दों का बलिदान कर देने के लिए कदापि स्वप्न में भी संकल्प भी नहीं कर सकता। अपितु भारतीय संस्कृति, एवं तन्मूला भारतीय–सभ्यता का तो छोटे से छोटा भी विधान प्रकृतिसिद्धा–विश्वानुबन्धिनी व्यवस्थाओं, प्राकृतिक विधि–विधानों के अनुपात से ही सुव्यवस्थिता बना है, जैसाकि–**'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'–'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'–'देवाननुविधा वै मनुष्याः'–'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि'** इत्यादि श्रौत निनादों से प्रतिध्वनित है।

१२३–अधिदैवत के अनुपात से मानव के चार पर्वों का समसमन्वय—

अमृत–मृत्यु–निबन्धन त्रिविध दृष्टिकोणों में से सर्वान्त के तीसरे दृष्टिकोण (पृ० सं० ६३) को माध्यम बनाकर अब हमें मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाले प्रतिज्ञात उस विशेष दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाना है, जो विशेष दृष्टिकोण विगत अनेक सहस्राब्दियों से क्रमशः उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला रहा है। ईश्वरप्रजापति, और उसका शरीरस्थानीय पञ्चपर्वा महाविश्व ही मानव की संस्कृति, तथा सभ्यताओं का मौलिक आधार बन रहा है, यह पूर्व निर्दिष्ट तीनों अमृत–मृत्यु–संस्थानक्रम–दृष्टिकोणों से सर्वात्मना प्रमाणित हो जाता है।

सर्वान्त के तृतीय दृष्टिकोण में पाठक यह देखेंगे कि, **स्वयम्भू–परमेष्ठी–महाभूतात्मा–अमृतसूर्य्य**, इन चारों की समन्वितावस्था का प्रवर्ग्यांश उच्छिष्ट–उदक्त–भाग ही मानव का देहाभिमानी देही **'भूतात्मा'** नामक **'आत्मा'**[१] बन रहा है। प्राकृतिक विश्व का मर्त्यसूर्य्य ही उसी प्रवर्ग्यसम्बन्ध से मानव की मर्त्या वह लौकिकी **'बुद्धि'**[२] है, जिसे दर्शनभाषा में **'कारणशरीर'** कहा गया है । विश्व का मर्त्य–चन्द्रमा ही प्रवर्ग्य–रूपेण मानव का मर्त्य लौकिक ऐन्द्रियक–**'मन'**[३] है, जिसे **'सूक्ष्मशरीर'** कहा गया है। एवं विश्व का मर्त्य सर्वरसात्मक पार्थिव मृद्भाग ही प्रवर्ग्यसम्बन्ध से मानव का मर्त्य लौकिक पाञ्चमहाभौतिक **'शरीर'**[४] है, जिसे दर्शनभाषा में **'स्थूलशरीर'** माना गया है।

१२४–मुक्तिकामना,–और आत्मबुद्धितन्त्र, तथा सृष्टिकामना,–और मनःशरीरतन्त्र—

उक्त चारों मानवीय पर्वों में आत्मा, और बुद्धि नामक पूर्व के दो पर्व अमृतप्रधान कहे जा सकते हैं, जिनका ऋषियों ने इसी अमृतप्राधान्य से मुमुक्षा (मुक्तिकामना–बन्धनविमोककामना) से सम्बन्ध माना है *। प्रकाशित करने वाले प्रजा–आत्मा, और बुद्धि को स्व अमृतज्योति (ज्योतिषां ज्योतिर्लक्षण–ज्ञानज्योति) से प्रकाशित करने वाले प्रजापति देव की शरण में मुमुक्षु मानव ही जाया करते हैं, जबकि सिसृक्षु मानव उसी प्रजापतिदेव के मर्त्यरूपात्मक चान्द्र–पार्थिव मानसिक–शारीरिक भावों की ओर ही अनुधावन करते रहते हैं ÷। मुक्तिकामना के आधारभूत आत्मबुद्धितन्त्र, तथा सृष्टिकामना के अवलम्बभूत मनःशरीरतन्त्र, इन दो तन्त्रों को आधार बनाकर अब मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थ का तात्त्विक समन्वय कीजिए।

१२५–अमृत-ज्ञान-ब्रह्म-मित्र, एवं मृत्यु-कर्म्म-क्षत्र-वरुण-शब्दों का समन्वय—

बुद्धिसमन्वित आत्मा ‘अमृतम्’ है, यही ‘ज्ञानम्’ है, यही ‘ब्रह्म’ है, यही ‘मित्र’ है। शरीरसमन्वित मन ‘मृत्यु’ है, यही ‘कर्म्म’ है, यही ‘क्षत्र’ है, यही ‘वरुण’ है। दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही ‘मैत्रावरुणग्रह’ है। अमृतब्रह्म ही मित्र है, मृत्युक्षत्र ही वरुण है। दोनों का सहसमन्वय ही मानव का वास्तविक स्वरूप है, और इस दृष्टि से ब्रह्म क्षत्र के प्रति आश्रित है, तो क्षत्र ब्रह्म के प्रति आश्रित है। यही नहीं, लोकदृष्टि से तो ब्रह्ममित्रात्मक आत्मबुद्धितन्त्र जहाँ परोक्ष बना रहता हुआ अव्यक्त है, वहाँ क्षत्रवरुणात्मक मनःशरीरतन्त्र प्रत्यक्ष बनता हुआ व्यक्त है। अतएव प्रत्यक्ष में लोकदृष्टि से सर्वत्र प्रधानता क्षत्र-कर्म्मरूप वरुण की ही मानी गई है। और इसी प्रत्यक्षदृष्टि के आधार पर स्वयं श्रुति ने भी—

“तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति। तस्मात् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तात्–उपास्ते–राजसूये। क्षत्रऽएव तद्यशो दधाति” (शत० १४।४।२।२३)।

२२६–मित्रब्राह्मण की लोकनिष्ठा, और राज्याश्रय—

अक्षरार्थ श्रुति का यही है कि, मनःशरीरानुबन्धी वरुण–क्षत्रात्मक शास्ता ही व्यक्त विश्व में व्यक्तरूप से सर्वश्रेष्ठ है। राष्ट्रपति शासक ही लोकप्रतिष्ठात्मक राजसूय में–शासनतन्त्र में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं।

---

*–यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
—उपनिषत्

÷–यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेष्वनुधावति।
एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यँस्तानेवानुविधावति॥
—कठोपनिषत् ४।१४

अतएव आत्मबुद्धि-अनुबन्धी मित्रब्रह्मात्मक नीतिनिर्द्धारक ब्राह्मण भी लोक में शास्ता-क्षत्रिय को सिंहासनारूढ़ बनाकर स्वयं सिंहासन के नीचे खड़ा होकर ही शासक को सम्मान प्रदान करता है। और ऐसा करता हुआ यह ब्राह्मण शासक क्षत्रिय में उस यशोरूप शासनबल का ही आधान करता है, जिस प्रतिष्ठा-सम्मानात्मक-यशोरूप बल से शासक गौरव के साथ शासनसूत्रसञ्चालन में सक्षम बनता है। और यों लोकतन्त्र की दृष्टि से शासनतन्त्र ही सर्वोच्चसत्तातन्त्र मान लिया गया है, माना जाना ही चाहिए लोकव्यवस्था--संरक्षण के लिए। एवं इसी श्रौत सिद्धान्त के आधार पर-'**इति ते संशयो मा भूत्-राजा कालस्य कारणम्**' इत्यादि रूप से भगवान् व्यास ने शासनतन्त्र को ही सामयिक स्थिति-परिस्थितियों की अवनति--उन्नति का एकमात्र उत्तरदायी माना है। यों इस व्यक्तदृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, आत्मबुद्धिनिष्ठ मित्रब्रह्म (ब्राह्मण) की विकासात्मिका आश्रयभूमि, एवं सर्वलोकाश्रयभूमि मन:शरीरनिष्ठ वरुणक्षत्र (क्षत्रिय-शासक) ही है। और यों लोकतन्त्रानुबन्धी सम्पूर्ण विकास एकमात्र सत्ताश्रय-राज्याश्रय पर ही अवलम्बित है। अतएव स्पष्ट ही ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा भी राज्याश्रय के द्वारा ही पुष्पित-पल्लविता हुआ करती है, होनी ही चाहिए।

२७-संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-निबन्धन एक दुरधिगम्य प्रश्न—

व्यक्त 'लोकजगत्' की दृष्टि से यह सब कुछ मान्यतानुबन्ध ने ठीक ठीक होने पर भी अन्तर्जगत् की दृष्टि से कदापि यह पक्ष 'आस्थित' तो नहीं ही माना जा सकता, जैसाकि विगत सहस्राब्दियों से इस 'मान्यतापक्ष' को ही 'आस्था' का सम्मान दिया जा रहा है स्वयं आस्थित आत्मबुद्धिनिष्ठ प्रज्ञाशील एतद्देशीय विद्वानों के द्वारा ही। **संस्कृति, तदाचरणात्मक धर्म्म, तत्स्वरूपविश्लेषक आर्षसाहित्य, आदि आदि आत्मबुद्धिनिबन्धना सांस्कृतिक-विभूतियों की अपेक्षा सत्ता को है, अथवा स्वयं संस्कृति सत्ता की अपेक्षा रखती है ?**, यही वह महान् दुरधिगम्य प्रश्न है, जिसका प्रस्तुत सांस्कृतिक-चर्चा-प्रसङ्ग में हमें आज समन्वय कर ही लेना है श्रौततत्त्वानुबन्धिनी उसी मैत्रावरुणग्रहश्रुति के माध्यम से।

१२८-संस्कृतिनिष्ठ ब्रह्म का आधारत्त्व, एवं सभ्यतानिष्ठ सत्तातन्त्र का आधेयत्त्व—

उत्तर स्पष्टतम है। आश्रयभूमि सर्वत्र अमृततत्त्व है, आश्रित सर्वत्र मृत्युतत्त्व है। प्राण-आश्रय है, भूत आश्रित है। आत्मा आश्रय है, शरीर आश्रित है। * ब्रह्म आधार है, क्षत्र आधेय है। मित्र आधार है, वरुण आधेय है। ज्ञान आधार है, कर्म्म आधेय है। तात्पर्य्य, सर्वत्र सूक्ष्म तत्त्व ही आश्रय-आधार-अवलम्ब-प्रतिष्ठा-बना करता है। एवं स्थूलभाव सर्वत्र आश्रित-आधेय-अवलम्बित-प्रतिष्ठित-माना गया है। शरीर कदापि आत्मा की प्रतिष्ठा नहीं है। अपितु आत्मा ही शरीर की प्रतिष्ठा है। अमृत के आधार पर ही मृत्यु व्यवस्थित-प्रतिष्ठित-रहा करता है। आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण, उसकी संस्कृति, तदाचरणात्मक धर्म्म, तत्स्वरूपविश्लेषक आर्ष मौलिक साहित्य, एवं तदनुबन्धिनी सुसूक्ष्मा धर्म्मनीति ही आधार है, प्रतिष्ठा है, अवलम्ब है व्यक्त लोकतन्त्र का। मन:शरीरनिष्ठ, अतएव सभ्यतासंरक्षक क्षत्रिय,

---

*-ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१।८।)।

उसकी लोकसभ्यता, तदाचरणात्मक नीतितन्त्र, तत्स्वरूपविश्लेषक नैतिक विधि–विधान, तदनुबन्धिनी व्यक्ताव्यक्ता राजनीति आधेया है, प्रतिष्ठिता है, अवलम्बिता है धर्म्मनीति के आधार पर। और यों स्पष्टतमरूपेण ब्रह्म ही क्षत्र की आश्रयभूमि बना रहता है, बने रहना चाहिए।

१२९–शासनतन्त्र की मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन—

जो शासनतन्त्र ब्रह्म के द्वारा प्राप्त शासनतन्त्र पर आरूढ होकर वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के वारुणपाशबन्धन से अपने आपको आबद्ध कर मदान्ध बन यह मान बैठता है कि, "मैं हीं सब की आश्रयभूमि हूँ। सबको मेरी शासननीति का ही प्रभुत्व मानना चाहिए"। निश्चयेन ऐसा मदान्ध–संस्कृति–साहित्य–धर्म्म निरपेक्ष सत्तातन्त्र अपनी योनि–प्रतिष्ठा–आश्रयभूत ब्रह्मबल की यों उपेक्षा कर अपने सर्वनाश का ही उपक्रम कर बैठता है। अतएव उसे यह नहीं भुला देना चाहिए कि, शासनतन्त्र के अधःस्थान में खड़ा हुआ भी संस्कृतिसन्देशवाहक ब्राह्मण ही शासनतन्त्र की मूलप्रतिष्ठा है। तत्त्वतः यही आश्रयभूमि है सत्तातन्त्र की। मदमानान्वित जो सत्तातन्त्र इसे उपेक्षित–निरपेक्ष मान बैठने की भयावह भ्रान्ति कर बैठता है, उसका क्या परिणाम होता है ?, प्रश्न का समाधान उसी श्रुति के मुख से सुनिए, जिसने पूर्व में–"**तस्मात्--क्षत्रात्परं नास्ति**' कहते हुए सत्तातन्त्र को सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया है—

> **"सैषा क्षत्रस्य योनिः, यद् ब्रह्म। तस्मात्–यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एवं हिनस्ति, स्वां स योनिं–ऋच्छति। स पापीयान् भवति, यथा श्रेयांसं हिंस्त्वा"।**
>
> —शतपथ ब्रा० १४।४।२।२३।

१३०–मूलप्रतिष्ठात्मक ब्रह्म से वञ्चित सत्तातन्त्र का पराभव—

श्रुत्यर्थ स्पष्टतम है। मित्रामृतरूप आत्मब्रह्म ही वरुणमृत्युरूप शरीरक्षत्र की योनि है, उक्थस्थान–प्रभवस्थान--उद्गमस्थान–प्रतिष्ठास्थान--आश्रयस्थान है। अतएव वरुणक्षत्रात्मक राजा (शासनतन्त्र) इसी ब्रह्मयोनिप्रभाव से यद्यपि लोकतन्त्र में सर्वोत्कृष्ट--सम्मान--पदप्रतिष्ठा--सर्वोच्चप्रभुसत्ता का अधिकारी अवश्य बन जाता है (परमतां गच्छति), तथापि इसे अन्ततोगत्वा सर्वथा प्रणतभाव से स्वयोनिभूत ब्रह्ममित्र को ही अपनी आश्रयभूमि बनाए रखना पड़ता है, अनिवार्य्यरूपेण बनाए ही रखना चाहिए (उपनिश्रयति स्वां योनिम्)। सत्तासम्मान की परमता पर सर्वोच्चपद पर, पहुँच जाने वाला जो शासनतन्त्र पदप्रतिष्ठा के व्यामोहन से आत्मस्वरूपविस्मृत बन कर अपनी आश्रयभूता उस ब्रह्मयोनि की उपेक्षा कर देता है, तिरस्कार--अवमान करता हुआ उसे स्व राजनीतितन्त्र में निरपेक्ष मान बैठने की भयावहा भ्रान्ति कर बैठता है, वह अपने मूलस्थानरूप योनि में ही, प्रतिष्ठा में हीं विलीन हो जाता है (ऋच्छति--गच्छति)। अर्थात् ब्रह्माग्नि उस निरपेक्ष शासनतन्त्र को अपने उदर में हीं विलीन कर लेता है। सम्पूर्ण वह तेज--यश--प्रतिष्ठा–सम्मान योनिभूत ब्रह्म में हीं विलीन हो जाता है, जिसके बल पर शासनतन्त्र परमता पर पहुँचा हुआ था। और यों

सर्वशून्य बनता हुआ शासनतन्त्र कालान्तर में सम्पूर्ण लोकाभ्युदयों, लोकैश्वर्य्यों से वञ्चित हो कर सर्वथा निस्तेज-दीनहीन-पापदशा में उसी प्रकार परिणत हो जाता है, जैसे कि लोक में कोई मदान्ध व्यक्ति अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति की हिंसा कर इस पाप से हतप्रभ एवं हतश्री हतैश्वर्य्य बन जाया करता है-(स पापीयान् भवति, यथा श्रेयाँसं हिंस्वा) ।

१३१-आत्मबुद्धिनिष्ठ ब्राह्मण की सर्वाश्रयता, एवं सत्तातन्त्र के प्रति तन्निरपेक्षता—

धर्म्मनीतिसञ्चालक संस्कृतिनिष्ठ तत्त्ववेत्ता मित्रब्राह्मण जहाँ राष्ट्र का आत्मबुद्धितन्त्र है, वहाँ राजनीतिसञ्चालक सभ्यतासंरक्षक तत्त्वविस्तारक वरुण क्षत्र (शासनतन्त्र) राष्ट्र का मनःशरीरतन्त्र है । प्रत्यक्ष भूतदृष्ट्या यद्यपि शासनतन्त्र ही सर्वाश्रय है । किन्तु तत्त्वप्राणदृष्टया आत्मबुद्धिनिष्ठ ब्राह्मण हीं सर्वाश्रय बना हुआ है । और इसी श्रौततत्त्व के तथ्यपूर्ण वास्तविक दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा, और माना जा सकता है कि, **"संस्कृति, सदाचरणात्मक धर्म्म, तत्स्वरूपविश्लेषक आर्ष मौलिक साहित्य कदापि सत्ता के आश्रय की अपेक्षा नहीं रखते । अपितु संस्कृति, धर्म्म, साहित्य तो सत्तानिरपेक्ष बने रहते हुए ही स्वस्वरूपस्थिति में प्रतिष्ठित रहा करते हैं. रहते आए हैं आरम्भ से आज पर्य्यन्त । सत्तानिरपेक्ष ब्राह्मण की स्वयं की आत्मबुद्धिमूला संस्कृतिनिष्ठा ने हीं भारतराष्ट्र की संस्कृति, धर्म्म, साहित्य के मौलिक स्वरूप को परम्परया आजतक स्वस्वरूप से अक्षुण्ण बनाए रक्खा है"** ।

१३२-सत्तासापेक्षमूला भ्रान्त धारणा, और तन्निबन्धन उत्पीड़न—

सचमुच अतीत युगों का वह क्षण भारतीय संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि के लिए अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण था, जिस कुक्षण में एतद्देशीय संस्कृति-धर्म्म-साहित्यनिष्ठ भी, आत्मबुद्धिनिष्ठ भी विद्वानों की प्रज्ञा में कुछ ऐसा व्यामोहन समुद्भूत हो पड़ा, जिसके निग्रहात्मक अनुग्रह से उन भावुक विद्वानों की ऐसी धारणा बन गई कि, **"राज्याश्रयमूला राजभक्ति के माध्यम से ही राष्ट्र की संस्कृति, धर्म्म, और साहित्य का संरक्षण सम्भव है"** । धारणा पवित्र थी । और भावुकता-पूर्णा सभी धारणाएँ प्रत्यक्षप्रभावमूला बनीं रहतीं हुईं गन्धर्वनगरलेखावत् आपातरमणीया प्रतीत होतीं हुईं प्रत्यक्ष में पवित्र हीं प्रतीत हुआ करतीं हैं, हो रहीं हैं आज भी, एवं भविष्य में भी होतीं हीं रहेंगी । किन्तु यह सर्वात्मना असंदिग्ध है कि, विद्वानों की पवित्रा भी तथाविधा भावुकतापूर्णा धारणा के, तदनुप्राणिता केवल मनोऽनुबन्धिनी मान्यता के आकर्षण से ही कालान्तर में इनकी संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि की संरक्षणनिष्ठा राज्याश्रयमूला राजभक्ति के व्यामोहन-पाश में आबद्ध हो कर स्वस्वरूप से सर्वथा ही अभिभूत हो गई, जिसके दुष्परिणाम आजतक इस राजभक्ता प्रजा को विवश बन कर भोगनें पड़ रहे हैं, और भगवान् जानें, कब तक इसे यों हीं उत्पीड़ित बना रहना पड़ेगा ? ।

१३३-सत्तातन्त्रेच्छानिबन्धना भावुकतापूर्णा व्याख्यापरम्पराएँ—

विगत ३-४ सहस्र वर्षों के सांस्कृतिक-धार्म्मिक-साहित्यिक इतिहास को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनानें मात्र से ही स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है । भारतराष्ट्र के राज्यसिंहासन पर जो भी सत्तातन्त्र

पदारूढ बना, राज्याश्रय के व्यामोहन से यहां के विद्वानों नें, और–'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' न्याय को अक्षरशः चरितार्थ करने वाली परप्रत्ययनेयभावात्मिका गतानुगतिका प्रजा ने सर्वात्मना तत्कालीन शासनतन्त्रों के प्रति ही आत्मसमर्पण कर दिया। परिणाम, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम यही हुआ इस आत्मसमर्पण का कि, तत्कालीन सत्तातन्त्र की मान्यताओं, के, विधि–विधानों–आचार–सभ्यतादि–पद्धतियों के अनुरूप ही यहाँ के विद्वानों को संस्कृति–धर्म्म–साहित्य की व्याख्याएँ करनीं पड़ीं।

१३४–सत्तातत्त्वानुरञ्जनात्मिका दुष्प्रवृत्तियों की प्रक्रान्ति—

संस्कृति–धर्म्म–साहित्य-का अपना कोई मौलिक स्वरूप रहा ही नहीं। अपितु जैसा सत्तातन्त्र ने चाहा, विद्वानों को वैसा ही समन्वय करना पड़ा। इसी दुष्प्रवृत्ति के कारण संस्कृति–धर्म्म–साहित्य के नाम से ही राष्ट्र में अनेक वैसे मतवाद–सम्प्रदायवाद–दर्शनवाद–धर्म्मवाद–उपदेशवाद–सन्तवादादि आविर्भूत होते गए, जिनका तत्त्वतः संस्कृति–धर्म्म–साहित्य के साथ न पहिले कभी सम्बन्ध था, न आज ही कोई सम्बन्ध है। यदि सत्तातन्त्र नें शून्यवाद के प्रति अपनी रुचि अभिव्यक्त की, तो यहाँ के विद्वानों नें तत्समर्थन में सैकड़ों पोथे लिख डाले। किसी सत्तातन्त्र नें चाटुकारिता को प्रश्रय दिया, तो उन्हीं विद्वानों नें राजसत्ताओं के यशोगान से साहित्य के भाण्डार परिपूर्ण कर दिए। और यों तत्तद्युगानुगत तत्तत्सत्तातन्त्रों की मनःशरीर–निबन्धना परिवर्त्तनशीला तत्तत्सम्यताओं के अनुपात से ही राजभक्त विद्वानों नें संस्कृति–धर्म्म–साहित्य की व्याख्याएँ कर तद्द्वारा सत्तातन्त्रों का अनुरञ्जन करते रहना हीं अपना परमपुरुषार्थ मान लिया, जो कि दुष्प्रवृत्ति आज भी यथापूर्व प्रक्रान्त ही बनी हुई है।

१३५–विदेशीसत्तातन्त्र के प्रति भारतीय राजभक्त विद्वद्वर्ग का दयनीय आत्मसमर्पण–

सर्वतन्त्र--स्वतन्त्रात्मक आज के गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रात्मक भारत की धर्म्मनिरपेक्षता के प्रति दिग्–विदिक् कम्पित करने वाले आज के धर्म्मभक्त (वस्तुतः मतभक्त) इन्हीं विद्वानों नें कुछ समय पूर्व ही तो उस विदेशीसत्ता के यशोगान में अपनी समस्त सांस्कृतिक–निष्ठा समर्पित कर पुरस्कार में राजभक्ति की महान् वरदानरूपा उपाधियों से अपने आपको सुविभूषित कर लिया था, जो उपाधियाँ तत्त्वतः दासता की ही सूचना दे रहीं थीं। विदेशी सत्ताधीशों की मंगलकामना, स्वास्थ्यकामना के लिए देवमन्दिरों में समुपस्थित यहाँ के संस्कृतिनिष्ठ ? धर्म्मिष्ठ ? विद्वान् हीं तो मुक्तहृदय से अपने भगवान् से प्रार्थना करते हुए नहीं अघाते थे। और आज ! ।

१३६–वर्त्तमाना–प्रक्रान्ता राजभक्ति, और राजभक्त भावुक विद्वान्—

आज भी तो उसी राजभक्ति का मुक्तहृदय से यशोगान हो रहा है। कल के राजतन्त्र भक्त वे ही भारतीय विद्वान् आज धर्म्मनिरपेक्ष गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र के भक्तिसागर में अपने आप को आपाद–मस्तक निमज्जित कर मानों अपने आज तक के पापसंस्कारों को धो डालने के लिए आकुल–व्याकुल ही बने हुए हैं। जो भारतीय शास्त्र इन विद्वानों की दृष्टि में कलतक ईश्वरवादमूलक राजतन्त्र के समर्थक बने

हुए थे, वे ही शास्त्र उन्हीं विद्वानों के प्रज्ञाकौशल से आज ईश्वर-धर्म्म-निरपेक्ष गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र के समर्थक बनते जारहे हैं। विश्वास न हो, तो वर्त्तमानयुग के सुविख्यात नामधेय अभिनव संस्कृतिनिष्ठ ? पुरातत्त्वविद लोकनिष्ठ सांस्कृतिक विद्वानों के द्वारा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहने वाले गणतन्त्रसमर्थनात्मक उनके शास्त्रीय ? लेखों, रेडियो भाषणों को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कर लीजिए। स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा।

१३७-विद्वानों के लिए उद्बोधनसूत्र, एवं सत्तातन्त्र का उत्तरदायित्व—

राज्याश्रय की, एवं तदनुप्राणिता राजभक्ति की एक सांस्कृतिक-नैतिक-सामयिक-सीमा है। और उस सीमा-मर्य्यादानुबन्ध से विद्वानों को, तथा सर्वसाधारण प्रजावर्ग को, सभी को राज्याश्रय की कामना करते ही रहना चाहिए, तदनुपात से ही राजभक्ति के प्रति अपनी निष्ठाएँ भी समर्पित करते ही रहना चाहिए। किन्तु जिन विद्वानों की प्रज्ञा पर संस्कृति-संरक्षण का उत्तरदायित्व है, उन्हें स्वसंस्कृतिनिष्ठा के तात्त्विक-स्वरूपानुपात से, सर्वथा तटस्थरूप से ही राज्याश्रय, तथा राजभक्ति को अवलम्ब बनाए रखना चाहिए। युगधर्म्मानुसार सत्तातन्त्र, तथा तदनुबन्धिनी सभ्यताएँ बदलतीं हीं रहीं है, बदलतीं हीं रहेंगी। इस प्राकृतिक प्रवाह में कदापि सनातन-संस्कृति को प्रवाहित नहीं कर देना चाहिए। यह तभी सम्भव है, **जब कि संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-को अमुक सीमापर्य्यन्त सत्तातन्त्र से निरपेक्ष-तटस्थ ही बनाए रक्खा जाय।** यह उत्तरदायित्व तो स्वयं सत्तातन्त्र की सद्बुद्धि पर ही छोड़ देना चाहिए, जैसा स्वयं श्रुति ने भी यह उत्तरदायित्व उद्बोधनभाषा के माध्यम से सत्तातन्त्र पर ही छोड़ दिया है।

१३८-भगवती श्रुति के द्वारा सत्ता के प्रति ब्राह्मण की निरपेक्षता का महान् उद्घोष-

तटस्थरूप से सत्ता के सम्मुख वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण कर देना हीं संस्कृतिनिष्ठों का एकमात्र उत्तरदायित्व है। यदि सौभाग्य से सत्तातन्त्र उस संस्कृतिनिष्ठा को आधार बना लेता है, तो इससे उसकी समृद्धि तो होती ही है ? साथ ही संस्कृति भी व्यक्तरूपेण सुसमृद्धा बन जाती है। और इस समन्वय से राष्ट्र का सर्वाङ्गीण अभ्युदय-निःश्रेयस् संसिद्ध हो जाता है। यदि दुर्भाग्य से सत्तातन्त्र संस्कृति के मौलिक स्वरूप से उद्बोधन प्राप्त न कर इसके प्रति निरपेक्ष बन जाता है अपनी काल्पनिक मान्यताओं का समर्थन प्राप्त न करने की दशा में, तो इससे संस्कृति के मूलस्वरूप की कोई हानि नहीं है, जबकि संस्कृति के आधार से निरपेक्ष-वञ्चित रहता हुआ सत्तातन्त्र निश्चयेन कालान्तर में विनाशनिकेतन का ही सम्मान्य अतिथि बन जाया करता है। हाँ इस भयावह स्थिति में संस्कृति का बाह्यविकास अवश्य ही अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु यह पक्ष उस प्रतारणापक्ष से कहीं श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम है, जिस सत्ताश्रय-राजभक्ति-पक्ष में सत्ता की युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के अनुपात से सत्ता को प्रसन्न करने के लिए संस्कृति का विकृत स्वरूप सत्ता के सम्मुख रखते हुए उस विकृता संस्कृतिरूपा असंस्कृति-अधर्म्म-असत्साहित्य के लिए राज्याश्रय प्राप्त कर लिया जाता है। इसी स्थिति का विस्पष्टभाषा में स्पष्टीकरण करते हुए मैत्रावरुणग्रहश्रुति को यह कह देना पड़ा है कि—

तत्तत्-तत्-अवक्लृप्तमेव-यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्। यद्यु राजानं लभेत-समृद्धं तत्। एतद्धत्वेवानवक्लृप्तं-यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति। यद्ध किञ्च कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समृध्यते। तस्मात् क्षत्रियेण कर्म्म करिष्यमाणेन-उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः। सं हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मऽर्ध्यते”(शत० ४। ।३।६)।

१३९-सत्ताश्रयलक्षणा पराश्रयता के महतो महीयान् दुष्परिणाम, एवं तद्द्वारा संस्कृति का अभिभव—

श्रुति का अक्षरार्थ पूर्व की मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थसमन्वय-प्रसङ्ग में स्पष्ट किया ही जाचुका है। यही वह प्रतिज्ञात दृष्टिकोण है, जिसके प्रति हमें संस्कृतिनिष्ठ भारतीय विद्वानों का ध्यान अत्यन्त प्रणत-भाव से इसलिए आकर्षित कर ही देना है कि, इस अवधानात्मक आकर्षण के बिना वे कदापि भारतीय संस्कृति की, एवं तत्प्रतीकभूता भारतीय सभ्यता की सनातननिष्ठा का कदापि संरक्षण नहीं कर सकेंगे।

सत्ताश्रयानुगता राजभक्ति का व्यामोहन ही राष्ट्रीय संस्कृति-सभ्यता के उत्तरोत्तर अपकर्ष का कारण इसलिए बनता चला आ रहा है कि, सत्तातन्त्र युगधर्म्मानुपात से सदा से ही परिवर्त्तनशील रहे हैं, रहेंगे ही। इनके प्रति संस्कृति-धर्म्म-एवं आर्षसाहित्य (मन्त्रब्राह्मणात्मक प्राजापत्य वेदसाहित्य) को सापेक्ष बनाने का प्रारम्भिक अर्थ होगा तद्युगभावुकताक्रान्त-सभ्यताक्रान्त सत्तातन्त्रों की मनःशरीरनिबन्धना लोकैषणात्मिका मान्यताओं के प्रति संस्कृति को सापेक्ष बना देना। जिसका फलितार्थ अन्ततोगत्त्वा यही होगा कि, सांस्कृतिक साहित्य की व्याख्याओं में साहित्यिक-मौलिक दृष्टिकोण के प्रति तो उपेक्षा, एवं सत्तामान्यताओं के प्रति सापेक्षता। और यों संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-सभी को अन्ततोगत्त्वा इस सत्ताश्रयरूपा पराश्रयता के व्यामोहन से स्वमौलिक स्वरूप से अभिभूत ही कर देना एकमात्र सुपरिणाम होगा तथाविधा राजभक्ति का, जिसके उदाहरणों के कुफल विगत २-३ सहस्राब्दियों से भारतीय संस्कृतिनिष्ठा प्रजा को निरन्तर भोगने पड़ रहे हैं।

१४०-सत्ताश्रय से पदप्रतिष्ठात्मिका लोकैषणा का व्यामोहन, एवं संस्कृतिनिष्ठों का आत्यन्तिक पराभव—

तत्-अवक्लृप्तमेव-यत् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्’ यह श्रौत उद्घोष आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव संस्कृतिनिष्ठ राष्ट्रीय मित्रब्राह्मण को यही उद्बोधन कर रहा है कि,-“**इसके लिए यही ठीक ठीक पक्ष माना जायगा कि, यह ‘अराजन्य’ ही रहे**”। अर्थात् यह अपनी संस्कृति-धर्म्म-साहित्य को राजसत्ता के प्रति निरपेक्ष ही बनाए रहे। ‘यद्यु राजानं लभेत, समृद्धं तत्’। तात्पर्य्य-यदि अयाचितरूप से ही इसे सत्ता का सहयोग प्राप्त हो जायगा, तो ब्राह्मण के अन्तर्जगत्रूप प्रज्ञाक्षेत्र में प्रतिष्ठिता संस्कृति सत्तातन्त्र को सुसमृद्ध बनाती हुई स्वयमपि लोकसमृद्धि की अनुगामिनी बन जायगी। स्पष्ट है-‘यद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात’ का स्वरूप। यदि ब्राह्मण ‘राजन्य’ बन गया, अर्थात् सत्ताश्रयानुगता राजभक्ति के आवेश में आत्मविस्मृत बन गया, तो इसमें भी पदप्रतिष्ठात्मिका लोकैषणा (नामख्याति) का व्यामोहन जाग्रत हो पड़ेगा, और सर्वस्वघातिका-लोकसम्मानात्मिका-पदप्रतिष्ठात्मिका उस एषणा के पाश में आबद्ध हो जाने वाला यह राजन्य

(राजभक्त) ब्राह्मण कदापि संस्कृति-धर्म्म-साहित्य के प्रति सर्वात्मना एकान्तनिष्ठ न रह सकेगा । सत्तासापेक्ष-मूलक यही सांस्कृतिक स्खलन एक ओर जहाँ संस्कृति-स्वरूप को विकृत कर देगा, वहाँ इस विकृत सांस्कृतिक-धार्म्मिक-साहित्यिक सम्पर्क से राजन्यसत्ता की भी समृद्धि न हो सकेगी । यही नहीं, इस विकृति से सत्तातन्त्र भी उत्तरोत्तर उच्छृंखल-अमर्यादित ही बनता जायगा । इसी अमर्यादाकर्षण से सत्तातन्त्र संस्कृतिभक्तमात्र सत्ताश्रित इन विद्वानों को इसके लिए प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से विवश ही बनाता रहेगा कि, वे सत्तातन्त्र की मान्यताओं के अनुरूप ही संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि का समन्वय करते हुए अपनी सत्तासापेक्षतामूला-राजभक्ति को सुरक्षित बनाए रहें ।

१४१-राजन्य ब्राह्मणों की सत्ताश्रयमूला जीवितमृत्यु —

सापेक्षतामूला आत्मसमर्पणात्मिका इत्थंभूता राजभक्ति में सर्वात्मना सुदीक्षित ये राजन्यब्राह्मण सत्ताश्रय के प्रतिदान में प्राप्त लोकसम्मानों से सम्मानित होकर अन्ततोगत्त्वा विवश ही तो बन जाते हैं सत्ताद्वारा निर्दिष्ट गाए गाए गीत ही गाने के लिए । यदि कभी वे अपने इस दास्यकर्म्म के प्रति थोड़ी भी उपेक्षा व्यक्त कर देने की भूल कर बैठते हैं, तो सत्ता उनका वह लोकसम्मान अपहृत कर लेती है, जिसके बिना ये राजभक्त विद्वान् अपने आपको शून्यं-शून्यं-अनुभूत करते हुए सत्ताद्वारा निर्दिष्ट वे सभी प्रायश्चित्त करने के लिए सहर्ष सोल्लास सन्नद्ध हो जाते हैं, जिन प्रायश्चित्तों का अर्थ होता है-'जीवितमृत्यु' ।

१४२-उद्बोधनात्मक महान् मानवसूत्र की उपेक्षा से सांस्कृतिक-चेतना का अभिभव-

सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन संस्कृतिनिष्ठ एतद्देशीय ब्राह्मण को आरम्भ में हीं मानवधर्म्मशास्त्र-व्यवस्थापक राजर्षि मनु ने महान् उद्बोधनात्मक वह लोकसूत्र प्रदान किया है, जिस-**'सम्मानात्-नित्य-मुद्विजेत ब्राह्मणो विषादिव'** (मनुः) इस सूत्र को विस्मृत कर सचमुच सम्मानैषणाकामुक विद्वान् ब्राह्मणों नें संस्कृति-धर्म्म-साहित्य की गरिमा-महिमा के समतुलन में अपने लोकसम्मानों को ही प्रमुखता देते हुए राष्ट्र की पारम्परिक सांस्कृतिक-चेतना का सर्वथा ही अभिभव कर दिया है ।

१४३-सत्तानिरपेक्षाः ऋषिकल्पाः--ये ब्राह्मणा--देवास्तेभ्यो नमो नमः—

सचमुच जो ब्राह्मण अराजन्य बना रह सकता है, सहजभाषा में राजभक्ति--समन्वित सत्ताश्रय से राष्ट्रीय संस्कृति को निरपेक्ष बनाए रख सकता है, सत्ता-लोक-सम्मानों, पदप्रतिष्ठाव्यामोहनों, एवं अन्यान्य भी वित्तादि प्रलोभनों के तात्कालिक सम्मानों से अपना आत्मपरित्राण करता रहता है, सर्वोपरि युगधर्म्मानुगत भावुकताओं के समर्थन में तटस्थ बने रहने वाला ऐसा संस्कृतिनिष्ठ जो ब्राह्मण सहजरूप से ही प्राप्त होते रहने वाले असम्मानों-अपमानों-तिरस्कारों-उपेक्षाओं को अपनी संस्कृतिनिष्ठा के महान् पुरस्कार ही मानता रहता है, ऐसा लोकनिरपेक्ष द्विजातिमानव ही राष्ट्रीया मूलसंस्कृति, मूलधर्म्म, का स्वरूप संरक्षण कर सकता है । किया है ऐसे ही प्रातःस्मरणीय उन भारतीय द्विजातिमानवों नें राष्ट्रीय--संस्कृति का

संरक्षण, जिन्होंनें अपने आपको गुहानिहित बनाए रखते हुए सम्पूर्ण लोकव्यासङ्गों–लोकसम्मानों–सत्तानुबन्धों से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित किया है। तथाभूता ऋषिकल्पा ये ब्राह्मणा देवास्तेभ्यो नमो नमः, नमोनमः, नमोनमः प्रणतभावेन।

१४४–सत्ताश्रयपथात्मक आविष्कार की सर्वस्वघातकता, एवं श्रुतिविरोध—

सत्ता–लोक–भूत–आदि आदि बाह्य व्यासङ्गों से सर्वात्मना अपना आत्मत्राण करते हुए, 'अरतिर्जनसंसदि' मूलक गुहानिहित–ऐकान्तिक–साधनक्षेत्र में आरूढ रहते हुए संस्कृतिस्वरूप के चिन्तन में निमग्न इत्थंभूत अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष) ब्राह्मण की संस्कृति से राष्ट्रीय प्रजा कैसे लाभ उठावे ?, यह एक महान् प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके समाधान के लिए ही तो यहां के विद्वानों नें 'सत्ताश्रय' जैसे पथ का आविष्कार कर डाला है विगत सहस्राब्दियों में। इस आविष्कार की निःसारता, एवं घातकता स्वयं श्रुति के द्वारा ही जब प्रमाणित हो चुकी है, तो उस स्थिति में तथाकथित प्रश्न ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है। क्या स्वयं श्रुति ने इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं किया ?। किया है, किन्तु अपनी सहजसिद्धा परोक्षभाषा में। दो शब्दों में उस परोक्ष श्रौत–समाधान को भी लक्ष्य बनाने का निःसीम अनुग्रह कर लीजिए। वह परोक्ष समाधान सूत्र है–''एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं-यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति'' यह, जिस इस परोक्षसमाधान सूत्र से उक्त प्रासङ्गिक प्रश्न सर्वात्मना सुसमाहित बन जाता है।

१४५–ब्राह्मण की अराजन्यता, एवं सत्तातन्त्र की ब्राह्मण्यता का समन्वय—

ब्राह्मण का जहां अराजन्य (सत्तानिरपेक्ष) रहना हीं श्रेयःपन्था है, वहां सत्तातन्त्र का ब्राह्मणसापेक्ष बना रहना हीं श्रेयःपन्था माना जायगा। तात्पर्य्यं–संस्कृतिनिष्ठ–धर्म्मनिष्ठ–साहित्यनिष्ठ–आदर्शनिष्ठ ब्राह्मण के संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–आदर्श आदि जहां सत्तानिरपेक्ष रह कर ही स्वस्वरूप से ही सुरक्षित–अक्षुण्ण–विशुद्ध–बने रह सकते हैं, बने रहे हैं, बने रहेंगे, वहां सभ्यतानिष्ठ–लोकाचारनिष्ठ–राजनीतिनिष्ठ सत्तातन्त्र के सभ्यता–लोकाचार–राजनीति–आदि आदि पर्व ब्राह्मणसंस्कृति को सापेक्ष बना कर ही स्वस्वरूप से सुरक्षित–अक्षुण्ण–व्यवस्थित–सुसमृद्ध बने रह सकते हैं। ठीक इसके विपरीत जो ब्राह्मण, संस्कृतिनिष्ठ भी जो वित्तैषणागर्भित विद्वान् वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के परोक्ष–(अज्ञात), प्रत्यक्ष (ज्ञात) आकर्षण से आकर्षितमना बना हुआ अपने आपको, अपनी संस्कृति को राजभक्ति के प्रवाह में प्रवाहित होकर सत्तासापेक्ष मानने, मनवाने की महद्भ्रान्ति कर बैठता है, निश्चयेन कालान्तर में सत्ता के द्वारा अभिभूत ही हो जाती है ऐसी संस्कृति अपने मौलिक विशुद्धरूप से, जिसका–'राजा कालस्य कारणम्' रूप से पूर्व में भी दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

१४६–दिग्देशकालातीता–मौलिक संस्कृति—

यह स्मरण रखने की बात है कि, 'राजा कालस्य कारणम्' इस महाभारतीय ऐतिह्य क्षात्रवचन (भीष्मवचन) की पर्य्यवसानभूमि कदापि संस्कृति नहीं है, जैसा कि कुछ समय से

यहाँ के संस्कृतिनिष्ठ ? विद्वान् भी ऐसा ही कुछ मानने मनवाने की भूल करते जा रहे हैं। संस्कृति, तत्-आचरणात्मक धर्म्म, एवं तत्स्वरूपविश्लेषक आर्षसाहित्य, तीनों मूलतः एक ही तत्त्व हैं, जो कि आत्मबुद्धिनिबन्धन प्राणप्रधान-अमृतप्रधान-शाश्वत-सनातन तत्त्व ही मानें गए हैं, जिनका कि भूतानुबन्धी दिग्देशकाल-सीमाओं से कदापि कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा ।

१४७-चतुर्विध प्रतीकधर्म्म, एवं प्रतीकात्मक भारतीय साहित्य—

शरीरनिबन्धन अनुकरणधर्म्म, मनोनिबन्धन अनुसरणधर्म्म, बुद्धिनिबन्धन आचरणधर्म्म, एवं भूतात्मनिबन्धन अनुशीलनधर्म्म, चारों प्राकृतिक धर्म्म, तदाधारभूता प्राकृतिक संस्कृति, ततप्रतिपादक आगम-पुराणादि प्राकृत पौरुषेयशास्त्र आदि आदि अवश्य ही प्रतीकात्मक प्राकृत धर्म्म हैं, प्रतीकात्मिका प्राकृत संस्कृतियाँ हैं, एवं प्रतीकात्मक प्राकृत ही साहित्य हैं, जिन्हें कि सहज भाषानुसार विश्वसंस्कृति-विश्वधर्म्म-विश्वसाहित्य, किंवा लोकसंस्कृति, लोकधर्म्म, लोकसाहित्य ही माना गया है। जिन्हें कि पूर्व में हमनें स्वयं सभ्यतानिबन्धन-प्राकृतिक विश्व से अनुप्राणिता सभ्यता के ही पूर्वरूप कहा है । अवश्य ही मूलसंस्कृति-मूलधर्म्म-मूलसाहित्य के प्रतीकभूत प्राकृत चतुर्विध प्रतीकधर्म्म, तन्मूला प्रतीकसंस्कृतियाँ, एवं ततस्वरूपविश्लेषक आगमपुराणदर्शनादि प्रतीक साहित्य विश्वानुबन्धिनी कालसीमा में अन्तर्भुक्त होते हुए, अतएव स्वयं विश्वजगत् में हीं **'प्रतीक'** शब्द से व्यवह्रियमाण बने रहते हुए अमुक-सीमापर्य्यन्त-**'राजा कालस्य कारणम्'** की लक्ष्यभूमि माने जा सकते हैं, माने जाते रहेंगे, माने जाने चाहिएँ ।

१४८-'यथा राजा, तथा प्रजा' आभाणक का समन्वय—

उक्त प्रतीक भावों के माध्यम से ही तो सभ्यता के ही पूर्वरूपों से सम्बन्ध रखनें वाले, मूलसंस्कृति के प्रतीकमात्र बने हुए **भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा** का अनुपद में हीं दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, जिन प्रतीकात्मक सांस्कृतिक-आयोजनों के संरक्षण-अभिवर्द्धन-विकासादिका सम्पूर्ण उत्तर-दायित्त्व यहाँ की ऋषिप्रज्ञा नें स्वयं हीं सत्तातन्त्र के प्रति ही समर्पित माना है । और अवश्य ही इन सभ्यतालक्षण-प्रतीकभूत-मनःशरीरनिबन्धन-अतएव दिग्देशकालसीमात्मक संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि को सत्तासापेक्ष मानते हुए 'राजा कालस्य कारणम्' इस क्षात्रवचन का भी अंशतः समादर कर लिया गया है। और इसी आधार पर-**'यथा राजा, तथा प्रजा'** यह आभाणक भी प्रचलित हो पड़ा है ।

१४९-'राजा कालस्य कारणम्'-लक्षणा विप्रतिपत्ति का तात्त्विक समन्वय—

प्रजा की संस्कृति, प्रजा का धर्म्म, प्रजा का साहित्य अवश्यमेव सत्तासापेक्ष बन कर ही सुरक्षित रहा करता है। क्योंकि लोकसंस्कृति-लोकधर्म्म-लोकसाहित्य ही प्रजा की संस्कृति-धर्म्मादि हैं, जिन इन सबका

प्राकृतिक विश्वसीमात्मक कालविवर्त्त में हीं अन्तर्भाव है । अतएव प्रजा अवश्य ही राजसापेक्ष, किंवा सत्तासापेक्षा है, सापेक्षा रहना हीं चाहिए प्रजा को, एवं प्रतीकभूता संस्कृति को । इसी बिन्दु पर तो भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञा का वह महान् स्खलन हुआ है, जिसके कारण इसकी भी लक्ष्यभूमि विगत कतिपय सहस्राब्दियों से प्रतीकभाव ही बन गए हैं ।

क्या ब्राह्मण सत्तासापेक्ष प्रतीकसंस्कृति-प्रतीक-धर्म्म-प्रतीक-साहित्यादि प्रतीकभावों का सन्देशवाहक है !, यह प्रश्न है । उत्तर स्पष्ट है । जहाँ तक लोकभावुकता के संरक्षण की सीमा है, उस सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही ब्राह्मण ही इन प्रतीक संस्कृत्यादि का भी स्रष्टा-संरक्षक-प्रचारक है । आगमपुराणादि लोकसाहित्य, तत्प्रतिपादित चतुर्विध प्रतीकधर्म्म, तत्प्रतिष्ठारूपा लोकसंस्कृतियों की लक्ष्यभूमि वह प्रजावर्ग ही है, जिसके आधार स्त्री-बाल-द्विजबन्धु-आदि मनःशरीरनिबन्धन भावुकवर्ग ही मानें गए हैं । और इस भावुकवर्ग की युगधर्म्मानुगता भावुकताओं के संरक्षणानुबन्ध से अवश्य ही ब्राह्मण को इन प्रतीक संस्कृत्यादि का भी सन्देशवाहक माना जा सकता है, माना गया है, जिन इन समस्त प्रतीकभावों के संरक्षण-प्रचार-समृद्धि का प्रधान उत्तरदायित्व कालानुबन्धी सत्तातन्त्र से ही अनुप्राणित है । एवं एकमात्र इस प्रतीकदृष्टि से ही- **'राजा कालस्य कारणम्'** यह भावुकतासंरक्षक सूत्र प्रतीकधर्म्म के रहरूपवेत्ता महात्मा भीष्म के द्वारा आविर्भूत हो पड़ा है, जिसका प्रतीकदृष्टि से राजभक्ता प्रजा ने सदा से ही स्वागत किया है, करना हीं चाहिए । किन्तु……?

१५०-राजा, प्रजा, और सोमानुगत संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण—

किन्तु एतावता ही 'संस्कृति' के मूलस्वरूप का तात्त्विक समन्वय कदापि सम्भव नहीं है । इसलिए सम्भव नहीं है कि, राजा प्रजा का है । अतएव प्रजा की संस्कृति-धर्म्म-साहित्यादि के उत्थान-पतनों का उत्तरदायित्व राजा पर ही अवलम्बित है । क्या ब्राह्मण प्रजा नहीं है ! । उत्तर 'प्रजा' शब्द के मौलिक चिरन्तन इतिहास के स्वरूप विश्लेषक 'विट्' शब्द पर ही प्रतिष्ठित है । * **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** (यजुःसंहिता…) इस आर्षवचन के स्वारस्य पर क्या कभी राजभक्त विद्वानों नें ध्यान देने का अनुग्रह किया है ? । सत्ताश्रय के लिए आतुर बने हुए भूसुरवृन्द ने क्या कभी-**'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म । तस्मात् यद्यपि राजा परमतां गच्छति-ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्'** इस श्रौतवचन के अक्षरार्थमात्र समन्वय का भी अनुग्रह किया है ! । आलम्यालम् । पर्य्याप्त है ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग के परितोष के लिए उक्त श्रुतिवचन ही, जिसके द्वारा ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण को सत्तातन्त्र के आश्रित नहीं, अपितु सत्तातन्त्र की आश्रयभूमि-योनि-प्रभव-प्रतिष्ठा-उक्थ-अधिष्ठान-अवलम्बन ही माना गया है ।

---

*-सोमो महान्-अव्ययगर्भाधारभूमिः । सोऽयं महानात्माव्ययपुरुष एव-ब्राह्मणानां राजा-शास्ता-नेता । नतु मानवीयः सत्ताधीशो लोकराजा ।

१५१–मूलसंस्कृति-धर्म्म-साहित्य-की अप्राकृतता, एवं सनातनता—

जब ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण क्षत्रिय की (सत्तातन्त्र की) योनि (आश्रयस्थल) है, प्रतिष्ठा–प्रभवस्थान है, तो वह सत्तातन्त्र की सन्ततिरूपा प्रजा हो भी कैसे सकती है ? । क्षत्र की योनिभूत ब्रह्म तो क्षत्र के लिए अभि–गन्ता (पथप्रदर्शक) ही माना गया है । ब्रह्मप्रसूत बनकर ही क्षत्रकर्म्म सुसमृद्ध बना करता है । सत्ता के अनन्य आश्रयरूप ब्रह्ममित्र की मूलसंस्कृति–मूलधर्म्म–मूलसाहित्य तो केवल ब्रह्मनिष्ठा से ब्रह्म के अन्तर्जगत् में (सम्पूर्ण बाह्यभावों से निरपेक्ष बन कर ही) सुरक्षित रहा करता है । मूलसंस्कृति का, तदभिन्न मूलधर्म्म का, तदभिन्न मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का प्रकृतिरूप बाह्य–भौतिक–विश्व के परिवर्त्तनशील विश्व से सम्बन्ध रखने वाले दिग्–देश–कालानुबन्धों से कोई सम्बन्ध नहीं है । अपितु विश्वातीत सनातन–अव्ययपुरुषात्मा के निःश्वासरूप अपौरुषेय वेदशास्त्ररूप आर्यसाहित्य का, तदभिन्न आर्ष अव्ययात्मधर्म्म का तदभिन्ना आर्ष आत्मसंस्कृति का तो दिग्देशकालातीत सनातनभाव से ही सम्बन्ध है । अतएव अप्राकृता है वह मूलसंस्कृति, अप्राकृत है वह शाश्वतधर्म्म, एवं अप्राकृत, अतएव नित्यकूटस्थ है मौलिक आर्षसाहित्य, जिसे किसी बाह्य–भूत–सत्ता की कोई अपेक्षा नहीं है । सर्वनिरपेक्षा वह ब्रह्मसंस्कृति ही वास्तविक संस्कृति है, वह शाश्वतधर्म्म ही वास्तविक धर्म्म है, वह शाश्वत–सनातन साहित्य ही वास्तविक साहित्य है । तदभिन्ना विश्वानुबन्धिनी सभी लोकसंस्कृतियाँ तत्त्वतः लोकसभ्यताओं के ही परिवर्त्तनात्मक लौकिक स्वरूप हैं । शाश्वतधर्म्मातिरिक्त विश्वानुबन्धी सभी लोकधर्म्मात्मक मतवाद लोकधर्म्मों के ही परिवर्त्तनशील स्वरूप हैं । एवं शाश्वत आर्षसाहित्य के अतिरिक्त इतर सम्पूर्ण लोकसाहित्य तो परिवर्त्तनात्मक मनोऽनुरञ्जक साहित्य ही हैं, जिन्हें स्वस्वरूप–संरक्षण–संवर्द्धन–प्रचार के लिए अवश्य ही लोकसत्तातन्त्रों का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ता है ।

१५२–बुद्धयुगनिबन्धना भावुकता, एवं संस्कृतिस्वरूपव्यामोहन—

ब्रह्मनिष्ठा के अभिभव से राष्ट्र के ब्राह्मण ने भी लोकभावुकतावश जब जब भी लोकसभ्यतारूप तथाकथित प्रतीकसस्कृति–प्रतीकधर्म्म–प्रतीक साहित्यादि को ही मूलसंस्कृति–मूलधर्म्म–मूलसाहित्य आदि मानने मनवाने की महती भ्रान्ति कर ली, तब तब ही इसे भी सत्ताश्रयरूपा राजभक्ति का ही अनुगामी बन जाना पड़ा । और इस भक्ति–व्यामोहन से स्वस्वरूप से वियुक्त बन जाने वाले इस ब्राह्मण ने स्वयं भी सत्ता–मान्यताओं के अनुरूप ही सांस्कृतिक–धार्म्मिक–साहित्यिक व्याख्याओं का सर्जन करना आरम्भ कर दिया । बुद्धयुगारम्भ से कुछ पूर्व से ही इस भावुकता का उपक्रम हो पड़ा था । और दुःखपूर्वक यह कहने में कोई संकोच नहीं हो रहा कि, तब से आरम्भ कर आजतक की इन २ सहस्र वर्षों की अवधि में इसकी मौलिक संस्कृति–मौलिकधर्म्म–मौलिकसाहित्य परिवर्त्तनात्मक लोकतन्त्रों, लोकतन्त्राध्यक्षों की कृपा से सञ्चालित प्रजावर्गों की तत्तद्युगधर्म्मानुगता मनःशरीरनिबन्धना–सभ्यतालक्षणा–मान्यताओं के अनुपात से ही व्याख्यात बनते गए । और इन मतवादात्मिका व्याख्याओं के महानूस्तूप के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही अन्त में यह दुष्परिणाम हुआ कि, आज अपनी मूलसंस्कृति–मूलधर्म्म–मूलसाहित्य के–सम्प्रदायवाद–सत्तावाद–निरपेक्ष मौलिक शुद्धस्वरूप के दर्शनमात्र कर लेना भी असम्भवप्राय बन गया । इसी स्वरूपविस्मृति ने एकमात्र सत्तातन्त्र की मान्यता के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही नृत्य गीत–वाद्यादि से समाकुलित मानसिक गन्धर्वा-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्सराप्राणनिबन्धन-सर्वथा जड़भूतानुरञ्जक बालोपलालनात्मक व्यासङ्ग को ही आज बड़े ही आवेश-आटोप के साथ 'सांस्कृतिक-आयोजन' जैसी पावन अभिधा से उद्घोषित कर डाला, जिन इत्थंभूत आजके इन उपलालनभावों के साथ मूलसंस्कृति की कौन कहे, भारतीय लोकसंस्कृति-सभ्यता आदि का तो स्वप्न में भी तो संस्पर्श नहीं है, जैसाकि संस्कृतिप्रेमी अगले परिच्छेदों में देखेंगे।

१५३-संस्कृतिसंरक्षण का एकमात्र महान् राजपथ—

हाँ, तो हम निवेदन कर रहे थे कि, भारतीय संस्कृति-धर्म्म-साहित्य का तो उस आत्मब्रह्म से अभिन्न सम्बन्ध है, जो सनातन-शाश्वत-ऐकान्तिक-सर्वनिरपेक्ष ब्रह्म कहलाया है, एवं जिसका ऐहलौकिक प्रतीक ब्रह्मप्राणप्रधान 'ब्राह्मण' कहलाया है। एकमात्र ईश्वरीय संस्कृतिधर्म्मसाहित्य का सर्वात्मना निरपेक्षरूप से चिन्तन ही ब्राह्मण का स्वाध्यायात्मक तप कहलाया है*। स्वाध्यायनिष्ठानुगता यह अनन्यतपोनिष्ठा ही राष्ट्रीया मूलसंस्कृति के संरक्षण का एकमात्र राजपथ है, जिसमें सत्ता-शासन-आदि आदि का प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है भारतीय सांस्कृतिक-दृष्टिकोण से।

१५४-सांस्कृतिक अभिभवानुबन्धी दुरधिगम्य प्रश्न, एवं तत्समाधान-चेष्टा—

सचमुच यह दुरधिगम्य प्रश्न है कि, विश्वेश्वरात्मा अव्ययपुरुष की निःश्वासरूपा संस्कृति, तद्रूप शाश्वतधर्म्म, तदभिन्न सनातन आर्षसाहित्य जैसी ईश्वरीय-विभूतियों के विद्यमान रहते भी कैसे, और क्यों भारत का यों उत्तरोत्तर पतन होता गया !, जिस इस दुरधिगम्य प्रश्न का खण्डचतुष्टयात्मक स्वतन्त्र सामयिक निबन्ध में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जा चुका है। प्रकृत में इस दुरधिगम्य प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में केवल भारतीय 'शिक्षानीति'-'शिक्षापद्धति' को आधार मानकर ही हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं।

१५५-'ब्राह्मणेन निष्कारणं षड़ङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' का समन्वय—

जबतक शिक्षा का उत्तरदायित्त्व संस्कृतिनिष्ठ-ब्रह्मनिष्ठ-लोकनिरपेक्ष द्विजातियों के उत्तरदायित्त्व से अनुप्राणित रहा, तबतक सभ्यतानुबन्धी शासनतन्त्रों से यहाँ के संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-सत्तानिरपेक्ष बने रहते हुए स्वतन्त्ररूपेण स्वस्वरूप से व्यक्त बने रहे। जिस दिन से यहाँ का संस्कृतिनिष्ठ द्विजातिमानव प्रत्यक्षप्रमाणमूला भावुकता के आकर्षण से सत्तासापेक्ष बन गया, उसी दिन से शिक्षा पर सत्तातन्त्र का अधिकार स्थापित हो गया। और इस सत्ताधिकार से अधिकृत शिक्षातन्त्र अपनी आत्मबुद्ध्यनुबन्धिनी अन्तर्जगत् की प्राणप्रतिष्ठा से उत्तरोत्तर वञ्चित होता हुआ भूतासक्तिपथों का ही अनुवर्त्मा बनता गया। और इस रूप से बनता गया कि, अन्ततोगत्वा शिक्षा का भी प्रधान उद्देश्य एकमात्र मनःशरीरानुबन्धी योगक्षेम ही प्रमाणित हो गया, जबकि भारतीय शिक्षा का मूलसूत्र निष्कारण-निरपेक्ष-ब्रह्म की भाँति निष्कारणभाव से समन्वित होता हुआ मानव के आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व का ही सर्जक माना गया था, जैसाकि-'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आर्षसिद्धान्त से प्रमाणित है।

---

*-आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
—मनुः

१५६—कार्य्यकारणभावों से असंस्पृष्ट भारतीय शिक्षासूत्र

लौकिक भूतभौतिक जगत् में हीं कार्य्य-कारणपरम्पराओं का अन्वेषण प्रक्रान्त रहा करता है। कार्य्यकारणातीत अलौकिक साहित्य-धर्म्म-संस्कृति के साथ कदापि कारणता जैसे भूताडम्बर का समन्वय सम्भव ही नहीं है। मानव की मानवता का निर्म्मापक शिक्षायन्त्र स्वयं मानव के आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व पर ही विश्रान्त है। स्वयं शिक्षा ही शिक्षा का महान् उपयोग है, जिसका लौकिक-योगक्षेमानुबन्धी कार्य्यकारणभावों से कदापि कोई भी सम्बन्ध नहीं है। शिक्षा कदापि व्यवसाय का साधन नहीं है। निश्चयेन सत्तासापेक्षता ने हीं निष्कारणा शिक्षा को कालान्तर में व्यवसायैषणा की जननी प्रमाणित कर दिया। और यों शिक्षा के परतन्त्र बन जाने से ही भारतीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव ही होता गया। अतएव यह निःसंदिग्ध रूप से हमें मान ही लेना चाहिए कि, शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य ही इस स्वाध्याय-स्वातन्त्र्य का महान् विघातक प्रमाणित हुआ है पूर्वयुगों में, एवं आज तो यह उद्घोषपूर्वक भारतीय प्रज्ञा के सर्वस्वदलन के लिए मानो कटिबद्ध ही बन चुका है।

१५७—भारतीय शिक्षानीति के मौलिक आधार—

राष्ट्रीय शिक्षानीति का मूलाधार भारतराष्ट्र में सदा से ही ‘संस्कृति’ ही रही है। संस्कृतिसापेक्षा शिक्षा ही यहां शिक्षा मानी गई है, जिसे उपनिषदों ने एक विशेष रहस्य के आधार पर–‘**अथातः शीक्षां व्याख्यास्यामः**’ (तै० उप०) के अनुसार ‘**शीक्षा**’ नाम से व्यवहृत किया है। वर्ण-स्वर-मात्रा-बल-सामसन्तान-आदि रहस्यपूर्ण सांस्कृतिक सूत्रों के आधार पर प्रतिष्ठिता संस्कृतिमूला भारतीय शिक्षा * केवल शरीरैषणा पर ही परिसमाप्त नहीं है। कदापि शिक्षा का वह उद्देश्य नहीं है, जिसे आजके शिक्षाशास्त्री–‘**मल्टीपर्पज**’ (**multi purpge**) जैसी महान् उपाधि से समलङ्कृत करते हुए नहीं अघाते। मानव केवल वैसा पशुमात्र नहीं है, जिसके स्वरूप का पर्य्यवसान मनःशरीरनिबन्धन आहारनिद्रादि व्यासङ्गों पर ही हो जाता हो। अपितु मानव मन और शरीर से भी कुछ अधिक है। वह ‘**अधिक**’ जो कुछ है, वही मानव की ‘मानवता’ है। मानवता ही मानव का स्वरूपधर्म्म है। और अव्ययात्मपुरुष का स्वरूपाभिव्यक्तित्व ही ‘मानवता’ नामक वह स्वरूपधर्म्म है, जिसका अन्यत्र विस्तार से उपबृंहण हुआ है। यह स्वरूपधर्म्म जिस शिक्षानीति से सुव्यवस्थित सुविकसित रहता है, वही यहाँ की शिक्षानीति है, जिसका उत्तरदायित्व उन संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों पर ही रहा है (रहता था), जो मानवधर्म्मात्मक मानव के स्वरूपचिन्तन में प्रवृत्त रहते हैं (रहते थे)। संस्कृतिनिष्ठों की सांस्कृतिक, नीति ही मानव की शिक्षानीति का मूलाधार माना गया है। अतएव भारतीय शिक्षायन्त्र को भी संस्कृतिवत् यहाँ सत्तानिरपेक्ष ही माना गया है। तत्तत् ब्रह्मपरिषदों के अध्यक्ष महाशाल संस्कृतिनिष्ठ आचार्य्यों के तत्त्वावधान में भी भारतीय बालप्रज्ञ की शिक्षानीति सञ्चालित रही है। सत्ता तटस्थरूप से इतना भर सहयोग देते रहने में अवश्य अधिकृत मान ली गई है कि, संस्कृति-शिक्षा-विरोधी जो आततायी विघ्न उपस्थित

---

* **वर्णः-स्वरः-मात्रा-बलम्-साम-सन्तानम्। इत्युक्तं शीक्षाध्यायः।**

—तै० उप०

करने के लिए आतुर बने रहते हैं, उन्हें सत्तातन्त्र शिक्षा प्रदान करता रहता है। इसके अतिरिक्त सभ्यता-संरक्षक, अधिक से अधिक लोकसंस्कृति के संरक्षक सत्तातन्त्र को कदापि सांस्कृतिक-क्षेत्रानुबन्धिनी शिक्षा के हस्तान्तरणात्मक राष्ट्रीयकरण का यहाँ स्वप्न में भी अधिकार नहीं मिला।

१५८–लोकैषणा के असंवरण से ब्राह्मण की दासभाव में परिणति—

सत्तातन्त्र नें शिक्षा पर अधिकार कर इसे सकारण क्यों बना डाला ?, इस प्रश्नमीमांसा का यहां अवसर नहीं है। यहां तो–'**स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया**' पक्ष को आधार बना कर जैसा जो कुछ विगत सहस्राब्दियों से घटित–विघटित होता आ रहा है संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–शिक्षा आदि क्षेत्रों में, उसी के आधार पर समस्या का निदान ढूँढ निकाल लेना है। प्राथमिक महान् स्खलन तो ब्राह्मण का ही माना जायगा, जो लोकैषणा का संवरण न करने के कारण सत्तासापेक्ष बन गया। न केवल स्वयं अपने शरीर–मन से ही सत्तासापेक्ष बन गया। अपितु आत्मा और बुद्धि को भी इसने सत्ता के प्रति, उसी प्रकार समर्पित कर दिया, जैसे कि मनःशरीरप्रधान लोकमानव सत्ता के प्रति सर्वात्मना समर्पित होकर सर्वथा 'दास' कोटि में हीं आजाया करते है।

१५९-–शिक्षा की कारणता के अन्वेषक ब्राह्मण का अधःपतन–

शिक्षा की कारणता के अन्वेषक ब्राह्मण की इस दासवृत्ति ने हीं यहाँ की मूलसंस्कृति को अभिभूत किया, इस प्रारम्भिक पतन के सम्बन्ध में अणुमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। अवश्य ही यह राजसत्ताओं के बाह्य–प्रदर्शनों के व्यामोहनात्मक आकर्षणों से अपना नियन्त्रण न कर सका। और राजर्षि मनु के–'**सर्वान् परित्यजेदर्थान्–स्वाध्यायस्य विरोधिनः**' (उन सभी लौकिक भौतिक–आर्थिक सुख–सुविधाओं की सर्वथा उपेक्षा ही कर देनी चाहिए, जो द्विजाति की स्वाध्यायनिष्ठा के प्रतिबन्धक हैं)–इस उद्बोधनसूत्र की, तथा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण–'**सम्मानाद् नित्यमुद्विजेत ब्राह्मणो विषादिव**' (अर्थात् ब्राह्मण को लोकसम्मानों से मारक विष की भांति अपने आपको बचाते रहना चाहिए) इस शिक्षासूत्र की उपेक्षा करने वाले ब्राह्मण की स्वाध्यायविरोधिनी अर्थलोलुपता ने, सर्वोपरि लोकसम्मान–लालसा ने, हीं इसे सत्तातन्त्र के निबिड़पाश में आबद्ध ही कर लिया। और इस पाशबन्धन से आबद्ध ब्राह्मण सत्तातन्त्रों के ऐच्छिक लोकमन्तव्यों के आधार पर ही संस्कृति–धर्म्म–साहित्य–शिक्षा–आदर्श–आदि की व्याख्या में प्रवृत्त हो पड़ा, जिसका परिणाम आज राष्ट्र के सम्मुख है। **राजमान्य–राजगुरु–राज्याश्रित–**आदि आदि उपाधियों से धन्य–कृतकृत्य अनुभूत करने वाले राष्ट्र के इस ब्राह्मण ने यों वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के व्यामोहनों में आसक्त–व्यासक्त बनते हुए अपने सभी उत्तरदायित्व सोल्लास उस सत्ता के प्रति ही समर्पित कर दिए, जिस लोकसत्ताक्षेत्र की प्रवृद्धा लोकैषणाग्नि में सभी कुछ 'स्वाहा' होता रहता है।

१६०–भारतीय सम्राट् अशोक की धर्म्मप्रचारभावुकता, और राष्ट्रस्वातन्त्र्य का अभिभव–

वर्त्तमान युग के भावुक मानव भारतीय अन्तिम सम्राट् देवानां प्रियदर्शी अशोक की धर्म्मप्रवृत्ति का वर्णन करते हुए नहीं अघाते। सम्राट् अशोक के पुत्र, और पुत्री ने राज्यपरित्याग कर सिंहलद्वीप में, जो

कुछ किया, वह भी भावुक मानवों के लिए एक अतिरञ्जनात्मक मनोऽनुरञ्जन का ही साधन बना हुआ है। परिणाम क्या हुआ इस 'धर्म्मचक्र' प्रवर्त्तन का ?, प्रश्न का समाधान अब परोक्ष नहीं रह गया है। जो उत्तरदायित्त्व संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मणों का था, वह समर्पित हो गया था सत्ताभक्ति के प्रति। परिणामस्वरूप सत्ता ने यह भ्रान्ति कर डाली थी कि, संस्कृति–धर्म्म–के प्रचार का उत्तरदायित्त्व भी सत्ता का ही है। अशोक ने इसी भ्रान्ति का अनुसरण किया। और परिणाम में भविष्य के लिए अभिभूत ही होगया भारतीय सत्तातन्त्र बाहिर के आततायी आक्रान्ताओं से। तदित्थं प्रकृतिसिद्ध व्यवस्थाओं के अनुपात से विभक्ता विशेषयोग्यताओं के संकरदोष से ही भारत का उत्तरोत्तर अभिभव ही होता गया, जिसने कालान्तर में यवनसंस्कृति को भारतराष्ट्र का सम्मान्य अतिथि बना डाला। और दों महान् धर्म्मचक्रप्रवर्त्तक भारतीय सम्राट् की धर्म्मभावुकता से भारतराष्ट्र में जिस पारतन्त्र्य का आविर्भाव हो पड़ा, उसके वरुणपाश से आजतक यह राष्ट्र सर्वात्मना अपने आपको उन्मुक्त नहीं कर सका है।

१६१–विजेता यवनसम्राटों का राष्ट्र के मनःशरीरतन्त्रों पर आक्रमण–

विजेता यवनसम्राट् आए थे आक्रान्ता बन कर। किन्तु यहाँ के सस्यश्यामल–ऋद्धि–वृद्धि–सुसम्पन्न ऐश्वर्य्य नें कालान्तर में उन्हें यहाँ के निवासी बन जाने के लिए ही विवश कर दिया, और यों आरम्भ के आक्रान्ता अतिथि भी यहाँ उसी प्रकार भारतीय ही बन गए (बन गए होते), जैसे कि आक्रान्ता शक-हूण-आदि सम्राटों को इस राष्ट्र की संस्कृति ने अपनी सभ्यता में विलीन कर यहीं का बना दिया था। राष्ट्र के मन और शरीरमात्र पर आक्रमण करने में कुशल भी इन यवन आक्रान्ताओं का आक्रमण भारतीय शिक्षायन्त्र पर आक्रमण न कर सका। फलस्वरूप इस युग में पुनः शिक्षायन्त्र सत्तातन्त्र से पृथक् होकर जनता की प्रज्ञा से समन्वित हो गया उस शासनकाल में। इसी क्षणिक–शिक्षा स्वातन्त्र्य के महान् वरदानरूप तद्युग में राष्ट्र में सभी क्षेत्रों में वैसी नवचेतनाएँ प्रादुर्भूत हो पड़ीं, जिनके विद्या–बल–पौरुष के अनुग्रह से राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–वैभव पुनः एकबार उदीयमानसा होता प्रतीत होने लगा। किन्तु ?

१६२–नैष्ठिकी ब्रिटिशसत्ता के द्वारा शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य, एवं तन्मूलक राष्ट्रवैभव का सर्वविध शोषण—

इस किन्तु ? परन्तु ? से सम्बन्ध रखने वाले उस ब्रिटिशयुग के इतिहास का पिष्टपेषण आज सर्वथा निरर्थक है, जिसने सम्मान्य अतिथि के रूप में यहाँ पदार्पण करते ही करते तत्कालीन स्थिति का निष्ठापूर्वक अध्ययन किया। एवं इस राष्ट्र की संस्कृतिमूला सभ्यता के उस महान् अतिशय को लक्ष्य बना लिया अपनी चाणाक्षदृष्टि से, जिस अतिशय ने सभी आगन्तुकों को अपनी सभ्यता में विलीन कर लिया था। क्या था वह अतिशय ?, एकमात्र शिक्षास्वातन्त्र्य, जिसके मूल में भारतीय संस्कृति-धर्म्म–साहित्य–जैसी अश्माखण्ड-शिलाएँ प्रतिष्ठित थीं। इन बुद्धिमानों नें यह अनुभव कर लिया कि, जबतक शिक्षायन्त्र यहाँ के जनतन्त्राध्यक्ष द्विजातियों के हाथों में सुरक्षित रहेगा, तबतक प्रयत्नसहस्रों से भी इस राष्ट्र को सर्वात्मना परतन्त्र न किया जा सकेगा। इस दृष्टिबिन्दु के साथ साथ ही इन नैष्ठिकों नें यह भी देखा, सुना, और अवधानपूर्वक मनन

किया कि, "अपने से निकट पूर्व के यवन अतिथि भी शनैः शनै-शक-हूणादि की भाँति उत्तरोत्तर भारतीय ही बनते जा रहे हैं। यदि कहीं ऐसा हो गया, तो फिर क्षणमात्र भी यहाँ अपन आतिथ्यसुख न भोग सकेंगे । अतः सर्वप्रथम इस आशङ्का का ही समाधान कर लेना आवश्यक होगा" ।

उक्त आशङ्का का उन महान् नैष्ठिकों नें जो समाधान किया था, उसी के अनुग्रह से तत्पूर्वक के अतिथियों की भारतीयता का प्रवाह मानों अवरुद्ध ही हो गया । और ऐसा अवरुद्ध हो गया कि, उसनें इन्हीं नवीन अतिथियों के समाधानानुग्रह से इस राष्ट्र का अङ्ग-भङ्ग ही कर डाला, जिसके दुष्परिणामों से आज राष्ट्र की दो महान् शक्तियाँ (अमेरिका और रूस) मैत्री-वरुणा-मुदिता-सहायक-आदि आदि विविध प्ररोचनापथों के माध्यम से दोनों का हीं निगरण करने के लिए सन्नद्ध बनी हुई है।

प्रश्न शिक्षायन्त्र का प्रक्रान्त है। अतएव तत्सम्बन्ध में हीं निवेदन कर देना है । तथाकथित एक समाधान से ही समस्या का सर्वात्मना समाधान सम्भव न था। सर्वात्मना यह आवश्यक था कि, भारतीय उस शिक्षायन्त्र को स्वायत्त कर लिया जाता, जिसके बल पर मनःशरीरदृष्ट्या परतन्त्र भी बन जाने वाला भारतराष्ट्र आत्मबुद्ध्या स्वतन्त्र ही बनता चला आरहा था। वही हुआ, वही किया गया, और अवधानपूर्वक बड़ी सावधानी से किया गया। जिसका प्राथमिक श्रेय मिला 'गवर्न्मेन्ट कॉलेज बनारस' के संस्थापक दूरदर्शी **लार्ड मेकाले महोदय को**। शिक्षायन्त्र के इसी राष्ट्रीयकरण से प्रतीच्यशिक्षायन्त्र के अनुग्रह से वैसे मेधावी-प्रज्ञाशील-कुशल दासों की परम्परा समुद्भूत होने लग पड़ीं, जिसने सर्वथा दासभाव से अपने राष्ट्र के इतर अदासों को भी दासता की शिक्षा-दीक्षा में शिक्षित-दीक्षित करना आरम्भ कर दिया।

शिक्षायन्त्र के इसप्रकार जनतन्त्र से पृथक् हो जाने के कारण हीं राष्ट्र का शिक्षित सांस्कृतिक द्विजातिवर्ग भी शिथिल बन गया। और इसने भी इस राजभक्तिपञ्जिका में हीं अपना नाम लिखवाना आरम्भ कर दिया। सत्ताश्रयभूता प्रतीच्यशिक्षा ही 'शिक्षा' रूप से प्रधान बन गई, एवं इस शिक्षा से शिक्षितों का एकमात्र महान् पौरुष बन गया-**प्रणतभाव से दासधर्म्म का अनुगमन** । नौकरी-सेवा-ही शिक्षा का एकमात्र मुख्य लक्ष्य बन गया, किंवा बना दिया गया उन प्रतीच्य नैष्ठिकों के द्वारा।

१६३-राष्ट्र के मध्यमवर्ग की दासवृत्ति, और राष्ट्र का पारतन्त्र्य—

यह अविस्मरणीय है कि, राष्ट्र के मध्यमवर्ग में हीं राष्ट्रीय चेतना प्रधानरूप से पुष्पित-पल्लवित रहा करती है। श्रमजीवीवर्ग भी इस ओर से उदासीन बना रहता है, एवं सुनिश्चित सम्पत्तिशाली वर्ग भी तटस्थ ही बना रहता है। संघर्षजीवी मध्यमवर्ग ही जागरूक बना रहता है। यदि किसी उपाय से इसकी स्वतन्त्र चेतना को परतन्त्र कर दिया जाता है, तो फिर केवल सेवावृत्ति-राजभक्ति-के अतिरिक्त और कोई भी स्वावलम्बित्वपूर्ण पथ शेष नहीं रह जाता इसकी दृष्टि में। इस वर्ग के दासश्रेणि में दीक्षित होते ही सत्तातन्त्र निरंकुश बन कर सर्वात्मना अपने शोषणकर्म्म में सफल बन जाता है। और यही है उस बृटिशसत्तातन्त्र के

शिक्षायन्त्र का महदुःखपूर्ण जघन्य इतिहास, जिसने राष्ट्र के मध्यम वर्ग की चेतना को अभिभूत कर उसे दासधर्म्म में दीक्षित कर निरङ्कुशतापूर्वक इस राष्ट्र का निर्म्मम–शोषण प्रक्रान्त रखनें में हीं सफलता प्राप्त की थी।

१६४–राजभक्त विद्वानों, एवं सत्तासञ्चालक वित्तपतियों पर एक विहङ्गमदृष्टि–

संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों नें क्या इस मर्म्म को उस युग में नहीं समझा ?। समझा भी, और नहीं भी समझा। जिन परिश्रणित संस्कृतिनिष्ठों नें समझा, वे सत्तातन्त्र से निरपेक्ष बन कर अपनी निष्ठाओं में संलग्न रहे। जिन्होंनें नहीं समझा, वे मध्यमवर्ग की भाँति राजभक्ति में दीक्षित होकर ब्रिटिशसत्ता के महान् पोषक–समर्थक बन गए। तद्युग में उन उपाधिप्राप्त–महामहोपाध्यायों नें ब्रिटिशसत्ता की प्रशंसा में अनेक नवीन काव्यों का ही सर्जन कर डाला, जैसा कि इनका पूर्वसत्तायुगों में एक सफल व्यवसाय रहा है। क्या सम्पत्तिशालीवर्ग नें भी इस मर्म्म को नहीं समझा ?। जैसा इसने समझा, वैसा तो आजतक किसी ने भी नहीं समझा। तथाविध मर्म्म के स्वरूपसंरक्षण में हीं तो इस वित्तशालीवर्ग के हित सुरक्षित रहते आए हैं। दासता की अभिवृद्धि ही तो वित्तैषणा की पूर्ति का अन्यतम केन्द्र बना हुआ है इन व्यवसायधुरीणों की विहङ्गमदृष्टि में। अतएव यह वर्ग तो सत्तातन्त्र का सहसखा ही बनता आया है सदा से ही। संस्कृति–शिक्षा–धर्म्म–साहित्य–आदि आदि उसी सीमापर्य्यन्त इसकी दृष्टि में कुछ अर्थ रखते हैं, जिस सीमा में इस वित्तशाली के दासवर्ग की मान्यताओं का पोषण होता रहता है। अथवा तो साक्षात्रूप से ही ये धर्म्मादि इसकी वित्तैषणा–लोकैषणा के सहायक प्रतीत होते रहते हैं इसे। यही कारण है कि, जो भी सत्तातन्त्र जिस युग में भी राष्ट्र–जन–हित के व्याज से मध्यमवर्ग का जिन उपायों से जब भी शोषण करता है, तद्युग के वित्तशाली इस शोषणकर्म्म में सत्तातन्त्र के सहयोगी ही बनते रहे है, बनते ही रहेंगे। अतएव स्पष्ट ही एकमात्र मध्यम–वर्ग की चेतना के आधार पर ही राष्ट्रजागरण सम्भव बना करता है। यदि दुर्भाग्य से यह वर्ग भी सुप्त हो जाता है, तो उस अवस्था में तो राष्ट्र का भविष्य अन्धकारपूर्ण ही बन जाया करता है, जैसाकि तथाविध ब्रिटिशसत्तायुग में बन चुका था।

१६५--आज का स्वतन्त्र भारत और शिक्षायन्त्र का पारतन्त्र्य--

आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत के जनतन्त्र में 'शिक्षा' के सम्बन्ध में क्या घटित होरहा है ?, यह अप्रिय प्रश्न हमारे प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। अतएव तत्सम्बन्ध में कुछ न कहना हीं श्रेयःपन्था है। हाँ–राष्ट्रीयकरण के नाम पर शिक्षायन्त्र आज के इस जनतन्त्रात्मक स्वतन्त्र भारत में भी जिस निर्म्ममता से परतन्त्र बनता जा रहा है, यदि 'मल्टीपर्पज' लक्षण शिक्षायन्त्र का विस्तार कुछ समय पर्य्यन्त यों हीं परतन्त्र ही बना रह गया, तो निश्चयेन मध्यमवर्ग की स्वतन्त्र चेतना पुनः ब्रिटिशयुग की भाँति स्मृतिगर्भ में ही विलीन हो जायगी, जिसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र को ही परितप करना पड़ेगा, निश्चयेन करना हीं पड़ेगा।

१६६–राष्ट्रीय संस्कृति--सभ्यता--धर्म्म--साहित्य--शिक्षा–आदि के संरक्षण के मूलसूत्र–

विस्पष्टतम है कि, राष्ट्र के मनीषी–प्रज्ञाशील–संस्कृतिनिष्ठ–साहित्यमर्म्मज्ञ विद्वानों, तथा तत्सहयोगी आस्थाश्रद्धाशील जनतन्त्र के उत्तरदायित्व से ही राष्ट्रीय संस्कृति--शिक्षा–साहित्य–धर्म्म–आदर्शादि अनुप्राणित

रहने चाहिएँ । कदापि सत्तातन्त्र को इस व्यामोहन में नहीं पड़ जाना चाहिए कि, निर्वाचनपद्धति के अनुग्रह-मात्र से सत्तापद पर समारूढ हो जाने मात्र से ही उसने सभी क्षेत्रों की परपारदर्शकता प्राप्त करली । फिर जनतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रीय सत्तातन्त्र में तो इसप्रकार का व्यामोहन कर बैठना मानों स्वयं अपने हीं हाथों से अपना सर्वनाश ही करा लेना हैं । जबकि राजतन्त्रानुगत सत्तातन्त्र के लिए भी भारतराष्ट्र में ऐसा अधिकार व्यामोहन अक्षम्य ही प्रमाणित होता आया है । वहाँ भी 'प्रजानुरञ्जनात् राजा' ही परिभाषा हुई है सत्तातन्त्र की । अवश्य ही कुछ एक भूत-भौतिक-श्रम-जीवनात्मक वैसे भी असंख्य क्षेत्र है राष्ट्र में, जिनके प्रति सत्ता को ही सापेक्ष रहना जाहिए । जबकि संस्कृति-शिक्षादि के संरक्षक-प्रवर्त्तकों को इन भूत-भौतिक सत्तानुबन्धों से निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए । किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि, अनधिकृत क्षेत्रों को भी सत्तातन्त्र केवल 'सत्ता' नामाकर्षणमात्र से ही उनका राष्ट्रीयकरण करने लग पड़े । यही तो वह व्यामोहन है, जिसके कारण प्रतिदिन प्रतिक्षण-प्रतिश्वास-प्रश्वास-भारतीयता-मानवता-राष्ट्रीयता-सहास्तित्त्व-शान्ति-आदि आदि उदात्त घोषणाओं का निनाद करता हुआ भी सत्तातन्त्र इनकी व्यवस्थित आचारपद्धति के सर्जन-व्यवस्थापन में असमर्थ ही प्रमाणित हो रहा है । बड़े बड़े बाँध बँधवा देना, सड़कें बनवा देना, तालाव खुदवा देना, शिक्षा के लिए बड़े बड़े भवन खड़े कर देना, आदि आदि मात्र से ही यदि संस्कृति-शिक्षा-साहित्यादि की समस्याओं का समाधान हो जाता, तो यह पौरुष तो वे वित्तशाली धनिक कभी का कर डालते, जिनके विलासभवनों की तुलना में आजके आयोजनात्मक भवन कुछ भी तो नहीं हैं । यदि अर्थ, और तद्द्वारा संगृहीत भूत-भौतिक-परिग्रहसाधन-मात्रों के कौशलपूर्वक विनास्यासायोजनों से हीं बिना ही मूल-स्वस्थ-तत्त्वचिन्तन-प्रज्ञा के संस्कृति-शिक्षा-साहित्य-धर्म्म-आदि का संरक्षण-विकास-प्रचार-सम्भव बन जाता होता तो, आज से कब के ही विश्व की सम्पूर्ण संस्कृति, सम्पूर्ण शिक्षासूत्र, सम्पूर्ण साहित्य धनपतियों की तिजोरियों में सुगुप्त होगए होते, और साधन विहीन कोई भी प्रज्ञाशील इनका दर्शन भी न कर पाता । अतएव राष्ट्र पर अनुग्रह कर सत्तातन्त्र को, तत्सहयोगी वित्तशालीवर्ग को अपनी इस भूतार्थभ्रान्ति का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर राष्ट्र के लिए नहीं, तो अपनी वैय्यक्तिक-मानवता के स्वरूपबोध के लिए अपने धनातिमान-एवं सत्तातिमान को एक ओर रख कर प्रणतभाव से उस जनतन्त्र की ही शरण में आजाना चाहिए, अविलम्ब आजाना चाहिए, जहाँ आज के इस साधनहीन-दीन-म्लान व्यक्तित्त्व के गर्भ में भी उन्हें संस्कृति-साहित्य-शिक्षा-धर्म्म-आदि के वे चिरन्तन स्रोत उपलब्ध हो सकते हैं, होंगे हीं, जिनके प्रत्यंशदानग्रहणमात्र से थी सत्तातन्त्र भारतराष्ट्र को पुनः अतीतभारतवत् जढाद्गुरुत्त्व के गरिमामहिमाय सम्मानित हृदयासन पर विराजमान कर सकता है ।

ठीक इसके विपरीत यदि सत्तातन्त्र इस भ्रान्ति में है कि, किसी का सत्ताश्रय के बिना काम चल ही नहीं सकता । अतएव सबको दासभाव से सत्ताद्वार पर पहुँच ही जाना पड़ेगा, जहाँ से धनराशि सामुद्रवारिधारावत् अजस्रवेग से प्रतिक्षण प्रवाहित हो रहा है । अवश्य ही इस आकर्षण से सबको सत्ता के प्रति अनिमन्त्रित ही आश्रित होना ही पड़ेगा । और तब सत्ता जैसा जो अंश उचित समझेगी, अपनी बुद्धि, विवेक, से परीक्षा कर, किंवा सत्ताद्वारा क्रीत विशेषज्ञों के द्वारा परीक्षा करा कर कुछ करने के प्रयत्न पर विचार करने मात्र का निःसीम अनुग्रहात्मक वरप्रदान कर संस्कृति-शिक्षा-आदि को धन्य-कृतकृत्या बना देगी, तो कहना पड़ेगा कि, वह सत्तातन्त्र भारतराष्ट्र का सत्तातन्त्र तो नहीं माना जा सकता ।

अवश्य ही ऐसे ही सत्तातन्त्र अतीत भारतराष्ट्र को देखने पड़े हैं, भुगतने भी पड़े हैं। अवश्य ही कुछ एक राष्ट्रद्रोही विद्वानों नें सत्तालोलुपता से उन सत्तातिमानियों के गुणगान से भारतीय पवित्र इतिहास के पृष्ठों को कलङ्कित भी किया है। दम्भ-मद-मान-समन्वित सत्तातन्त्रों की स्तुतियों से संस्कृति धर्म्म-शिक्षा-आदि महती राष्ट्रविभूतियों के समतुलन में उन सत्तासापेक्ष राजभक्त लोकवित्तैषणालिप्सु संस्कृति-धर्म्म शिक्षा-साहित्य-नामधारी नराधमों नें सत्ता-धन-भूतैश्वर्य्य को ही ज्येष्ठ-श्रेष्ठ प्रमाणित करते हुए अपनी वाग्देवी को दग्ध भी किया है *। ततः किं न श्छिन्नम्। क्या बनता, और बिगड़ता है ऐसे विभीषणों से। ऐसे भावुक विद्वान्, एवं ऐसे भावुकों को आश्रय देते रहने वाले सत्तातन्त्र, दोनों हीं भूतैषणाओं में हीं अपना जीवन समाप्त कर लेते हैं।

नैष्ठिक विद्वान् तो कदापि किसी भी अवस्था में अपनी संस्कृति-धर्म्म-शिक्षा-साहित्यादि की नैष्ठिकी स्वानुगता तत्त्वचिन्तनलक्षणा सापेक्षता का स्वप्न में भी परित्याग नहीं किया करते। उनके लिए तो सभी भूत-भौतिक प्रलोभन नगण्य हीं प्रमाणित होते रहते हैं, होते रहे हैं, एवं होते ही रहेंगे=। ऐसे संस्कृतिनिष्ठों के शरीर एवं मनस्तन्त्र अवश्य ही अतीत **आसुरसत्ताओं** के द्वारा सतत उत्पीड़ित होते रहे हैं। रावण-कंस वेन-वृत्र-नमुचि-विद्युन्माली-तार-तूर-शालकष्टङ्कट-आदि आदि के पुरातन बीभत्स इतिहास, एवं अन्यान्य नवीन आततायी नाराधमों के जघन्य इतिहास साक्षी हैं कि, जब यहाँ के सभी वर्ग संस्कृति-साहित्यादि, से निरपेक्ष बन गए हैं तत्कालीन सत्तातन्त्रों के भय से, तो उन आपत्तिकालों में इस देश के द्विजातिवर्ग नें हीं निद्रा-भूख-प्यास-योग-क्षेम-आदि को जलाञ्जलि समर्पित कर सर्वप्रयत्नों से यहाँ के उन साहित्यिक-सन्देशों को बचाया है, जिन प्रातःस्मरणीय भूसुरों के अनुग्रह से, तत्पथानुगामी स्वतन्त्रताप्रेमी धर्म्मिष्ठ क्षत्रिय वीरों के अनुग्रह से ही राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतीक भूत साहित्य आज के इस साहित्यान्धकारयुग में भी आस्थाश्रद्धा-शीला संस्कृतिनिष्ठा आर्षप्रजा का पथप्रदर्शन कर रहा है। कदापि वे भूसुर, और वे क्षत्रियवीर सत्ताओं के प्रति सापेक्ष नहीं रहे। तत्कालीन सत्ताओं नें दमन में कोई कमी नहीं की। किन्तु ?, अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन।

---

*—धिगस्त्वेतां विद्यां—धिगपि कवितां—धिक् सुजनताम्।
वयो रूपं धिक्—धिक्—धिगपि च यशो निर्धनवतः ।।
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्।
बहिर्य्यस्य द्वारे तृणलवनिभाः सन्ति गुणिनः ।।
—चाटुकारोक्तिरनार्षा—भावुकतापूर्णा

=—अधिगतपरमार्थान्—पण्डितान् मामवँस्थ—
तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखा श्यामगण्डस्थलानां—
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ।। (भर्तृहरिः)

१६६–तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' श्रुति का तात्त्विक समन्वय—

निवेदन निष्कर्ष यही है कि, राष्ट्र की वह मौलिकसंस्कृति, वह शाश्वतधर्म्म–वह आर्षअपौरुषेयसाहित्य–वह आर्षशिक्षा, जिसका आधार दिग्देशकालातीत महाकालकालात्मक अव्ययेश्वरब्रह्म है, कदापि किसी की अपेक्षा नहीं रखती। इसी आधार पर–'तस्माद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिसका सीधा-सा अर्थ यही है कि—**मूलसंस्कृति–धर्म्म–साहित्य के चिन्तक ब्राह्मण को सत्तानिरपेक्ष ही रहना चाहिए।** ब्राह्मण की सर्वनिरपेक्षतामूला स्वाध्याय–तत्त्वचिन्तननिष्ठा ही राष्ट्र को मानवमात्रहितैषिणी–विश्व-शान्ति–स्वस्ति–ऋद्धि–वृद्धि–तुष्टि–तृप्ति–पुष्टि–प्रवर्त्तिका प्रतीक संस्कृति–सभ्यताएँ प्रदान कर सकता है। अतएव प्रतीक संस्कृति–सभ्यता के उत्तरदायित्त्व का वहन करने वाले सत्तातन्त्र को अपने प्रत्येक लौकिक–प्रतीकभूत–सांस्कृतिक आयोजन–सभ्यता–समारोहादि में तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मण की अलौकिकी सांस्कृतिक (प्राणात्मिका) प्रेरणा को ही आधाररूपेण सुप्रतिष्ठित करना चाहिए। जिस प्रकार ब्राह्मण अराजन्य–अर्थात् सत्ता-निरपेक्ष रह कर ही संस्कृतिचिन्तन में सफलता प्राप्त कर सकता है, तथैव सत्तातन्त्र ब्राह्मणादेश–प्रेरणा को आधार बना कर ही, ब्राह्मणसापेक्ष बन कर ही स्वराष्ट्रसंचालन–व्यवस्थापन में समर्थ बन सकता।

ब्राह्मणसत्तासापेक्ष वन कर नष्ट हो जाया करता है, तो सत्तातन्त्र ब्राह्मणनिरपेक्ष बन कर विनष्ट होजाया करता है, यही पूर्वोपात्त मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थ प्रसङ्ग से उपस्थित उस प्रतिज्ञात विशेष दृष्टिकोण का प्रासङ्गिक सम्यक्विश्लेषण है, जिस इस श्रौतरहस्य को उपेक्षित कर देने वाले, किंवा दृष्टि-पथ से विस्मृत ही कर देने वाले, साथ ही प्रतीकभूता–लोकसंस्कृति–लोकसभ्यता–मतवादात्मकधर्म्मों को ही संस्कृति–धर्म्म मान बैठने वाले–(जिनकाकि उत्तरदायित्व कालानुबन्धिनी लोकसत्ताओं से अनुप्राणित रहा है, इसी दृष्टि से—**'राजा कालस्य कारणम्'** यह ऐतिह्य वचन उद्धृत हुआ है। यहाँ का भावुक विद्वद्वर्ग सत्ताश्रयमूला राजभक्ति में व्यामोहन में आकर सत्तानुगत भूतव्यामोहन से आत्मविस्मृत बन अपनी मूल-निष्ठाओं से पराङ्मुख प्रमाणित होता हुआ अपने सांस्कृतिक स्वरूप से अभिभूत होगया है, एवं ऐसे सत्ता-श्रित सांस्कृतिकभावुक विद्वानों के सान्निध्य से सत्तातन्त्र भी भारतराष्ट्र की मौलिक विभूतियों के स्पर्श से वञ्चित रहता हुआ संस्कृति समाश्रय से–धर्म्म से–(आत्मनिष्ठा से) शून्य अपने समस्त आयोजनों में यातयाम ही बनता जारहा है। दोनों ही वर्ग मैत्रावरुणग्रहश्रुति के अनुग्रह से मित्र, और वरुण का स्वरूप समझें, दोनों अपने विभक्त उत्तरदायित्त्वों पर ही निष्ठापूर्वक आरूढ़ रहें, इस समन्वय के द्वारा राष्ट्र को अभ्युदय–निःश्रेयस पथानुगामी प्रमाणित करें, एकमात्र इसी मङ्गलकामना से संस्कृति, और सभ्यता शब्दों के चिरन्तन–इतिहास प्रसङ्ग में मैत्रावरुणश्रुति की प्रासङ्गिक चर्चा होपड़ी है, जो हम समझते हैं, दोनों शब्दों के चिरन्तन इतिहास का ही समर्थन कर रही है।

१६७–निरपेक्षा–सापेक्षा–संस्कृति के द्वारा भावुक मानवों का उद्बोधन—

संस्कृति और सभ्यता शब्दों के रहस्यार्थात्मक चिरन्तन इतिहास के स्वरूप–विश्लेषण–प्रसङ्ग से मैत्रा-वरुणग्रहश्रुति के अक्षरार्थसमन्वय द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराया गया। अब हमें संकलनरूप से अब तक के निरूपित इतिहास का सिंहावलोकन कर प्रतिज्ञात 'सांस्कृतिक–आयोजनों' की रूपरेखा

में प्रवृत्त होजाना चाहिए। अत्यन्त अवधानपूर्वक अब तक के दृष्टिकोणों को लक्ष्य बनाने से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, 'संस्कृति' शब्द की व्याप्ति निरपेक्षासंस्कृति, सापेक्षासंस्कृति भेद से दो स्थानों में विभक्त होरही है। विश्वातीत–अव्ययपुरुषलक्षणा मूलसंस्कृति ही 'निरपेक्षासंस्कृति' है, जो कार्य्य-कारणमर्य्यादाओं से, अतएव अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक प्राकृतिक प्रतीकभावों से सर्वथैव असंस्पृष्टा है। अव्ययपुरुषवत् वृक्षइव स्तब्धा वह विश्वनिरपेक्षा 'अव्ययपुरुषसंस्कृति' ही मानव का सिद्धावस्थापन्न वह परमपुरुषार्थ है, जिसे 'ब्राह्मीस्थिति' कहा गया है, जिसके योगसंसिद्धावस्था में स्वतः उदित होजाने पर मानव 'स्थितप्रज्ञ' बनजाया करता है, एवं जो स्थितप्रज्ञता ही अव्ययात्म–संस्कृतिनिष्ठ द्विजाति मानव की आत्मस्वरूपाभिव्यक्तिस्वरूपा 'विदेहमुक्ति' है। अचिन्त्या है यह निरपेक्षा ब्रह्मसंस्कृति, जिसका केवल जड़–भूत–प्रकृतिवादियों को स्मरणाधिकार भी उपलब्ध नहीं हो सकता है। अतएव जो आत्मवादी–भूतवादी–क्षणिक–शून्यवादी प्राकृतिक–व्यामोहनों को ही मानव की 'संस्कृति' मानते मनवाते हुए स्वयमपि दिग्भ्रान्त बने हुए हैं, एवं प्रत्यक्षभावों से आकर्षितमना भावुकमानवों को भी दिग्भ्रान्त–लक्ष्यविहीन बनाते हुए कल्पित संस्कृति–मानवता–विश्वबन्धुत्त्व–आदि भारतीय आर्षसंस्कृति के शब्दों के व्यामोहनजाल से अपनी वित्तैषणागर्भिता लोकैषणाओं को चरितार्थ करते हुए निम्नलिखित श्रुतिवचन को अक्षरशः अन्वर्थ बनाते जारहे हैं, जिनकी इस दन्द्रम्यमाण जघन्या मलीमसा दुर्वृत्ति भावुक, किन्तु आस्थाश्रद्धाशील भारतीय आत्मनिष्ठ मानवों के उद्बोधन के लिए ही संस्कृति–सभ्यता शब्दों का चिरन्तन इतिहास यहाँ उपवृत्त हुआ है।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

—उपनिषत्।

१६८–निरपेक्षा संस्कृति के आधार पर सापेक्षा लोकसंस्कृति का वितान—

सिद्धपुरुषार्थलक्षणा–ब्राह्मीस्थितिरूपा–स्थितप्रज्ञतात्मिका–वृक्षइवस्तब्धा–विदेहमुक्ति–स्वरूपा–अव्यय-पुरुषात्मिका इत्थंभूता निरपेक्षा 'शाश्वत–संस्कृति' का न तो कोई अनुशीलनपक्ष ही है, न आचारपक्ष ही, न अनुसरणात्मक अनुकरणपक्ष ही। किसी भी प्रतीकात्मक शरीरानुबन्धी अनुकरण, मनोऽनुबन्धी अनुसरण, बुद्ध्यनुबन्धी आचरण एवं भूतात्मानुबन्धी अनुशीलन से तथाविधा निरपेक्षा संस्कृति का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो अलौकिक–जीवन्मुक्त–अतिमानव के निष्ठाक्षेत्र से ही स्वतः ही समन्विता है, जिस समन्वयानुग्रह-प्राप्ति के लिए निरपेक्ष–संस्कृतिनिष्ठ अतिमानवों (महर्षियों) ने चतुर्विधा प्रकृतिसापेक्षा संस्कृतियों का संस्थापन किया है चतुष्पर्वा लोकमानव के मानवीय चार पर्वों के क्रमिक समन्वय की दृष्टि से, जिस दृष्टि का पूर्व के–**'संस्कृति, और सभ्यता शब्दों का पार्थक्य'** नामक १०३ वें परिच्छेद में (पृ० सं० ५६) एक विभिन्न दृष्टिकोण से दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

१६९–सापेक्षा–लोकसंस्कृति का आचारात्मक स्वरूप—

मानव का भूतात्मा **मोक्षसंस्कृति** से, मानव की बुद्धि **धर्म्मसंस्कृति** से, मानव का मन **'कामसंस्कृति'** से, एवं मानव का शरीर **'अर्थसंस्कृति'** से क्रमशः सुसंस्कृत बन जाया करते हैं। इन चारों प्राकृतिक–मानवीय पर्वों को उस अमानवीया,–किंवा अलौकिक मानवीया, किंवा अतिमानवीया पुरुषार्थलक्षणा निरपेक्षा संस्कृति के अनुरूप बना देने से ही इन चारों लोकपर्वसंस्कृतियों को–प्रकृतिसापेक्षा, विश्वसापेक्षा **'प्रकृत्यथ-संस्कृति'** कहा जा सकता है, जबकि एक विशेष दृष्टिकोण से इस चतुर्विधा लोकसंस्कृति को **'पुरुषार्थसंस्कृति'** नाम से भी व्यवहृत कर दिया गया है।

स्वतःसिद्धा पुरुषार्थसंस्कृति के उदयकरा कारण बनीं रहने से ही ये चतुर्विधा प्रकृतिसंस्कृतियाँ भी 'ताच्छब्द्यन्याय' से पुरुषार्थसाधिका बनती हुई **'पुरुषार्थसंस्कृति'** नाम से व्यवहृत की जा सकती हैं, की गई हैं। प्रकृत्यर्थरूपा, विश्वसापेक्षा इन चारों सापेक्षसंस्कृतियों का आचारात्मक–व्यवहारात्मक स्वरूप क्या है!, इस प्रश्न का समाधान ही **'मानवाश्रम'** है। अर्थात् अपने ब्रह्मचर्य्य–गृहस्थ–वानप्रस्थ––संन्यासाश्रम–नामक चारों मानवीय आश्रमों में आश्रमजीवनपद्धति से व्यवस्थित रहने वाले द्विजातिमानव की चतुर्विधा शास्त्रविधिसमर्थिता आचारनिष्ठा ही इन चारों संस्कृतियों का आचारात्मक–व्यावहारिक–स्वरूप है, जिनके तथ्यपूर्ण चिरन्तन इतिहासों के समन्वय परिज्ञान के लिए तो शास्त्रस्वाध्याय ही शरणीकरणीय हैं। प्रासङ्गिक समन्वयमात्र की दृष्टि से प्रकृत में इनके आचारपक्ष के सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, सुप्रसिद्ध शास्त्रीय **'[१]कर्म्म–[२]उपासना–[३]ज्ञान–[४]बुद्धि'** नामक चतुर्विध काण्ड ही **'[१]अर्थ-[२]काम-[३]धर्म्म-[४]मोक्ष'** नामकी संस्कृतियों का आचारात्मक स्वरूप है।

१७०–लोकसंस्कृतिमूला–शास्त्रीया–योगचतुष्टयी—

साधनात्मक भूतपरिग्रहों से साध्यरूप भौतिकफल प्राप्ति लक्षण आचारपक्ष ही **'कर्म्मकाण्ड'** है, जिसे यज्ञकाण्ड भी कहा गया है। साधनात्मक भूतपरिग्रहों से साध्यरूप दैविकफलप्राप्तिलक्षण आचारपक्ष ही **'उपासनाकाण्ड'** है। साधनात्मक दैविकपरिग्रहों से सम्पन्न साध्यरूप दैविकफलप्राप्तिलक्षण आचारपक्ष ही **'ज्ञानकाण्ड'** है। एवं साधनरूप दैविक परिग्रहों से सम्पन्न साध्यरूप दैविक परिग्रहानुशीलात्मक पक्ष ही **'बुद्धिकाण्ड'** है। सहजभाषानुसार जिस आचार में साधन, साध्य दोनों आधिभौतिक रहेंगे, उसे **'कर्म्मयोग'** कहा जायगा। जिसमें साधन आधिभौतिक, किन्तु साध्य आधिदैविक रहेंगे, उसे **'भक्तियोग'** माना जायगा। जिसमें साध्य–साधन दोनों ही आधिदैविक आचरणात्मक होंगे, उसे **'ज्ञानयोग'** माना जायगा। एवं जिसमें साध्य–साधनरूप से दैविकयोगों का अनुशीलनमात्र रहेगा, उसे **'बुद्धियोग'** कहा जायगा।

१७१–आचारसंस्कृतियों का तालिकात्मक स्वरूप—

उभयत्र भौतिक स्थूल आचारात्मक कर्म्मयोग ही मानव की शरीरनिबन्धना **'अर्थसंस्कृति'** कहलाएगी एकत्र भौतिक, अन्यत्र दैविक सूक्ष्म आचारात्मक भक्तियोग ही मानव की मनोनिबन्धना **'कामसंस्कृति'**

कहलाएगी। उभयत्र दैविक, सुसूक्ष्म आचरणात्मक ज्ञानयोग ही मानव की बुद्धिनिबन्धना **'धर्म्मसंस्कृति'** कहलाएगी। एवं उभयत्र दैविक सहज-अनुशीलनात्मक बुद्धियोग ही मानव की भूतात्मनिबन्धना **मोक्षसंस्कृति** है। और यों प्राकृतिक-विश्वसापेक्ष-शरीर, मनो, बुद्धि, भूतात्मानुगत चारों योग ही मानव की चतुर्विधा प्रकृतिसंस्कृतियाँ हैं, जिन्हें आश्रमव्यवस्थामूला-आश्रमजीवनव्यवस्था निबन्धना शास्त्रीया **'आचारसंस्कृति'** अभिधा से ही व्यवहृत किया गया है। यही यहाँ के उस आचारधर्म्मात्मक प्रतीकधर्म्म की सहजस्वरूप परिभाषा है, जिससे वर्णाश्रमानुगता भारतीया द्विजातिमानवप्रजा सर्वात्मना सच्छुस्का-मर्य्यादिता बनी रहती हुई अभ्युदय-निःश्रेयस् का अर्जन करती रहती है। लक्ष्य बनाइए तालिकारूपेण चतुर्विधा इस मानवीया शास्त्र-सापेक्षा लोकसंस्कृति को—

प्रकृतिसंस्कृतिचतुष्टयी-स्वरूपपरिलेखाः-(आचारात्मिका सैषासंस्कृतिचतुष्टयी)

१-मानवस्य भूतात्मा-तदनुगतः-मोक्षः-प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-स्वायम्भुव (आत्मिकः)।
२-मानवस्य बुद्धिः—-तदनुगतः-धर्म्मः--प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-सौरः (बौद्धिकः)।
३-मानवस्य मनः—-तदनुगतः--कामः--प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-चान्द्रः (मानसिकः)।
४-मानवस्य शरीरम्-तदनुगतः--अर्थः--प्रकृत्यर्थरूपः पुरुषार्थः-पार्थिवः (शारीरिकः)।

* * *

१-भूतात्मानुगतो मोक्षएव-बुद्धियोगः (शास्त्रीययोगविधिः)-दैविकानुशीलनात्मकः
२-बुद्ध्यनुगतो धर्म्मएव-ज्ञानयोगः (शास्त्रीयज्ञानविधिः)-दैविकसुसूक्ष्माचारात्मकः
३-मनोऽनुगतः कामएव-भक्तियोगः (शास्त्रीयोपासनविधिः)-दैविकभौतिकसूक्ष्माचारात्मकः
४-शरीरानुगतः अर्थएव-कर्म्मयोगः (शास्त्रीययज्ञविधिः)-भौतिकस्थूलाचारात्मकः

* * *

१-भूतात्मानुगतो बुद्धियोग एव-मानवस्य-'मोक्षसंस्कृतिः'
२-बुद्ध्यनुगतो ज्ञानयोग एव-मानवस्य-'धर्म्मसंस्कृतिः'
३-मनोऽनुगतो भक्तियोग एव-मानवस्य-'कामसंस्कृतिः'
४-शरीरानुगतः कर्म्मयोग एव-मानवस्य-'अर्थसंस्कृतिः'

* * *

१-भूतात्मानुगता-मोक्षसंस्कृतिरेव-मानवस्य-अनुशीलनलक्षणः-आचारधर्म्मः
२-बुद्ध्यनुगता—धर्म्मसंस्कृतिरेव-मानवस्य-आचरणलक्षणः—आचारधर्म्मः
३-मनोऽनुगता---कामसंस्कृतिरेव-मानवस्य-अनुसरणलक्षणः--आचारधर्म्मः
४-शरीरानुगता--अर्थसंस्कृतिरेव-मानवस्य-अनुकरणलक्षणः---आचारधर्म्मः

* * *

आचारः परमो धर्म्मः-इत्याहुराचार्य्याः-आचारनिष्ठविद्वांसः

१-अनुशीलनात्मिका-मोक्षसंस्कृतिरेव-वैराग्यबुद्धियोगः (बुद्धियोगो वा)।
२-आचरणात्मिका—धर्म्मसंस्कृतिरेव-ज्ञानबुद्धियोगः (ज्ञानयोगो वा)।
३-अनुसरणात्मिका--कामसंस्कृतिरेव-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः (भक्तियोगो वा)।
४-अनुकरणात्मिका--अर्थसंस्कृतिरेव--धर्म्मबुद्धियोगः (कर्म्मयोगो वा)*।

१७२-सिद्धा, एवं साध्या संस्कृति की निरपेक्षता-सापेक्षता का समन्वय—

तदित्थं-सिद्धपुरुषार्थलक्षणा सर्वनिरपेक्षा विश्वेश्वरसंस्कृतिरूपा वृक्ष इव स्तब्धा मूलसंस्कृतिभावात्मिका १ 'अलौकिकसंस्कृति' एवं साध्यपुरुषार्थलक्षणा--प्रकृत्यर्थरूपा--विश्वसंस्कृतिरूपा--शास्त्रीया--चतुर्विधा-२ 'लौकिकसंस्कृति' रूप से संस्कृति के दो मुख्य विवर्त्त होजाते हैं। इन दोनों संस्कृतियों में से विश्वातीता, किन्तु विश्वस्वरूपाधिष्ठात्री अलौकिक-अव्ययात्मसंस्कृति की निरपेक्षता तो सर्वात्मना संसिद्धा है ही। अब प्रश्न शेष रह जाता है चतुर्विधा उस लोकसंस्कृति का, जिसे शास्त्रसापेक्षा बतलाया गया है। क्या यह लोकसंस्कृति-चतुष्टयीलक्षणा शास्त्रीया संस्कृति भी अव्ययात्मसंस्कृतिरूपा मूलसंस्कृति (अलौकिकसंस्कृति) की भांति सत्तानिरपेक्षा ही है ?, जिस इस प्रश्न का 'हाँ' और 'ना' दोनों ही उत्तर सम्भव होंगे दृष्टिकोणभेद से, जिनका समन्वय कर लेना भी प्रासङ्गिक ही मान लिया जायगा। एवं इस प्रासङ्गिक समन्वय के लिए भी हमें एक श्रौत-सन्दर्भ का ही आश्रय लेना पड़ेगा, जिसका अविकलरूप निम्नलिखित है।

१७३-समन्वयाधारभूत-श्रौतसन्दर्भ—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-एकमेव। तदेकं सत्-न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-क्षत्रं, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि-इन्द्रः, वरुणः, सोमः, रुद्रः, पर्जन्यः, यमः, मृत्युः, ईशानः, इति। तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति। तस्मात्-ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये। क्षत्रऽएव तद्यशो दधाति। सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्मात्-यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैव-अन्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनं हिनस्ति, स्वां स योनिमृच्छति। स पापीयान् भवति, यथा श्रेयांसं हिंसित्वा ॥ १ ॥

स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत्-यान्येतानि देवजातानि गणशः-आख्यायन्ते-वसवः-रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, मरुतः, इति ॥ २ ॥

---

*-इन चारों संस्कृतियों के स्वरूपेतिहास के लिए नवखण्डात्मिका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के कर्म्म-भक्ति-ज्ञान-बुद्धियोग-परीक्षात्मक स्वतन्त्र चार खण्ड ही देखने चाहिए, जिन की संकलिता पृष्ठसंख्या ३००० (तीन हजार) के लगभग है।

स नैव व्यभवत् । स शौद्रं वर्णमसृजत–पूषणम् । इयं वै (पृथिवी) पूषा । इयं हीदं सर्वं पुष्यति, यदिदं किञ्च ॥ ३ ॥

स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत–धर्म्मम् । तदेतत्–क्षत्रस्य–क्षत्रं, यद्धर्म्मः । तस्मात्-धर्म्मात्परं नास्ति । अथोऽबलीयान् बलीयांसं–समाशंसते धर्म्मेण, यथा राज्ञा-एवम् । यो वै स धर्म्मः, सत्यं वै । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः–'धर्म्मं वदति' इति । धर्म्मं वा वदन्तं–'सत्यं वदति' इति । एतद्ध्येवैतत्–उभयं भवति ॥ ४ ॥

तदेतत्–ब्रह्म, क्षत्रं, विट्–शूद्रः । तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवत्, ब्राह्मणो मनुष्येषु । क्षत्रियेण क्षत्रियः, वैश्येन वैश्यः, शूद्रेण शूद्रः । तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते, ब्राह्मणे मनुष्येषु । एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माऽभवत् ॥ ५ ॥

—शतपथब्राह्मण १४।४।२।२३ वीं कण्डिका से २७ वीं कण्डिका पर्य्यन्त ।

१७४–श्रौतसन्दर्भ का रहस्यात्मक समन्वय—

प्राकृतिक विश्व के अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण वर्णतत्त्वनिबन्धन–प्राणात्मक–देवताविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले उक्त श्रौतसन्दर्भ के ज्ञानविज्ञानात्मक तात्त्विक समन्वय के लिए तो द्विजातिमानव को वेदस्वाध्यायपथ का ही अनन्यनिष्ठा से अनुगमन करना चाहिए । कदापि कण्डूमात्रनिवारक अक्षरार्थमात्र से श्रौत वचनों का तात्त्विक बोध सम्भव नहीं है । कण्डूशान्तिमात्र के लिए ही अक्षरार्थमात्रसमन्वय के द्वारा हमें मनस्तुष्टि ही कर लेनी चाहिए इसप्रकार कि—

"आज विश्व का जो आकाश--सूर्य्य–चन्द्र–पृथिव्यात्मक स्वरूप दिखलाई पड़ रहा है, वह इस व्यक्त स्वरूप से पूर्व–प्रथमावस्था में, आरम्भदशा में केवल ब्रह्मरूप ही था । अर्थात् आपोमय सुब्रह्म नामक पारमेष्ठ्य–ऋत अथर्व के गर्भ में प्रविष्ट आकाशात्मा स्वयम्भूब्रह्म * की ही व्यक्त–आलोकजगत् से पूर्व प्रधानता थी। वह अव्यक्त स्वयम्भूब्रह्म आरम्भ में एकाकी ही था । अपने इस एकाकी ब्रह्मरूप से स्वयम्भूब्रह्म विश्वविभूतिरूप में परिणत होने में समर्थ न बन सका, सर्वहुतयज्ञात्मक–सर्वमेधयज्ञरूपात्मक–विश्वविवर्त्तरूप में परिणत न होसका । अपनी इस विभूति--कामना को, विश्वैश्वर्य्यकामना को सफल करने के लिए स्वम्भूब्रह्म ने अपने से भी श्रेष्ठ रूप को अपने प्रवर्ग्यभाग से उत्पन्न किया, जो कि श्रेष्ठरूप 'क्षत्र' कहलाया । अर्थात् ब्रह्म ने विश्वविभूति--कामना से क्षत्ररूप ही उत्पन्न किया अपने प्रवर्ग्यभाग से ।

---

*–ध्यान रहे, सृष्टि का आधारभूत 'ब्रह्म' यहाँ सृष्टि की अपेक्षा कोई लोकातीत ब्रह्म नहीं है । अपितु व्यक्ताधिष्ठाता–क्षरप्रकृतिक–आकाशात्मा–ऋक्सामयजुर्म्मूर्त्ति स्वयम्भू ही यहाँ के 'ब्रह्म' शब्द से परिगृहीत है, जिसे अन्यत्र–'ब्रह्म वै स्वयम्भू तपो ऽतप्यत' रूप से विश्वकर्म्मात्मक तप का सञ्चालक माना गया है । (देखिए शत० १३।७।३।१।) ।

वैदिक–सृष्टिविज्ञानवेत्ता विद्वानों को यह सुविदित ही है कि, स्वयम्भू ब्रह्म ऋक्–साम–यजुः–रूप से त्रयीमूर्त्ति है। इसके ऋक्सामात्मक–वयोनाधरूप छन्दोभाव से छन्दित–सीमित यजुःरूप ब्रह्माग्निभाग यत्रूप प्राणव्यापार से द्रुत होकर आपोमय परमेष्ठीरूप में परिणत हो रहा है, जो परमेष्ठी भृग्वङ्गिरोमय अथर्वब्रह्म कहलाया है। अथर्वब्रह्म उसी यजुर्ब्रह्म का द्रुत–अर्द्ध पत्नीरूप है, एवं स्वयं यजुर्ब्रह्म सत्याग्निरूप पतिभाग है। ब्रह्म स्वयम्भू, एवं सुब्रह्म परमेष्ठीरूप पति–पत्नी का दाम्पत्यलक्षण पूर्णस्वरूप ही 'स्वयम्भूब्रह्म' है। इसप्रकार स्वयम्भूब्रह्म के शुक्रात्मक–वेदाग्नि (यजुराग्नि) बीज का शोणितात्मक–अथर्व में आधान होता है। इसी मिथुनभाव से हिरण्मयाण्डमध्यवर्त्ती सूर्य्यनारायण का आविर्भाव होता है, जिसके आविर्भूत होते ही विश्व में स्वयम्भूब्रह्म का अव्यक्त यश व्यक्तरूप में परिणत हो जाता है। और यही उस ब्रह्मस्वयम्भू का स्वयम्भू–परमेष्ठी के दाम्पत्यभाव से समुद्भूत–ब्रह्मापेक्षया भी (व्यक्त विश्वापेक्षया भूतसमृद्धि की अपेक्षा से) श्रेष्ठ ही रूप माना जायगा। यही विश्व का क्षात्रतेज माना जायगा, माना जा रहा है।

आपोमय परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में भृगुसम्बन्ध से अङ्गिरा की चिति के द्वारा स्वायम्भुव ब्रह्मरूप यजुरग्नि की संचिति से आविर्भूत, व्यक्त विश्वापेक्षया अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हिरण्मय जो सौर क्षात्र तेज आविर्भूत हुआ, वह क्षत्रतत्त्व परमेष्ठ्यनुगत सौरमण्डलान्तर्भुक्त सौर इन्द्र, पारमेष्ठ्य **वरुण**, ब्राह्मणस्पत्य **सोम**, आग्नेय **रुद्र**, आप्यभार्गव **पर्जन्य**, सौर **यम**, मुच्युर्लक्षण **मृत्यु**, एवं पारमेष्ठ्य आपः से समन्वित सौरसाम्बसदाशिवात्मक **ईशान**, इन अवान्तर प्राणदेवताओं की समष्टि ही था। अर्थात् इन प्राणदेवताओं की समन्वितावस्था का नाम ही ब्रह्म से आविर्भूत क्षत्रतत्त्व था।

स्वयम्भू ब्रह्म का पार्थिव सगुणरूप ही ब्राह्मण है, एवं तत्प्रथमसन्ततिरूप क्षत्र का पार्थिव सगुणरूप ही क्षत्रिय है, जैसाकि अन्त में–'ब्राह्मणो **मनुष्येषु०**' इत्यादिरूप से स्वयं श्रुति ही स्पष्ट करने वाली है। प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–वर्णों से ही मानवों में ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्यादि चातुर्वर्ण्य का आविर्भाव हुआ है, जो आगे चलकर प्रकृतितत्त्वरहस्यवेत्ता ऋषियों के द्वारा गोत्र–वर्ण–जातिरूपेण सुव्यवस्थित होते हुए 'वर्णव्यवस्था' रूप से सामाजिक अनुबन्ध बन गए हैं। न केवल मनुष्यों में हीं, अपितु ब्रह्म–क्षत्रादि प्राकृतिक वर्णतत्त्वों से समुत्पन्न चर-अचर–समस्त प्राणियों, जड़भूतों में भी उसी क्रमानुपात से चातुर्वर्ण्य व्याप्त है, जिस इस प्रकृतिसिद्ध चातुर्वर्ण्य को न जानने के कारण ही आजका विकृत्युपासक मानव भारतीया विज्ञानसिद्धा वर्णाश्रमव्यवस्था के उन्मूलन के लिए आतुर बनता हुआ अपने स्वरूप का ही उन्मूलन करता जा रहा है, जैसाकि अन्य सामयिक निबन्ध में दिग्दर्शन करा दिया गया है *।

यजुरूप अव्यक्तमूर्त्ति ब्रह्माग्नि से सम्बन्धित स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि प्राण विभूतिभाव से क्रमशः **अग्नि, सोम, सविता, मित्र, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, सरस्वती,** इन सात विवर्त्तभावों में परिणत होकर ही ब्रह्मात्मक ब्राह्मणवर्ण का आविर्भावक बनता है। अतएव यह सप्तब्रह्म-प्राणदेवता प्रकृति में-'ब्राह्मणदेवता' कहलाए हैं। ब्राह्मणवर्णप्रधान मानव के भूतात्मा में इन्हीं सप्त ब्राह्मणदेवों की प्रधानता रहती है, जबकि क्षत्रियवर्णप्रधान मानव में **इन्द्र–वरुण–सोम–रुद्र–पर्जन्य–यम–मृत्यु–ईशान**–इन आठ क्षत्रप्राणदेवताओं की

---

* देखिए–**'श्वेतक्रान्ति का महान् सन्देश'** नामक सामयिक लघुनिबन्ध।

अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठा रहती है। एवमेव वैश्यमानव में **वसु-रुद्र-आदित्य-विश्वेदेव-मरुत्** नामक पाँच विड्वर्णात्मक प्राणदेवता प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं शूद्रमानव में पार्थिव **पूषाप्राणदेवता** की प्रधानता मानी गई है, जैसाकि गीताभूमिका-कर्म्मयोगपरीक्षा के-'**वर्णव्यवस्थाविज्ञान**' नामक अवान्तर परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जाचुका है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, प्राकृतिक ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-प्राणदेवों से ही पार्थिव मानवीय वर्णभावों का विकास हुआ है। चारों में अष्टप्राणदेवतात्मक क्षत्र ब्रह्म का श्रेष्ठरूप है। अतएव क्षत्र ही श्रेष्ठरूप मान लिया गया है व्यक्त विश्व की दृष्टि से, जिसका भौतिक स्वरूप सूर्य्य ही है। सूर्य्यसत्ता ही व्यक्त विश्वसत्ता की प्रतिष्ठा है। अतएव ब्रह्म से समुद्भूत क्षत्रसूर्य्य ही उत्कृष्टरूप है। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है-'**तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति**'।

ब्रह्म से ब्राह्मण मानव का आविर्भाव हुआ है, एवं सौरक्षत्र से क्षत्रिय मानव का आविर्भाव हुआ है। अतएव वर्णमानवों में व्यक्त विश्व की भाँति ब्राह्मणमानव के समतुलन में क्षत्रिय को ही श्रेष्ठ-परम-कहा जायगा। क्षात्रसत्तातेज के इसी श्रेष्ठत्त्व का दिग्दर्शन कराती हुई आगे चलकर श्रुति कहती है कि, क्योंकि ब्रह्म से क्षत्र परम है, श्रेष्ठ है। अतएव राज्याभिषेक के समय ब्रह्म से व्यक्त होने वाला ब्राह्मणमानव सिंहासन से नीचे खड़ा होकर ही क्षत्र से व्यक्त होने वाले, अतएव श्रेष्ठ मूर्द्धाभिषिक्त राजा का अभिषेक करता है। कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, ब्राह्मण इससे क्षत्रिय से अवरकक्षा में आगया। यह तो ब्राह्मण की ओर से क्षत्रिय में यशोरूप तेज का ही आधान करना है। क्षत्रिय को, सत्तातन्त्र को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, यह ब्रह्म तो क्षत्र की योनि है, मूलप्रतिष्ठा है. ब्रह्म से ही तो क्षत्र का आविर्भाव हुआ है। यही कारण है कि, व्यक्त भूतैश्वर्य्य की दृष्टि से सत्तातन्त्र भले ही कैसी ही उत्कृष्टता-श्रेष्ठता पर क्यों न पहुँच जाय। अन्ततोगत्त्वा सर्वथा प्रत्येक अवस्था में इसके लिए स्वप्रतिष्ठाभूत ब्रह्मात्मक ब्राह्मण ही शरणीकरणीय बना रहता है, बना ही रहना चाहिए। अपने व्यक्त भूतैश्वर्य्य की परमता के व्यामोहन में आकर जो सत्तातन्त्र राष्ट्र के इस ब्राह्मणवर्ण की उपेक्षा कर देता है, इसे तिरस्कृत-उत्पीड़ित कर देता है, वह अपनी मूलप्रतिष्ठा का ही नाश कर लेता है। ब्राह्मणावमन्ता वैसा सत्तातन्त्र निश्चयेन कालान्तर में उसीप्रकार अधोगति को प्राप्त होजाता है, जैसाकि, '**श्रेयांसं हित्त्वा पापीयान् भवति**' ॥१॥

अपनी विभूतिकामना को सफल बनाने के लिए **अग्नि-सोम-सविता-मित्र-बृहस्पति-ब्रह्मणस्पति-सरस्वती**-इन सात प्राणदेवताओं की समष्टिरूप अव्यक्त-आकाशात्मा स्वयम्भू ने परमेष्ठी के दाम्पत्यभाव से अपने से भी श्रेष्ठरूप **इन्द्र-वरुण-सोम-रुद्र-पर्जन्य--यम--मृत्यु--ईशान**--इन आठ प्राणदेवों की समष्टिरूप सौर क्षत्र को उत्पन्न तो कर लिया। किन्तु एतावतापि ब्रह्म सर्वात्मना विभूतिभाव में परिणत न हो सके-'**स नैव व्यभवत्**'। अपनी इसी न्यूनता की पूर्त्ति के लिए क्षत्र के अनन्तर ब्रह्म ने **वसु-रुद्र-आदित्य-विश्वेदेव-मरुत्**-भेद से पञ्चधा विभक्त **गणदेवों** की समष्टिरूप, विड्वर्ण को ही उत्पन्न किया, (जिससे वैकारिक जगत् में वैश्यवर्ण का विकास हुआ करता है) ॥२॥

क्या इससे ब्रह्म की विभूतिकामना सर्वात्मना सफल होगई !। नेति होवाच । '**स नैव व्यभवत्**'। अतएव पुनः ब्रह्म को उस शूद्रवर्ण का आविर्भाव करना पड़ा, जिसे पार्थिव **पूषाप्राण** कहा गया है, (एवं जिसकी प्रधानता से विकारजगत् में शूद्रवर्ण व्यवस्थित हुआ करता है)। इस पृथिवी का ही नाम इसलिए

पूषा है कि, पार्थिव जगत् में जो भी विकारभाव हैं, सबका पोषण इस पार्थिव पूषाप्राण से ही होरहा है। इस पुष्टिगुण के कारण ही पार्थिव शूद्रप्राण, को एवं तद्भिन्ना पृथिवी को 'पूषा' कह दिया गया है ॥३॥

तदित्थं-विश्ववैभवप्राप्तिकामुक स्वयम्भू ब्रह्म ने क्रमशः क्षत्र-विट्-शूद्र-नामक तीन वर्ण अभिव्यक्त कर लिए। और यों आरम्भ का एकाकी ब्रह्म क्रमधारा के अनुपात से चातुर्वर्ण्यरूप में परिणत होगया। सम्पूर्ण विश्व में चातुर्वर्ण्य का विस्तार होगया। उक्त १-२-३ वचनों का यही समष्ट्यात्मक समन्वय है, जिसका निष्कर्षार्थ है-**पञ्चपर्वात्मक विश्व का आविर्भाव**। **आकाशात्मा ब्रह्मस्वयम्भू**, तथा **वाय्वात्मा सुब्रह्मपरमेष्ठी**, सूर्य्य से ऊपर अवस्थित इन दोनों विश्वपर्वों की समष्टि का तो श्रुति ने यहाँ-'**ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-एकमेव**' इस वाक्य से संग्रह कर लिया है। अब शेष रह जाते हैं **सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी**-नामक तीन पर्व। सूर्य्य ही क्षत्रवर्ण है, चन्द्रमा ही विड्वर्ण है, एवं पृथिवी ही **शूद्रवर्ण** है। परमेष्ठ्यनुगत स्वयं स्वयम्भूब्रह्म **ज्ञानशक्तिघन** है, तद्गर्भीभूत सूर्य्य **क्रियाशक्तिघन** है, तदनुगत चन्द्रमा **अर्थशक्तिघन** है, एवं तद्भिन्न भूपिण्ड प्रवर्ग्यभावात्मक **गुणशक्तिमय** है। इसप्रकार **ज्ञान-क्रिया-अर्थ-गुण**-भेद से पारमेष्ठ्य ब्रह्मस्वयम्भू-क्षत्रसूर्य्य-विट्चन्द्रमा--शूद्रभूपिण्ड-इन विश्वपर्वों का समन्वय होरहा है। यही पञ्चपर्वा विश्व की संक्षिप्ततमा रूपरेखा है, जिसके स्वयम्भू-परमेष्ठी के समन्वय से चार भी पर्व मान लिए गए हैं चातुर्वर्ण्य क्रमानुपात से। ये ही तो चारों विश्वपर्व प्राकृतिक विश्व की स्वरूपव्याख्या बने हुए हैं। इन्हीं से तो लौकिक मानव के **आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर**-नामक चार प्राकृतिक पर्वों का विकास होता है। इन्हीं चारों के आधार पर तो मानवीय शासनतन्त्र क्रमशः ब्रह्मानुगत आत्मभावात्मक **नीतितन्त्र**, क्षत्रानुगत बुद्धिभावात्मक **अनुशासनतन्त्र**, विडनुगत मनोभावात्मक **गणतन्त्र** *, एवं शूद्रानुगत शरीरभावात्मक **प्रजातन्त्र**, इन चार तन्त्रों में यथाक्रम विकसित हुआ है, जिन चारों का मानव की व्यक्तिसंस्था में **आत्मतन्त्र**, **बुद्धितन्त्र**, **मनस्तन्त्र**, **शरीरतन्त्र** रूप से, मानव की परिवारसंस्था में **वृद्धतन्त्र**, **युवातन्त्र**, **नारीतन्त्र**, **बालतन्त्र** रूप से, एवं मानव की समाजसंस्था में **ब्राह्मणतन्त्र**, **क्षत्रियतन्त्र**, **वैश्यतन्त्र**, **शूद्रतन्त्र** रूप से विकास हुआ है। एवं इस अनुपात से मानव की राष्ट्रसंस्था में इन्हीं को **नीति-अनुशासन-गण-प्रजा-तन्त्र** कहा जा सकता है। और यों परमेष्ठ्यनुगत ज्ञानशक्तियुक्त **स्वायम्भुवब्रह्म**, क्रियाशक्तियुक्त **सौरक्षत्र**, अर्थशक्तियुक्त **चान्द्रविट्**, तथा गुणभावयुक्त पार्थिव शूद्र-भावात्मक **विश्वप्रजापति** ही चातुर्वर्ण्यरूप से विभूतिभाव में परिणत होता हुआ वश्वमूर्त्ति प्रमाणित होरहा है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए नीचे लिखे परिलेखों को। एवं तदाधारेणैव समन्वय करने का कष्ट कीजिए ब्रह्ममूलक पञ्चपर्वा, किंवा चतुष्पर्वा विश्वस्वरूप का।

---

*-स विशमसृजत-यान्येतानि देवजातानि गणशः-गणात्मकान्याख्यायन्ते।

१–अव्यक्तः स्वयम्भू–ब्रह्म
२–अव्यक्तः परमेष्ठी–सुब्रह्म
—ब्रह्म (१)–ज्ञानशक्तिप्रवर्त्तकम् (ज्ञानभावः)

३–व्यक्तः–सूर्य्यः]—क्षत्रम् (२)–क्रियाशक्तिप्रवर्त्तकम् (क्रियाभावः)
४–व्यक्तः–चन्द्रमाः]—विट् (३)–अर्थशक्तिप्रवर्त्तकम् (अर्थभावः)
५–व्यक्तः–भूपिण्डः]—शूद्रः (४)–गुणभावप्रवर्त्तकः (प्रवर्ग्यभावः)

* * *

१–अग्निः, सोमः, सविता, मित्रम्, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः, सरस्वती—ब्राह्मणदेवाः
२–इन्द्रः, वरुणः, सोमः, रुद्रः, पर्जन्यः, यमः, मृत्युः, ईशानः —क्षत्रियदेवाः
३–वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, मरुतः —वैश्यदेवाः
४–पूषाप्राणः —शूद्रदेवः

* * *

१–ब्रह्मभावेन–मानव–भूतात्मनः–स्वरूपनिष्पत्तिः (भूतात्मना मानवो ब्राह्मणः)।
२–क्षत्रभावेन–मानव–बुद्धेः—स्वरूपनिष्पत्तिः (बुद्ध्या मानवः क्षत्रियः)।
३–विड्भावेन–मानव–मनसः—स्वरूपनिष्पत्तिः (मनसा मानवो वैश्यः)।
४–शूद्रभावेन–मानव–शरीरस्य–स्वरूपनिष्पत्तिः (शरीरेण मानवः शूद्रः)।

* * *

मानवस्य–व्यक्तिसंस्थायां–स्वरूपभावाः–(१)—

१–आत्मतन्त्रानुगतो मानवः–ब्रह्म—भूतात्मनिष्ठः–स एव ब्राह्मणः
२–बुद्धितन्त्रानुगतो मानवः–क्षत्रम्–बुद्धिनिष्ठः—स एव क्षत्रियः
३–मनस्तन्त्रानुगतो मानवः–विट्—मनोनिष्ठः—स एव वैश्यः
४–शरीरतन्त्रानुगतो मानवः–शूद्रः–शरीरनिष्ठः—स एव शूद्रः

* * *

मानवस्य–परिवारसंस्थायां–स्वरूपभावाः–(२)—

१–वृद्धतन्त्रानुगतो मानवः–ब्रह्म—वृद्धमानव एव–ब्राह्मणः
२–युवातन्त्रानुगतो मानवः–क्षत्रम्–युवामानव एव–क्षत्रियः
३–नारीतन्त्रानुगतो मानवः–विट्—नार्य्यनुगतो मानव एव–वैश्यः
४–बालतन्त्रानुगता मानवः–शूद्रः—बालानुगतो मानव एव–शूद्रः

* * *

मानवस्य-समाजसंस्थायां-स्वरूपभावाः-(३)—

१-ब्राह्मणतन्त्रानुगतो मानवः-ब्रह्म-तत्प्राणप्रधान एव-ब्राह्मणवर्णः
२-क्षत्रियतन्त्रानुगतो मानवः-क्षत्रम्-तत्प्राणप्रधान एव-क्षत्रियवर्णः
३-वैश्यतन्त्रानुगतो मानवः-विट्-तत्प्राणप्रधान एव-वैश्यवर्णः
४-शूद्रतन्त्रानुगतो मानवः-शूद्रः-तत्प्राणप्रधान एव-शूद्रवर्णः

❀

मानवस्य-राष्ट्रसंस्थायां-स्वरूपभावाः-(४)—

१-नीतितन्त्रानुगतो मानवः-ब्रह्म—तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं ब्राह्मणराष्ट्रम्
२-अनुशासनतन्त्रानुगतो मानवः-क्षत्रम्-तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं क्षत्रियराष्ट्रम्
३-गणतन्त्रानुगतो मानवः-विट्-तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं वैश्यराष्ट्रम्
४-प्रजातन्त्रानुगतो मानवः-शूद्रः-तद्व्यवस्थानुगतं राष्ट्रं शूद्रराष्ट्रम्

❀

ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-रूपात्मक परमेष्ठ्यनुगत **स्वयम्भूब्रह्म-सूर्य्यक्षत्र-चन्द्रविट्-पृथिवीशूद्र-**भाव से ब्रह्म इस चातुर्वर्ण्यरूपा विभूति में परिणत होकर **'विश्वमूर्त्तिप्रजापति'** अभिधा से प्रसिद्ध होगया, जिस प्राजापत्या वर्णविभूति का तीन कण्डिकाओं में स्वरूप विश्लेषण हुआ है। क्या इन चार विभूतिभावों से स्वयम्भूब्रह्म सर्वात्मना वैभवशाली बन गए ! । क्या विश्वस्वरूपसंरक्षण के लिए अपेक्षिता सब कामनाएँ पूरीं होगईं ब्रह्म की इन ब्रह्म-क्षत्रादि चारों पर्वों से ! । इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति पुनः कहती है कि-**स नैव व्यभवत्** । अर्थात् इन चारों वर्णभावों से विश्वस्वरूप में परिणत होकर भी ब्रह्म सर्वात्मना विभूतिभाव से समन्वित न होसके।

अपनी इसी अन्तिम, एवं आवश्यक कामना की पूर्त्ति के लिए ही ब्रह्म को पुनः सर्वान्त में अपने से भी श्रेष्ठरूप **'धर्म्म'** का आविर्भाव करना पड़ा-**"तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-धर्म्मम्"** । यह वह क्षत्र का क्षत्रत्व ही है, जो कि धर्म्म है। अतएव धर्म्म से बढ़कर और कोई भी महान् नहीं है। इसी धर्म्मसूत्र को आगे कर एक निर्बल मानव भी सबल का भी उसीप्रकार से अनुशासन करने लग पड़ता है, कर सकता है, जैसेकि राजा (सत्तातन्त्र) धर्म्म को आगे कर शासन करता रहता है। सो जो कि यह धर्म्म है, वह यह सत्य ही है। अतएव 'सत्य' बोलने वाले के लिए यह कहा जाता है कि-'यह धर्म्म की बात बोल रहा है'। एवं धर्म्म की बात बोलने वाले के लिए यह कहा जाता है कि, 'यह सत्य कह रहा है'। सत्य-धर्म्म-दोनों दोनों के रूप से उपस्तुत हैं-**'एतद्ध्येवैतत्-उभयं भवति'** ॥४॥

इसप्रकार स्वयम्भूब्रह्म धर्म्मपूर्वक-ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र, इन चार वर्णभावों में (वर्णात्मक विश्व-स्वरूप में) परिणत होगया । वह ब्रह्मस्वयम्भू अपने यजुरग्निरूप से देववर्ग में ब्रह्म (ब्राह्मण) बन गए, मानवों में ब्राह्मणवर्णरूप से अभिव्यक्त हुए । एवमेव क्षत्रियदेवभाव से मानवों में क्षत्रियवर्णरूप से, विश्वेदेवरूप विट्देवों से मानवों में वैश्यवर्णरूप से, तथा पूषारूपेण मानवों में शूद्रवर्णरूप में परिणत होगए । प्राणदेवताओं में अग्नि ही ब्राह्मणात्मक ब्रह्म है, भूतों मे ब्राह्मणमानव ही ब्रह्म है । अतएव देवभावानुगत मानव परलोक में अग्निब्रह्म को प्रधानता देते हैं, एवं इस पार्थिवलोक में ब्राह्मणमानव को प्रधानता देते हैं । तात्पर्य्य-सूक्ष्मजगत् की व्यवस्था का उत्तरदायित्त्व सोमगर्भित ब्रह्माग्नि पर है, तो स्थूलजगत् की व्यवस्था का उत्तरदायित्त्व ब्रह्माग्निवित् ब्राह्मणमानव पर अवलम्बित है । सूक्ष्मजगत् में ब्रह्माग्निरूप से, तथा स्थूल-जगत् में ब्राह्मणमानव के रूप से ही स्वयम्भूब्रह्म व्यक्त हुए हैं । अतएव ब्राह्मण को ब्रह्म की सगुणमूर्त्ति माना गया है, जैसाकि स्वयं 'ब्राह्मण' शब्द से ही प्रतिध्वनित है-**'एताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्म-अभवत्'**॥५॥

१७५-तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-धर्म्मम्—

यह है पञ्चकण्डिकात्मक श्रौतसन्दर्भ का अक्षरार्थसमन्वय, जिसके 'धर्म्म' शब्द की ओर ही पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया जारहा है । पूर्वपरिच्छेदों में संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-आदि की सत्तानिर-पेक्षता का स्पष्टीकरण करते हुए पदे पदे यह घोषणा हुई है कि, संस्कृतिवत् धर्म्म भी शाश्वत-सनातन ही है । अतएव अप्राकृत है । स्वयं भगवान् वासुदेव ने भी-**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** इत्यादि रूप से उपक्रम कर **'शाश्वतस्य च धर्म्मस्य'** रूप से धर्म्म को शाश्वत-नित्य ही बतलाया है । उधर प्रकृत के श्रुतिसन्दर्भ ने-**'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत-धर्म्मम्'** रूप से प्रकृति के सर्वादिभूत आकाशात्मा-स्वयम्भूब्रह्म से उसीप्रकार धर्म्म की उत्पत्ति बतलाई है, जैसेकि ब्रह्म से सूर्य्य-चन्द्र-पृथिव्यादि प्राकृतिक भूतभौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । जो उत्पन्न होता है, वह कदापि शाश्वत-सनातन नहीं होसकता । धर्म्म भी क्योंकि सूर्य्यादि सृष्टपदार्थों की भाँति उत्पन्न हुआ है । अतएव इसे भी कदापि शाश्वत-सनातन, किंवा अप्राकृत नहीं माना जा सकता, जैसाकि पूर्व में यत्रतत्र निरपेक्षा अव्ययात्मसंस्कृति की भाँति धर्म्म को भी हमने सनातन-अप्राकृत कह दिया है ।

१७६-धर्म्मस्वरूपानुगता महती विप्रतिपत्ति—

यही वह महती विप्रतिपत्ति है, जिसका यथावत् समन्वय न करने के कारण हीं वर्त्तमानयुग में ही नहीं, अपितु विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय आस्तिकप्रज्ञा भी धर्म्मस्वरूप के निर्णय में दिग्भ्रान्ता ही बनी हुई है । वैदिक तत्त्ववाद के ज्ञानविज्ञानात्मक समन्वय से अपरिचित बने रहना हीं इस दिग्भ्रान्ति का मुख्य कारण है, जिसके निराकरण के लिए तो स्वाध्यायनिष्ठा ही एकमात्र वास्तविक समाधान माना जायगा । प्रकृत में तात्कालिकी मनस्तुष्टिमात्र के लिए 'धर्म्म' शब्द के विभिन्न उन दोनों दृष्टिकोणों को उद्धृत मात्र कर दिया जाता है ।

१७७-निरपेक्ष-अप्राकृत-शाश्वतधर्म्म की परिभाषा—

'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' यह सूक्ति जहाँ धर्म्म को विश्व की मूलप्रतिष्ठा-मूलाधार-बतला रही है, वहां-**'यतो धर्म्माणि धारयन्'-'असृजत धर्म्मम्'** इत्यादि आर्षवचन धर्म्म को सृष्ट-उत्पन्न-पदार्थ

मान रहे हैं। दोनों हीं मन्तव्य यथार्थ बने हुए हैं दृष्टिकोणभेद से। विश्वातीत अव्ययपुरुषात्मलक्षण धर्म्म शाश्वतधर्म्म है, यही अप्राकृत वह सनातनधर्म्म है, जिसके आधार पर प्राकृतिक–वर्णात्मक विश्व प्रतिष्ठित है। विधि–निषेधादि, धर्म्म–अधर्म्मादि प्राकृतिक द्वन्द्वों से अतीत आत्मधर्म्मात्मक विश्वातीत सहज अव्ययधर्म्म ही वह धर्म्म है, जिसकी नचिकेता ने यमराज से "अन्यत्र धर्म्मात्-अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्" रूप से जिज्ञासा की है। एवं समाधान में यमराज ने जिसकी–'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' रूप से ईश्वरवाचक (अव्ययवाचक) प्रणवोङ्काररूप से तटस्थ व्याख्या की है। वह ईश्वरात्मक स्थाणुधर्म्म ही विश्वाधारभूत शाश्वतधर्म्म है, जिसे हमनें अव्ययात्मसंस्कृतिवत् सर्वथा सर्वनिरपेक्ष धर्म्म ही कहा है पूर्वपरिच्छेदों में।

१७८–सापेक्ष–प्राकृत–धर्म्मात्मक विश्व के १५ मनोताभाव—

अब उस सापेक्षधर्म्म का स्वरूप–समन्वय कीजिए, जिसका सृष्टिमर्य्यादा से सम्बन्ध है, एवं जो सत्तासापेक्ष बनता हुआ शास्त्रसापेक्ष प्रमाणित होरहा है, एव विधि–निषेध के द्वारा जिसकी मानवधर्म्मशास्त्र में स्वरूपव्याख्या हुई है। सुप्रसिद्ध **'मनोताविज्ञान'** के अनुसार विश्व के महान् पर्वरूप स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–इन पाँचों विश्वपर्वों के–'प्रत्येक के–'त्रिःसत्या वै देवाः' के अनुसार हृदयावच्छिन्न मनस्तन्त्रानुबन्धी हृत्प्रतिष्ठालक्षण तीन तीन मनोता मानें गए हैं, जो क्रमशः स्वायम्भुव १–वेद, २–सूत्र, ३–नियति, पारमेष्ठ्य १–भृगु, २–अङ्गिरा, ३–अत्रि,–सौर–१–ज्योतिः, २–गौः, ३–आयुः,–चान्द्र–१–रेतः, २–श्रद्धा, ३–यशः, एवं पार्थिव १–वाक्, २–गौः, ३–द्यौः, इन नामों से प्रसिद्ध है *।

१७९–ब्रह्मौदन–एवं प्रवर्ग्यरूपा–यज्ञप्रणाली, तथा तदनुबन्धी षड्भावविकार—

अव्यक्तमूर्त्ति आकाशात्मा स्वयम्भूब्रह्म के मनोता तथाकथितरूप से वेद, सूत्र, नियति, इन नामों से उपश्रुत हैं। इन तीनों में ऋक्–साम–रूप वयोनाध–(छन्द–सीमा–आयतन–आकार) से सीमित यत्–जू–लक्षण यजुर्मूर्त्ति वेदाग्नि ही 'वेद' नामक वह मनोता है, जिससे परमेष्ठी के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव के द्वारा चातुर्वर्ण्यरूप विश्व का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। पाँचों विश्वपर्वों के पदार्थ **ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य** रूप से दो दो अवस्थाओं में परिणत रहते हैं। अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से स्वात्मप्रतिष्ठात्मक स्वस्वरूप के भोग्य बने हुए पदार्थ 'ब्रह्मौदन' कहलाए हैं, जो तत्तत्पदार्थों के आत्मस्थानीय ब्रह्म के ही ओदन–भोग्य–बने रहते हैं। स्वरूपसंरक्षण से अतिरिक्त बचा हुआ भाग तत्पदार्थात्मा छोड़ दिया करता है मलरूप से। वही त्यक्त–प्रवर्ग्य कहलाया है, जो अथर्वपरिभाषा में उच्छिष्ट कहलाया है। यह प्रवर्ग्य ही अन्य का ब्रह्मौदन बनता रहता है। यों सम्पूर्ण भूतभौतिक पदार्थों के प्रवर्ग्य भाग एक दूसरे के ब्रह्मौदन बनते हुए पदार्थों के विस्रस्त–भागों की क्षतिपूर्त्ति किया करते हैं। यही अन्न–अन्नादात्मिका, भोक्तृ–भोग्यात्मिका–आदानविसर्गात्मिका वह यज्ञप्रणाली है, जिससे पदार्थों में षड्भावविकार समन्वित होते रहते हैं।

---

*–यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमदन्यदस्ति ॥
यस्तद्वेद, स वेद सर्वं, सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥
—छान्दोग्य-उपनिषत्

१८०–यज्ञाधारभूत सूत्रात्मा—

स्वयम्भू–परमेष्ठी-सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड-पाँचों के समष्ट्यात्मक–व्यष्ट्यात्मक पदार्थों का इसी प्रकार परस्पर आदान–विसर्ग हुआ करता है। जिन आधारसूत्रों के आधार पर गमनागमनलक्षणा यह यज्ञप्रक्रिया प्रक्रान्त रहती है, वह आधार ही स्वायम्भुव–'सूत्र' नामक द्वितीय मनोता है, जिसके **सत्यसूत्र**, एवं **ऋतसूत्र**, भेद से दो स्वरूप मानें गए हैं। **'वायुर्वै गौतम ! तत्सूत्रम्'** इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति से अनुप्राणित पारमेष्ठ्य भार्गव ऋतवायुसूत्र, एवं आङ्गिरस सत्यवायुसूत्र ही स्वयम्भूब्रह्म का 'सूत्र' नामक मनोता है।

१८१–नियतिःसत्यात्मक अन्तर्य्यामी, एवं तद्रूप सत्यधर्म्म—

अब शेष रह जाता है—'नियतिः' नामक मनोता। यही धर्म्मरूप से अभिव्यक्त होता है। अन्तर्य्यामी का ही नामान्तर 'नियति' है। वस्तु का केन्द्रस्थान ही तद्वस्तु का अन्तर्भाग कहलाया है। अन्तर्भाग–सर्वान्तरतम वह सुसूक्ष्म प्राणभाग ही **'हृदयम'** है, जिसकी अन्य सामयिक निबन्धों में स्वरूपव्याख्या की जाचुकी है। हृ–द–यम्-लक्षण आगति–गति–स्थिति–भावात्मक त्र्यक्षरमूर्त्ति एकाक्षर केन्द्रभाव ही 'हृदयम्' है, यह अन्तस्तिष्ठन् पदार्थ के बाह्य भूतों का यथामर्य्यादा नियमन करता हुआ–**'अन्तर्य्यामी'** कहलाया है, जिसकी नियता–व्यवस्था से ही तत्तत्पदार्थों के बाह्य–भौतिकस्वरूप नियन्त्रणपूर्वक सुव्यवस्थित बने हुए हैं। स्वयं वस्तुपिण्ड सत्याग्नि, ऋतसोमात्मक पृष्ठ्याक्षरमूर्त्ति है। वस्तुकेन्द्र हृ लक्षण–विष्णु,–द लक्षण इन्द्र, एवं यम् लक्षण ब्रह्म नामक त्र्यक्षरमूर्त्ति है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने हृदयस्थान में प्रतिष्ठित हृ–द–यम्–मूर्त्ति अन्तर्य्यामी की नियति की चर्य्या से ही आचारात्मक स्व–स्व कर्म्मों में प्रतिष्ठित रहता हुआ स्वस्वरूप से सुरक्षित है। यही 'नियति' नामक अन्तर्य्यामी सत्य केन्द्रावच्छिन्न दशा में 'सत्य' कहलाया है, एवं बाह्य भौतिक आचरणात्मक कर्म्मावस्था में इसी व्यक्त सत्य को 'धर्म्म' कहा गया है।

१८२–'मर्य्यादा' शब्दनिर्वचन, एवं 'धर्म्माणि' रूप धर्म्म का समन्वय—

उक्त नियति–व्याख्या के द्वारा अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, स्वयम्भू ब्रह्म का केन्द्रात्मक अव्यक्तसत्य ही 'नियतिःसत्यम्' नामक सत्यरूप मनोता है। एवं स्वयम्भू ब्रह्म का विश्वव्यापक–व्यक्त विश्व का आचारात्मक वही केन्द्रस्थ सत्यरूप व्यक्तावस्था में आकर–'धर्म्म' कहलाने लगा है। और यही इस नियति-लक्षण–सत्यात्मक–प्रकृतिरूप (अक्षररूप) व्यक्त-विश्वधर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन है, जिससे विश्व के व्यक्त–भौतिक पदार्थ स्व–स्व–स्वरूपों से मर्य्यादित बने हुए हैं। मरणधर्म्मभाव ही 'मर्य्य' है। भौतिकभाव ही 'मर्य्य' है। इसे अपने क्रोड़ में लेकर इसे स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाला केन्द्रस्थ नियतिर्भाव ही–**'मर्य्यानादत्ते'** निर्वचन से **'मर्य्यादासूत्र'** है, और यही प्रतीकधर्म्मात्मक सत्यधर्म्म है, जिसे विश्वधर्म्म भी कहा जासकता है। विश्वाधारभूत अव्ययात्मरूप शाश्वत–अप्राकृत–धर्म्म जहाँ एक है, वहाँ विश्वपदार्थात्मक अक्षरप्रकृतिरूप–स्वस्वरूप से अपरिवर्त्तनीय, किन्तु भूतपरिवर्त्तनापेक्षया परिवर्त्तनशील–प्रतीयमान धर्म्म पदार्थनानात्त्व से अनेकभावात्मक बनता हुआ–**'धर्म्माणि'** है। धर्म्म ही धर्म्माणि की प्रतिष्ठा है, एवं धर्म्माणि हीं विश्वपदार्थों की स्वरूपप्रतिष्ठा है।

१८३–स्वधर्म्म–परधर्म्म–अधर्म्म–शब्दों का पारिभाषिक समन्वय—

निष्कर्षत: अब सहजभाषा में यों भी उक्त स्थिति का अभिनय किया जासकता है कि, तत्तत्पदार्थों के तत्तद्विभिन्न स्वरूपों का संरक्षक पृथक् पृथक् व्यक्तित्व ही तत्तत्पदार्थों का स्वधर्म्म है,जो अव्यय का परधर्म्म बना हुआ है। यों अपेक्षाभेद से इस प्राकृतधर्म्म के ही आगे चल कर स्वधर्म्म–परधर्म्म–अधर्म्म–आदि आदि अनेक अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं, जिनका 'श्वेतकान्तिनिबन्ध' में विस्तार से दिग्दर्शन करा दिया गया है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य––चन्द्रमा–पृथिवी–वायु–अग्नि–जल––ओषधि–वनस्पति–ग्रहोपग्रह–कृमि–कीट–पशु–पक्षी–मानव–यक्ष–राक्षस–गन्धर्व–पिशाच–किन्नर–पितर–आदि आदि यच्चयावत् प्राकृतिक पदार्थ अपने अपने अन्तर्य्यामीरूप नि:यति:सत्यात्मक धर्म्मसूत्रों से ही नियन्त्रित हैं, जिन सम्पूर्ण इन प्राकृत–धर्म्मों का मूलाधार वही विश्वातीत शाश्वत–निरपेक्ष–मूलधर्म्म बना हुआ है।

१८४–अभ्युदय–निःश्रेयस्–साधक कर्म्मात्मक धर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन—

लोकभाषा–दृष्ट्या अब यह भी कहा जा सकता है कि, **"भूत–भौतिक पदार्थों के स्वरूपरक्षक नियम–विधिविधान हीं भूतभौतिक पदार्थों के प्राकृतिक धर्म्म हैं"** जोकि प्रतीकधर्म्म भी कहलाए हैं। इन्हीं प्रतीकधर्म्मों के लिए कहा गया है कि–**'धर्म्मो रक्षति-रक्षितः'**। सत्य इसी का केन्द्रात्मक स्वरूप है, एवं धर्म्म इसीका पृष्ठात्मक स्वरूप है। केन्द्रस्थ सत्य ही पृष्ठानुगत कर्म्मात्मक धर्म्म बना हुआ है। अतएव जैसे **सत्य–धर्म्म**, शब्द अभिन्न हैं, तथैव आस्तिक सनातनजगत् में **'धर्म्म–कर्म्म'** भी अभिन्नार्थक बने हुए हैं। सत्य का आचरणात्मकरूप धर्म्म है, धर्म्म का व्यवहारात्मक स्वरूप कर्म्म है, एवं कर्म्म का फलात्मक स्वरूप अभ्युदय–निःश्रेयस् का साधक मान लिया है यहाँ की दार्शनिकप्रज्ञा ने, जैसा कि–**'यतोऽभ्युदय–निःश्रेयससिद्धिः, स धर्म्मः'** (वैशेषिकदर्शन) इत्यादि कणादसूत्र से स्पष्ट है।

१८५--धर्म्म का प्रतीकभावात्मक क्षात्रतन्त्र (सत्तातन्त्र)—

सत्य धर्म्मरूप से अभिव्यक्त है, धर्म्म कर्म्मरूप से सुसमृद्ध है। सुसमृद्धि ही विश्वविभूति की चरमता है। अतएव सर्वान्त में इस धर्म्मसृष्टि से ही वर्णाध्यक्ष स्वयम्भूब्रह्म की–**'नैव व्यभवत्'** कामना का अवसान सम्भव बन सका। और यों **ब्रह्म--क्षत्र--विट्--शूद्र**--वर्णात्मक विश्व, एवं विश्वगर्भस्था चर–अचरप्रजा हृदयस्थ अन्तर्य्यामी सत्यात्मक प्राकृतिक–नियमात्मक धर्म्म से सञ्चालित–नियन्त्रित–मर्य्यादित–बनती हुई सुव्यवस्थित होगई। और यहाँ आकर स्वयम्भूब्रह्म की विभूतिप्राप्तिकामना सर्वात्मना उपशान्त हुई। यही प्रकृत के सापेक्ष प्राकृत–धर्म्म के स्वरूप का किञ्चिदिव समन्वय है, जिसे आधार बनाकर ही अब हमें तत्सम्बन्ध में सत्तातन्त्र की सापेक्षता, निरपेक्षता की मीमांसा करनी है। श्रौतसन्दर्भ के दो वाक्यों को विशेषरूप से लक्ष्य बनाकर ही हमें इस मीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रथम कण्डिका में यह कहा गया है कि,-**"ब्रह्म ने अपने से भी श्रेष्ठरूप क्षत्र को उत्पन्न किया। अतएव चारों में क्षत्र ही महान् है (तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति)"** तदनन्तर उत्पन्न होने वाले **विट्**, तथा **शूद्र** के साथ श्रेष्ठतानुबन्ध स्वीकार नहीं किया श्रुति ने। अपितु इन दोनों के लिए तो–**'स विशमसृजत'**–**'स शौद्रं वर्णमसृजत'** इत्यादिरूप से सामान्य ही सर्जन व्यक्त किया। युक्तं चैतत्। इसलिए युक्तं कि, आत्मा, बुद्धि,मन, शरीर-स्थानीय ब्रह्म-क्षत्र-विट्–शूद्र–भावों में मन:शरीरानुबन्धी–भूतभौतिक–मृत्युप्रधान–विट्–शूद्र–तो सृष्टिमात्र के सामान्य ही अनुबन्ध बने हुए हैं। विशेषता का उदय तो बुद्धिविकासात्मक क्षत्रभाव से, एवं आत्मनिष्ठात्मक ब्रह्मभाव से ही हुआ

करता है । इन दोनों में भी व्यक्त–व्यावहारिक–जगत् की दृष्टि से बुद्धिलक्षण–क्षत्र ही आत्मलक्षण ब्रह्मापेक्षया परम, किंवा महान् माना जायगा । अतएव व्यक्तदृष्ट्या चारों में से एकमात्र 'क्षत्र' को ही 'परम' कहा जायगा, जैसाकि–**'सर्वत्र क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्'** इत्यादि अन्य श्रुतिवचन से भी प्रमाणित है । और यही है वह प्राकृतिक दृष्टिबिन्दु, जिसके द्वारा भारतीय सम्राट धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति विश्वधर्म्म की मीमांसा उपस्थित करने वाले प्राकृत–विश्वधर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म ने–**'राजा कालस्य कारणम्'** कहते हुए प्राकृतिक धर्म्म को सत्तातन्त्रसापेक्ष ही माना है, जैसाकि मानना ही चाहिए था ।

१८६–'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति' का समन्वय—

चारों वर्णों में व्यक्त–विश्व की दृष्टि से क्षत्र ही सर्वश्रेष्ठ है । इन चारों के अनन्तर स्वयम्भूब्रह्म ने अपने अन्तर्य्यामी 'हृदयसत्य' को व्यक्त करते हुए जो श्रेष्ठ आचारात्मक रूप व्यक्त किया, वही–'धर्म्म' कहलाया, जिसका **'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत–धर्म्मम्'** वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है । **'योग्यं योग्याय दातव्यम्'** इस प्रकृतिसिद्धा मर्य्यादा के अनुसार अब यह आवश्यक हो गया कि, ब्रह्म से भी श्रेष्ठ इस धर्म्म का उस वर्ण के साथ ही सम्बन्ध माना जाय, जो चारों वर्णों में ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हो । ऐसा था एकमात्र क्षत्र (सत्तातन्त्र) । अतएव ऋषि ने उसी के साथ परम स्थानीय विश्वधर्म्म का योग कर दिया, और यों सर्वश्रेष्ठ धर्म्म सर्वश्रेष्ठ क्षत्र से ही सापेक्ष बना दिया गया, किंवा प्रकृत्या ही बना हुआ है । अतएव इसी अनुरूप सम्बन्ध के कारण ही धर्म्मसृष्टि के अनन्तर ही श्रुति को यह कहना पड़ा कि-**'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं–यद्धर्म्मः । तस्मात् धर्म्मात् परं नास्ति'** । और यों धर्म्म की परमता के साथ पूर्व के–**'तस्मात् क्षत्रात् परमं नास्ति'** इस वाक्य का अनुरूप सम्बन्ध प्रकृत्यैव समन्वित हो गया ।

१८७–'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं–यद्धर्म्मः' का तात्त्विक समन्वय—

क्या अर्थ निकला इस समन्वय का ?, प्रश्न का अब आप अपनी सहज धर्म्मनिष्ठा से समाधान कीजिए । जिन प्राकृतिक विधि–विधानों–आचार–पद्धतियों–आदर्श–व्यवहारों से जिन वर्णों का स्वरूप सुरक्षित रहता है, वे विधिविधान ही उन वर्णों के धर्म्म हैं । इन्हें ही स्वरूपसंरक्षकत्त्वेन स्वधर्म्म कहा गया है, जिनके वर्णभेद से **ब्राह्मणधर्म्म, क्षत्रियधर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म,** आदि आदि अवान्तर असंख्य विशेषधर्म्म होजाते हैं । देशधर्म्म, कुलधर्म्म, राजधर्म्म, स्त्रीधर्म्म, आश्रमधर्म्म, आदि आदि का भी इसी कोटि में अन्तर्भाव माना गया है । ऐसी स्थिति में धर्म्मसृष्टि के अनन्तर श्रुति को कहना तो यह चाहिए था कि **'ब्रह्मणो ब्रह्म–यद्धर्म्मः, वैश्यस्य विट्–यद्धर्म्मः, शूद्रस्य शौद्रं–यद्धर्म्मः'** । किन्तु अन्य किसी वर्ण के साथ धर्म्म का सम्बन्ध न करते हुए श्रुति ने केवल–**'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं–यद्धर्म्मः'** इत्यादि रूप से केवल क्षात्र–सत्तातन्त्र के साथ ही धर्म्म का सम्बन्ध क्यों माना, जबकि इतर तीनों वर्णों के साथ भी धर्म्म का सम्बन्ध लगाना ही चाहिए था ?, प्रश्न जितना कठिन है, उत्तर उतना ही सरल है ।

१८८–'तदेतत्–ब्रह्मणो ब्रह्म–यद्धर्म्मः' अपेक्षा का निराकरण—

ब्रह्म का प्रतीकभूत ब्राह्मण भूतात्मनिष्ठ बनता हुआ स्वयं अपनी निष्ठा से ही जागरूक है । अतएव संस्कृतिनिष्ठ–तत्त्वचिन्तक, सहजरूपेणैव आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव सर्वात्मना धर्म्मनिष्ठ ब्राह्मण के साथ धर्म्म

सम्बन्ध बतलाना तो ब्राह्मण के अन्तर्निष्ठ ब्रह्मस्वरूप का अपमान ही करना है। **'ब्राह्मणो जायमानो हि मूर्त्तिधर्म्मस्य शाश्वती'** (मनुः) के अनुसार ब्राह्मण तो स्वयं अपने ही रूप से धर्म्ममूर्त्ति बना हुआ है। स्वतएव धर्म्मशील बने रहने वाले ब्राह्मण के साथ प्रतीकधर्म्म का सम्बन्ध व्यक्त करना सर्वथा यातयाम ही है। अतएव श्रुति ने–'तदेतत् ब्रह्मणो ब्रह्म–यत्–धर्म्मः' कहने की आवश्यकता ही अनुभूत न की।

१८९–सत्तातन्त्र की सापेक्षता से ब्राह्मण की दासभाव में परिणति, एवं धर्म्म का अभिभव—

अब शेष रह गए मनोनिबन्धन वैश्य, तथा शरीरनिबन्धन शूद्र। चान्द्रमन स्वभावतः चलित-स्खलित-अमर्य्यादितप्रज्ञ है, तो पार्थिव शरीर स्वभावतः जड़–स्तब्धप्रज्ञ है। अतएव दोनों हीं वर्ण स्वयं अपनी आत्मबुद्धिनिष्ठा से स्व–स्व आचारधर्म्मों के अनुगमन में तबतक उपेक्षा ही करते रहते हैं, जबतक कि भौतिक सत्तातन्त्र का प्रचण्ड शासक नियन्त्रणपूर्वक इन दोनों को स्व–स्व धर्म्म में नियन्त्रित नहीं रख लेता। स्पष्ट ही इन दोनों वर्णों की मनः, शरीरमूला चञ्चला, तथा जड़ा प्रज्ञा स्व–स्वातन्त्र्य से कदापि स्व–स्व वर्णधर्म्मों का अनुगमन तबतक कर ही नहीं सकती, जबतक कि, नियन्ता के नियन्त्रण से ये सञ्चालित नहीं किए जाते। क्या संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण इन्हें स्वधर्म्म में नियन्त्रित नहीं कर सकता ?, कदापि नहीं। ब्राह्मण जहाँ अपने अन्तर्जगत् की दृष्टि से नैष्ठिक है, वहाँ बाह्य व्यावहारिक जगत् की दृष्टि से यह भावुक ही बना रहता है। बाह्य–भौतिक तन्त्रों की जघन्या प्रतारणाओं से सर्वथा अपरिचित रहने वाले, परिचित दशा में भी इनसे स्वभावतः ही ग्लानि करने वाले ब्राह्मण के द्वारा इन दोनों भूतवर्णों का नियन्त्रण कदापि शक्य नहीं है। यदि दया–करुणा–वश–ब्राह्मण इनको धर्म्म में नियन्त्रित करने की भूल कर बैठता है, तो कालान्तर में ये अपनी भूतबाधाओं के व्यामोहनपाश से बहिर्भावुक–लोकभावुक ब्राह्मण का ही ये नियन्त्रण कर डालते हैं, जिस नियन्त्रण का अन्तिम परिणाम माना गया है–दासभाव में परिणति, जिसका प्रत्यक्ष निदर्शन (सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता से) आजका ब्राह्मणवर्ग बना हुआ है।

१९०–वणिक्‌तन्त्र की सापेक्षता से राष्ट्रीय संस्कृति, एवं धर्म्म का आत्यन्तिक अभिभव-

वणिक्, तथा शूद्रप्रज्ञाओं के समन्वित रूपात्मक अर्थतन्त्रों से नियन्त्रित आज का वित्तशालीवर्ग अपनी अर्थगरिमा के द्वारा एक ओर जहाँ धर्म्मनिरपेक्षसत्तातन्त्र को व्यामोहन में डाले हुए है, तो वहाँ दूसरी ओर अर्थकण–दानपाशबन्धन से ब्राह्मणप्रज्ञा को परतन्त्र कर यही वर्गद्वयी राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना को भी अभिभूत किए हुए है। यों वित्तशाली विड्‌वर्ण के नियन्त्रण से नियन्त्रित धर्म्मवञ्चित सत्तातन्त्र, एवं संस्कृतिचिन्तन–वञ्चित ब्राह्मणवर्ण–राष्ट्र के दोनों हीं रक्षकवर्ग सर्वात्मना अरक्षित बनते हुए न केवल राष्ट्रक्षोभ के ही, अपितु विश्वक्षोभ के कारण प्रमाणित होते जारहे हैं, किंवा प्रमाणित कर दिए गए है उसी अनियन्त्रिता मनः–शरीरप्रधाना वर्गद्वयी के द्वारा। एकमात्र धर्म्मसापेक्ष–सत्तातन्त्र ही इस वर्गद्वयी को स्वधर्म्मोचित–स्व–धर्म्मों में नियन्त्रित–व्यवस्थित कर सकता है। अतएव इन दोनों वर्णों के लिए भी श्रुति ने–'तदेतत्–विशः–विट्‌त्वं–यद्‌धर्म्मः,–शूद्रस्य–पौष्णत्त्वम्–यद्‌धर्म्मः' इत्यादि कहना उचित न समझा। ब्राह्मणधर्म्म का

उत्तरदायित्व श्रुति ने ब्राह्मण से अनुप्राणित मान लिया, एवं वैश्यधर्म्म, तथा शूद्रधर्म्म, दोनों के धर्म्म का उत्तरदायित्व इन दोनों पर छोड़ देना न केवल निरर्थक ही, अपितु विश्वक्षोभकर मानते हुए इन्हें स्वतन्त्र रूप से इस उत्तरदायित्व से वञ्चित कर दिया श्रुति नें। अतएव पारिशेष्यात् अब धर्म्म के धर्म्मत्त्व का समस्त उत्तरदायित्व एकमात्र सत्तातन्त्र पर ही एकान्तनिष्ठ प्रमाणित होगया। इसीलिए केवल-'**तदेतत् क्षत्रस्य-क्षत्रं-यद्धर्म्मः**' ही उचित पक्ष प्रमाणित होगया, जिस का अर्थ हुआ-"**क्षत्रियधर्म्म, वैश्यधर्म्म, शूद्रधर्म्म, एवं धर्म्मवञ्चित ब्राह्मण का धर्म्म, चारों के धर्म्म का नियन्त्रण सत्तातन्त्र पर ही अवलम्बित है**"।

१६१-वणिक्तन्त्र के प्रति श्रद्धाञ्जलिसमर्पण—

अर्थप्रधानात्मक आज के वणिक्-युग में सम्भव है उक्त श्रौतसमन्वय से राष्ट्र के वित्तबन्धु रुष्ट बन जाने का अभिनयमात्र करने लग पड़ें। और अपने ये उद्‌गार व्यक्त कर बैठें कि, "**यह व्याख्या तो केवल कल्पनाप्रसूता ही है। वस्तुतः वैश्य ही तो राष्ट्र के धर्म्म-कर्म्म-व्यवसाय-सत्ता-आदि का एकमात्र परिपोषक बना हुआ है**"। **सुस्वागतं वो महाभागा भलन्दनवंशजाः!** राष्ट्र को कृतज्ञताञ्जलि हीं समर्पित करनी चाहिए उस वित्तशालीवर्ग के प्रति, जिसके अनुग्रह से ही आज के युग में भी पूजन-पाठ-विश्वशान्तियज्ञ-कीर्त्तन-आदि आदि जैसे महत्पुण्यकर्म्म प्रक्रान्त सुने जारहे हैं। और सम्भवतः इन्हीं पुण्य-संस्कारों के बल से भारतराष्ट्र तो अनुदिन सुखी-शान्त-समृद्ध होता ही जा रहा है। साथ ही इन के वित्त से होने वाले विश्वशान्तियज्ञों से ही मानों सम्पूर्ण विश्व भी आज अणुपरीक्षण जैसे शान्तिसन्देशों से सदा के लिए सुशान्त बन जाने के लिए व्यग्र ही होपड़ा है। क्यों?, ठीक है न?। यही है न इस पुण्य-धर्म्म-शान्ति का चरम परिणाम?।

१६२-सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र का सखाभाव, तथा संस्कृति का पराभव—

जिस प्रकार विगत द्वि-त्रिः-सहस्राब्दियों से सत्तातन्त्र की सापेक्षतामूला लोकैषणाप्रधाना राजभक्ति ने राष्ट्र की सांस्कृतिक-चेतना का उत्तरोत्तर अभिभव किया है, एवमेव सत्तातन्त्रों की मतवादासक्तियों के कारण सच्छिद्र बन जाने वाले सांस्कृतिक क्षेत्रों में राष्ट्र के वित्तशाली-व्यवसायनिष्ठ विड्वर्ग को भी सुविधापूर्वक प्रवेश करते रहने के सुअवसर मिलते रहे हैं। एवं दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्रों के सर्वथा तटस्थ-बन जाने के कारण राष्ट्र की ब्राह्मणसंस्कृति को, तदनुप्राणित प्रतीकधर्म्मों को भी एकमात्र इस विड्वर्ग के ही आश्रयग्रहण करते रहने के लिए विवश बना रहना पड़ा है। अवश्य ही इस अर्थाश्रय से राष्ट्र में राजभवनों की तुङ्गशृङ्गता को भी धूलिधूसरित कर देने वाले मठ-मन्दिरों का भी प्रचुरता से निर्म्माण होता रहा, दानकणों के भक्षण से सञ्चालित संस्कृतविद्यालय भी प्रक्रान्त बनते रहे, पूजन-पाठ-हवन-यज्ञ-समारोह कीर्त्तन-आदि आदि किसी में भी कोई त्रुटि न आने दी इन व्यवसायनिष्ठों नें। किन्तु परिणाम, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम संस्कृतिप्रतिष्ठावञ्चित इन सभी अकाण्ड-ताण्डवों का वही होता रहा, जो आज भी होरहा है। और भविष्य में भी यों हीं होता ही रहेगा तबतक, जबतक कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक-चेतना का जागरण नहीं होजायगा।

सुनते हैं-गुप्तों के शासनकाल में भारतराष्ट्र सब क्षेत्रों में समृद्धि की चरम दिशा मे पहुँच गया था। भारतराष्ट्र के व्यवसायनिष्ठ वैश्यबन्धु सामुद्रव्यापार से समस्त विश्व की सम्पत्ति का दोहन कर राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाए हुए थे। उस गुप्तकाल में होनें वाले सप्तसमुद्रदानों से भारतधरित्री धन्या-कृतकृत्या बन गई थी, जिन इन घटनाओं का **साटोप** वर्णन करते हुए आज के पुरातत्त्ववेत्ता गद्गद् होपड़ते हैं। उस युग की काव्यधाराएँ राष्ट्र में नवजीवन का सञ्चार कर रहीं थीं। राजाओं की सामूहिक-वसन्तोत्सवादि परम्पराएँ उस युग की समृद्धि का सगुण-शरीर हीं बनीं हुईं थीं। **और यों............आलप्यालम् । यतो हि-कथापि खलु पापानां-अलमश्रेयसे'** ।

ज्ञानविज्ञानमूला मूलसंस्कृति का जब आत्यन्तिक अभिभव होजाता है, तभी इसप्रकार से राष्ट्र विलासलीलाओं में उन्मत्त-प्रमत्त-हुआ करता है, जिसका सगुणस्वरूप अवश्य ही था यह गुप्तकाल, जो मानों ज्ञानविज्ञानात्मिका मौलिक आर्षसंस्कृति, आर्षधर्म्म, आर्षसाहित्य, आदि आदि आर्षपरम्पराओं का अपनी शृङ्गारप्रधाना कविता-परम्पराओं से उपहास ही कर रहा था। कभी कविता के द्वारा, कभी मन्दिर-मठों के द्वारा, कभी विश्वशान्तियज्ञों के द्वारा, कभी समुद्रदानों के द्वारा, तो कभी धर्म्मशालाओं के विजृम्भणों के द्वारा, येन केनरूपेण वित्तशाली विड्वर्ग के द्वारा, एवं तदाधार पर जीवित रहने वाले सत्तातन्त्रों के द्वारा राष्ट्र की संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-आदर्श-आचारपद्धति-आदि आदि आर्षविभूतियों का उत्तरोत्तर अभिभव ही प्रक्रान्त रहा है, जिसके प्रमाण के लिए विगत शताब्दियों से भुक्त-प्रक्रान्त-इतिहास ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

१६३--काममय अर्थ, तथा भूतमय श्रम के द्वारा क्रान्तिबीज का आधान एवं उससे विश्व में क्षोभ का आविर्भाव—

काममय अर्थ, एवं भूतमय श्रम, दोनों स्वतन्त्र बन कर कालान्तर में अनर्थ, और क्रान्ति के ही सर्जक बन जाया करते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। अतः क्षात्रसत्ता के धर्म्मसूत्रात्मक नियन्त्रण से ही राष्ट्र की काममयी अर्थशक्ति, तथा भूतमयी श्रमशक्ति की व्यवस्था होनीं चाहिए। दोनों के प्रतीक वर्ण माने गए हैं विट्महाभाग, एवं शूद्रमहाभाग। दोनों स्व-स्व वर्णधर्म्मनिबन्धन शास्त्रीय कर्म्मों में धर्म्मपूर्वक सत्ता के द्वारा ही सुप्रतिष्ठित रहने हीं चाहिएँ। इस में स्वयं इनका भी अभ्युदय है, एवं राष्ट्र की भी स्वस्ति। ठीक इसके विपरीत इन दोनों के स्वैराचारपरायण बन जाने से निश्चयेन तदनुगता कामप्रवर्द्धिका वित्तैषणा, एवं अन्यानुगता श्रमप्रतिफलैषणा क्रमशः क्षोभ, और क्रान्ति की जननी बन जाया करती है। यह हमारी कल्पना के प्रसून नहीं हैं। अपितु यह तो उस मानवधर्म्मशास्त्र के प्रकृतिसिद्ध सिद्धान्त का अनुवादमात्र है, जिस मानवधर्म्मशास्त्र के प्रति हमारा धर्म्मिष्ठ वैश्य समाज तो निश्चयेनैव पूर्ण आस्था-श्रद्धा व्यक्त करता चला आरहा है। लक्ष्य बनाइए राजर्षि के उस सिद्धान्त वचन को, एवं तदाधारेणैव अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा निश्चित कीजिए!

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्।
तौ हि च्युतौ स्वकर्म्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥
—मनुः ८।४१८।

१६४–श्रमाध्यक्ष वणिक्तन्त्र के द्वारा सत्तासहयोग से विश्वक्षोभ की प्रवृत्ति—

जिस राष्ट्र का काममय अर्थबल, एवं भूतमय श्रमबल, दोनों धर्म्ममयी सत्ता के नियन्त्रण से पृथक् हो जाते हैं, अवश्य ही ऐसे स्वतन्त्र कामार्थश्रम स्वराष्ट्रक्षोभ के द्वारा परम्परया सम्पूर्ण विश्व को ही क्षुब्ध कर दिया करते हैं। धर्म्ममूलक अर्थ–काम हीं विश्वशान्ति के प्रवर्त्तक माने गए हैं, जब कि अधर्म्ममूलक, किंवा धर्म्मनिरपेक्ष कामार्थ लोकैषणात्मिका वित्तैषणा को निःसीम बनाते हुए सचमुच विश्व को सक्षुब्ध ही कर दिया करते हैं। धर्म्म के नियन्त्रण से पृथक् हो जाने वाले कामार्थ ही वस्तुगत्या धर्म्मसूत्रसञ्चालक सत्तातन्त्र को भी इसी ऐषणा की ओर आकर्षित कर लेते हैं। और यह कहा जा सकता है कि, जिन वर्गों में कामार्थ स्वतन्त्र बन गए हैं, सहजभाषानुसार व्यवसायनिष्ठ, श्रमानुगत जो वर्ग धर्म्मनिरपेक्षतापूर्वक स्वच्छन्दरूप से कामार्थों में प्रवृत्त हो गए हैं, हो रहे हैं, होते रहेंगे, वस्तुतः उनके अनुग्रह से ही तद्युगानुगत सत्तातन्त्र भी धर्म्मनिरपेक्ष बन जाया करते हैं। मूलतः सत्तातन्त्र धर्म्मसापेक्ष ही है। केवल इस संगदोष से ही वे भी अर्थकामासक्त बन कर धर्म्मनिरपेक्ष बन जाया करते हैं। इस धर्म्मनिरपेक्षता-दशा में सत्तातन्त्र भी उन अर्थकामासक्त वर्गों के नियन्त्रण में असमर्थ हो जाते हैं।

१६५–"कुतस्तत्र प्रतीकारः–रक्षको यत्र भक्षकः" का दुःखपूर्ण इतिवृत्त—

यों अर्थकामानुगत व्यवसायनिष्ठ–श्रमनिष्ठ–वर्गों के धर्म्मनिरपेक्ष बनते ही तद्राष्ट्र के सत्तातन्त्रों को भी विवशतापूर्वक धर्म्मनिरपेक्ष ही बन जाना पड़ता है। एवं उस भयावहा अवस्था, किंवा घोरघोरतमा दुरवस्था में राष्ट्र का वित्तशाली विड्वर्ग, श्रमशाली शूद्रवर्ग, एवं धर्म्मसूत्रसञ्चालक सत्तावर्ग, तीनों हीं वर्गों की एकमात्र आराध्या अर्थ–कामादिमूला एषणा ही बन जाती है। समानशीलव्यसननिष्ठ इनके सहसौख्य से राष्ट्र का मध्यमवर्गात्मक जनतन्त्र सर्वथा ही शोषण का केन्द्र बन जाता है, जिसका सीधा सा प्रकार यही रहता है कि,–सत्तातन्त्र पूँजीवाद की विभीषिका उत्पन्न करता हुआ जनतन्त्र का शोषण करता है, एवं व्यवसायतन्त्र आर्थिक प्रलोभन–कौशलों के द्वारा जनतन्त्र का शोषण करता है। इन उभयशोषणों का जो परिणाम होना चाहिए, वही होता है, जिसका राजर्षि नें–'क्षोभयेतामिदं जगत्' रूप से दिग्दर्शन कराया है, जिसकी विस्पष्ट व्यञ्जना यही है कि, जिस राष्ट्र के कामार्थश्रमसञ्चालक वर्ग स्वनियत कर्म्मों से स्खलित हो कर स्वतन्त्र–उन्मर्य्याद–उच्छृङ्खल–धर्म्मघोषणा करते हुए भी तत्त्वतः धर्म्मनिरपेक्ष बन जाते हैं, उस राष्ट्र का सत्तातन्त्र भी धर्म्मनिरपेक्ष ही बन जाता है। ऐसा धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र भी कालान्तर में स्वरक्षाकर्म्म से विमुख–उदासीन–पराङ्मुख बनता हुआ–'कुतस्तत्र प्रतीकारो रक्षको यत्र भक्षकः' को चरितार्थ करता हुआ अर्थकामासक्तियों में आसक्त–व्यासक्त बनता हुआ, राष्ट्रीयकरणात्मक छल से अपनी प्रवृद्धा अर्थकामवासनाओं की पूर्त्तिमात्र में भगीरथ प्रयत्न करता हुआ राष्ट्र के केन्द्रभूत जनतन्त्र के महान् संक्षोभ का ही कारण बन जाता है।

१६६–भावुक-भारतीय जनतन्त्र की वणिक्तन्त्रानुगता महती भ्रान्ति—

विगत शताब्दियों से भावुक–भारतीय-जनतन्त्र इस भ्रम का अनुगामी बना हुआ है कि, "जिस युग से भारतराष्ट्र में विदेशी सत्ताओं का आक्रमण आरम्भ हुआ था, उस युग से आरम्भ कर आजतक भारतवर्ष

में संस्कृति–धर्म्म–साहित्यादि का जो कुछ थोड़ा बहुत स्वरूप शेष रहा है, उसका प्रधान श्रेय राष्ट्र के उस वित्तशाली धर्म्मिष्ठ विड्वर्ग को ही है, जिसने सत्तातन्त्रों से न केवल उपेक्षित ही, अपितु उत्पीड़ित इस राष्ट्र के संस्कृति–धर्म्म–साहित्यनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग को आश्रय प्रदान कर येनकेनरूपेण भारतीय धर्म्म का संरक्षण कर लिया है"।

१९७–प्रतिदानकामनात्मिका वणिक्तन्त्रसापेक्षता, एवं धर्म्म की दासता—

अवश्य ही जिस सीमापर्य्यन्त 'भावुकता' का साम्राज्य है, उस सीमापर्य्यन्त तो जनतन्त्र की इस मान्यता का स्वागत ही किया जायगा। किन्तु जब निष्ठादृष्टि से हम तथ्य के अन्वेषण में प्रवृत्त होते हैं, तो जनतन्त्र का यह भ्रम भी शरदभ्रवत् विलीन ही होजाता है। महत्सौभाग्य से भारतीय जनतन्त्र सहजरूप से संस्कृति–धर्म्म के प्रति आस्थित है, श्रद्धालु है। आगन्तुक परसत्तातन्त्रों नें जब जब भी इसकी संस्कृति–धर्म्म–निष्ठाओं पर आक्रमण किया, तब तब ही इसने आश्रयभूमियों का अन्वेषण किया। इस अवसर से लाभ उठाने वाला वर्ग वही वित्तशाली वर्ग बना। और एकमात्र अपनी वित्तैषणा को सफल बनाने के लिए ही उस व्यवसायी वर्ग ने उन संक्रमणकालों में संस्कृति–धर्म्म को प्रश्रय प्रदान करने का अभिनय आरम्भ कर दिया।

१९८–सत्ताश्रय की प्रतिदाननिरपेक्षता, एवं तद्द्वारा अंशतः धर्म्मसंरक्षण—

यह तथ्य अविस्मरणीय है कि, सत्तातन्त्र भले ही कैसा भी हो, उसमें एक स्वाभाविक वैसा ऐश्वर्य्य प्रच्छन्नरूप से विद्यमान रहता ही है, जो अमुक–सीमापर्य्यन्त प्रतिदान नहीं चाहा करता। सत्तातन्त्र का सहयोग अधिकांश में प्रतिदानकामना से असंस्पृष्ट ही रहा करता है। यही कारण था कि, परसत्तायुगों में भी यहाँ की संस्कृति–धर्म्मनिष्ठाओं को गतानुगतिकरूप से सत्तातन्त्रों के तद्युग के भारतीय सामन्तों से ज्ञात–अज्ञात–रूप से जो सहयोग मिलते रहे, उन में क्योंकि प्रतिदान की भावना नहीं थी। अतएव तथाविध सत्तासहयोगों में संस्कृति–धर्म्म अंशतः अभिव्यक्त बनते रहे। मुगलसत्तापर्य्यन्त संस्कृति और धर्म्मक्षेत्र गच्छतः–स्खलनरूप से येनकेनरूपेण सामन्तसत्ताओं का सहयोग प्राप्त करते रहे। यही नहीं, स्वयं मुगलशासकों में भी कितनें एक उदार शासकों नें मुक्तहृदय से इस कार्य्य में योगदान किया। इस सहयोगानुग्रह से ही तच्छासनयुगपर्य्यन्त भारतीय व्यवसायनिष्ठवर्ग का यहाँ की संस्कृति, यहाँ के धर्म्मक्षेत्रों में साक्षात्‌रूप से प्रवेश न होसका। परिणामस्वरूप सांस्कृतिक–साहित्य की दृष्टि से वह परसत्तायुग भी विशेष रूप से घातक न बन सका।

१९९–ब्रिटिशसत्ता की घातक घोषणा से भारतीय संस्कृति–धर्म्म का लोकतन्त्र से सम्बन्ध–विच्छेद—

आगे चल कर महान् नैष्ठिक ब्रिटिशसत्तायुग का उपक्रम हुआ, जिसका पहिला पुरुषार्थ था–धर्म्म का लोकक्षेत्रों से पार्थक्य। 'हम कदापि भारतीय धर्म्म में हस्तक्षेप नहीं करेंगे'–साम्राज्ञी विक्टोरिया

की इस घोषणा का सीधा सा अर्थ था–भारतीय संस्कृति, तदनुगत धर्म्म–साहित्यादि को सत्तासहयोग से वञ्चित कर देना। तद्युग के नितान्त भावुक राजभक्त विद्वानों नें सर्वस्वघातिका उस ब्रिटिशघोषणा का मुक्तहृदय से यशोगान करते हुए अपनी प्रज्ञाशून्यता का ही नग्नस्वरूप सत्ता के सम्मुख रख दिया। ब्रिटिशतन्त्र की दासता में दीक्षित यहाँ का सामन्ततन्त्र–राजतन्त्र भी इसी पथ का अनुगामी बन गया। प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष में यहाँ के सामन्तराजाओं नें भी बड़े गौरव से दासपञ्जिका में नामोल्लेख कराते हुए इंग्लैण्ड को ही अपना धर्म्मक्षेत्र बना लिया, एवं भारतीय धर्म्म–सांस्कृतिक क्षेत्र इन राजभक्त सामन्तों की दृष्टि से भी निरपेक्ष बन गए। और यों ब्रिटिश सत्तायुग में संस्कृति–धर्म्म सर्वात्मना अरक्षित ही बन गए।

२००–ब्रिटिशसत्ता की धर्म्मनिरपेक्षा घोषणा के अनुग्रह से वणिक्तन्त्र का धर्म्मक्षेत्र में आधिपत्य, एवं उसके दुष्परिणाम—

और यही वह सुअवसर एतद्देशीय व्यवसायनिष्ठों की व्यवसायात्मिका बुद्धि का आराध्य अवसर बन गया। जनतन्त्र की सहजसिद्धा संस्कृति–धर्म्मनिष्ठा को यों सत्तातन्त्र से उपेक्षित देख सुनकर व्यवसायनिष्ठों नें इसे आश्रय दे डालने का महान् अनुग्रह कर ही तो डाला। तत्कालीन संस्कृति–धर्म्मभक्त राष्ट्र के राजभक्त वे विद्वान् ब्राह्मण (जिन्हें ब्रिटिशदासकर्म्मों में प्रवेश का अवसर नहीं मिल सका था), एवं सामान्यरूप से पठित, किन्तु जनतन्त्र की श्रद्धा के सदा से ही केन्द्र बने रहने वाले सामान्य ब्राह्मण, दोनों हीं इस नवीन आश्रयक्षेत्र में (संस्कृति–धर्म्म–रक्षा के व्यामोहनाकर्षण से) सोल्लास समाविष्ट हो ही तो गए। और यों ब्रिटिशसत्तायुग ही प्रधानरूप से भारतीय संस्कृति–धर्म्म–साहित्यादि क्षेत्रों को विड्वर्ग के प्रति सापेक्ष बनाने का गौरव प्राप्त कर बैठा।

सहजभाषा में–इस युग से ही सत्तासापेक्षा संस्कृति, सत्तासापेक्ष धर्म्म व्यवसायनिष्ठाक्षेत्रों के प्रति सर्वात्मना आश्रित बन गया। इसी आधार पर कृतज्ञताभिव्यक्ति में सर्वाग्रणी यहाँ के जनतन्त्र का इसी युग से यह उद्घोष प्रक्रान्त होपड़ा कि,–"**आजके विदेशी सत्तायुग में तो राष्ट्र के श्रेष्ठिवर्ग के अनुग्रह से ही संस्कृति और धर्म्म का संरक्षण होरहा है**"। इसी कृतज्ञता के फलस्वरूप राष्ट्र के प्रत्येक सांस्कृतिक–धार्मिक क्षेत्रों का आधिपत्य इसी वर्ग के प्रति समर्पित कर दिया यहाँ के संस्कृति–धर्म्म–भक्त–भावुक ब्राह्मणों नें। सभा सनातनधर्म्म की, तो सभापति तद्ग्राम–नगर के सम्पन्न सेठ महाभाग। संस्थानों के नाम ऋषिकुल–गुरुकुल–संन्यासाश्रम–आदि आदि, किन्तु सर्वत्र सूत्रधार धनपति कुबेर ही। धर्म्मावतार-धर्म्मरक्षक-धर्म्मसंस्थापक जैसी ईश्वरीय उपाधियों के एकमात्र **असमान** अधिकारी ये ही मान लिए गए, किंवा अर्थदान के द्वारा विवशतापूर्वक मनवा लिए गए। नाम शिक्षापरिषत्, किन्तु उसके अध्यक्ष-अधिपति-परामर्शदाता, सभी कुछ निरक्षरमूर्द्धन्य वित्तेश।

२०१–शासन, एवं व्यवसाय के सन्दंश (सण्डासी) से धर्म्म का कण्ठावरोध—

क्या परिणाम हुआ इस विडाश्रयग्रहणता का ?। वही हुआ, जो प्रकृतिसिद्ध ही था। ब्रिटिशसत्ता भी सत्तातन्त्र न होकर 'वणिक्तन्त्र' ही था, जिसने अपनी व्यवसायनिष्ठा को इस धर्म्मशील राष्ट्र में सफल बनाने के लिए एक ओर पूर्वोक्त धर्म्मनिरपेक्षता की घोषणा से यहाँ की धर्म्मभावुकता को संरक्षण प्रदान किया, तो

दूसरी ओर यहाँ की धर्म्मभावुकता को इसाई-मतवाद से आकर्षित कर तन्माध्यम से अमुक वर्ग को प्रतिक्रियावादी बनाना आरम्भ कर दिया। स्वयं भारतराष्ट्र के वणिकृतन्त्र नें सामान्य जनतन्त्र की धर्म्मभावुकताओं के माध्यम से अपनी व्यवसायनिष्ठाओं के प्रचार-प्रसार का श्रीगणेश आरम्भ कर दिया। दो दो वणिकृतन्त्रों के सन्दंश (सण्डासी) में पतित राष्ट्र की धर्म्मभावना अपनी सांस्कृतिक-चेतना से सर्वथा ही अभिभूत होगई।

२०२-व्यवसायोपयोगी धर्म्म का धर्म्मत्त्व, एवं तत्प्रेमी वणिकृतन्त्र के द्वारा धर्म्म का व्यवसायात्मक मूल्याङ्कन—

वणिक् निष्ठा प्रत्येक कार्य्य का, सहयोग का प्रतिदान चाहती है, फिर वह प्रतिदान व्यावसायिक हो, अथवा तो धार्म्मिक। उसकी दृष्टि में संस्कृति-धर्म्म का एकमात्र सीधा-साधा यही अर्थ है कि, वह इससे अपने कामार्थों में उत्तरोत्तर विकास करता जाय। उसका पूजन-पाठ-दान-आदि सभी कुछ वित्तैषणात्मिका-लोकैषणाओं के लिए ही सुरक्षित है। यदि किसी ब्राह्मण से दुर्गापाठ कराते हुए भी उसका व्यवसाय में पराभव हो जाता है, तो वह उसी क्षण से पाठकर्त्ता के साथ साथ स्वयं सप्तशती ग्रन्थ, और दुर्गाभगवती के प्रति भी उदासीन-तटस्थ ही बन जाया करता है। व्यवसायनिष्ठा की सफलता ही इसकी दृष्टि में संस्कृति-धर्म्म की एकमात्र उपयोगिता है। अनुपयोगिता में ये सब ब्राह्मणों के ढोंगमात्र ही प्रमाणित हो जाते है प्रतिदान-कामुक इन आश्रयदाताओं की दृष्टि में।

२०३-ब्रिटिशसत्तायुगीय वणिकृतन्त्र के द्वारा गच्छतः स्खलनरूप से धर्म्म को आश्रय-प्रदान, किन्तु वर्त्तमान सत्तायुग में तत्प्रति भी सर्वथा निरपेक्षता—

ब्रिटिशसत्तायुग में अवश्य ही धर्म्मपथ इनका आश्रय प्राप्त करता रहा अमुक-ज्ञात अज्ञात अर्थ-तान्त्रिक कौशलों के अनुग्रह से। किन्तु वर्त्तमानसत्तातन्त्र के उदित होते ही इनका यह अनुग्रह भी समाप्त हो गया। क्यों ?, का उत्तर स्पष्ट है। सत्ता आज स्वयं उस जनतन्त्र की, अपने ही घर की है, जिससे यहाँ का सांस्कृतिक-धार्म्मिक-व्यावसायिक-कोई सा भी इतिहास छिपा हुआ नहीं है। परसत्ताओं की आखों में धर्म्मनाम-व्यामोहन से धूलिप्रक्षेप सम्भव था, तद्व्याज से अपने व्यवसायकौशलों की गच्छतः स्खलनरूप से सफलता भी सम्भव थी। किन्तु-'घर का भेदी लङ्का ढावे' न्यायानुसार अब वह धूलिप्रक्षेप भी सम्भव न रहा। और सत्तातन्त्र के साथ साथ ही कल का वही धर्म्ममूर्त्ति-धर्म्मरक्षक भी धनपति आज सत्ता से भी कहीं अधिकवेग से अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष प्रमाणित करता हुआ सत्ताभक्त ही बन गया।

२०४-वणिकृतन्त्र की सत्ताभक्ति का नग्नस्वरूप—

'सत्ताभक्त बन गया'-कहने सुनने मात्र से ही आज के धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र ने इस वर्ग को सत्ताभक्त बना लिया, किंवा बना लेगा, यह कल्पना तो सर्वथा भावुकतापूर्णा ही मानी जायगी। क्योंकि ब्रिटिशसत्ता के द्वारा निर्द्धारित संविधानों के आंशिक अनुकरणभावों को ही अपनी नीति का एकमात्र आधार मान बैठने वाला धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र भी आज उसी वासना को लक्ष्य बनाए हुए है, जो वासना व्यवसायनिष्ठ वणिक्-तन्त्र की मानी गई है। समानस्वार्थों में समवेत दो वर्गों में संघर्ष तो होसकता है, किन्तु भक्तिमूलक आश्रित-आश्रयभाव कदापि शक्य नहीं है। लोकैषणात्मिका वित्तैषणा जहाँ वणिक् का आराध्य

है, वहाँ * **वित्तैषणात्मिका लोकैषणा** धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र का लक्ष्य बना हुआ है । दोनों तन्त्रों की लक्ष्यभूमि थोड़े परिवर्त्तन के साथ जब एक ही है, तो दोनों में भक्तिसम्बन्ध तो कदापि स्थापित नहीं हो-सकता । और आज दोनों हीं तन्त्र अपने अपने स्वार्थसाधन के लिए व्यग्र बने हुए है, जिनमें सफलता विशेष-रूप से वणिक्तन्त्र को ही इसलिए मिल रही है कि, वह इस लक्ष्य को सफल बनाने के लिए लोकतान्त्रिक प्रकारों में जहाँ परम्परया अभ्यस्त है. वहाँ धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के सञ्चालक सदस्य महानुभाव इस महती-विद्या के रहस्यों से अद्यावधि भी अनभिज्ञ ही हैं, एवं तबतक अनभिज्ञ ही बनें रहेंगे, जबतक कि ये संस्कृति-मूलक धर्म्म को सापेक्ष नहीं बना लेंगे ।

प्रत्यक्ष सूर्य्यवत् यह सर्वात्मना विस्पष्टतम है कि, वर्त्तमान सत्तातन्त्र की जीवनप्रतिष्ठा व्यवसायनिष्ठों की कृपा पर ही अवलम्बित है । निर्वाचन की सफलता का एकमात्र अवलम्ब यही वर्ग बना हुआ है, जिस तथ्य के साथ कदापि गजनिमीलिका नहीं जा सकती । सत्तातन्त्र की कौन कहे, जनतन्त्र के एकमात्र प्रतीकभूत समाचारपत्र भी आज तो इन व्यवसायनिष्ठों के द्वारा ही स्वायत्तीकृत हैं, जिनमें इनके तन्त्र के विरुद्ध एक अक्षर भी लिख डालने की मूर्खता करने वाला सम्पादक स्मृतिगर्भ में हीं विलीन कर दिया जाता है । अतएव कदापि जनतन्त्र को इस भ्रान्ति में नहीं पड़ना चाहिए कि, वणिक्तन्त्र सत्तातन्त्र का भक्त बन गया है । अपितु ठीक इसके विपरीत यह कहा नहीं, तो माना तो अवश्य ही जा सकता है कि, सत्तातन्त्र व्यवसायकुशल नितान्त नैष्ठिक वणिक्तन्त्र का प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से अवश्य ही भक्त बना हुआ है आज ।

२०५–सत्तातन्त्र की वणिक्तन्त्र के प्रति सापेक्षता, एवं तदनुग्रहेणैव सत्तास्वरूपसंरक्षण–

क्या परिणाम होगा इस भक्ति का ?, प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है । अग्नीषोमात्मिका–अन्नादान्नलक्षणा प्रकृति का ऐसा सुसूक्ष्म विधान है कि,–**'जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसे खाकर ही समृद्ध-पुष्ट बनता है । पञ्चमहाभूतों से उत्पन्ना चर–अचर–पार्थिव प्रजा पञ्चपार्थिवभूतों को अन्न बना कर ही स्वस्वरूपसंरक्षण में समर्थ बना करती है,** इस निरपवाद प्राकृतिक सिद्धान्त के अनुसार कामार्थपरायण वणिक्तन्त्र के सहयोग से प्रसूत सत्तातन्त्र वणिक्तन्त्र को अन्न बनाकर ही तो समृद्ध बन सकता है । और वैसा ही तो कुछ घटित विघटित होता जारहा है आज के वणिक्तन्त्र के लिए, जैसाकि इसके विकम्पन से प्रमाणित होरहा है । सचमुच आज दोनों के लिए दोनों हीं अन्नाद, और अन्न बनते हुए **'यो मा ददाति-स इ देवमावत–अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि'** इत्यादि प्राकृतिक श्रौत सिद्धान्त को ही अक्षरशः चरितार्थ बनाते जारहे हैं, जिस चरितार्थता की पर्य्यवसानभूमि बन जाया करता है अन्ततोगत्वा सुप्रसिद्ध **सुन्दोपसुन्दन्याय** । अमर्य्यादित अन्न–अन्नादभाव (भोग्य–भोक्तृभाव) एक दूसरे से परस्पर विनष्ट ही हो जाया करते हैं, और यही 'सुन्दोपसुन्दन्याय' का फलितार्थ है, जो दुर्भाग्यवश आज सांस्कृतिक–धार्म्मिक भी पावन भारतराष्ट्र में आशङ्कित हो पड़ा है ।

*** नामख्याति से युक्ता धनसंग्रह की इच्छा (लोकैषणात्मिका वित्तैषणा)–वणिक्तन्त्रेच्छा**

धनसंग्रह से युक्ता नामख्याति की इच्छा (वित्तैषणात्मिका लोकैषणा)–सत्तातन्त्रेच्छा

२०६-सत्ता-सम्पत्ति-सेवा-नुगत शासन-अर्थ-और श्रम—

सांस्कृतिक धर्म्मसूत्र ही वह मर्य्यादासूत्र है, जिससे क्षत्र-विट्-शूद्र-लक्षणा **सत्ता-सम्पत्ति-सेवा-**तीनों से अनुप्राणित **शासन-अर्थ-श्रम**-एक सीमा में व्यवस्थित रहते हुए केवल प्रवर्ग्यभागों से ही अपने अपने ब्रह्मौदन की क्षतिपूर्त्ति किया करते हैं। तीनों के प्रवर्ग्यभागों के आदान-प्रदान से तीनों की क्षतिपूर्त्ति भी होती रहती है, एवं तीनों मर्य्यादित-व्यवस्थित-रूप-से सुसमृद्ध भी बनते रहते हैं। अतएव भारतराष्ट्र की ऋषिप्रज्ञा ने **'तस्मात-धर्म्मं परमं वदन्ति'** रूप से धर्म्मसूत्र का ही प्राधान्य आवश्यक माना है, जिसका उत्तरदायित्त्व सत्तातन्त्र को ही समर्पित किया गया है। एवं इस परम-(महान्) धर्म्मसूत्र के कारण ही कामार्थश्रमतत्त्वों के नियामक सत्तातन्त्र को धर्म्मवत्-**'तस्मात्-क्षत्रात्परं नास्ति'** रूप से महान् सम्मान से समलङ्कृत किया गया है।

२०७-धर्म्मनिरपेक्ष-क्षत्र-विट्-पौष्ण के द्वारा विश्वप्रजा में आत्यन्तिक क्षोभ का उदय-

निश्चय ही बिना धर्म्मसूत्रनियमन के सर्वप्रथम सत्तातन्त्र का स्खलन होता है। इस स्खलन से सत्तातन्त्र ही सर्वप्रथम अर्थकामासक्त बनकर रक्षण के स्थान में भक्षण का ही अनुवर्त्मा बन जाता है। इसका अनुकरण कर कालान्तर में कामार्थ के पारम्परिक आचार्य्य वैश्यवर्ग का स्खलन होजाता है। स्खलित अमर्य्यादित-वैश्यवर्ग-कालान्तर में धर्म्मशून्य सत्तातन्त्र को अपने प्रभाव में ले लेता है। वणिक्तन्त्र के प्रभाव से सञ्चालित सत्तातन्त्र आरम्भ में तो जनतन्त्र का शोषण करने लग पड़ता है। तत्क्षयानन्तर वणिक्-तन्त्र का शोषण आरम्भ हो जाता है सत्ताबल के द्वारा। उधर वणिक्तन्त्र भी प्रत्येक उपाय से सत्ता को स्वशवर्त्ती बनाने के कुचक्रों का विस्तार करता रहता है। अन्ततोगत्त्वा इन धर्म्म-संस्कृतिशून्य-अमर्य्यादित भक्षण-कर्म्मों से राष्ट्र की सम्पूर्ण समृद्धियों का आत्यन्तिक विनाश ही हो जाया करता है। और यों संस्कृति-धर्म्म से निरपेक्ष बन जाने वाले क्षत्र-और विट् विश्वक्षोभ का कारण बन जाते हैं। दोनों में विशेष अपराध विट् का इसलिए माना गया है कि, कामार्थों की एषणा का जन्मदाता यही माना गया है, यही सत्तातन्त्र को, एवं जनतन्त्र को अर्थैषणा की ओर आकर्षित करता रहता है प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से। अतएव विश्वक्षोभ का प्रधान उत्तरदायित्त्व इस पर, एवं तत्सहयोगी श्रमवर्ग पर ही मान लिया है-राजर्षि ने, जैसाकि उनके-**'क्षोभयेतामिदं जगत्'** वचन से स्पष्ट है।

२०८-धर्म्मदण्डप्रवर्त्तक भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा राष्ट्र का संरक्षण—

उक्त विवेचन से अब हमें सहजरूप से ही इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना चाहिए कि, सत्तातन्त्र की धर्म्मनिष्ठा से ही कामार्थश्रमों की एषणाओं का व्यवस्थितरूप से वैसा नियन्त्रण सम्भव है, जिससे ये उन्मर्य्यादित बन कर विश्वक्षोभ के भी कारण नहीं बनने पाते, एवं मर्य्यादित बनकर स्व-स्व-स्वरूपसमृद्धि-पूर्वक राष्ट्रसमृद्धि के भी कारण प्रमाणित होते रहते हैं। यों धर्म्मनिष्ठ सत्तातन्त्र ही लोकसमृद्धि, राष्ट्रसमृद्धि का अधिष्ठाता-प्रवर्त्तक-संरक्षक बनता हुआ विश्वशान्ति का सफल सन्देशवाहक बन जाता है, निश्चयेन बन जाता है। इसीलिए भारतीय सत्तातन्त्र को एकमात्र धर्म्मदण्ड का ही प्रवर्त्तक माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय मानवीय वचनों से प्रमाणित है—

कार्य्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देश–कालौ च तत्त्वतः ॥
कुरुते धर्म्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥१॥
तस्माद्धर्म्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ॥
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु, तं धर्म्मं न विचालयेत् ॥२॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्म्ममात्मजम् ॥
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत् पूर्वमीश्वरः ॥३॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥
भयाद्भोगाय कल्पन्ते, स्वधर्म्मान्न चलन्ति च ॥४॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ॥
चतुर्णामाश्रमाणाञ्च धर्म्मस्य प्रतिभूः स्मृतः: ॥५॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्द्धरश्चाकृतात्मभिः ॥
धर्म्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥६॥

—मनुः ७ अध्याय

२०६–धर्म्मस्वरूपव्याख्याता संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण, एवं धर्म्मस्वरूपप्रवर्त्तक सभ्यतानिष्ठ-सत्तातन्त्र, तथा धर्म्म का प्रथम क्रमात्मक-क्रम–(१)

संस्कृति का आचारात्मक–वर्णानुगत–कर्त्तव्यकर्म्मात्मक–लौकिक–प्रतीकरूप ही यहाँ वह 'धर्म्म' है, जिसे आधार बनाकर सत्तातन्त्र राष्ट्रव्यवस्था में सफलता प्राप्त करता है। अतः इस प्रतीकधर्म्मात्मक लोकधर्म्म के आधार पर ही हमें 'धर्म्माधिकारसमर्पणक्षेत्र' का समन्वय करना चाहिए। श्रुति–स्मृति–सिद्ध धर्म्म का व्यावहारिक स्वरूप है विधि, और तत्पूरक निषेध। प्रकृति–सिद्ध–विभक्त–वर्णानुगत कर्त्तव्य ही विधि है, जिनका विधान हुआ है। प्रकृतिविरुद्ध उत्पन्न काल्पनिक अकर्त्तव्यात्मक असत्कर्म्म ही निषेधकोटि में अन्तर्भुक्त हैं, जिनका शास्त्र में निषेध हुआ है। विधि–निषेधात्मक धर्म्म का एक स्वरूप है–'आदेश'। राजा को यही अधिकार दिया गया है। राजा अपने दण्डभय से विधि–निषेधात्मक आदेशधर्म्म पर ही प्रजा को नियन्त्रित रखता है। यही आदेश मीमांसादर्शन के शब्दों में–'नोदना' (प्रेरणा–अनुज्ञा–आदेश) कहलाया है। अतएव तत्र धर्म्म का लक्षण हुआ है–'**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः**' (पूर्वमीमांसासूत्र)।

कर्म्म ही इस धर्म्म की स्वरूपव्याख्या है। '**स्वधर्म्मे निविशेत वै**' का अर्थ–'**स्वकर्त्तव्यकर्म्मणि-निविशेत वै**' ही है। राष्ट्र का मनोमय कामानुगत वैश्यवर्ग, शरीरमय श्रमानुगत शूद्रवर्ग, दोनों वर्ग इसी आदेशात्मक धर्म्म की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं। धर्म्म की मौलिकता, रहस्यज्ञान का इन दोनों वर्गों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं माना है शास्त्र ने इसलिए कि, अर्थकाम में सहजरूप से प्रकृत्या ही आसक्त ये दोनों वर्ग

धर्म्म के रहस्यज्ञान के समन्वय में सर्वथा अनधिकारी ही बने रहते हैं। **'इदं कर्त्तव्यम्-इदं न कर्त्तव्यम्'** यही इन की स्वरूपरक्षा का एकमात्र आधारबिन्दु है। और इन आदिष्ट धर्म्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहने मात्र में हीं इनका अभ्युदय-निःश्रेयस् सुरक्षित है। इसी मान्यता की दृष्टि से वैशेषिकदर्शन के शब्दों में धर्म्म का यही लक्षण हुआ कि-**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः-स धर्म्मः'** (वै० सू०)। **"शास्त्र जो कहता है-वही धर्म्म है, एवं धर्म्माचरण से इस लोक में समृद्धि, एवं परलोक में शान्ति मिलती है"** बस दोनों वर्गों के लिए धर्म्म की यही स्वरूपव्याख्या पर्य्याप्त है, जिस व्याख्या का विस्तार पुराणशास्त्र में हुआ है। आदेश शरीरनिबन्धन है, तत्प्रतिपादक शास्त्र **स्मृतिशास्त्र** है। उपदेश मनोनिबन्धन है, तत्प्रतिपादकशास्त्र **पुराणशास्त्र** हैं। दोनों के आधार पर मनः-शरीरप्रधान दोनों वर्गों की धर्म्मश्रद्धा की इयत्ता विश्रान्त है। आदेशोपदेशानुसार कर्त्तव्यकर्म्म करते जाना हीं इस इयत्ता की स्वरूपव्याख्या है, जिसका व्याख्याता बनता है-ब्राह्मण, एवं नियन्ता बनता है-सत्तातन्त्र।

२१०-धर्म्मानुगत रहस्यज्ञान, एवं धर्म्म का दूसरा 'अभिक्रमा'त्मक क्रम (२)-

दूसरा प्रक्रम है धर्म्म के **रहस्यज्ञान** का, जिसका अनुशासनात्मिका बुद्धि से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। एवं उसमें सामान्यरूपेण अधिकृत माना गया है क्षात्रसत्तातन्त्र। सत्तातन्त्रानुगत क्षात्र शासक है, बुद्धिपूर्वक अनुशासनकर्त्ता है। अनुशासन के सम्बन्ध से ही इसे 'शासक' कहा गया है। सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न शासक कदापि वैय्यक्तिक एषणामूला अर्थकामासक्तियों में आबद्ध नहीं होसकता। जो हो सकता है, होता है, हो पड़ता है, वह कदापि भारतीय दृष्टि से शासक तो नहीं बन सकता, तन्त्रबुद्धया शासकपद प्राप्त करके भी वह बुद्धिपूर्वक अनुशासन तो नहीं कर सकता, जिस अनुशासन के गर्भ में दण्डभय जागरूक बना रहता है। जहाँ अर्थकामासक्ति है, वहाँ तो उपदेशगर्भित आदेशात्मक धर्म्म का ही व्यवहार होता है। कदापि वहाँ धर्म्मरहस्यज्ञान पुष्पित-पल्लवित नहीं हो सकता। पुष्पित-पल्लवित क्या नहीं हो सकता, धर्म्मरहस्यव्याख्या-श्रवणमात्र से मनःशरीरधर्म्मा महानुभाव निद्रातन्द्रा के क्रोड़ में हीं आश्रयग्रहण करने लग पड़ते हैं। बुद्धिपूर्विका जागरूकता तभी रह सकती है, जबकि मानववर्ग अर्थकामों में आसक्तव्यासक्तमना नहीं बना करता। तत्रैव रहस्यव्याख्या-फलितार्था बनती है। एवं वैसा सामान्यपात्र माना गया है बुद्धिनिष्ठ-धर्म्मिष्ठ-धर्म्मप्रवर्त्तक-कर्त्तव्य संरक्षक-स्वयं कर्त्तव्यपरायण-बुद्धिपूर्वक सतत जागरूक, अतएव अनुशासक-अतएव च वैय्यक्तिक अर्थकामैषणाओं से असंस्पृष्ट सत्तातन्त्र। यही धर्म्म का धर्म्मरहस्यज्ञाननिबन्धन दूसरा अनुशासनात्मक दूसरा प्रक्रम है, जिसका-**'अथातो धर्म्मानुशासनम्'** रूप से यशोगान हुआ है, जिसका राजर्षि ने इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्म्मज्ञानं विधीयते"
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

—मनुः २।१३

२११-धर्म्मानुगत ताच्विक चिन्तन, एवं धर्म्म का तीसरा 'अभिक्रमा'त्मक क्रम (३)-

तीसरा अभिक्रम है-धर्म्म के धर्म्मत्त्व का तात्त्विक चिन्तन, जिसका ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा से ही सम्बन्ध माना है राजर्षि ने। वेदस्वाध्यायरूप महान् तप ही धर्म्म के धर्म्मत्त्व का तात्त्विक चिन्तन माना गया है। यों चिन्तनात्मक वेदस्वाध्यायरूप **अभिक्रम**, धर्म्मरहस्यविश्लेषणात्मक **प्रक्रम**, एवं धर्म्मदिशानात्मक **क्रम**, तीन संस्थानों में विभक्त धर्म्मतत्त्व क्रमशः ब्राह्मणतन्त्र-क्षत्रियतन्त्र-एवं शुद्रानुगत विट्तन्त्र-इन तीन तन्त्रों का संग्राहक बना हुआ है। तीनों के मध्य में आचारात्मक परमधर्म्म * के प्रवर्त्तक क्षात्रसत्तातन्त्र का ही लोकदृष्ट्या महत्त्व माना गया है। वणिक्तन्त्रसापेक्ष आचारधर्म्म कदापि सुव्यवस्थित नहीं रह सकता। जो ब्राह्मण सत्ता के स्थान में धनिकवर्ग को धर्म्म के प्रति सापेक्षता प्रदान कर देते हैं, उन्हें स्वयं भी कालान्तर में अर्थकामासक्त बन कर धर्म्माचरण से वञ्चित ही हो जाना पड़ता है। इन सब प्राकृतिक तथ्यों को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाकर ही अब हमें उस प्रश्नमीमांसा में प्रवृत्त होना चाहिए, जिसकी पूर्व में उत्थानिका हुई है, एवं जिसकी मूलोपक्रमभूमिका की दृष्टि से ही तथाकथित धर्म्म की तीनों संस्थाओं का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन हो पड़ा है।

२१२-क्रमत्रयानुगत-विट् क्षत्र-ब्रह्म-भावों के साथ त्रिविध धर्म्म का समन्वय—

प्रश्नमीमांसा की पूर्व में जो उत्थानिका हुई है (पृ० सं० ९९), उसका अब यों सर्वात्मना सुसमन्वय हो जाता है कि, प्रतीकात्मक-आचरणात्मक-क्षत्रियधर्म, अनुसरणात्मक वैश्यधर्म्म, एवं अनुकरणात्मक शूद्रधर्म्म इन तीन वर्णधर्म्मों को तो धर्म्मिष्ठ-सत्तातन्त्र के प्रति ही सापेक्षता है, एवं तन्मूला बुद्धिसंस्कृति-मनःसंस्कृति-शरीरसंस्कृति-रूपा लोकसंस्कृतित्रयी के प्रति भी सत्तातन्त्र को ही सापेक्षता है। और इस लोक-प्रतीकात्मक लोकसंस्कृतिसमन्वित-लोकधर्म्म के प्रति सत्तातन्त्र का ही उत्तरदायित्त्व माना गया है-भारतीयशास्त्र में। प्रश्न शेष रह जाता है-ब्राह्मणानुगता-भूतात्मसंस्कृति का, एवं तदनुगत-प्रतीकभूत अनुशीलनधर्म्म का। सामान्यरूपेण इसके प्रति भी सत्तातन्त्र को ही जागरूक बना रहना पड़ता है, जिससे अन्तर्निष्ठ भी ब्राह्मण युगधर्म्मानुगता बहिर्भावुकताओं के व्यामोहन में पड़ कर कहीं अनुशीलनधर्म्म से पराङ्मुख न बन जाय।

२१३-लोकसंस्कृति, एवं प्रतीकधर्म्मचतुष्टयी की सापेक्षता का आंशिक समर्थन—

तदित्थं-सामान्यरूपेण प्रतीकभूता लोकसंस्कृतिचतुष्टयी, एवं लोकधर्म्मचतुष्टयी-दोनों सत्तासापेक्ष ही मानीं गईं हैं, जिसके मूल में संस्कृतिमूलक सत्यात्मक धर्म्मदण्ड ही व्यवस्थित है। और इस दृष्टि से चारों हीं वर्णों को सत्तातन्त्र के प्रति ही अपनी निष्ठाएँ समर्पित कर देने के आदेश दिए हैं-शास्त्र ने। किस सत्तातन्त्र के प्रति ?, जो सत्यधर्म्म को आधार बना कर धर्म्मदण्ड को प्रवृत्त रखता है। क्या स्वरूप है उस सत्यधर्म्म का ?, वह स्वरूप है सत्यधर्म्म का, जिसका पुराण में कथारूप से, स्मृति में विधिरूप से, एवं वेद में रहस्यरूप से विश्लेषण हुआ है। श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित सत्यधर्म्म का प्रवर्त्तक-व्यवस्थापक सत्तातन्त्र ही भारतीय

---

* आचारः परमो धर्म्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥
—मनुः १।१०८।

परिभाषा में भारतीय संस्कृति-सभ्यता-धर्म्म-आदर्श-नीति-आदि का सञ्चालक धर्म्मसापेक्ष सत्तातन्त्र है। और-'**महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति**' के अनुसार अवश्य ही ऐसा धर्म्मिष्ठ सत्तातन्त्र ईश्वर का प्रतिनिधि ही बना हुआ है, जो कि 'ईश्वरीय-नियतिः सत्यात्मक-प्राकृतिक-विभक्त कर्त्तव्य-कर्म्मों' को सुव्यवस्थित बनाए रखता हुआ राष्ट्र को अभ्युदय-निःश्रेयस् से समन्वित रखता है।

२१४-भारतराष्ट्र की राजभक्ति-सत्ताभक्ति का मूलाधार—

वैराग्यबुद्धियोगात्मक योग, ज्ञानबुद्धियोगात्मक ज्ञान, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मिका भक्ति, एवं धर्म्मबुद्धि-योगात्मक कर्म्म, रूप मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थात्मक-चारों लोकसंस्कृति-लोकधर्म्मों का संरक्षक देशाधिपति-राष्ट्रपति अवश्यमेव संस्कृति-सभ्यताओं का अपेक्षात्मक आधार बना रहता है, बनता आया है-परम्परया, बना ही रहना चाहिए इसे परम्परया सदा ही। यही भारतराष्ट्र की राजभक्ति-सत्ताभक्ति-सत्ताश्रय-का वह मूलाधार है, जिससे आज भी सत्तातन्त्र लाभ तो उठा ही रहा है। एवं प्रजा भी अपने सनातन-संस्काराकर्षणों के प्रति वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के प्रति भी आस्था-श्रद्धा समर्पित करना अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मान ही रही है, मानना ही चाहिए।

२१५-विदेशी सत्तातन्त्र के द्वारा प्रवृत्त सर्वस्वघातक शिक्षायन्त्र का भारतीय सत्तातन्त्र के द्वारा अन्धानुकरण, एवं उसके भीषण परिणाम—

क्या ऐसा मानना-मनवाना भावुकता न होगी ?। होगी, और अवश्य ही होगी। क्या ऐसा होना उत्तम पक्ष माना जायगा ?, अवश्य ही उत्तम पक्ष ही माना जायगा। क्यों ?, और किस आधार पर ?।

यों, और इस आधार पर कि, वर्त्तमान सत्तातन्त्र कोई पारम्परिक सत्तातन्त्र नहीं है। नापि विदेशी-सत्तातन्त्र। अपितु जनतन्त्र के प्रतिनिधि ही आज के सत्तातन्त्र की स्वरूपव्याख्या है। भारतराष्ट्र का वर्तमान सत्तातन्त्र किसी अज्ञातलोक से अकस्मात् अवतीर्ण हो पड़ने वाला कोई अज्ञाततन्त्र नहीं है। अपितु यह तो स्वयं राष्ट्रीय-प्रजा की ही पारम्परिक, एवं प्रत्यक्षा इच्छा से स्वयं प्रजावर्ग में से ही संकलित उन मेधावी प्रज्ञाशील देशभक्त मानवों का ही संकलितरूप है, जिनकी अध्यवसायपूर्णा-कष्टसाध्या-तपोनिष्ठा से ही राष्ट्र आज अपने मानसिक, तथा शारीरिक अनुबन्धों से सम्बन्ध रखने वाले पारतन्त्र्य से विमुक्त हो कर स्वातन्त्र्य-सुख अनुभूत करने लग पड़ा है। इन तपोनिष्ठ देशभक्तों की सुसंघटिता प्रयासपरम्पराओं से ही परसत्तातन्त्र (ब्रिटिश-सत्तातन्त्र) के सर्वस्वघातक उस वारुणपाश से भारतराष्ट्र उन्मुक्त हो सका है, जो विदेशी सत्तातन्त्र सचमुच ही भारतराष्ट्र की संस्कृति-सभ्यता-धर्म्म-आदर्श-आचार-नीति-आदि आदि के प्रति न केवल सर्वथा निरपेक्ष ही था। अपितु अपने घातक शिक्षायन्त्र के द्वारा जिसने भारतश्री का सब ओर से अभिभव ही कर रक्खा था।

२१६-अनुकरणात्मक भारतीय-गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र के प्रति श्रद्धार्पण—

अपने भौतिक सुखों को बलिदान की पवित्र वेदि पर सोल्लास समर्पित करने वाले स्वनामधन्य संस्मरणीय महात्मा तिलक, गोखले, चित्तरञ्जन, सुभाष, मालवीय, गांधी, नेहरू, लाजपतराय आदि आदि महानात्माओं के

प्रचण्ड संघर्ष से ही ब्रिटिशसिंहासन विकम्पित हुआ । एवं इन महाप्राण मानवश्रेष्ठों के अनुग्रह से ही इनकी सन्ततियों नें ही उस सत्तातन्त्र का सङ्कलन किया, जो **'गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र'** नाम से आज भारतीय प्रजा का शासन कर रहा है । ऐसे इस अपने हीं सत्तातन्त्र के प्रति अपनी कृतज्ञताएँ समर्पित करना हीं तो भारतीय प्रजा का एकमात्र राष्ट्रीय कर्त्तव्य माना जायगा, माना जाना ही चाहिए । यदि ब्रिटिशसत्तायुग में, उस ब्रिटिशसत्तायुग में,जिसमें कि भारतीयों का सब कुछ दासतारूप में हीं परिणत हो गया था, राष्ट्रीय प्रजा तत्सत्ता के प्रति यदि अपनी राजभक्ति समर्पित कर सकती है, ब्रिटिशसत्ता के यशोगान से अपने आपको यदि धन्य कृतकृत्य-बना सकती है, तो क्या आज वही प्रजा अपने हीं सत्तातन्त्र के प्रति अपनी आस्था-श्रद्धाएँ समर्पित नहीं कर देगी ?, अवश्य ही कर देगी, कर देना ही चाहिए ।

२१७–भारतीय संविधान की धर्म्मनरपेक्षता, एवं हमारा भावुकतापूर्ण प्रमाद—

विगत अनेक शताब्दियों से परसत्तातन्त्रों के वारुणपाश से आबद्ध बने रहने वाली भारतीय प्रजा की दासता उस सीमा पर पहुँच गई है कि, जिससे वह आज के स्वतन्त्रतायुग में भी सर्वात्मना अपना परित्राण नहीं कर सकी है । मनसा, शरीरेण कहने सुनने मात्र के लिए स्वतन्त्र कही-मानी जाने वाले भी प्रजा तत्त्वतः आज भी आत्मना-बुद्ध्या सर्वात्मना, एवं मनसा-शरीरेणापि अंशतः परतन्त्र ही बनी हुई है । अतएव जैसी **स्वात्मनिष्ठा**, जैसा **बौद्धिक अध्यवसाय**, जैसा **मानसिक चिन्तन**, एवं जैसा **शारीरिक श्रम** एक स्वतन्त्र मानव में होना चाहिए, उसका आज भीं अभाव ही है भारतीय मानव में, विशेषतः अपने आपको 'राष्ट्रीय-मानव' नाम से सामान्य प्रजावर्ग से पृथक्वत् अनुभूत करने वाले विशेष मानववर्ग में । और इसी निर्बलता से आज हमारा राष्ट्रीय सत्तातन्त्र भी अपने विधि-विधानों, समाजपद्धतियों, शिक्षापद्धतियों, सांस्कृतिक आयोजनों, आदि आदि में सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेननैव ऐसे प्रमाद कर सकता है, जिनका भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति से न कोई सम्बन्ध ही है, अपितु जो प्रमाद भारतराष्ट्र की इस प्राप्त स्वतन्त्रता को किसी भी दिन पुनः पारतन्त्र्यरूप में भी परिणत कर सकता है, जिन प्रमादों में से महान् प्रमाद माना जा सकता है–**'संविधान की धर्म्मनिरपेक्षिता'** ।

२१८–विश्व के सत्तातन्त्रेतिहासों में प्रथम परीक्षणात्मिका धर्म्मनिरपेक्षता—

जिस दिन से मानव ने अपना सांस्कृतिक स्वरूप पहिचाना है, उस दिन से आरम्भ कर ब्रिटिशसत्तायुग पर्य्यन्त के लाखों वर्षों के सत्ताकालात्मक विभिन्न सत्तायुगों में सम्भवतः आज विश्व में यह पहला ही सत्तायुग है, जिसमें महद्दुर्भाग्य से उस भारतराष्ट्र ने हीं परीक्षणबुद्ध्या ही मानो 'धर्म्मनिरपेक्षसत्तातन्त्र' का संस्थापन कर डाला है, जिस भारतराष्ट्र ने हीं सम्पूर्ण विश्व में प्रथम बार धर्म्मसंस्थापनपूर्वक सत्तातन्त्र का उपक्रम किया था सभ्यता के आरम्भयुगों में । धर्म्म का विरोध करने वाली सत्ताओं का आविर्भाव तिरोभाव तो सुना गया है इतिहास के पृष्ठों के द्वारा । किन्तु कोई सत्ता धर्म्म से

निरपेक्षा रही हो, तटस्थ रही हो, यह तो आज तक नहीं सुना गया। जिस अमेरिका के गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र के केवल गणतन्त्रभाव के आंशिक अनुकरणमात्र का, एवं जिस इङ्गलैण्ड के प्रजातन्त्र का आंशिक अनुकरणमात्र कर भारत का जो गणतन्त्रीय प्रजातन्त्रात्मक संविधान बना है, उसके आधारभूत वे विदेशी तन्त्र भी यों धर्म्मनिरपेक्ष तो नहीं हैं। अपितु अपनी ईसायत की निष्ठा उन प्रजातन्त्रीय गणतन्त्रों में भी यथापूर्व सुरक्षित है उनके संविधानों में। तब फिर सत्तातन्त्रों के इतिहास में पहिली बार, सो भी धर्म्म के प्रथम संस्थापक पवित्र भारतवर्ष की आस्थाश्रद्धाशीला जनता के द्वारा ही ‘धर्म्मनिरपेक्षसत्तातन्त्र’ कैसे आविर्भूत हो पड़ा ?, सचमुच यह अनतिप्रश्नात्मक वैसा दुरधिगम्य ही प्रश्न माना जायगा, जिसका समाधान भारतीय संस्कृति–साहित्य में हीं क्या,–विश्व की किसी भी संस्कृति, किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकता, नहीं हो रहा।

२१९–परदर्शनमूलक–अन्तराष्ट्रीय व्यामोहन, एवं तन्मूला सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता–

क्यों, कैसे, किस आधार पर सत्तातन्त्र से ऐसा प्रमाद हो पड़ा ?, इस प्रश्न का उत्तर जबतक नहीं ढूँढ़ लिया जायगा, तबतक कदापि इस प्रमाद से सत्तातन्त्र का परित्राण नहीं हो सकेगा। एवं बिना इस प्रमाद के परित्याग के भारतवर्ष में तो ऐसा सत्तातन्त्र प्रजानुरञ्जन के अन्य सहस्र प्रयत्न करता हुआ भी स्वस्तिभाव स्थापित नहीं कर सकेगा, नहीं कर सकेगा। प्रश्न जितना दुरधिगम्य है, उत्तर उतना हीं सरल है। और वह है संविधाननिर्म्माताओं की ‘धर्म्मभक्ति’, रूपा–‘धर्म्मभावुकता’ ही, जिसे निष्ठा की भाषा में–‘धर्म्मभीरुता’ ही कहा गया है। भारतराष्ट्र के जिन महामेधावी प्रज्ञाशील मानवश्रेष्ठों नें संविधान का निर्म्माण किया है, यदि हम समझने में प्रमाद नहीं कर रहे, तो उनमें से अधिकांश मानवश्रेष्ठ धर्म्म के प्रति अपने अन्तर्जगत् में श्रद्धा को सुरक्षित ही किए हुए थे। किन्तु इनकी यह धर्म्मश्रद्धा सांस्कृति की तत्त्वनिष्ठा के आधार से वञ्चित होती हुई केवल ‘श्रद्धा’ ही बनी हुई थी, जिस केवल धर्म्मश्रद्धा को–‘धर्म्मभावुकता’ लक्षणा धर्म्मभीरुता ही कहा गया है। ‘यदि हम संविधान में धर्म्म को स्थान देदेंगे, तो दूसरे धर्म्मावलम्बी क्या कहेंगे ? क्या दूसरों को आलोचना का अवसर देना अच्छा होगा ?, क्यों नहीं धर्म्म को निरपेक्ष–तटस्थ ही मान लिया जाय आज के संघर्षात्मक–वातावरण की दृष्टि से” बस एकमात्र इस धर्म्मभावुकता–लक्षणा परप्रत्ययात्मिका–परदर्शनात्मिका–धर्म्मभीरुता ने हीं संविधान को धर्म्मनिरपेक्ष बना डाला, जबकि संविधाननिर्म्माता स्वयं भी न तो धर्म्म के प्रति निरपेक्ष ही थे, एवं न संविधान के अनुसार शासन करने वाले आज के शासक ही सर्वात्मना धर्म्मनिरपेक्ष।

२२०–संघर्षवञ्चिता–अनुकूलतात्मिका भावुकता के दुष्परिणाम, एवं सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता—

“सर्वत्र संघर्षों से आत्मत्राण करते रहना, सर्वत्र अनुकूलताओं की–सुखसुविधाओं की खोज करते रहना, कहीं भी अपना उत्तरदायित्त्व अनुभूत न करना, आत्मविश्वासात्मिका निष्ठा से किसी भी मन्तव्य–कर्त्तव्य में योगदान देने के साहस से वञ्चित बने रहना” आदि आदि दोष ही वह ‘भावुकता’–‘भीरुता’ दोष माना गया है, जिसने अनेक शताब्दियों की दासता से मानव को, तत्रापि भारतीय मानव को, तत्रापि हिन्दू मानव को, तत्रापि सर्वोपरि धर्म्मभक्त आस्तिक हिन्दूमानव को सर्वथा निष्ठाविगलित ही कर दिया हैं। जिस प्रकार एक उत्पीड़ित दास सदा दूसरों से विकम्पित रहता है, सहमा सहमा सा रह कर ही प्रगति करता है, ठीक वही स्थिति आज उस आस्तिक मानव की हो रही है, जो अपने अन्तर्जगत् में धर्म्म के प्रति सर्वात्मना सापेक्ष बना रहता हुआ भी परदर्शनात्मक–भावुकता–क्षेत्रों में–भावुकतावश अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष ही कह पड़ने लगा है।

२२१–भावुकतामूलक नवग्रहग्राहवाद, एवं संस्कृति का तद्द्वारा अभिभव—

आत्यन्तिकरूप से धर्म्मनिष्ठ भी आस्तिक मानव धर्म्मभावुक–धर्म्मभीरु क्यों, और कैसे बन गया ?, प्रश्न का प्रकृत में समाधान सम्भव नहीं है। परसत्ताओं की आक्रमणमूला दासता ही इस भावुकता का एकमात्र कारण नहीं है। अपितु-प्रत्यक्ष–पर–दर्शनमूलक **दर्शनवाद, धर्म्मवाद, निबन्धवाद, सम्प्रदायवाद, शास्त्रवाद, उपदेशवाद, भक्तिवाद, सुधारवाद,** आदि आदि नववादात्मक नवग्रहों की अनुकम्पा से भी (जो कि वाद स्वयं इसी की उपज हैं)-इसकी धर्म्मनिष्ठा सहस्राब्दियों से विगलित ही होती आरही है। ऐसी उपज हो ही क्यों पड़ी, जबकि यह मूलतः नैष्ठिक ही था ?, प्रश्न का उत्तर एकमात्र उस ‘मूलसंस्कृतिनिष्ठा’ से ही सम्बन्ध रखता है, जिसके चिरन्तन इतिहास की पावनगाथा के संस्मरण के लिए ही प्रकृत निबन्ध उपनिबद्ध है। ज्ञानविज्ञानसमन्विता मूलसंस्कृति की उपेक्षा नें ही भारतीय मानव को भावुक बनाया। इस भावुकता से ही इसनें नवग्रहात्मक वादों का आविर्भाव कर डाला।

२२२–वादमूला–भावुकता, एवं तदनुग्रह से संस्कृति–धर्म्म–क्षेत्रों में निरपेक्षता का जन्ममहोत्सव,–इति नु–अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!

वादमूला–संस्कृतिनिष्ठाशून्या–परदर्शनप्रभावात्मिका भावुकता ने ही इसे संघर्षात्मिका, श्रमपरिश्रमात्मिका–आश्रमजीवनपद्धतिमूला अध्यवसायनिष्ठा से तो कर दिया पराङ्मुख, एवं मनोमूला भावुकता से बन गया यह अनुकूलता का प्रेमी। इसी अनुकूलता ने इसे कालान्तर में उस सीमापर्य्यन्त शिथिल–निस्तेज–संघटनवञ्चित–दीन–हीन––उदासीन––कल्पितवेदान्तनिष्ठ–जगत्मिथ्यात्मवादी भ्रामक मानव बना डाला, जिस विषमता में कोई भी इसे सहजरूप से ही दास बना सकता था। वही हुआ। संस्कृतिनिष्ठावञ्चित ऐसे धर्म्मभीरु-भावुक भारतीय मानव से आक्रान्ताओं का निरोध न होसका। परसत्ताएँ प्रतिष्ठित होगईं। उन्होंनें इसकी

भावुकता से सर्वात्मना लाभ उठाया, और यह भावुकतापूर्ण आतिथ्यधर्म्म में ही मनोविभोर बना रहता हुआ मुक्तहृदय से अपना सभी कुछ लुटाता हुआ कहता यही रहा कि-'**हमारा क्या बिगड़ गया। हमनें तो अपना धर्म्म निभाया है**'। इसी परम्परा से यह कालान्तर में दासता की उस चरमसीमा का महान् आचार्य्य बन गया, जिस आचार्य्यपद पर पहुँचने के अनन्तर 'शून्यं शून्यम्' का ही उपदेश शेष रह जाया करता है। यही है धर्म्मभावुक-धर्म्मभीरु-संस्कृतिस्वरूपबोधवञ्चित उस भावुक भारतीय हिन्दूमानव की भावुकता का संक्षिप्त इतिहास, जिसकी प्रेरणा से ही आज पुनः यह धर्म्मभीरु-'**दूसरे क्या कहेंगे**' एकमात्र इस परदर्शनात्मक-व्यक्तिप्रतिष्ठालक्षण-महान्व्यामोहन से ही स्वदर्शन से पराङ्मुख होता हुआ संविधान को धर्म्मनिरपेक्ष घोषित करने जैसा महान् प्रमाद कर बैठा। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!

२२३-परोक्षरूपेण प्रमादनिराकरणचेष्ट, एवं सत्तातन्त्र के प्रति तटस्था सापेक्षता—

प्रमाद तो हो पड़ा, जैसाकि हो पड़ना शताब्दियों से भावुक बने हुए इस मानव के कृत्रिम स्वभाव के अनुबन्ध से कोई विशेष अपराध नहीं माना जासकता। स्वयं अपने रूप से इससे यह भूल नहीं हुई है। हृदय तो वही है, जो युगों पूर्व था। केवल भावुकतावश-दासता के अभ्यासवश-ऐसा हो पड़ा है, जिसकी आलोचना-प्रत्यालोचना में न पड़ कर राष्ट्रीय प्रजा को इस प्रमाद के परोक्षरूपेण निवारण में हीं निष्ठादृष्टि से प्रवृत्त होजाना चाहिए, अविलम्ब प्रवृत्त होजाना चाहिए सत्तातन्त्र के प्रति पूर्ण आस्था-श्रद्धा रखते हुए ही। '**नान्यः पन्था विद्यते अयनाय**'।

२२४-सौम्य, अतएव भावुक नारीतन्त्र, एवं सौम्य बालवृन्द का स्वरूप परिचय-

प्रमादोपशम का वह परोक्षरूप क्या होगा!, प्रश्न का भी दो शब्दों में समन्वय कर लेना चाहिए। भावुक मानव को ऋषिभाषा में-'**सौम्य मानव**' कहा गया है, जिसका लौकिक अर्थ है-'**भोला मानव**'। इन्द्रियानुगत-भास्वरसोममय-इन्द्रियमन ही 'सौम्यमन' है। और जिस परदर्शनप्रभावमूला 'भावुकता' का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है, उस भावुकता का आवास-निवासक्षेत्र यह सौम्य-इन्द्रियमन ही बना रहता है। तत्प्रधान मानव ही-'सौम्यमानव' कहलाया है, जिस सौम्यमन की-चान्द्र-सोमप्राणप्रधाना नारी में, तथा षोडशवर्षपर्य्यन्त के बालमानव में प्रधानता मानी गई है। अतएव नारी को '**सौम्या**', एवं बालक को '**सौम्य**' शब्दों से ही व्यवहृत किया है ऋषिप्रज्ञा ने। दोनों प्रकृत्या ही भावुक हैं, परदर्शन से तत्काल प्रभावित हो पड़ने वाले हैं, एवं इसी तात्कालिक प्रभाव के कारण देखा देखी अनुकरण करने लग पड़ जाना दोनों का ही सहज स्वभाव है।

नारीहठ, एवं बालहठ सुप्रसिद्ध है। सोम ऋततत्त्व है, जिसकी मूलोपनिषत्-मूलप्रतिष्ठा-'**नेति**' ही मानी गई है। निषेधात्मक नास्तित्त्व ही सोमरूप अन्न का सहज स्वरूप है। प्रत्यक्षप्रभावमूलक ऐन्द्रियक आवेश का ही नाम 'अभिनिवेश' है, जिसके द्वारा नारी और बालक की सौम्या मनोवृत्ति में एकप्रकार का जिज्ञासात्मक अभिनिवेश, एवं ऋतात्मक निषेधभाव प्रतिष्ठित रहता है, जिसका लौकिक-'**क्यों**', और '**नहीं**', इन दो शब्दों से अभिनय किया जासकता है। **क्यों करें, और नहीं मानते**, ये दो सौम्यधर्म्म सहजसिद्ध हैं नारी

में, और बालवृन्द में। अतएव कहा जासकता है कि, 'किं', और न, दोनों इनकी ही प्रातिस्विक सम्पत्तियाँ हैं, जिनका अपहरण इन्हें कदापि सह्य नहीं होता। जो मानव नारी, और बालक का उद्बोधन–क्यों–और–'न' से कराना चाहता है, वह स्वयमपि इसी कोटि में अन्तर्भूत होरहा है। अस्तित्व ही, स्वीकृति ही इन दोनों के उद्बोधन का एकमात्र राजपथ है। भावुका नारी, भावुक बालक क्यों, न--रूप आवेश से सहजरूप से ही आविष्ट रहते हैं। इनकी इस भावुकता का संरक्षण करते हुए ही इन्हें परोक्षरूप से ही निष्ठापथ की ओर शनैः शनैः आकर्षित किया जासकता है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है।

२२५–निषेधमूला अनुकरणप्रवृत्ति, एवं तत्र मनोराज्य का प्राधान्य—

शताब्दियों से भावुक बनता हुआ भारतीय मानव दुर्भाग्यवश आत्मबुद्धिमूला अन्तर्निष्ठा से पराङ्मुख बन कर आज मनोनिबन्धना–प्रत्यक्ष–प्रभावमूला–अनुकरणात्मिका भावुकता के क्षेत्र का ही परमाचार्य्य प्रमाणित हो रहा है। इसी भावुकता के कारण निष्ठापूर्वक बुद्धिस्थिरता से किसी भी मन्तव्य–विचार–आस्था–का समन्वय न कर यह एकहेलया सौम्या मनोवृत्ति के कारण–"**नहीं मानते, क्यों करें, कुछ भी तथ्य नहीं है इन धर्म्म–कर्म्म के ढोंगों में**" इत्यादिरूप से सभी अस्तित्व क्षेत्रों में निषेधात्मक 'क्यों' को ही समाधान मान बैठता है। वही स्थिति आज सत्तातन्त्र में भी प्रविष्ट है, जोकि धर्म्मभीरुतामूला–भावुकता का ही प्रसाद है, किंवा प्रमाद है, जिसका प्रधान पुरुषार्थ माना गया है पूर्वकथानुसार–'अनुकरण'। अनुकरण भी बुद्धिपूर्वक नहीं, अपितु मनमाने ढंग से ही, पूर्वापरविवेक के, स्थिति परिस्थिति के चिन्तन के बिना हीं।

२२६–सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता का भावुकतासंरक्षणात्मक समाधान–

'धर्म्मनिरपेक्षा' किसका अनुकरण है ?, प्रश्न का उत्तर भी स्पष्टतम है। दुर्भाग्यवश भारतीय मौलिक संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली पद्धतियों के अभिभूत होजाने से आज भारत की प्रज्ञा को प्रत्यक्ष में वैसी कोई पद्धति प्रतीत नहीं होरही, जिसके आधार पर भारतीयता की दृष्टि से संविधान का निर्म्माण सम्भव बन जाता। इसीलिए भारतीय वर्त्तमान अभिनव सत्तातन्त्र को ब्रिटिश–अमेरिकन्–आदि सत्तातन्त्रों का ही भावुकतावश अनुकरण कर लेना पड़ा। ब्रिटिशसत्तायुग में साम्राज्ञी विक्टोरिया के व्याज से धर्म्म के सम्बन्ध में जिस घातक–घोषणा का उद्घोष हुआ था वहाँ के चाणाक्ष–चतुर–नैष्ठिक–राजनैतिकों के द्वारा, उस–'**हम भारतीय धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे**' इस घोषणा का अनुकरणात्मक स्वरूप ही है भारतीय संविधान की धर्म्मनिरपेक्षता। जैसा उन्होंनें कह दिया था, उनके संविधान के अनुकरण के साथ साथ भावुकतावश उस घोषणा का भी अनुकरणमात्र हो पड़ा है हमारे यहाँ के भावनाप्रधान विधाननिर्म्माताओं के द्वारा, जिसका अर्थ भी वही समझा, और समझाया जारहा है प्रजा को, जो ब्रिटिशसत्ताधीशों नें समझा रक्खा है। धर्म्मनिरपेक्षता का अर्थ कदापि धर्म्म की उपेक्षा नहीं है। अपितु–"**सबको अपनी अपनी मान्यता के अनुसार अपने अपने धर्म्म के प्रचार प्रसार की पूर्ण स्वतन्त्रता है। सत्ता इन मान्यताओं में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी**" यही धर्म्मनिरपेक्षता की व्याख्या हुई है–संविधान में, जिसका सभी धर्म्मप्रेमी निश्चयेन हृदय से अभिनन्दन ही करेंगे।

२२७–मतवादात्मक सभी धर्म्मों के प्रति हमारे सत्तातन्त्र का उदारतापूर्ण व्यवहार—

व्याख्यानुसार ही सत्तातन्त्र का व्यवहार भी उदारतापूर्ण ही देखा–सुना जा रहा है धर्म्मों की मान्यताओं के प्रति। मुहम्मदीय धर्म्म (मत) के अनुगामी **मुसलमान,** ईसायत के अनुगामी **ईसाई,** जरथुस्त्र के अनुगामी **पारसी,** गुरुमतानुयायी **सिक्ख, जैन–बौद्ध,** आदि आदि सभी को स्व स्व मतवादों के प्रचार प्रसार की आज पूर्ण स्वतन्त्रता है। सभी स्व–स्व–मतनिष्ठाओं का स्वच्छन्दतापूर्वक विस्तार करते जा रहे हैं। और अवश्य ही मतवादात्मक इन अवान्तर धर्म्मों के प्रति सत्तातन्त्र न केवल निरपेक्ष ही बना हुआ है, अपितु परोक्ष रूप से इनका परिपोषण भी कर रहा है। अवश्य ही सत्तातन्त्र का यह महान् उत्तरदायित्व है कि, किसी की मान्यता में हस्तक्षेप न करते हुए उन मान्यताओं के संरक्षण में तटस्थ सहयोग प्रदान करता रहे। और इस दृष्टि से अपने महान् उत्तरदायित्व का सर्वात्मना–सोल्लास–निर्वाह करता हुआ हमारा धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र कहने–सुनने मात्र के लिए–**'धर्म्मनिरपेक्ष'** बना रहता हुआ भी अपने कर्त्तव्यात्मक आचार से सर्वथा 'धर्म्मसापेक्ष' ही प्रमाणित हो रहा है, जिसके लिए सत्तातन्त्र का जितना भी अभिनन्दन किया जाय, कम है।

२२८–भारतीय-सनातन-हिन्दूधर्म्म के प्रति हमारे मान्य सत्तातन्त्र का प्रचण्ड आक्रोश, एवं संस्कृति के प्रतीक 'हिन्दू' शब्द श्रवणमात्र से भी तन्मनोराज्य का विकम्पन–

सर्वमपि सुस्थम्। किन्तु!। इस भावुकतापूर्ण किन्तु–परन्तु का इसलिए विवश बनकर आज हमें आश्रय लेना पड़ रहा है कि, प्रधानरूप से जिस हिन्दू की ज्ञानशक्ति–क्रियाशक्ति–अर्थशक्ति–के प्रवर्ग्यदान से जिस भारतीय स्वतन्त्रता ने जन्म लिया है, जिसके सर्वस्व सहयोगदान से ही जिस नवीन सत्तातन्त्र का निर्म्माण हुआ है, जिसके प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष अनुदान से ही सत्तातन्त्र आज जिस ऐश्वर्य्य का भोक्ता बन रहा है, सर्वस्व प्रदाता उसी हिन्दू को आज भावुकतावश प्रतिक्रियावादी घोषित करते हुए इसकी ओर से सर्वथा न केवल निरपेक्ष बने रहना ही पर्याप्त माना जा रहा। अपितु प्रत्येक सम्भव–असम्भव उपाय से इसकी आस्थाओं पर प्रहार करते रहना ही आज मानो सत्तातन्त्र का महान् पुरुषार्थ बना हुआ है। 'हिन्दू' नाममात्रश्रवण से आज के राष्ट्रीय सत्ताधीश अपनी भृकुटी तान लेते हैं। 'काशीहिन्दूविश्वविद्यालय' वाक्य में से–**'हिन्दू'** शब्द का बहिष्कार कर–**'काशीविश्वविद्यालय'** लिखने में आजके हिन्दूसंस्कृतिप्रचारक विद्वान् भी लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे। जैन–बौद्धादि मतवादों के यशोगान में अपनी सांस्कृतिकनिष्ठा (वस्तुतः भावुकता) का सर्वस्वार्पण करने वाले आजके संस्कृतिप्रचारक हिन्दूविद्वान् भी बुद्ध–महावीर का यशोगान तो कर सकते हैं। किन्तु इन्हें 'हिन्दू' कहने–कहलवाने में लज्जा का अनुभव हो रहा है।

२२९–धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र के द्वारा धार्म्मिक जयन्तियों का घटाटोप आयोजन—

और धर्म्मनिरपेक्ष--सत्तातन्त्र !। सुनते हैं बड़े ही समारोह से लाखों रुपये की आहुति प्रदान कर धर्म्मनिरपेक्ष ! सत्तातन्त्र ने जिस उल्लास से बुद्धजयन्ती–महोत्सव मनाया, और मनवाया है प्रान्तीय सत्तातन्त्रों से भी आग्रहपूर्वक, वैसा स्वयं बुद्धभक्तों ने भी कभी न मनाया, और मनवाया होगा। अमुक युग के लिए

महान् सन्देशवाहक श्रीबुद्ध की जयन्ती मनाने का स्वागत करता हुआ भी जब हिन्दू इसी धर्म्मप्रेमी सत्तातन्त्र को **रामकृष्णपरशुरामवसिष्ठभरद्वाजअिङ्गरादि** संस्कृतिसन्देशवाहकों--धर्म्मसंस्थापकों के प्रति प्रतिक्रियावादी देखता, सुनता है, तो यह स्तब्ध ही बना रह जाता है। दोनों में कौन वास्तविक प्रतिक्रियावादी है ?, प्रश्न का समाधान तो स्वयं मुकुलितनयन बनकर सत्तातन्त्र को ही करना चाहिए वक्षस्थलोपरि हस्तनिधान-मुद्रया अपने अन्तर्जगत् में हीं।

२३०-प्रमादी हिन्दू की भावुकता, और उसका महान् प्रमाद—

पुनः हिन्दू होने के नाते हम भी प्रमाद कर बैठे। **"हिन्दू, और सत्तातन्त्र, दोनों में कौन प्रतिक्रियावादी है"** कह डालना भावुकतामूलक प्रमाद ही तो माना जायगा हमारा। क्या सत्तातन्त्र हिन्दुत्त्व की सीमा से पृथक् है ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! सत्तातन्त्र के जिन महारथियों ने 'बुद्धजयन्ती' की कल्पना की थी, उनमें प्रधानता तो हिन्दूसदस्यों की ही थी। होनी ही चाहिए थी। क्योंकि जो हिन्दू अपनी सहज उदारता विश्वबन्धुत्त्व-सर्वभूतहितरति आदि मानवीय महान् गुणों के आकर्षण से बुद्ध को 'अवतार' मानता हुआ चौबीस अवतारों में इन्हें प्रतिष्ठित कर सकता है, वही तो बुद्धजयन्ती का भी संकल्प कर सकता है। जिसने बुद्ध को 'अवतार' जैसे सर्वोच्च सम्मान से सुविभूषित कर देने में क्षणमात्र भी विलम्ब न किया हो, उस हिन्दू को भावुकतावश एक हिन्दू के द्वारा ही प्रतिक्रियावादी जैसी जघन्या उपाधि से समन्वित कर देना क्या मानवता है ?। हिन्दूसंस्कृति ही वह उदारसंस्कृति है, रामकृष्ण की भूमि ही वह उदारभूमि है, जिसके क्रोड़ में सभी विचारकों नें सम्मानपूर्वक आश्रय प्राप्त किया है। अतएव वह आज यदि बुद्धजयन्ती मनाता है, तो यह भी उसकी वही उदारमनोवृत्ति ही मानी जायगी। एवं प्रत्येक हिन्दू सत्तातन्त्र की इस मनोवृत्ति का हृदय से अभिनन्दन ही करेगा। करना ही चाहिए।

२३१-प्रान्तीय सत्तारूढ मान्य महानुभाव की जिज्ञासा, एवं तत् समाधानचेष्टा—

कुछ ही समय पूर्व राजस्थानसत्ता के मन्त्रित्त्वपद को समलङ्कृत करने वाले एक सम्मान्य आत्मवादी मित्र का मन्दस्मित-मुद्रा से 'बुद्धजयन्ती' का यशोगान करते हुए हमसे यह प्रश्न कर डालने का निःसीम अनुग्रह हो पड़ा था कि-**"बुद्ध को तो आपने भी अवतार माना है। ऐसी स्थिति में इनकी जयन्ती मनाना आप भी ठीक ही समझ रहे होंगे ?"**। इन आस्तिक हिन्दू मन्त्री महाभाग के इस काकूभावपूर्ण व्यञ्जनात्मक प्रश्न का उत्तर देना हमारे लिए कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव ही तो था। इनकी संविधाननिष्ठा तो इसी उत्तर के लिए हमें प्रेरित कर रही थी कि,-**"श्रीमन् ! आप तो उस धर्म्मनिरपेक्ष-संविधान के संरक्षक हैं, जिसमें सभी धर्म्मों के प्रति निरपेक्ष बने रहना हीं संविधानमर्य्यादा का संरक्षण माना गया है। और इसीलिए तो आप ब्राह्मणसंस्कृति-वेदसंस्कृति-हिन्दूसंस्कृति-सनातनसंस्कृति-रामकृष्णसंस्कृति-आदि से सम्बन्ध रखने वाली प्राच्यसंस्कृति के प्रति यथावसर-यथाप्रसङ्ग अपनी तटस्थता ही प्रमाणित करते आये हैं। फिर आज धर्म्मनिरपेक्षता-सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत क्षणिकवाद के प्रति, शून्य-स्वलक्षण-दुःखवादात्मक, अतएव अस्तप्राय बुद्धवाद के प्रति यह**

आकस्मिक आकर्षण क्यों-कैसे सहसा आविर्भूत होपड़ा ?", इस महान् प्रश्न का एकमात्र उत्तर हिन्दू की सहज उदारता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? । अतएव मान लेना पड़ेगा कि, हिन्दू कभी प्रतिक्रियावादी बन ही नहीं सकता, चाहे वह जनतन्त्रीय हिन्दू हो, अथवा सत्तातन्त्रीय हिन्दू । यही तो इसकी वह परम्परासिद्धा सहज-उदारनिष्ठा है, जिसने इसे-सदा से ही 'सनातन' प्रमाणित कर रक्खा है ।

२३२-मतवादनिरपेक्ष--विश्वसंस्कृतिनिष्ठ---आत्मनिष्ठ हिन्दू की, तत्संस्कृति की, तद्धर्म्म की उपेक्षा, एवं धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र का विडम्बनापूर्ण पथ--

एवंविधा सनातननिष्ठा का मूल क्या है ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान है प्रजापतिशास्त्रोपवर्णिता, अव्ययपुरुषात्मनिबन्धना, निरपेक्षा आत्मसंस्कृति, जिसे हमने पूर्व में निरपेक्षसंस्कृति कहा है, जिसे सापेक्षा चतुर्विधा हिन्दूसंस्कृति का, एवं तदनुगत प्रतीकधर्म्म का मूलाधार कहा गया है । वह संस्कृतिनिष्ठा ही हिन्दू के हिन्दुत्त्व की एकमात्र मूलव्याख्या है । इस निष्ठा को सुरक्षित रखता हुआ ही हिन्दू हिन्दू माना जायगा । ऐसा संस्कृतिनिष्ठ आत्मनिष्ठ हिन्दू ही-'आत्मवत्सर्वभूतेषु' घोषणा कर सकेगा । इस घोषणा के माध्यम से ही हिन्दू रामकृष्णादिवत् बुद्ध-महावीरादि की जयन्तियाँ मनाना भी अपना लोकसंग्राहक कर्म्म मानता रहेगा, मानता रहा है । यदि हिन्दू की इस मूलसंस्कृतिनिष्ठा पर ही सत्तातन्त्र आक्रमण कर बैठने की भयानक भूल कर बैठेगा, तो हिन्दू अपने हिन्दुत्त्व से पराङ्मुख बनकर एक सम्प्रदायवादी मतवादाभिनिविष्ट वैसा केवल प्रतिक्रियावादी ही बना रह जायगा, जिस प्रतिक्रियावादिता के कारण ही स्वयं इसी के प्राङ्गण में अनेक वैसे मतवाद-सन्तवाद-भक्तिवादादि प्रादुर्भूत हो पड़े हैं, जिनसे हिन्दुत्त्व का उत्तरोत्तर ह्रास ही हो रहा है । वही भूल यदि सत्तातन्त्र ने भी कर डाली, तो वह भी अपनी उदारता से हाथ धो बैठेगा, और उस अवस्था में कदापि वह किसी की भी जयन्ती न मना सकेगा, जिस उत्साह से आज वह भावुकतासंरक्षण के लिए बुद्धादि की जयन्तियाँ मना रहा है । क्या किसी बुद्धमतानुयायी ने रामकृष्णादि की जयन्ती मनाई है ? । क्या किसी अन्य मतानुयायी नें हिन्दू की आस्था-श्रद्धा-निष्ठाओं से सम्बन्ध रखने वाले अवतारों की जयन्तियाँ मनाई है ?। क्या सत्तातन्त्र यह चाहता है कि, हिन्दू भी आत्मसंस्कृति से पराङ्मुख बन कर इसी सीमित-मतवाद-श्रेणि में अपना नाम लिखाले ? । और अपने आपको एक मतवादी ही उद्घोषित करदे ? ।

२३३-नितान्त भावुकतापूर्ण-रामराज्यवाद, हिन्दूसभावाद, जनसंघवाद, आदि आ विविध वाद, एवं तद्द्वारा सत्तातन्त्र में प्रतिक्रिया का आविर्भाव—

वर्त्तमान आपद्धर्म्म को देखते हुए पक्ष तो यही समीचीन प्रतीत हो रहा है । इससे अधिक भयावह आपत्तिकाल हिन्दू की प्राच्य--सनातन प्राच्य-ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा-वैदिक-संस्कृति के लिए और क्या होगा कि, जहाँ भारतराष्ट्र में इतर मतवादात्मक सभी अवान्तर-धर्म्म धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र से परोक्ष-प्रत्यक्ष-रूप से सर्वथा स्वतन्त्रतारूप से पुष्पित-पल्लवित होते जारहे हैं, वहाँ एकमात्र उस प्राच्य हिन्दू मानव की प्राच्यसंस्कृति ही सत्तातन्त्र के द्वारा न केवल निरपेक्षिता-उपेक्षिता ही बन गई है, अपितु प्राच्यसंस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित, प्रकृतिसिद्ध सनातनविधि-विधानात्मक श्रौत-स्मार्त्त सनातनधर्म्म की मूलभूता आचारात्मिका पक्ष--

तियों पर ही बिना इनके मौलिक-रहस्यों को समझे-समझाए हो-(विविध नवीन विधानों का निर्म्माण कर तद्द्वारा) कुठाराघात ही किया जा रहा है । यों केवल सनातन हिन्दूधर्म्म पर आज स्वयं उसी के सत्तातन्त्र के द्वारा चतुर्द्दिक् से आक्रमण करते रहना हीं मानों उस आस्थाश्रद्धापरायण हिन्दू का महान् पुरस्कार बन रहा हैं, जिस हिन्दू के सर्वस्वदान से ही वर्त्तमान सत्तातन्त्र का निर्म्माण हुआ है, एवं जिसके अनुदान से ही सत्तातन्त्र जीवनधारण किए हुए है ।

कोटि-कोटि-आस्तिक हिन्दूमानवों की आस्था-श्रद्धा के विपरीत सत्तातन्त्र उसी के धर्म्म-सांस्कृतिक-आचारों पर क्यों आक्रमण कर रहा है !, जबकि इतर सीमित मतवादों को वही सत्तासन्त्र उत्साह प्रदान कर रहा है !, प्रश्न का समाधान स्पष्ट है । अन्यान्य मतवाद जहाँ तत्काल प्रतिक्रियावादी बन कर सत्तातन्त्र को विकम्पित कर सकते हैं, करते रहते हैं-करते ही रहेंगे-सम्पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त करते हुए भी । वहाँ आत्मनिष्ठ हिन्दूमानव कदापि ऐसी युगधर्म्मानुगता तात्कालिकी प्रतिक्रियाओं के प्रति कोई भी आस्था नहीं रखता । सांस्कृतिक-हिन्दू के नाममाध्यम से प्रतिक्रियावादी **रामराज्यवाद, जनसंघवाद, सनातनधर्म्मवाद,** आदि आदि मतवादात्मक वाद आज जो सत्तातन्त्र का विरोध कर रहे हैं, उन्हें कदापि सांस्कृतिक हिन्दू नहीं कहा जासकता । क्योंकि सांस्कृतिक हिन्दू कदापि किसी के भी प्रति प्रतिक्रियावादी बन ही नहीं सकता । ऐसे निम्न धरातलों का नामग्रहण भी यह अपनी आत्मसस्कृति के विरुद्ध ही मानता है । इतिहास साक्षी है कि, पुरायुगों में जब जब भी संस्कृतिविरोधी असुर राक्षस-आततायीवर्ग-आदि आदि से निर्म्ममरूप से हिन्दूसंस्कृति उत्पीड़ित हुई, तब तब ही इसने सम्पूर्ण उत्पीड़नों को सहते हुए केवल अपने अन्तर्य्यामी से ही निष्ठाबल की कामना व्यक्त की । कदापि यह प्रतिक्रियानुगामिनी न बनी किसी भी सत्तातन्त्र के प्रति । फिर आज के उस सत्तातन्त्र के प्रति तो यह प्रतिक्रियावादी बन ही कैसे सकता है, जब कि यह अपने सांस्कृतिक-विवेक के आधार पर यह जान रहा है, अनुभव कर रहा है अपने अन्तर्जगत् में यही कि, **हिन्दूसंस्कृति की इस दुरवस्था का सत्तातन्त्र कदापि साक्षात्-रूप से अपने रूप से निमित्त नहीं है ।**

२३४-चाणाक्षचतुर ब्रिटिशसत्तातन्त्र की कुटिल नीति, और राष्ट्र का सांस्कृतिक पराभव-

यह तो उस चाणाक्षचतुर-कुटिल राजनीतिविशारद प्रतीच्य ब्रिटिशसत्ता की ही देन का सुपरिणाम ? है, जिसने शिक्षायन्त्र के माध्यम से भारतीय हिन्दूमानव को स्वसंस्कृति के मर्म्म से पृथक् ही कर दिया है। दुर्भाग्य से सत्तातन्त्र के प्रमुख पदों पर अधिक संख्या में वे प्रतीच्यशिक्षाविशारद ही आज सुप्रतिष्ठित हैं, जिन्हें भारतीय प्राच्य-संस्कृति के मौलिक स्वरूप के दर्शन करने का भी अवसर ही नहीं मिला है । अपितु ठीक इसके विपरीत हिन्दूसंस्कृति का प्रतिनिधित्त्व करने वाले जो भी वर्ग इस सत्तातन्त्र के सम्मुख समय समय पर समुपस्थित होते रहते हैं, वे स्वयं भी इसके मूलस्वरूप से वञ्चित रहते हुए अपने सम्प्रदायवादात्मक-प्रतिक्रियात्मक-स्वार्थसंसाधक-मतवादों का ही बाना पहिने हुए हैं । जो न तो संस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप की व्याख्या उपस्थित करने की ही क्षमता रखते, न आचारपद्धति का ही सामयिक समन्वय उन प्रतिनिधियों के द्वारा सम्भव । ऐसी स्थिति में परिणाम ठीक उलटा ही होरहा है । सत्तातन्त्र सहयोग के स्थान में अधिकाधिकरूप में प्रतिक्रियावादी ही बनता जारहा है इस संस्कृति-धर्म्म के प्रति ।

३३५–परभावुकतानुगत, अतएव स्वसंस्कृति–स्वधर्म्म निष्ठावञ्चित भारतीय जनतन्त्र का आत्यन्तिक पराभव—

सत्तातन्त्र पर्य्यन्त अनुधावन क्यों किया जाय, जबकि स्वयं जनतन्त्र ही आज हिन्दूसंस्कृति–तद्धर्म्म के तथाकथित साम्प्रदायिक–मतवादात्मक–नग्न स्वरूप के प्रति सर्वथा प्रतिक्रियावादी ही बन चुका है। नवीन शिक्षा की बात भी जाने दीजिए। परिचित हैं हम उन प्राच्य (संस्कृत) शिक्षा–दीक्षित विद्वानों से भी। जो स्वयं भी आज इस संस्कृति–धर्म्म के प्रति इसलिए शनैः शनैः निरपेक्ष ही बनते जारहे हैं कि, जिन्हें इसके द्वारा कुछ भी अभ्युदय–निःश्रेयस् उपलब्ध नहीं हो रहा। बात है भी कुछ ऐसी ही। व्याकरण–न्याय–साहित्यादि–को ही संस्कृति–धर्म्म की इयत्ता मान बैठने वालों की परिणाम में यही तो दशा, किंवा दुर्दशा होनी ही चाहिए थी, जोकि हो रही है, और भलीभाँति हो रही है। ऐसे विद्वान् हीं जब हमारी संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहे हों, तो आज वह शिक्षितवर्ग कैसे उनके अनर्गल मत्त प्रलापों–के द्वारा संस्कृति, धर्म्म के प्रति आस्थित–श्रद्धालु बना रह सकता था ?। ज्ञानविज्ञानात्मक तत्त्वचिन्तन से एकान्ततः असंस्पृष्ट, केवल मनोविनोदात्मक नामसंकीर्त्तनादि का नाम ही तो संस्कृति, किंवा धर्म्म नहीं है। ऐसे स्वरूपों से जनतन्त्र को कबतक आस्थित रक्खा जा सकता था। यों प्रायः सभी तो एक प्रकार से आज संस्कृति–धर्म्म के प्रति उदासीनवदासीन ही बनते जारहे हैं। ऐसी स्थिति में सत्तातन्त्र के प्रति तत्सम्बन्ध में आक्रोश व्यक्त करना कोई भी तो अर्थ नहीं रखता।

३३६–प्रमादपूर्णा भावुकता की सर्वव्याप्ति, एवं तन्निराकरणार्थ अपेक्षिता पारस्परिक–समन्वयानिवार्य्यता

कहते हैं–जिस ग्राम के कूप में विजया (भाँग) डाल दी जाती है, वह ग्राम का ग्राम ही उन्मत्त–प्रमत्त हो जाता है, जिसके आधार पर राजपत्तन में यह सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है कि–'कुए भाँग पड़ गई'। ऐसा ही कुछ घटित–विघटित हो रहा है आज भारतीय संस्कृति, एवं धर्म्म के मौलिक–स्वरूप के सम्बन्ध में। अनेक शताब्दियों से प्रक्रान्त रहने वाले विजया–स्थानीय–साम्प्रदायिक व्यामोहन से सभी मानव उन्मत्त–प्रमत्त बने हुए हैं। इस प्रमाद के कारण हीं हिन्दूसंस्कृति–धर्म्म का बाह्य स्वरूप आज प्रमादी बन गया है। अतएव इसके भक्त भी इसके प्रति प्रतिक्रियावादी ही बनते जा रहे हैं। अतएव किसी को भी दोष देना अपने आपको ही दोषी प्रमाणित करना है। कदापि आवेशाविष्ट बन कर आपद्धर्म्म के व्याज से किसी को किसी के प्रति प्रतिक्रियावादी नहीं बनना है। अपितु सर्वप्रथम शान्त मस्तिष्क से इस संस्कृति के मूलस्वरूप के चिन्तन में हीं प्रवृत्त हो जाना है जनतन्त्र को भी, एवं तदभिभावक सत्तातन्त्र को भी। यह असंदिग्धरूप से सत्य है कि, संस्कृति के आंशिक स्वरूपबोध से भी हमारी भ्रान्तियाँ पलायित हो सकतीं हैं, निश्चयेन पलायित हो सकतीं हैं। स्वयं सांस्कृतिक–ज्ञानविज्ञानात्मक–चिरन्तन इतिहास में हीं वैसा बल है, जो अपने जनतन्त्र, एवं सत्तातन्त्र को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के मानवतन्त्र को अपने प्रति गौरव के साथ आकर्षित करने की क्षमता रख रहा है। एकमात्र इसी कामना से संस्कृति, और सभ्यता–शब्दों का यह चिरन्तन इतिहास आज के प्रज्ञाशील मानवों के प्रति उपस्थित हुआ है, जिसमें 'प्रतिक्रिया' जैसे असांस्कृतिक शब्द का प्रवेश भी निषिद्ध है।

२३७–'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' मूलक सांस्कृतिक सन्देश के आधार पर संस्कृति-अनुग्रह प्राप्ति के लिए सर्वनिरपेक्षतात्मिका सर्वसापेक्षता की अनिवार्य्यता—

'अभयं वै ब्रह्म, मा भैषीः' ही यहाँ की संस्कृति का मूलाधार है। किसी से मत डरिए, किसी को मत डराइए। अपितु सहयोगपूर्वक तत्त्वचिन्तन के आधार पर युगधर्म्म का समादर करते हुए मूलनिष्ठाओं के आधार पर नवीन युगों का निर्म्माण करते जाइए। यही संस्कृति का राजपथ है, जिसकी ज्ञानविज्ञानात्मिका व्याख्या ही संस्कृति का चिरन्तन इतिहास है। यदि सत्तातन्त्र धर्म्मनिरपेक्ष है, तो इसकी इस निरपेक्षता का भी स्वागत ही कीजिए। यदि जनतन्त्र भी आज धर्म्म के प्रति उदासीन है, तो उसे उदासीन ही बना रहने दीजिए। आपतो केवल निरपेक्षरूप से संस्कृति के मूलस्वरूपाध्ययन में प्रवृत्त हो जाइए। तदनुपात से निरपेक्षरूप से वह सांस्कृतिक बीज भारतीय मानव के उर्वर-प्रज्ञाक्षेत्र में डाल मात्र दीजिए। और तटस्थ बनकर उसके परिणामों की प्रतीक्षा कीजिए। सब कुछ श्वः श्वः (उत्तर-उत्तर) श्रेयान्–वसीयान् ही होता जायगा। इसी तत्त्वचिन्तननिष्ठा से तो आपकी संस्कृति का सनातनत्त्व अक्षुण्ण रहा है। और निश्चयेन भविष्य में भी अक्षुण्ण ही रहेगा हो। जो मतवाद व्यग्र हैं सत्तासापेक्षता के लिए, उन्हें व्यग्र बने रहने दीजिए। क्योंकि व्यग्रता के माध्यम से युगधर्म्मानुगत तात्कालिक लाभ उठा लेना हीं इनके स्वरूप की इयत्ता है। आपको तो सत्तानिरपेक्ष रह कर, साथ ही जो जनतन्त्र आत्मविस्मृत बन चुका है, तत्प्रति भी निरपेक्ष ही रह कर स्वयं अव्ययेश्वर की सापेक्षता के आधार पर ही स्वसंस्कृति के चिन्तन में अनन्य निष्ठा से प्रवृत्त रहना है। यही एकमात्र वह निदान है आजके आपद्धर्म्मात्मक-युग में भारतीय-संस्कृति, एवं तदभिन्न धर्म्म से अनुग्रह प्राप्त करते रहने का। **'अन्या वाचो विमुञ्चथ !'**।

२३८–दृष्टिकोणभेद से लोकसंस्कृति की सत्तासापेक्षता–निरपेक्षता का समन्वय—

मानवधर्म्मशास्त्र ने 'सत्तातन्त्र' की जो स्वरूपव्याख्या की है, उसके प्रति लोकसंस्कृति–चतुष्टयी, एवं प्रतीकधर्म्म–चतुष्टयी को सापेक्ष ही बना रहना चाहिए। सामान्यरूपेण चारों हीं वर्णों को, विशेषरूपेण क्षत्रिय-वैश्य–शूद्र वर्णों को। इस सापेक्षता की स्वरूपव्याख्या यही होगी कि, वेदतत्त्वार्थवित् संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण शास्त्र के चिन्तन–द्वारा जो विधि–विधान व्यवस्थित कर देगा, धर्म्मदण्डप्रवर्त्तक सत्तातन्त्र साम–दाम–दण्ड–भयादि नीतिपथों के माध्यम से उन व्यवस्थित कर्त्तव्यकर्म्मों का प्रजापवर्ग के द्वारा नियमपूर्वक सञ्चालन कराता रहेगा।

सही सत्तातन्त्र की सापेक्षता मानी जायगी। जहाँतक नीतिनिर्द्धारण का सम्बन्ध है, कर्त्तव्यव्यवस्था का प्रश्न है, तत्प्रति तो सत्तातन्त्र को निरपेक्ष ही माना जायगा। कदापि योग–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–लक्षणा संस्कृतियाँ, तदाचारपद्धतिरूप–प्रतीकधर्म्मों के स्वरूपव्यवस्थापन से सत्तातन्त्र का कोई सम्बन्ध न माना जायगा। स्वरूपानुगत आचरणलक्षण कर्म्म के प्रति जागरूकतापूर्वक प्रहरी बने रहना हीं सत्ता की सापेक्षता का अर्थ होगा। एवं इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकेगा कि–सांस्कृतिक–स्वरूपव्यवस्थापनदृष्ट्या जहाँ सत्तातन्त्र इस संस्कृतिचतुष्टयी, एवं प्रतीकधर्म्मचतुष्टयी के प्रति निरपेक्ष रहेगा, वहाँ इनके प्रजा–द्वारा पालन–अनुगमन में प्रहरीमात्र बने रहने की दृष्टि से इन्हें 'सत्तासापेक्ष' कहा जायगा। अतएव इस प्रश्नमीमांसा का उत्थान करते हुए पूर्व में हमें यह स्पष्ट कर देना पड़ा है कि–**"हाँ, और ना दोनों ही उत्तर सम्भव होंगे दृष्टिकोणभेद से, जिनका समन्वय कर लेना भी प्रासङ्गिक ही मान लिया जायगा"** (देखिए पृष्ठ सं॰ ८९)।

उसी प्रासङ्गिक समन्वय के लिए–**'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्–एकमेव'** इत्यादि श्रौतसन्दर्भ उपस्थित करना पड़ा। एवं तदक्षरार्थमात्र–समन्वय के प्रसङ्ग से ही अवान्तर उन अनेक प्रसङ्गों का विहङ्गमदृष्ट्या दिग्दर्शन करा देना पड़ा, जिनके बिना वस्तुस्थिति का, सर्वोपरि सत्तातन्त्रानुबन्धी–सापेक्ष, निरपेक्ष–भावों का समन्वय सम्भव ही न था।

२३९–ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–नियन्त्रक प्रकृतिधर्म्म की परमता, एवं तत्प्रवर्त्तकत्त्वेन सत्तातन्त्र की तत्प्रति अनिवार्य्या सापेक्षता—

एकाकी ब्रह्म नें विभूति–कामना से क्रमशः क्षत्र–विट्–पौष्ण–भाव उत्पन्न कर अपने आपको चातुर्वर्ण्यरूप में परिणत कर लिया। इन चारों को सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए मर्त्यान्त में प्रजापति ने 'धर्म्म' उत्पन्न किया, जो कि प्रतीकात्मक धर्म्म प्राकृतिक नियम–विधि–विधानात्मक ही था, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्व में यत्र तत्र कराया जाचुका है। धर्म्माधारभूत शास्त्र ही संस्कृति का प्रतीकात्मक स्वरूप है। शास्त्रीया संस्कृतिचतुष्टयी, एवं तदाचाररूप धर्म्म, दोनों अभिन्न हैं। ये अपने स्वरूप से जहाँ आत्मसंस्कृति (अव्ययसंस्कृति–एवं अव्ययधर्म्म) वत् सत्तानिरपेक्ष, किन्तु ब्राह्मणसापेक्ष हैं, वहाँ व्यवस्था–नियन्त्रणदृष्ट्या उस सत्ता के प्रति यह सापेक्ष भी है, जिस सत्तातन्त्र का आविर्भाव ही एकमात्र धर्म्मचक्रप्रवर्त्तन के लिए ही हुआ करता है। धर्म्मसापेक्ष सत्तातन्त्र के प्रति ही धर्म्म को सापेक्षता है, जैसाकि–**'धर्म्मो रक्षति रक्षितः'** इत्यादि वचन से स्पष्ट है। तदित्थं–स्वरूपतः लोकसंस्कृति–धर्म्मचतुष्टयी भी तद्विज्ञ ब्राह्मण के लिए तो सापेक्ष, किन्तु सत्ता के लिए निरपेक्ष ही है। एवं व्यवहारसंरक्षणदृष्ट्या इसे सत्तासापेक्ष भी कहा जासकता है। एवं सापेक्षता के कारण–**'तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति'** रूपेण सत्तातन्त्र को सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया है श्रुति ने, इति नु सर्वं सुस्थम्, समन्वितञ्च।

२४०–वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र, और तत्प्रति भावुकतापूर्ण, किन्तु निष्ठागर्भित अवधेय समाधान—

अब प्रश्न रह जाता है वर्त्तमान भारतीय सत्तातन्त्र का, जो कि अनुकरणधिया आज अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष मान बैठा है, सो भी केवल हिन्दूधर्म्म के लिए ही, जैसाकि उनकी इतरमतसापेक्षता से स्पष्ट

है। ऐसी स्थिति में भारतीय लोकसंस्कृति, एवं प्रतीकात्मक लोकधर्म्म को आचारसंरक्षणदृष्ट्या भी सत्तासापेक्ष माना जाय, अथवा नहीं ?। इस प्रश्न के सम्बन्ध में यद्यपि भावुकता की दृष्टि से तो यही उत्तर समीचीन प्रतीत हो रहा है कि,—

जो सत्तातन्त्र भारतीय संस्कृति-धर्म्म के प्रति न केवल निरपेक्ष ही बना हुआ है। अपितु परप्रत्ययनेयतामूला भावुकता के आकर्षण से जो इसे उत्तरोत्तर अभिभूत करने के लिए ही आवेशपूर्वक सन्नद्ध हो रहा है, उसे तो सर्वात्मना निरपेक्ष ही मान लेना चाहिए। कदापि ऐसे सत्तातन्त्र से भारतीय-संस्कृति-धर्म्म का किसी भी दृष्टि से स्वरूपसंरक्षण सम्भव ही नहीं है। अतएव जैसे धर्म्मविरोधी पूर्व के सत्तायुगों में भारतीय ब्राह्मणप्रज्ञाओंनें सत्ताद्वारा घटित-विघटित होते रहने वाले सम्पूर्ण उत्पीड़नों को अपनी संस्कृति-धर्म्मनिष्ठा का पुरस्कार ही मानते हुए सब ओर से निरपेक्ष बनकर एकमात्र ईश्वरीय आस्था के बल पर गुहानिहित-वृत्या एकान्तनिष्ठापूर्वक लोकसंस्कृति-एवं लोकधर्म्म-परम्पराओं का संरक्षणमात्र कर लिया था, एवमेव आज के युग में भी उसी प्रकार सर्वथा सत्तानिरपेक्ष बन कर ही ब्राह्मण भारतीय संस्कृति के संरक्षण में सफलता प्राप्त कर सकता है। यदि प्रचारव्यामोहन में पड़कर इसने आज के सत्तातन्त्र का आश्रय ग्रहण करने की भ्रान्ति भी कर डाली, तो सत्तासापेक्षा संस्कृति अपने सांस्कृतिक स्वरूप से अभिभूत होकर केवल सत्तानुरञ्जन का ही साधन बन जायगी। एवमेव अपनी धर्म्मश्रद्धा के उद्‌घोष से नभोमण्डल को भी विकम्पित करते रहने में कुशल अर्थकामासक्त वणिक्तन्त्र को भी अविलम्ब निरपेक्ष ही बना लेना चाहिए बहिर्भावुक भूसुर को इसलिए कि, इस वणिक्सापेक्षता में तो संस्कृति के और भी अधिक पराभूत होने की आशङ्का है। अतएव कहा, और माना सकता है कि, सर्वतन्त्र-निरपेक्षा बन कर ही लोकसंस्कृति, एवं लोकधर्म्म एकमात्र ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा से ही आज के भयावह युग में अपना स्वरूप येनकेनरूपेण सुरक्षित रख सकता है"।

२४१-वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति अपेक्षित परोक्ष आत्मीयभाव—

क्या उक्त उत्तर भावुकतापूर्ण माना जायगा। हाँ। इसलिए कि, न तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र ही कोई 'आसुरसत्तातन्त्र' हैं, एवं न वर्त्तमान वणिकतन्त्र ही सर्वात्मना श्रद्धाशून्य है। दोनों हीं वर्ग उसी सनातन-संस्कृति के परोक्षरस से ही अभिव्यक्त हुए हैं। अतएव कदापि केवल 'धर्म्मनिरपेक्ष' उपाधिमात्र से न तो सत्तातन्त्र को हीं पराया माना जासकता, नापि वाणिग्बन्धुओं को ही श्रद्धाशून्य कहा जासकता। अवश्य ही निष्ठा की दृष्टि से वर्त्तमान सत्तातन्त्र के प्रति, एवं तत्सखा वणिक्तन्त्र के प्रति भी संस्कृतिनिष्ठों को एकविशेष प्रकार से अपनी भक्ति-समर्पित कर ही देनी चाहिए, जो विशेषप्रकार पूर्व में 'परोक्ष' नाम से व्यवहृत हुआ है (देखिए पृ० सं० ११७+ परिच्छेद २२३)।

२४२-सापेक्षतानुबन्धी परोक्षभाव की स्वरूपव्याख्या—

दो शब्दों में इस 'परोक्षता' का भी समन्वय कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा। 'भावुकता-संरक्षणपूर्वक निष्ठादृष्टि का प्रसार ही वह परोक्षता' है, जिसका मर्म्म वैखरी वाणी के द्वा। कदापि

व्यक्त नहीं किया जासकता । **'मनसा पृच्छतेद्'** रूपेण अन्तर्जगत् में हीं संस्कृतिनिष्ठों को इस 'परोक्षता' का समन्वय कर लेना चाहिए, जिसका लौकिक समन्वय नारीवृद्ध–एवं बालवृद्ध की भावुकता संरक्षण के प्रसङ्ग में पूर्व में किया जाचुका है (देखिए पृ०सं० ११७-११६) । सत्तातन्त्र, किंवा वणिक्तन्त्र तभी वित्तैषणात्मिका लोकैषणा के व्यामोहन की ओर आकर्षित होकर संस्कृति को अभिभूत करने में प्रवृत्त हुआ करता है, जबकि संस्कृतिसन्देशवाहक द्विजाति प्रत्यक्षरूप से दोनों में से किसी तन्त्र के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण कर देता है ।

'प्रत्यक्षरूप' का अर्थ है–सत्ता के बाह्य ऐश्वर्य्य से, भूतैश्वर्य्य से प्रभावित होकर अपनी निष्ठा से विगलित हो जाना । इस प्रत्यक्षप्रभाव में आकर संस्कृति के वास्तविक सत्यस्वरूप को परोक्ष बनाकर सत्ता की मनोनिबन्धना मान्यताओं के अनुरूप संस्कृति की व्याख्या करने लग पड़ना सत्तानुग्रहकामनाकर्षण से, जिस अनुग्रहकामना के गर्भ में प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से संस्कृतिनिष्ठ की भी मनोनिबन्धना वित्त–लोकैषणा ही अज्ञातरूप से प्रतिष्ठित हो जाती है । यही स्थिति वणिक्तन्त्र के सहयोग से समन्वित है सत्तापेक्षयाऽपि विशेषरूपेण । इसलिए विशेषरूपेण कि–सत्तातन्त्र का बाह्य प्रभाव एक विशेष व्यक्तित्व को आधार बनाए रहता है । अतएव इच्छा रहते भी वह वित्त–लोककामना स्पष्टरूपेण व्यक्त नहीं कर पाता तदिच्छुक भावुक संस्कृतिभक्त । उधर वणिक्तन्त्र की सुप्रसिद्धा बाह्य ऋजुता तत्काल ही इसके सन्निकट ला खड़ा कर देती है इसके प्रति प्रत्यक्षरूपेण सापेक्ष बन जाने वाले संस्कृतिभक्त को । और यहाँ सत्तातन्त्रापेक्षया अधिक भय उत्पन्न होजाता है अर्थकामासक्ति में आबद्ध हो जाने का । अतएव अत्यन्त अवधानपूर्वक–कटुतापूर्वक वणिक्तन्त्र के प्रति, एवं सामान्य अवधानपूर्वक (नम्रतापूर्वक) सत्तातन्त्र के प्रति परोक्षरूपेणैव संस्कृति को सापेक्ष बनाने में प्रवृत्त होना चाहिए । इस परोक्षता का मूलाधार है निम्नलिखित आर्षवचन—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्–न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् ॥

२४३-सत्तासापेक्षता–निरपेक्षता के प्रासङ्गिक इतिवृत्त का उपराम—

परोक्षता का इससे अधिक प्राकृतिक–समन्वय और क्या होगा । आर्षप्रज्ञा हमें आदेश दे रही है कि, वेदादि–शास्त्रमर्य्यादासम्मता जिज्ञासात्मिका प्रश्नमर्य्यादा से जबतक कोई जिज्ञासु प्रश्न न करे, तबतक स्वयं अपनी ओर से कदापि किसी भी तत्त्वचर्चा का प्रसङ्ग उपस्थित ही नहीं करना चाहिए । यदि कोई विवेकशून्य अपने स्वार्थविशेष के परिपोषण के लिए छलपूर्वक प्रश्न करे, तो तत्रापि तटस्थ ही बन जाना चाहिए । ऐसे अवसरों में जड़तापूर्वक लोकानुरञ्जन करते रहने में ही संस्कृति का स्वरूप--संरक्षण सम्भव है । तात्पर्य्य–आस्था–श्रद्धा–पूर्वक–न्यायबुद्धया–यदि सत्तातन्त्र, किंवा वणिक्तन्त्र जिज्ञासा व्यक्त करे, तो तत्सम्मुख तत्प्रज्ञायोग्यतानुबन्ध से तद्विषय का स्पष्टीकरणमात्र कर पुनः तत्स्थलों से अविलम्ब तटस्थ ही बन जाना चाहिए । यही परोक्षता की रूपरेखा है । इस परोक्षभावात्मिका–सापेक्षता से अवश्य ही सत्तातन्त्र का क्रमशः उद्बोधन सम्भव बन जाता है । एवं वणिक्तन्त्रादि भी इसी पद्धति से अभ्युदय–निःश्रेयस् पथ के अनुगामी बन जाते हैं । स्वयं अपनी ओर से सत्तादितन्त्रों के प्रति सापेक्ष बन जाने के लिए आतुर हो पड़ना कदापि

संस्कृति के स्वरूपसंरक्षण का निमित्त नहीं बन सकता। यही वह नैष्ठिक राजपथ है, जिसका आपद्धर्म्मदृष्ट्या आज संस्कृतिनिष्ठों को बड़े अवधानपूर्वक लोकसंस्कृति–लोकधर्म्मों के रक्षणात्मक–प्रचारात्मक दूसरे दृष्टिकोण की सफलता के लिए तटस्थरूप से सत्तातन्त्र को भी सापेक्ष बना लेना है। और वणिक्तन्त्र में भी यदि अपवादरूपेण जागरूक श्रद्धा उपलब्ध हो सके, तो उसे भी सापेक्ष बना लेना है। किन्तु कदापि किसी भी तन्त्र को वित्तैषणात्मिका लोकैषणा के लिए तो 'संस्कृति' के नाम माध्यम से सापेक्ष बनाने की भूल नहीं ही करनी है। इससे संस्कृति का तो अभिभव है ही। साथ ही अपेक्षा रखने वाले संस्कृतिभक्त का भी स्वरूप-विनाश निश्चित बन जाता है इस एषणा के निग्रह से। और यही उस सापेक्षता–निरपेक्षता की प्रासङ्गिक चर्चा का सम्पूर्ण इतिवृत्त है, जिसका हाँ, और ना के रूप में पूर्व में उपक्रम हुआ था। अलमतिपल्लवितेन–प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन।

२४४–प्रासङ्गिकेतिवृत्त का निष्कर्षार्थ—

भूतात्मा–बुद्धि–मनः–शरीरनिबन्धना–स्वायम्भुवी–सौरी–चान्द्री–पार्थिवी–मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थात्मिका–योग–ज्ञान–भक्ति–कर्म्म–समन्विता–प्रकृतिसंस्कृति, एवं तदाचारात्मक प्रतीकात्मक–प्राकृतिक धर्म्म, दोनों का स्वरूपव्यवस्थापक शास्त्रनिष्ठ द्विजाति ही है। अतएव इत्थंभूता लोकसंस्कृतिचतुष्टयी को, एवं तद्भिन्ना धर्म्मचतुष्टयी को स्वरूपव्यवस्थापकापेक्षया माना तो जायगा ब्राह्मणतन्त्रसापेक्ष ही। और इस दृष्टि से मूलसंस्कृतिधर्म्म (अव्ययात्मसंस्कृति-अव्ययधर्म्मरूप अप्राकृता संस्कृति एवंअप्राकृत धर्म्म) वत् इसे भी तत्त्वतः कहा तो जायगा सत्तानिरपेक्ष ही। तथापि केवल व्यावहारिक–लोकसंरक्षणोत्तरदायित्वमात्र की अपेक्षा से इसे सत्तातन्त्रसापेक्ष भी माना जासकेगा, यही अबतक के प्रासङ्गिकेतिवृत्त का निष्कर्षार्थ है।

२४५–रहस्यपूर्ण, अतएव दुरधिगम्य पुरुष–प्रकृति–विवर्त्त, एवं तन्मूलक निरपेक्ष–सापेक्ष–सांस्कृतिक विवर्त्त—

बड़ा ही रहस्यपूर्ण, अतएव अत्यन्त ही दुरधिगम्य है संस्कृति–सभ्यता–शब्दों का चिरन्तन इतिहास, जिसके **'पुरुष–प्रकृति'** तन्त्रभेद से अबतक दो विवर्तों का ही दिग्दर्शन कराया गया है। लोकातीत अव्यय-पुरुष ही पुरुष है, लोकात्मिका पञ्चावयवा विश्वात्मिका कृति ही प्रकृति है। **'प्रकृतिं–पुरुषं चैव–विद्ध्यनादी उभावपि'** सिद्धान्तानुसार अमृतरसात्मक पुरुष, तदभिन्ना बलात्मिका प्रकृति, दोनों हीं आत्मशाश्वततापेक्षया (रसापेक्षया) सनातन है। अतएव सनातन–शाश्वत-संस्कृति–धर्म्ममूर्ति अव्ययपुरुष से अभिन्ना लोकसंस्कृति–लोकधर्म्मात्मिका प्रकृतिसंस्कृति, एवं प्रतीकधर्म्म भी सनातन ही है। दोनों सनातन भावों के माध्यम से ही सांस्कृतिक धर्म्म के–दोनों विवर्त्त व्यवस्थित हो रहे हैं। परिलेखों के द्वारा पूर्व में निर्दिष्ट (पृ० सं० ८८) इन दोनों विवर्तों को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ बनाकर ही अब आगे के विवर्तों को लक्ष्य बनाना है।

२४६–ब्राह्मण के द्वारा नियन्त्रिता सत्ता का ही संस्कृति के प्रति सापेक्षत्त्व समन्वय—

ठहरिये। अभी एक समस्या वह और शेष रह गई है, जिसके प्रासङ्गिक समन्वय के बिना शास्त्रीया लोकसंस्कृति, एवं शास्त्रीय लोकधर्म्म का सापेक्ष–निरपेक्षानुबन्धी इतिवृत अपूर्ण ही बना रह जाता है। 'हाँ'–'ना' का समन्वय करते हुए यह निवेदन किया गया है कि, जहाँ तक संस्कृति–धर्म्म की स्वरूपव्याख्या–

स्वरूपनिर्णय–का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो सत्तातन्त्र निरपेक्ष ही माना गया है संस्कृति, एवं धर्म्म के प्रति। सत्तातन्त्र सापेक्ष केवल उस सीमा में ही है, जिस सीमा का सामान्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इस चातुर्वर्ण्य-प्रजा के संस्कृत्यनुगत आचरणधर्म्मों के साथ सम्बन्ध माना गया है। वेदवित्–शास्त्रमर्म्मज्ञ–अनूचान्–ब्राह्मण के द्वारा निर्णीत–व्यवस्थित धर्म्म–कर्म्म ही चातुर्वर्ण्यप्रजा का एकमात्र अनुष्ठेय कर्म्म माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित उपनिषद्वचन से प्रमाणित है—

"ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः-युक्ता अयुक्ताः, अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः"। (तै० उप०)।

यों तत्त्वतः ब्राह्मणसापेक्ष बना हुआ शास्त्रीय प्रतीक धर्म्म केवल बाह्य–नियन्त्रण–सीमादृष्टि से ही सत्तासापेक्ष माना जा सकता है, माना गया है। इसलिए माना जाना चाहिए कि, अपनी गुहानिहिता एकान्त-चिन्तनलक्षणा स्वाध्यायनिष्ठा में अन्तर्म्मुख बना हुआ ब्राह्मण लोकतन्त्र का कदापि नियन्त्रण नहीं कर सकता। नियन्त्रणसूत्र है तो धर्म्म ही। किन्तु बिना बाह्य भौतिक नियन्त्रण के माध्यम के साक्षात् रूप से केवल ब्राह्मण को छोड़कर स्वेच्छा से कोई भी वर्ण इस पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। एकमात्र इसी कमी की पूर्ति के लिए सत्तातन्त्र को सापेक्ष मान लेना अनिवार्य्य बन जाता है। सत्तातन्त्र का यह नियन्त्रण–सामर्थ्य क्या सत्तातन्त्र का अपना कौशल है ?। नहीं। अपितु–**'क्षत्रे एव तद्यशो दधाति'** इत्यादि श्रुति के अनुसार सत्तातन्त्र में यह नियन्त्रण–कौशल भी परोक्षरूप से शास्त्रवित्–ब्राह्मण के अनुग्रह से ही विकसित हुआ है।

२४७–'स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः' का समन्वय—

अतएव अब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, अपने शासनतन्त्र के प्रत्येक अङ्ग के सञ्चालन के लिए सत्तातन्त्र को सदा तत्त्वज्ञ–प्रकृतिरहस्यवेत्ता–वर्णधर्म्म–तत्त्वसमन्वयकर्त्ता ब्राह्मण का ही अन्ततोगत्वा आश्रय ग्रहण करते रहना अनिवार्य्य बन जाता है। सर्वलोकाधिपत्य की विशेष योग्यता तो ब्राह्मण की प्रज्ञा में ही निहित है *। इसी आधार पर–**'एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः'** इत्यादि रूप से राजर्षि मनु की दृष्टि में धर्म्म–कर्म्म का मूलनिर्णायक वेदवित् ब्राह्मण हीं बना हुआ है, **'राजा कालस्य कारणम्'** कहने वाले महाभारत ने भी इसी आधार पर–**'स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः'** (म० अश्वपति-राक्षससंवाद) यह उद्घोष किया है। वास्तविक सत्ता तो प्रकृतिसिद्ध रहस्यों के आधार पर नीति व्यवस्थित करने वाले ब्राह्मण की ही मानी गई है। शासन करना सत्तातन्त्र का काम है, तो सत्ता का अनुशासन करना तत्त्वज्ञ ब्राह्मण का उत्तरदायित्व है। **नीति ब्राह्मण की, नीति का प्रसार–संरक्षण करना सत्तातन्त्र का कर्त्तव्य।** इसी आधार पर यह व्यवस्था व्यवस्थित हुई है सत्तातन्त्र के लिए कि—

---

* **सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।**
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥
—मनुः १२।१००

ब्राह्मणान् पर्य्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥१॥
वृद्धाँश्च नित्यं सेवेत विप्रान् वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥२॥

—मनुः ७।३७,३८।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत् परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसम्मतम् ॥३॥
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्य्याणि निक्षिपेत् ।
तेन सार्द्धं विनिश्चित्य ततः कर्म्म समारभेत् ॥४॥

—मनुः ७।५८,५९।

२४८–'ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति' का तात्त्विक समन्वय—

युक्तं चैतत् । जिस यशोलक्षण महान् सत्तातन्त्र के महान्–परम–उत्तरदायित्व का नियन्त्रणसूत्र शासक के हाथ में समर्पित किया जाता है, वह यदि सर्वात्मना स्वतन्त्र ही छोड़ दिया जायगा, तो निश्चयेन लोकैषणा-नुगामी बनता हुआ वह भी शान्ति–व्यवस्था के स्थान में अशान्ति–अव्यवस्था का ही सर्जक बन जायगा अतएव एक ओर जहाँ इसे यह सर्वोच्च सम्मान दिया जायगा, वहाँ दूसरी ओर इस सम्मान को ब्राह्मणप्रज्ञा से नियन्त्रित भी कर दिया जायगा । यदि दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र इस प्रज्ञातन्त्र की उपेक्षा कर अपने भूततन्त्र–प्रचार–प्रसार में स्वतन्त्र बन जाता है, तो प्रज्ञा–धर्म्म के नियन्त्रण से पराङ्मुख बन जाने वाला सत्तातन्त्र निश्चयेन राष्ट्रपतन के साथ साथ स्वयं भी पतित बन जाता है । इसी आधार पर परम धर्म्मसूत्र सञ्चालन का महान् उत्तरदायित्व देते हुए ऋषि ने सत्तातन्त्र को यह भी उद्बोधन प्रदान करना आवश्यक ही माना कि–"तस्मात्–यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम् । य उ एनं हिनस्ति, स्वां स योनिमृच्छति । स पापीयान् भवति–यथा श्रेयांसं हिंसित्त्वा" ।

२४९–'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्'–लक्षण सत्ताधर्म्म—

अतएव अब यही कहा जायगा कि, शास्त्रीया लोकसंस्कृति, शास्त्रीय–लोकधर्म्म का वास्तविक प्रति-निधि तो ब्राह्मण ही है । अतएव इसे ब्राह्मणसापेक्ष ही कहा जायगा, एवं यों सत्तातन्त्र तत्त्वतः इस प्रकृति-संस्कृति, प्रकृतिधर्म्म के प्रति भी निरपेक्ष ही कहा जायगा । तभी तो शासनतन्त्र के वारुणपाश-बन्धनों से ब्राह्मण को पृथक् ही माना है धर्म्माचार्य्यों नें । इसी अभिप्राय से **'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्म्माणि कारयेत्'** रूप से अर्थकामश्रमानुगत विट्-पोष्ण-वर्ग के साथ ही सत्ता के नियन्त्रण का प्रधान-सम्बन्ध व्यक्त किया है राजर्षि नें । प्रश्न रह जाता है–'ब्राह्मण' का । वह अनियन्त्रित बनकर भी उस सीमा पर्य्यन्त कदापि उद्दण्ड बन ही नहीं सकता, जो सीमा क्षोभ उत्पन्न कर दिया करती है । अनियन्त्रित–अमर्य्यादित–

ब्राह्मण स्वयं अवश्य क्षुब्ध-लक्ष्यहीन बन सकता है, बना हुआ है-आज। किन्तु जिसप्रकार आजका अनियन्त्रित धनशाली कामपरायण-विट्, एवं अर्थलिप्सु-श्रमानुगत चतुर्थ वर्ण विश्वक्षोभ का कारण प्रमाणित हो रहा है, वैसे क्षोभ की कल्पना भीं ब्राह्मण से नहीं की जासकती। इसकी इसी उदारता का तो आज इसे दण्ड मिल रहा है। सम्पूर्ण राष्ट्र में आज एकमात्र ब्राह्मण ही सम्पूर्ण उत्पीडनों, अपमानों, तिरस्कारों, लाञ्छनों का केन्द्र माना-मनवाया जा रहा है। ब्राह्मणविरोध ही आजके राष्ट्रजागरण का एकमात्र महान् कर्त्तव्य बना हुआ है, जिसका सीधा सा अर्थ है-प्रज्ञाविरोध।

२५०-ब्राह्मणप्रज्ञा का विरोध, और राष्ट्र का अधःपतन—

विरोध होना भी चाहिए ही। क्योंकि जिस आज के युग में प्रायः सभी वर्ग 'युगधर्म्म' में प्रवाहित होकर अपनी मूलसंस्कृति-मूलधर्म्म-निष्ठाओं से पराङ्मुख बनते हुए, अपने आपको सर्वतन्त्रस्वतन्त्र मानते हुए संस्कृति-धर्म्म-सदाचार-आदर्श-आदि को 'रूढ़ि' कहकर उपेक्षित करते जा रहे हैं, वहाँ एकमात्र ब्राह्मण ही यदा कदा इस दिशा में अपनी पीड़ा व्यक्त करता रहता है। इसी अभिव्यक्ति से इसे ही आज प्रतिक्रियावादी माना-मनवाया जा रहा है, जो कि इसका पुरस्कार ही माना जायगा। **'ब्राह्मण सावधान!'** रूप से आज इसे ही आजका बुद्धिवादी मानो चेतावनी दे रहा है, और इस काकूपूर्ण चेतावनी से मानो यह इसे यही कह रहा है कि, **"यदि इसने अब भी हमारा साथ न दिया, तो इसे सदा के लिए स्मृतिगर्भ में ही विलीन कर दिया जायगा"**। बुद्धिवादियों के साथ साथ इतर मतवाद भी ब्राह्मणधर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र की कृपाभिक्षा से उद्दण्ड बनते हुए आज विस्पष्ट रूप से ब्राह्मण को अपमानित करने में सर्वात्मना जागरूक बने हुए हैं *। और सत्ता की भावुकता से लाभ उठाने के लिए आतुर मृतप्राय वे मतवाद आज मानो इसके लिए प्रतिज्ञात ही बन गए हैं कि, मानो ये ब्राह्मण का मूलोच्छेद ही कर डालेंगे।

२५१-सर्वस्वप्रदाता-सर्वस्वसंरक्षक ब्राह्मण के प्रति राष्ट्र की कृतघ्नता—

विगत तीन हजार वर्षों से जितने भी तात्कालिक मतवाद भारत में आविर्भूत-तिरोभूत हुए, सभी को प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से ब्राह्मण की प्रज्ञा का ही अनुदान मिला। ब्राह्मणप्रज्ञा ने ही संस्कृतभाषा के माध्यम से तत्तत्-मतवादों के साहित्यिक-कलेवरों का निर्म्माण किया। और यों सभी मतवाद ब्राह्मणप्रज्ञा से कृतशरीरी बनकर ही अपना भौतिक स्वरूप व्यक्त करते रहने में सक्षम बनते रहे, बन रहे हैं आज भी। जाइए, और सन्निकट से देखने का अनुग्रह कीजिए मतवादों के ध्वंसावशेषों को। सर्वत्र किसी न किसी रूप में आज भी ब्राह्मणप्रज्ञा की ही प्रमुखता उपलब्ध होगी आपको। नाम मतवाद-सञ्चालक आचार्य्यों का, प्रज्ञात्मक कर्म्म सर्वत्र ब्राह्मणों का ही। यही तो भारत के ब्राह्मण का वह ब्रह्ममित्रात्मक 'मित्र' स्वरूप है, जिसके आधार पर

---

* भारतसरकार से संरक्षणप्राप्त 'साहित्य-अकादमी' के द्वारा प्रकाशित 'भगवान् बुद्ध' नामक पुस्तक पर दृष्टिपात का अनुग्रह कीजिए. स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा।

इसे श्रुति ने 'मित्र' कहा है *, एवं स्मृति ने ÷ 'मैत्र' कहा है, जिसका कि पूर्व की मैत्रावरुणग्रह-श्रुति के द्वारा दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

२५२–मैत्रब्राह्मण की सर्वभूतहितरति, एवं अनुगृहीतों की कदर्य्यता—

किसी को पीड़ा न पहुँचाना, किसी के लिए अनिष्ट की कल्पना न करना, सर्वोपरि सभी के कार्य्यों में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करते रहना हीं तो ब्राह्मण का ब्रह्मत्त्व है। यदि ब्रह्मानुग्रह से विश्व में कोई वञ्चित नहीं है, तो तत्प्रतीकभूत मित्रब्राह्मण के सहयोग से कोई कैसे वञ्चित रह सकता है ?। इसी सर्वभूतहितरतिधर्म्म से यह–'मैत्र' कहलाया है, जो महान् गुण ही लोकनिष्ठ–तन्त्रायी महानुभावों की दृष्टि में ब्राह्मण का महान् दोष ही बना हुआ है।, जिसके लिए आज सभी वर्ग इसे चारों ओर से व्यष्ट्या–समष्ट्या (एकाकीरूपेण, एवं सम्मिलित रूपेण दोनों प्रकारों से) सावधान करने के लिए आतुर ही बने हुए हैं। न केवल आतुर ही बन कर चुप बैठे हैं। अपितु प्रत्येक सम्भव–असम्भव–प्रकारों से सभी वर्ग इस महान् मित्र के सहयोग से वञ्चित ही हो जाना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे सर्वात्मना सब क्षेत्रों से निरपेक्ष ही बना देना चाहते हैं। किन्तु वर्ग यह भूल जाते हैं कि, यह तो अपने स्वरूप से प्रकृत्या ही निरपेक्ष है। निरपेक्षता ही तो इसके–'मैत्र' स्वरूप की मूल-प्रतिष्ठा है। निरपेक्षता के अनुग्रह से ही तो–किसी भी युगधर्म्मानुगत प्रभाव में न आकर यह मित्रबुद्धया सभी के उद्बोधन में प्रवृत्त हो जाता है यह जानता हुआ भी कि, इस उद्बोधन–प्रदान से इसे पुरष्कार में उत्पीड़न ही उपलब्ध होगा। इन उत्पीड़न- परम्पराओं–अपमानपरम्पराओं का स्वागत करते हुए ही तो इसने शत–शत–सहस्राब्दियों से अपने सांस्कृतिक–धार्म्मिक सन्देश को अद्यावधि सुरक्षित रक्खा है।

२५३–सङ्गदोषजनिता-भावुकतामूला ब्राह्मण की दासता —

अवश्य ही सङ्गदोष से कुछ समय से राष्ट्र का ब्राह्मण सापेक्ष बन गया है। अपनी योगक्षेमव्यवस्था से उत्पीड़ित हो जाना हीं इसकी तात्कालिकी सापेक्षता का एकमात्र कारण है। किन्तु कदापि यह इसका अपराध नहीं माना जा सकता। यह ठीक है कि, इन अपेक्षाओं के कारण ब्राह्मण आज अपनी–**'अदीनाः–स्याम शरदः'** लक्षणा निष्ठा को विस्मृत कर दीन–हीन–याचक–बन कर–**'मा च याचिष्म कञ्चन'** आदर्श को अभिभूत ही प्रमाणित कर चुका है। इसी अभिभूति के कारण आज यह अर्थकामासक्त बन कर ही अपना मैत्रभाव अभिव्यक्त करते रहने की भ्रान्ति में आबद्ध हो रहा है, किंवा हो चुका है। किन्तु अपराध है यह उस सत्तातन्त्र का, जिसने ब्राह्मणप्रज्ञा को यों दीन-हीन बना दिया है। अपराध है यह उस वणिक्तन्त्र का, जिसने इसे 'महाराज–गुरुजी–कह कर भी इसे अर्थविभीषिका से उत्पीड़ित करते रहने में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं किया। इसी दासवृत्ति ने आज इसकी निष्ठा को विगलित कर दिया है।

---

* "सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वाऽयं कञ्चन हिनस्ति"

(शत० ब्रा० २।३।२।१२)।

÷ जप्येनैव तु संसिद्धयेत्–ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

(मनुः २।८७)।

२५४-ब्राह्मणविकम्पनात्मक प्रज्ञाविकम्पन से विश्व का विकम्पन—

क्या ऐसा हो जाने से ब्राह्मणत्त्व उच्छिन्न होगया, किंवा होजायगा ?। नेति होवाच । जिस दिन ब्राह्मणत्त्व उच्छिन्न हो जायगा, उस दिन तत्क्षण ही ब्रह्ममूलक विश्व ही उच्छिन्न हो जायगा । आज ब्राह्मणत्त्व विकम्पित है, तो विश्व भी विकम्पित है । अवतारवादसिद्धान्त के मर्म्मज्ञ जानते हैं कि, ज्ञान-प्रतीकात्मक ब्राह्मण, एवं अर्थप्रतीकात्मक गौपशु, ये दो ही भारतराष्ट्र के तो अवश्य ही मूलाधार हैं । जब भारतराष्ट्र का ब्राह्मणवर्ग, एवं गौवर्ग विकम्पित हो जाता है, तो भगवान् को अवतार लेना पड़ता है-'गो-ब्राह्मण-हिताय च' घोषणा सुप्रसिद्ध है, जिसका मर्म्म विस्मृत करने वाले वर्त्तमान राष्ट्र ने प्रज्ञाप्रदाता ब्राह्मण-वर्ग को अवमानित कर, एवं अर्थप्रदात्री गौमाता को विकम्पित कर, दूसरे शब्दों में भारतीय संस्कृति के महान्-सगुण-प्रतीकभूत इन दोनों को उत्पीड़ित-उपेक्षित-अवमानित कर सचमुच विश्वविकम्पन को ही आमन्त्रित कर लिया है । प्रत्यक्ष-भूतदृष्टि कदापि इस प्राकृतिक रहस्य का समन्वय नहीं कर सकती, नहीं कर सकती ।

२५५-काल्पनिक ब्राह्मणवाद के आविर्भावद्वारा ब्राह्मणप्रज्ञा की अवहेलना—

भारतीय ब्राह्मण का यों यशोगान करते हुए क्या हम आज के बुद्धिवादियों के शब्दों में किसी सीमित वर्गात्मक 'ब्राह्मणवाद' जैसे सम्प्रदायविशेष के लिए आतुर हैं ?। कदापि नही । ब्राह्मण केवल 'ब्राह्मण' है, ब्राह्मण ही रहेगा । वादों का तो उस संघ-संगठन-स्तूप-राशि-ढेर-समूह से ही सम्बन्ध है, जो केवल भूतों का ही हुआ करता है । प्रज्ञातन्त्र तो स्वयं अपने में ही परिपूर्ण है । सम्भवतः इसी आधार पर 'ब्राह्मणामसांहत्यम्' इस भावुकतापूर्ण सूक्ति का आविर्भाव हो पड़ा है * । तत्त्ववाद का प्रेमी ब्राह्मण कदापि भौतिक-शरीरसमूहात्मक ब्राह्मणसंघवाद की तो कल्पना भी नहीं कर सकता, जिसकी निष्ठा का आरम्भ ही-'अरतिर्जनसंसदि' से हुआ है । संगठन-द्वारा किसी भौतिक-सत्ता-समाजादि तन्त्रों की एषणा का निर्वाह कदापि ब्राह्मण से तो सम्भव ही नहीं है । कल की ही तो घटना है । अपने प्रज्ञाबल से नवनन्दों के महान् साम्राज्य को धूलिधूसरित कर देने वाले भारतवर्ष के एक ब्राह्मण ने ही तो नवीन साम्राज्य का निर्म्माण कर तत्सिंहासन पर तो समासीन कर दिया था सेल्यूकसविजेता महान् चन्द्रगुप्त को, एवं अमात्यपद पर प्रतिष्ठित कर दिया था नन्दसाम्राज्य के भूतपूर्व राक्षस महामन्त्री को । एवं स्वयं·······ने कौनसा पद प्राप्त कर लिया था इस साम्राज्य के द्वारा ?, प्रश्न का उत्तर आज के उन बुद्धिवादीयों से ही पूँछना चाहिए, जो ब्राह्मण को किसी वादविशेष का सर्जक मानने की भ्रान्ति कर बैठे हैं ।

२५६-युधिष्ठिर--भीष्म--संवादरूप इतिवृत्त के द्वारा ब्राह्मणस्वरूप की सत्तानिबन्धना--पतनपरम्पराओं का स्वरूपविश्लेषण, एवं तद्द्वारा ब्राह्मण के मौलिक स्वरूप का परिचय—

प्रत्यक्षरूपेण दृष्ट--श्रुत-उपवर्णित, एवं सर्वात्मना प्रमाणित है कि, अन्यवर्गीय व्यक्ति जहाँ सूचि-प्रवेशमात्र से तन्त्रबुद्धि के द्वारा बिना योग्यता के भी लोकतन्त्रों में प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं, वहाँ ब्राह्मण

---

*-सिंहानां महदालस्यं, सर्पाणाञ्च महद्भयम् ।
ब्राह्मणानामसांहत्यं तेन जीवन्ति जन्तवः ॥

भावुकतावश तन्त्रों में प्रविष्ट हो जाने पर भी पुष्करपलाशवन्निर्लेप ही बना रहता है। इसकी प्रज्ञा से जहाँ तन्त्रायी लाभ उठा जाते हैं, वहाँ स्वयं यह इन तन्त्रों से उत्पीड़न का ही अनुभव करता रहता है। कदापि इस प्रमाणित तथ्य के साथ कोई भी बुद्धिवादी आज के तन्त्रयुग में तो गजनिमीलिका नहीं कर सकता। हाँ, ब्राह्मणप्रज्ञा पर यह अभियोग अवश्य ही लगाया जा सकता है कि, यह विगत तीन सहस्र वर्षों से अपनी मूलसंस्कृति–मूल–धर्म्म–मौलिक साहित्य के प्रति तो बना रहा निरपेक्ष, एवं मनःशरीरानुबन्धी–युगधर्म्मानुगत मतवादात्मक धर्म्मों–साहित्यों का बना रहा प्रतिनिधि अपनी सहजसिद्धा मैत्रीवृति के आकर्षण से। इसी परानुगता भावुकतापूर्णा मैत्रीवृति के कारण सभी वर्गों के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण करता हुआ भी स्वयं यह पुरस्कार में अपना ब्रह्मत्त्व अभिभूत ही कराता रहा, जिसका प्रधान उत्तरदायी कौन है ?, प्रश्न की मीमांसा का समन्वय हम अपनी ओर से नहीं करना चाहते, नहीं ही करना चाहिए। **'राजा कालस्य कारणम्'** कहने वाले युगधर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म, एवं धर्म्मराज–किन्तु धर्म्मभावुक युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तरविमर्शप्रसङ्ग के द्वारा ही तथाविध समन्वय की ओर बुद्धिवादियों का ध्यान आकर्षित कर देते हैं। श्रूयताम् !

शरशय्यासीन महात्मा भीष्म से ब्राह्मणों के श्रेणिविभाग के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए युधिष्ठिर जिज्ञासा कर रहे हैं कि, भगवन् ! कितने एक ब्राह्मण तो अपने शास्त्रविहित कर्म्मों में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं। कितनें एक ब्राह्मण शास्त्रविरुद्ध–अविहित–विकर्म्मों (विरुद्धकर्म्मात्मक कर्म्मों) के अनुगामी बने हुए हैं। ऐसा क्यों होता है ?। एक ही ब्राह्मणवर्ग में ऐसा कर्म्मपार्थक्य कैसे, क्यों होजाता है ? । हे पितामह ! कृपा कर मेरी इस जिज्ञासा का समाधान करने का अनुग्रह कीजिए ×।

युधिष्ठिर की उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हुए पितामह भीष्म कहने लगे कि, हे युधिष्ठिर ! (कर्म्मों के तारतम्य से ही एक ही ब्राह्मणवर्ग में **ब्रह्मब्राह्मण, देवब्राह्मण, क्षत्रियब्राह्मण, वैश्यब्राह्मण, शूद्रब्राह्मण, चाण्डालब्राह्मण,** इत्यादिरूप से अनेक वर्ग सम्भव है, जिनका क्रमशः यही स्वरूप–दिग्दर्शन है कि)–क्षरविद्यात्मक ऋग्–यजुः–सामार्थवादि अपरा वेदविद्या के चिन्तन के आधार पर स्वतः एव अव्ययात्मानुग्रह से अभिव्यक्ता–अक्षरविद्यात्मिका–पराविद्यालक्षणा–'विद्या' (निरपेक्षा अव्ययात्मसंस्कृति, तदभिन्न अव्ययात्मधर्म्मरूप–अप्राकृत–शाश्वतधर्म्म) से सम्बन्ध रखने वाले सहज आत्मलक्षणों से सम्पन्न–सिद्धावस्थात्मिका–ब्राह्मीस्थितिरूपा–स्थितप्रज्ञता से युक्त, अतएव इसी के अनुग्रह से सर्वत्र आत्मदर्शनात्मक समदर्शन में प्रतिष्ठित, ब्रह्म की सगुणमूर्तिरूप ऐसे अलौकिक ब्राह्मण हीं–''**ब्रह्मब्राह्मण**' कहलाए हैं–(जिनके दर्शनमात्र से मादृश प्राकृत जीवों में सत्त्वभाव उदित हो जाता है)।* २ ॥

अपराविद्यात्मिका ऋग्यजुःसामाथर्वादि लक्षणा मन्त्रब्राह्मणरूपा वेदविद्या (शब्दशास्त्रात्मिका–नामविद्या (देखिए–सनत्कुमार–नारदसंवाद छां० उप० ७।१।१) के मर्म्मज्ञ, शास्त्रविधि के अनुसार (पूर्व–

×–युधिष्ठिर उवाच–स्वम्र्मण्यपरे युक्ताः, तथैवान्ये विकर्म्मणि ॥
तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ! ॥१॥

*–भीष्म उवाच–विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्रसमदर्शिनः ॥
एते 'ब्रह्मसमा' राजन् ! ब्राह्मणाः परिकीर्त्तिताः ॥२॥

प्रतिपादिता वर्णसंस्कृति–वर्णधर्म्मात्मक–प्रतीकधर्म्मात्मक)-कर्त्तव्यकर्म्मों में–यथाविधि व्यवस्थित रहने वाले आचारनिष्ठ ऐसे ब्राह्मण हीं '[2]देवब्राह्मण' कहलाए हैं, (जो वेद–लोक में–'अथ-ये शुश्रूवांसोऽनूचाना-स्ते देवा ब्राह्मणादेवाः'–'भूदेवाः' कहलाए हैं) ॥=३॥

आस्था–श्रद्धा–से समन्वित धर्म्मशील–त्रैवर्णिक–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य–महा–भागों के द्वारा अनुष्ठेय महारम्भ यज्ञों में प्रभूत दक्षिणाद्रव्याकर्षण से आध्वर्य्यव–हौत्र-औद्गात्र–ब्राह्म–नामक आर्त्विज्य पदों में अधिष्ठित 'ऋत्विक् ब्राह्मण', त्रैवर्णिकों की याजमानवृति से सम्बन्ध रखने वाले 'पुरोहित–ब्राह्मण', सत्ता–सामन्तादि–तन्त्रों में मन्त्रित्त्व के उत्तरदायित्त्व से समन्वित 'मन्त्रीब्राह्मण', स्वराष्ट्रीय, एवं अन्तर्राष्ट्रीय–प्रान्तीय, तथा बहिःसत्ताओं के सम्बन्ध–संस्थापक ('राजदूत' नाम से प्रसिद्ध) 'दूतब्राह्मण', सत्तातन्त्रानुगत-गुप्तमन्त्रणाओं के महान् उत्तरदायित्त्व से समन्वित–गुप्तचर–विभागाध्यक्ष–'वार्त्तानुकर्षक-ब्राह्मण' इत्यादि सभी ब्राह्मणश्रेणियों को–'[3]क्षत्रियब्राह्मण' कहा गया है °‿° ॥४॥

अपनी व्यवसायनिष्ठाओं से प्रभूत-सम्पत्ति का अर्जन करने वाले अश्वारोह–गजारोह–रथी-पदाति–आदि विविध वर्गों में विभक्त, अश्व–(घोड़े)–गज–(हाथी)–रथ-आदि भौतिक–परिग्रह–ऐश्वर्य्यों से सम्पन्न, इनके रहने पर भी अपनी सहज कृपणता से पदाति–दशा में भी सन्तुष्ट रहने वाले–ऋणदानादि–उत्तमर्ण–अधमर्ण–व्यवसायों (लेनदेन–सूदखोरी) के अनुगामी-वर्ग ही–'[४]वैश्यब्राह्मण' कहलाए हैं ॥५*॥

प्रकृतिसिद्ध–ब्राह्मणकुलोत्पन्न–जन्मभाव को विस्मृत कर देने वाले, शरीरभावानुबन्ध से स्वयं अपने आप को ही शरीरधर्म्मामात्र मानते रहने वाले, इसी भ्रान्ति से वर्णात्मक जन्मभाव के विपरीत कर्म्मों का अनुगम करते रहने वाले, यों जन्म–और कर्म्म–दोनों ब्राह्मण्य–धर्म्मों से पराङ्मुख बन जाने वाले, अपनी इसी हीनता से सर्वथा कदर्य्य–दीन–हीन–दासभाव में परिणत हो जाने वाले, लोक में–'ब्रह्मबन्धु' (ब्राह्मण के सम्बन्धी ही 'ब्रह्मबन्धु' का अर्थ है जो कि एक प्रकार का अपमानात्मक ही सम्बन्ध है, ऐसे–केवल जात्युपजीवी–कर्म्मविहीन ब्राह्मण–क्षत्रि–वैश्यों को ही शास्त्र में–'द्विजबन्धु' नाम से भी व्यवहृत किया गया है । स्त्री–शूद्रवत्–ऐसे नाममात्र के पतितसावित्रीक द्विजातियों को भी वेदस्वाध्याय से वञ्चित कर दिया है, जैसाकि–'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां-त्रयी न श्रुतिगोचरा' इत्यादि से

=–ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्म्मस्ववस्थिताः ॥
एते देवसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥३॥

°‿° ऋत्विक्–पुरोहितो–मन्त्री–दूतो–वार्त्तानुकर्षकः
एते 'क्षत्रसमा' राजन्! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥४॥

*–अश्वारोहा–गजारोहा–रथिनोऽथ–पदातयः ॥
एते वैश्यसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥५॥

स्पष्ट है)। ऐसे जन्मकर्म्मविहीन कदर्य्य ब्रह्मबन्धु ब्राह्मण हीं–‘शूद्रब्राह्मण’’ कहलाए हैं। निष्कर्षतः–वेद-स्वाध्यायविहीन, अन्यान्य दासकर्म्मों में दीक्षित जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मण राजर्षि मनु के शब्दों में तो अपने वंशसहित ही शूद्रकोटि में आजाता है, जैसाकि इस वचन से स्पष्ट है ॥६)॥÷

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ —मनुः

इष्ट–आपूर्त–दत्त नामक विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्मों को ‘पुण्य–शुभ–कर्म्म’ कहा गया है, जिनका फल माना गया है–पितृस्वर्गावाप्ति। इस कर्म्मविभागत्रयी का जो अन्तिम ‘दत्त’ विभाग है–उसे ही **‘खैरात’** कहा गया है, जिस में विश्व के मानवमात्र अधिकृत है, जब कि विद्यासापेक्ष यज्ञ–तप–दान–रूप सत्कर्म्म–(शास्त्रीयकर्म्म) के दानकर्म्म का अधिकार एकमात्र शास्त्रविद्यानिष्ठ द्विजाति को ही है। विद्यानिरपेक्ष दत्तविभाग ही सत्तातन्त्र में–‘पुण्यार्थविभाग’ कहलाया है, जिसे–‘धर्म्मार्थविभाग’ भी कहा गया है। यही आज की **‘चेरेटी’** है, जिसके साथ ‘दानधर्म्म’ का कोई सम्बन्ध नहीं है। दान में जहाँ दाता का आसन निम्न, एवं गृहीता का आसन उच्च है, वहाँ ‘दत्त’ (खैरात–चेरेटी) में दाता का आसन उच्च, गृहीता का आसन निम्न है। दान में जहाँ योग्यपात्र–व्यवस्थित है, वहाँ दत्त में पात्रापात्र वे सभी दरिद्री असमर्थ संगृहीत हैं, जो रोगाक्रमण के कारण, जराजीर्णता के कारण स्वयं अपना भरण–पोषण करने में असमर्थ हैं। ऐसे दत्तविभाग के अधिकारी–धर्म्माधिकारी–(चेरेटी विभाग के व्यवस्थापक) ब्राह्मण को ही–**‘आह्वायकाः’** कहा गया है, जिसका यह उत्तरदायित्व रहता है कि, जो तथाविध असमर्थ दीन–दरिद्री पात्र हैं, उनका आह्वान–कर–बुला बुला कर उनके भरण पोषण की सत्तातन्त्र के तद्विभाग से व्यवस्था करता रहता है। यही इस कर्म्म की ‘पुण्यता’ है, जिन में असमर्थों को आशा प्रतीक्षा में खड़ा नहीं रहना पड़ता। दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र का विभाग तो आज इस ‘आह्वान’ रूप पुण्योत्तरदायित्व को विस्मृत कर चुका है, जब कि संस्कृति के सौभाग्य से श्रद्धाशील धार्म्मिक मानव आज भी बुला–बुला कर, तथाविध असमर्थों के स्थान में स्वयं जाकर अंसाचित रूप से ही ‘दरिद्रनारायणयज्ञों’ का सञ्चालन करते रहते हैं।

सत्तातन्त्रद्वारा, किंवा समर्थ श्रीमन्तों के द्वारा सञ्चालित देवमन्दिरों में वेतनग्रहणद्वारा पूजनार्च्चनकर्म्म में नियुक्त ब्राह्मण हीं **‘देवलकाः’** हैं। तिथि–वार–नक्षत्र ग्रह गणितादि वर्णन में निपुण पञ्चाङ्गप्रदर्शक ज्यौतिषी ही–**‘नाक्षत्राः’** हैं, जिसकी एक भारतीय स्वात्माभिमानी कवि ने भी उपेक्षा की है *। साधारण ग्रामीण जनता के ग्रामजीवन की धर्म्मश्रद्धा के संरक्षण के उत्तरदायित्व से अनुप्राणित–सामान्यरूपेण शिक्षित–वे ब्राह्मण, जो समूहरूप से ग्रामाध्यक्षों (पञ्च–चौधरियों) के द्वारा तद्ग्राम के पौरोहित्य–पद के लिए निर्वाचित हो जाते हैं, जिन्हें कि प्रमाण के लिए–‘ताम्रपत्र’ दे दिया जाता है, अतएव जो ग्रामीणभाषा

÷–जन्म–कर्म्म–विहीना ये कदर्य्या ब्रह्मबन्धवः ॥
एते शूद्रसमा राजन् ! ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥६॥

*** वयं नो ते विप्राः प्रतिगणितनक्षत्र तिथयो–**
धनं ये याचन्ते प्रतिदिवसमासाद्य कृपणान् ॥ (कविसूक्तिः)।

में–'तामड़ायत' कहलाते हैं--हीं–'**ग्रामयाजकाः**' हैं। पाँचवाँ विभाग उन महाब्राह्मणों का है, जो महापथ के पथसाक्षी होने से–'**महापथिकाः**' कहलाए हैं। हमारी दृष्टि में–'**महापथिकाः**' का यही समन्वय अनुरूप है, जब कि महाभारत के व्याख्याकार श्रीनीलकण्ठ महाभाग नें समुद्रयात्रापथिकों के करगृहीता को महापथिकाः माना है। तदित्थं–**आह्वायक–धर्म्माधिकारी, वेतनभोगी पुजारी,** ज्यौतिषी, **गाँव के पण्डित, एवं महाब्राह्मण,** ये पाँचों हीं एकप्रकार से तमोगुणान्विता लोकवृत्तियों से ही क्योंकि अपना जीवन–यापन करते हैं। अतएव इन्हें–'[६]**चाण्डाल ब्राह्मण**' कहा है भीष्म ने ॥ ७ * ॥

तदित्थं–भीष्म नें युधिष्ठर के सम्मुख **ब्रह्मब्राह्मण, देवब्राह्मण, क्षत्रियब्राह्मण, वैश्यब्राह्मण, शूद्रब्राह्मण, चाण्डालब्राह्मण,** ये ६ ब्राह्मण विभाग उपस्थित कर अन्त में यह भी स्पष्ट कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य माना कि, ब्राह्मण का वृत्ति के लिए यों विकर्म्मस्थ बन जाने में एकमात्र तत्कालीन सत्तातन्त्र ही अपराधी है। सत्ता की उपेक्षा से ही ब्राह्मणों को वृत्तिमात्राकर्षण से ही क्षत्रियादि भावों में परिणत होना पड़ता है। यही नहीं, इन्हें विवश बन कर उस जघन्य स्तेयकर्म्म का भी अनुगामी बन जाना पड़ता है, जिसके लिए कदापि ब्राह्मण को अपराधी नहीं माना जा सकता। देखिए!

ब्राह्मणानां च ये केचित्--विकर्म्मस्था भवन्त्युत ॥
विकर्म्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ॥७॥
नियम्याः--संविभज्याश्च धर्म्मानुग्रहकारणात् ॥८॥
यस्यस्म विषये राजन्! स्तेनो भवति वै द्विजः ॥
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥६॥
अवृत्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित्स्नातकस्तथा ॥
राजन्! स राज्ञा भर्त्तव्य- इति वेदविदो विदुः ॥१०॥

—महाभारत शा० राज० ७६ अध्याय

स्मरण रहे, भीष्म की भाषा इतिहास की भाषा है, जो '**धर्म्मभाषा**' से सर्वथा पृथक् ही मानी गई है। धर्म्मभाषा में कदापि ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–चाण्डाल–आदि शब्दों का समावेश नहीं हो सकता। शिष्टजनसम्यता आदर्शभाषा ही धर्म्मभाषा है, जिसका इतिहासभाषा में इसलिए सर्वात्मना संरक्षण सम्भव नहीं है कि, इतिहासलेखक के प्रज्ञाक्षेत्र को सभी–सत्–असद्–पात्रों, घटनाओं को 'इति–ह–आस' (निश्चयेन ऐसा ही था) लक्षण 'इतिहास' शब्द की मर्य्यादा का ही अनुगामी बनाए रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए ब्राह्मणश्रेणिविभाग को ही लक्ष्य बनाइए। जब यह स्पष्ट है कि, ब्राह्मण की–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र--चाण्डालादि भावों में परिणति का उत्तरदायित्व सत्तातन्त्र पर है, तो इसके लिए ब्राह्मण को

***–आह्वायकाः- देवलकाः-नाक्षत्राः-ग्रामयाजकाः ॥**
एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥७॥

क्यों दोषी ठहराया जाय ? । ब्राह्मण तो अपने रूप से सदा ब्राह्मण ही है, ब्राह्मण ही रहेगा, भले ही वह पठित हो, अथवा अपठित । अपठितता का भी उत्तरदायित्त्व सत्तातन्त्र से ही तो अनुप्राणित माना जायगा । धर्म्म की भाषा में अधिक से अधिक इसे 'जातिमात्रोपजीवी' कह दिया जायगा । अतएव धर्म्माचार्य्य राजर्षि मनु के द्वारा ब्राह्मणविभागों में इतिहास के तथाकथित शब्दों का संस्पर्श भी नहीं हुआ है । अपितु **यथाजातब्राह्मण, विद्वानब्राह्मण, मर्म्मज्ञब्राह्मण, आचारनिष्ठब्राह्मण,** एवं **ब्रह्मवेदीब्राह्मण** रूप से ये पाँच विभाग ही मानें हैं राजर्षि ने अपनी धर्म्मभाषा में । क्या यथाजात-अपठित ब्राह्मण को निन्दा के शब्दों से व्यवहृत किया है इस प्रसङ्ग में राजर्षि ने ? । नहीं । जिस ब्राह्मण की प्रकृति में ब्रह्मात्मक प्राणदेव जन्मना प्रतिष्ठित है, उस शरीरी ब्राह्मण के लिए भी अपशब्द-क्षुद्रशब्द का उच्चारण धर्म्मभाषा में सम्भव ही कैसे है । वही तो धर्म्मभाषा-परम्परा आज भी प्रचलित है । सत्तातन्त्रानुगत युगधर्म्मदोष से ब्राह्मण आज पाचक बन गया है, किन्तु व्यवहार में शिष्ट धार्म्मिक प्रजा इसे भी कहती-**'महाराज'** ही है । धर्म्मभाषा ही तो मानव को अभ्युदय की ओर आकर्षित करने की क्षमता रखती है । इसी लोकशिक्षण के लिए ही तो-**'अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः'** यह धर्म्मभाषा विनिःसृत है । **'ब्राह्मणो जायमानो हि मूर्त्तिधर्म्मस्य शाश्वती'** (मनुः) कहने वाले मनु की भाषा के द्वारा धर्म्मभाषा का गभीरत्त्व भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है । यही नहीं, धर्म्मभाषा से पराङ्मुख बन जाने वाले आज के जो बुद्धिवादी अभिनिवेश में आकर **'ब्राह्मण सावधान'** ! रूप से मूलतः-जन्मतः-मैत्र ब्राह्मण के प्रति रूक्षा-कर्कशा भाषा का व्यवहार करने लग पड़े हैं, सम्भवतः ऐसे दिग्भ्रान्त बुद्धिवादियों के उद्बोधन के लिए ही राजर्षि को यह कहना पड़ा है कि—

विधाता-शासिता-वक्ता-मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयात्-न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥

—मनुः ११।३५।

धर्म्मभाषा के महान् आचार्य्य मनु सर्वसामान्य नर-मानवों की अपेक्षा उस ब्राह्मण-मानव को श्रेष्ठ बतला रहे हैं, जो केवल जन्मतः-वर्णतः ब्राह्मण है-**'नरेषु ब्राह्मणाः-स्मृताः'** (श्रेष्ठाः स्मृताः) । इन की अपेक्षा शब्दशास्त्र के विद्वान् ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं-**'ब्राह्मणेषु च विद्वांसः'** । तदपेक्षया बुद्धिपूर्वक शास्त्ररहस्यवेत्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं-**'विद्वत्सु कृतबुद्धयः'** । तदपेक्षया स्वरहस्यज्ञान के अनुसार आचारनिष्ठा में प्रवृत्त ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं-**'कृतबुद्धिषु कर्त्तारः'** । एवं सर्वापेक्षया वे श्रेष्ठ माने गए हैं, जिन्होंनें ब्रह्मवित्-स्थितप्रज्ञ बन कर अनुकरणादि प्रतीक धर्म्मों को भी अव्ययात्मा में समर्पित कर दिया है-**'मामेकं शरणं व्रज'** के अनुसार । यही वह धर्म्मभाषा है, जिसकी उपेक्षा कर आज केवल नरकोटि में प्रतिष्ठित-बुद्धिवादी-'अमुक पढ़ा नहीं, अमुक केवल शब्दमात्र का पण्डित है, अमुक-केवल जानता है-करता नहीं,-अमुक स्थितप्रज्ञता का ढोंग कर अकर्म्मण्य बना हुआ है, अमुक का बाजार भाव क्या है, यह हम जानते हैं"-इत्यादिरूपेण मैत्र ब्राह्मणों के प्रति अकुशल, शुष्क-उद्वेगकरी-वाणी बोलता हुआ अपने सर्वनाश का ही आमन्त्रण कर रहा है । ऐसे बुद्धिवादियों से सर्वथा निरपेक्ष बन कर ही आज ब्राह्मण कृच्छ्ररूपेण संस्कृति के स्वरूप की आराधना में सफलता प्राप्त कर सकता है ।

भीष्म ने युधिष्ठिर की जिज्ञासा का तथाकथित रूप से समाधान कर इसी सम्बन्ध में आगे चलकर अश्वपतिकेकयराज, एवं कबन्ध–अथर्वा की संवादभाषा से जो तत्त्व अभिव्यक्त किया है, हम आग्रह करेंगे सभी से, विशेषतः–धर्म्मनिरपेक्ष--सत्तातन्त्र के वर्त्तमान भावुक–भक्तों से कि, वे एकबार अनुग्रह कर तदैतिहासक–आख्यान पर अवश्य ही दृष्टिपात का अनुग्रह करलें, जिसका उपसंहार राक्षसराज के द्वारा, एवं भीष्म के द्वारा निम्न लिखित उद्बोधनसूत्रों से ही हुआ है कि--

राक्षस उवाच—यस्मात् सर्वास्ववस्थासु धर्म्ममेवान्ववेक्षसे ॥
तस्मात् प्राप्नुहि केकैय ! गृहं, स्वस्ति, व्रजाम्यहम् ॥१॥
येषां गो–ब्राह्मणं रक्ष्यं, प्रजा रक्ष्याश्च केकय ॥
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु पावकात् ॥२॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मपरं बलम् ॥
अतिथिप्रियास्तथापौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥३॥

भीष्म उवाच—तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ॥
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक् प्रवर्त्तताम् ॥४॥
तस्माद्राज्ञा विशेषेण विकर्म्मस्था द्विजातयः ॥
नियम्याः संविज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥५॥
—म० शा० राज० ७७ अ० ।

आगे चल कर युधिष्ठिर ने भीष्म से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और किया है, जिसकी रूपरेखा यही है कि, "परम–महान्–धर्म्म के उत्तरदायित्त्व से सर्वथा निरपेक्ष–तटस्थ–बन जाने वाले सत्तातन्त्र के कारण जब राष्ट्र का धर्म्म–संस्कृति–सन्देशवाहक ब्राह्मण (प्रज्ञाबलप्रतीकभूत ब्राह्मणवर्ण) प्रज्ञाविरोधियों से, साथ ही धर्म्मनिरपेक्ष, अतएव दोषयुक्त सत्तातन्त्र से भी चारों ओर से उत्पीड़ित–अवमानित हो पड़े, तो उस भयावह प्रज्ञाविरोधी धर्म्मनिरपेक्षयुग में ब्राह्मण की प्रज्ञा का संरक्षक तो कौन !, एवं ऐसे आपत्तिकाल में ब्राह्मण की धर्म्मनिष्ठा की रक्षा का क्या उपाय !, किंवा ब्राह्मण की कौन सी वह आश्रयभूमि (परायण), जिसे अवलम्ब बना कर ऐसे आपद्धर्म्मयुग में यथाकथञ्चित्–रूपेण यह संस्कृति, और धर्म्म के संरक्षण में समर्थ बने ? ❀ ॥१॥

क्षात्रतेजोमय (अनुशासनानुगत शासनदण्डमय) सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षता से उत्पीड़ित हो जाने वाले धर्म्मप्रवर्त्तक ब्राह्मण का, एवं धर्म्म का रक्षक कौन !, युधिष्ठिर के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न से यह भी

❀-युधिष्ठिर उवाच—अथ चेत् सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद् ब्राह्मणं प्रति ॥
कस्तत्र ब्राह्मणस्त्राता, को धर्म्मः, किं परायणम् ॥१॥

स्पष्टरूप से प्रतिध्वनित है कि, धर्म्मनिरपेक्षता कोई नवीन हीं प्रयोग नहीं है। तटस्था-लक्षणदृष्टि से भले ही इसे विश्वेतिहास में प्राथमिक प्रयोग कह दिया जाय, जैसा कि पूर्व में कह दिया गया है। किन्तु धर्म्म-ग्लानि-धर्म्मविरोध-धर्म्मापमान-रूपा धर्म्मनिरपेक्षता की दृष्टि से तो आज से पूर्व युगों में भी सत्तातन्त्रों नें अपनी इस निरपेक्षता का परिचय दे डालने में कोई कमी नहीं की है। यही क्यों, ब्राह्मण को तो संस्कृति-धर्म्म-साहित्य-के लिए आज से भी कहीं वैसे घोर-घोरतम समय देखने पड़े हैं, भोगने पड़े हैं, जिन धर्म्म-विप्लवयुगों के प्रवर्त्तक सत्ताधीशों के-'न होतव्यम्--न यष्टव्यम्' इत्यादि नियन्त्रणोद्घोष आज भी हृत्कम्प उत्पन्न कर देते हैं। जब जब धर्म्म का सांस्कृतिक-मौलिक-ज्ञानविज्ञानात्मक-सम्प्रदायवादनिरपेक्ष तात्त्विक स्वरूप अनेक कारणों से अभिभूत होता रहा है, तब तब ही सत्तातन्त्र धर्म्मनियन्त्रण से पृथक् होकर ब्राह्मणप्रज्ञा के दमन में तत्पर होगया है। इसी सामान्य-स्थिति के आधार पर युधिष्ठिर ने प्रश्न उपस्थित किया है, जिसका महात्मा भीष्म ने बड़े विस्तार से समाधान किया है। प्रकृत में तत्समाधान-सन्दर्भ में से केवल एक दो सूत्र ही प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या उपस्थित कर दिए जाते हैं।

भीष्म समाधान करते हैं कि, जब राष्ट्र का ब्राह्मणत्त्व चारों ओर से संकटग्रस्त-संत्रस्त-संक्षुब्ध बन जाय, तो उस भयावह युग में ब्राह्मण का सब से प्रमुख यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि. वह गुहानिहित-तपोयोग (अनन्य-अध्यवसाय) पूर्वक ब्रह्मचर्य्य का (वेदस्वाध्याय का) ही अनुगामी बन जाय। यही इसका वह महान् तप है, जिसके बल पर धर्म्मनिष्ठाएँ व्यवस्थित रहा करतीं हैं। धर्म्म के मौलिक रहस्य-ज्ञानाभाव से ही सत्तातन्त्र निरपेक्ष बना करते हैं धर्म्म के प्रति, एवं तत्स्वरूपव्याख्याता ब्राह्मण के प्रति। अतः सर्वप्रथम इस रहस्यान्वेषणकर्म्म में हीं ब्राह्मण को प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इसे यह भुला देना चाहिए कि, केवल आदेशमात्र से, वचनमात्र से ही धर्म्म की ओर सत्तातन्त्र सापेक्ष बन जायगा। हाँ धर्म्म की वेदरहस्यानुगता तत्त्वव्याख्या में अवश्य ही वैसा बल है, जिससे शीघ्र-किंवा देर से सत्तातन्त्र को अपना अभिनिवेश छोड़ ही देना पड़ता है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि-ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा के शिथिल हो जाने से जब धार्म्मिक आदेशों का कारणात्मक समाधान उपलब्ध नहीं होता, तो शनैः शनैः शास्त्रभक्ति-अभिभूत होती रहती है, जिसका अन्तिम परिणाम धर्म्मनिरपेक्षता ही मानी गई है। अतः ब्राह्मण को तपोयोगानुगता वेदस्वाध्यायात्मिका रहस्यनिष्ठा के तटस्थ-निरपेक्ष विश्लेषणों के द्वारा ही सत्तातन्त्र का परोक्ष विधि से ही शनैः शनैः नियन्त्रण करना चाहिए। तात्पर्य्य-सत्तातन्त्र से निरपेक्ष रहते हुए राष्ट्र में जनतन्त्र के माध्यम से वैसा तत्त्ववाद प्रस्फुटित कर देना चाहिए, जिस ज्ञान-विज्ञानात्मक*-सांस्कृतिक-तत्त्ववाद की सत्यता-त्रिकालाबाधितता के अनुबन्ध से जनतन्त्र के द्वारा ही कालान्तर में सत्तातन्त्रको भी संस्कृति-धर्म्म-सापेक्ष बन हीं जाना पड़ता है, निश्चयेन बन हीं जाना पड़ता है, जैसाकि-'सत्यमेव जयते-नानृतम्' इस प्राकृतिक सिद्धान्त से स्पष्ट प्रमाणित है।

---

*-ज्ञानविज्ञानात्मक-सोपपत्तिक-सृष्टिरहस्य का स्वरूप-विश्लेषण ही आपद्धर्म्म-युगों के लिए संस्कृति, तथा धर्म्म के स्वरूप-संरक्षण का महान् राजपथ माना गया है भारतीय तत्त्वज्ञों के द्वारा। यह सर्वथा असंदिग्ध है कि, जब जब संस्कृति, एवं धर्म्म की सृष्टिस्वरूप-विज्ञानात्मिका व्याख्याओं का अभिभव हुआ है, तब तब ही बुद्धिवादी व्यामुग्ध मानवों नें सांस्कृतिक-धर्म्म की विज्ञानसिद्धा भी आचारपद्धतियों के प्रति भावुक-

इस आर्ष उपाय के अतिरिक्त क्षत्रियप्रवर भीष्म ने इतिहास की भाषा में जो अन्य उपाय बतलाए हैं, उनका वैसे महान् आपद्धर्म्म से ही सम्बन्ध है, जिनका धर्म्म विरोधी-आसुरयुगों से ही सम्बन्ध माना जायगा। 'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं-धर्म्मो यत्रोपरुध्यते' इत्यादि आपद्धर्म्मानुगत स्मार्त्त आदेश के अनुसार जब आसुर-सत्ताओं के द्वारा हिंसादि जघन्य कर्म्मों से धर्म्म उत्पीड़ित होने लग पड़े, तो वैसे भयावह युग में 'आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति' के अनुसार अपने ब्राह्मणधर्म्म के विरुद्ध भी ब्राह्मण को शस्त्रग्रहण कर

पृष्ठ १४० की टिप्पणी का शेषांश—

जनमानस को प्रतिक्रियावादी बना डालने में आंशिक सफलता प्राप्त करली है। विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय संस्कृति, एवं धर्म्म का जो उत्तरोत्तर अभिभव होता आरहा है, इस के अन्यान्य ज्ञात-अज्ञात-कारणों में से सर्वप्रमुख एक यह भी कारण रहा है कि, वैदिक विज्ञान की रहस्यपूर्णा परिभाषाओं के बोध से पराङ्मुख बन जाने वाले भारतीय ब्राह्मणविद्वान् प्रकृतिवादी बुद्धिवादी महानुभावों के तर्क-युक्ति-हेत्वाभासादि का सृष्टिविज्ञान-सम्मत समाधान करने में सर्वथा असमर्थ ही बने रह गए हैं।

यह सर्वथा ठीक है कि स्व-सांस्कृतिक-धार्मिक-सत्तायुगों में ऐसे वैज्ञानिक-समाधानों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जनता स्वतः ही केवल धर्म्मादेशों से ही सन्तुष्ट होकर धर्म्माचरण में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त रहती है। किन्तु धर्म्मविप्लवात्मक अश्रद्धायुगों में केवल 'शब्दप्रमाणभक्ति' तबतक सर्वथा निरर्थक बनी रह जाती है, जबतक कि इसके मूल में सृष्टिविज्ञान प्रतिष्ठित नहीं कर दिया जाता। अतएव सांस्कृतिक धार्मिक विप्लव-युगों में शब्दप्रमाणभक्ति के साथ साथ शब्दाधारभूत 'सृष्टिविज्ञान' का भी प्रतिष्ठापन अनिवार्य्य बन जाता है। प्रस्तुत प्रकरण के द्वारा महात्मा भीष्म उस 'विज्ञान' की ओर ही संकेत कर रहे हैं, जिसका उसी महाभारत में एक दूसरे रूप से यों स्पष्टरूप से विश्लेषण हुआ है —

युधिष्ठिर उवाच—**संप्रदीप्तेषु देशेषु, ब्राह्मणे चातिपीड़िते ॥**
अवर्षति च पर्जन्ये, मिथो भेदे समुत्थिते ॥१॥
सर्वस्मिन् दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ॥
केनस्विद्ब्राह्मणो जीवेत्-जघन्ये काल आगते ॥२॥
भीष्म उवाच—**"विज्ञानबलमाश्रित्य जीवितव्यं तदा भवेत्"** ॥३॥

राष्ट्र के सम्पूर्ण प्रान्त सत्तातन्त्र के अविवेक से जब त्रिविध-सन्तापों से सन्तप्त होजायँ, ब्राह्मण (प्रज्ञाबल) अत्यधिकरूप से उत्पीड़ित होजाय, समय पर वृष्टि न हो, परस्पर जनता कलह में प्रवृत्त होजाय, सर्वत्र चोर-उचक्के-डाकू-छली-धूर्त्त-मायावी-तन्त्रायी जघन्य-नराधमों का प्रभुत्त्व स्थापित हो जाय, उस भीषण-जघन्य समय के उपस्थित होजाने पर ब्राह्मण कैसे अपनी सांस्कृतिक-जीवनपद्धति का रक्षण करे ?, युधिष्ठिर के इस प्रश्न पर भीष्म ने जो उत्तर दिया है, वही प्रकृत स्थल में स्पष्ट हुआ है।

लेना चाहिए । मायावी-मायाचारकुशल-आसुर-सत्तातन्त्रों के उद्बोधन के लिए-**'मायाचारो मायया बाधितव्यः'-'शाठ्यं सदा दुर्जने'-'ये यथा मां प्रपद्यन्ते-तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इत्यादि रूप से माया-छल-कपट-शाठ्य-आदि उपायों को भी साधन बना लेने में कोई आपति नहीं है ।

हम समझते हैं, और ठीक समझते हैं कि, जनतन्त्रात्मक वर्त्तमान सत्तातन्त्र हमारा अपना ही सत्तातन्त्र है, जिसने धर्म्मरहस्यज्ञान से अपरिचित रहने के कारण हीं भारतीय संस्कृति-धर्म्म के प्रति अपने आपको निरपेक्ष घोषित कर दिया है, जिसके प्रति अमुक सीमापर्य्यन्त स्वयं ब्राह्मण को भी दोषी माना जायगा, जिसने वेदस्वाध्याय का परित्याग कर अन्यान्य मतवादों की भाँति भारतीय संस्कृति-धर्म्म को भी गतानुगतिकन्यायेन-भावुकतावश-सम्प्रदायवाद के रँग से ही रञ्जित कर डाला है। यह हमारी आस्था है कि, जिस दिन भी ब्राह्मण वेदस्वाध्यायनिष्ठा के द्वारा संस्कृति,-एवं धर्म्म का वास्तविक-ज्ञानविज्ञानात्मक-स्वरूप जनतन्त्र के सम्मुख रख देगा, तत्क्षण स्वयं जनतन्त्र ही अपने सत्तातन्त्र को सांस्कृतिक सिंहासन पर समासीन कर देगा । अतएव आज तो भीष्म के द्वारा प्रदर्शित उपायों में से-**'तपसा ब्रह्मचर्य्येण-(वेदस्वाध्यायेन) नियन्तव्यं तदा भवेत् क्षत्रम्'** इस प्रारम्भिक उपाय को ही (सत्तातन्त्र से सर्वथा निरपेक्ष रहते हुए ही) कार्य्यरूप में परिणत कर देना चाहिए । एकमात्र इसी उपाय से राष्ट्र पुनः अपने विलुप्त सांस्कृतिक-धार्म्मिक गौरव के संस्मरण-आचरण में प्रवृत्त हो सकता है ।

हां, जनतन्त्रात्मक सत्तातन्त्र के अतिरिक्त अन्य जो भी कोई प्रतिक्रियावादी-धर्म्मद्वेषी-ब्राह्मणत्त्व-विरोधी, अतएव राष्ट्रीय मूलसंस्कृति के विरोधी तत्त्व ब्राह्मणत्त्व की उदासीनता से राष्ट्र की निगमागमपुराणसंस्कृति के ही सत्य-अहिंसा-अस्तेय-दया-करुणा-मानवता-विश्वशान्ति-विश्वबन्धुत्त्व-आदि आदि सांस्कृतिक शब्दों के व्याजमाध्यम से 'हितशत्रुता' का अभिनय करते हुए राष्ट्र की प्राणप्रतिष्ठा को शिथिल करते रहने के जघन्य प्रयत्नों में तल्लीन हैं, उनसे जनतन्त्र को अवश्य ही जागरूक बना देना है-शिष्टता-सम्मत प्रत्येक सम्भव उपाय से । यदि सम्भव उपायों से भी उनका मायाचार अवरुद्ध न होगा, तो फिर प्रकृति के दण्ड से तो अपने आपको कौन बचा सका है ? । आज से पूर्वयुगों में, जबकि सत्ता भी मायाचारियों की ही थी, उन युगों में भी जब ये अपना अस्तित्त्व स्थापित न कर सके, तो आजके सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-जनतन्त्रात्मक स्वच्छन्द वातावरण में तो कदापि गुप्त मायाचारों को पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर ही नहीं मिल सकता । भगवदनुग्रह से जब भी जनतन्त्र भारतराष्ट्र की मूलसंस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक सांस्कृतिक स्वरूप से अंशतः भी परिचित हो जायगा, सभी मायाचर क्षणमात्र में शरदभ्रवत् विलीन हो जायँगे । हाँ, तो लक्ष्य लक्ष्य बनाइए उन उपायसूत्रों को, एवं यथाकाल-यथायुग-यथापात्र-दृष्टि से समन्वय कीजिए उनका, जिनका इतिहासभाषा में स्पष्टीकरण हुआ है महात्मा देवव्रत के द्वारा—

भीष्मउवाच—

तपसा ब्रह्मचर्य्येण-,शस्त्रेण च, बलेन च ।
अमायया, मायया च नियन्तं तदा भवेत् (क्षत्रम्) ॥२॥
क्षत्रियस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः ।
ब्रह्मैव संनियतृस्यात्-क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३॥

अद्भ्योऽग्नि, र्ब्रह्मतः क्षत्रं, अश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥४॥
यदा छिनत्त्ययोऽश्मानं अग्निश्चापोऽभिगच्छति ।
क्षत्रं च ब्राह्मणं द्वेष्टि, तदा नश्यन्ति ते त्रयः ॥५॥
तस्माद् ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ! ।
समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥६॥
ब्रह्मवीर्य्ये मृदुभूते क्षत्रवीर्य्ये च दुर्बले ।
दुष्टेषु सर्ववर्णेषु–'ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः' ॥७॥
ये तत्र–युद्धं कुर्वन्ति, त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
ब्राह्मणान् परिरक्षन्तो, धर्म्मं, मात्मानमेव च ॥८॥
मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यश्लोका भवन्ति ते ।
ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥९॥
तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वते ।
ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता ॥१०॥
ब्राह्मणास्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
आत्मत्राणे–वर्णदोषे–दुर्द्दम्यनियमेषु च ॥११॥
नित्यं यस्तु सतो रक्षेत्–असतश्च निवर्त्तयेत् ।
स एव राजा कर्त्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥१२॥

—म० शा० राज० ७८ अ० ।

२५७–सिंहावलोकनन्यायेन पुरुषलक्षणा निरपेक्षा संस्कृति का समन्वय—

लोकातीत–विश्वातीत–पञ्चकल–अव्ययतत्त्व ही पुरुष है, जो अपने पराप्रकृतिरूप पञ्चकल अक्षर, एवं अपराप्रकृतिरूप पञ्चकल क्षर मे समन्वित होता हुआ अत्यनपिनद्ध परात्परभावानुबन्ध से–'षोडशीपुरुष' कहलाया है । त्रिपुरुषात्मक इस विश्वाध्यक्ष पुरुष को ही तथाकथित सोलह कलाओं के सम्बन्ध से–'षोडशकलप्रजापति' कह दिया जाता है । सर्वत्र सब पदार्थों के केन्द्र में अणोरणीयानरूप से, महिमामण्डल में महतोमहीयान् रूप से यही षोडशीप्रजापति साक्षीरूप से प्रतिष्ठित है, जिसका–'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है । 'तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वैतत' इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है । एवं इसी के सम्बन्ध में लोकात्मक पदार्थों को समष्ट्या–व्यष्ट्या–रूपेण भी इसी का यशोगान हुआ है । एवं इसी के सम्बन्ध में लोकात्मक पदार्थों को समष्ट्या–व्यष्ट्या–

से अपने सनातन-सांस्कृतिक-आत्मनिष्ठानुग्रह से समन्विता भारतीय-सांस्कृतिक-प्रजा अपने आराध्य भगवान् की सोलह कलाओं के रूप से ही स्तुति करती रहती है । सोलहकलाविभूतिरूप-लोकाध्यक्ष-लोकसाक्षी त्रिपुरुषपुरुषात्मक-अव्ययेश्वर * भगवान् से अभिन्ना मानसीसृष्टिरूपा भावसृष्टिलक्षणा-असृष्टि ही भगवान् की अपनी 'आत्मकृति' है । स्वयं भगवान् समब्रह्म है । इनकी भावसृष्टि ही इनकी अपनी निरपेक्षा कृति है । और यही ईश्वराव्ययात्मिका समब्रह्म की आत्मकृतिरूपा वह 'मूलसंस्कृति' है, जिसका निबन्धारम्भ में हीं-'संस्कृति' शब्द का निर्वचन करते हुए यशोगान किया जा चुका है । यही वह निरपेक्षा संस्कृति है, जिसका महर्षिगण अपने भावजगत् में-'**मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु**'-'**मनीषिणो मनसा बिब्रवीमि वः**' इत्यादि रूप से अनुध्यानमात्र करते हुए अपने आपको धन्य कृतकृत्य बनाते रहते हैं. जिस इस भावात्मिका निरपेक्षा अव्ययपुरुषात्मसंस्कृति के सूक्ष्मतम-भावात्मक-आचारपक्ष की शब्द के द्वारा कदापि व्याख्या सम्भव नहीं है । अपितु इसके स्मरणमात्र से मानवीय मनोबुद्धि-वाग्व्यापार सर्वथैव अभिभूत हो जाते हैं । लोकसर्जक वेद इसकी स्वरूपव्याख्या करने में असमर्थ है । वेदस्रष्टा विधि (स्वयम्भू ब्रह्मा) इसके लोकातीत स्वरूप के अनुध्यानमात्र का ही अधिकार रखते हैं । तद्गर्भीभूत पारमेष्ठ्य महान् विष्णु इसके विश्वानुबन्धी सगुण स्वरूप को गर्भ में धारण करते हुए भी इसके यथार्थस्वरूप से तटस्थ ही बने रहते हैं । अतएव श्रुति को कहना पड़ा है इस निरपेक्षसंस्कृतिरूपा पुरुषसंस्कृति के लिए यही कि—

संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

२५८-सिंहावलोकनन्यायेन प्रकृतिलक्षणा सापेक्षा संस्कृति का समन्वय—

निरपेक्ष-आत्मसंस्कृतिरूप-त्रिपुरुषपुरुषात्मक-षोडशीपुरुष के अधिष्ठानात्मक अव्यय के आधार पर असमवायीकारणात्मक-(निमित्तकारणात्मक)-पराप्रकृतिरूप-अक्षर के द्वारा समवायीकारणात्मक (उपादानकारणात्मक) आत्मक्षर से जो सर्वप्रथम पञ्चतन्मात्रारूप-'गुणभूत' नामक पाँच विकार उत्पन्न होते हैं, उन्हीं की समष्टि '**विश्वसृट्**' कहलाई है, जिसकी पाँचकलाएँ क्रमशः **प्राणः-आपः-वाक्-अन्नम्-अन्नादः**-नाम से प्रसिद्ध हैं । इन पाँचों के पञ्चीकरण से अभिव्यक्त-**पुरञ्जन**, इनके पञ्चीकरण से अभिव्यक्त पुरञ्जन, ही क्रमशः **वेद-लोक-देव-पशु-भूत**-नामों से प्रसिद्ध हुए हैं । पञ्चपञ्चीकृत-रेणु-अणुभूतात्मक-इन पाँचों

***-द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।**
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥
—गीता १५।१६, १७, ।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥३॥
—गीता १८।६१

पुरञ्जनों से ही क्रमशः आएडवृत्तरूप–प्राणभूतात्मक–छन्दोरूप (नतु महाभूतात्मक) जो सुसूक्ष्म पाँच विश्वपुर अभिव्यक्त हुए हैं (जिनका कि प्रत्यक्षदृष्ट महाभौतिक भूः–चन्द्र–सूर्य्य–पिण्डादि से कोई सम्बन्ध नहीं है), वे ही क्रमशः स्वयम्भु–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इनके उत्तरभावी महाभौतिक स्थूलरूप ही क्रमशः आकाश–वायु–जल–तेज–मृत्–नाम से व्यवहृत हुए हैं, और यही प्रकृतिमूला * गुण–विकारात्मिका भूतभौतिकी सृष्टि का अथ से इति पर्य्यन्त का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिस इतिवृत्त को ही वैज्ञानिक महर्षि–**'विश्व'** कहा करते हैं। यही वह 'लोक' है, जिसका साक्षी विश्वाध्यक्ष षोडशीपुरुष बना हुआ है। इसी के लिए–**'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे'** कहा गया है। यही विश्व अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–भेद से तीन विवर्त्त भावों में परिणत रहता है, जिन अमृत–मृत्युमय तीनों संस्थानों का पूर्व में यथास्थल दिग्दर्शन कराया जा चुका है। (देखिए पृ० सं० ५१–५२)। इन तीनों संस्थानों में अध्यात्मसंस्था–लक्षणा प्राणी–संस्था में मनु के सर्वात्मना व्यक्तरूप बने हुए 'मानव' को आधार बनाकर ही प्रवृत्त–प्रस्तुत निबन्ध में मानव की, (विशेषतः आत्मनिष्ठ–लोकनिष्ठ–भारतीय आस्तिक मानवश्रेष्ठ की) संस्कृति, और सभ्यता का ही चिरन्तन इतिहास प्रतिपाद्य–विषय बन रहा है, जिसके सम्बन्ध में अबतक अनेक दृष्टिकोणों से दिग्दर्शन–स्पष्टीकरण का प्रयास हुआ है। तथोपवर्णित पञ्चपर्वा विश्व के प्रवर्ग्य भागों से मानव का विश्वात्मक व्यक्तरूप सुव्यवस्थित बना है, जिसके **भूतात्मा–बुद्धि–मन–शरीर** इन चारों स्वरूपों का पूर्व में अनेकधा समन्वय किया जा चुका है।

२५९–संस्कृति का आचरण, एवं सांस्कृतिक भावों का आयोजन—

उक्त चारों पर्व ही लोकमानव के लौकिक विश्वानुबन्धी व्यक्त पर्व हैं, जिनके आधार पर मानव की चतुर्विधा लोकसंस्कृतियों का, एवं चतुर्विध सांस्कृतिक–लोकधर्म्मों का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। यही सापेक्षा संस्कृति का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसे शास्त्रीय–संस्कृति–शास्त्रीय धर्म्म कहा गया है, जिनका **'आयोजन'** कदापि सम्भव नहीं है। अपितु जिनका अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणात्मक–चतुर्विध–आचरण ही हुआ करता है। अतएव इन्हें कदापि भारतीय **'सांस्कृतिक–आयोजनों'** की सीमा में अन्तर्भुक्त नहीं माना जा सकता। आचारात्मिका यही संस्कृति सापेक्षा संस्कृति है, जिसे पूर्व की पुरुषसंस्कृति की अपेक्षा से **'प्रकृतिसंस्कृति'** ही कहा जायगा। और यों विश्वात्मा षोडशीपुरुषात्मक निरपेक्षपुरुष, एवं पञ्चपर्वा, किंवा चतुष्पर्वा षोडशकलात्मगर्भिता–सापेक्षा विश्वरूपा प्रकृति, दोनों विवर्त्तों के सम्बन्ध से भारतीय आर्षमानव की संस्कृतियों के दो विभिन्न विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका अबतक यशोगान हुआ है। इस यशोगान को अवधान–पूर्वक लक्ष्य में आरूढ करके ही हम आगे की उन संस्कृतियों का समन्वय कर सकेंगे, जिनका भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों से ही सम्बन्ध माना गया है।

२६०–पुरुष–प्रकृति–के ६ विवर्त्त, एवं तदनुगता संस्कृति, और सभ्यता—

प्राकृतिक विश्व का आगे जाकर **प्रकृति, विकृति** इन दो विवर्त्तभावों में वितान होता है। एवं विकृतिपर्व का अन्ततोगत्त्वा **विकृति, विकार** रूप से दो विभावों में आतान होता है। यों अव्ययपुरुष से

---

* प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभोवपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ (गीता १३।१९)।

आरम्भ कर वैकारिक विवर्त्तपर्य्यन्त तीन विवर्त्त हो जाते हैं–जिनके आधार पर संस्कृति, सभ्यता–शब्दों का चिरन्तन इतिहास त्रिसंस्थ बना हुआ है। **पुरुष–प्रकृति–विवर्त्त, प्रकृति–विकृति-विवर्त्त, विकृति–विकार–विवर्त्त,** तीनों विवर्त्तों में पूर्व पूर्व विवर्त्त सर्वत्र **'पुरुष'** अभिधा से, एवं उत्तर उत्तररूप सर्वत्र **'प्रकृति'** अभिधा से व्यवहृत होगा। पूर्व–पूर्वरूपानुबन्धी 'पुरुष' विवर्त्त सर्वत्र (तीनों संस्थानों में) 'संस्कृति'–विवर्त्त कहलाएँगे, एवं उत्तर–उत्तर रूपानुबन्धी 'प्रकृति' विवर्त्त सर्वत्र 'सभ्यता' विवर्त्त माने जायँगे। यह स्मरण रखिए कि, पुरुष–प्रकृति के विस्तार का इतिवृत्त इन तीन विवर्त्तों पर ही कदापि विश्रान्त नहीं है। यदि सूक्ष्म–दृष्ट्या विचार किया जाता है, तो इनके अवान्तर अनेक विवर्त्त हो जाते हैं, जिनमें से कतिपय विवर्त्तों का **'श्वेतक्रान्तिनिबन्ध'** में दिग्दर्शन कराने की चेष्टा हुई है। संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों के चिरन्तन–इतिहास–प्रसङ्ग में क्योंकि सामान्यदृष्ट्या तीन विवर्त्तों से ही स्थिति का येनकेन रूपेण निर्वाह हो जाता है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में तीन विवर्त्तों का ही ग्रहण सामयिक मान लिया गया है।

प्रथमसंस्थानम्	१–पुरुषः (क्षराक्षरप्रकृतिविशिष्टः–षोडशकलोऽव्ययपुरुषः–षोडशी)	पुरुषः (संस्कृतिः)	१
	२–प्रकृतिः (स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–चन्द्र-पृथिवि–पुरात्मकं विश्वममूर्त्तम्)	प्रकृतिः (सभ्यता)	
द्वितीयसंस्थानम्	१–प्रकृतिः (स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–चन्द्र-पृथिवि–पुरात्मकं–विश्वममूर्त्तम्)	पुरुषः (संस्कृतिः)	२
	२–विकृतिः (आकाश–वायु–तेज–जल–मृदात्मकं–विश्वं–मूर्त्तम्)	प्रकृतिः (सभ्यता)	
तृतीयसंस्थानम्	३–विकृतिः (आकाश–वायु–तेज–जल–मृदात्मकं–विश्वं–मूर्त्तम्)	पुरुषः (संस्कृतिः)	३
	४–विकाराः (कृमि–कीट–पक्षि–पशु–नरादि–प्राणिनः)	प्रकृतिः (सभ्यता)	

१	१–पुरुषः–तदनुगता–निरपेक्षा संस्कृतिः–संस्कृतिरेव–सर्वाधिष्ठात्री
	२–प्रकृतिः–तदनुगता–सापेक्षा संस्कृतिः–स्वपूर्वरूपापेक्षया तु सभ्यता, उत्तररूपापेक्षया तु सैव संस्कृतिः
२	१–प्रकृतिः–तदनुगता–सापेक्षा संस्कृतिः–पूर्वरूपापेक्षया तु सैव सभ्यता
	२–विकृतिः–तदनुगता–सापेक्षा–सभ्यता–उत्तररूपापेक्षया तु सैव संस्कृतिः
३	१–विकृतिः–तदनुगता–सापेक्षा–सभ्यता, उत्तररूपापेक्षया तु सैव संस्कृतिः
	२–विकाराः–तदनुगता–सापेक्षा–सभ्यता–सर्वात्मना–सर्वरूपा

२६१–मानव समाज के विभिन्न तीन वर्ग, एवं तदनुबन्धिनी संस्कृतियाँ—

उक्त तीन संस्थानों के माध्यम से ही भारतीय मानव के तीन वर्ग माने जायँगे। माने नहीं जायँगे, प्रकृत्या हैं हीं तीन वर्ग, जिन के नाम क्रमशः **आत्मनिष्ठ अलौकिक मानव, विश्वनिष्ठ लौकिक मानव, जगदासक्त यथाजातमानव हैं**। इन्हीं तीनों के लिए क्रमशः **कृतात्मा-विधेयात्मा-अकृतात्मा**-ये तीन पारिभाषिक नाम प्रयुक्त हुए हैं गीताशास्त्र में। सिद्धावस्थापन्न आरूढ युक्तात्मा–अलौकिक मानव ही **'कृतात्मा'** है, जो कि सम्पूर्ण कामनाओं से अतिमुक्त है *। बुद्धियोगात्मक योग की परिभाषा में यही **'आरूढ–युक्त–योगी'** कहलाया है, जो स्थितप्रज्ञ मानवश्रेष्ठ ब्राह्मीस्थिति को चरितार्थ करता रहता है। साध्यावस्थापन्न–आरुरुक्षु–शास्त्रविधिनिष्ठ–लौकिक–स्वच्छन्दस्क (मर्य्यादित) मानव ही **'विधेयात्मा'** कहलाया है। एवं शास्त्रविधि से तटस्थ–यथाजात–संस्कारशून्य–लोकप्रवाहपतित–मानव ही–**'अकृतात्मा'** माना गया है। भारतीय शुद्धाद्वैत–सम्प्रदायाचार्य्यों नें अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि के पोषणमात्र के लिए इन्हीं तीनों वर्गों का **पुष्टजीव–मर्य्यादिक-जीव–प्रावाहिकजीव** भेद से तीन विवर्त्त मान लिए हैं अपने भावुक भक्तों की भावुकता के संरक्षणमात्र के लिए, जिनका शास्त्रीय निष्ठाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये ही तो वे साम्प्रदायिक–व्यामोहकसूत्र हैं, जिनसे भावुक जनता वारुणपाशवत् आबद्ध होती हुई आर्षनिष्ठाओं से पराङ्मुख बन गई है। निवेदन प्रकृत में यही करना है कि, पुरुष–प्रकृति के तीन संस्थानों के आधार पर ही भारतीय मानव की संस्कृति, और सभ्यता के तीन विभिन्न क्षेत्र बन गए हैं, जिनका **अलौकिक-लौकिक-यथाजात** भेद से त्रेधा वर्गीकरण प्रकृतिसम्मत ही माना जायगा।

२६२–संस्कृति के तीन विभिन्न संस्थान, एवं तदधिकारीवर्ग—

आत्मनिष्ठ बनकर लोकसंग्रहदृष्ट्या शास्त्रीय आचारानुसार वर्णानुगत कर्त्तव्य कर्म्मों में निष्कामबुद्ध्या व्यवस्थित रहने वाले मानवश्रेष्ठ ही पुरुष–प्रकृति–रूप प्रथमविवर्त्त के लक्ष्य हैं। शास्त्रविधि के अनुसार शास्त्रीय कर्त्तव्य–कर्म्मों में जागरूकता से व्यवस्थित रहने वाले, साथ ही शास्त्र सम्मत–(शास्त्रविहिताप्रतिषिद्ध भी) लौकिक आयोजनों में भी लोकसंग्रहदृष्ट्या सहयोगी बने रहने वाले मानव ही प्रकृति–विकृतिरूप–द्वितीय विवर्त्त के लक्ष्य हैं। एवं केवल मानसिक–विनोदमात्र के लिए लौकिक–आयोजनों को ही जीवन का सर्वस्व मान बैठने वाले–कामार्थ–परायण–निर्लक्ष्य–स्वस्वरूपबोधवञ्चित–उदरम्भरि लक्ष्यभ्रष्ट प्राकृत मानव ही विकृति-विकाररूप तृतीय विवर्त्त के लक्ष्य हैं। इन तीनों विवर्त्तों में से प्रथम विवर्त्त का चिरन्तन इतिहास ही अबतक के संस्कृति–सभ्यता शब्दों के इतिहास के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा हुई है। अब क्रमप्राप्त प्रकृति–विकृतिरूप–द्वितीय विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाली संस्कृति (लोकसंस्कृति), एवं सभ्यता (लोकसभ्यता) से सम्बन्ध रखने वाले शब्दों के इतिहास की ओर ही आयोजनप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

२६३–ईश्वर की सभा, सभा के सदस्य, प्रधानामात्य, और तन्मन्त्रणा—

संस्कृतिप्रेमियों को स्मरण होगा कि, हमनें सभ्यता के पूर्व, एवं उत्तररूपों का नाम हीं क्रमशः सापेक्षा संस्कृति, एवं सापेक्षा सभ्यता कहा है (देखिए पृ० सं० २३, परिच्छेद ५० वाँ)। पुरुषात्मिका निरपेक्षा

*** कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।**

संस्कृति के आधार पर व्यक्त होने वाला प्रकृतिरूप पञ्चपर्वा विश्व ही व्यक्त-मूर्त्त विश्व है, यही वह सभा है, जिसके सभापति हैं षोडशी प्रजापतिरूप अव्ययपुरुषेश्वर, जो तटस्थरूप से इस विश्वसभा के प्रति निरपेक्षरूपेण साक्षीमात्र बने हुए हैं। सभा के प्रधान मन्त्री हैं वे परोरजामूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्मा, जो नियति:सत्यात्मक धर्म्म-दण्ड से विश्वप्रजा का सफल सञ्चालन करते रहते हैं। विश्व के प्राणात्मक लोकी देवता इस सभा–समिति के सदस्य हैं, जो अपने त्रिवृद्भावापन्न त्रैलोक्य-त्रिलोकी रूप नवलोकों की व्यवस्था के लिए विश्वव्याप्ता स्वायम्भुवी उस वाक् के साथ मन्त्रणा करते रहते हैं उस परमाकाशात्मक स्वायम्भुव-द्युपृष्ठ में, जो वाग्देवी ही शासननीति का मूलसूत्र मानी गई है, जिसका निम्नलिखित रूप से अस्यवामीयसूक्त में यशोगान हुआ है—

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेकं ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव म्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम्'' ॥

—ऋक्संहिता १६४।१०।

२६४–ईश्वरीया सभा के विधि-विधान और सभ्यता—

प्राणदेवतारूप सभ्यों-सदस्यों से समन्विता, स्वयम्भूविश्वकर्म्मा-रूप प्रधान मन्त्री से सञ्चालिता, स्वयम्भु-परमेष्ठ्यादि पाँच अमूर्त्त–प्राणात्मक–पुरों से कृतरूपा विश्वप्रकृति ही निरपेक्ष–तटस्थ–साक्षी–सभापति विश्वेश्वर अव्ययपुरुषेश्वर की वह व्यक्ता सभा है, जिसके नियति:सत्यलक्षण ब्रह्म–क्षत्र-विट्–पौष्ण-भावसञ्चालक–नियामक विधिविधिनात्मक नियमोपनियम हीं 'सभ्यता' है। और यही 'पूर्वसभ्यता' है, जिसके आधार पर आगे चल कर विकृतिरूपा उत्तर–सभ्यता का विकास हुआ है। यह पूर्वसभ्यता ही अपने ब्रह्म–क्षत्र-विट्-पौष्ण-भावों से मोक्ष-धर्म्म–काम–अर्थ–रूपा चतुर्विधा लोकसंस्कृतिरूप में, एवं अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणरूप-चतुर्विध लोकधर्म्मों के रूप में परिणत हो रही है, जिसका क्रमशः मानव के प्राकृत स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले भूतात्मा-बुद्धि-मन:-शरीर-इन चार पर्वों से क्रमिक सम्बन्ध बतलाया गया है। प्रकृति के अव्यक्त-सूक्ष्मप्राण ही यहाँ गृहीत हैं, जिनका व्यक्त–भौतिक जगत् से पार्थक्य ही माना गया है। अतएव तदनुगता संस्कृति, एवं धर्म्म अपने इस प्राणधर्म्म से ही-'**अदृष्ट**' कहलाए हैं। यही शास्त्रीया संस्कृति, एवं शास्त्रीय प्रतीक धर्म्म है। प्राणनिबन्धनता से विश्वरूपा भी इस सभ्यता को आत्मप्रधानत्वेन कहा जायगा संस्कृति ही। अतएव पूर्व-सभ्यतारूपा प्रकृति को लोकसभ्यता न कह कर माना जायगा लोकसंस्कृति ही, जैसाकि पूर्व की तालिकाद्वयी में स्पष्ट कर दिया गया है (देखिए पृ० स० १४६)।

२६५–पूर्वसभ्यतारूपा–संस्कृति—

पूर्वसभ्यतारूपा प्रकृतिरूपा सापेक्षसंस्कृति आचारप्रधाना है यह अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है. जिनका आयोजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस पूर्वसभ्यतात्मिका संस्कृति से अनुप्राणित अदृष्ट मोक्षादिधर्म्म का, शास्त्रीय योग–ज्ञान–भक्ति–कर्म्मों–का आचारनिष्ठा से ही सम्बन्ध है। एवं द्विजाति–मानव ही इसमें अधिकृत है। अतएव लोकतन्त्रानुगत आयोजनों का तो इसके सम्बन्ध में प्रश्न हीं खड़ा नहीं होता।

२६६–उत्तरसभ्यतारूपा सभ्यता—

अब उत्तरसभ्यता से सम्बन्ध रखने वाली उस लोकसभ्यता को लक्ष्य बनाइए, जिसके आधार पर ही आयोजनात्मिका लोकसंस्कृति के स्वरूप का हमें अन्वेषण करना है। वह उत्तररूप ही–'विकृति' कहलाया है।

जिस पञ्चमहाभूतात्मक-प्रत्यक्षदृष्ट-आकाश-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-आदि का हम अपनी इन्द्रियों से साक्षात्कार कर रहे हैं, वही उस प्राणप्रधाना विश्वप्रकृति का 'विकृति' लक्षण उत्तररूप है, जिसे समझने-समझाने के लिए हम मर्त्य-भौतिक-जगत् कह सकते हैं। भौतिक जगत् का परिवर्त्तन होता है, किन्तु प्राणजगत्-प्रकृति-जगत्-इसकी अपेक्षा परिवर्त्तन से पृथक् ही माना गया है। विकृति यदि विकारानुगता है, तो इसका संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। यदि यही विकृति-प्रकृति के अनुसार सञ्चालित है, तो इसका सभ्यतात्मक स्वरूप भी सांस्कृतिक बन जाया करता है। सहजभाषा में-प्राणरूपदेवता ही प्रकृति की स्वरूपव्याख्या है। 'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः' इत्यादि मानवीय सिद्धान्त के अनुसार प्राणदेवात्मिका प्रवृति से ही बल-चितियों के ग्रन्थिबन्धनतारतम्य से भूतात्मक भौतिक स्थावर-जङ्गम पदार्थों का आविर्भाव हुआ है। प्रकृति ही विकृति की प्रतिष्ठा है। प्राण ही भूत का आधार है। इसी आधार पर मानवीया सभ्यता (बहिर्भावानुगता लोकजीवनपद्धति) को ऋषिप्रज्ञा ने देवप्राणात्मिका प्रकृति के आधार पर ही व्यवस्थित कर इसके सम्मुख ये उद्बोधनसूत्र रक्खे हैं—

यद्वै देवा अकुर्वन्-तत्करवाणि
देवाननुविधा वै मनुष्याः
प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या

इसी अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुए प्रकृतिसाक्षी अव्ययावतार भगवान् वासुदेव ने कहा है—

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु नः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ १ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ २ ॥

—गीता ३।११,१२, ।

२६७-सभ्यतायोजनात्मक सांस्कृतिक आयोजन—

लौकिक-भौतिक-यच्चयावन कर्म्मों को प्रकृति के अनुरूप व्यवस्थित कर देना हीं इन्हें सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान कर देना है। 'संस्कृति' की मूलव्यञ्जना है ईश्वरीय भावना, आत्मभावना, जिसका प्रकृतिमण्डल में देवप्राणरूप से समन्वय हुआ है। देवप्राण अव्ययेश्वर की ही प्राकृतिक विभूतियाँ हैं। अतएव देवप्राणोपासना से परम्परया अव्ययपुरुष भी उपास्य मान लिए जाते हैं *। जिस प्रकार देवभाव के

*** येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।**
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

—गीता ६।२३।

माध्यम से अव्ययात्मानुग्रह गतार्थ बन जाता है, अतएव प्राणदेवरूप–पूर्वसभ्यतात्मक प्रकृतिलक्षण शास्त्रीय–देवकर्म्म भी सांस्कृतिक-कर्म्म बन जाता है, एवमेव मानव के वे समस्त भूतभौतिक प्रधान-उत्तरसभ्यतात्मक-विकृति-लक्षण–लौकिक–भौतिक–सांसारिक कर्म्म भी देवप्राणरूपा प्रकृति के मूलाधार से परम्परया सांस्कृतिक कर्म्म ही बन जाते हैं, जिन्हें श्रद्धात्मिका धर्म्मभाषा में–**'सांस्कृतिक-आयोजन'** कहा गया है। और यही आयोजनात्मक–सांस्कृतिक उन लोकानुबन्धों का मूलोपक्रम है, जिन्हें विकृतिसम्बन्ध से जहाँ–**'सभ्यता के आयोजन'** माना जायगा, वहाँ प्रवणदेवात्मिका प्रकृति के सम्बन्ध से **'सांस्कृतिक आयोजन'** भी कहा जा सकेगा, जिनके आयोजनात्मक–व्यावहारिक स्वरूपों का ही मर्म्म अन्वेष्टव्य है श्रद्धापूर्वक।

२६८–'सांस्कृतिक- आयोजनों' की भारतीयता—

आयोजनों के सम्बन्ध में आयोजन के प्रधानपात्र, आयोजनों के अवसर, आयोजनों की पद्धति, आयोजनों का नियन्त्रण, आदि अनेक प्रश्न समुपस्थित हो सकते हैं, जिनका मानव को अपनी लोकप्रज्ञा से ही यथावसर–यथाकाल समन्वय करते रहना चाहिए। क्योंकि विकृतिभावानुबन्ध से सर्वथा सत्तासापेक्ष बनते हुए सभ्यतानुगत ये सांस्कृतिक–आयोजन देश–काल–पात्र–द्रव्य श्रद्धादि के परिवर्त्तनानुपात से उसी प्रकार बदलते रहते हैं, जैसे कि–परिवर्त्तनशील सत्तातन्त्रों के अनुबन्ध से दैशिक सभ्यताओं में युगधर्म्मानुसार परिवर्त्तन होता रहता है। अतएव कदापि सांस्कृतिक आयोजनों की भी कोई सुनिश्चिता पद्धतियाँ नहीं रहा करतीं। अपितु देशधर्म्म–ज्ञातिधर्म्म–कुलधर्म्म–समाजधर्म्म–राजधर्म्म–सर्वोपरि युगधर्म्म के अनुपात से एक ही प्रकार के भी सांस्कृतिक आयोजनों के अनुष्ठान–प्रकार (मानने के प्रकार) एक ही युग में भी भिन्न भिन्न हो जाया करते हैं। इन परिवर्त्तनभावों के रहने पर भी ऋषिप्रज्ञा ने इन्हें–**'सभ्यता के आयोजन'** न कह कर–**'सांस्कृतिक आयोजन'** क्यों कह डाला !, जबकि 'संस्कृति' शब्द आत्मदेवानुबन्धी–अपरिवर्त्तनीय भावों के साथ ही समन्वित रहा करता है !, इस प्रश्न का समाधान प्राप्त कर लेना हीं तो **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** की **भारतीयता** का जान लेना माना जायगा। तो आइए ! सर्वप्रथम इसी प्रश्न के समाधान का अवधान–पूर्वक अन्वेषण कर लिया जाय।

२६९–निरपेक्षा संस्कृति का सिंहावलोकन—

निरपेक्षा संस्कृति का सिंहावलोकनदृष्ट्या समन्वय करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है, कि स्व परा-प्रकृतिरूप अक्षरपुरुष, स्व अपराप्रकृतिरूप क्षरपुरुष, एवं परात्पर समन्वित अव्ययपुरुष, इस त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशकल, अतएव 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध विश्वसाक्षीरूप विश्वातीत–विश्वात्मा–विश्वकर्त्ता अव्ययेश्वर ही 'सम' ब्रह्म है, जिसके लिए गीताचार्य्य नें–**'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'** यह सिद्धान्त स्थापित किया है। इस समब्रह्म की भावात्मिका–मानसिक–आत्मकृति ही–इसकी–'संस्कृति' है। एवं यही निरपेक्षा अव्ययसंस्कृति हैं (देखिए पृ० सं० १४४, परिच्छेद सं० २५७)। निरपेक्षसंस्कृतिरूप षोडशीपुरुषेश्वर पर ध्यान देने का अनुग्रह कीजिए।

२७०–अव्ययानुगत ब्रह्म–देव–भूत–सत्यों का समन्वय, और संस्कृति—

सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति निष्कल परात्पर का मायी रूप ही पञ्चकल अव्ययपुरुष है, जिसे 'श्वोवसीयस्ब्रह्म' भी कहा गया है। यही वह श्वोवसीयस् नामक काममय 'अव्ययमन' है, जिसके कामात्मक रेत से ही सम्पूर्ण सृष्टियाँ

का विकास हुआ करता है, जैसाकि–**'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत'** (ऋक्सं० १०।१२६।४।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है। परात्पराभिन्न मनोमूर्त्ति यह अव्ययपुरुष ही **'सत्यस्य सत्यम्'–ज्योतिषां ज्योतिर्लक्षण 'ब्रह्मसत्य'** है। इस ब्रह्मसत्यमूर्त्ति अव्ययात्मसत्य की पराप्रकृति ही **अक्षर** है, जो प्राणमय है। यही **'देवसत्य'** कहलाया है। एवं अव्ययात्मसत्य की अपराप्रकृति ही क्षर (आत्मक्षर) है, जो वाङ्मय है। यही **'भूतसत्य'** कहलाया है।

तात्पर्य्य यही है कि, विश्व में जितनें भी भूत–भौतिक पदार्थ हैं, उन सबका **उक्थ (प्रभव)–ब्रह्म (प्रतिष्ठा)–साम (परायण)** लक्षण आत्मा (मूलाधार) अपराप्रकृतिरूप क्षर ही बना करता है। इसी आधार पर भूताधारभूत–भूतेशरूप–क्षर का भगवान् ने–**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** इत्यादिरूप से क्षर नाम से ही ग्रहण कर लिया है। अतएव इसे–**'भूतसत्य'** कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। विश्व में **ऋषि–पितर–असुर–देव–गन्धर्व–आदि–आदि** जितनें भी प्राणरूप देवता हैं, उन विधर्त्ता यच्चयावत् प्राणदेवों का **उक्थ–ब्रह्म–साम–रूप** आत्मा पराप्रकृतिरूप अक्षर ही माना गया है। क्षरभूतपरमाणुओं का एकसूत्र में जिस प्राण-शक्ति के द्वारा विधरण–संघठन–राशिकरण–हुआ करता है, क्षरकूटाधिष्ठाता वह देवप्राणात्मक अक्षर ही कूटस्थ कहलाया है, जैसाकि–**'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** इत्यादि गीतावचन से प्रमाणित है। अतएव इस अक्षर को–**'देवसत्य'** कह दिया जाता है। प्राणियों के महानात्मा में प्रतिबिम्बित जितनें भी चिदाभासलक्षण आत्म-भाव हैं, सबकी उक्थ–ब्रह्म–साम–लक्षणा मूलप्रतिष्ठा महद्गर्भीभूत **'चिदात्मा'** नामक अव्ययपुरुष ही बने हुए हुए हैं। अतएव इन्हें–**'ब्रह्मसत्य'** नाम से व्यवहृत कर दिया गया है।

यों त्रिपुरुषात्मक पुरुषेश्वर ही अव्ययरूप से मनोरूप चिदात्मभावों का, अक्षररूप से प्राणदेवभावों का, एवं क्षररूप से वाङ्मय भूतभावों का सर्वस्व बना हुआ है। **उपदानकारणात्मक क्षर की दृष्टि से वही भूतपति है, विश्वमूर्त्ति है। निमित्तकारणात्मक अक्षर की दृष्टि से वही प्राणपति है, विश्वकर्त्ता है। एव अधिष्ठानकारणात्मक स्वयं अपनी (आपकी) दृष्टि से वही चित्पति है, विश्वसाक्षी विश्वेश्वर है।** ब्रह्मसत्यरूप–विश्वाधिष्ठान–विश्वेश्वर वही प्रजापति अपने अव्ययरूप से मनोमयी भावसृष्टि * का प्रवर्त्तक बना हुआ है। देवसत्यरूप–विश्वकर्त्ता–वही प्रजापति अपने पराप्रकृतिरूप अक्षर से प्राणमयी **'गुणसृष्टि'** ÷ का प्रवर्त्तक बना हुआ है एवं भूतसत्यरूप–विश्वात्मा–वही प्रजापति अपने अपराप्रकृतिरूप क्षर से–**विकारसृष्टि'**×

÷–प्रकृतिः–पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥
—गीता १३।१६।

*–भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥ (श्वे० उप० ५।१४।)।

×–महर्षयः सप्त पूर्वे–चत्त्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
—गीता १०।६।

का प्रवर्त्तक बन रहा है। यों अपने हीं मनोमय अव्यय, प्राणमय अक्षर, वाङ्मय–क्षररूपों से सर्वस्व बना रहता हुआ निरपेक्ष संस्कृतिरूप षोडशी प्रजापति ही **भाव-गुण–विकार–सर्गों** के द्वारा सब कुछ बने हुए हैं। अतएव गीता ने कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

—गीता

आनन्दविज्ञानमन:प्राणवाङ्मयअव्यय का आनन्दविज्ञानमनोमय रूप मुक्तिसाक्षी (रसप्रधान) है, एवं मन:प्राणवाङ्मय रूप सृष्टिसाक्षी (बलप्रधान) है। सृष्टिसाक्षी अव्यय का मनोमयरूप ही भावसर्गकर अव्यय है, इसी का प्राणमय रूप ही गुणसर्ग का अक्षर है, एवं इसी का वाङ्मयरूप ही विकारसर्ग का क्षर है। यों मन:प्राणवाङ्मय एक ही अव्ययात्मा + मनसा अव्ययात्मा, प्राणेन अक्षरात्मा, एवं वाचा क्षरात्मा बनता हुआ ब्रह्म–देव–भूत–भावत्रयी में परिणत हो रहा है। और-**'एतदात्म्यमिदं सर्वम्'**–**'आत्मैवेदं सर्वम्'**–**'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'** इत्यादि श्रुतियों का यही रहस्यात्मक समन्वय है। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति का वह ईश्वरात्म–व्याप्तिसिद्धान्त–स्थापित हुआ है, जिसका–**'ईशावास्यमिदं सर्वं–यत्किञ्च जगत्यां जगत्'**–**'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**–इत्यादि वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है। अतएव आत्मसंस्कार से संस्कृत भारतीय मानव की दृष्टि में सर्वत्र–सभी में आत्मभाव ही प्रधान बना हुआ है, जो कि आत्मभाव मूलतः अव्ययात्मक ही है। अतएव सर्वत्र ईश्वरात्मा–अव्ययात्मा को, किंवा तद्विभूतिरूप–अक्षररूप सूर्य्य–इन्द्र–अग्नि–वरुण–आदि प्राणदेवों को, किंवा तदवताररूप–राम–कृष्ण–आदि अवतारपुरुषों को, किंवा तत्प्रतिमानरूप भगवद्विग्रह–देवविग्रहों को साक्षी बना कर ही अपने लौकिक विधि–विधानों की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न करना अपना महान् सांस्कृतिक कर्त्तव्य मानता रहता है। कहीं भी यह आत्मदेव को विस्मृत नहीं करना चाहता। यही इसकी सांस्कृतिकता है, जिसके स्मरणमात्र का भी अधिकार उन जड़वादियों को तो कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता, जो केवल वैकारिक भौतिक–जगत् को ही मानव का सर्वस्व-स्वरूप मानते हुए इसे पशुश्रेणि का भी अतिक्रमण नहीं करने देते। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइये निम्नलिखित परिलेखों को, एवं तदाधारेण समन्वय करने का अनुग्रह कीजिए आत्मनिष्ठ–लोकसंग्राहक–भारतीयमानव के आराध्य निरपेक्ष संस्कृतिमूर्त्ति–विश्वेश्वर के समन्वय पर दृष्टिपात का। अवश्य ही इस अनुग्रहदृष्टिमात्र से द्रष्टाओं के सभी वाग्विजृम्भण परिसमाप्त हो जायँगे।

१–परात्पराभिन्नः–पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः–विश्वस्य अधिष्ठानम् (पुरुषरूपः)
२–अव्ययाभिन्नः–पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः––विश्वस्य निमित्तकारणम् (पराप्रकृतिरूपः) –षोडशीप्रजापतिः
३–अक्षराभिन्नः––पञ्चकलः-क्षरपुरुषः––विश्वस्य उपादनकारणम् (अपराप्रकृतिरूपः)

❀

+—स वा एष आत्मा वाङ्मयः–प्राणमयो–मनोमयः।
—बृहदारण्यक–उपनिषत्।

१–पुरुषात्मकः पुरुषः———अव्ययो मनोमयः–काममयः–ब्रह्मसत्यात्मा (ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)	–त्रिसत्यमूर्त्तिरात्मा ईश्वरः
२–पराप्रकृतिरूपः पुरुषः——अक्षरः–प्राणमयः–तपोमयः–देवसत्यात्मा (देवसत्यमूर्त्तिः)	
३–अपराप्रकृतिरूपः पुरुषः––क्षरः–वाङ्मयः——श्रममयः–भूतसत्यात्मा (भूतसत्यमूर्त्तिः)	

❀

१–ब्रह्मसत्यात्मकेनाऽव्ययेन–मनसा–भावसृष्टिः––(स एव–चिदात्मनां–उक्थब्रह्मसामलक्षणः–आत्मा) ।

२–देवसत्यात्मकेनाक्षरेण––प्राणेन–गुणसृष्टिः––(स एव–प्राणदेवानां–उक्थब्रह्मसामलक्षणः–आत्मा) ।

३–भूतसत्यात्मकेन क्षरेण—वाचा––विकारसृष्टिः-(स एव–भूतभौतिकानां–उक्थब्रह्मसामलक्षणः–आत्मा) ।

❀

स एषः–संस्कृतिरूपः–षोडशी–अव्ययेश्वरः—

१–भावसर्गाध्यक्षोऽव्ययः––विश्वसाक्षी–चित्पतिः–साक्षी विश्वस्य	—ऐतदात्म्यमिदं–सर्वम्
२–गुणसर्गाध्यक्षोऽक्षरः––विश्वकर्त्ता––प्राणपतिः-कर्त्ता विश्वस्य	
३–विकारसर्गाध्यक्षः-क्षरः––विश्वमूर्त्तिः-भूतपतिः–भर्त्ता विश्वस्य	

❀

२७१–'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' का समन्वय, और संस्कृति—

ऐतदात्म्यरूप यही अव्ययेश्वर सुप्रसिद्धा त्रिवृत्करणप्रक्रिया के अनुसार अपने महिमात्मक विस्तारभाव में आता हुआ त्रिवृद्भाव में परिणत हो जाता है। इसके इस त्रिवृद्भाव का अर्थ है–तीन संस्थानों का त्रिः–त्रिः–भावों में परिणत हो जाना । तात्पर्य्य निवेदन का यही है कि–१–विश्वातीत अलौकिकभाव, २–प्राणात्मक–अमूर्त्त–विश्वात्मक–लौकिकभाव, तथा ३–भूतात्मक–मूर्त्त–विश्वात्मक–भौतिकभाव भेद से सम्पूर्ण महिमाविवर्त्त को तीन विवर्त्तमात्रों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है त्रिवृद्भाव के माध्यम से। अलौकिकभाव में अव्ययपुरुष की प्रधानता है, लौकिकभाव में अक्षरपुरुष की, एवं भौतिकभाव में क्षरपुरुष की प्रधानता है । तीनों में त्रिवृद्भावानुबन्ध से है यद्यपि अव्ययाक्षरात्मक्षर–तीनों हीं। तथापि गौण–प्राधान्यभाव से तीनों ताच्छब्द्यन्याय से मान लिए गए हैं–क्रमशः अव्यय–अक्षर–क्षरात्मक हीं।

२७२–अव्ययसंस्कृति के विभिन्न तीन संस्थान, और संस्कृतित्रयी—

अलौकिक भावात्मक भावसर्गात्मक–मनःप्रधान–प्रथम संस्थान में अक्षर–क्षर–दोनों गौण बनते हुए अव्यय के गर्भ में प्रविष्ट हैं । अतएव अक्षर–क्षर–गर्भित–अव्ययप्रधान वह अलौकिक संस्थान अव्यय की प्रधानता से कहलाया है–'**अव्ययसंस्थान**' ही । अव्यय ही वास्तव में मायापुरोऽवच्छिन्न–पुरि शेते–लक्षण 'पुरुष' है । अतएव इसे '**१–पुरुषसंस्थान**' भी कहा जा सकता है । लौकिक भावात्मक–गुणसर्गात्मक–प्राण–प्रधान–द्वितीय संस्थान–में अव्यय, और क्षर दोनों गौण बनते हुए अक्षर के गर्भ में समाविष्ट हैं । अतएव अव्यय–क्षर–गर्भित-अक्षरप्रधान वह लौकिक संस्थान पराप्रकृतिरूपेण–'प्रकृति' लक्षण बनता हुआ–'**२–प्रकृति-संस्थान**' कहलाया है । भौतिकभावात्मक–विकारसर्गात्मक–वाक्प्रधान–तृतीय संस्थान में अव्यय, और अक्षर, दोनों गौण बनते हुए क्षर के गर्भ में समाविष्ट हैं । अतएव अव्ययाक्षरगर्भित–क्षरप्रधान–वह भौतिकसंस्थान–अपराप्रकृतिरूपेण–विकारसर्गप्रवर्त्तकत्वेन च 'विकृति' लक्षण बनता हुआ '**३–विकृतिसंस्थान**' कहलाया है । यों त्रिवृत्करण से एक ही षोडशीपुरुष **त्रिमूर्त्ति अव्ययपुरुष, त्रिभवात्मिका–अक्षरप्रकृति, त्रिरूपा क्षर-विकृति**-रूप से '**पुरुष–प्रकृति–विकृति**' भावनिबन्धनत्वेन–अलौकिक–लौकिक–भौतिकरूप ब्रह्म–देव–भूतसत्यभावों में परिणत होता हुआ सर्वस्व बना हुआ है, जैसाकि त्रिवृद्भावात्मक निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है—

अव्ययः १	१–अव्ययः (मनः–ज्ञानम्–ब्रह्म)–ब्रह्म २–अक्षरः (प्राणः-क्रिया-क्षत्रम्)-देवाः ३–क्षरः (वाक्–अर्थः–विट्)-भूतानि	—अक्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः–षोडशी
अक्षरः २	१–अक्षरः–प्राणः–क्रिया–क्षत्रम्)–देवाः २–क्षरः–-वाक्–-अर्थः–विट्)–भूतानि ३–अव्ययः-मनः–ज्ञानम्–ब्रह्म)–ब्रह्म	—क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरपुरुषः–षोडशात्मकः
क्षरः ३	१–क्षरः (वाक्–-अर्थः–विट्)–भूतानि २–अक्षरः (प्राणः–क्रिया–क्षत्रम्)–देवाः ३–अव्ययः (मनः–ज्ञानम्–ब्रह्म)–ब्रह्म	—अक्षराव्ययगर्भितः क्षरपुरुषः-षोडशकलः

१–षोडशी—-अव्ययपुरुषः–एव–पुरुषः–-अलौकिकसंस्थानम्–अमृतात्मसंस्थानम्

२–षोडशात्मा–अक्षरपुरुषः–-एव–प्रकृतिः–लौकिकसंस्थानम्—अमूर्त्तविश्वसंस्थानम्

३–षोडशकलः–क्षरपुरुषः—-एव–विकृतिः-भौतिकसंस्थानम्—मूर्त्तविश्वसंस्थानम्

❀

१–अलौकिकसंस्थानाध्यक्षः–ब्रह्मसत्यात्मा–-पुरुषः–पुरुषसंस्कृतिर्निरपेक्षा

२–लौकिकसंस्थानाध्यक्षः—देवसत्यात्मा–प्रकृतिः–प्रकृतिसंस्कृतिः सापेक्षा

३–भौतिकसंस्थानाध्यक्षः—-भूतसत्यात्मा–विकृतिः-विकृतिसंस्कृतिराश्रिता

❀

१–पुरुषः
२–प्रकृतिः
}पुरुषः (२)—आत्मसंस्कृतिः–अनुध्यानात्मिका (१)

१–प्रकृतिः
२–विकृतिः
}प्रकृतिः (२)—देवसंस्कृतिः—आचारात्मिका (२)

१–विकृतिः
२–विकाराः
}विकृतिः (२)—भूतसंस्कृतिः—आयोजनात्मिका (३)

❀

२७३–संस्कृति के उत्तम–मध्यम–प्रथम–अधिकारी—

उक्त विवेचना को आधार बनाए रहिए। एवं अब इस आधार के माध्यम से तीन नवीन वाक्यों को लक्ष्य बनाइए, जो क्रमशः संस्कृतिनिष्ठा, सांस्कृतिक आचार, सांस्कृतिक आयोजन, इन नामों से व्यवहृत होंगे। अव्ययपुरुष के माध्यम से संस्कृतिक–निष्ठा का समन्वय होगा, अक्षरप्रकृति के माध्यम से सांस्कृतिक–आचार का समन्वय होगा, एवं क्षरविकृति के माध्यम से सांस्कृतिक–आयोजन का समन्वय सम्भव

होगा। तीनों के अधिकारी क्रमशः **उत्तमाधिकारी–मध्यमाधिकारी–प्रथमाधिकारी** इसलिए कहे और मानें जायँगे कि, तीनों का क्रमशः उत्तमपुरुष (अव्यय), -मध्यमपुरुष (अक्षर) एवं प्रथमपुरुष (क्षर) से क्रमिक सम्बन्ध है।

२७४–संस्कृतिनिष्ठा, सांस्कृतिक आचार, एवं सांस्कृतिक आयोजन—

उत्तमाधिकारी–अव्ययनिष्ठ–अलौकिक–अतिमानव–हीं संस्कृतिनिष्ठ कहलाएँगे। मध्यमाधिकारी–अक्षरनिष्ठ–लौकिक–मानवश्रेष्ठ ही सांस्कृतिकआचारनिष्ठ मानें जायँगे। एवं प्रथमाधिकारी क्षरनिष्ठ–भौतिक–मानव ही सांस्कृतिक-आयोजननिष्ठ कहें जायँगे। और यों 'संस्कृति' शब्द अव्यय–अक्षर–क्षर–भेद से तीन क्षेत्रों में समन्वित किया जा सकेगा। इस समन्वयत्रयी का मूलाधार शब्द होगा 'संस्कृति'। 'संस्कृति' का मौलिक अर्थ होगा–'आत्मनिष्ठा'। फलतः जिन आचारों, आयोजनों में ईश्वराव्ययरूपेण, किंवा देवरूपेण, किंवा निदानरूपेण आत्मभावना की प्रधानता रहेगी, उन्हीं आचरणों को सांस्कृतिक आचरण कहा जायगा। एवं उन्हीं भौतिक आयोजनों को सांस्कृतिक आयोजन माना जायगा।

२७५–आत्म–देव–भावशून्य आयोजनों का पश्वायोजनों से समतुलन—

ठीक इसके विपरीत जो भौतिक आयोजन आत्म–देव–रूपा संस्कृतिभावना से न केवल तटस्थ ही रहेंगे, अपितु दोनों का विरोध व्यक्त करेंगे, वैसे संस्कृति–धर्म्मनिरपेक्ष–आत्मदेवभावनाविरोधी, किंवा आत्मदेवभावनामूला आस्थाश्रद्धा से पराङ्मुख सभी आयोजन कदापि भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजन तो कदापि नहीं मानें जा सकेंगे, नहीं मानें गए पूर्वयुगों में भी तथाविध नास्तिकताभावानुगत–शून्यात्मक–आयोजन। तद्दशामें तो उन्हें केवल युगाधर्म्मात्मिका सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले मनःशरीरमात्रनिबन्धन–कामार्थलिप्सामात्र के पूरक–अतएव पश्वायोजनात्मक-जड़–आयोजन ही कहा जायगा, जिनका भारतीय सांस्कृतिक प्राङ्गण में संस्मरण भी पातक का कारण माना गया है। यही है उस पूर्वप्रश्न के समाधान की संक्षिप्ता रूपरेखा, जिसके द्वारा यह जिज्ञासा व्यक्त हुई थी कि, परिवर्त्तनात्मक सभ्यतायुगों से अनुप्राणित, अतएव परिवर्त्तनात्मक भी भौतिक आयोजनों को **सभ्यता के आयोजन** न कह कर अपरिवर्त्तनीय–आत्मदेवभावानुबन्धिनी–संस्कृति से सम्बन्ध रखनें वाले **सांस्कृतिक–आयोजनों** के नाम से इन्हें क्यों कैसे व्यवहृत कर दिया ऋषिप्रज्ञा ने? (देखिए पृ० सं० १४६)।

२७६–भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों का पारम्परिक सनातनत्त्व—

प्रकार अवश्य सभ्यतानुबन्धी परिवर्त्तनों के अनुपात से बदलते रहते हैं। अतएव इस दृष्टि से सभ्यतायोजन बनते हुए भी इनका मूलाधार आत्मदेव (अव्ययाक्षर) मूला संस्कृतिनिष्ठा, एवं सांस्कृतिक आचार ही बने रहते हैं। एकमात्र इस आत्मदेवभावना से ही इन भारतीय–भौतिक–सभ्यतायोजनों को भी सांस्कृतिक आयोजन कह दिया जाता है। इस सन्दर्भ के द्वारा ही अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि, सिद्धावस्थापन्न अलौकिक अतिमानवों की निरपेक्षा अव्ययसंस्कृति की साक्षी में व्यवस्थित–द्विजाति–मानवों के शास्त्रीय–आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्म हीं **'सांस्कृतिक–आचार'** है। एवं शास्त्रस्वाध्याय से विमुख एवं शास्त्राचरण में अनधिकृत द्विजबन्धु, लौकिक प्राकृत यथाजात भारतीयमानव, नारीवर्ग, बालवृन्द, आदि की परम्परासिद्धा संस्कृतिमूला–धर्म्मनिष्ठा के संरक्षण के एकमात्र अवलम्बभूत, आत्म–देव–निदान–

भावात्मक संस्कृतिभावों से समन्वित भौतिक आयोजन हीं भारतीय सांस्कृतिक आयोजन हैं, जिनका चिरन्तन इतिहास तथाविध सांस्कृतिक आयोजनों के बाह्य–भौतिक–स्वरूपों–आयोजनपद्धतियों के रक्षक–धर्म्मसंस्कृति–निष्ठ भारतीय सत्तातन्त्र ही बनते आए हैं। जब जब भी सत्तातन्त्र शिथिल हुए हैं, तब तब ही इन भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों का बाह्य स्वरूप अभिभूत होता रहा है, जबकि जनतन्त्र की परम्परासिद्धा सांस्कृतिक प्रज्ञा नें विपरीत सत्तायुगों में भी इनके मौलिक स्वरूपों का यथाशक्य आजतक संरक्षण ही किया है, जिस आस्थाश्रद्धाशील–जनतन्त्र के निःसीम अनुग्रह से ही इस सांस्कृतिक--धार्म्मिक–पावन भारतराष्ट्र में आज भी (दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र के धर्म्म–संस्कृति–निरपेक्ष भी बन जाने पर) राष्ट्रीय सांस्कृतिक आयोजन मानें, और मनवाए ही जा रहे हैं। यही तो भारतीय संस्कृति की परम्परा का वह सनातनत्त्व है, जो प्रत्येक सत्–असत्–युग में येनकेन रूप से अपने मौलिक स्वरूप से अपना स्वरूप सुरक्षित ही बनाती आरही है, बनाती ही रहेगी शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। 'याथातथ्येनार्थान्–व्यदधात्–शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (ईशोपनिषत्) का मर्म्म समझने वाली भारतीय हिन्दूप्रजा की इस शाश्वत–सांस्कृतिक-निष्ठा का आजतक कोई भी तो अभिभव नहीं कर सका है, नहीं कर सकेगा यावाचन्द्रदिवाकरौ–लक्षण इस प्रक्रान्त मन्वन्तर में तो कदापि ।

२७७–भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों के जीवित सन्देश—

तुलसी–गङ्गा–शालग्राम–यमुना–वट–बिल्व–हिमालय--कावेरी–नर्म्मदा–सरयू--चन्द्रभागा—विन्ध्याद्रि–कुरुक्षेत्र–प्रयाग–वाराणसी–काञ्ची–गोदावरी–उज्जैन--पुष्कर--बद्रीनाथ--जगदीश–गया--आदि–आदि महामहिम-प्रतीक जिस संस्कृति के जीवित सन्देशवाहक बने हुए हों, उनकी विद्यमानतामें किस का यह साहस है कि, वह भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की सनातन परम्पराओं की ओर भ्रूविक्षेप भी करले ! । आज के धर्म्मनिरपेक्ष युग में भी जाइए उन कुम्भपर्वों पर, जहाँ बिना किसी सूचना के, नोटिस वितरण के–पब्लिसिटी के भी लक्ष–लक्ष सांस्कृतिक मानव यथाकाल–यथापर्व पहुँच ही जाते हैं, जब कि समस्त सत्ताबल का प्रयोग करने में समर्थ सत्तातन्त्र के महारथी लाखों रुपय्या केवल पब्लीसिटी में व्यय करते हुए भी सभ्यतानुबन्धी–आत्मदेवभावों मे असंस्पृष्ट अपने वार्षिक आयोजनों में अपने भक्तों के संघठन–प्रयास में भी सफल नहीं बन पाते। क्यों ? । इस क्यों ? का उत्तर तो सत्तातन्त्र की लोकनिष्ठा से ही पूँछना चाहिए । हम तो इसे पराधिकारचर्चा मानते हुए इस सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन करना उचित सांस्कृतिक–पक्ष नहीं मान रहे। आलम्यालम ।

२७८–संस्कृति, और सभ्यता–शब्दों के चिरन्तन इतिहास का उपराम—

विषय विस्तृत होता जा रहा है। साथ ही हमें अभी उदाहरण रूप से एक दो सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा का भी दिग्दर्शन कराना है। अतएव संस्कृति, एवं सभ्यता–शब्दों के चिरन्तन इतिहास–प्रकरण को अब यहीं उपसंहृत कर देना समीचीन प्रतीत हो रहा है। यह सर्वथा विश्वसनीय है कि, भारतीय जीवन के मूलाधारभूत–संस्कृति शब्द का, एवं लोकव्यवस्थापक सभ्यता शब्द का चिरन्तन–ज्ञानविज्ञानात्मक इतिहास कदापि प्ररोचनात्मक–कण्डूमात्रनिवारक इत्थंभूत भाषामय–सामयिक–निबन्धों से यथाक्रम सुसमन्वित नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। इसके लिए तो तज्जिज्ञासु को एकान्तनिष्ठापूर्वक अपने समस्त जीवन को तत्स्वाध्याय के प्रति ही अनिवार्य्यरूपेण समर्पित कर देना होगा । राष्ट्र का एक स्वतन्त्र नैष्ठिकवर्ग

(ब्राह्मणवर्ग) एकमात्र इसी के समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र रूप से नियत हुआ था ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, जिसकी कि स्वतन्त्रता-संरक्षण का महान् उत्तरदायित्व सौंपा गया था सभ्यतासंरक्षक भारतीय धार्म्मिक सत्तातन्त्र को। उस के लक्ष्यहीन बन जाने से जिसदिन से राष्ट्र का संस्कृतिस्वरूपचिन्तक ब्राह्मण अरक्षित बन कर वृत्तिमात्र-चिन्ता से समाकुलित हो कर सत्ता को आश्रय प्रदान करने के स्थान में स्वयं सत्ताश्रित, तो कभी तदुपेक्षित बन कर वणिक्तन्त्राश्रित बन जाने लग पड़ा, तभी से वह चिन्तनपरम्परा अभिभूत हो गई। फलस्वरूप राष्ट्र की सांस्कृतिक-उद्बोधनपरम्परा उत्तरोत्तर विगलित ही बनती गई। तद्दुष्परिणामस्वरूप ही आज सभी अपनी कल्पनामात्र से संस्कृति-सभ्यता शब्दों के कल्पित इतिहासों का सर्जन करते हुए, किंवा भूतवादी-अनात्मवादी-प्रतीच्य विद्वानों की सरणि को ही आप्तवाक्य मानने की भयावह भूल करते हुए उनकी खोज के आधार पर ही भारतीय संस्कृति-सभ्यता के चिरन्तन-इतिहासों को समन्वित करने के लिए आकुल-व्याकुल बनते हुए भारत की मौलिक चिन्तन-धाराओं को स्मृतिगर्भ में विलीन कर डालने के लिए ही कटिबद्ध हैं। इससे अधिक इस राष्ट्र की सांस्कृतिक-प्रज्ञा का और क्या पतन होगा ?।

संस्कृति, और सभ्यता शब्दों के चिरन्तन-इतिहास के दिग्दर्शन की भी योग्यता न रखने वाले आज के युग के अन्नदान से ही परिपालित, अतएव अन्नदोष से सर्वथैव सांस्कृतिक-प्रज्ञा से वञ्चित इस व्यक्ति के द्वारा एकमात्र जनतन्त्र की परम्परासिद्धा सनातन-संस्कृति के अवशेषरूप आचारों के अनुग्रह से गच्छतः-स्खलन रूप से जो कुछ निवेदन कर डालने का असम-साहस, किंवा दुःसाहस हो पड़ा है, तदर्थ सांस्कृतिक-जगत् से हम क्षमाप्रार्थी हैं। **'ममाप्येषस्तोत्रे हरनिरपवादः परिकरः'** इस श्रद्धासूत्र के माध्यम से सूर्य्य को श्रद्धापूर्वक दीपदान की धृष्टता भी क्षम्य ही तो मान ली गई है-सांस्कृतिक-जगत् में। इसी क्षमाभावपूर्वक चिरन्तन-इतिहास का यह स्खलितरूप सांस्कृतिक-देवता के पावन चरणों में श्रद्धाप्रसून-रूप से आस्थापूर्वक समर्पित करता हुआ यह व्यक्ति मनस्तुष्टि का ही अनुभव कर रहा है।

उपरतञ्चेदं चिरन्तेनिवृत्तम्-संस्कृतेः, सभ्यतायाश्च

श्रीः

'संस्कृति-सभ्यता-शब्दों का चिरन्तन इतिहास'

नामक

प्रथम-प्रकरण-उपरत

१

श्रीः

भारतीय-'सांस्कृतिक-आयोजनों' की रूपरेखा

नामक-द्वितीय-प्रकरण

२

श्रीः

भारतीय–'**सांस्कृतिक–आयोजनों**' की रूपरेखा

नामक--द्वितीय--प्रकरण

२

१–सुख, और दुःख–शब्दों की तात्त्विक परिभाषा—

निबन्ध के प्रथम प्रकरण में **संस्कृति**, और **सभ्यता**, शब्दों के चिरन्तन इतिहास की रूपरेखा स्पष्ट करने की चेष्टा की गई। अब प्रस्तुत द्वितीय प्रकरण में संक्षेप से उन भारतीय–'**सांस्कृतिक–आयोजनों**' के मौलिक आधार–दिग्दर्शन की चेष्टा की जा रही है, जिनके आधार पर भारतीय लोकजीवन अपनी सच्चिदानन्द-ब्रह्ममयी आत्मसंस्कृति (निरपेक्षसंस्कृति) का स्मरण करता हुआ तदभिन्न सांस्कृतिक आयोजनों से सदा ही आनन्दमय बना रहता है।

सुखी बने रहना एक पक्ष है, आनन्दमय बने रहना एक पक्ष है। एवं भारतीय ज्ञानविज्ञानदृष्टि से दोनों पक्षों में अहोरात्रवत् महान् अन्तर है। अपनी ऐन्द्रियक–इन्द्रियमनोऽनुगता क्षणिक वासना को इन्द्रियगम्य-बाह्य–भौतिक विषयों के तात्कालिक सम्बन्ध से तत्कालमात्र के लिए विद्युद्रेखावत् उद्भूता मनस्तुष्टि से तुष्ट मान लेने मात्र की भ्रान्ति कर बैठने का नाम ही सुख है, जिसका–'**सुष्ठु–ख**' रूप से 'ख' रूप इन्द्रियविवरों की तात्कालिक पूर्त्ति पर विश्राम हो रहा है। पूर्त्ति के अनन्तर ही पुनः इन्द्रियविवररूप 'ख' भाव अपूर्ण बन जाता है। वही रिक्तता 'दुर्' भाव है–'ख' का। एवं यही '**दुःख**' शब्द का तात्त्विक निर्वचन है। अतएव जिसे इन्द्रियारामवादी भूतासक्त मानव 'सुख' कहता है, उसे भारतीय आत्मनिष्ठ–प्रज्ञा ने 'सुख' न कह कर–'**अनुकूलवेदना**' (सुहाता हुआ दुःख) ही कहा है, जब कि दुःख के लिए–'**प्रतिकूलवेदना**' शब्द नियत है। 'वेदना' दुःख की अनुभूति का ही नाम है। अतएव दुःखानुभूतिवत् सुखानुवेदना भी तत्क्षणानन्तर ही उपरत हो जाने वाली अपनी नश्वरता से तत्त्वतः 'वेदना' के क्षेत्र में ही अन्तर्भूत है। अतएव उसे भी 'अनुकूलवेदना' नामक 'दुःख' नाम से व्यवहृत करना हीं अनुरूप बन रहा है।

२–दरिद्री, और सम्पन्न–मानवों का समान–धरातलत्त्व—

एक शान्त सरोवर में आप लोष्ठ–पाषाणादि फैंकिए। तत्काल उसमें कम्पनात्मिका वीची-(लहर) उत्पन्न हो जायगी। कुछ समयानन्तर वीची पुनः शान्त हो जायगी। यही क्षणिक आनन्द का निदर्शन है, जो कभी स्थायी नहीं रहा करता। यह अशाश्वतता ही इसकी दुःखैकसारता है। अतएव वैषयिक–भौतिक–ऐन्द्रियक–अनुकूलवेदनात्मक–दुःखैकसार सुखों को–'**क्षणभङ्गुर**' कहा गया है। इसी आधार पर अनात्मवादी केवल भूतवादियों को अपनी महती ? तत्त्वदृष्टि से सर्वत्र क्षणिकं–क्षणिकं–अतएव शून्यं–शून्यं, अतएव च दुःखं दुःखं, अतएव च स्वलक्षणं–स्वलक्षणं ही उपलब्ध हुआ है। और इसी उपलब्धि ! को उन्होंनें अन्ततो-

गत्वा 'निर्वाणसुख' नाम दे डाला है। ऐन्द्रियक सुखदृष्टि से जो सुख एक कोट्यधिपति वित्तशाली को है, वही सुख रूक्ष-भोजनप्रिय एक दरिद्री को है। दोनों का मनस्तन्त्र स्वस्वक्षेत्रों में उपशान्त है। सम्भव है-दरिद्री लाख रुपये प्राप्त कर क्षणमात्र के लिए मनसा सुखी बन जाता हो, एवमेव कोट्यधिपति भी अर्बुद रुपये प्राप्त कर सुख आ अनुभव करने लग पड़ता हो। किन्तु कब तक ?, कितने समय पर्य्यन्त ?। प्रश्न का उत्तर उस दरिद्री लक्षाधिपति से पूछिए, जो अपने में कोई विशेषता अनुभव नहीं कर रहा है। उस कोट्यधीश-अर्बुदपति से पूछिए, जिसमें इस आगन्तुक द्रव्य से-सिवाय तात्कालिक-क्षणिक-उछाल के और कोई स्थायीभाव उदित नहीं हुआ है।

३-पुरुषार्थसिद्धि के अन्यतम साधक सांस्कृतिक आचार, एवं सांस्कृतिक आयोजन—

नागरिक सभ्यताओं के अभिशापरूप होटलों में अपने मित्रगणों के साथ अमर्य्यादित ऐन्द्रियक-मनोविनोद-अट्टाट्टहास करते हुए हमारे वे आत्मबन्धु विविध प्रकार के पेय-चोष्य-लेह्य-चर्व्य-खाद्य-अखाद्य-द्रव्यों को चक्षुरिन्द्रियाकर्षण से समुत्तेजित रसनेन्द्रिय की लिप्सा-लालसा से गलाधःकरणानुकूलव्यापार का अनुगामी बनाते हुए क्या शपथपुरस्सर यह नहीं मान लेंगे कि, इन तात्कालिक क्षणिक-ऐन्द्रियक-सुखों से कदापि वे उस मनस्तुष्टि का तो अनुभव नहीं कर पाते, जो मनस्तुष्टि गृहणी के द्वारा सम्पादित चाकचिक्य-विरहित गृहस्थ के दैनंदिनीय भोजनकर्म्म से मिला करती है। अतएव सर्वात्मना प्रमाणित है कि, मानवीय सुख की पर्य्यवसान भूमि इन्द्रियारामता-तात्कालिक-अमर्य्यादित-भोगसुख ही नहीं है। इन सभी ऐन्द्रियक-भावों में तत्काल सुखानुभूति, पुनः पूर्वापेक्षयापि अधिक उदासीनता, म्लानभाव, दयनीयावस्था। कदापि भारतीय दृष्टि से मानव का यह परमपुरुषार्थ ही क्या, सामान्य लौकिक पुरुषार्थ भी नहीं माना जा सकता। मानव की इस पुरुषार्थसिद्धि के लिए ही ऋषिप्रज्ञा ने **सांस्कृतिक-आचार**, एवं **सांस्कृतिक-आयोजन** ये विभिन्नपथ व्यवस्थित किए हैं, जिनके सम्बन्ध में हीं आज हमें दो शब्द निवेदन करने हैं।

४-सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा का स्वरूपदिग्दर्शन—

* अष्टाक्षरा गायत्री, एकादशाक्षरा त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरा जगती नाम की आग्नेयी-ऐन्द्री-आदित्या-प्राणशक्तियों से जन्मना-प्रकृत्या ही अन्तर्य्याम-सम्बन्ध स्थापित रखने वाले, एवं अपनी प्राकृतिक आयु के क्रमशः ८ वें, ११ वें १२ वें वर्षों में इन छन्दोदेवताओं के द्वारा स्व प्राकृतिक वर्णों से व्यक्त हो जाने वाले, इस द्वि-जन्म-प्रवृत्ति के कारण हीं-'द्विजाति' नाभ से प्रसिद्ध द्विजन्मा ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-मानव आचार्य्यकुलों में तत्त्वशिक्षा प्राप्त कर-गृहस्थाश्रम का यथाशास्त्रविधि निर्वाह करते हुए, तदनन्तर वानप्रस्थाश्रमानुगामी बनते हुए, अन्ततोगत्वा उस तुरीय-सन्यासाश्रम के द्वारा मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को संसिद्ध कर लेते हैं, जो कि मानव-जीवन का एकमात्र महान्-परम-अन्तिम-लक्ष्य माना गया है। यही इस द्विजातिमानव की शास्त्रविधि-समन्विता कर्त्तव्य-कर्म्मात्मिका वह आचारनिष्ठा है, जिसमें—**'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'** (गीता) इत्यादि के अनुसार मर्य्यादिता-सच्छन्दस्का-जीवनपद्धतियों में अनुष्ठानकाल में कठिनता के विद्यमान रहते हुए भी परिणाम में अमृतानन्दलक्षण ब्रह्मानन्द ही सुनिश्चित बना रहता है।

---

*-गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्।

ऐसे मर्य्यादित-सच्छन्दस्क-द्विजातिमानव की निष्ठा के आधारबिन्दु मानवीय चार पर्वों में से केवल बुद्ध्यनुगत आत्मतन्त्र (भूतात्मा) ही बना रहता है । शरीरानुगत मनस्तन्त्र इस द्विजातिवर्ग के लिए प्रधान नहीं बनता । इसकी क्षतिपूर्त्ति साक्षीमात्र से-तटस्थरूप से-परोक्षरूप से ही करनी पड़ती है मोक्षकामुक-आत्मबुद्धिनिष्ठ द्विजातिमानव को । यही इसकी शास्त्रीया **सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा** का स्वरूपदिग्दर्शन है, जिसका पूर्वप्रकरण में हमने प्रकृत्यनुबन्धिनी लोकसंस्कृतिचतुष्टयी, एवं तदनुगत प्रतीकधर्म्मचतुष्टयीरूप से विश्लेषण किया है । तत्रैव यत्रतत्र सांस्कृतिक-आचारनिष्ठाओं का सोदाहरण दिग्दर्शन भी कराया जा चुका है ।

५-सांस्कृतिक-आचारपथानुगामी ब्रह्म-क्षत्र-विट्-वर्ग, एवं इनकी आचारनिष्ठाओं में क्रमिक तारतम्य—

यद्यपि तीनों हीं वर्ण इस में समानरूप से अधिकृत हैं । तथापि आचारनिष्ठात्मिका संस्कृति का प्रधान उत्तरदायित्त्व भूतात्मप्रधान-ब्राह्मण से ही माना गया है । अतएव बुद्ध्यनुबन्धी त्रैष्टुभ क्षत्रिय, तथा मनोऽनुबन्धी जागत वैश्य, ये दोनों वर्ण सामान्यरूपेणैव सांस्कृतिक-आचारनिष्ठाओं के पथवर्मा बने रहते हैं । विशेषरूपेण भौतिक-व्यक्त-मूर्त्तजगत् ही इन दोनों को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है । अतएव आचारपथानुगामी तीनों द्विजातिवर्गों के लिए क्रमशः तीन जीवनपद्धतियों की उपलब्धि हो रही है शास्त्र में, जो क्रमशः **'गुहानिहित-सौर्य्यमारुतिक-वातातपिक'** कहलाईं हैं । युक्तं चैतत् । ज्ञानशक्तिप्रधान ब्राह्मण अपनी ज्ञानप्रधाना-तत्त्वचिन्तनात्मिका सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा में तभी सफलता प्राप्त कर सकता है, जब कि वह-**'अरतिर्जनसंसदि'** सिद्धान्तानुसार एकान्तनिष्ठ बन कर-लोक-समाजादि के व्यक्त-आयोजन-व्यासङ्गों से यथाशक्य बचता हुआ, (साथ ही लोकसंग्रह का भी अपने कौशल से संरक्षण करता हुआ, सामाजिक-बुद्धिभेद न करता हुआ) गुहानिहितरूप से ही व्यवस्थित रह सकेगा । उधर समाज के पौरुषरूप व्यक्त उत्तरदायित्त्व से समन्वित क्रियाशक्तिप्रधान क्षत्रिय गुहानिहित बन कर कदापि अपने इस उत्तरदायित्त्व-निर्वाह में सफल न हो सकेगा । अपितु इसे तो प्रत्यक्ष-प्रचण्ड सूर्य्य, और प्रवहणशील वायु की भाँति सौर्य्यमारुतिकरूपेण व्यक्तजीवनपद्धति का ही अनुगामी बना रहना पड़ेगा । एवमेव समाज के आर्थिक-उत्तरदायित्त्व से समन्वित-अर्थशक्तिप्रधान वैश्व का भी 'घरघुसड्डू' बना रहना कदापि क्षम्य नहीं माना जायगा । अपितु-व्यक्त-हवा-धूप-की भाँति-**'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्'** के अनुसार इसे भी व्यक्त ही बना रहना पड़ेगा । निश्चयेन इत्थंभूता व्यक्तजीवनपद्धति का अनुसरण करने वाले क्षत्रिय, और वैश्य के लिए कदापि गुहानिहित बने रहना सम्भव न होगा । एवं तत्स्थिति में एकान्तनिष्ठा-साध्या आचारनिष्ठा का प्रधान उत्तरदायी इन दोनों को नहीं माना जा सकेगा । कृच्छ्रसाध्य-सामाजिक-व्यक्त-भावों से तटस्थ-अत्यन्त मर्य्यादापाश से आबद्ध-गुहानिहित-भाव ही ब्राह्मण की आचारनिष्ठा-सफलता का मूलाधार माना जायगा । इसीलिए तो पर्वततटवर्त्ती-नदीसंगमात्मक-जनरव-विवर्जित-शान्त स्थल ही ब्राह्मणप्रज्ञा के विकास के अनुरूप मानें हैं वेदमहर्षि नें * । अतएव कहा गया है इस तपस्वीवर्ग के लिए यही कि—

***-उपह्वरे गिरीणां-सङ्गमे च नदीनाम् ।**
धिया विप्रो अजायत ॥

—ऋक्संहिता ८।६।२८।

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते ।।
इह क्लेशाय तपसे, प्रेत्यत्वनुपमं सुखम् ।। ÷ १ ।।

संपतन् देहजालानि कदाचिदिद मानुषे ।।
'ब्राह्मण्यं' लभते जन्तुस्तत् पुत्र ! परिपालय ।।२।।

—म० शा० मो० ३२१ अ० । २२, २३ श्लो० ।

६–आत्मनिष्ठ ब्राह्मण की अभिभूति, एवं राष्ट्र की आचारनिष्ठा का पराभव—

चतुष्पर्वा–मानव के भूतात्मा, बुद्धि, मन, शरीर, इन चार पर्वों से ही क्रमशः मानव की सामाजिक–व्यवस्था में ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–वीर्य्यदेवों के द्वारा ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–भावों का व्यक्तीभाव हुआ है । चारों में भूतात्मा का प्रतिनिधि ब्राह्मण समाज का अन्तर्गर्भित गुहानिहित × 'आत्मा' है । अतएव इसे ही सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा का प्रधान उत्तरदायी माना है शास्त्र ने । अतएव जब ब्राह्मण अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा से पराङ्मुख बन जाता है, तो सम्पूर्ण राष्ट्र की सांस्कृतिक–चेतना अभिभूत हो जाया करती है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्त्तमान भारतराष्ट्र बना हुआ है ।

७-आचारनिष्ठामूलक सांस्कृतिक–आयोजनों का प्रतिष्ठापन—

मानवीया बुद्धि का प्रतिनिधि क्षत्रिय ही समाज का कारणशरीर माना गया है । मानवीय मन का प्रतिनिधि वैश्य ही समाज का सूक्ष्मशरीर है । एवं मानवीय शरीर का प्रतिनिधि पौष्णवर्ग ही समाज का स्थूलशरीर है । यों राष्ट्र का ब्राह्मणेतर प्रजावर्ग, तदनुगामी नारी–बाल–सेवकादिवर्ग, सब की समष्टि ही राष्ट्र का सामाजिक–व्यक्त–मूर्त्त–स्वरूप है, जो सांस्कृतिक–आचारनिष्ठा का यथावत्–अनुगमन करते रहने में प्रायः असमर्थ ही बना रहता है । ऐसे लोक–समाज–वर्ग की सांस्कृतिक–निष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ऋषिप्रज्ञा की ओर से जो सांस्कृतिक-पथ निर्द्दिष्ट हुआ है, वही व्यवहारभाषा में **'सांस्कृतिक–आयोजन'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसके कतिपय पावन–संस्मरणों से ही आज हम अपने प्राकृत–मनस्तन्त्र को पूत बनाने जारहे हैं ।

८–सच्चिदानन्दब्रह्म की पूर्णविभूति मानव, एवं इस की नित्यानन्दरसैकप्रवणता—

अव्ययपुरुष ही 'संस्कृति' का मूलाधार है, यह पूर्वप्रकरण में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है । साथ ही तत्प्रकरण में हीं अव्ययपुरुष की आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाक्–इन पाँच कलाओं का भी

÷–ब्राह्मणस्य च देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च ।।

×–आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्, तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः ।
—उपनिषत्

दिग्दर्शन करा दिया गया है। आनन्द **आनन्द** है, विज्ञान ही '**चित्**' है, एवं मनःप्राणवाक् की समष्टि ही 'सत्' है। तथा आनन्द-चित् (विज्ञान)-सत् (मनःप्राणवाक्संघात) की समष्टि ही-'**सच्चिदानन्दअव्ययब्रह्म**' है, जो परिपूर्ण है। सत्ता-चेतना-आनन्दघन-परिपूर्ण ब्रह्म की पूर्णा सच्चिदानन्दरूपा प्राणिविभूति का नाम हीं-'**मानव**' है, जैसा कि-'**पूर्णमदः पूर्णामदम्**'-'**यदेवेह-तदमुत्र**'-'**पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्**'-'**अहं सूर्य्य इवाजनि**'-'**अमृतस्य पुत्रा अभूम**', इत्यादि मन्त्रब्राह्मणश्रुतियों से उद्घोषित है। नित्य अस्तिता, नित्य विज्ञानैकप्रवणता, एवं नित्यानन्दरसैकप्रवणता ही उस सच्चिदानन्दघन पूर्णेश्वर अव्ययब्रह्म के लोकरूप मानव का स्वरूपधर्म्म है, इसी आधार पर श्रुति को कहना पड़ा है कि—

> **"आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति।**
> **आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। आनन्दमित्युपास्व"**
>
> —तै० उप०पनिषत

९-दुःखात्यन्तनिवृत्तिमूलक स्वरूपबोध—

परिपूर्ण आत्मानन्द ही मानव की केन्द्रप्रतिष्ठा है, जोकि मानव का शाश्वत-आनन्द माना गया है। बिना इसे आधार बनाए कदापि मानव सर्वात्मना तुष्ट-तृप्त नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, जिसकी मूलप्रतिष्ठा स्वस्वरूपात्मक इस अव्ययस्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है, जिस बोध का क्रमसिद्ध शास्त्रीय उपाय ही **"सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा"** माना गया है। इसी आत्मबोध से मानव की दुःखात्यन्तनिवृत्ति सम्भव बना करती है, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

> **यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।**
> **तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥**

१०-ऐन्द्रियक सुख की स्वरूपमीमांसा,-एवं आयोजनों की आत्मरूपता—

प्रकरण का उपक्रम करते हुए हमनें सुख-दुःख-की परिभाषा की थी, जिसकी इसी दृष्टि से यहाँ उपयोगिता है। क्या ऐन्द्रियक-भौतिक-विषयों के परित्याग से आत्मानन्दबोध प्राप्त होगा?, प्रश्न का 'ओम्' (हाँ) रूप से ही समाधान किया है यहाँ के जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तभक्तों नें, जिसके नीरक्षीरविवेक का यहाँ अवसर नहीं हैं। प्रकृत में आनन्दघन अव्ययब्रह्म से समुद्भूत विश्व को आनन्दमय मान कर ही (जैसा कि-आनन्दमय ही है यह विश्व), सत्य मान कर ही हमें उस ऐन्द्रियक सुख के तथ्य का परीक्षण करना है, जिसे क्षणभङ्गुर बतलाते हुए पूर्व में हमनें शून्यवादी, किंवा जगन्मिथ्यात्ववादियों की भाँति उपक्षेणीया-त्याज्या-कोटि में हीं ला खड़ा किया था।

परीक्षण अन्य निबन्धों में विस्तार से किया जा चुका है। जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, अव्ययात्म-ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित विश्व, एवं विश्व का प्रत्येक पदार्थ भी सच्चिदानन्दमय ही है। यदि अव्ययात्मा

को आधार बना कर (जैसा कि वही सर्वाधार है)–मानव अपने भूत–भौतिक–आयोजनों में प्रवृत्त होता है, तो आत्मानन्दमय बनते हुए वे ही पदार्थ ऐन्द्रियक–कोटि से बहिर्भूत होते हुए आत्मानन्दकोटि में हीं प्रविष्ट हो जाते हैं ।

११–आनन्दमय आत्मा की सर्वव्याप्ति, एवं भूतजगत् का आनन्दमयत्त्व—

यही वह आत्मनिष्ठा, एवं तदनुगता देवनिष्ठा है, जिससे आस्तिक--आस्थाश्रद्धाशील–भारतीय–आत्मनिष्ठ देवनिष्ठ मानव के यच्चयावत् भौतिक–व्यावहारिक विवर्त्त–भूतानुगता जड़ता से पृथक् होकर सर्वथा आत्म–देवभाव में हीं परिणत होगए हैं । अतएव यह आत्मा से अतिरिक्त और कुछ मानता ही नहीं । उदाहरण के लिए उस नितान्त भौतिक चतुर्विध अन्न को ही लीजिए, जिसे भारतेर देशों के समस्त मानव जहाँ केवल चर्वण–भक्षणमात्र के साथ समन्वित मान रहे हैं, वहाँ भारतीय मानव परिपाक होते ही इसे भावना के द्वारा भगवान् के अर्पण कर देता है । स्वयं श्रुति ने–**'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व'** कह कर अन्न में ब्रह्मत्त्व का आधान किया है । आधान नहीं किया है, अपितु स्वतःसिद्ध ब्रह्मका स्पष्टीकरणमात्र किया है । अन्न का विशकलन कीजिए, पार्थिव रूपमें इसकी परिणति हो जायगी। पृथिवी के ग्रन्थिबन्धन तोड़ डालिए,इसकी जलरूप में,तद्ग्रन्थिविमोक से इसकी तेजोरूप में, तेज की वायुरूप में, वायु की आकाशरूप में, एवं सर्वग्रन्थिविमोक से अन्ततोगत्त्वा आकाश की आत्मरूप में परिणति सुनिश्चित है प्रतिसर्गात्मक–प्रतिसञ्चरक्रम में । सर्गात्मक सञ्चरपक्ष में * आकाश ही वायु है, वायु ही तेज है, तेज ही जल है, जल ही पृथिवी है, पृथिवी अन्न है । वही तो सञ्चर–दृष्ट्या यह अन्न है । प्रतिसञ्चरदृष्ट्या अन्न ही तो ब्रह्म है । ज्ञानात्मा ही तो विज्ञानात्मा है बलदृष्ट्या, एवं विज्ञानात्मा हीं तो ज्ञानात्मा है रसदृष्ट्या । यही तो–**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–'सत्यं ज्ञान–मनन्तं ब्रह्म'–नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । आनन्दं ब्रह्मणो व्यजानात्, न बिभेति कुतश्चन । अभयं वै ब्रह्म'** इत्यादि वचनों का सांस्कृतिक (अव्ययात्मानुबन्धी) महान् महित्त्व है, जिसे केवल भूतविज्ञानवादी कदापि अपने सुसूक्ष्म जड़यन्त्रों से समन्वित नहीं कर सकता, नहीं कर सकता ।

१२–'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मूलक सर्वव्यापक देवभाव—

प्राणात्मक–देवतारूप अमूर्त्त–विश्व ही भूतात्मक–भौतिक–मूर्त्त–जगत्–रूप में परिणत हुआ है बलग्रन्थितारतम्य से । अतएव **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है । पञ्चमहाभूतात्मक–प्रत्यक्षदृष्ट परिवर्त्तनशील जगत् आत्मब्रह्म का ही तो विराट् शरीर है, जिस से प्रजापति ब्रह्मा सप्तवितस्तिकाय कहलाए हैं । तदंशरूप प्रत्येक–भूतभौतिक पदार्थ तद्रूप ही तो मानें जायँगे, जैसाकि–**'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं–यदिदं किञ्च'**–**'सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः'** इत्यादि वचनों से प्रमाणित है । भोग्य–भौतिक अन्न तो

***–तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः ।**
अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्यामोषधयः (अन्नानि) ।
—तैत्तिरियोपनिषत् ।

उदाहरणमात्र है । शय्या–वस्त्र–प्रासाद–खट्वा–पात्र–आभूषण–वन–उपवन–उद्यान–समुद्र–सागर–नद––नदी–कूप––वापी––ओषधि––वनस्पति–धातु––रस––विष–आदि आदि यच्चयावत् भौतिक पदार्थ (जो अनात्मवादियों की दृष्टि में केवल जड़ हैं) सर्वथा ब्रह्मात्मक हैं, देवभावात्मक हैं । बिना देवभावना के सांस्कृतिक भारतीय मानव तो किसी भी भूत को अपने व्यवहार में लाना हीं उचित नहीं मानता । निर्म्मित भवन में तबतक वह आवास––निवास ही नहीं करता, जबतक कि उस में 'वास्तुशान्ति' रूप प्राणप्रतिष्ठापन–कर्म्म से यह देवभाव के दर्शन नहीं कर लेता । भवन उसकी दृष्टि में देवता है, अन्न देवता है, पात्र देवता है । कौन देवता नहीं है ? यह जब स्वयं आत्मदेवमूर्त्ति है, तो इस की दृष्टि में कोई भी देवभाव से पृथक् नहीं है ।

१३–लोकमानव की आत्मानन्दानुग्रहप्राप्ति–कामना, और तत्साधक सांस्कृतिक-आयोजन–

'देवो भूत्त्वा देवं भावयेत्' ही इस देवभावना का आधार है । यही इसकी सांस्कृतिक–भावना है । इसी आत्मभावना से सब को इसने आत्मानन्दमय बना डाला है । बना नहीं डाला है । स्वतःसिद्ध आनन्दमयत्त्व को अपनी आनन्दमयता से पहिचानमात्र लिया है । इसी परिचिति से ऐन्द्रियक विषय यथाकाल–स्वत: आते जाते भी न इसे हर्षविभोर करते, न म्लान कर पाते । यों अपनी आत्मनिष्ठा से इसने सर्वत्र–सब विषयों में आनन्द का सञ्चय, आनन्द की उपासना करते हुए अपना आत्माधिपत्य स्थापित कर रक्खा है । यह विषयों पर आरूढ है, विषय इस पर आरूढ नहीं हैं । यही–**'न त्वहं तेषु-ते मयि'** इस गीतावचन का रहस्यात्मक समन्वय है । विषय, तद्रूप भौतिक ऐश्वर्य्य सदा ही **'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति'** रूपेण इसकी कामना किया करते हैं, इसकी ओर अनुगत बनते रहते हैं । यह कदापि विषयकामुक नहीं बना करता । यही इसकी शाश्वत–आनन्दता है, जिसका कदापि भाषात्मक–निबन्धों से स्वरूपविश्लेषण सम्भव नहीं है ।

प्रकृत में तो इस आनन्दसन्दर्भ से निवेदन हमें यही कर देना है कि, जो वर्ग शास्त्रीय–सांस्कृतिक–आचाररूप–कर्त्तव्यकर्म्मों से इस आत्मानन्दसरणि पर चलने में अक्षम हैं, किन्तु कामना रखते हैं आस्था––श्रद्धापूर्वक आत्मानन्दानुग्रहप्राप्तिपूर्वक जीवनयात्रा के अनुगमन की—

उन्हीं पर अनुग्रह कर भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने आत्मदेवानन्द से परिप्लुत उन **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** का संस्थापन किया है, जिनका व्याख्यारूप, इतिहासरूप शास्त्रविभाग ही इतिहास (महाभारत–वाल्मीकि–रामायण), एवं पुराण नाम से प्रसिद्ध हुआ है । इतिहास–पुराणनिबन्धन–**समस्त–स्वस्त्ययनकर्म्म, तीर्थाटन–व्रत–उपवास–पर्व–उत्सव–समारोहादि ही** सांस्कृतिक–आयोजनों के उपबृंहित स्वरूप हैं, जिनमें अथ से इतिपर्य्यन्त–स्वस्ति–शान्ति–समृद्धि–ऋद्धि–पुष्टि–तुष्टि–आदि भावसंसाधनपूर्विका आत्म––देवानन्दरसनिर्झरी सतत प्रवाहित रहती है । जिस आनन्दप्रवाह में अपने आपको श्रद्धापूर्वक निमज्जित करने वाला परम भागधेय–भाग्यशाली–भारतीय मानव, परम भाग्यवान् नारीवृन्द, सौम्य बालवृन्द, एवं द्विजबन्धुवर्ग सभी तो उसी प्रकार परमपदात्मक मोक्षपद के ही अनायासेनैव अधिकारी बन जाते हैं, जैसे कि–द्विजाति–मानववर्ग सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं से परमपुरुषार्थ–साधन कर लिया करता है ।

१४–नित्य–पूर्ण–आनन्दलक्षण सांस्कृतिक–निष्ठा, और भारतीय मानव—

आत्मनिष्ठ भारतीय मानव का एकमात्र आराध्य मन्त्र है–"स्वयं सदा आनन्द में रहो, अपने परिवार को आनन्द में प्रतिष्ठित रक्खो। परिवारसमष्टिरूप समाज को आनन्दमय बनाते रहो। समाजसमष्टिरूप राष्ट्र को आनन्द के चरमोत्कर्ष का अनुगामी बनाए रहो। ऐसे आनन्दमय-राष्ट्र के राष्ट्रीय आनन्दसन्देश से विश्व के अन्य मानवों को शान्ति-स्वस्ति प्रदान करते रहो। आनन्दविघ्नकारिणी, सर्वसमृद्धिहारिणी, सर्वस्वविध्वंसिनी क्षणिक भावना का, तदनुगता शून्य--भावना का, तदनुगता दुःखभावना का स्वप्न में भी संस्मरण न करते हुए सदा सर्वत्र सब अवस्थाओं में-'नित्यं--नित्यं, पूर्णं--पूर्णम्--आनन्दः--आनन्दः' का ही विस्तार करते रहो"। यही भारतीय सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं का एकमात्र फलितार्थ है। एवं यही है भारतीय–'सांस्कृतिक–आयोजनों' का एकमात्र फलितार्थ।

१५–आत्मा, एवं देवभावप्रधान आयोजनों की सांस्कृतिकता—

'संस्कृति' शब्द ही जब स्वयं आत्मदेवभाव में हीं निरूढ है, तो जिन लौकिक भौतिक आयोजनों में आत्मदेवभावना का प्राधान्य रहेगा, उन आयोजनों को ही-'सांस्कृतिक–आयोजन' कहा जायगा। कदापि उन मानसिक–शारीरिक मनोविनोदात्मक–तात्कालिक अनुरञ्जनात्मक–आत्मदेवभावनाशून्य आयोजनों को **'सांस्कृतिक–आयोजन'** जैसी सम्मानित उपाधि से व्यवहृत नहीं किया जा सकेगा, नहीं हीं करना चाहिए किसी भी संस्कृतिमर्म्मज्ञ को तो। इस सांस्कृतिक–विवेक को आधार मान कर ही अब हमें 'सांस्कृतिक–आयोजन' की रूपरेखा उपक्रान्त करनी है, जिसका आस्तिक–ईश्वरनिष्ठ भारतीय मानव से ही सम्बन्ध है।

१६–अकृतात्मा–सुकुमारमति–शरीरधर्म्मा मानवों का स्वरूपदिग्दर्शन—

क्या परिभाषा है–भारतीय मानव की ?। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!! कितनें एक मानव तो भीतर–बाहिर–से–सब ओर से अपने आपको केवल शरीर ही शरीर मानते मनवाते आ रहे हैं। इन्हें हीं दर्शनभाषा में "अनात्मवादी शरीरात्मवादी मानव" कहा गया है, जिनका प्रातिनिध्य मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् के अवतारयुग में सुप्रसिद्ध नास्तिक–'जाजलि' करते थे, जिनको स्वयं भगवान् नें संस्कृति--धर्म्म की आत्मनिष्ठानुगता ज्ञानविज्ञानात्मिका कारणता * का विश्लेषण करते हुए उद्बोधन प्रदान किया है। आगे चलकर बृहस्पतिप्रमुख चार्वाकादिने अनीश्वरवादात्मक--शरीरात्मवाद की विगलिता भस्त्रा को पुनरुजीवित करने का प्रयास किया था। एवमेव प्रत्यक्षप्रभावात्मक अनेक वर्गों नें कालानुपात से सांस्कृतिक--अभिभूति-कालों में भावुक जनता के सम्मुख इस निष्प्राणा भस्त्रा का प्रदर्शन प्रक्रान्त रक्खा। और सम्भवतः तथाविध

---

*—नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !॥
कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन्–स लोकानाप्नुते शुभान् ॥

—वाल्मीकिरामायण

आत्मबोधवञ्चित--दुःखार्णव में निमग्न--शरीरवादी आज भी शरीरात्मवाद के ही शवशरीर को उपमर्दित कर रहे हैं। जो स्थिति आत्मबोधशून्य एक अबोध शिशु की रहती है, वही स्थिति इन सुकुमारप्रज्ञ शरीरवादियों की है। अतएव ये बालवृन्दवत् उपेक्षणीय कोटि में हीं मानें गए हैं। 'जायस्व--म्रियस्व' लक्षण शरीरधर्म्मा पशुवत् ही इनका शरीरात्मवाद है। अतएव तदनुगत प्राणियों के लिए कुछ न कहना हीं श्रेयः पन्था है। **'सर्वज्ञानविमूढाँस्तान्–विद्धि नष्टानचेतसः'** ही इनकी एकमात्र पर्य्यवसानभूमि है। गीताचार्य्यनें इन्हें हीं-- **अकृतात्मा'** नाम से व्यवहृत किया है। क्योंकि--शरीर के अतिरिक्त कोई नित्य आत्मदेवता का इन्हें बोध नहीं है। अतएव पाप--पुण्य, सत्--असत्, धर्म्म--अधर्म्म, आदि के विवेक से भी इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु–**'अच्छा--और बुरा'** ये दो ही इनके आराध्य स्थल हैं, विवेकस्थल हैं। जो इनके शरीर को अच्छा लगता है (भले ही भूतविज्ञान की दृष्टि से भी वह अच्छा न हो), वही इनके लिए समादरणीय है। जो इन्हें बुरा लगता है, वही उपेक्षणीय है। अच्छा लगता है इन्हें वही, जो इनके शरीर-धर्म्म का संरक्षण करता हो। बुरा लगता है–इन्हें वह–जो इनके शारीरिक स्वार्थ में विघात उत्पन्न करता हो। श्रेयोमूलक हितकरभाव जहाँ इस शरीरक्षेत्र में कदापि प्रवेश नहीं पा सकते, वहाँ प्रेयोमूलक रुचिकर भाव ही यहाँ सदा सम्मान्य अतिथि बने रहते हैं।

१७-अशन–पान–गीत–नृत्यादि-परायण मनोधर्म्मा मानवों का स्वरूप-विस्फोटन—

कुछ मानव ऐसे भी हैं, जो शरीर के साथ साथ 'मन' को भी थोड़ा स्थान दे देते हैं। मनोधर्म्मा वही वर्ग कामयमान वह वर्ग है, जिसके परमपुरुषार्थ ऐन्द्रियक–मनोमय भोग ही बने रहते हैं। मनोऽनुगत काम, एवं शरीरानुगत अर्थ, इन दो के अतिरिक्त इस मनःप्रधान–मनोजीवी मानववर्ग के लिए अपने मानवजीवन में अन्य कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, जिस महान् ? कर्त्तव्य ! का इस लोकसूक्ति से स्पष्टीकरण हुआ है कि–**'खाना–पीना, मौज़–उड़ाना'**। अशन-पानात्मक–खाना–पीना शरीरात्मक अर्थभाव है, एवं 'मौज उड़ाना' मानवीय-मानस–कामभाव है, जिसके साथ वैदिक-प्राणविद्या के अनुसार चान्द्र–**गन्धर्व्वप्राण**, एवं **अप्सराप्राण** का सम्बन्ध माना गया है। गन्धर्वाप्सरा-नामक प्राण ही मन की कामवृत्ति को प्रोत्साहन–प्रदान करने वाले वे चान्द्रधर्म्म हैं, जो चान्द्रसोमप्रधान मनस्तन्त्र को तत्प्राणानुगत–सहचारी–नृत्य–गीत–वादित्र (नाचना–गाना–बजाना) के साथ अनैतिकता की और प्रवृत्त रखते हैं। **'गीते वा रमते वा'** (शतपथ ब्रा०) के अनुसार कविता–नृत्य–गीत–वाद्य–समष्टिरूप * सङ्गीत,–अखाद्य–खादन, अपेय--पानादि ही काममय अर्थासक्त मनोजीवी मानववर्ग की एकमात्र जीवनचर्य्या बने रहते हैं, जिनमें बुद्धि का तो प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है। पुराणपुरुष भगवान् व्यासदेव ने इन्हीं लक्षणों को तमोगुण की महिमा ? बतलाया है, जिसकी परिभाषा यही हुई है–व्यासभगवान् के शब्दों में कि–"ऐसे व्यक्ति की रसनेन्द्रिय सदा विविध प्रकार के–सुसादु–भोजनद्रव्यों के लिए ही लालायित बनी रहती है। आप इनसे जब भी कहीं भी मिलेंगे–सर्वप्रथम ये अपना जिह्वालौल्य ही अभिव्यक्त कर डालेंगे–**'भक्षणाद्यभिरोचनम'** ही इनकी प्राथमिक कामना रहेगी। इसके साथ ही अपनी काममयी लोलुपता से ये कभी भोजनसमारम्भों से तृप्ति–तुष्टि का अनुभव ही न करेंगे। अपितु एक गृध्नु–मलीमस–पिब्दपान–कीटाणु की भाँति सदा खाते हुए भी ये खाते रहने के लिए ही आकुल व्याकुल बने रहते हैं।

---

* **नृत्यं–गीतं च वाद्यं च त्रयं सङ्गीतमुच्यते।**

यही इनका–'**भोजनानामपर्य्याप्तिः**' रूप दूसरा पुरुषार्थ ! माना जायगा । भोज्यद्रव्यों के अतिरिक्त वारुण-आसुर–तमोगुण इन्हें 'वारुणी' नामक पेयद्रव्य के **गौड़ी–पैष्टी–माध्वी**–आदि विविध पेय–वर्गों की ओर आकर्षित करता रहेगा, जो पेय–अतृप्ति–भोजन–अतृप्ति–से भी दुरधिगम्या बनी रहती है । यही इनका–'**तथा पेयेष्वतृप्तता**' रूप तीसरा पुरुषार्थ माना जायगा । इन तीन प्रधान पुरुषार्थों के अतिरिक्त–तत्सहचारी–विविधप्रकार के गन्धों (तैल–इत्रादि–सेन्ट–लवेन्डरादि) का लिम्पन, तथाविध मनोजीवी प्राणियों की जघन्या–विहारस्थलियों–गोष्ठियों–पानगृहों के प्रति निरन्तर अनुधावन, व्यसनों से म्लान हो जाने पर भोगनिद्रात्मक शयन, शयन से भी जब थकान हो जाय, तो उठ कर अकर्म्मण्यरूप से एकत्र बैट जाना, बैठे रहना, अनर्गल प्रलाप करते रहना, विशेषतः दिन में हीं सोते रहना, (और रात्रि में निशाचर की भाँति) विहारस्थलियों में दन्द्रम्यमाण बने रहना, रोगाक्रान्त–प्रमादस्थलों–में रत्यासक्त बने रहना, तत्तद्विशेष विहारस्थलियों (होटलों–क्लबों–रेस्टारेन्टों–पानालयों) में पहिले से ही समायोजित नृत्य–गीत–वादित्रादि भावों के प्रति पूर्ण श्रद्धा से अनुगमन, और सर्वोपरि धार्म्मिक पर्वों–उत्सवों–आचारों–आयोजनों के प्रति सर्वथा–द्वेष प्रकट करते रहना हीं इत्थंभूत मनःशरीरधर्म्मा–कामार्थपरायण–कामोपभोगजीवी मानवों का समस्त इतिवृत्त है, जिसका इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

तमसो लक्षणानीह भक्षणाद्यभिरोचनम् ॥
भोजनानामपर्य्याप्ति, स्तथा पेयेष्वतृप्तता ॥ १ ॥
गन्धवासो–विहारेषु–शयनेष्वासनेषु च ॥
दिवास्वप्नेऽतिवादे च प्रमादेषु च वै रतिः ॥ २ ॥
नृत्य–वादित्र–गीतानां–अज्ञानाच्छ्रद्धानता ॥
द्वेषो धर्म्मविशेषाणां–एते वै तामसो गुणाः ॥ ३ ॥

—महाभारत शा० मो० ३१३ अध्याये ।

१८–केवल तत्त्वविजृम्भक, वाग्विग्लापक आचारशून्य बुद्धिधर्म्मा मानवों का स्वरूपेतिवृत्त–

अब क्रमप्राप्त तीसरे बुद्धिजीवी–वर्ग की यशोगाथा को श्रवण कर अपने आपको धन्य बनाइए, जो आजकी भाषा में–विचारक, नीरक्षीरविवेकी–बुद्धिवादी कहलाया है । आत्मस्वरूप से एकान्ततः विस्मृत, अतएव आत्मस्वरूपबोधोपयिक आस्था–श्रद्धाभावों से असंस्पृष्ट, अतएव श्रद्धानुगता सहज–माधुरी से सर्वथैव पराःपरावत, अतएव अत्यन्त ही रूक्ष–कर्कश, मानसविनोदभावों से वञ्चित, शारीरिक पुष्टिभावों से बहिष्कृत, अतएव मानसिक–शारीरिक–तुष्टि–पुष्टि–भावों से वञ्चित, अहोरात्र स्वकल्पना के बल पर ही–बुद्धि के बल पर ही शब्दों के जोड़–तोड़ बैठाने में पारङ्गत, इस पारङ्गतता को ही अपना महान् बुद्धिकौशल–पाण्डित्य–मानने-मनवाने की भ्रान्ति में अहोरात्र निमग्न, सतत लोकैषणाओं में आत्मविस्मृत, अतएव सभी को प्रसन्न करने के लिए समातुर अमुक श्रेणिविशेष के तत्त्वविचारक को ही आज हम भारतीय–बुद्धिजीवी–बुद्धिवादी–मानव कहेंगे, जो अपने इस काल्पनिक पाण्डित्य की प्रतिष्ठा के संरक्षण के लिए युगधर्म्मानुगता सभी सदसत्–मान्यताओं का शब्दानुकरणमाध्यम से, शब्दों के हेर–फेर से, उनके काल्पनिक अर्थसमन्वय से समर्थन ही करते रहते हैं । ऐसे बुद्धिवादियों की कृपा से ही पूर्वोपवर्णित मनोजीवी, तथा शरीरजीवीवर्ग निःशङ्क बन कर, अपनी

निःशङ्कताओं पर तथाविध बुद्धिवादियों का मुद्राङ्कन करवा कर (छाप लगवा कर) सर्वतन्त्रस्वतन्त्ररूप से विचरण करते रहते हैं, जिन बुद्धिवादियों के लोकरुचि के अनुसार **साहित्यिक-आलोचक-लेखक-पुरातत्त्वविद-दार्शनिक-कवि-सन्त-उपदेशक-पत्रकार-प्रकाशक-प्रचारक-संस्कृतिभक्त-सुधारक**-आदि आदि अनेक अवान्तरवर्ग शरभदलवत् इतस्ततः विचरण कर रहे हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य **है**-जनता, और सत्ता को उद्बोधन * प्रदान करते रहना, जिन उद्बोधनों के इतिहास के लिए तो स्वतन्त्र ही निबन्ध अपेक्षित माना जायगा ।

१९-त्रिविध मानवश्रेणियों के सम्मिश्रणतारतम्य से अनेक वर्गों का आविर्भाव—

इसप्रकार-केवल **शरीरजीवी**, केवल **मनोजीवी**, शरीरमनोजीवी, केवल बुद्धिजीवी, **मनोबुद्धिजीवी**, शरीरबुद्धिजीवी, शरीरमनोबुद्धिजीवी, आदि भेद से तथाकथित तीन प्रधान वर्गों की संकरता से-सम्मिश्रणतारतरूप से अवान्तर अनेक वर्ग और उत्पन्न हो जाते हैं, जो भारतदेश की पावन मिट्टी से शरीरी बनते हुए भी, चान्द्रसोम से मनोमय बनते हुए भी, एवं सौरसविता से बुद्धिमय प्रमाणित होते हुए भी-अव्यक्त स्वायम्भुवतत्त्व से अभिन्न भूतात्मा के स्वरूपबोधात्मक अनुग्रह से वञ्चित रहते हुए आत्मनिष्ठ भारतदेश की आत्मनिष्ठा की दृष्टि से तो कदापि-'भारतीय' नहीं कहे जा सकते, नहीं माने जा सकते ।

२०-भारतीय मानव की नैष्ठिकी स्वरूप-परिभाषा—

आत्मसाक्षात्कारकर्त्ता भारतवर्ष तो अपने पावन क्रोड़ में आविर्भूत होने वाले उसी मानवश्रेष्ठ को-'भारतीय-मानव' कहेगा, जो न केवल शरीरधर्म्मा ही होगा, न केवल मनोजीवी ही होगा, न केवल बुद्धिवादी ही होगा, एवं न केवल आश्रमव्यवस्थाशून्य-असमय में हीं काषायवस्त्र धारण करने वाला जगन्मिथ्यात्ववादी कल्पित आत्मवादी ही होगा । अपितु यह तो उसे ही भारतीय मानव कहेगा-जो ईश्वरीय-स्वायम्भुव-सौर-चान्द्र-पार्थिव-सनातन पर्वों के प्रवर्ग्य भागों से आविर्भूत भूतात्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-इन सनातन चारों पर्वों का समसमन्वय करता हुआ शरीर से **अर्थसाधन** में, मन से **कामसाधन** में, बुद्धि से **धर्म्मसाधन** में, एवं भूतात्मा से **मोक्षसाधन** में प्रवृत्त रहेगा । एवं तत्प्रवृत्तियों के संरक्षण-परिवर्द्धन के लिए अपनी द्विजातित्त्व-मर्य्यादा से **सांस्कृतिक--आचारनिष्ठा** का मर्य्यादापूर्वक यावज्जीवन अनुगमन करता रहेगा, किंवा तदसामर्थ्य में उन-**सांस्कृतिक--आयोजनों** का यावज्जीवन अनुगामी बना रहेगा, जिन पर्व-उत्सव-समारोह-आयोजनात्मक सांस्कृतिक-आयोजनों से भी आचारनिष्ठावत् ही तथाविध भारतीय मानव अपनी सच्चिदानन्दब्रह्मात्मिका मोक्षनिष्ठा को अन्वर्थ बनाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, निश्चयेन प्राप्त कर लेता है । यही है-उस भारतीय-मानव की स्वरूप-परिभाषा का दिग्दर्शन, जिसे लक्ष्य बना कर ही अब हमें आयोजनों की रूपरेखा का उपक्रम करना है ।

२१-सर्वसमन्वयात्मक-पारिभाषिक-'व्यक्तिमानव'—

भारतीय मानव का प्रकृतिसिद्ध जैसा पारिभाषिक स्वरूप है, ठीक वैसा ही पारिभाषिक स्वरूप इसके **'सांस्कृतिक-आयोजन'** का है । भारतीय मानव न तो केवल शरीर को ही 'मानव' कहता, न केवल 'मन'

---

* विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय भावुक जनतन्त्र इत्थंभूत विभिन्न नव (९) ग्रहग्राहात्मक उद्बोधक-विवेचक-वर्गों के आक्रमण से किस प्रकार अपनी आत्मनिष्ठा से उत्तरोत्तर अभिभूत होता आ रहा है ?, प्रश्न का समाधान श्वेतक्रान्तिनिबन्ध के द्वितीयखण्ड में हीं द्रष्टव्य है ।

को ही 'मानव' मानता, न केवल 'बुद्धि' को ही 'मानव' उपाधि से समन्वित करता, एवं न केवल 'भूतात्मा' को ही मानव–अभिधा से युक्त मानता। अपितु चारों के समन्वित–रूप को ही वह पारिभाषिक–यथार्थ–'मानव' मानता है, जो इत्थंभूत परिपूर्ण मानव शरीरजीवी–मनोजीवी–बुद्धिजीवी–समस्त कृमि–कीट–पक्षी–पशुओं के समतुलन में श्रेष्ठ माना गया हैं, जैसा कि '**भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः (मनो जीविनः)--प्राणिनां-बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु--नराः श्रेष्ठाः**' इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है। चारों पर्व परस्पर समन्वित हैं। अतएव चारों चारों के उपकारक भी हैं, उपकार्य्य भी हैं। अनुग्राहक भी हैं, अनुग्राह्य भी हैं। अन्योऽन्याश्रित चारों प्राकृतिक–मानवीय पर्वों के समन्वयात्मक पारिभाषिक इत्थंभूत मानवश्रेष्ठ के प्रत्येक सांस्कृतिक–आयोजन को भी गौण–प्राधान्यरूपेण–आत्मा, बुद्धि, मनः, शरीर इन–चारों मानवीय पर्वों की पुष्टि-तुष्टि-तृप्ति-शान्ति का उपोद्बलक होना चाहिए। **पुष्टि शरीर का धर्म्म है, तुष्टि (अर्द्धतृप्तिरेव–आंशिक तृप्तिरेव तुष्टिः) मनका धर्म्म है, तृप्ति बुद्धि का धर्म्म है, एवं शान्ति भूतात्मा का धर्म्म है।**

१–मानवीयः––भूतात्मा––स्वायम्भुवः–शान्तिगुणान्वितः
२–मानवीया—बुद्धिः——सौरी——तृप्तिगुणान्विता
३–मानवीयं—मनः———चान्द्रम्—तुष्टिगुणान्वितम्
४–मानवीयं—शरीरम्—पार्थिवम्––पुष्टिगुणान्वितम्

समन्वयात्मकः–पारिभाषिकः
"व्यक्तिमानवः"

* * *

२२–चतुष्पर्वा भारतीय मानव के पर्वचतुष्टयसमन्वयात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन—

प्रकृत्यनुगत–सत्त्वगुणान्वित–अन्नब्रह्म ही शारीरिक पुष्टि का परम्परया निमित्त बनता है। अतएव प्रत्येक आयोजन में अनुरूप–मर्य्यादित–अन्न का भी आयोजन होना ही चाहिए। प्रकृत्यनुगत––शिष्टजनसम्मत-मानसिक शक्तिवर्द्धक––गन्धर्वाप्सरा––प्राणनुगृहीत––सङ्गीत से समन्वित आराधन (उपासन) ही मानसिक––तुष्टि का परम्परया निमित्त बनता है। अतएव प्रत्येक आयोजन में आयोजन के मूलधारभूत आत्मदेव के स्वरूपानुरूप-सात्त्विक सङ्गीत का भी आवोजन व्यवस्थित होना ही चाहिए। प्रकृत्यनुगत-आत्म-देवस्वरूपविश्लेषक-तत्त्वविवेक ही बौद्धिक––तृप्ति––का कारण बना करता है। अतएव आयोजन में तत्तद्देवानुबन्धिनी तत्त्वचर्चा से अनुप्राणिता––कथात्मिका––तृप्ति का भी आयोजन होना हीं चाहिए। स्वायम्भुव भूतात्मा––नियतिःसत्यात्मक है, जिसका प्रथम प्रकरण में दिगदर्शन कराया जाचुका है। नियतिःसत्यात्मक––भूतात्मा के अनुग्रह से ही शान्ति का उदय होता है। तदर्थ भूतात्मानुबन्धी वैसे कुछ एक प्रकृतिसिद्ध विधि–विधानों का भी संग्रह अपेक्षित होजाता है, जिन विधि––विधानों का शास्त्रीया––आचारनिष्ठा से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। भूतात्मानुगता–शान्ति के प्रतिष्ठापन के लिए तत्संग्राहक––उस आचार का भी आयोजन में––आस्थाश्रद्धा––पूर्वक संग्रह करना आवश्यक हो जाता है। और यों चतुष्पर्वा भारतीय मानव का प्रत्येक सांस्कृतिक–आयोजन तथाविध––चारों गुणों के द्वारा सचमुच भारतीय मानव का सांस्कृतिक––आयोजन ही प्रमाणित होजाता है।

CC-0. Agamnigam Digital Rresevation Foundation, Chandigarh

२३–यथाकाल-पात्र-श्रद्धा-देवता-आदि के समन्वय के द्वारा आयोजनों की स्वरूपनिष्पत्ति–

अमुक शास्त्रीय आचार, अमुक तत्त्वचर्चा, अमुक मङ्गलगान, अमुक भोजनायोजन, चारों हीं आयोजन प्रत्येक आयोजन के अङ्ग बने हीं रहने चाहिएँ । चारों में से एक का भी अभाव आयोजन के स्वरूप को उसी प्रकार विकृत-दूषित–यातयाम–गतरस–बना देता है, जैसेकि आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–में से एक का भी अभाव मानव को मानवस्वरूप से पराङ्मुख बना देता है । इनका उदाहरणात्मक–विशेष समन्वय तो तदायोजनों की रूपरेखा में ही स्पष्ट होगा । प्रसङ्गसमन्वय के लिए सामान्यरूपेण अभी इस सम्बन्ध में यही जान लीजिए कि, परम सांस्कृतिक, अतएव परमभाग्यशाली–आचारनिष्ठ–राजस्थान की राजधानी जयपत्तन–नगर (जयपुर) में सामान्यरूपेण सदा ही, किन्तु विशेषरूपेण प्रत्येक पुरुषोत्तममास में ('मलिम्लुच' नामक अधिकमास में) वेदसिद्ध * '**सप्ताहयज्ञ**' के सांस्कृतिक आचार के प्रतीकभूत पौराणिक '**सप्ताहकथा**' नामक सांस्कृतिक आयोजन बड़े ही समारोह के साथ नगर के तत्तद्विशेष देवमन्दिरों में एकमात्र प्रजा के सहयोग से ही मनाए जाते हैं, जो यहाँ की भाषा में–'**सात दिन की बरणी**' कहलाया है, जो 'सप्ताहवरण' का ही प्राकृतरूप है । अमुक माङ्गलिक तिथि–नक्षत्र के पावन मुहूर्त्त में सप्ताहपारायण का आरम्भ होता है । सप्ताह के अधिदेवता भगवान् विष्णु का **पूजन–स्थापन–हवन–आदि** वे सभी शास्त्रीय आचार आचारनिष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न किए जाते हैं, जिनका मानव के भूतात्मपर्व से सम्बन्ध है । तदनन्तर व्यासपीठ पर समारूढ कथावाचक महानुभाव के द्वारा तत्त्वचर्चा–विश्लेषणपूर्वक सात दिवस पर्य्यन्त कथा होती है, जिसका बुद्धिपर्व से सम्बन्ध है । सप्ताहपर्य्यन्त पारायणपाठ के लिए पारायणसत्र में वृत १०८ ब्राह्मणों के द्वारा उपांशुरूप से होने वाले पारायणपाठमात्र का भूतात्मा की शान्ति से भी सम्बन्ध है, एवं बुद्धि की वैय्यक्तिक तृप्ति से भी सम्बन्ध है । कथारम्भ में, एवं कथासमाप्ति पर प्रतिदिन कथा में समवेत श्रद्धालुवर्ग के द्वारा भगवत्स्मरणात्मक सङ्गीत का भी आयोजन होता है, यही मानसिक तुष्टि का संग्राहक तृतीय आयोजन है । सर्वान्त में सायंकाल शरीरपुष्ट्यनुगत ब्राह्मणभोजन का आयोजन होता है प्रतिदिन । और यही चतुर्थ पर्व का संग्राहक आयोजन है । यों इस कथारूप सांस्कृतिक–आयोजन में चारों पर्वों के चारों आयोजन यथापात्र–यथाकाल–यथाश्रद्धा–यथादेवता, सर्वोपरि यथायुग समन्वित बने रहते हैं ।

२४–आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-समन्वयमूलक प्रत्येक आयोजन की सर्वता—

महाराष्ट्रीया श्रद्धालु प्रजा का–'**सत्यनारायणाँची महापूजा**' नाम से प्रसिद्ध सांस्कृतिक आयोजन भी प्रतिपूर्णिमा को आयोजन की चतुष्पर्वसमन्वयवृत्ति को ही प्रमाणित कर रहा है । भूतात्मा की शान्ति से सम्बद्ध '**विष्णुदेव का स्थापन**', बुद्धितृप्त्यनुगता **सत्यनारायणकथा**, मनस्तुष्ट्यनुगत भावुक भक्तों के द्वारा झञ्झातालमृदङ्ग–द्वारा **विष्णुस्तवन**, सर्वान्त में शरीरपुष्टिभावानुगत **प्रसादवितरण**, रूप से स्पष्ट ही इसका परिपूर्ण आयोजनत्त्व संसिद्ध है । एवमेव बड़े से बड़ा आयोजन हो, अथवा छोटे से छोटा आयोजन, प्रत्येक

---

*–येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
––यजुःसंहिता ३४।४।

आयोजन में न्यूनाधिकरूपेण (आयोजन के स्वरूपानुपात से) चारों ही भाव अवश्यमेव समन्वित रहेंगे। और यही भारतीय पारिभाषिक चतुष्पर्वा मानव के चतुष्पर्वा सांस्कृतिक-आयोजन की मूलस्वरूपव्याख्या होगी, और यही वह निकषा (कसौटी) होगी, जिसके माध्यम से ही सांस्कृतिक-आयोजनों की प्रामाणिकता-उपादेयता का मूल्याङ्कन सम्भव बन सकेगा।

२५-भारतीय मानव के व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र-अनुबन्ध से चार विभिन्न संस्थान-

"आयोजन के स्वरूपानुपात से न्यूनाधिक रूप से प्रत्येक आयोजन में मानवीय चारों पर्वों के गुण-धर्म्म समन्वित रहेंगे" इस वाक्यसन्दर्भ का अभी स्पष्टरूप से समन्वय न हो सका। क्या तात्पर्य्य है-'न्यूनाधिक' का ?, इसी प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए पुनः इस सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देना आवश्यक हो जाता है। अवधानपूर्वक इस निवेदन को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए इसलिए कि, इसी प्रतिपाद्य वर्गीकरण के माध्यम से सांस्कृतिक आयोजनों के श्रेणि-विभागों का यथावत् समन्वय सम्भव बन सकेगा।

प्राकृतिक-तत्त्व, शक्ति-गुण-धर्म्मों-से समद्भूत व्यक्तिमानव के तत्त्व-गुण-धर्म्म-हीं सर्वप्रथम उसके परिवाररूप छोटे समाज में अभिव्यक्त होते हैं। पारिवारिक-स्वल्पसमाज (छोटा समाज) ही मानवव्यक्ति का उत्तरभावी दूसरा व्यक्ति है। इस व्यक्ति के तत्त्व-गुण-धर्म्मादि ही इसके बृहत्रूप 'समाज' नामक महान् परिवार के स्वरूप में अभिव्यक्त होते हैं। ऐसे समाजों का अभिव्यक्त स्वरूप ही अन्ततोगत्त्वा 'राष्ट्र' रूप में परिणत होता है। यों प्राथमिक **व्यक्तिमानव** ही **परिवारमानव**, परिवारमानव ही **समाजमानव**, एवं समाजमानव ही अन्ततोगत्त्वा **राष्ट्रमानव**, इन चार वर्गभावों में परिणत हो रहा है। बात थोड़ी अवधानपूर्वक समझने समझाने जैसी है।

२६-व्यक्तिमानव के व्यक्तित्त्व की मूलप्रतिष्ठा—

'व्यक्ति' का अर्थ है-'**अभिव्यक्तित्त्व**', एवं अभिव्यक्तित्त्व का सम्बन्ध है एकमात्र आत्मा (भूतात्) से। जिस मानव का स्वरूप आत्माभिव्यक्तित्त्व से व्यक्त रहता है, वही मानव-'व्यक्ति' कहलाया है, एवं ऐसे व्यक्तिमानव का व्यक्तित्त्व ही समाज में प्रतिष्ठित माना गया है। आत्माभिव्यक्तित्त्व से पराङ्मुख मानव केवल बुद्धिः-मनः-शरीरजीवी बना रहता हुआ आत्माभिव्यक्तित्त्वशून्य कृमि-कीट-पक्षी-पशु-प्राणिवर्ग में हीं अन्तर्भूत मान लिया गया है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, चारों पर्वों में से मानव का आत्मपर्व ही 'मानवव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव व्यक्तिमानव को हम **'आत्मप्रधानवर्ग'** ही कहेंगे।

२७-पारिवारिक मानव, और-'परिवार' शब्दार्थ का समन्वय—

इसी आत्मपर्व की साक्षी में बुद्धि के तत्त्वावधान में मानव दाम्पत्यजीवनात्मक-मनःशरीरपर्वों की मन्थनप्रक्रिया से जो नवीन प्रतिनिधि अभिव्यक्त करता है, वही इसका 'परिवार' माना गया है, जो इसकी आत्मसीमा में, दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्तित्त्वरूपा व्यक्तिसीमा में हीं अन्तर्भूत है। इसी आधार पर श्रुति

ने–**'आत्मा वै जायते पुत्रः'** यह सिद्धान्त स्थापित किया है । क्या अर्थ है–**'परिवार'** रूप * 'परिवार' शब्द का ? । उत्तर स्पष्ट है । परिवार के द्वारा मानव परितः–चारों ओर से उसीप्रकार से अपने गृहस्थधर्म्म का, आश्रमजीवनपद्धति का संवरणात्मक संरक्षण करने में समर्थ बन जाता है, जैसेकि खड्गकोश (म्यान) से खड्ग सर्वात्मना सुरक्षित रहता है । अतएव खड्कोश को भी–'परिवार' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है । निश्चयेन गृहस्थानुबन्धिनी पारिवारिक–जीवनपद्धति ही वह सर्वोत्कृष्ट जीवनपद्धति है, जिसमें मर्य्यादितरूप से, पूर्ण उत्तरदादित्वरूप से सुप्रतिष्ठित–व्यवस्थित रहते हुए परिवार के सभी सदस्य स्व–स्व–स्वरूप–संरक्षण–वर्द्धन की सुविधाएँ भी प्राप्त करते रहते हैं, एवं उन बाह्य–अमर्य्यादित अनाचारों से भी पारिवारिक व्यक्तियों का संत्राण होता रहता है, जिससे वे व्यक्तिमानव सर्वथा वञ्चित हो हो जाते हैं, जो परिवारव्यवस्था की उपेक्षा कर देते हैं । अथवा तो पारिवारिक उत्तरदायित्व का वहन ही नहीं करते । ऐसे उन्मर्य्यादित व्यक्ति अकर्म्मण्य बनकर नष्ट हो जाते हैं, अथवा तो उन्मर्य्याद बनकर–अमर्य्यादित कर्म्मों में आसक्त होकर नष्ट हो जाते हैं । अतएव भारतीय समाजशास्त्रियोंनें–गृहस्थाश्रमानुगता–परिवारव्यवस्था (कौटुम्बिक–व्यवस्था) को ही मानवजीवन के अभ्युदय–निःश्रेयस की मूलप्रतिष्ठा माना है, जो दुर्भाग्यवश आजके आत्मनिष्ठाशून्य प्रजासमाजवादात्मक धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के द्वारा निर्म्मित संस्कृतिविरुद्ध विधानों से (कानूनों से) उच्छिन्न होती जा रही है । इति नु महद्दुःखास्पदम् ।

२८–सर्वसमन्वयात्मक पारिभाषिक–'परिवारमानव'—

'परितः–वार्य्यते–अनेन, परितः–वारणं–येन–परितः–क्रियते वा अनेन' इत्यादि निर्वचनों से अनुप्राणित 'परीवारात्मक' परिवार के 'परितः' उपसर्ग का अर्थ है–**'चारों ओर से'** । क्या अर्थ है–इस–**'चारों ओर'** का ? । उत्तर स्पष्ट है । मानव के **आत्मा–मन–बुद्धि–शरीर**–ये चार वैय्यक्तिक पर्व ही तो मानव के 'चारों ओर' (दिक्) हैं । निश्चयेन महारम्भ–चतुष्पर्वात्मक–महाविश्व में संघर्ष करता हुआ एकाकी मानव अपने इन चारों पर्वों को स्वयं एकाकीरूप से सुव्यवस्थित–मर्य्यादित–सुविकसित नहीं कर सकता, नहीं रख सकता । यही तो 'परिवार' का महान् बीज है, जिसका–**'एकाकी न–रमते–तद्द्वितीय–मैच्छत्–पतिश्च, पत्नोच'** इत्यादि श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है । इसी कामबीज ने मानव को परिवाररूपा–प्राथमिक सामाजिकता प्रदान की है, जिसके सुव्यवस्थित–मर्य्यादित क्षेत्र में मानव के चारों पर्व चारों ओर से सुरक्षित, एवं विकसित हैं । मानव व्यक्ति के आत्मादि चारों वैय्यक्तिक पर्व ही परिवार में **कुलवृद्ध–युवासमर्थ पुत्र–नारीवृन्द–बालवृन्द**–रूप से अभिव्यक्त हुए हैं, जिसकी–**'मानवस्वरूपमीमांसा'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विशद व्याख्या कर दी गई है । कुलवृद्ध मानव स्वयं है, यही इस के अपने प्रथम भूतात्मपर्व का प्रातिस्विक स्वरूप है । समर्थ युवापुत्र ही कुलवृद्ध भूतात्मनिष्ठ व्यक्तिमानव के बुद्धिपर्व का प्रतीक बनता है । नारीवृन्द ही इस के मनः–पर्व का, एवं बालवृन्द ही इस के शरीरपर्व का विकसित–

---

* वरणार्थक– वृञ्' धातु से घञ्–प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न–'परि' उपसर्ग समन्वित 'परिवार' के ह्रस्व को दीर्घ हो जाता है, 'परीवारः' बन जाता है, जो लोक में–व्यवहारसौकर्य्यानुबन्ध से आज–'परिवार' रूप से प्रचलित है ।

पारिवारिक रूप है । यों चतुष्पर्वा व्यक्तिमानव ही तथोक्त परिवारबीजात्मिका कामना से चतुर्विध-पारिवारिक-संस्थानों में विभक्त हो कर सुरक्षित बन जाता है । एवं यही मानवपरिवार का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है ।

व्यक्तिमानवश्चतुष्पर्वा १	परिवारमानवश्चतुष्पर्वा २
१-मानवस्य-भूतात्मा—	तत्प्रतिनिधिः-स्वयं मानव एव कुलवृद्धः
२-मानवस्य-बुद्धिः—---	तत्प्रतिनिधिः-मानवस्य समर्थो युवापुत्रः
३-मानवस्य-मनः——	तत्प्रतिनिधि -परिवारस्य नारीवर्गः
४-मानवस्य-शरीरम्----	तत्प्रतिनिधिः-परिवारस्य-बालवर्गः

—सो ऽयं-समन्वयात्मकः-
पारिभाषिकः
'परिवारमानवः'

२९-ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-रूप-समाजबीज का प्रादुर्भाव—

विश्व बहुत बड़ा है, जब कि गृहस्थ विश्व की महत्ता के समतुलन में अणोरणीयान् ही बना हुआ है । अवश्य ही जो प्राणी प्रकृतिमात्र के ही अवयव हैं, अतएव जिन में आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व का अभाव है, अतएव जो केन्द्रात्मक अवयवी मनु से असंस्पृष्ट हैं, वे प्राणी अपने प्राकृतिक-अवयवभूत-यथाजात-प्राकृत स्वरूप से ही सर्वात्मना तुष्ट बने रहते हैं । अतएव इन का व्यक्तित्त्वशून्य (आत्माभिव्यक्तित्वशून्य) व्यक्तित्त्व इन की वैय्यक्तिक सीमा में हीं परिसमाप्त हो जाता है । अतएव न तो इन में चतुष्पर्वात्मक-वैय्यक्तिक विकास ही है, न चतुष्पर्वात्मिका परिवारव्यवस्था ही । मानव मानव है, मनु का औरस अपत्य-वह आत्मभाव है, जिस के गर्भ में सम्पूर्ण प्रकृतिमण्डल समाविष्ट है । मानव बुद्धि-मनः-शरीर-भावों से जहाँ प्रकृति है, वहाँ अपने आत्मभाव से पुरुष है, मानव है, प्रकृति का सञ्चालक है । अतएव केवल गृहस्थभाव से भी इस की आत्ममहिमा सर्वात्मना सुशान्त नहीं होती । अतएव भूयः-अकामयत-भूयान्त्याम्-इसप्रकार की भूमारूपा-बहुत्त्व कामना-**'एकोऽहं-बहु स्याम्'** रूपेण निरन्तर प्रक्रान्त ही बनी रहती है, और यही भूमाकामना बनती है-समाजरूप महान् परिवार का बीज, जिसका क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-इन चार ही भावों में विकास हुआ है, जिसका स्वरूप निबन्ध के प्रथम प्रकरण में-'ब्रह्म वा इदमग्र--एक एवासीत् । स नैव व्यभवत् । तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत--क्षत्रम्' इत्यादि श्रौत-सन्दर्भ के द्वारा बतलाया जा चुका है ।

३०-सर्वसमन्वयात्मक पारिभाषिक-'समाजमानव'—

मानव का भूतात्मा ही ब्रह्म है, बुद्धि क्षत्र है, मन ही विट् है, शरीर ही पौष्णरूप शूद्र है । इसी रूप से मानव के, किंवा व्यक्तिमानव के भूतात्मभावात्मक ब्रह्मभाव से ब्रह्मभावप्रधान **'ब्राह्मणवर्ण'** का आविर्भाव हुआ । मानव के बुद्ध्यात्मक क्षत्रभाव से क्षत्रभावप्रधान **'क्षत्रियवर्ण'** का आविर्भाव हुआ ।

मानव के मनोमय विड्भाव से विड्भावप्रधान 'वैश्यवर्ण' का व्यक्तीभाव हुआ । एवं मानव के शरीरात्मक शूद्रभाव से ही शूद्रभावप्रधान-'शूद्रवर्ण' का प्रादुर्भाव हुआ । यह चातुर्वर्ण्य ही भारतीय समाज की मूलप्रतिष्ठा बना, जिसका सुविशद वैज्ञानिक निरूपण अन्य निबन्धों में हीं द्रष्टव्य है । ब्राह्मणमानव समाज का भूतात्मा हैं, क्षत्रिय मानव समाज की बुद्धि हैं, वैश्यमानव समाज का मन है, शूद्रमानव समाज का शरीर है । चारों वर्णों का स्व-स्व-वर्णधर्म्मों में उत्तरदायित्वपूर्वक प्रतिष्ठित रहते हुए रागद्वेषशून्यतापूर्वक-चारों का 'सम्' रूप से, समन्वय रूप से, सममञ्जनरूप से एक दूसरे के पूरक बने रहना हीं भारतीय-समाजव्यवस्था का सम्पूर्ण इतिवृत्तरहस्य है । परिवारमानव-व्यवस्थारूप स्वल्पसमाज में जो स्थान कुलवृद्ध का है, इस बृहत्समाज में वही स्थान 'ब्राह्मण' का है । जो स्थान वहाँ समर्थ युवापुत्र का है, वही स्थान यहां 'क्षत्रिय' का है । जो स्थान वहाँ नारीवर्ग का है, वही स्थान यहाँ 'वैश्य' का है । एवं जो स्थान वहां बालवृन्द का है, वही स्थान यहाँ शूद्रवर्ग का है । दूसरे शब्दों में मानवीय भूतात्मा ही कुलवृद्धात्मक पारिवारिक द्वार से समाज का ज्ञानशक्तिप्रधान ब्राह्मणवर्ग बना है । मानवीया बुद्धि ही समर्थ युवापुत्रात्मक पारिवारिक द्वार से समाज का पौरुषशक्तिरूप-क्रियाशक्तिप्रधान-क्षत्रियवर्ग बना है । मानवीय मन हीं नारीवर्गात्मक पारिवारिक द्वार से समाज का अर्थमूलक कामप्रधान वैश्यवर्ग बना है । एवं मानवीय शरीर ही बालवर्गात्मक-पारिवारिक द्वार से समाज का काममूलक अर्थप्रधान शूद्रवर्ग बना है । और यों व्यक्तिमानव ही परिवारपर्वों के द्वारा अपने आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीररूप चारों ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-धर्म्मात्मक चार पर्वों से क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-इन चार सामाजिक वर्गों में परिणत हो गया है । एवं यही व्यक्तिमानव का तीसरा प्रक्रम है । यह स्मरण रहे कि, चातुर्वर्ण्य-जड़चेतनात्मक पदार्थमात्र में विद्यमान है, जिस इस प्राकृतिक रहस्य को न जानने के कारण हीं आज का भावुक मानव प्रकृतिसिद्ध-अतएव सनातन इस वर्गभेदचतुष्टयी के उच्छेद का वृथा प्रयास करता हुआ प्रक्रान्तर से, किन्तु अव्यवस्थितरूप से तत्स्थान में नवीन-नवीन वर्गभावों का ही सर्जन करता जारहा है, जैसाकि अन्य सामयिक निबन्ध के-**'क्या हम मानव हैं'** इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है ।

१-भूतात्मा-—	तदनुगतः-कुलवृद्धः-—	तद्द्वारेण-ब्राह्मणवर्णाविर्भावः (ब्रह्म)—ज्ञानम्
२-बुद्धिः-—-	तदनुगतः-युवापुत्रः-—	तद्द्वारेण-क्षत्रियवर्णाविर्भावः (क्षत्रम्)-क्रिया
३-मनः-——	तदनुगतः-नारीवर्गः·—	तद्द्वारेण-वैश्यवर्णाविर्भावः (विट्)-अर्थमयः कामः
४-शरीरम्-—	तदनुगतः-बालवर्गः-—	तद्द्वारेण-शूद्रवर्णाविर्भावः (पौष्णम्)-काममयोऽर्थः
व्यक्तिमानवः	परिवारमानवः	**समाजमानवः**
१	२	३

३१–राष्ट्रीय मानव की राष्ट्रीयता का मूलबीज—

क्या बृहत्समाजरूप–भूमाभाव पर आत्मनिष्ठ मानव का भूमाभाव उपशान्त हो गया ?, नेति होवाच। अभी तो वह महतोमहीयान् राष्ट्र जागरूक है, जिसकी भूमा मानवसमाज को प्रतिक्षण अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। यही भूमाकर्षण वह कामबीज है, जो सामाजिक मानव को आगे चल कर 'राष्ट्रीय–मानव' के राजसिंहासन पर आरूढ कर देता है, जिस सिंहासन पर समारूढ होते ही **व्यक्तिमानव–परिवारमानव–समाजमानव**, तीनों ही वर्ग आस्थाश्रद्धापूर्वक इस महान् राष्ट्रदेवता के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देते हैं–स्वस्वोत्तरदायित्व संरक्षण पूर्वक। यही यहाँ का निष्कण्टक–अजिह्म (अकुटिल–ऋजु) राजपथ माना गया है, जिस पर समारूढ मानव का व्यक्तित्व, परिवार, समाज, सभी प्रकृतिसिद्ध तन्त्र, स्व–स्व–महान् उत्तरदायित्वों पर मर्य्यादा पूर्वक सुव्यवस्थित रहते हुए राष्ट्र–पुष्टि–तुष्टि–तृप्ति–शान्ति के उपोदबलक बने रहते हैं।

३२–'राजते' का समन्वय और राष्ट्रशब्द का स्वरूप–दिग्दर्शन—

दीप्त्यर्थ **'राजृ'** धातु (राजृ–दीप्तौ) से सम्पन्न 'राष्ट्र' का अर्थ होता है–**'राजते'**। जिसप्रकार सौर–तेज सर्वत्र रोदसीब्रह्माण्ड में अच्छिद्रपवित्ररूप से (निरपवादरूप से) आसमन्तात्–प्रदीप्त रहता है, एवमेव जिस राष्ट्र के व्यक्ति, व्यक्तिसमष्टिरूप परिवार, परिवारसमष्टि रूप समाज अपने अपने उत्तरदायित्वों का सत्य–धर्म्म–निष्ठापूर्वक निर्वाह करते हुए पुष्ट–तुष्ट–तृप्त–शान्त बने रहते है, वह राष्ट्र ही 'राजते' पद का अधिकारी बना करता है, जिसका सञ्चालन समाज के चतुर्द्धा विभक्त–पूर्वोक्त–सामाजिक चारों वर्गों के समसमन्वय से ही होता रहता है। दूसरे शब्दों में जिस राष्ट्र के ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र चारों सामाजिक वर्ग स्व–स्व–तन्त्रों में निष्ठापूर्वक प्रतिष्ठित रहते हुए, एक दूसरे के पूरक बनते हुए समष्टिरूप से अपने देश को अपनी निष्ठाएँ अर्पित करते रहते हैं, उस देश की शारीरिक–पुष्टि, मानसिक–तुष्टि, बौद्धिक–तृप्ति, एवं आत्मिक–शान्ति, सर्वात्मना समन्वित रहती हुई देश को सभी विभूति–समृद्धि–ऐश्वर्य्यों से आलोकित करतीं रहतीं हैं। और यही सममञ्जनलक्षण–सामाजिक–वर्गों के निष्ठार्पण से अनुप्राणित देश का राजृत्त्व है। ऐसा देश ही–'राजते' लक्षण–'राष्ट्र' कहलाया है। ऐसे राजते लक्षण राष्ट्र के स्वरूपसंरक्षक सामाजिक वर्ग ही–'राष्ट्रीय' मानव कहलाए है, जो कि सामाजिक मानवों का ही भूमाभावात्मक–महीयान् स्वरूप है। समाज महान् था, राष्ट्र महीयान् है, महामहिम है।

३३–सत्तातन्त्रप्रवर्त्तक–'नीतितन्त्र', एवं तद्व्यवस्थापक निष्ठामूर्त्ति ब्राह्मण—

क्या तात्पर्य्य हुआ–**'निष्ठार्पण का'** ?। अपने भूमाभावात्मक प्रज्ञाबल से ही इस तात्पर्य्य का समन्वय कीजिए !। राष्ट्रनिर्म्माता चारों वर्गों की निष्ठाओं का स्वरूप–समन्वय ही इस तात्पर्य्य को समन्वित कर देता है। समाज भूतात्म स्थानीय–ज्ञानशक्तिप्रधान–ब्रह्मवीर्य्ययुक्त ब्राह्मणवर्ग की निष्ठा का आधार है–राष्ट्र का ज्ञानविज्ञानात्मक वह मौलिक सांस्कृतिक साहित्य, जिससे ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी बन कर तत्त्वचिन्तन में सफलता प्राप्त करता हुआ शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर राष्ट्रसञ्चालन की सुनिश्चिता–**'नीति'** निर्द्धारित करता है। सत्य–धर्म्मात्मिका–यह 'नीति' ही ब्राह्मणनिष्ठा की स्वरूपव्याख्या है।

३४–सत्तातन्त्रात्मक 'अनुशासनतन्त्र', एवं तद्व्यवस्थासंरक्षक नैष्ठिक क्षत्रिय—

इस नीति को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाता हुआ क्षात्र सत्तातन्त्र, किंवा सत्तातन्त्रात्मक क्षात्र तेज अपने पौरुषरूप कर्म्मबल से उस नीति के द्वारा समाज को स्व–स्व–कर्तव्यों में मर्य्यादापूर्वक नियन्त्रित रखता है। वह नियन्त्रणसूत्र ही 'अनुशासनतन्त्र' है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा (आभ्यन्तर–प्रतिष्ठा) धर्म्मनीति मानी गई है, एवं तूलप्रतिष्ठा (बाह्य--प्रतिष्ठा) राजनीति मानी गई है। जबतक राजनीति धर्म्मनीति के अनुरूप शासनतन्त्र में प्रयुक्त होती रहती है, तबतक तो ब्राह्मण तटस्थ ही बना रहता है सत्तातन्त्र से। किन्तु जब सत्तातन्त्र दुर्भाग्यवश बहिर्मुख बनता हुआ अपनी राजनीति के प्रयोग में धर्म्मनीति की उपेक्षा कर बैठता है, तो धर्म्मनीतिनिरपेक्ष वह सत्तातन्त्र निश्चयेन प्रकृतिविरुद्ध जाता हुआ कालान्तर में अराजकता का ही सर्जक बन बैठता है। एवं ऐसी अराजकतावस्था में–'**ब्रह्मैव सन्नियन्तृस्यात्**' रूपेण स्वयं ब्राह्मण को ही समाज का उद्बोधन कराना पड़ता है। एवं इस परम्परा से सत्तातन्त्र को उद्बोधन प्रदान कराता हुआ राष्ट्रीय ब्राह्मण पुनः सत्तातन्त्र को प्रकृतिस्थ बना देता है। निवेदन यही करना है कि, राजनीतिरूप अनुशासनतन्त्र ही सत्तातन्त्रात्मक समाज (क्षात्रसमाज) की प्रधान निष्ठा है।

३५–सत्तातन्त्रानुगत -'गणतन्त्र', एवं तद्व्यवस्थानुगत निष्ठाशील वैश्य—

राष्ट्रीय भौतिक–परिग्रहों के क्रय–विक्रयरूप वाणिज्यात्मक–व्यवसाय का, राष्ट्र के प्रमुख अर्थबलात्मक कृषिकर्म्म का, एवं राष्ट्र के जीवनीय रसात्मक* गोरक्षणकर्म्म का, इत्थंभूत महान् कर्म्मों का अनुवर्त्ता वैश्य-वर्गात्मक समाज अपनी मनोऽनुगता गणवृत्ति से–(सहसमन्वयवृत्ति से)–ही राष्ट्र की अर्थशक्ति को सुगुप्त–सुरक्षित रखता है। तभी तो इसे–'**गुप्त**' उपाधि से समन्वित किया गया है। सभेयरूपा गणता ही इसकी मूलनिष्ठा है। इतस्ततः सर्वत्र अनुधावन करते हुए–सभी समानसहयोगियों से वातावरण का अध्ययन करते हुए ही वैश्य महानुभाव इस 'गण' (समूह) रूपा सामूहिक–व्यवसाय–पद्धति से ही अपने तथाकथित महान् उत्तरदायित्व का संरक्षण–परिबर्द्धन करते रहने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। अतएव इस 'गणात्मिका' तन्त्रबुद्धि को ही व्यवसायबुद्धि कहा गया है, जिसके द्वारा अर्थात्मिका लक्ष्मी का अनुग्रहात्मक निग्रह सफल बन जाया करता है। यों–'गणतन्त्रता' (सामूहिक–तन्त्रता–सहकारिता) ही वैश्यसमाज की मूलनिष्ठा बनी हुई है। एकाकी वैश्य तबतक राष्ट्रीय व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता, जबतक कि यह समानसहयोगियों के–गणों से परामर्श नहीं कर लेता। तभी तो इसे 'सभेय' (सभाप्रिय) श्रेष्ठसमाज माना गया है। अपने सहज मनस्तन्त्र से वैश्यसमाज आदावन्ते च नम्र बना रहता हुआ निश्चयेन अपने गणतन्त्र में सफलता प्राप्त कर तद्द्वारा राष्ट्रलक्ष्मी का सञ्चय करता हुआ इसे निर्व्याजरूप से राष्ट्रदेवता के चरणों में समर्पित करता हुआ अपनी सुगुप्ता 'श्रेष्ठ' (सेठ) उपाधि को सर्वात्मना अन्वर्थ प्रमाणित कर लेता है।

---

* स्वादु–पाकरसं–स्निग्धं–ओजस्यं–धातुवर्द्धनम्।
प्रायः पयः,–"तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्" ॥

—अष्टाङ्गहृदये

३६–सत्तातन्त्रानुवर्त्मा–'प्रजातन्त्र', एवं तदनुगामी लोकभावुक शूद्र—

अब केवल शरीरधर्म्मा चतुर्थ वर्ग शेष रह जाता है, जिसकी निष्ठा का एकमात्र अवलम्ब शरीर ही बना रहता है। उत्पत्तिक्रम में–'प्रजनन'–'जन्म'–अभिधाओं का प्रधान–सम्बन्ध न आत्मा से माना जाता, न बुद्धि से, न मन से। अपितु–शरीर ही 'प्रजनन' कर्म्म का प्रधान प्रतीक माना गया है। प्रजनन का ही पारिभाषिक नाम है–**'प्रजाति'**, प्रजाति ही 'प्रजा' का मूलाधार है, जिसका अर्थ है–**'प्रजायते'**। शरीर ही 'जन्म' शब्द का मुख्य अधिकारी है। इसी जननसम्बन्ध से प्रजा को–**'जन'** कहा गया है। शरीर से शरीर का सन्तनन–विस्तार–होता है। अतएव जनरूपा प्रजा को 'सन्तान' भी कह दिया जाता है, जैसा कि–**"प्रजा स्यात्, सन्ततौ–जने"** इत्यादि अमरवचन से स्पष्ट है। यही प्रजातन्त्र, किंवा जनतन्त्र की स्वरूप व्याख्या है, जिसका अर्थ है–शरीरतन्त्र, किंवा भूततन्त्र।

३७–जनतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र की इच्छा का स्वरूप–विश्लेषण, एवं वर्गोच्छेदमूला भ्रान्ति—

उक्त तन्त्र की प्रधान इच्छा मानी गई है–**अन्नवस्त्र की समस्या का समाधान**। शरीरधर्म्मप्रधान एक बालक जो चाहा करता है, उसी की व्यक्तरूपा शरीरधर्म्मप्रधाना प्रजा उससे अधिक और चाह भी क्या सकती है ?। खान–पान की सुव्यवस्था, आवश्यकतानुसार निवासगृहों की सुविधा, प्रकाश–पानी–उद्यान–आदि कतिपय परिशिष्ट शारीरिक व्यवस्थाएँ हीं पर्य्याप्त हैं–प्रजावर्ग के लिए। यदि सत्तातन्त्र शरीरधर्म्मप्रधान प्रजावर्ग के लिए ये शारीरिक व्यवस्थाएँ करने में नहीं, तो इनके आश्वासन में भी यदि चतुर है, तो भावुक–प्रजा की भक्ति इसे अनायासेनैव मिल सकती है, जिसका कि प्रत्यक्ष निदर्शन वर्त्तमान युग बना हुआ है। अतएव चतुर सत्तातन्त्र प्रत्येक सम्भव–असम्भव उपाय से प्रजावर्ग को आश्वस्त करते रहने में हीं अपना समस्त बल–पौरुष–खर्च करता जा रहा है। 'हरिजन आन्दोलन' का इससे अधिक और कुछ भी तथ्य नहीं है। जब इतर वर्गों का प्रश्न सामने आता है, तो सत्तातन्त्र उद्घोष कर देता है कि, 'हम वर्गभेद का मूलोच्छेद ही कर डालेंगे', जब कि–न सृष्टयारम्भ से आजतक वर्गों का उच्छेद हुआ, न यावच्चन्द्रदिवाकरौ वर्गोच्छेद सम्भव ही।

३८–जनतन्त्र की असन्तोषपरम्पराओं का नग्न चित्रण—

तथ्य इस उच्छेद–घोषणा का यही है कि, अन्य वर्गों में मानसिक–बौद्धिक–जो चेतना बची रह गई है, एवं वर्त्तमान भूतशिक्षा भी जिस शेष चेतना को थोड़ा बल प्रदान करती ही रहती है, वह आज सर्वात्मना उद्विग्न है। इसके उद्वेग से शरीरधर्म्मा प्रजावर्ग प्रभावित न हो जाय, इसीलिए तो उक्त उच्छेदघोषणा को प्रमुखता दी जारही है, जिसकी व्याख्या की जारही है–**'वर्गहीन प्रजासमाजवाद'**। एवं मध्यमवर्ग की रही सही भी स्वतन्त्र चेतना भूतभार से सर्वात्मना अभिभूत हो जाय, जिसके फलस्वरूप यह वर्ग भी निश्चेतनभाव में परिणत हो कर 'प्रजाकोटि' में आजाय, तदर्थ ही शिक्षापद्धति को–**'मल्टीपर्पज'** जैसे व्यामोहक यन्त्र से यन्त्रित करने की चेष्टा की जारही है। इसकी प्ररोचनात्मिका यह व्याख्या की जारही है कि, **"दस्तकारी–शिल्प–कृषि–एवं अन्यान्य–गृह उद्योग भी यदि यहाँ का शिक्षित सीख लेगा, तो फिर यह परमुखापेक्षी न बन कर अपने भरण–पोषण में स्वावलम्बी बन जायगा। यों शिक्षा इसके लिए अभिशाप न बन कर वरदान हीं बन जायगी"**। एक ओर यों शिक्षितों को

स्वावलम्बनता के प्रलोभन से शिक्षात्मक–चेतनक्षेत्र से पराङ्मुख बनाने का प्रयास, तो दूसरी ओर– **'जो मल्टीपर्पजपद्धति से शिक्षा में कौशल प्राप्त करेंगे–उन्हीं को राज्यसेवा (नौकरी) में प्रमुखता दी जायगी'** इस घोषणा से परावलम्बनतालक्षणा दासता के लिए आह्वान । कैसे इन परस्पर विरोधी भावों का समन्वय--सम्भावित मान लिया जाय ? । और फिर जो जनगण शिल्प–कला–कृषि–गृहोद्योगादि में परम्परया सिद्धहस्त है, उसके शिल्प–कलादि को आज किस सीमापर्य्यन्त प्रोत्साहन मिल रहा है ?, यह प्रश्न भी एक गम्भीर समस्या ही बनता जारहा है । 'कॉपरेटिव सोसायटी' नामक महा अभ्व के निर्म्माण में कुशल परिगणित अमुक वर्ग के लोकव्यवहारधुरीण प्रमुख व्यक्ति तो इन सुविधाओं से लाभ उठा ले जाते हैं । एवं वे वास्तविक–शिल्पी--उद्योगी--श्रमजीवी–इन लाभों के संस्मरणबोध से भी आज वञ्चित ही बने हुए हैं । यही व्यवस्था कृषिसुविधा के सम्बन्ध में घटित--विघटित हो रही है । यों अथ से इति पर्य्यन्त घोषणात्मक आयोजनों के अतिरिक्त उस रोग का निदान तो आज सर्वथा उपेक्षित ही बनता जारहा है, जिस निदान के बिना कोई भी औषधि लाभ कर ही नहीं रही । प्रत्युत लाभ के स्थान में वे सभी उपचार उत्तरोत्तर राष्ट्र की शक्तियों को अभिभूत ही करते जारहे हैं । **'मर्ज़ बढ़ता ही गया, ज्यों ज्यों दवा की'** इस लोकसूक्ति को चरितार्थ करने वाले, मूलनिष्ठाओं से वञ्चित, साथ ही नितान्त भावुकतापूर्ण सभी उपाय--आयोजन–आन्दोलन--आज उस जनतन्त्र को भी सन्तुष्ट नहीं कर पा रहे, जिस की एकमात्र इच्छा का केन्द्र शरीर ही बना हुआ है । फिर अन्य वर्गों के सम्बन्ध में तो विचारोत्थानिका ही व्यर्थ है ।

३६–शरीरव्यामोहनमूलकमात्र- मानवता, मानवधर्म्म, सत्य, अहिंसा, पञ्चशील, सहास्तित्त्व, आदि आदि व्यामोहक शब्दों के द्वारा राष्ट्रस्वरूपविमोहन—

और यह सब कुछ अकाण्डताण्डव प्रक्रान्त है आज **मानवता, मानवधर्म्म, सत्य, अहिंसा, प्रेम, सहास्तित्त्व,** आदि आदि आदर्श शब्दों के उद्घोष के साथ । मानों एक मात्र **'शरीर'** का ही नाम मानवता, किंवा मानवधर्म्म है । क्या मानवता–मानवधर्म्म की परिसमाप्ति केवल शरीर पर ही परिसमाप्त है ?, जिसकी अनन्यचिन्ता से ही आज के राष्ट्रीय मानव चिन्तित बने हुए हैं । क्या मन–बुद्धि–आत्मा–ईश्वर आदि का कोई स्थान नहीं है मानवता, किंवा मानवधर्म्म के, अथवा तो सत्य–अहिंसा–आदि के क्षेत्र में ? । बिना इस प्रश्न के तत्त्वसम्मत समाधान के कदापि कोई भी मानव भारतीय मानव को तो केवल शरीरधर्म्मों के प्रलोभनमात्र से अपने तन्त्रों में निष्ठापूर्वक दीक्षित नहीं कर सकता । अन्यान्य वर्गों को तो जाने दीजिए । जिस शरीरधर्म्मा प्रजावर्ग को सत्तातन्त्र ने अपना अभय क्षेत्र मान रक्खा है, उसमें भी अधिक मानवश्रेष्ठ भारतीय--उस आत्मानुगता श्रद्धा आस्था से आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः ओतप्रोत हैं, जिन को परःशताधिक भी शारीरिक प्रलोभन भारतीया सांस्कृतिकी धर्म्मनिष्ठा से विचलित नहीं कर सकते । पतितपावनी भगवती भागीरथी गङ्गा जिन परमश्रद्धालु प्रजाओं में तरङ्गायित हो पड़ती हों, उन्हें केवल–'हरिजन' नाम-व्यामोहन से कदापि भारतीय निष्ठा से पराङ्मुख नहीं किया जासकता । अतएव अन्नवस्त्र--समाकुलिता केवल शरीरचिन्ता की निवृत्ति को ही 'मानवता' का सर्वस्व मापदण्ड मान बैठने से कदापि कम से कम भारतराष्ट्र का तो कोई सा भी आयोजन–निर्म्माण–(सांस्कृतिक–आयोजन)–तो स्वप्न में भी श्रेयः–प्रेय (हितकर–रुचिकर) नहीं माना जा सकता ।

४०–शरीरयात्रामात्रासक्त सत्तातन्त्र का महान् व्यामोहक तर्काभासात्मक तर्क—

यही वह दृष्टिबिन्दु है, जिसे आधार बना कर एक बार वर्त्तमानयुग के भाग्यविधाता पुनः भारतीय मानव की भावुकता से लाभ उठाने के लिए आतुर हो पड़ते हैं। आतुरतावश ही वैसा ही व्यामोहक तर्क उपस्थित कर ही तो डालते हैं, जिससे सहसा क्षणमात्र के लिए आत्मनिष्ठ भी भारतीय मानव की निष्ठा विकम्पित होने लगती है। व्यामोहक तर्क का स्वरूप यही है कि—“**जबतक राष्ट्र की शारीरिक चिन्ता का समाधान नहीं हो जाता, सहज भाषा में जब तक राष्ट्र अपनी उदरज्वाला उपशान्त नहीं कर लेता, तबतक इसके अन्य सभी प्रयास व्यर्थ हैं। कोई भी बुद्धिमान् इस प्रत्यक्षदृष्टानुभूत तथ्य के साथ कदापि गजनिमीलिका नहीं कर सकता। अतएव सर्वप्रथम राष्ट्रीय–सत्ता का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह मुख्यरूप से राष्ट्र की गरीबी हटावे, लक्ष–लक्षमित–भूखों को पेट भर भोजन मिलने के आयोजनों को सफल बनावे। एकमात्र इसी पावन उद्देश्य से हमारी सत्ता ने सर्वप्रथम इसी कर्म्म को प्रधान लक्ष्य बनाया है।**”

४१–व्यामोहक शब्दजाल, एवं तदनुगता प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से राष्ट्र का अधःपतन–

सामान्य प्रजावर्ग की कौन कहे, भारत का एक प्रज्ञाशील विद्वान् भी उक्त व्यामोहक तर्काभासात्मक तर्क से इसलिए प्रभावित हो जायगा कि, विगत तीन सहस्र वर्षों से गतानुगतिकन्यायेन प्रचलिता भावुकता के वारुणपाश से आबद्ध रहने वाले इस देश के इस भावुक विद्वान् की दृष्टि में जिस किसी भी लोकमानव के द्वारा भावुकतावश, किंवा कुनिष्ठा से केवल ‘संस्कृतभाषा’ मात्र में विरचित यच्चयावत् पद्य ही **‘शास्त्रप्रमाण’** बन गए हैं। श्लोक, किंवा वाक्य संस्कृतभाषामात्र में होना चाहिए, फिर वह श्रुति–स्मृति–पुराणादि आर्ष-शास्त्र से भले ही विरुद्ध ही क्यों न हो। इतना समय ही कहाँ रहा प्रज्ञातिरञ्जित इस राजभक्त विद्वान् के प्रज्ञाकोश में, जिससे यह तथ्य का वास्तविक समन्वय करले ?। यह तो उसी प्रकार प्रभावित होता ही गया उन भावुकतापूर्ण संस्कृत श्लोकों से, जैसे कि आज की भावुकप्रज्ञा, किन्तु सत्य–धर्म्मादि के प्रति सदा से ही आस्था श्रद्धा रखने वाली प्रजा अनात्मवादियों की ओर से उपस्थित सत्य-धर्म्म–अहिंसा–अस्तेय–करुणा–दया–मानवता–आदि शब्द–श्रवणमात्र से लक्ष्यविहीन बनती जा रही है। उसे यह कहाँ विदित है कि, इन शब्दों के गर्भ में तत्त्वतः असत्य–अधर्म्म–हिंसा–स्तेय–नृशंसता–क्रूरता–दानवता–आदि अमानवीय, किंवा दानवीय व्यक्तिस्वार्थमूलक कुभाव ही पुष्पित–पल्लवित होते जा रहे हैं। इसीलिए तो प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता को ही हमनें मानव के अधःपतन का, किंवा लक्ष्यच्युति का एकमात्र कारण माना है।

४२–‘शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्’ वाक्य की भावुकतापूर्णा आपातरमणीयता—

हाँ, तो उक्त व्यामोहक तर्क से भावुक विद्वान् को भी विकम्पित कर देने वाला एक भावुकतापूर्ण पद्य सुप्रसिद्ध है भावुकलोक में इसप्रकार कि–**‘शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्’**। जिसका लोकप्रजा की लोक-भाषा में अर्थ हुआ है—**‘पहिला सुख–निरोगी–काया’**। इसी लोकभावुकतासूत्र को भावुकता के परमाचार्य्य सन्तों नें इस रूप में परिणत कर दिया है कि—**‘भूखे भजन न होय गोसाईं’**। प्रत्यक्षदृष्टि से संस्कृतसूक्ति-लोकसूक्ति–सन्तसूक्ति–तीनों हीं सूक्तियाँ सारगर्भित प्रतीत हो रहीं है। ऐसी दशा में यदि हमारा सत्तातन्त्र भी

इसी सारगर्भिता ? शरीरचिन्ता को प्रमुखता दे रहा है पूर्व तर्क के आधार पर, तो इसमें क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है ? ।

४३–शरीरधर्म्मा श्रमजीवी का सर्वस्वस्वरूप, और उसकी अन्नदासता—

विप्रतिपत्ति तो कोई भी नहीं है । जहाँ तक शरीरधर्म्मात्मक श्रमजीवी वर्ग का सम्बन्ध है, उस सीमापर्य्यन्त तो भावुकतापूर्णा तीनों सूक्तियाँ भी अविप्रतिपन्ना ही हैं, एवं सत्तातन्त्र की चिन्ता भी समादरणीया ही बनी हुई है । इस दृष्टिकोण से केवल श्रमजीवी–शरीरधर्म्मा तो कदापि बुभुक्षित रह कर अपने श्रमकर्म्म में सफलता प्राप्त कर ही नहीं सकता । अतएव वह तो प्रातः ही खाकर काम पर जाता है, और जाने से पहिले मध्यान्ह की चिन्तानिवृत्ति के लिए भी वस्त्रखण्ड में करपट्टिका (रोटी) बाँध कर साथ ले लेता है । यों खानपान-की चिन्ता से निवृत्त होकर ही वह निश्चिन्ततापूर्वक कर्म्म में सफलता प्राप्त करने में सक्षम बनता है, जिस श्रमाध्यवसाय के लिए राजस्थानपत्तन में—**"चौकड़दा फिरना"** वाक्य प्रयुक्त हुआ है । काम में सर्वात्मना जुट पड़ना हीं 'चौकड़दा–फिरना' है । इस जुटाव का आधार वही भोजनद्रव्य है, जिसका अमुक अंश तो जुट पड़ने से पहिले इसने उदर में रख लिया है, एवं अमुक अंश जुट पड़ने के मध्यदिवसीय विश्रामकाल के लिए मस्तक से, किंवा कमर से बाँध लिया है । तभी इसका यह जुट पड़ना–चौकड़दा–फिरना–सम्भव बना करता है, जिसके लिए राजस्थानपत्तन में हीं श्रमकर्म्म में प्रचण्ड वेग से जुट पड़ने वाले के लिए यह वाक्य-सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है कि—**'अमुक व्यक्ति तो चून बाँध कर चौकड़दा फिर गया'** । ध्यान दीजिए **'चून बाँध कर'** इस वाक्यांश पर । अन्न को पहिले बाँध लिया है । अन्नचिन्ता पहिले निवृत्त करली है दिन भर के लिए । तभी वह काम में जुटने के लिए अग्रेसर बना है । और इसी लौकिक उदाहरण के द्वारा यह कहा जा सकता है, मान भी लिया जा सकता है कि, शरीरधर्म्मा श्रमजीवी का सर्वस्वस्वरूप तो अशनपान की निश्चिन्तता पर ही अवलम्बित है * ।

---

*–"पाञ्चभौतिक–वाङ्मय–शरीरपिण्ड का प्रधान अवलम्ब 'अन्नब्रह्म' (भोजन) ही है," इस तथ्य को विस्मृत न करते हुए भी 'मानव' की आत्मभावानुगता जीवन–पद्धति के साथ कदापि 'भोजन' को मूल-प्रतिष्ठा नहीं माना जा सकता । जिनकी दृष्टि में मानव का सर्वस्व-स्वरूप एकमात्र प्रत्यक्ष–दृष्ट भौतिक–मर्त्य–शरीर पर ही केन्द्रित है, उनकी दृष्टि में तो अवश्य ही एकमात्र 'भोजन' ही सर्वस्व है, और इसी दृष्टि से एवंविध भूतवादी–अनात्मवादी–शून्यवादी–प्रत्यक्षवादी–लोकायतिक–शरीरधर्म्माओं की जीवनपद्धति का लक्षण हुआ है—**"जीवन भोजन के लिए ही है"**, जिसकी फलितार्थभाषा लोक में प्रसिद्ध है कि—**"खाना–पीना, और मौज उड़ाना"** ।

ठीक इसके विपरीत जिन आत्मनिष्ठ पुरुषार्थियों की जीवनपद्धति स्वतन्त्र आत्मिक–बौद्धिक–पुरुषार्थ से समन्विता है, उनकी जीवनपद्धति का लक्षण हुआ है—**'भोजन जीवन के लिए है'** । अनन्यरूपेण आत्म-बुद्धि–निष्ठापूर्वक पुरुषार्थ में प्रवृत्त मानवश्रेष्ठ कदापि योगक्षेमानुगता 'अन्नचिन्ता' को मानव जीवन का अवलम्ब नहीं बनाया करते । क्योंकि इस चिन्ता का निराकरण तो प्रकृत्या सहजसिद्ध है पुरुषार्थनिष्ठ के लिए । यही कारण है कि, प्रवासयात्रा के समय 'चून' (भोजनपरिग्रह) बाँध कर साथ ले जाना अमाङ्गलिक माना है यहाँ के शकुनशास्त्रियों नें । ठीक इसके विपरीत जिन शरीरधर्म्मा श्रमजीवियों में आत्म–बुद्धिनिष्ठा अस्त-

४४–आश्रमानुगत–परिश्रममूलक श्रम की राष्ट्रीयता, एवं केवल श्रम की अराष्ट्रीयता—

यदि राष्ट्र की यही सदिच्छा है कि, शरीरधर्म्म की पुष्टि के अतिरिक्त राष्ट्र में न मानसिक तुष्टि अपेक्षित है, न बौद्धिक तृप्ति अपेक्षित है, न आत्मिक शान्ति ही अपेक्षित है, तो स्वागत ही किया जायगा उसकी इस अनन्यभावात्मिका 'अन्नचिन्ता' का। अवश्य ही उस अवस्था में तो मानव की मानवता का एकमात्र आधार वह अन्नचिन्ता ही बनी रह जायगी, जो श्रमशील–मनःशरीरधर्म्मा पशुओं की चिन्ता मानी गई है। क्या मानव के स्वरूप की यही इयत्ता है?, कदापि नहीं। मनःशरीरात्मक श्रम का महत्त्व भी मानव ने स्वीकार किया है। अमुकसीमा पर्य्यन्त अनिवार्य्य भी माना है इस श्रम को। स्वयं प्रजापति भी **'सोऽकामयत–स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** रूपेण भूतजगत् की भौतिकता के व्यक्तीभाव–संरक्षण–परिवर्द्धन के लिए श्रम को भी प्रधानता दे रहे हैं। किन्तु बौद्धिक **परिश्रम**, तथा आत्मिक **आश्रम**, इन दोनों को मूलाधार बनाए बिना केवल मनःशरीरात्मक **श्रम** कदापि मानव की मानवता का मापदण्ड नहीं बन सकता, जैसाकि अन्य सामयिक निबन्ध के–**'श्वेतक्रान्ति'** नामक अन्तिम परिच्छेद में इन तीनों शब्दों का तात्त्विक स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है।

४५–निराशी आत्मा, और साशन शरीर, एवं दोनों का तात्त्विक समन्वय—

'शरीरामाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्' यह श्रमजीवी की भाषा है। परिश्रमजीवी बुद्धिमान् की, एवं आश्रमनिष्ठ आत्मनिष्ठ की कदापि ऐसी भाषा नहीं हो सकती। उसका उपक्रमस्थान--आदिस्थान तो आत्मा बनता है, न कि शरीर, जबकि शरीरजीवी का उपक्रमोपसंहार सदा शरीर ही बना रहता है। अन्तोपक्रमस्नेही दर्शनशास्त्र ही–**'शरीरमाद्यम्'** भाषा बोल सकता है, बोला करता है, बोलता ही रहेगा। कदापि–अनन्तोपक्रमनिष्ठ धर्म्म ऐसा अनर्गल प्रलाप नहीं कर सकता। प्रमुख स्थान आत्मा का, तदनन्तर बुद्धि का, तदनन्तर मन का, और सर्वान्त में शरीर का। यही प्रकृतिसिद्ध सनातन क्रम है। आत्मा ही मानवता का मूलबिन्दु है, जो कि–**'निराशीः'** माना गया है, जबकि **'साशन'** केवल शरीर ही माना गया है। **'साशनानशनेऽभि'** (यजुःसंहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति ने इसी पार्थक्य का स्पष्टीकरण किया है।

४६–स्वस्वरूपचिन्तक राष्ट्र की योगक्षेमानुगता निश्चिन्तता—

आत्मनिष्ठ के लिए अन्न प्रकृत्या ही व्यवस्थित है, जबकि शरीरधर्म्मा जीता ही अन्न के लिए है। अतएव प्रज्ञाशील–आत्मबुद्धिनिष्ठ राष्ट्र कदापि मनःशरीरानुबन्धिनी अन्नचिन्ता को प्रमुखता प्रदान नहीं किया करता। जिस राष्ट्र का आत्मा अन्तर्म्मुख बन जाता है, बुद्धि जड़ बन जाती है, मनःशरीरप्रधान–कामार्थमात्रपरायण ऐसे जड़ राष्ट्र ही आश्रम–परिश्रम–दान के समतुलन में श्रमदान की घोषणामात्र करते हुए अन्नचिन्ता में ही आपादमस्तक निमज्जित बने रहते हैं। यही अन्नचिन्ता कालान्तर में आत्मिक--अभिमान,

---

र्म्मुख बनी रहती है, वे बिना 'चून' बाँधे शरीरकर्म्म में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। प्रेतभावापन्न जीवात्मा क्योंकि स्वतन्त्र पुरुषार्थ में असमर्थ बन जाता है। अतएव इसके लिए अन्नव्यवस्था (पिण्डव्यवस्था) इसके साथ ही करनी पड़ती है इसके पुत्रादि को। निवेदन–निष्कर्ष यही है कि, अन्नचिन्ता कदापि पुरुषार्थसमन्वित नैष्टिक मानव का प्रमुख उद्देश्य नहीं बना करती।

बौद्धिक–पराक्रम, एवं मानसिक साहस, सभी विभूतियों को अभिभूत कर राष्ट्र को कालान्तर में स्वस्वरूप में (अन्नस्वरूप में) ही परिणत कर डालती है । और तद्दशा में परिणत अन्नात्मक राष्ट्र का बुद्धिनिष्ठ किसी भी अन्नाद राष्ट्र के द्वारा सर्वात्मना निगरण कर लिया जाता है । अतएव आत्मचिन्ता प्रज्ञाशील राष्ट्र की प्रमुख चिन्ता मानी गई है, तदनन्तर तत्त्वचिन्तन को स्थान मिला है । तदनन्तर–श्रम का समादर हुआ है । जिस राष्ट्र की आत्मचिन्तनवृत्ति तत्त्वचिन्तननिष्ठा बनी रहती हुई श्रम का अनुगमन करती रहती है, उस नैष्ठिक राष्ट्र को स्वप्न में भी अन्नचिन्ता उत्पीडित नहीं कर सकती, कदापि नहीं कर सकती ।

४७–मानवीय पर्वों का आनुपातिक–समन्वय–तारतम्य—

शरीरविज्ञान से अंशतः भी परिचित यह जानते हैं कि, सर्वात्मना स्वस्थ–नीरोग–पुष्ट भी शरीर मानसिक वेदना से सर्वथा क्लान्त बन जाता है । मानसिक क्षोभ से स्वस्थ भी शरीर क्षुब्ध हो पड़ता है । एवमेव बौद्धिक प्रमाद मन को भी प्रमादी बना देता है । और आत्मिक अन्तर्भाव तो मानव को सर्वथा परप्रत्ययनेय ही बना डालता है, जिसकी परिणति **'यथाज्ञापयति देवः'** लक्षणा दासवृत्ति में ही हो जाया करती है । स्पष्ट ही शरीर से अधिक मन का, तदपेक्षया बुद्धि का, एवं सर्वापेक्षया आत्मा का प्रधानत्त्व, एवं नैष्ठिकत्त्व प्रमाणित हो रहा है । वही शरीरचिन्ता समीचीना मानी जायगी, जो मनःपूता होगी । वही मानसिक कामना समादरणीया कही जायगी, जिसका आधार बौद्धिक तत्त्वचिन्तन होगा । एवं वही बौद्धिक तत्त्वचिन्तन अभ्युदय–निःश्रेयसकर माना जायगा, जिसका आधार आस्था–श्रद्धासमन्विता आत्मनिष्ठा (संस्कृतिनिष्ठा) बनी रहेगी । अलमतिपल्लवितेन–प्रासङ्गिक–अन्नचिन्तेतिवृत्तेन भावुकतानिबन्धेन । शरीरप्रधान चतुर्थ प्रजावर्ग की चर्चा प्रक्रान्त है, जिसके मध्य में हीं तदनुगता अन्नचिन्ता उपस्थित हो गई सजातीयाकर्षणन्याय से । **शरीरप्रधान प्रजावर्ग की मूलनिष्ठा अन्नब्रह्म ही है,** यही प्रकृत में वक्तव्यांश है ।

४८–धर्म्मनीति-राजनीति-व्यवसायकौशल-श्रमकौशल का समन्वय, एवं सर्वसमन्वयात्मक-पारिभाषिक–राष्ट्रमानव—

तदित्थं–आत्मनिष्ठ ब्राह्मण की मूलनिष्ठा धर्म्मनीति, बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय की मूलनिष्ठा राजनीति, मनोऽनुगत वैश्य की मूलनिष्ठा **व्यवसायकौशल**, एवं शरीरप्रधान पौष्णवर्ग की मूलनिष्ठा **श्रमकौशल** ही माना गया है, जिसके मूल में अन्नब्रह्म ही प्रतिष्ठित है । अतएव अन्नब्रह्म को भी इसकी मूलनिष्ठा कह दिया जा सकता है । तन्त्रभाषा के अनुसार ब्राह्मण की निष्ठा **नीतितन्त्र है,** सत्तातन्त्र की निष्ठा **अनुसाशनतन्त्र** है, वैश्य की निष्ठा **गणतन्त्र** है, एवं शूद्र की निष्ठा प्रजातन्त्र है । चारों हीं तन्त्रनिष्ठाएँ परस्पर अन्योऽन्याश्रित–व्यवस्थित हैं, यह पूर्व में निवेदन किया ही जाचुका है । तन्त्रचतुष्टयी ही राष्ट्र की स्वरूप-व्याख्या है । एक भी तन्त्र के अभिभूत हो जाने से राष्ट्र अराष्ट्र बन जाया करता है । नीतितन्त्र ही **आत्मतन्त्र** है । अनुशासनतन्त्र ही **बुद्धितन्त्र** है । गणतन्त्र ही **मनस्तन्त्र** है । एवं प्रजातन्त्र ही **शरीरतन्त्र** है । यों मूल का व्यक्तिमानव ही अपनें चारों वैय्यक्तिक पर्वों से परिवार–समाज द्वारा–राष्ट्रीय तन्त्रचतुष्टयी रूप में परिणत होता हुआ–**'राजते'** लक्षण राष्ट्र का भाग्यविधाता बना हुआ है । और यही है–मानव का चतुर्थ प्रक्रम, जिसका निम्न लिखित परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है ।

प्रथमः—प्रक्रमो मानवस्य (१)	द्वितीयः प्रक्रमो मानवस्य (२)	तृतीयः—प्रक्रमो मानवस्य—(३)	चतुर्थः प्रक्रमो मानवस्य (४)
१-मानवात्मा (स्वायम्भुवः)-स्वस्वरूपात्मकः—	तत्प्रक्रम;—कुलवृद्धः———	तद्द्वारेण—ब्राह्मणसमाजाविर्भावः—	तद्द्वारेण—नीतितन्त्राविर्भावः———
२-मानवबुद्धिः (सौरी)—कारणशरीरात्मिका—	तत्प्रक्रमः—युवापुत्रः———	तद्द्वारेण—क्षत्रियसमाजाविर्भावः—	तद्द्वारेण—अनुशासनतन्त्राविर्भावः —
३-मानवमनः (चान्द्रम्)-सूक्ष्मशरीरात्मकम्-	तत्प्रक्रमः—नारीवर्गः———	तद्द्वारेण—वैश्यसमाजाविर्भावः—	तद्द्वारेण—गणतन्त्राविर्भावः———
४-मानवशरीरम्(पार्थिवं)-स्थूलशरीरात्मकम्-	तत्प्रक्रमः—बालवर्गः———	तद्द्वारेण—शूद्रसमाजाविर्भावः——	तद्द्वारेण—प्रजातन्त्राविर्भावः———
व्यक्तिमानवः—मूलप्रतिष्ठा—सर्वेषाम् १	**परिवारमानवः**—समाजप्रतिष्ठात्मकः २	**समाजमानवः**-राष्ट्रप्रतिष्ठात्मकः ३	**राष्ट्रमानवः**—विश्वशान्तेः प्रतिष्ठा ४

४९-भारतीय राष्ट्रमानव की 'विश्वमानवता', एवं तन्निबन्धन उदार दृष्टिकोण—

क्या मानव का आत्मानुगत भूमाभाव देशविशेषात्मक राष्ट्रविशेष पर परिसमाप्त हो गया ? । नेति होवाच । यही तो भारतीय द्विजातिमानव का, तत्रापि आत्मप्रतिनिधिरूप अग्रजन्मा ब्राह्मणमानव का वह भूमाभाव है, जिसने इसे आगे चलकर 'विश्वमानव' बना दिया है। यह जहाँ निष्ठापूर्वक अपने राष्ट्र की नीति का निर्द्धारण करेगा, वहाँ यही अपने विश्वात्मनिबन्धन–प्राकृतिक–ज्ञानविज्ञान के समन्वय के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के यच्चयावत् राष्ट्रों का, तन्मानवों का कर्त्तव्य–कर्म्म निश्चित करेगा उसी प्रकार, जैसे कि–प्रकृतिसञ्चालक एक ही ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का नियति:सत्यधर्म्म से सञ्चालन करता रहता है । वही. नियति:सत्य इस भारतीय मित्रब्राह्मण की नीति है। इसके इसी विश्वबन्धुत्त्व का, विश्वमानवता का महान् उद्घोष करते हुए मानवधर्म्मशास्त्रप्रणेता राजर्षि मनु को यह कहने में कोई संकोच नहीं हुआ कि—

> **एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।**
> **स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥**
>
> —मनुः

ध्यान दीजिए–'**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्**' की उदात्तता पर । संसार में जितनें भी मतवाद हैं, सब अपने अपने मतवादों की शिक्षा–दीक्षा देते रहने के लिए ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं, जब कि भारतीय ब्राह्मण तत्तद्देश की पात्रता के अनुरूप तत्तद्देश के अनुसार ही उनके कर्त्तव्य–कर्म्मों की ही शिक्षा प्रदान करता है। स्वयं अपनी शिक्षा–संस्कृति–धर्म्म–शास्त्र–आचार के लिए तो स्वयं अपने राष्ट्र में भी इसे पात्रापात्रता का विचार करना पड़ता है । क्योंकि इसकी संस्कृति–धर्म्म–आचारादि मतवादात्मक कोई साम्प्रदायिक धर्म्म नहीं है, जिसके प्रचार के लिए इसे संघटन–अपेक्षित हो, शिष्य अपेक्षित हों । कदापि एतद्राष्ट्र का ब्राह्मण तो स्वशिष्यों की संख्यावृद्धि के लिए कभी समातुर नहीं बनता। आज के मठ-पीठाधीशों-आचार्य्यों–मतप्रवर्त्तकों के जहाँ असंख्य शिष्य हैं, जिनका एकमात्र पुरुषार्थ येनकेनरूपेण शिष्यों की संख्या ही बढ़ाना है, वहाँ संस्कृतिनिष्ठ–तत्त्वचिन्तक ब्राह्मण कदापि इस पथ का संस्मरण करना भी उचित नहीं मानता। यही नहीं, क्वाचित्करूपेण जिज्ञासारूप से समागत शिक्षार्थी भी कटुपरीक्षण के अनन्तर ही स्वाध्याय-निष्ठामात्र का प्राथमिक प्रश्रय प्राप्त कर सकते हैं ब्राह्मण की आश्रमानुगता जीवनपद्धति में।

५०–धर्म्मनिरपेक्षता का दुर्भाग्यपूर्ण प्राथमिक परीक्षण, और भारतराष्ट्र—

सचमुच भारतराष्ट्र का वह महान् ही दुर्भाग्यपूर्ण क्षण था, जिसने संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण को भी भावुकतावश इस शिष्यपरम्परासक्ति की ओर आकर्षित कर लिया था । लोकैषणात्मिका इसी आसक्ति ने कालान्तर में इस ब्राह्मण को सन्त–आचार्य्य–मठाधीश–पीठाधीश–अखिलभूमण्डलाचार्य्य–आदि आदि उच्च पदवियों पर तो अवश्य ही ला बैठाया । भावुकप्रजा कण्ठी–माला–मन्त्रादि के माध्यम से असंख्य संख्या में शिष्य भी बन गई इन सिंहासनासीन आचार्य्यों की । इस लोकैषणा के अनुग्रह से वित्तैषणा भी सर्वात्मना सफल बनती रही इन की। तद्द्वारा ही कामोपभोगसुखों में भी ये सामन्त–राजाओं से पीछे नहीं रहे। यों लोकदृष्टि से वह सब कुछ भोगैश्वर्य्य अनायास ही मिल भी गया इन गुरुओं को । किन्तु

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इस गुरुत्व से संस्कृति–धर्म्म–आचार–स्वाध्याय–आदि आदि को किन–किन भीषण परिणामों का अनुगामी बन जाना पड़ा राष्ट्र के गुरुपदधारी इन्हीं ब्राह्मणों के द्वारा ?, प्रश्न की चर्चा भी हमें प्रायश्चित्त की ओर ही आकर्षित कर रही है। इन अकाण्ड–ताण्डवों के कारण ही तो आज आत्मनिष्ठ–संस्कृतिनिष्ठ–धर्म्मनिष्ठ भी इसी भारतराष्ट्र के इसी के सन्देशवाहकों के द्वारा विश्व में सर्वप्रथम 'धर्म्मनिरपेक्ष–सत्तातन्त्र' जैसे धर्म्मवञ्चित परीक्षण आरम्भ कर देने का साहस, किंवा दुःसाहस हो पड़ा है। कालाय तस्मै नमः।

५१–'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्' की उदारतापूर्ण राष्ट्रीय–घोषणा—

समस्त विश्व की समस्त वित्तैषणा–एवं लोकैषणाओं का क्या मूल्य रह जाता है–विश्वप्रकृतिनियन्ता उस विश्वेश्वर की महामहिमा के सम्मुख, जिसके एक भ्रूविक्षेपमात्र से विश्ववैभव धूलिधूसरित हो जाया करता है, एवं एक मन्दस्मितमाधुरी से अनेक विश्वों की सम्पदा आविर्भूत हो पड़ती है। उस विश्वेश्वरात्मा को अपनी निष्ठा का मूलाधार बनाने वाला ब्राह्मण ही ईश्वर की निःश्वासभूता वेदसंस्कृति का चिन्तन कर सकता है। एवं ऐसे चिन्तक ब्राह्मण के सम्बन्ध में ही–**'स्वं स्वं चरित्रं–शिक्षेरन्'** यह उद्घोष किया जा सकता है। ऐसा ब्राह्मणमानव ही–**"अजितुं जेतुमनुचिन्तयेत्, न कचिदप्यलं-बुद्धिमादध्यात्। यो वै भूमा–तत्सुखम्। नाल्ये सुखमस्ति। भूमानमित्युपास्व'** इत्यादि श्रौत आदेशों को शिरोधार्य्य कर विश्वभूमात्मिका विश्वमानवता को लक्ष्य बनाता हुआ अन्ततोगत्वा ईश्वरीय भूमा से अभिन्न बन जाता है। यही इसकी विदेहमुक्ति है, यही इसका जन्मसाफल्य है। और इसी बलपर इसके मुखपङ्कज से यह सरस्वतीधारा विनिःसृता होती रहती है कि–**"मा कश्चित्–दुःखभाग् भवेत्। सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः"**।

५२–राष्ट्रीय ब्राह्मण की विश्वमानवता, एवं तद्द्वारा विश्वमानवों का प्रशिक्षण—

सांस्कृतिक–विवेक को आधार मानकर प्रतिज्ञात **'सांस्कृतिक–आयोजन'** की रूपरेखा का भारतीय मानव से ही पूर्व में सम्बन्ध बतलाया गया था। (देखिए पृ० सं० ६)। उसी के पारिभाषिक स्वरूप के प्रासङ्गिक समन्वय के लिए भारतीय मानव के चतुष्पर्वा **व्यक्तिमानव**, चतुष्पर्वा **परिवारमानव**, चतुष्पर्वा **समाजमानव**, चतुष्पर्वा **राष्ट्रमानव**, एवं अपर्वा, किंवा सर्वपर्वा **विश्वमानव**, भेद से पाँच वर्ग बतलाए गए। इन वर्गों में पञ्चम विश्वमानव का भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

ध्यान रहे–विश्वमानव से प्रकृत में केवल वह ब्राह्मणमानव ही अभिप्रेत है, जो विश्व के मानवों के उनके अपने दैशिक–कालिक–कर्त्तव्य–कर्म्मों की नीति का व्यवस्थापक बनने की दशा में ही–'विश्वमानव' उपाधि से सुविभूषित रहता है, जिस दशा में इसकी अपनी भारतीया–शास्त्रीया–किंवा दैशिक–संस्कृति का कोई उपयोग नहीं होता। अतएव इसी दृष्टि से विश्वमानवरूप ब्राह्मणमानव का हमने भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों से साक्षात् सम्बन्ध नहीं माना है। राष्ट्रीय मानवस्थिति में वही ब्राह्मण जहाँ सम्पूर्ण राष्ट्रीय आयोजनों का मूलसाक्षी है, वहाँ विश्वमानवस्थिति में वही ब्राह्मण भारतेतर राष्ट्रों के सभ्यतात्मक कर्त्तव्यों–आयोजनों का नीतिमात्रव्यवस्थापक है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है।

५३–भारतीय मानव की मानवता, और उसकी मौलिक परिभाषा—

हाँ, तो उक्त पारिभाषिक राष्ट्रीय मानव के स्वरूपविश्लेषण के आधार पर अब हमें अपनी स्वल्पप्रज्ञा से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, भारतीय मानव की व्याप्ति व्यक्ति से उपक्रान्त होकर राष्ट्रपर्य्यन्त

व्याप्त हो रही है । स्मरण रहे, चारों हीं मानव–संस्थाओं में (व्यक्ति--परिवार–समाज–राष्ट्र–संस्थाओं में) प्रत्येक में भी चारों का अन्तरान्तरीभाव से समन्वय हो रहा है । केवल प्रधानता–अप्रधानता में ही तारतम्य है । अतएव सभी आयोजनों में, प्रत्येक आयोजन में सभी मानव गौण–प्रधानरूप से समन्वित रहा करते हैं । यह समत्त्व ही तो इन आयोजनों का सांस्कृतित्त्व है । यही तो इन आयोजनों की भारतीयता है । वैय्यक्तिक विशेषतानुबन्धी वर्त्तन विषम, किन्तु समब्रह्मानुगत–संस्कृतिरूप–दर्शन सर्वत्र–सम । '**समदर्शनत्त्वे सति विषमवर्त्तनत्त्वमेव भारतीयत्त्वम्**' यही तो भारतीयता की एकमात्र वह मौलिक परिभाषा है, जिस परिभाषा के अन्तराल में भारतीय मानव की भारतीयता का समस्त चिरन्तन इतिवृत्त समाविष्ट है, सुरक्षित है । उसी मानव–इतिवृत्त का स्मरण कर अब भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा उपक्रान्त हो रही है ।

५४–चिरपुरातना संस्कृति को चिरनूतनता का समन्वय—

उपक्रान्ति से पूर्व एक प्रासङ्गिक, किन्तु अनिवार्य्य दृष्टिकोण को ओर लक्ष्य बना लेने का अनुग्रह कर लीजिए । दृष्टिकोण नवीन नहीं है । यहाँ के सांस्कृतिक–वातावरण में तो 'नवीन' जैसा कोई कल्पित अभ्व--यक्ष--मोह है ही नहीं । जो सनातन है, चिरपुरातन है, उसका प्रकृत्यनुगत व्यक्तरूप ही चिरनूतन बनता हुआ–'नवीन' नाम से व्यवहृत हो रहा है । जो पहिले से विद्यमान है, उसी का नव–नव–भाव से वितान हो रहा है--'**नवो नवो भवति जायमानः**' । जिसका सद्भाव नहीं है, न वह पहिले कभी था, न आज ही है । जो "है" उसका अभाव असम्भव है । जो नहीं है, उसकी कल्पना असम्भव है । अतएव चिरपुरातन ही चिरनूतन का आधार है । किंवा पुरातन ही नूतन है । एवं यही है भारतीय वह '**सत्कार्य्यवादसिद्धान्त**', जिसका मर्म्म न समझने के कारण हीं अभिनव भारतराष्ट्र के समर्थ सञ्चालक महानुभाव भी आज भावावेशवश 'पुरातन' नामश्रवणमात्र से आपादमस्तक संक्षुब्ध बनते हुए अपने काल्पनिक, अतएव नितान्त भावुकतापूर्ण 'नूतनवाद' को ही भारतराष्ट्र की समुन्नति का एकमात्र कारण उद्घोषित करते जारहे हैं, जोकि उद्घोष सनातन–आत्मनिष्ठ भारत में तो कदापि सफल नहीं हो सकता । क्योंकि चिरपुरातन ही चिरनूतन की स्वरूपव्याख्या है तत्वदृष्टि से, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

नासतो विद्यते भावः-नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

—गीता २।६१।

५५-सभ्यता का चिरपुरातनभावानुगतित्त्वलक्षण संस्कृतित्त्व, एवं संस्कृति का चिरनूतन-भावानुगतित्त्वलक्षण सभ्यतात्त्व—

सभ्यता का चिरपुरातनरूप ही संस्कृति है, एवं संस्कृति का चिरनूतनरूप ही सभ्यता है । यों कहने को संस्कृति, और सभ्यता, पृथक--पृथक् दो भाव हैं । वस्तुतः एक ही सद्भाव पुरातन--नूतन–दृष्टिकोणभेद से **संस्कृति–सभ्यता**–इन दो भावों में परिणत हो रहा है । यही कारण है कि संस्कृति के आधार पर सभ्यता का स्वरूपबोध प्रतिष्ठित है, तो सभ्यता संस्कृति की परिचायिका बनी रहती है । एक ही सद्भाव का सुसूक्ष्म प्राणात्मक बलगर्भित रसस्वरूप उसका अव्यक्तस्वरूप है, यही सद्भाव का सनातन–

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुरातन स्वरूप है, एवं इसी का नाम है–'संस्कृति'। उसी सद्भाव का स्थूलभूतात्मक रसगर्भित बलस्वरूप ही उसका व्यक्त स्वरूप है, यही सद्भाव का परिवर्त्तनरूपेण–प्रतीयमानमात्र नूतन स्वरूप है, एवं इसी का नाम है–'सभ्यता'।

५६–अव्यक्तभावप्रधाना प्राणमयी संस्कृति का चिरपुरातनत्त्व, एवं व्यक्तभावप्रधाना भूतमयी सभ्यता का चिरनूतनत्त्व—

अव्यक्त ही सिसृक्षा–दशा में व्यक्तरूप में परिणत होता है, जिसका अर्थ है "अव्यक्ता पुरातना संस्कृति ही व्यक्ता नूतना सभ्यता का मौलिक आधार है।" अहरागम में अव्यक्त ही व्यक्तरूप में परिणत हो रहा है, यही संस्कृति की सभ्यतारूप में परिणति है। एवं व्यक्त ही रात्र्यागम में पुनः अव्यक्तरूप में परिणत हो जाता है। यही सभ्यता की संस्कृतिरूप में परिणति है। अहरागम 'पुण्याह' नामक एक सौर-सृष्टिकाल है, रात्र्यागम 'पुण्यरात्रि' रूप एक सूर्य्यव्यक्तीभावात्मक लयकाल है। इस महती कालव्यवस्था का प्रतिक्षण में भी भोग हो रहा है। पूर्वक्षण में अव्यक्त, मध्यक्षण में व्यक्त, तदुत्तरक्षण में पुनः अव्यक्त। इसी स्थिति का यह भी स्पष्टार्थ है कि, पूर्वरूप संस्कृति, उत्तररूप सभ्यता, तदुत्तररूप संस्कृति, पुनः तदुत्तररूप सभ्यता। यों अव्यक्त सुसूक्ष्म प्राण, व्यक्त स्थूलभूत, दोनों का पूर्वोत्तरभावात्मक सनातन चङ्क्रमण ही संस्कृति, और सभ्यता का नियामक बना हुआ है, जिसका निम्न लिखित दो वचनों से रहस्योद्घाटन हो रहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १ ॥
—गीता ८।१८।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२॥
—गीता २।२८।

५७–संस्कृति का आधारत्त्व, एवं सभ्यता का आधेयत्त्व—

'आधार सर्वत्र संस्कृति है, आधेय सर्वत्र सभ्यता है'। और यही है दोनों का स्थूल मापदण्ड, जिसके माध्यम से दोनों का यथानुरूप समन्वय सम्भव बन जाता है। मानवस्वरूप की आधारभूता अव्यक्त-प्रकृति यदि संस्कृति है, तो आधेयभूत स्वयं व्यक्त मानव 'सभ्यता' है। यदि अव्यक्ता प्रकृति का आधा भाग अव्यक्तप्रधान बनता हुआ 'संस्कृति' है, तो उसी प्रकृति का आधा भाग व्यक्तप्रधान बनता हुआ सभ्यता है। तथैव अव्यक्ता–संस्कृति–रूपा प्रकृति से सम्बद्ध मानव का तल्लक्षण अर्द्ध–अव्यक्तरूप जहाँ संस्कृति है, वहाँ व्यक्ता प्रकृतिरूपा सभ्यता से विनिर्म्मित मानव का अर्द्ध- व्यक्त भाग सभ्यता है। यों अव्यक्ताधार–व्यक्ताधेयरूपों के तारतम्यों से अनेक दृष्टिकोणों से संस्कृति–सभ्यताओं का समन्वय किया जा सकता है, जिनमें से एक प्रासङ्गिक अनिवार्य्य दृष्टिकोण की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

५८–निरपेक्षा संस्कृति, और सापेक्षा संस्कृति का पार्थक्य—

विश्वेश्वर–अव्ययात्मा को हमने प्रथम प्रकरण में निरपेक्षा संस्कृति ही कहा है, जो सदा अव्यक्तभाव में हीं परिणत रहता है। अतएव इसे गुहानिहित–**'गूढोत्मा'** ही माना गया है, जिसका भूतरूपेण जहाँ व्यक्तीभाव सम्भव ही नहीं, वहाँ व्यक्तभावानुगत–'सभ्यता' शब्द का सम्बन्ध भी असम्भव ही है। अतएव उसे निरपेक्षसंस्कृतिरूप ही मान लिया जाता है, जिसका अर्थ होता है–**'केवल संस्कृतिरूप'**। अतएव सभ्यता–सापेक्षा संस्कृति, किंवा संस्कृति–सापेक्षा सभ्यता–जैसे सापेक्ष प्रसङ्गों से उस विश्वातीता निरपेक्षा संस्कृति का कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

५९–निरपेक्षसंस्कृतिमूला निरपेक्षसभ्यता. एवं तन्मूलक सापेक्ष–संस्कृति–सभ्यताद्वन्द्व—

अब सम्मुख उपस्थित होता है प्राकृतिक विश्व, जो अपने प्राणरूप से अव्यक्त बनता हुआ जहाँ 'संस्कृति' शब्द का अधिकारी है, वहाँ व्यक्त अव्यक्त से अतीता–सनातना–निरपेक्षा–अव्ययसंस्कृति के समतुलन में तो इसे भी व्यक्त ही कहा जायगा, एवं इस दृष्टि से प्राणप्रकृतिप्रधान अमूर्त्त–अव्यक्त भी विश्व के 'सभ्यता' ही कहा जायगा, जो सभ्यता मानी जायगी निरपेक्ष–संस्कृतिरूप अव्ययपुरुष की ही। इसी आधार पर प्रथम प्रकरण में हमने **'पुरुष–प्रकृति'** का युग्म मानते हुए पुरुष को संस्कृति कह दिया है, प्रकृति को सभ्यता बतला दिया है। व्यक्त–अव्यक्त से अतीत सनातन–निरपेक्ष अव्ययपुरुष ही **'निरपेक्षा संस्कृति'** है, एवं अव्यक्त प्राणमयी, अतएव सनातना, अतएव निरपेक्षा प्रकृति ही **'निरपेक्षा सभ्यता'** है, जिसके आधार पर अब आगे सापेक्षभावों का आविर्भाव होने वाला है। एवं तदनुबन्धों से ही स्वयं के प्रातिस्विक अव्यक्तरूप से निरपेक्षा सभ्यता बनती हुई भी वह प्राणप्रकृति अपने उत्तररूप से सापेक्षा ही बन रही है। अतएव इस दृष्टिकोण से तो विशुद्ध निरपेक्ष संस्कृतिभाव की आश्रयभूमि तो अब एकमात्र विश्वातीत अव्ययपुरुष ही शेष रह जाते हैं।

६०–संस्कृति–सभ्यता–द्वन्द्व की मूलाधिष्ठात्री पञ्चपर्वा प्रकृतिदेवी का संस्मरण—

हाँ, तो निरपेक्ष–संस्कृतिरूप अव्ययपुरुष की प्राणमयी अव्यक्ता प्रकृतिरूपा सभ्यता के स्वरूप को लक्ष्य बनाइए, जो अपने से उत्तर के व्यक्तरूपों की संस्कृति बनने वाली है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–प्राणात्मक छन्दोमय आण्डवृत्तों से कृतरूप ये पाँचों ब्रह्मपुर पञ्च प्राणों की ऊर्म्मियाँ मात्र हीं हैं। यही पञ्चप्राणात्मिका–पञ्चपर्वा वह अव्यक्ता–विश्वप्रकृति है, जिसका महर्षि श्वेताश्वतर ने यशोगान कर अपने आपको धन्य–कृतकृत्य बनाया है—

पञ्चस्रोतोम्बुं–पञ्चयोन्युग्रवक्रां–पञ्चप्राणोर्म्मिं–पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्त्तां–पञ्चदुःखौघवेगां–पञ्चाषड्भेदां–पञ्चपर्वामधीमः॥

—श्वे० उप० १।५

६१–पञ्चपर्वा प्राकृतिक विश्व की अव्यक्तरूपता का समन्वय—

पञ्चप्राणमूर्त्ति, अतएव केवल छन्दोमय–ब्रह्मपुरमय–आण्डमूर्त्ति (ब्रह्माण्ड नामक) पञ्चपर्वात्मक विश्व ही अव्यक्तविश्व है, जिसे प्राणसम्बन्ध से ही–'अधिदैवतम्' कहा गया है। परोक्षप्रिय हैं ये प्राणदेवता,

जो प्रत्यक्त की आधारभूता–रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–नाम की पाँचों तन्मात्रा (भूत) सीमाओं से सर्वथा अतीत माने गए हैं। अतएव **'परोक्तप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्तद्विषः'** कहा गया है। देवप्राणमूर्ति स्वयम्भू परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-नाम से उपस्तुत पाँच पुरों की समष्टि ही अव्यक्त-प्राणजगत् की स्वरूपव्याख्या है, जिसे अव्यक्तातीत पुरुषापेक्तया 'सभा' भावानुबन्ध से 'सभ्यता' कह दिया गया है, जिस इस देवसभा के सभ्यों, सभ्यताओं, विधि-विधानों का स्वरूपदिग्दर्शन प्रथम प्रकरण में कराया जा चुका है। (देखिए पृ० सं० १४७)।

६२–प्रकृतिमूला संस्कृति, एवं विकृतिमूला सभ्यता का स्वरूप–समन्वय—

पञ्चप्राणपुरात्मक, अतएव अव्यक्तमूर्ति इसी अमूर्त्त विश्व के आधार पर क्तरात्मक व्यक्तभाव के द्वारा पञ्चमहाभूतात्मक व्यक्त-भूतमय-मूर्त्त-भौतिक जगत् का आविर्भाव हुआ है, जिसकी प्रवर्तिका बनती है पञ्चतन्मात्राएँ। यही वह दृश्य-स्पृश्य-व्यक्त-मूर्त्त-भूतजगत् है, जिसे हम उस अदृश्य-अस्पृश्य-अव्यक्त-अमूर्त्त प्राणविश्व का उत्तररूप कह सकते हैं। इस उत्तररूपात्मक आधेयजगत् का आधार पूर्वरूपात्मक प्राणमय अव्यक्त विश्व ही बना हुआ है। इस आधार-आधेय-भावानुबन्ध से ही पूर्वपरिभावानुसार सभ्यतात्मक प्राणमय विश्व के प्राणात्मक आधारस्थानीय पूर्वरूप को हम **'संस्कृति'** कह सकते हैं, एवं इसी के भूतात्मक-दृश्य-प्रत्यक्त-जगत्-रूप उत्तररूप को **'सभ्यता'** कह सकते हैं। इसी आधार पर प्रथम प्रकरण में हमें यह कहना पड़ा था कि, सभ्यता के पूर्वरूप का नाम ही **'संस्कृति'** है, एवं उत्तररूप का नाम ही **सभ्यता** है। यही वह दूसरा युग्य है–जिसे हमने तत्रैव प्रथम प्रकरणे **'प्रकृति-विकृति'** युग्म कहा है। अव्यक्तविश्व ही जगत् की प्रकृति है, यही सभ्यता का (प्रकृति का) पूर्वरूप है, यही संस्कृति है। व्यक्त जगत् ही विकृति है, यही सभ्यता का (प्रकृति का) उत्तररूप है, यही सभ्यता है। एवं यही है-सापेक्त संस्कृति-सभ्यता-शब्दों का प्रथम समन्वय।

६३–एकान्ततः सत्तानिरपेक्ता भारतीय–संस्कृति—

अव्यक्त–प्राणविश्व–रूपा संस्कृति ही द्विजातिमानव की **'सांस्कृतिक–निष्ठा'** है, जिसका श्रुति-स्मृति–शास्त्र में विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। इसी के अवान्तर चार सांस्कृतिक विवर्त्त हैं, जिन्हें क्रमशः–**मोक्त–धर्म्म–काम–अर्थ**–संस्कृति कहा गया है। ये ही वे चार पुरुषार्थ हैं, जिनका अनुष्ठान ही सांस्कृतिक–अनुष्ठान है। निष्ठापूर्वक शास्त्रविधि से इन चारों प्राणसंस्कृतियों का आचरण ही हुआ करता है। एवं इस आचरणनिष्ठा में सच्छन्दस्क द्विजातिमानव ही अधिकृत है। स्वयं शास्त्र ही इस संस्कृति की सापेक्ता का एकमात्र अवलम्ब है। लोकशासक सत्तातन्त्र की सापेक्तता का, किंवा तो अन्य किसी बुद्धिवादी की काममयी इच्छाओं–व्याख्याओं–सुझावों का प्रवेश भी निषिद्ध है–इस संस्कृतिचतुष्टयी के क्षेत्र में, जिसमें शास्त्रविधिपूर्वक ही अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरणविया–प्रतीकधर्म्मचतुष्टयी भी सुव्यवस्थित है। यही संस्कृति, एवं तदाचरणात्मक धर्म्म की शास्त्रसापेक्तता, एवं सत्तानिरपेक्तता है, जिस इस सत्तानिरपेक्त–भावानुबन्ध से ही इस आचारसंस्कृति को हमने–**'सत्तानिरपेक्ता संस्कृति'** कहा है, एवं इसी आधार पर प्रस्तुत निबन्ध उपनिबद्ध है। सत्तातन्त्र की कौन कहे, स्वयं अवतारपुरुष–मानवशरीरी भगवान् भी इस शास्त्रीयाचाररूपा संस्कृति, एवं धर्म्म में हस्तक्षेप नहीं किया करते।

कब क्या करना चाहिए ?, क्या नहीं करना चाहिए ?, इत्यादि में अवतारपुरुष भी निर्णायक नहीं बन सकते, नहीं बना करते मर्य्यादासंरक्षण की दृष्टि से, जैसाकि निम्न लिखित अवतारवचनों से स्पष्ट है—

> **यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।।**
> **न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।१।।**
> **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।।**
> **ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तु मिहार्हसि ।।२।।**
> —गीता १६।२३;२४,।

६४-सांस्कृतिक जागरण के मूलाधार तत्त्व—

गीताशास्त्र कर्त्तव्य-कर्म्म का कभी निर्णय नहीं करता । कदापि गीता विधि-निषेधात्मक कर्त्तव्य-कर्म्म-निर्णायक शास्त्र नहीं है । अतएव जो यह मान बैठते हैं कि, 'हम गीता के द्वारा ही कर्त्तव्यविधि पूर्ण कर लेंगे', सर्वथैव भ्रान्त हैं । स्वयं गीताशास्त्र स्पष्ट शब्दों में इस महान् उत्तरदायित्व से अपना आत्मत्राण कर रहा है-'**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ**' कहता हुआ । गीताशास्त्र तो बुद्धियोगात्मक-कर्म्मकौशलमात्र का ही निरूपक शास्त्र है । कैसे करना चाहिए ?, इसी प्रश्न के सम्बन्ध में गीता औपनिषद सिद्धान्तों की व्याख्यामात्र करता है । तदित्थं-जबकि अवतारपुरुष भी भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म्म को सापेक्ष नहीं बना सकते, तो फिर उस सत्तातन्त्र के सम्बन्ध में तो कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता, जो स्वयं शास्त्रादेशानुसार संस्कृति, तथा धर्म्म के नियन्त्रण से ही सञ्चालित रहता है । जब जब संस्कृति और धर्म्म के सन्देशवाहक संस्कृति-धर्म्मनिष्ठ ब्राह्मणों नें राजभक्ति के आवेश में आकर सत्तातन्त्र के आश्रय की कामना की है, सत्ता को प्रभु मान लिया है संस्कृति और धर्म्म का, तब तब ही राष्ट्र की संस्कृति का स्वरूप अभिभूत हो गया है । संस्कृति का स्वरूप तो सत्तातन्त्र से ही क्या, सत्तातन्त्र से पुष्पित-पल्लवित होने वाले, किंवा सत्तातन्त्र को प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप से पुष्पित पल्लवित करने वाले वणिक्तन्त्र-मतवादतन्त्र-सन्ततन्त्र-आचार्य्यतन्त्र-आदि आदि सभी तन्त्रों से निरपेक्ष बना रह कर ही अपने ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिकस्वरूप से अक्षुण्ण बना रह सकता है । एवं यह महान् उत्तरदायित्व ही संस्कृतिनिष्ठ भारतीय उस ब्राह्मण का महान् पौरुष है, जो समस्त-वित्तैषणाओं, विशेषतः सतत जागरूकतापूर्वक लोकैषणात्मक महान् व्यामोहनों से अव्ययात्मनिष्ठानुग्रह-बल पर अपना परित्राण करते रहने की क्षमता रखता है । नान्यः पन्था विद्यते अयनाय । जबतक ब्राह्मण ऐसा नहीं कर लेता, ऐसा नहीं बन जाता, तबतक कदापि इस राष्ट्र में सांस्कृतिक-जागरण तो स्वप्न में भी सम्भव नहीं है ।

६५-विकृतिरूप चतुर्द्दशविध (१४) भूतसर्ग का स्वरूपदिग्दर्शन—

अब व्यक्त-क्षरात्मिका भूतप्रधाना 'विकृति' से समन्वित उस व्यक्त-मूर्त्त-दृश्य-स्पृश्य-भौतिक जगत को लक्ष्य बनाइए, जिसे सभ्यता के पूर्वरूपात्मक--अव्यक्तप्राणमय--प्रकृतिरूप-अमूर्त्त-विश्व का उत्तररूप बतलाया गया है । इस विकृतिरूप भौतिक जगत् से उत्पन्न होने वाला प्रजासर्ग ही भौतिक, किंवा--भूतसर्ग है, जिसके स्तम्ब[१]--क्रिमि[२]-कीट[३]--पक्षी[४]--पशु[५]--मानव[६]--यक्ष[७]--राक्षस[८]--पिशाच[९]--गन्धर्व[१०]-ऐन्द्र[११]-पैत्र्य[१२]--प्राजापत्य[१३]-

१४
ब्राह्म-ये अवान्तर चौदह विवर्त्त माने गए हैं, यही सांख्यशास्त्रसम्मत-**'चतुर्दशविधो भूतसर्गः'** है । यही 'प्राणीसर्ग', किंवा जीवसर्ग है । इन १४ प्रकार के जीवों का **भूपिण्ड-पृथिवी-चन्द्रमा**-भेद से तीन भागों में त्रेधा वर्गीकरण हो रहा है । ओषधि--वनस्पत्यादि--मूलजीव **भासजीव** हैं, जिनका मूल भूगर्भ में हीं प्रतिष्ठित रहा करता है । इन्हें ही तमोविशाल (तमोगुणप्रधान) **'स्तम्बजीव'** कहा गया है । भूपृष्ठ से संलग्न पार्थिव अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले **कृमि-कीट-पक्षी-पशु-नर** ये पाँच जीव पार्थिवजीव हैं, जिन्हें रजोविशाल (रजोगुणप्रधान) **'तिर्य्यग्जीव'** कहा गया है । चान्द्र-सौम्य--अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले **यक्ष-राक्षस--पिशाच--गन्धर्व-ऐन्द्र-पैत्र्य-प्राजापत्य-ब्राह्म** ये आठ प्रकार के चान्द्रजीव हैं, जिन्हें सत्त्वविशाल (सत्त्वगुणप्रधान) माना गया है । ये चौदह प्रकार के जीव ही भौतिकजीव हैं, जो षट्भावविकारों से समन्वित रहते हुए प्रजापति की 'प्रजा' माने गए हैं ।

इन में जो **'नर'** नामक चान्द्रजीव है, वही अव्ययात्मस्वरूप से समन्वित होता हुआ इन चौदहों में हीं नहीं, अपितु समस्त विश्व में श्रेष्ठ है । इस श्रेष्ठता ने ही इसे 'नर' से 'मानव' बना दिया है, जिसका **'मनुरूप अव्ययमन'** से ही सम्बन्ध है । इसी आधार पर-**'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'** सिद्धान्त स्थापित हुआ है । और जीव जहाँ केवल जीव हैं, प्रकृतिमात्र हैं, प्रकृतिपरवश हैं । वहाँ मानव जीवभाव के साथ साथ आत्मभाव से भी अभिव्यक्त है । और यों वही मानव जीवभाव से जहाँ षड्भाव-विकारों से इतर तेरह जीवों की भाँति विकृतिभावात्मक-जन्म--मरण धर्म्मा--साधारण प्राकृत प्राणीमात्र बना हुआ है, वहाँ वही मानव अपने आत्मभाव से अप्राकृत बनता हुआ, स्वतन्त्र पुरुषार्थ से भी समन्वित होता हुआ सांस्कृतिक मानव प्रमाणित हो रहा है । इतर जीव केवल विकृति हैं, अतएव संस्कृति से असंस्पृष्ट हैं, वैकारिक प्राकृतिक दिग्देशकालानुबन्धी परिवर्त्तनरूप सभ्यताभाव ही इन प्राकृत जीवों की क्षमता है । किन्तु मानव विकृति के साथ प्रकृति भी है, प्रकृति के साथ साथ पुरुष भी है, आत्मा भी है । आत्माकृति ही संस्कृति है, जब कि विकृतिरूपा भूतकृति केवल सभ्यता ही मानी गई है । मानव इतर (१३ हों) भूतजीवों की भाँति विकृतिरूपा भूतकृति बनता हुआ एक ओर जहाँ सभ्यता का ही प्रतीक है, वहाँ विकृति-प्रकृत्यधिष्ठाता-आत्मपुरुष की कृति (अभिव्यक्ति) बनता हुआ संस्कृति का भी अन्यतम प्रतीक बना हुआ है । और यों मानवस्वरूप में आत्मदृष्टि से संस्कृति का, एवं विकृतिरूपा भूतदृष्टि से सभ्यता का, दोनों का समन्वय हो रहा है । यही पुरुषाभिन्न--प्रकृति--विकृतियुग्म का दूसरा युग्म है, जिसकी दृष्टि से मानव उभयात्मक बना हुआ है ।

६६-विकृति, एवं विकास-समन्वयात्मक तृतीय युग्म का दिगदर्शन—

अब क्रमप्राप्त **'विकृति-विकार'**-रूप तीसरे युग्म का भी दो शब्दों में समन्वय कर लीजिए । जिन मानवों नें कभी आत्मस्वरूप को पहिचानने का प्रयास ही नहीं किया, वे ही शास्त्रीय परिभाषा में यायाजात प्राकृत **'चान्द्रमानव'** कहलाए हैं, जिनका चतुर्दशविध भूतजीवसर्ग में हीं अन्तर्भाव है । जीवभाव से विकारभाव की ओर आकर्षित बने रहना हीं इन चान्द्रमानवों का एकमात्र जीवनेतिवृत्त है । मनः-शरीर, एवं तदनुगत कामार्थ के पोषण में उपयुक्ता-लोकबुद्धि, इन तीन भावों के अतिरिक्त चौथे आत्मभाव का संस्मरण भी इनके लिए निषिद्ध ही बना रहता है । अतएव विकाराश्रयभूता विकृति, (जिसे ये अपनी भाषा

में 'प्रकृति' कहा करते हैं, जब कि प्रकृति का देवप्राणरूप अव्यक्तभाव से ही सम्बन्ध है। जिसका तो भूतवादियों के भौतिक विज्ञान के साथ आजतक संस्पर्श भी नहीं हुआ है) ही इनकी आराध्या बनी रहती है, जिसके समन्वय--तारतम्य से (रासायनिक-भौतिक सम्मिश्रणतारतम्य से) नवीन वैकारिकभाव (आविष्कार) उत्पन्न करते हुए उत्तरोत्तर अपने मानवजीवन को संकटग्रस्त बनाने में हीं ये प्राकृत नर प्रयत्नशील बने रहते हैं।

६७–प्रकृतिविमूढ-प्राकृत-चान्द्रमानव का प्रकृतिविजय-व्यामोहन—

यही भूतविज्ञानानुबन्धी-चान्द्र-प्राकृत-मानवों का एकमात्र इतिवृत्त है, जो अपनी इस विकारात्मिका भूतासक्ति से पार्थिव अन्य भूतजीवों की अपेक्षा भी कहीं अधिक परतन्त्र बने हुए हैं। यही प्राकृतिक (वैकारिक) पारतन्त्र्य आज की भूतविज्ञानभाषा में भ्रान्तिवश-'प्रकृतिविजय' नाम से उद्घोषित है, जब कि वस्तुगत्या यह मानव का प्राकृतिक पराजय ही बन रहा है। दुर्भाग्य है यह भारत राष्ट्र का कि, जो अपनी सांस्कृतिक (आत्मिक) पौरुष शक्तियों को विस्मृत कर प्रकृतिविजेता आत्मपुरुष को अभिभूत कर आज के भूतविज्ञान का अन्धानुकरण करता हुआ तन्माध्यम से अपनी सांस्कृतिक आचारनिष्ठाओं को अवैज्ञानिक कहने की भूल करता हुआ कल्पित-'प्रकृतिविजय' के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त-मना बन कर अपनी भारतीय-मानवता से सर्वथा ही पराःपरावत बन जाने के लिए आतुर प्रमाणित हो रहा है।

६८--पुरुष--प्रकृतिरूप प्रथम युग्म की आराध्यता, प्रकृति--विकृतिरूप द्वितीय युग्म की सापेक्षता-एवं विकृति-विकाररूप तृतीय युग्म की ऐकान्तिक निरपेक्षता—

स्पष्ट ही विकृति–विकाररूप--भूतसर्गमात्र–निबन्धन-तृतीय-अकृतात्मलक्षण-युग्म-भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित हो रहा है। संस्पृष्ट, एवं उपादेय है-प्रकृति-विकृतिरूप-मध्यम युग्म, एवं पुरुष-प्रकृतिरूप प्रथमयुग्म। प्रथम युग्म का अलौकिक-अतिमानव से सम्बन्ध है, जिसे 'ऋषि' कहा गया है। द्वितीय युग्म ही प्रस्तुत निबन्ध का मूलाधार है, जिसके **अव्यक्तप्राण–प्रकृति**, एवं **व्यक्तभूतविकृति**–भेद से दो विवर्त्त हैं। अव्यक्ता प्रकृति **'अव्यक्त–प्राणात्मक विश्व'** है, एवं व्यक्ता विकृति **'व्यक्त–भूतात्मक जगत्'** है। दोनों विवर्त्तों का क्रमशः **शास्त्रविधिसमन्विता आचारनिष्ठा, आचारसमन्विता लोकनिष्ठा**, इन दो निष्ठाओं से सम्बन्ध है। आचारनिष्ठा का **द्विजातिमानव** से सम्बन्ध है, लोकनिष्ठा का द्विजबन्धु-नारी-बालवर्गादि **आस्तिक प्रजावर्ग** से सम्बन्ध है। द्विजातिमानव की संस्कृति **शास्त्रीय कर्त्तव्यकर्म** है, आस्तिक प्रजावर्ग की संस्कृति शास्त्रानुगत-**लौकिक–कर्त्तव्यकर्म्म** है।

६९-शास्त्रानुगत लौकिक कर्म्म, एवं उनकी मनःशरीरप्रधानता, तथा शास्त्रीय कर्म्म, एवं उनकी आत्म-बुद्धिप्रधानता—

इन शास्त्रानुगत लौकिक कर्त्तव्यकर्म्मों का मूलाधार **मनोऽनुगत शरीरतन्त्र** है, एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य-कर्म्मों का मूलाधार **आत्मानुगत बुद्धितन्त्र** है। आत्मानुगत बुद्धितन्त्र ही द्विजातिमानव की, तत्रापि विशेषतः ब्राह्मणमानव की मूलभूता **सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा** है। मनोऽनुगत शरीरतन्त्र ही सामान्य प्रजावर्ग की, तत्रापि विशेषतः मनोनिबन्धन **वैश्यवर्ग** की, मनःशरीरनिबन्धन-**नारीवर्ग** की, एवं मनोगर्भित–शरीरप्रधान **बालवृन्द** की तूलरूप **सांस्कृतिक-आयोजन** ही मूलनिष्ठा है। भूतात्मा का प्रतीकभूत धर्मनीतिव्यवस्थापक

ब्राह्मण, एवं धर्मनीति को राजनीति के द्वारा प्रवृत्त रखने वाला **सत्तातन्त्र**, दोनों वैश्य-नारी-बालवृन्द के द्वारा समायोजित भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों में कदापि साक्षात्- रूपेण भाग नहीं लिया करते । अपितु तटस्थरूपेण साक्षीमात्र ही बने रहते हैं इन आयोजनों के । किन आयोजनों के ?, उन आयोजनों के–जो शास्त्रानुमोदित होते हुए भी वैश्य-नारी-बाल-द्विजबन्धु-वर्ग के अनुरञ्जन–भावों से भी समन्वित रहते हुए अमुक अंश में भावुकता के संरक्षक ही आयोजन बने रहते हैं । अतएव वैदिक ब्राह्मण, एवं निष्ठानुगृहीत सत्तातन्त्र कदापि इन भावुकतापूर्ण शास्त्रानुमोदित आयोजनों में भी स्वयं कदापि अभिनेता नहीं बना करते, जैसा कि-‘**तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत, न गायेत**’ इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट हो रहा है ।

७०–द्विजातिमानववर्गानुगत-‘सांस्कृतिक–आचार’-एवं द्विजबन्धु-नारी--बालवर्गानुगत-‘सांस्कृतिक-आयोजन’—

इस प्रासङ्गिक दृष्टिकोण के आधार पर अब हमें यह कह देना चाहिए कि, **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**-मानवीय इन चारों पर्वों का ब्रह्मक्षत्र, एवं इतरप्रजावर्ग, इन वर्गों के साथ क्रमिक समन्वय हो रहा है । ब्राह्मणवर्ग बुद्धिगर्भित आत्मतन्त्र का प्रतीक है, सत्तातन्त्रात्मक शासनतन्त्र-आत्मगर्भित बुद्धितन्त्र का प्रतीक है । दोनों केवल निष्ठात्मक तन्त्र हैं । अतएव दोनों का ‘**सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा**’ से ही सम्बन्ध है । शेष द्विजबन्धु—नारीवर्ग--बालवर्ग--पौष्णवर्ग--आदि मनःशरीरप्रधान हैं । इन मनःशरीरप्रधान वर्गों की आस्था-श्रद्धा को भावुकता-संरक्षणपूर्वक पुष्पित पल्लविस करने के लिए ही ‘सांस्कृतिक-आयोजन’ व्यवस्थित हुए हैं । सांस्कृतिक-आचारनिष्ठा का आधार जहाँ **श्रुतिस्मृतिशास्त्र** है, वहाँ सांस्कृतिक आयोजनों का आधार ‘**पुराणशास्त्र**’ ही बना हुआ है । यही भारतीय मानव की निगम (श्रुति)-आगम (स्मृति)-पुराण-सम्मता वह संस्कृति है, जो श्रुति-स्मृति-पुराण की उपेक्षा से, तथा अन्यान्य कल्पित-मतवादात्मक शास्त्राभासलक्षण--शास्त्रों की भक्ति से सर्वथैव अभिभूत हो गई है । अतएव ‘सांस्कृतिक-आयोजन’ जैसे मनःशरीरप्रधान-व्यासङ्ग भी आज दुर्बोध्य बने हुए हैं कल्पितशास्त्रभक्त भारतीय राजभक्त भारतीय विद्वानों के लिए भी । ऐसी दशा में यदि यह आयोजन-प्रकरण सामान्य-लोकमानवों के लिए समस्या-समाधान के स्थान में समस्या को और भी अधिक जटिल बनादे, तो न इसमें हमारा ही दोष है, न लोकमानवों का ही । अपनी मूल परिभाषाओं की विस्मृति के जो दुष्परिणाम हुआ करते हैं, वे ही आज होरहे हैं, जिनके प्रति किसी को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता । इस प्रासङ्गिक दृष्टिकोण को यहीं उपरत कर अब तो हमें सांस्कृतिक-आयोजन की रूपरेखा का श्रीगणेश कर ही देना चाहिए ।

७१–‘कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्त्वम्’ मूला कारणसमन्वयजिज्ञासा—

किन्तु-‘चाहिए’ मात्र से ही तो मानव की चाह सफल नहीं हो जाया करती । अवश्य ही इस ‘चाहिए’ की पूर्त्ति के लिए कारणात्मिका अनेक चाहों का समन्वय ही पहिले चाहिए । क्योंकि–‘**कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्त्वम**’ के अनुसार अनेक कारणों के समसन्वय से ही एक कार्य्य का सर्वाङ्गीण स्वरूप-सम्पन्न हुआ करता है । फिर चतुष्पर्वसमन्वयमूला संस्कृतिके स्वरूप-समन्वय के लिए तो यह सर्वकारणता सर्वथैव अनिवार्य्या बन जाती है, जब कि अङ्ग-भङ्गरूपा-सभ्यता का निर्वाह गच्छतः-स्खलनरूप से इधर-उधर के प्रतारणात्मक जोड़-तोड़ बैठाने मात्र से भी हो जाया करता है । प्रश्न उपस्थित है उस संस्कृति का, जिसकी

शब्दार्थव्यञ्जना भी आज स्मृतिगर्भ में विलीन ही हो रही है। तभी तो ढोलक बजाने वाला भी आज अपने इस आयोजन को सांस्कृतिक-आयोजन ही मान रहा है। तभी तो चित्रपट की देवियाँ, एवं अभिनेता भी आज सांस्कृतिक शिष्टमण्डलरूप से विदेशों में भारतीय संस्कृति ? का प्रचार करने सोल्लास भेजे जा रहे है हमारे सांस्कृतिक ? सत्तातन्त्र के द्वारा। ऐसी स्थिति में संस्कृति की रूपरेखा के स्पष्टीकरण में हमें कारणात्मक अनेक चाहों के प्रति विवशतावश अनुधावन करना ही पड़ रहा है।

७२–'विकास' शब्दमूला भ्रान्ति का निराकरण, एवं महिमा-भूमा-साहस्री-आदि भावों का समन्वय–

स्मरण कीजिए, पूर्व में हमने व्यक्तिमानव के **व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र**-ये चार संस्थान बतलाए हैं। यद्यपि चारों का मूलाधार व्यक्तित्त्व ही है, जिसके आधार पर क्रमशः परिवार-समाज-राष्ट्र-रूपा मानववर्गत्रयी प्रतिष्ठिता है। किन्तु-'**अणोरणीयान्-महतो महीयान्**' सिद्धान्तानुसार व्यक्ति के केन्द्र में अवस्थित-संस्कृतिलक्षण-गुहानिहित अणोरणीयान् (हृदयरूप) आत्मदेव ही अपने भूमाभावात्मक-श्वः-श्वः वसीयान्-भाव से परिवार-समाज-राष्ट्ररूप में परिणत होता हुआ महतोमहीयान् बन रहा है। अतएव अब राष्ट्र ही आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व का मूलाधार बना हुआ है। ध्यान रहे–यहाँ 'विकास' का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्रमिक उन्नति से सम्बन्ध रखने वाला विकास इतिहास की भाषा है, जिसका लोकतन्त्राध्यक्ष-शासकवर्ग की परिवर्तनशीला सभ्यता से ही सम्बन्ध माना गया है। सभ्यता का ही विकास-और पतन, उन्नति तथा अवनति हुआ करती है। कदापि धर्म्मभाषात्मिका सांस्कृतिक-भाषा में इन भावुकतापूर्ण दिग्देशकालानुबन्धी शब्दों का प्रवेश सम्भव नहीं है। **महिमा-लीला-भूमा-साहस्री-वितान-आतान-अभ्युदय-निःश्रेयस्**-आदि शब्द ही यहाँ की संस्कृति में संगृहीत हैं, जो सनातन-निष्ठाओं के समर्थक बने हुए हैं।

७३–अव्ययेश्वर का सनातन अणोरणीयत्त्व, एवं महतो महीयस्त्व—

जिस क्षण में आत्मदेव अणोरणीयान् हैं, उसी क्षण में वे महतो महीयान् भी हैं। उसके संकल्प और कर्म्म में दिग्देशकाल का कोई व्यवच्छेद नहीं है। अतएव-'**स भूरिति व्याहरत्-पृथिव्यभवत्**' कहा गया है, जिसका अर्थ है-'**प्रजापति के मुख से जिस क्षण-'भूः' शब्द निकला, उसी क्षण पृथिवी का स्वरूप व्यक्त हो पड़ा**'। दिग्-देश-कालानुबन्ध तो प्रकृति के धर्म्म हैं, जहाँ ऋतु के अनुसार ही भूतजगत् का क्रमिक-विकास-ह्रास हुआ करता है। प्रकृति से पर अवस्थित-संस्कृतिरूप-पुरुषात्मा तो दिग्देशकालसीमा से असंस्पृष्ट है, शाश्वत है, सदैकरस है। अतएव तन्महिमा को 'विवर्त्त' ही कहा गया है, जिस इस रहस्य के वास्तविक-समन्वय-बोध के लिए तो अथर्ववेदीय कालसूक्त का ही स्वाध्याय करना चाहिए प्रकृतिप्रेमी-आज के विकासवादियों को।

७४–प्रकृति से अनुप्राणित व्यक्तिवाद, एवं पुरुष से अनुप्राणिता राष्ट्रनिष्ठा, तथा संस्कृति और सभ्यता का समन्वय—

हाँ, तो व्यक्तिमानव का केन्द्रस्थ अणोरणीयान् आत्मदेवता ही राष्ट्ररूप में आकर महतोमहीयान् बन गया है। और यों अब स्थितिदृष्टि से परिस्थिति सर्वथा परिवर्तित हो गई है। व्यक्तिवाद की दृष्टि से

व्यक्तिमानव भूतात्मा का, परिवारमानव बुद्धि का, समाजमानव मन का, एवं राष्ट्रमानव शरीर का प्रतिनिधि बन रहा था, तो अत्र राष्ट्रीय-दृष्टि से राष्ट्रमानव, एवं तद्रूप-राष्ट्र 'भूतात्मा' का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसका प्रतीक माना गया है '**ब्राह्मण**'। एवमेव समाजमानव, एवं तद्रूप समाज बुद्धि का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसका प्रतीक माना गया है **क्षात्र-सत्तातन्त्र**। परिवारमानव, एवं तद्रूप परिवार मन का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसका प्रतीक माना गया है-**वैश्यवर्ग**। सर्वान्ते च-व्यक्ति-मानव, एवं तद्रूपा व्यक्ति शरीर का प्रातिनिध्य कर रही है, जिसका प्रतीक माना गया है-शूद्रवर्ग। इस परिवर्त्तनीया स्थिति का समन्वय कर के ही हमें सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा का उपक्रम करना चाहिए।

व्यक्तिभावः—प्रकृत्यनुगतः	राष्ट्रनिष्ठा—पुरुषात्मानुगता
१—व्यक्तिमानवः — भूतात्मस्थानीयः —	—राष्ट्रमानवः —राष्ट्रम् (ब्राह्मणः प्रतिनिधिः)
२—परिवारमानवः — बुद्धिस्थानीयः —	—समाजमानवः —समाजः (सत्ताभावः प्रतिनिधिः)
३—समाजमानवः — मनःस्थानीयः —	—परिवारमानवः—परिवारः (वैश्यः प्रतिनिधिः)
४—राष्ट्रमानवः — शरीरस्थानीयः —	—व्यक्तिमानवः —व्यक्तिः (शूद्रः प्रतिनिधिः)
अणोरणीयान्—आत्मदेवः— —	— —महतोमहीयान्—आत्मदेवः
भारतीयानां—व्यक्तिनिष्ठा	समाजनिष्ठा-राष्ट्रनिष्ठा वा भारतीयानाम्
सैषा संस्कृतिः———	———**सैषा सभ्यता**
अत्र-सांस्कृतिकनिष्ठा प्रतिष्ठिता	अत्र-सांस्कृतिक-आयोजनानि प्रतिष्ठितानि

७५—सांस्कृतिक निष्ठाक्षेत्र में नितान्त भावुकतापूर्ण परार्थ—परमार्थ—दया—करुणा—मैत्री—अहिंसा आदि शब्दों का प्रवेश—निषिद्ध—

आज की भावुकतापूर्ण—परमार्थमूला—मान्यताओं में—'**त्याग—तपस्या—बलिदान**' इन तीन शब्दों का कलकलनाद सर्वत्र ही जागरूक बना हुआ है, उसी प्रकार—जैसे कि आज के सन्त—आचार्य्यों की कृपा से धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्र के प्रमुक मान्य महानुभाव अपने दैनंदिनीय उद्घाटन—भाषणों, सामयिक वक्तव्यों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के द्वारा **मानवता–विश्वशान्ति–सत्य–अहिंसा–परस्पर मैत्रीपूर्ण सहास्तित्त्व–श्रम–सहयोग**–आदि आदि पावन शब्दों की उदात्त–घोषणाओं में निमग्न बने हुए हैं। **'परमार्थमूला–मैत्री'** से अधिक विडम्बना– पूर्ण पथ और क्या होगा ?, जिस पर भावुकतावश समासीन हो पड़ने वाले भारतीय मानव ने अपना सभी वैभव परमार्थ के आवेश में परमार्थ–घोषणा के नैष्ठिक प्रचारकों के प्रति समर्पित कर दिया है । इसके इसी समर्पणेतिहास के गर्भ में इसकी मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले त्याग–तपस्या–बलिदानों की भावुकतापूर्ण करुण- कहानी छिपी हुई है, जिस सर्वस्वविघातिका करुणकहानी ने आज के स्वतन्त्र–उन्मुक्त–वातावरण में भी इस भावुक भारतीय–मानव का पीछा नहीं छोड़ा है । संस्कृति का एकमात्र आधार माना गया है—'निष्ठाबल', जिसकी एकमात्र परिभाषा हुई है—**'स्वार्थ'**, जिसमें नितान्त भावुकतापूर्ण **'परार्थ–परमार्थ–दया–करुणा– मैत्री–अहिंसा**–आदि भावुकतापूर्ण शब्दों का प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है ।

७६-परार्थ, किंवा परमार्थ-मूलक परोपकार के भावुकतापूर्ण-दुष्परिणाम—

परमार्थ का आधार बनता है–परक्षेत्र, अपने से अन्य क्षेत्र । जिसका तात्पर्य यही निकलता है कि, परमार्थी मानव अपने प्रत्येक कर्तव्य का परीक्षण दूसरों को आधार बना कर ही करता है । इस 'पर'–आधार का कालान्तर में यही दुष्परिणाम होता है कि, मानव क्रम–क्रम से अपना स्वरूप विस्मृत करता हुआ काला- न्तर में **'पर'** को ही सर्वात्मनाअपना स्वरूप बना लेता है । स्वदर्शन से वञ्चित परदर्शन मूलक यह 'पर' आधार अपने स्वरूप–संरक्षणानुपात से आधेय को जैसा जैसा मार्ग दिखलाता जाता है, वैसे वैसे ही वह भावुक परमार्थी गतानुगतिक मानव अनुकरणधर्म्मा बनता जाता है । इस अनुकरण के द्वारा इसके भौतिक परिग्रहों का त्याग होता है, किंवा नैष्ठिकों के द्वारा त्याग करा लिया जाता है । पुनः भूतप्रलोभनों में इसे आसक्त कर तत्प्राप्ति के लिए इससे घोरघोरतम श्रम–परिश्रम कराया जाता है उन नैष्ठिकों के ही द्वारा, जिसे 'तपस्या' का नाम देकर उसे ये ही वञ्चक व्यामोह में डालते रहते हैं । श्रम–परिश्रमरूप तपस्या का फल मिलता रहता है— आधारभूत नैष्ठिकों को । यों अपने श्रम–परिश्रम के लाभ से भी वञ्चित ये त्यागी महानुभाव, तपस्वीजी महाराज अपनी प्राणशक्तियों से भी पराङ्मुख बनते हुए असमय में ही कालकवलित हो जाते हैं । एवं यही इनका परो- पकारार्थ वह बलिदान है, जिसके प्रतिदान में इनका स्मारक-दिवस मना लिया जाता है कुनैष्ठिक–परवञ्चक– स्वार्थलिप्सु परमार्थशब्दोद्घोषक नराधमों के द्वारा ।

७७-'स्वार्थ' शब्द के तात्त्विक स्वरूपार्थ का समन्वय—

'स्व'-रूपा आत्मनिष्ठा ही मानव का 'स्वार्थ' है, जिसके संरक्षण से ही मानव स्वस्वरूप से शरीरेण पुष्ट, मनसा–तुष्ट, बुद्ध्या–तृप्त, एवं आत्मना शान्त बना रहता हुआ अपने परिपूर्ण व्यक्तित्त्व से परिवार–समाज- एवं राष्ट्र के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण किए रहता है । प्रदान का मूलाधार आदान है, आदान का मूलाधार प्रदान है । आदान और विसर्ग, इन दोनों शक्तियों के समतुलन से ही स्वार्थ–(स्वस्वरूप)–संरक्षणपूर्वक समाज का, किंवा राष्ट्र का स्वरूप–संरक्षण है । यह सब में आहुत होता है, तो सब इसमें हुत होते हैं। यही वह **'सर्वहुत'** नाम की सुप्रसिद्धा यज्ञप्रक्रिया है, जिसके मूलप्रवर्त्तक सर्वस्रष्टा भगवान् स्वयम्भु बने हुए हैं । पारस्परिक अन्न- अन्नादभाव ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ है । यज्ञ ही वस्तु का स्वरूपरक्षक है, जिसके त्याग का आधार **संग्रह** है, तपस्या का आधार **विश्राम है**, बलिदान का आधार **बलिग्रहण** है । संग्रह–विश्राम–बलि–ग्रहण ही 'स्वार्थ'

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की परिभाषा है । ऐसा स्वार्थी (स्वस्वरूप से सर्वात्मना समृद्ध) मानवश्रेष्ठ ही त्याग–तपस्या–बलिदान की व्यवस्थित उन पद्धतियों का अनुगमन करने में सक्षम माना गया है, जिन क्षमतापूर्ण पद्धतियों से स्वस्वरूप की भी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती रहती है । एवं समाज भी इस तटस्थ–प्रवर्ग्यात्मक त्याग–बलिदान से अपना स्वरूप व्यवस्थित बनाए रहता है ।

७८–परमार्थ–प्रलोभन के माध्यम से कुनैष्ठिकों के द्वारा बलिवेदियों का आविष्कार—

न किसी के लिए बलि बनना आवश्यक, न किसी को बलि बनाना आवश्यक । सांस्कृतिक- मर्य्यादा में प्रतिष्ठित मानव के प्रवर्ग्यभावों का आदान–प्रदान तो स्वतः प्रकृति के द्वारा ही सञ्चालित है, जिसका—'**अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि**' इस ऋङ्मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है । यही आत्मनिष्ठ–ब्रह्मौदनभोक्ता यहाँ के ऋषिमानव का वह महान् सांस्कृतिक उद्घोष था, जिसका गीताचार्य्य ने—'**नायं हन्ति, न हन्यते**' रूप से उपबृंहण किया है । भाषा अवश्य गीता की दार्शनिक ही है । किन्तु भाव सर्वथा नैष्ठिक ही माने जायँगे । इसी लोकोत्तर सन्देश-प्रदान के फलस्वरूप राष्ट्र ने ऋषिमानव को लोकोत्तर-'**सम्मान**' नामक पुरस्कार प्रदान किया था, जिसका तद्वंशजोंनें (ब्राह्मणोंनें) सर्वथा दुरुपयोग ही कर डाला । इसी सम्मानमद ने ब्राह्मण को कालान्तर में भावुक बना डाला । और तभी से सभी वर्गों नें 'सम्मान' के माध्यम से, चरणवन्दन- स्पर्श–प्रलोभन–व्यामोहनों के माध्यम से इसे उस त्याग–तपस्या–बलिवेदि पर ला खड़ा किया, जिसके दुष्परिणामस्वरूप इसकी जीवनयात्रा भी आज विषाक्ता प्रमाणित हो रही है ।

७९–परमार्थमूला भावुकता से भारतराष्ट्र का कुनैष्ठिकों के द्वारा निर्म्मम शोषण—

विगत तीन हजार वर्षों से प्रक्रान्ता रहने वाली इसी परमार्थमूला भावुकता ने, तदनुगता व्यामोहक त्याग- तपस्या-बलिदान-परम्पराओंनें आताततायीवर्ग के प्रति होते रहने वाले दया-करुणादि के प्रदर्शन ने, हिंसा के प्रति अहिंसा का उद्गार व्यक्त करने में, एवं अन्यान्य भी परःशताधिक–भावुकताओंनें राष्ट्र की इस ब्राह्मणप्रज्ञा का वित्तैषणा, तथा तदनुगता लोकैषणाओं की सफलता के लिए राष्ट्र के सभी वर्गों-सम्प्रदायों-मतवादों-वणिक्तन्त्रों- सत्ता-तन्त्रों ने जैसा निर्म्मम शोषण किया है, उसके जघन्य इतिहास का संस्मरण भी हृत्कम्प उत्पन्न कर रहा है । यदि किन्हीं अन्य वर्गों को इसप्रकार के शोषण का लक्ष्य बन जाना पड़ता, तो तत्क्षण ही वे वर्ग स्मृति- गर्भ में विलीन हो जाते । किन्तु तथाविध शोषणों की अजस्र–प्रक्रान्ति–पर भी यह राष्ट्रीय भूदेव सभी ओर से निरन्तर पददलित होता हुआ भी एकमात्र अपनी ईश्वरीया संस्कृति के अनुग्रह से ही येनकेनरूपेण संस्कृति का सन्देशवहन कर रहा है, करता ही रहेगा, जैसाकि प्रथमप्रकरण के–'**तत्तत्–अवक्लृप्तमेव–यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्**' इत्यादि श्रुतिसमन्वय–परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है ।

८०–नैष्ठिक ब्राह्मणों के–'नायं हन्ति, न हन्यते' (न किसी को मारना, न किसी से मरना) इस राष्ट्रीय नैष्ठिक सूत्र के स्थान में भावुक क्षत्रियों के द्वारा भावुकतापूर्ण 'मारते–मारते मर जाना' इस सूत्र का आविर्भाव, एवं क्षात्रतेजोमय भारतीय सत्तातन्त्र का पतन—

संस्कृतिनिष्ठ ब्राह्मण की तथाविधा भावुकता से ही राष्ट्रीय सत्तातन्त्र भी उसी पथ के अनुगामी बन ए । राष्ट्र को बाहिर के आततायियों से बचाने के फलस्वरूप राष्ट्र ने पुरस्कार में शासनतन्त्र को जो–'सत्ताबल'

दिया था, उसने भावुकता के अनुग्रह से इस वर्ग को भी लक्ष्यच्युत बना डाला । राष्ट्ररक्षा बन गया गौण पक्ष, एवं सत्तात्मिका पदप्रतिष्ठा बन गई प्रधाना । इसी सत्ता–पदलोलुपता से इनका परस्पर में ही सुन्दोपसुन्दन्याय से विनाश आरम्भ हो गया । राष्ट्र की संस्कृति–समृद्धि–धर्म्म–आदि तो व्याजमात्र थे । वस्तुतः तीन हजार वर्षों में विघटित क्षत्रिय राजाओं–सामन्तों, एवं गणों की युद्धप्रवृत्तिका प्रधान अवलम्ब परस्पर की अहमहमिका ही बनी रही । **'राजा कौन बने ?'** इसी सत्ताव्यामोहन से इस राष्ट्रीय–शक्ति का भी उत्तरोत्तर पतन ही होता गया । इसी पदप्रतिष्ठा के लिए इनका आराध्यसूत्र बन गया–**'मारते हुए मर जाना'** । यों–**'न मारना चाहिए, न मरना चाहिए'** इस सांस्कृतिक निष्ठासूत्र के स्थान में–सामन्तवादात्मक सत्ताव्यामोहन–युगों में **'मारते हुए मर जाना'** इस संशोधित सूत्र का आविर्भाव हो पड़ा । पदलोलुपता ने संघठन विच्छिन्न कर दिया । तभी तो इसके सुविशाल भी, राष्ट्र के असंख्य संख्यक भी सत्तावयवों (क्षत्रियवीरों) से आक्रान्ताओं की बाढ़ का निरोध न हो सका । एवं इनकी इसी पदलोलुपता से, राष्ट्रीय–निष्ठा के अभाव से आततायी ही यहाँ के सिंहासनों पर समारूढ हो गए, जिनकी दासता को ही भारतराष्ट्र के धर्म्मनिष्ठ ? ब्राह्मणोंनें, तथा धर्म्मरक्षक ? सामन्त राजाओंनें 'प्रतिज्ञा–पालन'–किंवा 'वचनरक्षा' मानने, मनवानें की महती भ्रान्ति कर डाली । **'परस्पर शत्रुता, और परशासन की दासता'** जैसी जघन्या वृत्ति ने ही ब्रिटिश शासनयुग में आते आते तो इनको सर्वथैव दास बना डाला, जिसका जो अन्तिम परिणाम प्रकृत्या होना चाहिए था, उसी का नैमित्तिक यश वर्त्तमान सत्तातन्त्र को आज बिना ही प्रयास के मिल गया है ।

८१-ब्रिटिशसत्तायुगीय वणिक्तन्त्र, एवं तदनुग्रहेण-'पिटते पिटते मर जाना'-इस वणिग्भावानुगत अर्थदासता-सूत्र का आविर्भाव —

पौरुष के आत्यन्तिक पतनरूप ब्रिटिश–सत्ताकाल में सत्तातन्त्र की वणिग्वृत्ति के अनुग्रह से ही तत्समानधर्म्मा भारतीय वणिक्तन्त्र भी मानो जागरूक हो पड़ा, जिस तन्त्र का प्रकृत्या मनस्तन्त्र से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । न प्रज्ञा की अपेक्षा है, न पौरुष की अपेक्षा है इस तन्त्र में । अपितु अर्थमय कामतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाली जड़–भूतनिष्ठा ही इस तन्त्र की मूलनिष्ठा बनी रहती है, जिसके आधार पर राजस्थान में इस वर्ग के लिए यह आभाणक प्रसिद्ध है कि—**"चमड़ी भले ही चली जाय, किन्तु दमड़ी नहीं जानी चाहिए । मर भले ही जाना, अपमानित-दण्डित-उपेक्षित भले ही होते रहना, किन्तु अपने आर्थिक स्वार्थ का कभी परित्याग नहीं करना"** । यही जड़भावापन्ना वह अर्थनिष्ठा है, जिसका राजर्षि मनु के द्वारा राष्ट्र–अभ्युदय के लिए अनिवार्य्यरूप से नियन्त्रण ही विहित हुआ है । (देखिए–मनु ८।४१८।) ।

८२-वणिक्तन्त्रप्रधान-सत्तातन्त्रों से संक्षुब्धा विश्वमानवता—

सामन्त–राजतन्त्र भोगविलास में मदोन्मत्त बनता हुआ अर्थशोषक–वणिक्–राज–ब्रिटिशसत्तातन्त्र की छत्रच्छाया में निर्बाधरूप से प्रजा के शोषण में निमग्न था । राष्ट्र का चतुर्थ वर्ग अनाथवत् इतस्ततः बुभुक्षा–महामारी–जनपदविध्वंसिनी–आदि आदि आक्रमणों से कालकवलित होता जा रहा था, ब्राह्मणवर्ग भावुकतावश कभी सामन्तभक्ति का, तो कभी ब्रिटिशभक्ति का द्वार खटखटाने में आतुर बना हुआ था । किन्तु सत्तासमानधर्म्मा अवसरवादी वणिक्तन्त्र इस युग में जागरूक हो पड़ा था । इसने इसी अवसरवादिता से पर्य्याप्त लाभ उठाया ब्रिटिशयुग में । ऐतिहासिक तथ्य है कि, पश्चिमी युद्धाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में जब भारतीय

जन–धन–बल निर्म्ममरूप से झोंका जा रहा था, उस युग में यहाँ का वणिक्तन्त्र दोनों हाथों से धन बटोर रहा था। भला इससे अधिक महत्त्वपूर्ण ? अवसर इसकी वित्तैषणा को सफल बनाने के लिए और कौनसा हो सकता था ?। यही तो कारण है कि, आज भी यदा कदा जब भी युद्ध की आशङ्काएँ हो पड़तीं हैं, तो यहाँ का सुसमृद्ध वणिक्तन्त्र उल्लासपूर्वक तत्समय की जिज्ञासा–वर्णनोपवर्णन में मनोविभोर हो पड़ता है। यही तो एकमात्र परिणाम, किंवा दुष्परिणाम माना गया है—संस्कृति–धर्म्मवञ्चित, धर्म्मनिरपेक्ष–अर्थ–कामतन्त्रों का, जो मनु के शब्दों में—'क्षोभयेतामिदं जगत्' को अक्षरशः चरितार्थ कर देते हैं।

८३–वणिग्धर्म्मप्रधान ब्रिटिशसत्तायुग, एवं राष्ट्र के ब्रह्म–क्षत्र–विट् पोषण–भावों का वणिग्वृत्तिप्राधान्य से आत्यन्तिक पराभव—

हाँ, तो वक्तव्यांश प्रकृत में यही है कि, मनस्तन्त्रानुगता अर्थकामैषणा ही जागरूक हो पड़ी ब्रिटिशसत्तायुग में, जिसके भवावह परिणामों को आवृत करते रहने की चेष्टा हुई वणिक्तन्त्र के द्वारा धार्मिक–आयोजनों के व्याज से। धर्म्मशाला–पाठशाला–वापी–कूप–तड़ाग–अस्पताल–आदि आदि में अपनी मुक्तहस्तता का पर्य्याप्त परिचय दिया इस धर्म्मशील ? तन्त्र ने। इसकी इसी शीलता ? से तद्युग से पूर्व युगपर्य्यन्त राजभक्त बना रहने वाला भावुक ब्राह्मणवर्ग भी इस युग में प्रधानरूप से वणिग्भक्त ही बन गया। जिस वणिक् ने जिस सम्प्रदाय को अपना लिया, ब्राह्मणदेवता ने उसी सम्प्रदाय को परम्परासिद्ध–शाश्वत–सनातन–प्रमाणित कर देने में अपनी समस्त प्रज्ञा आहुत कर दी। जिसने अपनी जैसी मान्यता व्यक्त की, ब्राह्मण ने उसी को ईश्वरीय मान्यता सिद्ध कर डाला। और यों वणिक्तन्त्र की मनोऽनुगता मान्यताएँ हीं ब्राह्मण की संस्कृति का परमपुरुषार्थ बना रह गया। वणिक्तन्त्रानुगता, तत्तन्त्र के द्वारा ही विशेषरूपेण पुष्पित–पल्लविता मतवादपरम्पराएँ हीं तद्भक्त ब्राह्मण की भी उपास्या बन गईं। परिणामस्वरूप सनातन वेदनिष्ठा को सर्वात्मना विस्मृत कर दिया इस युग के ब्राह्मण ने, विशेषतः वणिक्तन्त्रप्रधान–उत्तरभारत के ब्राह्मण ने। वेदों के अनभ्यास से, सांस्कृतिक आचारनिष्ठाओं के परित्याग से, परान्नप्रियता से उत्पन्न आलस्य से, एवं सर्वोपरि अन्नदोष से ब्राह्मण जीवित ही शवशरीररूप में परिणत हो गया *। ब्राह्मण का वह ब्रह्मवर्चस्, ओज–तेज, स्पष्टवादिता, सभी कुछ अभिभूत हो गए, जिन ब्रह्मबलों से यह भूदेव सुप्त राष्ट्र को जागरूक बना देने की क्षमता से समन्वित रहा करता था। यों वणिक्–धर्म्मात्मक ब्रिटिशसत्तायुग में एक प्रकार से राष्ट्र के ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–सभी वर्ग निस्तेज ही बन गए।

८४–वणिक्तन्त्र के आत्यन्तिक उत्पीड़न के सुपरिणाम–स्वरूप राष्ट्र का नवजागरण—

तथाविध निस्तेज–सुप्त–दास–युग में वणिक्तन्त्र ही एक ऐसा तन्त्र था, जिसने स्ववर्ग में अनेक कोट्यधीशों का आविर्भाव कर डाला। अतएव यही तद्युग का '**महाजन**' बन गया, एवं इसकी पूर्वोक्ता अर्थनिष्ठा ही राष्ट्र के अन्य वर्गों का भी आदर्श बन गई। और यहीं से–'**हाय पैसा–हाय रोटी–हाय कपड़ा**' का

***-अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्जनात् ।**
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति''

--मनुः ५।४।

दासात्मक वह उद्घोष उपक्रान्त हो पड़ा, जिसका इस युग से पूर्व के युगों में कभी नाम भी नहीं सुना गया था। वणिक्तन्त्र की निष्ठा से समन्वित इसी उद्घोष ने कालान्तर में **'राजनीति'** का स्थान ग्रहण कर लिया। इस राजनैतिक दल में वैसे भी कतिपय स्वनामधन्य महाप्राण व्यक्ति जागरूक हुए, जिन्होंनें संस्कृति–धर्म्म–पौरुष–आदि दैवी विभूतियों के आधार पर ही राजनैतिक–स्वातन्त्र्य--आन्दोलन को प्राणवान् बनाया। और मानना ही पड़ेगा कि, उन्हीं के अदृष्ट–प्राणाधान से राष्ट्र ने पुनः एक बार स्वतन्त्रता का प्रश्वास ग्रहण करने में सफलता प्राप्त की, जिन प्राणवान् धन्य मानवश्रेष्ठों का पावन इतिहास स्वतन्त्र वक्तव्य की ही अपेक्षा रख रहा है।

८५--अभिनव स्वतन्त्रता की माङ्गलिक वेला, और राष्ट्र की जागरूकता का पुनः अभिभव—

तात्कालिक थी वह प्राणोद्दीप्ति। वस्तुतः भूतोद्दीप्ति ही दृढ़मूला बन चुकी थी उस ब्रिटिशयुग में–अमुक ज्ञात–अज्ञात–कारणपरम्पराओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से। अतएव उस युग का एकमात्र निष्ठामन्त्र बना–* **'पिटते पिटते मर जाना, किन्तु सीत्कार भी न करना'**। सुनते हैं–इसी का नाम अहिंसात्मक

---

*[१] न किसी को मारना, न किसी से मरना [संस्कृतिनिष्ठा]
[२] मारते हुए मर जाना [पद्प्रतिष्ठात्मक व्यामोहन का मूल]
[३] पिटते हुए मर जाना [अर्थसंरक्षण का मूल]
[४] मरने के नाम से भी डरना [उदरसंरक्षण का मूल]

*—भूतात्मा— ब्रह्म— नायं हन्ति न हन्यते–आत्मनिष्ठा–न मारना, एवं न मरना

१—बुद्धिः—	क्षत्रम्—	ब्रह्मवञ्चितम्—	सत्तावादः—	**मारते मारते मर जाना**
२—मनः—	वैश्यः—	अर्थासक्तः—	अर्थवादः—	**पिटते पिटते मर जाना**
३—शरीरम्—	शूद्रः—	उदरासक्तः—	श्रमवादः—	**पेट के लिए मरे ही रहना**

१—	ब्रिटिशसत्तातः–पूर्वयुगः—	सामन्तयुगः—	व्यामोहयुगः—	तत्त्वभाषायाम्
२—	ब्रिटिशसत्तात्मको युगः—	वणिग्युगः—	मनोयुगः—	तत्त्वभाषायाम्
३—	वर्त्तमानसत्तायुगः—	शूद्रयुगः—	शरीरयुगः—	तत्त्वभाषायाम्
*—	वर्त्तमानदासाः—	ब्राह्मणाः—	संस्कृतिनिष्ठावञ्चिताः– सर्वदासाः	

सत्याग्रह है, इसी का नाम असहयोग आन्दोलन है । और इसी आश्चर्य्यप्रद परीक्षण से देश स्वतन्त्र बना है । ओमित्येतत् । अभिनव–स्वतन्त्रता की इस माङ्गलिक–वेला में हम भी इसी कथन का अभिनन्दन कर लेते हैं । किन्तु इस अभिनन्दन के साथ साथ ही–स्वतन्त्रता–प्राप्ति के अनन्तर जो स्थिति आज हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसके साथ तो कदापि गजनिमीलिका नहीं की जा सकती । नहीं करनी चाहिए. राष्ट्रनिष्ठ तो किसी भी भारतीय मानव को, जिसकी दृष्टि में वैय्यक्तिक कामपूरक–वित्त–पद–ख्याति–सुख–सुविधा–आदि आदि के समतुलन में समस्त राष्ट्र का ही मङ्गल प्रधान बना हुआ है ।

८६- पदप्रतिष्ठाव्यामोहन से राष्ट्रीय–चेतना का आत्यन्तिक पराभव—

ब्रिटिश–सत्तायुग में पिटते–पिटते ही सही, 'मरने' जैसी महती शक्ति तो अवश्य जागरूक हो पड़ी थी । किन्तु स्वतन्त्रता–प्राप्ति के अनन्तर तो उस शक्ति का भी सर्वथा पराभव ही होगया । ब्रिटिशयुग में जिन भारतीय मानवश्रेष्ठों नें जनहित के लिए बड़े से बड़े सत्तापदों को कन्दुकवत् अपने पदाघात से ठुकरा दिया था, जनतन्त्र के हित के लिए उन पदव्यामोहनों के परित्याग की कल्पनामात्र से भी आज का सत्ता–पद–प्रतिष्ठा–लोलुप–मानव आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः–विकम्पित हो पड़ता है । यदि महद्भाग्य से कोई इस दिशा में अंशतः जागरूक होता भी है, तो सामान्य से प्रलोभनमात्र से उसकी जागरूकता गन्धर्वनगरलेखावत् विलीन हो जाती है ।

८७-भारतीय हृत्प्रतिष्ठाबिन्दु का आश्चर्य्योत्पादक सनातनत्त्व—

ऐसा क्यों ? । क्या विश्वम्भर की सृष्टि में यों सहसा भयानक परिवर्त्तन होगया ? । क्या भारतराष्ट्र भारतराष्ट्र ही नहीं रहा ? । क्या वंशपरम्पराओं का ही कायाकल्प होगया ? । हम तो ईश्वर–साक्षीपूर्वक–सर्वथैव विकम्पित हैं इन प्रश्नपरम्पराओं से । और ऐसा भी अनुभव कर रहे हैं कि, सभी अपने अन्तर्जगत् में विकम्पित हो रहेंगे हमारी ही भाँति । क्योंकि पावन भारतराष्ट्र की वाणी का विरोध किया जा सकता है, हुआ है सत्ताबल से पूर्वयुगों में भी । किन्तु हृदय उस भारतदेश का कभी नहीं बदला, कभी नहीं बदलसकता, जिस देश में पुण्यसलिला भागीरथी प्रवाहित हो, देवनिकाय हिमगिरि जहाँ की संस्कृति से धन्य बना हुआ हो । और जहाँ की आस्था–श्रद्धाशीला प्रजा के द्वारा संस्कृति के जीवित सन्देशरूप सांस्कृतिक–आयोजन अद्यावधि भी सोल्लास प्रक्रान्त हों ।

८८–सांस्कृतिक–निष्ठाबल के आश्रय से सम्पूर्ण काल्पनिक अभावों का अभिभव —

प्रश्नों के विकम्पन पर ही कदापि विश्राम नहीं कर लेगी भारतीय प्रजा । अपितु अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा के बल पर स्वयं ही अपना भी विकम्पन शान्त कर लेगी, एवं अपने आत्मीय गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रात्मक सत्तातन्त्र को भी इस दिशा में अवश्य ही जागरूक कर देगी । ब्रिटिशसत्तातन्त्र के युद्धस्वार्थजनित जिस घातक कुचक्र से राष्ट्र ने–'खाने पीने की चिन्ता' जैसे कल्पित भूत को अपनी भावना के सम्पुटों से आज दृढमूल बना लिया है, सांस्कृतिक बल पर इसके इसी महान् व्यामोहन को विनष्ट कर देना है सर्वात्मना । जो मानव–'**नहीं है–नहीं है–हम दुःखी हैं–अन्न का अभाव है**' आदि लक्षण निषेधभाषाओं में अभ्यस्त हो जाता है, निश्चयेन कालान्तर में उसकी सञ्चित सम्पत्ति भी विलीन हो जाती है, एवं ऋद्धि–

वृद्धि–समृद्धि–आगमन के द्वार भी अवरुद्ध हो जाते हैं । अतएव ऋषिसंस्कृति ने इस निषेधवृत्ति को, अभाववासना को अत्यन्त ही भयानक शत्रु माना है मानव के अभ्युदय का । अस्तित्त्व ही यहाँ की मूलनिष्ठा है । अस्तित्त्व का नाम हीं 'सताब्रह्म' है । एवं भारतीस सतातन्त्र को यही महान् सम्मान उपलब्ध हुआ है । सत्तातन्त्र भारतीय परिभाषा में इसी सत्ताब्रह्म का प्रतीक है, जिस के कोश में नास्तिमूलक 'अभाव' शब्द का प्रवेश भी निषिद्ध है । छोटी–बड़ी सभी समस्याओं के सफल-समन्वय का एकमात्र उत्तरदायित्त्व प्रभुसत्तासम्पन्न जिस सत्तातन्त्र पर हो, वह स्वयं ही यदि निषेधमूला अभावपरम्पराओं का उद्घोष करने लग पड़े, तो फिर उसकी 'प्रभुसत्ता' उपाधि का क्या अर्थ ? । सहजभाषा में–जब स्वयं सत्ता ही अपने मुख से 'नास्ति' रूप असद्भाव को प्रोत्साहित करने लग पड़े, तो प्रजा का क्या अपराध ? । **अतएव सत्ता को संस्कृति के द्वारा सत्ताब्रह्मलक्षण अस्तित्त्व से ही समन्वित हो जाना है । अविलम्ब समन्वित हो जाता है । और घोषणा कर देनी है कि, "हमारे राष्ट्र में सब कुछ है । किसी वस्तु का अभाव नहीं है । आनन्द–समृद्धि–सुख–शान्ति–तो हमारे राष्ट्र के जन्मसिद्ध मौलिक अधिकार हैं"** । उद्बोधनात्मक इसी महान् स्वस्त्ययन को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

—तै० उप० २।६।१।

८९–व्यक्तिवाद, और समाजवाद का समतुलन—

इदमत्र विशेषरूपेण-अवधेयम् । **व्यक्तिवाद**, और **समाजवाद**, इन दो शब्दों को लेकर आज के राष्ट्रहितैषी अभिनव–विचारकों में पर्य्याप्त अहमहमिका देखी सुनी जा रही है । व्यक्तिवाद अधिकांश में घृणा का लक्ष्य बन रहा है, एवं समाजवाद अभिनन्दनीय माना–मनवाया जा रहा है । अवश्य ही जिन देशों की सभ्यतानुबन्धिनी परिभाषा में **व्यक्ति**, और **समाज**, दोनों परस्पर पृथक् तत्त्व हैं, उनके लिए सम्भवतः तथोक्त पक्ष ही उपयोगी हो । सुनते हैं–तद्वादात्मिका सभ्यता में व्यक्ति पृथक् वस्तु है, समाज पृथक् है । व्यक्ति का कर्त्तव्य–कलाप–समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । व्यक्ति भले ही व्यक्तित्त्वरूप से परोक्षरूपेण कुछ भी अच्छा–बुरा–करता रहे । यदि समाज में वह सामाजिक नियमों के अनुसार समुपस्थित है, तो समाज उसे उपयोगी ही मानेगा, एवं वह अवश्य ही सामाजिक मानव ही कहलाएगा । कदापि व्यक्ति के वैय्यक्तिक भावों के आधार पर उसकी सामाजिकता का मूल्याङ्कन न होगा * । और अवश्य ही इस सभ्यतानुबन्ध से व्यक्तिवाद की अपेक्षा–समाजवाद ही उत्तम माना जायगा जिस में सभी व्यक्ति निःशङ्करूपेण समन्वित हो जाया करते हैं । किन्तु·······?

---

*-साहूकार कौन है ?—जिस की चोरी न पकड़ी गई हो ।
सत्यवादी कौन है ?—जिस की झूठ पकड़ में न आई हो ।
सदाचारी कौन है ?—जिसे प्रत्यक्ष में दुराचार करते किसी ने न देखा हो ।
अहिंसावादी कौन है ?—जिस के हिंसाकर्म्म से समाज परिचित न हो ।

—अप्रकाशित–**'लोकनिष्ठा–भावुकता–सूत्रसमन्वय'** नामक निबन्ध से

९०–'व्यक्ति' तत्त्व की सर्वव्यापकता, एवं परिपूर्णता—

किन्तु भारतीय दृष्टिकोण इस दिशा में सर्वथा विभिन्न है। यहाँ विकास का कोई महत्त्व नहीं है, जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। **'व्यक्ति का विकसितरूप ही परिवार है, परिवार का विकसित रूप ही समाज है, तद् विकासावस्था का नाम हीं राष्ट्र है'**, कदापि यहाँ ऐसा विकासवाद मान्य नहीं है। अपितु यहाँ सभी स्वतन्त्र इकाईयाँ हैं। व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–सभी स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं, परिवार भी हैं, समाज भी हैं। और राष्ट्र भी हैं। अतएव प्रत्येक अपने आप में परिपूर्ण है। यही स्वदर्शनमूला वह धर्म्मनिष्ठा है, जिसका विकास से नहीं, अपितु महिमा से सम्बन्ध है। शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा दर्शनभाषा में क्योंकि अभ्यस्ता बन गई है। अतएव स्वधर्म्ममूला इस निष्ठा की भाषा का यथावत् समन्वय उसके लिए आज कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव बन गया है। केवल तत्त्वमीमांसानुगता आचारशून्या दार्शनिकता के चिर–अभ्यास के कारण भारतीय मानव आचारनिष्ठात्मिका स्वधर्म्मनिष्ठा से सर्वथैव पराःपरावत बन गया है। और इसी आचारशून्यता से इस में उस व्यक्तित्त्वविमोहन का उदय हो पड़ा है, जिसनें इसे सर्वथैव लक्ष्यच्युत बना दिया है।

९१–व्यक्ति-परिवार–समाज-राष्ट्र–चारों का तत्त्वतः स्वतन्त्र परिपूर्ण व्यक्तित्त्व,–एवं–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का समन्वय—

वस्तुस्थिति यथार्थ में ऐसी है कि, व्यक्ति ही परिवार है, परिवार ही व्यक्ति है। परिवार ही समाज है, समाज ही परिवार है। समाज ही राष्ट्र है, राष्ट्र ही समाज है। व्यक्ति ही राष्ट्र है, राष्ट्र ही व्यक्ति है। व्यक्ति का अर्थ न शरीर है, न मन है, न बुद्धि है, जो शरीरादि परिछिन्नभाव क्रमविकासोन्मुख माने जासकते हैं यथाकथञ्चित्। अपितु यहाँ 'व्यक्ति' का अर्थ है–**आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व**। वह आत्माभिव्यक्तित्त्व, जिसके हृदयस्थ अणोरणीयान्–भाव में बुद्धि–मन–शरीर आदि सभी परिच्छिन्नभाव समाविष्ट हैं। अतएव तत्प्रतीकरूप–परिवार–समाज–राष्ट्र सभी समाविष्ट हैं इस आत्मसीमा में। यही व्यक्तिमूलक–वह प्रतिष्ठातत्त्व है, जिसके आधार पर चारों में 'व्यक्ति' ही प्रधान बना हुआ है। यही अवस्था तद्भूमारूप परिवार की है। यही अवस्था तद्भूमारूप समाज की है। एवं यही अवस्था तद्भूमारूप राष्ट्र की है। व्यक्तित्त्वानुगत भूमाभाव राष्ट्र–भूमाभाव पर (भारतीयानुबन्ध से) विश्रान्त है। अतएव तदपेक्षया राष्ट्र को ही व्यक्ति का भूतात्मक विवर्त्त मान लिया गया है। और यों व्यक्ति, तथा राष्ट्र में, किंवा व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–में कोई भी मौलिक भेद शेष नहीं रह जाता। **'आत्मवत्–सर्वभूतेषु'** लक्षण समदर्शन सर्वत्र समानरूप से अवस्थित है। केवल प्राकृतिक–विषम–विभक्त–वर्त्तन (व्यवहार) मात्र की व्यवस्था के लिए एक ही वस्तुतत्त्व के–**व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र**–इत्यादि विभिन्न प्राकृतिक संस्थान मान लिए गए हैं, जैसाकि–**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से प्रमाणित है। अतएव पृथक्वाद जैसी कोई भी विभक्ता पद्धति को भारतीय संस्कृति में कोई प्रश्रय नहीं मिल सकता, नहीं मिला, जैसाकि इसके समब्रह्ममूलक–**'संस्कृति'** शब्द से ही स्पष्ट है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

९२–'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति' का समन्वय, एवं मानव का चतुर्विध स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व—

यहाँ राष्ट्र परिचायक है–समाजों, परिवारों, व्यक्तियों का। समाज परिचायक है–राष्ट्र–परिवार–व्यक्ति का। परिवार परिचायक है शेष तीनों का। एवं व्यक्ति परिचायक है–शेष तीनों का। यही नहीं, यहाँ के आवासगृह–परिग्रह–भोजनव्यवस्था–विनोदपद्धतियाँ–आदि आदि भी व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र में एकतानता से प्रवाहिता संस्कृति के परिचायक बने रहते हैं। इसी आधार पर तो–'**एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति**' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। सभी सर्वरूप हैं, सभी सब के प्रति समर्पित हैं–देश–कालानुबन्ध से। व्यक्ति अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक है। परिवार अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक है। समाज अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक है। इसलिए कि–पूर्व पूर्व को अपने अपने बुद्धि–मनः–शरीर भावों को उत्तर–उत्तर के तन्त्रों में समर्पित करते रहना पड़ता है। किन्तु–राष्ट्र अन्तर्भावुक–बहिर्निष्ठ माना गया है ऋषिप्रज्ञा में। अन्तर्भावुक पक्ष राष्ट्रसीमाभुक्त–समाज–परिवार–व्यक्तियों को लाभान्वित करता रहता है। राष्ट्र का प्रत्येक लाभ राष्ट्र के प्रत्येक समाज, प्रत्येक परिवार–प्रत्येक व्यक्ति का लाभ है। यह राष्ट्र की अन्तर्भावुकता का ही सुपरिणाम है। इस अन्तर्भावुकता के साथ साथ राष्ट्र बहिर्निष्ठ ही बना रहता है। अतएव आगन्तुक–राष्ट्रविरोधी तत्त्व–इस बहिर्निष्ठादुर्ग में प्रवेश ही नहीं कर पाते। यों राष्ट्र स्वस्वरूप से अक्षुण्ण बना रह जाता है।

९३–अन्तर्निष्ठ–किन्तु बहिर्भावुक व्यक्तित्त्व, तथा अन्तर्भावुक–किन्तु बहिर्निष्ठ–भारत–राष्ट्र की ब्रह्मप्रतिष्ठात्मिका निष्ठा का पारम्परिक समन्वय—

पुनः अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए–इस निष्ठाभावुकता की व्याप्ति को। क्योंकि इसी के समन्वय के आधार पर राष्ट्र के राष्ट्र–समाज–परिवार, तथा व्यक्तियों की लोकयात्रा,–लोकस्वरूप अवलम्बित हैं। व्यक्ति आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वरूप है अपने केन्द्रस्थ अव्ययपुरुष की अपेक्षा से। यही वह वृक्ष इव स्तब्ध अणोरणीयान्–महतोमहीयान्–सर्वतः ज्यायान्–सर्वव्यापक अनेजत्–नितरांस्थितिलक्षणा–पूर्णपुरुष है, जिस नितरांस्थितिभाव से ही इसे–'**निष्ठा**' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है *। यही अन्तर्य्यामी अन्तर्निष्ठामूर्ति आत्मब्रह्म है, जो–'**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**' (शत० ६।१।२।७) के अनुसार व्यक्ति की अन्तःप्रतिष्ठा बना हुआ है। इसके आधार पर प्रतिष्ठित बुद्धि–मनः–शरीर–तीनों परिभ्रमणमाण सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–प्रकृतियों के अंश हैं। गतिभाव ही भावनात्मिका क्रिया है। भावनात्मिका क्रिया ही भावुकता की परिभाषा है। अतएव अन्तर्निष्ठ आत्मकेन्द्र के आधार पर प्रतिष्ठित व्यक्तिमानव के बुद्धि–मनः–शरीर–तीनों गतिशीलभाव भावुक बने हुए हैं। और यही इसकी **अन्तर्निष्ठानुगता–बहिर्भावुकता** है। इस भावुकतात्रयी का गत्यात्मक समर्पण होता है–व्यक्ति के आत्मा के ही दूसरे भूमाव्यक्तित्त्वरूप परिवार में। व्यक्तिमानव भावुक है अपने परिवार के प्रति बुद्ध्यादि तीनों भावुकतन्त्रों से, जिसका तात्पर्य्य यही है कि,

---

*–यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्–यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
—श्वेताश्वतर–उपनिषत् ३।६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

परिवारसञ्चालक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति को अन्तर्निष्ठ बने रहते हुए अपने आपको पारिवारिक–व्यक्तियों के प्रति ही समर्पित किए रहना पड़ता है उन पारिवारिक–व्यक्तियों की भावुकताओं का संरक्षण करते हुए। एवं निश्चयेन परिवारज्येष्ठ उत्तरदायित्वपूर्ण आत्मनिष्ठ व्यक्ति की परिवारसमृद्धि–सुख–शान्ति का यही बीज है।

आगे चलिए। अब व्यक्तिसहित परिवार एक स्वतन्त्र भूमारूपा इकाई है, जिस के **आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–रूप कुलवृद्ध–युवापुत्र–नारीवर्ग–बालवृन्द**, ये चार अवान्तरवर्ग हैं। चारों का आधारभूत महिमात्मक कुलवृद्ध–स्थानीय आत्मा निष्ठात्मक है, तदपेक्षया तीनों प्राकृतिक–भावुकपर्व हैं। यों परिवार भी अन्तर्निष्ठ बहिर्भावुक ही बना हुआ है। यह परिवारमानव अपने युवापुत्रादि तीनों पर्वों से भावुक है अपने समाज (जाति) रूप दूसरे भूमात्मक विवर्त्त के प्रति। ऐसे अनेक परिवारों की बहिर्भावुकता के समर्पण से ही तो समाजरूपा भूमा व्यक्तभाव की अनुगामिनी बना करती है। इस समाज का आत्मप्रतिनिधिरूप ब्राह्मण ही समाज का भूमारूप आत्मा है। तदपेक्षया क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–तीनों भावुक हैं। ब्राह्मण अन्तर्निष्ठ आत्मा है समाज का। शेष तीनों वर्ग भावुकवर्ग हैं, जिनके प्रवर्ग्यात्मक समर्पण से ही राष्ट्ररूप तीसरा महिमाभाव व्यक्त हुआ करता है। और यहाँ आकर स्थिति बदल जाती है। राष्ट्र अन्तर्भावुक–बहिर्निष्ठ बन जाता है। जिसका तात्पर्य्य यही है कि, व्यक्तिमूलक–भूतात्मा–का प्रतिनिधि नैष्ठिक ब्राह्मण हीं यहाँ राष्ट्र का बहिर्दुर्ग बन जाता है। शेष–प्रजा–गण–अनुशासनतन्त्र, ये तीनों भावुकतन्त्र तद्गर्भ में आजाते हैं। यों मूल के ब्रह्म से अभिन्न ब्राह्मण ही तूलान्त में भी आवपनात्मिका प्रतिष्टा बन जाता है। आरम्भ में आत्मा, अन्त में आत्मा। आरम्भ में अणोरणीय:न् ब्रह्म, अन्त में महतोमहीयान् ब्रह्म। उपस्तरण भी अमृतब्रह्म का, अपिधान भी अमृतब्रह्म का ही। दोनों ओर निष्ठाब्रह्म का संरक्षण। ऐसे ब्रह्मरक्षित–नैष्ठिक–सांस्कृतिक राष्ट्र की ओर आततायी भ्रूविक्षेप की कल्पना भी तो नहीं कर सकता। यही है भारतीय समाजव्यवस्था का एक चित्रण, जिसे संस्कृति–स्वरूपबोध के के अभाव से हमनें धूलिधूसरित ही कर लिया है। दूसरे शब्दों में–सनब्रह्ममूलक इस प्रकृतिसिद्ध सनातन–आर्ष–व्यवस्था को विस्मृत कर देने से ही भारतीय-भावुक मानव नें अपने वैय्यक्तिक–पारिवारिक–सामाजिक–एवं राष्ट्रीय, इन चारों हीं प्राकृतिक–संस्थानों को सर्वथैव जर्ज्जरित कर लिया है। इसी जर्ज्जरता के अभिशाप से आज इसने भूतवादी प्रतीच्य-देशों की ब्रह्मसत्ता-वञ्चिता उन केवल जड़पद्धतियों को ही अपना आदर्श मानमे मनवाने की महती भ्रान्ति कर डाली है, जिन जड़पद्धतियों से स्वयं प्रतीच्यदेश भी अपने आपको सर्वात्मना सन्त्रस्त ही अनुभूत कर रहे हैं। परिलेख के माध्यम से लक्ष्य बनाइए इस निष्टाभावुकता के समन्वय को, स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा।

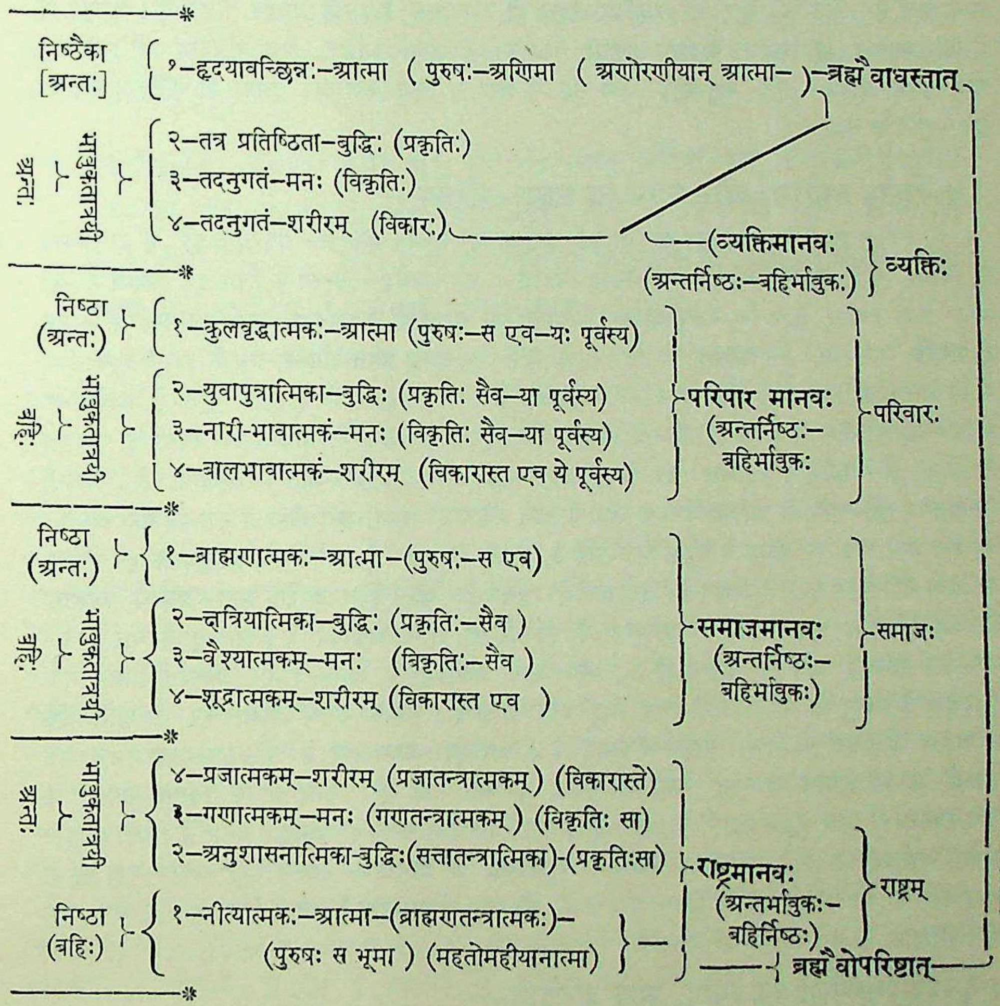

निष्ठैका [अन्त:]
१–हृदयावच्छिन्न:–आत्मा (पुरुष:–अणिमा (अणोरणीयान् आत्मा–)–ब्रह्मैवाधस्तात्

भावुकतात्रयी – अन्त:
२–तत्र प्रतिष्ठिता–बुद्धि: (प्रकृति:)
३–तदनुगतं–मन: (विकृति:)
४–तदनुगतं–शरीरम् (विकार:)

(व्यक्तिमानव: (अन्तर्निष्ठ:–बहिर्भावुक:) – व्यक्ति:

* * *

निष्ठा (अन्त:)
१–कुलवृद्धात्मक:–आत्मा (पुरुष:–स एव–य: पूर्वस्य)

भावुकतात्रयी – बहि:
२–युवापुत्रात्मिका–बुद्धि: (प्रकृति: सैव–या पूर्वस्य)
३–नारी-भावात्मकं–मन: (विकृति: सैव–या पूर्वस्य)
४–बालभावात्मकं–शरीरम् (विकारास्त एव ये पूर्वस्य)

परिपार मानव: (अन्तर्निष्ठ:– बहिर्भावुक: – परिवार:

* * *

निष्ठा (अन्त:)
१–ब्राह्मणात्मक:–आत्मा–(पुरुष:–स एव)

भावुकतात्रयी – बहि:
२–क्षत्रियात्मिका–बुद्धि: (प्रकृति:–सैव)
३–वैश्यात्मकम्–मन: (विकृति:–सैव)
४–शूद्रात्मकम्–शरीरम् (विकारास्त एव)

समाजमानव: (अन्तर्निष्ठ:– बहिर्भावुक:) – समाज:

* * *

भावुकतात्रयी – अन्त:
४–प्रजात्मकम्–शरीरम् (प्रजातन्त्रात्मकम्) (विकारास्ते)
३–गणात्मकम्–मन: (गणतन्त्रात्मकम्) (विकृति: सा)
२–अनुशासनात्मिका-बुद्धि:(सत्तातन्त्रात्मिका)-(प्रकृति:सा)

निष्ठा (बहि:)
१–नीत्यात्मक:–आत्मा–(ब्राह्मणतन्त्रात्मक:)–
(पुरुष: स भूमा) (महतोमहीयानात्मा)

राष्ट्रमानव: (अन्तर्भावुक:– बहिर्निष्ठ:) – राष्ट्रम्

ब्रह्मैवोपरिष्टात्

* * *

६४–राष्ट्रहितानुबन्धी त्याग, और बलिदान की स्वरूप–परिभाषा—

अवश्य ही व्यक्ति परिवार के हित में अपनी आहुति दे देगा। अवश्य ही समाज के हित में परिवार आहुति दे देंगे। एवं अवश्य ही राष्ट्रहित में समाज अपनी आहुति दे देंगे। क्या अर्थ–है इस आहुति का ?। क्या अपना स्वरूप ही उच्छिन्न कर देंगे इस आहुति–समर्पण के द्वारा ?। नेति होवाच। कदापि इस भावुकतापूर्ण समर्पण का नाम न तो त्याग ही है, न बलिदान ही। त्याग और बलिदान हुआ करता है पशुओं का, मानवों का नहीं। अमुक देवता को तुष्ट–तृप्त करने के लिए मान्यतानुबन्ध से पशुओं को छोड़ा भी जाता है, जैसेकि प्रेतदेवता के लिए वृषभ का उत्सर्ग। एवमेव अमुक देवता के लिए पशु का बलिदान भी हुआ करता है। 'यज्ञार्थानपशव: सृष्टाः' भी यहाँ की संस्कृति का ही एक वैज्ञानिक अङ्ग

माना गया है, जिस के लिए तो यज्ञविज्ञानरहस्य ही अन्वेष्टव्य है। राष्ट्र अवश्य देवता है। अवश्य ही इसकी मान्यता के संरक्षण के लिए पशुओं का त्याग भी होना चाहिए, एवं बलिदान भी। तो क्या अज–वृषभ–महिष–उष्ट्रादि पशु छोड़े जायँ राष्ट्र के लिए ?, क्या किया जाय इनका भी बलिदान राष्ट्र की तुष्टि–तृप्ति के लिए ?।

६५–राष्ट्रीय ब्रह्मौदन, और प्रवर्ग्य का स्वरूप-परिचय—

तथोक्त प्रश्नों के समाधान का तो उस दुरधिगम्या घर्म्मयागात्मिका–'**प्रवर्ग्यविद्या**' से ही सम्बन्ध है, जिसका यहाँ अक्षरार्त्रसमन्वय भी सम्भव नहीं है। अभी प्रसङ्ग–समन्वय के लिए इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, यज्ञपुरुषात्मक 'महादेव' के '**द्वे शीर्षे**' के अनुसार '**ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य**' नामक दो मस्तक मानें गए हैं। आत्मा का वह भोग्य, जिसे आत्मब्रह्म अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से अपनी छन्दःसीमा में हीं अन्तर्भुक्त रखता है, जिसका उपभोग भूतात्मा के स्वरूप–संरक्षण में हीं होता रहता है, कदापि जो भोक्ता–ब्रह्म की सीमा से पृथक् हो ही नहीं सकता, यदि पृथक् हो जाता है, तो ब्रह्म का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है–'**ब्रह्मौदन**' (ब्रह्म का स्वरूपसंधाता–रक्षक–भोग्य–ओदन–भात) कहलाया है। अपनी भोग्यानुगता तुष्टि–तृप्ति से अधिक जो बच रहता है, उसे ब्रह्मात्मा अपनी छन्दःसीमा में रख भी नहीं सकता। वह शेष भाग स्वतः ही सीमा से प्रवृक्त हो जाता है, पृथक् हो जाता है। स्वयं ब्रह्म इच्छापूर्वक इस शेषांश का त्याग नहीं किया करता। अपितु वह तो स्वयं ही पृथक् हो जाता है। यही शेष भाग–'**प्रवर्ग्य**' कहलाया है। आत्मसीमा में भुक्त, अतएव आत्मरूप में हीं परिणत भोग्य 'ब्रह्मौदन' है। आत्मतृप्त्यनन्तर पृथक्–भूत–शेष–उच्छिष्ट भाग ही 'प्रवर्ग्य' है। सात्म्य भाग ब्रह्मौदन है, अनात्म्य भाग प्रवर्ग्य है। अनात्मता ही पशुता है। पशु को भी तो इसी लिए 'पशु' कहा जाता है। क्योंकि इसमें आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति का अभाव है। इस में केवल प्राकृत जीवभाव है। अतएव आत्मसीमा से परित्यक्त–अनात्मभावात्मक 'प्रवर्ग्य' को भी अवश्य ही 'पशु' कहा जा सकता है, कहा गया है। सभी पदार्थ स्वस्वरूपसंरक्षण के लिए स्व–स्व से भिन्न भिन्न पदार्थों के द्वारा छोड़े हुए प्रवर्ग्य भाग को ही आहुति बनाते हैं। वही आहुति उनका ब्रह्मौदन बनता है। यों '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' के अनुसार–त्यक्त–उच्छिष्ट–प्रवर्ग्य–पशु का ही अन्य वस्तु के प्राणाग्निदेवता के लिए प्रकृत्या ही बलिदान होता रहता है, त्याग होता रहता है, एवं त्याग और बलिदान की यही स्वरूप–परिभाषा है।

६६–प्रवर्ग्यसमर्पणात्मक त्याग, और बलिदान—

उक्त व्याख्या के आधार पर प्रकृत में हमें यही निवेदन करना है कि, स्वस्वरूपसंरक्षणोपयिक–भोग्यपदार्थरूप ब्रह्मौदन के अतिरिक्त जो पृथक्–प्रवर्ग्य–पशु–बच–रहता है, उसे कोई न कोई तो ले ही लेगा। अतएव उसे सावधानीपूर्वक स्वराष्ट्राग्नि में हीं समर्पित कर देना चाहिए। तात्पर्य्य यह निकला कि, व्यक्ति स्वस्वरूपसंरक्षणपूर्वक ही परिवार में प्रवर्ग्यमात्र का अर्पण करेगा, उसीका कर सकेगा। परिवार अपने स्वस्वरूपसंरक्षणात्मक ब्रह्मौदन–से शेष भूत प्रवर्ग्य का ही समाज में, समाज अपने प्रवर्ग्यांश का ही राष्ट्र में अर्पण करेगा। यही नैष्ठिक अर्पण कहलायेगा, एवं यह अर्पणभाव सहजस्थिति में ही समन्वित माना जायगा। परिवार–समाज–राष्ट्र के स्वरूपोच्छेदात्मक आपद्धर्म्मलक्षण भयानक अवसरों में तो सहजस्थिति के विपरीत परिवारहित के लिए व्यक्ति के ब्रह्मौदन का, समाजहित के लिए परिवार के ब्रह्मौदन का,

एवं राष्ट्रसंरक्षण के लिए व्यक्ति–परिवार–समाज सभी का सर्वात्मना अर्पण हो जायगा, होना ही चाहिए। और आज राष्ट्र के चिरपुरातन–चिरनूतन–सांस्कृतिक–स्वरूप के लिए ऐसा ही घोर–घोरतम संकटकाल उपस्थित है। अतएव................।

९७-पूर्वसत्तानुगत धर्म्मभावुकता-कर, यवनसत्तानुगत जजिया-कर, ब्रिटिशसत्तानुगत युद्ध-कर, एवं स्वतन्त्रसत्तानुगत योजनापूरक-कर, आदि आदि 'कर'-परम्पाओं का भीषण ताण्डव, एवं राष्ट्र की कङ्कालास्थिमात्रावशिष्टा कङ्कालावस्था,-तथा त्याग-बलिदानोपदेशों के विडम्बनापूर्ण जघन्य-उपदेश—

ठहरिए !। 'अपने ब्रह्मौदन का त्याग कर देना चाहिए', यह घोषणा वर्त्तमान युग में जितनी हीं कर्णप्रिय है, व्यवहारपक्ष इस घोषणा का उसी सीमापर्य्यन्त शिथिल है। क्यों ?, इसका ठीक ठीक उत्तर तो घोषणा करने वाले ही दे सकेंगे। हमारी दासबुद्धि तो इस सम्बन्ध में एकाक्षर का भी उच्चारण करने में असमर्थ है। क्योंकि हम जानते हैं, हमारे ही साथी कोटि–कोटि मानव भी न केवल जान ही रहे हैं। अपितु अहर्निश यह कटु अनुभव भी कर रहे हैं कि, उन्हें आज स्वरूपरक्षणमात्र के लिए आवश्यकरूप से प्रवर्ग्य भी नहीं मिल रहा। यों प्रवर्ग्य के अभाव में इनका ब्रह्मौदनभाग भी अनुदिन समाप्त ही होता जा रहा है। निष्प्राण–अनात्म्य–इन प्रवर्ग्यों पर ही यदि घोषणाकर्त्ता महानुभाव ताण्डवनृत्य करना चाहते हैं, तो फिर तो वह श्मशानवासी भूत–प्रेतों का ही नृत्य कहलाएगा, जो इस लोकजीवन में तो कोई भी उपयोग नहीं रख रहा। जिन्हें ब्रह्मौदन से भी अधिक मिल रहा है, जिनका प्रवर्ग्यांश भी राष्ट्रहित के विरोधी तत्त्व ही ले भाग रहे हैं, उनके ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य तटस्थ मान लिए जायँ, एवं कङ्कालावशेषों से सर्वस्व बलिदान की न केवल आशा ही रक्खी जाय, अपितु सत्ताबल से उनका शेष जीवनीय रस भी निचोड़ लिया जाय, सदि समर्पण–बलिदान की घोषणाओं का यही अर्थ है तो–अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! महती विडम्बना !!! ऐसा कङ्कालवर्ग है–राष्ट्र का वह 'मध्यमवर्ग', जिसके प्राण आज सर्वात्मना संकट में पड़े हुए हैं। और दुर्भाग्यवश वही तथाविध समर्पण–घोषणाओं का एकमात्र पात्र समझा जा रहा है राष्ट्रीय आयोजनों की पूर्त्ति के लिए। मुगलसत्तायुग से पूर्व के भारतीय–सामन्तगणों–राजाओंनें मतवादात्मक नितान्तभावुकतापूर्ण–धर्म्मों के व्याज से मध्यमवर्ग का शोषण प्रक्रान्त रक्खा **धार्म्मिक–करों** के माध्यम से, मुगलसत्ता ने जजियाकर के नाम से इस वर्ग का शोषण किया, ब्रिटिशसत्ता ने युद्ध के व्याज से इससे बलपूर्वक त्याग करवा लिया। और स्वतन्त्रासूर्योदय पर इसे थोड़ी आशा प्रतीत होने लगी थी शान्ति–श्वासमात्र की कि, आयोजनों के माध्यम से इस पर उतना करभार डाल दिया गया, जिससे आज के भीषणतम महर्घता–काल में यह जीवित भी रह सकेगा, अथवा नहीं ?, इस प्रश्न के समन्वय में भी महान् सन्देह उपस्थित हो पड़ा है।

९८--राष्ट्रीय कङ्कालावशेषों का महान् प्रतिनिधि राष्ट्रीय ब्राह्मण—

इत्थंभूत घोर घोरतम संकटकाल में कौन इस अस्त–व्यस्त–संत्रस्त–क्षीणकाय मध्यमवर्ग के लिए आश्वासन की भाषामात्र भी बोलने का अनुग्रह करे ?, यह सामयिक–प्रश्न इस लिए आज एक जटिल समस्या बनता जा रहा है कि, बोलने वाले तो आज इसका शोषण करने वाले ही बन रहे हैं। अन्य वर्ग

तटस्थ हैं इसलिए कि, उन्हें यह समस्या उत्पीड़ित ही नहीं कर रही। वित्तशाली–वर्ग तो बोले ही क्यों, जब कि इस तटस्थता में दोनों ओर से लाभ ही लाभ प्रतीत हो रहा है इसे। सत्ताकर्म्मचारियों का तो बोलना विधान के ही विरुद्ध प्रमाणित कर दिया गया है। क्षात्रपौरुष रसातल में विलीन हो ही गया है। अब एकमात्र अशरण–शरण शेष रह गई है वह संस्कृति, जिसने हीं ऐसे अवसरों पर आर्त्त–प्रजा का संरक्षण किया है। इस संस्कृति का प्रतीक है–राष्ट्रीय ब्राह्मण। और वही आज बोल रहा है जनगण के हृदयस्थ भावों का प्रातिनिध्य करता हुआ। क्या उसका यह बोलना विधान के विरुद्ध होगा? नहीं। क्योंकि विधान बड़ा उदार है यहाँ का। फिर यदि व्यक्तिविशेषों के स्वार्थ में यह बोलना बाधक भी प्रतीत हो, तो राष्ट्र का तो हित ही होगा इससे। राष्ट्रहित की दृष्टि से अवश्य ही इस सत्य–तथ्य का नग्नस्वरूप सत्तातन्त्र के सम्मुख रख ही दिया जायगा कि—

९९–भारतीय मानव का भावुकतापूर्ण पारम्परिक स्खलन, और उसके भीषण परिणाम–

भारतीय हृदय सांस्कृतिक हृदय है। इसके हृदय पर विजय प्राप्त करने से ही यह अपने ब्रह्मौदन का प्रसन्नता-पूर्वक समर्पण कर दिया करता है। फिर प्रवर्ग्य की तो कथा ही दूर है। जिस संस्कृति–धर्म्म–मानवता–की वह आदिकाल से उपासना करता आया है, इसका हृदय तन्मय बना हुआ है। राष्ट्र के हित के लिए ही क्या, इसने मानवव्यक्ति–हित के लिए भी प्रसन्नतापूर्वक सर्वस्व प्रदान कर दिया है। यही नहीं, पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि को बलि–प्रदान करते रहना भी इसकी अपनी सांस्कृतिक–विशेषता है। यह किसी को दुःखी–आर्त्त–संकटग्रस्त–देखना ही नहीं चाहता। **'मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्'–'सर्वे भवन्तु सुखिनः'–'सर्वे सन्तु निरामयाः'** ही इसके आचारात्मक–व्यावहारिक आदर्श रहे हैं। और अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि, विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतराष्ट्र के सुप्रसिद्ध नवग्रहग्राहों से निरन्तर त्रस्त–संत्रस्त–संक्षुब्ध बने रहने के कारण इस की वह सांस्कृतिक निष्ठा उत्तरोत्तर अन्तम्मुख ही होती गई है। अव्यय-पुरुषात्ममूला–सर्वभूतहितरतिप्रवर्त्तिका संस्कृति के, तदभिन्न आचारात्मक ज्ञानविज्ञानात्मक धर्म्म के यों अन्तर्म्मुख बन जाने से ही यह सर्वप्रथम स्वयं अपने लिए भावुक बना, परिवार के लिए भावुक बना, एवं समाज के लिए भावुक बनता हुआ अन्ततोगत्त्वा यह राष्ट्र के लिए भी उत्तरोत्तर भावुक ही बनता गया।

१००–राष्ट्रीय–दुर्गसीमाओं के शैथिल्य से अतिथिपरम्पराओं का समागम, एवं भारत-राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय व्यामोहन—

और आज तो ऐसी स्थिति हो गई है कि, इसके भावुकतापूर्ण राष्ट्रीय–स्वरूप से राष्ट्र की दुर्गसीमात्मिका बहिर्निष्ठा भी सर्वथा भावुकतारूप में हीं परिणत हो गई है। फलस्वरूप राष्ट्र सच्छिद्र बन गया है। अतएव कोई यहाँ के दृश्यदर्शन के बहाने, कोई सांस्कृतिक–सम्बन्ध–स्थापित करने के व्याज से, तो कोई व्यावसायिक–सम्बन्ध–स्थापित–करने के माध्यम से एक दूसरे से अपने आपको इसका महान् मित्र प्रमाणित करते हुए धारावाहिकरूप से आतिथ्य–ग्रहण करने का अनुग्रह? करनें लग ही तो पड़े हैं।

अवश्य ही आतिथ्यधर्म्म भी भारतीय संस्कृति का एक महान् प्रतीकधर्म्म है। किन्तु इसकी प्रतीकता के साथ साथ स्वयं 'अतिथि' शब्द भी अपना कोई चिरन्तन शब्दार्थेतिहास रखता है। क्या तथाविध

आतिथ्य में भारतीय संस्कृति–धर्म्म–सम्मत आतिथ्य का समावेश सम्भव है ? । नेति होवाच । **'अतिथींश्च लभेमहि'** का अर्थ है–दिग्भ्रान्त–मार्गभ्रान्त, किंवा सहयोगवञ्चित किसी का आकस्मिकरूपेण–विना पूर्व–सूचना–व्यवस्था के सहसा अमुक नियत–अवधि–पर्य्यन्त विश्राममात्र के लिए आजाना । निश्चित तिथि से असम्बद्धा स्थिति ही **'न तिथिः–अतिथिः'** का निर्वचनार्थ है । इस शब्दार्थमात्र के आधार पर भी आज के आतिथ्य का मूल्याङ्कन सम्भव है । फिर मैत्री का तो प्रश्न ही सम्भव नहीं है । अतिथि तो पूज्य हुआ करता है, जब कि मित्रता तो समान–शील–व्यसन–परायणों की ही हुआ करती है । अवश्य ही मैत्रीसम्बन्ध अच्छा है । किन्तु सर्वथा जागरूकता के साथ, बहिर्निष्ठात्मक दुर्ग को अच्छिद्र रखते हुए ही । नहीं, तो परिणाम इस आतिथ्य का, मैत्री का वही हुआ करता है, जो विगत शताब्दियों में हुआ था, एवं जिसके आतिथ्य के वरदान में प्राप्त होने वाली सर्वस्वदासता के चिन्ह आजतक भी सर्वात्मना इस भारतराष्ट्र से नहीं मिटाए जासके हैं ।

१०१–स्वस्वरूपविमोहनात्मिका–परदर्शनमूला भावुकता, और तदनुबन्धिनी लक्ष्यहीनता–

क्यों भारतीय हृदय यों उत्तरोत्तर स्वसंस्कृति–धर्म्म–आदर्श–आचारादि निष्ठाओं से पृथक् बन गया ?, प्रश्न का उत्तर संस्कृतिस्वरूपबोध का अभाव ही माना जायगा, एवं जिस अभाव का कारण परदर्शन-मूला भावुकता ही मानी जायगी । वह भावुकता, जो स्वस्वरूप को देखने ही नहीं देती । जो सदा दूसरों को आधार मान कर ही अपना स्वरूप निर्द्धारित करती रहती है । तरङ्गायित पानी के आधार पर अपनी आकृति का स्वरूपनिर्णय करने वाला जैसे स्थिरा भी आकृति को थोड़ी देर के लिए विकम्पित मान बैठने की भ्रान्ति करने लग पड़ता है, ठीक वही उपक्रम इस भावुकतामूला–परदर्शकता में हो पड़ता है । यदि और कोई दूसरा मापदण्ड उपलब्ध नहीं होता, तो द्रष्टा अपनी भ्रान्ति को ही कालान्तर में भ्रान्तिसंस्कारों की ग्रन्थिबन्धनात्मिका दृढता से अपना वास्तविक स्वरूप मान बैठने की महती भ्रान्ति कर बैठता है ।

संस्कृत–गद्यग्रन्थों में एक कथानक प्रसिद्ध है कि, "एक ब्राह्मण को कहीं से पुरस्कार में छाग (बकरा) मिला । वह उसे मस्तक पर लेके स्वग्राम की ओर चला आरहा था कि, मार्ग में कुछ एक धूर्त–वञ्चक–कुनैष्ठिकों से पाला पड़ गया । वे इस छागमाँस के लिए आतुर हो पड़े । अपनी, इस आतुरता को सफल बनाने के लिए एक ने कहा–अरे ब्राह्मण देवता ! आज यह गधा कहाँ लिए जारहे हो । ब्राह्मणदेव सहम गए । दूसरे ने भी यही कहा । तीसरे ने कहा । सभी ने यही कहना आरम्भ कर दिया, और बार बार कहना आरम्भ कर दिया । ब्राह्मण ने न अपने को देखा, न बकरे को देखा । केवल परदर्शनमूला इस शब्दघोषणा की ओर ही वह उत्तरोत्तर आकर्षित होता गया । इसी परदर्शन–परश्रवणैकता से ब्राह्मण ने भी सचमुच यही मान लिया कि–वह मानो गधे को ही लिए जारहा है । परिणामतः बकरेरूप गधे को फैंक कर गर्दभस्पर्शजनित पाप के प्रायश्चित्त के लिए भाग खड़ा हुआ वह भावुक ब्राह्मण" ।

१०२–परप्रदत्त स्वस्वरूपविमोहन से भारतराष्ट्र के सांस्कृतिक-स्वस्वरूप की अन्तर्म्मुखता–

सचमुच–शब्द में ऐसी परोक्षा शक्ति, है जो आरम्भ में पराकृति की भ्रान्ति का कारण बनती हुई कालान्तर में आकृतिपरिवर्त्तन ही कर देती है । आकृति–प्रकृति–अहंकृति–तीनों महत्प्रकृति के गुणधर्म्म हैं । इस प्रकृति का मूल पञ्चतन्मात्राएँ हैं, जिन में प्रथमा सर्वमूलभूता तन्मात्रा **'शब्दतन्मात्रा'** ही मानी

गई है। इसी आधार पर–'**अनुविद्धमिव ज्ञानं–सर्वं शब्देन भासते । न ह्यशब्दमिवास्ति**' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। परमुखोच्चरित शब्द–उपदेश–प्रलोभन–आदि आदि को ही अपने स्वरूप का मापदण्ड मानने की भ्रान्ति कर बैठना हीं 'भावुकता' की मुख्य परिभाषा है। इसी से कालान्तर में भावुक मानव स्वस्वरूप से तो होजाता है पराङ्मुख, एवं परस्वरूप को मान बैठता है–अपना स्वरूप । इसी दोष से भारतीय मानव अपनी संस्कृति, अपने धर्म्म, अपने आदर्श, अपने आचार, एवं अपनी जीवनपद्धति से तो होता गया है उत्तरोत्तर पराङ्मुख, एवं परसभ्यता–परमत–पर मान्यताएँ–पर भूताचार–पर भूतजीवनपद्धति ही बनते गए हैं इसके आराध्य। और परिणाम अन्ततोगत्त्वा यह हुआ है इस परासक्तिमूलक व्यामोहन का कि, आज उन परों के समतुलन में यह अपने अतीत भावों की उनके कथनानुसार असभ्य–आदिमानव की मूर्खतापूर्णा–रूढ़िवादों के साथ तुलना करने लग पड़ा है । और इसी तुलनात्मक तत्त्वशोध ? रिसर्च ? जैसे महा अम्ब के अनुग्रह से आज तो इस की वह मान्यता इस आस्था में हीं परिणत हो गई है कि, "मानवता का वास्तविक स्वरूप तो इसे आज के युग में इन भूतवैज्ञानिकों के अनुग्रह से ही उपलब्ध हुआ है। शिष्टाचार–जीवनपद्धति–जीवन का सुख–आदि आदि का वास्तविक मर्म्म तो उन्हीं से इसे उपलब्ध हुआ है"। अहो ! महतीयं प्रवञ्चना सर्वनाशप्रवर्त्तिकया–भावुकतया–भारतराष्ट्रस्य ।

१०३-ओकःसारी–प्रज्ञानेन्द्र के द्वारा मानवीय मन की भावुकता का बलवर्द्धन—

भावुकता परदर्शन को ही क्यों आधार बनाती है ?, प्रश्न का उत्तर है–ऐन्द्रियक–प्रज्ञान–मन । इन्द्रियों का प्रवाह बहिर्म्मुख माना गया है। सभी इन्द्रियाँ इसी लिए अतीन्द्रियाँ हीं मानीं गईं है, जैसा कि–'**सर्वाणीन्द्रियाणि–अतीन्द्रियाणि**' इत्यादि श्रुतिवचन से स्पष्ट है। जो इन्द्रियाँ बहिर्जगत् के बाह्य रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्दादि भौतिक विषयों का प्रत्यक्ष करतीं रहतीं हैं, वे ही अपने अन्तर्जगत् के भूतों का प्रत्यक्ष करनें में असमर्थ हैं। '**तस्मात् पराङ्पश्यति–नान्तरात्मन्**' * । परदर्शनकुशल इन्द्रियवर्ग का अध्यक्ष इन्द्रियमनोमय–चान्द्रसोमात्मक 'प्रज्ञान' नामक 'मन' है, जो अपने स्नेहगुणात्मक सोमधर्म्म से 'ओकःसारी' बना हुआ है। जिस इन्द्रिय के द्वारा मन जिस विषय के साथ भावना–वासना–रूप से कुछ–समय पर्य्यन्त सम्पर्क कर लेता है, बार–बार उसी विषय की ओर वह अनुधावन करने लग पड़ता है। और यही संस्कारात्मिका पुनः–पुनः–अनुधावनवृत्ति मन को कालान्तर में–'**ओकःसारी**' बना देती है–जिसका अर्थ है–"तद्विषय को ही अपना घर–(ओक) मान बैठना"। मन की इसी ओकःसरिता का दिग्दर्शन कराते हुए प्रज्ञाप्राणमूर्ति–सोमप्रिय–प्रज्ञानेन्द्र को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

> **"ओकः सारी वा इन्द्रः (प्रज्ञानेन्द्रः–मनोरूपः) । यत्र वा एष इन्द्रः–पूर्वं गच्छति, एव तत्रापरं गच्छति"** ।
>
> —कौपीतक्युपनिषत्……।

***–पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।**
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥

—कठोपनिषत्

भावुकतारूपा–भावना मन का ही व्यापार है। किंवा मानसिक–चाञ्चल्य का नाम हीं भावुकता है, जो इन्द्रियानुगत मन के अनुग्रह से परदर्शन को ही अपना प्रधान–व्यापार बनाए रहती है। मानसिक-चाञ्चल्यरूपा भावुकता मानवीय भूतात्मा को अन्तर्निष्ठ तबतक बनने हीं नहीं देती, जबतक कि यह बुद्धिनिष्ठा से नियन्त्रित नहीं करली जाती। आत्मसमन्विता–बुद्धिनिष्ठा ही भावुकता का निरोध करती हुई मन को परदर्शनासक्ति से बचाती है, जिस इस रहस्य के लिए तो तत्स्वरूपनिरूपक स्वतन्त्र निबन्ध ही द्रष्टव्य है।

प्रकृत में यही निवेदन कर देना है कि, मनोमयी भावुकता ने हीं भारतराष्ट्र को बहिर्भावुक बना दिया है, जिसके दुष्परिणामस्वरूप यह स्वयं–अपने आभ्यन्तर–नैष्ठिक–सांस्कृतिक–स्वरूप से तो हो गया है पराङ्मुख, एवं परदर्शन के अवलम्बभूत स्वार्थसाधकोंनें जैसा स्वरूप इसे बतला दिया है, वही स्वरूप मान लिया है–इसने अपना। अतएव इसका ऐसा स्वभाव बन गया है कि, यह सर्वथा–सर्वात्मना–उनकी प्रशंसा को ही अपना प्रमाणपत्र माननें लग पड़ा है, एवं इसी को हम कहा करते हैं–**'अन्तर्राष्ट्रीया–ख्याति का महान् व्यामोहन'**। एवं इसी व्यामोहन के निग्रह से आज भारतीय–चेतना अपनी राष्ट्रसमस्याओं से तो उत्तरोत्तर करती जा रही है गजनिमीलिका, एवं उनके द्वारा प्रदत्त व्यामोहन के अनुग्रह से विश्वसमस्यात्मिका–अन्तर्राष्ट्रीय–समस्या बनती जारही है इसके लिए प्रमुख। **'घर का पूत कँवारा डोले, पाड़ोसी का फेरा'** इस राजपत्तनीया सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करने वाले व्यामोहन नें–भारतीय सत्तातन्त्र के उन प्रमुख व्यक्तियों को आज तो उस सीमापर्य्यन्त अन्तर्राष्ट्रीय ही बना दिया है, जिस महान्? उत्तरदायित्व? के भार से उत्पीड़ित–चिन्तित–वे प्रमुख शासक स्वयं अपने राष्ट्र की किसी भी समस्या पर स्थिर प्रज्ञा से चिन्तन करने का समय ही उपलब्ध नहीं कर पारहे।

१०४–स्थिरप्रज्ञानुगता चिन्तनधारा का अवसान, एवं राष्ट्र का प्रज्ञापारतन्त्र्य—

भारतराष्ट्र की बड़ी से बड़ी प्रज्ञा भी, सम्मानित से सम्मानित मानव भी, बड़े से बड़ा शिल्प-कलावित् भी–आज सत्तातन्त्र के उन प्रमुख व्यक्तियों से सुविधापूर्वक मिलकर इन राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने मात्र के लिए समयदानमात्र का भी अधिकार नहीं रख रहा। जबकि–अन्य राष्ट्र के विद्वान्,–तथा सम्मान्य मित्र अतिथि ही नहीं, अपितु सामान्य अभिनेता, कलाकार, नर्त्तक–वादक–नर्त्तकियाँ–अभिनेत्रियाँ भी अपनी महती? सांस्कृतिक? समस्याओं के विचारादानप्रदान के लिए उन प्रमुख शासकों से सर्वात्मना समालिङ्गनपूर्वक आश्वस्त–होते रहते हैं। क्यों?। इसलिए कि–यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है, जिसके द्वारा भारत को अपने भलेपन का प्रमाणपत्र जो उनसे प्राप्त करना है। सचमुच इससे अधिक और क्या व्यामोहन होगा इस नितान्त भावुक वर्त्तमान भारतराष्ट्र का?।

१०५–भारतराष्ट्र की महासुषुप्ति—

कैसे यह भावुकता हटे?, और कैसे इस राष्ट्र के उपक्रम–और उपसंहार में उस निष्ठाबल का दृढ-दुर्ग निर्म्मित हो, जिसका दिग्दर्शन पूर्वतालिका में कराया जा चुका है?, इस दुरधिगम्य प्रश्न का समाधान न तो आज का भारतीय–संस्कृति–धर्म्म–निरपेक्ष सत्तातन्त्र ही कर सकता, न तत्सहसखा वणिक्तन्त्र ही कर सकता, न पौरुषाभिभूत क्षत्रियवर्ग ही कर सकता, न शरीरमात्रोपजीवी अन्य वर्ग ही कर सकते। एवं न

सम्प्रदायभक्त–मतवादपरायण–सत्ताभक्त–वणिग्दासानुदास–(वणिक्तन्त्र के मुनीमों के भी दास) निष्कर्षतः–सर्वदास–सर्वसापेक्ष–जातिमात्रोपजीवी ब्राह्मणवर्ग ही कर सकता। और यों प्रत्यक्ष में प्रतीयमान कोई भी वर्ग तत्–प्रश्न का सफल समाधान करने में आज असमर्थ ही बना हुआ है। और यही है वर्त्तमान भारतराष्ट्र की महासुषुप्ति।

१०६–सांस्कृतिक जनतन्त्र के 'हृदय' का पारम्परिक संरक्षण, एवं तद्द्वारा ही राष्ट्र का सम्भावित उद्बोधनात्मक जागरण—

तो क्या निराश बन जाय राष्ट्र इस दिशा में ?। नहीं, कदापि नहीं । इसलिए कि, आज के इस आत्यन्तिक निराशापूर्ण–भयावह युग में भी संस्कृति–स्वरूप विश्वेश्वर के अनुग्रह से प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपेण–गच्छतः–स्खलनरूपेणापि सतत प्रवाहित रहने वाले भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों नें राष्ट्र के आस्थाश्रद्धाशील जनतन्त्र के हृदय को सांस्कृतिक ही बनाए रक्खा है। शरीर बदल गया, मन भी बदल गया, बुद्धि भी बिना मूल्य ही बेच दी गई 'पर'-भावों में। किन्तु जनतन्त्र का भूतात्मानुगत–सांस्कृतिक हृदय तो आजतक भी स्व–स्वरूप से नहीं बिक सका, नहीं हीं बिक सकता, कदापि नहीं बिक सकता। किस जनतन्त्र का ?–उस जनतन्त्र का, जो परम्परया सांस्कृतिक-आयोजनों का आजतक संस्मरण करता चला आरहा है। उस जनतन्त्र का, जो आज भी उसी श्रद्धा से पुण्यसलिला भागीरथी में स्नान कर अपने आपको कृतकृत्य अनुभूत कर रहा है। उस जनतन्त्र का, जिसकी आज भी श्रुति–स्मृति–पुराणादि आर्ष-शास्त्रों पर बिना समझे भी अनन्य श्रद्धा है। उस जनतन्त्र का, जिसनें शताब्दियों से ही नहीं, अपितु शहस्राब्दियों से प्रक्रान्त रहने वाले आक्रमणों से शरीर से क्षुब्ध, मन से त्रस्त, बुद्धि से संत्रस्त, एवं भूतात्मना अस्तव्यस्त बने रहते हुए भी गिरते–पड़ते भी अपने सांस्कृतिक–आयोजनों का प्रवाह सर्वात्मना अवरुद्ध नहीं होने दिया। और फिर उस जनतन्त्र का, जो आज के शून्यं–शून्यं–क्षणिकं–क्षणिकं–दुःखं–दुःखं–भावात्मक–महाभयावह वातावरण में भी अपनी भारतीय–सांस्कृतिक–परम्परा को निष्ठापूर्वक उद्घोषित कर देने में यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं कर रहा। यों जनताजनार्दन के जनहृदय के अनुग्रह से ही, इसकी हृदयावच्छिन्ना सांस्कृतिकी अविच्छिन्ना धारा के अनुग्रह से ही सबकुछ बदलने पर भी कुछ भी तो नहीं बदला संस्कृतिनिष्ठ इस पावन भारतराष्ट्र का।

१०७–उद्बोधनात्मक सांस्कृतिक जागरण का अन्यतम सूत्रधार—

तदित्थं–जनता की हृदयानुगता निष्ठा को सुरक्षित रखने वाले जिन सांस्कृतिक–आयोजनों नें भारतराष्ट्र की संस्कृति–धर्म्म–आदर्श–साहित्य–परम्पराओं को आजतक अविच्छिन्न बनाए रक्खा है, उन्हीं के आधार पर, उनके जीवित सन्देशरूप जनतन्त्र के सांस्कृतिक हृदयबल के आधार पर ही उस प्रश्न का समाधान ढूँढ निकाल लेना है, जिस समाधान के व्यवस्थित होते ही हृदयाधार पर प्रतिष्ठित बुद्धि–मनः–शरीर–तीनों तन्त्र भी परदर्शनमूला भावुकता का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग कर स्वदर्शनमूला निष्ठा पर ही आरूढ हो जाया करते हैं। निश्चयेन हो ही जायँगे।

तथाविध अन्वेषण का उत्तरदायित्व कौन ग्रहण करे ?, यह एक और सामायिक, किन्तु अनिवार्य्य प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है, जिस के समाधान के अन्वेषण में प्रवृत्त होने से पूर्व पूर्वोक्त चारों मानवों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित हो पड़ता है, जिन्हें हमनें–**व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–मानव** के नाम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

से व्यवहृत किया है । व्यक्तिमानव शरीरप्रतिनिधिरूप शूद्र है, परिवारमानव मनःप्रतिनिधिरूप वैश्य है, समाजमानव बुद्धिप्रतिनिधिरूप क्षत्रिय है, एवं राष्ट्रमानव भूतात्मप्रतिनिधिरूप ब्राह्मण है, यह भी तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है । इस स्पष्टीकरण के आधार पर लोकदृष्ट्या हमें यह कह देना चाहिए कि–**शरीरधर्म्मा शूद्रमानव सदा व्यक्तिवादी ही बना रहेगा** । व्यक्ति के हित के अतिरिक्त यह अपने परिवार के हित में भी आत्मार्पण नहीं कर सकेगा । **मनोधर्म्मा वैश्यमानव सदा परिवारवादी ही बना रहेगा** । भले ही वैश्यबन्धु के कोश में अर्बुदसंख्यात्मक द्रव्य सञ्चित हो जाय । कदापि वह इस का अपने परिवार के अतिरिक्त अन्य स्थलों में स्वेच्छा से तो उपयोग नहीं ही करेगा । परिवार ही वैश्यमहाभाग का समाज है, और यही है इसका राष्ट्र । **बुद्धिधर्म्मा क्षत्रिय सदा समाजवादी ही बना रहेगा** । अपने दैशिक–समाजविशेषात्मक प्रान्त के अतिरिक्त यह सम्पूर्ण राष्ट्र के हित की नीति तबतक निर्द्धारित कर ही नहीं सकता, जबतक कि यह अपने सत्तातन्त्र के मूल में ब्राह्मणनिष्ठा प्रतिष्ठित नहीं कर लेता । **भूतात्मधर्म्मा ब्राह्मण सदा राष्ट्रवादी बनता हुआ विश्वशान्ति का ही सन्देशवाहक बना रहता है** । यही भारतीय ब्राह्मण की परिभाषा है, जो उस संस्कृति को ही अपना स्वरूप मानता है (मानना चाहिए), जो आत्मसंस्कृति राष्ट्रस्वरूप का संरक्षण करती हुई विश्वशान्ति की सन्देशवाहिका बनी रहती है । अतएव ब्राह्मण के लिए न अपने व्यक्तित्त्व का कोई महत्त्व है, न परिवार का ही व्यामोहन है, न सामयिक सम्मान ही उसे प्रभावित कर सकते । अपितु एकमात्र राष्ट्रनिष्ठा ही इसकी ब्रह्मानुगता ब्राह्मणनिष्ठा है । इसीलिए तो इसे 'मित्र' उपाधि से सुविभूषित किया है राजर्षि मनुने । राष्ट्र का इससे बड़ा हितचिन्तक मित्र और कोई भी नहीं हो सकता । जो ब्राह्मण ऐसा नहीं है । अपितु ठीक इसके विपरीत वैय्यक्तिक स्वार्थों, पारिवारिक व्यामोहनों, एवं सामाजिक–सम्मानों में व्यासक्त बना रहता है, कदापि उसे राष्ट्र का '**सांस्कृतिक–ब्राह्मण**' तो नहीं हीं माना जा सकता । ऐसे व्यामुग्ध ब्राह्मण को तो यहाँ की परिभाषा में–'**ब्राह्मणब्रुव**' (निन्द्य-हीन ब्राह्मण) ही कहा गया है, जिसके आधार पर ही भीष्मने–**चाण्डालब्राह्मण–शूद्रब्राह्मण–वैश्यब्राह्मण–क्षत्रियब्राह्मण**–आदि अनेक वर्ग मान लिए हैं ब्राह्मणवर्ण के । अतएव इन सब व्यामोहनों से पराङ्मुख संस्कृतिनिष्ठ, अतएव राष्ट्रहितनिष्ठ ब्राह्मण हीं उक्त प्रश्न का एकमात्र समाधान है, जिस समाधान का निम्नलिखिता लोकभाषा में भी अभिनय किया जा सकेगा ।

१०८–सांस्कृतिक-उद्बोधन के सूत्रधार-राष्ट्रीय ब्राह्मणों से प्रणतभावपूर्वक नम्र आवेदन–

राष्ट्र के सर्वनिरपेक्ष–सर्वावमानित–वे नैष्ठिक ब्राह्मण हीं प्रश्न के समाधान बनेंगे, जिह्नोंनें परोक्षरूपेण अपना सर्वस्व आहुत करते हुए सांस्कृतिक–निष्ठा–परम्परा के अनुग्रह से ही प्रक्रान्त रहने वाले सांस्कृतिक–आयोजनों में जनतन्त्र के हृदयों को आजतक श्रद्धान्वित बनाए रक्खा है । अतएव हम अत्यन्त ही प्रणतभाव से साञ्जलिबन्ध--मुहुर्मुहुः--सर्वनिरपेक्ष अनन्यश्रद्धेय–परमाराध्य–ऋषिकल्प–उन अज्ञात–ब्राह्मणदेवों की सत्त्वप्रज्ञा से यह निवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि—

अपनी परम्परागत आस्था के अनुपात से ही वे श्रद्धेय ब्राह्मण सदा की भाँति आज के युग में भी सब तन्त्रों की ओर से सर्वथा–निरपेक्ष–तटस्थ–रहते हुए निष्ठापूर्वक संस्कृति के ज्ञानविज्ञानात्मक चिरन्तन--चिरपुरातन–चिरनूतन–स्वरूप को ही एकबार व्यक्त कर देनें के सांस्कृतिक–प्रयास के अनुगामी बन जायँ । उन की एतावती कृपा के बल से ही राष्ट्र अपनी संस्कृति का स्वरूप--बोध प्राप्त कर लेगा ।

इस सांस्कृतिक निष्ठाबल से ही सांस्कृतिक–आयोजन सशक्त, एवं सफल बन जायँगे। एवं सफल बने हुए ये आयोजनमात्र ही सुप्त भारत--राष्ट्र को सर्वात्मना जागरूक बना देगें। हम जानते हैं, और मानते हैं कि, इस निष्ठापथ में युगधर्म्म के अनुग्रह से सर्वत्र, एवं सब ओर से उन्हें कण्टक ही कण्टक उपलब्ध होंगे। पुरस्कार में भी सर्वत्र उन्हें घोरघोरतमा–अपमानपरम्पराओं, यथासम्भव शारीरिक दण्डों, एवं मानसिक उपतापों का ही आतिथ्य भी स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु इन सभी का सम्मान करते हुए भी उन भूदेवों को अपनी तत्त्वचिन्तननिष्ठा को अक्षुण्ण ही बनाए रखना पड़ेगा, जैसाकि इनके पूर्वजोंनें तथाविध सांस्कृतिक--आपत्तिकालों में कणभक्षण करते हुए भी इस निष्ठा का संरक्षण किया था। ब्रह्माने राष्ट्र के इस भूदेव को ही तो ब्रह्मविभूति का गोप्ता बनाया है। अतएव इसी का यह महान् उत्तरदायित्व होजाता है कि, सब ओर से निरपेक्ष बन कर, साथ ही सांस्कृतिक--निष्ठा की अन्यतम विरोधिनी–वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा से सर्वथा ही तटस्थ बने रह कर ही, तदैषणाप्रवर्द्धक वणिक्तन्त्र के प्रति–अवधानपूर्वक तटस्थ बने रह कर ही, किन्तु आस्था--श्रद्धान्वित–जनतन्त्र के प्रति तटस्थरूपेणैव सापेक्ष बने रह कर वे इस चिन्तननिष्ठा में सर्वात्मना सफलता प्राप्त कर सकेंगे। और यही उस प्रश्न का एकमात्र अन्तिम समाधान होगा, जिसका अपने अन्तर्जगत् में स्मरणमात्र करने की क्षमता रखते हुए ही अब–भारतीय–सांस्कृतिक आयोजनों का संक्षिप्त इतिवृत्त उपक्रान्तिपथ का अनुगमन कर रहा है।

१०८–‘सांस्कृतिक–आयोजन’ वाक्य के–‘आयोजन’ शब्द का अर्थसमन्वय—

‘सांस्कृतिक–आयोजन’ शब्द का अक्षरार्थात्मक समन्वय ही सर्वप्रथम अपेक्षित है, जिसके-- **‘[1]सांस्कृतिक--[2]आयोजन’** ये दो पृथक्--पृथक् अवयव हैं। समब्रह्मानुगता आत्म–देव–कृति ही संस्कृति है, जैसाकि प्रथम प्रकरण में यत्र तत्र विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। जिस आयोजन में अव्ययब्रह्मात्मक समब्रह्ममूलक, किंवा आत्मविभूतिलक्षण, अतएव आत्मा से अभिन्न-प्राणात्मक ‘देवता’ तत्त्वमूलक देव्यभाव समाविष्ट होंगे, वे ही आयोजन--‘सांस्कृतिक–आयोजन’ कहलाएँगे। ‘आयोजन’ शब्द में **‘आ–योजन’** ये दो विभाग हैं। योगात्मक ‘युजिर्’ धातु (‘युजिर्–योगे’) से ल्युट् प्रत्यय के द्वारा--‘आङ्’ नामक उपसर्ग–सम्बन्ध से--**‘आयोजनम्’** (नपुंसकलिङ्गान्त) शब्द का निर्म्माण हुआ है। ‘आङ्’ का अर्थ है समन्तात्–सब ओर से, ‘योजनम्’ का अर्थ है–योग--मेल। जिसके द्वारा सब ओर से भावों–तत्त्वों--किंवा–पदार्थों का एकत्र योग हो जाय, वह कर्म्म ही ‘आयोजन’ है। अनेक कारणों के सब ओर से युक्त हो जाने पर निष्पन्न हो जाने वाला भाव–तत्त्व--पदार्थ ही आयोजन है, जो युक्त होनें वाले भावादि के स्वरूप–तारतम्य से भावायोजन, तत्त्वायोजन, पदार्थायोजन, भूतायोजन, भोजनायोजन, शयनायोजन, गमनायोजन, भ्रमणायोजन, आदि आदि रूप से असंख्य प्रकारों–श्रेणियों–विभागों में विभक्त–समन्वित माना जा सकता है, माना गया है। आयोजन का स्वरूप--निर्म्माण करने वाले भाव--तत्त्व–किंवा पदार्थादि यत्र तत्र विभिन्न स्थिति–स्थान–दिशा–अवस्था–आदि में विभक्त रहते हैं। उन सब को तत्तत्–स्थिति–स्थानादि से सब ओर से संगृहीत कर एकत्र सब का योग करा देने से ही तत् तत् आयोजनों का स्वरूपोदय हुआ है, जैसाकि निम्न लिखिता प्राचीन कारिका से भी स्पष्ट प्रतिध्वनित है—

कुत्रचित् तण्डुलाः सन्ति, क्व च स्थाली, क्व चेन्धनम् ।
तेषामायोजनं कुर्व्वन् मुख्यः कर्त्ता ऽभिधीयते ॥

११०–'संस्कृति' शब्द से नित्य सम्बद्ध आत्मभाव, तथा देवभाव, एवं तदनुप्राणित–'सांस्कृतिक–आयोजनों' की भारतीयता—

तन्दुलों का परिपाक 'आयोजन' माना जायगा, जिसे **'तन्दुलपाकायोजन'** कहा जायगा । इसके लिए अपेक्षित तन्दुल–स्थाली (बटलोही)–इन्धन–आदि का एकत्र योग अपेक्षित होगा । युक्त होने वाले इन सब उपकरणों का सब ओर से संग्रह कर एकत्र योग करा देने से ही तन्दुलपक्ता का आसमन्तात् लक्षण आयोजन सफल बन सकेगा । एवं 'आयोजन' शब्द के इसी सहज अर्थ का अब हमें 'संस्कृति' के साथ समन्वय ढूँढना पड़ेगा ।

आत्मभाव, एवं **देवभाव**. दोनों ही–'संस्कृति' शब्द के द्वारा संगृहीत मानें जायेंगे । अतएव आत्मभावना, अथवा देवभावना से समन्वित 'आयोजन' को अवश्यमेव–**'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहा जायगा । एवं आत्मदेवनिष्ठ भारतीय सांस्कृतिक मानव के लौकिक, पारलौकिक, दूसरे शब्दों में आत्मिक–बौद्धिक–मानसिक–शारीरिक–(वैय्यक्तिक), पारिवारिक, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय, यच्चयावत् छोटे बड़े सभी आयोजन–**'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहलाएँगे । भारतीय सांस्कृतिक मानव का आत्मिक, किंवा भौतिक, पारलौकिक, किंवा ऐहलौकिक कोई भी कर्म्म ऐसा नहीं होगा, जिसमें यथाश्रद्धा अव्ययेश्वर, अथवा तो तद्विभूतिरूप प्राणदेवभाव का साक्षात्रूप से, अथवा तो परम्परया सन्निवेश न होगा ।

१११–सांस्कृतिक–मानव, और उसकी संस्कृतभाषा—

तभी तो भारतीय मानव को **'सांस्कृतिक–मानव'** कहा गया है, जिसकी मूलभाषा इसी आत्म–देव–भाव के कारण 'संस्कृत' * कहलाई है, जिस आत्म–देव–भावानुगता 'संस्कृत' भाषा नें ही भारतीय संस्कृति को, एवं सम्पूर्ण राष्ट्र की सांस्कृतिक–प्रजा को एक ही अखण्ड–अविच्छिन्न–सूत्र में आजतक आबद्ध बनाए रक्खा है । संस्कृति के यच्चयावत् मूलसूत्र इस संस्कृता (आत्मदेवभावान्विता) सुरभारती–देववाणी–देवभाषा के ही गर्भ में सुरक्षित हैं, जिनका लोकानुबन्धी विस्तार संस्कृतशब्दप्रधाना राष्ट्रभाषा हिन्दी (न तु हिन्दुस्तानी) में ही हुआ है ।

११२–संस्कृतभाषानुगत–'सांस्कृतिक–आचार', एवं लोकभाषानुगत–'सांस्कृतिक–आयोजन'—

यह स्मरणीय है कि, मूलसूत्रात्मक–संस्कृतप्रधान सांस्कृतिक–आयोजन जहाँ–**'सांस्कृतिक–आचार'** कहलाए हैं, वहाँ राष्ट्रभाषा–हिन्दी–प्रधान, किंवा तत्तत्प्रान्तानुगता बँगला–मराठी–गुजराती–तेलगू–कन्नड़–पञ्जाबी–सिन्धी–राजस्थानी–भोजपुरी–आदि आदि प्रान्तीय–भाषाप्रधान–बाह्य–भूत–समायोजनात्मक आयोजनों को–**'सांस्कृतिक–आयोजन'** ही कहा गया है । यही **आचार**, और **आयोजन** में वह मौलिक भेद है, जिसे विस्मृत न करते हुए ही हमें आयोजनों की रूपरेखा का समन्वय करना चाहिए । **'सांस्कृतिक–आचार'** शास्त्रीय **आचार** है, एवं **सांस्कृतिक–आयोजन 'लोकाचार'** है । आचारनिष्ठात्मिका शास्त्रीय–

***–तत्संस्कृतं किमपि जङ्गमधाम शुद्धं, यत्राधिदेव इव वेदपुमान् विभाति ॥**

पद्धतियों में मनःशरीरानुबन्धिनी भावुकता का, लोकभावना--संरक्षण का प्रवेश भी निषिद्ध है, जब कि लोकाचारात्मिका लौकिक–पद्धतियों में–देश–काल–द्रव्य--श्रद्धा–पात्रता--आदि आदि के तारतम्य से मनःशरीरानुगता–लोकभावुकतावों का भी संग्रह कर लिया जाता है, जिस लोकसंग्रह के आधार पर ही देशधर्म्म, जातिधर्म्म, कुलधर्म्म, आदि लोकसंग्राहात्मक धर्म्मों का भारतीय प्रजा नें समादर कर लिया है। सांस्कृतिक आचारों का सर्वस्व उत्तरदायित्त्व जहाँ एकमात्र राष्ट्र की 'द्विजातिमानवप्रजा' से ही अनुप्राणित है, वहाँ इतर आस्था–श्रद्धा शीला सामान्य--लोकप्रजा की सांस्कृतिक--आस्था--श्रद्धा–संरक्षण के लिए ही सांस्कृतिक–आयोजन व्यवस्थित हुए हैं, जिनमें आचारनिष्ठान्विता द्विजातिमानवप्रजा, तत्रापि विशेषतः ब्राह्मण तो सर्वथा तटस्थ–सहयोगी ही माना गया है।

११३–सांस्कृतिक आयोजनों का स्वरूपविश्लेषक पुराणशास्त्र—

उक्त शब्दार्थ–समन्वय से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, संस्कृतिरूप अव्ययेश्वरात्मा की, किंवा तदभिन्न प्राणदेवता की भावनाओं से अनिवार्य्यरूपेण समन्वित, तत्समन्वय के लिए ही आयोजन के स्वरूपानुपात से ब्राह्मण के द्वारा ही निर्दिष्ट, आयोजनविशेषानुगत ब्राह्मणसहयोग से ही समन्वित, बुद्धिपूर्वक–मनःसंयमभाव--संरक्षणपूर्वक शारीरिक शिष्टताओं से समाप्लुत, मनःशरीरानुबन्धिनी–मर्य्यादिता लोकभावुकताओं से संयुक्त, एवं तत्तद्विशेष अवसरों पर संघठित–अनेक भावों–तत्त्वों–पदार्थों के आसमन्तात्–योग–से कृतरूप भारतीय आयोजन हीं–'सांस्कृतिक–आयोजन' कहलाए हैं, जिन के अवान्तर असंख्य भेदों का सांस्कृतिक–आयोजनेतिहासात्मक पुराणशास्त्र में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। अतएव इन भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों के स्वरूप–समन्वय के लिए प्रत्येक सांस्कृतिक–भारतीय–मानव को तो जीवन में न्यूनतम एकबार, अधिक नहीं तो कोई सा एक पुराण तो अवश्यमेव स्वाध्यायदृष्टि से देख ही लेना चाहिए। पुराणशास्त्र के अवलोकन के बिना अन्य–प्रयत्नसहस्रों से भी इन भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों की वास्तविक रूपरेखा का कदापि सुसमन्वय नहीं हो सकता, नहीं हो सकता। क्योंकि पुराणपुरुष भगवान् व्यासदेव ने वेदशास्त्रनिष्ठात्मक–सांस्कृतिक आचारों को आधार बना कर ही स्त्री–शूद्र–द्विजबन्धु–एवं अन्यान्य श्रद्धालु–वर्गों के अभ्युदय–निःश्रेयस् के लिए–'सांस्कृतिक–आयोजनों' का ग्रन्थरूप से एकत्र संकलन कर दिया है। अतएव पुराण ही हमारी लोकसंस्कृति के प्राणवान् प्रतीक बने हुए हैं, जिनकी उपेक्षा कर सचमुच हमनें सम्पूर्ण विश्व के सामने अपने आपको उपेक्षित ही प्रमाणित कर लिया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

११४–'सांस्कृतिक–आयोजनों' का आयोजक भारतीय-मानव, एवं उसके चार वर्ग—

'सांस्कृतिक–आयोजनों' का आयोजक कौन ?, भारतीय मानव । भारतीय मानव का क्या स्वरूप ?, भूतात्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–भावात्मक चारों प्राकृतिक पर्वों की समन्विता अवस्था। सम्पूर्ण भारतराष्ट्र की दृष्टि से चतुष्पर्वा भारतीय-मानव के कितनें–अवान्तर वर्ग ? –व्यक्तिमानव, परिवारमानव, समाजमानव, एवं राष्ट्रमानव, भेद से चार प्रधान मानववर्ग । जब भारतीय मानव के वर्ग चार हैं, तो सांस्कृतिक–आयोजनों के वर्ग भी प्रकृत्या चार ही होनें चाहिएँ। इसी आधार पर तो–श्रुति का–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' यह सिद्धान्त जाकरूक बना हुआ है ।

११५–चतुर्वर्गविभक्त भारतीय–मानव के पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–रूप चार प्रकार के सांस्कृतिक-आयोजन—

राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक, वैय्यक्तिक, भेद से आयोजन चार ही वर्गों में विभक्त मानें हैं सांस्कृतिक–विद्वानों नें, जो क्रमशः **पर्व**, **उत्सव**, **सम्मेलन**, **समारोह**, इन नामों से व्यवहृत किए जायँगे । पर्वात्मक आयोजन राष्ट्रीय ही मानें जायँगे, जो आंशिकभेद के साथ सम्पूर्ण भारतराष्ट्र में समान–रूप से मनाएँ जायँगे, मनाए जाते हैं । उत्सवात्मक आयोजन सामाजिक ही मानें जायँगे, जो तत्तद्विशेष समाजों के द्वारा तत्तद्विशेष सामाजिक–स्थितियों के अनुपात से समाजविशेषों में हीं मनाए जायँगे, मनाए जाते हैं । सम्मेलनात्मक आयोजन पारिवारिक ही मानें जायँगे, जो परिवारों के द्वारा ही अपनी अपनी पारिवारिक–मान्यताओं के अनुपात से मनाएँ जायँगे, मनाए जाते हैं । एवं समारोहात्मक आयोजन व्यक्तिविशेष को ही प्रधानरूप से निमित्त बना कर प्रवृत्त होंगे, होते हैं । यों चारों आयोजन एवंरूपेण चार मानववर्गों से क्रमशः समन्वित कहे जायँगे, एवं यही भारतीय–चतुर्विध–सांस्कृतिक–आयोजनों की संक्षिप्ता रूपरेखा मानी जायगी, जिसके क्रोड़ में अवान्तर अगणित पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक–आयोजन पुष्पित पल्लवित हो रहें हैं । इस विस्तार से ही भारतीय–जनजीवन अपने सम्पूर्ण जीवन में सदा ही किसी न किसी पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह का अनुगामी बना रहता हुआ, इस अनुगमन से सांस्कृतिक–निष्ठासंरक्षणपूर्वक सदा ही आनन्द–मङ्गल–समृद्धि–ऐश्वर्य्य–आदि विभूतिभावों से समन्वित रहता हुआ अपनी सच्चिदानन्दघनरसैक-मूर्त्तिलक्षणा आनन्दनिष्ठा को सर्वथा ही चरितार्थ करता आया है, जिसके इस महान् उत्कर्ष का स्मरण–करने मात्र से भी विश्व के सभी प्रज्ञाशील मानव तो अवश्यमेव हर्षोद्रेक का ही अनुभव करेंगे। तालिकारूपेण लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए भारतीय मानव के इन चतुर्विध–सांस्कृतिक–आयोजनों को, एवं तदनन्तर चारों के एक दो उदाहरणों की ओर अवधानपूर्वक दृष्टिपात का अनुग्रह कीजिए।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-समन्वयात्मकस्य-भारतीयमानवस्य चतुर्विधानि सांस्कृतिक-आयोजनानि

१— रामानवः (भूतात्मस्थानीयः)—तदनुगतं-सांस्कृतिकायोजनं-**'पर्व'** नाम्ना निगद्यते

२— समाजमानवः (बुद्धिस्थानीय;)—तदनुगतं-सांस्कृतिकायोजनं-**'उत्सव'** नाम्ना निगद्यते

३— परिवारमानवः (मनःस्थानीयः)—तदनुगतं-सांस्कृतिकायोजनं-**'सम्मेलन'** नाम्ना निगद्यते

४— व्यक्तिमानवः (शरीरस्थानीयः—तदनुगतं-सांस्कृतिकायोजनं-**'समारोह'** नाम्ना निगद्यते

१— मानवीय—भूतात्मानुगत—कुलवृद्धप्रधानानि—-आयोजनान्येव-**पर्वायोजनानि** (वृद्धाः--अत्र मुख्याः)

२— मानवीय—बुद्धयनुगत——समर्थयुवापुत्रप्रधानानि-आयोजनान्येव-**उत्सवायोजनानि** (वयस्काः--अत्र मुख्याः)

३— मानवीय—मनोऽनुगत——नारीवर्गप्रधानानि—-आयोजनान्येव-**सम्मेलनायोजनानि** (नार्य्यः—-अत्र मुख्याः)

४— मानवीय—शरीरानुगत—-बालवर्गप्रधानानि——आयोजनान्येव-**समारोहायोजनानि** (बालकाः-अत्र मुख्याः)

CC-0. Agamnigam Digital Presexation Foundation, Chandigarh

११६–भूतात्मप्रतिनिधिरूप ब्राह्मण, और तत्प्रधान सांस्कृतिक–आयोजनों की पर्वता, एवं भारतीय संस्कृति से अनुप्राणिता शब्दब्रह्ममहिमा—

राष्ट्रीय–मानव भूतात्मा का प्रातिनिध्य कर रहा है। और चातुर्वर्ण्य में यह स्थान ब्राह्मण को ही प्राप्त हुआ है। अतएव भूतात्मानुगत–कुलवृद्धप्रधान–'पर्व' नाम के आयोजन का प्रधान व्यवस्थापक राष्ट्रीय ब्राह्मण ही माना गया है, जैसाकि स्वयं–'पर्व' शब्द के चिरन्तन शब्देतिहास से ही स्पष्ट है। निबन्ध बहुविस्तृत बनता जा रहा है। अतएव इन शब्दों के इतिहास–क्रम को समन्वित नहीं किया जा सकता। महती है यहाँ की संस्कृति। महान् हैं इसके सांस्कृतिक–आयोजन। और महतोमहीयान् हैं सांस्कृतिक शब्दों के चिरन्तन इतिहास, जिनकी विस्मृति से ही भस्त्रावत् शब्दों का उच्चारण करने वाले हमारे जैसे प्राकृत–मानव शब्दाक्षर-समन्वय से भी तो वञ्चित हो रहे हैं आज। प्रत्येक सांस्कृतिक–शब्द समस्त संस्कृति के इतिहास की रूपरेखा अपने गर्भ में पिनद्ध–सुगुप्त–सुरक्षित रख रहा है। इसीलिए तो यहाँ की ऋषिप्रज्ञा ने शब्द को ब्रह्म कहा है। अतएव शब्दशास्त्र के परपारदर्शी भगवान् भाष्यकार (पतञ्जलि) ने कहा है कि–"**यदि मानव एक भी शब्द के रहस्य को भलीभाँति जान कर उसका यथानुरूप–यथाप्रसङ्ग प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, तो एक ही शब्दबोध के द्वारा उसी की लौकिक कामनाएँ तो पूरीं हो हीं जातीं हैं। साथ ही इसे सर्वात्मना पारलौकिक निःश्रेयस् भी प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, जिस महानात्मा (पिता के शुक्रस्थ महानात्मा) का यह प्रवर्ग्य अंश है, चान्द्र–श्रद्धा–सूत्र के अविच्छिन्न सम्बन्ध के आकर्षण से इसके मातापिता भी सद्गति के अधिकारी बन जाते हैं***"। तभी तो श्रुति ने शब्दब्रह्म में निष्णात विद्वान् को परब्रह्म–प्राप्ति का अधिकारी मान लिया है। सुनिये !

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे–शब्दब्रह्म, परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

११७--'पर्व'–शब्दार्थ–समन्वय, एवं पर्वात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन—

वेदशास्त्र में–'सम्वत्सर' नाम से, 'ज्योतिश्चक्र' नाम से पुराणशास्त्र में, एवं ज्योतिष में 'खगोल' नाम से प्रसिद्ध सौरमण्डल की सौरसंक्रान्ति से सम्बन्ध रखने वाले तत्तत्–प्राणदेवविशेषों (नाक्षत्रिक प्राणविशेषों, एवं सौर–चान्द्रप्राणविशेषों) तिथिसन्धि–विशेषों–विष्वद्वृत्तानुबन्धी–अहोरात्रवृत्तों (छन्दः-नामक पूर्वापरवृत्तों) से सम्बन्ध रखने वाले सन्धिस्थान ही 'पर्व' कहलाए हैं। एवं–प्रकृतिमण्डल में यत्र तत्र मण्डल–विशेषों में स्थित तत्तत् आधिदैविक प्राणदेवताओं का नक्षत्र–मण्डलद्वारा जब जब भी पृथिवी पर भोग–संक्रमण होता है, उन प्राणसंक्रमणात्मक भोगकालों को भी 'पर्व' कहा गया है। इसी आधार पर

---

* **एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।**
—महाभाष्य १।१।१।

अमावास्या–अष्टमी–पूर्णिमा–आदि तिथियाँ भी पर्व ÷ कहलाईं हैं, जिनका निर्णयग्रन्थों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रकृतिरहस्यवेत्ता शास्त्रनिष्ठ विद्वान्–ब्राह्मण हीं इन पर्वतिथियों का निर्णायक माना गया है। अतएव 'पर्व' से सम्बन्ध रखने वाले सांस्कृतिक–आयोजनों का ब्राह्मण को ही नियन्ता–प्रवर्त्तक मान लिया गया है। 'पर्व' शब्द-की इसी परिभाषा के अनुसार अमुक सक्रान्तिकालों के, एवं तिथिभुक्त प्राणदेव-विशेषों के-कारण तत्प्रधान आयोजन–'**पर्वायोजन**' मान लिए गए हैं। उदाहरण के लिए **रक्षाबन्धन, दीपावली, विजय–दशमी, होलिका, गोपाष्टमी, वामनद्वादशी, गणपतिचतुर्थी, अक्षयतृतीया, वसन्तपञ्चमी, कृष्णाष्टमी, रामनवमी, चतुर्विध कुम्भ, सूर्य्य–चन्द्रग्रहण**, आदि आदि आयोजन पर्वात्मक आयोजन हीं मानें जायँगे। इनमें अमुक सीमापर्य्यन्त क्योंकि शास्त्रीय आचार भी सन्निविष्ट रहते हैं। अतएव चारों आयोजनों के समतुलन में इस विभाग को प्रमुखता दी गई है। सम्पूर्ण भारतराष्ट्र इन पर्वायोजनों को यथाकाल–यथातिथि–यथानक्षत्र–यथाश्रद्धा मानता चला आरहा है। अतएव पर्वात्मक इन आयोजनों को हम अवश्य ही राष्ट्रीय आयोजन कह सकते हैं, जिनका तटस्थ प्रातिनध्य ब्राह्मण ही कर रहा है।

११८–बुद्धिप्रतिनिधिरूप क्षत्रिय, एवं तत्प्रधान् उत्सवात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन—

अब दूसरे–'**उत्सव**' लक्षण आयोजन का समन्वय कीजिए। जिसप्रकार भूतात्मा का प्रतीक ब्राह्मण माना गया है राष्ट्रदृष्ट्या, एवमेव बुद्धि का प्रतीक माना गया है क्षात्र–सत्तातन्त्र। यही समाज का सञ्चालक है। अतएव सामाजिक--भावानुबन्धी उत्सवात्मक आयोजनों का नेता तत्तत्–प्रान्तीय शासनतन्त्र को ही माना जायगा, माना गया है। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के वैसे सामाजिक–अवसर आते रहते हैं, जिनमें समाज के अभ्युदय के लिए पौरुष को निमित्त बना कर समय–समय पर विशेष आयोजन अनिवार्य्य बन जाते हैं। ऋतुविशेषों से सम्बन्ध रखने वाले आयोजन, आततायीवर्ग के विध्वंस–निमित्त घटित होने वाले आयोजन, प्रजा के अभ्युदय के लिए होते रहने वाले उत्कर्षों से अनुप्राणित सामयिक आयोजन, आदि आदि रूप से इन सामाजिक उत्सवों के परःशत अवान्तर भेद हो जाते हैं। **विजयमहोत्सव, वसन्तोत्सव, शरदुत्सव, जलविहारोत्सव, गङ्गामहोत्सव, रथयात्रामहोत्सव, कामविजयमहोत्सव, यात्रामहोत्सव,** आदि आदि उत्सव सामाजिक ही मानें जायँगे, जिनका प्रातिनिध्य तो करेगा तत्तत्–समाजसञ्चालक तत्तत्–सत्तातन्त्र, एवं प्रधानता रहेगी इनमें उसी प्रकार वयस्क--समर्थ–युवकों की, जैसे कि पर्वों में कुलवृद्धों की प्रधानता रहा करती है।

११९–प्रकृतिनिबन्धन नानात्व, तदनुगत गणत्व, एवं नारी की गणधर्म्मता —

तीसरा विभाग माना जायगा-'**सम्मेलनात्मक-आयोजनों**' का। इनके आधार परिवार मानें जायँगे। क्या तात्पर्य्य परिवार का ?। वही तात्पर्य्य, जो भारतीय दाम्पत्यजीवन के तात्त्विक स्वरूप से परिचित मानव

÷ 'पर्व' स्यादुत्सवे, ग्रन्थौ, प्रस्तावे, विषुवादिषु च ॥
दर्श–प्रतिपदोः सन्धौ, स्यात्तिथेः पञ्चकान्तरे ॥१॥
चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्याथ पूर्णिमा ॥
पर्वाण्येतानि राजेन्द्र ! रविसंक्रान्तिरेव च ॥२॥ (विष्णुपुराणे)

सर्वात्मना जान रहे, और मान रहे हैं। परिवार नाम है **'गृहस्थ'** का। एवं यह विभूति है—**'मातृशक्ति'** की। उस मातृशक्ति की, जिसे ऋषि ने—**'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'** कहते हुए विश्वप्रकृति का सगुण—स्वरूप माना है। यदि विश्वेश्वर अपने समत्त्वरूप से एकाकी बनते हुए **ज्ञानप्रधान** हैं, तो विश्वेश्वरी जगद्धात्री महामाया प्रकृतिदेवी अपने विषम--विभक्त--कृतिरूप कर्तृत्व से अनेकरूपा बनती हुई **विज्ञानाप्रधाना** हैं। प्रकृतिदेवी की यह अनेकरूपता ही विश्व का नानाभावनिबन्धन स्वरूप है। यही गणभाव है, यही सौम्या--हैमवती उमा माहेश्वरी का गणत्त्व है। इस गणत्त्व को, नानात्त्व को स्वक्रोड़ में प्रतिष्ठित रखने वाली मनोमयी प्रकृति ही विश्वेश्वर के विश्वात्मक परिवार की मूलप्रतिष्ठा है। और यही है प्रकृतिभूता सनातनी आर्य्यनारी का मौलिक स्वरूप। इसी आधार पर पूर्व में यत्र तत्र—मनोनिबन्धन गणतन्त्र का हमनें नारीतन्त्र से ही सम्बन्ध बतलाया है। एकाकी पुरुष अनेकरूपों में (सन्ततिधर्म्म से) नारी के अनुग्रह से ही तो बनता है, बना है। अमुक विभिन्न—विषम—गुणधर्म्मा—अनेक व्यक्तियों की समष्टि का नाम हीं तो गणात्मक परिवार है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा है—गृहिणी, गृहस्वामिनी। अतएव धर्म्मतः परिणीता नारी ही नर का संसार माना गया है।

१२०—मानवीय मन का महान् उत्तरदायित्त्व, और पारिवारिक जीवन की कर्त्तव्यनिष्ठा—

जब कि नारी परिवाररूप गण की अध्यक्षा है, तो परिवारभावात्मक 'सम्मेलन' रूप आयोजनों में इसी की (नारी की) प्रधानता मानी जानी चाहिए। मानव का मनस्तन्त्र नारी की ही सम्पत्ति माना गया है। जो मानव अपने मन को इस क्षेत्र से अतिरिक्त अन्य क्षेत्र में समर्पित करने की भूल कर बैठता है, उस मानव का मन सर्वथैव विकृत बन जाया करता है। समाज, एवं राष्ट्र को तो मानव के बुद्धिबल, और आत्मनिष्ठा की आवश्यकता है, जब कि मानवीय मन केवल पारिवारिक उत्तरदायित्त्व—निर्वाह के लिए ही सीमित कर दिया गया है। स्खलितमना—अतृप्त—मानव ही मनोविनोदार्थ इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहते हैं। एवं निश्चयेन ऐसे स्खलित—मनोविनोदी दिग्भ्रान्त—विमूढ—मानवों की परिवारव्यवस्था आरम्भ में दीन—हीन--भावों में परिणत होती हुई अन्ततोगत्त्वा जघन्या ही बन जाया करती है।

१२१—गणतन्त्रप्रधाना नारी, और तत्प्रधान सम्मेलनायोजन—

नारी कभी एकाकिनी रह ही नहीं सकती। क्योंकि अनेकधर्म्मानुगत गणत्त्व उसकी प्रकृति में समाविष्ट है। एकाकिनी नारी से यदि आप (पतिदेव) कभी पारिवारिक माङ्गलिक लोकगीत सुनना चाहेंगे, तो नारी को एक अक्षर भी याद न आवेगा। अमुक समानधर्म्मा नारीसमाज में बैठते ही उसमें तत्काल सङ्गीतस्मृति जागरूक हो पड़ती है। इसलिए तो पारिवारिक—मङ्गलात्मक सांस्कृतिक—लोकगीतों को हमनें गीत न कह कर **'महासङ्गीत'** माना है, जिसके अनुग्रह से ही भारतीय संस्कृति के पावनसन्देश आज भी भारतीय प्रजा में अनवच्छिन्नरूप से प्रस्फुटित होते रहते हैं। **हाँ, तो सम्मेलनात्मक आयोजन को हमनें पारिवारिक आयोजन इसी आधार पर कहा है, जिसका अर्थ है—गृहिणी की प्रधानता से सम्बन्ध रखनें वाले आयोजन।**

१२२—मेला—त्यौंहार—खेल--तमाशे,—एवं तदनुबन्धी—वैश्य—नारी—बालादि वर्ग—

इन्हीं सम्मेलनायोजनों का नाम है—**'त्यौंहार'**, जिनके मानने मनवाने का समस्त उत्तरदायित्त्व नारीतन्त्र से ही अनुप्राणित है। अमुक तिथि, अमुक--पर्व, अमुक--वार, अमुक नक्षत्र, अमुक उत्सव के

आयोजनों पर नारी स्वतः ही त्यौंहार-का सर्ज्जन कर लेती है। तिथि-वार-सम्बन्ध से ही सम्भवतः सम्मेलनात्मक आयोजन–'**त्यौंहार**' नाम से लोक में व्यवहृत हो पड़े हैं। सम्मेलन का ही लोकरूप आरम्भ में–मेलन--रूप में परिणत होता हुआ अन्त में '**मेला**' बन गया है। मेलों में होता क्या है ?, प्रश्न के समाधान से आज के मनोधर्म्मा सभी सम्मेलनप्रेमी परिचित होंगे, जब कि भारतीय–'मेलों' का प्राचीन स्वरूप आज के सम्मेलनात्मक मेलों से सर्वथा ही पृथक् था। आज तो मेला भी सांस्कृतिक--आयोजन न रह कर केवल--'**तमाशा**' ही बन गया है। क्या परिभाषा है--इस--'तमाशा' की ?। प्रकृतिविरुद्ध आचरण का नाम हीं है--तमाशा। जो तमाशा दुर्भाग्यवश यहाँ के संस्कृतिशून्य--अन्य प्रतारक करते हैं, वही तमाशा आज इन लोकसम्मेलनों भी में हो रहा है। माथा नीचे, पैर ऊपर, नीचे काँटों का परिधान (तकिया), और यों सिद्धि का प्रदर्शन, और इसी का नाम हठयोग। प्राणासंधान जैसी सानान्य लोकप्रक्रिया का नाम हीं 'समाधि'-मुद्रा। यही सब कुछ मेलों में होनें लग पड़ा है। जादू का खेल, कटे सर का खेल, आदि आदि प्रकृतिविरुद्ध अकाण्डताण्डव ही आज के मेले हैं। इसीलिए तो मेले के साथ--'**खेला**' जुड़ गया है राजपत्तन की भाषा में। '**मेला–खेला**' की व्यञ्जना सभी के लिए विस्पष्ट बन चुकी है आज के सम्मेलनाभासों के निःसीम अनुग्रह से। आलम्यालम्।

१२३–मनःप्रतिनिधिरूप वैश्य, एवं तत्प्रधान–सम्मेलनात्मक–आयोजन (३)—

निवेदन प्रकृत में यही करना है कि, परिवारप्रधान, किन्तु गृहिणी–भावात्मक–सम्मेलनायोजन ही इस राष्ट्र का तीसरा आयोजन-विभाग है, जिसके **गणपतिगौरी-सम्मेलन (गणगौर), उमामहेश्वरपरिणय-सम्मेलन (तीज), मातृपूजन–सम्मेलन (शीतलामाता का मेला), साम्बसदाशिवाराधन–सम्मेलन (श्रावण के वनसोमवार), देवपरिक्रमा–सम्मेलन (परकम्मा के मेले)**, आदि आदि अनेक भेद हैं, जिनका आनुपूर्वी से परिगणन भी असम्भव है। क्योंकि नारी इनका प्रातिनिध्य करती है। (करती थी)। वह नारी, जिस की प्रतिष्टा पूर्वकथनानुसार गणात्मक–मनस्तन्त्र है। वह मनस्तन्त्र, जो आरम्भ करना, तो जानता है, किन्तु समाप्त करना नहीं जानता। यही तो मनस्तन्त्रमयी नारी का सहज स्वभाव है। नारी जब अपने गण में (नारियों में) बैठ जाती है, तो किसी भी सम्बद्ध–असम्बद्ध प्रसङ्ग को आधार बना कर तत्क्षण बात आरम्भ तो कर देती है, किन्तु इसे स्वयं इसका अन्त नहीं मिलता। पुराणशास्त्र मानस-भाषा के आधार पर ही प्रवृत्त हुआ है। अतएव उसके कथानक भी ऐसे प्रतीत होनें लगते हैं, मानों इनका ओर–छोर ही नहीं है। सम्भवतः इसी आधार पर नारी की अनन्ता वाग्धारा को–'पुराण' नाम का सम्मान दे डाला है प्रकृतिरहस्यवेत्ता राजस्थान ने। अतएव यहाँ की मानसिक–भाषा में (विनोद प्रसङ्गों में)–नारी का वार्त्ताप्रसङ्ग '**चाच्या पुराण**' कहलानें लग पड़ा है। जो मानव मनःप्रधान होते हैं, उनकी भी यही अवस्था रहती है। मानसिक–सहज भावुकतावश प्रत्येक कार्य्य को आरम्भ करने के लिए तो ये सोत्साह दौड़ पड़ते हैं। किन्तु समाप्तिबिन्दु उसी प्रकार इन्हें नहीं मिलती, जैसे कि–प्रस्तुत मानसिक–प्रसङ्ग की विश्रामबिन्दु मनोधर्म्मा बन जाने वाले हमें नहीं मिल रही कि, इस त्यौंहार–प्रसङ्ग को कहाँ–किस बिन्दु पर उपरत करें ?।

१२४-सात वार, नौ त्यौंहार,-एवं मनस्तन्त्र की अनन्तता—

सुनते हैं--सप्ताह में वार सात ही होते हैं । एवं अनन्ता नारी के त्यौंहार ? । न्यूनतम ९ तो अवश्य ही । एकमात्र इसी से आप यह अनुमान लगा सकते हैं कि–नारी की बात का, काम का, विनोद का, सन्तान-लालसा का, वित्तैषणा का, और त्यौंहारों का किस सीमा पर अवसान होता होगा । इसी आनन्त्य को लक्ष्य बना कर राजस्थान ने इस लोकसूक्ति का आविष्कार कर डाला है इन त्यौहारों की अनन्तता से थक कर कि–**'सात वार–और नौ त्यौंहार'** । सचमुच प्रकृतिदेवी के इस अनन्त विस्तार की कौन थाह पासका है । अनन्ता प्रकृति की अनन्तभावात्मिका इसी महामाया मातृशक्ति का संस्मरण कर उसी के सगुणरूप नारीजगत् से सम्बन्ध रखने वाले त्यौंहारप्रसङ्ग को उसी के अनुग्रह से यहाँ उपरत किया जारहा है ।

१२५-शरीरप्रधान-'समारोहात्मक-आयोजन' (४), एवं तत्र शूद्र–बालवृन्द–व्यक्ति-भावादि का प्राधान्य—

अब क्रमप्राप्त चौथे उस–**'समारोहात्मक--आयोजन'** का दो शब्दों में दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है, जिसका व्यक्तिमानव से सम्बन्ध है । जो कि–**शरीर**[१] प्रधान बनता हुआ परिवार के **बालतन्त्र**[२] से, समाज के **शूद्रमानव**[३] से, एवं राष्ट्र के **प्रजातन्त्र**[४] से अनुप्राणित है । समारोहात्मक इसी आयोजन का नाम है–**'वैय्यक्तिक–आयोजन'** । इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, केवल एक ही व्यक्ति इस आयोजन की सम्पूर्ण इतिकर्त्तव्यता पूरी कर लेता है । अपितु तात्पर्य्य यही है कि, इस आयोजन का निमित्त व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्मविशेष ही बना करता है । क्या तात्पर्य्य ? । तात्पर्य्य यही हैं कि, **गर्भाधान–पुंसवन–सीमन्त–प्रजनन–नामकरण–अन्नप्राशन–जातकर्म्म–चूडाकर्म्म–यज्ञोपवीत–विवाहादि** जितनें भी शास्त्रीय संस्कार हैं, * जिन संस्कारों का प्रधान निमित्त व्यक्ति (पुत्र, कन्या) ही बना करते हैं, उन संस्कारों के अवसरों पर जो माङ्गलिक आयोजन होते हैं, उन्हें हीं–**'समारोहात्मक-आयोजन'** कहा जाता है, जिनमें प्रधानरूप से शरीरप्रधानभावों–मङ्गलगानों, समसम्बन्धियों का परस्पर योग, भोजनादि माध्यम से विनोद, आदि का ही समावेश रहता है । सगोत्रबन्धु, सपिण्डबन्धु, सोदकबन्धुरूप परिवार, अन्य सम्बन्धी (समधी), तथा अन्य मित्रादि, सभी ऐसे आयोजनों में समाविष्ट होकर विभिन्न विभिन्न प्रकार के अशन–पानों के द्वारा एक प्रकार का उल्लासपूर्ण वातावरण उपस्थित कर देते हैं, जिसमें शरीरधर्म्मा बालकों का, एवं अशनपानासक्त बालबुद्धियों का ही विशेषरूप से प्राधान्य रहता है ।

१२६-भारतीय समारोहों की आनन्दरूपता—

संस्कारनिबन्धन उक्त समारोहों के अतिरिक्त व्यक्तिभावों से सम्बन्ध रखने वाले अन्यान्य भी परःशत समारोह होते ही रहते हैं । आचार्य्यकुल से शिक्षा प्राप्त करने वाले स्नातक को निमित्त बना कर होने वाला **'शिक्षावभृथस्नानसमारोह'** (**'समावर्त्तन'** संस्कार, एवं आज की भाषा में परीक्षा में उत्तीर्ण छात्र को

---

* १६ स्मार्त्त संस्कार, तथा ३२ श्रौत–संस्कार, इन ४८ श्रौत–स्मार्त्त संस्कारों में से कुछ एक की उपपत्ति गीताभूमिका–कर्म्मयोगपरीक्षाखण्ड में देखनी चाहिए ।

निमित्त बना कर होने वाला '**दीक्षान्त-समारोह**' नामक आयोजन), कुलपुरुषों-युवापुत्रों-बालकों की जन्मतिथियों पर होते रहने वाले '**जयन्तीसमारोह**' (जन्मतिथिसमारोह), विविध क्षेत्रों में पौरुष-योग्यता-आदि व्यक्त करते वाले राष्ट्रीय, सामाजिक, एवं पारिवारिक व्यक्तिविशेषों को निमित्त बना कर होने वाले **अभिनन्दनसमारोह, वाग्दानसमारोह (सगाईसमारोह), समधी-मेलन-समारोह, (मिलणी)** आदि आदि भेद से भारतीय प्रजा के इन समारोहात्मक आयोजनों की भी कोई इयत्ता नहीं है । और यों भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजन-**पर्व-उत्सव--सम्मेलन--समारोह**-भेद से चार प्रमुख श्रेणियों में विभक्त रहते हुए अपनी अवान्तर शाखा-प्रशाखाओं से सहस्र-सहस्र-भावापन्न बनते हुए भारतीय मानव को शाश्वतीभ्यः-समाभ्यः आनन्दमय ही बनाए रखते हैं ।

१२७-'सांस्कृतिक' शब्द का-'सम्' उपसर्ग, और उसकी सर्वसमन्वयात्मकता—

इदमत्र विशेषरूपेण--अवधेयम् । नाम है इन का 'सांस्कृतिक-आयोजन' । अतएव एतन्नाम के अनुरूप ही पर्व-उत्सवादि के स्वरूपों का यथास्थान समन्वय करना चाहिए । तात्पर्य्य इस यथास्थान-समन्वय का यही है कि, सांस्कृतिक शब्द का '**सम्**' उपसर्ग, एवं आयोजन शब्द का-'**आङ्**' उपसर्ग, दोनों हीं एक विशेष ध्वन्यर्थ अभिव्यक्त कर रहे हैं । 'एकीभाव' ही 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है, तो-'**सब ओर से**' अर्थ रखने वाला आङ् उपसर्ग भी इसी से मिलता जुलता है । सब का अर्थ है-**राष्ट्र--समाज--परिवार--व्यक्ति**-नामक चार प्रकार के भारतीय मानव, जिन की सीमा में व्यक्ति-मानव के **आत्मा--बुद्धि--मनः--शरीर**-ये चारों वैय्यक्तिक पर्व भी समाविष्ट हैं । **कुलवृद्ध, समर्थयुवापुत्र, नारीवर्ग, बालवर्ग,** ये चारों पारिवारिक वर्ग भी अन्तर्भुक्त हैं । **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य--शूद्र**-चारों सामाजिक पर्व भी अनुप्रविष्ट हैं । तो सर्वान्त में **नीतितन्त्र--अनुशासनतन्त्र--गणतन्त्र--प्रजातन्त्र**-लक्षण राष्ट्र के चारों तन्त्रों के प्रतिनिधि ज्येष्ठ-श्रेष्ठ महाभाग भी समाविष्ट हैं । यों प्रत्येक सांस्कृतिक आयोजन में किसी न किसी रूप से (तटस्थता से, किंवा आंशिक योगदान से, किंवा अर्थयोगदान से, किंवा सर्वात्मना योगदान से) एकत्वभावपूर्वक सभी पर्वों का समष्टि--व्यष्टि रूप से सब आयोजनों में येन केन रूप से युक्त बनते रहना हीं इन की '**सांस्कृतिक--आयोजनता**' है ।

१२८-प्रत्येक आयोजन की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

अभी भी हम समझे नहीं इस योग का अर्थ । समझना केवल यही है कि, पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह-इन चारों को हमनें क्रमशः राष्ट्रीय-सामाजिक-पारिवारिक-वैय्यक्तिक-आयोजन कहा है । एवं चारों में क्रमशः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-भावों का प्रातिनिध्य बतलाते हुए कुलवृद्ध-युवापुत्र-नारीवर्ग-बालवर्ग, सर्वोपरि नीति-शासन-गण-प्रजा-तन्त्रों का क्रमिक सम्बन्ध व्यक्त किया है । किन्तु यही इनकी पर्य्यवसान भूमि नहीं है । अपितु सब आयोजनों में-प्रत्येक में सभी भाव-सभी वर्ग-सभी तन्त्र समाविष्ट हैं । क्योंकि आयोजन उस भारतीय-मानव से सम्बन्ध रख रहे हैं, जो अपने वैय्यक्तिक-अणोरणीयान् आत्मभाव से ही महिमाभाव में आता हुआ व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र बना हुआ है । यही कुलवृद्ध-युवापुत्र-नारी-बाल बना हुआ है अपने आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-भावों से । यही ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र बना हुआ है—अपने इन्हीं भूतात्मा-बुद्ध्यादि चारों भावों से । एवं यही नीति-शासन-गण-प्रजा-तन्त्ररूपों में परिणत हो रहा है अपने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

इन्हीं आत्मादि चारों पर्वों से कुलवृद्धादि चारों परिवारपर्वों के द्वारा, एवं ब्राह्मणादि चारों समाजपर्वों के द्वारा। जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व एक ही ब्रह्म का विभूतिरूप है, तथैव ये सम्पूर्ण तथाकथित विभाग भी ब्रह्म की पूर्णाभिव्यक्ति से अनुप्राणित श्रेष्ठतम एक ही मानव के विभूतिरूप हैं, जैसा कि–**'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** इत्यादि से प्रमाणित है। समदर्शनमूलक मानव का यह एकत्व ही इसका–'सम्' रूप एकीभाव है, और यही है इसका सांस्कृतित्त्व। सब पर्वों का सब ओर से युक्त हो जाना हीं इसके समदर्शनात्मक, एवं विभिन्न वर्त्तनात्मक सांस्कृतिक–आयोजनों का आयोजनत्त्व है। अतएव पर्व हो, अथवा उत्सव। सम्मेलन हो, अथवा तो समारोह। प्रत्येक में चारों के धर्म्म गौण-प्रधानरूप से प्रत्येक-आयोजन में समाविष्ट रहते हैं। उदाहरणों के द्वारा स्थिति का समन्वय कीजिए।

१२९–व्यक्तिमूलक-समारोह, और उन की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

वैय्यक्तिक–समारोहों को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाइए। किसी एक व्यक्तिविशेष को (कन्या, अथवा तो पुत्र को) लक्ष्य बनाकर विवाहसमारोह आयोजित होता है। अतएव इसे वैय्यक्तिक–समारोह कहा जा सकता है, कहा गया है। अब इसमें व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–भावों को ढूँढ़ निकालना है। पुत्र, किंवा कन्या के माता-पिता दम्पतीरूप परिपूर्ण मानव है, येही दोनों मिलकर 'एक व्यक्ति' है। इस व्यक्ति का समावेश तो स्वतः ही सिद्ध है इस आयोजन में। सगोत्र–सपिण्ड–सोदक–बन्धु सपरिवार इसमें समाविष्ट हैं। अतएव यह पारिवारिक सम्मेलन भी बन रहा है। जाति–इष्ट–मित्र–आदि सामाजिक भाव भी इसमें समाविष्ट हैं। अतएव यह सामाजिक उत्सव भी बन रहा है। वैवाहिक यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण का सहयोग भी स्वतः सिद्ध है, जो विवाहविधि सम्पन्न कराता है। अतएव यह राष्ट्रीय आयोजन भी बना हुआ है। यों व्यक्ति–सम्बन्धी समारोह सम्मेलन–उत्सव–पर्व–भी बन रहा है तथाकथितरूप से। अतएव इसे समारोह के साथ सम्मेलन–उत्सव–पर्व–भी कहा जा सकता है, कहा गया है। यों अमुक दृष्टि से एक आयोजन-समारोह भी सर्वात्मक बना हुआ है। और यह सर्वात्मकका ही इसकी सांस्कृतिकता है। जिसमें न यज्ञविधि हो, न बन्धुओं का सोल्लास समावेश हो, न सामाजिक शिष्ट–जनों का आमन्त्रण हो। और तो और–व्यक्ति के माता–पिता–भी–जिसमें–समाविष्ट न किए जायँ, अपितु परोक्ष में कार्य्यालयविशेष में जाकर पञ्जिका–विशेष में हस्ताक्षरमात्र करा लेने से अनुप्राणित विवाह कदापि–भारतीय सांस्कृतिक–विवाह तो नहीं कहला सकता। ऐसा पञ्जिकाबद्ध आयोजन क्या कहलाएगा ?, प्रश्न तो अचिन्त्य ब्रह्मवत् अचिन्त्य ही बना हुआ है। दुर्भाग्य है यह इस सांस्कृतिक देश का, जिसके अमुक सुधारकवर्ग ने परानुकरणानुग्रह से इसी अचिन्त्या पद्धति को 'विवाहसमारोह' मान लिया है, जिसमें अधिक से अधिक शुभकामनाएँ अपना समारोह मान लेतीं हैं। इसे ही आज के भाग्यविधाता कहा करते हैं–सादा जीवन–सादा काम–आडम्बरशून्य–सहज जीवन। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्! आत्मानन्दविभूति से पराङ्मुख महानुभाव इससे अधिक और कल्पना भी क्या कर सकते हैं ?। कालाय तस्मै नमः।

१३०–परिवारमूलक 'सम्मेलन', और उन की पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

अब क्रमप्राप्त दूसरे **पारिवारिक–सम्मेलनों** की सर्वात्मकता को लक्ष्य बनाइए। प्रधानता यद्यपि मनोमय–नारीवर्ग की ही है। किन्तु समन्वय इसमें भी चारों पर्वों का हो रहा है। उदाहरण के लिए **गणपति-**

गौरी–सम्मेलन (गणगोर का मेला) को ही लीजिए। सवत्सा पार्वती की आराधना ही इसका पर्वात्मक महत्त्व है, जैसाकि सम्भवत: चारों के उदाहरण–तृतीय प्रकरण में स्पष्ट करने की चेष्टा की जायगी। समाज के युवापुरुषों के द्वारा विहित विशेष कार्य्यक्रम हीं उत्सव की पूर्ति कर रहे हैं। बालकों का क्रीड़ाकौतुक ही समारोह का समर्थक बन रहा है। और यों सम्मेलन भी चतुष्पर्वात्मक बनता हुआ सर्वात्मक सांस्कृतिक–आयोजन बना हुआ है। कदापि उस सम्मेलन का नाम सांस्कृतिक–सम्मेलन तो नहीं है, जिसमें न तो किसी देवता की आराधना का ही समावेश है, न माङ्गलिक उत्सवपरायणता ही है, न भारतीय माङ्गलिक दैवराधनात्मक महासङ्गीतात्मक लोकगीत ही हैं, एवं न बालकों का सहज क्रीड़ा–कौतुक ही है। प्रस्ताव–अनुमोदन–समर्थन–आदि आदि वाग्विजृम्भणों से सम्बन्ध रखने वाले परप्रतारणाकुशल नवग्रहग्राहस्थानीय मञ्चाधीशों के अनर्गल प्रलापों के द्वारा भावुक जनता को तात्कालिकरूपेण समुत्तेजित कर अपनी इतिकर्त्तव्यता समाप्त मान बैठने वाले सम्मेलन कदापि भारतीय–सांस्कृतिक–सम्मेलन तो नहीं कहे जा सकते। भारतीय सम्मेलनों को मनःप्राधान्य से जहाँ प्रधानरूपेण सम्मेलन कहा जायगा, वहाँ देवभाव–सम्बन्ध से इसे 'पर्व' भी कहा जायगा। उत्साहपूर्ण मर्य्यादित आयोजनों के सम्बन्ध से इसे उत्सव भी कह दिया जायगा। एवं बालभावानुरञ्जन से इसे समारोह भी मान लिया जायगा। यही इसकी सर्वात्मकता होगी। एवं इसी सर्वात्मकता के कारण इस सम्मेलनात्मक आयोजन को '**सांस्कृतिक–आयोजन**' कहना सर्वथा अन्वर्थ माना जायगा।

१३१–समाजमूलक–'उत्सव', और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

अब तीसरे 'सामाजिक–उत्सवों' की सर्वात्मकता को लक्ष्य बनाइए। किसी भी 'उत्सव' को लक्ष्य बना लीजिए, चारों पर्वों का समन्वय उपलब्ध हो जायगा। उदाहरण के लिए '**शरत्पूर्णिमामहोत्सव**' को ही लीजिए, जिसे हमनें पूर्व में '**शरदुत्सव**' कहा है। शरच्चान्द्रिका में रासेश्वर भगवान् कृष्ण का महारासविहार प्रक्रान्त है, जैसा कि–'**कामविजयमहोत्सवात्मक–रासक्रीड़नकथानक**' के रूप से अन्य निबन्ध में स्पष्ट कर दिया गया है। शरज्ज्योत्स्ना में भगवान् का संस्मरण, चक्षुरिन्द्रियप्राणप्रतिष्ठारूप प्राकृतिक अश्विनीकुमारदेवताओं का संस्मरण, आदि भाव इस महोत्सव के '**पर्व**' भाव हैं। समर्थ युवापुरुषों के प्रातिनिध्य से समन्वित इन उत्सवों में तद्द्वारा शासनतन्त्र भी प्रधान बना रहता है, (रहता था)। राजस्थान में तो सामन्तराजा शरत् का उत्सव बड़े ही उल्लास से मनाया करते ये, जब कि आज **फूलों की प्रदर्शिनी** को ही उत्सव मान लिया है, जो कि मान्यता प्रतीच्य देशों का अन्धानुकरणमात्र है। शरद्यामिनियों के शुभ्र–ज्योत्स्नामय शान्त वातावरण में परिवारों का सोल्लास समाविष्ट होना हीं इसकी सम्मेलनता है। एवं क्षीर भोजनादि आयोजन समारोह की क्षति के पूरक हैं। यों यह उत्सव भी पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह बनता हुआ–सर्वात्मक है, और यही इसकी सांस्कृतिकता है।

१३२· राष्ट्रमूलक–पर्व, और उनकी पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता—

चौथा क्रमप्राप्त '**राष्ट्रीय–पर्व**' नामक आयोजन है, जो सर्वापेक्षया महत्त्वपूर्ण माना गया है। उदाहरण के लिए रक्षाबन्धनपर्व को ही लीजिए, जिसका आगे सोदाहरण समन्वय होने वाला है। इस पर्व से सम्बन्ध रखने वाला श्रावणीकर्म्म, रक्षाबन्धनात्मककर्म्म, शकुनपूजनात्मक देवकर्म्म, आदि–आदि–'पर्व' के मुख्य अङ्ग हैं। पारिवारिक बन्धु–परिवारों में होनें वाला रक्षासूत्रबन्धनात्मक लोकाचार **सम्मेलन**

का स्वरूप है । युवापुरुषों का सोल्लास एकत्र समाविष्ट होकर आयोजन–विशेषों का मर्य्यादापूर्वक अनुगमन करना हीं इस की उत्सवता है । भोजनादि से समन्वित–बालभावानुगत–समारोह की व्यञ्जना तो स्पष्ट ही है । यों इन राष्ट्रीय–ब्राह्मणप्रधान–पर्वों में भी पर्व–उत्सव–सम्मेलन,–समारोह–चारों का समन्वय प्रमाणित हो रहा है । यों सभी भारतीय आयोजन सर्वात्मक बने हुए हैं ।

१३३–पर्व–उत्सव–रूप प्रथम युग्म, एवं सम्मेलन–समारोहात्मक द्वितीय युग्म–

इदमपि नितान्तमवधेयम् । भूतात्मा मौलिक–प्राकृतिक–पर्व है, जिसे–'**अक्षरप्रकृति**' (जीवभूता–परप्रकृति) कहा गया है । अतएव प्रकृतिवादियों (सांख्य) नें इसे 'मूलप्रकृति' कहा है । इस मूलप्रकृतिरूप-मानवीय [१]**भूतात्मा** (अक्षरात्मा) के आधार पर प्रकृतिविकृति–(क्षर)–रूपा–कारणशरीरात्मिका '[२]**बुद्धि**' प्रतिष्ठित है । इसके आधार पर विकृति–(विकारक्षर)–रूप सूक्ष्मशरीरात्मक '[३]**मन**' प्रतिष्ठित है । एवं इसके आधार पर विकाररूप (वैकारिक भूतरूप) स्थूलशरीरात्मक '[४]**शरीर**' प्रतिष्ठित है । यही मानव की सर्वस्व–स्वरूप–व्याख्या है, जिसके माध्यम से ही उसी क्रम से क्रमशः [१]**पर्व**–[२]**उत्सव**–[३]**सम्मेलन**–[४]**समारोह**–नामक चार सांस्कृतिक-आयोजन व्यवस्थित हुए हैं । मानवीय–स्वरूप के चारों पर्व हीं बलगर्भित रस (अमृत), एवं रसगर्भित बल (मर्त्य)–भेद से दो प्रधान भागों में विभक्त हो रहे हैं । अतएव **भूतात्मा और बुद्धि**, इन दोनों अमृतप्रधान पर्वों का एक विभाग मान लिया गया है । तथा **मन, और शरीर**, इन दोनों मर्त्यप्रधान पर्वों का एक विभाग मान लिया गया है । इसी विभागानुपात से तदनुगत चारों आयोजनों के भी **पर्व–और उत्सव, सम्मेलन–और समारोह**, भेद से दो ही प्रधान विभाग बच जाते हैं, जैसे कि–**मोक्ष–धर्म्म**, तथा **काम–अर्थ**, रूप से चार पुरुषार्थों के दो ही विभाग प्रमुख बने हुए हैं ।

इस नितान्त अवधेय–दृष्टिकोण के आधार पर ही अब हमें–परिवार–समाज–राष्ट्र–से अनुप्राणित शेष तीनों मानवों का भी समन्वय कर लेना चाहिए । परिवार के चार विभागों में से **कुलवृद्ध–और युवापुरुष**, दोनों का एक विभाग माना जायगा । एवं **नारीवर्ग और बालवर्ग**, दोनों का एक विभाग माना जायगा । एवमेव–समाज के चारों वर्गों में से **ब्रह्म–क्षत्र** [**ब्राह्मण और क्षत्रिय**], दोनों का एक विभाग माना जायगा । एवं **विट्–पौष्ण** [**वैश्य और शूद्र**], दोनों का एक विभाग माना जायगा । तथैव राष्ट्र के चार वर्गों में से–**नीतितन्त्र और अनुशासनतन्त्र** [धर्म्मनीति, और राजनीतिलक्षणा शासननीति], दोनों का एक विभाग माना जायगा । एवं–**गणतन्त्र, और प्रजातन्त्र**, दोनों का एक विभाग माना जायगा । एवं परिलेख के माध्यम से उक्त मानवीय–विभूति–भावों का निम्न लिखितरूप से समन्वय किया जा सकेगा ।

		मानवस्य—अव्ययात्मा—अलौकिकपुरुषात्मा			
वैय्यक्तिकम्	समारोहायोजनम्	**व्यक्तिमानवीयोभूतात्मा** अक्षरात्मा मूलप्रकृतिः	व्यक्तिमानवीया **बुद्धिः** आत्मक्षरात्मा प्रकृतिविकृतिः	व्यक्तिमानवीयं **मनः** विकारक्षरात्मा विकृतिः	व्यक्तिमानवीयं **शरीरम्** भूतक्षरात्मा विकारः
पारिवारिकम्	सम्मेलनायोजनम्	परिवारमानवीयः **कुलवृद्धरूपः** भूतात्मा	परिवारमानवीया **युवापुत्ररूपा** बुद्धिः	परिवारमानवीयं **नारी—रूपं** मनः	परिवारमानवीयं **बालरूपं** शरीरम्
सामाजिकम्	उत्सवायोजनम्	समाजमानवीयः- **ब्राह्मणरूपः** भूतात्मा	समाजमानवीया **क्षत्रियरूपा** बुद्धिः	समाजमानवीयं **वैश्यरूपं** मनः	समाजमानवीयं **शूद्ररूपं** शरीरम्
राष्ट्रीयम्	पर्वायोजनम्	राष्ट्रमानवीयः **नीतितन्त्ररूपः** भूतात्मा	राष्ट्रमानवीया **अनुशासनतन्त्ररूपा** बुद्धिः	राष्ट्रमानवीयं **गणतन्त्ररूपं** मनः	राष्ट्रमानवीयं **प्रजातन्त्ररूपं** शरीरम्
आयोजनानि	सर्वात्मकानि—	पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकं सर्वात्मकं— **पर्वायोजनम्** १	पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकं सर्वात्मकं— **उत्सवायोजनम्**— २	पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकं सर्वात्मकं— **सम्मेलनायोजनम्**— ३	सर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकं सर्वात्मकं— **समारोहायोजनम्** ४
		युग्मभावः		युग्मभावः	

प्रकारान्तरेणेत्थमवधेयम्—

पर्व राष्ट्रीयम्

१–राष्ट्रीयमानवस्य–नीतितन्त्रमेव——राष्ट्रस्य भूतात्मा-स एव प्रतिष्ठा पर्वायोजनस्य
२–राष्ट्रीयमानवस्य–अनुशासनतन्त्रमेव–राष्ट्रस्य बुद्धिः-सैव प्रतिष्ठा उत्सवायोजनस्य
——————*
३–राष्ट्रीयमानवस्य–गणतन्त्रमेव——राष्ट्रस्य मनः–तदेव प्रतिष्ठा सम्मेलनायोजनस्य
४–राष्ट्रीयमानवस्य–प्रजातन्त्रमेव——राष्ट्रस्य शरीरम्-तदेव प्रतिष्ठा समारोहायोजनस्य

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–
सर्वात्मकं–राष्ट्रीयं–पर्वायोजनम्
१

उत्सवः सामाजिकः

१–समाजमानवस्य–ब्राह्मणवर्ग एव–समाजस्य–आत्मा––पर्वप्रतिष्ठा
२–समाजमानवस्य–क्षत्रियवर्ग एव—समाजस्य–बुद्धिः—उत्सवप्रतिष्ठा
——————*
३–समाजमानवस्य–वैश्यवर्ग एव—समाजस्य–मनः—सम्मेलनप्रतिष्ठा
४–समाजमानवस्य–शूद्रवर्ग एव—समाजस्य–शरीरम्–समारोहप्रतिष्ठा

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–
सर्वात्मकं–सामाजिकं–
उत्सवायोजनम्
२

सम्मेलनम् पारिवारिकम्

१–परिवारमानवस्य–कुलवृद्ध एव–परिवारस्यात्मा—पर्वप्रतिष्ठा
२–परिवारमानवस्य–युवापुत्र एव–परिवारस्य बुद्धिः–उत्सवप्रतिष्ठा
——————*
३–परिवारमानवस्य–नारीवर्ग एव–परिवारस्य मनः—सम्मेलनप्रतिष्ठा
४–परिवारमानवस्य–बालवर्ग एव–परिवारस्य शरीरम्-समारोहप्रतिष्ठा

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–
सर्वात्मकं–पारिवारिकं–
सम्मेलनायोजनम्
३

समारोहः वैय्यक्तिकः

१–व्यक्तिमानवस्य–भूतात्मैव–व्यक्तेरात्मा—पर्वप्रतिष्ठा
२–व्यक्तिमानवस्य–बुद्धिरेव—व्यक्तेर्बुद्धिः–उत्सवप्रतिष्ठा
——————*
३–व्यक्तिमानवस्य–मन एव–व्यक्तेर्मनः—सम्मेलनप्रतिष्ठा
४–व्यक्तिमानवस्य–शरीरमेव–व्यक्तेः शरीरम्-समारोहप्रतिष्ठा

पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मकं–
सर्वात्मकं–वैय्यक्तिकं–
समारोहायोजनम्
४

विभागद्वयदृष्ट्या–इत्थमवधेयम्—

१–भूतात्मा मानवस्य–मोक्षानुगतः	—तदनु कुलवृद्धः	—तदनु ब्राह्मणः	–तदनु नीतितन्त्रम्	अत्र–राष्ट्रीयपर्वभावाः प्रतिष्ठिताः	प्रथमो विभागः
२–बुद्धिः–मानवस्य—धर्म्मानुगता	—तदनु युवापुत्रः	—तदनु क्षत्रियः	–तदनु अनुशासनतन्त्रम्	अत्र–सामाजिक–उत्सवभावाः	
१–मनः–मानवस्य–कामानुगतम्–	—तदनु–नारी	—तदनु वैश्यः	–तदनु गणतन्त्रम्	अत्र–पारिवारिक-सम्मेलनभावाः	द्वितीयो विभागः
२–शरीरं–मानवस्य–अर्थानुगतम्–	—तदनु–बालकः	—तदनु शूद्रः	–तदनु प्रजातन्त्रम्	अत्र–वैय्यक्तिक-समारोहभावाः	

१–भूतात्मानुगता–बुद्धिः —— —— * २–मनोऽनुगतं शरीरम्	मोक्षनानुगतो धर्म्मः —— —— * कामानुगतोऽर्थः	कुलवृद्धानुगतोयुवापुत्रः —— —— * नार्य्यनुगतो बालकः	ब्राह्मणानुगतः क्षत्रियः —— ——* वैश्यानुगतः शूद्रः	नीतितन्त्रानुगतमनुशासनतन्त्रम् —— —— * गणतन्त्रानुगतं प्रजातन्त्रम्	पर्वानुगता उत्सवाः ———— * सम्मेलनानुगताः समारोहाः
मानवपर्वचतुष्टयी	पुरुषार्थपर्वचतुष्टयी	परिवारपर्वचतुष्टयी	समाजपर्वचतुष्टयी	राष्ट्रपर्वचतुष्टयी	आयोजनपर्वचतुष्टयी
समारोहे मुख्यः–मानवः	०	सम्मेलने मुख्यः-परिवारः	उत्सवे मुख्यः समाजः	पर्वसु प्रधानं–राष्ट्रम्	

१३४–अव्ययात्ममूला सनातनसंस्कृति, एवं तन्मूलक सांस्कृतिक आयोजन—

उक्त अवधेय–प्रसङ्ग के द्वारा ही अब हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँच जाना पड़ा कि, भारतीय मानव का कोई भी सांस्कृतिक–आयोजन आत्मा, अथवा तो तद्विभूतिरूप देवता को किसी न किसी रूप से आधार बनाए बिना प्रवृत्त ही नहीं होता। आत्म–देवभाव ही 'संस्कृति' शब्द का तत्त्वार्थ है। तत्सम्बन्ध से ही ये आयोजन–'सांस्कृतिक' कहलाने के पात्र बनें हैं। यह आत्म–देवभावना इस देश के अपठित–ग्रामीण–यथाजात–प्राकृत–मानवों में भी परम्परया अन्तर्य्यामसम्बन्ध से बद्धमूला बनी हुई है। अतएव पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहों के अतिरिक्त भी इस वर्ग के जो भी सामयिक नृत्य–गीत–वाद्यादि–होते हैं, सर्वत्र आरम्भ में गणपति–भवानी–शारदा–शङ्कर–राम–कृष्ण–गुरु–आदि रूप से देवभावना ही प्रधान बनी रहती है। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, भारतीय जनजीवन के सभी अङ्ग–प्रत्यङ्ग साक्षाद्रूपेण, अथवा तो परम्परया ईशसंस्मरण को मूलाधार बनाते हुए 'सांस्कृतिक' ही बने हुए हैं। और यही भारतीय आत्म–संस्कृति का वह सुगुप्त–पारम्परिक अजस्र प्रवाह है, जिससे प्रयासपूर्वक पृथक् रहनें का प्रयास करता हुआ भी भारतीय मानव कदापि पृथक् नहीं रह सकता। तभी तो इसे 'सनातनसंस्कृति' कहा गया है।

१३५–सत्तानिरपेक्षा संस्कृति, एवं सत्तासापेक्षा-सभ्यता का नीरक्षीरविवेकात्मक समन्वयोपक्रम—

निबन्ध के प्रथम प्रकरण में हमनें संस्कृति को तो सत्तानिरपेक्षा कहा है, एवं सभ्यता को सत्तासापेक्षा कहा है। अभीतक इस दृष्टिकोण का सहजभाषा में स्पष्टीकरण कर देनें का अवसर ही नहीं आया था। सांस्कृतिक–आयोजनों के पूर्वोक्त समन्वय के माध्यम से ही अब हमें इसका भी समन्वय कर लेना चाहिए। विश्वरूपा सभा के ईश्वरीय नियम हीं सभ्यता है, जिसके पूर्वरूप को संस्कृति कहा गया है, एवं उत्तररूप को सभ्यता माना गया है। तात्पर्य्य यही है कि, लौकिक–आचारात्मिका संस्कृति ही प्रकृतिसभ्यता का पूर्वरूप है, एवं यही शास्त्रीया संस्कृति है, जिसमें लोकसत्ताधीश सत्तातन्त्र कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए। इसी अभिप्राय से इस शास्त्रीया–आचारनिष्ठात्मिका–द्विजातिमानवानुगता, विशेषतः ब्राह्मणानुगता संस्कृति को हमनें–'सत्तानिरपेक्ष' कहा है।

१३६–सांस्कृतिक–आयोजन, और उनकी सत्तानिरपेक्षता—

अब प्रश्न शेष रह जाता है सभ्यता के उत्तररूप (व्यक्त–भौतिक–मूर्त जगत्) से सम्बन्ध रखने वाली लोकसभ्यतात्मिका 'सभ्यता' नाम से प्रसिद्धा **'सभ्यता'** का। इसी के साथ प्रक्रान्त–सांस्कृतिक–आयोजनों का सम्बन्ध माना गया है, जो कि मूलतः संस्कृति के क्षेत्र में हीं अन्तर्भूत हैं उसी प्रकार, जैसे कि सत्ताधीश की राजनीति का अन्ततोगत्वा–**'ब्रह्मैवोनिश्रयति–अन्ततः'** के अनुसार धर्म्मनीति में हीं अन्तर्भाव हो जाता है। धर्म्मसीमा से बहिष्कृता राजनीति जैसे यहाँ **'अनीति'** कहलाई है, तथैव संस्कृति की सीमा से बहिर्भूता–आत्मदेवभावशून्या–केवल–जड़–भूत–कामार्थप्रधाना सभ्यता यहाँ 'असभ्यता' ही मान ली गई है। पर्वोत्सवादि सांस्कृतिक–आयोजनों के आत्म–देवानुगत प्रतिष्ठात्मक अमुक मौलिक अंश तो सत्तानिरपेक्ष ही रहा करते हैं, रहनें हीं चाहिएँ। क्योंकि उन अंशों में सर्वत्र ही शास्त्रविधि की प्रमुखता रहती है। विवाहोत्सव की यज्ञविधि के प्रति सत्तातन्त्र क्या अपेक्षा रक्खेगा ?।

१३७–सांस्कृतिक–आयोजनों का बाह्यरूप, एवं उनके प्रति सत्ता की सापेक्षता—

इन मूलाधारभूत--मौलिक--अंशों को छोड़ कर [जिनका कि भूतात्मा से सम्बन्ध माना गया है]–शेष बौद्धिक--मानसिक–शारीरिक--अंशों की बाह्यव्यवस्था--संरक्षण--परिवर्द्धन--परिवर्त्तन--आदि के प्रति अवश्य ही सत्तातन्त्र की अपेक्षा रहा करती है। और इसी दृष्टि से सांस्कृतिक--आयोजनरूपा सभ्यता को, तथा अन्य नैदानिक--व्यवस्थाओं, जीवन--पद्धतियों से कृतरूपा लोकसभ्यताओं को सत्तासापेक्ष माना जा सकता है, माना जाना चाहिए, माना ही गया है सदा से ही। एवं इस दृष्टि से भारतीय पर्वोत्सव–सम्मेलनसमारोहों की सम्पूर्ण बाह्यव्यवस्थारूपा सभ्यताओं का एकमात्र सत्तातन्त्र पर ही उत्तरदायित्व स्वीकृत हुआ है राजधर्म्मप्रकरणों में। और यही है महात्मा भीष्म के--'**राजा कालस्य कारणम्**' इस चिरन्तन सत्य का समन्वयात्मक फलितार्थ, जिस फलितार्थ के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही आज हमें भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा का दिग्दर्शन कराने जैसे अप्रिय प्रसङ्ग का अनुगामी बनना पड़ा रहा है, जब कि–जड़भावापन्न भूतदृष्टि से अवलोकन करने पर तो वर्त्तमान सत्तातन्त्र के अनुग्रह से सर्वत्र सब दिशाओं में सांस्कृतिक ? आयोजनों के ही अकाण्डताण्डव घटित--विघटित हो रहे हैं।

१३८–कालव्यवस्थाप्रवर्त्तक–सभ्यतासंरक्षक सत्तातन्त्रों का इतिहास—

जैसा कि, पूर्व में हमनें अनेक बार निवेदन किया है, विगत ३ सहस्र वर्षों से भारतीय प्रजा निष्ठापथों से उत्तरोत्तर स्खलित ही होती आ रही है। इसके इस बाह्य–विकम्पन का उत्तरदायित्व किस पर ?। एकमात्र सत्तातन्त्रों पर, जिनमें कुछ तो भारतीय बनते हुए भी भारतीय मौलिक संकृति से अपरिचित रहे, कुछ इस संस्कृति के प्रचण्ड विरोधी रहे, कुछ एक देखने–कहने सुनने में तो अपने आपको धर्म्मराज के प्रपितामह ही प्रमाणित करते रहे, किन्तु परोक्षरूप से जिन्होंनें यहाँ की संस्कृति के मूलोच्छेद के लिए जो कुछ भी करना था, मुक्तहृदय से किया। और आज जिस सत्तातन्त्र की वरदा–अभया शीतल छाया में प्रजा अपने रूप से स्वतन्त्रता के श्वास-प्रश्वास ग्रहण जैसा महद्भाग्य प्राप्त कर रही है, वह सत्तातन्त्र आरम्भ के सत्तातन्त्रों की सी भावुकता, आक्रान्ता सत्ताधीशों की सी निर्म्ममता, एवं कुनैष्ठिक सत्तातन्त्रों की सी नीतिपरायणता, जैसे अतीत ऐतिहासिक पुरस्कारों से मानों सर्वात्मक बनता हुआ ही सभी प्रयोगों के परीक्षण में आतुर बनता जा रहा है। एवं यही है–कालव्यवस्था–प्रवर्त्तक–सभ्यतासंरक्षक–तीन हजार वर्षों के सत्तातन्त्रों का संक्षिप्त इतिवृत्त।

१३९–सत्तातन्त्रों के विविध स्वरूप, एवं तन्निबन्धन सांस्कृतिक–आयोजनेतिहासों की उत्थान-पतन–परम्पराएँ—

तथाकथित इसी इतिवृत्त के माध्यम से अब हमें सांस्कृतिक–आयोजनों के उत्थान–पतन-भावों के कालानुबन्धी इतिहास का दो शब्दों में समन्वय कर लेना है। हूण–शक–सिकन्दरादि–**मुगलान्त काल** को हम मध्य–सत्ताकाल कहेंगे, जिसमें निरन्तर भारतीय संस्कृति पर प्रत्यक्ष आक्रमण होते रहे। इससे पहिले का भारतीय सत्ताकाल आरम्भ का सत्ताकाल माना जायगा, जिसमें ब्राह्मणनिष्ठा के अन्तर्म्मुख बन जाने से राज्यसत्ताएँ विलासमदोन्मत्ता बनतीं हुईं भावुकता का अभिनय करने लग पड़ीं थीं। मुगलसत्ता के

अनन्तरभावी बृटिश सत्तातन्त्र को हम उपसंहारात्मक सत्ताकाल कहेंगे, जिसनें परोक्षरूपेण हमारे सर्वस्व को ही परायत्त कर लेने के षड़यन्त्रों का सर्ज्जन कर डाला था। इन तीन कालों के अनन्तर वर्त्तमान में उदित होने वाले नवोदित सत्तातन्त्र का तो आज हम महद्भाग्य से प्रत्यक्ष ही कर रहे हैं, जिसके सम्बन्ध में अभी हम स्पष्टरूप से इसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को जान ही नहीं पाए हैं। क्योंकि जानने जैसा कोई भी बुद्धिगम्य वस्तुतत्त्व प्रयास करनें पर भी हमें अद्यावधि उपलब्ध ही नहीं हो सका है इस अभिनव वर्त्तमान सत्तातन्त्र में।

१४०–पर्वोत्सवयुग, उत्सवसम्मेलनयुग, सम्मेलनसमारोहयुग–भेद से आयोजनों के तीन विभिन्न युग, एवं तन्निबन्धना सत्तायुगत्रयी—

स्मरण रहे, यह सम्पूर्ण इतिवृत्त तीन सहस्रवर्षात्मिका कालावधि से ही सम्बन्ध रख रहा है, जिसका उपक्रमात्मक काल तो नितान्त–भावुकतापूर्ण ही सत्ताकाल माना जायगा, जिसमें राष्ट्र की मूलसंस्कृति के ज्ञान-विज्ञानात्मक दृष्टिकोण का संस्मरण भी उपलब्ध नहीं हो रहा। भावुकतापूर्ण–हृदयों को समझाने के लिए उस काल को हम **'गुप्तकाल'** कहते हैं, जिसे आज के पुरातत्त्ववेत्ता 'स्वर्णयुग' कहा करते हैं। यह वही काल है, जिसमें शृङ्गारादि–रसप्रधाना कविताओं का प्रवाह प्रवाहित हुआ था, जो कि निष्ठादृष्टि से अत्यन्त ही पतन-काल ही माना जायगा। सांस्कृतिक–आयोजनों के पर्वोंनें इसी युग में उत्सवों का रूप धारण कर लिया था। पर्व गौण बन गए थे, उत्सव प्रधान बन गए थे। अतएव इसे हम **'उत्सवयुग'**, किंवा **'पर्वोत्सवयुग'** कह सकते हैं। हूणादि–मूगलान्त–कालात्मक मध्ययुग में ये ही उत्सव सम्मेलनों के रूप में परिणत हो गए। सामाजिक उत्सव परिवारों में सीमित हो गए–परसत्तानुगता बिभीषिकाओं के निग्रह से। क्योंकि सत्तामन्त्र बाहिर के थे, आक्रान्ता थे, निष्ठुर थे, सर्वथैव काल्वालीकृत थे। अन्तः उत्सव गौण बन गए, सम्मेलन प्रधान। अतएव इसे **'उत्सवसम्मेलनयुग'** भी कहा जा सकता है। अन्त के ब्रिटिशयुगात्मक सत्ताकाल में कौटुम्बिक व्यवस्था भी शिथिल हो गई। व्यक्तिवाद ही प्रधान बन गया। अतएव इस युग में सम्मेलन समारोहरूप में परिणत हो गए। अतएव च इस युग को 'समारोहयुग', किंवा अधिक से अधिक–**'सम्मेलनसमारोहयुग'** कहा जा सकता है, जिसमें धर्म जैसी आचारनिष्ठा भी–सम्मेलन (सनातनधर्म्मसम्मेलन–वेदसम्मेलन–वेदान्तसम्मेलन आदि आदि) जैसे मानसिक आयोजनों की अनुगामिनी बन गई। और यों **पर्वोत्सव–उत्सवसम्मेलन–सम्मेलनसमारोह**–रूप से तथोक्त तीनों सत्तायुगों में भारतीय सांस्कृतिकायोजन अस्तव्यस्तरूप से–विकृत–रूप से ही दंन्द्रम्यमाण बने रहे। किंवा स्वसत्ता की भावुकता से, आक्रान्ताओं की प्रत्यक्ष जघन्यता से, तथा ब्रिटिशसत्ता की परोक्ष–निष्ठा से इन तीन सहस्रवर्षों में–**'राजा कालस्य कारणम्'** के अनुसार चारों ही आयोजन अव्यवस्थित ही बनते रहे, जिसके दुष्परिणामस्वरूप ही इनमें कुछ एक वैसे दैशिक–मलीमस–आगन्तुक भाव भी समाविष्ट हो गए, जिनसे अमुक अंशों में इनका नैष्ठिकस्वरूप भी क्षत–विक्षत हो गया।

१४१–ब्रह्म–क्षत्र के आंशिक जागरण से पूर्वयुगों में सांस्कृतिक–आयोजनों की आंशिक जागरूकता—

सत्तातन्त्रों से ऐसी अव्यवस्था क्यों, और कैसे हो पड़ी ?, क्या समाधान है इस स्थिति का तत्त्वात्मक ?, यह भी जान लीजिए। क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रधान निमित्त तो इन परिवर्त्तनों का प्रधान (प्रकृति) ही बना

करता है । आरम्भकाल में भावुकता अवश्य आगई थी । किन्तु क्षात्रतेज अमुक सीमापर्य्यन्त जागरूक था । ब्रह्मवर्चस् के भी अंश–प्रत्यंश –यत्रतत्र उपलब्ध हो ही जाते थे तद्युग में । अतएव उस युग को ब्रह्म–क्षत्र–भावानुगत (अंशतः ही) युग कहा, और माना जा सकता है । ब्रह्मानुगत भूतात्मा ही 'पर्व' की, तथा क्षत्रानुगता बुद्धि ही 'उत्सव' की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है । एकमात्र इसी प्राकृतिक अनुबन्धानुग्रह से परसत्ताओं के आक्रमणों से पूर्व के भावुकतायुक्त भी भारतीय सत्तातन्त्र के अंशतः क्षात्र–तेजोमय बने रहने के कारण, एवं अंशतः ही ब्रह्मवर्चस् के भी विद्यमान रहने के कारण ब्रह्मानुगत पर्व, तथा क्षत्रानुगत उत्सव, दूसरे शब्दों में आत्मसम्मत पर्व, एवं बुद्धिसम्मत उत्सव सर्वात्मना नहीं तो अंशरूपेण तो अवश्य ही जागरूक बने रहे । इन की इसी जागरूकता से विट्प्रधान, किंवा मनःप्रधान सम्मेलन, तथा पौष्णप्रधान, किंवा शरीरप्रधान समारोह भी मर्य्यादारूपेण व्यवस्थित, तथा आत्म-देव-भाव-समन्वित ही प्रमाणित होते रहे ।

१४२–हूणादि–मुगलान्तयुग, एवं पर्वोत्सवों की अन्तर्म्मुखता—

आगे चल कर हूणादि आक्रान्ताओं का आक्रमण हुआ, जो प्रत्यक्षरूप से मुगलसत्तापर्य्यन्त सर्वथा ही उत्पीड़क आक्रमण था । पूर्वयुगों की राजसत्ताएँ भावुकता के कारण शिथिल हो रहीं थीं । नैष्ठिक–सांस्कृतिक संघठन का अभाव था । अतएव आक्रान्ताओंनें थोड़े ही प्रयास से सत्तासिंहासन पर अपना अधिकार प्रतिष्ठित कर लिया । भारतीय सत्तातन्त्रानुगत क्षात्रतेज के यों पराभूत होते ही अंशात्मना जागरूक रहने वाला ब्रह्मवर्चस् भी अन्तर्म्मुख बन गया । यों इन आक्रमणात्मक–सत्तायुगों में राष्ट्र के ब्रह्म–क्षत्र –दोनों हीं बल अभिभूत होगए । परिणामतः पर्वोत्सव भी अव्यवस्थित बन गए । राष्ट्र न तो स्वच्छन्दता से पर्वों का ही आयोजन कर सका, एवं समाज न स्वच्छन्दता से उत्सव ही मना सका । दोनों के अवलम्ब परिवारविशेष ही बने रह गए । और इसप्रकार यह युग एक प्रकार से उत्सवगर्भित–सम्मेलनयुग ही बना रह गया ।

१४३–वणिक्तन्त्रात्मक बृटिशयुग, एवं पर्वोत्सव-सम्मेलनों की अन्तर्म्मुखता, तथा समारोहों की आंशिक जागरूकता—

आगे चल कर उस ब्रिटिश–सत्तातन्त्र का महान् नैष्ठिक–युग आरम्भ हुआ, जो केवल कामार्थमूला वणिक्निष्ठा [कुनिष्ठा] को सफल बनाने के लिए ही इस राष्ट्र का शासक बना था । इस चाणाक्षचतुर–लोकनिष्ठ-सत्तातन्त्र नें यहाँ आते ही आते यह जान लिया कि, राष्ट्र का क्षात्रतेज सर्वथा असंघठित, एवं सत्तामद-दोष से शिथिलप्राय है । अतएव इसे 'स्व'-तन्त्र में दीक्षित कर लेना कोई कठिन कार्य्य न होगा । किन्तु राष्ट्र के शेषभूत उस ब्राह्मणवर्ग से यह अवश्य ही चिन्तित हो पड़ा, जो शताब्दियों से प्रतारित–अवमानित--उत्पीड़ित बनता हुआ भी अपनी संस्कृति, धर्म्म, एवं साहित्य की मूलनिष्ठा से गच्छतः स्खलनरूप से राष्ट्र में यदा-कदा जागरूकता उत्पन्न कर देता था । नन्दकुमार ब्राह्मण को फाँसी देकर इससे होने वाली बङ्गाल की प्रतिक्रिया ने इस की उक्त आशङ्का को और भी अधिक दृढमूल बना दिया । ईसाइयत के प्रचारक तत्कालीन पादरियों की रिपोर्टों नें भी इसी तथ्य का विश्लेषण इसके सम्मुख रख दिया । अपने आर्थिकादि प्रलोभनों से पादरी महानुभाव अमुक वर्ग को ईसाइयत में दीक्षित करने के लिए प्रसन्न कर लेते थे । किन्तु जाति, तथा वर्णानुगत–धार्म्मिक प्रतिबन्धों के संकेतग्राहक ब्राह्मण के अन्तराय से पादरियों की सम्पूर्ण प्रसन्नता

धूलिधूतरित हो जाती थी । यों सर्वसाधनशून्य भी, तिरस्कृत भी ब्राह्मणवर्ग के द्वारा यदा-कदा उद्घोषित सांस्कृतिक–धार्म्मिक–सन्देशमात्र यहाँ की प्रजा में एक वैसा ओज व्यक्त कर देते थे, जिन से ब्रिटिश सत्तातन्त्र का आशङ्कित बन जाना स्वाभाविक ही था । क्योंकि इस युगपर्य्यन्त भी शिक्षा–आचार–लोकजीवन-आदि आदि में कहीं साक्षात्‌रूप से, तो कहीं परोक्षरूपेण ब्राह्मण–प्रज्ञा ही प्रमुख बनती चली आरही थी ।

१४४--वृटिशसत्तातन्त्र की सर्वस्वसंहारिका धर्म्मनिरपेक्षा घोषणा, एवं भारतीय जन-जीवन की जीवितमृत्यु, तथा सम्मेलनसमारोहों के तद्युगीय धर्म्मभीरुतापूर्ण शून्य--आयोजन—

अपने आर्थिक तन्त्रात्मक–सर्वशोषक–वणिग्धर्म्म को निष्कण्टक बनाने के लिए, एवं अपनी तदाशङ्काओं का उन्मूलन करने के लिए इस नीतिज्ञ तन्त्र नें दो प्रमुख कार्य्य किए । पहिला प्रमुख कार्य्य किया–शिक्षायन्त्र का राष्ट्रीयकरण, एवं दूसरा प्रमुख कार्य्य किया लोक–राज–नीतियों से धर्म्म का पार्थक्य, जिस की–'**हम भारतीय धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे**' इस व्यामोहक-घोषणा से सभी सुपरिचित हैं । परिणाम मन चाहा ही हुआ । शिक्षायन्त्र के परायत्त बन जाने से सांस्कृतिक–धार्म्मिक–परम्पराएँ उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख बनतीं गईं । धार्म्मिक तटस्थता की घोषणा से भारतीया भावुक जनता सत्तातन्त्र के कुचक्रों से सर्वथा ही निरपेक्ष--तटस्थ--बन गई । यों सर्वतन्त्रस्वतन्त्रतापूर्वक इन वणिक्‌शासकोंनें राष्ट्र को सर्वथा वणिक्‌भाव में हीं परिणत कर दिया । सामन्तवर्ग बन गया दास, ब्राह्मणवर्ग बन गया अन्तर्म्मुख, चतुर्थ वर्ग आकर्षित हो पड़ा आर्थिक प्रलोभनों के द्वारा उनके मतवाद (ईसाइयत) की ओर । और यों निष्कण्टक बन कर यथेच्छ ताण्डवनृत्य किया इस सत्तातन्त्र नें । राष्ट्र का ब्रह्मबलानुगत आत्मा अन्तर्म्मुख बन गया इस युग में, तो क्षत्रबलानुगता बुद्धि दासानुदासा बन गई । शेष रह गए मन, और शरीर, जिनके प्रतिनिधि क्रमशः वैश्य, तथा शूद्र, मानें गए हैं । फलस्वरूप तदनुबन्धी आयोजन हीं शेष बने रह गए इस युग में, जिन्हें पूर्व में हमनें '**सम्मेलनात्मक–समारोह**' नाम से व्यवहृत किया है । वणिक्–निष्ठा के अनुग्रह से ही ये आयोजन भी लोकचतुरों के लिए व्यवसाय के ही साधक बन गए, जब कि इन का एकमात्र उद्देश्य संस्कृति का संरक्षणमात्र ही था । सहजभाषानुसार–ब्रिटिशयुगीय भारतीय सम्मेलन–समारोहात्मक सांस्कृतिक–आयोजन वणिग्भावना के प्राधान्य से अपनी आत्म-देवभावमूला सांस्कृतिकता से वञ्चित होते हुए अर्थतन्त्रानुगत व्यवसाय के ही साधक बन गए । संस्कृति--धर्म्म--आचार–आयोजन के क्षेत्र नहीं रहे, अपितु व्यवसाय--व्यापार के आधार बन गए । जिसप्रकार एक आपणव्यवसायी (दुकानदार) आपणस्थ पदार्थों का वर्णन कर ग्राहकों से कौशलपूर्वक अर्थ का त्याग करा लेता है, एवमेव मन्दिर--चतुष्पद--मार्ग--सरोवरतट–वृक्षच्छाया–आदि आदि आकर्षक स्थानों में संकलित–भग्न--त्रुटित--प्राणप्रतिष्ठाशून्य–मूर्त्तियों–अन्यान्य रँगरञ्जित पाषाणादि को मध्यस्थ बना कर भावुकप्रजा को त्यागानुगामिनी बनाया जाने लगा संस्कृति और धर्म्म के नाम पर । यों सभी क्षेत्रों में अथ से इतिपर्य्यन्त भारतीय संस्कृति–धर्म्म–साहित्य--आदर्श–आचारादि की नामघोषणाओं के व्याजमात्र से सब ने वणिक्--धर्म्म के साथ ही समालिङ्गन कर लिया । अभिभूत होगए ब्रह्म-क्षत्र-बल, अतएव तिरोभूत हो गए पर्व, और उत्सव । अभिव्यक्त बन गए विट्, और पौष्ण, अतएव उद्दीप्त हो पड़े संस्कृतिधर्म्म–निष्ठाशून्य–भावुकतापरिपूर्ण सम्मेलन, और समारोह ।

१४५--व्याजात्मक धर्म्माचरण से समूल विनाश—

सुना है, मनःशरीरानुबन्धी प्राकृत मानव संसार में सभी को धोका देकर अमुक काल–सीमा–पर्य्यन्त अपनी वित्त–लोकैषणाओं में सफलता प्राप्त कर सकता है। यही नहीं, संस्कृति और धर्म्म के सुसूक्ष्म रहस्यों को जानने वाले विद्वानों का तो इस दिशा में यह भी कहना है कि–**"जो अधर्म्मपूर्वक-(छल-माया–कपट–धूर्त्तता–आदि पूर्वक) लोकतन्त्रों में प्रवृत्त होता है, वह तत्काल–शीघ्र ही–लोक-वैभवों का भोक्ता बनने लग पड़ता है। इसी वित्त–वैभव-से वह सत्ताबल का क्रय कर लेता है। वित्त-सत्ता-सम्मानादि से समन्वित होकर यही तन्त्रायी (लोकचतुर-चाणाक्ष-धूर्त्त-वञ्चक-) बड़े बड़े लोकसुख भोगता है। इसी वित्त–सत्ताबल से वह अपने प्रतिद्वन्द्वी दलों को पराजित भी करता रहता है। किन्तु ये श्रीमान् अन्ततोगत्त्वा मूलसहित ही उच्छिन्न हो जाते हैं सदा--सदा के लिए"। सुनिये !**

अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥
—मनुः ४।१७४।

१४६--'न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्'–का रहस्यात्मक समन्वय—

हाँ, तो 'अधर्म्म' की घोषणा कर लोकतन्त्रों में प्रवृत्त मानव कुछ दिन तो लोक–सुख की भ्रान्ति कर लेता है, जबकि धर्म्म का व्याज से आचरण करने वाला तो सर्वथैव पतित बन जाता है। धर्म्म का नाम लेकर अधर्म्म करना हीं धर्म्मव्याज कहलाया है। सबको धोका दिया जा सकता है, किन्तु धर्म्म को नहीं। जो व्यक्ति सत्य–अहिंसा–मानवता–मानवधर्म्म–नैतिकताओं की प्रतिक्षण घोषणा करता हुआ इनके व्याज से प्रतिक्षण ही असत्य–हिंसा–दानवता–असुरधर्म्म–भ्रष्टाचारपथों का नवीन–नवीन साजसज्जाओं से सोल्लास आविष्कार करता रहता है, वह दूसरों को दीखने मात्र में–सुखी–वैभवशाली–कुशल–बना रहता हुआ भी अपने इन प्रच्छन्न पापों से अपने आपमें सदा ही दुःखी–अशान्त–उद्विग्न–दीन–दरिद्री–अकुशल ही प्रमाणित होता रहता है। अतएव शास्त्र ने हमें यह उद्बोधनसूत्र प्रदान किया है कि—**'न व्याजेन धर्म्ममाचरेत्'**। युक्तं चैतत्। देवता का आमन्त्रण न करना किसी सीमापर्य्यन्त ठीक कहा जा सकता है। किन्तु आमन्त्रण कर उसे अपमानित करने वाला तो कभी सुखी नहीं रह सकता। एवमेव धर्म्म को न मानने वाले धर्म्मनिरपेक्ष तो फिर भी क्षम्य हैं। किन्तु वे कदापि क्षम्य नहीं हैं, जो नाम लेते हैं संस्कृति, और धर्म्म का। किन्तु व्यवहारपक्ष में हैं ठीक इसके विपरीत। इसी दोष से तो आज की उस धर्म्मशीला ? प्रजा का अधिक पतन हुआ है तथाकथित वणिक्तन्त्र के कुसङ्ग से, जो प्रतिक्षण–धर्म्म–हरिनामकीर्त्तन–पूजन–पाठ–आदि का अभिनय करती हुई प्रच्छन्नरूप से इनके द्वारा भी कामना करती रहती है अपने आर्थिक–सामाजिक–पारिवारिक–वैय्यक्तिक–वैभव प्रसार की ही। क्यों ब्रिटिशसत्तायुग से विशेषरूप से हमारा उत्तरोत्तर अधिकाधिक सांस्कृतिक–नैतिक–धार्मिक–पतन होता गया ?, प्रश्न के अनेक समाधानों में से तथाकथित–धर्म्मव्याजात्मक धर्म्माचरण-प्रदर्शन-सम्मेलन–समारोह भी एक प्रमुख ही कारण माना जायगा, जिस इस सर्वविनाशक महतोमहीयान् अभ्य–यक्ष से भारतीय प्रजा शीघ्र से शीघ्र उन्मुक्त होकर स्वरूपबोध प्राप्त करले, यही मङ्गलकामना है।

१४७-धर्म्मभीरु-धर्म्मभावुक भारतीय मानव के धर्म्मव्याज से धर्म्म के सांस्कृतिक स्वरूप की अन्तर्मुखता, एवं प्रतीकभक्ति का अभिनिवेश—

धर्म्मव्याज ने धार्म्मिक (धर्म्मभीरु) प्रजा में एक ओर जो महान् दोष उत्पन्न कर दिया, वह भी इसके अन्तर्जगत् को संस्कृति–धर्म्म के–मौलिक–शाश्वत–सत्यस्वरूप की ओर अभिमुख नहीं होने देता। प्रसङ्गोपात्त उस महान् दोष की भी दो शब्दों में मीमांसा कर ही लेनी चाहिए उद्बोधनधिया। ब्रह्म–क्षत्र–वञ्चित, अतएव अन्तः बहिः–संरक्षणों से पराङ्मुख–अतएव धर्म्मव्याजात्मक–सम्मेलन–समारोहोंनें प्रजा में एकप्रकार की वैसी–'प्रदर्शनवृत्ति' जागरूक करदी, जिससे द्रष्टा वर्ग को सहसा यह भ्रान्ति हो जाती है कि, "सचमुच हम धर्म्म की साक्षात्--सगुणमूर्त्ति के ही दर्शन कर रहे हैं।" कहते हैं—जब से दृष्टान्त ही सिद्धान्त बनने लग पड़े, साधन ही साध्य माने जाने लगे, प्रतीक ही वस्तुतत्त्व का स्थान ग्रहण करने लग पड़े, तभी से यहाँ की संस्कृति, और धर्म्म का मौलिक स्वरूप अन्तर्मुख बन गया, जिस अन्तर्मुखता का प्रधान श्रेय भारतवर्ष के उस दर्शनशास्त्र को ही दिया जायगा, जिसने दृष्टान्तों को ही सिद्धान्त मान कर 'आत्मब्रह्म' जैसे निरपेक्ष–तत्त्व को भी ज्ञानाधिकरण–मानने की भ्रान्ति कर डाली। आचारनिष्ठाशून्य- केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक–भारतीय दर्शनवाद के अनुग्रह से प्रधानरूपेण, एवं अन्यान्य भी ज्ञात–अज्ञात–अनेक कारणों से भारतीय प्रजानें प्रतीकों के प्रति वैसा अन्तर्य्याम सम्बन्ध स्थापित कर लिगा, जिसने इसे केवल प्रतीक पर ही समाप्त कर दिया। तात्पर्य्य ?।

१४८–प्रतीकमात्रभक्त–धर्म्मध्वजी मानव, एवं संस्कृतिमूलक मूलधर्म्म का आत्यन्तिक अभिभव—

तात्पर्य्य स्पष्ट है। शरीरानुगता वेशभूषा, अशनपानादि द्रव्यों का सहयोग, आदि आदि सभी भाव सभ्यतायुगों के परिवर्त्तन के साथ नियमन–संयमपूर्वक परिवर्त्तित होते ही रहते हैं। क्या मुगलसाम्राज्ययुग की पोशाक कोई धार्म्मिक पोशाक थी ?, जिसे चित्रों में देख कर आज का भावुक भारतीय, विशेषतः धर्म्म–संस्कृति-भीरु भारतीय कहने लग पड़ता है कि—"**अहा ! यही तो थी भारत की प्राचीन वेशभूषा**"। इस वर्णन के साथ साथ ही यह भावुक उन आज के देवताओं के चित्रों को विस्मृत कर जाता है, जिसके देवदेवता वर्त्तमान युग के अभिनेता–अभिनेत्रियों की नग्नवेशभूषा का भी अतिक्रमण कर रहे हैं। आज किसी के गलमुच्छों, किंवा मूँछे न देख कर यहाँ का प्राचीनभक्त उसे घृण्य मानने लग पड़ता है। किन्तु उसी के देश के धर्म्मभक्तों–नामभक्तों–कल्याणपथपथिकों के द्वारा साटोप–सोल्लास–प्रकाशित होते रहनें वालों भगवच्चित्रावलियों में क्या कभी प्राचीनभक्त ने मूँछे देखीं हैं ? इसका यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है कि, हम मूछों के विरोधी हैं। यह तो उस भावुकतापूर्णा प्रतीकभक्ति का निदर्शनमात्र कराना है, जिसे ही प्राचीनभक्त ने संस्कृति, एवं धर्म्म का एकमात्र सर्वस्व स्वरूप मानने की भूल कर डाली है। लम्बा अँगरखा, लम्बा सा डुपट्टा, सर्वाङ्गशरीर में त्रिपुण्ड--किंवा ऊर्ध्वपुण्ड्र–किंवा कुँकुमबिन्दु–किंवा चरणचिह्न–आदि विविधाकाराकारिता तिलक–भक्तियाँ, सूक्ष्म–स्थूल-बृहत्-बृहत्तर–बृहत्तमा–मणिमालाएँ, अमुक प्रकार के केशविन्यास, अमुक प्रकार की मुखमुद्राएँ, अमुक प्रकार की आशीर्वादमुद्राएँ, अमुक छटाओं से समन्वित मन्द–कोमल–कर्कश–रूक्ष–उत्तेजनापूर्ण वाग्विजृम्भण-कौशल, आदि आदि बाह्य प्रतीकभावों पर ही संस्कृति–धर्म्म की गरिमा–महिमा–समाप्त कर बैठने वाले, ऐसे

आडम्बरभावपूर्ण धर्म्म के प्रदर्शनकारी ही राजर्षि के शब्दों के–'धर्म्मध्वजी' कहलाए हैं, जिनके ये बाह्य चिह्न मानों धर्म्म की ध्वजा (पताका) ही हों।

१४९–वैडालव्रतिक–धर्म्मध्वजियों के द्वारा भारतीय–संस्कृति–धर्म्म की–उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता, एवं मिथ्याचारों का धर्म्मत्त्व प्रतिपादन—

बाह्यवेशभूषा–भोजन–भजन–परिग्रहादि में पूर्ण कौशलपूर्वक धर्म्मध्वजाओं का साटोप प्रदर्शन करने वाले प्रदर्शनकारी अपने आभ्यन्तर मनोभावों से इन प्रदर्शनों के व्याज से अपनी वित्त–लोक–कामनाओं की पूर्त्ति के लिए ही व्यग्र बने रहते हैं। इनके सभी आभ्यन्तर कर्म्म छद्मपरिपूर्ण ही बने रहते हैं। इसी धर्म्म-व्याजात्मक प्रदर्शन से ये भावुक जनता की वञ्चना किया करते हैं (ठगा करते हैं)। और यही इनकी वैडालव्रतिकता है। बिलाव जैसे साधुवृत्ति से तटस्थ बना रहता हुआ ही मूषक पर झपाटा मार बैठता है, वही इनकी वृत्ति बन जाती है। परम सौम्य--प्रतीयमान भी ये महानुभाव अवसर आने पर प्रच्छन्नरूप से जघन्य से जघन्य भी हिंसाकर्म्म करने से पीछे नहीं हटते। बकव्रत ही इनकी चर्य्या बनी रहती है। आँखें विनयपूर्वक सदा नीचीं रखते हैं ये धर्म्मध्वजी। यह हम नहीं कह रहे। यह तो उन्होंनें कहा है, और आवेशपूर्वक कहा है, जो भारतीय संस्कृति, और धर्म्म के अनन्य संरक्षक हैं। एवं जो संस्कृति--धर्म्मनिष्ठ ब्राह्मणों के प्रति अपनी अनन्य आस्था रख रहे हैं। सुनिये ! उन्हीं के मुख से धर्म्मध्वजियों के तथाकथित तत्स्वरूप की रूपरेखा—

धर्म्मध्वजी–सदा लुब्ध, श्छाद्मिको, लोकदम्भकः।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो, हिंस्रः, सर्वाभिसंधिकः ॥१॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः, स्वार्थसाधनतत्परः ॥
शठो, मिथ्याविनीतश्च, बकव्रतचरो द्विजः ॥२॥
ये बकव्रतिनो विप्रा, ये च मार्जारलिङ्गिनः ॥
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्म्मणा ॥३॥

१५०–सहज, कृत्रिम–रूपेण--प्रतीकों का द्वैविध्य, एवं उन की उपयोगिता--अनुपयोगिता--

अवश्य ही प्रतीकभावों का भी संस्कृति--और धर्म्म ने समादर किया है। किन्तु किस रूप से ?, निष्ठा के रूप से। प्रतीक के द्वारा मूल की ओर जाना जहाँ भावुकता है, वहाँ मूल से प्रतीक की ओर आना हीं निष्ठा है। बात थोड़ी सूक्ष्म है, अतएव कुछ समझने जैसी। **कृत्रिम प्रतीक, सहज प्रतीक**–रूपेण दृष्टिभेद से प्रतीक दो अवस्थाओं में परिणत माने गए हैं। सहजेच्छात्मिका उत्थिताकांक्षारूपा आत्मबुद्धिप्रधाना **कामना** से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीक सहजप्रतीक हैं, जो प्रदर्शनों से सर्वथा पृथक् हैं, असंस्पृष्ट हैं। ठीक इसके विपरीत-कृत्रिम इच्छात्मिका उत्थाप्याकांक्षारूपा मनःशरीरप्रधाना–**इच्छा** से सम्बन्ध रखने वाले प्रतीक कृत्रिम प्रतीक हैं, जिनका आधार ही प्रदर्शन बना करता है। आत्ममूला सांस्कृतिक–निष्ठा मानव के बाह्य आचरणों–वेशभूषादि बाह्य परिग्रह--चिह्नों को जहाँ सहजरूपता प्रदान किए रहती है, वहाँ मनःशरीरमूला प्रदर्शनभावुकता मानव के बाह्य प्रतीकों को सदा कृत्रिमता की ओर ही आकर्षित करती रहती है।

१५१--सहजसिद्ध प्रतीकधर्म्मों का महान् सांस्कृतिक-कौशल, एवं उन की सुसूक्ष्मा-पद्धति का आभ्यन्तरसमन्वय—

अवश्य ही अमुक सीमापर्य्यन्त--संस्कृति--धर्म्म का सभ्यतानुबन्धी बाह्य--आचारों से, वेशभूषादि से भी सम्बन्ध है, सम्बन्ध रहना ही चाहिए। किन्तु कदापि इसका यह अर्थ नहीं है कि, परिवर्त्तनशीला सभ्यतानुबन्धिनी--युगधर्म्मानुबन्धिनी–प्रतीकता ही सर्वात्मना संस्कृति–और धर्म्म की स्वरूप--व्याख्या हो। मूलभावों को सुरक्षित रखते हुए, लोकसंग्रहसंरक्षणपूर्वक ही सहज–प्रतीक--भावों का अनुगमन करते रहना हीं यहाँ की वह विशिष्ट शैली रही है, जिसके द्वारा मूलसंस्कृति--धर्म्म की सांस्कृतिक--परम्परा भी अक्षुण्ण रह जाती है, एवं युगधर्म्मानुगता सभ्यताएँ भी उद्विग्न नहीं हो पातीं। संस्कृति--स्वधर्म्म–संरक्षणपूर्वक परिवर्तनात्मक–युगधर्म्मों के साथ मर्य्यादापूर्वक सामञ्जस्य बनाए रखना हीं प्रतीककधर्म्मों का वह महान् कौशल है, जिन्हें सांस्कृतिक–कौशल--माना गया है। शब्द असमर्थ हैं इस कौशलपद्धति की सुसूक्ष्मा व्यञ्जना का यथावत् स्पष्टीकरण करने में। इसका समतुलन तो स्वयं अपनी अन्तःप्रज्ञा (सात्त्विकी प्रज्ञा) से अपने अन्तर्जगत् में हीं करना चाहिए।

१५२–वर्णभेदभिन्न प्रजावर्गों के अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–रूप विभिन्न–व्यवस्थित प्रतीकधर्म्म—

फिर बाह्याचारप्रधान प्रतीकधर्म्म की अपनी भी तो कोई स्वरूप–व्याख्या है। निश्चयेन उसे विस्मृत कर बैठने से ही आज प्रतीकभावों में कृत्रिमता का समावेश हो पड़ा है। ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–चारों वर्णप्रजाओं के प्रतीकधर्म्म क्या एक ही प्रकार के हैं ?। कदापि नहीं। बाह्य--अनुकरणात्मक प्रतीकधर्म्मरूप आचरणधर्म्म शरीरधर्म्मा शूद्र से ही अनुप्राणित मानें गए हैं, जबकि–बाह्य–अन्तः–अनुसरणात्मक आचरणधर्म्म मनोधर्म्मा वैश्य से सम्बद्ध हैं। अन्तः–आचरणात्मक आचारधर्म्म जहाँ बुद्धिधर्म्मा क्षत्रिय के प्रतीकधर्म्म हैं, वहाँ सर्वान्तरतम सुसूक्ष्म आचरणात्मक–अनुशीलनधर्म्म हीं ब्राह्मण–के प्रतीकधर्म्म मानें गए हैं, जिस अनुशीलनधर्म्म में तो प्रतीकभाव सर्वथा ही शिथिल हो जाते हैं। अतएव ब्राह्मण (द्विज) यदि अपनी प्रज्ञा अनुकरण–अनुसरणात्मक–प्रदर्शनभावप्रधान प्रतीकों के प्रति ही समर्पित कर देता है, तो उसका अनुशीलनधर्म्म हीं अभिभूत हो जाता है। अतएव बाह्य--अनुकरणात्मक प्रदर्शनकारी ब्राह्मण को ही राजर्षि मनुनें धर्म्मध्वजी कहा है। कदापि इसकी जीवनपद्धति में अभिनिवेशमूलक किसी भी बाह्य–प्रतीकाचरण का, कृत्रिम प्रतीकों का समावेश नहीं होना चाहिए, जो कि हो पड़ा है दुर्भाग्यवश वणिक्तन्त्र के सहयोग से। मनोधर्म्मा वणिक्तन्त्र, तथा शरीरधर्म्मा शूद्रतन्त्र, दोनों हीं इसके आदर्श बनें हुए हैं आज। ये दोनों प्रदर्शनों के आधार पर ही जीवित हैं। अतएव अर्थकामासक्त, एवं आत्मबुद्धिनिष्ठा से वञ्चित भावुक ब्राह्मण नें भी इस वर्गद्वयी की तुष्टि के लिए, इसे प्रसन्न करने के लिए अनुकरणात्मक कृत्रिम–प्रतीकभावों को ही अपना आराध्य–धर्म्म मान लिया है। तभी तो लम्बासा तिलक न लगाने मात्र से आज के धर्म्मरक्षक ? वैश्ययजमान ब्राह्मण से यह कह डालने में यत्किञ्चित् भी तो लज्जा का अनुभव नहीं करते कि,–'महाराज जी ! आप तो तिलक भी नहीं लगाते, आपको तो पूजन–पाठ–करते भी नहीं देखते। आपको तो चौके में बैठकर भोजन करते भी नहीं देखा। आप कैसे ब्राह्मण हुए' ? प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है—'**जैसे यजमान, वैसे ब्राह्मण**'। इस आश्रयतानें हीं तो संस्कृति–धर्म्म के मौलिक–स्वरूप को अन्तर्म्मुख बनाया है। अलमतिपल्लवितेन एवंविध–जघन्येतिवृत्तेन।

१५३–अनुकरणात्मक प्रतीक–धर्म्मों के व्यामोहन से भारतीय संस्कृति–धर्म्म के–मौलिक स्वरूप की विलुप्ति—

उक्त इतिवृत्त से निष्कर्ष यह निकला कि, आज तूल में मूल ढूँढा जा रहा है। अन्त से अनन्त को पकड़ने की चेष्टा की जा रही है। जब कि परिणाम इस जड़तानुगति का यही होता है कि, अन्त से उपक्रान्त मानवीव मन अन्ततोगत्वा इस अन्त में हीं परिसमाप्त हो जाता है। क्योंकि अन्त कभी अनन्त को प्राप्त कर ही नहीं सकता–'**नास्त्यकृतः–कृतेन**'। अनन्त आत्मा से ही उपक्रम होना चाहिए जिज्ञासा का, धर्म्मप्रवृत्ति का। संस्कृति से ही सभ्यता की ओर आना चाहिए। धर्म्म के आधार पर ही प्रतीकधर्म्मों को सहजरूप से व्यवस्थित होने देना चाहिए (न कि व्यवस्थित करना चाहिए आवेश–पूर्वक)। आवेशात्मक अभिनिवेश का नाम तो अधर्म्म है। यदि हम प्रतीकधर्म्मों में आविष्ट हो जाते हैं, इन्हें हीं मूलधर्म्म मान लेते हैं, तो निश्चयेन यह तो व्याजात्मक ही आचरण बन जाता है, जो स्वयं हमें धर्म्मनिष्ठा से पराङ्मुख ही कर देता है। वही तो हुआ है–प्रतीकप्रदर्शनात्मक–धर्म्मसम्मेलनों से, तथा धार्म्मिक समारोहों से। जनता ऊब चुकी है–उन्हीं सम्मेलन–समारोहों से, जिनके लिए बृटिश सत्तायुग में यही अपना सर्वस्वार्पण कर दिया करती थी। ऐसा क्यों हुआ ?, प्रश्न के समन्वय का उत्तरदायित्व अब हम प्रतीकधर्म्मवादियों की प्रज्ञा के लिए ही सुरक्षित कर देते हैं।

१५४–धर्म्म–संस्कृति–मानवता–सत्य–अहिंसा–दया--आदि का प्रचारव्यामोहन, एवं एवं तद्द्वारा ही भारतीय मानवों की निष्ठाओं का पतन—

भावुकतात्मक तथाकथित प्रतीकरूप महान् दोष से ही उस सर्वस्वघातिका प्रदर्शनवृत्ति' का उदय हो पड़ा है, जिसे आज की भाषा में–'**धर्म्मप्रचार**'–'**संस्कृति का प्रचार**'–'**सत्य–अहिंसा–दया–आदि का प्रचार**', माना जारहा है। एवं इन प्रदर्शनात्मक प्रतीकरूप प्रचारों के द्वारा मानवता के संरक्षण की, तद्द्वारा विश्वशान्ति की महती कामना की जारही है। बातें सुनने सुनाने, कहने कहलवानें में जितनीं–कर्णप्रिय, तथा रसनाप्रिय लग रहीं हैं, क्या तत्त्वतः भी इस तात्कालिकी श्रुतिप्रियता, तथा तात्कालिकी रसनाप्रियता में कुछ तथ्य है ?। देवप्रिया परोक्षभाषा में यद्यपि हमनें पूर्व में इस प्रश्न का समाधान कर दिया है। किन्तु जिस युग में प्रज्ञा, और भूत का सम्बन्ध उच्छिन्न होगया हो, उस मनःशरीरप्रधान केवल भूतयुग में प्रज्ञात्मक परोक्ष समाधान का कदापि समादर नहीं किया जा सकता। अतएव आवश्यक है कि, भूतभाषा में हीं (जिसे आज के भूतयुग में बोधगम्या–लोकप्रिया–बोलचाल की–'पापूलर Papniar भाषा कहा जाता है) हमें उक्त परोक्ष समाधान का स्पष्टीकरण कर देना चाहिए। तभी सम्भवतः प्रतीकात्मक महान् दोष का नग्न स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। और तभी हम यह मान सकेंगे कि, इन प्रतीकभावों की आस्था–श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाले अभिनिवेश से मानव का आज किस सीमापर्य्यन्त '**प्रज्ञापतन**' हो गया है।

१५५–दृष्टान्तों की सिद्धान्तरूप में परिणति, और राष्ट्र का सांस्कृतिक–धार्म्मिक–राजनैतिक--सामाजिक-- वैय्यक्तिक--पतन—

सत्यभाषणलक्षण **सत्य**, परपीड़न से विरोध करने वाली परसुखप्रवृत्तिमूला **अहिंसा**, संकटग्रस्त ाणियों को संकटभाव से बचाने के प्रयत्नों से समन्विता **दया**, आदि भी उसी प्रकार सामान्य प्रतीकधर्म्म

मानें गए हैं, जैसे कि आचरणात्मक धर्म्म के चार विभिन्न प्रतीक वर्ग मानें गए हैं, जोकि–मानव के आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–पर्व–भेदों से क्रमशः अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–धर्म्म–नामों से पूर्व में यत्र तत्र अनेकधा उपवर्णित हुए हैं। आज इस तथ्य का हमें सर्वथा नग्नभाषा–भूतभाषा में स्पष्टीकरण कर ही देना हैं अपने प्रतीकभक्तमात्र भावुक धर्म्मप्रेमियों से कि, **कदापि प्रतीकों का नाम धर्म्म नहीं है**। ये तो धर्म्म के साधनमात्र हैं। जिसप्रकार भावुक मानवों की मानसिक भावुकता के परितोष के लिए इनकी भावुकता से लाभ उठाने वाले नैष्ठिकोंनें दृष्टान्तविधि को जन्म दे दिया है, तथैव लोकभावुकों की श्रद्धा को अमुक–सीमापर्य्यन्त सुरक्षित रखनें मात्र के लिए ही नैष्ठिक धर्म्मरहस्यविदोंनें दृष्टान्त–स्थानीय प्रतीकधर्म्म व्यवस्थित कर दिए हैं। जिसप्रकार दृष्टान्त कभी सिद्धान्त नहीं बना करते, साधन कभी साध्य का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते, तथैव दृष्टान्त, किंवा–साधन–स्थानीय प्रतीकधर्म्म भी कदापि धर्म्म का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते, कदापि नहीं कर सकते।

१५६–सत्य–अहिंसा–दया–आदि का धर्म्माङ्गत्व, न तु धर्म्मत्व—

अतएव कहा जा सकता है, माना जा सकता है, स्पष्ट रूप से कह ही देना चाहिए, मान ही लेना चाहिए कि, सत्यभाषणात्मक प्रतीकसत्य सत्य का प्रतीक हो सकता है, स्वयं कदापि यह सत्यधर्म्म नहीं बन सकता। दया धर्म्म का प्रतीक अवश्य बन सकती है, किन्तु स्वयं दया कभी धर्म्म का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। एवमेव करुणा–अहिंसा–अस्तेय–बाह्यशौच–आदि आदि भी धर्म्म के प्रतीक तो अवश्य माने जा सकते हैं, किन्तु कदापि इन्हें धर्म्म नहीं कहा जा सकता। इसी स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, सत्य धर्म्म का अङ्ग अवश्य है, किन्तु सत्य ही कदापि अङ्गीधर्म्म नहीं है। दया अवश्य ही धर्म्म का अङ्ग है। किन्तु दया ही कदापि अङ्गीधर्म्म नहीं है। एवमेव अहिंसा–करुणा–अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रह–शील–आदि आदि धर्म्म के अङ्ग अवश्य माने जा सकते हैं, सो भी लोकभावुकता-संरक्षणात्मिका अमुक सीमा–पर्य्यन्त ही। किन्तु कदापि अहिंसादि को अङ्गीधर्म्म नहीं कहा जा सकता, नहीं ही कहना चाहिए। धर्म्मशास्त्रों में कहीं भी नहीं कहा गया। इसी अभिनय का इस रूप से भी संवरण किया जा सकता है कि, धर्म्म अवश्य ही सत्य है, किन्तु सत्य कदापि धर्म्म नहीं है। धर्म्म अवश्य ही दया हैं, किन्तु दया कदापि धर्म्म नहीं है। एवमेव धर्म्म अवश्य ही अहिंसा–करुणा–अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रह हैं। किन्तु अहिंसा–करुणा–अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रहादि कदापि धर्म्म नहीं हैं। इसी भाव को इस नग्न-भाषा में भी व्यक्त किया जासकता है कि, धर्म्म–दया बन सकता है, किन्तु दया कभी धर्म्म नहीं बन सकती। धर्म्म अहिंसा बन सकता है, किन्तु अहिंसा कभी धर्म्म नहीं बन सकती। धर्म्म करुणा बन सकता है, किन्तु करुणा कभी धर्म्म नहीं बन सकती। एवमेव धर्म्म अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्रह–अवश्य बन सकता है, किन्तु अस्तेय–शौच–इन्द्रियनिग्राहादि कदापि धर्म्म नहीं बन सकते। किंवा धर्म्म अवश्य दया है, किन्तु दया कभी धर्म्म नहीं है। धर्म्म अवश्य अहिंसा है, किन्तु अहिंसा कदापि न तो सामान्यधर्म्म ही है, न परमधर्म्म ही है, जैसा कि आज अहिंसा का भावुकतापूर्ण–**'अहिंसा परमो धर्म्मः'** यह लक्षण किया जा रहा है एवमेव धर्म्म अवश्य ही अस्तेय–करुणा–शौच–इन्द्रियनिग्रहादि है, किन्तु अस्तेय–करुणा–शौच–इन्द्रिय-निग्रहादि कदापि धर्म्म नहीं है। हुआ स्पष्टीकरण ?। अभी नहीं, तो और सुनिए !

१५७–'गुणानां च परार्थत्वात्–असम्बन्धः समत्वात्' न्याय का तात्त्विक समन्वय, एवं विभिन्न प्राणदेवताओं की स्वरूपव्यवस्थिति—

संस्कृतसाहित्य में एक सुप्रसिद्ध न्याय है–'**गुणानां च परार्थत्त्वात्, असम्बन्धः समत्त्वात्**'। उदाहरण के माध्यम से समन्वय कीजिए। एक स्वामी के दस भृत्य हैं। ये दसों गुणस्थानीय भृत्य 'पर' रूप स्वामी की सेवा में अर्पित हैं। इन गुणात्मक भृत्यों–दसों सेवकों का परस्पर इसलिए कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता कि, दसों समानधर्म्मा हैं, समानशीलव्यसनकर्म्मा हैं। यह समानता ही इन की पारस्परिक असमानता है, जैसे कि कहीं कहीं असमानता ही समानता बन जाया करती है। तात्पर्य्य यही है कि–दसों सेवक एक स्वामी के सेवक अवश्य हैं। किन्तु दसों में परस्पर कोई किसी का स्वामी-सेवक नहीं है। अर्थात् सेवकों में परस्पर स्वामी और सेवकरूप सम्बन्ध अनुपपन्न है। इसलिए अनुपपन्न है कि, दसों हीं समानरूपेण सेवक बने रहते हुए एक पर–दूसरे स्वामी के तन्त्र से सञ्चालित हैं। यदि स्वामी की भावुकता से इन सेवकों में परस्पर स्वामी–सेवक–सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तो कालान्तर में स्वामी महाभाग का स्वरूप ही अन्तर्मुख बन जाता है। और परस्पर स्वामी–सेवक–बन जाने वाले सेवकबन्धु अपना स्वरूप ही उच्छिन्न कर लेते हैं। स्वामी को अङ्गी समझ लीजिए, सेवकों को अङ्ग मान लीजिए। और इसी दृष्टि से समन्वय कीजिए, सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जायगा प्रतीकभावों का।

वाक्–प्राण–चक्षुः–श्रोत्र–त्वक्–रसना–आदि सभी इन्द्रियप्राण अङ्ग हैं, सेवक हैं। अवयव हैं, भक्त (भाग–अंश) हैं। शरीराभिमानी भूतात्मा इन सब का अध्यक्ष–स्वामी है, अङ्गी है। सभी इन्द्रियाँ–'**अत्रैतत्समर्पितम्**' रूप से भूतात्मा में अर्पित हैं। किन्तु कोई इन्द्रिय किसी इन्द्रिय के प्रति अर्पित नहीं है। अतएव इन्द्रिय का लक्षण हुआ है–'नियतविषयत्त्वमिन्द्रियत्त्वम्'। सभी इन्द्रियों के सम्बन्ध में भूतात्मा का जहाँ अङ्गीरूप–'अहम्' प्रत्यय सुरक्षित है। वहाँ कोई भी इन्द्रिय अपने रूप से अपने को 'अहं' (भूतात्मा–अङ्गी) नहीं कह सकती। वह वाक् भी है, प्राण भी है, रसना भी है, श्रोत्र भी है। किन्तु प्राण प्राण ही है, वाक् वाक् ही है, प्राण प्राण ही है, रसना रसना ही है। यही भेदसहिष्णु-अभेदवादसिद्धान्त है। एवमेव अग्नि–इन्द्र–मरुत्–वरुण–रुद्र–यम–निर्ऋति–ईशान–त्वष्टा–मित्र–आदि आदि यच्चयावत् प्राणदेवता उस विश्वेश्वर के पृथक् पृथक् अङ्ग बने हुए हैं। वह इन सब अङ्गों का अङ्गी है। अतएव वह इन्द्र भी है, वरुण भी है. अग्नि भी है, वायु भी है, आदित्य भी है। सभी कुछ है वह। इसी आधार पर–'**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति–अग्निं–यमं–मातरिश्वानमाहुः**' यह कहा गया है। किन्तु इसका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि–अग्नि–वरुण–इन्द्र–मातरिश्वा-आदि भी परस्पर अभिन्न हैं। सभी अङ्ग स्व–स्व–प्राकृतिक–गुण–कर्म्म–मर्य्यादा से पृथक् पृथक् हैं। कदापि इन समानों में अङ्गाङ्गीभाव नहीं हो सकता। जहाँ अग्नि–वरुण–मित्र–आदित्यादि सभी ईश्वर के पर्य्याय माने जा सकते हैं, माने गए हैं ऐकात्म्यवाद के अनुसार, वहाँ कदापि अग्नि–वायु–आदित्य–वरुणादि शब्दों में परस्पर पर्य्यायता सम्भव नहीं है। अग्नि कदापि वरुण नहीं है, वरुण कदापि आदित्य नहीं है। इस तथ्य का यथाव्यवस्थित समन्वय न करने के कारण हीं वैदिक देवतावाद के इस रहस्यपूर्ण पारिभाषिक विभिन्न भाव से वञ्चित अभिनव–वेदभक्तोंनें अपनी कल्पित वेदव्याख्याओं में तत्त्वभूत सर्वथा विभक्त इन पारिभाषिक–विभिन्न प्राणदेवताओं का स्वरूप ही विस्मृत कर दिया है।

१५८--प्रतिनिधिरूप प्रतीकभावों की आत्यन्तिक लाक्षणिकता, अतएव च प्रतीक-भावों की सर्वथैव गौणता—

हम भूल कर रहे हैं। प्रतीकभावों के सम्बन्ध में तो उक्त न्याय भी सर्वात्मना काम नहीं दे रहा। भारतीय उपासनाकाण्ड में-सत्यवती, अङ्गीवती, अन्यवती, प्रतीकवती-निदानवती, आदि भेद से उपासना के अनेक प्रकारों का स्वरूप स्पष्ट हुआ है *। 'गुणानां च परार्थत्त्वात्॰' इत्यादि पूर्वोपवर्णित न्याय का तो उस अङ्गाङ्गीभाव से सम्बन्ध है, जिसका 'अङ्गवतीउपासना' के साथ ही समन्वय सम्भव है। यहाँ तो प्रतीकभाव के आधार पर चर्चा प्रक्रान्त है। लोक में जिसे प्रतिनिधि कहते हैं, वही शास्त्रीय 'प्रतीकभाव' है। तत् में, एवं तत्प्रतिनिधि में जो अन्तर हुआ करता है, धर्म्म, एवं धर्म्म के प्रतीक में वही अन्तर है। तदुपरि अङ्गभाव है, तदुपरि सत्यभाव है। तदनन्तर ज्ञानोदय है, जिसमें तद्रूप—तदङ्ग—तत्—प्रतीक—आदि सभी औपासनिक—कर्म्मानुबन्धी पार्थक्य विच्छिन्न हो जाते हैं, एवं—'तद्वैतत्' रूपेण एक ही की महिमा का महित्त्व शेष रह जाता है। प्रश्न उपस्थित है आचारात्मक उन प्रतीकधर्म्मों का, जो कर्म्म-काण्डानुगत बनते हुए उपासना से भी अवरकोटि में समाविष्ट हैं। अतएव इन में तो अङ्गभाव भी नहीं माना जासकता। प्रतीकरूप—प्रतिनिधि कौन बना करता है ?, जिसमें प्रातिनिध्य करने वाले की अमुक योग्यता रहा करती है। इस 'अमुक योग्यता' को ही संस्कृतभाषा में कहा गया है—'लक्षण', जिसका अस्मत्-प्रान्तीय स्वरूप है—'लक्खण'। जब कोई प्रतिनिधि अपने प्रातिनिध्य-कर्म्म में असावधानी कर बैठता है, तो लोक में कह दिया जा सकता है कि—"अरे ! किसे प्रतिनिधि बना कर भेज दिया। इस में तो प्रातिनिध्य के लक्षण—लक्खण—हीं नहीं हैं"। तात्पर्य्य निवेदन का यही है कि, प्रतिनिधिरूप प्रतीकों में धर्म्म आरोपित है। धर्म्मभावना के इस आरोप से ही प्रतिनिधिरूप प्रतीक भी 'धर्म्म' कहलाने अवश्य लग गए हैं। किन्तु कदापि ये प्रकीकधर्म्म धर्म्म का 'तत्' रूप स्वरूपस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। इसीलिए तो स्वयं धर्म्मशास्त्रनें इन प्रतीकात्मक धर्म्मों को 'धर्म्म' नाम से व्यवहृत न कर—'×धर्म्मलक्षण' ही कहा है। लाक्षणिक-धर्म्मता ही इन की प्रधानता का विरोध कर रही हैं। आरोपितभाव ही लाक्षणिकभाव है। यही लक्षणभाव प्रतीकभाव है। अतएव संसिद्ध है कि, अनुकरणादि धर्म्म प्रतीक हो सकते हैं, किन्तु ये प्रतीक कदापि धर्म्म नहीं हो सकते।

१५६-प्रतीकभावात्मक अहिंसाधर्म्म की आपातरमणीया व्याख्या, एवं तद्द्वारा राष्ट्र की नैष्ठिक--प्रज्ञाओं का व्यामोहनप्रयास—

बात अभी पूरी नहीं बैठी। तो और बैठा लीजिए। आत्मसंस्कृतिरूप शाश्वतधर्म्म आत्मस्वरूप है, अतएव अप्राकृत है, जैसा कि प्रथम प्रकरण में यत्र—तत्र स्पष्ट किया जा चुका है। आत्मब्रह्मरूप धर्म्म की

---

* गीताभूमिका भक्तियोगपरीक्षा—(खण्डद्वयात्मिका) में इन सब विषयों का विस्तार से उपबृंहण किया जा चुका है।

—×धृतिः--क्षमा--दमो--ऽस्तेयं--शौच--मिन्द्रियनिग्रहः।
धी--विद्या--सत्य--मक्रोधो--दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥
—मनुः ६।६।२।

सीमा में हीं तत्प्रतीकरूप पाञ्चमहाभौतिक विश्व समाविष्ट है । विश्वपदार्थ विभक्त हैं, वह इन सब विभक्तों में विभक्तवत् प्रतीत होता हुआ अविभक्तरूप से प्रतिष्ठित है । अतएव सभी पदार्थ तत्पदार्थों के केन्द्रानुगत आत्मभाव की दृष्टि से धर्म्ममय हैं । इन धर्म्ममय पदार्थों का बाह्य–भौतिक स्वरूप ही केन्द्रधर्म्म का प्रतीकभाव है । वही केन्द्रस्थ आत्मधर्म्म इन प्रतीकभावों का आधार बना हुआ है । केन्द्रधर्म्म स्वधर्म्म है, आत्मधर्म्म है । पिण्डधर्म्म परधर्म्म है, प्रतीकधर्म्म है, शरीरधर्म्म है । यदि यह परधर्म्म आत्मस्वरूप का सहयोगी है, तो यही स्वधर्म्म कोटि में आजाता है । यही यदि आत्मस्वरूप का प्रतियोगी बन जाता है, तो उस अवस्था में लक्षणात्मक वही प्रतीकधर्म्म परधर्म्म (अधर्म्म) बन जाता है । दूसरे शब्दों में–आत्मधर्म्मसीमा में अन्तर्भुक्त प्रतीकधर्म्म जहाँ धर्म्म का लक्षण बन जाता है, वहाँ तत्सीमा से पृथक् होते ही प्रतीकधर्म्म अधर्म्म का लक्षण बन जाता है । जिसका स्पष्टतम अर्थ यही है कि, संस्कृति–धर्म्मस्वरूपानुगत वे ही प्रतीक 'धर्म्म' के लक्षण हैं, तो तद्विपरीत जाते हुए वे ही प्रतीक 'अधर्म्म' के लक्षण हैं । अतएव प्रतीकधर्म्मों का कोई निश्चित स्वरूप व्यवस्थित ही नहीं हुआ धर्म्मशास्त्रों में । क्योंकि देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा–आदि के तारतम्य से धर्म्म अधर्म्म बन जाता है, अधर्म्म धर्म्म बन जाता है । उदाहरण के लिए उस **'अहिंसाधर्म्म'** को ही लीजिए, जिसे आज परमधर्म्म माना जारहा है, एवं जिसके आवेश से सम्पूर्ण भारतराष्ट्र, विशेषतः सत्तातन्त्र सर्वात्मना भूतावेशवत् आविष्ट होता जारहा है । और एकमात्र इस अहिंसावाद को ही विश्वशान्ति का एकमात्र निदान (हल) मानने–मनवाने की ऐकान्तिक भावुकता करता जारहा है ।

१६०–'यो मा ददाति, स इ देवमावत्' सिद्धान्त का समन्वय, एवं 'अहिंसाधर्म्म' का नीरक्षीरविवेक—

एक निरपराध–व्यक्ति को यदि दूसरा उद्दण्ड व्यक्ति निष्कारण हीं पीड़ा पहुँचाता है, तो उस उत्पीड़क का यह उत्पीड़नकर्म्म 'हिंसा' मान लिया गया है । इस हिंसा को दूर करने के लिए ही 'अहिंसा' का प्रतिष्ठापन हुआ है । क्या केवल इस शब्दमात्र से हिंसक अपना हिंसाकर्म्म छोड़ देंगे ? । यदि ऐसा सम्भव होता इस अन्न–अन्नादात्मिका प्रकृति में, तो फिर मानव की सभी समस्याएँ बिना हीं प्रयास के समन्वित हो जातीं । किन्तु संघर्षशीला द्वन्द्वात्मिका प्रकृति के क्रोड़ में अहिंसक वर्गों के साथ साथ हिंसकवर्ग भी पुष्पित पल्लवित होते रहते हैं । और दोनों वर्गों में सृष्ट्यारम्भ से ही यह प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त है । यही प्राकृत जीवों के स्वरूपसंरक्षण का एकमात्र अवलम्ब है, जिसका–**'जीवो जीवस्य नाशनम्'** के द्वारा उपवर्णन हुआ है । स्वयं ऋषिप्रज्ञाने भी इसी प्रकृतिसिद्ध–अन्न–अन्नाद के अजस्र संघर्ष का–**'यो मा ददाति, स इ देवमावत–अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि'** इन शब्दों में यशोगान किया है, जिसका कोई भी प्रकृतिरहस्यवेत्ता तो विरोध नहीं कर सकता । और प्राकृत प्राणियों में तो हिंसात्मक इस सहज प्रतिद्वन्द्विता के विपरीत कदापि अहिंसावाद स्थापित नहीं हो सकता । क्योंकि प्रकृति प्रतीक है अव्यय–पुरुषेश्वर की । अतएव तत्प्रधान प्राकृत प्राणियों में आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति ही नहीं है । **'खाने के लिए ही जीना'** हीं प्राकृत–अनात्म्य–जीवों का एकमात्र माङ्गलिक विधान है ।

१६१-आत्मबुद्ध्यनुगत देवभावों, तथा मनःशरीरात्मक असुरभावों की सहजसिद्धा प्रतिद्वन्द्विता, एवं प्राकृतिक देवासुरसङ्ग्राम—

अब प्रश्न उपस्थित होता है उस मानव का, जो एक ओर अपने मन, तथा शरीर से प्रकृति का अवयव बनता हुआ अन्य प्राणियों की भाँति जहाँ केवल प्राकृत जीव है, तो वही दूसरी ओर अपने बुद्धि, तथा आत्मभाव से पुरुषात्मस्वरूप बनता हुआ अप्राकृत है। यों मानव आत्मबुद्धिभाव से पुरुष है, अमृत है, तो मनःशरीरभाव से प्रकृति है, मर्त्य है। अमृतभाव ही मानव की मानवता है, मर्त्यभाव ही मानव की दानवता है। मानवता सदा मानव को अहिंसक बनाए रखने में प्रयत्नशील है, तो दानवता मानव को प्रतिक्षण हिंसाकर्म्म की ओर आकर्षित करती रहती है। जिन मानवों में आत्मबुद्ध्यनुगता मानवता प्रधान बन जाती है, वे मनःशरीरानुगता दानवता पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। एवं जो मानव मनः–शरीरानुगता दासता के पाश में (कामार्थप्रलोभनों में) आबद्ध हो जाते हैं. वे आत्मबुद्ध्यनुगता मानवता पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। और यों प्राकृतिक प्राणियों में जो संघर्ष विभिन्न क्षेत्रों का अनुगामी बना रहता है, मानव में वही संघर्ष केवल एक ही व्यक्तिमानव में प्रक्रान्त हो जाता है। इसी को ऋषि ने शाश्वत देवासुरसंग्राम कहा है। इसी आधार पर मानवधर्म्म क्रमशः– **देवधर्म्म, असुरधर्म्म** भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है प्रकृत्या ही। देवधर्म्म अहिंसा के द्वारा असुरधर्म्म पर विजय प्राप्त करने में सदा प्रयत्नशील बना रहता है, तो असुरधर्म्म हिंसा के द्वारा देवधर्म्म को पराजित कर देना हीं अपना परम पुरुषार्थ मान बैठता है। दोनों की इस सहज प्रतिद्वन्द्विता में कौन जीतता है ?, कौन हारता है ?, प्रश्न दुरधिगम्य है।

१६३–'बलं सत्यादोजीयः' लक्षण तात्कालिक समाधान–व्यामोहन, और असुरों की 'अतिमानिता'–एवं–तन्निरोधव्यामोहनमूलक अहिंसावादप्रचार का निःसारत्त्व–

श्रुति तो यही समाधान करती है कि,–'बलं सत्यादोजीयः'। देवभाव–सत्य–अहिंसात्मक है, असुरभाव असत्य–हिंसात्मक है। आत्मभाव सत्यभाव है, यही देवभाव है। बलभाव (भूतभाव) ही असुरभाव है। दोनों में सत्य की अपेक्षा बल ही अधिक ओजस्वी है। अतएव भूतप्रधाना प्रकृति के क्षेत्र में दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में एकबार तो बलशाली असुर ही विजयलाभ कर जाते हैं, जिसका स्पष्ट अर्थ है–हिंसा की अहिंसा पर विजय। प्रकृतिजगत् में रहते हुए कदापि मानव प्राकृतिक–भूतों की प्रतिद्वन्द्विता में अहिंसा के बल पर तबतक अपनी मानवता का परित्राण कर ही नहीं सकता, जबतक कि वह प्रकृति से भी परे की किसी सशक्त शक्ति को अपना आधार नहीं बना लेता। क्या अहिंसा वह मूलाधार होगा ?। नहीं। यह तो हिंसा का प्रतिद्वन्द्वीभावमात्र ही है। विधिरूप 'हिंसा' शब्द के समतुलन में निषेधरूप अहिंसाशब्द का कोई महत्त्व नहीं है, कोई गणना नहीं है। यही तो कारण है कि, विगत २–२॥ हजार वर्षों से अहिंसावाद की तुमुल घोषणाओं में अहोरात्र निरत रहने वाला भी भारतीय मानव उन हिंसक–दानवों का आज तक प्रतिरोध नहीं कर सका, नहीं कर सका, जिन्होंनें इस अहिंसावादी भावुक मानव को कङ्कालमात्रावस्था में ही ला खड़ा किया है। और आज पुनः यह अपनी उसी अशक्ता भावुकता के व्यामोहन का अनुगामी बनने जा रहा है।

१६३–अतीत भारत के अहिंसायुगों में हीं हिंसा का प्रचण्डरूप से आविर्भाव, एवं हिंसक–बर्बरों के द्वारा अहिंसावादी भावुक भारतराष्ट्र का निर्म्मम पददलन—

भारतवर्ष पर जिन प्रचण्ड–हिंसक–बर्बर–हुणादि दस्युओं का आक्रमण हुआ, वह उस अहिंसायुग का ही महाप्रसाद था, जिसनें मानव को सर्वथा ही निष्प्राण बना दिया था। यह अहिंसा–अहिंसा चिल्लाता ही रहा, और आततायी आक्रान्ता इसका सर्वस्व निगरण करते ही गए, करते ही गए। यही है विगत ३–सहस्रवर्षों के उस अहिंसावाद का महान् पौरुष ?, जिसनें हमें आज उस सीमा पर ला खड़ा किया है, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर भावुक मानव अहिंसा–करुणा–दया–क्षमा–शील–आदि आदि शब्दों का उच्चारण कर सबल–सशक्तों से अपनी रक्षा की भीख ही माँगनें लग पड़ता है। कदापि ऐसे भिक्षा-याञ्चात्मक–अहिंसा–करुणा–दया–क्षमा–शीलादि–शब्दों से मानवता के नाम पर चीत्कार करते रहने मात्र से तबतक कोई भी लाभ नहीं हो सकता, जबतक कि इनके प्रतिद्वन्द्वीभाव इन शब्दों के मूल में प्रतिष्ठित नहीं कर लिए जाते निष्ठापूर्वक।

१६४–संस्कृतिमूला दुर्द्धर्षा, एवं सबला मानवता के द्वारा ही दानवता का आत्यन्तिक-पराभव—

क्या तात्पर्य्य ?। क्या अहिंसा के मूल में हिंसा को, करुणा के मूल में बीभत्स रौद्ररूप को, दया के मूल में उत्पीड़न को, क्षमा के मूल में दण्ड को, एवं शील के मूल में अनैतिकता को प्रतिष्ठित कर लिया जाय ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! ये तो आसुरभाव होंगे, जिनसे दानवता का ही बल बढ़ेगा। कदापि प्रतिद्वन्द्वीभाव का ऐसा अर्थ नहीं है। फिर क्या अर्थ है ?, प्रश्न का अर्थ शब्द के द्वारा स्पष्ट किया ही नहीं जा सकता। वह अर्थ तो भारतीय मूलसंस्कृति–अप्राकृत–मूलधर्म्म की परम्पराओं में हीं परोक्षरूप से ही सुप्रतिष्ठित है, जिसे प्राप्त करने के लिए संस्कृति, एवं धर्म्मनिष्ठा ही सर्वप्रथम शरणीकरणीया है, जिसका चरम फल है–**'मानव को स्वस्वरूपबोध की प्राप्ति'**। एक बार, हाँ, एक बार यदि मानव भ्रान्ति से भी अपनें सांस्कृतिक–धार्म्मिक–आत्मबुद्धिनिबन्धन–मानवस्वरूप को, एवं तद्रूपा मानवता को अंशातः भी पहिचान लेता है, तो तत्क्षण उस की दानवता स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाया करती है। दुर्भाग्य है इस देश का कि, विगत तीन सहस्रवर्षों से भारतीय मानव अपनी इस मूलसंस्कृति, मूलधर्म्म के पारम्परिक स्वरूप को विस्मृत ही करता आ रहा है। एवं तत्स्थान में सत्य–अहिंसा–दया–करुणा–आदि लोक भावुकता–संरक्षकमात्र प्रतीकभावों को ही मानवता–मानवधर्म्म–मानने मनवानें की भ्रान्ति का पथानुगामी बनता चला आरहा है।

१६५–'आततायिनमायान्तं-हन्यादेवाविचारयन्' मूला नैष्ठिकी अहिंसा—

निवेदन किया गया है कि, अहिंसादि प्रतीक धर्म्म के लक्षण हैं, न कि स्वयं धर्म्म। अतएव स्पष्ट है कि देश–काल–पात्रादि के भेद से ये लक्षण विपर्य्ययभाव में भी परिणत हो जाया करते हैं। उदाहरणार्थ 'अहिंसालक्षण' को ही लीजिए। जो अहिंसा एक स्थल पर धर्म्म का लक्षण बनी रहती है, वही अन्यत्र अधर्म्म का लक्षण बन जाती है। आततायीवर्ग के प्रति अहिंसाभाव को व्यक्त करना आततायी के हिंसा-कर्म्म को ही प्रोत्साहन-प्रदान करना है। अतएव शास्त्र को यह कहना पड़ा कि—

गुरूं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं चाप्रकाशंच मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥
—मनुः ८।३५०–५१।

१६६–'मन्युस्तं मन्युमृच्छति' का समन्वय, एवं सांस्कृतिकी अहिंसानिष्ठा —

गुरुमहाराज हो, बालक हो, वृद्ध हो, किंवा विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो । यदि वह आतातायी बन कर आये, तो एक क्षण का भी विचार किए बिना उसे मार ही डालना चाहिए । कदापि उसे मारा नहीं जाता । हम उसकी हिंसा नहीं कर रहे । अपितु–'मन्युस्तं मन्युमृच्छति' रूप से वह स्वयं अपने पाप से ही मर जाता है । एक के मार देने से जहाँ अनेक सन्मानवों का संरक्षण होता हो, वहाँ उस एक की हिंसा करना अहिंसा ही मान जायगा । इसी आधार पर महाभारत में क्षत्रियराजा के द्वारा होने वाली मृगया (शिकार) का समर्थन हुआ है । एक विषधर सर्प को कदापि अहिंसावाद के व्यामोहन में क्षमा नहीं किया जा सकता । यहाँ तो दण्ड ही धर्म्म बना हुआ है । ऋतुकालानभिगामी का इन्द्रियसंयम अधर्म्म ही माना गया है । व्यसनों के लिए व्यसनियों पर दया करना अधर्म्म ही तो माना जायगा । 'वर्णिनां हि–वधो यत्र–तत्र सादयनृतं वदेत्' रूप से सत्य को भी अपवाद से ही समन्वित कहा जायगा । और निष्कर्षतः–'ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्' पथ ही धर्म्मपथ माना जायगा, माना गया है । हमें अहिंसावादियों की उस वृत्ति को सुन कर स्तब्ध रह जाना पड़ता है, जिसमें अहिंसावादी खट्वमल्लों–(खाट में रहने वाले खटमलों) पर दया कर खाट पर ऐसे व्यक्ति को अर्थलोभ से रात्रि में विश्राम कराते हैं, जो अपने मानवीय रक्त से खटमलों पर दया कर उनको तुष्ट तृप्त करें । स्वयं हमारे जयपुर में हीं ऐसे ब्राह्मणश्रेष्ठ विद्यमान हैं, जो ॥) १) ले कर अहिंसावादियों की इस अहिंसा को चरितार्थ करते रहते हैं । भला ब्राह्मण ऐसा पुण्यकर्म्म न करेगा, तो और कौन करेगा ? । अहो ! महतीयं विडम्बना अहिंसायाः, तद्भक्तानाञ्च ।

१६७–वर्त्तमानयुगानुगता--जड़त्वनिबन्धना--मलीमसा--भावुकता, एवं तन्मूलक मानव-धर्म्म, मानवता, अहिंसा, दया, आदि व्यामोहक--शब्दों का निरर्थक वाग्-विजृम्भण—

'न त्वहं तेषु, ते मयि'–'भूतभृत्–न च भूतस्थः' इत्यादि सिद्धान्तों का मर्म्म यही है कि, प्रकृति से पर अवस्थित–सर्वव्यापक अव्ययेश्वर ही प्राकृत-भूतजगत् का आधार है । प्रकृति कदापि उसे अपने में सीमित नहीं कर सकती । शाश्वतधर्म्ममूर्त्ति अव्ययेश्वर के गर्भ में परिवर्त्तनशीला प्रकृति के प्रतीकधर्म्म अवश्य प्रतिष्ठित हैं । किन्तु प्रतीकधर्म्म कदापि उस अप्राकृत–शाश्वतधर्म्म का आधार नहीं बन सकते । अतएव मानना पड़ेगा कि–संस्कृति, एवं तदभिन्न आत्मधर्म्म ही मूलप्रतिष्ठा है प्रतीकभावों की, अहिंसादि–धर्म्मलक्षणों की । अतएव कदापि प्रतीकभावों के प्रदर्शन--द्वारा संस्कृति–धर्म्मनिष्ठा का अनुग्रह प्राप्त नहीं किया जा सकता । अपितु संस्कृति–धर्म्म के द्वारा ही प्रतीकभावों के स्वरूप की व्यवस्था सम्भव

बना करती है, जिस इस विवेक के बिना शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा प्रतीकात्मक–प्रदर्शनात्मक–सम्मेलन–समारोहों को ही धर्म्म का वास्तविक स्वरूप मानने मनवाने की भूल करती जारही है, जिसके दुष्परिणाम–स्वरूप ही इसे अपना सम्पूर्ण वैभव इच्छा–पूर्वक–अहिंसा–करुणा–दया–भावपूर्वक ही मानों आततायी वर्गों के प्रति समर्पित कर देना पड़ा है। कर ही देना पड़ेगा भविष्य में भी, यदि अब भी यह इन्हीं अहिंसादि प्रतीकात्मक धर्म्मलक्षणों को ही मानवधर्म्म–मानवता शील–आदि रूप से मानने–मनवाने की भयावहा भ्रान्ति का अनुगामी बनता रहा तो।

१६८–आत्मना अशान्त, बुद्धया क्लान्त, मनसा विभ्रान्त, एवं शरीरेण च श्रान्त संस्कृतिप्रतिष्ठाशून्य आज का भावुक भारतीय मानव—

इसे उद्बुद्ध करने के लिए ही प्रणतभाव से सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा इसके प्रति समर्पित हो रही है। अधिक नहीं, तो यह अपने–पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–इन लोकानुबन्धी सांस्कृतिक–आयोजनों को तो सर्वप्रथम व्यवस्थित करले। निश्चयेन यथाव्यवस्थित ये आयोजन हीं अविलम्ब इसका ध्यान तीन सहस्र वर्षों के पहिले की उस मूलसंस्कृति, मूलधर्म्मनिष्ठा की ओर ही आकर्षित कर ही देंगे, जिस आकर्षण–बलपर संस्कृति–धर्म्म की मौलिकता पर प्रतिष्ठित होता हुआ भारतीय मानव सविद्य–सशक्त–सवीर्य्य–स्वस्थ–बन कर उस दशा में निश्चयेन बलपूर्वक सम्पूर्ण विश्व के मानव को अहिंसा–सत्यादि–लक्षणों की ओर आकर्षित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेगा। जबतक यह संस्कृति के स्वरूपबोध से वञ्चित–पराङ्मुख बना रहेगा, तबतक कदापि इसमें स्वस्वरूपानुगत–विद्या–पौरुष–वीर्य्य–पराक्रम–बल–साहस–उद्यम–धैर्य्य–शक्ति–आदि का प्रादुर्भाव ही न होगा। जबतक ये सांस्कृतिक–विभूतियाँ इसके भूतात्मानुगत बुद्धिक्षेत्र में उदित नहीं हो जायँगीं, तबतक यह अपने चारों हीं मानवीय पर्वों से–क्रमशः आत्मना **अशान्त, बुद्धया क्लान्त**, मनसा **विभ्रान्त**, एवं शरीरेण **श्रान्त** ही बना रहेगा। ऐसे सर्वसामर्थ्यशून्य–मानव के द्वारा प्रयुक्त अहिंसादि प्रतीकभाव कदापि किसी भी अंश में सफल नहीं होंगे, जैसे कि–अशक्त दीन–हीन के सभी भिक्षापथ दूसरों की दया पर ही अवलम्बित बने रहते हैं। प्रतीकधर्म्मानुगत–प्रदर्शनप्रवृत्तिमूलक इसी महान् दोष के स्पष्टीकरण के लिए हमें इस अप्रिय अवान्तरप्रसङ्ग का आश्रय लेना पड़ा, जिसके लिए हम भी युगधर्म्मानुगत प्रतीकभावाकर्षण से क्षमा हीं माँग लेते हैं अपने भावुक राष्ट्रभक्त कृपालुओं से।

१६९–प्रक्रान्त–विषय–सन्दर्भसङ्गति—

प्रसङ्ग यह इसलिए उपक्रान्त हो पड़ा था कि, आयोजनों के स्वरूप–प्रसङ्गों में तीन सहस्रवर्षा-विधि से सम्बन्ध रखने वाले सत्तातन्त्र सम्मुख हो पड़े। इन्हीं के क्रमिक कालानुबन्धों से **पर्वोत्सव–उत्सवसम्मेलन–सम्मेलनसमारोह**, ये तीन क्रम बन गए भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों के। इन्हीं तीनों का प्रसङ्गवश प्रथम–प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ा। इसी प्रसङ्ग में ब्रिटिश सत्तातन्त्र की वणिक्–वृत्ति का इतिहास प्रवृत्त हो पड़ा, तदनुबन्धनैव–विट्शूद्रमूलक **'सम्मेलन–समारोह'** नामक तृतीय संस्थान के सम्बन्ध में प्रदर्शनात्मक महान् दोष का अवान्तर प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा, जिसके लिए ही प्रतीकभावों की गुणगाथा का गान विवशतावश अनिच्छिन्नपि करना ही पड़ा, इति नु–प्रक्रान्तविषयसन्दर्भसङ्गतिः।

१७०-ब्रह्मक्षत्रांशानुगत-गुप्तयुगानुबन्धी पर्वोत्सवयुग, क्षत्र-विडनुगत-आक्रामकयुगानुबन्धी उत्सवसम्मेलनयुग, एवं विट्-शूद्रानुगत-ब्रिटिशयुगानुबन्धी सम्मेलन-समारोहयुग-भेद से सांस्कृतिक-आयोजन-युगों का समन्वय—

बृटिशसत्तायुग के महान् ! पौरुष ! की एकमात्र प्रधान देन बनी "**राष्ट्रीय मानव के आत्मबुद्धिरूप सांस्कृतिक पर्व का मनःशरीररूप सभ्यता-पर्व से विच्छेद**"। जिस इस विच्छेद-का सहजभाषा में यों भी विश्लेषण किया जा सकता है कि, तत्पूर्व-युगों से ही क्रम क्रमशः शिथिला बनती चली आ रही संस्कृतिनिष्ठा बृटिशसत्तायुग में इसकी धर्म्मनिरपेक्षता से सर्वथा ही अभिभूत हो गई। परिणामस्वरूप संस्कृतिसन्देशवाहक ब्रह्मबल (ब्राह्मणवर्ग), एवं धर्म्म के बाह्यस्वरूप का रक्षक क्षत्रबल (क्षत्रियवर्ग) दोनों अपने ब्रह्मवर्चस् तथा भ्राजतेज से सर्वथा ही अभिभूत हो गए। रह गए राष्ट्र में मनःप्रधान काममयार्थलिप्सु विड्बल (वैश्यवर्ग), तथा शरीरप्रधान-अर्थमकामलिप्सु पौष्णबल (शूद्रवर्ग)। अतएव वैश्यभावानुबन्धी, किंवा मनोभावानुबन्धी सम्मेलन, तथा शूद्रभावानुबन्धी, किंवा शरीरभावानुबन्धी समारोह ही प्रधान बन गए ब्रिटिश-सत्तायुग में। सैषा स्थितिरायोजनानां कालानुबन्धिनी—

३०००—वर्षात्मिका भावुकयुगत्रयी	१५०० वर्षात्मकः	१-ब्राह्मणभावानुगत- २-क्षत्रियभावानुगत-	पर्वोत्सवौ—भावुकसत्तातन्त्रानुगतौ-(आरम्भयुगः)
	१२०० वर्षात्मकः	१-भावुकक्षत्रानुगत- २-भावुकविडनुगत-	उत्सवसम्मेलने—आक्रामक-तन्त्रानुगते-(मध्ययुगः)
	३०० वर्षात्मकः	१-भावुक विडनुगत- २-भावुक शूद्रानुगत-	सम्नेलनसमारोहौ—ब्रिटिशसत्तातन्त्रानुगतौ-(उपसंहारयुगः)

१-पर्वोत्सवयुगः———ब्रह्मक्षत्रयुगः (१)-गुप्तयुगः
२-उत्ससम्मेलनयुगः——क्षत्रविड्युगः (२)-हूणादि-मुगलान्तयुगः
३-सम्मेलनसमारोहयुगः—विट्शूद्रयुगः (३)-ब्रिटिशसत्तायुगः —

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१७१–वर्त्तमानसत्तातन्त्र के, एवं तदनुगत जनतन्त्र के अज्ञात-नाम–गुणकर्म्मात्मक आयोजन, तथा तत्सम्बन्ध में भारतीय–सांस्कृतिक–प्रज्ञाओं की दिग्विमूढता–

उक्त तालिका–माध्यममात्र से हमारे आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक–आयोजन–प्रवृत्तियों का स्वरूप सर्वात्मना गतार्थ बन जाता है। अतएव अब हमें अपने सत्तातन्त्र की न तो धर्म्म–निरपेक्षता के ही सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना है, एवं न केवल मनःशरीरनिबन्धनात्मक–विट्–शूद्र–भावप्रधान–(ब्रह्मक्षत्रभाववञ्चित) सम्मेलन–समारोहात्मक सांस्कृतिक ? आयोजनों के सम्बन्ध में हीं कोई वक्तव्य शेष रह जाता है। इसी के साथ अन्यान्य सभी भावानुभाव भी उक्त–तालिकाद्वयी के अनुग्रह से सर्वात्मना समन्वित हो जाते हैं। इति नु दुर्दान्तस्य–कालस्यैव महिमा।

जब कि आज के आयोजन भारतवर्ष में ही भारतीय जनतन्त्र के, तथा भारतीय सत्तातंन्त्र के ही द्वारा सोल्लास–साटोप–साभिनिवेश–सम्मिलितरूप से माने, और मनवाए जा रहे हैं, तो उसी भारतभूमि के पावन-सांस्कृतिक-मृद्भाग [मिट्टी] से कृतशरीरी यह जन भी क्यों न सोल्लास अपने इन वर्त्तमान आयोजनों का समर्थन–अभिनन्दन करना हीं अपना एकमात्र नैष्ठिक कर्त्तव्य मानले, मानना ही चाहिए, मान ही रहा है। तभी तो इसे अपनी सर्वथा रूक्षा–कर्कशा–वेदाभ्यासजड़मति को कुछ समय के लिए वेदस्वाध्याय से विमुख बना कर भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा–प्रदर्शन के प्रति वेग से अनुधावन कर लेने के लिए विवश बना देना पड़ा है, जिस इस अनुधावन का, हम समझते हैं–आज के सांस्कृतिक–आयोजनभक्त अवश्य ही मूल्याङ्कन–करने का अनुग्रह करेंगे।

१७२–शब्दार्थमूला महती भ्रान्ति, एवं तदनुग्रह से प्राकृत–मानवों पर निषेधद्वारा भारतीय–प्रवृत्तियों का ही अज्ञातरूपेण महान् विजय—

गुप्तयुगीय–भावनाओं से नाटक–कला–साहित्यादि–भावों का संकलन करते हुए, हूणादिमुगलान्त–युगीय–भावनाओं से विविध प्रकार के भोगैश्वर्य्य–भावों का संकलन करते हुए, एवं बृटिशयुगीय–भावनाओं से धर्म्मनिरपेक्षता–शिक्षायन्त्रानुगता राष्ट्रीयकरणता–सर्वोपरि–विट्शूद्रभावानुगत–मनः–शरीरनिबन्धन–सम्मेलन–समारोहभावों का सोल्लास अभिनन्दन करते हुए ही मानों हमारा जनतन्त्रात्मक युग सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र बन कर अपनें इन मानसिक-शारीरिक भावों-चेष्टाओं को सम्पूर्ण प्रयासों से सफल बनाने के लिए आतुर ही बनता जा रहा है। पर्व–उत्सव–धर्म्म–आदि शब्द तो हैं इसकी दृष्टि में साम्प्रदायिक। किन्तु–**संस्कृति–सम्मेलन–समारोह–आयोजन**–आदि शब्द बने हुए हैं इसकी दृष्टि में सर्वथा धर्म्मनिरपेक्ष, जब कि तत्त्वतः संस्कृति का 'सम्' उपसर्ग,–सम्मेलन का 'सम्' उपसर्ग, समारोह का सम्–भाव, तथा आयोजन का 'आङ्' उपसर्ग भी दुर्भाग्यवश बना हुआ है धर्म्मसापेक्ष ही, आत्मब्रह्मात्मक समब्रह्म–सापेक्ष ही। सर्वात्मना आत्म–धर्म्म–सापेक्ष बनते हुए ये शब्द अज्ञातरूप से भारतीय–प्रवृत्तियों के महान् विजय के ही तो सूचक बन रहे हैं।

१७३–'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थ से भी वञ्चित आज के तथाकथित आयोजन —

शब्द तो मूलतः सर्वात्मना धर्म्मसापेक्ष ही हैं। किन्तु इनका आज उपयोग हो रहा है वहाँ, जहाँ सचमुच में आत्मा,–तदनुगता सत्त्वबुद्धि, तदनुगत सत्त्वगुणान्वित मन, तद्युक्त युक्ताहारविहारपरायण

प्रकृतिस्थ शरीर–आदि सत्त्वभावों का प्रवेश भी निषिद्ध बना हुआ है। प्रश्न केवल समब्रह्मात्मक आत्मभाव का ही नहीं है। अपितु स्थिति तो कुछ ऐसी है कि, भारतीय सांस्कृतिककोश (शास्त्र) में सांस्कृतिक–आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–पर्वों की जो स्वरूप–व्याख्या हुई है, उनमें से किसी का भी तो आज के सम्मेलन–समारोहों में प्रयास करने पर भी हम समन्वय–उपलब्ध नहीं कर पा रहे। आज के किसी भी आयोजन में समब्रह्म का संस्मरण भी साम्प्रदायिक मान लिया जा सकता है। किसी में भी उपक्रमोपसंहार में ईश–देव–संस्मरण उपलब्ध नहीं कर रहे, किसी भी आयोजन की कोई बुद्धिगम्या व्याख्या का समन्वय सम्भव नहीं बन रहा, किसी भी आयोजन के द्वारा मनस्तन्त्र में राष्ट्रीय अभ्युदय की कोई वासना जागरूक नहीं देखी जा रही, तो इत्थंभूत–भारतीय–आत्म–बुद्धि–सत्त्वमनो–वञ्चित इन आयोजनों को हम किस आधार पर **'सांस्कृतिक'** नाम से व्यवहृत करें, जबकि तथाकथित–चिरन्तनेतिवृत्तात्मक–'संस्कृति' शब्द के अक्षरार्थ की भी इन आयोजनों में उपलब्धि–भ्रान्ति भी तो सम्भव नहीं है ?

१७४–वर्त्तमान आयोजनों की भारतीय 'सभ्यता' के क्षेत्र से भी पराङ्मुखता—

क्या इन्हें हम **'भारतीय–सभ्यता के आयोजन'** कहलें ?। यह भी सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा। क्योंकि सभ्यता यहाँ संस्कृति का ही प्रतीक मानी गई है। जिस सभ्यता में भारतीय संस्कृति की प्राणप्रतिष्ठा का स्मरण भी निषिद्ध बन रहा हो, अपितु आज की जिस भारतीय सभ्यता ? में सर्वात्मना सभी दृष्टिकोणों से पश्चिम की सभ्यताओं का ही अनुकरण हो, उस सभ्यता के द्वारा उसी सभ्यता के प्रतीक बन जाने के लिए आतुर यहाँ के आयोजकों के द्वारा आयोजित आयोजनों को 'भारतीय–सभ्यता के आयोजन' कहने में भी हमें तो संकोचवृत्ति का ही अनुगामी बन जाना पड़ेगा। और यों **भारतीय संस्कृति, तथा भारतीय सभ्यता–शब्दों के तथोपवर्णित चिरन्तन इतिहास** के अनुग्रह से हमें विस्पष्ट शब्दों में, किन्तु प्रणत–भाव से एकमात्र भारतीय–अभ्युदय–निःश्रेयस् की ही माङ्गलिक–भावना से यह निवेदन कर ही देना पड़ेगा, कर ही देना चाहिए कि–**'सांस्कृतिक आयोजन' के नाम से घटित–विघटित वर्त्तमानयुग का कोई भी आयोजन न तो यहाँ का सांस्कृतिक–आयोजन ही है, न यहाँ की सभ्यता से ही उसका कोई सम्बन्ध है।**

१७५–वर्त्तमान–आयोजनों के 'नामकरण' की महती समस्या, एवं तत्सम्बन्ध में भारतीय सांस्कृतिक–प्रज्ञा की स्तब्धता —

तो फिर क्या नामकरण होना चाहिए वर्त्तमान इन…………………………**का** ?, प्रश्न का समाधान भी हमारे लिए अत्यन्त ही दुरधिगम्य इसलिए बन रहा है कि, भारतीय **'संस्कृति'**, भारतीय–**'सभ्यता'**, तथा भारतीय **'आयोजन'**, इन तीनों भारतीय शब्दों का जो अक्षरार्थ है, वर्त्तमान में घटित–विघटित इन…………… ………का तो तीनों शब्दों के अक्षरार्थ से भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में इन्हें न तो–**'भारतीय सांस्कृतिक आयोजन'** ही कहा जा सकता, न **'भारतीय–सभ्यता के आयोजन'** हीं माना जा सकता। अतएव इनके नामकरण के सम्बन्ध में भी भारतीय प्रज्ञा को तो सर्वथा कुण्ठित ही हो जाना पड़ रहा है। **पर्व–उत्सव**–एवं समानुगत ही **सम्मेलन**, तथा समानुगत ही **समारोह**, एवं आसमन्तात् समन्वय–योगलक्षण * **आयोजन**, कोई सा भी तो शब्द, किंवा नाम इन…………………के

---

* योगः कर्म्मसु कौशलम् । समत्त्वं योग उच्यते । [गीता]

साथ अंशतः भी तो समन्वित नहीं हो रहा केवल अक्षरार्थदृष्टि से भी। ऐसी अवस्था में क्या तथाकथित प्रश्न के सम्बन्ध में भारतीय प्रज्ञा का कुण्ठित बन जाना स्वाभाविक नहीं मान लिया जायगा ?।

१६६–'नाम' का ग्रहत्त्व, और वर्त्तमान-आयोजनों के नामकरण का अन्वेषण–

हाँ, इन बिना नाम के, अतएव बिना काम के अज्ञात नामभावापन्न–जो भी कुछ कहलाने वालों को 'भारतीय' मात्र इसलिए कहा जा सकता है कि, सांस्कृतिक पावन भारतभूमि पर स्वयं भारतीय मानवों के द्वारा ही अज्ञातनामा इन……………का भारतवर्ष में नवीन ही आविष्कार हुआ है। इन भारतीय……………का नामकरण करना तो इसलिए पड़ेगा कि–बिना नामग्रह के वस्तुस्वरूप का सङ्केत ही सम्भव नहीं है। इसीलिए तो ग्रहविज्ञानोपनिषत् नें–'नाम' को भी एकप्रकार का 'ग्रह' मान लिया है ÷। संस्कृति--शब्द का सम्बन्ध नहीं, तत्प्रतीकभूता भारतीय सभ्यताशब्द का सम्बन्ध नहीं, तत्–बाह्य–समायोजनात्मक–'आयोजन' शब्द का सम्बन्व नहीं। केवल भारत में विघटित होने मात्र से 'भारतीय' शब्दमात्र अवश्य सम्बद्ध माना जा सकता है इन अज्ञातनामाओं के साथ। तो क्या–**'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'** जैसा उन्मुक्त घोष करने वाले भारतीव द्विजाति की प्रज्ञा के कोश में इस नामकरणात्मिका समस्या का कोई समाधान नही है ?। यदि यों यहाँ की प्रज्ञा पर आक्रमण किया जायगा, तो फिर इसी प्रज्ञा को नामकरण कर भी देना पड़ेगा, फिर वह आज के इन…………के भक्तों को लगे भले ही कैसा ही। किन्तु इस रुचि–अरुचि–विवेक को इनके क्षेत्र में क्योंकि कोई विशेष समादर प्राप्त नहीं है। अतएव तद्भक्तों के लिए यदृच्छात्मक ही समाधान ढूँढ निकाल लेना भारतीय द्विजातिप्रज्ञा के लिए कदापि दुरधिगम्य नहीं माना जायगा। और हम भूल नहीं कर रहे, तो जिन आज के इन……………के रहस्यवेत्ताओं नें इन……………के स्वरूप का जो पारम्परिक ? रहस्योद्घाटन ? किया है, उन्हें भी यदृच्छाभावों का ही अनुगमन कर लेना पड़ा है, जैसा कि सम्भवतः अनुपद में ही स्पष्ट हो जायगा।

१७७-मानसिक-अभ्यस्त-भावों से अनुप्राणित–'यदृच्छाशब्द', और तद्विभूषित आज के आयोजन—

संस्कृतभाषाशास्त्र ने 'यदृच्छाशब्द' को लेकर एक प्रसङ्ग उठाया है। यद्यपि **'न सन्ति यदृच्छाशब्दाः'** (पातञ्जल महाभाष्य) के अनुसार संस्कृतिमूला संस्कृतभाषा की दृष्टि से कोई भी शब्द 'यदृच्छाशब्द' नहीं है। अवश्य ही प्रत्येक शब्द का निरुक्त–प्रकृति–प्रत्यय–धातु–उपसर्ग–निपात–आदि आदि मर्य्यादानुबन्धों से प्रकृतिसिद्ध निश्चित ही अर्थ है। तथापि इस 'संस्कृति' भाव से विमुख हो जाने पर अवश्य ही अपने आत्मब्रह्मरूप सांस्कृतिकभाव से पृथक् हो जाने वाली प्रकृति, दूसरे शब्दों में आत्मबुद्धिप्रतिष्टानों से पृथग्भूता केवल मनःशरीरात्मिका, अतएव सर्वथा अलग्ला–काल्वालीकृता–पिब्दमाना–अस्थिरा–चञ्चला–प्रकृति, किंवा जड़भावात्मिका प्रकृति बिना अर्थोद्देश्यों के भी अनर्गलरूप से ही अस्तव्यस्त रूप से उसी प्रकार वैसे शब्द भी निकालने लग पड़ती है, जिनका कोई सोद्देश्य–सकारण–

÷--**नाम वै ग्रहः। नाम्ना हीदं सर्वं गृहीतम्।** [शत० ४।६।५।३]।

समन्वय नहीं रहा करता । एक मानव अपने आत्मभाव, तथा बुद्धिभाव से अभिभूत होकर केवल मनोराज्य में हीं प्रतिष्ठित हो जाता है । ऐसा मनोराज्यवशवर्त्ती मानव जिसप्रकार प्रमादावस्था के अनुग्रह से बिना ही उद्देश्य–प्रयोजन–लक्ष्य–के आँय–बाँय–शाँय–आदि आदि कुछ का कुछ बकने लगता है, और ऐसे **आँ–आँ–बाँ--वाँ--व–व--व--फुर्र--धुर्र**--आदि शब्दों का कोई अर्थ नहीं हुआ करता, तथैव केवल मनःशरीरविभोर प्राकृत मानव के द्वारा यों हीं निकल पड़ने वाले अनुकरणात्मक शब्द ही 'यदृच्छाशब्द' कहलाए हैं ।

वर्षा की जलबिन्दुओं के अनुकरण से सम्बन्धित **टप्–टप्–टपाटप्**–आदि शब्द, अश्वध्वनि के अनुकरण से सम्बन्धित '**हिं हिं हिं**....' शब्द, मेढकध्वनि के आधार पर विनिर्गत **टर्र–टर्र**–शब्द, कोकिलाकी ध्वनि के आधार पर निर्मित 'कुहू–कुहू' शब्द, एवमेव **डाड़ा डाड़ा–भ भ भ भ–ताक्धिना-धिन–छमाछम–झनाझन–खटाखट–द्रूम–द्रूम–द्रूम–अहाहाहा–हूहूहू–ओहोहो**–आदि आदि लौकिक यदृच्छाशब्द, एवं–डित्थ–कपित्थ–गोपुतलिका–गावी–गौणी–हाहा–हूहू–आदि आदि प्राकृत यदृच्छाशब्द सचमुच केवल मानसिक–यथेच्छ–अनर्गल--भावों के अतिरिक्त और कोई भी आत्मबुद्धिसम्मत अर्थ नहीं रख रहे । **सननन--सननन**–कर पवन का चलना, **उमड़--घुमड़**–कर मेघों का आक्रमण करना, **चमक–चमक**–कर बिजली का व्यक्त होना, आदि आदि वाक्य यदृच्छात्मक ही वाक्य मानें जायँगे, जो मानसिक--असम्बद्ध–भावों की उच्चावचा (ऊँची-नीची) वीचियाँ (लहरियाँ) मात्र हीं मानीं गई हैं । इत्थंभूत यदृच्छाशब्दों को अपना मूलाधार बनाने वाली मनःशरीरभावाप्रधाना–पशुसमतुलिता--जड़प्रकृति का दिग्देशकालानुबन्धी--परिवर्त्तनात्मक विविध स्वरूप-विजृम्भण ही वे 'प्राकृतिक–आयोजन' कहे जा सकते हैं, जिन इन 'आयोजन' शब्दों का 'आङ्' उपसर्ग प्रकृति के अनेक भावों के आसमन्तात्–योग का ही संग्राहक माना जायगा ।

१७८–जड़भावानुगत प्राकृत जीव, एवं उन का यदृच्छाशब्दात्मक, तथा यदृच्छाकर्म्मात्मक संक्षिप्त इतिवृत्त—

उक्त यदृच्छाशब्देतिहास के आधार पर अब हमें आज के 'योजनात्मक' आयोजनों का भी नामकरण ढूँढ ही निकाल लेना है । स्पष्ट है कि, पञ्चमहाभूतात्मिका प्रकृति में, एवं तदवयवभूत प्राकृत प्राणियों में (पशु–पक्षी–कृमि–कीटों में) सर्वत्रैव यदृच्छाशब्द धारावाहिकरूप से प्रवाहित हैं, जिन में से कितनों हीं का तो भूतप्रधान शरीरभावों पर पर्य्यावसान हो रहा है, जैसे कि जलप्रपातशब्द, झंझावातशब्द, अग्नि-प्रज्वलनशब्द, आदि आदि । एवं जिन्हें चेतनप्राणी कहा गया है, (जिनके कि–पशु-पक्षी–कीट–कृमि–ये चार मुख्य वर्ग मानें गए हैं, जो कि मनोजीवी कहलाए हैं)–उनका मनःशरीरोभयभावात्मक यदृच्छाशब्दों से सम्बन्ध है । यों प्राकृतिक जड़, और चेतन पदार्थों के भेद से क्रमशः जड़ानुबन्धी यदृच्छाशब्द, तथा चेतनानुबन्धी यदृच्छाशब्द–भेद से दो विभाग हो रहे हैं यदृच्छाशब्दों के। मानसिक, तथा शारीरिक वीचियों के अनुपात से मानसिक तथा शारीरिक यदृच्छाशब्दों को निकालते रहना, तद्वीच्यनुपात से ही पारस्परिक अन्न-अन्नादभाव प्रक्रान्त रखना, और यों इन यदृच्छात्मक सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–उन्मुक्त--भावों से स्वच्छन्द विचरण करते हुए अन्ततोगत्वा अव्यक्तभाव में विलीन हो जाना ही इन प्राकृतिक जड़–चेतन–पदार्थों का

यदृच्छात्मक–समस्त इतिवृत्त है । आयोजनों की भाषा के अनुसार--नाचते–गाते–थिरकते–मटकते–हाहा–हूहू-ही ही--करते हुए अपने भाव में ही विभोर बने रहते हुए, अपने मनोराज्य में विचरण करते हुए यथेच्छ–स्वतन्त्रतापूर्वक खाते–पीते हुए जीवनक्रम चलाते रहना, और अन्ततोगत्त्वा अत्रैव विलीन हो जाना हीं प्राकृतिक जड़भूतों का, तथा प्राकृतिक चेतनभूतों का (शरीरजीवी, तथा मनोजीवी–प्राणियों का) यदृच्छाशब्दात्मक, तथा यदृच्छाकर्म्मात्मक सम्पूर्ण इतिवृत्त है ।

१७९–प्राकृतिक–जीवों के प्राकृतिक मूलबीज—

उक्त इतिहास का मूल जब प्रकृति है, तो अवश्य ही प्राकृतिक विश्व में भी इन प्राकृत जीवों की प्राकृत–जीवनधाराओं के मूल सुरक्षित रहनें हीं चाहिएँ । कौन हैं वे मूलबीज ?, एवं क्या स्वरूप है उन मूलबीजों का ?, इन गम्भीर प्रश्नों के समन्वय के लिए तो वेदशास्त्र की **रेतःश्रद्धायशोमयी--चान्द्रीविद्या,** तथा **वाक्–गौः–द्यौः–लक्षणा पार्थिवीविद्या,** इन दोनों विद्याओं का ही निष्ठापूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए, जिन की सीमा में समस्त–प्राकृतिक प्राणियों का प्राकृतिक चिरन्तन इतिहास सुरक्षित है । प्रकृत में इस दिशा में केवल यही निवेदन करना पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि, विश्वकेन्द्रस्थ भगवान् सूर्य्यनारायण से नीचे नीचे के अर्द्ध अण्डकटाहात्मक दृश्य विश्व में **चन्द्रमा, और भूपिण्ड,** ये दो महान् प्रतीक हैं चान्द्री मूलप्रकृति के, एवं पार्थिवी मूलप्रकृति के ।

१८०–चान्द्र–पार्थिव–जीवों के नामों का संस्मरण—

भारतीय प्रज्ञा ने 'नामकरण' को भी एक महान् संस्कार माना है । क्योंकि प्रश्न भारतीय संस्कृति से किया गया है इन आयोजनों के नामकरण के सम्बन्ध में । अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि, वह अपने सांस्कृतिक–सांस्कारिक–धरातल से ही समाधान का अन्वेषण करे । अतएव च यह प्राकृतिक प्रसङ्ग भी थोड़ा सूक्ष्म हो जाय, तो इसके लिए संस्कृति को क्षम्य हीं मान लेंगे आज के आयोजन–स्रष्टा–कर्त्ता–प्रचारक महानुभाव । हाँ, तो चन्द्रमा, और भूपिण्ड, इन दोनों की समन्वितरूपा 'चान्द्री–पार्थिव–प्रकृति' की सीमा में मुख्यरूप से जो प्राणी प्रतिष्ठित हैं, सर्वप्रथम उन्हीं का नामकरण कर लेना आवश्यक होगा इस 'नामकरण' प्रसङ्ग में ।

१८१–अचेतन, एवं अर्द्धचेतन पार्थिव जीव—

भूगर्भ से आरम्भ कीजिए । भूगर्भ में अभ्रक–सीसक–लौह–ताम्र–रजत–सुवर्ण–आदि आदि जितने भी खनिजद्रव्य हैं, भूपृष्ठ पर पाषाण-लोष्ट-मृत्-आदि आदि जितने भी भूत-भौतिक द्रव्य हैं, उन सब भौतिक द्रव्यों का एक विभाग है, और इसी विभाग को-**'निरिन्द्रियमचेतनम्'** परिभाषा से **शुद्धजड़**, अतएव साङ्केतिक परिभाषा में **'असंज्ञजीव'** (अचेतनजीव) कहा गया है । भूगर्भ में जिनका मूलभाग समाविष्ट रहता है, जो मूलभाग से भूगर्भ में रहते हुए अपने बाह्य तूलरूप से भूपृष्ठ से ऊपर उठे रहते हैं अपनी अपनी बीजानुगता-महत्प्रकृति के आकृतिभाव के अनुपात से, वही दूसरा **'मूलजीव'** विभाग हैं, जिन्हें परिभाषा में **'अन्तःसंज्ञ'** कहा गया है *।

---

* **अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः** (महाभारते)

वृक्ष–लता–गुल्म–आदि आदि सम्पूर्ण ओषधि–वनस्पतिवर्गों का इसी कोटि में अन्तर्भाव हैं। इन्हें हीं '**अर्द्ध-चेतन**' कहा गया है। शुद्धजड़भावापन्न असंज्ञ नामक **अचेतनवर्ग**, तथा अन्तःसंज्ञभावात्मक–**अर्द्धचेतनवर्ग**, दोनों भौम प्राकृतिक पदार्थों की समष्टि का सांख्यपरिभाषा में एक नाम है—'**स्तम्बजीव**', जिसे **अवःसर्ग–तमोविशालसर्ग** आदि नामों से भी व्यवहृत किया गया है।

१८२–चेतन–पार्थिव जीव,, एवं चन्द्रमा के रेतः–श्रद्धा–यशो–भाव—

आगे चलिए। अर्द्धचेतनभाव पूर्णचेतनभाव में परिणत होगया। वही पहिला पार्थिव **कृमिवर्ग** कहलाया। तदनन्तर **कीटवर्ग**, तदनन्तर **पक्षीवर्ग**, सर्वान्त में **पशुवर्ग**, इन चार वर्गों में एक नवीन '**चेतनवर्ग**' उत्भूत हुआ, जिसे हम **पार्थिवजीव–ससंज्ञजीव–अमूलजीव–तिर्य्यक्सर्ग–रजोविशालसर्ग**–इत्यादि अनेक नामों से व्यवहृत करेंगे। स्तम्बजीव भौम थे, ये चारों जीव पार्थिव हैं। अब स्थान आता है चन्द्रमा का। चान्द्रीप्रकृति में–'**प्रज्ञा–प्राण–भूत**' ये तीन भाव समाविष्ट हैं। प्रज्ञाभाग चन्द्रमा के ऊर्ध्वभाग में–सौर भाव से अनुगत बना रहता है, प्राणभाग चन्द्रमा के अधोभागरूप स्व चान्द्री कक्षा में प्रधान बना रहता है, एवं भूतभाग पृथिवी से अनुगत बना रहता है। और यों रेतः–श्रद्धा–यशोमूर्त्ति चन्द्रमा यशोभाव से समन्वित प्रज्ञाभाग सूर्य्यानुगत, श्रद्धाभावसमन्वित प्राणभाग स्वानुगत, तथा रेतोभावसमन्वित भूतभाग पृथिव्यनुगत बना रहता है, जिस इस त्रेधा विभक्त स्थिति को अवधानपूर्वक ही आपको लक्ष्य बना लेना है।

१८३–चतुर्द्धा–चतुर्द्धा–विभक्त त्रिसंस्थ द्वादश–चान्द्रजीव—

मण्डलानुगता * चतुर्भुजता से चान्द्रवृत्तानुगत प्रज्ञा–प्राण–भूत–नामक तीनों भाय भी चतुर्भुजता से समन्वित होते हुए चार–चार विभूतिभावों में परिणत हो रहे हैं। इसी आधार पर–'**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' यह अनुगमपरिभाषा व्यवस्थित हुई है। क्या तात्पर्य्य इस त्रिधा विभक्त चार–चार का ?। तात्पर्य्य यही है कि, पृथिव्यनुगत भूतभाग भी चार भावों में परिणत रहता हुआ चार पार्थिव सर्गों का मूलाधार बना हुआ है। स्वानुगत (चन्द्रमानुमत) प्राणभाग भी चार चान्द्रसर्गों की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ है। एवं सूर्य्यानुगत प्रज्ञाभाग भी चार सूर्य्यानुगत–सौरसर्गों का (जिन्हें कहा जायगा–चान्द्रसर्ग ही) प्रवर्त्तक बना हुआ है। यों चान्द्रसर्ग अपने–सूर्य्य–चान्द्र–पृथिव्यनुगत यशोमय प्रज्ञाभाग, श्रद्धामय प्राणभाग, तथा रेतोमनोतामय भूतभाग से ^{१}चार–^{२}चार–^{३}चार के भेद से तीन संस्थाओं में विभक्त होता हुआ सम्भूय '**द्वादशप्राणीसर्ग**' रूप में परिणत हो रहा है। हमनें कृमि–कीट–पक्षी–पशु–इन्हें पार्थिव सर्ग कहा था। वस्तुतः पार्थिवसर्ग तो उभवविध पूर्वोक्त 'स्तम्बसर्ग' पर ही परिसमाप्त है। चान्द्रभूतभाग से मनोजीवी बनते हुए कृमि–कीटादि चारों पार्थिवसर्ग जहाँ भूतानुबन्ध से पार्थिव मान लिए जाते हैं, वहाँ चान्द्र–भूतसम्बन्ध से इन्हें कहा जायगा चान्द्रजीव ही।

१८४–द्वादश–चान्द्र जीवों का प्राकृत–धर्म्म—

चान्द्रप्राणात्मक स्वयं चान्द्रजीवों के चार वर्ग क्रमशः **यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व**, इन चार नामों से प्रसिद्ध होंगे। चान्द्र उस प्रज्ञाभाग से–जिसका सूर्य्य से सम्बन्ध है, जिन चार चान्द्रजीवों का आविर्भाव हुआ

---

* प्रत्येक वृत्त मण्डल कहलाया है। मण्डलात्मक प्रत्येक वृत्त चतुर्भुज ही हुआ करता है, जिसका अर्थ है वृत्त के ३६० अंशों का $९०^{१}$–$९०^{२}$–$९०^{३}$–$९०^{४}$ रूप से चार भुजभावों में परिणत होजाना।

है, वे क्रमशः **ऐन्द्र–पैत्र्य--प्राजापत्य--ब्राह्म**, इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। सौरभावानुगत प्रज्ञाप्रधान चार चान्द्रजीव, स्वानुगत प्राणप्रधान चार चान्द्रजीव, एवं पृथिव्यनुगत भूतप्रधान चार चान्द्रजीव, यों–१२ तो चान्द्रजीव हो जाते हैं। तेरहवाँ विभाग असंज्ञ--अन्तःसंज्ञ दोनों के समन्वय से सम्पन्न '**स्तम्बजीववर्ग**' का है। यों भूकेन्द्र से आरम्भ कर चान्द्रनिधनसामपर्य्यंत १३ प्रकार का वह भूतसर्ग हो जाता है, जो सूर्य्य से अधोभाग में अवस्थित रहता हुआ–'**तद्यत्–किञ्च अर्वाचीनमादित्यात्–सर्वं–तन्मृत्युनाप्तम्**' (शत० १०।५।१।४)। के अनुसार मर्त्यसर्ग ही माना गया है, जायस्व–म्रियस्व ही प्रधान प्राकृतिक धर्म्म है इस सर्ग का।

१८५--पृथिवी--चन्द्रमा--से अतीत 'मानव' का सौरभाव, एवं उसकी अप्राकृतता—

अब प्रश्न शेष रह जाता है मानव का। अभी तक मानव की चर्चा का प्रसंग ही नहीं आया। यदि मानव का अर्थ 'प्रकृति' ही माना जाता है, दूसरे शब्दों में यदि मानव को भी उक्त १३ प्राकृतिक सर्गों की ही भाँति मन और शरीरभावात्मक ही चान्द्र--पार्थिव--पुद्गलमात्र ही मान लिया जाता है, तो अवश्य ही मानव भी 'सर्ग' ही है। और इसी भ्रान्ति से शरीर से तत्त्ववाद का उपक्रम करने की महती भ्रान्ति कर बैठने वाले सांख्यदर्शन ने मानव को भी प्राकृतसर्ग ही मान लिया है। एवं पशुसर्ग के ऊपर, तथा यक्षसर्ग से नीचे-दोनों के मध्य में इसका अवस्थान मान लिया है। यों सांख्य की दृष्टि में १--५--८ के संकलन से १४ प्रकार का भूतसर्गात्मक प्राकृतिक सर्ग हो जाता है। किन्तु वस्तुगत्या कदापि ऐसा नहीं है। '**अमृतस्य पुत्रा अभूम**'--'**अहं मनुरभवम्**'–'**अहं सूर्य्य इवाजनि**' इत्यादि के अनुसार मानव सौरमानव है, पुरुषमानव है, अप्राकृत है। कदापि मर्त्या प्रकृति 'मानव' का स्वरूपधर्म्म नहीं है। अतएव वैदिक-तत्त्ववाद के अनुसार तो मानव प्राकृत--मर्त्य--भूत--सर्ग की सीमा से असंपृष्ट ही माना जायगा।

१८६-पार्थिव--चान्द्र--भावानुगत प्राकृत–मानव, और उसका मर्त्यभाव—

हाँ, जिन्हें यक्ष–राक्षसों, तथा पशुओं के मध्य में हीं रहने की अभिरुचि हो, जो मन और शरीरमात्र को ही मानवस्वरूप की एकमात्र व्याख्या मान रहे हों, जिनके दीक्षागुरु–पशु–पक्षी--कृमि–कीट–पेड़–पौधे–लता–गुल्मादि ही हों, जो इन्हीं को अपना सगोत्र--सोदक–सपिण्ड–सम्बन्धी मानते हों, जिनके लोकगीत–लोक--संस्कृतियों के प्रथमाविर्भाव के मूलाधार ये पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि ही हों, वे अवश्य ही प्रसन्नतापूर्वक–स्वेच्छा से, यदृच्छा के द्वारा इस श्रेणि में भी अपना नाम लिखा सकते हैं। जिन्होंनें ऐसा महान् ? पुरुषार्थ ? कर लिया है, उन गौरवशाली ? मानवश्रेष्ठों ? को ही श्रुति ने–**पशुमानव-प्राकृतमानव--किंपुरुषमानव**-कहते हुए उन्हें-प्रकृति–की महती बलिवेदि पर भेंट हीं चढ़ा दिया है। सर्वज्ञानविमूढ--आत्मबुद्धिस्वरूपविस्मृत–मनःशरीरमात्र-परायण–आहार–निद्रा–भय–ऐन्द्रियक--व्यासङ्गमात्रनिमग्न ऐसे प्राकृत मानवों को भारतीय साहित्यिकों तक ने 'पशुमानव' की उपाधि से ही सम्मानित कर दिया है *। आलप्यालम्। लक्ष्य बनाइए त्रयोदशविध–प्राकृतिक सर्ग के मनःशरीरपरायण भूतसर्गों की अभिधाओं को तालिका के माध्यम से।

*** आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि-सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।**
धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्म्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
—नीतिसूक्तिः

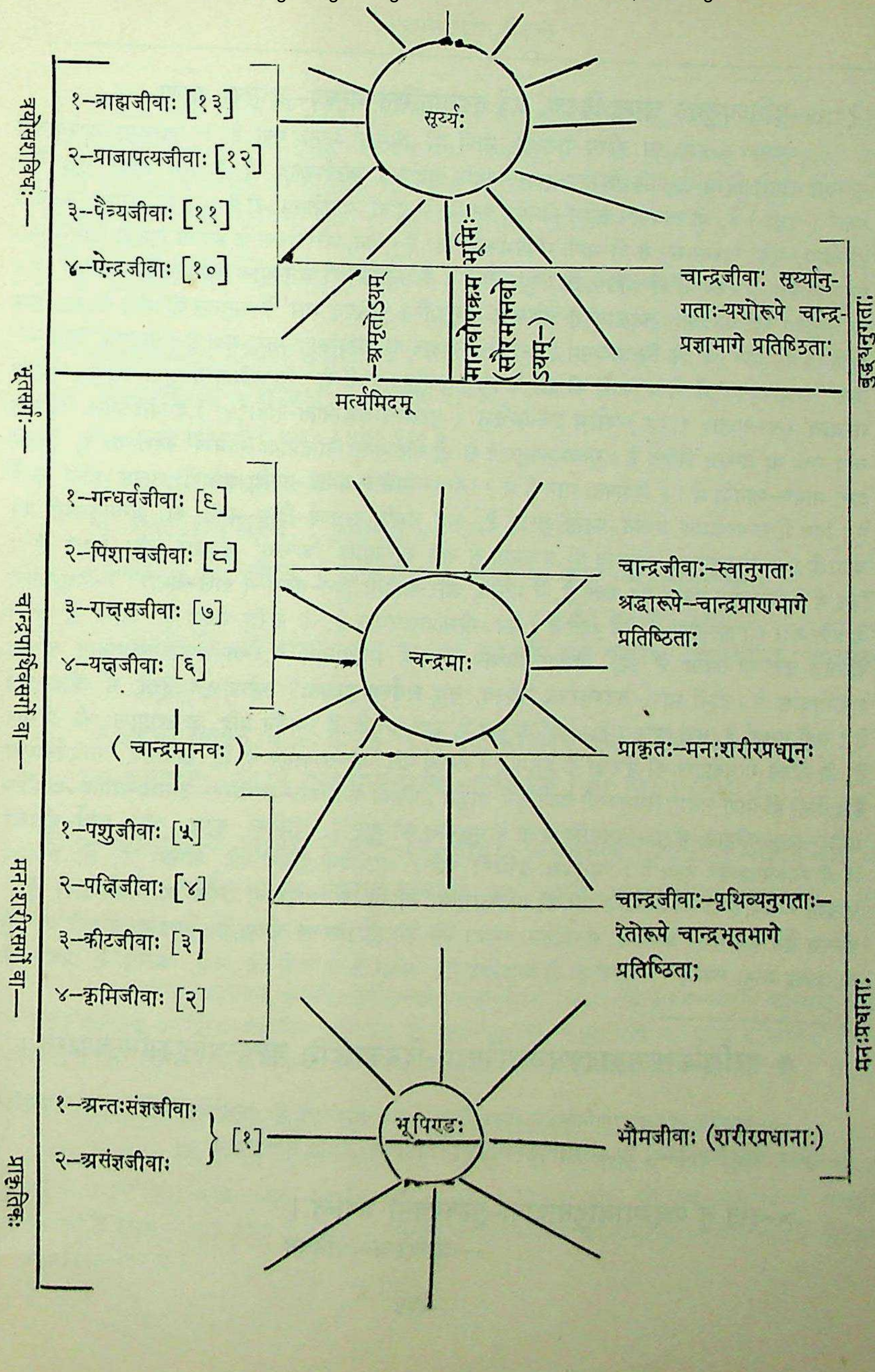
त्रयोदशविधः—
भूतसर्गः—
चान्द्रपार्थिवसर्गो वा—
मनःशरीरसर्गो वा—
प्राकृतिकः
१–ब्राह्मजीवाः [१३]
२–प्राजापत्यजीवाः [१२]
३–पैत्र्यजीवाः [११]
४–ऐन्द्रजीवाः [१०]
सूर्य्यः
भूमिः—
—अमृतोऽयम्
मानवोपक्रम (सौरमानवो ऽयम्—)
मर्त्यमिदम्
चान्द्रजीवाः सूर्य्यानुगताः–यशोरूपे चान्द्रप्रज्ञाभागे प्रतिष्ठिताः
बुद्ध्यनुगताः
१–गन्धर्वजीवाः [९]
२–पिशाचजीवाः [८]
३–राक्षसजीवाः [७]
४–यक्षजीवाः [६]
चन्द्रमाः
चान्द्रजीवाः–स्वानुगताः श्रद्धारूपे–चान्द्रप्राणभागे प्रतिष्ठिताः
(चान्द्रमानवः)
प्राकृतः–मनःशरीरप्रधानः
१–पशुजीवाः [५]
२–पक्षिजीवाः [४]
३–कीटजीवाः [३]
४–कृमिजीवाः [२]
चान्द्रजीवाः–पृथिव्यनुगताः–रेतोरूपे चान्द्रभूतभागे प्रतिष्ठिताः;
मनःप्रधानाः
१–अन्तःसंज्ञजीवाः
२–असंज्ञजीवाः
[१]
भूपिण्डः
भौमजीवाः (शरीरप्रधानाः)

१८७–पृथिव्यनुगत चान्द्र विवर्त्त, एवं तदनुप्राणित गन्धर्व–अप्सरा–प्राण–

सोममय चन्द्रमा का सौम्य प्राण दो भावों में विभक्त माना गया है । **'चन्द्रमा–अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि'** इत्यादि वेदमन्त्रानुसार चन्द्रमा आपोमय अर्णवसमुद्र में विचरने वाला एक वैसा सुपर्ण (पक्षी) है, जो स्वयमपि आप्य सोममय बना रहता हुआ 'आपोमय' ही है * । यह चान्द्र अप्तत्त्व ही सौम्य, एवं वारुण-रूप से दो भागों में विभक्त हो रहा है । सोम, और वरुण के भेद से एक ही सौम्य-चान्द्र-प्राण विभिन्न दो संस्थानों का अधिष्ठाता बन जाता है । सोमानुगत वही चान्द्रप्राण कहलाया है–**'गन्धर्व'**, एवं वरुणानुगत वही चान्द्रप्राण कहलाया है-**'अप्सरा'**। **'सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्'** के अनुसार जीवनीय रस का पोषक (पुष्टिवर्द्धक) सोम (जो कि पितृप्राणमय हैं ÷) ही गन्धभाव का अधिष्ठाता माना गया है । अतएव पितृकर्म्मात्मक 'पिण्डपितृयज्ञ' में सौम्य पितरों की तुष्टि के लिए सुगन्धित द्रव्यों का संग्रह अनिवार्य्य माना गया है । **'सोमो गन्धाय'** (ताण्ड्यब्रा० १।३।६)-**'सोम इव-गन्धेन'** (मन्त्रब्राह्मणोपनिषत्-२।४।१४।) इत्यादिरूपेण सोम के साथ गन्ध का सम्बन्ध विहित है । गन्धभावानुगति से ही सोमानुगत चान्द्रप्राण 'गन्धर्व्व' कहलाया है, जिसके द्वारा मानव–मानवी में । (विशेषतः मानवी में) गन्ध--आमोद--प्रमोद--आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होतीं रहतीं हैं । जिस में गन्धर्व्वप्राण प्रधान बनता जाता है, वह इन्हीं गन्धर्व्व--सौम्य--भावों का अन्धानुवर्त्मा बन जाता है । वरुणभावानुगत अप्तत्त्व की प्रधानता से वही सौम्यप्राण 'अप्सरा' कहलाने लग पड़ता है । जिस में अप्सराप्राण प्रधान बन जाता है, वे मानव, और मानवी हास–क्रीड़ा–(खेल–तमाशों)–मिथुनभावों के प्रति सदा आसक्त–व्यासक्त बने रहते हैं । मन सौम्यप्राणप्रधान है, तो शरीर वारुण है, आप्य है × । अतएव कहा जा सकता है कि, सौम्यप्राणप्रधान गन्धर्व्व मनःप्रधान है, तो वरुणप्राणप्रधाना अप्सरा शरीरप्रधाना हैं । दोनों भाव–**'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'** रूपेण एक दूसरे में ओत–प्रोत हैं । जहाँ गन्धर्व हैं, वहाँ अप्सरा हैं । जहाँ अप्सरा हैं, वहाँ गन्धर्व हैं । नर्त्तन यदि अप्सराप्राण की प्रेरणा है, तो गायन गन्धर्वप्राण की प्रेरणा के प्रसून हैं । गन्धर्व यदि अप्सराकामुक हैं, तो अप्सराएँ गन्धर्वकामुका हैं । दोनों हीं प्राण मनःशरीरानुबन्धी बनते हुए प्राकृत प्राणियों के मानस–शारीरिक–उन्माद–प्रमाद–आमोद-प्रमोद–हास–परिहास–क्रीड़ा–मिथुनादि भावों के मूलबीज बनें हुए हैं, जिनका **काम**, और **अर्थ**–बीजरूप से भी स्वरूपसमन्वय हुआ है । **'अद्भ्यः पृथिवी'** रूपेण आपोमयी पृथिवी यदि अप्सरा है, तो सोममय चन्द्रमा गन्धर्व है । गन्धर्वचन्द्रमा मन की प्रतिष्ठाभूमि है, तो अप्सरापृथिवी शरीर की अधिष्ठात्री है । अप्सरा जैसे जैसे नर्त्तन करती है, गन्धर्वरूप चन्द्रमा वैसे वैसे ही थिरकने लगता है । चन्द्रमा पृथिवी का ही तो उपग्रह माना गया है । ये दोनों हीं तो प्राकृतिक १३ प्रकार के प्राणियों के नहीं, अपितु ६ प्रकार के

***–तरणिकिरणसङ्गादेषपानीयपिण्डः -दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते ।**

÷–अतएव रात्रिजागरणनिबन्धन पितृस्तुतिकर्म्मात्मक लोकगीतों में गन्धद्रव्य का महत्त्व उपवर्णित है–देखिए श्राद्धविज्ञानग्रन्थ का—**'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'** नामक तृतीयखण्ड

×–इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः--पुरुषवचसो भवन्ति ।

—छान्दोग्य–उपनिषत्

प्राणियों के * सर्वस्व बने हुए हैं मनसा, श्रौर शरीरेण । यही है–प्राकृतिक प्राणियों के मनःशरीरानुबन्धी–गन्धर्वाप्सराप्राणात्मक जीवन के इतिवृत्त की संक्षिप्ततमा रूपरेखा, जिस का विशदीकरण कभी हमारे लिए श्रभीप्सित नहीं रहा । जिन्हें इस के वैशद्य की जिज्ञासा हो, उन्हें निम्नलिखित कतिपय मूलसूत्रों के श्राधार पर श्रपने मनस्तन्त्र को तदनुगामी बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए—

१--गन्धो मे, मोदो मे, प्रमोदो मे । तन्मे युष्मासु (गन्धर्वेषु)
—तै० उ० ब्रा० ३।२५।४।

२--रूपमिति गन्धर्वा उपासते । (शत० ब्रा० १०।५।२ २०।)

३–स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः (ऐ० ब्रा० १।२७।) ।

४--मनो गन्धर्वः (शत० ६।४।१।१२।)

५--चन्द्रमा गन्धर्वः (शत० ६।४।१।६।) ।

६--गन्ध–इत्यप्सरसः (उपासते) (शत० १०।५।२।१०।) ।

७--किं नु ते ऽस्मासु (श्रप्सरासु)- हासो मे, क्रीड़ा मे, मिथुनम्मे ।
(तै० उ० ब्रा० ३।२५।८।)

८--सोमो वैष्णवो राजेत्याह । ता इमा श्रासते–इति युवतयः शोभमाना उपसमेता भवन्ति । [श० १३।४।३।८।] ।

९--श्रथो गन्धेन च वै, रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति [शत० ६।४।१।४।] ।

१०–प्रजापतिः--उपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः--प्रायच्छत् [तै० ब्रा० १।१२।१।] ।

१८८–सुगन्धिद्रव्य -श्रामोद--प्रमोद–हर्ष–क्रीड़ा–मिथुनभाव - रूपाकर्षण–गायन–वादन-नर्त्तन–श्रादि मानस–शारीरिक भावों का चान्द्र–गन्धर्वाप्सराप्राणमयत्त्व, एवं तत्प्रधान श्राज के ये श्रायोजन—

सुगन्धिद्रव्य–श्रायोजन, श्रामोद–प्रमोद–हर्ष–क्रीड़ा–मिथुनभावादि–श्रायोजन–रूपादि श्राकर्षण–श्रादि श्रादि मानसिक–शारीरिक–प्राकृतिक उन्मादादि ही प्रकृति का, एवं प्राकृत जीवों का महान् इतिहास है, जिसकी सीमा में हीं श्रनुकरणभावप्रधान–गायन–वादन–नर्त्तनादि गन्धर्वाप्सरा–भाव भी समाविष्ट हैं । सचमुच

---

*–ब्राह्म जीववर्ग से श्रारम्भ कर ऐन्द्रजीववर्ग–पर्य्यन्त–चार वर्ग–सूर्य्यानुगत बतलाए गए हैं । श्रतएव ये तत्त्वतः सौर ही बने रहते हैं । सौरी बुद्धि ही इन का मूलाधिष्ठान बनी रहती है । श्रतएव १३ में से इन चार--ब्राह्म --प्राजापत्य--पैत्र्य--ऐन्द्र--नामक चान्द्र--सत्त्वजीवों को मनःशरीरानुबन्धी प्राकृतिक मर्त्यसर्ग से पृथक् ही मान लिया है शास्त्र ने, जैसाकि श्रन्य निबन्धों में यत्र-तत्र स्पष्ट कर दिया गया है–विशेषतः श्राद्धविज्ञानग्रन्थ में ।

पृथिवी नाचती है, गाती है । सचमुच चन्द्रमा गाता है, प्रतिक्षण नवीन नवीन भावों से थिरकता है–**'नवो नवो भवति जायमानः'** । सचमुच वायु नाच रहा है, गारहा है । जलप्रपात गा रहे हैं, नाच रहे हैं । ओषधि–वनस्पतियाँ नाच–गा रहीं हैं । कृमि–कीट–पक्षी–पशु–यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व–सभी तो प्राकृत प्राणी यदृच्छापूर्वक अपने अपने नर्त्तन–गायन–वादन–आयोजनों में तल्लीन बने हुए हैं । इन्हें उस स्थिति का अणुमात्र भी तो बोध नहीं है, जिस अमृता स्थिति का सूर्य्य से तो उपक्रम होता है, एवं जिस की व्याप्ति ने सम्पूर्ण विश्व को स्वात्मसीमा में गर्भीभूत कर रक्खा है । उस अमृतात्मब्रह्म से अपरिचिता प्रकृति, तथा उसके ये प्राकृत प्राणी मानसिक–शारीरिक–विमोहन–लक्षण–नाच–गानों के अतिरिक्त और आयोजन कर भी क्या सकते हैं ? ।

१८९–गन्धर्वाप्सराप्राणानुगत 'उपद्रव' नामक साम, एवं तदनुगत मनःशरीर–कामार्थ–गन्धरूप–लक्षण चान्द्रपार्थिव गन्धर्वाप्सराप्राणमय उपद्रवात्मक आज के ये विविध आयोजन—

असंख्य–अनन्त हैं प्रकृति के पर्व, जिनका समझनें मात्र के लिए मनःशरीरप्राधान्य से ९ प्राणिवर्गों में अन्तर्भाव माना जा सकता है, माना गया है । इन नवों प्राणियों के भाग्यविधाता हैं–**चन्द्रमा, और पृथिवी, गन्धर्व–और अप्सरा, मन, और शरीर, काम–और अर्थ, गन्ध, और रूप** । एवं इन भाग्यविधातृलक्षण द्वन्द्वों से द्वन्द्वात्मक बने रहने वाले इन प्राकृतिक प्राणियों का महान् पौरुष है–प्रकृतिमण्डल को 'उपद्रवसाम' से सदा ही कोलाहलरूप में परिणत किए रहना, जो प्राकृतिक कोलाहल आत्मबुद्धिभावों का महान् प्रतिद्वन्द्वी माना गया है । प्रजापति ने इन के प्रतिनिधि गन्धर्वाप्सराप्राणमूर्त्ति चन्द्रमा–पृथिवी को उपद्रवसाम से ही तो समन्वित किया है, जैसा कि–**'प्रजापतिः–उपद्रवं–गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रायच्छत्'** इत्यादि वचन से प्रमाणित है ।

१९०–प्राणों के नामों का पाणियों के साथ समन्वय—

प्राणीवर्ग की मूलप्रतिष्ठा है–प्राणवर्ग । यद्यपि **'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'** न्यायेन सभी प्राणियों में सब प्राण मात्रातारतम्य से समाविष्ट माने गए हैं । तथापि जिस प्राणी में जो प्राण अन्तर्य्याम–सम्बन्ध से प्रधान बना रहता है, वह प्राणी उसी प्राण के नाम से भूतजगत् में प्रसिद्ध हो जाता है । एवं तत्प्रधान–प्राण के रूप–गुणानुपात से ही (छन्दःशक्ति के अनुपात से ही) तत्प्रधान प्राणी के रूप–गुण–कर्म्म सम्पन्न हो जाते हैं । जिन प्राणिसर्गों की पूर्व में तालिका उद्धृत हुई है, उनके मूलप्राण हीं वस्तुतः कृमि–कीटादि नामों से समन्वित हैं । ये ही प्राणनाम आगे चलकर प्राणियों के साथ समन्वित हो जाते हैं । प्राण, और प्राणी के इस सख्य–सम्बन्ध को लक्ष्य बना कर ही हमें लक्ष्यीभूत आयोजनों का नामकरण करना चाहिए । करना नहीं चाहिए, अपितु प्रकृत्या प्राणधर्म्मरूपेण जो नाम हैं, उन्हें व्यक्तमात्र कर देना चाहिए ।

१९१–प्राकृतिक प्राणियों के सामान्य–विशेष–आयोजन, एवं उनके सामान्य–विशेष–प्राकृत–नाम—

उक्त दृष्टि से अब हम नामों का सामान्य–विशेष–रूप से दो भागों में वर्गीकरण करेंगे । जो आयोजनधर्म्म–९ ओं प्राणियों में समान हैं, वे सब के सामान्य नाम होंगे । एवं जो आयोजन प्राणभेद से

९ ओं में व्यक्तिगतरूप से पृथक् पृथक् हैं, तत्प्राणियों के आयोजन–नाम विशेषनाम होंगे । विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है । केवल तालिकामात्र ही पर्य्याप्त है, जिसके माध्यम से प्राकृतिक प्राणियों के यदृच्छाशब्दात्मक–मनःशरीरप्रधान–कामार्थलक्षण–गन्धर्वाप्सरोमय–चान्द्रपार्थिव–आयोजनों के नाम सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही समन्वित हो जायँगे । हम समझते हैं–अमृतसूर्य्य के अधोभाग में अवस्थित मर्त्यधर्म्मावच्छिन्न–यदृच्छाशब्दात्मक चान्द्र–पार्थिव–नवविध–प्राणियों के यदृच्छाशब्द ध्वनि-मात्रात्मक गायन, यदृच्छापरिवर्तनात्मक नर्त्तन से सम्बन्ध रखने प्राकृतिक आयोजनों के नामकरण के सम्बन्ध से मानव की मनःशरीरानुबन्धिनी भूतप्रज्ञा तालिकामाध्येन निर्दिष्ट नामों के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक नामों का संस्मरण भी नहीं कर सकी । यही आयोजन–निबन्धन–प्रासङ्गिक नामकरण–प्रसङ्ग का संक्षिप्त वाग्विजृम्भणमात्र है । क्योंकि आत्मबुद्धिलक्षण सांस्कृतिक–भावों से वञ्चिता मानव की जड़प्रकृति वाग्विजृम्भण के अतिरिक्त और कोई भी तो पौरुष नहीं रख रहीं ।

प्राकृतिक–आयोजनानि

- **सामान्यायोजनानि–सर्वात्मकानि**
  - १–चान्द्र–पार्थिव–आयोजनानि
  - २–मनः–शरीर–आयोजनानि
  - ३–गन्धर्व–अप्सरा–आयोजनानि
  - ४–काम–अर्थ–आयोजनानि
- **विशेषायोजनानि–वैय्यक्तिकानि–**
  - मनःप्रधानान्यायोजनानि
    - १–गन्धर्वायोजनम्
    - २–पिशाचायोजनम्
    - ३–राक्षसायोजनम्
    - ४–यक्षायोजनम्
  - शरीरप्रधानान्यायोजनानि
    - ५–पश्वायोजनम्
    - ६–पक्ष्यायोजनम्
    - ७–कीटायोजनम्
    - ८–कृम्यायोजनम्
  - उन्मुग्धभावात्मकान्यायोजनानि
    - ९–स्तम्बायोजनम्

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१९२-वर्त्तमान--आयोजनों के नामकरण की स्वरूपदिशा का दिग्दर्शन—

प्राकृतिक प्राणियों के उक्त **आयोजन–नामों** को सामने रखते हुए जब आप-'**तो फिर क्या नामकरण होना चाहिए वर्त्तमान भारतीय इन योजनात्मक आयोजनों का ?**' यह प्रश्न करेंगे, तो स्वयं ही आप इस प्रश्न का तथ्यपूर्ण समाधान कर सकने में सर्वात्मना सक्षम बन जायँगे, निश्चयेन बन जायँगे । चान्द्री–पार्थिवी प्रकृति से उत्पन्न चान्द्र (मनोमय), पार्थिव (शरीरमय) प्राकृतिक प्राणियों के यदृच्छाशब्दात्मक, अतएव अनुकरणात्मक आयोजनों का सामान्यरूप से नाम होगा–**'प्राकृतिक–आयोजन'**, द्वन्द्वभावानुगत सामान्य नाम होंगे–**चान्द्रपार्थिव–आयोज', मनःशरीरायोजन, गन्धर्व्वाप्सरायोजन, कामार्थायोजन** । यदि प्राण, तथा प्राणी–विशेषों के विभिन्न स्वरूपों की दृष्टि से नामों का अन्वेषण किया जायगा, तो इन्हीं सामान्य आयोजनों के तत्तत्प्राण–प्रधान–तत्तत्–प्राणियों की अपेक्षा से इन आयोजनों के नाम होंगे क्रमशः **प्राकृतिक–गन्धर्व्वायोजन, पिशाचायोजन, राक्षसायोजन, यक्षायोजन, पश्वायोजन, पक्ष्यायोजन, कीटायोजन, कृम्यायोजन, स्तम्बायोजन** ।

१९३- वर्त्तमान-आयोजनों का अश्रुपूर्णाकुलेक्षणात्मक संस्कृतिविरुद्ध इतिवृत्त—

जो मानव अपने आत्मबुद्धिनिबन्धन–पृथिवी–चन्द्रमा से अतीत सौर अमृतभावापन्न देवस्वरूप से अपरिचित रहता है, आत्मबुद्धिविमूढ वैसा मानव ही इसलिए प्राकृत **'चान्द्रमानव'** कहलाया है कि, इसका उक्त प्राकृतिक प्राणियों के साथ ही अनुरूप सम्बन्ध रहता है । ऐसे मनःशरीरप्रधान प्राकृत मानव का आदर्शस्थान चान्द्री–पार्थिवी–प्रकृति ही बनी रहती है । प्रकृति ही इस प्राकृत मानव का शिक्षण करती है । वही इसे यदृच्छात्मक–शब्दों, आचरणों का स्वरूप बतलाती है । सर्वात्मना प्राकृतिक परिवर्त्तन से सम्बन्ध रखने वाले मानसिक–शारीरिक उत्तालभाव ही इसके प्राकृतिक आयोजन बनते रहते हैं । और ऐसा प्राकृतिक मानव, जिसे कि वर्त्तमाना प्राकृतिकी सभ्यता की भाषा में **'विकासशीलमानव'** कहा जाता है, यों अपना वैय्यक्तिक कोई स्वरूप न रखता हुआ प्रकृति से सीख–सीख कर ही **नृत्य–गीत–वाद्यादि परायण** बनता जाता है । यही इसके प्राकृतिक आयोजनों का अश्रुपूर्णाकुलेक्षणात्मक वह–संस्कृतिविरुद्ध इतिवृत्त है, जिसका आज के आयोजन–व्याख्याता बड़े ही गौरव से निम्न लिखित शब्दों में साटोप वर्णन करते हुए मानव की आत्मबुद्धिनिबन्धना पौरुषलक्षणा निष्ठात्मिका वास्तविक–मानवता को मानो सदा सदा के लिए विस्मृति के गर्भ में ही विलीन कर देना चाहते हैं ।

१९४-वर्त्तमान-विशोधकों की पशु-पक्षी-भक्ति, और तत्प्रति मानव का शिष्यत्व-स्थापन, एवं तद्द्वारा-'परम्परा' के अन्वेषण का महान् व्यामोहन—

परम सांस्कृतिक राजस्थान के ही एक प्रान्तविशेष–जोधपुर–से प्रकाशित होने वाली 'परम्परा' नाम की शोधपत्रिका के एक लेख में तल्लेखकने लोकगीतात्मिका 'लोकसंस्कृति' के शब्दार्थ–समन्वय–प्रसङ्ग में में अपने ऐसे ही कुछ प्राकृतिक–विचार व्यक्त किए हैं, जिनका निष्कर्ष यही है–कि मानव–मानवी ने प्रकृति से, प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ ? प्राणी पशु–पक्षी–आदि से ही गीत–वाद्यादि संस्कृतियों की शिक्षा प्राप्त की है , जैसा कि उनके–"**क्योंकि आज भी पशुओं में अभिव्यक्त होने वाले स्वरों का अध्ययन करने से पता चलता है कि, उनमें निश्चित सङ्गीतात्मकता है** । एक वैज्ञानिक ने तो चूहों के

स्वरों की स्वरलिपि भी तैय्यार की है [धन्य है मूपकप्रेमी वे प्रतीच्य वैज्ञानिक, और परमधन्य हैं इस उद्धरण के संगृहीता विज्ञानप्रेमी लेखक]। अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य ने दो वस्तुओं के संघर्षण से नाद को उत्पन्न होते सुना होगा.......................। तेज हवा के बहाव में जब सारी प्रकृति ही गाने लगती है, तो उन 'स्वरों' से मनुष्य ने भी अपना क्रोध व्यक्त करने की अभिव्यक्ति पाई होगी। दो पक्षियों को अपने स्नेह में सिक्त बोलते हुए देख कर मनुष्य के मन में उनके स्वरों में 'गा' उठने की ललक जाग उठी होगी। भारतीय पद्धति के सरगम का स्वरूप तो पशुओं की आवाजों से ही उद्भूत माना गया है"–[देखिए परम्परा त्रैमासिक शोध-पत्रिका, १ वर्ष, १ अङ्क–का **'लोकगीत, और साज'** नामक लेख। प्रकाशक–चोपासनी शोध–संस्थान–जोधपुर"]—इत्यादि प्राकृतिक उद्धरणों से स्पष्ट है।

१६५–प्रतीच्य-अन्वेषकों का अन्धानुकरण, एवं तदनुपात से ही भारतीय जनजीवन–पद्धतियों के परम्परासूत्रान्वेषण का भावुकतापूर्ण विमोहन—

कदापि इस में लेखक महोदय का अपना कोई व्यक्तित्त्व आधार नहीं बन रहा। अपितु ये सब उद्गार तो प्रकृतिवादी–भूतमात्रवादी–उन प्रतीच्य विद्वानों की शोध के ही अनुकरणमात्र है, जिन्होंनें मानव को एक प्राकृतिक प्राणी मानते हुए इसे प्राकृतिक प्राणियों की भाँति क्रमोन्नति–क्रमविकास–की क्रीड़ा का ही साधन बना रक्खा है। **'आदिम मानव'** उन्हीं प्रतीच्य विद्वानों की विकासभाषा का शब्द है, जिसे लेखक नें उसी प्रकार उद्धृत कर दिया है, जैसे कि आज के गणतन्त्रीय–प्रजातन्त्रवादी–मानव उन्हीं के अनुकरण–भावों–प्रतीकों का सोल्लास–साटोप वर्णन करते नहीं अघाते। हाँ, लेखक नें एक स्थान पर–**'भारतीय–पद्धति'** का भी समादर किया है इसी प्रसङ्ग में, मानों इस शब्द–वाक्य के द्वारा हम अपने आपको भी उन्हीं की भाँति वैज्ञानिक–विशोधक–विकासशील–मानते रहते हुए उन्हीं की भाँति सभ्य, तथा सुसंस्कृत प्रमाणित करदें। समादर के सम्बन्ध में नारदशिक्षा का वचन उद्धृत करते हुए विशोधक–लेखक ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि, भारतीय सङ्गीताचार्य्यों नें भी पशुओं की ध्वनियों से ही संगीत की निधि प्राप्त की है। किन्तु प्रयास करने पर भी उन पद्यों से तो लेखक की इस मान्यता का हमें कोई भी सम्पर्क प्रतीत नहीं हो रहा। पद्यों के स्वरूप को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए, स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा।

षड्जं वदति मयूरः, गावो रम्भन्ति चर्षभम् ॥
अजा वदति गान्धारं, क्रौञ्चो वदति मध्यमम् ॥१॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो वदति पञ्चमम् ॥
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः ॥२॥

—नारदशिक्षा।

श्लोकार्थ का तात्पर्य्य यही है कि–सा–रे–ग–म–प–ध–नी–नामक सातों स्वरों का क्रमशः मयूर–गौ–बकरा–क्रौञ्च–कोकिला–घोड़ा–हाथी–इन पशुओं की ध्वनियों से सम्बन्ध है। मानव ने ये

ध्वनियाँ इन से सीखीं हैं ?, यह तो कदापि व्यक्त नहीं हो रहा इस अक्षरार्थ से। प्रसङ्ग है लोकगीतानुगत साजों—वाद्ययन्त्रों का। वाद्यों का निर्म्माण मानव ने पशुध्वनियों से किया है, यही तात्पर्य्य व्यक्त करने का प्रयास किया है लेखक ने उक्त पद्यों में पठित पशुओं की ध्वनि के द्वारा। क्या यह भारतीय दृष्टि है ?। कदापि नहीं। यह तो उस प्रतीच्यदृष्टि का अन्धानुकरणमात्र है, जिसने मानव की ध्वनियों का आधार पशुध्वनियों को ही माना है। अवश्य ही प्राकृत मानव ऐसा मान सकते हैं, मानना ही चाहिए उन्हें ऐसा ही। क्योंकि प्रत्यक्षदृष्ट श्रुत—उपवर्णिता जड़—भूतप्रकृति के अतिरिक्त उन्हें 'आत्मबुद्धि' जैसा मानवीय—मापदण्ड अपनी मान्यताओं के लिए आज तक भी तो उपलब्ध नहीं हो सका है।

१९६—मानव के स्वतन्त्र--पुरुषार्थ, एवं उसकी दैवीवीणा, तथा मानुषीवीणा, और तदनुबन्धिनी कालमीमांसा—

भारतीय दृष्टिकोण क्या है इन वाद्यध्वनियों के सम्बन्ध में ?, प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, जिसके सांस्कृतिक, अतएव भारतीय समाधान के लिए तो संस्कृति की ही शरण में आना चाहिए हमें। केवल एक उदाहरण इस सम्बन्ध में दो शब्दों में यहाँ उद्धृत कर दिया जाता है, जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि, वाद्यध्वनियों का मूलाधार पशुध्वनियाँ हैं ?, अथवा और कुछ ?। वाद्यवृन्दों में '**वीणा**' नामक सुप्रसिद्ध वाद्ययन्त्र पुरातन—देवयुग—से चला आने वाला विशुद्ध भारतीय वाद्य है। वीणा की बाह्य आकृति, तारों का सन्निवेश, ध्वनि—स्वरों के संस्थान—नाद—आदि सभी भाव क्या पशु—पक्षियों के अनुकरण के आधार पर व्यवस्थित हुए हैं ?। कदापि नहीं। अपितु विश्वनिर्म्माता विश्वप्रजापतिरूप महान् शिल्पी की प्राणवती वीणा है स्वयं मानव का प्राणवान् शरीर। ईश्वरनिर्म्मिता यही वीणा '**दैवीवीणा**' कहलाई है ऋषिभाषा में। मानव ने इस दैवीवीणा के आधार पर ही स्व—कलाकृतिरूप 'वीणा' नामक वाद्ययन्त्र का आविष्कार किया है। तात्पर्य्य—स्वयं मानव के अपने आध्यात्मिक—आधिदैविक—आधिभौतिक—स्वरूपों के अनुपात से ही वीणा का जन्म हुआ है। मानव स्वयं ही अपने आत्म—बुद्धि—अनुगत—मनः—शरीरभावों से अपनी समस्त कलाकृतियों का मूलसर्ज्जक बनता हुआ स्वयं अपने आपमें हीं परिपूर्ण है। मानव कदापि अपने शिल्पों में, कलाकृतियों में, एवं गीत-नृत्य-वाद्यादि यन्त्रों में परायत्त नहीं है। मानव शिक्षक है प्राकृत विश्व का। आत्मबोधनिष्ठ मानव को जड़प्रकृति क्या सिखाएगी ?। जो कुछ सिखाएगी भी, तो वह मानव की जड़ता—प्राकृतिकता ही होगी, जिस इत्थंभूत विकासात्मक प्राकृतिक शिक्षण को स्वस्वरूपबोधनिष्ट मानव के स्वरूप में तो कदापि अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। स्वयं मानव ईश्वरीया दैवीवीणा है। मानव ने स्वस्वरूपात्मिका इस दैवीवीणा के आधार पर ही अपनी भूतकलाकृतिरूपा वीणा का निर्म्माण किया है। दुर्भाग्य है यह इस देश का कि, हम अपने घर को उपेक्षित मान कर आज उन्हें अपनी संस्कृति—सभ्यताओं का शिक्षक--पथप्रदर्शक मानने—मनवाने की महाभयानक वैसी भूल ही करते जा रहे हैं, जिस भूल ने आज हमें अपनी सांस्कृतिक--परम्परा को पशु--पक्षी—कृमि--कीटों के साथ समतुलित करने के लिए विवश बना दिया है। लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करें वे—अभिनव—परम्परावादी--आज के भारतीय '**कोमलप्रज्ञ**' महानुभाव निम्न लिखित श्रौतसन्दर्भ को, जिसमें मानव के वाद्ययन्त्र को स्वतन्त्ररूपेण मानव की अपनी ही कृति प्रमाणित किया है। कदापि इनका पशु—पक्षी—आदि के विजृम्भणों से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है।

"अथ खल्वियं-दैवीवीणा भवति। तदनुकृतिरसौ-मानुषीवीणा भवति, इति। यथाऽस्याः (मानवाकृतेः) शिरः, एवममुष्यायाः शिरः (तूँबा)। यथाऽस्या-उदरं, एवममुष्या अम्भणम् (वीणादण्डमध्यवर्त्ति-छिद्रम्) यथाऽस्यास्तन्त्रयः (अङ्गुलयः), एवममुष्या अङ्गुलयः (दीर्घतन्तवः)। यथाऽस्या स्वराः-(कोष्ठाग्निप्रेरितवायोः सम्बन्धिविशेषेणोत्पन्नाः षड्जर्षभगान्धारादयः स्वराः), एवममुष्याः-स्वराः (षड्जादिस्वरजातयः)। यथाऽस्याः स्पर्शाः (वायवीयप्रयत्नविशेषाः), एवममुष्याः-स्पर्शाः (अङ्गुलिस्पर्शविशेषाः)। यथाह्येवेयं शब्दवती (स्वरविशेषाभिव्यक्तहेतुभूतध्वनियुक्ता) तर्द्मवती (तर्दनवती*), एवमेव सा शब्दवती (स्वरविशेषाभिव्यक्तहेतुभूतध्वनियुक्ता), तर्द्मवती (तर्दनेन-दृढबन्धनेन युक्ता)। यथा ह्येवैषा लोमशेन चर्म्मणाऽपिहिता भवति (प्रभूतरोमाधारेण-त्वग्भूतेन चर्म्मणा आच्छादिता भवति), एवं लोमशेन-चर्म्मणाऽपिहिता-[व्याघ्रादिचर्म्मणाऽऽच्छादिता] भवति।

भगवान् ऐतरेय के युग में-(जो आज से अनेक सहस्राब्दियों से पूर्व का युग गाना गया है, जोकि पूर्वयुग आज के प्रकृतिवादियों के विकासवाद के अनुसार तो सर्वथा-आदिमानवयुग, अर्थात् असभ्यता का ही युग था, उसमें वीणा के स्वरूप में थोड़ा अन्तर आगया था। इस ऐतरेययुग में वीणा के निर्म्माण में चमड़े से मँढने की प्रक्रिया लुप्त होगई थी, जो प्रक्रिया परशतः-सहस्राब्दियों से पूर्व के देवयुग में वीणानिर्म्माण से समन्विता थी। अर्थात् एतरेययुग से लाखों वर्ष पूर्व वीणा को जैसे व्याघ्रचर्म्मादि से मँढा जाता था, उस के हजारों वर्ष उत्तर के ऐतरेययुग में चर्म्म से मँढना लुप्त हो गया था। इसी एक महाकालानुबन्धी महान् परिवर्त्तन का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"लोमशेन ह स्म वै चर्म्मणा पुरा (देवयुगे) वीणा अपिदधति"।

—ऐतरेय-आरण्यय ३।२।५।

हमें विदित नहीं, आज के तत्त्वविशोधक, अर्थात् उनकी सांस्कृतिक भाषा में रिसर्चस्कॉलर Reserch Scholer महाभाग ऐतरेय का कौनसा काल मानते हैं और सुनते हैं—इस सम्बन्ध में वे भी आज से ६-७ हजार पर्व पूर्व का उदारतापूर्वक सङ्केत कर रहे हैं ×। हाँ, तो आज से (आज की मान्यताओं के अनुसार भी)

---

*-धमनीभिः-शरीरावयवानां दृढबन्धनमेव तर्दनम्। तद्वती।

×"गवर्न्मेन्ट आफ इन्डिया-पब्लिकेशन्स्-डिवीजन मिनिस्ट्री ऑफ इन्फार्मेशन एण्ड ब्राडकास्टिंग"-विभाग ने हाल ही में-'वैदिक-साहित्य' नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित है, जिसमें वेदसम्बन्धी कुछ एक रेडियोभाषणों का संकलन है। इसकी प्रस्तावना में प्रस्तावक ने 'वेदकाल' निर्णय के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त-किए हैं, जिनका निष्कर्ष यही है कि-ईसा से अनुमानतः ४५०० वर्ष पूर्व, अर्थात् आज से ६५०० वर्ष पूर्व का युग वेदयुग था। इस दृष्टि से अर्वाचीन विद्वान् भी सहमत हैं। अतएव इनकी दृष्टि को ही हम थोड़ी देर के लिए 'वेदवाक्य' मान लेते हैं, तब भी ऐतरेयकाल आज से ६-७ हजार वर्ष पूर्व ठहरता है।

सात हजार वर्ष पूर्व वीणावादन प्रचलित था इस राष्ट्र में, जिसने तत्पूर्व के युगो में चर्म्मावरणात्मिका वीणा की ओर सङ्केत किया है। इस 'वीणाकाल' के आधार पर, तथा वीणा के मूलाधारभूत दैवीवीणा के स्वरूपविश्लेषण के आधार क्या यह नहीं कह दिया जा सकता कि, जो अद्यतन महाभाग भारतीय वाद्ययन्त्रों को पशु–पक्षि–ध्वनियों से आविर्भूत मानने लग पड़े हैं, उनकी यह मान्यता कदापि इनका भारतीय दृष्टिकोण तो नहीं है। आलम्यालम्। अलमतिपल्लवितेन भावुकतापूर्ण–प्रसङ्गेन जड़भावनिबन्धेन।

१६७–महर्षि शाङ्खायन के यज्ञकर्म्मानुबन्धी नृत्य–गीत–वाद्यात्मक त्रिविध–मानवीय–'शिल्पसाम'—

क्या भारतीय–संस्कृति मनःशरीरनिबन्धना गीत–नृत्य–वाद्य–लक्षण सङ्गीत का विरोध करती है?, क्या भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों नें इन मानसिक शारीरिक भावों का सर्वथा बहिष्कार कर रक्खा है?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान पूर्व के आयोजन–स्वरूप–दिग्दर्शनों से गतार्थ है। भारतीय पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–नामक सांस्कृतिक आयोजनों के चारों हीं वर्ग अनुपात से अवश्य ही बौद्धिक आत्मबुद्धिसम्मत देवभाव, तथा मनः–शरीरसम्मत सङ्गीतभाव–आदि सभी का समादर करते आए हैं, सोत्साह करते आए हैं। प्रकृति का जैसा समादर भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों में हुआ है, उसकी तो आजके प्रकृतिभक्त–गीत–वाद्य–नृत्य–पारायण आयोजनभक्त अपने वर्त्तमान आयोजनों में कल्पना भी नहीं कर सकते। यही नहीं, सांस्कृतिक–आचारलक्षण शास्त्रीय श्रौत (यज्ञ), एवं स्मार्त्त (संस्कार) कर्म्मों में भी वीणावादनादि मानसिक भावोंका समावेश हुआ है। सुप्रसिद्ध सीमन्तसंस्कार में तो **'वीणागाथिनो गायन्ति'** के अनुसार गर्भस्था इन्द्रविद्युत् के विमोहन के लिए, विमोहन के द्वारा गर्भपात की आशङ्का के निरोध के लिए संस्कारप्रक्रिया के साथ साथ वीणा का वादन भी अनिवार्य्य अङ्ग बना रहता है। सुप्रसिद्ध पवमान–मैत्रावरुण–वामदेव्य–आदि से समन्वित अहीन–पृष्ठ–सत्त्रों में से मध्यम 'त्र्यहः' नामक याज्ञिक कर्म्म की व्याख्या करते हुए **महर्षि शाङ्खायन** ने 'सङ्गीत' को नृत्य–गीत–वाद्य–रूप से प्रजापति का त्रिवृत्‌शिल्प मानते हुए स्पष्ट ही सांस्कृतिक–शास्त्रीय–यज्ञादि कर्म्मों के साथ भी सङ्गीत का सम्बन्ध व्यक्त किया हैं, जैसाकि उनके इस कथन से स्पष्ट है कि—**"अथो अन्तरिक्षं वा एष मध्यमस्त्र्यहः। नाऽऽरम्भणं वा इदमन्तरिक्षं–अप्रतिष्ठानम्। शिल्पेष्वेव तदहरहः प्रतितिष्ठन्तो यन्ति। तानि वै तृचानि भवन्ति। त्रिवृद्धै शिल्पं–नृत्यं–गीतं–वाद्य–मिति। तेष्वेव तदहरहः प्रतितिष्ठन्तो यन्ति।"** (शांखायन ब्राह्मण–२६ अ०।५ ब्राह्मण)।

१६८–अश्वमेधयज्ञानुगत वार्षिक–वीणावादनसत्त्र, एवं प्राकृतिक–माहेश्वर महासङ्गीत के द्वारा ब्रह्म का प्रस्रवण, तथा भगवती–भागीरथी का आविर्भाव—

एवमेव सुप्रसिद्ध **'अश्वमेधयज्ञ'** राष्ट्रानुगता 'श्री' को राष्ट्र में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए तद्‌यज्ञावसर पर दो ब्राह्मण वीणा के माध्यम से ही एक वर्षपर्य्यन्त वीणात्मक महान् सङ्गीत का अनुगमन करते हैं। वीणा साक्षात् 'श्री' की प्रतिकृति है। अतएव इससे राष्ट्र में अवश्य ही श्री का पुनराधान हो जाता है ×।

×–अप वाऽएतस्मात् 'श्री' राष्ट्रं क्रामति (अपक्रामति), यो ऽश्वमेधेन यजते। यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति, वीणास्मै वाद्यते। ब्राह्मणौ वीणागाथिनौ सम्वत्सरं गायतः। श्रियै वाऽएतद्रूपं यद्वीणा। श्रियमेवास्मिंस्तद्धत्तः। [शत० ब्रा० १३।१।५।१]।

उदाहरणमात्र है । भारतीय संस्कृति–सभ्यता का कोई भी शास्त्रीय आचार, कोई भी सांस्कृतिक आयोजन ऐसा नहीं है, जिसमें किसी न किसी रूप से समष्ट्यात्मक सङ्गीत का (नृत्य–गीत–वाद्य–तीनों का), अथवा तो व्यष्ट्यात्मक सङ्गीत का समावेश न हो । सुनते हैं–क्षीरसमुद्रात्मक पारमेष्ठ्य समुद्र में अनन्तनागशय्या पर विश्राम करने वाले भगवान् विष्णु तो ज्ञानप्रदाता भगवान् शङ्कर के नादब्रह्मात्मक महासङ्गीत से द्रुत ही हो गए थे, जो कि द्रुतरूप ही **'ब्रह्मद्रवी'** (पिघला हुआ ब्रह्म) भगवती भागीरथी नाम से भूतल पर प्रसिद्ध हुआ । स्पष्ट ही आत्मबुद्धिभावों के साथ साथ मनःशरीरभावात्मक सङ्गीतादि भावों का संग्रह सहजरूपेणैव समाहृत है भारतीय शास्त्रीय आचारों में भी, तथा लोकाचारों में भी । किन्तु सर्वत्र यह सङ्गीत आत्मबुद्धिभावों से नियन्त्रित होकर ही प्रवृत्त हुआ है, और यही भारतीय सङ्गीत की सार्थकता है । मानसिक–शारीरिक अर्थ–काम, एवं तदनुगत सङ्गीतादि भी जब आत्मबुद्धि के द्वारा नियन्त्रित हो जाते हैं, तो ये भी परम्परया मोक्ष के कारण बन जाते हैं । इसी आधार पर भगवान् याज्ञवल्क्य ने सङ्गीत को मुक्ति का निमित्त मान लिया है । मानसिक काम भी धर्म्मतः परिणीता पत्नी के साथ आत्मरति का प्रवर्त्तक बनता हुआ सापिण्ड्य–तन्तुवितानद्वारा स्वर्गप्राप्ति का कारण बना हुआ है । इसी आत्मभावना से सर्वथा जड़ अर्थ भी धर्म्मप्रवृत्ति का निमित्त बनता हुआ परम्परया आत्मसुख का निमित्त बन जाता है, जैसाकि–**'धनाद्धर्म्मं, ततः सुखम्'** से स्पष्ट है । यों सङ्गीत, काम, अर्थ, आदि सभी प्राकृतिक विवर्त्त आत्मब्रह्मलक्षण 'समब्रह्म' से समन्वित होते हुए अपनी जड़-कृतियों से 'संस्कृति' रूप में आते हुए 'सांस्कृतिक' बन जाते हैं । एवं निश्चयेन ऐसे सांस्कृतिक–आयोजन भी शास्त्रीय आचार-धर्म्मों की भाँति ही मानव के प्रकृत्यर्थ न रह कर 'पुरुषार्थ' बन जाते हैं, बन गए हैं । तभी तो मनोनिबन्धन सांस्कृतिक काम, तथा शरीरनिबन्धन सांस्कृतिक अर्थ, दोनों को पुरुषार्थकोटि में हीं अन्तर्भूत कर लिया है ऋषिप्रज्ञाने ।

१९९–भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों, तथा वर्त्तमान-अमुक-आयोजनों का सुसूक्ष्म–भेद, एवं तदाधारेणैव निर्णयात्मक चिन्तन की अपेक्षिता जागरूकता—

अत्यन्त ही सुसूक्ष्म–प्राकृतिक भेद है भारतीय सांस्कृतिक चतुर्विध आयोजनों में, तथा वर्त्तमानयुग के एतन्नामक आयोजनों में । मित्रगोष्ठी–आमोद–प्रमोद–हर्ष–उल्लास–नृत्य–गीत–वाद्य–भोजनपरिग्रहसम्भार–आदि आदि प्रत्यक्षदृष्ट–प्राकृतिक सभी भाव दोनों हीं आयोजनों में थोड़े प्रकारभेद से समरूपेण समन्वित हैं । अतएव सहसा दोनों में कोई स्थूल भेद प्रतीत नहीं हो रहा । सम्भवतः ही नहीं, अपितु निश्चयेन ही इस प्रत्यक्ष भौतिक साम्य से ही आज के आयोजनभक्तोंनें अपने आयोजनों को **'सांस्कृतिक–आयोजन'** कहना आरम्भ कर दिया । और इन की प्रामाणिकता के लिए भारतीय प्राचीन आयोजनों से अनुप्राणित भावों की घोषणाएँ होनें लग पड़ीं । इसी घोषणा के माध्यम से इन पर 'परम्परा' की छाप लगादी गई । अतएव अस्मच्छदृश भूतदृष्टिप्रधान जन भ्रान्तिवश आज इन आयोजनों को भी भारतीय-'सांस्कृतिक–आयोजन' ही मान बैठे । साधारण जन की कौन कहे, राष्ट्र के सभी शिक्षित, शिक्षक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री, पण्डित, आदि आदि आबाल–वृद्ध वनितावर्ग एकहेलया एक स्वर से सोल्लास आज के इन आयोजनों के अकाण्ड–ताण्डवों को ही मानों मानवीय मनोविनोद के एकमात्र अवलम्ब मानते–मनवाते जा रहे हैं । अतएव यह आवश्यक है कि, दोनों हीं आयोजनों के उस सुसूक्ष्म भेद का स्पष्टीकरण सर्वात्मना अवधान-

पूर्वक लक्ष्यारूढ कर लिया जाय। तभी दोनों के उस महान् विभेद से राष्ट्र की वर्त्तमान प्रज्ञा किसी निर्णयात्मक तथ्य का चिन्तन कर सकेगी।

२००–मानसिक–विश्रामानुगत–पुरातन सांस्कृति–आयोजनों, तथा मनोविनोदात्मक वर्त्तमान–प्राकृत–आयोजनों के मौलिक भेद का अन्वेषण–प्रयास—

भारतीय प्राचीन सांस्कृतिक आयोजन हों, अथवा तो भारतीय अर्वाचीन आयोजन हों, दोनों ही आयोजनों के मुख्य सूत्रधार तो मानवीय **मन**, एवं मानवीय **शरीर**, ये दो ही पर्व हैं। मानव का आत्मा, तथा आत्मानुगता मानवीया बुद्धि, इन दो पर्वों का तो उन सांस्कृतिक–आचारों से ही सम्बन्ध है, जिन्हें 'शास्त्रीय–आचार' कहा गया है, जिन में भारतीय द्विजातिमानव ही अधिकृत हैं। मनोविनोदपूर्वक शारीरिक–भावों का अनुगमन हीं भारतीय पुरातन आयोजनों का मुख्य उद्देश्य रहा है, एवं यही सम्भवतः आज के आयोजनों का मुख्य लक्ष्य है। जीवनसंघर्ष से हो पड़ने वाली थकान को विश्राम देने के लिए मनोविनोद आवश्यक है। तदर्थ ही आयोजनों का आविर्भाव हुआ है। इस सर्वसमानता में भी हम किस आधार पर वर्त्तमान आयोजनों को 'संस्कृति' की परम्परा से पृथक् मानने का आग्रह व्यक्त कर रहे हैं ?, इस प्रश्न का जबतक कोई मौलिक समाधान नहीं ढूँढ लिया जायगा, तबतक कदापि हम तथाविध अभिव्यक्ति का समर्थन न कर सकेंगे। वही सूक्ष्म भेद यहाँ दो शब्दों में प्रकृतिप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

२०१–चान्द्रपार्थिव–त्रयोदशविध [१३]–प्राकृतसर्ग का सिंहावलोकन—

स्मरण कीजिए पूर्व की उस तालिका का, जिस में पार्थिव–चान्द्री–प्रकृति से सम्बन्ध रखनें वाले १३ प्रकार के प्राणिसर्गों का स्वरूप स्पष्ट हुआ है (देखिए पृ० सं० २६३ की तालिका)। पार्थिवप्रकृति मानव के शरीर की अधिष्ठात्री है, एवं चान्द्रीप्रकृति मानव के मन की अधिष्ठात्री है, जैसाकि तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है। **रेतः**[१]**–श्रद्धा**[२]**–यशः**[३]–नाम के सुप्रसिद्ध चान्द्र मनोताओं से क्रमशः समन्वित चान्द्र **भूत**[१]**–प्राण**[२]**–प्रज्ञा**[३]–भाग हीं क्रमशः रेतोमय–भूतप्रधान–चतुर्विध सर्ग, श्रद्धामय–प्राणप्रधान चतुर्विध सर्ग, एवं यशोमय–प्रज्ञाप्रधान चतुर्विध सर्ग भेद से तीन स्थानों में विभक्त होते हुए १२ अवान्तर वर्गों से समन्वित हैं। तेरहवाँ सर्ग है–भौम–स्तम्बसर्ग। स्तम्बसर्ग **भौमसर्ग** कहा जायगा, भूतप्रधान चान्द्रसर्ग–**पार्थिवसर्ग** माना जायगा, प्राणप्रधान चान्द्रसर्ग **आन्तरिक्ष्यसर्ग** कहा जायगा, एवं प्रज्ञाप्रधान चान्द्रसर्ग को **दिव्यसर्ग** माना जायगा। साथ ही इन चारों सर्गों को क्रमशः **अन्धतमोसर्ग**, **तमोविशालसर्ग**, **रजोविशालसर्ग**, **सत्त्वविशालसर्ग**, इन नामों से व्यवहृत किया जायगा। यही प्राकृतिक १३ सर्गों का सम्पूर्ण स्वरूप–दिग्दर्शन माना जायगा, जिसे पुनः एकबार तालिकारूपेण लक्ष्य बना लेना चाहिए।

*चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः *

१ प्रज्ञातत्त्वं--चन्द्रमसः यशोमयम्	१--ब्राह्मजीव (१३) २--प्राजापत्यजीव (१२) ३--पैत्र्यजीव (११) ४--ऐन्द्रजीव (१०)	द्यौः--यशोमयी-प्रज्ञाप्रधाना सर्गचतुष्टयी --दिव्यसर्गः--सत्त्वविशालसर्गः-- --सूर्य्यानुगतश्चान्द्रसर्गः	सूर्य्याचन्द्रमसौ (सौरचान्द्रजीवाः)	चान्द्रसर्गाः--द्वादश--(१२) मनः--प्रकृतेः
	*			
२ प्राणतत्त्वं--चन्द्रमसः श्रद्धामयम्	१--गन्धर्वजीव (९) २--पिशाचजीव (८) ३--राक्षसजीव (७) ४--यक्षजीव (६)	--अन्तरिक्षम्-श्रद्धामयी-प्राणप्रधाना सर्गचतुष्टयी--आन्तरिक्ष्यसर्गः--रजोविशाल--सर्गः--स्वानुगतश्चान्द्रसर्गः--	चन्द्रमा एव (चान्द्रजीवाः)	
	*			
३ भूततत्त्वं--चन्द्रमसः रेतोमयम्	१--पशुजीव (५) २--पक्षिजीव (४) ३--कीटजीव (३) ४--कृमिजीव (२)	पृथिवी--रेतोमयी--भूतप्रधाना सर्गचतुष्टयी --पार्थिवसर्गः--तमोविशालसर्गः-- --पृथिव्यनुगतश्चान्द्रसर्गः--	--पृथिवि-चन्द्रमसौ पार्थिवचान्द्रजीवाः	
	*			
सैषा भूमिः	१--स्तम्बजीव (१)	भूमिः--भौमसर्गः--अन्धतमःसर्गः--	भूः--एव --भौमजीवाः	भौमसर्गाः शरीरप्रकृतेः

२०२--सांख्यशास्त्रसम्मत--चतुर्द्दशविध--भूतसर्ग का प्रासङ्गिक संस्मरण--

उक्त तालिका का आधार सांख्यशास्त्र है, जिसने मनुष्य के समावेश से १३ के स्थान में १४ प्रकार का भूतसर्ग माना है। भारतीय सांस्कृतिक--आयोजनों के महान् इतिहास के स्वरूपविश्लेषक पुराणशास्त्र नें भी चान्द्र--पार्थिव जीवों का एक दूसरे दृष्टिकोण से स्पष्टीकरण किया है। दर्शन जहाँ लोकभाषा को प्रधान मानता है, वहाँ पुराण सभी विषयों का धर्म्म की भाषा में हीं विश्लेषण करता है। क्योंकि इसका एकमात्र

उद्देश्य ही धर्म्मनिष्ठा का संरक्षण है । अतएव दार्शनिकी तत्त्ववादभाषा की उपेक्षा कर पुराणनें धर्म्म नाम से ही चान्द्रयोनियों का स्वरूप स्पष्ट किया है । इच्छा थी कि, पुराण का वह प्रसङ्ग भी यहाँ अंशतः तो स्पष्ट कर ही दिया जाता । किन्तु ऐसा करना अब मानवीय मन की उस भावुकता का ही परिचय देना होगा, जो विषय का आरम्भ करना तो जानती है, किन्तु समाप्त नहीं कर पाती उस विषय को । देखिए न । जिन आयोजनों की रूपरेखा का प्रक्रान्त द्वितीय प्रकरण से प्रधान सम्बन्ध है, इतना सब कुछ लिखनें पर भी अभी तक उस मूलविषय के सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन नहीं किया जा सका है । अतएव अब इस विस्तारपक्ष को यहीं उपरत कर पुराणदृष्टि का संस्मरणमात्र कर रूपरेखा का उपक्रम किया जा रहा है, जिस उपक्रम की घोषणा पूर्व में भी अनेक बार की जाचुकी है ।

२०३--पुराणसम्मत भूतसर्ग के साथ सांख्यसम्मत भूतसर्ग का समन्वय—

धर्म्मप्रसङ्ग में पुराण नें मानव को ही आधार माना है । कृमि--कीट–पक्षी–पशु–चारों सर्गों का विधि--निषेधात्मक आचारधर्म्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । अतएव अत्र पुराण नें उन चारों जीववर्गों का संग्रह नहीं किया है । यदि मानव को पृथक् कर दिया जाता है, तो सांख्यदृष्ट्या अब आठ ही वर्ग बच जाते हैं । मानव के समावेश से ९ वर्ग हो जाते हैं । पुराण नें गन्धर्वजीवों के गन्धर्व, विद्याधर, ये दो भेद मान लिए हैं, यक्षजीवों के किम्पुरुष–गुह्यक–ये दो भेद मान लिए हैं । राक्षसविभाग के राक्षस–दैत्य–ये दो विभाग मान लिए हैं । मानव का समावेश कर लिया है । यों १२ वर्ग मान लिए हैं । प्रकृति में मानवतारिक्त ११ वर्ग प्राणरूप से प्रतिष्ठित हैं । भूमण्डल पर भी मानवरूपेणैव ये ११ ओं प्राण प्राणीरूपेण थे, हैं, रहेंगे । बारहवाँ वह मानव ही मानव कहलाएगा, जिसमें अमुक विशेषधर्म्म रहेंगे । विस्तार में मत जाइए । अभी केवल यही जान लीजिए कि–प्राणविशेषों की प्रधानता से मानव १२ प्रकार के हो सकते हैं, हो जाते हैं, जिनके धर्म्म पृथक् पृथक् हैं । उन्हीं धर्म्मों का दो शब्दों में समन्वय कर लीजिए, मानव-स्वरूप के सर्वाङ्गीण भाव–कुभावों का स्पष्टीकरण सम्भव बन जायगा आपकी चिन्तनशीला प्रज्ञा के लिए ।

२०४--पुराणसम्मत विभिन्न--भूतसर्गों के विभिन्न धर्म्मों का स्वरूप--दिग्दर्शन—

(१)–शास्त्रीय यज्ञ--तप--दान--कर्म्मों का अनुगमन, प्रतिदिन वेद का पारायण, वेदार्थ का परिशीलन, यज्ञाधिष्ठाता विष्णुदेवता का आराधन **देवमानव** के धर्म्म मानें गए हैं । (२)–बाहुबल, दूसरों के साथ मात्सर्य्य–(प्रतिद्वन्द्विता की भावना), सदा युद्ध के लिए आतुरता, लोकनीति–शास्त्रों की प्रवृत्ति, भगवान् शङ्कर तथा पार्वती की आराधनप्रियता, ये ही **दैत्यमानव** के धर्म्म हैं । (३)–योगविद्याओं में अभिरुचि–तदनुगमन, तदध्ययन, प्रकृति–भूत–विज्ञान–तत्परता, योगेश्वर विष्णु तथा योगीश्वर शिव की उपासना, ये ही **सिद्धमानव** के धर्म्म हैं । (४)–वीणावादनतत्परा भगवती सरस्वती में अनन्य भक्ति, उपास्यदेव में तल्लीनता, नृत्य–वाद्य–गायन की सतत अनुगति, ये ही **गन्धर्व्वमानव** के धर्म्म हैं । (५)–भूतविज्ञानानुगति–पौरुषानुगति--माता पार्वती की भक्ति, ये ही **विद्याधरमानव** के धर्म्म हैं । (६)–गन्धर्व्वविद्या में पारङ्गतता (सङ्गीते), शङ्कर की भक्ति, सम्पूर्ण शिल्प--कलाओं का कौशल, ये ही **किम्पुरुषमानव** के धर्म्म हैं । (७)–ब्रह्मचर्य्य–मानराहित्य--योगाभ्यास में रति–सर्वत्र कामचारित्व, ये ही **पितृमानव** के धर्म्म हैं । (८)–ब्रह्मचर्य्य--स्वल्पभोजन–मन्त्रणाप्रियता--नियमानुगति--धर्म्मरहस्यज्ञानानुगति, ये ही **ऋषिमानव** के धर्म्म हैं ।

(६)–वित्तशालिता–विविध लोकभोगरति–स्वाध्यायप्रियता–शङ्करभक्ति–अहङ्कारोपसेवन–अशुचिभाव–आदि ये ही **गुह्यकमानव** के धर्म्म हैं। (१०)–परस्त्रीगमन–परधनापहरणलोलुपता–पढ़ने का व्यसन–आदि ये ही **राक्षसमानव** के धर्म्म हैं। (११)–अविवेकता–मूर्खता–अपवित्रता–मलिनता–मांसभोजनलोलुपता–आदि ही **पिशाचमानव** के धर्म्म हैं। (१२)–स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य्य, दान, यजन, उदारता, भारचिन्तापार्थक्य–दया–अहिंसा–क्षमा–शौच–इन्द्रियनिग्रह–सत्यभाषण–सदा स्वस्ति–मङ्गलपरायणता–शङ्कर–सूर्य्य–भगवती का आराधन–आदि आदि ही **मानवात्मक मानव** के धर्म्म मानें गए हैं। यों मानव प्राणभेद से १२ योनिभावों में विभक्त हो रहा है, जैसाकि राक्षसमानव सुकेशी, तथा ऋषिमानवश्रेष्ठ के निम्न लिखित प्रश्नोत्तर–प्रकरण से स्पष्ट है।

सुकेशिरुवाच—किंलक्षणो भवेद्धर्म्मः ? किमाचरणसत्क्रियः ॥
यमाश्रित्य न सीदन्ति देवाद्यास्तु, तदुच्यताम् ॥१॥

ऋषय ऊचुः—१–देवानां परमो धर्म्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः ॥
स्वाध्याय–वेदवेत्तृत्वं–विष्णुपूजारतिः–स्तुतिः ॥२॥

२–दैत्यानां बाहुशालित्वं–मात्सर्य्यं–युद्धसत्क्रिया ॥
विन्दनं नीतिशास्त्राणां–हरशक्तिरुदाहृता ॥३॥

३–सिद्धानामुदितो धर्म्मो योगयुक्तिरनुत्तमा ॥
स्वाध्यायं–ब्रह्मविज्ञानं–भक्तिर्द्वाभ्यामपि स्थिरा ॥४॥

४–उत्कृष्टोपासनं ज्ञेयं–नृत्य–वाद्येषु वादिता ॥
सरस्वत्यां स्थिरा भक्तिर्गान्धर्व्वो धर्म्म उच्यते ॥५॥

५–विद्याधरत्वमतुलं विज्ञानं–पौरुषे मतिः ॥
विद्याधराणां धर्म्मोऽथ भवान्यां भक्तिरेव च ॥६॥

६–गान्धर्व्वविद्यावेदित्वं–भक्तिः स्थाणौ तथा स्थिरा ॥
कौशल्यं सर्व्वशिल्पेषु धर्म्मः कैम्पुरुषः स्मृतः ॥७॥

७–ब्रह्मचर्य्य–ममानित्वं–योगाभ्यासरतिर्दृढा ॥
सर्व्वत्र कामचारित्वं धर्म्मोऽयं पैतृकः स्मृतः ॥८॥

८–ब्रह्मचर्य्यं–यताशित्त्वं–जप्यज्ञानञ्च राक्षस ! ॥
नियमा धर्म्मवेदित्त्वमार्षं धर्म्मं प्रचक्षते ॥९॥

९–धनाधिपत्यं–भोगानि–स्वाध्यायं–शङ्करार्चनम् ॥
अहङ्कार–मशौचञ्च–धर्म्मोऽयं गुह्यकेष्विति ॥१०॥

१०–परदाराभिमर्शित्त्वं-परार्थेऽपि च लोलुता ॥
स्वाध्याय-स्त्र्यम्बके भक्तिर्धर्म्मोऽयं राक्षसः स्मृतः॥११॥

११–अविवेकता–थाज्ञानं--शौचहानि--रसत्यता ॥
पिशाचानामयं धर्म्मः-सदा चामिषगृध्नुता ॥१२॥

१२–स्वाध्यायं–ब्रह्मचर्य्यञ्च -दानं--यजनमेव च ॥
अकार्पण्य--मनायासं--दयाऽहिंसाक्षमादयः ॥१३॥
जितेन्द्रियत्त्वं--शौचञ्च--माङ्गल्यं--भक्तिरुच्यते—
शङ्करे–भास्करे–देव्यां, धर्म्मोऽयं मानवः स्मृतः ॥१४॥

*

योनयस्तु द्वादशैताः सह धर्म्माश्च राक्षस ! ॥
ब्रह्मणा कथिताः पुण्या द्वादशैव गतिप्रदाः ॥१५॥

वामनपुराण, ११ वाँ अध्याय

शास्त्रसम्मताः— मानववर्गाः

१—देवयोनिः—	देवाः—	देवधर्म्मः—	तदनुगताः—	देवमानवाः
२—दैत्ययोनिः—	दैत्याः—	दैत्यधर्म्मः—	तदनुगताः—	दैत्यमानवाः
३—सिद्धयोनिः—	सिद्धाः—	सिद्धधर्म्मः—	तदनुगताः—	सिद्धमानवाः
४—गन्धर्वयोनिः—	गन्धर्वाः—	गन्धर्वधर्म्मः—	तदनुगताः—	गन्धर्वमानवाः
५—विद्याधरयोनिः—	विद्याधराः—	विद्याधरधर्म्मः—	तदनुगताः—	विद्याधरमानवाः
६—किम्पुरुषयोनिः—	किम्पुरुषाः—	किम्पुरुषधर्म्मः—	तदनुगताः—	किम्पुरुषमानवाः
७—पितृयोनिः—	पितरः—	पितृधर्म्मः—	तदनुगताः—	पितृमानवाः
८—ऋषियोनिः—	ऋषयः—	ऋषिधर्म्मः—	तदनुगताः—	ऋषिमानवाः
९—गुह्यकयोनिः—	गुह्यकाः—	गुह्यकधर्म्मः—	तदनुगताः—	गुह्यकमानवाः
१०—राक्षसयोनिः—	राक्षसाः—	राक्षसधर्म्मः—	तदनुगताः—	राक्षसमानवाः
११—पिशाचयोनिः—	पिशाचाः—	पिशाचधर्म्मः—	तदनुगताः—	पिशाचमानवाः
१२—मानवयोनिः—	मानवाः—	मानवधर्म्मः—	तदनुगताः—	मानवमानवाः

द्वादशयोन्यनुगताः—पुराणसम्मताः—मानववर्गाः (१२)

लोकसम्मताः—शास्त्रानुमोदिता वर्गाः

लोक-भूतदृष्ट्या तु—अत्रैव पौराणिकसन्दर्भे—मानवविभागेष्वेव—एतेषामप्यन्तर्भावः—कर्त्तुं शक्यते। यथाहि—

१३—पशुयोनिः—	पशवः—	पशुधर्म्मः—	तदनुगताः—	पशुमानवाः
१४—पक्षियोनिः—	पक्षिणः—	पक्षिधर्म्मः—	तदनुगताः—	पक्षिमानवाः
१५—कीटयोनिः—	कीटाः—	कीटधर्म्मः—	तदनुगताः—	कीटमानवाः
१६—कृमियोनिः—	कृमयः—	कृमिधर्म्मः—	तदनुगताः—	कृमिमानवाः

पश्वादियोन्यनुगताः—

लोकसम्मताः—मानववर्गाः (४)

सांख्यशास्त्रानुगत–चान्द्र–अष्टविध–जीवसर्गेन समतुलनम्—

———————*

[८]—ऋषियोनिः—ऋषयः—ऋषिधर्म्मः— }-तद्रूपाः—ब्राह्मजीवाः [१]

[३]—सिद्धयोनिः—सिद्धाः—सिद्धधर्म्मः— }-तद्रूपाः—प्राजापत्यजीवाः [२]

[७]—पितृयोनिः—पितरः—पितृधर्म्मः— }-तद्रूपाः—पैत्र्यजीवाः [३]

[१]—देवयोनिः—देवाः—देवधर्म्मः— }-तद्रूपाः—ऐन्द्रजीवाः [४]

चतुर्विधाः—चान्द्रजीवाः
सूर्य्यानुगताः—दिव्याः }-[४]

———————*

[४]—गन्धर्वयोनिः—गन्धर्वाः—गन्धर्वधर्म्मः
[५]—विद्याधरयोनिः—विद्याधराः—विद्याधरधर्म्मः } तद्रूपाः—गन्धर्वजीवाः [१]

[११]—पिशाचयोनिः—पिशाचाः—पिशाचधर्म्मः }-तद्रूपाः—पिशाचजीवाः [२]

[२]—दैत्ययोनिः—दैत्याः—दैत्यधर्म्मः
[१०]—राक्षसयोनिः—राक्षसाः—राक्षसधर्म्मः } तद्रूपाः—राक्षसजीवाः [३]

[६]—किंपुरुषयोनिः—किंपुरुषाः—किंपुरुषधर्म्मः
[६]—गुह्यकयोनिः—गुह्यकाः—गुह्यकधर्म्मः } तद्रूपाः—यक्षजीवाः [४]

चतुर्विधाः—चान्द्रजीवाः—स्वानुगताः
आन्तरीक्ष्याः }-[४]

———————* *———————

[१]—प्राकृताः—मानवाः— }-त एव—चान्द्रमानवाः—[१]

पशुजीवाः—[१]
पक्षिजीवाः—[२]
कीटजीवाः—[३]
कृमिजीवाः—[४]

चतुर्विधाः—चान्द्रजीवाः
पृथिव्यनुगताः—
पार्थिवाः } [४]

———————*

अन्तःसंज्ञाः-अर्द्धचेतनजीवाः
असंज्ञाः—अचेतनजीवाः } स्तम्बजीवाः—भौमाः [१]

———————*

स एष—चतुर्दशविधो भूतसर्गः

२०५–पुराणसम्मत १२ योनिसर्गों का सांख्य के ८ योनिसर्गों में अन्तर्भाव, एवं द्वादशसर्गात्मक–अष्ट सर्गों का देवभावत्त्व, अतएव सांस्कृतिकत्त्व —

पुराण नें जिन १२ योनियों का दिग्दर्शन कराया है, उन का सांख्यदृष्टि से ८ ही योनियों में अन्तर्भाव हो जाता है। सचमुच पुराणशास्त्रसम्मता धर्म्मभाषा का यह महान् कौशल है कि, उस नें जहाँ अन्य सब योनियों का संग्रह कर लिया है मानववर्ग के सम्बन्ध में, वहाँ पश्वादि चार योनिवर्गों को छोड़ दिया है । कारण स्पष्ट हैं। अवधानपूर्वक पौराणिक वर्गों को लक्ष्य बनाने पर आप को यह विदित होगा कि–सभी योनियों का येन–केन रूपेण साक्षात्–अथवा तो परम्परया देवभाव से सम्बन्ध है । दैत्य–राक्षस–पिशाच–जैसी योनियाँ भी क्रमशः–हरशक्तिरुदाहृता, त्र्यम्बके भक्तिः, इत्यादि रूप से शिव–शक्ति–आदि देवभावों से अनुप्राणित हैं। दैत्य–राक्षसादि मानवों की देवभक्ति के इतिहास से समाप्लुत है पुराणशास्त्र । इस देवभावानुगति से ही (जोकि आत्मानुगत मानव की मानवता का मूलाधार मानी गई है) दैत्य–राक्षसादि योनियों को भी 'मानव' के साथ समन्वित मान लिया है भगवान् व्यास ने ।

२०६–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–भेदेन चतुर्विध सर्गों की देवभाव से पराङ्मुखता, अतएव असांस्कृतिकता, एवं तदनुबन्धी आयोजनों की केवल प्राकृतता—

पशु–पक्षी–कीट–कृमि–चार पार्थिव योनियों में आते आते देवप्राण सर्वथा ही अभिभूत हो जाता है। इन चारों प्राकृतिक वर्गों में तो केवल मनःशरीर ही प्रधान रह जाते हैं। देवभाव की इस आत्यन्तिक अन्तर्म्मुखता के कारण ही पुराण नें इन चारों वर्गों के साथ 'मानव' जैसी श्रेष्ठ अभिधा का सम्बन्ध कराना धर्म्मभाषा के विरुद्ध ही अनुभूत किया, जब कि प्राकृतिक सृष्टिप्रक्रिया के माध्यम से अनुप्राणिता लोकदृष्टि से लोकभाषा–इतिहासभाषा में इन चारों वर्गों के साथ भी मानव को जोड़ा जा सकता है, दुर्भाग्यवश जुड़ता आया है इस वर्गचतुष्टयी के साथ भी मानव सम्भवतः सदा से ही। तभी तो राजर्षि मनु को मानव के सम्बन्ध में * 'पशुधर्म्मो विगर्हितः' जैसे वाक्य का भी उच्चारण कर ही देना पड़ा । लोक में तो स्पष्ट ही–**"अरे ! तू तो पशु बन गया, क्या श्वानवृत्ति का अनुगामी बन रहा है ?, बैल है–गधा है–कीट है, कृमि है, कीड़े की मोत मर जाने वाला है,"** इत्यादि रूप से अमुक वर्ग के मानवमहानुभावों के लिए ऐसी ऐसी सम्मानित उपाधियाँ सुनीं जातीं ही हैं। कौन है–इन उपाधियों के पात्र ?। जो धर्म्मभावना से सर्वथा ही बहिर्म्मुख हैं, देवभावना से एकान्ततः ही पराङ्मुख हैं। वे हैं इन उपाधियों के प्रधानपात्र, जिन्होंनें आत्म–बुद्धि भावानुगत मोक्ष–धर्म्म–नामक दोनों पुरुषार्थों को सदा के लिए जलाञ्जलि समर्पित कर पशु–पक्षियों की भाँति मानसिक काम, एवं शारीरिक अर्थ, इन दो की तुष्टि–पुष्टि (मानसिक तुष्टि, और शारीरिक पुष्टि) को ही मानवजीवन के महान् पुरुषार्थ घोषित कर दिए हैं। और वें हैं इन उपाधियों के सम्मानित पात्र, जिन के कामपौरुष ने आत्मानुगत मोक्ष का निगरण कर लिया है, एवं जिन के अर्थपौरुष ने धर्म्म का निगरण कर लिया है । एवं इसी दृष्टिबिन्दु से कुछ और भी समझलेना है भारतीय मानव को।

---

*–अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्म्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
—मनुः ९।६६

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२०७-मानव के प्रकृत्यर्थात्मक चार पुरुषार्थ, एवं चारों के चार सामाजिक प्रतिनिधि—

मानव के आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–इन चार पर्वों के उपकारक क्रमशः **मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ**–नामक चार पुरुषार्थ मानें गए हैं, जिन से भारत के आबालवृद्धवनिता–सभी वर्ग सुपरिचित नहीं, तो अपरिचित भी नहीं हैं। इन चारों पर्वों के पुरुषार्थों की पद्धतियों के संरक्षक चार सामाजिक वर्ग नियत कर दिए हैं भारतीय समाजशास्त्रियों नें, जिनका एकमात्र प्रधान उत्तरदायित्व माना गया है मानव को आत्मादि चारों पर्वों का स्वरूप–समझाते हुए चारों से अनुप्राणित मोक्षादि चारों पुरुषार्थों का स्वरूप व्यवस्थित बनाए रखना। वे ही चारों सामाजिक प्रतिनिधि क्रमशः **संन्यासी, पण्डित, वैद्य, प्राड्विवाक,** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। आत्मानुगत मोक्ष का रहस्यद्रष्टा--वर्ग **संन्यासी** है। बुद्ध्यनुगत धर्म्म का निर्णायक वर्ग श्रौतस्मार्त्त–धर्म्मज्ञाता **पण्डित** है। मनोऽनुगत कामतन्त्र का व्यवस्थापक वर्ग **वैद्य** है। एवं शरीरानुगत–शरीरोपयिक अर्थतन्त्र का व्यवस्थापक न्यायशास्त्र–(कानून) का परिज्ञातृवर्ग ही **प्राड्विवाक** है।

२०८--भारतीय--धार्म्मिक जीवनपद्धति का महान् उत्कर्षात्मक दृष्टिकोण, एवं वर्त्तमान--प्रकृति--वादियों का अपकर्षात्मक दृष्टिविमोहन—

जिस मानवसमाज को आत्मनिष्ठ तपस्वी संन्यासी, तथा बुद्धिनिष्ठ धर्म्मशील पण्डित, दोनों का सहयोग प्राप्त होता रहता है, उसके मनोमय काम, एवं शरीरमय अर्थ, दोनों मोक्ष–धर्म्म--भावनाओं से धार्म्मिक बने रहते हुए कदापि उसे अर्थ–कामासक्त नहीं बनने देते। और उस अवस्था में काम, अर्थ के प्रतिनिधि वैद्य–प्राड्विवाकों के आश्रय के बहुत ही कम अवसर आते हैं। अतएव अधिक वैद्य उत्पन्न करना, अधिक औषधालय बनवाना कदापि भारतीय सामाजिक पुरुषार्थ नहीं माना गया। अपितु अधिक धार्म्मिक-भावना का विकास करना हीं यहाँ मुख्य आधार माना गया है समाज की प्रकृतिस्थता के लिए। **'रोग उत्पन्न ही न होनें देना'** हीं यहाँ का महान् कौशल रहा है। अर्थ–और कामतन्त्र को धर्म्म-नियन्त्रण से पृथक् सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र कर देने का एकमात्र दुष्परिणाम होता है मानव की मनःशरीरात्मिका प्रकृति का अमर्य्यादित बन जाना। यह अमर्य्यादा ही कामानुबन्धी विविध रोग, तथा अर्थानुबन्धी विविध–विप्लव की जननी बनती रहती है। यों पहिले तो कामार्थों को धर्म्मनियन्त्रण से पृथक् कर देना, तत्परिणाम-स्वरूप इन्हें अमर्य्यादित बन जाने के लिए एक प्रकार से स्वतन्त्र कर देना, और फिर इस स्वतन्त्रता से अवश्यंभावी सभी रोगों-विप्लवों के निरोध के लिए वैद्यप्रवाह का सर्जन करते रहना, प्राड्विवाकों की अभिवृद्धि करते रहना कदापि भारतीय दृष्टिकोण तो नहीं माना जा सकता। हॉस्पिटिल बनाते जाना, तत्र रोगशय्याओं की अभिवृद्धि करते जाना, और इसी को महान पौरुष कहते जाना कदापि भारतीव–सामाजिक–उत्कर्ष नहीं है। राष्ट्र अधिकाधिक नीरोग हो, राष्ट्र अधिकाधिक अर्थचिन्ता से मुक्त हो, राष्ट्र अधिकाधिक स्वस्थालय बनावे, न कि आतुरालय. यही यहाँ का उत्कर्ष है। और निश्चयेन यह उत्कर्ष उस दुरवस्था में अवश्यमेव अभिभूत हो जाया करता है, जब कि मानव के मनोमूलक काम, तथा शरीरमूलक अर्थ, दोनों मोक्ष–धर्म्म (आत्म–बुद्धि) के नियन्त्रण से पृथक् होकर अमर्य्यादित बन जाया करते हैं। क्या स्थिति हो जाती है इन की अमर्य्यादा से समाज की ?, प्रश्न का समाधान आज स्पष्टतम बन चुका है। यदि फिर भी सुनने की कामना है, तो यह कह देने में अणुमात्र भी संकोच नहीं किया जायगा कि—

२०९–मन के द्वारा आत्मा का, शरीर के द्वारा बुद्धि का निगरण, तदपेक्षया मोक्ष-तथा धर्म्म का अभिभव, एवं तत्स्थान में मनःशरीरप्रधान-कामार्थ का प्रभुत्त्व, और तत्प्रतिनिधि डाक्टर-वैरिस्टरों की महती दानपात्रता—

आज मन खागया है आत्मा को, शरीर खागया है बुद्धि को । तात्पर्य्य–मानसिक कामवृत्तियोंनें आत्मभाव को अन्तर्म्मुख बना दिया है, तो शारीरिक–अर्थचिन्तानें बुद्धि के सहसद्विवेक को ढँक लिया है । सहजभाषानुसार मननें आत्मा पर नियन्त्रण कर लिया है, तो शरीर ने धर्म्म पर प्रतिबन्ध लगा दिया है । लोकैषणात्मिका मानसिक कामनानें आत्मचिन्तन का द्वार अवरुद्ध कर दिया है, तो वित्तैषणात्मिका शारीरिक लालसा ने धर्म्मचिन्तन को अभिभूत कर लिया है । लोकैषणा ही आज मुक्ति का द्वार है, वित्तैषणा ही आज धर्म्म का स्तम्भ है । परिणामतः मोक्ष का सन्देशवाहक संन्यासी आज मृतप्राय है, धर्म्म का सन्देशवाहक पण्डित आज उपेक्षितप्राय है । समादर है आज सगाज में उन दो महारथियों का हीं, जो समाज की मोक्ष–धर्म्म–शून्या प्रवृद्धतमा–अमर्य्यादिता कामार्थ–चिन्ताओं की निवृत्ति तो नहीं कर पाते । किन्तु निवृत्ति का तात्कालिक अभिनय अवश्य ही कुशलतापूर्वक कर सकते हैं, करते रहते हैं । उन्हीं दोनों सुप्रसिद्ध वर्गों का नाम आज की भाषा में है–**डॉक्टर**, और **वैरिस्टर**, जो कि प्राचीन भारत के **वैद्य** और **प्राड्विवाक** का ही सुविकसित–सुमभ्य रूप है । यही वर्गद्वयी आज समाज के लिए परमाराध्या बनी हुई है, जिस इस आराधना–कर्म्म में सफलता मिली है केवल उसी वर्ग को, जो सर्वात्मना पहिले इस वर्गद्वयी की मानसिक–शारीरिक कामार्थचिन्ताओं का पूरा पूरा समाधान कर सकने की क्षमता रखता है । अर्थात्–जो वर्ग मोक्ष–धर्म्मक्षेत्रों की भाँति किसी भी तर्क–युक्ति–हेतुवाद को उपस्थित किए बिना सर्वथा प्रणतभाव से, दीन–हीन–भाव से अञ्जलिबन्धरूपेण–श्रद्धापूर्वक इस वर्गद्वयी के प्रति इस की इच्छा के अनुरूप सर्वस्व–समर्पण करने की क्षमता रख सकता है, वह अर्थसम्पन्न वर्ग ही इन महान् अतिथियों से वर प्राप्त कर सकता है । स्पष्ट है कि, अर्थनामव्यञ्जना से भी अपरिचित अत्मच्छदश राष्ट्र का अधिक समूह तो अर्थाभाव के कारण इन के अनुग्रह–सहयोग से वञ्चित ही रह जाता है । अमुक सम्पन्न वर्ग के ही कामार्थस्वातन्त्र्य से उत्पन्न रोग–विप्लवों में तो इसे भी हिस्सा बँटा लेना पड़ता है, अधिक मात्रा में बँटा लेना पड़ता है अर्थाभावजनिता असुविधा के अनुग्रह से । किन्तु जब सुविधा का अवसर आता है, तो यह इस के दायविभाग से वञ्चित कर दिया जाता है । परिणाम क्या होता है अन्ततोगत्त्वा इस सामाजिक असन्तोष का ?, प्रश्न के यथार्थ समाधान के लिए सम्भवतः अब राष्ट्र को अधिक समय प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी ।

२१०–'उन्नति'–और–'अभ्युदय' शब्दों के तत्त्वार्थ का विश्लेषण--

जब जब समाज केवल मनःशरीरप्रधान बन जाता है, तब तब ही चार के स्थान में दो ही तो पुरुषार्थ शेष रह जाते हैं, एवं दो ही संरक्षक–रह जाते हैं । आत्मा, और बुद्धि के पराभव के साथ ही सन्यासीवर्ग, एवं पण्डितवर्ग का भी पराभव हो जाता है । मन और शरीर की उन्नति के साथ ही डॉक्टर और वैरिस्टरवर्ग भी सम्मुन्नत हो जाता है । 'उन्नति' के अर्थ से तो शब्दार्थरहस्यवेत्ता परिचित होंगे ही । 'उत्–नति' ही उन्नति का अक्षरार्थ है, जिसका अर्थ है–भौतिक--प्राकृतिक--जड़ सभ्यता के उत्–(सर्वोच्च

शिखिर) पर पहुँचने के अनन्तर–ऊपर चढ़ कर--गिर जाने के अनन्तर भारतीय परिभाषा में तो 'बचने' के लिए केवल गरुड़पुराण ही शेष रह जाता है। सच बात है। पर्वतशिखिर से धरातल पर गिर पड़ने वाले के लिए और बच भी क्या रहता है ?। क्या बचे इस पतन के अनन्तर ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान **'गरुड़पुराण बचे'** ही तो हो सकता है। इसीलिए तो भारतीय ऋषिप्रज्ञाने 'उन्नति' शब्द का समादर न कर उस–**'अभ्युदय'** शब्द का ही ग्रहण किया है, जो अपने–**'अभि–[सामने]–उत्–(ऊपर)--अय–[गमन]'** निर्वचन से उत्तरोत्तर निःश्रेयस्भाव का ही समर्थक बना हुआ है, जिसमें कदापि किसी अवस्था में भी दुर्गति--नति--अवनति--पतन--आदि की सम्भावना भी नहीं है *।

२११–राष्ट्र के सांस्कृतिक–प्रतिनिधि–'ब्राह्मण' की करुणगाथा, एवं तन्निष्ठा पर प्रकृतिवादियों की निर्म्मम- आघातपरम्पराओं का प्रचण्ड प्रहार—

इसी प्रसङ्ग में हम अपने राष्ट्रीय–समाज के सम्मुख एक वैसी अत्यन्त--करुणापूर्णा गाथा का उद्बोधनात्मक इतिवृत्त दो शब्दों में सर्वथा प्रणतभाव से निवेदन कर ही देना चाहते हैं, जिस गाथा के बिना प्रस्तुत प्रसङ्ग अपूर्ण बना रह जाता है। गाथा आज के लिए नवीन नहीं है। आज सभी इस गाथागान में सोत्साह प्रवृत्त हैं। केवल इसकी अनुकरणात्मिका व्यञ्जना का ही यहाँ दिग्दर्शन अभीष्ट है। जैसा कि किसी पूर्व प्रसङ्ग में निवेदन किया जा चुका है, ब्रिटिश सत्ताधीशों की दृष्टि ने सूक्ष्मेक्षण के द्वारा भारतराष्ट्र की उस मौलिक धर्म्मनिष्ठा को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाया, जिसका सन्देशवाहक ब्राह्मण--पण्डितवर्ग था। इसके जीवित रहते उसकी कामार्थचिन्ता का सर्वात्मना पुष्पित–पल्लवित होते रहना असम्भव था। अतएव सर्वप्रथम अपने शिक्षायन्त्र के द्वारा उसने सर्वप्रथम यहाँ की धार्म्मिक सामाजिक–जीवनपद्धतियों को ही जड़--भूत–विज्ञान के चाकचिक्य–प्रयोगों से मूर्खतापूर्णा--रूढ़िवादात्मिका--पद्धतियाँ कहना--कहलवाना आरम्भ कर दिया। दुर्भाग्यवश धर्म्म की मूलाधारभूता ज्ञानविज्ञानात्मिका मूलसंस्कृति के स्वरूपबोध से यहाँ का पण्डितवर्ग शताब्दियों से पराङ्मुख बना चला आरहा था। अतएव अपने धर्म्म का, सामाजिक जीवनपद्धतियों के नित्यविज्ञानरहस्य का परिचय देने में यह असमर्थ ही बना रह गया। और यों विज्ञानाभासरूप भूतविज्ञान की चकाचौंध ने इसे हतप्रभ ही कर डाला। परिणाम यह हुआ कि, उन चाणाक्षचतुरों की शिक्षा से दीक्षित स्वयं–भारतीय ही धार्म्मिक जीवनपद्धतियों के, एवं तत्सहैव तत्सन्देशवाहक नवशिक्षित धर्म्मभीरु भावुकवर्ग ब्राह्मणवर्ग के प्रति न केवल निरपेक्ष--तटस्थ ही बन गए। अपितु प्रचण्डरूप से अशिष्टता–अभद्रता--पूर्वक विरोध करते रहना भी तच्छिक्षादीक्षितों का महान् पौरुष बन गया। यह पौरुष आगे जाकर तो इस जघन्यता में परिणत होगया कि, राष्ट्र की परतन्त्रता के मूलकारण भी ब्राह्मण, ब्राह्मणों का वर्गवादात्मक धर्म्म, रूढ़ि--आदि ही प्रमाणित किए जाने लगे। परिणामस्वरूप यदि किसी ने भूले--भटके कभी ब्राह्मण से, तत्प्रदर्शित धर्म्म--कर्म्म से सम्पर्क स्थापित कर भी लिया, तो उसे पोंगापन्थी--पुराणपन्थी–रूढ़िभक्त--अन्धभक्त–आदि आदि उपाधियों से सुविभूषित करने में भी इस नवीनवर्ग ने महान् पौरुष ही प्रदर्शित कर डाला।

---

*-न हि कल्याणकृत् कश्चित्–दुर्गतिं तात ! गच्छति।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

२१२–बहिर्भावुक, किन्तु अन्तर्निष्ठ ब्राह्मण के द्वारा सांस्कृतिक–सूत्रों की उच्चारणानुगति, एवं तद्द्वारा ही सांस्कृतिक–परम्पराओं का संरक्षण—

बहिर्भावुक, किन्तु सांस्कृतिक--परम्परा के अप्रत्यक्ष–मूलस्रोत--प्रवाह के अनुग्रह से अन्तर्निष्ठ भी ब्राह्मण इस भूताक्रमण का समाधान तो न कर सका। दूसरे शब्दों में ज्ञानविज्ञानात्मक समाधान से पराङ्मुख ब्राह्मण तर्कवादी इन नवीन सभ्यों–शिक्षितों का सन्तोष तो न करा सका। किन्तु स्वयं निष्ठापूर्वक यह गिरता--पड़ता–पिटता--कुटता–रोता--हुआ भी संस्कृति के आधार पर प्रतिष्ठित धार्म्मिक सूत्रों का उच्चारण अवश्य करता रहा। सत्तातन्त्र से उपेक्षित इस निरीह ने केवल अपनी आस्था के बल पर सम्पन्न–वणिक--वर्ग का आश्रय लिया एकमात्र धर्म्मसूत्र–प्रतिष्ठा--कामना से। इसकी इस कामना का अर्थ समझा जाने लगा आगे जाकर इसकी भिक्षावृत्ति। शरीर तो इसके भी था, मन भी था ही। अतएव तदनुबन्धिनी आवश्यकताओं के उत्पीड़न ने विवश भी बना रक्खा था भिक्षावृत्ति के लिए इसे। किन्तु कदापि इसने कोट्यधीश–लक्षाधीश बन जाने की कल्पना न की, जब कि थोड़ी जघन्यता से, बर्बरता से, दानवता से अमुक तन्त्रों की उपासना के द्वारा यह भी इस दिशा में अन्यों की भाँति सफलता प्राप्त कर सकता था। आलोचक कहते हैं--ब्राह्मण कभी व्यवसाय में सफल हो ही नहीं सकता। हम इसी आलोचना को तो ब्राह्मण की जीवननिष्ठा का मूलस्तम्भ मानते हैं। यही तो ब्राह्मण की महती योग्यता है कि, वह अमुक तन्त्रों से युक्त व्यवसाय कर ही नहीं नकता। करता है, तो सफल नहीं हो सकता। और यही इसका जन्मसाफल्य है।

२१३–सर्वतः उत्पीड़ित–अवमानित भी राष्ट्रीय ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा का गौरवपूर्ण इतिहास, एवं तद्द्वारा ही भारतीय संस्कृति का अद्यावधि–पर्य्यन्त संरक्षण—

हाँ, तो किसी भी निमित्त से सही ही–शताब्दियों से उत्पीड़ित–अवमानित-प्रतारित–भर्त्सित-पददलित--क्षतविक्षत–दीन–हीन–मलिन भी राष्ट्र के इस ब्राह्मण ने सब कुछ सहते हुए भी, न–न कहने–वालों के द्वारा अवरुद्ध बने रहते हुए भी धर्म्मसूत्रों के पारायणव्यासङ्ग का कभी परित्याग न किया। यही.भारतराष्ट्र के इस भूदेव की वह करुण–गाथा है, जिसके अनुग्रह से ही आज भी हमें राष्ट्रीय संस्कृति के चिरन्तन–शाश्वत सत्य के दर्शन का महद्भाग्य प्राप्त हो रहा है। पूजन–पाठ–वरण–गृहशान्ति–विवाह-यज्ञ–व्रत–कथा–आदि की परम्पराओं को सतत–प्रक्रान्त रखते रहने वाले इस अपमानित भूदेव के अनुग्रह से ही इन परम्पराओं के गर्भ में ही संस्कृति का बीज आजतक सुरक्षित रहता चला आ रहा है, जिसके लिए राष्ट्रीय समस्त प्रज्ञाशील–मानवों को तो अवनतशिरस्क बन कर कृतज्ञ ही बना रहना पड़ेगा इस भूदेव के प्रति निरपवादरूप से ही। क्या कोई दूसरा वर्ग ऐसी करुण--स्थिति में आकर यों धर्म्मनिष्ठा पर सुदृढ़ बना रह सकता था ?, किंवा बना रहा है चिरन्तन ऐतिहासिक पृष्ठों पर ?। गाथा अवश्य करुणापूर्णा है। इसे सुन कर इच्छा हमारी भी यही हो रही है कि, राष्ट्रीय ब्राह्मण को इस पथ से पृथक् ही बन जाने की प्रार्थना करदी जाय ?। किन्तु नहीं। हमारे सम्मुख वह महान् धर्म्मसूत्र जागरूक है, जिस–**'सम्मानात्–नित्यमुद्विजेत ब्राह्मणो विषादिव'** इस सूत्र की विद्यमानता में अपमान सहते हुए भी तत्प्रार्थना से हम अपने आपको

प्रायश्चित्त के भागी नहीं बना सकते। हाँ, यह प्रार्थना अवश्य की जा सकती है कि, जिस अभाव ने इस प्रकार के उत्पीड़न–पथों का सर्ज्जन कर डाला है, उस अभाव को अवश्य ही शीघ्र से शीघ्र पराभूत कर देना चाहिए इस भूदेव को, जिस 'अपमानपराभूति' का एकमात्र राजपथ है–'**ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा–मूल–संस्कृति**' के स्वाध्याय में अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्ति।

२१४–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–भारतराष्ट्र की प्रज्ञा से किञ्चिदिव सामयिक आवेदन—

साथ ही तथाविधा करुणगाथा के सर्ज्जक–महानुभावों से भी हम करबद्ध यह आवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य ही मानेंगे कि, जब ब्रिटिशसत्ता के वारुणपाश से राष्ट्र उन्मुक्त होगया, जबकि महद्भाग्य से राष्ट्र सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रबन गया, तो अब तो ब्रिटिशसत्ता के द्वारा एकमात्र दासताभिवृद्धि के लिए प्रवृत्त अनुकरण–भावों का हमें परित्याग कर ही देना चाहिए। न आज सत्ता 'पर' है, न ब्राह्मण 'पर' है। सभी समानबन्धु हैं। सभी प्रज्ञाशील हैं, सारासारविवेकी हैं, राष्ट्रहितचिन्तक हैं। इस चिन्तननिष्ठा के द्वारा ही सम्पूर्ण तथ्यों का मूल्याङ्कन स्वदर्शनदृष्टि से कर ही लेना चाहिए एक बार हमें। तदनन्तर ही आलोचना–प्रसङ्गों की कल्पना में आना चाहिए। उन्होंनें जो कह दिया था, सिखा दिया था, यदि वही आज भी हम कहते रहे, सिखाते रहे, तो यह तो स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए ब्राह्मण की करुणगाथा से भी कहीं अधिक भयानक वैसी करुणगाथा प्रमाणित हो जायगी, जिससे शताब्दियों पर्य्यन्त राष्ट्रप्रजा उन्मुक्त न हो सकेगी। कदापि अब हमें भूल देखनें में भूल नहीं कर बैठना चाहिए। यदि अब भी–भूल देखने में राष्ट्र भूल कर बैठा, तो सचमुच राष्ट्र को पश्चात्ताप ही करना पड़ेगा भूतवत् आगामिनीं अनेक शताब्दियों पर्य्यन्त।

२१५–पर्व–उत्सव,–सम्मेलन–समारोह–नामक भारतीय चतुर्विध सांस्कृतिक–आयोजनों की (प्रत्येक की) सर्वात्मकता (पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मकता) का समन्वय—

प्रकृतमनुरामः। पुराण के आधार पर मानव के जो १२ वर्ग व्यवस्थित हुए हैं, उनका अमुक अन्तर्भाव से सांख्यसम्मत भूतसर्ग के साथ भी समतुलन हो रहा है, यह निवेदन किया जा चुका है। इसी को आधार मान कर उस सूक्ष्मभेद का समन्वय प्रतिज्ञात बना था पूर्व में, जिसके माध्यम से ही पुरातन सांस्कृतिक–आयोजन, एवं वर्त्तमान प्राकृतिक आयोजन के समानरूपात्मक बाह्यस्वरूप का समतुलन हुआ था।

ब्रह्मा, प्रजापति, पितर, इन्द्र, इन चार तत्त्वों के साथ क्रमशः **ब्राह्म–प्राजापत्य–पैत्र्य–ऐन्द्र–** इन चतुर्विध उन चान्द्रजीवों का क्रमिक सम्बन्ध है, जो चान्द्र बनते हुए भी सौर–अमृतभावानुबन्ध से दिव्य–सौम्यवर्ग प्रमाणित हो रहे हैं। स्वायम्भुव प्राण ही '**ब्रह्मा**' है, यह ऋषिमूर्त्ति है। 'प्राण' ही ऋषि कहलाया है। यही ब्राह्मजीवों का मूलाधार बनता है। पारमेष्ठ्य आपः ही '**प्रजापति**' है। यही प्राजापत्यजीवों का मूलाधार बनता है। पारमेष्ठ्या सौम्या वाक् ही 'पितर' है *, यही पितृवाक् '**सुब्रह्मण्यावाक्**' कहलाई है।

*** पितरो वाक्यमिच्छन्ति, भावमिच्छन्ति देवताः।**

तद्रूप वाङ्मय पारमेष्ठ्य पितर ही पैत्र्यजीवों का मूलाधार है। बृहतीवाग्रूप–सौर–अमृतप्राण ही 'इन्द्र' है, एवं यही ऐन्द्रजीवों का मूलाधार है। यों स्वायम्भुव ब्रह्मा, पारमेष्ठ्य–आपोमय प्रजापति, सौम्यपितर, सौर इन्द्र-ये चारों अमृत देवता ही सूर्य्यानुगत **ब्राह्म–प्राजापत्य–पैत्र्य–ऐन्द्र**–इन चार चान्द्रजीवसर्गों के मूलाधार बने हुए हैं। इन चारों हीं चान्द्रदेवों का मानव की अध्यात्मसंस्था में भी भोग हो रहा है, जिस भोग का वही विस्तारक्रम है, जो व्यक्ति–परिवार--समाज–राष्ट्र–रूप से पूर्व में विभिन्न तालिकाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। मानवीय भूतात्मा ब्रह्मभावात्मक है, मानवीया बुद्धि प्रजापतिभावात्मिका है, मानवीय मन × पितृभावात्मक है, एवं मानवीय शरीर वासवेन्द्रभावात्मक है। ये ही चारों वैय्यक्तिकभाव परिवारसंस्था में तद्रूप से क्रमशः व्यवस्थित हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है। यही वह सूक्ष्मभेद है, जिसके माध्यम मे ब्रह्मभावानुगत–ब्राह्मजीवानुग्रहीत–**पर्वायोजन**, प्रजापतिभावानुगत–प्राजापत्यजीवानुग्रहीत **उत्सवायोजन**, पितरभावानुगत–पैत्र्यजीवानुग्रहीत **सम्मेलनायोजन**,एवं इन्द्रभावानुगत–ऐन्द्रजीवानुग्रहीत **समारोहायोजन**, ये चार भारतीय सांस्कृतिक आयोजन व्यवस्थित हुए हैं, जो इत्थंभूत सांस्कृतिक–सूक्ष्मसमन्वय सूक्ष्मा–पुराणी–सांस्कृतिकी–चिन्तनशीला–चिरन्तनप्रज्ञा का ही विषय माना जायगा। कदापि भूतदृष्टिलक्षणा बाह्यदृष्टि से यह सूक्ष्मेक्षण सम्भव नहीं है।

× **मन इव वै पितरः**

तान्येतानि-देवभावानुगतानि-भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनानि-चान्द्रभावानुगतानि-

—मनःशरीरात्मकान्येव

* * *

ऐन्द्रायोजनानि—समारोहात्मकानि
वैय्यक्तिकानि

१—भूतात्मा—ब्रह्मा——ब्राह्मजीवः—— }-पर्व
२—बुद्धिः——प्रजापतिः—प्राजापत्यजीवः }-उत्सवः
३—मनः——पितरः——पैत्र्यजीवः— }-सम्मेलनम्
४—शरीरम्—इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः— }-समारोहः

१
}-समारोहायोजनम्—सर्वात्मकम्—
वैय्यक्तिकम्
(बालभावप्रधानम्)

* * *

पैत्र्यायोजनानि—सम्मेलनात्मकानि
पारिवारिकानि

१—कुलवृद्धः—ब्रह्मा——ब्राह्मजीवः— }-पर्वः
२—युवापुत्रः——प्रजापतिः-प्राजापत्यजीवः }-उत्सवः
३—नारी——पितरः—पैत्र्यजीवः- }-सम्मेलनम्
४—बालः———इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः— }-समारोहः

२
}-सम्मेलनायोजनम्—सर्वात्मकम्
पारिवारिकम्
(नारीभावप्रधानम्)

* * *

प्राजापत्यायोजनानि—उत्सवात्मकानि
सामाजिकानि

१—ब्राह्मणः—ब्रह्मा———ब्राह्मजीवः—— }-पर्व
२—क्षत्रियः—प्रजापतिः—प्राजापत्यजीवः }-उत्सवः
३—वैश्यः—पितरः—पैत्र्यजीवः— }-सम्मेलनम्
४—शूद्रः—इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः—— }-समारोहः

३
}-उत्सवायोजनं—सर्वात्मकम्
सामाजिकम्
(युवाभावप्रधानम्)

* * *

ब्राह्मायोजनानि—पर्वात्मकानि
राष्ट्रीयानि

१—प्रजातन्त्रम्——इन्द्रः——ऐन्द्रजीवः }-समारोहः
२—गणतन्त्रम्——पितरः——पैत्र्यजीवः }-सम्मेलनम्
३—अनुशासनतन्त्रम्-प्रजापतिः-प्राजापत्यजीवः }-उत्सवः
४—नीतितन्त्रम्——ब्रह्मा—ब्राह्मजीवः— }-पर्व

४
}-पर्वायोजनं—सर्वात्मकं——
राष्ट्रीयम्
(कुलवृद्धभावप्रधानम्)

* * *

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२१६–भारतीय–चतुर्विध–आयोजनों का देवभावत्त्व—

चान्द्र–सत्त्वभाव चार देवभागों से समन्वित, अतएव तदनुबन्धी चार ही चान्द्र–देव-सर्ग। अतएव तदनुबन्धी–(मनोऽनुबन्धी) देवभावात्मक आयोजन भी चतुर्विध ही। यही भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों के चातुर्विध्य की मूलप्रतिष्ठा है। अवश्य ही वर्त्तमान आयोजनों की हीं भाँति इनमें भी मनः–शरीरानुबन्धी–नृत्य–गीत–वाद्यादि सभी व्यासङ्ग सर्वात्मना–सोल्लास समाविष्ट हैं। किन्तु इनका मूल देवभाव है। अतएव सब आयोजन देवभाव में हीं श्रद्धापूर्वक समर्पित हैं। अतएव च ये मर्य्यादित बने रहते हैं। और यही भारतीय आयोजनों की देवभावानुगता सांस्कृतिकता है। पूर्वप्रदर्शित–पुराणसम्मत–ऋषि (ब्रह्मा)-सिद्ध (प्रजापति)–पितृ–देव (इन्द्र)–नामक चारों योनियों का भी सांख्यसम्मत सत्त्वविशाल ब्राह्म–प्राजापत्य–पैत्र्य–ऐन्द्र–इन चार जीवसर्गों में हीं अन्तर्भाव है।

२१७–गन्धर्व–पिशाच–राक्षस–यक्ष–प्राणानुबन्धी लौकिक आयोजनों की स्वरूप-दिशा का वेतालचेष्टित–समन्वय—

यह तो हुई उस मनःशरीरयुग्म की व्याख्या, जिसका उक्त चार चान्द्रसर्गों से सम्बन्ध है, जिनमें सत्त्व-गुण प्रधान है। अतएव सत्त्वानुबन्धी देवभाव ही जिनमें प्रधान बनें हुए हैं। अब उस दूसरे मनःशरीरयुग्म की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके साथ क्रमशः गन्धर्व–पिशाच–राक्षस–यक्ष–इन चार चन्द्रसर्गों का सम्बन्ध है। इन्हें ब्राह्मादि सर्गापेक्षया रजोविशाल कहा जायगा, जिसका अर्थ होगा सत्त्व–रजोमय। रज की प्रधानता, सत्त्व की आंशिकता ही इन चारों का स्वरूप होगा। इस आंशिक सत्त्वभाव के कारण हीं पुराण नें इन राक्षस–पिशाचादि के साथ त्र्यम्बक–शक्ति–महेशादि देवभावों का सम्बन्ध स्वीकार किया है, जैसाकि तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है। इच्छा थी कि, वर्त्तमान–आयोजनों का इस विभाग में हीं, अन्तर्भाव कर लिया जाता। किन्तु प्रयास करने पर भी हम इस द्वितीय समन्वय में सफल नहीं हो रहे। क्योंकि वर्त्तमान आयोजनों में प्रयास करने पर भी हमें किसी भी प्राकृतिक–प्राणदेवता की भावना उपलब्ध ही नहीं हो रही। जबकि इनमें अंशतः भी देवभावना नहीं है, तो कदापि इनके साथ ब्रह्म–देवानुगत 'सम्' उपसर्ग समन्वित नहीं हो सकता। अतएव इस मध्यस्थ युग्म की दृष्टि से भी इन्हें 'संस्कृति' शब्द का सम्मान नहीं किया जा सकता। पुराणशास्त्रानुसार **गन्धर्व–विद्याधर–पिशाच–दैत्य–राक्षस–किंपुरुष–गुह्यक** इन स्थानों का सांख्यशास्त्रानुगत १–गन्धर्व [**गन्धर्व, और विद्याधर**], **२–पिशाच, ३–राक्षस [दैत्य, और राक्षस], ४–यक्ष [किंपुरुष, और गुह्यक]**, इन चार सत्त्वरजोविशाल सर्गों में ही अन्तर्भाव हो रहा है। प्रथम युग्मानुगत पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहात्मक–चतुर्विध–सांस्कृतिक–आयोजनों के साथ साथ चतुर्विध गन्धर्वादि–आयोजन भी समन्वित हो रहे हैं। वृक्षादिभुक्त गन्धर्व–पूजन, राक्षसपूजन, पिशाचतुष्टि, यक्षपूजन–आदि भी भावुक मानवों की मान्यता से अनुप्राणित रहते हुए यथाकथंचित भारतीय संस्कृतिक परम्पराओं में संगृहीत हो रहे हैं, जोकि निष्ठा की दृष्टि से तो उपेक्षणीय ही माने गए हैं। वर्त्तमाम सिद्धों की सिद्धियों का एकमात्र यही मापदण्ड है, जिसे आज की भाषा में **चमत्कार** कहा जाता है, एवं जिन चमत्कारों के प्रलोभनों से आज की आत्मस्वरूपविमूढा जनता निर्लक्ष्या बन कर अध्यवसायनिष्ठा से पराङ्मुख हो चली है। वह आज इन चमत्कारों से ही सभी विभूतियाँ प्राप्त कर लेना चाहती है, जबकि इन यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्वादि भावों का आत्म–बुद्धि–विभूतियों से स्वाभाविक सम्पर्क भी तो नहीं है। इसी आधार पर भगवान् को यह कहना पड़ा है कि—

यजन्ते सात्त्विका देवान्–(पर्वोत्सवादि-आयोजनेभ्यः)—
यक्ष–रक्षांसि–राजसाः (विविधबलिप्रदानेन)
प्रेतान्–भूतगणाँश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं, तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

—गीता १७ अ०।४,५,६,।

२१८–तान्त्रिक चमत्कार--सिद्धि--व्यामोहनों के अकाण्डताण्डव, एवं तत्परित्राणोपाय-प्रदर्शन—

मनोवशवर्त्ती–अशुचिभावापन्न–चान्द्रमानव, सूर्य्यविरोधी धामच्छद्–पारदर्शकताप्रतिबन्धक–अत्रिप्राण से समन्विता मलीमसा (ऋतुमती) आत्रेयी नारी, षोडशवर्ष से पूर्व का अपरिपक्व–मानसमूर्त्ति बालक, आदि आदि शिथिल क्षेत्र ही इन गन्धर्व–राक्षस–पिशाच–यक्ष–नामक चान्द्रप्राणों के अधिष्ठान बन जाया करते हैं, जिन के निरोध के लिए ही महर्षि चरक को–'भूतोपशमनीयाध्याय' की स्थापना करनी पड़ी है । जादू–टोना–भूतावेश–आदि–आदि त्राटकों–यामलों–जारण–मारण–मोहन–उच्चाटनादि मलीमस–भावों का भी इसी चान्द्रप्राणचतुष्टयी से सम्बन्ध है, जिसका सौर आत्मबुद्धिनिबन्धन निष्ठाक्षेत्र में आकर उसी प्रकार सर्वात्मना अभिभव ही हो जाता है, जैसे कि सूर्य्य–सत्ताकाल में चन्द्रमा सर्वथा निष्प्रभ–निस्तेज–निष्प्राण बन जाया करता है । प्राजापत्या–संस्कृतिनिष्ठा–आचारात्मिका- शास्त्रीय–निष्ठाओं के अन्तर्म्मुख बन जाने के कारण हीं इन चान्द्री भूत–प्रेतादि भावुकताओं के द्वारा वञ्चक लोगों नें राष्ट्र के भावुक चान्द्र मानवों को, सौम्य नारी–बालवर्ग को अपनी वञ्चकता के केन्द्र बना लिया है, एवं यही वञ्चनापूर्ण पथ आज के सन्तों–सिद्धों–तान्त्रिकों–की सिद्धियों–चमत्कारों का एकमात्र महान् पथ बना हुआ है, जिसे शास्त्रीय निष्ठाबल के द्वारा शीघ्र से शीघ्र यातयाम बना देने से ही राष्ट्र की संस्कृति का पुनर्जागरण सम्भव है । होतीं हैं ये योनियाँ अवश्य हीं । प्रकृति के साम्राज्य में सभी कुछ है । किन्तु कदापि इन के व्यामोहनपाश में आबद्ध नहीं हुआ जाता । प्राकृतिक–व्यामोहनों से परित्राण करते हुए अमृतत्त्वलाभ करना हीं तो संस्कृति–धर्म्म–निष्ठा का एकमात्र महान् उदर्क है । कदापि धार्म्मिक–सात्त्विक–देवमानवों का इन प्राकृतिक–मलीमस–गन्धर्वादि योनिभावों से, एवं अन्यान्य प्राकृतिक व्यामोहनों से कोई अनिष्ट नहीं होसकता । प्राणात्मिका भूतबाधाएँ, तथा भूतात्मिका भूतबाधाएँ कामार्थपरायण–असंस्कृत–अधार्म्मिक–मलीमस–चान्द्रमानवों को ही अपनी आश्रयभूमि बनाने में समर्थ हुआ करतीं हैं । कालान्तर में यह आश्रयभूमिता आश्रितभाव में हीं परिणत हो जाती है । स्वय ये चान्द्रमानव उस सीमापर्य्यन्त मलीमस बन जाते हैं, जिस सीमा पर पहुँचने के अनन्तर ये स्वयं तद्योनिभावों से ही अभिन्न बन जाते हैं । जिसप्रकार श्मशान के प्रेतरूप श्वान में, तथा प्रेत में कोई अन्तर नहीं रहता । तथैव गन्धर्वादि योनियों में, एवं आत्मबुद्धिविमूढ़ ऐसे चान्द्रमानवों में भी कोई अन्तर

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नहीं रह जाता । जिसप्रकार कोमलसत्त्व मानवों को गन्धर्वादि उत्पीड़ित करते रहते हैं, एवमेव तद्रूप ऐसे चान्द्रमानवों से भी कोमलप्रज्ञ उत्पीड़ित बने रहते हैं, जिन से आत्मत्राण करने का एकमात्र उपाय संस्कृतिनिष्ठा ही माना गया है । जबतक सांस्कृतिक, निष्ठात्मक सूर्य्य का उदय नहीं हो जायगा, तबतक तो ये चान्द्र–भूत–वेतालगण अपने ताण्डवनृत्यों से सत्त्वशीला भावुकप्रजा को यों हीं उत्पीड़ित करते ही रहेंगे ।

२१९–'पशु' शब्द का चिरन्तन-इतिहास, एवं तत्प्रेमी प्राकृत-मानव—

गन्धर्वादि-भेदभिन्न चान्द्रसर्ग के अनन्तर क्रमप्राप्त वह तीसरा मनःशरीरयुग्म हमारी दृष्टि के सम्मुख उपस्थित होता है, जिसका पृथिव्यनुगत, अतएव 'पार्थिव' नामक चान्द्र तमोविशालसर्ग से सम्बन्ध है, जिसके कि **'पशु–पक्षी–कीट–कृमि'** भेद से चार मुख्य जातिवर्ग हैं । सर्वान्त के भौमसर्ग की अपेक्षा यह युग्मसर्ग जहाँ रजोविशाल माना जायगा, वहाँ अपने से ऊपर के गन्धर्वादिसर्गापेक्षया इसे तमोविशाल ही कहा जायगा । अतएव तृतीय युग्मानुगत इस सर्ग को **'रजस्तमोविशाल'** सर्ग माना जायगा । **द्रष्टृत्त्वधर्म्म है**–आत्मा, और देवता का । दृश्यत्त्वधर्म्म है आत्मदेवता के द्वारा देखे जाने वाले भौतिकजगत् का । देखने वाला ही **'द्रष्टा'** है, देखा जाने वाला ही **'दृश्य'** है । आत्मानुगत देवता द्रष्टा हैं, तो अनात्म–अदेवभावात्मक मर्त्य–भूत दृश्य हैं । प्रजापति नें (देवसमष्टिरूप मनःप्राणमय प्रजापति ने, आत्माने) हीं सर्वप्रथम इस मर्त्य भूत को देखा, अतएव **'यदपश्यत्'** निर्वचन से इस मर्त्य–आत्मदेवभावशून्य भूतविवर्त्त का नाम हो गया 'पशु,' जिसके पशु–पक्षी–कीट–कृमि-ये चार अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं । चारों का सामान्य नाम जहाँ–'यदपश्यत्' निर्वचन से * पशु है, वहाँ विशेषभेदानुबन्धी नाम पशु–पक्षी–कीट–कृमि हैं । यही वह चान्द्र तृतीय सर्ग है, जिसे तालिका में हमनें सांख्यदृष्टया 'तमोविशालसर्ग' कहा है । एवं जिसका पुराणशास्त्र ने आत्मदेवभावानुबन्धी मानवसर्ग से पार्थक्य करते हुए धर्म्मकोटि से बहिष्कार ही कर दिया है । आत्म–देव–भाव की आत्यन्तिक अभिभूति ही इस वर्गचतुष्टयी की धर्म्म–बहिष्कृतता का मुख्य कारण हैं, जब कि आत्म–देवभावात्मक धर्म्म के अतिरिक्त अन्य मानसिक–शारीरिक भावों की दृष्टि से मानव में, तथा चतुर्विध–इस पशुसर्ग में कोई विशेष भेद नहीं है, जैसा कि–**'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'—'धर्म्मो हि तेषामधिको विशेषः,–धर्म्मेण हीनाः पशुभिः-समानाः'** इत्यादि से स्पष्ट है ।

२२०–सत्त्वरजस्तमोगुणतारतम्यानुपात से अनुप्राणित चान्द्र-पार्थिव चतुर्विध सर्गों के इतिवृत्त का उपराम—

अब सर्वान्त में केवल एक युग्म शेष रह जाता है, जिस में यद्यपि सूक्ष्मरूप से सुप्त–मन अवश्य है । अतएव इसे भी 'मनःशरीरयुग्म' अवश्य मान लिया जा सकता है । तथापि शरीर की ही इस चतुर्थ वर्ग में

---

*–प्रजापतिरग्निरूपाण्यभ्यध्यायत् । स योऽयं कुमारो रूपाण्यनुप्रविष्ट आसीत्–तमन्वैच्छत् । सोऽग्निरवेत्-अनु वै मा पिता प्रजापतिरिच्छति-इति । हन्त तद्रूपमसानि, यन्म एष न वेद-इति । स एतान्येव पञ्च पशूनपश्यत् । यदपश्यत्–तस्मादेते पशवः ।
(शत० ब्रा० ६।१।१,१,२,)

क्योंकि प्रधानता है, अतएव इसे अचेतन–जड़–भूतसर्ग--(अमनस्कसर्ग) ही कहना अनुरूप होता है। यों मनःशरीरनिबन्धन चान्द्र--पार्थिव--प्रकृतिभावों से अनुप्राणित सत्त्व--रज–तमोगुण–भावों के तारतम्य से चान्द्र–पार्थिव--सर्गों के चार मुख्य वर्ग हो जाते हैं, जिन चारों प्राकृतिक--वैकारिक--कर्त्तव्यकलापों को मनःशरीर-धर्म्मों की अमुक समानता से हम प्राकृतिक–मानसिक–शारीरिक–आयोजन कह सकते हैं।

२२१–महान् मानव की सहजसिद्धा आत्मनिष्ठा का वैकारिक--विजय, एवं अन्ततोगत्त्वा स्वयं मानव की आत्मनिष्ठा से ही इन का महान् उद्बोधन—

विषय प्रकृति के सूक्ष्म सर्गों से अनुप्राणित है। अतएव थोड़ा दुर्बोध्य प्रमाणित हो रहा है। विशेषतः आज तो यह दुर्बोध्यता अवश्यमेव समादरणीया बन रही है, जिस आज के भौतिक युग में मानव का एकमात्र लक्ष्यबिन्दु जड़--भूतजगत् ही बनता जा रहा है, किंवा बन चुका है। अतएव इस के लिए तो यह सामान्य सा भी वर्गीकरण अवश्यमेव दुर्बोध्य--प्रमाणित हो सकता है। यह सब कुछ मान लेने पर भी हमें मानव के उस अन्तर्निगूढ सुगुप्त आत्मबुद्धि-रूप नैष्ठिक स्वरूप पर पूर्ण आस्था है, जिसके सम्मुख ऐसी दुर्बोध्यता का कोई भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता। मानव सभी युगों में अपने अन्तर्जगत् से सदा ही मानव ही है, आत्म-बुद्धिनिष्ठ ही है, भले ही मनःशरीरनिबन्धना इसकी बाह्या भूतप्रकृति--भूतसंस्था युगधर्म्मानुपात से किसी भी युग्म को अपना ले। यही कारण है कि, आत्मभाव–पुण्य–धर्म्म–सत्त्वगुण–आदि आदि दैवीविभूतियाँ हीं मानव को अपनी ओर सदा ही आकर्षित करतीं रहतीं हैं। इसी आकर्षण से मानव सदा ही अपने आप को श्रेष्ठ–उत्तम–मानने–मनवाने के लिए ही इच्छुक बना रहता है। सदाचार--सन्निष्ठा–धर्म्म--आत्मदेवसंस्कृति--आदि ही मानव के अभीप्सित विषय बने रहते हैं। एक प्रचण्ड दुर्दान्त डाकू भी अपने आपको पुण्यात्मा कहलाने में सुनने में प्रसादगुण का अनुभव करता है। पापी--दुराचारी–हीनकर्म्मा–मदान्ध--आदि आदि निकृष्ट उपाधियों से तथाविध पापात्मा--दुराचारी–मानव भी अपने अन्तर्जगत् (एवं बाह्यजगत् में भी) घृणा ही अनुभूत करते रहते हैं। इसलिए कि, ये सब अनाचार मानव की अपने आत्मदेवानुबन्धिनी मानवता--मानवधर्म्म के सर्वथा विपरीत तत्त्व हैं। अतएव स्पष्ट प्रमाणित है कि, प्राकृतिक--वैकारिक, अथवा तो भौतिक--किसी भी क्षेत्र में भावुकतावश आत्मबुद्धिविमूढ--मानव पहुँच भले ही जाय। किन्तु सभी अवस्थाओं में उस की आत्मानुगता मानवता भी येनकेनरूपेण इस में सुरक्षित बनी ही रहती है। सहजभाषा में मानव मानव ही है अन्ततोगत्त्वा। अतएव प्रकृति का दुर्बोध्यस्वरूप जहाँ प्राकृत प्राणियों के लिए दुर्बोध्य बना रहता है, वहाँ प्रकृतिविजेता मानव के आत्मानुगत पौरुष के सम्मुख तो इस प्रकृति की दुर्बोध्यता का कोई भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता।

२२२-चान्द्र–पार्थिव–सर्गों की दुर्बोध्यता, एवं प्रकारान्तर से तत्समन्वयचेष्टा—

प्राकृतिक व्यामोहन से सम्बन्ध रखने वाली प्राकृतिक जीवसर्गों की दुर्बोध्यता का अब एक दूसरे दृष्टि-कोण से भी समन्वय कर लीजिए, जिससे दुर्बोध्यता सुबोधभाव में परिणत हो सकती है। एक ओर चन्द्रमा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

को प्रतिष्ठित कर दीजिए, तो दूसरी ओर उस भूपिण्ड को प्रतिष्ठित मान लीजिए, जिसके पृष्ठ पर आप–हम–पशु–पक्षी–आदि आदि सभी स्थावर–जङ्गम प्राणी स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं। चन्द्रमा भी एक पिण्ड है, भू भी एक पिण्ड है। ये दोनों हीं पिण्ड अपना अपना एक स्वतन्त्र प्राणमण्डल बनाते हुए अपने अपने प्राणमण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर ही अपने अपने दक्ष–अक्ष–क्रान्ति–आदि वृत्तों पर नियतरूप से परिक्रमा लगा रहे हैं। चन्द्रमा दक्षवृत्त पर भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं, तो अपने अक्षवृत्त पर अहोरात्र में परिभ्रममाण भूपिण्ड क्रान्ति के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, जोकि परिभ्रमणात्मिका सम्वत्सरचक्रप्रक्रिया ही यज्ञभाषा में 'दर्शपूर्णमासप्रक्रिया' कहलाई है। चन्द्रपिण्ड का प्राणमण्डल चन्द्रिकामय होने से प्रत्यक्षदृष्ट है, जबकि भूपिण्ड का प्राणमण्डल व्यक्त ज्योतिर्भाव से असम्बद्ध रहने के कारण दृष्टि का विषय नहीं बन रहा। किन्तु विश्वास कीजिए--चन्द्रिकामण्डलवत् भूपिण्ड के चारों ओर भी एक प्राणमण्डल व्याप्त है। चन्द्रमण्डल **चन्द्रलोक** है, जो चन्द्रपिण्ड के अवलोकन का माध्यम बनता है, तो भूमण्डल **पृथिवीलोक** है, जो भूपिण्ड के अवलोकन का आधार बना हुआ है।

२२३–पार्थिव–चान्द्र–साममण्डलों का परस्पर 'अतिमान' सम्बन्ध—

यों भूपिण्ड के अतिरिक्त **भूमण्डल**, एवं चन्द्रपिण्ड के अतिरिक्त **चन्द्रमण्डल**, ये दो मण्डल हमारे सम्मुख और उपस्थित हो जाते हैं। इन दोनों मण्डलों का परस्पर उसी प्रकार एक दूसरे मण्डल के साथ अतिमान सम्बन्ध हो रहा है, जैसे कि दो–मानवशरीरों के प्राणमण्डलों का परस्पर सम्बन्ध होता रहता है, एवं जिस इस मण्डलात्मक–सुसूक्ष्म, अतएव अदृष्ट–प्राणसम्बन्ध से ही दोनों मानवों के शारीरिक–मानसिक गुण–दोष एक दूसरे मानव में संक्रमण करते रहते हैं। चन्द्र--भूपिण्ड के प्राण चान्द्र–पार्थिव–मण्डलों के इसी अतिमानसम्बन्ध से (जोकि–सम्बन्ध सामपरिभाषा में—'**सामातिमान**' कहलाया है) दोनों के गुणधर्म्म दोनों लोकों में समाविष्ट हो रहे हैं। इसी से '**चान्द्रपार्थिव**' नामक सम्मिलितभाव अभिव्यक्त होते रहते हैं। एवं यही अभिव्यक्ति प्रजासर्गाभिव्यक्ति का मूलाधार बन रही है।

२२४–पार्थिव-चान्द्र-त्रैलोक्य का स्वरूप-परिचय—

भूपिण्ड के प्राणमण्डल का पारिभाषिक नाम है—'**पृथिवी**', जो सूर्य्यपिण्ड से भी कुछ ऊपर तक अपनी व्याप्ति रखने के कारण '**राथन्तरी**' कहलाई है। सूर्य्य ही–'**आदित्यो वै देवरथ**', के अनुसार 'रथ' है। इसका भी तरण करने के कारण हीं पार्थिव अन्तिम सीमात्मक साम '**रथन्तरसाम**' कहलाया है। चन्द्रपिण्ड का चन्द्रिकामय प्राणमण्डल क्योंकि सूर्य्यरश्मिप्रतिफलनात्मक है *। अतएव सूर्य्यमण्डल में हीं इस चन्द्रमण्डल का अन्तर्भाव मान लिया जाता है। एवं इसी मण्डलात्मक समन्वय के कारण—'**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' यह व्यवस्था हो गई है। सूर्य्य द्युलोक के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। चन्द्रमण्डल इससे अभिन्न है। अतएव चन्द्रपिण्ड के प्राणमण्डल का पारिभाषिक नाम भी यही '**द्यौः**' हो जाता है। और

---

*–अत्राह गोरमन्वत, नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे।
—ऋक्संहिता १।८४।१५।

यों **चान्द्र द्यु लोक,** भौम **पृथिवी**--लोक, दोनों का **'द्यावापृथिव्य'** भाव समन्वित हो जाता है । 'द्यावा' का आकार दोनों के मध्यवर्त्ती तीसरे स्वतःसिद्ध अन्तरिक्ष का संग्राहक बन जाता है । इसप्रकार द्यौः--अन्तरिक्ष--पृथिवी--ये तीन लोक हो जाते हैं । यही द्यावापृथिवी नामक चान्द्र--पार्थिव वह त्रैलोक्य है, जो सूर्य्यानुगता रोदसी त्रिलोकी से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है । चान्द्रपार्थिव त्रैलोक्य ही उन चार प्रकार के चान्द्रपार्थिवानुगत मनःशरीरयुग्मों का, एवं तदनुगत प्राणिसर्गों का प्रवर्त्तक--अधिष्ठान बन रहा है, जिनका पूर्व में तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया जा चुका है ।

२२५--पार्थिव--चान्द्र--'मनोता--त्रयी'--स्वरूप--परिचय--

उक्त स्थिति से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, उस ओर चन्द्रपिण्ड है, इस ओर भूपिण्ड है । दोनों पिण्डों के मध्य में चान्द्र--पार्थिव--मण्डलात्मक पृथिवी--अन्तरिक्ष--द्यौः--नामक वे तीन लोक हैं, जिनमें चान्द्रतत्त्व भी प्रतिष्ठित हैं, एवं पार्थिवतत्त्व भी प्रतिष्ठित है । क्या स्वरूप है--उन चान्द्रपार्थिव--तत्त्वों का ?, एकमात्र इस प्रश्न के समन्वय से ही प्राकृतिक जीवसर्गों का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित हो जाता है । तत्त्व का पारिभाषिक नाम है--**'--मनोता'** । चान्द्रतत्त्व **'रेतः--श्रद्धा--यशः'** नाम से, एवं पार्थिवतत्त्व **'वाक्--गौः--द्यौः'** नाम से प्रसिद्ध हैं । ये ही क्रमशः चान्द्र--पार्थिव मनोता हैं । तत्त्वात्मिका इस मनोता--त्रयी से चान्द्रमण्डल क्रमशः **भूत--प्राण--प्रज्ञात्मक** बना हुआ है, एवं अपनी तत्त्वात्मिका मनोतात्रयी से पृथिवीमण्डल **वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति** बना हुआ है । तीनों तीनों से तथाकथित प्रतिमानसम्बन्ध के द्वारा परस्पर एक दूसरे में समन्वित हो रहे हैं । विस्तार में न जाकर केवल तालिकारूप से ही इस समन्वय का समन्वय कर लेना चाहिए ।

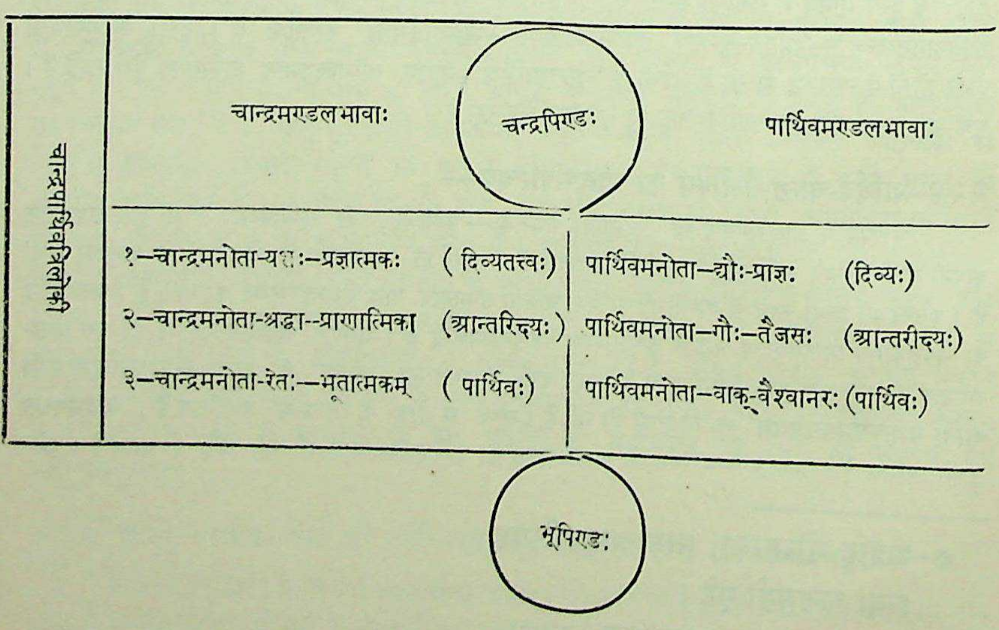

चान्द्रमण्डलभावाः		पार्थिवमण्डलभावाः	
१--चान्द्रमनोता-यशः--प्रज्ञात्मकः	(दिव्यतत्त्वः)	पार्थिवमनोता--द्यौः-प्राज्ञः	(दिव्यः)
२--चान्द्रमनोता-श्रद्धा--प्राणात्मिका	(आन्तरिक्ष्यः)	पार्थिवमनोता--गौः--तैजसः	(आन्तरीक्ष्यः)
३--चान्द्रमनोता-रेतः--भूतात्मकम्	(पार्थिवः)	पार्थिवमनोता--वाक्-वैश्वानरः	(पार्थिवः)

२२६-मनोतात्रयी के अतिमान से चान्द्र--पार्थिवी-'युग्मत्रयी' का आविर्भाव, एवं तदनुबन्धेन 'विवर्त्तचतुष्टयी' का समन्वय—

यशो-भावानुगता **प्रज्ञा** चान्द्रतत्त्व है। द्यौ-भावानुगत **प्राज्ञ** पार्थिवतत्त्व है, दोनों का समन्वितरूप ही चान्द्रपार्थिव प्रथम युग्म है, एवं इस में ज्ञानशक्तिप्रधान सत्त्वगुण की प्रधानता है। श्रद्धा-भावानुगत प्राण चान्द्रतत्त्व है, गौ--भावानुगत **तैजस** पार्थिवतत्त्व है, दोनों का समन्वितरूप ही चान्द्रपार्थिव द्वितीय युग्म है, एवं इसमें क्रियाशक्तिप्रधान सत्त्वगर्भित रजोगुण की प्रधानता है। रेतो-भावानुगत **भूत** चान्द्रतत्त्व है, वाग्--भावानुगत **वैश्वानर** पार्थिवतत्त्व है, दोनों का समन्वित रूप ही चान्द्रपार्थिव तृतीय युग्म है, एवं इसमें अर्थशक्तिप्रधान रजोगर्भित तमोगुण की प्रधानता है। शेष रह जाता है भूपिण्ड, जिसमें केवल उस पशव्या कुमाराग्नि की ही प्रधानता है, जिसके चित्य-चितेनिधेय-भेद से अग्निचयनविद्या में दो विवर्त्त मानें गए हैं। चितेनिधेयाग्नि प्राणाग्नि है, चित्याग्नि भूताग्नि है। प्राणाग्नि के गर्भ में चान्द्रतत्त्व सुप्त है, भूतभाव में पार्थिवतत्त्व सुप्त है। यों चान्द्रपार्थिव-तत्त्व ही इस अन्तिम सीमा में आकर अपनी सुप्तावस्था से भूरूप में परिणत हो रहे हैं। यही चौथा चान्द्रपार्थिवयुग्म मान लिया गया है। तदित्थं चन्द्रमा से आरम्भ कर भूपिण्ड--पर्य्यन्त **चान्द्र मानसभाव**, तथा **पार्थिव शरीरभाव**, दोनों के चार विवर्त्त हो जाते हैं। ये ही चार विवर्त्त ब्रह्मादि स्तम्बपर्य्यन्त व्याप्त रहने वाले भूतसर्गों के प्रवर्त्तक बने हुए हैं।

२२७-यशोरूप चान्द्र--प्रज्ञाभाव के, तथा द्यौरूप पार्थिव-प्राज्ञभाव के समन्वय से ब्राह्म-प्राजापत्य-पैत्र्य-ऐन्द्र-सर्गचतुष्टयी का, एवं श्रद्धारूप चान्द्रप्राणभाव के, तथा गौरूप पार्थिव तैजसभाव के समन्वय से गन्धर्व-पिशाच--राक्षस-यक्ष-सर्गचतुष्टयी का आविर्भाव—

यशोरूप प्रज्ञात्मक चान्द्रमन, एवं द्यौरूप प्राज्ञरूप पार्थिवशरीर, इन दोनों की समष्टिरूप-सत्त्वगुण-प्रधान प्रथम द्युलोकीय चान्द्रपार्थिवयुग्म से देवभावप्रधान **ब्राह्म-प्राजापत्य-पैत्र्य-ऐन्द्र**-नामक इन चार जीवसर्गों का विकास हुआ है। यही सत्त्वविशाला प्राकृतिकी प्रथमा 'प्रजा' है।

श्रद्धारूप-प्राणात्मक-चान्द्र मन, एवं गौरूप-तैजसात्मक पार्थिव शरीर, इन दोनों की समष्टिरूप सत्त्वगुणगर्भित-रजोगुणप्रधान-द्वितीय-अन्तरिक्षलोकीय चान्द्रपार्थिवयुग्म से देवभावगर्भित-आसुरभावप्रधान **गन्धर्व-पिशाच-राक्षस-यक्ष** नामक इन चार जीवसर्गों का विकास हुआ है। यही सत्त्वगर्भिता रजोविशाला, किंवा 'सत्त्वरजोविशाला' प्राकृतिकी द्वितीया 'प्रजा' है।

२२८--रेतोरूप चान्द्र भूतभाव, एवं वाग्रूप पार्थिव वैश्वानरभाव के समन्वय से पशु–पक्षी–कीट–कृमि–सर्गचतुष्टयी का प्रादुर्भाव—

रेतोरूप–भूतात्मक चान्द्रमन, एवं वाग्रूप वैश्वानरात्मक पार्थिव शरीर, इन दोनों की समष्टिरूप–रजोगुणगर्भित–तमोगुणप्रधान–तृतीय–पार्थिवलोकीय-चान्द्रपार्थिवयुग्म से आत्मदेवभावशून्य–पशुभावप्रधान–पशु–पक्षी–कीट–कृमि–नामक इन चार जीवसर्गों का विकास हुआ है। यही रजोगर्भिता तमोविशाला, किंवा 'रजस्तमोविशाला' प्राकृतिकी तृतीया प्रजा है।

२२९–चितेनिधेयप्राणरूप चान्द्रतत्त्व, एवं चित्याग्निरूप भौम भूततत्त्व के समन्वय से असंज्ञभावात्मक भूतभौतिकसर्गों का उद्भव—

चितेनिधेयप्राणरूप चान्द्रतत्त्व, एवं चित्याग्निरूप भौमतत्त्व, इन दोनों की समष्टिरूप-आत्यन्तिक रूपेण-तमोमय–चतुर्थ–भौमलोकीय–चान्द्रभौमयुग्म से आत्मदेवाभिभवलक्षण–प्रवर्ग्यभावप्रधान–अनन्त– असंख्यविध अन्तःसंज्ञ ओषधि–वनस्पतिवर्ग, तथा अनन्त–असंख्यविध–असंज्ञ–पाषाण–लोष्ट–धातु–आदि वर्ग की समष्टिरूप भूतभौतिक अचेतन पदार्थों का विकास हुआ है, जो उत्तरभावी जनन–भाव से वञ्चित होने कारण 'प्रजा' न कहला कर 'भूतानि' ही कहलाए हैं। यही आत्यन्तिक तमोरूप चतुर्थ, किंवा अन्तिम भूतभौतिक सर्ग है।

२३०--प्रकृतिपरायत्त मानव के समावेश से चान्द्र–पार्थिवसर्ग की चतुर्दशविधता—

यों चान्द्रपार्थिव सर्ग–'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' के अनुसार चान्द्रपार्थिवानुबन्धी प्राकृतिक गुणसर्ग चार विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ १३ अवान्तर भावों में परिणत हो रहा है। यदि दुर्भाग्यवश मानव भी प्रकृति से परायत्त बन जाता है, तो वह भी अपने पुरुष (आत्म) भाव को विस्मृत कर जन्म–मृत्युनिबन्धन–इस चान्द्रपार्थिवसर्ग का ही एक प्राकृतिक 'जीव' मात्र बनता हुआ इस १३ को १४ की संख्या में परिणत कर देता है, जो कि परिणति भारतीय मानव का तो कभी भी पुरुषार्थ नहीं माना गया।

२३१--भारतीय मानव का 'भारति'--त्त्वानुबन्धी सौरभाव, एवं तदनुबन्धिनी इसकी भारतीय--मानवता का स्वरूप--समन्वय—

सौर–इन्द्र–निबन्धन--'परं भाः' रूप से रति करने वाला आत्मरत सौर--इन्द्र--मानव ही--'भा--रत' (आत्मप्रकाश में रत) मानव है। यही इसका 'भा--रतत्त्व' है, और यही भा--रताग्निमूलक--जागरूक--त्रयीवेदात्मक--'भारतदेश' की मूलव्याख्या है, जो श्वेतक्रान्तिनिबन्ध में स्पष्ट कर दी गई है। भारत--अग्नि के देश इस भारत में उत्पन्न भारतीय--मानव का तो एकमात्र पुरुषार्थ माना जायगा--प्रकृतिस्वरूप--

संरक्षणपूर्वक आत्मस्वरूपबोध प्राप्त करने के लिए सतत जागरूक बने रहना। आत्म--देव--भावशून्य मानव तो अन्ततोगत्त्वा प्राकृतिक व्यामोहनों में हीं आबद्ध हो जाता है। उस दशा में तो इसे आत्मलक्षणा-'परं भाः'-से वञ्चित, अतएव 'भा' (आत्मप्रकाश) की रति से शून्य अभारतीय ही कहा जायगा। अब यह उत्तर–दायित्त्व स्वयं भारतीय मानव का है कि, प्रकृति से सम्बद्ध १३ प्राकृत–सर्गों में से अपनी भारतीयता के अनुपात से स्थान चुन ले। और हम समझते हैं--आत्म--देव--निष्ठ भा–रत–भारतीय मानव के लिए स्वस्वरूप–निर्णय के सम्बन्ध में ऐसा बोधगम्य मापदण्ड अन्यत्र कहीं इस सुगमता से उपलब्ध नहीं है। इसी उपलब्धि के द्वारा इसे अपने आयोजनों की सांस्कृतिकता–असांस्कृतिकताका, किंवा भारतीयता-अभारतीयता का निर्णय कर लेना चाहिए।

२३२–पतनावस्थानुगत भी भारतीय मानव की परम्परानुप्राणिता सांस्कृतिक–निष्ठा का सर्वापेक्षया उत्कृष्टत्त्व, एवं तालिकारूपेण चान्द्र--पार्थिव--सर्गसमन्वय—

अत्यन्त पतनावस्था के उपस्थित हो जाने पर भी अन्यदेशीय प्राकृत मानवों के समतुलन में तो अपनी परम्परासिद्धा आत्म–देव–भावना के सांस्कृतिक अनुग्रह से आज भी भारतीय–मानव अपने स्वरूप–निर्णय में सर्वात्मना समर्थ ही माना जायगा। इसी सामर्थ्याकर्षण से हमनें इसके सम्मुख अत्यन्त प्रणत–भाव से प्राकृतिक–सर्ग–के चार युग्म उपस्थित कर देने की धृष्टता कर ली है, जिस युगधर्म्मानुगता इत्थंभूता धृष्टता के लिए उसकी सुविशाला सांस्कृतिक–दृष्टि में हम क्षम्य ही मान लिए जायँगे। तालिका स्पष्टरूप से प्रमाणित कर रही है कि, ब्राह्मसर्ग से आरम्भ कर ऐन्द्रसर्ग पर्य्यन्त देवभाव की प्रधानता है। गन्धर्वसर्ग से आरम्भ कर यक्षसर्ग पर्य्यन्त अंशतः देवभाव प्रतिष्ठित मात्र है, जब कि पशुसर्ग से आरम्भ कर भूतपदार्थरूप अन्तिम सर्ग पर्य्यन्त देवभावशून्य केवल मनः–शरीरभाव ही प्रधान बने हुए हैं। अतएव आत्मदेवभावशून्य कोई भी मानसिक–शारीरिक आयोजन कदापि स्वप्न में भी भारतीय सांस्कृतिक–आयोजन तो नहीं ही माने जा सकते, नहीं ही मानना चाहिए किसी भी भारतीय मानव को तो किसी भी युग में।

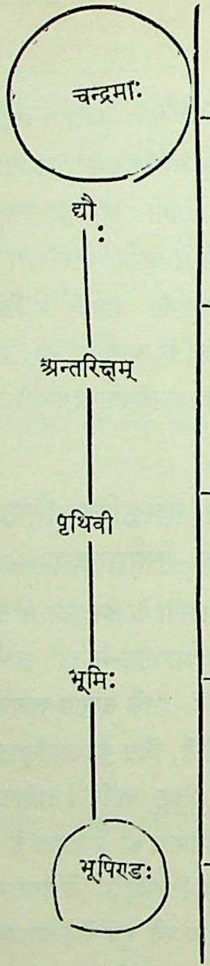

———————*

१–यशो–भावानुगता प्रज्ञा [१] (चान्द्री)–मनः
द्यौः–भावानुगतः-प्राज्ञः [२] (पार्थिवः)-शरीम्
}–सत्त्वगुणान्वितः–प्रथमो युग्मः
–चान्द्रपार्थिवः—

———————*

२–श्रद्धा–भावानुगतः–प्राणः [१] (चान्द्रः)-मनः
गौः–भावानुगतः-तैजसः [२) (पार्थिवः)-शरीरम्
}–सत्त्वगर्भित–रजोगुणान्वितः–
द्वितीयो युग्मः
–चान्द्रपार्थिवः

———————*

३–रेतो–भावानुगतं-भूतम् [१] (चान्द्रम्)-मनः
वाग्-भावानुगतो वैश्वानरः [२](पार्थिवः)शरीरम्
}–रजोगर्भित–तमोगुणान्वितः–
तृतीयो युग्मः
–चान्द्रपार्थिवः—

———————*

४–चितेनिधेयः–प्राणभावः [१]–मनः-सुप्तम्
चित्यः–भूतभावः (२)–शरीरं-सुप्तम्
}-आत्यन्तिकतमोरूप-चतुर्थो युग्मः
चान्द्रगर्भितः–भौमः

———————*

चान्द्र–पार्थिव–लोकभावाः	यशः— प्रज्ञा—	श्रद्धाः— प्राणः—	रेतः भूतम्	चान्द्रभावाः–मनोभावाः
	द्यौः— प्राज्ञः—	गौः तैजसः	वाक् वैश्वानरः	पार्थिवभावाः शरीरभावाः
	पृथिवी—	अन्तरिक्षम्	द्यौः	लोकभावाः
३	सत्त्वप्रजा (१)	सत्त्वरजः-प्रजा (१)	रजस्तमोप्रजा (३)	प्रजा ह तिस्रः *

*–"प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे"
—ऐतरेय आरण्यक

(१)--प्रथमयुग्मानुगता-प्रजाचतुष्टयी
-दिव्या प्रजा-

- १—ब्राह्मजीवाः (१)
- २—प्राजापत्यजीवाः (२)
- ३—पैत्र्यजीवाः (३)
- ४—ऐन्द्रजीवाः (४)

}देवभावानुगताः--प्रजाः
—सांस्कृतिकदेवभावसम्बन्धेन—
संस्कृतिनिष्ठाः

(२)--द्वितीययुग्मानुगता प्रजाचतुष्टयी
आन्तरीक्ष्या-प्रजा—

- ५—गन्धर्वजीवाः (१)
- ६—पिशाचजीवाः (२)
- ७—रासक्षजीवाः (३)
- ८—यक्षजीवाः (४)

}असुरभावानुगताः—प्रजाः—
असुरभावानुगताऽपि—आंशिक—
देवभावेन—सांस्कृतिकी

(३)--तृतीययुग्मानुगता प्रजाचतुष्टयी
--पार्थिवी प्रजा--

- ९—पशुजीवाः (१)
- १०—पक्षिजीवाः (२)
- ११—कीटजीवाः (३)
- १२—कृमिजीवाः (४)

}पशुभावानुगताः--प्रजाः
--असांस्कृतिकी—देवभावविरहात्

(४)—चतुर्थयुग्मानुगतानि भूतानि
—भौमानि भूतानि--

- १३-ओषधिवनस्पतयः
  धातूपधातवः
  (१)

}भूतानि—नात्र प्रजाभावः

यदि मानवः प्राकृतश्चान्द्रः-पार्थिवो-भौमो वा । तर्हि तु-तस्यापि-तथाविधा एव प्राकृतिका वर्गा निष्पद्यन्ते सांस्कृतिकेतिहासात्मकेन पुराणानुबन्धेन-पूर्वोक्तेन । यथा हि-

सांख्यदृष्टौ — पुराणदृष्टौ

१—ब्राह्ममानवः——ऋषिमानवः
२—प्राजापत्यमानवः—सिद्धमानवः
३—पैत्र्यमानवः———पितृमानवः
४—ऐन्द्रमानवः———देवमानवः
—(१)—प्रथमयुग्मानुगताः-सांस्कृतिनिष्ठाः-मानवाः
—देवभावानुगतिरत्र—

५—गन्धर्वमानवः—गन्धर्वविद्याधरमानवः
६—पिशाचमानवः—पिशाचमानवः
७—राक्षसमानवः——दैत्यराक्षसमानवः
८—यक्षमानवः———किम्पुरुषगुह्यकमानवः
—(२)—द्वितीययुग्मानुगताः--संस्कृत्यनुगताः-मानवाः
—आंशिकदेवभावोऽत्र—

९—पशुमानवः
१०—पक्षिमानवः
११—कीटमानवः
१२—कृमिमानवः
—(३)—तृतीययुग्मानुगताः--प्राकृताः-मानवाः
—देवभावनिरपेक्षितात्र—

१३—भूतमानवः
—(४)—चतुर्थयुग्मानुगताः-वैकारिकाः--मानवाः
—देवभावविरोधोऽत्र—

२३३–नाममात्र के लिए 'सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र' भी भारतराष्ट्र की आत्म–बुद्धि–-मनः–शरीरेण सर्वात्मना तत्त्वतः परतन्त्रता, एवं तदवस्था में समायोजित आजके इन आयोजनों की अब्रह्मण्या महती विडम्बना—

सैषा प्राकृतिकसर्गस्थितिः । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया । यदि हमारा मन वसन्तऋतु में, किंवा वर्षाऋतु में लतागुल्मों को देख कर, मेघों को देख कर, कोकिल–मयूर–शुक–सारिकाओं की ध्वनि सुनकर विभोर हो पड़ता है, इस विभोरता में आसक्त हो कर यदि हम थिरकने–गुनगुनाने लग पड़ते हैं, तो अवश्यमेव हम प्राकृतमानव हैं, पशु-–पक्ष्यादि के समानधर्म्मा मनोवशवर्त्ती जीवमात्र हैं । जैसे पशु–पक्षी अमुक प्राकृतिक आकर्षणों से कूदने–-फुदकने–थिरकने–नाचने–गाने–-लग पड़ते हैं बिना ही किसी पुरुषार्थात्मक लक्ष्य के, वैसा ही कुछ करते हुए हम भी इन से अधिक और क्या पौरुष–साधन कर लेते हैं इन आत्म–देव–भावशून्य–मानस–शारीरिक आयोजनों से ?। क्या इन मानसिक–शारीरिक–पशुसमानधर्म्मा अनुरञ्जनों को सांस्कृतिक–-आयोजन मान लेगा हमारा अन्तरात्मा ?। मुकुलितनयन बन कर अन्वेषण कीजिए अपने अन्तर्जगत् में हीं इन प्रश्नों के मार्म्मिक समाधानों के तथ्यों का । प्रकृति के सामान्य से विमोहनकर्म्म से–**"वाह–वाह–अहाहा–हा–क्या बात है–क्या कहा है–मुकर्रा फर्माइए**–आदि आदि रूपेण अपने मानवीय आकार को सर्वथा भावुकतापूर्ण अङ्ग–प्रत्यङ्ग–चेष्टाओं में परिणत करते हुए स्वयमपि आत्मविस्मृत हो जाने का ही नाम क्या '**सांस्कृतिक–आयोजन**' है ?। मयूर को थिरकते देख कर उसी के अनुकरण से मयूरपंख लगा कर नाचने लग पड़ना, इसी नर्त्तन को–'**मयूरनृत्य**' उपाधि से विभूषित करते हुए इसे ही उच्चघोषणापूर्वक–-'सांस्कृतिक–आयोजन' कहने लग पड़ना हीं क्या 'संस्कृति' शब्द का अक्षरार्थ है ?। और सर्वोपरि जिस युग में राष्ट्र की शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक–आत्मिक–सभी विभूतियाँ शताब्दियों से प्रक्रान्ता परतन्त्रता–-दासता से सर्वथा अन्तर्म्मुख बन रहीं हों, जिस अन्तर्मुखता से आज भी राष्ट्र का अंशतः भी परित्राण न हुआ हो, संस्कृति–साहित्य–-आदर्श–शिक्षा–जीवनपद्धति–आदि आदि की कथा तो विदूर रही, जो राष्ट्र अभी तक अपनी शारीरिक–-अन्नवस्त्र की चिन्ता से भी अपना परित्राण न कर सका हो, उसका यों अनर्गलरूप से नृत्य–-गीत–वाद्य–परायण बन जाना, इन्हीं को संस्कृति का महान् उद्धार कहने लग पड़ना हीं क्या 'सांस्कृतिक–-आयोजन' का सारगर्भित इतिहास मान लिया जायगा ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् । महती विनष्टिः ! ! !

२३४–-मानवीय–-मनःशरीरानुबन्धी गीत–-रमणादि मानस विनोद, एवं तत्सम्बन्ध में प्राजापत्या–-पार्थिवी–गायत्री–-त्रिधा के माध्यम से ऋषिप्रज्ञा की कालिक–-व्यवस्था–-मर्य्यादा—

गीत–-रमणादि व्यासङ्ग मानसिक धर्म्म हैं । इन्हें भी मानवीय क्षेत्र में प्रविष्ट पशुभावों के समतुलन के लिए प्रश्रय देते रहना आवश्यक है । किन्तु कब ?, किस अवस्था में ?। सुनिए ! ऋषिप्रज्ञा क्या उत्तर दे रही है इन प्रश्नों का ?—

त्रयीवेदात्मिका ब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति ने अपने मानसिक काम (कामना) से, प्राणात्मक तप से, एवं वाङ्मय श्रम से अपनी यजुर्म्मयी वाक् के उपादान से सब से

पहिले पानी हीं उत्पन्न किया। अत्यन्त तपः–श्रम से उत्पन्न इस पानी से प्रजापति ने पृथिवी का स्वरूप बनाना चाहा। इस कामना को सफल करने के लिए प्रजापति ने पुनः प्रचण्ड तपः--श्रम किया। इस अध्यवसाय से पानी **फेन** (झाग) रूप में परिणत हो गया। पुनः वही तपः–श्रम, पुनः पुनः वही प्रचण्ड संघर्ष, और इस धारावाहिक–अनन्य काम--तपः--श्रमात्मक परिश्रम से, अध्यवसायात्मिका अनन्यनिष्ठा से फेन की क्रमशः **मृत्–सिकता--शर्करा–अश्मा–अयः--हिरण्य**--रूप में परिणति। पुनः वही अध्यवसाय। तदनुग्रह से अष्टावयव भूपिण्ड की पानी के द्वारा स्वरूपनिष्पत्ति। पुनः वही संघर्ष, वही तप, वही श्रम। तद्द्वारा जीवनीय रसात्मक ओषधि--वनस्पतिवर्गों का आविर्भाव। ऐसा प्रचुर--प्रभूत--भूतात्मक आविर्भाव, जिसके द्वारा वही पृथिवी आज सर्वात्मना सब ओर से सस्यशामला–अन्नबहुला–बन गई, जो इससे पूर्व सर्वथा रिक्त ही बनी हुई थी इसके बिना। --'**ओषधि–वनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्**'। यों अपने प्रचण्ड तपः–श्रम–अध्यवसाय के नैरन्तर्य्य से प्रजापति ने एकमात्र 'पानी' के अवलम्ब से ही भूपिण्ड बना डाला, प्रजा बना डाली, प्रजा की योगक्षेम–समस्या को सदा सदा के लिए समन्वित करने के लिए सम्पूर्ण पृथिवी को ओषधि--वनस्पतियों से (अन्न--फलों से) ढँक दिया, हाँ निश्चयेन ढँक दिया। और यों अपनी सम्पूर्ण पार्थिवी–राष्ट्रकामनाओं को सर्वात्मना सुसम्पन्न--सुसमृद्ध बना लिया प्रजापति ने एक क्षण भी विश्राम किए बिना। अब प्रजापति के लिए वैसा प्रतिष्ठास्थान सम्पन्न हो गया, जिसे कोई भी आसुरीशक्ति विचलित नहीं कर सकती थी–'**अभूद्वा इयं प्रतिष्ठा--प्रजापतेः**'। इस सम्पूर्ण स्वरूप–निष्पत्ति के अनन्तर ही मानो पृथिवी गा उठी। पृथिवी का सहज स्वरूप–विकास ही इसका सङ्गीत बना–'**सेयं पृथिवी सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत्**'। इस सहजगान से ही सस्यशामला–प्रजा–सम्पत्ति–हिरण्यादि–वित्तबहुला माता पृथिवी '**गायत्री**' नाम से प्रसिद्ध हो गई। स्मरण रहे–प्रजापति ने तो स्वयं फिर भी गान नहीं किया। गा उठी पृथिवी की प्रजा। प्रजापति तो यह सब कुछ बना कर--'**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' रूप से भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित होकर नियन्ता ही बन गए इस पार्थिव सङ्गीत के ⁎।

राष्ट्र का प्रजापति–स्वामी जो भी होगा, उसे भी उसी प्राजापत्यधर्म्म पर प्रतिष्ठित होना हीं पड़ेगा। वह अनन्यनिष्ठा से श्रम–तप–सन्तपन–अध्यवसायपूर्वक राष्ट्र को जबतक सर्वात्मना सुसमृद्ध–सम्पन्न नहीं कर लेगा, तबतक वह किसी को न तो गाने देगा, न मानसिक–विनोदात्मक रमणभावों में प्रवृत्त होने देगा। अपितु दृढ़तम नियन्त्रण के साथ सर्वात्मना जागरूक बना रहता हुआ प्रजापति का प्रातिनिध्य करने वाला सत्तातन्त्र सर्वप्रथम अपने राष्ट्र को सब ओर से समृद्ध बनाने में स्वयं भी तपः–श्रम–परिश्रमपूर्वक जुट पड़ेगा, और प्रजा को भी स्नेहपूर्वक–वात्सल्यपूर्वक–जुटाए रहेगा। जब राष्ट्र की सभी आवश्यकताएँ पूरीं हो जायँगीं, तभी राष्ट्रप्रजा को नृत्य–गीत–वाद्यादि मानसिक रमणभावों–(विनोदों) का अवसर मिल सकेगा, सो भी उसी सीमापर्य्यन्त, जिससे मर्य्यादिता राष्ट्रप्रजा अपना स्वरूप विस्मृत न कर बैठे। और स्वयं सत्तातन्त्रात्मक प्रजापति ?। वह तो सदा ही तटस्थ ही बना रहेगा इन मानस–विनोद–भावों से।

⁎–**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।**
तस्य योनि परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
—यजुःसंहिता

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना पृथिवी एव अगायत् । न तु तन्निर्म्माता प्रजापतिः' से स्पष्ट ही सत्तातन्त्र को इन मानस विजृम्भणों–नाच–गानादि–आयोजनों से तटस्थ ही प्रमाणित किया है श्रुति ने । कौन सा प्रजावर्ग गान–रमणात्मक मनोविनोद का अधिकार रखता है ?, सर्वान्त में इस प्रश्न का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं—

"सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत् । तस्मादियं गायत्री । अथोऽआहुः-अग्निरेवास्यै पृष्ठे सर्वः-कृत्स्नो मन्यमानः-अगायत् । यद्गायत् , तस्मादग्निर्गायत्र इति । तस्मात्--हैतत्--यः सर्वः कृत्स्नो मन्यते, गायति चैव, गीते वा रमते" ।

—शतपथब्राह्मण ६।११।११ से १५ कण्डिका पर्य्यन्त

२३५--प्रजापति के मूर्त्तप्रतिनिधिरूप ब्रह्म (तत्त्वचिन्तक ब्राह्मण),–तथा क्षत्र (सत्तातन्त्र), एवं इन की मानस–विनोदभावों से आत्यन्तिक तटस्थता, तथा तद्द्वारा ही राष्ट्रीय–निष्ठा का संरक्षण—

देखा आपने ? । क्या देखा, और क्या समझा हमनें और आपनें ? । देखा यही, और समझा यही, कि मूलाधिष्ठाता प्रजापति मानसिक विनोद करने की स्वीकृति देते ही नहीं अपनी प्रकृति को तबतक, जबतक कि प्रकृति सर्वात्मना अपना बाह्य–भौतिक–स्वरूप सर्वात्मना परिपूर्ण–सम्पन्न–सुसमृद्ध–नहीं कर लेती । जो प्रकृति (मन और शरीर) प्रजापति (आत्मबुद्धिस्वरूप) की इस अनुशासनवृत्ति की उपेक्षा कर देती है, वह नष्ट ही होजाया करती है । प्रजापति के स्वरूप हैं–आत्मा, और बुद्धि । बुद्धि का प्रतिनिधि है क्षात्र सत्तातन्त्र, जिस पर बाह्य भौतिक व्यवस्थाओं के सञ्चालन का महान् उत्तरदायित्त्व प्रतिष्ठित है । आत्मा का प्रतिनिधि है राष्ट्र का तत्त्वचिन्तक ब्राह्मण, जिस पर सत्तातन्त्र की राजनीति की मर्य्यादा का नियमन अवलम्बित है धर्म्मनीति के द्वारा । यह अत्यन्त गुहानिहित प्रजापति है, तो सत्ताधीश व्यक्त–प्रकट प्रजापति है । दोनों हीं मनःशरीरानुबन्धी–गीत–रमणादि मानस–विनोदों से तटस्थ रहने वाले हैं । हाँ, सत्तातन्त्रात्मक व्यक्तप्रजापति तटस्थसाक्षीरूप से अवश्य ही द्रष्टा बनता रहता है इन आयोजनों का, जिससे आयजनकर्त्री प्रजा मर्य्यादा से स्खलित न हो जाय । किन्तु सर्वाध्यक्ष–मूलप्रजापतिरूप ब्राह्मण तो साक्षी भी नहीं बनता इन आयोजनों का, नहीं बनना चाहिए । अपितु यह तो गुहानिहित बना रहता हुआ अपनी चिन्तननिष्ठा से सत्तातन्त्र को ही मर्य्यादित बनाए रहता है । यही कारण है कि श्रुति ने एक स्थान पर राष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा को यह उद्बोधन प्रदान कर देना आवश्यक मान लिया है कि, ब्राह्मण को तो सर्वात्मना हीं नर्त्तन–गायन–वादनादि व्यासङ्गों से सर्वथा सदा तटस्थ ही बना रहना चाहिए । देखिए !

"य एष ब्राह्मणो गायनो वा नर्त्तनो वा भवति, तं--'आग्लागृधः' (शिथिलप्रज्ञः-हीनप्रज्ञः--निष्ठाच्युतः--भावुकः)--इत्याचक्षते । तस्माद्--ब्राह्मणः--नैव गायेत् , न नृत्येत् । मा आग्लागृधः स्यात्" ।

—गोपथब्राह्मण पू० २ प्र० । २१ ब्रा० ।

२३६--इन वर्त्तमान आयोजनों के सम्बन्ध में वर्त्तमान भारतराष्ट्र से प्रश्न, एवं तन्माध्यम से इन आयोजनों के भारतीय--संस्कृति--विघातक नामों का दुःखपूर्ण वाग्विजृम्भण—

सुसमृद्ध–सुसम्पन्न–सर्वात्मना सुनिश्चिन्त–परिपूर्ण–राष्ट्र का समृद्धिशाली प्रजावर्ग ही यदा कदा पर्वोत्सव-सम्मेलन–समारोहात्मक सांस्कृतिक निमित्तों–पर मर्य्यादापूर्वक–आत्मदेवभावनापूर्वक नृत्य–गीतादि–मानस आयोजनों का अनुगामी बन सकता है, जिसका तटस्थ साक्षी बन रहा है–सत्तातन्त्र, एवं सर्वथा निरपेक्ष नियन्ता बना रहता है सांस्कृतिक आचारनिष्ठ तत्त्वचिन्तक राष्ट्रीय ब्राह्मण। क्या आज आपका भारतराष्ट्र इस निश्चिन्तता पर पहुँच गया है ?, क्या राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास पूर्ण हो चुका है ?। यदि 'हाँ', तो कीजिए आयोजन। यदि 'नहीं', तो आयोजन का नाम लेने वाले को भी राष्ट्रहित का विरोधी आततायी मान कर **'आततायिनमायान्तं हन्यादेव–अविचारयन्'** नियमानुसार राष्ट्रविरोधी–राष्ट्रस्वरूपविध्वंसक इन आयोजकों को, तथा आयोजनों को निःशेष ही बना डालिए। ठीक इसके विपरीत आयोजनों का न केवल प्रोत्साहन ही देना, अपितु स्वयं सत्तातन्त्र का भी सोल्लास इनमें प्रवृत्त होते रहना, सत्ता के आकर्षण से राष्ट्र के अन्यान्य संस्कृतिनिष्ठों का भी इन आयोजनों में योगदान करते रहना, आत्म–देव–भावशून्य इन कुतूहलों को–भी बड़े ही गर्व से 'सांस्कृतिक–आयोजन' जैसी पावन अभिधा से समन्वित करते जाना, आदि आदि सभी कुछ विधि के विचित्र ही तो विधान कहे जायँगे। और यहीं दुःखपूर्ण–नामकरणात्मक प्रक्रान्त उस प्रसङ्ग का उपराम कर दिया जायगा, जिसकी पूर्व में जिज्ञासा हुई थी। कुण्ठित है हमारी प्रज्ञा आज के इन आयोजनों का भारतीय दृष्टि से नामकरण–कर देने में। स्वतन्त्र है आज की सत्ता, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है आज का जनमानस सत्तास्वातन्त्र्य के अनुग्रह से। 'सांस्कृतिक' ही क्या, वह इन मानसिक–निर्लक्ष्य विनोदों को–**'संस्कृतिसंहारक–आयोजन'**–**'मानवताविघातक–आयोजन'**–**'अनैतिकताप्रवर्द्धक–आयोजन'**, किंवा **'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रायोजन'**–**'गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्रीयायोजन'**–**'सर्वोद्धारक–आयोजन'** आदि आदि किसी भी नाम से समन्वित करने में स्वतन्त्र है। शताब्दियों से परतन्त्र बने रहने वाले यहाँ के जनमानस के लिए तो सभी नाम समादरणीय ही रहे हैं, समादरणीय ही रहेंगे।

२३७–सत्तासापेक्षता के महान् व्यामोहन में आसक्त राजभक्त--सत्ताश्रित भारतीय विद्वानों के द्वारा सत्तानुरञ्जन के लिए रतिरहस्यादि मानस--निबन्धों का निर्म्माण, एवं तद्द्वारा मूलसंस्कृति का अभिभव—

'कोउ हो नृप, हमें का हानि' जैसे भावुकतापूर्ण सन्तवचन को अपना आदर्श मान बैठने वाले हम सत्तानिरपेक्ष, किंवा सत्ताभक्त भारतीयों का ऐसा मानते रहना, एवं दूसरों को भी ऐसा ही मनवाते रहना कोई आज के युग का ही नवीन कर्म्म नहीं है। विगत–भुक्त–प्रक्रान्त तीन सहस्र वर्षों का सम्पूर्ण इतिहास ही हमारी इसी सत्तासापेक्षा–संस्कृति का ज्वलन्त उदाहरण बना हुआ है। फलस्वरूप सत्ताधीशोंनें जिन जिन आयोजनों को सांस्कृतिक–आयोजन कह डाला, सर्वसाधारण जनतन्त्र की कौन कहे, देश के उन ब्राह्मणविद्वानोंनें भी उन आयोजनों को ही महतोमहीयान् सांस्कृतिक–आयोजन–प्रमाणित करते रहने में ही अपना समस्त प्रज्ञाकौशल समाप्त कर दिया, जिन विद्वानों की प्रज्ञानिष्ठा पर ही राष्ट्रीय–संस्कृति के संरक्षण का महान् उत्तरदायित्व प्रति-

ष्ठित था। काम–भोग–परायण, मनः–शरीरमात्रासक्त–विलासलीलानिमग्न–सामन्त राजाओं के अनुरञ्जन के लिए इस देश की ब्राह्मणप्रज्ञा ने हीं तो **अनङ्गरङ्ग–कन्दर्पचूड़ामणि–रतिरहस्य–कामकलाविलास–नायिकाभेद**–आदि आदि परःशत–सहस्र वैसे मानस निबन्धों का सर्जन कर ही तो डाला, जिनके सांस्कृतिक ?, हाँ विशुद्ध सांस्कृतिक ? संस्कारों ? से आज पर्य्यन्त भी यहाँ की ब्राह्मणप्रज्ञा अपना परित्राण नहीं कर सकी है।

२३८--परमसंस्कृतिभक्त ? राजाभोज का सांस्कृतिक ? युग, एवं तद्युग में मूलसंस्कृति के प्राणप्रतिष्ठारूप वेदशास्त्र का उपहास, तथा भोजाश्रित विद्वानों की कामकला-विलासलीलाएँ—

संस्कृतसाहित्य के लिए 'स्वर्णिमकाल' नाम से प्रसिद्ध भारतीय राजा भोज का ही तो वह महान् सांस्कृतिक युग था, जिसमें देश की सर्वाराध्या–सर्वमूलभूता वैदिकसंस्कृति के परिशिष्ट चिह्नों के स्मरण करने वाले शिखा–सूत्रधारी–वेदपारायणकर्त्ता ब्राह्मणों की शिखा का उपहास किया जाता था इसी भोज के सांस्कृतिक ? युग में। इन्हें–'वेदाभ्यासजड़मति' जैसी उपाधि से समलंकृत करते हुए भोजसत्ता के वे रसज्ञाता कविगण लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनतशिरस्क नहीं बनते थे। मनस्तन्त्रानुगत–रसप्रवाहमाधुरी से समन्वित–**'द्रुमाः सपुष्पाः, सलिलं, सपद्मं, स्त्रियः सकामाः–पवनः-सुगन्धिः'–'युवतिजनेषु शनैः शनैरनङ्गः'** जैसे कर्णमधुर ?, भावमधुर ?, सर्वमधुर ? शब्दगुम्फनों के समतुलन में–**'बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुः'–'अनुष्टुभमनुचचूर्य्यमाणम्' 'अचिकित्त्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र'–'अग्निर्जागार तमृचः–कामयन्ते'** इत्यादि कर्कश ? रूक्ष ? शब्दजालों का कौन समादर करता उस सुसमृद्ध ? रसमय साहित्यिक युग में।

२३९--शृङ्गाररसप्रधान--साहित्य के द्वारा आविर्भूता अनुकूलता के अभिशाप से मानसिक-असन्तुष्टयाभिव्यक्तिमूलक–'कवितायुग' का आविर्भाव—

इसी अनुकूलताने, इसी मानसिक भावुकता ने ब्राह्मणप्रज्ञा को वेदनिष्ठा की ओर से शास्त्रनिष्ठात्मिका दार्शनिक भावुकता की ओर आकर्षित कर दिया कालान्तर में। जब दार्शनिकता में भी कठिनता अनुभूत होने लगी, तो सम्प्रदायवादात्मिका भागवती कथाएँ हीं आश्रयभूमि बन गईं इन विद्वानों के लिए। जब इनका भी रहस्यात्मक समन्वय संघर्षात्मक प्रतीत होने लगा, तो 'कविता' का आश्रय लिया जाने लगा, जोकि मानसिक अतृप्ति–अतुष्टि के आधार पर ही जन्म लिया करती है।

२४०--कवितानुग्रह से स्खलितमना नितान्त भावुक मानव की कल्पना के द्वारा कालान्तर में शेषभूत 'हरे राम हरे राम' का तुमुल निनाद—

कवितापरिपाटी में भी थोड़ा बुद्धि का संस्पर्श था। अतएव कवितामय साहित्य भी कालान्तर में गद्यात्मक साहित्य का अनुधावन करने लग पड़ा। फिर भी शब्दों के जोड़–तोड़ बैठाने में बुद्धि का आश्रय लेना आवश्यक बना ही रह गया था। प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अनुकूलता के प्रति अनुधावन करती जा रही थी। बौद्धिक संघर्ष उत्तरोत्तर शिथिल होता जारहा था। अतएव परिणाम वही हुआ, जोकि होना चाहिए था। कविता गई, गद्य गए, सब कुछ चला गया। और सर्वान्त में रह गया–**'हारे का हरिनाम'**, झञ्झा–ताल–मृदङ्ग–घुँघरू

के आकर्षक नाद, हरे–राम राधेश्याम–सीताराम–का तुमुल उद्घोष–और तद्द्वारा सदेह वैकुण्ठ प्राप्ति के राजपथ का सर्वथा अनुकूलता–सरलता–पूर्वक–निर्म्माण । यों बिना हीं संस्कृति–साहित्य–आचार–धर्म्म–आदर्श आदि के सहज में हीं अनुकूलतापूर्वक ही वैकुण्ठद्वार ढूँढ़ ही तो लिया भारतवर्ष की सांस्कृतिक–प्रज्ञाओंनें ? । क्यों ? ठीक है न ? । सुनते हैं–**अजामील–गीध–व्याध–गणिका**–आदि इसी नामभक्ति–महिमा से भवसागर से पार उतर गए थे ।

२४१–अनुकूलता की चरमसीमा में विराजमान, जीवनीय संघर्ष से शून्य, शवशरीर--मात्र भारतीय मानव की अन्तिम विश्रामभूमि--"बिना भक्ति के ही भगवान् के अनुग्रहमात्र से मुक्त हो जाने की लिप्सा--लालसा"—

किन्तु हमारे इन नवीन भक्तोंनें तो उन नामभक्तों से भी कहीं सरल पथ निकाल ही तो लिया । इन नवीन भक्तोंनें भगवान् के सम्मुख अपना यही मन्तव्य निर्लज्जतापूर्वक रख ही तो डाला कि,–'**उन भक्तों को तो आपने भक्ति के बल तारा था । हम तो आपको भगवान् ही तब जाने, जब कि आप हमें तो बिना भक्ति के ही तार दें, "बिना भक्ति तारो, तो तारबो तिहारो"** । क्या कही है, और कैसी कही है । वाह–वाह–बोलो भगवान् की नहीं, अपितु भगवान् के ऐसे प्यारे भक्तों की जय ! ! ! जिन्होंनें बिना भक्ति के ही भगवान् को सुलभ बना दिया । अजामील–गीध–व्याधादि की भक्ति अवश्य ही भगवान् नामक तत्त्व से अविभक्ता रही होगी । अवश्य ही आस्थापूर्वक उन भक्तप्रवरोंनें तल्लीनता प्राप्त कर ली होगी । किन्तु आज के कीर्त्तनपरायण भक्तों के तो अहोरात्र सर्वथा अमानवीय, किंवा ÷ दानवीय व्यवसाय करते हुए ही व्यतीत होते हैं, जिनके मायाचार से, अर्थगृध्नुता से मानवता विकम्पित होती रहती है, वे ही थोड़े समय के लिए स्थानविशेषों में समवेत होकर बिना ही भक्ति के जब अपने दैमंदिनीय पापों का प्रक्षालन करने में समर्थ बनते रहते हैं, तो कुण्ठित है हमारी प्रज्ञा ऐसे भक्तिपथ के सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन करने में । यही उस पारम्परिक स्खलन का संक्षिप्त इतिहास है, जिसके द्वारा भावुकता से हो पड़ने वाले पतन का हम भलीभाँति समन्वय कर सकते हैं । इसी आधार पर एक सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं--
शास्त्रैर्विहीनाश्च पुराणपाठकाः ।।
पुराणहीनाः कवयो भवन्ति ।
भ्रष्टास्ततो * भागवता भवन्ति ।।

÷ कड़ी हाली पन्सेरी, पोथी हालो भट्ट
माला हालो बाणियो--तीन्यूँ गलाकट्ट ।
—लोकसूक्ति

* नामसङ्कीर्त्तनपरायणाः--इति यावत् ।

अपिच— अवहाय निजं धर्म्मं--'रामकृष्णेति' वादिनः ।
ते हरेर्द्वेषिणः पापाः, धर्म्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥
सर्वदा दास्यमिच्छद्भिरकर्म्मण्यैरविद्यकैः ।
वैष्णवैर्भारतं वर्षं भिक्षुकी क्रियते कलौ ॥

२४२--'संस्कृति' से सर्वथा असंपृष्ट ये आज के 'सांस्कृतिक ? आयोजन', एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक--भारतराष्ट्र की महती विडम्बना—

बिना हीं भक्ति के भगवान् की प्राप्ति में सर्वात्मना सुनिश्चिन्तता अनुभूत कर लेने वाले ऐसे भक्तप्रवरों के अनुग्रह से ही कालान्तर में 'भक्ति' शब्द भी सर्वथैव उच्छिन्न होगया, और भक्ति के साथ साथ भगवान् भी । भगवान्, और भक्ति से शून्य शेष रह गए केवल भक्त, और इनके झएझा-ताल-मृदङ्ग-घूँघरूँ आदि । भक्तों को तो भक्तिसंस्कारवश किसी न किसी की भक्ति करनीं ही जो थी । भगवान् नहीं, तो भगवान् का संसार तो कहीं भी नहीं गया था । भगवान् की स्थापना हो गई जनता में । जनता 'जनार्द्दन' बन गई । और लोकभक्तिरूपा इसी जनताजनार्द्दन—भक्ति के आवेश ने वेद—शास्त्र—पुराण—कविता—नामस्मरण—आदि आदि सब को जलाञ्जलि समर्पित करवा कर लोकोत्तर, किन्तु लोकरञ्जक—जनमनरञ्जक-सर्वकामार्थ—संसाधक—उस आयोजनताण्डव का आविष्कार कर ही तो डाला, जो लोकभाषा में आज सर्वत्र उच्चं उद्घोषपूर्वक—**'सांस्कृतिक—आयोजन'** नाम से प्रसिद्ध है । छोटी से छोटी योजना हो, अथवा तो बड़ी से बड़ी योजना, सामान्य उद्घाटन कर्म्म हो, अथवा बड़ा उद्घाटन कर्म्म, सामान्य श्रमदान हो, अथवा बड़ा श्रमदान, सर्वत्र उपक्रम और उपसंहार में जबतक 'सांस्कृतिक—आयोजन' को अमृतोपस्तरण, और अमृतापिधानात्मक आचमनकर्म्म की भाँति प्रतिष्ठित नहीं कर लिया जाता, तबतक राष्ट्र का कोई भी कार्य्य, कोई भी योजना सफल बन ही नहीं सकती । अहो ! महतीयं विडम्बना भारतराष्ट्रस्य ! ! !

२४३—नियन्त्रणमूला भारतीय—जीवनपद्धति पर मनोविनोदप्रेमियों का आक्षेप, एवं तत्समाधान चेष्टा—

अब इस सम्बन्ध में केवल एक यही महत्त्वपूर्ण यह प्रश्न शेष रह जाता है कि, क्या भारतीय संस्कृति-धर्म्म—आदर्श—सदाचार—आदि से सम्बन्ध रखने वाली जीवनपद्धति ऐसी रूक्षा—कर्कशा--कठोरा—है, जिसमें प्रतिष्ठित रहने वाले भारतीय सांस्कृतिक मानव को न हँसने का अधिकार है, न प्रकृति को देख कर मुस्कारने का अधिकार है ? । यदि सचमुच में भारतीय 'जीवनपद्धति' की ऐसी ही कुछ उद्वेगकरी ही परिभाषा है, तो प्राकृतिक विश्व में रहने वाला, सामाजिक जीवनपद्धति से सञ्चालित रहने वाला, प्रकृति के ही महान् पर्वरूप मन, और शरीर को स्वस्वरूप में अन्तर्भुक्त रखने वाला भारतीय मानव ही क्या, संसार का कोई भी मानव कदापि किसी भी अवस्था में तथोपवर्णिता वीतरागभावात्मिका--उल्लास—उत्साह—जीवनीयरसप्रवाह—आदि से शून्या जीवनपद्धति का स्वप्न में भी संस्मरण भी तो नहीं करना चाहेगा । वह जीवन ही क्या, जिसमें उन्मुक्तता न हो । वह जीवनीय आनन्द ही क्या, जिसमें पदे पदे नियन्त्रण लग रहा हो । वह प्राकृतिक प्रेम ही क्या, जिसमें मानवीय मन को स्वच्छन्द विचरण करने का अवसर ही न दिया जाता हो । ऐसी

स्थिति में कदापि नियन्त्रणमूला भारतीय--जीवनपद्धति का कोई भी समादर नहीं कर सकता, नहीं करना चाहिए, जिस पद्धति में 'प्रकृति' का कोई भी समादर नहीं हुआ है ।

२४४-शब्दात्मक अभिनयों से अतीता 'भारतीय--संस्कृति' की सच्चिदानन्दघनैकरसता, एवं तन्मूलाधारेण प्रतिष्ठित-'भारतीय'-'सांस्कृतिक-आयोजनों' की आनन्दरसाप्लुतता—

असमर्थ है यह वेदाभ्यासजड़मति उक्त तर्क का बुद्धिगम्य समाधान करने में । इसलिए असमर्थ है कि, इस की संस्कृति ने इसे प्राकृतिक प्रेम की जो परिभाषा बतलाई है, उसका वर्त्तमान प्रकृतिप्रेम से अंशत: भी तो समतुलन नहीं है । रही बात रूक्षता -कर्कशता—नीरसता की, सो इस सम्बन्ध में इसलिए स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है कि, स्नेहार्द्रता-सरसता आदि भावों से अनुप्राणिता आनन्दमाधुरी के स्पष्टीकरण के लिए आजतक किसी भी वैज्ञानिक नें किसी शब्द का आविर्भाव ही नहीं किया है । संस्कृति में, एवं तदनुप्राणिता सांस्कृतिक—जीवनपद्धति में कैसा आनन्दरस प्रवाहित है ?, प्रश्न का समाधान शब्द से तो कदापि सम्भव नहीं है । आत्मबुद्धिप्रधाना जीवनपद्धति में आनन्द ही आनन्द है, जब कि मन:शरीरप्रधाना जीवनपद्धति में अनुकूलवेदनात्मक सुख, तथा प्रतिकूलवेदनात्मक दु:खरूप द्वन्द्वभाव ही जागरूक है, इस भेद को शब्दद्वारा कथमपि स्पष्ट नहीं किया जासकता । इसके लिए तो पुरातन—नूतन—मानवों की जीवनपद्धतियों से सम्बन्ध रखनें वाले सत्—असत् परिणाम हीं अमुक सीमापर्य्यन्त परिचायक बनते रहते हैं । और हम समझते हैं—फलानुगत इस ऐतिहासिक तथ्य के अतिरिक्त मानवप्रकृति के कोश में अन्य कोई भी ऐसा भौतिक मापदण्ड नहीं है, जिस से यह जीवनपद्धतियों का मूल्याङ्कन कर डाले ।

२४५-संस्कृति-सभ्यता-आनन्द--समृद्धि-सुख—जीवन—जीवनपद्धति-मुक्तता--आयोजन-श्रद्धाप्रेम-वात्सल्यप्रेम-स्नेहप्रेम-कामप्रेम-रतिप्रेम- आदि आदि शब्दों के अक्षरार्थों से भी असस्पृष्ट प्राकृत मानवों की भारतीय-जीवनपद्धति के सम्बन्ध में भ्रान्त कल्पनाएँ—

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जो प्राकृतिक मानव आज जिसे 'जीवनपद्धति' कहते हैं, जिसे जीवन का 'सुख' कहते हैं, क्षमा करेंगे वे प्राकृत-बन्धु हमें कि, उन की प्राकृतिक दृष्टिने, एवं तदाधारभूत उनके प्रत्यक्षसिद्ध भूतविज्ञान ने अभीतक भारतीय शब्दकोश के-'संस्कृति'-'सभ्यता'-'आनन्द'-'समृद्धि'-'सुख'-'जीवन'-'जीवनपद्धति'-'मुक्तता'—'आयोजन'--'श्रद्धाप्रेम'--'वात्सल्यप्रेम'--'स्नेहप्रेम'—'कामप्रेम'-'रतिप्रेम' आदि आदि शब्दों के अक्षरार्थ-समन्वय का भी अनुग्रह नहीं किया है । जबकि, शब्दों का अक्षरार्थमात्र ही प्राकृतिक—मानवों के लिए सर्वथा निरपेक्ष बना हुआ है, तो फिर तदनुगता भारतीयपद्धतियों के सम्बन्ध में रूक्षता—कर्कशता—की कल्पना कर बैठना कदापि कम से कम बुद्धिगम्य पक्ष तो नहीं ही कहा जासकता । वैसे 'मुखविवर' स्वतन्त्र है, वागिन्द्रिय भी स्वतन्त्र, एवं बोलने की शक्ति में भी मानव पूर्ण स्वतन्त्र । बिना शब्दार्थसमन्वय के कुछ भी कहा-सुना जासकता है । कोई आपत्ति नहीं है । और फिर हम उनकी जीवनपद्धति के सम्बन्ध में निवेदन कर भी कहाँ रहे हैं ? । स्वतन्त्र हैं वे अपनी जीवनपद्धतियोंमें । निवेदन

तो हमें उस देश की उस मानवप्रज्ञा से कर देना है, जो अपने आप को कह तो रही है भारतीय, एवं उपयोग कर रही है वह यहाँ के शब्दकोश का, किन्तु व्यवहार में सर्वथा भारतीय-पद्धति-भारतीय शब्दार्थमर्य्यादा की उपेक्षा ही करती जारही है। अनुकरण अन्य किसी अज्ञाता पद्धति का, छाप उस पर भारतीय-संस्कृति की ! एतावन्मात्र ही विसंवाद है हमारा। हमनें कभी यवनों की सभ्यता की आलोचना करना आवश्यक नहीं समझा। अमेरिका-रूस-इंग्लेण्ड-आदि की जीवनपद्धतियों से भी कोई सम्पर्क नहीं है हमारा। अवश्य ही वे अपने अपने देश-काल-पात्र-योग्यता-शिक्षा-सभ्यता-आदि के अनुपात से ठीक ही होंगे। किन्तु भारतवर्ष की संस्कृति का नामकरण तो करना भारतीय शब्दों के द्वारा, एवं अर्थ, और व्यवहार में सर्वत्र नामकरणों से विपरीत ही गमन करना, यही वह शूल है, जो अवश्य ही प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी भारतीय मानव को हमारी ही भाँति निश्चयेन उत्पीड़ित ही कर रहा होगा। जिस भारतीय मानव को यह शूल उत्पीड़ित नहीं कर रहा, यह उसका, और उसके साथ साथ हमारा भी राष्ट्रानुबन्ध से दुर्भाग्य ही माना जायगा।

२४६-भारतीय 'संस्कृतिक--आयोजनों' की लोकोत्तरा आनन्दमाधुरी—

अब बात शेष रह जाती है उस रूक्षता-कर्कशता-की, जिस कल्पित अभियोग का इसलिए यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है कि, हम उदाहरण के लिए एक सामान्य से सांस्कृतिक-आयोजन की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, और वे अपने कल्पित किसी बड़े से बड़े प्राकृत-आयोजन का व्यक्त स्वरूप रखदें। स्वयं वे ही दोनों का समतुलन करें। एवं तदनन्तर ही वे ही यह निर्णय व्यक्त करने का अनुग्रह कर दें कि, दोनों में कौन कर्कशा-रूक्षा है !, एवं कौन सरसा-आनन्दमयी है ?। उदाहरण बतलाने की आवश्यकता वस्तुतः न हमें हैं, न उन्हें हीं। उनके उदाहरण तो आज सर्वात्मना जागरूक हैं हीं। हमारे उदाहरण दुर्भाग्यवश हमारी संस्कृति के रक्षकवर्गों के अन्तर्लीन हो जाने के कारण पूर्णरूप से तो आज व्यवस्थित नहीं रह पाए हैं। तथापि गच्छतः-स्खलनरूप से जो कुछ स्वरूप बचा रह गया है एकमात्र संस्कृति प्रवर्त्तक-संरक्षक जगदीश्वर के अनुग्रह से, एवं ईश्वरनिष्ठा-आस्था-श्रद्धा-शीला जनता के अनुग्रह से, वही पर्य्याप्त है तथाविध समतुलन के लिए। **रक्षाबन्धन-विजयदशमी-होलिका-दीपावली** आदि आदि में से किसी भी सांस्कृतिक-आयोजन पर दूर खड़े खड़े दृष्टिमात्र ही डाल लेने का अनुग्रह कर लीजिए। निश्चयेन आप को यह अवनतशिरस्क बन कर मान ही लेना पड़ेगा कि, शान्तानन्दपूर्वक प्रकृति का जैसा समृद्धानन्द इन भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों में समसमन्वित हुआ है, वर्त्तमान आयोजन अपनी समस्त शक्ति का व्यय करके भी ऐसे समतुलन की अपने आत्म-देवभाव वञ्चित केवल-प्राकृत-आयोजनों में कल्पना भी तो नहीं कर सकते।

प्रकृति की किस छटा से भारतीय मानव विभोर नहीं हुआ ?। प्रकृति के किस पर्व पर इसने आयोजन नहीं मनाया ?। इसने अपने किस प्राकृतिक क्षण को आनन्दायोजन से वञ्चित रक्खा !। इसने जो आनन्दोल्लास जन्म समय में उपक्रान्त किया, उसे जीवनपर्य्यन्त पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोहों से श्वः--श्वः-उत्तरोत्तर परिवर्द्धित ही बनाए रक्खा। सर्वान्त में निधनावस्था पर भी इसने गायन-वादन-नर्त्तन के साथ ही भूतपति महामहेश्वर की आराधना से, उनके ताण्डवनृत्यस्थान (श्मशान) से अपने आपको जीवनीयरस से ही समन्वित किया। सर्वत्र सब अवस्थाओं में व्यक्तितः-परिवारतः-समाजतः-राष्ट्रतः-इसने आनन्द ही आनन्द की तो उपासना प्रक्रान्त रक्खी, जिस प्रक्रान्ति के एक एक अङ्ग--प्रत्यङ्ग की सूची भी आज के बुद्धिवादी को भी थका देने की क्षमता रख रही है।

२४७-केवल जड़भावात्मक वर्त्तमान 'प्रकृतिप्रेम', और भारतीय--सर्वसमन्वयात्मक प्रकृति का आराधन—

प्राकृतिक-प्रेम ! ! ! हाँ प्रेम की घोषणा अवश्य ही आज नवीन है। न प्रकृति नवीन है, न प्रेम शब्द ही नवीन है। किन्तु दोनों की व्याख्या अवश्य ही अश्रुतपूर्वा है। क्या अर्थ है-'**प्राकृतिक प्रेम**' का ?, प्रश्न के समाधान के लिए अन्य निबन्ध देखने का ही अनुग्रह करना चाहिए। अभी हमें भारतीय-आयोजनों में से एक दो आयोजनों की रूपरेखा बतलाने की चेष्टा करनी है। विषय विस्तृत होता जारहा है। अतएव इस प्रेमचर्चा को यहीं उपरत कर दिया जाता है। प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए यही निवेदन कर दिया जाता है इस सम्बन्ध में कि, भारतीय मानव ने प्रकृति का '**पूजनात्मकप्रेम**' किया है, जबकि आज के प्रेम की परिभाषा है-'**कामात्मकप्रेम**'। पूजन का आधार है-'**श्रद्धारस**', एवं काम का आधार है **जड़भूत**। श्रद्धारसात्मक प्राणवान् **जीवितप्रेम** ही पूजनात्मक प्रेम है, एवं कामात्मक निष्प्राण--भूतासक्तिलक्षण--प्रेम हीं जड़प्रेम है। श्रद्धाप्रेम में प्रेमी--प्रेमपात्र--प्रेमपद्धति सब का स्वरूप अक्षुण्ण है, जब कि कामप्रेम में प्रेमीजी-प्रेमपात्रजी और प्रेमपद्धतिजी-सभी धूलिधूसरित बन जाते हैं। अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है इस देश का **प्रकृतिपूजनात्मक-शक्त्याराधनतत्त्व**, जिसे बिना श्रद्धा के सुनना--सुनाना भी निषिद्ध माना गया है। अतएव इस दिशा में विशेष व्याख्या करने में हम असमर्थ हैं। माता प्रकृति के अज्ञात--यत्किञ्चित्-अणुप्रदेश से अपना कायस्वरूप व्यक्त करने वाला यह असमर्थ सेवक क्या योग्यता रखता है माताप्रकृति के पूजनप्रकार की व्याख्या करने की।

यच्च किञ्चिद्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सात्वं किं स्तूयसे तदा ॥

—रहस्यशास्त्रे

२४८-महामाया प्रकृति से राष्ट्रोद्बोधन के लिए अनुग्रहभिक्षायाञ्चा—

जगन्माता जगदम्बा प्रकृतिदेवी से प्रणतभावपूर्वक यही कामना है प्रस्तुत प्रसङ्ग में कि, अपनी सहज-सिद्धा-'**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**' इस कृपा का स्मरण कर हम भ्रान्त-भारतीयों का उद्बोधन करातीं हुईं वे आज हमें अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता, अपने सांस्कृतिक-आयोजन-अपने आचार-व्यवहार-आदर्श-शिल्प-कला-सङ्गीत-आदि आदि अपनीं ही आत्म-देवानुबन्धिनीं विभूतियों के प्रति स्व-दर्शनमूला-निष्ठा प्रदान करने का अनुग्रह करें, जिस स्वदर्शन के बिना, साथ ही भावुकतामूलक-परदर्शनानुगत आत्मबुद्धिस्वरूपविमोहन के द्वारा हम आज के उसके कुपुत्र भारतीय उसके पूजन-आराधना-प्रकारों से भी दुर्भाग्यवश अपरिचित रहते हुए सर्वथा ही दिग्भ्रान्त-उद्भ्रान्त-क्लान्त-श्रान्त बने हुए हैं। एकमात्र माताप्रकृति ही हमें इन भावुकतापूर्णा भ्रान्तियों के महामोहात्मक उन गर्तों से निकाल सकतीं हैं, जिन अन्ध-गर्तों के भी अन्तस्तलों में निमज्जित हम भारतीय सर्वथा ही लक्ष्यविहीन बनते जा रहे हैं। सम्भव है प्रकृति-पूजनात्मक, देवप्राणप्रधान-पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहात्मक भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा से हमारा ध्यान संस्कृति के मौलिक स्वरूप की ओर सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः आकर्षित हो सके, एकमात्र इसी मङ्गल-कामना से इन आयोजनों के एक दो उदाहरणों की संक्षिप्ता-रूपरेखा प्रस्तुत निबन्ध में उपस्थित कर दी जाती

है, जोकि इस प्रक्रान्त द्वितीय प्रकरण का प्रतिज्ञात विषय है। **श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !** किन्तु **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।**

२४९-राष्ट्रीय आयोजनात्मक-'पर्व', सामाजिक आयोजनात्मक-'उत्सव', पारिवारिक आयोजनात्मक 'सम्मेलन', तथा वैय्यक्तिक आयोजनात्मक 'समारोह' नामक भारतीय चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजन—

मानवीय आत्मा से अनुप्राणित भारतीय **पर्व**, बुद्धि से अनुप्राणित **उत्सव**, मन से अनुप्राणित **सम्मेलन**, एवं शरीर से अनुप्राणित **समारोह**, भेद से चार वर्गों में विभक्त भारतीय सांस्कृतिक-आयोजन एक अन्य दृष्टि से क्रमशः **पर्वात्मक राष्ट्रीय आयोजन, उत्सवात्मक सामाजिक-आयोजन, सम्मेलनात्मक पारिवारिक आयोजन**, एवं **समारोहात्मक वैय्यक्तिक आयोजन**, इन अभिधाओं से भी समन्वित किए जा सकते हैं, जैसाकि पूर्व परिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इन चारों वर्गों से समन्वित पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोह नामक चारों आयोजनों के अवान्तर अनेक विभेद हैं, जिनके क्रमिक समन्वय के लिए तो भारतीय सांस्कृतिक-इतिहासरूप रहस्यपूर्ण पुराणशास्त्र का ही अध्ययन करना चाहिए। बिना पुराणशास्त्र-स्वाध्याय के अन्यान्य भावुकतापूर्ण प्रयत्नसहस्रों से भी भारतीय लोकसंस्कृति-लोकसभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले प्राणवान् सांस्कृतिक आयोजनों का, प्राणवती सभ्यता का अंशतः भी परिचय नहीं प्राप्त किया जा सकता। दुर्भाग्यवश वेदशास्त्रवत् तदुपबृंहणरूप पुराणशास्त्र का भी तात्विक अध्ययनाध्यापन क्योंकि अनेक शताब्दियों से विलुप्तप्राय हो गया है। अतएव वेदशास्त्र-स्वाध्याय-परम्पराओं के शिथिल हो जाने से जैसे भारतीय सांस्कृतिक-आचारनिष्ठालक्षण-**मोक्ष, धर्म्म, काम, अर्थ** नाम की चारों आचारात्मिका शास्त्रीय-संस्कृतियों का अभिभव हो गया, एवमेव पुराणशास्त्र की परम्परा के विच्छिन्न हो जाने से **पर्व-उत्सव-सम्मेलन-समारोह**-नामक चारों सांस्कृतिक-आयोजनों का भी एक प्रकार से अभिभव ही हो गया। एवं तत्स्थान में 'संस्कृति' की मौलिकता से वञ्चित परिवर्त्तनशील सत्तातन्त्रों की युगधर्म्मानुगता जड़-भूत-सभ्यताओं के निष्प्राण जड़-भूतभौतिक प्रतीक ही 'संस्कृति' नाम से व्याख्यात होने लग पड़े जड़भूतात्मक परिचयचिन्हों के अन्वेषक पुरातत्त्व-विशोधकों की कृपाकोर से।

२५०--भौतिक ध्वंसावशेषों का काल्पनिक--व्यामोहन, एवं वर्त्तमान पुरातत्त्ववादियों का विभ्रामक--सांस्कृतिक--दृष्टिकोण—

'भस्मान्तं शरीरम्' का मर्म्म समझने वाली जिस भारतीय-प्रज्ञा ने निष्प्राण-शवशरीरी मानव के वसन-आभूषण-परिग्रहादि परिचयचिन्हों का महाब्राह्मण के प्रति उत्सर्ग कर देना हीं अपना सांस्कृतिक-कर्त्तव्य माना हो, वह इन परिचयचिन्हों को संस्कृति के स्वरूप मान ही कैसे सकती थी। इसकी संस्कृति तो वह आचारसंस्कृति है, जिसका मानवीय-जीवन के अभ्युदय-निःश्रेयस् से अन्यतम (तादात्म्य) सम्बन्ध है। कदापि यह प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। अतएव कदापि निष्प्राण-कङ्कालावशेष संस्कृति के परिचायक नहीं माने जा सकते। हाँ अमुकसीमा-पर्य्यन्त इन भौतिक-ध्वँसावशेषों को सत्तातन्त्रानुगता परिवर्त्तनशीला सभ्यता के परिचयचिह्न अवश्य ही माना, और मनवाया जा सकता है, जिस इत्थंभूता मान्यता के गर्भ में सत्तापदलोलुपता-लक्षणा लोकैषणा ही प्रच्छन्नरूपेण प्रतिष्ठित रहा करती है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२५१--ललितकला--लोकशिल्प-लोकनृत्य-वाद्य-गान-आदि आदि लोकविजृम्भणों की भारतीय-'सांस्कृतिक-सीमा' से असंस्पृष्टता—

यही अवस्था उन लोकशिल्पों-लोककलाओं, आज की भावुक भाषा में ललितकलाओं-लोकनृत्यों-लोकवाद्यों, आदि आदि लोकविजृम्भणों की है, जिन्हें ध्वंसावशेषों की ही भाँति आज संस्कृति के महान् प्रतीक माना-मनवाया जा रहा है। किसी ने अपनी तूलिका से अपने मानस भावों के अनुरूप विचित्र प्रकार का रेखाङ्कनमात्र कर दिया, तो वह महान् सांस्कृतिक-कलाभाव बन गया। किसी ने विविधाकार-चित्रणयुक्त मृत्पात्र बना डाला, तो वह सांस्कृतिक-कलाकृति हो गई। किसी ने विचित्र-भावभङ्गिमा के द्वारा उछल-कूद कर ढोलक बजा कर-घूँघट में, किंवा नग्नमुखरूपेण उत्तालमुद्राओं से नाचना आरम्भ कर दिया, गला फाड़ना आरम्भ कर दिया, तो यही वेतालचेष्टाएँ महान् सांस्कृतिक-आयोजन बन बैठे, जिन इत्थंभूत-मानसशिल्पों, कलाकृत्तियों, लोकनृत्यों, आदि आदि के साथ कदापि भारतीय-संस्कृति का, किंवा सांस्कृतिक-आयोजनों का तो कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यही नहीं, इन कल्पनाप्रसूतों को तो भारतीय-सभ्यता के भी आयोजन नहीं माना जा सकता। अपितु यह सब अकाण्डताण्डव तो हमारी स्खलित-अव्यवस्थित-असन्तुष्ट-अतृप्त-अशान्त-क्षुब्ध-मनोवृत्तियों के तात्कालिक **'अनुरञ्जन'** नामक तात्कालिक काल्पनिक विजृम्भणमात्र ही हैं, जिनसे हम अपने मनोराज्य में क्षणमात्र के लिए यह भ्रान्ति अवश्य कर लेते हैं कि, मानों इनसे हमारा मन सन्तुष्ट हो गया, जब कि बात होती है ठीक इसके विपरीत ही। विजृम्भणात्मक-काल्पनिक अनुरञ्जन तो मानवीय मन के सहजसिद्ध प्रसादगुण को उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही बनाते जाते हैं, जिस अन्तर्म्मुखता को तत्काल मन अनुभव कर ही नहीं सकता। इस धारावाहिक मनोरञ्जक-क्रम से जब मन की सत्त्वविभूति सर्वथा ही अन्तर्म्मुख बन जाती है, तभी इसके भयानक परिणामों का उदय होता है। उस परिणामदशा में पहुँचने के अनन्तर बौद्धिक-विवेक से सर्वथा पृथक् हो जाने वाला मन **'बुद्धिमानी'** पथ को जलाञ्जलि समर्पित कर वैसी **'मनमानी'** ही करने लग पड़ता है, जिससे यह अपने साथ साथ अपने परिग्रहमण्डल को भी सर्वथा निर्लक्ष्य ही बना लेता है।

२५२--भारतीय सांस्कृतिक--आयोजनों के नित्य--नैमित्तिक, एवं काम्य विवर्त्तों का स्वरूपदिग्दर्शन—

भारतीय मानव 'संस्कृति' शब्द के चिरन्तन इतिहास के माध्यम से अपने भारतीय-सांस्कृतिक-आचारात्मक, अतएव प्राणवान्-जीवन्त-आयोजनों को समझने का प्रयास करे, तद्द्वारा उन विस्मृतप्राय आयोजनों को व्यवस्थापूर्वक अपनी जीवनपद्धति के साथ समन्वित करे, इस समन्वयात्मक आचार से यह अपने मन को सशक्त-सबल-सवीर्य्य-बनाता हुआ बुद्धिनिष्ठा का अनुग्रह प्राप्त करे, इस बुद्धिनिष्ठा के द्वारा संस्कृतिमूर्त्ति-समब्रह्म-रूप अव्ययात्मब्रह्म के साथ सायुज्यभाव प्राप्त कर तद्द्वारा अपना आत्मस्वरूपानुगत मानवजीवन सफल बनावे, इसी पारम्परिक-मङ्गल-क्रम की ओर भारतीय मानव का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही उसके सांस्कृतिक-आयोजनों के कतिपय उदाहरण अत्र उपस्थित हो रहे हैं।

तथाकथित पर्वोत्सवादि के असंख्य भेद हैं, यह निवेदन किया जा चुका है। चारों के स्थूलतम अवान्तर वर्गभेद आरम्भ में १२ बारह हो जाते हैं। चारों ही आयोजन **नित्य--नैमित्तिक--काम्य**--रूप

से तीन तीन अवान्तर वर्गों में विभक्त हैं। नित्यपर्व, **नैमित्तिकपर्व**, **काम्यपर्व**, एवमेव **नित्योत्सव–नैमित्तिकोत्सव–काम्योत्सव**, तथैव **नित्यसम्मेलन**, **नैमित्तिकसम्मेलन**, **काम्यसम्मेलन**, तथैव च **नित्यसमारोह**, **नैमित्तिकसमारोह**, **काम्यसमारोह**, भेद से चारों हीं तीन तीन अवान्तर वर्गों में विभक्त हैं। इन अवान्तर वर्गों का प्रत्येक अवान्तरवर्ग भी प्राणदेवादि के भेद से अवान्तर असंख्य भेदों में विभक्त हो रहा है।

२५३–भारतराष्ट्र के नित्य–राष्ट्रीय–पर्व—

उदाहरण के लिए नित्य–नैमित्तिक–काम्य–पर्वों में से केवल नित्यपर्वों को ही लीजिए। तत्र केवल एक तिथिपर्व की दृष्टि से ही तिथि की संक्षिप्ता सूचीमात्र उपस्थित कर दी जाती है, जिससे भलीभाँति यह अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि, भारतीय जीवन किस प्रकार सदा से ही प्रकृतिपूजन के द्वारा अपने लोकजीवन को शान्ति–स्वस्ति–तुष्टि–पुष्टि–समृद्धि–आनन्द–पूर्वक उत्तरोत्तर अभ्युदय–निःश्रेयस् का अधिकारी बनाता रहता है (बनाता रहता था)। यह तो आत्मानुबन्धी, अतएव देवप्रधान '**पर्व**' नामक एक सांस्कृतिक–आयोजन के भी नित्य–नैमित्तिक–काम्य–इन तीन अवान्तर वर्गों में से केवल नित्य–पर्व–वर्ग की ही, तत्रापि शुक्लपक्षानुगता तिथियों की ही, तत्रापि प्रमुख–प्रमुख नित्य पर्वों की हीं संक्षिप्ततमा सूची है। अवश्य ही आज के आयोजन–प्रेमियों की दृष्टि में इस नित्य–पर्व सूची का कोई महत्त्व नहीं है। यही नहीं, वे इसे सर्वथा निरर्थक भी मान सकते हैं। मानना भी चाहिए निरर्थक ही। क्योंकि इन पर्वों का आचारात्मक पक्ष सचमुच आज सर्वथैव रूढ़िग्रहग्रस्त बनकर अपने मौलिक सांस्कृतिक स्वरूप से अभिभूत हो गया है। अतएव ये नित्यपर्व आज तो केवल आत्मप्रतारणा के ही साधन, अथवा तो भावुक धर्म्मभीरुओं की तात्कालिक–प्रवञ्चनाओं के ही साधक बने हुए हैं। किन्तु स्वयं पर्व का इस अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं माना जासकता। जीवनीय अन्न हमारी मूर्खता से अतियोग–मिथ्यायोग–हीनयोग–अयोग–भावों के कारण समत्त्वयोग से वञ्चित होता हुआ जीवन के स्थान में यदि मृत्यु का कारण बन जाता है, तो इसमें अन्न का क्या अपराध ?। इसी विवेकभावना से आस्था–श्रद्धापूर्वक हमें पर्वसूची को लक्ष्य बनाना चाहिए। एवं यथाशक्य इनके आचारात्मक पक्ष का जीवनपद्धति के साथ समन्वय करते रहना चाहिए।

२५४–नित्य–नैमित्तिक–काम्य–भेद से त्रिविध राष्ट्रीय–पर्वों का स्वरूप दिग्दर्शन—

स्पष्ट है कि, **पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह**–इन चार सांस्कृतिक–आयोजनों के प्रत्येक के **नित्य–नैमित्तिक–काम्य**–भेद से बारह अवान्तर श्रेणिविभाग हो जाते हैं। पूरे सम्वत्सर (वर्ष) के ३६० (तीनसौ साठ) अहोरात्र (दिनरात) उस सौरकालचक्र के ही अङ्गात्मक अवयव हैं, जिस सौरकालचक्र का स्वरूप **वसु–रुद्र–अग्नि–यम–मृत्यु–ईशान–भग–अर्य्यमा–सविता–सरस्वती–विष्णु–पर्जन्य–इन्द्र–धाता–पूषा–मित्र–वरुण–अंशु–विवस्वान्–त्वष्टा–नाभानेदिष्ठ–बालखिल्या–एवयामरुत्–वृषाकपि–शवसोनपात्**–आदि आदि विभिन्न दिव्यशक्तिरूप देवप्राणों से सम्पन्न हुआ है। सर्वदेवप्राणसमष्टिरूप, अतएव '**आधिदैविक**' उपाधि से सुविभूषित देवप्राणघन * भगवान् सूर्य्यनारायण के कालचक्रात्मक सम्वत्सरमण्डल के अवयवरूप ३६० अहोरात्रसमष्टि, तथा व्यष्टिरूप से उभयथा किसी न किसी आधिदैविक दिव्यप्राण से अवश्यमेव समन्वित है। तत्तत् प्राणदेवताभोगानुबन्धी तत्तत् अहोरात्र से अनुप्राणित तत्तत्

---

* **चित्रं देवानामुदगात्** (यजुःसंहिता)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्राणदेवता को आधार बना कर नियमित–नित्य रूप से प्रवृत्त–प्रक्रान्त रहने वाले प्रकृतिसिद्ध–नित्य--देवकर्म्म--विशेषों का ही नाम है-'**नित्यपर्व**' । ये ही नित्यपर्व विशेष निमित्तों के अनुबन्धों के तारतम्य से '**नैमित्तिकपर्व**' बन जाते हैं, एवं फलविशेषकामनाओं के अनुबन्ध से ये ही–'**काम्यपर्व**' रूप में परिणत हो जाते हैं । यों विश्वेश्वर की सौरदेवमयी प्रकृति से अनुप्राणित प्राणदेवों के नित्य--नैमित्तिक--काम्य–भोगों के अनुबन्ध से देवप्राणनिबन्धन राष्ट्रीय–पर्व तीन अवान्तर श्रेणिविभागों में परिणत हो जाते हैं, जिनका भारतीय संस्कृति के प्राणवान् इतिहासात्मक पुराणशास्त्र में यत्रतत्र विस्तार से, तथा संक्षेप से गाथा–महात्म्य–कथा–आदिरूप–से उपबृंहण हुआ है । राष्ट्रीय त्रिविध पर्वों की आचारात्मिका पद्धति के समन्वय, एवं स्वरूपबोध के लिए तो आस्था–श्रद्धाशील राष्ट्रीय मानवों को निष्ठापूर्वक आर्य्यसर्वस्वरूप पुराणशास्त्र का ही स्वाध्याय करना चाहिए । तदर्थ प्रारम्भ की भूमिका के लक्ष्य से हम राष्ट्रीय–मानवों का ध्यान सुप्रसिद्ध '**बृहन्नारदीयपुराण**' की ओर ही आकर्षित करेंगे, जिसमें सम्वत्सर की तिथियों के अनुपात से इन राष्ट्रीय पर्वों का, तत्रापि विशेषत: तिथ्यनुगत नित्यपर्वों का दिग्दिर्शन हुआ है । प्रकृत में उसी पुराण के आधार पर तिथिक्रमानुसार पर्वों की संक्षिप्त तालिका--मात्र उद्धृत कर दी जाती है, जो निश्चयेन सांस्कृतिक–राष्ट्रीय--मानव का ध्यान तो अपने भारतराष्ट्र की महामङ्गलमयी सांस्कृतिक–जीवनपद्धति की ओर अवश्यमेव आकर्षित करेगी । लक्ष्यीभूता पर्वसूची के सम्बन्ध में यह निवेदन कर देना भी आवश्यक होगा कि, प्रकृत सूची में शुक्लपक्ष की प्रतिपत् (पड़वा) तिथि से आरम्भ कर पूर्णिमापर्य्यन्ता तिथि के शुक्लपक्षीय पर्वों का ही समावेश अत्र पर्य्याप्त मान लिया गया है विस्तारभिया । कृष्णपक्ष की तिथियों में भी यत्किञ्चित् भेद के साथ शुक्लपक्षीय पर्व ही यथाक्रम क्योंकि समन्वित हैं । इसलिए भी उनकी स्वतन्त्रसूची अनावश्यक मान ली गई है ।

२५५–(१) शुक्लपक्ष की प्रतिपत्तिथि (पड़वा) के राष्ट्रीय पर्व —

१–चैत्रशुक्लप्रतिपत् के पर्व–		विद्याव्रत, गार्हपत्याग्नि में वेदस्रष्टा ब्रह्मा की तुष्टि के लिए हवन (यह तिथि कल्पव्यवस्थानुपात से सृष्ट्यारम्भकाल माना गया है) ।
२–वैशाख	,,	सृष्टिसर्ज्जक चतुर्म्मुख ब्रह्मा की आराधना, तथा सृष्टिपालक चतुर्भुज विष्णु का स्तवन ।
३–ज्येष्ठ	,,	सूर्य्योदयवेला में रक्तकरवीर (कनैर) पुष्प का पूजन, रक्तसूत्र से तदावेष्टन (सूर्य्यप्रतीकोपासनापर्व)
४–आषाढ	,,	साम्बसदाशिवोपासनापर्व ।
५–श्रावण	,,	लक्ष्मी (भूतसम्पत्ति), तथा श्री--(प्राणसम्पत्ति)--संसाधक पञ्चवक्त्र–महाशिवाराधनपर्व ।
६–भाद्रपद	,,	शिवाराधनपूर्वक 'मौनव्रत', 'महत्तमव्रत', तथा षोडशफलदानपूर्वक षोडश–संख्यायुक्त ब्राह्मणपूजन ।
७–आश्विन	,,	'अशोकमहिमव्रत', अशोकवृक्षपूजन, अशोकमूर्त्तिदान । नवरात्रस्थापनपर्व, आद्याभगती का आराधन ।
८–कार्त्तिक	,,	नवसस्येष्टियज्ञ, अन्नकूट, मार्गपाली--(कुशागौ)–पूजन, गोवर्द्धनपूजन, रक्षादेवी–आराधन ।

९–मार्गशीर्षशुक्लप्रतिपत् के पर्व		धनव्रत, रात्रि में विष्णुस्तवन, रक्तवस्त्रदान, गृह्यहोम।
१०–पौष	,,	हिरण्मयाण्डमूर्त्ति सूर्य्यनारायण का आराधन, एकाशन, हवन।
११–माघ	,,	हिरण्यरेता हव्यवाट् अग्निदेव का आराधन, यजन, हवन।
१२–फाल्गुन	,,	मदनदहनकर्त्ता दिगम्बर रुद्रात्मक शिव का आराधन।

——१——

२५६–(२)–शुक्लपक्ष की द्वितीया (दोज) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लद्वितीया के पर्व		साक्षात्तेजोमयी सावित्री से अभिन्न सौर हिरण्यगर्भब्रह्मा का आराधन, हवन, हविष्यान्न का नैवेद्यार्पण। नेत्रस्वास्थ्यव्रत, रजतनेत्रदान।
२–वैशाख	,,	सप्तधान्य समन्वित वारुणकलश (घट) का पूजन, तत्र भगवान् विष्णु का आराधन, जलघटदान, प्रपादान (पथिकजलवितरण–प्याऊ लगाना)।
३–ज्येष्ठ	,,	चतुर्भुजात्मक स्वस्तिक (साथिया) मूर्त्ति चतुर्मुखवेदमूर्त्ति सौर ब्रह्मा का आराधन, हवन, पूजन।
४–आषाढ	,,	त्रिनाभि–सप्ताश्व–एकचक्रात्मक हिरण्मयरथ की प्रतीकात्मिका रथयात्रा, सौरसम्वत्सरप्रतीकोपासना।
५–श्रावण	,,	पारमेष्ठ्य ब्रह्मा का शयनमहोत्सवपर्व, शय्यास्थ ब्रह्मा का आराधन–स्तवन।
६–भाद्रपद	,,	सौर मघवा नामक इन्द्र का आराधन, सोमपानव्रतानुष्ठान।
७–आश्विन	,,	सर्वविध दानव्रतानुष्ठान–द्वारा यमदंष्ट्रा की उपशान्ति।
८–कार्त्तिक	,,	यम–यमी–पूजन, भ्रातृद्वितीया (भाईदोज), मसीपात्र, तथा लेखिनी–पूजन।
९–मार्गशीर्ष	,,	नान्दीश्राद्ध के द्वारा पितृतर्पण, पितृपूजन।
१०–पौष	,,	श्रीबालचन्द्रपूजन, गोशृङ्गपूजन, गोशृङ्गोदक से मार्जन, उपवास, हविष्यान्नभक्षण।
११–माघ	,,	रक्तकरवीरदान–पूर्वक सूर्य्याराधन। गोधूम (गेहूँ) परिपूर्ण ताम्रकलश का दान।
१२–फाल्गुन	,,	श्वेतपुष्पों से ज्ञानप्रदाता क्षीराभ शिव का आराधन, पुष्पविमान के द्वारा शिवपूजन।

——२——

२५७–(३)–शुक्लपक्ष की तृतीया (तीज) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लतृतीया के पर्व–गणपतिगौरी (सवत्सा पार्वती का आराधनात्मक गणगोरपर्व) जयन्तीपर्व, गौरीपूजन, स्तवन (स्त्रीप्रधानपर्व)।

२–वैशाखशुक्लतृतीया के पर्व-अक्षयतृतीयापर्व (त्रेतायुगारम्भपर्व), सत्तुव्रत, भागीरथीस्नानपर्व, नारायणस्तवन, हवन ।
३–ज्येष्ठ ,, रम्भातृतीयाव्रत, स्त्रियों के द्वारा ब्राह्मणदम्पती का पूजन ।
४–आषाढ ,, लक्ष्मीनारायणपूजन, हवन । स्त्रियों के द्वारा व्रतानुष्ठान ।
५–श्रावण ,, स्त्रियों के द्वारा '**स्वर्णगौरीव्रत**' का अनुष्ठान (तीज का मेला) । हरितालिका–तृतीयाव्रत । साम्बसदाशिवानुगता अर्द्धनारीश्वरोपासना, एवं व्रत ।
६–भाद्रपद ,, हरितालिकाव्रत । हस्तनक्षत्रानुगत '**हस्तगौरीव्रत**' । कोटीश्वरी–लक्षेश्वरी–व्रत । (कोटि, किंवा लक्ष अक्षतों से विनिर्म्मिता गौरीप्रतिमा का पूजन–स्त्रियों के द्वारा) ।
७–अश्विन ,, बृहद्गौरीव्रतानुष्ठान ।
८–कार्त्तिक ,, विष्णुगौरीव्रतानुष्ठान ।
९–मार्गशीर्ष ,, हरगौरीव्रतानुष्ठान ।
१०–पौष ,, ब्रह्मगौरीव्रतानुष्ठान ।
११–माघ ,, सौभाग्यसुन्दरीपूजनाराधन ।
१२–फाल्गुन ,, कुलसौख्यदा पूजनाराधन ।

——३——

२५८–(४)–शुक्लपक्ष की चतुर्थी (चौथ) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्ल–चतुर्थी के पर्व-वासुदेवस्वरूप गणपतिपूजनाराधन ।
२–वैशाख ,, संकर्षणस्वरूप गणपतिपूजनाराधन । शङ्खदान ।
३–ज्येष्ठ ,, प्रद्युम्नस्वरूप गणपतिपूजनाराधन पुष्प–फलदान । सतीव्रत ।
४–आषाढ ,, अनिरुद्धस्वरूप गणपतिपूजनाराधन । ब्राह्मणसंन्यासी को कमण्डलुदान । रथ-व्रत (सूर्य्यप्रतीकात्मक) ।
५–श्रावण ,, दूर्वागणपतिव्रतानुष्ठान । चन्द्रोदयवेला में गणपतिपूजनाराधन ।
६–+भाद्रपद ,, सिद्धिविनायकपूजनाराधन (श्रीमहागणपतिचतुर्थी–महाराष्ट्रीय महापर्व) चन्द्र-दर्शननिरोध । फल–मिष्टान्न–पुष्पादि प्रक्षेप ।
७–आश्विन ,, पुरुषसूक्तद्वारा कपर्दीश विनायक का पूजनाराधन ।
८–*कार्त्तिक ,, प्रातः शुद्ध्यनन्तर धेनुश्रृङ्गजल का पान । नागपूजन ।
९–मार्गशीर्ष ,, मूषकमूर्त्तिनिर्म्मित रथ पर आरूढ गणपतिप्रतिमा का पूजनाराधन, तथा 'वर-व्रत' का अनुष्ठान ।

+ भाद्रपदकृष्णचतुर्थी को विशेष—बहुलाधेनुकापूजनाराधन ।

* कार्त्तिककृष्णचतुर्थी को विशेष—स्त्रियों के लिए करकचतुर्थीव्रतानुष्ठान (करवाचौथ) । चन्द्रोदय-वेला में गणपतिपूजन, दश ब्राह्मणों को भोजन, तदनन्तर व्रतपारण ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१०–पौषशुक्ल-चतुर्थी के पर्व–		गणपतिपूजनाराधन। तदनन्तर ब्राह्मण का मोदकभोजन से सन्तर्पण।
११–÷माग	,,	गौरीव्रतनुष्ठान। ढुण्ढिराजव्रतानुष्ठान। कुण्डीव्रतानुष्ठान। ललिताव्रतानुष्ठान। शान्तिव्रतानुष्ठान। आदि आदि।
१२–फाल्गुन	,,	ढुण्ढिराजव्रतानुष्ठान। तिलपृष्ट से ब्राह्मण का सन्तर्पण।

— ४ —

२५६–(५)–शुक्लपक्ष की पञ्चमी (पाँच) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्ल-पञ्चमी के पर्व–		मत्स्यजयन्तीपर्व। श्रीपञ्चमीपर्व। पृथ्वीव्रतपर्व। चन्द्रव्रतपर्व। हयग्रीवव्रतपर्व।
२–वैशाख	,,	अनन्त शेषपूजनाराधनपर्व।
३–ज्येष्ठ	,,	नान्दीमुखपितर–आराधना-पर्व।
४–आषाढ	,,	ग्राम–नगर तट पर कमलाङ्किता–पञ्चरङ्गध्वजा का आरोपण, एवं तद्द्वारा वायुपरीक्षण–वर्षापरीक्षण। वायुदेवताराधनपूजन। निराहारव्रतानुष्ठानपूर्वक भूतलशयन (वार्षिक शुभाशुभपरिज्ञानात्मिका स्वप्नरात्रि)।
५–*श्रावण	,,	नागपञ्चमी–व्रतानुष्ठानपर्व, अष्टविध नाक्षत्रिक–सर्पपूजन, दिव्यसर्पपूजन, भौतिक सर्पपूजन, सर्पबन्धनविमुक्ति, आस्तीकसंस्मरण, शीतलभोजन से व्रत–पारायण–आदि।
६–+भाद्रपद	,,	ऋषिपञ्चमी, ऋषितर्पण, वेदव्रतानुष्ठानात्मक महापर्व, सप्तर्षिपूजनाराधन, तन्निमित्त हवनादि।
७–आश्विन	,,	उपाङ्ग–ललिताव्रतानुष्टान, ललिताभगवती का पूजनाराधन, हवनादि।
८–कार्त्तिक	,,	जयाभगवती का व्रतानुष्ठान, ब्राह्मण को भोजनदान–हवनादि।
९–मार्गशीर्ष	,,	अष्टविध दिव्यनागपूजनाराधन, क्षीरदान।
१०–पौष	,,	पितृपूजन, नागपूजन, गृह्य हवनादि।
११–माघ	,,	श्रीपञ्चमीपूजन, वसन्तपञ्चमी से अनुप्राणित शारदापूजनानुष्टान (शारदा-महोत्सव–वसन्तोत्सवोपक्रम)।
१२–फाल्गुन	,,	पितृपूजनानुष्ठान, हवनादि।

— ५ —

÷ माघकृष्णचतुर्थी को विशेष–संकष्टव्रतानुष्ठान। चन्द्रोदयानन्तर मृण्मयी गणपतिप्रतिमा का पूजनाराधन

* श्रावणकृष्णपञ्चमी को विशेष—अन्नव्रतानुष्टान, शिवपूजन, अन्नदानादि।

+ भाद्रपदकृष्णपञ्चमी को विशेष—अष्टविध नागदेवताओं के लिए क्षीरदान।

२६०-(६)-शुक्लपक्ष की षष्ठी (छठ) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्ल-षष्ठी के पर्व—		कुमारव्रतानुष्ठान, षण्मुख स्वामिकार्त्तिकेय का पूजन, पुत्रदा षष्ठीव्रत, हवनादि।
२–वैशाख	,,	चैत्रशुक्लषष्ठीव्रत।
३–ज्येष्ठ	,,	सूर्य्यनारायणव्रत–पूजन–हवनादि।
४–आषाढ	,,	स्कन्दव्रत–पूजन–हवनादि।
५–श्रावण	,,	शरजन्माव्रत–पूजन–हवनादि।
६–*भाद्रपद	,,	चन्दनषष्ठीव्रत–देवीपूजन–हवनादि।
७–आश्विन	,,	कात्यायनीव्रत। (कुमारीकन्या उत्तम वरप्राप्ति के लिए बालू की कात्यायनी प्रतिमा बना कर पूजन करती है। गोपकुमारियोंनें श्रीकृष्णभक्ति–प्राप्ति के लिए इसी व्रत का अनुगमन किया था)।
८–कार्त्तिक	,,	सपत्नीक स्वामिकार्त्तिक का पूजन–स्तवन, अग्निपूजन, हवनादि। (इसी तिथि को श्रीकार्त्तिक का देवसेना के साथ परिणय हुआ था)।
९–मार्गशीर्ष	,,	तारकासुरवधानुगत स्वामिकार्त्तिक का पूजन–स्तवन। (इसी तिथि को कुमार कार्त्तिक ने देवविद्वेषी तारकासुर का वध किया था)।
१०–पौष	,,	
११–माघ	,,	वारुणीपर्व। (कूप–तड़ाग–नद–नदी–समुद्रादि में वरुणदेवता का पूजन–स्तवन)।
१२–फाल्गुन	,,	पार्थिवशिवलिङ्गपूजन स्तवन हवनादि।

— ६ —

२६१-(७)-शुक्लपक्ष की सप्तमी (सातें) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्ल-सप्तमी के पर्व—		सोपकरण–सपरिग्रह (सारथी–अश्व–रथ–ध्वज–आदि युक्त) सूर्य्यनारायण का षोडशोपचार पूजनाराधन।
२–वैशाख	,,	**कमलव्रतानुष्ठान** (इस अनुष्ठान में नीम के पत्तों से सूर्य्य का पूजन होता है। भोज्यपदार्थों में नीम के पत्ते भी समाविष्ट रहते हैं, एवं अधःशयन होता है। इसी तिथि को '**शर्करासप्तमी**' व्रतानुष्ठान। सोमामृत का पान करते समय सूर्य्यमुख से कुछ बिन्दु भूतल पर गिर पड़े। उन्हीं से इक्षुरस (साँठे के रस) का निर्म्माण हुआ। अतएव यह व्रत शर्करासप्तमीव्रत कहलाया। भोज्यपदार्थों में शक्कर का सेवन, शक्कर का दान आवश्यक। इसी तिथि को स्व

*** भाद्रपदकृष्णषष्ठी को विशेष**—ललिताव्रत। बालू मिट्टी से ललितादेवी की पाँच पार्थिव–पिण्ड–प्रतिमाएँ बना कर, बांस के छबले में रख कर स्वयं श्वेतवस्त्र पहिन कर गृहिणी के द्वारा पूजन–जागरण–व्रतपारण, एवं सप्तमी को प्रतिमाविसर्जन।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आसन को बहा ले जाने के कारण महर्षि जह्नु ने रुष्ट होकर गङ्गा का पान कर लिया था। तदनन्तर महाभाग भागीरथ की प्रार्थना करने पर कर्णद्वार से गङ्गाप्रवाह को प्रवाहित किया था। तभी से भागीरथी जाह्नवी (जन्हुकन्या) नाम से प्रसिद्ध हुई। अतएव '**गङ्गासप्तमी**' रूप से भी इस तिथि की मान्यता प्रसिद्ध है।

३–ज्येष्ठशुक्ल-सप्तमी के पर्व-इस तिथि में सौरमण्डल में '**मघवा**' नामक इन्द्रप्राण सर्वात्मना अभिव्यक्त रहता है, जो '**दक्षिणाक्षिपुरुष**' नामक '**चाक्षुषपुरुष**' के अधिष्ठाता माने गए हैं। इन्हीं इन्द्रदेव का व्रतानुष्ठान-स्तवन-हवनादि।

४–आषाढ " बारह प्रकार के आदित्यों में से '**विवस्वान्**' नामक आदित्य इस तिथि में सर्वात्मना अभिव्यक्त रहते हैं। इन्हीं विवस्वान् का व्रतानुष्ठान–स्तवन–हवनादि।

५–श्रावण " अव्यङ्गव्रतानुष्ठान, वस्त्रदान, हवनादि।

६–भाद्रपद " अमुक्ताभरणव्रतानुष्ठान। चन्द्रमा, तथा शिव का पूजनाराधन, हवनादि।

७–आश्विन " कपिलाव्रतानुष्ठान–कपिला गौ का पूजनाराधन–हवनादि।

८–कार्त्तिक " शाकसप्तमीव्रतानुष्ठान–शाकाहार, शाकदान।

९–मार्गशीर्ष " 'मित्र' नामक आदित्यव्रतानुष्ठान (कश्यप, तथा अदिति के दाम्पत्य से इस तिथि में सूर्य्य का प्रादुर्भाव)।

१०–पौष " अभयव्रतानुष्ठान, मार्त्तण्डव्रतानुष्ठान, सूर्य्यव्रतानुष्ठान, तथा मोदकभोजन, दान।

***११–माघ** " अचलासप्तमी–त्रिलोचनजयन्ती–रथसप्तमी–सूर्य्यसप्तमी–पुत्रसप्तमी–आदि व्रतानुष्ठान (राजस्थान की राजधानी जयपुर में इस तिथि को सूर्य्यरथ–परिभ्रमण महोत्सव–सम्मेलन–मेला–मनाया जाता है, जो धर्म्मनिरपेक्षात्मक वर्त्तमान सत्ताकाल में प्रायः उपेक्षित बन गया है)।

१२–फाल्गुन " अर्कपत्रव्रतानुष्ठान (आक के पत्तों से सूर्य्यपूजन)। यज्ञव्रत, यज्ञजयन्ती, यज्ञपुरुषावतारमहोत्सव।

—७—

२६२-(८)-शुक्लपक्ष की अष्टमी (आठँ) के राष्ट्रीय पर्व—

१–*चैत्रशुक्ल अष्टमी के पर्व-श्रीभवानी–आविर्भावमहोत्सव, महाष्टमीपर्व, अशोककलिकाप्राशन, तथा भगवती–पूजनाराधन, हवनादि।

---

* **माघकृष्ण सप्तमी को विशेष** सर्वाप्तिव्रतानुष्ठान, सूर्य्यबिम्बपूजन, रात्रिजागरण, अधःशयन, हवनादि।

*–**चैत्रकृष्णाष्टमी को विशेष**——श्रीशीतलाष्टमी-पूजनाराधन (यातमाम–परिग्रहों का अनुगमन)

२–वैशाखशुक्ल-अष्टमी के पर्व-अपराजिता भगवती का पूजनाराधन--हवनादि । माष (उर्द) युक्त जल से मातृप्रतिमा का स्नान, पूजनादि ।

३–ज्येष्ठ ,, शिव, एवं शक्ति–पूजनाराधन–हवन–व्रतादि ।

४–आषाढ ,, यातयाम (बासी) जल से स्नान करके भगवती का भी यातयामजल से ही पूजन–आराधनव्रत–हवनादि ।

५–श्रावण ,, दुग्धाभिषेक–जलसेकादि से भगवती का पूजन–आराधन–व्रत–हवनादि ।

६–÷भाद्रपद ,, राधाष्टमीपर्व, दूर्वाष्टमीपर्व, सन्तानकामार्थ–दूर्वापूजनाराधन ।

७–आश्विन ,, विप्रमहाष्टमीव्रत–पूजनाराधन । महादुर्गाव्रत । हवन–पूजनादि–व्रतानुष्ठान ।

८–×कार्त्तिक ,, गोपाष्टमी–महाव्रत, गोपूजनाराधन, हवनादि ।

९–क--मार्गशीर्ष ,, भैरवाष्टमीव्रत–पूजन–आराधन–हवनादि ।

१०–+पौष ,, शिवपूजनाराधनव्रतहवनादि ।

११–*माघ ,, भीष्माष्टमीव्रताराधनहवनादि ।

१२क–फाल्गुन ,, शिवपार्वतीव्रताराधनहवनादि ।

——८——

२६३–(९)-शुक्लपक्ष की नवमी (नोमी) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लनवमी के पर्व-भद्रकालीपूजनाराधनाभिषेकादि (इस तिथि में भौममानवब्रह्माने भद्रकाली का पूजनाभिषेकादि किया था) । श्रीरामनवमी महोत्सव, व्रतानुष्ठान, हवनादि ।

२–वैशाख ,, श्रीश्रीचण्डिकापूजनाराधनहवनव्रतादि–अनुष्ठान ।

३–ज्येष्ठ ,, श्रीश्रीउमाव्रतपूजनाराधन--हवनादि ।

४–आषाढ ,, ऐरावतगजारूढा श्रीश्रीऐन्द्री महाशक्ति का पूजनाराधन--हवन--व्रतादि–अनुष्ठान ।

५–श्रावण ,, श्रीश्रीकुमारी–चण्डिका-भगवती का पूजनाराधन--हवन--व्रतादि--अनुष्ठान, रात्रि में व्रतपारण ।

÷–भाद्रपदकृष्णाष्टमी में विशेष–दशफलव्रतानुष्ठान । श्रीकृष्णजन्माष्टमीव्रत ।

×–कार्त्तिककृष्णाष्टमी में विशेष–करकव्रतानुष्ठान (करवाचौथ का व्रत) । शिवार्चन । उदित चन्द्रमा को अर्घ्यदान ।

क–मार्गशीर्षकृष्णाष्टमी में विशेष–दूर्वा (दोभ) से विनिर्मित अनघ, एवं अनघा का पूजनाराधन ।

+–पौषकृष्णाष्टमी में विशेष——श्राद्धाष्टक, एवं पितृतर्पण–हवनादि ।

*–माघकृष्णाष्टमी में विशेष——भद्रकालीपूजनाराधनव्रतहवनादि ।

क–फाल्गुनकृष्णाष्टमी में विशेष-भीमादेवी–पूजनाराधन--व्रत–हवनादि ।

६–भाद्रपदशुक्लनवमीके पर्व-श्रीश्रीदुर्गाभगवती का पूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान ।
७–आश्विन ,, श्रीमहानवमीपूजन, तथा महाकाली पूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान ।
८–कार्त्तिक ,, श्रीच्चयानवमीपूजन, तथा पीपल–वृत्त की जड़ में देवताओं, एवं पितरों के लिए तर्पणानुष्ठान ।
९–मार्गशीर्ष ,, श्रीनन्दिनीनवमीपूजन, श्रीश्रीजगदम्बपूजनाराधन–हवन–व्रतादि–अनुष्ठान ।
१०–पौष ,, एकाशनपूर्वक श्रीश्रीमहामायापूजनाराधन–व्रत–हवनादि–अनुष्ठान ।
११–माघ ,, श्रीमहानन्दानवमीपूजन, स्नान–दान–हवन–व्रताद्यनुष्ठान ।
१२–फाल्गुन ,, श्रीआनन्दानवमीपूजन, श्रीश्रीनन्दादेवीपूजनाराधन–व्रत–हवनाद्यनुष्ठान ।

—९—

२६४-(१०)-शुक्लपत्त की दशमी (दस्सें) के राष्ट्रीय पर्व––

१–चैत्रशुक्लदशमी के पर्व–श्रीधर्म्मराजव्रत–पूजन–आराधन, तथा ब्राह्मणभोजनान्त में व्रतपारण ।
२–वैशाख ,, श्रीविष्णुपूजनाराधनव्रताद्यनुष्ठान ।
३–ज्येष्ठ ,, श्रीभगवती भागीरथी–पूजनाराधन (गङ्गादशहरा) ।
४–आषाढ ,, आषाढीदशहराव्रतपूजनाराधन, सत्ताधीश के द्वारा मौक्तिक माध्यम से कृषिकर्म्मसम्पादन ।
५–श्रावण ,, शिवार्चनपूजनाराधनव्रताद्यनुष्ठान ।
६–भाद्रपद ,, दशावतारव्रत–पूजनाराधन–व्रताद्यनुष्ठान ।
७–आश्विन ,, विजयादशमी–महापर्व । श्रीरामपूजनाराधन ।
८–कार्त्तिक ,, सार्वभौमव्रतानुष्ठान । पापसंस्कारोपशम के लिए दशदिक्पालों का दश दिशाओं में पूजनाराधनाद्यनुष्ठान ।
९–मार्गशीर्ष ,, आरोग्यव्रत, दश विप्रों का पूजनातिथ्य, तच्चरणोदनपानादि ।
१०–पौष ,, एकाशनपूर्वक विश्वेदेवदेवताओं का पूजनाराधन ।
११–माघ ,, दशविध आङ्गिरसदेवदेवताओं का पूजनाराधन ।
१२–फाल्गुन ,, चतुर्द्दशविध यमदेवदेवताओं का पूजनाराधन ।

—१०—

२६५-(११)-शुक्लपत्त की एकादशी (ग्यारस) के राष्ट्रीय–पर्व—

[१] १–चैत्रशुक्ल–एकादशी के पर्व–कामदा–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीवासुदेवार्चन ।
[२] २–वैशाख ,, मोहिनी–एकादशी–व्रतानुष्ठान. श्रीपुरुषोतमार्चन ।

१–चैत्रकृष्णैकादशी को विशेष––आमलकी–एकादशी–व्रत, श्रीपुण्डरीकाक्षार्चन ।
२–वैशाख ,, वरूथिनी–एकादशी–व्रत, श्रीमधुसूदनार्चन ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

[३] ३–ज्येष्ठशुक्ल–एकादशी के पर्व–निर्जला-एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीहृषीकेशार्चन ।
[४] ४–आषाढ ,, देवशयनी–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीशेषशायी–अर्चन ।
[५] ५–श्रावण ,, पवित्रा–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीजनार्दनार्चन ।
[६] ६–भाद्रपद ,, पद्मा–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीलक्ष्मीनारायणार्चन ।
[७] ७–आश्विनशुक्ल ,, पाशांकुशा–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीविष्ण्वर्चन ।
[८] ८–कार्त्तिक ,, प्रबोधिनी–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीगदादामोदरार्चन ।
[९] ९–मार्गशीर्ष ,, मोक्षदा–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीअनन्तार्चन ।
[१०] १०–पौष ,, पुत्रदा–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीचक्री–अर्चन ।
[११] ११–माघकृष्ण ,, जया–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीश्रीपत्यर्चन ।
[१२] १२–फाल्गुन ,, आमलकी–एकादशी–व्रतानुष्ठान, श्रीपुण्डरीकाक्षार्चन ।

—११—

२६६–(१२)–शुक्लपक्ष की द्वादशी (बारस) के राष्ट्रीय पर्व—

१–चैत्रशुक्लद्वादशी के पर्व––मदनव्रतानुष्ठान । अक्षतपरिपूर्ण कलश पर कामपूजन । भर्तृद्वादशी-व्रतानुष्ठान । श्रीलक्ष्मीनारायणव्रतानुष्ठान ।
२–वैशाख ,, उपवासपूर्वक श्रीमाधवव्रतानुष्ठान ।
३–ज्येष्ठ ,, श्रीत्रिविक्रमविष्णुव्रतानुष्ठान ।
४–आषाढ ,, श्रीशेषशायीविष्णुव्रतानुष्ठान, एवं दश ब्राह्मणभोजन ।
५–श्रावण ,, श्रीश्रीधरव्रतानुष्ठान ।
६–भाद्रपद ,, श्रीवामनव्रतानुष्ठान ।
७–आश्विन ,, श्रीपद्मनाभव्रतानुष्ठान ।

३–ज्येष्ठ ,, अपरा–एकादशी–व्रत, श्रीत्रिविक्रमार्चन ।
४–आषाढ ,, योगिनी–एकादशी–व्रत, श्रीनारायणार्चन ।
५–श्रावण ,, कामिका–एकादशी–व्रत, श्रीश्रीधरार्चन ।
६–भाद्रपद ,, अजा–एकादशी–व्रत, श्रीउपेन्द्रार्चन ।
७–आश्विन ,, इन्दिरा–एकादशी–व्रत, श्रीपद्मनाभार्चन, शालग्रामशिला के सम्मुख पितृश्राद्धानुगमन ।
८–कार्त्तिक ,, रम्भा–एकादशी–व्रत, श्रीकेशवार्चन ।
९–मार्गशीर्ष ,, उत्पन्ना–एकादशी–व्रत, श्रीकृष्णार्चन ।
१० पौष ,, सफला–एकादशी–व्रत, श्रीअच्युतार्चन ।
११–माघ ,, षट्तिला–एकादशी–व्रत, श्रीवैकुण्ठार्चन ।
१२–फाल्गुन ,, विजया–एकादशी–व्रत, श्रीयोगीशार्चन ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

८-*कार्त्तिकशुक्ल एकादशी के पर्व-श्रीदामोदरव्रतानुष्ठान। नीराजनव्रतानुष्ठान। सूर्य्यशङ्कर-पार्वती-देवदेव-गण-पितर-गौ-की आराधना।
९-मार्गशीर्ष ,, सान्ध्यव्रतानुष्ठान। द्वादश साध्यदेवों का अर्चन-पूजन।
१०-+पौष ,, सुजन्मव्रतानुष्ठान। गोशृङ्गोदकपान।
११-माघ ,, श्रीविष्णुव्रतानुष्ठान।
१२-फाल्गुन ,, श्रीवैकुण्ठनाथव्रतानुष्ठान।

—१२—

२६७-[१३]-शुक्लपक्ष की त्रयोदशी [तेरस] के राष्ट्रीय पर्व—

१-चैत्रशुक्लत्रयोदशी के पर्व-चन्दननिर्म्मित कामदेवप्रतिमापूजनाराधन, तथा प्रेङ्ख-व्यजन (पङ्खाझलना)।
२-वैशाख ,, मदनव्रतानुष्ठान।
३-ज्येष्ठ ,, दौर्भाग्यशमनव्रत, श्वेतमन्दार-अर्क, और रक्तकरवीर (लालकनैर) का पूजन।
४-आषाढ ,, उमामहेश्वरव्रतानुष्ठान।
५-श्रावण ,, रतिकामव्रतानुष्ठान (वैधव्यनिवारकव्रत)।
६-भाद्रपद ,, गोत्ररात्रिव्रतानुष्ठान। लक्ष्मीनारायणार्चन।
७-आश्विन ,, अशोकव्रतानुष्ठान।
८-÷कार्त्तिक ,, श्रीशङ्करनिमित्त शत, किंवा सहस्र-दीपदान। शिवसहस्रनामपारायण।
९-मार्गशीर्ष ,, वसन्तदेवव्रतानुष्ठान!
१०-पौष ,, कामारिव्रतानुष्ठान।
११-माघ ,, पञ्चवक्त्रशिवव्रतानुष्ठान।
१२-फाल्गुन ,, साम्बसदाशिवव्रतानुष्ठान।

—१३—

२६८-[१३]-शुक्लपक्ष की चतुर्दशी [चौदस] के राष्ट्रीय पर्व—

१-+चैत्रशुक्लचतुर्दशी के पर्व-शिवार्चन। राधाकृष्णार्चन। शिवलिङ्गसमाराधन।
२-वैशाखशुक्ल ,, श्रीनृसिंहव्रतानुष्ठान (नृसिंहावतारलीलामहोत्सव)।
३-ज्येष्ठ ,, श्रीरुद्रव्रतानुष्ठान। सायं धेनुदान।
४-आषाढ ,, साम्बसदाशिवव्रतानुष्ठान।

---

*-कार्त्तिककृष्णद्वादशी को विशेष—गोवत्सद्वादशी (सवत्सा गौमाता का पूजनाराधन)।
÷-कार्त्तिककृष्णत्रयोदशी ,, यमदीपदान, धनत्रयोदशीपर्व। नूतनपात्रक्रय।
+-पौष ,, ,, रूपव्रतानुष्ठान।
+-चैत्रकृष्णचतुर्दशी को विशेष-उपवासपूर्वक केदारोदकपान।

५-श्रावणशुक्ल--चतुर्दशी के पर्व--पवित्रारोपणपर्व ।
६-भाद्रपद ,, अनन्तव्रत-कदलीव्रत-रम्भार्चन ।
७-*आश्विन ,, श्रीधर्म्मराजपूजनानुष्ठान ।
८-कार्त्तिक ,, ब्रह्मकूर्चव्रतानुष्ठान । पञ्चगव्यपान । पाषाणव्रतानुष्ठान । गौरीपूजन-व्रतानुष्ठान ।
९-मार्गशीर्ष ,, वृषभपूजन, सोममहेश्वरपूजन ।
१०-पौष ,, विरूपाक्षव्रतानुष्ठान, शिवपूजन ।
११-माघ ,, यमतर्पणानुष्ठान ।
१२-फाल्गुन ,, श्रीश्रीदुर्गापूजनव्रतानुष्ठान ।

--१४--

२६९-[१५]-शुक्लपक्ष की पूर्णिमा [पून्यूँ] के राष्ट्रीय पर्व—

१-चैत्रशुक्लपूर्णिमा के पर्व-चन्द्रतुष्टि के लिए कुम्भोदकदान ।
२-वैशाख ,, श्रीधर्म्मराजव्रतानुष्ठान ।
३-*ज्येष्ठ ,, वटसावित्रीव्रतानुष्ठान (वटपूजन) ।
४-आषाढ ,, गोपीव्रत, विष्णुव्रत, एवं कोकिलाव्रतानुष्ठान ।
५-श्रावण ,, उपाकरण, श्रावणी, रक्षाबन्धनमहापर्व ।
६-+भाद्रपद ,, उमामहेश्वरव्रत, शक्रव्रतानुष्ठान ।
७-आश्विन ,, कोजागरव्रत, महालक्ष्मीपूजन, दीपदान ।
८-÷कार्त्तिक ,, कुमारकार्त्तिकपूजन, कृत्तिकापूजन, एवं वृषोत्सर्गव्रतानुष्ठान ।
९-मार्गशीर्ष ,, श्रीविष्णु-इन्द्र-चन्द्र-पूजनानुष्ठान ।
१०-पौष ,, शिवपूजनानुष्ठान ।
११-माघ ,, दक्षिणामूर्तिपूजनानुष्ठान ।
१२-फाल्गुन ,, होलिकादहनपर्व ।

—१५—

---

*-आश्विन ,, गयाश्राद्धानुष्ठान, काकबलिप्रदान ।
÷-फाल्गुन ,, महाशिवरात्रिपर्वानुष्ठान ।
*--ज्येष्ठकृष्णामावास्या को विशेष—सावित्रीव्रतानुष्ठान ।
+--भाद्रपदकृष्णामावास्या को विशेष-कुशोत्पाटनानुष्ठान ।
÷--कार्त्तिककृष्णामावास्या को विशेष-दीपमालिकामहापर्व ।

२७०–सांस्कृतिक–आयोजनों का इतिवृत्तात्मक महान् कोश पुराणशास्त्र—

शास्त्रीय–**सांस्कृतिक–आचारों** की प्रतिच्छाया से समतुलित, अतएव तिथि-नक्षत्र-ग्रह-चन्द्रमा-सूर्य्यादि से समन्वित, कालानुबन्धी कालखण्डात्मक तिथ्यादिलक्षण 'पर्व' (अवयव) ही 'पर्व' नामक **सांस्कृतिक-आयोजनों** के व्यवस्थापक बने हुए हैं, जिनमें परम्परया शास्त्रीय-आचार ही साक्षी बने रहते हैं। नित्य-नैमित्तिक-काम्य-पर्वात्मक तीनों हीं प्रकार के 'पर्व' अपने अङ्गभूत व्रत-उपवास-नियमोपनियम-आदि आदि विधि-विधानों के तारतम्यानुपात से असंख्य-संख्याओं में विभक्त हो रहे हैं, जिनके सांस्कृतिक-इतिवृत्त का नाम हीं 'पुराणशास्त्र' है। **संस्कृति, सांस्कृतिक-आचार,** तथा **सांस्कृतिक आयोजन,** तीनों के मूलाधार क्रमशः श्रुति-स्मृति-पुराण-ही बने हुए हैं। **'संस्कृति' के इतिवृत्त का नाम हीं 'श्रुति' है, 'सांस्कृतिक-आचारों के इतिवृत्त का नाम हीं 'स्मृति' है,** एवं **'सांस्कृतिक-आयोजनों' के इतिवृत्त का नाम हीं 'पुराण' है।**

२७१–श्रुति–स्मृति–पुराण–माध्यम से 'संस्कृति' शब्द का समन्वय—

माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन-आवरण, नामक छह प्रकार के बलपरिग्रहों से समन्वित **मायी-सकल-सगुण-सविकार-साञ्जन-सावरण**-रूप षड्विध महिमाभावों (विवर्त्तभावों) में परिणत, सर्वत्र समवस्थित 'समब्रह्म' नामक षोडशी-पुरुषात्मक अव्ययेश्वर की महिमामयी आत्मिक-दैविक-भौतिक-कृति ही 'संस्कृति' है, एवं इस संस्कृति का अथ से इतिपर्य्यन्त निरूपण करने वाला ज्ञानविज्ञानात्मक विद्याशास्त्र ही स्वतःप्रमाणभूत अपौरुषेय 'श्रुतिशास्त्र' है। आचारलक्षण धर्म्म का धर्म्मत्त्व इसी श्रौती संस्कृति पर अवलम्बित है, जिसे 'वैदिकसंस्कृति' कहा गया है। **'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'** (मनुः) इत्यादि रूपेण उपगीयमान वेदशास्त्र (श्रुति), तथा धर्म्मशास्त्र (स्मृति) ही क्रमशः संस्कृति (तत्त्वविज्ञान), एवं सांस्कृतिक-आचरण के नियामक शास्त्र हैं। 'संस्कृति' सहजसिद्ध सनातन तत्त्व है। इसके कर्त्तव्यात्मक-अनु-ष्ठेयात्मक-आचरणात्मक स्वरूप का ही नाम **'सांस्कृतिक–आचार'** है, जिसके **मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ**-नामक चार विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं। इन चतुर्विध स्मार्त्त सांस्कृतिक-आचारों की केन्द्रीय-आत्मप्रतिष्ठा को साक्षी बनाते हुए इनके तत्त्वावधान में हीं सामान्य-प्रजावर्ग के द्वारा अनुष्ठीयमान दिग्-देश-काल-पात्रानुबन्धी-प्रदर्शना-त्मक आयोजन हीं **'सांस्कृतिक–आयोजन'** हैं, जिनकी मौलिकता जहाँ परम्परया श्रुति-स्मृति-द्वारा ही व्यवस्थित है, वहाँ इनका बाह्य स्वरूप लोकसभ्यतानुबन्धन से उस सीमापर्य्यन्त परिवर्त्तित भी होते रहते हैं, जिस परिवर्त्तन में मूलनिष्ठाओं पर आक्रमण नहीं होता। एवंविध-प्रदर्शनात्मक लौकिक आचरण हीं-**'सांस्कृतिक-आयोजन'** कहलाए हैं, जिनका व्यवस्थापक पुराणशास्त्र बन रहा है।

२७२–आत्म–देव–भूत–भावानुगता संस्कृति के तीन महिमा–विवर्त्त—

दूसरे दृष्टिकोण से इन तीनों प्रक्रमों का समन्वय कीजिए। समब्रह्मलक्षण अव्ययेश्वर की ('सम' ब्रह्म की) कृति का ही नाम 'संस्कृति' है, जिसका फलितार्थ निकलता है—**'षोडशीप्रजापति-(ईश्वर)-विशिष्ट सम्पूर्ण विश्व'**। आत्मेश्वर-विशिष्ट विश्व ही आत्मेश्वर की 'संस्कृति' रूपा (आत्मविशिष्टा-आत्मसमन्विता) 'कृति' है, जिसके **आत्मिक-दैविक-भौतिक**-तीन पर्व बतलाए गए हैं पूर्व में। विश्वात्मिका कृति का आत्म-भाव **'स्वयम्भू'** से अनुप्राणित है, देवभाव **'सूर्य्य'** से अनुप्राणित है, एवं भूतभाव **'भूपिण्ड'** से अनुप्राणित है, जिन इन तीनों सृष्ट्यनुबन्धों के कारण हीं 'विश्वविद्या' **शिरोमूला (स्वयम्भुमूला), हृदयमूला (सूर्य्य-**

मूला), **पादमूला** (**भूपिण्डमूला**) कहलाई हैं। महाविश्वप्रजापति का मस्तक स्थानीय 'स्वयम्भू' ही **'प्रथमा-(मूला) संस्कृति'** है जिसका–"**सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा**" (यजुः सं० ७।१४।) इत्यादि यजुर्म्मन्त्र ने सूर्य्यमाध्यम से संस्मरण किया है। प्रथमत्त्वेनैव स्वयम्भू को **'महाभूतादि'** कहा गया है, जैसाकि—**'महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः'** * इत्यादि मनुवचन से स्पष्ट है। **पञ्चपर्वा विश्वविद्या** ÷ का प्रथम पर्व स्वयम्भू ही है। अतएव अवश्य ही स्वायम्भुवी परमाकाशात्मिका, **'परमेव्योमन्'** लक्षणा आत्मसंस्कृति को सम्पूर्ण विश्व का संवरण करने वाली **'विश्ववारा'** प्रथमा संस्कृति कहा जा सकता है, जिसे दर्शनभाषा में हम **'अव्यक्ता संस्कृति'** भी कह सकेंगे, जिसका कि–कर्त्तव्यनिष्ठात्मक आचरण से कोई सम्बन्ध न होगा।

इसी उक्त प्रथमा स्वायम्भुवी संस्कृति का द्वितीय प्रक्रम वह सौरीसंस्कृति कहलाएगी, जिसे **'आचारसंस्कृति'** माना जायगा। एवं इसे मूलप्रतिष्ठा बना कर प्रवृत्त होने वाली पार्थिवी–भौतिक–संस्कृति ही **'आयोजनसंस्कृति'** कहलाएगी। और इसप्रकार **तत्त्वसंस्कृति**, **आचारसंस्कृति**, **आयोजनसंस्कृति**-भेद से उसी अव्ययेश्वरप्रजापति की प्रथमा संस्कृति **स्वयम्भू-सूर्य्य-भूः**-रूप से त्रिपर्वा बनती हुई **आत्म-देव-भूत-भाव**–भेद से विवर्त्तत्रयात्मिका प्रमाणित हो रही है, जिन्हें क्रमशः **आत्मसंस्कृति**, **देवसंस्कृति**, **भूतसंस्कृति**, नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। परिलेखमाध्यम से इस दृष्टिकोण का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है।

आत्मक्षर–अक्षर–अव्ययात्मक–षोडशीपुरुषविशिष्टः–प्रजापतिरेव संस्कृतिर्विश्वात्मा

तस्यैतस्य विश्वात्मनो महिमा–भावाः

१—स्वयम्भूः—अव्यक्तभावः—आत्मभावः—आत्मसंस्कृतिः–प्रथमा

२—सूर्य्यः——व्यक्तभावः——देवभावः———देयसंस्कृतिः—द्वितीया

३—भूपिण्डः——मूर्त्तभावः——भूतभावः——भूत संस्कृतिः—तृतीया

१—स्वायम्भुवी–संस्कृतिः–तत्त्वसंस्कृतिः—(संस्कृतिः) (श्रुतिरेवात्र प्रमाणम्)।

२—सौरी–संस्कृतिः——आचारसंस्कृतिः–(सांस्कृतिक-आचाराः)–श्रुत्यर्थानुसारिणी स्मृतिरेवात्र प्रमाणम्

३—पार्थिवी–संस्कृतिः—आयोजनसंस्कृतिः-(सांस्कृतिक–आयोजनानि)–श्रुति–स्मृत्यनुगतं पुराणमेवात्र प्रमाण

—*—

---

* ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
—मनुः १।६।

÷ देखिए एतन्नामक स्वतन्त्र निबन्ध सांस्कृतिक–व्याख्यानपञ्चकान्तर्गत।

२७३–शक्तित्रयी, और संस्कृति के तीन प्रक्रम—

लोकप्रचलिता दार्शनिक--भाषा की दृष्टि से उक्त समन्वय का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है कि, सम्पूर्ण विश्व **ज्ञान–क्रिया-अर्थ**-शक्तित्रयी का ही समन्वितरूप है । **प्रज्ञा-प्राण भूत-** नाम की सुप्रसिद्धा तीन मात्राओं के समन्वितरूप का ही नाम विश्व है । प्रज्ञामात्रात्मिका ज्ञानशक्ति ही स्वायम्भुवी ब्राह्मी शक्ति है, जिसके मूलाधिष्ठाता मानें गए हैं चित्पति स्वयम्भू ब्रह्मा । प्राणमात्रात्मिका क्रियाशक्ति ही वैष्णवी शक्ति है, जिसके मूलप्रवर्त्तक मानें गए हैं क्रियापति हिरण्यगर्भ--सत्यनारायण–सौर विष्णु । एवं भूतमात्रात्मिका अर्थशक्ति ही शैवी शक्ति है, जिसके कारण शिव–भूतेश–भूतनाथ कहलाए हैं, एवं जिस शक्ति के मूलप्रवर्त्तक मानें गए हैं, ये ही भूतपति पार्थिव महेश । त्रिदेवात्मिका तीनों शक्तियाँ हीं क्रमशः पूर्वोक्त आत्म–देव–भूत–भावों से समन्विता हैं । एवं ये ही तीनों ब्राह्मी–वैष्णवी–माहेश्वरी–शक्तियाँ अपने अपने आत्म–देव–भूत–भावों से क्रमशः संस्कृति–सांस्कृतिक आचार–सांस्कृतिक आयोजन–इन तीन प्रक्रमों की अधिष्ठात्रियाँ बन रहीं हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१—ज्ञानशक्तिः-ब्राह्मी—स्वायम्भुवी-चित्प्रतिर्ब्रह्मात्र प्रतिष्ठा-आत्मानुगता
२—क्रियाशक्तिः-वैष्णवी-सौरी——-क्रियापतिर्ब्रह्मात्र प्रतिष्ठा-देवानुगता
३—अर्थशक्तिः-माहेश्वरी-पार्थिवी---भूतपतिर्ब्रह्मात्र प्रतिष्ठा-भूतानुगता

* * *

१—ज्ञानशक्तिरेव संस्कृतिः———श्रुत्यनुगता
२—क्रियाशक्तिरेव सांस्कृतिक-आचारः--—स्मृत्यनुगतः
३—अर्थशक्तिरेव सांस्कृतिक-आयोजनम्—पुराणानुगतम्

—आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् ।
त्रयं सदेकमयमात्मा ।

* * *

२७४–द्वितीयप्रकरण–विराम—-

श्रौती संस्कृति, तथा स्मार्त्त सांस्कृतिक आचार, दोनों प्रक्रमों को हृत्प्रतिष्ठा बनाए रखने वाला श्रुति–स्मृति–सम्मत–लोकानुबन्धी पौराणिक आयोजन ही भारतीय **'सांस्कृतिक–आयोजन'** की रूपरेखा का स्वरूप-निष्कर्ष है, जिसका अनेक दृष्टियों से एतन्नामक प्रक्रान्त द्वितीय प्रकरण में दिग्दर्शन कराने का प्रयास हुआ है । अगणित व्रतोपवासादि से समन्वित अगणित राष्ट्रीय सांस्कृतिक पर्व, अगणित्त सामाजिक उत्सव, अगणित पारिवारिक सम्मेलन, तथा अगणित हीं वैय्यक्तिक समारोह–भेद से चार श्रेणियों में विभक्त भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा से अनुप्राणित 'पर्व' नामक प्रथम आयोजन के ही चार उदाहरणों का अब हमें क्रमशः दिग्दर्शन करा देना है, जो उदाहरण क्रमशः **रक्षाबन्धन, विजयदशमी, दीपावली, होलिका**--इन नामों से राष्ट्रीय प्रजा में सुप्रसिद्ध हैं । कामना थी कि, पर्ववत् उत्सवादि शेष आयोजनों के भी कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर दिए जाते । किन्तु निबन्ध के विस्तार ने अत्रैव कामना का अवरोध कर दिया । इस शेष उत्तरदायित्त्व को अन्य निबन्धसापेक्ष मानते हुए अब प्रतिज्ञात पर्वात्मक चारों राष्ट्रीय आयोजनों की इतिकर्त्तव्यता के सम्बन्ध में, मौलिक उपपत्ति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है ।

उपरतञ्चेदं सांस्कृ. [illegible]–आयोजनरूपरूपरेखात्मकं द्वितीयं प्रकरणम्

—२—

* * *

श्रीः

राष्ट्रीय-पर्वात्मक-'सांस्कृतिक-आयोजनेतिवृत्त'

नामक

तृतीय-प्रकरण

३

तत्रैतानि अवान्तर-प्रकरणानि निरूपितानि द्रष्टव्यानि-

१-रक्षाबन्धनपर्व
२-विजयदशमीपर्व
३-दीपावलीपर्व
४-होलिकापर्व

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय पर्व

रक्षाबन्धन

(आत्मनिष्ठ-राष्ट्रसंरक्षक-ब्राह्मणानुगत-पर्व)

१

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व
रक्षाबन्धन

१

* * *

१–आत्मसंस्कृति-परायणा आर्षप्रजा का रक्षाबन्धनपर्व—

आत्मसंस्कृति-परायणा, तदभिन्न शाश्वत-आर्षधर्म्म-(ऋषिधर्म्म)-समन्विता आस्था-श्रद्धा-समाप्लुता भारतीय-राष्ट्रप्रजा प्रतिवर्ष 'आषाढशुक्लपूर्णिमा' नाम की पावन तिथि में महता समारम्भेण सोल्लास-सोत्साह-जिस सांस्कृतिक महान् पर्व **'रक्षाबन्धन'** नामक **'सांस्कृतिक-आयोजन'** का सदा सदा से अनुगमन करती चली आरही है, आज दो शब्दों में उदारहणधिया सर्वप्रथम हम उसी महान् पर्वायोजन की रूपरेखा की ओर संस्कृतिप्रेमियों का ध्यान आकर्षित करने जारहे हैं, जिस आकर्षण से ही सम्भवतः ही नहीं, अपितु निश्चय ही आज के उन आयोजन-भक्तों को भी इस ओर आकर्षित होना हीं पड़ेगा, अवश्यमेव होना पड़ेगा।

२–ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-वर्णानुगत रक्षाबन्धन, विजयदशमी, दीपावली, होलिका, नामक चार राष्ट्रीय पर्व—

वर्त्तमान में रक्षाबन्धनपर्व का स्वरूप यही है कि, धर्म्मसूत्रों का प्रचारक राष्ट्रीय ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, सच्छूद्र, आदि आदि अपने यजमानबन्धुओं के दक्षिण-हस्त (दहिने हाथ) में कौशेय-सूत्र (रेशम के ड़ोरे)-तूलसूत्र-आदि से गुम्फित विविध आकारसमन्वित-अनेक वर्ण (रँग) रञ्जित-**'राखी'** नाम से लोक-प्रान्तभाषा में प्रसिद्ध **'रक्षासूत्र'** बाँधा करते हैं, एवं प्रतिफलस्वरूप श्रद्धालु यजमानों की श्रद्धा-शक्ति के तारतम्यानुपात से, अथवा तो परम्परानुगता दानपद्धति के निग्रहात्मक अनुग्रह से अमुक 'दक्षिणाद्रव्य' के द्वारा मनस्तुष्टि का अनुभव कर लेते हैं। यही आज के रक्षाबन्धन का प्रमुख इतिवृत्त है। सम्भवतः इसीलिए रक्षाबन्धनपर्व ब्राह्मणवर्ग का प्रधान पर्व बन गया है लोकभाषा में, जबकि विजयदशमीपर्व क्षत्रियों का प्रधान पर्व, दीपावली वैश्यों का प्रधान पर्व, एवं होलाष्टकपर्व (होली) शूद्रों का प्रधान पर्व माना जारहा है लोकमान्यता की दृष्टि से।

३–विजयदशमी–दीपावली--होलिका--पर्वत्रयी का क्षत्रिय--वैश्य--शूद्र--रूपा वर्णत्रयी के साथ क्रमिक अनुप्राणन—

शत्रुपराजयपूर्वक विजयलाभ कराना एकमात्र संहाराधिष्टात्री महाकाली के अनुग्रह पर ही निर्भर है। उधर शस्त्रबलानुगत पौरुष--बल का क्षत्रियवर्ग के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। विजयश्री--

लाभ का पौरुषबलप्रदात्री महाकाली से ही प्रधान सम्बन्ध है। अतएव **'विजयदशमीपर्व'** को अवश्य ही क्षत्रियवर्ण का प्रधान पर्व माना जासकता है। एवमेव दीपावलीपर्व से सम्बद्धा वैश्यवर्ण की कारणता भी सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः अवश्य ही समझ में आरही है। कार्त्तिककृष्णा–अमावास्या–तिथि महालक्ष्मी की जयन्तीतिथि (जन्मतिथि–आविर्भावतिथि) मानी गई है। इसी दिन **'निर्ऋति'–'दरिद्रा'–'धूमावती'** आदि विविध नामों से प्रसिद्धा जगन्माता अलक्ष्मी का निर्गमन माना गया है। यों यह तिथि लक्ष्मी की आगमनतिथि, एवं अलक्ष्मी की निर्गमनतिथि बन रही है। महालक्ष्मी ही अपने नैदानिक–वाहन * के माध्यम से जड़–भूतसम्पत्तिरूप अर्थतन्त्र (वित्ततन्त्र) की अधिष्ठात्री बन रहीं हैं। उधर भलन्दनवशावतंस महाभाग वैश्यबन्धु ही अपनी प्रकृतिभूता–विश्वेदेवानुगता–विट् से अनुप्राणिता अर्थशक्ति के कारण आर्थिक मनोभावों के ही कुशल सम्राट् प्रमाणित हो रहे हैं। अर्थसम्पत्ति ही वैश्यवर्ण के मनोमय जीवन का महान् पौरुष है। अतएव अर्थशक्त्यधिष्ठात्री महालक्ष्मी से सम्बद्ध दीपावलीपर्व को इस दृष्टि से अवश्य ही वैश्यवर्ण का प्रधान पर्व माना जासकता है। तथैव च मदनमहोत्सवात्मक, दूसरे शब्दों में कामपूजनात्मक 'होलिकापर्व' में **गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती**–छन्दों से क्रमिक सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–वर्णों की छन्दोऽनुगता मर्य्यादा सीमा का अतिक्रमण कर देती है अमुक सीमानियन्त्रण के क्षेत्र में हीं। अतएव यह पर्व अंशतः शरीरधर्म्मा बनता हुआ उन्मर्य्यादभावों से भी समन्वित हो जाता है। होलाष्टकपर्ववेला में सभी वर्ण एक प्रकार से अच्छन्दस्क–अवर्ण–भाव में परिणत होते हुए स्वच्छन्दस्क–समानभाव में हीं परिणत होजाते हैं, दूसरे शब्दों में सभी समानधर्म्मा बन जाते हैं। **'न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्'**÷ इत्यादि श्रौत–सिद्धान्त के अनुसार इस महान् पर्व में (होली के अवसर पर) सचमुच आबालवृद्धवनिता, आमूर्ख–विद्वज्जन–सभी वर्ग शूद्रवत् अच्छन्दस्क बनते हुए स्वच्छन्द–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन जाते हैं। शारीरिक स्वातन्त्र्य ही तत्त्वपरिभाषा में 'स्वच्छन्दता' कहलाई है, जिसके द्वारा ही मानवीय मनः-शरीर अमर्य्यादाभावों की ओर आकर्षित हो पड़ते हैं। यह स्वच्छन्दता ही मानव की प्राकृता यथाजाता वह चान्द्र-मानवावस्था है, जिसका पूर्वपरिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया जाचुका है, एवं जिस इत्थंभूत अच्छन्दस्क–स्वच्छन्द–मनःशरीरमात्रप्रधान प्राकृत–चान्द्रमानव को महर्षि कपिलने भूतसर्ग का ही प्राणीविशेष (जन्तु-विशेष) माना है। यथाजातभावानुगता स्वच्छन्दता ही शूद्रता है, जिसमें शरीर ही प्रधान बना रहता है। होलापर्व में अमुक सीमापर्य्यन्त क्योंकि इस शरीरधर्म्म का भी समावेश है। अतएव अवश्य ही इस दृष्टि से इसे 'शूद्रपर्व' कह देना अनुरूप मान लिया जासकता है। यों **विजयदशमी–दीपावली–होलिका**–तीनों राष्ट्रीय पर्व क्रमशः क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–प्रधान पर्व प्रमाणित हो रहे हैं।

४-ब्राह्मणवर्णनिबन्धन-रक्षाबन्धनपर्व के सम्बन्ध में अनार्ष-धारणाएँ—

प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष में रक्षाबन्धनपर्व के साथ ब्राह्मणवर्ण के सम्बन्ध का कोई कारण प्रतीत नहीं हो रहा, जैसे कारण तथाविध तीनों पर्वों में प्रतीत हो रहे हैं। अपितु प्रतीत ऐसा हो रहा है, मानो ब्राह्मण अपने यज-

---

*–तन्त्रपरिभाषानुसार महालक्ष्मी का प्रधान वाहन निशाविहारी पक्षिविशेष (उल्लू) ही माना गया है, जिस की जड़ता, अमङ्गलता लोकसाधारण में भी सुप्रसिद्ध है।

÷–'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्त्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यम्। न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत्'।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मानों से रक्षासूत्र–समर्पण के माध्यम से दक्षिणा प्राप्त कर तद्द्वारा दुरन्ता उदरदरी को भरते हुए सभी वर्गों के यजमानों से अपनीं रक्षा ही करा रहे हैं। तो क्या ब्राह्मण की शरीररक्षा, उदररक्षा के कारण यह पर्व ब्राह्मण का पर्व मान लिया गया है ?। लोकदृष्टि से प्रतीत तो ऐसा ही कुछ हो रहा है। सुनते हैं–राखी 'भूखा' त्यौंहार है, जिसमें ब्राह्मण रक्षा–सूत्रों की राशि लटकाए कपर्दिकाओं की भिक्षा के लिए उसी प्रकार अपने यजमानों के सम्पन्न द्वारों पर भटकते रहते हैं इस पर्व पर, जैसे कि राहु–ग्रहणपर्वों पर कङ्काल सड़कों पर अन्नदान के लिए, एवं घर के जोशी ग्रहणदान के लिए इतस्ततः दन्द्रम्यमाण बने रहते हैं। यदि सचमुच 'रक्षा' का यही अर्थ है, यदि सचमुच ऐसी जघन्या–मलीमसा–लोकमान्यतानुगता–बुभुक्षिता-रक्षा से ही यह पर्व 'ब्राह्मणपर्व' कहलाया है, तो उस दिशा में तो इसे राष्ट्रीयपर्व न कह कर **'तस्करपर्व'** ही कहना उचित होगा।

५–भिक्षावृत्ति की निरतिशया असांस्कृतिकता––

क्योंकि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का इस सम्बन्ध में यह उद्घोष है कि–'जो सत्ताधीश अपने राष्ट्र में स्वाध्याय करने वाले स्नातकों से अतिरिक्त, एवं चतुर्थ आश्रम में (७५ वर्ष से ऊपर के सन्यासाश्रम में) पहुँच जाने वाले शरीरतः असमर्थ–तपस्वी सन्यासियों से अतिरिक्त, तथा हीनाङ्ग–असमर्थ–जराजीर्णशरीरों से अतिरिक्त वर्गों को भिक्षा-प्रश्रय-देता हुआ देखता रहता है, वह सत्ताधीश अपने राष्ट्र में अकर्म्मण्य-चोरों की हीं संख्या बढ़ाता है। अवश्य ही उक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त भिक्षा माँगने वाले, एवं भिक्षा देने वाले, दोनों हीं वर्ग सत्ताद्वारा दण्डित ही होने चाहिएँ''। देखिए !

अव्रताश्चानधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।
तं देशं दण्डयेद्-राजा, चौरभक्तप्रदो हि सः ॥
—स्मृतिः

६–राष्ट्र के अन्यतम रक्षक का अन्वेषण—

और रक्षाबन्धन का ब्राह्मणानुबन्ध से जैसा स्वरूप आज हमें उपलब्ध हो रहा है, उसे देखते हुए, सुनते हुए तो निश्चयेन ऐसा कर्म्म 'सांस्कृतिक–पर्व' न कहला कर वैसा असभ्य–अशिष्ट–मलीमस–पर्व ही कहलाएगा, जिसके द्वारा राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका संस्कृति के महान् प्रतीक ब्राह्मण का अधःपतन ही प्रमाणित हो रहा है। क्या अर्थ है इस रक्षा का !, क्या हितसाधन हो रहा है इस रक्षासूत्रबन्धन से !, एवं किस की कौन रक्षा कर रहा है इस सूत्र के द्वारा !। बाँधने वाला ब्राह्मण यजमान का रक्षक है !, अथवा बँधवाने वाला यजमान ब्राह्मण को भिक्षाप्रदान करता हुआ इसकी रक्षा कर रहा है ?। ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं, जो इस महान् सांस्कृतिक–पर्व के सम्बन्ध में हमारी सांस्कृतिक–श्रद्धा को आज विकम्पित कर रहे हैं। प्रस्तुत उदाहरण–प्रकरण में हमें इस श्रद्धाविकम्पन के निरोध का ही उपाय ढूँढ़ निकाल लेना है। एवं इस उपायान्वेषण में प्रवृत्त होते ही सर्वप्रथम हम अपने आप से ही यह प्रश्न कर लेते हैं कि—

राष्ट्र का रक्षक कौन ?

७–अहः–मासः–वर्षम्–शब्दों का विचालित्व–एवं अहः–मास–वर्ष–तीनों की [प्रत्येक की] त्र्यात्मकता का समन्वय—

राष्ट्र का रक्षक कौन ?, इस प्रश्न की व्याप्ति **राष्ट्र–समाज–परिवार–व्यक्ति**, इन चार संस्थानों में हो रही है, जिन इन चार संस्थानों से सम्बन्ध रखने वाले मानव की पूर्वपरिच्छेदों में हमने क्रमशः व्यक्ति-

मानव–परिवारमानव–समाजमानव–राष्ट्रमानव–भेद से चार संस्थानों में विभक्त माना है । जिस प्रकार **अहः–मास–वर्ष**–तीनों शब्द विचाली हैं, एवमेव व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–ये चारों शब्द भी विचाली ही माने गए हैं । साधारणदृष्टि से अहोरात्ररूप अहः का भूपिण्ड से सम्बन्ध है, शुक्ल–कृष्णपक्षरूप मास का चन्द्रमा से सम्बन्ध है, एवं उत्तरायण–दक्षिणायन-कालात्मक वर्ष का सूर्य्य से सम्बन्ध है । भूपिण्ड २४ होराओं (घन्टों) में अपने 'अक्ष' वृत्तात्मक धुर पर ही एक परिक्रमा लगा लेता है, और यही भूपिण्ड का 'स्वाक्षपरिभ्रमण' कहलाया है । यही भूपिण्ड की 'दैनंदिनगति' कहलाई है । इसी से अहोरूप अहोरात्र का प्रादुर्भाव हो रहा है । एवमेव चन्द्रपिण्ड अपने दक्षवृत्त पर ३० अहोरात्रों में भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । भूपिण्डवत् चन्द्रपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है । उधर क्रान्तिवृत्त पर भूपिण्ड सूर्य्य को केन्द्र मान कर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । यही भूपिण्ड की वार्षिकगति कहलाई है । भूः–चन्द्रमाः–सूर्य्यः–तीनों की प्रजा क्रमशः **मानव–पितर–देवदेवता**–इन नामों से प्रसिद्ध है । मानव का अहः २४ घन्टे का है, पितरों का अहः ३० दिन का है, देवताओं का अहः एक वर्ष का है । यों अहः शब्द अहः–मास–वर्ष–तीनों के साथ समन्वित हो रहा है । अहः का अहर्भाग शुक्लपक्ष है, रात्रिभाग कृष्णपक्ष है । मास का शुक्लभाग शुक्लपक्ष है, कृष्णभाग कृष्णपक्ष है । वर्ष का उत्तरायणभाग शुक्लपक्ष है, दक्षिणायनभाग कृष्णपक्ष है । पक्षद्वय की समन्वितावस्था का नाम हीं क्योंकि–'मास' है । अतएव इस दृष्टि से दो–दो पक्षभावों से समन्वित अहः–मास–वर्ष–तीनों को 'मास' शब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है । अब वर्ष शब्द का समन्वय कीजिए । भूपिण्ड अपने क्रान्तिबिन्दु से चल कर घूमता हुआ पुनः जब उसी वृत्तबिन्दु पर आ जाता है, तो एक 'वर्ष' का स्वरूप सम्पन्न होता है । वृत्तभावानुगता यह वर्षपरिभाषा भी **अक्ष–दक्ष–क्रान्ति**–तीनों वृत्तों के साथ समन्वित हो रही है । भूपिण्ड अपने अक्षवृत्त का परिभ्रमण एक अहोरात्र में कर लेता है । अतएव इस वृत्तपूर्णता से अहः को 'वर्ष' भी कहा जा सकता है । एवमेव पक्षद्वयात्मक चान्द्रमास को भी दक्षवृत्त की परिपूर्णता से 'वर्ष' कहा जा सकता है । पार्थिव–क्रान्तिवृत्तात्मक वर्ष का वर्षत्त्व तो प्रसिद्ध है ही । तदित्थं–दृष्टिकोणभेद से अहः–मास–वर्ष–तीनों शब्द तीनों व्यवहारों के लक्ष्य बनते हुए 'विचाली' शब्द ही प्रमाणित हो रहे हैं । एवं इसी विचाली-धर्म्म के आधार पर द्वादशलक्षणी–पूर्वमीमांसा के स्रष्टा भगवान् जैमिनिनें–**'अहर्वाविसंख्यानात्'** इस बिन्दु के माध्यम से ही श्रुति के **'सहस्रवर्षात्मक यज्ञ'** का समन्वय किया है । प्रसङ्ग यही है वहाँ का कि, श्रुति ने एक सहस्रवर्षात्मक यज्ञ का विधान किया है, जिसका नाम है–सत्त्रविशेष । वेदोक्त मानवायुः का मापदण्ड जब १०० वर्ष का है, तो उसे १००० वर्षात्मक यज्ञ का आदेश किस आधार पर दिया गया ?, यह प्रश्न उठाया है भगवान् जैमिनि ने । द्रष्टव्या है वहाँ की प्रश्नोत्तरविमर्शात्मिका मीमांसा, जिसके अन्त में यही सिद्धान्त स्थापित हुआ है कि—मानवीय विधि के प्रसङ्ग में वर्ष शब्द का अर्थ है–'अहः' । फलतः–एकसहस्र वर्ष का अर्थ होता है एकसहस्र अहोरात्र, अर्थात् अनुमानतः तीन वर्ष । यही पारिभाषिक वर्षकाल है, जिसका पौराणिक तथ्यों के साथ यत्रतत्र समन्वय हुआ है । **अमुक तपस्वी ने ३६००० (छत्तीसहजार) वर्ष तप किया,** इसका अर्थ इसी मीमांसा–परिभाषा के अनुसार होगा ३०००० दिन, अर्थात् पूरे १०० वर्ष, अर्थात् जीवन पर्य्यन्त ।

८ मानवव्यक्ति-परिवारव्यक्ति-समाजव्यक्ति-राष्ट्रव्यक्ति-निबन्धन-'व्यक्तित्त्व' का तात्त्विक समन्वय—

यदि 'मानव' का भी ऐसा ही, अहः–मास–वर्ष–वत् ही कोई पारिभाषिक स्वरूप हो, तो राष्ट्र–परिवार–आदि शब्द भी विचाली बन सकते हैं । मानवव्यक्ति का वह पारिभाषिक स्वरूप है–**'आत्मा–बुद्धि–**

मनः–शरीर' इन चार पर्वों की समष्टि । चारों पर्वों की समन्वितावस्था का नाम हीं–'**व्यक्तिमानव**' है । ये ही चारों पर्वधर्म्म परिवार–समाज–एवं राष्ट्र में विभिन्न विभिन्न–नामरूपों से व्यवस्थित हैं, जो पर्व क्रमशः व्यक्तिमानव के आत्मा-बुद्ध्यादि चारों वैय्यक्तिक पर्वों का ही प्रातिनिध्य कर रहे हैं । और इस प्रातिनिध्यदृष्टि से व्यक्ति ही परिवार–समाज–राष्ट्र–तीन भावों में परिणत हो रहा है । अतएव व्यक्तिशब्द चारों संस्थानों के लिए विचाली बना हुआ है । परिवार भी एक 'व्यक्ति' है, समाज भी एक व्यक्ति है, राष्ट्र भी एक व्यक्ति है, एवं व्यक्ति तो 'व्यक्ति' है ही । इस 'व्यक्तित्त्व' की दृष्टि से **मानवव्यक्ति** शरीरप्रधान है, **परिवारव्यक्ति** मनःप्रधान है, **समाजव्यक्ति** बुद्धिप्रधान है, एवं **राष्ट्रव्यक्ति** आत्मप्रधान है ।

९–मानवव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यों मानवव्यक्ति की शरीर–मन–बुद्धि-आत्मा–रूपा अभिव्यक्तियाँ हीं इन चारों के अभिव्यक्तित्त्वरूप व्यक्तित्व के कारण बने हुए हैं । इसी समन्वय से हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँच जाना पड़ा कि–'मानवव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल शरीर का है। 'समाजव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल 'शरीर' का है । 'परिवारव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल बुद्धि का है, एवं 'राष्ट्रव्यक्ति' के व्यक्तित्त्व का राष्ट्र में वही महत्त्व है, जो महत्त्व मानवसंस्था में केवल भूतात्मा का है । अर्थात् मानवव्यक्ति राष्ट्र के शरीर हैं, परिवारव्यक्ति राष्ट्र के मन हैं, समाजव्यक्ति राष्ट्र की बुद्धियाँ हैं, एवं राष्ट्रव्यक्ति राष्ट्र के आत्मा हैं। केवल–'व्यक्ति' शब्द के विचालीभावों का यही प्रासङ्गिक समन्वय है ।

१०–परिवारव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यही स्थिति–'**परिवार**'-शब्द की है । '**परिवारमानव**' का पारिभाषिक स्वरूप है–**कुलवृद्ध–समर्थ-युवापुत्र–नारीवर्ग–बालवर्ग**–इन चारों पर्वों की समष्टि । मामव अपने भूतात्मा से स्वयं ही इस अंश में 'कुलवृद्ध' का प्रातिनिध्य कर रहा है, अपनी बुद्धि से स्वयं ही अजरामरवत् प्राज्ञ युवापुत्र का प्रतिनिधि बना हुआ है । अपने मनोरूप से यह स्वयं ही 'नारीभाव' में भी परिणत होरहा हैं । एवं अपने शरीररूप से यही 'बालभाव' में भी परिणत हो रहा है। अतएव व्यक्तिमानव स्वयं भी अपने हीं आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर-भावों से वृद्ध–युवा–नारी–बाल–इन चारों भावों से समन्वित होता हुआ स्वयं अपने व्यक्तित्त्व से भी '**परिवार**' नाम का अधिकारी प्रमाणित है । '**समाजमानव**' का पारिभाषिक स्वरूप है-**ब्राह्मण-क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र**–इन चारों पर्वों की समष्टि । समाज का ब्राह्मणवर्ग कुलवृद्ध है, क्षत्रियवर्ग समर्थ युवापुत्र है, वैश्यवर्ग नारीवर्ग है, शूद्रवर्ग बालवर्ग है । यों '**समाजमानव**' में भी 'परिवार' भाव व्याप्त है। '**राष्ट्रमानव**' का पारिभाषिक स्वरूप है–**नीतितन्त्र–अनुशासनतन्त्र–गणतन्त्र–प्रजातन्त्र**–इन चारों पर्वों की समष्टि । राष्ट्र का नीतितन्त्र ही कुलवृद्ध है, अनुशासनतन्त्र ही युवापुत्र है, गणतन्त्र ही नारीवर्ग है, प्रजातन्त्र ही बालवर्ग है । यों 'राष्ट्रमानव' के साथ भी 'परिवार' शब्द समन्वित है । तदित्थं-व्यक्ति-परिवार-समाज–राष्ट्र–चारों में दृष्टिभेद से व्याप्त 'परिवार' शब्द भी व्यक्तिशब्दवत् विचाली ही प्रमाणित हो रहा है ।

११–समाजव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यही स्थिति क्रमप्राप्त तीसरे–'समाज' शब्द की है । समाज की परिभाषा है–ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण–वीर्य्यात्मक प्रकृतिसिद्ध–जन्मसिद्ध ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य-शूद्र–चारों वर्ण–वर्गों की समन्वितावस्था ।

व्यक्तिमानव आत्मना ब्रह्मवीर्य्यात्मक ब्राह्मण है, बुद्ध्या क्षत्रवीर्य्यात्मक क्षत्रिय है, मनसा विड्वीर्य्यात्मक वैश्य है, तो शरीरेण पौष्णभावात्मक शूद्र है। यों केवल व्यक्ति भी 'समाज' बन रहा है। कुलवृद्ध ब्राह्मण है, युवापुत्र क्षत्रिय है, नारी वैश्य है, बालवर्ग शूद्र है। यों केवल परिवार भी समाज बना हुआ है। नीतितन्त्राध्यक्ष ब्राह्मण है, अनुशासनतन्त्राध्यक्ष क्षत्रिय है, गणतन्त्राध्यक्ष वैश्य है, प्रजातन्त्राध्यक्ष शूद्र है। यों केवल राष्ट्र भी समाज बना हुआ है। तदित्थं–व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–चारों में दृष्टिभेद से व्याप्त 'समाज' शब्द भी परिवारशब्दवत् विचाली ही प्रमाणित हो रहा है।

१२–राष्ट्रव्यक्ति, और उसके व्यक्तित्त्व की परिभाषा—

यही समन्वय चौथे क्रमप्राप्त–'राष्ट्र' शब्द का है। राष्ट्र की परिभाषा है–नीति–अनुशासन–गणभाव–प्रजाभावों की समन्वितावस्था। व्यक्तिमानव शरीरेण प्रजातन्त्र है, मनसा गणतन्त्र है, बुद्ध्या अनुशासनतन्त्र है, एवं आत्मना स्वयं हीं अपना नीतितन्त्र है। यों केवल व्यक्ति भी चतुस्तन्त्रात्मक 'राष्ट्र' शब्द का अधिकारी बना हुआ है। पारिवारिक कुलवृद्ध नीतिनिर्द्धारक नीतितन्त्र है, युवापुत्र अनुशासनतन्त्र है, नारीवर्ग गणतन्त्र है, बालवर्ग प्रजातन्त्र है। यों केवल परिवार भी 'राष्ट्र' बना हुआ है। ब्राह्मण नीतितन्त्र है, क्षत्रिय अनुशासन तन्त्र है, वैश्य गणतन्त्र है, एवं शूद्र प्रजातन्त्र है। यों केवल 'समाज' के साथ भी 'राष्ट्र' शब्द समन्वित हो रहा है। तदित्थं–व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–चारों में दृष्टिकोणभेद से व्याप्त 'राष्ट्र' शब्द भी समाजशब्दवत् विचाली ही बना हुआ है।

१३–व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–समन्वयात्मक महान् कौशल, एवं संस्कृति का महतोमहीयान् उत्कर्ष—

क्या तात्पर्य्य है इस 'विचालीभाव' का ?। तात्पर्य्य यही है कि, यह सम्पूर्ण प्राकृतिक विश्व, विश्वगर्भीभूत चर–अचर पदार्थ क्योंकि किसी एक ही विश्वातीत–विश्वचर–विश्वकर्त्ता ब्रह्म का विवर्त्तभाव है। अतएव समष्टि, और व्यष्टिरूप से सभी में सब भाव दृष्टिकोण के तारतम्य से समन्वित हो रहे हैं। यही सर्वव्यापक–सर्वात्मक–एकमेवाद्वितीयं–ब्रह्म की सर्वाव्याप्ति का संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसमें व्यवहार–व्यवस्थापेक्षया परस्पर श्रेणिविभाग के विद्यमान रहते हुए भी दृष्टि की अपेक्षा से सभी सर्वात्मना प्रमुख ही बने हुए हैं। समब्रह्मदृष्ट्या सब समान बने रहते हुए, आज की भावुकतापूर्णा भाषा के अनुसार वर्गभेदों से असंस्पृष्ट रहते हुए भी विषमा प्रकृति के व्यवहारात्मक आचारधर्म्म की अपेक्षा से सभी स्व–स्व–धर्म्मात्मक–स्व-स्व–महान् उत्तरदायित्त्वों का नियमपूर्वक–मर्य्यादापूर्वक सञ्चालन करते हुए समदृष्ट्या आत्मसम्पत्ति का, तथा व्यवहारधर्म्मेण विश्वसम्पत्ति का, इन दोनों निःश्रेयस्–अभ्युदय–भावों का समसमन्वयपूर्वक अर्जन करने में समर्थ बन जाते हैं। एवं यही भारतीय–संस्कृति का वह महान् उदात्त कौशल है, जिसमें लोक–परलोक–दोनों भाव निर्विरोध समन्वित हो रहे हैं। इस समन्वय से ही तो यहाँ के आयोजन वे 'सांस्कृतिक–आयोजन' कहलाए हैं, जिन में राष्ट्र के समाज–परिवार–व्यक्ति–सभी समानरूप से समन्वित होते रहते हैं। जबकि कल्पित साम्यवाद–प्रजासमाजवाद, किंवा केवल समाजवाद में विभोर–प्रकृतिविरुद्ध वर्गभेदहीनता के सुखस्वप्नद्रष्टाओं के आज के प्राकृतिक–आयोजनों में विशेष वर्ग के विशिष्ट मानव हीं प्रवेशाधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

१४-रक्षासापेक्ष-मानव की स्वरूपजिज्ञासा—

प्रकृतमनुसरामः । रक्षा-सापेक्ष 'राष्ट्र' की स्वरूपव्याप्ति पूर्वकथनानुसार व्यक्ति-परिवार-समाज-राष्ट्र-इन चार मानववर्गों से समन्वित है, जिस समन्वय की मूलप्रतिष्ठा आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व से समन्वित मानव ही बना हुआ है । अतएव **राष्ट्र का रक्षक कौन ?**, इस पूर्वोपात्त प्रश्न का अब-'**मानव का रक्षक कौन ?**', इस स्वरूप पर ही विश्राम हो जाता है । इसी प्रश्न की सीमा में **मानव की स्वरूपजिज्ञासा, मानव की विपत्तियों का स्वरूप-परिचय, मानव के रक्षासाधन, रक्षासाधनों का उपयोग करने वाले रक्षक**, आदि आदि अनेक भाव स्वतः एव समाविष्ट हो जाते हैं । जहाँतक मानव की स्वरूपजिज्ञासा का प्रश्न है, तत्सम्बन्ध में पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र कई बार स्पष्टीकरण किया जाचुका है । क्योंकि रक्षा के लिए आतुर मानव का स्वरूप ही 'रक्षक' तत्त्व की समाधानभूमि बनने वाला है । अतएव प्रसङ्गसमन्वय-मात्र के लिए सर्वप्रथम दो शब्दों में मानव की स्वरूपजिज्ञासा ही उपशान्त कर दी जाती है ।

१५-स्वस्वरूपेण सुरक्षित मानव का आत्मस्वरूप—

सहज-लोकमान्यता के अनुसार **आत्मा**, और **शरीर**, दोनों का समन्वयात्मक एक विशिष्टतम अव्यक्ताव्यक्तस्वरूप ही मानव का स्वरूप है । अव्यक्त आत्मा का क्योंकि हम इन्द्रियों से साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं । अतएव इसका साङ्केतिक नाम रख दिया जाता है--'**अव्यक्त**' । शरीर का इन्द्रियों से अन्यान्य भूतभौतिक पदार्थों की भाँति साक्षात्कार हो रहा है । अतएव इसका साङ्केतिक नाम रख लिया जाता है--'**व्यक्त**' । अव्यक्त आत्मा शरीरदृष्टि से व्याप्त--सीमित-बनता हुआ भी अपने मूलस्वरूप से व्यापक असीम है । यह असीमता ही इस आत्मा का 'अमृतधर्म्म' है । सीमाभाव 'काल' का संग्राहक है, कालभाव दिग्देश का अनुग्राहक है । क्योंकि आत्मब्रह्म स्वस्वरूप से असीम है, अतएव यह निश्चयेन दिक्--देश--काल से अतीत है । सांसारिक यच्च--यावत् द्वन्द्वभावों का, आक्रमणभावों का, आक्रान्ताओं का, विपत्तियों का सम्बन्ध दिग्देशकालात्मिका सीमा से ही है । अतएव सीमातीत--असीम--अमृतधर्म्मा--अव्यक्त--आत्मब्रह्म दिग्देशकालानुबन्धिनी इन सांसारिक विपत्तिपरम्पराओं से सर्वथा असंस्पृष्ट ही बना रहता है । अतएव इसे '**अनुच्छित्तिधर्म्मा**' कहा गया है । अतएव च यह अजर--अमर--अविनाशी--शाश्वत-सनातन-तत्त्व ही माना गया है, जिस का कोई भी नाश नहीं कर सकता--'**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति**' । इसी अविनाशी अव्ययात्मा से अक्षर के द्वारा क्षरोपादानमाध्यम से सम्पूर्ण विश्व का वितान-हुआ है-'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना**' । अव्यक्त-अविनाशी--दिग्देशकालातीत इसी आत्मदेव का स्वरूप--विश्लेषण करते हुए भगवान् ने तत्सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ॥
न चैनं क्लेदयन्त्यापः, न शोषयति मारुतः ॥१॥
अच्छेद्योऽय-मदाह्योऽय-मक्लेद्योऽ-शोष्य एव च ॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२॥
न जायते--म्रियते वा कदाचित्-नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥३॥

—गीता

१६–रक्षासापेक्ष मानवीय–शरीर, एवं तद्रक्षक-स्वरूप की जिज्ञासा—

जब कि तथाविध आत्मब्रह्म अविनाशी है, सनातन है, दिग्देशकालानवच्छिन्न है, तो उसका विश्व की विपत्तियाँ कैसे स्पर्श कर सकतीं हैं ?। जब कि वह सर्वथा सनातन है, तो उस पर कौन आक्रमण कर सकता है ?। जब 'विपत्ति' की कल्पना हीं आत्मक्षेत्र में सम्भव नहीं, तो तद्रक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वह तो स्वयं अपने स्वरूप से ही सदा ही सुरक्षित ही है। अतएव मानव अपने इस हृदयस्थ * अन्तर्य्यामी 'ईश्वरात्मा' लक्षण 'आत्मा' की दृष्टि से तो स्वयं अपने आप में हीं सुरक्षित है। और आत्मदृष्ट्या **मानव का रक्षक कौन** ?, यह प्रश्न भी सर्वथा अनुपपन्न ही बना रह जाता है। अब शेष रह जाता है–मानव का शरीर, जो कि दिग्–देश–काल–सीमाओं से सीमित बना रहता हुआ सादि–सान्त है, मरणधर्म्मा है, परिवर्त्तनशील है, अस्ति–जायते–वर्द्धते–विपरिणमते–अपक्षीयते–नश्यति–इन ६ भावविकारों–भूतविकारों से नित्य संश्लिष्ट है। अतएव च अवश्य ही प्राकृतिक विश्वानुबन्धी असंख्य–द्वन्द्वभावों के आक्रमण से इस विश्वावयवरूप व्यक्त–मूर्त्त–शरीर का द्वन्द्वाक्रान्त बने रहना भी सर्वथा स्वाभाविक ही बन जाता है। और इसी द्वन्द्वाक्रमणमाध्यम से इसका विपत्तियों से समावृत बनते रहना, किंवा बने रहना भी स्वाभाविक ही प्रमाणित हो जाता है। इसीलिए अब प्रश्न के स्वरूप का इस रूप पर विश्राम माना जायगा कि—

१७–मानवशरीर के आविर्भाव का संक्षिप्त इतिवृत्त, एवं तदनुबन्धी आकृति--प्रकृति--अहङ्कृति--भाव—

ठहरिए। 'रक्षक' की जिज्ञासा से पूर्व मानव के 'शरीर' का ही पहिले स्वरूपान्वेषण कर लीजिए दो शब्दों में। तदनन्तर ही रक्षक की जिज्ञासा करना उचित होगा। शरीर–जिसे हम अपनी आंखों से देखते हैं, क्या स्वरूप है इसका ?, प्रश्न का समाधान कार्य्यरूप शरीर के उपादानरूप कारणद्रव्यों के स्वरूपबोध पर ही अवलम्बित है। एवं हि श्रूयते कि–माता के गर्भाशय में प्रतिष्ठित, पारदर्शकता के महान् प्रतिबन्धक, अतएव धामच्छद–सृष्टिसाक्षी अत्रिप्राण से समन्वित शोणित में जब पिता के पितृप्राणमय शुक्रद्रव्य की आहुति होती है, तो इस शुक्र–शोणित के अन्तर्य्यामात्मक–दाम्पत्यसम्बन्ध से, चितिसम्बन्धात्मक यागसम्बन्ध से ही 'गर्भशरीर' का स्वरूप-निर्म्माण आरम्भ होता है ×। यों शुक्ररूप सोम, तथा शोणितरूप अग्नि, दोनों के समन्वय से ही गर्भशरीर का प्राथमिक स्वरूप अभिव्यक्त होता है। अनन्तर माता के द्वारा खाए जाने वाले अन्नात्मक सोमरस की आहुति से, तथा शोणितप्रतिष्ठित अग्नि की पारम्परिक चिति से गर्भशरीर पुष्ट होने लगता है। यही अग्नि–सोम का दूसरा द्वन्द्व है। इसी के अनुग्रह से नवमासात्मिका

---

*-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
—गीता

×--यदा वै स्त्रियं च पुंसश्च सन्तप्यते, अथ रेतः सिच्यते तत् । ततः प्रजायते-(शरीरं निष्पन्नं भवति) ।
—शत० ब्रा० ३।५।२।१६।

सोमाहुति, तथा अग्निचिति से सर्वाङ्गीण बन जाने वाला गर्भशरीर **एवयामरुत्–बालखिल्या–नाभादिष्ट–बालखिल्या**–आदि आदि गर्भसहचारी प्राणविशेषों की कृपा से अमुक नियत समय पर भूमिष्ठ होता है, और यही मानव के शरीर का 'जन्म' कहलाया है, जिसका 'अस्ति' रूप भावविकार गर्भाशय में डिम्भरूप से ही प्रतिष्ठित हो गया था। भूमिष्ठ बनने के अनन्तर पुनः व्यक्तरूप से अन्नाहुतिक्रम प्रक्रान्त होता है। इस तृतीय अग्नीषोमात्मक यज्ञ से अपने आकृति–प्रकृति–अहङ्कृत्यात्मक गर्भबीजस्थ पारमेष्ठ्य महान् की सीमा के अनुपात से यह शरीर वृद्धिभावानुगत बनने लगता है। आयु के २५ पञ्चविंशतिवर्षात्मक उद्ग्राभ–काल में इसका यह व्यक्तशरीर सर्वाङ्गीणरूप से सम्पन्न हो जाता है **आकृत्या, प्रकृत्या, एवं अहङ्कृत्या च।**

१८–शोणिताग्निरूप पार्थिव तत्त्व, सौम्यशुक्ररूप चान्द्र तत्त्व, हिरण्यशकलरूप सौर तत्त्व, एवं तीनों के समन्वय से मानवशरीरत्रयी का आविर्भाव—

स्पष्ट ही तथाविध मानवशरीर के उपादानद्रव्यों में अन्ततः स्पष्टरूप से हमें **शोणिताग्नि, शुक्रसोम**, रूप से दो ही द्रव्य उपलब्ध हुए हैं, जो क्रमशः मातृ–पितृ–अंश (प्रवर्ग्यांश) माने गए हैं। पदार्थस्वरूपदृष्ट्या दोनों हीं तरलद्रव्य हैं, अनस्थिमद्द्रव्य हैं, घनताशून्य द्रुत द्रव्य हैं। यदि शरीर केवल मांस–शोणित–स्वेद–कफ–लाला–मूत्र–मेदा–मज्जा–आदि आदि द्रव्यों की ही समष्टि होता, तब तो हम इन दोनों तरलद्रव्यों पर ही शरीर की कारणता का विश्राम मान ले सकते थे। किन्तु देखते हैं–एक **'अस्थि'** (हड्डी) नामक वैसा ध्रुव (घनावयव) द्रव्य भी मानवशरीर में प्रतिष्ठित है, जिसके बिना शरीर का कोई स्वरूप ही नहीं रहता। शुक्र भी तरल, शोणित भी तरल। दोनों हीं अनस्थिमत्। फिर इन दोनों अनस्थिमद्द्रव्यों से अस्थिमत्–शरीर कैसे उत्पन्न हो गया ?, यह एक नवीन समस्या उपस्थित हो पड़ी, जिसका समाधान हुआ है निम्न लिखित उन वैज्ञानिक वचनों से, जो वैधयज्ञ के भूतपदार्थों के माध्यम से निदानरूपेण शारीरिक यज्ञ का विश्लेषण कर रहे हैं। देखिए !

"हिरण्यं पदे निधाय जुहोति (शत० ३।३।१।३।)। **चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा-अधिदेवने हिरण्यशकलं निधाय जुहोति"** (शत० ५।४।४।१७।)।

१९–अग्नीषोमात्मक यज्ञ के दैविक--भौतिक--आत्मिक--विवर्त्त, एवं तदाधारेणैव वैध-मानुष--यज्ञपद्धतियों का आविर्भाव—

प्राणाग्नीषोमात्मक आधिदैविकयज्ञ का जैसा स्वरूप है, भूताग्निसोमात्मक आधिभौतिकयज्ञ का स्वरूप भी ठीक वैसा ही है। क्योंकि प्रकृतिरूप दैविकयज्ञ से ही विकृति, किंवा विकाररूप भौतिक यज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। प्रकृति–विकृत्यात्मक दैविक–भौतिक यज्ञ के अनुरूप ही मानवस्वरूपात्मक आध्यात्मिकयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अध्यात्मयज्ञ आधिदैविक-आधिभौतिकयज्ञ की साक्षात् प्रतिमा है, जैसा कि-**'यज्ञो वै पुरुषः'--'पुरुषो वै यज्ञः'** इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार अग्नीषोमात्मक यज्ञ त्रिसंस्थ बन जाता है। त्रिसंस्थ इसी यज्ञ के अनुरूप भारतीय ऋषिमानव ने उस 'यज्ञविद्या' का आविर्भाव किया है, जो उक्त तीनों नित्य–प्राजापत्य–यज्ञों से सर्वथा समतुलित है। यही ऋषिमानव का एक वैसा अद्भुत आविष्कार है, जिसके बल पर ऋषिमानव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ बने रहते थे। यही वैध–अनुष्ठेय–यज्ञ–

'अधियज्ञ' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो मानव के आध्यात्मिक यज्ञ को महान् बल प्रदान किया करता है (था) । इसी आधार पर कहा गया है कि–**'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर !'** (गीता) । इत्थंभूत–कर्म्मात्मक यज्ञ (अधियज्ञ) की प्रक्रियाओं में जिन जिन भूत–भौतिक परिग्रहों का समन्वय हुआ है, वे सब नित्यसिद्ध दैविक–भौतिक–आत्मिक–यज्ञों के तत्तत् स्थूल–सूक्ष्म–पदार्थों के ही प्रतीक–प्रतिमान–निदान–अङ्ग–बने हुए हैं । अतएव इन्हीं के द्वारा उसके रहस्यों का समन्वय सम्भव बना करता है ।

२०-भौम-चान्द्र--सौर--भावों के त्र्यात्मक यजन से मानव के त्र्यात्मक प्राकृतिक शरीर की स्वरूपनिष्पत्ति—

उत्तरावेदि के उत्तर भाग में अवस्थित चतुष्कोण आहवनीयाग्नि अग्नि है, गर्भाशय है । आज्याहुति-द्रव्य सोम है, शुक्र है । इस शुक्र में रक्खा हुआ सुवर्णखण्ड (हिरण्यशकल) है सौरप्राण का नैदानिक प्रतिमान । आज्याहुतिकाल में ऋषियों में परस्पर यह प्रश्न होता है कि, आज्य (शुक्र) जब तरल है, तो इस से अस्थिमती प्रजा कैसे उत्पन्न हो जाती है ? । दृष्टि आज्यद्रव्य पर है, प्रज्ञा (मन) शुक्र पर है । उत्तर दिया जाता है कि, आज्य यद्यपि तरल द्रव्य ही है । तथापि क्योंकि इस में हिरण्यशकल डाल कर इसकी आहुति की जाती है, अतएव प्रजा अस्थिमती बन जाती है । दृष्टि हिरण्यशकल पर है, प्रज्ञा सौरतेज पर है । पूर्वोक्त दोनों वचन इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । तात्पर्य्य यही है कि, **शोणिताग्नि पार्थिवतत्त्व है, शुक्रसौम्य चन्द्रतत्त्व है, एवं दोनों में प्रतिष्ठित अश्मासोममय सौरहिरण्यप्राण सौरतत्त्व है** । यों भौम–चान्द्र–सौर, तीनों द्रव्यों के यजन से ही मानव के उस शरीर का निर्म्माण हुआ है, जो पार्थिव–चान्द्र–सौर तीनों कारणद्रव्यों से अनुप्राणित है । एवं यही मानव के 'शरीर' की संक्षिप्ता स्वरूप–व्याख्या है ।

२१-पार्थिव स्थूलशरीर, चान्द्र सूक्ष्मशरीर, एवं सौर कारणशरीर-रूप मानवीय 'शरीर' का तात्त्विक--स्वरूप--समन्वय—

मानवीय शरीर का पार्थिवभाग स्थूल है, चान्द्रभाग सूक्ष्म है, सौरभाग सूक्ष्मतम है । इन तीन भागों से एक ही शरीर **स्थूलशरीर–सूक्ष्मशरीर–कारणशरीर**–इन तीन नामों से व्यवहृत होने लग पड़ता है । शरीर को व्यक्त कहा गया है पूर्व में । विश्व में सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड तीनों व्यक्त–(प्रकट) भाव हैं । ये तीनों व्यक्तभाव ही मानव के कारण–सूक्ष्म–स्थूल–इन तीनों शरीरों के आरम्भक (उपादानकारण) बन रहे हैं । जिस उपादानकारणता का प्रचलित दर्शनभाषा में यों भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, हमें अपनी आँखों से प्रत्यक्ष में जो दिखलाई देता है, वही मानव का स्थूलशरीर है, जिस में विज्ञानदृष्ट्या पार्थिवतत्त्व ही प्रधान है । यह स्थूलशरीर ही लोकसामान्यभाषा में–**'शरीर'** नाम से प्रसिद्ध है । स्थूलशरीरात्मक इस 'शरीर' का आधारभूत **'मनोमयप्राणशरीर'** ही **'सूक्ष्मशरीर'** है, जिसका प्राणप्रधानत्त्वेन चक्षुरिन्द्रिय से साक्षात्कार तो सम्भव नहीं है । किन्तु तत्सहानुगत शारीरिक भूतों के परिवर्त्तन से–**'वातो देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुष ते मनः'** के अनुसार मन का भावात्मक अनुमान अवश्य हो जाता है । इस मनः–प्रधान सूक्ष्मशरीर का आधारभूत **'विज्ञानमयशरीर'** ही **'कारणशरीर'** है । इसप्रकार सर्वान्तरतम–अव्यक्त–सनातन–अव्ययात्मा के अतिरिक्त मानवसंस्था में **बुद्धिरूप कारणशरीर, मनःप्राणलक्षण-**

सूक्ष्मशरीर, वाग्लक्षण स्थूलशरीर, इन तीन शरीरों की सत्ता सिद्ध हो जाती है । तीनों हीं शरीर शरीरत्त्वेन विनाशी हैं, नश्वर हैं, परिवर्त्तनशील हैं । अतएव तीनों के नाश का, क्षति-विक्षति-का, म्लान-म्लान-भावों का भय सदा ही स्वाभाविक ही बना रहता है । अतएव इन तीनों का प्रयत्नपूर्वक संरक्षण-करते रहना मानव का अत्यावश्यक अनिवार्य्य कर्त्तव्य बन जाता है । **यों शरीरत्रयात्मक-द्वन्द्वात्मक-विनाशी शरीर, एवं द्वन्द्वातीत-अविनाशी आत्मा, इन दो पर्वों की समष्टि को ही 'अहं' का स्वरूप माना जासकता है** । **अहम्**, अर्थात्-**'मैं'**, अर्थात् **'मानव'** अमृतरूप आत्मा, तथा मृत्युरूप मरणधर्म्मा शरीर, दोनों की समष्टिमात्र ही है, जैसा कि-**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !'** इत्यादि गीतासिद्धान्त से भी प्रमाणित है । दूसरे शब्दों में **'आत्मा-कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीर'**, इन चार पर्वों की समष्टि को भी 'अहं' (मानव) कहा जासकता है, एवं-**'आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर'** इन चार पर्वों की समष्टि को भी 'मानव' अभिधा का सम्मान दिया जासकता है । इसी मानवस्वरूप से यह भी स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है कि, आत्मा जहाँ अपने स्वरूप से स्वतः सुरक्षित है, वहाँ शरीरत्रयी प्रयासद्वारा ही संरक्षणीया बना करती है । परिलेख के द्वारा 'मानवस्वरूप' को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने से अब हमें पूर्व प्रश्नों के इसी स्वरूप पर विश्रान्त होना पड़ रहा है कि—

मानव के तीनों शरीरों का रक्षक कौन ? ।

मानवस्वरूपोऽहम्

१-आत्मा ———— सर्वलक्षणः—अलक्षणो वा-**'आत्मा'** (१) — आत्मा-स्वतः-सुरक्षित :

२-कारणशरीरम् —— बुद्धिलक्षणम्-विज्ञानलक्षणं वा **'बुद्धिः'** (२)

३-सूक्ष्मशरीरम्- —— मनोलक्षणं-प्राणलक्षणं वा-**'मनः'** (३)

४-स्थूलशरीरम् ——-शरीरलक्षणं-वाग्लक्षणं वा-**'शरीरम्'** (४)

— शरीरं-प्रयासेन संरक्षणीयम्

२२-शरीरानुगत त्रिविध-तापों का उपक्रम—

जिन विपत्तियों से मानव के तीनों शरीरों की रक्षा अभीष्ट है, उन विपत्तियों का स्वरूप भी स्वतः एव प्रसङ्गधिया विजिज्ञास्य बन जाता है । अतएव दो शब्दों में विपत्तियों के चिरन्तन-इतिहास का भी समन्वय कर लेना चाहिए । 'दृश्य' को ही अपनी तत्त्वमीमांसा का प्रधान आधार मानने वाले लोक-भावुकतासंरक्षक-भारतीय-दार्शनिकोंनें विश्व की अगणित-अनन्त-असंख्य-समस्त विपत्तियों का तीन भागों में वर्गीकरण करते हुए लोकप्रसिद्ध-**'त्रिविधताप-त्रिविधदुःख'** से ही मानव की प्रज्ञा को विकम्पित किया है । ये तीनों ताप, किंवा दुःख क्रमशः **१-आधिदैविकताप, २-आध्यात्मिकताप, ३-आधिभौतिकताप,** इन नामों से सर्वसामान्य में सुप्रसिद्ध हैं ।

२३-प्राकृतिक विपत्तियाँ, और त्रिविध-ताप—

जिन विपत्तियों का मानवप्रज्ञा से प्रत्यक्ष में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, दूसरे शब्दों में जिन विपत्तियों में लोकप्रज्ञा मानव को सर्वथा निरपराध मानती-मनवाती रहती है, उन प्राकृतिक-ईश्वरीय-

विपत्तियों को ही दर्शनभाषा में–'आधिदैविकताप' कहा गया है। व्यक्तिविशेषों के वैय्यक्तिक अपराधों से सम्बन्ध न रखनें वाले इन तापों का व्यक्तिविशेषों के साथ सम्बन्ध न होकर समष्टि के साथ ही सम्बन्ध रहता है। प्रान्तविशेष–देशविशेष–किंवा राष्ट्रविशेष को, अथवा तो कभी कभी सम्पूर्ण विश्वमानवों को इस ताप से उत्पीड़ित हो जाना पड़ता है। अतिवृष्टि–अनावृष्टि–हीनवृष्ठि–विषमावृष्टि–जनपदविध्वंसिनी–(महामारी–प्लेग–हेजा–आदि आदि), आग्नेय–वारुण–वायव्य–ऐन्द्र–भेद से चतुर्द्धा विभक्त भूकम्प, तारा–उल्का–धिष्ण्या–वज्र–विद्युत्–भेद से पञ्चधा विभक्त आग्नेयसंवर्षताप, करकापात (ओलों की वृष्टि), झञ्झावात, अकाल, दुष्काल, आदि आदि भेद से असंख्य अवान्तर भेदों में विभक्ता प्राकृतिकी विपत्तियाँ हीं 'आधिदैविकताप' नाम से प्रसिद्ध हुईं हैं।

२४-दैवी विपत्तियों के प्रति भी सत्तातन्त्र की, एवं मानव के वैय्यक्तिक प्रज्ञापराध की अनिवार्य्य--कारणता—

अवश्य ही यद्यपि भावुक–जनता की दृष्टि में इन विपत्तियों का मानव पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है। तथापि निष्ठा की दृष्टि से तो ऋषिप्रज्ञा ने इन दैवी विपत्तियों का कारण भी मानव को ही माना है। किस मानव को ?, उस राष्ट्रमानव को, जिसका स्वरूप पूर्व में बतलाया जा चुका है। ब्राह्मणानुगत नीतितन्त्र, क्षत्रियानुगत अनुशासनतन्त्र, वैश्यानुगत गणतन्त्र, एवं शूद्रानुगत प्रजातन्त्र, इन चारों तन्त्रों से अनुप्राणित राष्ट्रमानव ही राष्ट्रमानव की स्वरूपव्याख्या है। जिस राष्ट्र का ब्राह्मणवर्ग धर्म्मनीतिलक्षण नीतिमार्ग का परित्याग कर देता हैं, जिस राष्ट्र का सत्तातन्त्र अनुशासन में शिथिल हो जाता है, जिस राष्ट्र का सम्पत्तिशाली वैश्यवर्ग गणभाव से पृथक होकर स्वार्थलिप्सु बन जाता है, जिस राष्ट्र का शूद्रवर्ग प्रजाभाव से पृथक् होकर उच्छृंखल हो जाता है, उस राष्ट्र की मानवता, मानवसमाज, मानवपरिवार, मानवव्यक्ति, सभी कुछ प्रकृतिविरुद्ध आचरणों–दुराचारों की ओर आकर्षित होते हुए अपने प्रकृतिसिद्ध सहज मानवस्वरूप से अस्तव्यस्त बन जाते हैं। मानवों के शरीर आलसी बन जाते हैं, मन भोगविलासपथानुगामी बन जाते हैं, बुद्धियाँ षडयन्त्रों–मायाचारों के सर्ज्जन में तल्लीन होजातीं है। फलस्वरूप आत्मदेव अन्तर्म्मुख बन जाते हैं। यों मानव के आत्मा–बुद्धि मनः–शरीर–चारों हीं पर्व सर्वथा ही 'मानवता' लक्षणा परिपूर्णता से पराङ्मुख हो जाते हैं।

२५--रामराज्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना का संस्मरण, एवं--'राजा कालस्य कारणम्' की विस्पष्टतमा व्यञ्जना—

यद्यपि–'कुएं भाँग पड़ी' इस लोकसिद्ध आभाणक के अनुसार तथाविध पराङ्मुखता के लिए राष्ट्र के सभी वर्ग दोषी हैं। तथापि–'राजा कालस्य कारणम्' इस लोकानुबन्धी सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार लोकजीवन की अवस्था, किंवा व्यवस्था का प्रधान उत्तरदायित्व लोकशासक–सत्तातन्त्र से ही सम्बद्ध माना गया है, माना जाना हीं चाहिए। सत्तातन्त्र की शिथिलता से, किंवा सत्तातन्त्र की अमर्य्यादा–अविवेकता–मद–मान–मत्तता–स्वैराचारपरायणता से ही दण्डभय शिथिल हो जाता है। एवं दण्डभय के शिथिल-कुण्ठित होते ही मानवमात्र प्राकृतिक व्यामोहनों के लक्ष्य बन जाते हैं। अतएव राष्ट्र की व्यवस्था का मूलकारण यदि सत्तातन्त्र है, तो इसके पतन का कारण भी सत्तातन्त्र ही बना करता है। जनसाधारण की

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पतनावस्था का सत्तातन्त्र ही परम्परया उत्तरदायी है। अपने आपको-**'रामराज्य'** के आदर्शों पर प्रतिष्ठित मानते रहने वाले वर्त्तमान-सत्तातन्त्र के लिए प्रजानुरञ्जक राजा राम के युग की वह महत्त्वपूर्ण घटना तो सर्वथा विज्ञाता होगी ही कि, "एकबार एक वृद्धब्राह्मण अपने मृतपुत्र को लेकर रामसभा में पहुँच जाता है, और उस शवशरीर को राजाराम के सम्मुख फेंकर यह आक्रोश अभिव्यक्त कर देने में यत्किञ्चित् भी तो संकोच नहीं करता कि, मैंने जीवन में जब कोई पाप किया ही नहीं, तो असमय में मेरा पुत्र कैसे मर गया ?। अवश्य ही आपके राज्य में कोई महा पापकर्म्म हो रहा है, जिसका उत्तरदायित्व आप पर है। अतएव परम्परया आप ही के पाप से मेरा पुत्र मरा है"। जनतन्त्र के महान् प्रतीक राजाराम स्तब्ध हो जाते हैं, और तत्काल पुरोधा महर्षि वसिष्ठ के अनुग्रह से स्थिति से परिचित होते हैं। पापकर्म्म का उपशमन करते हैं, ब्राह्मणपुत्र जीवित हो पड़ता है। इस इतिवृत्त से स्पष्ट है कि, मुख्यरूप से सत्तातन्त्र ही प्रजा की, किंवा राष्ट्र की अनैतिकताओं का, पापाचारों का प्रधान कारण है, और महात्मा भीष्म के-**'राजा कालस्य कारणम्'** वाक्य का यही स्पष्टतम अर्थ है।

२६-सर्वाधिक महत्त्वपूर्णा भी आधिदैविक-सुसूक्ष्म विपत्तियों के प्रति प्राकृत मानवों की उपेक्षा, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप दैविक विपत्तियों में अनुदिन वृद्धि--

यद्वा तद्वास्तु। आज इस तथ्य की मीमांसा का अवसर नहीं है, जब कि जनता स्वयं ही आज 'राजा' है, जब कि-**'जनता के लिए जनता के द्वारा जनता का राज'** * ही आज के सत्तातन्त्र की परिभाषा है। ऋषिप्रज्ञा ने प्राकृतिक-कोप का कारण भी लोकतन्त्र को ही माना है। मानव जब प्रकृतिविरुद्ध आचरण करने लग पड़ते हैं, तो मानव से अभिन्ना प्रकृति का अव्यवस्थित बन जाना स्वाभाविक बन जाता हैं। जिस-प्रकार अङ्गभूत छोटे यन्त्रों [पुर्जों] की विकृति से अङ्गीभूत महायन्त्र विकृत होता हुआ वस्तुनिर्म्माण के स्थान में विध्वंसक बन जाता है, एवमेव विश्वयन्त्ररूप महायन्त्र के प्रमुख अङ्ग-यन्त्ररूप मानवों के विकृत हो जाने से निश्चयेन महायन्त्ररूप विश्व भी विकम्पित हो पड़ता है, जिस प्रकृतिसिद्ध विकम्पन के लिए श्रद्धालु प्रजा में यह भाषा प्रसिद्ध है कि,-**'अरे मानवों के पाप से आज धरती काँप रही है'**। अतएव प्राकृतिक-आधिदैविक-तापों के सम्बन्ध में भी निष्ठादृष्टि से मानव को कभी निरपराध नहीं माना जा सकता। जब अधिक व्यक्ति इसी श्रेणि में अपना नाम लिखा लेते हैं, तो उस अवस्था में तो यह कम्पन सर्वथा ही धारावाहिक बन जाता है। अपराध है यह उस श्रेणि का, जिस के लिए व्यक्तिविशेष को अपराधी प्रमाणित कर देना कठिन हो जाता है। अतएव ऐसे प्राकृतिक-प्रकोपों के लिए वर्त्तमान सत्तातन्त्र के न्यायालयों में किसी के लिए कोई दण्डविधान नहीं है, जब कि अतीत भारत में राष्ट्र के ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण को, तथा धर्म्मनिष्ठ सत्तातन्त्र को स्वयं ही इन आपत्तियों के उपशम के लिए शान्ति-स्वस्ति-कर्म्म करने कराने पड़ते थे। एवं जागरूकता के साथ इन आक्रमणों के मूलाधारभूत मानवीय अपराधों का अन्वेषण कर उन्हें दण्ड भी दिया जाता था। यही सर्वप्रधान उस आधिदैविक ताप की संक्षिप्त स्वरूपव्याख्या है, जिसकी दुर्भाग्य से आज भारतराष्ट्र में पुनः पुनः आवृत्ति तो होती जा रही है। किन्तु तन्निवृत्ति के लिए कोई भी

***-श्रीअब्राहमलिङ्कन की गणतन्त्रीय--प्रजातन्त्र की परिभाषा—**

वर्ग किसी भी उपाय का स्मरण करना भी आवश्यक नहीं मान रहा। मानो आज के सर्वसम्पन्न ? राष्ट्र के विकास ? के समतुलन में इन आधिदैविक विपत्तियों का कोई महत्त्व ही न हो।

२७–क्रमप्राप्त आधिभौतिक–ताप का स्वरूप–दिग्दर्शन--

अब क्रमप्राप्त दूसरे उस आधिभौतिक ताप को लक्ष्य बनाइए, जिसके स्वरूप से आज के सभी भूतवादी परिचित हैं। किसी बलवान् ने निर्बल पर शस्त्र–प्रहार कर दिया, किसी ने किसी के भूप्रदेश–गृह–वस्त्र–आदि का अपहरण कर लिया, किसी ने किसी का अपमान कर दिया, आदि आदि से उत्पन्न उत्पीड़न हीं आधिभौतिकताप है। सुनते हैं–सत्ता का सेनाविभाग, एवं पुलिसविभाग ऐसे अपराधों की प्रवृत्ति को निर्म्मूल बनाने के लिए ही सदा जागरूक है। यह भी सुना जा रहा है कि, मानवसुलभ असावधानी से कोई ऐसा अपराध कर भी लेता है इन रक्षकों की अज्ञानता में, तो ये अपराधी का अपने महान् कौशल से अन्वेषण कर उसे न्यायालयों में उपस्थित कर देते हैं, जहाँ इन अपराधियों को सुनते हैं–दण्ड दे दिया जाता है। आधिदैविकतापों की भाँति आधिभौतिक–तापों की आलोचना–प्रत्यालोचना का भी आज अवसर नहीं रह गया है। **साहस (फौजदारी), और दाय (दीवानी)**–दो विभागों में विभक्ता वर्त्तमाना न्याय प्रणाली ने–गौतमीया **'पञ्चावयववाक्यसिद्धि'** नाम की प्रणाली का बहिष्कार कर 'न्याय' के साथ जो भावुकता की है, उसी का यह दुष्परिणाम है कि, जैसे रोगियों से अधिक वैद्य–डाक्टरों का आविर्भाव होता जा रहा है, तथैव न्यायपक्ष में विजय प्राप्त कराने वाले वाक्कीलक [वकील] प्राड्विवाकों की संख्या में अभिवृद्धि होती जा रही है। भारतीय दृष्टि से प्रजा को सत्ता की ओर से न्याय मिलता था, जबकि आज प्रजा न्याय की भिक्षा माँगती रहती है। यह भिक्षापद्धति किस सीमापर्य्यन्त महर्घ बन गई है ?, प्रश्न का स्मरणमात्र भी न्यायभिक्षुक को न्यायालयों के बाह्य–वातावरण में पहुँचने मात्र में भी असमर्थ बना रहा है। आलम्यालम्।

२८–क्रमप्राप्त आध्यात्मिक ताप का स्वरूपोपक्रम, एवं 'आध्यात्मिक' शब्द का फलितार्थ—

अब क्रमप्राप्त तीसरे 'आध्यात्मिकताप' का भी दो शब्दों में समन्वयानुग्रह कर लीजिए। भूतात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित 'शरीर' का ही नाम–'अध्यात्मम्' है*। कदापि विशुद्ध आत्मा का नाम–'अध्यात्मम्' नहीं है, जैसा कि आज समझा जा रहा है। आत्मा का किसी भी ताप से कदापि कोई भी सम्बन्ध नही है। अतएव 'आध्यात्मिकताप' से आत्मा कदापि संगृहीत नहीं हो सकता। कदापि उस दशा में 'ताप' के साथ 'आध्यात्मिक' शब्द नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि ताप को 'आध्यात्मिक' संज्ञा दी जारही है। आत्मा के साथ ताप का सम्बन्ध है नहीं। अतएव स्वतः ही 'अध्यात्म' का फलितार्थ शरीर ही हो जाता है।

---

*–सर्वसाधारण में 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ आज 'आत्मा' समझा जा रहा है, जो कि तत्त्वविज्ञान–शून्या भावुकता का ही दुष्परिणाम है। आत्माधार पर प्रतिष्ठिता कारण–सूक्ष्म–स्थूल–शरीरत्रयी हीं 'अध्यात्मम्' है। सहजभाषा में शरीरचर्चा का नाम हीं अध्यात्मचर्चा है, जिससे सभी को सहजरूप से हीं अध्यात्मचिन्तक माना जा सकता है।

२६–स्थूलशरीरात्मक शारीरिक–ताप, सूक्ष्मशरीरात्मक मानसिक–ताप, कारणशरीरात्मक बौद्धिक–ताप–भेद से आध्यात्मिक (शारीरिक) तापों के अवान्तर तीन मुख्य विवर्त—

स्थूल–सूक्ष्म–कारण–भेद से शरीर तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है, जिन तीनों शरीरों के तात्त्विक नाम हैं क्रमशः शरीर–मन–बुद्धि। इन तीनों शरीरों से सम्बन्ध रखने वाले ताप का ही नाम–'आध्यात्मिकताप' है। सहजभाषा में बौद्धिकताप, मानसिकताप, शारीरिकताप, इन तीनों की समष्टि ही आध्यात्मिकताप है। फोड़ा–फुन्सी–राजयक्ष्मा–ज्वर–वातशूल–गृध्रसी–विषूचिका–अपस्मार–अर्द्धाङ्ग–आदि आदि असंख्य भेदों में विभक्त स्थूलशरीरात्मक–शरीर से सम्बन्ध रखने वाले शारीरिक रोग ही–'शारीरिकताप' हैं। प्रवृद्ध काम–क्रोध–लोभ–मोह–मद–मात्सर्य्य–ईर्ष्या–असूया–दम्भ–मान–आदि आदि भेद से अगणित भेदों में विभक्त सूक्ष्मशरीरात्मक मन से सम्बन्ध रखने वाले मानसिक रोग ही–'मानसिकताप' हैं। एवं–अविद्या–आसक्ति–अस्मिता–अभिनिवेश–काम–कर्म्म–शुक्र–(सृष्टिबीज)–भावना–आदि आदि अगणित भेदों में विभक्त कारणशरीरात्मक बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाले बौद्धिक रोग ही 'बौद्धिकताप' हैं। निश्चयेन शारीरिकताप शरीर को सर्वथा अरक्षित बना देते हैं, मानसिकताप मन को सर्वथा अरक्षित अवस्था में ला खड़ा करते हैं। एवं बौद्धिकताप बुद्धि को विवेकशून्य कर देते हैं। इन तीनों विपत्तियों-रोगों–से तीनों शरीर अपनी सहज प्रकृतिस्थता से सर्वथैव पराङ्मुख हो जाते हैं। रुग्ण शरीर, चिन्तानिमग्न मन, विवेकशून्या बुद्धि, यही तो त्रिविध आध्यात्मिक तापों के महान् परिचयचिह्न हैं। जब मानव के ये तीनों शरीर यों इन तीनों आध्यात्मिक–तापों से सर्वात्मना आक्रान्त हो जाते हैं, तो ऐसा मानव निश्चयेन सभी क्षेत्रों में असफल बनता रहता है। ऐसे हीनशरीरी–चिन्तितमना–शून्यबुद्धि–प्राकृत मानव को ही बाह्य आक्रमणरूप आधिभौतिक–ताप का सम्मान्य अतिथि बन जाना पड़ता है। कोई ही इसके स्थूलशरीर पर प्रहार कर जाता है। कोई ही इसे अवाच्यवाद कह कर इसके मन को संतप्त कर जाता है। तो कोई भी इसके अविवेक से इसकी प्रवञ्चना कर जाता है। यों आधिभौतिक–तापत्रयी का कारण भी मुख्यरूप से यह आध्यात्मिक–तापत्रयी ही बनी रहती है। यही तापत्रयी मानव के द्वारा अनैतिकता का सर्जन कराती हुई इसे अधर्म्म–पथ की ओर आकर्षित करने लग पड़ती है। इसी अधर्म्मपथानुगति से मानव परम्परया प्रकृति–विकम्पन का कारण बन जाता है। विकम्पिता प्रकृति का दण्ड ही आधिदैविकताप कहलाया है, जिससे भी मानव के तीनों ही शरीर अनुपात–तारतम्य से विपद्ग्रहग्रस्त बन जाते हैं। यों आध्यात्मिकतापत्रयी ही परम्परया आधिभौतिकतापत्रयी, तथा आधिदैविकतापत्रयी की भी कारणभूता मानी जा सकती है, मानी गई है। इसके त्रित्वानुबन्ध से ही भौतिक–दैविक–तापों को भी तीन तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यों इस सूक्ष्म समन्वय की दृष्टि से मानव का आध्यात्मिकताप–ही भौतिक–दैविक–तापों के जन्म का निमित्त बन रहा है। आध्यात्मिक–तापों का मूल मानव का स्वयं का अपना 'प्रज्ञापराध', ही है, जिसे लोकभाषा में अज्ञान (नासमझी) कहा जाता है। स्वस्वरूपबोध के अभाव से ही मानव शारीरिक–मानसिक–बौद्धिक धातुओं को विषम बना डालता है।

३०--मानय का प्रज्ञापराध, एवं तद्द्वारा ही मानवीय शरीरत्रयी पर त्रिविध, किंवा पञ्चविध तापों का आक्रमण—

वात्त–पित्त–कफ–प्रमुख तीन शारीरिक धातु हैं। **काम–क्रोध–लोभ–मोह–मद–मात्सर्य्य**–ये ६ प्रमुख मानसिक धातु हैं। एवं **विद्या-काम-कर्म्म–शुक्र**-ये चार प्रमुख बौद्धिक धातु हैं। तीन-छह-चार-धातुओं से ही शरीर–मन–बुद्धि का स्वरूप स्वस्वरूप से धृत–प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इन्हें–'धातु' कहा गया है। प्रतिष्ठात्त्व ही 'धातु' शब्द का अर्थ है। धातुसाम्य जहाँ तीनों की प्रकृतिस्थता का कारण है, वहाँ धातुवैषम्य ही तीनों की प्रकृतिस्थता का विघातक बन जाता है। धातुओं का हीनयोग–मिथ्यायोग–अतियोग–अयोगात्मक विषमयोग जहाँ मानव को त्रिविध आध्यात्मिक तापों से युक्त कर देता है, वहाँ समत्त्वलक्षण समधातुयोग मानव की तीनों शरीरसंस्थाओं को सर्वथा प्रकृतिस्थ बनाए रहता है। यों प्रज्ञापराध से उत्पन्न विषमता ही मानव के त्रिविध ताप का कारण बन जाती है। यही परम्परया भौतिक–दैविक–तापों को आमन्त्रित करने का कारण बनती है। अतएव एकमात्र मानव ही भौतिक–दैविक–आत्मिक–तीनों तापों का सर्ज्जक प्रमाणित हो रहा है। इसी आधार पर तो–'**स्वकर्म्मसूत्रग्रन्थितो हि लोकः**' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। इसी आधार पर मानव के महान् उद्बोधक भगवान् ने कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥२॥

—गीता ६।५,६,। *

३१--मानवीय शरीर की पाँच विपत्तियों का स्पष्टीकरण—

आध्यात्मिकतापवत् यद्यपि दैविक–भौतिक--तापों के भी शरीरत्रयी के भेद से तीन–तीन वर्ग माने जा सकते हैं, माने हैं सूक्ष्मदृष्ट्या शास्त्र ने। तथापि अभी उस विस्तारक्रम में न जाकर हमें समष्टिरूप से एकविध आधिदैविकताप, एकविध आधिभौतिकताप, तथा त्रिविध आध्यात्मिकताप, इत्येवंरूपेण तापलक्षणा विपत्तियों के पाँच ही प्रमुख भेद लक्ष्य बना लेने चाहिएँ। प्रज्ञापराधपथानुवर्त्मा प्राकृत मानव इस विपत्तिपञ्चक से सन्त्रस्त बन जाता है। प्राकृतिक विश्व के प्राकृतिक व्यामोहनों से अपना सन्त्राण करने में असमर्थ बन जाने वाला मानव निश्चयेन पाँचों में से किसी न किसी विपत्ति का अतिथि बना ही रहता है। और यही इसकी प्रकृति-निबन्धना वह अरक्षिता--सन्त्रस्ता–आर्ता–अवस्था, किंवा दुरवस्था है, जिसकी निवृत्ति का उपाय ही सर्वप्रथम अन्वेष्टव्य है। विपत्तिपञ्चक को परिलेख–द्वारा–लक्ष्यारूढ कीजिए, एवं तदनन्तर विप्रत्तित्राणात्मक रक्षासूत्रों का अन्वेषण कीजिए!।

---

* वचनों का रहस्यात्मक समन्वय गी० भू० बुद्धियोगपरीक्षा–खण्ड में देखना चाहिए।

विपत्तिपञ्चक-परिलेखः--

१—भूकम्प–महामारी–अनावृष्ट्यादिलक्षणा—विपत्तिरेव–आधिदैविकतापः	आधिदैविकतापः (१)
२—शस्त्र–मुष्टि–गाली–प्रहारादिलक्षणा—विपत्तिरेव—आधिभौतिकतापः	आधिभौतिकतापः (२)
३—अविद्यास्मितासक्त्यभिनिवेशलक्षणा—विपत्तिरेव–बौद्धिकतापः —कारणशरीरानुगततापः–	आध्यात्मिकतापः
४—प्रवृद्ध–काम–क्रोध–लोभादिलक्षणा—विपत्तिरेव–मानसिकतापः —सूक्ष्मशरीरानुगततापः–	
५—ज्वर–वातशूल–क्षय–पक्षघातादिलक्षणा–विपत्तिरेव–शारीरिकतापः —स्थूलशरीरानुगततापः–	

३२-पञ्चविध विपत्तियों से मानव का त्राण करने वाले रक्षक की स्वरूपजिज्ञासा--

विपद्ग्रस्त मानव का, तथा विपत्तियों का संक्षिप्त स्वरूप पाठकों के सम्मुख व्यक्त करने की चेष्टा की गई। अब वह तीसरा रक्षात्मक प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिसकी **मानव की शरीरत्रयी का रक्षक कौन ?**, इस रूप से पूर्व में उत्थानिका हुई थी। उक्त विपत्तिपञ्चक के स्वरूपविश्लेषणानन्तर अब इसी प्रश्न का यह भी रूप मान लिया जा सकता है कि,—**मानव को आधदैविक–आधिभौतिक–आध्यात्मिक, इन तीनों तापों से, किंवा पाँचों विपत्तियों से बचाने वाला कौन ?।**

३३–जिज्ञासा के समाधान की दुर्बोध्यता, एवं वर्त्तमान मानवीय मनस्तन्त्र के द्वारा रोग से ही रोगनिवृत्ति के उपाय का भावुकतापूर्ण–अन्वेषण-प्रयास—

प्रश्न जितना ऋजु है, उत्तर उतना हीं दुर्बोध्य है। इसलिए दुर्बोध्य है कि, भारतीय समाजशास्त्रियों ने इसका प्रकृतिसम्मत जो समाधान किया है, आज के युग में उस समाधान की रहस्यपूर्णा व्यञ्जना के लिए हमें क्षेत्र ही उपलब्ध नहीं हो रहा। क्योंकि आज तो 'प्रकृति' शब्द के अर्थ ही प्रत्यक्षदृष्ट भूत–भौतिक–अतएव नितान्त वैकारिक वे स्थूलतम पदार्थ ही माने जा रहे हैं, जो प्राणात्मिका सूक्ष्मप्रकृति के अन्तिम–प्रवर्ग्य माने गए हैं। सुसूक्ष्मा प्राणप्रकृति ही विकृति की प्रतिष्ठा है, विकृति से ही विकार उत्पन्न होते हैं। विकारों के पञ्चीकरण से ही वैकारिक वे भूत उत्पन्न होते हैं, जिन्हें सामान्यभाषा में 'महाभूत' कहा जाता है। विकारसंघात्मक वैकारिक महाभूतों के प्रवर्ग्यभागों से ही पार्थिव प्राणियों का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है। अतएव प्राणीजगत् तो प्राणप्रकृति से कहीं विदूर सर्वथा अन्त में हीं प्रश्रयप्रयास प्राप्त करने वाला प्रवर्ग्यमात्र है। आज की विपत्तियों का परीक्षणस्थल भी केवल यही प्रवर्ग्य है, तो तन्निवृत्त्युपाय भी इसी प्रवर्ग्य को मूल बनाए हुए हैं। मानों रोग ही के द्वारा रोगनिवृत्ति का उपाय ढूँढा जारहा हो आज, जिस उपाय का मानवप्रकृति से संस्पर्श भी तो नहीं है।

३४–तापप्रवर्त्तक प्रवर्ग्य-भागों के प्रति मानव का महान् व्यामोहन, एवं तदनुग्रहेण त्रिविध तापों की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि––

जिन वैकारिक–प्रवर्ग्य–भूतों के व्यामोहन से मानव त्रिविध तापों का लक्ष्य बन रहा है, आज उन व्यामोहक प्रवर्ग्य–भूतों से ही मानव को सुख–शान्ति पहुँचाने का व्यर्थ का प्रयत्न प्रक्रान्त है। आत्मप्रतिष्ठा-शून्य–प्राणप्रकृतिशून्य जिस वैकारिक–भूतविज्ञानाकर्षण ने मानव को अस्वस्थ–अशान्त–आर्त्त बनाया है, आज उसी को मानव की सुख–शान्ति का कारण मानने-मनवाने का वाग्विजृम्भण महतासमारम्भेण प्रक्रान्त है। और हमारे भारतराष्ट्र का तो इस दिशा में यह अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण दृष्टिकोण है कि, जिस जड़भूतविज्ञानने प्रतीच्य–संसार की मानवता को मृत्यु के सन्निकट ला खड़ा किया है, आज हमारा राष्ट्र उसी भूतविज्ञान के परीक्षण–प्रचार के लिए आतुर बना हुआ है। यही नहीं, भूतविज्ञान की दानवीया पशुवृत्ति से सन्त्रस्त जो प्रतीच्य–प्रज्ञाशील आज इस महद्भय से त्राण प्राप्त करने के लिए बड़ी ही आशा–प्रतीक्षा के साथ भारतीय-प्रज्ञा से इस दिशा में सन्त्राण के उपाय जानने के लिए उत्सुक है, वह स्वयं भारतराष्ट्र अपनी **'पुराणीप्रज्ञा'** को विस्मृत कर याचमाना वृत्ति से अपने राष्ट्र की सुख–शान्ति के लिए प्रतीच्य–जगत् की भौतिक–सरणियों का ही अन्धानुकरण करता जा रहा है। कैसा है यह विधि का विचित्र विधान ?। और कैसी है यह भारतराष्ट्र की पर-प्रत्ययनेयमूला वह भावुकता ?, जिसने विगत अनेक शताब्दियों से यहाँ के मानव को वास्तविक समाधान से पराङ्-मुख ही बना रक्खा है। एकमात्र इसीलिए हम प्रश्न के समाधान को दुर्बोध्य मान रहे हैं, जबकि स्वयं भारतीय-दृष्टिकोण से तो समाधान प्रश्न की अपेक्षा भी सरलतम ही बना हुआ है, जिसकी सरलता का निम्न लिखित शब्दों में अभिनय कर दिया जाता है।

३५–राष्ट्र के महान् संरक्षक जागरूक-प्रहरी–ब्रह्म, एवं क्षत्र, तथा तदनुगत प्राकृतिक-रक्षात्मक विधि–विधान––

स्थूल–भौतिक–वैकारिक–जगत् की मूलभूता सुसूक्ष्मा प्राणप्रकृति का पूर्ण परीक्षण कर, उसके सुसूक्ष्म विधि–विधानों के आधार पर ही व्यक्त नियमों का सर्ज्जन करने वाला तत्त्वचिन्तक–ज्ञानविज्ञाननिष्ठ (केवल भूतविज्ञानासक्त नहीं)–जो कोई मानवश्रेष्ठ होगा, वही मुख्यरूप से समाज का 'रक्षक' माना जायगा, एवं उसे ही भारतीय–सामाजिकव्यवस्था में–**'ब्राह्मणवर्ण'** का सम्मान प्राप्त होगा। ब्राह्मण की चिरन्तना–सांस्कृतिक–प्रज्ञा से व्यवस्थित वे विधि–विधान हीं–**'शास्त्र'** कहलाएँगे, एवं शास्त्रवचनप्रामाण्य के आधार पर व्यवस्थित प्रकृतिभेद से विभक्त कर्त्तव्य–कर्म्म हीं मानव का विपत्तियों से सन्त्राण कर सकेंगे। इन विधि-विधानों की आचारव्यवस्था को, आचरणपद्धति को सुव्यवस्थित बनाए रखने वाला दण्डभयप्रवर्त्तक सामाजिकतन्त्र-विशेष ही समाज का बाह्य रक्षक माना जायगा, एवं उसे ही समाजशास्त्री **'क्षत्रिय'** सम्मान से समन्वित करेंगे। यही सहजभाषा में **'सत्तातन्त्र'** कहलाएगा। यों–राष्ट्र के तत्त्वज्ञ ब्राह्मण पर, एवं जीवनपद्धतिव्यवस्थासंरक्षक सत्तातन्त्र पर ही राष्ट्रीय समाज की रक्षा का उत्तरदायित्त्व व्यवस्थित माना जायगा, माना गया था भारतीयसमाज-व्यवस्था में। ब्रह्म, और क्षत्र से रक्षित समाज कभी किसी भी विपत्ति से प्रथम तो सन्त्रस्त हो ही नहीं सकता। यदि हो जाता है, तो तत्काल उसकी रक्षा करली जाती है। तदित्थं–भारतीय दृष्टिकोण से **ब्राह्मण**, और **क्षत्रिय**, ये दो वर्ग ही समाज के महान् प्रहरी–रक्षक–सेवक–माने गए हैं। जिस राष्ट्र के ब्रह्म–क्षत्र–वीर्य्य अभिभूत हो जाते हैं, सहजभाषा में जिस राष्ट्र के ज्ञान और पौरुष सुप्त हो जाते हैं, निश्चयेन वह राष्ट्र अरक्षित बनता हुआ आततायीवर्ग का ही ग्रास बन जाया करता है। सैषा स्थितिः प्राकृतिकी।

३६-आधिभौतिक-विपत्तियों से राष्ट्र का संरक्षण करने वाला क्षात्रतेज, और उसकी रहस्यपूर्ण- 'वर्म्मन्' उपाधि--

स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया । स्थूलशरीर से प्रधान सम्बन्ध रखने वाली विपति ही आधिभौतिक-विपत्ति कहलाई है । शस्त्रप्रहार-गालीप्रहार-परिग्रहापहरण-आदि आदि से सम्बन्ध रखने वालीं विपत्तियों से देशाधिपति शास्ता क्षत्रिय ही दण्डबलात्मक पौरुष के द्वारा मानवसमाज की रक्षा करता है । जिसप्रकार बाहिर के तृण-कण्टक--आदि के आक्रमण से वर्म्म (कवच) मानव के स्थूलशरीर की रक्षा करता है । एवमेव क्षत्रियशास्ता मानो समाज का 'वर्म्म' ही बना रहता हुआ बाहिर के शस्त्रादि-आक्रमणों से मानवसमाजरूप बाह्यशरीर का रक्षण करता रहता है । इसी महान् उतरदायित्व को व्यक्त करने के लिए इसे--'वर्म्मन्' उपाधि प्रदान की गई है । सत्तातन्त्र समाजशरीर का वर्म्म है, कवच है, बाह्यरक्षा का दृढ़तम लौह-आवरण है । स्वयं 'क्षत्रिय' शब्द भी--'क्षतात्-त्रायते' निर्वचन से 'वर्म्म' स्थानीय इस क्षत्रिय के बाह्य रक्षाकर्म्म का ही समर्थन कर रहा है । जो क्षत्रिय इस रक्षाकर्म्म में असमर्थ है, कदापि उसे 'क्षत्रिय' नहीं कहा जा सकता । कदापि उसे भारतीय शासक तो नहीं हीं माना जा सकता *, एवं कदापि उसे 'वर्म्मा' उपाधि से समन्वित नहीं किया जा सकता ।

३७--आधिदैविक-विपत्तियों से राष्ट्र का संरक्षण करने वाला ब्राह्मतेज----

हमने देखा कि मानवसमाज की पाँच विपत्तियों में से 'आधिभौतिकविपत्ति' नाम की एक विपत्ति से समाज की रक्षा करने वाला 'रक्षक' तो 'शास्तासत्तातन्त्र' के रूप से समाज को मिल गया । किन्तु अभी चार विपतियाँ शेष रह गईं । इन चारों विपतियों से समाज की रक्षा करने वाला वर्ग ही-'ब्राह्मण' कहलाया है । भूकम्प--अनावृष्ट्यादि--आधिदैविक विपत्तियों का कारण मानवसमाज का प्रज्ञापराधमूलक प्रकृतिविरुद्ध गमन (उत्पथगमन) हीं माना गया है । प्रकृतिविरुद्धाचरण का ही पारिभाषिक नाम है--'अधर्म्म' । इस अधर्म्म से ही प्राणमय प्रकृतिमण्डल क्षुब्ध हो पड़ता है । क्षुब्धा--विकम्पिता--रुष्टा--उत्तेजिता प्राणप्रकृति ही भूकम्पादि के द्वारा मानव-समाज पर दण्डप्रहार करने लग पड़ती है । प्राणप्रकृति के परीक्षक ब्राह्मण का यह आवश्यक, तथा अनिवार्य्य कर्त्तव्य होगा कि, वह मानवसमाज के प्रज्ञापराधमूलक उन अधर्म्म--भावों का अन्वेषण करें, जिनसे प्रकृति विकम्पित हो पड़ती है । उन कारणों का अनुसन्धान कर उन उन प्राकृतिक प्राणों के क्षोभ की शान्ति--स्वस्ति--के लिए श्रौतस्मार्त्त यज्ञ--उपासनादि--शान्ति--स्वस्त्ययनादि प्राणसमीकरणात्मक दैविक-कर्म्मों का अनुष्ठान करें, जिनका बाह्यस्वरूप सम्पादन करे सत्तातन्त्र । अवश्य ही इन शास्त्रीय अनुष्ठानों से ब्राह्मण प्राणसमीकरण के द्वारा प्रकृति को सुशान्त कर देता है, प्रकृति पुनः प्रकृतिस्था बन जाती है, उपद्रव शान्त हो जाते हैं, शान्तिसन्देशवाहक पुरोवात प्रवाहित होने लग पड़ता है । यही ब्राह्मण के द्वारा होने वाला शान्ति-स्वस्त्ययनात्मक आधिदैविक कर्म्मात्मक वह रक्षासाधन है, जिसके बल पर अवश्य ही यह ब्राह्मण-राष्ट्र की आधिदैविक-ताप से रक्षा करने में सर्वात्मना समर्थ बन जाता है ।

---

* क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥
—रघुवंशः

३८- राष्ट्र के स्थूल--सूक्ष्म--कारण--शरीरात्मक शरीर--मन--बुद्धि--पर्वात्मक आध्यात्मिक तन्त्र का संरक्षक ब्राह्मतेज—

अत्र त्रिविध–आध्यात्मिक–तापों की निवृत्ति का समन्वय कीजिए । स्थूलशरीर–सूक्ष्मशरीर–कारणशरीर–तीनों के लिए **कर्म्म--उपासना–ज्ञान**--ये तीन मार्ग व्यवस्थित किए हैं ब्राह्मणप्रज्ञा ने । शास्त्रीय नित्य--नैमित्तिक--काम्य--यज्ञ–तपो--दानलक्षण विद्यासापेक्ष कर्म्मों से, तथा इष्ट--आपूर्त्त--दत्त--नामक त्रिविध–विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्मों से मानव की शरीरसंस्था सर्वात्मना प्रकृतिस्था बनी रहती है, विपत्ति का प्रवेश ही सम्भव नहीं होता । एवमेव परानुरक्तिरूपा उपासना से मानव का मन सर्वथा ही स्वस्तिभाव में परिणत रहता है । तथैव तत्त्वचिन्तनरूपा ज्ञाननिष्ठा से मानवीया बुद्धि सर्वात्मना योगनिष्ठा बनी रहती है । शरीरानुगत कर्म्म का रहस्यव्याख्यात्मक शास्त्र ही **'ब्राह्मण'** है, मनोऽनुगता उपासना का विश्लेषक शास्त्र ही **'आरण्यक'** है, एवं बुद्ध्यनुगत ज्ञान का व्यवस्थापक शास्त्र ही **'उपनिषत्'** है । ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत् से अनुप्राणित--कर्म्म--उपास्ति--ज्ञान--निबन्धन--आचार--धर्म्म ही मानव के शरीर--मनो–बुद्धितन्त्र का महान् संरक्षक बना हुआ है, जिस रक्षात्मक सन्देश का उत्तरदायित्व मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के तत्त्वज्ञ ब्राह्मण पर ही अवलम्बित है । यों इस दृष्टि से ब्राह्मण आध्यात्मिक--संस्था के बुद्धि–मनः--शरीर--इन तीनों तन्त्रों का भी रक्षक बना हुआ है ।

३९--दर्शन--धर्म्म--आयुर्वेद--शास्त्रत्रयी के माध्यम से आध्यात्मिक--रक्षात्रयी का समन्वय, एवं ब्राह्मण की 'शर्म्मन्' उपाधि—

दूसरी दृष्टि से इस रक्षात्रयी का समन्वय कीजिए । आहार–विहारादि की नियमन--व्यवस्था का स्वरूपविश्लेषक, धातुसाम्यपद्धति का महान् शिक्षक, यच्चयावत् रोगों का प्रकृतिरहस्य–ज्ञानद्वारेण महान् चिकित्सक, प्राणपरीक्षक **'आयुर्वेदशास्त्र'** ही मानव के स्थूलशरीरात्मक 'शरीर' की रक्षा करता है, जो कि शास्त्र अथर्ववेद का ही उपवेदात्मक अङ्ग है, अतएव जो ब्राह्मणप्रज्ञा से ही समुद्भूत है । मानसिक--काम–क्रोध–लोभ--मोहादि का व्यवस्थापक,–व्रत–आचार–आदि कर्म्मों से मानसिक शुद्धि का प्रवर्त्तक,–मनु--याज्ञवल्क्य–विष्णु–वसिष्ठादि के द्वारा संकलित प्राकृतिक विधिविधानात्मक **'धर्म्मशास्त्र'** ही मानव के सूक्ष्मशरीरात्मक–'मन' की रक्षा करता है, जो कि शास्त्र वेदवित् ब्राह्मण की प्रज्ञा का ही व्यक्तरूप है । प्राकृतिक तत्त्वों का विश्लेषक, सृष्टिप्रक्रियाओं का तटस्थ विवेचक,–सृष्टिकारणता का प्रतिपादक **'दर्शनशास्त्र'** ही मानव की कारणशरीरात्मिका 'बुद्धि' को बल प्रदान करता है । तदित्थं **दर्शन–धर्म्म–आयुर्वेद**--तीनों शास्त्रों के विद्वान् , सहैव मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के परपारदर्शी भारतीय ब्राह्मण के द्वारा ही मानव के स्थूल–सूक्ष्म–कारण–शरीर सुव्यवस्थित सुरक्षित बने रह सकते हैं । एवं इस दृष्टि से आधिदैविक तापों की भाँति इन त्रिविध आध्यात्मिक तापों की उपशान्ति का उत्तरदायित्व भी वेदवित् ब्राह्मण पर ही अवलम्बित है । यों यह ब्राह्मण चार प्रकार की विपत्तियों से समाज की रक्षा करता हुआ सत्तापेक्षयापि कहीं महान् संरक्षक प्रमाणित हो रहा है । एकमात्र इसी अतिशय से इसे **'शर्म्मन्'** उपाधि से सुविभूषित कर दिया है यहाँ के समाजशास्त्रियोंनें ।

४०--'शर्म्मन्' उपाधि का लौकिक--अर्थसमन्वय—

'स्यादानन्दथुरानन्दशर्म्मशातसुखानि च' इत्यादि अमरवचन के अनुसार **'शर्म्मन्'** शब्द का लोकार्थ है–'सुख' । सुखी कौन ?, जिस के बुद्धि–मन–शरीर--रूप तीनों आध्यात्मिक तन्त्र स्व–स्वरूप में

व्यवस्थित रहते हुए प्रकृतिस्थ रहें, वही सुखी माना जायगा। यह प्रकृतिस्थता प्रकृतिसिद्ध धर्म्मात्मक विभक्त कर्त्तव्य–कर्म्मों के आचरण पर ही अवलम्बित है। आचारपद्धति का आधार शास्त्र है। शास्त्र का सन्देश-वाहक ब्राह्मण है। यों परम्परया 'शर्म्म' रूप सुख का ब्राह्मण ही निमित्त बना हुआ है। अतएव इसे अवश्य ही 'शर्म्म' प्रवर्त्तकत्वेन, शर्म्मप्रवर्त्तक–शास्त्राचार–सन्देशवाहकत्वेन–'**शर्म्मन्**' कहना अन्वर्थ बन रहा है। जिस राष्ट्र के शरीरत्रयात्मक शर्म्म (सुख) का उत्तरदायित्व शर्म्मा पर हो, निश्चयेन उस राष्ट्र की सुख–शान्ति में कोई आशङ्का नहीं की जासकती। एवं यही–'शर्म्मन्' का एक प्रकार का लौकिक–समन्वय है।

४१- लौकिक–'चर्म्मन्' शब्द, एवं वैदिक 'शर्म्मन्' शब्द का समन्वय–

'शर्म्मन्' उपाधि का वैदिक मर्म्म कुछ और ही है, जिसका–'**चर्म्मन्**' शब्द से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। 'चर्म्म' को भूतदृष्ट्या सुख का साधन मान लिया गया है। बाह्याकार की स्वरूपरक्षा भी 'चर्म्म' से होती है, एवं शरीर के भीतर के विभक्त–माँस–शोणित–शिरा–धमन्यादि अवयवों की स्वरूपरक्षा भी चर्म्म पर ही अवलम्बित है। जिसप्रकार लौहावरणरूप वर्म्म (कवच) से मानव अपने शरीर को बाहिर के कुश–कण्टकादि आवरणों से बचाता है, एवमेव चर्म्मरूप आभ्यन्तर–प्राकृतिक आवरण से मानवशरीर के भीतर के अङ्ग–प्रत्यङ्ग सुरक्षित रहते हैं। यह सुरक्षा ही शरीर की प्रकृतिस्थता है। और यही शरीर का प्राथमिक, एवं मुख्य सुख है, जिस से मानव की आकृति (शरीर) सुरक्षित बनी रहती है। फोड़ाफुन्सी के द्वारा चर्म्म के सच्छिद्र हो जाने से, शस्त्रप्रहारादि द्वारा क्षत–विक्षत हो जाने से, कुष्ठादि द्वारा विगलित हो जाने से, जरादि द्वारा शिथिल हो जाने से शरीर अनेक प्रकार की आधि–व्याधि–ईति–भीतियों का अतिथि बन जाता है। यों स्पष्ट ही भूतदृष्ट्या 'चर्म्म' मानव का सुखहेतु बना हुआ है। प्रत्येक प्राणी का सुख अपनी अपनी आकृति पर ही अवलम्बित है। आकृति का संरक्षण चर्म्म पर अवलम्बित है, जिसे प्रान्तीयभाषा में–'**खोल**'–'**चोल**'–'**चोला**' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। यही सुख की प्रथम भूमिका है। अतएव चर्म्म को सुख का साधन मान लिया गया है। इसी आधार पर लोक में–"**सब अपनी अपनी खोल में सुखी हैं**" यह आभाणक प्रसिद्ध हो पड़ा है। इसी आधार पर चर्म्मन्–का संग्राहक–'शर्म्मन्' शब्द संस्कृतसाहित्य में 'सुख' का वाचक बन गया है।

४२- मूलप्रतिष्ठात्मक 'ब्रह्मभाव', एवं उसकी 'शर्म्मन्' उपाधि–

स्वयं वेद में 'चर्म्म' के स्थान में–'शर्म्म' का ही उच्चारण हुआ है, जैसाकि **शर्म्मासीति** *

---

*–सुप्रसिद्ध हविर्यज्ञ में हविर्द्रव्यात्मक आहुतिद्रव्य के निर्म्माण के लिए हविर्धानशकट से 'धान' लिया जाता है। जिस उलूखल में धान कूटा जाता है, उसके नीचे कृष्णमृगचर्म्म (काले हरिण का चमड़ा, मृगछाला) बिछा दी जाती है। इसी सम्बन्ध में कृष्णमृगचर्म्म को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है कि–'**शर्म्मासि**' इति। अर्थात् आप शर्म्मन् हैं। इस मन्त्रभाग की व्याख्या करते हुए शतपथब्राह्मण के द्रष्टा भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि–"**चर्म्म वा एतत् कृष्णस्य यन्मानुषम्। शर्म्म देवत्रा। तस्मादाह–शर्म्मासीति**" (शतपथब्रा०१।१।४।४।)। अर्थात् यह वस्तुतः काले हरिण का चर्म्म (चमड़ा) ही तो है। मानवभाषा में (संस्कृतभाषा में) इसे 'चर्म्म' कहा जाता है, जबकि 'छन्दोभ्यस्ता' नाम की देवभाषा में 'चर्म्मन्' के स्थान में 'शर्म्मन्' का ही उच्चारण प्रचलित है–'**शर्म्म देवत्रा**'।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

(यजुःसंहिता) इस मन्त्रभाग से स्पष्ट है। शर्म्म का सुखार्थ भी चर्म्म के द्वारा पूर्वकथनानुसार सर्वात्मना सुसमन्वित है। समाज का सुख–शान्ति–स्वस्ति–लक्षण **'शर्म्मभाव'** क्योंकि तत्त्ववेत्ता धर्मिष्ठ–आचारनिष्ठ ब्राह्मण के द्वारा निष्पन्न–सम्पन्न–होने वाले चतुर्विध–रक्षाकर्म्म पर ही अवलम्बित है, अतएव इसे अवश्य ही समाजरूप शरीर का 'चर्म्म' माना जा सकता है। यही ब्राह्मण का 'चर्म्मन्' भाव है, जिसका अर्थ है–'शर्म्मन्' भाव। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है–'प्रतिष्ठा'। आत्मतत्त्व ही ब्रह्म है, यही–**'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** के अनुसार सम्पूर्ण प्राकृत विश्व की प्रतिष्ठा है–**"प्रतिष्ठा ह्येषा–यद्ब्रह्म। तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति"** (**ब्राह्मणः**)"। ब्राह्मण अपनी आत्मभावनानुगता तत्त्वनिष्ठा से इस ब्रह्मप्रतिष्ठा का ही प्रतीक है। यही ब्राह्मण का 'ब्राह्मण्य', किंवा ब्राह्मणत्व है. इसी तत्त्वप्रतिष्ठा से यह 'ब्राह्मण' कहलाया है। तत्त्वप्रतिष्ठा के बल पर ही समाज को चारों विपत्तियों से बचाने में समर्थ बनता हुआ यह समाज का चर्म्मरूप सुख बना हुआ है। यही इसका–'शर्म्मन्' पना है। जो ब्राह्मण तत्त्वज्ञान से शून्य बना रहता हुआ केवल जातिमात्रोपजीवी है, जिससे समाज की कोई रक्षा नहीं होती। ऐसा ब्राह्मण न तो ब्राह्मण ही है, न शर्म्मन् ही है। राष्ट्रपीड़ा को अपनी पीड़ा मानने वाला, तत्त्वनिष्ठ–शान्ति–स्वस्ति- द्वारा राष्ट्रसुख का प्रवर्त्तक ब्राह्मण ही राष्ट्र का 'शर्म्मन्' ब्राह्मण है।

४३–'चर्म्मन्' रूप 'शर्म्मन्' ब्रह्म से, एवं 'वर्म्मन्' क्षत्र से सुरक्षित–सुगुप्त राष्ट्र का वैश्यवर्ग, एवं उस की 'गुप्त' उपाधि का तात्त्विक समन्वय—

जिसप्रकार चर्म्मरूप शर्म्म से, तथा वर्म्मरूप कवच से अन्तरङ्ग–बहिरङ्ग–आक्रमणों से सुरक्षित बनता हुआ हमारा शरीर सुगुप्त–सुरक्षित–रहता है, ठीक इसीप्रकार राष्ट्र की अर्थशक्ति का प्रातिनिध्य करने वाला वैश्यरूप समाज शर्म्मा–ब्राह्मणरूप चर्म्म से, वर्म्मा–क्षत्रियरूप कवच से, दोनों रक्षकों से सुरक्षित–सुगुप्त बना रहता है। इसी तथ्य को सूचित करने के लिए व्यक्तराष्ट्र के व्यक्त–महान्बल–अर्थबल के प्रतिनिधि श्रेष्ठ वैश्यवर्ग को यहाँ के समाजशास्त्रियोंनें–'गुप्त' उपाधि से समलङ्कृत किया है। यह सर्वथा सुनिश्चित तथ्य है कि, जिस राष्ट्र में ज्ञानगुप्ति के अधिष्ठाता शर्म्माभावापन्न ब्रह्मवीर्य्य का, तथा कर्म्मगुप्ति (पौरुष) के अधिष्ठाता वर्म्माभावापन्न क्षत्रवीर्य्य का अभिभव हो जाता है, उस राष्ट्र का अर्थगुप्तिरूप वैश्यबल, एवं तदनुगत अर्थबल, सुख–शान्ति–स्वस्ति–सभी वैभव पलायित हो जाते हैं। ब्रह्म–क्षत्र से अरक्षित राष्ट्र का अर्थ कदापि सुगुप्त–सुरक्षित नहीं रह सकता। निश्चयेन ऐसे अरक्षित अर्थ को सशक्त आक्रान्ता अपने स्वत्वाधिकार में लेकर राष्ट्रस्वातन्त्र्य का अपहरण ही कर लेते हैं। यदि सौभाग्य से घुणाक्षरन्यायेन राष्ट्रको आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो भी जाती है, किन्तु दुर्भाग्य से राष्ट्र को इस अर्थस्वातन्त्र्ययुग में ब्रह्मक्षत्र (ज्ञान, और पौरुष) का सहयोग नहीं मिल पाता, तो ऐसा केवल अर्थस्वातन्त्र्य स्वच्छन्दस्क बनता हुआ स्वव्यवहार की नियन्त्रण–पद्धतियों में स्व (अर्थ) रूप से सर्वथा असमर्थ बनता हुआ कालान्तर में अनर्थपरम्पराओं का ही सर्ज्जक बन जाता है। अर्थ कदापि स्वयं अपना नियन्त्रण नहीं कर सकता। यही नहीं, प्रज्ञा–पौरुष–रूप ब्रह्म–क्षत्र के नियन्त्रण की सीमा से बहिर्भूत सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र अर्थ तो सर्वप्रथम कामभाव का आविष्कारक बन जाता है। अपने कामभावों की तात्कालिक–तुष्टि के लिए काममय विविध आयोजनों में तल्लीन हो जाता है। अन्ततोगत्वा इस कामार्थपरायणता से इस में वैसा व्यक्तित्वविमोहन उत्पन्न हो जाता है कि, यह स्वयं अपने आपको ही सर्वशास्ता–नियन्ता–भोक्ता–मान बैठने की भ्रान्ति में निमग्न हो पड़ता है। और यही राष्ट्रपतन का महान्

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दुर्भाग्यपूर्ण अवसर माना गया है। अर्थ और काम के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में मानसिक और शारीरिक भावों के अतिरिक्त बुद्ध्यनुगत ज्ञान, तथा आत्मानुगता प्रतिष्ठा, दोनों हीं इसप्रकार के अर्थकाममय स्वातन्त्र्य के लिए सर्वथा उपेक्षित ही बन जाते हैं। न राष्ट्र को ज्ञान अपेक्षित, न पौरुष। अपेक्षित रह जाते हैं केवल अर्थ–काम। क्या परिणाम, किंवा महाभयानक दुष्परिणाम होते हैं इस अर्थकामपरायणता के ?, प्रश्न का संस्मरण भी राष्ट्र की समृद्धि को, सुख–शान्ति–स्वस्ति को आज विकम्पित कर रहा है।

४३–'बलं सत्यादोजीयः'–श्रुतिवचन का समन्वय, एवं वणिक्तन्त्र की अर्थमूला महती भ्रान्ति—

निश्चय ही आज हमारा भारतराष्ट्र अर्थकामप्रधान ब्रिटिशसत्तातन्त्र के महान् दायादभोग के कारण अपना भी कुछ वैसा ही स्वरूप मान बैठा है। तद्युग के वैश्यबन्धुओंनें हीं इस मान्यता का प्रथमाविष्कार किया है। और इसी अर्थतन्त्र की आज यह स्वाभाविक–भाषा बन गई है कि–**'पैसे से सब कुछ ख़रीदा जासकता है'**। इसी भ्रान्ति ने राष्ट्र की संस्कृति–ज्ञानविज्ञान–धर्म्म–आचार–आदर्श–मानवता–आदि आदि विभूतियों को अन्तर्म्मुख बना दिया है। जड़ता जड़ता को ही ख़रीद सकती है, चैतन्य को नहीं। जब भी जड़ता चैतन्य पर आक्रमण करने चलती है, तो प्रथम तो जड़ता स्वयं ही पराभूत हो जाती है। यदि–**'बलं सत्यादोजीयः'** ? के अनुसार कुछ समय पर्य्यन्त जड़ता अपने धृष्टतापूर्ण नर्त्तन–गायन–वादन में सफल हो भी जाती है, तो चैतन्य तत्समय के लिए अन्तर्म्मुख हो जाता है। कालान्तर में यही जड़ता स्वयं अपने द्वारा ही समूल विनष्ट हो जाया करती है। यही शाश्वत देवासुरसंग्राम का चिरन्तन इतिवृत्त है। दुर्भाग्यवश आज हमारा सत्तातन्त्र भी इसी भ्रान्ति को प्रोत्साहित करता जारहा है। वणिक्तन्त्र की अर्थप्रवृत्ति की वासना हीं आज सर्वात्मना राष्ट्रीय–समस्याओं का एकमात्र निदान बनता जारहा है। कदापि ब्रह्म–क्षत्र के जागरण के बिना केवल अर्थस्वातन्त्र्य के बल पर राष्ट्र की–**'राजते'** उपाधि को चरितार्थ नहीं किया जासकता। ब्रह्म–क्षत्र ही राष्ट्र के चर्म्म–वर्म्म–स्थानीय रक्षक हैं। इन रक्षकों के बिना राष्ट्ररक्षा–राष्ट्रसमृद्धि अन्यान्य प्रयत्नसहस्रों से तो कदापि सम्भव नहीं है।

४४-क्रतु–दक्षात्मक मित्रब्रह्म, एवं वरुणक्षत्र की समन्वयमूला राष्ट्ररक्षा का सामञ्जस्य–

उक्त सन्दर्भ के माध्यम से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मानवसमाज ही अन्तरङ्गरक्षा का भार 'ब्राह्मण' से ही अनुप्राणित है। क्षत्रिय एकांश का रक्षक अवश्य है। किन्तु यह रक्षाबल इसे प्राप्त हुआ है–ब्राह्मण के द्वारा ही। राज्याभिषेक के अवसर पर मन्त्रपूत विभिन्न–जलाभिषेकों से ब्राह्मण हीं क्षत्रिय–राजा में उस वीर्य्य का आधान करता है, जिसके बल पर यह शासनदण्ड–सञ्चालन में समर्थ बन पाता है। अतएव श्रुति ने ब्रह्म को ही क्षत्र की योनि (प्रतिष्ठा) माना है। अतएव मैत्रावरुणग्रह-विज्ञान–प्रतिपादिका श्रुति ने ब्राह्मण को **अभिगन्ता** माना है, एवं क्षत्रिय–राजा को **कर्त्ता** कहा है। अग्रगामी ब्राह्मण पथप्रदर्शक है, निर्द्दिष्ट पथ पर ब्राह्मण के पीछे पीछे चलने वाला सत्तातन्त्र है। इसीलिए तो ब्राह्मण को–**'पुरोधा'** (आगे चलने वाला) कहा गया है। आज्ञा–ब्राह्मण की, कर्म्म सत्तातन्त्र का। यही क्रतु–दक्षात्मक मित्रब्रह्म–तथा वरुणक्षत्र का वह सामञ्जस्य है, जिसके द्वारा राष्ट्र ही की स्वरूपरक्षा हुआ करती है।

४५–ब्रह्मप्रतिष्ठामूलक सत्तातन्त्र, एवं महात्मा भीष्म के द्वारा सत्तातन्त्र का महान् उद्बोधन—

प्रस्तुत निबन्ध के प्रथम प्रकरण में ब्रह्म–क्षत्र के सामञ्जस्य से सम्बन्ध रखने वाले इस प्राकृतिक रहस्य का मैत्रावरुणग्रहविज्ञानात्मक श्रौतसन्दर्भ के द्वारा विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। निवेदन–निष्कर्ष यही है कि, ब्रह्ममित्रप्राणात्मक, अतएव 'मैत्र' नाम से प्रसिद्ध तत्त्ववित् ब्राह्मण के द्वारा प्राप्त बल पर ही क्षत्रवरुणप्राणात्मक क्षात्र सत्तातन्त्र का वर्म्मस्थानीय बहिरङ्ग–रक्षाकर्म्म प्रतिष्ठित है। ब्रह्मप्रतिष्ठा से वञ्चित क्षत्र कदापि इस बाह्यरक्षा कर्म्म में सफल नहीं हो सकता। **'ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति'** श्रुति से स्पष्ट ही क्षत्रियसत्ता की ब्राह्मणाश्रयता प्रमाणित हो रही है। अतएव कहा, और माना जासकता है कि, अपने चतुर्विध रक्षाकर्म्मों के साथ साथ क्षात्रसत्तातन्त्र के द्वारा होने वाले आधिभौतिक–रक्षाकर्म्म में भी परम्परया ब्राह्मण की रक्षा ही प्रतिष्ठित हो रही है। यों ब्राह्मण हीं तत्त्वतः पाँचों रक्षाकर्म्मों का साक्षात्, तथा परम्परया अधिष्ठाता बना हुआ है। अतएव ब्राह्मण को ही मानवसमाज का प्रधान संरक्षक माना जासकता है, माना गया है। अतएव सत्तातन्त्र का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, राष्ट्र के अन्यतम महान् संरक्षक इस ब्राह्मणवर्ग का सर्वात्मना जागरूकता से संरक्षण करता रहे। सत्ता के द्वारा अपनी संस्कृतिनिष्ठा से सुरक्षित ब्राह्मण हीं राष्ट्र का विपत्तिपञ्चक से परित्राण किया करता है। जो सत्तातन्त्र ब्राह्मण की उपेक्षा कर देता है, उस राष्ट्र की ब्राह्मणमूला संस्कृति अरक्षित होजाती है। संस्कृति के अरक्षित हो जाने से राष्ट्र का ब्राह्मण अरक्षित हो जाता है। एवं एकमात्र सत्ताओं के अपराध–प्रमाद–उपेक्षा–निरपेक्षिता–आदि दोषों से ही यों परम्परया राष्ट्र का ब्राह्मण, उस की संस्कृति–सब कुछ अरक्षित ही बन जाते हैं। सांस्कृतिकबल से शून्या सत्ता, एवं ब्राह्मण, दोनों का ही, सहज भाषा में ब्रह्म–क्षत्र–दोनों का ही स्वरूप अभिभूत हो जाता है। ब्रह्म अन्तर्म्मुख हो जाता है, क्षत्र विनष्ट हो जाता है। दोनों रक्षकों के इस दशा पर पहुँचने के अनन्तर राष्ट्र सर्वथा अरक्षित हो जाता है। अरक्षित राष्ट्र तथाकथित पाँचों विपत्तियों का लक्ष्य बन जाता है। इसी स्थिति को लक्ष्य बना कर महाभारतकारने अश्वपति केकयराज, तथा कबन्ध अथर्वाराक्षस की संवादभाषा में ब्राह्मण को ही राष्ट्र का अन्यतम रक्षक उद्घोषित किया है, जैसाकि तत्प्रकरण के निम्न लिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है।

केकय उवाच—**आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्म्मवित् ॥**
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥१॥
गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम ॥
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥२॥

राक्षस उवाच—**येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं प्रजारक्ष्याश्च केकय ! ॥**
न रक्षोभ्यो भयं तेषां, कुत एव तु पावकात् ॥३॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्मपरं बलम् ॥
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥४॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भीष्म उवाच—तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत, ते हि रक्षन्ति रक्षिताः ॥
आशीरेषां भवेद् राजन् ! राज्ञां सम्यक्-प्रवर्त्तताम् ॥५॥
तस्माद् राज्ञा विशेषेण विकर्म्मस्था द्विजातयः ॥
नियम्याः संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥६॥
—महाभारत शान्तिपर्व राज० ७७ अध्याये

४६-ब्रह्मवीर्य्यानुगत ब्राह्मण की स्वानुगता स्वरूपरक्षा का मौलिक रहस्य, एवं सत्तातन्त्र के राष्ट्रीय-रक्षाकर्म्म का मूलबीज —

यह एक अविस्मरणीय तथ्य है कि, राष्ट्र का ब्राह्मण अपने आभ्यन्तर स्वरूप से सदा 'ब्राह्मण' हीं बना रहता है, बना रहेगा, जबकि इतर वर्ग राष्ट्र के प्रति निरपेक्ष बन जाया करते हैं। राष्ट्रीय आपत्तिकालों में अपने बाह्यस्वरूप से अरक्षित भी ब्राह्मण अपने आभ्यन्तर स्वरूप से सदा सुरक्षित ही बना रहता है। सत्तातन्त्र के द्वारा उपेक्षित ब्राह्मण का बाह्य स्वरूप बदल सकता है, बदल रहा है, बदलता रहेगा। किन्तु स्वयं अपने रूप से ब्राहाण ब्राह्मण हीं बना रहता आया है, इस तथ्य को 'मित्र-ब्रह्म' के स्वरूप से वञ्चिता आज की भूतप्रज्ञा कदापि हृदयङ्गम नहीं कर सकती। सत्तातन्त्र के सहयोग से अपने बाह्य स्वरूप को सुसमृद्ध बनाता हुआ ब्राह्मण राष्ट्रसमृद्धि का कारण बन जाता है। सत्तासहयोग से वञ्चित ब्राह्मण इस राष्ट्रसमृद्धि से वञ्चित रहता हुआ भी अपने स्वरूप से कदापि अभिभूत नहीं होता, जैसे कि ब्राह्मण की सांस्कृतिक-निष्ठा से वञ्चित सत्तातन्त्र, तथा तत्सहैव अन्यान्य वर्ग अपना स्वरूप ही खो बैठते हैं। श्रुतिनें निम्न लिखित शब्दों में इसी तथ्य का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—**"यह सर्वथा ही ठीक ठीक है, प्रकृतिसिद्ध ही है कि, ब्राह्मण अराजन्य भी रह सकता है। अर्थात् सत्ता से पृथक् रह कर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं हो पाता। यदि इसे राजन्य (सत्ता) का सहयोग मिल जाता है, तो यह राष्ट्र की समृद्धि है। किन्तु यह तो सर्वथा ही अनुपपन्न है कि, ब्राह्मण के सहयोग के बिना राजन्य (सत्ता) स्वस्वरूप से सुरक्षित रह जाय। ब्राह्मण अराजन्य भी रह सकता है, किन्तु राजन्य कदापि अब्राह्मण (ब्राह्मण के सहयोग से वञ्चित) होकर स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रह सकता। ब्राह्मणनिष्ठा के सहयोग से वञ्चिता राजन्यसत्ता का कोई भी कर्म्म समृद्ध-सफल हो ही नहीं सकता। अतएव आवश्यक है कि, सत्तातन्त्र सर्वात्मना ब्राह्मणनिष्ठा को आधार बना कर ही राष्ट्ररक्षाकर्म्म में प्रवृत्त हो"** (शत० ब्रा० ४ काण्ड। १ अध्याय। ४ ब्राह्मण। ६ ठी कण्डिका।

४७-ब्राह्मण की वहिर्भावुकतामूला पतनावस्था का एकमात्र उत्तरदायी सत्तातन्त्र, एवं तत्र महात्मा भीष्म के द्वारा सत्ता को उद्बोधन प्रदान—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि, जहाँतक ब्राह्मण के अपने ब्राह्मणत्वनिबन्धन स्वरूप का प्रश्न है, उस सीमापर्य्यन्त तो ब्राह्मण सुरक्षित है अपने ही स्वरूप से। सत्ता के द्वारा इस ब्राह्मणत्त्व की रक्षा नहीं होती। अपितु सत्ता तो ब्राह्मण के बाह्य लोकजीवन का रक्षणमात्र करती है। लोकजीवनात्मिका रक्षा से रक्षित ब्राह्मण का लोकस्वरूप सत्ता-को समृद्धिसूत्र प्रदान करता हुआ राष्ट्रसमृद्धि का कारण बन जाता है। अतएव इस

'ब्राह्मणरक्षा' के गर्भ में राष्ट्रीय–सत्ता के अपने स्वरूप की रक्षा का ही बीज सुरक्षित है। कदापि इसके साथ ब्राह्मण के प्रति कोई उपकार–दया–करुणा–भाव का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु ये शब्द तो ब्राह्मण की ओर से सत्ता को ही उपलब्ध होते रहते हैं, जैसाकि—**'आशीरेषां भवेद् राजन्! राज्ञां सम्यक्प्रवर्त्तताम्'** से स्पष्ट है। ब्राह्मण की सहज दया-करुणा–मिश्रिता आशीः से ही सत्तातन्त्र सुरक्षित रह सकता है, रहता आया है। अतएव सत्ता को कभी इस भ्रान्ति में नहीं पड़ जाना चाहिए कि, "वह ब्राह्मण के लोकजीवन की रक्षा करती हुई ब्राह्मण पर दया कर रही है"। जब से राजन्य-सत्तातन्त्रों में इस भ्रान्ति का उदय हो पड़ा है, जब से सत्तातन्त्रोंनें अपने आपको आश्रय, तथा ब्राह्मण को आश्रित मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति का श्रीगणेश कर दिया है, तभी से सत्ताश्रित-राज्याश्रित यहाँ के ब्राह्मण की बाह्य जीवनपद्धति सर्वथैव दासभाव में हीं परिणत हो गई है, जो कि ब्राह्मण का पतन ही माना गया है। कदापि स्वयं ब्राह्मण इस पतन का कारण नहीं है। अपितु सत्ता की 'आश्रय' प्रदानरूपा भ्रान्ति से ही ब्राह्मण का बाह्य स्वरूप विकृत बन गया है आज। स्पष्ट ही ब्राह्मण के इस बाह्य पतन का एकमात्र कारण सत्तातन्त्र को ही माना जाना चाहिए, माना गया है। अन्यथा अपने आभ्यन्तर स्वरूप से तो ब्राह्मण तो आज भी ब्राह्मण ही है। आज भी ब्राह्मण की मूलसंस्कृति ही येन केनरूपेण सर्वत्रैव परम्परया राष्ट्र का आधार बनी हुई है। **विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तु 'मर्हति'**। महात्मा भीष्मने विस्पष्ट शब्दों में यही तथ्य युधिष्ठिर के सम्मुख रक्खा है। वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि, लोकजीवनपद्धति की दृष्टि से हीन प्रमाणित हो जाने वाले ब्राह्मणों की इस हीनता का स्वयं ब्राह्मण कदापि कारण नहीं है। अपितु यह तो सता के अपराध से ही विवश बन जाता है इस हीन जीवन-पद्धति को अपनाने के लिए। देखिए!

भीष्मउवाच—ब्राह्मणानाञ्च ये केचिद्विकर्म्मस्था भवन्त्युत ॥
विकर्म्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ॥
नियम्याः संविभज्याश्च 'धर्म्मानुग्रहकारणात्' ॥१॥
यस्य स्म विषये राजन्! स्तेनो भवति वै द्विजः ॥
"राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः" ॥२॥
अवृत्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित् स्नातकस्तथा ॥
राजन्! स राज्ञा भर्त्तव्य-इति 'वेदविदो विदुः' ॥३॥

—महाभारत शा० राज० ७६ अध्याय।

४८–'धर्म्मानुग्रहकारणात्'-मूलक भीष्मवचन की श्रुतिसिद्धान्त के द्वारा प्रामाणिकता का समन्वय—

'धर्म्मानुग्रहकारणात्'। अर्थात् धर्म्म के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए ही तत्सन्देशवाहक ब्राह्मण की बाह्य-लोकजीवनपद्धति का सत्ता के द्वारा संरक्षण आवश्यक है। अर्थात् ब्राह्मण के अनुग्रह के लिए ही ब्राह्मण-रक्षा आवश्यक है, न कि इस सत्ता से रक्षण ब्राह्मण पर कोई अनुग्रह कर रही है। 'ते हि रक्षन्ति रक्षिताः'

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

का भी यही अर्थ है । अतएव ब्राह्मण को जहाँ अपने रूप से सत्ता के प्रति सर्वथा निरपेक्ष ही रहना चाहिए, वहाँ सत्ता को सदा प्रणतभाव से ब्राह्मण के प्रति सापेक्ष ही बना रहना चाहिए, जैसाकि—"**उप मावर्त्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवै, त्वत्प्रसूतः कर्म्म करवै। तस्माद् क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्यमाणेन–उपसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः । सं हैवास्मै (सत्तातन्त्राय) तत् ब्रह्मप्रसूतं कर्म्मर्ध्यते**" इत्यादि मैत्रावरुणग्रहश्रुति से भी स्पष्ट है ।

४९–ब्रह्मबलात्मक 'सांस्कृतिकबल', तदभिन्न–'धर्म्मबल', एवं तद्द्वारा राष्ट्र का स्वरूप-संरक्षण—

उक्त विवेचन से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच ही जाना पड़ा कि, प्रक्रान्त प्रश्न का एकमात्र प्रमुख समाधान तत्त्वज्ञ–आचारनिष्ठ-राष्ट्रीय–ब्राह्मण हीं है। ब्राह्मण ही पाँचों विपत्तियों से राष्ट्र के मानवसमाज की रक्षा करने में समर्थ है । अब प्रश्न केवल यही शेष रह जाता है कि, ब्राह्मण के कोष में वह ऐसा कौनसा रक्षाबल है, जिससे यह राष्ट्रमानव की रक्षा में समर्थ हो जाता है, जबकि प्रत्यक्ष में कोई भी भूतबल इसके सान्निध्य में उपलब्ध नहीं हो रहा ? । प्रश्न का समाधान है–**'ब्रह्मबल'**, 'ब्रह्मबल' का अर्थ है–**'तपोयुक्त विद्याबल'**, विद्याबल का अर्थ है–स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक ऋक्-यजुः-सामार्थवरूप वेदतत्त्व से अनुप्राणित सृष्टि के रहस्यात्मक ज्ञानविज्ञानमय तात्त्विक स्वरूप की स्वरूपव्याख्या । इसी बल का नाम है–'सांस्कृतिकबल' । यही बल मानव को स्वरूपबोध कराने की क्षमता रखता है । स्वरूपबोध से समन्वित मानव ही प्रकृतिसिद्ध आचारव्यवस्था पर स्वयं अपनी इच्छा से ही प्रतिष्ठित हो जाता है । आचारव्यवस्था का नाम हीं है–**'धर्म्म'** । यही धर्म्म मानव को अधर्म्मपथ से बचाता है । प्रकृतिविरुद्धगमन हीं अधर्म्म है । धर्म्मानुगति से अपनी जीवनपद्धति को व्यवस्थित रखने वाले मानव के बुद्धि–मन–शरीर–तीनों हीं तन्त्र सर्वथा सुव्यवस्थित बने रहते हैं, जो कि धार्म्मिक जीवनपद्धति-"**दाम्पत्यजीवनमूला-गृहस्थाश्रमप्रधाना-आश्रमजीवनपद्धति**" कहलाई है । इस पद्धति पर प्रतिष्ठित रहने वाले व्यक्ति–परिवार–समाज–राष्ट्र–चारों हीं तन्त्र सर्वात्मना स्व-स्व-स्वरूपों से अपनी अपनी धर्म्मनिष्ठाओं से सुरक्षित बने रहते हैं । यों ब्राह्मण की ज्ञानविज्ञानसंस्कृतिरूपा–धर्म्मनिष्ठा से मानवसमाज सुरक्षित बना रहता है, इसी आधार पर–**'धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है । धर्म्मव्यवस्थापक ब्राह्मण है, धर्म्मसूत्रों की बाह्य आचारपद्धतियों का नियामक क्षात्र सत्तातन्त्र है । उभय तन्त्रों से सुरक्षित–सुव्यवस्थित धर्म्म हीं समाज–राष्ट्र की रक्षा करता है । और **'धर्म्मो रक्षति रक्षितः'** का यही रहस्यात्मक समन्वय है, जिस इत्थंभूत आत्मबुद्धिसम्मत धर्म्म की सुसूक्ष्मा गति–प्रतिष्ठा को केवल मनःशरीरधर्म्मा भूतासक्त मानव कदापि समन्वित नहीं कर सकता, नहीं कर सकता । और केवल भूतासक्ति को ही मानवजीवन का परमपुरुषार्थ मान बैठने वाला ऐसा ही समाज ब्रह्मक्षत्रानुबन्धी धर्म्म से पराङ्मुख होकर तथाविध पञ्चविध विपत्तियों का सम्मान्य अतिथि बना रहता है । **'तस्माद् धर्म्मं परमं वदन्ति'** (शत०) ।

५०–प्रासङ्गिक–'बल' शब्द, एवं तत्सम्बन्ध में सत्तातन्त्र की भ्रान्ति—

प्रसङ्ग 'बल' का चल पड़ा । अतएव दो शब्दों में इस 'बल' शब्द का भी इतिहास जान लेना आवश्यक होगा । 'बल' शब्द का सम्मान आज एकमात्र 'सत्तातन्त्र को ही दिया जा रहा है । प्राकृतभाषा में बल का अर्थ किया जाता है–'ताक़त' । और सत्ता को ही इस 'ताक़त' से समन्वित माना–मनवाया जा रहा है ।

सत्ता वर्त्तमाम में 'अर्थप्रधाना' है। अतएव कह सकते हैं कि,–'अर्थबल' का ही नाम आज 'सत्ताबल' माना जा रहा है। भारतीय परिभाषा में बल का मापदण्ड क्या है?, प्रश्न के समन्वयमात्र से स्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण हो जाता है, जिस मापदण्ड का आधार स्वयं चतुष्पर्वा व्यक्तिमानव ही बना हुआ है।

५१–मानवसंस्थानुगत–आत्मबल, बुद्धिबल, मनोबल, एवं शरीरबल,-रूप चतुर्विध बलों का सोदाहरण स्वरूप–समन्वय—

मानवसंस्था में **आत्मबल–बुद्धिबल–मनोबल–शरीरबल**–इन चार बलों का बीजरूप से अवस्थान है, जिनके आधार पर **विद्या–पराक्रम–वीर्य्य–बल**–इन चार बलों की व्यवस्था हुई है। शरीरबल ही **'बल'** नामक बल है। मनोबल ही **'वीर्य्य'** नामक बल है। बुद्धिबल ही **'पराक्रम'** नामक बल है। एवं आत्मबल ही–**'विद्याबल'** नामक बल है। शरीरबलात्मक 'बल' का उदाहरण **'हाथी'** है। मनोबलात्मक 'वीर्य्य' का उदाहरण **'सिंह'** है। बुद्धिबलात्मक 'पराक्रम' का उदाहरण बुद्धिमान् **'प्राकृत मानव'** है। एवं आत्मबलात्मक 'विद्याबल' का उदाहरण आत्मनिष्ठ–**'ज्ञानविज्ञाननिष्ठ मानव'** है। चारों बलों में उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्व पूर्व बल श्रेयान्–ज्यायान्–बलीयान् हैं। बलशाली हाथी को वीर्य्यशाली सिंह परास्त कर देता है, तो वीर्य्यशाली सिंह को पराक्रमशाली मानव पञ्जरबद्ध कर देता है। ज्ञानविज्ञाननिष्ठ विद्याशाली मानव प्राकृतमानवों के सम्पूर्ण बुद्धिदम्भ को क्षणमात्र में छिन्न भिन्न कर सकता है (करता नहीं लोक–भावुकतासंरक्षण-संग्रह–दृष्टि से)।

५२–ब्रह्म–क्षत्र–विट्–शूद्र–भावानुगत वर्च्–भ्राज–द्युम्न–सुम्न–रूप चतुर्विध तेजोभावों का समन्वय—

ये ही चारों बल परिवार में क्रमशः **कुलवृद्ध–युवापुत्र–नारी–बाल**–इन चारों में व्यवस्थित बनते हैं। परिवारद्वारा ये ही चारों बल क्रमशः-**ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र**–इन चार प्राकृतिक–वर्णमानवों में यथाक्रम व्यवस्थित होते हैं। यहाँ आकर इन चारों के क्रमशः **ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण** ये नाम हो जाते हैं। एकप्रकार का 'तेज' ही बल है। एवं चारों ही बलात्मक तेज अपना अपना विभिन्न स्वरूप रख रहे हैं। अतएव चारों के नामरूपगुणकर्म्म भी सर्वथा विभिन्न हीं मानें गए हैं। ब्रह्मबलावच्छिन्न विद्याबल से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण का सुशान्त–किन्तु अन्तः प्रदीप्ततम तेज ही–**'वर्च्'** कहलाया है। क्षत्रबलावच्छिन्न–पराक्रमबल–से सम्बन्ध रखने वाले क्षत्रिय का उग्र तेज ही–**'भ्राज'** कहलाया है। विड्बलावच्छिन्न–वीर्य्यबल से सम्बन्ध रखने वाले वैश्य का रत्न–मणि-माणिक्यादि-भूतज्योतियों से समन्वित–बाह्यप्रदर्शनात्मक–तेज ही–**'द्युम्न'** कहलाया है। एवं पौष्णबलावच्छिन्न बलात्मक बल से सम्बन्ध रखने वाले शूद्र का तेज ही–**'सुम्न'** कहलाया है। सुम्न अरक्षित है द्युम्न के बिना। द्युम्न अरक्षित है भ्राज के बिना। एवं तीनों हीं अरक्षित हैं–वर्च् के बिना। अतएव ऋषिप्रज्ञा ने सर्वरक्षासाधनभूत वर्च्–कामना को ही राष्ट्रीय अन्यान्य कामनाओं के समतुलन में प्रमुखता प्रदान करते हुए कहा है–**'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम'** (यजुःसंहिता)। जिस राष्ट्र का वर्चोलक्षण भूतात्मनिबन्धन–सांस्कृतिक–ब्राह्मणबल अन्तर्म्मुख बन जाता है, उस राष्ट्र के बुद्धि–मनः–शरीर–निबन्धन भ्राज–द्युम्न–सुम्न–सभी इतर तेज सर्वथा अरक्षित बनते हुए कालान्तर में नष्ट ही हो जाते हैं। इसी आधार पर राजर्षि विश्वामित्र की–**'धिग् बलं क्षत्रबलं–**

ब्रह्मतेजो बलं बलम्' यह उद्‌गारसूक्ति समन्वित हुई है। वर्त्तमान सत्तातन्त्रने चारों में से किस बल को आज प्रमुखता प्रदान कर रक्खी है ?, इस प्रश्न की मीमांसा का उतरदायित्व हमसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। स्वयं सत्ता को ही इस मीमांसा का समन्वय कर लेना चाहिए प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर तालिकामाध्यम के द्वारा।

१–आत्मा–आत्मबलम्—तदेव–विद्याबलम्
२–बुद्धिः—बुद्धिबलम्—तदेव–पराक्रमबलम्
३–मनः—मनोबलम्—तदेव–वीर्य्यबलम्
४–शरीरम्–शरीरबलम्–तदेव–बलंबलम्

—**व्यक्तिमानवानुगता–बलचतुष्टयी**

* * *

१–विद्याबलात्मकं—वर्चतेजः–परिवारे कुलवृद्धस्य, समाजे ब्राह्मणस्य — **रक्षकं बलम्**
२–पराक्रमबलात्मकं—भ्राजतेजः–परिवारे युवापुत्रस्य, समाजे क्षत्रियस्य
३–वीर्य्यबलात्मकं—द्युम्नतेजः–परिवारे नारीवर्गस्य–समाजे वैश्यस्य
४–बलबलात्मकं—सुम्नतेजः–परिवारे बालवर्गस्य—समाजे शूद्रस्य

रक्षिता बलत्रयी

* * *

५३–राष्ट्र का सर्वमूर्द्धन्य 'वर्च' तेज, एवं तत्प्रधान राष्ट्रीय रक्षाकर्म्म—

ऋषिप्राणात्मक–अपौरुषेय–तत्त्वात्मक–स्वायम्भुव वेदसत्य ही प्राकृतिक विश्व की मूलप्रतिष्ठा है, जो इत्थंभूत रहस्यात्मक तत्व विगत ३ सहस्र वर्षों से उत्पीड़ित ब्राह्मण की प्रज्ञा से भी पराङ्मुख बन गया है। तथाविध तत्त्ववेद के ज्ञानविज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषक शब्दात्मक–मन्त्रब्राह्मणात्मक ग्रन्थ ही वेदशास्त्र कहलाया है। पितर–देवता–मानव की, किंबहुना समस्त चराचर विश्व की जीवनपद्धति के

तत्त्वात्मक बीज इसी सनातनशास्त्र के गर्भ में निहित हैं * । अतएव इस ऋषिकृतशास्त्र को भी तत्त्ववेद दृष्ट्या–'ऋषिदृष्ट' का सम्मान मिल गया है । यही इसका मन्त्रत्व है । इत्थंभूत प्राकृतिक रहस्यशास्त्र का मर्म्मज्ञ विद्वान् ब्राह्मण हीं 'द्विजाति' उपाधि का वास्तविक अधिकारी माना गया है ÷ । यत्नपूर्वक जागरूकता के साथ वेदाभ्यास में प्रतिष्ठित ब्राह्मण हीं दम–शम–पूर्वक आत्मनिष्ठा में हीं तल्लीन रहा करता है ×। ऐसा आत्मनिष्ठ वेदतत्त्वज्ञ ब्राह्मण हीं उस 'ब्रह्मवर्च्' से समन्वित रहता है, जो वर्च् राष्ट्र की विपत्तिपञ्जक से रक्षा करता रहता है ।

५४–प्रतीक–धर्म्मों के व्यामोहन के प्रति राजर्षि का उद्बोधनसूत्र—

'यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय' वाक्य अत्यन्त ही चमत्कारपूर्ण उद्बोधनसूत्र है ब्राह्मण के लिए । अनुशीलन–आचरण–अनुसरण–अनुकरण–भेद से चतुर्द्धा विभक्त आचारात्मक प्रतीकधर्म्म ही 'साध्यधर्म्म' माना गया हैं, जिसका प्रथम प्रकरण में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जा चुका हैं । अवश्य ही अमुकदृष्टि से प्रतीकात्मक इस आचारधर्म्म का भी बड़ा ही महत्त्व है । यही लोकसंग्रह की मूलप्रतिष्ठा भी है । किन्तु कदापि प्रतीक ही सर्वस्व नहीं है । वेदतत्त्वानुगत आत्मबोध पर प्रतिष्ठित रह कर ही प्रतीकधर्म्म 'धर्म्म' सीमा में अन्तर्भूत हुआ करता है । अतएव दोनों के समतुलन में आत्मबोधोपयिक वेदतत्त्वचिन्तनात्मक स्वाध्यायधर्म्म ही प्रधान बना हुआ है राजर्षि की दृष्टि में । जब दोनों का संघर्षावसर उपस्थित हो जाय, तो निश्चयेन निःसंकोच प्रतीकधर्म्मों की उपेक्षा कर देनी चाहिए । एवं अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को वेद–स्वाध्याय में, तथा तदनुगत आत्मबोध में हीं समर्पित कर देनी चाहिए । आज के प्रतीकभक्त, किन्तु वेदशास्त्र–स्वाध्यायविमुख ब्राह्मणों के लिए राजर्षि के इस–**'यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय वेदाभ्यासे यत्नवान्'** उद्बोधनसूत्र से अधिक और क्या उद्बोधन–पथ होगा ? ।

५५–प्रतीकव्यामोहन से ब्राह्मण के रक्षाबल का राष्ट्रभक्षणकर्म्म में उपयोग—

वेदशास्त्रस्वाध्याय से उत्पन्न होने वाली वर्च्बलान्विता आत्मनिष्ठा ही ब्राह्मण का वह महान् 'आत्मबल' है, जिस के द्वारा बौद्धिक पराक्रम–मानसिक वीर्य्य–शारीरिक बल–तीनों परास्त हो जाया करते हैं । इसी विद्याबलात्मक वेदबल से सत्यनिष्ठापूर्वक राष्ट्ररक्षाकर्म्म में प्रवृत्त ब्राह्मण राष्ट्र की रक्षा करने में निश्चयेन समर्थ बन जाता है । 'सत्यनिष्ठापूर्वक' यह वाक्य इसलिए उद्धृत करना पड़ा कि, इस आत्मबल का व्यक्तित्वविमोहन से पापाचरणात्मक-मायाचारों में भी उपयोग सम्भावित है । अवश्य ही

---

*–पितृ–देव–मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ।। (मनुः १२।९४)

÷–एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति, नान्यथा ।। (मनुः १२।९३)

×-यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्यात्–वेदाभ्यासे च यत्नवान् ।। (मनुः १२।९२)

शस्त्र से यदि अपराधी को दण्ड दिया जा सकता है, तो स्वार्थसाधन के लिए वही शस्त्र निरपराधी के ग्रीवानिकृन्तन का भी काम कर सकता है। सम्पूर्ण विश्व के सुसूक्ष्म तथ्यों का स्वरूपविश्लेषक वेदशास्त्र जिसकी प्रज्ञा में समाविष्ट हो जाय, वह यदि इस बल का रक्षात्मक पुण्यभावों के स्थान में विनाशात्मक पापभावों में उपयोग लेने लग पड़े, तो क्या हो ?, सर्वनाश। **'कुतस्तत्र प्रतीकारो-रक्षको यत्र भक्षकः'**।

५६–'न वेदबलमाश्रित्य पापकर्म्मरुचिर्भवेत्' का समन्वय—

और क्षमा करेंगे हमें हमारे ब्राह्मणबन्धु, जिन की सहज ब्राह्मणप्रज्ञा ने–विगत शताब्दियों से वेद–आगम-आदि बलाभासों के विमोहन से अपने आपको स्वरूपविमुग्ध करते हुए वेदपुराणस्मृत्यादि शास्त्रों के नामव्याज से मायाचारों को ही प्रोत्साहित किया है। जघन्या-मलीमसा–ब्राह्मण्य-विरोधिनी प्रतिक्रिया के आवेश में आकर क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत बन कर ब्राह्मणों नें हीं शास्त्रनिष्ठा को कलुषित किया है। जिसने शास्त्र से जैसा चाहा, वैसा ही वर प्राप्त कर लिया इन ब्राह्मणों से। मानो शास्त्र का अपना कोई निश्चित स्वरूप है ही नहीं। यों निर्भ्रान्त–शास्त्र भी मायाचारों के द्वारा आज सर्वथा अश्रद्धा का ही कारण बन गया है। अतएव राजर्षि को यह उद्बोधन सूत्र भी प्रदान करना पड़ा कि—

न वेदबलमाश्रित्य पापकर्म्मरुचिर्भवेत् ॥
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म्म, नेतरत् ॥

५७–मानवीय उद्बोधनसूत्र का रहस्यात्मक समन्वय—

उद्बोधनसूत्र की आवश्यकता यह प्रतीत हुई राजर्षि को कि, इन्होंनें वेदस्वाध्यायनिष्ठारूप तप को भूतात्मा के कर्म्मज–पाप दोषों का निवारक बतलाया है। वेदस्वाध्यायनिष्ठ द्विजाति का यह तपोऽग्नि इसके सञ्चित पापादि दोषों को उसी प्रकार जला डालता है, जैसे कि प्रचण्ड–प्रदीप्त– अग्नि आर्द्र (गीले) वृक्षों को भी भस्मसात् कर दिया करता है *। इसी आधार पर वेदज्ञ को यह भी भ्रान्ति हो सकती है कि–"मैं यदि स्वार्थसिद्धि के लिए अमुक पापाचार–मायाचार–करता भी रहूँगा, तो वेदाग्नि इन पापसंस्कारों को भी कर्म्मज दोषों की भाँति जलाता हीं रहेगा। और यों पापाचारों से होने वाले लाभ तो मुझे मिलते रहेंगे, किन्तु इन से उत्पन्न पापसंस्कार मेरा कोई अनिष्ट न कर सकेंगे"। इसी काल्पनिक भ्रान्ति के निराकरण करने के लिए राजर्षि को आगे चल कर–**'अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म्म, नेतरत्'** यह कहना हीं पड़ा। भूल से, किंवा बुद्धिविभ्रम से होने वाला दोष ही नष्ट हुआ करता है वेदाग्नि से। किन्तु जो पाप जान बूझ कर स्वार्थसाधन के लिए किया जाता है, कदापि उससे वेदज्ञ का भी परित्राण नहीं हो सकता। **"अतएव कदापि स्वप्न में भी इस वेदनिष्ठ मित्रब्राह्मण को किसी भी अवस्था में पापाचार–मायाचार–का स्वप्न में भी संस्मरण भी नहीं करना चाहिए"**।

---

*–यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान्।
तथा दहति वेदज्ञः कर्म्मजं दोषमात्मनः ॥
—मनुः १२।१०१।

५८–ब्राह्मण के रक्षाबल से समन्वित 'रक्षासूत्र', एवं तदनुबन्धी 'रक्षाबन्धनपर्व'—

अब यह सर्वात्मना संसिद्ध हो चुका है कि, एकमात्र वेदवित् ब्राह्मण हीं प्राकृतिक रहस्यज्ञानात्मक-सांस्कृतिक-धर्म्मबल से मानवसमाज का संरक्षक बना हुआ है, जिसका तात्पर्य्य है-'**वेदविद्या**' । यह वेदविद्या ही वह '**रक्षासूत्र**' है, जिससे क्षत्रिय-ब्राह्मण-सच्छूद्रादि को आबद्ध कर ब्राह्मण इन की रक्षा किया करता है । एवं यही-'**रक्षाबन्धनकर्म्म**' का मूलबीज है, जिसके लौकिक स्वरूप के समन्वय का उत्तरदायित्व लोकप्रज्ञा पर ही निर्भर माना जायगा । हमें तो इस सम्बन्ध में यही दिग्दर्शन करा देना अभीष्ट था कि, ब्राह्मण हीं वेदनिष्ठा के द्वारा समाज का रक्षक है । नियतिःसत्य से समन्वित सूत्रात्मा ही वेदसत्य का प्रवर्त्तक है । इस सूत्रसत्य से ही नियतिःसत्य (धर्म्म) रूप वेदसत्य भी सूत्रात्मा बना हुआ है । यही वह 'रक्षासूत्र' है, जिसका मानव के प्रकृतिभेदभिन्न-स्व-स्वनियत-कर्त्तव्य-कर्म्मों के साथ सम्बन्ध कराता हुआ, कर्म्म को रक्षासूत्र से आबद्ध-नियमित-व्यवस्थित करता हुआ ब्राह्मण अपने इस रक्षाबन्धनकर्म्म से मानवसमाज का विपत्तिपञ्जक से परित्राण कर लेता है । एवं यही रक्षासूत्रबन्धनात्मक-'रक्षाबन्धनकर्म्म' का तात्त्विक स्वरूप-परिचय है, जिसके अनुबन्धन से अवश्य ही इस पर्व को-'ब्राह्मणपर्व' कहा जासकता है, कहा गया है लोकमान्यता में ।

५९–रक्षाबन्धनकर्म्म की लौकिक-व्याख्या का उपक्रम—

अवश्य ही आत्मनिष्ठ मानवों के लिए तो रक्षाबन्धन–पर्व की यही व्याख्या पर्य्याप्त बन जायगी । किन्तु जो बुद्धिमान् हैं, मनोऽनुगत हैं, शरीरधर्म्मा हैं, वे एतावता ही तुष्ट-तृप्त नहीं हो सकते । उनके बौद्धिक विजृम्भण के लिए, मानसिक उपलालन के लिए, तथा शारीरिक कण्डू–शान्ति के लिए तो इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर देना आवश्यक हो ही जाता है । इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए लोकसंग्रहधिया अब दो शब्दों में 'रक्षाबन्धनपर्व' की लौकिक-व्याख्या का भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है ।

६०–रक्षासूत्रानुगत भौतिक–द्रव्यों की गुण–शक्तियों का दिग्दर्शन—

"हाथ में बाँधा जाने वाला 'रक्षासूत्र' (राखी) स्वयं अपने भौतिक–स्वरूप से कुछ भी अतिशय नहीं रखता", यह कह देना तो भारतीय 'संस्कृति' के हृदय के प्रति अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट करना होगा । स्वयं भारतीय आयुर्वेदशास्त्रनें भी द्रव्यविशेषों की प्राणात्मिका विशेषगुणशक्तियों की सत्ता स्वीकार की है, जिन विशेषद्रव्यों के शरीर के साथ सम्बन्ध करा देने मात्र से, शरीरावासरूप गृहद्वारादि के साथ सम्बन्ध करा देने मात्र से भूतबाधादि के आक्रमणों का सर्वथा निरोध हो जाया करता है । सुप्रसिद्ध आर्षग्रन्थ–'**चरकसंहिता**' के रक्षाविधिप्रकरण में उन सब रक्षोघ्न ओषधिद्रव्य-विशेषों का विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ हैं, जिनमें रक्षाकर्मातिशय प्रकृत्या ही विद्यमान है । मन्त्रपूत जलघट, खदिर, कर्कन्धु, पीलु, आदि वृक्षों की शाखाएँ, सर्षप-तण्डुलकणिका-मुसल-वचा-कुष्ठ-क्षौमक-हिङ्गु-लशुन-आदि द्रव्यों की बाँदरवाल बना कर सूतिकागृह में नवजात शिशु की रक्षा के लिए बाँधने का विधान हुआ है तत्रैव । सर्षपादि कतिपय द्रव्य तो '**रक्षोघ्न**' नाम से ही प्रसिद्ध हैं, जिनका श्राद्धादि अन्य श्रौत-स्मार्त्त-कर्म्मों में भी संग्रह हुआ है । '**भूतोपशमनीयाध्याय**' प्रकरण में महर्षि चरक ने इन विशेषद्रव्यों के अचिन्त्य प्रभावों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है ।

६१–मणि-मन्त्र–ओषधि–द्रव्यादि के अचिन्त्य प्रभाव, एवं तत्र वेदसूक्तिसंस्मरण—

न केवल आयुर्वेदशास्त्र में हीं, अपितु उपवेदात्मक आयुर्वेद के मूलभूत स्वयं अथर्ववेद में भी मणि-मन्त्र–ओषधि–तीनों वर्गों के अचिन्त्य–प्रभावों का पदे पदे विस्तार से उपबृंहण हुआ है । उदाहरण के लिए–'यक्षु' नदी के बालुका-कणों में उपलब्ध होने वाले **'दाक्षायण'** नामक विशिष्टतम सुवर्ण के धारणमात्र करने के सम्बन्ध में अथर्ववेदनें यह अतिशय व्यक्त किया है कि, "जो आभूषणरूप से, अथवा तो हिरण्य-शकलरूप से वस्त्र में वेष्टित कर इसे धारणमात्र कर लेता है, उस की यक्ष्मादि–रोगप्रवर्त्तक अमीवादि सुसूक्ष्म–घातक–राक्षसादि चान्द्रप्राणों से रक्षा हो जाती है" । एवमेव **जङ्गिड़मणि, प्रतिसरमणि, दर्भमणि, वरणमणि**, आदि मणिविशेषों का भी इसी रक्षाकर्म्म के प्रसङ्ग से स्वरूपविश्लेषण हुआ है । केवल अङ्ग के साथ स्पर्शमात्र करा देने से मणियों में प्रतिष्ठित सुसूक्ष्म प्राणशक्तियाँ मानव के आयुःप्राण में बलाधान करतीं हुईं इसे दीर्घजीवी बना देतीं हैं । शत्रु का स्तम्भन हो जाता है इन के प्रभाव से । द्वेष्टा जलने लगते हैं परिताप से । लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए निम्न लिखित मन्त्रों को । एवं तदाधारेण–**'अचिन्त्यो हि मणि–मन्त्रौषधीनां प्रभावः'** इस सिद्धान्त के समन्वय की चेष्टा कीजिए । अवश्य ही आस्था–पूर्णा–सांस्कृतिकी–श्रद्धा से आप तुष्ट ही होंगे इस चेष्टा में सफलता प्राप्त करने के अनन्तर ।

(१)–इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे ।
दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥ (अथर्वसंहिता १६।२८।१) ।
(२)–जङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिड़ः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं रक्षतु जङ्गिड़ः (अथर्व० १६।३४.१।) ।
(३)–उग्र इत् ते वनस्पते ! इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ! ॥ (अथर्व० १६।३४।६।)
(४) शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा ।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥ (अथर्व० १६।३६।१।) ।
(५)–नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमं ह्येतत् ।
यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ –अथर्व० १।३५।२।
(६)–न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥ (अथर्व० १६।३८।१।) ।

६२–दर्भ-सुवर्ण–गुग्गुलु–आदि रक्षोघ्न द्रव्यों का संस्मरण, एवं तदनुबन्धिनी त्राटक-विद्या—

दर्भ की सहज पवित्रता से आबाल–वृद्ध–वनिता–सभी परिचित हैं ही, जो कि ब्राह्मण का तो अत्यन्त ही प्रिय उपकरण माना गया है । दर्भपवित्रपाणिता ही ब्राह्मण का बाह्य परिचयचिह्न माना गया है । साधारण

सुवर्ण में भी अशुचिप्राणनिरोध की शक्ति है, यह तो भारत की प्रत्येक सांस्कृतिक-नारी को भी विदित है ही, जो ऋतुकालानुबन्धी स्पर्शदोष से युक्त अबोध-बालकों को सुवर्णपूत जलप्रोक्षण से पवित्र कर दिया करती है, जोकि पवित्र-प्रोक्षण जल हमारे प्रान्त की भाषा में—'**सोनामानी का छाँटा**' कहलाया है। **गुग्गुलु के धूम्रमात्र से राजयक्ष्मा के कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं** (अथर्व १६।३८।१।), इस द्रव्यशक्तिरहस्य का भले ही आजतक भूतविज्ञानवादियोंनें अपने परीक्षणालयों-लेबोरेट्रियों (Laboratorys) में साक्षात्कार न किया हो, किन्तु यहाँ की सांस्कृतिक-प्रज्ञा के लिए तो ये सदा से ही स्वः ही परीक्षित तत्त्व हैं। और सबके लिए सुलभ भी, जबकि वैज्ञानिकों के परीक्षायन्त्रों के वारुणपाश से निकलने वालीं साधारण सी औषधियाँ भी सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ ही बनीं रहतीं हैं। सर्वात्मना संसिद्ध है कि, तत्तद् विशेष मणि-ओषधि-भूत-भौतिक द्रव्यों में भी विशेष शक्तियाँ प्रकृत्या हीं प्रतिष्ठित हैं, जिन द्रव्यशक्तियों के आधार पर ही तन्त्रशास्त्र का सुप्रसिद्ध-'त्राटक' (टोटक्या) विभाग सुप्रतिष्ठित है।

६३-रक्षाबन्धनसूत्रानुगता-'रक्षापोटलिका' की अचिन्त्य-शक्ति—

रक्षासूत्र केवल डोरे का ही नाम नहीं है। अपितु इसका नाम हीं इसकी गुणशक्ति का परिचय दे रहा है। नाम है इसका-'**रक्षापोटलिका**'। आज दुर्भाग्यवश यक्षुनदी के साथ हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है। किन्तु जब हमारी संस्कृति जागरूक थी, उस देवयुग में यक्षुनद का रक्षोघ्न-दाक्षायण सुवर्ण भी हमारे लिए सर्वथा सुलभ था। इस सुवर्णशकल का भी रक्षापोटलिका में निधान हुआ करता था-तद्युग में, जैसाकि रक्षाबन्धनमन्त्र से स्पष्ट होने वाला है। सर्षप-तण्डुल-दाक्षायण-सुवर्णखण्ड-अन्यान्य कतिपय सिद्ध-ओषधियाँ-इन सबको मन्त्रपूत करके जो सूत्रमयी पोटलिका बनाई जाती है (बनाई जाती थी), उसी का नाम है—'रक्षापोटलिका'। जिसप्रकार वैय्यक्तिक-समारोहात्मक-सांस्कृतिक आयोजनरूप विवाहोत्सव में वरवधु की रक्षा के लिए ब्राह्मण 'रक्षापोटलिका' बनाता है, जिसे कि लोकभाषा में-'**काँकर-डोरड़ा**' कहा गया है, जोकि 'रक्षासूत्र' ही है, ठीक वही प्रकार इस रक्षासूत्र का समझिए। आज तो दोनों हीं सूत्र संस्कृति के प्राणवान् स्वरूप के अन्तर्मुख हो जाने से केवल प्रदर्शनसूत्रमात्र ही बनें रह गए हैं। द्रव्यशक्ति-मन्त्रशक्ति-ब्राह्मण की भावनाशक्ति-उपाकर्म्मदिवसीया विद्याशक्ति-ऋषितर्पणप्रयुक्ता ऋषिशक्ति-आदि आदि अनेक शक्तियों से समन्वित रक्षापोटलिका सचमुच एक महान् शक्तिसूत्र ही माना जायगा, जिस मान्यता का हमारा सांस्कृतिक-इतिहास (पुराणशास्त्र) इन शब्दों में स्वरूपविश्लेषण अभिव्यक्त कर हमें धन्य बना रहा है कि—

उपाकर्म्मदिने प्रोक्तमृषीणाञ्चैव तर्पणम् ॥
ततोऽपराह्णसमये 'रक्षापोटलिकां' शुभाम् ॥१॥
कारयेदक्षतैः शस्तैः सिद्धार्थैः-हेमभूषिताम् ॥
वस्त्रैर्विचित्रैः कार्पासैः क्षौमैर्वा मलवर्जितैः ॥२॥
विचित्रं ग्रथितं सूत्रं स्थापयेत् भाजनोपरि ॥
—भविष्योत्तरे

६४-रक्षाबन्धनसूत्र में 'रक्षादेवता' का आधान—

रँग-बिरँगे-सूती, अथवा तो रेशमी वस्त्र में सुवर्ण-तण्डुल-सर्षप-सिद्धद्रव्य सावधानी से रख कर जो रक्षापोटलिका बनाई जाती है (ब्राह्मण के द्वारा), वही रक्षासूत्र कहलाया है। अवश्य ही रक्षासूत्र का

यह तात्त्विक स्वरूप सत्तातन्त्रों की निरपेक्षिता से, किंवा द्वेष से अन्तर्म्मुख बन गया है। फलस्वरूप केवल रेशम–सूत–के फल-पत्तों के विविध विन्यास से निर्म्मित यह महान् सूत्र भी आज आपणव्यवसायमात्र का ही साधन बना रह गया है। और यों एकप्रकार से अपने मूल-तात्त्विक-स्वरूप से वञ्चित यह सूत्र यद्यपि केवल प्रदर्शनात्मकसूत्र प्रमाणित है आज। तथापि इसकी पारम्परिक–सांस्कृतिक–पवित्र भावना से तो आज भी इसे पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि ब्राह्मण इस बाजारू सूत्र को भी मन्त्रपूत कर देता है, यदि भावना के द्वारा इसमें रक्षादेवता का आधान कर देता है, तो–'भावमिच्छन्ति देवताः' इस सांस्कृतिक सिद्धान्त के ही अनुसार इसे भी उपयोगी माना ही जा सकता है। यदि ब्राह्मण केवल पैसों के लोभ से भी इस भावनात्मक सूत्र को घर–घर बाँधता फिरता है, तो यह भी इस ब्राह्मण की महती तपोनिष्ठा–संस्कृतिनिष्ठा ही मानी जायगी, जिसका इसे स्वरूपबोध तो नहीं है, किन्तु तत्प्रचार का माध्यम परम्परया यह आज भी बना ही हुआ है।

६५–धूलिधूसराङ्ग–सर्वतः अवमानित–राष्ट्रीय ब्राह्मण के द्वारा राष्ट्र के सांस्कृतिक प्रतीकों के संरक्षण के प्रति सर्वस्व समर्पण, एवं प्रतिदान में ब्राह्मण के प्रति राष्ट्रीय-वर्गविशेष की जघन्या कृतघ्नता—

आस्था–श्रद्धा–शीला प्रजा को ब्राह्मण की आलोचना के पक्ष से कदापि अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी नहीं बनाना चाहिए। अपितु प्रजा को तो कृतज्ञता ही अभिव्यक्त करनी चाहिए बहिर्भावुक, किन्तु परम्परया अन्तर्निष्ठ इस ब्राह्मण के प्रति, जो शताब्दियों से आक्रान्ता–आततायियों के द्वारा उत्पीड़ित–भर्त्सित–अवमानित–उपेक्षित बना रहता हुआ भी गिरता–पड़ता भी इन सांस्कृतिक–परिचायक चिन्हों को आजतक येन–केनरूपेण आस्तिक प्रजा के मानस क्षेत्र में प्रतिष्ठित तो किए हुए है, जब कि ब्राह्मणेतर सभी वर्ग-"सबकुछ ढोंग है–सब पोंगापन्थीपन है–विज्ञानविरुद्ध है"–आदि आदि अनर्गल प्रलापों के द्वारा अपनी संस्कृति के चिह्नों से सर्वथा ही पराङ्मुख बन गए हैं। और यह निर्ल्लज्ज, हाँ सर्वथा निर्ल्लज्ज–स्वार्थी–पिटभर–दीन–हीन भी-अकिञ्चन भी राष्ट्रीय ब्राह्मण सामाजिक उत्पीड़नों–अपमानपरम्पराओं से अश्रुपूर्णाकुलेक्षण बन कर भी-पिटता–कुटता हुआ भी एकमात्र जगदीश्वर की ओर से प्राप्त किसी अज्ञात प्रेरणा से ही धूलिधूसराङ्ग बनता हुआ भी घर–घर जाकर राष्ट्रप्रजा को इन सांस्कृतिक–परिचयचिन्हों से अवगत कराते रहना हीं अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मानता आरहा है, मानता रहेगा यावच्चन्द्रदिवाकरौ। और इसी निर्ल्लज्ज रूढ़िवादी दीन-हीन-अकिञ्चन ब्राह्मण के अनुग्रह से लज्जा ?-शील ? समन्वित सुसभ्य ? सुशिक्षित ? भारतीयों की-'भारतीयता' का अक्षरार्थ सुरक्षित रहेगा, रहता आया है आजतक। शत शत–सहस्र सहस्र–लक्ष लक्ष–कोटि कोटि–प्रणामाञ्जलियाँ अत्यन्त ही प्रणतभाव से समर्पित कर रहे हैं राष्ट्र के इस धूलिधूसराङ्ग–संस्कृतिरक्षक, तद्द्वारा राष्ट्रसंरक्षक ब्राह्मणचरणद्वय के प्रति हम बारम्बार। **अपातालात्–आ च लोकालोकात्–ये ब्राह्मणा देवास्तेभ्यो नमो नमः।**

६६–आस्था–श्रद्धाशीला राष्ट्रीय–प्रजा की सनातन–आचार–मर्य्यादा, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय–संस्कृति का अद्यावधि संरक्षण—

नैष्ठिक ब्राह्मण के द्वारा येनकेनरूपेण सुरक्षित, एवं श्रद्धाशीला प्रजा के द्वारा अनुष्ठित इन प्रतीक-चिन्हों से भी अवश्य ही कभी न कभी राष्ट्रमानव की तथ्य पर भी दृष्टि चली ही जायगी। यदि प्रावाहिक-

हेत्वाभासात्मक कुतर्कवाद में पड़ कर हमनें इन परिचयचिन्हों को भी भुला दिया, तो तथ्य भी हमारे मानस के लिए सदा के लिए अविज्ञेय ही बना रह जायगा। अवश्य ही आस्तिक प्रजा की इस परिचयचिह्नात्मिका श्रद्धा का भी हम अभिनन्दन ही करेंगे। विकृतिरूप में ही सही, रक्षात्रन्धनकर्म्म तो किया जारहा है। इसी आधार पर तो आज–'यह क्या है ?, क्यों किया जाता है ?, क्या फल है ?,' इत्यादि जिज्ञासाएँ व्यक्त होतीं रहतीं हैं। एवं इन जिज्ञासाओं के समाधान के लिए ही तो राष्ट्रीय प्रज्ञाओं को इन के तात्त्विक–चिन्तन की ओर प्रवृत्त होना पड़ता है। अवश्य ही प्रवृद्धा जिज्ञासा जिज्ञासु को कभी न कभी तत्त्व की ओर ले ही आती है। आस्तिक प्रजा की सब से बड़ी यही विशेषता रही है कि–इसने कभी शुष्क–बुद्धिवादात्मक–श्रद्धाशून्य–कुतर्कों में न पड़ कर समझे–बिना–समझे–उल्टा–सीधा–कुछ न कुछ करते रहना ही अपना धर्म्म समझा है। इसी सनातन–आचारमर्य्यादा के अनुग्रह से सत्तातन्त्रों के निरपेक्ष बने रहने पर भी, विद्वेषी बने रहने पर भी एकमात्र प्रजा की श्रद्धा के बल पर ही भारतीय पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोह–रूप सांस्कृतिक–आयोजन–येनकेनरूपेण धारावाहिकरूप से राष्ट्र को परोक्षरूप से संस्कृति की शिक्षा देते ही रहे हैं, देते ही रहेंगे।

पश्चिम के अन्धानुकरण से आत्मविस्मृत बन जाने वाले वर्त्तमान शिक्षित–सभ्यों की भाँति यदि यहाँ की श्रद्धालु प्रजा भी कल्पित बुद्धिवाद के व्यामोहन में आकर–"इन में क्या रक्खा है, यह सब तो निरा ढोंग ही है, दकियानूसीयन ही है, असभ्यता ही है, अशिक्षा के ही दुष्परिणाम हैं" इस तर्कजाल के अनुग्रह से इन परिचयचिन्हों का परित्याग कर देती, तो निश्चित मानिए–हमारा भारतीय–सांस्कृतिक–जीवन कभी का स्मृतिगर्भ में विलीन होगया होता। ब्राह्मणनिष्ठाओं के साथ साथ ही हम प्रणतभाव से नमन कर रहे है राष्ट्र की उस श्रद्धालु–सांस्कृतिक–प्रजा के प्रति भी, जिसने युगधर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले झञ्झावातों का सर्वथा तिरस्कार करते हुए इन भारतीय सांस्कृतिक–परिचय–चिन्हों को, इनके बाह्य–स्वरूपों को आज पर्य्यन्त सुरक्षित बनाए रक्खा, जिसके बल पर ही आज इन पर तत्त्वमीमांसा प्रवृत्त हो रही है।

६७–रक्षापोटलिकात्मक रक्षासूत्र में मन्त्रशक्ति के द्वारा अतिशयाधान—

रक्षापोटलिकात्मक रक्षासूत्र स्वानुगत द्रव्यशक्तियों से स्वयं अपने आप में हीं विशेषता रख रहा है, यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। अब उस महाशक्ति का समन्वय कीजिए, जो शास्त्रपरिभाषा में–**'मन्त्रशक्ति'** कहलाई है। शब्दप्रपञ्च **लौकिक–वैदिक**–भेद से दो विवर्त्तों में विभक्त माना गया है। मानवीया मानस–कल्पना से सम्बन्ध रखने वाली लोकव्यवहारभाषा–**'लौकिकशब्दभाषा'** है, एवं ईश्वरीया-आत्मसम्मता-बुद्धिकामना से अनुप्राणिता * शास्त्रीयव्यवहारभाषा–**'अलौकिकशब्दभाषा'** है। लौकिकभाषा लौकिकशब्दमयी मनःप्रधाना भाषा है, वैदिकभाषा अलौकिकशब्दमयी बुद्धिप्रधाना भाषा है। लोकभाषात्मक छन्द **'श्लोक'** कहलाए हैं, एवं वेदभाषात्मक छन्द **'मन्त्र'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

६८–ऋषिप्राणशक्तिमय मन्त्रों का मन्त्रत्त्व, एवं इन का अचिन्त्य-प्रभावत्त्व—

प्राकृतिक–सुसूक्ष्म शक्तियों की वैदिक–संज्ञा है–'प्राण', जिसे–**'प्राणा वा ऋषयः'** इत्यादि रूप से 'ऋषि' भी कहा गया है। शक्तिभेद से प्राणरूप ऋषि, किंवा ऋषिरूप प्राण भी अनन्त हैं, विविध रूपों में परिणत

---

*–**'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वैशेषिकसूत्र)

रहते हुए–'**विरूपासः**' ÷ हैं। प्रकृतिमण्डल में इन ऋषिप्राणशक्तियों का उच्चावचभाव से यथास्थान यथाकर्म सन्निवेश हो रहा है। प्राणों के इन उच्चावच–भावों का नाम हीं उदात्त–अनुदात्तादि स्वर हैं। मन्त्रवाक् एक प्रकार का वाक्परिमाणात्मक वह छन्द है, साँचा है, वयोनाध है, जिसमें प्राणशक्ति अपने स्वरूप की अनुरूपता से स्वतः एव समाविष्ट हो जाती है, किंवा सहैव समाविष्ट रहती है। प्राणवीची (लहर) का जैसा स्वरूप होता है, जैसा प्राकृतिक छन्द होता है, मन्त्ररूपा छन्दोवाक् में, किंवा मन्त्ररूप छन्द में उदात्तादि स्वरों की प्राणछन्द के अनुरूप ही व्यवस्था हुई है। इसी समसम्बन्ध के कारण सजातीयाकर्षण के द्वारा मन्त्र प्राणशक्ति का आकर्षण करनें में सर्वात्मना समर्थ हो जाता है। मन्त्र के साथ तादात्म्यसम्बन्ध से, औत्पत्तिक–सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहने वाली प्राणशक्ति का ही नाम–'देवता' है। यही मन्त्र का मन्त्रत्व है, यही मन्त्र का देवतात्त्व है। अतएव '**मन्त्राधीनाश्च देवताः**' सिद्धान्त जागरूक बना है। '**मन्त्रजपात्–सिद्धिः**' का भी यही बीज है। मन्त्र स्वयं प्राणशक्ति है शब्द और अर्थ (शक्ति) के तादात्म्यसम्बन्ध के कारण। किंवा शब्दशक्तिमयी प्राणदेवशक्ति ही स्वयं शब्दमन्त्ररूप में अभिव्यक्त हुई है। मन्त्र के इस मन्त्रत्त्व का समन्वय प्राणस्वरूप से अपरिचित केवल भूतविज्ञानवादी की दृष्टि से कदापि समन्वित नहीं हो सकता।

६९- रक्षाबन्धनसूत्रानुगत वैदिक–मन्त्र, एवं लौकिक मन्त्रात्मक श्लोक, तथा तदक्षरार्थ-मात्रसमन्वय—

इत्थंभूत–सशक्त वेदमन्त्रों का जिन अनुरूप भूतद्रव्यों से मन्त्रप्रयोक्ता–मन्त्रवित् ब्राह्मण के द्वारा सम्बन्ध हो जाता है, वे द्रव्यविशेष भी अवश्य ही मन्त्रमयी प्राणशक्ति से समन्वित हो जाते हैं। जिसे 'श्लोक' कहा जासकता है, उन का भी जब अपने स्थान में महत्त्व है ध्यानादि के द्वारा, तो फिर मन्त्रशक्ति के सम्बन्ध में तो ऊहापोह करना हीं व्यर्थ है। श्लोक की बात जाने दीजिए। प्राकृतभाषामय वाक्य भी भावों में जागरूकता उत्पन्न करते देखे गए हैं। प्रतिद्वन्द्वी दो मल्लों के लिए दर्शक–समाज के मुख से निकले हुए–'शाबास, वह मारा, अब क्या है, चारों खाने चित्त है' इत्यादि प्राकृतवाक्य बलप्रद–उत्साहवर्द्धक बन जाया करते हैं। इसी लोकभाषा के द्वारा शल्यने कर्ण को थोड़ी देर के लिए तो निस्तेज ही बना दिया था। अतएव मानना पड़ेगा कि, शब्दमात्र अवश्य ही शक्तिभावों से समन्वित हैं। इसी आधार पर तन्त्रशास्त्र का '**अमन्त्रमक्षरं नास्ति**' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। उस रक्षासूत्र की सशक्तता के सम्बन्ध में तो विचार ही व्यर्थ है, जिसमें वैदिक–लौकिक–दोनों शब्दों की शक्तियाँ ब्राह्मण के द्वारा समाविष्ट करा दीं जातीं हैं। वैदिकशब्दरूप देवशक्तिघन जिस वेदमन्त्र से, तथा लौकिकशब्दरूप देवशक्तिभावनात्मक जिस श्लोल से रक्षासूत्र में उभयविध–शक्तियों का समावेश कराया जाता है, वे वचन आस्तिक प्रजा में सुप्रसिद्ध हैं, जो प्रकरणसङ्गति के लिए यहाँ भी उद्धृत कर दिए जाते हैं।

÷–**विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीर वेपसः।**
तेऽङ्गिरसः सूनवस्तेऽग्नेः परिजज्ञिरे ॥

—ऋक्संहिता

रक्षाबन्धनात्मक वैदिक रक्षासूक्त-यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ॥
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥१॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमं ह्येतत् ॥
यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥
अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्य्याणि ॥
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो
बिभरद्धिरण्यम् ॥३॥
समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं सम्वत्सररूपं पयसा पिपर्मि ॥
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनुमन्यन्तामहृणीयमानाः ॥४।
—अथर्वसंहिता १।३५।

* * *

रक्षाबन्धनात्मक प्रचलित मन्त्र-यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ॥
तन्म आबध्नामि शतशारदाय आयुष्मान् जरदष्टिर्यथासम् ॥

* * *

रक्षाबन्धनात्मक श्लोक——येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ॥
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे ! मा चल मा चल ॥

* * *

सूक्तार्थ स्पष्ट है । **'शतानीकं सात्राजितं-अभिषिषेच'** (ऐतरेयब्रा० ८।१।) के अनुसार सत्राजीत के पुत्र सुप्रसिद्ध भारतीय नृपति शतानीक को महर्षि दक्ष के वंशजोंनें, अतएव दाक्षायण नाम से प्रसिद्ध पुरोहितब्राह्मणोंनें अत्यन्त प्रसन्न मन से-प्रसादमुद्रा से रक्षासूत्र से समन्वित किया था । प्रथम मन्त्र का पूर्वार्द्ध उसी ऐतिह्य घटना का स्मरण कराता हुआ कह रहा है कि, शोभन-प्रसादगुणयुक्त-शुभचिन्तनशील-मनों से युक्त दक्षमहर्षि के वंशजोंनें सात्राजित शतानीक महाराज के जो रक्षासूत्र बाँधा था, हे यजमान ! आज उसी पारम्परिक रक्षासूत्र को मैं (तुम्हारे दक्षिण हस्त में) आयु के लिए, वर्च के लिए, बल के लिए, दीर्घजीवन के लिए, तथा सौ शरदृतुओं पर्य्यन्त स्वस्ति-शान्ति-पूर्वक जीवन यापन करने के लिए बाँध रहा हूँ ॥१॥

'यदाबध्नन् दाक्षायणा' का 'दाक्षायणाः' पद दक्ष के वंशजों का संग्राहक है । इन्होंनें ही रक्षासूत्र में विशेषगुण-प्रभावयुक्त यक्षुनद के सुवर्ण का रक्षासूत्र में सर्वप्रथम उपयोग किया होगा । अतएव वह विशेष सुवर्ण भी आगे चल कर इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हो गया, जैसा कि-**'यो बिभर्त्ति दाक्षायणम्'**

इत्यादि उत्तरमन्त्र से स्पष्ट प्रतिध्वनित है। **"आयुषे–वर्चसे–बलाय–दीर्घायुत्त्वाय–शतशारदाय'** इन शब्दों के रहस्यार्थ का समन्वय कीजिए, जिनका रक्षाकर्म्म में विनियोग हुआ है। रक्षासूत्र में प्रधानता है दाक्षिणायन सुवर्ण की। सुवर्ण है सौरप्राण का प्राणवान् प्रतीक। **ज्योतिः–गौः–आयुः**–सूर्य्य के ये तीन मनोता मानें गए हैं, जो क्रमशः ३३–१०००–३६००० इन संख्याओं से समन्वित हैं। शारीरिक भूतों का आधार सौर गौतत्त्व है, जिससे **'गोष्टोम'** नामक यज्ञ का वितान हो रहा है। शारीरिक इन्द्रियप्राणों का आधार सौर ज्योतिः–तत्त्व है, जिससे **'ज्योतिष्टोम'** का वितान हो रहा है। एवं शारीरिक भूतात्मा का आधार सौर आयुः–तत्त्व है, जिससे **'आयुष्टोम'** का वितान हो रहा है। ज्योतिर्म्मय ३३ देवता, गोमय एकसहस्र भौतिकप्राण, एवं आयुर्म्मय ३६००० प्राणात्मक आत्मभाव (जीवनसूत्र) ये तीन तत्त्व सूर्य्य से ही सम्बद्ध हैं। **'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'–'प्राणः–प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'–'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**– इत्यादि रूप से सूर्य्य के इसी भूत–प्राण–आत्म–भावों का स्पष्टीकरण हुआ है। सर्वान्त के 'आयुः' नामक मनोता के ग्रहण से ज्योतिः–गौः–आयुः–तीनों का ग्रहण हो जाता है। मानव की शरीरत्रयी की रक्षा ही रक्षाकर्म्म से अभीष्ट है। तीनों शरीरों के स्थूलप्रतिनिधि भौतिक शरीर को सौरमण्डल से ३६००० आयुः–सूत्र मिलते हैं। यही इसका आयुर्भोगकाल है। यही इसकी पूर्णायु है–**'शतायुर्वै पुरुषः'**। यही रक्षाकर्म्म की प्रथम आधारभूमि है। **'आयुषे'** इस पद से इसी आधारभूमि के रक्षण की कामना सवप्रथम अभिव्यक्त हुई है।

१०० वर्ष जीवित रह जाना हीं मानव का कोई महान् पौरुष नहीं माना जा सकता। यथाजात प्राकृत–मानव भी आहारादि के कौशल से जीवित तो रह ही सकते हैं। जीवित रहना उसका जीवित रहना है, जो वर्च्, और बल, दोनों का समन्वय प्राप्त करता हुआ जीवित रहता है। भूतात्मा का तेज **'वर्च्'** है, एवं शरीरत्रयी का भ्राज्–द्युम्न–सुम्न–नामक तेज-**'बल'** है। आत्मबल 'वर्च्' है, शरीरबल 'बल' है। आत्मा, और शरीरत्रयात्मक (बुद्धि–मनः–शरीरात्मक) शरीर, दोनों की स्वस्थता–प्रकृतिस्थता ही मानव-जीवन का महान् पौरुष माना गया है। यदि दोनों समन्वयरूप से मानव में अभिव्यक्त–व्यवस्थित नहीं हैं, तो उस आयु का कोई उपयोग नही माना जा सकता। इसी पौरुषरक्षा के लिए–**'वर्चसे' (आत्मतेजो–रक्षणाय), 'बलाय'–(शरीरतेजोरक्षणाय)** शब्द उपात्त हुए हैं। दोनों मानव में कबतक हैं ?, एक लम्बी अवधि पर्य्यन्त–**'दीर्घायुत्त्वाय'**। क्या मापदण्ड है इस लम्बी अवधि का–**'शतशारदाय'**। तदित्थं एक ही वेदमन्त्र के द्वारा–**'आयुषे-वर्चसे-बलाय-दीर्घायुत्त्वाय–शतशारदाय**–रूपेण रक्षा के सभी पर्व संगृहीत हो रहे हैं। यही तो मन्त्रभाषा का महान् कौशल है। इन सभी रक्षाकर्म्मों का मूलाधार ज्योतिर्गौरायुरूप सूर्य्य ही है। सुवर्ण तत्प्रतीक है। वही रक्षासूत्र में प्रधान है। अतएव अवश्य ही तन्माध्यम से रक्षासूत्र के द्वारा सौरशक्ति का समावेश गतार्थ बन जाता है। सुवर्ण के इसी प्रातिनिध्य का उत्तरमन्त्र में स्पष्टीकरण हुआ है ॥१॥

रक्षासूत्रानुगत दाक्षायण सुवर्ण साक्षात् सूर्य्य का प्रतिमान है। अतएव जैसे सूर्य्य–(सौर **'मघवा'** नामक इन्द्रप्राण) असुरराक्षस–पिशाचादि मलीमस भावों का अपहन्ता है, ठीक वही शक्ति इस सुवर्ण में विद्यमान है। सचमुच यह सुवर्ण सौर प्राणदेवों का प्राथमिक ओज (तेज) है। सौर आयुःप्राण से अभिन्न है यह दाक्षायण सुवर्ण का देवप्राण। अवश्य ही इसके धारण से मानव का आयुःसूत्र सुरक्षित बना रहता है। द्वितीय मन्त्र यही स्पष्ट कर रहा है ॥२॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल के गर्भ में हीं हिरण्मयाण्डरूपेण सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है। पारमेष्ठ्य आप: के भृगुगर्भित अङ्गिरातेज से ही सूर्य्य का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अतएव सूर्य्य को अवश्य ही–'**अपांतेजः**' कहा जा सकता है। वही तो स्वरूप तत्प्रतीकरूप सुवर्ण का है। वही सौर तेज, वही ऐन्द्र ओज, वही गो–भागानुगत भूतबल, वही पारमेष्ठ्य वनस्पति (सोम) का सौम्य–वीर्य्य, तदित्थं इस दाक्षायणसुवर्ण में वे सम्पूर्ण अतिशय विद्यमान हं, जो सौरमण्डल में हैं, यही मन्त्रनिष्कर्ष है ॥३॥

वसन्तादि षड्ऋतुओं की, चैत्रादि द्वादश मासों की समष्टिरूप सौर–सम्वत्सर में सम्वत्सर का जीवनीय रसरूप पय सौर हिरण्यप्राणात्मक इन्द्र ही माना गया है। सुवर्ण जहाँ अपने प्रत्यक्षदृष्ट भूतस्वरूप से पार्थिव अग्नि का प्रतीक है, वहाँ सौरसम्वत्सर के पयोरूप इन्द्रप्राण से यह इन्द्र का भी प्रतीक बना हुआ है। '**यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी**' के अनुसार सौर द्युलोक के अधिपति इन्द्र हैं, पार्थिव विश्व के अधिपति अग्नि हैं। यों इन्द्राग्नी हीं त्रैलोक्यविभूतियों के, सौर–पार्थिव–समस्त–प्राणदेवों के संग्राहक बने हुए हैं। दोनों सुवर्ण में प्राण, और भूतरूप से सुमन्वित हैं। चतुर्थ मन्त्र के द्वारा इसी रहस्य का स्पष्टीकरण हुआ है ॥४॥

७०–दक्षिणहस्तानुगत रक्षाबन्धनसूत्र—

वेदवित् ब्राह्मण के द्वारा पूर्वोक्त मन्त्रों से सशक्त बना हुआ, एवं स्वयं अपने ओषधिद्रव्यादि की शक्तियों से भी शक्तिमान् बना हुआ रक्षासूत्र अवश्यमेव रक्षाकर्म्म के लिए अन्यतम साधन माना जा सकता है, माना गया है। तन्तुसूत्रात्मक रक्षासूत्र (राखी) में ऐसी वह कौनसी विशेषता है, जिसके बाँधने से मानव की रक्षा हो जाती है ?, इस प्रमथ–प्रासङ्गिक अवान्तर–प्रश्न का यही संक्षिप्त समन्वय है। दक्षिण–हस्त कर्म्म का प्रतीक माना गया है। कर्म्मनिष्ठा ही रक्षाकर्म्म का प्रधान फल है। रक्षाकर्म्म से मानव कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा का ही अनुगामी बनता है। अतएव कर्म्मप्रतीकभूत दक्षिणहस्त में हीं रक्षासूत्र का बन्धन अनुरूप बनता है।

७१–वेदवित् ब्राह्मण के महान् उत्तरदायित्व से समन्वित रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म—

ब्राह्मण के हाथ से ही यजमानवर्ग को रक्षासूत्र बँधवाना चाहिए। क्योंकि पञ्चविध विपत्तियों से ब्राह्मण हीं पञ्चविध रक्षाकर्म्मों के द्वारा समाज का संरक्षण करने की क्षमता रखता है। रक्षक ही तो रक्षा कर सकता है। अतएव शास्त्रने रक्षाबन्धनाधिकार (उत्तरदायित्व) ब्राह्मण को ही दिया है। और इस अधिकारसमर्पण का रहस्य है–**ब्राह्मण का प्राकृतिक जन्मातिशय, एवं इसका वेदस्वाध्यायात्मक कर्म्म**। पहिले जन्मदृष्टि से ही रक्षाधिकार का समन्वय कीजिए। ब्राह्मण जन्मत: '**सान्तपनाग्नि**' नामक स्वायम्भुव–प्राणाग्निविशेष को अपनी प्रकृति में प्रतिष्ठित रख रहा है, जो कि सान्तपनाग्नि–'**दिव्याग्नि**' माना गया है। जन्मजात ब्राह्मण के वीर्य्य में (ब्राह्मणमातपिता से उत्पन्न ब्राह्मण में) यह 'अग्निवीर्य्य' निश्चयेन प्रतिष्ठित रहता है। अग्नि ही भूतप्रपञ्च के रक्षक मानें गए हैं। प्रत्यक्ष में भी जबतक शरीर में वैश्वानराग्नि प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक भौतिक शरीर स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। अग्निदेव के अन्तर्म्मुख होते ही सबकुछ उपशान्त ही तो हो जाता है। कारणशरीरात्मिका बुद्धि सौरसावित्राग्निप्रधाना है, स्थूलशरीरात्मक शरीर पार्थिव गायत्राग्निप्रधान है। मध्यस्थ अग्नीषोमात्मक–सोमप्रधान–सूक्ष्मशरीरात्मक मन भी अन्ना–

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

दाग्नियों से (द्यावापृथिव्यग्नियों से) उभयतः परिगृहीत रहता हुआ अग्निस्वरूप में हीं अन्तर्भूत है। यों तीनों हीं शरीर अग्निप्रधान ही बने हुए हैं। अवश्य ही अग्निप्रधाना शरीरत्रयी की रक्षा का प्रधान उत्तर-दायित्त्व अग्निप्रधान ब्राह्मण से ही तो अनुप्राणित माना जायगा।

७२–सर्वविद्याप्रतिष्ठात्मिका अपौरुषेया वेदविद्या, एवं तद्विज्ञ ब्राह्मण से ब्रह्मविद्या के द्वारा राष्ट्र–संरक्षण—

'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं, संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि वसिष्ठवचन के अनुसार प्रकृति (जन्म)-वत् संस्कार (कर्म्म) भी वर्ण का स्वरूपसम्पादक बना हुआ है। केवल कर्म्म से भी वर्णभाव का उदय असम्भव है, केवल जन्म से भी वर्ण की अभिव्यक्ति असम्भव है। सहजभाषानुसार–जिस प्रकार बिना जन्मभाव के कर्म्म सर्वथा निरर्थक है, एवमेव बिना कर्म्म के जन्मानुगत ब्राह्मणत्त्व का विकास भी असम्भव है। ब्राह्मणत्त्व का अभिव्यञ्जक–व्यवस्थापक–संरक्षक–वह कर्म्म है–'**वेदस्वाध्याय**', जिसके बिना जन्मना ब्राह्मण रहता हुआ भी ब्राह्मण कर्म्मणा शूद्रवत् ही प्रमाणित हो जाता है। न केवल स्वयं हीं। अपितु वेदस्वाध्याय–परम्परा के विच्छेदक इस ब्राह्मण को तो कालान्तर में अपने वंशसहित ही शूद्रवत् बन जाना पड़ता है *। वेदशास्त्रसिद्ध ज्ञानविज्ञान का सञ्चय ही ब्राह्मण का वह अनन्य कर्म्म है, जिसके बल पर यह मानवसमाज के संरक्षण में समर्थ बना करता है। कारणशरीरानुगत **दर्शनशास्त्र**, सूक्ष्मशरीरानुगत **धर्म्म-शास्त्र**, स्थूलशरीरानुगत **आयुर्वेदशास्त्र**, समाजव्यवस्थानुगत **राजनीतिशास्त्र**, **धनुर्विद्या**, **शस्त्रास्त्रविद्या**, **शिल्पकलाविद्या**, **वाणिज्यव्यवसायविद्या**, आदि आदि यच्चयावत् दैविक–भौतिक–आत्मिक–विद्याओं का मूलभूत तात्त्विक कोष '**वेदशास्त्र**' ही माना गया है, जैसाकि–'**सर्वं वेदात्–प्रसिद्ध्यति**' से स्पष्ट है। **धार्म्मिक-नैतिक–सामाजिक–राजनैतिक-आर्थिक**–आदि आदि भेदभिन्न समस्त रक्षासाधन तत्तद्विद्याओं के आधार पर ही तो प्रतिष्ठित रहा करते हैं। इन समस्त–अवान्तर–खण्ड–खण्ड–विद्याओं की मूलप्रतिष्ठा सर्वविद्यात्मिका वह '**ब्रह्मविद्या**' ही तो मानी गयी है, जिसे–'**वेदविद्या**' कहा गया है, एवं जिसके अनुगमन से ब्रह्मविद्यावित् वेदज्ञ ब्राह्मण श्रुति के-'**ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः**' (शत०) इस उद्घोष को सर्वात्मना चरितार्थ कर सकता है। सर्वविद्यात्मिका वेदविद्या ही ब्राह्मण के '**रक्षक**' पद को सुरक्षित रख सकती है। सहजभाषानुसार यों कहलीजिए कि, मूर्खता ही मानवसमाज के सर्वनाश का कारण बनती है, एवं विद्या ही इसके सर्वसंरक्षण का प्रधान निमित्त बनती है।

७३–सरस्वती नदी के पञ्चनदीय सारस्वत–ब्राह्मणों का पारम्परिक पतन—

वर्णव्यवस्थासूत्रों के अनुसार वैश्य यदि प्रधानरूप से महालक्ष्मी का, क्षत्रिय प्रधानरूप से महाकाली का उपासक है, तो ब्राह्मण विद्यात्मिका महासरस्वती की उपासना को ही प्रधानता दे रहा है, जो सरस्वती

---

*—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

—मनुः

स्वायम्भुव–आपोमय–पारमेष्ठ्य–मण्डल–की मूलप्रतिष्ठा बनती हुई महाकाली–महालक्ष्मी–दोनों–शक्तियोंमें समन्वय स्थापित किए रहती है। जो ब्राह्मण माता शारदा की उपासना से वञ्चित रह जाता है, वह समाज की तो क्या, स्वयं अपनी भी रक्षा नहीं कर सकता। राष्ट्ररक्षा का मूलबीज इस 'सारस्वतक्षेत्र' में हीं अन्तर्निहित है। भारतवर्ष की सरस्वतीनदी के क्षेत्र में निवास करने वाले जिन ब्राह्मणोंनें अनन्यनिष्ठा से सारस्वतक्षेत्र की आराधाना की थी, वे ही भाग्यशाली भूदेव–**'सारस्वतब्राह्मण'** जैसी विमला उपाधि से समलङ्कृत किए गए थे, जो पञ्चनदीय सारस्वतब्राह्मण आगे चलकर यवनाक्रमणों के निग्रह से इस उपासना से एकान्ततः वञ्चित होते हुए नाममात्र के जात्युपजीवी 'सारस्वत' ही बने रह गए।

७४–सांस्कृतिक–सारस्वत (वेदविद्या) क्षेत्र की छिन्न–भिन्नता से ही भारतराष्ट्र का पारतन्त्र्य, एवं तन्मूला दासानुदासता—

जिस राष्ट्र को परतन्त्र बना देने की कामना हो, उसके सारस्वतक्षेत्र को छिन्न–भिन्न कर दीजिए। एवं जिस राष्ट्र को स्वतन्त्र देखना हो, उसके इस क्षेत्र को जागरूक कर दीजिए। जिस दिन से ज्ञात–अज्ञात–कारणपरम्पराओं के द्वारा भारतराष्ट्र का यह सारस्वतक्षेत्र (वेदविद्यानुगत ज्ञानविज्ञानमय स्वाध्याय) अन्तर्मुख बना है, उसी दिन से राष्ट्र का क्षत्रबल सर्वथा उच्छृंखल बन गया, विड्बल बन गया उन्मत्त, एवं शूद्रबल हो गया प्रमत्त–अमर्य्यादित। यों विद्याबल की अन्तर्मुखता से राष्ट्र के सम्पूर्ण–रक्षासाधन उत्तरोत्तर अभिभूत–विनष्ट ही होते गए। जब मूलरक्षक (विद्याबल) ही न रहा, तो राष्ट्र सुरक्षित रहता भी कैसे ?, किस बलपर ?। ब्रह्म–क्षत्ररूप रक्षकों की क्रमशः अन्तर्मुखता, एवं सुषुप्ति, साथ ही रक्षितों की उच्छृङ्खलता–उन्मत्तता–अमर्य्यादा–नें हीं आज भारतराष्ट्र को जिस अरक्षित–विकम्पित–स्थिति पर ला खड़ा किया है, उसके स्मरणमात्र से भी राष्ट्र का मूलहृदय अवश्यमेव विकम्पित हो रहा होगा।

७५–रक्षासूत्रात्मिका राष्ट्रीया वेदविद्या—

स्पष्ट है कि समाज के महान्, तथा अन्यतम रक्षक जन्मना ब्राह्मण के 'वेदविद्यासंस्काररूप' कर्म्म पर ही समाज का सर्वाङ्गीण संरक्षण सम्भव है। अतएव वेदविद्या को ही प्रधानरूप से 'रक्षासूत्र' कहना न्यायसिद्ध प्रमाणित हो रहा है। कदापि इस रक्षासूत्र–बन्धन के लिए कोई नियत तिथि नहीं है। अपितु ब्राह्मण सदा ही जागरूक बना रहता हुआ अपने इस वेदस्वाध्यायात्मक रक्षासूत्र से संस्कृति–धर्म्म–के द्वारा समाज का रक्षण किया करता है। और यों ब्राह्मण अपने इस जीवनव्रतरूप रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म से सदा ही **'रक्षाबन्धनपर्व'** मनाता रहता है, जोकि सचमुच इसी का प्रातिस्विक पर्व है। एवं सति–श्रावणशुक्ल–पूर्णिमा–तिथि से सम्बद्ध 'रक्षाबन्धनकर्म्म' का क्या समन्वय ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है ?। दो शब्दों में लोकानुबन्धी इस प्रश्न का भी समन्वय कर दिया जाता है।

७६-श्रावणी–पूर्णिमातिथि से सम्बद्ध रक्षाबन्धनपर्व के सम्बन्ध में प्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

श्रावणशुक्लपूर्णिमा–तिथि को सामान्यरूप से–'रक्षाबन्धनपर्व' का लौकिक स्वरूप सम्पन्न किया जाता है आस्थाश्रद्धाशीला आर्षप्रजा (ऋषिपरम्परा को मानने वाली प्रजा) के द्वारा। ऐसा क्यों ?। क्यों यह

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तिथि इस पर्व के लिए नियत बन गई राष्ट्र में, जब कि पूर्वकथनानुसार रक्षाबन्धनकर्म्म तो सदा ही, सभी तिथियों में वेदवित्–ब्राह्मण के द्वारा प्रवृत्त रहता है ?।

७७–श्रावणीकर्म्मात्मक उपाकर्म्म का स्वरूपदिग्दर्शन—

श्रावणीपूर्णिमा–तिथि का प्रधानकर्म्म कदापि–'**रक्षाबन्धन**' नहीं है। यह तो केवल क्रत्वर्थरूप–लौकिक-भावुकतासंरक्षक–मान्यतासंरक्षक–(किन्तु अनिवार्य्य) अङ्गकर्म्म ही है। प्रधानकर्म्म है इस तिथि का–'**उपाकर्म्म**' नामक वह कर्म्म, जो लोकभाषा में '**ऋषितर्पण**' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहा है। 'उपाकर्म्म' का मौलिक स्वरूप क्या ?, उत्तर है–'**वेदस्वाध्यायव्रतग्रहणपूर्वक वेदस्वाध्यायारम्भ**'। विश्वस्वरूप–निर्म्माता, विश्वस्वरूपाधिष्ठाता–मौलिकतत्त्वात्मक–स्वायम्भुव–अपौरुषेय–वेद का मौलिक स्वरूप है–'प्राण', जोकि स्वायम्भुव प्राण अपने काम–तपः--श्रम–रूप सृष्टि के सामान्य अनुबन्ध–धर्म्मों से सृष्टि के लिए गतिशील बनता हुआ–'**इदमिच्छन्तः श्रमेण-तपसा-अरिषन्**' इस निर्वचन से–'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है *।

७८–प्राणात्मिका मन्त्रवाक्, एवं तदभिन्न मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र—

प्राणात्मक ऋषितत्त्व मौलिक–स्वायम्भुव–तत्त्ववेद से अभिन्न पदार्थ है। जिस तपस्वी ब्राह्मनें जिस ऋषिप्राण का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, वह उस 'ऋषिप्राण' के नाम से ही प्रसिद्ध होगया। वसिष्ठ–भरद्वाज–अङ्गिरा–आदि ऋषिनाम वस्तुतः प्राणों के ही नाम हैं, जो आगे चलकर तत्प्राणाविष्कारक मानव–विशेषों में रूढ हो गए। ऋषिप्राणद्रष्टा, किंवा ऋषिप्राणात्मक वेदतत्त्व के द्रष्टा मानव-महर्षियों नें हीं अपनी योगजदृष्टि से ऋषिप्राणात्मक मौलिक–अपौरुषेय वेदतत्त्व का साक्षात्कार कर उसे सत्यावाक् के रूप से संगृहीत किया, जो वाक्–अलौकिकी–'मन्त्रवाक्' कहलाई है। मन्त्रवाङ्मय वही शास्त्र '**मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र**' कहलाया है।

७९–वेद–वेदाङ्गानुगता स्वाध्यायव्यवस्था का समन्वय—

वेद–वेदाङ्ग-स्वाध्यायशील ब्राह्मण की स्वाध्यायनिष्ठा को सम्वत्सरचक्र के माध्यम से नियमित–व्यवस्थित करते हुए राजर्षि मनुने कहा है कि–'श्रावणशुक्लपूर्णिमा–तिथि को, अथवा तो भाद्रपदशुक्ल–पूर्णिमा को, अथवा तो भाद्रपदशुक्ल–पञ्चमी (ऋषिपञ्चमी) को–यथागृह्य–विधि से किसी भी नियत तिथि में (स्वगृह्यसूत्र की मर्य्यादानुसार) ब्राह्मण को वेदस्वाध्यायव्रतग्रहण करना चाहिए। यहाँ से आरम्भ कर ४॥ साढ़ेचार मास पर्य्यन्त (अर्थात् श्रावणी–पूर्णिमा पक्ष में पौषकृष्ण–अमावास्या पर्य्यन्त, एवं भाद्रपदपूर्णिमा–पक्ष में माघकृष्ण अमावास्यापर्य्यन्त) तो धारावाहिकरूपेण केवल मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद का की स्वाध्याय करते रहना चाहिए। तदनन्तर ७॥ मास की शेष साम्वत्सरिक–अवधि में शुक्लपक्षों में तो वेद का स्वाध्याय प्रक्रान्त

---

*–**असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः–किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः--के ते ऋषय इति ?। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः-श्रमेण तपसा-अरिषन्, तस्मात्--ऋषयः।** (शत० ब्रा० ६।१।१।१)।

रखना चाहिए, एवं कृष्णपक्षों में वेदाङ्गों (शिक्षा–कल्प–छन्द–व्याकरण–निरुक्त–ज्योतिष–शास्त्रों) का अध्ययन प्रक्रान्त रखना चाहिए। यही साम्वत्सरिक–वेदवेदाङ्ग–स्वाध्याय की व्यवस्थिति है।

८०-वेदाधिकारप्राप्त्यनुगत ऋषिप्राणाधान का स्वरूप-दिग्दर्शन—

वेदस्वाध्याय आरम्भ करने से पूर्व वेदतत्त्वात्मक ऋषिप्राण का भूतात्मा में आधान कर लेना आवश्यक बन जाता है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए वेदस्वाध्यायारम्भ से पूर्व ऋषितर्पण अपेक्षित है। यह ऋषितर्पणकर्म्म ही–'उपाकर्म्म' कहलाया है, जिसके द्वारा ऋषिप्राण अतिथिरूप से ब्राह्मण के अध्यात्म में उसी प्रकार प्रतिष्ठित हो जाते हैं, जैसे कि यज्ञारम्भ में यजमान उपवसथकर्म्म के द्वारा, किंवा दीक्षणीयेष्टिकर्म्म के द्वारा अपने मानस क्षेत्र में साक्षीरूपेण यज्ञिय देवताओं का आधान कर लेता है। आगमशास्त्र ने भी इसी आधार पर दीक्षाकर्म्म को अत्यन्त ही आवश्यक कर्म्म माना है, जिसके बिना अदीक्षित व्यक्ति के लिए आगमीय–रहस्यात्मक विषय नितान्त गोपनीय ही बनें रहते हैं।

जबतक (४॥ मासपर्य्यन्त) यह धारावाहिक–वेदस्वाध्याय प्रक्रान्त रहेगा, तबतक आरम्भ के दिन में समागत ऋषिप्राण अतिथि बनें रहते हैं ब्राह्मण के अन्तर्जगत् में। वेदस्वाध्याय के इस एक मुख्य–प्राथमिक काल की समाप्ति के अनन्तर सदैव इन अतिथियों को ससम्मान परावर्त्तित कर देना (विदा कर देना) भी आवश्यक बन जाता है। वही विसर्जनकर्म्म–**'उत्सर्गकर्म्म'** कहलाया है। उपाकर्म्म उत्सर्गकर्म्म–सापेक्ष है। उपाकर्म्म का एकमात्र तात्पर्य्य है–**"हे महर्षिगण! हम आपकी साक्षी में ४॥ मास पर्य्यन्त धारावाहिकरूपेण वेदस्वाध्याय की आज से प्रतिज्ञा करते हैं।"** तत्सापेक्ष उत्सर्गकर्म्म का एकमात्र तात्पर्य्य है— **"हे महर्षिगण! हम पूर्वसंकल्पित–प्रक्रान्त वेदस्वाध्याय का एक प्रक्रम आज प्रतिज्ञानुसार पूर्ण कर रहे हैं, समाप्त कर रहे हैं।"**

८१--आचारनिष्ठाशून्य प्रतीकव्यामोहनमात्रानुगत उपाकर्म्म की निरर्थकता—

सिद्ध है कि, यदि उपाकर्म्मदिन से प्रतिज्ञात वेदस्वाध्याय का आरम्भ कर यथासमय उत्सर्ग न किया गया, तो उपाकर्म्म न केवल यातयाम (व्यर्थ) ही बन जाता है, अपितु यह प्रत्यवायजनक भी बन जाता है। जबकि उपाकर्म्म का अर्थ ही ऋषिसाक्षी में वेदस्वाध्याय की प्रतिज्ञा करना है तो, उस दशा में वेदस्वाध्याय की कल्पना से भी वञ्चित रहने वाले ब्राह्मणों के द्वारा विघटित होते रहने वाले आडम्बरपूर्ण–निष्प्राण–प्रतीकमात्र उपाकर्म्मों का क्या अर्थ शेष रह जाता है ?, प्रश्न का समाधान उपाकर्म्मप्रेमियों से ही पूँछना चाहिए। **ध्यान रहे–सांस्कृतिक आयोजनों में तो गतानुगतिकता अमुक अंश में क्षम्य मानली गई है। किन्तु शास्त्रीय सांस्कृतिक–आचारों में कदापि गतानुगतिका क्षम्य नहीं मानी जा सकती।**

८२--उपाकर्म्म, एवं तत्सापेक्ष उत्सर्गकर्म्म का स्वरूपसमन्वय—

जब वेदस्वाध्याय ही स्मृतिपथ से पराङ्मुख हो गया, तो उत्सर्ग का स्मरण होता भी किस आधार पर। ऋषिप्राण की साक्षी में वेदस्वाध्याय की प्रतिज्ञा कर फिर वेद के ग्रन्थमात्र के भी संस्पर्शमात्र से भी अपने आपको आलोमभ्यः–आनखाग्रेभ्यः–असंस्पृष्ट बनाए रखने के परम पौरुष में निष्णात ब्राह्मणमहाभागों का प्रतीकात्मक उपाकर्म्म उपाकर्म्म का अभिनय नहीं, तो और क्या है ?। क्या परिणाम, किंवा दुष्परिणाम हुआ

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करता है ऐसे प्रतीकाभिनयों का ?, यह आज प्रतीकभक्त ब्राह्मणों के सम्मुख विद्यमान है। इसीलिए तो पुनः पुनः हमें आक्रोपूर्वक यह निवेदन करते ही रहना पड़ता है कि,–"प्रतीकों के इन व्यामोहनात्मक–प्रदर्शनात्मक-अभिनयोंनें हीं तो ब्राह्मण को वेदस्वाध्यायनिष्ठा से विमुख किया है। इसीलिए तो राजर्षि को–'यथोक्तान्य रे-कर्म्माणि परिहाय द्विजोत्तमः-वेदाभ्यासे च यत्नवान्-(भवेत्') यह कहने की आवश्यकता हुई हैं। आस्तां तावत्। प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, श्रावणीतिथि को ऋषितर्पणात्मक वह उपाकर्म्म ही विहित है, जो ब्राह्मण के वेदस्वाध्याय का उपक्रम बनता हुआ महान् हीं पर्वदिवस है ब्राह्मण के लिए। इसी पर्व का, एवं तत्सापेक्ष उत्सर्ग का स्वरूप–व्यक्त करते हुए राजर्षि ने कहा है—

श्रावण्यां प्रोष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ॥
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्द्धपञ्चमान् ॥१॥
पुष्ये तु छन्दसां कुर्य्याद् बहिरुत्सर्जनं द्विजः ॥
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥२॥
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ॥
विरमेत् पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥३॥
अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ॥
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥४॥

—मनुः ४।९५-९८।

८३-विपत्तिपञ्चकसंरक्षक–उपाकर्म्मोत्सर्गनिष्ठ–सान्तपनाग्निमूर्त्ति–वेदवित् ब्राह्मण के रक्षाबन्धनसूत्र से राष्ट्रप्रजा का संरक्षण—

सान्तपतनाग्निमूर्त्ति, अतएव जन्मनैव रक्षणवृत्ति से समन्वित संरक्षक ब्राह्मण का वेदस्वाध्यायव्रतग्रहणारम्भानुगत-स्वाध्यायात्मक उपाकर्म्म वह कर्म्म है, जिससे अपने अन्तर्जगत् में सृष्टिस्वरूपसंरक्षक–प्रवर्त्तक–स्वायम्भुव-ऋषिप्राण का आधान-सन्तर्पण करता हुआ ब्राह्मण सचमुच महान् बल सञ्चित कर लेता है। ऋषिप्राणोपक्रान्त वेदस्वाध्याय ही तो ब्राह्मण का 'स्वयम्भुब्रह्म' मूलक अपना बल है। इसी बल से तो यह मानवसमाज की रक्षा करने में समर्थ बनता है। अतएव श्रावणीपूर्णिमा, अथवा तो भाद्रपद की पूर्णिमा-तिथि में ब्राह्मण के द्वारा किया जाने वाला उपाकर्म्म अवश्य ही स्वयं ब्राह्मण के लिए भी, एवं परम्परया समाज के लिए भी **'रक्षाकर्म्म'** कहला सकता है। एवं उपाकर्म्मात्मक इस रक्षाकर्म्म के सम्बन्ध से यह दिवस भी अवश्य ही–**'रक्षादिवस'** माना जा सकता है। उपाकर्म्म से ऋषिप्राणात्मक वेदतत्त्वाधान के द्वारा ब्राह्मण के अन्तर्जगत् में रक्षाबीज प्रतिष्ठित हो जाता है। रक्षाबीज से सुरक्षित, ऋषिप्राणाधान से सशक्त बना हुआ ब्राह्मण उपाकर्म्म के अनन्तर रक्षापोटलिकात्मक रक्षासूत्र से अपने यजमानबन्धुओं को भी रक्षाबल से समन्वित कर देता है। एकमात्र इसी आधार पर उपाकर्म्मतिथि–**'रक्षातिथि'** मानली गई है। एवं एकमात्र इसी आधार पर इसी दिन लोकानुबन्धी रक्षासूत्रबन्धनात्मक–रक्षाबन्धन–पर्व आवश्यक मान लिया गया है। उपाकर्म्मात्मक रक्षाकर्म्म प्रधान कर्म्म है इस तिथि का, रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म गौण कर्म्म है इस तिथि का। इसीलिए इसे उपा-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कर्म्म का अङ्गकर्म्म ही माना गया है, जैसाकि–'**उपाकर्म्मदिने प्रोक्तमृषीणाश्चैव तर्पणम् । ततोऽपराह्न-समये रक्षापोटलिकां शुभाम्**' इत्यादिरूप से पूर्व में महतासमारम्भेण स्पष्ट किया जा चुका है । क्योंकि रक्षा-बन्धन उपाकर्म्म का अङ्ग है, एवं उपाकर्म्म गृह्याचारभेद से (स्व स्व गृह्यसूत्रों की पद्धति के भेद से) विभिन्न तिथियों से सम्बन्ध रखता है । अतएव उसी अनुपात से लोकानुबन्धी–अङ्गभूत रक्षाबन्धनकर्म्म भी भिन्न-भिन्न वर्गों (पुरोहितों–दाधिमथों आदि) में विभिन्न तिथियों में प्रचलित हो पड़ा है । सदा ही अपने विद्याबल से, सांस्कृतिक बल से, तदभिन्न धर्म्मबल से स्वयं सुरक्षित रहने वाला ब्राह्मण इसी बल से सदा ही समाज को धर्म्म-सूत्रात्मक रक्षासूत्र से आबद्ध-नियमित--मर्य्यादित-नियतकर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठ बनाता हुआ सुरक्षित रखता है, इसी धर्म्मसूत्रबल से समाज की यह विपत्तिपञ्चक से सदा ही रक्षा किया करता है । तो ऐसी स्थिति में एक दिन यह रक्षापर्व राष्ट्र में क्यों व्यवस्थित कर दिया इस ब्राह्मणप्रज्ञा नें ?, इस प्रासङ्गिक प्रश्न का एकमात्र समाधान तथोक्त 'उपाकर्म्म' ही है, यही प्रक्रान्त सन्दर्भ का निष्कर्ष है ।

८४-भारतीय सनातन-संस्कृति के विविध पर्वात्मक विविध रक्षात्मक महान् माङ्गलिक दृष्टिकोण—

प्रसङ्ग रक्षा का प्रक्रान्त है । अतएव तत्सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त इसी रक्षाकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले एक महत्त्वपूर्ण–रक्षात्मक-दृष्टिकोण का भी समन्वय कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा । पूर्ण सम्वत्सर (पूरा वर्ष) शान्ति–सुख–समृद्धि से व्यतीत होता रहे, यही मानवजीवन के साम्वत्सरिक जीवन की महती सफलता है, एवं यही मानवसमाज का महत्सौभाग्य है । सम्पूर्ण संवत्सर में क्रान्तिपातकाल आपत्तियों के आक्र-मण के मुख्य काल माने गए हैं । वे दोनों प्रमुख काल ही क्रमशः **वसन्तसम्पातकाल, शरत्सम्पातकाल** कहलाए हैं । सम्भवतः क्षत्रियानुगत–महान् पर्व '**विजयदशमीपर्व**' की रूपरेखा में इनका विशेष स्पष्टीकरण सम्भव हो सकेगा । अभी इनके सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि–वसन्तारम्भ में, तथा शरद्–आरम्भ में द्यावापृथिवी की क्रान्ति (दूरी) के पतन से मानवीय-जीवनशक्ति पर एक विशेष आघात होता है । इसी आघात से मानवसंस्था पर विपत्तियों के आक्रमण की आशङ्का सम्भावित बन जाती है । अतएव दोनों हीं सम्पातकालों में मानव की रक्षा अभीष्ट है । इन दो सम्पातकालों के अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्षाऋतु भी त्रिदोषव्याकृति से आपत्ति–रोगप्रवर्त्तिका बनी रहती है, जैसाकि–'**वर्षासु दोषा कुप्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे**' (अष्टाङ्गहृदय) इत्यादि आयुर्वेदसिद्धान्त से भी प्रमाणित है । वर्षा में आप्य–वारुण–प्राण की प्रधा-नता रहती है, जो आप्य–वारुणप्राण वैदिकपरिभाषा में 'असुर' कहलाया है । आषाढशुक्ल एकादशी से यह असुराक्रमण आरम्भ होता है, एवं कार्तिकशुक्ल एकादशी में यह उपशान्त होता है । चातुर्म्मास्यानुबन्धी आसुर–आप्य–वारुणप्राण सौर–पार्थिव ऐन्द्राग्नप्राणरूप देवप्राण के सहज विकास को अभिभूत कर देता है । तभी तो मानव का जाठराग्नि मन्द हो जाता है वर्षाऋतु में । अतएव यह काल '**देवसुषुप्तिकाल**' माना गया है, जिसमें देवप्राणानुबन्धी समस्त धार्मिक कर्त्तव्य निषिद्ध मान लिए गए हैं । स्पष्ट ही वर्ष में वर्षाऋतु के ये चार मास विपत्ति-रोगों की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखने वाले बन रहे हैं । इस भय से त्राण प्राप्त करने के लिए ही वर्षाऋतु में अनेक रक्षाविधियाँ विहित हुई हैं । जिनमें श्रावणी नामक उपाकर्म्म भी एक रक्षाविधि ही है । सम्पूर्ण श्रावणमास (जो कि वर्षाऋतु का उद्ग्रामकाल है) मृत्युञ्जय–भगवान् साम्बसदाशिव की उपासना का लक्ष्य माना गया है । चैत्रनवरात्रों में जगन्माता की उपासना से प्राप्त शक्तिबल से ब्राह्मण मानवसमाज की

रक्षा करता है, श्रावण में जगत्पिता शङ्कर की आराधना से रक्षाबल अर्जित किया, उपाकर्म्म के द्वारा विद्याबलप्राप्ति से रक्षाबन्धन किया, पुनः आश्विन-नवरात्रों में शक्ति समन्वयद्वारा रक्षासूत्र को दृढ़ बनाया। यों ब्राह्मण के द्वारा मानवसमाज के अभ्युदय निःश्रेयस् के लिए रक्षा के साधन आगे से आगे उपस्थित होते ही गए, होते ही रहते हैं आज भी। अब समाज निष्ठापूर्वक इनसे रक्षा करले, अथवा तो भावुकतावश इनकी उपेक्षा-निन्दा कर इनका परित्याग करता हुआ अपना सर्वनाश कराले, यह समाज की सांस्कृतिक-प्रज्ञा पर ही निर्भर है। ब्राह्मण को ऐसी क्या आवश्यकता आपड़ी थी कि, उसने यों मानवसमाज के लिए रक्षापरम्पराएँ व्यवस्थित कर डालीं?, क्या स्वार्थ था ब्राह्मण का ऐसा करने और कराने में?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर निष्ठाभावापन्न **'स्वार्थ'** शब्देतिहास के गर्भ में हीं सुरक्षित है, जिस शब्देतिहास का विस्मरण कर आज सचमुच रक्षक ब्राह्मण भी अरक्षित ही बन गया है, एवं जिस स्वार्थ की उपेक्षा कर समाज भी इन रक्षासाधनों से वञ्चित ही हो गया है।

८५-भारतीय 'स्वार्थ' शब्द की मौलिक व्याख्या, एवं स्वार्थनिष्ठ राष्ट्रसंरक्षक राष्ट्रीय ब्राह्मण—

'स्वःपदास्पदम्' के अनुसार-'स्व' का अर्थ है पुरुषात्मा। वह आत्मा, जिस की सीमा में बुद्धि-मन-शरीर-सब कुछ प्रतिष्ठित है। तत्परम्परया सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है। एवं इसी 'स्व' व्याप्ति के आधार पर-**'आत्मवत्-सर्वभूतेषु'** यह कहा सुना भी जारहा है। सभी इस 'स्व' की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं। नितान्त दुर्भाग्य है यह आज के मानव का कि, उसने-'स्व' का अर्थ शरीर को, अथवा तो अधिक से अधिक शरीरानुगत मन को ही मान लिया है। अवश्य ही मन और शरीर नामक दोनों प्राकृतिक-भौतिक पर्व प्रत्येक भूत-प्राणी-मानव के सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। अतएव इस 'स्वार्थ' का अर्थ केवल अपना-अपना शरीर, अपना-अपना मन हीं बन रहा है। यही 'स्वार्थ' वह जघन्य स्वार्थ है, जो मानव मानव में पार्थक्य का बीजाधान कर देता है, कर रहा है आज। भारतीय-'स्वार्थ' का अर्थ है-'आत्मार्थ', जिस का अर्थ है **"सर्वत्र समदर्शन-आत्मदर्शन-पूर्वक-स्वस्वरूपसंरक्षण-पूर्वक परस्वरूपसंरक्षण के लिए सर्वस्वार्पण'**। यही यहाँ की-**'सर्वभूतहितरति'** का मूलबीज माना गया है। राष्ट्र का ब्राह्मण ऐसे 'स्वार्थ' को ही अपना स्वार्थ मान रहा है (मानता था)। जिस दिन से इसने भी भूतवादियों के सङ्गदोष से 'शरीर' को ही 'स्व' मान लिया, उसी दिन से इसकी आत्ममूला-विश्वानुबन्धिनी-स्वार्थनिष्ठा का पतन होगया। बड़ा ही रहस्य पूर्ण है-स्वार्थ शब्द का चिरन्तनेतिवृत्त, जिसके विश्लेषण का यहाँ अवसर नहीं है।

८६-राष्ट्रीय ब्राह्मण का विश्वमानवतानुबन्धी मैत्रभाव—

ब्राह्मण क्यों, किस लिए, राष्ट्र-समाज के लिए ऐसा करता है?, इस प्रश्न का उत्तर यही रहस्यपूर्ण 'स्वार्थ' शब्द है, जिसमें किसी भी अन्य कारणता का प्रवेश भी निषिद्ध है। तभी तो इस महान् स्वार्थी ब्राह्मण को राजर्षि मनुने 'मित्र' उपाधि प्रदान की है। मनुने कहा कि, **"यह ब्राह्मण समाज के लिए भले ही और कोई विशेष हित-साधन न करे। किन्तु यह मित्र अवश्य बना रहे सब का" तभी इसे-'मैत्रब्राह्मण' कहा जायगा'**। *। ब्राह्मण कभी किसी को अमित्र मान हीं नहीं सकता। क्योंकि

***-जप्येनैव तु संसिद्ध्येत् ब्राह्मणो नात्र संशयः।**
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ (मनुः २।८७)।

सर्वभूतहितरतिमूलक–'स्व' लक्षण आत्मा का अर्थ (स्वार्थ) ही इसका अपना अर्थ है, जिस स्वार्थ की सीमा से कोई भी बाहिर नहीं है । **'सर्वे भवन्तु सुखिनः–मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्–सर्वे सन्तु निरामयाः'** तो ब्राह्मण का स्व–स्वरूप ही है। वह कभी प्रमाद से भी किसी के भी अनिष्ट की कल्पना भी नहीं कर सकता। यदि करता है, तो कदापि वह भारतीय ब्राह्मण तो नहीं है । फिर तो अवश्य ही वह कोई क्रूर **ब्राह्मण** होगा, अथवा तो आसुरी मायाशक्ति **'दाक्षा'** का उपासक **शक्तब्राह्मण** होगा। अन्य कुछ कर सकने में असमर्थ भी ब्राह्मण कल्पना–चिन्तन–मानसभावों से तो सब का हित चिन्तन ही करेगा । अतएव ब्राह्मण की उपाधि–**'शुभेच्छुः–शुभचिन्तकः'** भी बन गई है लोकव्यवहार में। स्वयं श्रुति ने भी विस्पष्ट शब्दों में ब्राह्मण के इस मैत्रभाव का ही समर्थन किया है—

अथ यत्रैतत्--प्रतितरामिव तिरश्चीनार्चिः संशाम्यतो भवति, तर्हि--हैष भवति मित्रः। यमाहुः–"सर्वस्य वाऽअयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वाऽअयं कञ्चन हिनस्ति"–इति। (शत० ब्रा० २।३।२।१ ।) ।

८७–मित्रब्राह्मण की विश्वमैत्री, एवं मैत्रीपूर्ण पुरुषार्थ—

मैत्रावरुणग्रहश्रुति ने भी ब्राह्मण के इसी ऐन्द्र–मित्रात्मक–आत्मभाव का समर्थन किया है। ब्राह्मण के अन्तरात्मा में 'क्रतु' नामक 'मित्र' प्राण ही अन्तर्य्यामसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है । मित्रप्राण क्योंकि इसकी प्रकृति–**'स्व-भाव'** रूप **'स्वभाव'** बना हुआ है। अतएव मानवमात्र ही क्या, प्राणिमात्र के लिए मङ्गलकामना करते रहना तो इसका स्वाभाविक धर्म्मात्मक–'स्वधर्म्म' ही है। बिना किसी प्रत्यर्पण–प्रत्युपकार की भावना–कुभावना के–**'सर्वे सन्तु निरामयाः'** इस सहजसिद्ध मित्रवृत्ति के आकर्षण से सतत सब की रक्षा में प्रवृत्त रहना ही तो ब्राह्मण का परमपुरुषार्थ है। अपनी इस स्वाभाविक–मित्रप्राणवृत्ति से ब्राह्मण मानवसमाज की रक्षा में प्रवृत रहता है, जिस में क्यों ? का प्रवेश सर्वथा ही निषिद्ध है। इसी प्रवृत्ति को मूलाधार बना कर ब्राह्मण रक्षासाधनात्मक उपाकर्म्म–वेदस्वाध्य–नवरात्रोपासन–साम्बसदाशिवाराधन–आदि आदि रक्षाकर्म्मों में निष्कारणभाव से ही प्रवृत्त रहता है।

८८–मैत्रीपूर्ण उत्तरदायित्व से पराङ्मुख जात्युपजीवी ब्राह्मण की 'जीवितमृत्यु'—

यदि इन रक्षासाधनों का आधार 'शरीरस्वार्थ' बन जाता है, तो तत्काल ये रक्षासाधन अन्तर्लीन हो जाते हैं। फिर तो ब्राह्मण इन में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। इन की अप्रवृत्ति से स्वयं ब्राह्मण ही 'जीवन्मृत' बन जाता है। यदि वञ्चकता के लिए इन उपायों को माध्यम बनाता भी है, तो कदापि ये साधन इसे इस दिशा में भी सफल नहीं होने देते। रक्षात्मिका विधाएँ यदि व्यवसाय के साधन हैं, तो यही ब्राह्मण की मृत्यु है। इसी कारणता ने ब्राह्मण को वेद–वेदाङ्ग–स्वाध्याय से विमुख कर इसे उन शब्दाडम्बरों की ओर ही प्रवृत्त कर डाला, जिन से इसे उदरपूर्त्ति के साधन उपलब्ध हो जाने की सम्भावनामात्र हो पड़ी थी। क्या उपयोग वेदशास्त्र का दैनिक जीवन की उपयोगिता में ?, इसी शरीरमूलक प्रश्न ने ब्राह्मण को इस विधि के सम्पर्कमात्र से भी पराङ्मुख बना दिया। उपयोगिता के समर्थक इस मनःशरीरधर्म्मामात्र ब्राह्मणनें जिस दिन से वेदस्वाध्याय का परित्याग कर लोक–वित्तैषणापूरक अन्यान्य लोकसाहित्यों के प्रति आत्मसमर्पण करना

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आरम्भ कर दिया, वेदसिद्धा–आचारसंस्कृतियों की उपेक्षा कर दी, परावलम्बनता के निग्रह में आकर उत्तरदायित्व के विघातक आलस्य को अतिथि बना लिया, रसनेन्द्रियमूलिका–अन्नलिप्सा को ही अपना महान् पौरुष मान लिया, तभी से इसका जीवित–मरण उपक्रान्त बन गया। और यों इसी अभ्यास का पुनः–पुनः आम्रेडन करते जाने वाले इस भावुक ने अपना भी सर्वनाश करा लिया, और अपने साथ साथ समाज को भी अरक्षित बना डाला। कारणतावादी–उपयोगितावादी शरीरधर्म्मा ब्राह्मण नें विस्मृत कर दिया अपना '**ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**' यह महान् उद्बोधनसूत्र, एवं इसने कण्ठस्थ कर लिया मनु का (आचारणरूपेण) यह सूत्र कि—

अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्ज्जनात्।
आलस्यात्, अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

—मनुः ४।४।

८९–महामाया 'आद्या' शक्ति के द्वारा देवनिकाय का संरक्षण—

रक्षाबन्धनमहोत्सव से सम्बन्ध रखने वाला अब पूर्वोपात्त यह प्रश्न उपस्थित हो पड़ा कि, यदि रक्षाकर्म्म एकमात्र ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य है, तो स्त्रीवर्ग किस आधार पर भ्राता–पिता–आदि के रक्षासूत्र बाँधने लग पड़ा ?, प्रश्न का उत्तर रहस्यशास्त्र के रहस्यबोध पर ही अवलम्बित है। रहस्यशास्त्र (दुर्गासप्तशती) नें हमें बतलाया है कि–जब देवतागण असुरगणों को परास्त करने में असमर्थ हो गए, तो उन्होंनें अपनी अपनी सीमित शक्तियां को एक केन्द्रबिन्दु पर सञ्चित करना आरम्भ कर दिया। इस आरम्भण से देवशक्तिसमूहात्मक वही शक्तिपुञ्ज सहस्रभानुसम प्रदीप्त–प्रचण्ड हो पड़ा। यही महामाया महिषासुरमर्दिनी का आविर्भाव माना गया। इसी स्वरूपने अट्टाट्टहास-पूर्वक समस्त दैत्य–असुरों को परास्त कर शक्त्युपासक देवताओं का विजयश्री के साथ वरण करा दिया। तात्पर्य्य इस रहस्याख्यान का स्पष्ट है। शक्ति ही मानव के भूतस्वरूप की, ब्राह्मस्वरूप की रक्षा किया करती है। शक्ति के साम्राज्य में हीं अग्नि–वायु–इन्द्र–नामक त्रैलोक्याधिष्टाता देवताओं का विजय हो रहा है, जो शक्ति इन्हें ब्रह्मद्वारा उपलब्ध होती रहती है। सांसारिक–विपत्तियों के आक्रमण से संरक्षण, रक्षापूर्वक सांसारिक (शारीरिक) अभ्युदयां की प्राप्ति, तथा पारलौकिक (आत्मिक) निःश्रेयस् भावों की उपलब्धि शक्तिपुञ्जरूपिणी महामाया जगदम्बा के सहज अनुग्रह पर ही अवलम्बित है। इस शक्ति के अनुग्रह से ही मानव शक्तिमान् बनता हुआ विपत्तियों को परास्त कर देता है। सैषा स्थितिः प्राकृतिकी।

९०–अव्ययेश्वरपुरुष, और उस की सर्वशक्तिरूपा प्रकृति—

बात सुनने सुनाने में जितनी सरल है, समझने समझाने में उसी अनुपात से थोड़ी कठिन। सम्पूर्ण भूत–भौतिक विश्व ही विश्वात्मा का शरीर है, जो स्वयं विश्वात्मा के द्वारा सुरक्षित है। विश्वात्मा किस के माध्यम से इस विश्व का आविर्भाव करते हैं, एवं किस के माध्यम से इस आविर्भूत विश्व का संरक्षण करते हैं ?, प्रश्न का उत्तर है–'**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**'। अर्थात् चिदात्मा विश्वेश्वर की सच्चिदानन्दघना चिच्छक्तिरूपिणी चेतनालक्षणा (अक्षरलक्षणा) प्रकृति ही वह महाशक्ति है, जिसके द्वारा

ही तो विश्वेश्वर (अव्ययपुरुष) विश्व के आविर्भाव में समर्थ होते हैं, एवं जिसके द्वारा ही विश्व का संरक्षण हुआ करता है। इत्थंभूता विश्वजननी विश्वस्थिति–संहार–कारिणी–महामाया आद्या भगवती प्रकृति-शक्ति ही वह परा पराणां परमा शक्ति है, जो विश्व की सर्वस्वभूता सनातनी अधिष्ठात्री बनी हुई है।

९१-महाशक्ति का विश्वानुबन्ध से चतुर्द्धा विकास, एवं स्वयम्भुपरमेष्ठिनौ-परमेष्ठि-सूर्य्यौ-सूर्य्याचन्द्रमसौ, सोमः पूषा च चेततुः-मूलक ब्रह्माविष्णू-इन्द्राविष्णू-इन्द्रा-सोमौ–अग्नीषोमौ–लक्षणा विवर्त्तचतुष्टयी—

मूलाधिष्ठात्री यही प्रकृतिशक्ति अपनी अवान्तर पाँच कलाओं से क्रमशः ब्रह्मशक्ति–(स्वायम्भुवी), विष्णुशक्ति (**पारमेष्ठिनी**), इन्द्रशक्ति (**सौरी**), सोमशक्ति (**चान्द्री**), एवं अग्निशक्ति (पार्थिवी)-भेद से पञ्चपर्वा विश्व में पाँच विभूतिभावों में परिणत हो रही है। **स्वयम्भू-पारमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा-पृथिवी**-विश्व के इन पाँच पर्वों के अन्तरान्तरीभावासम्बन्ध से चार प्रधान विवर्त्त हो रहे हैं, जिनका प्रकारान्तर से पूर्व परिच्छेदों में समन्वय किया जाचुका है। **स्वयम्भू–परमेष्ठी**, दोनों का एक युग्म है, यही **ब्रह्मा–विष्णुरूप** प्रथम शक्तिविभाग है। **परमेष्ठी–सूर्य्य**, दोनों का एक युग्म है, यही **विष्णु–इन्द्ररूप** द्वितीय शक्तिविभाग है। **सूर्य्य–चन्द्रमा**, दोनों का एक युग्म है, यही **इन्द्र-सोमरूप** तृतीय शक्तिविभाग हैं। एवं **चन्द्रमा, पृथिवी**, दोनों का एक युग्म है, यही **सोम–अग्निरूप** चतुर्थ शक्तिविभाग है। द्वन्द्वदेवता-विज्ञान की दृष्टि से **ब्रह्माविष्णू, इन्द्राविष्णू, इन्द्रासोमौ, अग्नीषोमौ**, ये चार तन्त्र निगमपरिभाषा में सुप्रसिद्ध हैं, जो क्रमशः–**स्वयम्भुपरमेष्ठिनौ, परमेष्ठिसूर्य्यौ, सूर्य्याचन्द्रमसौ, सोमःपूषा च चेततुः**-रूप से भी प्रसिद्ध हैं। यों पाँच अवान्तर विवर्त्तों के चार ही अवान्तर-शक्तिविवर्त्त–रह जाते हैं, जो निगममूलक (वेदमूलक) आगमशास्त्र (तन्त्रशास्त्र) में क्रमशः **ब्रह्ममाया, विष्णुमाया, शिवमाया, भूतमाया**-इन नामों से उपस्तुत-उपवर्णित हैं। ब्रह्ममाया **ब्रह्मा–विष्णुमयी** है, विष्णुमाया **विष्णु–इन्द्रमयी** है, शिवमाया **इन्द्र–सोममयी** है, एवं भूतमाया **सोमाग्निमयी** है। चारों में पूर्व–पूर्व मायाएँ उत्तर–उत्तर–मायाओं की आधारभूमियाँ बनीं हुईं हैं–प्रतिसृष्टिप्रक्रिया में। अतएव मानवबुद्धि यह निर्णय करने में असमर्थ है कि, इन में कौन आधार है ?, एवं कौन आधेय है ?। इसी आधार पर इस शक्तितत्त्व की इन्हीं शब्दों में प्रणतभाव से स्तुति हुई है कि—

यच्च किञ्चिद्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा किं स्तूयसे तदा ॥

—सप्तशती

९२-स्वायम्भुवी सौरी–चान्द्री–पार्थिवी–शक्तियाँ, एवं मानव का स्वरूप–समन्वय—

उक्त चारों, किंवा पाँचों प्रकृतिशक्तिविवर्त्तों में स्वायम्भुवी ब्रह्ममाया ही मूलमाया है, जिसे पञ्चपर्वा विश्व की '**आदिमाया**' कहा जासकता है, कहा गया है। इसी का एक पारिभाषिक नाम है–'**आत्मशक्ति**' जो चतुष्पर्वा मानव के सर्वादिभूत के '**आत्मपर्व**' की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। इस स्वायम्भुवी–विश्वादि-भूता ब्राह्मी–आत्ममाया–आत्मशक्ति से ही परमेष्ठ्यादि उत्तर विश्व पर्वों का वितान हुआ है। विष्णु–इन्द्र–

सोम-अग्नि-आदि सम्पूर्ण देवता इसी के आधार पर स्व-स्व विश्वपर्वों में व्यवस्थित बने हुए हैं *। विष्णुगर्भिता, अतएव आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु के सम्बन्ध से ही **'अम्बिका'** (आपोमयी, निगमभाषानुसार **आम्भृणीमयी सरस्वती**) नाम से प्रसिद्धा स्वायम्भुवी आत्ममाया के आधार पर वितता इन्द्रगर्भिता विष्णुमाया ही **'महच्छक्ति'** कहलाई है, जिसे केनोपनिषत् नें-**'हैमवती उमा'** कहा है। यही महच्छक्ति विश्वविज्ञान की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका मानव में विज्ञानात्मलक्षणा-**'बुद्धि'** के रूप में आविर्भाव हुआ है। इस बुद्धिरूपा महच्छक्ति के आधार पर वितता सोमगर्भिता इन्द्रमाया ही **'प्रज्ञानशक्ति'** की प्रवर्त्तिका बनती है, जिसका मानव में प्रज्ञानात्मलक्षण **'मन'** के रूप में आविर्भाव हुआ है। मनोरूपा इस प्रज्ञानशक्ति के आधार पर वितता अग्निगर्भिता सोममाया, किंवा सोमगर्भिता अग्निमाया ही **'भूतशक्ति'** की प्रवर्त्तिका बनती है, जिसका मानव में भूतलक्षण **'शरीर'** के रूप में आविर्भाव हुआ है। यों पञ्चपर्वा विश्व की अधिष्ठात्री महाशक्ति-प्रकृति के तथोक्त चारों युग्मशक्तिपर्वों से ही क्रमशः मानव के **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**-चारों पर्व समन्वित हो रहे हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

१-स्वयम्भूः—ब्रह्मः २-परमेष्ठी—विष्णुः	—**ब्रह्माविष्णू**—अव्यक्तमाया (ब्रह्ममाया)	—आद्या——**'आत्मा'**-पर्वप्रतिष्ठा
१-परमेष्ठी-—विष्णुः २-सूर्य्यः——इन्द्रः	—**इन्द्राविष्णू**—महन्माया (विष्णुाया)	—हैमवतीउमा-**'बुद्धिः'**--पर्वप्रतिष्ठा
१-सूर्य्यः——इन्द्रः २-चन्द्रमाः—-सोमः	—**इन्द्रासोमौ**—प्रज्ञानमाया (शिवमाया)	—जगदीश्वरी-**'मनः'**—पर्वप्रतिष्ठा
१-चन्द्रमाः-—सोमः २-पृथिवी-——अग्निः	—**अग्नीषोमौ**--व्यक्तमाया (भूतमाया)	—त्रिपुरसुन्दरी-**'शरीर'**—पर्वप्रतिष्ठा

१-आत्मशक्तिर्म्मानवस्य——स्वायम्भुवी २-बुद्धिशक्तिर्म्मानवस्य-——सौरी ३-मनःशक्तिर्म्मानवस्य———चान्द्री ४-शरीरशक्तिर्म्मानवस्य-——पार्थिवी	—**शक्तिचतुष्टयसमष्टिरेव मानवः** **'शक्तिपात एव मानवस्य पुरुषार्थः'**

***-देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या।**
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां, भक्त्या नतास्म विदधातु शुभानि सा नः॥
—सप्तशती

६३–सर्वज्ञानुगता ज्ञानशक्ति, हिरण्यगर्भानुगता क्रियाशक्ति, विराट्पुरुषानुगता--अर्थ-शक्ति, एवं शक्तित्रयमूर्त्ति वैश्वानर--तैजस--प्राज्ञमूर्त्ति मानवीय प्राकृत--जीवभाव—

जिसप्रकार पञ्चपर्वा विश्व के पाँच शक्तिविवर्त्त पूर्वतालिकानुसार चार ही विवर्त्तभावों में शेष रह जाते हैं, एवमेव आगे चल कर चार के तीन हीं विवर्त्त प्रधान मान लिए जाते हैं–'त्रि:सत्या वै देवा:' इस निगमसिद्धान्त के सामान्य–अनुबन्ध से। समन्वय कर लीजिए इस त्रित्ववाद का भी दो शब्दों में। **ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र**–तीनों की समष्टि का प्रथम विभाग माना जायगा, इसे ही–'**ज्ञानशक्ति**' कहा जायगा। **विष्णु–इन्द्र–सोम**–तीनों की समष्टिका द्वितीय विभाग माना जायगा, इसे ही–'**क्रियाशक्ति**' कहा जायगा। एवं–**इन्द्र–सोम–अग्नि**–तीनों की समष्टि का तृतीय विभाग माना जायगा, इसे ही–'**अर्थशक्ति**' कहा जायगा। यों **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–तीनों शक्तियों में समस्त अवान्तर शक्तियों का अन्तर्भाव मान लिया जायगा, जिन इन तीनों शक्तियों के संग्राहक–साधक–माध्यम–क्रमशः दिव्य आदित्य–आन्तरिक्ष्य वायु–पार्थिव अग्नि देवता मानें गए हैं, जिनका विकास अधिदैवत में **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्**-रूप से, एवं अध्यात्म में (मानव में) **प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानर**--रूप से हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए इस त्रि:शक्ति-समन्वय को। क्योंकि इसी के माध्यम से रक्षाबन्धन के सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष निवेदन करना है।

१–स्वयम्भूः--ब्रह्मा
२–परमेष्ठी---विष्णुः
३–सूर्य्यः—--इन्द्रः
—(१) ज्ञानशक्तिः (आत्मबुद्धिप्रधाना)

१-परमेष्ठी—विष्णुः
२-सूर्य्यः—-इन्द्रः
३–चन्द्रमाः—सोमः
—(२) **क्रियाशक्तिः (बुद्धि-मनःप्रधाना)**

१–सूर्य्यः—--इन्द्रः
२–चन्द्रमाः—सोमः
३–पृथिवीः—अग्निः
—(३) अर्थशक्तिः (मनःशरीरप्रधाना)

अत्रैतत्समर्पितम

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

९४--ज्ञान--क्रिया--अर्थ--शक्तिविवर्त्त, एवं तत्प्रतीकरूप ब्राह्मण, नारी, तथा गोवंश---

सम्पूर्ण विश्वशक्तियाँ पूर्वोक्त तीन शक्तियों में अन्तर्भूत हैं, यह अबतक के निवेदन से स्पष्ट हो जाता है। वैसे तो विश्व के बड़े से बड़े, एवं छोटे से छोटे–पदार्थ में सब में तारतम्य से तीनों हीं शक्तियाँ प्रतिष्ठित रहतीं हैं। किन्तु इन तीनों शक्तियों के तीन प्रधान प्रतिनिधि माने हैं तत्त्वद्रष्टा महर्षियोंनें, जिस इस ऋषिदृष्टि के अनुग्रह का महद्भाग्य सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र भारतीय–सांस्कृतिक–प्रजा को ही प्राप्त हुआ है। आत्मबुद्धिसमन्वयलक्षणा ज्ञानशक्ति का महान् प्रतीक माना गया है वेदवेदाङ्गतत्त्वनिष्ठ–**भारतीय ब्राह्मण**। बुद्धिःमनःसमन्वयलक्षणा क्रियाशक्ति का महान् प्रतीक माना गया है–**भारतीय नारीवर्ग**, एवं मनःशरीरशरीरलक्षणा अर्थशक्ति का महान् प्रतीक माना गया है–**गोवंश**। **ब्राह्मण, नारी, गौ**, ये तीन हीं मुख्य केन्द्रबिन्दु हैं विश्व की **ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तियों** के, जिस इस प्राकृतिक–प्राणात्मक रहस्य का केवल जड़भूतदृष्टि से कदापि समन्वय नहीं किया जा सकता।

९५--भारतीय संस्कृति के मुख्य तीन स्तम्भ, तत्रापि सर्वप्रधाना मातृशक्ति का मुख्य--स्तम्भत्व, तथा तत्सम्बन्ध में जगन्मिथ्यात्ववादियों की महती भ्रान्ति—

भारतीय संस्कृति के तीन हीं मुख्य स्तम्भ हैं, जिनके सहयोग–अनुग्रह के बिना भारतवर्ष का कोई सा भी सांस्कृतिक आयोजन, कोई सा भी धार्म्मिक–लौकिक अनुष्ठान कदापि सुसम्पन्न नहीं बन सकता। राष्ट्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका केन्द्रबिन्दु का आधार ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र का परपारदर्शी ब्राह्मण हीं माना गया है। जिस राष्ट्र का ब्राह्मणवर्ग स्वस्वरूप से अन्तम्मुर्ख हो जाता है, उस राष्ट्र की ज्ञानशक्ति भी सर्वथैव अन्तम्मुर्ख ही बन जाया करती है। राष्ट्र की वैय्यक्तिकी–पारिवारिकी–सामाजिकी–आदि आदि यच्चयावत् क्रियाशक्तियों का केन्द्रबिन्दु बुद्धिगर्भित–मनःप्रधान–सुसंस्कृत–नारीवर्ग ही है। जिस राष्ट्र का यह वर्ग अपने स्वरूप से उत्पीड़ित–अमर्य्यादित–उच्छृंखल–पथभ्रष्ट बना दिया जाता है मानव की मूर्खता के द्वारा, निश्चयेन उस राष्ट्र के बाह्यजीवन का सम्पूर्ण कर्म्मकौशल सर्वथा ही उच्छिन्न हो जाता है। सांस्कृतिक–कर्त्तव्य-कर्म्मों का एकमात्र आधार नारी ही है। सांस्कृतिक–परम्पराओं को आज तक अक्षुण्ण बनाए रखने का एकमात्र श्रेय इस प्रातःस्मरणीय–पूज्य नारीवर्ग को ही प्राप्त है।

मानव की आत्मबुद्धिनिष्ठा, आचारनिष्ठा, धर्म्मनिष्ठा, लोकनिष्ठा, प्रजावैभव, लोकैश्वर्य्य, पारलौकिक–सद्गति, आदि आदि सभी कुछ एकमात्र भारतीय नारी के अनुग्रह पर ही तो अवलम्बित हैं। सर्वाश्रमों में ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–गृहस्थाश्रम हीं मानव का वह रक्षादुर्ग है, जिससे सुरक्षित रह कर ही मानव अपनी मानसिक–शारीरिक भावुकताओं का मर्य्यादापूर्वक संरक्षण करता हुआ आत्मबुद्धिनिष्ठापथ–साधन में समर्थ बना करता है। वे सर्वथा भ्रान्त हैं, जो नारी को आत्मबोधनिष्ठा में प्रतिबन्धक मानने–मनवाने का पाप करते रहते हैं। सचमुच उस वैराग्यकल्पना को क्रव्यादाग्नि में ही आहुत कर ही देना चाहिए, जिसने भावुकतावश–'**नारी किमेकं 'नरकस्य द्वारम्**' जैसी पापवासना का आविर्भाव कर डाला है। जिस महामाया प्रकृति से विश्वेश्वर विश्वेश्वर हैं, उसी की सगुणप्रतिमारूपा जगन्माता इस जगदम्बा (नारी) के अभिशाप ने हीं तो तथाविध वैराग्यवादियों को शून्य-शून्य ही बना दिया है। यह उचित ही तो दण्डविधान था उन शक्तिशून्य शवशरीरों के लिए।

९६--ज्ञानदात्री सावित्रीमाता, जन्मप्रदात्री प्रसवित्रीमाता, एवं जीवनीयरसप्रदात्री गौमाता--के भेद से राष्ट्र की मातृशक्तित्रयी, एवं तदुपेक्षा से राष्ट्र की ज्ञान--क्रिया-अर्थ--शक्तियों का उत्तरोत्तर अभिभव--

राष्ट्र की भूतशक्तिरूपा अर्थशक्ति का मूलाधिष्ठान कौन ?, अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ हमारे सम्मुख । उत्तर स्पष्ट है आर्षप्रज्ञा के लिए तो । * रुद्रमाता, वसुकन्या, आदित्यभगिनी–सर्वदेवमयी–सोमा–मृतरसमयी–जीवनीयरसप्रदात्री–माता के स्वरूप से कौन श्रद्धालु परिचित न होगा । भारतीय द्विजातिमानव ने अपने सांस्कृतिक–जीवन में तीन मातृशक्तियों का स्तन्यपान करके ही आजतक अपने सांस्कृतिक–जीवन को सुरक्षित बनाए रक्खा है । **जन्मदात्री प्रसवित्री माता, ज्ञानप्रदात्री सावित्री माता, एवं अर्थशक्ति–प्रदात्री गौमाता**, ये तीन हीं माताएँ स्तन्यपान के द्वारा हमारा संरक्षण–परिवर्द्धन करतीं रहतीं हैं । तीनों माताएँ एक ही मातृशक्ति के **ज्ञान–क्रिया–अर्थ**–रूप तीन विभूतिभाव हैं । ज्ञानविभूतिमयी सावित्रीमाता का अनुग्रह प्राप्त होता है हमें भारतीय यज्ञसूत्रधारी गायत्र्युपासक ब्राह्मण के द्वारा । क्रियाविभूतिमयी जन्मदात्री माता का अनुग्रह प्राप्त होता है हमें सापिण्ड्यतन्तुवितानकर्त्ता पितरों के अनुग्रह से, एवं अर्थविभूतिमयी जीवनरसप्रदात्री गौमाता का अनुग्रह प्राप्त होता है हमें श्रद्धा के द्वारा । तीनों हीं माताएँ समानरूप से आराध्या हैं, उपास्या हैं, भारतीय संस्कृति–सभ्यता–जीवन–धर्म्म-लोक–परलोक–दैवत–आत्मिक–भौतिक आदि आदि यच्चयावत् विवर्त्तों के मूलस्तम्भ हैं । तीनों में से एक की भी उपेक्षा करना अपने सर्वनाश का ही आमन्त्रण करना है ।

९७-भारतीय सत्तातन्त्र की धर्म्मनिरपेक्षिता, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप राष्ट्रीय-ज्ञान--क्रिया--अर्थ--बलों का उत्तरोत्तर ह्रास—

कहते हैं–भगवान् गौ, और ब्राह्मण के उद्धार के लिए ही अवतार लिया करते हैं । क्या तात्पर्य्य है इस मान्यता का ? । समन्वय कीजिए । गौमाता राष्ट्र की अर्थशक्ति है । गौवंश के उत्पीड़न से राष्ट्र की अर्थशक्ति निश्चयेन विकम्पित हो पड़ती है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण दुर्भाग्यवश आज वह भारतराष्ट्र ही बना हुआ है धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र के निग्रहात्मक–अनुग्रह से, जिस भारतराष्ट्र ने हीं सर्वप्रथम गौमाता के इस प्राणात्मक दिव्य स्वरूप का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया था । जिस देश के अवतारपुरुषोंनें स्वयं गोचारण करके इस महतीशक्ति की प्राणप्रतिष्ठा से अपने अवतारस्वरूप को धन्य बनाया था, रामकृष्ण के उसी पावन भारतराष्ट्र में आज गोवंश किस सीमापर्य्यन्त अरक्षित–उत्पीड़ित है ?, यह देख-सुन कर हम प्राण नहीं छोड़ रहे, यही हमारे लिए लज्जा की बात है । प्राण हैं कहाँ आज हमारे में ? । हम तो शवशरीरमात्र हैं । यदि प्राण का अंश भी विद्यमान होता हमारे भूतपिण्डों में, तो इस वंश की इसप्रकार की अवहेलना करने का कौन साहस कर सकता था ? । अब तो हम निष्प्राण-शवशरीरों के अशरण-शरण वे विश्वम्भर ही

***–माता रुद्राणां, दुहिता वसूना, स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः ।**
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥
—ऋक्संहिता

हैं, जो अवश्यमेव गोब्राह्मणहिताय समय-समय पर अवतार धारण करते रहना अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य ही मानते आए हैं। गो-द्विजहितकारी-असुरारी के अतिरिक्त अब अन्य कोई भी इन निधियों का संरक्षक वर्त्तमान भारतराष्ट्र के धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र में तो हमें उपलब्ध नहीं होरहा।

९८-शक्तित्रयसमन्वयमूलक-रक्षासूत्रबन्धनात्मक--प्रासङ्गिक--प्रश्नसमाधान की चेष्टा —

हाँ, तो ब्राह्मण का अर्थ है-ज्ञानशक्ति, एवं तदभिन्ना क्रियाशक्ति। यों ब्राह्मण के द्वारा ही ब्राह्मण की ज्ञानाधिष्ठात्री **सावित्रीमाता**, एवं कर्म्माधिष्ठात्री **जन्मदात्री माता**, दोनों मातृशक्तियाँ हीं संगृहीत हैं। तीसरी गौमाता अर्थ का प्रतीक है। यों **'गोब्राह्मण-हिताय च'** से तीनों मातृशक्तियों की ओर ही परोक्ष-भाषा में सङ्केत हुआ है। ब्राह्मण-**नारी-गौ**-(अर्थात् सावित्रीमाता, जन्मदात्रीमाता-गौमाता) इन तीनों के साथ क्रमशः **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-नाम की राष्ट्र की तीनों शक्तियाँ समन्वित हो रहीं हैं। इस शक्तित्रयी को लक्ष्यारूढ बना कर ही अब हमें रक्षाबन्धनानुगत प्रासङ्गिक प्रश्न के समाधान का अन्वेषण करना है।

९९ -मातृशक्तित्रयी का मूल उक्थ, एवं इट्--उर्क्--गौरूप--भृग्वङ्गिरोमय परमेष्ठी —

ठहरिए। अभी इन तीनों माताओं के बाह्यस्वरूप का दर्शन और कर लीजिए, जिस स्वरूप का प्रकृति के अत्यन्त ही गुहानिहित-रहस्यात्मक तत्त्व से सम्बन्ध माना है ऋषिप्रज्ञाने। सावित्रीमाता का ही दूसरा नाम है—**वेदमाता**, यही है **ज्ञानरसप्रदात्रीमाता**। दूसरी माता है-**जन्मदात्री**, जिसे लोकभाषा में-**'जननी'** कहा गया है। और तीसरी-माता है-**गौमाता**, जो **जीवनीयरसप्रदात्री** मानी गई है। इन तीनों माताओं का मूल-उक्थस्थान माना गया है—वह परमेष्ठीमण्डल, जो पञ्चपर्वा विश्व में स्वयम्भू के अनन्तर अपनी स्थिति रखता है। स्वयम्भूब्रह्म वेदतत्त्वमय है। इस वेदतत्त्व के यजुर्म्मय वाग्भाग से अभिव्यक्त आपोमय मण्डल ही परमेष्ठी-मण्डल है। इसे व्यक्त कर अव्यक्त स्वयम्भूवेदब्रह्म इसके गर्भ में समाविष्ट हो रहा है, जैसा कि—**'सोऽनया त्रय्या विद्यया सह अपः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत'** (शत० ६।१।१।१०) इत्यादि से प्रमाणित है। पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिरोमय अथर्वा-सोम हीं इस वेदत्रयी को अपने गर्भ में धारण किए हुए है। अतएव इस सौम्या शक्ति को अवश्य ही-**'वेदमाता'** कहा जा सकता है, जिसका सौरमण्डल में वेद-सावित्रीरूप से, एवं पार्थिवमण्डल में गायत्रीरूप से विकास माना गया है। यों पारमेष्ठिनी सौम्याशक्ति ही वेदमाता बन रही है, जिसे हमनें **ज्ञानप्रदात्री सावित्रीमाता** कहा है। इसी पारमेष्ठ्यमण्डल के **इट्-ऊर्क्-गौः'** ये तीन मनोता माने गए हैं।

१००--ब्राह्मण, वेदमातासावित्री, जन्मदात्रीजननी, रसप्रदात्रीगौमाता--भेदभिन्न चारों महिमाभावों का पारमेष्ठ्य सोममयत्त्व--

'या ते धामान्युष्मसि गमिध्यै-यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' (यजुःसंहिता ६।३।) इत्यादि के अनुसार अङ्गिरागर्भित-भार्गवसोममय पारमेष्ठ्य-सौम्यप्राण ही 'गौ' तत्त्व है, जिसकी गौपशु में प्रधानता रहा करती है। परमेष्ठी के देवता विष्णु हैं। अतएव विष्णु भी सोमवंशी कहलाए हैं, गौतत्त्व भी सौम्य ही बना हुआ है। सौम्या-जीवनीयरसप्रदात्री गौमाता का यही स्वरूपपरिचय है। पुरुष जहाँ अग्निप्रधान हैं, वहाँ नारी सोमप्रधाना मानी गई है। अतएव नारी को-सुमङ्गला-सौम्या-वामा कहा गया है। यों जन्मदात्री माता

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भी सौम्या ही बनी हुई है । वेदमाता का सन्देशवाहक ब्राह्मण भी सौम्य ही माना गया है । सोम हीं ब्राह्मण-वर्ण का देवता (प्रतिष्ठा) माना गया है, जैसाकि–'**सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा**' इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित है । यों ब्राह्मण, तदभिन्ना ज्ञानरसप्रदात्री वेदमाता **सावित्री**, जन्मदात्री **जननी**, जीवनीयरसप्रदात्री **गौमाता**, चारों का हीं पारमेष्ठ्य–सोमप्रधानत्त्व प्रमाणित हो रहा है । गौमाता का सौम्यभाव जीवनीय गोरस (दुग्ध) से प्रमाणित है, जननी का सौम्यभाव * स्तन्यदुग्ध से प्रमाणित है, ब्राह्मण का सौम्यभाव वाङ्मयी स–रसवती–सरस्वतीधारा से प्रमाणित है । तीनों का बाह्यस्वरूप सौम्य है, मृदु है, कोमल है, सात्त्विक है । अतएव तीनों हीं प्रज्ञाहीन–सत्त्वगुणहीन–तमोगुणान्वित–असुरबुद्धियों के द्वारा उत्पीड़ित होते रहते हैं । किंवदन्ती है कि, **"गाय, और कन्या की तो एक स्थिति है । जिसके साथ करदी जाती है, चुपचाप उसे चले जाना पड़ता है"** । यही स्थिति ब्राह्मण की भी समझिए । जो इससे थोड़ा भी मीठा बोल लेता है, तत्काल यह उसी की ओर अभिमुख हो जाता है ।

१०१–ब्राह्मणस्पत्यसोममूर्त्ति मृदुलग्रीव ब्राह्मण, चित्सोममयी वेदमाता, चान्द्रसोम--प्रधाना जननी, एवं पारमेष्ठ्यसोमप्रधाना गौमाता के सहजसिद्ध सौम्यभावों का सत्तातन्त्र की निरंकुशता–निरपेक्षिता--उपेक्षा से आततायीवर्ग के द्वारा उत्पीड़न--

सम्भवतः इसी आधार पर–'**मृदुलग्रीवा वयं ब्राह्मणाः**' सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है, जिसका अर्थ है–'ब्राह्मण की ग्रीवा (गला) अत्यन्त कोमल है, (अतएव सरलता से काटी जासकती है) । यत्–किञ्चित् से सांस्कृतिक–प्रलोभन से ही ब्राह्मण ने अपने गले कटवा लिए हैं कुनैष्ठिकों के द्वारा । इसी मृदुलता से इसे–'**मैत्रब्राह्मण**' कहा गया है । यही अवस्था सौम्या गौमाता की है, और यही अनपराधिनी माता (नारी) की है । इन भार्गव सौम्यस्वरूपों के अन्तस्तल में प्रचण्डरूप से धोधूयमाना जो अङ्गिराज्वाला धगद् धगद्–रूपेण जाज्वल्यमान है, यदि उसके प्रत्यंश का भी मानवों को बोध हो जाता, तो कभी यह राष्ट्र के इन मूलस्तम्भों को यों उत्पीड़ित करने का सङ्कल्प भी नहीं कर सकते थे । जब जब राष्ट्र में विप्लव–युद्ध हुए हैं, तब तब अवश्य ही इन तीनों में से किसी न किसी का स्वरूप तो अवश्य ही साक्षात्–अथवा तो परम्परया कारण बना है । ब्राह्मण के ज्ञान का उत्पीडन, मूर्खता का साम्राज्य, यही विप्लव का कारण । नारी का उत्पीड़न–अपमान, यही महाभारतयुद्ध की उपक्रमबिन्दु । गौमाता का उत्पीड़न, और यही यवन–साम्राज्य के पतन की उपक्रम-बिन्दु । क्या हमारा राष्ट्र, और राष्ट्र का धर्म्मनिरपेक्ष सत्तातन्त्र इन ऐतिह्य घटनाओं से शिक्षा ग्रहण कर सकेगा ? ।

१०२--राष्ट्रीय विद्याबल, पुरंधियोंपाबल, एवं तद्द्वारा राष्ट्रमानव का स्वरूपसंरक्षण—

उक्त प्रासङ्गिक सन्दर्भ से अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, शक्तिसम्बन्ध से ही मानव शक्तिमान् बनता है, एवं शक्तिमान् मानव हीं शक्ति के अनुग्रह से विपत्तियों से आत्मत्राण कर सकने में समर्थ बनता है । '**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' के अनुसार सम्पूर्ण स्त्रियाँ उसी पूर्वोक्ता आदिशक्ति

---

* सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्ततिसुन्दरी ।
परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरि ॥

महामाया के विभिन्न विभूतिभाव हैं। विद्या–पौरुष–शिल्प–कला–वाणिज्य–आदि आदि यच्चयावत् दैविक–भौतिक–आत्मिक पदार्थ शक्ति के ही प्रवर्ग्यरूप हैं। इन सब अवान्तर–खण्ड–खण्डात्मक शक्तिविवर्त्तों का मूलस्रोत यही महामाया है, जैसाकि—'**शब्दात्मिका सुविलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्। देवी त्रयी भगवती**'' इत्यादि रहस्यवचन से स्पष्ट है। तदित्थं–रक्षासाधनभूता समस्त विद्याएँ, तथा शक्तिसगुणप्रतिमानरूपा समस्त स्त्रियाँ, इसी शक्ति के मुख्य विवर्त्त हैं, जैसा कि—'**विद्याः समस्तास्तव देवि ! भेदाः, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' इत्यादि वचन से प्रमाणित हैं। ब्राह्मण जिस त्रयीविद्याबल से मानवसमाज की रक्षा करता है, निश्चयेन नारीवर्ग भी अपने सहजसिद्ध शक्तिस्वरूप से समाजस्वरूप का संरक्षक बन रहा है। जिस राष्ट्र का विद्याबल, तथा स्त्रीबल, दोनों अरक्षित बन जाते हैं, कदापि वह राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता, नहीं रह सकता।

१०३--'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते' मूलक शक्तिपूजनरहस्य—

जबतक भारतराष्ट्र के प्रज्ञात्मक कोश में विद्याबल सुरक्षित था, जबतक यह राष्ट्र मातृपूजन का अनुगामी था, जबतक इसका–'**यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते**' यह व्यवहारात्मक आदर्श सुरक्षित था, तबतक सर्वात्मना सुरक्षित बना रहता हुआ यह सभी क्षेत्रों में पूर्ण समृद्ध था। किन्तु सङ्गदोष में आकर जिस दिन से इसने अपने विद्याबल की उपेक्षा करदी, नारी को **सहधर्म्मचारिणी** के आसन से च्युत कर **सहकामचारिणी** बना लिया, उसी दिन से इसके ऐश्वर्य्य का पतन आरम्भ हो गया। '**स्त्रीतत्त्व शक्तिरूप है**' यह दृष्टि ही विलुप्त होगई इस भूतवादी की। स्त्री की प्रसन्नता, इसका आशीर्वाद, अनुग्रहदृष्टि, चरणनखच्छददर्शन, आदि आदि पावनकर्म्म मानव का कैसा अभ्युदय कर दिया करते हैं !, मातृत्व की इस उपासना से मानव किस पराशान्ति का अनुगामी बना रहता है ?, यह कदापि वाणी का विषय नहीं है। प्रत्येक स्त्री के **नारी और माता** ये दो–दो स्वरूप रहते हैं। अपने बाह्य भौतिक–स्वरूप से जहाँ प्रत्येक स्त्री नारी है, वहाँ अपने आभ्यन्तर आङ्गिरसस्वरूप से प्रत्येक नारी माता ही है, जिसका अभिप्राय यही है कि–प्रत्येक स्त्री का अन्तरात्मा महामाया जगदम्बा के अंश से समन्वित है। इसी आधार पर तो शक्तिपूजक महाभाग्यशाली बङ्गप्रान्त जननी की भाँति कन्या को भी उसकी अविवाहितावस्था में ही उसे–'माता' शब्द से सम्बोधित करता आया है।

१०४--मातृशक्ति से समन्वित रक्षाबन्धनसूत्र का महान् शक्तिशालित्व---

सचमुच ब्राह्मण के रक्षासूत्र से भी कहीं अधिक ही महत्त्व माना जायगा इस मातृशक्ति के द्वारा सहजरूप से ही प्राप्त होते रहने वाले संरक्षणसूत्र का। रक्षाबन्धनदिवस पर बहिनों–कन्याओं के पावन–वरद-करकमलों से माङ्गलिक कुंकुम-केसर का तिलक लगाता हुआ, अक्षतभाव से समन्वित होता हुआ मानव जब अपने हाथ में रक्षासूत्र बँधवाता है, तो क्या इसे तत्क्षण ही अपने अन्तर्जगत् में यह अनुभव नहीं हो जाता कि,–'**वह मानो इस सूत्रबन्धन से जगन्माता का साक्षात्रूप से ही आशीर्वाद प्राप्त कर रहा है**'। मातृजगत् के द्वारा प्राप्त होने वाले इसी रक्षाबल से मानव मातृजगत् के बाह्य–भौतिक नारीस्वरूप के रक्षण में सफल बना करता है।

१०५--इन्द्राणी के द्वारा इन्द्र के दक्षिणहस्त में रक्षासूत्रबन्धन, एवं तत्प्रभाव से असुरों का इन्द्र के द्वारा पराभव---

ब्राह्मण रक्षासूत्र के द्वारा यजमानों में आभ्यन्तर–प्राणबल का आधान करता है, यजमान इस प्राणबल से सशक्त बन कर ब्राह्मण की संस्कृति को आततायियों के बाह्य आक्रमण से बचाते हैं, ब्राह्मण के बाह्य

लोक–जीवन की प्रणतभाव से रक्षा करते रहते हैं। एवमेव स्त्रियाँ रक्षासूत्र के द्वारा अपने पारिवारिक जनों में सौम्या–सत्त्वशक्ति का आधान करतीं हैं, इस रक्षा से रक्षित पारिवारिक बन्धुगण मातृशक्ति के बाह्य-भौतिक स्वरूप का संरक्षण करते रहते हैं। अतएव रक्षाबन्धनात्मक यह कर्म्म पारस्परिक रक्षाभावक का संग्राहक बना हुआ है। निष्कर्ष यही हैं कि, नारी में प्रतिष्ठिता अचिन्त्या मातृशक्ति से रक्षालाभ के लिए ही इनके वरद हस्तों से भी रक्षासूत्र बँधवाना लोकपद्धति में समाविष्ट हो गया है। इसी आधार पर पुराण में एक कथा प्रसिद्ध है कि—

“देवताओं, और असुरों में एकबार भयङ्कर संग्राम छिड़ गया। निरन्तर १२ वर्ष पर्य्यन्त यह युद्ध चलता रहा। किन्तु देवराज इन्द्र असुरों का पराभव न कर सके। जब इन्द्राणी को ये समाचार मिले, तो उसने तत्काल व्रतोपवासादि के अनुष्ठान से अपना शक्तिबल सञ्चित किया, उसे स्वाभिमन्त्रित रक्षासूत्र से समन्वित किया, एवं अपने हाथ से इन्द्र के दक्षिण हाथ में रक्षासूत्र बाँध दिया। फलस्वरूप इस रक्षाबल से रक्षित इन्द्र ने शीघ्र ही असुरों को परास्त कर विजयश्री का संवरण कर लिया” * (भविष्यपुराण)।

१०६–रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म के प्रति नारीमात्र की आधिकारिकता का समन्वय—

कथानक प्रमाणित कर रहा है कि, मातृशक्ति की प्राप्ति के लिए ही स्त्रियों के द्वारा भी रक्षाबन्धनकर्म्म का सम्पादन अनिवार्य्य है। इसी कथानक से यह भी प्रमाणित होजाता है कि, इस रक्षासूत्र का सम्बन्ध पुरुषमात्र से है, फिर वह भाई हो, पिता हो, अथवा पति ही क्यों न हो। कारण स्पष्ट है। मातृभाव सभी स्त्रियों में सहजरूप से विद्यमान हैं। इसीलिए तो पति के लिए भी जाया (धर्म्मपत्नी) पूज्या मानी गई है धर्म्मशास्त्र में। इस मातृत्वशक्ति के बोध से अपरिचित मानव कालान्तर में अपनी इस सांस्कृतिक-निष्ठा से पराङ्मुख बन गया होगा। इस प्राकृत दशा में आजाने वाले मानव के लिए पत्नी केवल भोग्या ही बन गई होगी। और इसी सांस्कृतिक पतन के कारण नारी (पत्नी) के हाथ से रक्षासूत्र बँधवाना विलुप्त होगया होगा। किन्तु है यह तथ्य से विपरीत। कुछ ही समय पूर्व रूपनगर की राजकुमारी ने ब्राह्मण के द्वारा मेवाड़ के राणा के रक्षासूत्र बँधवाया था, जिसके संस्पर्शमात्र से उनकी क्षात्रशक्ति जागरूक हो पड़ी थी, एवं परिणामस्वरूप राजकुमारी के साथ राणा का परिणय सम्बन्ध हुआ था। ऐसी स्थिति में रक्षासूत्र का सम्बन्ध केवल भ्राता–पिता–आदि के साथ ही मानना लोकरूढ़िमात्र ही माना जायगा।

१०७-शकुन-ब्राह्मण-स्त्री–भेद से त्रितन्त्रात्मक रक्षाबन्धनकर्म्म—

अब इस पर्व से सम्बन्ध रखने वाला केवल एक प्रश्न और शेष रह जाता है, जिसका समाधान प्राप्त किए बिना पर्व का सर्वाङ्गीण समन्वय सम्भव नहीं बन सकता। अतएव दो शब्दों में उसका भी स्वरूप-विश्लेषण कर दिया जाता है। विषयारम्भ करते हुए यह निवेदन किया गया है कि, सांसारिक–विपत्तियाँ क्रमशः अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत-भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। यद्यपि पूर्वपरिच्छेदों में ब्राह्मण को इन तीनों विपत्तियों से मानवसमाज का त्राण करने वाला बतलाया गया है। तथापि अब एक विभिन्न दृष्टिकोण से इन तीनों तापों का समन्वय अपेक्षित बन रहा है। **शकुन–ब्राह्मण–स्त्री**-इन तीन भावों को आधार मान कर इस नवीन दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए त्रिविध तापों का, एवं तापनिवृत्त्युपायों का।

१०८--मानव का वैय्यक्तिक आधिदैविकताप, एवं शकुन--ब्राह्मण--स्त्री--भावों के आधारत्त्व--समन्वय का उपक्रम—

पञ्चपर्वा प्राकृतिक विश्व ही-'**आधिदैविकजगत्**' की मूल परिभाषा है। प्रकृति का विपरीत बन कर अतिवृष्टि–अनावृष्टि–महामारी–आदि विपत्तियों का सर्ज्जन करना हीं–'**आधिदैविकताप**' है। यह आधिदैविक ताप व्यष्टि–समष्टि रूप से दो भागों में विभक्त माना गया है। व्यक्तिगत पापाचरणों से व्यक्तित्त्वानुबन्धी प्रातिस्विक (वैय्यक्तिक) प्राकृतिक पर्व के विकम्पित हो जाने से जो आधिदैविक आपत्ति होती है, उसका केवल व्यक्ति से ही सम्बन्ध माना गया है, जिसका न समाज उत्तरदायी है, न सत्तातन्त्र। अतएव इस विपत्ति से त्राण प्राप्त करने के लिए स्वयं अपराधी मानव को ही प्रायश्चित्तरूपेण–शान्ति–स्वस्ति–कर्म्मों को अपनाना पड़ता है। सत्तातन्त्र की उपेक्षा से, अधर्म्माचरण से जब समाज में व्यापकरूप से अनाचार व्याप्त हो जाता है, तो इस दशा में प्रकृति का राष्ट्रानुबन्धी महान् पर्व विकम्पित हो पड़ता है। इस विकम्पन का कुफल सब को समूहरूप से भोगना पड़ता है। यही समष्ट्यात्मक आधिदैविक ताप माना गया है, जिसके प्रति प्रधानरूप से सत्तातन्त्र ही उत्तरदायी बना करता है, माना गया है। अतएव इसका प्रायश्चित्त भी सामूहिकरूप से सत्तातन्त्र ही को करना–कराना पड़ता है। इन दोनों श्रेणियों के आधिदैविक तापों में से प्रकृत में अभी हमें समझने मात्र के लिए वैय्यक्तिक–ताप को आधार मान कर ही शकुन–ब्राह्मण–स्त्री–इन तीन आधारों–निमित्तों का समन्वय करना है।

१०९–प्रतिकूलाकाशमण्डलानुबन्धिनी अपशकुनपरम्परा—

जिस व्यक्तिमानव के लिए इसके '**खस्वस्तिक**' से सम्बन्ध रखने वाला आकाशात्मक प्रकृतिमण्डल (आधिदैविकजगत्) विकम्पित–क्षुब्ध–रुष्ट हो जाता है, उस मानव के सम्मुख '**अपशकुनपरम्परा**' प्रादुर्भूत हो पड़ती है। पुरुष का वामाङ्गस्फुरण, स्त्री का दक्षिणाङ्गस्फुरण, यात्रा के समय रिक्तघट का साम्मुख्य, छिक्का, छागादर्शन, आदि आदि अनेक अपशकुन आया करते हैं। स्वयं वेद में ऐसे अनेक अपशकुनों का विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जैसा कि भगवान् ऐतरेयने अपने आरण्यकग्रन्थ में कहा है कि–"सूर्य्य बिम्ब में छिद्र की प्रतीति, अपनी छाया में छिद्रदर्शन, दर्पण में भग्न आकृति की प्रतीति, आकाश का लाल दिखलाई देना, शरीर से दुर्गन्ध का निकलने लग जाना, आदि आदि महान् अपशकुन हैं मानव के लिए, जो मृत्युसदृश कष्ट की सूचना देनें वाले हैं"। (देखिए–ऐतरेयआरण्यक ३।२।४।)।

११०-अनुकूलाकाशानुबन्धिनी शुभशकुनपरम्परा—

ठीक इसके विपरीत पुरुष का दक्षिणाङ्ग-संस्फुरण, स्त्री का वामाङ्ग–संस्फुरण, जलपूर्ण घट का साम्मुख्य, आकाश की निर्मलता, वातावरण में शान्ति–स्वस्ति की अनुभूति, यात्राकाले गर्दभ की दक्षिण भाग में उपलब्धि, आदि आदि शुभशकुन उस माङ्गलिक मानव के सम्मुख आया करते हैं, जिसका आधिदैविक आकाशात्मक खस्वस्तिक सुशान्त बना रहता है इसके माङ्गलिक कर्म्मों से। इसप्रकार शुभ–अशुभ–शकुन–सूचनाओं के माध्यम से ही मानव को अपने वैय्यक्तिक आधिदैविकजगत् के शान्त–अशान्त–स्वरूपों की सूचना मिलती रहती है। अतएव इस 'शकुन' तत्त्व का अवश्य ही आधिदैविकजगत् से ही प्रधान सम्बन्ध माना जासकता है, माना गया है।

१११–आधिभौतिकजगत्–अनुबन्धिनी बहुत्त्वलक्षणा भूति, एवं तत्प्रतीकभूता नारी—

विद्याबलाधिष्ठाता ब्राह्मण से मानवसमाज को ज्ञानसम्पत्ति मिला करती है। इस ज्ञानबल से ही मानव का भूतात्मा अविद्यात्मक तामसिक आवरण को हटाने में समर्थ बना करता है। अतएव विद्याबलप्रदाता ब्राह्मण का अवश्य ही–'आध्यात्मिकजगत्' से सम्बन्ध माना जासकता है। पुत्र–कन्या–गृह–भाण्ड–वित्त–आदि आदि लोकैश्वर्य्य ही मानव का–'आधिभौतिकजगत्' माना गया है, जिसे * स्मृतिशास्त्र ने 'भूति' (बहुत्त्वरूपा भूतसम्पत्ति) नाम से व्यवहृत किया है। इन सब पारिवारिकी भूतियों–विभूतियों का मूलाधार दाम्पत्यभावप्रवर्त्तिका सहधर्म्मचारिणी जाया ही मानी गई है। यही 'बहुत्त्व' लक्षण भूमाभाव की जननी–संरक्षिका–परिवर्द्धिका है। इस 'बहुत्त्व' के कारण हीं तो हमारे सांस्कृतिक–राजपत्तनप्रान्त में कुलनारी को–'बहूजी' (बहुत्त्वभावसम्पादिका) उपाधि से सम्मानित किया है। अतएव च भूतिप्रवर्त्तिका विभूतिमयी स्त्री का अवश्य ही मानव के 'आधिभौतिकजगत्' से सम्बन्ध माना जासकता है।

११२--दैविक--भौतिक-आत्मिक--तापत्रयप्रवर्त्तक एवं मङ्गलनिवर्त्तक--अपशकुन, तिरस्कृता नारी, मूर्ख ब्राह्मण, त्रिविध ताप--निवर्त्तक-मङ्गलप्रवर्त्तक--शुभशकुन-सत्कृता नारी-ज्ञानविज्ञाननिष्ठ--वेदवित् ब्राह्मण—

तदित्थं दैविक–आत्मिक–भौतिक–इन तीनों मानवीय तन्त्रों के साथ क्रमशः शकुन–ब्राह्मण–स्त्री–इन तीन वर्गों का सम्बन्ध–समन्वय अनुरूप बन जाता हैं। **अशुभशकुन, मूर्खब्राह्मण, तिरस्कृता स्त्री**, तीनों वर्ग जहाँ मानव के लिए त्रिविध–तापों के प्रवर्त्तक–सर्जक बने रहते हैं, वहाँ **शुभशकुन–विद्वान्ब्राह्मण-सम्मानिता कुलीना स्त्री**, तीनों मानव के लिए त्रिविध तापों के निवर्त्तक बने रहते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१ तापत्रयप्रवृत्तिरेतेभ्यः
१–अपशकुनानि—-आधिदैविकतापप्रवर्त्तकानि—सूचकानिच–ततः-सर्वसमृद्धिहानिः
२–मूर्खब्राह्मणाः-——आध्यात्मिकतापप्रवर्त्तकाः-—सूचकाश्च—ततः-क्षोभचिन्ताप्रवृत्तिः
३–असत्कृता नार्य्यः—आधिभौतिकतापप्रवर्त्तिकाः–सूचिकाश्च-—ततः-गृहकलहप्रवृत्तिः
— विनाशसाधनानि त्रीणि

——— —— —— ——*

२ तापत्रयनिवृत्तिरेतेभ्यः
१-शुभशकुनानि——दैविकतापनिवर्त्तकानि—-सूचकानिच—ततः-सर्वसमृद्ध्यागमनम्
२–विद्वांसो ब्राह्मणाः—आत्मिकतापनिवर्त्तकाः—-सूचकाश्च-—ततः-क्षोभचिन्तानिवृत्तिः
३–सत्कृता नार्य्यः-——भौतिकतापनिवर्त्तिकाः-——सूचिकाश्च—ततः-भूतकामसमृद्धिः
— स्वस्तिसाधनानि त्रीणि

---

*-तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
'भूति' कामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
—मनुः ३।५९।

११३–शास्त्रीय आचारात्मक-शकुनपूजनकर्म्म, एवं मान्यतानुबन्धी–'सोणजीमण' रूप लोकाचार—

उपाकर्म्माङ्गभूत रक्षाबन्धनपर्व से मानवसमाज की दैविक–आत्मिक–भौतिक–इन तीनों विपत्तियों से रक्षा अभीष्ट है। यह तभी सम्भव है, जब कि इन तीनों से सम्बद्ध **शुभशकुन-विद्वान्ब्राह्मण-सत्कृता-नारी**,–तीनों से अनुप्राणित रक्षाकर्म्म को माध्यम बना लिया जाय। अतएव आध्यात्मिक–आधिभौतिक–तापों से संरक्षण प्राप्त करने के लिए जहाँ ब्राह्मणों से, तथा पारिवारिकी-स्त्रियों से रक्षासूत्र बँधवाना लोकसम्मत, अतएव आवश्यक है, एवमेव आधिदैविक उपद्रवों की शान्ति के लिए 'शुभशकुन' का पूजन भी इस रक्षाविधि में अनिवार्य्य ही अङ्ग बना हुआ है। क्या 'शकुन' भी कोई देवता है, जिसका पूजन किया जाय ?, इस प्रश्न की मीमांसा का यहाँ अवसर नहीं है। सांस्कृतिक–मानवने–**'देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः'** के पूर्ण वैज्ञानिक परीक्षण के अनन्तर ही अभिमानी देवता की स्थापना की है। प्रत्येक भूत को देवभावदृष्टि से देखना तो यहाँ का सहज–जीवन है, जिसके संस्पर्श का भी उन केवल जड़वादियों को अधिकार नही मिल सकता, जो भारतीय प्राणात्मिका–देवविद्या से सर्वथा ही अपरिचित हैं। इस देवभाव के समसमन्वय के लिए तो अनन्यनिष्ठा से प्राणविद्यास्वरूपविश्लेषक वेदशास्त्र का चिरन्तन स्वाध्याय ही अपेक्षित है।

निवेदन प्रकृत में यही करना है कि, 'शकुनपूजन' भी रक्षाबन्धनकर्म्म का एक प्रमुख अङ्ग बन रहा है। अपने माङ्गलिक प्रासादों–आवासगृहों [घरों] के विभिन्न कोष्ठप्रकोष्ठों–तोरणद्वारों–पर महा–माङ्गलिक स्वस्तिक [साथिया]–माङ्गलिक फल-पुष्प–वृक्ष–देवनामादि अङ्कित कर इन अङ्कनचित्रों को ही–'शकुन' नाम प्रदान करती हुई भारतवर्ष की सांस्कृतिक–प्रजा इनका पूजन–सत्कार करना आवश्यक मानती आरही है। जो इत्थंभूत 'शकुनपूजन' ही हमारी प्रान्तीय-भाषा में–'सोणजीमण' नाम से प्रसिद्ध है, जिस कर्म्म का तात्पर्य्य है–जलप्रोक्षण, कुंकुमकेसरतिलकार्चन–अक्षत-आदि से इनका पूजन कर नैवेद्य–आचमन-के द्वारा इन्हें तृप्त करना।

११४–नवशिक्षादीक्षित–सुसभ्य–मानवों की विहङ्गमदृष्टि, और भारतीय आचार–

अवश्य ही वर्त्तमानयुग के नवशिक्षा-दीक्षित–सुसभ्य–मानव की दृष्टि में अन्यान्य भारतीय तत्त्वों की भाँति यह–'शकुन' भी एक जटिल–पहेली ही बन रहा होगा। निश्चयेन युगधर्म्म के महान् रहस्यवेत्ता ? अत्यन्त कर्म्मठ ?, अतएव अपने जीवन के प्रतिक्षण का मूल्याङ्कन कर उसे उपयोगी ? विज्ञानसिद्ध ? कार्य्यों में हीं व्यतीत करते रहने के महान् कौशल-प्रदर्शन में अभ्यस्त आज के सुसभ्यतम महाभागों की वैज्ञानिकी विशाला विहङ्गमा दृष्टि से तो यह उपाकर्म्म, यह डोरा बाँधना–बँधवाना, बालचपलतामात्र से अनुप्राणित यह शकुन–जिमाना–आदि आदि सभी कुछ तो इस देश की अन्धश्रद्धालु-अनपढ़-गँवार- प्रजा के अन्ध-विश्वासमात्र के ही तो दुष्परिणाममात्र ही हैं।

११५–पुराणशास्त्रविरोधी अर्वाचीन वेदनाममात्रभक्तों का भ्रान्त बुद्धिवाद--

तथाकथित सुसभ्य–मानव–महाभागों की ही भाँति इनकी सीमा का भी अतिक्रमण करने में महान् कुशल भारतवर्ष में हीं एक वर्ग दुर्भाग्य से ऐसा भी आविर्भूत हो पड़ा है, जो अपने आपको आलोमभ्यः–

आनखाग्रेभ्यः [आपादमस्तक] वेदभक्त मानता हुआ, मनवाने के लिए सदा ही आकुल-व्याकुल-क्षुब्ध-त्रस्त-संत्रस्त रहता हुआ आस्तिक प्रजा के इन वैज्ञानिक-पर्वोत्सवादि सांस्कृतिक-आयोजनों को **पौराणिक-गप्प**' कहता हुआ इतस्ततः दंन्द्रम्यमाण है। शिक्षित-सभ्य-गण पर्वोत्सवादि को निस्सार-निस्तत्त्व-मानकर इनके प्रति निरपेक्ष हैं, तो यह वेदभक्तसमाज इन्हें अवैदिक-पोंगापन्थी कह कर इनके उपहास में विभोर है। इन उभयविध भ्रान्त-पथिकों के उद्बोधन के लिए ही तो दो शब्दों में अनिच्छन्नपि 'शकुन' शब्द के चिरन्तन इतिहास का दिग्दर्शन करा देना प्रासङ्गिक बन रहा है।

११६--आधिदैविक--अखण्ड आकाश के वैय्यक्तिक भावानुबन्धी खण्डखण्डाकाश--

यह निवेदन किया जा चुका है कि,-'शकुन' का प्रधानरूप से प्राकृतिक-आधिदैविकजगत् से ही सम्बन्ध है। यों तो अपने प्रातिस्विक [निजी] स्वरूप से आकाश सर्वथा अखण्ड, अतएव एक ही है। किन्तु जैसे हृदय-शरीर-सौरजगत्-घट-पट-मठ-आदि आदि उपाधिभेदों के सम्बन्ध से [भाति की अपेक्षा से] अखण्ड भी आकाश के दहराकाश-हृदयाकाश-शरीराकाश--सौराकाश-परमाकाश--आदि रूपेण खण्ड-खण्डात्मक अनेक विवर्त बने हुए हैं, तथैव प्रत्येक मानव के **'खस्वस्तिक'** से सम्बन्ध रखने वाला एक भी अखण्ड भी परमाकाश मानवसंख्याओं के अनुपात से अनन्त-असंख्य-खण्डविवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है।

११७--मानवीय व्यानप्राणग्रन्थिसमन्वित खस्वस्तिक, और आकाश—

द्युलोक से उपलक्षित **पिता सूर्य्य**, एवं भूलोक से उपलक्षिता **माता पृथिवी**, इन दोनों के सुप्रसिद्ध **सावित्र**, तथा **गायत्र**-प्राणों के समसमन्वय से, दूसरे शब्दों में द्यावापृथिव्य इन्द्राग्निप्राणरसों के समन्वय से ही 'मानवशरीर' का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। अतएव-**'द्यौष्पितः पृथिविमातः'** इत्यादि रूपेण द्यावापृथिवी को जन्मदाता मातृपितृयुग्म की संज्ञा दे दी गई है। हृदयबिन्दु से आरम्भ कर प्रपदस्थानात्मक पाद-पर्य्यन्त व्याप्त मानव का आधा अधःशरीरप्रदेश पार्थिव गायत्र-आग्नेयरस की प्रधानता रख रहा है, एवं हृदय से आरम्भ कर शिखान्तस्थानोपलक्षित-**'नान्दनद्वाः'**-**'विदृतिः'** आदि नामों से प्रसिद्ध, अष्टा-कपालात्मक शिरः--कपाल के उर्ध्वभाग में अवस्थित, सुषुम्णापथव्यवस्थापक ब्रह्मरन्ध-पर्य्यन्त व्याप्त मानव का आधा ऊर्ध्व-शरीरप्रदेश सौर-सावित्र--ऐन्द्ररस की प्रधानता रख रहा है। सौर--ऊर्ध्व भाग ही उत्तमाङ्ग कहलाया है, पार्थिव अधोभाग ही अधमाङ्ग कहलाया है, स्वयं हृदयस्थान वामनात्मक व्यानप्राणावच्छिन्न सर्वप्रतिष्ठारूप मध्यमाङ्ग माना गया है। पार्थिव अधःशरीर भूकेन्द्र से निरन्तर आकर्षित है, तो सौर ऊर्ध्व अधःशरीर सूर्य्यकेन्द्र से निरन्तर आकर्षित है। दोनों ओर के दोनों केन्द्रों से आकर्षित बना रहता हुआ मानव अपने मध्यमाङ्गरूप हृदयस्थ व्यानप्राण के समानाकर्षण से दोनों ओर के आकर्षणों से लाभ उठाता हुआ, इसी लाभ से प्राणत्-अपानत् (आदान-विसर्ग) कर्म्म का संग्राहक बनता हुआ दोनों के प्रवर्ग्यरसों को अपना जीवनीय 'ब्रह्मौदन' बनाता रहता है, एवं यही मानव की प्राणापानव्यानात्मिका जीवनधारा का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

११८–खस्वस्तिकरूप सौर आकाश, एवं अधःस्वस्तिकरूप पार्थिवाकाश—

स्पष्ट है कि, द्यावापृथिवी के मध्यान्तरिक्ष में अमूलरूप से विचरण करने वाले मानव का शरीर द्याव-पृथिवीरस से विनिर्म्मित होता हुआ दोनों के केन्द्र से समानरूपेण आकर्षित हो रहा है। प्रत्येक मानव के ये दोनों केन्द्र ही विज्ञानभाषा में क्रमशः **खस्वस्तिक–अधःस्वस्तिक**–कहलाए हैं। मानव की स्वरूपरक्षा, इसके स्वस्ति–शान्ति–ऋद्धि–तुष्टि–पुष्टि–भाव तभी सम्भव हैं, जब कि दोनों केन्द्र स्वस्वरूप से अविचाली बने रहते हुए स्वस्ति–शान्ति–भाव में परिणत रहते हैं। दोनों के 'स्वस्तिभाव' से ही क्योंकि मानव की 'स्वस्ति' है, अतएव इन दोनों के लिए–**'स्वस्तिक'** शब्द नियत होगया है। इन दोनों की 'स्वस्ति' लक्षणा 'स्वस्तिकता' का यही तात्पर्य्य है कि, मानव के हृदयस्थ व्यान से सम्बद्ध सबके अपने प्रातिस्विक सौर–पार्थिव-जगत् उनके लिए अनुकूल बनें रहें।

११९–'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' इत्यादि स्वस्तिक–भावस्वरूपसमर्पक यजुर्म्मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय—

भुवनकोशात्मक भूगोल, तथा ज्योतिष्चक्रात्मक खगोल, दोनों प्राकृतिक गोल मानव के लिए अनुकूल बने रहते हुए ही इसके शान्ति–स्वस्त्ययन–पथों के कारण बना करते हैं। दोनों गोलों से इसी स्वस्तिकामना के लिए प्रकृतिरहस्य–परम्परानुप्राणिता आर्षप्रजा नें निदानविधि के माध्यम से **सौरस्वस्तिक, तथा पार्थिव-स्वस्तिक,** दो प्रकार के स्वस्तिक चिन्हों की कल्पना कर रक्खी है। लोक में दोनों हीं प्रकार के अधः–ऊर्ध्व भेद से विभिन्न भावापन्न–प्रतिरूपशिल्पात्मक स्वस्तिक प्रचलित हैं। 'स्वस्तिक' (साथिया) भारतीय संस्कृति की मङ्गलपरायणता का ही महान् प्रतीक है, जिसे आगे चल कर उन मतवादों नें भी ग्रहण कर लिया है, जो इन स्वस्तिकों की मूलसंस्कृति के स्वरूपबोध से अद्यावधि भी वञ्चित ही बने हुए हैं। यही तो भारतीय संस्कृति की वह सार्वभौमता है, जिसे न–न करते भी प्रकारान्तर से मान सभी रहे हैं अपने अपने मतवादों की कल्पित छाप लगा कर। सभी को प्रश्रय प्राप्त है इस महान् सांस्कृतिक अव्ययाश्वत्थवृक्ष की वरदा अभया शीतल छाया में।

प्रश्न किया जासकता है कि, पृथिवी, तथा-सूर्य्य–गोलकों से अनुप्राणित अधः–स्व–भावानुगत स्वस्ति-भावों, किंवा स्वस्तिकभावों के साथ रेखाङ्कनविशेषात्मक 卐 इत्याकारक लोकचिन्ह का क्या सादृश्य ?। स्वस्तिभाव तो आत्मशरीरानुगत शान्ति–स्वस्तिभाव का सूचकभावात्मक तत्त्व है। फिर उसके आधार पर अमुक आकारविशेषात्मिका रूपकल्पना कैसे, क्यों, और किस आधार पर करली गई ?। प्रश्न का उत्तर है मानव का **'मूर्त्तमन'**। किसी आकारविशेष को आधार बनाए बिना मानवीय मन किसी भी तत्त्वविशेष के साथ समन्वित हो ही नहीं सकता। जिसप्रकार अचिन्त्य–अप्रमेय–निर्गुण, किन्तु गुणात्मक भी ब्रह्म की उपासना के लिए, मूर्त्तमन को उस अमूर्त्त ब्रह्म के प्रति आकर्षित करने के लिए उपासक की सात्त्विक–राजस-तामस–प्रकृति के अनुसार निदानभावों के आधार पर उपास्य की मूर्त्तिकल्पना–आकारकल्पना करली जाती है *, जिसप्रकार लोकशिक्षणपद्धति में भूगोल–खगोलों के स्वरूपबोध कराने के लिए कल्पित वृत्त बना लिए जाते हैं, ठीक इसी प्रकार मूर्त्त आकार की सीमा से बहिर्भूत भी पार्थिव–सौर–भावों से सम्बन्ध रखने वाले स्वस्तिभावों की मूर्त्त मन की स्थिरता के लिए आकारकल्पना करली जाती है। तदपि यह प्रश्न शेष रह ही जाता है कि, 卐 इसप्रकार

---

*–अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

के आकार की कल्पना ही क्यों की गई ? । प्रश्न यद्यपि तर्कदृष्ट्या महत्त्वशून्य है । तदपि भारतीय प्रज्ञा किसी भी प्रश्नकर्त्ता को असन्तुष्ट करना मानवधर्म्म के विरुद्ध मानती आई है । अतएव इस तथ्यहीन प्रश्न का भी एक तथ्यपूर्ण समाधान कर प्रश्नकर्त्ताओं का परितोष कर दिया जाता है । स्वयं वेदमर्षि के वचन के आधार पर ही इस प्रश्न का भी हमें तथ्यपूर्ण समाधान उपलब्ध हो रहा है । मन्त्र का अविकल स्वरूप यह है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्च्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
—यजुःसंहिता २५।१६।

मन्त्र का अक्षरार्थ तो स्पष्टतम है । दो शब्दों में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाली खगोलीया स्थिति का समन्वय भी कर लेना चाहिए । 'भचक्र' नाम से प्रसिद्ध खगोल में अश्विनी–भरणी–कृत्तिकादि २८ नक्षत्र मानें गए हैं । ३६० अंशात्मक खगोल में ये २८ सों नक्षत्र मेष–वृष–मिथुनादि राशियों के अनुपात से जिन खगोलीय महामार्गों में प्रतिष्ठित-व्यवस्थित हैं, वे तीनों मार्ग क्रमशः **ऐरावतमार्ग, जरद्गवमार्ग, वैश्वानरमार्ग,** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं । प्रत्येक महामार्ग (राजपथ–सड़क) में तीन तीन वीथियाँ (गलियाँ) हैं, जो **'नाड़ीमार्ग'** नाम से प्रसिद्ध हैं । नवनाड्यात्मक–त्रिमहामार्गात्मक–खगोल में द्वादश राशियों के अनुपात से २८ नक्षत्र प्रतिष्ठित हैं, यहीं ग्रहदेवता भी यथास्थान प्रतिष्ठित रहते हुए अपने अपने वृत्तों पर परिभ्रममाण है, एवं यही समस्त खगोलवृत्त का एक सामान्य रेखाचित्र है ।

३६० अंशात्मक प्रत्येक वर्त्तुलवृत्त चतुर्भुज माना गया है । अतएव खगोलीय–वृत्त के भी $\overline{\overset{१}{\text{९०}}\text{–}\overset{२}{\text{९०}}}$ $\overline{\overset{३}{\text{९०}}\text{–}\overset{४}{\text{९०}}}$–क्रम से चार विभाग उपकल्पित हैं, जिनसे सभी प्रज्ञाशील सुपरिचित हैं । इन चार चतुर्भुज बिन्दुओं के चार नक्षत्र आधार मान लिए गए हैं । आधारस्तम्भरूप उन चारों सुप्रसिद्ध **चित्रानक्षत्र, रेवतीनक्षत्र, श्रवणनक्षत्र, बृहस्पतिनक्षत्र,** * इन नक्षत्रों से खगोलीय चारों भुजाएँ व्यवस्थित बनीं हुईं हैं । **'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः'** इत्यादि मन्त्र इसी चतुर्भुजभाव का स्वरूपविश्लेषण कर रहा है । चित्रानक्षत्र के स्वामी 'इन्द्र' मानें गए हैं, जो चित्राप्रमुख नक्षत्रमण्डल के श्रोत्राकाराकारित होने से–**'वृद्धश्रवाः'** (बड़े कान वाले) उपाधि से समन्वित हो पड़ते हैं । वृद्धश्रवा नामक इन्द्र से उपलक्षित चित्रानक्षत्र ही खगोल का प्रथम **पूर्वोपक्रम-बिन्दु** है । 'पूषा' नाम से प्रसिद्ध रेवतीनक्षत्र पूर्वस्थित चित्रानक्षत्र से ठीक षड्भान्तर पर, अर्थात् १८० वें अंश पर स्थित है । यही खगोल का दूसरा **पश्चिमोपसंहारबिन्दु** है । इसप्रकार चित्रानक्षत्र से आरम्भ कर रेवती-नक्षत्र पर्य्यन्त पूर्व, तथा पश्चिम–रूप से आकाशवृत्त में दो भुजाएँ सुप्रतिष्ठित हैं ।

१२०–चतुर्भुजात्मक आकाशीय वृत्त का स्वरूप-समन्वय—

तार्क्ष्य नाम से प्रसिद्ध 'श्रवणनक्षत्र' (जो कि वैदिक परिभाषा में–**'अधस्ताच्छ्रोणायाः'** रूप से–**'श्रोणा'** नाम से व्यवहृत हुआ है) खगोल का प्रथम **उत्तरोपक्रमबिन्दु** है । 'लुब्धकबन्धु' नाम से प्रसिद्ध

---

* बृहस्पति नामक ग्रह, लुब्धकबन्धु नामक बृहस्पति नक्षत्र, एवं पारमेष्ठ्य वाक्पतिर्बृहस्पति, रूप से तीन बृहस्पति हैं । प्रकृतमन्त्र में 'लुब्धकबन्धु' नामक नाक्षत्रिक बृहस्पति ही गृहीत है ।

'बृहस्पतिनक्षत्र' इस श्रवणनक्षत्र से ठीक षड्भान्तर पर प्रतिष्ठित माना गया है। यही खगोल का द्वितीय दक्षिणोपसंहारबिन्दु है। इसप्रकार श्रवणनक्षत्र से आरम्भ कर बृहस्पतिनक्षत्र पर्य्यन्त उत्तर–दक्षिण–रूप से आकाशवृत्त में दो भुजाएँ प्रतिष्ठित हैं। यदि इन चारों वृत्तभुजाओं को समन्वित कर दिया जाता है, तो खगोलीय 'स्वस्तिक' का स्वरूप उत्पन्न हो जाता है। वर्त्तुलवृत्त बना लीजिए रेखाचित्र के रूप से। पूर्व से पश्चिम एक सीधी रेखा खैंच दीजिए, उत्तर से दक्षिण एक सीधी रेखा लेजाइए। दोनों रेखाओं से चार बिन्दु स्थापित हो जायँगे। यही चतुर्भुज वृत्त का स्वरूप माना जायगा—

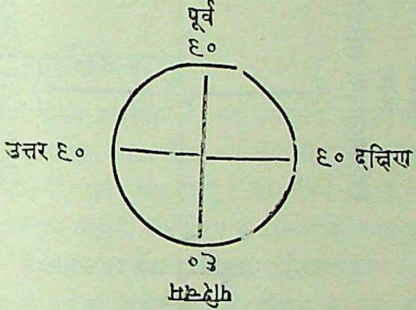

१२१–लोकाचारानुबन्धी द्विविध–स्वस्तिक–चिन्हों का नैदानिक प्रतिमात्त्व–समन्वय—

ठीक यही स्थिति भूगोलीयवृत्त के साथ समन्वित मानी गई है। यों प्रकृतिमण्डल में–खगोल–भूगोल–रूप से चतुर्भुजवृत्तात्मक दो स्वस्तिक सम्पन्न हो रहे हैं। दोनों का एक दूसरे के प्रति समसाम्मुख्य है–दक्षिणोत्तर रूप से। अतएव दो प्रकार के स्वस्तिक बन जाते हैं, जिसका अर्थ है दोनों का समसाम्मुख्य। इसी प्राकृत स्थिति के आधार पर चतुर्भुजभाव के द्वारा स्वस्तिकरूप माङ्गलिक चिन्ह बनाया गया है, जिस के L ⊕ T इस रूप के कोण समसाम्मुख्य के ही सूचक बने हुए हैं। स्वस्तिक में रेखाएँ क्यों मोड़ दीं जातीं हैं ?, प्रश्न का यही समाधान है। यों यह भारतीय स्वस्तिक चिन्ह अपने प्रचलित–कल्पित भी आकार से प्राकृतिक–आकाशीय, तथा भौम–दोनों स्वस्तिकों की **नैदानिकी–प्रतिमा** बना हुआ है।

पार्थिवस्वस्तिमण्डलम्

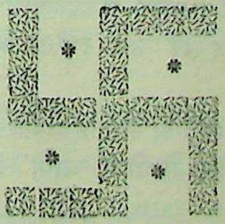

सौरस्वस्तिमण्डलम्

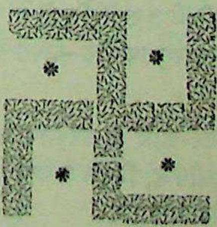

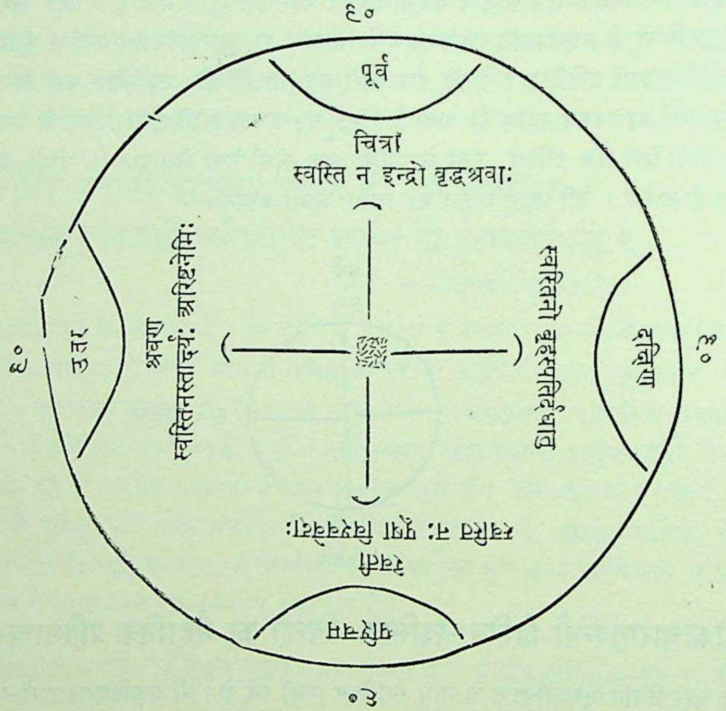
९०
पूर्व
चित्रा
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
९०
दक्षिण
स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु
९०
पश्चिम
रेवती
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः
९०
उत्तर
श्रवण
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः

प्राकृतिक 'स्वस्ति', किंवा 'स्वस्तिक' भाव के स्वरूपविश्लेषण के साथ साथ उक्त मन्त्र में स्वस्तिकामुक मानव की स्वस्ति के लिए स्वस्तिभावाधिष्ठाता इन्द्रादि चारों नाक्षत्रिक-प्राणदेवताओं से सम्बन्ध रखने वाले इस माङ्गलिक स्तुतिभाव का भी समावेश हो रहा है कि-"ये चारों प्राकृतिक नाक्षत्रिक देवता मानव के 'स्वस्तिक' रूप प्रातिस्विक आकाशात्मक आधिदैविकजगत् को सुशान्त बनाने का अनुग्रह करें, उसे सदा स्वस्ति-भाव में हीं प्रतिष्ठित रखने की कृपा करें" ।

१२२-शुभशकुन का महान् प्रतीक भारतीय-सांस्कृतिक-स्वस्तिकभाव (साथिया)—

जिन त्रिविध-मातृभावों का पूर्व में यशोगान हुआ है, उनमें जीवनीयरसप्रदात्री तीसरी गौमाता के बिना भी रक्षाकर्म्म अपूर्ण ही रह जाता है । ब्राह्मण की मन्त्रविधि से जहाँ ज्ञानप्रदात्री सावित्रीमाता का संरक्षण समाविष्ट है, तद्द्वारा विनिर्म्मित स्वस्तिचिन्हों से जहाँ प्राकृतिक नाक्षत्रिक-प्राणदेवताओं का संरक्षण समाविष्ट है, वहाँ महामाङ्गलिक-सत्त्वगुणप्रवर्त्तक-गोमय के द्वारा निष्पन्न होने वाले स्वस्तिक * से जीवनीयरसप्रदात्री

---

* कुंकुम-केसर-आदि के समतुलन में गोमय (गोबर) का स्वस्तिक ही भारतीय-सांस्कृतिक परम्परा में विशेषरूपेण समादरणीय है, जिसके सम्बन्ध में-'**गाय गवाला से गोबर आयो**' इत्यादिरूपेण माङ्गलिक लोकगीतात्मक महासङ्गीत प्रसिद्ध है ।

गौमाता के द्वारा प्राप्त होते रहने वाला रक्षाकर्म्म भी समाविष्ट है। तदित्थं–प्राकृतिक–आधिदैविक-पार्थिव, एवं सौर–आकाशात्मक 'स्वस्तिकवृत्त' के स्वस्ति-शान्ति–भाव में परिणत रहने पर ही मानव की वैय्यक्तिक–स्वस्ति-शान्ति सुरक्षित रहा करती है। अतएव भारतीय–शास्त्रीय, लौकिक–यच्चयावत् श्रौत–स्मार्त्त–लोकाचारात्मक माङ्गलिक कर्म्मों में **'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा:'** इत्त्यादिरूप से सर्वप्रथम शान्ति–स्वस्ति–वाचन होता है कर्म्मसम्पादक ब्राह्मण के द्वारा। जिसका प्राकृतिक आकाशात्मक–स्वस्ति स्वस्तिभाव में परिणत रहता है, वही शुभ–शकुनों का द्रष्टा बना करता है। अतएव इस स्वस्तिकचिह्न को भी आगे चल कर 'शुभशकुन' का महान् प्रतीक मान लिया गया है।

१२३–शुभसुचक कतिपय माङ्गलिक पदार्थ—

स्वस्तिभाव का सूचक जहाँ गोमय 'स्वस्तिक' है, वहाँ अन्यान्य कतिपय भूत–भौतिक-द्रव्य, प्राणीविशेष भी इसी स्वस्तिसूचना के कारण 'शुभशकुन' मान लिए गए हैं। ठीक इसके विपरीत जिन पदार्थों–प्राणियों–भावों से अशुभभाव प्रतिध्वनित होते हैं, उन्हें 'अशुभशकुन' मान लिया गया है। सुप्रसिद्ध–**'शकुनवसन्तराज'** आदि शकुनग्रन्थों में इन सब शुभाशुभ शकुनों का विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, और यों **'शकुनशास्त्र'** एक स्वतन्त्र शास्त्र ही बन गया है। उदाहरण के लिए **'छिक्काशकुन'** (छींक का सोण) को ही लक्ष्य बनाइए। दिग्विभाग के अनुपात से पूर्व की छिक्का अशुभ, पश्चिम की शुभ, उत्तर की कलहजननी, दक्षिण की कार्य्यावरोधिका, ईशानकोण की माङ्गलिक, अग्निकोण की अमाङ्गलिक, नैऋ‍र्तकोण की श्रेय, वायव्यकोण की श्रेष्ठ, ऊर्ध्वादिक् की स्वस्ति, अधोदिक् की अस्वस्ति मानी गई है। भोजन–शयन–पान–आसन–स्थितियों की स्वछिक्का (अपनी छींक) शुभ मानी गई है *। शेष सभी स्वच्छिकाएँ भी अशुभ मानीं गईं हैं। यात्रावसर पर गौ–ब्राह्मण–हस्ति–फल-अन्न-दुग्ध–दधि–श्वेतवस्तु, सर्षप, कमल, पुष्प, छत्र, कन्या, रत्न, उष्णीष (पगड़ी), श्वेतवृषभ, मद्य, सपुत्रा माता, दक्षिणावर्त्त प्रज्ज्वलित–अग्निदेव, दर्पण, अञ्जन, धौतवस्त्र, मत्स्य, घृत, सिंहासन, शव (मुर्दा), मधु, बकरी, गोरोचन, भारद्वाज ÷ (सोनचिड़ी), शिविका [पालकी], वेदध्वनि, माङ्गलिक लोकगीतध्वनि, विष्ठापरिपूर्ण पात्र, देवप्रतिमा, राजा, वरवधु, पूर्णघट, वामभागस्था चील, आदि आदि का सामुख्य माङ्गलिक माना गया है।

१२४–अशुभसूचक कतिपय अमाङ्गलिक पदार्थ—

ठीक इसके विपरीत–वन्ध्या [बाँझ] स्त्री, विधवा, चमड़ा, भूसा, हड्डी, सर्प, नमक, अङ्गार, नपुंसक [हींजड़ा], मार्गपतिता विष्ठा, तैल, पागल, चर्बी, औषधि [सम्पन्न दवा], शत्रु, मुण्डी सन्यासी, जटी, तृण, रुग्ण, नग्नमानव–मानवी, तैलाभ्यक्त–मनुष्य, क्षीणाङ्ग, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग, भिक्षुक, रजस्वला, कृकलास [किरकाँट], गैरिकवस्त्र [भँगवाँ कपड़ा], गुड़, तक्र [छाछ] पङ्क [कीचड़], कलहनिमग्न--कुटुम्बी, वस्त्र फाड़ता हुआ मनुष्य [बजाज], छाणा, मार्ज्जार [बिलाव-

---

* छींकत खाइए, छींकत पीइए, छींकत रहिए सोय।
छींकत पर घर मत जाइए, चाहे–सरब सोना का होय॥

÷ खर ढाभा, विष जीमणा, साझी रूपावेल।

बिल्ली], रिक्तघट, शवोपकरण [खप्पन–काठी], आदि आदि का साम्मुख्य अनुपात से अमाङ्गलिक माना गया है ।

१२५–वृष्टिविद्यानुगत शकुन, और घाघ–भड्डरी—

इन्हीं शुभाशुभशकुनों के आधार पर भारतीया 'कादम्बिनीविद्या' (वृष्टिविद्या) का लोकपक्ष व्यवस्थित हुआ है, जिस महत्त्वपूर्णा वृष्टिविद्या का अंशतः शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत–आश्रावण–प्रत्याश्रावण-कर्म्म में स्वरूपविश्लेषण हुआ है । राजस्थान के सुप्रसिद्ध जोधपुरप्रान्त में उत्पन्न लोकशकुनशास्त्र के महान् ज्ञाता कृषकराज घाघ भड्डुल, एवं आपकी पत्नी भड्डली–ने पारस्परिक आलाप–प्रसङ्गों में हीं वृष्टिविद्या–के सम्बन्ध में जो शुभाशुभ लोकशकुनसूत्र व्यवस्थित किए हैं, उनकी सार्थकता से आज के बड़े से बड़े भूतविज्ञान-वादी को भी आश्चर्य्य से स्तब्ध रह जाना पड़ेगा ×। अवश्य ही किसी राजस्थानभक्त को इस दिशा में स्वतन्त्र प्रयास–द्वारा उन सूक्तियों का सङ्कलन करना ही चाहिए ।

१२६–माङ्गलिक भावानुबन्धिनी स्वस्तिपरम्पराएँ, एवं श्रद्धाशीला आर्षप्रजा—

किस प्राकृतिक अमङ्गल–मङ्गल का किस प्राणी–द्रव्य–शब्द--भाव से कैसा--क्या सम्बन्ध है ?, सचमुच अस्मदादि प्राकृतिक मानवों के लिए तो यह दुरधिगम्य ही प्रश्न है । हम तो अपनी पारम्परिक आस्था–श्रद्धा के अनुग्रह से इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त मान रहे हैं कि, शुभाशुभशकुन अवश्य ही मानव के अधःस्वस्तिक–खस्वस्तिक–भावात्मक–आधिदैविक जगत् के शुभाशुभ--भावों के परिचायक बने हुए हैं । रक्षाबन्धनपर्व की तिथि–में–वर्ष में एक बार आर्षप्रजा शकुनों के अभिमानी शकुनदेवता का आराधन करना भी अपना महान् स्वस्त्ययनकर्म्म मानती आरही है ।

१२७–आस्था–श्रद्धा–विघातक तत्त्ववादविजृम्भण, एवं तदनुगामी आचारशून्य–प्राकृत–मानवों का शुष्क बुद्धिवाद—

वेद में क्या है ?, क्या नहीं है ?, इत्यादि शुष्कतत्त्ववादात्मक वाग्विजृम्भणों से इस आचार–शीला आस्तिक--प्रजा का कदापि कोई भी सम्पर्क नहीं रहा । नहीं ही रहना चाहिए । वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जिन्होंनें अपने बुद्धि–मनः--शरीर–तन्त्रों को भावुकतावश अपनी आचारनिष्ठाओं से पराङ्मुख कर लिया है, अतएव जो आस्था–श्रद्धापूर्वक इन आचारधर्म्मों के संस्मरण में भी असमर्थ हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में हीं भारतीय–आचारनिष्ठ--धार्म्मिक–समाज में हीं जन्मान्तरीय सुकृतों के अनुग्रह से जो उत्पन्न हो पड़े हैं, अतएव एकमात्र इसी सामाजिक अनुबन्ध से लोकलज्जावश जिन्हें इन आचारधर्म्मों को कर्णाकर्णिपरम्परया सुनने सुनाने का अवसर तो मिलता है, किन्तु जो इनके अनुगमन में अपने आपको सर्वथा असमर्थ प्रमाणित

× सुक्करवारी बादली रही सनीचर छाय ।
कह भड्डल सुण भड्डली बिन बरसें नहिं जाय ॥
तीतर पंखी बादली, विधवा काजल रेख ।
बा बरसे, वा घर करे, ईंमें मीन न मेख ॥

कर चुके है, ऐसे महारथी ही अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए 'तत्त्वजिज्ञासा' रूप महाभूत खड़ा करते रहते हैं। ऐसे महानुभाव ही–'**हम तो समझ लेगें, तब मानेंगे, करेंगे**' यह तर्काभास उपस्थित किया करते हैं। ऐसे ही व्यक्ति इस छल का आश्रय लेते रहने में भी लज्जित नहीं होते कि–"**वेदों में तो है नहीं ऐसा। यह तो रूढ़िवादी पुराणपन्थिओं की कल्पनामात्र है। अतएव इन का मानना व्यर्थ है**"।

१२८–श्रद्धाशून्य बौद्धिक विजृम्भण की आचारधर्म्मपराङ्मुखता–

कदापि ऐसे श्रद्धाशून्य तर्कवादी मानव इस आचारनिष्ठा के पात्र नहीं बन सकते। 'समझलेने पर ये करने लग पड़ेंगे' यह भी भ्रान्ति ही भ्रान्ति है। क्योंकि समझ लेना दूसरा पक्ष है, करना अन्य पक्ष है। बुद्धि का अंश--प्रत्यंश समझा तो देता है, किन्तु श्रद्धाशून्य मन ऐसे बुद्धिवादियों को आचारनिष्ट तो इस 'समझने के' अनन्तर भी करने के लिए कदापि सन्नद्ध नहीं होता। जानते हैं हम वैसे शुष्कबुद्धिवादियों को भी, जो मान तो गए हैं, किन्तु करने के लिए अब भी वे सन्नद्ध नही हैं। क्योंकि ऐसा करने लग पड़ने में उन शुष्कबुद्धिवादियों को व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक अपने काल्पनिक व्यक्तित्व के उच्छिन्न होजाने का भय सन्त्रस्त करता रहता है।

१२९–सर्वोपायेन संरक्षणीय श्रद्धातत्त्व, एवं तन्मूलक धर्म्माचरण–

क्यों ?। इसलिए कि आचार का मूलप्रतिष्ठारूप श्रद्धारस कभी का सूख गया है इनका। स्मरण रखिए–संसार की सभी विभूतियाँ जाकर पुनः आजाया करतीं हैं। किन्तु दुर्बुद्धिवश यदि श्रद्धा का उत्क्रमण हो जाता है, तो उसका पुनरावर्त्तन असम्भव नहीं, तो असम्भवप्राय तो अवश्य ही बन जाता है। **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'-'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'-'श्रद्धयार्चितमेव वा'-'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्'-'श्रद्धा च नो मा व्यगमत्'** इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त वचन एकमात्र श्रद्धा को ही आचार का केन्द्रबिन्दु मान रहे हैं, जिसके समतुलन में शुष्क तत्त्ववाद का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है। अतएव विधि-आचार–(करते रहना) ही यहाँ के धर्म्म की परिभाषा है।

१३०–तत्त्ववादव्यामोहन की निरर्थकता, एवं विध्यात्मक आचारधर्म्म की सार्थकता–

और इसीलिए विधिनिष्ठा–आचारधर्म्मपरायणा–भारतीया--श्रद्धाशीला--आर्षप्रजा की दृष्टि में '**वेद में क्या है, क्या नहीं है**' इन तात्त्विक–विजृम्भणों का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है इसकी दृष्टि में एकमात्र उस चिरन्तन परम्परा का, जो सदा से करती चली आरही है इन आचारों का श्रद्धापूर्वक अनुगमन। '**इति शुश्रूम धीराणां–येनस्तद्व्याचचक्षिरे**'–ही इसकी श्रद्धा का मूल बनता आरहा है। और इसीलिए हमें भी इस सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना है कि,–रक्षाबन्धनपर्वतिथि में क्योंकि शकुनपूजन परम्परया प्रक्रान्त है, अतएव इनकी वैदिकता–अवैदिकता के व्यामोहन से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यही मान कर इनका पूजन करते ही रहेंगे कि, अवश्य ही ये वेद से ही अनुप्राणित हैं। कहाँ है ?, यह ढूँढना हमारा काम नहीं है। करना हीं, करते जाना हीं हमारा धर्म्म है। जिन आप्त चिरन्तन पुरुषोंनें हमें ऐसा करने का, करते रहने का आदेश दिया है, हमारी निष्ठा है कि, उन्होंनें वेदसिद्ध तत्त्व के आधार पर ही आचारपद्धतियाँ–व्यवस्थित कीं हैं। सचमुच वे सुसूक्ष्म तत्त्व तो वैसे दुरधिगम्य हीं होंगे, जिन्हें सुन कर भी हम

क्या समझलेंगे ?, यह उन बुद्धिवादियों से ही पूँछना चाहिए, जो वेदभक्ति के काल्पनिक प्रदर्शन-व्यामोहनों से सनातनप्रजा की सनातन-आचारनिष्ठा पर आक्रमण करने जैसा महान् पाप--सञ्चित कर रहे हैं। आलम्यालम्।

१३१–शकुनपरम्परा के समर्थक कतिपय वेदमन्त्र—

हाँ--श्रद्धालु प्रजा के अन्तःकरण में इस संगदोष से इन आचारपरम्पराओं के सम्बन्ध में जो आंशिक स्खलन उत्पन्न हो पड़ा है, उसे अवश्य ही आचारधर्म्मों का पालन करते हुए ही समन्वय--चेष्टा में प्रवृत्त होजाना चाहिए, जिससे इसे कोई भी बुद्धिवादी दिग्भ्रान्त न कर सके। इसी दृष्टि से उसकी श्रद्धा के सम्मुख प्रकृत में भी कुछ एक वे मन्त्र उद्धृत कर दिए जाते हैं, जो शकुनपरम्परा की वैदिकता सर्वात्मना प्रमाणित कर रहे हैं। श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! !

(१)-कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम् ।
सुमङ्गलश्च शकुने ! भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत् ॥
(२)-मा त्वा श्येन उद्वधीन्मा सुपर्णो मा त्वा विददिषुमान्वीरो अस्ता ।
पित्र्यामनु प्रदिशं कनिक्रदत्सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह ।।
(३)-अव क्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते ।
मानः स्तेन ईशत माघशंसो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।।
(४)-प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः।
उभे वाचो वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति ।।
(५)-उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि ।
वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने भद्रमावद-
विश्वतो नः शकुने पुण्यमावद ॥
(६)-आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः ।
यदुत्पतन्वदसि कर्करिर्यथा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ।।

—ऋक्संहिता २ मण्डल, ४२–४३ वाँ सूक्त

१३२–'सुपर्णविद्या' मूलक 'शकुन' शब्द, एवं तद्द्वारा शकुनसमन्वय—

'शकुन' शब्द का अर्थ है–'पक्षी'। पक्षी--वाचक 'शकुन' शब्द का लोकानुबन्धी शकुनों के साथ कैसे सम्बन्ध हो पड़ा ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए तो सुप्रसिद्धा '**सुपर्णविद्या**' का ही स्वाध्याय अनिवार्य्य माना जायगा। कदापि इस लोकमान्यतात्मक--भावुकतासंरक्षक--निबन्ध में उस विद्या की तत्त्वतालिका भी उद्धृत नहीं की जासकती। एतावन्मात्र जान कर ही हमें सन्तोष कर लेना पड़ेगा इस दिशा में कि, लोकव्यवहार में शकुन शब्द माङ्गलिक--सूचना का भी संग्राहक बन रहा है। दोनों शब्दों में अन्तर यही है कि, पक्षी--वाचक 'शकुन' शब्द पुंल्लिङ्गान्त (शकुनः) है, एवं शुभसूचनात्मक शकुनशब्द नपुंसकलिङ्गान्त

(शकुनम्) है * । जिसके पक्ष सशक्त हैं, वही शकुन है । तात्पर्य्य–पक्षियों की शक्ति का आधार पक्ष ही बने रहते हैं । पक्षविहीन पक्षी स्वस्वरूप ही खोदेता है । अतएव पक्ष ही इस प्राणी की शक्ति मानें गए हैं । अतएव इसे 'शकुन' (सशक्त पक्षयुक्त) कहा गया है । उक्त ऋक्संहितामन्त्रों में 'शकुन' शब्द पक्षिविशेष शकुन के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, जो शब्द आगे चल कर शुभाशुभसूचक अमुक पदार्थों के साथ भी समन्वित हो गया है । मङ्गलनिमित्तों का प्रधान--प्रथम--सूचक वेदमहर्षि की दृष्टि में पक्षिविशेष (शकुनचिड़ी--सोनचिड़ी--आदि नामों से लोक में प्रसिद्ध विशेष प्रकार का पक्षी–चिड़िया) ही है । अतएव वेद में उसी के ग्रहण से सम्पूर्ण शकुन संगृहीत हो गए हैं ।

१३३–सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति, एवं उस की सुपर्ण–शकुन–(पक्षी)–रूपता—

वस्तुस्थिति यह है कि, मानवसंस्था का माङ्गलिक स्वरूप जिस भूतात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित है, जिसकी सत्ता से मानव शतायु बनता है, जीवनपर्य्यन्त--भद्र–भावों का अनुगामी बना रहता है÷, उस भूतात्मा से अधिक इस शरीरी मानव के लिए और अधिक माङ्गलिक--भाव क्या होगा ? । यह भूतात्मा चितिविज्ञान के अनुसार '**सप्तपुरुषपुरुषात्मकप्रजापति**' माना गया है, जिसमें चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ-प्रतिष्ठा- ये सप्त प्राण समन्वित रहते है, जैसा कि-'**सप्तपुरुषोह्ययं पुरुषः–यच्चत्त्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा**' (शतपथ ६।१।१।७।) इत्यादि से प्रमाणित है । यही वह सुपर्ण (शोभन पक्ष वाला) **पक्षी** है, जो द्यावापृथिवीरूप आकाश में--(अर्णवसमुद्र में)–विचरण करता रहता है । यही उपनिषदों में–'**भोक्तासुपर्ण**' कहलाया है, जो '**साक्षीसुपर्ण**' से नियन्त्रित रहता है । ईश्वरात्मलक्षण साक्षीसुपर्ण, एवं जीवात्मरूप भोक्तासुपर्ण, दोनों सह–सखा हैं । उसी मानवीय हृदयाकाश में दोनों सयुक्सखा प्रतिष्ठित हैं ×। पार्थिव गायत्र तेज ही इसका बाह्य भौतिक स्वरूप है । अतएव गायत्री को भी सुपर्णपक्षी ही मान लिया गया है, जिसका कि–'**एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते**' मूलक धिष्ण्याब्राह्मण में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

१३४–भारतीय माङ्गलिक गृहद्वार, एवं तदनुगत तोरणद्वारानुबन्धी सुपर्णपक्षी—

वक्तव्यनिष्कर्ष यही है कि, मानवीय भूतात्मा का बाह्य भौतिक–चिन्त्य स्वरूप 'सुपर्णपक्षी' रूपात्मक ही है । तभी तो लोकभाषा में इसके लिए–'**हँसा उड़ गया पिंजरा रह गया**' यह प्रसिद्ध है । यही जीवनीय तत्त्व

---

*-शकुन्तस्तु पुमान् पक्षिमात्र–पक्षिविशेषयोः ।
शुभशंसिनिमित्ते तु शकुनं स्यान्नपुंसकम् ॥
—मेदिनी

÷–जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्

×–द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
—ऋक्संहिता १।१६४।२०।

है, यही मानव का महान् मङ्गलभाव है । अतएव भारतीय मङ्गलाचारों में 'सुपर्णपक्षी' को महान् माङ्गलिक प्रतीक मान लिया गया है, जिसे गृहस्थद्वार में ऋद्धिसिद्धिप्रदाता भववान् गणपति के साथ ही समन्वित कर दिया जाता है विवाहादि अवसरों पर । तोरणद्वार (गृहमुख्यद्वार) में यह सुपर्णपक्षी ही प्रधान बना रहता है, जिसका अर्थ है—इस परिवार में सभी भाव जीवनीय–माङ्गलिक भावों से नित्य समन्वित हैं । सर्वप्रथम इसी का पूजन होता है, जो-'द्वारपूजन' नाम से लोकाचार में प्रसिद्ध है । '**तोरण सोवे रूड़ी चिड़कली**' यह लोक–सङ्गीत सुपर्णानुगता इसी वैदिक–मङ्गलपरम्परा का स्मरण कराता रहता है । वहाँ कराता रहता है, जहाँ भारतीय आचारपद्धतियाँ आज भी सुरक्षित हैं । यों भूतात्मरूप सुपर्ण की माङ्गलिकता का सम्बन्ध हुआ सर्वप्रथम पक्षि-विशेष शकुन के साथ । तदनन्तर शकुनपक्ष्यनुगत यही मङ्गलभाव. शुभसूचनात्मक अन्य पदार्थों के साथ समन्वित हो गया । पूर्वनिर्दिष्ट ऋग्वेदीय दोनों सूक्तों से शकुनपक्षीविशेष के द्वारा ही शुभशकुन की मङ्गल–कामना अभिव्यक्त हुई है, जैसाकि अक्षरार्थ से स्पष्ट है ।

१३५–शकुनतत्त्वविश्लेषक मन्त्रों का अक्षरार्थमात्रसमन्वय—

[१]—बार बार माङ्गलिक शब्द करता हुआ, भविष्य में घटित होने वाली शुभाशुभ घटनाओं को बतलाता हुआ कपिञ्जल–पक्षी कर्णधार की भाँति (नौका के खेवय्या सफल नाविक की भाँति) हमारी वाङ्-मयी–जीवनमयी–नौका को [संसारसमुद्र में सावधानी से] ले जारहा है । हे कपिञ्जल नामक शकुनपक्षिराज ! आप हमारे लिए मङ्गलसूचक [शुभशकुनसूचक] बनिए ! सम्पूर्ण दिशाओं में-स्वच्छन्दरूप से उड़ते हुए आप पर कोई आततायी आक्रमण न करे ॥

[२]—हे शकुने ! [आकाश में विचरण करते समय] आप पर हिंस्रक श्येन [बाज] आक्रमण न कर बैठे । अर्थात् आप से प्रबल बाजपक्षी आपकी हिंसा न कर डाले । लोक में–'सुपर्ण' नाम से प्रसिद्ध हो पड़ने वाला गरुड़पक्षी आपको न मार डाले, धनुर्द्धारी व्याध [शिकारी] आपको कभी प्राप्त न कर सके । इस प्रकार सम्पूर्ण आपत्तियों से आत्मत्राण करते हुए आप 'पितृदिशा' नाम से प्रसिद्ध दक्षिणदिशा में स्वच्छन्द विचरण करते हुए, बार बार मङ्गलवाणी-बोलते हुए हमारे लिए मङ्गलसूचक ही बनते रहें । [इसका दक्षिणा-वर्त्तरूपेण बोलना ही तो शुभ माना गया है] ॥

[३]—हे शकुन्ते ! मङ्गलसूचक [शुभशकुनसूचक] बने रहते हुए आप हमारे आवास–निवास–गृहों [घरों] के दक्षिणदिक्भाग की ओर से ही मङ्गलशब्दों का उच्चारण करते रहें । [आपकी इस मङ्गलभावना के बल पर ही] तस्कर–दुष्ट–हिंस्रक–आततायी–वर्ग हमारा कोई भी किसी भी प्रकार का अनिष्ट न करें । इस प्रकार निर्विघ्न बन कर हम इस लोकसमाजजीवन में सर्वसमर्थ–सशक्त ही बने रहें ॥

[४]—हे शकुन्त ! समय समय पर अपनी मङ्गलमयी वाणी से सामगानकर्त्ता–उद्गाताओं की भाँति अन्नसम्पत्ति की सूचना देते हुए आप हमारे प्रदक्षिण ही बोलते रहें । [सचमुच] ये शकुन्तपक्षी भूपृष्ठ से अन्तरिक्ष में उड़ते हुए पार्थिव गायत्रसाम, तथा आन्तरिक्ष्य त्रैष्टुभसाम–स्थानीय दोनों लोकों की वाग्विभूति [भूतसम्पत्ति] ही हमारे लिए बोलते रहते हैं ॥

[५]—हे शकुने ! आप उद्गाता की भाँति हमारे लिए सामगान [मधु की वृष्टि] करते रहें । ब्राह्मणा-च्छंसी नामक ऋत्विक् की भाँति आप हमारे प्रातः–मध्याह्न–सायङ्कालीन–कर्त्तव्यकर्म्मों में ऋग्लक्षणा शस्त्र-

सम्पत्ति [उक्थरूप प्रतिष्ठाबल] का समावेश करते रहें । जिसप्रकार पुत्रवती बड़वा के समीप जाकर अश्व हर्षमय हिङ्कार करता है [हिनहिनाता है], तथैव आप भी हमारे समीप आकर मङ्गलमय निनाद करते रहें । हे शकुने ! आप सब ओर से [दसों दिशाओं से] हमारे लिए सदा ही—भद्रं ते ! भद्रं ते !! यह भद्रवाणी ही बोलते रहने का अनुग्रह करते रहें । सब ओर से हमारे लिए पुण्यं ते ! पुण्यं ते !! का ही उच्चारण करते रहें ॥

[६]—हे शकुने ! बोलते हुए आप हमारे लिए मङ्गलशब्द ही बोलिए ! बैठे हुए आप हमारी बुद्धि में प्रेरणाबल प्रदान कीजिए ! उड़ते हुए आप उसप्रकार से बोलिए, जैसे कर्करि बोलता रहता है । जिससे कि हम आपकी इस मङ्गलमयी वाणी से [मङ्गलमय बनते हुए] समाज में सर्वसमर्थ बने रहें ॥

१३६–रक्षाबन्धनपर्वस्वरूपेतिवृत्तविराम––

यह है–'**रक्षाबन्धनपर्व**' से सम्बन्ध रखने वाले भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजन की संक्षिप्ता रूपरेखा, जिसे आज की भाषा में–'झलक'–किंवा–'झलकी' भी कहा जा सकता है । इस आयोजन को **उपाकर्म्मपर्व–रक्षाबन्धनपर्व–शकुनपूजनपर्व**–आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जा सकता है, किया गया है । 'उपाकर्म्म' नामक कर्म्म **आत्मानुबन्धी** है । ब्राह्मणानुबन्धी रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म **बुद्ध्यनुबन्धी** है । नारीवर्ग के द्वारा सम्पादित शकुनपूजन, तथा रक्षाबन्धनकर्म्म **मनोऽनुबन्धी** है । एवं विविध व्यञ्जनायोजन–नारीवर्ग के द्वारा आयोजित–शिष्टाचारसम्मत–लोक–गीत–वाद्य–आदि आदि परिशिष्टकर्म्म '**शरीराऽनुबन्धी**' कर्म्म हैं । यों यह पर्वात्मक आयोजन भी आत्मा–बुद्धिः–मनः–शरीरानुबन्धी–चारों भावों का संग्राहक बनता हुआ अपने मुख्य नाम–'पर्व' के साथ साथ उत्सव–सम्मेलन–समारोह–इन तीनों नामों से भी अङ्गतः–अंशतः समन्वित हो रहा है ।

१–ब्राह्मणानुगतं–उपाकर्म्म—आत्मानुगतं–रक्षाबन्धनपर्व–

२–ब्राह्मणकृतं—रक्षासूत्रबन्धनकर्म्म—बुद्ध्यनुगतः–रक्षाबन्धनोत्सवः

३–नार्य्यनुगतं–शकुनपूजनं, रक्षाबन्धनश्च–मनोऽनुगतं–रक्षाबन्धनसम्मेलनम्

४–नारिबालानुगतं–लोकगीतादिभोजनादि–कर्म्माणि–शरीरानुगतः–रक्षाबन्धनसमारोहः

१३७–भारतीय–'सांस्कृतिक–आयोजनों' के माध्यम से सांस्कृतिक वैभव का माङ्गलिक संस्मरण––

भारतराष्ट्र के–पर्व, उत्सव, सम्मेलन, समारोह-नामक सभी सांस्कृतिक-आयोजन प्रकृतिसिद्ध नित्यज्ञानानुगत नित्यविज्ञानधरातल पर ही सुप्रतिष्ठित हैं, जिनके स्वरूप को विस्मृत कर भारतराष्ट्रने सचमुच ही अपना सम्पूर्ण सांस्कृतिक-वैभव भुला दिया है। प्रतीच्य शिक्षा-भूतसभ्यता के अन्धानुकरण के निग्रह से अपने सांस्कृतिक-स्वरूप को विस्मृत कर देने में निपुण महानुभावोंनें अपने राष्ट्र की महान्-मङ्गलमयी **आत्मशान्ति-बुद्धितृप्ति-मनस्तुष्टि-शरीरपुष्टि**--प्रवर्त्तिका आयोजनपद्धतियों की उपेक्षा कर सम्पूर्ण राष्ट्र को ही आज समृद्धिविहीन बना डाला है, अथवा तो कल्पित आयोजनों से बना देने के लिए कटिबद्ध हो रहे हैं, इससे अधिक राष्ट्र की सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-निष्ठा का और क्या अधिक पतन होगा ? । रक्षाबन्धनकर्म्म के अभिमानी देवता से हमारी यही कामना है प्रणतभाव-

पूर्वक कि, वे अनुग्रह कर हमें सद्बुद्धि प्रदान करें, जिसके बल पर हम अपने राष्ट्र के मूलभूत-सांस्कृतिक–हृदय के संस्पर्श से अपने विलुप्त सांस्कृतिक–राष्ट्रवैभव को पुनः प्राप्त करने में सर्वात्मना समर्थ बन सकें। रक्षा-देवता के सहचारी देवताओं से पुनः सर्यान्त में हम यही कामना अभिव्यक्त कर देते हैं चिरन्तनसूक्तियों के माध्यम से, जो सनातनजगत् में–'रक्षासूक्ति' नाम से ही प्रसिद्ध है।

१३८–आर्य्यसर्वस्वशास्त्रानुगत (पुराणानुगत) रक्षाबन्धनपर्वात्मक रक्षाकवच—

'येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः ॥
तेन त्वां प्रतिबध्नामि रक्षे मा चल चल ॥१॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चान्यैश्च मानवैः ॥
कर्त्तव्यो रक्षणाचारो विप्रान् सम्पूज्य भक्तितः ॥२॥
अनेन विधिना यस्तु रक्षिकाबन्धमाचरेत् ॥
स सर्वदोषरहितः सुखं सम्वत्सरं वसेत् ॥३॥
कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ॥
रक्षाकर्म्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥४॥
नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः ॥
अभिद्रवन्ति ये वै त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा ॥५॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः ॥
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वान्ते नमस्कृताः ॥६॥
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्मया दिव्या राजर्षयस्तथा ॥
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्व्वाः, सर्वेऽपि सागराः ॥७॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां, प्राणान् वायुस्तथैव च ॥
सोमो व्यानमपानन्ते पर्जन्यः परिक्षतु ॥८॥
उदानं विद्युतः पान्तु, समानं स्तनयित्नवः ॥
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥९॥
कामांस्ते पातु गन्धर्वाः, सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ॥
प्रज्ञां ते वरुणो राजा, समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥१०॥
चक्षुः सूर्य्यो, दिशः श्रोत्रे, चन्द्रमा पातु ते मनः ॥
नक्षत्राणि सदा रूपं, छायां पातु निशास्तव ॥११॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रेतस्त्वाप्यायन्त्वापो, रोमाण्योषधयस्तथा ॥
आकाशं खानि ते पातु, देहं तव वसुन्धरा ॥१२॥

वैश्वानरः शिरः पातु, विष्णुस्तव पराक्रमम् ॥
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो, ब्रह्मात्मानं, ध्रुवो भ्रुवौ ॥१३॥

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ॥
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥१४॥

स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्म, स्वस्ति देवाश्च कुर्वताम् ॥
स्वस्ति ते चन्द्रसूर्य्यौ च स्वस्ति नारद–पर्वतौ ॥१५॥

स्वस्त्यग्निश्च वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्द्धतां तव ॥
"ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः" ॥१६॥

उपरता चेयं–ब्राह्मणानुगता

रक्षाबन्धनपर्वस्वरूपमीमांसा प्रथमा

१

* * *

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

आत्मनिष्ठ-राष्ट्रसंरक्षक-ब्राह्मणानुगत
राष्ट्रीय-'रक्षाबन्धनपर्व'
उपरत

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

विजयदशमी

(बुद्धिनिष्ठ–राष्ट्ररक्षक–क्षत्रियानुगत पर्व)

२

तत्रैते विषया–निरूपिता द्रष्टव्याः–

१–'निगमागम' शब्दों का चिरन्तन इतिहास
२–'विद्या' शब्द का चिरन्तन इतिहास
३–'दशमहाविद्या' शब्द का चिरन्तन इतिहास
४–'विजयदशमी'–पर्व का संक्षिप्त इतिवृत्त

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व
विजयदशमी

२

तत्र–(१)–'निगमागम' शब्दों का चिरन्तन इतिहास

नामक--प्रथम विषय

१–निगमागमशास्त्रमूलकं–किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्—

ब्रह्मबलानुगता सर्वविधा आभ्यन्तराक्रमणरक्षाओं से अनुप्राणित '**रक्षाबन्धनपर्व**' जहाँ ब्राह्मणवर्ण-प्रधान है, वहाँ पौरुषबलानुगता लोकविधा बाह्याक्रमणरक्षाओं से अनुप्राणित '**विजयदशमीपर्व**' क्षत्रियवर्ण-प्रधान माना गया है, जैसाकि आयोजनोपक्रम–स्थलों में यत्र–तत्र स्पष्ट किया जाचुका है। आभ्यन्तररक्षाकर्म्म का अधिष्ठाता **वर्चतेजोमय** ब्राह्मण माना गया है, एवं बाह्यरक्षाकर्म्म का अधिष्ठाता **भ्राजतेजोमय** क्षत्रिय (किंवा तत्-प्रतीकभूत सत्तातन्त्र) माना गया है। ब्रह्मतेज ही वर्च है, क्षात्रतेज ही भ्राज है। वर्च से ब्राह्मण **वर्चस्वी** बना रहता है, भ्राज से क्षत्रिय **विभ्राट्** बना रहता है। वर्चस्वी ब्राह्मण के आभ्यन्तर रक्षाकर्म्म का मूलाधार-शास्त्र जहाँ–'**निगमशास्त्र**' कहलाया है, वहाँ विभ्राट् क्षत्रिय के बाह्य रक्षाकर्म्म का मूलाधारशास्त्र '**आगमशास्त्र**' माना गाया है। भारतीय आस्तिकप्रजा में इतिहास (वाल्मीकिरामायण–महभारतादि), एवं पुराण की भाँति निगम–आगमशास्त्र भी सुप्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण शास्त्रों की मूलप्रवर्त्तिका क्योंकि 'ऋषिप्रज्ञा' ही है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण रक्षाकर्म्मों का साक्षात्‌रूप से, तथा परम्परया ऋषिकल्प ब्राह्मणों से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। और इस दृष्टि से तो आगमशास्त्र को मूलाधार बनाने वाले विभ्राट्तेजोमय क्षत्रिय का बहिरङ्गरक्षात्मक कर्म्म भी परम्परया ब्राह्मणानुगत रक्षाकर्म्म ही माना जाना चाहिए, माना गया है, जैसाकि–'**तत् क्षत्रे एव यशो दधाति**' इत्यादि रूप से पूर्व के 'रक्षाबन्धनकर्म्म' में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है। जिसका विस्पष्टतम तात्पर्य्य यही है कि, निगमशास्त्रवत् आगमशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली रहस्यपूर्ण 'रक्षाविधि' का भी सम्पादन आगमीय–पर्वात्मक '**नवरात्र**' पर्वावसरों पर नैष्ठिक ब्राह्मण ही करते रहते हैं। इनके द्वारा सम्पादित--अर्जित--पुञ्जीभूत शक्तिबल से सशक्त बन कर ही राष्ट्रीय सत्तातन्त्र असुरबुद्धि–आक्रान्ता–आततायीवर्ग का समूल विनाश करनें में समर्थ बनता हुआ तदुपलक्ष में '**विजयमहोत्सव**' मनाया करता है। इति नु निगमागमशास्त्रमूलकं किञ्चिदिव प्रास्ताविकम्।

२–विजयदशमीपर्वसम्बन्धी विजिज्ञास्य निगमागमभाव—

'विजयदशमीपर्व' से सम्बन्ध रखने वाले तथाकथित प्रास्ताविक में **निगम–आगम**, इन दो नवीन शब्दों का उल्लेख हुआ है। क्योंकि बिना इन दोनों शब्दों के चिरन्तन–इतिहास–समन्वय के क्षत्रियानुगत विजयदशमीपर्व के मूलाधारभूत आगमशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली 'शक्ति' का स्वरूपबोधाभास भी असम्भव है। अतः सर्वप्रथम इन दोनों नवीन--शब्दों के न्यूनतम अक्षरार्थमात्र की ओर तो आयोजनप्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक ही बन रहा है।

३–गुरुमुखानुगता–रहस्यबोधानुप्राणिता–निष्ठापद्धति—

'न्यूनतम अक्षरार्थमात्र की ओर' वाक्य हमनें यहाँ एक विशेष दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए उद्धृत किया है। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि, अपनी रूक्षा--कर्कशा–वेदाभ्यासजड़मति के निग्रहात्मक अनुग्रह से मातृवात्सल्यरसाप्लुता--अत्यन्त रसपरिपूर्णा-शक्तितत्त्वानुगता-आगमशास्त्रानुगता-रहस्यपूर्णा-सुसूक्ष्मा--पारम्परिक-सुगुप्त–पद्धतियों के ज्ञानलव से भी यह अज्ञजन सर्वथा ही अपरिचित है। आम्नायाचार्य्यों के द्वारा इस सम्बन्ध में परम्परया यही सुना जारहा है कि, यह **'रहस्यात्मक–बोधानुग्रह'** तो आम्नायपरम्परा में शास्त्रविधि से दीक्षित आम्नायनिष्ठ महाभाग्यशाली को ही प्राप्त हुआ करता है। कदापि वैखरी वाणी के द्वारा इस आगमीय--रहस्य का अंशतः दिग्दूर्शन भी तो सम्भव नहीं है मादृश आम्नायपथासंस्पृष्ट अज्ञजन के द्वारा। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, इस सम्बन्ध में तो 'अक्षरार्थमात्र' की घोषणा कर बैठना भी हमारी युगधर्म्मानुगता महती धृष्टता ही मानी जायगी। इस आगमीय रहस्य के सम्बन्ध में तो आगमाचार्य्यों का–**'तद्गुरुमुखादेवावगन्तव्यम्'** लक्षण पथ ही एकमात्र सुनिश्चित पथ है। नान्यः पन्था विद्यते--अयनाय।

४-आगमाचार्य्यों से क्षमायाञ्चा—

सांस्कृतिक--अभिभवात्मक--आपत्तिकाल के निग्रह से ही अपनी अज्ञता से सम्बन्ध रखने वाली भावुकता का क्योंकि–**'आपत्तिकाले मर्य्यादा नास्ति'** रूपेण संवरण नहीं हो रहा है। अतएव गच्छतः–स्खलनरूप से, साथ ही आगमनिष्ठ--महामहिम--वैराग्यपदाधिरूढ आगमाचार्य्यों से इस धृष्टता के लिए क्षमायाञ्चा करते हुए ही निगम--आगम--शब्दों के अक्षरार्थमात्र का दुस्साहस कर लिया जारहा है। अत्यन्त ही अवधानपूर्वक–परिपूर्ण–आस्था–श्रद्धा के साथ ही अक्षरार्थ को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करना चाहिए शक्तिप्रेमियों को। क्योंकि आस्थासमन्विता श्रद्धा ही आगमशास्त्र की मूलप्रतिष्टा मानी गई है। अनन्यनिष्ठया श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्!!

५ ऋषिदृष्ट निगमशब्दब्रह्म, एवं आगमब्रह्मशब्द का उपक्रम—

आत्मानुगता, सत्त्वबुद्धिसमन्विता संविद्भावानुगता निष्ठानुगता, अतएव निश्चित--निर्णीत--निर्भ्रान्त–विवेक से अनुप्राणिता विचारकक्षा के परपारगामी, ज्ञानसहकृत–विज्ञानपाथोधि के अन्तस्तल पर पहुँचे हुए विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य महामहिमशाली आप्त महर्षियोंनें भारतीय शब्दब्रह्म का **निगमशब्दब्रह्म, आगमशब्दब्रह्म**, रूप से दो विवर्त्तभावों–महिमाभावों में साक्षात्कार किया है। 'शब्द' शब्द से आज का भूतविज्ञानसंस्कारसमन्वित भारतीय मानव जिस श्रोत्रग्राह्या ध्वनिविशेष का ग्रहण कर रहा है, तत्त्वदृष्टि से प्रकृत में कदापि वह ऐन्द्रियक–श्रोत्रग्राह्य 'शब्द' अभिप्रेत नहीं है। अपितु सांख्यशास्त्र में जिस सुसूक्ष्म–अपञ्चीकृत–सर्वादिभूत–गुणभूत को–**'शब्दतन्मात्रा'** कहा गया है, जिस शब्दतन्मात्रारूप पहिले गुणभूत से ही पाँचों भूतों के आदिभूत प्रथम **'आकाशभूत'** का व्यक्तीभाव हुआ है, वह प्राणात्मक नित्यशब्द ही यहाँ **'शब्दब्रह्म'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिससे सम्पूर्ण भूत–**भौतिक**–मर्त्य–क्षरप्रधान–विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है।

६–निगमागमशब्दब्रह्म की विस्मृति, और हमारा सांस्कृतिक अधःपतन—

राजर्षि मनुने जिस 'वेदशब्द' से नामरूपकर्म्ममयी विश्वसंस्थाओं का आविर्भाव बतलाया है *, वह वेदशब्द कोई–'क-च-ट–त-पा' दिरूपात्मक–श्रोत्रग्राह्य वेदशब्द नहीं है । अपितु इन शब्दग्राह्य मन्त्रशब्दात्मक वेदों के द्वारा सङ्केतित सुसूक्ष्म तत्त्वात्मक जो गुणभूतप्रवर्त्तक नित्यकूटस्थ वेदशब्दब्रह्म है, जिसे 'अपौरुषेय' कहा गया है, जो पञ्चतन्मात्राओं का भी सर्जक ÷ है, वह नित्यशब्दब्रह्म ही यहाँ निगमागमशब्दब्रह्म से परिगृहीत है, जिस इस रहस्यात्मक चिरन्तन–सांस्कृतिक तथ्य को विगत तीन सहस्रवर्षों से केवल प्रतीकधर्म्मों में हीं अभिनिविष्ट बनी रहने वाली भारतीय–आस्तिक प्रज्ञा ने सर्वात्मना विस्मृत कर अपना ज्ञानविज्ञानात्मक सभी सांस्कृतिक–गौरव विस्मृत कर लिया है ।

७-स्मृति के-'वेदशब्देभ्य एवादौ' का वाङ्मय समन्वय—

श्रोत्रग्राह्य–वैखरीवाणीरूप–'शपं ददाति' लक्षण लोकप्रसिद्ध शब्दरूप कार्य्य का जो कारणात्मक सुसूक्ष्म 'शब्द' है, वही सङ्केतभाषा में–'वाक्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । वाग्रूप शब्द ही शब्दब्रह्मात्मक कारणब्रह्म है, जिससे संयोग–विभाग, तथा शब्द से उत्पन्न त्रिविध कार्य्यरूप शब्दों का आविर्भाव हुआ है । कार्य्य क्योंकि कारण की सत्ता से अभिन्न है । एकमात्र इसी अभिन्नतादृष्टि से राजर्षि मनुने '**वेदवाग्भ्यः**' के स्थान में–'**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे**' यह कह दिया है । कारणात्मक वेदशब्द वस्तुगत्या मनःप्राणगर्भिता वह नित्या स्वायम्भुवी अनादिनिधना वाग्देवी ही है, जिसके आधार पर ही सम्पूर्ण विश्व, विश्वगर्भीभूत देव–गन्धर्व–पशु–मनुष्य–आदि आदि प्रजासर्ग उपजीवित हैं । इसी नित्या स्वायम्भुवी वेदवाक् का यशोगान करते हुए महर्षिने कहा है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

—तै० ब्रा० ।

८–वाग्ब्रह्म के द्वारा शब्दब्रह्म का आविर्भाव, एवं त्रिविध शब्द—

मनःप्राणगर्भिता सत्या वाक् वैसा शान्त समुद्र है, जिसमें प्रतिष्ठित विविध बलभावों के आविर्भाव–तिरोभावात्मक अभिक्रम–प्रक्रम–व्यूहनों से वीचियाँ (तरङ्गें) प्रवाहित होतीं रहतीं हैं । इन वाग्वीचियों के साथ सम्बद्ध वायव्य प्राण से ही त्रिविध श्रोत्रग्राह्य शब्दों का आविर्भाव होता रहता है, जैसा कि–'वायुः खान,

---

*–सर्वेषां तु स नामानि, कर्म्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ (मनुः १।२१।)

÷–शब्दः-स्पर्शश्च-रूपं च–रसो–गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः ॥ (मनुः १२।६८।) ।

शब्दस्तत्' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। 'संयोग–विभाग–शब्द', इन तीन माध्यमों के द्वारा वायुसहयोग से वाक्समुद्र में तरङ्गों का व्यक्तीभाव होता है। वे तरङ्गें हीं सहज प्रवाह के कारण प्राणी की कर्णशष्कुलियों पर आतीं हुईं तत्र स्थित प्रज्ञानमन से परिगृहीत होतीं हुईं शपात्मक–आक्रोशात्मक–आघात के द्वारा शब्दरूप में परिणत हो जातीं हैं, जैसाकि अणुदर्शन के–**'संयोग–विभाग–शब्देभ्यः–शब्दोत्पत्तिः'** (वैशेषिकदर्शन) इत्यादि सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। धरातल पर पदाघात–हस्ताघातादि से जो शब्द उत्पन्न होगा, उसे **'संयोगजशब्द'** कहा जायगा। कागज फटनें से, लकड़ी चीरने से जो शब्द होगा, वह **'विभागजशब्द'** कहा जायगा। एवं किसी के शब्दोच्चारण से उत्पन्न वीचि से परम्परया कर्णशष्कुली पर समागत वीचिरूप शब्द से उत्पन्न शब्द–**'शब्दजशब्द'** कहलाएगा। और शब्दोत्पत्ति के वायुसहयोगी ये तीन प्रकार ही मुख्य मानें जायँगे, मानें गए हैं। जिस इस शब्दोत्पत्तिविज्ञान की विशद व्याख्या उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–द्वितीय, तृतीय–खण्डों में ही द्रष्टव्या है। प्रकृत में तो इस सम्बन्ध में हमें केवल यही निवेदन कर देना है कि, निगमशब्दब्रह्म से तात्पर्य्य है–**निगमवाग्ब्रह्म**, एवं आगमशब्दब्रह्म से तात्पर्य्य है–**आगमवाग्ब्रह्म** ।

९–निगमानुगमानुगत वाग्ब्रह्म का तात्पर्य्यार्थसमन्वय—

क्या तात्पर्य्य हुआ निगमानुगमानुगत 'वाग्ब्रह्म' का ?, प्रश्न जहाँ सहज है, वहाँ तत्समाधान उस तत्त्वात्मक वेद के मौलिक स्वरूप पर ही अवलम्बित है, जिसके लिए हमें १५०० पृष्ठात्मक स्वतन्त्र ही निबन्ध प्रकाशित करना पड़ा है। अतएव तत्सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वाले सांस्कृतिक–आयोजनों के प्रेमियों से हम साग्रह आवेदन करेंगे कि, शताब्दियों से ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों से, न्यूनतम तीन सहस्राब्दियों से तो अवश्य ही विलुप्तप्राय वेद के मौलिक–स्वरूप के समन्वय के लिए एकबार अवश्य ही तन्निबन्ध पर अधिक नहीं, तो दृष्टिपात का अनुग्रह तो अवश्य ही कर लेना चाहिए। क्योंकि इस विषयान्तरानुगामी प्रस्तुत निबन्ध में वेदतत्त्वानुगत नित्य वाग्ब्रह्म का सामान्य दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है। साम्प्रतं तो इस सम्बन्ध में इससे अधिक और कुछ भी तो निवेदन नहीं किया जासकता कि—

१०–स्वायम्भुव–अपौरुषेयवेदात्मक निगमवाग्ब्रह्म का स्वरूपदिग्दर्शन—

मूर्त्तिलक्षण पिण्डभाव--सम्पादक ऋक्तत्त्व, गतिभावात्मक यजुः--तत्त्व, पिण्डानुगत–महिमामण्डलभावात्मक सामतत्त्व, दूसरे शब्दों में छन्दोभावात्मक ऋक्तत्त्व, रसभावात्मक यजुः–तत्त्व, वितानभावात्मक सामतत्त्व, प्रकारान्तरेण महदुक्थरूप ऋक्तत्त्व, पुरुषरूप यजुः--तत्त्व, महाव्रतरूप सामतत्त्व, लोकभाषादृष्ट्या विष्कम्भरूप ऋक्तत्त्व, हृदयरूप यजुः-तत्त्व, परिणाहात्मक सामतत्त्व, इन तीनों मौलिक ऋक्–यजुः–साम–तत्त्वों की समष्टिरूप त्रयीलक्षण–स्वायम्भुव–ब्रह्मनिःश्वसितरूप–मनःप्राणगर्भित–नित्य–वाक्तत्त्व का नाम है–निगमवाग्ब्रह्म, जिसे लोकविश्वविद्या की अपेक्षा **'स्वायम्भुव–अपौरुषेयवेद'** कहा गया है।

११–स्वयं निर्गतभावापन्न निगम का नामनिर्वचनसमन्वय—

'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे'–'वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः' इत्यादि मानवीय वचन इसी स्वायम्भुव निगमवेद की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। किसी से उत्पन्न नहीं है

यह मनःप्राणगर्भित वाङ्मय वेद। क्योंकि–'स वा एष आत्मा वाङ्मयः–प्राणमयो–मनोमयः' इत्यादि बृहदारण्यकश्रुति के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय आत्मब्रह्म ही सृष्टिकामना से (सिसृक्षावलप्रेरणया) मनःप्राण-गर्भित वाङ्मय त्रयीवेदब्रह्मस्वरूप में परिणत हो रहा है। तभी तो ब्रह्म को वेदमय माना है ऋषिप्रज्ञा ने। इसीलिए तो यह तत्त्ववेद ब्रह्म के 'निःश्वास' कहलाए हैं। इसीलिए तो यह स्वायम्भुव अपौरुषेय तत्त्ववेद–'ब्रह्मनिःश्वसित' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका कदापि कोई भी कर्त्ता नहीं है। अपितु यह तो स्वायम्भुव है, 'स्वयमेवोद्बभौ' (मनुः) रूप से अपनी प्राणमहिमा से स्वयं ही प्रकट है, विनिर्गत है। स्वयं विनिर्गत–(व्यक्त–अभिव्यक्त–प्रकट) होने से ही तो यह–'स्वयं निर्गतः' निर्वचन से मप्रत्यम के माध्यम से–'निगम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

१२–स्वतःप्रमाणभूत निगमब्रह्म की निर्भ्रान्ता निरपेक्षा प्रामाणिकता—

ब्रह्म–वेद–निगम–आदि शब्दों के निर्वचनात्मक चिरन्तन–इतिहास के द्वारा ही इस वाङ्मय वेदतत्त्व की 'निगमता' (स्वयं निर्गतता) स्पष्ट रूप से, अपने रूप से ही प्रमाणित है। यही तो वेद की वेदता, एवं स्वतःप्रामाण्यता है। वेद सब का प्रमाण है, किन्तु स्वयं वेद अपने प्रमाणन के लिए किसी भी अन्य प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं रख रहा। सूर्य्य सब को आलोक प्रदान से व्यक्तरूप में प्रमाणित कर रहा है। किन्तु सूर्य्य स्वयं तो अपने विभ्राट्ज्योतिर्म्मय स्वरूप से स्वतः ही प्रमाणित है। यही स्थिति स्वतःप्रमाणरूप निगमब्रह्म के साथ समन्वित है।

१३–ब्रह्मनिःश्वसित नामक–प्रतिष्ठाब्रह्मलक्षण–निगम का श्रौतसमन्वय–

अब आगमब्रह्म के साक्षात्कार का अनुग्रह प्राप्त कीजिए। आनन्दघन–विज्ञानगर्भित–मनोमय–सप्तप्राणात्मक-सप्तपुरुषपुरुषात्मक-सृष्टिसाक्षी स्वयम्भू प्रजापति ने अपने वाङ्मय श्रम से, प्राणमय तप से, एवं मनोमयी कामना से सर्वप्रथम अपने आपको जिस विश्वप्रतिष्ठारूप में परिणत किया, वह प्रतिष्ठात्मक–ऋक्–यजुः–सामात्मक–त्रयीरूप ही ब्रह्मनिःश्वसित नामक वह 'प्रतिष्ठाब्रह्म' कहलाया है, जिस पर सुप्रतिष्ठित होकर जिसके द्वारा ही जिससे ही स्वयम्भूप्रजापति व्यक्त विश्व का निर्म्माण करने वाले हैं। शतपथब्राह्मण के षष्ठकाण्ड के प्रथमारम्भ ब्राह्मण की आरम्भ की १ से ८ पर्य्यन्त की ८ कण्डिकाओं में इसी तथ्य का रहस्यभाषा में स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जैसाकि तत्प्रकरण के निम्न लिखित वाक्यसन्दर्भ से प्रमाणित है।

"श्रमेण तपसा अरिषन्–तस्माद् ऋषयः। त इद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त। सप्त पुरुषो ह्ययं पुरुषः (प्रजापतिः)। स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानो 'ब्रह्म' एव प्रथममसृजत–त्रयीमेव विद्याम्। सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्। तस्मादाहुः–'ब्रह्म (त्रयीविद्या) ऽस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। प्रतिष्ठा ह्येषा, यद्ब्रह्म (त्रयीविद्या, सैव निगमविद्या)।

—शत० ब्रा० ६।१।१। १ से ८ पर्य्यन्त

१४–श्रौतसमन्वयानुगत–स्मार्त्तसमन्वय—

स्मृतिशास्त्र के प्रेमी विद्वान् जानते हैं कि, राजर्षि मनु की सर्वस्मृतिमूर्द्धन्या, वेदवत् ही निर्भ्रान्त-प्रमाणात्मिका मनुस्मृति के उपक्रम में ही उक्त श्रौत–रहस्य का ही इन शब्दों में स्पष्टीकरण होगया है कि—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान्–अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ॥
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥२॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥३॥

—मनुः १।५ से ७ पर्य्यन्त

१५–वेदपुरुष की सुवेदप्रकृतिसापेक्षिता—

स्वयंविनिर्गत, अतएव स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध, 'निगम' उपाधि से समन्वित वेदमूर्त्ति–वेदस्रष्टा–स्वयम्भूब्रह्म (ब्रह्मा) ही अब आगे की सृष्टियों के प्रवर्त्तक बनने वाले हैं। किन्तु स्वयं त्रयीमूर्त्ति स्वयम्भू ब्रह्मा अभी तो केवल 'पुरुष' स्वरूप ही हैं। बिना दाम्पत्यभाव के प्रजनन असम्भव है, एवं बिना 'प्रकृति' के दाम्पत्यभाव असम्भव है। प्रजापति का पुरुषभाव तो त्रयीब्रह्म (निगम) रूप से अभिव्यक्त होगया। किन्तु जबतक तपश्चर्य्या के द्वारा ये त्रयीब्रह्मरूप पुरुष प्रकृतिभाव को अपने आप में से अभिव्यक्त नहीं कर लेते, तबतक दाम्पत्य असम्भव है, एवं बिना दाम्पत्य के विश्वप्रजनन असम्भव है। इस स्थिति को आधार बना कर ही अब पुनः उसी शातपथी श्रुति के अग्रिम प्रकरण को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए !

१६–त्रयीतत्त्वानुगत यजुःपुरुष का तात्त्विक स्वरूपसमन्वय—

इस अनुग्रह से पूर्व दो शब्दों में त्रयीवेद के मध्यस्थ 'यजुः' रूप 'पुरुष' * को लक्ष्य बनाइए। विष्कम्भरूपा ऋक्, परिणाहरूप साम, दोनों हीं तत्त्व केवल वयोनाधमात्र हैं, सीमाभावमात्र हैं, जिन से सीमित वयोरूप (वस्तुतत्त्वरूप) यजुःपुरुष ही विश्वसर्ग का आरम्भण (उपादान) बनने की क्षमता रख रहा है। अतएव कहा, और माना जासकता है कि, ऋक्सामरूप वयोनाध में अपीत यजुरूप 'वय' ही स्वयम्भूप्रजापति के द्वारा सर्गारम्भक–सर्गोपादान बनता है। क्या स्वरूप है इस ऋक्सामापीत यजुः का ?, प्रश्न का समाधान भी अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है। शब्द है वास्तव में–'यज्जूः'। स्थितितत्त्व का नाम है–'जू', जिसे भारतीय पञ्चमहाभूतविज्ञान की भाषा में 'आकाश' कहा जासकता है। गतितत्त्व का ही नाम है–'यत्', जिसे भूतभाषा में–'वायु' कहा जासकता है। **'स्थिति से समन्वित गतितत्त्व'** ही **'यज्जूः'** की स्वरूपव्याख्या है। हम समझते हैं–केवल यज्जूरूप इस यजुः की इत्थंभूता स्वरूपव्याख्या ही उन वर्त्तमान भारतीय विद्वानों को यह उद्बोधन प्रदान करने में पूर्णतया सक्षम है, जो विद्वान् इस तत्त्ववेद को विस्मृत कर केवल शब्दात्मक वेदग्रन्थ को ही अपनी प्रमाणभक्ति का अवलम्ब मान बैठे हैं। स्वरूपव्याख्या कोई हमारी कल्पना नहीं हैं। अपितु यह

---

*–अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः। तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः।

—शत० १०।५।२।१।

व्याख्या तो स्वयं श्रुति ने विस्पष्ट शब्दों में हमारे सम्मुख रख देने का महान् अनुग्रह कर दिया है । श्रूयताम् !

अयं वाव यजुर्योऽयं पवते । एष हि यन्नेवेदं सर्वमिदं जनयति,- एतं यन्तमिदमनु प्रजायते । तस्माद्वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः-यदिदमन्तरिक्षम् । एतं ह्याकाशमनु जवते । तदेतत्-यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च, यच्च जूश्च (यज्जूः)। तदेतत्-यजुः-ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम् । ऋक्सामे वहतः । (शत० ब्रा० १०।३।५।१।) ।

१७-यत्--जू, वायु--आकाश, गति--स्थिति, प्राण--वाक्,--द्वन्द्वों की आंशिक अभिन्नार्थकता, एवं प्राण--वाग्द्वन्द्व के द्वारा सर्गोपक्रम—

स्थितितत्त्वरूप 'जू' ही आकाश है, यही 'वाक्' तत्त्व है, जैसाकि-**'ब्रह्मैव वाचः-परमं व्योम'** (तै० ब्रा० ३।६।५।५) इत्यादि वचन से प्रमाणित है । गतितत्त्वरूप 'यत्' ही वायु है, यही **'प्राणतत्त्व है । यत्-जू,-वायु-आकाश,-गति-स्थिति,-प्राण-वाक्'** चारों हीं द्वन्द्व अमुक सीमापर्य्यन्त यों अभिन्नार्थक बनें हुए हैं, जिन में से चयनविज्ञानश्रुतिने यजुः के 'प्राण-वाक्' रूप अन्तिम द्वन्द्व को आधार मान कर सर्गक्रम का उपक्रम किया है । तात्पर्य्य इस उपक्रम का यही है कि, ऋक्सामायतनों में प्रतिष्ठित यजु के गतिप्रकृतिक प्राणभाग के व्यापार से प्रजापतिपुरुषने यजु के ही स्थितिप्रकृतिक वाग्भाग को उपादान बना कर इस से सर्वप्रथम **'अप्तत्त्व'** ही उत्पन्न किया । स्वयं वाग्भाग ही महिमाभाव से अब्रूप में परिणत होगया, और यही त्रयीवेदपुरुष का वह प्रकृतिभाव कहलाया, जिस के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव से ही मैथुनीसृष्टि का उदय होने वाला है । तत्पूर्वा यह अप्सृष्टि तो भावसृष्टिमूला **'गुणसृष्टि'** ही कहलाई है, जबकि स्वयं त्रयीवेदाभिर्भावरूपा सृष्टि केवल **'भावसृष्टि'** ही मानी गई है । यों सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति सर्वप्रथम ऋक्-साम-यजुर्लक्षण त्रयीमय भावसर्गरूप में परिणत हुआ । यही प्रजापति की प्रतिष्ठा बना ।

१८-त्रयीप्रतिष्ठात्मक वाग्ब्रह्म के द्वारा 'आपःसृष्टि' का प्रादुर्भाव, एवं तदनुगत श्रुति-स्मृति-वचनों का समन्वय—

इस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित प्रजापतिने पुनः तप किया । इस से इसके यजु के 'जू' रूप 'वाक्' भाग से 'अप्' तत्त्व उत्पन्न हुआ, यही इसकी 'गुणसृष्टि' कहलाई । अब इस भावसृष्टिरूप त्रयीब्रह्म से, तथा गुणसृष्टिरूप आपः से जो मिथुनात्मक सर्ग होगा, वही 'मैथुनीसृष्टि' कहलाएगी, जिसे 'विकारसृष्टि' भी कहा गया है । इन सभी सर्गों के सम्बन्ध में सर्गसामान्यानुबन्धी इस नियम को समन्वित समझना चाहिए कि, पुरुषप्रजापति से उत्पन्न उत्तर उत्तर के सर्ग में पूर्व पूर्व के सभी प्रजापतिविशिष्ट सर्ग समाविष्ट-प्रविष्ट रहते हैं, जैसाकि-**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । तात्पर्य्य-त्रयीसर्ग का आविर्भाव कर पुरुषप्रजापति तत्प्रविष्ट होकर तद्रूप में परिणत हो जाते हैं । आपः को उत्पन्न कर त्रयीमय प्रजापति तत्प्रविष्ट होकर तद्रूप बन जाते हैं । इसी आधार पर-**'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं-यदिदं-किञ्च'-'सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः'** इत्यादि निगम व्यवस्थित हुए हैं । प्रकृत में यही निवेदनीय है इस सन्दर्भ से कि, त्रयीब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित तद्रूप पुरुषप्रजापति के यजुर्भाग के वाग्भाग से सर्वप्रथम प्रकृतिरूप-गुणसर्गात्मक अप्तत्त्व ही प्रादुर्भूत

हुआ । अष्टमकण्डिका से अग्रिम प्रकरण ने इसी अप्सर्ग का दिगदर्शन कराया है, जिसके कतिपय अंश ही उद्धृत कर देना पर्य्याप्त होगा । साथ ही इन उद्धरणों से उस मानवीय वचन का भी समतुलन करना प्रासङ्गिक ही बन जायगा, जो श्रुतिपथ का ही अक्षरशः अनुगमन कर रहा है—

तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य साऽसृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत्–यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्–तस्मादापः । यद्वृणोत्–तस्माद् वाः ।

—शतपथ ब्रा० ६।१।१।८,६,।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।। —मनुः १।८।

१६–‘आपो नाराः’, ‘नारी’, और राजस्थान का ‘नारा’ शब्द—

यजुर्वाक् ही आपोरूप में परिणत हुई, जिसका प्रधान धर्म्म माना गया है **‘प्रजननकर्म्म’** । इसी प्रजनन के कारण आपः को–**‘जाया’** कहा गया है । सर्वव्याप्ति के कारण ही इसे **‘आपः’** माना गया है, एवं भूतभौतिक सम्पूर्ण विश्व के मूलारम्भक होने से इसे ही **‘धारा’** कहा गया है । आपः–जाया–धाराः–तीनों इसी प्रकृतिरूप अप्तत्त्व के स्वरूपधर्म्म माने गए हैं । तभी तो प्रकृति की निधिरूपा नारी–‘जाया’ कहलाई है, जिस नारी का तात्त्विकरूप–**‘आपो नारा इति प्रोक्ताः’** से ‘नारा’ कहलाया है । राजस्थान में तो आक्रोशावस्थाओं में नारी को–**‘अरे ओ नारा’** रूपेण यदा कदा–‘नारा’ भी कह दिया जाता है । यही तो हमारी वेदसंस्कृति का–‘लोके–वेदे मूलक’ समसमन्वय है, जो अज्ञातरूप से हमारे लोकजीवन में भी समाविष्ट हो रहा है ।

२०–वेदात्मक ब्रह्म, एवं सुवेदात्मक सुब्रह्मतत्त्व, तथा तन्मूलक दाम्पत्यभाव—

उक्त स्थिति का गोपथब्राह्मण में एक अन्य दृष्टि से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिसका निष्कर्ष यही कि, त्रयीमूर्त्ति ब्रह्म ने तप किया । इस से प्रथम इन के ललाट पर स्वेद उत्पन्न होगए । यही स्वेद **‘सुवेद’** कहलाया । यही ब्रह्मापेक्षया ‘सुब्रह्म’ कहलाया । ब्रह्म यजुरग्नि था, सुब्रह्म आपः सोम बना । जाया–धारा–आपः–तीनों सुब्रह्म के स्वरूपधर्म्म बनें । यों त्रयीब्रह्म ही ब्रह्मरूप **अग्निवेद**, तथा सुब्रह्मरूप **सोमवेद**, रूप में परिणत होगए । यही पहिला दम्पती कहलाया, जो कि आगे की वैकारिकी सृष्टियों का मूल बना (देखिए, गोपथब्राह्मण पूर्वभाग १ प्रपाठक, १–२–३–ब्राह्मण) ।

२१–तेजोगुणक अङ्गिरा, एवं स्नेहगुणक भृगु की अब्रूपता—

क्या स्वरूप है इस ‘आपः’ का ?, उत्तर है–**‘तेजोयुक्त स्नेहगुणकतत्त्व’** । तेजोभाव **‘अङ्गिरा’** कहलाया है, स्नेहभाव **‘भृगु’** कहलाया है । यजु के गतिप्रकृतिक यत्–भाव का विकास ही तेजोमय अङ्गिरा है, एवं यजु के स्थितिप्रकृतिक ‘जू’ भाव का विकास ही स्नेहमय भृगु है । भृग्वङ्गिरोरूप स्नेहतेजोभावों की समन्वितावस्था का नाम ही–‘आपः’ रूप सुब्रह्म है, जैसाकि गोपथवचन से स्पष्ट है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥ (गोपथब्राह्मण)।

२२--वेदत्रयीरूप पुरुष, एवं अथर्वरूपा प्रकृति का दाम्पत्यभाव—

ऋक्-यजुः-साममय त्रयीब्रह्मरूप ब्रह्म ही **'पुरुष'** है, भृग्वङ्गिरोरूप अथर्वब्रह्मात्मक सुब्रह्म ही **'प्रकृति'** है। वेदत्रयी, तथा चतुर्थ **अथर्वेद** ही इस पुरुषप्रकृतिरूप दाम्पत्यभाव का समस्त इतिवृत्त है, जिसके यथावत् समन्वय के लिए तो संस्कृतिनिष्ठों को निष्ठापूर्वक संस्कृति के स्वाध्याय की ही शरण में जाना चाहिए। प्रकृत में तो निगम-आगम-शब्दों के अक्षरार्थमात्र समन्वय के लिए ही हमें अपौरुषेय वेदशास्त्र के इस पारिभाषिक, अतएव परिभाषाविलुप्तियुगात्मिका वर्त्तमान प्रज्ञा के लिए अत्यन्त ही दुर्बोध्य वेदसृष्टिप्रकरण को अगत्या लक्ष्य बना लेना पड़ा है।

२३ महान् विश्व के महान् प्रथम सर्जक निगमागमरूप पुरुषप्रकृतिभाव—

आपोमय अथर्वतत्त्व ही **'आगमवाग्ब्रह्म'** है। क्योंकि इसका आगमन ऋग्यजुःसाममय त्रयीब्रह्मरूप तथाकथित 'निगमवाग्ब्रह्म' से ही हुआ है। अतएव-**'निगमादागतः'** निर्वचन से इस आपोरूप अथर्वब्रह्म को अवश्य ही **'आगमब्रह्म'** कहा जा सकता है, कहा गया है। यों एक ही निगमतत्त्व (वेदतत्त्व) **त्रयीब्रह्म, अथर्वब्रह्म,** भेद से दो विवर्त्तभावों में परिणत होकर **निगमब्रह्म-आगमब्रह्म**-इन दो अभिधाओं से तत्त्वजगत् में प्रसिद्ध हो गए हैं। दोनों हीं नित्यकूटस्थ हैं, अपौरुषेय हैं, शाश्वत हैं। विश्वापेक्षया निगम को **स्वयम्भू** कहा गया है, आगम को **परमेष्ठी** कहा गया है।

२४-प्रथम दाम्पत्य से प्रथम आविर्भूत प्रथमज विराट्पुत्र—

स्वयम्भू-ब्रह्मरूप निगमात्मक **निगमपुरुष** के, एवं परमेष्ठी-सुब्रह्मरूपा आगमात्मिका **आगमप्रकृति** के दाम्पत्य से जो सर्वप्रथम सर्ग आविर्भूत होता है, उसी का-**'तासु बीजमवासृजत्'** रूप से मनु ने सङ्केत किया है। वह बीज और कोई नहीं, वही साक्षात् सूर्य्यदेव हैं, जो अण्डवृत्तरूप में परिणत होते हुए अपने सम्वत्सर से आलोकित हो रहे हैं, जिनका यह अण्डवृत्त हिरण्यरेता आङ्गिरस अग्नि के कारण 'हिरण्मयाण्ड' कहलाया है। यों निगमागमरूप दाम्पत्य से (त्रयीवेद-अथर्ववेद से) हिरण्मयाण्डरूप दशावयव, दशकल, अतएव 'विराट्' नाम से प्रसिद्ध 'विभ्राट्' तेजोमय सूर्य्यनारायण हीं प्रादुर्भूत हुए हैं। **ऋक्**[१], **साम**[२], **यत्**[३]-**जू**[४]-, ये चार कलाएँ त्रयीब्रह्म की, एवं **आपः**[१]-**वायुः**[२]-**सोमः**[३]-रूपा भृगुत्रयी, **अग्निः**[१]-**यमः**[२]-**आदित्य**[३]-रूपा अङ्गिरात्रयी, ६ ओं की समन्वितावस्थारूप भृग्वङ्गिरोमय आपः-रूप सुब्रह्म की ६ कलाएँ, दोनों की सम्भूय १० कलाएँ हो जातीं हैं। इनके दाम्पत्य से ही क्योंकि बीजरूप सूर्य्याण्डवृत्त का आविर्भाव हुआ है। अतएव (दशावयवत्त्वेनैव) इसे 'विराट्' कहना अन्वर्थ बन जाता है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए निम्न लिखित श्रुति-स्मृति-वचनों को, एवं अपनी स्वाध्यायप्रज्ञा के द्वारा स्वयं ही समन्वय कीजिए इस निगमागमशब्देतिहास का-

सोऽकामयत-"आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय" इति। सोऽनया-त्रय्या विद्यया सह-अपः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्त्तत। अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्-सोऽग्निरसृज्यत। अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्। —शत० ६।१।१।१०-१५ पर्य्यन्त।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।। —मनुः १।६।

२५–निगमादागतः लक्षण पारमेष्ठ्य आगमब्रह्म, और 'आगमशब्द'—

"स्वयं निर्गतः-निगमः, निगमादागतः-आगमः" इस निर्वचनार्थ से समन्वित निगम, और आगम–शब्दों के स्वायम्भुव-त्रयीवेदात्मक, एवं पारमेष्ठ्य-अथर्ववेदात्मक चिरन्तन–इतिवृत्त के संस्मरणमात्र का दुस्साहस किया गया। यही उस लोकप्रसिद्ध निगमागमशास्त्रद्वयी का क्योंकि मूलाधार था। अतएव तत्संस्मरण अनिवार्य्य मान लिया गया। पुरुषब्रह्म त्रयीवेद है, प्रकृतिब्रह्म अथर्ववेद है। त्रयीवेद स्वायम्भुव है। स्वयं निर्गत होने से **'निगमब्रह्म'** है, एवं अथर्ववेद पारमेष्ठ्य है, स्वयम्भुब्रह्म के यजुर्भाग से आगत–उत्पन्न–होने के कारण 'आगमब्रह्म' है।

२६–निगमागमशब्दों की चिरन्तनेतिहासात्मिका रूपरेखा का समन्वय—

और यही **निगमवाग्ब्रह्म** (त्रयीवाग्ब्रह्म), तथा **आगमवाग्ब्रह्म** (अथर्ववाग्ब्रह्म) रूप पुरुष–प्रकृतिलक्षण–निगम–आगम–तत्त्वों के संग्राहक निगम–आगम–शब्दों की चिरन्तनेतिहास की रूपरेखा है। स्मरण रहे, अथर्वब्रह्म का आगमत्त्व केवल त्रयीब्रह्मसापेक्ष ही है। वैकारिकसर्गापेक्षया तो त्रयीब्रह्मवत् पारमेष्ठ्य अथर्वब्रह्मरूप आगमब्रह्म भी निगमब्रह्म ही है। तभी तो पूर्व में हमनें एक ही निगमब्रह्म के 'ब्रह्म' नामक निगमभाव, एवं 'सुब्रह्म' नामक आगमभाव, रूप से दो विवर्त्त बतलाए हैं। लोक में–**'आगमशास्त्र'** नाम से प्रसिद्ध मणि–मन्त्र–ओषधि–निधि–आदि लक्षण आगमीय आचारपद्धतियों का मूलाधार **'घोराङ्गिरा'** नामक अथर्वभाग ही है, यह सभी विद्वानों को सम्भवतः विदित है ही। यह लोकप्रसिद्धि भी यही सङ्केत कर रही है कि, लोकप्रसिद्ध आगमशास्त्र का मूलभूत 'अथर्ववेद' नामक चतुर्थ वेद ही आगमभावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ निगम बनता हुआ भी अपने आगमत्त्व को सूचित कर रहा है। और यही निगम–आगम–शब्दों का वह सुगुप्त चिरन्तन–इतिवृत्त है, जिसे सहस्राब्दियों से विस्मृत कर भारतीय प्रजा निगमागमीय अपना सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव विस्मृत कर चुकी है।

२७–तत्त्वात्मक निगमागमों पर प्रतिष्ठित शब्दात्मक निगमागम—

अब हम उन निगम, और आगम–शब्दों की ओर आयोजनप्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं, जिनके आधार पर शब्दात्मक **निगमशास्त्र**, एवं शब्दात्मक **आगमशास्त्र** प्रतिष्ठित है, एवं जिन इन दोनों शास्त्रों के उपबृंहक शास्त्र ही **इतिहास–पुराणशास्त्र**–नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। **'स्वयमुद्बभौ'** रूप से स्वयं विनिर्गत स्वायम्भुव त्रयीब्रह्मरूप निगमपुरुष के, तथा स्वयम्भू से आगता पारमेष्ठ्य–अथर्वसुब्रह्मरूपा आगम–प्रकृति के दाम्पत्य से भृग्वङ्गिरोमय सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ, यह पूर्व में निवेदन किया जाचुका है। एवं तत्रैव यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, ब्रह्मपुरुष की चार कलाओं, तथा सुब्रह्मप्रकृति की ६ कलाओं के समन्वय से उत्पन्न दशकलमूर्त्ति हिरण्मयाण्डमध्यमवर्त्ती सूर्य्य **'विराट्'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इस सौर–विराट् के सम्बन्ध से ही विश्वविद्या दशावयवा बनती हुई **'विराट्–विद्या'** नाम से प्रसिद्ध हुई है निगमशास्त्र में, जिसके आधार पर ही निगममूलक आगमशास्त्र में रहस्यभाषा में प्रतिपादिता सृष्टिविद्या **'दशमहाविद्या'**

नाम से प्रसिद्ध है, जिसे मूलाधार बना कर ही हमें '**विजयदशमीपर्व**' का समन्वय ढूँढ निकाल लेना है। स्वयम्भू से आरम्भ कर सूर्य्य-पर्य्यन्त के उक्त सृष्टिधाराक्रम को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कर लीजिए, तदनन्तर ही लोकप्रसिद्ध निगम–आगम–शब्दों के द्वितीय प्रक्रम-स्थानीय द्वितीय चिरन्तन–इतिहास को लक्ष्य बनाइए।

२८–अपौरुषेय–निगमागमदाम्पत्य से पौरुषेय निगमरूप विराट् पुत्र की प्रसूति—

जैसाकि पूर्व में निवेदन किया गया है, शब्दराशि का ऋषिप्रज्ञा ने निगमशब्द, आगमशब्द–रूप से दो महिमाभावों में साक्षात्कार किया है, जिन दोनों शब्दब्रह्मों का स्वायम्भुव–शब्दब्रह्मरूप **त्रयीवाग्ब्रह्म**, एवं पारमेष्ठ्य-शब्दब्रह्मरूप **अथर्ववाग्ब्रह्म**, रूप से निगम-आगम-भावानुबन्धत्त्वेन दिग्दर्शन कराया जाचुका है। यह शब्दब्रह्म वस्तुतः मनःप्राणगर्भित–वाग्ब्रह्म ही है, जिसके स्वयम्भू–परमेष्ठी–के भेद से दो विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं। इन दोनों निगमागमवाग्ब्रह्मरूप शब्दब्रह्मों के दाम्पत्यभाव से ही निगमागमस्वरूप–दशावयव–विराट्मूर्त्ति–हिरण्मयाण्डमध्यवर्त्ती सूर्य्यनारायण का आविर्भाव हुआ है। अत्र इस सूर्य्यविराट् से सम्बद्ध शब्दब्रह्म के आधार पर ही हमें लोकप्रसिद्ध निगम–आगम–शब्दों के इतिहास का अन्वेषण करना है। एवं इस अन्वेषण–कर्म्म से पूर्व इस सम्बन्ध में शब्दात्मक वाग्ब्रह्म से सम्बन्ध रखनें वालीं कुछ एक परिभाषाओं का समन्वय कर लेना है।

२९–वाग्ब्रह्म, और उसके ऐन्द्र, तथा आग्नेय नामक दो विवर्त्त—

'**अथो वागेवेदं सर्वम्**' (ऐ० आ० ३।१।६)–'**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**' (तै० ब्रा० २।८।८।४–५) इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों के अनुसार वाक्तत्त्व से प्रादुर्भूत होने वाने वाले आकाशात्मक शब्द-प्रपञ्च से कोई भी स्थान रिक्त नहीं है, जैसाकि–'**न ह्यशब्दमिवास्ति**'–'**सर्वं शब्देन भासते**' * इत्यादि आप्तवचनों से भी स्पष्ट है। यह सब कुछ ठीक ठीक होने पर भी परस्पर सर्वथा विभिन्न विश्वपर्वों के साथ सम्बन्ध रखने वाला वाक्त्वेन अभिन्न भी शब्दब्रह्म विश्वपर्वानुगत विभिन्न नामरूपगुणभावों में परिणत होकर के ही अपने इन विभिन्न वाग्भावों के द्वारा ही विभिन्न सर्गों का अधिष्ठान बना हुआ है। यों वाक्त्वेन सम्पूर्ण विश्व में वाग्ब्रह्म एकरूप बना रहता हुआ भी–'**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्**' इत्यादि के अनुसार विविधरूपों से विश्व की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। उन असंख्य वाग्विवर्त्तों में से प्रकृत में हमें '**रोदसीत्रिलोकी**' नाम से सुप्रसिद्धा सौरी त्रिलोकी में प्रधान बनीं हुईं ऐन्द्रीवाक्, **आग्नेयीवाक्**, इन दो वाग्देवियों की ही आराधना करनी है, जिनके साथ निरूपणीय निगम–आगम–भावों का प्रधान सम्बन्ध माना है ऋषिप्रज्ञानें।

३०–ऐन्द्री, तथा आग्नेयी-वाक् के द्वारा सौर-रोदसी त्रैलोक्य का वितान, एवं सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि का त्रैलोक्य–प्रतिष्ठात्त्व—

स्तम्बरूप (धातूपधातु–ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्मादि असंज्ञ, तथा अन्तःसंज्ञवर्गरूप) **तमोविशालसर्ग**, कृमि–कीट–पक्षी–पशु-मनुष्य-भेदभिन्न पञ्चविध **रजोविशालसर्ग**, एवं यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-

---

* न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं–सर्वं शब्देन भासते ॥ (वाक्यपदी)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पैत्र्य–ऐन्द्र–प्राजापत्य–ब्राह्म–भेदभिन्न अष्टविध **सत्त्वविशालसर्ग**, नामों से प्रसिद्ध १४ चौदह प्रकार के भौम–(तमोविशाल)–पार्थिव (रजोविशाल)–चान्द्र (सत्त्वविशाल)–सर्गों के साथ प्रधानरूप से **आग्नेयी**, तथा **ऐन्द्रीवाक्** का ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। **'यथाग्निगर्भा–पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** (शत० १४।६।७।२०।) इत्यादि श्रुति के अनुसार पृथिवी **अग्निगर्भा** है, एवं द्युलोक से उपलक्षित सूर्य्य **इन्द्रगर्भा** है। तात्पर्य्य–भूपिण्ड के गर्भ में आग्नेयतत्त्व की प्रधानता है, एवं सूर्य्य के गर्भ में इन्द्रतत्त्व की प्रधानता है। उस ओर इन्द्रप्रधान सूर्य्य से अनुप्राणित द्युलोक है, तो इस ओर अग्निप्रधान भूपिण्ड से अनुप्राणित पृथिवीलोक है। दोनों के अन्तः (मध्ये) प्रतिष्ठित, अतएव 'अन्तः–ईक्षते' निर्वचन से 'अन्तरीक्ष' नाम से प्रसिद्ध मध्यलोक है, जिसे मध्यस्थ–सोममय–चन्द्रमा के सम्बन्ध से चान्द्रलोक, किंवा चन्द्रलोक कहा गया है। भूःरूप पृथिवीलोक, भुवःरूप अन्तरिक्षलोक, स्वःरूप द्युलोक, इन तीन लोकों की समन्वितावस्था का नाम हीं **'रोदसीत्रैलोक्य'** नामक सौरत्रैलोक्य है, जिसके **सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि** ये प्रतिष्ठा–केन्द्र बनें हुए हैं।

३१- रोदसी–भावानुगता देव–पितृ–मनुष्य–लोकात्मिका प्रतिष्ठालोकत्रयी का समन्वय––

भूः नाम की व्याहृति से अनुप्राणित पृथिवीलोक में अग्निदेव का साम्राज्य है। इन्हीं से **मानवप्रजा** का मुख्य सम्बन्ध है। अतएव पृथिवी को–**'मनुष्यलोक'** कहा गया है। भुवः नाम की व्याहृति से अनुप्राणित अन्तरिक्षलोक में चन्द्रदेव का साम्राज्य है। इन्हीं से **पितरप्रजा** * का मुख्य सम्बन्ध है। अतएव चान्द्र–अन्तरिक्ष को **'पितृलोक'** कहा गया है। इसी आधार पर–**'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति'** (सिद्धान्तशिरोमणि) यह प्रसिद्ध है। 'स्वः' नाम की व्याकृति से अनुप्राणित द्युलोक में इन्द्रप्राण का साम्राज्य है। इन्हीं से देवप्रजा का मुख्य सम्बन्ध है। अतएव द्युलोकात्मक सूर्य्यलोक को **'देवलोक'** कहा गया है। इसी आधार पर–**'चित्रं-देवानामुदगात्'** (यजुःसं०) इत्यादि प्रसिद्ध है। यों तीन लोक क्रमशः प्रधानरूपेण **अग्नि–सोम–इन्द्र–**प्रधान बनते हुए **मनुष्य–पितर–देव**–लोक प्रमाणित हो रहे हैं, जैसाकि–**'एता वै–(भूर्भुवः स्वरिति) व्याहृतय इमे (पृथिव्यादयः) लोकाः'** (तै० ब्रा० २।२।४।३।)–**"त्रयो वाव लोकाः–मनुष्यलोकः–पितृ–लोकः, देवलोकः'** (शत० ब्रा० १४।४।३।२४।)–**"उत्तर उत्तर एषां लोकानां ज्यायान्'** (ताण्ड्यमहाब्रा० १६।१०।३।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

३२–अग्निप्रधान पृथिवीलोक, एवं इन्द्रप्रधान-सूर्य्यलोक––

अग्नि-सोम–इन्द्र–प्रधान पृथिवी–अन्तरिक्ष-द्यु–नामक तीनों हीं लोक वाङ्मय हैं, इसमें तो कोई सन्देह नहीं, जैसाकि—**'वागिति पृथिवी'** (जै० उ० ब्रा० ४।२२।११।)–**'वाग्घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ'** (शत० ब्रा० ८।१।२।७।)–**'सा या सा वाक्, असौ स आदित्यः'** (शत० ब्रा० १०।५।१।४।) इत्यादि श्रुतिवचनों से स्पष्ट प्रमाणित है। तथापि तीनों में प्रधानता पार्थिवी, एवं सौरी वाक् ही मानी गई है शास्त्र

---

*- चन्द्रलोकानुगत पितर चान्द्री श्रद्धानाड़ी के द्वारा सपिण्डों से अनुगत रहते हैं, जिस इस श्राद्धात्मक पितृकर्म्म की उपेक्षा कर वेदभक्तोंनें राष्ट्र में वैसी अश्रद्धा का ही प्रसार कर दिया है, जो अश्रद्धा मानव की मानवता को सर्वथा ही अभिभूत कर लिया करती है। देखिए–खण्डचतुष्टयात्मक–**श्राद्धविज्ञानग्रन्थ**।

में। कारण इस प्रधानता का यही है कि, पार्थिव अग्नि इन्द्रगर्भित अग्नि है, तो सौर इन्द्र अग्निगर्भित इन्द्र है। यों दोनों हीं 'ऐन्द्राग्न' बने हुए हैं। पृथिवी में इन्द्र गौण है, अग्नि प्रधान है, तो सूर्य्य में अग्नि गौण है, इन्द्र प्रधान है।

३३–पार्थिव गायत्राग्नि, एवं सौर सावित्राग्नि का अन्नादभाव, तथा तद्गर्भीभूत आन्तरीक्ष्य चान्द्र सोमान्न का भी अन्नादत्व––

पार्थिव इन्द्र **वासवेन्द्र** कहलाया है, पार्थिवाग्नि **गायत्राग्नि** कहलाया है। तो सौर अग्नि **सावित्राग्नि** कहलाया है, एवं सौर इन्द्र **मघवेन्द्र** कहलाए हैं। "**एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः**' के अनुसार चान्द्रसोम पार्थिव प्राणदेवताओं का भी अन्न है, एवं सौर प्राणदेवताओं का भी अन्न (भोग्य) है। अग्नि भी सोम को अपना भोग्य बना लेते हैं, एवं इन्द्र भी सोम को अपना भोग्य बनाए रहते हैं। इस ओर सोमान्न के भक्षणकर्त्ता पार्थिव इन्द्राग्नी हैं, तो उस ओर भी इसके भक्षणकर्त्ता सौर इन्द्राग्नी हैं। यों मध्यस्थ आन्तरीक्ष्य चान्द्र-सोमान्न इन दोनों ओर के ऐन्द्राग्नरूप अन्नादों के गर्भ में अन्तर्भुक्त हो रहा है। यह प्राकृतिक सिद्धान्त है कि, जब अन्न अन्नाद की गर्भसीमा में अन्तर्भुक्त हो जाता है, तो उस दशा में 'अन्न' का अन्नत्त्व सर्वथैव उत्क्रान्त हो जाता है। उदराग्नि से बहिःस्थित अन्न ही अन्न है। उदराग्नि (जाठराग्नि नाम से प्रसिद्ध वैश्वानराग्नि) से परिगृहीत अन्न तो अन्नादरूप में हीं परिणत हो जाता है। और उस अवस्था में 'अन्न' भी अत्ता (अन्नाद) ही बन जाता है। इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति ने कहा है—

द्वयं वा इदं–न तृतीयमस्ति–अत्ता चैव, आद्यश्च। तत्–यदा–उभयं समागच्छति, अत्तैव–आख्यायते, नाद्यः। स वै यः सः–अत्ता, अग्निरेव सः। [शत०ब्रा०१०।६।३।१-२]

३४–'द्यावापृथिवी' नाम–स्वरूपसमन्वय––

यही कारण है कि, अग्निप्रधान पृथिवी, चन्द्रप्रधान [सोमान्नप्रधान] अन्तरिक्ष, एवं इन्द्रप्रधान द्युलोक, इन तीन लोकों की समष्टि के ग्रहणावसर पर मध्यस्थ चान्द्र–अन्तरिक्षलोक उभय ओर के अन्नादों से परिगृहीत बने रहने के कारण स्वतन्त्ररूप से व्यवहृत नहीं होता। अपितु उस समष्ट्यवस्था में तो त्रैलोक्य को **'द्यावापृथिवी'** [द्यु और पृथिवी] नाम से ही व्यवहृत कर दिया जाता है।

३५–सुब्रह्मण्यावाक्, और चन्द्रमा- -

तदित्थं–त्रैलोक्य–प्रसङ्ग में प्रधानता **पृथिवीलोक, सूर्य्यलोक,** इन दो लोकों की ही प्रमाणित हो जाती है। दोनों हीं अग्निमय हैं, अतएव अन्नादमूर्त्ति हैं। वासवेन्द्र से समन्वित पार्थिव गायत्राग्नि, तथा मघवेन्द्र से समन्वित सौर सावित्राग्नि, दोनों अग्नियां से अवश्य ही दोनों लोक अन्नादमूर्त्ति प्रमाणित हैं। उधर–**'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्** [शत० १०।५।१।१।] के अनुसार अग्नि का प्रतिष्ठात्मक मौलिक स्वरूप 'वाक्' ही माना गया है। तन्मध्यपतित चान्द्रसोम भी इसी अनुबन्ध से अग्निमय बनता हुआ [अत्तारूप में आता हुआ] 'वाक' ही बना हुआ है, जिस चान्द्री सौम्यावाक् को–**'सुब्रह्मण्यावाक्'** कहा गया है। **'ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु'**–[यजुःसंहिता] **'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः** [शत०] इत्यादि मन्त्र–ब्राह्मणश्रुतियों के

अनुसार चन्द्रमा आधिदैविक–नित्य–प्राकृतिक यज्ञ के ब्रह्मा हैं। तत्सम्बन्ध से ही चान्द्रीवाक् **'सुब्रह्मण्या'** कहलाई है।

३६–अनुष्टुप्, और बृहतीवाक्, तथा स्फोट–स्वर–वर्ण–भावों के महिमात्मक विवर्त्त—

सुब्रह्मण्यावाक् का यहाँ विशेष प्रसङ्ग नहीं है। प्रकृत में तो केवल पार्थिवी अग्निप्रधाना वाक्, तथा सौरी इन्द्रप्रधाना वाक् की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करना है। पार्थिवी अग्निप्रधाना गायत्रीवाक् 'शब्दब्रह्मविज्ञान' की परिभाषा में जहाँ **'अनुष्टुप्'** कहलाई है, वहाँ सौरी इन्द्रप्रधाना सावित्रीवाक् **'बृहती'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। पार्थिवी अनुष्टुप्वाक् से ही क–च–ट–त–पा–दिरूपा **व्यञ्जनवाक्** का आविर्भाव हुआ है, एवं सौरी बृहतीवाक् से ही अ–इ–उ–ऋ–लृ–रूपा स्वरवाक् का आविर्भाव हुआ है। व्यञ्जनात्मिका वर्णवाक् 'अनुष्टुप्' है, व्यञ्जनवर्णाधारात्मिका स्वरवाक् 'बृहती' है। **'स्वरहर्वैवाः सूर्य्यः'** [शतपथब्राह्मण] इत्यादि वचन सूर्य्य के इसी स्वरवाङ्मयत्व की ओर सङ्केत कर रहा है। अतएव सूर्य्य–**'स्वर्लोक'** कहलाया है, जिसका अर्थ है–**'स्वरलोक'**। सूर्य्य को स्वगर्भ में बीजवत् (तासु-बीजमवासृजत्), किंवा पुराणपरिभाषानुसार बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित रखने वाले स्वयम्भू-त्रयीब्रह्मात्मक परमेष्ठी-सुब्रह्म ही वह स्वराधारभूत (सूर्य्याधारभूत) तीसरा अखण्ड 'वाग्ब्रह्म' है, जिसे विज्ञानभाषा में–**'स्फोट'** कहा गया है। यों स्फोटवाक् के आधार पर प्रतिष्ठित सौरी स्वरवाक् ही पार्थिवी व्यञ्जनवर्णवाक् की अधिष्ठात्री बनी हुई है। शब्दब्रह्मपरिभाषा का **'स्फोट'** ही परब्रह्मपरिभाषा का **'अव्यय'** है। **'स्वर'** ही **'अक्षर'** है, एवं–वर्णात्मक व्यञ्जन, किंवा व्यञ्जनात्मक वर्ण ही **'क्षर'** है। परब्रह्म के **अव्यय–अक्षर–क्षर**-ही शब्दब्रह्म के **स्फोट–स्वर–वर्ण**–हैं। यही तो शब्दार्थ के औत्पत्तिक–नित्य–सम्बन्ध का मौलिक–रहस्य है, जो अन्य निबन्धों में प्रतिपादित है।

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः-परं ब्रह्माधिगच्छति" ॥ —मैत्र्युपनिषत्।

३७–परब्रह्म, और शब्दब्रह्म का समतुलन—

औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्मात्मक अर्थब्रह्म की समानधारा में प्रवाहित होने वाले शब्दब्रह्म में भी क्षररूप वर्ण की प्रतिष्ठा (आधार) अक्षररूप स्वर ही बनता है। अर्थब्रह्मविवर्त्त में जिसप्रकार अक्षररूपा सूर्य्यसत्ता के बिना क्षररूपा पृथिवी (भूपिण्ड) स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती, एवमेव सूर्य्यस्वरवाङ्मूलक स्वरतत्त्व को आधार बनाए बिना पृथिवीमूलिका व्यञ्जनात्मिका वर्णराशि भी स्वस्वरूप से कदापि प्रतिष्ठित-व्यक्त नहीं हो सकती। स्पष्ट है कि, स्वर को आधार बनाए बिना व्यञ्जन का उच्चारण ही सम्भव नहीं है। बृहती–रूपा ऐन्द्रीवाक् ही अनुष्टुप् रूपा आग्नेयीवाक् की मूलप्रतिष्ठा है। अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण, साथ ही दुरधिगम्य बृहती–अनुष्टुप्–वाक् के इसी समन्वय–तथ्य को लक्ष्य बनाते हुए महर्षिने कहा है—

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा॥

—ऋक्संहिता १०।१ ४।६।

३८-द्यावापृथिवीमूला वाङ्मयी परिभाषा—

गायत्राग्निलक्षणा–पार्थिवी आग्नेयी (अग्निप्रधाना) अनुष्टुप्वाक्, एवं सावित्राग्निलक्षणा सौरी ऐन्द्री (इन्द्रप्रधाना) बृहतीवाक्, इन दोनों वाग्विवर्त्तों से कृतरूप 'द्यावापृथिवी'–लक्षण सौरत्रैलोक्य से सम्बन्ध रखनें वालीं तथाकथिता कुछ एक वाक्परिभाषाओं को आधार बना कर ही अब हमें निरूपणीय निगमागमभावों की ओर प्रवृत्त होना है, जिनका सौरत्रैलोक्य से ही सम्बन्ध है। इस प्रवृत्ति का मूलाधारमन्त्र है निम्न लिखित—

> द्यौष्पितः पृथिविमातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः।
> विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त॥

—ऋक्संहिता ६।५१।५।

३९-गायत्रीमात्रिकवेदतत्त्वात्मक द्युपितर, और प्रथमज-पौरुषेय–निगमब्रह्म—

मन्त्र नें 'द्यौः' को 'पिता' कहा है, एवं पृथिवी को 'माता' कहा है, एवं यह पितृ-मातृभाव ही निमगागमभावों के मूलप्रवर्त्तक बने हुए हैं। दोनों में से पहिले द्यौःरूप पितृभाव को ही लक्ष्य बनाइए। सौर-हिरण्मयमण्डल ही 'द्यौः' है, इसी को श्रुतिने 'पिता' कहा है। क्या स्वरूप है इस 'द्युपितर' का ?, प्रश्न का उत्तर उस 'गायत्रीमात्रिकवेदतत्त्व' पर ही अवलम्बित है, जिससे सूर्य्य का स्वरूप व्यवस्थित प्रतिष्ठित है। ध्यान रहे, यह वेदतत्त्व उस स्वायम्भुव–ब्रह्मनिःश्वसित–अपौरुषेय–वेदतत्त्व से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है, जिसके साथ पारमेष्ठ्य अथर्वरूप सुब्रह्म का दाम्पत्यसम्बन्ध बतलाया गया है। उस दाम्पत्य से ही तो इस गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति सूर्य्य का आविर्भाव हुआ है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। यह सौरवेदतत्त्व स्वयम्भूपुरुषवेद, एवं परमेष्ठी प्रकृतिवेद, इन दोनों के दाम्पत्यभाव से आविर्भूत है। अतएव अवश्य ही इस सौरवेद को–'पौरुषेयवेद' कहा जासकता है, कहा है महर्षिने। स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसित अपौरुषेय वेदतत्त्व प्रतिष्ठाब्रह्म था, तो इस पुरुषप्रतिष्ठाब्रह्म से सर्वप्रथम आविर्भूत गायत्रीमात्रिक सौर–पुरुष वेदतत्त्व का नाम है–'प्रथमजब्रह्म'। दोनों सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व हैं। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए निम्न लिखिता शातपथी श्रुति को, एवं अपनी ज्ञानविज्ञानसमन्विता, किन्तु आस्थाश्रद्धान्विता सत्त्वप्रज्ञा से समन्वय कीजिए तद्वचन की रहस्यभाषा का—

सोऽकामयत–आभ्यः–अद्भ्यः–अधि–प्रजायेय–इति। सो ऽनया त्रय्या विद्यया (अपौरुषेय–प्रतिष्ठाब्रह्मात्मक–ब्रह्मनिःश्वसितवेदविद्यया) सह–अपः (पारमेष्ठ्ये आपोमये सुब्रह्मभावे) प्राविशत्। तत आण्डं (हिरण्मयाण्डं) समवर्त्तत। तत्-अभ्यमृशत्-'अस्तु' इति। ततो ब्रह्मैव (वेदमेव) प्रथममसृज्यत–त्रयीमेव विद्याम् (गायत्रीमात्रिकलक्षणं–सौर-पौरुषेयवेदमेव)। तस्मादाहुः ब्रह्म (गा० त्रयीवेदः) अस्य सर्वस्य प्रथमजम्–इति। अपि हि–तस्मात् पुरुषात् (पारमेष्ठ्यप्रकृतिरूप–अब्भावसमन्वितात्–त्रयीरूपस्वयम्भु–पुरुषात्) ब्रह्मैव (सौरवेदमेव) पूर्वमसृज्यत। तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत। मुखं ह्येतत्-अग्नेः–यद्ब्रह्म (सौरवेदः–इति यावत्)।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१०।

४०–पुरुषवेदात्मक निगमभाव, और तत्प्रतिपादक श्रौतसन्दर्भ—

प्रकृति (पारमेष्ठ्य अथर्व), एवं पुरुष (स्वायम्भुव त्रयीवेद) के दाम्पत्यभावात्मक जिस पुरुष (स्वयम्भूप्रजापति–विश्वकर्म्मा–वाचस्पति) से गायत्राग्निरूप (पृथिव्यपेक्षया गायत्राग्निरूप, किन्तु स्वमण्डलापेक्षया-सावित्राग्निरूप) सौरवेद का आविर्भाव हुआ, वह पौरुषेय अवश्य है । किन्तु कदापि अभीतक इसमें मर्त्यभाव का समावेश नहीं हो पाया है । अतएव अपने प्रातिस्विक स्वरूप से है यह भी नित्य ही । अनित्यभावात्मक-प्लवभाव का आविर्भाव तो बहुत आगे जाकर पार्थिव–भूत–भौतिक–मर्त्य–क्षर–भावों से सम्बन्ध रखने वाले उस पार्थिव–**'यज्ञमात्रिकवेद'** में हीं होगा, जिसके सम्बन्ध में–**'प्लवा एते अदृढा यज्ञरूपाः'–'क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके वसन्ति'** इत्यादि-श्रौती स्मार्त्ती उपनिषदों से स्पष्ट है । उत्पत्ति का प्रधान व्यक्तीभाव तो क्षरजगत् से ही सम्बन्ध रखता है । सौरलोक स्वयं अपने रूप से तो स्वरप्रधान बनता हुआ अक्षररूप अमृतलोक ही है । तभी तो अक्षर को-**'अमृतस्यैष सेतुः'** माना गया है । अपने अक्षरात्मक इसी 'अमृतम्' धर्म्म से यह सौर पौरुषेय वेदतत्त्व स्वयम्भू से उत्पन्न होता हुआ भी मर्त्यभावों से क्योंकि असंस्पृष्ट हैं अपने प्रातिस्विक स्वर-वाग्भाव से । अतएव इसे भी–**'स्वयमुद्भवौ'** कोटि में हीं प्रतिष्ठित मान लिया है ऋषि ने । अतएव इस सौरवेद को भी अमृतभावसूचिका-**'निगम'** उपाधि का सम्मान प्राप्त होगया है । सौरगायत्राग्निवेद किसी से उत्पन्न नहीं है । अपितु स्वयं ही विनिर्गत है–पारमेष्ठ्य मण्डल में स्वयम्भूपुरुष की कामना से । अतएव स्वयम्भूपुरुष से उत्पन्न होता हुआ भी यह तत्त्वतः क्षरमूला संस्कृतिरूपा सृष्टिलक्षणा उत्पत्ति से असंस्पृष्ट रहने से अनुत्पन्न–स्वतः एव आविर्भूत ही मान लिया गया है । द्यौः–लोकरूप पिता सूर्य्य गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति है । यही निगम का द्वितीयावतार है । द्वितीयावताररूप यह सौरवेदात्मक निगमब्रह्म ही बृहतीवाङ्मय बनता हुआ–**'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'**–इत्यादिरूपेण बृहत्सामरूप से त्रैलोक्य का आधार प्रमाणित हो रहा है । पितृभावात्मक इसी सौर **'निगमपुरुष'** के गायत्रीमात्रिक–त्रयीवेद का स्वरूप दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे हैं—

> **यदेतन्मण्डलं तपति--तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः । अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते--तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः--सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः । सैषा त्रयी--एव विद्या तपति । वाग्घैव तत् पश्यन्ती वदति ।** —शत० ब्रा० १०।५।२।१–२ ।

४१–उक्थवैराजिकविद्यात्मिका--सौरी--त्रयीविद्या—

“सूर्य्यबिम्ब ऋग्वेद है, सूर्य्यमण्डल (रश्मिमण्डलात्मक हिरण्मयाण्डवृत्त) सामवेद है, सौरकेन्द्रावच्छिन्न प्राणाग्नि यजुर्वेद है । सूर्य्य क्या तप कर रहा है, ये तो तीनों वेद ही तप रहे हैं । 'परावाक्' रूपा स्वयम्भूवाक् से अभिन्ना सौरी वेदमयी **'पश्यन्ती'** नाम की 'वाक्' (स्वरक्षरात्मिका बृहतीवाक्) ही मानों स्वयं ही अपना वेदस्वरूप व्यक्त कर रही है”, उक्त वचन का यही अक्षरार्थनिष्कर्ष है, जिसके तत्त्वार्थसमन्वय के लिए तो महदुक्थविद्यामूला-**'उक्थवैराजिकविद्या'** के स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त होना चाहिए, एवं अपनी तत्प्रवृत्ति की सफलता के लिए, सर्वप्रथम श्रद्धापूर्वक चाक्षुषपुरुष नामक दक्षिणाक्षिपुरुष की उपासना का ही अनुगामी बनना चाहिए । **नान्यः–पन्था विद्यते-अयनाय ।**

४२-सौरी-त्रयीविद्या, एवं तच्छरीररूप शब्दात्मक वेदशास्त्र—

'**त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः**' इत्यादिरूपेण लोक में भी सूर्य्यनारायण का वेदत्रयीमयत्त्व सुप्रसिद्ध है। '**तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत**' के अनुसार स्वयम्भूपुरुष के मुख से अभिव्यक्त–मुखरूप अग्निलक्षण यह सौर त्रयीवेद अवश्य ही नित्यवेद है। अतएव अवश्य ही यह भी स्वयम्भू–वेदब्रह्मवत्–'**स्वयं निर्गतः**' निर्वचन से–'निगम' ही माना जायगा। यही वह '**नित्यनिगमशास्त्र**' है, जिसके आधार पर समस्त प्राकृतिक धर्म्म प्रतिष्ठित हैं व्यवस्थित हैं, जैसाकि–'**वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ**' इत्यादि मनुवचन से प्रमाणित है। मानवधर्म्म का आधारभूत वेदशास्त्र यही सौर नित्यवेदशास्त्र है, जिस की प्रतिकृति पर ही शब्दात्मक वेदशास्त्र का आविर्भाव हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, जिस इस रहस्यात्मक समन्वय का यहाँ अवसर नहीं है।

४३–निगमात्मक सूर्य्य, तथा आगमात्मक चन्द्रमा का दाम्पत्यभाव, एवं निगमागम-ब्रह्म का द्वितीय-पौरुषेयावतार—

'**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत्**' में धाता प्रजापति विश्वकर्म्मा स्वयम्भूनिगमपुरुष, एवं विश्वोपादनभूत परमेष्ठी आगमप्रकृति, दोनों का दाम्पत्यरूप है। सूर्य्य उस स्वयम्भूपुरुष का प्रवर्ग्यभाग है, तो चन्द्रमा आपोमयी पारमेष्ठिनी प्रकृति का प्रवर्ग्यभाग है। सूर्य्य त्रयीरूप निगम है, तो चन्द्रमा अथर्वरूप आगम है। और यही निगमागमतत्त्व का दूसरा प्रक्रम है, जो धाता–प्रजापति के द्वारा यथापूर्व उपकल्पित–व्यवस्थित है। यों निगमागम के दो विवर्त्त हो जाते हैं। पहिला विवर्त्त अपौरुषेय है, दूसरा विवर्त्त पुरुष स्वयम्भू से आविर्भूत होने के कारण पौरुषेय है। अपौरुषेय निगमागम शाश्वत-अप्राकृत–**आत्मधर्म्म** के साक्षी बनते हैं, एवं पौरुषेय निगमागम शाश्वतधर्म्म से अभिन्न प्राकृत–**विश्वधर्म्म** की प्रतिष्ठा बनते हैं।

१–ब्रह्मनिःश्वसितवेदः (ब्रह्म––स्वयम्भूः)–निगमवेदः (स्वयम्भूः)–त्रयीवेदः
२–ब्रह्मस्वेदवेदः (सुब्रह्म–परमेष्ठी)–आगमवेदः (परमेष्ठी)–अथर्ववेदः
—अपौरुषेयः

१–गायत्रीमात्रिकवेदः (ब्रह्म––अग्निः)–निगमवेदः (सूर्य्यः)–त्रयीवेदः
२–सुब्रह्मण्यवेदः (सुब्रह्म–सोमः)–आगमवेदः (चन्द्रमाः)–अथर्ववेदः
—पौरुषेयः

१–अपौरुषेयनिगमवेद एव––आत्मधर्म्मस्य––स्वरूपव्याख्या (अप्राकृतोऽयं धर्म्मः)।

२–पौरुषेयनिगमवेद एव––विश्वधर्म्मस्य–स्वरूपव्याख्या (प्राकृतोऽयं धर्म्मः)।

* * *

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

४४-उपग्रहविद्यात्मिका आगमविद्या, एवं तद्रूपा पृथिवीविद्या—

पितासूर्य्य से अनुप्राणित्त गायत्रीमात्रिक-निगमवेदात्मिका वेदविद्या जिस आगमविद्या की जननी बनती है, दो शब्दों में उसका भी समन्वय कर लीजिए। **'उपग्रहविद्या'** का नाम हीं आगमविद्या है, जिसे **'मातृविद्या'** भी कहा गया है। 'पृथिवी' किसी नियतभाव का नाम नहीं है। अपितु पिण्डमात्र का सहज नाम है—'पृथिवी'। इस सामान्यपरिभाषा के अनुसार सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-ग्रह-उपग्रह आदि आदि यच्चयावत् पिण्ड-'पृथिवी' नाम की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं।

४५-पृथिवीविवर्त्तानुगत 'भूः', और 'मण्डल' शब्दों का स्वरूपदिग्दर्शन--

प्रत्येक वस्तुपिण्ड 'भू' है, प्रत्येक वस्तुपिण्ड का महिमारूप **'मण्डल'** उस पिण्ड का 'स्वः' है, मध्यस्थ तत्त्व 'भुवः' है। यों प्रत्येक पदार्थ भूः-भुवः-स्वः-रूप से त्रिलोकात्मक बना हुआ है, जिस इस लोकविद्या का वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा-**'साहस्रीविद्या'** में स्वरूपविश्लेषण हुआ है। अभी उन सब पिण्डों में से परमेष्ठी के उपग्रह सूर्य्यपिण्ड को हम छोड़ रहे हैं। एवं इस सूर्य्य को एक स्वतन्त्र महाग्रह मानते हुए इसके प्रवर्ग्यभागात्मक उपग्रहों की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। देवसेनाग्रह, शनैश्चर, मङ्गल, बृहस्पति, बुध, शुक्र, भूपिण्ड, आदि इसी सूर्य्य के उपग्रह हैं, जो एक स्वतन्त्र स्वतन्त्र पृथिवी लोक है। इन सब में से भी मानवप्रजाधारत्त्वेन केवल सुप्रसिद्ध भूपिण्डात्मक पृथिवीलोक को ही प्रधानरूपेण लक्ष्य बना लेते हैं। भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह है। सौरप्रवर्ग्यभाग ही 'भूः' है, जिसके **आपः-फेन-मृत-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य**-ये आठ अवयव माने गए हैं (देखिए-शत० ६।१।१।१० से १५ वीं कण्डिका-पर्य्यन्त)।

४६-आपोमय पारमेष्ठ्य आगमतत्त्व, एवं तदभिन्ना आगममयी अप्प्रधाना पृथिवी —

जिसप्रकार सौरवेद गायत्रीमात्रिकवेदमूर्त्ति है, तथैव तत्प्रवर्ग्यरूपा अष्टावयया पृथिवी भी-**'अष्टाक्षरा वै गायत्री'** रूपेण गायत्री ही है, जैसाकि—**'या वै सा गायत्री-आसीत्, इयं वै सा पृथिवी'** (शतपथब्रा०) इत्यादि से प्रमाणित है। यह गायत्रीपृथिवी निगमात्मक गायत्रसूर्य्य से ही प्रवर्ग्यरूपेण क्योंकि आगता है, समुत्पन्ना है। अतएव अवश्य ही **'निगमात् सूर्य्यात्-आगता'** निर्वचन से पृथिवी को आगमात्मिका माना जा सकता है, माना गया है। पारमेष्ठ्य आगमतत्त्व को-**'आपः'** कहा गया है पूर्व में। इधर-**'अद्भ्यः पृथिवी'** इत्यादि तैत्तिरीय-श्रुति के अनुसार अप्तत्त्व से ही वायु-अग्नि-सौरतेजः-संयोगादि की संसृष्टि से-आपः-फेनादिरूपा अष्टावयवा पृथिवी का (भूपिण्ड का) स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अतएव इस पारमेष्ठ्य-आगमीय-अप्तत्त्व की पारम्परिक उपादानता से भी मातापृथिवी का 'आगमत्त्व' भलीभाँति प्रमाणित हो रहा है।

४७-यज्ञमात्रिकवेदमयी माता पृथिवी, और उसका आगमत्त्व—

निष्कर्षतः निगमसूर्य्य के ही प्रवर्ग्यभाग (पृथक् होजाने वाले भाग) शनि-बृहस्पति-शुक्रादि रूप में परिणत होते हुए स्व-स्व-नियत-कक्षावृत्तों पर **'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'** रूपेण विश्वकेन्द्ररूप बृहती-छन्द (विष्वद्वृत्त) के केन्द्र में प्रतिष्ठित स्वाधारभूत सूर्य्य के चारों ओर अलातचक्रवत् यथास्वरूपानुगत

वेगानुपात से परिभ्रममाण हैं। भूपिण्डात्मिका पृथिवी भी इसी परिभ्रमण के द्वारा पार्थिवसम्वत्सर की स्वरूपाधिष्ठात्री बनती हुई यज्ञमात्रिक नामक-क्षरप्रधान-'भूतवेद' का सर्ज्जन कर रही है। यही आगमरूपा पृथिवियों का सहज अवस्थान-क्रम है, जिसकी स्वरूपव्याख्या के लिए ही सर्वत्सरविद्यात्मिका-सम्वत्सररूपा-'क्रान्ति विद्या' का आविर्भाव हुआ हैं, जिसका आंशिक स्वरूप-दिग्दर्शन-श्वेत्क्रान्ति नामक तृतीयखण्डारम्भ में हुआ है। यों निगमात्मिका सूर्य्यविद्या ही आगमविद्यात्मिका पृथिवीविद्या की मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है, यही वक्तव्य निष्कर्ष है।

४८-मातापृथिवी, तथा पितासूर्य्य का आगम-निगमत्त्व, एवं तदनुबन्धी शिवशक्तिभाव-

पृथिवी माता हैं, द्युलोकोपलक्षित सूर्य्य पिता है, जैसाकि-द्यौष्पितः० इत्यादि पूर्वमन्त्र से स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव अत्र यह कहा जा सकता है कि—निगमात्मिका सूर्य्यविद्या 'पितृविद्या' है, आगमात्मिका पृथिवीविद्या मातृविद्या है। पिता पुरुष है, अतएव सूर्य्यविद्या 'पुरुषविद्या' है। माता प्रकृति है, अतएव पृथिवीविद्या 'प्रकृतिविद्या' है। पुरुष 'शिव' है, अतएव पुरुषविद्या 'शिवविद्या' है। प्रकृति 'शक्ति' है, अतएव प्रकृतिविद्या 'शक्तिविद्या है, जैसाकि प्रकारान्तर से अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है।

४९--निगम, और आगम-मन्त्रों का स्वरूप--विभेद—

जैसाकि पूर्व में कहा गया है-पार्थिवी आग्नेयी वाक् व्यञ्जनवर्णभावप्रधाना बनती हुई 'अनुष्टुप्वाक' है, जो कि अपने परिवर्त्तनात्मक-मर्त्यभाव से क्षरात्मिका है। पार्थिव-विद्यात्मिका आगमविद्या में क्योंकि इस मर्त्याक्षरवाक् का ही प्राधान्य है। अतएव आगमीय मन्त्रों में उदात्त-अनुदात्तादि-स्वरभावों का विशेष नियन्त्रण नहीं रहता, जबकि निगमविद्यात्मिका सूर्य्यविद्या में तदनुगता स्वराक्षरानुगति के कारण स्वरभाव सर्वात्मना प्रमुख बना रहता है। स्वर का, एवं स्वरानुगत वर्ण का यत्किञ्चित् भी स्खलन स्वरभावप्रधान निगममन्त्र (वेदमन्त्र) को इष्ट के स्थान में अनिष्ट का जनक बना देता है *।

५०--सूर्य्यनिगममूला विराड्विद्या, तथा पृथिवी-आगममूला दशमहाविद्या, एवं दोनों निगमागमविद्याओं का ओतप्रोतभावसम्बन्ध—

सूर्य्यविद्या 'निगमविद्या' है, इसका कदापि यह तात्पर्य्य नहीं है कि, निगम में केवल सौरतत्त्वों का ही निरूपण हुआ है, किंवा आगमविद्यात्मिका पार्थिवविद्या में केवल पार्थिवतत्त्वों का ही निरूपण हुआ है। अपितु दोनों में दोनों हीं विद्याओं का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। लक्ष्यभेदात्मक दृष्टिकोणमात्र में विभेद है। निगमशास्त्र जहाँ सूर्य्य को आधार बना कर विश्वात्मिका विराड्विद्या का निरूपण करता है, वहाँ आगमशास्त्र पृथिवी को आधार बना कर विश्वविद्यात्मिका 'दशमहाविद्या' का निरूपण कर रहा है। स्थितिमूला सृष्टिविद्या ही सूर्य्यात्मिका निगमविद्या है, एवं दृष्टिमूला सृष्टिविद्या ही पृथिव्यात्मिका आगमविद्या है। निगम में भी

---

* दुष्टः शब्दः--स्वरतो वर्णतो चा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्व्रजो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

आगम प्रतिष्ठित है, एवं आगम में भी निगम प्रतिष्ठित है। कैसे ?, प्रश्न के समाधान के लिए निगमशास्त्र के रुद्रतत्त्व को ही लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए।

५१–क्षत्ररुद्रात्मक सूर्य्य, और उसके विट्–रुद्रात्मक असंख्य महिमाभाव—

× ताम्र-अरुण–बभ्रु–सुमङ्गल–निगमवेदात्मक-पिता सूर्य्यनारायण साक्षात् 'रुद्र' हैं अपने विशुद्ध मघवेन्द्रात्मक सावित्राग्निरूप भ्राजतेज÷ से। एवं प्रचण्डरूप से विश्व में प्रदीप्त हैं अपने रुद्रद्रवणधर्म्म का सर्वत्र प्रसार करते हुए। ये ही सूर्य्य **क्षत्ररुद्र** नाम से उपस्तुत हैं निगमशास्त्र में। सहस्रधा–महिमानः–सहस्ररूप से अच्छिद्र–पवित्ररूप से त्रैलोक्य में अच्छिद्र–आलोक–पटलरूप से व्याप्त रश्मिभावानुगत असंख्य–रश्म्यवच्छिन्न सौरप्राण ही **'विट्रुद्र'** [प्रजारुद्र] हैं। क्षत्रात्मक-उक्थरूप–मूलकन्दलात्मक-रुद्र को लक्ष्य बना कर जहाँ रुद्रतत्त्ववेत्ता महर्षि—**'एको रुद्रः-न द्वितीयायतस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः'** [श्वेता० उप० ३।२।] यह कह रहे हैं, वहाँ वे ही वैज्ञानिक-**'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः-ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः'** [यजुःसंहिता] यह कहते हुए उसके अर्चि–रश्मि–अर्क–रूप-विड्भावात्मक–असंख्य रुद्रभावों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

५२–रुद्रदेवता के घोरशरीर, एवं शिवशरीर, तथा दोनों के अध्यात्म में प्रत्यक्ष दर्शन–

अनन्त रश्मिरुद्रों से नित्यसमन्वित क्षत्ररुद्रात्मक सौराग्निरुद्रदेवता के--**'अग्निर्वा रुद्रः। तस्यैते द्वे तन्वे, घोरान्या च, शिवान्या च'** के अनुसार **घोरशरीर, शिवशरीर,** भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। अपने अध्यात्मजगत् में [मानवस्वरूप में] दोनों स्वरूपों का साक्षात्कार कीजिए। पूर्व में अग्नि को **'अन्नाद'** [अन्न खानेवाला] बतलाया गया है। अन्नाहुति–ग्रहण करते रहना अन्नादाग्नि का स्वाभाविक धर्म्म है। प्रज्ज्वलित वस्वग्नि [भूताग्नि] में जबतक काष्ठान्न [ईंधन] की आहुति होती रहती है, तबतक यह भूताग्निस्वरूप से प्रज्ज्वलित होता रहता है। अग्नि का इन्धन [प्रज्ज्वलन] काष्ठान्नाहुति पर ही अवलम्बित है। इसीलिए तो [प्रज्ज्वलनात्मक इन्धनकर्म्मसाधक होने से ही तो] काष्ठ को 'इन्धन' [ईंधन–लकड़ी] कहा गया है। ठीक यही अवस्था चतुर्विध–अन्नपरिपाककर्त्ता आध्यात्मिक [शारीरिक] वैश्वानराग्नि की है। लोम-केश, तथा नखों के अग्रभाग को छोड़ कर सर्वाङ्गशरीर में वैश्वानराग्नि अन्न-कामना करता हुआ प्रज्ज्वलित है। जहाँ जहाँ स्पर्श करते हैं, वहाँ वहाँ ही ऊष्मा [ताप] की अनुभूति होती है। यही इस वैश्वानर अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन हैं। नाक–कान-मुखादि विवरों को अवरुद्ध कर लेने पर जो एकप्रकार की नादात्मात्मिका ध्वनि सुनाई पड़ती है, वही इसका श्रवणप्रत्यक्ष है।

५३–उग्र--प्रचण्ड--प्रेत--कर्म्मा भगवान् घोररुद्र —

इत्थंभूत वैश्वानरलक्षण शारीरिक अन्नादाग्नि की स्वरूपसत्ता के लिए ही–**'तस्मात् सायंप्रातरेवाशी-स्यात्'** रूपेण मर्य्यादित सच्छन्दस्क मानवश्रेष्ठ अहोरात्र में सायं–प्रातः-दो बार ही हित–मित–स्वल्प–प्रकृति–सिद्ध भोजनकर्म्म का अनुगमन करते रहते हैं। स्पष्ट है कि, जबतक यह प्रातः–सायंकालीन–अन्नाहुतिरूप

× **असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः** (यजुःसंहिता)

÷ **विभ्राट् बृहत् पिबतु सौम्यम्** (यजुःसंहिता)

दैनंदिनीय अग्निहोत्रकर्म्म यथाविधि प्रक्रान्त रहता है, तभीतक अन्नादाग्नि स्वस्वरूपेण प्रकृतिस्थ–जागरूक बने रहते हुए अध्यात्मसंस्था का रक्षण करते रहते हैं। जब भी यह अन्नाहुतिक्रम अवरुद्ध कर दिया जाता है प्रज्ञापराधद्वारा, अथवा तो प्राप्तवयस्कता में [शतायुर्वर्षपरिसमाप्ति पर] उपरत हो जाता है प्रकृत्या, तो अन्नाहुति के उपशान्त होते ही शरीररुद्राग्नि एकबार शारीरिक अस्थि–मांसादि क्रव्यादान्नों को खाकर तो अत्यन्त ही उग्रकर्म्मा–प्रचण्डकर्म्मा–प्रेतकर्म्मा–बन जाते हैं। अन्ततोगत्त्वा सबकुछ भस्मायशेष में परिणत कर पर–ज्योति में विलीन हो जाते हैं।

५४--शान्तरुद्रियभावानुगत--शतरुद्रियभाव, एवं--शान्तरुद्र—

संसिद्ध है कि, रुद्राग्नि का शिवत्त्व अन्नाहुति पर ही अवलम्बित है। अन्नसम्बन्ध में वे ही रुद्र शिवशरीरी बन कर विश्व का संरक्षण करते रहते हैं, तो–अन्नाभावमें अपने प्रातिस्विक रुद्रभाव में आकर घोरशरीरी बन कर वे ही विश्वसंहार के निमित्त बन जाते हैं। प्रतिदिन सायं–प्रातः खाए जाने वाले अन्न से उग्र रुद्रदेवता शिवात्मक शान्तभाव में हीं परिणत होते रहते हैं। अतएव वैज्ञानिकों नें इस रुद्रान्न का सांस्कृतिक नाम रक्खा है–'शान्तरुद्रिय–अन्न', (किंवा 'शान्तदेवत्यान्न')। परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'शान्तरुद्रिय' शब्द ही–'शतरुद्रिय' नाम से लोक में प्रसिद्ध हो रहा है। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करता हुआ निगमशास्त्र कहता है—

अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः । स एषोऽत्र रुद्रो देवता। स दीप्यमानोऽतिष्ठत्–अन्नमिच्छमानः। तस्माद्देवाः–अबिभयुः--'यद्वै नोऽयं न हिंस्यात्' इति। तस्मै एतदन्नं समभरन् शान्तदेवत्यम् । तेनै-मेनमशमयन् । शान्तदेवत्यं -(शान्तरुद्रियं) ह वै 'शतरुद्रियम्' इत्याचक्षे-परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः। —शत० ६।१।१।१।

५५--अग्निचिति-सञ्चिति-मूर्त्ति रुद्रदेवता, एवं इन की शिवभाव में परिणति—

पृथिवीरूपा प्रकृतिभूता–आपो–जाया–धारा–बलादिसमन्विता जननी मातुःश्री के परमपवित्र गर्भाशय में नव (९) मासपर्य्यन्त मातृभुक्तरसान्न से स्वाग्निचिति के द्वारा चित-संचित होकर अन्त में जब यह चित्याग्निरूप गर्भशिशु पूर्णरूप में परिणत हो जाता है, तो सर्वात्मना सुसंस्कृत–परिपूर्ण रुद्राग्नि के आघात से 'एवयामरुत्' नामक प्राणवायुविशेष की क्रिया से स्थानच्युत होकर यथासमय माता धरित्री के पावन क्रोड़ में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसके भूमिष्ठ होते हुए ही तदनुगत सम्पूर्ण इन्द्रियदेवता भयत्रस्त बन जाते हैं (बालक रोपड़ता है)। तत्काल इसके लिए लेह्यान्न की आहुति व्यवस्थित होती है। अन्नाहुति से अविलम्ब ही रुद्राग्निताप से रुदन करता हुआ शिशु शिवभाव में परिणत हो जाता है (रोता हुआ बालक मधु–गुड़ादि रसान्न का ग्रहण करते ही चुप हो जाता है)। यही अन्नाहुतियुक्त रुद्रदेवता के सर्वसंरक्षक शिवस्वरूप का दिग्दर्शन है।

५६- सौर अग्नि के विध्वंसक, एवं सर्ज्जक रुद्र, तथा शिवभाव—

अब सूर्य्यरुद्र को लक्ष्य बनाइए। सूर्य्य साक्षात् क्षत्ररुद्र हैं, प्राणियों को स्व प्रातिस्विक प्रचण्ड ताप से संक्षुब्ध करने वाले सान्तपनाग्निरूप भीषण देवता हैं अपनी 'रुद्धद्रवणा' प्राणशक्ति से। किन्तु पार्थिव

ओषधि–वनस्पति–प्राणि–अमृत–रसादि अन्नों की आहुति से, चान्द्रसोमरसाकर्षण से, सर्वोपरि पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामक पवित्र-गाङ्गेय सोम की अजस्र आहुति से सौराग्नि सुशान्त बनते हुए त्रैलोक्य के जीवनप्रदाता शिवस्वरूप ही प्रमाणित हो रहे हैं। जिस दिन (ब्राह्म अहःकालावसान पर) यह अग्निहोत्रकर्म्म अवरुद्ध हो जायगा, सौराग्नि सम्पूर्ण त्रैलोक्य को भस्मावशेष में परिणत कर अपने उक्थ पारमेष्ठ्य अङ्गिरारसरूप में विलीन हो जायँगे।

५७--महच्छक्ति--हैमवतीउमा--माया--नारायणी--चिच्छक्ति--राधा, आदि तत्त्वों की अभिन्नता, एवं चान्द्रसोमगर्भिता पार्थिवी सौम्याशक्ति का मातृशक्तित्त्व—

चन्द्रमा भूपिण्ड का ही उपग्रह है। अतएव चान्द्रसोम, तथा पार्थिव ओषध्यादि रस, सब का पृथिवी में हीं अन्तर्भाव है। पार्थिव प्रजा की अपेक्षा से तो इस चान्द्रसोमगर्भिता पार्थिवी सौम्याशक्ति से ही सूर्य्यरुद्र शिवभाव में परिणत हो रहे हैं। रसशक्तिरूपा सोमाहुति ने भी सूर्य्यरुद्र को शिवभाव प्रदान कर रक्खा है। हिरण्मयाण्डवृत्तमध्यवर्त्ती सूर्य्यक्षत्रात्मक सौर सावित्राग्नि हिरण्यरेता हैं, हुतभुक् हैं, दहनधर्म्मा हैं, हव्यवाट् हैं। निश्चयेन इन का अग्नीषोमात्मक यह शिवभाव सोमशक्ति (अन्नाहुति) पर ही अवलम्बित है। इस सौर हिरण्मय मण्डल की सीमा में प्रतिष्ठिता पार्थिव–चान्द्र–सोममयी–महद्भावानुगता चिच्छक्ति ही वेदशास्त्र की–**'हैमवतीउमा'** है। यही अद्वैतवादियों को विकम्पित–त्रस्त–संत्रस्त करती रहने वाली **'माया'** है। यही शुद्धाद्वैतवादी वाल्लभों की भगवदभिन्ना **'चिच्छक्ति'** है। यही विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजियों की **'नारायणी'** है। एवं यही भागवतसम्प्रदायानुगत भक्तों की **'राधा'** है।

५८--सोमानुगत 'उमा' भाव, और हैमवतीउमा—

'मम योनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (गीता) के अनुसार पारमेष्ठ्य–महत्सोम ही चिदात्मपुरुष [अव्ययपुरुष] की गर्भभूमि है। वह महत्सोम सौरमण्डल में आकर 'हैमवती चिच्छक्ति' से समन्वित हो जाता है। अतएव-'उमासहितो भावः' के अनुसार पारमेष्ठतत्त्व-**'सोम'** कहलाया है। चिद्ग्राहक–सोम से समन्विता यही 'उमा' ब्राह्मणग्रन्थों में विषयभेदनिबन्धन–दृष्टिकोणभेद से यत्र–तत्र अम्बिका, अम्बा, माता, जनि, जाया, धारा, आपः, अजा, माया, आम्भृणी, सरस्वती, लक्ष्मी, आदि आदि नामों से उपवर्णित है। सौर इन्द्र शिव हैं, पार्थिव–प्राज्ञ–सोमरूपा हैमवती–उमा ही इस शिव की शक्ति है।

५९--सौर अग्नि, तथा चान्द्र सोम की कृष्णवर्णता—

जिसप्रकार दाहकधर्म्मा सौर अग्नि–**'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः'** [यजुः संहिता] रूप से कृष्ण है, एवमेव–**'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः'** [शतपथ] रूप से दाह्यधर्म्मा चान्द्रसोम भी कृष्ण ही है। सौरकृष्ण--दाहकाग्नि से समन्वित होकर कृष्ण--दाह्य--सोम उसी प्रकार प्रज्ज्वलित हो पड़ता है, जैसे कि सोमस्थानीय घृत अग्निज्वाला में हुत होकर आलोकरूप से परिणत हो जाता है। आप सौर सम्वत्सर में आतप-रूप जो आलोक [प्रकाश] देख रहे हैं, व न सौराग्नि का धर्म्म है, न सोम का। अपितु दाहकाग्नि–दाह्यसोम- दोनों के यज्ञात्मक अन्तर्य्यामसम्बन्ध से तातकालिकरूपेण उदीयमान धर्म्म का ही प्रभाव है। सोम ही आहुत होकर

ज्योति का प्रवर्त्तक बन रहा है, जैसाकि–'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ' (ऋक्संहिता १।६।१।२२) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है ।

६०--पार्थिव देवतात्रयी का पराशक्ति उमा के द्वारा उद्बोधन--

'त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षम्' [ऋक्सं० १।६।१।२२] के अनुसार ऋतधर्म्मा ऋतसोम त्रैलोक्याकाशरूप उरु [महान् विशाल] अन्तरिक्ष में व्याप्त है । आन्तरिक्ष्य आकाश में सर्वत्र व्याप्त सोम चिच्छक्तिरूपा हिरण्यवर्णा सौरी हैमवती उमाशक्ति से अभिन्न है । सचमुच यह सोममयी चिच्छक्ति उस चिद्घन अव्ययपुरुष की ही प्रकृतिरूपा महाशक्ति है । अतएव जिसप्रकार अव्ययपुरुष **'परपुरुष'** कहलाया है, एवमेव तच्छक्तिरूपा यह प्रकृतिदेवी पराव्यय से अभिन्न रहती हुई–**'पराप्रकृति'–'पराशक्ति'** कहलाई है, जैसाकि–**'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'** इत्यादि औपनिषद--वचन से स्पष्ट है । पार्थिव त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–नामक तीनों स्तोमलोकों के अतिष्टाता [अधिष्ठाता] **अग्नि–वायु–इन्द्र**–नामक अर्थ–क्रिया-ज्ञान–शक्तिमय त्रैलोक्य–देवताओं को स्वमूलभूत अव्ययब्रह्म का अनुग्रह मध्यस्था उर्वन्तरिक्ष में प्रतिष्ठिता--चिच्छक्तिघना--पराप्रकृतिरूपा--हैमवती उमा के अनुग्रह से ही प्राप्त हो रहा है । **सचमुच बिना शक्त्युपासना के ब्रह्मात्मबोध सर्वथा ही असम्भव है,** जैसाकि निम्नलिखित निगमवचन से ही सर्वात्मना निर्भ्रान्तरूपेण संसिद्ध है—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम--बहुशोभमानां--उमां--हैमवतीम् । तां होवाच--'किमेतत्--यक्षमिति ?' । सा 'ब्रह्मे'ति' होवाच । ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्--इति । ततो हैव विदाञ्चकार-ब्रह्मे'ति । —केनोपनिषत् ३।१२।१४।

६१–आगमशास्त्रोपवर्णिता महामाया पराशक्ति का निगमशास्त्र के द्वारा महिमात्मक यशोवर्णन—

'मही मित्रस्य वरुणस्य माया' [ऋक्सं० ३।६१।७।]–**'माया वां मित्रा वरुणा दिवि श्रिता'** [ऋक्सं० ५।६३।४।]–**'अस्य मायां महीं देवस्य'** [ऋक्सं० ५।८५।६]–**'अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्'** [यजुः सं० ६।३६।]–**'योषा वा अम्बा'** [शत० ३।६।४।२१।]–**'शतं वो अम्ब ! धामानि सहस्रमुत रुहः'** [यजुः सं० १२।७६।]–**'अम्बे ! अम्बिके ! अम्बालिके ! न मा नयति कश्चन'** [यजुः सं० २३।१८।]–**'एष ते रुद्रभागः सहस्वस्राम्बिकया तं जुषस्व'** [यजुः सं० ३।५७।]–**'अम्बिका ह वै नामास्य–रुद्रस्य स्वसा । तस्यैष स्त्रिया सह भागः । तस्मात्–त्र्यम्बक नाम'** [शत० २।६।२।६।]–**'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्–मायिनं तु महेश्वरम्'** [श्वेता० उप० ४।१०।]–**'भोक्ता पुरुषः, भोज्या प्रकृतिः'** [मैत्र्युपनिषत् ६।१०।]–**'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्'** [श्वेता० उप० ४।६।] इत्यादि **मन्त्र-ब्राह्मण–उपनिषत्**-वचन विस्पष्टरूपेण महामाया परा भगवती अम्बा के ही विविध महिमाभावों का यशोगान कर रहे हैं, जिन यशोगानों के आधार पर ही आगमशास्त्ररूप शक्तिशास्त्र का विस्तार हुआ है । और यही तो माता-पृथिवीमूलक आगमशास्त्र का निगममूलकत्व है । तभी तो आगमशब्द का-**'निगमादागतः'** रूप निर्वचनार्थ समन्वित हो रहा है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

६२–भृग्वङ्गिरोमयी पारमेष्ठिनी पराशक्ति, एवं तदनुगता ब्रह्म की स्वेदधाराएँ—

हैमवती सौरी चिच्छक्तिरूपा उमा माहेश्वरी का मूल उक्थरूप ही मूलसंहिता में (ऋक्संहिता में) **'आम्भृणी'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो **'सरस्वती'** से नित्य समन्वित माना गया है। पाठकों को स्मरण होगा कि, स्वयम्भूरूप ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय निगमवेद के 'यज्जू' रूप 'यजुः' के 'जू' भाग से यत् के व्यापार से जिस आपोमय मण्डल का आविर्भाव हुआ है, वही 'परमेष्ठी' सुब्रह्म कहलाया है, एवं यही उस मूल त्रयीनिगम से आगत–उत्पन्न वह मूल आगमभाव है, जिसमें स्नेहगुणमयी सोमप्रधाना **भृगुधारा,** तथा तेजोगुणमयी अग्निप्रधाना **अङ्गिराधारा,** ये दो स्वेदधाराएँ पृथक् पृथक् रूपेण निर्झरित हैं, जैसाकि–**'स भूयोऽश्राम्यत्–[स्वयम्भू–ब्रह्म], भूयोऽतप्यत् , भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य-तप्तस्य–सन्तप्तस्य-सर्वेभ्यो रोमगर्त्तेभ्यः पृथक्-स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्-आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि, सर्वं जनयिष्यामि, सर्व–आप्स्यामि–इति।** (गोपथब्राह्मण-पूर्वभाग १।१–२ब्रा०) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपम्'** (गोपथ) से उपवर्णित भृग्विङ्गिरोरूप पारमेष्ठ्य-आपः ही वह 'जाया'–शक्ति है, जिसका सौरत्रैलोक्य में हैमवती उमारूप से व्यक्तीभाव हुआ है, एवं यही आपोमयी पारमेष्ठ्या शक्ति-**'अद्भ्यः पृथिवी'** रूपेण अष्टावयवा माता-पृथिवीरूप में परिणत होती हुई मानवीय प्रजा की आराध्या आगमनिष्ठा की अधिष्ठात्री बनी हुई है, जैसाकि पूर्व में भी निवेदन किया जा चुका है।

६३–भृगुगर्भिता अङ्गिराधारात्मिका महासरस्वती, एवं अङ्गिरागर्भिता भृगुधारात्मिका महालक्ष्मी, तथा महालक्ष्मी का नैगमिक 'आम्भृणी' रूप—

अङ्गिराधारा ही रसात्मिका स–रसवती–**'सरस्वती'** वाक् है, जो सौरब्रह्माण्ड में व्याप्त शब्दब्रह्म की मूलप्रवर्त्तिका बनती है। एवं आपोमयी अङ्गिरागर्भिता वह भृगुधारा ही **'आम्भृणी'** वाक् है, जो सौरत्रैलोक्य के अर्थब्रह्म की मूलाधिष्ठात्री बनती है। सम्पूर्ण लोक आपोमय हैं, प्रजा आपोमयी है, जैसाकि–**'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः-पुरुषवचसो भवन्ति'** इत्यादि छान्दोग्यवचन से भी प्रमाणित है *। शब्दब्रह्मप्रवर्त्तिका–नादध्वनिलक्षणा सरस्वतीवाक् से अभिन्ना अर्थब्रह्मप्रवर्त्तिका भूत–भौतिक–प्रजा–लोकादि की उपादानकारणभूता–सौरब्रह्माण्डाधिष्ठात्री–**'त्रय्या-विद्यया सहापः प्राविशत्'** रूपेण अपने महद्रूप से स्वयम्भूब्रह्मा-परमेष्ठी-विष्णु–सौरमहादेवादि की भी अधिष्ठात्री–सर्वाधिष्ठात्री इसी आम्भृणी महामाया पराभगवती आम्भृणीदेवी का ऋग्वेदीय-आम्भृणीसूक्त में विस्तार से जैसा रहस्यात्मक विश्लेषण हुआ है, उसके यथावत् समन्वय में तो मादृशी यथाजाता प्रज्ञा सर्वथा ही कुण्ठित है। तद्रहस्य के आधार पर आगमाचार्य्योंनें जिस रहस्यशास्त्र (सप्तशती) का साक्षात्कार किया है, उसके शब्दात्मक संस्मरण की योग्यता भी यदि हमें उपलब्ध हो जायगी, तो अपना प्राकृत–जन्म हम सफल कर लेंगे। **'तस्य सर्वस्य या शक्तिः–सा त्वं किं स्तूयसे तदा'** ही एकमात्र विश्रामभूमि है अस्मदादि यथाजात जड़जीवों की। पवित्र कर लेते हैं हम भी माता आम्भृणी के रहस्यात्मक वर्णन से सम्बन्ध रखने वाले वर्णन के एक दो सूक्तिवचनों का उच्चारणमात्र कर अपने पशुभाव को।

---

* **अप्सु तं मुञ्च, भद्रं ते, लोकाह्यप्सु प्रतिष्ठिताः**
आपोमयाः-सर्वरसाः, सर्वमापोमयं जगत्॥ —**महाभारत**

६४--महालक्ष्मीस्वरूपिणी सर्वाधिष्ठात्री पराशक्ति माता आम्भृणी का वेदमहर्षि के द्वारा यशोवर्णन—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहमादित्यैरुत विश्वेदेवैः ॥
अहं मित्रा वरुणोभा बिभर्मि, अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ॥
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ॥
तां मा देवाव्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोति ॥
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधिश्रुत श्रद्धिवंते वदामि ॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ॥
यं कामये—तं तमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं, तमृषिं, तं सुमेधाम् ॥५॥
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ॥
अहं जनाय समदं कृणोमि, अहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥६॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्, मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ॥
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥७॥
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ॥
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव ॥८॥

—ऋक्संहिता–आम्भृणीसूक्त–१० मण्डल । १२५ वाँ सूक्त

भृग्वङ्गिरोमय–आपः से कृतरूपा, अतएव आम्भृणी (आपोमयी–भृग्वङ्गिरोमयी) पारमेष्ठिनी वाग्देवी कह रही हैं कि—मैं सौरत्रिलोकी के अन्तरिक्ष–स्थानीय एकादश रुद्रप्राणदेवताओं के साथ, द्युलोक–स्थानीय द्वादश आदित्यप्राणदेवताओं के साथ, पृथिवीलोकस्थानीय अष्ट वसुप्राणदेवताओं के साथ, किम्बहुना इन सभी त्रैलोक्य देवताओं के साथ (इनकी मूलप्रतिष्ठा बनती हुई) विचरण कर रही हूँ । मैं पूर्वकपालावच्छिन्न अहरधिष्ठाता इन्द्रप्राणात्मक मित्रदेवता के, तथा पश्चिमकपालावच्छिन्न रात्र्यधिष्ठाता वरुणदेवता के स्वरूपों को स्वस्वरूप से धारण किए हुए हूँ । भूगर्भस्थ अग्निदेवता, तथा द्युलोकस्थ (सूर्य्यस्थ) इन्द्रदेवता को भी मैंने हीं धारण कर रक्खा है । पार्थिव वसुओं की, आन्तरिक्ष्य–रुद्रों की प्रथमा सन्धि में, तथा रुद्रों एवं दिव्य आदित्यों की द्वितीया सन्धि में प्रतिष्ठित सांयौगिक–नासत्य, दस्र, नामक दोनों सान्ध्य अश्विनीप्राणदेवों को भी मैंने हीं धारण कर रक्खा है (यों सौरत्रैलोक्य में प्रतिष्ठित समष्टि–व्यष्टि–रूप सभी प्राणदेवताओं की मैं हीं प्रतिष्ठा बनीं हुई हूँ) ॥ १ ॥

(यज्ञस्वरूपसम्पादन करने के कारण) प्रतिद्वन्द्वी–आततायी–असुर–राक्षसों को सर्वात्मना विनष्ट करने में सक्षम सोम (ब्रह्मणस्पति नामक पारमेष्ठ्यसोम, एवं सौरत्रैलोक्यानुगत आन्तरिक्ष्य चान्द्र–सोम) को मैं हीं धारण किए हुए हूँ [अर्थात्–मैं सोममयी हूँ]। मैं हीं [अपने आपोमय वाक्परिणामात्मक–छन्दोभावों सीमात्मक–आकारभावों से द्वादश आदित्यप्राणों में से आकाररूपप्रवर्त्तक] 'त्वष्टा' नामक आदित्यविशेष को स्वस्वरूप से सुरक्षित रख रही हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण आकारभाव आपोमयी छन्दस्या वाक् के ही विवर्त्त हैं। अतएव छन्द का–**'वाक्परिणामं छन्दः'** यह लक्षण किया गया है। पार्थिव भूतभावानुगत–पुष्टिप्रवर्त्तक आदित्यविशेष ही 'पूषा' कहलाया है। चान्द्र-यशः–ऐश्वर्य्य-प्रवर्त्तक आदित्यविशेष ही 'भग' कहलाया है। इन पूषा, तथा भग–प्राणों को भी इसी सौम्या वाक् ने प्रतिष्ठित कर रक्खा है। बिना आम्भृणी के दोनों का कुछ भी स्वरूप नहीं है। जो यज्ञकर्त्ता यजमान प्रकृतिसिद्ध सोमयज्ञवत् सोम का अभिषव कर यज्ञसम्पादन करता है, वैसे हविष्मान् यज्ञिय यजमान को मैं प्रभूत सम्पत्ति से समन्वित कर दिया करती हूँ। अर्थात् प्रकृतिसिद्ध नित्य यज्ञ के आधार पर विहित यज्ञकर्म्म से द्विजाति की सम्पूर्ण कामनाएँ आम्भृणी भगवती के द्वारा सम्पन्न होतीं रहतीं हैं ॥ २ ॥

विभ्राट् प्रज्ज्वलित–प्रचण्ड तेज ही राष्ट्र का राष्ट्रत्व है। यह तेजोभाव पारमेष्ठ्य सोमाहुति पर ही अवलम्बित है, जो कि सोम आम्भृणीमय है। अतएव तत्त्वतः आम्भृणी ही वास्तव में–'राष्ट्री' है। [जिस राष्ट्र से आम्भृणीवागदेवी पृथक् हो जाती है, वह राष्ट्र कदापि राष्ट्र नहीं रह सकता, जैसाकि विभ्राट्तेज से वञ्चित वर्त्तमान भारत इस राष्ट्री–महाशक्ति के अनुग्रह से सर्वात्मना वञ्चित हो रहा है। मैं हीं अपने 'राजते' लक्षण विभ्राट्तेज से राष्ट्र को विभिन्न वसुसम्पत्तियों से समन्वित कराती हूँ। मैं हीं राष्ट्र को चिकितुषीप्रज्ञा [सदसद्विवेकबुद्धि] प्रदान करती हूँ। मैं सम्पूर्ण यज्ञ–[कर्म्म] साधनों में प्रथमा हूँ। अर्थात् मुझे मूलप्रतिष्ठात्मिका प्रथमा प्रतिष्ठा बनाए बिना किसी भी कर्म्म की संसिद्धि सम्भव ही नहीं है। एवंविधा सर्वगुणशक्तिसामर्थ्यपौरुषबलवीर्य्यपराक्रमादि विशिष्टा मुझ आम्भृणी को ही सम्पूर्ण देवता सर्वत्र प्रतिष्ठित करते रहते हैं। सम्पूर्ण आध्यात्मिक-दैविक–भौतिक–कर्त्तव्यकर्म्म मुझे आधार बना कर ही प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ३ ॥

जो प्राणी अन्नाहुति ग्रहण कर रहे हैं, वे मुझे आधार बना कर ही अपना यह अहरहर्यज्ञ सम्पन्न कर रहे हैं। अर्थात् मैं ही भोक्त्री हूँ, मैं हीं दृष्टि हूँ, मैं हीं श्वासप्रश्वास हूँ, मैं हीं श्रुति हूँ, सम्पूर्ण ऐन्द्रियकभाव मुझ पर ही प्रतिष्ठित हैं। जो यथाजात–मूढ–अज्ञजन मेरे इस शक्तिस्वरूप की उपेक्षा कर अपने बल पर ही सफलता–सिद्धि के लिए आतुर हो पड़ते हैं, शक्तिशून्य वैसे अश्रद्धालु मानवाधम अन्ततोगत्वा सर्वथा विनष्ट ही हो जाते हैं। सावधान मानव ! एकमात्र श्रद्धा ही मेरे अनुग्रह की प्राप्ति का प्रमुख राजपथ है—[**श्रद्धामयोऽयं पुरुषः-श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्** ॥ ४ ॥

देवता, तथा मानवों की जो भी सात्त्विकी समृद्धिकरी–मङ्गलमयी वाणी सुनी जा रही है, वह स्वयं मैं ही तो बोल रही हूँ। मुझे आधार बनाए रखने वाले श्रद्धालु ही तो मङ्गलमयी वाणी बोल सकते हैं। मैं जिसे चाहती हूँ–उग्र बना डालती हूँ। मैं ब्रह्मा बना देती हूँ, ऋषिपद प्रदान कर देती हूँ, विशिष्ट प्रज्ञापद प्रदान कर देती हूँ ॥ ५ ॥

जो नराधम आत्मस्वरूपबोध से वञ्चित होते हुए आत्मप्रतिनिधिरूप राष्ट्रीय महान् मित्र ब्राह्मण से द्वेष करने लग पड़ते हैं, उनके आमूलचूड़ विनाश के लिए मैं रुद्र के हाथों में प्रचण्ड–धनुष दे दिया करती हूँ।

में स्वयं आततायीवर्ग के वध के लिए संग्राम में प्रवृत्त हो जाती हूँ–[अपनी विभूतिमयी शक्तियों से]। मैं हीं द्यावापृथिवीरूप सम्पूर्ण सौरत्रैलोक्य में व्याप्त हूँ ॥ ६ ॥

द्यु लोकोपलक्षित सूर्य्यपिता के मस्तक–स्थानीय पारमेष्ठ्य आपोमय–सरस्वान्–नामक महासमुद्र के गर्भ में हीं तो मेरी [भृग्वङ्गिरोरूपेण] योनि [मूलबीज] प्रतिष्ठित है। इसी महाव्याप्ति के कारण हीं तो मैं सम्पूर्ण लोकां में प्रविष्ट होती हुई महामहिमान्विता भी द्यु का मैं अपने महत्प्रकृतिरूप गुणत्रयात्मक कारण से स्पर्श कर रही हूँ ॥ ७ ॥

जिसप्रकार प्राणात्मक वायुदेवता सर्वत्र स्वच्छन्दरूप से विचरण करते रहते हैं, एवमेव (पूर्वोक्त–गुणशक्तिसमन्विता) में आम्भृणी ही सम्पूर्ण विश्वों–लोकों-प्रजाओं का आरम्भणकारण [उपादानकारण] बनी हुई हूँ। इस पृथिवी से भी परे, द्यु लोक से भी परे, और सौरत्रैलोक्यब्रह्माण्ड से भी अवारपारीणा महामहिमा से समन्विता महद्भावानुगता--त्रिगुणात्मिकापि त्रिगुणातीता मुझ आरम्भृणी का यही महिमात्मक स्वरूप है, जिसके रहस्यार्थसमन्वय में तो एकमात्र ऋषिप्रज्ञा ही समर्थ है ॥८॥

६५–उपनिषत् में उपवर्णिता अग्नीषोमात्मिका शिवशक्तिरूपिणी पराशक्ति का नैगमिक विस्तार—

अलमतिपल्लवितेन। इस सम्बन्ध में तो अणुमात्र भी सन्देह करना अपनी तमोबहुला–श्रद्धाशून्या–काल्पनिकी--शुष्का--जड़बुद्धि का ही नग्न परिचय प्रदान करना है। कदापि आगमशास्त्र निगमशास्त्र से अंशतः भी पृथक् नहीं है। एक ही शास्त्र के सूर्य्य, एवं -पृथिवीमूलक दो विभिन्न विवर्त्त हैं, जो क्रमशः **निगम–आगम** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शिवशक्तिशमन्वित शास्त्र ही निगमागमशास्त्र है। निगम जिसे विराट्मूला **अग्नीषोमविद्या** कहता है, आगम उसे ही दशमहाविद्यामूला **शिवशक्तिविद्या** कह रहा है। आगमीय शिवशक्तिविद्या के इस नैगमिक रहस्य को न जानने वाले भ्रान्त वेदभक्तों से हम निवेदन करेंगे कि, वे अनुग्रह कर एकबार **बृहज्जाबाल–उपनिषत्** की आराधना का कष्ट अवश्य करलें, जिसमें शिव–शक्तिरूप से ही नैगमिकी–अग्नीषोमविद्या का स्वरूपोपबृंहण हुआ है। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए उन औपनिषद कतिपय वचनों को भी—

"अग्नीषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचते ॥
रौद्री–घोरा--या तैजसी तनूः ॥
सोमः शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः ॥"
अमृतं–यत् प्रतिष्ठा सा तेजोविद्या कला स्वयम् ॥
स्थूल–सूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रस–तेजसि ॥१॥
द्विविधा तेजसो वृत्तिः, सूर्य्यात्मा--चानिलात्मिका ॥
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा--चानिलात्मिका ॥२॥

वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ॥
तेजो -रस--विभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥३॥

अग्नेरमृतनिष्पत्ति, रमृतेनाग्निरेधते ॥
अतएव हविःक्लृप्तं--'अग्नीषोमात्मकं' जगत् ॥४॥

ऊर्ध्वशक्तिमयं सोमः, अधःशक्तिमयोऽनलः ॥
ताभ्यां सम्पुटितं तस्मात्–शश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥

अग्नेरुर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ॥
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजन्यधः ॥६॥

अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ॥
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात् पावनं भवेत् ॥७॥

आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ॥
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥८॥

शिवश्चोर्ध्वमयः शक्ति, रूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ॥
तदित्थं शिव–शक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥९॥

—बृहज्जाबालोपनिषत् २ ब्राह्मण

९९–पुराणशास्त्रोपवर्णिता पराशक्ति—

निगमागमशास्त्र का चान्द्री–मानस भाषा में [उपलालनधिया] उपबृंहण करने वाला पुराणशास्त्र क्या कह रहा है इस सम्बन्ध में ?, यह भी निम्न लिखित कतिपय वचनों से जान लेने का अनुग्रह कर लीजिए !

त्वं परा प्रकृतिः साक्षात् ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
महत्तत्त्वादि–भूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत् ॥१॥
निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा ॥२॥
अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ॥
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥३॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

६७–पराशक्ति पीताम्बरा भगवती के उपासक भगवान् कृष्ण के द्वारा अर्जुन की पराशक्त्युपासना में प्रवृत्ति, एवं विजयलाभ—

श्रीनन्दनन्दन कृष्णभक्तिपरायण परमभागवत मान्य वैष्णवाचार्य्यों के लिए यह ऐतिहासिक तथ्य भी अविदित न होगा कि, भगवान् कृष्ण केनोपनिषत् में प्रतिपादिता चिच्छक्तिमयी–बुद्धियोगाधिष्ठात्री–हिरण्मयी–हैमवती–उमा भगवती के ही अनन्य उपासक थे। इस औपासनिक–आगमीय तन्त्र के अनुबन्ध से ही निगमशास्त्र की हैमवती उमा, तथा आगमशास्त्र की **पीताम्बरा** भगवती के ही प्रसादगुणप्राप्ति के लिए वे **'पीताम्बरवस्त्र'** के ही अनुगामी बने रहते थे, जैसाकि–**'पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षात्-मन्मथमन्थः'** [श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध–रासपञ्चाध्यायी] इत्यादि से प्रमाणित है। प्रस्थानत्रयी के व्याख्याता सभी वैष्णवाचार्य्य यह भी भलीभाँति जानते ही होंगे कि,–प्रस्थानत्रयी में सुप्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीता सुप्रसिद्ध ऐतिह्यग्रन्थ महाभारत का ही एक अंश है। जिस अध्याय से भगवद्गीता महाभारत में आरम्भ होती है, ठीक उस से पूर्व के अध्याय में भगवान् कृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन को युद्ध में विजय प्राप्त कराने की कामना से–**'दुर्गास्तोत्रमुदीरय'** इत्यादिरूपेण अपनी आराध्या पीताम्बरा भगवती की ही रहस्यपूर्णा दीक्षा प्रदान करते हैं। एवं इसी दीक्षाबल के आधार पर अर्जुन बुद्धियोगनिष्ठ बनते हुए महाभारतसमर में विजयलाभ करते हैं। **'तत्र–श्रीः-विजयो–भूतिः'** का गुप्त बीज यही हैमवती उमा है, जिसे निष्ठावञ्चित, अतएव निगमागमाचारवञ्चित मतवादात्मक अभिनिवेशनें विस्मृत कराते हुए भारतराष्ट्र को सर्वथा ही अशक्त ही प्रमाणित कर दिया है। निगमागमाचारों की विलुप्ति, एवं तत्स्थान में भावुकतापूर्णा मान्यताओं का मानसिक विजृम्भण ही भारतीय–संस्कृति, सांस्कृतिक–आचार, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों की अभिभूति का दुःखपूर्ण इतिवृत्त है।

६८–शिवभावानुगता पुरुषसृष्टि, एवं शक्तिभावानुगता स्त्रीसृष्टि, तथा निगमागम-शब्दों के चिरन्तनेतिवृत्त की विश्रामानुगति—

भारतीय निगमतत्त्व से अंशतः भी परिचित महानुभाव यह जानते ही होंगे कि, वृषा–योषा से ही नर–नारी–सर्ग का उद्गम हुआ है, हो रहा है, होता रहेगा। वृषा अग्नि है, योषा सोम है। सौरप्राणाग्निरूप वृषा की प्रधानता से **'पुरुषसृष्टि'** हुई है, एवं चान्द्रसोमगर्भित पार्थिवप्राणरूप योषा की प्रधानता से–**'स्त्रीसृष्टि'** हुई है। सम्पूर्ण पुरुष अग्निप्रधान बनते हुए पूर्व की बृहज्जाबालश्रुति के अनुसार यदि **शिवस्वरूप** हैं, तो सम्पूर्ण स्त्रियाँ सोमप्रधाना बनतीं हुईं शक्तिस्वरूपा हैं, जैसाकि–**'विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'** इत्यादिरूपेण पूर्व के रक्षाबन्धनपर्व–प्रसङ्ग में भी दिग्दर्शन कराया जाचुका है। उक्त सम्पूर्ण शिव–शक्ति–सन्दर्भ से प्रकृत में हमें निवेदन यही करना है कि, **द्युलोकोपलक्षित पिता सूर्य्य से अनुप्राणिता नित्या विराड्विद्या ही निगमविद्या है, एवं पृथिवीमाता से अनुप्राणिता नित्या दशमहाविद्या ही आगमविद्या है। सौरी विराड्विद्या निर्गतभाव से निगम है, तो पार्थिवी दशमहाविद्या सूर्य्यनिगम से आगता बनती हुई आगम है, और यही निगमागमशब्दों के चिरन्तन इतिवृत्त की संक्षिप्ततमा स्वरूपदिशा है।**

निगमागमशब्दों का चिरन्तनेतिवृत्त उपरत

—१—

२–'विद्या' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त

६९–या देवी सर्वभूतेषु 'विद्या' रूपेण संस्थिता—

निगम, और आगम–शब्देतिहासप्रसङ्ग में **निगमविद्या, आगमविद्या**–रूपेण यह 'विद्या' शब्द प्रसङ्गतः और उपस्थित हो पड़ा। दो शब्दों में इसका भी समन्वय–प्रयास कर लीजिए। आगमशास्त्र का आगमन क्योंकि निगमशास्त्र से हुआ है। अतएव आगमशास्त्र के यच्चयावत् सिद्धान्त साक्षात्रूपेण, एवं परम्परया निगमशास्त्र–सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित हैं। जिसप्रकार निगम के लिए निगमाचार्य्योंनें–**'सैषा त्रयी विद्या'-'सोऽनया त्रय्या विद्यया'** इत्यादिरूप से 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया है, एवमेव आगमाचार्य्योंनें भी–**'या देवी सर्वभूतेषु 'विद्या' रूपेण संस्थिता'–'विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी'** इत्यादिरूप से 'विद्या' शब्द का ही प्रयोग किया है। कैसा अद्भुत साम्य हैं दोनों शास्त्रों में।

७०–विद्या-वेद-ब्रह्म-शब्दों की अभिन्नार्थकता—

'विद्या' शब्द के चिरन्तनेतिवृत्त के सम्बन्ध में भी कतिपय परिभाषाएँ विशेषरूपेण ज्ञातव्य बन रहीं हैं। **'विद्या'** शब्द के अपेक्षाभाव को **वेद**, और **'ब्रह्म'** शब्द पूर्ण कह रहे हैं। क्योंकि निगमशास्त्र में–**'त्रयी-विद्या'-'त्रयो वेदाः'-'त्रयं ब्रह्म'** ये तीन विभिन्न परस्पर सापेक्ष व्यवहार उपश्रुत हैं। आत्मज्ञानदृष्टि से तीनों व्यवहार जहाँ अभिन्नार्थक हैं, वहाँ विश्वविज्ञानवर्त्तन की अपेक्षा से **विद्या–वेद–ब्रह्म**–तीनों हीं शब्द परस्पर सर्वथा विभिन्नार्थक ही बने हुए हैं। आगमशास्त्र का शक्तितत्त्व **'विद्या'**, किंवा **'महाविद्या'** नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ ?, प्रश्न का समाधान इन तीनों शब्दों के विभिन्नार्थ–समन्वय पर ही अवलम्बित है। उसी की ओर शब्देतिहासप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

७१–अक्षरात्परतः पर अवस्थित अप्राण–अमन प्राणमनोघन अव्ययब्रह्मस्वरूपदिग्दर्शन–

अनन्तानन्दरसैकघन-विज्ञानमय-**ज्ञानघन, क्रियाघन, अर्थघन** तत्त्वविशेष का नाम हीं–**'अक्षरब्रह्म'** है। यह सर्वज्ञानमय है, सर्वक्रियामय है, एवं सर्वार्थमय है। दूसरे शब्दों में यह अक्षरब्रह्म आनन्दघन-विज्ञानमय–**मनःप्राणवाङ्मय** है। जैसे क्षरपुरुष का आलम्बन अक्षरपुरुष है, एवमेव इन दोनों का सर्वालम्बन तत्त्व 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध–'अव्ययपुरुष' है। अव्ययपुरुष स्वयं मनःप्राणवाग्रूप बनता हुआ मनःप्राणवाग्रूप है। अव्यय की ज्ञानशक्ति का उक्थ (प्रभवस्थान) मन है, क्रियाशक्ति का उक्थ प्राण है, एवं अर्थशक्ति का उक्थ वाक् है। इन तीन कलाओं के अतिरिक्त आनन्द–विज्ञान–नाम की दो कलाएँ और हैं। इन पाँचों कलाओं में से पाँचवीं वाक्कला ही तैत्तिरियादि उपनिषदों में **'अन्नब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। तै० उपनिषत् के आनन्द-विज्ञान–मनः–प्राण–अन्न-इन पाँच कोशब्रह्मों का तत्रैव भाष्ये विस्तार से निरूपण द्रष्टव्य है। सुप्रसिद्ध ये पञ्चकोश ही अव्ययपुरुष की पाँच कलाएँ हैं। दूसरे शब्दों में–अव्ययपुरुष पञ्चकल हैं। पञ्चकलात्मक यह अव्ययपुरुष स्वयं शक्तिरूप है। **'सामान्ये सामान्याभावः'** के अनुसार आनन्द में आनन्द नहीं, विज्ञान में विज्ञान नहीं, मन में मन नहीं, प्राण में प्राण नहीं, एवं वाक् में वाक् नहीं। अतएव अक्षरब्रह्म नामक मध्यमपुरुष से भी पर रहने वाले इस अव्ययपुरुष को अमन-अप्राण–अमूर्त्त ही मान लिया गया है, जिसका अर्थ है-आनन्द–विज्ञान-मनः–प्राण-वाग्रूपः–वाग्घनो वा। इसी तथ्य को परोक्षभाषा में व्यक्त करते हुए ऋषिने कहा है—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ (मुण्डकोपनिषत् २।१।२।) ।

७२–कार्य्यकारणातीत परब्रह्म—

अप्राण, एवं अमन में क्रिया नहीं । अतएव अव्ययपुरुष कर्तृत्त्व–कारणादि–धर्म्मों से सर्वथा असंस्पृष्ट प्रमाणित होता हुआ सृष्टिविद्या से बहिर्भूत ही मान लिया गया है । सचमुच न तो यह करता ही है, न विलप्त ही होता । इसी भाव का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ —श्वेता॰ उप॰ ६।८।

७३–निर्धर्म्मक अव्ययपुरुष की सर्गासंस्पृष्टता—

इन्हीं सब तथ्यों के आधार पर हम अव्ययपुरुष को सृष्टि की अपेक्षा से सर्वथा निर्धर्म्मक ही मान लेते हैं । अव्यय 'पुरुष' है, पुरुष चिदात्मा (चेतना नहीं) है, ज्ञानमूर्त्ति है, अतएव वृक्षवत् स्तब्ध है, स्थाणु है, कम्पनरहित है, क्रिया से असंस्पृष्ट है । अतएव च क्रियासापेक्ष सक्रिय–विश्व की निर्म्माणप्रक्रिया से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है ।

७४–योषावृषात्मक संसृष्टिभाव, संसृष्टि-लक्षणा सृष्टि का क्रियाभाव, तत्प्रवर्त्तक पराप्रकृति रूप अक्षरभाव, एवं अव्ययपुरुष–अक्षरप्रकृति–समन्वयात्मक विश्वनिर्म्माणकर्म्म--

सृष्टि संसृष्टिलक्षणा है । **योषा–वृषा**-नाम से प्रसिद्ध **रयि–प्राण**–नाम के दो विजातीय तत्त्वों के रासायनिक-अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक–सम्मिश्रणात्मक यागभाव का ही नाम 'संसृष्टि' है । संसृष्टिरूप अन्तर्य्यामसंसर्ग 'व्यापार' है, व्यापार क्रिया है । उधर अव्ययपुरुष निष्क्रिय है, निर्व्यापार है, अतएव अकर्त्ता है । यद्यपि पञ्चकलात्मक अव्ययपुरुष प्राणकलारूप होने से क्रियाशून्य तो नहीं कहा जासकता । किन्तु केवल क्रिया ही तो सृष्टि के लिए पर्य्याप्त नहीं है । क्रिया क्रियावान् ही तो कर सकता है । अव्यय क्रियारूप बना रहता हुआ भी क्रियावान् नहीं है । क्रियावान् है वही पूर्वोपात्त मनःप्राणवाङ्मय अक्षरपुरुष, जो कि **परमब्रह्म, अव्यक्त, अमृत, सेतु, विधर्त्ता, अन्तर्य्यामी, कूटस्थ, पराप्रकृति,** आदि आदि नामों से उपवर्णित है यत्र तत्र मनःप्राणवाग्रूप अव्ययपुरुष अपने पराप्रकृतिरूप मनःप्राणवाङ्मय अक्षरपुरुष से समन्वित हो रहा है एवं–'**तत्तु समन्वयात्**' (वेदान्तसूत्र) सिद्धान्तानुसार प्रकृति–पुरुष के इस समन्वय से ही विश्वनिर्म्माण कर्म्म सम्पन्न होता है ।

७५–सच्चिदानन्दघन अव्ययपुरुष से समन्विता सच्चिदानन्दमयी अक्षरप्रकृति की व्यापकता का समन्वय—

उक्त समन्वय के कारण ही अव्ययपुरुष की अर्करूपा शक्तियाँ प्रकृतिरूप अक्षर में संक्रमण कर जातीं हैं । उस की शक्तियां से अक्षर यों शक्तिमान् बन जाता है । अतएव अक्षर को हम आनन्दवान्–विज्ञानवान्–

मनस्वी–क्रियावान्–अर्थवान् कह सकते हैं। अक्षर शक्तिमान् है, सक्रिय है। एक प्रासङ्गिक निवेदन और-इसी सम्बन्ध में। अव्यय की पाँचों कलाओं में '**आनन्द**' सुप्रसिद्ध है। दूसरी विज्ञानकला का ही साङ्केतिक नाम **है–'चित्'**। एवं शेष मनः–प्राण–वाक्–नाम की तीनों कलाओं की समन्वितावस्था का ही साङ्केतिक नाम है–**'सत्'**। यों पाँच कलाओं की **'आनन्द–चित्–सत्'** ये तीन हीं कलाएँ रह जातीं हैं। **सत्–चित्–आनन्द–** की समष्टि की–**'सच्चिदानन्द'** ब्रह्म है। अक्षर इन तीनों से युक्त (मय) है। अतएव अक्षर को अवश्य ही आनन्दवान्–विज्ञानवान्–सन्मय–कह सकते हैं।

७६–मुक्तिसाक्षी आनन्दविज्ञानमनोघन अव्यय से अभिन्न सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाग्घन अव्यय से समन्वित पराप्रकृतिरूप अक्षर की मनःप्राणवाङ्मयता—

अव्ययपुरुष की आनन्दादि पाँचों कलाओं में से आनन्द–विज्ञान–भाव मुक्तिसाक्षी अव्यय है, प्राण–वाग्भाव सृष्टिसाक्षी अव्यय है। मध्यस्थ मन–'**उभयात्मकं मनः**' के अनुसार अपनी रसप्रधाना अवस्था से मुक्तिसाक्षी आनन्दविज्ञानरूप अव्यय का अनुगामी बनता हुआ 'मुमुक्षा' का प्रवर्त्तक बना रहता है। एवं अपनी बलप्रधाना अवस्था से सृष्टिसाक्षी-प्राण–वाग्रूप अव्यय का अनुगामी बना हुआ 'सिसृक्षा' का प्रवर्त्तक बना रहता है। मुक्तिभाव का सम्बन्ध **आनन्द–विज्ञान–मनो**–भावत्रयी से है, एवं सृष्टि का सम्बन्ध **मनः-प्राण–वाग्**-भावत्रयी से है। तभी तो सृष्टिसाक्षी अक्षरावच्छिन्न आत्मप्रजापति को–'**स वा एष आत्मा वाङ्-मयः--प्राणमयः-मनोमयः**' इत्यादि रूप से मनःप्राणवाङ्मय ही बतलाया गया है।

७७–क्रियाशक्तिमय अक्षर के द्वारा व्यक्त क्षरविश्व की प्रवृत्ति—

सृष्टिसाक्षी अव्यय में हमने ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, एवं अर्थघना-वाक् की सत्ता बतलाई है। इन तीनों में प्रथमा, ज्ञानकला का विकासस्थान स्वयं 'अव्ययपुरुष' है। अव्यय में ज्ञानकला का ही प्राधान्य माना है आचार्य्योंनें। क्रियाकला का विकासस्थान 'अक्षरपुरुष' बनता है। एवं वाक्–रूपा अर्थकला का विकासस्थान क्षरपुरुष माना गया है। अर्थप्रधान क्षरपुरुष भी निष्क्रिय है, एवं ज्ञानप्रधान अव्ययपुरुष भी निष्क्रिय है। सक्रिय है तीनों पुरुषों में मध्यस्थ क्रियाप्रधान एकमात्र अक्षरपुरुष ही। क्रियानुगति एकमात्र अक्षर का ही प्रातिस्विक धर्म्म है। अतएव तीनों में से प्रधानरूपेण एकमात्र अक्षर को ही सृष्टिकर्तृत्व का उत्तरदायित्व उपलब्ध है। सचमुच अक्षर ही सृष्टिकर्त्ता है। अव्यक्ता अक्षरप्रकृति ही विश्व का प्रभवस्थान–प्रतिष्ठास्थान, एवं परायणस्थान है, इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर निम्न लिखित श्रुति–स्मृति–वचन प्रवृत्त हुए हैं—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथा अक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति ।।

—मुण्डकोपनिषत् ६।१।१।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। (गीता० १८।१८) ।

अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ! ।
अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना ॥ (गीता० २।२८।) ।

७८-अक्षरप्रजापति की सृष्टिप्रक्रिया के साथ कुम्भकारप्रजापति की घटनिर्म्माणप्रक्रिया का प्रतीकात्मक समतुलन—

जिसप्रकार प्रजापति (कुम्भकार, लोकभाषाप्रसिद्ध कुह्मार) भूतल पर बैठ कर समुदायरूप से [अवयवीरूप से–समष्टिरूप से] सर्वथा ही गतिशून्य, किन्तु अवयवरूप से [व्यष्टिरूप से] सर्वथा ही गतिशील अलातचक्र नामक 'चक्र' [चाक] पर आपोमय–मृत्पिण्ड रख कर हस्तव्यापार से घटनिर्म्माण किया करता है। एवमेव अक्षरप्रजापतिरूप कुम्भकार भी आनन्दविज्ञानमनोघन मुक्तिसाक्षी अविकम्पित–गतिशून्यरूप अव्ययधरातल पर बैठ कर मनःप्राणवाग्घन-सृष्टिसाक्षी-विकम्पित-गतिशील अव्ययरूपचक्र पर क्षररूप आपोमय मृद्भाग से उख्यात्रिलोकीरूप घट का निर्म्मापक बना हुआ है। यों मानो त्रिभुनविधाता उस अक्षर-प्रजापति में, और बुध्न [पैंदा]–उदर–मुखरूप त्रैलोक्यभावापन्न घटनिर्म्माण करने वाले मानवशिल्पी प्रजापति में निरन्तर स्पर्द्धा ही प्रक्रान्त है–'घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः'। और यों मानो कुम्भकारप्रजापति का चक्र सृष्टिप्रक्रिया का ही प्रतीक बना हुआ है।

७९-भारतीय विवाहोत्सवारम्भ में प्रजापतिचक्र का पूजन, और तदनुबन्धी प्राजापत्य प्रतीकभाव —

तभी तो प्रतीकात्मक निदानभावों के आधार पर प्रकृतिसिद्ध सृष्टितत्त्वों को अपनी आचारपद्धति में समाविष्ट करने में महान् कुशल भारतीय आर्ष मानव नें सृष्टि के मूलप्रवर्त्तक दाम्पत्योत्सव [विवाहमहोत्सव] के उपक्रम में प्रजापतिचक्रपूजन को समाविष्ट कर लिया है *। सचमुच जो निर्म्माणक्रम घटनिर्म्माण–कर्म्म का है, वही क्रम उस ईश्वरप्रजापति के विश्वनिर्म्माणकर्म्म का है, जैसा कि ईशाभाष्य में अंशतः स्पष्ट कर दिया गया है। इसी रहस्य को अञ्जसा व्यक्त करने के लिए ही तो कुम्भकार को 'प्रजापति' उपाधि से समन्वित कर दिया गया है।

८०-प्रासादशिल्पी (विश्वकर्म्मा के प्रतिनिधि कामगर--कारीगर) का शिल्पनिर्म्माणारम्भ में पूजन, और हमारी सांस्कृतिक--परम्पराएँ—

इसीलिए तो प्रासादशिल्पों के निर्म्माता शिल्पी कोलोकव्यवहार में–'**विश्वकर्म्मा**' उपाधि से भी समन्वित कर दिया गया है। इसीलिए तो हमारे सांस्कृतिक–जगत् में शिल्पी–प्रजापतियों का वास्तुनिर्म्माणोपक्रम में पूजन–सम्मान विहित है। सर्वत्र सर्वव्यापक समब्रह्मात्मक आत्मब्रह्म से समन्वित देवभाव का संस्मरण–

---

*–माङ्गलिक विवाहकर्म्म में विवाह से पूर्व शुभतिथि को मङ्गलपरायणा गृहदेवियाँ बड़े उल्लास से इष्टपरिजनसहित कुम्भकार के घर जाकर चक्रपूजन करती हैं। वहाँ ब्रह्मा का भी पूजन होता है। वहीं से मङ्गलकलश लाकर मातृकास्थान में वर्षपर्य्यन्त के लिए प्रतिष्ठित कर देती हैं।

आराधन ही तो भारतीय प्रजा की सांस्कृतिक–निष्ठा है । **'देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्'** का जैसा मर्म्म भारतीय मानव ने समझा है, समझ कर जिस कौशल से इसने इसे अपनी आचार–आयोजनात्मिका जीवनपद्धतियों में सुव्यवस्थित किया है, उसका अंशतः भी परिचय प्राप्त कर हमारी वर्त्तमानयुग की आत्मदेवभाववञ्चिता जड़प्रज्ञा तो सर्वथा ही स्तब्ध हो जाती है । और हम अपने जड़जीवनरूप वर्त्तमान मृत्युभावों में आबद्ध रहते हुए आत्मदेवभावानुप्राणित सांस्कृतिक–गरिमाभाव के इस पतन से सर्वथा ही विह्वल हो पड़ते हैं । क्या थे हम सांस्कृतिक–युगों में ?, एवं क्या से क्या बन गए उस सांस्कृतिक–जीवनधारा से पृथक् होकर आज हम ?, प्रश्न का अधिकार भी तो शेष नहीं रहने दिया वर्त्तमान युग के इन जड़-आयोजनों नें, प्रगतिवादात्मक कल्पित विकासवादोंनें, एवं सर्वोपरि जड़ताप्रवर्त्तिका–आत्मदेवभाववञ्चिता प्रतीच्य–शिक्षापद्धति ने ।

८१-सर्वज्ञ-सर्ववित् सर्वशक्तिमय अक्षर का विश्वकर्तृत्व—

हाँ, तो निवेदन यह किया जा रहा था कि, अक्षरप्रजापति ही वस्तुगत्या **विश्वकर्त्ता** है, जबकि–तद्‌पेक्षया अव्यय को **विश्वाधार**, एवं क्षर को **विश्वमूर्त्ति** ही माना जायगा । क्षरपुरुष अव्ययपुरुष की **'अपरा-प्रकृति'** है, अक्षरपुरुष अव्यय की–**'पराप्रकृति'** है, स्वयं अव्ययपुरुष **'परपुरुष'** है, जैसाकि–**'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः'** इत्यादि से स्पष्ट है । तीनो में परपुरुष अव्ययसृष्टि के अधिष्ठानात्मक अकारणात्मक–साक्षीरूप–**आलम्बनकारण** हैं । पराप्रकृतिरूप अक्षर कतमित्स्वित्रूप असमवायिकारणात्मक **निमित्तकारण** हैं । एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर आरम्भणरूप–सममायिकारणात्मक **उपादानकारण** है । उस ओर के ज्ञानघन अव्यय की ज्ञानमात्रा लेकर **सर्वज्ञ** बनता हुआ, इस ओर के अर्थमय क्षर की भूतमात्रा लेकर **सर्ववित्** बनता हुआ मध्यस्थ क्रियामय, अतएव **सर्वशक्ति** बनता हुआ सर्वज्ञ–सर्वशक्ति–सर्ववित्–मूर्त्ति अक्षर ही विश्वकर्त्ता प्रमाणित हो रहे हैं ।

८२–'पर' अव्ययब्रह्म, 'परावर' अक्षरब्रह्म, तथा 'अवर' क्षरब्रह्म के पर–परावर–अवर-भावों का स्वरूपदिग्दर्शन—

उपादानकारण के लिए साङ्केतिक नाम व्यवस्थित हुआ है (सृष्टिविद्याप्रसङ्गों में) 'ब्रह्म' । तीनों पुरुषों में अक्षर से आविर्भूत क्षर ही उपादानकारण बनता है । अतएव सङ्केतानुसार इसे अवश्य ही–ब्रह्म' कहा जा सकता है, कहा गया है -**'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** (गीता) इत्यादिरूप से । यही क्षरब्रह्म **'अवरब्रह्म'** भी कहलाया है, जबकि अक्षरपुरुष इस अवरक्षर की अपेक्षा से 'पर', किन्तु 'पर' अव्यय की अपेक्षा से 'अवर' बनता हुआ-**'परावर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है । व्यक्तमूर्त्ति–व्यक्तप्रवर्त्तक (भूतप्रवर्त्तक) अवरक्षर, तथा अव्यक्तमूर्त्ति अव्यक्तप्रवर्त्तक (प्राणप्रवर्त्तक) परावर अक्षर, इन दोनों से सर्वथा 'पर' होने से ही अव्यय **'पर'** कहलाया है *। **'पर' अव्यय, 'परावर' अक्षर**, एवं **'अवर' क्षर**, तीनों की समन्वितावस्था ही त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशी [षोडशकल] प्रजापति है, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है । 'परावरमूर्त्ति' अक्षर पर अव्यय, तथा अवर क्षर दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित होता हुआ **परसम्पत्ति (अव्ययसम्पत्ति)** से भी समन्वित है, एवं

---

* **यस्मात् क्षरमतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः ।**
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। (गीता) ।

अत्तरसम्पत्ति (क्षरसम्पत्ति) से भी समन्वित है। अतएव इसे अव्ययसम्पत्तिदृष्ट्या 'पर' भी कहा जा सकता है, क्षरसम्पत्तिदृष्ट्या 'ब्रह्म' भी कहा जा सकता है। अव्ययदृष्ट्या यह 'पर' भी है, क्षरदृष्ट्या यह 'ब्रह्म' भी है, एवं स्वदृष्ट्या 'परावर' भी है। इत्थंभूत पर [अव्यय]–ब्रह्म [क्षर]–परावर [अक्षर]–मूर्त्ति, अतएव सर्वमूर्त्ति मध्यस्थ अक्षरतत्त्व के इस रहस्यपूर्ण स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

> **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षरात्मकम्–इति निष्कर्षः) ।**
> **एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययात्मकम्–इति निष्कर्षः ।**
> **एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति, तस्य तत् ॥** [कठोपनिषत् १।२।१६।]।
> **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥** –मुण्डकोपनिषत् २।२।८।

८३–सृष्टिविद्यात्मिका निगमागमविद्याओं का मूलप्रवर्त्तक सर्वमूर्त्ति अक्षरब्रह्म—

प्रसङ्ग 'विद्या' शब्दार्थ का प्रक्रान्त है–सूर्य्यमूला विराट्विद्या [निगमविद्या], एवं पृथिवीमूला दश-महाविद्या [आगमविद्या] से सम्बन्ध रखने वाले सृष्टिविद्यात्मक–'विद्या' शब्द को आधार बना कर। अतएव सृष्टिकर्त्ता का स्वरूप प्रासङ्गिक बन गया, एवं तन्निमित्त से ही सृष्टिकर्त्ता परावर अक्षर से अभिन्न–नित्यसमन्वित अव्यय, तथा क्षरभावों का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन उपक्रान्त हो पड़ा। अबतक के निवेदन से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया कि, **"अव्यय, तथा क्षर से समन्वित मध्यस्थ परावर अक्षर ही सृष्टिकर्त्ता बनता हुआ सृष्टिविद्यात्मिका निगमागमविद्याओं का मूलप्रवर्त्तक है"**।

८४–चिदात्मा अव्यय, चेतनात्मक अक्षर, एवं चिन्मय क्षर के चिद्भावों का समन्वय, तथा सर्वमूर्त्ति अक्षर से त्रिविध–सामान्य सृष्ट्यनुबन्धों का आविर्भाव—

यद्यपि मध्यस्थ परावर अक्षरप्रजापति अव्ययज्ञान, क्षरार्थ, एवं स्वानुगत क्रिया–भावों से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–रूप तीनों हीं सृष्ट्यनुबन्धों से समन्वित है। तथापि–क्रिया, और अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति तो क्रियार्थमय पाञ्चभौतिक व्यक्त विश्व में हीं हुआ करती है। पाञ्चभौतिकी इस व्यक्ता विश्वसृष्टि [मूर्त्तसृष्टि–रूपा-संसृष्टि-लक्षणा–विकारात्मिका भूतभौतिकसृष्टि] से पूर्वावस्था में तो केवल ज्ञानभाव ही प्रधानरूप से व्यक्त रहता है। यही कारण है कि, अक्षर के तपोरूप क्रियाभाव को **'ज्ञानमय'** ही माना गया है। इसीलिए तो ज्ञानघन अव्यय-पुरुष जहाँ **'चिदात्मा'** कहलाए हैं, वहाँ ज्ञानमात्रा से उपजीवित ज्ञानमय–पराप्रकृतिरूप अक्षर **'चेतना'** नाम से ही प्रसिद्ध हुए हैं आचारशून्या, अतएव नितान्त भावुकतापूर्णा दर्शनभाषा में। अव्यय, एवं क्षर से अविनाभूत, अतएव सर्वज्ञ, एवं सर्ववित् इत्थंभूत मध्यस्थ अक्षर के ज्ञानमय तप से अभिव्यक्त हो पड़ने वाली प्राथमिकी मूलसृष्टि का प्रारम्भिक स्वरूप क्या है ?, इसी रहस्यपूर्ण प्रश्न का अपनी रहस्यभाषा में हीं दिग्दर्शनात्मक–परोक्ष–सङ्केतमात्र कराते हुए ऋषि कहते हैं—

> **यः सर्वज्ञः, सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः**
> **तस्मादेतत्--ब्रह्म, नामरूप, मन्नञ्च जायते ॥** —मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

८५--अक्षरद्वारा आविर्भूत ब्रह्म-नामरूप--अन्न--लक्षण त्रिविध सर्ग----

मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य में विस्तार से प्रतिपादित उक्त रहस्यपूर्ण–वचन का प्रकृत में यही अक्षरार्थमात्र-समन्वय है कि, **प्रतिष्ठा–ज्योति–यज्ञ**, इन तीन तत्त्वों के लिए ही क्रमशः **ब्रह्म–नामरूप–अन्न–** ये तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन तीनों में सृष्टिविद्या के यच्चयावत् सामान्य अनुबन्धों का अन्तर्भाव हो रहा है। अक्षरपुरुष अव्यय, एवं क्षर से समन्वित होते हुए सर्वप्रथम इन्हीं तीनों सृष्ट्यनुबन्धभावों से अभिव्यक्त होते हैं। प्रतिष्ठातत्त्व का ही नाम है-'**ब्रह्म**' है, जैसाकि– '**प्रतिष्ठाह्येषा–यद्ब्रह्म**' [शत० ६।१।१।६।] इत्यादि से स्पष्ट है। ज्योतिर्भाव का ही नाम '**इन्द्र**' है। एवं **विष्णु–अग्नि–सोम**, इन तीनों तत्त्वों की समष्टि ही '**यज्ञ**' है।

८६--'ब्रह्म' नामक प्रथम अक्षरपर्व का प्रतिष्ठात्मक स्वरूप----

नामरूपकर्म्ममय प्रत्येक भूतभौतिक पदार्थ में आप जो एक प्रकार का स्थितिभाव [ठहराव] देखते हैं, अस्तित्व उपलब्ध करते हैं, वही प्रतिष्ठातत्त्व है। बीज को भूगर्भ में प्रतिष्ठित कर दीजिए, तभी अंकुर–सृष्टि होगी। उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में उत्पत्तिरूपा क्रिया का आधारभूत प्रतिष्ठात्मक स्थितिभाव ही सर्वप्रथम मूलप्रतिष्ठा बना करता है। वस्तुमात्र में सर्वप्रथम आविर्भूत होने वाला वस्तुमात्र का मूलाधारभूत यही प्रतिष्ठातत्त्व है। इसी आधार पर–'**ब्रह्म [प्रतिष्ठा] वै सर्वस्य–प्रथमजम्**' [शत० ६।१।१।१०] यह प्रसिद्ध है। '**ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता, भुवनस्य गोप्ता**' इत्यादि उपनिषद्वचन स्पष्ट ही प्रतिष्ठालक्षण 'ब्रह्म' रूप 'ब्रह्मा' का प्रथमाविर्भावत्व प्रमाणित कर रहा है। क्या स्वरूप है इस सर्वादिभूत प्रतिष्ठालक्षण–स्थितिभावात्मक-'ब्रह्म' का?, प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान है–'**गतिसमुच्चय**'। सर्वतोदिग्गति, अथवा तो न्यूनतम दिग्द्वयगति का केन्द्रानुगत समसमन्वय ही गतिसमुच्चयात्मक '**स्थिति**' भाव है। अतएव समानबलशाली–विरुद्धदिग्द्वयानुगामी दो मल्लों से आकर्षित–प्रत्याकर्षित मध्य की बृहद्रज्जू [रस्सा] स्थिर बन जाया करती है। यही अक्षरप्रजापति की स्थितिरूपा प्रथमा सृष्टि है। इसी के लिए–'**तस्मादेतद् ब्रह्म**' यह कहा गया है।

८७--'नामरूप' नामक द्वितीयसर्ग से अनुप्राणित अमृत-मृत्युभाव---

दूसरी सृष्टि का स्वरूप है–'**नामरूप**'। नाम और रूप सापेक्ष 'कर्म्म' के भी संग्राहक बने हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ में सर्वप्रथम उसकी स्थिति [अस्ति] रूपा प्रतिष्ठा का आविर्भाव होता है। अनन्तर अस्तिभावानुबन्ध से ही नाम–रूप–कर्म्म–अभिव्यक्त हो पड़ते हैं वस्तु के। प्रतिष्ठा ही स्थिति है, स्थिति ही अस्तिलक्षणा वह सत्ता है, जिसका-'**मनःप्राणवाचां संगतः-सत्ता**' यह लक्षण हुआ है विज्ञानभाषा में। अस्तिरूपा-स्थितिभावात्मिका –प्रतिष्ठा के मनोभाव से रूप का, प्राणभाव से कर्म्म का, तथा वाग्भाव से नाम का आविर्भाव हो पड़ता है। मनः-प्राण-वाग-भाग उसी का आत्मानुगत अमृतरूप है, एवं नाम-रूप-कर्म्म-भाग उसी का विश्वानुगत मर्त्यरूप [गतिशीलरूप] है। यों अपने अर्द्धभाग से अक्षरप्रजापति अमृतात्मक बने हुए हैं, एवं अर्द्धभाग से मर्त्यात्मक बने हुए हैं, जैसाकि—'**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत, अर्द्धममृतम्**' [शतपथब्रा०] इत्यादि से स्पष्ट है।

८८--नामरूपात्मक द्वितीय सर्ग का 'ज्योति'-मर्मयत्त्व—

कर्म्मानुगत नामरूप ही अस्तिभावात्मक पदार्थ की भाति (भाव-प्रतीति-प्रत्यय) के ऐन्द्रियक-बाह्य-निमित्त बना करते हैं। नामरूपकर्म्म के बिना पदार्थ हमारे लिए सर्वथा अन्धकार में हैं, अव्यक्त हैं। भाति का नाम ही तो ज्योति है, ज्योति ही तो आलोक है, आलोक ही तो पदार्थों के अवलोकन का एकमात्र निमित्त बनता है गायत्रतेज के प्रतिफलन के माध्यम से। अतएव अवश्य ही इस नामरूपात्मिका प्रतीतिलक्षणा भाति को-'ज्योति' कहा जा सकता है। यह ज्योति (अयं घटः-अयं मानवः-अयं सूर्य्यः इत्याकारक वस्तूपलब्धिरूप-प्रकाश) ही साक्षात् 'इन्द्र' है, जैसाकि—**'रूपं रूपं मघवा बोभवीति'** (ऋक्संहिता)-**'इन्द्रो रूपाणि करिक्रदचरत्'** (ऋक्संहिता) इत्यादि से स्पष्ट है। अतएव अवश्यमेव कर्म्मानुगत नामरूप-ज्योतिःसर्ग को हम 'इन्द्र' कह सकते हैं, और यही अक्षरप्रजापति का दूसरा व्यक्तीभाव है जिसके लिए—**'नामरूपञ्च जायते'** यह कहा गया है।

८९--'अन्न' नामक तृतीय सर्गानुबन्धी अन्नादानविसर्गात्मक 'यज्ञ' स्वरूप का आविर्भाव-

"गतिसमष्टिरूपा-मनःप्राणवाङ्मयी सत्ता-से कृतरूप प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म, तथा कर्म्मानुगत-नामरूपात्मक-ज्योतिर्भाव अभिव्यक्त हो गए" इसका अर्थ हुआ-"वस्तुस्वरूप सर्वात्मना सम्पन्न हो गया"। सम्पन्नावस्था के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थों में अन्नादानविसर्गात्मक **'यज्ञकर्म्म'** उपक्रान्त हो पड़ता है। जड़पदार्थ (असंज्ञ) हो, अथवा तो चेतनपदार्थ (संसज्ञ)। सभी पदार्थ इस अन्नाहरण-विसर्गरूप यज्ञ-कर्म्म से नित्य समन्वित रहते हैं। सब में निरन्तर अन्न आहुत होता रहता है। जो पदार्थशक्ति इस अन्नाहुति को अपने आहरणधर्म्म से आकर्षित करती रहती है, उसी शक्ति का नाम है-**'विष्णु'**। यच्चयावत् **'अन्नयज्ञ'** अपहरणधर्म्मा विष्णुशक्ति से ही सञ्चालित हैं। अतएव **'यज्ञो वै विष्णुः'-'विष्णुर्वै यज्ञः'** इत्यादिरूप से यज्ञ और विष्णु का अभेद मान लिया गया है।

९०--ब्रह्म-नामरूप-अन्न-लक्षण प्रतिष्ठा-ज्योतिः-यज्ञ-सर्गों से अक्षर की पञ्चाक्षरभाव में परिणति—

तथाविध 'अन्नयज्ञ' रूप जीवनीय कर्म्म में **अन्नाहर्त्ता, अन्नाहुतिग्रहणकर्त्ता,** एवं **अन्न,** ये तीन भाव नित्य समाविष्ट हैं। इन तीन शक्तियों की समन्वितावस्था का नाम ही नामरूपात्मक पदार्थों का स्वरूपसंरक्षक अन्नयज्ञ है। अन्नाहर्त्ता तत्त्व ही **'विष्णु'** है, अन्नाहुतिग्रहणकर्त्ता ही **'अग्नि'** है, एवं अन्न ही-**'सोम'** है। विष्णु की अशनाया (बुभुक्षा-भूख) से आकर्षित अन्नसोम जब अन्नादाग्नि में आहुत होता है, तभी जीवनीय **'विश्वदानि'** नामक अन्नयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। यों अन्नात्मक यज्ञ में **विष्णु-अग्नि-सोम**-तीनों शक्तियों का समन्वय प्रमाणित हो जाता है। और यही अक्षरप्रजापति का तीसरा सृष्ट्यनुबन्ध है, जिसका-**'अन्नञ्च जायते'** रूप से पूर्वश्रुति ने स्पष्टीकरण किया है। यों **ब्रह्मरूप प्रतिष्ठासर्ग, नामरूपात्मक ज्योतिःसर्ग, अन्नरूप यज्ञसर्ग,** रूपेण-सर्वज्ञ-सर्ववित्-अक्षर के ज्ञानमय तप से सर्वप्रथम त्रिधारात्मक-त्रिसर्गात्मक यही सर्ग अभिव्यक्त होता है, जिसका विज्ञानभाषानुगत अर्थ है-एकाक्षर का **ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु-अग्नि-सोम**-रूपेण पञ्च अक्षरभावों में परिणत हो जाना। कथमिमिति चेत् ?, श्रूयताम्।

९१-क्रियाप्रधान अक्षर की गतिरूपता, एवं गतिभाव के पञ्चधा महिमाविवर्त्त, तथा तन्मूलक अक्षर के पञ्चकला-विवर्त्त—

अक्षर को क्रियाप्रधानत्वेन प्राणप्रधान बतलाया गया है। क्रिया का नाम है-'**गतितत्त्व**'। अतएव अक्षर को 'गतितत्त्व' ही माना जायगा विज्ञानभाषा में। यह गतिरूप अक्षर ही पूर्वोक्त पाँच विवर्त्तभावों में परिणत होरहा है, जैसाकि अन्य निबन्धों में यत्रतत्र विस्तार से प्रतिपादित है। अक्षरात्मक वही गतितत्त्व गति-समुच्चयावस्था में-'**स्थिति**' है, यही '**ब्रह्मा**' है। अक्षरात्मक वही गतितत्त्व विक्षेपणभावावस्था में '**गति**' है, यही '**इन्द्र**' है। आकर्षणभावावस्था में वही अक्षरात्नक गतिभाव-'**अग्नि**' है, यही '**विष्णु**' है। यदि गति स्वतन्त्र है, तो '**इन्द्र**' है। यही गति ब्रह्मात्मिका स्थिति से यदि नियन्त्रित हो जाती है, तो इसी गतिरूपा 'गति' का नाम '**अग्नि**' हो जाता है, जिसका नाम है-'**विकासगति**'। एवमेव यदि आगति स्वतन्त्र है, तो 'विष्णु' है। यही आगति ब्रह्मात्मिका स्थिति से नियन्त्रित होती हुई '**सोम**' रूप में परिणत हो जाती है, जिसका नाम है-'**संकोचगति**'। दूसरे शब्दों में स्थितिगर्भिता गति (इन्द्र) का नाम हीं 'अग्नि' है, एवं स्थितिगर्भिता आगति (विष्णु) का नाम हीं 'सोम' है। तदित्थं एक ही गत्यात्मक अक्षरतत्त्व **गतिसमुच्चय-शुद्ध गति-शुद्ध आगति-स्थितिगर्भिता गति-स्थितिगर्भिता आगति**, इन पाँच महिमाभावों में परिणत होता हुआ क्रमशः-'**ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु-अग्नि-सोम**-इन नामों से प्रसिद्ध हो जाता है। एक ही गतिरक्षर (प्राणाक्षर) गति के तारतम्य से यों पञ्चाक्षररूप में परिणत हो रहा है। इसी पञ्चाक्षर-विज्ञान को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् संवहन्ति।
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति ॥

९२-परब्रह्मानुगत अक्षर की पाँच कलाओं से समन्विता शब्दब्रह्मात्मक स्वर की पाँच कलाएँ, एवं शब्दब्रह्म का पारायणपाठात्मक महत्त्व—

जिसप्रकार शब्दब्रह्मसृष्टि में एक ही अकार स्वर [अक्षर] आरम्भ में * अ-इ-उ-ऋ-ऌ-इन पाँच अक्षरों में परिणत होकर-'अकारो वै सर्वा वाक्। **सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति**' [ऐतरेय आरण्यक] इस वाग्विज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण शब्दसृष्टि का अधिष्ठाता बना हुआ है, एवमेव एक ही अक्षर पञ्चाक्षररूप में परिणत होता हुआ सम्पूर्ण अर्थसृष्टि का प्रवर्त्तक बन रहा है। जो क्रम शब्दसृष्टि का है, ठीक वही क्रम अर्थसृष्टि का है। शब्दब्रह्म के बोध से अर्थब्रह्मानुगत परब्रह्म का बोध गतार्थ है। यही तो शब्दार्थ का वह तादात्म्यसम्बन्ध है, जिसके आधार पर ही मन्त्रशक्ति व्यवस्थित हुई है। भारतीय वाङ्मय सांस्कृतिक-शास्त्र कोई लोककल्पना नहीं है। अपितु उसका तो प्रत्येक शब्द पराशक्ति से अभिन्न है, जिस रहस्य के साक्षात्कार का श्रेय एकमात्र भारतीय ऋषिप्रज्ञा को ही उपलब्ध हुआ है। मन्त्रजप से, वेदपारायण से क्या अतिशय प्राप्त हो जाता है ?, प्रश्न का समाधान वे जड़ भूतवादी कदापि नहीं कर सकते, जिनकी वाणी केवल 'वैखरी' भाव पर ही परिसमाप्त है।

---

*-अइउण्--ऋऌक् (पाणिनीय-माहेश्वरसूत्र)

९३--द्वादश आदित्यप्राणों में 'इन्द्र' प्राण का महामहिमामयत्त्व—

प्रकृतमनुसरामः। ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं, इन्द्र [रुद्र] संहारक हैं, विष्णु पालक हैं, अग्नीसोम उपादान हैं। जबतक ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा त्रिमूर्त्ति के साथ अग्नीषोमात्मक यज्ञ का सम्बन्ध रहता है, तबतक इन्द्रात्मक रूद्रदेवता शिव बने रहते हैं। अग्नीषोमात्मक यज्ञ के छिन्न होते ही वही इन्द्ररुद्र घोररूप में परिणत होकर विश्व का संहार कर दिया करते हैं। बारह प्रकार के सौरमण्डलस्थ आदित्यप्राणों * में शासक, सर्वव्यापक, शुन नामक, अमृतरूप अन्यतम प्राणविशेष का ही नाम 'इन्द्र' है। अतएव द्वादशादित्यप्राणघन सूर्य्य को त्वष्टा–भग–पूषा–आदि अन्य नामों से विशेषरूप से व्यवहृत न कर–**'अथ यः स इन्द्रः, असौ स आदित्यः'** [शत० ८।५।३।२।]–**'एष वा इन्द्रः, य एष तपति'** [शत० २।३।४।१२।] इत्याद्यनुसार 'इन्द्र' अभिधा से ही व्यवहृत किया गया है।

९४--सौर इन्द्र, चान्द्र सोम, पार्थिव अग्नि के स्व--पर--रूप--ज्योतिर्भाव, एवं पौराणिक त्रिदेवतावाद का नैगमिक समन्वय---

तथाविध सूर्य्यरूप इन्द्र, पार्थिव अग्नि, सोम [चन्द्रमा], तीनों ज्योतिर्म्मय हैं। सौर इन्द्र **स्वज्योतिर्म्मय** है, चान्द्रसोम **परज्योतिर्म्मय** है, एवं पार्थिवाग्नि **रूपज्योतिर्म्मय** है। इन्हीं तीनों ज्योतियों से विश्व प्रकाशित है, अभिव्यक्त है। इन तीनों की [सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि की] समष्टि का ही नाम **'शिव'** है। अन्नयज्ञ पर ही इन त्रिमूर्त्ति–त्रिनेत्र शिव का स्वरूप प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमसमन्वय का ही तो नाम 'यज्ञ' है। पुराणशास्त्र **ब्रह्मा-विष्णु-शिव**–इस त्रिदेवताविज्ञान के आधार पर सृष्टिविद्याओं का स्वरूप-विश्लेषण करता है, जबकि निगमशास्त्र ब्रह्मादि पञ्चाक्षरविज्ञान के माध्यम से सृष्टितत्त्वों का समन्वय कर रहा है। निरूपणीया शैलीमात्र में विभेद है, वस्तुगत्या दोनों हीं पक्ष सर्वात्मना सुसमन्वित हैं। पुराणशास्त्र–इन्द्र–अग्नि–सोम–इन तीनों अक्षरों के भेद को उन्मुग्ध मान कर तीनों का 'शिव' शब्द से ग्रहण कर लेता है। उधर वेदशास्त्र शिव के इन्द्र–अग्नि–सोम–तीनों भावों को पृथक्–पृथक्रूप से लक्ष्य बना लेता है। जो अर्थ वैदिक पञ्चाक्षरदेवतावर्ग का है, वही अर्थ पौराणिक त्र्यक्षरदेवतावर्ग का है।

९५–त्र्यक्षरभाव का अन्तर्य्यामित्त्व, तथा द्व्यक्षरभाव का वस्तुस्वरूपत्त्व, एवं पञ्चाक्षरमूर्त्ति अक्षरप्रजापति का सृष्टिकर्तृत्त्व—

तदित्थं–पराव्यय, एवं अवरक्षर से समन्वित मध्यस्थ परावर अक्षरप्रजापति सिसृक्षु [सृष्टिकामुक] बन कर अपने ज्ञानमय तप से **ब्रह्म-नामरूप–अन्न**–भावों में, दूसरे शब्दों में **प्रतिष्ठा,-ज्योति,-यज्ञ**, भावों में, तीसरे शब्दों में ब्रह्मा–विष्णवादि **पञ्च अक्षर** भावों में परिणत हो रहे हैं। इन पाँचों अक्षरों में ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र [अ–इ–उ] नामक तीनों अक्षर प्रत्येक पदार्थ के हृदयस्थान [केन्द्रस्थान] में हृ-(विष्णु)–

---

१ २ ३ ४ ५ ६ ७
*** इन्द्रो--धाता--भगः--पूषा--मित्रोऽथ--वरुणो--ऽर्य्यमा।**
८ ९ १० ११ १२
अंशु--र्विवस्वान्--त्वष्टा च--सविता--विष्णु--रेव च॥

द (**इन्द्र**)–**यम्** (**ब्रह्मा**) रूप से प्रतिष्ठित होकर पदार्थ का इन तीनों हृद्या शक्तियों से सञ्चालन करते हुए '**अन्तर्य्यामी**' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। एवं अग्नि, तथा सोम [ऋ, तथा लृ] नामक दोनों अक्षर वस्तुस्वरूप में परिणत होते हुए–"**अग्नीषोमात्मकं जगत्**' इस बृहज्जाबालीय सिद्धान्त को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं। यों एकाक्षररूप से ब्रह्म–नामरूप–एवं अन्न के द्वारा पञ्चाक्षररूप में परिणत हो जाना हीं सृष्टिकर्त्ता अक्षरप्रजापति की सृष्टिसामान्यानुबन्धलक्षणा–प्रथमा–आधारसृष्टि है, जिसके आधार पर ही आगे की क्षरमूला विकारसृष्टियाँ, एवं मैथुनीसृष्टियाँ प्रक्रान्त होने वालीं हैं।

एकाक्षरमूर्त्तिरक्षरप्रजापतिः । तस्य पञ्चाक्षरविवर्त्तभावाः—

१–ब्रह्म— -प्रतिष्ठा–ब्रह्माक्षरभावः [१]
२–नामरूपम्-ज्योतिः–इन्द्राक्षरभावः [२]
३–अन्नम्—यज्ञः——विष्णुः, अग्निः, सोमश्च [३]

—सैषा अक्षरस्य प्रथमा सृष्टिः–सामान्या–सर्वाधारभूता

* * *

९६–परात्पराव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति षोडशीप्रजापति के इतिवृत्त का उपराम—

क्षरभावप्रधाना-प्रजासृष्टि के अधिष्ठातृपद पर समारूढ होने से ही अक्षरपुरुष 'प्रजापति' कहलाए हैं। जैसा कि प्रतिष्ठात्मक–'अस्ति' भाव का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में कहा गया है–प्रकृतिरूप 'अक्षर–प्रजापति' के रसप्रधान अविपरिणामी अमृतभाव, एवं बलप्रधान विपरिणामी मर्त्यभाव-भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। रसप्रधान अमृतरूप से वही प्रजापति 'अक्षर' कहलाया है, एवं बलप्रधान मर्त्यरूप से वही प्रजापति 'क्षर' कहलाया है। अविपरिणामी अमृताक्षर कदापि विकृत नहीं होता। परिणामी मर्त्यक्षर ही विकारसृष्टि का उपादान बनता है, जब कि अविपरिणामी अमृताक्षर केवल निमित्त ही माना गया है विकारसृष्टि का। जो ब्रह्मादि पाँच कलाएँ अमृताक्षर की हैं, वे ही पाँच कलाएँ मर्त्यक्षर की हैं। यों पञ्चकल अव्यय, पञ्चामृतकल अक्षर, पञ्चमर्त्यकल क्षर, षोडशभाव--पूरक विश्वातीत परात्पर ही षोडशीप्रजापति का सम्पूर्ण इतिवृत्त है।

९७-षोडशीप्रजापति के सर्वान्तिम आत्मक्षर से विकारक्षरात्मक 'विश्वसृट्' तत्त्व का आविर्भाव, एवं उसका पञ्चीकरण—

पञ्चकल अव्ययरूप अधिष्ठानात्मक आलम्बन पर प्रतिष्ठित रहने वाले पञ्चब्रह्मादि अमृतकलाओं से सम्पन्न अमृताक्षररूप निमित्तकारण से पञ्चब्रह्मादि मर्त्यक्षर कलाओं से मर्त्यक्षररूप उपादानकारण हीं सर्वप्रथम अपञ्चीकृत–विशुद्ध–तन्मात्रारूप-गुणभूतात्मक–जिन पाँच विकारकलाओं में परिणत होता है, वे पाँचों विशुद्धा विकारकलाएँ हीं क्रमशः **प्राणः–आपः–वाक्–अन्नादः–अन्नम**–इन नामों से प्रसिद्ध हैं। वैकारिकी सृटि के मूल ये ही पाँचों विकारक्षर बनते हैं। अतएव इनका साङ्केतिक नाम रख दिया जाता है–'**विश्वसृट्**'। इन्हीं के सत्त्र से वैकारिक जगत् का आविर्भाव होने वाला है। मर्त्यकलारूप–**ब्रह्मा–विष्णु–**

इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पाँच क्षरकलाओं से क्रमशः उत्पन्न **प्राणः-आपः-वाक्-अन्नाद-अन्नम्**-रूप पाँचों विकारकलाओं का सर्वहुतयज्ञ के द्वारा पञ्चीकरण होता है। इस पञ्चीकरण से पञ्चात्मक भाव में परिणत होजाने वाले ये ही पञ्चात्मक [प्रत्येक-पञ्चात्मक] पाँचों विकारक्षर-'**पञ्चजन**' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं *। आधे में प्राण-आपः-वाक् अन्नाद-अन्न, एवं शेष प्रत्येक के आधे भागों में शेष चारों की आहुति, इसी का नाम है पञ्चीकरण, जिसका अर्थ है-पञ्चात्मक प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्। '**वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः**' [व्याससूत्र] के अनुसार इनके नाम भी प्राणादि ही इसलिए रह जाते हैं कि, प्रत्येक में आधे में प्राणादि, एवं शेष में चारों रहते हैं। इसी वैशिष्ट्य से पञ्चात्मक भी प्राण कहलाया है प्राण ही, पञ्चात्मक भी आपः कहलाया है आपः ही। यही क्रम सर्वत्र द्रष्टव्य है।

६८-पञ्चीकृत विश्वसृजों के पञ्चीकरण से पञ्चजन, पुरञ्जनभावों का आविर्भाव, एवं पञ्चपञ्चीकृत पुरञ्जनों से पाँच विश्वपुरों का प्रादुर्भाव—

पञ्चात्मक उक्त पाँचों प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्-इन पञ्चजनकलाओं का पुनः पञ्चीकरण होता है। इससे पञ्चात्मक पाँचों पञ्च-पञ्चात्मक रूप में परिणत हो जाते हैं। पञ्चपञ्चीकृत ये ही पञ्चजन प्राणादि पुरभावोत्पत्ति के मूल बनते हुए-'**पुरञ्जन**' नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं। और इस संस्था में आकर इनके नामों में भी परिवर्त्तन हो जाता है। पञ्चात्मक प्राणपञ्चजन के पञ्चीकरण से उत्पन्न पुरञ्जन '**वेदपुरञ्जन**' कहलाया है, आपःपञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन **लोकपुरञ्जन**, वाक्पञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन **देवपुरञ्जन**, अन्नाद-पञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन **भूतपुरञ्जन**, एवं अन्नपञ्चजन से उत्पन्न पुरञ्जन '**पशुपुरञ्जन**' नाम से व्यवहृत हुआ है। **वेद-लोक-देव-भूत-पशु**-रूप पञ्चपञ्चीकृत इन पाँच पुरञ्जनों से ही पञ्चब्रह्मपुररूप पञ्चपुण्डीर-प्राजापत्यवल्शारूप-विश्वपुर का आविर्भाव हुआ है। इन पाँचों पुरञ्जनों में भी सर्वादिभूत बेदपुरञ्जन ही मूलाधार बनता है विश्वसंस्थाओं का, जैसा कि-'**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्म्ममे**' [मनुः] इत्यादिरूप से आरम्भ में निगमागमीय-प्रथम प्रक्रम-प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है। पञ्चधा पञ्चीकृत, अतएव पञ्च-पञ्चीकृत उक्त वेद-लोकादि पाँचों पुरञ्जनों से ही आगे जाकर क्रमशः **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा**-नामक पाँच पुर आविर्भूत होते हैं।

६९-षोडशकल षोडशीप्रजापति, एवं इस की क्षरकला से आविर्भूत-प्रादुर्भूत पञ्चकल पञ्चपर्वा विश्व, तथा समष्टिरूप-सर्वलक्षण-सर्वात्मक-प्रजापति का महामहिमामयत्त्व—

तदित्थं-अपने पञ्चकल क्षरभाग से विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन-रूपेण पञ्चपुरों को उत्पन्न कर-'**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' के अनुसार अव्यय-क्षर-से समन्वित मध्यस्थ वही अक्षरप्रजापति इन विश्वपुरों में समष्ट्या, और व्यष्ट्या उभयथा प्रविष्ट हो जाता है। अतएव यह ब्रह्मपुर-'**विशत्यत्र आत्मन्वी-अक्षरप्रजापतिरात्मा**' इस निर्वचन से-'**विश्वम**' उपाधि से समन्वित हो रहा है।

---

* यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्यऽआत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥ (शत० १४।२।१६।)

आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्रूप पञ्चकल अव्यय, अमृतब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमरूप पञ्चकल अक्षर, मर्त्यब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमरूप पञ्चकल क्षर, एवं विश्वातीत परात्पर, इन चारों की समन्वितावस्था का नाम तो है–'षोडशी-षोडशकल--प्रजापति--विश्वात्मा'। एवं इस षोडशी विश्वात्मप्रजापति के उपादानकारणात्मक--मर्त्यब्रह्मादि पञ्चकलात्मक क्षर से विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनरूपेण समुद्भूत पञ्चब्रह्मपुरसमष्टि का नाम ही है विश्वात्मगर्भीभूत--विश्व। अतएव कहा, और माना जा सकता है कि, प्रजापति ही विश्वात्मा है, एवं अपने क्षरभाग से वही विश्व है। प्रजापति के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। निम्न लिखित मन्त्रश्रुतियाँ प्रजापति की इसी महिमा का यशोगान कर रहीं हैं–

प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ —ऋक् सं० १०।१२१।४।
यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी। —यजुः सं० ८।३६

इदमत्र विशेषरूपेणावधेयम्—

१	अव्ययः ५	अक्षरः ५	आत्मक्षरः ५	विकारक्षरः	पञ्चीकृत–विकाराः	पञ्चपञ्ची–कृतविकाराः	वैकारिक-भावाः
विश्वातीतः—परात्परः	१–आनन्दः	१–अमृतब्रह्मा	१–मर्त्यब्रह्मा—	शुद्धप्राणः	पञ्चीकृतप्राणः	वेदाः	स्वयम्भूः
	२–विज्ञानम्	२–अमृतविष्णुः	२–मर्त्यविष्णुः–	शुद्धापः	पञ्चीकृतापः	लोकाः	परमेष्टी
	३–मनः	३–अमृतेन्द्रः	३–मर्त्येन्द्रः—	शुद्धवाक्	पञ्चीकृतावाक्	देवाः	सूर्य्यः
	४–प्राणः	४–अमृताग्निः	४–मर्त्याग्निः—	शुद्धान्नादः	पञ्चीकृतान्नादः	भूतानि	पृथिवी
	५–वाक्	५–अमृतसोमः	५–मर्त्यसोमः—	शुद्धान्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	पशवः	चन्द्रमाः

आलम्बनम् विश्वस्य	निमित्तम् विश्वस्य	उपादानम् विश्वस्य	विश्वसृजः	पञ्चजनाः	पुरञ्जनाः	पुराणि
विश्वाधारः	विश्वकर्त्ता	विश्वमूर्त्तिः				

विश्वात्मा–षोडशी प्रजापतिः —	विश्वम्

प्रजापतिस्त्वेवेदं–सर्वं—यदिदं किञ्च

१००-आत्मन्वी (विश्वविशिष्ट) षोडशीप्रजापति के विश्वोपाधि-निबन्धन विद्या-वेद-ब्रह्म--नामक सोपाधिक तीन विवर्त्त—

आत्मन्वी, अर्थात् विश्वविशिष्ट-षोडशी-प्रजापति के तथाकथित स्वरूप के आधार पर ही अब हमें 'विद्या' शब्द का, एवं तत्सापेक्ष प्रतिज्ञात **वेद, ब्रह्म,** शब्दों का स्वरूपान्वेषण करना है। स्वस्वरूप से एकरस-निरुपाधिक भी बने रहने वाले षोडशीप्रजापति का ज्ञानात्मक स्यरूप तीन प्रकार की विशेषोपाधियों से सोपाधिक बनता हुआ क्रमशः **वेद, ब्रह्म, विद्या,** इन तीन भावों में परिणत हो जाता है, हो रहा है। एकवर्णात्मक भी सौरप्रकाश जैसे हरित-नील-रक्त-वर्णात्मक तीन आधारपात्ररूप आदर्शों (काचों) के भेद से सोपाधिक बनता हुआ हरित-नील-रक्तरूपात्मक विभिन्न उपाधिवर्णों में प्रतीत होने लग पड़ता है। एवमेव अक्षरप्रधान षोडशीप्रजापति से अनुप्राणिता ज्ञानमात्रा भी उपाधित्रयी से समन्विता बन कर वेद-ब्रह्म-विद्या-रूपों में परिणत हो रही है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है। **शब्दोपाधि से समन्वित वही प्राजापत्य ज्ञान 'वेद' है, विषयोपाधि से समन्वित वही ज्ञान 'ब्रह्म' है, एवं संस्कारोपाधि से समन्वित वही ज्ञान 'विद्या'** है। **शब्द, विषय, संस्कार** तीनों हीं विश्वोपाधियाँ हैं। इन विभिन्न उपाधियों से ही अविभिन्न भी प्राजापत्य ज्ञान **वेद-ब्रह्म-विद्या**-रूप से प्रतीत हो रहा है। अतएव तीनों सोपाधिक-विवर्त्तों का विद्वानोंनें लक्षण किया है—

(१)—शब्दावच्छिन्नं तदेव प्राजापत्यज्ञानं——**वेदः**

(१)—विषयावच्छिन्नं तदेव प्राजापत्यज्ञानं——**ब्रह्म**

(३)—संस्कारावच्छिन्नं तदेव प्राजापत्यज्ञानं—**विद्या**

१०१-लौकिक उदाहरणविधि से 'वेद', 'ब्रह्म' तथा 'विद्या' नामक सोपाधिक प्राजापत्यरूपों का तात्पर्य्य-समन्वय—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही कि शब्दात्मक वही प्रजापति 'वेद' है, विषयात्मक वही प्रजापति 'ब्रह्म' है, एवं संस्कारात्मक वही प्रजापति 'विद्या' है। समझे नहीं ?। तो भावुकता-संरक्षिका उदाहरण-विधि को माध्यम बनाइए। ईश्वरप्रजापति का अंशभूत * मानवीय-संस्थानुगत जीवभाव ही इस उदाहरणविधि का अनुरूप उदाहरण बनेगा। राम, कृष्ण, दुर्गादत्त, घट, पट, मठ, गो, अश्व, अवि, अजादि अनेक प्रकार के शब्द आप सुनते रहते हैं। इस शब्दश्रवण के अतिरिक्त अपनी चक्षुरिन्द्रिय से भी अनेक पदार्थों को आप देखते रहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्दश्रवण से भी आपकी मानस-प्रज्ञा में शब्दवाच्य विषयों-पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। एवं चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा दर्शन से भी दृष्टिलक्षीभूत विषयों का बोध होतारहता है। यों श्रवण, तथा दर्शन, दोनों हीं माध्यमों से आपको पदार्थों का बोध होता रहता है। गोशब्द सुननेमात्र से भी आपका ज्ञान गोपशु के आकार से समन्वित हो जाता है, एवं गोपदार्थ को देखने से भी आपका ज्ञान तदाकाराकारित हो जाता है। इसप्रकार शब्द, तथा विषय के भेद से ज्ञान दो विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। इन दोनों में शब्दावच्छिन्न जो विषयज्ञान है, उसे कहा जायगा-'ब्रह्म'।

---

* **ममैवांशो जीवलोके-जीवभूतः सनातनः।** (गीता)

१०२--वेदावच्छिन्न ज्ञान, तथा ब्रह्मावच्छिन्न ज्ञान का सामान्य ज्ञानञ्च, एवं तदाधारेण चिति-सञ्चिति-रूप से अभिव्यक्त उक्थरूप सोपाधिक ज्ञान का 'विद्या'-स्वरूपञ्च—

उक्त दोनों ज्ञानभावों के अतिरिक्त एक तीसरा ज्ञानभाव और है, जिसे दर्शन की भाषा में **'पार्ष्णिज्ञान'** कहा गया है। शब्दश्रवण से, तथा विषयदर्शन से तात्कालिकरूपेण उदित ज्ञान **'सामान्यज्ञान,** कहलाया है। यही सामान्यज्ञान श्रवणानन्तर, तथा दर्शनानन्तर प्रक्रान्त रहने वाले मनन-निदिध्यासन से दृढमूल बन जाता है। सहजभाषानुसार-सामान्यज्ञान ही अनुभवपरम्परा के द्वारा आगे चल कर विशेषभाव में परिणत होता हुआ **अनुभवाहित-संस्काररूप** से समन्वित हो जाता है भूतात्मानुगता प्रज्ञा के साथ। संस्कारावच्छिन्ना इसी प्रज्ञा को विज्ञानभाषा में **'विद्या'** कहा गया है। इस संस्काररूपा विद्या का ही साङ्केतिक नाम है—**'उक्थ'**। यही उक्थ मानवजीवन की मूलप्रतिष्ठा है। उक्थ से ही अर्क विनिर्गत हैं, अर्क ही अशीतिरूप अन्न का आहरण करते रहते हैं। इन उक्थ-अर्क अशीति-भावों के धारावाहिक चङ्क्रमण का ही नाम मानव की भौतिक-जीवनीया-स्वरूपव्याख्या है। जबतक विद्यात्मक संस्कारोक्थ हैं, तभी तक आप स्वस्वरूप में (भौतिकभाव में) प्रतिष्ठित हैं। संस्काराभाव में तो आप विश्वसीमा से पृथक बनते हुए विश्वातीत हैं, मुक्त हैं, जीवन्मुक्त हैं, विदेहमुक्त हैं। विश्वसत्ता संस्कारसता पर ही अवलम्बित है। अतएव शब्दात्मक वेद, तथा विषयात्मक ब्रह्म, दोनों की अपेक्षा हम संस्काररूपा विद्या को ही प्रधानरूप से विश्वस्वरूपसम्पादिका, किंवा निर्म्मात्री कहेंगे। उसी प्राजापत्य-ज्ञान पर चिति-क्रम से संस्कारपुटों की धारावाहिक-सञ्चिति होती है। इसी संस्कार-सञ्चिति से विश्व का प्रतीयमान मूर्त्तस्वरूप आज हमारे सम्मुख समुपस्थित है।

१०३-सञ्चितसंस्काररूपा प्राजापत्यविद्या, एवं तच्चितिरूप, अतएव विद्यात्मक विश्व—

जिसप्रकार हमारा पाञ्चभौतिक विश्व (शरीर) हमारा संस्कार है, तथैव वह महाशरीर (विश्व) उस विश्वेश्वर का सञ्चित संस्कार है। इस सञ्चित संस्कारानुबन्ध से ही विश्व को निश्चयेन-**'विद्या'** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है, किया गया है, जिसके आधार पर ही-**'विश्वविद्या'-'सृष्टिविद्या'** आदि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। तदित्थं-एक ही प्राजापत्यज्ञान यों **शब्द-विषय-संस्कार**--भेद से **वेद--ब्रह्म--विद्या**--रूपों में परिणत हो रहा है। संसृष्टिलक्षण विश्व क्योंकि-सञ्चितसंस्काररूप ही है। अतएव 'विश्व' की स्वरूपव्याख्या के प्रसङ्ग में **'विद्या'** शब्द ही सर्वात्मना अनुरूप प्रमाणित हो रहा है। निगममूलक विश्व, तथा आगममूलक विश्व, दोनों हीं 'विद्या' शब्द से समन्वित हैं अपने संस्कारभाव से। अतएव विश्वविद्याविवर्त्त भी **'निगम-विद्या, आगमविद्या** रूपेण दो महिमाभावों में परिणत हो रहा है। और यही 'विद्या' शब्द का, तथा तत्-सापेक्ष वेद, एवं ब्रह्म शब्दों का प्रासङ्गिक संक्षिप्त इतिवृत्त है।

१०४-महदुक्थविद्यात्मिका विराड्विद्या, तदभिन्ना दशमहाविद्या, एवं विद्यात्मक निगमागमभावों का तात्त्विक-समन्वय—

सूर्य्य-चन्द्रमा-अग्नि-ओषधि-वनस्पति-नक्षत्र-ग्रह-कृमि-कीट-पक्षी-मनुष्य-धातु-रस-विष-आदि आदि सभी पदार्थ सञ्चित-संस्कारोक्थ-रूपमय बने रहते हुए संस्कारावच्छिन्ना 'विद्या' उपाधि से समन्वित हैं। इन सब अवान्तर छोटी-बड़ी-विद्याओं को जहाँ-**'उक्थविद्या'**त्मिका **अणुविद्याएँ** कहा जायगा, वहाँ इन समस्त उक्थविद्याओं की समष्टिरूपा-महाविश्वात्मिका विश्वविद्या को निगमदृष्ट्या **'महदुक्थविद्या'** लक्षणा

'**विराड्विद्या**' कहा जायगा, एवं आगमदृष्ट्या इसी को '**दशमहाविद्या**' कहा जायगा । निगममूला विश्वविद्या, तथा आगममूला विश्वविद्या–रूप विद्याविभेद भी केवल निरूपणीय-आधार क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाला सोपाधिक भेदमात्र ही है । वस्तुत: निगमागमतत्त्व अभिन्न वस्तुतत्त्व हैं, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है । स्वयम्भूरूप निगम, तथा सूर्य्यरूप निगम को आधारबिन्दु मान कर विश्वात्मिका महाविद्या का स्वरूप–विश्लेषण करने वाली विराड्विद्या भी विश्वविद्या ही है । एवं परमेष्ठीरूप आगम, तथा पृथिवीरूप आगम को आधारबिन्दु मान कर महाविद्या का स्वरूप-विश्लेषण करने वाली दशमहाविद्या भी विश्वविद्या ही है । दोनों हीं अपने दशावयवभाव से दश विवर्त्तभावों में विभक्त हैं । तभी तो निगमविद्या को–'**विराड्विद्या**' कहना, एवं आगमविद्या को '**दशमहाविद्या**' कहना अन्वर्थ बन रहा है । विश्व का क्या स्वरूप है ?, विश्व का आधार कौन है ?, विश्वस्वरूपबोध से मानव अपनी आचारपद्धतियों में कैसा क्या उत्कर्ष कैसे प्राप्त कर सकता है ?, इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नों के समाधान के लिए ही निगमागमाचार्य्यमहर्षियों के द्वारा निगमशास्त्र–आगमशास्त्र–भेद से निगमात्मिका विराड्विद्या का, तथा आगमात्मिका दशमहाविद्या का स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिसके इस समसमन्वय का समतुलन करते हुए दोनों विद्या–क्षेत्रों का सहज–सम्बन्ध जान लेना तो असाधारणी-अलौकिकी ऋषिप्रज्ञा से ही अनुप्राणित है । मादृश प्राकृत जन्तु तो इनके नामस्मरणमात्र से ही स्वस्वरूपेण सर्वात्मना विमुग्ध है ।

१०५--शक्तिपूजनात्मक महान् सांस्कृतिक--विजयदशमीपर्व, एवं तत्प्रतिष्ठारूपा आगमीया दशमहाविद्या (पृथिवीमूला सृष्टिविद्या)--

लक्ष्यीभूत है विजयदशमी–पर्व, जिसके प्रसङ्ग से ही निगमागमचर्चा प्रक्रान्त हो पड़ी है, एवं निगमागमप्रसङ्ग से ही 'विद्या' शब्द का प्रासङ्गिक समन्वय उपस्थित हो पड़ा है । विजयदशमी–पर्व का अर्थ है नवरात्रान्त में व्यवस्थित विजया--दशमी को सम्पन्न होने वाला महान् पर्व । यों '**दशरात्रिभाव**' इस पर्व नाम से ही स्वत: ही समवेत है इस प्रसङ्ग में । **शक्ति–उपासनात्मक**, एवं **शक्तिपूजनात्मक** यह महापर्व वस्तुतः आगमानुगत पर्व ही माना जायगा । क्योंकि शक्तिरूप मातृभाव आगमशास्त्र का ही मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । निगमशास्त्र जहाँ पुरुषरूपेण विश्वविद्या का स्वरूपविश्लेषक है *, वहाँ आगमशास्त्र प्रकृतिरूपेणैव विश्वविद्या का स्वरूप–विश्लेषक बना हुआ है । वही आगमशास्त्रीया महाविद्या–'**दशमहाविद्या**' नाम से प्रसिद्ध है, जो विजयदशमी–पर्व की मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है । निगममूला विराड्विद्या, एवं आगममूला दशमहाविद्या 'दशावयवा' क्यों, कैसे बन गई ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न भी समाधान की अपेक्षा रख रहा है । अतएव दो शब्दों में इसका भी समन्वय कर लेना अनुरूप ही मान लिया जायगा ।

विद्या 'शब्द' का चिरन्तनेतिवृत्त उपरत

—२—

---

*–पुरुष एवेदं सर्वं-यद्भूतं-यच्च भाव्यम् (यजुःसंहिता) ।

३–'दशमहाविद्या' शब्द का चिरन्तनेतिवृत्त

१०६–महर्षि बाध्वाभिमत छन्दःपुरुष–वेदपुरुष-महापुरुष–शरीरपुरुष–नामक चार पुरुष-विवर्त्त, एवं इन का कालपुरुष–यज्ञपुरुष–नामक दो विवर्त्तों में अन्तर्भाव—

'तत्तु समन्वायात्' लक्षण वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार पूर्व के निगमागमशब्देतिहासप्रसङ्गों में प्रकृति–पुरुष के समन्वय को ही विश्वनिर्म्माण का मूलाधार बतलाया गया है। जिस पुरुष के साथ प्रकृति देवी का समन्वय होता है, उस पुरुष के दो प्रधान विवर्त्त मानें हैं निगमशास्त्र नें, जो क्रमशः **कालपुरुष**, एवं **यज्ञपुरुष**–नामों से प्रसिद्ध हैं यत्र तत्र सृष्टिप्रसङ्गों में, जिन इन दोनों स्वरूपों का दिग्दर्शन श्वेतक्रान्ति-निबन्ध के चतुर्थ खण्ड में हीं देखना चाहिए। प्रकृत में तो इन दोनों महापुरुषों का नामस्मरण–मात्र ही कर लिया जाता है। भगवान् ऐतरेय नें **महर्षि बाध्व** के दृष्टिकोण को आधार मानते हुए जिन चार पुरुषों की मीमांसा की है, उनमें आदि के **छन्दःपुरुष**, तथा **वेदपुरुष**, इन दो का तो 'कालपुरुष' में अन्तर्भाव है। एवं अन्त के **महापुरुष, शरीरपुरुष, (ईश्वरीय यज्ञपुरुष, और मानवीय यज्ञपुरुष)** इन दोनों का यज्ञपुरुष में अन्तर्भाव है। यों ऐतरेयसम्मत, किंवा महर्षि बाध्यसम्मत चारों पुरुषों का **काल–यज्ञ–भेद** से दो पुरुषों में हीं अन्तर्भाव हो जाता है ÷।

१०७–अनन्त-व्यापक कालपुरुष, एवं सादि--परिच्छिन्न-यज्ञपुरुष, तथा कालपुरुष के सोपाधिक--अमृत–मर्त्यभाव—

दोनों में कालपुरुष अनादि है, व्यापक है, यज्ञपुरुष सादि है, परिच्छिन्न है। स्वयं यज्ञपुरुष (सम्वत्सर) भी कालपुरुष को आधार बना कर ही विश्वनिर्म्माण में समर्थ होते हैं। उस महाकालात्मक–कराल–काल के निःसीम उदर में यज्ञपुरुषानुगत अनन्त–असंख्य विश्वचक्र बुद्बुद्वत् इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। मन्त्रसंहिताओं में 'काल' नाम से प्रसिद्ध यही पुरुषतत्त्व उपनिषदों में मायातीत–मायाप्रवर्त्तक–सर्वातीत–सर्वरूप **'परात्पर'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। सर्वमृत्युबल (सर्वबलविशिष्ट) सर्वामृततत्त्व (सर्वरसतत्त्व) मूर्त्ति तत्त्व ही परात्पर का तटस्थ यशोवर्णन है। अमृततत्त्व सत् है, मृत्यु तत्त्व असत् है।

अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावमृतमाहितम् (शत० १०।५।२।)
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः (ईश–उपनिषत्)

१०८–नासदासीन्नो सदासील्लक्षण महाकालकरालात्मक-कालपुरुषरूप परात्परब्रह्म के तटस्थ लक्षण—

उक्त वचनों के अनुसार रसात्मक सत्–अमृत, तथा बलात्मक असत्–मृत्यु, दोनों हीं तत्त्व दोनों में अन्तरान्तरीभावसम्बन्ध से ओतप्रोत हैं। दोनों में अमृतरस निरञ्जन–निर्गुण–शान्त–शाश्वत–अभय–पूर्ण–

÷–'चत्वारः पुरुषाः' इति बाध्वः--शरीरपुरुषः (मानवः), छन्दःपुरुषः (पुरभावः), वेदपुरुषः (अपौरुषेयः), महापुरुषः (ईश्वरः)-इति। --ऐतरेय–आरण्य ३।२।३।

मृत्युलक्षण है, तो दूसरा मर्त्य बल साञ्जन–सगुण–अशान्त–अशाश्वत–अभय–अपूर्ण–एवं स्वलक्षण है। तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी दोनों नित्य अविनाभूत हैं। दोनों में कौन आधार है ?, कौन आधेय है ?, प्रश्न सर्वथा अनतिप्रश्न है, असमाधेयप्रश्न है। दोनों में एक सर्वथा 'सत्' ही है, जिसका कदापि विनाश सम्भव ही नहीं है। दूसरा सर्वथा 'असत्' ही है, जिसका स्वरूप विनाशलक्षण मृत्युभाव ही है। इसी आधार पर तो–'**अमृतं चैव मृत्युश्च, सदसच्चाहमर्जुन !**' (गीता) इत्यादि स्मार्त्त सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। वह क्योंकि केवल 'असत्' ही नहीं है। इसलिए तो उसे '**असत्**' नहीं कहा जासकता। वह क्योंकि केवल 'सत्' भी नहीं है। अतएव उसे '**सत्**' भी नहीं कहा जासकता। सत्, और असत् में परस्पर अत्यन्त विरोध है। अतएव उसे '**सदसत्**' भी नहीं कहा जासकता। सदसत् के अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं है। इसलिए उसे सदसत् से अन्य भी नहीं कहा जासकता। यों कुछ भी तो नहीं कहा जासकता-उस अतद्व्यावृत्त–अनिर्वचनीय–अवाङ्मनसगोचर–मायातीत–मायाप्रवर्त्तक कालपुरुषात्मक परात्पर के लिए। इसी तथ्य का रहस्यपूर्ण भाषा में दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि को अन्ततोगत्वा यही कह देना पड़ा कि—

नासदासीत्–नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ॥
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ॥
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥

—ऋक्सं० १०।१२९।१,२,।

नैष वा इदमग्रे–असदासीत्, नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे–नेवासीत्। तस्मादेतत्–ऋषिणाभ्यनूक्तं–'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'–इति। (शत० १०।४।१)।

१०९–महाकालात्मक कालपुरुष की महाशक्ति-सदसद्विलक्षणा--नासदासीन्नो सदासील्लक्षणा महामाया का तटस्थ लक्षण—

तथाभूत किसी अज्ञात–अप्रतर्क्य–अचिन्त्य–अलक्षण–विश्वातीत तत्त्व का नाम हीं 'परात्पर' है, एवं वही 'कालपुरुष' नाम से उपवर्णित है। उस महाकालात्मक परात्परब्रह्म में प्रतिक्षण विलक्षण मायाबलों का आविर्भाव–तिरोभाव होता रहता है। जिसप्रकार दिग्देश–कालापेक्षया अनन्त, किन्तु संख्या से एक महासमुद्र में दिग्देशकालापेक्षया सादि–सान्त, किन्तु संख्या से अनन्त–असंख्य बुद्बुद्, किंवा तरङ्गें आविर्भूत-तिरोभूत होतीं रहतीं हैं, ठीक इसीप्रकार मानो दिग्देशकाल से सादि–सान्त, किन्तु संख्या से अनन्त–असंख्य,–सीमाभावोत्पादक मायाबल तरङ्गवत् प्रतिक्षण विलक्षणरूप से नवीन नवीनरूपेण आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं। परात्पर का ही बलभाग 'माया' तत्त्व है, जो परात्परवत् ही सदसद्विलक्षण बनता हुआ अनिर्वचनीय–अचिन्त्य–विलक्षण तत्त्व ही प्रमाणित हो रहा है, जैसा कि आगमाचार्य्योंनें '**नासदासीन्नो सदासीत्**' इत्यादि निगमवचन के आधार पर ही माया के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—

न सती सा, नासती सा, नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

११०–विश्वातीत- परात्पर–परमेश्वररूप–महाकालपुरुष की कालनिबन्धना नैगमिक-स्तुति—

प्रतिक्षण विलक्षण नित्य अशान्त बलों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले, रसदृष्टया सदा ही नित्य-शान्त बने रहने वाले परात्परब्रह्म मानों नित्य-अशान्तिगर्भित-नित्य शान्तिस्वरूप ही हैं। शान्त-अमृतरसतत्त्व की अपेक्षा से जहाँ वे ही परात्पर सर्वथा कम्परहित प्रमाणित होते हुए 'अनेजत्' हैं, वहाँ अशान्त मर्त्य–बलतत्त्व की अपेक्षा से वे ही परात्पर सर्वथा कम्पात्मक प्रमाणित होते हुए–'एजत्' भी हैं। उनके इसी विलक्षण–अचिन्त्य–अरूपात्मक स्वरूप को लक्ष्य बना कर ऋषि को यही कह देना पड़ा है तत्सम्बन्ध में कि—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
तदेति, तन्नैजति, तद्दूरे, तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः (ईशोपनिषत् ४,५।)।

मृत्युरूप जो मायाबल उस परात्परांश को, किंवा प्रत्यंश को ससीम बना देता है, जिस मायाबल के प्रभाव से **विश्वातीत परात्पर** को आगे चल कर अपने इसी प्रत्यंशरूप से मायामय-मायी–**विश्वचर–पुरुष** बन जाना पड़ता है, जो बलात्मिका मायाशक्ति (पराशक्ति) उस महाकालात्मक परात्पर को पुरानुगत केन्द्र-भाव से समन्वित कर केन्द्रानुगत–मन से अनुप्राणिता अशनाया के माध्यम से अन्नाहरणद्वारा 'यज्ञपुरुष' रूप में परिणत कर देती है, वही महामाया आगमशास्त्र में **'प्रकृति'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसी के समन्वयानुग्रह से कालपुरुष अपने यत्किञ्चित् प्रदेश से सीमित बनता हुआ मनोमयी विश्वकामना का वशवर्त्ती बन जाता है, जिसका–**'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सो ऽश्राम्यत्'** इत्यादि निगमवचनों से स्पष्टीकरण हुआ है। एक एक मायाबल एक एक विश्वपुरचक्र का अधिष्ठाता–प्रवर्त्तक–सर्ज्जक बन रहा है। अतएव संसिद्ध है कि, अनन्त–असंख्य–मायाबलात्मक परात्पर के क्रोड़ में असंख्य ही विश्वचक्र समाविष्ट हैं। परमभाग्यशालिनी भारतीया संस्कृतिनिष्ठा–आस्तिकप्रजा की सहज भावना–**'जा के रोम-कोटि ब्रह्मण्डा'** रूप से इसी रहस्य का सहज रूपेणैव स्पष्टीकरण कर रही है। अनन्त–असंख्य–विश्वाधिष्ठाता वह परात्पररूप कालपुरुष नियतिर्दण्डरूप प्रचण्ड खड्ग हाथ में लेकर मानो सब पर अज्ञातरूपेण प्रचण्ड शासन ही कर रहा है। सप्तलोक, चतुर्द्दश भूतसर्ग, सम्पूर्ण विश्वचक्र, सब कुछ उसी से उसी के क्रोड़ में आविर्भूत–तिरोभूत होते रहते हैं। इसी सर्वेसर्वा कालपुरुष का यशोवर्णन करते हुए महर्षि (अथर्वश्रुति) कह रहे हैं कि—

(१)–कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥
(२)–सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभी रमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्, कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥

(३)-स एव संभुवनान्याभरत्, स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥
(४)-कालोऽमूं दिवमजनयत्, काल इमाः, पृथिवीरुत ।
कालेन भूतं-भव्यं-चेषितं ह वि तिष्ठते ॥
(५)-काले तपः, काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः (यज्ञपुरुषस्य) ॥
(६)-कालः प्रजा असृजत, कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः-कश्यपः (सूर्य्यः) कालात्, तपः कालादजायत ॥
(७)-कालेयमङ्गिरादेवो-अथर्वा चाधितिष्ठतः ।
इमञ्च लोकं परमञ्च लोकं पुण्याँश्च लोकान्, विधृतीश्च पुण्याः ॥
सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥

*—अथर्वसंहिता १९।६।५३-५४-

१११-अनुपाख्य-अनिरुक्त-निरुक्त-भेद से 'कृष्ण' भाव के तीन विभिन्न विवर्त्त—

वैज्ञानिक महर्षियोंनें सुप्रसिद्ध 'कृष्ण' शब्द के चिरन्तनेतिहास के प्रसङ्ग में **अनुपाख्यकृष्ण, अनिरुक्तकृष्ण, निरुक्तकृष्ण**, भेद से तीन विवर्त्तों का स्पष्टीकरण किया है। जिसे-'**तम**' कहा गया है, वही यहाँ '**कृष्ण**' नाम से परिगृहीत है, जो त्रिविध महिमाभावों में विभक्त है । काला रँग, कोयला, काली श्याही, डामर, काला कज्जल, काले मेघ, आदि आदि रूप से चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट, एवं धामच्छद-रूपेण स्पर्श-ग्रहणादि-उपयोगभावों से समन्वित, लोकप्रसिद्ध कृष्णवर्णात्मक भूत-भौतिक पदार्थ हीं **निरुक्तकृष्णात्मक निरुक्ततम** हैं, जिनका सर्वात्मना भूतभाषा में भूतधर्म्ममाध्यनेन निर्वचन होता रहता है, और यही इस भौतिक कृष्ण की निरुक्तता है ।

रात्रि का निबिडान्धकार भी कृष्ण है, नेत्रपटलों को अवरुद्ध कर लेने पर जो कुछ प्रतीत होता है, वह भी कृष्ण ही है । इत्थंभूत तमोभावों का चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष तो हो रहा है, किन्तु वागिन्द्रिय इन का न तो स्वरूपवर्णन ही कर सकती, न इन के साथ स्पर्शादि उपयोगभावों का ही कोई सम्बन्ध । विश्वसत्ता निरुक्ता है, यही अहःकाल है, यही सृष्टि का स्वरूप है । रात्रिकाल सर्वथा अनिरुक्त है, यही खण्डप्रलय का प्रत्यक्ष स्वरूप है । अतएव रात्र्यादि का तम '**अनिरुक्ततम**' ही मान लिया गया है ।

---

* अथर्वसंहिता के दोनों कालसूक्तों में कालपुरुष का, तदनुबन्धी सापेक्ष दिग्-देश-काल-भावों का जैसा रहस्य-पूर्ण समन्वय हुआ है, उसके स्मरणमात्र से ही हमारी जड़प्रज्ञा स्तब्ध हो रही है । इसी स्तब्धता के समन्वय के लिए उक्त मन्त्रात्मक दोनों कालसूक्तों के अक्षरार्थमात्ररूपेण स्वतन्त्र निबन्ध उपनिबद्ध हुआ है, जो सातसौ (७००) पृष्ठात्मक-'**दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा**' नाम से अनुगत है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

११२–तम आसीत्–तमसा गूढमग्रे का तात्त्विक समन्वय—

अब तीसरा वह अचिन्त्य तम उपस्थित होता है, जिसका विश्वसीमा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जब कुछ न था, तो क्या था ?, कदापि इस विश्वातीता स्थिति का हमें यत्किञ्चित् भी तो बोध नहीं है। हमारे लिए तो समझ में न आने वाला–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–घोर–घोरतम तम ही था विश्वाभाव में। विश्वातीत तत्त्व हमारी प्रज्ञा की तटस्थता से ही '**अनुपाख्यतम**' नाम से प्रसिद्ध हो गया है। यह अनुपाख्यतम महाप्रलयकाल में प्रलयाधिष्ठात्री महारात्रि (महाकाली) के अनिरुक्त तमोभाव से ही आसमन्तात् परिवेष्टित रहता है। इसी तमोविज्ञान को लक्ष्य में रख कर अनिरुक्ततम (महाकाली रूपा महारात्रि) से आवृत अनुपाख्य तम (महाकालरूप परात्पर) की ओर काली उपासकों का ध्यान आकर्षित करते हुए ऋषि कह रहे हैं—

तम आसीत्तमसा गूह्लमग्रे-अप्रेकतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभिपिहितं यदासीत्-तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

—ऋक्सं० १०।१२६।३।

११३–'असदेवेदमग्र आसीत्, तत् सदासीत्' का तात्त्विक समन्वय—

तथोपवर्णित, विश्वातीत, अनुपाख्यतम ही आपका सुपरिचित परात्पररूप 'कालपुरुष' है, जिसे कि निर्वचनभाषा में '**विश्वाभावरूप**' ही तो कहा जायगा। अतएव तत्त्वतः सर्वथा सद्रूप (रसदृष्ट्या) होने पर भी हमारे ऐन्द्रियक ज्ञान से एकान्ततः अतीत होने के कारण ऋषि उसे सामान्यरूपेण यत्र तत्र–'**असत्**' भी कह दिया करते हैं। लोकसामान्य–प्रज्ञा में 'असत्' का अर्थ 'अभाव' है। कदापि इस ऋषिप्रयुक्त 'असत्' शब्द का अर्थ 'अभाव' नहीं है। किन्तु वह इस सद्विश्वापेक्षया कहीं विलक्षण सद्रूप है। इस वैलक्षण्य मात्र को सूचित करने के लिए ही ऋषिनें सर्वथा 'सद्रूप' भी उस अनुपाख्यतमोरूप कालपुरुष को 'असत्'-नाम से व्यवहृत कर दिया है, जो तत्त्वतः सद्घन (रसघन) ही प्रमाणित हो रहा है। देखिए !

असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। कथमसतः सज्जायेत। तत् समभवत्। तत आण्डं निरवर्त्तत।

११४–'एकोऽहं, बहु स्याम्' मूला प्राजापत्य–कामना का स्वरूपदिग्दर्शन—

वही असत्, किन्तु तत्त्वतः सत् कालपुरुष महामाया से परिच्छिन्न हो जाता है। अपरिमित–असीम में, किसी वस्तुभाव का अभाव नहीं। अतएव वह आप्तकाम है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना का उदय हुआ करता है। उस व्यापक के लिए कुछ भी तो प्राप्तव्य नहीं है। अतएव उस में कामनामात्र का अत्यन्ताभाव है। अतएव च वह सर्वथा अकाम–निष्काम है। किन्तु इसी का मायाशबलित-मायी प्रदेश सीमात्मक पुरभाव से स्केन्द्र-समनस्क बनता हुआ काममय प्रमाणित हो जाता है। इसी मायी पुरुष की कामना का–'**एकोऽहं बहु स्याम**' इत्यादिरूप से सङ्केत हुआ है। मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं उस मायीपुरुष में हृदयबल (केन्द्रशक्ति) का आविर्भाव हो पड़ता है। रसबलात्मक–केन्द्रस्थ–वही कामनामय तत्त्व विज्ञानभाषा में–'**श्वोवसीयसमन**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। कामना मानसिक आभ्यन्तर–व्यापार है।

एवं–'**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**' के अनुसार मन हृदय में हीं प्रतिष्ठित माना गया है। सर्वप्रथम इस काममय मायी मन से विश्वरेतोभूता (विश्वोपादनकारणरूपा) कामना का ही आविर्भाव होता है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋक्सं० १०।१२९।४।

११५–महाकालपुरुष के आधार पर यज्ञपुरुष का आविर्भाव—

मायामय पुरुष की हृदयबलानुगता कामना से ही तो विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनादि धारावाहिक क्रमानुपात से सर्वप्रथम उस वेदपुरञ्जन का ही आविर्भाव होता है, जिससे सम्बन्ध रखने वाले निगमागमभावों का पूर्व परिच्छेदों में यशोगान किया जाचुका है। तत्रैव यह सर्वात्मना स्पष्ट किया जाचुका है कि, **ऋक्–साम, यत्**, जू भेद से चतुष्पर्वा बना हुआ निगमपुरुष, एवं–**आपः–वायु–सोम,–अग्नि–यम–आदित्य**–रूप षड्विध भृग्वङ्गिरोमय आपःरूपा आगमप्रकृति, इन दोनों स्त्रीपुरुषों की दशावयव दश कलाओं से ही विराट-मूर्त्ति–दशावयव विराट्सूर्य्य–नारायण का प्रादुर्भाव हुआ है *। **ऋक्–साम–यत्–जू–रूप चतुष्पर्वा त्रयीब्रह्म ही अग्निपुरुषस्थानीय है, एवं आपः–वायुः–सोमादिरूप–षट्पर्वा–अथर्व–सुब्रह्म ही सोमप्रकृतिस्थानीय है**। इन अग्नि–सोम-भावों से ही हिरण्मयाण्डवृत्तावच्छिन्न विराट्पुरुष का आविर्भाव हुआ है। अतएव अवश्य ही इसे (अग्नि–सोम के दाम्पत्यभाव से) '**यज्ञपुरुष**' कहा जासकता है। और यों विश्वातीत–परात्पर–कालपुरुष ही मायाबलानुग्रह से पूर्वप्रतिपादिता–षोडशीप्रजापतिरूपा सृष्टिधारा के क्रमानुपात से विराट्रूपेण दशावयवमूर्त्ति '**यज्ञपुरुष**' रूप में परिणत हो रहा है।

११६–दशहोतुरनुगत यज्ञपुरुष की दशावयवता, एवं तन्मूला वैराजिकता—

दूसरे शब्दों में–कालपुरुष का मायामय–प्रत्यंशरूपात्मक,–'**तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः**' (मनुः १।३३) इत्यादि मानवीय–सिद्धान्तानुसार सृष्टिकर्त्ता–दशाक्षरमूर्त्ति विराट्पुरुष ही दूसरा 'यज्ञपुरुष' नामक विवर्त्त है। इसी से क्योंकि सम्पूर्ण त्रैलोक्य–प्रजाओं का आविर्भाव हुआ है। अतएव तत्पतित्वेन इसे '**प्रजापति**' कह देना भी सर्वथा अन्वर्थ है। विश्व समष्टिरूप से, तथा व्यष्टिरूप से उभयथा यज्ञपुरुषात्मक बनता हुआ अग्नीषोमात्मक ही है, विराट्रूप ही है। यह विराट्रूप यज्ञप्रजापति क्योंकि दशावयव है। अतएव प्राजापत्या विश्वविद्या को पूर्वोक्ता–निगमागमविद्याओं के आधार पर हम अवश्य ही दशावयवा कह सकते हैं। यही यज्ञिय–दशावयवभाव यत्रतत्र **दशहोता–दशाह–विराट्–वैराज**–आदि विभिन्न नामों से उपवर्णित है। निम्न लिखित वचन विस्पष्ट शब्दों में विराट्–मूर्त्ति–यज्ञपुरुष की इसी दशावयवता का समर्थन कर रहे हैं—

---

*-**द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।**
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥ —मनुः १।३२।

१-यज्ञो वै दश होता (तै० ब्रा० २।२।१।६) ।

२-विराट्-वा एषा समृद्धा, यद्दशाहानि (तां० ब्रा० ।८।६।) ।

३-विराट्-वै यज्ञः (शत० १।१।१।) ।

४-दशाक्षरा वै विराट् (शत० १।१।१।) ।

५-यज्ञ उ वै प्रजापतिः (कौ० ब्रा उप० १०।१।) ।

६-प्रजापतिर्वै दशहोता (तै० ब्रा० २।२।१।६।) ।

७-अन्तो वा एष यज्ञस्य-यद्दशममहः (तै० ब्रा० १।२।६।१।) ।

८-प्रतिष्ठा दशममहः (कौ० ब्रा० उप०२८।२।) ।

९-एतद्वै कृत्स्नमन्नाद्यं, यद् विराट् (कौ० ब्रा० उप० १४।२।) ।

१०-विराट्-विरमणात्-विराजनाद्वा (देवताब्रा० उ० ३।१२।) ।

११७-'यद्वै न्यूनं-तत्पूर्णं, यत्पूर्णं-तन्न्यूनम्' का समन्वय, एवं सृष्ट्याधारभूत न्यून-विराट्स्वरूप-यज्ञपुरुष—

'यद्वै न्यूनं, तत पूर्णम्'-'यतपूर्णं-तत्-न्यूनम्'-मूलक-'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते (११।१।२।४) इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार न्यूनविराट्रूप यज्ञपुरुष ही सृष्टि के प्रवर्त्तक बना करते हैं। कदापि पूर्ण से सृष्टि नहीं होती। इसीलिए अपूर्ण को पूर्णभाव मान लिया है यहाँ के सांस्कृतिक-आचारों में। पूर्णता में अवसानात्मक वह यमभाव (मृत्युभाव) आक्रमण कर बैठता है, जिसका-'ददात्-यमोऽवसानं पृथिव्यै' इत्यादि वचन से स्पष्टीकरण हुआ है। अपूर्णता में उत्तरानुगामिनी-समृद्धि प्रक्रान्त रहती है। अतएव दक्षिणा-विधान में ११-२१-५१-१०१-इत्यादिरूपेण अपूर्णभाव ही समाविष्ट कर लिए गए हैं। श्राद्धकर्म्म क्योंकि प्रकृत्यैव यमकर्म्म बनता हुआ अवसानात्मक ही है। अतएव श्राद्धदक्षिणा पूर्णा ही होती हैं। युक्तं चैतत्। पुरुष-पुरुष के संयोग से, स्त्री-स्त्री के संयोग से कदापि सृष्टि सम्भव नहीं है। पुरुष के वृषाप्राण, तथा स्त्री के योषाप्राण के दाम्पत्य से ही सर्ग प्रवृत्त होता है। स्त्री सौम्या बनती हुई 'भोग्या' है, पुरुष आग्नेय बनता हुआ भोक्ता है। अतएव स्त्रीभाव पुरुषभावापेक्षया-'न्यून' है। इस न्यूनसम्बन्ध से ही प्रजोत्पत्ति व्यवस्थित है। उधार विराट्संस्था में भी त्रयीब्रह्म आग्नेय बनता हुआ भोक्ता है, तो सुब्रह्मपर्व सौम्य बनता हुआ भोग्य है। ब्रह्म प्राण है, सुब्रह्म रयि है। प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य में इन प्राण-रयि-भावों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। निवेदन-निष्कर्ष यही है कि, दशाक्षर-समन्वित पूर्ण विराट् से सृष्टि नहीं होती। अपितु नवाक्षर [९] समन्वित न्यूनविराट् ही प्रजासर्ग का अधिष्टाता बनता है। एकाक्षर की न्यूनता से भी विराट् के विराट्त्व की कोई क्षति नहीं होती, जैसा कि-'न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम' इत्यादि छन्दःसिद्धान्त से स्पष्ट है।

११८--यज्ञविराट् के मूलभूत स्वायम्भुव--पारमेष्ठ्य--दाम्पत्य की तत्त्ववेदात्मिका न्यून--वैराजिकता का समन्वय—

हाँ, तो अपनी प्रज्ञा में इस स्थिति का समन्वय कीजिए कि, इस दृष्ट से पूर्व कुछ न था। सर्वत्र अनुपाख्यतम का ही साम्राज्य था, जिसे महाकालपुरुष कहा गया है। जोकि सर्वात्मना पूर्ण है, असद्रूप से उपगीयमान सद्रूप है। इस पूर्णता का अर्थ ही बना **'शून्यभाव'**। तभी तो ज्यौतिषशास्त्र शून्य-बिन्दु को 'पूर्ण' कहता है। यही उस ब्रह्माक्षर का प्राथमिक–पूर्ण–उन्मुग्ध स्वरूप है। इसी से नवाक्षरविराट्पुरुषरूप यज्ञपुरुष का सर्वप्रथम आविर्भाव होता है। यत्–और-जू-की उन्मुग्धावस्था एक–'यजुः' ही है। अतएव **ऋक्[१]–साम[२]–यत्[३]–जूः[४]**–इन चार पर्वों के स्थान में **ऋक्[१]–साम[२]–यजुः[३]**–ये तीन ही पर्व प्रधान बन जाते हैं। ६ पर्व सुब्रह्म के हैं। यों ३+६ के समन्वय से प्रादुर्भूत विराट्पुरुष नवाक्षरभाव में परिणत होता हुआ 'न्यूनविराट्' भाव से ही शेष रह जाता है। फलतः १० संख्या के स्थान में "०–१–२–३–४–५–६–७–८–९" यह नवाक्षरवितान ही प्रमुख बन जाता है।

११९--'नवो नवो भवति जायमानः'–मूला न्यूनविराट्लक्षणा नवसंख्या की नवधा--वितानात्मिका नवीनता—

स्थिति का थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लीजिए। 'भारतीय संख्याविज्ञान नें– **नवो नवो भवति जायमानः**' इत्यादि मन्त्रश्रुति के अनुसार नवभावात्मिका [नवीनभावात्मिका] नवसंख्या (९) को ही प्रधानता दी है। मूलसंख्या '९' पर ही परिसमाप्त है। अर्बुद–खर्बुद–न्यर्बुद–परमपरार्ध्यादि समस्त संख्याराशियों का ९ संख्या के विराट्–उदर में हीं अन्तर्भाव होजाता है। अतएव इसे अवश्य ही–**'महासंख्या'** [विराट्संख्या] कहना अन्वर्थ बन रहा है। मूल में पूर्णरूपा शून्य बिन्दु है। उसी से क्रमशः **१–२–३–४–५–६–७–८–९**–इन ९ नौ संख्याओं का वितान–विस्तार–हुआ है। ९ के समाप्त होते ही शून्य के साथ पुनः १ का सम्बन्ध हो जाता है, यही १० है। पुनः ११--१२--१३--आदि क्रम से १९ पर समाप्ति है। अनन्तर शून्य के साथ २ का सम्बन्ध हो जाता है, यही '२०' है। २९ पर इसकी समाप्ति है। इसी धारावाहिक क्रम से ९--९--के व्यूहन से ही संख्याओं का वितान प्रक्रान्त होता रहता है। इसीलिए तो केवल ९ संख्या के अतिरिक्त अन्य किसी भी १--२–३–४–आदि संख्या का सङ्कलनफल समान नहीं रहने पाता। '९' संख्या में से '१' को पृथक् कर इसके साथ '८' का योग करा देने से '१८' होंगे, दोनो का संकलनफल '९' ही होगा। एवमेव २ में ७ के योग से, ३ में ६ के, ४ में ५ के, ५ में ४ के, ६ में ३ के, ७ में २ के, ८ में १ के संकलन से सम्पन्न होनें वाले २७–३६–४५–५४–६३–७२–८१–के संकलनफल अन्ततोगत्त्वा '९' पर ही विश्रान्त हो जायँगे। १० वाँ वही शून्यरूप परिपूर्णभाव होगा, जो मूलाधार होने से सर्वादि में प्रतिष्ठित माना जायगा। अतएव भारतीय परिभाषा में गणनशिक्षा का प्रकार १ से १० पर्यन्त का नहीं है। अपितु शून्य से ९ पर्यन्त के क्रम को ही यहाँ प्रधानता दी गई है। इस संख्यासम्पत्–विज्ञान का वैदिकविद्याओं में अत्यन्त ही महत्त्व माना गया है। बिना संख्याविज्ञान के वैदिक--तत्त्वविद्याओं का समन्वय ही असम्भव बन जाता है।

१२०-दशममहः से समन्विता न्यूनविराट् की पूर्णता, और दशावयव पूर्णपुरुष—

सर्वाधारभूत--पूर्णरूप--शून्यभाव [बिन्दु] ही महाकाल का प्रतीक है। इस शून्यरूप पूर्ण महाकाल के महिमामय महान् उदर में नवाक्षरमूर्त्ति--विराट्पुरुष समाविष्ट है। इनमें शून्यरूप पूर्णरूप को ही दसवाँ [पहिला] 'प्रतिष्ठा' नामक 'अहः' बतलाया है यज्ञपरिभाषा की दृष्टि से, जैसा कि--'**प्रतिष्ठा वा दशममहः**'--'**अन्तो वा एष यज्ञस्य--यद्शममहः**' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। दशम -अहोरूप--शून्यात्मक--पूर्णरूप--यज्ञपुरुषविशिष्ट--सर्वव्यापक--इसी पूर्णेश्वर का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति ने कहा है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

१२१ दशावयव-विराट्पुरुषानुगता पूर्णभावात्मिका शून्यबिन्दु, एवं तन्मूला विराड्-भावात्मिका दशमहाविद्या—

१० संख्याओं में 'एक' का स्वतन्त्र विभाग है। यही शून्य ० विन्दु है। और यही कालपुरुषानुगत यज्ञपुरुषरूप दशावयव विराट्पुरुष की संक्षिप्ता स्वरूपव्याख्या है, जिसके आधार पर ही निगमविद्या, तथा आगमविद्याएँ दशावयवा बनी हुई हैं। एक ही अवारपारीण पुरुष आरम्भ में '**कालपुरुष, यज्ञपुरुष** भेद से दो विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्त्वा दशविध–पुरुषभावों में परिणत हो रहा है। पुरुषतत्त्व प्रकृतितत्त्व से अविनाभूत है। निगममूलक आगमशास्त्र सृष्टिविद्यात्मिका इन दशविध शक्ति-प्रकृति-विवर्त्तों का ही स्वरूपदिग्दर्शन करा रहा है, जो कि आगमीया सृष्टिविद्या दशावयवरूपत्त्वेनैव–'**दसमहाविद्या**' नाम से प्रसिद्ध हुई है।

१२२–आगमशास्त्र में उपवर्णिता दस महाविद्याएँ :—

अन्यतम रहस्यपूर्णा, अतएव अत्यन्त ही दुरधिगम्या आगमीया ये दसों महाविद्याएँ क्रमशः **१–महाकाली, –उग्रतारा, ३–षोडशी, ४–भुवनेश्वरी, ५–छिन्नमस्ता, ६–भैरवी, ७–धूमावती, ८--वल्गामुखी (वर्त्तमान में बगलामुखी), ९--मातङ्गी, १०--कमला**, इन पावनतम अभिधाओं से प्रसिद्ध हैं। अब यह नैगमिक–प्रज्ञाशीलों की नैष्ठिक–प्रज्ञा का महान् उत्तरदायित्त्व है कि, वे इन दसों महाविद्याओं के नैगमिक मूलों का अन्वेषण कर निगमतत्त्व के साथ इस आगमतत्त्व का समन्वय ढूँढ निकालें, जिससे आगमशास्त्रानुगता उस भ्रान्ति का सर्वथा ही मूलोच्छेद हो जाय, जिस भ्रान्ति ने आगमीय औपासनिक बलों से भारतीय मानव को पृथक् कर इसे सर्वथा ही अशक्त प्रमाणित कर दिया है।

१२३–निदानमूला दशमहाविद्याओं के रहस्यपूर्ण नैदानिक स्वरूप—

निगमविद्यात्मिका **विराड्विद्या** से सर्वात्मना समतुलिता दशावयवा आगमविद्यात्मिका **महाविद्या** के स्वरूप-दिग्दर्शन के बिना क्योंकि–नवरात्रान्त में दशम–अहःरूप से प्रतिष्ठित–विश्वविजयप्रवर्त्तक विजयदशमी-पर्व का यथावत् समन्व असम्भव है। अतएव दो शब्दों में उन महाविद्याओं का संस्मरण भी अनिवार्य्य बन जाता है। सुप्रसिद्धा 'निदानविद्या' ही इन पावन संस्मरणों का मूलाधार है। अन्यान्य देवविद्याओं की विस्मृति

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रूपा विलुप्ति की भाँति उपासना की मूलाधारभूता निदानविद्या भी दुर्भाग्यवश आज विलुप्तप्राय है। अतएव निगमोपासना, तथा आगमोपासना के सगुणविवर्त्त यथाजाता महामोहग्रस्ता भ्रान्ता प्रज्ञा के लिए एक समस्या ही बन गए हैं, जिस मोहनिराकरण का प्राथमिक उपाय 'निदानविद्या' का ही पुनः संस्मरण है। खण्डद्वयात्मिका–भक्तियोगपरीक्षा में विस्तार से इन निदान–भावों का स्वरूपविश्लेषण किया जा चुका है। प्रस्तुत निबन्ध कल्पना से भी कहीं अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतः अब नवीन विषयोत्थान असम्भव है। प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए एतावन्मात्र ही जान लेना अलं होगा कि—

"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥"

इत्यादि आर्षसूक्ति के अनुसार प्राकृतिक–सुसूक्ष्म–अतएव इन्द्रियातीत प्राणात्मक तत्त्वों की प्राणरूपा विभिन्न शक्तियों के स्वरूपबोध के लिए ही तत्प्राणधर्म्मसमन्वित भूतों को मध्यस्थ मान लिया जाता है। एवं यह मान्यता ही 'निदानविद्या' का मूलाधार है, जिसके व्याख्यात्मक स्वरूपों का प्रतिपाद्य–दशमहाविद्या–ध्यानावसरों पर यत्रतत्र दिग्दर्शन–प्रयास सम्भव बन सकेगा। अत्यन्त ही आस्था--श्रद्धा के साथ हमें निम्न लिखित दशमहाविद्यानुगत–ध्यानों को लक्ष्य बनाना चाहिए।

(१)—महाकालपुरुष, और उसकी महाशक्ति महाकाली

(प्रथमा–आद्या–महाविद्या)

१२४--परात्पररूप महाकाल, एवं उसकी महाशक्ति महाकाली, और उभय--समन्वयात्मक अर्द्धनारीश्वर भगवान्—

'परात्पर' नाम से प्रसिद्ध विश्वातीत महाकालपुरुष की महामायारूपा महाशक्ति प्रकृतिदेवी का नाम ही– 'महाकाली' है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न है, अतएव निगममूलक–अद्वैत–सिद्धान्त निरपवादरूप से सुस्थिर है। अग्नि की दाहकशक्ति जैसे अग्नि से अभिन्न है, प्रकाशशक्ति जैसे सौर इन्द्र से अभिन्न है, तथैव चिदात्मा की चिच्छक्तिरूपा चेतनाशक्ति (अक्षरशक्ति) भी चिदात्मपुरुष (अव्ययपुरुष) से अभिन्न है। तत्त्वतः एक ही तत्त्व–'अर्द्धेन पुरुषोऽभवत्--अर्द्धेन नारी' रूपेण शिव-शक्ति लक्षण–पुरुष--प्रकृतिरूप में परिणत हो रहा है। शक्ति–शक्तिमान् में स्त्रीपुम्भाव की लोककल्पना का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। तभी तो भगवान् शिव 'अर्द्धनारीश्वर' नाम से उपस्तुत हैं। इसी अभेद को लक्ष्य बना कर आगमशास्त्र कह रहा है—

सा च ब्रह्मस्वरूपा च, नित्या सा च सनातनी॥
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता॥१॥
अतएव हि योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते॥
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् ! शश्वत् सदपि नारद !॥२॥ —देवीभागवत ६।१।१०--११।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अहमेवास पूर्वं तु नान्यत् किञ्चिन्नगाधिप !
तदात्मस्वरूपं चित्-संवित्-परब्रह्मैकनामकम् ॥३॥
तस्य काचित् स्वतःसिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता ॥
पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः ॥
स्वशक्तेश्च समायोगादहं बीजात्मतां गता ॥४॥ —देवीभागवत ७।३२।६
मन्मायाशक्तिसङ्क्लृप्तं जगत्सर्वं चराचरम् ॥
सापि यत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः ॥५॥ —दे० भा० ७।३३।५।

१२५–विश्वपूर्वावस्थानुगत–अनुपाख्यतम की महाकालता, एवं महारात्रिरूपा पारमेष्ठ्या महच्छक्ति का महाकालीत्व, और-'तम आसीत्-तमसा गूढमग्रे' का तात्त्विक समन्वय—

त्रिविध–तमोभावों का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में कहा गया है कि, आज हम जिस पाञ्चभौतिक–आलोकभावानुगत–अवलोकनधर्म्म से समन्वित–लोकात्मक विश्व का साक्षात्कार कर रहे हैं, उसकी पूर्वावस्थात्मिका–अग्रिमावस्था (कारणावस्था) अनुपाख्यतमोरूपा ही थी, जो सद्रूप असद्भावात्मक अनुपाख्यतम महाप्रलयलक्षण महारात्रिरूप अनिरुक्त तम से आसमन्तात् परिवेष्टित था, जैसाकि–'**तम आसीत्–तमसा गूढमग्रे**' से तत्रैव स्पष्ट किया जा चुका है। इसी श्रौती स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए राजर्षि मनु कहते हैं—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्द्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुः १।५।)

कौन था वह अप्रज्ञात–अलक्षण–अप्रतर्क्य–अनिर्द्देश्य, अतएव प्रसुप्त–भावसमतुलित विश्वातीत अनुपाख्यतम ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान परात्पररूप 'महाकालपुरुष' ही बन रहा है। इसकी महाशक्ति ही वह तमोभाव है, जिसका–'**तमसा गूढम्**' से संकेत हुआ है। '**तम आसीत्**' जहाँ महाकालात्मक विश्वातीत परात्पर का संग्राहक है, वहाँ '**तमसा गूढमग्रे**' इस वाक्य से महाकालपुरुष से अभिन्ना महाप्रलयरात्रिरूपा महाप्रकृति–महाकाली–परात्परशक्ति का ही संग्रह हो रहा है। यही प्रथम विवर्त्त है शिवशक्ति का, जिसे पूर्णत्वेन '**शून्यविवर्त्त**' कहा जा सकता है। शून्यबिन्दु से समतुलित विश्वातीत पुरुष कालपुरुष है, तच्छक्ति ही महाकाली है। इसके इस सर्वादिमूलक प्राथम्य के कारण ही तो आगमशास्त्र में यह परात्परशक्तिरूपा महाकाली '**प्रथमा–आद्या**' कहलाई है।

१२६–महाकालीरूपा महारात्रि, एवं तदनुबन्धी 'नवरात्र' शब्द—

अहोरात्रविवर्त्त के प्रत्यक्षदृष्ट 'रात्रि'–स्वरूप से, कृष्णपक्ष की पूर्ण सूर्य्य–चन्द्रसङ्गमरूपा–मेघाच्छन्ना–घोरघोरतमा अमावास्या की रात्रि से इस महाकाली का नैदानिक ध्यान अनुमेय बन सकता है अंशतः।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

रात्रि मानो प्रलयकाल का ही निदान है। मध्यरात्रि का घोर कृष्णभाव ही महाकाली का नैदानिक स्वरूप है। इस नैदानिक समतुलन के कारण हीं तो शक्तिविद्यात्मिका महाविद्याओं को '**रात्रिविद्या**' माना गया है, जैसा कि तदुपासनाकालात्मक स्वयं–'**नवरात्र**' शब्द से ही प्रमाणित है।

१२७--नवरात्ररूपा महाकाली के चतुरशीति (८४) महिमाविवर्त्त—

निगमभाषा में जो स्थान आपोमय-वरुण से समन्वित–भृग्वङ्गिराधारामय अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र का है, आगम में वही स्थान महाकालीरूपा महारात्रि का है। रात्रि को 'वारुणी' माना है वेद ने। क्योंकि पारमेष्ठ्य आप्यप्राण ही वरुण कहलाया है। एवं यही–'**ततो रात्र्यजायत**' (ऋक् सं० १०।१६०।१।) रूप से रात्रिभावात्मक आपोमय परमेष्ठी का प्रवर्त्तक बनता है। उपनिषद्भाषा में यही पारमेष्ठ्य वारुण–रात्रितत्त्व–'**महत्प्रकृति**' कहलाया है। प्राकृत खण्डात्मविवर्त्तों में 'महान्' का सम्बन्ध परमेष्ठी से ही माना गया है। यह महान् वही सुब्रह्म–सौम्य तत्त्व है, जिसमें **सत्त्व–रज–स्तमो–भाव**, एवं **आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति**–भाव आविर्भूत हो पड़ते हैं पार्थिव–चान्द्र–सौर–दर्शपूर्णमास–प्रक्रियात्मक–यज्ञविशेष से। यह पारमेष्ठ्य 'महान्' वही सौम्यभाव है, जिसमें अण्डज–पिण्डज–स्वेदज–उद्भिज्ज–रूप चतुर्विध–चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) योनिरूप बीजभाव प्रतिष्ठित हैं, जिनका लोकभाषा में '**चतुरशीति**' (**चौरासी**) संख्या से संग्रह कर लिया गया है।

१२८-चतुरशीति–महिमान्विता महाकाली की महद्ब्रह्मरूपता, एवं तदनुबन्धी ८४००००० (चौरासीलाख) योनिभाव—

चौरासी ही सौर–चान्द्र–पार्थिव–साहस्री–भावों के सहस्रधा–महिमानः-सहस्ररूप वितानभावों से अपने महिमारूपों से चौरासीलाख विवर्त्त बन जाते हैं। और यही महद्ब्रह्म (प्रकृति) मूला प्राणिसर्गों की समस्त-संख्या–व्याख्या (जातिव्याख्या) है, जिसका श्राद्धविज्ञानादि में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। प्रकृत में तो इस ८४ संख्या से केवल यही निवेदन करना है कि, पारमेष्ठ्य–भृग्वङ्गिरोमय–आप्य–वारुण–सौम्य–* महान् हीं पितृप्राणमय बनता हुआ २८ धनात्मक प्राणों, तथा ५६ ऋणात्मक पितृप्राणों से ८४ चतुरशीति-कल बनता हुआ अपने आपको प्रजा की योनिरूप में परिणत कर लेता है, जैसा कि–'**मम योनिर्महद्ब्रह्म०**' (गीता) इत्यादि से भी स्पष्ट है। यही पारमेष्ठ्य आप्यतत्त्व रात्रिरूपा आगमीया महाकाली है, जिसका पूर्व के निगमागम–शब्देतिहासप्रसङ्ग में यशोगान किया जा चुका है। इसी नैगमिक तथ्य के आधार पर आगमाचार्य्योंनें रात्रिरूपा महाकाली के ८४ अवान्तर स्वरूप मान लिए हैं। महाप्रलयरात्रि के तमोभावानुबन्धी–चतुरशीति–सौम्य–पितृप्राणानुगामी चतुरशीतिभाव ही इन ८४ महाकाली-स्वरूपों के नैदानिक–स्वरूपों की मूलभित्ति है।

१२९-रहस्यपूर्णा---देवप्रतिमानुबन्धिनी--निदानविद्या, और उसकी विलुप्ति के दुष्परिणाम—

अब दो शब्द उस '**नैदानिक-ध्यान**' के सम्बन्ध में भी समन्वित करने का अनुग्रह कर लीजिए, जिसके बिना आज भारतीय निगमागमीय–उपासनाकाण्ड सर्वथा ही प्राकृत–भ्रान्त–मानवों की आलोचना

*** त्वं परा प्रकृतिः साक्षात्–ब्रह्मणः परमात्मनः।**
'महत्'–तत्त्वादि–भूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत्॥

का विषय बन रहा है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, बुद्धयुग से आरम्भ कर वर्त्तमान युगपर्य्यन्त प्रक्रान्त रहने वाली सत्तासापेक्षतामूला–मतवादपरम्परासापेक्षतामूला, और आज तो विशेषरूपेण अर्थलिप्सात्मिका वणिग्–तन्त्रदासता–सापेक्षतामूला जिस परभावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से निगमागम के रहस्यभावों की विश्लेषिका **गाथा–कुम्ब्या–नाराशंसी–निगद**–आदि आदि पारिभाषिकी पारम्परिक--विद्याएँ अन्तर्मुख बन गईं हैं, तथैव उपासनाकाण्डाधारमूला **'निदानविद्या'** के स्वतन्त्र ग्रन्थ भी आज उपलब्ध नहीं हो रहे। किंवा उपलब्धि का यत्न ही नहीं हुआ इन त्रिसहस्रवर्षात्मक--सापेक्षताभावात्मक दासयुगों में। उपास्य--प्रतिमाओं के वाहनों पर, आयुधों पर, बिम्बों के विविध आकार--प्रकार--वैचित्र्यों पर जो आज भ्रान्तिपूर्ण--अश्रद्धामूलक ऊहापोह प्रक्रान्त हैं, उसके अन्यान्य कारणों में से प्रधान कारण 'निदानविद्या' की विस्मृति भी एक मुख्य कारण माना जायगा।

१३०–राष्ट्रीय–प्रज्ञा की दासवृत्ति से राष्ट्रीय–संस्कृति के मूलस्वरूप की अन्तर्मुखता, एवं दासतापूर्ण बुद्धिवादों का महान् व्यामोहन—

तथापि–स्वयं निगमागम--पुराणशास्त्र में यत्र तत्र इस विद्या के सम्बन्ध में जो सङ्केत हमें आज भी उपलब्ध हो रहे हैं, वे भी वर्त्तमान भ्रान्तियों के निराकरण में तो सर्वात्मना सहायक बन ही सकते हैं। किन्तु दुर्भाग्य तो सबसे बड़ा यह है इस राष्ट्र की ब्राह्मणप्रज्ञा के सम्बन्ध में कि, वह जहाँ मान्यतानुबन्धी मत--वादात्मक–तीन सहस्रवर्षों के दासवृत्तियुग में विनिर्म्मित--शब्दाडम्बरमात्र ग्रन्थों के आलोडन–विलोडन के अतिरिक्त भारतीय मूलसंस्कृति के मूलाधाररूप निगमागमपुराणशास्त्र के तो सम्पर्क में भी नहीं जाना चाहती आज परवञ्चकोंनें। यदि पुराण को 'गप्प' कह दिया, तो भावुकतावश हम भी इस 'आर्य्यसर्वस्व' से वञ्चित होगए। आगमशास्त्र के अक्षरार्थ से भी वञ्चितोंनें यदि 'शाक्त'--'वाम' कह कर भ्रान्ति उत्पन्न कर दी, तो यह महतोमहीयान् आराध्य शास्त्र भी उपेक्षणीय बन गया। और 'वेद'?। वेद तो उसी रूप से आज हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है, जिस रूप से मतवादाभिनिविष्ट अपनी मान्यताओं के अनुसार जैसा मानसिक समन्वय कर देते हैं। और अब तो वेद भी एक वैसा बुद्धिवादात्मक शास्त्र ही आ ठहरा है, जिसके शब्दानुकरणमात्रव्यामोहन से हम पुरातत्त्व के व्यामोहनों के अनुगामी बनते जारहे हैं वेद की बुद्धिगम्या व्याख्याओं के प्रतीच्यभावनिबन्धन--महान् व्यामोहनों से। आलम्यालम्।

१३१-उपास्य देवता के गुण–कर्म्म-शक्ति–धर्म्म-प्रभावादि के आधार पर उपकल्पित नैदानिकध्यान –

जिसे व्यवहारभाषा में 'सङ्केत' कहा जाता है, शास्त्रीय भाषा में उसे ही **'निदान'** माना गया है। **'अमुक भूत-भौतिक पदार्थ का तात्पर्य्य अमुक समझो'** इस भाव को सूचित करने वाले सङ्केत का नाम ही 'निदान' है। उदाहरण–जैसे लोकव्यवहार में भी शोक का निदान 'कालावस्त्र' बना हुआ है, ऋद्धि--वृद्धि--समृद्धि का निदान हरित दूर्वा बनी हुई है। कीर्त्ति--यश का निदान श्वेत छत्र बना हुआ है। रक्त का निदान लालवस्त्र, शान्ति–स्वस्ति का निदान हरितवस्त्र, युद्धप्रसङ्गों में सन्धि का निदान श्वेतपताका। तथैव उपास्य प्राणशक्तिरूप देवताओं के गुण--धर्म्म--शक्ति--स्वरूपों के अनुपात से ही सम्पूर्ण निदानभाव उपकल्पित हैं, जैसा कि स्वयं शास्त्र इसी मध्यस्थभावात्मक निदान का इन शब्दों में स्पष्टीकरण कर रहा है—

ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्वरूपारूपभेदतः ॥
स्वरूपं तत्र यद् ध्यानं–अवाङ्मनसगोचरम् ॥१॥
मनसो धारणार्थाय शीघ्रं स्वाभीष्टसिद्धये ॥
सूक्ष्मध्यानप्रबोधाय स्थूलध्यानं वदामि ते ॥२॥
अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ॥
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥३॥
—कालतन्त्रे

१३२–सङ्केतविधिरूप–निदानभावों के सम्बन्ध में कतिपय नैदानिक–वचन—

महाकालपुरुष की महाशक्ति को ‘महाकाली’ क्यों कहा गया ?, एवं उपासनाकाण्ड में महाकाली की प्रतिमा कृष्णवर्णा ही क्यों बनीं ?, क्यों मुण्डमाल से समन्वित माना गया भगवती के विग्रह को ?, सुरापात्र क्यों समन्वित किया गया हाथों में ?, इत्यादि सभी का उत्तर यही निदानभाव है, जैसा कि वहीं के निम्नलिखित कतिपय वचनों से स्पष्ट है—

उपासकानां कार्य्याय पुरैव कथितं प्रिये ! ॥
गुणक्रियानुसारेण रूपं देव्याः प्रकल्पितम् ॥१॥
श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते ॥
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे ! ॥२॥
अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः ॥
हितायाः प्राप्तयोगानां वर्णो कृष्णो निरूपितः ॥३॥
नित्यायाः कालरूपायाः, अव्ययायाः शिवात्मनः ॥
अमृतत्वात्–ललाटेऽस्याः शशिचिह्नं निरूपितम् ॥४॥
शशिसूर्य्याग्निभिर्नित्यैरखिलं कालिकं जगत् ॥
सम्पश्यति यतस्तस्मात् कल्पितं नयनत्रयम् ॥५॥
—तत्रैव ५ उल्लासे

१३३–अनुरूप निदानभावों के कतिपय लौकिक, तथा शास्त्रीय उदाहरणों का समन्वय, एवं तन्मूला महत्त्वपूर्णा निदानविद्या—

पृथिवी का निदान ‘कमल’ है। मोहशक्ति का निदान ‘सुरा’ है। लक्ष्मी का निदान ‘गज’ है। विजय का निदान ‘ध्वज’ है। संहारशक्ति का निदान ‘मुण्डमाल’ है। न केवल हम भारतीय ही, अपितु

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सभी मानव अपने अपने लोकभावों–लोकशिक्षणकर्म्मों में इसी निदानभाव से समन्वित हो रहे हैं, जब कि उनका निदानभाव केवल प्रत्यक्ष–भूतजगत् पर ही परिसमाप्त है । पाश्चात्य मानव भी शोकावसर पर हाथ में काली पट्टी बाँधता हैं, फाँसी का आदेश देने वाला न्यायाधीश कृष्णवस्त्र पहिनता है । हम पूँछते हैं कि–शोक, और फाँसी का काले वस्त्र से क्या सम्बन्ध ? । उत्तर एकमात्र 'निदानभाव' ही होगा, जिसके आधार पर विनिर्म्मित भारतीय औपासनिक नैदानिक भावों का आज प्रतीच्यशिक्षोच्छिष्टभोगी भ्रान्त भारतीय आलोचना करता हुआ अपने दीक्षागुरुओं के निदानभावों को भी तो भूल जाता है ।

यह संस्मरणीय है कि, निदानभाव में अमुक अंशों में सजातीयता नहीं, तो आंशिक अनुरूपता तो अवश्य ही अपेक्षित है । भारतीय निदानभावों का यही सर्वोत्कृष्टत्त्व है कि, इसका प्रत्येक निदानभाव प्रायः अनुरूपता पर ही प्रतिष्ठित है । शोकाग्निजनित संघर्ष से–(सन्ताप से) मानसप्रज्ञा का सहज विकास मुकुलित होजाता है । चेतना ज्योति सचमुच शोकसन्ताप से आवृत हो जाती है । उधर कृष्णवस्त्र भी सौररश्मिरूप आलोक का निगरण कर लेता है । इसी अनुरूपता के कारण कृष्णवस्त्र को शोक का नैदानिक–रूप मान लिया गया है । यशोभाव मानव के प्राणात्मक महिमामण्डल में रश्मिवत् व्याप्त हो जाता है । प्राणरश्मिप्रसारता ही यशोरूपा कीर्त्ति की स्वरूपव्याख्या है । उधर श्वेतवस्त्र से सङ्क्रमण करने वालीं प्रकाशरश्मियाँ भी–'श्वः-इतो धावति' रूपेण श्वेतवस्त्र में निमज्जित न होकर विकीर्ण होजातीं हैं । इसी अनुरूपता से श्वेतवस्त्र को–छत्र को–कीर्त्ति का निदान मान लिया गया है । पानी में रुद्रवायु के प्रवेश से उत्तरोत्तर घनता का उदय होने लगता है–अप् वायु–तेज की मूर्च्छा से । यही घन पानी हरित काई–शैवाल हैं, जिन्हें निगमभाषा में–'अवकाः' कहा गया है । यही **'पुष्करपर्ण'** (पानी का पत्ता) है, जैसा कि–**'आपो वै पुष्करपर्णम्'** (शत० ६।४।२।२।) इत्यादि से स्पष्ट है । यही पुष्करपर्ण आगे जाकर फेन–मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा-अयः-हिरण्यरूप में आता हुआ पृथिवीपुर (भूपिण्ड) रूप में परिणत होता है । 'पुरकर' होने से ही इसे 'पुष्कर' कहा गया है । पृथिवी की सृष्टि इस पुष्करपर्ण से ही मानी गई है । अतएव उसी अप्तत्त्व से अप्गर्भ में उत्पन्न होने वाले **'कमल'** को पृथिवी का नैदानिक रूप मान लिया गया है । जिस देवविग्रह के हाथ में आप 'कमल' देखें, विश्वास करें कि, इस देवशक्ति का सम्पूर्ण भूमण्डल पर आधिपत्य है । मायाजनित मोह–मद–मान–से मानव की उसी प्रकार विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है, जैसे कि सुरापान से मानव राक्षसकोटि में आजाया करता है । इसी अनुरूपता से 'सुरा' को 'मोह' का निदान मान लिया गया है । भगवती के हाथ में सुरापात्र है, इस नैदानिक भाव से ऋषि यही शिक्षा प्रदान कर रहे हैं कि-उस महामाया की योगशक्तिरूपा विष्णुमायाने हीं अपनी मोहनशक्ति से सम्पूर्ण जीवों को व्यामुग्ध कर रक्खा है * । पर्य्याप्त वृष्टि के अनन्तर वृक्षों-लताओं-गुल्मों-दूर्वादि भूतृणों में अविःप्राणनिबन्धना हरितवर्णता (हरियाली÷)

***-ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।**
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

इस पद्य का समन्वय 'भारतीय हिन्दू मानव की भावुकता' नामक निबन्ध के प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है।

÷-अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता ।
तस्या रूपेणेमा वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ (अथर्वसं० १०।४।८।)

का उदय हो जाता है । रूक्षता विलीन हो जाती है । पार्थिव आग्नेय ताप उपशान्त हो जाता है । सर्वत्र शान्ति समृद्धि का साम्राज्य स्थापित हो जाता है । अतएव हरितदूर्वा को, एवं हरितवस्त्र को शान्तिभाव का सूचक मान लिया गया है । स्टेशनों पर निरुपद्रवता के लिए हरी झण्डी का प्रदर्शन, तथा उपद्रवाशङ्का पर लाल झण्डी का प्रदर्शन भी तो इस निदानसीमा में ही अन्तर्भूत है । और यों शक्तिभावों की स्वरूपानुरूपता पर ही भौतिक निदानभाव व्यवस्थित हुए हैं ।

१३४-महाकाली का निदानभाव-समन्वित आगमीय ध्यान, एवं तदक्षरार्थसमन्वय—

शक्तिप्रतिमाओं के शक्तिभेद से अनेक महिमाविवर्त्त हैं । किसी के ४ भुजा, किसी के आठ, तो त्रिसी के १६, तो अन्यत्र ३२, तो अन्यत्र ६४, एवं-सहस्र-भुजाएँ भी उपलब्ध हैं इन शक्तिविग्रहों में । किसी नें जिह्वा का प्रसार कर रक्खा है, किसी के हाथ में नरमुण्ड है, किसी के हाथ में कर्त्री (कैंची) है, किसी के हाथ में परशु है । कोई 'शव' (मुर्दे) पर खड़ी है । कोई अट्टाट्टहासमुद्रा से समन्विता है । कोई सुरापान में निमग्ना है । कोई दिगम्बरा है । और यों ये नैदानिक स्वरूप ही भारतीय-रहस्यपूर्ण-उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित हो रहे हैं । इन नैदानिक रूपों के माध्यम से ही नीरूपा भी शक्तियों के सगुण विग्रह बना लिए गए हैं । प्रत्येक देवता की उपासनाविधि का आरम्भ ही इस नैदानिक-ध्यान से होता है । सर्वत्र उपक्रम में-'अथ ध्यानम्', अनन्तर अर्चन-पूजनादि अनुष्ठान । यदि किसी महामहिम-महाभाग्यशाली शक्तिपुत्र को महाकाली आद्या भगवती की आराधना कर अभ्युदय-निःश्रेयस्-साधन करना है, तो उसे इसी ध्यान का सर्वप्रथम अनुगामी बन जाना चाहिए, अविलम्ब बन जाना चाहिए, निश्चयेन बन जाना चाहिए । **नान्यः पन्था** विद्यते अयनाय ।

शवारूढां महाभीमां-घोरदंष्ट्रां-हसन्मुखीम् ॥
चतुर्भुजां-खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥१॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ॥
एवं सञ्चियेत्कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥२॥

—शाक्तप्रमोद, कालीतन्त्र

"सौरत्रैलोक्यात्मक सम्वत्सरचन्द्ररूप काल की माता *, तथा विश्वातीत महाकाल की सहचारिणी महाशक्ति वह आद्या भगवती शव पर समासीना है (मुर्दे पर खड़ी है) । उसकी शरीराकृति घोरघोरतमोरूपा बनती हुई आसुर-दुष्ट-बुद्धियों के लिए (जहाँ) अत्यन्त ही भीमा-भयावहा है, वहाँ तदुपासकों के लिए माता का यही स्वरूप परम आकर्षक, तथा अभयप्रद है । उस की दंष्ट्राएँ [डाढें] अत्यन्त विस्तीर्ण-सुतीक्ष्ण-अतएव घोरा हैं । इत्थंभूत भयावह आकार को धारण करने वाली वह महामाया-आदिमाया हासोन्मुखा बनी रहती है । इसके चार हाथ हैं, जिनमें से एक हाथ में खड्ग है, एक में नरमुण्ड है, एक अभयमुद्रा से युक्त

---

*-अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

है, एक में 'वर' है। ग्रीवा मुरडमाल से सुशोभित है। करालकालसमतुलिता जिह्वा सर्पण करती हुई मुख से बाहिर निकल रही है। दिगम्बरा है ऐसी महामाया। प्रचरडतम श्मशान ही उसका क्रीड़ाक्षेत्र है", और यही है तद्ध्यान का अक्षरार्थ।

१३५-कालकलनात्मिका कालमाता महाकाली—

यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, सौरब्रह्माण्ड के आविर्भाव से पूर्व पारमेष्ठय-वारुण-रात्रिभाव से ही इस आद्याशक्ति का सम्बन्ध है, जिसमें केवल अनुपाख्यतम, तथा प्रलयरात्र्यनुगत तम ही प्रधान है। इस सद्रूप तमोभाव के कारण ही यह तत्त्व-'महाकाली' कहलाया है। अपिच सम्पूर्ण विश्व का संख्यात्मक-अवच्छेदात्मक कलन संख्यातीत-महाकाल से ही होता है। इस 'कलनधर्म्म' से ही वह प्रथमपुरुष महाकाल कहलाया है। काल को 'कलन' के लिए यह प्रथमा-आद्या शक्ति ही क्योंकि प्रेरित करती है। अतएव **'सर्वकलनकर्त्तुर्कालस्यापि कलनात्'** यह शक्तितत्त्व **'महाकाली'** कहलाया है *।

१३६-शवारूढा-हसन्मुखी-महाकाली का नैगमिक स्वरूप--समन्वय—

सम्पूर्ण सौरत्रैलोक्य (व्यक्त विश्व) इस शक्ति से समन्वित्त होकर जहाँ 'शिव' है, स्वस्वरूप से (प्राणरूप से, जीवनसत्तारूप से) अभिव्यक्त है, वहाँ इस पारमेष्ठ्या महाशक्तिरूपा सोमाहुति से पृथक होते ही सौरब्रह्माण्ड शक्तिशून्य बन जाता है, यही शक्तिशून्य ब्रह्माण्ड की शवरूपता है। इसी का निदान 'शवासन' है। शवपर ही खड़ी है यह महाकाली। सृष्टिकाल इसका प्रातिस्विक रूप नहीं है। सृष्टि का अभावात्मक प्रलयकाल ही इसकी विशुद्धावस्था है। दूसरे शब्दों में-शक्तिमान् विश्व उसकी प्रतिष्ठा नहीं है। अपितु शक्तिशून्य, अतएव शवरूप विश्व ही उसकी प्रतिष्ठा है। अपने आपको सर्वथा शक्ति के समर्पित कर देने वाला, स्वयं अपने व्यक्तित्त्व को विस्मृत कर देने वाला ही तो इस शक्त्युपासना का अधिकारी माना गया है, जिस अधिकारमर्य्यादा का गुप्तरहस्य 'शक्तिपात' शब्द में अन्तर्गर्भित है। वह अनुपाख्यतमोरूपा है, सर्वविनाश की प्रतीकभूता सनातनी है। शत्रुसंहारक योद्धा की आकृति भयावहा हो जाती है। प्रलयरात्रिरूपा संहारकारिणी महाकाली के इसी सहज शक्तिभाव को व्यक्त करने के लिए **भयावहा** आकृति इसका निदान मान लिया गया है। शत्रुसंहार कर योद्धा विजयमद से हासोन्मुख बन जाता है। इस विजयभाव की सूचना ही 'हसन्मुखीम्' निदान से हो रही है।

१३७--महाकाली की चार भुजाओं का नैदानिक समन्वय—

प्रत्येक वर्त्तुल वृत्त में ३६० अंश होते हैं, जिनकी ९०-९०-९०-९० के विभेद से चार भुजाएँ बनतीं हैं, जैसा कि ज्योतिर्विद्या में स्पष्ट है। ये चारों भाग ही वृत्त की चार भुजाएँ मानीं गईं हैं। इस खगोलीय-भूगोलीय-चतुर्भुजभावसमन्वित वृत्त को ही 'स्वस्तिक' कहा गया है। खगोल के वे ही स्वस्तिकभाव

---

*-कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्त्तितः ॥
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा ॥
कालत्त्वादादिभूतत्त्वादाद्याकालीति गीयते ॥

क्रमशः **इन्द्रोपलक्षित चित्रानक्षत्र, पूषोपलक्षित रेवतीनक्षत्र, तार्क्ष्योपलक्षित श्रवणनक्षत्र, एवं बृहस्पत्युपलक्षित लुब्धकबन्धुनक्षत्र,** इन चार षड्भान्तरीय नक्षत्रों से कृतरूप है। चित्रा से ठीक षड्भान्तर पर (१८० वें अंश पर) श्रवण है। रेवती से षड्भान्तर पर लुब्धक है। **'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः'** (यजुःसं०) इत्यादि यजुर्म्मन्त्र इसी चतुर्भुज आकाशवृत्त का स्वरूप स्पष्ट कर रहा है, जिसकी व्याख्या पूर्व के रक्षाबन्धनपर्व-प्रकरण के-'शकुनप्रसङ्ग' में विस्तार से की जा चुकी है। महाकाल यदि शून्यात्मक पूर्णरूप है, तो तदभिन्ना महाकाली भी तद्रूपा ही मानी जायगी। अनन्ताकाश (स्वायम्भुव-'नभस्वान्' नामक 'परमाकाश') रूप महा अवकाश में, शून्यात्मक पूर्णवृत्त में चतुर्भुजभावानुबन्ध से ही वह महाकाली प्रतिष्ठित है। **'चार भुजाएँ'** इसी आकाशवृत्तीय-चतुर्भुजभाव का नैदानिक स्वरूप है।

१३८-महाकाली के अन्यान्य निदानभावों का समन्वय—

नाशशक्ति का निदान **'खड्ग'** है। नष्ट होने वाले प्राणियों का निदान **'छिन्न मस्तक'** है। स्थिति-विच्युति का नाम ही कम्पन है, कम्पन ही भय है, यही क्षोभ है। विश्व ससीम है। अतएव अवश्य ही यह कम्पनभावानुगत बनता हुआ सभय है। उधर व्यापक-तत्त्व में कम्पनरूप भय का सर्वथा अभाव है। उस की स्थितिविच्युति असम्भव है। और ऐसा है एकमात्र विश्वातीत महाकालपुरुष [परात्परब्रह्म]। क्योंकि वह स्वस्वरूपेण अभय है। अतएव **'अभयं वै ब्रह्म'-'अभयं गतो भवति'** इत्यादिरूप से उपनिषत् उसका 'अभय' रूप से ही यशोगान कर रही है। सुतरां उस अभयब्रह्म-महाकाल की महाशक्ति महाकाली की भी अभयरूपता संसिद्ध है। वह संहार करती है, भयावहा है, डरावनी है, घोररूपा है, सभी कुछ है। किन्तु विश्वास कीजिए, अभयपदप्राप्ति भी एकमात्र इसी के अनुग्रह पर अवलम्बित है। **'अभयमुद्रा'** इसी अभयभाव का निदान है। विश्वसुख परिवर्त्तनशील है, ऐन्द्रियक बनता हुआ तात्कालिक है, क्षणिक है। परम सुख की अधिष्ठात्री तो एकमात्र वही विश्वातीता **'आद्या'** है। परमशिवरूपा तो वही है। **'वर'** भाव इसी भाव का निदान है। जीवितदशा में जो सबका आधार थी, प्रलयकाल में भी वही सर्वाधारा है। ध्वस्त विश्वात्मक निर्जीव-निष्प्राण-सुप्तबलात्मक विश्व भी उसी में विलीन रहता है। निष्कर्षतः वही सबका अन्तिम परायण है। **'मुण्डमाल'** इसी परमपरायणता का निदान है। विश्वावरण से वह प्रथमा काली सावरणा बनती हुई स्वस्वरूप से अन्तर्हित है। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** रूप से वह शक्ति सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण कर तद्गर्भ में समाविष्ट है। अतएव विश्व को अवश्य ही उसका बाह्य आवरणात्मक परिधान [वस्त्र] माना जा सकता है। किन्तु प्रलयावस्था में तो वह इस विश्ववस्त्र से सर्वथा पृथक् ही बन जाती है। इस अवस्था का निदान ही **'दिगम्बराम्'** है। सचमुच उस महाकाली का पूर्ण विकासकाल है महाप्रलयकाल। जब सम्पूर्ण विश्व सौर-प्रचण्डताप से भस्मसात् बनता हुआ शवशरीरी बन जाता है, स्वयं सूर्य्य भी जब पारमेष्ठ्य समुद्र में बाष्परूप से विलीन हो जातः है, तो उसी अवस्था में अनुपाख्यतम का पूर्ण आविर्भाव होता है। **'श्मशान'** इसी का निदान है। और यही है महाकालपुरुष की महाशक्ति महाकाली के नैदानिक ध्यान का अक्षरार्थमात्र-समन्वय। उसी परमाराध्या 'आद्या' भगवती महाकाली का संस्मरण करते हुए अब क्रमप्राप्त इसीके दूसरे शक्तिभाव की ओर तदुपासकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

१

२--अक्षोभ्यपुरुष, और उसकी महाशक्ति तारा
(द्वितीया महाविद्या)

१३९-हिरण्यगर्भ-सूर्य्यनारायण का अक्षोभ्यपुरुषत्त्व—

मध्यरात्रि से आरम्भ कर सूर्य्योदय से १ होरा पूर्व पर्य्यन्त [सूर्य्योत्पत्ति से पूर्व] चतुरशीति [८४] भेदभिन्ना महाकाली का साम्राज्य बतलाया गया है। तदनन्तर इसी के द्वितीय महिमारूप **'तारा'** तत्त्व का का साम्राज्य उपक्रान्त हो जाता है। हिरण्यगर्भविद्या के अनुसार निगमशास्त्र ने सम्पूर्ण विश्वप्रजा का उद्गम सूर्य्य से ही माना है, जैसाकि-**'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'**-**'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'**-**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। सौरमण्डल सावित्राग्निप्रधान बनता हुआ 'हिरण्मय' है अग्नि के हिरण्यरेता होने से। उस हिरण्मयमण्डलात्मक सौरसम्वत्सरचक्र के केन्द्र में सौरब्रह्म [पुरुष] प्रतिष्ठित है। इसीलिए तो इस विश्वप्रजापति को-**'हिरण्यगर्भप्रजापति'** कहा गया है। भूः-भुवः-स्वः-रूपा रोदसी-त्रिलोकी के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण, स्वयम्भू-परमेष्ठी-रूपा-अमृतासृष्टि के, तथा पृथिवी-चन्द्रमा-रूपा मर्त्या सृष्टि के विभाजक, व्यवस्थापक *-सञ्चालक, विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित ÷ इन्हीं भगवान् हिरण्यगर्भ-सूर्य्यनारायण का उस ब्रह्म [महाकाल]-सुब्रह्म [महाकाली] रूप प्रथम शिव-शक्ति के दाम्पत्य से प्रादुर्भाव हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ [यजुःसं० १३।४।]।

१४०-अक्षोभ्यपुरुष की महाशक्ति तारा के स्वरूपदर्शन—

जिसप्रकार विश्वातीत कालपुरुष की शक्ति 'महाकाली' कहलाई हैं, एवमेव व्यक्त-मूर्त्त-मर्त्य-विश्वाधिष्ठाता इस हिरण्यगर्भपुरुष की शक्ति **'तारा'** नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। घोरघोरतम **'तम'** [अन्धकार] में दीपार्चि तारा सदृशा ही तो प्रमाणित होती रहती है। महाकालानुगत महाकालीरूप उस अनुपाख्यतम के केन्द्र में आविर्भूत सूर्य्य की भी एक दीपबिम्ब से अधिक कोई सत्ता नहीं है। इसीलिए तो पुराणशास्त्र ने सूर्य्य को महारात्रिरूप-पारमेष्ठ्य--सरस्वान्-नामक महासमुद्र का एक 'बुद्बुद' ही माना है। स्वयं निगमशास्त्र में भी-**'द्रप्सस्चस्कन्द'** [ऋक्संहिता] इत्यादि रूप से सूर्य्य को पारमेष्ठ्य आपः का 'द्रप्स' [स्थूल-बिन्दु] ही बतलाया गया है। सूर्य्य के इसी स्वल्पतम-प्रकाश--के अनुबन्ध से सूर्य्य को--'नक्षत्र' कहा गया है--[शत० २।१।२।१८।] । इसी नक्षत्रभावानुबन्धन से सौरी हिरण्मयी शक्ति आगमशास्त्र में **'तारा'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। यही सौरपुरुष आगम में--**'अक्षोभ्यपुरुष'** कहलाए हैं।

---

* **आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं- मर्त्यञ्च ।** [यजुःसंहिता]।

÷-**आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्। मध्ये एकल एव स्थाता ।** [छान्दोग्य०]

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१४१--अक्षोभ्यपुरुष का विश्वसर्गक्रमानुगत जन्ममहोत्सव—

नैगमिक सिद्धान्तानुसार सूर्य्य त्रैलोक्य में सर्वथा स्थिर है *। 'बृहतीछन्द' नाम से प्रसिद्ध 'विष्वद्वृत्त' के ठीक मध्य में क्षोभरहित भाव से–स्थिररूप से ही सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि–**'बृहतीमध्यूढस्तपति'**–**'बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः'**–**'नैवास्तमनमर्कस्य, नोदयः सर्वदा सतः'**–**'नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता'** इत्यादि निगम–पुराण-वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है। इस 'स्थिरधर्म्म' से ही सूर्य्य को 'अक्षोभ्यपुरुष' कहना सर्वथा अन्वर्थ बनता है। पूर्व–परिच्छेदों में हमनें सूर्य्य को–**'असौ यस्ताम्रः'०** इत्यादि रूपेण **'क्षत्ररुद्र'** बतलाया है। वहीं इसके **शिवशरीर**, **घोरशरीर**-रूप से दो महिमाभावों का भी उल्लेख हुआ है। आपोमय पारमेष्ठ्य महासमुद्र में वायुजनित संघर्ष से अङ्गिरातत्त्व उदीप्त हुआ। 'श्वेतवराह' नामक प्राणवायुविशेष के संघात-संवरण–धर्म्म से वे उदीप्त अङ्गार एकत्र पुञ्जीभूत-चित–सञ्चित हुए। भार्गवसोम के सम्बन्ध से यह अग्निपुञ्ज उत्तरोत्तर संहत-प्रदीप्त होता गया। एक दिन कालपरिपाक से वही अग्निपुञ्ज प्रचण्डवेग से प्रदीप्त होता हुआ व्यक्त हो पड़ा। और यही सूर्य्यनारायण का जन्मोत्सवकाल मान लिया गया।

१४२–प्रचण्डोग्रमूर्त्ति अक्षोभ्यरुद्र, और उसकी महाशक्ति का नैदानिक--ध्यान—

अग्निचिति के सर्वात्मना सञ्चित होते ही 'क्षत्ररुद्र' में परिणत सौर–प्रचण्ड अग्नि में तत्क्षण 'अशनायाबल' प्रादुर्भूत हो पड़ा, जिसने इस रुद्र को अन्नेच्छा में प्रवृत्त कर दिया। क्योंकि अन्नादधर्म्मा रुद्राग्नि अन्नाहुति के बिना क्षणमात्र भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित–विकसित–प्रज्ज्वलित–नहीं रह सकता। अन्नाहुति से पूर्व यह सौर–क्षत्र–रुद्र अपने प्रचण्ड–रूक्ष–ताप से मानो संसार को भस्मावशेष ही कर डालने के लिए आतुर था। इस प्रचण्ड–उग्ररुद्र–भीम–भयावह–घोर-क्षत्ररुद्र की इस अवस्था से सम्बन्ध रखने वाली प्रचण्डा–उग्रा–भीमा–भयावहा–घोरा–रौद्री–शक्ति ही 'रुद्राणी' कहलाईं, जो आगमशास्त्र में इसी उग्रता (विशुद्ध अन्नादावस्था) के अनुबन्ध से–**'उग्रतारा'** नाम से प्रसिद्ध हुईं। अन्नरूप सोमाहुति से ही सौर-अग्निहोत्र सम्पन्न हुआ ×। इस शान्त–स्निग्ध–स्नेहगुणक–सोम की आहुति से सौररुद्र शिवशरीर में परिणत हुए। फलस्वरूप घोरशरीरी सूर्य्य–उग्ररुद्र की शक्ति 'उग्रतारा' भगवती भी इस सोमावस्था में उपशान्ता बनती हुई–**'तारा'** रूप में परिणत होगई। **क्षोभ्यपुरुष**, और **उग्रतारा** का सोमात्मक स्वरूप ही **'अक्षोभ्यपुरुष'** एवं **तारा** नाम से प्रसिद्ध हुआ। आज जिस इस अक्षोभ्यपुरुष [शिवात्मकरुद्र], तथा तारा का अनुग्रह विश्व पर होरहा है, प्रलयदशा में सोमाहुति से पृथक् रहने वाले ये ही अक्षोभ्य क्षोभ्य थे, घोररुद्र थे, एवं उनकी शक्ति संहार की अधिष्ठात्री बनी रहती हुई 'उग्रतारा' थीं। सृष्टिविद्याक्रम में क्योंकि उग्रतारा का ही प्राधान्य था। अतएव दशमहाविद्याप्रसङ्ग में आगमाचार्य्योंनें 'तारा' रूप से तत्पूर्वरूपा 'उग्रतारा' को ही आराध्या मान लिया है, जैसाकि निम्न लिखित ध्यानमन्त्र से स्पष्ट है—

प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासा परा–
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्प्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा ॥

---

*–जब कि परमेष्ठी की दृष्टि से तो इसके चारों ओर परिक्रमा लगाता हुआ सूर्य्य भी क्रन्दसीत्रैलोक्य की दृष्टि से गतिमान् (परिभ्रमणशील) ही है।

×--**सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्** [शतपथब्रा०]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता-
जाड्यं न्यस्य कपालकर्तृ जगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम् ॥

—शाक्तप्रमोद, तारातन्त्र

१४३–उग्रतारास्वरूपिणी भगवती तारा का नैदानिक--ध्यान, और तत्समन्वय—

महाकाली महाप्रलय की अधिष्ठात्रीं थीं, तो यह उग्रतारा भगवती खण्डप्रलयात्मिका सूर्य्यप्रलय की अधिष्ठात्री हैं। प्रलयकर्म्म दोनों शक्तियों का समानधर्म्म है। अतएव महाकाली, और उग्रतारा के ध्यान-भावों में थोड़ा ही विभेद है। इसकी चारों भुजाओं में सर्प आविष्ट-हैं। सचमुच प्रलयकाल में अपने महान् उस '**विष**' से ही यह संहारकर्म्म का प्रसार करती है, जो वायव्य प्राणात्मक महाविष–'**गर**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, एवं जिसके सम्बन्ध से निगम ने रात्रि को '**सगरा**' कहा है। संहारक उग्ररुद्र से सम्बन्ध रखनें वाले इन सर्पणशील विषाक्त–वायव्य–प्राणों का यजुःसंहिता में विस्तार से यशोवर्णन हुआ है। इसी संहारक–सर्पणशील–विषाक्त–वायव्यप्राण का नैदानिक स्वरूप '**सर्प**' हैं। विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठिता है यह रौद्री महाशक्ति उग्रतारा, जो कि विश्व संहारशक्ति के वारुणपाश में आबद्ध होकर शवशरीरी बना हुआ है। शवशरीर के हृदय पर प्रतिष्ठित बतलाना इसी स्थिति का नैदानिक स्वरूप है। पूर्वकथनानुसार सौर–रुद्राग्नि अन्नाहुति से पूर्व प्रचण्ड–आवेग–आवेश में आकर सायँ–सायँ शब्दानुगामी बन जाता है। इसी भीषण–गर्जन-तर्ज्जन-ध्वनि का निदान '**अट्टाट्टहास**' है। सौर प्रलयकाल में पृथिवी–चन्द्रमा-मनुष्य-पशु–पक्षी–ओषधि–वनस्पति-आदि आदि की रसमात्राएँ सौर–घोररुद्र से शुष्क बन जातीं हैं। सबका रस सूख जाता है। मानो सबका जीवनीय रस उग्रतारा ही पी जातीं हैं। 'रस' ही प्राणियों का 'श्री' भाग माना गया है, जो कि सप्तमर्त्यप्राणों का ऊर्ध्व-विनिःसृत अमृतरस [जीवनीयरस] प्राणियों के कपालप्रदेश में सञ्चित माना गया है। इस श्रीरूप रस के कारण हीं मस्तक-'शिरः' कहलाया है–[देखिए–शत० ६।१।१।६।]। इसे आधार बना कर ही रौद्री-शक्ति संहारकाल में रसपान करती है। इसी का निदान–'**खप्पर**' है। '**असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः। नीलग्रीवो विलोहितः**' [यजुःसंहिता] इत्यादि के अनुसार उग्र–क्षत्ररुद्र–नीलग्रीव हैं, पिङ्गल हैं, ताम्र हैं, अरुण हैं। इन की उग्रताराशक्ति का भी ऐसा ही स्वरूप है। सूर्य्यरूप मस्तकभाग से चारों ओर वितत रश्मियों का भी यही स्वरूप है। ये रश्मियाँ हीं उसके जटाजूट हैं, जिन की सप्तवर्णता, किंवा विविध-विचित्ररूपता विश्वविश्रुता है। प्रत्येक सौर रश्मि में [उस महाभीषण–संहार–काल में] तथाकथित विषाक्त-सर्पणशील वायव्यप्राण व्याप्त हैं। इसी स्थिति का नैदानिकरूप–'**नील–विशाल--पिङ्गल–जटाजूटैक--नागैर्युता**' है। वह महाशक्ति इत्थंभूत उग्ररूप में परिणत होकर ही विश्व का संहार करती है। और यही सृष्टिधारात्मिका इस द्वितीया महाविद्या का पावन संस्मरण है। महाकालीरूप विश्वातीत के अनन्तर उग्रतारारूप सूर्य्य का ही आविर्भाव होता है व्यक्त रूप से, यही सृष्टितत्त्वनिष्कर्ष है।

—२—

३--पञ्चवक्त्रशिव, और उसकी महाशक्ति षोडशी
(तृतीया-महाविद्या)

१४४--विश्वस्वरूपसम्पादक सर्वहुतयज्ञ का संस्मरण—

निवेदन किया गया है कि, स्वयम्भूरूप महामायी महेश्वर-महाकाल, एवं परमेष्ठीरूपा महामाया महाकाली के दाम्पत्य से ही, इन दोनों उग्र-उग्रतर-उग्रतम-पुरुष-प्रकृतिभावों से ही उग्रतम, सम्वत्सर-चक्रात्मक-ऋतुकालानुबन्धी क्षत्ररुद्ररूप सूर्य्य, तथा तदभिन्ना उग्रशक्ति उग्रतारा का आविर्भाव हुआ । कल्पना कर लीजिए, अभी सूर्य्याचन्द्रमसौ मूला अग्नीषोमात्मिका यज्ञप्रक्रिया का आरम्भ नहीं हुआ । अभी तो केवल यज्ञान्न के इच्छुक उग्रसूर्य्यरूप क्षोम्यपुरुषात्मक अक्षोम्यपुरुष, तथा उग्रताराशक्ति का ही उदय हुआ है । अनन्तर यज्ञप्रक्रिया आरम्भ होती है, जिसका आधार बनती है पञ्चीकरणप्रक्रिया । इसी पञ्चीकरण-प्रक्रिया से उस '**सर्वहुत**' यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिसके विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जनादि-भावों से आगे चलकर पुरात्मक विश्वाण्डों का स्वरूपसम्पादन हुआ करता है, जिनका दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है ।

१४५-उग्रतारा की शिवभाव में परिणति, एवं यज्ञप्रवृत्ति—

उग्रतारासमन्वित-अक्षोम्यपुरुषरूप उग्रक्षत्ररुद्रात्मक सूर्य्य में पारमेष्ठ्य-सोम की आहुति हुई । इस सोमरूप शान्तदेवत्यान्न से-'**तेनैनं अशमयत्**' (शत० ६।१।१।) इत्यादिरूपेण रुद्रसूर्य्य '**शिवरूप**' रूप में परिणत होगए । और इसी से उग्रतारा भगवती भी शिवा-भवानी-रुद्राणी-सर्वमङ्गला-शान्ततेजोमयीं बन गईं । इत्थंभूता सुशान्ता-मङ्गलमयी (सुमङ्गला) इस शिवा शक्ति से समन्वित * सुमङ्गल-शिवसूर्य्य ही संसार के प्रभव बनें । शिवात्मक सूर्य्यनारायण हीं अपने सहजसिद्ध साम्बसदाशिवभाव से पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-रूप सौरब्रह्माण्ड के, एवं तद्गर्भीभूता समस्त-देवमानवादि-पशु-वृक्षादि-कीट-पतङ्गादि-प्रजाओं की प्राणप्रतिष्ठा बनें, जैसा कि-'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**'-**सूर्य्य-आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'-**निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च**'-'**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**' इत्यादि मन्त्रब्राह्मणश्रुतियों से प्रमाणित है ।

१४६-पञ्चवक्त्रशिव, और तच्छक्ति षोडशी का नैगमिक (वैदिक) स्वरूपसमन्वय—

तथाविधा-शिवात्मिका-सर्वप्रभवात्मिका-शिवसूर्य्याभिन्ना-विश्वनिर्म्मात्री महाशक्ति ही आगम में-'**षोडशी**' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जबकि स्वयं शिवसूर्य्य इस शक्त्यपेक्षया '**पञ्चवक्त्रशिव**' नाम से प्रसिद्ध हैं । रुद्रशक्ति उग्रतारात्मिका 'तारा' थीं, तो शिवशक्ति '**षोडशी**' है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है । ग्रीष्मकालीन--मध्याह्न के प्रचण्ड--सान्तपनाग्निरुद्रमूर्त्ति--उग्र--सूर्य्य को उदाहरणधिया 'रुद्र' समझिए, तच्छक्ति का उग्रतारा-रूप से ध्यान कीजिए । एवं श्रावणमासीय--प्रातःकालीन--आपोमय--सुशान्त--सूर्य्य को शिव मानिए, एवं तच्छक्ति का 'षोडशी' रूप से अनुध्यान कीजिए । षोडशी के नैदानिक--ध्यान से पूर्व प्रसङ्गोपात्त तदभिन्न-पुरुष--शिवसूर्य्यात्मक पञ्चवक्त्रशिव के इस नैदानिक ध्यान-संस्मरण से भी हम अपना दुरितक्षय कर लेते हैं, जिनके अनुग्रह से ही मानव यमपाशभीति से उन्मुक्त हुआ करता है । श्रूयताम् !

---

* **असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः** [यजुःसं०]

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१४७–शिवसूर्य्यात्मक–पन्चवक्त्रपुरुष का नैदानिक ध्यान, एवं उसके नैदानिक आयुधों का तात्त्विक समन्वय—

मुक्ता–पीत–पयोद–मौक्तिक–जपा––वर्णैर्मुखैः पन्चभि––
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम् ।
शूलं–टङ्क––कृपाण––वज्र––दहनान्––नागेन्द्रपाशाङ्कुशान्––
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ।। —तन्त्रसार

गुण––कर्म्म–शक्ति–स्थान––कालादि भेद से भगवन् शङ्कर के अनेक महिमामय विवर्त्त हो जाते हैं। मूलोक्थरूप से–'**एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः**' (श्वेता० ३।२) के अनुसार जहाँ वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में––एकाकी हैं *, वहाँ अपने अर्करूप (रश्मिप्राणरूप) महिमाभावों से––'**असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः**' (यजुःसं० १६।५४।) रूप से–'**न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः**' (रघुवंशः) इस कविसूक्ति को अन्वर्थं प्रमाणित कर रहे हैं। उन असंख्य––अनन्त––महिमारूपों में से उक्त ध्यानमन्त्र के द्वारा पञ्चवक्त्र––पञ्चमूर्त्ति एक विलक्षण शिवतत्त्व का ही स्वरूप––विश्लेषण हुआ है, जिसकी विलक्षणता का अनुग्रह आगमपरम्परानुगता रहस्यपूर्णा परोक्षा निष्ठा से ही प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि–निगमशास्त्र की––'**परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः**' इस परोक्षनिष्ठा का आगमीया निष्ठा से सर्वथा तादात्म्य है । प्रकृत में तो परम्पराच्युत हम जैसे प्राकृत––पशुओं को तत्––अक्षरस्मरणमात्र से ही संन्तोष कर लेना पड़ेगा।

पूर्वा–पश्चिमा–उत्तरा–दक्षिणा,–एवं **ऊर्ध्वा**–दिग्भेद से उस एक ही सूर्य्यशिव के पाँच मुख मान लिए हैं निदानमाध्यम से आगमशास्त्र ने, जो क्रमशः–**१–तत्पुरुष'–२–सद्योजात,–३–वामदेव,–४–अघोर,–५–ईशान,** इन अभिधाओं से सुप्रसिद्ध हैं। पाँचों मुख क्रमशः **चतुष्कल–अष्टकल–त्रयोदशकल–अष्टकल** एवं **पञ्चकल** हैं। एवं पाँचों क्रमशः **हरित, रक्त, धूम, नील, पीत**–वर्णों से समन्वित हैं। ऐसे पञ्चवक्त्र–भगवान् शिव की १० भुजाएँ हैं। दसों में क्रमशः **१–अभय, २–टङ्क, ३–शूल, ४–वज्र, ५–पाश, ६–खड्ग, ७–अङ्कुश, ८–घण्टा, ९–नाग (सर्प), १०–प्रज्ज्वलित अग्नि,** ये दस आयुध हैं। सर्वज्ञ हैं ये भगवान् शिव। त्रिनेत्र हैं ये महेश्वर। अनन्त शक्तिमान् हैं ये षोडशीपति। पाँचों दिशाओं में व्याप्त रहते हुए सर्वत्र व्याप्त हैं, भूतपति–सर्वपति हैं। पाँचों ओर इनका आभिमुख्य है। यह अभिमुखता ही इनका मुखत्त्व है, '**पञ्चवक्त्रता**' इसी का नैदानिकभाव है।

पार्थिव आग्नेयभाव, आन्तरिक्ष्य वायव्यभाव, एवं दिव्य चान्द्र––सौम्यभाव भेद से अग्नि––वायु––सोम–भाव––इनके तीन स्वरूपधर्म्म मान लिए गए हैं। ये तीनों हीं तीन तीन महिमाभावों में विभक्त हैं। अग्नि–प्राणावच्छिन्न अग्नि के **अग्नि, वायु, इन्द्र,** ये तीन महिमाभाव हैं । वायव्यप्राणावच्छिन्न वायु के–**वायु, शब्द, अग्नि,** ये तीन महिमाभाव हैं। एवं सौम्यप्राणावच्छिन्न सोम के **वरुण–चन्द्रमा–दिक्,** ये तीन महिमाभाव हैं। यों तीन स्वरूपधर्म्मों के महिमामय ९ अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं। ये नवों हीं धर्म्म घोर हैं, उग्र हैं। एवं नवों का आधारभूत, सर्वाधार–निराधार–गगनसदृश–शान्ति–प्रतिष्ठा–रूप–परोरजाभाव

***–एकाकी चरति सूर्य्यः ।**

(रजोगुण से अतीत–स्वायम्भुव–सत्त्वभाव) १० वाँ प्राजापत्य प्राण है। १० भुजाएँ इन्हीं दस स्वरूपधर्म्मों के नैदानिक–स्वरूप हैं। 'टङ्क' आग्नेय ताप का निदान है। शूल वायव्यताप का *, पाश वरुणताप का निदान है, जैसाकि–'**वरुण्या वा एषा -यद् रज्जुः**' (शतपथब्रा०) इत्यादि से स्पष्ट है। खड्ग चान्द्रशक्ति का नैदानिक स्वरूप है। अङ्कुश दिश्या हेति का निदान है। नाग से खगोलीया सञ्चर–नाड़ियाँ, तथा विविध विषप्राणात्मक आकाशीय–पूर्वाभिमुख नाक्षत्रिक सर्प, वायव्यप्राणविषात्मक ग्रह, आदि विषभाव अभिप्रेत हैं। जिस प्राणवायुसूत्र से रुद्र प्रविष्ट–व्याप्त हो रहे हैं विश्व में समष्टि, और व्यष्टि रूप से, वे ही वायव्य-नियतपथ (सछन्दस्कपथ) 'सञ्चरनाड़ी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं से नाक्षत्रिक–सर्पप्राण संगृहीत हैं। सम्पूर्ण ग्रहरूप सर्पों में सौररुद्रतेज अभिव्याप्त है। इसी तत्त्व को व्यक्त करने के लिए शिव के सर्वाङ्ग-शरीर को सर्पों से वेष्टित प्रदर्शित किया जाता है प्रतिमाभावों में। प्रचण्ड–सावित्राग्निपुञ्ज ही इनका मौलिक स्वरूप है। अतएव 'अग्निज्वाला' को इनका निदान मान लिया गया है। सोमाहुति का निदान मस्तकस्था चन्द्रकला है। शान्ति–प्रतिष्ठा–रूप-परोरजा–स्वायम्भुव–सुशान्त–ब्राह्मप्राण का नैदानिक स्वरूप 'अभयमुद्रा' है। आगमरहस्यानुसार–(दक्षिणेश्वरशिवतत्त्वानुसार ×) ध्वनिरूपा शब्दवाक् की विनिर्गम भूमि ये ही आग्नेय रुद्र हैं, जैसा कि–'**अग्निर्वाग्भूत्त्वा मुखं प्राविशत्**' इत्यादि से स्पष्ट है। 'घन्टा' इस ध्वनि का नैदानिक–स्वरूप है। नीचे लिखी तालिका इसी नैदानिक–भाव को व्यक्त कर रही है—

---

*–न वातेन विना शूलम्

×–दक्षिणेश्वरस्य नैदानिकध्यानम्––

व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपादं-
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिर्युद्रुमाधः।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः--
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो नः॥

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका के–खण्डद्वयात्मक 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक सप्तमखण्ड में श्रीदक्षिणेश्वर–महादेवतत्त्व के नैदानिक–भावों का विस्तार से संस्मरण हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१	१—अभयम्—प्राजापत्यप्रतिष्ठा—शान्तिः—परोरजाप्राणः——०
२	२—टङ्कः——आग्नेयतापः——अग्निः—आग्नेयप्राणः (१)–१
	३—शूलम्——वायव्यतापः———वायुः—— ” (२)–२
	४—वज्रम्——ऐन्द्रतापः———इन्द्रः—— ” (३)–३
३	५—पाशः——वारुणहेतिः———वरुणः—सौम्यप्राणः (१)–४
	६—खड्गः———चान्द्रहेतिः———चन्द्रः— ” (२)–५
	७—अङ्कुशः——दिश्याहेतिः———दिक्— ” (३)–६
४	८—घन्टा———ध्वनिर्वाक्———शब्दः—वायव्यप्राणः (१)–७
	९—नागः———सञ्चरनाड़ी———वायुः— ” (२)–८
	१०—अग्निः———प्रचण्डाग्निः———अग्निः— ” (३)–९

१४८—सौर इन्द्र का षोडशीप्रजापति से अभिन्न सम्बन्ध, एवं इन्द्र का षोडशीप्रजापतित्त्व—

पूर्वोपवर्णित पञ्चवक्त्रशिव से अभिन्ना महाशक्ति हीं (सौरी विश्वनिर्म्मात्री शक्ति हीं) 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हुईं हैं। पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, एवं निष्कल—एकल [एकाकी] परात्पर, इन की समष्टि का नाम ही 'षोडशीपुरुष' है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य्य—चन्द्रमा—पृथिवी—इन पाँचों ब्रह्मपुरात्मक—विश्वपुरों में से एकमात्र विश्वमध्यस्थ सूर्य्य में हीं तथोक्त षोडशकल—षोडशीप्रजापति अपनी सोलह कलाओं से अभिव्यक्त होते हैं। स्वयम्भू अव्यक्तभाव-प्रधान है। अतएव तत्र षोडशी का व्यक्तीभाव सम्भव ही नहीं। परमेष्ठी आपोमय है। अतएव तत्र षोडशी गर्भीभूत तो अवश्य हैं, किन्तु व्यक्त नहीं हैं इस ऋत—आपः—के सहज विलयन—धर्म्म के कारण। अतएव महत्परमेष्ठी से समन्वित षोडशी गर्भरूप से [गर्भवत्] अन्तर्लीन ही हो जाते हैं।

इधर सावित्राग्निमूर्त्ति मध्यस्थ सूर्य्य अग्नित्त्वेन चितिधर्म्मा हैं। आगत वस्तुतत्त्व को अपने सहज—चिति, सञ्चितिधर्म्म से अपने में लीन न कर ये उसे अपने ऊपर धारण कर उस विधृततत्त्व को भी व्यक्त कर देते

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

हैं । इसी धारण--धर्म्म से ही तो धर्म्मसृष्टि [प्राकृतधर्म्मसृष्टि] की प्रवृत्ति--'**यतो धर्म्माणि धारयन्**' रूप से चितिधर्म्मा, अतएव धृतिधर्म्मा सूर्य्य से ही मानी गई है । अतएव अत्र समागत षोडशी चिदात्मा सर्वात्मना व्यक्त हो जाते हैं । स्वयम्भू-परमेष्ठी-आदि पाँचों ब्रह्माण्डरूप छन्दःपुरों में क्रमशः **ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम**-इन पाँचों अक्षरों का प्राधान्य माना गया है । पाँचों में इन्द्राक्षर से समन्वित सूर्य्य ही क्योंकि षोडशीप्रजापति का व्यक्त स्थान है । अतएव पाँचों अक्षरों में सौर-इन्द्र को ही-'षोडशी' उपाधि का सम्मान-प्राप्त हुआ है, जैसाकि--'**इन्द्रो ह वै षोडशी**' [शत० ४।२।५।१४] इत्यादि से स्पष्ट है ।

१४९--षोडशी--महाशक्ति का स्वरूप--समन्वय—

पञ्चकल अव्ययपुरुष का सृष्टिसाक्षी स्वरूप मनः-प्राण-वाग्-रूप [घन] बतलाया गया है पूर्व में । इन तीनों सृष्टिसाक्षी स्वरूपों में से स्वयम्भू में केवल 'वाक्' कला का प्राधान्य है, परमेष्ठी में वाक्-प्राण-दो कलाओं का प्राधान्य है । उधर मर्त्या विश्व के पृथिवीविवर्त्त में 'वाक्' का, तथा चन्द्रविवर्त्त में वाक्-प्राण का प्राधान्य है, जब कि मर्त्य--[चन्द्रमापृथिव्यात्मक], एवं अमृत [परमेष्ठी--स्वयम्भू रूप] विश्व के केन्द्रस्थ सूर्य्य में सृष्टिसाक्षी अव्यय के-'**मनःप्राणवाक्**' तीनों रूप सुविकसित माने गए हैं । इसी आधार पर तो-'**वागिन्द्रः**'-'**आदित्यं मनः**'-'**प्राणः प्रजानामुदयत्येषसूर्य्यः**' इत्यादि निगम-समन्वित हुए हैं । बृहदारण्यक ने तथाकथित सृष्टिसाक्षी आत्मा का लक्षण माना है-'**स वा एष आत्मा-वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः**' । इत्थंभूत त्रिकल-त्रिपर्वा-अव्ययात्मा क्योंकि पाँचों पर्वों में से एकमात्र विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य में हीं अभिव्यक्त है । इसीलिए सूर्य्य को ही स्थावर-जङ्गम-प्रपञ्च का 'आत्मा' मान लिया गया है, जैसा कि-'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' [यजुःसंहिता] इत्यादि से प्रमाणित है । यों सूर्य्य का षोडशीप्रजापति-समन्वितत्त्व अनेक दृष्टियों से संसिद्ध है । अतएव शिवस्वरूपात्मक, आगम के शब्दों में पञ्चवक्त्रमूर्त्तिशिवस्वरूप सौरपुरुष को निगमदृष्ट्या यदि 'षोडशीपुरुष' कहा जासकता है, तो तदभिन्न आगमशास्त्र इस की महाशक्ति को--'षोडशी' नाम से भी अवश्य ही व्यवहृत कर सकता है ।

१५०-षोडशी महाशक्ति से अभिन्ना शक्ति त्रिपुरसुन्दरी और उसका नैदानिक ध्यानमन्त्र-

सूर्य्यरूप द्यौः, चन्द्ररूप अन्तरिक्ष, एवं पृथिवी, तीनों की समष्टिरूप सौर-त्रैलोक्य के कर्त्ता-भर्त्ता-भाग्यविधाता षोडशी-भावान्वित सूर्य्य ही हैं, जो लोकत्रयी-'ओं भूः-भुवः-स्वः' से उपक्रान्त-'**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि**' इत्यादि लक्षण गायत्रीतत्त्व से अनुप्राणिता मानी गई है । सौरी षोडशी शक्ति ही इस सौरी-त्रिपुरी की जन्मदात्री है, जिनमें सौर-पुरी हिरण्मयी है, चान्द्रपुरी रजतमयी है, एवं पृथिवीपुरी अयोमयी है । सुवर्ण-रजत-लौह-भावात्मिका-तीनों पुरों का सर्वस्व सौरी षोडशी शक्ति पर ही प्रतिष्ठित है । इसी त्रिपुराधिष्ठातृत्त्वेन आगमशास्त्र में यही षोडशी भगवती दृष्टिकोणभेद से-'**त्रिपुर-सुन्दरी**' नाम से भी प्रसिद्ध है । इसी के नैदानिक ध्यान की ओर तद्भक्तों का ध्यान आकर्षित करते हुए आगमाचार्य्य कहते हैं—

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम् ।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे ॥

—शाक्तप्रमोद, षोडशीतन्त्र

१५१-षोडशी शक्ति के नैदानिक-भावों का समन्वय—

सौरसंस्था में **प्रकाश, ताप**, एवं आहुत **सोम**, तीनों समन्वित रहते हैं। प्रकाश स्वज्योतिर्भाव है, यह सौर इन्द्र का स्वरूपधर्म्म है। ताप रूपज्योतिर्भाव है, यह पार्थिव–अग्नि का स्वरूपधर्म्म है। एवं सोम परज्योतिर्भाव है, और यह चान्द्रसोम का स्वरूपधर्म्म है। यों सौर इन्द्र–पार्थिव अग्नि–चान्द्र–सोम, तीनों ज्योतिर्भावों से त्रैलोक्यविधाता–षोडशीसूर्य्य ज्योतित्रयमूर्त्ति बने हुए हैं, जैसाकि–**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** (यजुसंहिता) इत्यादि से स्पष्ट है। इस ज्योतित्रयी से ही सौरपञ्चवक्त्रशिव, तथा तच्छक्ति षोडशी के शिवशक्त्यात्मक समन्वय से त्रैलोक्य आलोकित है। इसी ज्योतिस्त्रयी का नैदानिकभाव–**'त्रिलोचनाम्'** है। सौरी शक्ति द्यावापृथिवीरूप सम्पूर्ण ज्योतिष्चक्र (खगोल), तथा भुवनकोश (भूगोल) में व्याप्त है, यही स्वस्तिकभावमूला चतुर्भुजता है इसकी, जिसका पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। सोमाहुति ने ही इसके उग्ररुद्रात्मक उग्रतारारूप को सुशान्त कर रक्खा है। प्रातःकाल का बालसूर्य्य इसी सुशान्तभाव का निदान है। सूर्य्य से समुत्पन्न होने वाली प्रजा निश्चयेन सौर आकर्षण से (सुषुम्णा नाम की चान्द्र–नाड़ी के द्वारा) आकर्षित–आबद्ध रहती है। स्वयं पार्थिव विश्व भी विश्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्रानुगत ध्रुव के द्वारा सौर आकर्षण से ही आबद्ध है। अतएव कभी सौरक्रान्तिवृत्तरूप–दीर्घवृत्तात्मक (अण्डवृत्तात्मक) सम्वत्सर की वेला का अतिक्रमण नहीं कर सकता सूर्य्य के चारों ओर इसी क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाता हुआ यह भूपिण्ड। निष्कर्षतः सम्पूर्ण त्रैलोक्य, त्रैलोक्यप्रजा, सभी कुछ इस सौरी षोडशीशक्ति के आकर्षण से नियन्त्रित है। 'पाशान्' इसी आकर्षण नियन्त्रण का निदान है। षोडशीप्रजापति के मध्यस्थरूप नियन्ता अक्षर को ही हमने पूर्व में सर्वज्ञ–सर्ववित्–सर्वशक्ति-प्रजापति कहा है। अन्तर्य्यामी मध्यस्थ अक्षर के कारण ही तो सौरीशक्ति षोडशीप्रजापति से अनुगृहीत होती हुई 'षोडशी' बनी है। स्वयं सूर्य्य भी इसी नियतिर्दण्ड से सञ्चालित है।

भयादस्याग्निस्तपति, भयात्तपति सूर्य्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

उक्त श्रौतवचन के अनुसार सब पर सौरी–अक्षरशक्ति का अनुशासन है। अंकुश इस अक्षरधर्म्म का नैदानिक–स्वरूप है। प्रज्ञापराधवश, अज्ञतावश जो प्राकृत मानव अक्षरप्रकृति के इन ऋत–सत्य–सूत्रात्मक–नियतिःसत्यलक्षण धर्म्मनियन्त्रणों की उपेक्षा कर देते हैं, वर्त्तमानभाषानुसार जो परप्रत्ययनेयता से धर्म्मनिरपेक्ष बन जाने जैसी भयावहा-घोरघोरतमा-भ्रान्ति कर बैठते हैं, वह प्रकृति निश्चयेन धर्म्मच्युत उन यथाजात नराधमों का सर्वनाश ही कर डालती है, जैसाकि—**'धर्म्म एव हतो हन्ति'** से भी स्पष्ट है। कैसे, किन माध्यमों के द्वारों से हो जाता है धर्म्मविरोधियों का मूलविनाश ?, प्रश्न का समाधान अन्य निबन्धों में हीं द्रष्टव्य है। यहाँ इस समाधान–प्रसङ्ग में केवल यही जान लेना अलं होगा कि, **वरुण, निर्ऋति, यम, रुद्र,** ये पाँच प्राणदेवता ही विनाश के द्वार बना करते हैं, जिनमें से प्रकृत में 'रुद्र' का ही सम्बन्ध है। सौररुद्र की महाशक्ति उग्रतारा ही प्रकृति-विरुद्ध गमन-करने वाले असुर–राक्षसों का-**'हन्त्युग्रतारा स्वयम्'** रूप से नाश कर दिया करती है। रुद्र को ये अपनी महिमा से पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यु–नामक तीनों लोकों में आसुरमानवों को दण्ड देने के लिए ही मानों आयुधों से सुसज्जित सन्नद्ध कर प्रहरी की भाँति सन्नद्ध रखतीं हैं। द्युलोकस्थ रुद्र का आयुध 'वर्षा है, आन्तरिक्ष्य रुद्र का आयुध प्रचण्ड सान्तनपन वायु है, एवं पार्थिव रुद्र का आयुध

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पार्थिव अन्न है * । वर्षा से सम्बन्ध रखने वाले–अतिवृष्टि-अनावृष्टि-हीनवृष्टि करकापातादि ही वर्षानुगत संहार है । प्रचण्ड–झञ्झावात, रूक्ष–आग्नेय–तापादि से सम्बद्ध रसशोषक संहार ही वातानुगत संहार है । एवं अभक्ष्य–भक्षणादि अन्नदोष ही अन्नात्मक संहार है । यों अधर्म्मपथानुगामी–मतिभ्रष्ट–मानवों के लिए लोकभाषानुसार प्रकृति के **पानी–हवा–अन्न**, तीनों हीं जीवनीय साधन विकृत बन कर सर्वनाश के कारण बन जाया करते हैं । इसीलिए इन तीनों रक्षक साधनों को–'**इषवः**' रूप से संहार के भी साधन–माध्यम मान लिए हैं महर्षि ने । 'षोडशी' का-'**शर**' आयुध इस त्रिविधा -रौद्री संहारशक्ति का नैदानिक स्वरूप है । सृष्टिकर्त्ता **चतुर्म्मुख** ब्रह्मा, सृष्टिपालक **चतुर्भुज विष्णु**, एवं सृष्टिरक्षक–**त्रिनेत्र शिव**, खण्डप्रलय के अधिष्ठाता **यम**, चारों देवता अक्षरप्रधाना भगवती षोडशी के ही नियन्त्रण से नियन्त्रित हैं । मानो वह इन चारों को अपना वाहन ही बनाए हुए हैं । '**चतुर्वाहाम्**' इसी रहस्य का नैदानिक स्वरूप है । और यही उक्त ध्यान का अक्षरार्थ-समन्वय है ।

—३—

४–त्र्यम्बकशिव, और उसकी महाशक्ति भुवनेश्वरी

(चतुर्थी–महाविद्या)

५२--शिव की तीन अम्बाएँ, एवं सुगन्धि--पुष्टिवर्द्धन--त्र्यम्बक शिव का नैगमिक--समन्वय—

स्वयम्भू–महाकालपुरुष की महाशक्ति पारमेष्ठिनी महारात्रिरूपा महाकाली के गर्भ में–अक्षोभ्यपुरुषरूप प्रचण्ड रुद्रसूर्य्य, एवं तदभिन्ना प्रचण्डा उग्रतारारूप 'तारा' भगवती का आविर्भाव हुआ । और यही शिवशक्ति का द्वितीय द्वन्द्व माना गया । अनन्तर इसी उग्रसूर्य्य का पञ्चवक्त्रानुगत शिवस्वरूप, तथा प्राजापत्य षोडशी शक्ति, दोनों का समन्वितभाव ही पञ्चवक्त्रशिवानुगत-षोडशीशक्ति-लक्षण तृतीय-महाविद्यायुग्म कहलाया । यह तृतीययुग्म ही अब '**विश्वानि–भुवनानि**' का उपक्रम बनने वाला है । पूर्व में षोडशीप्रजापति का स्वरूप–दिग्दर्शन–कराते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, षोडशीप्रजापति का अन्तिम–आत्मक्षर भाग ही-'**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' रूप से विकाररूप विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–रूपेण अन्ततोगत्वा विश्वपुरात्मक 'भुवन' स्वरूपों में परिणत हुआ करता है । सूर्य्य से नीचे नीचे का सम्पूर्ण–प्रपञ्च क्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है । अतएव भूतात्मक–'भुवन' शब्द अमृतसूर्य्य (अक्षरात्मक षोडशी सूर्य्य) से अर्वाक्–लोकों के साथ ही प्रधानरूप से सम्बद्ध माना जायगा । क्षरात्मक भुवनों की **आधारावस्था पञ्चवक्त्रशिवानुगता षोडशी** है, एवं क्षरात्मक भुवनों की **स्वरूपावस्था** का ही नाम **त्र्यम्बकशिवानुगता–भुवनेश्वरी** है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है । 'तत्सृष्ट्वा' दशा में वही सौरी षोडशी 'षोडशी' है, एवं 'तदेवानुप्राविशत्' दशा में

---

* ये पृथिव्यां रुद्रास्तेषामन्नमिषवः ।
येऽन्तरिक्षे रुद्रास्तेषां वात इषवः ।
ये दिवि रुद्रास्तेषां वर्षमिषवः । —यजुःसं० १६।६६।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वही सौरी षोडशी भुवनेश्वरी है । विश्वसर्जनदशा में वही शिव पञ्चवक्त्रशिव हैं, एवं विश्व को उत्पन्न कर तत्र प्रविष्ट होने पर वही भुवनेश्वर 'त्रिस्रो मातॄस्त्रीन्पीतॄन्०' के अनुसार त्रिवृद्भावापन्ना तीन माता (अम्बा) पृथिवी–विवर्त्तों के अनुगामी बनते हुए भुवनेश्वर–त्र्यम्बक हैं, जिनका गन्धतन्मात्रानुगता अम्बा-पृथिवी माता के सम्बन्ध से ही संहिताने–'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्' (यजुःसं० ३।६०।) इत्यादिरूप से यशोगान किया है । अलमतिपल्लवितेन–विस्तारभिया ।

१५३–महाशक्ति भुवनेश्वरी त्र्यम्बकशक्ति का नैदानिक ध्यानमन्त्र—

अम्बा–अम्बालिका–अम्बिका–नाम से प्रसिद्धा तीन मातृशक्तियों से समन्वित, अतएव 'त्र्यम्बक' नाम से प्रसिद्ध, सूर्य्य से अर्वाक्स्थित क्षरप्रधान–मर्त्यविश्व में अनुप्रविष्ट सौर-शिव की क्षरविश्वप्रतिष्ठा वही षोडशी शक्ति 'भुवनेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध हुई है । और यही चौथा युग्म है 'शिव–शक्ति' तत्त्व का, जिसका ध्यान निम्न लिखित रूप से प्रसिद्ध है—

उद्यदिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम् ।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम् ॥

—शाक्तप्रमोद, भुवनेश्वरीतन्त्र

१५४--भुवनेश्वरी भगवती के नैदानिक ध्यान का नैदानिक--समन्वय—

क्षरात्मक–विश्व का आरम्भ हो गया इस भुवनेश्वरी की सत्ता में। विश्वकाल ही अहःकाल है, जब कि विश्वाभाव **'रात्रि'** माना गया है । 'सुप्रभात' अहःरूप विश्व का ही सूचक है । और **'उद्यदिनद्युति'** शब्द इसी अहःरूप सर्गकाल की ओर निदानभाव से सङ्केत कर रहा है । **'इन्दुकिरीटाम्'** शब्द पार्थिव-त्रैलोक्यसर्ग का ही स्वरूप–विश्लेषक है, जिसके स्वरूपबोध के लिए तो निगमशास्त्र की स्तोमवितानात्मिका **'वषट्कारविद्या'** की शरण में जाना चाहिए । यहाँ अवसर नहीं है तद्विश्लेषण का । सौरत्रिलोकी के अन्तिम पर्व 'भूः' पिण्ड के आधार पर वितत पार्थिव–चितेनिधेय–आग्नेयप्राण ही अपने घन–तरल–विरल–भावों से त्रिवृत् (९)–पञ्चदश (१५) एकविंश (२१) स्तोमसंस्थानलोकों में विभक्त होकर क्रमशः पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–रूप में परिणत हो रहा है । यही त्रिपृथिवीरूपा (त्र्यम्बारूपा) वह महापृथिवी है, जिसके सम्बन्ध से तत्रप्रविष्ट–प्रवर्ग्यसौरतेज (किन्तु आज पृथिवी का ब्रह्मौदन बना हुआ पार्थिव अग्नि) 'त्र्यम्बकशिव' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । तच्छक्ति ही तो 'भुवनेश्वरी' है, जिसके तीसरे मस्तकस्थानीय–एकविंशस्तोमलोक से ऊपर वह त्रिणव (२७) स्तोमलोक नामक चतुर्थ लोक माना गया है, जिसका–**'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः'** [शत० ब्रा०] इत्यादि से स्पष्टीकरण हुआ है । यहीं भास्वरसोमात्मक चान्द्रसोम प्रतिष्ठित है । यों पार्थिव–भुवनत्रयरूप [त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंशरूप पृ० अन्त० द्यौः रूप] त्रैलोक्यमयी भुवनेश्वरी के किरीटरूप सप्तविंश लोक नामक चतुर्थलोक में चान्द्रसोम विराजमान है, एवं–**'इन्दुकिरीटाम्'** से इसी रहस्य का निदानमाध्यमेन सङ्केत हुआ है । अन्यच्च–त्रिणवसोमाहुति से ही तो सौराग्नि क्षरयज्ञ के स्वरूप-सम्पादक बन कर तद्द्वारा पार्थिवत्रैलोक्य को व्यक्त करने में समर्थ बने हैं । इस यज्ञमूला–क्षरसृष्टि का मूलप्रभव तो सोमाहुतिकर्म्म ही है । यों भुवनेश्वरी की इन्दुकिरीटता इस सोमाहुति के सम्बन्ध से भी अन्वर्थ बन रही है । पार्थिव–त्रैलोक्य के अग्नि–आदित्य तेज, तथा किरीटेन्दुरूप चान्द्र तेज से यह त्रिनेत्रा है । वरदा--अङ्कुश--

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पाशा--अभीति--आदि के निदाभाव एवं ध्यानों से गतार्थ हैं। जो गतार्थ नहीं हो रहे, उन्हें शक्त्याराधनानुग्रह से गतार्थ करने का प्रयास करना चाहिए। यही चतुर्थी महाविद्या की संक्षिप्ता--यशोगाथात्मिका पुण्यकथा का संस्मरण है।

—४—

५–कबन्धशिव, और उसकी शक्ति–छिन्नमस्ता
(पञ्चमी–महाविद्या)

१५५--यज्ञमूर्त्ति प्रजापति के पाङ्क्त (पञ्चावयव) यज्ञों का संस्मरण—

अब निबन्धाकारविस्तारभिया हम शेष विद्याओं का नामस्मरणमात्र कर के ही इस दशमहाविद्येतिवृत्त को उपसंहृत कर देना चाहते हैं। सोमाहुति से कृतरूप यज्ञ के द्वारा ही–**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा–पुरोवाच प्रजापतिः'** इत्यादि स्मार्त्त–सिद्धान्तानुसार षोडशीप्रजापति से अभिन्ना षोडशी शक्ति की विश्वप्रविष्टा-अवतारभूता भुवनेश्वरी नाम की चतुर्थी महाविद्या से यज्ञात्मक-पार्थिव-त्रैलोक्य, एवं तत्प्रजारूप सर्ग का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, यह पूर्व के चतुर्थ संस्मरण से स्पष्ट है। **'पाङ्क्तो वै यज्ञः'** के अनुसार सृष्टिमूलभूत-क्षर--प्रधान यज्ञ **पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ,** भेद से पाँच महिमाभावों में विभक्त है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत, पञ्च अक्षर, पाँच ही क्षर, पाँच ही अङ्गुलियाँ, आदि आदि यच्चयावत् पाङ्क्तभाव यज्ञ की पाङ्क्तता पर ही तो अवलम्बित हैं, जिस इस यज्ञरहस्य के अभिभूत हो जाने से ही आज हमारा सम्पूर्ण कर्म्मवैभव केवल प्रतीकयज्ञों पर ही परिसमाप्त होता हुआ मानो हमारा उपहास, एवं तिरस्कार ही कर रहा है।

स्मार्त्त–गृह्य–यज्ञविशेषों को ही **'पाकयज्ञ'** कहा गया है, जो कि–**'एकाग्नियज्ञ'** नाम से भी गृह्यग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्म्मास्य–पशुबन्ध [अयन]** आदि यज्ञ **'हविर्यज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हैं। **भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ [अतिथियज्ञ], पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ,** ये पाँचों **'महायज्ञ'** कहलाए हैं। **अग्निचयन, राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय,** नामक यज्ञ **'अतियज्ञ'** माने गए हैं।

१५६–यज्ञ के ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्यरूप दो शिर, एवं प्रवर्ग्यरूप छिन्नशीर्षयज्ञ का स्वरूप--दिग्दर्शन—

ये सभी यज्ञ **ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य,** भेद से दो दो भावों में समन्वित रहते हैं। जो स्वरूप यज्ञ की अन्तर्याम–प्रतिष्ठा बना रहता है, उसे तो ब्रह्मौदन कहा गया है, एवं जो यज्ञभाग अन्तर्याम–सम्बन्ध से पृथक् होकर यज्ञसीमा से विच्छिन्न हो जाता है, पृथग्भूत वही शेषभाग 'प्रवर्ग्य' कहलाया है, जो कि **'यज्ञोच्छिष्ट'** भी कहलाया है, जोकि दूसरे यज्ञात्मा का अन्नाहुतिरूप ब्रह्मौदन बन जाया करता है। यों प्रवर्ग्यों के सम्बन्ध से ही ब्रह्मौदनभागों की क्षतिपूर्ति होती रहती है। दोनों ही यज्ञ के शिर हैं, जिनमें प्रवर्ग्य 'छिन्न--शिर' का ही नाम है। अतएव प्रत्येक यज्ञ–**'छिन्नशीर्षो वै यज्ञः'** के अनुसार कटे मस्तक का मान लिया गया है। प्रवर्ग्य के पृथक् हो जाने से प्रत्येक यज्ञपुरुष (यज्ञपुरुषात्मक विष्णु) कबन्धमात्र है। इसी रहस्यपूर्ण प्रवर्ग्यविद्या के स्वरूपविश्लेषण

के लिए **'धर्म्मयाग'** व्यवस्थित हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक–**हयग्रीवोपाख्यान** के द्वारा इसी नैगमिकी प्रवर्ग्यविद्या का स्वरूपविश्लेषण हुआ है * । छिन्नशीर्ष प्रत्येक यज्ञ की इस क्षतिपूर्त्ति के लिए, यज्ञ के विस्रस्त-भाग के पुनःसंधान के लिए जो यज्ञविशेष होता रहता है प्रकृति में, उसी का नाम है-**'शिरोयज्ञ'** । इसके बिना यज्ञ मस्तकशून्य ही बना रहता है। यही शिरोभाग यज्ञरहस्यविश्लेषणपूर्वक यज्ञकर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मण–ग्रन्थों में यत्रतत्र **सम्राट्–यज्ञ, प्रवर्ग्ययाग, धर्म्मयाग, महावीरोपासना,** इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। उदाहरण के लिए--पारमेष्ठ्य–ब्रह्मणस्पति–नामक पवित्र सोम की आहुति से कृतरूप अग्नीषोमात्मक उस सूर्य्ययज्ञ को ही लक्ष्य बनाइए, जिसका–**'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्'**–**'सूर्य्यो वा ज्योतिष्टोमः'** इत्यादिरूप से यशोगान हुआ है। इस यज्ञमूर्त्ति, अतएव नारायण (विष्णु) मूर्त्ति सूर्य्यलक्षण यज्ञ को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

—गोपथब्राह्मण

१५६–'चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा०' इत्यादि मन्त्राक्षरार्थमात्रसमन्वय—

निगमात्मक सूर्य्य अग्नीषोमात्मक यज्ञमूर्त्ति वह महादेव है, जो चान्द्री नाड़ी के द्वारा रसवर्षण करता हुआ सम्पूर्ण मर्त्य–क्षर–प्रजाओं का परिपालन करता रहता है। इस महादेवरूप महाविष्णु के सूर्य्यपुरुषात्मक यज्ञपुरुष के **महदुक्थ–महाव्रत–पुरुष–ब्रह्म**–रूप (तत्त्वात्मक) **ऋक्–साम-यजुः–अथर्व** ही चार सींग हैं। यज्ञिय प्रातःसवन–माध्यन्दिनसवन–सायंसवन–नाम के तीन सवन हीं त्रैलोक्यप्रतिष्ठात्मक तीन पाद (चरण) हैं। ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य, नामक दो मस्तक हैं। मन्त्र–कल्प–ब्राह्मण–इन तीनों से यह मर्य्यादित (आबद्ध) है।

---

* प्रसिद्ध है कि-यज्ञेश्वर विष्णु धनुष की प्रत्यञ्चा पर मस्तक रख कर सो रहे थे। "**वम्रयः**' नामक सूक्ष्म कृमियों (दीमकों के) द्वारा प्रत्यञ्चा 'धृङ् ङ्' शब्दध्वनिपूर्वक टूट जाती है, फलस्वरूप विष्णु का मस्तक कट गिरता है। और पुनः उसका सन्धान होता है देवताओं के द्वारा, वही 'हयग्रीवावतार' कहलाया है। कहीं कहीं भगवान् गणपति के नैदानिक–सशक्त वाहन मूषकराज के द्वारा भी धनुष की प्रत्यञ्चा की विच्युति बतलाई गई है।

स धनुष्कभ्यातिष्ठत् । ता उपदीका अब्रुवन्--वरं वृणामहै, अथ व इमं रन्धयाम । यत्र क्व च खनाम, तदपोऽभितृणदामेति । तस्मादुपदीका यत्र क्वच खनन्ति, तदपोऽभितृन्दन्ति । वारे वृतं ह्यासाम् । तस्य ज्यामप्यादन् । तस्य धनुर्विप्रवमाणं शिर उदवर्त्तयत् । तद्द्यावापृथिवी अनुप्रावर्त्तत । यत्--प्रावर्त्तत--तत् प्रवर्ग्यस्य प्रवर्ग्यत्त्वम् । यत्--'घ्रां३'–इत्यपतत् । तद् घर्म्मस्य घर्म्मत्त्वम् । महतो वीर्य्यमपप्तत् इति । तन्महावीरस्य महावीरत्त्वम् । यदस्याः समभरन्–तत्सम्राज्ञः–सम्राट्त्त्वम् ।

—तैत्तिरीय–आरण्यक–प्र० ५। अ० १। वि० ४।

गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप् बृहती–पङ्क्ति-त्रिष्टुप्–जगती–नामक छन्दों नामों से प्रसिद्ध क्रान्तिवृत्तीय 'सप्ताश्व' रूप सप्त अहोरात्रवृत्तों से यह साथ हाथों वाला प्रमाणित हो रहा है। ऐसा यह यज्ञवृषभ प्रचण्ड निनाद ही कर रहा है (शब्दतन्मात्रा को मूल बना कर ही स्पर्श–रूप–रस–गन्ध–मात्राओं के द्वारा पञ्चतन्मात्रारूप चरविश्व का सर्जन कर रहा है भुवनेश्वरी शक्ति के द्वारा)। और यों यही महादेव मरणधर्म्मा भूत–प्राणियों का आत्मा बना हुआ है, सब में आत्मरूप (जीवनीय प्राणरूप से) प्रविष्ट हो रहा है, जैसाकि–'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**'–'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः**' इत्यादि से स्पष्ट है।

१५७–ब्रह्म का ओदन, एवं ब्रह्म का उच्छिष्ट, तथा 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' का समन्वय—

तथाकथित यज्ञावयवों में से प्रकृत में ब्रह्मौदन–प्रवर्ग्य, तत्रापि मुख्यरूप से प्रवर्ग्य ही अभिप्रेत है। क्योंकि '**छिन्नमस्ता**' भगवती का यज्ञ के प्रवर्ग्य भाग से ही सम्बन्ध है। जिस आगत वस्तु का भूतात्मा से ग्रन्थिबन्धनात्मक अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है, वह आत्मभूत पदार्थ 'ब्रह्मौदन' कहलाया है। वह अन्न उस आत्मब्रह्म का '**ओदन**' (भोग्य) है। आत्मब्रह्म के अतिरिक्त इस ब्रह्मौदनभाग का अन्य कोई भी भोक्ता तबतक भोग नहीं कर सकता, जबतक कि आत्मब्रह्म इसे प्रवर्ग्य नहीं बना देता। एवं जो वस्तु उस आत्मब्रह्म से पृथक् होकर दूसरे आत्मब्रह्म का भोग्य बनने के लिए नियत हो जाती है, उसे ही 'प्रवर्ग्य' कहा गया है। इसी को अथर्वपरिभाषा में–'**उच्छिष्ट**' कहा गया है। जो सौरताप सूर्य्य का स्वरूपरक्षक बनता हुआ सूर्य्य में आबद्ध है, वह उसका ब्रह्मौदनताप है। परन्तु जो ताप भोग्यसीमा से पृथक् होकर ओषधि–वनस्पत्यादि के परिपाक में उपयुक्त हो जाता है, वही सूर्य्य का प्रवर्ग्य ताप माना गया है। धूप में पानी रख दीजिए, पानी गरम हो जायगा। सूर्य्य अस्त हो गया। किन्तु पानी अब भी गरम है। सूर्य्य इस पानी में अपना ताप छोड़ गए। रात हो गई है, किन्तु हवा गरम चल रही है। यही सूर्य्य के प्रवर्ग्यभूतों के उदाहरण हैं, जिनके माध्यम से प्राणात्मक–यज्ञिय–प्रवर्ग्यों का प्रज्ञा में समन्वय कर लेना चाहिए। प्रवर्ग्य का ही साङ्केतिक नाम 'घर्म्म' है। 'घर्म्म' शब्द ही निरुक्तपरम्पराओं में आकर–'घाम'–'घरम' बनता हुआ '**गरम**' बन गया है। सौरताप यच्च-यावत् सौर पदार्थों का उपलक्षण है। सम्पूर्ण सौर पदार्थ सूर्य्य से पृथक् होते रहते हैं। इसी को '**प्रजापति का विस्रंसन**' माना गया है। यदि सूर्य्य इस उच्छिष्ट का परित्याग नहीं करते, तो पार्थिव विश्वत्रयी, एवं प्रजा का निर्म्माण ही असम्भव हो जाता। इसी आधार पर–'**उच्छिष्टात्–जज्ञिरे सर्वम्**' यह नैगमिक सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

१५८–छिन्नशीर्षरूप कबन्धशिव, और उनकी महाशक्ति छिन्नहस्ता भगवती का नैगमिक स्वरूप—

तथाकथित–उच्छिष्टरूप प्रवर्ग्य ही पूर्वश्रुत्यनुसार यज्ञ का मस्तक है। यह सृष्टिनिर्म्माणार्थ प्रवर्ग्यरूप से कट जाता है, कटता रहता है, अतएव तद्रूप घर्म्मयाग को '**छिन्नशीर्ष**' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। पार्थिव गणपति की प्राणप्रतिष्ठारूप, मूषक का प्राणात्मा बना रहने वाला, अश्मासोममय पार्थिव घनप्राण ही अपने व्यापार से उस सौरप्रवर्ग्य को सौरमण्डल से पृथक् करता है, जिस इस रहस्य के समन्वय के लिए तो पार्थिव–गायत्रीविद्या का ही अध्ययन करना चाहिए। सचमुच मूषक के द्वारा ही यज्ञविष्णु का मस्तक प्रवर्ग्य बन कर पार्थिव सर्ग का ब्रह्मौदन बनता है। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, ब्रह्मौदन से स्वस्वरूप

का संरक्षण होता है, एवं प्रवर्ग्य से विश्व का आदानविसर्गात्मक यज्ञकर्म्म प्रक्रान्त रहता है। इस 'प्रवर्ग्य' को ही निगममूलक आगमशास्त्र '**कबन्ध पुरुष**' कहता है। एवं इस छिन्नशीर्षमूर्त्ति कबन्धशिव की महाशक्ति ही '**छिन्नमस्ता**' भगवती नाम से सुप्रसिद्ध हैं। छिन्नमस्ता बन कर ही यह शक्ति जहाँ संसार का निर्म्माण करती है, वहाँ इसी रूप से यही संसार का नाश भी कर डालती है। यज्ञमूर्त्ति सूर्य्य से समुत्पन्न सभी जड़--चेतन-पदार्थ अग्नीषोमात्मक बनते हुए 'यज्ञरूप' हैं। सभी में से विस्रंसन के सहजधर्म्मानुबन्ध से प्रवर्ग्य भाग विनिःसृत है। हम उसके प्रवर्ग्यांशों को अपना ब्रह्मौदन बना कर ही उपजीवित-सुरक्षित हैं। साथ ही हमारे प्रवर्ग्य भी उस में आहुत होते रहते हैं।

१५९-शिरःसन्धानात्मक-अन्नादानविसर्गात्मक-यज्ञ की सर्वव्यापकता—

सूर्य्यनारायण त्रैलोक्य को, एवं तत्रस्था जड़-चेतन प्रजा को प्रवर्ग्यान्न प्रदान करते रहते हैं। साथ ही आददानलक्षणा-आदित्यरूपा-रश्मियों से वे हमारे प्रवर्ग्य--रसों का शोषण भी करते रहते हैं। विसर्ग से जिस प्रकार उस प्रजापति का शरीर प्रतिक्षण विस्रस्त होता रहता है, एवमेव आदान से प्रतिक्षण उसका संधान भी होता रहता है। इसी सहजप्रक्रिया का नाम है-'**शिरःसंधान**', और यही है प्रवर्ग्यभाग। जिसप्रकार मस्तक कट जाने से प्राणी निर्जीव हो जाता है, एवमेव बिना शिरःसंधानरूप प्रवर्ग्यभाग के यज्ञस्वरूप ही विनष्ट-यातयाम बन जाता है। अतएव ब्रह्मौदनवत् प्रवर्ग्यभाग को भी (जीवनहेतुत्त्वेन) हम यज्ञ का मस्तक कह सकते हैं। वह मुझे देता भी रहता है, तो साथ ही खाता भी रहता है। एवं उस मुझ खाने वाले उसको मैं भी तो खाता ही रहता हूँ। वस्तुमात्र में यह आदान-विसर्गात्मक-यज्ञकर्म्म जबतक प्रक्रान्त है, तभी तक वस्तु का स्वरूप-संरक्षण है। इसी अन्न-अन्नादात्मक यज्ञरहस्य का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है अपनी प्रचण्ड उदात्तभाषा में कि—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य, पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति, स इदेव मावत्, अहमन्नं--अन्नभदन्तमद्मि ॥

—सामसंहिता पू० ६।३।

१६०-छिन्नशीर्षरूपा भगवती छिन्नमस्ता, एवं उसका आगमीय-ध्यानमन्त्र—

मैं छिन्नशीर्ष अवश्य हूँ। किन्तु अन्नागमनरूप शिरःसन्धानयज्ञ से स्वस्वरूप में भी नित्य प्रतिष्ठ हूँ। इसके साथ साथ ही यह भी यथार्थ है कि, शिरःसन्धानात्मक-अन्नागमनलक्षण-यज्ञ अवरुद्ध हो जाता है, तो उस दशा में वह शक्ति केवल '**छिन्नमस्ता**' ही रह जाती है, एवं तत्पुरुष केवल कबन्ध ही। और निश्चयेन उस अवसानकाल में वह छिन्नमस्ता शक्ति प्राणियों के रसों का सर्वात्मना शोषण कर उन्हें निःशेष ही प्रमाणित कर देती है। जो महामाया षोडशीरूप से विश्व का सर्ज्जन करती है, भुवनेश्वरीरूप से विश्व पालन करती है, वही अन्ततोगत्त्वा छिन्नशीर्षा बन कर विश्व का संहार कर डालती है। ध्यान-मन्त्रों क अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए। कबन्धशिव से अभिन्ना माता छिन्नमस्ता के इसी घोररूप का विश्लेषण उपलब्ध होगा तद्द्वारा आपको, जिस इत्थंभूत महामाङ्गलिक उपवर्णन की आराधना कर वित्त-लोकैषणा में आसक्त-व्यासक्त-मादृश प्राकृत मानव तो अपने भ्रान्ततम व्यक्तित्त्वविहीन कल्पित व्यक्तित्त्व के प्रति अवश्य ही उद्बोधन प्राप्त कर सकते हैं—

प्रत्यालीढपदां सदैव दधतीं छिन्नं शिरः-कर्तृकां-
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणितसुधाधारां पिबन्ती मुदा ॥
नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयनां हृद्युत्पलालङ्कृतां-
रत्यासक्तमनोभवोपरि दृढां ध्यायेज्जपासन्निभाम् ॥१॥
दक्षे चातिसिता विमुक्तचिकुरा कर्त्रीं तथा खर्प्परं-
हस्ताभ्यां दधतीं रजोगुणभवां नाम्नापि सा वर्णिनी ॥
देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्ती मुदा-
नागाबद्धशिरोमणिर्मनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः ॥२॥
(प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्ती मुदा-
सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी ॥

* * * * *

शक्तिः सापि परात्परा भगवती नाम्ना पराडाकिनी ॥३॥)

—शाक्तप्रमोद, छिन्नमस्तातन्त्र

—५—

६–दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव, और उनकी महाशक्ति भैरवी
(षष्ठी–महाविद्या)

१६१–महाप्रलय, तथा खण्डप्रलय का आपेक्षिक तारतम्य, एवं खण्डप्रलयाधिष्ठाता दक्षिणामूर्त्ति–कालभैरव—

कबन्धपुरुषानुगता परमशिवा माता छिन्नमस्ता का महाप्रलय (पार्थिव महाप्रलय) से सम्बन्ध है, जैसाकि तथोपवर्णित तद्ध्यानमन्त्रों से स्पष्ट है । दूसरा है नित्यप्रलय । **'सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह'** के अनुसार सम्भूतिरूप निर्म्माण का नित्यसहचारी विनाशरूप ध्वंसभाव भी प्रत्येक पदार्थ में सतत प्रक्रान्त है, और इसी नित्यविनाश को वैज्ञानिकों नें–**'नित्यप्रलय'** कहा है, जिसका **'अहरहर्यज्ञविद्या'** में स्वरूप-विश्लेषण हुआ है । सचमुच प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट भी होते रहते हैं, जो कि नाशकर्म्म रुद्रदेवता का धर्म्म माना गया है । रुद्र ही विनाशोन्मुख बन कर–**'यम'** कहलाने लगते हैं, जिस याम्य–रुद्राग्नि की प्रधानसत्ता दक्षिणदिशा में मानी गई है । अतएव यमराज दक्षिणदिशा के **'दिक्पाल'** कहलाए हैं । दक्षिण में ऋताग्नि का प्राधान्य है, जबकि–उत्तर में ऋतसोम का प्राधान्य प्रकृतिसिद्ध है । सोम स्नेहतत्त्व है, अतएव संकोचधर्म्मा है । अग्नि तेजस्तत्त्व है, अतएव विकासधर्म्मा है । संकोचधर्म्म जहाँ वस्तुपरमाणुओं को सुसंघटित करता हुआ वस्तु का निर्म्मापक है, वहाँ विकासधर्म्म परमाणुसंघ को छिन्न–भिन्न करता हुआ वस्तु का विध्वंसक ही बनता

रहता है। और यही धर्म्म विकासधर्म्मावच्छिन्न दक्षिणाग्नि का माना गया है। अतएव ये याम्य रुद्र **'दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव'** नाम से ही व्यवहृत हुए हैं आगमशास्त्र में।

१६२-जगन्माता त्रिपुरभैरवी का माङ्गलिक संस्मरण—

इनकी नित्यसंहारिणी शक्ति का ही नाम **'भैरवी'** नाम की षष्ठी महाविद्या है, जोकि पार्थिव त्रैलोक्यानुबन्ध से-**'त्रिपुरभैरवी'** नाम से भी प्रसिद्ध है। **राजराजेश्वरी** जगन्माता भुवनेश्वरी (त्र्यम्बकशिवशक्ति) जिन तीनों पार्थिव भुवनों के पदार्थों की रक्षा करती रहती है अपने-**'उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटाम्'** लक्षण किरीटस्थ इन्द्र (सोम) के स्नेह-धर्म्म से, उन्हीं का दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव की महाशक्ति त्रिपुरभैरवी के द्वारा स्वरूपोद्बोधन जैसे महामाङ्गलिक-विधान की पूर्त्ति के लिए प्रतिक्षण दक्षिणस्थ अग्निधर्म्म से विस्रंसनरूप विनाश भी होता रहता है। छिन्नमस्ता भगवती जहाँ पराडाकिनी थीं, वहाँ यह महामाया अवरा (क्षरात्मिका) डाकिनी हैं। इससे मादृश-स्वस्वरूपविमुग्ध-मानव तो प्रतिक्षण ही उद्बोधन-भिक्षा माँगते रहते हैं। अपने आपको सर्वात्मना मनसा तुष्ट ही अनुभूत करते रहते हैं इस महाशक्ति भैरवी के आराधक भाग्यशाली मानव-श्रेष्ठ उसके निम्नलिखित ध्यानमन्त्र की अनुगति से—

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां-
रक्तालिप्तपयोधरां जपपटीं विद्यामभीतिं वरम् ।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं-
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम् ॥

—शाक्तप्रमोद-भैरवीतन्त्र

— ६ —

७-पुरुषशून्या, अतएव 'विधवा' नाम से प्रसिद्धा महाशक्ति धूमावती

(सप्तमी-महाविद्या)

१६३-निगमशास्त्रोपवर्णिता महाशक्ति निर्ऋति, एवं तच्छान्ति--स्वस्ति-भावप्रवर्त्तक निर्ऋतियज्ञ—

जैसाकि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है, सांसारिक तापप्रवर्त्तक पाँच प्राणदेवता प्रमुख हैं, जिनमें भी रुद्र-यम-वरुण-निर्ऋति-ये चार देवता प्रमुख हैं। तत्रापि **निर्ऋति** ही सर्वतः मुख्या है। विविध प्रकार के ज्वर, महामारी, उन्माद, आदि आदि अग्निसम्बन्धी (ताप-सन्ताप-सम्बन्धी) रोग रुद्रदेवता के द्वारा प्रवृत्त होते हैं। मूर्च्छा, मृत्यु, अङ्गभङ्ग, आदि आदि रोग यम के द्वारा प्रवृत्त होते हैं। ग्रन्थिशूल (गठिया), गृध्रसी, अर्द्धाङ्ग (लकवा), शोथ, जलोदर, आदि रोग वरुण की प्रसूतियाँ हैं। एवं इन यच्चयावत् सामान्य-विशेष रोगों से भी कहीं भयानक-घोरघोरतम शोक-कलह-दरिद्रता-आदि रोग निर्ऋति से प्रसूत माने गए हैं। जीर्णशीर्ण-कन्थाधारी दीनहीन भिक्षुक, क्षतविक्षत भूप्रदेश, प्रजननशक्तिशून्य भूप्रदेश, (ऊसरभूमि), भग्न-विनष्ट प्रासाद, बुभुक्षा, दिवाला, रुदन, वैधव्य, पुत्रसन्ताप, कलह, आदि आदि सभी भयावह सन्तापों की मूलाधिष्ठात्री शक्ति **'निर्ऋति'** ही मानी गई है, जैसाकि-**'घोरा वै निर्ऋतिः'** (शत० ७।२।१।११) इत्यादि से स्पष्ट है।

मानवों के प्रज्ञापराधवश जब दुर्भाग्यवश राष्ट्र धर्म्मनिरपेक्ष बन जाता है, तद्दुष्परिणामस्वरूप त्रिपुर-सुन्दरी, षोडशी, आदि निर्म्मापिका शक्तियों के अनुग्रह से जब राष्ट्र वञ्चित हो जाता है, तो निश्चयेन ऐसे धर्म्म-शून्य–धर्म्मनिरपेक्ष–धर्म्मविप्लवात्मक अधर्म्मयुगों में 'निर्ऋति' का ही साम्राज्य हो जाया करता है। इस राष्ट्रीया घोरघोरतमा विपत्ति से राष्ट्र को तात्कालिकरूपेण मुक्त करने के लिए जो यज्ञप्रक्रिया यहाँ की ऋषिप्रज्ञा के द्वारा आविर्भूत हुई है, वही ब्राह्मणग्रन्थों में–'निर्ऋति-यज्ञ' (इष्टि)' नाम से प्रसिद्ध है।

१६४-वेदशास्त्र की निर्ऋतिरूपा आगमशास्त्र की महाशक्ति–सर्वोद्बोधनप्रदात्री वरदा-अभया माता धूमावती, एवं तन्नैदानिक ध्यानमन्त्र—

तथाविधा महामाया निर्ऋतिशक्ति का नाक्षत्रिक उक्थ (मूलस्थान) माना गया है वह ज्येष्ठानक्षत्र, जो विषप्राणमयी–दक्षिणस्था–वृश्चिकराशि से अनुप्राणित है। इस कलहप्रिया आसुरीशक्ति का नाक्षत्रिक–विनिर्गमन द्वार यही ज्येष्ठानक्षत्र है। अतएव फलादेशविज्ञाता गणकाचार्य्यों की ऐसी मान्यता है कि, जो सन्तति ज्येष्ठा (मूल) में उत्पन्न होती है, प्रायः वह दारिद्र्यादि कृच्छ्रों की ही अनुगामिनी बनी रहती हैं। अतएव 'ज्येष्ठाशान्ति' विहित है मान्यतानुबन्धिनी शान्ति–स्वस्ति–कर्म्मपद्धतियों में। निगमशास्त्र की निर्ऋति, तन्मूला नाक्षत्रिकी ज्येष्ठा ही आगमशास्त्र में–'धूमावती' नाम से प्रसिद्ध हुई है। इसे उपक्रान्त कर मानव उत्तरोत्तर पतनोन्मुख ही बनता है। अतएव इसे–'**अवरोहिणी**' कहा गया है। यही माता निर्ऋति–ज्येष्ठा–अवरोहिणी-भगवती '**अलक्ष्मी**' नाम से भी प्रसिद्ध है निगमागमशास्त्र में। भयावहा आकृति, दन्तपंक्ति का बहुविवरयुक्त रहना, केशों की रूक्षता, आदि आदि श्रीविहीनभाव इसी घोरा निर्ऋति से सम्बन्ध रख रहे हैं। इसके इसी घोरभाव का ध्यान व्यवस्थित करते हुए आगमाचार्य्योंनें कहा है—

विवर्णा–चञ्चला--दुष्टा--दीर्घा च–मलिनाम्बरा ॥
विमुक्तकुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा ॥ १ ॥
काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा ॥
शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना ॥ २ ॥
प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा ॥
क्षुत्पिपासार्द्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा ॥ ३ ॥

—शाक्तप्रमोद, धूमावतीतन्त्र

१६५--देवशयन--कालानुगता धूमावती—-

ध्यानमन्त्रों से ही निर्ऋति भगवती का नैदानिक–स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। आप्य–वारुण–प्राण ही 'असुर' कहलाए हैं, एवं आग्नेय, तथा ऐन्द्रप्राण ही 'देव' नाम से प्रसिद्ध हैं। आषाढशुक्ल एकादशी से वर्षाकाल का उपक्रम मान लिया गया है वारुण–आसुर–मण्डल की प्रधानता की उपक्रान्ति से। एवं कार्त्तिक शुक्ल एकादशी को वारुणप्राणात्मक वर्षाकाल की उपसंहारबिन्दु मान लिया है पार्थिवमण्डल के आपःसमुद्र–सीमा से पृथक् हो जाने के कारण। क्योंकि आषाढी एकादशी से कार्त्तिकी एकादशी पर्य्यन्त इस चतुर्मासात्मक

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वर्षाकाल में आप्य–वारुण–प्राणात्मक असुरों का ही साम्राज्य रहता है। अतएव चातुर्म्मास्य में पार्थिव आग्नेयप्राण, तथा सौर ऐन्द्रप्राण, दोनों हीं देवप्राण अन्तर्म्मुख बन जाते हैं। अतएव यह चातुर्म्मास्यकाल देवदेवताओं का सुषुप्तिकाल मान लिया गया है, जिसमें आत्मदेवभावानुगता 'संस्कृति' की उपासिका भारतीय सांस्कृतिक–प्रजा के देवप्राणप्रधान कोई भी कर्म्म (यज्ञोपवीत–विवाह–गृहप्रवेशादि) नहीं हुआ करते।

१६६–धूमावतीशक्ति की प्रतिद्वन्द्विनी कमलाशक्ति, एवं तन्निबन्धन कमलामहोत्सवात्मक–अग्निक्रीड़ात्मक–दीपावलीपर्व—

देवसुषुप्तिकालात्मक तथोपवर्णित चातुर्म्मास्य ही निर्ऋतिरूपा धूमावती का प्रधान क्रीड़ास्थल माना है ऋषिप्रज्ञाने। कार्तिककृष्ण–चतुर्द्दशी इसके साम्राज्य की अन्तिम तिथि मानी गई है। अतएव धर्म्माचार्य्योंनें इसे–'नरकचतुर्द्दशी' नाम से व्यवहृत किया है। इसी घोररात्रि में घोररूपा निर्ऋति भगवती का (अलक्ष्मी का) तो गमन होता है, एवं तत्क्षण से ही रोहिणीलक्षणा लक्ष्मी का उपक्रम हो जाता है, जिसकी पूर्वागमनदिशा, किंवा दशा तत्पूर्व की त्रयोदशी ही मानली गई है, जैसाकि इसके–**'धनत्रयोदशी'** नाम से ही व्यक्त है। कार्तिक–कृष्ण–अमावास्या कन्याराशिगत सूर्य्य से समन्विता है। कन्याराशिगत सूर्य्य स्वस्वरूप से अन्तर्म्मुख बना रहता हुआ ज्योतिषपरिभाषा में 'नीच' राशिगत सूर्य्य है। अवश्यमेव यह अमावास्या सौर–दिव्यप्राण के सहज विकास की प्रचण्डविरोधिनी है। रात्रि में तो सर्वथा ही सौरप्राण अभिभूत है। उधर अमावास्या के कारण चान्द्रज्योति से भी वञ्चिता है यह रात्रि। तथैव आषाढ–शुक्ल–एकादशी से उपक्रान्त, निरन्तर चार मास से प्रक्रान्त आप्यप्राण की प्रधानता से पार्थिव आग्नेय, सौर ऐन्द्रप्राण प्रकृतया ही अन्तर्म्मुख (निर्बल–निस्तेजवत्) प्रमाणित हैं। यों इस अमातिथि को–**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** के अनुसार त्रिधा विभक्त पार्थिव **अग्नि**, सौर **इन्द्र**, चान्द्र **सोम**, तीनों ही ज्योतिर्भाव अन्तर्म्मुख प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव **'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः'** से ज्योतिरूप अन्न से ही देवसंस्कारसमन्वित रहने वाला भूतात्मा वर्षाऋतु में स्वच्छ–देवप्राणप्रधान–ज्योतिर्भाव के अवरोध से निर्बल–अशक्तवत् ही बना रहता है। अतएव वर्षाकाल में शक्तिसञ्चयार्थ शक्तिपुञ्जरूप भगवान् साम्बसदाशिव की आराधना का विशेष महत्त्व माना गया है। तदतिरिक्त भी अन्यान्य कई एक वैसे व्रत-पर्वानुष्ठान हैं, जिनके आचरण–आयोजन से इस ऋतु में शक्ति का संग्रह प्रक्रान्त रहता है, जिनमें रुद्राभिषेकमूलक–शतरुद्रियहोम, रुद्रपारायणादि आचारनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग में सुप्रसिद्ध हैं। कार्तिक अमावास्या तिथि में इसी तमोभाव के निराकरण के लिए, ज्योतिःसंस्काराधान के लिए, साथ ही कमला के आगमनोपलक्ष्य में ऋषियों नें **देवप्रकाशात्मिका–अग्निक्रीड़ा** का विधान किया है, जोकि अग्निक्रीड़ा–पर्व ही लोकभाषा में–**'दीपावलि'**–**'दीवाली'** **'दीपमालिका'** इत्यादि नामों से श्रुतोपश्रुत है, जिसका सम्भवतः अग्रिम पर्व–प्रकरण में स्वतन्त्ररूप से भी संस्मरण सम्भावित है।

१६७ माता धूमावती की 'वरानना' मुद्रा का नैदानिक-रहस्य—

प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, रोहिणी नाम से प्रसिद्धा कमला–लक्ष्मी की प्रतिद्वन्द्विनी अवरोहिणी नाम से प्रसिद्धा धूमावती–अलक्ष्मी ही निगमशास्त्र की वह निर्ऋतिशक्ति है, जिसकी उपासना से ही मानव लक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है, निश्चयेन कर लेता है। तभी तो इसके अन्यान्य भयावह

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नैदानिकरूपों के उपवर्णन के साथ साथ तदुपासक आचार्य्यों नें इसे–**'वरानना'** कहा है। वह प्रवर्ग्यभाग ही तत्त्वदृष्ट्या निर्ऋति है, जो आत्यन्तिकरूप से प्रवर्ग्य ही बन जाता है, निःसत्त्व ही बन जाता है। पुनः जो किसी का भी ब्रह्मौदन बनने की स्थिति में नहीं रहता। जोकि 'जर्ज्जिरे' रूप निर्म्माणसीमा से पृथक् होकर विध्वंसक-उत्पीड़क ही बन जाता है। इस सीमापर्य्यन्त तो इस प्रवर्ग्यशक्ति का पञ्चमी महाशक्ति छिन्नमस्ता में अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु ब्रह्मौदनपरिणति के धर्म्म से एकान्ततः पृथक् होने की दशा में वही निःसत्त्व प्रवर्ग्य–'निर्ऋति' लक्षणा धूमावती–महामशक्तिरूप में परिणत हो जाता है। स्पष्ट है कि, जिस राष्ट्र के प्रवर्ग्यभाग निःसत्त्व बनते हुए ब्रह्मौदन बनने में असमर्थ बन जाते हैं, उस राष्ट्र में निश्चयेन दरिद्रा-धूमावती के अकाण्डताण्डव उपक्रान्त बन जाते हैं।

१६८–राष्ट्रीय प्रवर्ग्यभागों की उत्क्रान्ति से राष्ट्र के ब्रह्मौदन की महती क्षति, एवं राष्ट्रीय उर्वराशक्तियों की क्रमिक निःसत्त्वता, और तन्निबन्धन भारतराष्ट्र का भीषण–भविष्य—

बात थोड़ी अटपटी सी है, किन्तु है प्रासङ्गिक, और साथ ही में उद्बोधनसूत्रानुगता भी। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** के परोक्ष–अलौकिक–प्राणात्मक–मर्म्म के साथ साथ ही यहाँ की अभ्युदयाकांक्षिणी प्रज्ञा ने प्रत्यक्ष–लौकिक–भौतिक कर्म्म को भी अपनी आचारनिष्ठाओं में सर्वात्मना समाविष्ट कर लिया था। **'त्यक्त से भोग करो'** का भौतिक समन्वय था–**राष्ट्र के जिन भूत–भौतिक परिग्रहों का शेषांश भोग–रूप ब्रह्मौदन से शेष रह जाय, उसे भी भोगसीमा से पृथक् मत होने दो।** क्योंकि यह प्रवर्ग्य ही तो परस्परादानविसर्गभावों से छिन्नशीर्षयज्ञ का पुनःसन्धाता बनता है, जैसाकि **'छिन्नमस्ता'** प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। पशु–पक्षी–मानवादि की हड्डियाँ, पश्वादि के गोमयादि सभी कुछ जबतक प्रवर्ग्यरूप से भारतराष्ट्र की भूमि के भोग बनते रहे, तबतक यहाँ की उर्वराशक्ति समृद्धा बनी रही। जिस दिन से राष्ट्र के ये प्रवर्ग्यभाग दुर्भाग्यवश विदेशों में पहुँचने, किंवा पहुँचाए जाने लगे यहीं के अर्थलिप्सु वणिग्बन्धुओं के द्वारा, उसी दिन से इस राष्ट्र की जीवनीया ब्रह्मौदनशक्ति को तद्विस्रस्तपूरक प्रवर्ग्य मिलना अवरुद्ध हो गया। यह भाषा आज सब के मुखविवरों से विनिर्गत है कि–**'आज किसी वस्तु में कण-(सत्त्व) नहीं रहा'**। क्यों ?, इसलिए ही सत्त्वरक्षक अभिवर्द्धक–प्रवर्ग्यभागों की रक्षा से हमारा राष्ट्र विगत शताब्दी से [लगभग १४० वर्षों से] न केवल इस प्रवर्ग्यसम्पत्ति के उपयोग–उपभोग से तटस्थ ही रहा। अपितु इसी राष्ट्र के अर्थलोलुप–व्यवसायनिष्ठ वणिक्पुत्रोंनें राष्ट्र की सम्पूर्ण प्रवर्ग्य–सम्पत्ति कपर्द्दिकामात्र में [कौड़ियों के मोल] विदेशों के क्रव्यादाग्नि में आहुत कर राष्ट्र की जीवनीय शक्ति का ही अपहरण कर लिया। इन सब प्रवर्ग्यों में गोवृषभपशुओं के प्रवर्ग्य, अस्थिप्रवर्ग्य अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। ये सब प्रवर्ग्य इसी भूमि में निमज्जित होकर इसे जीवनीयरस से परिपुष्ट करते रहते थे। आज वही जीवनद्रव्य सर्वविनाशक ट्रकों-रेलयन्त्रों-जहाजों आदि लौहराक्षसों के द्वारा निरन्तर अजस्ररूप से पलायित किए जा रहे हैं। कहाँ से सत्त्व उपलब्ध हो आज के सत्त्वविहीन भूभाग से घुणाक्षरन्यायेन उत्पन्न भोग्यों में ? क्यों 'कण' नहीं रहा आज भोग्य पदार्थों में ?, प्रश्न के अन्यान्य कारणों में से यही प्रमुख कारण माना जायगा कि, हमने राष्ट्र की प्रवर्ग्यसम्पत्ति के प्रति अपने आपको विध्वंसक ही प्रमाणित कर लिया। विस्मृत ही कर दिया हमनें–**'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** का मर्म्म। और आज तो जिस निर्म्ममता से ये लौहराक्षस

[ट्रेक्टर] भूगर्भ को विदीर्ण करते जा रहे हैं विदेशों के अन्धानुकरण से, उनसे ५-१० वर्षों में ही भारतभूमि किस सीमापर्य्यन्त सर्वात्मना निःसत्त्व बन जायगी ?, प्रश्न के संस्मरणमात्र से भी हृत्कम्प हो पड़ता है ।

१६९-मौलिक तत्त्वों की अनभिज्ञता से राष्ट्रप्रज्ञा की अन्धानुकरणवृत्ति, एवं-तन्निग्रहेण राष्ट्र में धूमावती का प्राबल्य, और उसके 'वरानना' रूप से क्षमा-याञ्चापूर्वक-उद्बोधनभिक्षा की प्रार्थना--

जिस भारतराष्ट्र की पृथिवीमाता जीवनीयरसप्रदात्री गोमाता, तथा तत्सन्तति महावृषभों के जीवनरसों से सदा अपने पूषाप्राणप्रधान पुष्टिभाव को उत्तरोत्तर सुसमृद्ध बनाती रहती थी, वही माता धरित्री इस पशु-सम्पत्ति से वञ्चित होकर, इसके गोमयादि रसवर्षणों से पृथक् होकर, तत्स्थान में क्षणमात्र के लिए गन्धर्व-लीलावत् प्रदीप्तवत् प्रतीयमान होने वाले-क्षारप्रधान-कल्पित खाद्यों (वर्त्तमान-विविध-खादों) से समन्वित होकर उत्तरोत्तर धूमावतीभाव में हीं परिणत होती जारही है । गोमय-गोमूत्र-के संस्पर्श से ही अपने भौतिकस्वरूप को पवित्र बनाने वाले भारतीय मानव ने आज इस राष्ट्रीय महान्बल की उपेक्षा कर मानों सर्वनाश का ही आमन्त्रण कर लिया है ।

सुनते हैं-बम्बई, और अब तो भारत की राजधानी देहली ने भी यह नियम बना लिया है कि, गाय से क्योंकि गन्दगी फैलती है, अतएव नगर में गोपशु रखना निषिद्ध । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! गोचरभूमियों का अभाव, वनस्पतिवृतों के महान् विटामिन-भूतों का अनर्गल प्रचार, गोवंश का उत्तरोत्तर ह्रास, परिणामस्वरूप जीवनीय दुग्ध-घृतादि के दर्शनमात्र की भी दुर्लभता, पशुओं की कङ्कालावस्था, तत्परिणामस्वरूप ही प्रजा की सत्त्वहीनता, आदि आदि हमारे पापकर्म्मों की अजस्र-परम्परा नग्नरूप से आज राष्ट्रप्राङ्गण में ताण्डवनृत्य-माध्यम से सांस्कृतिक आयोजनों में हीं आत्मविस्मृत है । सर्वत्र समष्टि-व्यष्टिरूप से रूक्षता-हीनता-दीनता-पिशुनता-माङ्गलिक-स्वस्त्ययनाचारविहीनता-आशङ्का--भय--प्रतारणा-छल-मायाचार-आदि आदि उन भावों का प्राचुर्य्य, जिनकी प्रवृत्ति का उक्थ 'निर्ऋति' ही माना गया है । निश्चय ही वही धूमावती भगवती अपने आत्यन्तिक विकास पर पहुँचते ही राष्ट्र को उद्बोधन प्रदान करने का अनुग्रह करेंगी, यही इन महा-महिमामयीं-प्रचण्डशक्तिरूपा माता धूमावती से प्रणतभावेन अभ्यर्थना है ।

—७—

८-एकवक्त्ररुद्र और उनकी महाशक्ति बल्गामुखी

(अष्टमी-महाविद्या)

१७०-पारमेष्ठ्य-सुब्रह्मरूप अथर्वब्रह्म, एवं तदभिन्न-कृत्याप्रयोगाधारभूत अथर्वास्त्र—

प्राणियों के अग्नीषोमात्मक-पाञ्चभौतिक-शरीर का स्वरूपाविर्भाव भृगु, और अङ्गिरा के तपःकर्म्म से ही हुआ है, जैसाकि—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तपध्वम्'-इत्यादि से स्पष्ट है । भार्गवप्राण, तथा आङ्गिरसप्राण की समन्विताऽवस्था का नाम ही-'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्' के अनुसार 'आपः' रूप अथर्वतत्त्व है । भृग्वङ्गिरोमय अप्प्रधान यह अथर्वाप्राण ही सूत्रात्मा के रूप से प्राणिशरीरों का मूलोक्थ बनता हुआ प्राणिशरीर से अनुप्राणित होकर सगोत्र-सपिण्ड-सोदक-रूपेण बन्धुओं की सीमापर्य्यन्त महिमारूप से व्याप्त रहता है । प्राणात्मकत्वेन यद्यपि इसका भूतवत् प्रत्यक्षावलोकन सम्भव नहीं है । तथापि-अमुक मानसिक-

संस्कारभावों से इसका स्पष्टरूपेण आभास होता रहता है। अत्यन्त विदूरस्थ–विदेशस्थ आत्मीय–परिजन–स्नेही के दुःख से तत्सम्बन्धी का मनस्तन्त्र सहसा उद्विग्न–खिन्न–सा बनता देखा गया है। जिस परोक्ष–प्राणसूत्र से विदूरस्थ भी दो परिजनों में यों कम्पन हो जाता है, वह अथर्वासूत्र के कारण मातापितृसम्बन्धी अमुक स्नायवीय शिराभावानुबन्धी रोग तत्सन्ततियों में सङ्क्रान्त हो जाते हैं। एक दूसरे के परिधान से, सहभाषण-सहगमन–सहशयन–सहभोजन–आदि से भी अथर्वासूत्रद्वारा परस्पर गुणदोषभावों का संक्रमण हो जाता है। इसी अथर्वा-सूत्रप्राणाकर्षण से विदूरस्थ प्राणी–परिजन का आगमीय–प्रकारमाध्यमों से सहजरूपेणैव आकर्षण सम्भव है।

१७१–अथर्वाङ्गिरा के 'घोराङ्गिरा' विभाग पर प्रतिष्ठित अभिचारप्रयोग—

श्वानपशु सहजरूपेणैव इस अथर्वाप्राण का उन्मुग्ध ज्ञाता माना गया है। जिस मार्ग से तस्कर (चौर) भागता है, पार्थिव मृद्भाग के साथ उसका अथर्वसंस्कार खचित हो जाता है। अपने प्राणबल से तद्भूमिमार्ग-विशोधन के माध्यम से श्वान चौर के अन्वेषण में सफल हो जाता है, वस्त्र–नख–केश–लोम–आदि आदि में यह अथर्वाप्राण वासनारूपेण प्रतिष्ठित रहता है। इन वस्तुओं में से किसी एक को भी माध्यम बना कर तत्सम्बन्धी व्यक्ति के प्रति जारण–मारण–सम्मोहन–उच्चाटनादि यथेच्छ प्रयोग सम्भव माने हैं आगमाचार्य्यों नें। पुरा देवयुगात्मक वेदयुग में भौम–मनुष्यविध–देवता इसी अथर्वासूत्र के द्वारा यज्ञविनाशक असुरों पर 'कृत्याप्रयोग' किया करते थे। अथर्ववेदीय **घोराङ्गिरा**, तथा **अथर्वाङ्गिरा**, नामक सुप्रसिद्ध दोनों भेदों में से अथर्वाङ्गिरा–विवर्त्त में जहाँ मणि–मन्त्र–ओषधि–विज्ञान की प्रधानता है, वहाँ घोराङ्गिराविवर्त्त में कृत्यात्मक–**अभिचारप्रयोग ही** प्रधानरूपेण उपवर्णित हैं, जैसाकि–राजर्षि ने कहा है—

*** श्रुतिरथर्वाङ्गिरसी कुर्य्यादित्यविचारयन्।**
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्याद्‌रीन् द्विजः॥
—मनुः ११।३३।

---

* जब ब्राह्मण उत्पीड़ित हो जाय आततायीवर्ग से, तो उसका रक्षक कौन ?, प्रश्न का सहज समाधान तो सत्तातन्त्र ही है। क्षात्रतेज ही आततायीवर्ग से ब्राह्मण के ब्रह्मस्वरूप की रक्षा किया करता है। किन्तु जब सत्तातन्त्र भी धर्म्मनिरपेक्ष बन कर इस वर्ग की रक्षा से न केवल तटस्थ ही बन जाय, अपितु मतवादाभिनिविष्ट बनकर ब्राह्मणसंस्कृति का विरोधी बन जाय, तो उस महाभयावहयुग में-'**कस्तत्र ब्राह्मणस्तात्रा**' ?, युधिष्ठिर के इस प्रश्न पर महात्मा भीष्म ने–'**विज्ञानबलमाश्रित्य०**' रूप जो समाधान किया है, राजर्षिमनु उसी का यहाँ स्पष्टीकरण कर रहे हैं। और कह रहे हैं कि—

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किञ्चिद्राजनि धर्म्मवित्।
स्ववीर्य्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः॥
स्ववीर्य्यात्--राजवीर्य्याच्च स्ववीर्य्यं बलवत्तरम्।
तस्मात्स्वेनैव वीर्य्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः॥
—मनुः ११।३१,३२।

अथर्वाङ्गिरानुगत–कृत्यादि अभिचारकर्म्मों की ओर ही संकेत कर रहे हैं–राजर्षि, जिस संकेत को हम तो ब्राह्मण के 'मैत्रस्वरूप' की अपेक्षा से सर्वथा अपवादकोटि से ही समन्वित मानेंगे। प्राणात्यय जैसे अपवाद स्थलों को छोड़ कर कदापि ब्राह्मण को आथर्वणप्रयोगों का संस्मरण भी नहीं करना चाहिए।

निगमशास्त्र की यह अथर्वाप्राणशक्ति ही स्वयं निगम में जहाँ–'कृत्या-वल्गा' कहलाई है, वहाँ यही आगमशास्त्र में–'वल्गामुखी' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जो 'वल्गा' शब्द वर्णव्यत्यय के द्वारा आज आगम में–'बगलामुखी' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इस निगगनाम का समर्थन निम्नलिखित वचन से हो रहा है—

यदा वै कृत्यामुत्खिनन्ति, अथ सालसा, मोघा भवति। तथो एवैष एतद्यद्यस्मा (स्मै) अत्र कश्चित्--द्विषन्--भ्रातृव्यः--कृत्यां--'वल्गां' निखनति, तानेवैतदुत्किरति।

—शत० ३।५।४।३।

१७२--माता वल्गामुखीरूपा वगलामुखी का नैदानिक ध्यानमन्त्र—

जिसप्रकार निरुक्तक्रमानुसार 'हिंस' शब्द वर्णव्यत्यय के द्वारा–'सिंह' शब्दरूप में परिणत हो जाता है, लोकभाषा में 'मतलव'–'मतवल' भी बनता सुना गया है, एवमेव निगमोक्त 'वल्गा' शब्द आगम में 'वगला' रूप में परिणत हो गया है। निम्नलिखित ध्यानमन्त्र से सभी सांस्कृतिक–शत्रुओं को सदा ही सावधान बने रहना चाहिए—

जिह्वाग्रमादाय करेण कर्त्री वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम्।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि॥

—शाक्तप्रमोद, वगलामुखीतन्त्र

—८—

९–मतङ्गशिव, और उनकी महाशक्ति मातङ्गी

(नवमी–महाविद्या)

१७३–तमोमय पार्थिव दितिभाग, तदनुबन्धी दिग्गण, तदनुप्राणित दिङ्नाग, और मतङ्ग दिग्गजों से समन्वित पार्थिव मतङ्गपुरुष, एवं तच्छक्ति मातङ्गी भगवती–

स्वयम्भू से उपक्रान्त महाविद्यातत्त्व पार्थिव अदितिभाग पर उपसंहृत हुआ, एवं इसी के विविध आठ विवर्तों का अबतक क्रमिक यशोवर्णन हुआ। अब केवल पृथिवी का वह तमोमय दितिभाग शेष रह जाता है, जो सौरसम्वत्सरमण्डल से ठीक विरुद्ध भाग में अवस्थित माना गया है। सौर–अदिति–तेज से पृथक्-भूत–पार्थिव–दितिरूप कृष्णभाग भी वह 'दिग्'भाग है, जिसे, **'नाग'**, किंवा **'नागलोक'** माना है पुराणशास्त्र ने, एवं तमसाभिभूत जिस नागलोक के अतल–सुतल–रसातल–तलातल–पातालादि सात अवान्तर विवर्त्त माने गए हैं। दिक्प्रान्तदृष्ट्या ये ही नाग 'अष्टविध' हैं, जो **'अष्टदिङ्नाग'** नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं जो 'दिग्गज' नाम से पुराणों में यत्रतत्र उपवर्णित हैं। तमोमयी दितिपृथिवी के दिगनुगत-तमोमय–सर्पणशील–वायव्य प्राण ही 'नाग' हैं, ये ही दिग्गज हैं, जिन एमूषवराहात्मक इन दिग्गज–नागों से ही धरा का पिण्डभाव सुरक्षित है। नागों के विकम्पन से ही धरा विकम्पित हो जाती है, जो भूकम्प 'वायव्यभूकम्प' नाम से प्रसिद्ध है। यही 'मातङ्ग', किंवा मतङ्गभाव है, जिसकी तमोमयी–पार्थिवी–वायव्या–शक्ति ही–**'मातङ्गी'** नाम से प्रसिद्ध हुई है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१७४–मतङ्गपुरुषानुगता मातङ्गी भगवती का नैदानिक ध्यानमन्त्र—

वर्णावर्णसृष्टि–विज्ञानानुसार भूपिण्ड के सूर्य्याभिमुख–प्रकाशित–पूषाप्राणात्मक भौमप्राण से जहाँ सच्छूद्रसृष्टि होती है, वहाँ सूर्य्यविरुद्धदिग्नुगता–दितिपृथिवी का भूभात्मक तमोभाग ही अवर्णात्मक–शूद्रसर्ग का प्रवर्त्तक बनता है, जिसे–'श्वपच' कहा गया है। मतङ्गसम्बन्ध से ही यह श्वपच 'मतङ्ग' कहलाया है, एवं तत्पत्नी मातङ्गी कहलाई है। इस मतङ्ग–मातङ्गी–दाम्पत्यरूपा अवर्णसृष्टि का प्रवर्त्तक शिवशक्तियुग्म ही–'मतङ्गशिवानुगत–मातङ्गी' युग्म है। इस नवमी महाविद्या के तत्त्वद्रष्टा, उपासक ऋषि ही आगम–सम्प्रदाय में–*'मतङ्ग' किंवा 'मातङ्ग' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। निवेदन–निष्कर्ष यही है कि–मतङ्गवर्ग (श्वपचरूप अवर्णात्मक वर्ण) की मूलाधिष्ठात्री वह महाशक्ति ही 'मातङ्गी' है, जिसका निशाचर–तमोभावात्मक–असुर–प्राणों से समन्विता दितिपृथिवी ही आवासस्थान है, जैसाकि तद्ध्यानमन्त्रों से स्पष्ट है—

श्यामां शुभ्रांशुमालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थां—
भक्ताभीष्टप्रदात्रीं सुरनिकरकरासेव्यकञ्जाङ्घ्रियुग्माम् ॥
नीलाम्भोजांशुकान्ति निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपां—
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वरकमलकरैः खेटकञ्चाङ्कुशञ्च—
मातङ्गीमावहन्तीमभिमतफलदां मोदिनीं चिन्तयामि ॥१॥
ततो देवीं परां ध्यायेत् साधकः स्थिरमानसः ॥
श्यामाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रत्नसिंहासनस्थिताम् ॥२॥
अथ वक्ष्ये महादेवीं मातङ्गीं सर्वसिद्धिदाम् ॥
अस्योपासनमात्रेण वाक्सिद्धिं लभते ध्रुवम् ॥३॥
—कामेश्वरतन्त्रे

—९—

१०–सदाशिवपुरुष, और उनकी महाशक्ति कमला

(दशमी–महाविद्या)

१७५–धूमावती की प्रतिद्वन्द्विनी महाशक्ति कमला के नैदानिक ध्यानमन्त्र का महा-माङ्गलिक–संस्मरण—

आगे के 'दीपावली' नामक राष्ट्रीय पर्व में इस दशमी महाविद्या का यशोगान सम्भावित है स्वतन्त्र–प्रकरणरूपेण। अतएव प्रकृत में तत्सम्बन्ध में प्रसङ्ग–समन्वयदृष्ट्या यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि,

---

* सम्भवतः मतङ्गोपासक, अतएव 'मतङ्ग' नाम से ही प्रसिद्ध किसी मुनि को लक्ष्य बना कर ही कवि की–'मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्त्वम्' (रघुवंशः ५।५३।) यह सूक्ति व्यवस्थित हुई है।

पूर्वोपवर्णिता सप्तमी महाविद्या धूमावती भगवती में, तथा इस दशमी महाविद्या कमला भगवती में प्रचण्ड-प्रतिस्पर्द्धा प्रक्रान्त रहती है। वह ज्येष्ठा थी, यह कनिष्ठा है। वह अवरोहिणी थी, यह आरोहिणी, किंवा रोहिणी है। वह दरिद्रा थी, यह सम्पन्ना लक्ष्मी है। रोहणीनक्षत्र से ठीक षड्भान्तर पर [१८० अंश पर] अवरोहिणी-ज्येष्ठा है। जिसका रोहिणी में जन्म होता है, वह समृद्धिभावानुगत बना रहता है। भूतसमृद्धिमूला सदाशिवरूप-विष्णु की अर्द्धाङ्गिनी इसी कमला के निम्नलिखित ध्यान से हम अपने भूतगजत् को समृद्धयोन्मुख बनाते आ रहे हैं—

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां-वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां-
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देरविन्दस्थिताम्॥

—शाक्तप्रमोद, कमलातन्त्र

१७६-दश-महाशक्तिरूपा दशमहाविद्याओं का समष्ट्यात्मक नामसंस्मरण—

तथोपवर्णित-उपस्तुत दशमहाविद्याओं का हम स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-अदितिपृथिवी-दिति-पृथिवी-रूप से ६ विश्वपर्वों के साथ भी समन्वय मान सकते हैं। स्वयम्भूप्रधान परमेष्ठीयुग्म का **महाकाली**[१] से सम्बन्ध माना जायगा। परमेष्ठीप्रधान बीजात्मक सूर्य्य का उग्रतारात्मिका '**तारा**'[२] से सम्बन्ध माना जायगा। यज्ञात्मक व्यक्तसूर्य्य के साथ '**षोडशी**'[३] का सम्बन्ध माना जायगा। सौरत्रिलोकीरूप सौरब्रह्माण्ड के साथ '**भुवनेश्वरी**'[४] का सम्बन्ध माना जायगा। सौर-प्रवर्ग्यरूप प्रवृक्त-सूर्य्य के साथ '**छिन्नमस्ता**'[५] का सम्बन्ध माना जायगा। नित्यप्रवर्ग्यरूप त्रैलोक्यगर्भित-व्यष्ट्यात्मक-पार्थिव-भूतों के साथ-'**भैरवी**'[६] का सम्बन्ध माना जायगा। यज्ञसम्बन्ध से वञ्चित पार्थिवाग्नि के साथ '**धूमावती**'[७] का सम्बन्ध माना जायगा। पार्थिवप्रतिष्ठारूप घोराङ्गिरा के साथ '**वल्गामुखी**'[८], (**किंवा बगलामुखी**) का सम्बन्ध माना जायगा। सूर्य्यविरुद्धदिगनुगता तमोमयी दिति-पृथिवी के साथ '**मातङ्गी**'[९] का सम्बन्ध माना जायगा। एवं दिति-अदिति-समष्टिरूपा-पुष्करपर्णरूपा पद्मात्मिका पृथिवी के साथ '**कमला**'[१०] का सम्बन्ध माना जायगा।

१७७ दशमहाविद्याओं का महासरस्वती-महालक्ष्मी-महाकाली-नामक सुप्रसिद्ध तीन महिमाभावों में अन्तर्भाव,-एवं तत्र निगमदृष्टि—

प्रकारान्तरेण इन दसों महाविद्याओं का सत्त्व-रज-स्तमो-गुणानुबन्ध से **महासरस्वती-महालक्ष्मी-महाकाली** के भेद से तीन शक्तिविद्याओं में भी अन्तर्भाव माना जा सकेगा, जिनका चिरन्तनेतिवृत्त अग्रिम प्रकरण में सम्भावित है विभिन्न दृष्टिकोणों से। तमोगुणप्रधाना महाकाली कृष्णवर्णा है, यही प्रलयकाल है।

रजोगुणप्रधाना महालक्ष्मी रक्तवर्णा है, यही सृष्टिकाल है। एवं सत्त्वगुणप्रधाना महासरस्वती * श्वेतवर्णा है, यही मुक्तिकाल है। उस अज-अव्यय-पुरुष की महदक्षररूपा अजा प्रकृति ही यों गुणत्रयभेद से तीन धाराओं में परिणत होती हुई प्रलय-सृष्टि-मुक्ति-की अधिष्ठात्री बनी हुई है। आगमवर्णिता दशमहाविद्या-समन्विता इसी शक्तित्रयी का दिग्दर्शन कराता हुआ निगमशास्त्र कहता है—

१७८-दशमहाविद्यात्मिका महाशक्ति महामाया भगवती का 'रात्रि' रूप से संस्मरण, एवं 'दशमहाविद्या' शब्द के चिरन्तेनतिवृत्त का विश्राम—

विश्वानुबन्धिनी-शत-सहस्र-आदि भेदभिन्ना असंख्या सृष्टिविद्याओं की अपेक्षा से यद्यपि पूर्वोक्ता आगमविद्याओं को **'महाविद्या'** नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। तथापि इन दसों सृष्टिविद्याओं में भी परस्पर आपेक्षिक सामान्य-विशेषभाव समन्वित माना जायगा। अतएव इनमें कोई **'महाविद्या'** है, तो अपरा **'सिद्धविद्या'** कहलाई है। अपरा **'श्रीविद्या'** है, तो अन्या केवल **'विद्या'** ही कहलाई है। यह संस्मरणीय है कि, शक्ति का मूलस्रोत आपोमय वह परमेष्ठी ही है, जिसे हमने स्वयम्भू-निगम से आगत अपौरुषेय-अगाम कहा है। पारमेष्ठ्य आपोमय सरस्वान्समुद्र ही वह **'महारात्रि'** है, जिस के गर्भ में बीजात्मक सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं। इस 'रात्रि' के सम्बन्ध से ही महाविद्या-तत्त्व **'रात्रि'** नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है।

दूसरी दृष्टि से भी रात्रिभाव का समन्वय किया जा सकता है। अग्निप्रधान अहः-पुरुष है, तो सोमप्रधाना रात्रि स्त्री है। पुरुष शिव है, तो स्त्री शक्ति है। अतएव पारमेष्ठ्य-महारात्रिमूला-महाशक्ति-रूपा दसों महाविद्याएँ-**महारात्रि-कालरात्रि-मोहरात्रि-दारुणरात्रि**-रूपेण **'रात्रि'** भाव से ही उपवर्णिता हैं आगमशास्त्र में। अतएव च आगमशास्त्रनें शक्त्युपासना के लिए रात्रिकाल ही अनुरूप माना है ×। तभी तो तदुपासनाकाल-**'नवरात्र'** नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि प्रकरणारम्भ में हीं निवेदन किया

---

*-शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं—
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम्।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां—
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्॥
अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।५।

×-रात्रियोगेन कर्त्तव्यं सदा पूर्णश्च साधकः।
एवं प्रयोगमात्रेण कविता जायते ध्रुवम्॥

जा चुका है, इन निगमागमीयतत्त्वों के सम्बन्ध में तो एकमात्र साक्षात्कर्त्ता ऋषि ही प्रमाण हैं। असम्भवतम है मादृश जड़–प्राकृत–यथाजात–मानवों के लिए इस दशा में अंशतः भी बोध प्राप्त कर लेना। एकमात्र '**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**' इस महान् आश्वासन के अवलम्ब पर उसका स्मरण–मात्राधिकार मिल जाय, क्या यही कम है। सर्वान्त में परिलेख माध्यमेन समष्टिरूपेण उस दशमहाविद्यात्मिका–आगमीया–सृष्टिविद्यारूपिणी–पराम्बा का संस्मरण करते हुए ही यह आगममूलक ÷ दशमहाविद्या–संस्मरणात्मक पावन प्रकरण उपरत हो रहा है।

—१०—

÷आगमशास्त्र की '**दशमहाविद्या**' ही निगमशास्त्र की वह '**विराड्विद्या**' है, जिसका स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी पर विश्राम हो रहा है, जैसा कि पूर्व में यत्रतत्र अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है। दोनों दशमहाविद्याओं में अन्तर केवल यही है कि, निगमशास्त्र निगमरूप स्वयम्भू ब्रह्म को प्रधान मान कर जहाँ '**अहः**' रूप से दसों सृष्टिविद्याओं का निरूपण करता है, वहाँ आगमशास्त्र आगमरूप सौम्य परमेष्ठी को प्रधान मान कर 'रात्रि' रूप से दसों सृष्टिविद्याओं का स्वरूपविश्लेषण करता है। ब्रह्मस्वयम्भू '**पुण्याह–काल**' है, सुब्रह्म परमेष्ठी '**पुण्यरात्रिकाल**' है। पुण्याहकालात्मक स्वायम्भुव अहः भी दशावयव है, पुण्यरात्रि–कालात्मक पारमेष्ठ्या–रात्रि भी दशावया है। यों स्वायम्भुवी अहरनुगामिनी विश्वविद्या '**दशाहविद्या**' प्रमाणित हो रही है, तो पारमेष्ठिनी रात्र्यनुगामिनी विश्वविद्या '**दशरात्रिविद्या**' प्रमाणित हो रही है। स्वयं निगमशास्त्र में भी रात्रिसत्त्ररूप से परोक्षविधि से दशरात्रिविद्यामूलक रात्रिसत्त्रों का यत्रतत्र स्वरूपविश्लेषण हुआ है। और यों दशावयवा दोनों विश्वविद्याओं का परमार्थतः '**एकवस्तुतत्त्वभावत्त्व**' ही प्रमाणित हो रहा है। निगमशास्त्र की दशावयवा विराड्विद्या ही स्वयम्भू–मूला '**सर्वहुतयज्ञविद्या**' कहलाई है, जिसके दशपर्व क्रमशः **प्रथममहः**, **द्वितीयमहः**, **तृतीयमहः**, **चतुर्थमहः**, **पञ्चममहः**, **षष्ठमहः**, **सप्तममहः**, **अष्टममहः** **नवममहः**, विश्वजित्–सर्वपृष्ठ–अतिरात्र नामक **दशममहः**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। '**ब्रह्म वै स्वयम्भु–तपोऽतप्यत**' इस प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर–'**सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः–सर्वं सर्वमेवः–सर्वस्याप्त्यै, सर्वस्यावरुद्ध्यै**' इस १२ वीं कण्डिकापर्य्यन्त शतपथब्राह्मण के १३ वें काण्ड के–७ वें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में इसी दशाहयज्ञात्मक सर्वहुतयज्ञ का स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिसका विश्वकर्म्मा-भौवन से सम्बन्ध माना गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

विराट्संख्या	क्रमसंख्या	शक्तिनामानि	नामान्तराणि	रात्रिभावाः	विद्याभावाः	शिवभावाः
०	१	महाकाली	आद्या	महारात्रिः	महाविद्या	महाकालपुरुषः
१	२	तारा	उग्रतारा	क्रोधरात्रिः	श्रीविद्या	अक्षोभ्यपुरुष-
२	३	षोडशी	त्रिपुरसुन्दरी	दिव्यरात्रिः	सिद्धविद्या	पञ्चवक्त्रशिवः
३	४	भुवनेश्वरी	राजराजेश्वरी	सिद्धरात्रिः	सिद्धविद्या	त्र्यम्बकशिवः
४	५	छिन्नमस्ता	कबन्धा	वीररात्रिः	विद्या	कबन्धशिवः
५	६	भैरवी	त्रिपुरभैरवीं	कालरात्रिः	सिद्धविद्या	दक्षिणामूर्त्तिः—कालभैरवः
६	७	धूमावती	अलक्ष्मी	दारुणरात्रिः	विद्या	केवला शक्तिरेव
७	८	बल्गामुखी	बगलामुखी	कृत्यारात्रिः	सिद्धविद्या	एकवक्त्रो महारुद्रः
८	९	मातङ्गी	श्यामा	विमोहनरात्रिः	विद्या	मतङ्गशिवः
९	१०	कमला-	लक्ष्मी	मोहरात्रिः	विद्या	सदाशिवो विष्णुः

अत्र-'दशमहाविद्या'-शब्दस्य चिरन्तनेतिवृत्तमुपरतम्

——३——

विजयदशमीपर्व का संक्षिप्त इतिवृत

——४——

१७९-'नवरात्र' शब्द, और 'नवो नवो भवति जायमानः' मन्त्र—

दशमहाविद्या के पावन संस्मरण-प्रसङ्ग से ही उस '**नवरात्र**' प्रसङ्ग का समागम हो पड़ा है, जिसे हम लक्षीभूत '**विजयदशमीपर्व**' का पूरक ही कहेंगे। अतएव दो शब्दों में '**नवरात्र**' शब्द का भी अक्षरार्थ-समन्वय तो प्रासङ्गिक बन ही जाता है। '**नव**'-और-'**रात्र**' इन दोनों शब्दों के समन्वय से-'**नवरात्र**' शब्द आविर्भूत है। कौन है यह '**नव**' भाव, एवं क्या स्वरूप है '**रात्र**' का ?, प्रश्न के समाधान का अन्वेषण कीजिए सर्वप्रथम निगमानुबन्ध से। तदनन्तर ही इसका आगमानुबन्धी समाधान गतार्थ बन सकेगा। नैगमिक समाधानान्वेषण की सफलता के लिए सुप्रसिद्ध इस निगमवचन की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है—

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥

—ऋग्वेदसंहिता १०।८५।१९।

१८०-सूर्य्य-चन्द्र युग्म से त्रैलोक्य-प्रजा की सर्गप्रवृत्ति—

"कलावृद्धिक्षय-भावों से प्रतिदिन नवीन-नवीन रूप से उत्पन्न (प्रतीयमान) चन्द्रदेव सौर-पार्थिव ऐन्द्र-आग्नेय-प्राणदेवताओं के लिए यथाभाग सोमाहुति व्यवस्थित करते हुए प्रजावर्ग (मानव) को शतायुर्भाव प्रदान करते रहते हैं" यही मन्त्राक्षरार्थनिष्कर्ष है। प्रतिदिन नवीन-नवीन कलावृद्धि, तथा कलाक्षयभाव जहाँ '**नवो नवो भवति जायमानः**' का एक समन्वय है, वहाँ 'नव' शब्द नौ संख्या की ओर भी सङ्केत कर रहा है। कैसे ?, अन्वेषण कीजिए उस ज्योतिश्चक्रात्मक खगोल का, जिसमें सत्याग्निमूर्त्ति सूर्य्य, तथा सत्यसोममूर्ति चन्द्रमा, दोनों-'**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयन्**' रूपेण यथानुपूर्वी से-(व्यवस्थापूर्वक-यथाक्रम) त्रैलोक्यप्रजा का सर्ज्जन कर रहे हैं।

१८१-सम्वत्सरचक्र की ७२० इष्टकाचितियाँ, और तच्चिति से सम्वत्सर के स्वरूप की निष्पत्ति—

खगोल से अभिप्राय यहाँ दीर्घवृत्तात्मक-त्रिकेन्द्ररूप-अण्डवृत्तलक्षण उस सम्वत्सर का है, जिसमें ७२० इष्टकाचितियाँ समाविष्ट हैं। जिसप्रकार अनेक ईंटों के चयन (चिति-चेजे) से एक प्रासाद का निर्म्माण होता है, एवमेव ७२० इष्टकाओं (ईंटों) की चिति से सम्वत्सररूप त्रैलोक्यभवन निर्म्मित हुआ है, जिनमें ३६० तो सोमगर्भित-अग्निप्रधान इष्टका हैं, एवं ३६० अग्निगर्भित सोमप्रधान इष्टका हैं। सौरी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

आग्नेयी ३६० इष्टकाओं का ही नाम 'अहः' है, चान्द्री सौम्या ३६० इष्टकाओं का ही नाम 'रात्रि' है। एक एक अहः वक्रित, उस पर एक एक रात्रि ऋजुरूप से। ऋजु–वक्रात्मिका इन–ईंटों की चिति से ही सम्वत्सर का स्वरूपनिर्म्माण हुआ है। दो–दो ईंटें मिलकर एक एक 'चिति' का स्वरूप–सम्पन्न होता है। फलतः ७२० इष्टकाओं की ३६० हीं चितियाँ शेष रह जातीं हैं। एक सम्वत्सर में ३६० ही तो अहोरात्रयुग्म मानें गए हैं सावनमानानुसार। इन्हीं इष्टकाचितियों के अनुरोध से सम्वत्सरवृत्त में ३६० अंश मान लिए गए हैं। और यों वृत्तमात्र इसी चितिधर्म्म से ३६० अंशात्मक ही बनें रहते हैं, फिर भले ही वह सर्षपाकार जितना हीं वृत्त क्यों न हो। अणोरणीयान्, तथा महतोमहीयान्, प्रत्येक वृत्त में अहोरात्ररूपा–अग्निसोममयी ३६० चितियाँ समन्वित रहतीं हैं।

१८२–दक्षवृत्तानुगामी–नव–नव–रूपेण जायमान–सौम्य–चन्द्रमा के साथ अनुप्राणित सम्वत्सरचक्र के त्रिनाड़ी-नववीथी–त्रिमार्गात्मक भचक्र का स्वरूप–समन्वय—

विचार इन ३६० इष्टकाओं का हमें नक्षत्राधिपति–निशानाथ–उडुपति–सोममय चन्द्रमा की दृष्टि से करना है। क्योंकि नवसंख्यासूचक 'नव' भाव का चन्द्रमा से ही सम्बन्ध है। ग्रह–नक्षत्रादि समन्वित–क्रान्तिवृत्तीय–सम्वत्सरचक्र में २७ नक्षत्रों की प्रधानता है। इन २७ नक्षत्रों के साथ ही मेष–वृष–मिथुनादि १२ राशियों का समन्वय हो रहा है, जिसे फलिताचार्य्य–**'राशिभोग'** कहा करते हैं। इन २७ नक्षत्रों, १२ राशियों के प्राकृतिक संस्थानक्रम से ज्योतिश्चक्रात्मक–सम्वत्सर में तीन नाड़ीमार्ग, तदनुबन्धी तीन राजमार्ग, प्रत्येक नाड़ी में तीन तीन वीथियाँ (गलियाँ) व्यवस्थित हैं। नाड़ित्रयी–**आदि, मध्य–अन्त्य–नाड़ी**–नामों प्रसिद्ध है। राजमार्गत्रयी **ऐरावतमार्ग–जरद्गवमार्ग–वैश्वानरमार्ग**–नाम से प्रसिद्ध हैं। एवं वीथियाँ विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं, जैसाकि नाड़ीपरिलेख से स्पष्ट हो जायगा। प्रत्येक वीथी में ३–३ नक्षत्र समाविष्ट हैं। तीन तीन नक्षत्रों से कृतरूपा तीन तीन वीथियों की समष्टि से एक एक राजमार्ग का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। एवं तीनों राजमार्गों में (प्रत्येक में) चार–चार राशियाँ स्व स्व–चरणों के अतिमानसम्बन्ध से अन्तर्भुक्त हैं। और यों तीन–तीन–नाड़ी, ९-९– नक्षत्र, तथा १–१-राजमार्गरूप से सम्वत्सरचक्र के तीन खण्ड हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

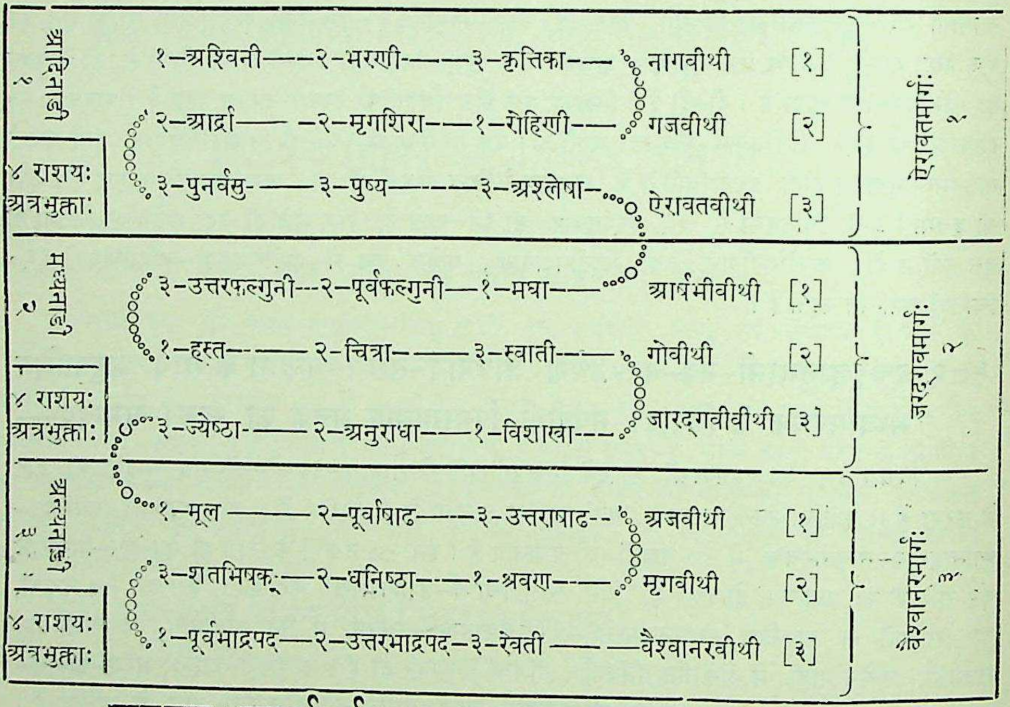

आदिनाडी १
४ राशयः अत्रभुक्ताः
१–अश्विनी—२–भरणी—३–कृत्तिका— नागवीथी [१]
२–आर्द्रा—२–मृगशिरा—१–रोहिणी— गजवीथी [२]
३–पुनर्वसु—३–पुष्य—३–अश्लेषा— ऐरावतवीथी [३]
ऐरावतमार्गः १
मध्यनाडी २
४ राशयः अत्रभुक्ताः
३–उत्तरफल्गुनी—२–पूर्वफल्गुनी—१–मघा— आर्षभीवीथी [१]
१–हस्त—२–चित्रा—३–स्वाती— गोवीथी [२]
३–ज्येष्ठा—२–अनुराधा—१–विशाखा— जारद्गवीवीथी [३]
जरद्गवमार्गः २
अन्त्यनाडी ३
४ राशयः अत्रभुक्ताः
१–मूल—२–पूर्वाषाढ—३–उत्तराषाढ— अजवीथी [१]
३–शतभिषक्—२–धनिष्ठा—१–श्रवण— मृगवीथी [२]
१–पूर्वभाद्रपद—२–उत्तरभाद्रपद—३–रेवती— वैश्वानरवीथी [३]
वैश्वानरमार्गः ३

अयमत्र–आर्य्यसर्वस्वानुगतः (पुराणानुगतः)–संगूहः—

वीथ्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः ॥
त्रिचक्रोभयतोऽश्वश्च विज्ञेयस्तस्य वै रथः ॥१॥
शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः ॥
दशभिस्त्वकृशैर्दिव्यैरसङ्गैस्तैर्मनोर्जवैः ॥२॥
रथेनानेन देवैश्च पितृभिश्चैव गच्छति ॥
सोमो ह्यम्बुमयैर्गोभि शुक्लैः शुक्लगभस्तिमान् ॥३॥
क्रमते शुक्लपक्षादौ भास्करात्परमास्थितः ॥
देवैः पीतं क्षये सोममाप्याययति नित्यशः ॥४॥
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्वरः ॥
आपूरयन् सुषुम्णेन भागं भागमनुक्रमात् ॥५॥
इत्येषा सूर्यवीर्य्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनूः ॥
स पौर्णमास्यां दृश्येत शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः ॥६॥

—लिङ्गपुराण ५६ अध्याय

State Museum
LUCKNOW.

अन्यच्च-"सर्वग्रहाणां त्रीण्येव स्थानानि द्विजसत्तम !
स्थानं जरद्गवं मध्ये, तथैरावतमुत्तरम्
वैश्वानरं दक्षिणतो निर्दिष्टमिह तत्त्वतः ॥"
"अश्विनी–कृत्तिका–याम्या–'नागवीथी' ति शब्दिता ॥
रोहि–ण्यार्द्रा -मृगशिरो–'गजवीथी' त्यभिधीयते ॥१॥
पुष्पाऽश्लेषा–तथा ऽऽदित्या–वीथी–'चैरावती' स्मृता ॥
एतास्तु वीथयस्तिस्र 'उत्तरोमार्ग' उच्यते ॥२॥
तथा द्वे चाऽर्य्ये–फाल्गुनी–मन्दा--'चैवार्षभी' मता ॥
हस्त–श्चित्रा--तथा स्वाती–'गोवीथी' ति शब्दिता ॥३॥
ज्येष्ठा -विशाखा-ऽनुराधा--वीथी-'जारद्गवी' मता ॥
एतास्तु वीथयस्तिस्रो 'मध्यमोमार्ग' उच्यते ॥४॥
पूर्वाषाढो--त्तराषाढा--सा--'जवीथी' त्यभिशब्दिता ॥
श्रवणं--च--धनिष्ठा--च--मार्गी--शतभिषक् तथा ॥५॥
'वैश्वानरी', भाद्रपदे--रेवती--चैव कीर्त्तिता ॥
एतास्तु वीथयस्तिस्रो 'दक्षिणो मार्ग' उच्यते ॥"
—वायुपुराणे

१८३--नक्षत्राधिपति--निशानाथ--चन्द्रमा के त्रिखण्डात्मक--आकाशखण्डों से नव--संख्यात्मक नव--नव–विवर्त्त, एवं तदनुबन्धी--'नवरात्र' शब्द—

अश्विनीनक्षत्र से आरम्भ कर अश्लेषानक्षत्र पर्य्यन्त ६ नक्षत्रों में मेष–वृष–मिथुन–कर्क–इन चार राशियों का नक्षत्रचरण–संदंशात्मक एक विभाग है, जैसाकि 'अश्लेषान्ते च कर्कः' से प्रसिद्ध है। एवमेव मघा से आरम्भ कर ज्येष्ठानक्षत्र–पर्य्यन्त ६ नक्षत्रों में सिंह–तुला–वृश्चिक–धन, इन चार राशियों का अन्तरान्तरीभावात्मक समन्ध है। एवं मूल से आरम्भ कर रेवती नक्षत्रपर्य्यन्त ६ नक्षत्रों में धन–मकर–कुम्भ–मीन–इन चार शशियां का उसी सम्बन्ध से समन्वय हो रहा है, जैसाकि नाड़ीपरिलेख–द्वारा स्पष्ट किया जाचुका है। यही ६ वीथ्यात्मक–त्रिमार्गात्मक–२७ नक्षत्रात्मक-१२ राश्यात्मक वह चान्द्रपरिभ्रमण–मार्ग है, जिसे पुराणभाषा में-'दक्षवृत्त' कहा गया है। चान्द्रनक्षत्रानुरोध से दक्षवृत्त के २७ विभाग हो रहे हैं, जैसाकि–'सप्तविंशतिमिन्दवे' इत्यादि से स्पष्ट है। दक्षप्रजापति की ६० कन्याओं से सम्बन्ध रखनें वाले सुप्रसिद्ध पौराणिक–आख्यान का इस दक्षवृत्त से ही प्रधान सम्बन्ध है, जैसा कि पुराणरहस्यादि अन्य निबन्धों में स्पष्ट हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रकृत में तथोक्त नाक्षत्रिक–चान्द्र–विवर्त्त से हमें निवेदन यही करना है कि, खगोलीय-नाक्षत्रिक–सम्वत्सराकाश के ९–९–९ नक्षत्रों के अनुपात से ४–४–४ राशिभेद से तीन प्रधान आकाशखण्ड व्यवस्थित हैं। इन खण्डों की सन्धियाँ हीं फलित ज्यौतिष में–**'खण्डान्तयोग'** कहलाई हैं, जो आजकल **'गण्डान्तयोग'** नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। प्रतिरात्रि का एक नक्षत्र, ९ रात्रियों में ९ नक्षत्रों का भोग, प्रति ९ नक्षत्रों में चार राशियों का भोग, यों सम्वत्सर में नक्षत्रभोगानुबन्ध से जहाँ ३६० रात्रियाँ व्यवस्थित होतीं हैं, वहाँ ९–९–के क्रमिक संस्थान से ३६० रात्रियों में–'४०' चालीस **'नवरात्र'** प्रादुर्भूत हो जाते हैं। राशिचतुष्टयी से अनुप्राणित, ९–९ नक्षत्रों से समन्वित रात्रिभाव ९–९–रात्रियों का ही एक एक समूह बना हुआ है। अतएव इसे **'नवरात्र'** (९ संख्यात्मक नवरात्रिसमष्टि) कहना सर्वथा अन्वर्थ बन रहा है। **'नवानां रात्रीणां समाहारः'** ही–**'नवरात्रम्'** का सहज–अर्थ-समन्वय है, और **'नवो नवो भवति जायमानः (चन्द्रमाः)'** इत्यादि मन्त्र नव–नव–भावों में विभक्त ऐसे ४० नवरात्रों का स्वरूपसमर्थक बनता हुआ सचमुच रात्र्यनुगत–'नव' भाव के–'नवः--नवः' रूप पुनरावर्त्तन की ही प्रतिष्ठा प्रमाणित हो रहा है। आगे चलकर यही 'नवरात्र' शब्द दशमहाविद्यात्मिका महाशक्ति महामाया दुर्गा के पूजनार्च्चन--काल में निरूढ हो गया है आगमशास्त्र में।

१८४-संम्वत्सरचक्र के ४० नवरात्रों में चार नवरात्रों की प्रमुखता—

तथोपवर्णित ४० नवरात्रों में **उत्तरपरमक्रान्ति, दक्षिणपरमक्रान्ति, शरत्सम्पात , वसन्तसम्पात,** इन चार प्रमुख सम्वत्सर--बिन्दुओं से सम्बन्ध रखने वाले चार नवरात्र प्रधान मान लिए गए हैं। उत्तर--परमक्रान्ति में सूर्य्य का दक्षिणायन है, यही **पैत्र्यनवरात्र** है। दक्षिणपरमक्रान्ति में सूर्य्य का उत्तरायण है, यही **देवनवरात्र** है। मानवप्रजा का सम्बन्ध क्योंकि सम्वत्सरवृत्त के मध्य में प्रतिष्ठित 'बृहतीछन्द' नामक विषुवद्वृत्त से ही माना गया है। अतएव तदनुगत वसन्तसम्पात, तथा शरत्सम्पात से सम्बन्ध रखने वाले चैत्रपक्षीय वासन्तिक नवरात्र, तथा आश्विनपक्षीय शारद--नवरात्र, दोनों को **मानवनवरात्र** मान लिया गया है। यों मानवप्रजानुबन्ध से तो ४० में से दो नवरात्र ही प्रधानरूपेण शेष रह जाते हैं।

१--दक्षिणपरमक्रान्त्यनुगतं-सूर्य्योत्तरायणात्मकं नवरात्रम्—दैवनवरात्रम्

२--उत्तरपरमक्रान्त्यनुगतं---सूर्य्यदक्षिणायनात्मकं नवरात्रम्–पैत्र्यनवरात्रम्

३--वसन्तसम्पातानुगन्तं—वासन्तिकं नवरात्रम्
४--शरत्सम्पातानुगतं——--शारदीयं नवरात्रम्
} मानुषनवरात्रे

१८५-चार नवरात्रों में, दो नवरात्रों की, एवं दो में शारद–नवरात्र की प्रधानता का समन्वय—

पुनः यह संस्मरणीय है कि, सोममय परमेष्ठी ही आगम है, तत्प्रवर्ग्यभूत चन्द्रमा भी सोममय ही है। उमासहित तत्त्व ही 'सोम' है। अतएव चान्द्र सौम्यतत्त्व ही शक्तितत्त्व है। रात्रि ही इसका प्रातिस्विक व्यक्तकाल है। अतएव **चन्द्रमा-सोम–रात्रि–शक्ति-आदि** सभी भाव समानरूपेण आगमीया पराशक्ति

के ही परम्परया, एवं साक्षाद्–रूपेण संग्राहक बने हुए हैं । पूर्वोक्त दोनों मानुष--नवरात्रों में भी शरत्सम्पातानुगत शारदीय-नवरात्र का इसलिए सर्वापेक्षया विशेष महत्त्व माना गया है कि, आश्विन–कार्तिकादि मास शक्तिक्षयात्मक बनते हुए **'यमदंष्ट्रा'** नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसाकि अग्रिम--दीपावलीपर्व में निवेदन किया जाने वाला है । अतएव यह काल शक्तिसञ्चय के लिए अनिवार्य्य मान लिया है आगमाचार्य्योंनें । और यों अन्ततोगत्त्वा ४० नवरात्रों में शारदीय-नवरात्र ही शक्तिसञ्चयरूपा उपासना की दृष्टि से सर्वतः मुख्य प्रमाणित हो जाता है । अतएव इस शक्तिपूजनकाल को **'महापूजा'** कहा गया है, जैसाकि–**'शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी'** इत्यादि से प्रसिद्ध है । अतीत का परमशाक्त (किन्तु वर्त्तमान में शक्तिप्रतीकभूता नारीशक्ति की उपेक्षा--अवमान करने वाला शक्तिशून्य हीं) बङ्गालप्रान्त 'पूजा' से इसी नवरात्र को प्रमुखता प्रदान कर रहा है ।

१८६-नवरात्रतत्त्व का स्वरूपविश्लेषक-रहस्यपूर्ण दुर्गासप्तशतीशास्त्र —

दशमहाविद्यानिबन्धन–नवरात्र से अनुप्राणित शक्तितत्त्व ही वह आगमीय-शक्तितत्त्व है, जिसके अनुग्रह से ही राष्ट्र सशक्त बन कर राष्ट्रविरोधी असुर-राक्षसों का ध्वंस करता हुआ विजयलाभ करने में समर्थ प्रमाणित हुआ करता है । शक्तिरहस्यात्मक शक्तिपूजन का सम्पूर्ण निगमागमीय तत्त्व प्रतिपादन करने वाला मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत ऋषिद्रष्ट–ऋषिप्रयुक्त--ऋष्युक्त–उपासना–प्रकारात्मक वह गोपनीय आगमग्रन्थ ही औपनिषद–रहस्य के प्रतिपादक ७०० श्लोकात्मक गीताशास्त्र की भाँति ७०० श्लोकों से ही अपने छन्दः–शरीर का निर्म्माण करता हुआ **'सप्तशती'** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । **आत्मा–बुद्धि-मनः–शरीर**–से चतुष्पर्वा प्रमाणित मानव का आत्मबुद्धिस्वरूप नैगमिक–नैष्ठिक–स्वरूप माना गया है, एवं मनःशरीरस्वरूप आगमिक भावुक–स्वरूप माना गया है । निगमशास्त्र मानव के नैष्ठिक स्वरूप का संरक्षक है, तो आगमशास्त्र मानव की भावुकता का संरक्षक है । इन दोनों महान् शास्त्रों की रहस्यपूर्णा दो सप्तशतियाँ भारतराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं । निगमशास्त्र की **सप्तशती 'श्रीमद्भगवद्गीता'** नाम से प्रसिद्ध है, जो अपने सातसौ श्लोकों से 'सप्तशती' प्रमाणित हो रही है । एवं आगमशास्त्र की सप्तशती **'दुर्गासप्तशती'** नाम से प्रसिद्ध है । गीतासप्तशती मानव के आत्मबुद्धिनिबन्धन, **मोक्ष-धर्म्मात्मक**-नैगमिक-कर्त्तव्य के कौशल का निरूपण कर रही है, तो दुर्गासप्तशती मानव के मनःशरीरनिबन्धन, **काम–अर्थात्मक** आगमिक–कर्त्तव्य–कौशल का रहस्योद्घाटन कर रही है । जिस राष्ट्र की प्रज्ञा में ये दोनों सप्तशती-ग्रन्थ प्रतिष्ठित हों, वह राष्ट्र भी अपनी समस्याओं के समाधान के लिए यदि परप्रत्ययनेय बनता रहे, तो इससे अधिक दुर्भाग्य और कुछ भी तो नहीं हो सकता उस राष्ट्र की प्रज्ञा का । प्रकृत में–प्रकरणानुबन्ध से 'दुर्गासप्तशति' के सम्बन्ध में दो प्रश्न प्रमुख–रूपेण–जिज्ञासारूप से सहजरूपेणैव हमारे सम्मुख समुपस्थित हैं ।

१८७-शक्तिशाली 'राष्ट्र' के 'राष्ट्रत्त्व' की स्वरूपव्याख्या—

'राष्ट्र शक्तिशून्य बन जाता है', इस वाक्य के राष्ट्र शब्द का क्या अर्थ ?, यही प्रथम प्रश्न है । एवं कैसे राष्ट्र सशक्त बनता है ?, यही दूसरा प्रश्न है । दुर्गासप्तशती नामक रहस्यग्रन्थ अपने आम्नायसिद्ध–पारम्परिक–औपासनिक–सुगुप्त–रहस्य के साथ साथ (जिसके लिए न तो शब्दात्मक प्रश्न ही सम्भव, एवं न शब्दात्मक उत्तर ही सम्भव, अपितु जो केवल आम्नायनिष्ठ ऋषिपरम्परा में ही सुगुप्त–सुरक्षित है)

लोकानुबन्धी तथोक्त दोनों लोकप्रश्नों का लोकमानवों के इतिवृत्त के माध्यम से ही सर्वात्मना समाधान कर रहा है।

'राजते–इति राष्ट्रम्' ही राष्ट्र को स्वरूप-व्याख्या है, जिसकी प्राणप्रतिष्ठा राष्ट्र के विभ्राट्–तेजोमय क्षात्र–सत्तातन्त्र पर ही अवलम्बित है। जिस राष्ट्र का सत्तातन्त्र 'राजते' तेज से समन्वित रहता है, वही राष्ट्र 'राष्ट्र' कहलाया है। ठीक इसके विपरीत जिस राष्ट्र का सत्तातन्त्र अमुकामुक ज्ञात–अज्ञात कारणों से अपने विभ्राट्तेजोभाव से वञ्चित हो जाता है, वह राष्ट्र आक्रान्ता–आततायी वर्ग से आक्रान्त बन कर विप्लवात्मक–तेजःशून्य–अराष्ट्र ही बन जाया करता है। और यों राष्ट्र की शासनसत्ता के महान् पौरुष के आधार पर ही राष्ट्र का 'राजते' लक्षण 'राष्ट्रत्व' सुरक्षित रहा करता है।

१८८–रहस्यशास्त्र के द्वारा 'राष्ट्रशक्ति' की परोक्ष--स्वरूपव्याख्या –

इसी सम्बन्ध में एक अवान्तर प्रश्न और जागरूक हो पड़ता है। वह ऐसा कौनसा प्रमुख कारण है, जिसके आगमन से राष्ट्र का शासनदण्डधर्त्ता सत्तातन्त्र यों सहसा विभ्राट्तेज से वञ्चित हो जाता है ?। दूसरे शब्दों में इसी जागरूक–अवान्तर–महान् प्रश्न का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, राष्ट्रीय सत्तातन्त्र में वह ऐसा कौनसा महान् दोष समाविष्ट हो जाता है, जिसके समावेश से सत्तात्मक विभ्राट्–तेज अन्तर्मुख–कुण्ठित--हतप्रभ बन जाया करता है ?। रहस्यशास्त्र स्वयं ही परोक्षविधि से इस जागरूक अवान्तर--प्रश्न का भी समाधान कर रहा है।

१८९–राष्ट्र की बाह्य शक्तियों के प्रतीक सत्तातन्त्र, तथा वणिक्तन्त्र की अर्थलिप्सा--लोकलिप्सा से राष्ट्रशक्ति की अन्तर्मुखता, एवं परिणामस्वरूप राष्ट्रक्षोभात्मक राष्ट्रविप्लव का आविर्भाव —

राष्ट्र की विभिन्न अर्थशक्तियों का पात्रविवेकपूर्वक यथास्थान विनिमय--व्यवस्थापन करने वाला, किन्तु स्वयं इन अर्थप्रलोभनों से (वित्तैषणाओं से) अपने आपको सर्वथा असंस्पृष्ट रखने वाला, सहजसिद्ध प्राणैश्वर्य्य--पौरुषैश्वर्य्य से सहजरूपेणैव ऐश्वर्य्यशाली बना रहने वाला सत्तातन्त्र जब दुर्भाग्यवश राष्ट्र के अर्थसंग्राहक-वैश्यवर्ग के पदचिन्हों का अनुगामी बन जाता है, दूसरे शब्दों में जो सत्तातन्त्र लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा को ही राष्ट्र का प्रधान बल मानने--मनवाने की महा भूल कर बैठता है, निश्चयेन शीघ्र ही अर्थानुगत भौतिक--तमोभाव की लिप्सा--गृध्नुता इसके सहज शासन--ऐश्वर्य्य–शौर्य्यरूप--विभ्राट् तेज को सर्वात्मना अभिभूत कर लेती है। और उस दशा में न तो यह स्वयं अपने आप पर ही नियन्त्रण कर सकता, नापि अर्थतन्त्र के परमाचार्य्य उस वणिक्तन्त्र का ही नियन्त्रण कर पाता, जोकि वणिक्तन्त्र अपने अर्थतन्त्र में सर्वतन्त्रस्वतन्त्र बन कर **'क्षोभयेतामिदं जगत्'** इस मानवीय--सिद्धान्तानुसार न केवल एक अपने राष्ट्र के ही क्षोभ का, अपितु सम्पूर्ण विश्व के क्षोभ का साक्षात् , एवं परम्परया उभयथा निमित्त--प्रवर्त्तक बन जाता है। और यों सत्तातन्त्र की अर्थलिप्सापरायणात्मिका वणिग्वृत्ति से ही राष्ट्र की पौरुषशक्ति, तथा अर्थशक्ति, दोनों ही शक्तियाँ राष्ट्रस्वरूपरक्षण के स्थान में (वैय्यक्तिक, अथवा तो अधिक से अधिक पारिवारिक स्वार्थ--लिप्सामात्र में केन्द्रित होतीं हुईं) राष्ट्रध्वंस का ही कारण बन जाया करतीं हैं।

१९०–सत्तातन्त्र के प्रतीक 'सुरथराजा', एवं वणिक्तन्त्र के प्रतीक 'समाधि' नामक वैश्य के माध्यम से इन दोनों वर्गों की मोहशक्ति से उत्पन्न महान् क्षोभ के चिरन्तनेतिवृत्त का दिग्दर्शन, एवं तन्माध्यम से ही शक्तिशास्त्र (सप्तशती) की प्रवृत्ति—

यों सत्तात्मक क्षत्रियराजा, एवं अर्थात्मक वैश्य, इन दो राष्ट्रीय-प्रतिनिधियों के एवंरूपेण महामोहग्रस्त बन जाने के कारण ही, व्यक्तिप्रतिष्ठात्मक--स्वस्वरूपव्यामोहनात्मक–लिप्सापूर्ण–तमोभावों के कारण हीं राष्ट्र अराष्ट्र बन जाया करता है। ऐसे अराष्ट्ररूप अराजक--राष्ट्र की राष्ट्रीया 'संघशक्ति' सर्वथा ही छिन्न--भिन्न हो जाती है। विजयस्वप्न पलायित हो जाते है। पदे पदे कुनैष्ठिक--आततायी--असुरधर्म्मा मानवाधमों के कुचक्रों से ऐसा शक्तिशून्य राष्ट्र उत्पीड़ित ही प्रमाणित होता रहता है। इसी लोकरहस्य का परोक्ष–सङ्केतरूप से स्पष्टीकरण करने के लिए ही शक्तिस्वरूपविश्लेषक रहस्यशास्त्र ने सत्ताधीश **सुरथराजा**, एवं अर्थाधीश **समाधिवैश्य**, इन दो महापात्रों के माध्यम से ही शक्तिस्रोतावरोधक मोहपाशों का चिरन्तन–इतिवृत्त उपक्रान्त करते हुए कहा है —

"सुरथो नाम राजाभूत्समस्ते क्षितिमण्डले" ।

क्षितिमण्डलाधीश सुरथ महानुभाव दुष्टामात्य–सचिवादि के षड्यन्त्रों से सत्ताक्षेत्र से जब वञ्चित हो जाते हैं, तो दुःखार्त्त बन कर शून्य अरण्य की ओर निकल जाते हैं। वहीं इन्हें एक ब्राह्मणश्रेष्ठ का निरापद आश्रम उपलब्ध हो जाता है, और तत्र अपनी दुःखगाथा व्यक्त करने के लिए, साथ ही तन्निवृत्त्युपायबोधकामना से सुरथ तत्र प्रणतभाव से जब वहाँ पहुँचते हैं, तो—

तत्र विप्राश्रमाभ्याशे वैश्यमेकं ददर्श सः ।

राज्यश्रीभ्रष्ट सुरथराज के--'**स शोक इव कस्मात्त्वं दुर्म्मना इव लक्ष्यसे**' यह प्रश्न करने पर मनोधर्म्मा वैश्यमहाभाग अपनी करुणगाथा यों उपक्रान्त करते हैं कि—

समाधिर्नाम वैश्योऽहमुत्पन्नो धनिनां कुले ।
पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभादसाधुभिः ॥

१९१-ऋषिप्रज्ञा के द्वारा उभयतन्त्र का उद्बोधन, एवं शक्त्याराधन का आदेश—

यों कुछ समय पर्य्यन्त सुरथ प्रश्न करते रहते हैं, समाधि महानुभाव अपनीं मानस अनुभूतियों के के माध्यम से अपना दुःखेतिहास व्यक्त करते रहते हैं। और यों दोनों हीं परस्पर अपनी दुःखगाथाओं के प्रश्नोत्तरविमर्श से भी जब किसी निर्णयोपाय पर पहुँचने में असमर्थ हो जाते हैं, तो अन्ततोगत्वा राष्ट्र के एकमात्र अशरण--शरणस्थान, संस्कृतिनिष्ट--शक्तिरहस्यवित्--शक्त्युपासक–निगमागमपरायण तथाकथित द्विजश्रेष्ठ के सम्मुख ही उपस्थित होते हैं दोनों आर्त्त महानुभाव। देखिए !

मार्कण्डेय उवाच—**ततस्तौ सहितौ विप्र ! तं मुनिं समुपस्थितौ ।**
समाधिर्नाम वैश्योऽसौ, स च पार्थिवसत्तमः ॥

१६२–निगमागममूला–आत्मदेवभावानुप्राणिता--परोक्षा--सुसूक्ष्मा--शक्तियों से वञ्चित राष्ट्रमानवों के व्यक्तित्त्वविमोहनात्मक--प्रकृतिविरुद्ध--शक्तिविध्वंसक---असदाचरण, एवं उनके घोरघोरतम दुष्परिणामों से राष्ट्र का आत्यन्तिक पतन—

आगे क्या होता है ?, क्या हुआ ?, ऋषि ने कैसे किन उपायों से इन दोनों को दुःखार्णव से विमुक्त किया ?, इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए ही तो दुर्गासप्तशती जैसा शक्तिरहस्यविश्लेषक वैसा शास्त्र राष्ट्र की आम्नायपरायणा ब्राह्मणप्रज्ञा से आविर्भूत हुआ है, जिसके अनुगमन के बिना न तो सत्तातन्त्राधीश ही राष्ट्र का संरक्षण कर सकते, न वित्ताधीश वैश्य ही राष्ट्रीय–अर्थशक्ति का संरक्षण कर सकते। शक्त्युपासना से ही दोनों का मोह पलायित होता है, हुआ है पूर्वयुगों में। आज दुर्भाग्यवश वे शक्त्याराधनात्मक--सांस्कृतिक--अनुष्ठानप्रकार क्योंकि निरपेक्ष बन गए हैं सत्ता, तथा वणिक्-दोनों के लिए ही। अतएव दोनों हीं राष्ट्रीयवर्ग आज सर्वात्मना अशक्त प्रमाणित होकर राष्ट्र की अराष्ट्रकता के ही अज्ञातरूपेणैव उपोद्बलक बनते जा रहे हैं। सहजभावानुसार--आज के मानव का एकमात्र प्रधान राष्ट्रीय--कर्त्तव्य यही शेष रह गया है कि, वह राष्ट्र–राष्ट्रीयता--मानव–मानवता--सत्य--नैतिकता–अहिंसा--दया--सहास्तित्त्व--मैत्री--आदि आदि प्ररोचनात्मक आकर्षक शब्दच्छलों के माध्यम से अपनी, अथवा तो अधिक से अधिक अपने परिवार की आकल्पान्ता प्रलयान्ता–चिन्ता की निवृत्ति के लिए येन केन प्रकारेण अर्थ का ही समन्व. करने की वासनामात्र में हीं तल्लीन बना रहे, जिसका पुरुषतत्त्व--(अव्यय)–स्वरूपविश्लेषक ईश्वरावतार भगवान् वासुदेवकृष्ण ने ओजिस्विनी वाणी में एवंरूपेण उद्घोष किया है—

असत्यमप्रतिष्ठं-ते जगदाहुरनीश्वरम् ॥
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥१॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥
प्रभवन्त्युग्रकर्म्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥२॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ-मान–मदान्विताः ॥
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥३॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ॥
कामोपभोगपरमाः--एतावदिति--निश्चयाः ॥४॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ॥
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥५॥
इदमद्य मया लब्ध--मिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥६॥
असौ मया हतः शत्रुः, हनिष्ये चापरानपि ॥
ईश्वरोऽहं, अहं भोगी, सिद्धोऽहं, बलवान्, सुखी ॥७॥

आढ्यो--ऽभिजनवानस्मि--कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।।
यक्ष्ये--दास्यामि--मोदिष्ये--इत्यज्ञानविमोहिताः ।।८।।
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।९।।
तानहं द्विषतः--क्रूरान्--संसारेषु नराधमान् ।।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।।१०।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।११।।

—गीता १६ अध्याय । ८ से २० पर्य्यन्त

"व्यक्तित्वविमोहनमूला लोकैषणात्मिका वित्तैषणा, किंवा वित्तैषणात्मिका लोकैषणा का आरम्भबिन्दु है—'अनीश्वरता' । आत्मदेवभाव से अपरिचित, अनात्मवादी देवविरोधी नास्तिक मानव ही विश्व को केवल कामहैतुक–प्रकृतिमात्ररूप--(एक्सडेन्टल Axidental) मानते हुए ही काममूलक अर्थ में आसक्त हुआ करते हैं । ईश्वरीय दण्ड से अपरिचित ऐसे नास्तिक ही केवल प्रकृतिवादी—नेचरवादी--बनकर इस प्रकार के जघन्यपथ के अनुगामी बन जाया करते हैं ।। १ ।। इस अनीश्वरदृष्टिरूपा नास्तिदृष्टि को मूलप्रतिष्ठा बना कर नष्टात्मा--बुद्धिशून्य बन जाने वाले केवल मनःशरीरपरायण मानवाधम ही विश्वविनाश के लिए उग्रकर्म्मों–कुकर्मों का अनुगमन करने लग पड़ते हैं ।। २ ।। कभी शान्त न होने वाले कामभाव को आधार बना कर शरीर से मदोन्मत्त, मन से मानोन्मत्त, तथा लोकबुद्धि से दम्भोन्मत्त बने रहने वाले ये भ्रष्टाचारपरायण मानवाधम मोहवश सर्वथा असन्मार्गों से असत् परिग्रहों का संग्रह करते रहने में हीं तल्लीन बने रहते हैं ।। ३ ।। अपनी वैय्यक्तिक, तथा पारिवारिक वैसी महती चिन्ता से ये नराधम उस सीमापर्य्यन्त चिन्तित बने रहते हैं, जो प्रलयान्त पर भी समाप्त नहीं हो पाती । इनका एकमात्र महान् पौरुष--काम–भोगपरायणता ही बना रहता है । कामार्थ ही इनके लिए निश्चित तत्त्व है (धर्म्म और मोक्ष शब्द से भी ये परिचित नहीं हैं) ।। ४ ।। अनेक प्रकार की शत-सहस्राधिक-आशा-कामनाओं के पाशों में सतत आबद्ध, तत्कामनाओं में सतत आसक्त, तत्प्राप्त्यभाव में क्रोधातुर बनते रहने वाले ये नराधम अपने कामभोग की उपशान्ति के लिए अनेक प्रकार के छल–कपट--मायाचार--भ्रष्टाचारादि अन्यायपथों का अनुगमन करते हुए धनसञ्चय में हीं तल्लीन बने रहते हैं ।।५।। आज मेरी अमुक योजना सफल हो गई, कल वह योजना सफल हो जायगी, पुनः उससे अमुक धनराशि उपलब्ध हो जायगी, इतना तो हो चुका है, इतना और हो जायगा ।। ६ ।। अमुक डाकुओं--शत्रुओं को मार दिया है, शेष को निकट भविष्य में हीं मार लेंगे । सत्ताबल हमारे साथ है, हम भोगैश्वर्य्यवान् हैं, सब लोकसिद्धियाँ हमारे वश में हैं, हम बलशाली हैं, सभी लोकसुख हमें प्राप्त हैं ।। ७ ।। हमारा पद सम्मानित हैं, हम कुलीन हैं, निष्कर्षतः कौन है हमारे जैसा ?, हम विविध प्रकार के लोकयज्ञ कर करेंगे, देंगे, हर्ष का अनुभव करेंगे, इत्यादिरूपेण तथाविध कामभोगपरायण यों अज्ञानपरम्पराओं से समन्वित रहते हुए ।। ८ ।। अनेक प्रकार के मनोभाव--कामभावों से सर्वथा भ्रान्त--दिग्भ्रान्त--लक्ष्यभ्रष्ट--बनते हुए, मोहजालों से सर्वात्मना परवश बनते हुए, एवं कामभोग में सतत आसक्त--व्यासक्त बने रहते हुए ऐसे नराधमों के लिए ही तामिस्र--अन्धतामिस्र—

कुम्भीपाक--रौरवादि--नरकस्थान नियत हुए हैं यमराज के द्वारा ॥ ९ ॥ आत्मा, देवता, द्विज, शास्त्र, आदि आदि सात्त्विक राष्ट्रीय विभूतियों से, एवं तदनुगामियों से प्रचण्ड द्वेष करने वाले, अत्यन्त क्रूर, ऐसे नराधम निश्चयेन अधमाधमा गति के ही सम्मानित अतिथि बनते रहते हैं ॥ १०,११ ॥"

१९३–राष्ट्र की चिन्त्या दुर्दशा के अचिन्त्य–प्रश्न का चिन्तापूर्ण--समन्वय—

सुरथ नामक भारतीय राजा, तथा समाधि नामक भारतीय वैश्य, दोनों यद्यपि सर्वात्मना–ईश्वरपरायण थे, धर्म्मपथानुगामी थे। तथापि एकमात्र भावुकतारूप मानसिक-मोह के कारण सुरथ राजा, तथा समाधि वैश्य दोनों हीं पराभूत हो गए अपने अपने तन्त्रों से (राज्यतन्त्र से, तथा परिवारतन्त्र से), जैसाकि–÷'**अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टैः**' एवं–'**पुत्रदारैर्निरस्तश्च**' * इत्यादि वर्णन से स्पष्ट है। एकमात्र भावुकतापूर्ण मोह से ही सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र जब सर्वात्मना अशक्त बन जाते हैं, तो जब गीताप्रतिपादित अमुक आसुरभावों के आकर्षण से दुर्भाग्यवश सत्तातन्त्र, एवं वणिक्तन्त्र–केवल कामभोगपरायणता में आसक्त होकर-अर्थगृध्नु–लोकैषणाकामुक बन जाते हैं, तो क्या दशा--दुर्दशा हो जाती है राष्ट्र की ?, प्रश्न तो सर्वात्मा अचिन्त्य–असमाधेयकोटि में हीं परिगणित हो जाता है।

१९४–विजयदशमीपर्व की सांस्कृतिक-आयोजनता, और उसकी मूलप्रतिष्ठाएँ—

क्यों राष्ट्र अशक्त बन कर अराष्ट्र बन जाता है ?, प्रश्नसमाधान की चेष्टा की गई समाधि नामक वैश्यबन्धु से प्रधान सम्बन्ध रखने वाली अर्थैषणाप्रधाना लोकैषणा से अनुप्राणिता मोहशक्ति के माध्यम से। बड़े से बड़े ज्ञाननिष्ठ भी इस विष्णुमाया–मोहशक्ति से मोहित बन कर + स्वकेन्द्रस्थ उस अव्ययात्मबोध से वञ्चित × ही बने रहते हैं, जिस आत्मबोध के बिना मानव अपने वैय्यक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, एवं राष्ट्रीय–तन्त्रों में सर्वथा ही अशक्त–असमर्थ–प्रमाणित हो जाता है। कैसे राष्ट्र अपनी इस मोहशक्ति से आत्मत्राण करे ?, कैसे यह सशक्त बने ?, सशक्त बन कर यह कैसे राष्ट्रविरोधी प्रतिद्वन्द्वियों का पराभव कर विजय लाभ करे ?, इत्यादि

÷--अमात्यैर्बलिभिर्दुष्टैर्दुर्बलस्य दुरात्मभिः।
*--पुत्रदारैर्निरस्तश्च धनलोभादसाधुभिः।
विहीनश्च धनैर्दारैः पुत्रैरादाय मे धनम् ॥ —सप्तशती
कोशोबलं चापहृतं तत्रापि स्वपुरे ततः ॥ —सप्तशती
+ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥ —सप्तशती
× मोघाशा मोघकर्म्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ॥
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ (गीता ९।१२।)
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम् ॥
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ (गीता ७।१३।)।

प्रश्नों का एकमात्र समाधान महामाया–दशमहाविद्यात्मिका–नवरात्रस्वरूपिणी आगमीया शक्ति की उपासना पर ही क्योंकि अवलम्बित है। अतएव राष्ट्रसत्ता के अधीश शास्ता से सम्बन्ध रखने वाले विजयकर्म्म से अनुप्राणित '**विजयदशमीपर्व**' प्रसङ्ग में हमें निगमानुगता आगमविद्या से सम्बन्ध रखने वाली दशमहाविद्याओं का, तदुपासनात्मक नवरात्र का भी प्रासङ्गिक-दिग्दर्शन करा देना पड़ा, जिस प्रासङ्गिक समन्वय के बिना प्रक्रान्तपर्व का आयोजनात्मक स्वरूप कदापि समन्वित नहीं हो सकता था।

१९५–आगमशास्त्र के षड्दिग्भेदभिन्न सुप्रसिद्ध षडाम्नाय, एवं तदनुबन्धी शक्ति--संग्राहक उपायों का समन्वय—

आगमशक्ति की 'उपासना' का तो उस आम्नायपरम्परा से ही सम्बन्ध है, जो आम्नायपरम्परा के आश्रय से ही समन्वित की जा सकती है। कदापि वाणी, किंवा लिपिमाध्यम से लोकधरातल पर इस रहस्यपूर्ण औपासनिक तथ्य का संस्पर्श भी सम्भव नहीं है। अनेक प्रकार हैं आगमीय आम्नायपरम्परा में शक्तिसञ्चय के, जिनमें षट्दिग्भेद से ६ प्रकार तो प्रायः सभी को नाममात्रेण तो विदित हैं हीं। '**पूर्वा, पश्चिमा, उत्तरा, दक्षिणा, ऊर्ध्वा, अधः**, मातृ शक्तिमयी मातापृथिवी की इन छ दिशाओं से अनुप्राणित शक्तिसंग्राहक-षड्विध आम्नाय ही क्रमशः **पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय, ऊर्ध्वाम्नाय, अधराम्नाय,** इन नामों से प्रसिद्ध है, जो चतुःषष्टि (६४) तन्त्रों से आबद्ध हैं। निगमभावात्मक आगमाम्नाय ही पूर्वाम्नाय है। लोकभावानुगत-यच्चयावत् वाङ्मयभावों से अनुप्राणित–शाबरमन्त्रात्मक आम्नाय ही पश्चिमाम्नाय है। पञ्चदेवोपासनात्मक आम्नाय ही दक्षिणाम्नाय है। ब्रह्मरन्ध्रानुगत–सौषुम्ण-योगमार्ग ही ऊर्ध्वाम्नाय है। भूकेन्द्रानुगत पार्थिव मलात्मक-पूषाभावानुगत-नितान्त–रहस्यपूर्ण–सद्यःफलप्रद अघोरमार्ग (घोरघोरमार्ग) ही अधराम्नाय है। एवं जिस सौम्या, पञ्चमकारात्मिका उमा हैमवती भगवती का दशमहाविद्यारूप से अबतक यशोगान हुआ है, जोकि उत्तरत्त्वेन भी वाम है, एवं साधनाप्रकारापेक्षया भी वाम (दुस्तर-टेढा) है, वही उत्तराम्नाय है, जिसे स्पष्टरूपेण '**शक्त्याम्नाय**' भी कहा जा सकता है, कहा गया है आगमशास्त्र में। एकमात्र निगमागम–निष्ठ–गुहानिहित–तपस्वी ब्राह्मण ही इस उपासना में पूर्णरूपेण अधिकृत माना गया है, जिसके अनुग्रह से प्राप्त शक्तिपूजनप्रकारों के माध्यम से (आम्नायविधानपूर्वक–सांस्कृतिक–आयोजनमाध्यम से) ही क्षत्रिय वैश्य भी शक्तिलाभ करते हुए राष्ट्र को सशक्त बना कर विजय–श्री प्राप्त कर सकते हैं। वही विजयप्रकार, शक्तिलाभ का वही सांस्कृतिक–आयोजन–प्रकार राज्यभ्रष्ट सुरथ के प्रति, तथा परिवारभ्रष्ट समाधिवैश्य के प्रति निगमागमनिष्ठ महर्षि ने सप्तशती के माध्यम से विस्तार से व्यक्त किया है। सचमुच सप्तशती का केवल पारायण पाठ भी लोकमानवों को लोकविजयलाभ में सफल बना दिया करता है, निश्चयेन सफल बना ही देता है। इसी आधार पर–'**कलौ दुर्गा प्रकीर्त्तिता**' यह सिद्धान्त जागरूक है आस्थाश्रद्धापरायण शक्तिभक्तों में।

१९६–शक्ति–उपासना, पूजनात्मक नवरात्र, एवं तदनुगत विजयीदशमी--पर्व—

विजयदशमीपर्व का मूलाधार तत्त्व शक्ति–उपासनात्मक, शक्तिपूजनात्मक 'नवरात्र' ही माना गया है। अतएव 'विजयदशमीपर्व' नामक सांस्कृतिक आयोजन का अनुष्ठान वसन्तऋतु में नवरात्र के अन्त में, तथा शरद्-ऋतु में नवरात्र के अन्त में हीं होता है, जिन दोनों पर्वों में से प्रधानता शारद–नवरात्र से अनुप्राणिता दशमी तिथि से सम्बद्ध विजयादशमी की ही मानी गई है। क्योंकि पूर्वकथनानुसार शक्तिसंग्राहक ४० नवरात्रों में से

४, चार में से २, तथा इनमें भी एक ही (शारद) नवरात्र प्रमुखरूप से शक्तिसंग्रह के लिए प्रधान काल बना हुआ है। तभी तो इसे 'महापूजा' कहना अन्वर्थ बनता हैं। संस्कृति से सम्बन्ध रखने वालीं सांस्कृतिक–आचारनिष्ठाओं का दिग्दर्शन कराते हुए प्रथम प्रकरण में यत्रतत्र अनेकधा यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, आचारधर्म्मों का आयोजनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये तो व्यक्तिगतरूप से साधना के क्षेत्र बने रहते हैं। शक्त्युपासनारूप नवरात्राचार रहसि-भावानुगता केवल उपासना से ही सीमित है। तत्प्रयुक्त विजयदशमीपर्व में नवकन्यापूजन, वेदपारायण, आदि आदि शास्त्रीय निगमागमाचार ही अनुष्ठेय बनते हैं, जिनका सर्वसामान्या-बहिर्मुखा लोकप्रजा से साक्षात्रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है, जबकि तथाविध तपस्वी एकान्तनिष्ठ उपासकों की उपासना से सञ्चिता शक्ति का उपयोग राष्ट्र के अभ्युदय–निःश्रेयस् में हीं होता है। और विजयीदशमीपर्व का सांस्कृतिक–आचारनिष्ठात्मक यह औपपत्तिक पक्ष ही तथ्यपूर्ण पक्ष माना जायगा, माना गया है, जिसके बिना बाह्य–आयोजनात्मक–सांस्कृतिक आयोजनरूप विजयदशमीपर्व का कुछ भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। यही तो कारण है कि, विगत तीन सहस्रवर्षों से इस औपासनिक–शक्तिसंग्रहात्मक-वैज्ञानिक पथ से भ्रष्ट भारतीय द्विजातियों की दासता से ही राष्ट्र उत्तरोत्तर शक्तिशून्य ही प्रमाणित होता जा रहा है, जबकि सदा ही हमारा राष्ट्र प्रतिवर्ष विजयदशमीपर्व मनाता आरहा है आयोजनरूपेण। आयोजनात्मक–पूजन–कीर्त्तन तो प्रतीकमात्र हैं। जब मूल ही विस्मृत हो गए, तो ये प्रतीक क्या लाभ पहुँचाते ?। हम दुर्गा–दुर्गा चिल्लाते ही रहते हैं, और उधर आसुरीशक्तियाँ हमारे राष्ट्र का शोषण करतीं हीं जारहीं हैं। ऐसा क्यों ?, किसलिए ?। यों, और इसलिए कि, दृष्टान्त ही सिद्धान्त बन गए। प्रतीकों नें ही मूलतत्त्वों का स्थान ग्रहण कर लिया। बाह्य प्रदर्शनों नें हमारी मूलसंस्कृति की मूलनिष्ठा को विस्मृत ही करा दिया। मानस अनुरञ्जनात्मक आयोजन ही यहाँ दुर्भाग्यवश प्रधान धर्म्म बन गए। जबतक इस तथ्य का समन्वय भारतीय–प्रजा नहीं कर लेगी, तबतक इन प्रतीकमात्रों से कदापि राष्ट्र शक्तिलाभ नहीं कर सकेगा।

१६७-भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से नवरात्रद्वारा शक्तिसञ्चय, एवं तद्बल पर महाभारतसमर में अर्जुन के द्वारा विजयमहोत्सवायोजन-सम्पादन—

एवं हि श्रूयते कर्णाकर्णिपरम्परया कि, राक्षसेश्वर रावण को पराजित करने की कामना रखने वाले मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राममनें युद्धयात्रा से पूर्व नवरात्रोपासना से शक्तिसञ्चय किया, अनन्तर दशमी को युद्धयात्रा आरम्भ की। नवरात्र–द्वारा प्राप्ता विजयशक्ति से ही दशमी की यात्रा ने विजयप्रदान कराई। इसलिए भी यह तिथि भगवान् रामानुबन्ध से 'विजयदशमी' नाम से प्रसिद्ध होगई। सुप्रसिद्ध है कि, महाभारतयुगानुगता युद्धयात्रा से पूर्व पीताम्बरा भगवती के अनन्योपासक भगवान् वासुदेव कृष्ण ने अपने प्रियसखा अर्जुन को पीताम्बराशक्ति की उपासना के लिए ही प्रवृत्त किया, जैसा कि वहाँ के–'**दुर्गास्तोत्रमुदीरय**' इस बाह्य सङ्केत से स्पष्ट है। इस शक्तिसञ्चय से ही अर्जुन इस युद्ध में विजयलाभ कर सके। और ऋषिश्रेष्ठ के द्वारा नवरात्रानुष्ठान में प्रवृत्त होकर ही निजगात्रासृगुक्षित सुरथ, तथा समाधि ने अपना विलुप्त वैभव प्राप्त किया। निश्चयेन उसी औपासनिक–वैज्ञानिक–पथ से शक्तिसञ्चय करता हुआ राष्ट्र का सत्तातन्त्र भी विजयलाभ कर सकता है, करेगा ही, निश्चयेन करेगा ही। क्योंकि सौभाग्य से अब शक्ति-अनुग्रह से उसका शनैः शनैः सांस्कृतिक जागरण हो रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१९८–शक्त्युपासनात्मक–(नवरात्रानुगत) सांस्कृतिक–आचार, एवं शक्तिप्राणात्मक–विजयदशम्यनुगत–सांस्कृतिक–आयोजन—

शक्तिसञ्चयमूलक–नवरात्रीय–औपासनिक–विजयदशमीपर्वरूप **सांस्कृतिक–आचार** का सम्बन्ध जहाँ निगमागमनिष्ठ उपासक द्विजाति के साथ है प्रकृति में व्याप्त प्राणात्मक–आसुरभावों के पराभव के लिए, वहाँ शत्रुपराभवमूलक–नवरात्रान्त में प्रतिष्ठित विजयदशमीपर्वरूप **सांस्कृतिक–आयोजन** का प्रधान सम्बन्ध राष्ट्र के सत्तातन्त्र से ही माना जायगा, जो राष्ट्र पर आक्रमण करने की इच्छामात्र करने वाले असुरधर्मा आततायी दुष्टों के पराभव से ही अनुप्राणित है। एकमात्र इसी भूतविजय के कारण यह पर्व क्षत्रियानुगत मान लिया गया है, जबकि रक्षाबन्धनपर्ववत् इसमें भी सभी का (पर्वोत्सवसम्मेलनसमारोहरूप चारों का) समन्वय स्वतःसिद्ध है। शासनसत्तानुबन्धी युगधर्म्मानुबन्धों के भेद से इस पर्व में अनेक मान्यतात्मक भाव समय समय पर प्रविष्ट होते गए हैं, जो संस्कृतिमूल के अनुरूप बनते हुए लोकसंग्रहदृष्ट्या तत्तत् युगों में मान्य बनते गए हैं।

२९९–विजयदशमीपर्वात्मक सांस्कृतिक–आयोजन की लोकविधि का समन्वय––

नवरात्रपर्य्यन्त भगवती की मृण्मयी प्रतिमाओं का अर्चन–पूजन, उपवास, व्रत, कन्या–बटुकपूजन, शमीवृक्षपूजन *, विजयदशमीपर्व के सफल अनुष्ठाता भगवान् राम के गौरवसंस्मरण में रामविग्रहयात्रा, आदि आदि अनेक सांस्कृतिक भाव इस पर्वात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन में समाविष्ट हो गए हैं, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय आम्नायवचनों से प्रमाणित है—

---

*–'खेजड़ा' नाम से राजस्थान में प्रसिद्ध, 'जाटी' नाम से भी प्रसिद्ध–सकण्टक–वृक्ष ही शमीवृक्ष कहलाया है। यज्ञिय वृक्षों में **शमी, विकङ्कत, उदम्बर**, तीनों का बड़ा महत्त्व माना गया है। शमी को अग्निगर्भ भी माना गया है। इस वृक्ष में विष्णुशक्ति महालक्ष्मी का आवास माना गया है। अतएव इसे–'लक्ष्मी' भी कहा गया है। हमारी कुलपरम्परा में अष्टमी को मातृपूजनावसर पर इस शमी का ही मातृरूप से पूजन विहित है। अतएव इसका काष्ठ महानसकर्म्म में असंस्पृष्ट मान लिया गया है। निगमभाषा में यही–'**विश्वजन्या**' नाम से प्रसिद्ध है। शत्रुशमनपूर्वक विजय–लक्ष्मी का संस्थापन इसी शमीशक्ति से अनुप्राणित है। निम्नलिखित निगमवचन इसी का यशोवर्णन कर रहा है—

> **"स वै शमीमयीं प्रथमामादधति। त एतां शमीमपश्यन्। तयैनं–अग्निं–अशमयन्। तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।**
>
> —शत० ब्रा० ६।२।३।३७

> **"शमीगर्भस्य यो गर्भस्तस्य गर्भस्य यो रिपुः।**
> **रिपुगर्भस्य यो गर्भः स मे विष्णुः प्रसीदतु" ॥**

इत्यादि सूक्ति से उपवर्णित पारमेष्ठ्य विष्णु से अभिन्ना आगमीय-शक्ति ही शमीवृक्ष के द्वारा सङ्केतिता है। अतएव नवरात्रानुबन्धी विजयदशमीपर्व में क्षत्रिय–राजा के द्वारा प्रजासहित उत्सवयात्रापूर्वक नगरान्तरस्थ वन में स्थित शमीवृक्ष का पूजन भी इस उत्सव का अङ्ग बन गया है।

आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां विजयोत्सवः ॥
कर्त्तव्यो वैष्णवैः सार्द्धं सर्वत्र विजयार्थिना ॥१॥
रथमारोप्य देवेशं सर्वालङ्कारशोभितम् ॥
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तञ्चरान्तकम् ॥२॥
स्वलीलया जगत्त्रातुमाविर्भूतं रघूद्वहम् ॥
राजोपचारैः श्रीरामं शमीवृक्षतलं नयेत् ॥३॥
सीताकान्तं शमीयुक्तं भक्तानामभयङ्करम् ॥
अर्चयित्वा शमीवृक्षमर्चयेद्विजयाप्तये ॥४॥
गृहीत्वा साक्षतामार्द्रां शमीमूलगतां मृदम् ॥
गीतवादित्रनिर्घोषैस्ततो देवं गृहं नयेत् ॥५॥
कैश्चिद्वृक्षैस्तत्र भाव्यं, कैश्चिद् भाव्यञ्च वानरैः ॥
कैश्चिद्रक्तमुखैर्भाव्यं कोशलेन्द्रस्य तुष्टये ॥६॥
निर्जिता राक्षसा दैत्या वैरिणो जगतीतले ॥
रामराज्यं रामराज्यं रामराज्यमिति ब्रुवन् ॥७॥
आनीय स्थापयेद्देवं निजसिंहासने सुखम् ॥
ततो नीराज्य देवेशं प्रणमेद्दण्डवद् भुवि ॥
महाप्रसादवस्त्रादि धारयेद्वैष्णवैः सह ॥८॥
विधिः श्रीरामविजयोत्सवस्योत्सवकृत्सताम् ॥
सीता दृष्टेति हनुमद्वाक्यं श्रुत्वाकरोत्प्रभुः ॥
विजयं वानरैः सार्द्धं वासरेऽस्मिन् शमीतलात् ॥९॥

२००--भारतराष्ट्र के महान् सांस्कृतिक-विजयदशमी-पर्व का माङ्गलिक संस्मरण, एवं तदनुगत-महामाङ्गलिक विश्राम--

यह है उस 'विजयदशमीपर्व' नामक सांस्कृतिक-आयोजन की लोकविधि, जो प्रतीकात्मिका निदान-विधि के माध्यम से प्रतिवर्ष पूरी तो करली जाती है (करली जाती थी स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व तक), किन्तु जिस से सम्बन्ध रखने वाला 'विजयभाव' तो विगत तीन सहस्रवर्षों से महासरस्वतीशक्ति के उपासक ब्राह्मण के द्वारा, महाकाली के उपासक क्षत्रिय के द्वारा, एवं महालक्ष्मी के उपासक वैश्य के द्वारा उपहासास्पद ही प्रमाणित होता आरहा है । इसलिए उपहास उत्तरोत्तर जागरूक बनता आरहा है कि, निगमागममूलक-सांस्कृतिक-शक्तिप्रवाह विगत तीन सहस्रवर्षों से अवरुद्ध ही हो रहा है, जिस अवरोध के लिए हम तो प्रधान-

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh

दोषी उस ब्राह्मण को ही मानेंगे, जिसने सत्ताश्रय के व्यामोहन में आसक्त होकर अपनी सांस्कृतिक–निष्ठा को कपर्दिका-खण्डों के व्यामोहनों में हीं बेंच डाला है। ब्राह्मणनिष्ठा के पतन से ही संस्कृति, तन्मूलक निगमागम साहित्य का सशक्त–ओजपूर्ण–तथ्य तो हो गया अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में शक्तिहीनताप्रवर्त्तक कल्पित–अहिंसा-दया–करुणा–भीरुता–आदि पशुभाव बन गए जागरूक । राष्ट्र की पौरुषशक्तियाँ, वीरशक्तियाँ, साहसशक्तियाँ, कर्म्मठशक्तिाँ इस शून्यवाद के जाल में आबद्ध होकर–'जाने दो जाने दो'–'पाप लगेगा'–आदि षण्ढभावों की अनुगामिनीं हीं बन गईं । राष्ट्र का ब्रह्मवर्चस्व तिरोहित होगया, क्षात्र भ्राजतेज विलीन होगया, विडनुगत सुम्नभाव पलायित होगया, चतुर्थ एवं वर्णानुगत द्युम्नभाव स्मृतिगर्भ में विलीन बन गया । अमर्षशून्य जन्तुमात्र की कोटि में आगत–समागत–भारतीय मानव का यह लोक, यह राष्ट्र यों सर्वथा ही अरक्षित बन गया । हम अहिंसा–अहिंसा-दया–दया–की भीख माँगते ही रहे, और हिंसक–निर्म्मम आततायी हम पौरुषशून्यों का सर्वस्व लूटते–लुटाते ही रहे । संस्कृति गई, साहित्य गया, धर्म्म गया, पौरुष गया, साहस गया, उद्यम गया, पराक्रम गया, बल–वीर्य्य-सबकुछ चले गए । और रह गए केवल–दयनीय–दासभाव । क्या यही स्वरूप था इस राष्ट्र की शक्तिपूजन का ?, क्या यही तथ्य था शक्त्युपासना का ?, क्या यही सुपरिणाम ? थे इन उत्सवपर्वों के आयोजनात्मक विजृम्भणों के ? । विवाहादि–पुत्र–जननादि उत्सवों पर समागत नट–विट–भाण्ड–षण्ढ (गतराड़े) आदि के द्वारा प्रदर्शित ताता थय्या नाचगान का ही नाम क्या सांस्कृतिक–आयोजन था ?, क्या ऐसे कुतुहलात्मक आयोजनों के बल पर ही भारत राष्ट्र ने अपने वैराज्य–सार्वभौम–चक्रवर्त्तित्व–साम्राज्य–राज्यादि वैभव सुरक्षित रखने में सफलता प्राप्त की थी ?, ये ही वे कतिपय प्रश्न हैं, जो इन पर्वोत्सवों की यशोगाथा के साथ साथ ही प्रत्येक प्रज्ञाशील के अन्तर्म्मन में महती वेदना उत्पन्न कर रहे होंगें । कैसे यह वेदना शान्त हो ?, कैसे हमारा राष्ट्र सशक्त बने ?, कैसे यह शक्तिपूर्वक विजयलाभ करता हुआ वास्तविकरूपेण विजयदशमीपर्व नामक सांस्कृतिक–आयोजन मानने–मनवाने का अधिकार प्राप्त करे ?, इत्यादि यच्चयावत् प्रश्नों का एकमात्र समाधान तत्काल तो सत्तानिरपेक्ष, एवं वणिक्-निरपेक्ष, किंवा सर्वनिरपेक्ष बन कर सर्वप्रथम भारतीय मूलसंस्कृति के मौलिक स्वरूप का आविर्भाव ही माना जायगा । तदनन्तर इस मूलधरातल के माध्यम से ही अन्य वेदनाओं के निवृत्युपाय भी ढूँढे जा सकेंगे । नान्यः पन्था विद्यते अयनाय ।

उपरता चेयं क्षत्रियानुगता

विजयदशमीपर्वस्वरूपमीमांसा–द्वितीया

२

⁂

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

बुद्धिनिष्ठ–राष्ट्रव्यवस्थापक–क्षत्रियानुगत
राष्ट्रीय–'विजयदशमीपर्व'
उपरत

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

'दीपावली'

(मनोनिष्ठ-राष्ट्रप्रजारूप-वैश्यानुगत पर्व)

३

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व
दीपावली-महोत्सव
३

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां 'लक्ष्मी' निहिताधि वाचि ॥

—ऋक्संहिता १०।७१।२।

१–दीपावलीपर्व की व्यापक–उत्सवपरायणता में संस्कृतिविरोधियों का भी समावेश—

आज हम उस महान् पर्व का संस्मरण करने जारहे हैं, जिस के बाह्य–भौतिक–आकर्षण से न केवल भारतराष्ट्र ही, अपितु सम्पूर्ण विश्व ही सर्वात्मना मनसा–वाचा–कर्म्मणा आकर्षित बनता हुआ अपनी उत्सव-परायणता ही मानो अभिव्यक्त कर रहा है । भारतराष्ट्र का यह महान् राष्ट्रीय पर्व अपने मूलस्वरूप से सर्वात्मना आत्मभाव, तथा देवभाव से नित्य समन्वित रहता हुआ भी अपने तथाकथित बाह्य-भौतिक–स्वरूप के आकर्षण से उन वर्गों का भी आराध्य–उत्सव प्रमाणित हो रहा है, जो वर्ग भारतीय ऋषिप्रज्ञा के द्वारा व्यवस्थित आत्म–देवानुगत सांस्कृतिक–सूत्रों के प्रति न केवल निरपेक्ष–तटस्थ ही हैं, अपितु उन्मुक्तहृदय से जो वर्ग-विशेष उद्घोषितरूप से भारतीय–सनातन–ईश्वरात्मा, विश्वविभूतिरूप, ईश्वरीय–शक्तिरूप विभिन्न देवता, आत्म–देव–निबन्धन श्रौत–स्मार्त्त–आचारधर्म्म, आदि आदि यच्चयावत् सांस्कृतिक–आचारों, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के प्रति अपने आपको सर्वथा विरोधी ही प्रमाणित करते आरहे हैं ।

२--अनात्मवादी भारतीय मतवाद, और उनकी भारतीय-संस्कृति के प्रति विवशतानुगता अनुगति—

इसप्रकार जो वर्गविशेष भारतीय मूलसंस्कृति के मूलाधारभूत–मूलप्रवर्त्तक निगम–आगम–पुराणादि शास्त्र में उपवर्णित रक्षाबन्धन-विजयदशमी–व्रत–उपवास–आदि आदि यच्चयावत् सांस्कृतिक–आचारों, तथा सांस्कृतिक–आयोजनों के उपहास में हीं अपना प्रज्ञा–पौरुष रिक्त करते रहते हैं, वैसे कृपालु वर्गविशेष भी विदित नहीं–क्यों उसी निगमागमशास्त्र के आधार पर प्रतिष्ठित भगवान् विष्णु की अर्द्धाङ्गिनी महालक्ष्मी की उपासना, पूजन--ध्यान--आदि से सम्बन्ध रखने वाले दीपावली–महोत्सव में सोल्लास समाविष्ट होते रहते हैं ? । इस प्रासङ्गिक क्यों ? का इसके अतिरिक्त–और क्या उत्तर हो सकता है कि, भारतीय सांस्कृतिक–आयोजन सृष्टि की मूलाधिष्ठात्री सुसूक्ष्मा जिस महामाया जगज्जननी जगदम्बा के सनातन–विधि–विधानों के द्वारा

व्यवस्थित हुए हैं, उस महाशक्ति से सम्बन्ध रखने वाले नित्यसिद्ध--विधिविधानों का 'न' 'न' करते हुए भी--**'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यसि'--'कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्-करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** इत्यादि आप्त सिद्धान्तानुसार विवश बन कर अनुगमन करते रहना हीं पड़ता है गच्छतः--स्खलन--रूप से उन आत्म--देवविरोधी, अतएव भारतीय-संस्कृतिविरोधी वर्गविशेषों को भी।

३-संस्कृतिविरोधी--अनात्मवादी मानवों के लिए भारतीय संस्कृति की कल्याणकामना-

'न त्वहं तेषु-ते मयि' रूपेण बहुत सम्भव है आत्मब्रह्मका साक्षात्‌रूप से उन पर अनुग्रह न हुआ हो। किन्तु तदपि आत्मसंस्कृति की, तदनुप्राणिता देवसंस्कृति की व्यापकता से तो वे अपना परित्राण नहीं हीं कर सकते। यही तो वह प्रतीकविधि है, जिसके माध्यम से ईश्वरसत्ता के महान् प्रचारक सर्वश्री श्रद्धेय **उदयनाचार्य्य** महाभाग ने अपने सुप्रसिद्ध **'न्यायकुसुमाञ्जलि'** नामक ग्रन्थ के उपसंहार में आत्मदेव-सत्ताविहीन ऐसे ईश्वरसत्ताविरोधियों के कल्याण के लिए भी परमकारुणिक जगदीश्वर से प्रार्थना कर देना अपना महान् सांस्कृतिक कर्त्तव्य मान लिया है इन शब्दों में कि—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोऽभिराक्षालिते—
येषां नास्पदमादधाति हृदये, ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः—
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥

—न्यायकुसुमाञ्जलिः ५।१८।

४-दीपावलीपर्व के बाह्य स्वरूप की सुपरिचितता—

सर्वाकर्षण की मूलाधिष्ठात्री सदाशिवविष्णु की अर्द्धाङ्गिनी महामाया **'कमला'** (लक्ष्मी) से प्रधान सम्बन्ध रखने वाले उसी महान् सांस्कृतिक **'दीपावलीमहोत्सव'** नामक पर्वविशेष के सम्बन्ध में तद्भक्तों के प्रति निगमागमदृष्ट्या हमें दो शब्द निवेदन कर देने हैं। सर्वविदित, एवं सर्वानुगत इस दीपावलीपर्व की इतिकर्त्तव्यता के बाह्य-भौतिक- यशोवर्णन के सम्बन्ध में इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं है कि, इस महोत्सव के बाह्य-भौतिक-आचारों के पारदर्शी, अर्थशक्तिप्रधान, भारतीय भलन्दनवंशावतंस-वैश्य महाभागों के निग्रहात्मक अनुग्रह से आबालवृद्धवनिता, आमूर्खविद्वज्जन, सभी इस पर्वोत्सव के बाह्य स्वरूप से सर्वात्मना सुपरिचित हैं। यदि इस परिचय में कहीं कुछ थोड़ा बहुत अज्ञात-अविदित भी है, तो विगत दो शताब्दियों से एकमात्र इसी के बाह्य स्वरूप के आराधन में मनोयोगपूर्वक-अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्त भारतवर्ष के तथाकथित वैश्यमहाभागों के द्वारा नव-नवरूपेण आविष्कृत आर्थिक-तन्त्राविष्कारों की महती कृपा से वह शेषांशभूत अज्ञात-अविदित भाग भी निकट-भविष्य में हीं सर्वात्मना सम्प्रज्ञात-सुविदित बन ही जायगा, निश्चयेन बन ही जायगा, जिस सम्प्रज्ञातारूपा असम्प्रज्ञाता 'समाधि' का अन्तिम परिणाम वही हुआ करता है, जिस परिणाम, किंवा दुष्परिणाम के कारण ही सत्तातन्त्र के प्रतीक **सुरथ राजा** को तो राज्यश्री से वञ्चित हो जाना पड़ा था, एवं वणिक्‌तन्त्र के प्रतीक **'समाधि वैश्य'** को इसी मोहसमाधि से परिवारश्री से पृथक् हो जाना पड़ा था।

५--दीपावलीपर्व से अनुप्राणित अभ्युदय, तथा निःश्रेयस्-पथ—

तन्माभूत्, तथा माभूत्। एकमात्र इसी माङ्गलिक उद्देश्य से महालक्ष्मी के आराधनोपासन से सम्बन्ध रखने वाले 'दीपावलीपर्व' के सर्वानुभूत–सर्वविज्ञात–बाह्य–भौतिक–स्वरूप के मूलप्रतिष्ठात्मक अत्यन्त सुसूक्ष्म सांस्कृतिक उस शक्तिस्वरूप की ही आराधना में हमें प्रवृत्त होना है, जिस आराधना के बल पर ही महालक्ष्मी-स्वरूपिणी योगमाया का वैसा ही अनुग्रह हमें प्राप्त होता रहता है, जिससे लोकाभ्युदय का भी संरक्षण–परिवर्द्धन गतार्थ बनता रहता है, एवं आत्मानुगता निःश्रेयस्सिद्धि भी गतार्था बन जाती है। ओमित्येतत्।

६–समुद्रमन्थनाख्यान–निबन्धन–चतुर्दश रत्नों का संस्मरण—

पुराणशास्त्र–श्रवण–मनन–निष्ठ श्रद्धालु मानवश्रेष्ठों से यह परोक्ष नहीं है कि, माता लक्ष्मी का प्रादुर्भाव समुद्र में हुआ है, होरहा है आज भी, एवं आकल्पान्त होता रहेगा। कौनसा वह समुद्र है, जिसमें माता कमला का आविर्भाव हुआ ?, किसने कैसे कब इसे आविर्भूत किया ?, इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नों के तात्त्विक स्वरूप- समाधान के लिए ही सुप्रसिद्ध-'**समुद्रमन्थनाख्यान**' व्यवस्थित हुआ है, जिसके यथावत् स्वरूपबोध के लिए तो पुराणशास्त्र का निष्ठापूर्वक अध्ययन–मनन ही अनिवार्य्य माना जायगा। कूर्म्मपृष्ठरूप भगवान् विष्णु की पृष्ठप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित 'मन्दर' नामक 'अचल' (पर्वत) ही वह मन्थनदण्ड (रई-दण्ड) है, जिसके संघर्षरूप मन्थन से समुद्र फेनमय बना हुआ है। प्रचण्ड–विषधर अनन्त शेषनाग ही वह मन्थनरज्जु (मन्थननेत्र) है, जिसके फणरूप मुखभागों को तो दितिपुत्र दैत्य–असुरों ने पकड़ रक्खा है, एवं पुच्छभाग अदितिपुत्र देवताओं के द्वारा गृहीत है। देवासुरमण्डल के द्वारा प्रचण्ड–दोर्दण्डबलमाध्यम से अनंन्तनागनेत्र से चक्रायित मन्दरपर्वत से मथ्यमान महासमुद्र के महाफेनों से ही कालकूट नामक **महाविष**, कामगर्वा नाम की **कामधेनु (गौ)**, उच्चैःश्रवा नामक **'श्वेत अश्व'** **ऐरावत** नामक **श्वेतगज**, **कौस्तुभ** नामक **पद्मरागमणि**, कल्पवृक्ष नामक स्वर्गीय **पारिजातवृक्ष**, देवासुरविमोहिनी **अप्सरा**, **महालक्ष्मी**, **चन्द्रमा**, **वारुणि**, **धन्वन्तरि**, **अमृतघट**, आदि सुप्रसिद्ध १४ महारत्न* प्रादुर्भूत हुए हैं, जिनसे महान् विश्व सर्वात्मना सुसमृद्ध बना हुआ है।

७-भारतीय सत्तातन्त्राधीश्वर के १४ रत्न—

इसी प्राकृतिक चतुर्दशविध-सुसमृद्धिभाव का निदानभाव से अपने सत्तातन्त्र में समन्वय करने के लिए भारतीय सत्ताधीश १४ प्रकार के रत्नों का सहयोग-प्राप्त करना आवश्यक मानता है (मानता था), जिन सत्तातन्त्रीय

---

*-चतुर्दश (१४) रत्नों का एक दृष्टिकोण—

१—सोम (ब्रह्मणस्पति-सत्यसोम)
२—श्री (महालक्ष्मी)
३—अप्सरा (दिशाएँ)
४—तुरग (उच्चैःश्रवा)
५—कौस्तुभमणि (अश्मासोम)
६—पारिजात (ओषधिसोम)
७—कालकूट (रुद्रवायु)
८—धन्वन्तरि (भिषक्प्राण-आपो वै भेषजम्)
९—वारुणि (ब्रह्ममयी आपः)
१०—अमृत (ऋतसोम)
११—सुरभि (कामधेनु)
१२—ऐरावत (सौम्य–विधर्त्ता–प्राणवायु
१३–छत्र (स्वायम्भुव अर्द्धाण्डकटाह)
१४–कुण्डल (सौर–रुक्मज्योति)

१४ रत्नों में से क्रमशः-चक्र[१], रथ[२], मणि[३], सचर्म्म खड्ग[४] (ढालयुक्त खड्ग), रत्न[५], केतु[६] (ध्वजा), निधि[७], ये सात-'असंज्ञरत्न'-नामों से, तथा-राजमहिषी[१], महाअमात्य[२], सेनानी[३], रथी[४], क्षत्ता[५] अश्व[६], कलभ[७], ये सात '**ससंज्ञ (प्राणी) रत्न**' नामों से प्रसिद्ध हैं ÷ ।

८-त्रैलोक्य--त्रिलोकीरूप महान् विश्व के तीन महासमुद्र—

समुद्रमन्थनाख्यान का 'त्रिःसत्या वै देवाः' इस अनुगम श्रुति के अनुसार परस्पर-सर्वथा विभिन्न तीन सृष्टिधाराओं के विभेद से तीन प्रकार से समन्वय किया जा सकता है। क्योंकि तीनों हीं सृष्टिधाराओं के मूलाधार तीन महासमुद्र बने हुए हैं। तीनों हीं महासमुद्रों में देवासुर प्रतिष्ठित हैं। तीनों ही देवासुरयुग्म समुद्रमन्थन कर रहे हैं। एवं तीनों हीं समुद्रमन्थनों से चतुर्द्दश-चतुर्द्दश-रत्न आविर्भूत हो रहे हैं। त्रैलोक्य-त्रिलोकी के सम्बन्ध से महाविश्व में तीन त्रैलोक्य प्रसिद्ध हैं, जो क्रमशः **संयतीत्रैलोक्य, क्रन्दसीत्रैलोक्य**-एवं **रोदसीत्रैलोक्य**, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों के अन्तरिक्षरूप तीन महासमुद्र क्रमशः **नभस्वान्-सरस्वान्-अर्णव**-नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों महासमुद्रों के मन्थन से ही विश्वस्वरूपसमृद्धि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है।

९--समुद्रत्रयानुगता संयती--क्रन्दसी--रोदसी--त्रिलोकियों की अधिष्ठात्री महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी- शक्तियों का संस्मरण—

स्वयम्भुमूला सृष्टिविद्या का आधार नभस्वान्समुद्र है, सूर्य्यमूला सृष्टिविद्या का आधार सरस्वान्समुद्र है, एवं पृथिवीमूला सृष्टिविद्या का आधार अर्णवसमुद्र है। संयतीत्रैलोक्य का सम्बन्ध नभस्वान्-समुद्रमन्थन से है, क्रन्दसीत्रैलोक्य का सम्बन्ध सरस्वान्-समुद्रमन्थन से है, एवं रोदसीत्रैलोक्य का सम्बन्ध अर्णव-समुद्रमन्थन से है। संयतीत्रैलोक्य के नभस्वान्-समुद्र के मन्थन से समुद्भूता वही विश्वलक्ष्मी **महाकाली** कहलाई है, क्रन्दसी-त्रैलोक्य के सरस्वान्-समुद्र के मन्थन से समुद्भूता वही विश्वलक्ष्मी **महासरस्वती** कहलाई है, एवं रोदसी-

---

÷—चक्रं, रथो, मणिः, खड्गचर्म्म, रत्नञ्च पञ्चमम् ॥
केतु, निधिश्च. सप्तैवमप्राणाग्नि प्रचक्षते ॥१॥
भार्य्या, पुरोहितश्चैव, सेनानी, रथकृच्च यः ॥
पत्न्यश्वौ कलभश्चैव प्राणिनः सप्त कीर्तिताः ॥२॥

—विष्णुपुराण ४ अंश । १२ अध्याय ।

शतपथब्राह्मणान्तर्गत राजसूयप्रकरण में जिन १४ रत्नों का संग्रह हुआ है, वे इन नामों से प्रसिद्ध हैं-१--सेनानी, २--पुरोहित, --सूथमान, ४-महिषी, ५-सूत, ६--ग्रामणी, ७--क्षत्ता, ८--सारथि, ९--सव्यष्ठा, १०--भागधुक्, ११--अक्षावाप, १२--गोविकर्त्ता, १३--पालागल, १४--परिवृक्ति। (देखिए शतपथब्राह्मण ५।३।२ ब्राह्मण)।

लोक्य के अर्णव-समुद्र के मन्थन से समुद्भूता वही विश्वलक्ष्मी **महालक्ष्मी** नाम से प्रसिद्ध हुई है। यों एक ही अव्यक्ता प्रकृति **अव्यक्ता-व्यक्ताव्यक्ता–व्यक्ता**–रूप से त्रिधा विभक्त होकर क्रमशः **काली–सरस्वती-लक्ष्मी**–रूप से प्रसिद्ध हो रही है।

१०-मूलप्रकृतिरूपा महत्प्रकृति, और उसके विलक्षण त्रिगुणभाव—

तीनों की मूलप्रकृति का नाम हीं 'महत्प्रकृति' है, जो **सत्त्व–रजः–तमो**–रूप त्रिगुणभावों से समन्वित है। **सत्त्वप्रधाना स्वायम्भुवी महाकाली, रजःप्रधाना सौरी महासरस्वती**, एवं **तमःप्रधाना पार्थिवी महालक्ष्मी**, रूप से महत्प्रकृति ही गुणभेद से यों तीन त्रैलोक्यों की सर्वस्व–प्रतिष्ठा बन रही है। और यही सत्त्व–रज–स्तमो–गुणात्मिका महत्प्रकृति का एकप्रकार का समन्वय है, जबकि विभिन्न सृष्ट्यनुबन्धों के भेद से आगे चल कर इन तीनों गुणों के, तथा गुणत्रयात्मिका प्रकृति के काली–सरस्वती–लक्ष्मी–नामक महिमा–विवर्त्तों के परस्पर विनिमय–सम्बन्ध समन्वित हो जाते हैं। अतएव कुत्रचन काली तमोगुणान्विता, सरस्वती सत्त्वगुणान्विता, एवं लक्ष्मी रजोगुणान्विता बन रही है। विभिन्न सृष्ट्यनुबन्धों की दृष्टि से सभी विभिन्नदृष्टि–कोणों का निर्विरोध समन्वय हो जाता है। **'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'** के अनुसार विश्वमूर्त्ति अजपुरुष की प्रकृतिभूता इस अजाशक्ति का स्वरूप भी तत्प्रत्यंशांशभूत मानव कदापि 'इदमित्थमेव' रूप से निर्द्धारित नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। विश्वस्वरूपदृष्ट्या सबकुछ सुनिश्चित–सुव्यवस्थित-गणनसिद्ध होने पर भी मानव की प्राकृता–जड़बुद्धि कदापि अपने जड़जीवन में तत्समन्वय--साक्षात्कार में नितान्त असमर्थ ही तो मानी जायगी।

११--समुद्रमन्थनाधारभूत कूर्म्म, एवं कूर्म्मपृष्ठात्मिका कूर्म्मत्रिलोकी—

जिस कूर्म्मपृष्ठ पर समुद्रमन्थन होता है, वह कूर्म्मपृष्ठ आदित्यमय वह द्युपृष्ठ है, जिससे **'कश्यप–त्रिलोकी'** का स्वरूपनिर्म्माण माना है निगमाचार्य्यों नें। 'कूर्म्म' शब्द का लौकिक अर्थ है कछुआ। कछुए का पृष्ठभाग छत्रवत् वर्त्तुल होता है, एवं बुध्न (पैंदा–अधोभाग) प्रदेश सर्वथा समधरातलवत् है। ठीक यही आकार कश्यपत्रैलोक्यरूप द्यावापृथिव्य मण्डल का है। किसी भी निरावरणप्रान्त में खड़े होकर आप जब भी धरातल, और आकाश पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको इस द्यावापृथिवी का आकार कछुए जैसा ही दिखलाई देगा। भूधरातल-सम, एवं आकाश छत्रवत् वर्त्तुल प्रतीत होगा। पार्थिव दिक्सीमाएँ वर्त्तुलरूप से आकाश-छत्रसीमा से समन्वित प्रतीत होंगीं, और यही कूर्म्मस्वरूप का साक्षात् स्वरूपदर्शन माना जायगा।

१२–पारमेष्ठ्य विष्णु का नित्य कूर्म्मावतार, एवं वेदशास्त्र के कूर्म्मप्रजापति—

इस कूर्म्मत्रैलोक्य के अधिष्ठाता माने गए हैं भगवान् सूर्य्यनारायण। सौर आदित्यप्राण इस तथाविध त्रैलोक्य में कूर्म्माकार में परिणत होकर ही पार्थिव त्रैलोक्यप्रजा के सर्ज्जक बनते हैं, जैसाकि–**'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः–प्रजा असृजत'** इत्यादि से स्पष्ट है। इसीरूप से ये द्रष्टा हैं, पश्यक हैं विश्व के। अतएव इन्हें **'पश्यकः'** कहा गया है, जो कि **'पश्यकः'** शब्द ही वर्णविपर्य्यय से–**'कश्यपः'** रूप में परिणत हो रहा है। यही 'कश्यपः' **'कूर्म्मप्रजापति'** है, जिसमें पार्थिव त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–रूप भूः–भुवः–स्वः–नामक त्रैलोक्य प्रतिष्ठित हैं। यह स्तोम्य–पार्थिव–त्रैलोक्य ही तद्व्याप्त-कूर्म्माकार–आदित्यप्राण–के सम्बन्ध

से–'**कश्यपत्रिलोकी**' कहलाया है। यही अग्नीषोमात्मक यज्ञमूर्त्ति, अतएव विष्णुमूर्त्ति भगवान् का नित्य कूर्म्मावतार है, जिसका परिधिरूप द्युपृष्ठ ही कूर्म्मपृष्ठ है, जिसे '**कमठपृष्ठ**' भी कहा गया है। अश्मासोम के सम्बन्ध से अत्यन्त ही घनावयव–दृढ़ावयव–ध्रुवावयव-बने रहने वाले इस कूर्म्मपृष्ठ पर ही मन्दराचल–भ्रमण से समुद्रमथन–प्रक्रान्त है। समुद्रमन्थनाधारभूत इसी कूर्म्मप्रजापति के तथोक्त द्यावापृथिव्य,–दधि, घृत, मधु–रसात्मक स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

(१) सोऽकामयत--आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयमिति। तां संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ्रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्।

—शत० ६।१।१।११।

(२)–यो वै स एषां लोकानां--अप्सु प्रविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्-स एष कूर्म्मः। तस्य यदधरकपालं--अयं स लोकः। तत्प्रतिष्ठितमिव--भवति। अथ यदुत्तरं--सा द्यौः। तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत--अकरोत्--तत्। यदकरोत्--तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः--सर्वाः--प्रजाः काश्यप्यः--इति। स यः स कूर्म्मः--असौ स आदित्यः।

—शत० ७।५।१। १ से ६ पर्य्यन्त

१३-कश्यपमूर्त्ति कूर्म्मप्रजापति, एवं तदाधार पर प्रतिष्ठित ज्योतिर्म्मय मन्दराचल—

इस कश्यपमूर्त्ति–कूर्म्मप्रजापति (आदित्यप्रजापति) का क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न-हिरण्यमय तेजोरूप केन्द्रानुगत–स्थिर-द्यावापृथिव्य–अवारपारीण–स्तम्भ ही वह अचल तत्त्व है, जिसका-'**स्कम्भविद्या**' रूप से स्वरूपविश्लेषण हुआ है। एवं जो ज्योतिर्म्मय त्रैलोक्यपारावारीण स्कम्भ ही अव्यक्त–अमूर्त्त–प्रकृतिभावों का व्यक्त–मूर्त्त–लिङ्ग–(परिचायक) बनता हुआ पुराणशास्त्र में '**ज्योतिर्लिङ्ग**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सौर सावित्राग्निपुञ्जरूप–केन्द्रानुगत यही ज्योतिर्लिङ्ग भूकेन्द्र से आरम्भ कर स्वायम्भुव परमाकाश पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाला वह 'स्कम्भ' (स्तम्ब–थम्बा) है, जिस पर त्रैलोक्य त्रिलोकीरूप महाविश्व प्रतिष्ठित है। सौर सावित्राग्नि इन्द्रप्राणमय है। अतएव अथर्वश्रुति ने इस ज्योतिर्म्मय स्कम्भ को '**इन्द्रात्मक**' भी कह दिया है *। केन्द्रप्रतिष्ठाभाव ही इस स्कम्भ की अचलता है। एवं इस अचल–स्कम्भ के आधार पर ही

---

*--स्कम्भे लोकाः, स्कम्भे तपः, स्कम्भे ध्यृतमाहितम् ॥
स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥१॥
इन्द्रे लोकाः, इन्द्रे तपः, इन्द्रे ध्यृतमाहितम् ॥
इन्द्र त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२॥

—अथर्वसंहिता १० का०।७।२९,३०।

विश्वसमृद्धिजनक समुद्रमन्थनकर्म्म प्रक्रान्त है। द्यावापृथिव्य–कूर्म्ममूर्त्ति–प्रजापति के पृष्ठ से संलग्न अचलमूर्त्ति-महासमुद्रगर्भीभूत–ज्योतिर्म्मय–अग्निमय ऐन्द्र-स्कम्भ ही वह **'मन्दराचल'** है, जिसे **'मन्थनदण्ड'** बना रक्खा है स्वयम्भू-प्रजापति ने ÷।

१४--मन्दराचलरूप मन्थनदण्ड के द्वारा समुद्रमन्थन,--एवं मन्थनरज्जुरूप वासुकिनाग का स्वरूपपरिचय—

सौर–क्रान्तिवृत्तात्मक–ज्योतिर्म्मय–स्कम्भरूप मन्दराचल नामक मन्थनदण्ड जिस मन्थननेत्र (मन्थन-रज्जु) से समन्वित है, वह सर्पणशील प्रचण्ड प्राणात्मक वायु ही है, जिसे **'नाग'** कहा गया है निदानविधि से। ×। समुद्रमन्थन से मथ्यमाना त्रिगुणात्मिका प्रकृति में एक ओर यदि विश्वशान्तिकर सत्त्वभाव है, तो दूसरी ओर अशान्तिकर तमोभाव भी इसी के क्रोड़ में विराजमान है।

१५--समुद्रमन्थनकर्त्ता देवता, और असुरों का स्वरूपपरिचय—

मन्थन करने वाले प्राणदेवता, और असुर, दोनों हीं तो हैं। सत्त्वभावानुगत सौर ऐन्द्र देवप्राण, तथा तमोभावानुगत वारुण असुरप्राण, दोनों से मथ्यमानी प्रकृति का गुण–दोषात्मिका रहना सर्वथा स्वरूपानुरूप ही तो माना जायगा। इसी आधार पर तो–**'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'** (गीता) इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। देवासुरप्राणात्मिका प्रकृति से आविर्भूत विश्व में सभी पदार्थ मात्रातारतम्य से उभयात्मक ही बने हुए हैं *, जैसाकि-**'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्'** (गीता ७।१३)–इत्यादि से भी स्पष्ट है। **'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'** रूपेण गुणात्मक सत्त्वभाव, एवं दोषात्मक तमोभाव से समन्विता प्रकृति के अव्यक्तरूप से व्यक्त होने वाले विश्व में दैवीसम्पत्, आसुरीसम्पत्, दोनों का ही सहज संघर्ष अनादिकाल से ही प्रक्रान्त है, यावच्चन्द्रदिवाकरौ प्रक्रान्त ही रहेगा। इन दोनों के माध्यम से ही

÷--न मा मर्त्यः कश्चन दातुमर्हसि विश्वकर्म्मन्भौवन 'मन्द' आसिथ ॥
उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते संगरः कश्यपाय ॥
—शत० ब्रा० १३।७।१।१५।

मन्द इत्येष यो धातुरपामर्थे प्रकाशकः ॥
अपां विदारणाच्चैव 'मन्दरः' स निगद्यते ॥ [मत्स्यपुराण–१२१।६१।]

×--मन्थानं मन्दरं कृत्वा, तथा नेत्रञ्च वासुकिम्। —महाभारत १।१८।१३।

*–न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ —गीता १८।४०।

अमृत, मृत्यु–दोनों परिणाम यथागुण–यथाप्रकृति व्यवस्थित हुए हैं । दैवानुगत सत्त्वभावानुबन्ध से मथ्यमाना वही प्रकृति अमृतफल की सर्जिका बनती है, एवं आसुरानुगत तमोभावानुबन्ध से मथ्यमाना वही प्रकृति मृत्यु की प्रवर्त्तिका बनती है । ÷ ।

१६–समुद्रमन्थन से आविर्भूत जीवनीय अमृतरस का स्वरूपपरिचय, एवं अमृतरस-संरक्षक गन्धर्व, तथा विषाक्त नागप्राण—

अमृतभाव सोमप्रधान है, जिससे यज्ञकर्म्म का स्वरूप सम्पन्न हुआ है । मृत्युभाव कालकूट विषात्मक है, जिस से यज्ञकर्म्म का स्वरूप उच्छिन्न होता रहता है । कालकूट महाविष भी उसी प्रकृति की प्रसूति है, एवं सोमामृत भी उसी की प्रसूति है । सुप्रसिद्ध है कि, तीसरे द्युलोक में अवस्थित अमृत सोम की गन्धर्व रक्षा कर रहे हैं, एवं साथ ही विनता के पुत्र प्रचण्ड विषधर नागों नें भी इस सोम का रक्षण कर रक्खा है । परमेष्ठी ही वह तीसरा द्युलोक है, जिसमें–**'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्'** इत्यादि के अनुसार यज्ञस्वरूप-सम्पादक-देवबलवर्द्धक-अमृतसोम प्रतिष्ठित है ।

आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के सौम्य--प्राणविशेष का नाम हीं 'गन्धर्व' है । एवं पारमेष्ठ्य--सर्पणशील--प्रचण्ड--उग्र--विषाक्त--वायव्यप्राण ही सर्पणशील वे विषधर अनन्त-वासुकी--कर्कोटकादि नाग हैं, जिन प्राणनागों के अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से ही पार्थिवी काश्यपी सृष्टि में प्राणीविध वासुकी--तक्षक--कर्कोटक आदि नागजातियाँ उत्पन्न हुई हैं * ।

१७–समुद्रमन्थन से सर्वप्रथम आविर्भूत 'कालकूट' नामक महाविष, एवं तत्पानकर्त्ता आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक नीलकण्ठ आदिदेव महादेव—

सर्पजातियों के मूलप्रभव प्राणात्मक पारमेष्ठ्य विषाक्तप्राणात्मक नाग हीं मन्थननेत्र बनते हैं समुद्रमन्थनकर्म्म के । और इस मन्थनकर्म्म से सर्वप्रथम कालकूट नामक महाहालाहल-विष ही उत्पन्न होता है, जिसका विश्वस्वरूपसंरक्षक आदिदेव भगवान् महादेव पान कर लेते हैं, एवं तभी से ये **'नीलकण्ठ-महादेव'** नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं । पारमेष्ठ्य–अन्नसोमात्मक अमृत से समन्वित विष का पान कर सचमुच महादेव नीलकण्ठ–शितिकण्ठ ही प्रमाणित हो रहे हैं । वह पारमेष्ठ्य अन्नसोम प्रचण्ड रुद्राग्निमूर्त्ति सौर सावित्राग्नि में हीं आहुत होता है, जिस सोम का विषभाग सौरसावित्राग्नि के द्वारा ही सौरमण्डल में

÷–दैवीसम्पद्विमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! ॥ —गीता १३।५।

* अनन्तं–वासुकिञ्चैव–कम्बलञ्च–महाबलम् ॥
कर्कोटकञ्च राजेन्द्र ! पद्मं चान्यं सरीसृपम् ॥१॥
महापद्मं–तथा शङ्खं-कुलिकञ्चापराजितम् ॥
एते कश्यपदायादाः प्रधानाः परिकीर्त्तिताः ॥२॥ (पुराण)

ही नियन्त्रित होजाता है। अतएव–**‘नीलग्रीवो विलोहितः’** (यजुःसंहिता १६।७।) इत्यादि के अनुसार सौररुद्रदेवता ‘नीलग्रीव’ नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जो ‘नीलग्रीव’ शब्द ही पुराण में–‘नीलकण्ठ’ नाम से प्रसिद्ध होगया है। मानव सायं प्रातः जिस अन्न की शारीराग्नि में आहुति देता है, उसमें भी (महाविश्व–मर्य्यादावत्) विष की मात्रा समाविष्ट है। कहते हैं--भुक्तान्न की वह विषमात्रा गले से नीचे नहीं जाने पाती। अपितु ललाटप्रदेश में स्थित आध्यत्मिक महादेव के द्वारा विषयन्त्रमाध्यम से अन्न का वह विषभाग मानवग्रीवा में ही नियन्त्रित होता हुआ ऊर्ध्व निनिर्गत हो जाता है, एवं विषरहित शुद्ध अमृतरस ही मानव के आध्यात्मिक प्राणाग्निदेवताओं का संरक्षण करता है। ग्रीवा में जो एक बहिर्विनिःसृता-अस्थि है, वही वेद में ‘विषयन्त्र’ कहलाई है, यहीं पर भुक्तान्न के अमृत (सोम) मृत्यु (विष) का विभाजन होता है। और यों प्रजा विषशून्य अमृतान्नाहुतिग्रहण में समर्थ बनती रहती है।

१८–समुद्रमन्थनद्वारा लोकलक्ष्मीलक्षणा महालक्ष्मी का प्रादुर्भाव—

प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, पारमेष्ठ्य विशक्तप्राणरूप वायव्य तत्त्व ही वह नाग है, जिसके द्वारा स्कम्भरूप मन्दराचल नामक पर्वत मन्थानदण्डस्थानीय बनता है। और यों इन साधनपरिग्रहों से वह समुद्रमन्थन प्रक्रान्त होता है, जिसकी एक विशेष प्रसूति का नाम ही **‘महालक्ष्मी’** है, जिसे आधार बनाकर ही हमें **‘दीपावलीपर्व’** नामक सांस्कृतिक आयोजन का समन्वय करना है।

१९–पारमेष्ठ्य महासमुद्र से आविर्भूता महालक्ष्मी का परमेष्ठीप्रजापति के विराट्पुत्र अव्रगर्भित--सदाशिवमूर्त्ति भगवान् सूर्य्यनारायण (विष्णु) के साथ परिणय–सम्बन्ध—

पारमेष्ठ्यसमुद्र से समुद्रमन्थन के द्वारा देवासुरों के–दोनों के--श्रम–तप–अध्यवसाय से आविर्भूता महालक्ष्मी का वरण होजाता है पारमेष्ठ्य सदाशिवमूर्त्ति उन विष्णु भगवान् के साथ, जो विष्णु पारमेष्ठ्य–‘नार’ रूप आमोमय समुद्र को अपना आवास–निवास बनाने वाले ‘नारायण’ (सूर्य्यनारायण) रूप से विख्यात हैं त्रैलोक्य में। लक्षण हुआ करता है ‘व्यक्त’ का। एवं महालक्ष्मी का व्यक्तभाव आविर्भूत हुआ है सौरमण्डल में।

२०-महालक्ष्मी के अव्यक्त, व्यक्ताव्यक्त, एवं व्यक्त-रूपों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

सूर्य्य से परस्तात् अवस्थित आपोमय परमेष्ठी में जहाँ इसी शक्तितत्त्व का व्यक्ताव्यक्त स्वरूप प्रतिष्ठित है, तत्पर अवस्थित प्राणमय स्वयम्भू में जहाँ इसी प्रकृति का केवल अव्यक्त स्वरूप प्रतिष्ठित है, वहाँ व्यक्त स्वरूप तो एकमात्र सौरमण्डल में ही अभिव्यक्त हुआ है। अतएव नामनिर्वचन--मर्य्यादानुगत ‘लक्ष्मी’ शब्द तो * व्यक्तभाव का ही समर्थक बना हुआ है। इसका ‘व्यक्ताव्यक्त’

***–‘लक्ष’ दर्शनाङ्कयोः (चु० प० से०)-लक्षेर्मुट्च (उणा० ३।१६०।) इति ‘ई’ प्रत्ययः, तस्य च मुट्-इति–‘लक्ष्मीः’ ।**

रूप पारमेष्ठ्यरूप जहाँ **'सरस्वती'** कहलाया है, वहाँ अव्यक्तरूप–'स्वायम्भुवरूप' अनुपाख्यतमः सम्बन्ध से **'काली'** नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यों एक ही पराशक्ति–प्रकृतिदेवी **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य**–रूपेण अपने **अव्यक्त–व्यक्ताव्यक्त--व्यक्त**–भावों से **नभस्वान्-सरस्वान्–अर्णव**–समुद्रानुगता बनती हुई क्रमशः **स्वयम्भुलक्ष्मीरूपा महाकाली, परमेष्ठिलक्ष्मीरूपा महासरस्वती, सूर्य्यलक्ष्मीरूपा महालक्ष्मी,** इन तीन महिमाभावों में परिणत हो रही है। और यही समुद्रमन्थनोत्थिता विश्वलक्ष्मी का प्रारम्भिक वह चिरन्तन–इतिवृत्त है, जिसके माध्यम से ही हमें अब लक्ष्मीपूजनात्मक महान् सांस्कृतिक–दीपावलीपर्व के स्वरूपान्वेषण–समन्वय--में प्रवृत्त होना है। परिलेखद्वारा अवधानपूर्वक इस प्रारम्भिक चिरन्तन–इतिवृत्त को लक्ष्यारूढ कीजिए !, एवं तन्माध्यम से ही आज के उस भारतराष्ट्र की भाग्यलक्ष्मी का अन्वेषण कीजिए !, जो भाग्यलक्ष्मी हमारे सांस्कृतिक–पतनरूप महद्दुर्भाग्य से आज अव्यक्ता 'काली' रूप में परिणत होती हुई हमारे पतन का ही कारण बनती जा रही है।

- [३] संयतीत्रिलोकी [स्वायम्भुवी]
  - १–स्वर्लोकः [सत्यम्]
  - २–भुवर्लोकः [तपः]
  - नभस्वान्समुद्रः स्वायम्भुवः [१] ———— स्वयम्भूः–अव्यक्तः–
  - ३–भूलोकः = [२] क्रन्दसीत्रिलोकी [पारमेष्ठिनी]
    - १–स्वर्लोकः [जनत्]
    - २–भुवर्लोकः [महः]
    - सरस्वान्समुद्रः पारमेष्ठ्यः [२] ——— परमेष्ठी–व्यक्ताव्यक्तः–
    - ३–भूलोकः = [१] रोदसीत्रिलोकी [सौरी]
      - १–स्वर्लोकः [स्वः]
      - २–भुवर्लोकः [भुवः]
      - ३–भूलोकः [भूः]
      - अर्णवसमुद्रः सौरः [३] —— सूर्य्यः–व्यक्तः–

*

१–स्वयम्भूरव्यक्तः———–नभस्वान्समुद्ररूपः-अत्र अव्यक्ता विश्वलक्ष्मी-–प्रतिष्ठिता-सैव **'काली'**

२-परमेष्ठी–व्यक्ताव्यक्तः–सरस्वान्समुद्ररूपः-अत्र व्यक्ताव्यक्ता विश्वलक्ष्मी-प्रतिष्ठिता-सैव **'सरस्वती'**

३–सूर्य्य–व्यक्तः———अर्णवसमुद्ररूपः–अत्र व्यक्ता विश्वलक्ष्मी——प्रतिष्ठिता-सैव **'लक्ष्मी'**

*

२१--महालक्ष्मी का अमृतलक्ष्मीरूप--‘श्री’ भाव, एवं मर्त्यलक्ष्मीरूप ‘लक्ष्मी’ भाव—

व्यक्ता–महालक्ष्मी के व्यक्त–आवासरूप-अप्समुद्रगर्भित भगवान् सूर्य्यनारायण विश्व के साक्षी (लोकसाक्षी–जगच्चक्षु) बनते हुए विश्वकेन्द्र में ‘षोडशीप्रजापति’ रूप से प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि विजयदशमी–प्रकरण की **‘महाविद्या-षोडशी भगवती’** के यशोगान–परिच्छेदों में स्पस्ट किया जाचुका है (देखिएपृ० सं०४८०) । **‘अर्द्ध ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्, अर्द्धममृतम्’** इत्यादि अनुगमश्रुति के अनुसार इस षोडशी-सूर्य्यप्रजापति का अर्द्ध–ऊर्ध्व–भाग अमृतप्रधान है, रसप्रधान है, एवं अर्द्ध अधः–भाग मृत्युप्रधान है, बलप्रधान है । सूर्य्य से पर–ऊर्ध्व–अवस्थित रसप्रधान परमेष्ठी, और स्वयम्भू-भाव **अमृतविश्व** है, एवं सूर्य्य से अधः–अवस्थित बलप्रधान–चन्द्रमा और पृथिवी–भाव **मर्त्यविश्व** है, जैसाकि-**‘तद्यत्किञ्च–अर्वाचीनमादित्यात्–सर्वं तन्मृत्युनाऽप्तम्’** इत्यादि से स्पष्ट प्रमाणित है । इन दोनों अमृत–मर्त्य-भावों के मध्य में प्रतिष्ठित केन्द्रस्थ सूर्य्य उभयात्मक बनें हुए हैं । और यों मध्यस्थ सूर्य्य ऊर्ध्वानुगतभावेन **अमृतसूर्य्य**, तथा अधोऽनुगतभावेन **मर्त्यसूर्य्य**, भेदेन दो महिमाभावों में परिणत हो रहे हैं । तदित्थं पञ्चपर्वा विश्व मध्यस्थ सूर्य्य के दो महिमाभावों के अनुबन्ध से षट्पर्वा प्रमाणित हो रहा है, जिसका **स्वयम्भू–परमेष्ठी–अमृतसूर्य्य**, इन तीनों की समष्टिरूप भाग अमृतविश्व कहलाया है, एवं **मर्त्यसूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड**–इन तीनों की समष्टि मर्त्यविश्व नाम से प्रसिद्ध हुई है । ये ही दोनों विश्वविभूतियाँ क्रमशः **‘अमृतलक्ष्मी–मर्त्यलक्ष्मी’** नाम से प्रसिद्ध हुईं हैं यत्रतत्र पुराणशास्त्र में । अमृता लक्ष्मी का साङ्केतिक नाम है–‘श्रीः’, एवं मर्त्या लक्ष्मी का साङ्केतिक नाम है–**‘लक्ष्मीः’** । श्री, और लक्ष्मी, दोनों शब्द यद्यपि सर्वसाधारण में अभिन्नार्थक ही प्रमाणित हो रहे हैं । तथापि तत्त्वदृष्ट्या दोनों के मौलिक स्वरूप में महान् अन्तर माना गया है, जो अन्तर परिभाषाज्ञान की विलुप्ति से विस्मृतप्राय प्रमाणित हो चुका है । **अमृतरस-प्रधाना लक्ष्मी ही ‘श्रीः’ है**, एवं मर्त्यबलप्रधाना लक्ष्मी ही ‘लक्ष्मी’ है । दोनों हीं सदाशिव विष्णुमूर्ति भगवान् सूर्य्यनारायण की अर्द्धाङ्गिनीं मानीं गईं हैं, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

÷ श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ, अहोरात्रे पार्श्वे, नक्षत्राणि रूपं, अश्विनौ व्यात्तम् ।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥
—यजुःसं० ३१।२२।

२२–सदाशिव विष्णु की श्री, और लक्ष्मी नामक दो पत्नियाँ, एवं ‘श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ’ मन्त्रार्थ का समन्वय—

भातिसिद्ध सम्वत्सरकाल, एवं सत्तासिद्ध अग्न्यात्मक सम्वत्सरकालमूर्त्ति विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य के त्रैलोक्य-व्यापक स्वरूप को आधार मान कर ही उक्त मन्त्रवर्णन प्रवृत्त हुआ है । केन्द्रस्थ सूर्य्य से ऊर्ध्व अवस्थित स्वायम्भुव–पारमेष्ठ्य–श्री भाग, तथा अधः–अवस्थित चान्द्र–पार्थिव लक्ष्मी भाग, दोनों इसके उस अर्द्धाकाश

÷ तैत्तिरीयारण्यक में-**‘ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ०’** यह पाठ है । ‘ह्री’ का लोकार्थ है लज्जा, शास्त्रीय अर्थ है-विनय । ‘विनय’ देवभावप्रधान है, और वह है–अमृता--श्रीरूपा--लक्ष्मी से अनुप्राणित, जैसाकि–**‘विद्या ददाति विनयम्’** से स्पष्ट है ।

के पूरक बनते हैं, जिसके लिए–**'सोऽयमाकाशः पत्न्याऽपूर्य्यते'** प्रसिद्ध है। अतएव पूरक–पूर्णताप्रवर्त्तक–सम्वत्सरस्वरूपसम्पादक अमृत–मर्त्यभावापन्न श्री–लक्ष्मीभाव इस सम्वत्सरादित्यपुरुष की 'पत्नी' कहलाईं हैं। ३६० अहः चितियाँ, तथा ३६० रात्रिचितियाँ, तदित्थं सम्भूय ७२० संख्यायुक्त इष्टकाचितियाँ (अग्निसोम-चितियाँ) हीं इस सम्वत्सरपुरुष के दक्षिणोत्तर पार्श्व हैं। सोम (रात्रि) गर्भित अहः (अग्नि) चिति-समष्टि आग्नेय दक्षिणपार्श्व है, एवं अग्नि (अहः) गर्भित रात्रि (सोम) चितिसमष्टि सौम्य वामपार्श्व है। अम्बुगोलकात्मक-लोमगर्त्तसमतुलित–नक्षत्र ही इसके बाह्य-भौतिक–रूपसौन्दर्य्य के प्रतीक हैं *। द्यावापृथिवी ही अश्विनीप्राण हैं। यही इस सौरसम्वत्सर का व्याप्तिस्थानरूप मुखस्थान है, जैसाकि **'अश्विनौ हि द्यावा-पृथिव्यौ। इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्'** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से स्पष्ट है। ऐसे इस सर्वकामपूरक–सम्वत्सर-पुरुष से ही तद्यज्ञानुष्ठाता द्विजाति यही कामना अभिव्यक्त करता रहता है कि-(अर्थात् ऋषि देवभावापन्न मानव को इस प्रजापतिपुरुष से मानो यही कामना व्यक्त करने का आदेश दे रहे हैं कि)–**'इष्णन्–इषाण' कर्म्मफलमिच्छन्-इषाण-इच्छां कुरु–इच्छ–इति यावत्**-तुम उससे यही इच्छा करो। अमुं–इषाण, अर्थात् उससे परलोकात्मक आत्मबुद्धिरूपानुगता मोक्ष की इच्छा करो, सर्वलोकं मा इषाण, अर्थात् अभ्युदय-रूपा–लोकसमृद्धि की इच्छा करो। तात्पर्य्य–अमृत–मृत्युमय, श्री–लक्ष्मी–समन्वित सौरप्रजापति की आराधना–उपासना–एवं कर्म्मानुगति से मानव के अभ्युदय–निःश्रेयस्–काम संसिद्ध हो जाते हैं।

२३–'श्री' लक्षणा विद्यासम्पत्ति, एवं 'लक्ष्मी' लक्षणा भूतसम्पत्ति, और 'श्रीः' रूप अमृतरस का नैगमिक--स्वरूप--परिचय—

'श्रीः' का अर्थ है–**'विद्या'**, एवं 'लक्ष्मीः' का अर्थ है **'भूतसम्पत्ति'**। 'विद्या' ही माता **'शारदा'** है, भूतसम्पत्ति ही माता **'लक्ष्मी'** है। शारदारूपा श्री से समन्विता भूतसम्पत्तिरूपा लक्ष्मी ही भारतीय–सांस्कृतिक–'लक्ष्मी' की मौलिक स्वरूपव्याख्या है। श्रीसमन्विता लक्ष्मी ही यहाँ वास्तविक 'लक्ष्मी' मानी गई है। धर्म्म-ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य–नामक की भगसम्पत्तियाँ हीं 'श्रीः' हैं। यह अमृतसूर्य्यात्मिका है, जिसका अर्थ है–स्वयम्भुगर्भिता पारमेष्ठ्या–व्यक्ताव्यक्ता **'महासरस्वती'**। सरस्वती ही 'श्रीः' है, 'रस' को ही वेदभाषा में 'श्रीः' कहा गया है, जैसाकि–**'अथ या–एतेषां सप्तानां पुरुषाणां--श्रीः, यो रसः–आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्'** (शत० ६।१।१।४।) इत्यादि से स्पष्ट प्रमाणित है।

२४-श्री से समन्विता लक्ष्मी का ही स्वस्ति--शान्ति--प्रवर्त्तकत्व—

आत्मानुगत बौद्धिक-ज्ञानविभूति ही वह 'श्रीरस' है, जिससे मानव ऐश्वर्य्यशाली बना करता है। कदापि केवल भूतसम्पत्ति का नाम ऐश्वर्य्य नहीं है। भूतसम्पत्ति तो निगमपरिभाषा में **'बहिर्वित्त'** रूप पशुभाव ही माना गया है मानव का, जो श्रीभाव को मूलप्रतिष्ठा बना कर ही यहाँ संग्राह्य बना करता है। इन्द्रियों से लक्षीभूत–बाह्य–परिग्रह का ही नाम 'लक्ष्मी' है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा वह 'श्री' ही मानी गई है, जिसके बिना प्रचुरमात्रा में विद्यमाना भी भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी सर्वथा निरर्थक ही प्रमाणित हुई है। जहाँ मूल में श्री

---

*–**"यावन्त्येतानि नक्षत्राणि, तावन्तो लोमगर्त्ताः"** (शत० ब्रा० १०।४।४।२।)–**'तेजसां गोलकः सूर्य्यः- नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः'** (ज्यो०)।

(सरस्वती) नहीं रहती, वहाँ लक्ष्मी प्रवर्ग्यरूप में हीं परिणत हो जाया करती है। एवं श्री–विहीना ऐसी लक्ष्मी कदापि निरापदरूप से स्वस्ति–शान्तिपूर्वक–भोग्या नहीं बन सकती।

२५–सहस्रवर्षत्रयी से प्रक्रान्ता भारतीय–विद्वत्समाज की सरस्वती (श्री)-लक्ष्मी--साहचार्य्यविरोधात्मिका महती भ्रान्ति, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक–ऐश्वर्य्य की उत्तरोत्तर अभिभूति—

निरन्तर तीन सहस्र--वर्षों से धारावाहिकरूपेण प्रक्रान्ता (चली आने वाली) सत्तातन्त्र–सापेक्षमूला, तथा वणिक्तन्त्र--सापेक्षमूला भारतीय–संस्कृति की दासता ने भारतीय मानवप्रज्ञा में, विशेषतः संस्कृति के सन्देशवाहक भारतीय विद्वद्वर्ग की दासतापूर्णा प्रज्ञा में इस अनार्ष–काल्पनिक–भ्रान्तधारणा को दृढ़मूल प्रमाणित कर दिया है–कि,–**"जहाँ सरस्वती का निवास है, वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती, एवं जहाँ लक्ष्मी का आवास है, वहाँ सरस्वती नहीं रहती"**। आज से अनुमानतः बीस वर्ष पूर्व वाराणसी--विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय श्री अमुक विद्वान् ने बड़े गौरव से अपने ये उद्गार व्यक्त कर डाले थे कि,-**'दारिद्र्य ही सरस्वती के उपासक की महती शोभा है'**। सम्भवतः इसी दारिद्र्याकर्षण से सर्वविनाशक वह सत्तासापेक्ष, एवं वणिक्तन्त्रसापेक्ष–भाव उत्तरोत्तर प्रबल बने होंगे, जिन सापेक्षताओं से आजतक भी भूसुर का दारिद्र्य तो हटा नहीं। हाँ सर्वैश्वर्य्यसम्पन्ना--संस्कृति और सर्वात्मना दरिद्र बन गई इस दरिद्री–दास–ब्राह्मण की तथाकथिता भ्रान्ति के निग्रहात्मक–अनुग्रह से। ब्राह्मण की इस दारिद्र्यवासना नें हीं राष्ट्रीय–ऐश्वर्य्य के प्रति भारतीय--जनमानस को उस सीमापर्य्यन्त उदासीन बना डाला कि, सभी वर्ग एकहेलया जगन्मिथ्यात्व-समर्पिका इस दरिद्रता की ही उपासना में तल्लीन बनते हुए राष्ट्रवैभव को उत्तरोत्तर सम्मानपूर्वक आक्रान्ता–सम्मान्य अतिथियों के लिए ही सुरक्षित ही बनाते रहे। और यों श्रीविहीना लक्ष्मी सचमुच ही इस राष्ट्र से पलायित ही तो हो गई। संस्कृतभाषा के परपारदर्शी तथाविध–सत्ता–वणिक्--सापेक्ष--दासानुदास–दरिद्री विद्वानों नें हीं वैसे पद्यों के निर्म्माण से ऐश्वर्य्यशालिनी सुरभारती को कलङ्कित ही तो कर डाला, जिन पद्यों के द्वारा श्रीविहीना लक्ष्मी का, सारस्वतगुणगरिमाविहीन लक्ष्मीपतियों का तो हुआ है यशोगान, एवं सरस्वती के उपासकों की हुई है प्रचण्ड निन्दा *। **अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! अहो खलु महतीयं विडम्बना संस्कृतस्य, संस्कृतेश्चेत्यालप्यालम्**। यतो हि--पापानां कथापि खलु--अश्रेयसे अलमेव भवति।

***–धिगस्त्वेतां विद्यां, धिगपि कवितां, धिक् सुजनतां--**
वयोरूपं धिक्--धिक्--धिगपि च यशो निर्द्धनवतः।
असौ जीयादेकः सकलगुणहीनोऽपि धनवान्--
बहिर्यस्य द्वारे तृणलवनिभाः सन्ति गुणिनः॥
—कश्चिन्नितान्तभावुको दरिद्रः

२६–'आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्'–'न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्' मूला श्री-लक्ष्मी-समन्वयात्मिका नैगमिक--निष्ठा के अभिभव से भारतीय विद्या, एवं ऐश्वर्य्य का आत्यन्तिक पतन, एवं तदनुबन्धिनी भारतराष्ट्र की श्री-लक्ष्मी-विहीनता—

'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्– न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्'–'नात्मानवमसन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः। आमृत्योः श्रियमन्विच्छत्–नैनां मन्येत दुर्लभाम्' इत्यादि श्रौत–स्मार्त्त–सिद्धान्त स्पष्ट–शब्दों में दारिद्र्यवासना का जब मूलोत्पाटन कर रहे हैं, तो कैसे, किस आधार पर यहाँ की प्रज्ञा ने शारदा, और लक्ष्मी का अश्वमाहिष्य मान लिया ?, प्रश्न का उत्तर उन्हीं सत्ता–वणिक्–सापेक्ष--परान्वित–दासों से हीं पूँछना चाहिए, जिनके अनुग्रह से ही आज तीन हजार वर्षों से भारतराष्ट्र श्रीविहीन, अतएव लक्ष्मीविहीन ही प्रमाणित होता आ रहा है। वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, जिस श्रीविहीन अशुभ क्षण में लक्ष्मी से श्री का (सरस्वती) पार्थक्य हुआ है, उसी क्षण से राष्ट्र इन दोनों हीं विष्णुपत्नियों के अनुग्रह से वञ्चित हो गया है। श्री–लक्ष्मी के इस पार्थक्य नें हीं राष्ट्र को श्री, एवं लक्ष्मी से विहीन बनाया है। और दुर्भाग्यवश आज के इस सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र–युग में भी भारतराष्ट्र अपनी उस सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति से आत्मत्राण नहीं कर सका है। अपितु आज तो और अधिक वेग से धर्म्मनिरपेक्षितारूपा श्रीविहीनता के माध्यम से ही राष्ट्रलक्ष्मी के आह्वान की भ्रान्ति की जा रही है। धर्म्म–ज्ञान वैराग्य–ऐश्वर्य्यरूपा–चतुर्विधा–भगसम्पत्ति का नाम हीं 'श्रीसम्पत्ति' है, जिसका अमृतसूर्य्य से सम्बन्ध है। तत्प्रतिष्ठा से वञ्चिता, केवल भूतपरिग्रह–लक्षणा मर्त्यभावापन्ना–श्रीविहीना लक्ष्मी तो कालान्तर में अलक्ष्मीरूप में हीं परिणत होजाया करती है, जिस इस सुसूक्ष्म–प्राणात्मक–सांस्कृतिक-दृष्टिकोण को भारतराष्ट्र सर्वथा ही विस्मृत करता जा रहा है श्रीविहीना, केवल भूतनिबन्धना–अलक्ष्मीभावात्मिका–जड़लक्ष्मी के पथिक प्रतीच्यराष्ट्रों के भावुकतापूर्ण–अन्धानुकरण के निग्रहात्मक अनुग्रह से।

२७-स्वयम्भू--परमेष्ठी--अमृतसूर्य्य--त्रयी का अमृतविश्वत्त्व, एवं मर्त्यसूर्य्य–चन्द्रमा-भूपिण्डत्रयी का मर्त्यविश्वत्व--

प्रासङ्गिकमेतत्। पुनः प्रकृतमनुसरामः। श्रीरूपा शारदा, एवं भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी का कैसे सह–समन्वय है प्रकृति में ?, प्रश्न का सम्भवतः आगे चलकर समाधान हो सकेगा। प्रकृत में अभी यही निवेदन करना है प्रकान्तप्रसङ्गधिया कि, विश्वमध्यस्थ सूर्य्य का अमृतभागानुबन्धी–प्राणात्मक–अमृतरूप उस अमृतार्द्ध विश्व का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसके–**स्वयम्भू–परमेष्ठी--प्राणसूर्य्य**, ये तीन महिमाविवर्त्त हैं। एवं इसी सूर्य्य का मर्त्यभागानुबन्धी–भूतात्मक-मर्त्यरूप उस मर्त्यार्द्ध विश्व का प्रातिनिध्य कर रहा है, जिसके **भूतसूर्य्य [पिण्डात्मक दृश्य सूर्य्य]-चन्द्रमा, भूपिण्ड**, ये तीन महिमाविवर्त्त हैं।

२८--अमृतविश्वानुबन्धिनी श्रीरूपा महासरस्वती, मर्त्यविश्वानुबन्धिनी कमलारूपा महालक्ष्मी, एवं उभयसंयोजिका कालकलनात्मिका कालमाता महाकाली के चिरन्तनेतिवृत्त का समन्वय--

अमृतमहिमात्रयी ही श्रीरूपा लक्ष्मी है, एवं मर्त्यमहिमात्रयी ही लक्ष्मीरूपा श्री है। श्रीरूपा लक्ष्मी ही सरस्वती है, लक्ष्मीरूपा श्री ही लक्ष्मी है। दोनों की संयोजिका सौरसम्वत्सरकालानुगता, कलनात्मिका–

सौरकालामाता-सौरी-अव्यक्ताशक्ति ही 'काली' हैं। और यों मर्त्य-अर्द्धविश्व में भी **काली-सरस्वती-लक्ष्मी**-तीनों का भोग प्रमाणित हो रहा है। यही शक्तित्रयी का मर्त्यप्रधान दूसरा विवर्त्त है। अमृतविवर्त्त में-स्वयम्भू कालीस्थान है, परमेष्ठी सरस्वतीस्थान है, अमृतसूर्य्य लक्ष्मीस्थान है। तीनों इन अमृतरूपों की समष्टि ही 'श्री' रूपा अमृतालक्ष्मी है। मर्त्यविवर्त्त में मर्त्यसूर्य्य कालीस्थान है, सौम्यचन्द्रमा सरस्वतीस्थान है, एवं भूपिण्ड लक्ष्मीस्थान है। तीनों इन मर्त्यरूपों की समष्टि ही 'लक्ष्मी' रूपा मर्त्यालक्ष्मी है। **'अन्तरं मृत्योरमृतं, मत्यावमृतमाहितम्'** के अनुसार दोनों स्वरूप दोनों में अन्तरान्तरीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध से सह समन्वित हैं। यही लक्ष्मी और श्री का अभेद है। और इस तात्त्विक दृष्टिकोण को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाए रखने की अवस्था में हीं श्री को लक्ष्मी का, एवं लक्ष्मी को श्री का पर्य्याय भी कहा जासकता है, कहा गया है, जैसाकि-**'याः श्री स्वयं सुकृतिनाम्'-'आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्'** इत्यादि आप्तवचनों से स्पष्ट है। विश्वमध्यस्थ-षोडशीप्रजापतिरूप-अमृतमृत्युव्यवस्थापक *-मध्ये एकल एव स्थाता-भगवान् सूर्य्यनारायण महालक्ष्मी के तथोपवर्णित-उपस्तुत-त्रिः-त्रिः-शक्तिसमन्वित-दोनों श्री-लक्ष्मी-रूपों के संग्राहक-अनुग्राहक-प्रवर्त्तक बने हुए हैं। और यही अमृत-मर्त्यभावात्मिका श्री-लक्ष्मी-समन्विता महालक्ष्मी का अमृतेतिवृत्तगर्भित मर्त्य चिरन्तन इतिवृत्त है, जिसे आराध्य मान कर ही हमें पार्थिवलक्ष्मी से अनुप्राणित-दीपावलीपर्वोत्सवानुष्ठान में आस्था-श्रद्धा-पूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए।

अमृतविश्वम्

१-प्राणमयः(अमृतावाक्-रूपः) स्वयम्भूः-महाकाली
२-आपोमयः(अमृतापः-रूपः) परमेष्ठी-महासरस्वती
३-वाङ्मयः(अमृताग्निः-रूपः)अमृतसूर्य्यः-महालक्ष्मी

}-श्री [अमृतलक्ष्मी]

विश्वमध्यस्थः-सूर्य्यनारायणः प्रजापतिः——निवेशमन्नमृतं-मर्त्यञ्च

मर्त्यविश्वम्

१-वाङ्मयः (मर्त्याग्निः-रूपः) मर्त्यसूर्य्यः-काली
२-सोममयः (मर्त्यापः-रूपः) चन्द्रमाः -सरस्वती
३-अग्निमयः(मर्त्यावाक्) रूपः) भूपिण्डः-लक्ष्मी

}-लक्ष्मी [मर्त्यलक्ष्मी]

---

* **आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं, मर्त्यञ्च** [यजुःसं० ३४।३१।]

२९--'पद्मालया' श्रीः, और 'पद्मासना' लक्ष्मी, एवं पद्म का नैगमिक स्वरूप--दिग्-दर्शन--

पद्मालया है श्री, एवं पद्मासना है लक्ष्मी। 'पद्मालया' का अक्षरार्थ है–पद्मों के स्थान में रहने वाली, एवं पद्मासना का अर्थ है पद्म पर विराजमान रहने वाली। स्पष्ट ही दोनों शब्दों की विभिन्नार्थता व्यक्त हो रही है। कौन है पद्मालया ?, एवं कौन है पद्मासना ?, समाधान का अन्वेषण कीजिए अपनी निगमप्रज्ञा के द्वारा। लोकप्रसिद्ध 'कमलपुष्प' का ही नाम है–'पद्म', जो वेदभाषा में–**'पुष्करपर्ण'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पुरकरता ही पुष्करता है। अर्थात् जिस तत्त्व से सीमात्मक–वयोनाधात्मक–छन्दोरूप--पुरभाव का निर्म्माण होता है, वही पुरकरतत्त्व है, जोकि परोक्षभाषा में 'पुष्कर' कहलाया है। यही 'पुर' शब्द वेदभाषा में–**'आण्डवृत्त'** कहलाया है, जिससे **'ब्रह्माण्ड'** शब्द का आविर्भाव हुआ है।

३०–ब्रह्माण्डस्वरूपसमर्पक आपोमय पारमेष्ठ्य पद्मालय, एवं तत्र प्रतिष्ठिता पद्मालया श्री-----

स्वायम्भुवी त्रयीविद्या के 'सत्यपुरुष' रूप 'यजुः' के जूभागरूप 'वाक्' से ही (यद्भागरूप प्राणवायु के व्यापार से) सर्वप्रथम जो ऋततत्त्व प्रादुर्भूत हुआ है, उसी का नाम है-**'आपोमय ऋतपरमेष्ठी'**, जैसाकि–**'तदस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्त। सोऽपोऽसृजत–वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'** (शत० ६।१।१.८-९।) इत्यादि से स्पष्ट है। ऋत--आपः--परमेष्ठी को उत्पन्न कर त्रयीब्रह्म–**'सोऽनया त्रय्या विद्यया–सहापः प्राविशत्'** के अनुसार आपः के गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है, **'तत आण्डं समवर्त्तत'**। यह आण्डवृत्त आपोमय पुर ही है, और यही इसकी पुष्करता है। इस पुरकरतारूपा छन्दस्या–चिति से ही आगे चल कर व्यक्त–मूर्त्त–भूतपुरों का स्वरूपाविर्भाव हुआ है। 'पुष्कर' ही वह 'पद्म' है, जिसका आलय (स्थान) आपोमय-परमेष्ठी ही तो माना जायगा। और अवश्य ही इस दृष्टिकोण से इस ऋत–परमेष्ठी को–'पद्मालय' कहा जा सकता है, कहा गया है, जैसाकि–**'आपो वै पुष्करपर्णम्'** (शत० ६।४।२।२।)-**'प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम्'** (शत० ७।४।१।१२।)--**'वाक्पुष्करपर्णम्'** (शत० ६।४।१।७।)—**"पुरं मे कुरुत–इति। स योऽपां रस आसीत्--तमूर्ध्वं समुदौहन्। तामस्मै पुरमकुर्वन्। तत्--यत्–अस्मै पुरमकुर्वन्--तस्मात् पूष्करम्। पूष्करं ह वै तत्--पुष्करमित्याचक्षते--परोक्षम्"** (श० ७।४।१।१३।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। पद्म ही 'पुष्कर' नाम से भी प्रसिद्ध है। अक्षरक्रमानुसार आपोमय–परमेष्ठी ही विष्णु है, जिनका केन्द्रस्थानीय आपोमय पद्म ही गर्भीभूत–त्रयीमूर्त्ति ब्रह्मा के आविर्भाव का निमित्त बनता है, जिसका पुराणशास्त्र ने अत्यन्त ही प्रसादभाषा में यशोगान किया है। विष्णुनाभि से विनिर्गत पुष्कररूप पद्म ही चतुर्म्मुख–वेदमूर्त्ति–बीजात्मक ब्रह्मा की प्रतिष्ठा बना हुआ है। पुष्करस्थान परमेष्ठीस्थान है, यही 'श्री' की आवास–निवासभूमि है। अतएव अवश्य ही 'श्री' को 'पद्मालया' कहा जा सकता है। अतएव च पद्म 'श्रीपर्ण' नाम से भी प्रसिद्ध है। और इसी 'पद्मालय' के सम्बन्ध में कुछ और भी प्रासङ्गिक ज्ञातव्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

३१–अङ्गिरागर्भिता भृगुधारा से समन्विता आम्भृणीरूपा लक्ष्मी, एवं भृगुधारागर्भिता अङ्गिराधारा से समन्विता सरस्वतीरूपा श्री, तथा दोनों पारमेष्ठ्यधाराओं का ओतप्रोतभावसम्बन्ध—

जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है–**'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्'** (गोपथब्रा० पू०) इत्यादि श्रुत्युपवर्णित आपोमय–परमेष्ठी का ऋतरूप 'आपः' तत्त्व परस्पर विभिन्न गुणधर्म्मा स्नेह–तेजो–मूर्त्ति-भृगु–अङ्गिरा–प्राणों से ही नित्य समन्वित रहता है । स्नेहगुणान्विता भृगुधारा के गर्भ में तेजोगुणान्विता अङ्गिराधारा समाविष्ट है, एवं अङ्गिराधारा के गर्भ में भृगुधारा समाविष्ट है । ये दोनों धाराएँ उभयात्मिका प्रमाणित हो रही हैं–**'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः'** इत्यादि सहज सृष्ट्यनुबन्ध की अपेक्षा से । उभयात्मिका तेजःप्रधाना अङ्गिराधारा ही **'सरस्वती'** कहलाई है, एवं उभयात्मिका स्नेहप्रधाना भृगुधारा ही **'आम्भृणी'** कहलाई है, जिसका पूर्वप्रकरण में 'आम्भृणी' सूक्तभाष्य से यशोगान किया जाचुका है ।

३२–आङ्गिरसी श्री-लक्षणा सरस्वती के द्वारा शब्दसृष्टि का, एवं भार्गवी-लक्ष्मी-लक्षणा आम्भृणी के द्वारा अर्थसृष्टि का प्रादुर्भाव, तथा शब्दार्थ का तादात्म्यलक्षण औत्पत्तिक-सम्बन्ध—

स्नेहगुणक भृगुतत्त्व को गर्भ में रखने के कारण हीं रसवती प्रमाणित होती हुई, अतएव **'स–रसवती'** रूपेण **'सरस्वती'** नाम से उपवर्णिता आग्नेयी वाग्देवी ही शब्दसृष्टि की अधिष्ठात्री–मूलप्रवर्त्तिका बन रही है । एवं तेजोगुणक–अङ्गिरातत्त्व को गर्भ रखने के कारण ही अग्निगर्भा प्रमाणित होती हुई सौम्यावाग्देवी ही अर्थसृष्टि की अधिष्ठात्री–मूलप्रवर्त्तिका बन रही है । दोनों सृष्टिधाराओं में दोनों वाग्धाराएँ समाविष्ट हैं । अतएव प्रत्येक शब्द अर्थमय है, एवं प्रत्येक अर्थ शब्दमय है । यही शब्दार्थ का औत्पत्तिक-तादात्म्य-नित्य-सम्बन्ध है, जिसके आधार पर ही शब्दब्रह्म–अर्थब्रह्म का अभेदसिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है । शब्दसृष्टि की मूलभूता अङ्गिरारूपा सरस्वतीवाक् ही–'श्री' है । अर्थसृष्टि की मूलभूता भृगुरूपा आम्भृणीवाक् ही 'लक्ष्मी' है । 'श्री' रूपा सरस्वती के गर्भ में लक्ष्मीरूपा आम्भृणी प्रतिष्ठित है, तो 'लक्ष्मी' रूपा आम्भृणी के गर्भ में श्रीरूपा सरस्वती प्रतिष्ठित है । और यों भृग्वङ्गिरोमय–भृग्वङ्गिरोरूप–आपोमय–ऋतपरमेष्ठी की श्रीरूपा अङ्गिराधारा (सरस्वतीधारा), एवं लक्ष्मीरूपा भृगुधारा (आम्भृणीधारा), दोनों धाराएँ अभिन्न–प्रमाणित हो रही हैं । कौन कहता है कि-श्री, और लक्ष्मी का अश्वमाहिष्य है ? । कौन कहता है कि–शारदा के साथ लक्ष्मी नहीं रहती, एवं लक्ष्मी के साथ शारदा नहीं रहती ? । जबकि दोनों अन्तरान्तरीभाव से समन्वित हैं, तो दोनों के अतिरिक्त तो विश्व में अन्य तत्त्वों का वैसा सख्य ही उपलब्ध न होगा । शब्दवाक्–रूपा सरस्वती ही तो लक्ष्मी की प्रवर्त्तिका मानी गई है वेदशास्त्र में, जैसाकि–**'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि'** इत्यादि प्रारम्भिक–माङ्गलिक–संस्मरण से स्पष्ट है ।

३३–शारदात्मिका श्री से विहीना लक्ष्मी का जड़त्व, एवं तदुपासक-जड़प्रज्ञ-मानवों की रूक्षा-कर्कशा–मदमानदम्भान्विता अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी—

शारदाविहीना जड़प्रज्ञा, जड़वाणी के द्वारा तो लक्ष्मी का पलायन ही होजाया करता है । और यों मूर्खों की सम्पत्ति (लक्ष्मी) का तो उपभोग शारदोपासक प्रज्ञाशील ही कर लिया करते हैं । कदापि मूर्खता

के साथ विश्ववैभवरूपा लक्ष्मी का यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। बिना श्री को (सरस्वती को) आधार बनाए यदि मायाचारों–आसुरधर्म्मों से तात्कालिकरूपेण भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी का आगमन घुणाक्षरन्यायेन हो भी जाता है, तो जानते हैं–मूर्खता के वातावरण में समागता वह लक्ष्मी कैसी लगती है ? । न जानना ही अच्छा है उस मलीमसा–उद्वेगकरी स्थिति–को । उसे जानने पहिचानने के अभ्यासवश ही तो मानव आज सर्वात्मना दीन हीन प्रमाणित हो गया है भूतपरिग्रहरूपा लक्ष्मी की विद्यमानता में भी। कहीं भी ऐश्वर्य्यरूपा श्री का साक्षात्कार नहीं हो रहा। जिसप्रकार क्रव्यादाग्नि से दग्ध–क्षत–विक्षत–श्मशानालयों के फल–पुष्प–मञ्जरी–पर्णादि--विहीन रूक्ष शुष्क वृक्ष श्मशानपरिग्रहों से वेष्टित होकर अधिकाधिकरूपेण भयावह–उद्वेगकर- अमङ्गल–अशुचि–अभद्र–प्रतीत होने लगते हैं, एवमेव शारदात्मिका श्री से विहीन क्षेत्रों में समागता लक्ष्मी रूक्षा–कर्कशा–मद--मान–दम्भान्विता–उद्वेगकरी ही प्रमाणित हो जाती है। **'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि'** के स्थान में इन शारदाश्रीविहीन क्षेत्रों में समागता लक्ष्मी सर्वथैव मनसा–वाचा–कर्म्मणा-अलक्ष्मीरूप में ही तो परिणत होजाती है। शारदाविहीना लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं मानी गई भारतीय उपासना–क्षेत्र में।

३४–सप्तपुरुषात्मक-पुरुषप्रजापति की अमृतरसात्मिका श्री से समन्विता लक्ष्मी का भद्रवाङ्मयत्त्व—

तभी तो **लक्ष्मी के चित्रों के साथ सरस्वतीबिम्ब का समावेश अनिवार्य्य माना है यहाँ की नैदानिक–उपासनाओं में।** लक्ष्मी को अमृता श्री से, अमृता शारदा से नित्य समन्विता बतलाने के लिए ही तो–दिग्गजों के द्वारा अमृतघटों से अभिषेक व्यक्त किया गया है नैदानिकभावों के माध्यम से। अमृतघटों में कौनसा 'अमृतरस' है ? । वही 'रस' है-जिसे–**'सप्तानां पुरुषाणां श्रीः–यो रसः'** कहा गया है। यही वह प्रज्ञात्मक-'शारदारस' है, जिस रसवती–सरस्वती से समाप्लुता बन कर ही लक्ष्मी स्वस्वरूप से प्रसन्न हुआ करती है।

३५–अमृतरससमन्वित देवताओं का अमरत्त्व, एवं विमोहिनी विष्णुमाया से विमुग्ध, अतएव अमृतरसवञ्चित जड़–भूतलक्ष्मी के अनुगामी असुरों का आत्यन्तिक–पराभव—

पारमेष्ठ्य भृगुतत्त्व की **आपः–वायुः–सोमः**, ये तीन अवान्तर–अवस्थाएँ मानीं गईं हैं, जैसे कि पारमेष्ठ्य अङ्गिरातत्त्व की **अग्निः–यमः–आदित्यः**–ये तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। भार्गव सोम ही वह 'अमृत' है, जिसका पान कर सौर आदित्य–देवता अमर–निर्ज्जर–बने हुए हैं। इस अमृतप्राप्ति के लिए ही तो समुद्रमन्थन हुआ है, जिस मन्थनकर्म्म में सहयोग प्रदान किया था आपोमय वारुणप्राणात्मक असुरों नें, तथा आदित्यमय ऐन्द्र देवदेवताओंनें। किन्तु आदित्यदेवता अङ्गिरारूपा सरस्वती को मूलप्रतिष्ठा बनाते हुए जहाँ अमृतसोम से समन्वित होगए। वहाँ आपोमय–वारुण असुर आपोमयी–विमोहिनी–वैष्णवीमाया से विमोहित होकर सरस्वती से वञ्चित होकर लक्ष्मी के अनुग्रह के साथ साथ सोमामृतप्राप्ति से भी वञ्चित ही बने गए, और वञ्चित ही बने रहेंगे आकल्पान्त।

३६ अमृतरस से परिपूर्ण घटों से महालक्ष्मी का अमृताभिषेक करते रहने वाले ऐरावतप्रमुख दिग्गज—

कौन हैं वे हाथी, जिनके द्वारा महालक्ष्मी का अभिषेक होता रहता है सोमामृत से द्रोणकलशों के माध्यम से ?, प्रश्न का उत्तर है ऐरावत नामक वह रत्नविशेष, जो समुद्रमन्थन से समुत्पन्न हुआ है परमेष्ठी में, एवं व्याप्त हैं गजच्छायारूप से सम्पूर्ण त्रैलोक्य में। पारमेष्ठ्य-सोममय अमृतरस ही 'इरा' सम्बन्ध से—'सरिर' किंवा 'सलिल' कहलाया है, जैसाकि-'आपो वा इदमग्रे **सलिलमेवास**' (शत०११।१।६।१) इत्यादि से स्पष्ट है। यही इरातत्त्वात्मक सौम्यभाग सौराग्नि में आहुत होकर श्वेतभाव में, ज्योतिर्भाव में परिणत होजाता है। इसी ज्योतिर्म्मय—इरारस को दर्भोत्पत्तिप्रसङ्ग में—'**वेन**' कहा गया है, और यही पुराणभाषा में—'**ऐरावत**' है। महाभारतीय-अमृतमन्थनप्रसङ्ग में यही 'ऐरावण' नाम से प्रसिद्ध हुआ है ×। इसी ऐरावत के सम्बन्ध से क्रान्तिवृत्तीय—उत्तरमार्ग (सौम्य—इरात्मक बनता हुआ) '**ऐरावतमार्ग**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जैसाकि पूर्वप्रकरण के नाड़ीपथ—प्रसङ्गमें दिग्दर्शन कराया जाचुका है (देखिए ! पृ०सं० ५०४)। ज्योतिर्म्मय सोममूर्त्ति ऐरावतगज ज्योतिर्म्मय-सौरमण्डल की दिग्रूपा वेनमयी—आपोमयी—परिधियों से समन्वित होता हुआ—'**दिग्गज**' नाम से भी प्रसिद्ध है। सौरज्योति का अधिष्ठाता प्राण ही 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ज्योतिर्म्मय—इरा—आपः—रूप ऐरावतनागात्मक दिग्गज को—'**वज्रभृता धृतः**' रूप से इन्द्र का वाहन मान लिया है पुराण ने। पूर्वादि आठ दिशाओं के भेद से इस ऐरावत नाग के ही अवान्तर आठ महिमात्मक विवर्त्त हो जाते हैं *।

३७-दिग्गजानुबन्धी—मातरिश्वात्मक—वराहतत्त्व, एवं उसके आदि—यज्ञ-श्वेत—ब्रह्म--एमूष--वराह--नामक पञ्चपिण्डानुगत स्वायम्भुव--पारमेष्ठ्य--सौर--चान्द्र--भौम—विवर्त्त--

"दिग्गजोंनें पृथिवी को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित कर रक्खा है। यदि दिग्गज न होते, तो धरा खण्ड—खण्ड—रूप में परिणत हो जाती। दिग्गजों के काचित्क कम्पन से ही धरित्री प्रचण्डरूप से कम्पित होजाती

× श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम्।
ऐरावणो महानागोऽभवद्वज्रभृता धृतः ॥
—महाभारत १।१८।४१।

* १--पूर्वादिक्——ऐरावत
२--ईशानकोण—पुण्डरीक
३--उत्तरादिक्——वामन
४--वायव्यकोण—कुमुद
५--पश्चिमादिक्--अञ्जन
६--नैऋतकोण--पुष्पदन्त
७--दक्षिणादिक्-सावभौम
८--आग्नेयकोण-सुप्रतीक
इत्यष्टौ दिग्गजाः
—सौम्यवायुविशेषाः

है ।" इत्येवंरूपेण उपवर्णित पौराणिक आख्यान वैदिक **'वराहतत्त्व'** का ही संग्राहक बना हुआ है। पृथिवी पिण्डमात्र का उपलक्षण है। प्रत्येक पिण्ड 'सत्य' है, और–**'ऋते भूमिरियं श्रिता'** के अनुसार प्रत्येक भूमि [पिण्ड] ऋततत्त्व के आवरण से आवृत होती हुई ही स्वस्वरूप से धृत–विधृत–प्रतिष्ठित है। इस संवरण, तथा-व्याप्तिधर्म्म से ही यह ऋतावरण–**'वराह'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'वृणुते–इति **वरः–अह्लोतीति–अहः। वरश्चासौ अहश्चेति वराहः'** ही 'वराह' शब्द का निर्वचन है, जिसका साङ्केतिक–पारिभाषिक नाम है–**'मातरिश्वा'** [नामक प्राणवायु]। 'तस्मिन्नपो **मातरिश्वा दधाति'** से यही वह वराहवायु संगृहीत है, जो पिण्डरूपा पृथिवीमाता का स्वरूपसम्पादक माना गया है। आपोमय समुद्र में व्याप्त पुष्करपर्णरूप–घनीभूत पार्थिव कणों-परमाणुओं–अणुओं का एककालावच्छेदेन चारों ओर से केन्द्र में संघात करते जाना ही संवरणकर्म्म है-इस वराहवायु का। संवरण के साथ साथ ही उन सञ्चित–परमाणु–पुञ्जों पर व्याप्त होते जाना हीं व्याप्तिकर्म्म है। यों वरत्त्व, एवं अहत्त्व धर्म्म से पिण्डताप्रवर्त्तक, प्रवृत्त पिण्ड का स्वरूप--संरक्षक प्राणवायुविशेष ही 'वराह' कहलाया है। स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्रमा--भूः--रूप पाँच पिण्ड हैं पञ्चपर्वा विश्व में। इन पाँचों पिण्डों के साथ वराह की वही सामान्य व्याप्ति है। पाँचों के मातरिश्वा--वराहवायु पिण्डस्वरूपभेद से पुराणशास्त्र में क्रमशः **१–आदिवाराह (स्वायम्भुव), २–यज्ञवाराह (पारमेष्ठ्य), ३–श्वेतवाराह (सौर), ४–ब्राह्मवाराह, (चान्द्र *),** एवं **५-एमूषवाराह (भौम),** नामों से प्रसिद्ध हैं ÷। पाँचों हीं वराह 'वराहत्त्वेन' अभिन्न हैं। आपः के घनरसात्मक पुष्करपर्ण को आधार बना कर वराहवायु के द्वारा पिण्डस्वरूप का व्यक्तीभाव होता है। इसी नित्य वराहलीला का × 'वराहावतार' रूप से पुराणों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जिसका तत्त्वात्मक स्वरूप निम्नलिखित श्रौतवचन से स्पष्ट है—

आपो वा इदमग्रे--सलिलमेवास । तेन प्रजापतिरश्राम्यत्--कथमिदं--स्यात्--इति । सोऽपश्यत् पुष्करपर्णम्--तिष्ठत् । सोऽमन्यत--अस्ति वैतत्--यस्मिन्निदं--अधितिष्ठतीति । स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत । स पृथिवीमध आर्च्छत् । तस्या उपहत्योदमज्जत् । तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् । यदप्रथयत्--तत्पृथिव्यै पृथिवित्त्वम् ।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।६,७, ।

---

* 'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः' के अनुसार चन्द्रमा 'ब्रह्मा' हैं प्राकृतिक यज्ञ के। अतएव चान्द्रवराह 'ब्रह्मवराह' कहलाए हैं।

÷ 'आ-ईम-षम्' ही 'एमूष' का निर्वचन है, जो इत्थंभूत निर्वचन प्रत्यक्षदृष्ट भूपिण्ड से सर्वात्मना समन्वित है। 'तां-[प्रादेशमात्रीं पृथिवीं]एमूष इतिवराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः, प्रजापतिः' [शत० १४।१।२।११] इत्यादि श्रुति 'एमूष' नामक इसी भौम--वराह की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

× जलौघमग्ना सचराचरा धरा विषाणकोट्याखिलविश्वमूर्त्तिना ।
समुद्धृता येन वराहरूपिणा स मे स्वयम्भूर्भगवान् प्रसीदताम् ॥

३८-अमृतरसपरिपूर्ण द्रोणकलश, एवं तदभिषेककर्त्ता आठ दिग्गज—

पिण्ड की परिधि से आसमन्तात् संलग्न--वायव्यप्राणरूप ऋत 'वराह' ही वे दिग्गज हैं, जो चार प्रमुख दिशाओं से चार दिग्गज, चार दिक्कोणों के समावेश से आठ दिग्गज, तथा ऊर्ध्व-अधः-रूप दो दिशाओं से दशदिग्गज--रूप से अनेकधा उपवर्णित हैं—आर्य्यसर्वस्वात्मक पुराणशास्त्र में। विशाल-उरु--अन्तरिक्ष ही वह द्रोणकलश है, जिस में—'त्वसा ततन्थोर्वन्तरिक्षम्' (ऋक् संहिता१।६१।२२) रूपेण पिण्डाग्नि--स्वरूपसंरक्षक ऋतभावापन्न अमृतसोम ('ब्रह्मणस्पति' नामक 'पवित्र' गाङ्गेय 'अम्भो' लक्षण सोम) भरा हुआ है। दिग्गजरूप ऐरावतादि वराहगज द्रोणकलशात्मिका कूर्म्मत्रिलोकी के द्वारा (घटों से) यह सोमामृतधारा से अजस्ररूप से सौरसम्वत्सररूपा महालक्ष्मी का अभिषेक ही कर रहे हैं, जैसाकि—"हिमनिभैश्चतुर्भिर्गजैर्हस्तप्राहितरत्नकुम्भसलिलैरासिच्यमानां सदा' इत्यादि ध्यानांश से स्पष्ट है।

३९-भूतसम्पत्तिरूपा महालक्ष्मी के साथ प्राणैश्वर्य्यरूपा श्री के समन्वय की अभ्यर्थना, एवं श्री-विहीना लक्ष्मी के सहयोगी गन्धर्व-अप्सरा-वारुणी-आदि असुरभावों से राष्ट्रपरित्राणकामना—

ऐरावतादि गजों से सदा ही अमृताभिषेक से समन्विता वरदा महालक्ष्मी यदि पद्मासना है, तो तदभिन्ना अमृतरसगर्भिता अभया महासरस्वती पारमेष्ठ्य-पुष्करालय-वासिनी बनती हुई पद्मालया है, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है। पुनः हम राष्ट्रीय-प्रज्ञा से यह नम्र आवेदन कर देना चाहते हैं कि, इस सांस्कृतिक तथ्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए राष्ट्रप्रजा को भूतसम्पत्तिरूपा पद्मासना महालक्ष्मी के साथ अविलम्ब प्राणैश्वर्य्य-रूपा पद्मालया महासरस्वती (श्री) को समन्वित कर हीं देना चाहिए। तभी लक्ष्मी समृद्धि-शान्ति-तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-वृद्धि विभूति-सम्भूति-भावों की संग्राहिका बन सकेगी। श्रीशारदाविहीना लक्ष्मी कदापि अपने सहज चाञ्चल्य से स्थिरधर्म्मप्रयोजिका नहीं बन सकती। श्रीविहीना लक्ष्मी अपने भूतनिबन्धन-आसुरभाव में समाविष्ट होती हुई समुद्रोत्पन्ना गन्धर्व-वारुणी-अप्सरा-आदि आदि आसुरभावों की ही अनुगामिनी बन जाया करती है, जिन केवल लक्ष्मी-मद-जनित-अनर्थपरम्पराओं का महामन्त्री वयोवृद्ध ब्राह्मणश्रेष्ठ शुकनास के द्वारा युवराज-चन्द्रापीड़ के प्रति महता-समारम्भेण उद्बोधन हुआ है। अत्यन्त ही उपयोगी है कादम्बरी का वह प्रकरण, जिसे शारदाभक्ति से वञ्चित केवल लक्ष्मीभक्तों को तो अवश्यमेव अपने मानवीय-स्वरूपोद्बोधन के लिए एकबार देख ही लेना चाहिए।

४०-श्री लक्षणा शारदा, तथा लक्ष्मी के समन्वय-प्रसङ्ग का उपराम—

मातासरस्वती के ध्यान से सम्बन्ध रखने वाला-'**पद्मासने संस्थिताम्-वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम्**' यह सुप्रसिद्ध अंश लक्ष्मीवत् सरस्वती को भी तो '**पद्मासना**' ही बतला रहा है। एक ही उद्गम स्थान है दोनों का। दोनों में अन्तर केवल एक है शब्द, एवं अर्थ की प्रधानता का। शब्द-प्रधाना, अतएव '**वीणावादिनी**' रूपेण उपगीयमाना माता सरस्वती शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतिष्ठा बनी हुई है, एवं अर्थप्रधाना माता लक्ष्मी अर्थ के द्वारा शब्द की प्रवर्त्तिका बनी हुई है। इसीलिए तो सुप्रसिद्ध अश्वमेधयज्ञ में राज्यलक्ष्मी के संरक्षण-स्थायित्व के लिए वर्षपर्य्यन्त निगमनिष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा वीणावादनकर्म्म

अनिवार्य्य माना है भगवती श्रुतिने–जैसाकि निबन्ध के प्रथमप्रकरण में भी निवेदन किया जाचुका है । अलमतिपल्लवितेन–शारदा–लक्ष्म्योः समन्वयप्रसङ्गेन ।

४१–पद्मासना महालक्ष्मी का पद्मासन भूपिण्ड, एवं तत्स्वरूप--परिचय—

पद्मालया (सरस्वतीरूपा) 'श्रीः' को मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली महाशक्ति का स्वायम्भुव विवर्त्त ही महाकाली है, स्वयं का पारमेष्ठ्य विवर्त्त ही महासरस्वती है, एवं अमृत सूर्य्यात्मक सौरविवर्त्त ही महालक्ष्मी है । यों तीनों शक्तियों से समन्विता अमृतालक्ष्मी ही वह 'श्रीः' है, जिसे विष्णु की प्रथमा अर्द्धाङ्गिनी माना गया है, बतलाया गया है पूर्व में । अत्र पद्मासना 'लक्ष्मी' को लक्ष्य बनाइए, जिसका लक्ष्यीभूत 'दीपावली' पर्व से सम्बन्ध है । **मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड,** रूपा रोदसीत्रिलोकी ही इस लक्ष्मी का आवासक्षेत्र है, व्याप्तिक्षेत्र है । मर्त्यसूर्य्यरूपेण यही लक्ष्मी सम्वत्सरकालानुबन्ध से 'काली' है, चन्द्रसोमसम्बन्ध से यही लक्ष्मी सरस्वती है, एवं पृथिवी (भूपिण्ड) सम्बन्ध से यही लक्ष्मी लक्ष्मी है । यों मर्त्य–अर्द्धविश्व की बलप्रधाना–भूतप्रधाना–लक्ष्मी भी काली–सरस्वती–लक्ष्मी–रूपेण त्रेधा विभक्त हो रही है । त्रिशक्तिरूपा भौतिकविश्वलक्ष्मी विष्णु की द्वितीया अर्द्धाङ्गिनी है, जिसका प्रतिष्ठास्थानात्मक आसन वह भूपिण्ड ही बना हुआ है, जिसकी स्वरूपनिष्पत्ति उसी आपोमय पुष्करपर्ण से **आपः-फेन-मृत्–सिकता-शर्करा-अश्मा–अयः–हिरण्य**-नाम की आठ गायत्र–व्यवहृतियों से 'एमूषवराह' नामक (पार्थिव–भौम) वराह से हुई है । यों भूपिण्ड साक्षात् पद्मरूप में परिणत हो रहा है, जिसके सुमेरुरूप केन्द्र को आधार बना कर ही अष्टदलभेद से भारतीय उस '**पाद्मभुवनकोश**' (भूगोलविद्या) का स्वरूप-समन्वय किया है पुराणाचार्य्योंनें, जो अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण, अतएव चमत्कृत विषय है ।

४२–पद्मभू ब्रह्मा से समन्वित पाद्मभुवनकोशरूपा मर्त्या त्रिलोकी, एवं तत्र व्याप्ता शक्तित्रयरूपा महालक्ष्मी—

इसी भूपद्म के सम्बन्ध से भौमब्रह्मशक्तिरूपा केन्द्रशक्ति–'**पद्मभूः**' नाम से प्रसिद्ध हुई है । इसी भूपद्म पर क्योंकि मर्त्यात्रिलोकी में व्याप्ता शक्तित्रयरूपा लक्ष्मी विराजमाना है । अतएव इसे–'**पद्मासना**' कहना सर्वथा अन्वर्थ प्रमाणित हो रहा है । और यों औपनिषद–सिद्धान्तरूपा–शोणाधरा-वीणावाणी–भगवती 'श्री' (शारदा) का पारमेष्ठ्यलोकात्मक पद्मालयत्त्व *, एवं भूपिण्डानुगता त्रैलोक्यव्याप्ता-मर्त्य–भौतिक–विश्वसाक्षिणी माता लक्ष्मी का भौमलोकात्मक पद्मासनत्त्व सर्वथा प्रमाणित हो जाता है । अतएव हमने कहा है कि-**'श्रीः' जहाँ पद्मालया है, वहाँ 'लक्ष्मी' पद्मासना है** । प्राणविभूति ही पद्मालया श्रीः है, जिसका मानव के आत्मबुद्धिरूप सूक्ष्मजगत् से सम्बन्ध है । एवं भूतविभूति ही पद्मासना लक्ष्मी है, जिसका मानव के मनः-शरीररूप स्थूलजगत् से ही सम्बन्ध है ।

---

*–सिद्धान्तमौपनिषदं शुद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरमहः किञ्चिद्वीणाधरमुपास्महे ॥
—लघुपाराशरी

४३–आत्मबुद्धिसमन्वित सूक्ष्मजगत् का परलोकत्त्व, एवं मनःशरीरसमन्वित स्थूलजगत् का इहलोकत्त्व, तथा उभयलोकात्मक अभ्युदय–निःश्रेयस्–भाव––

आत्मबुद्धिसमन्वित सूक्ष्मजगत् ही मानव का पारिभाषिक **परलोक** है, जिस इस आध्यात्मिक परलोक (आत्मलोक) का आधिदैविक स्वयम्भू–परमेष्ठी–अमृतसूर्य्य–रूप परलोक से सम्बन्ध माना गया है। मनःशरीरसमन्वित–स्थूलजगत् ही मानव का पारिभाषिक **इहलोक** है, जिस इस आध्यात्मिक इहलोक (मनोलोक) का आधिदैविक मर्त्य–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्डरूप इहलोक (भूतलोक) से सम्बन्ध माना गया है। उभयलोकसमन्वयभाव ही मानव का (आमुष्मिक–ऐहिक–भावसमन्वयात्मक) वह पूर्ण स्वरूप है, जिस इस उभयसमन्वयात्मिका मानव की परिपूर्णता के बोध से वञ्चित मानव के दुर्भाग्यवश वैसे दो विभिन्न वर्ग आज भारत राष्ट्र में आविर्भूत हो गए हैं (आज से तीन सहस्रवर्षों की भुक्त–प्रक्रान्ता पूर्वोक्ता दासताओं के युग में), जो क्रमशः **वेदान्तनिष्ठ विद्वान्**, तथा **यथाजात मनोवशवर्त्ती लोकमानव**, नामों से यथाकथञ्चित् व्यवहृत किए जासकते हैं।

४४–आत्मग्रहग्रस्त जगन्मिथ्यात्त्ववादी वेदान्तियों का काल्पनिक निःश्रेयस्, एवं शून्यवादग्रहग्रस्त शून्यवादी लोकायतिकों का काल्पनिक निर्वाण, तथा उभयसमन्वयाभाव से भारतराष्ट्र का सर्वात्मक पतन—

वेदान्तनिष्ठ–विद्वानों की दृष्टि में आत्मबुद्धिरूप आत्मजगत् तो बना हुआ है सत्य, एवं मनःशरीररूप भूतजगत् बना हुआ है मिथ्या। जगन्मिथ्यात्त्ववादी इन आत्मवादी विद्वानों नें ही केवल 'सरस्वती' का उद्घोष मात्र करते हुए लोकलक्ष्मी से राष्ट्र को सर्वथा ही वञ्चित कर दिया है। इन की इस लक्ष्मीविहीना आत्मभावना ने हीं राष्ट्र को निर्ऋतिदेवी माता उस धूमावती–अलक्ष्मी का सम्मान्य अतिथि बना डाला है, जिसका पूर्वप्रकरण के धूमावती नामक परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इधर लोकनिष्ठ––कुनैष्ठिक–लोकमानवों की दृष्टि में मनःशरीररूप लोकजगत् तो बना हुआ सत्य, एवं आत्मबुद्धिरूप आत्मजगत् बना हुआ है कल्पित। लोकसत्यवादी इन भूतवादी लोकमानवों नें हीं केवल 'लक्ष्मी' का ही उद्घोष करते हुए आत्मश्री से राष्ट्र को सर्वथा ही वञ्चित कर दिया है। इन की इस श्रीविहीना लोक–भूतभावना ने हीं राष्ट्र को उस दम्भ–मान–मद–छल–कपट–ईर्ष्या–द्रोह–असूया–कलह––मायाचार––आदि भावनाओं के माध्यम से राष्ट्र को वैसी लक्ष्मी का सम्मान्य अतिथि बना डाला है, जो श्रीविहीना लक्ष्मी आसुरभावानुग। वारुणी–कामलिप्सा––लोकैषणा––मानस उपलालन प्रधान गीत––नृत्य––वाद्यादि के वैतालभावों से सर्वथा अलक्ष्मीरूप में हीं परिणत रहा करती हैं। और यों एक केवल पुरुषवादी (आत्मवादी) रूप से शून्यं––शून्यं प्रमाणित हो रहे हैं, तो दूसरे केवल जड़प्रकृतिवादी (भूतवादी) रूप से शून्यं––शून्यं–दुःखं–दुःखं––रूप में परिणत हो रहे हैं। मानव ने अपने–**'तत्तु समन्वयात्'** मूलक प्रकृतिपुरुष के दाम्पत्यरूप––गृहस्थाश्रमलक्षण आश्रमजीवन की उपेक्षा कर अपना परलोक, एवं इहलोक, दोनों हीं तो दूषित कर लिए हैं। मानवता की मूलप्रतिष्ठारूप इस प्रकृति–पुरुषात्मक समन्वय का प्रतिपादन करने वाली निगमागमपुराणरूपा मूलसंस्कृति के बोध से, तन्मूला आचारपद्धति से सर्वथैव पराङ्मुख बन जाने वाले आज का भारतीय–मानववर्ग वस्तुगत्या सर्वथैव लक्ष्यभ्रष्ट प्रमाणित होता हुआ अपने काल्पनिक–मानवता, सत्य, अहिंसा, दया, सहास्तित्त्व जैसे श्री–लक्ष्मीविहीन–शून्य–उद्घोषमात्रों

के माध्यम से अनुदिन वर्द्धमान दुःख- क्षोभ–अशान्ति–दीनता–परावलम्बनता के वारुणपाशों से सर्वात्मना आलोमभ्यः–अनखाग्रेभ्यः आबद्ध ही तो बनता जारहा है, इति-नु महतीयं विम्बना स्वमूलसंस्कृतिस्वरूपवञ्चितस्य श्रीविहीनस्य–लक्ष्मीविहीनस्य–प्रक्रान्त–दुर्द्दशाग्रहग्रस्तस्य भारतीय--मानवस्य ।

४५-महन्मूलक--आत्मभावप्रधान श्रीभाव, एवं प्रज्ञानमूलक मनोभावप्रधान लक्ष्मीभाव--

श्री–लक्ष्मी–समन्वयात्मकेतिवृत्त से अनुप्राणित उक्त मानवगाथा से अब हमें एक विशेष तथ्य की ओर भी स्वतः ही आकर्षित हो जाना पड़ा । भूपिण्डरूप पद्म को आसन बनाने वाली मर्त्य--त्रैलोक्यव्याप्ता माता लक्ष्मी के उस ओर मर्त्य सूर्य्य है, इस ओर भूपिण्ड है, मध्य में चन्द्रमा है । जैसे कि परमेष्ठीरूप पद्म को अपना आश्रय बनाने वाली अमृतत्रैलोक्यव्याप्ता माता शारदा के (श्री के) उस ओर अमृत--स्वयम्भू है, इस ओर अमृत सूर्य्य है, मध्य में पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामक पवित्र सोम है । पारमेष्ठ्य सोम का नाम है **महान्**, एवं चान्द्रसोम का नाम है **प्रज्ञान** । महान् आत्मभाव की गर्भभूमि है, तो चान्द्रप्रज्ञान मनोभाव की प्रतिष्ठा है । यों श्रीभाव महन्मूलक आत्मप्रधान बना हुआ है, तो लक्ष्मीभाव प्रज्ञानमूलक मनःप्रधान बना हुआ है । और इस स्वतःसिद्ध दृष्टिकोण के अनुसार पार्थिव–लोकलक्ष्मी का मनःप्राधान्यत्त्व ही प्रमाणित हो जाता है । आत्मानुगत बुद्धि के आधार पर (श्री पर) प्रतिष्ठित चान्द्रमन ही पार्थिवी–लोकलक्ष्मी का मूलोपक्रम बनता है, बना हुआ है । तभी तो सूर्य्यचन्द्रसङ्गमरूपा सोममयी अमावस्या ही तो दीपावलीपर्व की अन्यतमा माङ्गलिक–तिथि बनती है, जैसा कि आगे जाकर सम्भवतः स्पष्ट होसकेगा ।

४६–आत्मश्रीरूपा शारदा के आधार पर प्रतिष्ठिता मनोलक्ष्मीरूपा कमला, एवं मनः-प्रधान वैश्यवर्ग, तथा तत्प्रधान–लक्ष्मीपूजनात्मक–दीपावलीपर्व —

आत्मश्रीः रूपा शारदा को मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली मनोरूपा लक्ष्मी को अवश्य ही चान्द्री कहा जासकता है । एवं इस दृष्टि से मनस्तन्त्र को ही 'लक्ष्मी' तत्त्व का उक्थ माना जासकता है । एकमात्र इसी मनःप्राधान्य से लक्ष्मी–भावानुगत-दीपावलीपर्व को लोक में **'वैश्यवर्णप्रधान–पर्व'** मान लिया गया है । क्योंकि चातुर्वर्ण्य–सर्ग में चान्द्रतत्त्व ही मनोरूपेण वैश्यवर्ण की मूलप्रतिष्ठा बना करता है, जैसाकि प्रथम-प्रकरण में विस्तार से निवेदन किया जाचुका है । परिवारभावानुगत–मनोधर्म्मा वैश्य अवश्य ही राष्ट्र का सुम्नतेज है, जिसे चान्द्रतेज ही माना है श्रुति ने । श्री के आधार पर प्रतिष्ठिता भूतसम्पत्तिरूपा लोकलक्ष्मी का ही नाम 'अर्थबल' है । जिसप्रकार ज्ञानशक्ति का प्रधान उत्तरदायित्त्व आत्मनिष्ठ ब्राह्मण से सम्बद्ध माना गया है, क्रियाशक्तिरूप पौरुष का उत्तरदायित्त्व बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय से अनुप्राणित माना गया है, एवमेव अर्थशक्तिरूप 'वित्त' का उत्तरदायित्त्व मनोधर्म्मा वैश्य से ही समन्वित माना गया है, जैसाकि इस वर्ग की **'गुप्त'** उपाधि से भी स्पष्ट है । मनस्तन्त्रानुगामिनी, किंवा चान्द्रतत्त्वानुगामिनी सौम्या मनोमयी, अतएव मनःप्रधान वैश्यवर्ग के द्वारा उपलालिता प्रमाणित होती रहने वाली लोकलक्ष्मी के इसी मानसभाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रमत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधि वाचि ॥

—ऋक्संहिता

४७-'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो०' मन्त्र का अक्षरार्थसमन्वय, एवं तन्मूलक-'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' रूप श्री-लक्ष्मी-समन्वयात्मक-आत्मश्री, एवं लोक-लक्ष्मी-भावों का दिग्दर्शन—

मन्त्र का अक्षरार्थ स्पष्ट है। "जिस प्रकार भ्राष्ट्र-पक्व-यव-सक्तु (भुने हुए जौ के-धाणी-धानी-के सत्तु *) के स्वरूप-सम्पादन के लिए (सक्तु निर्म्माण से पूर्व मुसलद्वारा उलूखल में कूटी हुई परिपक्व जौराशि को) परिपवन-साधनभूत 'तितउ' (शूर्प-छाजले) से कौशलपूर्वक कुशलगृहिणी वितुषीकरण-प्रक्रिया से स्वच्छ-तुषरहित करलेती है, एवमेव जिस परिवार में, किंवा समाज में, किंवा राष्ट्र में प्रज्ञाशील मानव तितउरूप मन से 'वाक्' रूपा परिपक्वा यवराशि को स्वच्छ-निर्म्मल बना लेते हैं, उस परिवार-समाज-राष्ट्र के धीर मानव हीं (दोषरहिता वाक् के अनुग्रह से रागद्वेषवियुक्तिपूर्वक परस्पर) सख्यभाव (मैत्रीभाव) स्थापित करने में समर्थ बन जाया करते हैं। ऐसे मानवों में हीं परस्पर मैत्रीसम्बन्ध समन्वित हुआ करता है। सख्यभावानुगत ऐसे पारिवारिक-सामाजिक, एवं राष्ट्रीय मानवों की वाणी में हीं अभ्युदय-कारिणी भद्रा-मङ्गलमयी लक्ष्मी निवास करती है।"

मन्त्राक्षरार्थ के द्वारा-'**लक्ष्मी का आवास निवास कहा है ?**' इस तात्विक प्रश्न का ही समाधान हो रहा है। मन्त्र के '**धीराः-मनसा-वाचम्**' ये शब्द विशेषरूपेण अवधेय हैं। श्री के आधार पर प्रतिष्ठिता लोकलक्ष्मी का स्वरूप-बतलाते हुए पूर्व में यह निवेदन किया गया है कि, **मर्त्यसूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड** इन तीनों भूतपिण्डों की समष्टि का ही नाम मर्त्यविश्व है, एवं लोकलक्ष्मी का इसी मर्त्यविश्व से सम्बन्ध है। **स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य**-इन तीन प्राणमण्डलों की समष्टि का ही नाम अमृतविश्व है, एवं आत्मश्री का इसी अमृतविश्व से सम्बन्ध है। 'प्राकृतात्मविज्ञान' के अनुसार इन ६ ओं के, (तत्त्वतः **स्वयम्भू[१]-परमेष्ठी[२]-सूर्य्य[३]-चन्द्रमा[४]-भूपिण्ड[५]**-इन पाँचों के) प्रवर्ग्यभागों से ही मानव के **अव्यक्तात्मा[१]-महानात्मा-विज्ञानात्मा[४]-प्रज्ञानात्मा[३]-भूतात्मा[५]**, इन पाँच प्राकृतात्माओं का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इन पाँचों में अव्यक्त, महान्, दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं '**आत्मा**' है। अमृतविज्ञान-मर्त्यविज्ञान-दोनों की समन्वितावस्था का नाम हीं '**बुद्धि**' है। प्रज्ञान का नाम हीं '**मन**' है, एवं भूत का नाम ही '**शरीर**' है। यों ६ के ५, पाँच के अन्ततोगत्वा चार ही विवर्त्त शेष रह जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

---

* जौ को भाड़ में परिपक्व कर लेने से निष्पन्न अन्न ही लोकभाषा में 'जौ की धाणी, किंवा धानी'- कहलाई है। इसे कूटा जाता है, ऊखल मूसल से। अनन्तर शूर्प (छाजले) से तुषभाग पृथक् कर इसे पीसा जाता है। यही पिसा हुआ द्रव्य 'सत्तु' कहलाया है, जिसे ग्रीष्मऋतु में शर्करादि मिश्रण से पीया जाता है। अत्यन्त ही मधुर होता है इस का स्वाद।

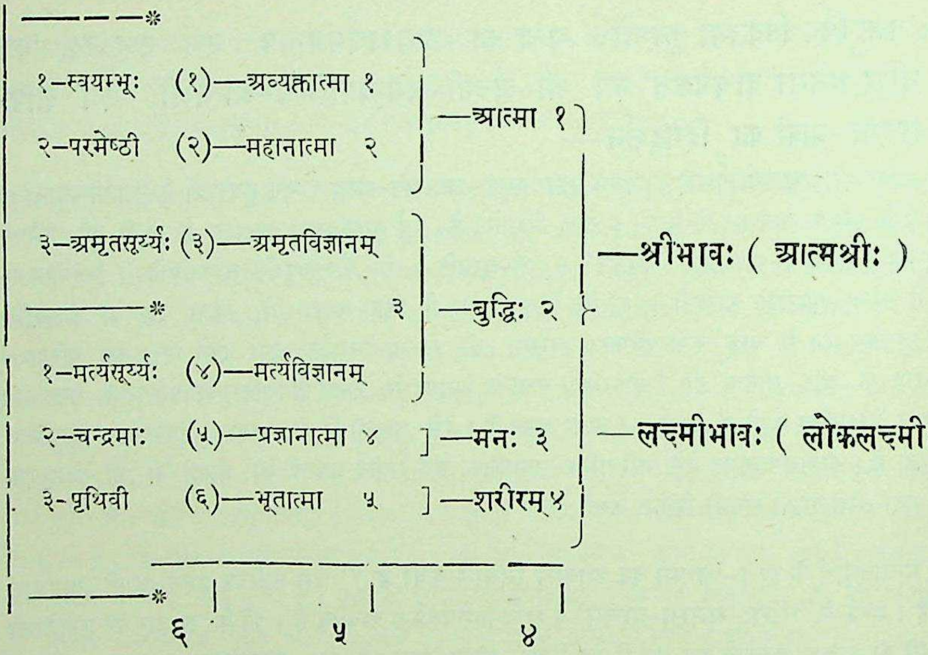
———*
१–स्वयम्भूः (१)—अव्यक्तात्मा १
२–परमेष्ठी (२)—महानात्मा २
—आत्मा १
३–अमृतसूर्य्यः (३)—अमृतविज्ञानम्
———*
३
—बुद्धिः २
१–मर्त्यसूर्य्यः (४)—मर्त्यविज्ञानम्
२–चन्द्रमाः (५)—प्रज्ञानात्मा ४
—मनः ३
३-पृथिवी (६)—भूतात्मा ५
—शरीरम् ४
—श्रीभावः (आत्मश्रीः)
—लक्ष्मीभावः (लोकलक्ष्मीः)
———*
६
५
४

४८–वाङ्मयी लक्ष्मी के अनुग्रह के लिए तदनुगत (वागनुगत) श्रम, तन्मूलक तपोरूप परिश्रम, तन्मूलक आश्रमरूप सन्तपन, एवं सर्वमूलभूत–आत्मप्रतिष्ठात्मक अध्यवसाय की सापेक्षता—

स्वायम्भुव **अव्यक्त**,–पारमेष्ठ्य **महान्**, अमृतसौररूप–**अमृतविज्ञान**, तीनों की समष्टिरूपा आत्मश्री ही मानव का '**आत्मभाव**' है, जिसके आधार पर मर्त्यसौररूपा–**बुद्धि**, **चान्द्रमन**, **पार्थिव शरीर**, इन तीनों की समष्टिरूपा लोकलक्ष्मी प्रतिष्ठित है। इन तीनों लक्ष्मीपर्वों के संग्रह के लिए ही मन्त्रश्रुति में क्रमशः **धीराः–मनसा–वाचम्**–ये शब्द उपात्त हैं। **बुद्धि–मन–शरीर, तीनों का जहाँ सह समन्वय है, सह सौख्य है, मैत्री है, वहीं लक्ष्मी का आवास-निवास है, यही निष्कर्ष है**। बौद्धिक श्रम **तप** कहलाया है, मानसिक श्रम **कामना** नाम से प्रसिद्ध है, एवं शारीरिक श्रम **श्रम** (लोकप्रसिद्ध–श्रम) नाम से प्रसिद्ध है। तप–काम–श्रम–के सहसमन्वय से ही मानव के अर्णवसमुद्र का मन्थन होता है। एवं इस मन्थनप्रक्रिया से ही लक्ष्मी का आविर्भाव होता है। काम–तपः–श्रमानुगत मानवों की तो वाणी में ही लक्ष्मी विराजमान रहती है। न केवल वाणी में ही, अपितु वाणी में, नेत्रों में, अङ्ग–प्रत्यङ्ग में लक्ष्मी व्यक्त रहती है। ऐसे अध्यवसायनिष्ट मानवश्रेष्ठ ही **पुण्यलक्ष्मीक** कहलाए हैं *। 'धीराः' शब्द 'बुद्धि' का, तदनुगत परिश्रमरूप

---

*–यत्रा हैव शिरः, तदेव हनू, तज्जिह्वाः। अथैताः पुण्या लक्ष्मीर्मुखतो धत्ते।
तस्मात्–यस्य मुखे लक्ष्म भवति, तं–'पुण्यलक्ष्मीकः' इत्याचक्षते ॥
—शत० ८।४।४।११।

'तप' का संग्राहक है, **'मनसा'** शब्द 'काम' का संग्राहक है, एवं **'वाचम्'** शब्द वाङ्मय शरीर, तदनुगत श्रम का संग्राहक है। यों तीन शब्द काम–तपः-श्रम के संग्रह के साथ साथ लक्ष्मी के मूलाधारभूत मनःप्राण-वाङ्मय आत्मभाव के भी संग्राहक प्रमाणित हो रहे हैं। **'सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्'** मूलक काम–तपः–श्रम का समन्वय ही लक्ष्मी का आविर्भावक बना करता है। सम्पूर्ण विश्वलक्ष्मी मनःप्राण-वाङ्मय प्रजापति के काम-तपः-श्रम-रूप अध्यवसाय से ही उत्पन्न हुई है। और आज भी प्रजापति के नेदिष्ठरूप मानव को इस प्राजापत्य–अध्यवसाय से ही लक्ष्मी के दर्शन हो सकते हैं, हुआ करते हैं, होते हैं, निश्चयेन हो जाते हैं।

४९–मनोवशवर्त्ती, अतएव धृतिगुणशून्य, अधीर–अनुकूलतावादी–पुरुषार्थशून्य–मानवों की व्यग्रता, एवं स्थिरलक्ष्मी की पराङ्मुखता—

लोकदृष्टि से **'धीरा मनसा वाचमक्रत'** का समन्वय कीजिए। सौर विज्ञानात्मा ही बुद्धि है, जिसका महान् गुण माना गया है–'धृति'। प्रत्येक वस्तु के परिणाम का आधार 'कालपरिपाक' माना गया है। बिना कालपरिपाक के किसी भी वस्तु में अतिशयाधानरूप फल का आविर्भाव नहीं हुआ करता। जो मानव केवल मनोवशवर्त्ती बने रहते हैं,–**'चञ्चलं हि मनः कृष्ण'** ! के अनुसार ऐसे मनोराज्यपथानुगामी, अतएव चञ्चलप्रज्ञ, अधीर मानव तत्काल ही क्षणमात्र में हीं लक्ष्मी की आराधना में सफल बन जाने के लिए व्यग्र हो पड़ते हैं। यही व्यग्रता इन्हें वास्तविक–स्थिर–लक्ष्मी से सर्वथा ही पराङ्मुख बना देती है। बिना परिश्रम के, अध्यवसाय के केवल फूत्कारमात्र से तत्काल ही लक्ष्मी के लिए आतुर बने रहने वाले ऐसे अधीर मन हीं वैसे भातिसिद्ध हीनप्रकारों के अनुगामी बन जाते हैं, जिन प्रकारों से गन्धर्वनगरलेखावत्–लक्ष्मीयुक्त प्रतीत होते रहने वाले भी ये मनोजीवी मूलतः श्रीविहीना ऐसी चञ्चला लक्ष्मी से तिरस्कृत ही प्रमाणित होते रहते हैं।

५०–ऐश्वर्य्य-श्रीः-से वञ्चिता, अतएव भातिसिद्धा, लक्ष्मीरूपा लक्ष्मी के आकर्षण से राष्ट्र की सत्तासिद्धा--वास्तविक--लक्ष्मी--कृषि--गोरक्ष--वाणिज्य कर्म्मत्रयी का उत्तरोत्तर-अभिभव, एवं तदभिभूति के दुष्परिणाम—

ऐश्वर्य्य–श्रीः–यशो--वञ्चिता भातिसिद्धा इस अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी का ही तो आज प्राबल्य है, जिस आकर्षण से आकर्षित होकर ही राष्ट्र के वैश्यवर्ग नें कृषि–गोरक्षा–वस्तुविनिमयात्मक–सत्तासिद्ध–वाणिज्य का परित्याग कर राष्ट्र की श्रीसम्पन्ना वास्तविक लक्ष्मी को सर्वथा अन्तर्म्मुख ही बना दिया है। और आज तो सभी वर्गों नें वैश्यमहाभाग के द्वारा आविष्कृत भातिसिद्ध–कल्पित व्यवसायों, मायाचारों को ही अर्थसंग्रह के एकमात्र द्वार मान लिए हैं। तप–श्रम से आविर्भूता स्वेदधारा ही सत्तासिद्धा लक्ष्मी को जन्म दिया करती है। ऐसे अध्यवसायनिष्ठ धीर–मानवों को ही स्थिरलक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त हुआ करता है। बुद्धियुक्त मनोबल ही लक्ष्मी की बाह्य प्रतिष्ठा बना करता है। विचारशून्य, अधीर, स्खलितमना एक प्राकृत–मानव की वाणी में कहाँ है लक्ष्मी का निवास ?। न तो ऐसे यथाजात मानवों की वाणी में हीं बल, न पाणी में हीं कर्म्म-कौशल, न बुद्धि में हीं धैर्य्य। अपितु अविद्या–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश–मूलक–रागद्वेषात्मक–मोह–

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मान-मद्–दम्भ–दर्प से सतत आक्रान्त, अनुकूलतावादी, पराश्रयवर्त्ती, संघर्षशून्य ऐसे मानव लोकसंघटनों से सर्वथैव वञ्चित रहते हुए उस कारणसमुदायानुग्रह से भी सर्वथैव वञ्चित रह जाया करते हैं, जिस कारणसमुदाय को ही 'कार्य्यसिद्धि' के प्रति कारणता प्रदान की गई है । वैय्यक्तिक–लिप्साकर्षण से सर्वसहयोगपराङ्मुख ऐसे मनोवशवर्त्ती-कर्म्मशून्य–भाग्यहीन–यथाजात मानव कदापि लोकलक्ष्मी के दर्शन नहीं कर सकते । धीरतालक्षणा सुमति ही 'संघटन' का मूलबीज है । यही वही सख्यभाव है, जिसके लिए–**'अत्रा सखायः सख्यानि जानते'** कहा गया है । 'सुमति' शून्य दुराशाओं का भी 'संघ' तो बन जाता है । किन्तु इस संघ में समवेत सभी व्यक्तियों का सख्यभाव छल से ही समाप्लुत रहता है । सब अपने अपने मनोभावों में अपने अपने जघन्य स्वार्थों की पूर्ति में ही संलग्न बने रहते हैं । तत्त्वतः किसी से किसी की मैत्री नहीं है । अपितु–**'अमुक–अमुक–भाई–भाई–परस्पर मित्र'** इस बाह्य आकर्षक-घोषणा के अन्तराल में वैय्यक्तिक वित्तलिप्सा–लोकलिप्सा दावानल की भाँति उदीप्त रहती है, जो किसी दिन इन सभी कल्पित–मित्रों–सखाओं को भस्मावशेष–भाव में हीं परिणत कर दिया करती है ।

५१--बुद्ध्यनुगत-पारस्परिक-सख्यभावमूला सुमति, और लक्ष्मी का अनुग्रह—

तात्पर्य्य यही है कि, जिस राष्ट्र के मानव विचारशील होते हैं, प्रत्येक समस्या का बुद्धिपूर्वक–(निष्ठापूर्वक)–धीरतापूर्वक चिन्तन–मनन करते रहते हैं, इस चिन्तनधारानुग्रह से ही जिनका प्रज्ञानमन विज्ञानबुद्धि से नियन्त्रित रहता हुआ निश्चित मन्तव्यों–लक्ष्यों का अनुगामी बना रहता है, शास्त्रीयभाषानुसार मनःप्राण-वाक् से अनुगत इच्छा–कर्म्म–वाणी–के समन्वय से जिनका मनःप्राणवाङ्मय आत्मा स्वस्वरूप से महान् बना रहता है, ऐसे धीर--मनस्वी--मानवों की वाणी में हीं एकप्रकार का ओज, पराक्रम, आकर्षण रहा करता है । एवं ऐसे महान् मानव ही पारस्परिक सख्यभाव से एकसूत्र में आबद्ध होते हुए राष्ट्र-लक्ष्मी के प्रवर्त्तक-संरक्षक-बना करते हैं । **जहाँ सुमति, तहँ सम्पति नाना ।**

५२--वैय्यक्तिक स्वार्थमूला कुमति, और राष्ट्रलक्ष्मी का विलयन—

और-**'जहाँ कुमति, तहँ बिपति बिड़ाना'** भी प्रसिद्ध ही है । अमृतविश्वानुगता आत्मश्री के बोध से अपरिचित जिन मानवों की बुद्धि धीरता से पराङ्मुख बनी रहती है, क्षण–क्षण में परिवर्त्तनशीला विकारभूता जड़प्रकृति ही जिनकी उपास्या बनी रहती है, अतएव जो अधीरता--तात्कालिकता के ही अनुवर्त्मा बने रहते हैं, उनका मनस्तन्त्र सर्वथा ही चञ्चलप्रज्ञ बना रहता है । प्रज्ञाचाञ्चल्य से ऐन्द्रियक चाञ्चल्य का उदय, तदनुपात से कर्म्मचाञ्चल्य, सर्वत्र चञ्चलता का साम्राज्य, धृति का अत्यन्ताभाव, अतएव पारस्परिक--आत्मसमत्त्व का अभाव, अतएव च पारस्परिक कलह का आविर्भाव । एवं तद्ष्परिणाम-स्वरूप ही लक्ष्मी का पलायन, एवं अलक्ष्मी–धूमावती–निर्ऋति का प्रभुत्त्व, इत्यलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन ।

५३-षट्–महिमान्वित वाक्तत्त्व, और–'वाचमक्रत' मूला लक्ष्मी—

'वाचमक्रत' वाक्य से सम्बन्ध रखने वाला 'वाक्' शब्द अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है । सर्वसाधारण में 'वाणी' नाम से प्रसिद्धा 'वाक्' ही आज वैदिक 'वाक्' शब्द का अर्थ समझा जारहा है । अतएव **'वाङ्मयवेद'** का अर्थ--**'शब्दात्मकवेद'** ही किया जारहा है । यदि 'वाक्' तत्त्व के चिरन्तन--सांस्कृतिक-

इतिहास को जान कर ऐसा समझा जाता है, तो कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु वाक् और शब्द में परस्पर पर्य्याय-सम्बन्ध मान बैठना तो सर्वथा ही वाग्विज्ञानविरुद्ध माना जायगा। ऋग्वेदीय मन्त्र के--**'वाचमक्रत'** से श्री और लक्ष्मीरूपा षट्--महिमान्विता **'सर्वावाक्'** का हीं संग्रह होरहा है, जिस इस वाग्विवर्त्त के यथावत् समन्वय के लिए तो वेदशास्त्र का ऐकान्तिक स्वाध्याय ही शरणीकरणीय है। प्रसङ्गसमन्वयदृष्टि से प्रकृत में इस सम्बन्ध में किञ्चदिव ही निवेदन कर दिया जाता है।

५४-मनःप्राणगर्भित वाङ्मयप्रजापति की सर्वरूपता--

षोडशीप्रजापति का सृष्टिसाक्षीभाग मनःप्राणवाग्रूप है, जिसका मनोभाग अव्यय में, प्राणभाग अक्षर में, तथा वाग्भाग क्षर में अभिव्यक्त माना गया है। तीनों भाव मध्यस्थ अक्षर में समन्वित हैं। अतएव अक्षर को मनोमय प्राणमय वाङ्मय मान लिया गया है। अतएव यह मध्यस्थ अक्षर अव्ययत्वेन मनोमय बनता हुआ **सर्वज्ञ (ज्ञानशक्तिमय)**, स्वस्वरूपत्वेन (अक्षरत्वेन) प्राणमय बनता हुआ **सर्वशक्ति (क्रियाशक्तिमय)**, एवं क्षरत्वेन वाङ्मय बनता हुआ **सर्ववित् (अर्थशक्तिमय)** प्रमाणित होता हुआ षोडशीप्रजापति का ही प्रधान प्रतिनिधि बना हुआ है, जिस एवंविध प्रजापति से ही ब्रह्मरूप प्रतिष्ठासर्ग, नामरूपात्मक ज्योतिःसर्ग, एवं अन्नरूप यज्ञसर्ग, नामक तीन सर्गों का आविर्भाव हुआ है, जिनका पूर्वप्रकरण के आरम्भ में दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

५५--अर्द्धनारीश्वर-प्रजापति की परा-परावरा-अवरा-नाम की शक्तित्रयी, और तदनुप्राणित विश्वस्वरूपसमन्वय-

ज्ञानक्रियार्थशक्तिमय प्रजापति ही पुरुष है, एवं इस पुरुष की शक्ति ही इसकी प्रकृति है। **'अर्द्धेन-पुरुषोऽभवत्, अर्द्धेन नारी'** सिद्धान्तानुसार एक ही पुरुषप्रजापति अपने अर्द्धभाग से **पुरुष**, तथा अर्द्धभाग से **प्रकृति** बना हुआ है। और यही शिवशक्तिसमन्वयात्मक प्राजापत्यसर्ग की उभयात्मकता है, जिसका दशमहाविद्या--परिच्छेदों में निरूपण किया जाचुका है। पुरुषप्रजापति क्योंकि अव्ययात्मक मन, अक्षरात्मक प्राण, एवं क्षरात्मिका वाक्--भेद से त्रिपुरुषपुरुषात्मक है। अतएव तदभिन्ना प्रकृतिरूपा शक्ति भी **पराशक्ति--परावरशक्ति--अवरशक्ति**--रूप से तीन विवर्त्तभावों में परिणत होती हुई त्र्यात्मका बन रही है। और इसी दृष्टिकोण से हमें तीनों महाशक्तियों का विश्वानुगत समन्वय ढूँढ निकाल लेना है।

५६--उसी पर, उसी से, उसी की विश्वरूपता का समन्वय—

अव्ययरूप मनोमयपुरुष, अक्षररूप प्राणमयपुरुष, एवं क्षररूप वाङ्मयपुरुष, इन तीनों पुरुषों से कृतरूप मनः--प्राण--वाङ्मय अक्षरप्रजापति ही अपनी मनोमयी अव्ययशक्ति, प्राणमयी अक्षरशक्ति, वाङ्मयी क्षर--शक्ति से विश्वकर्त्ता बनता है, बन रहा है। त्रिपुरुषमूर्त्ति--मनप्राणवाङ्मय अक्षरप्रजापति ही त्रिःप्रकृतिमयी मनःप्राणवाग्रूपा शक्ति से सर्वज्ञ--सर्वशक्ति--सर्ववित् बनता हुआ (ज्ञान--क्रिया--अर्थमय बनता हुआ) सम्पूर्ण विश्व (पञ्चपर्वा विश्व) का कर्त्ता बना हुआ है, यही वक्तव्य है। पुरुषप्रकृतिसमन्वयात्मक--अमृतमृत्युभय इस प्रजापति का अव्ययरूप मनोभाग सूक्ष्मतम है, अक्षररूप प्राणभाग सूक्ष्मतर है, एवं क्षररूप--वाग्भाग सूक्ष्म है। अव्ययात्मक सूक्ष्मतम मनोमयरूप, अक्षरात्मक सूक्ष्मतर--प्राणमयरूप, एवं क्षरात्मक सूक्ष्म वाङ्--

मयरूप, इन तीनों रूपों से क्रमशः यह प्रजापति विश्व का **अधिष्ठान–निमित्त**–एवं **उपादान** बना हुआ है। मनोभाग से यही विश्वालम्बनरूप अधिष्ठान है। प्राणभाग से यही विश्वकर्त्ता–विश्वनिमित्त है। एवं वाग्भाग से यही विश्वारम्भण–उपादानकारण है। **उस पर उससे वही विश्वरूप में परिणत होरहा है।** **'उस पर'** का अर्थ है-मनोमय अव्ययाधिष्ठान पर। **'उससे'** का अर्थ है प्राणमय अक्षर–निमित्त से। एवं–**'वही'** का अर्थ है 'वाङ्मय क्षर ही'। इस मौलिकदृष्टि को अवलम्ब बना कर ही हमें नवीनरूप से शक्तित्रयी के स्वरूप का समन्वय करना है।

त्रिपुरुषपुरुषात्मकोऽक्षरप्रजापतिः—

१—मनोरूपोऽव्ययपुरुषः–तन्मयोऽक्षरः–मनोमयः–सूक्ष्मतमः–सर्वज्ञः [ज्ञानमयः]—अधिष्ठानम्

२—प्राणरूपोऽक्षरपुरुषः–तन्मयोऽक्षरः–प्राणमयः–सूक्ष्मतरः–सर्वशक्तिः [क्रियामयः]—निमित्तम्

३—वाग्रूपः क्षरपुरुषः–तन्मयोऽक्षरः–वाङ्मयः–सूक्ष्मः–सर्ववित् [अर्थमयः]—आरम्भणम्

> यः सर्वज्ञः सर्ववित्–यस्य ज्ञानमयं तपः।
> तस्यादेतत्–ब्रह्म, नामरूपं मन्नं च जायते॥ —उपनिषत्

५७–विश्वेश्वर का आत्मभाव, और विश्वभाव—

अपने सूक्ष्मतम–मनोमय–अव्ययात्मक अक्षरभाग में प्रतिष्ठित सूक्ष्मतर–प्राणमय–अक्षरात्मक अक्षरभाग के व्यापार से सूक्ष्म–वाङ्मय–क्षरात्मक अक्षरभाग के द्वारा ही अक्षरप्रजापति वाङ्मय (क्षरमय) विश्वरूप में परिणत हो रहा है। क्योंकि इसकी तीसरी अर्थशक्तिमयी क्षररूपा वाक्कला ही विश्वरूप में परिणत होती है। अतएव तीनों कलाओं में से सूक्ष्मतमा मनःकला, तथा सूक्ष्मतरा प्राणकला, इन दो कलाओं की समष्टि का तो एक स्वतन्त्र विवर्त्त मान लिया जाता है, एवं विश्वरूप में परिणता तीसरी सूक्ष्मा वाक्कला को स्वतन्त्र मान लिया जाता है, एवं क्षरत्वेन इसे भी विकारविश्वानुबन्ध से 'उत्पत्ति' कोटि में समाविष्ट मान लिया जाता है। फलतः विश्वकर्त्ता के स्वरूप में मनोमय–प्राणभाग की ही प्रमुखता शेष रह जाती है। अतएव **'विश्व के आत्मा'** के प्रसङ्ग में 'आत्मा' शब्द से 'मनः–प्राण' रूप दो कलाओं की समष्टि ही गृहीत होती है। तीसरी वाक्कला (तद्रूपा क्षरकला) विकारक्षरात्मक विश्व की उपादान बनती हुई आत्मकोटि से पृथक् हो जाती है [मानली जाती है]।

५८–विश्वात्मा से पञ्चकल विश्व का आविर्भाव, और उसकी प्रणववाचकता—

मनःप्राणमय अक्षरात्मा ही 'विश्वात्मा' रूप से शेष रह जाता है, जिससे सर्वप्रथम क्षरकला से जो कुछ उत्पन्न होता है, उसी का नाम है–'आकाश', जिस इस सूक्ष्मतत्त्वसमन्वय को लक्ष्य बनाकर ही–**'तस्माद्वा-एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** यह कहा गया है। **'आत्मनः' का मनःप्राणमयाक्षरात्मनः'** ही अर्थ है। **'आकाशः सम्भूतः'** का अर्थ है–**'वाग्रूपाविर्भावः'**। **'ब्रह्मैव वाचः परमंव्योम'** [तै० ब्रा० ३।६।५।५।] के अनुसार वाक् ही आकाश है, परमाकाश है। **'अयमेवाकाशो जूः'** रूप से भी इसी वागाकाश की ओर सङ्केत हुआ है। यही वाग्रूप आकाश बलचिति के तारतम्य से आगे जाकर क्रमशः वायु-तेज–जल–मृत्–रूप

में परिणत होता हुआ पञ्चात्मक–पञ्चपर्वा विश्वस्वरूप में परिणत हो रहा है। ये ही वाङ्मय पाँचों विवर्त्त क्रमशः **आकाश–वायु–तेज–जल–पृथिवी**-इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनके छन्दोमय सुसूक्ष्म अण्डात्मक पुर ही क्रमशः **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी**-इन नामों से सुप्रसिद्ध हैं विज्ञानपरिभाषा में। **'आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'** इत्यादि तैत्तिरीयश्रुति इसी वाङ्मय विवर्त्त का स्पष्टीकरण कर रही है। यों मनःप्राणरूप अक्षरात्मा अपने वाग्भाग से आकाशादि पाँच विश्वभावों में परिणत होकर विश्वमूर्त्ति बन रहा है।

मन का साङ्केतिक अक्षर है **'अ'** कार, एवं प्राण का साङ्केतिक अक्षर है–'उ' कार। एवमेव 'वाक' का साङ्केतिक अक्षर माना गया है 'म्' कार। सर्वथा असङ्ग मनोमय अव्यय सर्वथा असङ्ग [कण्ठताल्वादि से असंस्पृष्ट] अकार से समतुलित है। मन की अपेक्षा से ससङ्ग, किन्तु वागपेक्षया ससङ्ग, अतएव ससङ्गासङ्ग प्राणमय अक्षर ससङ्गासङ्ग 'उ' कार से समतुलित है। अक्षरदृष्ट्या सर्वात्मना ससङ्ग 'क्षर' संस्पृष्ट 'मकार' से समतुलित हैं। यों मनः–प्राण–वाङ्मय प्रजापति–[ईश्वर] अकार–उकार–मकार-भावों से समतुलित होता हुआ **'ओम्'** रूपा प्रणवव्याहृति से समन्वित हो रहा है, जैसाकि–**'तस्य वाचकः प्रणवः'** [पा० यो० सू०] से स्पष्ट है।

५९–उ–अ–अच्, और वाक्, तन्मूलक वौक्, तदनुगत वौषट्, और वषट्कार, तथा उसकी देवपात्रता––

जो क्षरतत्त्व अकाररूप मन की उकाररूप प्राण के द्वारा स्वस्वरूपप्रतिष्ठा के लिए सतत वाञ्छा–इच्छा–याञ्चा–करता रहता है, उसी उ [प्राण] अ [मन] की इच्छा–रखने वाले क्षरतत्त्वविशेष को 'वाक्' कहा है वैज्ञानिकों नें। **'उ–अ–अच्'**, स्थिति ही 'वाक्' शब्द की स्वरूपनिर्म्मात्री है। प्राण के बिना मन अग्रगामी नहीं बनता। सृष्टिप्रक्रिया प्रक्रिया है, क्रिया है। क्रिया प्राण का ही धर्म्म है। अतएव सृष्टिदशा में 'प्राण' का प्राथम्य है, एवं मन का उत्तरसंस्थानत्त्व है। अतएव 'अ [मन]–उ [प्राण]' के स्थान में 'उ [प्राण]-अ [मन]' यह स्थिति हो जाती है। उकार को वकार–[यणादेश] हो जाता है। **'उ–अ–अच्'–'व्–अ–अच्'** रूप में परिणत हो जाता है। यही दीर्घत्त्वेन 'वाच्', किंवा 'वाक्' है, जिसका अर्थ है–**'प्राणमनोगर्भित क्षरतत्त्व'**। **'वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता'** का अर्थ है–**'प्राणमनोगर्भिते–क्षरे सर्वाणि भूतान्यर्पितानि'**। इसी आधार पर तो–**'क्षरः सर्वाणि भूता '** [गीता] सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जो अर्थ–**'अथो वागेवेदं सर्वम्'** का है, वही अर्थ––**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** का है। मनःप्राणगर्भिता यही वाक्––**'वौक्'** नाम से भी प्रसिद्ध हुई है, जिसके आधार पर वेदशास्त्र की अत्यन्त रहस्यपूर्णा **'वौक्-षट्'**रूपा––'वाक्––षट्कारात्मिका' **'वषट्कारविद्या'** प्रतिष्ठित है। मनोऽनुगत देवरूप सम्पूर्ण प्राणदेव इसी वाग्धरातल पर प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि––**'देवपात्रं वा एष––यद्वषट्कारः'** इत्यादि निगमवचन से स्पष्ट है। **मनःप्राणगर्भिता, किंवा सृष्ट्यपेक्षया प्राणमनोगर्भिता क्षरवाक् ही 'वाक्' तत्त्व की मौलिक स्वरूप––व्याख्या है,** जोकि इत्थंभूता सर्वमयी [मनःप्राणवाङ्मयी] वाग्देवी प्राजापत्या––सृष्टिमूलभूता––सृष्टिस्वरूपा––वाग्देवी कहलाई है।

६० -मनःप्राणगर्भिता--ब्रह्माग्निरूपा वाक्, एवं तत्संघर्ष से आपोमय--पारमेष्ठ्य-सरस्वान् समुद्र का आविर्भाव—

तथाविधा 'वाग्देवी' को लक्ष्य बना कर ही वैज्ञानिक--महर्षियों नें कहा है कि--पञ्चपर्वा विश्व में सर्व--प्रथम वाङ्मय--अव्यक्त--आकाशात्मा स्वयम्भू का ही आविर्भाव हुआ है ×। इसी वाङ्मय अव्यक्त--स्वयम्भू से विश्वकामना से प्राणव्यापार के द्वारा स्व वाग्भाग में संघर्ष उत्पन्न हो पड़ा। मनोऽनुगत [कामानुगत] प्राणव्यापार से समुत्पन्न इसी संघर्ष से वह वाक्तत्त्व [जिसे **वेदाग्नि** कहा गया है, **ब्रह्माग्नि** माना गया है, '**वामपलित**' कहा गया है) उसी प्रकार द्रवावस्था में परिणत हो गया, जैसे कि श्रमगर्भित–परिश्रमात्मक तप से शारीराग्नि स्वेदधारारूप में (पसीने के रूप में) परिणत हो जाया करता है (देखिए गो० ब्रा० पू० १।१।१)। किंवा चान्द्रतत्त्वानुगत शारीराग्नि अनुराग के संघर्ष से प्रेमाश्रु रूप में, सौरतत्त्वानुगत शारीराग्नि संघर्ष से शोकाश्रु रूप में परिणत हो जाता है। जैसे कि पर्जन्यवायुजनित संघर्ष से प्रवृद्ध आन्तरिक्ष्य वैश्वानराग्नि (ऊष्मा–ऊमस) वर्षाजलरूप में परिणत हो जाया करता है। तात्पर्य्य–संघर्षजनित संक्लेदन से वागग्नि तथैव द्रुत बन जाता है, और इसी आधार पर–'**अग्नेरापः**' वह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । यह ब्रह्माग्नि वाक् है, वाक् ही ब्रह्माग्नि है, जैसाकि–'**तस्य वा एतस्य–अग्नेः–(तत्त्ववेदाग्नेः)–वागेवोपनिषत्**। **सोऽपोऽसृजत-वाच एव लोकात्**। **वागेव साऽसृज्यत**' इत्यादि शातपथीश्रुति से प्रमाणित है।

६१- विश्व की आपोमयता, एवं तन्मूलाधारभूता वाग्देवी का सर्वाधिष्ठातृत्त्व—

हमारे सर्वाङ्गशरीर में भौतिकशरीर का मूलाधिष्ठाता यही वागग्नि वैश्वानराग्निरूप से व्याप्त है । इसी शारीराग्नि से सुप्रसिद्धा शब्दात्मिका वह वाक् आविर्भूत हुई है, जिसके लिए–'**अग्निर्वाग्भूत्त्वा मुखं प्राविशत्**' कहा गया है। अधिक बोलने से क्यों मानव निर्बलता का अनुभव करने लगता है ?, प्रश्न का यही 'अग्निबल' रूप 'वाग्बल' समाधान है। '**आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान्**' इत्यादि शिक्षासिद्धान्तानुसार कायाग्नि ही वर्णवाग्रूप (शब्दरूप) में परिणत होता है *। प्राधानिकदर्शन ने भी शब्दतन्मात्रारूप से 'वाक्तत्त्व' को ही विश्व की मूलाधिष्ठात्री माना है। '**वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः**' रूपेण स्मृतिशास्त्र भी वेदवाग्रूप ब्रह्माग्नि से ही विश्वप्रसूति मान रहा है । तात्पर्य्य–मनःप्राणगर्भिता–ऋक्सामावच्छिन्ना-अनादिनिधना स्वायम्भुवी–अव्यक्ता–वाक् का (स्वयम्भू का) ही साम्राज्य था व्यक्तविश्व से पहिले । इस से सर्वप्रथम विश्व–प्रजाकामना की पूर्त्ति के लिए अप्तत्त्व का ही प्रादुर्भाव हुआ, जैसाकि राजर्षि ने कहा है—

× **योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः–सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।**
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ —मनुः

*–भूतात्मा बुद्धि से युक्त होकर लक्षीभूत अर्थों को लक्ष्य बनाता है। कामयमान अर्थों की विवक्षा से मन में प्रेरणाबल (संकल्प) का उदय होता है। मानससंकल्प से वाग्रूप कायाग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है । क्षुब्ध कायाग्नि प्राणवायु की नोदना से ऊर्ध्व गमन करता है। ऊर्ध्वमुख–संक्षुब्ध यही कायाग्नि प्राणवायु के सहयोग से–'**वायुः–खान्–शब्दस्तत**' इत्यादि प्रातिशाख्य–सिद्धान्तानुसार **वैखरीवाक्** (शब्दवाक्) रूप में परिणत होजाता है।

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ —मनुः १।८।

६२-स्वायम्भुवी–अनादिनिधना वाग्देवी की सर्वरूपता—

वाक्तत्त्व से समुद्भूत, अतएव सुसूक्ष्म अप्तत्त्वरूप वही आपोमय समुद्र विज्ञानभाषा में 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है । यही आपोमण्डल पारमेष्ठ्य–वैष्णवधाम कहलाया पुराण में, सामवेद ने इसे गो–'भूरिशृङ्गा अयासः' लक्षण–'वैष्णव–गोसव' कहा । यही वाङ्मयी जलीया–आम्भृणी–शक्ति विश्वभूतप्रभवा बनती हुई 'लक्ष्मी' नाम से उपवर्णित हुई । भूत–पितर–देवता–गन्धर्व-पशु–असुर–ओषधि–वनस्पति-सभी स्थावर–जङ्गम प्रपञ्च इस आपोमयी–वाग्देवी से ही आविर्भूत हुए । लक्ष्मी–लक्षणा, सरस्वतीगर्भिता, अव्यक्तकालीमूला–सर्वजगन्मूला इसी स्वायम्भुवी वाग्देवी की तथोक्ता सर्वव्याप्ति को लक्ष्य बना कर ही महर्षि ने कहा है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वाभुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥ —तै० ब्रा०

६३–वाङ्मय विश्वात्मा, एवं वाङ्मयी विश्वशक्ति का अचिन्त्य–स्वरूप, तथा मानव-प्रज्ञा की तटस्थता –

ज्ञानशक्तिमय मनस्तन्त्र, क्रियांशक्तिमय प्राणतन्त्र, अर्थशक्तिमय वाक्तन्त्र, तीनों तन्त्रों से अनुप्राणित अव्ययप्रधान अक्षर, अक्षरप्रधान अक्षर, क्षरप्रधान अक्षर, ये तीन पुरुष मिल कर एक सृष्टिकर्त्ता अक्षरपुरुष है, जो अव्ययरूप से सृष्ट्यधिष्ठान भी बना हुआ है, एवं क्षररूप से सृष्ट्यारम्भण भी बना हुआ है । यही तो इस मध्यस्थ अक्षरपुरुष की सर्वात्मकता है । इन तीनों पुरुषों की तीनों शक्तियाँ हीं क्रमशः **महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी**, तत्त्व हैं । ज्ञानशक्ति महाकाली है, जो मुक्ति की अधिष्ठात्री है, जिसका अव्ययात्मक मनोमय अक्षर से सम्बन्ध है । क्रियाशक्ति ही महासरस्वती है, जो भुक्ति–मुक्ति–दोनों की अधिष्ठात्री है अपनी मध्यस्था सर्वरूपता से, जिसका अक्षरात्मक--प्राणमय--मध्यस्थ अक्षर से सम्बन्ध है। अर्थशक्ति ही महालक्ष्मी है, जो भुक्ति की अधिष्ठात्री है, जिसका क्षरात्मक–वाङ्मय अक्षर से सम्बन्ध है । यों तीनों पुरुषों की तीन महाशक्तियाँ हीं काली--सरस्वती--लक्ष्मी--नाम से प्रसिद्ध हैं । लक्ष्मी की प्रतिष्ठा वाक् है, सरस्वती की प्रतिष्ठा प्राण है, काली की प्रतिष्ठा मन है । अथवा मन काली पर, प्राण सरस्वती पर, एवं वाक लक्ष्मी पर प्रतिष्ठित है । दोनों में कौन आधार है, प्रतिष्ठा है, कौन आधेय है ?, यह निर्णय करना इस लिए असम्भव है कि, **'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी–उभावपि'** के अनुसार शिवशक्ति का सम्बन्ध अभिन्न सम्बन्ध है । अतएव–**'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'** ।

त्रिपुरुषात्मकः—पुरुषः — शिवः

१-ज्ञानशक्तिमयं—मनस्तन्त्रम्—अव्यानुगतम्—तदनुगतः—उत्तमपुरुषः सर्वज्ञः (अव्ययात्मकोऽक्षरः)

२-क्रियाशक्तिमयं—प्राणतन्त्रम्-अक्षरानुगतम्-तदनुगतः-मध्यमपुरुषःसर्वशक्तिः(अक्षरात्मकोऽक्षरः)

३-अर्थशक्तिमयं--वाक्तन्त्रम्—क्षरानुगतम्—तदनुगतः-प्रथमपुरुषः—सर्ववित् (क्षरात्मकोऽक्षरः)

*

प्रकृतित्रयात्मिका—प्रकृतिः — शक्तिः

१-अव्ययात्मकाक्षरपुरुषशक्तिरेव—ज्ञानशक्तिः--सैव महाकाली (मनोमयी--मुक्त्यधिष्ठात्री)

२-अक्षरात्मकाक्षरपुरुषशक्तिरेव—क्रियाशक्तिः-सैव महासरस्वती (प्राणमयी-भुक्ति-मुक्त्यधिष्ठात्री)

३-क्षरात्मकाक्षरपुरुषशक्तिरेव—अर्थशक्तिः—सैव महालक्ष्मी (वाङ्मयी—भुक्त्यधिष्ठात्री)

६४—महिमामय प्रजापति के वाङ्मय कर्म्म की त्रिभावगर्भिता—पञ्चभावात्मकता का समन्वय--

पूर्वोपवर्णित त्रिपुरुष--त्रिप्रकृति--समन्वयात्मक मनःप्राणवाङ्मय--प्रजापति ही विश्व का आत्मा है, एवं तदुत्पन्न (उसके वाङ्मय क्षरभाग के माध्यम से उत्पन्न, अतएव व्यक्तक्षरप्रधान) विश्व ही उस मनःप्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी (अव्ययदृष्ट्या)—सृष्टिकर्त्ता (अक्षरदृष्ट्या)--सृष्टिमय (क्षरदृष्ट्या) प्रजापति का शरीर है। आत्मभाव मनः--प्राण--वाग्--भेदेन त्रिकल है, किंवा एक ही की तीन कलाएँ हैं *, एवं विश्वभाव **स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्रमा--पृथिवी**, रूपेण पञ्चकल है। तीन, और पाँच का समन्वयभाव ही आत्मन्वी—प्राजापत्य--सर्वभाव है। शरीरविशिष्ट आत्मभाव ही--'**आत्मन्वी**' शब्द से व्यवहृत हुआ है। तीन—पाँच रूप से (आत्मा, और विश्वरूप से) ही प्रजापति सर्वरूप में परिणत हुए हैं, जिस सर्वरूपता का मुख्य श्रेय मध्यस्थ—प्राणमूर्त्ति उस अक्षर को ही प्राप्त है, जिस की क्रियाशक्ति नें हीं, तपःकर्म्म नें ही तथोक्त सम्पूर्ण महिमाभाव व्यक्त किया है। '**भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्**' लक्षण स्नेह—तेजोगुणक—भार्गवाङ्गिरस-अग्नीषोमात्मक तपःकर्म्म से ही तो एक ही ब्रह्म-'**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**' (ऋक्सं० ८।५८।२) रूप से महिमाभावात्मक--त्रिःपञ्चात्मक--सर्वभाव में परिणत हुआ है।

६५—त्रिपर्वगर्भित पञ्चपर्वों की (प्रत्येक की) त्रिपर्वात्मकता, एवं मानवानुगत--त्रिपर्व-गर्भित--पञ्चपर्वभावों के विविध विवर्त्त--

मानवीया अध्यात्मसंस्था में तपःकर्म्म के प्रतीक '**हस्त**' ही माने गए हैं, जिनके सहयोगी बने रहते हैं गतिधर्म्मा **चरणयुगल**, जैसाकि—"**हस्तावेवास्या एकमङ्गमुदूह्लम, तयोः कर्म्म पुरस्तात् प्रतिविहिता**

*** त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम् ।** —शत० १४।४।४।३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भूतमात्रा । **पादावेवास्या एकमङ्गमुदूढं--तयोरित्याः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा**" (कौषीतक्युपनिषत् ३।६।५।) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । हस्तयुगल व्यक्तकर्म्म के प्रतिनिधि हैं, तो चरणयुगल अव्यक्तकर्म्म (गति) के प्रतिनिधि हैं । इन दोनों के समन्वय से निष्पन्न अध्यवसायात्मक तपःकर्म्म से ही तो मानव 'विश्वविभूति' का अध्यक्ष बन जाया करता है । सम्भवतः क्यों, निश्चयेन इसी त्रिगर्भित--पञ्चपर्वात्मक--विश्वविभूतिभाव के शिक्षण के लिए ही प्रजापति ने हाथों की पाँच--पाँच अङ्गुलियाँ बनाईं हैं, एवं प्रत्येक अङ्गुलि में तीन तीन पर्व (पोर) समाविष्ट किए हैं । यही स्थिति चरणों की है । केवल पर्वों की व्यक्तता--अव्यक्तता में ही थोड़ा अन्तर है । जितना अन्तर हस्तानुगता कर्म्मशक्ति, तथा चरणानुगता गतिशक्ति में हैं, उतना हीं अन्तर हस्त--पादाङ्गुलियों के पर्वों की व्यक्तता--अव्यक्तता में है । यही स्थूलनिदर्शन है तीन--पाँच का । प्राणदृष्ट्या (सूक्ष्मभावदृष्ट्या) भी यही त्रिभावानुगत--पञ्चपर्वत्त्व प्रतिष्ठित है माननीय--जगत् में । पञ्च ज्ञानेद्रियाँ पञ्चपर्वा विश्व से समतुलित हैं, पञ्च कर्म्मेन्द्रियाँ पञ्चपर्वा विश्व से समतुलित हैं, तो प्रत्येक इन्द्रिय से समन्विता ज्ञान--क्रिया--अर्थरूपा '**प्रज्ञामात्रा--प्राणमात्रा--भूतमात्रा**' नाम से प्रसिद्ध तीन तीन मात्राभाव त्रिकल आत्मभाव की संग्राहिका प्रमाणित हो रही हैं । और यों '**पञ्चधा--त्रिणि--त्रिणि**' की व्याप्ति प्रजापति के (त्रिकल आत्मा, पञ्चकल विश्व की समष्टिरूप) आत्मन्वी स्वरूप का ही समर्थन कर रही है ।

६६--पञ्चपर्वात्मक वाङ्मय विश्व के पाँचों विश्वपर्वों की (प्रत्येक पर्व की) काली--सरस्वती--लक्ष्मी--रूपता, एवं व्यष्टिरूपेण शक्तित्रयी का समन्वय---

उक्त आध्यात्मिक--स्थिति के माध्यम से ही अब दो शब्दों में आधिदैविक--ईश्वरीय विवर्त्त में भी त्रिः--पञ्च--भावों की शक्तित्रयरूप से व्याप्ति देख लीजिए समष्ट्या, एवं व्यष्ट्या । पहिले व्यष्टिरूप से ही समन्वय कीजिए । क्योंकि समष्ट्यात्मक समन्वय का पूर्व में भी विभिन्न दृष्टिकोणों से समन्वय किया जाचुका है । स्वयम्भू--परमेष्ठयादि पाँचों हीं पर्व (प्रत्येक पर्व) व्यष्टिरूप से (व्यक्तिगत--प्रातिस्विक--रूप से) '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' नियमानुसार मनःप्राणवाङ्मय स्रष्टा प्रजापति से नित्य समन्वित हैं । अतः पाँचों हीं विश्वपर्व व्यष्टिरूपेणापि अपने केन्द्रीय--भाव से मनःप्राणवाङ्मय--आत्मा से समन्वित रहते हैं । अतएव प्रत्येक विश्वपर्व ज्ञान--क्रिया--अर्थ--मय प्रमाणित होता हुआ काली--सरस्वती--लक्ष्मी--नाम की शक्तित्रयी से भी समन्वित हो रहा है, जिस इस समन्वय का तत्त्वात्मक समन्वय तो वेदशास्त्र की सुप्रसिद्धा '**मनोताविद्या**' पर ही अवलम्बित है, जिसका सामान्येतिवृत्त व्यक्त कर देना भी प्रसङ्ग को निःसीम बना डालना है । प्रकृत में पञ्चधा विभक्त उन त्रिः--त्रिः--मनोताओं के नाममात्र--संस्मरणपूर्वक तालिकामाध्यम से शक्तित्रय का नामस्मरणमात्र ही कर लिया जाता है । अत्यन्त ही दुरूह है यह पञ्चधा--विभक्त--त्रित्ववाद, जिसके बोध को ऋषि ने '**सर्वबोध**' की उपाधि प्रदान करदी है । देखिए !

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद्वेद, स वेद सर्वं, सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥ ---छान्दोग्य--उप० २।२१।४।

१–नियतिः सत्यम्–	[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]	—काली		
२–वेदाः सत्यम्—	[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]	—सरस्वती	स्वयम्भूः	१
३–सूत्रं सत्यम्—	[वाक्—अर्थः—क्षरः]	—लक्ष्मी		

*

१–अत्रिः [इट्]–	[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]	—काली		
२–अङ्गिरा [ऊर्क्]–	[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]	—सरस्वती	परमेष्टी	२
३–भृगुः [भोगाः]–	[वाक्—अर्थः—क्षरः]	—लक्ष्मी		

*

१–आयुः——	[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]	—काली		
२–ज्योतिः——	[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]	—सरस्वती	सूर्य्यः	३
३–गौः——	[वाक्—अर्थः—क्षरः]	—लक्ष्मी		

*

१–रेतः——	[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]	—काली		
२–श्रद्धा——	[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]	—सरस्वती	चन्द्रमाः	४
३–यशः——	[वाक्—अर्थः—क्षरः]	—लक्ष्मी		

*

१–द्यौः——	[मनः—ज्ञानम्—अव्ययः]	—काली		
२–गौः——	[प्राणः—क्रिया—अक्षरः]	—सरस्वती	पृथिवी	५
३–वाक्——	[वाक्—अर्थः—क्षरः]	—लक्ष्मी		

६७-सर्वात्मिका अव्यक्ता महाकाली, शब्दात्मिका व्यक्ताव्यक्ता महासरस्वती, एवं अर्थात्मिका व्यक्ता महालक्ष्मी-नाम की तीन विश्वशक्तियों का आगमानुगत-ध्यानात्मक-संस्मरण—

सर्वत्र सब विश्वपर्वों के केन्द्र में मनःप्राणवाङ्मय-त्रिशक्तिमूर्त्ति **'आत्मा'** प्रतिष्ठित है। इस त्रिकल आत्मा का शरीर **पर्वपिण्ड** है, जो **'पदम्'** कहलाया है। पिण्ड को केन्द्र मान कर अनन्ताकाश में व्याप्त वस्तुपिण्ड का प्राणात्मक साहस्रीभाव ही **पर्वमण्डल** है, जिसे **'पुनःपदम्'** कहा गया है। यों **आत्म-पिण्ड-मण्डल**-रूप से **'आत्मा-पदम्-पुनःपदम्'** लक्षण त्रिसत्य आत्मन्वीप्रजापति पञ्चात्मक-पञ्चपर्वा विश्वमूर्त्ति प्रमाणित हो रहा है। प्रत्येक पर्व की इच्छा ज्ञानशक्ति ही महाकाली है, क्रियाशक्ति ही महासरस्वती है, एवं अर्थशक्ति ही महालक्ष्मी है। महाकाली **अव्यक्ता** है, महासरस्वती **व्यक्ताव्यक्ता** है, महालक्ष्मी **व्यक्ता** है। अव्यक्ता महाकाली सर्वात्मिका है, व्यक्ताव्यक्ता महासरस्वती शब्दात्मिका है, एवं व्यक्ता महालक्ष्मी अर्थात्मिका है। निम्नलिखित रहस्यमन्त्र इन्हीं तीनों विश्वशक्तियों का यशोगान करहे हैं।

१-सर्वात्मिका-अव्यक्ता—हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै—
महाकाली न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ॥
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत—
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥ १ ॥

*

२-शब्दात्मिका-व्यक्ताव्यक्ता—शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषांनिधान—
महासरस्वती मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्माम् ॥
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय—
वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री ॥ २ ॥

*

३-अर्थात्मिका-व्यक्ता—-या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु, अलक्ष्मीः—
महालक्ष्मी पापात्मनां, कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ॥
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा—
तां त्वां नताःस्म परिपालय देवि ! विश्वम् ॥ ३ ॥

*

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अब समष्टिरूप से भी दो शब्दों में इस शक्तित्रयी का साक्षात्कार कर लीजिए ! । समष्टि–रूप विश्व अमृतविश्व, मर्त्यविश्वरूप से दो भागों में विभक्त है, जैसाकि–पूर्वपरिच्छेदों में निवेदन किया जा चुका है । इस दृष्टि से **समष्ट्यात्मक अमृतविश्व, समष्ट्यात्मक मर्त्यविश्व,** एवं **समष्ट्यात्मक अमृतमर्त्यविश्व,** भेद से समष्टि का तीन प्रकार से समन्वय किया जा सकता है, किया गया है यत्रतत्र सृष्टिविद्याप्रसङ्गों में (वेद-शास्त्र में) । इन तीनों में आरम्भ के दोनों समष्टयात्मक दृष्टिकोणों का श्रीः, और लक्ष्मी के रूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है । अतः सिंहावलोकनन्यायेन प्रसङ्गदृष्ट्या तत्सम्बन्ध में प्रकृत में यही पुनरावर्त्तन पर्य्याप्त होगा कि—

६८–समष्टयात्मक अमृतविश्व के तीन अमृत पर्व, एवं तदनुगता काली-सरस्वती-लक्ष्मी-रूपा शक्तित्रयी का समन्वय--

स्वयम्भू परमेष्ठी–अमृत सूर्य्य, इन तीनों की समष्टि ही **'अमृतविश्व'** है, जो मानव के अमृत–विज्ञानानुबन्धी **आत्मभाव** से समन्वित माना गया है । इस त्रिपर्वा अमृतविश्व का स्वयम्भूपर्व ज्ञानशक्तिरूपा महाकाली से, परमेष्ठीपर्व क्रियाशक्तिरूपा महासरस्वती से, एवं अमृतसूर्य्यपर्व--अर्थशक्तिरूपा महालक्ष्मी से समन्वित है । तभी तो इसे **काञ्चनसन्निभा** माना है आगमशास्त्र ने । हिरण्मय अमृतसूर्य्य से सम्बद्धा महालक्ष्मी इसीलिए तो--**'हिरण्यवर्णा'** कहलाई है । सर्वात्मिका--अव्यक्ता--स्वायम्भुवी महाकाली, शब्दात्मिका--वीणावादिनी–मयूरासना--हंसवाहिनी--व्यक्ताव्यक्ता--पारमेष्ठिनी महासरस्वती, अर्थात्मिका--पद्मालया--रात्रिचर प्राणी--वाहिनी [उल्लूवाहिनी]--व्यक्ता--सौरी--महालक्ष्मी, तीनों की समष्टिरूपा--त्रिपर्वात्मक--अमृतविश्व की अधिष्ठात्री--त्रिशक्तिमयी यही महाशक्ति **'श्रीः'** कहलाई है, जिसके द्वारा आत्मानुगता विद्याबुद्धि से धर्म्म--ज्ञान-वैराग्य--ऐश्वर्य्य--नामक चतुर्विध भगसम्पत्तियाँ व्यवस्थित हुई हैं ।

६९- समष्टयात्मक मर्त्यविश्व के तीन मर्त्यपर्व, एवं तदनुबन्धी ही काली--सरस्वती लक्ष्मी-रूपा शक्तित्रयी का समन्वय--

मर्त्यसूर्य्य--चन्द्रमा--भूपिण्ड, इन तीनों की समष्टि ही **'मर्त्यविश्व'** है, जो मानव की मर्त्यशरीरात्मिका लोकबुद्धि [कारणशरीर], प्रज्ञानमन [सूक्ष्मशरीर], भौतिकशरीर [स्थूलशरीर], इन तीनों पर्वों की अनुबन्धिका–व्यवस्थिका-प्रवर्त्तिका मानी गई है । इस त्रिपर्वा मर्त्यविश्व का मर्त्यसूर्य्यपर्व ज्ञानशक्तिरूपा काली से, मर्त्य चन्द्रपर्व क्रियाशक्तिरूपा सरस्वती से, एवं मर्त्य भूपिण्ड अर्थशक्तिरूपा लक्ष्मी से समन्वित है । तीनों की समष्टिरूपा, त्रिपर्वात्मक–मर्त्य विश्व की अधिष्ठात्री-त्रिशक्तिमयी महाशक्ति ही **'लक्ष्मी'** कहलाई है, जिसके द्वारा बुद्धि–मनः–शरीरानुगता लोकसमृद्धि व्यवस्थित हुई है । किस अवस्था में ? । उस अवस्था में, जबकि, त्रिरूपा यह लक्ष्मी त्रिरूपा पूर्वोपवर्णिता श्री को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाए रहती है । तात्पर्य्य यही है कि–आत्मरूप अमृतविश्व की अधिष्ठात्री त्रिरूपा आत्मश्री से समन्विता बुद्धि–मनः–शरीररूपा, अतएव त्रिरूपा लोकलक्ष्मी ही समृद्धि का कारण बना करती है । यदि मानव की बुद्धि अमृतविज्ञानानुगत-आत्मयुक्त-श्री-भाव से पराङ् मुख बन कर केवल लोकबुद्धि ही बनी रह जाती है, तो उस दशा में तमोमूलक आसुरभाव प्रधान बन जाता है । और उस अवस्था में अमृतात्माधार से वञ्चिता लोकबुद्धि 'अविद्याबुद्धि' रूप में परिणत हो जाती है, जिसके **अविद्या--अस्मिता--आसक्ति--अभिनिवेश**--नामक चतुर्विध क्लेश प्रातिस्विक स्वरूपधर्म्म माने गए हैं । 'अविद्या' नामक क्लेश विद्याबुद्धि के 'ज्ञान' नामक भग का, 'अस्मिता' नामक क्लेश विद्या–

बुद्धि के 'ऐश्वर्य्य' नामक भग का, 'आसक्ति' नामक क्लेश विद्याबुद्धि के 'वैराग्य' नामक भग का, एवं 'अभिनिवेश' नामक क्लेश बुद्धि के 'धर्म्म' नामक भग का आवरक बन जाया करता है, जो कि चतुर्विध भगविद्याबुद्धिरूपा–आत्मानुगता–अमृताबुद्धि के स्वरूपधर्म्म माने गए हैं। यों श्रीरूप चतुर्विध भग–भावों के स्थान में तदनुगता अमृताबुद्धि के स्थान में जब 'श्री' से वञ्चित चतुर्विध–क्लेश–भावों का प्राधान्य हो जाता है, तदनुगता अविद्याबुद्धि प्रधान बन जाती है, तो उस दशा में त्रिरूपा लोकलक्ष्मी अलक्ष्मी के रूप में हीं परिणत हो जाती है। विद्यात्मिका श्री ही लोकात्मिका लक्ष्मी की मूलप्रतिष्ठा बना करती है, यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। सहजभाषानुसार सरस्वती ही लक्ष्मी की स्थिरता का एकमात्र कारण है। सरस्वतीरूपा श्री से परित्यक्ता लक्ष्मी निश्चयेन कालान्तर में अलक्ष्मीरूप में हीं परिणत हो जाया करती है। लोकभाषानुसार--विद्या से परित्यक्ता, तत्स्थान में अविद्यारूप मायादि–छल-बलों से समन्विता लोकलक्ष्मी, अधर्म्म के द्वारा संगृहीता लक्ष्मी अपने तमोगुणप्रभाव से क्षणमात्र के लिए चाकचिक्यवत् प्रतीत होती हुई भी अन्ततोगत्वा सर्वनाश का ही कारण बन जाया करती है *। सरस्वती, और लक्ष्मी के इस गुहानिहित–भार्गव–आङ्गिरस–मूलक–शब्दार्थतादात्म्यरूप–समन्वय से अपरिचित रहने के कारण हीं तो दुर्भाग्यवश विगत तीन सहस्राब्दियों से सरस्वती और लक्ष्मी का नितान्त-भ्रान्त अश्वमाहिष्य मान लिया है राष्ट्र की उस विद्वत्प्रज्ञा ने, जिसने सत्तासापेक्षता, तथा वणिग्दासता के चिरन्तन अभ्यास से अपने आपको निगमागमपुराणमूला मूल-संस्कृति से पराङ्मुख प्रमाणित करते हुए मनोराज्यपथानुगामी–मान्यतानुबन्धी मतवादों को ही धर्म्म मानने मनवाने की महती भ्रान्ति कर रक्खी है।

७०–समष्ट्यात्मक अमृतमर्त्य विश्व, तदनुगत तीन अमृत--मर्त्य--पर्व, एवं तदनुगता महासमष्टिलक्षणा काली--सरस्वती--लक्ष्मीरूपा शक्तित्रयी का समन्वय--—

अब क्रमप्राप्त तीसरे अमृतमर्त्यविश्वानुबन्धी समष्ट्यात्मक समन्वय को लक्ष्य बनाइए। जब पञ्चपर्वात्मक--समष्टिरूप--विश्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, तो श्रुति का–'**अग्नीषोमात्मकं जगत**' यह निगम हमारे सम्मुख उपस्ति होजाता है, जिसका स्पष्ट और सीधा अक्षरार्थ है,--'यह सम्पूर्ण विश्व अग्नि, और सोम की समष्टिमात्र ही है'। अग्नि का वैज्ञानिक नाम है अन्नाद, अर्थात्–भोक्ता (खाने वाला)। एवं सोम का वैज्ञानिक नाम है 'आद्य', अर्थात् भोग्य (अन्न, खाने की वस्तु)। भोक्ता, और भोग्य, अन्नाद्य, और आद्य, दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही है विश्व। इसी आधार पर यह निगम जागरूक हो पड़ा कि—'**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–अत्ता चैव, आद्यश्च**'। अत्ता अन्नादाग्नि है, अग्नि शुष्क–रूक्ष तत्त्व है, तेजोगुणक तत्त्व है। अतएव इसे 'शुष्क' कहना ठीक है। आद्य अन्नसोम है, सोम सरसतत्त्व है, स्नेहगुणक तत्त्व है। अतएव इसे 'आर्द्र' कहना ठीक है। इसी आधार पर–'**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति–शुष्कं चैवार्द्रञ्च। यच्छुष्कं–तदाग्नेयम्, यदार्द्र--तत्सौम्यम्**' यह निगम आविर्भूत हो पड़ा है। यों अग्नीषोमात्मक–अन्नाद–अन्नात्मक, अत्ता–आद्यात्मक, शुष्क–आर्द्रात्मक–दो तत्त्वों की सर्वात्मकता भलीभाँति प्रमाणित हो जाती है, और बृहज्जाबालोपनिषत् का 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्त सर्वात्मना व्यवस्थित बन जाता है।

*** अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।**
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥ —मनुः ४।१७४।

७१–पञ्चपर्वात्मक महाविश्व के ब्रह्माग्नि–सावित्राग्नि–गायत्राग्निरूप तीन अग्निपर्व, एवं ब्रह्मणस्पतिसोम–वृत्रसोम--नामक दो सोमपर्व—

पञ्चपर्वा विश्व पर दृष्टि डालिए, और अन्वेषण कीजिए कि, इन पाँचों में अग्निपर्व तो कौन से हैं ?, एवं सोमपर्व कौन से हैं ? । विस्तार में जाने की आवश्यकता नही है । **ब्रह्माग्नि, सावित्राग्नि, गायत्राग्नि,** इन सुप्रसिद्ध तीन अग्नियों को लक्ष्य बना लीजिए, एवं **ब्रह्मणस्पति**, वृत्र, नामक इन सुप्रसिद्ध दो सोमों को लक्ष्य बना लीजिए । विश्वसमष्टि से अनुप्राणित अग्नि, और सोम का समन्वय सर्वात्मना गतार्थ बन जायगा । ब्रह्माग्नि वह अग्नि हैं, जिसका '**ब्रह्मनिःश्वसित**' नामक स्वायम्भुव वेद से सम्बन्ध है । सावित्राग्नि वह अग्नि है, जिसका '**गायत्रीमात्रिक**' नामक सौरवेद से सम्बन्ध है । एवं गायत्राग्नि वह अग्नि है, जिसका '**यज्ञमात्रिक**' नामक पार्थिववेद से सम्बन्ध है । एवमेव 'ब्रह्मणस्पति' सोम वह सोम है, जिस 'अम्भः–पवमान–पावक' धर्म्मावच्छिन्न, पवित्र नामक दिव्यसोम को पारमेष्ठ्य सोम माना है वैज्ञानिकों नें, एवं जिसका सुपर्ण–गायत्री के द्वारा रोदसीत्रैलोक्य में आगमन होता रहता है ।

७२–इन्द्र के वज्रप्रहार से वृत्रासुर का वध, और उसके दिव्य आसुरभावों से क्रमशः चन्द्रमा, एवं अशनायारूप जाठराग्नि का आविर्भाव—

'वृत्र' सोम नामक वह सोम है, जो–'**भास्वरसोम**' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिसका इन्द्रदेव पने वज्र से वध करते रहते हैं । इन्द्रद्वारा निष्प्राण प्रमाणित यही भास्वरसोम विज्ञानभाषा में '**वृत्रसोम**' कहलाया है, जैसाकि–'**वृत्रो वै सोम आसीत्**' (शत० ३।४।३।१३।) '**अथैष एव वृत्रः, यच्चन्द्रमाः**' (शत०-१।६।४।१३।) इत्यादि से स्पष्ट है । कहते हैं–इन्द्र ने वृत्र का वध कर इसके पृथग्भूत सौम्यभाग से तो चन्द्रमा को रूप प्रदान कर दिया, एवं जो पृथग्भूत आसुरभाग था, उसे पार्थिव प्रजा की जाठराग्नि के साथ समन्वित कर दिया * । तदित्थं--तीन अग्निविवर्त्त, तथा दो सोमविवर्त्त, रूप से विश्व पञ्चविवर्त्तात्मक बनता हुआ–'**पञ्चपर्वामधीमः**' इस औपनिषद सिद्धान्त का समर्थक बन गया ।

७३–'पलितवाम' नाम से प्रसिद्ध ब्रह्माग्नि के ब्रह्मौदनरूप सावित्र--गायत्र--विवर्त्त, एवं गायत्राग्नि के प्रवर्ग्य से आविर्भूत आप्त्याग्निरूप तीन 'अग्निभ्रातरः'—

स्वायम्भुव ब्रह्मनिःश्वसिताग्नि ही **सत्याग्नि** कहलाया, ऋग्वेदभाषा में यही '**पलितवाम**' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका अस्यवामीयसूक्त में विस्तार से उपबृंहण हुआ है । सौरगायत्री–मात्रिकअग्नि ही '**देवाग्नि**' कहलाया, जिसका प्रवर्ग्यभाग ही कृष्णरूप में परिणत होकर–'**अग्निभ्रातरः**' रूप में परिणत हो जाता है । जो कि '**अग्निभ्रातरः**' एकता–द्विता–त्रिता–नाम से प्रसिद्ध त्र्यात्मक-'**आप्त्याग्नि**' कहलाया है, जिसका कि परिधिरूप से वैधयज्ञाग्निकुण्ड में संस्थापन होता है । एवं पार्थिव यज्ञमात्रिक अग्नि ही '**भूताग्नि**' कहलाया है । यों **सत्य–देव--भूत**--भेद से एक ही मूलाग्नि इन तीन तूलभावों में परिणत हो रहा है ।

---

* इन्द्रस्तं वृत्रं–द्वेधान्वाभिनत् । तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास, तं चन्द्रमसं चकार । अथ यत् आसुर्य्यमास, तेनेमाः प्रजा उदरेण–अविध्यत् । —शत० १।६।३।१७।

एवमेव ब्रह्मणस्पति, वृत्र, भेद से एक ही मूलसोम इन दो तूलभावों में परिणत हो रहा है। तीन अग्निविवर्त्त, तथा दो सोमविवर्त्त, इन पाँच विवर्त्तों की समष्टि का ही नाम **पञ्चपर्वा** विश्व है, जिसे अग्निसम्बन्ध से 'त्रिपर्वा' ही विश्व माना जायगा।

७४-सत्याग्नि-देवाग्नि-भूताग्नि-मूलक त्रिसत्यवाद, एवं अन्न--अन्नाद की सर्वव्याप्ति का समन्वय—

इसलिए अग्नीषोमात्मक पञ्चपर्वा विश्व को त्रिपर्वा भी माना जा सकेगा, माना गया है—'त्रिःसत्या वै देवाः' सिद्धान्तानुरोध से कि, अन्नरूप आद्य-[भोग्य]--सोम अग्निरूप अन्नाद के गर्भ में भुक्त हो जाता है, तो उस अवस्था में अन्नसोम की स्वतन्त्र सत्ता उ क्रान्त हो जाती है। और उस दशा में सोमान्न अत्ताग्नि नाम से ही परिगृहीत हो जाता है, एवं यही यहाँ की तात्त्विक–मर्य्यादा है।

७५-वर्त्तमानयुग का नितान्त भ्रान्त--प्रकृतिविरुद्ध--लोकभावानुबन्धी 'श्रीमान्', और 'श्रीमती'--लक्षण पार्थक्य, एवं तन्मूलक पारिवारिक--सामाजिक, तथा राष्ट्रीय संघटन का मूलोच्छेद—

'श्रीमान्' के अर्द्धाकाश को पूर्ण करने वाली 'श्रीमती' श्रीमान् की सत्ता से अभिन्न बन जाया करती है, जिस अभिन्नसत्ता के आधार पर ही भारतीय वह सांस्कृतिक 'दाम्पत्य' धर्म्म प्रतिष्ठित है, जिसे आज के भिन्नसत्तावादियोंनें, किंवा भिन्नभातिवादियोंनें सर्वथा ही छिन्न–भिन्न कर डाला है, जैसाकि वर्त्तमान युग के महान् ? सांस्कृतिक ? आयोजनों, उत्सवों, एटहोमों, पार्टियों से सम्बन्ध रखने वाले आमन्त्रण–निमन्त्रण–पत्रों के **'श्रीमान्–श्रीमती'** लक्षण पार्थक्य–भावों से स्पष्ट है।

भारतीय आमन्त्रण--निमन्त्रण--पद्धति में जहाँ पति, और पत्नीरूप शिवभाव अर्द्धनारीश्वररूप से अभिन्न है, 'श्री' से [पत्नी से] युक्त होकर ही 'मान्' जी 'श्रीमान्जी' कहलाए हैं, वहाँ आज के केवल मनःशरीरधर्म्मा--भूतसम्बन्धों में सचमुच में आत्मबुद्धिमूलक--सत्तैक्य का अभाव ही तो है। अतएव दोनों का दाम्पत्य आज आत्मसत्तैक्य से पृथक होता जारहा है। और तद्रूपपरिणामस्वरूप ही श्रीमान्जी पृथक् हो गए हैं श्रीमतीजी से, एवं श्रीमतीजी पृथक बन गई हैं श्रीमान्जी से। यही है वर्त्तमानयुग की भूतसभ्यता का एक उदाहरण, जिसमें घोषणा तो की जारही है वर्गभेद के उच्छेद की। एवं वर्गभेद स्थापित किया जारहा है पारिवारिक जीवन में भी उत्तरदायित्वशून्य–कर्म्मशून्य–'अधिकार' शब्दमूलक व्यक्तित्वविमोहन के द्वारा।

७६--भारतीय--सांस्कृतिक--परम्परानुगत अभिन्नत्व, एवं तन्मूलक कुलवृद्धानुगत--समाजवृद्धानुगत--राष्ट्रवृद्धानुगत अभिन्न आमन्त्रण-निमन्त्रण--व्यवहार—

भारतीय–सांस्कृतिक–परम्परा में तो परिवार के भी एकमात्र वृद्ध–कुलपुरुष को ही प्रधानता दी जाती है लोक–विधि-विधानों में, जबकि आज के सांस्कृतिक ? वातावरण में हमारा सांस्कृतिक–ऐक्य सर्वथा नाना-भावों में हीं परिणत होता जारहा है। **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'** ही यहाँ का सांस्कृतिक–प्रतिष्ठान है, जिसके द्वारा प्रकृतिमूलक नानात्व ब्रह्ममूलक एकत्व से सर्वात्मना नियन्त्रित हुआ है। यही प्रकृतिसिद्ध वर्ग-

भेदात्मक वह अभेदसत्तात्मक प्रतिष्ठान है, जिसके इत्थंभूत निर्विरोध समन्वय का एकमात्र श्रेय शिवशक्तिसमन्वय के द्रष्टा इस सांस्कृतिक–पावन भारतराष्ट्र को ही प्राप्त हुआ है, जो दुर्भाग्यवश केवल जड़भूतवादी दृष्टिकोण के सङ्गदोष से आज अभिभूत ही हो चला है । जिस अभिभूति के कारण हीं वर्गोच्छेदभ्रान्ति के माध्यम से आज आत्मसत्ता–प्रतिष्ठा--शून्या यह समानतारूपा विषमता अङ्ग - प्रत्यङ्ग में वर्गभेद का ही संस्थापन करती जारही है, इति नु महद्दुःखास्पदम् ।

७७--पञ्चपर्वात्मक विश्व की अन्नादभावानुगता त्रिपर्वता का समन्वय—

हाँ, तो निवेदन किया जारहा था कि, अन्नादाग्नि, तथा आद्यसोम, दोनों समन्वित होकर 'अत्ता' रूप से ही शेष रह जाते हैं । स्वायम्भुव सत्याग्निरूप अन्नाद का आद्य पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पतिसोमरूप अन्न है । सौरदेवाग्निरूप अन्नाद का आद्य चान्द्र वृत्रसोमरूप अन्न है । एवं पार्थिव भूताग्निरूप अन्नाद का आद्य चान्द्र वृत्रसोम के प्रवर्ग्यांश से उत्पन्न ओषधिरूप अन्नसोम है । यों तीन विश्वाग्नियों के तीन सोम प्रमाणित हो रहे हैं । तीन अग्नि–सोम--युग्म सुप्रसिद्ध हैं अग्नीषोमात्मिका सम्वत्सरविद्या में । ओषधिसोम पार्थिव भूताग्नि में गर्भीभूत है, चान्द्रसोम सौरदेवाग्नि में गर्भीभूत है, एवं ब्रह्मणस्पतिसोम स्वायम्भुव सत्याग्नि में गर्भीभूत । यों तीन हीं पर्व प्रधानरूप से शेष रह जाते हैं पाँच पर्वों के, जिन्हें क्रमशः **स्वयम्भू–सूर्य्य--पृथिवी**--नामों से व्यवहृत किया गया है । स्वयम्भू–सूर्य्य–मध्यस्थ पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पतिसोम, सूर्य्य–पृथिवी--मध्यस्थ प्रत्यक्ष चन्द्रसोम, तत्प्रवर्ग्यभूत ओषधिसोम, तीनों सोमपर्व यों अन्नादाग्निगर्भ में आकर अन्नादाग्नि--व्यवहार के ही समर्थक बने हुए हैं । इसी अन्नादाग्निप्राधान्य को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

द्वयं वा इदं- अत्ता चैव, आद्यञ्च । तत्–यदा–उभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते नाद्यम् । स वै यः स अत्ता, अग्निरेव सः । —शत० १०।६।२।१,२,।

७८–तात्त्विक नित्यवेद के पाँच विवर्त्त, एवं वेदात्मक विश्व—

अग्नीषोमात्मक उक्त प्रासङ्गिक विश्वस्वरूप–विश्लेषण के द्वारा अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य--चन्द्रमा-पृथिवी-की समष्टिरूप पञ्चपर्वा विश्व अन्नादाग्नि की दृष्टि से त्रिपर्वा ही बन रहा है । तीनों अन्नादाग्निपर्वो की समष्टि से भी विश्वस्वरूप परिगृहीत हो जाता है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१–ब्रह्मनिःश्वसितवेदः [सत्याग्निः]—अग्निः—स्वायम्भुवः
२–सुब्रह्मार्थववेदः [ब्रह्मणस्पतिसोमः]-सोमः—पारमेष्ठ्यः -स्वयम्भूः (१)
३–गायत्रीमात्रिकवेदः [देवाग्निः]—अग्निः—सौरः -सूर्य्यः (२) —समष्टिर्विश्वम
४–सुब्रह्मार्थर्ववेदः [वृत्रसोमः]—सोमः—चान्द्रः -पृथिवी (३)
५–यज्ञमात्रिकवेदः [भूताग्निः]—अग्निः—पार्थिवः

७९–संयती–क्रन्दसी–रोदसी–त्रैलोक्यात्मक–त्रिपर्वा–महाविश्व का स्वरूपसमन्वय—

अग्नी–सोमात्मक, अतएव अग्निप्रधान विश्व के उक्त **स्वयम्भू–सूर्य्य–पृथिवी**–तीनों पर्व क्रमशः सृष्टिसाक्षी प्रजापति की मनः–प्राण–वाक्–कलाओं से अनुप्राणित मानें जायँगे व्यष्टिविश्वपर्वों की भाँति। स्वयम्भू को मनोमय माना जायगा, सूर्य्य को प्राणमय कहा जायगा *, एवं पृथिवी को वाङ्मयी कहा जायगा। अतएव तीनों पर्वों को क्रमशः ज्ञान–क्रिया-अर्थ–शक्तिमय माना जायगा। एवं इसीलिए मनोमय–ज्ञानशक्तिलक्षण स्वयम्भू को महाकाली से समन्वित माना जायगा, प्राणमय–क्रियाशक्ति–लक्षण सूर्य्य को महासरस्वती से युक्त माना जायगा। एवं वाङ्मय अर्थशक्तिलक्षण पार्थिवविवर्त्त को महालक्ष्मी से अनुप्राणित कहा जायगा। यों अमृत–मर्त्य–समष्टिरूप–त्रिपर्वा विश्व के तीनों पर्वों को क्रमशः त्रिशक्तिसमन्वित कहा जायगा। संयतीत्रैलोक्याधिष्ठाता स्वयम्भू, क्रन्दसीत्रैलोक्याधिष्ठाता सूर्य्य, एवं रोदसीत्रैलोक्याधिष्ठाता पार्थिवाग्नि, तीनों के समन्वय से कृतशरीरी महाविश्व इन्हीं त्रैलोक्यशक्तियों से सञ्चालित है।

८०-शक्तित्रयानुगता-शक्तिद्वयगर्भिता-महालक्ष्मी, एवं तत्प्रधान-मनोनिबन्धन–दीपावलीपर्व का संस्मरण, तथा तन्मूलक–'मनसा–वाचमक्रत' का समन्वय—

प्रस्तुत दीपावलीपर्व से अनुप्राणिता महालक्ष्मी का सांस्कृतिक–आयोजनात्मक लोकपक्ष तथाकथित तीनों महाशक्तियों में से मनोऽनुगता–[चान्द्रसोमानुगता], पार्थिवी–वाङ्मयी–महालक्ष्मी से ही प्रधान–रूपेण सम्बद्ध है। इसी सम्बन्धसूत्र के स्पष्टीकरण के लिए आरम्भ से अबतक के सन्दर्भ के द्वारा शिवशक्तिस्वरूपानुबन्धी विभिन्न विवर्तों का दिग्दर्शन ही करा देना पड़ा है। समुद्रवसना, पर्वतस्तनमण्डला, विष्णुपत्नी [यज्ञपत्नी] पार्थिवी, चान्द्रमनोमयी–वाङ्मयी गाता लक्ष्मी के प्राकृतिक–नैदानिक–स्वरूप के पूजनार्च्चन–यशोवर्णन से सम्बन्ध रखने वाले महान् सांस्कृतिक–दीपावली–नामक-महालक्ष्मीपर्व की यही मूलप्रस्तावना है, जिसे आधार मानकर ही इस पर्व के लोकपक्ष का संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना है। '**यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत**' इत्यादि माङ्गलिक–संस्मरणमात्र से अनुप्राणित 'मनसा' शब्द चान्द्रसोमभाव का, तथा 'वाचम्' शब्द पार्थिवलक्ष्मी-भाव का सूचक बना हुआ है। इन्हीं सब अनुगम–भावों के कारण '**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत०** इत्यादि मन्त्र को हमने महालक्ष्मीसंस्मरणात्मक दीपावलीपर्व का माङ्गलिक–उपक्रम मान लिया है।

८१--ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिप्रधान-विश्व के स्वयम्भू-सूर्य्य-पृथिवी--नामक तीन महिमाविवर्त्त, तदनुगत ब्रह्म-क्षत्र-विट्-वीर्य्य, एवं तत्स्वरूपसंरक्षिका महाकाली-महासरस्वती महाकाली-रूपा तीन शक्तियाँ---

समष्ट्यात्मक विश्व के स्वयम्भू-सूर्य्य–पृथिवी, नामक ज्ञान–क्रिया–अर्थप्रधान पर्व ही क्रमशः ब्रह्म–क्षत्र–विट्–भावों के प्रवर्त्तक माने गए हैं, जो तीनों प्रकृतिसिद्ध वीर्य्य ही ब्राह्मण–क्षत्रिय-वैश्य--वर्णों की अन्तर्य्यामप्रतिष्ठा बने रहते हैं। महाकालीप्रधाना महासरस्वती स्वायम्भुवी ज्ञानशक्ति है, यही ब्राह्मणवर्णा–

---

* **प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः** —प्रश्नोपनिषत

धिष्ठात्री है। ब्रह्मवीर्य्य के द्वारा महासरस्वतीप्रधाना महाकाली सौरी क्रियाशक्ति है, पौरुषशक्ति है, यही क्षत्रियवर्ण की अधिष्ठात्री है क्षत्रवीर्य्य के द्वारा। एवं महाकालीरूपा ज्ञानशक्ति, महासरस्वतीरूपा क्रिया-शक्ति, दोनों सूक्ष्मशक्तियों के आधार पर व्यक्त होने वाली [तद्गर्भितैव] महालक्ष्मी–पार्थिवी–अर्थशक्ति है, यही वैश्यवर्ण की मूलाधिष्ठात्री है विड्वीर्य्य के द्वारा।

८२--पार्थिवपुष्टिसमन्वित मनःप्रधान वैश्यवर्ण, तवं तदनुगता अर्थशक्ति, तथा तत्प्रधान 'दीपावली' नामक राष्ट्रीय पर्व—

इसी दृष्टि से इस दीपावली पर्व को–'**मनसा वाचमक्रमत**' रूपेण मनस्तन्त्रप्रधान–अर्थशक्तिसंग्राहक [न तु उपयोगकर्त्ता] मात्र वैश्यवर्ण से अनुप्राणित मान लिया गया है, जो वर्त्तमानयुग का दीपावलीपर्व अपने आपको अर्थप्राधान्यवाद से अपनी प्राणप्रतिष्ठारूपा ब्रह्मक्षत्रसमन्विता [ज्ञान-पौरुष--भावात्मिका–महाकाली–महासरस्वती–रूपों को विस्मृत करता हुआ 'दीवाली' [दीवाला–लक्ष्मीविहीनता] रूप में हीं परिणत करता जारहा है। सचमुच आज का राष्ट्र दीपावलीपर्व का आयोजन कर अपनी ज्ञान–पौरुषशून्यता–अर्थैषणा के व्यामोहन से 'दीवाली' का ही आयोजनभक्त बनता जा रहा है। महाकाली–महासरस्वतीरूपा–ज्ञानपौरुषशक्तियों से समन्वित होकर राष्ट्र की वर्त्तमाना 'दीवाली' 'दीपावली' रूप में परिणत होती हुई राष्ट्र–लक्ष्मी को स्थिरत्त्व प्रदान करे, इसी मङ्गलभावना से दीपावलीपर्व का लोकपक्षात्मक आयोजनस्वरूप सांस्कृतिक-आयोजनपरायणा आस्था–श्रद्धाशीला प्रजा के सम्मुख प्रणतभाव से उपस्थित हो रहा है, जिस एवंविधा श्रद्धा--आस्थापरायणा श्रद्धेया राष्ट्रप्रजा की मङ्गलमयी वाणी का इन शब्दों में राष्ट्रऋषि ने यशोगान किया है कि—

अत्रा सखायाः--सख्यानि जानते--

"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि"

८३–महालक्ष्मी के आगमानुगत स्वरूप का उपक्रम, एवं आगमीय ध्यानमन्त्र—

'**सक्तुमिव तितउना पुनन्तः०**' इत्यादि मन्त्र को आधार बना कर मनः-प्राण-गर्भिता वाङ्मयी लोकलक्ष्मी के अनेक विवर्त्तों का नैगमिकस्वरूप विज्ञ पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा की गई। अत्र शेष रह जाता है महालक्ष्मी का आगमिक–स्वरूप, जिसका औपासनिक रहस्यपूर्ण स्वरूप तो रहस्यपूर्ण–आगमाम्नाय में हीं सुरक्षित–सुगुप्त है, जिसके आंशिकबोध से भी यह जड़प्रज्ञा अपरिचित हैं। रही बात इसी के लोकायोजनात्मक-आगमीय स्वरूप की, सो तत्सम्बन्ध में तो सभी को अपने भावनाप्रसूनार्पण का समानाधिकार प्राप्त है। इसी सामान्याधिकारक्षेत्र से महालक्ष्मी के उस आगमिक ध्यानमात्र का संस्मरणमात्र कर लिया जाता है, जो पूर्व के विजयदशमीपर्व–प्रकरण में भी सन्निविष्ट है।

माणिक्यप्रतिमप्रभां हिमनिभैस्तुङ्गैश्चतुर्भिर्गजै—
हस्तग्राहितरत्नकुम्भसलिलैराषिच्यमानां सदा ॥
हस्ताब्जैर्वरदानमम्बुजयुगाऽभीतीर्दधानां हरेः—
कान्तां, काङ्क्षितपारिजाततिलकां वन्दे ! सरोजासनाम् ॥१॥

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै—
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरापिच्यमानां श्रियम् ॥
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः, किरीटोज्ज्वलां—
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बललितां वन्देरविन्दस्थिताम् ॥२॥

८४–ध्यानमन्त्रों का अक्षरार्थसमन्वय—

"सौर हिरण्मय मण्डलानुगति से जिसके बाह्य–लोकात्मक- भौतिक शरीर की कान्ति सुवर्णसदृशा है, दिक्पालरूप ऐरावतादि चार श्वेतगजों के शुण्डादण्डों से परिगृहीत सोमरसामृत से परिपूर्ण अमृतघटजलों से जिसका निरन्तर अभिषेक होता रहता है, वरमुद्रा, कमलद्वय, अभयमुद्रा, आदि जिसके नैदानिक आयुध हैं, सप्तवर्णात्मक, अतएव श्वेतवर्णात्मक सूर्य्यबिम्बलक्षण ज्योतिःपुञ्ज, तथा चान्द्रज्योतिःपुञ्ज जिसके उज्जल किरीट हैं, सौर हिरण्मयाभरूप 'पीतपट' ही जिसका मसृण परिधान है, (अतएव जो उपास्या भगवती उपासक भगवान् वासुदेव कृष्ण की भाँति पीताम्बरा नाम से प्रसिद्ध हैं), कमलासनरूप भूपद्म पर विराजमाना ऐसी पार्थिवत्रैलोक्यव्याप्ता वाङ्मयी महालक्ष्मी को हम प्रणतभाव से (दण्डवत्–मुद्रा से) प्रणामाञ्जलि ही समर्पित कर रहे हैं"–इत्यक्षरार्थक उक्त ध्यानमन्त्र के नैदानिक-भावों का समन्वय यद्यपि पूर्वप्रकरण के दशमहाविद्या--परिच्छेदों में यत्रतत्र किया जाचुका है। तथापि प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या दो शब्द तत्सम्बन्ध में अत्रापि सापेक्ष बन रहे हैं।

८५–आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र, एवं तदनुगत प्रतिद्वन्द्वी दैव, तथा आसुरभाव—

भृग्वङ्गिरोधारामय, आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र में ही आङ्गिरसी सरस्वती, तथा भार्गवी-आम्भृणी नाम से प्रसिद्धा लक्ष्मी का आविर्भाव माना है निगमागमाचार्य्योंनें। इस आपोमय पारमेष्ठ्य-मण्डल में **आसुर**, और **दैव**, दोनों प्रतिद्वन्द्वीभाव भी समाविष्ट माने गए हैं। विशुद्ध आपोमय मण्डल **आसुरमण्डल** है, जिसके अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) माने गए हैं '**वरुणदेवता**'। तमःप्रधान–आप्य–प्राण ही असुर है, तदुक्थरूप आप्य–मूलप्राण ही वरुण है। तदनुगामी वारुणरस ही तो समुद्रमन्थनानुगता **वारुणी**–कहलाई है। एवं ठीक इस से विरुद्धधर्म्मा सौरमण्डलानुगत, अतएव तेजोमय, ज्योतिर्म्मय आप्यमण्डल ही देवमण्डल है, जिसके द्वारा ऐरावत का आविर्भाव प्रतिपादित है पुराण में। जोकि ऐरावत इन्द्रवाहन मान लिया गया है। ज्योतिर्म्मय–सौरभावानुगत यही पारमेष्ठ्य मण्डल **दैवमण्डल** है, जिसके अतिष्ठावा माने गए हैं **इन्द्रदेवता**।

८६–देवघन हिरण्मय सूर्य्य, एवं हिरण्यतेजोमयी हिरण्यवर्णा काञ्चनकान्तिसन्निभा पद्मासना महालक्ष्मी के नैदानिक स्वरूप का समन्वय—

सौरतत्त्व से समन्वित, देवभावमय, पारमेष्ठ्य तत्त्व का ही नाम (अङ्गिरागर्भिता भृगुधारा का ही नाम) आम्भृणीवाक् है, जिसका आपोमयी पृथिवी से अनुप्राणिता लोकलक्ष्मीरूप से व्यक्तीभाव हुआ है। इसी सौर-ज्योतिर्म्मय देवप्राणानुगत–इन्द्रसम्बन्ध से '**काञ्चनसन्निभा**' को इसका नैदानिक स्वरूप मान लिया गया है। इसी इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से दीपावली–महोत्सव में इन्द्रपूजन भी विहित है–(विहित था उन युगों में, जब कि

माता लक्ष्मी अपने आत्म-देवानुगत-सांस्कृतिक-स्वरूप से समन्वित थीं । आज तो पूजन होता है उन खाता-बहियों का ही प्रधानरूप से, जो अलक्ष्मीप्रवर्त्तक कल्पित-मायाचारों के ही अनन्य साधक प्रमाणित हो रहे हैं । **'हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्'** इत्यादि के अनुसार सौरदेवप्राण हिरण्य तेजोमय है अपने बाह्य-भूतभाव से । अतएव तत्तेजोमयी पार्थिवी-सौरी लक्ष्मी भी **'हिरण्यमयी'** ही कहलाई है ।

८७-महालक्ष्मी कमला, तत्प्रतिद्वन्द्विनी महालक्ष्मी धूमावती, तथा दोनों के नाक्षत्रिक-रोहिणी-ज्येष्ठा-विवर्त्तों का समन्वय, एवं कमलानुगता सुखरात्रि, और धूमावत्यनुगता दारुणरात्रि—

अर्णवसमुद्र में निवास करने वाले सदाशिव-विष्णु की अर्द्धाङ्गिनी दशमी महाविद्या का नाम ही 'कमला' है, जो विश्वपर्वों में अन्तिमपर्व-स्थानीय पार्थिव-विवर्त्त से समन्विता होती हुई **'अन्तिम-महाविद्या'** मान ली गई है आगमशास्त्र में । क्षत-विक्षताङ्गी-विभिन्न-रूक्ष-वर्णात्मिका-चञ्चला-दुष्टप्रकृतिरूपा-लम्बलम्बायमाना-मलिन-जीर्ण-वस्त्रकन्थाधारिणी-रूक्ष-विकीर्ण-विमुक्तकेशान्विता-पुरुषवञ्चिता-विधवा-सच्छिद्र-विभक्त दन्तयुता-विनष्टाश्व-भग्न-काकध्वजयुक्त-रथारूढा-विलम्बितपयोधरा-शूर्प (छाजला) हस्तयुक्ता-अत्यन्त ही कर्कशा-विकम्पितहस्ता-स्थूलतम नासायुक्ता-अत्यन्त कुटिल-क्रूरदृष्टि-परायणा-बुभुक्षा-पिपासा से सदैव आतुरा-प्रचण्ड भयोत्पादिनी-सम्पूर्ण कलहों की मूलाधिष्ठात्री, किन्तु अपने उपास्य आश्रितों के लिए इत्थंभूतापि अभीप्सित वरप्रदान-निपुणा-सप्तमी महाविद्या माता धूमावती भगवती की कनिष्ठा भगिनी ही 'कमला' नामकी दशमी महाविद्या है । खगोलीय नक्षत्रों में **'रोहिणी'** नक्षत्र कमलाशक्ति का प्रतीक है, तो रोहिणीनक्षत्र से षड्भान्तर पर स्थित, वृश्चिक राशि में भुक्त अवरोहिणीरूप **ज्येष्ठा** * नक्षत्र धूमावती का प्रतीक माना गया है । धूमावती आसुरप्राण-समन्विता है, तो कमला दैवप्राणान्विता है । आसुरप्राण-**'जघान नवतीर्नव'** रूपेण अपने महिमारूपों से ९९ संख्याओं में विभक्त है, तो देवप्राण **'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः'** के अनुसार ३३ वर्गों, कोटियों-विभागों में ही विभक्त है । देवताओं की ३३ कोटियाँ प्रसिद्ध हैं, तो असुरों की ९९ कोटियाँ (त्रिगुणित कोटियाँ) प्रसिद्ध हैं ऋग्वेद में । इस त्रिगुणित भावानुबन्ध से, तथा आपोमय वारुणभाव के प्राथम्य से असुर स्वयम्भू प्रजापति के ज्येष्ठ पुत्र कहलाए हैं, एवं सौरमण्डल में व्यक्त होने वाले इन्द्रप्रधान देवदेवता तदपेक्षया कनिष्ठ पुत्र माने गए हैं । अतएव देवप्राणप्रधाना शकटाकारा-रोहिणी को **'कनिष्ठा'** मान लिया गया है, एवं आसुरप्राणप्रधाना अवरोहिणी को-**'ज्येष्ठा'** मान लिया गया है । कनिष्ठा रोहिणी ही आकाशमण्डलीया-नाक्षत्रिक-लक्ष्मी है, जिस की सविताप्रधान-अर्द्ध दैवाकाश में प्रधानता मानी गई है । ज्येष्ठा अवरोहिणी आकाशमण्डलीया-नाक्षत्रिक-अलक्ष्मी है, जिस की वरुणप्रधान अर्द्ध आसुराकाश में प्रधानता मानी गई है । अतएव रोहिणीनक्षत्र का दर्शन जहाँ माङ्गलिक माना गया है, वहाँ ज्येष्ठानक्षत्र का दर्शन अमाङ्गलिक माना गया है । अतएव मनस्तन्त्रानुगता भावुकता के संरक्षक,

---

*-क्षुत्-पिपासा-मलं-ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।
अभूतिमसमृद्धिञ्च सर्वं निर्णुदये पाप्मानम् ॥
—तै० आ० १०।६६

मान्यतात्मक ज्यौतिषशास्त्र के फलितांश ने रोहिणीनक्षत्रानुगत जन्म को जहाँ माङ्गलिक माना है, वहाँ ज्येष्ठानक्षत्रप्रसूति को अमङ्गलमयी घोषित किया है। रात्रिविद्यापेक्षया कमलातत्त्व का **'सुखरात्रि'** से सम्बन्ध **है,** एवं धूमावती का **'दारुणरात्रि'** से सम्बन्ध है।

८८-विश्वलक्ष्मीरूपा कमला, तथा विश्व-अलक्ष्मीरूपा धूमावती के विभिन्न स्वरूपों का पार्थिवजगत् में साक्षात्कार—

रोहिणीनक्षत्रानुप्राणिता कमला जहाँ सृष्टिस्वरूपसंरक्षिका है, वहाँ अवरोहिणीनक्षत्रानुप्राणिता धूमावती सृष्टिस्वरूपविध्वंसिनी है। भोगैश्वर्य्य, सुख-सम्पत्ति, ऋद्धि-वृद्धि, जीवनीयरसानुगत उर्वरभूप्रदेश, पुष्पफल-सम्पन्न ओषधि-वनस्पतिवर्ग, सुमति, आदि जहाँ कमला के अनुग्रह हैं, वहाँ भोगशक्तिहीनता, अस्मितालक्षण अनैश्वर्य्य, दुःख-विपत्ति,-ह्रास-क्षय, जीवनीयतत्त्वविहीन-निष्प्राण ऊसर भूप्रदेश, फलपुष्पपत्रविहीन रूक्ष स्थाणुरूप वृक्षादि, कुमति, आदि धूमावती के उद्बोधनात्मक निग्रह हैं। पुरुषसमन्विता माता प्रकृति से नित्यसमन्विता माता धरित्री सर्वविध भोगैश्वर्य्य-परिग्रहों से सहजरूपेणैव समन्विता बनती हुई-**'वसुन्धरा'** नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु देखते हैं, देख रहे हैं कि, वर्त्तमानयुग का प्रकृतिवादी मानव इन प्राकृतिक भोगैश्वर्य्यों से वञ्चित रहता हुआ सभी क्षेत्रों में अपने आपको, परिवार को, समाज को, एवं सर्वोपरि आज तो सम्पूर्ण राष्ट्र को ही दीन-हीन-दरिद्री-अभावग्रहग्रस्त-घोषित करता हुआ-**'हाय रोटी, हाय कपड़ा, हाय मकान'** के करुणक्रन्दन से ही इतस्ततः दन्द्रम्यमाण है। क्यों ?, का उत्तर यही धूमावती है, जो लोककमला (लोक-लक्ष्मी) का ही रूपान्तर माना गया है। जिस निर्ऋतिलक्षणा, घोरघोरतमा महापाप्मा-महाशना-धूमावती के रुद्र, यम, वरुण, आदि प्राण सहयोगी माने गए है वेदशास्त्र में। **'घोरा वै पाप्मा निर्ऋतिः'** (शत० ७।२।....।११।) से उपवर्णिता निर्ऋति ही आगमशास्त्र की वह धूमावती है, जो सर्वैश्वर्य्यों की विद्यमानता में भी मानव को सर्वाभावग्रहग्रस्त बनाए रखती है।

८९-आत्मबुद्धिसमन्विता श्रीः, मनःशरीरसमन्विता लक्ष्मीः, दोनों के समन्वय से भाग्यलक्ष्मी की पूर्णता, एवं श्रीविहीना लक्ष्मी से भाग्यश्री का क्रमिक-अभिभव—

लोकलक्ष्मीरूपा, ऐश्वर्य्यलक्षणा कमला जब अपनी आत्मप्रतिष्ठारूपा 'श्री' से वञ्चित करदी जाती है भूतासक्ति के द्वारा, तो यही लक्ष्मी अलक्ष्मी बन जाती है। यों कमला ही आत्मश्री से पराङ्मुख बन कर धूमावती बन जाती है, कनिष्ठा ही ज्येष्ठा बन जाती है, दशमी हीं सप्तमी बन जाती है। प्रसिद्ध है कि, धर्म्मानुगत धन जहाँ मानव को उत्तरोत्तर अभ्युदय की ओर लेजाता है, वहाँ वही धन धर्म्मप्रतिष्ठा से वञ्चित होकर, आज की विधानभाषानुसार धर्म्मनिरपेक्ष बन कर अधर्म्मसहचारी बनता हुआ मानव के प्रत्यवायात्मक पतन का ही कारण बन जाया करता है। **'तस्मादु प्राणाः श्रियः'** (शत० १।१।४।....) के अनुसार भूतलक्ष्मी की मूलप्रतिष्ठारूप 'प्राण' ही वह 'श्री' है, जिसे पूर्व में अव्यक्तभावात्मिका **'अमृतालक्ष्मी'** कहा गया है। **आत्मबुद्ध्यनुगता भगचतुष्टयी से समन्विता अव्यक्ता प्राणसम्पत्ति ही जहाँ-'श्रीः' है, वहाँ मनःशरीरानुगता-व्यक्ता भूतसम्पत्ति ही 'लक्ष्मीः' है।** अव्यक्ता आत्मबुद्धिलक्षणा श्री से विहीना व्यक्ता मनःशरीरनिबन्धना लक्ष्मी कदापि भोग्य नहीं बन सकती। अपितु यह तो अलक्ष्मीरूप में परिणत होती हुई निरन्तर नवीन नवीन अभावों-समस्याओं का ही सर्जन करती रहती है।

९०-श्रीविहीना लक्ष्मी के अनुगामी वित्तलोलुप वैश्यों के निग्रहात्मक अनुग्रह से भारतराष्ट्रलक्ष्मी की पराङ्मुखता—

क्या आज के भारतराष्ट्र में भूतलक्ष्मी का अभाव हो गया ?। नहीं। क्या लक्ष्मी के सञ्चयकर्त्ता भलन्दनवंशावतंस वैश्यमहाभाग भूगर्भ में विलीन होगए ?, नहीं। फिर यह दारिद्र्य–अभाव–हीनता–दासता–अभावग्रहग्रस्तता क्यों ?। इसलिए कि--आज की राष्ट्रलक्ष्मी आत्मश्री से सर्वथा वञ्चित हो चुकी है, किंवा आत्मश्री को निरपेक्ष मान बैठी है। इतना ही नहीं, आज तो राष्ट्रलक्ष्मी आत्मदेवभावों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट उन अश्रीक भावों के ही पदचिह्नों के अनुधावनार्थ व्यग्र हो पड़ी है, जिस अनात्मवादात्मक श्रीविहीन शून्यवाद ने ही निरन्तर तीन सहस्रवर्षों से राष्ट्रलक्ष्मी को आत्मश्री से पराङ्मुख प्रमाणित करते हुए इसे धूमावतीरूप में ही परिणत कर रक्खा है। इसीलिए तो आज के राष्ट्र का प्रचुर भूतलक्ष्मीसम्पन्न मानव भी अपने आपको अहर्निश अभावग्रहग्रस्तवत् ही अनुभूत कर रहा है, जबकि पुरातन आत्मदेवात्मक सांस्कृतिक–भारत में थोड़ी भूतलक्ष्मी (भूतपरिग्रह) से भी आत्मश्रीरूप आत्मैश्वर्य्यानुग्रह से मानव तुष्टि–तृप्ति–पथानुगामी बना रहता था। आत्मश्री से वञ्चिता श्रीविहीना लक्ष्मी कदापि मानव के ऐश्वर्य्यभोग का माध्यम तो नहीं ही बन सकती। हाँ, श्रीविहीना, अतएव अलक्ष्मीरूपा इस लक्ष्मी से मानव वैसे निन्द्य–हीन–आचरणों में अवश्य ही निमग्न हो सकता है, निश्चयेन हो ही जाता है, जो असदाचरण कालान्तर में इससे–'मानव' उपाधि भी छीन लिया करते हैं। निष्कर्षतः–श्रीविहीना अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी राष्ट्र के वर्त्तमान लक्ष्मीपुत्रों के ऐश्वर्य्यात्मक सदुपयोग में किस सीमापर्य्यन्त आ रही है ?, इस अनतिप्रश्नात्मक दुरधिगम्य अचिन्त्य प्रश्न का यथार्थ समाधान तो उन लक्ष्मीपुत्रों से ही प्राप्त करना चाहिए--इत्यालप्यालमेव।

९१-श्रीलक्ष्मी संसाधक स्वस्त्ययन--कर्म्मों की विस्मृति, तत्स्थाने च अस्वस्तिरूप कुलक्षणों का प्राचुर्य्य, एवं तद्दुष्परिणामस्वरूप राष्ट्र के ऐश्वर्य्य का विलयन—

महालक्ष्मी के तात्त्विक स्वरूपोपवर्णन के साथ साथ इसके सापेक्ष धूमावतीस्वरूप का ही यशोगान प्रसङ्गतः समन्वित हो पड़ा। अब लोकलक्ष्मी से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक वैसे स्वस्त्ययनभावों का संस्मरण कर लिया जाता है, जिनके अनुगमन से पार्थिवी लोकलक्ष्मी से राष्ट्रप्रजा समन्वित हो सकती है। **'स्वस्त्ययनकर्म्म'** भारतीय कर्म्मक्षेत्र का वह महत्त्वपूर्ण अंश है, जो दुर्भाग्यवश आज अन्यान्य आचार–पद्धतियों की भाँति न केवल उपेक्षणीय ही बन गया है, अपितु आलोच्य भी बनता जारहा है। सुधारवादी की सुधारासक्ति के दुराग्रह से राष्ट्र का महान् माङ्गलिक यह स्वस्त्ययनविभाग सर्वथा ही अन्तर्मुख बन गया है, एवं तत्स्थान में अस्वस्तिप्रवर्त्तक वैसे अकर्म्म–विकर्म्मभाव ही जागरूक हो पड़े हैं, जिनसे लक्ष्मीपरिग्रहों की विद्यमानता में भी राष्ट्र उत्तरोत्तर अलक्ष्मीक ही प्रमाणित होता जारहा है। मादृश जो प्राकृत प्राणी ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा शास्त्रीया आचारपद्धतियों के यथावत् अनुष्ठान–अनुगमन–में असमर्थ हैं, परमकारुणिक महर्षियोंनें ऐसे मादृश–लोकासक्त–प्राकृत–जीवों के लोकाभ्युदय के लिए ही सुसूक्ष्म–प्राणों के परोक्ष–समन्वय-माध्यम से जो सामान्य–जीवनीय–नियम निर्द्धारित किए हैं, उनसे बिना शास्त्रीय आचारों के भी

हम यथाकथंचित्–स्वस्ति–शान्ति–तुष्टि–पुष्टि–पूर्वक जीवनयात्रा का अनुगमन कर सकते हैं। स्वस्तिपूर्वक–जीवन–गमन के साधन होने से ही यह कर्म्मविभाग '**स्वस्त्ययन**' * नाम से प्रसिद्ध हुआ है शास्त्र में।

९२-प्रजापति--ऋषि--पितर--देव--असुर--राक्षसादि से वन्दिता उपस्तुता सर्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी का देवेन्द्र की प्रार्थना से भूतल पर आगमन, एवं तदनुग्रह से देवाधिपति इन्द्र की निरापदता---

"देवेन्द्र, नल, सुबल, केदार, नील, ध्रुव, उत्तानपाद, बलि, कश्यप, दक्ष, कर्द्दम, विवस्वान्मनु, प्रियव्रत, चन्द्रमा, कुवेर, वायु, यम, वह्नि, वरुण, आदि आदि यच्चयावत् नृपतियों, देवताओं. प्रजापतियों से पूजिता, वन्दिता, सर्वैश्वर्य्याधिष्ठात्री श्रीसमन्विता, अतएव 'श्री' रूपा, सर्वलोकभूतसम्पत्स्वरूपिणी वैकुण्ठवासिनी-गोलोकनिवासिनी-पारमेष्ठ्या महालक्ष्मी पार्थिवजगत् में कैसे क्यों प्रतिष्ठित होगई?, इस प्रश्न का नारद, तथा श्रीनारायण की सम्वादभाषा में पुराण ने जो समाधान किया है, उसका निष्कर्षार्थ यही है कि, "एकबार भौमस्वर्गाध्यक्ष 'हरिवाहन' नामक देवेन्द्र ने तपस्वी दुर्वासा का अपमान कर दिया। यों ब्राह्मणापमान से देवेन्द्र का लक्ष्मी ने परित्याग कर दिया। स्वदेवमण्डलसहित अत्यन्त शोकनिमग्न देवेन्द्र प्रजापति ब्रह्मा को अग्रणी कर नारायणधाम-विष्णुलोक पहुँचे। अत्यन्त दैन्य–दारिद्र्यभाव से समन्वित देवगण की यह दीनदशा देख कर करुणावरुणालय नारायण ने लक्ष्मी से आग्रह किया कि, वे पुनः पृथिवीलोक जायँ, वहाँ पार्थिव–अर्णव-समुद्ररूप सिन्धु के यहाँ जन्म धारण करें, एवं पार्थिव–वासवेन्द्र को पुनः अपने अनुग्रह से समन्वित करें। फलस्वरूप वैकुण्ठवासिनी लक्ष्मी का पृथिवीतल पर पार्थिव समुद्र में अवतरण हुआ, देववर्ग ऐश्वर्य्य से समन्वित हुआ, एवं देवताओं नें पूजन–अर्चन–वन्दन से लक्ष्मी को प्रसन्न कर निरापदता प्राप्त की"। [देखिए–ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, प्रकृतिखण्ड ३५–३६ अध्याय]।

९३-वैकुण्ठनाथ-शेषशायी भगवान् विष्णु की प्रेरणा से भूतल पर समागता महालक्ष्मी के मनोभावों की अभिव्यक्ति, एवं तन्मूलक त्याज्य–स्थानों का महालक्ष्मी के द्वारा स्वरूपोद्घाटन–(लक्ष्मी के त्याज्यस्थानों की परिगणना)

जब यों विष्णुभगवान् से प्रेरित होकर सरस्वान्समुद्रवासिनी माता आम्भृणी लक्ष्मी लोकलक्ष्मीरूप से पार्थिवार्णवसमुद्र में अवतीर्ण हुईं थीं, तो उसी समय इन्होंनें सन्धात्मक अपने ये मनोभाव व्यक्त कर दिए थे कि—(१)–जिस मानव के प्रति विद्याप्रदाता आचार्य्य, जन्मप्रदाता मातापितृयुग्म, सगोत्र–सोदक–सपिण्ड–बन्धु–बान्धव, अतिथि, एवं सापिण्ड्यसम्बन्धप्रवर्त्तक-संरक्षक–पार्वण–एकोद्दिष्ट–श्राद्धानुगत कुल–पितर–रुष्ट हो जायँगे, वैसे घर में मैं कदापि प्रवेश नहीं करूँगी। (२)–निरन्तर मिथ्या ही बोलते रहने वाले, अपनी कुत्सित काम–वासनाओं की पूर्त्ति के लिए दूसरों के सम्मुख सदा अभाव–परम्पराओं का करुण–क्रन्दन करते हुए माँगते ही रहने वाले, पुरुषार्थ से सर्वथा तटस्थ रहने वाले सत्त्वशून्य, शय्यारूढ बन कर भोजन–निमग्न बने रहने वाले, स्वार्थसाधनार्थ न्यायालयों में मिथ्यासाक्षी (झूँठी गवाही) देते रहने वाले, मित्र–

---

* नवखण्डात्मिका गीताभूमिका के–'**कर्म्मयोगपरीक्षा**' नामक तृतीय खण्ड में कतिपय–अहोरात्रीय–जीवनकर्म्मानुगत–स्वस्त्ययनकर्म्मों की परिगणना हुई है। प्रकृत में धूमावती से सम्बद्ध अस्वस्तिभाव, तथा कमला से अनुप्राणित कतिपय स्वस्तिभावों का ही स्मरण कर लिया जाता है।

परिजनादि के साथ विश्वासघात करने वाले, आश्रयदाताओं के प्रति कृतज्ञता के स्थान में कृतघ्न प्रमाणित होते रहने वाले, ऐसे हीनाचार के घर में कदापि प्रवेश नहीं करूँगी। (३)-काल्पनिक-चिन्ताओं से अहोरात्र चिन्तित, अनागत–काल्पनिक भयों से सदा भयग्रस्त, अपनी क्रोधावेशपूर्ण अभिनिविष्ट--वृत्तियों से उत्पन्न होते रहने वाले शत्रुओं से ग्रस्त, सुरापान–अगम्यागमन–अखाद्यखादन–ब्राह्मणापमान–धर्म्मनिन्दा–आदि आदि घोरघोर अतिपातकों से समन्वित, अपनी विलासलीलाओं की पूर्ति से ऋणग्रस्त, अपनी वैय्यक्तिक–गृध्नुता के कारण अत्यन्त ही कृपण, ऐसे नराधम के घर में भी मैं प्रवेश नहीं करूँगी।

(४)–जिस भावुक की पत्नी, तथा पुत्रवधु अरक्षिता–अतएव उन्मर्य्यादा-अतएव पुंश्चली बन जाती है, उस घर में मैं कदापि प्रवेश नहीं करती। जो व्यक्ति ऐसी पुंश्चली का अन्न खाता है, अवीरा* स्त्री का अन्न खाता है, पूषाप्राणप्रधान मानवों का अन्न खाता है, ऐसे मानवों का ही जो पौरोहित्य करता है, कदापि मैं उस घर में प्रवेश नहीं किया करती। (५)–जो व्यक्ति सदा ही उद्वेगकरी हीनवाणी बोलता रहता है, जो सदा ही कलहकर्म्मों में आविष्ट बना रहता है, जो साक्षात् कलिरूप में (पापवासनाओं) निमग्न रहता है, जो व्यक्ति सदा ही स्त्रीप्रधान बना रहता है, अर्थात् जो स्त्रियों के परामर्श से ही चलने में अभ्यस्त है, कदापि उसके घर में मैं प्रवेश नहीं किया करती। (६)-जिस घर में कभी भी भगवन्नाम नहीं सुनाई देता, जिस घर में कभी भगवदाराधना–उपासना नहीं होती, जिस घर में कभी ईश्वरात्मा के जानने के सम्बन्ध में कोई औत्सुक्य–नहीं देखा जाता, जिस घर में ईश्वरात्मा का यशोवर्णन नहीं होता, ऐसे आत्महीन–अनीश्वरभावात्मक–नास्तिकतापूर्ण घर में मैं कदापि दृष्टिपात भी नहीं करती। (७)–जो व्यक्ति स्वार्थवश कन्याविक्रय करता है, दिव्यान्नों का विक्रय करता है, ज्ञात–अज्ञातरूपेण मानवों की हिंसा का निमित्त बनता रहता है, अन्यान्य प्राणियों की हिंसा किया करता है, नरकागारसमतुलित ऐसे घर में मैं कदापि प्रवेश नहीं करती। (८)-जो नराधम अपनी दी हुई, तथा दूसरों के द्वारा दी हुई ब्राह्मणवृत्ति (भूमि–गौ–धन–दानादि) का अपहरण कर लेता है, कदापि उस दानहर्त्ता के घर में मैं प्रवेश नहीं किया करती। (९)–जो व्यक्ति विना सम्मान–दक्षिणा के ही अपने कर्म्म करा लेता है ऋत्विक् ब्राह्मणों से, ऐसे पापात्मा–पुण्यहीन के घर मैं कदापि गमन नहीं करती। (१०)–माता, पिता, भार्य्या, गुरुपत्नी, गुरु, आश्रयहीना भगिनी, कन्या, आश्रयविहीन बन्धुवर्ग, आदि का अपनी घोरकृपणता के कारण वैभव रहते भी जो पालन–पोषण नहीं करता, अपितु इन सबको उत्पीड़ित करता हुआ जो कृपण धनसञ्चय के लिए ही आतुर बना रहता है, नरकागार ऐसे घरों में कदापि मैं दृष्टिपात भी नहीं करती। (११)--जो मन्दबुद्धि–मलविसर्गकाल में मूत्र–पुरीष पर दृष्टि डालता है, जो पैरों को पानी से धोकर आर्द्र बना कर सोता है, उसका मैं परित्याग कर देती हूँ। (१२)–जो व्यक्ति अपने गुप्ताङ्गों को आवरणरहित कर (नग्न रूप से) सोता है, जो सदा सोता ही रहता है, सन्ध्या वेलाओं में विशेषतः सोता रहता है, कर्म्मकाल में दिन में भी जो सोता ही रहता है, कदापि तत्र मेरा गमन सम्भव नहीं।

जो व्यक्ति मस्तक, एवं अन्याङ्गों पर तैलमर्द्दन करने के अनन्तर शौचक्रिया करता है, किंवा अन्य कोई नमनादि–पुण्यादि कार्य्य करता है, उसकी 'श्री' उच्छिन्न हो जाया करती है। नखों से तृणच्छेदन, नखों से पादाङ्गुष्ठादि से भूविलेखन, शरीर का, विशेषतः पैरों का मलयुक्त बने रहना, दन्त, वस्त्र, शय्या–आदि की

---

*–पतिपुत्रयुक्ता नारी जहाँ–'**वीरा**' (अरी वीरा–राजस्थान में, एवं अरी वीर–ब्रज में) कहलाई है, एवं 'पतिपुत्रविहीना नारी '**अवीरा**' कहलाई है। पति, और पुत्र ही नारी का लोकवीरत्त्व है।

मलिनता, रूक्ष–श्रीविहीन–उघाड़ा–मस्तक, दन्तद्वारा ग्रासकृन्तन आदि दोष कभी लक्ष्मी को स्थिर नहीं बनने देते। क्रोधावेश में, किंवा सहज दुष्टता के आवेश में आकर जो व्यक्ति किसी के सम्भावित दाम्पत्य (विवाह–सम्बन्ध) का, धर्म्मकार्य्य का अन्यान्य सत्कार्य्यों का विघात करता है, शाबरमन्त्रादि विद्याओं को अपनी जीविका का साधन बनाता है, ग्रामयाचक बना रहता है, अर्थलोलुपता से चिकित्साकर्म्म में आसक्त रहता है, दिवा–मैथुनानुगामी बना रहता है, अङ्गताडन करता रहता है, कदापि तत्र में निवास नहीं करती। [ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-लक्ष्मीचरित नामक २३ वाँ अध्याय]।

कुचैलिनं–दन्तमलोपधारिणं–वह्वाशिनं–निष्ठुरवाक्यभाषिणम् ॥
सूर्य्योदये चास्तमये च शायिनं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम् ॥
* नित्यं छेदस्तृणानां, धरणिविलखनं, पादयोरल्पमार्ष्टि—
दन्तानामल्पशौचं, वसनमलिनता, रूक्षता मूर्द्धजानाम् ॥
द्वे सन्ध्ये चापि निद्रा, विवसनशयनं, ग्रासहासातिरेकः—
स्वाङ्गे पीठे च वाद्यं निधनमुपनेयत् केशवस्यापि लक्ष्मीः ॥
मन्त्रैरयुक्तः, परदारसेवी, आचारहीनः, परसेवकश्च।
सङ्कीर्णचारी परिवादशीलस्तं निष्ठुरं दम्भमयं त्यजामि ॥
अजरजः–खररजस्तथा सम्मार्जनीरजः।
स्त्रीणां पादरजो राजन्! शक्रादपि हरेत् श्रियम् ॥
तृण तोरे, नख लिखे भूमि, निज अङ्ग बजावे।
कौर काट के खाय, भोग कबहू नहिं लावे।
शीघ्र मुखारी करे, पाँव कर सूक्ष्म धोवे।
नगन वसन तन, खाट प्रात–सन्ध्या को सोवे।
रूख शिखा, मैला वसन, दिन मैथुन जे करहिं नर।
इन तेरह अवगुननतें, रहे न विद्या (श्री), लक्ष्मी राजघर ॥

---

* नित्यं छेदस्तृणाना भुवि नखलिखनं पादयोरल्पपूजा (पाठान्तर)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

९५ मेरुपृष्ठ पर समासीन नारायण के प्रश्न करने पर महालक्ष्मी के द्वारा स्वनिवास-योग्य--(स्वस्त्ययनकर्म्मनिबन्धन--अतएव) महामाङ्गलिक स्वावास--निवास--स्थानों का स्वरूपविश्लेषण--(लक्ष्मी के संग्राह्य स्थानों की परिगणना)—

मेरुपृष्ठ पर सुखपूर्वक समासीना महालक्ष्मी से नारायण यह प्रश्न करते है कि–देवि ! वे ऐसे कौन से स्वस्तिकर्म्म है, जिनके अनुगमन से आप सद्गृहस्थों के घरों में निश्चलरूप से प्रतिष्ठित हो जातीं हैं ×। भगवान् के प्रश्न करने पर महालक्ष्मी उत्तर दे रही हैं कि—"जो घर लिपे पुते–स्वच्छ–श्वेत–निर्म्मल-रहते हैं, एवं जिस घर की गृहलक्ष्मी गृहिणी जहाँ विचारों से, आचार से, वस्त्रों से, परिग्रहों से सर्वात्मना सत्त्वगुणान्विता–शुक्ला–उज्ज्वला–कुशला–कलहरहिता–बनी रहती है, ऐसी सर्वगुण–कर्म्मसमृद्धा गृहिणी तथाविध जिस स्वच्छ घर में निवास करती है, जिस परिवार के व्यक्ति कलह से पृथक् रह कर सुमतिपूर्वक समन्वयबुद्धि से निवास करते हैं, हे नारायण ! वहीं में निवास करती हूँ। ऐसी गृहणी के कारण ही जिस घर में गोधूम–यव–आदि धान्य सुवर्णकान्तिसम बने रहते हैं, तण्डुल (चाँवल) जहाँ रजतकान्तिसम बने रहते हैं, सभी अन्नपरिग्रह साफसुथरा किया हुआ–तुषरहित–यथास्थान–सुव्यवस्थित रहता है, निश्चयेन ऐसे व्यवस्थित घर में मैं निवास कर लेती हूँ *। एवमेव जिस घर का सद्गृहस्थ (गृहपति) मानवश्रेष्ठ अपने पारिवारिक व्यक्तियों के प्रति समानविभागशील बना रहता है (परिग्रहविभाजन में विषमता नहीं करता), सदा प्रिय--सत्य--मधुर--वाणी ही बोलता रहता है परिवार में, परिवार के, तथा जाति–समाज के कुलवृद्ध--समाजवृद्धों का श्रद्धापूर्वक परामर्श लेता हुआ वृद्धोपसेवी बना रहता है, स्वयं अपने वाङ्मय भौतिक शरीर से स्वच्छ--निर्म्मल बना रहता हुआ प्रियदर्शी प्रमाणित होता रहता है ÷, यथावसर बहुत कम बोलता है, दीर्घसूत्रता से पृथक् रहता हुआ सदा ही सोत्साह कर्म्म में संलग्न रहता है, निश्चयेन मैं वहाँ निवास कर लेती हूँ। जो मानव सहजरूप से ही धर्म्माचरणशील है, इन्द्रियों को वश में रखता है, विद्यासंस्कारद्वारा जो सहजरूप से ही विनयावनत है, कदापि जो दूसरों के परिताप का कारण नहीं बनता, जो अतिमानात्मक गर्व से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है, जो मानवमात्र के प्रति अनुराग--[हितभावना] रखता है, निश्चयेन वहाँ मैं निवास कर लेती हूँ।

नारायण ! मुझे वैसा मानव प्रिय है, जो मलविशोधनार्थ पर्य्याप्त स्नान करता है, शीघ्र भोजन कर लेता है, रागभावप्रवर्त्तक पुष्पादि के सान्निध्य पर भी जो उनके गन्धघ्राण में आसक्त नहीं होता, जो स्त्रियों

× मेरुपृष्ठे सुखासीनां लक्ष्मीं पृच्छति केशवः।
केनोपायेन देवि ! त्वं नृणां भवसि निश्चला ॥

* शुक्लाः पारावता यत्र, गृहिणी यत्र चोज्ज्वलाः ॥
अकलहा वसतिर्यत्र, तत्र कृष्ण ! वसाम्यहम् ॥१॥
धान्यं सुवर्णसदृशं, तण्डुला रजतोपमाः ॥
अन्नं चैवातुषं यत्र, तत्र कृष्ण ! वसाम्यहम् ॥ २ ॥

÷ कृत्यकेशनखश्मश्रू शान्तो दान्तः शुचिव्रतः।

को नग्नावस्था में नहीं देखता, त्याग, सत्य, शौच, श्रद्धा, आस्तिकता, आदि महान् गुण जिसमें विद्यमान रहते हैं, वहीं मैं निवास करती हूँ। देश–काल–पात्र–श्रद्धा–आदि की अनुरूपता से जो सञ्चित लक्ष्मी का पात्रों में त्याग (दान, और दत्त) करता रहता है, वही मानव मुझे विशेषरूप से प्रिय है। धात्रीवृक्ष (आमले के वृक्ष) में, गोमय (गोबर) में, आचारशुद्ध मानव में, कमलपुष्प में, श्वेतवस्त्र में मेरा सदा ही निवास रहता है। नारायण ! मैं पद्मकर्णिका में निवास करती हूँ (परमेष्ठी मेरा प्रधान आवासस्थान है), पारमेष्ठ्यसोम के प्रवर्ग्यरूप सौम्य चन्द्रमा में मेरा निवास है, सोमयुक्त सौर महेश्वर में मेरा निवास है, पारमेष्ठ्य विष्णु में मेरा निवास है, यज्ञपत्नीरूपा पृथिवी में मेरा निवास है, और निवास है मेरा वहाँ, जहाँ–जिन घरों में नित्य ही उत्सव–मङ्गलाचार होते रहते हैं। मैं उस साध्वी नारी के शरीर में निवास करती हूँ, जो कदापि पति की मर्य्यादाओं का अतिक्रमण नहीं करती, जो सदा अपनी गृहस्थ–स्थिति से सन्तुष्ट रहती है, प्रत्येक आपत्ति को धीरतापूर्वक सह लेती है, सदा ही मधुरभाषण करती रहती है, जो सौभाग्यवती है, शोभन–मन्दस्मित–मुद्राओं से नित्य युक्ता है, जो लावण्यधर्म्म से समन्विता है, अतएव जो प्रियदर्शना है। ऐसी सर्वगुणसम्पन्ना पतिपरायणा नारियों में हीं मैं प्रधानरूपेण निवास करती हूँ। नारायण ! जो नारी पापकर्म्मों में रुचि रखती है, अत्यन्त ही क्रूरस्वभावा है, **जो अपने पति को नियन्त्रण में रखना हीं अपना महान् कौशल मानती है,** अतएव जो उन्मर्य्याद बन कर हीनचरित्रशीला बनी रहती है, ऐसी प्रेतमुखी पिशाचिनी नारी का तो मैं सर्वथा ही परित्याग कर देती हूँ ÷। निष्कर्षतः–सद्गृहिणी, एवं सद्गृहस्थ से युक्त परिवारों में हीं लक्ष्मी का निवास रहा करता है। दाम्पत्य का सहज–धार्म्मिक–आचारात्मक–आश्रमजीवन हीं लोकलक्ष्मी की प्रतिष्ठा बना करता है। ऐसे परिवारों की समष्टिरूप समाज ही पुण्यलक्ष्मीक बना करते हैं। ऐसे समाजों की समष्टिरूप राष्ट्र ही राष्ट्रलक्ष्मी के स्थायी निकेतन बना करते हैं। जिस राष्ट्र की नारी, और नर उन्मर्य्याद बन कर पूर्वोक्त अस्वस्तिभावप्रवर्त्तक अलक्षणात्मक कुलक्षणों–हीनाचारों–अधर्म्माचरणों को लक्ष्य बना लेते हैं, उस राष्ट्र की दाम्पत्यव्यवस्था ही सर्वप्रथम श्रीविहीना बन जाती है। श्रीविहीन दाम्पत्य परिवारों को श्रीविहीन कर देते हैं। श्रीविहीन परिवार कुलरूप समाजों की श्री का अपहरण कर लेते हैं। एवं ऐसे अकुलात्मक–श्रीविहीन कुलों से कालान्तर में राष्ट्र ही श्रीविहीन बन जाता है। लक्ष्मीरूप भूतपरिग्रहों की विद्यमानता में भी तथोक्त अस्वतिभावों से लक्ष्मी श्रीविहीना बन कर अलक्ष्मी–धूमावती–रूप में परिणत हो जाती है, जबकि लक्ष्मीरूप–भूतपरिग्रहों की अल्पता में भी तथोक्त स्वस्त्ययनकर्म्मों से लक्ष्मी की वृद्धि हो जाया करती है, सुसमृद्धा लक्ष्मी इसी स्वस्ति–श्री–भाव से स्थिरा–निश्चला–ऐश्वर्य्यभावानुगता बन जाती है अपने सहचारी कुबेर–इन्द्र–अग्नि–आदि प्राणदेवताओं के साहचर्य्य से, इति नु प्रासङ्गिकम्।

एवं यः कुरुते नित्यं मयोक्तानि च केशव ! ।
तुष्टा भवाभि तस्याहं त्वय्येषा निश्चला यथा ॥
—स्कन्दपुराणान्तर्गते–लक्ष्मीकेशवसंवादे लक्ष्मीचरित्रम

÷–या पापरक्ता–पिशुनस्वभावा–स्वाधीनकान्ता–परिभूयते च ।
अधर्म्मकामा, कुचरित्रशीला, तामङ्गनां प्रेतमुखीं त्यजामि ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

९६-महाभारतीय प्रसङ्ग, एवं तद्द्वारा लक्ष्मी के त्याज्य, तथा संग्राह्य स्थलों की पावन-गाथा—

धर्म्मराज युधिष्ठिर शरशय्यासीन महात्मा भीष्म से प्रश्न करते हैं कि,

> कीदृशे पुरुषे तात ! स्त्रीषु वा भरतर्षभ !
> श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ! ॥ १ ॥

अर्थात् "किंलक्षण पुरुष, तथा स्त्री में श्रीरूपा पद्मा (सरस्वती–समन्विता–लक्ष्मी) निवास करती है ?, अनुग्रह कर मेरी यह जिज्ञासा शान्त कीजिए"। महात्मा भीष्म इस प्रश्न का समाधान भगवान् कृष्ण, तथा जगन्माता रुक्मिणी के संवादरूप से व्यक्त करते हुए कहने लगे कि—

> अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम् ।
> रुक्मिणी–देवकीपुत्रसन्निधौ पर्य्यपृच्छत ॥ २ ॥
> नारायणस्याङ्कगतां ज्वलन्तीं दृष्ट्वा श्रियं पद्मसमानवर्णाम् ॥
> कौतूहलाद्विस्मितचारुनेत्रा पप्रच्छ माता मकरध्वजस्य ॥ ३ ॥
> कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं, सन्तिष्ठसे कानिव सेवसे त्वम् ।
> तानि त्रिलोकेश्वरभूतकान्ते ! तत्त्वेन मे ब्रूहि महर्षिकल्पे ! ॥४॥

भीष्म कहते हैं कि–युधिष्ठिर ! किसी समय प्रद्युम्नमाता जगन्माता रुक्मिणी ने भगवान् नारायण के वक्षस्थल से समालिङ्गिता, अपने प्रचण्ड–प्रखर–ज्योतिर्भाव से तम को जलाती हुई ही मानो ऐसी नारायणाङ्कगता पद्मकान्तिसमतुलिता श्री को लक्ष्य बना कर यही प्रश्न किया था। श्री को इसप्रकार नारायणाङ्क में समालिङ्गित देखने से आश्चर्यविमुग्धनेत्रा बन जाने वाली जगन्माता रुक्मिणी ने स्वयं श्रीरूपा लक्ष्मी से ही यह जिज्ञासा व्यक्त की थी कि (३) ॥—हे लक्ष्मी ! आप किन किन भूतों-प्राणियों–सत्त्वभावों के लिए अनुग्रह करतीं हैं ?, किन में स्थिररूप से प्रतिष्ठित होती हैं ?, एवं किन पर आपका सामान्य अनुग्रह होता है ?। हे महालक्ष्मी ! पृथिवी–चन्द्रमा–सूर्य्य–रूप त्रैलोक्य के अधिष्ठाता भगवान् पारमेष्ठ्य विष्णु की 'कान्ता' जैसे पद पर समासीना, तथा स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक यजुःप्राण के 'जू' रूप वाग्भाग से उत्पन्न आपोमय परमेष्ठी के ऋषिकल्प भृग्वङ्गिरोभाव से ऋषिकल्पा बनीं रहने वालीं ऐसी आप से मैं (श्रीरुक्मिणी) उन सत्त्वों का ही स्वरूप जानना चाहती हूँ, जिन पर आपका अनुग्रह होता रहता है (४) ॥

> वसामि नित्यं सुभगे ! प्रगल्भे–दक्षे नरे–कर्म्मणि वर्त्तमाने।
> अक्रोधने देवपरे–कृतज्ञे–जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥ ५ ॥

हे सुभगे ! सत्या–प्रिया–मधुरा–वाणी से लोकविमोहन करने वाले ऐसे वाग्मी–(प्रगल्भे) में, आलस्य रहित होकर कार्य्य में सफलता प्राप्त करने वाले दक्ष में, प्रकृतिभेदभिन्न–वर्णाश्रमाचारसिद्ध स्वकर्त्तव्य--कर्म्मनिष्ठ

में, प्राकृतिक सम-विषम घटनाओं से समुत्तेजित न हो पड़ने वाले सुशान्त में, देव–द्विज–गुरु–शास्त्र–पूज्य-जनों के प्रति सदैव आस्था–श्रद्धा रखने वाले, अपनी इन्द्रियों को ऐन्द्रियक विषयों की लोलुपता से पृथक् रखने वाले, सर्वोपरि महाप्राण–महासत्त्व–महानिष्ठ में, एवंविध पुरुषश्रेष्ठ में हीं मैं निवास करती हूँ । (५)—ठीक इसके विपरीत—

नाकर्म्मशीले पुरुषे वसामि, न नास्तिके, साङ्करिके, कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते, न नृशंसवर्णे, न चापि चौरे, न गुरुष्वसूये ॥ ६ ॥
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः क्लिश्यन्ति-कुप्यन्ति च यत्र तत्र ॥
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ७ ॥
यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चित्–यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥ ८ ॥

अर्थात्–जो मनुष्य कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा से पराङ्मुख बनते हुए अकर्म्मण्य–सालस बने रहते हैं, ऐसे कर्म्महीन * अकर्म्मण्य में मैं (लक्ष्मी) कदापि निवास नहीं करती । जो व्यक्ति कर्म्मठ तो है, किन्तु ईश्वर–देव–धर्म्म-आदि पर आस्था–श्रद्धा–नहीं रखते, ऐसे आत्मेश्वरदेवश्रद्धाविहीन कर्म्मठ भी नास्तिकों में मैं निवास नहीं करती । जो स्वयं-सङ्करदोष से समन्वित हैं, अर्थात् जो स्वैराचारपरायण–कामभावों से अज्ञात-कुलशील-गोत्र–वर्णादि से वर्णसङ्करभावाक्रान्त हैं, साथ ही स्वयमपि इस संकरदोष के ही अनुगामी बने रहते हुए अपने सङ्करसम्बन्धों से सङ्करप्रजा ही उत्पन्न करते रहते है ऐसी सङ्करप्रजा में भी मैं निवास नहीं करती। मैं वैसे कर्म्मठ–आस्तिक–शुद्धवर्णयुक्त मानव मैं भी निवास नहीं करती, जो उपकारी के उपकार को विस्मृत कर उसके प्रति अपकार करने में प्रवृत्त हो जाता है, जोकि ऐसा नराधम ही 'कृतघ्न' कहलाया है । मैं उस मनुष्य में भी निवास नहीं करती, जो क्षण-क्षण में अपने उद्देश्य, कर्म्मपद्धति बदलता रहता है । मैं उस में भी निवास नहीं करती–जो अपनी उद्दण्डताओं से परिवार का, एवं समाज का उत्पीडक बना रहता हुआ पदे पदे अपनी नृशंसता ही व्यक्त करता रहता है । मैं उस तस्करकर्म्मा नराधम चौरमानव में भी निवास नहीं करती, जो कर्त्तव्यकर्म्मात्मक–पौरुष–से पराङ्मुख बना रहता हुआ अपने मानसिक-शारीरिक–व्यासङ्गों को सफल बनाने की आतुरता से गुप्तरूपेण परसम्पत्ति के अपहरण को ही अपना महान् चातुर्य्य–कौशल मानता रहता है ÷ । वैसे नराधम में भी मैं निवास नहीं करती, जो सावित्रीमन्त्रप्रदाता आचार्य्य के प्रति, तथा विद्याप्रदाता आचार्य्य के प्रति द्रोह–ईर्ष्या–करने लग पड़ता है (६) ॥

और सुनो रुक्मिणीजी ! जो व्यक्ति शारीरिक बल से, मानसिक वीर्य्य से, तथा बौद्धिक पराक्रम से हीन बने रहते हुए, अनुकूलतावश–संघर्षों के साथ तस्करवृत्ति करते हुए प्रकृत्या विद्यमान भी बल-वीर्य्य–पराक्रमों से पराङ्मुख बने रहते हुए, अपने आपको सर्वत्र सभी पुरुषार्थ–कर्म्मों–क्षेत्रों में अपनी मानसिक दुर्बलता–

---

* राजस्थानीभाषा में ऐसे कर्म्मशून्य आलसी को ही 'करमफूटा' कहा गया है ।

÷ सूक्ति प्रसिद्ध है कि—'चोरों के भी क्या कभी चोबारे हुए हैं' । अर्थात् कभी भी तस्करकर्म्मा सम्पत्ति का उपभोक्ता नहीं बन सकता स्वस्ति–शान्ति–समृद्धि–पूर्वक ।

लक्षणा अस्मितारूपा 'हीनग्रन्थि' के कारण सर्वथा असमर्थ ही मानते मनवाते हुए इत्थंभूत हीनतेजोवीर्य्य मन्दप्रज्ञ भाग्यहीन–पौरुषहीन मानव ही अपनी इस हीनता से स्वयं ही सर्वात्मना दुःख पाया करते हैं, एवं अपने इस दुःखों से उत्पीड़ित ये नराधम ही 'यत्र तत्र–सर्वत्र सभी क्षेत्रों में सभी के प्रति अपना आक्रोश ही व्यक्त करते रहते हैं, ऐसे इन नराधमों में मैं कदापि निवास नहीं किया करती। क्योंकि मनोरथ तो इनके अवश्य ही बड़े बड़े होते हैं। किन्तु इनके ये मनोरथात्मक मनोमोदक इनके मनोराज्य में हीं परिभ्रममाण बने रहते हैं। न ये नराधम अपने व्यक्तित्त्वविमोहन के कारण किसी से कुछ कहना चाहते अपने मनोरथों के सम्बन्ध पें, न किसी से कुछ सुनना ही चाहते। अपितु इनके सभी कर्म्म–मनोरथ-गुप्त ही बने रहते हैं। अपने गुप्त षड्यन्त्रों के द्वारा ही ये अपने गुप्त मनोरथों को गुप्तरूप से ही सफल बनाने के लिए निरन्तर आकुल–व्याकुल ही बने रहते हैं, जबकि हीनसत्त्व-हीनप्राण–हीनवीर्य्य-हीनग्रन्थि--हीनप्रज्ञ--हीनपराक्रम--इन मनोराज्यवशवर्त्ती मानवों का एक भी तो गुप्त मनोरथ सफल नहीं हो पाता मेरी तटस्थता के कारण (७) ॥

अन्यदपि रुक्मणी देवी ! जो मूढधी आत्मानुगता ऐश्वर्य्यविभूति के बोध से वञ्चित रहता हुआ मेरे ऐश्वर्य्यरूप–त्रैलोक्यव्यापक–भूमा-भाव से अपरिचित है अपनी हीनग्रन्थिरूपा **'अस्मिता'** के कारण, वही अपने हृदयस्थ विभूतिशाली आत्मदेव से कभी कोई कामना न कर अपने गुप्त मनोरथों को स्वसमान गुप्ततन्त्रायी अस्मिताशाली हीन मानवाधमों से ही गुप्तरूप से ही दैन्यप्रदर्शन के द्वारा मूकभाव से ही याञ्चा करता रहता है, जो ऐसी याञ्चा कदापि सफल नहीं हुआ करती उन तन्त्रायी मायाचारपरायणों गुप्तपथानुगामियों के द्वारा। यों अपने आत्मदेव से कोई याञ्चा न कर (स्वपुरुषार्थ से कुछ भी काम न लेकर) जो व्यक्ति अनात्मभावानुगत परवञ्चकों के दासानुदास बने रहते हैं, सचमुच स्वावलम्बित्त्व से वञ्चित ऐसे परावलम्बी मानवों के इस अभ्यास से इनका स्वप्रकृतिरूप स्वभाव, तदनुगत आत्मा सर्वथैव अन्तर्म्मुख बन जाया करते हैं इन मनोवशवर्त्ती हीनग्रन्थिमानवों के लिए। अतएव ये कल्पना ही नहीं कर सकते आत्मा, तथा आत्मानुगता प्रकृति के महान् ऐश्वर्य्य की। इसप्रकार एकमात्र अस्मितादोष से यों स्वानुगत ऐश्वर्य्यस्वरूप से वञ्चित ये गुप्तमनोरथवादी हीन मानवाधम परवञ्चकों की दासानुदासता से यदा कदा उपलब्ध होते रहने वाले करपट्टिकाखण्डों * से ही (विकम्पितपुच्छ लालसा-लिप्सु श्वान की भाँति) अपने आपको सन्तुष्ट-परमधन्य-कृतकृत्य-मानते रहने की भ्रान्ति करते हुए इस दैन्यभाव में हीं अपना श्री-लक्ष्मी-विहीन भौतिक-पशुजीवन समाप्त कर लेते हैं। रुक्मिणीजी ! सचमुच ऐसे अल्पसन्तोषी–ऐश्वर्य्यकामवञ्चित दीन हीनों की ओर तो मैं प्रयासपूर्वक जानबूझ कर (सम्यक्) ही भ्रूविक्षेप भी नहीं किया करती ÷ **"तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक्"** ॥८॥

---

* रोटी के टुकड़ों

÷ संवादभाषा के माध्यम से महात्मा भीष्म ने–**'यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चित्०'** इत्यादि अष्टम पद्य से उन भावुक मानवों को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण वैसा उद्बोधन प्रदान किया है, जिस उद्बोधन को विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय आत्मनिष्ठ भी मानव अनात्मवादात्मक–शून्यवाद के कारण विस्मृत करता हुआ–'सन्तोष' जैसे अनार्य्यजुष्ट शब्द का अनुगामी बन गया है। आत्मभूमा के अनन्योपासक वेदमहर्षि जहाँ—**'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्–न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्' [जो विभूति नहीं है, उसे प्राप्त करने की अनवरत चेष्टा करते रहना चाहिए।** कदापि किसी भी क्षेत्र में अलंबुद्धि–बस बहुत हुआ-इस

और सुनो रुक्मिणी देवी ! [धर्म्मराज युधिष्ठिर ने महात्मा देवव्रत भीष्म से आरम्भ में जो यह प्रश्न किया था मेरे सम्बन्ध में कि–"कीदृशे पुरुषे तात ! स्त्रीषु वा भरतर्षभ !", सो इसके सम्बन्ध में भी मेरा प्रासङ्गिक निर्णय सुनलो कि]—

"स्वधर्म्मशीलेषु च, धर्म्मवित्सु, वृद्धोपसेवानिरते च, दान्ते ।
कृतात्मनि, क्षान्तिपरे, समर्थे,=क्षान्तासु, दान्तासु तथाऽबलासु ॥९॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु, वसामि देवद्विजपूजिकासु" ।

अर्थात्–जो मानव निगमागमपुराणस्मृतिसिद्ध-वर्णाश्रमाचारानुगत–स्व–स्व-वर्णभेदभिन्न–स्व-स्व-प्रकृति-स्वरूपसंरक्षक-स्व–स्व–स्वधर्म्मों में निष्कारणभाव से आचारनिष्ठ बने रहते हैं, जो मानवश्रेष्ठ ऐसे धर्म्मतत्त्व के रहस्यात्मक–ज्ञानविज्ञानचिन्तन में अपनी गुहानिहितवृत्ति से तल्लीन रहते हैं, जो मानवधुरीण वर्णाश्रम-धर्म्मपरायण वृद्धपुरुषों की सेवा में संलग्न रहते हैं, जो पुरुष अपनी मानसिक–ऐन्द्रियक–शारीरिक, सर्वोपरि बौद्धिक वृत्तियों को मर्य्यादित रखते हुए उच्छृंखल नहीं बन पाते, अतएव जो **'दान्त'** कहलाए हैं–उनमें, जो कृतधी बुद्धियोगनिष्ठा के द्वारा अपने अन्तस्थ अव्ययात्मा के साथ अपने कर्म्मभोक्ता देही जीवात्मा का सम्बन्ध कर आत्मसंवित् प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे निष्कामभावापन्न कृतात्माओं में ×, सत्त्वरजस्तमोगुण–बहुला प्रकृति के गुणात्मक प्राकृत विश्व से सम्बन्ध रखने वाले सुख–दुःख–शान्ति–हर्ष–शोकादि द्वन्द्वभावों के साथ

प्रकार का सन्तोष नहीं करना चाहिए"] यह आदेश–प्रदान कर रहे हैं, श्रुत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृति जहाँ विस्पष्ट शब्दों में—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्-नैनां मन्येत दुर्लभाम्" [मनुः ४।१३७।]

इत्यादिरूप से यह उद्बोधन प्रदान कर रही है कि—**"मानव को अपने अतीत जीवन की असमृद्धि–असफलताओं-निराशाओं से कभी भी अपने आपको निराश नहीं कर लेना चाहिए। अपितु उसे तो मृत्युक्षणपर्य्यन्त ऐश्वर्य्य–लक्ष्मी की ही कामना करते रहना चाहिए, जोकि लक्ष्मी आत्मनिष्ठ मानव के लिए कदापि दुर्लभा–दुष्प्राप्या नहीं है"**, वहाँ–आत्मैश्वर्य्य से सर्वथा विपरीत–अनात्म–मूलक–सन्तोष, श्रुतिस्मृतिविरुद्धा इत्थंभूता अनार्य्यजुष्टा हीनता कदापि भारतीय आत्मनिष्ठ–आस्तिक मानव का तो मन्तव्य नहीं माना जा सकता, नहीं माना गया। **'तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नाहं निवसामि'** वाक्य स्पष्ट रूप से इसी अस्मितामूलक-राष्ट्रैश्वर्य्यविनाशक–सन्तोष का प्रचण्ड विरोध कर रहा है। **ऐश्वर्य्यसंग्रह में जहाँ असन्तोष ही माना है, वहाँ ऐश्वर्य्यभोग में हीं सन्तोष विहित हुआ है शास्त्र में। सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य का संग्रह करते हुए तत्प्रति आसक्त न होना हीं भारतीया आत्मतुष्टि की नैगमिक–व्याख्या है,** जिस इस मर्म्म को न समझने के कारण यह ऐश्वर्य्यसंग्रह के प्रति ही सन्तोष करने लग पड़ा है अनात्मवादी–कल्पित त्यागवादी–शून्यवादी मानव, जिसके इस ऐश्वर्य्यसंग्रहविरोधी सन्तोष से ही राष्ट्रलक्ष्मी का आततायीवर्ग ने अपहरण कर लिया है, इति नु महतीयं विडम्बना कल्पितसन्तोषवादस्य।

× **"कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः"** (उपनिषत्)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लक्षणा अस्मितारूपा 'हीनग्रन्थि' के कारण सर्वथा असमर्थ ही मानते मनवाते हुए इत्थंभूत हीनतेजोवीर्य्य मन्दप्रज्ञ भाग्यहीन–पौरुषहीन मानव ही अपनी इस हीनता से स्वयं ही सर्वात्मना दुःख पाया करते हैं, एवं अपने इस दुःखों से उत्पीड़ित ये नराधम ही 'यत्र तत्र–सर्वत्र सभी क्षेत्रों में सभी के प्रति अपना आक्रोश ही व्यक्त करते रहते हैं, ऐसे इन नराधमों में मैं कदापि निवास नहीं किया करती। क्योंकि मनोरथ तो इनके अवश्य ही बड़े बड़े होते हैं। किन्तु इनके ये मनोरथात्मक मनोमोदक इनके मनोराज्य में हीं परिभ्रममाण बने रहते हैं। न ये नराधम अपने व्यक्तित्वविमोहन के कारण किसी से कुछ कहना चाहते अपने मनोरथों के सम्बन्ध पें, न किसी से कुछ सुनना ही चाहते। अपितु इनके सभी कर्म्म–मनोरथ–गुप्त ही बने रहते हैं। अपने गुप्त षड्यन्त्रों के द्वारा ही ये अपने गुप्त मनोरथों को गुप्तरूप से ही सफल बनाने के लिए निरन्तर आकुल–व्याकुल ही बने रहते हैं, जबकि हीनसत्त्व–हीनप्राण–हीनवीर्य्य–हीनग्रन्थि–हीनप्रज्ञ–हीनपराक्रम–इन मनोराज्यवशवर्त्ती मानवों का एक भी तो गुप्त मनोरथ सफल नहीं हो पाता मेरी तटस्थता के कारण (७)॥

अन्यदपि रुक्मणी देवी ! जो मूढधी आत्मानुगता ऐश्वर्य्यविभूति के बोध से वञ्चित रहता हुआ मेरे ऐश्वर्य्यरूप–त्रैलोक्यव्यापक–भूमा-भाव से अपरिचित है अपनी हीनग्रन्थिरूपा **'अस्मिता'** के कारण, वही अपने हृदयस्थ विभूतिशाली आत्मदेव से कभी कोई कामना न कर अपने गुप्त मनोरथों को स्वसमान गुप्ततन्त्रायी अस्मिताशाली हीन मानवाधमों से ही गुप्तरूप से ही दैन्यप्रदर्शन के द्वारा मूकभाव से ही याञ्चा करता रहता है, जो ऐसी याञ्चा कदापि सफल नहीं हुआ करती उन तन्त्रायी मायाचारपरायणों गुप्तपथानुगामियों के द्वारा। यों अपने आत्मदेव से कोई याञ्चा न कर (स्वपुरुषार्थ से कुछ भी काम न लेकर) जो व्यक्ति अनात्मभावानुगत परवञ्चकों के दासानुदास बने रहते हैं, सचमुच स्वावलम्बित्व से वञ्चित ऐसे परावलम्बी मानवों के इस अभ्यास से इनका स्वप्रकृतिरूप स्वभाव, तदनुगत आत्मा सर्वथैव अन्तर्म्मुख बन जाया करते हैं इन मनोवशवर्त्ती हीन-ग्रन्थिमानवों के लिए। अतएव ये कल्पना ही नहीं कर सकते आत्मा, तथा आत्मानुगता प्रकृति के महान् ऐश्वर्य्य की। इसप्रकार एकमात्र अस्मितादोष से यों स्वानुगत ऐश्वर्य्यस्वरूप से वञ्चित ये गुप्तमनोरथवादी हीन मानवाधम परवञ्चकों की दासानुदासता से यदा कदा उपलब्ध होते रहने वाले करपट्टिकाखण्डों * से ही (विकम्पितपुच्छ लालसा-लिप्सु श्वान की भाँति) अपने आपको सन्तुष्ट-परमधन्य-कृतकृत्य-मानते रहने की भ्रान्ति करते हुए इस दैन्यभाव में हीं अपना श्री-लक्ष्मी-विहीन भौतिक-पशुजीवन समाप्त कर लेते हैं। रुक्मिणीजी ! सचमुच ऐसे अल्पसन्तोषी–ऐश्वर्य्यकामवञ्चित दीन हीनों की ओर तो मैं प्रयासपूर्वक जानबूझ कर (सम्यक्) ही भ्रूविक्षेप भी नहीं किया करती ÷ **"तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक्"** ॥८॥

---

* रोटी के टुकड़ों

÷ संवादभाषा के माध्यम से महात्मा भीष्म ने–**'यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चित्०'** इत्यादि अष्टम पद्य से उन भावुक मानवों को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण वैसा उद्बोधन प्रदान किया है, जिस उद्बोधन को विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय आत्मनिष्ठ भी मानव अनात्मवादात्मक–शून्यवाद के कारण विस्मृत करता हुआ–'सन्तोष' जैसे अनार्य्यजुष्ट शब्द का अनुगामी बन गया है। आत्मभूमा के अनन्योपासक वेदमहर्षि जहाँ–**'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्–न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्' [जो विभूति नहीं है, उसे प्राप्त करने की अनवरत चेष्टा करते रहना चाहिए। कदापि किसी भी क्षेत्र में अलंबुद्धि–बस बहुत हुआ-इस**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

और सुनो रुक्मिणी देवी ! [धर्म्मराज युधिष्ठिर ने महात्मा देवव्रत भीष्म से आरम्भ में जो यह प्रश्न किया था मेरे सम्बन्ध में कि–"कीदृशे पुरुषे तात ! स्त्रीषु वा भरतर्षभ !", सो इसके सम्बन्ध में भी मेरा प्रासङ्गिक निर्णय सुनलो कि]—

"स्वधर्म्मशीलेषु च, धर्म्मवित्सु, वृद्धोपसेवानिरते च, दान्ते ।
कृतात्मनि, क्षान्तिपरे, समर्थे,=क्षान्तासु, दान्तासु तथाऽबलासु ॥९॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु, बसामि देवद्विजपूजिकासु" ।

अर्थात्–जो मानव निगमागमपुराणस्मृतिसिद्ध-वर्णाश्रमाचारानुगत–स्व–स्व-वर्णभेदभिन्न–स्व-स्व-प्रकृति-स्वरूपसंरक्षक-स्व–स्व–स्वधर्म्मों में निष्कारणभाव से आचारनिष्ठ बने रहते हैं, जो मानवश्रेष्ठ ऐसे धर्म्मतत्त्व के रहस्यात्मक–ज्ञानविज्ञानचिन्तन में अपनी गुहानिहितवृत्ति से तल्लीन रहते हैं, जो मानवधुरीण वर्णाश्रम-धर्म्मपरायण वृद्धपुरुषों की सेवा में संलग्न रहते हैं, जो पुरुष अपनी मानसिक–ऐन्द्रियक–शारीरिक, सर्वोपरि बौद्धिक वृत्तियों को मर्य्यादित रखते हुए उच्छृंखल नहीं बन पाते, अतएव जो **'दान्त'** कहलाए हैं–उनमें, जो कृतधी बुद्धियोगनिष्ठा के द्वारा अपने अन्तस्थ अव्ययात्मा के साथ अपने कर्म्मभोक्ता देही जीवात्मा का सम्बन्ध कर आत्मसंवित् प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे निष्कामभावापन्न कृतात्माओं में ×, सत्त्वरजस्तमोगुण–बहुला प्रकृति के गुणात्मक प्राकृत विश्व से सम्बन्ध रखने वाले सुख–दुःख–शान्ति–हर्ष–शोकादि द्वन्द्वभावों के साथ

प्रकार का सन्तोष नहीं करना चाहिए"] यह आदेश–प्रदान कर रहे हैं, श्रुत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृति जहाँ विस्पष्ट शब्दों में—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्-नैनां मन्येत दुर्लभाम्" [मनुः ४।१३७]

इत्यादिरूप से यह उद्बोधन प्रदान कर रही है कि—**"मानव को अपने अतीत जीवन की असमृद्धि–असफलताओं-निराशाओं से कभी भी अपने आपको निराश नहीं कर लेना चाहिए। अपितु उसे तो मृत्युक्षणपर्य्यन्त ऐश्वर्य्य–लक्ष्मी की ही कामना करते रहना चाहिए, जोकि लक्ष्मी आत्मनिष्ठ मानव के लिए कदापि दुर्लभा–दुष्प्राप्या नहीं है"**, वहाँ–आत्मैश्वर्य्य से सर्वथा विपरीत–अनात्म–मूलक–सन्तोष, श्रुतिस्मृतिविरुद्धा इत्थंभूता अनार्य्यजुष्टा हीनता कदापि भारतीय आत्मनिष्ठ–आस्तिक मानव का तो मन्तव्य नहीं माना जा सकता, नहीं माना गया । **'तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नाहं निवसामि'** वाक्य स्पष्ट रूप से इसी अस्मितामूलक-राष्ट्रैश्वर्य्यविनाशक–सन्तोष का प्रचण्ड विरोध कर रहा है । **ऐश्वर्य्यसंग्रह में जहाँ असन्तोष ही माना है, वहाँ ऐश्वर्य्यभोग में हीं सन्तोष विहित हुआ है शास्त्र में । सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य का संग्रह करते हुए तत्प्रति आसक्त न होना हीं भारतीया आत्मतुष्टि की नैगमिक–व्याख्या है,** जिस इस मर्म्म को न समझने के कारण यह ऐश्वर्य्यसंग्रह के प्रति ही सन्तोष करने लग पड़ा है अनात्मवादी–कल्पित त्यागवादी–शून्यवादी मानव, जिसके इस ऐश्वर्य्यसंग्रहविरोधी सन्तोष से ही राष्ट्रलक्ष्मी का आततायीवर्ग ने अपहरण कर लिया है, इति नु महतीयं विडम्बना कल्पितसन्तोषवादस्य ।

× "कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" (उपनिषत्)

धैर्य्यपूर्वक संघर्ष करते रहने वाले, इन द्वन्द्वों से आत्मबुद्धिधृति से विकम्पित न होने वाले, इत्थंभूत सहनशील-क्षान्त मानवों में, अपने मानसिक सत्यसंकल्प, प्राणानुगत दृढ़तम अध्यवसायरूप तप (प्राणव्यापार), तथा वागनुगत श्रम–परिश्रम से सभी मानवीय–शक्तियों से सर्वसमर्थ बने रहने वाले मानवों में हीं मेरा निवास हुआ.करता है । तथैव–तथाविधा क्षान्ता–(धैर्य्यंगुणान्विता), तथा दान्ता (मर्य्यादानुगता) नारियों में हीं मैं निवास करती हूँ ॥९॥ सत्यभाषण--परायणा, मृदु–सरल–स्वभावानुगता, देव–द्विज–श्रद्धापरायणा–इत्थंभूता सहधर्म्मचारिणी गृहदेवियों में हीं मेरा निवास रहता है । एवं ठीक इसके विपरीत—

"प्रकीर्णभाण्डामनपेक्ष्यकारिणीं, सदा च भर्त्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ॥१०॥
परस्य वेश्माभिरतां–अलज्जां–एवंविधां तां परिवर्ज्जयामि ॥
पापां–अचोक्षां–अवलेहिनीं च–व्यपेतधैर्य्यां–कलहप्रियां च ॥११॥
निद्राभिभूतां–सततं शयानां-एवं विधां तां परिवर्ज्जयामि ॥

अर्थात्–जो कुलस्त्रियाँ स्वगृहस्थ के अन्नपरिग्रहादि–रक्षासाधनभूत भाण्डों की सुव्यवस्था करने में असमर्थ हैं, फलस्वरूप जिसके सभी गार्हस्थ्य–परिग्रह अस्तव्यस्त बने रहते हुए मलीमस–यातयाम–विविध–कीटाणुदोषयुक्त बने रहते हैं, ऐसी अकुशला नारी का, अपने पति की प्रत्येक बात का विपरीत–कुटिल–विरुद्ध ही उत्तर देते रहने में पारङ्गता नारी का, स्वगृहस्थव्यवस्था की उपेक्षा कर दूसरों के घरों में (अपनी मानसिक–वाचिक–कण्डूशान्त करने के लिए)–भटकते रहने वाली नारी का, तथा कुल–मर्य्यादा–विरुद्ध–शील–लज्जा–विनयादि सद्गुणों को जलाञ्जलि समर्पित कर निर्लज्जभाव से इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा नारी का मैं सर्वथा ही परित्याग कर दिया करतीं हूँ । और सुनो ! जो नारी सहजसुलभ मातृवात्सल्य के सर्वथा विपरीत क्रूरता–दमन–हिंसा–आदि पापभावों में निरता रहती है, जो नारी गृह्यधर्म्मानुगत व्रतोपवासादि शौचधर्म्मों की अवहेलना कर सदा ही मनसा–वाचा–कर्म्मणा अशुचि–मलिनभाव में परिणत रहती है, जो सदा ही क्रोधावेश से अपनी दंष्ट्रा को, दाँतों को, तथा जिह्वा को घट्टिकावत् (चाकी की भाँति) चक्रायित रहती है-- (आवेश से सदा दाँत पीसती रहती है, जिह्वा को बहिर्विनिःसृत कर सुतीक्ष्णरूपेण गर्ज्जन तर्ज्जन करती रहती है), जो सदा ही नारीसुलभ धृतिगुण से पराङ्मुख रहती हुई क्षणे क्षणे रुष्टा–आक्रुष्टा–अभिनिविष्टा बनती हुई प्रतिक्रियावादिनी बनी रहती है, यों अथ से इतिपर्य्यन्त जो गृहस्थ को अपनी कलहप्रियता का ताण्डवक्षेत्र बनाए रहती है, (११) कलह से परिश्रान्त होकर जो गाढनिद्रा से अभिभूत हो जाती है, एकाकी दशा में जो सदा घोरनिद्रा में निमग्न रहने को ही अपना पुरुषार्थ मानती है, निश्चयेन ऐसी नारी का मैं परित्याग ही कर दिया करती हूँ । और ठीक इसके विपरीत–निम्नलिखित स्थानों में अपने भावात्मक–विभूतिभावों से निवास कर रही हूँ—

सत्यासु, नित्यं प्रियदर्शनासु, सौभाग्ययुक्तासु, गुणान्वितासु ॥१२॥
वसामि नारीषु पतिव्रतासु, कल्याणशीलासु, विभूषितासु ॥
यानेषु–कन्यासु–विभूषणेषु--यज्ञेषु–मेघेषु च वृष्टिमत्सु ॥१३॥
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु–नक्षत्रवीथिषु च शारदीषु ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

गजेषु--गोष्ठेषु--तथासनेषु--सरः सुफुल्लोत्पलपङ्कजेषु ॥१४॥
नदीषु--हंसस्वननादितासु--क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु ॥
विकीर्णकूलद्रूमराजितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ॥१५॥
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु ॥
मत्ते गजे--गो वृषभे--नरेन्द्रे--सिंहासने--सत्पुरुषेषु नित्यम् ॥१६॥
यस्मिन् जनो हव्यभुजं जुहोति, गो--ब्राह्मणं चार्चति, देवताश्च ॥
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते, तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥१७॥
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्म्माभिरते सदैव ॥
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि--शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥१८॥

सर्वान्ते च—

नाहं शरीरेण वसामि देवि ! नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम् ।
भावेन यस्मिन्निवसामि पुंसि स वर्द्धते धर्म्म–यशो–ऽर्थ–कामैः ॥

—महाभारत अनुशासन पर्व ११ अध्याय

९७--महालक्ष्मी के आराधन--पूजनात्मक--दीपावली--पर्व के सापेक्ष--कृत्त्वर्थ अङ्ग--कर्म्मों का स्वरूपोपक्रम

लक्ष्मी, एवं तत्प्रतिद्वन्द्विनी अलक्ष्मी का तात्त्विक स्वरूप क्या है ?, कहाँ लक्ष्मीरूपा रोहिणी कमला निवास करती है ?, कहाँ अलक्ष्मीरूपा अवरोहिणी ज्येष्ठा–धूमावती निवास करती है ?, किन कर्म्मों से धूमावती–अलक्ष्मी का प्रभुत्त्व हो जाता है ?, एवं किन स्वस्त्ययनकर्म्मों से कमला–लक्ष्मी स्थिरा–निश्चला बन जाती है ?, प्रकरणारम्भ से अबतक इन्हीं कतिपय प्रश्नों के समाधान–समन्वय की चेष्टा प्रक्रान्त रही । अब लक्ष्यीभूत 'दीपावलीपर्व' से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक सापेक्ष–प्रसङ्गों की ओर ही लक्ष्मीप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

९८--लक्ष्मीपति विष्णुभगवान् से सम्बद्धा एकादशी के षड्विंश (२६) महिमाविवर्त्त, एवं आषाढशुक्लपक्षीया 'पद्मा' एकादशी, तथा कार्त्तिकशुक्लपक्षीया--'प्रबोधिनी' एकादशी—

वैष्णवजगत् में सुप्रसिद्धा, तदाराध्या वैष्णवी 'एकादशी' तिथि का पुराणशास्त्र में महतोमहीयान् यशोवर्णन हुआ है, जिन वार्षिक 'एकादशी' तिथियों के आधार पर सांस्कृतिक–आयोजनात्मक अनेक पर्व–व्रतोत्सव महता समारम्भेण विहित हैं । मलिम्लुचमास के समावेश से एक सम्वत्सर में १३ मास, अतएव

२६ 'एकादशी' तिथियाँ होजाती हैं, जिनका यत्रतत्र पुराणों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है । * इन २६

*१—मार्गशीर्षकृष्ण —एकादशी-'उत्पन्ना'	[१]	१	देवप्राणविकासकालोऽयं सम्वत्सरस्य जाग्रता अत्र देवाः, असुराश्च सुप्ताः
२—मार्गशीर्षशुक्ल —एकादशी-'मोक्षा'	[२]		
१—पौषकृष्ण —एकादशी-'सफला'	[३]	२	
२—पौषशुक्ल —एकादशी-'पुत्रदा'	[४]		
१—माघकृष्ण —एकादशी-'षट्तिला'	[५]	३	
२—माघशुक्ल —एकादशी-'जया'	[६]		
१—फाल्गुनकृष्ण —एकादशी-'विजया'	[७]	४	
२—फाल्गुनशुक्ल —एकादशी-'आमर्दकी'	[८]		
१—चैत्रकृष्ण —एकादशी-'पापमोचनी'	[९]	५	
२—चैत्रशुक्ल —एकादशी-'कामदा'	[१०]		
१—वैशाखकृष्ण —एकादशी-'वरूथिनी'	[११]	६	
२—वैशाखशुक्ल —एकादशी-'मोहिनी'	[१२]		
१—ज्येष्ठकृष्ण —एकादशी-'अपरा'	[१३]	७	
२—ज्येष्ठशुक्ल —एकादशी-'निर्जला'	[१४]		
१—अषाढकृष्ण —एकादशी-'योगिनी'	[१५]	८	
२—अषाढशुक्ल —एकादशी-'पद्मा'	[१६]		* असुरप्राणप्रधानकालोऽयं सम्वत्सरस्य जाग्रता अत्र-असुराः, देवाश्च सुप्ताः
१—श्रावणकृष्ण —एकादशी-'कामिका'	[१७]	९	
२—श्रावणशुक्ल —एकादशी-'पुत्रदा'	[१८]		
१—भाद्रपदकृष्ण —एकादशी-'अजा'	[१९]	१०	
२—भाद्रपदशुक्ल —एकादशी-'वामना'	[२०]		
१—आश्विनकृष्ण —एकादशी-'इन्दिरा'	[२१]	११	
२—आश्विनशुक्ल—एकादशी-'पापांकुशा'	[२२]		
१—कार्तिककृष्ण —एकादशी-'रमा'	[२३]	१२	
२—कार्तिकशुक्ल —एकादशी-'प्रबोधिनी'	[२४]		
१—मलिम्लुचकृष्ण —एकादशी-'कमला'	[२५]	१३	
२—मलिम्लुचशुक्ल—एकादशी-'सुभद्रा'	[२६]		

— त्रयोदशमासाः—सम्वत्सरस्य —

एकादशियों में से प्रकृत में आषाढ़शुक्लपक्षीया **'पद्मा'** नाम की एकादशी, तथा कार्तिकशुक्लपक्षीया 'प्रबोधिनी' नाम की एकादशी, इन दो एकादशियों की ओर ही पाठकों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित करना है।

९९--क्रान्तिवृत्तीय--सम्वत्सरचक्रानुगता देवासुरप्रतिद्वन्द्विता, एवं देवता, तथा असुरों की जाग्रत--सुषुप्ति--अवस्थाओं का विपर्य्यय—

'आपो वै पुष्करपर्णम्' इत्यादि वेदवचनानुसार पुष्करात्मक पद्म को ही 'आपः' कहा गया है, जिससे निदानविधि के द्वारा 'आपोमय–परमेष्ठी' ही परिगृहीत हैं। आषाढशुक्ल एकादशी से आरम्भ कर कार्तिकशुक्ल दशमी पर्य्यन्त इस चतुर्मासात्मक प्रावृट्काल (चातुर्म्मास्य–चौमासे) में भूपिण्ड अपने परिभ्रमणात्मक क्रान्तिमण्डल के साथ आपोमय (पुष्करपद्मरूप) पारमेष्ठ्य–समुद्र के ही अभिमुख हो जाता है, जिस इस आभिमुख्य के सर्वात्मना तत्त्वसमन्वय के लिए तो–'पारमेष्ठ्यनुगत–सौरसम्वत्सर–चक्र' से सम्बन्ध रखने वाली खगोलस्थिति का ही स्वाध्याय करना चाहिए। जिसप्रकार विश्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र **'ध्रुव'** कहलाया है, एवमेव सम्वत्सरचक्रात्मक–त्रिकेन्द्रात्मक-दीर्घवृत्तात्मक-साम्वत्सरिक क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र **'कदम्ब'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस कदम्ब के चारों ओर २४ अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बना कर विष्वद्वृत्तीय–पृष्ठीकेन्द्रात्मक ध्रुव चारों ओर परिक्रमा लगाया करते हैं, जोकि ध्रुवपरिक्रमा **'अयनपरिक्रमा'** नाम से प्रसिद्ध है, जोकि २५ सहस्र वर्षों में सम्पन्न होती है। यही कदम्ब निगमभाषा में–**'नाक'** कहलाया है, जोकि परमेष्ठी–विष्णु का ही खगोलीय प्रतिनिधि माना गया है। वर्षात्मक चातुर्म्मास्य में पार्थिव विवर्त्त इसी नाकमण्डल में अन्तर्भुक्त हो जाता है, जिसका अर्थ है–इन चार महीनों में पार्थिवजगत् में आपोमय पारमेष्ठ्य वारुणप्राण का ही प्राधान्य हो जाता है, जो कि वारुणप्राण ऐन्द्रदेवप्राणों का प्रतिद्वन्द्वी माना गया है।

उदाहरण के लिए अहोरात्र को लक्ष्य बनाइए, जो उदगयन, एवं दक्षिणायनरूप सम्वत्सर के प्रतीक बने हुए हैं। अहःकाल इन्द्रप्रधान है, रात्रिकाल वरुणप्रधान है, जैसाकि–**'ऐन्द्रमहः–रात्रिर्वारुणी'** इत्यादि निगम से प्रसिद्ध है। ऐन्द्र–अहःकाल में ऐन्द्रदेवता जाग्रत हैं, वारुण असुर सुप्त हैं, तो वारुण–रात्रिकाल में वारुण असुर जाग्रत हैं, ऐन्द्रदेवता सुप्त हैं। यों अहोरात्रि के भेद से ज्योतिर्म्मय देवप्राण, तमोमय असुर–प्राणों की जाग्रत–सुषुप्ति व्यवस्थित हो रही है। यही अनुपात कृष्ण–शुक्ल–पक्षों में समन्वित है। शुक्ल–पक्ष देवताओं की जाग्रदवस्था है, कृष्णपक्ष सुप्तावस्था है, जबकि कृष्णपक्ष असुरों की जाग्रदवस्था है, शुक्ल–पक्ष असुरों की सुप्तावस्था है। एवमेव षण्मासात्मक उत्तरायणकालात्मक अर्द्ध सम्वत्सर देवताओं की जाग्रद–वस्था है, दक्षिणायनकाल सुप्तावस्था है। एवमेव दक्षिणायनकाल असुरों की जाग्रदवस्था है, तो उत्तरायण–काल सुप्तावस्था है। यों इन्द्र–वरुण–प्राणों के विकास, अभिभवरूप कालभावों के तारतम्य से देवता और असुरों की जागृति, तथा निद्रास्थिति की व्यवस्थाएँ प्रकृतिमण्डल में व्यवस्थित हैं।

१००–मासचतुष्टयात्मक वर्षाकाल, तदनुगत असुरप्राणप्राधान्य, एवं तदनुगत इन्द्राग्नि-प्रमुख-प्राणदेवताओं की सुषुप्ति, तथा सुषुप्ति की उपक्रमभूता-'पद्मा' नाम की आषाढ़शुक्लपक्षीया एकादशी-देवशयनी—

वही पारमेष्ठ्य आपः तत्त्व अपने भृगुप्रधान वारुणभाव से जहाँ तमोमय असुरप्राणों की प्रतिष्ठा है, वहाँ वही आपः तत्त्व अङ्गिराप्रधान ऐन्द्रभाव से–(सोमात्मक बनता हुआ अतएव–**'त्वं ज्योतिषा वि तमो**

वर्थ' के अनुसार ज्योतिष्मान् बनता हुआ देवप्राणों की प्रतिष्ठा है। मासचतुष्टयात्मक वर्षाकाल में पारमेष्ठ्य वारुणप्राण की प्रधानता रहती है, अतएव ऐन्द्राग्नदेवप्राण (सौर–पार्थिवदेवप्राण *) अभिभूत रहते हैं– इस काल में। और वही देवताओं की सुषुप्ति मानली गई है, जोकि मान्यता तत्त्वमूला बनती हुई आस्था–लक्षणा निष्ठा से ही समन्विता है। सचमुच देवता सोते ही रहते हैं इन चार महीनों में। सचमुच सौर–पार्थिव–मण्डलानुगता ज्योतिर्म्मयी–लक्ष्मी इन चार महीनों में तदारम्भ की आषाढशुक्ल–एकादशी तिथि में अपने वरुणालयरूप पद्मालय से समन्विता बनती हुई तमोभाव में ही परिणत हो जाती है। ऐन्द्राग्न--लक्ष्मी यों मानो ऐन्द्राग्न देवताओं से रुष्ट होकर स्वधाम–परमेष्ठीरूप–पद्मालय का ही आश्रय ले लेती है, जैसाकि पूर्वाख्यान में निवेदन किया गया है। इसी वारुण–पाद्म पारमेष्ठ्यभाव को निदानभावेन सूचित करने के लिए ही पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने आषाढशुक्लैकादशी को 'पद्मा' नाम से व्यवहृत किया है। यही 'देवशयनी' कहलाई है।

१०१–देवशयनकालात्मक--वर्षाकाल में देवप्राणानुगता आस्तिकप्रजा के दिव्य कर्म्मों की तटस्थता का प्राकृतिक–समन्वय—

सौरपार्थिव-ऐन्द्राग्नप्राणात्मक देवशक्तिनिबन्धन सम्पूर्ण देवकर्म्म इस देवसुषुप्तिकाल में भारतीय सांस्कृतिक-प्रजा के लिए अवरुद्ध बन जाते हैं। अपनी जीवनधारा में सर्वत्र आत्मदेवभावों को ही मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली सांस्कृतिक–प्रजा इस वारुणकालात्मक–देवसुषुप्तिकाल में कदापि किसी भी विवाह-यज्ञोपवीत–वास्तुशान्ति–आदि आदि देवकर्म्म का आरम्भ नहीं कर सकती, नहीं करती। हाँ, जो इस आत्मबुद्धिमूलक देवभाव को विस्मृत कर अपने मनःशरीरभावात्मक भूतभावों को ही प्रधान मान लेंगे, वे सदा सभी अवस्थाओं में स्वच्छन्दतापूर्वक सभी कुछ कर सकते हैं। उनके लिए तो न पहिले कोई मर्य्यादाबन्धन था, न आज ही है। उन्मर्य्यादात्मिका अमर्य्यादा ही, स्वच्छन्दता ही तथाविध प्राकृत जीवों की मर्य्यादा मानी है वेद ने, जैसाकि–**'यथाकामं वोऽशनम्'** इत्यादि मूलक सुप्रसिद्ध वैदिक–**'दायादाख्यान'** से प्रमाणित है।

१०२–कार्त्तिकशुक्लैद्वादशी, और देवजागरण, एवं देवजागरणनिबन्धना प्रबोधिनी एकादशी का महामहिमत्त्वस्थापन—

प्राणाग्नि की वर्षाकालीना सुषुप्ति के आधार पर ही तो यहाँ के प्राणाचार्य्यों (वैद्यों) नें **'वर्षासु दोषा कुप्यन्ति–तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे'** (अष्टाङ्गहृदय) यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है। अग्निमांद्य सहज है वर्षाऋतु में। अतएव आहारादि की लघुता का ही आदेश दिया है भिषग्वरोंनें वर्षाऋतु में। वर्षाकालानुगत देवता उद्बुद्ध होते हैं कब ?, इसी प्रश्न का समाधान वह कार्त्तिक–मास है, जिसके उपक्रम से ही देवजागरण–महोत्सव आरम्भ हो जाता है सांस्कृतिक–प्रजा में। देवजागरण का अर्थ है–सौरपार्थिव–ऐन्द्राग्न देवप्राणों का स्वस्वरूप में अवस्थान। इन की स्वस्वरूपावस्थिति का अर्थ है लक्ष्मी का पद्मालय से विष्णुप्रेरणा के द्वारा पुनः पद्मासना बनना, अर्थात् पार्थिव सौरमण्डल में प्रबुद्ध होना। इस प्रबोधन से ही चतुर्म्मासान्ता–कार्त्तिकशुक्ल–एकादशी–**'प्रबोधिनी'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। देवप्राण को ही अपनी मूल-

---

* यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। [श्रुतिः]

प्रतिष्ठा बनाने वाली भारतीय–सांस्कृतिक–प्रजा के लिए इस से बड़ा माङ्गलिक पर्व दूसरा और क्या होगा, जिसमें देवप्राण पुनः प्रबुद्ध होकर लोकलक्ष्मीरूप से इसकी जीवनधारा का अनुगामी बन जाता हो। फलस्वरूप जो माङ्गलिक–विधिविधान चार मास से अवरुद्ध थे, वे पुनः उपक्रान्त हो जाते हैं इसी उद्बुद्धा–प्रबोधिनी तिथि से। देवप्राणोद्बोधनरूप इसी महतोमहीयान्–महान्–माङ्गलिक–भाव को व्यक्त करने के लिए पुराणपुरुष ने प्रबोधिनी एकादशी का अत्यन्त ही उल्लास से यशोवर्णन कर दिया है, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय वचनों से प्रमाणित है—

तावद्गर्जति विप्रेन्द्र ! गङ्गा–भागीरथी क्षितौ ॥
यावन्नायाति पापघ्नी कार्त्तिके हरिबोधिनी ॥१॥

तावद्गर्जन्ति तीर्थानि आसमुद्रसरांसि च ॥
यावत् प्रबोधनी विष्णोस्तिथिर्नायाति कार्त्तिके ॥२॥

वाजपेयसहस्राणि अश्वमेधशतानि च ॥
एकेनैवोपवासेन प्रबोधन्यां लभेन्नरः ॥३॥

दुर्लभं चैव दुष्प्रापं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥
तदपि प्रार्थितं विप्र ! ददाति हरिबोधिनी ॥४॥

—स्कन्दपुराणे, हरिवंशे च।

१०३–स्वतन्त्र भारत की धर्म्मनिरपेक्षता से भारतीय संस्कृति–वैज्ञानिक–धर्म्म–सापेक्ष–महान् माङ्गलिक सांस्कृतिक आचार–आयोजनों की अन्तर्म्मुखता, इति नु महती विडम्बना वर्त्तमान–स्वतन्त्रसत्तायाः—

कार्त्तिकमासानुगत प्रदोषस्नान, आकाशीय दीपदान, अन्यान्य व्रतोपास, आदि आदि सभी धार्म्मिक कर्म्म कार्त्तिकमासानुगता–महालक्ष्मी–महोत्सव के ही अङ्गोपाङ्ग बने हुए हैं, जिन की इतिकर्त्तव्यता विशेषरूपेण गृहलक्ष्मियों के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं (होतीं थीं भारतवर्ष के वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष–स्वातन्त्र्ययुग से पूर्व)। आज तो इस धर्म्मनिरपेक्षता से सभी कुछ सांस्कृतिक–धार्म्मिक–कर्म्मकलाप–मङ्गलाचार निरपेक्ष ही बना दिए गए हैं। और तत्स्थान में सापेक्ष बन गए हैं वे नाच-गान मात्र, जिनसे मानवीय मनःशरीर उत्तरोत्तर विक्षिप्त ही बनते जारहे हैं, इति नु महद्दुःखास्पदम्। महतीयं विडम्बना च स्वतन्त्रसत्तायाः।

१०४–देवजागरण की मूलप्रतिष्ठालक्षणा श्री से समन्विता लक्ष्मी का जागरण, एवं कार्त्तिकी अमावास्या—

देवशयन, देवोत्थापन, रूप यही वह सापेक्ष प्रसङ्ग था, जिसे कार्त्तिक की अमावस्या–तिथि से अनुप्राणित कमलामहोत्सवानुबन्ध से यहाँ प्रसङ्गतः उद्धृत कर दिया गया है। लक्ष्मी का जागरण ही देवजागरण का निमित्त बनता है। अतएव देवजागरण की प्रतिष्ठा लक्ष्मीजागरण ही बना हुआ है। लक्ष्मी

के जागरण का उपक्रम हो जाता है कार्तिककृष्ण–त्रयोदशी से ही, जिस इस लक्ष्मीजागरणमहोत्सव के साथ साथ ही माता धूमावती के गमन से सम्बन्ध रखने वाला महोत्सव भी सापेक्षरूप से समाविष्ट रहता है दीपावलीमहोत्सवप्रसङ्ग में। यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, धूमावतीरूपा अलक्ष्मी का जहाँ वारुण असुरों से सम्बन्ध है, वहाँ कमलारूपा लक्ष्मी का ऐन्द्राग्न देवदेवताओं से सम्बन्ध है। त्रयोदशी से अमावास्या–पर्य्यन्त, विशेषः द्वितीया पर्य्यन्त, और भी सूक्ष्मदृष्ट्या कार्तिकशुक्ल–एकादशी पर्य्यन्त, तत्रापि कार्तिकमास-समाप्ति–पर्य्यन्त ही असुर, एवं देवता, दोनों का संक्रमणकाल प्रक्रान्त रहता है। वर्षा का अवसान वैसे तो कार्तिक कृष्णपक्षान्त में ही हो जाता है। किन्तु चातुर्मास्यानुबन्ध से वर्षा का पूर्ण अवसान कार्तिक की समाप्ति पर ही माना गया है। शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल, रूप से सम्वत्सर के ४–४-४ मास के तीन काल भी मान लिए गए हैं *। मार्गशीर्ष से आरम्भ कर फाल्गुन पर्य्यन्त चतुर्म्मासात्मक शीतकाल है, चैत्र से आषाढ–पर्य्यन्त ग्रीष्मकाल है, एवं श्रावण से कार्तिक पर्य्यन्त वर्षाकाल है। यों कार्तिकसमाप्ति पर्य्यन्त वर्षा का प्रभुत्त्व बन जाता है, जो कि वर्षाऋतु आप्य–वारुण–प्राण के सम्बन्ध से आसुरकाल ही माना जायगा। अतएव **'समस्तः कार्त्तिको मासो यमदंष्ट्रेति गीयते'** इत्यादिरूप से कार्तिकमास **'यमदंष्ट्रा'** नाम से प्रसिद्ध होगया है।

१०५–धूमावतीरूपा ज्येष्ठालक्षणा अलक्ष्मी के सहयोगी वरुण, और यमदेवता, तथा कमलारूपा रोहिणीलक्षणा लक्ष्मी के सहयोगी इन्द्र, और कुवेरदेवता—

वरुणात्मिका अलक्ष्मी का नाम हीं धूमावती है आगम में, जबकि निगम में यही घोरा पाप्मा 'निर्ऋति' नाम से प्रसिद्ध है। इस निर्ऋतिरूपा अलक्ष्मी के सहयोगी देवता माने गए हैं **वरुण**, और **यम**, जबकि श्रीरूपा कमला के सहयोगी देवता **इन्द्र**, एवं **कुवेर** नाम से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार **वरुण-निर्ऋति-यम**, तीन देवताओं का एक स्वतन्त्र विभाग हो जाता है, एवं **इन्द्र-कमला-कुवेर**, इन तीन देवताओं का एक स्वतन्त्र विभाग बन जाता है।

१०४–इन्द्र–कुवेर–लक्ष्मी--रूप दिव्यभाव, एवं वरुण–यम–अलक्ष्मी--रूप आसुरभाव, तथा दीपावलीपर्वानुगत–'१३–१४–३०–१–२' रूप तिथिपञ्चक में दोनों भावों का सह सङ्क्रमण—

दीपावलीमहोत्सव में दोनों त्रिक-देवताओं का सापेक्षभावानुगत–पारस्परिक सङ्क्रमण प्रक्रान्त रहता है। अतएव १३–१४–३०–१–२ (त्रयोदशी–चतुर्दशी–अमावास्या–प्रतिपत्–द्वितीया) यह तिथिपञ्चक लक्ष्मी, एवं अलक्ष्मी–प्रवर्त्तक प्राणदेवताओं का संक्रमणकाल मान लिया गया है। जिसप्रकार ग्रहणदशा ग्रहणकाल से पूर्व ही लग जाती है (जो कि ग्रहणदशा लोकव्यवहार में–'सूतक' नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी संक्रामिकता से त्राण पाने के लिए उपभोग्य–गृहस्थपरिग्रहों में संक्रमणदोषनिरोधक पवित्र–दर्भ (कुशा) रख दिए जाते हैं), तथैव अमावास्यातिथि से सम्बन्ध रखने वाली कमला-लक्ष्मी के आगमन की दशा त्रयोदशी से ही आरम्भ हो जाती है। चतुर्दशी की मध्यरात्रि–पर्य्यन्त स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहने वाली

---

*– त्रयो वा ऋतवः सम्वत्सरस्य (शत० ३।४।४।१७।)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निर्ऋ तिरूपा धूमावती-अलक्ष्मी की भोगकालात्मिका त्रयोदशी तिथि में ही कमला की प्रतिच्छाया का भी समावेश हो जाता है । अतएव यह त्रयोदशी-**'धनत्रयोदशी'** नाम से प्रसिद्ध होगई है ।

१०७-धनत्रयोदशी, और अलक्ष्मीनिर्गमनप्रयुक्त निर्ऋ ति का स्वागत, तथा तदनुबन्धी यमदीपदान—

घर का कूड़ा-कर्कट निर्ऋ तिप्रधान माना गया है अपने मलभाव से । क्योंकि धनत्रयोदशी में कमलादशा का प्रवेश हो जाता है । अतएव द्वादशी की रात्रि के अवसानकाल से पहिले पहिले ही गृह-लक्ष्मियाँ घर का समस्त कूड़ा सञ्चित कर सूर्य्योदय से पूर्व ही उसे गृहद्वार से बाहिर प्रक्षिप्त कर एकस्थान में उसे सुरक्षित कर उस पर दीप प्रज्ज्वलित कर दिया करतीं हैं । इस दीपदान से एकओर जहाँ जातीं हुईं निर्ऋ तिदेवी का सम्मान है, तो दूसरी ओर ज्योतिरूपा लक्ष्मी के आगमन का भी सम्मान होजाता है । निर्ऋ ति-के साथ-यम का, और वरुण का साहचर्य्य बतलाया गया है । वर्षाजनित दुर्गन्ध-सड़ान वारुणपाश का सूचक है, तज्जनित मलानुगत रोगप्रवर्त्तक-अशुचिभाव यम का सूचक है, स्वयं मलभाव निर्ऋ ति का सूचक है । यों इस दीपदान से निर्ऋ ति-यम-वरुण-तीनों हीं सहयोगी देवताओं का सम्मान होजाता है । कुबेर-प्रतिद्वन्द्वी यम के सम्बन्ध से ही यह दीप-**'यमदीप'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है निबन्धग्रन्थों में । यों द्वादशी की रात्रि के अवसान में घर के कूड़े पर प्रदत्त दीपदान तथाकथित उभय-त्रिक देवताओं की निर्गच्छत्-आगच्छत्-रूपा संक्रमणदशा का ही सूचक बन रहा है । घर से निकलते हुए निर्ऋ ति-यम-वरुण की सत्कारसूचना, तथा घर में आते हुए लक्ष्मी-कुबेर-इन्द्र की सत्कारसूचना, दोनों कर्म्म इसी 'यमदीपदान' से गतार्थ बन जाते हैं । एक सामान्य से इस आचार से महान् स्वस्त्ययनभाव सम्पन्न होजाता है । इस सामान्यता ने हीं तो भारतीय संस्कृति को सर्वसाधारण के लिए सुकर-सुगम बनाए रक्खा था । **महारम्भ, और फलांश में शून्यता, यह वर्त्तमान आयोजनों के अमाङ्गलिक दुष्परिणाम हैं । एवं स्वल्पारम्भ,-तथा फलांश में पूर्णता, यह भारतीय सांस्कृतिक-आयोजनों के मङ्गलमय सुपरिणाम हैं ।**

१०८-आगच्छत् लक्ष्मीभाव के सम्मानोपलक्ष में नवीन पात्रक्रय, एवं धनत्रयोदशी-

यों दीपदान के द्वारा, एवं स्वयं धनत्रयोदशी-तिथि में कमलागमन-सूचक-महान् स्वस्त्ययनभाव के संग्रहार्थ क्रीत नूतन पात्रद्वारा, उभयथा दोनों हीं देवताओं की स्वस्ति प्राप्त करली जाती है । पार्थिव लक्ष्मी का नैदानिकरूप 'धातु' ही माना गया है । वस्त्र-ओषधि-वनस्पत्यादि इतर परिग्रह तो पृथिवी (भूपिण्ड) के शरीरपृष्ठ पर उत्पन्न होने वाले गौणभाव हैं, जबकि कांस्य-पित्तल-सुवर्ण-रजतादि-धातु भूपिण्ड के मौलिक-स्वरूप में अन्तर्भुक्त हैं । अतएव नवीन परिग्रहक्रय में धातुपात्रों (बर्त्तनों) की ही प्रधानता दी जाती है । राजस्थान के महान् सांस्कृतिक निगमागमनिष्ठ जयपत्तन (जयपुर) नगर के पात्रविक्रेता (ठठेरे) धनत्रयोदशी को पात्रों से अपने आपणस्थानों (दूकानों) को सुसज्जित करते हुए अपने सहजसिद्ध इसी माङ्गलिक-लोकाचार का यशःख्यापन करते रहते हैं । और भाग्यशालिनी-आस्थाश्रद्धापरायणा सांस्कृतिक-प्रजा तो 'यथापूर्वमकल्पयत्' न्याय से आज भी धनत्रयोदशी को यहाँ से नूतन-पात्रक्रय करना अपना माङ्गलिक-आचार ही मानती चली आरही है ।

१०९–तैलमर्द्दन, स्वच्छजलस्नान, कृष्णवस्त्रपरिधानादि कर्म्मों से सम्बन्धिता कार्त्तिक-कृष्णचतुर्द्दशी का आसुरभावानुगत–'नरकचतुर्द्दशीत्त्व', एवं रूपज्योतिरनुगत-ऐन्द्राग्नदेवभावानुगत–'रूपचतुर्द्दशीत्त्व', तथा कनिष्ठा दीपावली (छोटी-दीवाली)—

धनत्रयोदशीरूप अङ्गकर्म्म उपरत हुआ। अब क्रमप्राप्ता चतुर्द्दशी हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। आप्य-असुरप्राणात्मक **वरुण**, अवसानाधिष्ठाता **यम***, एवं अलक्ष्मीरूपा **निर्ऋति**, इन तीनों का निर्गमन तो होगया द्वादशी की रात्रि के अवसान में होने वाले दीपदान के साथ ही। किन्तु अनुशय अब भी विद्यमान है तीनों का, जिसका सर्वात्मना निराकरण तो होगा कार्त्तिकशुक्ल–प्रबोधिनी एकादशी को ही, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। अतएव तदवधिपर्य्यन्त लक्ष्मी, और तत्सहयोगी इन्द्र–कुबेरादि के पूजन के साथ साथ वरुण–यम–निर्ऋति का भी सत्कार–सम्मान प्रक्रान्त ही रहता है। 'चतुर्द्दशीतिथि' भी इसी सम्मान–सत्कार का समर्थन कर रही है अपनी आचारपद्धति से। इस दिन **तैलमर्द्दन**, तथा **स्वच्छजलस्नान**, एवं **कृष्णवस्त्रपरिधान**, ये तीन आचार प्रमुख माने गए हैं, चौथा महान् आचार '**दीपप्रज्ज्वलन**' है विशेष संख्या में। विशेष दीपदानों से ही लोकव्यवहार में यह चतुर्द्दशी–'**छोटी दीवाली**' नाम से प्रसिद्ध है। यह दीपदान इन्द्र–कुबेरानुगता–कमला–लक्ष्मी का ही सम्मान है, जो त्रयोदशी से ही आगमनोन्मुखा बन गई है।

११०–वरुणद्वारा प्रतिमूर्च्छित इन्द्रात्मक तैल, वरुणद्वारा प्रतिमूर्च्छित अग्न्यात्मक घृत, एवं तदनुगत वारुण–ऐन्द्र–आग्नेय–भावों से दीपावली–अनुगत दैवासुरप्राणों का सम्मानातिथ्य—

वैज्ञानिक कहते हैं–वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र का ही नाम तैल है, एवं वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि का ही नाम 'घृत' है। अतएव तैल ऐन्द्र पदार्थ माना गया है, एवं घृत आग्नेय द्रव्य माना गया है। ऐन्द्राग्नयज्ञों में तिलमिश्रित–आज्य (घृत) की आहुति क्यों दी जाती है ?, प्रश्न का यही समाधानबीज है। वरुणसत्कार के लिए ही इस तिथि में तैलाभ्यञ्जन (मर्द्दन) विहित हुआ है। तैलाभ्यञ्जनकर्म्म से, एवं वारुणप्राणात्मक जलस्नान से एक ओर जहाँ वरुणदेवता सम्मानित–सत्कृत होते हैं, वहाँ दूसरी ओर इस स्नानशुद्धि से अभिव्यक्ता शरीरानुगता रूपज्योति (सौन्दर्य्य–कान्ति–आभा) रूपज्योतिर्लक्षण ÷ इन्द्र के, तथा ज्योतिर्म्मयी लक्ष्मी के सम्मान–आतिथ्य का भी कारण बन रही है। कृष्णवस्त्रपरिधान से यम, और निर्ऋति सत्कृत हैं। यों यह आचारकर्म्म चतुर्द्दशी के दोनों त्रिकदेवताओं के सम्मानातिथ्य का कारण बन रहा है। वरुण–निर्ऋति–यम–सत्कारानुबन्ध से जहाँ यह चतुर्द्दशी–'**नरकचतुर्द्दशी**' (नरकचौदस) कहलाई है, वहाँ इन्द्र–लक्ष्मी–कुवेर–आतिथ्यानुबन्ध से यही चतुर्द्दशी '**रूपचतुर्द्दशी**' (रूपचौदस) नाम से प्रसिद्ध हो रही है।

---

*–अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः। —यजुःसं० १२।४५।

÷–रूपं रूपं मघवा बोभवीति। —ऋक्सं० ३।५३।८।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१११–अमोत्तरा प्रतिपत् (पड़वा) तिथि, और अन्नकूटमहोत्सव—

तदनन्तर अमावास्या–तिथि का आगमन होता है, जो दीपावलीपर्व का प्रमुख दिवस माना गया है । तत्सम्बन्ध में क्योंकि कुछ विशेष निवेदन करना है, अतएव सूचीकटाहन्याय से पहिले अमोत्तरा प्रतिपत्, तथा तदुत्तरा द्वितीया तिथि से सम्बन्ध रखने वाले दो दिवसों के आचारों का ही दो शब्दों में दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है । अमावास्या के अनन्तर आगता प्रतिपत् (कार्त्तिकशुक्ल–पड़वा) तिथि से यम–निर्ऋति–सहयोगी वरुण का प्रभाव तो उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है, एवं कुबेर–लक्ष्मी–सहयोगी इन्द्र का प्रभाव उत्तरोत्तर–प्रबल बनता जाता है । अतएव यह दिवस–'**ऐन्द्रमहः**' (इन्द्रदिन) मान लिया गया है आचार-जगत् में । इन्द्र की प्रधानता से ही तत्सहयोगी प्राणाग्नि भी (शरीराग्नि भी) प्रबल होने लग पड़ता है । वरुणनिर्गमन से दधि–दुग्ध ओषधि–वनस्पति–आदि भोग्य पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले वर्षाजनित (वरुणप्राणजनित) विकार भी निकल जाते हैं । सर्वत्र ऐन्द्री शुद्धि का साम्राज्य उदित होजाता है । इसी उपलक्ष में इस दिन '**अन्नकूटमहोत्सव**' मनाया जाता है, जिसकी गरिमामयी महिमा का वे प्राकृत मानव स्वप्न में भी अनुभव नहीं कर सकते, जो अपनी महान्–मङ्गलमयी परम्पराओं की उपेक्षा कर सर्वथा-सारहीन लेह्य–चोष्य–चर्व्य–भक्ष्याभक्ष्य–हीन–रूक्ष–कर्कश–पदार्थाभासों से समलङ्कृत रेस्टोरेन्टों से अपने आपको प्रभावित किए हुए हैं- सर्वनाशकारिणी-परदर्शनमूला–भावुकता के निबिड़तम–वारुणपाशबन्धन–निग्रह से ।

११२–मतवादानुगत गिरिगोवर्द्धनपूजनमहोत्सव की प्रधानता, एवं निगमनिष्ठा के अभिभव से धर्म्मानुगत 'इन्द्रपूजनमहोत्सव' की विस्मृति—

वस्तुतः इस उत्सव की नैगमिक--अभिधा है–'**इन्द्रपूजनमहोत्सव**' । लक्ष्मी--सहयोगी कुबेर, तथा इन्द्र का पूजन अमावास्यातिथि में लक्ष्मीपूजन के साथ भी यद्यपि विहित है । तथापि देवप्राणों में सर्वज्येष्ठ–श्रेष्ठ इन्द्र की प्रमुखता के कारण अमोत्तरा प्रतिपत् तिथि स्वतन्त्ररूप से इन्द्रपूजनार्थ नियत हो गई है । क्या प्रकार है–इस 'इन्द्रपूजन' का ?, प्रश्न जितना सरल है, वर्त्तमानयुग के लिए उत्तर वैसा ही दुर्बोध्य इस लिए है कि, साम्प्रदायिक–मतवादों के निग्रह से हमारी वे सभी तो निगमागमपुराणपरम्पराएँ सर्वथा अन्तर्मुख ही प्रमाणित होचुकीं हैं, अथवा तो तत्स्थान में वैसे साम्प्रदायिक व्यामोहन समाविष्ट हो पड़े हैं, जिनसे उनका आचारात्मक–सांस्कृतिक पक्ष तो होगया है तिरोहित, एवं साम्प्रदायिक–तात्कालिक–मतवादात्मक–दृष्टिकोण बन गया है प्रधान ।

११३–इन्द्रात्मक गौतत्त्व, एवं तदनुगत उत्सव की 'गोवर्द्धनोत्सवता'—

उदाहरण के लिए इस इन्द्रपूजनमहोत्सव को ही लीजिए । निगमागम–सांस्कृतिक-परम्परा के अनुसार अमोत्तरा प्रतिपदा तिथि में आर्षप्रजा इन्द्रपूजनमहोत्सव ही मनाती आरही थी । किन्तु आगे जाकर इसी ने '**गोवर्द्धनपूजन**' का स्थान ग्रहण कर लिया । कहते हैं—भगवान् कृष्ण ने इन्द्र का दर्पदलन करने के लिए इन्द्रपूजन तो कर दिया अवरुद्ध, एवं तत्स्थान में व्रजगोप–गोपियों को इन्द्रकोप से बचाने के लिए गिरिगोवर्द्धन उठा कर तत्प्रातिनिध्य में स्वयं अपना ही पूजन 'गोवर्द्धन' रूप से कराना आरम्भ कर दिया । सम्भव है, ऐसा हुआ हो । किन्तु भगवच्चरित्रों का श्रवणमात्र ही भागवतसम्प्रदायानुगत माना गया है, तदाचरण नहीं । भगवान् ने जैसा किया है, वैसा हमें कर डालने का न तो अधिकार ही है, एवं न सामर्थ्य

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ही । लोकभावुकतासंरक्षण के माध्यम से मान लेते हैं हम भी गोवर्द्धनपूजन भी आवश्यक । किन्तु सांस्कृतिक-परम्परा के अनुरोध से तो हमें निगमागमसिद्ध 'इन्द्रपूजन' को ही प्रमुख कहना पड़ेगा, कहना चाहिए । इस इन्द्रपूजन से भी तो-**'गोवर्द्धन'** तत्त्व सर्वात्मना अक्षुण्ण बना रह जाता है । कैसे ?, यही तो उत्तर की वह दुर्बोध्यता है, जिसका पूर्व में हमनें उल्लेख किया है ।

११४-लक्ष्मीशक्ति के प्राणलक्ष्मी--भूतलक्ष्मी--रूप दो महिमाविवर्त्त, एवं सौर इन्द्र-प्राणात्मक गौतत्त्व का नैगमिक--स्वरूपसमन्वय—

प्राणलक्ष्मी–भूतलक्ष्मी, भेद से लक्ष्मीशक्ति के दो महिमाविवर्त्तों का पूर्व में यत्रतत्र उल्लेख हुआ है । प्राणलक्ष्मी को ही–**'तद् प्राणा वै श्रियः'** रूपेण–'श्री' कहा गया है, एवं भूतलक्ष्मी ही 'लक्ष्मी' नाम से प्रसिद्ध हुई है । क्या स्वरूप है इस भूतलक्ष्मी का ?, उत्तर है **'इन्द्रप्राणात्मक-गौपशु'** । **'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसनमातरं पुरः'** इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार इन्द्रप्राणात्मक-सूर्य्य 'गौ' नाम से ही प्रसिद्ध है । यही इन्द्र अपने उक्थरूप से गौतत्त्व का संरक्षक भी बना हुआ है । अतएव इसे-**'अयं वै गोपाः'** इत्यादि रूप से 'गोपा' भी कहा गया है । अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–से सम्बन्ध रखने वाली सामान्य परिभाषा के अनुसार 'गौ' शब्द भी तीनों प्राजापत्य विवर्त्तों में भुक्त हो रहा है । भारतीय–संस्कृति के मूलस्तम्भ **"वेद, ब्राह्मण, गौ,"** ये तीन ही तो तत्त्व माने गए हैं । संस्कृति, तन्मूलक साहित्य, तत्प्रतिपादित धर्म्म, सांस्कृतिक आचार, सांस्कृतिक आयोजन, अन्यान्य जीवनपद्धतियाँ, आदि आदि समस्त–इतिकर्त्तव्यताकलाप इन्हीं तीनों मूलस्तम्भों पर ही प्रतिष्ठित हैं । इन तीनों स्तम्भों के आधिदैविक–आध्यात्मिक-रूप सूक्ष्म स्वरूपों से अपरिचित रहने के कारण ही आज के प्राकृत मानव के लिए तीनों का महिमामय स्वरूप अन्तर्म्मुख ही बन गया है । तत्त्वात्मक वेद का शरीरस्थानीय शब्दात्मक वेदशास्त्र, तत्त्वात्मक ब्राह्मण का शरीरस्थानीय भौतिक ब्राह्मण, एवं तत्त्वात्मक गौ का शरीरस्थानीय भौतिक गौपशु अपने इन प्रत्यक्षदृष्ट–भौतिक शरीरों के अन्तर्भाग में तत्त्वात्मक किन गौ--ब्राह्मण--वेद--भावों को प्रतिष्ठित किए हुए है ?, यह प्रश्न ही आज की भूतदृष्टि से सर्वात्मना पराःपरावत बन चुका है । तीनों में से प्रकृत में तो 'गौपशु' ही हमारा लक्ष्य बना हुआ है ।

११५-भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-'गोपाष्टमीपर्व', एवं तदनुबन्धी राष्ट्रप्रतिष्ठात्मक गौपशु—

भूतदृष्टिपरायण वर्त्तमानयुग के नीतिकुशल–अन्तर्राष्ट्रीय–यशोलिप्सु भारतीय सत्ताधीशों की दृष्टि में सम्भव है गौपशु का भी वही स्थान हो, जो कि स्थान अन्यान्य पशुओं का है । यद्यपि अपने अपने प्राणस्वरूप से सभी प्राणी अपना अपना विशेष महत्त्व रख रहे हैं । तथापि उन सब में भारतीय–संस्कृति की दृष्टि से 'गौपशु' का एक विशेष स्थान इसलिए माना गया है कि, इस में प्रतिष्ठित गौप्राण सृष्टिविज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । प्रस्तुत प्रकरण में आरम्भ से श्रीसमन्विता जिस लोकलक्ष्मी का यशोगान किया जारहा है, उस लोकलक्ष्मी की मूलप्रतिष्ठा भी यही 'गौपशु' बना हुआ है । कैसे ?, और क्यों ?, के लिए तो–**'गोपाष्टमी और गौतत्त्व'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए । निबन्ध-विस्तारभिया इच्छा रहते हुए भी अत्र उसका सन्निवेश नहीं हो सका है । प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही निवेदन कर सन्तोष कर लेना पड़ेगा कि, अधिदैवत में स्वायम्भुव-**'ऋषिप्राण'** ही प्रथम, एवं प्रमुख गौतत्त्व

है। पञ्चपर्वात्मक महाविश्व में प्रथम स्थान अव्यक्त स्वयम्भूब्रह्म, किंवा ब्रह्मा का है। यहीं ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेदतत्त्व प्रतिष्ठित है। तदनुगत यजुःप्राण का ही नाम 'ऋषि' है। 'यदरिषन्' ही '**ऋषि**' शब्द का निर्वचन है (शत० ६।१।१।१।)। '**प्राणा वा ऋषयः**' प्रसिद्ध है। 'यत्–जू' रूप यजुः का 'यत्' रूप प्राण ही गतिरूप ऋषि है। और 'गच्छति' निर्वचन से यही ऋषिप्राण–'**गौः**' है। वेदावच्छिन्न वेदमूर्त्ति ऋषिप्राण ही गौ है, तदभिन्न स्वयम्भू ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रतिष्ठारूप ब्राह्मण है। और यों स्वायम्भुव विवर्त्त ही क्रमशः वेद--ब्राह्मण--गौ--भावों में परिणत हो रहा है। यह स्वायम्भुवी गौ ही–'**ब्रह्मगवी**'–'**वैश्वदेवी**' गौ कहलाई है, जैसाकि--'**प्राणो हि गौः**' (शत० ४।३।४।२५)–'**वैश्वदेवी वै गौः**' (गो० ब्रा० उ० ३।१९) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

११६–गौपशु के प्रतिष्ठारूप गौप्राण की विश्वव्यापकता के दर्शन—

स्वयम्भू से आपोमय परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ। पारमेष्ठ्य वेद सोमात्मक–अथर्ववेद कहलाया। पारमेष्ठ्य प्राण '**पितर**' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पारमेष्ठ्य यही सौम्य पितरप्राण मनोताविज्ञान के अनुसार 'इट्' रूप 'अन्न' कहलाया, और इसी आधार पर '**इडा हि गौः** (शत०२।३।४।३४)–'**अन्नं वै गौः**' (शत० ४।३।४।२५।) इत्यादि निगम प्रसिद्ध हुए। बुद्धमताभिनिविष्ट कतिपय आधुनिक विद्वानोंनें इन वचनों के पारिभाषिक अर्थों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट रहते हुए अपने मान्यतानुबन्धी–काल्पनिक जिस निबन्ध में आर्ष–महर्षियों की जीवनपद्धति पर धूलिप्रक्षेप की धृष्टता की है, वह इसलिए क्षम्य है कि, बालबुद्धियों के सभी उपलालन इस राष्ट्र ने सदा से ही क्षम्य ही मानें हैं। पारमेष्ठ्य सौम्य गौप्राण ही 'इट्' रूपेण पार्थिव ओषधि–वनस्पतिरूप भूतान्न का आधार बनता है। यही '**अन्नमु वै गौः**' का तत्त्वार्थ है। वैसे इसके–'**अघ्न्या**' नाम श्रवण का सौभाग्य तो उन '**वोल्गा से गङ्गा**' की कल्पना के स्रष्टाओं को भी उपलब्ध हुआ ही होगा। आलप्यालम्।

११७–महान् विश्व का गौमय–सौरलोकोर्ध्वस्थित व्रजधाम, एवं गोरक्षक–गोलोक–धामवासी पारमेष्ठ्य विष्णु—

पारमेष्ठ्य आपोमव मण्डल ही अक्षरविद्यानुपात से विष्णुधाम कहलाया है। यहीं वह सौम्य–गौप्राण प्रतिष्ठित है, जो पितरप्राण से अभिन्न है। स्वयम्भू का ऋषिप्राण ही बलचिति से परमेष्ठी में आकर जैसे 'पितर' बन गया है (**ऋषिभ्यः पितरो जाताः**–मनुः), एवमेव स्वायम्भुवी ब्रह्मगवी ही परमेष्ठी में इट्रूप से '**विष्णुगवी**' बन गई है, जिसका नैगमिक नाम है–'**कामगवी**', एवं पौराणिक नाम है–'**कामधेनु**'। इसी सौम्या गौ के सम्बन्ध से परमेष्ठी विष्णु–'**गोसव**' कहलाया है, जो 'गोसव' ही पुराण में '**गोलोक**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। '**व्रजं गच्छ गोष्ठानम्**' इत्यादि यजुर्म्मन्त्रानुसार पारमेष्ठ्य गोलोक ही पारमेष्ठ्य विष्णु का वह व्रजधाम कहलाया है, जिसके सगुण–पूर्ण–मानुषावतार का महद्भाग्य इस भारतभूमि को ही उपलब्ध हुआ है। सौम्य रश्मियों से भूरिशृङ्गा बनी हुईं प्राणरूपा-सौम्या गोमाताएँ इसी व्रजधामात्मक पारमेष्ठ्य–गोलोक में स्वच्छन्द विचरण करतीं रहतीं हैं ÷।

÷ **या ते धामान्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।**
अत्राह तदुरु गायस्व विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि॥
—यजुः सं० ६।३।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

११८–विराट्-मूर्त्ति–सूर्य्यनारायण का मूलप्रतिष्ठात्मक गौप्राण—

आगे चलिए। स्वायम्भुव त्रयीवेदरूप चतुष्कल ब्रह्मपुरुष, पारमेष्ठ्य अथर्ववेदरूपा षट्कला सुब्रह्म–प्रकृति, दोनों के दाम्पत्य से दशावयव जो विराट्पुत्र आविर्भूत हुआ है, उसी का नाम है 'सूर्य्यनारायण', जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्र तत्र विस्तार से निवेदन किया जा चुका है। विराट्सूर्य्य में वही पारमेष्ठ्य गौतत्त्व विराट्रूप में परिणत हो जाता है, जिसका अर्थ है–**आदित्यरूप**। पारमेष्ठ्य पितरप्राण ही सौर–देवप्राणरूप में परिणत हुआ है (**'पितृभ्यो देवमानवाः'–मनुः**)। यों पारमेष्ठ्य–सौम्य–वैष्णव–गौतत्त्व ही सौरमण्डल का सर्जक बनता हुआ–'तत्सृष्ट्वा' न्याय से सौर विराट्मण्डल में प्रविष्ट होता हुआ सौर–इन्द्रप्राण से समन्वित हो जाता है। अतएव सौरइन्द्रप्राणात्मक–विराट्–आदित्य 'गौ' नाम से प्रसिद्ध होजाता है। **'विराट् वै गौः'** (यजुः सं० १३।४३,–शत० ७।५।२।१९)–**'विराजो वा एतद्रूपं–यद्गौः'**–(ताण्ड्य० ४।६।३)–**'गावो वा आदित्याः'** (ऐ० ब्रा० ४।१७) इत्यादि वचन इसी ऐन्द्री–सौरी–गौ की महिमा का यशोवर्णन कर रहे हैं।

११९–सौररश्मिमण्डलानुगत सहस्रसंख्यामित–गौप्राण—

सौरमण्डल में–सूर्य्यरूप द्युलोक, चान्द्र अन्तरिक्षलोक, एवं भौम **पार्थिवलोक**, ये तीन रोदसी–लोक प्रतिष्ठित हैं, जिनमें क्रमशः १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसुप्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। इन त्रैलोक्य-प्राणदेवताओं के विभेद से सौरमण्डलानुगता साहस्रीगौ ÷ ३$\overset{१}{३}$३ ३$\overset{२}{३}$३ ३$\overset{३}{३}$३ इसप्रकार से तीन संस्थानों में विभक्त हो जाती है, जो क्रमशः **आदित्यागौः, रौद्रीगौः, वासवीगौः**, नाम से प्रसिद्ध हैं।

१२०–दिव्य–सौर–गौप्राणप्रधान गौपशु, एवं तद्गत गौप्राण का सर्वदेवमयत्त्व—

पार्थिव वस्वग्नि से अनुप्राणिता, ३३३ महिमाभावों में विभक्ता वही सौरी–प्राण–गौः–**'आग्नेयी वै गौः'** (शत० ७।५।२।१९) रूपेण **'आग्नेयी'** है। आन्तरिक्ष्य रुद्रप्राणवायु से समन्विता, ३३३ भावों में विभक्ता वही सौरी गौ–**'रौद्री वै गौः'** (तै० ब्रा० २।२।५।२) के अनुसार **'रौद्री'** है। एवं सौर–दिव्य द्वादशादित्यप्राणदेवों से समन्विता, ३३३ भावों में विभक्ता वही सौरी गौ–**'आदित्या वै गौः'** (ऐ०ब्रा०४।१७) इत्यादिरूप से **'आदित्याः'** है। एकसहस्र भावापन्न गौप्राणों से यों तीन स्थानों में ९९९ गौप्राणों का समन्वय होरहा है। शेषभूता–सर्वाधारभूता–गौ ही वह पारमेष्ठिनी अमृतगवी–कामगवी–सौम्या–गौ है, जिसका कामधेनुरूप से संस्मरण करने वाली भारतीयप्रजा धन्य-कृतकृत्य बन जाया करती है। त्रैलोक्यव्याप्ति के कारण ही सौरी ऐन्द्रीगौ के सम्बन्ध में–**'इमे वै लोकाः गौः'** (शत० ६।५।२।१७)–**'अन्तरिक्षं गौः'** (ऐ० ब्रा० ४।१५)–**'गौर्वै सार्पराज्ञी [पृथिवी]** (कौ० २७।४)–इत्यादि निगम प्रसिद्ध हैं। सौर–इन्द्र **'मघवा'** हैं, आन्तरिक्ष्य इन्द्र **'मरुत्वान्'** हैं, पार्थिव इन्द्र **'वासव'** हैं। त्रिस्थानों में त्रिरूप से व्याप्त सौर इन्द्र, और त्रिस्थानों में व्याप्त गौप्राण अभिन्न हैं। इसी त्रैलोक्यव्याप्ता सौरी ऐन्द्री गौ का (तीनों

÷ **साहस्रो वा एष शतधार उत्सः, यद् गौः** [शत० ७।५।२।३४।]

महिमाभावों के साथ) दिग्दर्शन कराते हुए, साथ ही तीनों प्राणों के समन्वय से ही कृतात्मा बनी हुई माता गौ की ओर सङ्केत करते हुए, प्राणगौ के द्वारा प्राणी गौ की अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए ही ऋषि कह रहे हैं—

> **माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्याना, ममृतस्य नाभिः ।**
> **प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनामदितं वधिष्ट ॥**
>
> —ऋक्संहिता ८।१०१।१५।

१२१–रुद्रमाता–वसुकन्या–आदित्यभगिनी–जीवनीयरसप्रदात्री अमृतनाभि गौमाता, और उसका 'अघ्न्यात्व'—

आधिदैविक–प्राणात्मक–ऋषि–पितर–देव–इन्द्र–वसु–रुद्र–आदित्यादि दिव्यभावसमन्विता, सुप्रसिद्ध 'गौभूतपशु' रूपा गौमाता के प्राणस्वरूप की ओर मानव का ध्यान आकर्षित करते हुए ऋषि इसे उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, "जिसे तुम 'गौपशु' समझ रहे हो, सावधान ! वह पशु नहीं है। अपितु यह तो रूद्रों की माता है, वसुओं की कन्या है, आदित्यों की बहिन है। एवं जीवनीय–पारमेष्ठ्य–अमृतसोमरस का केन्द्र हैं। मैनें (ऋषि ने) प्रज्ञा रखने वाले प्रज्ञाशील (समझदार) मानव को [इस प्राणस्वरूपवर्णनमाध्यम से ही यह] कह दिया है कि, यह गौ अदितिरूपा है। अतएव मानव कभी भूल से भी इसे कष्ट न पहुँचावे। [क्योंकि इसे कष्ट पहुँचाना अपने जीवन को, प्राण को, सर्वस्व को ही अपने हाथों ही नष्ट कर लेना है]"। मन्त्र स्पष्टरूप से गौतत्त्व की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन करा रहा है। स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–आदि विश्वपर्व, ऋषि–पितर–देव–गन्धर्व–मानव–पशु–आदि प्राण, तथा तत्प्राणप्रधान एतन्नामक ही प्राणी, ओषधी–वनस्पति–आदि सभी का गौप्राण से जीवनप्रतिष्ठात्मक–आत्मसम्बन्ध है। जिसे राजनैतिक भाषा में–'**स्वराज्य**' कहा जाता है, उसकी प्रतिष्ठा भी गौ ही है। प्राणरूप से यही गौ सूक्ष्म विश्व के स्वराज्य की प्रतिष्ठा है, तो भूतरूप से भौतिक स्वराज्य की प्रतिष्ठा है, जैसाकि–'**अथैष गोसवः–स्वाराज्यो यज्ञः**' [ताण्ड्य ब्रा० १६।१३।१।] इत्यादि से प्रमाणित है। पारमेष्ठ्या सरस्वतीवाक् भी गौप्राण से ही समन्विता है [**सरस्वती हि गौः**–यजुः सं० ३८।२।]। एवमेव–"**इडे, रन्ते, हव्ये, काम्ये, चन्द्रे, ज्योतेऽ, दिति, सरस्वति, महि, विश्रुति–एता ते अघ्न्ये देवत्रा नामानि**' [शत० ४।५।८।१०] इत्यादि श्रुति विस्पष्ट शब्दों में गौमाता के प्राणात्मक–विश्वव्यापक इसी महिमामय स्वरूप का यशोवर्णन कर रही है। अतएव पुराणशास्त्र में अनेक आख्यानों के द्वारा गौ का महतोमहीयान् महत्त्व उपवर्णित है। यदि प्राणात्मिका–सुसूक्ष्मा आधिदैविकी, तथा आध्यात्मिकी उपयोगिता को थोड़ी देर के लिए हम तटस्थ भी बना लें, तब भी गौमाता की भौतिक उपयोगिता के सम्बन्ध में तो किसी भी भूतविज्ञानवादी, किन्तु प्रज्ञाशील को तो कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। '**तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्**' रूप से भारतीय आयुर्वेदशास्त्र ने भी गौपशु का महत्त्व स्वीकार किया है।

अध्यात्म में बुद्धि सौर-मघवा-इन्द्रप्राणमयी है, प्रज्ञानमन आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् इन्द्रप्राणमय है, एवं भूत–शरीर वासवेन्द्रप्राणमय है। अतएव मानवसंस्था के सभी प्रतिष्ठात्मक प्राण गौरूप है। तभी तो ऐन्द्रियक विषयों को–'**गोचर**' कहा गया है। इन्द्रसम्बन्ध से ही इन्हें–'**इन्द्रिय**'–कहा गया है। '**इन्द्रियं वै वीर्य्यं गावः**'

[शत० ५।४।३।१०] इत्यादि श्रुति गौतत्त्व की आध्यात्मिकता का भी समर्थन कर रही है। और यों अधिदैवतरूपा ईश्वरीय–संस्था में, अध्यात्मरूपा प्राणीसंस्था में, तथा अधिभूतरूपा स्थावरसंस्था में, सर्वत्र गौतत्त्व का प्राधान्य, तदनुबन्धेन इन्द्रप्राधान्य प्रमाणित हो रहा है। ऐसे सर्वप्रतिष्ठारूप गौप्राण की प्रधानता से ही अमुक पार्थिव दिव्य पशु–'गौपशु' कहलाया है। इसी प्राणातिशय से भारतीय वैज्ञानिक महर्षियों नें गौपशु को अत्यन्त ही महनीय, एवं सर्वात्मना संरक्षणीय माना है, जिसकी उपेक्षा करने वाला राष्ट्र निश्चयेन विनष्ट ही हो जाता है। कुछ एक वेदमन्त्रों को उद्धृत कर देने के लोभ का संवरण नहीं हो रहा है हम से, जिनके द्वारा प्राणमाध्यम से महद्भूतरूप गौपशु के महामहिमत्त्व का, इसके त्रैलोक्यव्यापक स्वरूप का विस्पष्ट शब्दों में स्वरूप–विश्लेषण हो रहा है —

१२२-गौपशु से अनुप्राणित गौतत्त्व के स्वरूपविश्लेषक कतिपय वेदमन्त्र—

१—आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन् सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युः, इन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥
२—गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छात्, गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः सजनास इन्द्रः, इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥
३—यूयं गावो मेदयथा कृशं चित्, अश्लीलं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचः, बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥
४—प्रजावतीः सूयवसं रुशन्तीः, शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माऽघशंसः, परि वो हेती रुद्रस्य वृञ्ज्यात्॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २ काण्ड। ८ प्रपाठक। ८ अनुवाक।

तत्त्ववेदद्रष्टा वेदमहर्षि गौमाता से यही कामना व्यक्त कर रहे हैं कि,–"ये गौमाताएँ मेरे यहाँ [वैधयज्ञों में, तथा परिवारों–घरों में] पधारैं, [पधार कर मेरे यज्ञ का, परिवार का] अभ्युदय करैं। मेरे [घर की] गौशालाओं में विराजें, और [यहाँ स्वस्थतापूर्वक विराजमान होकर] मेरे [इस परिवार का] पालन–पोषण करैं। [यहाँ आकर विराजमान होने वालीं ये] गौमाताएँ प्रजावतीं बनें, [सन्तानवतीं बनें, और इन अनेक सन्तानों के धूम्र–धूसर–श्वेत–रक्त–पीत-कपिला-आदि विविध रूपों से सन्तानवतीं बनतीं हुई ये गौमाताएँ] यों अनेक रूपवतीं बन जायँ। [इसके अतिरिक्त] उषाकाल से पहिले रहनें वालीं रात्रियों में इन्द्र के लिए [अग्निहोत्र–दर्शपूर्णमासादि–यज्ञकर्म्माङ्गभूत] सान्नाय्य-द्रव्य के स्वरूप-सम्पादन के लिए दूध देने वालीं बन कर ही यहाँ विराजें [१]। ये जो गौमाताएँ हैं, वे ही हमारे [परिवार की] सम्पत्ति [सौभाग्यलक्ष्मी] हैं। सुनिर्म्मला इन गौमाताओं का पालन [स्वरूपरक्षा] जैसे [सौर] इन्द्र के द्वारा होरहा है, तथैव ये गौमाताएँ हमारा पालन करतीं हैं [करती रहैं]। ये गौमाताएँ [तीसरे पारमेष्ठ्य द्युलोक में प्रतिष्ठित 'ब्रह्मणस्पति' नामक प्रथमस्थानीय [परमेष्ठिस्थानीय] पवित्र सोम से [जीवनीय प्राणतत्त्व से] ही नित्य समन्वित हैं। [अर्थात् इस गौपशु का आधारभूत मौलिक प्राण पारमेष्ठ्य सोमतत्त्व से ही समन्वित है]। हे मानवो ! जो ये गौमाताएँ हैं, वे साक्षात् इन्द्र [की प्रतिमा हैं, सौर–इन्द्रप्राणात्मिका

हैं। अतः इस गोवंशरक्षा के लिए] मैं अपने बुद्धियुक्त चिन्मन से उस इन्द्र [के अनुग्रह] की ही कामना कर रहा हूँ। अर्थात् सौर इन्द्रात्मिका देवभावापन्ना सात्त्विकी बुद्धि के अनुग्रह से ही गौमाता का यह दिव्य स्वरूप मेरा उपास्य बना करता है [जबकि सत्त्वबुद्धिशून्य जड़भूतवादी मानव गौ के इस प्राणात्मक महत्त्व से अपरिचित रहता हुआ गौ को एक सामान्य पशु ही मानने की भ्रान्ति करता रहता है] [२] ॥ हे गौमाताओ ! आप हमारी निर्बल–कृश-सन्ततियों को [अपने सबल–जीवनीय दुग्ध–दधि–घृत–तक्र–मण्ड-आदि से] सबल सुपुष्ट ही करने का अनुग्रह करें। दुर्बलाङ्ग, अतएव कुरूपवत् प्रतीयमान हमारी सन्तानों को [अपने रूप–बल–वर्द्धक दुग्धादि से] स्वरूप--सुरूपवतीं--बलिष्ठ बनातीं हुईं आप इन्हें सौन्दर्य्य प्रदान करने का अनुग्रह करें। हे गौमाताओ ! वैज्ञानिकों की परिषदों [सभाओं] में आपका वयोरूप [वस्तुतत्त्वरूप] दुग्ध ही 'बृहदुक्थ' [सृष्टि का महान् मूलकारणरूप] से विचारपरामर्श का मौलिक विषय बना रहता है [रश्मिमण्डलरूप अर्कमण्डल का केन्द्रीभूत मूलबिम्बात्मक हृदयावच्छिन्न वस्तुतत्त्व ही **'बृहदुक्थ'** कहलाया है। निश्चयेन सौरप्राणात्मक--केन्द्रीय--गौरूप इन्द्रतत्त्व ही वह बृहदुक्थ है, जो अपने **महदुक्थ, महाव्रत,** पुरुष, रूप गायत्रीमात्रिक सौर–इन्द्रवेद के रूप से विद्वानों की तत्त्वचर्चा का आधार, मूलविषय बना रहता है] ३ ॥ [हमारे परिवार में निवास करनें वालीं] ये गौमाताएँ वत्स–वत्सा [बछड़ा--बछड़ी] से युक्त होकर कोमल--हरित घास चरतीं रहतीं हैं। सुशोभन--स्फटिकवत् निर्म्मल--स्वच्छ–सुविधापूर्वक पान करने योग्य प्रपाणों ['उदपान' नाम से प्रसिद्ध खेलियों] में परिपूर्ण [भरे हुए] स्वच्छ–निर्म्मल जल का पान करतीं रहतीं हैं। इसप्रकार उत्तम घास, शुद्ध--स्वच्छ जल खातीं–पीतीं हुईं हे गौमाताओ ! [आप तृप्त–पुष्ट--समृद्ध होकर हमें ऐसा आशीर्वाद दीजिए, जिसके बल पर हम आपका संरक्षण कर सकें। फलस्वरूप] चौर आपको न चुरा सकें, प्रज्ञाहीन--दुष्टबुद्धि--असुरकर्म्मा--नराधम आपका ताड़न न कर सकें। तदित्थं आप ही के आशीर्वादबल पर हम आपकी दुष्ट--आततायीवर्ग से रक्षा करने में समर्थ बन सकें। और आप यों सर्वात्मना प्रसन्न बन कर हमें अपने अतिष्ठावा रुद्रदेवता के कोप से बचाने का अनुग्रह करतीं रहें [४] ॥*।

गोवर्द्धनोत्सवानुगता–गोस्वरूपात्मिका "नहुष च्यवन–संवादरूपा'- पावनगाथा का माङ्गलिक संस्मरण

(सर्वात्मना अवधेय, तथा आचरणीय)

१२३–त्रैलोक्य–त्रिलोकी की प्रतिष्ठारूप गौप्राण की प्रतिमूर्त्ति गौमाता के पावन–स्वरूप का संस्मरण—

त्रैलोक्ये श्रेष्ठतम महद्भूत 'गौपशु' का तद्गर्भीभूत पारमेष्ठ्य–वैष्णव–गौतत्त्व के सम्बन्ध से, आपोमय परमेष्ठी-मंण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित सहस्ररश्मिमूर्त्ति-हिरण्यगर्भप्रजापति भगवान् सूर्य्यनारायण के आदित्य-रुद्र–वसु–नामक-प्राणात्मक–त्रैलोक्यव्यापक गौतत्त्व के सम्बन्ध से, पारमेष्ठ्यसोम के प्रवर्ग्यभूत आन्तरीक्ष्य

---

*--उक्त मन्त्रों की तात्त्विक स्वरूपव्याख्या--'गोपाष्टमी, और गौतत्त्व' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ही देखनी चाहिए।

चन्द्रमा के प्रतिष्ठारूप चान्द्रगौतत्त्व के सम्बन्ध से, एवं गौरूपधरा–गायत्रीरूपा पृथिवी के प्रतिष्ठाभूत अग्निहोत्रमूलक-गौतत्त्व के सम्बन्ध से, तदित्थं पारमेष्ठ्य–सौर-चान्द्र–पार्थिव–इन चारों विश्वपर्वों के मूलप्रतिष्ठात्मक, क्रमशः **बार्हस्पत्या गौ, ऐन्द्री गौ, सौम्या गौ, आग्नेयी गौ**, नामों से उपवर्णित, सर्वोपरि अव्यक्त स्वयम्भूरूप यजुःप्राणरूप ऋषिगौतत्त्व से समन्वित, एवञ्च सर्वविश्वप्रतिष्ठात्मक इत्थंभूत गौतत्त्व से कृतस्वरूप भारत–राष्ट्र की आस्थाश्रद्धान्विता आर्षप्रजा के लिए परमाराध्य बना हुआ सुप्रसिद्ध-**'गौपशु' [गाय]** सचमुच न केवल त्रैलोक्य में हीं, अपितु पञ्चपर्वात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वापेक्षया श्रेष्ठ–श्रेष्ठतर–श्रेष्ठतम ही महद्भूत माना जायगा, माना गया है वेदशास्त्र में, जिसके आधार पर ही वेदशास्त्रोपबृंहक–इतिहासपुराणशास्त्र ने इस सर्वाराध्या परमाराध्या गौमाता के तथोक्त महिमाभावों का विस्तार से यशोगान किया है, जिसके श्रवणमात्र से ही मानव के अनेकजन्मार्ज्जित दुरितसमूहों का सर्वात्मना क्षय हो जाता है। **'गुणैकदेशवचनं शक्यं–पारायणान्तु'** [म० अनु० पर्व ५१ अ० । ३४ श्लो०] इत्यादि वचनानुसार इतिहासपुराणशास्त्र नें अपने महतो–महीयान् भी गोमाहात्म्य को सर्वथा आंशिक माहात्म्य ही माना है।

१२४–त्रैलोक्य–प्रतिष्ठारूप गौपशु के प्रति शासनतन्त्र का अभिनिवेशमूलक आक्रोश, एवं राष्ट्रीय गौधन के प्रति इसकी साम्प्रदायिकतारूपा महती भ्रान्ति—

भौतिक–आत्मिक–दैविक–धन्य–यशस्य–आयुष्य–राष्ट्रलक्ष्मीप्रवर्त्तक–संरक्षक–परिवर्द्धक–इत्थंभूत महद्भूतात्मक गौवंश की, सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठारूपा इस विमलनिधि की जैसी उपेक्षा आज वह भारतराष्ट्र ही करता जा रहा है अपनी सर्वथा भ्रान्ता साम्प्रदायिकता के आवेश में, जिस भारतराष्ट्र ने हीं सर्वप्रथम इस भूतपशु के लोकोत्तर–लोकातीत–लोकरूप–अलोकलक्षण महत्त्व को समझा था, एवं समझ कर अपनी सम्पूर्ण आचारपद्धतियों में जिसे प्रमुख स्थान प्रदान किया था। इस अपेक्षा के माध्यम से आज हमें संकोच–शून्य बन कर यह कह ही देना पड़ेगा कि, सचमुच भारतराष्ट्र की प्रज्ञा प्रतीच्यजगत् के भौतिक जड़वाद–संस्कारों, किंवा कुसंस्कारों से आज वैसी अभिभूत होगई है, जिस अभिभूता परप्रज्ञा ने इसे भारतराष्ट्र के तत्त्वज्ञान से सर्वथा ही पराङ्मुख बना दिया है। अतएव 'गौरक्षा' जैसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न को भी आज का हमारा यह राष्ट्रीय शासकवर्ग **'हिन्दू की साम्प्रदायिकता'** बतलाने की भयावहा भ्रान्ति करता हुआ इस निर्लज्ज अभियोग से यत्किञ्चित् भी तो अवनत– शिरस्क नहीं बन जाता। ज्ञानविज्ञानसम्मता इन राष्ट्रीय निधियों की 'साम्प्रदायिक' कह कर उपेक्षा करते रहने वाले आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्रराष्ट्र के स्वतन्त्र शासकवर्ग का यह परव्यामोहन कब किस माध्यम से दूर होगा ?, प्रश्न आज इसलिए सर्वथा अमीमांस्य ही बनता जारहा है कि, **अविद्या** की पुत्री **अस्मिता**, तत्पुत्री **आसक्ति**, एवं तत्पुत्र **'अभिनिवेश'** नामक **'दुराग्रह'** [हठधर्म्मी] उस सीमापर्य्यन्त व्यक्तित्त्वविमुग्ध आज के शासकवर्ग में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से दृढमूल बन गया है, जिस इत्थंभूत अभिनिवेश को शास्त्र ने **'अविचिकित्स्य'** मानते हुए असाध्य रोग ही कहा है। अतएव एकमात्र आस्था–श्रद्धाशील वह जनतन्त्र ही इस राष्ट्रीय मूलधन के संरक्षण से राष्ट्र को महाविनाश के गर्त्त से बचा सकता है, जिस आस्थाश्रद्धान्वित जनतन्त्र की संस्कृति–निष्ठामूला–सांस्कृतिक–आचारपद्धतियों से, सर्वोपरि सांस्कृतिक–आयोजनों से ही विगत उन शताब्दियों में भी इस मूलधन के रक्षण के क्वाचित्क प्रयत्न प्रक्रान्त ही रहे हैं, जिन शताब्दियों में तो प्रत्यक्ष में ही इस राष्ट्रनिधि को उत्पीडित किया जाता था।

१२५–राजर्षि नहुष, तथा महर्षि च्यवन की संवादभाषा के माध्यम से धर्म्मराज युधिष्ठिर, एवं धर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म के गौ के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्नोत्तर —

प्रस्तुत 'दीपावलीपर्व' नामक महान् सांस्कृतिक आयोजन के प्रधानाङ्गभूत '**गोवर्द्धनमहोत्सव**' के प्रसङ्ग से ही दो शब्दों में उस पावनगाथा की ओर सांस्कृतिक-प्रजा का ध्यान आकर्षित करा दिया जाता है, जिस आख्यान के द्वारा इस महद्भूत परमाराध्य गोपशु के 'मूल्याङ्कन' की मीमांसा के द्वारा इसके महत्त्व का यशोगान हुआ है। आख्यान का मूलबीज है–'**एक गौपशु का मूल्य क्या ?**'। इस मूल–बीज को आधार मान कर ही **राजर्षि नहुष**, तथा **ब्रह्मर्षि च्यवन** की संवादभाषा में महात्मा भीष्मनें धर्म्मराज युधिष्ठिर की गोस्वरूपजिज्ञासा का जो समाधान किया है, उसी का संक्षिप्ततम स्वरूप अत्र सङ्कलित हो रहा है राष्ट्रलक्ष्मी–समृद्धि की मङ्गलकामना से।

युधिष्ठिर प्रणतभाव से शरशय्यासीन महात्मा भीष्म से यह जिज्ञासा करते हैं कि, हे पितामह ! गौ–माता के दर्शन से मानवीय मन में किस प्रकार की स्नेहधारा उमड़ पड़ती है ?, गौमाता के घर में निवास करने से गृहस्थ किस अतिशय से समन्वित हो जाता है ?, किंवा गौ के दर्शन में मानव का क्या आनृशंसधर्म्म है ?, तदतिरिक्त गौमाताओं के महद्भावानुगत उस अतिशय-माहात्म्य का क्या स्वरूप है ?, यह सब स्पष्ट करने की कृपा करेंगे !।

भीष्म उवाच—हन्त ! ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते !
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्चवनस्य च ॥

१२६–गङ्गायमुना के प्रचण्डप्रवाहात्मक सङ्गमस्थान में महर्षि च्यवन के द्वारा द्वादशवर्षीय दुष्कर-तप का अनुगमन—

भृगुपुत्र, अतएव–'भार्गव' नाम से प्रसिद्ध महर्षि च्यवन ने अपने मानवीय मनोऽनुबन्धी '**मान–क्रोध–हर्ष–शोक** आदि का एकान्ततः परित्याग कर एक बार बारह वर्षीय उस उग्र तपोव्रत का सङ्कल्प किया, जिसकी पूर्त्ति अपने शरीर को जलनिमग्न रहते हुए ही सम्पन्न होती है। अपने इष्टदेव का संस्मरण कर महर्षि च्यवन इस दुष्कर व्रत के सम्पादन के लिए मकर–मत्स्यादि विविध जलजन्तुओं से नित्य समाकुलित गङ्गा–यमुना के सङ्गमस्थान में तत्र जले समाधिपूर्वक प्रविष्ट होगए १२ वर्षों के लिए। महर्षि ने अपनी व्रतनिष्ठा के द्वारा गङ्गायमुना के उस अत्यन्त-प्रचण्ड वेग के सम्मुख प्रणतभाव से अपने आपको समर्पित कर ही तो दिया, जिस प्रचण्डवेग का संस्मरण भी प्राकृत–मानवों को विकम्पित कर देता है।

१२७–सङ्गमजले निमज्जित च्यवन का आधिदैविक गङ्गा-यमुना-देवता के द्वारा संरक्षण, एवं हिंस्रक जलजन्तुओं का ऋषि के प्रति स्नेहार्पण—

ऋषि की इस व्रतनिष्ठा से गङ्गायमुनाजल के अभिमानी आधिदैविक प्राणदेवता [गङ्गा–यमुना नाम से प्रसिद्ध देवता] अत्यन्त ही प्रसन्न हो गए महर्षि पर, एवं अपना प्रचण्डवेग सुशान्त कर लिया, ऋषि की

प्रदक्षिणा करने लग पड़े ये देवता, और यों रक्षक ही बन गए ये देवता च्यवनशरीर के। च्यवन महर्षि अपने प्राणों का संयम कर काष्ठवत् निष्चेष्टमुद्रा से मेरुदण्ड को तान कर ऊर्ध्वबाहु बन कर अपने प्राणानुध्यानात्मक व्रतानुष्ठानकर्म्म में सर्वात्मना संलग्न हो गए। इनके चारों ओर व्याप्त रहने वाले मकर–मत्स्य–कृकलास–तिमिङ्गिलादि क्षुद्र–महान् जलजन्तुओं के लिए भी तपःप्रभाव से परिपूत महर्षि च्यवन प्रियदर्शन ही बन गए–**'जलौकसां स सत्त्वानां बभूव प्रियदर्शनः'**। यही नहीं, अपितु–**'उपाजिघ्रन्त च तदा तस्योष्ठं हृष्टमानसाः'**। अर्थात् जलजन्तु चारों ओर से सिमिट सिमिट कर समाधिस्थ ऋषि की ओर हिंसावृत्ति से तो आते, किन्तु तपःप्रवास से–प्रभावित होकर तत्क्षण ही अपनी हिंसावृत्ति का परित्याग कर ये जलजन्तु अपने इन प्रियदर्शी महर्षि के ओष्ठयुगल [होठों] का स्पर्श कर अत्यन्त तृप्ति–तुष्टि का अनुभव कर लौट जाते इस स्पर्शजनित प्रसादगुण से भाग्यशाली बनते हुए।

१२८–मत्स्योपजीवी निषादों के द्वारा तत्सङ्गमजल में जालप्रक्षेप के द्वारा जलजन्तुओं का विकर्षण, एवं हर्षनिनाद—

यों ऋषि को तपःप्रभाव से सब ओर के स्थावर–जङ्गमात्मक वातावरण के सुशान्त–सुसमृद्ध–वनश्री सुशोभित–बने हुए पावनप्रदेश में ऋषि नें तपश्चर्य्या करते करते अनेक वर्ष व्यतीत कर दिए निर्विघ्नता–पूर्वक–**'तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन् महान्'**। एकबार किसी समय कहीं से मत्स्योपजीवी कृष्णकान्तिसमतुलित–घोराकृति से सुशोभित वैसे निषादों [धीवरों] का दल आपहुँचा इस सङ्गमतट पर, जिन निषादों के हाथों में बड़े बड़े जाल विद्यमान थे। वे यही निश्चय कर अत्र तटे समवेत हुए थे कि—"वे आज यहाँ अपने जालों में पर्य्याप्त मकर–मत्स्यों का संग्रह कर लेंगे"। अपने इस निश्चय को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए इन धीवरों के सुविशाल जाल गङ्गायमुना के उसी सङ्गम–प्रदेश में एक साथ प्रक्षिप्त हो पड़े, जहाँ ऋषि के स्नेह से आकर्षित जलजन्तु अधिक संख्या में स्वच्छन्द विचरण कर रहे थे। सङ्कल्प सफल हुआ निषादों का। आशा से भी कहीं अधिक जलजन्तु इनके प्रक्षिप्त जालों में आबद्ध हो गए। जन्तुभारों से अतिशय भारवान् बन जाने वाले इन जालों को जल में प्रवेश कर उन भीमकाय–बलिष्ठ निषादोंनें अनायासेनैव सङ्गमतट पर ला पटका, और अपने आज के इस सफल परिश्रम से सभी हर्षसंविग्नमानस बन गए।

१२९–जाल से आकर्षित महर्षि च्यवन पर दृष्टिपात से निषादों का विकम्पन, एवं ऋषि का ऊर्ध्वनिःश्वसन—

अरे ! रे ! यह क्या है ?, यह क्या हो पड़ा ?, सहसा इत्यादि आश्चर्य्यमिश्रित भय से निषादों का हर्षोत्सव उपरत ही हो गया यह देख कर कि, दैवदुर्विपाक से इन में से ही किसी एक के जाल में समाधिस्थ तपोनिष्ठ वे महर्षि च्यवन भी आबद्ध होकर आगए हैं, जिनके प्रदीप्त ज्योतिर्म्मय शरीर के चारों ओर छोटी–छोटी मछलियाँ वस्त्रवत् आवेष्टित हो रहीं थीं, नदी के हरित–कोमल शैवाल जिनके सर्वाङ्गशरीर को आवृत किए हुए थे, इन से इन के केश––लोम––जटाजूटादि सभी कुछ हरितवर्ण में परिणत हो रहे थे, इनके नखाग्रभागों में, शरीरावयों में हरित–पीत–नील–रक्त–आदि विविध वर्णों के शंख संलग्न हो रहे थे। इसप्रकार ये वेदपरपारगामी महर्षि अपने इन जलीय परिचारकों से अद्भुत ही छटा अभिव्यक्त कर रहे थे, जिस अभिव्यक्ति से प्रभावित होकर ही निषाद महर्षि के सुगुप्त मूर्त्तशरीर को पहिचान सके। तत्क्षण हीं सभी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

निषाद त्राहि मां ! त्राहि मां ! रूपा करुणा वाणी का प्रणतभाव से उच्चारण करते हुए अपने शिरोभागों से अपने आपको दण्डवत्रूपेण निष्प्राणवत् ही ऋषि के सम्मुख प्रक्षिप्त ही कर दिया–**'सर्वे प्राञ्जलयोदाशाः–शिरोभिः प्रापतन्भुवि'** । इन का मन निरतिशयरूपेण खिन्न होगया, शरीरयष्टियाँ भय से विकम्पित हो पड़ीं । और उधर दुर्भाग्य से इन बलिष्ठकाय निषादों के द्वारा आक्रोशपूर्वक जाल में आबद्ध, अपकर्षित, तदनन्तर भूमि में प्रक्षिप्त वे मत्स्यादि जलजन्तु तो निष्प्राण ही बन गए प्रकृतिविरुद्ध स्थलभाग के संस्पर्श से । स्वयं निषादों की भी स्थिति ऐसी ही होगई, मानो इन का प्राणोत्क्रमण ही हो गया हो ।

तात्पर्य्य–इधर यों निषाद ऋषिभय से निष्प्राणवत् बन गए, तो दूसरी ओर इन भीमकाय–बलिष्ठ–निषादों के जालप्रक्षेपजनित परिखेद से, परित्रास से, आलोडन-विलोड़-रूप प्रचण्ड संघर्ष से, सर्वोपरि निर्दयता-पूर्वक जालाकर्षण से, जालों के भूमिपर प्रक्षिप्त कर देने से जालाबद्ध सब जन्तु तो सर्वथा ही निष्प्राण ही बन गए प्रकृतिविरुद्ध स्थलभाग के संस्पर्श से—**"परिखेद-परित्रासात्–जालस्याकर्षणेन च । मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंस्पर्शने च"** ।

ध्वनिवागनुगत मत्स्यादि जलजन्तुओं के करुणक्रन्दन से, भयसंत्रस्त निषादों के प्रचण्डपातरूप पतनाघातों से महर्षि च्यवन की समाधि टूट पड़ी, और आँखें खोलने के साथ ही उन्होंनें अपनी इस अहिंसामयी पावन–तपोभूमि में एक ओर जलजन्तुओं को आकुल–व्याकुलरूपेण निष्प्राण होते देखा, तो दूसरी ओर निषादों को निष्प्राण बने देखा । और इस अमानवीया घटना से महर्षि का दयार्द्रहृदय दुःखार्त्त बन गया, फलस्वरूप ऋषि पुनः पुनः शोकोच्छ्वास के अनुगामी बन गए–**"स मुनिस्तत्तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां–क्रन्दनं कृतम् । बभूव कृपयाविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः"** ।

१३०–विकम्पित–भयसंत्रस्त निषादों की ओर से क्षमा–याञ्चा, एवं ऋषि के प्राणोत्सर्गरूप भयावह उद्गार—

ऋषि की तथाविधा आर्त्ता अवस्था देख कर, एवं इन्हें करुणा से ऊर्ध्वप्रश्वासानुगामी देख कर अब भूमिष्ठ निषाद संयम न रख सके । अविलम्ब वे अपने शिरोभागों को उठा कर प्रणताञ्जलिमुद्रा से ऋषि से यही निवेदन करने लग पड़े कि–भगवन् ! अज्ञानवश हम अज्ञानविमूढों से जो आज यह घोरघोरतम पाप कर्म्म हो पड़ा है, हम हृदय से इस अपराध के लिए क्षमा–याञ्चा कर रहे हैं । महर्षे ! आप अविलम्ब हमें आज्ञा दीजिए कि–'हम अपने इस पापकर्म्म का क्या प्रायश्चित्त करें ?" । निषादों की यह प्रार्थना सुन कर उन आर्त्त–निष्प्राण–मत्स्यादि जलजन्तुओं के मध्य में विराजमान करुणा की सगुणमूर्त्ति महर्षि च्यवन कहने लगे कि–निषादो ! अवधानपूर्वक सुनो ! जो कि इस सम्बन्ध में मैनें अपना अन्तिम निर्णय कर लिया है—**"यो मेऽद्य परमं कामस्तं शृणुध्व समाहिताः'** ।

"मैं जीवित रहूँगा, तो इन मत्स्यादि जलजन्तुओं के साथ ही जीवित रहूँगा । यदि ये मर गए, तो मैं भी इन के साथ ही अपना शरीर छोड़ दूँगा । (क्योंकि तुमने मेरे आश्रय में निर्विघ्न–निर्भय विचरते हुए ही इन को जाल में आबद्ध किया है । यदि मैं अपने इन आश्रितों की रक्षा न कर सका, तो स्वयं भी अपने प्राणोत्सर्ग कर दूँगा, और यही मेरा अन्तिम निर्णय होगा)" । **"प्राणोत्सर्गं–विसर्गं वा मत्स्यैर्यास्यामहं**

सह", अर्थात्-"या तो इनके साथ प्राण छोड़ दूँगा, यदि तुमने इनको प्राणदान न दिया तो । अथवा-इन के जीवित-विसर्ग के साथ ही मैं पुनः इन के साथ अपने व्रतसम्पादन के लिए जल में प्रविष्ट हो जाऊँगा । इन के बिना मैं रह ही न सकूँगा" ।

१३१-प्रतीकार में असमर्थ निषादों का भारतीय सम्राट् नहुष की शरण में गमन, एवं तत्र इस भीषण घटना का निवेदन—

मत्स्यादि जलजन्तुओं को छोड़ देने में तो कोई कठिनाई न थी निषादों के लिए । किन्तु जो जलजन्तु प्रचण्डाघात से निष्प्राण बन गए थे, उन्हें पुनः जीवित कर देना तो असम्भव था निषादों के लिए । उधर ऋषि का अन्तिम निर्णय था-बिना इनके वे तप ही नहीं करेंगे । अतएव ऋषि के इस अन्तिम निर्णय से निषादों की सम्पूर्ण आशाओं पर तुषारपात होगया, एवं ऋषिभय से सभी निषाद सर्वात्मना भयसंत्रस्त बनते हुए सर्वथा ही निराश होते हुए अन्तिम शरणरूप देशाधिपति शासकप्रवर राजर्षि नहुष की राजधानी की ओर सत्वरवेग से चल पड़े इस महान् भय से त्राण प्राप्त कराने की कामना से । और वहाँ पहुँच कर प्रणतभाव से नहुष के सम्मुख सम्पूर्ण घटना का विवरण उपस्थित कर दिया-"**इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः । सर्वे विवर्णवदना-नहुषाय न्यवेदयन्**" ।

१३२-घटनाश्रवणमात्र से विकम्पित सम्राट् का अमात्य-पुरोहित सहित आगमन, एवं ऋषि के प्रति प्रणतभाव से अर्घ्यप्रदान—

घटनाश्रवणमात्र में विलम्ब था । ऋषिकोप के महत्त्व से सुपरिचित नहुष क्षणमात्र भी विलम्ब न कर अपने प्रधानामात्य, कुलगुरु, आदि के साथ तत्क्षण-शीघ्र ही चल पड़े-'**त्वरितः प्रययौ तत्र-सहामात्य पुरोहितः**' । तत्र गत्वा-अपने आपको मनसा वाचा कर्म्मणा अत्यन्त ही शुचिभाव में परिणत कर प्रणताञ्जलि बन कर प्रणतभाव से सर्वप्रथम महर्षि के सम्मुख-"**भगवन् ! यह नहुष आपकी पावन सेवा में उपस्थित है**" इसप्रकार अपना परिचय प्रदान किया राजर्षिने-"**शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः-प्रयतो नृपः । आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने**" । (आज इस वर्त्तमानावस्था में महर्षि च्यवन का शरीर तपोऽनुष्ठान के कारण अत्यन्त ही प्रज्ज्वलित तेजोमय, अतएव विभिन्न प्रकृतिधर्म्मा क्षत्रियादि के लिए असह्य ही प्रमाणित हो रहा था । अतएव स्वयं राजर्षि क्षत्रियपुङ्गव नहुष स्वयं इस ऋषिशरीर को, इस तेजोमय देवशरीर को अर्घ्यप्रदान-पूजनादि समर्पण करने में समर्थ न बन सके ।) अतएव इनके साथ आए हुए (ब्राह्मणऋषि से प्रकृत्या समतुलित) कुलपुरोहित-ब्राह्मण के द्वारा ही सत्यव्रत-महात्मा-देवकल्प च्यवनमहर्षि का पूजनसत्कार सम्पन्न कराया गया-'**अर्च्चयामास तं चापि तस्य राज्ञः पुरोहितः**' ।

१३३-नहुष की प्रार्थना पर ऋषि के द्वारा स्वमूल्याङ्कन-माध्यम से निषादों के परितोष की कामनाभिव्यक्ति—

पूजनार्घ्यादि-प्रदानविधि के सम्पन्न होजाने पर नहुष प्रणतभाव से यही निवेदन करने लगे कि, हे द्विजोत्तम महर्षे ! आज्ञा दीजिए ! यह नहुष आपके लिए क्या प्रिय कार्य्य करे ? । भगवन् ! मैं आपकी उस आज्ञा का भी पालन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हूँ, जो मेरेलिए दुष्कर भी प्रमाणित होगी-'**सर्वं कर्त्तास्मि-**

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भगवन् ! यद्यपि स्यात् सुदुष्करम्' । नहुष के इसप्रकार प्रार्थना करने पर च्यवन कहने लगे कि– "मत्स्यादि जलजन्तुओं के क्रयविक्रय के द्वारा ही अपना जीवनयापन करने वाले ये कैवर्त्त (धीवर) आज इन मत्स्यादि के संग्रहकर्म्म से अत्यन्त ही श्रमशील प्रमाणित हो गए हैं । अर्थात् बड़ा ही प्रयास करना पड़ा है इन्हें इनके संग्रह के लिए । इन्हीं मत्स्यों के साथ मत्स्यभ्रान्ति से ही मुझे भी इन्होंनें अपने जाल में आबद्ध कर लिया है । अतएव मैं भी इन अपहृत मत्स्यों की भाँति इन की आजीविका का ही साधन प्रमाणित हो चुका हूँ । अतएव राजन् ! "**आपको इन मत्स्यों के साथ साथ मेरा भी मूल्य इन कैवर्त्तों को दे देना चाहिए । तभी हम, और ये हमारे आश्रित जन्तु इन से धर्म्मतः मुक्त हो सकेंगे**" ।

१३४–सम्राट् के द्वारा निषादों के सहस्रमुद्रात्मक मूल्यप्रदान का विनिर्णय —

भारतीय चक्रवर्त्ती सम्राट् को सन्तोष होगया ऋषि की इस इच्छा से अवगत होकर इसलिए कि, इनकी भूतदृष्टि में इन भौतिक मत्स्यादि जन्तुओं का, एवं ऋषि के भौतिक शरीर का मूल्य निषादों की दृष्टि में अधिक से अधिक १००–२०० मुद्राएँ हीं हो सकता था । अतएव तत्काल उन्होंनें अपनी भूतप्रज्ञा के अनुपात से उसी प्रकार इनका भौतिक मूल्य अनुमेय बना डाला, जैसे कि प्राणरहस्य से अपरिचित भूतवादी जड़भूत की तुला से ही राष्ट्र की शारदीया संस्कृति को आज तौलने का अपराध करते रहते हैं । भला कहीं लक्ष्मी से भी सरस्वती का मूल्याङ्कन सम्भव हुआ है कभी ? । वही भ्रान्ति करते हुए राजा नहुषनें भी अपने पुरोहित से तत्काल सङ्केत कर दिया कि, "**आप ! इन निषादों को एक सहस्र मुद्रा प्रदान कर दीजिए समत्स्य ऋषि के पाशबन्धन–विमोक के लिए, जैसाकि भृगुनन्दननें हमें आदेश दिया है**"— "सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित !" ।

१३५–भूतासक्त नहुष को ऋषि के द्वारा उद्बोधनप्रदान, एवं विचारपूर्वक मूल्याङ्कन का आदेश—

राजा के इस 'सहस्रमुद्रा' आदेश को सुन कर ऋषि ने तत्क्षण अनुमान लगा लिया कि, नहुष आज निषादों की भूतप्रकृति के माध्यम से उनके स्वरूपानुपात से ही हमारा मूल्याङ्कन कर बैठे हैं अपनी लोकानुगता भूतदृष्टि के व्यामोहन से । सचमुच नहुष जैसा धर्म्मिष्ठ राजा भी आज प्रकृति के प्राणात्मक आधिदैविक महत्त्व को विस्मृत कर बैठे हैं अपनी भूतैश्वर्य्यमदान्धता से । नहुष के इसी भौतिक–मूल्याङ्कनरूप महान् व्यामोहन को दूर करने के लिए हीं सर्वलोकहितैषी परमकारुणिक भगवान् च्यवन–'सहस्र' दानादेश की बात सुनते ही नहुष का परोक्षभाषा में हीं उद्बोधन कराते हुए कहने लगे कि, "**राजन् ! सावधान ! क्या तुम सहस्रमुद्रा ही हमारा मूल्य समझ रहे हो ? । अपनी निष्ठाबुद्धि से पुनः विचार करो । और जो मूल्य हमारा वास्तव में हो, वही निषादों को प्रदान करो**"—

सहस्रं नाहमर्हामि, किंवा त्वं मन्यसे नृप !
सदृशं दीयतां मूल्यं 'स्वबुद्ध्या' निश्चयं कुरु ! ॥

१३६–नहुष के द्वारा लक्षमुद्रा का निर्णय, एवं पुनः ऋषि के द्वारा अमात्यबुद्धि के माध्यम से विचार का आदेश—

नहुष ने उद्बोधन तो प्राप्त न किया ऋषि के उक्त उद्बोधनसूत्र से । हाँ भयत्रस्त अवश्य होगए नहुष उक्त कथन से । अतएव तत्काल अपनी लोकभावुक–बुद्धि से ही निर्णय कर यह कह डाला पुरोहित–

ब्राह्मण से कि–"हे विप्र ! आप शतसहस्र [एकलक्ष] मुद्राएँ निषादों को दे दीजिए !" 'सहस्राणां शतं विप्र ! निषादेभ्यः प्रदीयताम्' । अपने विप्रपुरोहित को यह कह कर महर्षि की ओर अभिमुख होते हुए नहुष कहने लगे कि–भगवन् ! मैं समझता हूँ–यह मूल्य तो आप की दृष्टि में अनुरूप ही होगा ? । अथवा तो भगवन् फिर भी मूल्याङ्कन में मैं कोई त्रुटि कर रहा हूँ,–तो वैसी आज्ञा प्रदान करने का अनुग्रह करें !–"स्यादिदं भगवन्मूल्यं–किंवा मन्यते भवान्" ।

ऋषि ने अब यह ठीक ठीक समझ लिया कि, नहुष की बुद्धि भूतजगत् से पृथक् हो ही नहीं रही है । इसने समझ यह लिया है कि, हम भूतदृष्टि से मूल्याङ्कन करवा रहे हैं । अतएव एक सहस्र से सहसा शतसहस्र पर आते हुए अपनी निःसीमा भूतबुद्धि का परिचय प्रदान कर डाला है नहुष ने । सम्भव है–नहुष के अमात्य इस भूतासक्ति से पृथक् होकर प्राणदृष्ट्या मूल्याङ्कन कर सकें । इसी दृष्टि से पुनः उद्बोधन कराते हुए च्यवन कहने लगे नहुष से यही कि—"राजन् ! फिर भूल कर रहे हो । हम कदापि शतसहस्र मुद्रा से समतुलित होने योग्य नहीं हैं । हम तो पुनः इस सम्बन्ध में आप से यही कहेंगे कि, हमारा जो वास्तविक मूल्य हो, वही निषादों को दीजिए, और इस समस्या का समन्वय (आपकी बुद्धि न कर सके, तो) अपने प्रज्ञाशील अमात्यों से चिन्तन कर समस्या का कोई ठोस निर्णय कीजिए ! यथाहि—

नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ !
दीयतां सदृशं मूल्यं–"अमात्यैः सह चिन्तय" !

१३७–कोटिमुद्राप्रदान का निर्णय, एवं पुनः ऋषि के द्वारा ब्राह्मणों की बुद्धि के माध्यम से विचार का आदेश—

अहो ! महतीयं विडम्बना भूतविमोहनस्य । नहुष फिर भी न समझे ऋषि के आधिदैविक दृष्टिकोण को । वे अमात्य भी राजा को इस दिशा में तथ्यपूर्ण चिन्तन प्रदान न कर सके, जिनका दृष्टिकोण सत्ताश्रय से अभिभूत होरहा था । इसीलिए नहुष अपने इन अमात्यों के साथ चिन्तन करके भी इसी भौतिक निष्कर्ष पर पहुँच गए कि–सम्भवतः ऋषि अधिक मुद्राएँ प्रदान कराना चाहते हैं । इसीलिए आगे चलकर नहुषनें पुनः अपने पुरोहित से यह कह डाला कि–**"पुरोहित ! इन निषादों को एककोटिमुद्रा (करोड़रुपय्ये) देकर प्रसन्न करो । यदि निषाद एक करोड़ से भी प्रसन्न न हों, तो वे जितना और माँगे, उतना ही और देदो"** ।

कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित !
यदेतदपि नो मूल्यं–अतो भूयः प्रदीयताम् !

च्यवन अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, सत्ताधीश राजा, एवं तत्सहयोगी अमात्यगण, दोनों हीं लोकतान्त्रिकी बहिर्म्मुखता के कारण धर्म्म के प्राणात्मक सूक्ष्म रहस्य का यथावत् समन्वय कर ही नहीं सकते तबतक, जबतक कि 'सत्तातन्त्र' से निरपेक्ष बने रहने वाले धर्म्मस्वरूप के चिन्तक ब्राह्मण का ये आश्रय नहीं ले लेते । बिना ब्राह्मणप्रज्ञा के नहुष का सम्पूर्ण राज्यतन्त्र भी सम्मिलित होकर प्राणनिबन्धन मूल्य का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समतुलन सम्भवतः नहीं ही कर सकेगा । अतएव नहुष की कोटि–कोट्यधिक घोषणा सुन कर अन्त में यही उद्बोधनसूत्र नहुष के सम्मुख रख देना पड़ा महर्षि को कि–'हे राजन् ! फिर भूल कर रहे हो । करोड़, अथवा तो कोटयधिक–अर्बुदादि मुद्राएँ कदापि हमारा मूल्य नहीं हो सकता । हम तो पुनः इस सम्बन्ध में आपसे यही कहेंगे कि–जो मूल्य हमारे [प्राण के] स्वरूप से समतुलित हो, वही निषादों को दीजिए, और इस प्रदान–सम्बन्ध में आप अपने राष्ट्रीय ब्राह्मणों से अवश्य ही परामर्श कर लीजिए''—यथाहि—

राजन्नार्हाम्यहं कोटिं, भूयो वापि महाद्युते !
सदृशं दीयतां मूल्यं–'ब्राह्मणैः सह चिन्तय' !

१३८–ब्राह्मणप्रज्ञा के परामर्श से नहुष के द्वारा निषादों को सम्पूर्ण साम्राज्य–प्रदान की घोषणा, एवं पुनः ऋषि के द्वारा ऋषिप्रज्ञा के माध्यम से विचार का आदेश–

ऋषिप्रदृष्ट निगमागमपुराणस्मृत्यादि–शास्त्रचिन्तक ब्राह्मण धर्म्मचिन्तक तो अवश्य बना रहता है। किन्तु ऋषिवत् यह धर्म्म के सूक्ष्म–प्राणात्मक स्वरूप का साक्षात् दर्शन करने में असमर्थ है । अतएव इसकी धर्म्माचारानुगता ब्राह्मणप्रज्ञा अपनी सत्तानिरपेक्षता से समस्त–भौतिक सत्तावल को तो उपेक्षणीय मान सकती है । किन्तु प्राणदृष्ट्या एक अन्य प्राण का यथार्थदृष्टि से मूल्याङ्कन करने में तो साक्षात्कृतधर्म्मानुगता ऋषिदृष्टि के समतुलन में इसकी दृष्टि सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित होजाती है । अतएव ब्राह्मणोंनें भी नहुष को अपनी सत्तानिरपेक्षता के बल पर यही सुझाव प्रदान कर दिया कि, तुम्हें अपना आधा राज्य, किंवा सम्पूर्ण ही राज्य निषादों को दे डालना चाहिए । तभी ऋषि च्यवन का यथार्थ मूल्याङ्कन सम्भव हो सकेगा । **'ब्राह्मणैः सह चिन्तय'** के आधार पर इसी निर्णय पर पहुँचते हुए अन्ततोगत्वा नहुष ने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर डाले कि—"**भगवन् ! मैं अपना आधा राज्य, नहीं नहीं–अपना सम्पूर्ण ही राज्य इन निषादों को दिलवा रहा हूँ पुरोहित के द्वारा । और मैं समझता हूँ–मैं अब मूल्य के ठीक ठीक मापदण्ड पर पहुँच गया हूँगा आपकी दृष्टि में ? । यदि आप इससे भी सन्तुष्ट नहीं हैं, तो फिर अनुग्रह कर आप ही बतलाइए कि, मैं उस अवस्था में क्या करूँ ?**"—यथाहि—

अर्द्धं राज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये, किंवान्यन्मन्यसे द्विज ! ॥

उक्त प्रदान–घोषणा से राजा ने सम्भवतः यह कल्पना करली होगी कि, जबकि मैंने सम्पूर्ण राज्य–साम्राज्य को ही 'सदृशमूल्याङ्कन' मान लिया, तो अब तो ऋषि अवश्य ही इसलिए तुष्ट हो ही जायँगे कि–**'राजा'** पद के साथ **'देय'** नामक जो कुछ है, उसे सर्वात्मना दे देने के अतिरिक्त जब 'राजा' शब्द की सीमा में कुछ शेष रह ही नहीं जाता, जिसे माध्यम बना कर ऋषि उसे पुनः–**'सदृशं दीयतां मूल्यम्'** ऐसा आदेश दे डालें । सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन **'राजा'**–और–**'राज्य'** शब्दों की भूतसमृद्धिरूपा इसी महती भ्रान्ति ने अपने सर्वान्त के वाक्य में भूतैषणालिप्त राजा नहुष के मुख से–**'एतन्मूल्यमहं मन्ये'** रूप से

ये अतिमानात्मक दाम्भिक वचन निकल पड़े, जो ततपूर्व की प्रदान–परम्पराओं में अबतक नहीं निकले थे। साथ ही–**'किंवा यन्मन्यसे द्विज !'** इस दम्भपूर्ण वाक्य से भूतमदान्ध नहुष परोक्षरूपेण ऋषिप्रज्ञा पर भी यह अभियोग लगा बैठने की भयावहा सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति कर बैठे कि—'लीजिए मैंने तो मान लिया है–अपने राज्य को ही आपका मूल्य। अब आप और क्या मान लेंगे इससे अधिक अपना मूल्य ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! सचमुच राज्यतन्त्रानुगता लोकैषणा प्रज्ञाशील–धर्म्मनिष्ठ मानवों को भी यदा कदा महामायापाशबन्धनिग्रह–माध्यम से मोहाभिनिविष्ट कर ही तो देती है *। महर्षि च्यवन पर क्या प्रतिक्रिया हुई नहुष के तथाकथित भौतिक उद्गारों की ?। कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। क्योंकि च्यवन मानवीया भूतसीमा का अतिक्रमण कर उस आर्षेया प्राणसीमा में प्रतिष्ठित होगए थे, जिसके कारण अपने व्याज-माध्यम से जो महर्षि जलजन्तुओं का परित्राण, तथा निषादों की तुष्टिकामना करते हुए अपनी आत्मप्राणरतिमूला-समदर्शनमूला-सर्वभूतहितरति के ही सगुण प्रतिमान प्रमाणित होरहे थे। अतएव दिग्भ्रान्त, किंवा भूतैषणाभ्रान्त नहुष के प्रति भी ऋषिश्रेष्ठ प्रतिक्रियावादी बन ही कैसे सकते थे। अपितु ऋषि ने तो प्रत्येक सम्भव–असम्भव उपाय से आज नहुष की इस भूततन्द्रा के मूलोच्छेद का ही संकल्प कर लिया था। इसी पावन संकल्प के माध्यम से अब ऋषि ने यह निश्चय कर लिया कि, केवल धर्म्मतत्त्वचिन्तक–धर्म्माचारपरायणमात्र ब्राह्मण की प्रज्ञा से भी राजा का उद्बोधन सम्भव नहीं है। अब तो इसे किसी साक्षात्कृतधर्म्मानुगता ऋषिप्रज्ञा की ही शरण में जाना पड़ेगा। एवं वहीं इसे प्राणात्मक–वास्तविक मूल्याङ्कन का स्वरूपबोध प्राप्त हो सकेगा। इसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचते हुए महर्षि कहने लगे कि—"राजन् ! तुह्मारा यह आधा, किंवा सम्पूर्ण भौतिक राज्य भी कदापि हमारा मूल्य नहीं हो सकता। (तुमने हमसे आक्रोशपूर्वक जो यह कह डाला है कि–'आप क्या मानते हैं अपना मूल्य, जब कि हमनें तो सम्पूर्ण राज्य को ही आपका मूल्य मान लिया है ?" के प्रति) हमें यही कह देना है तुम से कि–तुम अपनी भूतप्रज्ञा को उपशान्त करो। और जो मूल्य हमारे स्वरूप के अनुरूप हो, वही हमारे लिए निर्द्धारित करो। (परन्तु ध्यान रखना कि) इस निर्द्धारण में इसबार तुम्हें ऋषियों के साथ ही चिन्तन करना चाहिए। (क्योंकि बिना ऋषिप्रज्ञा के तुह्मारी लोकतान्त्रिकी भूतविमुग्धा प्रज्ञा प्राणात्मक मूल्याङ्कन का निर्द्धारण कर ही न सकेगी)–यथाहि—

अर्द्धं राज्यं, समग्रं च मूल्यं नार्हामि पार्थिव !
सदृशं दीयतां मूल्यं-'ऋषिभिः सह चिन्त्यताम्' ! ॥ ×

***–ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।**
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥—सप्तशती

× महाभारतकार भगवान् पुराणपुरुष कृष्णद्वैपायन व्यासदेव के कथानक-सम्बन्धी–**'स्वबुद्धया निश्चयं कुरु'**–**'अमात्यैः सह चिन्त्यताम्'**–**'ब्राह्मणैः सह चिन्तय'**, एवं सर्वान्त के **'ऋषिभिः सह चिन्त्यताम्'** इन उद्बोधन–वाक्यों का उस सांस्कृतिक–निष्ठा से ही पारम्परिक सम्बन्ध है, जिसके लोकभूतपक्ष का सम्बन्ध जहाँ सत्ताधीश राजा की बुद्धि से, तदनुवर्त्ती अमात्यों की लोकतान्त्रिकी प्रज्ञा से माना गया है, वहाँ प्राणात्मक अलौकिक–दिव्यपक्ष का सम्बन्ध आचारनिष्ठ ब्राह्मणों से, तथा प्राणतत्त्व (ऋषितत्त्व) के साक्षात्कर्त्ता ऋषियों

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१३९–ऋषि के मूल्याङ्कन में असमर्थ बन जाने वाले भारतीय सम्राट् का ऋषिभय से आत्यन्तिक विकम्पन—

महर्षि च्यवन के तथोक्त अन्तिम उद्बोधन सूत्र का क्या प्रभाव हुआ नृपतिश्रेष्ठ नहुष महाभाग पर ?, प्रश्न का उत्तर इस पावनगाथेतिहाससंवाद के स्मारक महात्मा भीष्म के ही मुख से सुनिए—

भीष्म उवाच—"**महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्शितः ।**
सञ्चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ॥"

'**ऋषिभिः सह चिन्त्यताम्**' इस उद्बोधन–वाक्य ने तो नहुष को सर्वथा ही निराशा में निमग्न कर दिया । उसने समझ लिया कि हम, हमारे मन्त्री, पुरोहित, और हमारे राष्ट्र के धर्म्मव्यवस्थापक ब्राह्मण, सब मिल कर भी जिस समस्या का निराकरण नहीं कर सके, सम्पूर्ण राज्य, किंवा सर्वस्व प्रदान करने पर भी जब हम ऋषि को सन्तुष्ट नहीं कर सके, तो ऐसी स्थिति में अब हमारे निस्तार का कोई भी तो उपाय नहीं रह जाता । इसी निराशानें नहुष को अतिशय दुःखभार से उत्पीड़ित कर दियाा, एवं वे अपने पुरोहित, तथा अमात्यों के साथ भिन्नसंविग्नमानस बनते हुए दुरत्यया चिन्ता के ही सागर में निमज्जित होगए ।

१४०–नहुष के पुण्यादृष्ट से तत्र महर्षि 'गविजात' का आगमन, एवं तद्द्वारा भूतलिप्सा से नहुष का उद्बोधन—

आगे क्या हुआ ?, प्रश्न का समाधान सुनिए आख्यानवेत्ता महात्मा भीष्म से ही । युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर कथा प्रक्रान्त रखते हुए भीष्म कहने लगे कि–युधिष्ठिर ! (इसप्रकार नहुषराज दुःखकर्शितमना बनते हुए जिस समय अमात्य, पुरोहितादि के साथ चिन्ता–निमग्न बने हुए थे, उसी समय (नहुष के ही किसी वर्त्तमान जन्मनिबन्धन, किंवा जन्मान्तरीय–निबन्धन महान् पुण्य के अनुबन्ध से) फलमूलाशनपरायण महान् तपस्वी एक वन्य महापुरुष सहसा उपस्थित हो पड़े । ये महामुनि तपस्वी वनेचर महर्षि–'**गविजात**' (परमभागधेय मातापिता से गौ के प्रसादाशीर्वाद से आविर्भूत–**गविजात**–गायसे उत्पन्न) नाम से ही प्रसिद्ध थे, (जब कि इन के वंशानुगत नाम से कोई भी परिचित न था । क्योंकि इन्होंनें अपने जीवन को अरण्यानुगता तपस्या का ही अनुगामी बना लिया था, जहाँ निवास करते हुए अहोरात्र गौसेवामें निरत रहना, अपनी स्वाध्यायतपोनिष्ठा में संलग्न बने रहना, एवं कन्दफलमूलों से बुभुक्षा शान्त कर लेना, एवं भगवती भागीरथी के पुण्यसलिल से अपनी तृष्णा उपशान्त कर लेना हीं इन का समस्त जीवनेतिवृत्त था । ये ही महामहर्षि वहाँ के वन्य सत्पुरुषों में-'**गविजात**' नाम से प्रसिद्ध थे, जो घूमते फिरते नहुष के भाग्य से इस ओर भी आज आ ही तो निकले)–यथाहि---

---

की निर्भ्रान्ता स्वतःप्रमाणभूता अपौरुषेया प्रज्ञा से ही माना गया है । ऋषिप्रज्ञा ही धर्म्म के प्राणात्मक सूक्ष्म निर्भ्रान्त निर्द्धारण में अन्यतम प्रमाण मानी गई है, जैसाकि राजर्षि मनु के–'**एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं–यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः**' इत्यादि वचन से स्पष्ट है, जिस वचन के रहस्यार्थ का समन्वय निबन्ध के प्रथम-प्रकरण में किया जाचुका है ।

"तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः ।
नहुषस्य समीपस्थो गविजातोऽभवन्मुनिः ॥"

तत्र उपस्थित होकर 'गविजात' महर्षि ने अपनी तपोमूला ऋषिदृष्टि से अत्र घटित–विघटित सम्पूर्ण इतिवृत्त तत्क्षण की जान लिया । और नहुष को लक्ष्य बना कर कहने हीं तो लग पड़े कि, राजन् ! मैं तुम्हें एक वैसे हीं उपाय से परिचित करा दूँगा, जिससे क्षणमात्र में हीं तुम्हारा यह सम्पूर्ण सङ्कट शरदभ्रवत् विलीन हो जायगा । सावधान राजन् ! कहीं तुम 'वनेचर' (जङ्गली मानव) की भावना से ऐसा मत समझ बैठना कि, अबतक जिस समस्या का समाधान तुम, तुम्हारे पुरोहित, अमात्य, सर्वोपरि धर्म्मवित् ब्राह्मण भी न कर सके, उसका क्षणमात्र में यह वनेचर क्या समाधान कर देगा ? । कदापि तुम्हें मेरे वचनों पर मिथ्याभ्रान्ति नहीं होनी चाहिए । अतएव अत्र अविलम्ब जागरूक बन जाओ, और महर्षि च्यवन की सन्तुष्टि के लिए मैं जो उपाय बतला रहा हूँ, सभी प्रकार की शङ्काएँ, ऊहापोह छोड़कर अविलम्ब उसी उपाय का अनुगमन करलो ! "भवतो यदहं ब्रूयां–तत्कार्य्यमविशङ्कया" ।

गविजात महर्षि के तथाविध निःशङ्क–आश्वासन से प्रभावित होते हुए नहुषराज प्रणतभाव से कातरभाव से इस महर्षि के सम्मुख अपने ये मनोभाव व्यक्त करने लग पड़े कि—भगवन् ! सचमुच आप तो महर्षि भृगु (च्यवनमहर्षि के पिता) जैसे तेजस्वी प्रतीत हो रहे हैं । भगवन् ! त्राहि माम् ! त्राहि माम् ! रक्षा कीजिए इस संकट से मेरी, और मेरी कुलपरम्पराओं की । आप ही अनुग्रह कर निश्चित कीजिए महर्षि का मूल्य !

ब्रवीतु भगवन्मूल्यं महर्षेः सदृशं भृगोः ।
परित्रायस्व मामस्मद्विषयं च कुलञ्च मे !

भगवन् ! यदि मुझे मूल्यसमतुलन उपलब्ध न हुआ, अतएव यदि मैं महर्षि च्यवन को आज सन्तुष्ट न कर सका, तो निश्चयेन महर्षि का कोप त्रैलोक्य को भस्म कर सकता है, उससे मेरा परित्राण कदापि न हो सकेगा । तपोबलादि दिव्यब्रह्मबलपरम्पराओं से सर्वथा ही वञ्चित, केवल शारीरिक बाहुबल (भूतबलात्मक क्षत्र) का स्वरूप ही कितना सा है प्रचण्ड–तेजोमय उस ब्रह्मबल के सम्मुख, जिसकी कल्पनामात्र से त्रैलोक्य भस्मसात् हो सकता है—

"हन्याद्धि भगवान् क्रुद्धस्त्रैलोक्यमपि केवलम् ।
किं पुनर्मां तपोहीनं बाहुवीर्य्यपरायणम् ॥"

गविजातमहर्षे ! अपने मन्त्रियों, ऋत्विक् ब्राह्मणों, कुलपुरोहितों, आदि आदि के साथ आज यह नहुष सचमुच विपत्तिपरम्पराओं के अगाध समुद्र में हीं डूबा जारहा है । भगवन् ! आप ही इस गहनगभीर चिन्तासमुद्र से सन्तरण करने वाले प्लव (नौका) बनने का अनुग्रह करें, और महर्षि च्यवन के मूल्य का निश्चय व्यक्त करें !

अगाधाम्भसि मग्नस्य सामात्यस्य स ऋत्विजः ।
प्लवो भव महर्षे ! त्वं, कुरु मूल्यविनिश्चयम् ! ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१४१–गविजात महर्षि के द्वारा च्यवनऋषि के मूल्याङ्कन का विनिर्णय—

गविजातमहर्षि से इसप्रकार दीनभाव से प्रार्थना व्यक्त करने पर हे युधिष्ठिर ! अपने तपःप्रभाव से अत्यन्त ही तेजस्वी बने हुए महर्षि गविजात ने नहुष को, इसके मन्त्रियों को, इसके पुरोहित, ऋत्विजों को, एवं अन्यान्य तत्र समवेत सभी को हर्षोद्रेक से समन्वित करते हुए ही जो उपाय बतलाया, वही आज मैं तुम्हारे सम्मुख व्यक्त कर रहा हूँ महर्षि गविजात की ही भाषा में–यथाहि—

भीष्म उवाच—"नहुषस्य वचः श्रुत्वा गविजातः प्रतापवान् ।
उवाच हर्षयन् सर्वानमात्यान् पार्थिवं च तम्" ॥

वह कौन सा उपाय था, जिसे एक भारतीय सम्राट् की बुद्धि अबतक नहीं जान सकी, ऐसे समर्थ सम्राट्-शासक के राज्यतन्त्र के सफल सञ्चालक योग्यतम मेधावी मन्त्रिवर नहीं जान सके, राजा के आचारधर्म्मों का यथाविधि संरक्षण करने वाले पुरोहित की प्रज्ञा जिसे न जान सकी, सर्वोपरि साम्राज्य की संस्कृतिनिष्ठा, सांस्कृतिक–धर्म्म के व्यवस्थापक विद्वान् ब्राह्मण तक जिस उपाय का अन्वेषण करने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित हो गए, और महाभाग नहुष अपने समस्त साम्राज्य के समर्पण–माध्यम से भी इस ऋषि का मूल्य-समतुलन न कर सके । वह ऐसा कौनसा अमूल्यतम–लोकोत्तर-लोकातीत–महामहनीय–मूल्यात्मक उपाय था, जिसने आज नहुष को समण्डल हर्षविभोर कर दिया ?, प्रश्न की जिज्ञासा आख्यान की पावनगाथा के वाचक आस्था–श्रद्धाशील मानवश्रेष्ठों के लिए तो अवश्य ही औत्सुक्य का कारण प्रमाणित हो रही होगी । उचित, सर्वात्मना समुचित, वर्त्तमान असांस्कृतिक–भीषण युगदृष्ट्या तो नितान्तरूपेणैव समुचित ही था कि, इस कथानक को यहीं उपरत कर दिया जाता । इसलिए यहीं उपरत कर दिया जाता कि, महामहर्षि गपिजात तपस्वीने जिस उपाय–प्रदर्शन–के माध्यम से नहुष को इस घोरघोरतम सङ्कट से बचाया था, उस घोरघोर संकट का तो आज हमारी राष्ट्रीयप्रज्ञा नहुष की प्रारम्भिक भूतैषणा की भाँति (जबकि नहुष की भूतैषणा, एवं वर्त्तमान युग की भूतलिप्सा में परस्पर अहोरात्र का अन्तर ही है) सोल्लास–साभिनिवेश–सपरिग्रह -सर्वात्मना सुसंघठितरूप से अनुदित–प्रतिक्षण–पल–विपल–निमेष–सादर आमन्त्रण करते जाने का नाम हीं साम्प्रदायिकभाव–शून्या–अखण्डा–राष्ट्रीयता–मानती, और मनवाती जा रही है, जिस इत्थंभूत सर्वविनाशक आमन्त्रण ने हीं भारत की श्रीसमन्विता उस राष्ट्रलक्ष्मी का प्राणस्वरूप सर्वथा अभिभूत ही कर लिया है, जिसका दुःखपूर्ण इतिवृत्त प्रस्तुत दीपावली पर्व में यत्रतत्र व्यक्त कर दिया गया है ।

जिस उपाय से अपरिचित रहने के कारण नहुष की साम्राज्यप्रतिष्ठा के धूलिधूसरित होने का सर्वविनाशक अवसर उपस्थित हो पड़ा था, साम्राज्य को विनाशगर्त्त से बचा लेने वाले गविजात के द्वारा प्रदर्शित उसी महतोमहीयान् पुण्यतम जिस 'उपाय' के नामश्रवणमात्र से आज के हमारे उसी नहुषपरम्परा के सुसांस्कृतिक भारत जैसे राष्ट्र के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रभुसत्तासमर्थ साम्राज्य के सर्वोच्च शासक महानुभाव तत्काल ही शासन से 'त्यागपत्र' देने की धमकीमात्र देने में हीं अपने मनोराज्य में ही अपने आपको गौरवान्वित ही मान बैठने की वैसी महती भ्रान्ति ही कर बैठते हैं, जिस इस भ्रान्ति का सांस्कृतिक–तत्त्वनिष्ठा के द्वारा शीघ्र ही यदि मूलोत्पाटन न किया गया, तो निश्चयेन तदुपायश्रवणमात्र के प्रति व्यग्र हो पड़ने वाला तथाविध आवेशपूर्ण–पदप्रतिष्ठाव्यामोहनमात्रानुगत–प्रतीच्य–जड़भूतसंस्कारनिबन्धन–जाड्यभावानुगत अभि-

निवेश–दुराग्रह भारतराष्ट्र की राष्ट्रलक्ष्मी को सर्वथा ही श्रीविहीन ही कर देगा। एकमात्र इसी राष्ट्रीय--मङ्गल–कामनानुबन्ध से, एवं राष्ट्रीया आस्थाश्रद्धान्विता मङ्गलकामनोत्सुका आर्षप्रजा के अनुबन्ध से ही वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष शासनतन्त्र जैसे वैसे शासनयुग में भी–जिसमें 'तदुपाय' का मुख से निकाल लेना मात्र भी दुर्भाग्यवश आज साम्प्रदायिकता–मान लिया जा रहा है—इच्छा न रखते हुए महर्षि गविजात के पावन–मुखपङ्कज से विनिःसृत उस पुण्यतम उपाय का इस रूप से पावनसंस्मरणमात्र ही कर लिया जाता है, जिस की नैगमिकी ज्ञानविज्ञानापरिपूर्णा तात्त्विक--व्याख्या का चिरन्तन इतिवृत्त तो–'**गोपाष्टमी, और गोतत्त्व समन्वय**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में हीं द्रष्टव्या है।

"अनर्घेया महाराज ! 'द्विजा' वर्णेषु चोत्तमाः।
'गावश्च' पुरुषव्याघ्र ! गौमूल्यं परिकल्प्यताम् !"

"राजन्! जिस प्रकार चारों वर्णों में वेदतत्त्ववित् रहस्यवित् 'ब्राह्मण' का कोई मूल्य नहीं आँका जासकता, तथैव तत्समतुलित '**गौमाता**' का भी हे पुरुषसिंहनहुष! कोई मूल्याङ्कन सम्भव ही नहीं है।"

१४२–'उपयोगितावाद' मूलक 'अर्थवाद', एवं तद्द्वारा भारतीय आचारों के प्रति बुद्धिवादियों के काल्पनिक व्यामोहन—

निश्चय ही महर्षि गविजात के उक्त तथ्यपूर्ण उपाय के प्रति अन्यों की कौन कहे, विगत तीन सहस्र–वर्षों से सत्तासापेक्षता के भूतानुगत व्यामोहन से अपनी प्रज्ञा को भूतासक्ता ही प्रमाणित करते आने वाले भारतीय विद्वान् भी शास्त्र के इत्थंभूत वचनों को–'**अर्थवाद**' मात्र मान कर विश्राम ही कर लेंगे, जिस 'अर्थवाद' का अर्थ कर रक्खा है हमारे उन सापेक्ष–विद्वानों नें यही कि,–"**उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वशाली बने हुए भूतभौतिक पदार्थों-प्राणियों–मानवों के प्रति मन्दबुद्धियों की मानसिक–श्रद्धा के संरक्षण के लिए ही शास्त्र ने तथाविध–भूतों–प्राणियों-ब्राह्मणादि मानवों का महतोमहीयान् वर्णन कर दिया है, जिस इस आलङ्कारिक [अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!!] वर्णन से आकर्षित होकर मन्दबुद्धिलोग इनकी उपयोगिता से समन्वित बने रहते हैं। गाय का दूध अत्यन्त ही उपयोगी है। एकमात्र इसी उपयोगितानुबन्ध से यह 'गौमाता' नाम से उपवर्णित कर होगई है शास्त्र में।**"

कारणतावादमूलक यही तो वह '**उपयोगितावाद**' है, जिसने संस्कृतिस्वरूपावरक सर्वस्वघातक उस 'बुद्धिवाद' को जन्म दे डाला है, जिसके आवेश में आकर अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से सम्बन्ध रखने वाले भारतीय ज्ञानविज्ञान का स्वरूप ही अन्तर्म्मुख बन गया है तथाविध बुद्धिवादी सत्तासापेक्षतापाशबद्ध-स्वस्वरूपविमुग्ध-विद्वानों के तथाकथित मलीमस–काल्पनिक-अर्थवाद के निग्रह से। अपनी इसी अर्थवादभ्रान्ति से वे बुद्धिवादी भारतीय विद्वान् भी आज भारतीय उस सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सर्वथैव पराःपरावत ही बन गए हैं, जिस संस्कृति का प्रत्येक सिद्धान्त नित्यसिद्ध ज्ञानविज्ञानभावों से ही समन्वित हो रहा है।

१४३–क्रय-विक्रयात्मक मूल्याङ्कन का आधारभूत क्षरजगत्, एवं तद्विमोहन से भारतीय सांस्कृतिक-परम्पराओं का उत्तरोत्तर अभिभव —

क्रयविक्रयात्मक–मूल्याङ्कनकर्म्म का मूलाधार माना गया है वह भूत–भौतिक प्रपञ्च, जिसका–'**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' रूप से उपवर्णन हुआ है। व्यक्तजगत् में प्रतिष्ठित व्यक्त–भूतभौतिक पदार्थ ही क्रय–

विक्रयात्मक मूलाङ्कनों के मापदण्ड बना करते हैं। **प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड**, इन तीनों की समष्टि ही क्रमशः **द्यौ–अन्तरिक्ष–पृथिवी**-नामक व्यक्त त्रैलोक्य है, जिन इन तीनों त्रैलोक्य–क्षर–व्यक्त–भावों से ही मानव की प्रकृतिरूपा **बुद्धि–मनः–शरीर**–त्रयीलक्षणा व्यक्ता मूर्त्ति का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसाकि प्रथमप्रकरण के उपक्रम–परिच्छेदों में हीं विस्तार से बतलाया जा चुका है। त्रैलोक्यातीत महद्ब्रह्ममूर्त्ति परमेष्ठी प्रजापति ही मानव का वह **'आत्मभाव'** है, जो व्यक्त क्षर-से अतीत रहता हुआ लोकातीत है, भूतानुगत रहता हुआ भी भूतसीमा से अतीत है, जिसका—**'भूतभृत्–न च भूतस्थः–ममात्मा भूतभावनः'** इत्यादि वचन से स्पष्टी करण हुआ।

१४४–प्रकृतिसिद्ध ब्रह्म-क्षत्र–विट्–पौष्ण–भावानुगत चातुर्वर्ण्य की विश्वपदार्थव्यापकता, एवं तन्मूलक भारतीय सांस्कृतिक–उपाय—

उस आत्मभाव का ही नाम 'ब्रह्म' है, तद्गर्भीभूत सूर्य्य का ही नाम बुद्धि है, यही 'क्षत्र' है, तद्गर्भीभूत चन्द्रमा का नाम हीं मन है, यही 'विट्' है, एवं तदनुगता पृथिवी ही शरीर है, यही 'पूषन्' है। इन्हीं चारों ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पूष्ण–भावों से क्रमशः त्रैलोक्य के जड़-चेतनात्मक पदार्थमात्र में **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र**-इन चारों वर्णभावों का समन्वय हो रहा है, जिस इस सर्वव्यापक–त्रैलोक्यव्यापक–पदार्थमात्रव्यापक–प्रकृतिसिद्ध-नित्य-चातुर्वर्ण्य के आधार पर ही भारतीय ऋषिमानव ने प्रकृति के इस सुसूक्ष्म वर्णतत्त्व के आधार पर ही भारतीय मानव में प्रकृतिमूला वह व्यवस्था व्यवस्थित की है, जिसे ही **'वर्णव्यवस्था'** कहा गया है, जिसके इस विश्वप्रकृत्यनुबन्धी रहस्यात्मक व्यापक स्वरूप को समझा ही नहीं है विगत तीन सहस्रवर्षावधि के व्यक्त-भूतवादी मानव ने। इस तत्त्व से पराङ्मुख हो जाने के कारण ही अपनी शास्त्रीया मान्यतामात्र (आस्था नहीं) के संरक्षण के लिए इसने उपयोगितावादात्मक–बुद्धिवादात्मक उस काल्पनिक अर्थवाद का ही आविष्कार कर डाला है, जिससे भारतीय संस्कृति का, तदनुगता ज्ञानविज्ञानपरम्पराओं की वास्तविकता का हनन ही हुआ है।

इसी व्यामोहन में पड़ कर आज के शास्त्रभक्त भी **'ब्राह्मण'** को ब्राह्मण कहने सुनने में अपनी बुद्धिमत्ता ? (किंवा बुद्धिव्यामोहन) की हानि समझते हुए यह व्याख्या करने लग पड़ते हैं कि–**जो ज्ञान से काम लेता है, वही ब्राह्मण है**। इसी भ्रान्ति से अपने लोकबुद्धिवाद के दम्भ में आकर वे वर्णमर्य्यादया ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मणों से चरणस्पर्श कराने में अपने आपको गौरवान्वित मानते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनतशिरस्क नहीं बन जाते। ऐसे ही बुद्धिवादी गाय के दूध की उपयोगिता का समर्थन करते हुए भी इसके उस दिव्य पारमेष्ठ्य प्राणस्वरूप की तो कल्पना भी नही कर सकते, जिसे न समझने वाला सर्वथा मूर्ख भी एक आस्थाश्रद्धाशील इसे केवल उपयोगी 'पशु' ही नहीं मानता। अपितु इसके दर्शनमात्र से आत्मविभोर हो जाता है स्वजननीदर्शनवत्। ऐसी सहज निर्म्मल श्रद्धा से शून्य बुद्धिवादी अपने काल्पनिक बुद्धिवादों के साथ अहोरात्र शिरोविस्फोटन कर के भी तो वह आत्मानन्द उपलब्ध नहीं कर सकता, जो आनन्दमाधुरी एक अपठित मादृश ग्रामीण को अपनी अबुद्धिदशा में सहज ही उपलब्ध होती रहती है–**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'**। जिसप्रकार त्रैलोक्यातीत पारमेष्ठ्य महानात्मा से जन्मना समावृत रहता हुआ ब्राह्मण लोकानुबन्धी भौतिक–क्रय–विक्रयात्मक मूल्याङ्कनों की सीमा से बहिर्भूत है, तथैव उसी पारमेष्ठ्य–

वैष्णव-सौम्य-गौप्राण से, आत्मा से अभिन्न इस लोकप्रतिष्ठाप्राण से अन्तर्य्यामसम्बन्धेन समावृत गौपशु भी अपने इसी आभ्यन्तर लोकातीत आत्मभाव से व्यक्त्वरानुबन्धी मूल्याङ्कन की सीमाओं से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। मानवीय वर्णों में जो स्थान ब्राह्मण का है, पशव्य वर्णों में वही स्थान गौ है। अतएव लोकातीत आत्मानुबन्ध से ब्राह्मण जैसे अनर्घेय-(अमूल्य) है, तथैव उसी लोकातीत पारमेष्ठ्य–आत्मप्राणानुबन्ध से गौ भी अनर्घेया ही है। अमूल्य का अमूल्य से ही समतुलन सम्भव है। अमूल्य ब्राह्मण का यदि कोई मूल्याङ्कन हो सकता है, तो वैसा अमूल्यधन एकमात्र यह दिव्या गौमाता ही है, जो देवघन सौरमण्डल को भी अपने महिमामण्डल के गर्भ में बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित रखने वाले सोममय–भृग्वङ्गिरोमय–परमेष्ठी से सम्बन्ध रखती हुई अपने इस आत्मप्राणनिबन्धन दिव्यस्वरूप से देवताओं के (सौरदेवप्राणात्मक सौरमण्डल के) भी शिरोभाग में प्रतिष्ठा मानी गई है *। अवश्य ही गौमाता भी ब्राह्मणवत् ही महद्भूत है। **'ब्राह्मणं हि महद्भूतम्'** (म० अनु० पर्व–६३ वाँ अध्याय–२१ वाँ श्लोक) के अनुसार महद्भूतात्मक ही इस गौ का महत्त्व अक्षुण्ण है, जिन इन दोनों विश्वप्रतिष्ठात्मक महद्भूतों के विकम्पन से ही धर्म्मविप्लव हो जाया करता है, एवं तन्निरोध के लिए सगुणेश्वर को ही अवतार धारण करना पड़ता है, जिनके इन सगुणावतारों का एकमात्र प्रधान उद्देश्य माना गया है–**'गो–ब्राह्मण–हिताय च'**। क्योंकि इन दोनों के सुप्रतिष्ठित होते ही विश्व स्वस्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है, इत्यलमतिविस्तरेण।

१४५–प्रकृतिसिद्ध व्रजधामात्मक 'गोलोक', एवं उस की प्राणरूपता—

त्रैलोक्य से ऊर्ध्वस्थित पारमेष्ठ्य सोमलोक ही सामवेद का वह–**'गोसव'** लोक है, जिसका रूपान्तर ही इतिहास-पुराणों में-**'गोलोक'** ÷ नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो कि-**'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'** (यजुःसं०१।२५) इत्यादिरूप से पारमेष्ठ्य विष्णु का व्रजधामात्मक **'गोधाम'** कहलाया है, जिसके प्रातिनिध्य से ही परमपावन भारतराष्ट्र भी गोलोकनाथ विष्णु के सगुणावतार भगवान् वासुदेवकृष्ण के सुप्रसिद्ध व्रजधाम से समलङ्कृत हुआ है, जिस इस लोकोत्तर, तथा लोकात्मक रहस्य का सम्पूर्ण विश्व के बुद्धिवादी समवेत होकर भी तो समन्वय नहीं कर सकते।

१४६–प्राणगौस्वरूप के माध्यम से गौमाता का यशोवर्णन—

अहो ! महतीयं खल्वनर्थपरम्परा - भौतिकोपयोगितावादात्मकस्य–काल्पनिक–अर्थवादानुगत–बुद्धिवादस्य, जिसके प्रति अनुधावन करने वाले हमारे इन बुद्धिवादी शास्त्रभक्त विद्वानोंने हीं तो राष्ट्र की तथ्यपूर्ण

---

* देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै।
दत्त्वा चैतास्तारयते यान्ति स्वर्गं मनीषिणः ॥

—म० अनु० पर्व–८१ अध्याय-४ श्लोक

÷–त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यति।
मत्प्रसादाच्च विख्यातो गोलोकः सम्भविष्यति ॥

—म० अनु० प० ८३ अ०। ३७ वाँ श्लोक—

विज्ञानमूला सांस्कृतिक–परम्पराओं को तमसा अभिभूत कर लिया है, जिस अभिभव से ही आज हम गविजात महर्षि के तथोक्त उपायप्रदर्शन के महत्त्व को भी तो अर्थवादपरक ही मानने की महती भ्रान्ति करने लग पड़े हैं, जबकि तदतिरिक्त भी महात्मा भीष्म ने आगे चलकर अनेक अध्यायों में इस गौमहिमा का यशोगान करते हुए भारतराष्ट्र को धन्य–कृतकृत्य बनाया है। निबन्धविस्तारभिया अत्र अधिक विस्तार में न जाकर प्रकृत में वैसे कतिपय वचनमात्र उद्धृत कर देने का लोभसंवरण नहीं हो रहा है हम से। अतएव अपने शुचिभाव के लिए ही गाथाङ्गभूत इन कतिपय माङ्गलिक वचनों का संस्मरणमात्र कर लिया जाता है—

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ॥
वृद्धिमाकांक्षता नित्यं गावः कार्य्या प्रदक्षिणाः ॥१॥
अचरेभ्यश्च भूतेभ्यश्चराः श्रेष्ठाः, सदा नराः ॥
ब्राह्मणाश्च ततः श्रेष्ठास्तेषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥२॥
यज्ञैरवाप्यते सोमः, स च गोषु प्रतिष्ठितः ॥
ततो देवाः प्रमोदन्ते पूर्वं वृत्तिस्ततः प्रजाः ॥३॥
लोकज्येष्ठा–लोकवृत्तिप्रवृत्ता–रुद्रोपेताः सोमविष्यंदभूताः ॥
सौम्याः पुण्याः–कामदाः–प्राणदाश्च गा वै दत्वा सर्वकामप्रदः स्यात् ॥४॥
गावः प्रतिष्ठा भूतानां, गावः स्वस्त्ययनं महत् ॥
गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी ॥५॥
गावो लक्ष्म्यास्तथामूलं–गोषु दत्तं न नश्यति ॥
नाकीर्त्तयित्वा गाः स्वप्यात्–तासां संस्मृत्य चोत्पतेत् ।
सायं प्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात् ॥६॥
"गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कथञ्चन" *

१४७–महालक्ष्मी का गोमण्डल में आगमन, एवं गौमाताओं की महालक्ष्मी से प्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा उक्त सातवें श्लोक के पावनसंस्मरण से, जिसके सम्बन्ध में भी दो शब्द निवेदन कर देना अनिवार्य्य बन गया है हमारी चञ्चलप्रज्ञा के लिए ÷। एवं हि श्रूयते–आख्यानविदैः पारो–

---

* भाग्यहीन भारतराष्ट्र के नवसभ्यतावादी भूतवादियों नें गोमूत्र–तथा गोबर को 'गन्दगी' फैलाने वाला मानने की महती भ्रान्ति कर प्रतीच्य जगत् से पुरस्कार ग्रहण करके ही मानो आज अपने बम्बई–देहली–आदि सुसभ्य नगरों में गौमाता के संरक्षण को विधानबल से अवरुद्ध कर दिया है। इन सुसभ्य नगरों में ओर ओर सभी मलीमस–अकाण्ड–ताण्डव तो सभ्यता की सीमा में अन्तर्भुक्त बनते हुए संग्राह्य हैं। किन्तु गोमूत्र–गोमय–इन महानुभावों के लिए त्याज्य बन गया है। इससे बड़ी भाग्यहीनता भारतराष्ट्र की और क्या होगी ?।

÷ द्विजातिभावादुपपन्नचापलः (कालिदासः)

वर्य्यविदैर्म्महर्षिकल्पैर्यत्-"एकबार अपने सम्पूर्ण प्रसाधनों से सुसज्जित होकर महालक्ष्मी गोमण्डल में प्रणत-भाव से उपस्थित होगई। गौमाताएँ महालक्ष्मी के इस रूपसौन्दर्य्य, तथा गुणसौन्दर्य्य को देखकर विस्मय-विमुग्ध बन गई। और कहनें लगीं कि, हे लक्ष्मी देवी! आप कौन हैं?, कहाँ से आपने ऐसा अद्भुत रूप-गुण-सौन्दर्य्य प्राप्त किया?। हम सब आपके इस लोकोत्तर रूप को, तथा सम्पत्तिमहिमा को देखकर विस्मित हैं। हम यह जानना चाहतीं हैं कि, आप वास्तव में क्या तो हैं, एवं यहाँ से अब आप कुत्र गमन करेंगीं?। हे वरवर्णाभे! [किसी महान् वर से इसप्रकार की कान्ति प्राप्त करने वाली!] यह सब कुछ हमें तत्त्वतः बतलावें!

१४८-महालक्ष्मी के द्वारा गौमाताओं का समाधान, एवं गौमाताओं की लक्ष्मी के प्रति अवहेलना—

गौमाताओं के इसप्रकार कौतूहलपूर्ण प्रश्न करने पर महालक्ष्मी ने कहना आरम्भ किया कि, मैं लोककान्ता [लोकप्रिया] हूँ, नाम मेरा 'श्री' है। अभ्युदय हो आप का हे गौमाताओ! यही मेरा संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है। मैंने देवद्वेषी दैत्यों को सदा सदा के लिए छोड़ दिया है। और मुझे से समन्वित देवदेवता हर्षनिमग्न हैं। इन्द्र-विवस्वान्-सोम-विष्णु-वरुण-अग्नि-ऋषि-तथा अन्यान्य सभी **गणदेवदेवता** मेरे ही कारण आज मोदमान हैं। और सुनो गौमाताओ! जिनमें मेरा निवास नहीं होता, वे कालान्तर में सभी ओर से विनष्ट हो जाते हैं। "**पार्थिव शरीरमूलक अर्थ, चान्द्र मनोमूलक काम, तथा सौरी बुद्धि से समन्वित धर्म्म**" मुझ लक्ष्मी से समन्वित होकर ही सुखी-शान्त हैं। यह है मेरा सर्वव्यापक (त्रैलोक्य-व्यापक) प्रभाव गौमाताओ! मेरी यह बड़ी ही कामना है कि, मैं आप में भी निवास करूँ। मेरी इस प्रार्थना से आप भी श्रीजुष्टा (श्री से समन्विता) बन जाने का अनुग्रह करें!

गौमाताओंनें लक्ष्मी के इस आकर्षक आमन्त्रण के प्रति [मानो अपने त्रैलोक्यातीत-लोकोत्तर-पारमेष्ठ्य-भाव के समतुलन में उपेक्षणीय ही मानते हुए] यही कह डाला कि—हे देवि! आप स्वस्वरूपतः अस्थिर हैं, चञ्चल हैं, एवं **सर्वसामान्यों के साथ आपका समागम होता रहता है**। आपके इन्हीं लौकिक-अनुबन्धों के कारण हमें आपकी कोई कामना नहीं है। कल्याण हो आपका। जहाँ आप स्वच्छन्दता से रमण कर सकें, वहीं पधार जायँ। हमें अपने स्वरूप के लिए जो कुछ अपेक्षित है, वह सभी हममें पहिले से ही विद्यमान है। अतएव हमें आपसे कोई प्रयोजन नहीं है। यथेष्ट गम्यताम्।

१४९-गौमाताओं से उपेक्षिता लक्ष्मी का आक्रोशात्मक अभिनिवेश, एवं तत्प्रति गौमाताओं की आत्यन्तिक उपेक्षा—

गौमाताओं की तथाविधा उपेक्षिता वाणी सुनकर लक्ष्मीदेवी पुनः कहने लगी कि, हे गौमाताओ! क्या कारण है कि, आप मेरा सहयोग नहीं चाहती?। क्यों नहीं आप मुझ जैसी विष्णुकान्ता महासती का ग्रहण करतीं?। सचमुच आज मैंनें इस लोकवाद [लोककिंवदन्ती] का मर्म्म समझा कि, अपनी इच्छा से यदि कोई विशिष्ट-महान् भी किसी के यहाँ चला जाता है, तो उसे एकबार तो अवमानित-तिरस्कृत होना ही पड़ता है *। गौमाताओ! मानवश्रेष्ठ अत्यन्त प्रचण्ड तपश्चर्य्या के अनन्तर ही मुझे प्राप्त करने में

---

*-सत्यं च लोकवादोऽयं लोके चरति सुव्रताः।
स्वयं प्राप्ते परिभवो भवतीति विनिश्चयः॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समर्थ होते हैं। यही स्थिति देव–दानव–गन्धर्व–पिशाच–उरग-राक्षसादि अन्य योनियों की है। आप में लोकोत्तर प्रभाव है। उसी से आकर्षित होकर स्वयं अपनी इच्छा से मैं आपके समीप उपस्थित हुई हूँ। आप अवश्य ही मुझे स्वीकार करें!। क्योंकि इस त्रैलोक्य में चराचर समस्त वर्ग में कोई भी वैसा नहीं हैं, जो मेरी उपेक्षा कर स्वस्वरूप से रह सके।

महालक्ष्मी के तथाविध स्वरूपवर्णन–आह्वानादि से यत्किञ्चित् भी प्रभावित न होनें वालीं गौमाताओंनें मन्दहासपूर्वक ही मानो यह प्रत्युत्तर उपक्रान्त किया कि—हे देवि! हम कदापि आपका अपमान नहीं कर रहीं। नापि हमें आपका तिरस्कार ही अभीष्ट है। आप में सभी गुण हैं, यह भी मान लेतीं हैं हम। किन्तु जिस अस्थिरता, एवं चञ्चलता से हमारे स्वरूप का मौलिक विरोध है, उस अस्थिरता, तथा चञ्चलता की सगुणप्रतिमाभूता आपका समागम तो हम कदापि स्वरूपानुरूप नहीं मानतीं, नहीं मान सकतीं। अब और अधिक महिमाविस्तार–बखान की अपेक्षा नहीं है। बहुत होलिया। कृपा कर अब आप वहीं पधार जायँ!, जहाँ आपका अनुकूलता से स्वागत–आतिथ्य–होता रहता है।

१५०–नितान्तोपेक्षिता लक्ष्मी की गौमाताओं के प्रति शरणागति, एवं गौकृपा से लक्ष्मी का गोमय-गोमूत्र में अन्तर्विलयन—

'बहुना च किमुक्तेन गम्यतां यत्र वाञ्छसि' इस अन्तिम–रूक्ष–सैद्धान्तिक प्रत्युत्तर से लक्ष्मीदेवी का सम्पूर्ण ही स्वस्वरूपानुगत महत्त्व मानो विगलित ही होगया। आज प्रथम बार इसी विश्व में यह अनुभव प्राप्त करलेना पड़ा इन्हें कि, मेरी सर्वथा उपेक्षा करने वाले भी इसी भूतल पर विद्यमान हैं। इसी उद्बोधन-सूत्र से अपने आपको सर्वथा ही प्रणतभाव में, दीनभाव में परिणत कर लेना पड़ा महालक्ष्मी को गौमाताओ के सम्मुख। एवं शरणागतिरूप इसी अव्यर्थ–साधन को अग्रणी बना कर अत्यन्त प्रणतभाव से महालक्ष्मी प्रार्थना ही करने लगीं गौमाताओं से कि—हे गौमाताओ! हे सर्वलोकाराध्या गौमाताओ! यदि आपनें इस-प्रकार मेरा परित्याग कर दिया, तो मैं सम्पूर्ण त्रैलोक्य में सभी के द्वारा अवमानित हो जाऊँगी। एकमात्र आपकी उपेक्षा से सम्पूर्ण त्रैलोक्य ही मेरी उपेक्षा करने लग पड़ेगा। अतएव आप मुझ पर अनुग्रह कीजिए! **'प्रसादः क्रियतां मम'**। हे गौमाताओ! आप तो स्वयं अपने ही रूप से महाभाग्यवतीं हैं। [अतएव अवश्य ही आपको मेरी कोई अपेक्षा नहीं है। किन्तु मेरा अत्यन्त ही अहित है आप से पृथक् रहने में]। हे गौमाताओ! आप तो सम्पूर्ण त्रैलोक्य की शरण्या हैं–[शरणस्थलीं--आश्रयस्थाना हैं]। यही सोचकर तो मैं आपकी शरण में आई हूँ। सर्वथा निन्दारहिता--अपवादशून्या मुझे आप अपनी शरण में लेकर मेरी रक्षा कीजिए!। [आपकी शरणागति से ही मैं लोकवाद से बची रहती हुई लोक में अप–वादशून्या--अनिन्दिता कहला सकूँगी]। सदा सर्वदा ही त्रैलोक्य के लिए शिवा शान्तिकारीं प्रमाणित होतीं रहनें वालीं हे गौमाताओ! आप भले ही अपने किसी उत्तम शरीराङ्ग में मुझे स्थान प्रदान न करें। अपितु मुझे तो अपना कोई वैसा अवरश्रेणि का ही अङ्ग बतलादें, उसमें निवास करके ही मैं अपने आपको अनिन्दिता बना लूँगी। यथाहि—

श्रीरुवाच—"अवज्ञाता भविष्यामि सर्वलोकस्य मानदाः।
प्रत्याख्यानेन युष्माकं प्रसादः क्रियतां मम ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महाभागा भवन्त्यो वै शरण्याः, शरणागतां-
परित्रायन्तु मां नित्यं भजमानामनिन्दिताम् ॥
माननामहमिच्छामि भवत्यः सततं शिवाः ।
अप्येकाङ्गेष्वधो वस्तुमिच्छामि च कुत्सिते ॥" ।
किन्तु न वोऽस्ति किञ्चिदङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः ।
पुण्याः पवित्रा सुभगाः-ममादेशं प्रयच्छथ ॥

अर्थात्--मैनें आपके सर्वाङ्गशरीर का सर्वात्मना अवलोकन कर लिया । किन्तु मुझे तो आपके अङ्गों में कोई सा भी अङ्ग ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ, जो पुण्य--पवित्र--महाभाग से वञ्चित हो । अतएव अब तो यह आप ही के कृपापूर्ण आदेश पर अवलम्बित है कि, आप स्वयं अपनी दृष्टि से जिस अङ्ग को अवराङ्ग मानतीं हैं, उसी में निवास करने का मुझे आदेश प्रदान कर दीजिए ! -'वसेयं यत्र वो देहे, तन्मे व्याख्यातुमर्हथ' ।

जब इसप्रकार अत्यन्त दीनभाव से महालक्ष्मी गौमाताओं की शरण में ही आगई, तो करुणावत्सला गौमाताएँ संयम न रख सकीं । अपितु सब ने परस्पर मन्त्रणा कर सम्मिलितरूप से ही मूकभाव से ही यह आश्वासन प्रदान करने का अनुग्रह कर डाला कि, हे यशस्विनी लक्ष्मीदेवी ! हम अवश्य ही आपको आश्रय-प्रदान करने में समवेत हैं । हे शुभे ! आप हमारे शकृत्, तथा मूत्र में हीं [गोमय, तथा गोमूत्र में ही] आज से निवास कीजिए !, जो हमारी दृष्टि में भी अत्यन्त ही पवित्र द्रव्य प्रमाणित है--'शकृन्मूत्रे निवस त्वं, पुण्यमेतद्धि नः शुभे !' । इधर गौमाताओं के पावन-मुखसुख से 'शकृन्मूत्रे निवस त्वम्' वाक्य निकला ही था कि, महालक्ष्मी तत्क्षण ही गौमाताओं के देखते ही देखते इनके शकृन्मूत्र जैसे धन्यतम--यशस्यतम--उस पुण्यतम द्रव्य में अन्तर्लीन हीं होगईं, [जिसकी पुण्यतमा कृतकृत्यता से सभी आस्थाश्रद्धान्वित आत्म--निष्ठ मानव तो सुपरिचित ही हैं] । और यों—

श्रीरुवाच— दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः ।
एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदाः ! ॥

भीष्म उवाच-एवं कृत्वा तु समयं श्रीर्गोभिः सह भारत ! ।
पश्यन्तीनां ततस्तासां तत्रैवान्तरधीयत ॥
एवं गोशकृतः पुत्र ! माहात्म्यं ते तु वर्णितम् ।
माहात्म्यं च गवां भूयः श्रुयतां गदतो मम ॥

महाभारते अनुशासनपर्वणि-'श्री-गोसंवादो'नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः (८२ वाँ अध्याय)

State Museum
LUCKNOW.

१५१-गौमाहात्म्यवर्णनात्मक-महाभारतीय-सन्दर्भ से संगृहीत पावन संस्मरण—

गोवर्द्धन-पूजनमहोत्सव का अर्थ है इन्द्रपूजनमहोत्सव, इसे ही विशेष दृष्टिकोण से [लोक--
रक्षात्मिका गौमाता के दृष्टिकोण से] माना गया है--मार्गपालीमहोत्सव, जिसमें इन्द्रपूजनानुबन्धी गोपूजन
ही विहित है । प्रत्यक्ष में इन्द्र का पूजन है, वस्तुगत्या उस गौपूजन का ही प्राधान्य है, जिस गौमाता का
स्वयं इन्द्र ने पूजन किया है । उक्त अध्याय के आगे के ८३ वें अध्याय में हीं--'पितामह ब्रह्मा, तथा स्वर्गा--
ध्यक्ष इन्द्र, के संवादरूप से इसी तथ्य का महता समारम्भेण यशोगान किया है महात्मा भीष्म ने, जिसका
केवल यह एक वचन ही पर्य्याप्त होगा तथोक्त तथ्य के समन्वय के लिए कि—

भीष्म उवाच—एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा ।
गाश्चक्रे बहुमानञ्च तासु नित्यं युधिष्ठिर ! ॥
न किञ्चिद्दुर्लभं लोके गवां भक्तस्य भारत ! ॥
—म० अनु० ८३ अध्याय

इन्द्र की बात भी उस समय शिथिल ही पड़ जाती है, जबकि हम सगुणेश्वर--अव्ययेश्वर भग--
वान् श्रीकृष्ण को स्वयं ही गोचारणकर्म्म में न केवल निरत ही सुनते हैं, अपितु जिनका स्वयं प्रणतभाव से
गौमाताओं का पूजनार्चन करते रहना शास्त्रों में अनेकधा उपवर्णित है । इसी गौ के सम्बन्ध से जो नन्द--
नन्दन भगवान् **गोविन्द**, **गोपाल**, आदि विश्वविश्रुता अभिधाओं से प्रसिद्ध हुए हैं । उसी सर्वेश्वर--
गोविन्द भगवान् की, इस पारमेष्ठ्य विष्णु की इनसे अभिन्ना वे ही गौमाताएँ आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत
के भारतीय, हाँ मूलतः भारतीय ही शासकों के द्वारा--[जिनका उदरपोषण गोभक्त भारतीय हिन्दूओं के द्वारा
ही प्रक्रान्त है] न केवल उपेक्षित ही बनीं हुईं हैं, अपितु इनका जनतन्त्रीय रक्षात्मक प्रश्न भी **'साम्प्रदा--**
यिकता' के काल्पनिक लाञ्छन से बलपूर्वक उपशान्त कर दिया जाता है । और ऐसे ही इस शासन को
उपाधि दी जारही है—'रामराज्य' की, इति नु महतीयं विडम्बना भारतभाग्यलक्ष्म्याः । जिस गोमय–गोमूत्र
के अमृतोपम पान के बिना भारतीय ब्राह्मण का जन्म--प्रकृति-सिद्ध द्विजातित्त्व ही व्यक्त नहीं हो सकता, दूसरे
शब्दों में राष्ट्र की लोकसंस्कृति, तथा लोकसभ्यता के मूलकोशात्मक जिस वेदशास्त्र का स्वाध्यायाधिकार ही
बिना गोमूत्र-गोमय के पान के उपलब्ध नहीं हो सकता, अधिकारसमर्पणरूप यज्ञोपवीत जैसे महान् संस्कार की
मूलप्रतिष्ठा बने रहने वाले ये गौद्रव्य ही आज श्रीविहीन--मन्दभागी--स्वतन्त्रावादी की दृष्टि में 'गन्दगी'
फैलाने वाले प्रमाणित हो रहे हैं अपने आत्मनिष्ठावञ्चित-श्रद्धा-आस्थाशून्य जडभूतनिबन्धन बुद्धिवादात्मक
व्यामोहन से । अतएव एकमात्र इसी भ्रान्ति से उस भारतीय नागरिक को गौसेवा से विधानपूर्वक वञ्चित
किया जारहा है, जिसके सम्पूर्ण धार्मिक आचार, सम्पूर्ण सांस्कृतिक आयोजन एकमात्र गोवंश पर ही अव--
लम्बित हैं । कृतज्ञ है यह भारतीय आर्त्त ब्राह्मण उत्तरप्रान्त के उस शासन के प्रति, जिसने गोवंश के इस
राष्ट्रीय स्वरूप को समझने का अनुग्रह कर उस घोरघोरतम अभिशाप से अपने प्रान्त को उन्मुक्त करने का
महान् पुण्यार्ज्जन किया है, जिस अभिशाप से गोवंशक्षय के साथ साथ ही अनुदिन राष्ट्रीया श्री राष्ट्र से
पराङ्मुख ही बनती जारही है, जिसका निवास पूर्वाख्यानानुसार गोवंश में ही माना गया है । हाँ, तो इस
प्रासङ्गिक आवेदनान्तर पुनः उन कतिपय पावन पद्यों की ओर ही श्रद्धाशील जनतन्त्र का ध्यान आकर्षित किया
जारहा है,–जिनके द्वारा हमारा एतद्विषयक श्रद्धान पुष्पित--पल्लवित ही होता आरहा है सनातन--परम्परा के
अनुग्रह से—

भीष्म उवाच——गाश्च संकीर्त्तयेन्नित्यं, नावमन्येत तास्तथा ॥७॥
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य–गां नरः सम्प्रकीर्त्तयेत् ॥
गोमयेन सदा स्नायात्, करीषे चापि संवसेत् ॥८॥
श्लेष्म–मूत्र–पुरीषाणि–प्रतिघातं च वर्जयेत् ॥
'गा' वै पश्याम्यहं नित्यं, गावः-पश्यन्तु मां सदा ॥
गावोऽस्माकं, वयं तासां, यतो गावस्ततो वयम् ॥९॥

वसिष्ठ उवाच— घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः (परमेष्ठ्युद्भवाः) ॥
घृतनद्यो घृतावर्त्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे ॥१०॥
गावो ममाग्रतो नित्यं, गावः पृष्ठत एव च ॥
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥११॥
नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम् ॥
नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति ॥१२॥
यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
तां धेनु शिरसा वन्दे ! भूत--भव्यस्य मातरम् ॥१३॥

व्यास उवाच——गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम् ॥
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा ॥१४॥
गावस्तेजो महद्दिव्यं गवां दानं प्रशस्यते ॥
ये चैताः सम्प्रयच्छन्ति साधवो वीतमत्सराः ॥१५॥
ते वै सुकृतिनः प्रोक्ताः सर्वदानप्रदाश्च ते ॥
गवां लोकं (पारमेष्ठ्यं) तथा पुण्यमाप्नुवन्ति च तेऽनघ! ॥१६॥
एवमेता महाभागा यज्ञियाः सर्वकामदाः ॥
'रोहिण्य' (लक्ष्म्यः) इति जानीहि नैताभ्यो विद्यते परम् ॥१७॥

ब्रह्मोवाच———त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यसि ॥
मत्प्रसादाच्च(स्वयम्भुप्रसादाच्च) विख्यातो गोलोकः सम्भविष्यति ॥१८॥
मनसा चिन्तिता भोगास्त्वया वै दिव्यमानुषाः ॥
यच्च स्वर्गे सुखं देवि ! तच्चे सम्पत्स्यते शुभे ! ॥१९॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सर्वान्ते च—

भीष्म उवाच—-एतत्ते सर्गमाख्यातं पावनं च महाद्युते ! ॥
पवित्रं परमं चापि गवां माहात्म्यमुत्तमम् ॥२०॥
कीर्त्तितं पुरुषव्याघ्र ! सर्वपापविमोचनम् ॥
"य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥२१॥"[*]
हव्य-कव्येषु यज्ञेषु पितृकार्य्येषु चैव ह ॥
सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄँस्तस्योपतिष्ठते ॥२२॥
गोषु भक्तश्च लभते, यद्यदिच्छति मानवः ॥
स्त्रियोऽपि भक्ता या गोषु ताश्च काममवाप्नुयुः ॥२३॥
पुत्रार्थी लभते पुत्रं, कन्यार्थी तामवाप्नुयात् ॥
धनार्थी लभते वित्तं, धर्म्मार्थी धर्म्ममाप्नुयात् ॥२४॥
विद्यार्थी चाप्नुयाद्विद्यां, सुखार्थी प्राप्नुयात् सुखम् ॥
न किञ्चिद्दुर्लभं चैव गवां भक्तस्य भारत ! ॥२५॥

महाभारत-अनुशासनपर्व-५१ वें अध्याय से-८३ वें अध्यायपर्य्यन्त के ३३ तैंतीस अध्यायात्मक- गोमाहात्म्यवर्णनात्मक महासन्दर्भ से संगृहीत पावन-संस्मरण-

---

[*] जो पारमेष्ट्य आत्मभावात्मक महद्ब्रह्मलक्षण सोम गौमाता की मूलप्रतिष्ठा है, वही सौम्य महद्-ब्रह्म ब्राह्मण की प्राकृतिक प्रतिष्ठा है। अतएव व्यक्त लोकशासक कदापि ब्राह्मण का शासक नहीं बन सकता। अपितु ब्राह्मण तो अपने सौम्य महद्ब्रह्म से ही अनुशासित है। लोकभाषानुसार पारमेष्ठ्य महत्–सोम ही ब्राह्मण का राजा-शास्ता है, जैसाकि—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (यजुःसंहिता) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। तात्पर्य्य निवेदन का अत्र यही है कि, जो आत्मप्रतिष्ठा गौ की है, वही ब्राह्मण की है। अतएव यदि श्रद्धापूर्वक सौम्य ब्राह्मण के सम्मुख इस सौम्या गौमाता का माहात्म्य उच्चरित होता है श्रद्धालु मानवों के द्वारा, तो निश्चयेन इस 'गोमाहात्म्य'–श्रवण से ब्राह्मण का प्रतिष्ठा-प्राणात्मक गौप्राण भी अत्यन्त ही प्रसादगुणान्वित हो जाता है। और ब्राह्मण का यह आत्मप्रसाद भी तत्प्रति गौमाहात्म्य के उपवर्णयिता श्रद्धालु के दुरितक्षय का परम्परया निमित्त बन जाता है। इसी सुसूक्ष्म प्राण–प्रसाद–धर्म्म को लक्ष्य बना कर ही महात्मा भीष्म ने कहा है कि—

"य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ।
सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄँस्तस्योपतिष्ठते ॥"

कब ऐसे अवसर आते हैं, जबकि ब्राह्मण गृहस्थियों के यहाँ अनुग्रह किया करते हैं ?, प्रश्न का उत्तर है—"हव्यकव्येषु यज्ञेषु पितृकार्य्येषु चैव हि"। श्रौत–स्मार्त-यज्ञकर्म्मों के, पार्वण-नान्दीश्राद्ध–एकोद्दिष्टादि

१५२–नहुष के द्वारा गौ से ऋषिच्यवन का क्रय, एवं ऋषि की आत्मतुष्टि—

प्रकृतमनुसरामः । आकस्मिकरूप से समुपस्थित महर्षिप्रवर गविजात ने चिन्तासमुद्रे निमग्न नहुषराज की चिन्तानिवृत्ति के लिए जिस उपाय का–'**अनर्घेया महाराज० !**' इत्यादिरूप से प्रदर्शन किया था, एवं जिस इस उपायश्रवण से नहुषसम्राट् समण्डल हर्षविभोर हो पड़े थे, उस अनर्घ–उपायभूता 'गौमाता' के पावन–नामप्रसङ्ग से ही महाभारतीय गौतत्त्व का यह प्रासङ्गिक संस्मरण अत्र उपनिबद्ध हो पड़ा है । अत्र पुनः उस प्रक्रान्ता पावनगाथा के शेषांश की ओर श्रद्धान्वित आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

"जिस प्रकार तपस्वी ब्राह्मण का कोई मूल्य नहीं, तथैव गौमाता का भी कोई मूल्य नहीं । दोनों हीं अमूल्य हैं, अनर्घ हैं । अतएव 'योग्यं–योग्येन युञ्जीत' न्याय से हे नहुष ! तुम्हें महर्षि च्यवन का मूल्याङ्कन गौमाता से ही कर देना चाहिए । अवश्य ही ऋषि इसे अपना अनुरूप मूल्य मान कर सन्तुष्ट हो जायँगे" महर्षि गविजात से इस उपाय का श्रवण करते ही हर्षविभोर होगए महाराज नहुष, और अपने अमात्य–पुरोहितों के साथ भृगुपुत्र महर्षि च्यवन के सम्मुख खड़े होते हुए अपनी इस वाणी से मानो महर्षि के प्राणों को तृप्त ही करते हुए प्रणतभाव से यही निवेदन करने लगे कि-यथाहि—

भीष्म उवाच-**नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप !**
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ।।
अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं शंसितव्रतम् ।।
इदं प्रोवाच नृपते ! वाचा सन्तर्पयन्निव ।।

नहुष कहने लगे कि, हे महर्षे ! हे भार्गव ! अब आप हम पर अनुग्रह कीजिए ! हमने आपको इस एक 'गौ' से निषादों से क्रीत कर लिया है । हे धर्म्मभृतांवर ! हम समझते हैं, यह गौ आपका पर्य्याप्त मूल्य है-यथाहि—

नहुष उवाच—**उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे ! गवा क्रीतोऽसि भार्गव !**
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्म्मभृतांवर ! ।।

'गौ' शब्द के श्रोत्रेन्द्रिय से समन्वित होते ही मानो महर्षि में प्राण उद्दीप्त हो पड़ा । अपनी सम्पूर्ण करुणार्द्रता का परित्याग कर इस गौप्राणाधान से तत्क्षण ही तो महर्षि च्यवन उठ खड़े हुए, एवं आत्म–

पितृमेध–कर्म्मात्मक श्राद्धकर्म्मों के अवसर पर ही विशेषरूप से इन ब्राह्मणों के चरणरज से गृहस्थी का गृहस्थ मङ्गलमय बना करता है विशेषरूप से । ऐसे अवसरों पर ही इन सौम्य ब्राह्मणों की तुष्टि-तृप्ति के लिए अन्यान्य अतिथियों के साथ इनके सम्मुख गौमाहात्म्य का भी वर्णन करना चाहिए श्रद्धापूर्वक प्रणतभाव से, विशेषतः सौम्य–पितृकर्म्मरूप श्राद्धकर्म्मावसरों पर तो अवश्य ही । क्योंकि–'**पितरः सोम्यासः**' के अनुसार पितर भी सौम्य-प्राणप्रधान ही है । इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर धर्म्म के सूक्ष्मरहस्यवेत्ता महात्मा देवव्रत ने कहा है—"**सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄंस्तस्योपतिष्ठते**" ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

प्रसाद से विभोर ही बनते हुए कहने लगे नहुष को लक्ष्य बना कर यही कि—हे “राजेन्द्र ! * सचमुच अब तुमने मुझे ठीक–ठीक, मेरे स्वरूपानुरूप मूल्य से ही निषादों से क्रीत कर लिया है (खरीद लिया है) । हे अच्युत !÷ सचमुच इस सम्पूर्ण त्रैलोक्य में मुझे गौधन के अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ अधिक मूल्यवान प्रतीत नहीं हो रहा । हे पार्थिव ! इन गौमाताओं का यशोवर्णन (कीर्त्तन), यशःश्रवण, श्रद्धापूर्वक दान, दर्शन आदि सभी कर्म्म तो सर्वपापविनाशक, एवं महामङ्गलप्रवर्त्तक माने गए हैं—यथाहि—

च्यवन उवाच—**उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र ! सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ !**
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत ! ।।
कीर्त्तनं-श्रवणं-दानं-दर्शनं-चापि पार्थिव ! ।।
गवां प्रशस्यते वीर ! सर्वपापहरं-शिवम् ।।

१५३–महर्षि च्यवन के द्वारा नहुष के प्रति गोमाहात्म्य–वर्णन—

अन्यदपि राजन् ! ये गोमाताएँ हीं (राष्ट्रलक्ष्मी–समाजलक्ष्मी–परिवारलक्ष्मी–व्यक्तिलक्ष्मी–भूतलक्ष्मी–प्राणलक्ष्मी–राजलक्ष्मी–आदि आदि यच्चयावत्) **लक्ष्मीविवर्त्तों** की मूलप्रतिष्ठा बनीं हुईं हैं। एवं इन में पाप्मा–मलीमस–भाग–(आज की सभ्यता की भाषा में–गन्दगी) आदि का संस्पर्श भी नहीं है । अपितु स्वयं महालक्ष्मी के ही–‘**न वोऽस्ति कुत्सितं किञ्चित्–अङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः**’ (अनु० प० ८२ अ० । २२ श्लोक०) इन शब्दों के अनुसार गौमाता तो सर्वात्मना ही पुण्यतमा, पवित्रतमा है । सम्पूर्ण प्राणियों का जीवनीय **सोमरूप अन्न** इन्हीं के प्राणों में प्रतिष्ठित है । गोक्षीर–गोघृत ही पितृ–देवताओं का महामहनीय हविष्यान्न है । देवतृप्तिकर **स्वाहाकार**, इन्द्रतृप्तिकर **वषट्कार** भी इन्हीं गौमाताओं में प्रतिष्ठित है । गौमाताएँ हीं समस्त प्राकृतिक–वैध–**यज्ञों** की मूलप्रवर्त्तिका हैं । ये ही यज्ञ के मुख हैं । जिस दूध को दूध समझा जारहा है भूतदृष्टि से, वह अन्य पश्वादि की भाँति कोई सामान्य दूध नहीं है । अपितु यह तो तीसरे द्युलोक में प्रतिष्ठित रहने वाला × वह पारमेष्ठ्य अमृतसोम है, जो शाश्वतभाव के समन्वय से (शाश्वत अव्ययपुरुष को स्वगर्भ प्रतिष्ठित करने से) स्वयमपि अव्ययरूप बन रहा है । यहीं से

---

*–इन्द्र का गौ से सहज सम्बन्ध है । यही इन्द्र शासक नृपति में जनता के अनुशासन के लिए प्रतिष्ठित रहता है, जैसाकि–‘**एकैको वै जनतायामिन्द्रः**’ इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है । नहुष ने आज अपने ऐन्द्रस्वरूप के द्वारा स्वप्रतिष्ठारूप स्वप्रतिष्ठालक्षण गौ का अनुग्रह प्राप्त कर लिया है । ‘**राजेन्द्र !**’ सम्बोधन यही सङ्केत कर रहा है ।

÷ नहुष सहस्र–लक्ष–कोटि–अर्बुद, एवं सर्वान्त में सम्पूर्ण साम्राज्य–प्रदान–माध्यम से भी ऋषि को को जब सन्तुष्ट न कर सके, तो दुःखविभोर तो वे अवश्य बन गए । किन्तु निराश होकर पलायित नहीं होगए । इनके इसी निष्ठात्मक धैर्य्य से अन्ततोगत्वा गविजात महर्षि प्रकट हो ही तो गए । इसी निष्ठा को अभिव्यक्त कर रहा है—‘**अच्युत**’ सम्बोधन ।

×–**तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत् ।**

यह गोरस सूर्य्य के द्वारा त्रैलोक्य में प्रवर्ग्यरूप से विकीर्ण होता हुआ गौमाताओं में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होता है। यों सचमुच महद्भूतात्मिका ये गौमाताएँ पारमेष्ठ्य चिन्मय-अमृतसोम की उक्थरूपा 'आयतना' बनीं हुई हैं-यथाहि—

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं, गोषु पाप्मा न विद्यते।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः॥
स्वाहाकार-वषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ॥
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्॥
अमृतं-ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च, वहन्ति च॥
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः॥

और सुनो नहुष! (अपने पारमेष्ठ्य-चिन्मय महत्सोमधर्म्म से निरतिशयरूपेण सौम्या प्रमाणित हरनें वालीं भी) ये गौमाताएँ अपने (आपोमय-सोममय-भार्गव परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित अङ्गिराचितिरूप सावित्राग्निमूर्त्ति विराट् सूर्य्यनारायण पर अनुग्रह करतीं हुई, इसी अनुग्रह से सूर्य्य को भी "आयं गौः पृश्निरक्रमीदसन्मातरं पुरः-पितरञ्च प्रयन्त्स्वः" (यजुःसंहिता) के अनुसार 'गौ' नाम से प्रसिद्ध करती हुई इस) सौराग्निस्वरूप से अपने तेजोमय शरीर से अग्नि से भी समतुलित बनीं हुईं हैं—"तेजसा-वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि"। स्मरण रक्खो नहुष! कि ये गौमाताएँ सम्पूर्ण चराचरप्राणियों को सुख-शान्तिप्रदान करने वाला अत्यन्त ही तेजस्वी तत्त्व है-'गावो हि सुमहत्तेजः-प्राणिणां च सुखप्रदाः'। सम्पूर्ण चराचर-प्राणियों की अलौकिक, तथा लौकिक-यच्चयावत् कामनाओं को सफल बनाने में कामदुधा गौमाताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई भी तो दूसरा महद्भूत नहीं है-"गावः कामदुहो देव्यः-नान्यत्किञ्चित् परं स्मृतम्"। हे भरतर्षभ नहुष! (गौमाताओं के इसी अलौकिक-लौकिक लोकोत्तर महत्त्व को लक्ष्य बना कर) हमनें इन का ऐसा महात्म्य तुह्मारे सम्मुख रक्खा है-'इत्येतद्गोषु मे प्रोक्तं-माहात्म्यं भरतर्षभ!"। किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रक्खो कि, हमनें गौमाताओं का जो महत्त्व यहाँ व्यक्त किया है, वह तो उनकी अनन्त-असंख्य-गुणविभूतियों में केवल एक ही गुण (सौम्यगुण-पारमेष्ठ्य भार्गवधर्म्म) के भी एकदेश-आंशिकरूप का ही यहाँ यशोगान हुआ है। असम्भव है इस अनन्तविभूति के अनन्त गुणों का सादिसान्ता मानुषी वैखरी वाणी से वर्णन कर देना-'गुणैकदेशवचनं-शक्यं, पारायणं न तु'।

१५४--शुचिभावापन्न निषादों का महर्षि च्यवन के प्रति-साप्तपदीन-मैत्री का उद्घोष, एवं तत्प्रति प्रतिग्रह-(गौदान) कामना—

यों गौमहिमा का यशोगान करते हुए महर्षि च्यवननें राजर्षि नहुष के द्वारा निषादों को प्रदत्त गौमाता के द्वारा अनन्या तृप्ति का अनुभव कर लिया। और गौमाता के इस अद्भुत-अश्रुतपूर्व-लोकोत्तर महत्त्व से, तदनुप्राणित गौदानादि के महत्त्व से प्रभावित हो पड़ने वाले क्रूरकर्म्मा भी निषादों में शुचिभाव प्रादुर्भूत हो पड़ा। और इन श्रद्धाशील सहज मानवश्रेष्ठोंनें भी इस महान् पुण्यावसर को हाथ से न जाने

देकर अपने मानवजीवन को धन्य–कृतकृत्य ही बना लिया। कैसे ? का उत्तर उन्हीं महद्भाग्यशाली निषादों की श्रद्धापूता सहजवाणी से ही प्राप्त कीजिए। निषाद कहने लगे कि–भगवन् ! आपके पुण्यदर्शनों का, [आपके साथ साथ गौमाता के धन्यतम दर्शनों का], आपके तपःपूत मुखपङ्कज से विनिःसृता अमृतमयी वाणी के श्रवण का, [इस वाणीश्रवण के साथ साथ ही गौमाताओं के माहात्म्यादि श्रवण का] महद्भाग्य हम निषादों को भी प्राप्त हो गया, [और निश्चयेन इस सतांसमागम–श्रवणादि से आज हमारे भी अनेक जन्मों के दुरितपुञ्ज निश्चयेन भस्मसात् ही होगए]। और धृष्टता के लिए क्षमा माँगते हुए आपके इस पारम्परिक सहवासानुग्रह से ही हम यह निवेदन करने का साहस, किंवा दुःसाहस कर रहे हैं कि, आज हमें शास्त्रों में, [लोकाचार में प्रसिद्ध]* **'साप्तपदीना मैत्री'** का महद्भाग्य प्राप्त होगया है [किसी जन्मान्तरीय महत्पुण्यातिशयानुग्रह से], अतएव अब आप हमारे इस मित्रतापूर्ण अनुरोध पर अवश्य ही अनुग्रह करेंगे–यथाहि—

निषादा ऊचुः—**दर्शनं-कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने !**
सतां साप्तपदं मैत्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ! ॥

भगवन् ! हम स्वयं अपने अन्तर्जगत् में यह अनुभव कर रहे हैं कि, अपनी अवरवर्णता के कारण आचारशास्त्रने हमारे प्रतिग्रहों को त्याज्य माना है। अतएव किसी ब्राह्मण को हम स्वयं ही प्रतिग्रहप्रदान की कल्पना भी नहीं कर सकते आचारधर्म्मानुबन्ध से। किन्तु भवगन् ! आप तो अपने तपोबल से आज उस ऋषिपद पहुँच गए हैं, जहाँ **'ब्रह्म–अब्रह्म–भवति'** के अनुसार आचारधर्म्मरूप वर्णानुगत प्राकृत धर्म्म स्वतः ही शिथिल होजाता है। भगवन् ! निश्चयेन आप तो अपने तपोलक्षण ऋषिभाव से उस हव्यवाट् तेजोमय अग्निस्वरूप में परिणत हो रहे हैं, जिस विश्वव्यापक–आत्मस्वरूप विराट् अग्नि के लिए कुछ भी त्याज्य नहीं है। (अतएव जो अग्निदेव–'सर्वभुक्' नाम से प्रसिद्ध हैं।) जिसप्रकार हव्यवाट् सर्वहुत अग्नि के साथ किसी भी प्रतिग्रह का स्पर्शादि दोष समन्वित नहीं होता, तथैव तदवस्थारूप आपको भी हमारा दिया

---

*–यदि किसी के साथ कोई व्यक्ति पाँच सात पाँवड़ा चलता हुआ परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्भाषण कर लेता है, तो भारतीय–संस्कृति की मर्य्यादानुसार दोनों को परस्पर मित्र मान लिया जाता है, और जीवनपर्य्यन्त इस **'सतांमैत्री'** का प्राणपण से संरक्षण किया जाता है। यही मैत्री–**'साप्तपदीनमैत्री'** कहलाई है। सुप्रसिद्ध गौभक्त सूर्य्यवंशी सम्राट् दिलीप महाभाग के साथ इसी अनुबन्ध के आधार माता पार्वती के द्वारा उपलालित पुत्रकल्प देवदारुवृक्षों की रक्षा के लिए नियुक्त हिमगिरि की गह्वर–गुहाओ में स्वच्छन्द विचरने वाले सिंह से मैत्रीसम्बन्ध होगया था, जिसका कविकुलगुरु कालिदास की सांस्कृतिक–प्रज्ञा से यों यशोगान हुआ है—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः-वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग ! नार्हसि त्वं--सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ —रघुवंशः

तुलना कीजिए भारतीय मैत्री की साप्तपदीना सांस्कृतिक–परिभाषा के साथ आज की अर्थकाममूला प्रच्छन्नशत्रुतालक्षणा काल्पनिक मैत्री का, और तदनन्तर ही आज की सांस्कृतिक ? मैत्री का निष्ठाबुद्धि से समन्वय कीजिए ! इत्यालप्यालमेव ।

हुआ प्रतिग्रह कदापि दोषयुक्त नहीं कर सकता÷, ऐसी हमारी मान्यता है आपके इस प्रत्यक्ष प्रभाव को देख सुन कर, यथाहि—

हवींषि सर्वाणि यथा ह्युपभुङ्क्ते हुताशनः ।
एवं त्वमपि धर्म्मात्मन् ! पुरुषाग्निः प्रतापवान् ॥

तस्मात्—

इसलिए भगवन् ! आपके चरणयुगलों में प्रणतभाव से अपने आपको श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देनें वाले हम निषादों की यह आभ्यन्तर कामना है कि, (राजर्षि महाभाग नहुष ने जो गौमाता आपके सदृश-मूल्याङ्कन के लिए हमें दी है), अनुग्रह कर वही गौ आज आप हम से स्वीकार करैं ! । (हम निषाद इस आपके स्वरूप के अनुरूप भेंट के अतिरिक्त और दे भी क्या सकते हैं, जबकि राष्ट्र के सम्राट् नहुष सम्पूर्ण राज्य-दान से भी आपको सन्तुष्ट न कर सके । हम सब की इच्छा थी कि, हम भी ऋषि का आतिथ्य करैं । किन्तु यहाँ के सहस्र–लक्ष–कोटि–अर्बुद–साम्राज्य–दान की गाथाओंनें हमारी सभी आशा–कामनाओं पर तुषारपात कर दिया था । किन्तु महर्षि गविजात के अनुग्रह से हमें उद्बोधन प्राप्त होगया कि, गौ के अतिरिक्त ऋषि-प्रज्ञाओं के लिए और कोई परिग्रह प्रिय हो ही नहीं सकता । इसी साहस के बल पर आज हमनें आप से यह प्रार्थना की है ! यथाहि—

प्रसादयामहे विद्वन् ! भवन्तं प्रणता वयम् ।
अनुग्रहार्थमस्माकं–'इयं गौः' प्रतिगृह्यताम् ! ॥

सम्राट् नहुषनें गौमूल्यदान से अपना **राजधर्म्म** सुरक्षित कर लिया था । गविजात महर्षिनें **आनृशंधर्म्म** का लोकोत्तर महात्म्य स्थापित कर दिया था । और गौप्रतिदान के माध्यम से महर्षि च्यवननें निषादों के **योगक्षेमधर्म्म** का संरक्षण करते हुए मत्स्यादि जलजन्तुओं को पाशमुक्त कराते हुए आत्मसमत्वमूलक–**शरणागतिधर्म्म** का महान् आदर्श सुरक्षित कर लिया था । यों अत्र इतिवृत्त में उपस्थित सभी पात्र स्व-स्व धर्म्मनिष्ठा के अनुगमन से अपनी प्रजापतिनेदिष्ठता प्रमाणित कर चुके थे । रह गए थे केवल निषाद, जिनके द्वारा जालप्रक्षेप-आलोडन–विलोडन से मत्स्यों के साथ ऋषि च्यवन भी उत्पीड़ित होगए थे । इसी भय से संत्रस्त निषाद उपाय–प्रतीकार के लिए राजधर्म्म की शरण में गए भी थे । किन्तु संकट आपड़ा स्वयं राजा पर, और राजधर्म्म पर । एवं इससे परित्राण प्राप्त करने में हीं नहुष का सम्पूर्ण बल–पौरुष समाप्त होगया । यों निषादों की समस्या ज्यों की त्यों हीं शेष रह गई थी, जिसे आज स्वयं निषाद ही **'गौदान'** के द्वारा समन्वित करना चाहते हैं, यही **'इयं गौः प्रतिगृह्यताम्'** का निषादानुगत समन्वय है ।

१५५–निषादों के द्वारा महर्षि च्यवन का प्रतिग्रह–ग्रहण, एवं माङ्गलिक–पावनगाथा का विराम—

महर्षि के दृष्टिशापमात्र से विकम्पित हो पड़े थे निषाद, जब कि महर्षि च्यवननें ठीक इसके विपरीत निषादों को–**"यो मेऽद्य परमं कामः–तं शृणुध्वं समाहिताः"** इत्यादिरूप से उपायान्वेषण के लिए प्रवृत्त

÷ **तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।** (श्रीमद्भागवत–रासपञ्चाध्यायी–शुकोक्तिः) ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

करते हुए अपनी सहज करुणावरुणालयता का ही परिचय प्रदान किया था। फिर भी निषाद अपनी कल्पना में ऋषिदृष्टिजनित शाप से सर्वात्मना अपने आपको उन्मुक्त नहीं मान रहे थे। ऋषिनें निषादों की इस दयनीया–भयविकम्पनावस्था को लक्ष्य बना लिया। और निर्णय कर लिया कि, जबतक इनका यह गो-प्रतिग्रह मैं स्वीकार नहीं कर लूँगा, तबतक ये मेरी दृष्टि से उसी प्रकार सदा ही भयत्रस्त बने रहेंगे, जैसेकि एक कृपण–अर्थलुब्धक की तेजोमयी दृष्टि से भिक्षुक–याचक स्वतः ही भयत्रस्त बने रहते हैं, एवं एक विषधर सर्प की दृष्टि से सभी विकम्पित होते रहते हैं इस भय से कि, विदित नहीं, ये कब अपनी कोपदृष्टि से सम्मुख उपस्थित व्यक्ति को निष्प्राण बनादें। निषादों के इसी भयभाव को लक्ष्य बना कर मानो निषादों का उपलालन ही करते हुए दयार्द्रचेता महर्षि च्यवननें अपनी सुशान्तमुद्रा से यह कहते हुए निषादों की भेंट प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करली कि—

हे निषादो ! वस्तुस्थिति लोक में इसी रूप से प्रसिद्ध है कि–घोरकृपण की दृष्टि, विषधर सर्प की, एवं कोपाविष्ट मुनि की दृष्टि, ये तीनों हीं दृष्टियाँ मानव को अग्निवत् भस्मसात् ही कर दिया करतीं हैं। तुह्मारे इसी भय की निवृत्ति के लिए मैं तुह्मारी इस गौ का प्रतिग्रहात्मक दान ग्रहण कर लेता हूँ। यथाहि—

च्यवन उवाच–**कृपणस्य च यच्चक्षु, मुने, राशीविषस्य च।**
नरं समूलं दहति कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥

अतः—

'प्रतिगृह्णामि वो धेनुम्'।

हे कैवर्त्तो ! अब तुम सर्वात्मना निष्पाप बन गए। मैं आशीः प्रदान करता हूँ कि, इस गौदान के प्रतिफल में तुम इन मत्स्यादि प्राणियों के साथ दिव्यलोक–पथानुगामी बन जाओ !

सर्वान्त में शास्त्रमर्य्यादानुगता फलश्रुति के माध्यम से इस **नहुष–च्यवन–संवादात्मिका** पावन-गाथा का माङ्गलिक उपराम करते हुए महात्मा भीष्म युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर कहते हैं कि–युधिष्ठिर ! महर्षि की कृपा से समत्स्य–निषादों को सद्गति प्राप्त हुई, जिसे देख सुन कर नहुष भी आश्चर्य्यविभोर होगए (इस गोदानमहत्त्व से)। तदनन्तर महर्षि गविजात, तथा च्यवन, दोनों नें अनुरूप वरप्रदान से धर्म्मनिष्ठ नहुष को भी सर्वात्मना आवृत कर दिया–"**वराभ्यामनुरूपाभ्यां छन्दयामासतुर्नृपम्**"। ऋषियुगल से अभिलषित वर प्राप्त कर पृथिवीपति–महावीर्य्यशाली नहुष भी सर्वात्मना कृतकृत्य होगए। प्रणतभाव से दोनों महर्षियों का प्रणतभाव से पूजन किया। उधर अपने दीक्षाव्रत को सम्पन्न कर महर्षि च्यवन तो अपने आश्रम की ओर पधार गए, महातेजस्वी महर्षि गविजात वनस्थित स्वाश्रम की ओर अन्तर्दधौ। नहुषराज वरप्राप्ति से धन्य बनते हुए सपरिकर स्वराजधानी की ओर परावर्त्तित होगए। और यों यह पावनगाथा उपरत हुई इन माङ्गलिक–चरित्रों के साथ। युधिष्ठिर ! तुमनें गाथा के आरम्भ में जो मुझ से यह प्रश्न किया था कि—

दर्शने यादृशः स्नेहः, संवासे वा युधिष्ठिर !
महाभाग्यं गवां चैव तथा धर्म्मविनिश्चयम् ॥
किं भूयः कथ्यतां वीर ! किं ते हृदि विवक्षितम् ॥

—म० अनुशासनपर्व–नहुषच्यवनसंवादात्मक–च्यवनोपाख्यान–५१ वाँ अध्याय—

१५६–राष्ट्रलक्ष्मी–लक्षणा गौमाता की ओर जनतन्त्र का ध्यानाकर्षण, एवं नचिकेता का उद्बोधनसूत्र—

यह है दीपावली–पर्वाङ्गभूत–'गोवर्द्धनमहोत्सव' से सम्बन्ध रखने वाली उस पावनगाथा का माङ्गलिक संस्मरण, जिसके अत्र समावेश से हम राष्ट्र के श्रद्धाशील–आस्थित–जनतन्त्र का ध्यान राष्ट्र के मूल प्रतिष्ठारूप उस 'गोवंश' की ओर ही अत्यन्त प्रणतभाव से, निःसीम आर्त्तहृदय से, निरतिशय दीनभाव से अनिवार्य्य-रूपेण आकर्षित कर ही देना चाहते हैं–कि, वह किसी भी सत्ताव्यामोहन में न पड़ कर स्वयं अपनी सांस्कृतिक उस सनातननिष्ठा के बल पर ही इस गोवंश के संरक्षण में अपने सांस्कृतिक–आचार के माध्यम से अविलम्ब–तत्क्षण ही सर्वात्मना संलग्न हो जाय, जिसके संरक्षण के बिना राष्ट्र की ज्ञानशक्ति, पौरुषशक्ति, अर्थशक्ति, आदि आदि सभी कुछ राष्ट्रवैभव प्रबलवेग से अन्तर्म्मुख ही बनते जारहे हैं । जनतन्त्र के प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, किसी जाति का हो, किसी मत की मान्यता रखने वाला हो, गौमाता के इस प्रकृतिसिद्ध–ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप से परिचित करा ही देना है, जिस तात्त्विक स्वरूप के बोधमात्र से मानवमात्र गौ की महद्भूतता, एवं तदनुगता अनिवार्य्य-संरक्षणीयता का स्वतः ही अनुगामी बन जाया करता है, निश्चयेन बन जाया करता है, अवश्यमेव बन ही जायगा । और ऐसे जागरूक सांस्कृतिक–बोधनिष्ठ राष्ट्रीय जनतन्त्र के सम्मुख हमारे उस शासनतन्त्र को भी अवश्यमेव अपनी यह भ्रान्ति अहिःकञ्चुकिवत् छोड़ ही देनी पड़ेगी, जिस भ्रान्ति में आविष्ट होकर उसने मानवमात्र की प्रतिष्ठा–रक्षा–भूता गौमाता के रक्षात्मक प्रश्न को 'साम्प्रदायिक' संज्ञा देकर इस 'राष्ट्रश्री' का जानबूझ कर तिरस्कार कर रक्खा है । भारतवर्ष में उत्पन्न होकर, यहाँ के गाङ्गेय–यामुनेय–सलिल का पान कर, यहाँ की वसुन्धरा के मृद्भाग से पोषण प्राप्त कर के भी जो भारतीय मानव विश्वप्रतिष्ठाभूत इस गोवंश के तात्त्विक स्वरूप से अपरिचित रहता हुआ इस की उपेक्षा करता है, कर रहा है, करेगा, उस के लिए तो सांस्कृतिक–सन्देशप्रदाता ज्ञानविज्ञाननिष्ठ–त्रिणाचिकेतविज्ञानपरपारगामी द्विजश्रेष्ठ **नचिकेता** का यही उद्बोधनसूत्र पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि–

> **गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके ।**
> **यस्तं जानन् न गवां हार्द्मेति स वै गन्ता निरयं पापचेताः ॥**

२५७–सत्तासापेक्ष आज के सांस्कृतिक–विद्वान्, उनका चाटुकारितापूर्ण व्यामोहन, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय–संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव—

विगत तीन सहस्र वर्षों से जनतन्त्र की सत्तासापेक्षतामूला भावुकतापरम्पराओं से जिन सत्तातन्त्रोंनें लाभ उठाते हुए भी प्रतिदान में इसे अधिकाधिक भावुक ही बनाया है, इसी भावुकता के कारण जनतन्त्र अपनी मूल–निष्ठाओं के पालन में असमर्थ बनता हुआ अपने सभी क्षेत्रों के लिए पदे पदे क्षणे सत्तातन्त्रों के ही आश्रय के लिए लालायित बनता चला आरहा है तथोक्ता अविधि में । अवश्य ही जनतग्त्र को इस गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रयुग में तो अपनी सत्तासापेक्षतामूला महती भ्रान्ति का अविलम्ब परित्याग कर ही देना चाहिए । अपितु तत्स्थान में–'**उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्**' इस निष्ठासूत्र को आधार बना कर स्वयं हमनें नैष्ठिक श्रद्धाबल से ही राष्ट्र की संस्कृति, तथा सांस्कृतिक आचारों, गोवंश जैसे राष्ट्रीय धन को सुरक्षित करने के प्रयत्नों में आचाररूप से संलग्न हो जाना चाहिए ।

यह सर्वात्मना संस्मरणीय, एवं अविस्मरणीय है कि, न तो सत्तातन्त्र ही जनतन्त्र की संस्कृति का संरक्षण कर सकेगा, नापि आजकल के मतवादात्मक वे सांस्कृतिक विद्वान्, उनके सांस्कृतिक लेख–भाषण–आन्दोलन–आदि आदि ही इन राष्ट्रीय विभूतियों का संरक्षण कर सकेंगे, जिन विद्वानों का मूलमन्त्र ही व्यक्तिप्रतिष्ठासंरक्षिका सत्तासापेक्षता बना हुआ है। यही कारण है कि, ऐसे लोकैषणालिप्सु सत्तासापेक्ष–विद्वान् प्रदर्शनमात्र के लिए, सर्वोपरि किसी अपनी प्रच्छन्ना महती लोकैषणा को सफल बनाने के लिए ही यदा कदा जनतन्त्र की भावुकतामात्र से लाभमात्र उठाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–विभूतियों के सम्बन्ध में भी कुछ वाचिक अनुग्रह कर देंगे (सो भी सत्तासापेक्षता का अपने बुद्धिवादकौशल से संरक्षण करते हुए ही)। अतएव कदापि ऐसे विद्वान् मुक्तहृदय से संस्कृति के वास्तविक तथ्य का संस्पर्श ही नहीं करेंगे। और ऐसे कृत्रिम प्रदर्शनों से तो संस्कृति का अहित ही होगा, होता आरहा है निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता सत्तासापेक्षता की कृपा से।

उदाहरणविधि अप्रासङ्गिक न होगी। प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या जनतन्त्र को यही जान लेना चाहिए कि, जिस महाभारत के राजतन्त्रानुगत गणतन्त्रीय कतिपय प्रासङ्गिक, किन्तु सर्वथा दैशिक वचनों के माध्यम से वर्त्तमानयुग के सत्तासापेक्ष जो सांस्कृतिक विद्वान् अपने लेखों–भाषणों–रेड़ियावार्त्ताओं–सम्मतियों से गणतन्त्रीया-प्रजातन्त्रपद्धति का शास्त्रीय समर्थन करते हुए सत्ता के अनुग्रहभाजन ? बनने के लिए छटपटाते रहते हैं, उन विद्वानों में से आजतक किसी भी सांस्कृतिक विद्वान् नें, महाभारत के प्रति अगाधश्रद्धा–भक्ति व्यक्त कर अपनी सांस्कृतिकता से भारतराष्ट्र को विकम्पित करते रहने वाले तत्त्वज्ञ ने उसी महाभारत में शत–सहस्र स्थानों में महता समारम्भेण प्रतिपादित राष्ट्र के मूलधन गौ के महत्त्व पर निष्ठापूर्वक न तो प्रकाश डालने का ही अनुग्रह किया, एवं न अपनी गणतन्त्रात्मिका भक्ति की भाँति कभी सत्तातन्त्र का ध्यान ही इस ओर आकर्षित किया। कदापि ऐसी मनोवृत्ति के पारङ्गत सत्तासापेक्ष विद्वानों से जनतन्त्र का न तो आज से पूर्व कोई भला हुआ है, न आज ही कुछ श्रेय सम्भव है। अतएव स्वयं जनतन्त्र को ही, जनतन्त्र के प्रज्ञा–शील प्रतिनिधियों को ही सब ओर से निरपेक्ष बन कर स्वयं को सर्वप्रथम आचारपथानुगामी बना लेना चाहिए, तत्सहैव श्रद्धायुत मानस से स्वयं ही स्वाध्यायनिष्ठ बन कर इस निष्ठा के बल पर ही स्वात्मक जनतन्त्र को उद्बुद्ध कर देना चाहिए। **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय**। इसी प्रासङ्गिक निवेदन के साथ गोस्वरूपयशो–गाथात्मिका यह पावनगाथा विश्राम ले रही है राष्ट्रलक्ष्मी के अनुग्रह की माङ्गलिक कामना से ही।

१५८–वेदशास्त्र, तथा तत्प्रवर्त्तक महर्षियों के प्रति वर्त्तमान रिसर्चस्कॉलरों Research Scholors के अनर्गल प्रलाप—

भारतीय संस्कृति, साहित्य, आदर्श, पुरातन–वैदिक–सभ्यता के परपारदर्शी आज के वे नीरक्षीर–विवेक्षी वेदज्ञ, तत्त्वविशोधक, रिसर्चस्कॉलर Ressarch Scholor विश्वविदित पुरातत्त्ववेत्ता महानुभावों के निबन्धाधारेण ऐसा श्रुतोपश्रुत है कर्णाकर्णिपरम्परया कि, "**वेदयुगात्मक पुरातनयुगों में आर्य्य चमड़े के वस्त्र पहिनना भी सीख गए थे, पशुपालन ही इनकी जीविका का प्रधान साधन था। परिवार बनाकर यायावरवृत्ति से ये पर्य्यटन करते रहते थे। प्रकृतिमण्डल के प्रत्यक्ष लाभप्रद सूर्य्य–इन्द्र (वर्षा)–अग्नि–आदि की स्तुति करते रहते थे। विशेषरूप से गाय बैल–इनके अत्यन्त उपयोगी पशु थे। आगे चलकर थोड़ी खेती करना भी आर्य्यलोग सीख गए थे। और यों……………………। जैसाकि इनके आदिग्रन्थ ऋग्वेद के अनेक स्थलों से……………………, इत्यादि–इत्यादि…………।**"

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१५९-गौपशुसमन्वित-गौप्राण से युक्ता-'बृहदुक्थविद्या' के द्रष्टा महर्षियों की दृष्टि से दृष्ट वेदशास्त्र के प्रति भारतीय वर्त्तमान-वेदभक्तों की भ्रान्त धारणाएँ, एवं विज्ञानशब्दाकर्षणजनिता-व्यक्तित्वविमोहनमूला-तत्प्रज्ञाओं के वाग्विजृम्भण-

जो आर्य्यमहर्षि गौपशु को रुद्रों की माता, वसुओं की कन्या, आदित्यों की भगिनी, अमृत की नाभि, अदितिमयी प्रमाणित कर रहे हैं, जो प्रत्यक्षद्रष्टा महर्षि गौ को इन्द्रप्राणात्मिका बतलाते हुए तदाधार पर 'बृहदुक्थ' जैसी सृष्टिमूलविद्याओं पर परामर्श कर रहे हैं, जिन का प्रत्येक उपयोगी भूत सृष्टि के सूक्ष्मतम आत्म-देवप्राण पर प्रतिष्ठित होकर आत्मदेवरूप बन रहा है, वे महर्षि आज के युग के इतस्तत- ढोर चराने वाले यायावर थे, इसप्रकार की खोज तत्त्वान्वेषण में निपुण वर्त्तमान युगीय स्कॉलरों को ऋग्वेद में उपलब्ध हुई, तदर्थ कृतज्ञता ही अभिव्यक्त करनी चाहिए वेदभक्ता आर्षप्रजा को तत्प्रति इसलिए कि, यह अच्छा ही हुआ कि, वेदशास्त्र के आधार पर उनकी भूतप्रज्ञा इसी दृष्टिकोण पर समाप्त होगई। यदि थोड़ा और आगे बढ़ जाते ये मनीषी, तो वेदशास्त्र के तत्त्वों की इनके द्वारा वैसी दुर्दशा और हो जाती, जैसी कि दुर्दशा वेदशास्त्र को अपौरुषेय-नित्यकूटस्थ-ईश्वरीय शास्त्र मानने मनवाने वाले आजके सनातनधर्म्मी, तथा आर्य्यसमाजी विद्वम्मन्यों के द्वारा पश्चिम के '**भूतविज्ञान**' शब्द को लेकर आज होरही है। ये वेदभक्त 'विज्ञान' शब्द से प्रभावित होकर आज शब्दानुकरणों के जोड़ तोड़ बैठाकर वेद में भी तार-टेलिफोन-फोनोग्राफ-आदि आविष्कारों के अन्वेषण में लब्लीन हो रहे हैं। इसी 'विज्ञान' शब्दाकर्षण से वैज्ञानिक महर्षियों की भाँति ये तत्त्वज्ञ आज के भूतविज्ञानवादी, आत्मदेवभावशून्य केवल विकारवादी प्रतीच्य विद्वानों को भी 'ऋषि' उपाधि ये इसलिए समन्वित कर देना चाहते हैं कि, जिससे वे अनुग्रह कर इनकी इस उदारता पर मुग्ध होकर इन्हें एक प्रमाणपत्र और देदें। "**ऋषि वैज्ञानिक थे, तो आज के वैज्ञानिक ऋषि हैं,**" इसप्रकार के प्ररोचनात्मक वाक्यों, निबन्धों से वेदशास्त्र का क्या हित कर लेंगे वे महानुभाव, जबकि 'प्राण' तत्त्वसूचक 'ऋषि' शब्द का वर्त्तमान भूतविज्ञानवाद से स्वाप्निक सम्पर्क भी तो नहीं है। परदर्शनानुगत इस व्यक्तित्व-विमोहन ने ही तो, तन्मूलक उदारतावाद ने हीं तो हमें वेदशास्त्र की प्रातिस्विक चिन्तनधारा से पृथक् कर दिया है विगत अनेक शताब्दियों से।

१६०-लौकेषणात्मिका-सत्तासापेक्षतामूला चाटुकारिता से समुत्पन्ना स्वरूपविमोहनवृत्ति के निग्रह से भारतीय संस्कृति-साहित्य के मौलिक-स्वरूप का अभिभव—

ऐसा क्यों हुआ ?, प्रश्न का उत्तर वही सत्तासापेक्षता है, जिसके दुःखपूर्ण इतिहास के स्वरूपविस्फोटन के लिए ही तो प्रस्तुत निबन्ध व्यक्त हो पड़ा है। भावुकतापूर्णा इस अनार्य्यजुष्टा उदारतारूपा भीरुता, चाटुकारिता, स्वार्थसाधनैषणा, आदि मानस-वृत्तियों के कारण ही तो हम स्वयं ही अपने इस चिरन्तन शास्त्र का युगधर्म्मप्रवाहानुसार काल्पनिक-समन्वय करने करवाने के लिए आज आतुर हो पड़े हैं। कदापि इस दास-मनोवृत्ति से हमारी संस्कृति, साहित्य, आदि का कोई हित नहीं होगा। अपितु अहित ही होगा इस परदर्शन-मूला चाटुकारिता से, जैसाकि सत्ताभक्त अतीतयुगों के व्याख्याताओं से मूलसंस्कृति का स्वरूप उत्तरोत्तर अभिभूत ही हुआ है। हम जैसे हैं ठीक हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१६१–परप्रमाणपत्रनिरपेक्षा-स्वतःप्रमाणभूता भारतीय-संस्कृति का स्वानुगत महामहिमत्व–

कदापि हमें यह वाञ्छित नहीं है कि, हमें कोई प्रमाणपत्र प्रदान करे। ज्ञानविज्ञानशब्दों की परिभाषाएँ सर्वथा स्वतन्त्र हैं वेदशास्त्र की, जिन परिभाषाओं का वर्त्तमान भूतविज्ञान से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है*। वर्त्तमान–विज्ञान के समतुलन में तो हम गोपशुओं की उपासना–आराधना करने में हीं अपनी, और अपनी संस्कृति की सफलता समझते आ रहे हैं सदा से ही। सचमुच हमारे महर्षिगण गौपशु की आराधना करने वाले पशुपालक ही थे। गौरव ही अनुभूत करेगी आर्षप्रजा अपने पुरातन–पुरुषों की तथाविधा आचार-पद्धतियों का गुणगान कर।

१६२–सम्पूर्ण अशुचिभावनिरोधक–विनाशक, एवं दिव्य–शुचिभावप्रवर्त्तक गौपशु के अवरोधक आज के सुसभ्य नगरों की सुसभ्यता से उत्पीड़ित राष्ट्र का गोवंश, एवं तदुत्पीड़न से राष्ट्रलक्ष्मी का सर्वनाश—

जिस गोमय–गोमूत्र–रूप पञ्चगव्य से भारतीय द्विजातिमानव यज्ञोपवीत जैसे महान् दिव्य संस्कार का अधिकार प्राप्त कर लेता है, उस पञ्चगव्य की प्रदात्री गौमाता ही हमारे राष्ट्र की तो सर्वस्वा ही रही हैं, रहेंगी। आज की सभ्यता, आज का भूतविज्ञान जहाँ गोपशु को 'गन्दगी' फैलाने वाला घोषित कर सुसभ्य नगरों (बम्बई आदि, और अब तो स्वतन्त्र भारत की अपनी–हमारी राजधानी, हाँ–निश्चयेन भारतीय जनतन्त्र की राजधानी नई दिल्ली) में भी गोपशु रखने पर नियन्त्रण लगाने में हीं अपने आपको गौरवान्वित प्रमाणित करता जारहा है, वहाँ गौमाता के पवित्रतम–चरणरज से समन्वित–'गोधूलि' मुहूर्त्त तो हमारी आश्रम-जीवनव्यवस्था के मूलाधार दाम्पत्यसूत्र (विवाहलग्न) की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। गोमय से उपलिप्त किए बिना गृह–लक्ष्मियाँ महानस (पाकशाला–रसोईघर) को पवित्र ही नहीं मानतीं। अशुचिभाव के निराकरण के लिए गोमूत्रप्रोक्षण–पान हीं प्रधान द्रव्य उद्घोषित हुआ है हमारी शुद्धि–व्यवस्थाओं में। किंबहुना–हमारी संस्कृति के यच्चयावत् आचार, आयोजन गौमाता के अनुध्यान के बिना सम्पन्न ही नहीं हो सकते।

१६३–विज्ञानसिद्ध तत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित भारतीय संस्कृति पर आज के सुसभ्यों के द्वारा साम्प्रदायिकता का आरोप, एवं स्वयं इन सुसभ्यों का भारतराष्ट्रविरोधी–तत्त्वों से समालिङ्गन, तथा उनका अन्धानुकरण—

क्या यह हमारी साम्प्रदायिकता है ?। प्रकृति के सुसूक्ष्म-प्राणतत्त्व के परीक्षण के द्वारा आत्म-देवविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित तत्त्ववाद का नाम ही यदि 'साम्प्रदायिकता' है, तो निश्चयेन हम साम्प्रदायिक हैं, और अवश्य ही हमारे सभी विधि-विधान भी साम्प्रदायिकता से ही आप्लुत हैं। कोई लज्जा नहीं है हमें ऐसी तत्त्व-मूला–साम्प्रदायिकता से। लज्जित उन्हें होना चाहिए, जो आज अपना सर्वस्व भूल कर दूसरों के अन्धानुकरण में भी सफलता प्राप्त नहीं कर रहे। अवनतशिरस्क उन्हें हीं बनना चाहिए, जिनका आज कोई स्वरूप ही नहीं

---

* देखिए ! भारतीय–दृष्टिकोण से–'विज्ञानशब्द' का समन्वय, नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

है । न जिन की कोई संस्कृति, न साहित्य, न आदर्श, न आचार, और नाहीं सांस्कृतिक निष्ठा । अपितु वे यदि खड़े-खड़े भक्षण-चर्वण को सभ्यता कहते हैं, तो वैसा ही तदुच्छिष्टभोगी करने लग पड़े । वे यदि गौमाता को 'गन्दगी' मान रहे हैं, तो इन्होंनें भी इन पर नियन्त्रण लगा दिया । जिस गोवंश के संरक्षण के लिए भारतीय-स्वातन्त्र्य की आशा-प्रतीक्षा लगाए बैठा था यहाँ का जनतन्त्र, उस गोवंश-संरक्षण की चर्चामात्र से हमारी सत्ता के प्रमुख सत्ताधीश आज अभिनिविष्ट हो पड़ते हैं, इस से बड़ा दुर्भाग्य भारतीय-जनतन्त्र का और क्या होगा ? ।

१६४-राष्ट्रीय गोधन के सम्बन्ध में केवल चिकित्वान् प्रज्ञाशील राष्ट्रप्रेमियों के प्रति ही महर्षि का उद्बोधनसूत्र—

'प्र नु वो चं चिकितुषे जनाय-मागामनागामदितिं वधिष्ट' के अतिरिक्त शिष्टजनसम्मत और क्या उद्बोधन हो सकता है इस दिशा में । ऋषि की उद्बोधनभाषा का अर्थ स्पष्ट है । "मैनें 'चिकिनृट्' **को, अर्थात् सुसूक्ष्म-तत्त्वों के सम्पर्क में आने वाले प्रज्ञाशील-विवेकी को यही कह देना पर्य्याप्त समझ लिया है कि, वह सर्वदेवमयी-अदिति-जीवनीयरसप्रदात्री 'अघ्न्या' गौमाता को कदापि उत्पीड़ित न करे"** । इसलिए उत्पीड़ित न करे कि, गौ, और इन्द्रप्राण अभिन्न है । इन्द्रप्राण सौरप्राण है । एवं-**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इस सिद्धान्त के अनुसार सौर इन्द्रतत्त्व ही जड़-चेतन-पदार्थों की प्राणप्रतिष्ठा-आत्मप्रतिष्ठा बना हुआ है । तदभिन्न तद्रूप गौतत्त्व से समन्वित गौपशु को उत्पीड़ित करना अपनी केन्द्रप्रतिष्ठा को ही विचलित करना है । केन्द्रप्रतिष्ठा का प्रातिनिध्य करने वाली केन्द्रीय-सत्ता अवश्य ही भारतराष्ट्र की गौसम्पत्ति के इस केन्द्रीय-स्वरूप को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करेगी, अविलम्ब करेगी, निश्चयेन करेगी । क्योंकि-**'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'** ।

१६५-वर्त्तमान स्वतन्त्र-सत्तातन्त्र के प्रमुख सत्ताधीशों के राष्ट्रीय-जागरण की मङ्गलकामना—

आत्मब्रह्मानुगत **ज्ञान**, तथा विश्वानुगत अनन्त **विज्ञान** के परपारद्रष्टा महामहर्षि यदि गौसेवा से अपने मानवीय-मनःशरीरानुबन्धी भौतिक-जीवन को धन्य-कृतकृत्य मानते थे, यदि सर्वव्यापक-सहस्रवल्शेश्वर-मूर्त्ति-अश्वत्थवृक्षात्मक सगुणेश्वर-भगवान् वासुदेवकृष्ण के लोकानुगत नन्दनन्दन स्वरूप के द्वारा गोचारण-कर्म्म इसी भारतभूमि पर घटित हुआ था, तो इसी भारत की उसी ऋषिभक्ता, सगुणावतारपरायणा निगमागम-पुराणसंस्कृतिपथानुगामिनी भारतीय-हिन्दूप्रजा के सर्वस्वदान पर सुसम्पन्न-समृद्ध बन जाने वाले वर्त्तमान स्वतन्त्र सत्तातन्त्र को भी 'गोवंश' जैसी महामहिमान्विता-विश्वोपयोगिनी लोकलक्ष्मी के संरक्षण में कदापि लज्जा का अनुभव नहीं करना चाहिए । नहीं ही करेगा हमारा सांस्कृतिक-सत्तातन्त्र, इसी मङ्गल कामना के साथ उस तथ्य की ओर अब पुनः दीपावलीपर्वानुगामी सांस्कृतिक-मानव का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिस तथ्य (गौ) का कमलासहयोगी इन्द्रतत्त्व के साथ प्रधान सम्बन्ध है ।

१६६-इन्द्रपूजनमहोत्सवानुगत मार्गपालीपूजन, और कार्त्तिकी अमावास्या—

अमोत्तरा प्रतिपत् तिथि-**'इन्द्रपूजनमहोत्सवतिथि'** है, यह पूर्व में निवेदन किया जाचुका है, जिसका अर्थ है-**'गोवंशपूजनमहोत्सवतिथि'** । इन्द्र और गौप्राण अभिन्न हैं । तभी तो-**'चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो**

अस्य पादाः' इत्यादि सौरइन्द्रवर्णनात्मक मन्त्र में–'**महोदेवो वृषभो रोरवीति**' यह कहा गया है । इन्द्र वृषभ है, इन्द्रशक्तिरूपा प्राणशक्ति गौ है । दोनों का समन्वितरूप ही गोवंश है, जिसका पूजन ही गोवंशपूजन है, और यही इन्द्रपूजन है, जिस इस आयोजन का पारिभाषिक नाम है–'**मार्गपाली–महोत्सव**' । वह प्राणशक्ति, जो उन मार्गों की रक्षा करती है, जो कि मार्ग गौपशुधन के स्वच्छन्द विचरण के लिए नियत हैं, जो कि स्वच्छन्दपथ लोकभाषा में–'**गोचरभूमि**' नाम से प्रसिद्ध हैं,–"**गोचरपथं-गोचरभूमिं-च पालयति या प्राणशक्तिरिन्द्ररूपा**" निर्वचन से–'**मार्गपाली**' नाम से प्रसिद्ध हैं। पुनः तत्सम्बन्ध में कुछ और भी जान लेना है ।

१६७–आधिदैविक–प्राणमयी गौ की नैदानिक–प्रतिमा, एवं मार्गपाली–महोत्सव—

पूर्वप्रकरण के दशमहाविद्या-परिच्छेदों में नैदानिक–प्रतिमाभावों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, प्राकृतिक सुसूक्ष्म, अतएव परोक्ष प्राणशक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनुरूप-(समानधर्म्मा) भौतिक–द्रव्यों को निदानविधि से माध्यम बना लिया गया है । गोमार्ग–गोचर–भूमियों की संरक्षिका इन्द्रप्राणशक्ति का भी उसी अनुपात से नैदानिक–स्वरूप बना लिया जाता है । एवं गौरूपा वह नैदानिकी प्रतिमा ही '**मार्गपाली**' नाम से प्रसिद्ध हुई है । वह ऐसा कौन सा अनुरूप द्रव्य है, जो इन्द्रप्राणशक्ति का प्रतीक है ?, यह प्रश्न आज के भूतविज्ञान के लिए जितना ही अधिक दुरधिगम्य है, भारतीय–सांस्कृतिक–परम्परा के लिए प्रश्न उतना ही अधिक सरलतम है ।

१६८–अच्छिद्रपवित्र–सौर–आपोरूप वेनात्मक–ज्योतिर्म्मय–गौप्राण से उत्पन्न कुश (दर्भ), एवं तन्मयी मार्गपाली–प्रतिमा—

यहाँ के आबालवृद्धवनिता सभी उस पवित्र द्रव्य से परिचित हैं, जो 'पवित्र' नाम से ही इसके सांस्कृतिक–जगत् में प्रसिद्ध है । जो कि पवित्र द्रव्य 'दर्भ'–'कुशकाश'–'ढाभ' आदि नामों से प्रसिद्ध है । 'दर्भपवित्रपाणिः' लक्षण सम्मानित उपाधित से सभी आस्तिक परिचित हैं, जिस पवित्र उपाधि से समन्वित होकर ही भगवान् पाणिनि के पावन मुखपङ्कज से व्याकरणसूत्र आविर्भूत हुए हैं * । इन्द्रप्राणात्मिका सौरसंस्था में '**सहस्रधा महिमानः सहस्रं**' रूप से प्रतिफलनरूपेण सर्वतः व्याप्त रहनें वालीं इन्द्रप्राणमयीं रश्मियों का वैसा आलोकमण्डल बन गया है, जिस रश्मिमण्डल में सहस्ररश्मियों के इस सहस्रात्मक व्यूहन से अणुमात्र भी छिद्र नहीं रहता । अतएव सौररश्मि का पारिभाषिक नाम होगया है–'**अच्छिद्रपवित्र**', जैसाकि गौपशुपालक-गौपशुसेवक उन्हीं भारतीय आर्य्य-ऋषिमानवों के–'**सवितुः प्रसवेऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः**' (यजुःसंहिता) इत्यादि वचन से स्पष्ट है । इसी अच्छिद्रपवित्ररूपा इन्द्रप्राणशक्तिमयी रश्मि से पार्थिव '**दर्भद्रव्य**' का स्वरूप–निर्म्माण हुआ है, जिस इस '**दर्भोत्पत्तिविज्ञान**' के समन्वय के लिए तो वेदस्वाध्याय की ही शरण में आना चाहिए । कदापि यन्त्रसहस्रों से भी वर्तमान भूत-

---

* **दर्भपवित्रपाणिः--शुचौ प्राङ्मुखः--महता प्रयत्नेन-आचार्य्यः-सूत्राणि-रचयामास । तत्राशक्यं-वर्णेनाप्यनर्थकेन, किं पुनरियतासूत्रेण । —वृद्धिरादैच्-सूत्रभाष्य–**

विज्ञान तो इस रहस्य का उद्घाटन नहीं कर करता * । सुनते हैं-एकबार वृत्रासुरनें सम्पूर्ण त्रैलोक्य को वश में कर उस पर प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया । इन्द्र नें अन्वेषण कर उस का संहार कर डाला । इस वृत्रवध से स्वच्छ बने हुए रश्मिमुक्त 'वेन' नामक शुद्ध–ज्योतिर्म्मय 'आपः' से ही दर्भ उत्पन्न हुए (देखिए शत० १।१।३।५) । आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र की परिधि का जो अप्तत्त्व सौररश्मिमण्डल में मुक्त होकर पवित्र–ज्योतिर्म्मय बन जाता है, दर्भद्रव्य की प्रतिष्ठा यही पवित्र–आपः बनता है ! और यों दर्भ इन्द्रप्राणशक्ति का अनुरूप नैदानिक-स्वरूप बन रहा है ।

१६६–गौप्राणमयी–रक्षादेवी, एवं तन्माध्यम से गौप्रधान पशुओं का पूजन, तथा तदनुबन्धी मार्गपाली--महोत्सव की इतिकर्त्तव्यता—

सौर–इन्द्रशक्ति से समन्वित इसी दर्भ से 'मार्गपाली' नाम की गौप्रतिमा बनाई जाती है, जिसे–**'रक्षादेवी'** भी कहा गया है । सत्ताधीश नृपति दर्भकुशकाश से विनिर्म्मिता इस 'मार्गपाली' रूपा रक्षादेवीरूपा गौ को अपने दुर्गस्तम्भ में रज्जु से बाँध देता है–(गौरूपभावनामाध्यम से) । अन्यान्य प्रजावर्ग यत्रतत्र घरों में, मार्गभित्तिओं में, चतुष्पथों में यथासुविधा दर्भ से, किंवा चित्रभित्तिरूप से मार्गपालीदेवी की प्रतिमाएँ बना लेते हैं । सत्ताधीश अपने दुर्गप्राङ्गण में हस्ति-अश्व–गौ-वृषभादि सम्पूर्ण पशुओं का शृङ्गार कर यथविधि मार्गपाली का भी पूजन करता है, गौप्रमुख इन सब पशुओं का भी पूजन करता है । एवमेव प्रजावर्ग भी अपनी अपनी गृहदेवियों–मार्गपालियों के साथ अपने अपने गौ–वृषभ–साण्डादि पशुओं का सोत्साह पूजन करता हैं । इस तिथि को किसी पशु से भारवहन का काम नहीं लिया जाता ÷ । मुख्य लक्ष्य इन्द्रप्राणशक्ति से अभिन्ना लोकलक्ष्मीरूपा गौमाता का पूजन, तन्माध्यमेन इन्द्रपूजन ही इस मार्गपाली–उत्सव का है, जो उत्सव मध्याह्नोत्तर मनाया जाता है । विविध व्यञ्जनों के समावेश से पूर्वकथनानुसार यही लोक में–**'अन्नकूट-महोत्सव'** नाम से भी प्रसिद्ध है । गोवंश के अनन्य संरक्षक भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के द्वारा विघटित–**'गोवर्द्धन'** महोत्सव भी गोवर्द्धन-द्वारा इसी इन्द्रात्मक–गौतत्त्वपूजन का समर्थन कर रहा है । अवधान–पूर्वक लक्ष्य बनाइए निम्न लिखित वचनों को, जो गौवंश की प्राणात्मिका निगमसिद्धा महिमा का वर्णन करते हुए दीपावली के अङ्गभूत–मार्गपाली–महोत्सव की ही आचार–आयोजन–पद्धति का विश्लेषण कर रहे हैं—

ततोऽपराह्णसमये पूर्वस्यां दिशि नारद ! ॥
मार्गपालीं-प्रबध्नीयाद्दुर्गस्तम्भे च पादपे ॥१॥

---

*–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य के तत्प्रकरण में इस विषय का विशद–वैज्ञानिक–विवेचन देखना चाहिए ।

÷–जबकि इसी भारतराष्ट्र से कृतशरीरी हमारे बन्धुगण मुसलमान इस दिन अवश्य ही भारवाही बैलों से बोझा उठवाना आवश्यक कर्त्तव्य मानते हैं । निश्चयेन यह सम्पूर्ण तन्त्र उस विदेशीसत्ता का ही कुफल है, जिसने इस बन्धुवर्ग को भी दिग्भ्रान्त किया है । जबकि भारतराष्ट्र के मुसलमान बादशाहों नें आदेशपूर्वक गोवध बंद कराने का आदर्श स्थापित कर अपने राष्ट्रप्रेम का परिचय प्रदान किया था ।

कुश--काशमयैर्दिव्यां संस्कारैर्बहुभिर्मुदा ॥
भूषयित्त्वा, गजानश्वानङ्कुशग्रहिसंयुतान् ॥२॥
गो--वृषान् , * महिषाँश्चैव घन्टाभरणभूषितान् ॥
भेरी--मृदङ्ग--पटह--वादित्र--ध्वनिनादितान् ॥३॥
तस्याः स्थाने नयेत् सार्धं शान्तिपाठादिनन्दितः ॥
मार्गपालि ! नमस्तुभ्यं सर्वानन्दप्रवर्त्तिके ॥४॥
तले तव सुखेनाश्वा गजा गावः प्रयान्तु मे ॥
राजानो राजपुत्राश्च ब्राह्मणाः शूद्रजातयः ॥५॥
मार्गपालीं समालिख्य वार्त्ताः स्युश्च सदैव हि ॥
ततो गावश्च सम्पूज्या गन्ध--पुष्पादिभिः क्रमात् ॥६॥
आत्मनः श्रेयसे भूप इति पूजां करोति हि ॥
"अग्रतः सन्तु मे गावो गावो मे सन्तु पृष्ठतः ॥७॥
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥
या लक्ष्मीर्लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता ॥
क्षीरं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु ॥८॥
या कामधेनुर्भवने च विष्णोर्या कामधेनुर्जमदग्निगेहे ॥
या सौरभेयी तु वसिष्ठगेहे, सा कामधेनुर्वरदा ममास्तु ॥९॥
कृत्वैतत् सर्वमानन्दाद्रात्रौ दैत्यपतेर्बलेः ।
पूजां कृत्वा पश्चात्–सम्यग्द्यूतं समाचरेत् ॥१०॥

—पद्मपुराणे–उत्तरखण्डे–कार्त्तिकमाहात्म्ये १२४ अध्याये

१७०-प्रतिपत् की रात्रि, एवं बलिपूजन महोत्सव, तथा तदन्ते च द्यूतक्रीड़ानुगति—

अमोत्तरा प्रतिपत् को अपराह्णकाल में उक्त विधि से गौपूजनात्मक–इन्द्रपूजनमहोत्सवरूप–मार्गपाली–सम्पन्न करने के अनन्तर रात्रि में दैत्यपति–बलि का पूजन विहित हुआ है–पुराण में आसुरप्राणमयी निऋर्ति के सम्मान में। तदनन्तर द्यूतकर्म्म का विधान हुआ है। तत्सम्बन्ध में भी दो शब्द प्रसङ्गधिया निवेदित हो रहे हैं।

---

* गज–अश्व–तो लक्ष्मी के सहयोगी रत्न है हीं। महिषरूप वारुणपशु को भी वरुणदेवता की तुष्टि के लिए मार्गपाली कर्म्म में परिगृहीत कर लिया है पुराणनें। क्योंकि देवप्रबोधिनीपर्य्यन्त वारुणप्राणानुशय विद्यमान है।

१७१–अक्षानुगता–सर्वथैव निन्द्या द्यूतक्रीड़ा, एवं महान् कितव प्रजापति के साथ द्यूतक्रीड़ा का आदेश—

अक्षों–(फाँसों) से सम्बन्ध रखने वाली द्यूतक्रीड़ा (जुआ) भारतीय–संस्कृति की दृष्टि से सर्वथा ही निन्द्य कर्म्म है । 'एक लगाना, और दस पाना ही' आज के द्यूत का फल माना जाता है । संघर्षात्मक–उत्तरदायित्त्व- से शून्य मानव हीं अनुकूलता की दृष्टि से इस महान् निन्द्य द्यूत (वर्त्तमानयुग के सुप्रसिद्ध-'सट्टा') पथ के भ्रष्टानुयायी बने हुए हैं । यदि द्यूत की अभिरुचि ही है, तो ऐसे कितव (जुआरी) के साथ ही जुआ खेलना चाहिए, जो कभी इस द्यूतकर्म्म में जीतना जानता ही नहीं । फलतः दाव लगाने वाला मानव जुआरी इस द्यूतकर्म्म में सदा विजयश्री ही उपलब्ध करता है। वह हारने वाला महान् कितव है–'सम्वत्सरप्रजापति'। इसके द्यूतप्राङ्गणरूप भूगर्भ में यव-गोधूमादि थोड़े से परिगणित बीजरूप 'अक्ष' (फाँसे) फैंक देने वाला मानव–कितव एक एक दाने से शत–शताधिक दाने प्राप्त कर लेता है । और यों यह मानव–कितव उस सम्वत्सरप्रजापतिरूप सविता कितव से विजयलाभ कर लेता है । भला ऐसे एकपक्षीय निश्चित–विजयानुगत द्यूतकर्म्म के अतिरिक्त अधिकांश में सम्भावित पराजयरूप अक्षपाशरूप द्यूतकर्म्म का कौन प्रज्ञाशील मानव अनुगमन करेगा ? । इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर अक्षात्मक द्यूतकर्म्म को सर्वथा निन्द्य बतलाते हुए, तत्स्थान में' कृषि' रूप अवश्यंभावी विजय से में समन्वित प्राजापत्य–द्यूतकर्म्म का विधान करते हुए ऋषि कहते हैं—

> अक्षैर्मा दीव्यः–कृषिमित्–कृषस्व–वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः ।
> तत्र गावः कितव ! तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्य्यः ॥
>
> —ऋक् सं० १०।३४।१३।

१७२–वस्तुक्रयविक्रयात्मक वाणिज्य, कृषि–गोरक्षा–लक्षण सत्तासिद्ध स्वधर्म्म से अत्यन्त विरुद्ध वर्त्तमानयुगीय भातिसिद्ध द्यूतकर्म्म (लोकप्रसिद्ध सट्टा) से भारत–राष्ट्र की सत्तासिद्धा लक्ष्मी का अभिभव—

महालक्ष्मीपूजनात्मक–मनोमय–वाक्प्रधान–दीपावलीपर्व का प्रधान सम्बन्ध मनस्तन्त्रपरायण–शरीर–वाङ्मय भोगप्रधान वैश्यवर्ग के साथ है । यही अर्थशक्ति का संग्रहकर्त्ता है । यही इस अर्थप्रलोभन से विगत ब्रिटिशशासनतन्त्र के पदचिन्हों का अन्य वर्गों की भाँति अन्धानुकरण करता हुआ निरतिशयरूपेण वित्तैषणा–गर्त्त में निमज्जित होता आरहा है । तत्सान्निध्य से ही अन्यान्य वर्ग भी आज इसी मलीमसा वित्तलिप्सा का अनुधावन करते जा रहे हैं । 'सट्टा' नामक सर्वस्वघातक द्यूतकर्म्म महान् अर्थलोलुप, अतएव महान् वणिक् ब्रिटिश सत्तातन्त्र के मस्तिष्क की ही प्रसूति है, जिसने भारतराष्ट्र के सत्तासिद्ध वस्तुक्रय–विक्रयात्मक वाणिज्य को, कृषिकर्म्म को, तथा सर्वोपरि–गोरक्षणकर्म्म को सर्वथा ही अभिभूत कर दिया है । धर्म्मशाला–चटशाला–पाटशाला-अनाथालयादि के माध्यम से अपनी धर्म्मभावना अभिव्यक्त करते रहने में अत्यन्त ही कुशल, सर्वथा धर्म्मरक्षक भी इस वैश्यवर्ग ने कृषि–गोरक्ष-वाणिज्यरूप–स्वधर्म्म का आत्यन्तिकरूप से परित्याग कर, साथ ही तत्स्थान में सर्वस्वसंहारक गुप्ततन्त्रों का अन्धानुकरण कर, सर्वोपरि भातिसिद्ध 'सट्टा' का अनुगमन कर भारतराष्ट्र की वित्तसम्पत्ति को सर्वथैव निष्प्राण प्रमाणित कर दिया है। 'यह लिया, इस भाव बेचा, वह दिया,

और उस भाव दिया' के तुमुल निनादों से वियद्गङ्गा को भी आन्दोलित करते रहने वाले ये सट्टाधीश स्वयं सत्तारूप से उसी प्रकार यह भी तो नहीं जानते कि–क्या लिया, और क्या बेचा, जैसे कि सत्ताधीश अपने बहु–व्ययसाध्य वर्त्तमान योजनापथों के सत्तात्मक आयव्यय के मापदण्ड से अधिकांश में अपरिचित ही बने रहते हैं, और तद्दुष्परिणामस्वरूप ही योजनाओं का अधिक द्रव्यांश अज्ञातरूप से ही विलीन हो रहा है। इसी भातिसिद्ध महान् अभ्व–यत्न 'सट्टा' ने राष्ट्र के यच्चयावत् उपयोगी–जीवनीय–परिग्रहों को अस्मदादि सामान्य प्रजावर्ग के लिए दुर्लभ ही प्रमाणित कर दिया है। ऐसे सर्वस्वघातक–भातिसिद्ध–द्यूतकर्म्म का कदापि भारतीय–संस्कृति जब समर्थन नहीं करती, तो फिर पुराणशास्त्र ने दीपावली–महोत्सव के सम्बन्ध में–'पश्चात् सम्यग् द्यूतं समाचरेत्' यह आदेश क्यों, और किस आधार पर दे डाला ?, इति नु महती विप्रतिपत्तिर्जिज्ञासात्मिका *।

१७३–द्यूतकर्म्म के अचेतन–जड़साधनात्मक 'द्यूत', तथा चेतनसाधनात्मक 'समाह्वय' नामक दो अवान्तर-विभेद, एवं उभयभेदात्मक द्यूतकर्म्म से भद्रप्रजा का आत्यन्तिक उत्पीड़न, और तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु के उद्बोधनसूत्र—

मानवधर्म्मरहस्योपदेष्टा, आचारधर्म्मव्यवस्थापक राजर्षि मनुनें 'द्यूतकर्म्म' के सम्बन्ध में शासनतन्त्र के लिए जो विधान निश्चित किया है, वह भी द्यूतकर्म्म की हेयता का ही समर्थक बना हुआ है। द्यूतकर्म्म 'द्यूत', एवं 'समाह्वय' भेद से दो भागों में विभक्त माना है राजर्षिनें। अचेतन–जड़–पदार्थों के माध्यम से सम्बन्ध रखने वाला वाक्छल (वायदा) 'द्यूत' कह कहलाया है, एवं चेतनप्राणियों के माध्यम से सम्बद्ध वाक्छल 'समाह्वय' कहलाया है। अक्ष–अन्न–वस्त्र–रूई–तिल–अरण्डा–सींगदाणा–सुवर्ण–रजत–ताम्रादि के भातिसिद्ध नामों पर होने वाला वाक्छलात्मक द्यूत 'द्यूत' कहलाया है, जिसकी वर्त्तमाना लोकप्रसिद्धा अभिधा है–'खेला'। गज–अश्व–मेष–कुक्कुट–आदि चेतनप्राणियों को दाव पर लगा के किया जाने वाला, आवेश–पूर्वक आह्वान कर करके इन प्राणियों के माध्यम से किया जाने वाला द्यूत ही 'समाह्वय' कहलाया हैं ÷। मनु कहते हैं–शासक का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र के सर्वविनाशक द्यूत, तथा समाह्वय नामक दोनों देवनकर्म्मों का स्वराष्ट्र से वह सर्वथा ही बहिष्कार करदे। क्योंकि ये द्यूतकर्म्मानुगामी नराधम राष्ट्र के वैसे चौर हैं, जो अपने बाह्य–सभ्यतापूर्ण वेश से प्रच्छन्नरूप से राष्ट्रशक्तियों का अपहरण ही करते रहते हैं। इस विकर्म्मात्मक असत्–कर्म्म से राष्ट्र की धर्म्मशीला शिष्टा–भद्रा--प्रजा नित्य ही उत्पीड़ित होती रहती है। अतएव अविलम्ब ऐसे **कितवों** (जुआरियां) को, निरर्थक नृत्य–गान--छल से व्यामोहन उत्पन्न करने वाले **कुशीलवों** को, निगमागम–विरोधी पाखण्डियों को, श्रुति-स्मृति--छल से, धर्म्मव्याज से बाह्य प्रतीकरूप बाह्य व्रतपरायण विकर्म्मोस्थों को, एवं मद्यनिर्म्माता **शौण्डिकों** को राष्ट्र के बाहिर ही निकाल देना चाहिए। ऐसे **प्रच्छन्न तस्कर** ही राष्ट्र की मानवधर्म्मानुबन्धिनी ज्ञान–पौरुष–अर्थ–शक्तियों के अभिभव के कारण बन जाया करते हैं। देखिए !

---

* किन्ते द्यूतेन राजेन्द्र ! बहुदोषेण मानद !।
देवने बहवो दोषास्तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥ ––महाभारत

÷ अप्राणिभिर्यत्क्रियते, तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ ––मनुः ६।२२३

द्यूतं-समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ॥
राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥१॥
प्रकाशमेतत्-तास्कर्य्यं *-यद्देवन-समाह्वयौ ॥
÷ तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत् ॥२॥
द्यूतं-समाह्वयं चैव यः कुर्य्यात्, कारयेत वा ॥
तान्सर्वान् घातयेद्राजा तस्मात्-शूद्रांँश्च × द्विजलिङ्गिनः ॥३॥
तस्मात्-कितवान्-कुशीलवान्-क्रूरान्-पाखण्डस्थांश्च मानवान् ॥
विकर्म्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात् ॥४॥
यतो हि-एते राष्ट्रे वर्त्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ॥
विकर्म्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥५॥
द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरिकरं महत् ॥
तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥६॥

—मनुः ९ सं० ।२२१ से २२७ पर्य्यन्त ।

वस्तुगत्या सभी प्रकार के द्यूतकर्म्म सर्वथैव यद्यपि निन्द्य, अतएव त्याज्य ही हैं भारतीय-सांस्कृतिक-क्षेत्र में । तथापि एकमात्र-'**शकुनपरीक्षण**' के माध्यम से दीपाली-कर्म्मप्रसङ्ग में इसका भी ग्रहण कर लिया है पुराणशास्त्र ने । सम्वत्सरनिबन्धन शुभ-अशुभ-शकुन का क्या स्वरूप है ?, प्रश्न का समाधान '**रक्षाबन्धनपर्व**' प्रकरण के 'शकुनपूजन' नामक अवान्तर परिच्छेदों में विस्तार से किया जाचुका है । अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है । इसी शकुनपरीक्षण के लिए अपनी धर्म्मपत्नी के साथ, अथवा तो अधिक से अधिक अपने सपिण्ड-बन्धुवर्ग के साथ दीपावलीपर्वावसर पर विनोदरूपेण द्यूतकर्म्म विहित हुआ है । प्रसिद्ध है कि, दीपावलीपर्व के उपलक्ष में भगवान् शङ्कर ने माता पार्वती के साथ द्यूतक्रीड़ा की, जिसमें आदिदेव शङ्कर पराजित हुए, एवं आदिमाया भगवती ने विजयश्री का संवरण किया । फलस्वरूप शङ्कर भगवान् लोकलक्ष्मीरूपा भूतसम्पत्ति के आसङ्ग से वञ्चित होते हुए दिग्म्बररूप में परिणत होगए, एवं आदिमाया महामाया जगदम्बा सर्वैश्वर्य्यमयीं बन गईं, जैसाकि निम्न लिखित पुराणसन्दर्भ से स्पष्ट है—

---

* दिन में धाड़ा-प्रकाशतस्कर्य्य-प्रत्यक्ष में देखते देखते डाका डालने वाले ।

÷ अपने द्यूतकर्म्म की सफलता के लिए ये प्रकटतस्कर बड़े बड़े छलपूर्ण-कौशलों का आविष्कार करते रहते हैं, और यों सत्तातन्त्र को भी अपने कौशल से ये व्यामोहन में डालते रहते हैं । अतएव शासक को प्रतिदिन-सदा ही जागरूक ही रहना चाहिए इनके सर्वनाश के लिए, 'तयोर्नित्यं प्रतिघाते०' इत्यादि की यही अर्थव्यञ्जना है ।

× कण्ठी-माला-तिलक-यज्ञोपवीत-रामानामीदुपट्टा-प्रतिदिन मन्दिरदर्शन-हरिकीर्त्तन-आदि आदि ब्राह्मणोचित-बाह्य लिङ्गों से समन्वित ऐसे बकवृत्तिपरायण द्यूतकर्म्मकुशलों को सहसा पहिचान लेना भी कठिन है । शासक यत्नपूर्वक ही इनका दमन कर सकता है । 'द्विजलिङ्गिनः' की यही व्यञ्जना है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

शङ्करश्च पुरा द्यूतं ससर्ज्ज सुमनोहरम् ॥
कार्त्तिके शुक्लपक्षे तु प्रथमेऽहनि भूपते ! ॥१॥
जितश्च शङ्करस्तत्र जयं लेभे च पार्वती ॥
अतोऽर्थाच्छङ्करो दुःखी, गौरी नित्यं सुखोषिता ॥२॥
तस्माद् द्यूतं प्रकर्त्तव्यं प्रभाते तत्र मानवैः ॥
तस्मिन् द्यूते जयो यस्य, तस्य सम्वत्सरो शुभः ॥*।
पराजयो विरुद्धश्च लब्धनाशकरो भवेत् ॥३॥ —ब्रह्मपुराणे

१७४–प्रतिपदुत्तरा द्वितीया तिथि, और यमराजपूजनमहोत्सव—

यों अमोत्तरा–प्रतिपत् को गोपूजनात्मक **इन्द्रपूजनमहोत्सव**, तद्रात्रि में **बलिपूजनमहोत्सव**, मध्यरात्रि में शकुनपरीक्षणात्मक ÷ **द्यूतविनोदानुगमन**, इत्यादि सापेक्ष अङ्गकर्म्म सम्पन्न होते हैं। तदनन्तर कार्त्तिक शुक्ल–द्वितीया हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। इस तिथि को-**'यमराजपूजनमहोत्सव'** मनाया जाता है, जो कि माता निऋ्ऱति के सहयोगी माने गए हैं। अतएव यह तिथि–**'यमद्वितीया'** नाम से ही प्रसिद्ध हो गई है। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध 'यमयमीसूक्त' में यमतत्त्व की सुविशद वैज्ञानिक–व्याख्या की है महर्षि ने, जिसके समन्वय के लिए तो वेदस्वाध्याय ही शरणीकरणीय है।

१७५–धर्म्म, और यम–स्वरूप–परिचय, यमदंष्ट्रानुगत कार्त्तिक मास, एवं यमद्वितीया-पर्व—

द्वादश–आदित्य–प्राणों की समष्टिरूप सूर्य्य के अवसानशक्तिप्रधान, अतएव **'अन्तक'** नाम से प्रसिद्ध आदित्यप्राणविशेष का ही नाम हीं–'यम' हैं, जिनका शनैश्चरकक्षा में **धर्म्म**, और **यम**–रूप से महिमात्मक व्यक्तीभाव माना गया है। सौरज्योतिरनुगत वही तत्त्व **धर्म्मराज** है, जिसे **'पितृस्वर्ग'** का अधिष्ठाता माना गया है। एवं शनैश्चरानुगत–सूर्य्यविरुद्ध–दिक्स्थ, अतएव तमःप्रधान वही आदित्यप्राण **'यमराज'** है, जिसे चतुरशीतिविध **'नरक'** का अधिष्ठाता माना गया है। धर्म्मराज इन्द्रसहचारी हैं, एवं यमराज वरुणसहचारी हैं। सुप्रसिद्ध महिषपशु वारुणपशु माना गया है, जैसाकि इस (भैंस, और भैंसा) पशु की काल्यालीकृत (कादाकीचयुक्त) जलीय वारुणप्रदेश की प्रियता से स्पष्ट है। अतएव निदानरूपेण महिष को यमराज का वाहन मान लिया गया है। वारुणहेतिरूप 'पाश' (वरुणपाश) ही इस यम का भी शस्त्र मान लिया गया है, जिस यमपाश में आवद्ध कर यमराज अकर्म्म-विकर्म्मानुगत कुकर्म्मियों को यामीयातनाओं का

---

* इसी शुभाशुभशकुनपरीक्षण के लिए दाम्पत्योत्सव (विवाहमहोत्सव) पर वर-कन्यायुगल में लोकाचार में पारिवारिक गृहदेवियों के सान्निध्य में–साक्षी में द्यूतकर्म्म–प्रचलित हुआ है।

÷ लोकाचारपद्धति के अनुसार दीपावली की रात्रि में भी द्यूतकर्म्म समाविष्ट हो गया है।

सफल भोक्ता बनाते रहते है * । इसी सौर–यमप्राण के प्राधान्य से यमदंष्ट्रानुगत कार्त्तिकमास की यह द्वितीया- **'यमद्वितीया'** रूप से यममहोत्सव के लिए नियत होगई है आचारपद्धति में ।

'एष वै यमो य एषस्तपति' (शत० १४।१।३।४)–**"अग्निर्वाव यमः'** (गो० ब्रा० उ० ४.८)– **"अग्निर्वै यमः, इयं पृथिवी यमी । आभ्यां हीदं सर्वं यतम्'** (शत० ७।२।१।१०)–**'यमो ह वाऽस्याः पृथिव्या अवसानस्येष्टे'** (शत० ७।१।१।३।)–**'किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति, यमदेवत- इति'** (शत० १४।६।६।२२) इत्यादिरूपेण निगमशास्त्र में जिस यम–यमी–तत्त्व का विस्तार से निरूपण हुआ है, पुराणशास्त्र ने 'यमद्वितीयापर्वोत्सव' के माध्यम से उसी युग्म का बोधगम्या भाषा में उपबृंहण किया है, जिसका तात्त्विक–परिभाषात्मक समन्वय कर लेना निगमशास्त्रापेक्षया भी कठिन है पौराणिक–परिभाषाओं की विलुप्ति के कारण ।

१७६–अम्भः–मरीचिः–श्रद्धा–मरः–नाम की अप्तत्त्वचतुष्टयी, एवं मरीच्यनुगता यमुना, यम–यमी, और तदनुगत 'भ्रातृद्वितीया (भाईदोज) पर्व—

पारमेष्ठ्य–पवित्र आपः 'अम्भः' कहलाए हैं, सौररश्मिभुक्त अग्निप्रकृतिक आपः **'मरीचि'** नाम से प्रसिद्ध हैं, चान्द्रस्नेहगुणक आपः 'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं पार्थिव–क्षारभागयुक्त–मूर्च्छित–पेय आपः (पानी) **'मरः'** नाम से प्रसिद्ध हैं। (देखिए–ऐतरेयोपनिषत्) । सोमप्रधान, अतएव शीतप्रकृतिक पारमेष्ठ्य–'अम्भः' ही गाङ्गेय (गङ्गाजल) की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । अग्निप्रधान, अतएव उष्ण–प्रकृतिक सौर 'मरीचितत्त्व' ही यामुनेय [यमुनाजल] की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । स्नेहगुणक, अतएव संगमन–प्रकृतिक चान्द्र 'श्रद्धातत्त्व' ही ओषधि की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । एवं कूप-नद-नदी-समुद्रादि का सुप्रसिद्ध जल ही 'मरः' है । सौर–याम्य–मरीचिरूप–सूक्ष्म प्राणात्मक 'आपः' ही यमुनाजल का प्रवर्त्तक है । अतएव पुराणने यमुना को सूर्य्यपुत्री मान लिया है, जबकि तदनुगत–तद्गर्भीभूत आग्नेय प्राण का यमत्त्व भी प्रकृत्या ही प्रमाणित हो रहा है । और यों यमुनानदी 'यम–यमी' दोनों पुत्र–कन्याओं [भाई–बहिनों] के सम्बन्ध से समन्विता है । एवं इसी तथ्य के आधार पर यह यमद्वितीया–**'भ्रातृद्वितीया'** [**भइय्यादोज, भाईदोज**] आदि नामों से भी प्रसिद्ध होगई है । यमुनातट पर भगिनी के द्वारा भाई का भोजन करना अत्यन्त ही ही माङ्गलिक माना है पुराणशास्त्र ने, जिस माङ्गलिकता से यमुनातटवासिनी आर्षप्रजा आज भी समन्वित होती रहती है भ्रातृद्वितीया–तिथिपर्वावसर पर । निबन्ध का विस्तारभय अवरुद्ध करता जारहा है हमारे मनो–भावों को । अतः इन सब तत्त्वों का उत्तरदायित्व आर्षप्रजा की स्वाध्यायनिष्ठा पर छोड़ते हुए प्रकृत में भ्रातृद्वितीयात्मिका–यमद्वितीया से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय सांस्कृतिक वचन ही उद्धृत कर दिए जाते हैं ।

कार्त्तिके द्वितीयायां तु शुक्लायां भ्रातृपूजनम् ॥
या न कुर्य्याद्विनश्यन्ति भ्रातरः सप्तजन्मनि ॥१॥
कार्त्तिके शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां युधिष्ठिर ! ।—लिङ्गपुराणे
यमो यमुनया पूर्वं भोजितः स्वगृहे स्वयम् ॥२॥

---

* देखिए–खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–**'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्'** नामक चतुर्थखण्ड ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तस्मान्निजगृहे पार्थ ! न भोक्तव्यमतो बुधैः ॥
यत्नेन भगिनीहस्ताद् भोक्तव्यं पुष्टिवर्द्धनम् ॥३॥
दानानि च प्रदेयानि भगिनीभ्यो विशेषतः ॥—महाभारते
यमश्च, चित्रगुप्तञ्च *, यमदूतांश्च पूजयेत् ॥
अर्घ्यञ्चात्र प्रदातव्यं, यमाय, सहजद्वयैः ॥४॥
"एह्येहि मार्त्तण्डज ! पाशहस्त ! यमान्तकालोकधरामरेश !
भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां गृहाण चार्घ्यं भगवन्नमस्ते ॥५॥
धर्म्मराज ! नमस्तुभ्यं नमस्ते यमुनाग्रज !
पाहि मां किङ्करैः सार्द्धं सूर्य्यपुत्र ! नमोऽस्तुते ॥६॥"
यमुनाञ्च सम्पूज्य नमस्कुर्य्यात्—
"यमस्वसर्नमस्तेऽस्तु यमुने ! लोकपूजिते !
वरदा भव मे नित्यं सूर्य्यपुत्रि ! नमोऽस्तु ते ॥७॥
अन्नं दत्त्वा पठेत्—
"भ्रातस्तवानुजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिदं शुभम् ॥
प्रीतये यमराजस्य यमुनाया विशेषतः ॥८॥"
स्वसुर्नरो वेश्मनि यो न भुङ्क्ते यमद्वितीया-दिनमेव लब्ध्वा ॥
तं पापिनं सर्वसुराः प्रबुध्य संसारमार्गे रटयन्ति विप्र ! ॥९॥
पद्मपुराणे–उत्तरखण्डे–१९५ अध्याये

१७७–निर्ऋति–यम–वरुण–इन्द्र–गौ–दानवेन्द्रबलि–चित्रगुप्त-यमी-यमदूत–आदि आदि प्राणों की परितुष्टि से सम्बद्ध–सापेक्ष–अङ्गकर्म्मों के इतिवृत्त का उपराम, एवं दीपावलीपर्व—

तदित्थं–अमावास्या–तिथि से सम्बद्ध 'दीपालीपर्व' से अनुप्राणित, तत्सापेक्ष, अतएव तदङ्गभूत निर्ऋति, यम, वरुण, इन्द्र, गौ, बलि, चित्रगुप्त, यमी, यमदूत, आदि आदि प्राणोंकी परितुष्टि से सम्बद्ध कर्म्मविशेषों की इतिकर्त्तव्यता यमदीपदान, नूतनपात्रक्रय, तैलाभ्यञ्जन, वारुणस्नान, कृष्णवस्त्रपरिधान, अन्नकूट, इन्द्रपूजन, गौपूजन, मार्गपालीपूजन, बलिपूजन, यम–यमुना–यमीपूजन, चित्रगुप्तपूजन, यमदूतपूजन, इन आचारों के माध्यम से क्रमशः यथाविधि त्रयोदशी–चतुर्दशी–प्रतिपत्–द्वितीया–इन चार

---

* चित्रगुप्तानुबन्ध से ही यह द्वितीया–'मसीपात्रलेखिनीपूजनद्वितीया' [दवात–कलमपूजन] नाम से प्रसिद्ध है, जो चित्रगुप्त यमसदन के कर्म्मलेखक माने गए हैं ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

तिथियों के द्वारा सम्पन्न हो जाती हैं । अत्र शेष रह जाती है–मध्यस्था–अमावास्या तिथि, जिसमें प्रधानकर्म्मरूप लक्ष्मीपूजन विहित है । तत्सम्बन्ध में हीं किञ्चिदिव निवेदन कर प्रक्रान्त पर्वप्रकरण उपरत किया जारहा है ।

१७८–अलमतिपल्लवितेन पापकथाप्रसङ्गेन—

अमावास्या–तिथि मुख्यरूप से महालक्ष्मी **कमला**, तथा महाधनेश्वर **कुबेर**, इन दो प्रमुख देवताओं के पूजन से ही अनुप्राणिता मानी गई है । इन्द्रपूजन–यमपूजन–मार्गपालीपूजन–बलिपूजन–यमुनापूजन–गौपूजन–आदि आदि इतर अङ्गकर्म्मों की भाँति आज कुबेरपूजन भी विलुप्त हो गया है । आज तो शेष रह गया है इन सब श्री–ऐश्वर्य्य–प्रवर्त्तक–सहयोगी-प्राणदेवताओं से पृथक् हो जाने वाले जड़–भूतों का पूजन, जिसका नाममात्र 'लक्ष्मीपूजन' है । जोकि श्रीविहीन आज का जड़–भूत–पूजनात्मक–लक्ष्मीपूजन अलक्ष्मीपूजन ही बनता आ रहा है विगत तीन सहस्र–वर्षों से, इत्यलमतिपल्लवितेन–पापकथाप्रसङ्गेन ।

१७९–अमावास्या--तिथि से सम्बद्धा दीपाली-दीपावली, और दीवाली—

शब्दवास्तव में है–'दीपाली', जिसका निर्वचनार्थ है—'दीपों की–आली–श्रेणि--पङ्क्ति' । जिस पर्व में प्रधानरूप से दीपपङ्क्तियाँ प्रज्वलित रहतीं हैं, वही पर्व–'दीपाली' कहलाया है, जो शब्दापभ्रंशरूपा यदृच्छात्मिका शब्दपरम्परा से 'दीपावली--दीवाली' आदि विविध अभिधाओं में परिणत होगया है ।

१८०–दीपावली--पर्वानुगता दीपज्योतिः, एवं अग्निक्रीड़ा (आतिशबाजी) के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

लक्ष्मीपूजन–महोत्सवरूप–पर्व, और दीपपंक्ति, दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है । इसी प्रश्न के साथ दूसरा प्रश्न उस **'अग्निक्रीड़ा'** से सम्बद्ध है, जिसका लोकरूप आज-**'फूलझड़ीपटाका छुड़ाना'** आदि माना, और मनवाया जारहा है, जिसके लिए अतीत यवनयुग से--**'आतिशबाजी'** नाम भी प्रक्रान्त हो पड़ा है । दीपपंक्ति, तथा अग्निक्रीड़ा, दोनों हीं कर्म्म महालक्ष्मीपूजनतिथि के एकप्रकार से प्रधान अङ्ग बने हुए हैं लोकाचार में । क्या इन लोकाचारकर्म्मों में भी कुछ तथ्य है ?, प्रश्न के समाधान के लिए भी स्वतन्त्र--निबन्ध ही अपेक्षित माना जायगा, जिसका केवल--**'वैदिकज्योतिर्विज्ञान'** से ही सम्बन्ध माना गया है । प्रकृत में प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए दो शब्दों में ज्योतिर्भाव का स्वरूप व्यक्त कर दिया जाता है ।

१८१–विदेह जनक के युग से अनुप्राणित एक--'ब्रह्मोद्य' प्रसङ्ग—

सुप्रसिद्ध निगमनिष्ठ राजर्षि विदेह–जनक वर्ष में कई बार ज्ञान--विज्ञाननिष्ठ भारतीय ब्रह्मवेत्ताओं का सन्निध्य प्राप्त करते रहते थे । तत्र समवेत उस युग के ज्ञानविज्ञाननिष्ठ महामहर्षियों के सम्मुख राजर्षि--जनक प्रणतभाव से प्रभूत सुवर्णदक्षिणा के माध्यम से अपनी तत्त्वमूला जिज्ञासाएँ अभिव्यक्त कर उनका विज्ञानसम्मत समाधान कर राष्ट्र की धर्म्मनिष्ठा के संरक्षण में समर्थ प्रमाणित होते रहते थे । यही तत्त्वचर्चा **'ब्रह्मोद्य'** नाम से प्रसिद्ध थी तद्युगों में । एकबार ऐसी ही सभिति में राजर्षि जनक अत्यन्त प्रणतभाव से अपने कुलपुरोहित, उस युग के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक, अपने मेधावी शिष्य **सोमश्रवा** के द्वारा सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण के द्रष्टा भगवान् याज्ञवल्क्य से यह जिज्ञासा व्यक्त करने लगे कि—

याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिरयं पुरुषः ?

१८२-प्रजापति के तप से उत्पन्न सात अन्न, एवं पाँचवें ज्योतिरन्न के अवान्तर पाँच विवर्त्त—

हे याज्ञवल्क्य ! पुरुष (मानव) किंज्योति है ? । अर्थात् किस ज्योति का आश्रय लेकर मानव जीवित रहता है ? । प्रश्न की सापेक्षतापूर्त्ति उस वैदिक **'सप्तान्नविज्ञान'** पर अविलम्बित है, जिसका-**'यत्सप्तान्नानि तपसाऽजनयत् पिता'** इत्यादिरूप से विस्तार से उपबृंहण हुआ है। उपनिषदों में जिन सातों मानवीय अन्नों के–**ज्ञान, कर्म्म, शब्द, श्वासप्रश्वास, ज्योति, सलिल, मृत्**, रूप इन नामों का संस्मरण ही पर्य्याप्त होगा। मानव जिस मनःप्राणवाङ्मय–प्रजापति की प्रसूति है, उस मानव में इन तीन हीं पर्वों का तो समन्वय प्रकृतिसम्मत माना जायगा। मन ज्ञानशक्ति का उक्थ है, प्राण क्रियाशक्ति का उक्थ है, एवं वाक्तत्त्व अर्थशक्ति का उक्थ है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जाचुका है। **पृथिवी–जल-तेज–वायु–आकाश**, पाँचों सुप्रसिद्ध भूत वाङ्मय हैं, जिन्हें तैत्तिरीय ने **'अन्नमयकोष'** रूप से संग्राह्य मान लिया है। इन पाँचों वाग्भावों का मूलाधार कर्म्मशक्तिरूप प्राण, तथा ज्ञानशक्तिरूप मन है। मन और प्राण की समष्टि **आत्मा** है, शेष वाङ्मय पाँचों भूतों की समष्टि पाञ्चभौतिक **शरीर** है। आत्मा और शरीर की समष्टि ही–'मानव' का स्वरूप–परिचय है, जिसके **$\overset{१}{\text{मन}}$--$\overset{२}{\text{प्राण}}$--$\overset{३}{\text{आकाश}}$--$\overset{४}{\text{वायु}}$--$\overset{५}{\text{तेज}}$--$\overset{६}{\text{जल}}$--$\overset{७}{\text{मृत्}}$**–रूप आत्म–शरीरानुबन्धी सातों मानवीय पर्वों की स्वरूपस्थिति के लिए ही प्रजापतिनें अत्यन्त तपोयोग से **$\overset{१}{\text{ज्ञान}}$–$\overset{२}{\text{कर्म्म}}$--$\overset{३}{\text{शब्द}}$--$\overset{४}{\text{श्वासप्रश्वास}}$--$\overset{५}{\text{प्रकाश}}$--$\overset{६}{\text{जल}}$–$\overset{७}{\text{मृत्}}$**--(यवगोधूमादि) ये सात अन्न उत्पन्न किए हैं। इन सातों में से तेजोरूप–प्रकाशान्न के सम्बन्ध में हीं जनक प्रश्न कर रहे हैं कि, **भूतज्योतिर्लक्षण** इस तेज का क्या स्वरूप है ? ।

१८३-पञ्चविध भूतज्योतिर्विवर्त्त, एवं ज्योतिषां ज्योतिः—

ज्योतिस्तत्त्व ज्योतिषां ज्योतिः, ज्योतिः, रूप से दो भागों में विभक्त माना गया है। लोकभाषा में 'ज्ञानज्योति' नाम से प्रसिद्ध **'आत्मज्योति'** ही इसलिए **'ज्योतिषां ज्योतिः'** है कि, जबतक मानवसंस्था में यह आत्मज्योति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त रहती है, तभीतक ही मानव की जीवनसत्ता सुरक्षित रखती है। विश्वज्योतिर्लक्षणा जीवनसत्ता क्योंकि आत्मज्योतिःसत्ता पर ही अवलम्बित है। अतएव विश्वज्योतिरूप-'ज्योति' भाव की अपेक्षा आत्मज्योति को अवश्यं ही **ज्योतिषां (भूतज्योतिषां) ज्योतिः** कहना अन्वर्थ बन जाता है। **सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-विद्युत्-अग्नि-भेद** से भूतज्योतिर्लक्षण-विश्वज्योति के पाँच प्रधान विवर्त्त हैं, जो कि–पाँचों हीं भूतज्योतियाँ आत्मज्योतिर्लक्षण–ज्योतिषां ज्योति–रूप–ईश्वरीय–ज्योति (अव्ययज्योति) से ही प्रकाशित हैं, जैसाकि श्रुति कहती है—

> **न तत्र सूर्य्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः।**
> **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥**
>
> —मुण्डकोपनिषत् २।१।१०।

१८४-आधिदैविक–आध्यात्मिक–अधिभौतिकरूप--तीन ज्योतिर्विवर्त्त—

उक्त पाँचों भूतज्योतियों में से 'नक्षत्र (तारक) ज्योति' का चन्द्रज्योति में अन्तर्भाव है, एवं–'विद्युद्वा इन्द्रः' के अनुसार विद्युज्ज्योति का इन्द्रप्राणमयी–सूर्य्यज्योति में अन्तर्भाव है। फलतः पाँच के

सूर्य्य--चन्द्र--अग्नि, रूप से तीन हीं भूतज्योतिर्विवर्त्त शेष रह जाते हैं । सौरज्योति ही **'स्वज्योति'** है, चान्द्रज्योति ही **'परज्योति'** है, एवं पार्थिव–आग्नेयज्योति ही **'रूपज्योति'** है । और इन तीनों लोकों की तीनों ज्योतियों की समष्टि का नाम ही **'भूतज्योति'** है, यही है–**'आधिभौतिकज्योति'** । आत्मब्रह्मरूपा सर्जव्याप्ता ज्योति ही–**'आधिदैविकज्योति'** है, एवं प्राणिशरीरानुगता ध्वनिवाग्रूपा, एवं मानवशरीरानुगता (वागिन्द्रियानुगता) वर्णस्वरफोटलक्षणा वाग्ज्योति ही **'आध्यात्मिकज्योति'** है । यों भूत–दैवत–अध्यात्म-रूपेण सम्पूर्ण ज्योतिविवर्त्तों के तीन प्रधान विवर्त्त हो जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१–सर्वव्यापकं—आत्मब्रह्मलक्षणं—ज्ञानज्योतिः]—आधिदैविकज्योतिः १
२–प्राणिशरीरानुगतं – वाग्ब्रह्मलक्षणं कर्म्मज्योतिः]–आध्यात्मिकज्योतिः २
३–सूर्य्यज्योतिर्लक्षणं—स्वज्योतिः
४–चन्द्रज्योतिर्लक्षणं—परज्योतिः }—आधिभौतिकज्योतिः ३
५–अग्निज्योतिर्लक्षणं—रूपज्योतिः

त्रीणि ज्योतींषि सचन्ते
स षोडशी

१८५-भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा ज्योतिर्विवर्त्त का स्वरूपदिग्दर्शन—

हाँ, तो जनक के प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने क्या उत्तर दिया?, प्रश्न का प्रथम समाधान–वाक्य है– **"आदित्यज्योतिः सम्राट्--इति होवाच"** । हे सम्राट् ! सूर्य्यज्योति को आधार बना कर ही मानव जीवित रहता है । **'अस्तमिते--आदित्ये--याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिरयं पुरुषः'** (सूर्य्यास्त हो जाने पर रात्रि में किस ज्योति के आधार पर मानव जीवित रहता है ?) प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया–**'चन्द्रज्योतिः सम्राट्'** इति । पुनः वही प्रश्न कि, जब (कृष्णपक्ष में) चन्द्रमा भी न रहे, तो कौनसी ज्योति अवलम्ब बनती है ? । उत्तर दिया गया–**'अग्निज्योतिः सम्राट्'** इति । अग्नि के सहयोगी कारणों की अनुपलब्धि पर जब अग्निज्योति भी उपशान्त हो जाय, तो उस दशा में किस ज्योति को लेकर मानव जीवित रहता है ?, प्रश्न का उत्तर हुआ **'वाग्ज्योतिः सम्राट्'**--इति । जब सूर्य्य–चन्द्र अस्त हो जाय, अग्नि उपशान्त (बुझ) हो जाय, वाङ्मय–शब्दज्योति भी उपशान्त–अनुपलब्ध हो जाय, तो उस दशा में किस ज्योति को आश्रय बना कर मानव जीवन धारण करता है ?, इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—**'आत्मज्योतिः सम्राट्'** इति, जिस इस उत्तर का अर्थ है--संस्कारज्योतिर्म्मय–प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञानात्मा से समन्वित संस्कारी वह भूतात्मा (देही जीवात्मा), जो सर्वव्यापक–**'ज्योतिषांज्योति'** लक्षण आत्मब्रह्मरूप चिदात्मा का ही चिदंश है । (देखिए शत० ७।७।१ ब्राह्मण १ कण्डिका से ९ कण्डिका पर्य्यन्त) ।

१८६--लौकिक उदाहरण के माध्यम से पञ्चज्योतिर्विवर्त्त का समन्वय—

लौकिक–उदाहरण के माध्यम से समन्वय कीजिए उक्त पाँचों ज्योतिर्विवर्त्तों का । एक व्यक्ति सौरज्योतिर्म्मय अहःकाल (दिन) में निर्भयरूप से शून्य–आरण्य–प्रदेशों में भ्रमण कर लेता है । सूर्य्य के अस्त हो जाने पर भी चन्द्रज्योत्स्ना [चाँदनी] इस परिभ्रमणशील मानव में साहस प्रदान कर देती है । तदभाव में इसे दीपज्योति–उल्मुकज्योति, और आज की सभ्यता में 'टार्चलाइट्' आदि आग्नेय प्रकाशों की

अपेक्षा हो पड़ती है अपने एकान्त भ्रमण–व्यासङ्ग में । यदि इस तीसरी अग्निज्योति का भी अभाव हो जाता है, तो इसे समानसहयोगी की वाग्ज्योति (शब्दज्योति) बलप्रदान करती रहती है इस एकान्त परिभ्रमण में । इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, आप कृष्णपक्ष की घोरघोरतमा त्रयोदशी–चतुर्दशी–अमावास्यादि रात्रियों में निर्ज्जन-आरण्य-प्रदेशों में घूमने निकल पड़ते हैं । सूर्य्य-चन्द्र–अग्नि- तीनों ज्योतिरन्नों के न मिलने से आपके मनोराज्य में भय का सञ्चार होने लगता है । इसी भयसञ्चारकाल में यदि चलते चलते सहसा आपकी श्रोत्रेन्द्रिय किसी सजातीय–वाग्ज्योति (मानवभाषा–बोलचाल) की अनुगामिनी बन जाती है, तो तत्क्षण भय के स्थान में इस वागग्निज्योतिः* के प्रवेश से साहस का, अभयवृत्ति का उद्गम हो पड़ता है । यही चौथी वाग्ज्योति का निदर्शन है । यदि दुर्भाग्यवश इस भयसञ्चरणावस्था में वाग्ज्योति भी कहीं से उपलब्ध नहीं होती, तो सर्वबाह्यज्योति--निरोधदशा में आप अपने बल के आधार पर ही साहस सञ्चित कर इस भय से परित्राण करने लग पड़ते हैं । 'अपना बल' का अर्थ है--संस्कारात्मक भूतात्मा का बल, जिसे **'आत्मज्योति'** कहा गया है, जिसका कि व्यावहारिक नाम है–**'संस्कारज्योति'** । "यदि कोई मुझ पर आक्रमण करेगा, तो मैं इधर बच जाऊँगा, उधर निकल जाऊँगा, वृक्ष पर चढ़ जाऊँगा" इत्यादिरूपेण अपने संस्कार–प्रकाश से ही इस भयावस्था मे जीवनसत्ता को अवलम्ब मिलता रहता है । यदि दुर्भाग्यवश आप इस अपने अन्तिम स्वानुगत–आत्मप्रकाश से भी वञ्चित हो जाते हैं, तो अन्ततोगत्त्वा मानवीव भूतात्मा पाँचों हीं ज्योतिरन्नों से आत्यन्तिकरूप से वञ्चित होकर हृद्गत्यवरोध से भौतिक शरीर का ही परित्याग कर देता है । एवं इसी पञ्चविध ज्योतिर्भाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने–**'किंज्योतिरयं--पुरुषः ?'** प्रश्न का--**'पञ्चज्योतिरय पुरुषः'** ही समाधान किया है ।

१८७--पञ्चज्योतिर्विवर्त्त का सूर्य्यज्योति में अन्तर्भाव––

उपर्य्युक्त ज्योतिःस्वरूप–दिग्दर्शन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, जीवनसत्ता का आधार (ज्ञान-कर्म्मादि इतर अन्नों की भाँति) ज्योतिस्तत्त्व भी है, एवं प्रमुखरूप से है । जिन पाँचों ज्योतियों का भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्पष्टीकरण किया है, सौरब्रह्माण्डानुगत (सौरब्रह्माण्डगर्भीभूत) पार्थिव–विश्व में निवास करने वाले मानव की पाँचों ज्योतियों का तत्त्वतः **'सूर्य्यज्योति'** में हीं अन्तर्भाव हो रहा है । **'इत्था चन्द्रमसो गृहे०'** (ऋक्सं० १।८४।१५।) के अनुसार परज्योतिर्म्मय चन्द्रमा का प्रकाश (चन्द्रज्योति) वस्तुगत्या सौररश्मि–ज्योति का ही प्रतिफलन है । इस दृष्टि से चन्द्रज्योति सूर्य्यज्योति में हीं अन्तर्भूत हो रही है, जैसाकि–**'दिनकर-दिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते'** (सिद्धान्ततत्त्वविवेक) इत्यादि ज्यौतिष–सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह है । सौर सावित्राग्नि ही–**'अग्निर्देवेभ्यो निलिल्ये'** सिद्धान्तानुसार पार्थिव गायत्राग्निरूप में

---

* **अग्निर्वाग्भूत्त्वा मुखं प्राविशत्'** इत्यादि श्रौतसिद्धान्त के अनुसार शब्दात्मिका सरस्वतीवाक् अङ्गिरोऽग्निमयी है । शारीराग्नि ही मन की प्रेरणा से प्राणवायु के द्वारा वक्षस्थल–कण्ठ–एवं मूर्द्धा (मस्तक-कपाल) से प्रत्याहत होकर अनुदात्त–स्वरित–उदात्त–स्वरों में परिणत होता हुआ मन्द–मध्य–तार–भावात्मक शब्दविवर्त्तरूप में परिणत हो रहा है । और यों वाङ्मय शब्दविवर्त्त–**'वागात्मा'** इस श्रुति के अनुसार आध्यात्मिक–ज्योतिः बन रहा है (देखिए–पाणिनीयशिक्षा–**'मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्'** इत्यादि सन्दर्भ) ।

परिणत हो रहा है। फलतः अग्निज्योति भी सूर्य्यज्योति में हीं अन्तभूर्त है। **'वाक्-पतङ्गाय धीयते-इन्द्रो-वाक्-अनुष्टुभमनु चच्चुर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार वाग्ज्योति भी सौर इन्द्रज्योति में हीं अन्तभूर्त है। एवं-**'सूर्य्य आत्मा जगस्तस्थुषश्च'** (यजुःसं० १३।४६।) के अनुसार मानवीय भूतात्मा से अभिन्ना आत्मज्योति भी सूर्य्यद्वारानुगता बनती हुई सूर्य्यज्योति में हीं अन्तभूर्त है। तदित्थं **'रोदसी-त्रैलोक्य'** नामक सौरब्रह्माण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठिता चर-अचर-प्रजा के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूप उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण सर्वस्वात्मा विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्यनारायण हीं प्रमाणित हो रहे हैं। सृष्टिकालात्मक पुण्याह-काल के ये ही भाग्यविधाता हैं। इनकी अव्यक्तावस्था ही 'प्रलय' कहलाई है। **'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः'-'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'-'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः'** इत्यादि निगमवचन इसी तथ्य का समर्थन कर रहे हैं।

१८८-देवदेवता, तथा असुरदेवता-तत्त्वों का स्वरूप-परिचय—

सौर इन्द्रप्राणात्मक प्रकाश सूक्ष्म प्रकाश है, यही आधार है व्यक्तजगत् का। भूतप्रकाश ही स्थूल प्रकाश है, यही आधेय है। दृश्य-भूतभौतिक पिण्ड के असंख्य परमाणुओं (क्षरों-विकारों) को अमुक नियत कालावधिपर्य्यन्त एक सूत्र में आबद्ध कर तत्परमाणुसंघरूप वस्तुपिण्ड (भूपिण्ड) को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाला सुसूक्ष्म, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्राओं के मात्राधर्म्मों (भूतधर्म्मों) से असंस्पृष्ट, अतएव मात्राग्राहिणी इन्द्रियों से अतीत, अतएव च अधामच्छद। (स्थान न रोकने वाला) कूटस्थ-तत्त्व ही **'प्राण'** की स्वरूप-परिभाषा है। प्राण ही भूतपिण्ड की शक्ति (दम) है। प्राण के अन्तर्विलीन हो जाने पर भूतपरमाणुओं का संघठन छिन्न भिन्न हो जाता है, भूतपिण्ड विशकलितावस्था में आकर विनष्ट हो जाता है। भूताधार यही कूटस्थ प्राणतत्त्व निगमपरिभाषा में **'देवता'** नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। **ऋषि-पितर-देव-असुर-गन्धर्व**-आदि सभी प्राण **'देवता'** हैं। अतएव-**'ऋषिदेवत्य-असुरदेवत्य-पितृदेवत्य** आदि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। असुर-प्राणविरोधी सौरप्राणदेवता ही **'देव'** कहलाए हैं। कदापि **'देव'** और **'देवता'** शब्द पर्य्याय नहीं हैं। 'देवता' सभी प्राण हैं। किन्तु 'देव' सौर-पार्थिव-चन्द्रादि-दिव्यप्राण हीं कहलाए है, जैसाकि शतपथभाष्य के अष्ट-विध-देवतास्वरूपविज्ञान में विस्तार से प्रतिपादित है।

जिन त्रिविध भूतज्योतियों का, तथा वाक्, और आत्मज्योतियों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन पांचों ही ज्योतिर्विवर्त्तों का सौर-प्राणज्योतिर्विवर्त्त में हीं अन्तर्भाव है, जिसे हम **'दिव्य-प्राणज्योति'** ही कहेंगे। इस प्राणज्योति के अभिभूत हो जाने पर विद्यमाना भी भूतज्योति स्वस्वरूपरक्षण-विकास में असमर्थ हो जाती है, जैसाकि-श्री और लक्ष्मी के तात्त्विक-स्वरूप के विश्लेषण-प्रसङ्ग में पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है।

१८९--इन्द्रः सर्वा देवताः, अग्निः सर्वा देवताः--का समन्वय—

ज्योतिर्म्मय सौर ऐन्द्र प्राणदेवता ही **'देवदेवता'** हैं, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है, जिनके आत्मज्योति-वाग्ज्योति-सूर्य्य-चन्द्र-अग्निज्योति-रूप पाँच विश्वज्योति-विवर्त्त हो जाते हैं। ठीक इसके विपरीत तमोमय प्राणतत्त्व का ही नाम **'असुरदेवता'** है। **अन्धकार**, और **पानी**, दोनों असुरप्राण की आधार भूमि हैं। अब्गर्भित अन्धं तमः में व्याप्त रहने वाला आसुरप्राण ही-**'सर्वं वृत्त्वा शिष्ये'** निर्वचन से-**'वृत्रासुर'** नाम से प्रसिद्ध है। एवं तमोगर्भित आपः में व्याप्त रहने वाला आसुरप्राण ही **'यदवृणोत्'** निर्वचन से अपने संवरणधर्म से

'**वरणः**' कहलाया है, जो कि–'**वरणं सन्तं–वरुणमित्याचक्षते परोक्षेण**' के अनुसार–'**वरुण**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। तमःप्रधान असुरप्राण '**वृत्र**' है, अप्प्रधान असुरप्राण '**वरुण**' है। एवं वरुण, तथा वृत्र ही नवतीर्नव (९९) कोटियों में विभक्त असुरप्राणों के अधिनायक मान लिए गए हैं। '**सर्वे असुराः-आप्याः–वारुणा, तमोमयाः–वृत्राः**' यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। उधर सौरमण्डलभुक्त ज्योतिर्म्मय केन्द्रस्थ उक्थप्राण '**इन्द्र**' कहलाया है, जिसके आवासलोक प्रकाश–लक्षण ज्योतिर्भाव, तथा तापलक्षण अग्निर्भाव माने गए हैं। अवान्तर ३३ कोटियों (विभागों) में विभक्त, अतएव–'**त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः**' इत्यादि रूप से उपवर्णित सम्पूर्ण यज्ञिय–देवदेवताओं के मूलाधिष्ठाता इन्द्राग्नी ही मान लिए गए हैं, जैसाकि–'**इन्द्रः सर्वा देवताः**, (शत० ३।४।२।२।)–**अग्निः सर्वा देवताः**' (शत० १।६।२।८।) इत्यादि निगमों से प्रमाणित है।

१९०--इन्द्र--वरुणात्मक अहोरात्र, एवं देवासुरप्रतिस्पर्द्धा—

इन्द्र, और वृत्र में, इन्द्रात्मक मित्र, और वृत्रात्मक वरुण में, दूसरे शब्दों में देवदेवता, और असुर–देवताओं में, तम और ज्योति में सदा से ही प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त है, जिसके महान् प्रतीक **अहः**, और **रात्रि** बने हुए हैं। पूर्वाधिपति इन्द्र–मित्र, तथा पश्चिमाधिपति वृत्र–वरुण का सहज संघर्ष प्रकृतिसिद्ध है। इसी आधार पर तो '**अश्वमाहिष्यन्याय**' प्रतिष्ठित हुआ है। इस संघर्ष की रङ्गस्थली बनता है–सम्वत्सरमण्डल। सम्वत्सर के १२ महीनों में से चार मास पर्य्यन्त असुरप्राण का बल प्रवृद्ध रहता है, एवं यही देवसुषुप्तिकाल माना गया है, जैसाकि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। शेष अष्टमासात्मक गायत्रसम्वत्सर में देवप्राण प्रवृद्ध रहता है। वर्षाकालानुगत चार मासों में भी आश्विन के आठ दिवस, पूरा कार्त्तिकमास, एवं मार्गशीर्ष के आरम्भ के आठ दिन–तत्रापि विशेषतः कार्त्तिक–कृष्णपक्ष आसुरप्राण के निग्राभ (उतार) के कारण अत्यन्त ही भयावह मान लिए गए हैं, जैसाकि–'**आश्विनस्य दिनान्यष्टौ–अष्टावाग्रायणस्य च। समस्तः कार्त्तिको मासो यमदंष्ट्रेति गीयते**' इत्यादि से स्पष्ट है।

समस्त कार्त्तिकमास, तत्रापि कृष्णपक्ष, तत्रापि अमावास्या तिथि, तत्रापि रात्रि तो अत्यन्त ही भयावहा प्रमाणित हो रही है तत्त्वदृष्ट्या, जिसमें मानवजीवन के आधारभूत सभी ज्योतिर्विवर्त्त एकप्रकार से सभी दृष्टियों से अभिभूत प्रमाणित हो रहे हैं। आश्विनमासीय श्राद्धपक्ष से ही सूर्य्यनारायण सुप्रसिद्धा '**कन्याराशि**' से समन्वित रहते हैं। ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार तत्सम्बन्ध से ही श्राद्धपक्ष '**कन्यागत महालय श्राद्धपक्ष**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका सुप्रसिद्धा मघानक्षत्रानुगता '**गजच्छाया**' से सम्बन्ध माना है श्राद्धतत्त्वज्ञ विद्वानों नें। यद्यपि यह ठीक है कि कार्त्तिक–अमावास्या पर सूर्य्य तुलाराशि से समन्वित हो जाता है। तथापि आश्विनमासीया–कन्याराशि की भुक्ति सौरदिव्यप्राण को आत्यन्तिकरूप से उस सीमापर्य्यन्त मूर्च्छित कर देती है, जिस सीमा का आत्यन्तिक विशोधन तो कार्त्तिकशुक्ल–प्रबोधिनी–एकादशी को ही होता है। इसी तेजोहीनता से कन्यागत सूर्य्य–'**नीच का सूर्य्य**' मान लिया गया है फलितज्यौतिष की परिभाषा में।

१९१–कार्त्तिकी अमावास्या की रात्रि, एवं तत्र सूर्य्य–चन्द्र-अग्नि-ज्योतित्रयी का आत्यन्तिक अभिभव—

सर्वोपरि सौर–इन्द्रप्राणमय–ज्योतिर्भाव को अभिभूत करने वाला वृत्रसमन्वित–वारुणप्राण तो विद्यमान है ही इस अमावास्या में भी। इन सब प्राकृतिक कारणों से कार्त्तिकी–अमारात्रि सूर्य्यज्योति के प्राकृतिक-

दिव्यप्राणातिशय के साक्षात् अनुग्रह से वञ्चित हो रही है । चान्द्रज्योति का अभाव तो स्पष्ट ही है । वर्षात्मक-वारुणभोग-काल से पार्थिव-अग्निज्योति भी अभिभूत ही प्रमाणित हो रही है । इन तीनों भूतज्योतियों के अभिभूत रहने के कारण संस्कारलक्षणा-आत्मज्योति, तथा पार्थिवाग्निप्रवर्ग्यभूता वाग्ज्योति का मान्द्य भी स्वतःसिद्ध है । यों पाँचों हीं व्यक्त ज्योतिर्भाव एकप्रकार से अभिभूत ही हो रहे हैं इस अमारात्रि को, जिसमें महालक्ष्मीपूजन विहित है ।

१९२-आकाशीय दीपदान, पार्थिव दीपदान, उल्मुकप्रज्ज्वलन, अग्निक्रीड़ा, आदि के द्वारा कृत्रिम ज्योतिर्भावों की अनुगति, एवं ज्योतिःसम्पादक दीपावलीपर्व—

इसीलिए इस रात्रि में कृत्रिम ज्योति, कृत्रिम प्रकाश, एवं कृत्रिम ताप-कृत्रिम-अग्नि का समावेश हो गया है यहाँ के सांस्कृतिक-आयोजन-व्यवस्थापकों के द्वारा । सौर इन्द्रप्रकाश का प्रातिनिध्य दीपक-उल्मुक-कर रहे हैं, एवं अग्निज्योति का प्रातिनिध्य अग्निक्रीड़ा (आतिशबाजी) कर रही है । वातावरण में व्याप्त आसुरप्राण के निरोध के लिए ही कार्त्तिकमास में '**आकाशदीप**' प्रज्ज्वलित किया जाता है [जाता था-वर्त्तमान स्वातन्त्र्ययुग से पूर्वपर्य्यन्त, अर्थात् १० वर्ष पूर्वतक] । भुक्त वारुणान्न-जनित दोषोपशम के लिए विहित कार्त्तिक मासोपवास-विविध-पञ्चभीष्मादि [लोकभाषा में पचभीषण] व्रत पर्वानुष्ठान, सान्तपनाग्निप्रज्ज्वलन के द्वारा दुरित-क्षय के लिए विहित सान्तपनाग्निमूर्त्ति निगमनिष्ठ ब्राह्मण का पूजन सत्कार, अग्निक्रीड़ा, दीपदान, आदि आदि महतोमहीयान् माङ्गलिक क्रत्वर्थ-कर्म्मों से समन्वित '**महालक्ष्मीपूजन-महोत्सव**' का यही प्रासङ्गिक-स्वरूप-विश्लेषण है, जिसे पश्चिम के भौतिक-चाकचिक्य से प्रभावित होकर अपनी निगमागमपुराणनिधि को विस्मृत कर हमनें वारुण-आसुर-सम्प्रदाय का ही आतिथ्य करना आरम्भ कर दिया है । लोक-वित्तैषणात्मक वारुणपाशबन्धन से बड़ा आसुरबन्धन और क्या होगा ?, जिस पाश में सर्वात्मना आबद्ध होकर भारतराष्ट्र आज श्रीविहीना अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी को ही राष्ट्रलक्ष्मी मानने मनवाने की महती भ्रान्ति करता जारहा है ।

१९३--श्रीविहीना--अलक्ष्मीरूपा--उल्लूवाहिनी-लक्ष्मी, और केवल वित्तपराओं के द्वारा मध्यरात्रि में तत्पूजनाह्वान—

अब दो शब्दों में लक्ष्मीपूजनात्मक--सांस्कृतिक--आयोजन की इतिकर्त्तव्यता का भी समन्वय कर लीजिए । अमावास्या-तिथि में किस समय लक्ष्मीपूजन करना ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके समाधान में मान्यतानुबन्धी अनेक विकल्प हो पड़े हैं । अर्थैषणासक्त मानवविशेषोंनें यह मान्यता बना रक्खी है कि, "अर्द्धरात्रि में हीं लक्ष्मीपूजन करना चाहिए । क्योंकि इस समय प्रायः सभी निद्रानिमग्न हो जाते हैं । फलतः सबको सोता देखकर लक्ष्मी मुग्ध जागते रहने वाले पर ही अनुग्रह कर देगी" । सबको शयनाभिमुख बना कर जो अपने वैय्यक्तिक-स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए श्रीविहीना लक्ष्मी का ही सञ्चय करना जीवन का मुख्य पुरुषार्थ मानते हैं, उन पर अवश्य ही जड़भूतरूपा, परिणाम में अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी अनुग्रह कर देती होगी ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१९४--श्रीसमन्विता लक्ष्मीरूपा पद्मासना लक्ष्मी, एवं उसका अभ्युदय--निश्रेयस्--परायण मानवों के द्वारा प्रदोषात्मक सूर्य्यसत्ताकाल में हीं आराधन-अर्च्चन--वन्दन--

किन्तु--जो आर्ष मानव **'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्'-'सर्वे सन्तु निरामयाः'-'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'-'सर्वे भवन्तु सुखिनः'-अत्रा सखायः सख्यानि जानते--भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि'** लक्षणा श्री से समन्विता--[सरस्वती से समन्विता] लक्ष्मी को ही अपना मुख्य आराध्य-देव मानते हैं, वे सांस्कृतिक-पुरुष तो सूर्य्यसत्ताकाल में हीं लक्ष्मीपूजन करना शास्त्रीय कर्म्म मानते आरहे हैं, जैसाकि-**'प्रदोषसमये लक्ष्मीं पूजयित्त्वा यथाक्रमम्'** इत्यादि विधिवचन से प्रमाणित है। युक्तं चैतत्। श्री, और लक्ष्मी, दोनों यज्ञविष्णुरूप-सोमाहुतिमय--सदाशिव--लक्षण सूर्य्यनारायण की अर्द्धाङ्गिनियाँ हैं। रात्रि पारमेष्ठ्य--तमोमय--वारुण--वृत्र--प्राणप्रधाना है [**वारुणी रात्रिः**]। अहः सौर--ज्योतिर्म्मय--ऐन्द्रप्राणप्रधान है [**ऐन्द्रमहः**]। पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सौर--इन्द्र--प्राणानुगत हिरण्मय--पारमेष्ठ्य तत्त्व ही श्री [सरस्वती] गर्भिता ज्योतिर्म्मयी--हिरण्यवर्णा लक्ष्मी का स्वरूपपरिचय है। रजनीमुखात्मक प्रदोषकाल में हीं लक्ष्मी का यह श्रीसमन्वित--लक्ष्मीरूप विद्यमान रहता है, जबकि रात्रि में, तत्रापि मध्यरात्रि में तो इत्थंभूता हिरण्मयी--ज्योतिर्म्मयी लक्ष्मी का सर्वथा ही अभाव है। विकसित कमल ही इस श्रीसमन्विता लक्ष्मी का आसनात्मक अधिष्ठान माना गया है, जबकि अर्द्धरात्रिगता अलक्ष्मीरूपा—आसुरलक्ष्मी का वाहन रात्रिपक्षी [उल्लू] ही माना गया है आगमशास्त्र में। प्रसिद्ध है कि-सूर्य्यास्त पर पङ्कजश्री अन्तर्म्मुख बन जाया करती है *। जब पङ्कज [कमल] ही अवरुद्ध होगया सूर्य्यास्त पर, तो पद्मासना--श्रीसमन्विता देवप्राणमयी--हिरण्यवर्णा लक्ष्मी तो उपलब्ध नहीं होसकती अर्द्धरात्रि के पक्षपातियों को। फिर तो उल्लूवाहना-आसुरीलक्ष्मी ही उपास्या बन सकती है सरस्वती के विरोधी, केवल जड़भूत--लक्ष्मी के अनुगामियों के लिए। इति नु--लक्ष्मीपूजनसमयमीमांसा--प्रासङ्गिकी।

१९५--प्रदोषकालानुगता--कुबेरपूजनसमन्विता-महालक्ष्मी के पूजन की इतिकर्त्तव्यता—

हाँ, तो प्रदोष--समय में स्नान--आचमनादि--पवित्रीकरण--भावों से समन्वित--गृहकुलवृद्धपुरुष अपने पारिवारिक जनों के साथ शान्त--प्रसन्न--मङ्गलमुद्रा से समासीन होकर अङ्गन्यासादादि पूर्वकर्म्म सम्पादन कर--दीपादि प्रज्ज्वलित कर महालक्ष्मी का नैदानिक ध्यानात्मक संस्मरण करता है निम्नलिखित रूप से—

अथ ध्यानम्—आसीना सरसीरुहे स्मितमुखी हस्ताम्बुजैर्बिभ्रती—
दानं पद्मयुगाभये च वपुषा सौदामिनी सन्निभा।
मुक्ताहारविराजमानपृथुलोत्तुङ्गस्तनोद्भाषिणी—
पायाद्वः कमला कटाक्षविभवैरानन्दयन्ती हरिम्॥१॥

* * * *

---

* रात्रिर्गमिष्यति-भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कश्रीः।
इत्थं विचयन्ति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥
—कविसूक्तिर्भावुकतापूर्णा

लक्ष्मीपूजनम्--तुलाराशिगते भानौ अमावास्यां नराधिपः ॥
स्नात्वा देवान्–पितॄन्–भक्त्या सम्पूज्याथ प्रणम्य च ॥२॥
ततोऽपराह्णसमये लक्ष्मीं पूजयित्वा यथाक्रमम् ॥
दीपवृक्षास्तथा कार्य्या भक्त्या देवगृहेष्वपि ॥३॥
अमावास्या यदा रात्रौ, दिवाभागे चतुर्दशी ॥
पूजनीया तदा लक्ष्मीर्विज्ञेया सुखरात्रिका ॥४॥

* * * *

कुबेरपूजनम्–लक्ष्मीनारायणाभ्याञ्च नमोऽन्तेन प्रपूजयेत् ।
धिषणञ्च कुबेरञ्च पूजयेत्तदनन्तरम् ॥५॥
"धनदाय नमस्तुभ्यं निधिपद्माधिपाय च ॥
भवन्तु त्वत् प्रसादान्मे धनधान्यादि--सम्पदः ॥६॥"

* * * *

दीपदानम्– अग्निर्ज्योती–रविर्ज्योति–श्चन्द्रज्योतिस्तथैव च ॥
उत्तमः सर्वज्योतीनां दीपोऽयं प्रतिगृह्णताम् ॥७॥

*

१९६–ऐन्द्र–प्राच्य देश एवं वारुण–प्रतीच्य देश, तथा प्राच्य देशों से रुष्टा भाग्यलक्ष्मी के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक प्रश्न —

पूर्वीय-ऐन्द्र–प्राच्य देशों के वर्त्तमान मानवों का, विशेषतः भारतीय मानवों का यह कहना है कि, भारतवर्षात्मक इन्द्रदेश की लक्ष्मी प्रतीच्य–वारुण-देशों में चली गई। प्राच्य–ऐन्द्रदेश–तत्सहयोगी–'भारत'* अग्नि से अनुप्राणित 'भारत–देश' से विनिर्गत होकर लक्ष्मी वारुण-सामुद्र प्रतीच्य देशों में चली गई इनसे रुष्ट ही होकर मानो। प्रश्न सामयिक है कि, इस पूर्वीय प्राच्य–ऐन्द्र देश में, भारताग्निदेश भारतवर्ष में लक्ष्मी को ऐसा कौनसा कष्ट हो पड़ा, जिससे इसने शास्त्रीय मर्य्यादा का उल्लंघन कर श्वसुरगृह का परित्याग कर पितृगृह का आश्रय ग्रहण कर लिया ?।

१९७–लक्ष्मीदेवी के श्वसुरगृह, तथा पितृगृह (उत्पत्तिस्थान) का स्वरूपदिग्दर्शन —

कथाशास्त्रविशारद महाभाग सूत के सम्मुख भी अवश्य ही कथामृतरसास्वादकुशल महाभाग्यशाली शौनक के द्वारा यही प्रश्न उपस्थित हुआ होगा उन आसुरयुगों को लक्ष्य बना कर, जिनमें भारतवर्ष के अति-

---

* अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति। अग्निर्वै देवेभ्यो हव्यं भरति। तस्माद् भरतोऽग्निः–(तत्सम्बन्धादेव-ऐन्द्रदेशोऽयं वर्षभुवनकोशापेक्षया 'भारतवर्ष' नाम्ना निगद्यते।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

ष्टावा भौम स्वर्गवासी इन्द्राग्निप्रमुख भौमदेवताओं से इनकी भाग्यलक्ष्मी इसीप्रकार रुष्ट होकर आसुरप्राणात्मक उस वरुणमण्डल में चली गई थी, जिसे 'समुद्र' कहा जाता है, एवं लक्ष्म्युत्पत्तिस्थान होने से जिस वारुण समुद्र को अवश्य ही लक्ष्मी का पितृगृह कहा जा सकता है, कहा गया है, जैसाकि इसके अनेक नामों में पठित– 'सिन्धुसुता'–सिन्धुकन्या' आदि नामों से प्रसिद्ध है।

१९८–प्राच्यदेशाधिपति इन्द्र के प्रज्ञापराध से लक्ष्मी का पितृगृह में पलायन, एवं नारायणानुग्रह से उसका पुनरागमन, तथा तत्सम्बन्धी तात्त्विक आख्यान—

सूतमहाभाग ने आख्यानमाध्यम से तद्युग की घटना के सम्बन्ध में यही उत्तर दिया होगा प्रश्नकर्त्ता शौनकको कि,—"महामुनि दुर्वासा ने एक बार प्रसन्न होकर देवेन्द्र को जयमाला प्रदान की। वैराज्य–साम्राज्य-मद से मदोन्मत्त बन जाने वाले देवेन्द्र ने ब्राह्मणप्रदत्ता जयमाला की उपेक्षा ही करते हुए उपहासमुद्रा से ही मानो इसे अपने गले से तत्काल उतार कर अपने वाहन मत्तगजेन्द्र ऐरावत हाथी पर ही फैंक दी। मत्तगजेन्द्र ने अपनी मदमत्तता के आवेश में आकर ब्राह्मणप्रसादरूपा इस विजयमाला को अपने शुण्डादण्ड से धराशायी बना कर मेरुदण्ड–समतुलित अपने भीमकाय पादतल से इसे चूर्णित ही कर दिया, और यह घटना क्षणमात्र में महामुनि दुर्वासा के देखते देखते ही इनके सम्मुख ही घटित हो पड़ी। परिणाम, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम वही हुआ, जो आज ब्राह्मण के अपमान से हो रहा है, किंवा नहुषयुग में इसी ब्राह्मण-शाप से जो परिणाम सर्पयोनि में परिणत नहुष को भोगना पड़ा था अपने राज्यमद के कारण। दुर्वासा के अन्तकरण से परोक्षरूपेण यह शापाग्नि ही विनिःसृत हो पड़ा तत्क्षण कि—"देवेन्द्र! जिस राज्यलक्ष्मी के मद से आविष्ट होकर आपने विजयमाला को अपने ऐरावत से धूलिसात् करा दिया है, वह लक्ष्मी तेरे पूर्व–भारतादि लोकों से निश्चयेन चली जायगी उसी अपनी जन्मभूमि समुद्र में, जहाँ ऐरावत ने भी जन्म लिया है। तथैवाभूत्। वैसा ही हो पड़ा मुनि के शापाग्नि से। और यों शासनसत्ता के सर्वोच्च अधीश देवेन्द्र की मदोन्मत्तता से उत्पीड़ित–अवमानित ब्राह्मण की उपास्या सरस्वती के तिरस्कार–अवमान से ही मानो भौम–त्रैलोक्यरूप देवत्रैलोक्य से लक्ष्मी रुष्ट होकर अपनी जन्मभूमि समुद्र में पलायित होगई। लोकलक्ष्मी के बिना भौमत्रैलोक्य क्षुब्ध–आर्त्त–संकटग्रस्त बन गया। लक्ष्मी के पुनरावर्त्तन के विविध–प्रकार खोजे जाने लगे। अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण देवताओं के साथ मिल कर देवेन्द्र को विष्णु की शरण में आना पड़ा। एवं विष्णु के अनुग्रह से ही लक्ष्मी का पुनः देवेन्द्र पर अनुग्रह हो सका। यथाहि—

पुरा दुर्वाससः शापात्–भ्रष्टश्रीश्च पुरन्दरः ॥
बभूव देवसंघश्च मर्त्यलोकश्च नारद ! ॥१॥
लक्ष्मीः स्वर्गादिकं त्यक्त्वा रुष्टा परमदुःखिता ॥
गत्वा लीना च वैकुण्ठे महालक्ष्म्या च नारद ! ॥२॥

—इत्यादि।

१९९–देवासुरसंघद्वारा समुद्रमन्थन, तत्परिणामस्वरूप लक्ष्मी का पुनः प्रादुर्भाव, एवं देवेन्द्र की सर्वसमृद्धि—

यज्ञात्मक विष्णुदेव ने क्या साधारण प्रार्थना–मात्र से ही, विष्णुनाम–गुणकीर्त्तनमात्र से प्रभावित हो कर ही लक्ष्मी का पुनरावर्त्तन करा दिया देवमण्डल में ?। नहीं। अपितु सम्मिलित प्रयास से–जिसमें

आत्मानुगत ऐन्द्र देवबल, तथा वारुण शरीरबल (असुरबल), दोनों बल समाविष्ट थे। मानवस्वरूपभाषानुसार जिस प्रचण्ड अध्यवसाय में–आत्म–बुद्धि से समन्वित आत्मरूपदेवबल तथा मनः–शरीर–समन्वित–शरीरभूतरूप असुरबल–दोनों बल समन्वित थे। ऐसे संघशक्तिरूप–सख्यबल से * ही देवताओंनें समुद्र का मन्थन किया, एवं समुद्रमन्थन से सर्वप्रथम इन्हें कालकूट विष–उपलब्ध हुआ, जो इन्हीं के मूलप्रतिष्ठारूप आदिदेव–महादेव के द्वारा कण्ठ में हीं निरुद्ध कर लिया गया। तदनन्तर अत्यधिक–तपन-सन्तपन–श्रम–परिश्रमात्मक-उत्तर-दायित्वपूर्ण संघर्ष से ही लक्ष्मी का सान्निध्य विष्णु के अनुग्रह से (यज्ञात्मक-कर्म्मानुष्ठानों से, तथा सांस्कृतिक-आचारधर्म्मों से) इन्हें पुनः हो सका, जैसाकि तदुत्तर-पठित निम्नलिखित वचनों से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है–

तदा शोकाद् ययुर्देवा दुःखिता ब्रह्मणः सभाम् ॥
ब्रह्माणञ्च पुरस्कृत्य ययुर्वैकुण्ठमेव च ॥३॥
वैकुण्ठे शरणापन्ना देवा नारायणे परे ॥
अतीव दैन्ययुक्ताश्च शुष्ककण्ठौष्ठतालुकाः ॥४॥
तदा लक्ष्मीश्च कलया पुरा नारायणाज्ञया ॥
बभूव सिन्धुकन्या सा शक्रसम्पत्स्वरूपिणी ॥५॥
तया मथित्वा क्षीरोदं देवा दैत्यगणैः सह ॥
सम्प्रापुश्च वरं लब्ध्वा ददृशुस्ताश्च तत्र हि ॥६॥
सुरादिभ्यो वरं दत्त्वा वरमालाञ्च विष्णवे ॥
ददौ प्रसन्नवदना तुष्टा क्षीरोदशायिने ॥७॥
"देवाश्चाप्यसुरग्रस्तं राज्यं प्रापुश्च तद्वरात्" ॥
तां सम्पूज्य च सम्भूय सर्वत्र च निरापदः ॥

—ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे प्रकृतिखण्डे ३५-३६ अध्यायौ

२००–तपन–सन्तपन–श्रम–परिश्रमात्मक–अध्यवसायमूलक–मन्थनकर्म्म से आविर्भूता लक्ष्मी का नामभक्तिपरायण--अकर्म्मण्यों की कृपा ? से वर्त्तमानयुग में पुनः प्राच्य--भारतराष्ट्र से पितृगृहात्मक वारुणदेशों में पलायन—

आत्मानुगत आधिदैविक नभस्वान् समुद्र, आधिदैविकाध्यात्मिक–बुद्ध्यनुगत सरस्वान् समुद्र, एवं मनःशरीरानुगत–आधिदैविकाध्यात्मिक–समुद्रगर्भित आधिभौतिक अर्णव समुद्र, इन तीनों समुद्रों के मन्थन से ही, तदनुगत–प्रकृतिसिद्ध–नित्य यज्ञकर्म्मात्मक विष्णु के प्रसाद से ही श्री से समन्विता माता-लक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है, यही तत्त्व है उक्त आख्यानभाषा का। विना समुद्रत्रयी के मन्थन के

---

* 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते-भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि' का संस्मरण

यज्ञकर्म्म का सम्पादन सम्भव नहीं, विना यज्ञकर्म्मात्मक विष्णु की पूर्णतारूपा अनुग्रहदृष्टि के लक्ष्मी का आगमन सम्भव नहीं। यही विष्णुस्तुति का निगमागमपुराणसम्मत वह तथ्य है, जिसे विस्मृत कर मन्थनप्रक्रियात्मक–अध्यवसायजीवन को जलाञ्जलि समर्पित कर देने वाले तप–सन्तपन–श्रम–परिश्रात्मक संघर्षों से दूर भागने में कुशल–सर्वथैव अनुकूलतावादी–अकर्म्मण्य–सालस हम मन्दभागियोंनें झञ्झाताल–मृदङ्ग–वाद्य–निरतानुगता स्वरविहीना जर्ज्जरवंशध्वनि–समतुलिता–चीत्कारध्वनि को ही सर्वस्वसाधक मान रक्खा है, इति नु महतीयं विडम्बना कलिवात्याहित–काल्पनिक–भक्तिपरम्परायाः।

२०१--प्राच्य--भारतराष्ट्र का यज्ञविष्णुसम्बन्धेन लक्ष्मी के लिए पतिगृहत्त्व, एवं यज्ञविष्णु के आराधन से वञ्चित भारतराष्ट्र पर साध्वी लक्ष्मी का प्रकोप—

हाँ, तो प्रतीच्य–सामुद्र–देशों को इसलिए 'वारुणदेश' ही कहा जायगा कि, पश्चिमदिशा के दिक्पाल, तथा आपोलोक के लोकपाल उसी प्रकार वरुण ही माने गए हैं, जैसे कि पूर्वदिशा के दिक्पाल, एवं ऐन्द्राग्न–ज्योतिर्लोक के लोकपाल ऐन्द्राग्नरूप इन्द्र ही माने गए हैं भारतीय सांस्कृतिक–परिभाषा में। ऐन्द्राग्नरूप प्राच्य भारतवर्ष को जहाँ लक्ष्मी का श्वसुरगृह माना जायगा, वहाँ वरुण--वृत्ररूप प्रतीच्य-केतुमालादि वर्षों को लक्ष्मी का पितृगृह ही कहा जायगा ?। क्यों, कैसे, और किस आधार पर ?। तो श्रूयताम्! श्रीसमन्विता लक्ष्मी के पति माने गए हैं विष्णु भगवान्। **'यज्ञो वै विष्णुः'**—(शत० १।१।२।१३) इस श्रुति के अनुसार यज्ञ का ही नाम 'विष्णु' है। यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा माना गया है-**'त्रयीवेदात्मक–तत्त्ववेद'**, जैसाकि-**'सैषा त्रयीविद्या-यज्ञः'** (शत० १।१।४।३)–**'ते देवा अब्रुवन्–यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै'** इत्यादि से स्पष्ट है। त्रयीवेदमूलक, अतएव हौत्र-औद्गात्र, आध्वर्य्यव-कर्म्ममूलक–शस्त्र–स्तोत्र–ग्रह-कर्म्मरूप यज्ञ का ही तो नाम विष्णु है, जिसका भौतिक प्रतिमान माना गया है वह **'कृष्णमृग'**, जिसके चर्म्म पर (कृष्णाजिन पर) ही उलूखल में मुसल--पेषण--द्वारा हविर्द्रव्य का वितुषीकरण होता है। (देखिए–तै० ब्रा० २।७।३।२।)।

जिस देश में त्रयीवेदप्रतिमान, यज्ञप्रतिमान कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है, वही देश वेदात्मक–यज्ञविष्णु का अपना आवासस्थान (गृह–घर) माना गया है, एवं उसी यज्ञिय नैगमिक देश में वेदमूलक वर्णाश्रमाचारसिद्ध प्रकृतिसिद्ध, आत्मप्रतिष्ठ धर्म्म (आत्म–बुद्धि-मनः–शरीर-समन्वयात्मक–अभ्युदय-निःश्रेयस्–साधक 'मानवधर्म्म' नामक–शाश्वतधर्म्म–सनातनधर्म्म) पुष्पित–पल्लवित हुआ है, जैसाकि–**'यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्म्मान्निबोधत'** (याज्ञवल्क्यस्मृति १।२।) इत्यादि स्मार्त्त वचन से प्रमाणित है। राजर्षि मनु ने भी इसी तत्त्वदृष्टि से ये उद्गार अभिव्यक्त किए हैं कि—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदशस्त्वतः परः॥ —मनुः २।२३।

२०२–श्रीविहीना भारतराष्ट्र की वर्त्तमान दीवाली, एवं तत्प्रति सांस्कृतिक-निष्ठा के अनन्य प्रतिष्ठारूप ऋषिप्राण के द्वारा भारतराष्ट्र के अभ्युदयार्थ माङ्गलिक उद्बोधन—

ऐसा वह देश यह भारतवर्ष ही तो ही है, जिसकी प्राणप्रतिष्ठा मृग्यमाण, अतएव–**'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'** (ऋक्संहिता····) के अनुसार 'मृग' 'कृष्णमृग' नाम से प्रसिद्ध भारत अग्नि ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

यही तो वह यज्ञिय देश है, जिसमें कृष्णमृगरूप भारताग्नि का प्रतिमानरूप कृष्णमृग (काला हरिण) स्वच्छन्द–विचरण करता रहता है । करता क्या रहता है, करता रहता था उस युगपर्य्यन्त ही, जबतक कि यज्ञात्मक विष्णु **यज्ञ–तपो–दान–लक्षण** विद्यासापेक्ष कर्म्मों से, तथा **इष्ट–आपूर्त्त–दत्त–लक्षण**–सत्कर्म्मों से स्वस्वरूप से अभिव्यक्त थे आज से तीन सहस्रवर्ष पूर्व के भारतवर्ष में । हमनें अनात्मवादानुगत–काल्वाली-कृत–मतवादों का भावुकतावश जिस दिन से अन्धानुकरण कर लिया, उसी दिन से यज्ञविष्णु अन्तर्म्मुख होगए भारतराष्ट्र से । तत्समय से ही प्रकृतिविरुद्ध–भावुकतापूर्ण–अयज्ञिय–असत्कर्म्म प्रक्रान्त हो पड़े । फलस्वरूप प्राच्यदेश इस भारतराष्ट्र के लक्ष्मीपति अप्रसन्न होगए, तो कौन स्वाध्वी पतिपरायणा स्त्री पति के इसप्रकार अपमानित होने पर स्वस्वरूप से यहाँ प्रतिष्ठित रह सकती थी ? । वही हुआ । यज्ञविष्णु की अप्रसन्नता के साथ साथ ही इस यज्ञियदेश–पतिगृह–विष्णुगृह (किन्तु विष्णुशून्य) का परित्याग कर भारतराष्ट्र की लक्ष्मी पितुर्गृहे एव चली गई । अर्द्धाङ्गिनी को यों रुष्ट होकर चले जाने पर यज्ञात्मक विष्णु भी उसी स्थान के अनुगामी बन गए, किन्तु जागरूक बन कर नहीं । अपितु शयानावस्था से । लक्ष्मी के पितृगृह में, अर्थात् श्वसुरगृह समुद्र में सोगए यज्ञविष्णु । और यों निगम–आगम–पुराण–स्मृत्यादि विहित शाश्वत यज्ञ–धर्म्मों का परित्याग कर हम भारतवासियों नें विष्णुयज्ञधर्म्मानुगत आत्मनिःश्रेयस् , तथा लक्ष्म्यनुगत भूतैश्वर्य्य, दोनों से ही अपना पार्थक्य कर लिया ।

२०३–प्राच्य--भारतशरीर की तैल- घृत--मात्रा का प्रतीच्यदेशों के द्वारा शोषण, एवं प्रभाशून्या आज की यह दीवाली—

जहाँ लक्ष्मी चली गई, वहाँ दीपावली जगमगा उठी । अवश्य ही यहाँ की दीपावली की दीपज्ज्वाला तो बुझ गई थी । किन्तु दीपपात्रों (शरीरों) में थोड़ा तैल सांस्कृतिक–परम्परा के सौभाग्य से बचा रह गया था । वहाँ के दीपोत्सवायोजकों नें अनुभव किया कि, पानी से भी कहीं दीप जलें हैं । दीप जलते रहते हैं तैल-घृत से । और उसका अपने सामुद्र–क्षार–जल में अभाव है । अविलम्ब तैल का अन्वेषण आरम्भ हो पड़ा । पूर्वदेशों पर दृष्टि गई । शेषभूत सभीप्रकार के तैलकोश स्वायत्त कर लिए गए पूर्वदेशों के । यों दीपावली के साथ साथ प्राच्यदेशों का प्राणात्मक–भौतिक-सभी प्रकार का तैल–घृत भी बलपूर्वक निकाल लिया गया, कस कस कर चुआ लिया गया, निचोड़ लिया गया, और यों हम रह गए कङ्कालरूपेण अवशिष्ट । यही है तैल–घृत–शून्या, मज्जा–मांस–रुधिर–शून्या, अतएव दीपप्रभाशून्या–कङ्कालमात्रावशिष्टा वर्त्तमान-भारत की निस्तत्त्वा दीपावली, जो प्रतिवर्ष हमारी सुप्त वेदनाओं को उद्बुद्ध कर हमें पीड़ित ही किया करती है, हमारा उपहास ही किया करती है । जो अग्निक्रीड़ा कर सकते हैं, आग से खेल सकते हैं, संघ-शक्तिरूपेण समुद्रमन्थन कर सकते हैं, जिनके दीपपात्रों (शरीर-मन–बुद्धिरूप अग्नि–चन्द्र–सूर्य्यज्योति-स्वलम्बरूप दीपपात्रों) में तैलमात्रा (आत्मरस) परिपूर्ण है, वास्तविक दीपावली-पर्वोत्सवायोजनों का अधिकार उन्हीं को प्राप्त हुआ है । दीपज्योति से वे अध्यवसायनिष्ठ–धर्म्मिष्ठ–आचारनिष्ठ-सत्कर्म्मा मानव लाभ उठा सकते हैं, जिनके चर्म्मचक्षुओं में ज्योतिर्म्मय–चाक्षुषपुरुष जागरूक है ।

२०४-कङ्कालास्थियों की अनुशयरूपा मज्जा से प्रज्ज्वलिता धनिकों की दीवाली—

कङ्कालावशेषरूप दरिद्रों के दीपपात्रों में अनुशयरूपेण यत्किञ्चिन्मात्रा में संलग्न मज्जारूप तैल से प्रदीप्त होती रहने वाली वर्त्तमान भारत के धनिकों की यह दीपावली क्या भारतवर्ष की श्रीसमन्विता दीपावली मानी

जायगी ? । कदापि नहीं । वर्त्तमान भारत की आत्मबुद्धिप्रकाशशून्या, केवल मनःशरीरानुगता, शून्यं-शून्यं की अनात्मभावना से समन्विता दुःखभावप्रवर्त्तिका-समर्थिका इत्थंभूता अलक्ष्मीरूपा यह दीपावली कब भारतीय दृष्टि से **'सांस्कृतिक-दीपावलीपर्व'** रूप में परिणत होगी ?, इस प्रश्न का यथार्थ समाधान आज हम भारतवासी किस से प्राप्त करें ?, जब कि समाधान के प्रथम अधिकारी भारतराष्ट्र के विद्वान् स्वयं ही विगत प्रक्रान्त तीन सहस्रवर्षों से मतवादसापेक्ष-मतवादैषणा-पूर्त्यर्थ-सत्तासापेक्ष-वणिकृतन्त्र-सापेक्ष बने रहते हुए स्वयं ही **'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः'** मूलक नैगमिक-सांस्कृतिक-ज्योति से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आरहे हैं। क्या राष्ट्र का सत्तातन्त्र उक्त प्रश्न का समाधान करेगा ?, कर सकेगा ? । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! सर्वथा धर्म्मनिरपेक्ष, विशेषतः भारतीय निगमागमपुराणसिद्ध शाश्वतधर्म्मनिरपेक्ष (किन्तु विभिन्न मतवादात्मक-धर्म्मसापेक्ष) वर्त्तमान सत्तातन्त्र के सम्मुख तो ऐसा प्रश्न उपस्थित कर देना भी (सत्ता के शब्दों में) सम्प्रदायवादी भारतीय-आस्तिक-हिन्दू का महान् अपराध ही माना जायगा । अब शेष रह गए राष्ट्र के वे धनिक भलन्दनवंशज वैश्यबन्धु, जिन की धर्म्मप्रियता कर्णाकर्णिपरम्परया श्रुतोपश्रुत है । क्या इन से तत्प्रश्न का समाधान प्राप्त हो सकेगा ?, का उत्तर होगा-**'परीक्षा प्रार्थनीय'**, जिसमें हमनें तो निरन्तर २० वर्ष पर्य्यन्त प्रणतभाव से दीक्षित होकर भी अन्ततोगत्त्वा 'निराशा' ही उपलब्ध की है ।

२०५-सत्तातन्त्रादि से सर्वथा निरपेक्षा 'स्वाध्याय-व्रतनिष्ठा' से ही भारतराष्ट्र की श्रीसमन्विता राष्ट्रलक्ष्मी के पुनर्जागरण की मङ्गलकामना—

एकमात्र निगमागमसंस्कृति का अनन्य स्वाध्यायव्रत, आचरणव्रत, आयोजनव्रत ही इस प्रश्न की समाधान-प्रस्तावना होगी हमारी स्वल्पमति के अनुसार, जिस प्रस्तावना को व्यक्तित्वविमोहनमूलक मतवादों से, सत्ताश्रय से, सर्वविध वैसे तन्त्रों से-जो स्वाध्यायव्रतविरोधी हों,-सर्वात्मना निरपेक्ष-तटस्थ ही बनाए रखना पड़ेगा । तभी भारतवर्ष के सांस्कृतिक-आचार, सांस्कृतिक-आयोजनों का ज्ञानविज्ञानत्मक मौलिक स्वरूप अभिव्यक्त हो सकेगा, एवं एकमात्र इस अभिव्यक्ति के बल पर ही श्रीसमन्वित, महान् सांस्कृतिकपर्व-दीपावलीमहोत्सव का यथार्थरूप से अनुगमन करता हुआ भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मी को प्रसन्न करने में समर्थ बन सकेगा, निश्चयेन बनेगा ही, इसी मङ्गलकामना के साथ प्रक्रान्त पर्वायोजन की पुण्यगाथा विश्राम ग्रहण कर रही है ।

उपरता चेयं-वैश्यवर्णानुगता—

दीपावलीपर्वस्वरूपमीमांसा तृतीया

—३—

* * *

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

मनोऽनुरक्त-राष्ट्ररक्षित-वैश्यानुगत
राष्ट्रीय-'दीपावलीपर्व'
उपरत

३

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व

'होलिका'

शरीरनिष्ठ–राष्ट्ररक्षित–शूद्रानुगतपर्व

४

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व
होला-महोत्सव

(शरीरानुगत-राष्ट्ररक्षित-शूद्रानुगत पर्व)

४

१-'काम' संस्मरण, एवं लोकप्रसिद्ध 'होलिकापर्व' का प्रचलित स्वरूप—

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
>
> —ऋक्सं० १०।१२६।४।

'होला', किंवा 'होलिका' (होली) नाम से प्रसिद्ध लोकविश्रुत जिस महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन करने के असम-साहस, किंवा दुःसाहस का प्रस्तुत निबन्ध में आज जो उपक्रम किया जा रहा है, उसका 'संस्कृति' शब्द से अनुप्राणित आत्म-देवभावों से कैसा, क्या सम्बन्ध हो सकता है ?, जबकि प्रत्यक्ष में सर्वथा अनियमित-इन्द्रियभावानुगत,-मानसिक उद्वेग, शारीरिक उन्माद-विलास-ताण्डवों से सर्वात्मना समाकुलित, विविध वाच्य-अवाच्य-वैखरीवाग्धाराओं से उद्वेलित, झञ्झा-ताल-मृदङ्ग-वाद्यादि से समन्वित, नर्त्तन-गायन-हास-परिहास-आदि गन्धर्वाप्सराप्राणों से कृतरूप, मनः-शरीरमात्रानुबन्धी लोकायोजनों से पुष्पित-पल्लवित, कृष्ण-पीत-नील-हरित-रक्त-धूम्र-धूसर-आदि विविध रङ्गों से रञ्जित, वैतालचेष्टित-शरीराभिनयों से समलङ्कृत, विविध मादक-उन्मादक-पेय-खाद्य-लेह्य-चोष्य-चर्व्य-आदि द्रव्यों के अनुग्रह से समुत्पन्ना मादकता से मदोन्मत्त-मदनोन्मत्त-असंयत-अलग्ल-कल्वालीकृत, जनरव से सर्वात्मना आन्दोलित, इत्थंभूत वर्त्तमानयुगीय 'होलामहोत्सव' का आत्म-देवानुबन्धी सांस्कृतिक-दैविक-आत्मिक-सुसूक्ष्म-परोक्षभावों से प्रत्यक्ष में कुछ भी तो सम्पर्क प्रतीत नहीं हो रहा।

२-प्रचलित होलिकोत्सव, और हमारी समस्या—

यही वह महती समस्या है, जिसने प्रस्तुत राष्ट्रीय-पर्व के सम्बन्ध में इस वेदाभ्यासजड़मति, अतएव सर्वथैव रूक्ष-कर्कश,-होलापर्वप्रेमियों की भाषा में तो मानसिक-रसानुगत-कोमलभावों, तथा कोमल अनुभूतियों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट,-अतएव रस-राग-समन्वित 'होलिका' जैसे रसपूर्ण-पर्वोत्सव के नामस्मरण में भी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अनधिकृत गुहानिहित--इस प्रज्ञारसशून्य ब्राह्मण को आज वास्तव में ही कुण्ठित प्रमाणित कर दिया है ! प्रयास करने पर भी इसकी जड़प्रज्ञा इस **'रसराज–महोत्सव'** के उस केन्द्रबिन्दु से अपने आपको पृथक्वत् ही अनुभूत कर रही है, जिस केन्द्रबिन्दु की उपलब्धि के बिना सामान्य--समस्या भी महती–समस्या प्रमाणित हो जाया करती है ।

३–होलिकापर्व का प्रचलित स्वरूप, और तत्सम्बन्ध में सांस्कृतिक–तथ्य की अनुपलब्धि—

जबकि प्रत्यक्ष में प्रयास करने पर भी होलामहोत्सव के किसी उस अज्ञात देवता के अङ्ग--प्रत्यङ्गों के स्वरूपोपवर्णन--ध्यान--आदि हमें उपलब्ध नहीं हो रहे, जैसी कि उपलब्धि **रक्षाबन्धन–विजयदशमी–दीपावली**-नामक, पूर्वोपवर्णित सांस्कृतिक–आयोजनों में स्पष्ट है, तो अङ्ग–प्रत्यङ्गशून्य, अतएव **'अनङ्ग'** नामक उस अज्ञात देवता के अज्ञातस्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्तुत होलिकापर्व को किस आधार पर हम समन्वित करें ?, प्रश्न का समाधान कैसे, किस माध्यम से, किस शक्ति के अनुग्रह से सुलभ बने ?, यही वह प्रतिप्रश्न है, जिसके समन्वय के बिना कदापि इस आयोजन की उपक्रान्ति सर्वात्मना तो क्या, अंशतः भी तो समन्वित नहीं हो सकती । निबन्ध का उपक्रम करते हुए–'संस्कृति' शब्द का जो अर्थ समन्वित हुआ है, उसका मुख्य व्याप्तिस्थान आत्मब्रह्मरूप **'समब्रह्म'**, एवं अधिक से अधिक इस समब्रह्म से समन्विता सत्त्वबुद्धि है, जिसे तत्रैव 'देवभाव' कहा गया है (देखिए पृ० सं०७, ८,) । यों संस्कृति शब्द से प्रधानरूपेण **आत्मा**, तथा देव, ये दो भाव ही परिगृहीत हैं । अतएव वही भारतीय आयोजन **'सांस्कृतिक'** उपाधि का अधिकारी माना गया है, जिसमें प्रत्यक्ष, किंवा परोक्षरूप से आत्मभाव, किंवा देवभाव येनकेन रूपेण मूलप्रतिष्ठा बना रहता है ।

४-स्वस्वरूपविस्मारक वर्त्तमान होलामहोत्सव, एवं समस्यात्मक प्रश्न—

होलिका के सम्बन्ध में जिन आयोजनों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन आयोजनों का न तो बुद्धि से ही सम्बन्ध है, न आत्मा से ही सम्बन्ध है । अपितु जिसप्रकार मनःशरीरपरायण पशु–पक्षी--कीट–कृमि–आदि प्राकृतिक प्राणी प्रकृति के जड़परिवर्त्तनों के अनुपात से विकसित–संकुचित--स्तब्ध--उन्मुग्ध--उद्भ्रान्त--होते रहते हैं अपने मानसिक–शारीरिक--भावों से । तथैव होलामहोत्सव में मानवसमाज भी **आत्मसंवित्**, तथा **बुद्धिनिष्ठा**, दोनों को विस्मृत कर सर्वथा मनःशरीरधर्म्मा ही बन जाया करता है । स्वस्वरूपविस्मारक ऐसा होलामत्सव यों प्रत्यक्ष में सर्वथा ही मनःशरीरभावप्रधान बनता हुआ आत्मबुद्धिभावानुगत सांस्कृतिक--भाव से कुछ भी तो सम्पर्क रखता हुआ प्रतीत नहीं हो रहा । ऐसी स्थिति में इस विश्वविदित महोत्सव को किस आधार पर **'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व'** मान लिया गया ?, प्रश्न सचमुच ही तो महती समस्य का सर्जक प्रमाणित हो रहा है ।

५–होलिका–समस्या का जन्मदाता उत्सवप्रिय गुप्तसाम्राज्य—

'महती–समस्या' को किसने जन्म दिया ?, यह एक वैसा ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसके समन्वय के बिना होलामहोत्सव के परोक्ष–सांस्कृतिक--पक्ष की यथार्थता का समाधान प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । केवल--मानसिक--विलासों, एवं शारीरिक विजृम्भणों से समाकुलित होलामहोत्सव का

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

वर्त्तमान--स्वरूप अपने आत्मदेवभावानुगत मूलप्रतिष्ठान से क्यों, कैसे, कब वञ्चित होगया ?, प्रश्न भारतराष्ट्र को उस युग की ओर आकर्षित कर देता है, जिस युग में राष्ट्रप्रज्ञा अपनी मूलनिष्ठाओं को विस्मृत कर मानव के मनःशरीरभावों की ही अनुगामिनी बन गई थी। तीन सहस्र–वर्ष पूर्वारम्भ के जिस शून्यवाद ने भारतराष्ट्र को आत्मसत्ता, एवं तदनुप्राणिता देवसत्ता से पराङ्मुख कर दिया था, उस अनात्म--अदेव--शून्यवाद के निग्रहात्मक अनुग्रहयुग से ही भारतीय प्रजा उत्तरोत्तर आत्म–देवभावों से तो होती गई पराङ्मुख, एवं तत्स्थान में मनःशरीरभाव बनते गए प्रमुख। अभिनव--ऐतिहासिकों, एवं पुरातत्त्वविदों की मानस-भाषा में अत्यन्त ही सुप्रसिद्ध–सुसमृद्ध--गौरवपूर्ण **'गुप्तसाम्राज्य'** में तो इस सीमापर्य्यन्त भारतराष्ट्र अपनी सत्ता--सापेक्षतामूला--आत्मबुद्धिदासता से अभिभूत हो गया था कि, उस युग में सर्वत्र 'संस्कृति' की पवित्र अभिधा के माध्यम से उसी प्रकार सर्वत्र मनःशरीरप्रधान--व्यासङ्ग ही सर्वमूर्द्धन्य बन गए थे, जैसे कि वर्त्तमान स्वतन्त्रता के युग में उसी आत्म--देव--भावविस्मृति के कारण मनःशरीरमात्र--निबन्धन–नर्त्तन–वादन--गायनादि अमर्य्यादित नग्नताण्डव–चरित्रों को ही **'सांस्कृतिक आयोजन'** जैसी पवित्र--अभिधा से समन्वित कर देने की महती भ्रान्ति हो रही है।

६–विविध व्यवसायकुशल पणियों की वित्तैषणा से, तथा विविधोत्सवपरायण गुप्त–सम्राटों की लोकैषणा से निगमसंस्कृति का अभिभव, एवं अनुरञ्जनात्मक शृङ्गार--प्रधान साहित्य का सर्जन, और गुप्तकाल—

विविध व्यवसायों के द्वारा कुशल पणियों (वणिजों) के माध्यम से प्रचुर अर्थराशि का संग्रह हुआ भारत के उस गुप्तयुग में, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। तद्युग में प्रचण्ड–पौरुषयुक्त समुद्रगुप्तादि जैसे सबल--सशक्त भारतीय सम्राट्--नृपतियों के कारण राष्ट्र सर्वथैव असपत्न भी बना रहा। राष्ट्र के विद्वानों को भी अपने अध्ययनाध्यापन–विकास के लिए पूर्ण सुविधा उपलब्ध हुई वैसे सुसमृद्ध--सशक्त–भारतराष्ट्र में। और यों प्रत्यक्ष--भूतदृष्टि से गुप्तयुग सचमुच ही भारत का **'स्वर्णिमयुग'** प्रमाणित होगया। किन्तु इस स्वर्णिमयुग के मूल में शून्यवादात्मक जो काल्वालीकृत--अनात्मवाद प्रतिष्ठित हो चुका था, उसने राष्ट्रप्रज्ञा को उस अजस्र–सांस्कृतिक--ज्ञानविज्ञानस्रोत के साथ सम्पर्क स्थापित करने हीं नहीं दिया, जिस आत्मश्री के बिना बाह्य–भूत–लक्ष्मी अनियन्त्रित–अमर्य्यादित होती हुई शीघ्र ही अलक्ष्मीरूप में परिणत हो जाया करती है, जैसाकि दीपावली--प्रकरण में विस्तार से निवेदन किया जा चुका है। इस सांस्कृतिक–निष्ठा के प्रवाहावरोध का स्वयं गुप्तयुग में ही नग्न नर्त्तन आरम्भ हो चुका था, जैसाकि गुप्तयुग के विद्वानों की साहित्य--काव्य--नाटक–धाराओं से सर्वात्मना प्रमाणित है।

७-गुप्तकालीन सुसमृद्ध नौयानव्यापार के द्वारा द्वीपान्तरसम्पत्ति का आहरण, तद्द्वारा स्थापत्य--मूर्त्ति--प्रासादादि कलाओं का प्राचुर्य्य, विविध विलासों का सर्ज्जन, एवं सुसमृद्धा भूतजड़ता के व्यामोहन से आत्मसंस्कृति का पराभव—

गुप्तयुगकालीन सुसमृद्ध नौयान--साधन--जनित–व्यापार के अनुग्रह से द्वीपान्तरों से सरिताप्रवाह की भाँति आगता भूतलक्ष्मी के कारण सचमुच वह युग--स्थापत्यकला–मूर्त्तिकला–प्रासादशिल्प–नृत्य--गीत–

वाद्यादि--समन्वित मूर्त्त-भौतिक--सौन्दर्य्य की उस निःसीमा गरिमा पर पहुँच गया था, जिस जड़सीमा के आकर्षणबिन्दु पर पहुँच जाने वाले बाह्यकलासौन्दर्य्यभक्त मानव की बुद्धि का आत्मानुगत नैष्ठिक धैर्य्य विचलित हो जाया करता है। एवं परिणामस्वरूप, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणामस्वरूप मानव अपने आत्म--बुद्धिनिबन्धन 'संस्कृति' भाव को विस्मृत कर तथाकथित बाह्य--जड़-भौतिक-सौन्दर्य्य को ही 'संस्कृति' की उपाधि से समन्वित कर दिया करता है, एवं इसी में आसक्त व्यासक्त होकर अन्ततोगत्वा केवल मनः--शरीरधर्म्मा बनता हुआ सर्वात्मना अरक्षित ही प्रमाणित हो जाया करता है।

८-गुप्तयुगानुगता आसवपानपरायणता, वाराङ्गनानुगति, सामूहिक उद्दामविलास--लक्षणा पतनपरम्पराएँ, कुबेरसम धनपतियों के सप्तसमुद्रदानादि विजृम्भण, सत्ता एवं वणिग्दास तत्कालीन विद्वानों का साहित्य-कविता--व्यासङ्ग, और राष्ट्रीय संस्कृति का आत्यन्तिक पतन—

मनःशरीर-व्यासङ्गों को प्रधानरूपेण सर्वस्व-महत्त्व प्रदान कर देने वाले गुप्तयुगीय मानव ने सचमुच में अपना आत्मदेवभाव तो कर लिया था सर्वात्मना विस्मृत, एवं मनःशरीरभाव बना लिए थे इसने प्रधान, जिस की कृपा से ही आगे चल कर भारतीय प्रजा * आसवपान-वाराङ्गनागमन-सामूहिक उद्दामविलास-

---

*-गुप्तकाल के ही प्रसूत-रूप ईस्वी० ५ वीं शताब्दी से आरम्भ कर ८ वीं शताब्दी-पर्य्यन्त के जैनसाहित्य से प्रमाणित है कि, तदवधि में समाज का स्तर सर्वथा ही निम्न प्रमाणित होगया था। आत्मदेवप्रतिष्ठाशून्या निष्ठाविगलिता इसी जर्ज्जरावस्था के कारण सम्भवतः ७ वीं शताब्दी में अनात्मवादरूप शून्यवाद (बुद्धमत) पुनः अपनी जीर्णभस्त्रा से कायाकल्पपथानुगामी बन गया था, जो समुद्रगुप्तकाल में एकबार प्रसुप्त होगया था। इसी कायाकल्प के कारण पुनः भारतीय सम्राट् पौरुष-शून्य बन गए। कलिङ्गविजेता, विश्वविजेता अन्तिम सम्राट् अशोक ने इसी भस्त्रा के आश्रय से मानो सदा सदा के लिए ही भारतीय-साम्राज्यवैभव को स्मृतिगर्भ में विलीन कर ही तो दिया, जिसका प्रायश्चित्त आजतक भी नहीं हो सका है। शून्यवाद के इस नवीन जागरण के अनन्तर तो राष्ट्र के विद्या-पौरुष-पराक्रम-शौर्य्य-शक्त्युपासना-सभी कुछ प्रबलवेग से अभिभूत ही होते गए। परिणामस्वरूप इस अहिंसावादमें आसक्त राष्ट्र को आततायी-आक्रान्ताओंनें रक्तस्नान से ही आप्लुत करना आरम्भ कर दिया, जिस बर्बरतापूर्ण-रक्तस्नानेतिहास के अभिनव चरित्रों से तो सभी सुपरिचित होंगे ही। यों शक्ति-बल-पौरुष-शून्य-आत्मदेवशक्तिशून्य-शून्यवादी राष्ट्र की शून्या अहिंसाने 'अहिंसा' के वास्तविक-गरिमामहिमामय तत्त्व को आवृत कर राष्ट्र को सदा के लिए उन हिंसक-क्रूर-नराधमों का ही ग्रास बना डाला, जिस ग्रासाबद्धता से आज भारतराष्ट्र रक्तशून्य-ओज-तेजशून्य-पुरुषार्थशून्य-संघर्ष-शून्य-बनता हुआ अपने हा-हा-ही-ही-रूप भौंडे-हास-परिहासों को, नाच-गानों को हीं सांस्कृतिक-आयोजन-मानने, मनवाने का दम्भ करता हुआ यत्किञ्चित् भी तो लज्जित नहीं हो रहा। कालाय तस्मै नमः।

सामाजिक दुरवस्था के उस भीषण-पतनात्मक युग के चरित्रचित्रण के लिए ही तत्कालीन कविश्रेष्ठ शूद्रक ने जिस-**'मृच्छकटिक'** का निर्म्माण किया है, उसके संवाद विस्पष्टरूप से आत्मदेवभावशून्या-मनःशरीरपरायणा-पतनावस्था को ही व्यक्त कर रहे हैं। द्यूतकर्म्म-वेश्यागमन-सुरापान, एवं अन्यान्य हीन कर्म्मों का अनुगमन, आदि आदि संवादों से समवेत मृच्छकटिक ही पर्य्याप्त है उस कविप्रधान शृङ्गारयुग के उद्दाम-लीलाविलासों के नग्नचित्रण के लिए, इत्यालम्यालमेव।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नृत्यगीतवाद्यपरायणता–इत्यादि उन दुश्चरित्रों की अनुगामिनी बन ही तो गई, जिसे पर्य्याप्तरूपेण प्रोत्साहन मिला उस युग के उन राज्याश्रित,–किंवा कुबेरोपम–सप्तसमुद्रदानैषणानुगामी वैश्यतन्त्राश्रित–भारतीय–दास-विद्वानों की सौन्दर्य्यसुधाप्रवाहकुशला वाणी से, जो वाणी 'कविता' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिस शृङ्गारप्रधाना कविता के व्यासङ्ग में आसक्त व्यासक्त–आज के साहित्यिक–विद्वानों की प्रतिभा उसी पतनेतिहास–परम्परा के अनुपात से आज भी–'**परगुणश्लाघासु वाचंयमाः**' को ही अक्षरशः चरितार्थ कर रही है।

९–सत्तातन्त्रानुरञ्जनभावप्रधाना शास्त्रव्याख्याएँ, एवं तद्द्वारा सत्ताधीशों, तथा धनपतियों की चाटुकारिता, और भारतीय–शास्त्रप्रज्ञा का पतन—

मानसिक भावुता से आत्मबुद्धिस्वरूपव्यामुग्ध बन जाने वाले आत्मबुद्धिनिष्ठाशून्य भावुक भारतीय हिन्दूमानव ने परदर्शनप्रभावमूला-परसापेक्षतानुगता–सत्तासापेक्षता, वणिक्तन्त्रानुगता–अर्थसापेक्षता, एवं तद्-भिन्ना लोकसम्मानसापेक्षता के वारुणपाश में आबद्ध होकर अपनी ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा निगमागमपुराणसंस्कृति से तो बना लिया अपने आपको यों सर्वथा निरपेक्ष, तटस्थ, एवं अपनी वित्तैषणागर्भिता-लोकैषणा को सफल बनाने के व्यामोहन से सत्तासापेक्षतामूला सर्वलोकापेक्षता के समर्थक–अनुरञ्जक–चाटुकारिता–पूर्ण मतवादों, साहित्यवादों, कवितावादों, तथा विलासवादों के प्रति प्रमाणित कर लिया अपने आपको उस सीमापर्य्यन्त सर्वथा सापेक्ष ही, जिस सापेक्षता की पूर्त्ति के लिए इस ने, इसके प्रतिनिधि–संस्कृतिसन्देशवाहक विद्वद्वर्गने निगमागमशास्त्र की भी वैसी ही व्याख्याएँ कर डालीं, जिनसे इनके मानसिक मतवादों का समर्थन सम्भव था, किंवा जिन व्याख्याओं से इनके अभिभावक–सत्तातन्त्र–वणिक्तन्त्रादि प्रसन्न-प्रभावित होकर इन्हें लोकैषणात्मक सम्मान, तथा अर्थप्रदान कर दिया करते थे।

१०–विद्वानों की मनोनिबन्धना भावुकता के अनुग्रह से सांस्कृतिक-निष्ठा की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता—

तभी तो कलके ऐकश्वरवादी राजभक्त विद्वान् आज के अनेक वादात्मक गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र के समर्थन करने वाले वचनों के अन्वेषण में प्रवृत्त हो रहे हैं वर्त्तमान गणतन्त्रात्मक–प्रजातन्त्रवादयुग में। समस्त–सांस्कृतिक निधि के विद्यमान रहते हुए भी भारतराष्ट्र अपनी सांस्कृतिक–गरिमा से, लोकसौन्दर्य्य से, तत्प्रतिष्ठारूप आत्मैश्वर्य्य से क्यों, और कैसे वञ्चित होगया ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर इसकी वह भावुकता ही तो माना जायगा, जिसका आरम्भ हुआ तीन सहस्रवर्ष पूर्व, जिसे प्रोत्साहन दिया गुप्तयुगानुगता भूतसमृद्धि ने, जिसे पुष्पित–पल्लवित किया नारीसौन्दर्य्यवर्णनकुशल–शृङ्गारैकवर्णनप्रवण कवियों की कविताने, जिसे उत्तेजित किया संस्कृतिशून्य भारतीय नृपतियों की कमलविलासलीलाओंनें, एवं जिसे षोडश शृङ्गारों से आपाद-मस्तक सुसज्जित किया स्वार्थलिप्सासंसाधक विभिन्न मतवादोंनें। और यों सर्वसाधन–सज्जा–शृङ्गार–परायणा नवोढ़ा इस '**भावुकता**' का उपभोग किया सशक्त–पौरुषयुक्त आक्रान्ताओंनें, सिकन्दरनें, हूणोंनें, एवं बर्बर उन शकोंनें, जिन के '**शक**' का आज पुनः विक्रम के स्थान में प्रतिष्ठापन होगया है उसी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से।

११–हूण–शकादि–कालोत्तरभावी मुगलसाम्राज्य, तदुत्तरभावी बृटिशसाम्राज्य, एवं वर्त्तमान शासन, तथा भारतराष्ट्र की भावुकता, एवं भावुकता–माध्यमेन राष्ट्र का पारम्परिक आत्यन्तिक–पराभव—

शकानन्तर भावुकता से लाभ उठाया मुगलसाम्राज्यने, एवं इसी भावुकता के माध्यम से राष्ट्र का सर्वात्मना सर्व्वाङ्गीण शोषण किया बुद्धिनिष्ठ चाणाक्षचतुर बृटिशसत्तातन्त्रने। और दुर्भाग्य है यह भारतराष्ट्र का, किंवा इस की मूलसंस्कृति का कि, आज के इस सर्वतन्त्र-स्वातन्त्र्य-युग में भी इसी भावुकता के माध्यम से स्वयं इसी की सन्तति राष्ट्रीय गौरव का सर्वस्व निगरण कर जाने के लिए मानो कटिबद्ध ही बन चुकी है। निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से अपनी भावुकता से उत्पीड़िता आस्तिक–प्रजा, हिन्दूप्रजा ही आज उसी के द्वारा जीवित रहने वाले सत्तातन्त्र से 'साम्प्रदायिक' उपाधि से दण्डित हो रही है, जब कि वास्तव में सम्प्रदायवादात्मक–मतवादों के प्रवर्त्तक अन्य वर्ग इसी धर्म्मनिरपेक्ष--सत्तातन्त्र की वरदा अभया छत्रछाया में पुष्पित–पल्लवित होते हुए मानो इस राष्ट्र के प्रज्ञा-बुद्धि-वैभव का उपहास ही कर रहे हैं। और इसी उपहास को मूलप्रतिष्ठा बना कर भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्रवर्षों से 'होलामहोत्सव' के मनःशरीरनिबन्धन–बाह्य–अमानवीय–आडम्बरों को ही सांस्कृतिक–पर्व मानने मनवाने की भूल करता आरहा है।

१२–होलिकापर्वानुगत आत्मदेवभावसम्बन्धी महान् प्रश्न, एवं समस्या की महती जटिलता—

'महती समस्या को किसने जन्म दिया ?', प्रश्न–समाधान–प्रसङ्ग में सम्पूर्ण समस्याओं की मूलभूता–'समस्यानां समस्या' रूपा सर्वनाशकारिणी उस भावुकता का प्रासङ्गिक यशोगान हो पड़ा, जिसका आविर्भाव आत्मबुद्धिमूला निगमागमनिष्ठा की विस्मृति से, तथा मनःशरीरनिबन्धना परदर्शनात्मिका सापेक्षता से तीन सहस्र वर्ष पूर्व उद्भावित आत्मबुद्धिशून्य शून्यवाद से हो पड़ा था, एवं जिस शून्यवाद से आजतक राष्ट्रप्रज्ञा अपना परित्राण नहीं कर पाई है। अतएव इस राष्ट्रीय-प्रज्ञा का 'होलिका' जैसा **अग्निजागरणनिबन्धन**, असुरराक्षस-विनाशात्मक सांस्कृतिक–पर्व भी बाह्य प्रतीकासक्ति से अपनी सांस्कृतिकता से पराङ्मुख बनता हुआ केवल वैसे **'मनोविनोद'** का ही क्षेत्र प्रमाणित हो गया है, जो आत्मबुद्धिनिष्ठाशून्य मनोविनोद अन्ततोगत्वा सर्वनाश का ही कारण बन जाया करता है। अतएव हमें विवश बन कर स्वयं अपने आप से ही समस्यात्मक यह प्रश्न कर लेना पड़ा कि–होलिकापर्व का वह ऐसा कौन सा आत्मभाव, किंवा देवभाव है, जिसके कारण प्रत्यक्ष में लोकायोजन प्रतीत होने वाला भी यह आयोजन **'सास्कृतिक–राष्ट्रीय–आयोजन'** मान लिया गया ?। इति नु किञ्चिदिव प्रास्ताविकं–प्रश्नात्मकम्।

१३–पर्व--उत्सव--सम्मेलन--समारोह–नामक सांस्कृतिक आयोजनों की क्रमशः आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–भावप्रधानता का समन्वय—

प्रश्नसमाधान–समन्वय से पूर्व मानव से सम्बन्ध रखने वाले उन चारों आयोजनों को सिंहावलोकन-दृष्ट्या लक्ष्य बना लेना चाहिए, जिनका निबन्ध के प्रथम प्रकरण में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जचुका है। आत्मानुगत आयोजन को 'पर्व' कहा गया है, बुद्ध्यनुगत आयोज 'उत्सव' कहलाया है, मनोऽनुगत

आयोजन 'सम्मेलन' कहलाया है, एवं शरीरप्रधान आयोजन को 'समारोह' कहा गया है। इन चारों में भी प्रत्येक में मानव के चारों पर्वों का गौण-प्रधानरूप से समन्वय हो रहा है। अतएव चारों आयोजनों के प्रत्येक के चार-चार-आयोजन हो जाते है। सम्भूय ४ के १६ आयोजन हो जाते हैं। इन १६ आयोजनों में चारों आयोजन क्रमशः राष्ट्रीय-सामाजिक-पारिवारिक, तथा वैय्यक्तिक हैं। इन चारों में से सर्वादिभूत-आत्मानुगत-'पर्व' नामक 'राष्ट्रीय' आयोजन का ही स्वरूप प्रक्रान्त है, जिसके भी आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-भेदेन चार अवान्तर पर्व हो रहे हैं, जिन में से तीन पर्वों का दिग्दर्शन क्रमशः कराया जाचुका है। अब वह चौथा राष्ट्रीय पर्व हमारे सम्मुख है, जिस में शरीर प्रधान बना हुआ है। स्मरण रहे-'पर्व' से सम्बद्ध आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-चारों हीं पर्व आत्मप्रधान माने जायँगे, उत्सव से सम्बद्ध आत्मादि चारों पर्व बुद्धिप्रधान ही माने जायँगे, सम्मेलन से सम्बद्ध आत्मादि चारों पर्व मनःप्रधान ही माने जायँगे, एवं समारोह से सम्बद्ध आत्मादि चारों पर्व शरीरप्रधान ही माने जायँगे।

१४-चतुर्विध सांस्कृतिक आयोजनों का गौण--प्रधान--न्यायेन परस्पर ओतप्रोतभाव—

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि, 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से पूर्व-पूर्व-पर्व उत्तर-उत्तर-पर्व में समाविष्ट रहते हैं। अखण्डात्मा से आविर्भूत खण्डात्मारूप सोपाधिक भूतात्मा पहिला पर्व है, जिसका अर्थ है-आत्मसमन्वित (अखण्डात्मसमन्वित) आत्मपर्व (भूतात्मा)। दूसरा बुद्धिपर्व है, जिसका अर्थ है-आत्मसमन्वित (भूतात्मसमन्वित) बुद्धिपर्व। तीसरा मनःपर्व है, जिसका अर्थ है-बुद्धिसमन्वित मनःपर्व। चौथा पर्व है-शरीर, जिसका अर्थ है-मनःसमन्वित शरीरपर्व। इसका यह अर्थ निकलता है कि, आत्मपर्व अखण्डात्मयुक्त भूतात्मपर्व है, बुद्धिपर्व आत्मयुक्त बुद्धिपर्व है, मनःपर्व बुद्धियुक्त मनःपर्व है, एवं शरीरपर्व मनोयुक्त शरीरपर्व है। इसी से यह भी सर्वात्मना सुस्पष्ट है कि, आत्मनिष्ठ ब्राह्मण से अनुप्राणित रक्षाबन्धनपर्व आत्मयुक्त आत्मपर्व है, बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय से अनुप्राणित विजयदशमीपर्व आत्मयुक्त बुद्धिपर्व है, मनःपरायण वैश्य से अनुप्राणित दीपावलीपर्व बुद्धियुक्त मनःपर्व है, एवं शरीरपरायण शूद्र से अनुप्राणित होलिकापर्व मनोयुक्त शरीरपर्व है। 'पर्व' पर्वत्वेन आत्मप्रधान है, जैसे कि उत्सव-सम्मेलन-समारोह-नामक शेष तीनों आयोजन बुद्धि-मनः-शरीरत्वेन-क्रमशः बुद्धि-मनः-शरीर-प्रधान हैं। आत्मप्राधान्य ब्राह्मण-प्राधान्य का ही सूचक है। अतएव तत्प्रधान चारों ही पर्वों में कहीं साक्षाद्रूपेण, तो कहीं परोक्षरूपेण आत्मनिष्ठ ब्राह्मण का निगमाचार ही मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। आत्मप्रधान-निगमाचार के कारण हीं चारों आयोजन 'पर्व' कहलाए हैं, एवं इन चारों पर्वों की राष्ट्रीयता का यही मूलबीज है। इसी बीज को लक्ष्यारूढ करते हुए हमें चतुर्थ होलिकापर्व के मूलप्रतिष्ठारूप राष्ट्रीयता के मूलबीजात्मक आत्मानुगत उस 'निगमाचार' का ही अन्वेषण करना है, जिस आत्माचारनिष्ठानें हीं प्रत्यक्षरूपेण मनःशरीरप्रधान प्रतीत होने वाले भी होलिकापर्व को 'सांस्कृतिक-आयोजन' की उपाधि से सुविभूषित कर रक्खा है।

१—अखण्डात्मानुगतं—आत्मपर्व [आत्मयुक्तं-आत्मपर्व]-{ आत्मात्मानौ-आत्मा
२—आत्मपर्वानुगतं——बुद्धिपर्व [बुद्धियुक्तं-बुद्धिपर्व]-{ आत्मबुद्धी—बुद्धिः
३—बुद्धिपर्वानुगतं——मनःपर्व [बुद्धियुक्तं-मनःपर्व]-{ बुद्धिमनसी--मनः
४—मनोऽनुगतं——-शरीरपर्व [मनोयुक्तं-शरीरपर्व]-{ मनःशरीरे-शरीरम्

* * *

१—आत्मात्मानौ—तदनुगतं—रक्षाबन्धन-पर्व [ब्राह्मणपर्व—ब्राह्मणाचारात्मकम्
२—आत्मबुद्धी—-तदनुगतं—विजयदशमी-पर्व [क्षत्रियपर्व—-ब्राह्मणाचारसमन्वितम्
३—बुद्धिमनसी—-तदनुगतं—दीपावली-पर्व [वैश्यपर्व—-ब्राह्मणाचारयुक्तम्
४—मनःशरीरे—-तदनुगतं—होलिका-पर्व [शूद्रपर्व——ब्राह्मणाचारे प्रतिष्ठितम्

* * *

१५-होलिकापर्व के सांस्कृतिक स्वरूपसमन्वय का प्रयास, एवं नैगमिक जागरूक अग्निदेव का पावन संस्मरण—

लोकबुद्धि से अनुप्राणित, मनःशरीरप्रधान होलिकापर्व का मूलप्रतिष्ठात्मक नैगमिक आत्माचार क्या है ?, प्रश्न का समाधान ही प्रस्तुत 'होलिकापर्व' का वह सांस्कृतिक-स्वरूप है, जिसे विस्मृत कर देने वाला भारतराष्ट्र आत्माचारशून्य, केवल-मनःशरीरप्रधान बाह्य-प्रतीक-भावों को ही 'होलिका' का स्वरूप मान बैठा है। होली के बाह्याचार के सम्बन्ध में इसलिए कुछ भी निवेदन न करना हीं श्रेयःपन्था मान लिया है हमने इसलिए कि, इसके प्रतीकात्मक बाह्य-भावों के सम्बन्ध में जो कुछ कहना चाहिए था, वह तीन सहस्रवर्षों से निरन्तर कहा जारहा है। प्रकृतिसिद्ध, अर्थात् लोकबुद्धि से-युक्त मनःशरीरसिद्ध प्राकृतिक मानसिक शारीरिक कामभावात्मक हास-परिहासों-मनोविनोदों, नृत्य-गीत-वाद्यों, विविध-रङ्गरञ्जनों, आदि आदि से समन्वित होलिका के प्रतीकात्मक-बाह्य-भावसमुद्रों में हीं भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्र वर्षों से आपाद-मस्तक निमज्जित होता आरहा है। अतएव हमें तो उस निगमदृष्टि-युक्त-आत्माचार के सम्बन्ध में हीं दो शब्द निवेदन कर देने हैं, जो नैगमिक आचार तीन सहस्रवर्षों से प्रक्रान्ता मनःशरीरानुगता भावुकता के उत्तेजक आत्मबुद्धिशून्य-शून्यवाद के निग्रह से अन्तर्मुख ही प्रमाणित होता आरहा है। तदेव श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !! जिस 'अग्निजागरणनिबन्धन-होलिकापर्व' का सूत्र है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह-तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—ऋक्संहिता

१६-अग्निजागरण, एवं होलिकामहोत्सवानुगत चिरन्तन-सांस्कृतिक-इतिवृत्त का मनोराज्य में अन्वेषण—

"अग्निदेव जग पड़े हैं। ऐसे जागरूक अग्निदेव की ऋचाएँ कामना कर रहीं हैं। अग्नि जग पड़े हैं। ऐसे जाग्रत अग्नि की ओर साम अनुगत होरहे हैं। अग्नि जाग पड़े हैं। ऐसे जाग्रत अग्निदेव से सोम कह रहे हैं कि, हे अग्निदेव ! मैं [तो] आपका निचली श्रेणि में प्रतिष्ठित रहने वाला [भोग्य] सखा [मित्र] हूँ", यह है मन्त्र का अक्षरार्थ, जिसके द्वारा महर्षि ने आधेयरूप से अग्नि का जागरण ही बतलाया है। वह कौनसा सोम है, जो आधाररूप से स्वयं तो भोग्य बन जाता है, एवं अग्नि को आधेयरूप से अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर उसे अधिकाधिक प्रज्वलित होने का अवसर दे रहा है ?, इस प्रश्न के रहस्यात्मक समाधान में हीं **'होलिकापर्व'** का सम्पूर्ण चिरन्तन इतिवृत्त गर्भीभूत है। अन्वेषण कीजिए अग्निजागरणात्मक उक्त मन्त्रसूत्र

के आधार पर प्रश्न–समाधान का अपनी नैगमिक-आचारप्रज्ञा के द्वारा अपने मनोराज्य में हीं-**'मनीषिणो मनसा पृच्छतेतदु'–'हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा'** ।

१७-महाकालपुरुष के सत्तासिद्ध, एवं भातिसिद्ध नामक दो विवर्त्त—

महाकालपुरुष की महाशक्ति महाकाली से समन्वित अर्द्धनारीश्वर आदिदेव महादेव ने विश्वस्वरूप–संरक्षण के लिए अपने आपको **सत्ताकाल, भातिकाल**–रूप से दो महिमाभावों में परिणत किया, जिनकी कि दशमहाविद्या के प्रथम महाकाली–प्रकरण में स्तुति की जा चुकी है। **'करालं–कालकालं–महाकालं–कृपालुम्'**-लक्षण महाकालपुरुष का संस्मरण करते हुए ही आज हम उस महान् **'अग्निजागरणेतिवृत्त'** के यशोवर्णन में प्रवृत्त हो रहे हैं, जिसका **महर्षि दीर्घतमा** के सुप्रसिद्ध अस्यवामीयसूक्त के कतिपय–मन्त्रों से स्पष्टीकरण हुआ है। आनन्द–विज्ञान-गर्भित, मनः–प्राण–समन्वित–वाग्रूप, सहस्रवल्शेश्वर–षोडशी अश्वत्थात्मा-पूर्णेश्वर–प्रजापति ही वह 'सत्तासिद्ध' महाकाल है, जिसके आधार पर नाम-रूप–कर्म्मात्मक–भातिसिद्ध काल प्रतिष्ठित है। महाकालपुरुष की महाशक्ति महाकाली का ही यह प्रभाव है कि, मनःशरीरमात्रपरायण–मादृश–प्राकृत–प्राणी नामरूप–कर्म्मात्मक भातिसिद्धकाल को तो सत्तासिद्ध (वस्तुतत्त्व) मान रहे, और मनवा रहे हैं, जबकि तत्त्व–द्रष्टा महर्षियों की दृष्टि में नामरूपात्मक काल भातिसिद्ध ही है। एवमेव मनःप्राणवाग्रूप सुसूक्ष्म इन्द्रियातीत–सत्तासिद्धकाल हमारे लिए भातिसिद्ध बना हुआ है, जबकि ऋषिदृष्टि में यही वास्तव में सत्तारूप काल है, जिस की सत्ता से ही भाति भी भाति [प्रतीति] की अनुगामिनी बन रही है। यही तो **ऋषिप्रज्ञा,** तथा **लोकप्रज्ञा** में वह महान् अन्तर है, जिसके लिए कालपुरुषावतार भगवान् ने कहा है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ।। (गीता।२।६९।)

१८ महाकालपुरुष के पारम्परिक प्रतिनिधि—

"जो हम संसारियों के लिए रात है, तत्त्वज्ञों के लिए वही दिन है। उनके लिए जो दिन है, वही हम मूढ़मतियों के लिए रात है।" तथैव भातिसिद्ध काल हमारे लिए जहाँ सत्तासिद्ध बन रहा है, वहाँ तत्त्वदृष्ट्या वही वास्तव में सत्तासिद्ध है, जबकि जिस नामरूपात्मक विवर्त्त को हमने सत्तारूप मान रक्खा है, वह वस्तुगत्या भातिसिद्ध ही है। महाकालानुगत–तत्त्ववाद की इस दुर्बोध्या मीमांसा से हम होलिका जैसे उन्मुक्त–वातावरण को क्षुब्ध नहीं करना चाहते। अतएव महाकालपुरुष की इस गहनाटवी से बाहिर निकलते हुए हम लोकदृष्ट–श्रुत–उपवर्णित उस कालचक्र की ही शरण में आजाते हैं, जिसे हम अपनी लोक–व्यवहार–भाषा में **'वर्ष'** कहा करते हैं। अनन्त-असीम–कालपुरुष को मनमें हीं प्रणाम कर उनके ही इस सोपाधिक–सीमित **'वर्षकाल'** का आश्रय–ग्रहण कर लेना हीं हमारे लिए श्रेयःपन्था होगा, जिस वर्षात्मक–सम्वत्सरकाल को ही हम उस अनन्त–अनवच्छिन्न–लोकातीत–महाकालपुरुष का उसी प्रकार नैदानिक प्रतीक मान लेंगे, जैसेकि–वर्षात्मक सम्पूर्ण काल का प्रातिनिध्य एक अहोरात्र कर रहा है।

१९–सम्वत्सरकालानुगत कालाग्नि के दो विवर्त्त—

अनन्तकाल के प्रतिनिधि बने हुए, अतएव हमारे लिए तो **धाता यथापूर्वन्याय** से अनन्तभाव में ही परिणत रहने वाले इस **'सम्वत्सरकाल'** को हम जैसे बालबुद्धियों के लिए उपास्य–आराध्य–अनुगमनीय–

बनाने के लिए ही ऋषिप्रज्ञा ने अनेक सोपाधिक खण्डों में परिणत कर रक्खा है, मान रक्खा है, जोकि खण्ड-
काल, किंवा कालखण्ड **अयन**, **चातुर्म्मास्य**, **ऋतु**, **मास**, **पक्ष**, **अहोरात्र**, **मुहूर्त्त**, आदि आदि भेद से
अनेक विवर्त्तभावों में परिणत हो रहे हैं। अनन्तकालपुरुष जैसे **सत्ता**, और **भाति**-रूप से दो महिमाभावों में
परिणत है, तथैव तत्-प्रतीक-प्रतिनिधिरूप यह सम्वत्सरकाल भी उन्हीं दोनों सत्ता-भाति-रूपों से दो महिमा-
भावों में परिणत हो रहा है। **'वयोनाधकाल'** का नाम है भातिसिद्धकाल, एवं **'वयःकाल'** का नाम है सत्ता-
सिद्धकाल। क्या तात्पर्य्य ?। अभी यही तात्पर्य्य जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, प्रत्येक धामच्छद [स्थान घेरने
वाले] पदार्थ में पदार्थ, और पदार्थ का आकार, ये दो भाव प्रत्यक्षदृष्ट हैं। वस्तुपिण्ड की चारों ओर की
वर्त्तुल-षट्कोण-चतुष्कोण-त्रिकोणादि-बाह्यसीमाएँ हीं वस्तुपिण्ड का वह आकार है, जिस सीमात्मक बाह्य
आकार से वस्तुपिण्ड सीमित बना रहता हुआ अपने **अस्ति-जायते-विपरिणते-वर्द्धते-अपक्षीयते-**
नश्यति-इन छः प्रकार के भूतविकारधर्मों से समन्वित रहता है। आकार वस्तु नहीं है, अपितु आकार से जो आका-
रित है, वही वस्तु है, जो स्थानावरोधी तत्त्व है अत्रिप्राण के अनुग्रह से। आकार का नाम हीं **'वयोनाध'** है,
आकारित वस्तु का नाम हीं-**'वयः'** है। वयोनाध को ही **'छन्द'** [सीमा-आयतन] कहा गया है।
इस छन्द से छन्दित-सीमित वस्तु-तत्त्व का नाम हीं छन्दित पदार्थरूप वह **'वय'** है, जबकि इसे सीमा से
नद्ध-बद्ध सीमित करने वाला छन्द ही-**'वयोनाध'** है। यह वयोनाधरूप छन्दोभाव, तथा वयोरूप
छन्दित पदार्थ कहने मात्र के लिए दो विभिन्न तत्त्व हैं। वस्तुतः किसी एक ही अचिन्त्य-सदसद्विलक्षण तत्त्व
के ही दो महिमारूप विवर्त्तमात्र हैं। वही अन्तर्म्महिमा से 'वयः' है, बहिर्म्महिमा से 'वयोनाध' है। और ये
वयोनाध-वय-भाव ही क्रमशः-**भातिसिद्धकाल**, **सत्तासिद्धकाल** हैं, जो एक ही अनन्तकालतत्त्व के दो
महिमात्मक विवर्त्त हैं। जो नामव्यवहार भातिसिद्धकाल के लिए नियत हैं, प्रायः वे ही नामव्यवहार
सत्तासिद्धकाल के लिए नियत हैं। सम्वत्सर-अयन-चातुर्म्मास्य-ऋतु-मास-पक्ष-अहः-रात्रिः-आदि सत्ता के
नाम हैं, तो ये ही भाति के भी नाम हैं। क्या तात्पर्य्य ?, तात्पर्य्य यही है कि, उदाहरणरूपेण एक आम्रवृक्ष आपके
सम्मुख है। वसन्त में इसके नवपल्लव-आए, मञ्जरी आई, फल आए, वर्षा के आते आते आम्रवृक्ष आम्र-
फलों से समालुप्त होगया। ये पल्लव-शाखा-प्रशाखा-मञ्जरी-फल-आदि सभी सत्तासिद्ध हैं, धामच्छद 'वयो'
रूप पदार्थ हैं। इन्हीं का नाम हैं सत्तासिद्ध 'काल', जो भातिसिद्ध वसन्त-ग्रीष्मादि भातिसिद्ध कालों के द्वारा
सीमित हो रहा है। भातिसिद्धकाल से सीमित सत्तासिद्धकाल ही आम्ररूप में परिणत हो रहा है। आम्राकार
भातिसिद्धकाल है, आम्रवृक्ष सत्तासिद्धकाल है। काल से पीड़ित काल ('सत्ता' से पीड़िता 'भाति') ही आम्रवृक्ष
का सम्पूर्ण इतिवृत्त है *। दोनों में अस्मदादि सामान्य जन भातिसिद्धकाल का तो अपने व्यवहारों में-**'समय**
पर ही सबकुछ होता है' इत्यादिरूप से यशोवर्णन करते रहते हैं। किन्तु-**'समय पर समय** ही सबकुछ
बनता है' इस व्यवहार से हम अपरिचित हैं, जिसमें-**'समय पर'** का **'समय'** भाति का सूचक है, एवं
'समय ही' का **'समय'** सत्ता का सूचक है।

---

* **एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं, 'मां' चाचिन्त्यपराक्रमः ।**
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः-कालं कालेन पीड़यन् (मनुः १।५१।)

२०–सम्वत्सरप्रजापति, और उसके अग्न्यात्मक सम्वत्सर, तथा कालात्मक सम्वत्सर-नामक दो महिमा विवर्त्त—

क्या स्वरूपव्याख्या है सत्तासिद्ध काल की ?, तो उसी उपलालनभाव से निवेदन कर दिया जायगा कि–'**अग्नि**' ही स्वरूपव्याख्या है सत्तासिद्धकाल की। उपलालन शब्द का प्रयोग हमें इसलिए करना पड़ा कि, यही व्याख्या भातिसिद्धकाल की है। छन्दोरूप वयोनाध भी अग्नि ही है, छन्दित वस्तु भी अग्नि ही है। **छन्दोऽग्नि** भातिसिद्ध कालाग्नि है, **छन्दितोऽग्नि** सत्तासिद्ध कालाग्नि है। अग्न्याधार सोम ही वस्तुस्वरूप में परिणत हो रहा है। सोमाधार अग्नि ही वस्तुस्वरूप का छन्द बना हुआ है। और भातिसिद्ध, तथा सत्तासिद्ध,-दोनों हीं काल अग्नीषोमात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं। स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि ही पारमेष्ठ्य सोम का आधार है। यही सोमाधारभूत ब्रह्माग्नि है, जिसे हम भातिसिद्ध काल कहेंगे अपनी भूतत्रिलोकी की दृष्टि से। एवं पारमेष्ठ्य सोमाधार पर प्रतिष्ठित सौरकालाग्नि को ही हम कहेंगे–सत्तासिद्धकाल, जिस इस अग्नीसोमयुग्म से ही त्रैलोक्यपदार्थ प्रसूत हैं–'**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**'। और कदापि इस तथ्य का समन्वय भाषा–लिपि–आदि से सम्भव नहीं है। यह तो अनन्यनिष्ठा से स्वाध्याय के द्वारा अन्तर्म्मन में आराधना का ही विषय है, जिसका वैखरी वाणी के द्वारा व्यक्त करने का जितना अधिक प्रयास किया जायगा, तत्त्व उतना ही अधिक जटिल बनता जायगा। **यमेवैष वृणुते, तेन लभ्यः नानुध्यायान्–बहूञ्छब्दान्–वाचो विग्लापनं हि तत्**''।

२१–सम्वत्सरप्रजापति, और उसके छन्दःपुरुष, तथा यज्ञपुरुष नामक दो महिमाविवर्त्त–

छन्दोऽग्नि भातिसिद्धकाल है, जिसे सर्वसाधारण '**समय**' कहा करता है, एवं छन्द से छन्दित वयोरूप वस्त्वग्नि सत्तासिद्धकाल है, जिसे सर्वसाधारण '**पदार्थ**' कहा करता है। समय पर ही वस्तु उत्पन्न होती है, समय पर्य्यन्त ही उत्पन्न वस्तु ठहरती है, एवं समय आने पर ही वस्तु विलीन हो जाती है। यह 'वस्तु' ही सत्तासिद्धकाल है। यद्यपि यों दोनों हीं काल अग्न्यात्मक, किंवा अग्नीषोमात्मक हैं। तथापि समझने के लिए हम यहाँ छन्दोग्नि को तो '**काल**' कह देते हैं, एवं छन्द से छन्दित वस्तुरूप अग्नि को '**अग्नि**' कह लेते हैं। काल का नाम '**कालपुरुष**' रख लेते हैं, अग्नि का नाम '**यज्ञपुरुष**' रख लेते हैं। एवं महाविश्व में अव्यक्त **स्वयम्भू** को तो '**कालपुरुष**' का प्रतिनिधि मान लेते हैं, एवं व्यक्त **सूर्य्य** को '**यज्ञपुरुष**' का प्रतिनिधि मान लेते हैं। और इसी मान्यता के आधार पर अब हम यह कह सकते हैं कि, सौरब्रह्माण्ड ही वह सत्तासिद्ध कालाग्नि है, जिसके सम्वत्सर–अयन–चातुर्म्मास्य–ऋतु–मास–पक्ष–अहः–रात्रि–आदि कलनात्मक अवयव हैं। स्मरण रहे–सम्वत्सर–अयनादि 'समय' वाचक नहीं है इस दृष्टिकोण में। अपितु अग्नि की स्वरूपावस्थाओं का नाम हीं सम्वत्सर--अयनादि हैं, जो सम्वत्सर--अयन--चातुर्म्मास्य--आदि शब्द लोकव्यवहार में भातिसिद्ध, सुप्रसिद्ध '**समय**' रूप काल के भी संग्राहक बन गए हैं। सम्वत्सर अग्नि है। इसका भोग जितने समय में होता है, वह कालावधि भी 'सम्वत्सर' कहलाने लग पड़ी है। अयन अग्नि का नाम है, तद्भोग्यकाल भी 'अयन' कहलाने लगा है। और यही व्यवस्था चातुर्म्मास्य--ऋतु--मास--पक्ष–अहोरात्रादि में समन्वित हो रही है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

२२–अग्निसम्वत्सर से अभिन्न कालसम्वत्सरचक्र का स्वरूपदिग्दर्शन—

कालाग्निरुद्र, कालाग्निसूर्य्य, आदि शब्द अग्न्यात्मक–सत्तासिद्ध--सौराग्निकाल की ओर ही सङ्केत कर रहे हैं, जिसके सम्बन्ध में--'**कालसंज्ञमादित्यमुपासीत**' (मैत्र्युपनिषत् ६।१६।) इत्यादि प्रसिद्ध है। भातिसिद्ध इस सम्वत्सरचक्र (समयचक्र) के गायत्री--उष्णिक्--अनुष्टुप्--बृहती--पंक्ति--त्रिष्टुप्--जगती--नामक सात अवान्तर छन्द माने गए हैं, जो कि सप्त छन्द सौर आदित्यप्राण के वाहन–स्थानीय--'अश्व' बने हुए हैं। क्रान्तिवृत्तरूप एक ही छन्दोरूप अश्व गायत्र्यादि सात व्याहृतियों (नामों) में परिणत हो रहा है, जैसाकि--'**एको अश्वो वहति सप्तनामा**' इत्यादि से प्रसिद्ध है। ये ही सुप्रसिद्ध सात अहोरात्रवृत्तात्मक पूर्वापरवृत्त हैं, जिनके आधार पर सम्वत्सर के अवयवरूप कालात्मक अहोरात्रों की व्यवस्था व्यवस्थित है। त्रिकेन्द्रात्मक क्रान्तिवृत्त अण्डवृत्ताकार है। अण्डवृत्त का स्वरूपनिर्म्माण ही त्रिवृत्तों (वर्त्तुलवृत्तों) से हुआ करता है, जिसे '**दीर्घवृत्त**' कहा गया है। ऐसा है यह क्रान्तिवृत्तात्मक एकचक्रात्मक रथ, जिस इत्थंभूत कालचक्र पर (छन्दोरूप कालचक्र पर) आरूढ सत्तासिद्ध कालरूप सूर्य्यनारायण विश्वचक्षा–विश्वसाक्षी बने हुए हैं अपने भोग्य भास्वरसोमरूप चन्द्रमा को साथ लिए हुए। सत्याग्निमूर्त्ति सूर्य्य, तथा सत्यमूर्त्ति चन्द्रमा हीं–'**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः**' (ऋक्सं० १०।१९०।३।) के अनुसार इस व्यक्त–महाविश्व के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण बने हुए हैं, जिन इन दोनों में विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य ही वह रथाक्ष (धुरा) है, जो सम्वत्सरचक्ररूप रथ के अजस्ररूप से, अनवरतरूप से परिभ्रमण करते रहने पर भी नाममात्र के लिए भी तो उत्तप्त नहीं हो जाता *, जैसे कि लौकिक रथ की अक्षनाभि (धुरा–लौदण्ड) रथगति से उत्तप्त होकर रथगति की अवरोधिका बन जाया करती है। सत्तासिद्ध सौरकालाग्निगर्भित भातिसिद्ध कालात्मक–सम्वत्सरमण्डल के इसी स्वरूप का महर्षि दीर्घतमाने अनेक मन्त्रों से रहस्यपूर्ण विश्लेषण किया है, जिनमें से प्रकृत में केवल इसी मन्त्र का संस्मरणमात्र कर लिया जाता है कि—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥
—ऋक्सं० १।१६४।२।

२३-सम्वत्सरचक्रानुगत सनातन सृष्टिधाराक्रम—

छन्दोरूप सम्वत्सरचक्र के केन्द्र में प्रतिष्ठित अक्षरूप सूर्य्यनारायण हीं सृष्टिकामना से, 'एकोऽहं बहु स्याम्' लक्षणा सिसृक्षा से अपने प्राणमय तप से, तथा वाङ्मय श्रम से अपने अङ्गीस्वरूप को प्रस्तुत कर तद्द्वारा प्रवर्ग्यभाग में परिणत हो रहे हैं। एवं सत्यसूर्य्य, तथा सत्य चन्द्रमा के प्रवर्ग्य अग्नि–सोम हीं उस अङ्गभाव में परिणत हो रहे हैं, जिन अङ्गों की समष्टि को तो कहा गया है-सम्वत्सर, एवं जिन अङ्गों की

*** पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।**
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्य्यते सनाभि ॥
—ऋक्सं० १।१६५।१३।

व्यष्टियाँ प्रसिद्ध हुईं है अयन–चातुर्म्मास्य–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्रादि नामों से । समष्टि–व्यष्ट्यात्मक–प्रवर्ग्यरूप इन अङ्गों से ही सूर्य्यनारायण प्रजासन्तति के उत्पादक वन कर आज लोक-वेद में **'प्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसेकि अर्द्धाकाशात्मक पुरुष (पति), एवं अर्द्धाकाशात्मिका स्त्री (पत्नी) के दाम्पत्य से प्रवृत्त–अङ्गभूत शुक्र–शोणित के समन्वय से सन्तति उत्पन्न कर यह दम्पती 'प्रजापति' कहलाने लग पड़ता है । किंवा जिसप्रकार अपने स्वायम्भुव **ब्रह्माग्नि**, तथा पारमेष्ठ्य **सुब्रह्मसोम** के प्रवर्ग्य भागों से विराट्सूर्य्यपुत्र को उत्पन्न कर आदिब्रह्मा 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं । यही तो वह सनातन–सृष्टिधाराक्रम है, जो **आब्रह्मभुवनाल्लोकात्** (स्वयम्भुवब्रह्म से उपक्रान्त होकर पार्थिव प्राणिसर्गपर्य्यन्त) यथापूर्व उसी प्राजापत्य–मर्य्यादा से प्रक्रान्त है धारावाहिकरूपेण ।

२४–विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रतिमानभाव—

विश्वकर्म्मा स्वयम्भूने (आदिब्रह्माने) सृष्टिस्वरूपाविर्भाव के लिए जो सनातन नियम आचाररूप से स्वयं अपने दाम्पत्य–जीवन में समन्वित किए थे, **'शिक्षा सखिभ्यः०'** ÷ के अनुसार मानो अपने प्रतिमान-रूप ही इतर सम्पूर्ण समष्टि–व्यष्ट्यात्मक प्राणसर्गों–प्राणिसर्गों–भूतजड़सर्गों को उन्हीं सनातन–दाम्पत्य–नियमों की शिक्षा ही दे रहे हैं, जिस दाम्पत्य नियम के शिक्षण की जयन्ती से सम्बन्ध रखने वाला सौर-ब्रह्माण्डानुगत महोत्सव ही 'होलामहोत्सव,' किंवा 'होलिकापर्व' नाम से प्रसिद्ध है । एवं उसी उपक्रमतिथि को सनातनकाल से सनातन–आर्षप्रजा उस जयन्ती–उत्सव का ही मानो होलिका-दहन के माध्यम से प्रतिवर्ष सोत्साह–सोल्लास मनाती आहरी है, जिसके नैगमिक इतिवृत्त के सम्बन्ध में हीं हमें प्रकृत प्रकरण में दो शब्द निवेदन कर देने हैं ।

२५–सौरमण्डलानुगत दाम्पत्य–स्वरूप का दिग्दर्शन—

कौन सी है वह पावनतिथि, जिस दिन दाम्पत्यजीवन की मूलप्रतिष्ठारूपा सनातन–नियमधारा का उपक्रम हुआ था सौरब्रह्माण्ड में, एवं आज भी जिस उस तिथि पर ही प्राकृतिक दाम्पत्यजीवन प्रतिवर्ष उपक्रान्त होता रहता है ?, प्रश्न के समाधान से पूर्व दो शब्दों में सौरब्रह्माण्ड के 'दाम्पत्य' स्वरूप का ही हमें साक्षात्कार कर लेना चाहिए । श्रुति का एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है–**'तस्मादेकस्य पुरुषस्य बह्व्यो जाया भवन्ति'** । जिसका अक्षरार्थ है–**'एक पुरुषपति के अनेक जाया–पत्नियाँ हुआ करतीं हैं'** । इस श्रुति–के द्वारा प्रतिपादित तत्त्ववाद में न जाकर हमें रोदसीब्रह्माण्डाधिनायक सूर्य्यपुरुष के सम्बन्ध में हीं उन के जायाभावों का विचार कर लेना है, जिस सूर्य्यपुरुष के साथ तो उक्त श्रुति अवश्य ही सर्वात्मना समन्वित हो रही है ।

२६–सूर्य्यपुरुषानुगत विविध 'पत्नी' भाव—

शनैश्चर–बृहस्पति-देवसेना–मङ्गल–शुक्र–बुध–भूपिण्ड, आदि सभी पिण्ड सूर्य्य के उपग्रह माने गए हैं । अनन्त–पारमेष्ठ्य–सरस्वान् समुद्र में प्रचण्ड–उल्कात्मिरूप में परिणत ज्योतिर्म्मय पिण्ड ही सूर्य्य

÷ या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
—ऋक्सं० १०।८१।५।

का भृग्वङ्गिरोमय आदि स्वरूप था, जो प्राजापत्य–गतिशील–प्राण से समन्वित होकर प्रचण्डरूप से ही परिभ्रममाण था, आज भी परिभ्रममाण है, कल्पान्त–पर्य्यन्त यों हीं परिभ्रममाण बना रहेगा । परिभ्रममाण उस महान् ज्योतिःपिण्ड से जो भाग प्रवर्ग्यरूप से पृथक् होकर उसी स्थान में अपना अपना स्वतन्त्र परिभ्रमणावृत्त बनाते हुए अपने मूलप्रभव ज्योतिःपिण्ड के चारों ओर परिभ्रमण करने लग पड़े, आज भी परिभ्रमण कर रहे हैं, उन परिभ्रममाण प्रवर्ग्य भागों को ही '**उपग्रह**' कहा गया, एवं प्रवृक्त होने से जो शेष ज्योतिःपिण्ड बच रह गया, वही इन उपग्रहों की अपेक्षा '**ग्रह**' नाम से प्रसिद्ध होगया, जिसे कि व्यवहारभाषा में '**सूर्य्य**' कहा जारहा है । इसका यह ग्रहत्त्व अपने उपग्रहों से ही अनुप्राणित है, इन अपने उपग्रहों से ही यह स्थिररूप से परिभ्रममाण है, जबकि परमेष्ठ्यी की दृष्टि से तो यह भी उपग्रह बनता हुआ परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, जिस स्थिति का प्रकृत में प्रसङ्ग नहीं है ।

२७–ब्रह्मौदनरूप सूर्य्यग्रह के प्रवर्ग्यरूप सौर उपग्रह, एवं उनमें भू–उपग्रह का स्थान—

प्रवर्ग्यरूप उपग्रहपिण्ड ही भूपिण्ड–बुध–शुक्र–मङ्गल–आदि नामों से प्रसिद्ध हुए, जो सूर्य्य के उपग्रह कहलाए हैं । प्रत्येक उपग्रहपिण्ड अपने प्राणात्मक प्रथनभाव से '**यदप्रथयत्**' निर्वचन से 'पृथिवी' है । पृथिवीरूप प्रत्येक उपग्रह के लिए ग्रहरूप सूर्य्य 'द्युलोक' है । यों ग्रह–उपग्रह रूप से '**द्यावापृथिवी**' नामक एक अपूर्व सम्बन्ध का उदय हो पड़ता है । द्यौ एक है, उपग्रहरूप पिण्डपृथिवियाँ अनेक हैं । द्यौरूप ग्रहसूर्य्य पुरुष है, पति है । पृथिवीरूप उपग्रहपिण्ड स्त्री है, पत्नियाँ है । और यों एक ही सूर्य्यरूप द्युपुरुष के उपग्रहरूप अनेक पृथिवी–पत्नियाँ विद्यमान हैं, जिनमें से प्रकृत में हमारा सम्बन्ध उस '**जाया**' से है, जिसे '**भूपिण्ड**' नामक उपग्रह कहा जारहा है, जो कि हम भौम–पार्थिव–प्राणियों की सर्वस्व बनीं हुईं हैं । अन्य पृथिवी–पिण्डों के साथ भी सूर्य्यरूप द्युपिता का ऐसा ही दाम्पत्य सम्बन्ध हो रहा होगा, जिन रहस्यपूर्ण इतिवृत्तों का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है । पुराणशास्त्र की सुप्रसिद्धा **ज्योतिष्चक्रविद्या (खगोलविद्या)** में इन सभी सौर-दाम्पत्य–विवर्त्तों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है ।

२८ पार्थिवप्रजा के प्रवर्त्तक सौर–द्यावापृथिव्य–दाम्पत्य का स्वरूपदिग्दर्शन—

हमारा लक्षीभूत दाम्पत्य तो है सूर्य्य, और तत्प्रवर्ग्यभूत वह भूपिण्ड, जिस पर हम जन्म लेते रहते हैं कर्म्मसंस्कारानुसार । सूर्य्य पुरुष है, यही द्यौः है, यही पति है भूपिण्डरूपा हमारी पृथिवी का, एवं यही हमारा पिता है । '**यो नः पिता जनिता धाता०**' (ऋक्संहिता) । भूपिण्ड ही स्त्री है, यही पृथिवी है अपने प्रथनरूप से । यही पत्नी है * द्यौरूप सूर्य्यपति की, एवं यही हमारी माता है । '**द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः**'÷) इत्यादि मन्त्र इसी सौरदाम्पत्य का स्वरूप व्यक्त कर रहा है । वही सूर्य्य–

---

* द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ [मनुः]

÷ द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः ।
विश्व आदित्या आदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त ॥
—ऋक् सं० ६।५१।५।

पुरुष यों स्वयं अपने हीं ब्रह्मौदन, एवं प्रवर्ग्यभाव से ग्रह–उपग्रह रूप से दो भावों में परिणत होता हुआ पति–पत्नी--रूप में, द्यावापृथिवीरूप में परिणत हो रहा है। जिस प्रभु स्वयम्भू के दाम्पत्य से (ग्रहरूप द्यौः स्थानीय स्वयम्भू पिता, तथा उपग्रहरूप पृथिवी स्थानीय परमेष्ठी माता के दाम्पत्य से) विराट्सूर्य्य उत्पन्न हुए थे*, उसी प्राजापत्य–दाम्पत्य नियम का अनुगमन करते हुए स्वयं सूर्य्यनारायण में भी अपने ग्रहरूप स्वद्यौरूप से, तथा उपग्रहरूप स्वपृथिवी--रूप से, अपने आपको ही दाम्पत्यरूप में परिणत कर उस ÷ वैराज–मानवप्रजा को उत्पन्न कर दिया, जिसका प्रजननकर्म्म भी उसी सनातन–दाम्पत्यभाव का अनुगामी बना हुआ है।

२६–सौर दाम्पत्यभाव के आधार पर 'सम्वत्सर' शब्द का निर्वचनार्थ--समन्वय—

हाँ, तो मातृस्थानीय भूपिण्ड, तथा पितृस्थानीय सूर्य्यपिण्ड, इन दोनों द्यावापृथिवी–भावों की समष्टि का नाम हीं अपेक्षित वह दाम्पत्यरूप है, जिसके द्वारा हमें 'सम्वत्सर' शब्द की व्याख्या का अन्वेषण करना है। सूर्य्य को केन्द्र मान कर नियतवृत्तरूप–त्रिकेन्द्रात्मक–दीर्घवृत्त–क्रान्तिवृत्त पर स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ, इस स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाली दैनंदिनगति से अहोरात्र का स्वरूप--निर्म्माण करता हुआ भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर परिभ्रममाण है। सूर्य्य अपने हृदयाकर्षण से भूपिण्ड को अपने समीप आकर्षित कर रहा है, तो भूपिण्ड स्वयं अपने आकर्षण से सूर्य्य को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। इन दोनों समानाकर्षणों से मध्य में एक तीसरा ही वैसा नियत परिभ्रमणमार्ग बन जाता है, जो दोनों के आकर्षण–प्रत्याकर्षणों की सीमा निर्द्धारित कर रहा है। वही नियत मार्ग क्रान्तिवृत्त कहलाया है। 'वृत्त' का क्या अर्थ ?, क्या स्वरूप ?। यही अर्थ, और यही स्वरूप कि, भूपिण्ड अपने हृदयानुगत सत्य–ऋजुभाव से सर्वथा ऋजुमार्ग (सीधी रेखा) पर जाने लगता है, तो पुनः केन्द्रस्थ सूर्य्य भूपिण्ड को सीधा न जाने देकर वक्रित कर लेता है। यों परिभ्रमणशील भूपिण्ड की गति अपनी प्रतिबिन्दु से सूर्य्य की ओर अनुगत होती जाती है। प्रतिबिन्दु–बिन्दु–भावानुगता इस छद्मगति–कुटिलगति–वक्रगति से ही पार्थिवगतिमण्डल–'वृत्त' (चक्र) रूप में परिणत हो जाता है। जिसे वृत्त (छन्द–वयोनाध--चक्र) कहा जाता है, उसकी प्रतिबिन्दु केन्द्रानुगामिनी बनती हुई वक्रित होरही है। यह वक्रता ही वृत्तस्वरूप की सम्पादिका है। इसी वक्रता के कारण इस पार्थिव परिभ्रमणवृत्त का नाम रक्खा गया है–'**सर्वत्सर**'। '**सर्वतः–त्सरन्–गच्छति,–सर्वतः त्सरन्नेव भवति**' ही इस शब्द का निर्वचनार्थ है। जो गतिमण्डल अपने सम्पूर्णरूप से त्सरण ('त्सर' छद्मगतौ) कराता हुआ, प्रतिबिन्दु से कुटिल–वक्रित–बनता हुआ मण्डलरूप में परिणत हो रहा है, वही–'**सर्वत्सर**' कहलाया है, जो कि 'सर्वत्सर' शब्द ही परोक्ष–प्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में–'**सम्वत्सर**' कहलाया है, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

स ऐक्षत प्रजापतिः–सर्वं वाऽअत्सारिषं, य इमा देवता असृक्षीति, स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतत्–यत् सम्वत्सर इति। —शत० ११।१।६।१२।

---

* **यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।**
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
—ऋक्सं० १०।८२।३।

÷ **वैराजो वै पुरुषः** (ताण्ड्य० ब्रा० २।७।८।)।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

३०–कालसम्वत्सर, तथा अग्निसम्वत्सर–नामक दोनों सम्वत्सरों की सर्वत्सरसूला–सम्वत्सरता का समन्वय—

उक्त श्रुति कालात्मक, तथा अग्न्यात्मक, दोनों सम्वत्सरों का सम्मिलितरूप से स्पष्टीकरण कर रही है। अग्निरूप पार्थिव प्रजापति इस परिभ्रमण के द्वारा अपने आग्नेय भावों का पार्थिवप्रजा के निम्मीण में प्रस्रवण–करते जारहे हैं। इस पार्थिवपरिभ्रमण से ही पार्थिवतत्त्व प्रवर्ग्य बन कर पार्थिवप्रजा के निम्मीपक–स्वरूप–सम्पादक बन रहे हैं। सम्पूर्ण परिभ्रमणमण्डल में व्याप्त प्राजापत्य–पार्थिव अग्नि अपने इस सम्पूर्ण स्वरूप से प्रवर्ग्यदान करते हुए–**'सर्वं वा अत्सारिषं–य इमा देवता असृक्षीति'** को चरितार्थ कर रहे हैं। इस सर्व–प्रवर्ग्यदान--सम्बन्ध से जहाँ अग्न्यात्मक पार्थिवतत्त्व (सत्तासिद्ध अग्निकाल) सर्वत्सररूपेण 'सम्वत्सर' है, वहाँ कालात्मक पार्थिवमण्डल (अग्निसिद्ध कालाग्नि) भी अपने प्रवर्ग्याग्नि के प्रवर्ग्यदानानुपात से वक्रगतिरूप से 'सर्वत्सर' बन रहे हैं। कालात्मक सर्वत्सर का अर्थ है–**वक्रिता गति**, एवं अग्न्यात्मक सर्वत्सर का अर्थ है–**'सम्पूर्ण प्रवर्ग्य का दान'**। तत्त्वदृष्ट्या मण्डलरूपेण सर्वत्सरता दोनों सम्वत्सरों की संसिद्ध है।

जिस दाम्पत्य के आधार पर सनातननियमधारा का जिस पावनतिथि में उपक्रम होता है, उस दाम्पत्य के सम्बन्ध में **'एकस्य पुरुषस्य बह्वयो जाया भवन्ति'** अनुगमन से सम्बन्ध रखने वाले सौरप्रजापति के दाम्पत्य भाव–प्रसङ्ग में 'सम्वत्सर' का स्वरूप स्पष्ट करना पड़ा। द्युलोकाधिष्ठाता, अतएव 'द्यौः' नाम से ही प्रसिद्ध सूर्य्य हमारे पिता हैं, एवं पृथिवी हमारी माता है, जो सम्वत्सरमण्डलरूप क्रान्तिवृत्त के आधार पर पितासूर्य्य से दाम्पत्यभाव प्राप्त करती हुई अपने दाम्पत्यरूप इस 'द्यावापृथिव्य' स्वरूप से पार्थिवप्रजा के प्रजननोत्तर–दायित्त्व से समन्वित हो रही है। सम्वत्सरपरिभ्रमणमूलक इसी दाम्पत्यसम्बन्ध को 'सामविद्या' की भाषा में–**'सामातिमान'** कहा गया है। सौरसम्वत्सरमण्डल–**'बृहत्साम'** कहलाया है, पार्थिव सम्वत्सरमण्डल **'रथन्तर-साम'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उक्त परिभ्रमण से सौर बृहत्साम पार्थिवसाम में, तथा पार्थिव रथन्तरसाम सौर बृहत्साम में अन्तरान्तरीभावात्मक–ओतप्रोतसम्बन्ध से समन्वित हो जाता है, एवं इसी पारस्परिक समन्वय को 'सामातिमान' कहा गया है, जिसका लोकव्यवहारार्थ है–**'दाम्पत्यसम्बन्ध'**। दोनों का समन्वित होकर एक–पूर्णरूप में परिणत हो जाना हीं इस अतिमान का अर्थ है। द्यावापृथिवी–सामों के समन्वय से सम्पन्न एक सम्वत्सर ही दोनों का दाम्पत्य है। अतएव 'सम्वत्सर' शब्द से दोनों विवर्त्त परिगृहीत हैं।

३१–साम्वत्सरिक–द्यावापृथिव्य–दाम्पत्यभाव के संयोग, तथा विप्रयोगात्मक मिलन, तथा विरह–भावों का समन्वय—

'संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' (महाभारत) इस प्राकृतिक नियम के अनुसार संयोग का अन्तिम परिणाम विप्रयोग है, एवं विप्रयोग का अन्तिम परिणाम संयोग है। इसी नियम के अनुग्रह से सूर्य्य–पृथिवी का यह दाम्पत्य भी **संयोग, वियोग,** रूपेण दोनों नियमों का लक्ष्य बनता रहता है। सम्वत्सर–चक्रमण्डलात्मक क्रान्तिवृत्त को लक्ष्य बनाइए। 'क्रान्ति' शब्द का एक अर्थ है–**'विदूरभाव'**। जो वृत्त सूर्य्य-पिण्ड, तथा भूपिण्ड, दोनों के प्राणों को सामातिमान के द्वारा परस्पर अतिसन्निकट ला खड़ा करता है, वही वृत्त अपनी वाक्परिमाणात्मिका छन्दोमर्य्यादा से दोनों पिण्डों को परस्पर कदापि नहीं मिलने देता। इस विदूरभाव-प्रवृत्ति के कारण ही सम्वत्सरमण्डलात्मक परिभ्रमणवृत्त क्रान्तिवृत्त [सूर्य्य–भूपिण्ड को एक दूसरे से दूर रखने

वाला वृत्त) कहलाया है। क्रान्तिवृत्त क्योंकि त्रिकेन्द्रात्मक बनता हुआ दीर्घवृत्ताकार है, अण्डवृत्ताकार है। अतएव इसकी क्रान्ति (दूरी) में वृत्ताकारानुपात से विदूरत्त्व एवं सामीप्य होता रहता है। कभी दोनों एक दूसरे से अत्यन्त विदूर चले जाते हैं, तो कभी थोड़े सन्निकट आजाते हैं। कभी ऐसा भी सुअवसर आजाता है कि, दोनों एक ही धरातल पर आजाते हैं, जबकि पिण्ड तो सदा पृथक् ही रहते हैं। दृष्टिसमसाम्मुख्यता ही एकधरातलता है। इसी अनुपात--तारतम्य से इस क्रान्ति [दूरी] के चार-प्रधान स्तम्भ मान लिए गए हैं। दक्षिणाकाश की चरमसीमा, उत्तराकाश की चरमसीमा, ये दो बिन्दुएँ क्रान्ति की निःसोमबिन्दु हैं। अतएव इन्हें-'**परमक्रान्ति**' कहा गया है, जिसका अर्थ है सूर्य्य, और पृथिवी की अत्यन्त दूरी, जिन दोनों परम-क्रान्तियों में दिन-रात सब से बड़े हुआ करते हैं।

३२-प्राकृतिक दाम्पत्यानुगत--क्रान्तिरूप विप्रयोगभाव, एवं क्रान्तिपातरूप संयोगभाव--

सूर्य्य का अपना प्रतिष्ठावृत्त है सातों अहोरात्रवृत्तों (गायत्र्यादि सात छन्दों) में मध्य का 'बृहतीछन्द' नामक अहोरात्रवृत्त, जैसाकि-'**सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति**' इत्यादि से स्पष्ट है। यही बृहतीछन्द (मध्य का अहोरात्रवृत्तात्मक पूर्वापरवृत्त) **विष्वद्वृत्त**, किंवा **विषुववृत्त**, नाम से प्रसिद्ध है, जिसके केन्द्र में सूर्य्य स्थिररूप से प्रतिष्ठित है। '**मध्ये एकल एव स्थाता**' [छां० उप०] रूप सूर्य्यनारायण के इस विष्वद्वृत्त पर परिभ्रममाण भूपिण्ड जब आजाता है, तो दोनों की क्रान्ति [दूरी] हट जाती है। क्रान्ति का यह पतन ही '**क्रान्तिपात**' कहलाया है, जिसे ज्योतिर्वित् '**सम्पात**' कहा करते हैं। उत्तरपरमक्रान्ति, दक्षिणपरमक्रान्ति, इन दोनों परम-क्रान्तियों के अतिरिक्त वर्ष में दो बार ही इस क्रान्ति का 'पतन' भी हो जाता है, जो सम्पातकाल क्रमशः **वसन्तसम्पात, शरत्सम्पात** नाम से प्रसिद्ध है। यों वर्ष के क्रान्ति [दूरी] रूप वियोग, तथा सामीप्यरूप संयोगभावों के चार मुख्य स्तम्भ बन जाते हैं। इन चारों स्तम्भों में दो स्तम्भ-वियोगात्मक हैं, तो दो स्तम्भ संयोगात्मक हैं, और यहीं पुनः सूक्ष्मरूपेण कुछ और भी समझ लेना है।

३३--संयोगोपक्रमात्मक वसन्तसम्पातकाल, एवं विप्रयोगोपक्रमात्मक शरत्सम्पातकाल—

परिभ्रममाणा पृथिवी वसन्तसम्पातकाल में भी विष्वद्वृत्तस्थ सूर्य्य से संयोग कर रही है, एवं शरत्सम्पातकाल में भी सूर्य्य से संयोग कर रही है। और यों स्थूलदृष्टि से दोनों हीं सम्पातकाल संयोगकाल बने हुए हैं पृथिवी के लिए। किन्तु संयोगजनित परिणाम की दृष्टि से वास्तविक संयोगकाल तो दोनों संयोगकालों में से केवल वसन्तसम्पातात्मक संयोग ही माना जायगा, जिसमें सौराग्नि अपने मधुरूप से पार्थिव प्राणों के साथ संयोग करता है, जैसाकि '**वसन्त**' शब्द से ही स्पष्ट है। शरत्सम्पातात्मक संयोगकाल तो मधु अग्नि की उत्क्रान्ति का ही काल ही माना गया है, जैसाकि स्वयं 'शरत्' शब्द ही अभिव्यक्त कर रहा है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

३४--सूर्य्यपुरुष की पत्नीरूपा पृथिवी, एवं इसकी मिलनरात्रि, तथा वियोगरात्रि--

वसन्त में जहाँ सौर मधु-अग्नि पृथिवी से संयोग कर रहा है, वहाँ शरत् में पार्थिव सौर मध्वग्नि उत्क्रान्त हो रहा है। यों वसन्त जहाँ संयोगात्मक संयोगकाल बना हुआ है, वहाँ शरत् वियोगात्मक संयो काल बना हुआ है। व्यवहारभावानुसार-वसन्त में सौर मध्वग्नि का पृथिवी में प्रभूतमात्रा से आगमन

रहा है, एवं शरत् में सौर मघ्वग्नि प्रभूतमात्रा से पृथिवी से निकल रहा है। यों वसन्तसम्पातात्मक अहोरात्र जहाँ पृथिवी के लिए वास्तविक मिलन–अहोरात्र बने हुए हैं, वहाँ शरत्सम्पातात्मक अहोरात्र कहने सुनने मात्र के लिए पृथिवी के लिए संयोगकाल बनते हुए भी तत्त्वतः वियोगात्मक अहोरात्र ही प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव निष्कर्षतः वसन्तसम्पातात्मक अहोरात्र को ही हम द्यावापृथिवी (सौरपार्थिवप्राणों) के लिए 'दाम्पत्यकाल' कहेंगे, एवं इसी **वासन्तिक वासरानुगत** प्राकृतिक दाम्पत्ययुग्म को हम पार्थिव प्रजनन–कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा मानेंगे। वासन्तिक–वासरजनिता उन्मादभाषा में इस स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है अपने सछन्दस्क दाम्पत्यार्द्धाङ्ग से ही कि—वसन्तसम्पातानुगता रात्रि **'मिलनरात्रि'** है, एवं शरत्सम्पातानुगता रात्रि **वियोगरात्रि** है। आगमभाषा में यह कहा जासकता है कि, वासन्तिक नवरात्रतत्त्व शक्तिसञ्चयकाल है, एवं शारदीय नवरात्रतत्त्व शक्तिह्रासकाल है। अतएव उपासनाक्षेत्र में शारदीय-नवरात्रों का विशेष महत्त्व स्थापित हो गया है, जैसाकि द्वितीय–आयोजनप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

३५--दाम्पत्यसम्बन्धानुगत प्रजापति का प्रवर्ग्यात्मक विस्रंसन--

कालात्मक सम्वत्सर से (छन्दोरूप वयोनाध से) सीमित–छन्दित अग्न्यात्मक जिस सम्वत्सर का अबतक यशोगान हुआ है, उसके सम्बन्ध में सम्वत्सर के नामनिर्वचनप्रसङ्ग में पूर्व में यह कहा गया है कि, प्रजापति **'सर्वं वा अत्सारिषम्'** के कारण हीं 'सर्वत्सर' बन गए। एवं तभी से ये **'सम्वत्सरप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध होगए। क्या किया सम्वत्सरप्रजापति ने अपने त्सरणरूप विस्रंसन से ?। अर्थात् वसन्त सम्पातानुगत दाम्पत्य से प्रजापति ने कैसे, क्या उत्पन्न किया ?, यह प्रश्न उपस्थित हो पड़ा हमारे सम्मुख, जिसका वास्तविक समाधान रहस्यपूर्णा **'यज्ञविद्या'** पर ही अवलम्बित है, जिसका यहाँ नामसंस्मरण भी असम्भव है।

३६--विस्रंसनमूलक नित्ययज्ञ, एवं तद्द्वारा प्रजासर्गप्रसूति--

परिणाम इस 'यज्ञ' का यही हुआ कि, सम्वत्सर का भी स्वरूप सुरक्षित होता रहा इस यज्ञ से, एवं प्रजोत्पत्ति भी सनातननियमानुसार प्रक्रान्त बन गई। यों दाम्पत्य से सर्वप्रथम समुत्पन्न यज्ञ ने सम्वत्सरप्रजापति की क्षतिपूर्त्ति कर दी, एवं प्रजास्वरूप का भी निर्म्माण कर दिया, जैसाकि निम्नलिखिता स्मार्त्ती उपनिषत् से भी प्रमाणित है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ [गीता]

३७-दाम्पत्यभावानुगत प्रजापति का सृष्टिनिरपेक्ष सत्यस्वरूप—

इष्टकामधुक् (यथेच्छफलप्रदाता) सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप तथाकथित दाम्पत्य से कैसे सम्पन्न होगया !, इस प्रश्न का समाधान ही **'ऋतविद्या'** है, जिसके द्वारा सम्वत्सर की क्षतिपूर्त्ति भी हो रही है, एवं प्रजा–निर्म्माण भी हो रहा है। ऋतविद्यानुगत **'ऋत'** शब्द 'सत्यविद्यानुगत **'सत्य'** शब्दसापेक्ष है। सहृदय–सशरीर–वस्तुभाव ही 'सत्य' शब्द की स्वरूपव्याख्या है, एवं अहृदय–अशरीर–वस्तुभाव ही 'ऋत' शब्द की स्वरूपव्याख्या है। सम्वत्सरमण्डलरूप क्रान्तिवृत्त में प्रतिष्ठित सूर्य्य सहृदय–सशरीर बनते हुए 'सत्याग्नि'

मूर्ति हैं, एवं भास्वरसोममय चन्द्रमा सहृदय--सशरीर बनते हुए सत्यसोम–मूर्त्ति हैं। 'ब्रह्मौदनभाव' ही सत्य-स्वरूप की प्रतिष्ठा है, जो स्वस्वरूप की ही प्रतीष्ठा माना गया है। कदापि इस ब्रह्मौदनरूप से नवीन सर्ग प्रवृत्त नहीं होता।

३८–दाम्पत्यभावानुगत–प्रजापति का सृष्टिसापेक्ष ऋतरूप--

नवीनसर्ग प्रवृत्त होता है उस 'ऋत' रूप प्रवर्ग्य से, जो ब्रह्मौदनात्मक सत्य की सीमा से उच्छिष्टरूप से पृथक् होजाते हैं। सत्यसूर्य्यरूप ब्रह्मौदनाग्नि का उच्छिष्टरूप ऋताग्नि वह अग्नि है, जो सूर्य्यास्त होजाने पर भी सान्तपन–वायुरूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है। एवमेव सत्यचन्द्रमारूप ब्रह्मौदनसोम का उच्छिष्टरूप ऋतसोम वह सोम है, जो वातावरण में अपने शैत्यगुणक वायुरूप से सर्वत्र व्याप्त है। यों सत्यसूर्य्य, एवं सत्य-चन्द्रमा के ब्रह्मौदनरूप सत्याग्निसोमद्वन्द्व से पृथग्भूत ऋतरूप सौर वायव्याग्नि, ऋतरूप चान्द्र वायव्यसोम, इन दोनों ऋततत्त्वों की समष्टि का नाम हीं 'ऋत' तत्त्व है।

३६–ऋताग्नि--ऋत--सोमसमन्वयात्मक ऋतुकाल, एवं तदनुबन्धिनी प्रजासर्गप्रसूति–

इस 'ऋत' तत्त्व से समुत्पन्न, ऋताग्नि–ऋतसोम–समन्वय से उत्पन्न ऋताग्निसोमात्मक अपूर्वभाव का ही नाम है—'ऋतु', जिस इत्थंभूत ऋतुयज्ञ से ही ऋतुकालानुगामी प्रजासर्ग का आविर्भाव हुआ है, हो रहा है, होता रहेगा तबतक, जबतक कि इस 'ऋतु' तत्त्व के मूलप्रभव सत्याग्निसोममूर्त्ति सूर्य्यचन्द्रमा स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहेंगे। इसीलिए तो ऋतु से उत्पन्न–सृष्ट त्रैलोक्य पदार्थों के सम्बन्ध में–'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत्' मूला –'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' यह सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है।

४०–ऋतुकालानुगामी 'आर्त्तवयज्ञ', एवं तदनुबन्धी साम्वत्सरिक यज्ञ–*

ऋत अग्नि, ऋत सोम, दोनों के समन्वय से आविर्भूत अपूर्वभाव का ही नाम 'ऋतु' है, जो भोग-कालानुबन्ध से भातिसिद्ध भी है, एवं वस्तुकालानुबन्ध से सत्तासिद्ध भी है। कालात्मिका ऋतुसीमा से सीमिता ऋताग्निसोमात्मिका ऋतु ही वह 'यज्ञ' है, जिससे सूर्य्यचन्द्रपृथिव्यात्मक सम्वत्सर की क्षतिपूर्त्ति भी होती रहती है, एवं प्रजोत्पत्ति भी होती रहती है। इसी ऋतुयज्ञ के द्वारा षट्पर्वा, किंवा पञ्चपर्वा, किंवा त्रिपर्वा बन सम्वत्सरप्रजापति क्रमशः द्विपर्वा, त्रिपर्वा, षट्पर्वा, पञ्चपर्वा, त्रिंशत्पर्वा, पञ्चदशपर्वा, बनते हुए अहोरात्रभाव में परिणत हो रहे हैं, जो पर्व क्रमशः अयन–चातुर्म्मास्य–षड्ऋतु–पञ्चर्त्तु-

---

* तमागतं–पृच्छति–कोऽसीति ?। तं प्रति ब्रूयात्--विचक्षणात्--ऋतवो रेत आभृतं, पञ्चदशात् प्रसूसात् पित्र्यवतः। तन्मा पुंसि कर्त्तर्येरयध्वम्। पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्तः। स जायमान-उपजायमानो-द्वादश-त्रयोदश-उपमासो-द्वादश-त्रयोदशेन पित्राऽऽसं तद्विदे, प्रतितद्विदेऽहं--तन्म ऋतवो अमर्त्यव आरभध्वम्। तेन सत्येन तपसा ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि। कोऽस्मि, त्वमस्मीति--तमतिसृजते॥

—कौषीतक्युपनिषत् १।२।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मास–पक्ष–आदि नामों से प्रसिद्ध हैं, जिन इन पर्वों के आधार पर समष्ट्यात्मक (सम्वत्सरात्मक) ज्योतिष्टोमयज्ञ–अयनयज्ञ–चातुर्म्मास्ययज्ञ–ऋतुयज्ञ–दर्शपौर्णमासयज्ञ–अग्निहोत्र–आदि नित्य प्राकृति यज्ञ प्रतिष्ठित हैं। जिन इन नित्य–प्राकृतिक–यज्ञों के द्वारा ही भारतीय ऋषियोंनें सर्वसंसिद्धिप्रदात्री वैध–यज्ञविद्या का आविष्कार किया है। प्रकृत में उक्त यज्ञपर्वों में से केवल ऋतुयज्ञपर्व ही लक्षीभूत होलिकापर्व का आधार है। अतएव उसी के स्वरूप को विहङ्गमदृष्ट्या लक्ष्य बना लिया जाता है।

४१–योषा–वृषात्मक रयि, और प्राणतत्त्व, एवं दोनों तत्त्वों का प्रजाप्रसूतिकर्म्मानुगत–प्राकृतिक दाम्पत्य––

योषात्मक **रयिभाव**, एवं वृषात्मक **प्राणभाव** के समन्वय का नाम हीं 'दाम्पत्य' है, एवं यह दाम्पत्य ही प्रजननकर्म्म का मूलप्रवर्त्तक है। सोमभाव योषात्मक रयिभाव है, यही 'स्त्रीतत्त्व' है प्राकृतिक दाम्पत्य में। अग्निभाव वृषात्मक प्राणभाव है, यही 'पुरुषतत्त्व' है प्राकृतिक दाम्पत्य में, जैसाकि अग्रिम परिच्छेदों में यत्र तत्र अनेकधा स्पष्ट होने वाला है। ऋताग्निसोमात्मक ऋतुयज्ञ के स्वरूप–समन्वय के लिए अभी ऐसा मान लीजिए कि, मानो प्रकृतिमण्डल में सर्वत्र ऋतसोम का ही साम्राज्य है। मानो सम्पूर्ण पार्थिवधरातल सोममय बनता हुआ अपने योषात्मक–सौम्य–(रयिभावात्मक) स्त्रीभाव को ही अभिव्यक्त कर रहा है। यह वैसा समय है, जिसमें वृषात्मक–आग्नेय–(प्राणभावात्मक) पुम्भाव मानो सर्वथा ही स्त्रीभावात्मिका पृथिवी से पृथक् होरहा है। इस वियोगदशा में ग्रस्ता पृथिवी मानो मूर्च्छिता–तुषारानलपीड़िता ही प्रमाणित हो रही है। शरत्काल से उपक्रान्ता यह वियोगावस्था इस शिशिरकालान्त में तो मानों अत्यन्त ही भीषणदशा में पहुँच गई है। इसी पार्थिवावस्था को कहा गया है लोकभाषा में–'प्रचण्डशीतकाल'।

४२––मुखं वां एतत्सम्वत्सरस्य––यत्फाल्गुनी पौर्णमासी, एवं ऋतुराज 'वसन्त' का नाम निर्वचन––

अन्त में सौर इन्द्रदेवप्राण से समन्वित * फल्गुनीनक्षत्र के अनुग्रह से वसन्तसम्पातात्मक वह काल उपस्थित हुआ, जिसने सोममयी पृथिवी को अग्नि के साथ समन्वित कर दिया। और वही पुण्या–भाग्यशालिनी–पार्थिवसौभाग्यप्रवर्त्तिका तिथि '**फाल्गुनीपूर्णिमा**' नाम से प्रसिद्ध हुई ÷, जिसे सम्वत्सरारम्भ–रात्रि माना गया है, जैसा कि–'**मुखं वा एततसम्वत्सरस्य–यत् फाल्गुनी पौर्णमासी**' (शतपथब्राह्मण–६।२।२।१८।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। प्रचण्ड शीतकाल के सौम्य धरातल को लक्ष्य बनाइए, एवं इसी धरातल को उपक्रम मानकर '**ऋतुराज**' का जन्ममहोत्सव आरम्भ कीजिए। सर्वत्र शैत्यगुणक सोम का साम्राज्य था। किस सोम का ?, जो मव्वद अग्नि से वञ्चित होगया है। ऐसे इस सोमधरातलात्मक शीतधरातल पर मव्वद अग्नि का निवास-आरम्भ होगया। एवं यही अग्निवासात्मक प्रथमकाल अग्निनिवास के कारण '**वसन्त**' नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिस शब्द का निर्वचन माना जायगा यही कि––

***–फल्गुनीष्वग्नीऽआदधीत। एता वा इन्द्रनक्षत्रं––यत्फल्गुन्यः।**
अप्यस्य प्रतिनाम्न्यः। [शत० ब्रा० २।१।२।१२।]।

÷ सम्पातकाल का पूर्णिमा से सम्बन्ध नहीं है। अपितु यहाँ पूर्णिमा को निदानभावेनैव वसन्तसम्पात का प्रातिनिध्य समर्पित कर दिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

"यस्मिन् काले अग्निकणाः--पार्थिवपदार्थेषु निवसन्तो भवन्ति, सकालः-'वसन्तः' ।

४३--प्रवृद्धाग्नि से समन्विता ग्रीष्म--ऋतु, एवं 'ग्रीष्म'--नामनिर्वचन--

मध्वद और अग्नि के निवास से सोमानुगत शैत्य की प्रचण्डता उपशान्त होगई । विरह मिलनरूप में परिणत होगया । सर्वत्र मधुरिमा का साम्राज्य स्थापित होगया । और यों ऋतुराज वसन्त के आगमन के साथ ही लता–गुल्म–ओषधि–वनस्पतियाँ इस वसन्तमहोत्सव से थिरक उठीं, जैसाकि इसके 'मधु' नाम से ही स्पष्ट है, जिस 'मधु' का संस्मरण अनुपद में हीं होने वाला है । आगे चलकर अग्नि और प्रवृद्ध हुआ, प्रबलवेग से इसने सोम का आलिङ्गन कर लिया । इस प्रबल आलिङ्गन का परिणाम यह हुआ कि, ऋतु का सौम्य–माधुर्य्य अन्तर्म्मुख बन गया, एवं अग्निदेव की प्रचण्डता प्रधान बन गई । यही दूसरा ऋतुकाल माना गया, जिसे 'ग्रीष्म' कहा गया है, जिसका निर्वचन है—

"यस्मिन्काले--अग्निः पदार्थान् प्रचण्डवेगेन गृह्णाति, स कालो ग्रीष्मः" ।

४४--प्रचण्डग्रीष्मात्मक--'निदाघ' नामनिर्थचन--

ग्रीष्म के ही सामान्यवेग, अतिशयवेग–रूप से दो विभाग हो जाते हैं, जो दोनों ही विभाग 'ग्रीष्म' नाम से ही प्रसिद्ध हैं । वैशाख–अर्द्धज्येष्ठ का अग्निताप सामान्यवेगात्मक है, इसे ही **ग्रीष्म** कहा गया है । एवं शेष ज्येष्ठ, एवं अर्द्ध आषाढ का अग्निताप अतिशय वेगात्मक है । अतएव–**'यस्मिन् काले अग्निः पदार्थान् नितरां दहत्येव-इति, स कालो निदाघः'** रूपेण 'निदाघ' नाम से प्रसिद्ध हो गया है । दोनों हैं तत्त्वतः 'ग्रीष्म' हीं ।

४५–निःसीम अग्निभावात्मक 'वर्षा' नामनिर्वचन—

क्या निदाघरूप ग्रीष्मकाल में अग्नि का सोमसमालिङ्गनकर्म्म चरम सीमा पर पहुँच गया ?। नहीं । जब यह चरम सीमा पर पहुँच जाता है, आत्यन्तिकरूपेण प्रचण्डतम-प्रवृद्धतम–बन जाता है, उस समय तो स्वयं इसे भी अपनी उग्रता छोड़ कर उस मृदुभाव में आजाना ही पड़ता है, जिस द्रुतभाव को–**'आपः'** कहा गया है । 'अग्नेरापः' सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है । प्रचण्ड परिश्रमाग्नि ही स्वेदरूप आपः है, शोकाग्नि–संघर्ष ही शोकाश्रुरूप आपः है, स्नेहाग्निरूप संघर्ष ही प्रेमाश्रुरूप आपः है । इसी सहज नियमानुसार ग्रीष्माग्नि जब आत्यन्तिकवेग का अनुगामी बन जाता है, तो इसे अपने इस निरतिशय 'उरु' भाव को आपः रूप में परिणत कर लेना पड़ता है । और यही ग्रीष्मोत्तरकालीना वह **'वर्षा'** अवस्था है, जिसका निर्वचन किया गया है–**'यस्मिन् काले अग्निः–निरतिशयेन 'उरु'–इति वर्षाः'** । 'उरु' और 'वर्षा' का क्या सामाञ्जस्य ?, प्रश्न का उत्तर व्याकरणशास्त्र है । भगवान् पाणिनि के मतानुसार 'उरु' को 'वर्ष' आदेश हो जाता है । और यों 'उरु' शब्द ही 'वर्ष', किंवा 'वर्षा' रूप में परिणत हो जाता है । और यही तृतीय ऋतुकालमिलन की अन्तिम अवधि मानी गई है, जिसके अनन्तर तो पुनः वियोगकाल ही आरब्ध बन जाता है पृथिवी के प्राकृतिक–प्रारब्ध कर्म्मानुबन्धों के निग्रह से ।

४६–सौर मध्वद अग्नि की बाल–युवा--वृद्धा–अवस्थात्रयी का समन्वय—

तदित्थं–वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा, इन तीन ऋतुओं की समष्टि में क्रमशः मध्वद अग्नि अपने जन्मकाल से आरम्भ कर वृद्धावस्थापर्य्यन्त भोगानुगामी बन रहा है । और यही ऋतुत्रयात्मक अर्द्धसम्वत्सरकाल षण्मासात्मक

उत्तरायणकालात्मक देवकाल माना गया है, जिसमें अग्निदेवप्रमुख देवदेवताओं का ही प्राधान्य है, जैसाकि– 'वसन्तः, ग्रीष्मः, वर्षाः, ते देवा–ऋतवः' (शत० २।१।३।१।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है । चैत्र– वैशाखानुगता वसन्त–ऋतु, ज्येष्ठ-आषाढानुगता ग्रीष्म–ऋतु, एवं श्रावण–भाद्रपदानुगता वर्षा–ऋतु, रूप षण्मासात्मक अर्द्धसम्वत्सर का यही ऋतुत्रयात्मक अग्निप्रधानकाल है, जिसका अन्तिम वर्षापर्व अपने सर्वऋतुरूप को अभिव्यक्त कर रहा है । कैसे ?, श्रूयताम् ।

४७–अदो वर्षमकुर्म्म, और 'वर्ष' भावानुगत 'वर्षा' शब्द—

'वर्षाऋतु' का 'वर्ष' शब्द वस्तुतः पूर्ण सम्वत्सर का ही वाचक–सूचक–माना गया है लोकव्यवहार में, जैसाकि * अदो वर्षमकुर्म–अदो वर्षमकुर्म्म–इत्यादि वृद्धव्यवहार से प्रसिद्ध है । प्रश्न स्वाभाविक है कि, 'सम्वत्सर' वाचक 'वर्ष' शब्द का सम्बन्ध श्रावण–भाद्रपदमासद्वयमात्रसमष्टिरूपा प्रवृद्धतमाग्निरूपा एक ऋतुविशेष [वर्षाऋतु] के लिए ही कैसे, क्यों व्यवहृत हो पड़ा ? । इस प्रासङ्गिक प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि, मासद्वयात्मिका वर्षाऋतु (अनेक दृष्टियों से) सम्पूर्ण सम्वत्सर का प्रातिनिध्य कर रही है । क्योंकि वर्षाऋतु में शेष सभी ऋतुओं के धर्म्म समाविष्ट हो रहे हैं ।

४८–वर्षाऋतु से समन्विता ६ ऋतुएँ, एवं 'वर्षा' का 'वर्षत्व' (सम्वत्सरत्व)—

उदाहरण के लिए–जलवर्षण से पूर्व दिनों में ऊष्मारूप ग्रीष्म वैसा प्रचण्ड बन जाता है वर्षाऋतु में हीं, जैसी की प्रचण्डता स्वयं ग्रीष्मऋतु में भी उपलब्ध नहीं होती । इसी को–'ऊमस' कहा गया है, जो– 'ऊष्मा' का ही परिवर्त्तित रूप है । प्रवृद्ध उष्मा से युक्त वायु ही 'पर्जन्य' कहलाया है । एवं यह पर्जन्यवायु ही वृष्टि का प्रवर्त्तक बना करता है । राजपत्तनप्रान्त इसी प्रवृद्ध ऊमस को–'**मरोड़ा–पड़ना**' कहा करता है, जिसका स्पष्ट अर्थ है ताप की प्रवृद्धि । यों वर्षाऋतु वर्षणजल से पूर्वस्थिति–पूर्वदिनों में सदा ही ग्रीष्म की छटा से समन्वित बनी रहती है । जब वर्षाऋतु में ५–७ दिवस पर्य्यन्त निरन्तर वृष्टि होती रहती है, तो ऊष्मा सर्वात्मना शान्त होजाती है । वर्षा के इस नैरन्तर्य्य के अवसानदिनों में 'शरत्' की छटा आजाती है । मेघखण्ड शरदृतु की भाँति विदलित हो जाते हैं । और यों वर्षाऋतु में ही वर्षान्त दिनों में शरत् का भी भोग होता रहता है । यदि वृष्टि का प्रचण्ड–प्राबल्य है, तो यही शरत् हेमन्त–शिशिररूप–शीतर्तु रूप से भी समन्वित हो जाती है । यों वर्षा में हेमन्त–शिशिर–ऋतुओं का भी साक्षात्–भोग उपलब्ध हो रहा है । ऊष्मारूपा–ऊमस से पीछे, वर्षण से पूर्व जब पुरोवात (पुरवइया–पुरवाई) चलने लगता है, तो वसन्तछटा भी समाविष्ट हो जाती है वर्षाऋतु में । स्वयं वर्षा वर्षा तो है ही । तदित्थं–वर्षाऋतु में बालादि अवस्थाभेद से वसन्त–ग्रीष्मादि सभी ऋतुओं का भोग प्रमाणित हो जाता है ।

४९–विभिन्न दृष्टिकोण से वर्षाऋतु के जलवर्षण–कालमाध्यम से षड्ऋतुसमन्वय–

उक्त सर्वऋतुत्व सम्पूर्ण वर्षाकाल से ही अनुप्राणित माना जायगा, जबकि एक दूसरे दृष्टिकोण से वृष्टिदिनों में भी (वर्षाऋतु में भी–जब जब पानी बरसता है, उन उन अवान्तर कालों में भी) ६ ओं ऋतुओं

---

* अथादो वर्षमकुर्म्म, अदो वर्षमकुर्म्म-इति सम्वत्सरान्-पश्यन्ति ।

—शत० २।२।३।७।

का समावेश समन्वित हो रहा है। बरसने से पहिले जो पुरोवात चलता है कुछ समय के लिए, वह मानो वसन्त है। पुरोवात से सञ्चित मेघों में गर्ज्जन–तर्ज्जन ही मानो ग्रीष्म है, गर्ज्जन–तर्ज्जन के साथ बरस पड़ना हीं मानों वर्षा है। वर्षा के अनन्तर चमकने वाली बिजली ही मानो शरत् है। वर्षा का समाप्त हो जाना–उघाड़ हो जाना–और ठंढी हवा का चल पड़ना ही मानो हेमन्त-शिशिर ऋतु हैं। और यों इस दृष्टि से भी मासद्वयात्मिका सम्पूर्ण वर्षाऋतु में मध्ये मध्ये जलवर्षणकालों में परोक्षरूपेण ६ ओं ऋतुओं का भोग हो रहा है।

५०–तीसरे दृष्टिकोण से वर्षा के 'वर्षत्त्व' का समन्वय—

तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार इसलिए भी वर्षाऋतु को 'सम्वत्सर' वाचक 'वर्ष' शब्द के साथ समन्वित मानना सुसङ्गत बन रहा है कि, सम्पूर्ण वर्षा का वर्षत्त्व, वर्ष की समृद्धि इस प्रावृट्–ऋतु पर ही अवलम्बित है। वर्षा के जल से सुसमृद्ध बनता हुआ सम्वत्सर अपने प्राजापत्य–स्वरूप को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है। भूतात्मिका अर्थशक्ति इस वृष्टिजल पर ही अवलम्बित है। क्योंकि जिस यज्ञ से प्रजापति प्रजा उत्पन्न करते हैं, उस यज्ञ का स्वरूप अन्नात्मक हविर्द्रव्य की आहुति से ही सम्पन्न होता है। स्वयं अन्न की उत्पत्ति पर्जन्य से समन्वित वृष्टिजल पर ही निर्भर है। यों परम्परया वृष्टिजल ही अन्न के द्वारा यज्ञस्वरूप-समर्पक बनता हुआ सम्वत्सर प्रजापति को प्रजोत्पत्ति में समर्थ बना रहा है। अतएव इस दृष्टि से भी वृष्टिकाल को सम्वत्सरवाचक वर्ष शब्द से समन्वित किया जा सकता है, अवश्यमेव किया जा सकता है। इसी स्थिति को लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है—

स वै वर्षास्वादधीत। वर्षा वै सर्वऽऋतवः। वर्षा हि सर्वऽऋतवः- अथादो वर्षमकुर्मादोवर्षमकुर्मेति सम्वत्सरान्त्संपश्यन्ति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषां ऋतुनां रूपम्। उत हि तद्वर्षासु भवति–यदाहुः–'ग्रीष्मऽइव वाऽअद्य'–इति। उतो तद्वर्षासु भवति–यदाहुः–'शिशिरऽइव वाऽअद्य' इति। वर्षादिद्वर्षाः। अथतैदेव परोक्ष रूपं–यदेव पुरस्ताद्वाति–तद्वसन्तस्य रूपम्। यत्स्तनयति–तद्ग्रीष्मस्य, यद्वर्षति–तद्वर्षाणां, यद्विद्योतते–तत्–शरदः, यद्वृष्ट्वोद्गृह्णाति- तद्धेमन्तस्य। वर्षाः सर्वऽऋतवः। ऋतून् प्राविशत्।

—शत० ब्रा० २।२।३।७,८,६,।

५१–मध्वद् अग्नि की शीर्णावस्था का उपक्रम, तदनुबन्धिनी शरदृतु, तथा 'शरत' नाम–निर्वचन—

वर्षाऋतु की इसी सर्वरूपता के कारण भारतीय सङ्गीतशास्त्रने मनोधर्म्मा सङ्गीत–परायणों के लिए सर्वऋतुसमष्टिरूपा इस वर्षाऋतु में ६ ओं ऋतुओं के रागों का विधान कर दिया है। वर्षा में सभी ऋतुओं के राग, तथा रागनियाँ विहित हैं। इति नु प्रासङ्गिकम्। पुनः प्रकृतमनुसरामः। वसन्त से अग्निदेव सोमानुगत बने, वर्षा की समाप्ति पर अग्निदेव का साम्राज्य भी मानो उपरत-समाप्त होगया। और शरत्सम्पात्रूप–काल में मानो पुनः पार्थिव सोमधरातल से अग्निदेव पृथक् ही होने लग पड़े। यों पुनः संयोग का अन्त, एवं वियोग का उपक्रम होगया, जिसमें अग्निकण पार्थिव पदार्थों से शीर्ण ही होने लग पड़े। जिस इस काल में अग्निकण पदार्थों में से शीर्ण–पृथक्–वियुक्त होने लगे, वही वियोगारम्भकाल–'**यस्मिन् काले अग्निकणाः शीर्णा**

CC-0. Agamnigam Digitel Presevation Foundation, Chandigarh

भवन्ति–स कालः शरत्' रूप से '**शरत्**' नाम से प्रसिद्ध होगया, और यों वर्षा के विगत होते ही वियोग-विधायिनी शरदृतु का साम्राज्य होगया पृथिवी पर।

५२–मध्वद् अग्नि की हीनावस्था, तदनुबन्धिनी हेमन्त-ऋतु, तथा 'हेमन्त' नाम-निर्वचन–

आगे क्या हुआ ?। वही हुआ, जो ग्रीष्म में हुआ था। ग्रीष्म में अग्निदेवने जहाँ वेग से पदार्थों में अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया था, शरदनन्तर उसी वेग से अग्निदेव पार्थिव पदार्थों से वियुक्त होने लग पड़े, और यही शरदुत्तरकाल–'**यस्मिन् काले अग्निकणा हीनतां गता भवन्ति, स कालो हेमन्तः**' रूप से–'**हेमन्त**' नाम से प्रसिद्ध होगया। वर्षाकाल में जिसप्रकार अग्निदेव अपनी समृद्धि की चरमसीमा पर पहुँच गए थे, तथैव आगे चल कर हेमन्त के अनन्तर अग्निदेव सर्वथा ही पौनःपुन्यरूप से ही मानो पार्थिव पदार्थों से सर्वथा ही वियुक्त होगए।

५३–मध्वद् अग्नि की निःशेषावस्था, तदनुबन्धिनी शिशिर-ऋतु, एवं 'शिशिर' नाम निर्वचन—

हेमन्तोत्तरभावी वही काल–'**यस्मिन् काले अग्निकणाः–पुनपुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति, स कालः शिशिरः**' के अनुसार '**शिशिर**' नाम से ही प्रहिद्ध होगया, जिस काल में पार्थिव धरातल पुनः उसी सोमभाव से शेष रह गया। यों शरत् से आरम्भ कर शिशिर पर्य्यन्त अग्निदेव उत्तरोत्तर अभिभूत ही प्रमाणित होते गए। तत्परिणामस्वरूप शरत्–हेमन्त–शिशिररूप–षण्मासात्मक-इस दक्षिणायनात्मक–अर्द्ध सम्वत्सरकाल में अग्निप्रमुख देवप्राण तो गौण बन गए, एवं सोमप्रमुख पितरप्राण प्रधान बन गए, जैसाकि–"**शरत्–हेमन्तः–शिशिरः–ते ऋतवः–पितरः**' (शत० २।१।३।१।) इत्यादि से प्रमाणित है।

५४–अग्निदेव की प्रस्तावसामानुगता निधनसामावस्था, एवं ६ विवर्त्तों का समन्वय—

यों अग्निदेव के जन्म से आरम्भ कर अवसानपर्य्यन्त प्रक्रान्त ऋतुसोम से समन्वित ऋताग्नि के वृद्धि–ह्रास–क्रम से सोमाग्निमयी एक ही ऋतु के **वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत्–हेमन्त–शिशिर**–ये ६ विवर्त्त हो गए, जिन में वसन्त सम्वत्सराग्नि का '**प्रस्तावसाम**' कहलाया, एवं शिशिर '**निधनसाम**' कहलाया, वर्षा '**उद्गीथसाम**' साम नाम से प्रसिद्ध हुआ, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

षड्ऋतुस्वरूपपरिलेखः—

* १–पदार्थेषु—वसन् अग्निरेव–**वसन्तः** (प्रस्तावसाम–अग्नेः

२–पदार्थान् गृह्णान् अग्निरेव–**ग्रीष्मः**

३–पदार्थेषु—उरु—-अग्निरेव–**वर्षाः** (उद्गीथसाम–अग्नेः

—आग्नेय-ऋतवः (देवाः)

— —

४–पदार्थेभ्यः–शीर्णः–-अग्निरेव–**शरत**

५–पदार्थेभ्यः-हीनः—-अग्निरेव–**हेमन्तः**

६–पदार्थेभ्यः-विनिर्गतः-अग्निरेव–**शिशिरः** (निधनसाम–अग्नेः)

—सौम्य-ऋतवः (पितरः)

*

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

५५–सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता, तदनुबन्धी पञ्चर्त्तुभाव, एवं सम्वत्सरयज्ञ के पाँच प्रमुख अवयव—

उक्त ६ ओं ऋतुओं की समष्टि ही 'सम्वत्सरप्रजापति' है । और यही ऋताग्नि–ऋत–सोममयी '**ऋतविद्या**' से सम्बन्ध रखने वाली 'ऋतु' की एकप्रकार की स्वरूप-व्याख्या है, जिसका पाङ्क्तयज्ञ (पञ्चावयव यज्ञ) के अनुबन्ध से अन्यत्र–'**पञ्चर्त्तवः सम्वत्सरस्य**' इत्यादिरूपेण पाँच ऋतुओं पर भी पर्य्यवसान मान लिया गया है, जिस पर्य्यवसान का भी दो शब्दों में समन्वय कर लेना चाहिए । अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरप्रजापति के **अयन–चातुर्म्मास्य–ऋतु–पक्ष–अहोरात्र**–रूप से पाँच प्रमुख अवयव हैं, जिनके द्वारा क्रमशः **अयनेष्टि, चातुर्म्मास्येष्टि, ऋतु--इष्टि, दर्शापूर्णमास, अग्निहोत्र**–ये पाँच यज्ञकर्म्म सम्पन्न होते हैं, जो कि अङ्गकर्म्म–अवयवरूप क्रत्वर्थ कर्म्म कहलाए हैं, जिनके अनन्तर ही अङ्गी–पुरुषार्थरूप–सम्वत्सरयज्ञ-लक्षण–'**ज्योतिष्टोम**' (सोमयाग) का स्वरूप सम्पन्न होता है । सम्वत्सरयज्ञ की इस पाङ्क्तारूपा पञ्चावयवता के कारण ही तदवयरूप ऋतु के भी यज्ञानुरोध से पाँच ही प्रमुख पर्व बन जाते हैं । पञ्चर्त्तुरूप–पञ्चावयव–सम्वत्सरयज्ञ ही क्योंकि सर्वात्मना मानव–मानवीयरूप पुरुषयज्ञ का प्रवर्त्तक बनता है । अतएव मानवरूप पुरुषयज्ञसंस्था में यज्ञपाङ्क्तता के कारण पञ्चप्राण–पञ्चेन्द्रिय–पञ्चाङ्गुलि–पञ्चभूतचिति–आदि आदि रूपेण अनेक पञ्चावयव–भाव समन्वित हो रहे हैं, जिन इन सम्पूर्ण पञ्चभावों के समन्वय–परिज्ञान के लिए तो पञ्चपर्वा प्रकृति का ही निष्ठापूर्वक अध्ययन करना चाहिए । प्रकृत में ऋतुप्रसङ्ग से केवल पञ्चर्त्तु का ही समन्वय अभीप्सित है ।

५६–पञ्चर्त्तु–स्वरूपानुगता अग्निचयनविद्या से समन्वित यज्ञप्रजापति—

हेमन्त, एवं शिशिर, इन दोनों ऋतुओं को एक शीतर्त्तु मानते हुए ऋषि ने–'**हेमन्त–शिशिरयोः समासेन**' इत्यादि रूप से ६ के स्थान में पाँच ही ऋतुओं की प्रमुखता मान ली है यज्ञ की पाङ्क्तता के अनुबन्ध से । इस दृष्टि से प्रत्येक ऋतु ७२–७२ अहोरात्र की बन जाती है, जबकि षड्ऋतुपक्ष में प्रत्येक ऋतु ६०–६० अहोरात्र की बनी हुई है । दोनों पक्षों में वैज्ञानिक–सुसूक्ष्म–तत्त्व–समन्वयापेक्षया पञ्चर्त्तुपक्ष ही विशेषरूप से मान्य हुआ है । सम्वत्सरमूला अग्निचयनविद्या की समस्त इतिकर्त्तव्यता (व्याख्या) पञ्चर्त्तु-स्वरूप पर ही प्रतिष्ठित है ।

५७–सवनत्रयात्मिका द्वासप्तति (७२) अहोरात्रात्मिका ऋतु, एवं तदनुबन्धी पञ्चर्त्तु-स्वरूप-पमन्वय—

द्वासप्तति–द्वासप्तति–अहोरात्रों से कृतरूपा पाँच ऋतुओं में (प्रत्येक में) **षोडश--चत्वारिंश–षोडश** (१६–४०–१६)–रूप से तीन तीन सवन प्रतिष्ठित हैं, जो क्रमशः **प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन**, नाम से प्रसिद्ध हैं । उदाहरण के लिए वसन्तु ऋतु को ही लीजिए । इसके आरम्भ की बालावस्था **प्रातःसवन** माना जायगा, मध्य की युवावस्था **माध्यन्दिनसवन** कहा जायगा, एवं अन्त की वृद्धावस्था **सायंसवन** माना जायगा । मध्य की युवावस्था ४० दिन की मानी जायगी प्रत्येक ऋतु की, जो लोकभाषा में–'**चिल्ला**' नाम से प्रसिद्ध है । हेमन्त–शिशिररूप शीतर्त्तु की ४० दिवस की युवावस्था क्योंकि अस्मदा

पार्थिव–प्राणियों के लिए [ग्रीष्मप्रधान भारतीय प्राणियों के लिए] असह्य हो जाती है। क्योंकि भारतराष्ट्र भारत अग्नि के प्राधान्य से * अग्निप्रधान है। अतएव हमारे लिए शीतर्त्तु का चिल्ला ही प्रसिद्ध हो गया है। अतएव च शीतर्त्तु के आते ही इसकी युवावस्थारूप दारुणशीतात्मक शीतकाल [धन राशि के १५ दिन, और मकर राशि के २५ दिन, इन ४० दिनों से युक्त शीतकाल ÷] से कम्पित होते हुए हम– **'चिल्ला लग गया, चिल्ले का जाड़ा पड़ रहा है, कड़ाके की ठंढ पड़ने लगी है''** इत्यादि रूप से क्रन्दन करने लग पड़ते हैं। अन्य ऋतुओं की ४० अहोरात्ररूपा युवावस्था [चिल्ला] क्योंकि हमें उत्पीड़ित नहीं करती। अतएव वे अन्य चिल्ले लोकव्यवहार में प्रसिद्ध नहीं हो पाए हैं, जबकि चिल्ले सभी ऋतुओं में उसी अनुपात से व्यवस्थित हैं। पाँचों ऋतुओं में मध्य–मध्य की युवावस्थारूपा ४० अहोरात्रात्मिका उदग्राभावस्था ही ऋतु का वास्तविक भोगकाल माना गया है। इन पाँचों ऋतुओं का मुखस्थान वसन्त ही बना हुआ है। अतएव अवश्य ही ऋतुप्रतिष्ठारूप वसन्त को प्रमुख ऋतु माना जासकता है, माना गया है, जैसाकि इसकी–'**ऋतुराज**' उपाधि से स्पष्ट है। हमारी ये सांस्कृतिक–वैदिक–परम्पराएँ जहाँ कृत्रिमबुद्धि-शाली सुसभ्यों की जीवनधारा से आज सर्वात्मना पराङ्मुख प्रमाणित हो चुकी हैं, वहाँ इस भूतव्यामोहन-रूपा, अतएव सर्वव्यामोहनपरायणा नवीन शिक्षा का साम्राज्य जिन हम ग्रामीणों में सौभाग्य से नहीं हो पाया है, वे ग्रामीण तो आज भी अपनी उसी पञ्चर्त्तुविज्ञानपरम्परा के सांस्कृतिक–स्रोत से गच्छतः स्खलन-रूप से समन्वित होते आरहे हैं, जैसाकि–इनके–'**पून्यूँ पड़वा गाले, तो दिन बहत्तर टाले**' इत्यादि लोकसूक्ति से प्रमाणित है। ७२ अहोरात्रात्मिका वर्षा ऋतु की आरम्भ की पूर्णिमा, किंवा प्रतिपत् को यदि वर्षा हो जाती है, तो फिर पूरे ७२ दिन ही वर्षा नहीं हो पाती, यही शकुनसूक्ति का अक्षरार्थ है। निवेदन अत्र यही करना है कि, यज्ञानुबन्ध से वैदिक–यज्ञकर्म्मों में प्रधानरूपेण सम्वत्सर की पाँच ही ऋतुओं को प्रमुखता दी गई है, जैसे कि शास्त्रीय विधि–विधानों में अमान्त मास ही प्रमुख माना गया है।

५८–शास्त्रीय शुक्ल–कृष्ण–पक्ष–व्यवस्थानुगत पञ्चर्त्तुस्वरूप–समन्वय,–एवं तदनुगत-पञ्चप्रयाज—

वणिक्तन्त्र के वारुण–पाश से आबद्ध उत्तरभारत जहाँ वणिग्भावानुगत पूर्णिमान्त मास का अनुगामी बन गया है, वहाँ इस तन्त्र से अंशतः स्वतन्त्र रहने के कारण भारतीय संस्कृति के ध्वंसावशेषों की आराधना करने वाला सांस्कृतिक दक्षिण भारत तो आज भी अपनी व्यवस्था में अमान्तमास को ही प्रधान मानता चला आरहा है। आज भी वहाँ शुक्लपक्ष पूर्व है, कृष्णपक्ष उत्तर है, जिस इस सांस्कृतिक–शास्त्रीय–परम्परा के संरक्षण के लिए उत्तरभारत को दक्षिणभारत का अभिनन्दन ही करना चाहिए। ब्राह्मणग्रन्थों के सुप्रसिद्ध '**प्रयाजकर्म्म**' में पञ्चर्त्तु का विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिस प्रयाजकर्म्म का मूलसूत्र है— ''ऋतवो ह वै प्रयाजाः। तस्मात् पञ्च भवन्ति [प्रयाजाः]। पञ्च हि ऋतवः'' (शत० १।५।३।१)।

***–अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति** (यजुःसंहिता)

÷–धने शीतं चतुर्गुणम्। मकरे दारुणं शीतम्। कुम्भे शीतमशीतं वा। मीने शीतं निवर्त्तते।

षट्, पञ्च, विवर्त्तों के अतिरिक्त ऋतु के सात–तीन–आदि और और भी अनेक विवर्त्त हैं, जैसाकि–'त्रयो वा ऋतवः सम्वत्सरस्य' (शत० १।५।२।१६।)–'सप्तर्त्तवः–सम्वत्सरः' (शत० ६।६।१।१४।) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। ऋतुत्रयपक्ष में वसन्तग्रीष्म मिल कर एक **ग्रीष्मर्त्तु** है, वर्षाशरत् मिल कर एक वर्षर्त्तु है, एवं हेमन्त–शिशिर मिल कर एक **शीतर्त्तु** है। **ग्रीष्मकाल–वर्षाकाल–शीतकाल–रूपेण** तीन काल भी लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हैं। इसी आधार पर 'चातुर्म्मास्य' प्रतिष्ठित है। ग्रीष्मकाल उष्णकाल है, जिसका लोक–अपभ्रंश–'उह्नालू' है। वर्षाकाल का लोकरूप '**बरसात**' है, एवं शीतकाल का लोकरूप 'स्यालू' है। मलिम्लुच (अधिकमास) के सम्बन्ध से एक ऋतु का और समावेश हो जाता है। यों सम्वत्सर १३ त्रयोदश मासात्मक बनता हुआ सप्तर्त्तुरूप भी बना हुआ है। निम्नलिखित परिलेख से पञ्चर्त्तुपक्ष सर्वात्मना समन्वित हो जाता है—

पञ्चर्त्तवः—सम्वत्सरस्यः—सम्वत्सरो यज्ञः—पांक्तो वै यज्ञः

१६–प्रातःसवनम्–प्रस्तावः
४०–माध्यन्दिनसवनम्–उद्गीथः } ७२–वसन्तः
१६–सायंसवनम्––निधनम्

१६–प्रातः०–प्र०
४०–माध्य०–उ० } ७२–ग्रीष्मः
१६–सायं० –नि०

१६–प्रातः०–प्र०
४०–माध्य०–उ० } ७२–वर्षाः
१६–सायं० –नि०

१६–प्रातः०–प्र०
४०–माध्य०–उ० } ७२–शरत
१६–सायं० –नि०

१६–प्रातः०–प्र०
४०–माध्य०–उ० } ७२–हेमन्तशिशिरयोः समासेन
१६–सायं० –नि०

सोऽयं–पञ्चर्त्तुमूर्त्तिः–सम्वत्सरप्रजापतियज्ञः–प्रजाप्रतिष्ठा

* * *

५९-षड्ऋतु-पञ्चर्त्तु-स्वरूपाधिष्ठाता अग्निदेव का प्राधान्य—

षड्ऋतुस्वरूपानुगत परिलेख पर अवधानपूर्वक दृष्टिपात करने से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, यद्यपि वसन्तादि तीन देव–ऋतुओं में अग्नि की प्रधानता है, शरदादि तीन पितृ–ऋतुओं में सोम की प्रधानता है। तथापि ६ ओं हीं ऋतुओं में आरम्भ से (वसन्त से) अन्तपर्य्यन्त (शिशिरपर्य्यन्त) अग्नि का ही वृद्धि–ह्रास–भाव प्रदर्शित हुआ है। अतएव स्पष्ट है कि, ६ओं ऋतुओं का ऋतुत्त्व-'अग्नि' पर ही अवलम्बित है। कारण यही है कि, सोम स्वस्वरूप से सदा ही ऋत बना रहता हुआ स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित है, जबकि ऋताग्नि ऋतसोम से समन्वित होकर 'सत्य' बन जाया करता है। अतएव वसन्तारम्भ से शिशिरपर्य्यन्त आधाररूपेण–धरातलरूपेण व्याप्त ऋतसोम आधेयभूत ऋताग्नि के वृद्धि-ह्रासात्मक अग्निभावों के कारण ही सत्यरूप 'ऋतु' भाव का प्रवर्त्तक बना करता है।

६०-'ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरः, यथा मनुष्यस्य'—

अतएव ६ ओं 'ऋतु' भाव अग्निप्रमुख ही मान लिए जाते हैं, जैसाकि—**"अग्नयो वाऽऋतवः'-'ऋतवो हैते यदेताः [अग्नि--] चितयः'** (शत० ६।२।१।३६) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस अग्निप्रमुखता के कारण ही-**'ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरः-यथा मनुष्यस्य'** (ऐत० ब्रा०१।१३) इत्यादि श्रुति समन्वित हुई है।

६१-ग्रहोपग्रहानुगता महादशा-दशा-अन्तर्दशादिवत् प्रत्येक ऋतु की, प्रत्येक अहोरात्र की, प्रत्येक क्षण की सर्वऋतुरूपता का समन्वय—

एक प्रासङ्गिक निवेदन और। 'वर्षाऋतु' के प्रसङ्ग में यह बतलाया गया है कि-'वर्षा' ऋतु का 'वर्ष' शब्द ६ ओं ऋतुओं का संग्राहक बना हुआ है अपने-'वर्ष' भाव से, जिसका अर्थ है-**'वर्षा हि सर्व–ऋतवः'**। वस्तुस्थिति तो वास्तव में कुछ ऐसी है कि, केवल 'वर्षा' ही सर्व–ऋतु नहीं है। अपितु प्रत्येक ऋतु ही सर्व-ऋतुरूपा बनी हुई है। १६–४०–१६–संख्यायुक्त ७२ दिनों के सवनत्रयात्मक स्व–स्व–भोगकाल में सभी ऋतुएँ (प्रत्येक ऋतु) न्यूनाधिक मात्रा–भाव–तारतम्य से उसीप्रकार सर्व–ऋतुओं से समन्वित है, जैसेकि प्रत्येक ग्रह की प्रत्येक महादशा में अन्तर्दशारूप से सभी ग्रह समन्वित हैं, एवं प्रत्येक अन्तर्दशा में प्रत्यन्तरदशाक्रम से, प्रत्यन्तरदशाक्रम में सूक्ष्मान्तर–क्षणान्तर–निमेषान्तरादि क्रमानुपात से सर्वत्र सभी ग्रहों का भोग प्रक्रान्त है। यही तो 'एक' की सर्वव्याप्ति का मूलबीज है। इसी मूलबीजानुग्रह से सम्वत्सर अनन्तकाल का प्रातिनिध्य कर रहा है, सम्वत्सर का प्रातिनिध्य अयन कर रहे हैं, अयन का प्रातिनिध्य चातुर्मास्य कर रहा है, इसका ऋतु, ऋतु का पक्ष, पक्षों का अहोरात्र, अहोरात्रों का मूहूर्त्त, इत्यादि धारावाहिक अन्तरान्तरीभाव से प्रतिबिन्दु अनन्तकाल का ही परम्परया प्रतीक बना हुआ है। इसी दृष्टि से सभी ऋतुओं को सर्वऋतुरूप कहा जासकता है, कहा गया है।

६२-'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' मूलक ब्रह्मविवर्त्त, एवं तद्वञ्चित जड़वादी के व्यामोहन की निवृत्ति के लिए कारुणिक प्रजापति से मङ्गलकामना--

इसी तथ्य के आधार पर भारतीय द्विजाति–मानव प्रतिक्षण सम्वत्सर को लक्ष्य बनाता हुआ अनन्त–काल की अनन्तविभूति की उपासना में सर्वात्मना समर्थ होजाता है, जिस **'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'**

इस महिमात्मक विवर्त्त का स्मरणाधिकार भी प्राप्त नहीं है उन महानुभावों को, जो केवल अनेकत्वभाव-निबन्धना जड़विकृति को ही सर्वे-सर्वा मानने-मनवाने की महती भ्रान्ति करते हुए इस ज्ञानवञ्चित (एकत्ववञ्चित) विज्ञानरूप–अज्ञान को ही अपना आराध्य बना बैठे हैं । और ऐसे ज्ञानप्रतिष्ठाशून्य अज्ञानलक्षण–भूतविज्ञान–क्षणिकविज्ञानरूप शून्यविज्ञान के बाह्य आकर्षण से प्रभावित, साथ ही भारतीय ज्ञान–समन्वित–ऋषिविज्ञान की मूलव्यञ्जना से असस्पृष्ट आज के हमारे भारतीय वेदभक्त–संस्कृतिभक्त ज्ञानसमन्वित–नित्यविज्ञान के द्रष्टा–स्रष्टा ऋषियों की उपाधि से जड़भूतवैज्ञानिकों को समन्वित करने में हीं अपने विमुग्ध–व्यक्तित्त्व का प्रतिष्ठारक्षण मान रहे हैं, इससे अधिक भारतराष्ट्र की मूलसांस्कृतिक–निष्ठाओं का और अधिक क्या पतन होगा ? 'काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः' । ऋतुतत्त्व की इसी प्रासङ्गिक सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई वाजिश्रुति कहती है—

सम्वत्सरः--एषोऽग्निः । स ऋतव्याभिः संहितः । सम्वत्सरमेवैतत्--ऋतुभिः--सन्तनोति, सन्दधाति । ता वै नाना प्रभृतयः समानोदर्काः । ऋतवो वाऽअसृज्यन्त । ते सृष्टा नानैवासन् । तेऽब्रुवन्-न वाऽइत्थं सन्तः शक्ष्यामः-प्रजनयितुम् । रूपैः-समाया-मेति । ते--एकैकमृतुं रूपैः समायन् । तस्मादेकैकस्मिन्-ऋतौ सर्वेषां ऋतूनां रूपम् ।

—शत० ब्रा० ८।७।१।३,४,।

६३--षड्ऋतु के अवयवभूत प्रचलित चैत्र–वैशाखादि द्वादश मास—

अन्यदपि किञ्चित्प्रासङ्गिकम् । वसन्त-ग्रीष्मादि जिन ६ ऋतुओं का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनके अवयवात्मक मास चित्रा-विशाखा–ज्येष्ठा–अषाढ़ा–श्रमण–[श्रवण]–भाद्रपद–अश्विनी–कृत्तिका–मृगशिर–रेवती [पूषा] मघा–फल्गुनी–इन बारह नक्षत्रों के भोगकालों से सम्बन्ध रखने वाली चान्द्री पूर्णिमा के अनुबन्ध से क्रमशः चैत्र–वैशाख–ज्येष्ठ–आषाढ़–श्रावण–भाद्रपद–आश्विन–कार्त्तिक–मार्गशीर्ष–पौष–माघ–फाल्गुन–इन नामों से प्रसिद्ध होगए हैं, जो नाम नाक्षत्रिक–फलादेश की प्रतिष्ठा बने हुए हैं । इनके तत्त्वविज्ञानसम्मत वैज्ञानिक–अन्य रहस्यपूर्ण नामों का भी ब्राह्मणग्रन्थों में यत्रतत्र विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिनका स्वाध्यायनिष्ठा–माध्यम से ही समन्वय करना चाहिए । प्रकृत में केवल नामसंस्मरण ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा ।

६४–षड् ऋतु के अवयवभूत शास्त्रप्रचलित मधु–माधवादि द्वादश मास—

शतपथब्राह्मणान्तर्गत–सुप्रसिद्ध 'ग्रहयागा' त्मक चतुर्थकाण्ड के 'ऋतुग्रह' नामक ब्राह्मण में (शत० ४ काण्ड । ३ अध्याय । १ ब्राह्मण । २७ कण्डिकात्मक ।) विस्तार से चैत्रादि मासों के वैज्ञानिक नामां की स्वरूपव्याख्या हुई है । चैत्र का नाम **'मधु'** है, वैशाख का नाम **'माधव'** है, समष्टि **'वसन्त-ऋतु'** है । ज्येष्ठ **'शुक्र'** है, आषाढ **'शुचि'** है, समष्टि **'ग्रीष्म-ऋतु'** है । श्रावण **'नभ'** है, भाद्रपद **'नभस्य'** है, समष्टि **'वर्षा-ऋतु'** है । आश्विन **'इट्'** है, कार्त्तिक **'ऊर्क्'** है, समष्टि **'शरद्-ऋतु'** है । मार्गशीर्ष **'सह'** है, पौष **'सहस्य'** है, समष्टि **'हेमन्त-ऋतु'** है । माघ **'तप'** है, फाल्गुन **'तपस्य'** है, समष्टि **'शिशिर-ऋतु'** है।

मधु–माधव,-शुक्र-शुचि,–नभ–नभस्य,–इट्–ऊर्क्,–सह–सहस्य,-तप–तपस्य, नामक १२ वैज्ञानिक मासों, तथा वसन्तादि ६ ऋतुओं की समष्टि ही सम्वत्सर का आद्यन्त का सर्वाङ्गीण स्वरूप है, जिसका चरणस्थानीय उपक्रमस्थान–वसन्त–ऋतु है, किंवा मधुमाधव मास हैं। एवं शीर्षस्थानीय उपसंहारस्थान–शिशिर-ऋतु है, किंवा तप-तपस्य मास हैं, जैसाकि-"**तपश्च-तपस्यश्च शैशिरौ-ऋतु । प्रजापतिः सम्वत्सरः । तस्य शिर एव पञ्चमी चितिः । शिरोऽस्य शिशिर--ऋतुः**" (शत० ८।७।१।५ वीं, तथा ८ वीं कण्डिका)। इत्यादि श्रौतवचन से प्रमाणित है।

६५–वही सम्वत्सर यज्ञप्रजापति, वे ही ऋतुएँ, एवं तदनुगत सर्गों का आकृति-प्रकृति-वैलक्षण्य–वैचित्र्य, तथा तत्सम्बन्ध में महती जिज्ञासा—

पुनरपि किञ्चिदिव अन्यत् प्रासङ्गिकम्। द्यावापृथिवीरूप (सौर–चान्द्र–पार्थिव–समष्टिरूप) सम्वत्सर-प्रजापति त्रैलोक्य–प्रजा के स्रष्टा हैं। अग्नीषोमात्मक ऋतुयज्ञ ही इस प्रजासृष्टि का आरम्भण (उपादान) है। वही सम्वत्सर, वही प्रजापति, वही ऋतुयज्ञ, एवं वे ही वसन्तादि ऋतुएँ। फिर क्या कारण है कि, उसी प्रजापति की उन्हीं ऋतुओं से उत्पन्न प्रजाओं में 'मानवप्रजा', एवं 'पशुप्रजा' * रूप से सर्वथा विभिन्न आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति भाव कैसे, क्यों प्रतिष्ठित होगए ?, प्रश्न का सम्बन्ध उसी एकत्त्व, एवं अनेकत्त्व पर अवलम्बित है, जिसका पूर्वानुपद में हीं प्रत्येक–ऋतु की सर्वता के प्रसङ्ग में दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

६६–एकत्त्वनिबन्धना 'ऋतुना' मूला मानवसृष्टि, तथा अनेकत्त्वनिबन्धना 'ऋतुभि': मूला अन्य प्राणिसृष्टि, एवं जिज्ञासा का समाधान—

एकत्त्वमूलक आत्मपुरुष मानवप्रजा का मूलाधिष्ठान बनता है, एवं अनेकत्त्वभावानुबन्धिनी प्रकृति मानवेतर प्रजा की स्वरूप–समर्पिका बना करती है। प्रकृतिगर्भित पुरुष मानवसर्ग का, तथा पुरुषगर्भिता प्रकृति पशुसर्ग का मूलोपक्रम माना गया है। तात्पर्य्य यही है कि, मानवसृष्टि ऋतुप्रधाना बनती हुई भी आत्ममूला है, जबकि पशुसृष्टि केवल ऋतुमयी ही है। निष्कर्ष यही है कि, मानव की ऋतु सत्यभावापन्ना है, पशु की ऋतु ऋतभावापन्ना है। सत्य का तात्पर्य्य है एकत्त्व, एवं ऋत का तात्पर्य्य अनेकत्त्व । सत्यात्मयुक्ता वही ऋतु सत्य है, ऋतप्रकृतियुक्ता वही ऋतु ऋत है। इसप्रकार एकत्त्वनिबन्धन–आत्मपुरुषानुगत, अतएव सत्यभाव में परिणत वही ऋतु 'ऋतु' रूप एकत्त्वभाव से, ङ्गीरूप सत्यभाव से जहाँ आत्मप्रधान मानवप्रजा की प्रतिष्ठा बनती है, वहाँ नानात्त्वनिबन्धन–प्रकृतिभावानुगत, अतएव ऋतभाव में परिणत वही ऋतु 'ऋतवः' रूप अनेकत्त्वभाव से, अङ्गरूप–ऋतभाव से प्रकृतिप्रधान पशुप्रजा की प्रवर्त्तिका बनती है। अत्यन्त ही सूक्ष्म है प्रकृति-पुरुष–का यह ऋत–सत्यात्मक विवेक, जिसका ऋतु के बाह्य–भौतिक–जड़–स्वरूपमात्र के आधार पर कदापि समन्वय सम्भव नहीं है। वेदपुरुष ने 'ऋतुना'-'ऋतुभिः' रूप से सम्बन्ध रखने वाले एकत्त्व-तथा बहुत्त्वभाव के माध्यम से अपनी सहज-परोक्ष–सनातन–सङ्केतविधि के द्वारा एकत्त्वमूलक सत्यात्मा से समन्वित एकभावापन्न सत्यऋतु से, तथा अनेकत्त्वमूलिका ऋतप्रकृति से समन्वित अनेकभावापन्न ऋतऋतुओं से

---

* यहाँ का 'पशु' शब्द पशु--पक्षी--कीट--कृमि--नाम की चारों पार्थिवप्रजाओं का संग्राहक बना हुआ है, जैसाकि शतपथभाष्य में स्पष्ट है।

मानवप्रजा, तथा पशुप्रजा का विभेद स्थापित कर दिया है । यही तो वह परोक्ष–रहस्यविधि है, जिस पारिभाषिक--विधि से पराङ्मुख हो जाने वाले वेदव्याख्याताओं–भाष्यकारोंनें वेदशास्त्र के रहस्यपूर्ण ज्ञान–विज्ञानात्मक–स्वरूप को अभिभूत ही कर दिया है अपनी मतवादात्मिका मान्यताओं के द्वारा । लक्ष्य बनाइए निम्नलिखित श्रुतिवचन को, एवं उसके--'ऋतुना'–'ऋतुभिः' मूलक परोक्षसङ्केत का अनुग्रह प्राप्त कर रोमहर्ष का अनुभव कीजिए ।

> "ऋतुनेति वै देवाः–मनुष्यानसृजन्त, ऋतुभिरिति पशून् । स यत्तन्मध्यमेन पशूनसृजन्त–तस्मादिमे पशव उभयतः परिगृहीता वशमुपैता मनुष्याणाम्" ।
>
> —शत० ४।३।१।१२।

६७–वसन्त-ऋतु का 'मधु' भाग, तदनुगत 'मधु–उत्सव', तदनुप्राणित 'मधुमास', एवं मधुतत्त्व–जिज्ञासा—

पार्थिव–दाम्पत्य से सम्बन्ध रखने वाले फाल्गुनपूर्णिमानुगत–वसन्तोपक्रम से सम्बन्ध रखने वाले साम्वत्सरिक–'ऋतु' तत्त्व का प्रासङ्गिक स्वरूप अनेक दृष्टिकोणों से समन्वित हो पड़ा, जिसके माध्यम से हमारा मनोराज्य इस भावुकता का अनुगामी बन गया कि, फाल्गुनशुक्लपूर्णिमा–तिथि को उस वसन्तसम्पातकाल का प्रातिनिध्य समर्पित किया जासकता है, जिस प्रातिनिध्य के अनुग्रह से यह तिथि अग्नीषोमरूप पार्थिव–द्यौ के दाम्पत्यसम्बन्ध की उपक्रमतिथि बन रही है । सहजभाषानुसार-सौर अग्नि इस पुण्यतिथि को ही सर्वप्रथम पार्थिव धरातल से समन्वित होकर इसे, एवं इसकी पार्थिव प्रजा को, जड़–चेतन–लक्षण–यच्चयावत् पार्थिव–पदार्थों को मधुरसमय बना देता है । अतएव यहीं से मधु का उत्सव आरम्भ होजाता है, जो कि 'मधु–उत्स' ही 'मधु–उत्सव' नाम से लोकभाषा में व्यवहृत किया जासकता है । मधुरमिलनात्मक इसी मधु के सम्बन्ध से वसन्त-ऋतु का चैत्रमास '**मधु**' मास कहलाया है, एवं तत्प्रवर्ग्यरूप वैशाखमास–'**माधव**' मास कहलाया है, जिन इन दोनों वासन्तिक मासों में से–'मधु' मास के 'मधु' शब्द की ओर ही * मध्वद–भोक्तात्माओं का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

६८--मधुविद्या से अनुप्राणित रहस्यपूर्ण 'मधु' शब्द, एवं उसके स्वरूप--संस्पर्श से भी वञ्चिता हमारी जड़प्रज्ञा—

'मधु' शब्द का लोकभाषार्थ है–'शहद', जिसका सुप्रसिद्ध मधुमक्षिकाओं के द्वारा अपने छाते में सञ्चय हुआ करता है । प्रकृति में मधुमक्षिकाएँ कौन हैं ?, इन से सञ्चित 'मधु' का क्या स्वरूप है ?, जिस मधुकोशरूप-आवपनरूप पात्र (छाते) में इस मधु का मधुमक्षिकाओं के द्वारा सञ्चय होता रहता है, उस मधुकोश का क्या स्वरूप है ?, सञ्चित मधु का किस के द्वारा कहाँ कहाँ किस किस उद्देश्य से वितरण होता है ?, इत्यादि

---

*–य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्तते ॥
—कठोपनिषत् ४ वल्ली ५ मन्त्र ।

सभी वैज्ञानिक प्रश्न सुप्रसिद्ध उस '**मधुविद्या**' से सम्बन्ध रखते हैं, जिसका सामविद्याप्रतिपादिका छान्दोग्योपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है, एवं जिस मधुविद्या के प्रथम सम्प्रदायप्रवर्त्तक वे **दध्यङ् अथर्वा ऋषि** माने गए हैं, जिन्हें मधुविद्या के मूलस्तम्भभूत देवेन्द्र से प्रतिज्ञाता संधा (शर्त) का अतिक्रमण कर अश्विनीकुमारों को मधुविद्या बतलाने के अपराध में इन्द्र के द्वारा अपना मस्तक कटवा लेना पड़ा था। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म–तत्त्ववाद से सम्बन्ध रखने वाली त्रैलोक्यप्रतिष्ठालक्षणा रहस्यपूर्णा तथाविधा मधुविद्या के अक्षरार्थ का भी जब इस मनोवशवर्त्ती–पुराणीप्रज्ञाशून्य–भावुक–जन को अधिकार प्राप्त नहीं है, तो तदनुबन्धी तथाकथित प्रश्नों के समाधान की तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता। अतएव अपनी अज्ञता के इस नग्न स्वरूप के साथ ही मधुविद्या--सम्बन्धी प्रश्नसन्दर्भ दूरतः ही प्रणम्य मान लिया जाता है आयोजनात्मक–प्रस्तुत–लोकानुरञ्जकमात्र सामयिक–निबन्ध की लोकमर्य्यादा के अनुबन्ध से। हाँ, होलामहोत्सवजनित प्रमाद से प्रेरित होकर प्रमादभाषा में प्रमादपूर्ण इत्थंभूत अलग्ल उद्गार अभिव्यक्त कर दिए जासकते हैं इस मधुस्वरूप के सम्बन्ध में कि—

६९–'मधु' शब्द का लोकानुगत समन्वय, तत्सापेक्षतापूरक दधि-घृत-मधु-अमृत--शब्द, एवं दधि--घृत--मधु--अमृत--रसमयी--लोकचतुष्टयी का स्वरूपदिग्दर्शन—

दधि, घृत, एवं **अमृत** इन तीनों सापेक्षद्रव्यों से अनुप्राणित द्युलोकीय रसविशेष का ही नाम 'मधु' है, जो मानव के दधि–घृत–**अमृत**–रूप व्यवहार्य्य अन्न में प्रतिष्ठित माना गया है। जिस अन्न की सायंप्रातः मानव अपने शारीरिक–वैश्वानर अग्नि में आहुति देता है, उस अन्न में प्रकृतिदेवी चार लोकों के विभिन्न रसों का आधान कर दिया करती है। पार्थिव–आन्तरिक्ष्य–भौमपार्थिव–अग्निप्रधान–रसभाग ही '**दधि**' कहलाया है, जिस से शारीरिक अस्थि-मांस-चर्म्मादि घनधातु उपजीवित हैं। चान्द्र–आन्तरिक्ष्य वायुप्रधान–रसभाग ही '**घृत**' कहलाया है, जिससे शारीरिक–श्लेष्मादि चिक्कणधातु उपजीवित हैं। सौर–आदित्य–प्रधान रसभाग ही '**मधु**' कहलाया है, जिससे शारीरिक मूल–शुक्रधातु उपजीवित है। एवं चतुर्थ–पारमेष्ठ्यलोकीय–तृतीय द्युस्थानीय-भृगुप्रधान रसभाग ही '**अमृत**' कहलाया है, जिससे सूक्ष्मशरीरात्मक मानसधातु उपजीवित है। यों परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–इन चारों विश्वपर्वों से स्वायम्भुव अव्यक्तप्राण की प्रतिष्ठा के आधार पर प्रवृक्त–प्रवर्ग्यभूत–पारमेष्ठ्य–सौर–चान्द्र–पार्थिव–रसों के समन्वय से ही अमृत–मधु–घृत–दधि–रसात्मक अन्न का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिससे शारीरिक घन–तरल–विरलधातु, तथा मन, चारों पर्व स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहा करते हैं। "**दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य, तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**" इत्यादि श्रुति इन्हीं चारों रसों का क्रमिक दिग्दर्शन करा रही है।

सर्वाधारः स्वायम्भुवोऽव्यक्तप्राणः

१–परमेष्ठी (द्यौः–तृतीया द्यौः)—अत्र सोमः प्रतिष्ठितः—अमृतलोकः
२–सूर्य्यः (द्यौः–द्वितीया द्यौः)—अत्र मधु प्रतिष्ठितम्—मधुलोकः
३–चन्द्रमाः (अन्तरिक्षं—प्रथमा द्यौः)-अत्र घृतं प्रतिष्ठितम्—घृतलोकः
४–भूपिण्डः (पृथिवि–पृथिवी)-अत्र दधि प्रतिष्ठितम्—दधिलोकः

—सैषा रसचतुष्टयी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१–अमृतरसेन—अन्ने–स्वादुरसप्रतिष्ठा	(स्वाद–जायका)	—ततः–अन्नस्वरूपनिष्पत्तिः
२–मधुरसेन—अन्ने–मधुरसप्रतिष्ठा	(मिठास–रस)	
३–घृतरसेन—अन्ने–स्नेहनरसप्रतिष्ठा	(चिकटास)	
४–दधिरसेन—अन्ने–दार्ढ्यप्रतिष्ठा	(दाना भाग)	

**

१–स्वादु—रसेन–अन्नगतेन (अमृतरसेन)—मानवस्य—मानसधातूनां पोषणम्

२–मधुर—रसेन–अन्नगतेन (मधुरसेन)—मानवस्य—शुक्रादिधातूनां पोषणम्

३–स्नेहन—रसेन–अन्नगतेन (घृतरसेन)—मानवस्य—श्लेष्मादिधातूनां पोषणम्

४–दार्ढ्य—रसेन–अन्नगतेन (दधिरसेन)—मानवस्य—घनधातूनां पोषणम्

**

७०–चतुर्थलोकीय पारमेष्ठ्य अमृतरूप 'ओषधिसोम'—

पारमेष्ठ्य 'सोमरस' का नाम हीं 'अमृतरस' है, जो पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के मन्थन से विनिर्गत है, जैसाकि तृतीय प्रकरण के लक्ष्मी–उत्पत्ति प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। यही पारमेष्ठ्य सोमरसात्मक अमृततत्त्व रोदसीत्रिलोकी में चान्द्रसोमरूप में परिणत होता हुआ अपने चान्द्र–प्रवर्ग्य भाग से क्योंकि पार्थिव–ओषधियों का आप्यापन करता है, अतएव इस पारमेष्ठ्य सोम का साङ्केतिक नाम रख लिया गया है–'**ओषधिसोम**', जिसका अथर्ववेद में दिव्यौषधिरूप से विस्तार से उपवर्णन हुआ है। सौरमण्डलात्मक देव-मण्डल से भी पूर्व परमेष्ठी में आविर्भूत इसी ओषधिसोम का ऋग्वेद के १० मण्डल के ९७ सूक्त में विस्तार से वैज्ञानिक–स्वरूप विश्लेषण हुआ है, जिस सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

या ओषधीः पूर्वेजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ॥
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥१॥
या ओषधीः सोमराज्ञीर्वह्वीः शतविचक्षणा ॥
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्य्यम् ॥२॥

—ऋक्सं० १०।९७।१,१९ मन्त्र।

७१–पारमेष्ठ्य ओषधिसोम की सौरसम्वत्सरानुगता 'मधु' रूपता—

यही पारमेष्ठ्य–अमृत सोमरस सौर सावित्राग्नि में आहुत होकर 'मधु' रस रूप में परिणत हो रहा है। सौराग्नियुक्त पारमेष्ठ्य सोमामृतरस का ही नाम सौर–'मधु' तत्त्व है, जैसाकि–"एतद्वै प्रत्यक्षात्-

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सोमरूपं-यन्मधु । प्रत्यक्षादेवैनं सोमरूपं करोति' (शत० १२।८।२।१५) इत्यादि से स्पष्ट है । सौर-अग्नि से समन्वित होते ही उस पारमेष्ठ्य अमृतसोम का स्वरूप 'मधु' रूप में परिणत होजाता है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है । सूर्य्य शुक्ररूप है, ओजरूप है, मधुमान् है । अत्यन्त तेजस्वी है । और ये सब अतिशय सोमाहुति के ही सुपरिणाम हैं ।

७२-सौरमण्डलानुगत मधु की सर्वव्याप्ति के कतिपय नैगमिक दिग्दर्शन—

सौर अग्नि इस सोम से 'मध्वग्नि' बना हुआ है-(विश्वेभिः सोम्य मध्वग्न इन्द्रेण वायुना-ऋक्सं० १।१४।१०।)। सौर गौतत्त्व इसी सोम से 'माध्वीगौ' बन रहा है-(माध्वीर्गावो भवन्तु नः-ऋक्सं० १।१६०।८।)। चान्द्र सौम्यमण्डलान्तर्गता माध्वी अप्सराएँ इसी मधु से मधुमयीं बन रहीं हैं-(मधु-अप्सरसो नोऽस्तु यज्ञम्-ऋक् ४।३३।३।) । ओषधियाँ मधुमतीं हैं, द्युलोक मधुमान् है, चान्द्र अन्तरिक्ष मधु है । सर्वत्र मधु का ही साम्राज्य है * । इसी मधुतत्त्व की, मध्वद-मध्वग्नि की कामना व्यक्त करते हुए ऋषि कहते हैं—

(१) मधु वाता ऋतायते--मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।
(२) मधुनक्तमुतोषसो,-मधुमत्-पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।
(३)-मधुमान्नो वनस्पति, मधुमाँ अस्तु सूर्य्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः । (ऋक्सं० १।६०।६-७-८-) ।

७३-वसन्त-ऋतु के उपक्रम में सौर मधु (मध्वग्नि) का पार्थिव रजोभाग में आधान, एवं मधुमत् पार्थिव रज—

सौरब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक सोमात्मक 'मधु' रस के उस स्वरूप का ही प्रस्तुत होलिकापर्व में प्रधान रूपेण उपयोग है, जो सौर मधुभाग वसन्तोपक्रम में अपने सौर मधुलोक से चल कर पार्थिव रज में आहित-समाहित-हो जाता है । एवं जिस उस मधु के अत्र आगमन से हमारा पार्थिव रज 'मधुमत्-पार्थिवं रजः' के अनुसार मध्वग्निरूप वसन्तभाव में परिणत होजाता है, एवं जिस परिणति से ही वसन्त-ऋतु के मास मधु-माधवमास नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं ।

***-मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो अन्तरिक्षम् ।**
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमन्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥
—ऋक् ४।५७।३।

७४-प्रकृतिसिद्धा दर्शपौर्णमासप्रक्रिया के द्वारा सौर–रसों का पार्थिव–रज में आधान--

कैसे, किस प्रक्रिया से सौर मध्वग्नि पार्थिवरज से समन्वित होता है ?, प्रश्न का उत्तर है-दर्शपूर्णमास–प्रक्रिया। जितने भी रस भूपृष्ठ से संलग्न–सूर्य्यबिम्ब से भी कुछ ऊपर तक व्याप्त पार्थिव रथन्तरसामसमुद्र में–व्याप्त हैं, वे नक्षत्राधिपति चन्द्रमा के दर्शपौर्णमास के द्वारा ही भूपृष्ठ पर आया करते हैं, जिन तत्तद्विभिन्न प्राणात्मक विभिन्न प्राणरसों के आगमक के द्वार तत्तत्-प्राणरसप्रधान तत्तत्–अश्विनी–भरिणी–आदि नक्षत्र ही माने गए हैं। तत्प्राणप्रधान तत्तन्नक्षत्रभोगकाल में चान्द्रनाड़ी के द्वारा पार्थिवधरातल पर आने वाले आन्तरिक्ष्य रस का काल ही **'पौर्णमास'** कहलाया है, एवं रसों का पुनः अन्तरिक्षलोक में परावर्त्तनकाल ही **'दर्श'** कहलाया है। यों चन्द्रमा के दक्षवृत्तानुगत दर्श–पूर्णमासात्मक परिभ्रमण से ही आन्तरिक्ष्य रसों का आगमन–गमन–प्रक्रान्त रहता है।

७५-सौर–मधु का पौर्णमासकाल, एवं आकाशीय भरणीनक्षत्ररूप मधुच्छत्र (मधु–मक्षिकाओं का छाता)--

'मधु' रस का आगमन ही मधु का पौर्णमास कहलाया है, एवं निर्गमन ही मधु का दर्श कहलाया है। तथा मधु का वह दर्श उपक्रान्त बनता है शरत्सम्पात से। वसन्तसम्पातानुगत वसन्तसमय ही मधु का पौर्णमासयज्ञ है, जिसका निमित्त बनता है—सुप्रसिद्ध–**'भरणीनक्षत्र''**। भरणीनक्षत्र ही वह मधुकोश (मधु–का छत्ता–मधुमक्षिका का छत्ता) है, जिसके द्वारा पृथिवीतल पर मधु रस आता है वसन्त ऋतु में।

७६–'आदित्यो वै देवमधु', बार्हस्पत्य पारमेष्ठ्य सोम, एवं सूर्य्य की मधुनाड़ियाँ--

'आदित्यो वै देवमधु' के अनुसार सूर्य्य देवमधु है, जिसे हम अपनी व्यवहारभाषा में **'मधुकर–राजा'** (मधुमक्षिकाओं–मोहमक्खियों–का राजा, जो मधुमक्षिकाओं का शासक बना रहता है) कह सकते हैं। एवं उक्थरूप मधुकरराजा सूर्य्य से विनिर्गता वे अर्करूपा रश्मियाँ ही मधुमक्षिकाएँ हैं, जो अपने प्राणदपानत्--व्यापार से तृतीय द्यु स्थानीय ब्राह्मणस्पत्य–बार्हस्पत्य (**ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसा–तृणत्**--ऋक्सं० २।२४।४।--**बृहस्पतिप्रसूताय अस्यै सं दत्त वीर्य्यम्**–ऋक्सं० १०।६७।१६–) **'ओषधि–सोम'** नामक दिव्यौषधिरस अमृतरस (**या ओषधीः सोमराज्ञी**) का संग्रह कर सौरमण्डलरूप मधुकोश में इसका मधुरूप से सञ्चय करतीं रहतीं हैं। इसप्रकार मधुकरराजारूप सूर्य्यमधु की साक्षी में–शासन में प्रतिष्ठित प्राञ्च–दक्षिणा–प्रत्यञ्च-उदञ्च–ऊर्ध्व–सौररश्मियाँ, तद्रूपा मधुमक्षियाँ हीं, ये मधुनाड़ियाँ हीं पारमेष्ठ्य ओषधिसोम का आदान कर सौर मधुकोश में मधुरूप से इसका सञ्चय करतीं रहतीं हैं (देखिए छान्दोग्योपनिषत् ३। १ खण्ड से १० खण्ड पर्य्यन्त मधुविद्याप्रकरण)। सौरमण्डलरूप इस महान् मधुकोश (मधुच्छत्र) का प्रातिनिध्य हमारी पृथिवी के लिए भरिणीनक्षत्र ही कर रहा है। भरणीनक्षत्र ही वह द्वार है, जिसके साथ समन्वित होते ही सूर्य्य अपने मध्वग्निरूप प्राणात्मक मधु की भूपृष्ठ पर मानो अजस्र-रूपेण वृष्टि ही कर देते हैं।

७७--मधुवर्षणात्मक काल का वसन्तत्त्व, एवं तदनुबन्धी मध्वग्नि--समन्वित प्राकृतिक अग्न्याधानकर्म्म---

भरणीनक्षत्रानुगत मधुवर्षणात्मक वही काल वसन्तऋतु माना गया है, जिसका उपक्रमकाल माना गया है वसन्तसम्पात, एवं इस काल का प्रातिनिध्य प्रदान कर दिया गया है आयोजनपद्धति में फाल्गुनीपूर्णिमा को। प्रातिनिध्य यों हीं प्रदान नहीं कर दिया गया। अपितु वस्तुगत्त्वा मध्वग्निरूप दिव्य सौर अग्नि का पार्थिवरज में सम्वत्सर की उपक्रमभूता प्रथमा फाल्गुनी–तिथि में हीं आधान होता है। इसीलिए तो यह काल अग्न्याधानकाल माना गया है।

७८--प्रकृतिसिद्ध अग्न्याधान के आधार पर सम्पादित दिव्याग्नि--आधानात्मक द्विजातिवर्ग का अग्न्याधानकर्म्म—

प्रकृति में यही वसन्तोपक्रम दिव्य अग्नि का आधानकाल है। अग्न्याधान का अर्थ यही है कि, पार्थिव भूतरज में सौर दिव्य प्राणाग्नि का आगमन होता है इसी सम्वत्सरारम्भ में, जो आगमन प्रक्रान्त रहता है वर्षाऋतु--पर्य्यन्त, किंवा वर्षासमाप्ति, तथा शरदारम्भपर्य्यन्त। अतएव वसन्त–ग्रीष्म–वर्षोपलक्षित शरत्–तीनों ही काल अग्न्याधानकाल प्रमाणित हो रहे हैं, जिनके कारण तीनों ऋतुएँ अग्निप्रधाना बनीं हुई हैं, जैसाकि षड्ऋतुप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। वसन्त–ग्रीष्म, एवं वर्षा से समन्वित--शरत् , तीनों का क्रमशः ज्ञान--पौरुष--अर्थ–रूपा तीनों शक्तियों से समन्वित ब्रह्म--क्षत्र--विट्--नामक तीनों प्राकृतिक वर्णवीर्य्यों से सम्बन्ध है, जो तीनों प्रकृतिसिद्ध वीर्य्यभाव ही मानवीया वर्णत्रयी के प्रवर्त्तक बना करते हैं। अतएव प्रकृत्यनुसार ही ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मण वसन्त में अग्न्याधान करता है, क्षत्रवीर्य्यप्रधान क्षत्रिय ग्रीष्मे, तथा विट्वीर्य्य प्रधान वैश्य वर्षानुगत--शरत् में अग्न्याधान करता है।

७९-अग्न्याधानकर्म्मात्मक दिव्य अग्नि--प्रज्ज्वलनात्मक आर्ष होलिकापर्व का नैगमिक समन्वय---

करताथा उस निगमयुग में, जबकि इस द्विजाति की [ब्रा० क्ष० वै० की] आर्षप्रज्ञा प्रकृति के उस होलिकापर्व से परिचित थी, जिस फाल्गुनी–पूर्णिमातिथि को अग्नि जागरूक होकर पार्थिवधरातल पर प्रज्ज्वलित हो पड़ता था। यही तो वास्तविक **'होलिकापर्व'** था निगमयुग में, जिसमें राष्ट्र की ज्ञानाग्नि का प्रतिनिधि ब्राह्मण अपने अध्यात्म में होलिकाप्रज्ज्वलनरूप अग्न्याधानकर्म्म से स्वयं भी जागरूकता प्राप्त करता था, एवं इसी प्रज्ज्वलित–ऋक्–साम–यजुर्म्मूर्त्ति–सौर–मध्वग्नि के आधानबल से राष्ट्रप्रजा की अग्नियों को भी प्रज्ज्वलित रखता था। इसी प्रज्ज्वलन से ढुँढादि यदृच्छाशब्दवाच्य राष्ट्रीय असुर--राक्षस--आदि विनष्ट होजाया करते थे। सभी आततायी इसी होलाग्नि में जलकर भस्मावशेष बन जाया करते थे। प्रकृतिसिद्ध इसी **'अग्निजागरण-महोत्सव'** को निगमभाषा में जहाँ-**'अग्न्याधानकर्म्म'** कहा जाता है, वहाँ यही लोकभाषा में-**'होलामहोत्सव'** नाम से प्रसिद्ध होगया है, जिसका नैगमिक–स्वरूप तो निगमनिष्टा की अभिभूति से बन गया अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में प्रमादपूर्ण लोकविजृम्भण बन गया प्रधान, इति नु महद्दुःखास्पदम्

८०-अग्न्याधान-कालाङ्गभूता नवसस्येष्टि, एवं तदनुबन्धी होलामहोत्सव (नवसस्याहुति, एवं आहुतिशेषप्राशन-महोत्सव) की नैगमिकता का समन्वय—

जो नवीन अन्न परिपक्व होकर वसन्त में सम्पन्न हुआ है, उसे सर्वप्रथम इस वासन्तिक दिव्य-सौर-मध्वग्नि में हीं आहुत किया जाता है, जो कि आहुतिकर्म्म-'नवसस्येष्टि' नाम से प्रसिद्ध है। बिना देवभावना के समावेश के कोई भी भूतपदार्थ कदापि केवल भूतरूप से आत्मदेवनिष्ठायुक्ता सांस्कृतिक-भारतीय-आस्तिक-प्रजा के उपयोग में आ ही नहीं सकता, आना नहीं ही चाहिए। सर्वत्र देवभावस्थापन ही इस संस्कृति का वह महान् कौशल है, जिसका अर्थ कदापि भूतवादिनी जड़प्रज्ञा की समझ में आ ही नहीं सकता। इस देवभावसंग्रह के लिए ही तो प्रतिदिन के परिपक्व-सिद्ध अन्न की सर्वप्रथम वैश्वानर-अग्नि में हीं आहुति दी जाती है, जिसे हमारी प्रान्तीय-भाषा में-'बेसन्दर-जिमाना' कहा गया है। वैश्वानराग्निदेव को समर्पित कर के ही, अपने भूतान्न को यज्ञिय--देवभावना से समन्वित कर के ही, इस यज्ञोच्छिष्ट-देवोच्छिष्ट से ही हम अपना दैनिक भोजनकर्म्म सम्पन्न करते रहते हैं।

८१-प्राणस्वरूपरहस्यानभिज्ञ भूतपरायण अर्वाचीन वेदभक्तों की कुशङ्काएँ, एवं प्राणविद्या के द्वारा तन्मूलोत्पाटन—

प्राणरहस्य को न जाने वाले भूतपरायण वेदभक्त ही इस सम्बन्ध में ऐसी कुशङ्काएँ करते रहते हैं कि-"भगवान् तो निराकार हैं। उनके क्या भोग लगाया जाय। यह सब तो रूढ़िवादियों के रूढ़िवादमात्र हैं" इत्यादि। इन दिग्भ्रान्त-विमूढ़-वेदबन्धुओंनें दुर्भाग्यवश वेद के अथरार्थ का भी तो अनुग्रह प्राप्त नहीं किया। अर्थ क्या, वेदाक्षरों पर भी तो दृष्टिपात का अनुग्रह नहीं किया, जिस अक्षरदर्शनमात्र से भी ऐसी मूढधारणाओं-कुशङ्काओं का स्वतः ही निराकरण हो जाया करता है। छान्दोग्योपनिषत् के जिस प्रकरण में प्रक्रान्ता मधुविद्या का स्पष्टीकरण हुआ है, उसी प्रकरण में सम्भवतः इसी कुशङ्का का मूलोत्पाटन करने के उद्देश्य से ही मानो ऋषि ने कहा है—

> "अथ यत्-तृतीयममृतं, तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति"। —छां० उप० ३।४।१

८२-मधुनाड़ियों के द्वारा सोमलोक से आगत मधुरस से वरुणमुख के द्वारा आदित्यदेवता के जीवन का संरक्षण, एवं 'जीवन' परिभाषा का समन्वय—

श्रुति का अक्षरार्थ यही है कि, "तीसरी मधुनाड़ियों से आगत सौम्य-मधु से वरुण के मुख के द्वारा आदित्यदेवता जीवित रहते हैं"। जीवन का क्या अर्थ है ?, इसी प्रश्न का समाधान करती हुई आगे चल कर श्रुति कहती है कि, प्राणरूप देवताओं का जीवनक्रम कोई 'भौतिक-जीवन' जैसा मर्त्य जीवन नहीं है, जिसमें भूतान्न का निगरण-चर्व्वण आवश्यक बना रहता है। गलाधःकरणानुकूलव्यापार-लक्षण अशन-पान-रूप-भौतिक-भाव का कोई सम्बन्ध नहीं है प्राणात्मक देवताओं से। वह सम्बन्ध तो 'स्वस्मिन् धत्ते--अन्तर्य्यामरूपेण' निर्वचन से 'स्वधा' कहलाया है, जिसका सौम्य-पितरों से ही सम्बन्ध

माना गया है। **'स्वमह्वोति--व्याप्नोति'** लक्षण—बहिर्य्यामसम्बन्धात्मक बाह्यसम्बन्ध ही—**'स्वाहा'** कहलाया है, एवं यही **'देवान्नमर्य्यादा'** है। तात्पर्य्य—आहुत द्रव्य में देवप्राण भावनामात्र से समाविष्ट हो जाते हैं। अतएव श्रुति को कहना पड़ा कि, **"देवता न खाते हैं, न पीते हैं। अपितु इस अन्नगत--भूतरस को देख कर ही तृप्त हो जाते हैं"**।

८३–'स्वाहा' शब्दार्थसमन्वय, एवं सनातनप्रजा की देवभावमूला सनातननिष्ठा का दिग्दर्शन—

क्या है इस 'स्वाहा' लक्षणा तृप्ति का स्वरूप ?, प्रश्न के समाधान के लिए तो देवसमर्पण के विरोधी वेदभक्तों को वेदशास्त्र की यज्ञविद्या के स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त होना चाहिए, जिसका उनके शब्दों में—**'वातावरण--विशोधन'** (हवाफिल्टर) से सम्बन्ध न होकर किसी सुसूक्ष्मा सृष्टिप्रक्रिया से ही सम्बन्ध माना गया है। उक्त श्रौतवचन के अनुवादरूप से ही आस्तिकप्रजा में यह वाक्यसूक्ति प्रसिद्ध है कि—**"देवता खाते पीते थोड़े ही हैं। वे तो केवल वासना के भूखे हैं"**। तुलसी–शङ्खजल–स्पर्शामात्र से, वैश्वानराग्नि के भूतप्रतिनिधि अङ्गिराग्नि के स्पर्श--माध्यममात्र से प्राणदेवता निश्चयेन तत्सम्बद्ध अन्न को देवभावमय बना देते हैं, यही उक्त श्रुति का सीधासा अर्थ है।

८४–नैगमिक नवसस्येष्टि का नैदानिक प्रतीकभूत-होलिकोत्सवानुगत–नवान्नार्पण-वितरण-प्राशन–कर्म्म—

प्रसङ्ग नवसस्येष्टि का चल रहा था। नवान्न सम्पन्न है। उधर मध्वग्निरूप–सौर--दिव्यदेवता पार्थिवरज में आतिथ्यरूपेण समागत हैं। अतएव इस अग्निजागरणात्मक–अग्न्याधानप्रसङ्गावसर पर ही अरणिमन्थन के द्वारा सम्पन्न वैध अग्नि में मन्त्र के द्वारा प्राणाग्नि का आधान कर इसे देवप्राणप्रधान बना कर इसी में देवतृप्ति के लिए नवान्न की भी आहुति दी जाती है पद्धतिपुरस्सर। यही नवसस्येष्टिरूप देवार्पणमहोत्सव है, जो होलिकामहोत्सव का अङ्ग बना हुआ है। जिसप्रकार अग्निजागरणात्मक अग्न्याधान का प्रतिनिधि होलिका–प्रज्ज्वलन बन गया है लोक में, तथैव नवसस्येष्टि का प्रतिनिधि प्रज्ज्वलित होलिका–ज्वाला में परिपक्व किए जाने वाले नवीन अन्न (बाल–दँगी) का समारम्भात्मक कर्म्म बना हुआ है। होलिकापूजनावसर पर ही गोधूम–यव–(गेहूँ जौ) की नवीन बालियों का पुञ्ज होलाग्नि में परिपक्व किया जाता है–आज भी, जिसका शुभशकुन--रूप से परिजनों में स्नेहालिङ्गनपूर्वक वितरण किया जाता है, जो कि **'नवसस्येष्टि'** का ही लोकाचारात्मक रूढ़ि–स्वरूप है।

८५–अग्निदेव की अवस्थात्रयी, एवं तदनुबन्धी त्रिविध अग्न्याधानकर्म्म—

नवसस्येष्टिरूप अवान्तर–देवभावनानुगत–देवार्पणरूप–कर्म्म से समन्वित–'अग्न्याधान' ही प्रमुख कर्म्म है फाल्गुनी पूर्णिमा का, जिसका अर्थ है अग्निजागरण। **जाग्रदवस्था–युवावस्था**, तथा **अन्तिमावस्था** रूपेण तीन प्रक्रम बने हुए हैं मध्वग्निरूप सौर-दिव्य अग्नि के, जो पूर्वकथनानुसार क्रमशः ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिमय ब्रह्म–क्षत्र–विट्–भावों के समर्पक प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव तद्वीर्य्यप्रधान ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–वर्ण के लिए वसन्त–ग्रीष्म–शरत्–तीन कालोपक्रमतिथियों को अग्न्याधानकाल मान लिया गया है, जैसाकि निम्न लिखित तैत्तिरीयश्रुति से स्पष्ट है–

(१)--वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत । वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्त्तुः । स्व एवैनमृतावाधाय ब्रह्मवर्चसी भवति । मुखं वा एतदृतुनां-यद्वसन्तः । यो वसन्ताग्निमाधत्ते-मुख्य एव भवति । अथो योनिमन्तमेवैनं प्रजातमाधत्ते । (२)-ग्रीष्मे राज्यन्य आदधीत । ग्रीष्मो वै राजन्यस्य-ऋतुः । स्व एवैनमृतावाधाय-इन्द्रियापी भवति । शरदि वैश्य आदधीत । शरद्वै वैश्यस्यर्त्तुः । स्वयेवैनमृतावाधाय पशुमान् भवति । ऐषा वै प्रथमा रात्रिः सम्वत्सरस्य-यदुत्तरफाल्गुनी । मुखत एवैतत् सम्वत्सरस्याग्निमाधाय वसीयान् भवति । —तै० ब्रा० १।१।२।६-७-८ कण्डिकाएँ

८६--वसन्त की आज्यता, ग्रीष्म की इध्मता, तथा शरत् का हवित्त्व-प्रतिपादन, एवं पार्थिव--प्राणाग्नि का समिन्धन—

यजुःसंहिताने वसन्त के इसी मूलोपक्रमानुगत प्राधान्य से वसन्त को 'आज्य' कहा है, ग्रीष्म को 'इध्म' कहा है, शरत् को 'हवि' कहा है । जिसप्रकार आज्य (घृत) की आहुति से सुप्त अङ्गाराग्नि जागरूक हो पड़ता है, भभक उठता है, एवमेव वासन्तिक दिव्य सौर-मध्वग्नि के आते ही पार्थिव योनिरूप अग्नि जागरूक हो पड़ता है । ग्रीष्म मानो वैसा काष्ठ है–जो इस जागरूक अग्नि को अधिकाधिक प्रज्ज्वलित करता रहता है । शरदग्नि से अनुप्राणित परिपक्व अन्नरूप अग्नि ही हविरूप से इस प्रज्ज्वलित पार्थिव अग्नि को पुष्ट करता है । अतएव ग्रीष्म इध्म है, तो शरत्–हवि है । देखिए !

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं, ग्रीष्म इध्मः, शरद्धविः ॥
—ऋक्सं० १०।९०।६।

८७–दिक्--छन्द--साम--स्तोम--ऋतु--वीर्य्य-भावानुगत पञ्चर्त्तु-विज्ञान--निबन्धन-'पार्थिव-भूतविज्ञान' का तालिकारूपेण पावनसंस्मरण—

षड्ऋतुस्वरूपानन्तर पञ्च–ऋतुस्वरूप प्रतिपादित हुआ था पाङ्क्तयज्ञानुरोध से । एवं अथर्वसंहिता में विस्पष्ट शब्दों में इन पाँचों ऋतुओं का स्वरूप व्यक्त हुआ है, जिसके दिक्–छन्द–साम–स्तोम–ऋतु–वीर्य्य, इन ६ विवर्त्तभावों का स्वरूपोपवर्णन हुआ है यजुःसंहिता में । दिक्–छन्द–साम–स्तोम–ऋतु–वीर्य्य–भावानुगत पञ्च-ऋतुविज्ञान के समन्वय के लिए तत्प्रकरण का ही स्वाध्याय करना चाहिए, जिस प्रकरण में सम्पूर्ण 'पार्थिव–भूतविज्ञान' समाविष्ट है । प्रकृत में वह तालिकामात्र प्रसङ्गधिया उद्धृत करदी जाती है नैगमिक-पुरुषश्रेष्ठों के मनोविनोद के लिए—

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥
—अथर्व सं० १२।१।३६।

दिग्भावाः	छन्दोभावाः	सामभावाः	स्तोमभावाः	ऋतुभावाः	वीर्य्यभावाः
१—प्राची	गायत्री	रथन्तर	त्रिवृत्	वसन्त	ब्रह्म
२—दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पञ्चदश	ग्रीष्म	क्षत्र
३—प्रतीची	जगती	वैरूप	सप्तदश	वर्षा	विट
४—उदीची	अनुष्टुप्	वैराज	एकविंश	शरत्	फल
५—ऊर्ध्वा	पङ्क्ति	शाक्वररैवत	त्रिणवत्रय–स्त्रिंश	हेमन्तशिशिर	वर्च्च

देखिए !—यजुःसंहिता १० अध्याय, १० मन्त्र से १४ मन्त्रपर्य्यन्त

८८--तीन-पाँच-छह, किंवा सात ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सरप्रजापति का अर्द्धाकाशात्मक सौर पतिभाव, अर्द्धाकाशात्मक चान्द्र पार्थिव पत्नीभाव, तदनुगत दाम्पत्य के द्वारा ऋतुराज वसन्त में ऋतुकालानुगता पृथिवी का गर्भधारण, एवं तदनुबन्धी अत्रिप्राण-समन्वित पुष्पकाल, तथा तदनुगता भावुकता–पूर्णा कविसूक्ति—

ऋतु–त्रयात्मक, किंवा ऋतु-पञ्चकात्मक, किंवा ऋतु-षट्कात्मक, किंवा ऋतु-सप्तकात्मक–अग्नीषोममय सम्वत्सरप्रजापति का सौर–मध्वग्नि--प्रधान दिव्य–द्यु लोकीय–अर्द्धाकाशात्मक–(सौरअर्द्धाकाशात्मक) अर्द्ध-सम्वत्सर तो **पतिभाव** है, एवं चन्द्रसोमगर्भित–योनिरेतप्रधान–पार्थिव–पृथिवी-लोकीय–अर्द्धाकाशात्मक (चान्द्रपार्थिवार्द्धाकाशात्मक) अर्द्ध सम्वत्सर ही **पत्नीभाव** है। दोनों के समन्वितरूपात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सर का नाम ही यज्ञमूर्त्ति–दाम्पत्यभाव है, जिनके मिथुन से ही पार्थिव–प्रजा की प्रसूति प्रक्रान्त है, यह आरम्भ से अबतक के विविध–प्रसङ्गों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। इस दाम्पत्य का उपक्रम क्योंकि सम्वत्सर की उपक्रमभूता 'वसन्त-ऋतु' ही बनती है। अतएव इसे ही सर्वऋतुप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव यह वसन्तऋतु ऋतुश्रेष्ट-'**ऋतुराजवसन्त**' नाम से प्रसिद्ध हो गई है मनोराज्यवशवर्त्ती भावुक-समाज में। दाम्पत्य के परिणाम-स्वरूप ही वसन्त-ऋतु में ओषधि–वनस्पतियाँ उस 'पुष्पकाल' से समन्वित हो जाती हैं, जो पुष्पकाल 'ऋतुकाल' कहलाया है। एवं जिस ऋतुकाल को ही अत्रिप्राण के सम्बन्ध से **गर्भाधानकाल** माना गया है। इसी सहज स्थिति का लोककविने इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

द्रुमाः सपुष्पाः, सलिलं सपद्मं, स्त्रियः सकामाः, पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषाः, दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये ! चारुतरं वसन्ते ॥

—ऋतुसंहारकाव्ये

८९–प्राकृतिक–द्यावापृथिव्य–दाम्पत्य के आधार पर प्रतिष्ठित, धर्म्मानुगत–काममूलक भारतीय मानव के दाम्पत्यभाव का उपक्रम—

दाम्पत्यतत्त्व के मूलप्रतिष्ठारूप मधुमय वसंन्त से सम्बन्ध रखने वाले अग्निजागरणात्मक नैगमिक–तत्त्व का ही अबतक स्पष्टीकरण–प्रक्रान्त रहा है, जिससे अनुप्राणित उस मानवीय–'दाम्पत्य' का भी स्वरूप-दिग्दर्शन प्रासङ्गिक बन जाता है, जिस मानवीय दाम्पत्यभाव को **'सम्वत्सरयज्ञपुरुष की प्रतिमा'** माना है ऋषिप्रज्ञाने। स्मरण रहे, जिस **'मनोज कामदेवता'** के माध्यम से अब हम जिस मानवीय-दाम्पत्य के लोक-स्वरूप की ओर प्रवृत्त होने जारहे हैं, उसका केवल मनःशरीरप्रधान–स्खलित–विगलित–अमर्य्यादित–पशुसर्ग-समतुलित–जड़–कामानुगत–भूतमिलनात्मक कल्पित उस वर्त्तमान दाम्पत्याभास से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो इत्थंभूत–धर्म्मवञ्चित काममूलक दाम्पत्य मानव-मानवी को सम्वत्सरप्रतिष्ठा से वञ्चित करता हुआ इसे सर्वथा पशुश्रेणि में हीं ला खड़ा करता है।

९०–ब्राह्मणग्रन्थोपवर्णिता–सम्वत्सरमूला–अतिसृष्टि से अनुप्राणिता–पार्थिव–प्रजासृष्टि से समन्वित आर्ष दाम्पत्यभाव, एवं मन्त्रश्रुतिविरुद्ध, तथा प्राजापत्यमर्य्यादाविरुद्ध मायावादी के जगन्मिथ्यात्त्वमूलक कल्पित संन्यास की निस्सारता—

शतपथब्राह्मण में विस्तार से प्रतिपादित–**'अतिसृष्टिविज्ञान'** नामक प्रकरण में अन्नादाग्नि, अन्न-सोममूला दाम्पत्यभावानुगता जिस **'पार्थिव-प्रजासृष्टि'** का निरूपण हुआ है, उसका मूलभूत 'आत्मपुरुष' ही अपनी मानसिक कामना से सर्वप्रथम स्वयं पति–पत्नी–रूप में परिणत होता है, जिसका **'सम्वत्सरप्रजापति'** रूप से अबतक यशोगान हुआ है। कौन है–वह 'आत्मपुरुष', जिससे सम्वत्सररूप–अग्नीषोमात्मक दाम्पत्य-भाव का उदय हुआ है ?, प्रश्न का समाधान जगन्मिथ्यात्त्ववादी वेदान्ती की दृष्टि में जहाँ कोई अचिन्त्य–विश्वातीत–निर्द्धर्म्मक–निरुपाधिक अज्ञात–अविज्ञेय 'आत्म' पदार्थ है, अतएव जिस वेदान्ती की दृष्टि में इत्थंभूत निरुपाधिक आत्मब्रह्म से प्रतिपादित प्रजासर्ग जहाँ केवल मायिक है, मिथ्या है, वहाँ पार्थिवप्रजा-सापेक्ष आत्मपुरुष सर्वथा चिन्त्य–उपास्य–विज्ञेय–ज्ञानविज्ञानसमन्वित–अग्नीषोमात्मक वे **'सूर्य्यप्रजापति'** ही हैं, जो–**'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'**–**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इत्यादि मन्त्रप्रामाण्यानुसार विस्पष्ट शब्दों में स्थावरजङ्गमात्मिका पार्थिव जनता–प्रजा के प्रसवकर्त्ता आत्मा प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव मन्त्रश्रुतिविरुद्ध वेदान्तवादी का, मायावादी–शून्यवादी का अचिन्त्य ब्रह्म कदापि इस पार्थिवसृष्टि–प्रकरण में ग्राह्य नहीं है, जबकि उसे तो सर्वथा अत्यनपिनद्ध ही माना है श्रुतिने।

९१–आत्मपुरुषलक्षण सौरपुरुष का महदुक्थ--महाव्रत--गर्भित पुरुषभाव, एवं पुरुषविध आत्मभाव—

क्या स्वरूप है उस 'आत्मपुरुषरूप' सौरपुरुष का ?, इसके लिए भी श्रुति की ही शरण में जाना चाहिए अपनी वेदान्तकल्पना का परित्याग कर। सूर्य्यनारायण से सम्बद्धा त्रयीविद्या का स्वरूप बतलाते हुए

ऋषि ने कहा है कि, मण्डलाकार--रूपेण प्रतीयमान तेज:पुञ्जरूप सूर्य्यविम्ब **'महदुक्थरूप ऋक्तत्त्व'** है, एवं तेज:पुञ्जरूप सूर्य्यमण्डल (सूर्य्यविम्बात्मक) महदुक्थ से चारों ओर **'सहस्रधा महिमानः सहस्र'** रूप से व्याप्त अर्चिः-समष्टिरूप रश्मिमण्डलात्मक परिमण्डल (आलोकमण्डल–प्रकाशमण्डल) ही **'महाव्रतरूप सामतत्त्व'** है। ये दोनों हीं छन्दोरूप वयोनाध हैं, पुरभाव हैं, सीमाभाव हैं।

९२–ऋक्सामावेष्टित सौर यजुःपुरुष की अग्निप्रधाना पुरुषता का समन्वय—

इस ऋक्सामरूप पुर से सीमित केन्द्रस्थ प्राणाग्नि ही **'पुरुष'** है, यही **'यजुः'** है, एवं यही वह केन्द्रस्थ-हृदयरूप आत्मपुरुष है, जिसका **'अतिसृष्टिविज्ञान'** ब्राह्मण के उपक्रम में–**'आत्मैवेदमग्र आसीत्--पुरुषविधः'** (शत० १४।४।२।१।) इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। विजयदशमीपर्व–प्रकरण के निगमागम-परिच्छेदों में इस सौर त्रयीवेद का दिग्दर्शन कराया जाचुका है। अतएव पुनरावर्त्तन व्यर्थ है। प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या केवल-**"अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः-सोऽग्निः। तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति"** (शत० १०।५।२।१–२।) यही वचन पर्य्याप्त होगा सौर-आत्मतत्त्व की 'पुरुष' वाचकता के सम्बन्ध में। ऋक्सामपुरों से सीमित, अतएव **'पुरि शेते'** के अनुसार **'पुरिशय'** शब्द ही लोकभाषा का 'पुरुष' शब्द है, जो यजुरग्निमूर्त्ति है। जूरूप स्थित्याकाश से समन्वित यत्-रूप गतिधर्म्मा प्राणाग्नि ही 'यज्जूः' रूप-'यजुः' की स्वरूपव्याख्या है (देखिए शत० १०।३।५।१,२,।)।

९३–सौर--हिरण्यगर्भ--पुरुषाग्नि का अहंभाव, तद्गर्भीभूत चन्द्रमा का 'प्रकृति' भाव, तद्गर्भीभूता पृथिवी का आकृतिभाव, तथा सौर–चान्द्र–पार्थिव--भावों से मानव के बौद्धिक--मानसिक--शारीरिक--अहङ्कृति--प्रकृति–आकृतिभावों का प्रादुर्भाव—

पुरुषरूप इस सौर हिरण्यगर्भ आत्माग्नि का साङ्केतिक नाम है–**'अहम्'**। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह 'अहम्' शब्द भी। जैसे आत्मपुरुष कोई अचिन्त्य ब्रह्म नहीं है, तथैव इस सृष्टिसन्दर्भ का यह 'अहं' भी किसी निरुपाधिक ब्रह्म का वाचक नहीं है। अपितु पारमेष्ठ्य–महत्प्रकृतितत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले सत्त्वानुगत अहङ्कृतिभाव, रजोऽनुगत–प्रकृतिभाव, तथा तमोऽनुगत आकृतिभाव से अनुप्राणित 'अहंभाव' का ही सूचक है। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि, सूर्य्य चन्द्रमा–भूपिण्ड–तीनों क्रमशः पारमेष्ठ्य–महत्प्रकृतितत्त्व से समन्वित होते हैं। चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर, सचन्द्र-भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर, एवं सचन्द्र-सभूपिण्ड-सूर्य्य महन्मूर्त्ति परमेष्ठी के चारों ओर परिभ्रममाण है, जो परिभ्रमणप्रक्रिया 'दर्शपूर्णमास' नाम से प्रसिद्ध है। इस परिभ्रमण से सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–तीनों का परिभ्रमण संसिद्ध है। तीनों के द्वारा पारमेष्ठ्य महान् में क्रमशः सत्त्व-रज–तमोरूप त्रिगुणभाव, एवं तदनुबन्धी–अहङ्कृति-प्रकृति-आकृतिभाव-आविर्भूत हो जाते हैं। मानवसंस्था में शरीर–'आकृति' महान् से, मन 'प्रकृति' महान् से, तथा बुद्धि 'अहङ्कृति' महान् से समन्वित है, जो बुद्धि–मनः–शरीर–तन्त्र क्रमशः सौर-चान्द्र-भौम–माने गए हैं। यों महन्मूलक–सौर 'अहङ्कृति' रूप 'अहं' ही यहाँ का 'अहम्' तत्त्व प्रमाणित हो रहा है, जिसे लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

"आत्मैवेदमग्रऽआसीत्--पुरुषविधः। सोऽनु वीक्ष्य--नान्यदात्मनोऽपश्यत्। सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्। ततोऽहं नामाऽभवत्" [शत० १४।४।२।१।]।

९४–सौरपुरुषानुगत 'अहम्' भाव के प्राथम्य का श्रौत–समन्वय—

सौर पुरुषात्मा ने जब अपने ऋक्सामावच्छिन्न यजुःपुरुषाग्निस्वरूप पर दृष्टि डाली, तो अपने इस आग्नेय–पुरुषस्वरूप के अतिरिक्त इस प्राथमिक स्वरूप में इसे अन्य कुछ भी दिखलाई न दिया। न प्रकृतिभाव उपलब्ध हुआ, न आकृतिभाव उपलब्ध हुआ। क्योंकि ये दोनों भाव तो सौम्य चन्द्रमा, एवं तदनुगता पृथिवी पर ही तो अवलम्बित हैं। अभी जब भूपिण्ड ही नहीं, तो चन्द्रमा कहाँ से आता ?। क्योंकि भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह है, तो चन्द्रमा भूपिण्ड के उपग्रह माने गए हैं। अभी तो उस अवस्था की चर्चा प्रक्रान्त है, जबकि स्वयम्भू ब्रह्माग्नि, तथा पारमेष्ठ्य–सोम के दाम्पत्यभाव से उत्पन्न विराट्मूर्त्ति यजुरग्निमूर्त्ति सूर्य्यपुरुष ही व्यक्त हो पाए हैं, जिनमें महत्प्रकृति (पारमेष्ठ्यप्रकृति) का स्वानुबन्धी 'अहंकृति' भावात्मक केवल 'अहं' भाव ही विद्यमान है। अतएव यही नाम होगया इस प्रथमावस्था में सौरपुरुषात्मा का। पार्थिवसर्ग से पूर्व क्योंकि सौरपुरुषात्मा केवल 'अहं' रूप ही था, नामरूपात्मक प्रकृत्याकृतिभाव चन्द्रमा–भूपिण्ड के उत्पत्यनन्तर प्रादुर्भूत हुए थे। अतएव आज भी उसी पुरुषात्मा का अंशभूत मानव, और मानवी प्रथमामन्त्रण पर (आह्वान करने पर–कौन है ? यह जिज्ञासा व्यक्त करने पर) **'अहमस्मि'** ('मैं हूँ') इस रूप से 'अहम्' रूप से ही अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। पहिले सौर आत्मानुबन्धी–अहङ्कृतिरूप–'अहं' नाम ही व्यक्त होता है। तदनन्तर ही–**'याज्ञवल्क्य–गार्गी'** रूप प्रकृत्याकृति-निबन्धन-चान्द्र-पार्थिव नाम व्यक्त होते हैं। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए आगे चल कर ऋषि कहते हैं—

"तस्मादप्येतर्हि (पार्थिवसृष्टिकाले) आमन्त्रितः--'अहमयम्' इत्येवाग्रे--उक्त्वा–अथान्यन्नाम ब्रूते--यदस्य भवति" [शत० १४।४।२।१।]।

९५–सौरपुरुष के 'पुरुष' शब्द का श्रौत--तात्त्विक--विलक्षण--निर्वचन, एवं 'सर्व्वान् पाप्मन औषत्' लक्षण पुरुष का नित्यविज्ञानमयत्त्व—

आगे चलिए। अहङ्कृतिरूप-यजुरग्निमूर्त्ति, अतएव 'पुरुष' नामक सौर आत्मा ऋक्सामरूप छन्दःपुर के कारण तो पुरुष कहलाया ही है। एतदतिरिक्त आकृति–प्रकृति–निबन्धन–तमो–रजोऽनुगत पाप्माओं–भूत–मर्त्य–मूर्त्त-धर्म्मों से क्योंकि स्वस्वरूप से यह असंस्पृष्ट ही रहता है पार्थिव–चान्द्रसर्ग से पूर्व भी, पश्चात् भी, जैसाकि–**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः–न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति'** इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से भी स्पष्ट है। अतएव भी इसे 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। मूर्त्त–पाप्मभावों के आसञ्जन का सम्बन्ध तो चान्द्र प्रकृतिभाव, तथा पार्थिव आकृतिभावों से ही होता है। सौरपुरुषरूप आग्नेय विज्ञानात्मा [बुद्धि] तो सचमुच पाप्माओं से असंस्पृष्ट ही है। अवश्य ही चान्द्र–पार्थिव सर्गानन्तर फिर भी सौरपुरुष को साक्षीरूप से प्राकृतभावों से समन्वित हो जाना पड़ता है। किन्तु तत्पूर्व तो यह सर्वथा ही इस भावी सम्पूर्ण मूर्त्तजगत्रूप पाप्म-भाव से [स्थूलव्यासङ्ग से] असंस्पृष्ट ही बना रहता है। अतएव–**'स यत् पूर्व्वो-ऽस्मात्-सर्वस्मात्-सर्व्वान् पाप्मन--औषत्'** निर्वचन से इसे 'पुरुष' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। सौर आग्नेय ताप के सम्मुख कौन पाप्मा ठहर सकता है ?। औषत् का 'अदहत्' ही अर्थ है। मानो सब पाप्माओं को जला ही दिए हों उस विज्ञानाग्निपुरुषात्मा ने। आज भी तो जो आचारनिष्ठ मानवश्रेष्ठ विज्ञानात्मबल से अपने मूलप्रभव विज्ञानतेजोमय सौर सावित्राग्नि के,

तेजोमय पुरुषात्मा के उस पाप्मदहनधर्म्म को जान लेता है, वैसा विज्ञानवान् मानव अवश्यमेव अपने विज्ञानपौरुष से पार्थिव-चान्द्र–[शारीरिक–मानसिक] पाप्माओं को जला ही डालता है । (देखिए– शत० १४।४।२।२।] ।

९६–सौरपुरुषप्रजापति का एकत्त्वानुगत भय, भयनिवृत्ति, द्वितीय-स्वरूप की कामना, स्वयं का द्वैधीभाव, एवं तदनुगता प्रथमा मौलिकसृष्टि का रहस्यात्मक समन्वय —

सौरपुरुषाग्न्यात्मरूप विराड़ात्मा के उस स्वरूप का इतिवृत्त यहीं उपरत हुआ, जिसमें अभीतक चान्द्र-पार्थिव–भाव समाविष्ट नहीं हुए थे । अब उस इतिवृत्त का श्रुति उपक्रम कर रही है, जो उपक्रम ही पार्थिव–चान्द्रसर्ग का मूलप्रभव बनने वाला है । उपक्रम का क्या स्वरूप ? प्रश्न का अर्थ है—'किञ्चिचलन' । स्थिति का आंशिक विकम्पन ही किञ्चिचलन है, एवं यही लोकभाषा में–'भय' कहलाया है । ब्रह्मदण्डरूप नियतिर्लक्षण कालचक्र का सहज नियम ही वह 'भयदण्ड' है, जिसने सूर्य्य को गतिशील बना रक्खा है स्वाक्ष-रूप से स्वस्थल पर, एवं अयनरूप से परमेष्ठी के चारों ओर । इस गति के केन्द्रस्थिति, परिधिगति–रूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं । केन्द्रस्थितिरूप से सूर्य्य ब्रह्मौदनात्मक है, परिधिगतिरूप से सूर्य्य प्रवर्ग्यात्मक है । यहीं किञ्चिचलनरूप वह भय है, जिसने केन्द्ररूप स्थितिभाव को भी प्रवर्ग्य के पार्थक्यकाल में अवश्यमेव क्षणमात्र के लिए विकम्पित कर दिया होगा, जैसाकि अज्ञातदशा में द्व्यङ्गुल–त्र्यङ्गुल–मित भी गर्त्त में स्खलित पाद–विकम्पन हृत्कम्प उत्पन्न कर दिया करता है क्षणमात्र के लिए । किन्तु जैसे क्षणानन्तर ही हृत्कम्परूप भय शान्त हो जाता है, तथैव उपग्रहरूप से प्रवर्ग्य के पृथक् होते ही पुनः ब्रह्मौदनरूप केन्द्रात्मक सूर्य्यपुरुष का भी भयात्मक विकम्पन शान्त हो गया होगा । और यों दो विवर्त्तों के द्वारा प्रवर्ग्यानुगत–कम्पनयुक्त भय, पुनः भयोपशान्ति-प्रक्रियाधारा से ही सूर्य्यपुरुष से भूपिण्डरूप प्रवर्ग्यपिण्ड प्रादुर्भूत हो पड़ा होगा । इसी प्रथमा सृष्टि-प्रक्रिया को लक्ष्य बना कर आगे चलकर ऋषि कहते हैं—

"सोऽबिभेत् । तस्मादेकाकी बिभेति । स हायमीक्षाञ्चक्रे–यन्मदन्यत्–नास्ति, कस्यान्नु बिभेमि–इति । तत एवास्य भयं वीयाय । कस्माद्धि–अभेष्यत् । द्वितोयाद्वै भयं भवति" । [शत० १४।४।२।३।] ।

९७–मनःप्राणवाङ्मय सौरपुरुष का हिरण्यगर्भ–मनुत्त्व, तत्पत्नी मनावी (पौराणिकों की 'शतरूपा' मनुपत्नी), एवं मनुरूप मनोमय दाम्पत्यपुरुष से सर्वप्रथम-मनोज–'काम' का आविर्भाव—

सौर प्रवर्ग्यरूपेण उत्पन्न भूपिण्ड, तथा भूपिण्ड से प्रवर्ग्यरूपेण उत्पन्न चन्द्रमा, दोनों पृथक् होगए सौर-पुरुषाग्नि से । पुनः सूर्य्यपुरुष एकाकी ही बने रह गए । यहाँ आकर केन्द्रानुगत, सृष्टिबीजरूप वह महान् अनुबन्ध व्यक्त हुआ सौरपुरुष के केन्द्र में, जिस कामबीज को मन का रेत कहा गया है । प्राणाग्निमूर्त्ति (यजुरग्निमूर्त्ति) पुरुष में यत्‌रूप-प्राण, एवं जूरूप वाक् के साथ साथ प्राण-वाक् के आधार पर वह हृदयस्थ काममय मन भी तो

प्रतिष्ठित था, जिससे समन्वित होकर मनःप्राणवाङ्मय ही सौरपुरुष '**हिरण्यगर्भमनु**' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं*, एवं जिनकी अर्द्धाङ्गिनी अनुपद में ही श्रद्धासोममयी 'मनावी' नाम से प्रसिद्ध होने वाली है, जिसे कि पुराणाचार्योनें शत–सहस्र–सृष्ट्याधारत्वेन--'**शतरूपा**' नाम से व्यवहृत किया है। इसी मनुरूप मनःप्राणवाङ्मय विराडग्निमूर्ति--सौरपुरुष के मन से कामना का, प्राण से तप का, एवं वाक् से श्रम का आविर्भाव होता है। कामतपःश्रमरूप सृष्टि--अनुबन्धों में प्रथम अनुबन्ध 'मनोमय काम' (कामना) ही कहलाया है। मन से व्यक्त होने के कारण ही सृष्टि के इस मूलबीज को '**मनोज**' कहा गया है, जिस का काम है हृदय में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए मण्डलानुगत रश्मिभावों से रस का बलों में समन्वय करते रहना। सद्रस को असद्--बलों से समन्वित करते जाना हीं काम का प्रधान पौरुष है। लोकभाषानुसार–सत्ता को भाति में समन्वित करते जाना हीं 'काम' का प्रधान पौरुष है। सद्रूप अहं को असद्रूप–आकृति-प्रकृति-लक्षण–बलात्मक–नामरूपों से सम्बद्ध करते जाना हीं काम का प्रधान लक्ष्य है, जिस इस रहस्यपूर्ण लक्ष्य का रहस्यभाषा में ही दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्--हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—ऋक्सं० १०।१२९।४।

९८--सौरप्रजापति के सुप्रसिद्ध–'खंब्रह्म--कंब्रह्म–रंब्रह्म–शंब्रह्म' नामक चार महिमामय विवर्त्त—

ब्रह्म के चार विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं भारतीय आर्ष–विज्ञानकाण्ड में, जो खंब्रह्म–कंब्रह्म–रंब्रह्म–शंब्रह्म–नामों से उपस्तुत–उपवर्णित हैं। अव्यक्त–परमाकाशात्मा–सर्वाधार–स्वयम्भूब्रह्म ही 'खंब्रह्म' है, जो यजुर्म्मूर्त्ति काममय सौरब्रह्माण्ड का आवपनात्मक सर्वाधार बना हुआ है। इसीलिए तो यजुःसंहिता की समाप्ति–'ओं खं ब्रह्म' (यजुः सं० ४०।१७।) पर ही की है तात्त्विक यजुःपुरुष के द्रष्टा महर्षियोंनें। काममय सौर–अग्निपुरुष (प्रजापति) ही प्रजासुखानुभूति से आनन्द–प्रमोद–मोदात्मक–सुखभावात्मक बनते हुए '**कंब्रह्म**' बने हुए हैं ×। कंब्रह्म का 'कम्' रूप सुखभाव कामना पर ही अवलम्बित है, जैसाकि निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र-से स्पष्ट है—

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि॥

—ऋक्सं० ९।११३।१०,११ मन्त्र।

---

* मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः [मनुः]

× प्रजापतिर्वै कः। तमेव तत्प्रीणाति। अथो सुखस्यैवैतत्–नामधेयं 'कम्' इति। सुखमेव तदात्मन्धत्ते। —शाङ्खायनब्राह्मण ५।४।

इसी आनन्दरतिसुख के कारण काममय सौरपुरुष को अवश्य ही–'**कंब्रह्म**' कहा जा सकता है, कहा गया है । काममय रतिसुख का ही नाम है–दाम्पत्यसुख । अतएव स्पष्ट है कि, जबतक पुरुषकाम स्त्रीकाम से समन्वित नहीं हो जाता, तबतक इसका काम एकाकीरूप से कदापि 'कं' भाव में परिणत नहीं हो सकता । द्वित्त्वसापेक्ष रमणभाव ही 'कंभाव' का प्रवर्त्तक है । योषा-वृषात्मक रमणभाव ही मिथुनभाव कहलाया है । अतएव दाम्पत्यभाव को ही 'रमणभाव' की प्रतिष्ठा माना जायगा, जो उभयसापेक्ष है । अतएव दाम्पत्य को ही–रमणसाधकत्त्वेन–'**रंब्रह्म**' कहा जायगा, जिसका मुख्य श्रेय उस योषातत्त्व को ही दिया जायगा, जो सौम्य माना गया है । तभी तो स्त्रीभाव ही 'रं' सम्बन्ध से–'**रमणी**' कहलाया है लोकव्यवहार में । अतएव धर्म्मानुबन्धिनी पत्नी को ही 'कं' का 'रं' रूप माना जायगा । खंब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित 'कं' ब्रह्म (पुम्भाव) रंब्रह्म से (स्त्रीभाव से) समन्वित होकर ही जिस अपूर्वा पूर्णा तृप्ति का अनुगामी बनता है, 'खं-कं–रं' की समष्टिरूप वही अमृतभाव–पूर्णसमृद्धिभाव चौथा–'शंब्रह्म' कहलाया है, एवं इसी पर काममय पुरुष का कामभाव उपशान्त हुआ करता है ।

६६–सौरपुरुषरूप विराट्पुत्र के सर्जक ब्रह्म सुब्रह्मरूप (स्वायम्भुव -पारमेष्ठ्यरूप) प्रथम दाम्पत्य का संस्मरण, एवं तत्पुत्ररूप विराट्सूर्य्य का भी तथैव दाम्पत्यानुगमन, तद्द्वारा स्त्रीपुंभावात्मक ऋताग्नि-ऋतसोममय तृतीय दाम्पत्य का आविर्भाव, एवं तद्द्वारा मानव--मानवीरूप चतुर्थ दाम्पत्य की प्रसूति—

इदमत्रावधेयम् । सौरपुरुष का प्रवर्ग्यभाग ही भूपिण्ड बना, भूपिण्ड का प्रवर्ग्यभाग ही चन्द्रमा बना । चान्द्र सोमोपग्रह से भूपिण्ड सौम्य बन गया, जबकि स्वयं सौरपुरुष अपने प्रातिस्विकरूप से आग्नेय ही रहा । जिस ब्रह्माग्नि–सुब्रह्मसोमरूप दाम्पत्य से सूर्य्यविराट् व्यक्त हुए थे, वह भी अपने अर्द्ध स्वरूप से अग्निप्रधान बन गए, अर्द्ध स्वरूप से सोमप्रधान । प्रथम दाम्पत्य में (जो भावसर्ग का प्रवर्त्तक है) ब्रह्माग्नि ही द्रुत होकर जैसे सुब्रह्मात्मक अथर्वसोम में परिणत हुआ है, तथैव इस द्वितीय दाम्पत्य में भी [जोकि गुणानुगत विकारसर्ग–मैथुनीसृष्टि–का प्रवर्त्तक है] सौराग्नि ही प्रवर्ग्यरूप से द्रुत होकर भूपिण्ड बना । इसी का भृग्वङ्गिरोऽनुगत अत्रिप्राण प्रस्रुत होकर चान्द्रसोम रूप में परिणत हुआ । द्यावापृथिवीरूप साम्वत्सरिक–दाम्पत्यभाव के सम्पादक साम्वत्सरिक ऋताग्निरूप वृषा, तथा ऋतसोमरूप योषा, दोनों पुं–स्त्रीभाव, पति–पत्नीभाव एक ही सौरपुरुष के व्याकृतरूप कहलाए । यही सौरपुरुष 'काम' का प्रथम पौरुष कहलाया, जिससे अर्द्ध अग्न्याकाशसम्वत्सर–अर्द्ध सोमाकाशसम्वत्सर–रूप दो अर्द्धवृगलरूप व्यक्त हो पड़े, जिनसे पार्थिवसर्ग [मानवादि–पश्वादि–सर्ग] उपक्रान्त होने वाला है । स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय का ही विषय है यह दाम्पत्य–विज्ञानात्मक–अतिसृष्टिविज्ञान, जिसका यहाँ संस्पर्शमात्र ही तो सम्भव है । '**विदल**' ही '**वृगल**' शब्द का अर्थ है । एक वृत्त के दो समान दल ही 'विदल' शब्द से परिगृहीत हैं । अर्द्ध सौर आकाश अग्निप्रधान पुरुष है, यह भी अर्द्धवृगल है । अर्द्ध चान्द्र-पार्थिवाकाश सोमप्रधाना स्त्री है, यह भी अर्द्ध वृगला ही है । अर्द्धवृगलपुरुष के अर्द्धाकाश को 'सोम' रूप 'पत्नीभाव' पूर्ण करता है, एवं अर्द्धवृगलरूपा स्त्री के अर्द्धाकाश को अग्निरूप 'पतिभाव' परिपूर्ण करता है । दोनों मिलकर एक दम्पती है, एक सम्वत्सरप्रजापति है, जो अपने इन पति–पत्नीरूप अर्द्धवृगलरूपों से अग्नि–सोमात्मक बनते हुए यज्ञात्मक प्रमाणित हो रहे हैं । सम्वत्सररूप दाम्पत्यलक्षण इसी प्रजापति [द्यावापृथिव्य प्रजापति] से मानवादि सर्ग उपक्रान्त होता है, जिस उपक्रान्ति की तिथि वसन्तारम्भकाल

इसलिए मान लिया गया है कि, फाल्गुनी पूर्णिमा ही उस सौर मघ्वग्नि का आगमनोपक्रमकाल है, जो सौर मघ्वग्नि ही प्रजननकर्म्म की मूलप्रतिष्ठारूप शुक्रस्थ काम का उद्दीपक माना गया है । अत्र मानवसृष्टि [मानव मानवी–समन्विता–पुं–स्त्रीभावसमन्विता] प्रजासृष्टि का इतिवृत्त उपक्रान्त होने वाला है । अतएव अत्रतक के सौर--चान्द्र--पार्थिव--सर्गानुगत प्राकृतिक उस दाम्पत्यभाव को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर लेना चाहिए, जिसका निम्नलिखित शब्दों में व्यक्तीभाव हुआ है—

"स वै नैव रेमे । तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास, यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ । सऽइममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् । ततः पतिश्च (ऋताग्निश्च) पत्नी च (ऋतसोमश्च) अभवताम् । तस्मादिदं--अर्द्धवृगलमिव (विदलमिव) स्वः, इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः । तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्य्यते--एव । तां समभवत् ।

ततः—

मनुष्याः--अजायन्त" । (शत० १४।४।२।४–५।) ।

१००–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' मूलक--मानवीय-दाम्पत्यभाव, एवं तदनुगत इतर प्राणि-वर्गानुगत मिथुनद्वन्द्वों की प्रवृत्ति—

प्रकृति के द्वितीय दाम्पत्यावतार द्यावापृथिव्य–सूर्य्यचन्द्रपार्थिवात्मक–सम्वत्सर प्रजापति के अग्नि–सोमात्मक यज्ञ से प्रजासृष्टि [पार्थिव--प्राणी--सृष्टि] का आविर्भाव हुआ,–**'मनुष्या अजायन्त'** का यही अर्थ है, जैसाकि तद्ब्राह्मण के अग्रिम सन्दर्भ से स्पष्ट है । जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, पार्थिव प्रजामात्र के मूलप्रभव, इनके पुम्भाव–स्त्रीभावों के मूलाधिष्ठान ऋताग्निरूप अन्नादतत्त्व, तथा ऋतसोमरूप अन्नतत्त्व ही बने, जो सम्वत्सरमण्डल में क्रमशः–दक्षिण–उत्तर–दिशाओं को उपक्रमस्थान मान कर उत्तर–दक्षिण--दिशाओं में उपसंहृत हैं । दक्षिण से उपक्रान्त ऋताग्नि उत्तर में विश्रान्त है, एवं उत्तर से उपक्रान्त सोम दक्षिण में उपशान्त है । तभी तो दक्षिण की ओषधियाँ आग्नेयीं मानीं गईं है, एवं उत्तर की ओषधियाँ सौम्या मानीं गईं हैं । उत्तर का हिमाद्रि सौम्य है, दक्षिण का विन्ध्याद्रि आग्नेय है—**"हिमवद्-विन्ध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुन्धरा"** । **अग्नीषोमात्मकं जगत्** । अतएव प्रक्रान्त ब्राह्मण को अन्त में कहना पड़ा कि—

"अथ यत्किञ्चेदमार्द्रं–तद्रेतसोऽसृजत । तदु सोमः । एतावद्वा–इदं सर्वं–अन्नं चैव, अन्नादश्च । सोम एवान्नम् । अग्निरन्नादः" । [शत० १४।४।२।१३।] ।

१०१- 'स हैतावानास–यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ' वाक्य का समन्वय, एवं अर्द्ध–वृगलात्मक मानव--मानवी की प्रवृत्ति—

'स हैतावानास--यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ' इस वाक्य का क्या अर्थ ? । क्योंकि इस वाक्य के अनन्तर–'स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्' कहा है श्रुति ने, जिसका अर्थ है—प्रजापति इन स्त्री–पुरुषरूप–

अर्द्धबृगलात्मक-विभिन्न-विभक्त दो रूपों से असमन्वित थे । अनन्तर उन्होंनें उभयात्मक एक आत्मा को दो भागों में विभक्त किया'' । बात समझ में नहीं आई । पहिले दो रूप थे, तो उनसे असमन्वित कैसे रहे प्रजापति ? । यदि दो रूप पहिले नहीं थे, तो '**आत्मानं द्वेधाऽपातयत्**' से पूर्व ही प्रजापति के लिए '**स हैतावानास स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ**' यह कैसे कहा गया ? । विप्रतिपत्ति का समाधान स्पष्ट है । सौर यजुरग्नि जिस प्रथम दाम्पत्य से आविर्भूत हुआ है, उसमें ब्रह्माग्नि, सुब्रह्मरूप पुं-स्त्री-भाव बीजरूप से पहिले से ही प्रतिष्ठित हैं, जिनका चान्द्र-पार्थिवभाग के अभिव्यक्तित्त्व के अनन्तर व्यक्तीभावमात्र हो जाता है । स्थिति का मानवसृष्टि के उदाहरण से समन्वय कीजिए । मानव का दक्षिणार्द्धभाग अग्निप्रधान है, आग्नेय है । वामार्द्धभाग सोमप्रधान है, सौम्य है । पुरुषरूप-अग्निप्रधान-अग्निरूप भी एक ही मानव में यों दक्षिणोत्तरभागों के भेद से अग्नि-सोम, दोनों तत्त्व प्रतिष्ठित हैं । और यही स्थिति मानवी की है । यों मानव स्त्रीपुंभाव दोनों से ही समन्वित हो रहा है, जो दोनों रूप इस सम्परिष्वङ्गरूप उन्मुग्धभाव के कारण प्रजोत्पादन में तबतक असमर्थ हैं, जबतक कि दोनों पृथक् पृथक्-रूप से अर्द्ध–अर्द्ध–बृगलरूप से विभक्त न हो जायँ । सोमगर्भित अग्निलक्षण आग्नेय पुरुष, तथा अग्निगर्भिता सोमलक्षणा सौम्या स्त्री, दोनों यों विभक्त होकर, तदनन्तर दाम्पत्यरूप सम्परिष्वङ्गभावानुगत बन कर [**तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः**] ही प्रजननकर्म्म के प्रवर्त्तक बना करते हैं । इसी दृष्टान्त के माध्यम से दार्ष्टान्तिक लक्ष्य का निर्विरोध समन्वय हो जाता है, जिस इस समन्वय की सीमा में हीं मानव–मानवी से सम्बन्ध रखने वाला वह पवित्र–धार्म्मिक–परिणयात्मक दाम्पत्यसम्बन्ध गर्भीभूत है, जिसके लोकवृत्त को आधार बना कर ही ऋतुराजवसन्त से अनुप्राणित–मधुप्रधान–काममहोत्सव का हमें दो शब्दों में यशोगान कर लेना है ।

१०२–मानव–मानवी का मूलप्रतिष्ठारूप साम्वत्सरिक बृहतीछन्द—

स्त्री–पुम्भावात्मक जिस अग्नि–सोमात्मक सम्वत्सरप्रजापति से मानवसर्ग व्यक्त होने वाला है, उस अग्न्यात्मक (अग्नीषोमात्मक) सम्वत्सर का सीमाभाव ही कालात्मक–भातिसिद्ध सम्वत्सर कहलाया है, जिसका आरम्भ में हीं यशोगान किया जाचुका है । कालात्मक–अग्न्यभिन्न उस सम्वत्सर के मध्य में जो पूर्वापरवृत्तात्मक विष्वद्वृत्त प्रतिष्ठित है, वही नैगमिक वह बृहतीछन्द है, जो सम्वत्सरप्रजापति के साम्वत्सरिक–शरीर (मण्डल) के दक्षिणोत्तर पार्श्वों का विभाजक बना हुआ है, जिस इस विभाजक मध्यवृत्त के समन्वय के लिए सम्वत्सरानुगता उस–'**आतिवाहिक–त्रिलोकी**' को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिसके साथ मानव की '**साम्परायगति**' (प्रेतगति–आत्मगति–परलोकगति) से सम्बन्ध माना गया है ।

१०३–वृत्तानुगत ३६० अंशों की मौलिक उपपत्ति, तदनुगता परिश्रितेष्टका, तथा यजुष्मती इष्टकाओं से ७२० अहोरात्रों का प्रादुर्भाव—

प्रत्येक वृत्त को ३६० अंशात्मक क्यों मान लिया गया ?, प्रश्न की समाधानभूमि सोमगर्भित अग्नि की चिति से सम्बन्ध रखने वाली '**इष्टकाचिति**' पर ही अवलम्बित है । प्रजापतिरूप अग्नि, तथा पृथिव्यनुगत चान्द्र सोम, दोनों के अन्तरान्तरीभाव से सम्पन्न होने वालीं चितियाँ **परिश्रितेष्टकाचिति**, एवं **यजुष्मत्येष्टकाचिति**, नाम से प्रसिद्ध हुईं हैं ब्राह्मणग्रन्थों में । '**आपो वै परिश्रितम**' के अनुसार भृग्वङ्गिरोमय-सोमतत्त्व ही 'परिश्रित' है, जो परिधि की रूपरेखा बना करता है । सोममयी इष्टका 'परिश्रितेष्टकाचिति' है, जिसका अर्थ है अग्निगर्भिता चान्द्रसोमचिति, जिससे 'रात्रि' का स्वरूप सम्पन्न होता है । यजुः–पुरुष ही यजुरग्नि है ।

यही यजुष्मती ज्योतिर्म्मयी (सोमगर्भिता–अग्निमयी) इष्टका है, जिससे अहः का स्वरूप सम्पन्न होता है। सौम्यचितिरूपा सौम्या रात्रि, तथा अग्निचितिरूप आग्नेय अहः, दोनों मिलकर एक **'अहोरात्रतत्त्व'** है, जिसके पुनरावर्त्तन से ३६० अहोरात्रेष्टका होजातीं हैं, जिन ३६० इष्टकाओं की उपपत्ति **दशसहस्र–अष्टशत** (दसहजार–आठसौ) पर्वों से सम्बन्ध रखने वाले (शत० १०। ।२।२०।) सम्वत्सरकलाव्युदूहन–ब्राह्मण में हीं देखनी चाहिए। इसी उपपत्ति के आधार पर सम्वत्सर का अग्नि-सोमात्मक–इष्टकारूप अहोरात्रतत्त्व ३६० भागों में विभक्त हो रहा है। **'अह्नां विभक्तिरेव रात्रिः'** के अनुसार पूर्व अहः, उत्तर अहः की विभाजिका रेखा ही 'रात्रि' कहलाई है, जो सोमप्रधाना मानी गई हैं। ३६० अहरग्निरूप–यजुष्मती इष्टकाचितियों की विभाजिका रेखाएँ भी ३६० हीं हो जातीं हैं। फलतः ३६० ही रात्रियाँ हो जातीं हैं। यों ७२० अहोरात्र–समन्वित हो जाते हैं एक सम्वत्सर में। इसी अहोरात्रस्वरूप को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

सम्वत्सरो वै प्रजापतिरग्निः, सोमो राजा चन्द्रमाः। स ह स्वयमेवात्मानं प्रोचे–यज्ञवचसे राजस्तम्बनाय–'यावन्ति वाव मे ज्योतींषि, तावत्यो मे इष्टकाः' इति। तस्य वा एतस्य सम्वत्सरस्य प्रजापतेः सप्त च–शतानि--विंशतिश्च (७२०) अहोरात्राणि–ज्योतींषि। ता इष्टकाः। षष्टिच–त्रीणि च शतानि (३६०) परिश्रितः (अह्नां विभक्तयः), षष्टिश्च--त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यः। सोऽयं सम्वत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे-यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं,--उभयान्--देव-मनुष्यान्।

—शत० १०।४।२।१।

१०४–'यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं, उभयान् देवमनुष्यान्–ससृजे' इत्यादि श्रौतवचन से अनुप्राणित प्राणिसर्ग, अप्राणसर्ग, तथा मानव-देव–सर्ग का अत्यन्त रहस्यात्मक समन्वय—

श्रुति का–**'यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं, उभयान्–देव–मनुष्यान्–ससृजे'** वाक्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। सूर्य्य-चन्द्रमा–भूपिण्ड-तीन पर्व हैं सम्वत्सर के, जिनमें सूर्य्य पुरुषपर्व है, चन्द्रमा–भूपिण्ड की समष्टि प्रकृतिपर्व हैं। आत्म–बुद्धिभाव ही पुरुषभाव है, मनःशरीरभाव ही प्रकृतिभाव है। सौरभाव ही पुरुषभाव है, चान्द्रपार्थिवभाव ही प्रकृतिभाव है। यों साम्वत्सरिक–सर्ग **सौरसर्ग, चान्द्रपार्थिवसर्ग** भेद से दो प्रधान भागों में विभक्त हो रहा है। सौरसर्गानुगत आत्मसर्ग के **मानवसर्ग, देवसर्ग** (सौरदेवसर्ग) भेद से दो प्रधान विवर्त्त हैं, एवं चान्द्रपार्थिव–प्रकृतिसर्ग के **प्राणिसर्ग, अप्राणसर्ग**–भेद से दो प्रधान विवर्त्त हैं। पशु–पक्षी–कीट–कृम्यादि चेतनसर्ग ही प्राणिसर्ग है, लोष्ट–पाषाणादि अचेतनसर्ग ही अप्राणसर्ग है। लोक में जिन्हें **जड़–चेतन** कहा जाता है, उन्हें ही यहाँ अप्राण–प्राणिसर्ग कहा गया हैं, जो क्रमशः चन्द्रगर्भित भौमसर्ग, एवं भूगर्भित चान्द्रसर्ग ही हैं। भूगर्भित चान्द्रसर्गात्मक प्राणिसर्ग के आगे जाकर चन्द्र–

प्रधान प्राणिसर्ग, भूप्रधान प्राणिसर्ग, ये दो प्रधान भेद होजाते हैं, जो क्रमशः **अष्टविध चान्द्रजीव** *, **चतुर्विध पार्थिवजीव** ÷ कहलाए हैं। एवमेव चन्द्रगर्भित भूतसर्गात्मक अप्राणसर्ग के भी आगे चलकर **विशुद्ध भौमसर्ग, पार्थिवप्राणानुगत भौमसर्ग** भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जो क्रमशः **असंज्ञ–अन्तः–संज्ञ**–नामों से प्रसिद्ध हैं। लोष्टपाषाणादि सर्ग विशुद्ध भौमसर्ग है, ये ही **'असंज्ञजीव'** हैं। ओषधि–वनस्पति–लता-गुल्मादि पार्थिवप्राणानुगत, अतएव (प्राणसम्बन्धेनैव) सक्रिय–सर्ग है, जो **'अन्तःसंज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसाकि–**'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः'** (महाभारत) इत्यादि से स्पष्ट है।

तदित्थं-प्राणिसर्ग नामक प्रथम भूतसर्ग के चान्द्रप्राणप्रधान (सौम्यप्राणप्रधान) आठ वर्ग, पार्थिव–प्राणप्रधान (आग्नेयप्राणप्रधान) चार वर्ग--भेद से १२ अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं। प्राणसर्ग नामक द्वितीय भूतसर्ग के अन्तःसंज्ञ–असंज्ञ–नामक दोनों अवान्तर–भौमसर्गों का एक ही 'जड़सर्ग' विभाग मान लिया गया है। और यों **चान्द्रपार्थिव, पार्थिवभौम**–रूपेण प्राणि–अप्राण-सर्ग के अवान्तर १३ त्रयोदश-विध भूतसर्ग हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

त्रयोदशविधः–चान्द्र–पार्थिवः प्राणि–अप्राण–सर्गः—

————————*

–प्राणिसर्गः १२

१–पार्थिवप्राणगर्भित––चान्द्रप्राणप्रधान —सौम्यसर्ग——[शरीरगर्भित–मनःप्रधान]–
यक्षादि अष्टविध–चान्द्रजीव

२–चान्द्रप्राणगर्भित—पार्थिप्रवप्राणप्रधान––आग्नेयसर्ग—[मनोगर्भित–शरीरप्रधान]–
पश्वादि चतुर्विध-पार्थिवजीव

–अप्राणसर्गः १

१–भूतगर्भित—— —पार्थिवप्राणपरिगृहीत-पार्थिवसर्ग——[भूतगर्भित–प्राणप्रधान]–
ओषध्यादिमूर्च्छित–प्राणजीव

२–प्राणगर्भित——भूतपरिगृहीत———भौमसर्ग——[प्राणगर्भित–भूतप्रधान]–
लोष्टादि–भूतजीव

————————*

प्राकृता इमे जीवाः

प्रकृतिसर्गः

१–चान्द्रपार्थिवसर्गः–१२ विधः————————प्राणिसर्गः [जङ्गमसर्गः]

२–पार्थिवभौमसर्गः –अनेकविधोऽप्येकविधः [१]–अप्राणिसर्गः [स्थावरसर्गः]

---

* **यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व–ऐन्द्र–पैत्र्य–प्राजापत्य--ब्राह्म,** नामक आठ चान्द्रजीव ही चन्द्रप्रधान प्राणिसर्ग है, जो चन्द्रिका में सूक्ष्मशरीरायतनों में परोक्षरूपेणैव इतस्ततः विचरण करते रहते हैं। प्रेतजीवों का भी इसी सर्ग में अन्तर्भाव है। इनमें शरीरधर्म्म गौण है, मनोधर्म्म प्रधान है। अतएव इन्हें 'मनोजीव' भी कहा जासकता है।

÷ **पशु–पक्षी–कीट–कृमि**–ये चार वर्ग पार्थिव जीव हैं, जिनका भूपृष्ठ से ही सम्बन्ध है, जिनमें शरीर प्रधान है, मन गौण है।

१०५–'अहं सूर्य्य इवाजनि, अहं मनुरभवम्' मूलक देवभावापन्न परिपूर्ण मानवसर्ग का समन्वय—

आत्मस्वरूप से अनभिव्यक्त, अतएव स्वतन्त्र केन्द्रीय–आत्ममनु से असंस्पृष्ट, अतएव अनात्मभावापन्न, मनुरश्मिमात्र से परिगृहीत स्थावर–जङ्गमात्मक–उक्त प्राणि–अप्राणि–सर्ग चान्द्रपार्थिवसर्गात्मक बनते हुए केवल 'प्राकृतजीव' ही प्रमाणित हो रहे हैं, जो आत्माभिव्यक्तित्त्व से पृथक् रहने के कारण संस्कारग्रहण--योग्यता से वञ्चित हैं। अतएव इनका संस्कारानुबन्धी पुनर्जन्म से, एवं पापपुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं माना शाद्बने। अपितु--'**जायस्व--म्रियस्व**' ही इनका सर्वस्व इतिहास है। साम्परायिकी--गति से वञ्चित, संस्कार--शून्य, यथाजात, यथामृत इन चान्द्रपार्थिव प्राणि--अप्राण--सर्गों को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है–'**यच्च प्राणि, यच्चाप्राणम्**'। स्वयं इनकी कोई स्वतन्त्र आत्मप्रतिष्ठा नहीं है। अपितु केन्द्रमनुरूप सौर आत्मा ही प्राणिरूप जङ्गम प्राकृत जीवों का, अप्राणरूप स्थावर प्राकृत जीवों का नियन्ता बना रहता है, जैसाकि--'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' से स्पष्ट है। अवयवरूप हीं हैं ये प्राकृत जीव सम्वत्सरप्रजापतिरूप अवयवी के। अतएव स्वतन्त्र आत्माभिव्यक्तित्त्व का अभाव है इन प्राकृत--जीवों में। महद्ब्रह्म का चन्द्रमानुगत प्रकृतिभाव, तथा पृथिव्यनुगत आकृतिभाव, यों दो [स्वभाव, और आकार] पर्व ही इन चान्द्र-पार्थिव जीवों के सर्वस्व बने हुए हैं। सूर्य्यानुगत--'अहङ्कृति' रूप 'अहं' तत्त्व इनसे असंस्पृष्ट है। अतएव ये '**अहं**' रूप आत्मभाव से असंपृष्ट हैं। '**अहं सूर्य्य इवाजनि--अहं मनुरभवम्**' यह भाषा तो एकमात्र मानव की ही मानी गई है। किस मानव की ?, समन्वय कीजिए देवप्राणानुगता विज्ञानबुद्धि से।

१०६–मनःशरीरानुगत, किन्तु आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव परिपूर्ण मानव का सर्वश्रेष्ठत्त्व, एवं आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूला–स्वरूप–प्रतिष्ठा का समन्वय, तथा प्रासङ्गिक भूतसर्ग का उपराम—

सम्वसत्सरप्रजापति–स्वरूप केन्द्रीय सौरप्रजापति में आत्मभाव, तथा देवभाव, दोनों समन्वित हैं। अपने ज्योतिर्म्मय प्राणभाग से यही देवघन है ('**चित्रं देवानामुदगात्**') तो, अपने हृद्य शाश्वत–ब्रह्मस्वरूप मनु–आत्मभाव से यही आत्मस्वरूप भी है। इसी लिए तो इसे पुरुष कहा गया है। देवभाव इस का बुद्धिभाव है, 'धी' भाव है–('**पुनन्तु मनवो धिया,–' धियो यो नः प्रचोदयात्**)। एवं आत्मभाव आत्मा है। यों सौर–सम्वत्सरप्रजापतिपुरुष इन आत्म–देवभावों से–'**आत्म--बुद्धि**' स्वरूप महान्–देव प्रमाणित हो रहे हैं। इसके इस आत्म–देवात्मक–आत्म–धी–भाव से जो स्वतन्त्र अवयवीसर्ग आविर्भूत होता है, वही देवप्राणानुगत '**मानवसर्ग**' कहलाया है, जो अपने आत्म–बुद्धिभाव से उसके आत्म–धीरूप–अवयवी से सर्वथा अभिन्न है, जैसाकि "**योऽसावादित्ये पुरुषः–सोऽहम्**" इत्यादि से स्पष्ट है। '**तं ह देवमात्म-बुद्धि–प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**' इत्यादि श्रुति भी इसी तथ्य का समर्थन कर रही है। स्वतन्त्र आत्म-देवाभिव्यक्तित्त्व के कारण ही एकमात्र मानवसर्ग ही सम्वत्सरप्रजापति का प्रतिमानसर्ग कहलाया है। अन्यान्य प्राकृतसर्ग जहाँ अवयवसर्ग हैं, वहाँ मानव प्रजापति का अवयवी–सर्ग है। पूर्ण से उदक्त पूर्ण सर्ग है। और यही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समस्त भूतभौतिक–प्राणी–अप्राणी–सर्गों के समतुलन में 'आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व' रूप, अतएव संस्कारी मानवसर्ग का श्रेष्ठतमत्त्व है–'**न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्**'। इसी से मानव को

इस तथ्य पर भी स्वतः ही पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, जो मानव प्राकृतिक मनःशरीरनिबन्धन पूर्वोक्त चान्द्र–पार्थिव–व्यासङ्गों में आसक्त–व्यासक्त होकर अपने इस आत्म–बुद्धि–लक्षण स्वस्वरूपबोध से पराङ्मुख होजाता है, इस व्यक्तित्वविमोहनात्मिका स्वरूपबोधविस्मृति से परिपूर्ण भी, आत्मबुद्धिनिष्ठ भी मानव प्राकृत जीवों की भाँति केवल मनःशरीर--परायण बना रहता हुआ अपने आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व-लक्षण मानवस्वरूप से सर्वथा ही वञ्चित होजाता है। और इस स्वरूपविस्मृति की दशामें यह भी पशु–पक्षी-कीट कृमि–इन चारों में से किसी एक जीवसर्ग को ही समलंकृत–सुशोभित कर देने के महान् गौरव से समन्वित होता हुआ तद्वत्–'**जायस्व–म्रियस्व**' का ही महापात्र बना रहजाता है । श्रुतिने–'**उभयान्–देवमनुष्यान्**' वाक्य से उस परिपूर्ण मानव का, एवं तदभिन्न सौर यज्ञिय दिव्य देवदेवताओं का ही संग्रह किया है, जो सौरमण्डल के अवयवी बने हुए हैं । अत–एव श्रुतितत्त्वव्याख्याता राजर्षि मनुने भी '**पितृभ्यो देवमानवाः**' (मनुः) कहते हुए सौम्यपितृ–प्राणात्मक परमेष्ठी के गर्भ में देव–मानवरूप धी–आत्मभावात्मक दिव्यसर्ग को ही प्रधानता दी है । यहाँ भी पूर्वोक्त अतिसृष्टिविज्ञान–ब्राह्मणमें-'**ततो मनुष्या अजायन्त**', [शत० १४।४।२।५] कहते हुए पश्वादिसर्ग से पूर्व अवयवीरूप परिपूर्ण मानवसर्ग को ही प्रधानता दी है । इस सर्वश्रेष्ठ मानव, आत्मनिष्ठ–बुद्धिनिष्ठ–मानव–श्रेष्ठ का ही उस साम्वत्सरिक आतिवाहिक–त्रैलोक्य से सम्बन्ध है, जिस के प्रसङ्ग से सम्वत्सरप्रजापत्यनुगत इस चतुर्दशविध भूतसर्ग का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन व्यक्त हो पड़ा है, जिसका निबन्ध के प्रथम प्रकरण में भी अन्य दृष्टि से समन्वय किया जाचुका है ।

१०७–पञ्चपाद–द्वादशाकृति–सप्तचक्र–षडर--त्रिनाभि--सम्वत्सर–प्रजापति का समष्ट्यात्मक पावन संस्मरण—

प्रकृतमनुसरामः । सौम्या परिश्रित-इष्टकाओं से, तथा आग्नेयी यजुष्मती इष्टकाओं से सम्वत्सरात्मक अग्नि ३६० कलाओं में विभक्त है, जिसकी विभिन्न विभक्तिरूप से ७२० कलाएँ हो जाती हैं । अग्नि–सोमात्मक इन ३६० कलाविभागों से तद्भोगकालात्मक-क्रान्तिवृत्तात्मक-सम्वत्सरवृत्त की भी ३६० कलाएँ निष्पन्न हो रहीं हैं। प्रत्येक वृत्त छन्द है । प्रत्येक छन्द अग्नि-सोममय–वयोलक्षण वस्तुपिण्ड की सीमा है। अतएव ३६० अंशविभाग यों वृत्तमात्र का धर्म्म बन गया है । अणु से अणुवृत्त, एवं महान् से महान् वृत्त में ३६० कलान्वित सोमाग्नि रहेंगे ही वयोरूप से । इस विस्तारकथा को यहीं उपरत कर हमें अब आतिवाहिक--त्रैलोक्य पर आजना चाहिये। साथ ही प्रसङ्गधिया सम्वत्सर के सम्बन्ध में इतना और जान लेना चाहिए कि—मेषादि द्वादश राशियों से समन्वित १२ मास, तदनुगत द्वादश आदित्य ही सम्वत्सर का '**आकृतिभाव**' है । पञ्चसम्वत्सरात्मक 'युग' ही इस के **पञ्चपाद** हैं । गायत्र्यादि सात अहोरात्रवृत्त ही इसके '**सप्त चक्र**' हैं । षड्ऋतु ही रथचक्र के ६ '**आरे**' है । और ३६० अहः, तथा ३६० विभक्तियाँ (रात्रियाँ), सम्भूय ७२० कलाएँ हीं मानो इसके इसके कलात्मक अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं । त्रिकेन्द्रात्मक, अतएव 'दीर्घवृत्तात्मक'(अण्डवृत्तात्मक) क्रान्तिवृत्तापरपर्य्यायक, सम्वत्सरचक्र के इसी भौतिक छन्दः–स्वरूप को लक्ष्य बना कर महर्षिश्रेष्ठ दीर्घतमा कह रहे हैं—

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ॥
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥१॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ॥
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥२॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥३॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ॥
सूर्य्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥४॥

—ऋक्संहिता १ मण्डल, १६४ वाँ अस्यवामीयसूक्त

१०८–गगनवृत्तात्मक महान् आकाशमण्डल, एवं तत्प्रतिनिधिरूप सम्वत्सरमण्डल—

हाँ, तो ३६० अंशात्मक सम्वत्सरचक्ररूप क्रान्तिवृत्त को लक्ष्य बनाइए, एवं अब इसके माध्यम से लक्षीभूत त्रैलोक्य का समन्वय कीजिए। क्रान्तिवृत्त स्वयं अपनी वृत्तमर्य्यादा से ३६० अहोरात्रों से जहाँ ३६० कलात्मक है, वहाँ सम्पूर्ण खगोलवृत्त की दृष्टि से क्रान्तिवृत्त का सर्वस्वरूप खगोलीय महावृत्त के ४८ अंशों में हीं परिसमाप्त है, जिस इस रहस्य के समन्वय के लिए तो वेदाङ्ग–ज्यौतिषानुबन्धिनी खगोलविद्या का ही स्वाध्याय करना चाहिए, जिससे हम तो सर्वथा ही असंस्पृष्ट हैं। महा आकाशात्मक खगोल को आधार बनाइए, जिसके किसी प्रदेश में ३६० अहोरात्रात्मक क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सर प्रतिष्ठित है, जो सम्पूर्ण खगोल का (अनन्तकालात्मक ब्रह्माण्ड का) ही प्रतिनिधि बना हुआ है-"पूर्णात्–पूर्णोदञ्चन" न्याय से।

१०९–महावृत्तात्मक खगोल के विभाजक कूर्म्मप्रजापति, एवं तदनुगता कूर्म्मत्रिलोकी, तथा तदनुप्राणित क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सरमण्डल—

महावृत्तात्मक खगोल के ३६० अंशों का विभाजन कीजिए, जिस विभाजन के माध्यम बनते हैं वे कूर्म्मप्रजापति, जिनका यशोवर्णन दीपावलीपर्वानुगत–अमृतमन्थनप्रकरण में किया जाचुका है। उत्तरध्रुव से दक्षिणध्रुव पर्य्यन्त का अर्द्ध वह खगोल (खगोलार्द्ध)–जिसमें साक्षीरूप से अहरधिष्ठाता सम्वत्सराध्यक्ष सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं, हमारी अपनी सापेक्षभाषा में दृश्यार्द्ध खगोल है। एवं यह प्रदेश (अर्द्ध-दृश्य खगोल) १८० अंशात्मक है। कि इसके विपर्य्यय में अधोऽवस्थित अर्द्ध वह खगोल—जिसमें साक्षी-रूप से रात्र्यधिष्ठाता चन्द्रमा प्रतिष्ठित है, अदृश्यार्द्ध खगोल है, जिसके भी १८० ही अंश हैं। दोनों इन अण्डकटाहों का समन्वितरूप ही ३६० अंशात्मक महा आकाशात्मक गगनवृत्त (खगोल) है, जिसमें क्रमशः देवताओं, तथा असुरों का साम्राज्य माना गया है। अहरनुगत–ऐन्द्राग्न-अर्द्धवृत्त देवप्रधान है, रात्र्यनुगत वृत्र–वरुणात्मक–अर्द्धवृत्त–असुरप्रधान है। दोनों में से देवप्रधान–१८० अंशात्मक–सूर्य्यानुगत–उत्तर–दक्षिण ध्रुव से सीमित अर्द्धवृत्त को ही यहाँ लक्ष्य बनाना है।

११०–क्रान्तिवृत्तीय–अर्द्ध–सौर खगोल की प्राकृतिक स्थिति—

विष्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्रात्मक उत्तरध्रुव, तथा दक्षिणध्रुव के मध्य के १८० अंशात्मक अर्द्धखगोलवृत्त के केन्द्र में (अर्थात् उत्तरध्रुव से ९० वें दक्षिणांश पर, तथा दक्षिणध्रुव से भी ९० वें उत्तरांश पर मध्य में)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जो पूर्वापरवृत्त प्रतिष्ठित है, उसी का नाम है–'विष्वद्वृत्त' जिसे 'बृहतीछन्द' कहा गया है, जिस इस मध्य के बृहतीछन्द के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है–'सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति'। 'मध्ये एकल एव स्थाता'। इस बृहतीछन्द से ठीक ९० वें अंश पर उत्तरध्रुव है, एवं ९० वें अंश पर दक्षिणध्रुव है। सैषा अर्द्धखगोल-स्थिति:। स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया।

११९–आतिवाहिक–त्रिलोकी का पृथिवीलोक—

मध्य के तथाकथित बृहतीछन्द (विष्वद्वृत्त) से उत्तर के ९० अंशात्मक आकाश में से २४ अंशात्मक आकाश, एवं दक्षिण के ९० अंशात्मक आकाश में से २४ अंशात्मक आकाश, इन दोनों आकाशों के २४ वें, २४ वें अन्तिम अंश का स्पर्श करता हुआ जो एक स्वतन्त्र वृत्त बनेगा, उसे ही '**क्रान्तिवृत्त**' कहा जायगा, जिसका परिसर २४ अंश के व्यासार्द्ध से सम्पन्न बनता हुआ ४८ अंशात्मक होगा, एवं यह ४८ अंशात्मक खगोलीय–क्रान्तिवृत्त ही आतिवाहिक--त्रिलोकी का 'पृथिवीलोक' माना जायगा, जिस पृथिवीलोकात्मक इस क्रान्तिवृत्त के आधार पर भूपिण्ड तत्केन्द्रस्थ बृहतीछन्द के केन्द्र में आरूढ सूर्य्य के चारों ओर परिक्रममाण है।

११२–आतिवाहिक–त्रिलोकी का दैव--अन्तरिक्षलोक, तथा दैव--द्युलोक—

अब उत्तर के ९० अंशों में से २४ के क्रान्तिवृत में समाविष्ट हो जाने से शेष रह जाते हैं–६६ [छाछट] अंश। इनके भी पहिले ४२, अनन्तर २४ इस रूप से दो विभाग कर डालिए। ध्रुवसन्निकट के २४ अंश के व्यासार्द्ध से भी एक स्वतन्त्र वृत्त बनता है, जिसे '**ध्रुवपरिभ्रमणवृत्त**' कहा गया है, जिसका परिसर भी क्रान्तिवृत्तवत् ४८ अंशात्मक ही बन जाता है, जिसको आधार बना कर ध्रुव परिभ्रममाण है तत्केन्द्रभूत नाकस्थ विष्णु के चारों ओर, जो कि ध्रुवपरिक्रमा २५ सहस्रवर्षों में सम्पन्न होती है। यही आतिवाहिक-त्रिलोकी का द्युलोकात्मक–देवलोकात्मक–नाकलोक है, स्वर्गलोक है। ४२ अंशात्मक मध्यवृत्त ही अन्तरिक्ष-लोकात्मक वह '**देवयानपथ**' है, जो '**शुक्लमार्ग**' माना गया है। इसप्रकार उत्तरध्रुव से २४–४२–२४ अंशों के विभाजन से ९० अंशों के तीन विभाग हो जाते हैं।

११३–आतिवाहिक–त्रिलोकी के पैत्र--पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु–लोकों का समन्वय—

तथैव दक्षिणध्रुव से भी २४–४२–२४–ये ही तीन विभाग हो जाते हैं। विष्वद्वृत्तीय दोनों २४-२४ मिलकर ४८ अंशात्मक मध्य का क्रान्तिवृत्त पृथिवीलोक है, इसके उत्तर का ४२ अंशात्मक आकाश देवयानात्मक–शुक्लमार्गात्मक–अन्तरिक्ष है। तदुत्तर २४ अंश के व्यासार्द्ध से सम्पन्न ध्रुवपरिभ्रमणवृत्तावच्छिन्न आकाश '**देवस्वर्गा**'त्मक द्युलोक है, यही देवभावापन्ना आतिवाहिक-त्रिलोकी है। एवमेव क्रान्तिवृत्तात्मक पृथिवीलोक से दक्षिण का ४२ अंशात्मक आकाश '**पितृयाणा**'त्मक '**कृष्णमार्गा**'त्मक अन्तरिक्ष है, तदुत्तर २४ अंश के व्यासार्द्ध से सम्पन्न दक्षिणध्रुव--वृत्ताकाश ही पितृस्वर्गात्मक द्युलोक है। और यही पितृभावापन्ना आतिवाहिक–त्रिलोकी है। दोनों त्रिलोकियों का पृथिवीलोक एक ही क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न मध्य सम्वत्सर ही है। प्रचण्ड ज्योतिष्मान् इस क्रान्तिवृत्तीय पार्थिव पथ का ही नाम '**ब्रह्मपथ**' है, जिस की ओर ब्रह्माण्डभेदी किसी महद्भाग्यशाली का ही भूतात्मा गमन किया करता है इस भूतल से पृथक् होने पर। अन्यथा तो सामान्यरूपेण

आत्मगतिलक्षणा प्रेतात्मगति के ४२–४२-अंशात्मक देवयान–पितृयाण–नाम के सुप्रसिद्ध शुक्लार्चि–कृष्णधूम–मार्ग ही नियत हैं, जिन इन सम्पूर्ण गतिभावों का श्राद्धविज्ञानग्रन्थ के चतुर्थ **'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्'** नामक खण्ड में हीं विशद विवेचन देखना चाहिए । प्रकृत में इस उभय–आतिवाहिकत्रिलोकी [खगोलीया देवत्रिलोकी, तथा पितृत्रिलोकी] से हमें दोनों त्रिलोकियों के पृथिवीलोक बने हुए मध्य के उस क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सरप्रजापति का ही एक व्यापक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रख देना था, जिस सम्वत्सर-प्रजापति के प्रतिमानभूत मानव के दाम्पत्य का सम्वत्सर के साथ समतुलन अभीष्ट है प्रकृत प्रकरण में दाम्पत्यमूलक–काममय होलापर्वानुरोध से ।

११४–मानव--मानवी के मूलप्रतिष्ठारूप विष्वद्वृत्त का संस्मरण, एवं तदनुपात से सम्वत्सर के अवयवों का मानव-मानवी के साथ सर्वात्मना समन्वय-दिग्दर्शन—

कहा गया है कि, सम्वत्सरप्रजापति के साम्वत्सरिक शरीर के दक्षिणोत्तर–पार्श्वों का विभाजक क्रान्तिवृत्त का मध्यस्थ विष्वद्वृत्त ही बना हुआ है । इस मध्यस्थ वृत्त [विष्वद्वृत्त] के सर्वाङ्गीण स्वरूप--समन्वय के लिए ही खगोलीया आतिवाहिक--देव–पितृ–त्रिलोकियों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन समन्वित हो पड़ा । साम्वत्सरिक प्राजापत्यमण्डल में **सूर्य्य–चन्द्रमा--भूपिण्ड**, ये तीन मुख्य तन्त्र हैं, तो तत्प्रतिमानभूत मानव में भी **शिरोयन्त्र–हृदययन्त्र–बस्तियन्त्र**–नामक मुख्य तीन ही सौर-चान्द्र–पार्थिव--तन्त्र हैं । सम्वत्सर-प्रजापति का मूलभूत प्रतिष्ठादण्ड यदि मध्यस्थ 'विष्वद्वृत्त' है, तो तत्प्रतिमानरूप मानव का मेरुदण्ड [रीड की हड्डी] ही मानव के शरीर का प्रतिष्ठादण्ड बना हुआ है । सम्वत्सर का उत्तर पार्श्वरूप वामाङ्ग सोमप्रधान, तथा दक्षिण पार्श्वरूप दक्षिणाङ्ग ऋतसोम–ऋताग्नि प्रधान है, तो मानव के उत्तर–दक्षिणाङ्ग भी क्रमशः सोम, एवं अग्निप्रधान ही बने हुए हैं । सम्वत्सर के अग्निप्रधान दक्षिणार्द्ध-मण्डल में यदि अंशरूप २४ पर्शु हैं, तो अर्द्धवृगलात्मक–अग्निप्रधान आग्नेय पुरुषशरीर में भी मेरुदण्ड से समन्वित अंशस्थानीय २४ ही पर्शु ['फँसलियाँ'] हैं । सम्वत्सर अपने अर्द्ध उत्तर सौम्य–पत्नीभाव से २४ अंशों से, तथा अर्द्ध दक्षिण–आग्नेय–पतिभाव से ४८ अंशात्मक बना हुआ है सम्पूर्ण आकाशरूप से, तो अर्द्धवृगल–अर्द्धाकाश का प्रतिमान आग्नेयपुरुष, तथा अर्द्धवृगला अर्द्धकाश की प्रतिमानभूता सौम्या स्त्री, दोनों का समन्वित रूपात्मक पूर्ण स्वरूपात्मक मानव–मानवी का दाम्पत्यरूप भी अपने दोनों के २४–२४ पर्शुओं से सम्मिलित होकर पूर्णसम्वत्सर की प्रतिमा बना हुआ है ।

११५–मानवप्रजापति का सम्वत्सरप्रजापति से समतुलन, तदनुगत काममय दाम्पत्यभाव, तदुत्सवानुगता प्राकृतिक तिथि फाल्गुनी–पूर्णिमा, एवं तत्र समायोजित 'होलिकापर्व' रूप काममय 'सांस्कृतिक-आयोजन'—

अलमतिपल्लवितेन । सम्वत्सरयज्ञमण्डल के वे सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग–पर्व–आदि भाव सर्वात्मना मानव सर्ग में समन्वित हो रहे हैं । और यही इस पुरुष [मानव] की उस प्रजापति से नेदिष्टता है, जिसके आधार पर 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम'--'यज्ञो वै पुरुषः'--'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि निगम–अनुगम–वचन प्रवृत्त हुए हैं । स्वयं सम्वत्सरप्रजापति [सौरपुरुष] चान्द्रपार्थिवरूप सौम्यभाव से दाम्पत्यकामानुगत बनते

हुए ही प्रजासर्ग के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिस प्रवृत्ति का उपक्रम वसन्तऋतु की उपक्रम-तिथिरूपा फाल्गुनी-पूर्णिमा ही बनती है। अतएव सोमानुगत–अग्निजागरणात्मक इस पर्वतिथि को अवश्य ही **'काममहोत्सवात्मक दाम्पत्यमहोत्सव'** नाम से व्यवहृत किया जासकता है। अतएव ऐसे पुण्यावसर पर यदि ब्राह्मणदम्पती अग्न्याधानरूप से दाम्पत्योत्सव मनाते हैं, इतर प्रजावर्ग यदि भौतिक–अग्नि–जागरण–[**'होलिकोद्दीपन'**] के माध्यम से तत्पूजन–पूर्वक–काममहोत्सवानुगत दाम्पत्यमहोत्सव मनाते हैं, तो इस दाम्पत्यानुगता उत्सव-परायणता को अवश्य ही सम्वत्सरप्रजापतिरूप देवभावानुबन्ध से **'सांस्कृतिक-आयोजन'** कहा जासकता है, **जब कि–धर्म्मविरुद्ध--कामचेष्टात्मक--अश्लीलभावानुबन्धी--उत्पथपथानुगामी--मानसिक--शारीरिक-मात्र, अतएव देव–धर्म्म–संस्कृति–भाववञ्चित इत्थंभूत वर्त्तमान उस विडम्बनापूर्ण आज के धूलिधूसरित-मलीमस होलिकाताण्डव को तो सर्वथा संस्कृतिविरुद्ध, हीन आयोजन ही कहा जायगा, जो दुर्भाग्यवश आज के मनःशरीरमात्रपरायण स्वतन्त्र भारत में तो तदाविध संस्कृति-विरुद्ध--आयोजन–भक्तों के कारण और भी अधिक नग्न–स्वरूप धारण करता जारहा है,** इत्यालप्यालसेवेति विरम्यते पापकथाप्रसङ्गेन।

११६–दाम्पत्यमूलक इन्द्र, और पूषा–देवता, एवं तदनुप्राणित–मन्त्रोपवर्णित मिथुनभाव–

दाम्पत्य का मूल है इन्द्र, और पूषा का मिथुनभाव, जिस मिथुनभाव से–**'इन्द्रापूषणौ'** इस स्वतन्त्र द्यावापृथिव्य–मिथुनदेवता की स्वरूपनिष्पत्ति मानी गई है, जिसे विशेष यज्ञप्रक्रिया में हविः प्रदान की जाती है। सौर पुरुषात्मक प्राण ही 'इन्द्र' है, एवं पुष्टिप्रवर्त्तक पार्थिव सौम्यप्राण ही 'पूषन्', किंवा 'पूषा' है। **'सोमः, पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता'** इत्यादि मन्त्रपठित सोमशब्द चन्द्रमा का, तथा पृथिवी शब्द भूपिण्डात्मिका पृथिवी का ही संग्राहक है। **'सम्पूर्ण पार्थिव चान्द्र प्रजासर्गों के योगक्षेम–निर्वाहोद्देश्य से ही चन्द्रमा (सोम), और पृथिवी (पूषा) अपने अपने देवप्राणात्मक दक्षवृत्त–क्रान्तिवृत्तात्मक रथों पर (सूर्य्य के चारों ओर) घूम रहे हैं' यही मन्त्राक्षरार्थ है।** निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र भी इसी पार्थिव--सौर–मिथुन देवता–इन्द्रापूषण के साथ मानव के सख्यभाव की कामना अभिव्यक्त कर रहा है—

इन्द्रापूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये ॥ ऋक्सं० ८।५७।३।

११७–पार्थिव अर्णवसमुद्र में इतस्ततः दोलायमाना हिरण्मयी नौकाओं में प्रतिष्ठित सौर इन्द्र, पार्थिव पूषारूप–दम्पती का जलविहार (नौकाविहार), और मन्त्रश्रुति—

'इयं वै पृथिवी पूषा। इयं हीदं सर्वं पुष्यति–यदिदं किञ्च' (शत० १४।१।२।२५।) इत्यादि श्रुतिसिद्ध पार्थिव रजोयुक्त **योषाप्राण** ही पूषा है, जबकि–**'इन्द्रो वै वृषा'** (ताण्ड्यब्रा० ६।४।३) के अनुसार सौर इन्द्रप्राण ही वृषाप्राण बन रहा है। योषाप्राणरूप पूषा इस दृष्टि से स्त्रीभाव है, एवं–वृषाप्राण-रूप इन्द्र पुम्भाव है। दोनों का दाम्पत्यभाव ही द्यावा–पृथिव्या मानवादि–प्रजा का प्रवर्त्तक है, जिस प्रवृत्ति का मूल सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्राजापत्य कामभाव ही बना हुआ है। द्यावापृथिवीरूपा रोदसी–त्रिलोकी का प्राणरूप-आपोमय

समुद्र ही अर्णवसमुद्र कहलाया है, जिस समुद्र में शिशुवत् सूर्य्य–चन्द्रमारूप पक्षी ही मानो क्रीड़ा कर रहे हैं* । 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि यजुःश्रुति भी इसी तथ्य का समर्थन कर रही है । इस अर्णव समुद्र में प्रतिष्ठित वृषेन्द्रप्राणात्मक–सूर्य्यप्रजापति किस माध्यम से पार्थिवपूषा, तथा चान्द्रसोमरूप योषा से दाम्पत्यभाव प्राप्त करते हैं ?, प्रश्न का उत्तर है–'सुवर्णनौकाएँ' । सौर तेज हिरण्मय माना गया है सावित्राग्नि के सम्बन्ध से । अतएव सम्वत्सररूप क्रान्तिवृत्तात्मक रथ हिरण्मय रथ माना गया है÷। अर्णवसमुद्र में सौर हिरण्मयी रश्मियाँ प्राणदपानत् ('अस्य प्राणदपानती') रूपेण उसीप्रकार सन्तरण कर रही हैं, जैसे कि किसी सरोवर–समुद्र–में नौकाएँ इतस्ततः झोंके लेती हुई विचरण करतीं रहतीं हैं । उच्चा–वचभावेन सर्पण करतीं हुईं–तरण करतीं हुईं ये हिरण्मयी सौरप्राणात्मिका रश्मियाँ हीं वे नौकाएँ हैं, जिनके साथ पार्थिव प्राणरश्मिरूप–पूषा का सम्बन्ध हो रहा है । पूषाप्राणघन स्वयं भूपिण्ड वह पत्नी है, जिसके रज में वसन्तसम्पातोपलक्षिता फाल्गुनीपूर्णिमा तिथि को सौर वृषारूप ऐन्द्राग्नमधुरूप शुक्र का आधान होने वाला है । सूर्य्यप्रजापति की इस कामना की पूर्त्ति के लिए ही मानो पार्थिव–पूषाप्राणरश्मियाँ दौत्यकर्म कर रहीं हैं इस मिथुनभाव–सम्पादन के लिए । उस ओर से इस ओर आने जाने वाली–प्राणदपान–द्धर्म्मा हिरण्मयी सौररश्मियों के साथ समन्विता पार्थिव–पूषाप्राणरश्मियाँ हीं काममूलक इस मिथुनेच्छाकर्म्म की स्वरूपसम्पादिका हैं, जिस इस प्रकृतिसिद्ध काममूलक मिथुनभाव का ही इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है कि—

यास्ते पूषन्-नावो अन्तःसमुद्रे हिरण्मयीरन्तरिक्षे चरन्ति ।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्य्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः ॥ —ऋक्सं० ६।५८।३।

११८- सौर महादेव, पृथिवीपुत्र गणपति की माता पार्वती, सवत्सा पार्वती का द्यावा--पृथिव्य फाल्गुनीय महामहोत्सव, एवं तदाधारेण निदानविधि से समायोजित--गणपतिगौरी (गणगोर) महोत्सव का पावन संस्मरण—

मानवादि पार्थिवसर्ग के अधिष्ठाता सम्वत्सरप्रजापति ही अपने विश्वकेन्द्रधर्म्म से षोडशीप्रजापति बन रहे हैं, जिनका पूर्वप्रकरणों–परिच्छेदों में अनेकधा यशोगान हो चुका है । सौरमण्डलाध्यक्ष–अक्षमूर्त्ति–अक्षरप्रधान–षोड़शीलक्षण सम्वत्सरप्रजापति ही अपनी अग्निचितिसे रुद्र हैं एवं ये ही सोमसम्बन्धेन साम्बसदाशिव हैं, जिनकी चान्द्री-पार्थिवी सौम्या शक्ति ही जगन्माता जगदम्बा वह वांसन्ती-पार्वती हैं, जो आज पार्थिव-समृद्धिरूप पुत्र से समन्विता होतीं हुईं 'सवत्सा–पार्वती' नाम से प्रसिद्ध होगईं हैं । आगमतत्त्ववेत्ता जानते हैं कि, सुप्रसिद्ध गणपतितत्त्व का (उच्छिष्टगणपतितत्त्व का) प्रधान स्वरूप पार्थिव–अपानप्राण से ही सम्बद्ध है, जैसाकि आगमीय–पार्थिव–मूलग्रन्थिरूपा बस्तिगुहा से अनुगत गाणपत्यप्राणस्वरूप से स्पष्ट है आगम–

---

* पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यन्तो अध्वरम् (सम्वत्सरम)।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूरन्यो विदधज्जायते पुनः (चन्द्रमाः)॥
—ऋक्सं० १०।८५।१८।

÷ हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् (यजुःसंहिता)।

सम्प्रदाय में। स्वयम्भू ब्रह्मा की साक्षी से ही सौर षोडशीप्रजापति के प्रतिरूप विश्वेश्वर-ईश्वर-महादेव-रुद्रभगवान् का पार्थिवी पार्वतीरूपा महाशक्ति के साथ दाम्पत्य होता है। इसी शिवशक्तिरूप अग्नि–सोम–समन्वय से गणपति प्रादुर्भूत होते हैं। इसी तथ्य के संस्मरणोपासन–अर्चन–पूजनके लिए परमभाग्यशाली राजस्थान की परम–भाग्यवती–सौभाग्यवती गृहदेवियाँ, तथा कन्याएँ फाल्गुनी–पूर्णिमा के समिद्ध अग्निकुण्ड में से ही भस्मग्रहण कर उनकी पार्थिव प्रतिमाएँ बना कर इन्हें नैदानिक–शिवशक्तिरूप **'ईश्वर' (ईसर)**, एवं **'गणपतिगौरी (गणगोर)'** का स्वरूप प्रदान कर निरन्तर १६ दिवस–पर्य्यन्त षोडशीप्रजापति के सान्निध्य में सौभाग्य–सन्तति-प्रदात्री माता पार्वती की ही आराधना करतीं रहतीं हैं, जिस इस सांस्कृतिक पुण्यतम–धन्यतम–यशस्यतम–महामहनीय-शिवशक्त्याराधनात्मक आयोजन का 'सम्मेलनात्मक' सांस्कृतिक आयोजनसे ही सम्बन्ध माना जायगा, जिसे हमने **'पारिवारिक–आयोजन'** कहा है*।

११९-रहस्यपूर्ण मानवीय दाम्पत्यस्वरूप का उपक्रम, एवं तदनुबन्धी 'स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुँस आहुः' इत्यादि मन्त्र की स्वरूपदिशा—

अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन। अत्र उस मानवीय दाम्पत्ययुग्म का चिरन्तन इतिवृत्त उपक्रान्त होरहा है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा दाम्पत्यरूप वे सम्वत्सरप्रजापति ही बने हुए हैं, जिनका अनेक दृष्टि–प्रसङ्गों से अद्यावधि संस्मरण हुआ है। मानवीय दाम्पत्य के अर्द्ध–अर्द्ध–वृगलात्मक दोनों सम्वत्सरखण्ड क्रमशः लोक में–**पुरुष, स्त्री**–नाम से प्रसिद्ध हैं। क्या स्वरूप है पुरुष का?, एवं क्या व्याख्या है 'स्त्री' शब्द की?, इस रहस्यपूर्ण-प्रश्न के सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, **वृषाप्राणात्मक-इन्द्रप्राण से समन्वित 'अग्नि' का नाम है पुरुष, एवं योषाप्राणात्मक–पार्थिवपूषाप्राण से समन्वित 'सोम' का नाम है स्त्री।** इस सम्बन्ध में सम्वत्सरविद्या के रहस्यवेत्ता भगवान् दीर्घतमा–महर्षि के सुप्रसिद्ध 'अस्यवामीयसूक्त' के एक मन्त्रविशेष की ओर ही विशेषरूप से हम उन पुरुषों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, जिन्हें दम्भ तो है पुरुषपने का, किन्तु दीर्घतमा महर्षि की दृष्टि से जो पुरुषनामधारी मानव हैं वास्तव में स्त्रियाँ ही। श्रूयताम्!

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥

—ऋक्सं० १।१६४।१६

१२०-मन्त्रपूर्वभाग का अक्षरार्थ-समन्वय—

मन्त्र के अक्षरार्थमात्र के समन्वय के लिए भी एक स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है, जो **'अस्यवामीयसूक्त के कतिपय मन्त्र'** नामक निबन्ध से गतार्थ है। प्रकृत में केवल मन्त्र के पूर्वार्द्ध के सामान्य-अक्षरार्थ का ही समन्वयाभास व्यक्त हो रहा है। (**"जो वस्तुतः स्त्रियाँ हैं, पुरुष नहीं हैं)** उन **'स्त्री'** बने रहने

---

* निबन्ध इन चार पर्वों के दिग्दर्शन में ही बहु–विस्तृत होगया है। अतएव सम्भवतः अत्र इसमें पर्वात्मक राष्ट्रीय–सांस्कृतिक आयोजनों के अतिरिक्त शेष उत्सव–सम्मेलन–समारोह–नामक–तीन सांस्कृतिक–आयोजनों का समन्वय न होसकेगा। अतएव यहाँ प्रसङ्गवश सम्मेलनात्मक–आयोजन का माङ्गलिक संस्मरण–मात्र कर लिया गया है।

वालों को ही लौकिक मानव व्यवहार में 'पुरुष' नाम से व्यवहृत करते जा रहे हैं। जबकि जिन्हें पुरुष कहा जा रहा है–वे वास्तव में स्त्रियाँ हीं हैं। किन्तु इस तथ्य को आँख वाला ही जान सकता है। अन्धा कभी नहीं जान सकता इस रहस्य को कि–(पुरुष वास्तव में स्त्रियाँ हीं हैं)" यही है सामान्याक्षरार्थ मन्त्र के पूर्वभाग का।

१२१-आग्नेय-शरीरी पुरुष की पुरुष–अभिधा का, तथा सौम्यशरीरिणी स्त्री की–'स्त्री' अभिधा का प्रथम दृष्टिकोणात्मक प्रत्यक्षदृष्ट लोकसमन्वय —

सोमगर्भित अग्नि से पुरुष के शरीर का निर्म्माण होता है, एवं अग्निगर्भित सोम से स्त्री के शरीर का निर्म्माण होता है। वृषाप्राणात्मक अग्नितत्त्व ही 'पुरुष' की स्वरूप–व्याख्या है, एवं योषाप्राणात्मक सोमतत्त्व ही 'स्त्री' की स्वरूप–व्याख्या है। सौराग्निप्रधान दृश्य–अहरनुगत आग्नेय–अर्द्धसम्वत्सर से आग्नेय पुरुष के शरीर की, तथा चान्द्रसोमप्रधान, अदृश्य-रात्र्यनुगत-सौम्य–अर्द्धसम्वत्सर से सौम्या स्त्री की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। अतएव स्त्री वामा–उत्तरा–सौम्या कहलाई है, जब कि पुरुष दक्षिण–दक्ष आग्नेय-माना गया है। जहाँतक पुरुष, और स्त्री के शरीर का प्रश्न है, उस सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही आग्नेय–शरीरी पुरुष 'पुरुष' ही है, एवं सौम्यशरीरिणी स्त्री 'स्त्री' ही है। किन्तु………… ?

१२२-द्वितीय दृष्टिकोण से 'पुरुष' की स्त्री संज्ञा का, तथा स्त्री की 'पुरुष' संज्ञा का रहस्यपूर्ण समन्वय—

किन्तु ? की व्यञ्जना यही है कि, केवल बाह्य–भूतदृष्टि से ही भारतीय–सांस्कृतिक–जगत् के तो किसी भी निर्णय को नैष्ठिकता प्राप्त नहीं हो सकती तबतक, जबतक कि प्रत्यक्षदृष्ट–श्रुत–उपवर्णित–बाह्य भूतसंस्थान के प्रतिष्ठारूप मूलस्वरूप का निर्णय नहीं कर लिया जाता। जब हम इस सूक्ष्मा–आभ्यन्तरप्रतिष्ठा का विचार आरम्भ करने लग पड़ते हैं, तो सहसा पुरुष, और स्त्री के नामव्यवहारों में किन्तु–परन्तु–समाविष्ट हो ही जाता है। पुरुष शरीरतः भूताग्निप्रधान है, अतएव यह प्रत्यक्षाकार में (आकृति में) पुरुष नाम का भी अधिकारी है भूताग्निदृष्टया। किन्तु इस की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है वह 'शुक्रतत्त्व', जो सोमप्रधान है। भुक्तान्न शारीरिक भूताग्नि से सम्बद्ध होकर अग्निसम्बद्धा विशकलनप्रक्रिया से क्रमशः **रस–असृक्–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा-शुक्र**-इन सात धातुद्रव्यों में परिणत हो जाता हैं, जिनमें सातवाँ अन्तिम पार्थिव–शेषधातु ही 'शुक्र' माना गया है। यही 'शुक्र' अग्निशरीरी पुरुष की आभ्यन्तर–प्रतिष्ठा है, और यही पुरुष का 'पुरुषत्त्व' है। शुक्ररक्षण से ही पुरुषस्वरूप की रक्षा है, एवं शुक्रक्षय से सर्वनाश। अतएव अब हम 'शुक्र' को ही वास्तविक 'पुरुष' कहेंगे। क्या इस 'शुक्र' को 'पुरुष' कहना ठीक होगा ?। कदापि नहीं। क्योंकि जो चान्द्रसोम पञ्चाग्निविद्या–क्रमानुसार पार्थिव अन्न बना है, वही विशकलित होकर अन्त में–'शुक्र' रूप से शेष रहता है, जोकि मानव की 'मूलप्रकृति' बना हुआ है। परिभाषा कहती है–सोमतत्त्व योषात्वेन स्त्री है, पुरुष नहीं। अतएव 'शुक्र' को 'पुरुष' न कह कर 'स्त्री' ही कहना तत्त्वसम्मत होगा। यही क्योंकि पुरुष की मूलप्रकृति है, मूलप्रतिष्ठा है। अतएव शरीरतः भूताग्निदृष्टि से 'पुरुष' पने का [पुरुषत्त्व का] दम्भ रखता हुआ भी पुरुष इस मूलप्रकृतिरूप शुक्रानुग्रह से 'स्त्री' की उपाधि से ही समलङ्कृत हो रहा है। और यों यच्च यावत् पुरुष, जो धरातल पर वक्षस्थल को उन्नत किए हुए घूम रहे हैं, वे स्त्रियाँ हीं निर्लज्जतापूर्वक परिभ्रमण कर रहीं हैं, इति नु होलिकापर्वानुगतं किञ्चिदिव मानसविलासनर्त्तनं–विनोदात्मकम्।

१२३–स्त्री का पुरुषत्त्व, पुरुष का स्त्रीत्त्व, प्रजनयिता अत्रिप्राण, नारी का उग्रतम 'महाकाली' स्वरूप, एवं तदाराधना से विश्वशान्ति—

अब 'स्त्री' के स्वरूप को लक्ष्य बनाइए। स्त्री सौम्यशरीरापेक्षया अवश्य ही 'स्त्री' है। 'स्त्री' ही रहेगी यावच्चन्द्रदिवाकरौ। कदापि वह इस दृष्टि से अपने वामधर्म्म का अतिक्रमण कर ही नहीं सकती। किन्तु !। स्त्री की मूलप्रतिष्ठात्मिका मूलप्रकृति माना गया है–'शोणिततत्त्व' (असृक्-रुधिर), जिसमें मलीमस–धामच्छद अनृतभावापन्न–अत्रिप्राण समाविष्ट रहता है, जिससे अमुक अवस्था–दिवसों (ऋतुकाल) में स्त्री–'आत्रेयी' नाम से प्रसिद्ध हुई है निगमशास्त्र में। प्रजनयिता अत्रिप्राण से ही स्त्री के शोणित में प्रजननधर्म्म का उदय होता है। जिसप्रकार शुक्र सौम्य है, तथैव ठीक इसके विपरीत शोणित आग्नेय है। आग्नेय शोणित ही जब स्त्री का स्त्रीत्त्व है, अग्नितत्त्व ही जब 'पुरुष' है, तो इस शोणित तत्त्व को कैसे 'स्त्री' कहा जा सकता है। अवश्यमेव इसे इस मूलप्रकृति की अपेक्षा-(शरीरत: सौम्या स्त्री रहने पर भी) पुरुष ही कहा जायगा। और सम्पूर्ण स्त्रियों को इस दृष्टि से 'पुरुष' अभिधा से ही व्यवहृत किया जायगा। इसी मूलप्रकृतिभाव के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही ऋषिने 'स्त्रियः सतीस्ताँ' इत्यादि कहा है। स्थूलभूत–दृष्टि से पुरुष–स्त्री नाम से प्रत्यक्ष–दृष्ट्या प्रसिद्ध मानव–मानवी सूक्ष्मभूतदृष्टि से स्त्री–पुरुष ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिसका लोकभाषा में समझने मात्र के लिए इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि,—"पुरुष अपने **आग्नेय शरीर से जहाँ रूक्ष है, कर्कश है, वहाँ अपनी शुक्ररूपा मूलप्रकृति की दृष्टि से उसी अनुपात से स्निग्ध है, मृदु है, भीरु है। एवमेव स्त्री अपने सौम्य शरीर से जिस अनुपात से स्निग्धा है, सौम्या है, मृद्वी है, उसी अनुपात से अपनी शोणितरूपा मूलप्रकृति के अनुग्रह से रूक्षा है, कर्कशा है, पिशुना है, अभया है। यही इसका वह प्रचण्ड रौद्र–'महाकाली' स्वरूप है। जबकि मानव के, हाँ एकमात्र मानव के ही प्रज्ञापराध से नारी के इस 'रुद्र' रूप पर आघात हो जाता है, तो शरीरत: सौम्या भी नारी का वह सूक्ष्म रुद्ररूप जागरूक हो पड़ता है, जिससे परिवार–समाज–राष्ट्र, किंबहुना सम्पूर्ण विश्व ही क्षुब्ध हो पड़ता है। अतएव सदा ही इस महाशक्ति को तुष्ट-तृप्त–सुशान्त रखते हुए इसके आशीर्वाद की ही कामना प्रक्रान्त रखनी चाहिए जरामर्य्य–सत्त्रवत्–जीवनपर्य्यन्त।**

१२४–तृतीय दृष्टिकोण से पुनः 'पुरुष' अभिधा का, तथा स्त्री की 'स्त्री' अभिधा का पुंभ्रूण-स्त्रीभ्रूण–माध्यम से संरक्षण–प्रयास—

तत्त्वदृष्टि अभी सर्वात्मना उपशान्त नहीं हुई। आकृति, प्रकृति ही वस्तु का सर्वस्वरूप नहीं है। अपितु त्रिगुणात्मिका–महत्प्रकृति का अभी एक पर्व और शेष है,–जिसे 'अहम्' कहा गया है, एवं दर्शन-भाषा में जिसे **'चेतनामयी–अहङ्कृति'** माना गया है। आकृति का जहाँ स्थूलभूत से सम्बन्ध है, प्रकृति का जहाँ सूक्ष्मभूत से सम्बन्ध है, वहाँ अहङ्कृति का सुसूक्ष्म प्राणात्मा से ही सम्बन्ध माना गया है। और अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति–तीनों के समन्वयानन्तर जो अन्तिम–अहङ्कृतिमूलक–निष्कर्ष निकलता है, वही सिद्धान्त पक्ष माना गया है सृष्टिविज्ञान–प्रसङ्ग–धाराओं में।

पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि–परमेष्ठी–प्रजापति से समन्विता महत्–प्रकृति ही क्रमशः सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–के सम्बन्ध से **अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति**–भावों की अधिष्ठात्री–प्रवर्त्तिका बनी हुई है।

इसीलिए भूतभाव **पार्थिव–आकृतिभूत, चान्द्रप्रकृतिभूत, सौरअहङ्कृतिभूत**–भेद से तीन विवर्त्त भावों में परिणत हो जाता है, हो रहा है। तीनों में अहङ्कृतिरूप सौरभूत प्राणप्रधान है, प्रकृतिरूप चाद्रभूत सूक्ष्मभूतप्रधान है, एवं आकृतिरूप पार्थिव भूत स्थूलभूतप्रधान है। तीनों हीं भूततन्त्र स्वतन्त्र–स्वतन्त्र–सम्वत्सरों से अनुप्राणित हैं, जो क्रमशः **सौर–चान्द्र–पार्थिव**–सम्वत्सर नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक सम्वत्सर (तीनों हीं सम्वत्सर) अग्नीषोमात्मक हैं। अतएव तीनों हीं योषावृषात्मक–दाम्पत्यभाव से–स्त्रीपुंभावों से समन्वित हैं। अवधानपूर्वक महत्प्रकृति की इस विस्तारत्रयी को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए। तभी स्त्रीपुम्भावानुगता समस्या का सैद्धान्तिक निर्णय सम्भव बन सकेगा।

स्वायम्भुवे अव्यक्तब्रह्मणि प्रतिष्ठिता–सुब्रह्मपरमेष्ठिरूपा महत्प्रकृतिः।

(पारमेष्ठ्यब्रह्माण्डमिदम्)

ततः

सौरब्रह्माण्डाविर्भावः–पमेष्ठिमण्डले महद्गर्भे

तत्र च–त्रीणि मण्डलानि समाविष्टानि

त्रयं सदयमेक आत्मा
आत्मा उ
एकः सन्नेतत् त्रयम्

१–सूर्य्यः— अहङ्कृतिमहद्युक्तः—(प्राणप्रधानं सौरसम्वत्सरमण्डलम्)= अग्नीषोमात्मकम्
२–चन्द्रमाः— प्रकृतिमहद्युक्तः— (सूक्ष्मभूतप्रधानं चान्द्रसम्वत्सरमण्डलं)— अग्नीषोमात्मकम्
३–भूपिण्डः— आकृतिमहद्युक्तः— (स्थूलभूतप्रधानं, पार्थिवसम्वसरमण्डलम्)— अग्नीषोमात्मकम्

१२५--स्त्री–पुम्भ्रूणानुगत--औपपातिक--कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा, एवं प्रथम, तथा तृतीय-दृष्टिकोण का समन्वय—

सौरसम्वत्सर में प्रतिष्ठित प्राणात्मक अग्नि–सोम ही मानव–मानवी के 'अहंकृति' रूप आत्मभाव की प्रतिष्ठा बनते हैं। जिनमें से प्राणसोमगर्भित प्राणाग्नि तो मानव की 'अहंकृति' बनता है, एवं प्राणाग्निगर्भित प्राणसोम मानवी की अहंकृति (आत्मा) बनता है। आग्नेयप्राणप्रधान–अहंकृतिभावात्मक भूतात्मभाव का पारिभाषिक नाम है—'पुम्भ्रूण', एवं सौम्यप्राणप्रधान—अहंकृतिभावात्मक भूतात्मभाव का पारिभाषिक नाम है '**स्त्रीभ्रूण**'। आत्मभावलक्षण इन चिन्मय भ्रूणों को ही '**औपपातिक-कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा**' कहा है जीवस्वरूपविज्ञानवेत्ताओंनें, जो शुक्रशोणित के दाम्पत्य में यथाकर्म्म–यथाविद्य प्रविष्ट हुआ करते हैं कर्म्मभोगार्थ। पुम्भ्रूण 'पुरुष' सृष्टि का, तथा स्त्रीभ्रूण स्त्रीसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक बनता है। दोनों क्रमशः आग्नेय—सौम्य–प्राणप्रधान बनते हुए **पुरुष**, और **स्त्री** नामों के ही अधिकारी हैं। एवं यही प्रथम–प्रमुख–पक्ष है।

१२६–चान्द्रसम्वत्सरानुबन्धी–प्रकृतिभावनिबन्धन–शुक्रशोणितानुगत–प्रतिष्ठाभाव, एवं द्वितीय पक्ष (द्वितीय दृष्टिकोण) का समन्वय—

अब दूसरे चान्द्रसम्वत्सर को लक्ष्य बनाइए। '**विचक्षणादृतवो रेत आभृतम्**' इत्यादि औपनिषद्वचन के अनुसार, तथा–'**तद्रेतसोऽसृजत। तदु सोम एव**' (शत०१४।४।२।१३) इत्यादि ब्राह्मणवचन के अनुसार चान्द्रसम्वत्सर में प्राथम्य, एवं प्राधान्य सोम का है। द्वितीय, एवं गौणस्थान अग्नि का है।

जैसा छन्द मूल में बन चुका है पुं–स्त्री–भावों का, उसी अनुपात से, क्रम से आगे के द्वन्द्व प्रतिष्ठित होते चले जायँगे । प्रथम–सौर–द्वन्द्व में (सौर अग्नि के कारण) प्राथम्य, एवं प्राधान्य आग्नेयप्राणात्मक पुम्भ्रूण का था, द्वितीय तथा गौणस्थान सौम्यप्राणात्मक स्त्रीभ्रूण का था, ये ही उस प्रथमयुग्म के पुरुष, और स्त्री– नामक मूलभाव थे । अब चन्द्रमा में चन्द्रमा के सोम की प्रधानता से चान्द्रसम्वत्सर में–चान्द्रसोम की प्रधानता से सूक्ष्म सोमभूत बन गया प्रथम तथा प्रधान, एवं सूक्ष्म अग्निभूत बन गया द्वितीय, तथा गौण । दोनों का उसी अनुपात से आग्नेय पुम्भ्रूण–सौम्य स्त्रीभ्रूणों से क्रमिक सम्बन्ध हो गया । फल यह निकला कि, आग्नेय प्राणरूप–प्रथम–प्रधान–पुंभ्रूणरूप पुरुषछन्द में प्रथम–प्रधान बना हुआ सूक्ष्मसोम–भूतात्मक स्त्री- भाव प्रतिष्ठित होगया, एवं सौम्यप्राणरूप द्वितीय–गौण–स्त्रीभ्रूणरूप स्त्रीछन्द में द्वितीय–गौण–बना हुआ सूक्ष्म अग्निभूतात्मक पुरुषभाव प्रतिष्ठित हो गया । फलतः इस द्वितीय–प्रकृतिभावनिबन्धन–सूक्ष्मभूतात्मक चान्द्रसम्वत्सरप्रक्रम में पुरुषछन्द स्त्री [सोम] से, तथा स्त्रीछन्द पुरुष [अग्नि] से छन्दित हो गया, जो ये दोनों छन्दित चान्द्र–सोम–अग्नि ही [सूक्ष्मभूत ही] अध्यात्मपरिभाषानुबन्ध से 'शुक्र–शोणित' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । इसी मध्य–चान्द्र–प्राकृत–प्रक्रम में पुरुष स्त्री बन गया, एवं स्त्री पुरुषरूप में परिणत होगई ।

१२७-पार्थिवसम्वत्सरानुबन्धी–आकृतिभावनिबन्धन–आग्नेय-सौम्य–शरीरानुगत भूत-भाव, एवं तृतीय पक्ष का समन्वय—

अब शेष रह गया पार्थिवसम्वत्सर । 'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तद्या द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' के अनुसार सूर्य्य का उपग्रहभूत–भूपिण्ड गायत्राग्निप्रधान ही माना गया है । अतएव सावित्राग्नि–प्रधान सौर–सम्वत्सरवत् गायत्राग्निप्रधान पार्थिवसम्वत्सर में भी भूताग्नि का प्राथम्य, तथा प्रधानत्त्व, एवं भूतसोम (ओषधिरूप अन्नसोम) का द्वितीयत्त्व, तथा गौणत्त्व स्वतः एवं प्रमाणित हो जाता है, जो भूताग्नि–भूतसोम महत्प्रकृति–आकृतिभाव से ही अनुप्राणित है । इसी गौण–प्राधान्यानुबन्ध से प्रथम, तथा प्रधान बना हुआ भूताग्नि तो शुक्र के साथ समन्वित हो कर शुक्रप्रकृतिरूप पुरुष का भौतिक शरीर बन जाता है, एवं द्वितीय, तथा गौण बना हुआ भूतसोम शोणित के साथ समन्वित होकर शोणितप्रकृतिरूपा स्त्री का भौतिक शरीर बन जाता है । और यों महत्प्रकृति के आकृतिभाव–निबन्धन तीसरे पार्थिव–सम्वत्सर–प्रक्रम में शुक्ररूपेण स्त्रीभाव में परिणित पुरुष शरीरतः पुरुष बन जाता है, एवं शोणितरूपेण पुरुषभाव में परिणिता स्त्री शरीरतः स्त्री बन जाती है ।

१२८--अग्नीषोमात्मक द्वन्द्वों का तीन विवर्त्तों से अनुप्राणित समष्ट्यात्मक तीनों पक्षों का तात्त्विक–समन्वय--

इसप्रकार सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरों से अनुप्राणित, अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति–भावत्रय-निबन्धन महत्प्रकृतितत्त्व के तीन विवर्त्तभावों के क्रमिक अनुपात से सम्बन्ध रखने वाले **अग्नि–सोम, सोम–अग्नि, अग्नि–सोम**–रूप आग्नेयप्राणात्मक–अहङ्कृतिभावनिबन्धन **सौरपुम्भ्रूणात्मक पुरुष भाव**, सौम्यप्राणात्मक–अहङ्कृतिभावनिबन्धन **सौरस्त्रीभ्रूणात्मक स्त्रीभाव**,–सूक्ष्म सोमभूतात्मक–प्रकृति-भावनिबन्धन **चान्द्रशुक्रात्मक स्त्रीभाव**, सूक्ष्माग्निभूतात्मक–प्रकृतिभावनिबन्धन–**चाद्रशोणितात्मक पुरुष** भाव, तथा स्थूलभूताग्निलक्षण–आकृतिभावनिबन्धन–**पार्थिवयजुष्मत्येष्टकात्मक पुरुषभाव**, स्थूलभूतसोम-लक्षण आकृतिभावनिबन्धन–पार्थिव **परिश्रितेष्टकात्मक स्त्रीभाव**, इन तीन द्वन्द्वों से समन्वित पुरुष–(मानव)

स्त्री (मानवी) युग्म के क्रमशः **पुरुष-स्त्री, स्त्री–पुरुष, पुरुष–स्त्री**, सूक्ष्मतर–सूक्ष्म–स्थूल–भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। प्रथम सूक्ष्मतर विवर्त्त में **पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है**। दूसरे सूक्ष्मविवर्त्त में **पुरुष स्त्री है, स्त्री पुरुष है**। एवं अन्त के तीसरे विवर्त्त में पुनः **पुरुष-पुरुष है, स्त्री–स्त्री है**। दूसरे शब्दों में अहङ्कृतिरूप आत्मभाव से पुरुष, पुरुष ही है, स्त्री स्त्री ही है। प्रकृतिरूप सूक्ष्मशरीरभाव से पुरुष स्त्री है, तो स्त्री पुरुष है। एवं आकृतिरूप स्थूलशरीर से पुनः पुरुष पुरुष ही है, तो स्त्री स्त्री ही है। और इस साम्वत्सरिक अनुपात के माध्यम से, 'प्रकृति' भावानुबन्ध से श्रुति के–'**स्त्रियः–सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः**' इत्यादि पूर्वभाग का समन्वय हो रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है। अवधानपूर्वक परिलेख को लक्ष्य बनाइए, क्योंकि इसी के माध्यम से एक अन्य प्रासङ्गिक लक्ष्य का दिग्दर्शन और अभीष्ट है।

सोऽयं त्रिचक्रात्मकः—सम्वत्सरप्रजापतिः	अग्नीषोमौ सूर्यसंस्था	१—सौम्यप्राणगर्भितः—आग्नेयप्राणः (अग्निः सौरः)—प्रथमो मुख्यश्च	(१)	सौरसम्वत्सर–मण्डलम्
		२—आग्नेप्राणगर्भितः—सौम्यप्राणः (सोमः सौरः)—द्वितीयो गौणश्च	(१)-	
	सोमाग्नी चन्द्रसंस्था	१—सूक्ष्माग्निगर्भितः—सूक्ष्मसोमः (सोमश्चान्द्रः)—प्रथमो मुख्यश्च	(२)	चान्द्रसम्वत्सर–मण्डलम्
		२—सूक्ष्मसोमगर्भितः—सूक्ष्माग्निः (अग्निश्चान्द्रः)—द्वितीयो गौणश्च	(२)	
	अग्नीषोमौ पृथिविसंस्था	१—स्थूलसोमगर्भितः—भूताग्निः (अग्निः पार्थिवः)-प्रथमो मुख्यश्च	(३)-	पार्थिवसम्वत्सर–मण्डलम्
		२—स्थूलाग्निगर्भितः—भूतसोमः (सोमः पार्थिवः)—द्वितीयो गौणश्च	(३)	

१	सौर–दम्पती सूर्यः	१—अहङ्कृतिभावात्मकः—वृषाभावः—सौरसम्वत्सरानुगतः—पतिश्च	—प्राणप्रजापतिः	त्रिमूर्तित्रिचक्रात्मकः—सम्वत्सरप्रजापतिः
		२—अहङ्कृतिभावात्मकः—योषाभावः—सौरसम्वत्सरानुगता—पत्नी च		
२	चान्द्र–दम्पती चन्द्रमाः	१—प्रकृतिभावात्मकः—सौम्यभावः—चान्द्रसम्वत्सरानुगता-पत्नी च	—उभयप्रजापतिः	
		२—प्रकृतिभावात्मकः—आग्नेयभावः-चान्द्रसम्वत्सरानुगतः—पतिश्च		
३	पार्थिव–दम्पती पृथिवी	१—आकृतिभावात्मकः—अग्निचितिभावः-पार्थिवसम्वत्सरानुगतः-पतिश्च	—भूतप्रजापतिः	
		२—आकृतिभावात्मकः—सोमचितिभावः—पार्थिवसम्वत्सरानुगता-पत्नी च		

— इति नु–अधिदैवतम् —

अथाध्यातमम् (मानवसंस्था)—

१–प्राणप्रजापतिरूपेण सूर्य्येण–अहङ्कृतिभावस्योदयः-सोऽयं मानवः, सेयं मानवी

२–उभयप्रजापतिरूपेण चन्द्रेण-प्रकृतिभावस्योदयः—सेयं मानवी, सोऽयं यानवः

३–भूतप्रजापतिरूपेण पार्थिवेन–आकृतिभावस्योदयः—सोऽयं मानवः, सेयं मानवी

अहङ्कृतिदम्पती	सौरवृषाभावेन———मानवे—युम्भ्रूणोदयः—मानवोऽयं–मानवः सौरयोषाभावेन———मानव्यां—स्त्रीभ्रूणोदयः—मानवीयं मानवी	—१	त्रिमूर्त्तिमानवप्रजापतिः
प्रकृतिदम्पती	चान्द्रसौम्यभावेन——मानवे——शुक्रोदयः——मानवोऽयं—मानवीयरूपः चान्द्रआग्नेयभावेन——मानव्यां——शोणितोदयः—मानवीयं——मानवीरूपा	—२	
आकृतिदम्पती	पार्थिवाग्निचितिभावेन—मानवे—आग्नेयशरीरोदयः-मानवोऽयं—मानवः पार्थिवसोमचितिभावेन—मानव्यां—सौम्यशरीरोदयः—मानवीयं——मानवी	—३	

इतिन्वध्यात्मम्

१२९–क्रान्तिवृत्त की दीर्घवृत्तता, एवं तदनुगत त्रिकेन्द्रात्मक सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सरचक्रों का अतिमानसम्बन्ध—

सम्वत्सररूप क्रान्तिवृत्त को दीर्घवृत्त इसलिए कहा जाता है कि, इस में तीन केन्द्र प्रतिष्ठित हैं। क्या तात्पर्य्य है इन तीन केन्द्रों का ?। तीन वृत्त समानलम्बन-रेखा से समन्वित कर दीजिए। अनन्तर तीनों वृत्तों की परिधियों के समन्वय से एक स्वतन्त्र वृत्त बना डालिए। वही दीर्घवृत्तात्मक अण्डवृत्त बन जायगा। सौर–चान्द्र–पार्थिव–मण्डल ही वे तीन सम्वत्सरवृत्त हैं, जिन इन तीनों वृत्तों के तीनों केन्द्रों के

समन्वय से ही त्रिकेन्द्रात्मक सम्वत्सररूप क्रान्तिवृत्तलक्षण–अण्डवृत्त का उद्गम हुआ है, जैसाकि–**'त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः'** (ऋक्सं० १।१६४।२) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। पार्थिव–चान्द्र–सम्वत्सर–चक्रों को स्वमहिमामण्डलात्मक बृहत्साममण्डल में भुक्त रखने वाले सौर सम्वत्सर-प्रजापति ही अपने इस त्रिनाभि–अजर–अनर्वं–सम्वत्सरचक्र से सौर–चान्द्र–पार्थिव–रूप समस्त भुवनों को धारण किए हुए हैं। यही सौरब्रह्माण्डलक्षण 'ब्रह्माण्ड' (सौरजगत्) का वह आधिदैविक स्वरूप है, जिसमें **ऊर्ध्व अर्द्ध अण्डकटाह**, एवं **अधः–अर्द्ध अण्डकटाह**–रूपेण आग्नेय–सौम्य दो अण्डकोश समन्वित हैं। अण्डकोशद्वयात्मक–अग्नीषोमात्मक–अण्डकटाहद्वयमूर्त्ति–त्रिदाम्पत्यगर्भित इस त्रिमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का नेदिष्ठरूप वह मानव माना गया है, जो अण्डकटाहानुबन्धिनी यच्चयावत् अण्डवृत्त-मर्य्यादाओं का सर्वात्मना प्रतिमान बना हुआ है। प्रजननधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा प्रकृति के ये दोनों साम्वत्सरिक अण्डकटाह (अण्डकोश) ही तो बने हुए हैं।

१३०–त्रिविध सम्वत्सरचक्रों की दाम्पत्ययुग्मता से अनुप्राणित मानवीय तीनों पक्षों की (प्रत्येक की) द्वयात्मकता का तात्त्विक समन्वय—

पुम्भ्रूणात्मक पुरुषभाव, तथा स्त्रीभ्रूणात्मक स्त्रीभाव का दिग्दर्शन कराते हुए हमनें पूर्व में इन दोनों शब्दों के साथ **'औपपातिक–कर्म्मभोक्ता-कर्म्मात्मा'** का सम्बन्ध बतलाया है। क्या तात्पर्य्य है इस औपपातिक कर्म्मात्मा से ?, यही वह प्रासङ्गिक–प्रश्न है, जिसके प्रासङ्गिक समन्वय के लिए ही उपरि निर्दिष्ट परिलेखों को अवधानपूर्वक अवलोकनीय बतलाया गया है। परिलेखों में पाठक देखेंगे कि, सौर–चान्द्र–पार्थिव, तीनों हीं दाम्पत्यविवर्त्तों से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि–सोम–नामक युग्मों में सर्वत्र अग्नि के गर्भ में सोम है, सोम के गर्भ में अग्नि है। द्वयात्मक–द्वयात्मक बने हुए तीनों युग्मों में सर्वमूलभूत अहङ्कृतिभावनिबन्धन प्रथम सौरयुग्म की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित कराया जाता है प्रासङ्गिक प्रश्न–समन्वय के लिए।

१३१-चिदात्मयोनिभूत महद्ब्रह्म का मूलप्रकृतित्त्व—

सौरयुग्म का आग्नेय प्राणात्मक–पुम्भ्रूणरूप पुरुषभाव भी अपने गर्भ में उसी प्रकार सौम्यप्राण को प्रतिष्ठित किए हुए है, जैसे कि सौम्य प्राणात्मक स्त्रीभ्रूणरूप स्त्रीभाव के गर्भ में आग्नेय प्राण प्रतिष्ठित है। सौर सम्वत्सर के इस सौम्यप्राणात्मक स्त्रीभ्रूण का गर्भ तो सौर सम्वत्सर का ही आग्नेय प्राण बन रहा है। किन्तु स्वयं इस आग्नेय प्राणरूप पुम्भ्रूण के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला सौम्यप्राण तो सौरमण्डल का ही सौम्य–स्त्रीभाव नहीं बन सकता। अवश्य ही वह तो कोई अन्य ही तत्त्व होना चाहिए, जो सौर आग्नेय प्राण के गर्भ में प्रतिष्ठित होने के कारण सौरब्रह्माण्ड की भी मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित हो रहा है। यही स्थिति हमें सौरब्रह्माण्ड के भी उस मूलाधार के प्रति आकर्षित कर लेती है, जो सौरब्रह्माण्ड का गर्भाधार बना रहता हुआ भी सौर ब्रह्माण्ड से कोई पृथक् तत्त्व है। और वह है अव्यक्त–स्वायम्भुव–ब्रह्माग्निगर्भित पारमेष्ठ्य वह महद्ब्रह्म, जिसे चिदात्मा की 'योनि' कहा गया है।

१३२–सौरमण्डल की अक्षरब्रह्मात्मकता, अक्षरात्मिका चेतना, चेतनानुगत प्राकृत जीव, तदनुगत योनिभाव, एवं चतुरशीति (८४) सौम्य पितर–प्राणों के व्युदूहन से योनि के चतुरशीतिलक्ष (चौरासी लाख) विवर्त्त—

सौरमण्डल अक्षरब्रह्मात्मक है, जैसाकि षोडशीपुरुषविज्ञान से स्पष्ट है। अक्षर प्रकृतितत्त्व है। इसे ही 'चेतना' कहा गया है, एवं यही–'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्**' के अनुसार जीवभाव की मूलप्रवर्त्तिका है पुम्भ्रूण तथा स्त्रीभ्रूण के माध्यम से। जिसे भूतविकारभाषा में–'**कीटाणु**' कहा गया है, वही 'भ्रूण' है, जो असंख्य–अनन्त हैं, जिन असंख्य–अनन्त भी इन उभयविध भ्रूण–कीटाणुओं का चतुरशीति (८४) कल पितृप्राण के सम्बन्ध से शास्त्र ने साहस्री के व्यूहन से चतुरशीतिलक्ष (८४००००० चौरासीलाख) जातिविभाग मान लिए हैं, जो शास्त्रीय भाषा में–'**योनिविभाग**' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन असंख्य–पुम्भ्रूणों (नरों)–स्त्रीभ्रूणों (मादाओं) के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण वास्तव में आग्नेय–सौम्य–प्राणात्मक–चान्द्र–पार्थिव–दाम्पत्यविशिष्ट–सौर–अक्षरप्रजापति (प्रकृति) ही हैं। और इस सौर दाम्पत्यभाव की दृष्टि से प्राणिमात्र भ्रूणों के समन्वय–तारतम्य के ही सुपरिणाम, किंवा प्राकृतिक–परिणाम हैं, जिस इस परिणामवाद का जीवन-सर्ग पर ही विश्राम है।

१३३–मानवस्वरूप की अक्षरातीता अव्ययरूपता, अतएव अप्राकृतता, तद्रूप आत्म-भाव, तथा आत्मा, एवं जीव–स्वरूप का आत्यन्तिक पार्थक्य—

जिस औपपातिक–आत्मभाव का इस सम्बन्ध में दिग्दर्शन हो पड़ा है, उस आत्मभाव का इस अक्षर-प्रकृतिरूप सौरब्रह्माण्ड के पुंभ्रूण–स्त्रीभ्रूणों से तत्त्वतः कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मभाव तो '**चिदात्मा**' नाम से प्रसिद्ध उस '**अव्ययपुरुष**' से सम्बद्ध है, जो सौर अक्षर से भी अतीत है। मानव–मानवी इसी आत्मभाव से अभिव्यक्त हैं, जिसका भूतसर्गानुबन्धी–जीवभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य समस्त योनियाँ जहाँ 'जीवमात्र' हैं, प्रकृतिमात्र हैं, वहाँ मानव **आत्मभावप्रधान** ही है। कदापि '**आत्मा**' और '**जीव**' पर्य्याय नहीं हैं। आत्मा '**अव्ययात्मक**' है, जीव '**अक्षरात्मक**' है। अव्यय '**पुरुष**' है, अक्षर '**प्रकृति**' है। अतएव मानव–मानवी [अपने मनःशरीरबुद्धि–भावों] से प्राकृत–प्रतीत होते हुए भी तत्त्वतः पुरुषात्मभावरूप हीं हैं, अतएव अप्राकृत ही है। यही मानव का वह वास्तविक स्वरूप है, जो प्रकृतिवादी दार्शनिकों के आचारहीन शब्दजाल से, मतवादी साम्प्रदायिकों के कल्पिताचारयुक्त विडम्बनापथों से, क्षणिकविज्ञानवादी शून्योपासकों के अनात्मवाद से, तदनुगामी भ्रान्त अहिंसावादियों के विजृम्भणों से, भूतविज्ञानपरायण–प्रतीच्यों के जड़वाद से, एवं सर्वोपरि भारतीय नवशिक्षित सभ्यों की भारतीय–संस्कृतिस्वरूपानुगता–स्वरूपविस्मृति से सर्वथैव अभिभूत होगया है। जिसे पुनः व्यक्त करना हीं प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

१३४–सौरब्रह्माण्ड का सर्वाधारभूत पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म, एवं तद्द्वारा मानव में आत्म-स्वरूप का अभिव्यक्तित्व–समन्वय—

हाँ, तो पुम्भ्रूणात्मक सौर आग्नेय प्राण की मूलप्रतिष्ठालक्षण पारमेष्ठ्य–भृग्वङ्गिरोमय महद्ब्रह्म ही वह सौम्यप्राण है, जो सौरब्रह्माण्ड का सर्वाधार बन रहा है। इसी में अव्ययपुरुषात्मलक्षण चिदात्मा गर्भी–

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

भूत है, जिसका व्यक्तीभाव सौर पुं-स्त्रीभ्रूणों के द्वारा एकमात्र मानव-मानवी में हीं होता है । अन्य सर्गों में विभूतिभाव से चिदात्मपुरुष प्रतिष्ठित है, जबकि मानवसर्ग में अन्तर्य्यामिसम्बन्धात्मक आत्मभाव से ही चिदात्मपुरुष अभिव्यक्त है । यही मानव की सर्वापेक्षया महत्ता है, जिसे प्राकृतव्यामोहन से मानव जिस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लेता है, तदनुपात से ही यह प्राकृतिक-द्वन्द्व-दुःखों से समन्वित बनता रहता है ।

१३५-सैद्धान्तिकरूपेण अन्ततोगत्त्वा पुरुष का प्रकृतिभाव पर ही पर्य्यवसान—

सौर प्राणाग्नि का मूलाधार सौम्य प्राण जब पारमेष्ठ्य सौम्य महत्तत्त्व है, तो अब पुनः हमें कहना, और मान हीं लेना पड़ेगा कि—स्त्रीभाव ही प्रमुख है पुरुष में । क्योंकि **'सत्य'** अग्नि की परिभाषा है, **'ऋत'** सोम की परिभाषा है । सत्याग्नि पुरुषभाव है, ऋतसोम स्त्रीभाव है । उधर—**'ऋतमेव परमेष्ठी'** के अनुसार सोम-महद्रूप परमेष्ठी ऋत बनता हुआ स्त्रीभाव है । इसीलिए तो गोपथ ने इस भृगवङ्गिरोमय-आपोमूर्त्ति-सुब्रह्मलक्षण पारमेष्ठ्य सौम्य प्राण को—**'जाया'** नाम से व्यवहृत किया है । यही दार्शनिकों की **'माया'** है, उपासकों की **'आम्भृणी'** है, जिसका दशमहाविद्याप्रकरण में दिग्दर्शन कराया जाचुका है । इस प्रकार यह सौम्य-महद्भाव ही सौर आग्नेय पुरुषभाव की प्रतिष्ठा बना हुआ है । और इस दृष्टि से अब यही कहा जा सकता है कि, पुरुष अन्ततोगत्त्वा पुनः स्त्री का स्त्री ही है ।

१३६-अथ से इति पर्य्यन्त प्रकृति की प्रधानता, एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शक्ति-प्रधानत्त्व—

पार्थिवान्त में स्त्री, सौरान्त में स्त्री । सर्वादि में महत्प्रकृतिरूपा-पारमेष्ठ्यशक्ति, अनन्तर अहङ्कृतिरूपा सौरीशक्ति, तदनन्तर प्रकृतिरूपा चान्द्रीशक्ति, सर्वान्ते च आकृतिरूपा पार्थिवी शक्ति । यों अथ से इतिपर्य्यन्त प्रकृतिशक्ति का ही विस्तार हो रहा है, जिसके घनभाव का ही नाम ही 'पुरुष' है ।

१३७-ऋत परमेष्ठी की प्रधानता से पुरुषप्राधान्यवाद का अन्ततोगत्त्वा स्त्रीप्राधान्यवाद पर ही विश्राम, एवं सैद्धान्तिक मन्त्रार्थसमन्वय—

ऋत ही सत्य बना है । स्त्री ही पुरुष बनी है । शक्ति ही अपने ऋत भाव से शक्ति है, सत्यभाव से शिव है । एक ही तत्त्व शिवशक्तिरूप से समन्वित है । दोनों में ऋततत्त्व ही प्रधान है—**'ऋतं नात्येति किञ्चन'** । ऋत का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता । अतएव आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-भेदेन त्रिधा विभक्त-सम्पूर्ण प्राकृत विश्व में परोक्ष-प्रत्यक्षरूपेण प्रकृति का ही साम्राज्य है । इसी की अवस्था-विशेष का नाम 'पुरुष' है, जो कि 'पुरुष' भी मूलतः प्रकृति ही है । इस अन्तिम सिद्धान्तबिन्दु के आधार पर पहुँचने के अनन्तर तो—सौरब्रह्माण्डानुबन्धी पुरुषप्राधान्यवाद भी अन्ततोगत्त्वा स्त्रीप्राधान्यवाद पर ही विश्रान्त हो जाता है । और इसी अन्तिम राद्धान्त-बिन्दु की अपेक्षा से मन्त्रश्रुति के—**'स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः'** इस पूर्वभाग से सर्वत्र शक्तिप्राधान्य ही समन्वित हो जाता है । पुरुष है ही नहीं प्राकृत विश्व में । जो पुरुष हैं, वस्तुतः मूलप्रकृति [पारमेष्ठ्य महत्प्रकृति] की दृष्टि से वे भी स्त्रीभाव पर ही विश्रान्त हैं, जिन स्त्रीभावात्मक पुरुषों को ही लोकव्यवहार-सुविधामात्र के लिए 'पुरुष' कह दिया जाता है, इति नु आगमानुगतं शक्तिरहस्यम् ।

१३८-कामशक्ति, और प्रजनन, तद्रूपा प्रजाति, तद्रूपा प्रजा, प्रजानुगत प्रजातन्त्र, एवं तदनुगत-शरीरप्रधान-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-वातावरणानुगत स्वच्छन्द-होलामहोत्सवानुबन्धी किञ्चिदिव मनोविनोद-प्रसङ्ग—

मूलोद्देश्यरूप होलिका-पर्व को हमने शरीरप्रधान पर्व माना है। ऐसी स्थिति में दुरधिगम्य आत्म-भाव, तदनुगत शक्तिभावादि के दिग्दर्शन से अवश्य ही होलिकाप्रेमी शरीर-मनोधर्म्मा मादृश मानव उत्तेजित हो सकते हैं। स्वागत ही किया जायगा इस सांस्कृतिकी-उत्तेजना का। क्योंकि उत्तेजना ही कामशक्ति की सूचिका है, कामशक्ति ही दाम्पत्यमूलक प्रजनन की प्रतिष्ठा है। प्रजनन ही 'प्रजाति' है, 'प्रजाति' ही 'प्रजा' है, और प्रजानुगत तन्त्र ही 'प्रजातन्त्र' है, जिस इस आज के शरीरमनःप्रधानमात्र प्रजातन्त्र के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वातावरण में, तत्रापि विशेषतः आज के उन्मर्य्यादात्मक-स्वतन्त्र होलिकासमारम्भ में शरीर के साथ साथ यदि अप्रासङ्गिक आत्म-शक्तिवाद की भी चर्चा हो पड़े, तो यह भी विनोद ही मान लिया जायगा, इति नु प्रासङ्गिकेतिवृत्तम्।

१३९-सौरब्रह्माण्डोर्ध्वानुप्राणिता अमृतगाथा का उपराम, एवं पार्थिव ब्रह्माण्डानुगता मर्त्या-सौरचान्द्रपार्थिव--गाथा का यशोगानोपक्रम, तथा तत्प्राधान्य से मन्त्रानुगत मध्यभाव की प्रधानता, एवं तत्प्राधान्य से विश्वविजयी कामदेव का संस्मरण—

अच्छा, तो छोड़िए सौरब्रह्माण्ड से ऊपर की अमृता गाथा को। सूर्य्य से अवस्तात्-प्रतिष्ठित मर्त्य * सौर-चान्द्र-पार्थिव-ब्रह्माण्ड की ही गाथा का यशोगान कीजिए, जिसके अनुसार पूर्व परिलेखानुगत दृष्टिकोण ही सिद्धान्त पक्ष बन रहा है। भ्रूणदृष्ट्या पुरुष-स्त्री पुरुष-स्त्री ही है। शुक्र-शोणित-दृष्ट्या पुरुष स्त्री है, स्त्री पुरुष है। एवं शरीरदृष्ट्या पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। होलिकाविनोदात्मक प्रसङ्ग के गौरव को सुरक्षित रखने के लिए इन तीनों दृष्टिकोणों में से प्रथम-तृतीय-दृष्टिकोण हम अत्र उपेक्षित मान लेते हैं। एवं मध्य का वह दृष्टिकोण ही प्रधान मान लिया जाता है, जिसमें लोकप्रत्यक्षमर्य्यादा के सर्वथा विपरीत पुरुष तो स्त्री बना हुआ है, एवं स्त्री पुरुष बन रही है। इसी मध्यस्थ बिन्दु को माध्यम मानते हुए हमें मानव-मानवी के दाम्पत्य से सम्बन्ध रखने वाले उस मनोजदेवता [वासन्तिक कामदेवता] के यशोगान में अब अविलम्ब प्रवृत्त हो ही जाना है, जिसके बिना मदनमहोत्सवात्मक होलिकापर्व रसराग-रञ्जनात्मक अनुरञ्जन से पृथक् पृथक् सा ही प्रतीत होता जारहा है। शम्भु-स्वयम्भू-हरि--आदि त्रैलोक्य--देवताओं को भी विमोहनासक्त प्रमाणित कर देने वाले विश्वविजयी पुष्पधन्वा

---

*--तद्यत्--किञ्चार्वाचीनमादित्यात्--सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्। [शतपथ०]।

रतिपति महामहिम महाभाग उस कामदेव को अपने मनोराज्य में प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हुए ही उनके इस दाम्पत्यस्वरूप का संस्मरण उपक्रान्त हो रहा है * ।

१४०–मन्मथ–काम–मदन–कन्दर्प–नामों के निर्वचनार्थ--संस्मरण के द्वारा प्रजापति ब्रह्मा से उपवर्णित काममहत्त्व का यशोगान—

मन्मथ, काम, मदन, कन्दर्प, आदि विविध नामों से आगमशास्त्र में ÷ उपगीयमान, तथा स्त्री–पुम्भावों के मानसिक-शारीरिक–क्रीड़ा–विलास--हासों के संरक्षण के लिए ही मानो भगवान् ब्रह्मा के द्वारा विनिर्मित, हृदस्थ मन को अपना आवासस्थान बना लेने वाले, अतएव **मनोभव–मनोज**–नामों से सुप्रसिद्ध, सम्मोहनशक्ति के प्रयोग में कुशल, समुद्वेगभावों के अन्यतम सर्ज्जक, स्तब्धता-जड़ता-लक्षण विमोहन-भावों के मूलकारण, उन्मत्तता के मूलबीज, प्रचण्ड शारीरिक ज्वाला [विरहानल] के प्रवर्त्तक, एवं निरन्तर ही मानस–स्थैर्य को विकम्पित करते रहने में सर्वाग्रणी, ऐसे ब्रह्मपुत्र कामदेव का ही हम इनके निग्रह से परित्राण प्राप्त करने के लिए ही इनके प्रति शतशः प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित कर रहे हैं इनके महान् परितोषक अपने गृहस्थाश्रम के माध्यम से । क्योंकि प्रजापति ब्रह्मा ने इनके इन्हीं गुणों का इनमें संस्थापन किया है—

ब्रह्मोवाच--स्त्रीपुंसोः क्रीडनार्थाय मुदा त्वञ्च विनिर्म्मितः ॥
हृदि योगेन सर्वेषामधिष्ठानं भविष्यसि ॥१॥
सम्मोहनं–समुद्वेगबीजं–स्तम्भितकारणम् ॥
उन्मत्तबीजं–ज्वलनं–शश्वच्चेतनहारकम् ॥२॥
प्रगृह्यैतान्–मया दत्तान् सर्वान्–सम्मोहनं कुरु ! ॥
दुर्निवार्य्यो मम वराद्भव वत्स मदेषु च ॥३॥

— ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे श्रीकृष्णजन्मखण्डे ३५ अध्याये

---

*– शम्भु–स्वायम्भु–हरयो–हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्म्मदासाः ।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय तस्मै नो भगवते कुसुमायुधाय ॥

—भर्तृहरिः

÷ यस्मात् प्रमथ्य चेतस्त्वं जायतेऽस्माकं, तथा विधेः ॥
तस्मात्–'मन्मथ' नाम्ना त्वं लोके गेयो भविष्यसि ॥१॥
जगत्सु कामरूपस्त्वं त्वत्समो नहि विद्यते ॥
अतस्त्वं 'काम' नामासि ख्यातो भव मनोभव ! ॥२॥
मदनात्–'मदना' ख्यत्त्वं, शम्भोर्दर्पात्सदर्पकः ॥
तथा–'कन्दर्प' नामापि लोके ख्यातो भविष्यसि ॥२॥

—कालिकापुराणे २ अध्याये ।

१४१–मकरध्वज, एवं मीनध्वज–अभिधाओं की मूलप्रतिष्ठारूपा–नाक्षत्रिक–मण्डलानुगता–मकर–मीन–राशियाँ––

तथाविध स्वरूपधर्म्मों से समन्वित कामदेव के मदन--मन्मथ--कन्दर्प--आदि लोकविश्रुत नामों के अतिरिक्त आज हम उन दो प्रसिद्ध वैज्ञानिक--नामों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिनके माध्यम से ही दाम्पत्यमूलक '**कामदेव**' का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित हो रहा है । वे नाम हैं--**मकरध्वज**, और **मीनध्वज** । पहिले आकाशीय ग्रहमण्डल में इन दोनों कामरूप ग्रहों का साक्षात्कार कर लीजिए । नवग्रहों में सुप्रसिद्ध श्वेतवर्णात्मक '**शुक्र**' नामक ग्रह **सौम्य ग्रह** माना गया है, एवं सुप्रसिद्ध रक्तवर्णात्मक '**मङ्गल**' नामक ग्रह **आग्नेय ग्रह** माना गया है । द्वादश राशियों में सुप्रसिद्ध **मकर**, और **मीन** नाम की दो राशियाँ हैं, जिनका क्रमशः उच्चभावस्थ मङ्गल, तथा उच्चभावस्थ शुक्र ग्रह के साथ प्रधान सम्बन्ध माना है ज्योतिर्विदोंनें । वे कहते हैं कि, मङ्गलग्रह मकरराशि से, तथा शुक्रग्रह मीनराशि से समन्वित होकर उच्चभावस्थ बन जाया करते हैं, जिस इस तथ्य का एतावान् अंश ही प्रकृत में ग्राह्य है कि, रक्तवर्ण--आग्नेय--मङ्गल मकरानुगत है, एवं श्वेतवर्ण--सौम्य शुक्र मीनानुगत है ।

१४२--मीनराशियुक्त शुक्रग्रह तथा मकरराशियुक्त मङ्गलग्रह की उच्चता, एवं तदनुगत पुरुष–स्त्री–भावात्मक शुक्र-शोणित की मीन, मकरता—

मानव की मूलप्रतिष्ठारूप सौम्य शुक्र श्वेत है, एवं यह निश्चयेन आकाशीय सौम्य--मीनराश्यनुगत शुक्रग्रहप्राण से [सजातीय सम्बन्धाकर्षण से] समन्वित है । तथैव मानवी की मूलप्रतिष्ठारूप शोणित आग्नेय है, रक्त है । एवं यह निश्चयेन आकाशीय आग्नेय--मकरराश्यनुगत मङ्गलग्रहप्राण से समन्वित है । यों शुक्रानुगत पुरुष मीनानुगत 'शुक्रग्रह' की कृपा से, तथा शोणितानुगता स्त्री मकरानुगत मङ्गलग्रह की कृपा से समन्वित हैं । तभी तो स्त्री–'**सुमङ्गली**' कहलाई है निगमशास्त्र में * । इसप्रकार खगोलीय [क्रान्तिवृत्तीय] सौम्य--आग्नेय--मीन--मकरानुगत शुक्र--मङ्गल-ग्रहों से पुरुष--स्त्री के प्रकृतिरूप शुक्र--शोणित--द्रव्य समन्वित हो रहे हैं ।

१४३–पुरुषानुगता शुक्रस्था कामशक्ति, स्त्र्यनुगता शोणितस्था कामशक्ति, एवं–'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' की समन्वय–जिज्ञासा—

पुरुष की कामशक्ति का प्रभवस्थान जहाँ हृदयस्थ मन है, वहाँ प्रतिष्ठास्थान शुक्र माना गया है, अतएव सर्वाङ्गशरीर माना गया है । मनोरूप उक्थबिम्ब से विनिर्गता--अर्करूपा प्राणशक्ति शुक्र में ही प्रतिष्ठित रहती है । एवमेव स्त्री की कामशक्ति इसके शोणित में प्रतिष्ठित है । लोक में प्रसिद्ध है कि, पुरुष

---

* सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्त्वं वि परेत न ।।

—ऋक्सं० १०।८५।३३।

की अपेक्षा स्त्री की कामशक्ति बलवती है। क्या इस प्रसिद्धि में कुछ तथ्य है?। है, और अवश्य है। अन्वेषण कीजिए अपने मनोराज्य में हीं इसके समाधान का। क्यों?। कामचर्चा के उपक्रान्त होते ही प्रस्तुत होलामहोत्सव में विनोद आरम्भ हो गया न?। अच्छा, तो समन्वय कीजिए इस मानसविनोदात्मक कामविनोद का।

१४४-भुक्तान्न के विशकलन का आठवाँ प्रक्रम शुक्र, तदनुगता-'मीनध्वज' नाम की पुरुषशुक्रानुगता कामशक्ति के समतुलन में स्त्रीशोणितानुगता 'मकरध्वज' नाम की कामशक्ति की प्रचण्ड-प्रबलता का तात्त्विक समन्वय—

मानव अपने शारीराग्नि में मुखविवर के द्वारा सोमात्मक अन्न की आहुति देता है-[भोजन करता है]। भुक्त अन्न पहिले रस बनता है, रसावस्था असृगवस्था [रक्तावस्था] में, असृगवस्था मांसावस्था में, यह मेदावस्था में, यह अस्थ्यवस्था में, यह मज्जावस्था में परिणत होती है। एवं सर्वान्त में मज्जावस्था ही शुक्रावस्था में परिणत होती है। यों प्रथम अन्नावस्था से आरब्धा अन्नावस्था आठवीं शुक्रावस्था में जाकर अपने पार्थिव--विशकलनधर्म्म से उपरता होती है। इसी शुक्र में मानव की मीनशुक्रग्रहानुगता कामशक्ति प्रतिष्ठित है। अतएव भुक्तान्न के आठवें प्रक्रम में मानवीय कामशक्ति को शुक्र के द्वारा पोषण मिलने का महद्भाग्य प्राप्त होता है, जबकि मानवी के अन्नोत्तरभावी रस से समन्वित, अतएव मानो प्रथमावस्थारूप ही शोणित में कामशक्ति प्रतिष्ठित रहती है, जो अन्नाहुति के थोड़े ही काल में रक्त के द्वारा पोषण प्राप्त करती रहती है। इसी आधार पर--'**कामश्चाष्टगुणः स्मृतः**' [स्त्रीणाम्] व्यवस्था व्यवस्थित हुई है। अतएव च मानव की अन्नव्यवस्था में शुक्रस्वरूपसंघातक अम्ल पदार्थों [खट्टे--चरपरे--आदि पदार्थों] का बाहुल्य निषिद्ध माना है *। स्पष्ट ही अन्नानुगता इस विशकलनमर्य्यादा के अनुपात से पुरुष, तथा स्त्री की कामशक्ति का तारतम्य प्रमाणित हो रहा है। निश्चय ही पुरुष की शुक्रानुगता कामशक्ति के समतुलन में स्त्री की शोणितानुगता कामशक्ति कहीं प्रबल है। अतएव स्त्री की मर्य्यादा ही परिवार--समाज--राष्ट्ररक्षा की मर्य्यादा मानी गई है। मर्य्यादिता यह महाशक्ति जहाँ सर्वरक्षिका बनती रहती है, वहाँ अमर्य्यादिता बन कर यही सर्वभक्षिका प्रमाणित हो जाती है।

१४५-'मीनकेतन' नामक पुरुषकाम, तथा 'मकरकेतन' नामक स्त्रीकामके अनुग्रह से स्त्री-पुम्भावों का पारस्परिक आकर्षणात्मक--प्राकृतिक दाम्पत्यभाव, तद्द्वारा धर्म्म-मूलक आत्मप्रतिमानरूप प्रजातन्तुवितान, एवं सम्वत्सरयज्ञमूलक पति-पत्नी-भाव-

शुक्र स्त्रीभाव है अपने सौम्यधर्म्म से, एवं यही पुरुष की प्रतिष्ठात्मिका प्रकृति बना हुआ है। मानो अग्निशरीरी पुरुष के अन्तर्जगत् में सौम्य शुक्ररूप स्त्रीभाव ही प्रतिष्ठित है। शुक्रानुगता सौम्या कामशक्ति

---

* राजस्थान में लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि--"**गयो मरद-जाने खाई खटाई,-गई नार-जाने खाई मिठाई**"। "**चाट-चिटोकड़ो मोटयार [पुरुष], अर [और] दूनाचट लुगाई [स्त्री]**"-दोनों हीं स्व-स्वरूपों से च्युत हो जाते हैं।

ही मीनराशि से युक्त शुक्रग्रह के सम्बन्ध से '**मीनध्वज**' कहलाई है। पुरुष का यह काम स्त्रीमय है। अतएव यह स्त्री की कामना किया करता है। कामना स्वस्वरूपानुबन्धिनी मानी गई है। पुरुष का स्वस्वरूपात्मक आभ्यन्तर स्वरूप सौम्यशुक्रानुबन्ध से स्त्रीरूप है। अतएव पुरुषका स्त्रीकाम बने रहना प्रकृतिसिद्ध है। उधर शोणित पुरुषभाव है अपने आग्नेय धर्म्म से, एवं यही स्त्री की मूलप्रष्ठात्मिका प्रकृति बना हुआ है। मानो सोमशरीरिणी स्त्री के अन्तर्जगत् में आग्नेय शोणितरूप पुरुषभाव ही प्रतिष्ठित है। शोणितानुगता आग्नेयी कामशक्ति ही मकरराशियुक्त मङ्गलग्रह के सम्बन्ध से '**मकरध्वज**' कहलाई है। स्त्रीका यह काम पुरुषमय है। अतएव यह पुरुष की कामना किया करती है। स्त्री का स्वस्वरूपात्मक आभ्यन्तरस्वरूप आग्नेय–शोणितानुबन्धसे पुरुषरूप है। अतएव स्त्रीका पुरुषकामा बने रहना प्रकृतिसिद्ध है। इसप्रकार 'मीनध्वज' नामक पौरुषकामने पुरुष की ओर स्त्री को आकर्षित कर रक्खा है, एवं 'मकरध्वज' नामक स्त्रीकामने स्त्री की ओर पुरुष को आकर्षित कर रक्खा है। इसी कामाकर्षण से आरम्भ में शरीरतः आकर्षित यह दाम्पत्य शुक्र–शोणित के दाम्पत्य के द्वारा तन्मूलभूत **योषा-वृषा**-प्राणात्मक स्त्री–पुंभ्रूणों के दाम्पत्य में परिणत होता हुआ, इस धारावाहिक क्रम से पार्थिव सम्वत्सररानुगत आकृतिभावमूलक दाम्पत्य, चान्द्रसम्वत्सरानुगत प्रकृतिभावमूलक दाम्पत्य, तथा सौरसम्वत्सरानुगत–अहङ्कृति–भावमूलक दाम्पत्य, तीनों दाम्पत्यों के समसमन्वय से उस पारमेष्ठ्य–औपपातिक–आत्मभाव–प्रवेश–का कारण बन–जाता है, जिस आत्मभावानुगति के आधार पर ही–'**आत्मा वै जायते पुत्रः**, मूलक '**पिता वै जायते पुत्रः**' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है, जो सैद्धान्तिकी--धर्म्म–व्यवस्था आत्मवञ्चित–केवल–जड़कामसम्बन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं रखती–पशु–पक्षी–कीट-कृम्यादि सर्गवत्। अतएव धर्म्मतः अग्निसाक्षी में परिणीता सहधर्म्मचारिणी यज्ञसंयोगात्मिका (सम्वत्सर–संयोगात्मिका) पत्नी, तथा धर्म्मनिष्ठ पति के दाम्पत्य से ही आत्म–प्रजनपरम्परा प्रवाहित मानी है निगमागमशास्त्रने, जिस इस रहस्यपूर्ण-सनातन–धार्म्मिक--सांस्कृतिक--आत्मकाममूलक–दाम्पत्य का सहकामचारिणी प्रेमिकाओं, तथा सहकामभोगी प्रेमियों के भूतमिलनात्मक धर्मनिरपेक्ष–दाम्पत्यभावानुगत-भूतप्रजनन से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है।

१४६--नाक्षत्रिक--मकर, मीन--राशियों की आपोमयता का समन्वय---

'**मीनकेतन**' नाम से प्रसिद्ध '**मीनध्वज**' कामदेव पुरुषसृष्टि की प्रतिष्ठा बने हुए हैं, एवं '**मकर–केतन**' नाम से प्रसिद्ध--'**मकरध्वज**' कामदेव स्त्रीसृष्टि की प्रतिष्ठा बने हुए हैं, एवं मकर--तथा मीन–राशियों से उच्चभावस्थ बने हुए मङ्गल, तथा शुक्र--नामक सुप्रसिद्ध आग्नेय, एवं सौम्यग्रह ही मानवी के शोणित, तथा मानव के शुक्र में चान्द्रनाड़ी के द्वारा बलाधान करते रहते है। मकर और मीनानुबन्धी मङ्गल–शुक्रानुगत-आग्नेय--सौम्य पुं–स्त्री--भावों के सम्बन्ध में प्रासङ्गिकरूपेण यह भी जान लेना चाहिए कि, मकरराशि, तथा मीनराशि, दोनों हीं राशियाँ आप्य नक्षत्रों से समन्वित रहतीं हुई तत्त्वतः आपोमयीं हीं प्रमाणित हो रही हैं। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही कि--उत्तराषाढ़ा नामक नक्षत्र के शेष तीन चरण (२--३--४), सम्पूर्ण(चतुष्पाद) श्रवणनक्षत्र, धनिष्ठा नक्षत्र के दो चरण, इन नव पादों से समन्वित नाक्षत्रिक आकाश में ही मकराशि उपभुक्त है। एवमेव–पूर्वभाद्रपद–उत्तरभाद्रपद–रेवती–नक्षत्रात्मक नाक्षत्रिक-आकाश में मीनराशि समन्वित है। दोनों हीं आकाश वर्षाऋतु से अनुप्राणित रहते हुए आप्यप्राण–प्रधान हैं। फलतः मकर–मीन–राशियां की भी आपोमयता प्रमाणित हो जाती है।

१४७--अपोमय पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिराप्राण, एवं तदनुगत-आपोमय मकर-मीन-प्राणों का भृग्वङ्गिरोमयत्त्व ---

वास्तविक सुसूक्ष्म तथ्य यह है कि, जिन मकरप्राण–मीनप्राणों से राशिविशेषद्वयी मकर–मीन नामों से प्रसिद्ध हो रही हैं, वे दोनों प्राण मूलतः आपोमय ही बने हुए हैं, जिनका मूल--प्रभवस्थान है वह आपो--मय परमेष्ठी, जिसे **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्'** (गोपथब्राह्मण. पूर्वभा०) के अनुसार भृग्वङ्गिरोरूप, किंवा एक विशेष सृष्ट्यनुबन्ध से भृग्वङ्गिरोमय कहा गया है। आपोवायुःसोमात्मक स्नेह–गुणप्रधान प्राण ही 'भृगु' है, एवं अग्नि–यम–आदित्य–तेजोगुणप्रधान प्राण ही 'अङ्गिरा' है। भृगु भी आपः है, किन्तु सोमप्रधान। अङ्गिरा भी आपः है, किन्तु अग्निप्रधान। आपोमयी यह पारमेष्ठ्य–प्रकृति ही तो वह महद्ब्रह्म है, जिस इस महत्प्रकृतिका ऋत भृगु भाग ही तो स्त्रीयोनिका प्रभव बनता है, एवं ऋत अङ्गिराभाग ही पुरुषयोनिका प्रवर्त्तक बनता है, जिन इन दोनों महत्प्रकृतियों के साथ ही आत्मभाव की अभिव्यक्ति बतलाई गई है पूर्व में– आत्मा, तथा जीवभाव के पार्थक्य का दिग्दर्शन कराते हुए।

१४८–पारमेष्ठ्य पवित्र सोमात्मक–'भागीरथी' तत्त्व, एवं तन्नैदानिक वाहन पारमेष्ठ्य आङ्गिरस–मकर का प्रासङ्गिक समन्वय–

पारमेष्ठ्य भृगु के गर्भ में अङ्गिरा प्रतिष्ठित है, एवं अङ्गिरा के गर्भ में भृगु प्रतिष्ठित है। यों दोनों पारमेष्ठ्य तत्त्व उभयात्मक बने हुए हैं। उभयात्मक–सौम्य भार्गवप्राण का ही नाम है पारमेष्ठ्य **मीनतत्त्व**, एवं उभयात्मक आङ्गिरसप्राण का ही नाम है **मकरतत्त्व**। पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामक पवित्र सोमतत्त्व ही भूतल के भौतिक तत्त्वों से संश्लिष्ट होकर गाङ्गेय कहलाया है। जिसका मौलिक **'गङ्गा'** तत्त्व ही पारमेष्ठ्य पवित्र सोम है, जो **'अम्भः'** नाम में प्रसिद्ध है। यह भार्गव–(गङ्गारूप) अम्भः–नामक पवित्र तत्त्व मकररूप आङ्गिरस प्राण पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव नैदानिक आचार्य्योंनें निदानमाध्यमेन मकर को गङ्गा का वाहन मान लिया है। जिसप्रकार पारमेष्ठ्य पर्जन्यवायु से सम्मिश्रित भार्गव आप्य–प्राण सप्तवर्णयुक्त–सौररश्मि-भाव से समन्वित होकर पार्थिव **'मयूरप्राणी'** की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसे जैसे पारमेष्ठ्य अङ्गिरा–धारारूपा सरस्वती का वाहन मान लिया गया है निदानमाध्य से। एवमेव पारमेष्ठ्य आङ्गिरस–मकर-प्राणप्रधान जलजन्तुविशेष भी 'मकर' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। अतएव इसे सौम्यधारारूपा गङ्गा का वाहन मान लिया गया है उसी निदानभाव से।

१४९–भार्गवप्राणप्रधान सौम्य मीनप्राणी, तथा आङ्गिरसप्राणप्रधान आग्नेय–मकर-प्राणी, एवं तदनुगत विभिन्न गुण–धर्म्मों का समन्वय—

यही स्थिति मीन की है। अङ्गिरागर्भित भार्गव सौम्य–पारमेष्ठ्य प्राण का नाम ही **'मीनप्राण'** है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा से तत्प्राणप्रधान जलजन्तु भी **'मीन'** नाम से प्रसिद्ध होगया है। आङ्गिरस मकरप्राण अग्निप्रकृतिक है, भार्गव मीनप्राण सोमप्रकृतिक है। अतएव तत्प्रधान मकर–मीन–नामक जन्तु भी क्रमशः अग्नि–सोम–प्रकृतिक, उष्ण–शीत–प्रकृतिक ही बने हुए हैं। अतएव आयुर्वेदशास्त्र के सुप्रसिद्ध **'सुश्रुत'** ग्रन्थ में इसे अग्निप्रकृतिक ही कहा है (देखिए, सुश्रुत–कल्पस्थान–८ अध्याय)। शुक्रवर्द्धनत्त्व, एवं स्निग्धत्त्व ही इस मीन के–'सौम्य' नाम को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं।

१५०--प्रकृतिसिद्ध--दाम्पत्यानुगत--शुक्र--शोणित--निबन्धन सौम्य--आग्नेय--मीनध्वज--मकरध्वज--भेदभिन्न कामदेव के स्वरूप का उपराम—

यों पारमेष्ठ्य आङ्गिरस–आग्नेय मकरप्राण, एवं भार्गव सौम्य मीनप्राण आपोमय बनते हुए जहाँ नाक्षत्रिक आकाशभुक्त दशम राशिरूप मकरभाव, द्वादराशिरूप–मीनभाव के संग्राहक बने हुए आपोमय ही है आप्य--प्रधान नक्षत्रमण्डलों के अनुबन्ध से, तथैव ये ही दोनों आप्यप्राण अपने दोनों मकर–मीन--भावों से एतन्नामक--प्राणियों जलजन्तुओं के स्वरूपसमर्पक बने हुए हैं। और ये ही दोनों प्राण क्रमशः सौम्य शुक्र, तथा आग्नेय शोणित की प्रतिष्ठा बनते हुए सौम्य शुक्र, तथा आग्नेय मङ्गल–ग्रहों के अनुबन्ध से मानव–मानवी की कामशक्तियों के सर्वस्व प्रमाणित हो रहे हैं। और यही पुरुषानुगत शुक्रस्थ **'मीनध्वज'** नामक काम का, तथा स्त्र्यनुगत–शोणितस्थ **'मकरध्वज'** नामक काम का प्रासङ्गिक चिरन्तनेतिवृत्त है, जिसके आधार पर मानव–मानवी का कामानुगत दाम्पत्यसम्बन्ध प्रतिष्ठित है, जिसका पार्थिवसर्ग की दृष्टि से पृथवी से ही, तत्प्रधान भौतिक–शरीर से ही उपक्रम हुआ है लोकपक्ष में।

१५१–चतुष्पर्वा विश्वेश्वर से समतुलित चतुष्पर्वा मानव से अनुगत–दाम्पत्यमूलक 'काम' के सम्बन्ध से अनुप्राणित–'होलिकामहोत्सवात्मक–मदनमहोत्सव' का संस्मरण—

चतुष्पर्वा मानव, तथा चतुष्पर्वा विश्वेश्वर, दोनों के समसमतुलन से समन्वित सर्ग–धाराक्रम ही अत्र उस प्रश्न का समाधान करेगा, जिसका होलिकापर्वानुगत 'शरीर' नामक अन्तिम पर्व से सम्बन्ध माना गया है। दाम्पत्यमूलक 'काम' से सम्बन्ध रखने वाले होलिकामहोत्सवात्मक मदनमहोत्सव को शरीरप्रधान–उत्सव, किंवा पर्व क्यों माना गया ?, प्रश्न है, एवं समाधान सृष्टिधाराक्रम है। कथमिति चेत् ?, श्रूयताम्।

१५२--विश्वेश्वरानुगत चारों पर्वों से मानवीय चारो पर्वों का सतुलन—

स्वयम्भुगर्भित **'परमेष्ठी'** प्रथम पर्व है प्रजापति का, तत्समतुलित अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मपर्वरूप **'आत्मपर्व'** प्रथमपर्व है मानव का। स्वयम्भु–परमेष्ठिगर्भित 'सूर्य्य' द्वितीय पर्व है उसका, अव्यक्त–महद्-गर्भित–**'बुद्धि'** पर्व द्वितीय पर्व है इसका। स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–गर्भित **'चन्द्रमा'** तृतीय पर्व है उसका, एवं अव्यक्त–महत्–बुद्धि–गर्भित **मनःपर्व** तृतीय पर्व है इसका। स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–चद्र--गर्भित **पृथिवी--पर्व** चतुर्थ–पर्व है उसका, एवं अव्यक्त–महत्–बुद्धि–मनो–गर्भित शरीरपर्व चतुर्थ पर्व है तत्प्रतिमानभूत इस मानव का, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

चतुष्पर्वा--प्रजापतिः (अधिदैवतम्)—

१—स्वयम्भु—गर्भितः —परमेष्ठी ('आत्मा' प्रजापतेः)।
२—स्वयम्भु—परमेष्ठि—गर्भितः —सूर्य्यः ('बुद्धिः' प्रजापतेः)।
३—स्वयम्भु—परमेष्ठि—सूर्य्य—गर्भितः —चन्द्रमाः ('मनः'-प्रजापतेः)।
४—स्वयम्भु—परमेष्ठि—सूर्य्य—चन्द्र—गर्भिता —पृथिवी ('शरीरं' प्रजापतेः)।

*

चतुष्पर्वा मानवः (अध्यात्मम्)----

१—अव्यक्त—गर्भितः —आत्मा (मानवस्य परमेष्ठी)
२—अव्यक्त—महद्—गर्भिता —बुद्धिः (मानवस्य सूर्य्यः)।
३—अव्यक्त—महत्—बुद्धि--गर्भितं —मनः (मानवस्य चन्द्रमाः)।
४—अव्यक्त—महत्—बुद्धि—मनो—गर्भितं—शरीरम् (मानवस्य पृथिवी)।

*

१५३—मानवीय चतुष्पर्वानुगत--चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजनों का प्रासङ्गिक संस्मरण—

उक्त समतुलन–मर्य्यादा के अनुपात से ही मानव चार प्रकार से सृष्टिविद्याओं का समन्वय कर सकता है, एवं उस चतुर्विधा सृष्टिविद्या की अभिमानी--देवतारूपा चतुर्विधा ही महाशक्तियों से अपने चतुर्विध सांस्कृतिक–आयोजनों का अनुगामी बनता हुआ **मोक्ष–धर्म्म–काम–अर्थ**–रूप-शास्त्रीय–चतुर्विध–आचारों के समान हीं इन आयोजनों से भी पुरुषार्थानुगामी बन सकता है, बना करता था आज से तीन सहस्र–वर्ष पूर्व के उस नैगमिक–सांस्कृतिक युग में, जिसमें चतुर्विध–राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–आयोजन **रक्षाबन्धन--विजयदशमी–दीपावली--होलिका**–रूपेण अपने-नैगमिक–सांस्कृतिक स्वरूप से सुव्यवस्थित थे। पारमेष्ठ्यपर्व ही रक्षाबन्धनपर्व का मूलाधिष्ठान है, सौरपर्व ही विजयदशमीपर्व का, दीपावलीपर्व ही चन्द्रपर्व का, एवं पृथिवीपर्व ही होलिकापर्व का अधिष्ठान बना हुआ है। चारों ही पर्व चतुर्विधा सृष्टिविद्याओं के भी स्मारक बने हुए हैं अपने तथाविध सांस्कृतिक-आयोजनों से। साथ हीं चारों ही आयोजन सर्वात्मक भी बने हुए हैं स्वयम्भुप्रजापति के पञ्चीकरणात्मक 'सर्वहुतयज्ञ' के अनुग्रह से। ये ही चारों आयोजन उसी समतुलनानुपात से मानवीय **आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर**, इन चारों पर्वों से क्रमशः समन्वित हो रहे हैं।

१५४—सांस्कृतिक–आयोजन--चतुष्टयी के माध्यम से भारतीय–मानवसंस्कृति का पारम्परिक संरक्षण, एवं वर्त्तमान 'सांस्कृतिक ? 'आयोजनों' ? का विडम्बनापूर्ण विजृम्भण—

चारों मानवीय पर्व ही क्रमशः **ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र**–चारों वर्णप्रजाओं के मूल पर्व बन रहे हैं, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, चारों हीं यद्यपि चारों पर्वों से समन्वित हैं। तथापि चारों में **ब्रह्म–क्षत्र–विट्–पौष्ण**–नामक–प्राकृतिक--विभिन्न--चतुर्विध प्राण--देवताओं के क्रमिक प्राधान्य से क्रमशः ब्रह्मानुगत आत्मभाव, क्षत्रानुगत बुद्धिभाव, विडनुगत मनोभाव, एवं पौष्णानुगत शरीरभाव ही ब्राह्मणादि चारों मानववर्णों में प्रधान बने हुए है। अतएव ब्राह्मणमानव आत्मपर्व से ही शरीरपर्वपर्य्यन्त अनुधावन करेगा। क्षत्रिय बुद्धिपर्व से ही चारों पर्वों का अनुगामी बनेगा, वैश्य मनःपर्व से ही चारों का संयोजक (जोड़ तोड़ बैठाने वाला) बनेगा, तो शूद्र शरीरपर्व से ही चारों भावों का अनुग्रह प्राप्त कर लेने में समर्थ बन जायगा। यो फलांश में जहाँ चारों समानोदर्क बने रहेंगे, वहाँ प्रक्रियांश में प्रकृतिभेद से चारों के पर्व गौण–प्रधान–रूपेण विभिन्न

धर्म्मानुगत प्रकृतितन्त्र के भी स्वरूपसंरक्षक बने रहेंगे, जिस इस आत्मपुरुषानुगत समदर्शनमूलक, तथा प्रकृत्यनुगत-विषमवर्त्तनात्मक-प्रकृतिपुरुषलक्षण दाम्पत्य जैसा समन्वय इस नैगमिक-सांस्कृतिक-आर्ष भारतवर्ष में हुआ है, वैसा अन्य किसी भी देश में उपलब्ध नहीं है, जहाँ प्रकृति की आठवीं पीढ़ी में * अवस्थित नितान्त-वैकारिक-भूतभौतिक-प्रत्यक्षदृष्ट स्थूलभाव हीं उनके प्रवृद्धतम विज्ञान की महाभूमिका बनें हुए हैं। कदापि इत्थंभूत उस स्थूल भूतवादमात्र मे मूलप्रकति के, तथा पुरुष के अचिन्त्य-दाम्पत्य से सम्बन्ध रखने वाले वर्णानुगत भारतीय सांस्कृतिक--आयोजनों का संस्पर्श भी तो सम्भव नहीं है।

१५५-शरीरानुगत होलिकापर्व, मनोऽनुगत दीपावलीपर्व, बुद्ध्यनुगत विजयदशमीपर्व, एवं आत्मानुगत रक्षाबन्धनपर्व-नामक चारों सांस्कृतिक-आयोजनों के अन्तरान्तरी--भावात्मक-सर्वसमन्वय से सम्पूर्ण भारत की अखण्डा राष्ट्रीयता का पारम्परिक-संरक्षण--

चारों पर्वों से अनुप्राणित रक्षाबन्धनादि चारों पर्व उक्त प्रकृतिभेद से अवश्य ही ब्राह्मणादि चारों वर्णों से क्रमशः समन्वित माने जासकते हैं, माने गए हैं शक्तिग्राहक-शिरोमणि लोकव्यवहार में। अतएव शरीराधारेण समन्विता सृष्टिविद्या का स्मारक-दाम्पत्यमूलक होलिकापर्व अवश्यमेव शरीरप्रधान माना जासकता है। एतावता ही इसे शूद्रप्रधान पर्व मान लिया जासकता है, जिस इस तथ्य का यों स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए कि-आत्मप्रधान रक्षाबन्धन पर्व त्मप्राधान्य से सृष्टिविद्या का स्मारक बन रहा है। अतएव समाविष्ट यद्यपि इस आयोजन में चारों हीं वर्ण हैं। किन्तु आत्मप्राधान्य से प्रसिद्ध हो गया है यह ब्राह्मणानुगत पर्व ही। बुद्धिप्रधान विजयदशमीपर्व में भी समाविष्ट चारों हैं। किन्तु बुद्धिप्राधान्य से यहाँ सृष्टिविद्याओं का संस्मरण है। अतएव इसे क्षत्रियानुगत पर्व मान लिया गया है। मनःप्रधान दीपावलीपर्व में मनःप्राधान्य से सृष्टिविद्याओं की प्रतिच्छाया समाविष्ट है, जिसमें चारों हीं वर्ण समाविष्ट हैं। किन्तु मनःप्राधान्य से बन रहा है यह वैश्यानुगत पर्व ही। तथैव-शरीरप्रधान 'होलिकापर्व' शरीरमाध्यम से मन-बुद्धि-महत्-रूप चन्द्रमा-सूर्य्य-परमेष्ठी नामक विश्वपर्वों का संस्पर्श करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टिविद्याओं का ही स्मारक बना हुआ है। किन्तु माध्यम शरीरमूलक-कामभावात्मक भौतिक दाम्पत्य है इस पर्व का। अतएव इसे शूद्रानुगत पर्व मान लिया गया है, जब कि इसमें भी आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-स्वरूपानुपात से चारों हीं वर्ण यथाधिकार-यथाविद्य-यथायोग्यता एक ही होलिका पर्व का विभिन्न-भावों से अनुगमन कर रहे हैं। सर्वसमन्वय के कारण ही तो तत्तद्वर्णप्रधान भी चारों सांस्कृतिक-आयोजनों को-'**महान्-राष्ट्रीय-पर्व**' ही मान लिया गया है, जिसमें व्यक्तिप्रतिष्टामूलक व्यक्तित्त्व-विमोहन का प्रवेश भी निषिद्ध है।

---

* अव्ययपुरुषानुगत अक्षर ही **मूलप्रकृति**, है, इसका दूसरा प्रक्रम **आत्मक्षर** है, तीसरा **विश्वसृट्** है, चौथा **पञ्चजन** है, पाँचवाँ **पुरञ्जन** है, ६ टा **पुर** है, ७ वाँ **पञ्चमहाभूत** है, एवं आठवाँ प्रक्रम नितान्त वैज्ञानिक वह **भूत-भौतिक** प्रपञ्च है, जिसे ही आज का भूतवादी 'प्रकृति' माने बैठा है। यही इसके प्राकृतिक (भूतभौतिक-वैकारिक) विज्ञान का समस्त इतिवृत्त है।

१५६–आत्मबुद्धिसंस्कृति से पराङ्मुख–आत्मदेवभावशून्य--मनःशरीरमात्र--समुत्तेजक-जड़काममूलक–नृत्यगीतवाद्यसमाकुलित–वर्त्तमान आयोजन, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव—

सभी को स्व- स्व–मर्य्यादाओं के अनुपात से इन राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–आयोजनों का अधिकार प्राप्त है, जबकि आज के मानवतावादियों के नृत्य–गीतात्मक–आयोजनाभासों में पदप्रतिष्ठा–व्यामोहन से समन्वित विशेष वर्गों का ही प्रवेश वैधानिक बना हुआ है, जो कि इसप्रकार का प्रतिबन्ध भारतराष्ट्र की संस्कृति की दृष्टि से तो सांस्कृकित–प्रजा के लिए महावरदान ही प्रमाणित हो रहा है। परमात्मा करे–ये संस्कृतिशून्य–काल्पनिक आयोजन सर्वथा नियन्त्रित बनते हुए परोक्ष ही बन जायँ राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–जागरण के इस प्रक्रान्त–अभिनव–माङ्गलिक मुहूर्त्त में, जो माङ्गलिक मुहूर्त्त इन विडम्बनाओं से ही फलमुखता से वञ्चित हो रहा है।

१–परमेष्ठ्यनुगत–आत्मपर्व–तदनुगत–ब्राह्मण–तदनुगत-रक्षाबन्धनपर्व

२–सूर्य्यानुगत-—बुद्धिपर्व--तदनुगत–क्षत्रिय--तदनुगत–विजयदशमीपर्व

३--चन्द्रमानुगत---मनःपर्व--तदनुगत–वैश्य-—तदनुगत--दीपावलीपर्व

४--पृथिव्यनुगत--शरीरपर्व–तदनुगत–शूद्र-——तदनुगत--होलिकापर्व

*

१५७–अग्न्याधानकर्म्मात्मक–नैगमिक--होलिकापर्व, एवं तदनुप्राणित नैदानिक--भूताग्नि--प्रज्ज्वलनात्मक–होलिकामहोत्सव—

होलिकापर्व से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी भावों का यथामति संस्पर्श करने की अबतक चेष्टा की गई, जिन चेष्टाकर्म्मप्रसङ्गों में आत्मभावप्रधान ब्राह्मणवर्ण की अपेक्षा से वसन्तानुगता--फाल्गुनी--पूर्णिमा से अनुप्राणित -अग्निजागरणात्मक--अग्निप्रज्ज्वलनात्मक--अग्न्याधानरूप उस दिव्य होलिकापर्व का भी समन्वय--समाविष्ट रहा, जिसका अङ्गकर्म्म नवसस्येष्टि भी बना हुआ है। यही वास्तविक **'होलिकायोजन'** है, जिसके सुशान्त हो जाने से, सहजभाषानुसार मानव के अध्यात्माग्नि में से आधिदैविक दिव्याग्नि के पराङ्मुख हो जाने से मानवाग्नि सर्वथा निस्तेज ही हो जाता है, जिस निस्तेजावस्थात्मिका अनात्मवादमूला शून्यावस्था से अनुप्राणित केवल भूताग्निप्रज्ज्वलनरूप--होलिकाकर्म्म कदापि राष्ट्र के अभ्युदय--निःश्रेयस् का कारण नहीं बन सकता। क्योंकि अधिदैवत ही अध्यात्म की प्रतिष्ठा माना गया है।

१५८–होलिकापर्व के आधिदैविक--आध्यात्मिक, एवं आधिभौतिक स्वरूपों का समसमन्वय—

अधिदैवतानुगत--समन्वित--अध्यात्म ही अधिभूत को व्यवस्थित--मर्य्यादित बनाता हुआ इसे माङ्गलिकता प्रदान किया करता है। होलिका के भूताग्निप्रज्ज्वलन–निबन्धन बाह्य--आयोजन से तो सभी परिचित

हैं, जिसे आज की भूतपरायणा--जड़ता ने सर्वात्मना सुपरिचित कर दिया है राष्ट्रप्रजा को। होलिकापर्व का आधिदैवकाग्निप्रज्ज्वलनरूप--साम्वत्सरिक--दिव्य--मध्वग्नि-आधानात्मक-नैगमिक-वास्तविक-सांस्कृतिक पक्ष क्योंकि तीन सहस्रवर्ष--पूर्वारम्भ में उपक्रान्त आत्म--देवभाव--वञ्चित शून्यवाद से उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुख ही बनता आ रहा है शून्यवादसमर्थक सत्तातन्त्रों की दासतामूला सत्तासापेक्षता से, तथा तमोऽभिभूता वित्तलिप्सानुगता वणिक्-तन्त्र की दासता से। अतः हमनें प्रस्तुत सांस्कृतिक--निबन्ध मे सत्तानिरपेक्षा मूलसंस्कृतिलक्षणा आत्मदेवभावना को ही मूलाधार मानते हुए तदनुबन्धी सांस्कृतिक--नैगमिक आयोजनों की रूपरेखा का ही संस्मरणमात्र न्याय्य मान लिया है। और इसी न्यायानुवर्त्तन के साथ होलिकापर्व का सांस्कृतिक--पर्व अपने सांस्कृतिक--आत्मभावानुबन्धी इतिवृत्त से विश्राम ले रहा है, जिस इस विश्रान्ति के उपलक्ष में हीं दो शब्दों में परिशिष्टरूप से होलिकापर्व के मनः--शरीर--निबन्धन (किन्तु आत्मबुद्धिसमन्वित) उस लोकाचारात्मक--आयोजनस्वरूप को भी लक्ष्य बना लिया जाता है, जिसका भय दिखला कर हमारे लोकनिष्ठ सहयोगी--कृपालु--मान्य--मानव-श्रेष्ठ समय समय पर इंगलिशभाषा के सुप्रसिद्ध, किन्तु हमारे लिए अज्ञातार्थ-**'पापूलर'** शब्द के माध्यम से हमें लोकप्रियतानुगति के आदेशोपदेश देते रहने का निःसीम अनुग्रह करते रहते हैं।

१५९-फाल्गुनी पूर्णिमातिथि से अनुप्राणित होलिकापर्व, एवं तदनुगत वसन्तोत्सव की उपक्रमतिथि-माघशुक्लपञ्चमी, तथा उसकी लोकप्रसिद्धा-'वसन्तपञ्चमी' अभिधा—

स्मरण रहे-हम उस **'फाल्गुनी-होलिका'** के लोकाचार के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करने वाले हैं, जिसका वर्त्तमानयुग की 'संस्कृति'-विरुद्धा-**'फागण की होली'** से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है *। जिस प्रसिद्ध मास की पूर्णिमातिथि में यह लोकाचार सोल्लास मनाया, एवं **बलपूर्वक मनवाया** जाता है, उस फाल्गुनमास को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए। एवं इस अनुग्रहदृष्टि से पूर्व उन पर्वोत्सवों की तालिका का भी संस्मरण कर लीजिए, जिनका-वसन्तर्त्तु से ही सम्बन्ध माना गया है। होलिकोत्सव यद्यपि फाल्गुनी-पूर्णिमा से ही अनुप्राणित है। किन्तु वसन्तोत्सव का उपक्रम माघशुक्ल--पञ्चमी से ही उपक्रान्त हो जाता है। एवं चैत्र-पूर्णिमा-पर्य्यन्त यह पर्वोत्सव--परम्परा येनकेनरूपेण प्रक्रान्त रहती है, जिसमें प्रथम स्थान माघमुक्ल--पञ्चमी का है, जो लोक में **'वसन्तपञ्चमी'** नाम से प्रसिद्ध है।

१६०-वसन्तपञ्चमी-तिथि में समायोजित रतिपति-कामदेव, तथा कामपत्नी--रति का शास्त्रीय विधि से प्रतिमानपूजन, एवं तदनुप्राणित-(१)-मदनपूजनमहोत्सव का इतिवृत्त—

'रतिपति-मदनमहोत्सवात्मक-वसन्तोत्सव' का उपक्रम क्योंकि चतुर्थी-समन्विता-वसन्तपञ्चमी से होता है, अतएव माघशुक्ल-वसन्तपञ्चमी को होने वाले **'शारदा-महोत्सव'** से भी पूर्व रतिपति मदनदेव का ही पूजन-

---

* **'फाल्गुने-गगने--फेने 'णत्व' मिच्छन्ति बर्बराः'**—के अनुसार फाल्गुन को **'फागुन'** कहना तो फिर भी यथाकथञ्चित् क्षम्य है। किन्तु 'न' को 'ण' रूप में परिणत कर इसे-'फागण' कहना तो सर्वथा ही बर्बरता-लक्षणा उन्मत्तता है, जिसका सांस्कृतिकभाव से कोई सन्बन्ध नहीं है।

अर्चन विहित हुआ है शास्त्र में। समस्त शृङ्गारादि-आभूषणादि लोकपरिग्रहों से समन्विता, नृत्यपरायणा वीणावादनरता रतिप्रतिमा हीं रति का नैदानिक स्वरूप-माना गया है, एवं अत्यन्त आकर्षक बिम्ब से युक्त, अष्टभुजान्वित, शङ्ख-पद्मविभूषित-चापबाणालङ्कृत-मदभारेण निमीलित इव नेत्रयुगल, मकरध्वजयुक्त-इत्थंभूत--भावों से समन्विता प्रतिमा ही कामदेव की नैदानिकी-प्रतिमा मानी गई है। इसप्रकार वसन्तोत्सवाधिष्ठाता इस दाम्पत्य का ही सर्वारम्भ में पूजन-स्तवन होता है, जो कि रति, रतिपतिकामदेव-पूजनात्मक प्रथम महोत्सव यच्चयावत् वसन्तोत्सवों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है, जो कि '**मदनमहोत्सव**' नाम से व्यवहृत हुआ है।

इदमप्यवधेयम्। यद्यपि वैशाखपर्य्यन्त वसन्तऋतु का साम्राज्य रहता है। अतएव मदनमहोत्सवात्मक वसन्तोत्सव वैशाख-पर्य्यन्त अनुधावन करते देखे सुने जाते हैं। तथापि वस्तुगत्या वसन्तानुगत 'मध्वग्नि' रूप कामप्रतिष्ठाभाव क्योंकि चैत्र-पर्य्यन्त ही रहता है। अतएव 'मधु' मास केवल चैत्रमास ही कहलाया है। अतएव चैत्रपर्य्यन्त ही वसन्तोत्सवानुगत-मदनमहोत्सव का प्राधान्य माना जायगा, माना है शास्त्र ने। माघशुक्ल--वसन्तपञ्चमी से आरम्भ कर चैत्रशुक्लचतुर्द्दशी--पर्य्यन्त का समय ही मधुप्रधान-मदनसमय है, जिसके उपक्रम में पञ्चमी, तथा उपसंहार में चैत्रशुक्ल--चतुर्द्दशी प्रतिष्ठित है। अतवए वसन्तपञ्चमी को जैसे शास्त्र ने आते हुए कामदेव का पूजनकर्म्म स्थापित किया है, तथैव चैत्रशुक्ल--त्रयोदशी को जाते हुए काम का पूजन विहित माना है। अतएव चैत्रशुक्ल-चतुर्द्दशी '**मदनचतुर्द्दशी**' नाम से ही प्रसिद्ध होगई है, एवं इसके प्रारम्भिक व्रत से सम्बद्धा चैत्रशुक्ल-त्रयोदशी '**मदनत्रयोदशी**' नाम से प्रसिद्ध होगई है। निम्नलिखित वचन इन्हीं आद्यन्त के उपक्रमोपसंहारस्थलों के दोनों मदनमहत्सवों की ओर लोकमानसप्रश्नों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

१-वसन्तपञ्चम्यनुगतः-मदनमहोत्सवः—

माघमासे नृपश्रेष्ठ! शुक्लायां पञ्चमीतिथौ ॥
रति-कामौ-च सम्पूज्य कर्त्तव्यः सुमहोत्सवः ॥१॥
[निर्णयामृते, मदनरत्ने च]।
माघशुक्लचतुर्थ्यां तु वरमाराध्य च श्रियः ॥
पञ्चम्यां कुन्दकुसुमैः पूजां कुर्य्यात् समृद्धये ॥२॥ (हेमाद्रौ, बाराहे च)
(रतिस्वरूपम्)-शुभा रतिः (प्रतिमा) प्रकर्त्तव्या वसन्तोज्ज्वलभूषणा ॥
नृत्यमाना शुभा देवी समस्ताभरणैर्युता ॥
वीणावादनशीला च मदकर्पूरचर्चिता ॥३॥ (वीरमित्रोदये)
(मदनस्वरूपम्)-कामदेवस्तु कर्त्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि ॥
अष्टबाहुः स कर्त्तव्यः शङ्ख-पद्म-विभूषणः ॥
चापबाणकरश्चैव मदात्-अञ्चितलोचनः ॥४॥ [हेमाद्रौ]।

* * *

२–चैत्रशुक्लत्रयोदशी–चतुर्दश्यनुगतः–मदनमहोत्सवः—

चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां मदनं दमनात्मकम् ॥
कृत्वा सम्पूज्य विधिवद् वीजयेद्व्यजनेन च ॥१॥
मधुमासे तु सम्प्राप्ते शुक्लपक्षे चतुर्दशी ।
प्रोक्ता–'मदनभञ्जी' ति सिद्धिदा तु महोत्सवे ॥२॥
पूजयिष्यन्ति ये मर्त्यास्तदङ्गभवपल्लवैः ॥
ते यान्ति परमं स्थानं मदनस्य प्रभावतः ॥३॥
चैत्रे मासि चतुर्दश्यां मदनस्य महोत्सवः ॥
भगवाँस्तुष्यते कामः पुत्रपौत्रसमृद्धिदः ॥४॥

—स्कन्दपुराणे

*

१६१--वसन्तपञ्चमीरूपा 'श्रीपञ्चमी' एवं तत्र समायोजित श्रीपूजनात्मक--(२)–'शारदापूजनमहोत्सव' के इतिवृत्त का समन्वय––

रतिपति कामदेव के पूजनार्चनानन्तर इसी माघशुक्ल–वसन्तपञ्चमी–तिथि में 'श्री' रूपा 'शारदा' का पूजन विहित है, जोकि '**शारदामहोत्सव**' नाम से प्रसिद्ध है । दीपावलीपर्व–प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है कि, पारमेष्ठ्य मण्डल ही सरस्वती, तथा लक्ष्मी नाम की दोनों महाशक्तियों का आवास, तथा आविर्भाव-स्थान है अङ्गिराधारा, एवं भृगुधारारूप से । इनमें सरस्वती ही श्वेतवर्णा 'श्री' है, लक्ष्मी ही काञ्चनकान्तिसन्निभा 'हिरण्मयी' है । हिरण्मयी लक्ष्मी, तथा शुक्लाम्बरधरा श्री, दोनों परस्पर '**अत्रा सखायः सख्यानि जानते**' के अनुसार अभिन्न हैं । वसन्तऋतु का अर्थ है आङ्गिरस अग्नि (मध्वग्नि नामक सौर अग्नि) का पार्थिव रज में आधान । इस का दशात्मक उपक्रम माघशुक्ल–वसन्तपञ्चमी–तिथि को ही हो जाता है । अतएव इसे '**शारदातिथि**' मान लिया गया है । शारदा (सरस्वती) का पूजनार्चन ही इस तिथि का प्रधान कर्म्म है । अतएव इस आयोजन को–'**शारदामहोत्सव**' कहा गया है । यही क्योंकि 'श्री' तत्त्व है, अतएव यह पञ्चमी '**श्रीपञ्चमी**' नाम से भी प्रसिद्ध है ।

तरुणशकलमिन्दोर्विभ्रती शुभ्रकान्तिः–
कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे ।
निजकरकमलोद्यल्लेखिनी पुस्तकश्रीः–
सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः ॥

—शारदातिलक–शारदातन्त्र

इत्यादि नैदानिक–आगमीय–ध्यानमन्त्रों से संस्मरण कर सरस्वती–बिम्ब का सोल्लासशास्त्रविधि–पूर्वक पूजन--आराधन–किया जाता है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

माघे मासे सिते पक्षे * पञ्चमी या श्रियः प्रिया ।
तस्याः पूर्वाह्ण एवेह कार्य्यं सारस्वतोत्सवः ॥

१६२–फाल्गुनकृष्ण-त्रयोदशी-तिथ्यनुगत-(३) 'महाशिवरात्रिमहोत्सव' का शास्त्रीय इतिवृत्त——

अनन्तर प्रमुख उत्सव आता है-'**महाशिवरात्रि**', जिसका आचारपक्ष आगम में गुहानिहित है, एवं आयोजनपक्ष आस्तिक प्रजा में स्फुट है । ज्योतिर्म्मय स्कम्भ की नैदानिक-प्रतिमारूप भगवान् शङ्कर का पूजन-अर्च्चन, विशेषतः अजस्ररूपेण '**जलघटाभिषेक**' ही इस महोत्सवायोजन का लोकसम्मत पक्ष है । ऐसा हीं तो हो रहा है प्रकृति में । पारमेष्ठ्य समुद्र में गर्भित प्रचण्ड–अग्निमूर्त्ति सौरतत्त्व ही रुद्रभगवान् हैं, जिनके घोरशरीर, शिवशरीर–भेद से दो स्वरूप माने गए हैं । वर्षाऋतु में, विशेषतः श्रावणमास में रुद्राग्नि का बाह्य भूताग्निस्वरूप आपोमय बन जाता है । यही साम्बसदाशिव (आपोयुक्त रुद्र) हैं, जिनका आराधन श्रावण में हीं होता है । फाल्गुन से यह सौररुद्र भूतल पर आने लगते हैं, जिनका प्रभाव ग्रीष्म आते आते तो प्रचण्ड ही हो पड़ता है । ग्रीष्म ऋतु में जो प्रचण्ड–आग्नेय वायु चलता है, वह साक्षात् रुद्र के ही मानो तीर हैं– '**येऽन्तरिक्षे रुद्रास्तेषां वात इषवः**' (यजुःसंहिता) । इस असह्य रुद्रतापाग्नि को ही–'**सान्तपनाग्नि**' कहा गया है, जिसे 'रुद्र' ही कहा जायगा । इसीलिए तो संस्कृतिनिष्ठ बिहारप्रान्त में सौरताप '**रौद**' नाम से प्रसिद्ध है । श्रावण में तो वर्षाऋतु इसे शिवभाव में परिणत कर देती है । किन्तु फाल्गुनोपक्रान्ता ग्रीष्म-ऋतु में प्रत्यक्ष में कोई उपाय उपलब्ध नहीं हो रहा इसे शिव बनाने का । उसी उपाय का नाम है–'**जेघढ-चढ़ाना**', जो आज के सुसभ्य–सुशिक्षित–सुधारकों के लिए जहाँ एक व्यर्थ का विज्ञानशून्य कर्म्म है, नूतन वेदभक्तों के समाजविशेष के लिए जो अतीत विषय है, वही निगमागमनिष्ठा-आस्था–श्रद्धा–परायणा–सनातन-आर्ष जनता के लिए निदानभावानुबन्धी अत्यन्त ही पावन सांस्कृतिक कर्म्म बना हुआ है । फाल्गुनी शिवरात्रि (फाल्गुनकृष्णत्रयोदशी–चतुर्द्दशी) में गृहस्थ, तथा गृहिणियाँ कूप–तड़ागादि तटवर्त्ती प्रान्तों में स्थित आदिदेव महादेव का सोल्लास–पूजनार्च्चन करते हैं । वहाँ जलघटों से अभिषेक होता है आदिदेव का । यही जलधाराभिषेककर्म्म सांस्कृतिक राजस्थान के पुण्यक्षेत्रों में–'**जेघड़ चढ़ाना**' नाम से प्रसिद्ध है । प्रायः सम्पूर्ण भारत में यह शिवरात्रिमहोत्सव मनाया जाता है । यों रुद्राग्निमूर्त्ति से सम्बद्धा इस **रुद्ररात्रिरूपा**

---

* इसी तिथि से सौभाग्याकांक्षिणी स्त्री का सुप्रसिद्ध पञ्चमीव्रत ६ मास के लिए प्रक्रान्त होता है, जिसका भविष्यादि पुराणों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है, जैसाकि वहाँ के—

षट्पञ्चमीव्रतं सम्यक् श्रूयतां पापनाशनम् ।
सौभाग्यारोग्यसौन्दर्य्यपुत्रपौत्रधनप्रदम् ॥
माघे मासि सिते पक्षे पञ्चमी या शुभा भवेत् ।
तस्यामारभ्य कर्त्तव्यं 'षडब्द' व्रतमुत्तमम् ॥

—भविष्यपुराणोक्त-पञ्चमीव्रतकथा

कालरात्रि को भी आस्तिक प्रजा अपने इस नैदानिक उपासनाकर्म्म से–'शिवरात्रि–मृत्युञ्जयरात्रि' रूप में परिणत कर लिया करती है, जिस इस प्राणनिबन्धन परोक्ष–उपासना के रहस्य को भूतजड़वादी कदापि नहीं जासकता ।

१६३–वसन्तोत्सवपरम्परानुगत, नैगमिक 'प्रेङ्ख' उत्सव के नैदानिकरूप-(४)-'दोलामहोत्सव' के इतिवृत्त का तात्त्विक समन्वय—

इसी वसन्त ऋतु में 'दोलामहोत्सव' भी आयोजित हो जाता है । सर्वप्रथम सवत्सा-पार्वती के आराधन से सम्बद्ध **'गणपतिगौरीपूजन (गणगोरपूज) महोत्सव'** में पार्थिव प्रतिमारूप ईश्वर–गणपतिगौरी (ईसर–गणगोर) को झूले में झुलाया जाता है गृहदेवियों–कन्याओं के द्वारा । अनन्तर स्वयं इनका दोला-महोत्सव आरम्भ होता है । निगमशास्त्र में इसी के लिए–**'प्रेङ्ख'** शब्द प्रयुक्त हुआ है । अन्तरिक्ष में इतस्ततः विचरण करने वाला वायु ही प्रेङ्ख है । इसी की गतिप्रतिकृति के कारण लोकप्रसिद्ध झूला (दोला) भी प्रेङ्ख कहलाने लग गया है, जिसका सुप्रसिद्ध **ऐतरेय आरण्यक में–'अयं वै प्रेङ्खः-योऽयं (वायुः) पवते'** [ऐ० आ० १।२।३।]-**'पुरस्तात्–प्रेङ्ख उपक्लृप्तो भवति। स्थूणे रज्जू वीवध इति'** [ऐ० आ० ५।१।३।] इत्यादिरूप से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है । दो स्थूण [थूण–काष्ठमय ऋजुदण्ड] तथा एक तिर्य्यक् समधरातलात्मक काष्ठदण्ड सुदृढ कर के दृढतम रज्जू से ही इस प्रेङ्ख का स्वरूप निर्म्माण माना है भगवान् ऐतरेयने । शीत-ऋतु के प्राधान्य से श्लेष्मा का प्राधान्य स्वाभाविक है। अतएव वसन्त ऋतु में * श्लेष्मा-विकार

---

*–हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति ॥
प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः ॥१॥
[शार्ङ्गधर—पूर्वखण्ड—द्वितीय अध्याय]

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तोऽर्कांशुतापितः ॥
हत्वाग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत् ॥२॥
तीक्ष्णैर्वमननास्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः ॥
व्यायामोद्वर्त्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्वणम् ॥३॥
गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गमयेत् सुखी ॥
गुरु-शीत–दिवास्वप्न–स्निग्धा–म्ल–मधुरांस्त्यजेत् ॥४॥
—वाग्भटे सूत्रस्थाने तृतीयेऽध्याये

मुदित–कोकिलकूजितकाननं, मदनसूचककिंशुकशोभितम् ॥
कुसुमसौरभरञ्जितभूधरं, क्वणितमत्तमधुव्रतलालसम् ॥१॥
मकरकेतनबाणसमाकुलं, मुदितमेव समस्तमिदं जगत् ॥
मलयमारुतयुक्तगुणान्वितः, 'कफकरो' हि वसन्त–ऋतुर्भवेत् ॥२॥

आशङ्कित बन जाता है। अतएव आयुर्वेदने श्लेष्मानाशक पदार्थसेवन, एवं वमन–विरेचनादि प्रकार व्यवस्थित किए हैं वसन्तारम्भ में। 'दोला' भी इसीप्रकार का अङ्ग प्रमाणित हो रहा है। वातधातु का समुत्तेजक दोला [**हिंदोला–झूला**] वास्तव में श्लेष्मान्तक ही प्रमाणित होता देखा गया है, जो श्लेष्मान्तक के साथ साथ '**वमन**' [उल्टी] का भी प्रवर्त्तक बन जाया करता है। इसी प्रधान उपयोगिता के लिए, साथ ही सोमप्रधान, अतएव श्लेष्माप्रधान नारीवर्ग, तथा बालवर्ग के लिए मनोविनोदानुगत, एवं शारीरिक-स्वास्थ्यमूलक **दोलामहोत्सव** संग्राह्य बन गया है इस वसन्तऋतु में, जिसके सम्बन्ध में अग्निप्रधान, अतएव '**मरुप्रान्त**' नाम से प्रसिद्ध, अतएव च पवित्रतम [अग्निप्राधान्येन], अतएव अग्निमूला–त्रयीविद्या के प्रथमस्रष्टा भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा के सुप्रसिद्ध आवासस्थान·परमपावन–विश्वकेन्द्रस्थानीय पुष्करक्षेत्र से समलङ्कृत इस राजपत्तन [राजस्थान] में शिशिरजनित श्लेष्माविकार निःसीम नहीं बनने पाता। अपितु–'**प्रायेण प्रशमं याति–स्वयमेव समीरणः**' के अनुसार इस प्रान्त की अग्निप्रधानता से स्वयमेव यहाँ का आग्नेय वायु श्लेष्माविकार को शान्त कर देता है। हाँ, वर्षाऋतु में अवश्य ही आंशिक त्रिधातु–विकार यहाँ भी प्रस्फुटित हो जाता है। अतएव वसन्त में दोलामहोत्सव को प्रधानता न देकर प्रकृतिपरीक्षणकुशला राजस्थान की सांस्कृतिक–प्रज्ञा ने वर्षाऋतु को ही '**दोलामहोत्सव**' का प्रधान समय मान लिया है, जैसाकि इसके वर्षाकलीन महासङ्गीतात्मक सांस्कृतिक--लोकगीतों से सर्वात्मना संसिद्ध है।

१६४--होलिकापर्वाङ्गभूत--(५) 'होलाष्टकमहोत्सव'—

दोलामहोत्सव के अतिरिक्त फाल्गुनी-पूर्णिमा के समन्वय से तत्पूर्वक के सात अहोरात्रों को मिला कर जो पारिवारिक-उल्लासपूर्ण–विविध छोटे–बड़े–आयोजन प्रक्रान्त रहते हैं, अष्ट–अहोरात्रानुगता उस उत्सवसमष्टि का ही नाम '**होलाष्टकमहोत्सव**' है, जिसका संक्षिप्त नाम होलिका–सम्बन्ध से आगे चलकर '**होलामहोत्सव**' नाम में परिणत हो गया है। होलिकार्च्चन के लिए सौरप्राणमयी गौमाता के पवित्रतम गोमय [गोबर] से सूर्य्य–चन्द्र–नक्षत्रादि–विविधाकार के माङ्गलिक उपल बनाना [जिन का हमारी प्रान्तीय भाषा में नाम है–'**बड़ूकल्या**', जिन की माला बना कर होलिका के अर्पण की जाती है। एवं इन्हीं के मृद्भाग से ईश्वर--पार्वती की ईसर--गणगोर की पार्थिव--नैदानिक प्रतिमाएँ बनाईं जातीं हैं],–गृहलिम्पन, तत्र माङ्गलिक चित्र–चित्रण, वासन्तिक–किन्तु मर्य्यादा--समन्वित--नृत्य--गीत--वाद्यानुगमन, आदि आदि लोक--जीवनीयरसात्मक इन सम्पूर्ण अङ्गोत्सवों का नाम ही '**होलाष्टक महोत्सव**' है, जिन में वसन्तोत्सव के अतिरिक्त अन्यान्य सभी गृह्याचार गौण बन जाते हैं। अतएव गृहदेवियाँ कहा करती हैं कि--"**अरे ! अब तो होलाष्टक**

विविधः सुरतानन्दः, संभ्रमः–कफवारकः ॥
कटु–क्षाराम्लकाः–सेव्याः शोधनं कफसम्भवे ॥३॥
व्यायामश्रमसंरोधखिन्नो विश्रान्तमानसः ॥
एवं क्रियासमापन्नो नरः शीघ्रं सुखी भवेत् ॥४॥
—इति वसन्तानुगतः–श्लेष्मोपचारः
—हारीते-प्रथमस्थाने-चतुर्थेऽध्याये

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

लग गए। अब और कोई काम नहीं हो सकता''। प्रधानपर्वरूप 'होलिका' के सम्मानातिथ्य में हीं मानो यह अष्टक वर्ग समर्पित हो जाता है। होलाष्टकान्त तिथिरूप प्रधान पर्व को अभी सुरक्षित रहने दीजिए। पहिले तदुत्तरभावी अङ्गोत्सवों का दो शब्दों में समन्वय और कर लीजिए सूचीकटाहन्यायानुरोध से।

१६५-वासन्तिक-महामाङ्गलिक-(६)-'गणपतिगौरीमहोत्सव'—

जों माङ्गलिक-गोमयोपलमालाएँ (गोबर के बडूकल्यों की मालाएँ) होधिकादेवी के समर्पित होतीं हैं, उन्हीं के पार्थिव-गोमय-रज का अङ्गरूप से ही-(ज्वलदङ्गाररूप से ही) अमुक मङ्गलमहोत्सवसम्पादनके लिए घर में आनयन हो जाता है, जो मानो अग्न्याधान का ही संस्मरण करा रहा है। इसी अङ्गार-पार्थिव रज से चैत्रकृष्णप्रतिपत् को प्रातःकाल ही पुत्र-पौत्रादि-वंशसमृद्धि-संरक्षिका माताएँ, तथा सौभाग्याकांक्षिणी कन्याएँ सम्मिलितरूप से आदिदेव-महादेव-ईश्वर की, तथा सवत्सा माता पर्वती की पार्थिव-प्रतिमाएँ बनातीं हैं। एवं इन्हें काष्टपट्टपर १६ दिवस-पर्य्यन्त पूजतीं रहतीं हैं। यही उत्सव-'गणपतिगौरीपूजनमहोत्सव' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस में षोडशीप्रजापतिरूप सौरसाम्बसदाशिव-ईश्वर (ईसर), एवं तदर्द्धाङ्गिनी सवत्सा (गणपतियुक्ता) गौरी-पार्वती ही आराध्य दम्पती है। "एक--दो--तीन--चार--पाँच--छह--सात--आठ--नौ--दस--ग्यारा--बारा--तेरा--चौदा--पन्द्रा--सौ···ला--ईसर भोला--थाल कचोला--राणी पूजे--राजने--म्हे पूजाँ सुहागने--राणी को राज तपतो जाय--म्हाँको सुहाग--बधतो जाय'' इत्यादिरूपेण उपगीयमान-षोड़शीप्रजापति की सोलह-कलाओं के संस्मरणसे समवेत, महासङ्गीतात्मक-सांस्कृतिक-लोकगीतोंसे पुष्पित-पल्लवित इस महोत्सव के सर्वाङ्गीण समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र--निबन्ध की ही कल्पना करनी पड़ेगी *।

१६६-चैत्रकृष्णाष्टमी-तिथि में समायोजित-(७)-'शीतलापूजनमहोत्सव' एवं उसका तात्त्विक स्वरूप—

अब एक प्रासङ्गिक लोकमहोत्सव का दिग्दर्शन और करा देना है, जो लोकमान्यता में 'शीतला--महोत्सव' नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी प्रधान तिथि चैत्रकृष्णा--अष्टमी मानी गई है, जोकि--'शीतलाष्टमी' नाम से ही प्रसिद्ध है। शीतप्रकृतिक सोम, तथा उष्णप्रकृतिक अग्नि, दोनों के समन्वयात्मक 'तथ्य' का ही नाम 'दाम्पत्य' है, एवं इसी का नामहै 'वसन्त', जिसमें अग्नि सोम से मिल रहा है, एवं सोम अग्नि से समन्वित हो रहा है। अग्नि का प्रवेश ही मुख्य है वसन्त में। मध्वग्निरूप सौर दिव्याग्नि पार्थिव चान्द्रसोम में जब बसने लगता है, प्रवेश--करने लगता है, तो सोमानुगत यह मध्वग्नि 'वसन्त' नामसे प्रसिद्ध होजाता है, जैसाकि षड्ऋतुप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। इस तथ्यको लक्ष्य में रखिए, एवं 'शीतलाष्टमी' का समन्वय कीजिए अपनी नैगमिक-प्रज्ञा से।

पुरुषानुगत सौम्य-शुक्र की स्त्र्यनुगत आग्नेय-शोणित में आहुति होती है। अग्नीषोमात्मक इस आध्यात्मिक (मानवीय) यज्ञ से ही पुँ-स्त्रीभ्रूण-समन्वयपूर्वक-गर्भस्थिति होती है। ऋतुकालानुगामिनी

---

* संकल्प है कि, सांस्कृतिकदेवता की प्रेरणा हुई, तो मूलसंस्कृति के ही प्रतीकरूप-लोकगीतात्मक--धर्म्माचारसम्मत-सांस्कृतिक--लौकिक--उत्सवायोजनों के सम्बन्ध में भी स्वतन्त्र--निबन्धरूपेणैव किञ्चिदिव निवेदन करने की चेष्टा की जायगी।

स्त्री के शोणिताग्नि में गर्भ-ग्राहक–धामच्छद वह मलीमस अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है, जिससे आत्रेयी–बन जाने वाली स्त्री अमुक दिवसपर्य्यन्त अस्पृश्या ही बन जाती है, जोकि 'अस्पश्यता' तत्त्वमूला है, जिसके इस तात्त्विक मर्म्म को न समझ कर दुर्भाग्यवश यह घृणामूला बनती हुई आज राष्ट्रप्रजा के विघठन का ही कारण बन गई है, अथवा तो चाणाक्षचतुर–नैष्ठिक–राजनीतिविशारद–बृटिशसत्तातन्त्र के द्वारा बना दी गई है। मलीमस रक्तानुगत वही अत्रिप्राण अनुशयशेषरूप से गर्भाधानकाल में भी विद्यमान रहता है, जिस के बिना गर्भाधान ही सम्भव नहीं है, जैसाकि–'**ऋतुकालाभिगामीस्यात्**' इत्यदि स्मार्त्तवचन से प्रमाणित है। वही मलिन–दोषयुक्त–अत्रिप्राणसमन्वित रक्तांश-शुक्रशोणित–समन्वय के द्वारा सम्मिलित होने वाले स्त्री-पुँभ्रूणोंसे भी संयुक्त होजाता है। क्योंकि यह आग्नेय–मलीमस–रक्त-(शोणित) माता की मूलप्रकृति है, स्त्री की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव इसे पितृतत्त्व–न कह कर '**मातृतत्त्व**' ही कहा जायागा। अवश्य ही सन्तति के शारीराग्नि में यह विकारात्मक–मलीमस–आग्नेन–रक्तांश येनकेनरूपेण प्रवर्ग्य बनता ही है, यदि इसे वैध उपायों से उपशान्त नहीं कर दिया जाता है, तो। वही प्रवर्ग्यभाग '**माता निकलना**' कहलाया है। मातृरूप शोणितांश ही तो शरीर से फूट कर निकलता है। अतएव इस रोग को मातृरोग, किंवा–'**माता**' कहना सर्वथा ही तत्त्वसम्मत प्रमाणित हो रहा है। माघवसन्तपञ्चमी से चैत्रसमाप्तिपर्य्यन्त, तत्रापि फाल्गुनकृष्ण से आरम्भकर चैत्रकृष्णपर्य्यन्त प्रकृति में वसन्ताग्नि का प्राधान्य–प्रक्रान्त रहता है। इस प्रधानता से मानव–मानवी के, विशेषतः सौम्यभावापन्न बालक–बालिकाओं के रक्त में प्रतिष्ठित उसी मलीमस–अत्रिसमन्वित मातृभाग को, शोणित को सहसा उद्दीप्त होनेका अवसर प्रकृत्या ही मिल जाता है। अतएव यही काल मातृरोग–प्रकोपकाल बन जाता है विशेषरूपेण।

यही इस रोग का भौतिक स्वरूप है, जिसके मूलमें सुसूक्ष्मा वह प्राणशक्ति भी प्रतिष्ठित है, जिसे '**मातृशक्ति**' ही कहा गया है। जिसके उष्ण–शीत–अनुष्णाशीतादि सभी भोग्य विवर्त्त बने हुए हैं। प्रत्येक भूत इसी चिच्छक्ति से समन्वित हो रहा है, जैसाकि–विजयदशमीपर्व के दशमहाविद्याप्रकरण में विस्तारसे संस्मरण किया जाचुका है। आग्नेयी मातृशक्ति की प्रतिद्विन्द्विनी शक्ति ही सौम्या मातृशक्ति है। इसी के आराधन का विधान हुआ है शीतलाष्टमीपर्व पर, जिसके सम्यक्–आराधनसे अवश्येमव आग्नेयी मातृशक्ति का प्रकोप शान्त होजाता है। आत्मानुगता–बुद्धिसे समन्वित मानसिक श्रद्धा के द्वारा सौम्या शीतला शक्ति का उसी निदानमाध्यम से पूजनार्च्चन–संस्मरण, एवं इस देवशक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित सौम्य–शीतल–यातयाम (बासी–ठंढा) भौतिक-परिग्रह, दोनों 'प्राण–भूत' भावों के समन्वय से निश्चयेन श्रद्धास्थापरायणा भारतीय प्रजा तो मङ्गलभावनापूर्वक ही इस मातृरोग से अपना अनायासेमैव परित्राण कर लेती है, जबकि केवल भूतवादी इतरदेशीय-भूतवैज्ञानिक इस रोग के स्मरणमात्र से जहाँ मूर्च्छित होजाते हैं, वहाँ इसके आक्रमण से तो जीवनाशा ही छोड़ बैठते हैं। यही शीतलामहोत्सव की प्रासङ्गिक–पावनगाथा का संक्षिप्त माङ्गलिक–संस्मरण है *।

---

* निदानविद्यानुसार रासभ (गधा) इस शीतलामाता का वाहन माना गया है। गर्द्दभी का दुग्ध अत्यन्त ही शीतप्रकृतिक होता है। अतएव मातृरोग में इसका संग्रह अभीष्ट मान लिया गया है।

१६७-वसन्तोत्सव-मधुमहोत्सव-मदनमहोत्सव-होलिकामहोत्सव-पुष्पमहोत्सव-आदि विविध नामों से उपगीयमान होलापर्व की लौकिक--रूपरेखा का उपक्रम—

अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन । अत्र प्रधान--विषयीभूत उस वासन्तिक–'**होलिकापर्व**' की लोकेतिकर्त्तव्यता का दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जिस के प्रसङ्ग से असन्त–ऋतु से सम्बन्ध रखने वाले अनेक लोकोत्सव--पर्व '**ग्रासं गच्छन्-तृणं स्पृशति**' न्याय को चरितार्थ कर रहे हैं । फाल्गुनमास के सम्बन्ध से यह उत्सव '**फाल्गुनोत्सव**' नाम से, वसन्तऋतु के सम्बन्ध से '**वसन्तोत्सव**' नाम से, मध्वग्नि–रूप वासन्तिक-दिव्यसौराग्नि के सम्बन्ध से--'**मधुमहोत्सव**' नाम से, वसन्तसम्पातानुगत अग्नीषोमात्मक दाम्पत्यभावानुबन्ध से–'**दाम्पत्यमहोत्सव**' नाम से, मधुमूलक शुक्रानुगत कामभावमाध्यम से–'**मदनमहोत्सव**' नाम से, प्राणाग्निगर्भित भूताग्निप्रज्ज्वलन के माध्यम से-'**होलिकामहोत्सव**' नाम से, एवं वसन्तऋतुजनित पुष्पोद्गमभावानुबन्ध से–'**पुष्पमहोत्सव**' नाम से, और विदित नहीं, किन किन नामों से लोकाचार में यह पर्व प्रसिद्ध हो रहा है, जिनका पर्य्यवसान वह 'फाल्गुनमास' ही बन रहा है, जिसके शब्दार्थ का पूर्व में उपक्रम हुआ हैं ।

१६८--फाल्गुनीपूर्णिमानुगत--'फाल्गुन' मास का अक्षरार्थ–समन्वय—

सारवद् घनभावात्मक केन्द्रावच्छिन्न वस्तुपिण्ड '**सहृदयं–सशरीरं सत्यम्**' परिभाषा से जहाँ 'सत्य' कहलाया है, वहाँ असारवत्–तरलभावात्मक--केन्द्रवञ्चित–अतएव घनपिण्डमर्य्यादा से पृथग्भूत वस्तुभाव ही–'**अहृदयं अशरीरं ऋतम्**' परिभाषा के अनुसार 'ऋत' कहलाया है । अग्निभाव 'सत्य' का स्वरूप--समर्पक है, सोमभाव--ऋतभाव का संरक्षक है । शिशिरऋतु में सर्वत्र ऋतसोम का ही प्राधान्य है, जैसाकि ऋतुप्रसङ्ग में निवेदन किया जा चुका है । शिशिर का अवसान फाल्गुन--पूर्णिमा को हो रहा है, इसी रात्रि से वसन्त का आरम्भ हो रहा है, जिसका अर्थ है सत्यभावानुगत ऋताग्नि का जन्मकाल । अपनी इस बालावस्था से अभी वसन्ताग्नि भी ऋत–शिथिल–असारवत् ही प्रमाणित हो रहा है इस मास में । इस ऋतभावप्राधान्य से ही फाल्गुन-मासीय ऋतसोम--ऋताग्नि–असारवत् प्रमाणित हो रहे हैं । इसी असारवत्ता–शिथिलता को व्यक्त कर रहा है '**फल्गु**' शब्द, जिसका तत्त्वार्थ है असारवत्--ऋतभाव । इस 'फल्गु' भाव के सम्बन्ध से ही यह मास '**फाल्गुन**' नाम से प्रसिद्ध होगया है । ऋतभाव ही '**पशव्य**' कहलाया है, जबकि वहुसारभाव '**अपशव्य**' कहलाया है * । इसी आधार पर कोशकार ने भी ÷ '**असारं फल्गु**' [अमरकोष–३।१।५६।] रूपेण

*** स एष वहुसारः--स ह--अपशव्यः । य एष फल्गुप्रासहः--स ह पशव्यः । तस्मात्तादृशं पशुकामो यूपं कुर्यात् ।** [शत० १२।६।३।१।]।

÷ फल्गु ही फाल्गुन, तद्भाव ही भावुकता, निष्ठाशून्यता । मधुवृद्ध्या शुक्रवृद्धिः--कामवृद्धिः--मनोराज्यवृद्धिः,-अतएव भावुकतावृद्धिर्फल्गुमासे । अतएव--'**न फल्गुवाक्यैः प्रतिबोधनीयो राजा तु धीरैरिति नीतिशास्त्रम्**' इत्यादि नीतिवचन में शिथिल–मनोविनोदात्मक--हास--परिहासात्मक--वाक्यों को ही फल्गुवाक्य कहा गया है ।

अहस्तानि सहस्तानां, अपदानि चतुष्पदाम् ।
फल्गूनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य नाशनम् ॥—श्रीमद्भागवत १।१३।७।

इत्यादि सूक्ति में भी शिथिल प्राणियों, हीनसत्त्वों के लिए ही 'फल्गूनि' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

सारहीनभाव में हीं 'फल्गु' शब्द व्यवस्थित किया है। अतएव हैमकोष ने फल्गु को निरर्थकभाव का सूचक मान लिया है ※। प्रान्तीय भाषा में जिसे फोसरा--पोला--ढीलाढाला--कहा जाता है, व्यवहारभाषा में जो शिथिल--श्लथ--[पिब्दमान] कहलाया है, वही फल्गुभाव है। सुप्रसिद्ध फल्गुनीनक्षत्र भी इसी 'फल्गु' भाव से सम्बन्ध रखता है, जिसका उदारता से सम्बन्ध है। उदाहृदय--उदारमना--मानव ही 'दाता' कहलाया है, जो कदापि अपने आपको 'बद्धमुष्टि' रूप पिण्डभाव में मुकुलित नहीं रख सकता। अपितु आपोमय ऋत--समुद्रवत् वह उन्मुक्तहृदय ही रहता है। प्रकृति में इसप्रकार के उन्मुक्तभाव का प्रदाता प्राणविशेष ही **'अर्य्यमा'** कहलाया है, जिसका अर्थ होता है दाता। फल्गुनीनक्षत्र इसी अर्य्यमाप्राण से समन्वित है, एवं यही इस पूर्वफल्गुनी--नक्षत्र का फल्गुभावत्त्व है, जिसमें फल्गुभावापन्ना ऋतसोममयी [शरीरतः] जाया [पत्नी], तथा ऋताग्निमय ऋषभ [पति] प्रतिष्ठित हैं। ऊपर नीचे के क्रम से दो नक्षत्र हैं पूर्वफल्गुनी के। ऊपर का नक्षत्र जायाभावात्मक है, नीचे का फल्गुनी ऋषभ भावात्मक है। यों अर्य्यमाप्राण से समन्वित दोनों फल्गुनी--नक्षत्र नाक्षत्रिक दाम्पत्य के ही प्रतिमान बने हुए हैं, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"अर्य्यम्णः पूर्वे फल्गुनी। जाया परस्तात्, ऋषभः अवस्तात्"।

[तै० ब्रा० १।५।१।७।]।

१६९--पूर्वफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता जघन्या रात्रि, एवं उत्तरफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता उत्तमा रात्रि—

दाम्पत्यमूर्त्ति--फल्गुभावात्मक--उदारमना-'पूर्वफुल्गुनीनक्षत्र से अनुप्राणित मास ही फाल्गुनमास है, एवं तदनुबन्धिनी सम्वत्सरोपक्रमभूता पूर्णिमा ही वह फाल्गुनी पूर्णिमा कहलाई है, जिसमें शरीरपर्वानुगत--दाम्पत्य--मूलक--लोकनिबन्धन--होलिकोत्सव सम्पन्न होता है। शरीर, और तदनुगत मन, दोनों ही फल्गु हैं, भावुकता--परिपूर्ण हैं, जबकि--आत्मानुगत बुद्धितन्त्र अग्निप्राधान्य से निष्ठासमन्वित माना गया हैं। मनोऽनुगत भावुक नारीवर्ग, एवं शरीरानुगत सौम्य बालवर्ग, दोनों ही परिवार में फल्गुभावात्मक बनते हुए इस लोकनिबन्धन होलिकोत्सव के मुख्य पात्र बने हुए हैं, जैसाकि--**'फाल्गुने बालका इव'** इत्यादि लोकसूक्ति से प्रसिद्ध है। अतएव इस बाह्य भूतदृष्टि से यह पर्व मनोऽनुगत शरीरप्रधान ही बन रहा है। अतएव च मनःशरीरप्रधान बालनारीवृन्द, एवं तत्सम भावुक मानववर्ग ही फाल्गुन मास में विशेषरूपेण उत्सवपरायण बना करते हैं, जिनमें शरीरप्रधान चतुर्थ प्रजावर्ग ही प्रमुख बना रहता है अपने शरीरधर्म्म से। तभी तो लोकव्यवहार में यह **'शूद्रों का त्यौहार'** कहलाने लग पड़ा है।

सम्भवतः इस फल्गुरूपा--भावुकता के कारण ही फाल्गुनी-पूर्णिमा के बाह्य-भौतिक--स्वरूप को ऋषिने सम्वत्सर की जघन्या रात्रि मान लिया है। अतएव इस दिन अग्न्याधान विहित न कर उत्तरफल्गुनीनक्षत्र में हीं अग्न्याधान विहित माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुतिवचन से स्पष्ट है—

"एषा वै जघन्या रात्रिः सम्वत्सरस्य-यत्-पूर्वे फल्गुनी। पुच्छत एव सम्वत्सरस्याग्निमाधाय पापीयान् भवति। उत्तरयोरादधीत। एषा वै प्रथमा रात्रिः सम्वत्सरस्य-यदुत्तरे फल्गुनी। मुखत एव सम्वत्सरस्याग्निमाधाय वसीयान् भवति"।

—तै० ब्रा० १।१।२।८।

※ फल्गुः--काकोदुम्बरिके-वृक्षे-निरर्थकेऽपि च। [हैमः]।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

१--फाल्गुनशुक्लपूर्णिमा-जघन्यारात्रि [पूर्वफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता]--सम्वत्सरान्त

२--चैत्रकृष्णप्रतिपत्---उत्तमारात्रि [उत्तरफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता] सम्वत्सरारम्भ

१७०--फाल्गुनमासानुगता विभूतिचतुष्टयी का दिग्दर्शन—

फाल्गुनमास, तत्रापि दाम्पत्यभावानुगत जाया--ऋषभ--समन्वित पूर्वाफाल्गुनी--नक्षत्रों का साम्राज्य, और वसन्त के प्रभुत्त्व से समन्विता मधु--शुक्र--भावप्रधाना फाल्गुनी–पूर्णिमा। **एकैकमप्यनर्थाय,–किमु यत्र १–फाल्गुनमास, २–दाम्पत्यानुगति, ३–मधुशुक्रप्राधान्य, ४–फाल्गुनीपूर्णिमा--रूपेण चतुष्टयमेव समन्वितमेतस्मिन् होलिकामहोत्सवात्मके मदनमहोत्सवे।** मनस्तन्त्रपरायण, नितान्त भावुक हमारा अर्वाचीन कविसम्प्रदाय तो केवल--'**वासन्तिका वासराः**' के यशोवर्णन से ही--'**उन्मत्तवद्भ्रमति, कूजति--मन्दमन्दम्**' को अक्षरशः चरितार्थ करता आ रहा है विगत तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता निगमनिष्ठावञ्चिता मनोविशवर्त्तिनी भावुकता के निग्रह से।

१७१–मनोजदेवता की क्रीड़ास्थली वसन्तऋतु, एवं होलिकापर्व के द्वारा तन्नियन्त्रण—

वसन्तऋतु ही जिन मनोज कामदेवता की क्रीड़ास्थली है, उन का सम्मान भी इस पर्व पर होना ही चाहिए मनोऽनुगता त्रिगुणभावान्विता प्रकृति के गुणभावों के परितोष, एवं उपशम के लिए, जिन मानस विकारों को यदि कल्पित–कृत्रिम-सभ्यता प्रदर्शन–व्यामोहन से अवरुद्ध कर लिया जाता है, तो यही प्रच्छन्न वेग आगे चल कर भीषण दुराचार–कर्म्मों में हीं परिणत हो जाता है। अतएव जो ज्ञानाग्नि में अपने काममय शुक्र की आहुति देने में असमर्थ हैं, अतएव वसन्त में प्रकृत्या ही जिनका शुक्रमय काम मधुवर्षण से आन्दोलित हो पड़ता है, उन्हें अत्यन्त ही जागरूकता के साथ अपने वागग्नि में, रस–राग समारोहों में हीं इस उद्वेग को आहुत कर देना चाहिए, जिस इस उद्वेगशान्तिमात्र के लिए ही होलिकापर्व का यह बाह्य अङ्ग विशेषरूपेण इसलिए व्याख्येय नहीं है कि, इसका ज्ञानाग्नि–जागरणमूलक-अग्निसमिन्धनात्मक–नैगमिक–प्रतिष्ठाभाव सर्वथा ही राष्ट्र से पराङ्मुख हो गया है। अतएव कदापि आत्म–बुद्धि–निष्ठाशून्य, केवल मनःशरीरपरायण आज के राष्ट्र के लिए होलिका का वर्त्तमान–बाह्य–स्वरूप श्रेयःकर्म्म नहीं माना जा सकता, जबतक कि यह अपनी मूलनिष्ठा को पुनः प्राप्त नही कर लेता। बिना आध्यात्मिक अग्निप्रज्ज्वलन के कदापि भौतिक अग्नि इस राष्ट्र का कोई हितसाधन नहीं कर सकता। अपितु निष्ठाविगलित ऐसे मनःशरीरप्रधान आयोजन तो राष्ट्र को उत्तरोत्तर फल्गुभाव में हीं परिणत करते जारहे हैं इसके इन फाल्गुनीय–बाह्य–उन नर्त्तन–वादन–गायनों से, जिन आत्मबुद्धिनिष्ठा–वञ्चित इत्थंभूत असांस्कृतिक विजृम्भणों को ही आज हमारे राष्ट्रकर्णधार सांस्कृतिक–आयोजन मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति करते जारहे हैं।

१७२--मनस्तन्त्रानुगत सत्त्व–रज--स्तमो–गुणों के निदर्शन—

निश्चयेन आत्म–बुद्ध्यनुबन्धिनी संस्कृति से पराङ्मुख मन अपने सत्त्वभाव से पराङ्मुख होता हुआ धर्म्मशून्य ऐन्द्रियक–जड़काम का ही वशवर्त्ती बन जाया करता है। सत्त्वगुणान्वित मन ही मर्य्यादित–धर्म्म–कामपूर्वक अपने मङ्गलमय–दाम्पत्यभाव से प्रजातन्तुवितान करता हुआ होलिकापर्व का वास्तविक अधिकारी माना जायगा। ईश्वर–देव–द्विज–गुरु-निगमागमपुराणस्मृतिशास्त्र–आदि की सर्वथा अमान्यता, सदा ही

विषादमुद्राओं की अनुगति, आलस्यपरायणता, मायाचार–असत्य–छल–कपट–दम्भ–मद–मान–दर्प–ईर्ष्या–असूया–कलह–आदि से युक्ता दुष्टा मति, अभक्ष्यभक्षण–अगम्यागमन–द्यूत–मद्यपान–हिंसा–आदि निन्दित अमानवीय दानवीय कुकर्म्मों में सदा अभिरुचि, सदैव शयनपरायणता, क्रोधान्धता, सर्वोपरि मूढ़ता जहाँ मानस तमोगुण के परिचयचिह्न माने गए हैं (१)–,एवं क्रोधावेश, भर्त्सन–ताडन, सदा ही दुःख–चिन्ता–निमग्नता, सदा ही सुख के लिए आतुरता, मदगर्विष्ठता, निरतिशाया कामुकता, अश्लील भाषण, अलीकवचनानुगति (कृत्रिम दम्भरक्षार्थ थोड़ा बोलना, एवं अप्रिय बोलना भी अलीक ही माना गयाहै), सामान्य से संकट में अधीरता, अहङ्कारदर्पता (अपने आपको बड़ा आदमी मान बैठने की भ्रान्ति), भूतपरिग्रहों के माध्यम से अतिमानिता का अनुगमन, सुषुप्ति में सुखानुभूति, इतस्ततः परिभ्रमणशीलता, आदि–आदि जहाँ मानस रजोगुण के (२) परिचायक माने गए हैं, वहाँ आस्तिकता, समानविभागानुगति, उत्तापराहित्य, तथ्यपूर्णा वाणी, मेधा–बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, निर्द्दम्भता, सत्कर्म्मानुगति, सहजविनय, शिष्टता, आदि आदि मानस सत्त्वगुण के (३) के परिचायक माने गए हैं। अयमत्र संग्रहः—

(३)–सत्त्वमनोलक्षणानि—

आस्तिक्यं–प्रविभज्य भोजन–मनुत्तापं–च तथ्यं वचः—
मेधा–बुद्धि–धृति–क्षमा च करुणा–ज्ञानञ्च–निर्द्दम्भता ॥
कर्म्मानिन्दित–मस्पृहञ्च–विनयो सदैवादरा—
देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः ॥१॥

(२)–रजोमनोलक्षणानि—

क्रोध–स्ताड़नशीलता च बहुलं दुःखं–सुखेच्छाधिका—
दम्भः–कामुकता–प्यलीकवचनं–चाधीरता ह्यङ्कृतिः ।
ऐश्वर्य्यादभिमानिताऽतिशयिता–ऽनन्दोऽधिकश्चाटनं—
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥२॥

(३)–तमोमनोलक्षणानि—

नास्तिक्यं–सुविषण्णता–ऽतिशयिता–ऽलस्यञ्च–दुष्टा मतिः—
प्रीतिर्निन्दितकर्म्मशर्म्मणि–सदा, निद्रालुताहर्निशम् ।
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि–सततं क्रोधान्धता–मूढता—
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणा चेतसः ॥३॥

१७३–सत्त्वगुणान्वित मन के द्वारा धर्ममूलक काम का नियन्त्रण––

त्रिगुणात्मक इत्थंभूत मन जबतक सत्त्वगुणानुगत नहीं बन जाता, दूसरे शब्दों में जबतक मानव के प्रकृतिसिद्ध शरीराकृतिनिबन्धन–पार्थिव तमोगुण, तथा मनःप्रकृतिनिबन्धन चान्द्र रजोगुण, इन दोनों पर (मनः शरीर पर) अहंभावनिबन्धन–सौर–सत्त्व–गुण का नियन्त्रण नहीं हो जाता, तबकत मानव के मन से विनिर्गत 'काम' कदापि धर्म्मसम्मत नहीं बन सकता । सहजभाषानुसार आत्मानुगता सहज सत्त्वबुद्धि से (गीता के शब्दों में अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से *) ही मानव के मन और शरीर नियन्त्रित रहते हुए सत्वानुगत धर्म्ममूलक काम, तथा धर्म्ममूलक अर्थ से अनुगत रहते हैं । जो राष्ट्र उद्घोषपूर्वक अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष घोषित कर देता है, आत्मबुद्धिवञ्चित, अतएव सर्वप्रतिष्ठावञ्चित उस राष्ट्र के नास्तिसार–शून्यभावानुगत–फल्गुभाव-समतुलित मनः–शरीरतन्त्र राष्ट्र को किस अचिन्त्य-अप्रतर्क्य–अन्ध तम में प्रविष्ट करा देगें ?, उस घोरघोरतमा भयावहा स्थिति का संस्मरण न करना ही श्रेयःपन्था है सांस्कृतिक–गाथाप्रसङ्ग में ।

१७४–कामदेव के सुतीक्ष्ण पञ्चबाण—

आत्मबुद्धिभावानुगत मनःशरीरतन्त्र ही फाल्गुन के 'होलिका पर्व' के अनुगामी–बनने चाहिए, यही प्रासङ्गिक गुणभाव का निष्कर्ष है । आत्मबुद्धिवश्यता से अनुगत मानस-शारीरिक–ऐन्द्रियक–भाव कदापि पतन के कारण नहीं बन सकते÷ । इसी दृष्टिकोण को आधार बना कर कामदेव के सुतीक्ष्ण पञ्चबाणों की तीक्ष्णता उपशान्त की जा सकती है, जो पञ्चायुधात्मक पञ्चबाण क्रमशः– × **द्रवण–शोषण–तापन–मोहन–उन्मादन**–नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनकी व्याख्या की महती योग्यता से हमारा वेदाभ्यासजड़ मन तो सर्वथा ही वञ्चित है ।

१७५–विश्वेश्वरहृदयस्थ कामदेवता के प्रकृतिसिद्ध नित्य पञ्चबाण—

सुनते हैं–पाँच प्रकार के पुष्प कामदेव के पञ्चधनुष कहलाए हैं, जो क्रमशः–**अरविन्द (रक्तकमल)**, **अशोक, आम्र, नवमल्लिका (मोगरा) नीलोत्पल (नीलकमल)**–नामों से कविसम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध हैं । + मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति स्वयम्भू ब्रह्मा से ही तो (इन के मनोभाव से ही तो) **'कामस्तदग्रे**

---

* गीताभूमिका के ७ वें–'बुद्धियोगपरीक्षात्मक' अष्टमखण्ड में (जो सातसौ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है) इस अबुद्धियोगात्मक–बुद्धियोग का ही विस्तार से यशोगान हुआ है ।

÷ **रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।**
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता २।६४)

× **द्रवणं–शोषणं–बाणं, तापनं–मोहनाधिकम् ।**
उन्मादनञ्च–कामस्य बाणाः पञ्च प्रकीर्त्तिताः ॥

+–**अरविन्द–मशोकञ्च–चूतञ्च–नवमल्लिका ॥**
नीलोत्पलञ्च–पञ्चैते–पञ्चबाणस्य सायकाः ॥ १ ॥

समवर्त्तताधि-मनसो रेतः-प्रथमं यदासीत्' (ऋक्सं० १०।१२९।४) इत्यादि रूपेण कामतत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है, जिस सत्यसंकल्पात्मक आत्मकाम (प्राजापत्यकाम) से ही पञ्चपर्वा प्रकृति का, एवं तत्मूलक पञ्चपर्वा विश्व का आविर्भाव हुआ है । **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी**-नामक पाचों विश्वपर्व प्रसिद्ध हैं, जिन के आधार पर ही समस्त निगमागमपुराणेतिवृत वितत हुआ है । पाँचों प्राकृतिक-विश्वपर्वों के केन्द्र में मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति व्यष्टिरूप से प्रतिष्ठित होते हुए तत्तत् विश्वपर्वों के उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक आत्मा बने हुए हैं । यही केन्द्रीय आत्मप्रजापति 'मनोता' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । यों प्रजापत्य-मानस काम पञ्चधा विभक्त हो रहा है । ये ही तो नैगमिक--सांस्कृतिक वे पाँच कामबाण हैं, जिन के आचारात्मक--प्रयोग-प्रहारों से ही सम्पूर्ण भूत-भौतिक सर्गों के योषावृषात्मक दाम्पत्यभाव क्रीड़ापरायण बनते हुए **'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** इस श्रौत आदेश को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं । और यों स्वयम्भू प्रजापति की वह हृद्या अनवद्या मानस-कामना सर्वात्मना सफल हो रही है विश्वविजयी मनोज के द्वारा, जिस का स्वयं ब्रह्माने इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

ब्रह्मोवाच—स्त्रीपुंसोः क्रीडनार्थाय मुदा त्वञ्च विनिर्म्मितः ।
हृदि योगेन सर्वेषामधिष्ठानं भविष्यसि ॥
ब्रह्मवैवर्त्त पुराण--श्रीकृष्णजन्मखण्ड--३५ अध्याय

१७६-पार्थिवरज, और 'उड़त गुलाल-लाल भए बादल'—

रागात्मक-रजोगुणसमुद्भूत * रसराज कामदेव के सम्मानातिथ्य में आयोजित फाल्गुनी-पूर्णिमा के उत्तर दिवस (चैत्रकृष्णप्रतिपदा-पड़वा) में समायोजित रागात्मक (रँगात्मक) रसवर्षण के अतिरिक्त प्रायः उन सभी मानस-भावों का लोकसंग्रहदृष्ट्या दिग्दर्शनाभास करा दिया गया, जिनका होलिका-महोत्सव से सम्बन्ध है । क्या द्वितीय दिवसीय रागरञ्जनात्मक रजो-(पराग-गुलाल)-वर्षण, तथा रँगवर्षण के साथ भी काममहाभाग के साथ कोई प्राकृतिक सम्बन्ध है ?, प्रश्न के सर्वात्मना समन्वय की न तो योग्यता ही है, न अवसर ही । कामजनक 'राग' तत्त्व संगीतानुगत षट् प्रधान राग, तदनुगता रागनियाँ, आदि भेदेन अनेक भावों में भिक्त हैं, जिन से--**'तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत--न गायेत'** इस आदेशानुसार हमारा मनस्तन्त्र असंस्पृष्ट ही है । है अवश्य ही यह काम का सहायक, जैसाकि--**'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्'**--इत्यादि भागवतीय-वचन से प्रमाणित है । अतएव संगीतात्मक राग भी मर्य्यादारूपेण समायोजित होना ही चाहिए मदनमहोत्सवात्मक

सम्मोहनं--समुद्वेगबीजं--स्तम्भनकारणम् ॥
उन्मत्तबीजं ज्वलनं शश्वच्चेतनहारकम् ॥ २ ॥
सम्मोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा ॥
स्तम्भनञ्चेति कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्त्तिता ॥ ३ ॥

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (गीता ३।३७)

होलिकामहोत्सव के द्वितीय–दिवसीय 'वसन्तोल्लासमहोत्सव' में । 'यः पार्थिवानि विममे रजांसि' (ऋक्संहिता) के अनुसार पार्थिवी कामशक्ति से ही तो पार्थिवरज पार्थिव--स्तोम्य त्रैलोक्य में व्याप्त होते हुए आकाशीय मेघों को मानो रक्ताभ बनाते हुए होलिका पर्व के--'उड़त गुलाल लाल भए बादल' उद्घोष को चरितार्थ कर रहे हैं । अवश्य ही जवापुष्पों (एतन्ननामक वृक्ष के रक्तपुष्पों) के राग से समाप्लुत उस रँग से भी अपने भौतिक शरीरों को आपोमय बना ही लेना चाहिए, जो जवारँग–जपापुष्प--उष्णप्रकृतिक बनते हुए वसन्त में उत्पन्न श्लेष्माविकार को भी उपशान्त कर देते हैं, एवं कामशक्ति के दुर्द–मनीय ताप को भी मर्य्यादित बना देते हैं ।

१७७- फाल्गुनानुगत रस–राग–रँग—

गत्यर्थक, एवं वेगार्थक 'जव' धातु से निष्पन्न होने वाला 'जवा' शब्द तन्नामक पुष्प में रक्तादि धातु-सञ्चरण की योग्यता ही व्यक्त कर रहा है, जो कि सञ्चरणभाव श्लेष्मान्तक माना गया है । अत्यन्त ही मधुर–गन्धयुग्ध 'जवा' वृक्ष का पुष्प भी 'जवा' ही कहलाया है, जिसका सुप्रसिद्ध तैल–'जवाकुसुमतैल' नाम से प्रसिद्ध है । रक्तवर्णाभ, तथा गत्यग्निभावापन्न जवापुष्प अपनी इस अग्निप्रकृति के कारण ही सूर्य्यनारायण की आराधना में परिगृहीत है । कटुत्त्व–उष्णत्त्व-इन्द्रलुप्तविनाशकारित्त्व [गँजनिवारकत्त्व]--सूर्य्याराधन--प्रसाधनत्त्व–इत्यादि गुण माने हैं राजनिघण्टु ने इसके । जिस स्त्री में अमुक दोष से रक्तस्राव अवरुद्ध हो जाता है, अतएव जिसकी प्रजननशक्ति कुण्ठित हो जाती है, अमुक अन्य द्रव्यों के सम्मिश्रण से युक्त जवापुष्परस उसे ऋतुमती बना देता है * । यही इसका अग्निगुणकत्त्व, एवं श्लेष्मान्तकत्त्व है । जवा ही लोकव्यवहार में 'जपा-पुष्प' नाम से भी प्रसिद्ध हो गया है । प्रायः फाल्गुन--चैत्र में हीं जवापुष्प विकसित होते हैं । अतएव इन अरुण--लोहित पुष्पों को श्रुति ने तो–'फाल्गुनानि' ही कहा है । अमुक यज्ञकर्म्म में [सोमयागविशेष में] इसे सोम का प्रतिनिधि मान लिया गया है, उस सोम का--जो गायत्रीरूप पार्थिव श्येनाग्नि के एति-प्रेति-धर्म्म से परमेष्ठी से पार्थिव अग्नि की आहुति बनता है । देखिए !

द्वयानि वै फाल्गुनानि–लोहितपुष्पाणि, च अरुणपुष्पाणि च । स यान्यरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि, तानि--अभिषुणुयात् । एष वै सोमस्य न्यङ्गः (प्रवर्ग्यांशः), यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि । श्येनहृतमभिषुणुयात् (गायत्री-सम्बन्धेन), आदारानभिषुणुयात् । अरुण-दूर्वा अभिषुणुयात् । (शत० ४।५।१०। २ कण्डिका से ६ कण्डिका पर्य्यन्त) ।

१७८–लोकाचारात्मक–सङ्गीतमय -होलिकामहोत्सव—

सोमधर्म्म से शुक्र का, अग्निप्रकृति से शोणित का, मधुरगन्धधर्म्म से मनोरञ्जक इस वासन्तिक पुष्प से, एवमेव तत्सदृश ही अन्यान्य अनुरूप--गुणधर्म्मों से समन्वित पुष्परसों से विनिर्म्मित रँगों में [मर्य्यादा-पूर्वक] निमज्जित होना होलिकापर्वानुगत वसन्तोत्सव में अनुरूप ही माना जायगा । और यों लोकाचारानुगत होलिकामहोत्सव से अनुप्राणित सङ्गीत, रस--राग--रञ्जन, विविध वर्णयुक्त पार्थिव रजोऽनुगति, आदि भावों का

---

* सक्ताञ्जिकं जवापुष्पं मृष्टं ज्योतिष्मती दत्तम् ।
दूर्वापिष्टञ्च सम्प्राश्य वनिता चार्त्तवं लभेत् ॥

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

समर्थन ही किया जायगा मनःप्रधान भावुक मानवसमाज की भावुकतासंरक्षण के लिए सर्वथा तटस्थरूप से ही, जिस इत्थंभूत मनोविनोदात्मक वसन्तोत्सव के महान् पर्व होलिका की, होलिका के भौतिक स्वरूप की इतिकर्त्तव्यता [आयोजनस्वरूप] निम्न लिखित रूप से अभिव्यक्त हुआ है।

१७९-होलिकाप्रज्ज्वलनकालनिर्णय—

"भद्रायां द्वे न कर्त्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा। भद्रायां दीपिता होली राष्ट्रभङ्गं करोति वै। नगरस्य च नैवेष्टा, तस्मात्तां परिवर्जयेत्" इत्यादि स्मार्त्तादेशानुसार प्रतिपदा से विद्धा, तथा भद्रा से युक्ता होलिका [होलिका प्रज्ज्वलन] शकुनशास्त्र के अनुसार वर्ष भर के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र को चिन्ताज्वाला से समन्वित कर दिया करती है। अतएव-'पूर्वविद्धा प्रकर्त्तव्या फाल्गुनी पूर्णिमा तथा' के अनुसार चतुर्द्दशी-विद्धा, भद्राविहीना पूर्णिमा का प्रदोषकाल ही होलिकाप्रज्ज्वलनकाल माना गया है, जिसमें भद्रा की अपेक्षा से कालविपर्य्यय भी होता रहता है। होलिका के सम्बन्ध में निम्नलिखित आख्यान सुप्रसिद्ध है।

१८०-पौराणिक आख्यान के द्वारा होलिकामहोत्सव के लौकिक स्वरूप का प्रदर्शन, एवं तन्माध्यम से नैगमिक होलिकापर्व का स्वरूप-समन्वय—

एकबार युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न किया कि-भगवन्? क्या उद्देश्य है इस होलिकोत्सव का?। फाल्गुनमासान्त--पूर्णिमातिथि में ग्राम-गाम में, और नगर नगर में उल्लासपूर्वक क्यों मनाया जाता है यह उत्सव?। किसलिए इस उत्सव में बालवृन्द घर घर में अलीकवादनपरायण [अश्लीलवादनपरायण] बन जाते हैं?। क्यों होलिका प्रज्वलित की जाती है?। इसके माध्यम से किस देवता का पूजन-आराधन संसिद्ध होता है?। एवं किसने इसका इस रूप से उपक्रम किया?। क्या क्या होता है इस पर्वावसर पर?।

युधिष्ठिर उवाच-"किमर्थं फाल्गुनस्यान्ते पौर्णमास्यां जनार्दन !
उत्सवो जायते लोके ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे ॥१॥
किमर्थं शिशवस्तस्या गेहे गेहेऽतिवादिनः ॥
होलिका दीप्यते कस्मात् फाल्गुन्यां तु किमुच्यते ॥२॥
अडाडजेति का संज्ञा शीतोष्णेति किमुच्यते ॥
कोऽह्यस्यां पूज्यते देवः केनेयमवतारिता ॥
किमस्यां क्रियते कृष्ण ! एतद्विस्तरतो वद ! ॥३॥

श्रीकृष्ण उवाच—भगवान् ने उत्तर देना आरम्भ किया कि, हे युधिष्ठिर ! पूर्व युगों में इस भारत--राष्ट्र में 'रघु' नामक नृपति शासन करते थे, जो बल--वीर्य्य--पराक्रम-भावों से शूर--वीर थे, सर्वगुणसम्पन्न थे, अत्यन्त मधुरभाषी थे, एवं अनेक विद्याओं के जानकार थे। इन्होंनें अपने बाहुबल से अखिल भूमण्डल को जीत कर, इसके सम्पूर्ण सामन्त-शासकों को अपने आधीन कर एकच्छत्र साम्राज्य स्थापि कर लिया। तदनन्तर धर्म्मपूर्वक प्रजाओं का उसी प्रकार पालन करने लगे, जैसे कि पिता अपने औरस पुत्रों का पालन किया करता है। सम्राट् रघु के उस धार्म्मिक, एवं प्रजानुरञ्जनात्मक सुशासनकाल में न तो कभी अकाल ही पड़ता था, न

रोग ही आक्रमण करते थे, न अकालमृत्यु का ही भय था, न कोई अधर्म्म–कार्य्यों की ओर ही दृक्पात करता था, इसप्रकार सभी दृष्टियों से रघुराज का शासनकाल सुसमृद्ध–निष्कण्टक प्रमाणित हो रहा था।

एकबार दैववश कुछ ऐसा घटित हो पड़ा कि, सहसा प्रजानन त्राहि! त्राहि!! हमारी रक्षा कीजिए!!! हमें बचाइए! की करुण ध्वनि का अनुगमन करते हुए राजा की शरण में आने लगे, और कहने लगे कि–राजन्! हम पर अकस्मात् एक भयानक संकट उपस्थित हो गया है। 'ढुण्ढा' नाम की एक भयावहा राक्षसी दिन–रात–सायं–प्रातः–मध्याह्न–जब चाहती है, हमारे घरों पर आक्रमण कर देती है, एवं हमारे अबोध बालकों को उत्पीड़ित करती रहती है। हमने अपनी जान में सभी प्रकार के उपाय–उपचार कर लिए। बड़े बड़े आगमाचार्य्यों नें भी प्रयास कर लिया। किन्तु कोई भी उस पापिनी का अबतक नियन्त्रण न कर सका।

पौर–जानपदों का तथाकथित करुण-क्रन्दन, तथा तत्प्रवर्त्तिका राक्षसी का चरित्र सुन कर रघुराज एकबार तो चिन्तानिमग्नमानस बन गए। कुछ भी समझ में न आया अपने धर्म्मशील राज्य में हो पड़ने वाले ऐसे आकस्मिक–अचिन्त्य संकट का कारण। अतएव अन्ततोगत्वा देवर्षि नारद के सम्मुख ही नृपति ने यह समस्या रख देना उचित समझा। भक्तप्रवर नारद ने सब कुछ सुन सुना कर उपद्रव–कारण की मन ही मन मीमांसा कर तन्निवृत्ति के लिए यह उपाय ही व्यक्त किया कि–राजन्! आज फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की पूर्णिमा तिथि है। आज से शीतकाल चला गया है, कल से ग्रीष्मकाल आरम्भ हो जायगा। अतएव सब पौरजनों की ओर से सर्वेश्वर भगवान् के प्रति प्रणतभाव से हमारी आज की इस पुण्य तिथि (सत्यनारायणतिथि) में यही प्रार्थना होगी कि–"हे भगवन्! अब आप आज से ही अनुग्रह कर लोक–प्रजाओं के भय को उपशान्त करने का अनुग्रह करें, जिससे कि पौर–जानपद निःशङ्करूप से मनोविनोदपूर्वक हँसते–खेलते विचरने लगें।" साथ ही हम अपनी ओर से पौर–जानपदों के बालकों के लिए ऐसा करना आवश्यक समझेंगे कि, वे लकड़ी से बने खाँडे, तलवारें, भाले हाथों में लेकर मानो युद्ध के लिए ही सज्जीभूत होकर प्रचण्ड–दोर्दण्ड–योद्धाओं की भाँति अपने अपने घरों से निकल पड़ें। परस्पर हर्षालाप करते हुए अत्यन्त ही उल्लास–मुद्रा से इतस्ततः घूमते हुए मार्ग में से वृक्षवनौषधियों के शुष्काग्रभागों का सञ्चय करते जायँ, जो गोमय उपल (आरणाछाणा) मिलें, उनका संग्रह करते जायँ, एवं इन संगृहीत शुष्क काष्ठ, तथा उपलों को स्व–स्व पौरजानपद–वसतियों (बस्ती–मोहल्लों) में एकत्र व्यवस्थितरूप से रखदें। एकत्र समवेत इस ईंधनसमूह की रक्षोघ्नमन्त्रोच्चारणपूर्वक पूजन करें, और तदनन्तर प्रज्वलित करदें इन काष्ठोपलरूप आहुतिद्रव्यों से अग्निदेव को। प्रज्ज्वलन के साथ ही बालमण्डल उच्चस्वर से '**किलकिलाशब्द**' पूर्वक (किलकारी मारते हुए), मनोरम–आकर्षक–तालशब्दों के उद्घोषपूर्वक इस प्रज्ज्वलित अग्निदेव की तीन बार परिक्रमा करें गाते हुए, एवं हँसते हुए। साथ ही सभी बालमानव स्वेच्छापूर्वक निःशंकरूप से जिसके मन में जैसे भी भाव हों, जिस की वाणी में जैसा भी शब्दकोश हो, बिना संकोच के अपनी अपनी भाषा में यथेच्छ उद्घोष करते रहें। ऐसे स्वच्छन्द, स्वतन्त्र–उन्मुक्त-शङ्कारहित–अभय–उद्घोषों से वह पापिनी ढुण्ढाराक्षसी इस शब्दाग्निज्वाला से, तथा प्रज्जलित अग्निज्वाला से अवश्यमेव पलायित हो जायगी। डिम्भ–समतुलित–मनोभावप्रधान इन बालमानवों के इत्थंभूत अट्टाट्टहास–परिहासों–अवाच्यवादों से लज्जावनता बनती हुई राक्षसी अवश्य ही नष्ट हो जायगी। अग्निप्रज्जलनरूपा होलिका से ही क्योंकि इस राक्षसी का नाश होगा,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अतएव तब से आगे के लिए इस राक्षसी का नाम भी लोक में 'होलिका' नाम से ही प्रसिद्ध हो जायगा। न केवल होलिकानुगता होलिका राक्षसी ही, अपितु तत्सहयोगी अन्य सभी दुष्ट–राक्षस इस अग्निहोमरूप होलिकापर्व से नष्ट हो जाते हैं। अतएव यह '**अग्निहोम**' सर्वलोकोपशान्तिप्रद ही बना हुआ है। हे राजन्! विश्वास करो! राष्ट्र के द्विजातिगण (वेदनिष्ठब्राह्मण) इसी फाल्गुनी--पूर्णिमा में, इस होलिकापर्वावसर पर ही क्योंकि उस (अग्न्याधानरूप) अग्निहोम का अनुगमन करते हैं। अतएव इनके इस अग्निहोम-सम्बन्ध से भी यह पर्व–'होलिका' (अग्निसमिन्धनपर्व) नाम से प्रसिद्ध हो गया है। अतएव इस फाल्गुनी–पूर्णिमा को (शीतसोमानुगत–फल्गु–अक्षरभाव से समन्वित रहते हुए भी) सारवत्–अग्नि के होम–(समिन्धन–आधानरूप प्रज्ज्वलन) सम्बन्ध से सारवती मान लिया है तत्त्वज्ञोंनें। (तभी तो पूर्णिमा '**सत्यनारायणसूर्य्य**' की आराधनातिथि बन रही है)। (शिशिर और ग्रीष्मानुगत वसन्त की सन्धिरूपा यह तिथि ढुण्ढा–राक्षसी के कारण क्योंकि सौम्य–बालकों के लिए अत्यन्त ही भयावहा है, तत्रापि-'**एषा वै घोरा रात्रिः सम्वत्सरस्य–यत्--फाल्गुनी**' के अनुसार रात्रि तो निश्चयेनैव भयावहा है। अतएव रात्र्यागमन पर इस तिथि में बालकों का अत्यन्त सावधानी से ही संरक्षण करना चाहिए माताओं को। गृहाङ्गणों को असुर–राक्षस–विनाशक गोमय (गोबर, और पीली मिट्टी) से लीप–पोत कर स्वच्छ-पवित्र–बना लेना चाहिए। इन्हीं प्राङ्गणों में [निदानविधि के माध्यम से] वैसे नरों की आकृतियाँ बनानीं चाहिए, जिनके अङ्क [गोद] में तो बच्चे हों, हाथों में खड्गादि हों। यही निदानविधि–सम्मता–मान्यतानुगता '**बालरक्षाविधि**' है, जिस से राक्षस–राक्षसियों का भय पलायित हो जाता है"। आरम्भ से अबतक प्रस्तुत प्रकरण में सम्वत्सराग्न्याधान-मूलक–अग्निप्रज्ज्वलनरूप जिस आध्यात्मिक, तथा आधिदैविक होलिका का नैगमिक स्वरूप व्यक्त हुआ था, पुराण शास्त्रने उसके साथ आधिभौतिक–होलिका–पर्व का समन्वय करते हुए परोक्षरूपेण जिस कौशल से रहस्यात्मक अग्निसमिन्धनकर्म्म का स्वरूप–विश्लेषण कर दिया है–युधिष्ठिर–कृष्ण–नारद की सम्वादभाषा से, उस कौशल का निम्नलिखित मूलवचनों के मूलशब्दों की परोक्षा अभिधा--व्यञ्जना से ही होलिकापर्व के तात्त्विक--समन्वय का अनुग्रह कीजिए! अपनी नैगमिक--प्रज्ञा से—

श्रीकृष्ण उवाच--"आसीत्कृतयुगे पार्थ! 'रघु' नाम नराधिपः ॥
शूरः सर्वगुणोपेतः प्रियवादी बहुश्रुतः ॥१॥
स सर्वां पृथिवीं जित्वा वशीकृत्य नराधिपान् ॥
धर्म्मतः पालयामास प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥२॥
न दुर्भिक्षं न च व्याधिर्नाकालमरणं नृणाम् ॥
नाधर्म्मरुचयः पापास्तस्मिञ्छासति पार्थिव! ॥३॥
तस्यैवं शासतो राज्यं क्षत्रधर्म्मरतस्य च ॥
सर्व एव समागम्य त्राहि त्राहीति चाब्रुवन् ॥४॥"

पौरा ऊचुः–"अस्माकं तु गृहे कापि 'ढुण्ढा' नामेति राक्षसी ॥
दिवा रात्रौ समागत्य बालान् पीड़यते बलात् ॥५॥

* रत्नया चोदकेनापि, भैषज्यैर्वा नराधिप ! ॥
मन्त्रज्ञैः परमाचार्य्यैः सा नियन्तुं न शक्यते ॥६॥”

श्रीकृष्ण उवाच--“एतत्सर्वं समाख्यातं ढुण्ढायाश्चरितं नृप ! ॥
इति पौरवचः श्रुत्वा राज्ञा पृष्टोऽथ नारदः ॥६॥”

नारद उवाच–“साम्प्रतं कथयिष्यामि येनोपायेन हन्यते ॥
अद्य पञ्चदशी शुक्ला फाल्गुनस्य नराधिप ! ॥७॥
शीतकालो विनिष्क्रान्तः प्रातर्ग्रीष्मो भविष्यति ॥
अभयं त्वद्य लोकानां दीयतां पुरुषोत्तम ! ॥८॥
यथा ह्यशङ्किता लोका रमन्ति च हसन्ति च ॥
दारुजानि च खड्गानि गृहीत्वा समरोत्सुकाः ॥६॥
योद्धार इव निर्यान्तु शिशवः संप्रहर्षिताः ॥
सञ्चयं शुष्ककाष्ठानां, उपलानाञ्च कारयेत् ॥१०॥
तत्राग्निं विधिवत्–हुत्वा रक्षोघ्नैर्मन्त्रविस्तरैः ॥
ततः–‘किलकिला’ शब्दैः ×, तालशब्दैर्मनोरमैः ॥११
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य गायन्तु च हसन्तु च ॥
जल्पन्तु स्वेच्छया लोका निःशङ्का यस्य यन्मतम् ॥१२॥
‘भगं’ तु बहुधा शब्दैः कीर्त्तयेत् स्व स्व भाषया ॥
विस्तारयँश्च गायँश्च सहस्रं नाम तस्य वै ॥१३॥
तेन शब्देन सा पापा, ‘ह्योमेन च निराकृता’ ॥
अट्टाट्टहासैर्डिम्भानां राक्षसी क्षयमेष्यति ॥१४॥

---

* १ उदकचिकित्सा——जलचिकित्सानुगता——गृह्यचिकित्सा
२ भैषज्यचिकित्सा—औषधिचिकित्सानुगता—वैद्यचिकित्सा
३ मन्त्रचिकित्सा——मणि-मन्त्रचिकित्सानुगता--अथर्वणचिकित्सा
—चिकित्सात्रयी सुप्रसिद्धा

×–‘किलकारी’ इति लोकभाषायाम् ।

श्रीकृष्ण उवाच--"ततः प्रभृते लोकेऽस्मिन् 'होलिका' ख्यातिमागता ॥
सर्वदुष्टापहो होमः सर्वलोकोपशान्तिदः ॥१५॥
क्रियतेऽस्यां द्विजैः पार्थ ! तेन सा 'होलिका' स्मृता ॥
× सर्वसारस्थितिश्चायं पौर्णमासी युधिष्ठिर ! ॥१६॥
सारत्वात् फल्गुनीत्येषा परमानन्ददायिनी ॥*॥
अस्यां निशागमे पार्थ ! संरक्ष्याः शिशवो गृहे ॥१७॥
गोमयेनोपलिप्ते च सचतुष्के गृहाङ्गणे ॥
आकारयेच्छिशुप्रायान् खड्गव्यग्रकरान्नरान् ॥१८॥
ते काष्ठखड्गैः संस्पृश्य शब्दैर्हास्यकरैः शिशून् ॥
रक्षन्तु, तेषां दातव्य गुडं पक्वान्नमेव च ॥१९॥
एवं ढुण्ढेति सा, तस्याः स दोषः प्रशमं व्रजेत् ॥
बालानां रक्षणं कार्य्यं तस्मादस्मिन्निशागमे ॥२०॥"

इति-पौराणिकाख्यानसंवादभाषात्मकं-अत्यन्तरहस्यपूर्णम्

*

२८१-'होलिका' नाम की रक्षादेवी, एवं होलिकामहोत्सव की लोकाचारानुगता इतिकर्त्तव्यता का लौकिक समन्वय—

भद्राविरहिता, चतुर्दशीविद्धा, फाल्गुनशुक्लपूर्णिमा-तिथि के शास्त्रद्वारा विनिश्चित माङ्गलिक मुहूर्त्त में सर्वप्रथम ब्राह्मणके द्वारा मन्त्रपूजनार्चनविधिपूर्वक होलिका-रोपण होता है। शमीवृक्ष की शाखा (खेजड़े के वृक्ष की शाखा) ही निदानेव होलिका-नाम की रक्षादेवी मान ली गई है, जिस शमीवृक्ष के रक्षात्मक-अतिशय का-'विजयदशमीपर्व' की इतिकर्त्तव्यता में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। ग्रामवसतियों के रुद्राग्नि-स्थानरूप ÷ चतुष्पथ (चौराहे) ही अग्निप्रतीकभूता होलिकादेवी के रोपण के अनुरूप स्थान माने गए

×--पूर्व में असारवत्--श्लथ तत्त्व को फाल्गुन कहा गया था, एवं तत्सम्बन्ध से ही यह मास फाल्गुन कहलाया था। पुराण ने यहाँ फाल्पुनी-पूर्णिमा को जो सारवती कह दिया है, इसका एकमात्र कारण वह यज्ञिय सत्याग्नि ही है, जिसका अग्निहोत्र से सम्बन्ध है। ऋतसोम फल्गु है, तत्सम्बन्ध से फाल्गुनी-पूर्णिमा फल्गु--[असारवती]--है, जबकि सत्याग्निरूप अग्न्याधान से यही फाल्गुनी-पूर्णिमा सारवती भी प्रमाणित हो रही है॥

*--आत्मानन्ददायिनी, आत्मरतिप्रवर्त्तिका।

÷ एतद्वै जान्धितमं प्रज्ञातस्थानं-यच्चतुष्पथम् [शतपथ०]।

हैं लोकाचार में। अग्निगर्भ, सोमवाह-शमीवृक्ष अग्नीषोमात्मक बनता हुआ उस यज्ञाग्नि का ही नैदानिक प्रतिमान बन रहा है, जिसका अग्निप्रज्ज्वलनात्मक होलिकापर्व से सम्बन्ध है। ऐसे वृक्ष की शाखा ही लोकाचार में होलिका–होली–रूप से अत्यन्त पवित्रभाव से लाई जाती है सम्मानातिथ्यपूर्वक वसति–बालक,–मानवों के द्वारा, जिसका सर्वप्रथम पूजन होता है चतुष्पथानुगत गर्त में रोपणानन्तर। यह मानो साक्षात् अग्निदेव है, रक्षोघ्न अग्निदेवता है, यही रक्षादेवी है, जिसे आहुति प्रदान करने के लिए ही मानो जिस के चारों ओर उसीप्रकार शुष्ककाष्ठ–तृण–गोमयोपल–सञ्चित कर दिए जाते हैं, जैसे कि यज्ञकुण्ड में स्थापित अग्नि के चारों ओर अग्निप्रज्ज्वलन के लिए (अग्निसमिन्धनकर्त्ता–आधानकर्त्ता–याज्ञिक ब्राह्मण के द्वारा) समिध–उपल सञ्चित किए जाते हैं अग्न्याधानकर्म्म में। और यहाँ आकर द्विजातिभावानुगत नैगमिक पूजनकर्म्म उपरत होता है, जिस पूजनर्म्म का इन शब्दों में दिग्दर्शन हुआ है—

* "असृक्पा–भयसन्त्रस्तैः कृता त्वं होलि ! बालिशैः ॥
अतस्त्वां पूजयिष्यामि भूते ! भूतिप्रदा भव ॥"

तदनन्तर गृहदेवियाँ मङ्गलगानपूर्वक नवधान–कुँकुमाक्षत–धूप–दीप–नैवेद्यादि पूजनपरिग्रहों से संयुक्त पूजनथाल लेकर होलिकास्थान पर पहुँचतीं हैं। अपनी मानस–मान्यता से अनुप्राणित लोकभावनामन्त्रों से होलिका का पूजन करतीं हैं। परिक्रमा लगातीं हैं। और यों यह लौकिक–पूजनकर्म्म श्रद्धापूर्वक सम्पन्न होता है श्रद्धामयीं गृहदेवियों के द्वारा। तदनन्तर शासनतन्त्र में सुव्यवस्थिता होलिका का ही सर्वप्रथम विधिपूर्वक मन्त्रपूत उल्मुक से प्रज्ज्वलन होता है, जिसके उत्तर क्षण में ही शमीशाखारूपा होलिकादेवी तो सुरक्षितरूपसे निकाल ली जाती है। एवं शेष काष्ठ–तृण–उपलादि–प्रज्ज्वलित हो पड़ते हैं। शासनतेजोमयी इसी अग्निज्वाला से नागरिक मण्डल स्व–स्व उल्मुकों को प्रज्ज्वलित कर प्रचण्डवेग से अनुधावन करते हुए स्व–स्व–वसतियों की होलिका प्रज्ज्वलित करते हुए राजा–प्रजा के, शासक–शासितके अङ्गाङ्गिभाव को ही मानो सुदृढ प्रमाणित करते हैं। और इसी इतिकर्त्तव्यतात्मक–आचरणात्मक–आयोजन से यह महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–'होलिकापर्व' नामक आयोजन सुसम्पन्न होता रहता है प्रतिवर्ष, प्रति फाल्गुनी पूर्णिमातिथि के माङ्गलिक मुहूर्त्त में राष्ट्रीय तेजोऽग्नि को ही मानो प्रतिवर्ष अधिकाधिक प्रदीप्त करता हुआ।

१८२–'ढुण्ढा' राक्षसी का तात्त्विक स्वरूप, एवं होलिकापर्वानुगता 'बालरक्षाविधि' का समन्वय—

"ढुण्ढा"–नाम की राक्षसी के भय से बालबन्धुओं का परित्राण करने के लिए ही आधिभौतिक होलिकापर्व के लौकिक–स्वरूप का स्थापन हुआ है पुराणपुरुष के द्वारा," उक्त पौराणिक–आख्यान–भाषा का यही निष्कर्ष है। यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व, तथा–ऐन्द्र–पैत्र्य–प्राजापत्य–ब्राह्म, इन अष्टविध चान्द्र सौम्यप्राणदेवताओं में आदि के चार प्राणदेवता असुरभावप्रधान हैं, एवं इन्हीं के सम्बन्ध से श्रुति ने 'चन्द्रमा' को वृत्रासुर मान लिया है, जिसका प्रति अमावास्यातिथि में सौर इन्द्र के द्वारा

---

* असृक्पा–आकारान्त शब्द–राक्षसीवाचक। रुधिरपान करने वाली ढुण्ढा राक्षसी के भय से परित्राण करने वाली भूतिप्रदा होलिका नाम की रक्षादेवी। (अग्निशक्ति)।

वध हुआ करता है। शेष ऐन्द्रादि उत्तर के चारों सौम्यदेवता देवप्राणप्रधान हैं। वह सौम्मप्राण, जो अग्नि से सर्वथा पृथक् होकर बालकों में क्षयरोग उत्पन्न कर देता है,–'राक्षस' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे सौम्या-शक्ति के अनुबन्ध से–'राक्षसी' भी कहा जासकता है। सोमप्रधानत्त्व-ही इस प्राण का स्त्रीधर्म्मत्त्व है। अतएव इसे 'राक्षसी' कहना अन्वर्थ बनता है। इसी के आक्रमण से क्षय का सम्बन्ध है, जिस यक्ष्मा नामक क्षयरोग में मानव का रक्त ही परिसमाप्त होजाता है। सौम्यावस्था ही बालावस्था है। नारी, और आषोडशवर्षान्त के बालक इसी सोमप्राधान्य से सौम्य माने गए हैं। अतएव विशेषतः स्त्रियों, तथा बालकों में ही यक्ष्मा रोग विशेष प्रभाव दिखलाता है। अत्यन्त छोटे बच्चों में यही रोग–'सूखारोग' कहलाया है। सूखारोग, तथा क्षयरोग दोनों ही स्नेहधर्म्म–संकोचधर्म्म–सोम की प्रधानता से निरतिशयरूपेण साङ्क्रामिक माने गए हैं। अतएव जैसे भिषग्वर यक्ष्माके रोगी को अन्य मानवों से बचाते हैं, तथैव जिन बच्चोंके सूखारोग हो जाता है, उन की प्रज्ञाशीला माताएँ भी अपने बालकों को सर्वथा ही पृथक् करने की चेष्टा में तल्लीन रहतीं है उस रोग को महान् संक्रामक राक्षस ही समझतीं हुईं। 'दुण्ढ' शब्द यदृच्छाशब्दात्मक है, जो 'ठूँठ' से मिलता जुलता शब्द है। जिसप्रकार आग्नेय मधुरसात्मक जीवनीय प्राणरस से वञ्चित वृक्ष सूख कर निरा 'ठूँठ' ही रह जाता है, तथैव इस राक्षसप्राणात्मक सौम्यरोग से बालकों का शरीर सूखकर 'ठूँठ' सा ही रह जाता है। यही 'ठूँठ'–'ढुण्ढ' है, यही 'ढुण्ढाराक्षसी' है, जिसका शिशिर ऋतुके अन्त में, तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रधानरूप से साम्राज्य रहता है। अतएव इस ऋतुसन्धिरूप काल को श्रुतिने भी आधि–व्याधियों का आवासस्थान मान लिया है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है।

चातुर्म्मास्यानि प्रयुञ्जानः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते। मुखं वा एतत्–सम्वत्सरस्य–यत्फाल्गुनी पौर्णमासी। मुखमुत्तरे फल्गु, पुच्छं पूर्वे। तद्यथा प्रवृत्तस्यान्तौ समेतौ स्यातामेवैतौ सम्वत्सरस्यान्तौ समेतौ। तत्–यत्–फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां वैश्वदेवेन यजते, मुखत एव तत्सम्वत्सरं प्रीणाति। अथो भैषज्ययज्ञा वा एते–यच्चातुर्म्मास्यानि। तस्मात्–ऋतुसन्धिषु–प्रज्युयन्ते। "ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते"।

—शाङ्खायनारण्यक ५।१।

१८३–'शीतकालो विनिष्क्रान्तः प्रातर्ग्रीष्मो–भविष्यति'–मूलक होलिकामहोत्सव—

उक्त शाङ्खायनश्रुति को सम्मुख रखिए, एवं पूर्वोक्त पौराणिक आख्यान के अष्टम (८ वें) श्लोकके–"शीतकालो विनिष्क्रान्तः, प्रातर्ग्रीष्मो भविष्यति' इस पूर्वभाग पर दृष्टि डालिए। पुराणने जिस सन्धिकाल में राक्षसी का भय बतलाया है, श्रुति उसी काल में व्याधिभय का उल्लेख कर रही है। पुराण जिस काल में–'तत्राग्नि विधिवत् हुत्वा रक्षोघ्नैर्म्मन्त्रविस्तरैः, (११ श्लोक से) अग्निप्रज्ज्वलनरूप होमका विधान कर रहा है, उसी पूर्णिमातिथि में श्रुति भैषज्ययज्ञरूप वैश्वदेव नामक चातुर्म्मास्ययज्ञ का विधान कर रही है। श्रुति वैज्ञानिक कर्म्मरूप वैश्वदेवहोम से द्विजातियोंके द्वारा राक्षसी भय से परित्राण सूचित कर रही है, तो पुराण भी–"सर्वदुष्टापहो होमः सर्वलोकोपशान्तिदः। क्रियतेऽस्यां (पौर्णमास्यां) द्विजैः पार्थ !" इत्यादिरूप से उसी नैगमिक–वैध–सांस्कृतिक–आचार (यज्ञकर्म्म) का स्मरण कराता हुआ तदाधार पर ही प्रतिष्ठित भौतिक अग्निप्रज्ज्वलनरूप सांस्कृतिक लौकिक–आयोजनरूप होलिकोत्सव का संस्थापन कर रहा है।

१८४--'सर्वदुष्टापहो होमः' मूलक होलिकापर्व—

शिशिरऋतु–जनित श्लेष्माविकार से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के रोग ही वे विविध दुष्ट हैं, जिन का–'**सर्वदुष्टापहो होमः**' से सङ्केत किया है पुराणपुरुष ने। अतएव प्रत्येक दशामें शिशिरावसान में भौतिक–आत्मिक–दैविक–तीनों प्रकार की अग्नियों का आधान आवश्यक होजाता है, जिस अग्न्याधानके दैविक–आत्मिक–आचार का जहाँ नैगमिक यज्ञकर्म्म से सम्बन्ध है, जिसमें द्विजाति–मानव ही अधिकृत है, जो अग्निजागरणात्मक–नवसस्येष्टिसमन्वित–'**अग्न्याधान, वैश्वदेवहोम,**' आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, वहाँ तदनुष्टान में असमर्थ, अतएव अनधिकृत स्त्री–बाल–शूद्रादि सामान्य वर्गों के प्राणाग्नि के जागरण के लिए ही भूताग्निरूप होलिकाप्रज्वलन–कर्म्मलक्षण–सांस्कृतिक–आयोजन विहित हुआ है, जो फलांश में नैगमिक–कर्म्म से ही समतुलित है। दोनों हीं वैदिक–लौकिक आचार, तथा आयोजनों का पुराणपुरुष ने अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण निदानभाषा में समन्वय कर भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक–निष्ठा को जैसा जीवन प्रदान किया है, वैसा तो तत्त्वविश्लेषणात्मक निगमशास्त्र से भी सम्भव न था। पुराणशास्त्र के इसी लोकानुबन्धी, किन्तु लोकोत्तर महत्त्व को लक्ष्य बना कर महाभाग सूत को ये उद्गार अभिव्यक्त कर ही तो देने पड़े कि—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरश्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

१८५–राजराजेश्वर 'रघु' नामक भारतीय सम्राट् के माध्यम से होलिकापर्व का संस्मरण–

तदित्थं–प्रकृतिसिद्ध निगमानुगत–त्रयीविद्यामूलक–सौरमध्वग्निजागरणात्मक–वासन्तिक आधिदैविक अग्निप्रज्वलन से समन्वित–आध्यात्मिक प्राणाग्निके समुत्तेजक–सर्वराक्षसासुरप्राणविनाशक–फाल्गुनीपूर्णिमा में उपक्रान्त अग्न्याधान, वैश्वदेवहोमरूप प्राणप्रधान होलिकापर्व के आधार पर प्रतिष्ठित, माघशुक्लवसन्तपञ्चमी से अनुगत '**रतिपतिमदनपूजनमहोत्सव**', श्रीपञ्चम्यनुगत '**शारदामहोत्सव**', फाल्गुनशुक्लत्रयोदशी–अनुगत '**महाशिवरात्रिमहोत्सव**', श्लेष्मान्तक–'**दोलामहोत्सव**', चैत्रशुक्लपक्षीय–षोडशदिवसानुगत '**गणपति–गौरीपूजनमहोत्सव**', चैत्रकृष्णाष्टमी–अनुगत '**शीतलापूजनमहोत्सव**', आदि आदि अनेक नैगमिक–आगमिक–उत्सवपरम्पराओं से समलङ्कृत, '**फाल्गुनोत्सव–वसन्तोत्सव–मधुमहोत्सव–दाम्पत्यमहोत्सव–मदनमहोत्सव–पुष्पमहोत्सव–होलिकामहोत्सव**' इत्यादि विविध नामों से उपगीयमान, वसन्तऋत्वनुगत अमुक (पूर्वोक्त) लौकिक वासन्तिक–दाम्पत्य–काम–मधु–पुष्प–सङ्गीत–होलिकाप्रज्वलनात्मक–लोकाचार–युक्त–भारतराष्ट्र के राष्ट्रीय–महान् सांस्कृतिक–भौतिक उस होलिकापर्व का यही संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है, जो पर्व निगमनिष्ठायुगात्मक वेदयुगात्मक कृतयुग से, तद्युगानुगत भारतसम्राट् सूर्य्यवंशी क्षत्रियकुलावतंस राजराजेश्वर रघुके धार्मिक–शासनकाल से, सर्वोपरि संस्कृति की अविच्छिन्न–धारा को आज पर्य्यन्त येनकेनरूपेण प्रक्रान्त बनाए रखने वाली आस्था–श्रद्धा–परायणा आस्तिक–जनता की आचारपरम्पराओं के निःसीम अनुग्रह से, तत्रापि सर्वतोऽधिक श्रद्धा की सगुणमूर्त्ति–संस्कृति की साकारप्रतिमा आर्य्यनारी की श्रद्धानुगता कृपा से ही भारतराष्ट्र की महान्–पर्वतिथि फाल्गुनी पूर्णिमा को अपने भूताग्निप्रज्वलधर्म्म से अपने सांस्कृतिक–निगमनिष्ठ भारतराष्ट्र को मानो प्रत्येक सम्वत्सर के आरम्भ में यही सन्देश प्रदान करता रहता है कि—

"राष्ट्र का वह प्राणरूप सांस्कृतिक–आधिदैविक सौर अग्नि, एवं तदभिन्न यज्ञमात्रिकवेदरूप आध्यात्मिक अग्नि जग पड़ा है, जिसकी ऋचाएँ कामना करतीं रहतीं हैं, जिसकी ओर साम अनुगत होते रहते हैं, एवं जिस

इत्थंभूत प्रचण्डतम–प्रज्ज्वलिततम–उद्दीप्ततम राष्ट्रीय अग्निदेव में सम्पूर्ण विश्व के भोग्यरूप सोमपदार्थ प्रणतभाव से यही आत्मनिवेदन करते हुए इस भारतराष्ट्राग्नि के हव्य–कव्य–बनते रहते हैं कि–हे राष्ट्राग्नि–देवते ! हम हैं आपके भोग्यरूप अवरकक्षा में प्रतिष्ठित–सखा"। इसी माङ्गलिक संस्मरण के साथ भारतराष्ट्र के इस महान् सांस्कृतिक–होलिकापर्व का चिरन्तन–चिरपुरातन, किन्तु चिरनूतन माङ्गलिक इतिवृत्त आग्नेय–सम्वत्सरों की मङ्गलभावना के साथ विश्राम लेता हुआ अपने यही सांस्कृतिक उद्घोष उन्मुक्त, किन्तु राष्ट्ररक्त, अतएव 'मुक्तरक्त–हृदय' से अभिव्यक्त कर रहा है कि—

१८६-'होलिकापर्व नामक सांस्कृतिक आयोजन का उपराम, एवं तन्माध्यम से राष्ट्रीय जाग्रत अग्नि का माङ्गलिक-संस्मरण—

अग्निर्जागार-तमृचः कामयन्ते —
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—इति शम् ब्रह्म

उपरता चेयं–शूद्रवर्णानुगता—

होलिकापर्वस्वरूपमीमांसा चतुर्थी

४

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

शरीरासक्त–राष्ट्ररचित–शूद्रानुगत राष्ट्रीय–'होलिकापर्व' उपरत

४

श्रीः

※ निबन्ध-परिशिष्ट, एवं निबन्धोपराम

श्रीः

❀–निवन्धपरिशिष्ट, एवं निवन्धोपराम

संस्कृति, सभ्यता, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृति--आयोजन, मानवता, धर्म्म, आदर्श, जीवन, जीवनपद्धति, आदि आदि शब्द उस सुरभारती–देववाणी–'संस्कृतभाषा' के शब्द हैं, जिन का प्रकृति--प्रत्यय–निवन्धन, उपसर्ग–निपात--धातु–प्रत्ययार्थ–समन्वित, निरुक्तनियमानुगत, प्रकृतिसिद्ध, अतएव ज्ञान–विज्ञानात्मक एक सुनिश्चित तात्त्विक–वाच्यार्थ ही हुआ करता है, जिस के सम्बन्ध में अन्यान्य लौकिकी–प्राकृत–भाषाओं से अनुप्राणिता सङ्केत–विध्यनुगता 'लाक्षणिकता' का, एवं तन्मूला 'यदृच्छा' का संस्पर्श भी एकान्ततः निषिद्ध ही माना गया है। अतएव 'न सन्ति यदृच्छाशब्दाः' इस सुप्रसिद्ध आभाणक के अनुसार संस्कृतवाङ्मय में एक भी वैसा 'यदृच्छाशब्द' नहीं है, जिसे लाक्षणिक मानते हुए हम यथेच्छ अपनी कल्पना के बल से समन्वित कर डालें। अपितु प्रत्येक शब्द अपना ज्ञानविज्ञानात्मक एक स्वतन्त्र वैसा इतिहास स्वसीमा में सुरक्षित रख रहा है, जिस शब्देतिहास के समन्वय के विना अन्यान्य भाषाओं की पर्य्यायवृत्ति से तो क्या, स्वयं संस्कृतशब्दों की पर्य्यायता से भी उन शब्दों का वाच्यार्थ गतार्थ नहीं बन सकता। अमुक वाच्यार्थ के लिए अमुक शब्द प्रकृत्या ही नियत है, जिस का शब्दशास्त्र सङ्केतग्रहमात्र करा के विश्रान्त हो जाता है। शब्दशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) शब्दों का निर्म्माण नहीं करता, अपितु स्वतःसिद्ध शब्दों का निर्वचनमात्र करता है। शब्द भी प्रकृत्या सिद्ध हैं, तो तच्छब्दार्थ भी प्रकृत्यैव सिद्ध हैं, जैसाकि–'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादि से प्रमाणित है। इसी आधार पर शब्दशास्त्रवेत्ता वैय्याकरणोंनें शब्द को 'नित्य' माना है। अतएव च पूर्वमीमांसा के कर्त्ता भगवान् जैमिनिके द्वारा शब्दार्थ का 'औत्पत्तिकसम्बन्ध' ही स्वीकृत हुआ है ❋।

औत्पत्तिकसम्बन्धावच्छिन्न शब्दों के चिरन्तन इतिहास के माध्यम से ही तच्छब्दों के वाच्यार्थ जब सर्वथा नियत हैं, तो ऐसी दशा में इन भारतीय संस्कृतशब्दों के प्रयोग में, तदाचार–व्यवहार में हमें प्रत्येक दशा में अवधानपूर्वक इन के प्रकृतिसिद्ध चिरन्तन वाच्यार्थों का ही आश्रय लेना पड़ेगा अपनी पर्य्यायभ्रान्ति से सर्वथा पृथक् ही रहते हुए। दिग्देशकालानुबन्धिनी–युगधर्म्मानुगता काल्पनिकी मान्यताओं के आकर्षण--विकर्षण (खैंचातानी) से सम्बन्ध रखने वाले तात्कालिक--लाक्षणिक–यदृच्छात्मक–भावों के माध्यम से कदापि सांस्कृतिक शब्दों का यथायवत् समन्वय नहीं किया जासकेगा। और इसी आधार पर अब हमें यह भी असंदिग्धरूप से मान ही लेना पड़ेगा कि, भारतीय मौलिक साहित्य का वास्तविक वाच्यार्थ तो तद्भाषा (संस्कृतभाषा) के शब्दों में ही पिनद्ध--सुरक्षित है।

अतएव संस्कृतभाषा के शब्द ही परस्पर की पर्य्यायता से जब एक दूसरे के यथार्थ वाच्यार्थों का यथार्थ समन्वय नहीं कर सकते, तो फिर इतर भाषाओं के द्वारा तो कदापि यह समन्वय सम्भव ही नहीं है।

❋ "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानेपक्षत्वात्" (पूर्वमीमांसा १।५।)।

'वास्तविक' (असल), और 'अनुकरण' (नकल) में जो अन्तर है, वही **'मूल'** और **'अनुवाद'** में अन्तर है। मूलशब्द ही वास्तविकता के अभिव्यञ्जक हैं, जब कि अनुवादशब्दों में अनुवादकर्त्ता के मानसिक स्खलन--भावों का बहुत सावधानी करने पर भी समावेश हो ही जाता है। और उस अवस्था में–**'हम ऐसा समझते हैं इसका अर्थ'** इसप्रकार का वैसा व्यक्तित्त्व--विमोहन ही उत्पन्न हो जाता है, जिससे वास्तविक मूल अर्थ तो हो जाता है अभिभूत, एवं मान्यतात्मक अर्थ बन जाता है प्रधान। कहना न होगा कि, इसी पर्य्यायता से भारतीय मूलशास्त्र के तद्वाच्यार्थों का स्थान इन मान्यतात्मक अर्थोंने हीं अपहृत कर लिया है।

अतएव निश्चितार्थ के प्रतिपादक एक ही शास्त्र के आधार पर व्याख्याताओं की युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के भेद से परस्परात्यन्तविरूद्ध अनेक वैसे अर्थ आविर्भूत हो पड़े हैं, जिन के निग्रहात्मक अनुग्रह से स्वसंस्कृति, धर्म्म, आदर्श, आचारादि के प्रति आस्था–श्रद्धा रखने वाली भी राष्ट्रीय–प्रजा की आस्था–श्रद्धाएँ आज सर्वात्मना विकम्पित हो पड़ीं हैं इन परस्परात्यन्त–विरूद्ध मतवादार्थों के महतोमहीयान् विजृम्भणों से उत्पन्न हो पड़ने वालीं * संशयपरम्पराओं से। स्वयं की **'अज्ञता'** प्रथम, एवं प्रमुख दोष, अज्ञता–जनिता **'अश्रद्धा'** दूसरा महाभयानक दोष, एवं अपने आपको विज्ञ–सुविज्ञ कहने वाले व्याख्याता–विद्वानों की ओर से उपस्थित परस्परविरूद्धभावात्मक–मतवादों से उत्पन्न हो पड़ने वाला **'संशय'** नामक तीसरा घोरघोरतम दोष, इन तीनों हीं महान् दोषों से आज सचमुच ही राष्ट्रप्रजा त्रिदोषात्मक उस सन्निपातरोग से ही ग्रस्ता, अभिभूता बन गई है, जिसे भिषग्वरोंनें असाध्य रोग कहा है। एवं संस्कृति–धर्म्म–संस्थापक अवतारपुरुषों के शब्दों में तो जो त्रिदोष मानव के आत्मबुद्धिनिबन्धन 'मानव' स्वरूप को अन्ततोगत्त्वा नष्ट ही कर देता है, जिस इस 'मानव' स्वरूप के विनष्ट होजाने पर मानव के कोश में केवल मनःशरीरनिबन्धन कामार्थमय पशुस्वरूप ही शेष रह जाया करता है ÷।

अज्ञता, अश्रद्धा एवं संशय–लक्षण इस त्रिदोष से आत्मत्राण प्राप्त करने का प्रमुख राजपथ तो स्वाध्यायनिष्ठामूलक–स्वस्वरूपदर्शन ही माना जायगा। विगत तीन सहस्र वर्षों से स्व स्व मतवादों के पोषणमात्र के लिए प्रवृत होतीं रहने वालीं मतवादात्मिका व्याख्याओं को प्रणम्य मान कर स्वयं के स्वाध्यायतप से स्वयं मूलग्रन्थों को ही आराध्य बना कर स्वस्वरूपदर्शन में प्रवृत्त होजाने वाले तपस्वी को स्वयं शास्त्र ही स्वस्वरूप का साक्षात्कार करा देगा निरपेक्षरूपेण। ऐसी निरपेक्षता में कदापि व्यक्ति में व्यक्तित्त्वविमोहन जागरूक न होगा, जो विमोहन नवीन सम्प्रदाय–संस्थापन के लिए आतुर होजाया करता है। अपितु इस निरपेक्षदर्शन में तो द्रष्टा मानव अधिकाधिक परम्परा का ही अनुगामी बनता जायगा अपने व्यक्तित्त्व से पृथक होता हुआ, जो कि पार्थक्य ही इसका महान् व्यक्तित्त्व माना गया है शास्त्रीय–भाषा में। सचमुच **'मूलग्रन्थों के स्वाध्याय का परित्याग, एवं तत्स्थाने च व्याख्याग्रन्थों का ही व्यामोहन'**, इस गतानुगति–

***–एकस्मिन् धर्म्मणि विरूद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानमेव संशयः**

÷--अज्ञश्च, अश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परः, न सुखं संशयात्मनः ॥ (गीता ४।४०।)।

कता ने ही भारतीय मानव को स्वस्वरूपनिष्ठा से पराङ्मुख ही प्रमाणित कर दिया है। यदि अमुक महानुभावों ने अनुग्रह कर मूलग्रन्थों पर दृष्टिपात का अनुग्रह किया भी है तो, सर्वप्रथम युगधर्म्मानुगता मानसिक–मान्यताओं के आवेश से उन्होंनें अपना एक स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थापित कर लिया है। तदनन्तर अपने इस कल्पित सिद्धान्त के पोषण के लिए मूलग्रन्थों को माध्यम बना लिया है जनसाधारण की आस्था-श्रद्धा के अनुरोधमात्र से। इस मध्यस्थता में मूलग्रन्थ क्योंकि अपनी स्वरूप–मर्य्यादा से सर्वथा तटस्थ बने रहते हैं। अतएव सिद्धान्त–वादी अपने सिद्धान्त के अनुरूप ही शास्त्रीय–शब्दों के अर्थसमन्वय में प्रवृत्त हो पड़ते हैं। और इस पारस्परिक–विवाद से सत्तासिद्ध भी सद्ग्रन्थों को भातिरूप में परिणत होकर स्व मौलिक स्वरूप से, ज्ञानविज्ञान–समन्वित वाच्यार्थ से अन्तम्मुंख ही बन जाना पड़ता है *, बन जाना पड़ा है, जिस इस महान् पापके कारण ही विश्व की महती विभूति '**भारतीय-संस्कृति**' जैसी अखण्डा-शाश्वत-संस्कृति भी आज संशयोच्छेद के स्थान में संशयजननी ही प्रमाणित की जारही है तथोक्त त्रिदोषग्रस्त प्राकृत–मानवों के द्वारा।

"यह भी ठीक है, वह भी ठीक है। ऐसा भी सम्भव है, वैसा भी सम्भव है। वह भी सम्भव हो सकता है, और यह भी हो सकता है। सभी कुछ ठीक ठीक है"–इत्थंभूत प्ररोचनात्मक–आचारशून्य–लोकप्रिय, किन्तु व्यामोहनकुशला–घोषणाओं का स्पष्ट अर्थ है–'**कुछ--भी ठीक नहीं है**'। संशयरहिता निश्चितभाषा का आत्यन्तिक अभाव ही इसप्रकार की व्यामोहनवृत्ति का निराधारात्मक आधार माना गया है, जिसका सांस्कृतिक–जगत् में तो यत्किञ्चित् भी समादर नहीं हुआ। जिसका अपना कोई निर्णीत स्वरूप नहीं, उसके लिए संसार के सब 'सब **अच्छे**' भी '**बुरे**' ही प्रमाणित हो जाते हैं कालान्तर में। ठीक इसके विपरीत–जिसका अपना नैष्ठिक–स्वरूप निर्णीत–व्यवस्थित–असंदिग्ध बना रहता है, उसकी इस निश्चित–निष्ठा के सामने संसार के '**बुरों**' को भी विवश बनकर '**अच्छा**' बन जाना पड़ता है। इसी नैष्ठिक–निर्णय को कहा गया है '**व्यवसाय**', जिससे समन्विता, स्वस्था, तथा प्रकृतिस्था बुद्धि ही '**व्यवसायात्मिका--बुद्धि**' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जो समदर्शनमूला–परसुखापेक्षिता से असंस्पृष्ट रहती हुई स्वयं स्वयं अपने निर्भ्रान्त 'एक'–'सुनिश्चित' उत्तरदायित्व के माध्यम से ही निर्णय कर डालती है ×। स्वयं वेदशास्त्रने बड़ी ही प्राञ्जल, तथा उदात्तभाषा में ऐसे व्यवसायनिष्ठ, अबुद्धियोगात्मक–बुद्धियोगनिष्ठ, सम्प्रदायवादनिरपेक्ष, अतएव निश्चित–निर्णयात्मक तत्त्वनिष्ठ आचारपरायण–विद्वान् के सम्बन्ध में अपने ये उद्गार अभिव्यक्त किए हैं कि, "हे पूषादेवता! आप **अनुग्रह कर हमें वैसे विद्वान् के सान्निध्य में ले चलिए, जो (हमें अपने काल्पनिक व्याख्याजाल में न उलझाता हुआ) सरलता से, अव**--

---

*–हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहिं पन्थ।
जिमि विवाद पाखडतें लुप्त भये सद्ग्रन्थ
—महात्मा तुलसी

×--व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यसायिनाम्॥—(गीता)

करूप से स्थिति का बोध करादे। एवं जो 'इदमित्थमेव नान्यथा' (यह निश्चयेन ऐसा ही है) इस निश्चित निर्णय से हमें अवगत करादे ÷"।

मूल संस्कृत-शब्दों के स्थान का स्वयं संस्कृतशब्द-पर्य्यायों के द्वारा अपहृत होजाना प्रथम-स्खलन माना जायगा सांस्कृतिक-मौलिकता के क्षेत्र से। एवं आगे चलकर तत्तत्-प्रान्तीय प्राकृत भाषाओं (हिन्दी-मराठी-गुजराती-तेलगू-बंगाली-कन्नड़-पञ्जाबी-आदि आदि) का माध्यम द्वितीय-स्खलन माना जायगा। इन दोनों हीं स्खलनों को लोकव्यवहारसमन्वय-दृष्ट्या इसलिए क्षम्य ही मान लिया जायगा अमुक-सीमापर्य्यन्त कि, ये सभी भारतीय भाषाएँ अपनी मूलजननी संस्कृतभाषा को ही आधार बना कर प्रवृत्त हुईं हैं। अतएव गच्छतः स्खलनरूप से इन प्रान्तीय-भाषाओं के माध्यम से भी अमुक सीमापर्य्यन्त सन्तोष कर लिया जा सकेगा। किन्तु अत्रापि मूलशब्दों को ज्यों का त्यों हीं रखना पड़ेगा। क्योंकि मूलशब्दों का भाषान्तरीकरण सर्वथा असम्भव ही है पूर्वकथनानुसार। वैसे भी परम्परानुप्राणिता इन प्रान्तीया विशुद्ध-भाषाओं में संस्कृतप्रधान शब्द ही अधिक-संख्या में समाविष्ट हुए हैं सांस्कृतिक-आचारों की अखण्डता के कारण। जिस 'संस्कृतभाषा' को अभिनवबुद्धिवादी 'मृतभाषा' कहता रहता है, यह उस 'संस्कृत' का ही अनुग्रह है, जिसने यच्चयावत् प्रान्तों को अबतक येनकेनरूपेण अखण्ड बनाए रक्खा है। ब्रिटिशराज्य में संस्कृत की उपेक्षा रही। अतएव हमारा सांस्कृतिक-संघटन उच्छिन्न रहा तद्युगों में। और दुर्भाग्यवश आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सत्तायुग में भी निष्ठा की दृष्टि से इस ओर राष्ट्र का ध्यान अबतक आकर्षित नहीं हुआ है।

हाँ, तो भारत की प्रान्तीय-भाषाएँ क्योंकि संस्कृत के सन्निकटतम हैं। अतएव इनके माध्यम से (किन्तु मूलशब्दों को अखण्ड-रूपेण सुरक्षित रखते हुए ही) यथाकथंचित् हम अनुवादैषणा उपशान्त कर सकते हैं। किन्तु जिन प्रतीच्य-भाषाओं को मध्यस्थ बना कर आज कतिपय विद्वान् भाषान्तर के लिए आतुर हो रहे हैं, वह प्रयास इसलिए गतार्थ नहीं माना जासकता कि, जिन प्रकृतिसिद्ध वाच्यार्थों के लिए हमारे शब्दकोश में जो शब्द उपात्त हुए हैं, प्रतीच्यभाषाओं के शब्दों में तत्सम शब्दों का मिलना सर्वथा असम्भव ही माना जायगा। अतएव भारतीय संस्कृति का, तन्मूलक सांस्कृतिक-साहित्य का इंगलिश-अमेरिकन-आदि प्रतीच्य-भाषाओं के माध्यम से भावानुवाद होजाना हमें तो अपनी स्वल्पप्रज्ञा से कठिन ही प्रतीत हो रहा है। अनुवाद हो सकता है, किन्तु भारतीय-शब्दों के ज्यों के त्यों समावेश से। अनुवादमूला इसी एषणा का तो यह दुष्परिणाम हुआ है कि, सुनैष्ठिक-स्वाध्यायनिष्ठ-अध्यवसायशील जिन प्रतीच्य विद्वानोंनें भारतीय-ग्रन्थों के माध्यम से अपने शब्दों की मान्यता के माध्यम से जो अनुवाद किए हैं, वे अनुवादग्रन्थ ही आज भारतीय विद्वानों के प्रमुख स्वाध्याय-ग्रन्थ प्रमाणित हो रहे हैं। उनका अपना प्रयास उनकी मान्यता के अनुपात से जहाँ स्तुत्य माना जायगा, वहाँ उन अनुवादों के ये अनुवादग्रन्थ भारतीय दृष्टिकोण से न केवल प्रतिकूल ही, अपितु मौलिक-वाच्यार्थों के स्थान में अनर्थ के ही सर्जक प्रमाणित होंगे, एवं हुए हैं। उदाहरण के लिए **'संस्कृति'** शब्द ही पर्य्याप्त होगा। समब्रह्म की शाश्वत-सनातन-रूपा नित्या कृति के संग्राहक-**'संस्कृति'** शब्द के साथ प्रतीच्य भाषा के-**'कल्चर'** (Culture) शब्द का यत्किञ्चित् भी तो

÷ सम्पूषन् ! विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥ (ऋक्संहिता ६।५४।१।)

साम्य नहीं है। अतएव यह सर्वथा आवश्यक है कि, हम सर्वप्रथम भारतीय–शब्दों के वाच्यार्थों का समन्वय–बोध प्राप्त करलें, एवं तदनुपात से ही इन वाच्यार्थों की मर्य्यादा सुरक्षित रखते हुए ही अनुवादव्यामोहन के अनुगामी बनें मूलशब्दों को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखते हुए। '**समझाने**' की आतुरता के स्थान में स्वयं '**समझने**' की आतुरता के जाग्रत होते ही हम इस तथ्य का सर्वात्मना समन्वय कर लेंगे अपने अन्त–र्जगत् में।

अशन–पान–हसन–गमनादि मनःशरीरानुबन्धी लोकक्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली लोकप्रियता, सबके समझ में आजाने वाली सरलता का यहाँ भी समादर हुआ है। और इस दिशा में लोकक्षेत्रानुगत सांस्कृतिक–आयोजनों में जैसी ऋजुता, जैसी सरलता, जैसी लोकप्रियता का समावेश हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, वैसी सामासिकता का, वैसी लोकप्रियता का सम्पूर्ण विश्व के किसी भी लोकजीवन में आप साक्षात्कार नहीं कर सकेंगे। आबालवृद्धवनिता–आमूर्खविद्वज्जन सभी अपने मनःशरीरतन्त्रों से समष्ट्या, तथा व्यष्ट्या, उभयथा भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों में, पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहों में, इनकी आयोजनात्मिका आचारपद्धतियों में अञ्जसा समाविष्ट होते रहते हैं। किन्तु आत्मबुद्ध्यनुगता ज्ञानविज्ञानात्मिका संस्कृति के क्षेत्र में, तथा तन्नि–यन्त्रित सुसूक्ष्म कर्म्मात्मक–सांस्कृतिक–आचारों में कदापि वैसी मनःशरीरानुबन्धिनी सरलता सम्भव ही नहीं है। तत्त्वचिन्तनमूला संस्कृति, तथा तत्त्वाचरणमूलक सांस्कृतिक आचार, दोनों हीं क्षेत्र आत्मबुद्धिप्रधान बनते हुए तन्निष्ठों में ही मर्य्यादित बने रहते हैं, जिनमें मानसिक–सरलता का प्रवेश भी निषिद्ध मान लिया है ऋषिप्रज्ञा ने। जो महानुभाव इस क्षेत्र में भी सरलता, लोकप्रियता, आज की सभ्यभाषा के अनुसार '**पापूलर**' (Popular) आदि के इच्छुक हैं, उनके लिए यह क्षेत्र है ही नहीं। फिर तो इनके लिए मनःशरीरानुबन्धी अशनपानादि कामार्थ, और आज के नृत्य–गीत–वाद्यादि लक्षण, अमुक (सांस्कृतिक तो नहीं) आयोजन ही 'पापूलर' माने जायँगे। अथवा कामभावपूरक सामयिक नाटक–उपन्यासादि ही इनकी मानसिक तुष्टि के कारण माने जायँगे, जो शय्यारूढावस्था में भी सर्वथा सरलता से सशरीर ही मानो इनके प्रज्ञाकोश में विलीन होते रहते हैं। दुर्भाग्यवश इस आत्मबुद्धिक्षेत्र में भी यदि प्राणिमात्र को समझाने जैसी लोकप्रियता का व्यामोहन जागरूक हो जाता है, तो उसका वही परिणाम होता है, जो आज भारतराष्ट्र के सम्मुख है। सब के लिए बोधगम्य आज के सांस्कृतिक–अनुवादों से, लेखों से, एवं रेड़ियोभाषणों से जनजीवन के सांस्कृतिक–आचारात्मक जीवन में कितना, कैसा, और क्या उत्कर्ष हुआ ?, प्रश्न का समाधान सम्भवतः अब तो प्रज्ञाशीलों के लिए परोक्ष नहीं रह गया होगा।

'**समझ में नहीं आता**' इस सामयिक उद्गार का परोक्ष–प्रच्छन्न वास्तविक अर्थ है–'**समझा नहीं सकते**'। आत्मबुद्धिस्वरूपविस्मृत, अतएव मनोबुद्धिप्रधान मानव 'समझने' से पहिले 'समझाने' के लिए ही विशेषरूपेण आतुर बना रहता है। बुद्धिक्षेत्र का विषय इसके मनस्तन्त्र से परिगृहीत हो नहीं सकता। अतएव केवल मानसिक–दृष्टि से, दृष्टि–अनुग्रहमात्र से यह बुद्धिगम्य विषय तत्काल इसकी समझ में नहीं आने पाता। किन्तु व्यक्तित्त्व–विमोहन के निग्रह से यह अपनी इस अल्पता को व्यक्त कर देने में अपनी हीनता समझ बैठता है। फलस्वरूप यह स्वयं न समझने के कारण समझाने में असमर्थ रहता हुआ बुद्धिगम्य विषयों के सम्बन्ध में "**कठिन है, अतएव जनसाधारण के लिए कोई उपयोगिता नहीं है इनकी**" इत्यादि रूप से आलोचना कर अपने मनस्तन्त्र को यथाकथञ्चित् कल्पना के राज्य में ही सन्तुष्ट मान बैठता है।

सत्यं चैतत् । हम कोई अतिरञ्जन नहीं कर रहे इस सम्बन्ध में इसलिए कि, मानव का विभूतिशाली आत्मबुद्धिनिबन्धन गौरवपूर्ण महान् स्वरूप हमारे सम्मुख विद्यमान है, जिस के लिए 'न समझने जैसी' हीन भावना का कदापि कोई भी अवसर नहीं है–यदि वह समझने के प्रकृतिसिद्ध सहज उपायों का प्रणतभाव से अनुगामी बन जाता है, तो । ज्ञात अज्ञात–उन असंख्य उपायों में से यहाँ हम तीन उपायों की ओर ही संस्कृतिजिज्ञासु मानव का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिस उपायत्रयी का उस अतिमानवश्रेष्ठ के द्वारा स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, हम समझते ही नहीं, अपितु यह आस्था रखते हैं कि, उस के प्रति भारतराष्ट्र के प्रत्येक आस्तिक हिन्दू–मानव की तो आस्था–समन्विता श्रद्धा अनुगता ही बनती चली आ रही है ।

अपने कल्पित–व्यक्तित्वविमोहन का सर्वात्मना परित्याग कर,–'**पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्**' । (बृ० आ० उप०) इत्यादि औपनिषद–सिद्धान्त के अनुसार अपने दिग्देशकालात्मक–बुद्धिवादात्मक–पाण्डित्य को विस्मृत कर, तत्स्थाने च बालभाव का आश्रय लेते हुए, महर्षि दीर्घतमा के–'**अचिकित्वान्, चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्**' (ऋक्सं० १।१६४।) इस उद्बोधनादेश के अनुसार अपनी विज्ञता के दम्भ का एकान्ततः विसर्ज्जन करते हुए, अपने शारीरिक '**दम्भ**', मानसिक '**मान**', तथा बौद्धिक '**मद**'–भावों से असंस्पृष्ट होकर जो मानव सर्वथा ऋजुभाव से निश्छलरूप से आस्था–श्रद्धा–पूर्वक तत्त्वज्ञ–तत्त्वाचारनिष्ठ विद्वान् के प्रति आत्मसमर्पणात्मक '**प्रणिपात**' कर लेता है, वह अवश्य ही अपनी इस श्रद्धापूता प्रणतिभावमूला मूकजिज्ञासा के अनुग्रह से अपनी बुद्धि में '**संवित्**' नामक उस तत्त्व को प्रतिष्ठित कर लेता है, जिसे –'**संविदेषा स्वयंप्रभा**' इत्यादिरूप से स्वतःप्रकाशित रहने वाला एक अलौकिक तत्त्व माना गया है, जिसे कि लोकभाषा में हम–'**समझ**' नाम से व्यवहृत किया करते हैं, एवं जिस 'समझ' रूपा संवित् के बिना मानवीया बुद्धि अपने बौद्धिक–विमोहन से एकान्ततः निरीहा ही बनी रहती है, जिसके आधार पर ही राजपत्तन में यह लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि–'**समझ बिना बुध बापड़ी**' । एक नितान्त मूर्ख, किन्तु श्रद्धापूर्वक आचारधर्म्म में आरूढ मानव बुद्धिमान् न होता हुआ भी जहाँ 'समझदार' (संवित्शाली) माना जायगा, वहाँ एक विद्वान्–बुद्धिमान् भी इस संविदनुग्रह से वञ्चित होता हुआ '**हीनप्रज्ञ-नासमझ**' ही कहलाएगा । यही हीनप्रज्ञता, अर्थात् यही बौद्धिक दम्भ मानव को प्रणिपातमूला सहज–जिज्ञासा से पराङ्मुख बनाए रखता है, जब कि श्रद्धा–द्वारा स्वतःप्राप्ता संवित् से मानव स्वतः एव प्रणिपातभावानुगत बन जाया करता है, और यही वह प्रथम, एवं प्रमुख आत्मसमर्पणरूप '**प्रणिपात**' धर्म्म है, जिसे अतिमानव भगवान् ने प्रथम स्थान दिया है ।

तत्त्वनिष्ठा के साथ आत्मसमन्वय का दूसरा उपाय है–'**परिप्रश्न**' । मानसिक, तात्कालिक कुतूहल की उपशान्ति के लिए हठात् होपड़ने वाले, असम्बद्ध–युक्ति–तर्काभासादिरूप भातिसिद्ध प्रश्न का नाम हीं है–'प्रश्न' । एवं विनय को आधार बनाए रखने वाला, जिज्ञासामूलक, सामयिक–युक्ति–तर्क–सम्मत–आस्थाश्रद्धात्मक–पूर्वापरपरिणामसमन्वयात्मक–धृतिगुणयुक्त–तात्त्विक–गम्भीर–स्थिति के परितः समाविष्ट रहने वाला प्रश्न ही वास्तविक प्रश्न कहलाया है, जिसे इस '**परितः**' भाव से संस्कृतभाषा में जहाँ '**परिप्रश्न**' कहा गया है, वहाँ वेदभाषा में यही–'**सम्प्रश्न**' नाम से प्रसिद्ध है * । जिसप्रकार प्रणिपात में श्रद्धागर्भिता, अतएव मनो-

---

*–यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या ॥
—ऋक्संहिता १०।८२।३।

गर्भिता आस्थाभावप्रधाना आत्मानुगता 'बुद्धि' की प्रधानता है, तथैव इस सम्प्रश्नात्मक परिप्रश्न में आस्था-गर्भित, अतएव बुद्धिगर्भित श्रद्धाभावप्रधान '**मन**' ही प्रधान माना गया है। और यही तत्त्वनिष्ठाबोध का दूसरा उपाय है।

शेषभूत तीसरे उपाय में बुद्धि--मनोगर्भित, किंवा आस्था--श्रद्धा--गर्भित उस 'भक्तिभाव' की प्रमुखता है, जिसे '**सेवा**' कहा गया है ÷। प्रणिपात, एवं सम्प्रश्न, इन दोनों में असमर्थ अस्मदादि प्राकृत-मानवों के समुद्धार का एकमात्र उपाय यह तीसरा '**सेवा**' भाव ही माना गया है लोकमान्यताओं में। वस्तुस्थिति का निष्कर्ष यही है कि, तत्त्वोपदेष्टा **आचार्य्य** (आचरणशील तत्त्ववेत्ता, न तु आचारशून्य केवल तत्त्ववादी दार्शनिक) का प्राकृतिक स्वरूप भी बुद्धि–मनः–शरीर–भेद से त्रितन्त्रात्मक है, एवं उपदेशश्रोता, तथा तदनुसार आचरण में प्रवृत्त होने वाला **अन्तेवासी** भी अपने प्राकृत–स्वरूप से बुद्धि मनः–शरीर–धर्म्मा ही बना हुआ है। इन तीनों प्राकृतिक भावों की एकतानता से आचार्य्य के प्रति अपनीं निष्ठाएँ अभिव्यक्त करने के लिए इस अन्तेवासी को आचार्य्य के भी बुद्धि–मनः–शरीर-तन्त्रों का संस्पर्श करना हीं पड़ता है। विना ऐसा किए आचार्य्य के बुद्ध्यादि भाव अन्तेवासी के बुद्ध्यादि–भावों की ओर प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। शरीरमनोगर्भित्ता बुद्धि का आचार्य्य की तथाविधा ही बुद्धि के प्रति **समर्पण** कर देने का नाम ही '**प्रणिपात**' है, यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीर-बुद्धि-गर्भित मन का आचार्य्य के तथाविध ही मन के प्रति **अर्पण** कर देने का नाम हीं '**परिप्रश्न**' है, एवं बुद्धि--मनोगर्भित–शरीर को आचार्य्य के तथाविध ही शरीर के प्रति **समुपस्थित** किए रहने का नाम हीं 'सेवा' है। सेवा में आचार्य्य का **शरीरप्रधान 'आदेश'** प्रधान बना रहता है **अन्तेवासी** के लिए, परिप्रश्न में आचार्य्य का **मनःप्रधान 'उपदेश'** प्रधान बना रहता है, एवं प्रणिपात में आचार्य्य का **बुद्धिप्रधान 'अनुशासन'** प्रधान बना रहता है। इन्हीं तीनों महान् उपायों का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ —गीता ४।३४।

१–शरीर–मनो–गर्भिता बुद्धिः–तदनुगतः–प्रणिपातभावः–तत्रनिष्ठः–उत्तमोऽधिकारी
२–शरीर–बुद्धि–गर्भितं मनः–-तदनुगतः-परिप्रश्नभावः–-तत्रनिष्ठः–मध्यमोऽधिकारी
३–मनो–बुद्धि–गर्भितं शरीरम्–तदनुगतः–सेवाभावः—तत्रनिष्ठः–सामान्योऽधिकारी

उक्त तीनों उपायों में से किसी भी एक भी उपाय को यदि मानव निश्छलपूर्वक अपना लेता है, तो अवश्य ही कालान्तर में इस में वैसी अजिह्मता–ऋजुता का आविर्भाव हो ही जाता है, जिसके अनुग्रह से इस का काल्पनिक व्यक्तित्त्व तो हो जाता है पलायित, एवं तत्स्थान में उस 'संवित्' का होजाता है उदय, जिसे 'समझ' कहा गया है पूर्व में। यही 'समझ' इसे आत्मबुद्धिगम्य विषयों को अञ्जसा 'समझा' देती है, और फिर कोई भी तो कठिनता–दुर्बोध्यता नहीं रह जाती तत्त्व के समन्वय में, एवं तदनुगत आचरण में। इस 'समझ' के अनुग्रह से मानव ज्यों ज्यों आत्मबुद्धिनिष्ट इस शास्त्रीय तत्त्वस्वाध्याय के सन्निकट आता जाता है

÷ 'भज'--सेवायाम्

ऋजुतापर्वक, त्यों त्यों स्वत: ही इस में सहज–बोध का उदय होता जाता है, एवं उसी अनुपात से आत्मप्रसाद-रूपा शान्ति अभिव्यक्त होती जाती है * । ÷ अवक्रचेता (अकुटिल) अव्ययब्रह्म के उपासक, ऋजुता के प्रतिरूप भारतीय महर्षि की सहजभावानुगता संवेदनशीला ऋजुप्रज्ञा से दृष्ट भारतीय शास्त्र के सम्बन्ध में तो कठिनता–वक्रता–दुर्बोध्यता–जैसे भावों की कल्पना भी नहीं की जासकती । जो कुछ कहा गया है, सरलता से कहा गया है । तभी तो वेदशास्त्र का-**‘योऽञ्जसानुशासति’** कहना अन्वर्थ बनता है । वेदशास्त्र कठिन तो उस दशा में होजाता है, जब हम अपने बुद्धिवादव्यामोहन से अपनी मान्यताओं के अनुपात से इसे सरल बनाने के लिए आतुर हो पड़ते हैं । किंवा आत्मबुद्धिसम्मता सहज ऋजुता को जब हम मन:शरीर-निबन्धना लोकप्रियता से समन्वित कर डालने के लिए कटिबद्ध बन जाते हैं । और उस अवस्था में तो यह कठिनता चरम-सीमा पर ही पहुँच जाती है, जबकि हम स्वयं–**‘समझने’** की निष्ठा से पराङ्मुख होते हुए दूसरों को **‘समझाने’** जैसी भयावहा भावुकता से आविष्ट होते हुए दूसरों की लोकानुबन्धिनी भाषाओं के पर्य्याय-माध्यम से शास्त्रीय–शब्दों के लाक्षणिक–अर्थ करने में प्रवृत्त हो जाते हैं । निश्चय ही इसी प्रमुख भूल ने सरलतम भी, सुबोधगम्य भी भारतीय ऋजुशास्त्र को, तदभिन्ना संस्कृति को, एवं तन्मूलक आचार, आयोजनादि को स्वयं उस भारतीय मानव के लिए ही आज कठिनतम–दुर्बोध्यतम बना दिया है, जिस कठिनता–दुर्बोध्यता के काल्पनिक आवेश में आकर ही यह भारतीय–मानव अपने इस महान् सांस्कृतिक–वैभव से विगत तीन सहस्र–वर्षों से तो बनता आरहा है पराङ्मुख, एवं तत्स्थाने च स्वकल्पनाप्रसूता–पर्य्यायशब्दभ्रान्तिमूला सरला–बोधगम्या–लोकप्रिया–काल्पनिक–व्याख्याओं के प्रति होता आरहा है आकर्षित । परिणाम इस स्खलन का जो हुआ, सम्मुख विद्यमान है इसके । इसी पारम्परिक स्खलन का यह दुष्परिणाम है कि, चिरन्तनेतिवृत्तात्मक मौलिक–पारिभाषिक शब्दों के वाच्यार्थ तो होगए अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में लाक्षणिक–लोकानुबन्धी–पर्य्याय-शब्दार्थ बन गए ‘शास्त्र’ । दूसरे शब्दों में **‘संस्कृति’** बन गई परोक्ष, एवं लाक्षणिक **‘कल्चर’** शब्द बन गया ‘संस्कृति’ । यही स्थिति सभी मौलिक–शब्दों के सम्बन्ध में घटित–विघटित हो पड़ी ‘पापूलर’ शब्द के महान् व्यामोहन से, किंवा ‘समझने’ के स्थान में आविर्भूत हो पड़ने वाले ‘समझाने’ के महान् विमोहन से । **“हमें अपना कुछ नहीं समझना है, किन्तु समझा अवश्य देना है दूसरों को । दूसरे भला हमारे मौलिक शब्द कैसे समझलेंगे । अत: हमें उन के शब्दों के माध्यम से उन के लिए बोधगम्य बना कर ही उन्हें समझा देना है”** इसप्रकार की स्खलन–वृत्ति से ही आगे चल कर यह परिणाम निकल पड़ा कि, उनके शब्दों के द्वारा जो कुछ समझा जाता है, वही हम भी समझ गए अपने शब्दों को विस्मृत ही करते हुए । अथवा तो उनकी अपनी मान्यता के अनुपात से उनके लोकप्रिय–शब्दों के जो अर्थ उन्होंनें किए हैं, वे ही अर्थ हमनें अपने मौलिक शब्दों के अर्थ मान लिए उसी–‘समझाने’ की पापूलरता के व्यामोहन से ।

---

*-यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ —मनुः ४।२०।

÷ पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥
—कठोपनिषत् ५।१।

अतएव आज जब हम से 'संस्कृति' शब्द का अर्थ पूँछा जाता है, तो हम बड़े गौरव से तत्काल उत्तर दे डालते हैं कि--"**संस्कृति, अर्थात् कल्चर, सभ्यता-अर्थात्-सिविलाइजेशन, सांस्कृतिक, अर्थात् कल्चर्ड, सभ्य--अर्थात् जन्टिलमेन**"। और जब कल्चर--आदि का अर्थ पूँछा जाता है, तो उन्हीं की डिक्सनेरियाँ हमारे सामने रख दीं जातीं हैं। एवं इसी पद्धति से आज के अभिनव-भारतीय-विद्वानों के द्वारा, अर्थात् '**स्कॉलरों**' के द्वारा लोकोत्तरा '**डॉक्टरेट**' उपाधि-प्राप्ति से सम्बन्ध रखने वाले तथाभूत 'तत्त्वशोधकार्य्य', अर्थात् '**रिसर्च**' के कार्य्य बड़े ही आवेश से प्रक्रान्त हैं, जिन के मूलाधार प्रमुखरूप से अभारतीय लाक्षणिक--शब्दकोश ही बने हुए हैं। यही वह सरलता ? है, जिस इस कठिनतानें हीं भारतीय सांस्कृतिक-निधि से भारतीय मानव को सर्वथा ही पराङ्मुख बना दिया है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस से अधिक और क्या होगा कि, '**छन्दोऽभ्यस्ता**' नाम से प्रसिद्धा भारतीय **वेदभाषा में** *, किंवा '**संस्कृतभाषा**' में, किंवा तत्प्रसूतिरूपा सांस्कृतिक-हिन्दी--(हिन्दुस्तानी नहीं)--मराठी-गुजराती--तेलगू-बंगाली-आदि प्रान्तीय-भाषाओं में उपनिबद्ध भारतीय--वाङ्मय तो हम भारतीय--मानवों के लिए बन गया है आज कठिनतम, एवं दुर्बोध्यतम, और···अलमतिपल्लवितेन आलप्यालात्मकप्रसङ्गेन।

अपनी मूलनिधि को (जिस मूलनिधि के गर्भ में सम्पूर्ण विश्व के मानवमात्र के स्व-स्व कर्त्तव्यों के दिग्देशकालानुबन्धी प्रकृतिसिद्ध बीज निहित हैं ÷) शब्दों की बाह्याकृतिमात्र से कठिन मान कर सर्वात्मना निरपेक्ष बना देने वाले, तत्स्थाने च अभारतीय भाषाओं के व्यामोहन में आसक्त हो पड़ने वाले, एवं तन्माध्यम से ही भारतीय समस्याओं के समन्वय में प्रवृत्त होपड़ने वाले अपने भारतीय बन्धुओं का ध्यान हम उन प्रतीच्य-विद्वानों की सहज सांस्कृतिक-निष्ठा की ओर ही आकर्षित करेंगे, जो प्रतीच्य-विद्वान् हीं आज इनके आदर्श प्रमाणित होरहे हैं। वेदशास्त्र जैसे पारिभाषिक शास्त्र की, एवं संस्कृतभाषाप्रधान अन्यान्य भारतीय शास्त्रों की कथा तो विदूर रही। अपितु सांस्कृतिक-शब्दप्रधाना विशुद्धा 'हिन्दीभाषा' भी जिन हमारे आत्मबन्धुओं को आज कठिन, अर्थात् अनपापूलर (unpopular) प्रतीत हो रही है, उन्हें सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन यह तो विदित होगा ही कि, स्वनामधन्य अमुक पश्चिमी विद्वानोंनें अपनी सहज जिज्ञासा-निष्ठा-आस्था-के बल पर ही अन्याय भारतीय-शास्त्रों की भाँति वेदशास्त्र की भी पर्य्याप्त आराधना की है अपनी मान्यता के अनुपात से। जो वेद-भाषा, तथा संस्कृतभाषा उनके लिए सचमुच में दुर्बोध्या-कठिनतमा थी, उसकी आराधना में वे तो न केवल प्रवृत्त ही हो रहे हैं, अपितु अपनी मान्यताओं के अनुपात से इन ग्रन्थों की स्वतन्त्र-व्याख्याएँ कर रहे हैं। और हमारे उन भारतीय बन्धुओं के लिए सांस्कृतिक-हिन्दी भी 'कठिन' शब्द माध्यम से आज उपेक्षणीय बन रही है, इससे अधिक हमारा सांस्कृतिक-अधःपतन और क्या होगा ?। वेदादि शास्त्रों के उनके (प्रतीच्य)

---

* '**पथ्यास्वस्ति**' नाम से प्रसिद्धा वैदिक-वर्णमात्रिका में २८८ वर्ण हैं, जिस स्वतःसिद्ध इस वर्णसमाम्नाय के लिए ही षडङ्गशास्त्रों में '**शिक्षाशास्त्र**' को प्रथम स्थान मिला है। अपने इसी वर्णमहिमा-भाव से समन्विता वेदभाषा-'**छन्दोऽभ्यस्ता**' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका-'**वैदिक-वर्णमात्रिकास्वरूप-परिचय**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में स्पष्टीकरण हुआ है।

÷--**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ [मनुः]।

अनुवादों को आधार बना कर ही आज अमुक भारतीय विद्वानों की वेदज्ञता पुष्पित–पल्लवित हो रही है। और जिसप्रकार विगत शताब्दियों में सम्प्रदायवादसापेक्षतामूला सत्ताश्रयता की छत्रछाया में पुष्पित–पल्लवित होते रहने वाले संस्कृतज्ञ भारतीय–विद्वानों की सरलतानुगता-मान्यता से सम्बन्ध रखने वालीं व्याख्याएँ हीं प्रमाण बनतीं रहीं हैं, तथैव आज भी उसी सत्ताश्रयमूलक विमोहन की कृपा से प्रतीच्य–व्याख्याएँ हीं अस्मदादि जनसाधारण के लिए प्रमाणभूता संस्कृति बन रही है, जिसके आकर्षण से ही आज दुर्भाग्यवश हम मनःशरीरानुबन्धी काल्वालीकृत––नृत्य––गीत–वाद्यादि––समाकुलित अमुक आयोजनाभासों को ही–**‘सांस्कृतिक–आयोजन’** जैसी पावन अभिधा से समन्वित करने लग पड़े हैं बड़े ही आवेश के साथ।

त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्त रहने वाले साम्प्रदायिक–मतवादों से एकान्ततः असंस्पृष्टा श्रुति–स्मृति–पुराण–प्रतिपादिता भारतीय मौलिक–संस्कृति, एवं तदभिन्न शाश्वतधर्म्म के प्रति एकान्ततः निरपेक्ष बन जाने के कारण, साथ ही प्रतीच्य–मान्यताओं के अनुपातमात्र से समायोजित आज के लोकविश्रुत **‘सांस्कृतिक-आयोजनों’** के प्रति सर्वात्मना सापेक्ष बन जाने कारण हीं भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-प्रज्ञा अपनी राष्ट्रीयता से सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित होती जारही है। इस पराङ्मुखता से प्रत्येक राष्ट्रीय–मानव का चिन्तित होना स्वाभाविक है। शत–शत-शताब्दियों, सहस्राब्दियों से अपनी तथाकथिता सांस्कृतिक थाथी (धरोहर) का येनकेनरूपेण गच्छतः स्खलनरूपेणापि अद्यावधि परम्परया अनुगमन करते रहने वाले राष्ट्रीय मानव का इस प्रक्रान्त दशवर्षीय परतन्त्रता–विमुक्ति–काल में यों सहसा कैसे, क्यों परिवर्त्तन होगया ?, प्रश्न के उत्पीड़न ने हीं हमें **संस्कृति, सभ्यता, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिक––आयोजन,** इत्यादि भारतीय–शब्दों की ओर आकर्षित कर लिया, एवं तदाकर्षण से ही बुद्धिव्यामोहनात्मक–प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध उपनिबद्ध हो पड़ा।

वेद्वाङ्मय के यत्किञ्चित् संस्पर्शमात्र से अनुगृहीत, तथैव तत्प्रसूतिरूपा देववाणी–संस्कृतभाषा के चञ्चुप्रवेश से उपकृत, तत्प्रसूतिभूता हिन्दी के क्रमबद्ध अध्ययन से तो सर्वथा ही वञ्चित, एवं आज के युग के लिए अनिवार्य्यरूपेण समाराध्या इंगलिशादि प्रतीच्य–भाषाओं से तो सर्वथा ही पराःपरसवत, इत्थंभूत इस प्राकृत-व्यक्ति ने अपनी अज्ञता–परम्पराओं से आवेष्टित रहते हुए **‘संस्कृति, सभ्यता––शब्दों के चिरन्तन–इतिहास’** के सम्बन्ध में, एवं **‘भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा’** के सम्बन्ध में जो किञ्चिदिव निवेदन कर लेने की अनधिकार–चेष्टा करली है, उसके लिए एकमात्र राष्ट्रहितानुबन्ध से ही हम राष्ट्र के विज्ञ-सुविज्ञ–संस्कृतिमर्म्मज्ञ विद्वानों से क्षमा–याञ्चा कर लेना अपना राष्ट्रीय–कर्त्तव्य ही मान रहे हैं।

विश्वदर्शन, अन्तर्राष्ट्रीय––स्थितिपरिस्थितिदर्शन–––राष्ट्रस्वरूपदर्शन–––दिग्देशकालदर्शन–––समाजदर्शन––लोकराजनीतिदर्शन–आदि आदि दर्शनों की कथा का तो अवसर ही उपलब्ध नहीं हुआ है हमें अपने इस भौतिक–जीवन में अहोरात्र एकमात्र ‘स्वदर्शन’ के लिए ही निरन्तर प्रयत्न–शील बने रहने के कारण। अतएव हम सर्वात्मना उसी सम्मानित उपाधि से सदा ही समलङ्कृत रहे हैं, जो उपाधि–**‘कूप–मण्डूक’** नाम से प्रसिद्ध है संस्कृतसाहित्य में। हमने तो आजतक अपनी मण्डूकाप्लुति के द्वारा ‘तात’ के उसी कूप के क्षारजल से ही स्वपिपासा शान्त करते रहने का प्रयास किया है, जिसका पान करने वाले को

दिग्देशकालविज्ञ, एवं **समुद्र के सुमधुरतम** ? जल का पान करते रहने वाले विश्वद्रष्टा मनीषी **'कापुरुष'** * कहा करते हैं, जिस इस शब्द का अनुवाद आज की लोकप्रिय भाषा में सुसांस्कृतिक-उदार-मानवों के द्वारा-**'दकियानूसी'-'पुराणपन्थी'-'रूढिवादी'-'सम्प्रदायवादी'** इत्यादि अभिधाओं से समलङ्कृत है, जिन अभिधाओं को सचमुच हमनें तो सदा से अपने अलङ्कार ही माना है, और यही हमारी निरतिशया मनस्तुष्टि है। अवश्य ही युगधर्म्मप्रभाव से मध्ये मध्ये वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के आकर्षण से **सत्तातन्त्रों** के प्रति, लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा के आकर्षण से सम्पन्न **भलन्दनवंशजों** के प्रति, विशुद्धा लोकैषणा के व्यामोहन से सम्प्रदायवादभक्त संस्कृतज्ञ **प्राच्य विद्वानों** के प्रति, एवं अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमुग्ध संस्कृतिमर्म्मज्ञ अभिनव **भारतीय विद्वानों** के प्रति भी हम अंशतः आकर्षित होते रहे हैं, जिस इस युगधर्म्मानुगता आकर्षण-परम्परा से हमें तो वैसा उद्बोधन ही उपलब्ध हुआ, जिस की कृपा से इन व्यापक-सामुद्र-जलों के समतुलन में हमें तो अपने तात के कूप का क्षारजल ही सुस्वादु प्रतीत हुआ। और अन्ततोगत्त्वा हमें अपनी परम्परासिद्धा कूपमण्डूकता से इसी निर्णय पर पहुँच जाना पड़ा कि, युगधर्म्मानुगता ये सभी एषणाएँ, सभी सुख-सुविधाएँ, सभी सापेक्षताएँ मानव को दिग्देशाकालातीता, अतएव सर्वनिरपेक्षा, किन्तु ईश्वरसापेक्षा, लोकक्षेत्रे च आत्मश्रद्धा-परायण जनतन्त्र-सापेक्षा भारतीय संस्कृति के प्रति सर्वात्मना निरपेक्ष ही बना देतीं हैं, जिस निरपेक्षता से बाह्य तन्त्रों में आसक्त-व्यासक्त बन जाने वाली मानवप्रज्ञा संस्कृति की स्वाध्यायनिष्ठा से तो सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित हो जाया करती है, जैसा कि तत्सापेक्षतावसरों पर सर्वात्मना हम अनुभव करते रहे हैं।

सम्भवतः इसीलिए संस्कृति के स्वरूपद्रष्टा ऋषि ने सत्तानिरपेक्षा, अतएव सर्वनिरपेक्षा इस ईश्वरीय-संस्कृति के उपासक भारतीय-ब्राह्मण को × **'गुहानिहित'** बने रहने के आदेश से ही समन्वित कर दिया है।

*** तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति ।**

× संस्कृति--स्वाध्यायनिष्ठ, एवं तदाधारेण सभ्यतास्वरूप-व्यवस्थापक, किंवा सांस्कृतिक-आचार, तथा सांस्कृतिक-आयोजन-व्यवस्थापक आत्मनिष्ठ ब्राह्मण की निष्ठा का केन्द्र आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-नामक चार तन्त्रों में से वह **'आत्मा'** ही बना रहता है, जिसे-**'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'** (उपनिषत्) के अनुसार श्रुति ने **गुहानिहित** (एकान्तनिष्ठ-परोक्ष) ही माना है। इस गुहानिहित आत्मा को, तदभिन्ना संस्कृति को चिन्तन के द्वारा अपना उपास्य बनाए रखने वाले ब्राह्मण के लिए यह आवश्यक है कि, वह प्राकृतिक-बाह्यतन्त्रों से पृथक् रहता हुआ गुहानिहित ही, एकान्तनिष्ठ ही बना रहे, जिसका-**'अरतिर्जनसंसदि'** (गीता) से भी समर्थन हुआ है। सांस्कृतिक-आचार, तथा सांस्कृतिक-आयोजनों की [सभ्यता की] व्यवस्थाओं को लोकतन्त्रद्वारा स्वीकृत कराने वाला, अतएव सभ्यता--व्यवस्था--मात्र का संरक्षक क्षात्रतन्त्रात्मक सत्तातन्त्र **'सौर्य्यमारुतिक'** माना गया है, जिसका अर्थ है विभ्राट्तेजोमय पौरुष से समन्वित, एवं वायुवेगसम क्रियाशील। बाह्य--लौकिक-व्यवस्थाओं की आर्थिक-सञ्चय--व्यवस्था के उत्तरदायित्व से अनुप्राणित अर्थ--कुशल वैश्य **'वातातपिक'** कहलाया है, जिसका अर्थ है धूप--छाह--की चिन्ता न करता हुआ अपने व्यवसाय--कर्म्म में सदागति--धर्म्मा वायु की भाँति एकनिष्ठ बने रहना। यों **गुहानिहित ब्राह्मण** की ज्ञाननिष्ठा से, **सौर्य्य-मारुतिक सत्तातन्त्र** की पौरुषनिष्ठा से, तथा **वातातपिक-वैश्यतन्त्र** की अर्थनिष्ठा से राष्ट्र की ज्ञान--क्रिया--अर्थ--मयी तीनों राष्ट्रशक्तियाँ पुष्पित पल्लवित होतीं रहतीं हैं। ज्ञान से नियन्त्रित कर्म्म, एवं कर्म्म से नियन्त्रित अर्थ ही राष्ट्र के राष्ट्रत्व की मूलप्रतिष्ठा माना गया है।

लोक–समाज–सत्ता–आदि के सम्पर्क से सम्बन्ध रखने वाली प्रसिद्धि–[यशःख्यापन] ही संस्कृतिनिष्ठ भारतीय–ब्राह्मण का वह महान् पतन है, जिस पतनगर्त्त में समाविष्ट होने के अनन्तर इसका कुछ भी तो सांस्कृतिक–स्वरूप शेष नहीं रह जाता। लोकसम्मान से बड़ा शत्रु इस उपासक के लिए अन्य कोई दूसरा नहीं है। लोक–तान्त्रिकी सम्पूर्ण उन आर्थिक–सुख–सुविधाओं का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग करते हुए गुहानिहितवृत्या स्वाध्यायनिष्ठ, एवं आचारशील बने रहना, साथ ही लोकसम्मानों से अपने आपको सर्वथा असंस्पृष्ट बनाए रखना, सर्वोपरि युगधर्म्म की कृपा से आविर्भूत–तिरोभूत–होतीं रहने वालीं अपमान–तिरस्कार–भर्त्सना–उत्पीड़न–परम्पराओं को अपना सम्मान मानते रहना हीं भारतीय ब्राह्मण की संस्कृति--स्वाध्यायनिष्ठा के संरक्षण का वह महान् राजपथ है, जिसके प्रति भगवान् मनु ने इन शब्दों में उद्बोधन प्रदान किया है भारतराष्ट्र की भूसुरप्रज्ञा को कि—

(१)-सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता (मनुः ४।१७।)।

(२)-सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥ (मनुः २।१६२।)।

'न त्वहं तेषु, ते मयि' ही गुहानिहित–शब्द का भावार्थ है। **'समब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध अव्ययात्मा ही वह गुहानिहित 'ब्रह्म' है, जिसकी शाश्वत कृति का ही नाम 'संस्कृति' है, जोकि आत्मब्रह्मवत्--**'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायां--तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः'**-इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार गुहानिहित, परोक्ष ही माना गया है ✻। स्वतः ही तत्कृतिरूपा संस्कृति की भी गुहानिहितता प्रमाणित हो जाती है। अतएव जबतक ब्राह्मण आत्मनिष्ठ बन कर सम्पूर्ण लोक--बाह्य–व्यासङ्गों से पृथक् होकर एकान्तनिष्ठारूपेण गुहानिहित नहीं बन जाता, तबतक कदापि 'संस्कृति' के वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाली **'निरपेक्षा-संस्कृति'** के चिन्तन-स्वाध्याय में तो वह कदापि-सफल नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है। लोकव्यासङ्ग मानव के बहिर्म्मुख मन को दिग्देश-कालानुबन्धिनी योगमायात्मिका मान्यताओं की ओर बलपूर्वक आकर्षित कर ही लेता है ÷। और उस दशा में संस्कृति के उपासक को इस मानसिक–आकर्षण से मूलसंस्कृति के साथ मानसिक वैसी कल्पनाओं का भी समावेश कर ही देना पड़ता है, जिन कल्पनाओं से कालान्तर में संस्कृति का मूल तो हो जाता है अन्तर्म्मुख, एवं काल्पनिक मान्यताएँ हीं बन जातीं हैं–संस्कृतियाँ। 'संस्कृति' का अखण्डत्त्व उच्छिन्न होते ही 'संस्कृति' 'संस्कृति' न रह कर **'संस्कृतियाँ'** कहलाने लग पड़तीं हैं, जिनका आज की अभिनवभाषा में नामकरण हो पड़ा है—**'सामासिक--संस्कृति'**, जिसका अर्थ किया जारहा है—**'अनेक संस्कृतियों के मेल से उत्पन्न होने वाली संस्कृति'**, जिसका महान् व्यामोहक दूसरा नाम है--**'अन्तर्राष्ट्रीय--संस्कृति'**। एवं निश्चयेन इस

✻ **नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।** [गीता]

÷ **ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।**
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥ [श्रीदुर्गासप्तशती]

दशवर्षात्मक जागरणकाल में अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमोहन के निग्रहात्मक--अनुग्रह से ही संस्कृति–सभ्यता–शब्दों के चिरन्तनशब्द--वाच्यार्थों से एकान्ततः असंस्पृष्ट भारतराष्ट्र की सनातन--संस्कृति से सर्वथा ही विपरीत **सांस्कृतिक-आयोजन** नामक वैसा **महा अभ्र, महा यज्ञ** आविर्भूत हो पड़ा है, जैसा आविर्भाव विगत तीन सहस्र--वर्षों के सांस्कृतिक--अधःपतनकाल में भी नहीं हुआ था।

क्यों नहीं हुआ था ?, इस प्रश्न का उत्तर संस्कृतिनिष्ठों से परोक्ष नहीं है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, विगत तीन सहस्र--वर्षों से भारतराष्ट्र की संस्कृतिनिष्ठा ब्राह्मणप्रज्ञा भी सत्ताश्रयता के द्वारा संस्कृति के संरक्षण--व्यामोहन से उत्तरोत्तर भावुक ही प्रमाणित होती रही। **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** मूलक यज्ञेश्वर–सोममूर्त्ति पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म के स्थान में इसने भी सामान्य प्रजावत् सत्ताधीश को ही स्वस्वामी मान कर तत्प्रति अपनी सांस्कृतिक–निष्ठाएँ समर्पित करदीं, जबकि इसे--**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'** [शतपथब्राह्मण] इत्यादि श्रुतिमूलक **'राजान्नं तेज आदत्ते'** इस स्मार्त्त आदेश के अनुसार सत्तातन्त्रों से सर्वथा निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए था। इस सापेक्षता से ही इसका सांस्कृतिक–चिन्तन शिथिल ही होता गया उत्तरोत्तर, जिस शैथिल्य का पर्य्यवसान आगे चलकर संस्कृतिस्वरूपविघातक, किंवा आवरक विभिन्न मतवादों पर ही हुआ, और इन मतवादों से ही राष्ट्र का सांस्कृतिक अखण्डत्व खण्ड–खण्ड–रूप में परिणत होगया। यों एकमात्र सत्तासम्मान--सत्ताश्रय--कामुक ब्राह्मण की यत्किञ्चित् सी ही भूल से राष्ट्रीय–संस्कृति धूमिल ही बन गई।

इन सब अकाण्ड–ताण्डवों के घटित–विघटित होते रहने पर भी राष्ट्र में स्वनामधन्य वैसे ब्राह्मणश्रेष्ठ भी आविर्भूत होते ही रहे, जो लोकतन्त्रों से पृथक् रह कर संस्कृति के शब्दकोशमात्र का तो पारायण के द्वारा प्राणपण से संरक्षण करते ही रहे। एतदतिरिक्त जिन्होंनें सत्तातन्त्र के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था, वे भी श्रुति–स्मृति–पुराणादि मौलिक शास्त्रों की प्रामाण्यबुद्धि से विचिलित नहीं हुए ब्रिटिशसत्तातन्त्र के पूर्वयुग पर्य्यन्त (मुगलशासनयुगपर्य्यन्त)। अतएव बुद्धयुग से आरम्भ कर मुगलकालपर्य्यन्त के सांस्कृतिक–अधः-पतनकाल में भी मध्ये मध्मे यदा कदा वैसी सांस्कृतिक प्रतिभाएँ आविर्भूत होतीं रहीं, जिनके द्वारा सांस्कृतिक आचार-आयोजनरूप विकम्पित भवनों को आधार मिलता रहा येनकेनरूपेण। तदित्थं–गच्छतः स्खलनरूपेण यदा कदा उपलब्ध होते रहने वाले सांस्कृतिक-सूत्रों के अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक–चेतना का सर्वात्मना अभिभव न हो सका। अतएव च वर्त्तमानयुग के आयोजनात्मक अभ्व–यज्ञ यों नग्नरूप से आविर्भूत न हो सके विगत तीन सहस्र वर्षों की अवधिरूप सांस्कृतिक–ह्रासकाल में भी एकमात्र भारतीय–ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा के अनुग्रह से ही। यही तो कारण है कि, तथोक्ता अवधि में भारत में बुद्धयुग से आरम्भ कर आजतक जितने भी सम्प्रदायवाद, मतवाद आविर्भूत–तिरोभूत होते रहे, सब ने किसी न किसी रूप में ब्राह्मण के प्रति अवश्य ही अपना आक्रोश व्यक्त किया। यही नहीं, ब्रिटिशसत्तायुग में इसायत के प्रचार को अग्रणी बना कर यहाँ पधारते रहने वाले पादरियोंतकने एकमात्र ब्राह्मणवर्ग को ही अपने प्रचार का महान् प्रतिबन्धक अनुभूत किया। और तदनन्तर तो सभी की यह भाषा ही हो गई कि, 'इस देश का ब्राह्मण ही राष्ट्रीय-प्रगति का शत्रु है'। छोटे बड़े आज के प्रत्येक आयोजन में तबतक आयोजन की इतिकर्त्तव्यता सर्वाङ्गीण मानी ही नहीं जाती, जबतक कि परम्परानुगत राष्ट्रीय ब्राह्मण के प्रति प्रतिक्रियात्मक आक्रोश येन-केनरूपेण अभिव्यक्त नहीं कर दिए जाते।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

मुगलसत्तापर्य्यन्त संस्कृति के, एवं तदनुगता शिक्षा के सूत्र जनतन्त्र से ही समन्वित बने रहे। अतएव सत्ताश्रयता के विद्यमान रहते भी तद्युगपर्य्यन्त भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक--शिक्षात्मक हृदय सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही विशुद्ध रहा। किन्तु ब्रिटिशसत्ता के चाणाक्षचतुर लोकराजनीतिपटु **लॉर्ड मेकॉले** जैसे दूरदर्शियों के अनुग्रह से शिक्षा के राष्ट्रीयकरण होजाने मात्र से, तथा श्रीविक्टोरिया की लोकप्रिया धर्म्मनिरपेक्षघोषणा के अनुग्रह से जनतन्त्र के हृदय सर्वथा ही अन्तम्मुख बन गए। राष्ट्र की विशिष्ट प्रज्ञाएँ भी इस नवीन चाकचिक्य से प्रभावित हुए बिना न रह सकीं।

जिन विशिष्ट प्रतिभाओं को आर्थिक-सौकर्य्य उपलब्ध था, वे तो प्रतीच्य शिक्षायन्त्रों से यन्त्रिता, किंवा नियन्त्रिता बन गईं। एवं जिन विशिष्ट प्रज्ञाओं को वैसी सुविधा उपलब्ध न हो सकीं, वे परम्परया प्राप्त मतवादात्मक पाण्डित्य की ही अनुगामनी बनी रह गईं, जिन में से कतिपय वैसी प्रज्ञाओं को ब्रिटिशसत्ता ने अपने तन्त्र में ही दीक्षित कर लिया अमुक उपाधि–दानों से, जिनमें कुछ विशेष योग्यताएँ थीं। अब रह गया वैसा वर्ग, जो पाण्डित्य में भी असमर्थ था। मानना पड़ेगा कि, एकमात्र उसी के अनुग्रह से, स्व–योगक्षेमार्थ विहित उसके पूजन–पाठ–पारायण–गृह्यहवनादि–व्यासङ्गानुबन्धों से ही, किन्तु सर्वथा विकीर्णरूप से–दैन्यभाव से ही संस्कृतिसूत्र अभिव्यक्त होते रहे, जिस उस सर्वशून्य निरीह ब्राह्मणवर्ग का ब्रिटिशयुग में कोई भी सामाजिक स्तर शेष नही रह गया था। एकप्रकार से तद्युग का अर्थकुशल वैश्यसमाज ही उस वर्ग का रक्षक बना हुआ था। वैश्य की व्यावसायिकी धर्म्मभीरुता से ही उसे सर्वथा सेवकरूप से ही वैश्य के यहाँ यथाकथंचित् प्रश्रय मिल जाता था। पण्डितम्मन्य, अमुक उपाधिविभूषित प्रसिद्ध विद्वान् व्याकरण–न्याय–साहित्य-कॉव्य–अलङ्कार–आदि अङ्गशास्त्रों के पाण्डित्य से विभोर बने रहते हुए श्रुति–स्मृति--पुराण--के अध्ययनाध्यापन से प्रायः पराङ्मुख ही बन गए थे ब्रिटिशयुग में। अधिक से अधिक सम्मेलन--समारोहों के नेतृत्त्वमात्र पर ही इनका पाण्डित्य परिसमाप्त हो जाता था। ऐसे घोरघोरतम सांस्कृतिक--संघर्षकाल में भारत के मूलप्राणरूप वेदशास्त्र के मन्त्र यदा कदा तथाविध निरीह ब्राह्मणों के द्वारा ही सुनने का महद्भाग्य उपलब्ध होता रहता था यहाँ की आस्तिक प्रजा को।

सुनते हैं–उसी युग में भारतराष्ट्र की एक ब्राह्मणप्रज्ञा के द्वारा ही भारतीय संस्कृति के सन्देशवाहक वेदशास्त्र के सम्बन्ध में महान् उद्घोष अभिव्यक्त हुआ था, जो प्रज्ञा **'स्वामी दयानन्द'** नाम से लोकविश्रुत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, भारत की सांस्कृतिक–विद्वत्प्रज्ञा को उद्बोधन–प्रदान करने के लिए स्वामीजी का वेदोद्घोष महान् उपयोगी ही प्रमाणित हुआ, और फलस्वरूप निद्रानिमग्न विद्वानोंनें भी वेद की ओर दृक्पात का अनुग्रह किया। किन्तु सांस्कृतिक–आचार के प्रति न केवल निरपेक्ष ही, अपितु तत्प्रति सर्वथा आक्रुष्ट ही स्वामीजी का यह उद्घोष, एवं विद्वानों का तात्कालिक वह जागरण, दोनों हीं क्रमशः **सनातन–धर्म्मवाद**, तथा **आर्य्यसमाज**, नामक दो और नवीन मतवादों का सर्ज्जन कर अपने पारस्परिक संघर्ष में सुन्दोपसुन्दन्याय से शीघ्र ही उपशान्त होगए। एक ही वेदशास्त्र को मध्यस्थ बना कर इन दोनों मतवादों में वैसे वैसे प्रचण्ड शास्त्रार्थ घटित विघटित हुए हैं तद्युग में, जिनके मलीमस इतिवृत्त के श्रवणमात्र से भी सांस्कृतिक–हृयय विकम्पित है आजतक। सम्भवतः जन्मजात सहज शत्रुओं में भी वैसे अनार्य्यजुष्ट संघर्ष घटित न हुए होंगे कभी भी, इति नु महतीयं विडम्बना सनातनधर्म्मवादात्मकमतवादस्य, एवं आर्य्यसमाज–वादस्य च वेदभक्तस्य। अतएव अन्ततोगत्त्वा निरीह ब्राह्मणवर्ग ही तद्युग में भी प्रधानरूपेण संस्कृतिसूत्रों का

आस्थाश्रद्धापूर्वक उच्चारण करता हुआ जनतन्त्र की परम्परा का गच्छतः–स्खलनरूपेण आधार बना रहा, और बना हुआ है आजतक भी, जिसका एकमात्र ईश्वरनिष्ठा के अतिरिक्त आज कोई भी सहायक नहीं है। और हम समझते हैं कि, अब वैसा अनुकूल काल उपस्थित हो पड़ा है, जिसमें अवश्य ही निकट–भविष्य में हीं भारतराष्ट्र में अपनी मूलसंस्कृति का शीघ्र ही जागरण होगा, निश्चयेन होगा ही, इसी माङ्गलिक–काल–प्रेरणा ही से प्रस्तुत निबन्ध जनतन्त्र की सेवा में प्रणतभाव से उपस्थित हो रहा है।

किस जनतन्त्र की सेवा में ?। विश्व के उन सभी जनतन्त्रों की सेवा में, जो जनतन्त्र आत्म–बुद्धिनिबन्धन 'मानवस्वरूप' के प्रति आंशिक भी निष्ठा रखते हैं। उन भारतीस जनतन्त्रों की सेवा में, जो आस्था--श्रद्धा–पूर्वक भारतीय संस्कृति के मूलस्वरूप के प्रति सदा से ही अपनीं निष्ठाएँ समर्पित करते आए हैं। और सर्वोपरि उस **'महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र'** की सेवा में, जिसने विगत तीन सहस्र वर्षों में, विशेषतः महान् संघर्षकालात्मक ब्रिटिशयुग में, सर्वोपरि वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्रयुग में भारतीय संस्कृति के सैद्धान्तिक सूत्रों को, तथा अमुक सीमापर्य्यन्त आचारनिष्ठाओं को येनकेनरूपेण सुरक्षित ही रक्खा है।

जैसाकि निवेदन किया जा चुका है, तीन सहस्र--वर्षों में जैसा सांस्कृतिक पतन नहीं हुआ था, इन दस वर्षों में वैसा सांस्कृतिक--पतन हो पड़ा है, जिसे देख कर आश्चर्य्य इसलिए नहीं हो रहा कि, आज से पूर्व के युगों में संस्कृति--धर्म्म–आचार--आयोजनों के सम्बन्ध में इसप्रकार के उत्पीड़न **'पर'** भावों से ही अनुप्राणित थे, जबकि आज हम स्वयं ही राष्ट्रीय संस्कृति को, सांस्कृतिक आचारों को, तथा पर्वोत्सवसम्मेलन--समारोहात्मक भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों को अश्रद्धा की दृष्टि से देखने लग पड़े हैं। दृष्टि यह कहीं से भी हमें मिली हो, आज इस विवाद का अवसर नहीं है। दृष्टि बन अवश्य गई है आज हमारी। तभी तो यह देख कर आश्चर्य्य होता है कि, जिन आज के अमुक नृत्य--गायानादिरूप आयोजनों का 'संस्कृति' शब्द से सम्पर्क भी नहीं है, उनकी इस राष्ट्रव्यापकता पर भी राष्ट्र की सांस्कृतिक--प्रज्ञाएँ तूष्णीं हीं विराजमाना हैं। हम परिचित ही क्या हैं, सान्निध्य में हैं राष्ट्र की कतिपय विशेषप्रज्ञाएँ हमारे। इस सम्बन्ध में दुःख भी इन्हें अपार है। हम यह भी जानते हैं कि, उनकी लेखिनी में वैसा सांस्कृतिक–बल भी है, जिस से वे राष्ट्र को उद्बोधन प्रदान कर सकते हैं। किन्तु देखते हैं, सुनते हैं कि, परोक्ष में इन अकाण्डताण्डवों से दुखार्त्त बने रहते हुए भी ज्ञात–अज्ञात वे आत्मबन्धु प्रत्यक्ष में वही सब कुछ करते जारहे हैं, जैसा तीन सहस्र–वर्षों से सत्तासापेक्षतानुबन्ध से होता आरहा है। प्रश्न करने पर उत्तर मिलता है–"**बात तो ठीक है, कुछ करना तो चाहिए, किन्तु इस से लोकसंग्रह का विघात सम्भावित है। अतएव लोकभावुकता-संरक्षण-पूर्वक ही कुछ होना चाहिए**"--जिस इस इत्यादि इत्यादि उत्तर का एक अक्षर भी हमारी प्राकृत–लोक–बुद्धि में तो समाविष्ट नहीं हो रहा। इस भावुकता–संरक्षण में हीं तो सांस्कृतिक–निष्ठा को, इसके आचार पक्ष को उस सीमापर्य्यन्त हम से पराङ्मुख कर लिया है कि, आज स्वयं हमें हीं अपने आचारों में सन्देह होने लग पड़ा है। राष्ट्रीय--संस्कृति के लिए आज ऐसा संकटकाल समुपस्थित है कि, राष्ट्र की सांस्कृतिक–प्रज्ञाएँ व्यक्तित्त्वविमोहन के निग्रह से अब भी 'भावुकता' का संरक्षण ही करतीं रहीं, तो भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक–भविष्य अत्यन्त ही गुहानिहित बन जायगा, जिसका अन्वेषण सहसा असम्भव ही बन जायगा कालान्तर में। अतएव राष्ट्रप्रज्ञाओं से, विशेषतः **महाराष्ट्रीय–विद्वत्प्रज्ञा** से हम प्रणतिपुरस्सर यह आत्मनिवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मानेंगे कि, व यच्चयावत् सम्प्रदायवादों से, एवं सत्ताविमोहनों से असंस्पृष्ट रहती हुई राष्ट्र

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

की मूलसंस्कृति की अभिव्यक्ति को ही अपना प्रधान लक्ष्य बना ले, जो कि इसका चिरन्तन--अभ्यास है। इस आत्मनिवेदन के रूप में ही प्रस्तुत निबन्ध तज्जनतन्त्र की सेवामें प्रणतभाव से समुपस्थित हो रहा है।

अपने स्वल्पतम व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध में राष्ट्र के विद्वानों से यह निवेदन कर देने में हमें कोई संकोच नहीं हो रहा कि, किसी भी प्रकार के पाण्डित्य का हमारे व्यक्तित्त्व से संस्पर्श भी नहीं है। अपने स्व० आचार्य्यचरण परमश्रद्धेय पूज्यवर **श्रीश्रीमधुसूदनजी ओझा** महाराज के शरीरसान्निध्य में प्रणतभाव से समासीन हो कर अपनी स्खलित मनोवृत्ति से मूलसंस्कृति के व्याख्यारूप वेदशास्त्र के सम्बन्ध में जो कुछ सुना है, उस में से जितना अंश--प्रत्यंश गच्छतः स्खलनरूपेण 'स्मृति' का अनुगामी बन पाया है, उसी के आधार पर हमने भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-राष्ट्रीयता का आंशिक-अनुमानमात्र लगाया है। एवं एकमात्र उसी उच्छिष्टांश के बल पर हमने राष्ट्रभाषा हिन्दी को बिना इसकी व्यवस्थित शिक्षा--प्राप्त किए हुए की मातृभाव से अपने अनुमान को व्यक्त करने का माध्यम बना लिया है। अतएव विद्वानों की दृष्टि में विद्वत्ता की दृष्टि से बालचपलतापूर्ण हमारे इत्थंभूत बुद्धि--व्यामोहमूलक इन प्रयासों में कुछ भी तथ्य नहीं है। किन्तु सांस्कृतिक--सनातनपद्धति में प्रचण्डालोकमूर्ति भगवान् सूर्य्यनारायण को भी दीप दान समर्पित करने का आदेश विहित है। इसी भाव से राष्ट्र के सूर्य्योपम प्रचण्ड--प्रज्ञाशील--विद्वानों के प्रति पूज्यभाव से दीपदानात्मक यह प्रयास भी समर्पित तो किया ही जासकता है। इसी मङ्गलार्पणरूप **परिशिष्ट--वक्तव्य** के साथ प्रस्तुत **निबन्ध--उपरत** हो रहा है।

इति शम्.

उपरतश्चायं--उद्‌बोधनात्मकः
सांस्कृतिक-निबन्धः

प्रीयतामनेन संस्कृतिमूर्त्तिर्विश्वेश्वरोऽव्ययः
पुरुषोत्तमो धर्म्मसंस्थापकः
ओं शान्ति ! शान्तिः !! शान्तिः

श्रीः

सत्तानिरपेक्ष-'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष--'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन-इतिवृत्त

तथा

भारतीय-'सांस्कृतिक-आयोजनों' की रूपरेखा

नामक

उद्बोधनात्मक--सामयिक--निवन्ध

उपरत

राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
विभाग G-2
पुस्तक क्रम संख्या 46
State Museum Library, Lucknow